कुण्डलिनी साधना से प्रज्ञा और प्रखरता का जागरण

– पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

कुण्डलिनी विज्ञान में मूलाधार को योनि और सहस्त्रार को लिंग कहा गया है। यह सूक्ष्म तत्त्वों की गहन चर्चा है। इस वर्णन में काम क्रीड़ा एवं श्रृंगारिकता का काव्यमय वर्णन तो किया गया है, पर क्रिया प्रसंग में वैसा कुछ नही है। तन्त्र ग्रंथो में उलट भाषियों की तरह मद्य, माँस, मीन, मुद्रा और पांचवा मैथुन भी साधना प्रयोजनों में सम्मिलित किया है। यह दो मूल सत्ताओं के संभोग का संकेत है। शारीरिक रति कर्म से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। यों यह सूक्ष्म अध्यात्म सिद्धान्त रति कर्म पर भी प्रयुक्त होते, दाम्पत्य स्थिति पर भी लागू होते हैं। दोनों के मध्य समता की, आदान–प्रदान की स्थिति जितनी ही संतुलित होगी उतना ही युग्म को अधिक सुखी, सन्तुष्ट समुन्नत पाया जायेगा।

मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति शिवलिंग के साथ लिपटी हुई प्रसुप्त सर्पिणी की तरह पड़ी रहती है। समुन्नत स्थिति में इसी मूल स्थिति का विकास हो जाता है। मूलाधार मल मूत्र स्थानों के निष्कृष्ट स्थान से ऊँचा उठकर मस्तिष्क के सर्वोच्च स्थान पर जा विराजता है। छोटा सा शिवलिंग मस्तिष्क में कैलाश पर्वत बन जाता है। छोटे से कुण्ड को मान सरोवर रूप धारण करने का अवसर मिलता है। प्रसुप्त सर्पिणी जागृत होकर शिव कंठ से जा निपटती है और शेषनाग के पराक्रमी रूप में दृष्टिगोचर होती है। मुँह बन्द कली खिलती है और खिले हुए शतदल कमल के सहस्रार के रूप में उसका विकास होता है। मूलाधार में तनिक सा स्थान था, पर ब्रह्मरंध्र का विस्तार तो उससे सौ गुना अधिक है।

सहस्रार को स्वर्ग लोक का कल्पवृक्ष, प्रलय काल में बचा रहने वाला अक्षय वट, गीता का ऊर्ध्व मूल अधःशाखा वाला अश्वत्थ,

भगवान बुद्ध को महान बनाने वाला बोधि वृक्ष कहा जा सकता है। यह समस्त उपमाएँ ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाले ब्रह्म बीज की ही हैं। वह अविकसित स्थिति में मन बुद्धि के छोटे मोटे प्रयोजन पूरे करता है, पर जब जागृत स्थिति में जा पहुँचता है तो सूर्य के समान दिव्य सत्ता सम्पन्न बनता है। उसके प्रभाव से व्यक्ति और उसका सम्पर्क क्षेत्र दिव्य आलोक से भरा पूरा बन जाता है।

ऊपर उठना पदार्थ और प्राणियों का धर्म है। ऊर्जा का, ऊष्मा का स्वभाव ऊपर उठना और आगे बढ़ना है। प्रगति का द्वार बन्द रहे तो कुण्डलिनी शक्ति कामुकता के छिद्रों से रास्ता बनाती और पतनोन्मुख रहती है। किन्तु यदि ऊर्ध्वगमन का मार्ग मिल सके तो उसका प्रभाव परिणाम प्रयत्नकर्त्ता को परम तेजस्वी बनने और अन्धकार से प्रकाश उत्पन्न कर सकने की क्षमता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कुण्डलिनी की प्रचण्ड क्षमता स्थूल शरीर में ओजस्, सूक्ष्म शरीर में तेजस और कारण शरीर में वर्चस् के रूप में प्रकट एवं परिलक्षित होती है। समग्र तेजस्विता को इन तीन भागों में दृष्टिगोचर होते देखा जा सकता है। इस अन्तःक्षमता का एक भोंडा सा उभार और कार्य काम वासना के रूप में देखा जा सकता है। कामुकता अपने सहयोगी के प्रति कितना आकर्षण आत्म भाव उत्पन्न करती है। संभोग कर्म में सरलता अनुभव होती है। संतानोत्पादन जैसी आश्चर्यजनक उपलब्धि सामने आती है। यह एक छोटी सी इन्द्रिय पर इसकी अन्तःक्षमता का आवेश छा जाने पर उसका प्रभाव कितना अद्भुत होता है यह आँख पसारकर हर दिशा में देखा जा सकता है। मनुष्य का चित्त, श्रम, समय एवं उपार्जन का अधिकांश भाग इसी उभार को तृप्त करने का ताना-बाना बुनने में बीतता है। उपभोग की प्रतिक्रिया संतानोत्पादन के उत्तरदायित्व निभाने के रूप में कितनी मंहगी और भारी पड़ती है यह प्रकट तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यदि इसी

सामर्थ्य को ऊर्ध्वगामी बनाया जा सके तो उसका प्रभाव देवोपम परिस्थितियाँ सामने लाकर खड़ी कर सकता है।

प्राय: जननेन्द्रियों को काम वासना एवं रति प्रवृति के लिए उत्तरदायी माना जाता है। पर वैज्ञानिक गहन अन्वेषण से यह तथ्य सामने आता है कि नर-नारी के प्रजनन केन्द्रों का सूत्र संचालन मेरुदण्ड के सुषुम्ना केन्द्र से होता है। यह केन्द्र नाभि की सीध में है। हैनरी आस्ले कृत 'नोट्स आन फिजयालोजी' ग्रन्थ में इस सन्दर्भ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। उसमें उल्लेख है कि-नर नारियों के प्रजनन अंगों के संकोच एवं उत्तेजना का नियन्त्रण मेरुदंड के 'लम्बर रीजन' (निचले क्षेत्र) में स्थित केद्रों से होता है। इस दृष्टि से कामोत्तेजना के प्रकटीकरण का उपकरण मात्र जननेन्द्रिय रह जाती है। उसका उद्गम तथा उद्भव केन्द्र सुषुम्ना संस्थान में होने से वह कुण्डलिनी की ही एक लहर सिद्ध होती है। यह प्रवाह जननेन्द्रिय की ओर उच्च केन्द्रों को मोड़ देने की प्रक्रिया ही इस महाशक्ति की साधना के रूप में प्रयुक्त होती है।

कामेच्छा एक आध्यात्मिक भूख है। वह मिटाई नही जा सकती। निरोध करने पर वह और भी उग्र होती है। बहते हुए पानी को रोकने से वह धक्का मारने की नई सामर्थ्य उत्पन्न करता है। आकाश में उड़ती हुई बन्दूक की गोली स्वयमेव शान्त होने की स्थिति तक पहुँचने से पहले जहाँ भी रोकी जायेगी वही आघात लगावेगी और छेद कर देगी। काम शक्ति को बलपूर्वक रोकने से कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक उपद्रव खड़े होते हैं इस तथ्य पर फ्रायड से लेकर आधुनिक मनोविज्ञानियों तक ने अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है और उसे सृजनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने का परामर्श दिया है। एक ओर से मन हटकर दूसरी ओर चला जाय, एक का महत्व गिरा कर दूसरे की गरिमा पर विश्वास कर लिया जाय, तो अकांक्षा

एवं अभिरुचि का प्रवाह मोड़ने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नही होती। ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप यही है। अतृप्ति-जन्य अशान्ति से बचने, क्षमता का सदुपयोग करके सत्परिणामों का लाभ लेने का एक ही उपाय है कि कामेच्छा प्रवृत्ति को सृजनात्मक दिशा में मोड़ा जाय। कलात्मक प्रयोजनों में संलग्न होने से उसके भौतिक लाभ मिल सकते है। अध्यात्म क्षेत्र में उसे भाव संवेदना के लिए भक्ति भावना के रुप में तथा प्रबल पुरुषार्थ की तरह तपोमयी योग साधना में लगाया जा सकता है। दोनों का समन्वय कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया में समन्वित पद्धति के रूप में किया जा सकता है। सहस्रार चक्र भक्ति भावना का और मूलाधार चक्र प्राण संधान का केन्द्र है। दोनों को प्रसुप्त कर साहसिक संवेदना उभारना कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया अपनाने से सहज सम्भव हो सकता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह जीवन के चार परम प्रयोजन हैं। 'काम' अर्थ सामान्यतया रति कर्म समझा जाता है, पर परम प्रयोजनों में उसका अर्थ विनोद, उल्लास, आनन्द माना जाता है। यह रसानुभूति दो पूरक तत्त्वों के मिलन द्वारा उपलब्ध होती है। ऋण और धन विधुत प्रवाह मिलने से गति उत्पन्न होती है। रयि और प्राण तत्त्व के मिलन से सृष्टि के प्राणि उत्पादनों की सृष्टि होती है। प्रकृति पुरुष की तरह नर और नारी को भी परस्पर पूरक माना गया है। मानवी सत्ता में भी दो पूरक सत्ताएँ काम करती हैं इन्हें नर और नारी का प्रतिनिधि मानते है। नारी सत्ता मूलाधार में अवस्थित कुण्डलिनी है और नर तत्त्व सहस्रार स्थित परब्रह्म है। इन्हीं को शक्ति और शिव भी कहते है। इनका मिलन ही कुण्डलिनी जागरण का लक्ष्य है। इस संयोग से उत्पन्न दिव्य धारा को भौतिक क्षेत्र में ऋद्धि-सिद्धि और आत्मिक क्षेत्र में स्वर्ग मुक्ति कहते हैं। आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्म निर्माण का लक्ष्य भी यही है।

अथर्व वेद में भगवान से काम रूप में जीवन में अवतरित होने की प्रार्थना की गई है।

यास्ते शिवास्तवः काम भद्रायाभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे
ताभिष्ट्वमस्मां अभि संविशस्वान्यत्रपापी रपवेशया धियः।

हे परमेश्वर तेरा काम रूप भी श्रेष्ठ और कल्याण कारक है उसका चयन असत्य नहीं है। आप काम रूप से हमारे भीतर प्रवेश करें और पाप बुद्धि से छुड़ाकर हमें निष्पाप उल्लास की ओर ले चलें।

कुण्डलिनी महाशक्ति की प्रकृति का निरूपण करते हुए शास्त्रकारों ने उसके लिये 'काम बीज' एवं 'काम कला' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का अर्थ कामुकता, कामक्रीड़ा या काम शास्त्र जैसा तुच्छ अर्थ यहाँ नहीं लिया गया है। इस शक्ति की प्रकृति उत्साह एवं उल्लास उत्पन्न करना है। यह शरीर और मन की उभय-पक्षीय अग्रगामी स्फुरणाएँ हैं। यह एक मूल प्रकृति हुई। दूसरी पूरक प्रकृति। मूलाधार को काम बीज कहा गया है और सहस्रार को ज्ञान बीज। दोनों के समन्वय से विवेक युक्त क्रिया बनती है। इसी पर जीवन का सर्वतोमुखी विकास निर्भर है। कुण्डलिनी साधना से इसी सुयोग संयोग की व्यवस्था बनाई जाती है।

प्रत्येक शरीर में नर और मादा दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं। शरीर शास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में उभयपक्षीय सत्ताएँ मौजूद हैं। इनमें से जो उभरी रहती है उसी के अनुसार शरीर की लिंग प्रकृति बनती है। संकल्प पूर्वक इस प्रकृति को बदला भी जा सकता है। छोटे प्राणियों में उभयलिंगी क्षमता रहती है। वह एक ही शरीर से समयानुसार दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है।

मनुष्यों में ऐसे कितने ही पाये जाते है जिनकी आकृति जिस वर्ग की है, प्रकृति उससे भिन्न वर्ग की होती है। नर को नारी की और नारी को नर की भूमिका निबाहते हुए बहुत बार देखा जाता है। इसके

अतिरिक्त लिंग परिवर्तन की घटनाएँ भी होती रहती है। शल्य क्रिया के विकास के साथ-साथ अब इस प्रकार के उलट-पुलट होने के समाचार संसार के कोने-कोने से मिलते रहते है। अमुक नर नारी बन गया और अमुक नारी ने नर के रूप में अपना गृहस्थ नये ढंग से चलाना आरम्भ कर दिया।

दोनों में एक तत्त्व प्रधान रहने से ढर्रा तो चलता रहता हैं, पर एकांगीपन बना रहता है। नारी जैसे कोमलता, सहृदयता, कलाकारिता, भावात्मक तत्त्व का नर में जितना अभाव होगा उतना ही वह कठोर, नीरस, निष्ठुर रहेगा और अपनी बलिष्ठता, मनस्विता के पक्ष के सहारे क्रूर, कर्कश बनकर अपने और दूसरों के लिए अशान्ति ही उत्पन्न करता रहेगा। नारी में पौरुष का अभाव रहा तो वह आत्म हीनता की ग्रंथियों से ग्रसित अनावश्यक संकोच में डूबी, कठपुतली या गुड़िया बनकर रह जायेगी। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पक्षों में सन्तुलित मात्रा में रयि और प्राण के तत्त्व बने रहें। कोई पूर्ण एकांगी बनकर न रह जाय। जिस प्रकार बाह्य जीवन में नर-नारी सहयोग की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अन्तःक्षेत्र में भी दोनों तत्त्वों का समुचित विकास होना चाहिए। तभी एक पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो सकेगा और कुण्डलिनी जागरण से उभयपक्षीय विकास की पृष्टभूमि बनती है।

मूलाधार चक्र में काम शक्ति को स्फूर्ति, उमंग एवं सरसता का स्थान माना गया है। इसलिए उसे काम संस्थान कहते हैं। जहाँ तहाँ उसे योनि संज्ञा भी दी गई है। नामकरण जननेन्द्रिय के आकार के आधार पर नही, उस केन्द्र में सन्निहित 'रयि' शक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है।

आधाराख्ये गुदास्थाने पंकज च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता।

गोरक्ष पद्धति

गुदा के समीप मूलाधार कमल के मध्य 'योनि' है। उसे कामाख्या पीठ कहते है। सिद्ध योगी इसकी उपासना करते हैं।

अपाने मूल कन्दाख्यं काम रूप च तज्जगुः।
तदेव वहिन कुण्डस्यात तत्त्व कुण्डलिनी तथा।।

योग राजोपनिषद्

मूलाधार चक्र में कन्द है। उसे काम रूप, काम बीज, अग्नि कुण्ड कहते हैं। यही कुण्डलिनी का स्थान है।

यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यों जायते वह्नि स कल्याण प्रदुच्यते ।।

–कात्यायन स्मृति

गुह्य स्थान में देव योनि है। उससे जो अग्नि उत्पन्न होती है उसे परम कल्याणकारिणी समझना चाहिए।

आधार प्रथम चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोमध्ये काम रूपं निगद्यते।।

गोरक्ष पद्धति

पहला चक्र मूलाधार है दूसरा स्वाधिष्ठान। दोनों के मध्य योनि स्थान है। उसे काम रूप भी कहते है।

ब्रह्मा का प्रत्यक्ष रूप प्रकृति और अप्रत्यक्ष भाग पुरुष है। दोनों के मिलने से ही द्वैत का अद्वैत में विलय होता है। शरीरगत दो चेतन धाराएँ रयि और प्राण कहलाती है। इनके मिलन संयोग से सामान्य प्राणियों को उस विषयानन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्रत्यक्ष जगत की सर्वोपरि सुखद अनुभूति कहा जाता है। ऋण और धन विद्युत घटकों के मिलन से चिनगारियाँ निकलती और शक्ति धारा बहती है। पूरक घटकों की दूरी समाप्त होने पर सरसता और सशक्तता की

अनुभूति प्राय: होती रहती है। चेतना के उच्चस्तरीय घटक मूलाधार और सहस्त्रार के रूप में विलग पड़े रहे, तभी तक अन्धकार की, नीरस गतिहीनता की स्थिति रहेगी। मिलन का प्रतिफल सम्पदाओं और विभूतियों के, ऋद्धि और सिद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। इन उपलब्धियों की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है और उसकी सम्वेदना ब्रह्मानन्द के रूप में होती है, इस आनन्द को विषयानन्द से असंख्य गुने उच्चस्तर का माना गया है।

शिव पार्वती विवाह का प्रतिफल दो पुत्रों के रूप में उपस्थित हुआ था। एक का नाम गणेश दूसरे का कार्तिकेय। गणेश को 'प्रज्ञा' का देवता माना गया है और स्कन्द को शक्ति का। दुर्दान्त दस्यु असुरों को निरस्त करने के लिए कार्तिकेय का अवतरण हुआ था। उनके इस पराक्रम ने संत्रस्त देव समाज का परित्राण किया। गणेश ने मांस पिण्ड मनुष्य को सद्ज्ञान अनुदान देकर उसे सृष्टि का मुकुटमणि बनाया। दोनों ब्रह्मकुमार शिव-शक्ति के समन्वय के प्रतिफल है। शक्ति कुण्डलिनी, शिव सहस्रार दोनों का संयोग कुण्डलिनी जागरण कहलाता है। यह पुण्य प्रक्रिया सम्पन्न होने पर अन्तरङ्ग ऋतम्भरा प्रज्ञा से और बहिरङ्ग प्रखरता से भर जाता है। प्रगति के पथ पर इन्हीं दो चरणों के सहारे जीवन यात्रा पूरी होती है और चरम लक्ष्य की पूर्ति सम्भव बनती है।

***

-गायत्री तीर्थ शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

कुण्डलिनी महाशक्ति

एवं

उसकी संसिद्धि

कुंडलिनी महाशक्ति और उसकी संसिद्धि

*

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१५ मूल्य : १९.०० रुपये

विषय-सूची

अध्याय		*पृष्ठ संख्या*
१.	कुंडलिनी महाशक्ति का स्वरूप और आधार	३
२.	कुंडलिनी महाशक्ति की पौराणिक व्याख्या	११
३.	चक्र संस्थान और उसकी सिद्धि-सामर्थ्य	२१
४.	दिव्यशक्तियों का केंद्र—सहस्रार एवं ब्रह्मरंध्र	३९
५.	मानवी सत्ता का दक्षिणी ध्रुव—मूलाधार	५७
६.	कुंडलिनी साधना—स्वरूप और उद्देश्य	७६
७.	गायत्री-साधना और कुंडलिनी जागरण	९०

***

कुंडलिनी महाशक्ति का स्वरूप और आधार

भारतीय योग-साधन का मुख्य उद्देश्य जीवनमुक्त स्थिति को प्राप्त करना है। अभी तक प्राणियों के विकास को देखते हुए सबसे ऊँची श्रेणी मनुष्य की है, क्योंकि उसको विवेक और ज्ञान के रूप में ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे वह जितना चाहे ऊँचा उठ सकता है और कैसा भी कठिन कार्य हो, उसे अपनी बहिरंग शक्ति से पूरा कर सकता है। संसार के अधिकांश मनुष्य जीवन के बाह्य पक्ष को ही साधने का प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक कार्य को संपन्न करने के लिए धनबल, शरीरबल तथा बुद्धिबल का प्रयोग करने के दो मार्ग को ही आवश्यक मानते हैं। इन तीनों बलों के अतिरिक्त संसार में महान कार्यों को करने के लिए जिस आत्मबल की आवश्यकता होती है, उसके विषय में शायद ही कोई कुछ जानता हो, पर वास्तविकता यही है कि संसार में आत्मबल ही सर्वोपरि है और उसके सामने कोई और 'बल' कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता तथा न ही इस बल के आगे टिक ही सकता है। इस बल को अर्जित करने के लिए योग-साधन द्वारा आत्मोत्कर्ष का पथ अपनाना पड़ता है।

जो लोग अपने जीवन ध्येय को प्राप्त करने के लिए अपनी निर्बलताओं अथवा त्रुटियों को समझकर, उनको दूर करने के लिए योग-मार्ग का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे धीरे-धीरे अपनी निर्बलता को सबलता में बदल देते हैं और न केवल सांसारिक विषयों में ही अपने मनोरथों को सफल करते, वरन आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऊँचे उठते हैं। वे स्वयं अपना कल्याण साधन करने के साथ-साथ अन्य सैकड़ों व्यक्तियों के लिए उद्धार का मार्ग प्राप्त करने के योग्य बना देते हैं।

योगशास्त्र में साधन के जो सर्वमान्य नियम दिए गए हैं, उनके सिवाय अध्यात्मविद्या के ज्ञाताओं ने, इस मार्ग में शीघ्र प्रगति करके

कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त कर लेने की जो विधियाँ अथवा योग-शाखाएँ निकाली हैं, उनमें 'कुंडलिनीयोग' का विशेष स्थान है। इससे शरीर में एक ऐसी शक्ति का आविर्भाव होता है, जिससे मनुष्य की चैतन्यता बहुत अधिक बढ़ जाती है और वह जब चाहे तब स्थूल-संसार के बजाय सूक्ष्मजगत की स्थिति का अनुभव कर सकता है और एक संकीर्ण क्षेत्र में रहने के बजाय विशाल विश्व की गतिविधि को देखने लगता है। 'हठयोग प्रदीपिका' में 'कुंडलिनी शक्ति' के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम्॥

—हठयोग प्र० ३-१, २, ३

"जिस प्रकार संपूर्ण वनों सहित जितनी भूमि है, उसका आधार सर्पों का नायक (शेषनाग) है, उसी प्रकार समस्त योग-साधनाओं का आधार भी कुंडली ही है, जब गुरु की कृपा से सोई हुई कुंडली जागती है, तब संपूर्ण पद्म (षटचक्र) और ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। और उसी समय प्राण की शून्य पदवी (सुषुम्ना) राजपथ (सड़क) के समान हो जाती है, चित्त विषयों से रहित हो जाता है और मृत्यु का भय मिट जाता है।"

अन्य शास्त्रों तथा विशेषकर तंत्र ग्रंथों में कुंडलिनी के स्वरूप तथा उसके उत्थान का विवेचन करते हुए कहा है कि "कुंडलिनी शक्ति मूलाधार में शक्ति रूप में स्थित होकर मनुष्य को सब प्रकार की शक्तियाँ, विद्या और अंत में मुक्ति प्राप्त कराने का साधन होती

हैं।'' इस कुंडलिनी को 'परमा-प्रकृति' कहा गया है। देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सभी प्राणियों के शरीर में यह कुंडलिनी शक्ति विराजमान रहती है।

कमल-पुष्प में जिस प्रकार भ्रमर अवस्थित होता है, उसी प्रकार यह भी देह में रहती है। इसी कुंडलिनी में चित् शक्ति (चैतन्यता) निहित रहती है। इतनी महत्त्वपूर्ण होने पर भी लोग उसकी तरफ ध्यान नहीं देते, यह आश्चर्य का विषय है। यह अत्यंत सूक्ष्मशक्ति है। इसकी सूक्ष्मता की कल्पना करके योगशास्त्र में कहा है—

योगिनां हृदयाम्बुजे नृत्यन्ती नृत्यमज्जसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युताकृतिः॥

''योगियों के हृदय-देश में वह नृत्य करती रहती है। यही सर्वदा प्रस्फुटित होने वाली विद्युत रूप महाशक्ति सब प्राणियों का आधार है।'' इसका आशय यही है कि कुंडलिनी शक्ति के न्यूनाधिक परिणाम में चैतन्य हुए बिना मनुष्य की प्रतिभा का विकास नहीं होता।

कुंडलिनी आत्मशक्ति की प्रकट और प्रखर स्फुरणा है। यह जीव की ईश्वरप्रदत्त मौलिक शक्ति है। प्रसुप्त स्थिति में वह अविज्ञात बनी और मृततुल्य पड़ी रहती है। वैसी स्थिति में उससे कोई लाभ उठाना संभव नहीं हो पाता। यदि उसकी स्थिति को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने ही भीतर वह भंडार भरा पड़ा है जिसकी तलाश में जहाँ-तहाँ भटकना पड़ता है। वह ब्राह्मी शक्ति अपने ही अंतराल में छिपी पड़ी है, जिसे कामधेनु कहा गया है। आत्मसत्ता में सन्निहित इस महाशक्ति का परिचय कराते हुए साधना शास्त्रों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने ही भीतर विद्यमान इस महती क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जाए और उससे संपर्क साधने का प्रयत्न किया जाए। कुंडलिनी परिचय के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र में कुंडलिनी का निवास माना गया है। उसे प्रचंड शक्ति स्वरूप समझा जाए। यह विद्युतीय प्रकृति की है। ध्यान से वह कौंधती बिजली के समान प्रकाशवान दृष्टिगोचर होती है। उसका स्वरूप प्रसुप्त सर्पिणी के समान कुंडलाकार है।

यह उसका स्थानीय परिचय हुआ। अब उसका आधार, कारण, स्वरूप एवं प्रभाव समझने की आवश्यकता पड़ेगी। बताया गया है कि यह ब्राह्मी शक्ति है। स्वर्ग से गंगा अवतरित होकर पृथ्वी पर आई थी और इस लोक को धन्य बनाया था। इसी प्रकार यह ब्राह्मी शक्ति सत्पात्र साधकों की आत्मसत्ता पर अवतरित होती है और उसे हर दृष्टि से सुसंपन्न बनाती है। कहा गया है कि—

ज्ञेयाशक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥
मूलाधारस्थ वहन्यात्मतेजो मध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुंडलाख्या प्राणाकारेण तेजसी॥
महाकुंडलिनीप्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुंडलीजागृता भवेत्॥

—घेरंड संहिता ६।१६।१८

मूलाधारचक्र में सर्पिणी आकार की कुंडलिनी शक्ति है, जो दीपक की लौ जैसी दीप्तिमान है, वहीं जीवात्मा का निवास है।

हे चंड! जिसकी कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाए, उसे बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिए।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् संधिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञिका॥
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्करा।

—शिव संहिता ५/७७-७८

यह कुंडलिनी शक्ति सुप्त सर्पिणी के समान है। वही स्फुरणा, गति, ज्योति एवं वाक् है। यह विष्णु शक्ति है। स्वर्णिम सूर्य के समान दीप्तिवान है।

स्वयंभू शिवलिंग में तीन लपेटे लगाकर सुप्त सर्पिणी की तरह पड़े होने की उपमा में यह संकेत है कि उसमें वे तीनों ही क्षमताएँ विद्यमान हैं, जो मानवी अस्तित्व को विकसित करने के लिए मूलभूत कारण समझी जाती हैं। आकांक्षा, विचारणा, क्रिया एवं साधना-सामग्री के आधार पर हर मनुष्य आगे बढ़ता, सफलता पाता और प्रसन्न होता है। इन तीनों के बीज अंतरंग में कुंडलिनी शक्ति में विद्यमान हैं। इन्हें विकसित करने पर ये तीनों क्षमताएँ भीतर से उमगती हैं, तो बाहर के स्वरूप साधन मिलने पर भी उनको समुन्नत बनने का सहज अवसर मिल जाता है। अंत:क्षमता प्रसुप्त हो तो भी बाहर के विकास-उपचार सफल नहीं होते, किंतु भीतर के स्रोत उमंगों का बाह्य क्षेत्र में उभरना कठिन नहीं है। गायत्री के तीन चरण कुंडलिनी के तीन लपेटे हैं और उन्हें मानव जीवन की मूलभूत क्षमताओं के रूप में माना गया है—

प्रकृति: निश्चला परावासूपिणी पर प्रमाणात्मिा कुंडलिनी

—प्रयंत्रसार तंत्र

यह कुंडलिनी महाशक्ति अविचल प्रकृति और परावाणी है। यह परब्रह्म है।

इच्छा शक्तिश्च भू कार: क्रियाशक्ति भुवस्तथा।
स्व: कम: ज्ञानशक्तिश्च भूर्भव: स्व, स्वरूपयम्॥

भू:—इच्छाशक्ति, **भुव:**—क्रियाशक्ति, **स्व:**—ज्ञान शक्ति—ये तीन व्याहृतियों के स्वरूप हैं।

संवित्ति: सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम्।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना॥

रसपूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम्॥

—योगवासिष्ठ

यह कुंडलिनी शक्ति रस-भावना से ओत-प्रोत है। उसके जाग्रत होने पर मनुष्य रस-भावनाओं से ऐसे भर जाता है जैसे पानी भरने से चमड़े का चरस। यह रसिकता अनेक कलाओं के रूप में विकसित होते हुए जीवन को रससिक्त बना देती है।

इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका।
क्रमेणानेन सृजति कुंडली वर्णमालिकाम्॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुंडली पर देवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत्॥
एकधा गुणिता शक्तिः सर्व विश्वप्रवर्तिनी।

—महायोग विज्ञान

तेजस्वरूप कुंडलिनी जाग्रत होने पर इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति को प्रखर बनाती है। संपूर्ण शरीर पर उसका प्रभाव दीखने लगता है। प्रसुप्त मंत्रमय जगत जाग्रत् हो उठता है। विश्वात्म ज्ञान जाग्रत होता है। विश्व का प्रवर्तन करने वाली कुंडलिनी साधक को अनेक गुण—शक्ति संपन्न बना देती है।

सात्त्विकस्य ज्ञानशक्ति राजसस्य क्रियात्मिका।
द्रव्यशक्तिस्तामसस्य तिस्त्रश्च कथितास्तव॥

—देवी भागवत ३/७/२६

सात्त्विक ज्ञानशक्ति, राजस क्रियाशक्ति और तामस द्रव्यशक्ति ये तीन शक्तियाँ कही गई हैं।

ज्ञानेच्छाक्रियाणां तिसृणां व्यष्टीनां महासरस्वती महाकाली महालक्ष्मीरित।

ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीनों ही शक्ति की प्रतीक हैं। इन्हें ही महासरस्वती, महाकाली और महालक्ष्मी कहते हैं।

कुंडलिनी महाशक्ति की पौराणिक व्याख्या

आत्मविद्या के विद्यार्थियों को यह तो विदित ही रहता है कि यह मानवीय पिंड (शरीर) विश्व-ब्रह्मांड का एक छोटा-सा नमूना मात्र है। सूर्य चलता है और सौरमंडल के ग्रह-उपग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। ठीक इसी प्रकार परमाणु भी अकेला नहीं होता, उसके साथ इलेक्ट्रान, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि की एक मंडली रहती है जो 'न्यूक्लियस' से प्रभावित होकर अपना कार्य उसी तरह चलाती है जिस तरह सौरमंडल के साथ सूर्य। विशाल वृक्ष का सारा ढाँचा छोटे-से बीज के भीतर पूरी तरह विद्यमान रहता है। मनुष्य का शरीर ही नहीं उसका स्वभाव, बुद्धि, अंत:करण आदि महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म चेतना संस्थान भी अति सूक्ष्म रज-वीर्य में पूरी तरह 'जीन्स' रूप से विद्यमान रहता है। ब्रह्मांड की विशाल व्यापकता को यदि हम बीज रूप में देखना चाहें, तो उसे मानव शरीर की सूक्ष्मता का विश्लेषण करते हुए भली प्रकार जान सकते हैं। जान ही नहीं सकते उस व्यक्तिगत सूक्ष्मता का विश्व गरिमा के साथ जुड़े हुए अविच्छिन्न संबंध का लाभ भी उठा सकते हैं। यह संबंध सूत्र यदि प्रसुप्त न रहकर जाग्रत हो जाए, दुर्बल न रहकर परिपक्व हो जाए, तो विश्वव्यापी शक्ति-भंडार से अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध-आकर्षित कर सकता है। इतना ही नहीं, अपनी दुर्बल इकाई को समर्थ बनाकर उससे विराट् विश्व के जड़-चेतना संस्थान को प्रभावित कर सकता है।

साधना और तपश्चर्या वस्तुत: इसी अति महत्त्वपूर्ण विज्ञान का नाम है। प्राचीन काल में तप-साधना के द्वारा जिनने जो वरदान पाए थे, उनके इतिहास, पुराण विस्तारपूर्वक हम पढ़ते-सुनते हैं। इन दिनों वैसी उपलब्धियाँ प्रत्यक्ष न होने से वे बातें कपोल-कल्पना

जैसी लगती हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यदि ठीक विधि से, ठीक उपकरणों द्वारा उस विज्ञान को कार्यान्वित किया जाए तो पूर्वकाल की कपोल-कल्पना समझी जाने वाली बातों को आज भी प्रत्यक्ष किया जाना संभव है।

तपस्वियों द्वारा साधना के फलस्वरूप प्राप्त किए वरदान और कुछ नहीं, विराट् विश्व की अंतरंग शक्तियों में से कुछ का इच्छानुकूल उपयोग कर सकने की क्षमता ही समझी जानी चाहिए। इसी प्रकार शाप-वरदान दे सकने की क्षमता को अपनी व्यक्तिगत इकाई को इतना प्रबल बना लेना चाहिए, जिससे मनुष्यों या पदार्थों को अपनी संकल्प शक्ति के प्रहार से अभीष्ट दिशा में मुड़ने के लिए विवश किया जा सके। देवताओं का अस्तित्व इस विराट् विश्व में उनकी विशालता के अनुरूप व्यापक भी हो सकता है? पर हमसे देवताओं के जिस अंश का प्रत्यक्ष और सीधा संबंध है, वह अंश अपने भीतर ही 'शक्तिबीजों' के रूप में विद्यमान रहता है। साधना का प्रयोजन इन्हीं शक्तिबीजों को जाग्रत और समर्थ बनाना है। समष्टिगत देवताओं का आशीर्वाद, वायु, वर्षा, धूप, शीत, दुर्भिक्ष, सुभिक्ष आदि के रूप में समग्र रूप से बरसता है और उससे सबको समान लाभ मिलता है। व्यक्तिगत वरदान आशीर्वाद देने वाले देवता अपने शरीर में ही विद्यमान रहते हैं। विविध-विध साधनाओं द्वारा उन्हीं को स्वयं समर्थ बनाया जाता है और अपनी पात्रता एवं तपस्या के अनुरूप उन्हीं से वह लाभ पाया जाता है, जिसे 'अलौकिक' चमत्कारी, देवप्रदत्त, वरदान के रूप में आश्चर्य के साथ सुना और देखा जाता है।

इस अलौकिक और अद्भुत चमत्कार प्रस्तुत करने वाली शक्ति को ही योगियों और तपस्वियों ने कुंडलिनी नाम दिया है और उसे जीवन चेतना का आधार बताया है। उसी से जीवधारियों को शक्ति और तेजस्विता मिलती है, सामान्य स्थिति में व्यक्ति की कुंडलिनी शक्ति

केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे। ज्ञानं मायां प्रधानं च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्। आनंदरूपता चास्याः परप्रेमास्पतत्वतः।

—देवी भागवत ७।३२।९।१८

कोई मुझे तप शक्ति कहते हैं। कोई जड़। कोई ज्ञान कहते हैं, कोई माया, कोई प्रकृति। मैं ही परम प्रेमास्पद तथा आनंदरूपा हूँ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्राह्मणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

—ऋग्वेद १०।१२५।५

देवताओं और मनुष्यों की अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग मैं ही बतलाती हूँ। जो मेरी (विवेक शक्ति की) उपासना कर मुझे प्रसन्न करता है, उसे ही मैं प्रखर बनाती हूँ। ब्राह्मण, ऋषि तथा मेधावी बनाती हूँ।

अपने में विद्यमान परम वैभव के संबंध में अपरिचित रहना यही अध्यात्म की भाषा में अज्ञान या अंधकार है। इसकी निवृत्ति को ही आत्मज्ञान की आत्मसाक्षात्कार की महान उपलब्धि कहा गया है। प्रसुप्ति को जागृति में बदल देना, खोए को तलाश कर लेना यही परम पुरुषार्थ है। आत्म-साधनाओं को परम पुरुषार्थ कहा गया है। सामान्य पुरुषार्थों से धन, बल थोड़ी-सी भौतिक उपलब्धियाँ स्वल्प मात्रा में उपार्जित की जा सकती हैं। वे भी अस्थिर होती हैं और मिलने के बाद उलटी अतृप्ति भड़काती चलती हैं। किंतु आत्मिक विभूतियों को उपार्जित करने की दिशा में बढ़ने पर प्रत्येक चरण क्रमशः अधिक उच्चस्तरीय अनुदान प्रस्तुत करता चलता है। वे स्थायी भी होते हैं और तृप्तिकारक भी। उनसे अपना भी कल्याण होता है और दूसरों का भी। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए साधना को परमपुरुषार्थ कहा गया है।

सोता हुआ मनुष्य मृततुल्य निष्क्रिय पड़ा रहता है। जाग्रति होते ही उसकी समस्त क्षमताएँ जाग पड़ती हैं। प्राणशक्ति -कुंडलिनी

शक्ति के संबंध में भी यही बात है। जिसकी अंत:शक्ति मूर्च्छित है, समझना चाहिए कि वह तत्त्वत: सोया हुआ ही है। जिसका अंतराल जग पड़ा, उसकी महान सक्रियता को क्रियान्वित होते हुए देखा जा सकता है। सोने और जागृति की स्थिति में जितना अंतर होता है उतना ही आत्मशक्ति के प्रसुप्त और जाग्रत होने की स्थिति में समझा जा सकता है।

कुंडलिनी की प्रसुप्ति को जागृति में बदलने के लिए 'गायत्री-साधना' का उपाय अपनाना पड़ता है। इस जागरण प्रयास में लगने के लिए जो साहस करते हैं, वे भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समुन्नत स्थिति प्राप्त करते चले जाते हैं।

□

जितनी मात्रा में स्पंदन करती है, उतना ही प्रभाव-क्षेत्र, उस मनुष्य का होता है। उसी के आधार और अनुपात से लोगों को सुख-दुःख, आदर-सम्मान, लोक-प्रतिष्ठा आदि मिलती है। इसलिए कहना न होगा कि मनुष्य के स्थूल जीवन की नहीं, व्यावहारिक जीवन की सफलता और समुन्नति का आधार भी कुंडलिनी शक्ति ही है।

पाँचों प्रकार की ज्ञानेंद्रियाँ भी बिजली के तारों की तरह इसी परमशक्ति से जुड़ गईं हैं, इसलिए वह सूक्ष्म चेतना होने पर भी संकल्प रूप में आ गई है। चेतन होने के कारण चिति, जीने से जीव, मनन करने से मन और बोध प्राप्त करने से चेतना को बुद्धि रूप में देखा जाता है। अहंकार रूप में उसे ही चतुष्टक कहते हैं, पर इन विभिन्न नामों का एक ही आधार है—चेतना। इस चेतना की, शक्तियों की मूलाधार शक्ति को ही कुंडलिनी कहा जाता है। ज्ञान और अनुभव के पाँचों कोश बीज रूप से इसी में पाए जाते हैं, इसलिए कुंडलिनी शक्ति जाग्रत कर लेने वाला इंद्रियों को उसी तरह वश में कर लेता है, जिस तरह लगाम लगे हुए घोड़ों को वश में कर लिया जाता है। जिसने इंद्रियों को जीत लिया, संसार में उसको किसका भय? जो निर्भय हो गया वही विश्व-विजेता हो गया।

कुंडलिनी की इन्हीं महान सामर्थ्यों को जानकर ही योगशास्त्रों में उसे सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। इसके साथ अनेक प्रकार की कल्पनाएँ जोड़ दी गई हैं। अनेक प्रकार से उसका वर्णन किया जाता है। सीधे, सरल शब्दों में कुंडलिनी वह दिव्य मानस तेज है, जो आत्मचेतना से परिसिक्त है और शरीर भर में व्याप्त है। साधना के फलस्वरूप यह तेज सिमटकर ध्यान के समय ज्योति बनकर देह में कार्य करने लगता है।

कुंडलिनी शक्ति को और अच्छी तरह समझने के लिए श्वास-क्रिया और सुषुम्ना शीर्षक (मेडुला ऑब्लाँगेटा) का विस्तृत अध्ययन

आवश्यक है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी तक इतना ही जान पाए हैं कि नाक से ली हुई साँस गले से होती हुई फुफ्फुसों (फेफड़ों) तक पहुँचती है। फेफड़ों के छिद्रों में भरे हुए रक्त को वायु शुद्ध कर देती है और रक्त-परिसंचालन की गतिविधि शरीर में चलती रहती है।

किंतु प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया को बंद करके भारतीय योगियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चेतना जिस प्राणतत्त्व को धारण किए हुए जीवित है, उसके लिए श्वास-क्रिया आवश्यक नहीं। साँस ली हुई हवा का स्थूल भाग ही रक्तशुद्धि का काम करता है। उसका सूक्ष्म भाग सुषुम्ना शीर्षक में अवस्थित इड़ा और पिंगला नाड़ियों के माध्यम से नाभि-कंद स्थित चेतना को उद्दीप्त किए रहता है। 'गोरक्ष-पद्धति' में श्लोक ४८ से इस क्रिया को शक्तिचालन महामुद्रा, नाड़ी-शोधन आदि नाम दिए हैं और लिखा है कि सामान्य अवस्था में इड़ा और पिंगला नाड़ियों का शरीर की जिस ग्रंथि या इंद्रिय से संबंध होता है, मनुष्य उसी प्रकार के विचारों से प्रभावित होता रहता है। इस अवस्था में नाड़ियों के स्वत: संचालन का अपना कोई क्रम नहीं होता। किंतु जब विशेष रूप (प्राणायाम) से प्राणवायु को धौंका जाता है तो इड़ा (गर्म नाड़ी) और पिंगला (ठंढी नाड़ी) सम-स्वर में प्रवाहित होने लगती हैं। इस अवस्था के विकास के साथ-साथ नाभि-कंद में प्रकाश स्वरूप गोला भी विकसित होने लगता है। उससे प्राण शक्ति विद्युतशक्ति के समान नि:सृत होती है, चूँकि सभी नाड़ियाँ इसी भाग से निकलती हैं इसलिए वह इस ज्योति गोले के संस्पर्श में होती हैं। सभी नाड़ियों में वह विश्वव्यापी शक्ति झरने से सारे शरीर में वह तेज 'ओजस्' के रूप में प्रकट होने लगता है। इंद्रियों में वही बल के रूप में, नेत्रों में चमक के रूप में परिलक्षित होता है। इस प्राण शक्ति के कारण प्रबल आकर्षण शक्ति पैदा होती है।

यह शक्ति नाभि प्रदेश में प्रस्फुटित होती है और चूँकि कटि प्रदेश भी उसी के समीप है, इसलिए वह भाग अधिक शीघ्र और तेजी से प्रभावित होता है। इसलिए यौन शक्तिकेंद्रों को नियंत्रण में रखना अधिक आवश्यक होता है। साधना की अवधि में संयम पर इसीलिए अधिक जोर दिया जाता है, जिससे कुंडलिनी शक्ति का फैलाव ऊर्ध्वगामी हो जाए, उसी से ओज की वृद्धि होती है।

स्थूल रूप से शरीर के स्नायुमंडल को ही पाश्चात्य वैज्ञानिक देख पाए हैं, वे अभी तक नाड़ियों के भीतर बहने और गतिविधियों को मूल रूप से प्रभावित करने वाले प्राण-प्रवाह को नहीं जान सके। स्थूल नेत्रों से उसे देखा जाना संभव भी नहीं है। उसे भारतीय योगियों ने चेतना के अति सूक्ष्म स्तर का वेधन करके देखा। योग शिखोपनिषद में १०१ नाड़ियों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने सुषुम्ना शीर्षक को पर-नाड़ी बताया है। यह कोई नाड़ी नहीं है, वरन इड़ा और पिंगला के समान विद्युत-प्रवाह से उत्पन्न हुई एक तीसरी धारा है जिसका स्थूल रूप से अस्तित्व नहीं भी है और सूक्ष्म रूप से इतना व्यापक एवं विशाल है कि जीव की चेतना जब उसमें से होकर भ्रमण करती है तो ऐसा लगता है कि वह किसी आकाश गंगा में प्रवाहित हो रहा हो। वहाँ से विशाल ब्रह्मांड की झाँकी होती है। अंतरिक्ष में अवस्थित अगणित सूर्य, चंद्रमा, ग्रह-नक्षत्र की स्थिति समझने और विश्वव्यापी हलचलों को नाद रूप में सुनने-समझने का अलभ्य अवसर, जो किसी चंद्रयान या राकेट के द्वारा भी संभव नहीं है, इसी शरीर में मिलता है। उस स्थिति का वर्णन किया जाए तो प्रतीत होगा कि कुछ स्थूल और सूक्ष्म इस संसार में विद्यमान है, उस सबके साथ संबंध मिला लेने और उनका लाभ उपलब्ध करने की क्षमता उस महान आत्मतेज में विद्यमान है, जो कुंडलिनी के भीतर बीज रूप में मौजूद है।

सुषुम्ना नाड़ी (स्पाइनल कार्ड) मेरुदंड में प्रवाहित होती है और ऊपर मस्तिष्क के चौथे खोखले भाग (फोर्थवेंट्रिकल) में जाकर सहस्त्रारचक्र में उसी तरह प्रविष्ट हो जाती है, जिस तरह कि तालाब के पानी में से निकलती हुई कमल नाल से शत-दल कमल विकसित हो उठता है। सहस्त्रारचक्र ब्रह्मांड लोक का प्रतिनिधि है, वहाँ ब्रह्म की संपूर्ण विभूति बीज रूप से विद्यमान है और कुंडलिनी की ज्वाला वहीं जाकर अंतिम रूप से जा ठहरती है, उस स्थिति में निरंतर मधुपान का-सा, संभोग की तरह का सुख (जिसका कभी अंत नहीं होता) अनुभव होता है, उसी कारण कुंडलिनी शक्ति से ब्रह्मप्राप्ति होना बताया जाता है।

कुंडलिनी का महत्त्व इसी शरीर में परिपूर्ण शक्ति और सामर्थ्य का स्वामी बनकर आत्मा की अनुभूति और ईश्वर दर्शन प्राप्त करने से निस्संदेह बहुत अधिक बढ़ जाता है। पृथ्वी का आधार जिस प्रकाश शेष भगवान को मानते हैं, उसी प्रकार कुंडलिनी का शक्ति पर ही प्राणिमात्र का जीवन अस्तित्व टिका हुआ है। सर्प के आकार की वह महाशक्ति ऊपर जिस प्रकार मस्तिष्क में अवस्थित शून्य-चक्र से मिलती है, उसी प्रकार नीचे वह यौन स्थान में विद्यमान कुंडलिनी के ऊपर टिकी रहती है। प्राण और अपान वायु के धौंकने से वह धीरे-धीरे मोटी, सीधी, सशक्त और परिपुष्ट होने लगती है। साधना की प्रारंभिक अवस्था में यह क्रिया धीरे-धीरे होती है, किंतु साक्षात्कार या सिद्धि की अवस्था में वह सीधी ही जाती है और सुषुम्ना का द्वार खुल जाने से शक्ति का स्फुरण वेग से फूटकर सारे शरीर में, विशेष रूप से मुखाकृति में फूट पड़ता है। कुंडलिनी जागरण दिव्य ज्ञान, दिव्य अनुभूति और अलौकिक मुख का सरोवर इसी शरीर में मिल जाता है।

सुषुम्ना नाड़ी का रुका हुआ छिद्र जब खुल जाता है, तो साधक को एक प्रकार का अत्यंत मधुर नाद सुनाई देने लगता है। यह ध्वनि प्रारंभ में मेघ के गर्जन, वर्षा समुद्र की हहराहट, घंटा, झाँझ, वीणा और भ्रमर-गुंजार के तुल्य विकसित होती है, यही बाद में अनहद नाद में परिणत हो जाता है। नाभि से ४ अंगुल ऊपर यह आवाज सुनाई देती है, उसे सुनकर चित्त उसी प्रकार मोहित होता है जिस प्रकार वेणुनाद सुनकर सर्प सब कुछ भूल जाता है। अनहद नाद से साधक के मन पर चढ़े हुए जन्म-जन्मांतरों के कुसंस्कार छूट जाते हैं।

कुंडलिनी महाशक्ति को तंत्र शास्त्रों में द्विमुखी सर्पिणी कहा गया है। उसका एक मुख मल-मूत्र इंद्रियों के मध्य मूलाधारचक्र में है। दूसरा मुख मस्तिष्क के मध्य ब्रह्मरंध्र में। पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों में सन्निहित महान शक्तियों का परस्पर आदान-प्रदान निरंतर होता रहता है, इसी से इस पृथ्वी का सारा क्रिया-कलाप यथाक्रम चल रहा है। इसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति के ऊपर और नीचे के जननेंद्रिय और मस्तिष्क के अध:ऊर्ध्व केंद्रों की शक्तियों का निरंतर आदान-प्रदान होता रहता है। यह संचार क्रिया मेरुदंड के माध्यम से होती है। रीढ़ की हड्डी इन दोनों केंद्रों को परस्पर मिलाने का काम करती है। वस्तुत: स्थूल कुंडलिनी का महासर्पिणी स्वरूप मूलाधार से लेकर मेरुदंड समेत ब्रह्मरंध्र तक फैले हुए सर्पाकृत कलेवर में ही पूरी तरह देखी जा सकती है। ऊपर-नीचे मुड़े हुए दो महान शक्तिशाली केंद्र चक्र ही उसके आगे-पीछे वाले दो मुख हैं।

मेरुदंड पोला है, उसके भीतर जो कुछ है, उसकी चर्चा शरीरशास्त्र के स्थूल प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर दूसरे ढंग से की जा सकती है। शल्य क्रिया में जो देखा जा सकता है, वह रचनाक्रम दूसरा है। हमें

सूक्ष्म प्रक्रिया के अंतर्गत योगशास्त्र की दृष्टि से इस परिधि में सन्निहित दिव्य शक्तियों की चर्चा करनी है। योगशास्त्र के अनुसार मेरुदंड में एक ब्रह्म नाड़ी है और उसके अंतर्गत इड़ा और पिंगला दो शिराएँ गतिशील हैं। ये नाड़ियाँ रक्तवाहिनी शिराएँ नहीं समझी जानी चाहिए। वस्तुतः ये विद्युत धाराएँ हैं। जैसे बिजली के तार में ऊपर एक रबड़ का खोल चढ़ा होता है और उसके भीतर जस्ते तथा ताँबे का ठंढा-गरम तार रहता है, उसी प्रकार इन नाड़ियों को समझा जाना चाहिए। ब्रह्म नाड़ी रबड़ का खोल हुआ, उसके भीतर इड़ा और पिंगला ठंढे-गरम तारों की तरह हैं। इनका स्थूल कलेवर या अस्तित्व नहीं है। शल्य-क्रिया द्वारा ये नाड़ियाँ नहीं देखी जा सकतीं। इस रचनाक्रम को सूक्ष्म विद्युत धाराओं की दिव्य रचना ही कहना चाहिए।

मस्तिष्क के भीतरी भाग में यों कतिपय 'कोष्ठकों' के अंतर्गत भरा हुआ मज्जा भाग ही देखने को मिलेगा। खुर्दबीन से और कुछ देखा नहीं जा सकता, पर सभी जानते हैं, उस दिव्य संस्थान के नगण्य से दीखने वाले घटकों के अंतर्गत विलक्षण शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य का सारा व्यक्तित्व, सारा चिंतन, सारा क्रिया-कलाप और सारा शारीरिक, मानसिक अस्तित्व इन घटकों के ऊपर ही अवलंबित रहता है। देखने में सभी का मस्तिष्क लगभग एक जैसा दीखेगा, पर उसकी सूक्ष्म स्थिति में पृथ्वी-आकाश जैसा अंतर दीखता है, उसके आधार पर व्यक्तित्वों का घटिया-बढ़िया होना सहज ही आँका जा सकता है। यही सूक्ष्मता कुंडलिनी के संबंध में व्यक्त की जा सकती है। मूलाधार, सहस्रार, ब्रह्म नाड़ी, इड़ा, पिंगला को शल्य-क्रिया द्वारा नहीं देखा जा सकता। यह सारी दिव्य रचना ऐसी सूक्ष्म है, जो देखी तो नहीं जा सकती, पर उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

मूलाधार में अवस्थित कुंडली महाशक्ति मलद्वार और जननेंद्रिय के बीच लगभग चार अंगुल खाली जगह में विद्यमान बताई जाती है। योगशास्त्र के अनुसार इस स्थान पर वहीं गह्वर में एक त्रिकोण परमाणु पाया जाता है। यों सारे शरीर में स्थित कण गोल बताए जाते हैं। यही एक तिकोना कण है। यहाँ एक प्रकार का शक्ति-भँवर है। शरीर में प्रवाहित होने वाली तथा मशीनों से संचारित बिजली की गति का क्रम यह है कि वह आगे बढ़ती है फिर तनिक पीछे हटती है और उसी क्रम से आगे बढ़ती और पीछे हटती हुई अपनी अभीष्ट दिशा में दौड़ती चली जाती है। किंतु मूलाधार स्थित त्रिकोण कण के शक्ति-भँवर में सन्निहित बिजली गोल घेरे में पेड़ से लिपटी हुई बेल की तरह घुमती हुई संचारित होती है। यह संयम क्रम प्राय: ३॥ लपेटों का है। आगे चलकर यह विद्युत धारा इस विलक्षण गति को छोड़कर सामान्य रीति से प्रवाहित होने लगती है।

यह प्रवाह निरंतर मेरुदंड में होकर मस्तिष्क के उस मध्यबिंदु तक दौड़ता रहता है, जिसे ब्रह्मरंध्र या सहस्रार कमल कहते हैं। इस शक्तिकेंद्र का मध्य अणु भी शरीर के अन्य अणुओं से भिन्न रचना का है। वह गोल न होकर चपटा है। उसके किनारे चिकने न होकर खुरदरे हैं—आरी के दाँतों से उस खुरदरेपन की तुलना की जा सकती है। योगियों का कहना है कि उन दाँतों की संख्या एक हजार है। अलंकारिक दृष्टि से इसे एक ऐसे कमल-पुष्प की तरह चित्रित किया जाता है, जिसमें हजार पंखुड़ियाँ खिली हुई हों। इस अलंकार के आधार पर ही इस अणु का नामकरण 'सहस्रार कमल' किया गया है।

सहस्रार कमल का पौराणिक वर्णन बहुत ही मनोरम एवं सारगर्भित है। कहा गया है कि क्षीरसागर में विष्णु भगवान सहस्र फन वाले शेषनाग पर शयन कर रहे हैं। उनके हाथ में शंख, चक्र, गदा, पद्म

है। लक्ष्मी उनके पैर दबाती हैं। कुछ पार्षद उनके पास खड़े हैं। क्षीरसागर मस्तिष्क में भरा हुआ, भूरा-चिकना पदार्थ ग्रेमैटर है। हजार फन वाला सर्प यह चपटा खुरदुरा ब्रह्मरंध्र स्थित विशेष परमाणु है। मनुष्य शरीर में अवस्थित ब्रह्मसत्ता का केंद्र यही है। इसी से यहाँ विष्णु भगवान का निवास बताया गया है। यहाँ विष्णु सोते रहते हैं। अर्थात सर्वसाधारण में होता तो ईश्वर का अंश समान रूप से है, पर वह जाग्रत स्थिति में नहीं देखा जाता। आमतौर से लोग घृणित, हेय, पशु-प्रवृत्तियों जैसा निम्न स्तर का जीवनयापन करते हैं। उसे देखते हुए लगता है कि इनके भीतर या तो ईश्वर है ही नहीं अथवा यदि है, तो वह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है। जिसका ईश्वर जाग्रत होगा उसकी विचारणा, क्रियाशीलता, आकांक्षा एवं स्थिति उत्कृष्ट स्तर की दिखाई देगी। वह प्रबुद्ध और प्रकाशवान जीवन जी रहा है, अपने प्रकाश से स्वयं ही प्रकाशवान न हो रहा होगा, वरन दूसरों को भी मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ हो रहा होगा। मानव तत्त्व की विभूतियाँ जिसमें परिलक्षित न हो रही हैं, जो शोक-संताप, दैन्य-दारिद्र और चिंता-निराशा का नारकीय जीवन जी रहा हो, उसके बारे में यह कैसे कहा जाए कि उसमें भगवान विराजमान हैं ? फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि उसमें ईश्वर नहीं है। हर जीव ईश्वर का अंश है और उसके भीतर ब्रह्मसत्ता का अस्तित्व विद्यमान भी है।

इस विसंगति की संगति मिलाने के लिए यही कहा जा सकता है कि उसमें भगवान है तो, पर सोया पड़ा है। क्षीर जैसी उज्ज्वल विचारणाओं के सागर में भगवान निवास करते हैं। क्षीरसागर ही उनका लोक है। जिस मस्तिष्क में क्षीर जैसी धवल, स्वच्छ, उज्ज्वल प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ भरी पड़ी हों, समझना चाहिए कि उसका अंतरंग क्षीरसागर है और उसे भगवान का लोक ही माना जाएगा

□

चक्र संस्थान और उसकी सिद्धि-सामर्थ्य

आत्मविद्या के अन्वेषकों ने सूक्ष्मजगत में भरे चेतन तत्त्वों की शोध बड़ी तत्परतापूर्वक प्राचीनकाल में की थी। इस काया में ही उन्होंने जड़ जगत का सारा प्रतिबिंब पाया। जो स्थूल संसार में है, वह सूक्ष्म रूप से मनुष्य की काया में भी विद्यमान है। इसलिए महँगे उपकरणों और साधनों द्वारा की जा सकने वाली प्रकृतिगत शोधों की अपेक्षा उनने यह अधिक उचित समझा कि काया को पृथ्वी की प्रतिक्रिया मानकर उसे खोजें और जो अन्वेषण-प्रयोग अभीष्ट हों, वे इस देह पर ही कर लें।

इन्हीं अन्वेषण प्रयोग के दौरान योगियों-आत्मविद्या के जानकारों ने जो निष्कर्ष प्राप्त किए उनके अनुसार योगाभ्यास की अनेक प्रक्रियाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण है—कुंडलिनी महाशक्ति। इस महाशक्ति का स्वरूप समझने एवं उपयोग जानने पर पाया गया कि कुंडलिनी का आधिपत्य मुख्य रूप से मानवी काया में ही अवस्थित दो केंद्रों पर है। इन केंद्रों की सामर्थ्य पृथ्वी के दो ध्रुवों—उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के समान है। कुंडलिनी साधना को मानवी काया में स्थित इन दो ध्रुवों पर किया जाने वाला आधिपत्य का प्रयोग माना जा सकता है। इस साधना के छोटे-बड़े अनेक स्तर के प्रयोग एवं परिणाम हैं। सर्वसुलभ आरंभिक प्रयोग भी इस साधना के हैं, उन्हें करने से भी सामान्य जीवन में तेजस्विता, प्रखरता एवं क्रियाशीलता भर सकती है। इस महाशक्ति की साधना के कठिन और उच्च स्तर के प्रयोग भी हैं, जो व्यक्ति की अंतरंग सत्ता को इतनी व्यापक बना सकते हैं कि वह ब्रह्मांड की महान सत्ताओं के साथ अपना संबंध जोड़ सके। इस ब्रह्मांड में इतना कुछ भरा पड़ा है कि मनुष्य की कल्पना तक उस सबको जानने-समझने में समर्थ नहीं हो सकती।

परंब्रह्म के अतुल वैभव को छू सकने की क्षमता जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाए, वह प्रकृति के समृद्ध भंडार से अभीष्ट मात्रा में जो चाहे सो प्राप्त कर सकता है और उस महाकोष में अपना अनुदान देकर विश्वव्यापी ब्रह्मचेतना को प्रभावित भी कर सकता है।

कुंडलिनी का मध्यवर्ती जागरण मनुष्य शरीर में एक अद्‌भुत प्रकार की तड़ित विद्युत उत्पन्न कर देता है। हमें एक ऐसे सिद्ध-पुरुष का परिचय है, जिसका शरीर भौतिक बिजली से हर घड़ी भरा-पूरा रहता है। उसे कोई स्पर्श नहीं कर सकता। छुए तो खुली बिजली छूने जैसा झटका लगे। वे हमेशा आँखें नीचे रखते हैं। आँख मिलाकर किसी की तरफ देखें, तो वह मूर्च्छित हो जाए। एक बार उन्होंने गौर से एक काँच को देखा और वह तत्काल टूटकर चूरा हो गया। यह शरीरगत विद्युत-प्रवाह था। यह धारा जब मनःक्षेत्र में प्रवाहित होती है, तो मनस्विता का बारापार नहीं रहता। नारद के आगे वाल्मीकि और बुद्ध के आगे अंगुलिमाल जैसे दुर्दांत दस्युओं का पानी-पानी हो जाना इसी मनस्विता का चमत्कार था। योग-साधना शरीर, मन और आत्मा के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण कलेवरों में न जाने कितनी सामर्थ्य उत्पन्न कर सकती है। कहना न होगा कि कुंडलिनी साधना योगाभ्यास की अति महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसे आरंभिक स्तर पर करने से भी भौतिक जीवन प्रखर एवं प्रतिभा-संपन्न बनाया जा सकता है। ऊँचे स्तर पर तो उस साधना की परिणति कितनी चमत्कारी हो सकती है, इसका उल्लेख कर सकना भी कठिन है।

शरीर मोटी दृष्टि से एक सजीव एवं चिंतनशील मांस-पिंड है। उसका क्रिया-कलाप पेट एवं प्रजनन पूर्ति की धुरी पर भ्रमण करता दीखता है, मन की लिप्सा, लोभ, मोह और अहंकार का खट्टा-मीठा रसास्वादन करने के लिए मचलती रहती है। महत्त्वाकांक्षाओं

में उछलता हुआ और निराशाओं से सिसकता जीवधारी ज्यों-त्यों करके मौत के दिन पूरे करता है और कठिनाई से भारभूत जिंदगी की लाश ढोता है। पदार्थ मिलते हैं और खिसक जाते हैं, व्यक्ति जुड़ते हैं और बिछुड़ जाते हैं। आशाओं और निराशाओं का, उपलब्धियों और असफलताओं का चक्र ऐसा है, जिसका न आदि है और न अंत। जीवधारी इसी कुम्हार के चाक पर गीली मिट्टी की तरह घूमता है और इसी चक्की के पाटों में पिसकर अपने अस्तित्व को गँवाता, बदलता चला जाता है। उत्पन्न होने, बढ़ने और बदलने की काल गति का ही एक घटक मनुष्य भी है। अन्य पदार्थों की तरह उसकी भी उठक-पटक होती रहती है।

शरीर का रासायनिक विश्लेषण अति तुच्छ और नगण्य है। उसमें प्रयुक्त हुए पदार्थों का बाजारू मूल्य सामान्य पशु-पक्षियों से भी कम है। मनुष्य शरीर के रक्त, मांस, अस्थि, चर्म को बाजार में बेचा जाए, तब एक जीवित मुरगे से भी कम दाम का बैठेगा। फिर भी मनुष्य की अपनी स्थिति है और अपनी गरिमा। यह उसकी चेतना का मूल्य है। यह चित् शक्ति दृश्यमान शरीर में स्फूर्ति, बलिष्ठता एवं सुंदरता के रूप में परिलक्षित होती है। सूक्ष्मशरीर में उसे ज्ञान-गरिमा, बौद्धिक प्रखरता एवं साहसिक मनस्विता के रूप में देखा जा सकता है। अंतिम अति सूक्ष्म-कारणशरीर में इसी चेतना में आस्था, आकांक्षा, स्नेह, सेवा, उदारता, करुणा जैसी दिव्य-विभूतियों का निवास रहता है।

इन तीनों शरीरों में जो चेतनात्मक ऊर्जा-चित्शक्ति काम करती है, उसे अंतरिक्षव्यापी ताप, शब्द, विद्युत, ईथर आदि के प्रचंड शक्ति-कंपनों से भी अधिक क्षमता संपन्न माना जा सकता है। जड़ और चेतन के बीच जितना आनुपातिक अंतर है, उतना ही विज्ञान परिचित भौतिक सामर्थ्यों और योगियों की जानी-मानी आत्मिक

क्षमता में। लेसर, मृत्युकिरण, अणु, ऊर्जा आदि के संबंध में रोमांचकारी चर्चाएँ सुनने को मिलती रहती हैं। आत्मिक शक्ति की सृजनात्मक शक्ति के बारे में उतनी ही गंभीरतापूर्वक समझा जा सके, तो प्रतीत होगा कि उसका मूल्यांकन अनिर्वचनीय है।

शरीर का एक नगण्य-सा घटक शुक्राणु एक नया मनुष्य रच सकता है। अणु की सौरमंडल से तुलना की जाती है। पिंड को—व्यक्ति को ब्रह्मांड का प्रतीक-प्रतिनिधि कहा गया है। यह तथ्य भी है और सत्य भी। ऐसी दशा में मानवी सत्ता की तुलना उस चिनगारी से की जा सकती है, जिसमें दावानल बनकर समस्त संसार को अपनी चपेट में ले सकने की क्षमता बीज रूप से विद्यमान है। अवसर मिले तो वह बीज विशाल वृक्ष की तरह सुविकसित हो सकता है और चिरकाल तक अपने जैसे असंख्य बीज उत्पन्न करता रह सकता है।

ब्राह्मी शक्ति के उभयपक्षीय प्रयोग हैं। उसके परिष्कृत होने पर मनुष्य महात्मा, देवात्मा और परमात्मा के स्तर पर पहुँच सकता है और इन तीनों समुन्नत चेतना वर्गों में जो दिव्य विभूतियाँ पाई जाती हैं, उनसे सुसंपन्न बन सकता है। इसी शक्ति को यदि भौतिक प्रगति की दिशा में लगा दिया जाए, तो व्यक्ति प्रखर प्रतिभावान बन सकता है, उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है और असंभव दीखने वाले कार्यों को संभव बनाता हुआ पग-पग पर विजयश्री वरण कर सकता है। ओजस्वी, मनस्वी और तेजस्वी व्यक्तियों की गुण-गरिमा से इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ आलोकित हो रहे हैं। ऐसे महामानवों की यश-गाथाएँ उन्हें मिले साधनों एवं अवसरों के कारण नहीं, वरन उनके अंतरंग में उभरी हुई चित् शक्ति के ऊपर ही आधारित रही है।

चित्-शक्ति को विकसित करने का विज्ञान ही योग एवं तप की संयुक्त प्रक्रिया बनकर विकसित हुआ है। स्थूलशरीर के अंतराल में

जो दो सूक्ष्मशरीर हैं उनकी मूर्च्छना जगाकर चेतना उत्पन्न कर देना—माया-मलिनता से छुड़ाकर दिव्य परिष्कृत बना देना—यही है साधना का उद्देश्य। समझा जाता है कि भक्तजनों अथवा योगी, तपस्वियों को कई तरह की जो ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलती हैं, वे किसी देव-दानव के अनुदान, अनुग्रह का प्रतिफल नहीं हैं। पर वास्तविकता यह है कि जो कुछ अद्भुत, असाधारण, अतींद्रिय कहा जाता है, वह भीतर से ही उभरता है। आत्मपरिष्कार का ही दूसरा नाम ईश्वर साक्षात्कार है, यह तथ्य यदि समझा जा सके तो हम सत्य को समझने वाले कहे जा सकेंगे।

आत्मसाधना के अनेक प्रयोग हैं। अनेकानेक परंपराओं में अगणित विधि-विधान बताए गए हैं। भारतीय साधना विज्ञान के अंतर्गत ८४ योग प्रधान हैं। उनकी शाखा-उपशाखाएँ बढ़ते-बढ़ते हजारों तक पहुँचती हैं। फिर संसार के अन्यान्य क्षेत्रों में प्रचलित साधनाओं की गणना करना और उनका लेखा-जोखा रखना तो और भी कठिन है। इन योग-साधनाओं में चक्रवेधन की एक प्रक्रिया ऐसी है, जिसका महत्त्व संसार भर के सभी योगाभ्यासियों ने स्वीकार किया है। षटचक्र वेधन के स्वरूपों और विधि-विधानों में थोड़ा अंतर मतभेद रहते हुए भी उनके अस्तित्व और प्रभाव को सर्वत्र स्वीकारा गया है। कुंडलिनी शक्ति जागरण की चर्चा साधना-क्षेत्र में बहुधा होती रहती है। यह चक्रवेधन में मिलने वाली सफलता की अंतिम परिणति है।

शरीर की नाड़ी-संस्थान में ज्ञान-तंतुओं में दौड़ने वाली विद्युत शक्ति से सभी परिचित हैं। टेलीफोन के तार तभी काम करते हैं जब उनके साथ बिजली का संबंध हो। इंद्रियों के माध्यम से मिलने वाली ज्ञान-संवेदनाएँ—मस्तिष्क में उठने वाली विचार एवं भाव-तरंगें इसी विद्युत शक्ति का चमत्कार हैं। शरीर में विद्युत चुंबकत्व से

भरी आँधी-तूफानों की परतें उठती रहती हैं और उनसे कई प्रकार के 'मूड' बनते-बिगड़ते हैं। जीवन की दिशाधारा इसी की प्रेरणा से विनिर्मित होती है। योगियों ने इस दिव्य चेतना प्रवाह के संबंध में बहुत कुछ जानने का प्रयास इसलिए किया है, जिससे उसका सदुपयोग करके अधिक लाभ उठाना संभव हो सके।

चित् शक्ति की शोध करते हुए पाया गया है कि मस्तिष्क के मध्य बिंदु में अवस्थित सहस्त्रारचक्र पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की तरह है और जननेंद्रिय के मूल में मूलाधारचक्र की स्थिति दक्षिणी ध्रुव जैसी है। ब्रह्मांड चेतना का व्यक्ति सत्ता के साथ संपर्क बनने और आदान-प्रदान होने के माध्यम यही दो शरीरकेंद्र हैं। इनमें सन्निहित शक्ति को ही जीवन-संचार की धुरी कहा जा सकता है। बुद्धि एवं श्रद्धा का केंद्र ऊपर है और प्रफुल्लता एवं बलिष्ठता की धुरी नीचे है। जननेंद्रिय मात्र काम-क्रीड़ा का आनंद लेने व संतान उत्पन्न करने का काम ही नहीं आतीं, उसके मूल में स्फूर्ति, कला, साहसिकता, प्रफुल्लता जैसी अगणित क्षमताएँ भरी पड़ी हैं। इन्हें भौतिक प्रगति का आधार कहा जा सकता है। जिसकी यह शक्ति नष्ट हो जाए उसे क्लीव-नपुंसक कहकर चिढ़ाया जाता है। यहाँ यौनाचार की क्षमता का नहीं, पौरुष का वर्णन है। मूलाधारचक्र को भौतिक शक्तियों का केंद्र कहा गया है।

मस्तिष्क का सहस्त्रार केंद्र—ज्ञान, बुद्धि आदि आत्मिक सामर्थ्यों का उद्गम है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि जैसी साधनाएँ मस्तिष्कीय क्षेत्र में ही की जाती हैं। भौतिक शक्तियों के केंद्र मूलाधार और आत्मिक शक्तियों के उद्गम सहस्त्रार के बीच एक कड़ी है, जिसे बोल-चाल की भाषा में मेरुदंड और अध्यात्म की परिभाषा में सुषुम्ना संस्थान कहते हैं। रीढ़ की हड्डी का क्या महत्त्व है? इसे शरीरशास्त्र के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं। इसके अंतराल में

प्रवाहित होने वाले विद्युत-प्रवाह के साथ उच्चस्तरीय विभूतियाँ जुड़ी हुई हैं। इसे तत्त्वदर्शी आत्मवेत्ता भली प्रकार जानते हैं। इस संस्थान में प्रचंड वेगवान विद्युत धाराएँ बहती हैं। इसके दो स्वरूप हैं—एक ऋण, दूसरा धन—एक नेगेटिव दूसरा पॉजिटिव। ऋण को इड़ा और धन को पिंगला कहते हैं। दोनों जब भी परस्पर मिलती हैं, तो शक्तिधारा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस मिलन- प्रक्रिया को सुषुम्ना कहते हैं। इन्हें नाड़ियाँ भी कहा जाता है, पर यह शब्द प्रयोग से किसी को 'नस' का अर्थ नहीं लेना चाहिए। नाड़ी शब्द का एक अर्थ 'नस' भी होता है, पर यहाँ उस प्रकार की कोई बात नहीं है। यहाँ दो विद्युत धाराओं का संकेत है। मेरुदंड को चीरकर उसमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाम की कोई उस तरह की नसें नहीं देखी जा सकतीं, जैसा कि योगशास्त्र में उनका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। संक्षेप में मस्तिष्क और जननेंद्रिय तथा मस्तिष्क रूपी दो अति महान शक्तिकेंद्रों के बीच निरंतर दौड़ने वाले विद्युत-प्रवाह को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की संयुक्त प्रक्रिया कह सकते हैं। अलंकार रूप में इसी को गंगा, यमुना और सरस्वती के मिलन से बनने वाली त्रिवेणी की उपमा दी गई है।

तीव्र प्रवाह की नदियों में प्राय: 'भँवर' पड़ते रहते हैं। जब हवा तेज और गरम होती है, तो ग्रीष्म ऋतु में चक्रवात उठते हैं। पानी में भँवर और हवा में चक्रवात की तरह सुषुम्ना संस्थान में प्रवाहित रहने वाली 'चित्-शक्ति' को अति प्रचंड प्रवाह विद्युत धारा माना गया है। उसमें भी भँवर पड़ते हैं। उन्हें शक्तिचक्र कहते हैं। योगशास्त्र में इनकी गणना है।

पौराणिक उपाख्यान में पुरुषार्थ का प्रतीक और शक्ति का पुत्र कार्तिकेय स्कंद को माना गया है। यह यों शक्ति पार्वती के पुत्र हैं, पर शिवपुराण के अनुसार उन्हें छह कृतिकाओं ने पाला। अग्नि ने उन्हें

गर्भ में धारण किया। शिव का रेतस् अग्नि के रूप में ही स्फुरित हुआ और उसे वैश्वानर ने नारी के रूप में ग्रहण करके अपने भीतर ही परिपक्व किया। अगणित व्यवधानों के प्रतीक यातुधानों ने देव जीवन को दुर्लभ बना रखा था, उसका निराकरण इन कार्तिकेय स्कंद द्वारा ही संपन्न हुआ। इन शक्तिपुत्र के छह मुख थे।

इस स्कंद अवतरण को कुंडलिनी महाशक्ति से संबंधित षटचक्र समूह और उसके प्रभाव का वर्णन ही समझना चाहिए। जननेंद्रिय मूल में अवस्थित आधार अग्नि का नाम ही कुंडलिनी है। शिव रूप सहस्रार के जाग्रत-प्रफुल्लित होने पर उसका जो पराग मकरंद निर्झरित हुआ उसे शिव 'रेतस्' कहना चाहिए। कुंडलिनी आधार अग्नि ने उसे ग्रहण किया। छह कृतिकाओं ने उसे परिपक्व किया। ये छह कृतिकाएँ छह चक्र ही हैं। शिव और शक्ति का यह समन्वय-संयोग स्कंदरूपी महापराक्रम के रूप में प्रकट होता है। इसके छह मुख थे। छह कृतिकाओं द्वारा परिपोषित छह मुख वाले कार्तिकेय को अलंकार के रूप में षटचक्रों का प्रभाव-परिणाम ही माना जाए।

मूलाधार के ऊपर मेरुदंड के सहारे क्रमशः ऊपर उठते हुए छह चक्र हैं, यह ब्रह्मरंध्र से जुड़े हुए शक्ति-सामर्थ्यों के विशिष्ट पावर हाउस, या माइक्रोवेव स्टेशन कहे जा सकते हैं। नाभि की सीध में मूलाधार से ऊपर स्वाधिष्ठानचक्र, नाभि और हृदय के मध्य मणिपूर, हृदयस्थित अनाहत, कंठ में विशुद्धिचक्र तथा भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र, ब्रह्मरंध्र में अवस्थित सहस्रार को गिनें, तो इनकी संख्या सात हो जाती है। इन स्थानों का परिचय वहाँ उपस्थित देव शक्तियों, वाहन, वर्ण, अक्षरतत्त्व आदि के माध्यम से दिया जाता है; ताकि साधक जब उनका वेधन करें, तो उसे यात्रा की तरह यह जानकारी बनी रहे कि उसकी स्थिति और प्रगति कहाँ तक हुई?

षटचक्र क्या है, कहाँ है, क्यों है, किस स्थिति में है, उनका क्या प्रयोजन है? इन प्रश्नों की यहाँ प्रारंभिक जानकारी ही प्राप्त कर लेनी चाहिए। उनके प्रयोग-उपयोग का शिक्षण भिन्न है और साधक की शारीरिक-मानसिक स्थिति के अनुरूप उन्हें सिखाने का विधान है। जननेंद्रिय के मूल में मेरुदंड का जहाँ अंत होता है, उस 'बीच जितना पोला स्थान' है, उसे साधनात्मक भाषा में योनि कंद कहते हैं। स्थूल शरीरशास्त्र के अनुसार वहाँ सुषुम्ना नाड़ी-गुच्छक भर हैं, पर सूक्ष्मशरीर रचना विज्ञान के अनुसार यहाँ एक विशेष अवयव है, जिसे मूलाधारचक्र कहते हैं। इसके नीचे की पीठ कछुए जैसी है इसे कूर्म कहते हैं। इसके ऊपर एक छोटा मेरुदंड है, उसे सुमेरु कहते हैं। इसके चारों ओर साढ़े तीन फेरे लगाए हुए एक शक्तिसूत्र विद्यमान है। बस यही मूलाधार है। इसे सब मिलाकर एक कुंड गह्वर में अवस्थित गेंद-कंद की समता देकर समझाया जा सकता है। प्रथम चक्र यही है। कुंडलिनी का मूल स्थान यही है। ईंधन न मिलने से जैसे अग्निकुंड में आग तो बुझ-सी जाती है, पर वहाँ गरमी बनी रहती है। यही स्थिति सामान्यतः सभी साधारण व्यक्तियों की होती है। प्रयत्न करने से प्राणरूपी ईंधन देने से यह प्रदीप्त होती है। उसकी लौ ऊपर उठती है।

षटचक्र नाम से सभी परिचित हैं, वस्तुतः यह छह नहीं सात हैं। सातवाँ सहस्रार है। उसे सबका अधिपति मानकर गणना से बाहर रखा गया है। इस प्रकार यह सात शक्तिचक्र, सात लोकों के सात ऋषियों के, सप्त धातुओं के, सप्तद्वीपों के प्रतीक समझे जा सकते हैं।

चक्रों में अंतर्हित शक्तियों और आकृतियों का उल्लेख साधना-शास्त्र में अनेक स्थानों पर मिलता है। उनमें थोड़ा मतभेद तो है, पर सामान्यतः उनकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार दी गई है—

(१) मूलाधार—तत्त्व—पृथ्वी। रंग—पीला। तन्मात्रा—गंध। ध्वनि—लं। भू—लोक। स्थान—मल-मूत्र छिद्रों का मध्य। (२) स्वाधिष्ठान—तत्त्व—जल। रंग—सफेद। तन्मात्रा—रस। ध्वनि—वं। भुव—लोक। स्थान—पेडू की सीध। (३) मणिपूर—तत्त्व—अग्नि। रंग—लाल। ध्वनि—रं। लोक—स्वः। तन्मात्रा—रूप। स्थान—नाभि की सीध। (४) अनाहत—तत्त्व—वायु। रंग—धूम्र। ध्वनि—यं। तन्मात्रा—स्पर्श। लोक—महः। स्थान—हृदय की सीध। (५) विशुद्ध—तत्त्व—आकाश। रंग—नील। तन्मात्रा—शब्द। लोक—जन। ध्वनि—इं। स्थान—कंठमूल की सीध। (६) आज्ञाचक्र—लोक—तप। ध्वनि—ॐ। रंग—श्वेत। स्थान—भृकुटियों के मध्य। (७) सहस्रार—लोक सत्य। आकृति—सहस्रदल कमल। रंग—स्वर्णिम। मस्तिष्क के मध्य में 'रैटिकुलर ऐक्टिवेटिंग सिस्टम' से उसकी संगति बैठती है।

सात चक्रों में सन्निहित शक्ति-स्रोतों की तुलना किन भौतिक संस्थानों से, संप्रदाओं से, चेतनाओं से की जा सकती है। इसका तुलनात्मक आलंकारिक उल्लेख साधना ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है—

महास्थतीर्थे विमले जले मुदा।
मूलाम्बुजे स्नाति स मुक्तिभाग्भवेत्॥

—महायोग विज्ञान

पृथ्वी के समस्त तीर्थ मूलाधारचक्र में निवास करते हैं। उसमें जो स्नान करता है, मुक्त हो जाता है।

स्वर्गस्थं यावता तीर्थं स्वाधिष्ठाने सुपङ्कजे।
मनो निधाय योगीन्द्रः स्नाति गङ्गाजले तथा॥
मणिपूरे देवतीर्थं पञ्चकुंड सरोवरम्।
तत्र श्रीकामना तीर्थं स्नाति यो मुक्तिमिच्छति॥

अनाहते सर्व तीर्थं सूर्यमंडलमध्यगम्।
विभाय सर्वतीर्थाणि स्नाति यो मुक्तिमिच्छति॥

—महायोग विज्ञान

स्वर्गस्थ तीर्थ स्वाधिष्ठानचक्र में विद्यमान है। यहाँ निवास करने वाली देव गंगा में योगी लोग स्नान करते हैं। मणिपूरचक्र देवतीर्थ है, उसमें पंचकुंड सरोवर हैं। वहाँ श्री कामतीर्थ है। अनाहत चक्र में सूर्यमंडल में वर्तमान समस्त तीर्थों का निवास है। इनमें स्नान करने वाले उन पुण्य लोकों के अधिकारी होते हैं।

मूलाधारे तु भूर्लोको स्वाधिष्ठाने भुवस्ततः।
स्वर्लोको नाभिदेशे च हृदये तु महस्तथा॥
जनलोकं कण्ठदेशे तपोलोकं ललाटके।
सत्यलोकं महारन्ध्रे यति लोकाः पृथक् पृथक्॥
तलम्पादाङ्गुष्ठतले तस्योपरि तलातलम्।
महातलं गुल्फमध्ये गुल्फोपरि रसातलम्॥
सुतलं जङ्घयोर्मध्ये वितलं जानुमध्यगम्।
ऊर्वोर्मध्ये तलम्प्रोक्तं सप्तपातालमीरितम्॥

—महायोग विज्ञान

मूलाधारचक्र में भूलोक, स्वाधिष्ठान में भुवलोक, नाभि में महलोक, कंठ में जनलोक, ललाट में तपलोक और ब्रह्मरंध्र में सत्यलोक है। इस प्रकार नीचे के भाग में सात पाताल लोक हैं। पैरों के तले में तललोक, पाँव के ऊपर भाग में तलातल लोक, गुल्फ के बीच महातल, गुल्फ के ऊपर रसातल, जंघाओं के मध्य वितल, उरुओं के मध्य पाताल है। इस प्रकार कटि से ऊपर सात और नीचे सात—कुल चौदह भुवन इसी शरीर में विद्यमान हैं। जो इस तथ्य को जानता है, दुःखों से छूटकर परमसुखी हो जाता है।

देहेऽस्मिन् वर्त्ततो मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्व्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्व्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।

—*महायोग विज्ञान*

इसी शरीर में सुमेरु, सातों द्वीप, समस्त नदियाँ, सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि-मुनि, नक्षत्र, ग्रह, तीर्थ, पीठ, पीठ देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चंद्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी समस्त प्राणी जो कुछ संसार में हैं, सो सब इस सुमेरु (कुंडलिनी स्थित मेरु अथवा मेरुदंड) से लिपटे बैठे हैं और अपने-अपने कार्य कर रहे हैं। जो इस सबको जानता है, वही योगी है।

उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि यह शरीरमात्र सप्त धातुओं का ही बना नहीं है। उसमें (१) रस (२) रक्त (३) मांस (४) मज्जा (५) अस्थि (६) मेद (७) वीर्य ही नहीं, वरन उनके भीतर और भी दिव्य तत्त्व हैं। ये सातों धातुएँ सात चक्रों से प्रभावित होती हैं और हमारा शरीर अविज्ञात रूप से उन्हीं के द्वारा स्वस्थ-अस्वस्थ होता रहता है। आहार-व्यायाम ही नहीं, अंतरंग की गुह्य स्थिति जो चक्रों से संबंधित है, यदि ठीक प्रकार संचारित होती रहे, तो आरोग्य और दीर्घ जीवन की संभावनाएँ प्रखर हो सकती हैं। गुह्य स्थिति अस्त-व्यस्त रहे, तो पौष्टिक आहार और बहुत साज-सँभाल रखने पर भी शरीर दुर्बल एवं अस्वस्थ ही बना रहेगा। यही बात मनःसंस्थान की है। चेतना के विभिन्न स्तर इन चक्रों से प्रभावित होते हैं और चेतन-अचेतन मस्तिष्क के अवसाद को चेतना के उत्कर्ष में परिणत

किया जा सकता है। ऋद्धियों-सिद्धियों का जो चमत्कारी वर्णन साधना ग्रंथों में मिलता है। उतना ही नहीं, वरन उससे भी अधिक उपलब्धियाँ अपने भीतर भरे शक्ति-भंडार के साधना विज्ञान के आधार पर अभीष्ट प्रयोजनों के लिए उपयोग कर सकने योग्य बनाया जा सकता है।

जीवन एक यज्ञ है। मात्र हवन कुंडों में संपन्न होने वाले अग्निहोत्र ही यज्ञ नहीं हैं। शरीर-पिंड और विराट् ब्रह्मांड में उनके स्तर के अनुरूप छोटे और बड़े रूप से यह सूक्ष्म यज्ञ चलता रहता है। चक्रों को सात कुंड कहा जा सकता है, उनमें सात अग्नियों की स्थापना सात ऋषियों का पौरोहित, सात देवताओं का आह्वान, सात चरु, सात परिणाम भी यह साधना यज्ञ के होते हैं, इसे कुंडलिनी विद्या के अंतर्गत चक्र जागरण की प्रक्रिया द्वारा संपन्न किया जाता है—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥ ८॥

—मुण्डकोपनिषद २।१।८

सप्त प्राण उसी से उत्पन्न हुए। अग्नि की सात ज्वालाएँ, सप्त समिधाएँ, सात यज्ञ, सात लोक—ये सातों उस परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं।

भूर्लोकस्था त्वमेवासि धरित्री शोकधारिणी।
भुवोर्लोके वायुशक्तिः स्वर्लोके तेजसां निधिः॥
महर्लोके महासिद्धिर्जनलोके जनेत्यपि।
तपस्विनी तपोलोके सत्यलोके तु सत्यवाक्॥

—देवी भागवत १२।५।१२-१३

सात लोकों में आप सात शक्ति होकर विद्यमान हैं और उनका संचालन करती हैं। (१) भूलोक में धरित्री, (२) भुवर्लोक में वायु, (३) स्व:लोक में तेजपुंज, (४) मह:लोक में महासिद्धि, (५) जन:-लोक में जनन शक्ति, (६) तप:लोक में तपस्विनी, (७) सत्यलोक में सत्य वाक्।

सात चक्रों की भाँति शरीर में अन्यत्र भी कितने शक्ति-स्रोत हैं। इन्हें ग्रंथि उपत्यिका आदि कहते हैं। मस्तिष्क में विष्णुग्रंथि, हृदय में ब्रह्मग्रंथि और नाभि में रुद्रग्रंथि का स्थान है। यहाँ भी थोड़ा मतभेद है। हृदय स्थान में विष्णुग्रंथि और मस्तिष्क में ब्रह्मग्रंथि भी कही गई है। हमें इन नामभेदों में भी नहीं उलझना चाहिए और समझना चाहिए कि न केवल मेरुदंड में वरन मस्तिष्क हृदय एवं नाभि में ऐसे ही महत्त्वपूर्ण शक्तिचक्र हैं और उनका वेधन करने का विधान 'ग्रंथिभेद' के नाम से वर्णित है। यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है—वेध शब्द का सामान्य अर्थ 'छेद' कर देना होता है। पर अध्यात्म की परिभाषा में उसे 'जागरण' अर्थ में प्रयोग किया गया है।

शरीर के पृष्ठ भाग के—सुषुम्ना संस्थान के षटचक्रों की तरह काया के अग्र भाग में भी छह चक्र अवस्थित हैं। उन्हें सूर्यचक्र, अग्निचक्र, अमृतचक्र, प्रभंजनचक्र, तड़ितचक्र, सोमचक्र कहा गया है।

पर्वतों से भरा जल जब एकत्रित होकर किसी स्थान विशेष से फूटता है, तो उसे 'झरना' कहते हैं। झरनों के उद्गम स्थान पर जलधारा कितनी प्रचंड होती है? ऊपर से नीचे गिरने पर वहाँ कितना कोलाहल होता है और कितनी उथल-पुथल मचती है, उसे सभी जानते हैं। चक्र संस्थानों को भँवर, चक्रवात की ही तरह एक उपमा झरना फटने की भी दी जा सकती है। ज्वालामुखी के छेद अकसर अग्नि, धुआँ या दूसरी चीजें उगलते रहते हैं। चक्रों से भी

उसी प्रकार का प्रकटीकरण होता रहता है। समुद्री लहरों से असीम विद्युत शक्ति उपलब्ध करने की तैयारियाँ हो रही हैं। चक्र संस्थान में उबलती शक्ति का उपयोग कर सकना उनके लिए संभव होता है, वे उसका ऐसा लाभ उठा सकते हैं, जिसे देव क्षमता कहकर संबोधित किया जा सके।

हारमोन ग्रंथियों के संबंध में खोज करने वाली शरीरशास्त्री आश्चर्यचकित हैं कि इन नन्हीं-सी ग्रंथियों से निकलने वाले रस मात्रा में कुछ ही बूँद होते हैं, पर शारीरिक और मानसिक स्थिति को कितना अधिक प्रभावित करते हैं। अंडकोश, गुरदे, जिगर, तिल्ली, पौरुष ग्रंथियाँ आदि को बड़ी ग्रंथियाँ ही कह सकते हैं। उनका क्रिया-कलाप स्थूल होने से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। हारमोन ग्रंथियों का रहस्योद्घाटन इससे बहुत कठिन है और बहुत माथापच्ची करने के बाद भी ठीक तरह पकड़ में नहीं आ रहा है। सूक्ष्म ग्रंथियाँ जिन्हें चक्र कहते हैं, इंद्रियों एवं उपकरणों की पहुँच से बाहर हैं। उन्हें जाग्रत अंतर्दृष्टि से ही देखा, समझा एवं प्रयोग में लाया जा सकता है। सूक्ष्म विज्ञान के आधार पर ही उनका अनुभव एवं उपयोग संभव होता है।

हठयोग-साधना के अंतर्गत आने वाले मेरुदंड के सुषुम्ना संस्थान में अवस्थित छह चक्रों के नाम हैं— (१) मूलाधारचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र, (३) मणिपूरचक्र, (४) अनाहतचक्र, (५) विशुद्धचक्र, (६) आज्ञाचक्र।

इनमें शरीरशास्त्रियों ने चार को नाड़ी-गुच्छकों के रूप में मान्यता दे दी है। मूलाधारचक्र को पेल्विक प्लैक्सस। मणिपूरचक्र को—सोलर प्लैक्सस। अनाहतचक्र को—कॉर्डियल प्लैक्सस और विशुद्धचक्र को—फैरिंजियल प्लैक्सस नाम से निश्चित कर दिया गया है। शेष दो के बारे में प्राचीन व्याख्या एवं नवीन वास्तविकता में

थोड़ा अंतर एवं मतभेद है। आशा की जानी चाहिए कि वह गुत्थी भी निकट भविष्य में सुलझ ही जाएगी।

चक्र संस्थान के जागरण के फलस्वरूप मिलने वाली षट संपत्तियों का वर्णन मिलता है। इन्हें आध्यात्मिक उपलब्धियाँ कह सकते हैं।

षट संपत्ति ये हैं—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) श्रद्धा, (६) समाधान।

शम—अर्थात शांति उद्वेगों का शमन। दम—इंद्रियों का दमन करने की क्षमता। उपरति—दुष्टता से घृणा। तितिक्षा—कष्टों को धैर्यपूर्वक सहना। श्रद्धा—सन्मार्ग में प्रगाढ़ निष्ठा, विश्वास और भावना का समन्वय। समाधान—संशयों और लालसाओं से छुटकारा।

यह गुण-कर्म-स्वभाव की विशेषताएँ हैं। उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व से मनुष्य ऊँचा उठता है और ब्रह्मपरायण व्यक्ति को मिलने वाले आंतरिक संतोष, उल्लास और बाह्य सम्मान, सहयोग का अधिकारी बनाता है।

इसके अतिरिक्त आत्मिक प्रगति के भौतिक लाभ भी कितने ही हैं। जिन्हें सिद्धियों के नाम से पुकारा गया है। आत्मिक सफलताओं के संपत्ति एवं विभूति दो नाम हैं। भौतिक प्रगति को समृद्धि एवं सिद्धि के नाम से संबोधित किया जाता है। दोनों के सम्मिलित परिणाम को अतींद्रिय क्षमता विकास के रूप में देखा जा सकता है।

श्री आद्य शंकराचार्य ने आठ सिद्धियाँ ये गिनाई हैं—(१) जन्मसिद्धि, (२) शब्दज्ञान सिद्धि, (३) शास्त्रज्ञान सिद्धि, (४) आधिदैविक ताप सहन शक्ति, (५) आध्यात्मिक ताप सहन शक्ति, (६) आधिभौतिक ताप सहन शक्ति, (७) विज्ञान सिद्धि, (८) विद्या शक्ति।

जन्मसिद्धि का अर्थ है—पूर्व जन्मों की स्थिति का आभास, पूर्व-जन्मों के संबंधियों के प्रति सहज आकर्षण तथा उनके और अपने पूर्व संबंधों की जानकारी।

शब्द सिद्धि का अर्थ है—शब्दों के साथ जुड़ी हुई भावना का आभास। शब्दों की शक्ति बड़ी सीमित है और उससे कुछ-का-कुछ उलटा-सीधा अप्रासांगिक अर्थ भी निकल सकता है। कहने वाले की भावना का सही अनुमान वही लगा सकता है, जिसका अंत:करण पवित्र हो।

शास्त्रसिद्धि का तात्पर्य है—शास्त्रकार की मूल भावना को समझना और यह जानना कि यह प्रतिपादन किस देश, काल, पात्र को ध्यान में रखकर किया गया है। कोई सिद्धांत या प्रतिपादन सार्वभौम या सर्वकालीन नहीं होता। यह शास्त्रवचन किस प्रकार प्रयुक्त करना चाहिए, यह सूक्ष्म ज्ञान होना ही शब्द की सिद्धि है।

आधिदैविक ताप सहन शक्ति का अर्थ है—दैवी प्रकोप अथवा प्रारब्ध जन्मयोग के कारण आकस्मिक-अनायास विपत्तियाँ उत्पन्न हो जाने, प्रियजनों के कारण बिछोह आदि के अवसर उपस्थित हो जाने पर उन शोक-संवेदनाओं का धैर्यपूर्वक सहन करना।

आध्यात्मिक ताप सहन शक्ति का तात्पर्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि उद्वेगों को नियंत्रण में रखना। इंद्रियों अमर्यादित योग को छूट न देना, मन को उच्छृंखल न होने देना। सतत अवरोध से भीतर जो असंतोष उत्पन्न होता है, उसको हँसते हुए टाल देना।

आधिभौतिक ताप सहन शक्ति का अर्थ है—सरदी, गरमी, भूख-प्यास, नींद, रोग, चोट आदि के शरीर कष्टों को समय पड़ने पर शांतिपूर्वक सह लेना और चित्त को अशांत उद्विग्न न होने देना।

विज्ञान शक्ति का अर्थ है—शुद्ध अंत:करण, निर्मल चरित्र, संतुलित मन, सौम्य स्वभाव और हँसमुख प्रकृति, निरालस्यता, स्फूर्तिवान और नियम-पालन की तत्परता, कर्त्तव्यपालन में प्रगाढ़ निष्ठा, उदार-व्यवहार में संतोष।

विद्या शक्ति अर्थात—आत्मा के स्वरूप, उद्देश्य तथा कर्त्तव्य भावना और विश्वास भरी निष्ठा, ईश्वर पर विश्वास, आत्मा को सर्वव्यापी समझकर सबको अपना ही समझना और आत्मीयता भरा व्यवहार करना, प्रेम भावनाओं का उभार, उद्वेग और आवेशों से निवृत्ति।

अतिवादी या अति उच्चस्तरीय अपवाद रूप में कहीं-कहीं, कभी-कभी सुनी-देखी जाने वाली सिद्धियों में (१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशत्व, (८) वशित्व का वर्णन मिलता है।

अणिमा अर्थात—शरीर को अणु के समान सूक्ष्म बना लेना। महिमा अर्थात—बहुत बड़ा कर लेना। गरिमा अर्थात—बहुत भारीपन। लघिमा अर्थात—बहुत हलकापन। प्राप्ति—दूरस्थ वस्तु की समीपता। प्राकाम्य—मनोरथों की पूर्ति। ईशत्व—स्वामित्व, अभीष्ट वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति पर अधिकार। वशित्व—वशवर्ती बना लेना।

अष्टसिद्धियों का दूसरा वर्णन एक और भी मिलता है—(१) परकायाप्रवेश, (२) जलादि में असंग, (३) उत्क्रांति, (४) ज्वलन, (५) दिव्य श्रवण, (६) आकाश गमन, (७) प्रकाश आवरण क्षय, (८) भूत जय।

इस प्रकार के चमत्कार इन दिनों देखे नहीं जाते। जो दीखते हैं उनमें छल की मात्रा ही प्रमुख होती है। ऐसी दशा में हमें अनुभव में न आने वाली सिद्धियों पर ध्यान देने की अपेक्षा इतना ही सोचना है कि चक्रवेधन जैसी योग-साधनाओं का आश्रय लेकर हम सहज ही अपनी आत्मिक और भौतिक सामर्थ्यों को जगा सकते हैं और उस दिशा से मिलने वाली सफलता का इतना लाभ ले सकते हैं, जितना सामान्य पुरुषार्थ से संभव नहीं हो सकता। □

दिव्यशक्तियों का केंद्र—सहस्त्रार एवं ब्रह्मरंध्र

पिंड को ब्रह्मांड का एक छोटा-सा नमूना बताया गया है। वृक्ष का सारा कलेवर एक छोटे-से बीज में समाया रहता है। नन्हें क्षुद्र कीट में मनुष्य शरीर का सारा ढाँचा विद्यमान है। सौरमंडल के ग्रहों का पारस्परिक आकर्षण और क्रिया-कलाप जिस प्रक्रिया से चलता है, उसकी एक नन्हीं-सी प्रक्रिया परमाणु परिवार के इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि प्रदर्शित करते हैं। इसीप्रकार समस्त ब्रह्मांड मनुष्य देह-पिंड में—एक लघु कलेवर में दृष्टिगोचर होता है। हमारी इसी छोटी-सी देह में वह सब कुछ विद्यमान है, जो इस निखिल विश्व-ब्रह्मांड में उपस्थित दृश्य और अदृश्य इकाइयों में पाया जाता है। इस पृथ्वी की समस्त विशेषताओं को भी हम अपनी इस छोटी-सी देह में विद्यमान देख सकते हैं।

पृथ्वी की समस्त शक्तियों, विशेषताओं और विभूतियों के उसके संतुलन बिंदु—उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव हैं। यहीं से सूत्र-संचालन होता है, जिसके कारण यह धरती एक सजीव पिंड एवं अगणित जीवधारियों की क्रीड़ा-स्थली बनी हुई है। यदि ध्रुवों की स्थिति में किसी प्रकार आघात पहुँच जाए या परिवर्तन उपस्थित हो जाए तो फिर इस भूमंडल का स्वरूप बदलकर कुछ और ही तरह का हो जाएगा। कहा जाता है कि किसी ध्रुव के संतुलन केंद्रबिंदु पर यदि एक घूँसा मार देने जितना आघात भी पहुँचा दिया जाए, तो यह पृथ्वी अपनी कक्षा से लाखों-करोड़ों मील इधर-उधर हट जाएगी और तब दिन, रात्रि, ऋतु, वर्षा, सरदी, गरमी आदि का सारा स्वरूप ही बदलकर किसी दूसरे क्रम में परिणत हो जाएगा। यह छोटा-सा घूँसा—आघात भू-पिंड को किसी अन्य ग्रह-नक्षत्र से टकराकर चूर-चूर हो जाने की स्थिति में डाल सकता है। कारण स्पष्ट है—

ध्रुव ही तो धरती का सारा नियंत्रण करते हैं और उन्हीं के शक्ति-संस्थान कठपुतली की तरह इस भूमंडल को विभिन्न क्रीड़ा-कलाप करने की प्रेरणा एवं क्षमता प्रदान करते हैं। दोनों ध्रुव ही तो उसकी क्रिया और चेतना के केंद्र बिंदु हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में चेतना एवं क्रिया उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों से प्राप्त होती है, उसी प्रकार मानव-पिंड देह के भी दो ही अति सूक्ष्म संस्थान हैं। उत्तरी ध्रुव हैं—ब्रह्मरंध्र, मस्तिष्क, सहस्रार कमल और दक्षिणी ध्रुव हैं—सुषुम्ना स्थान, कुंडलिनी केंद्र, मूलाधारचक्र। पौराणिक गाथा के अनुसार क्षीरसागर में सहस्र फन वाले शेषनाग पर विष्णु भगवान शयन करते हैं। यह क्षीरसागर मस्तिष्क में भरा सघन श्वेत परमाणु सघन स्नेह सरोवर ही है। सहस्रार कमल एक ऐसा परमाणु है, जो अन्य कोशों की तरह गोल न होकर आरी के दाँतों की तरह कोण-कलेवरों से आवेष्टित हैं। इन दाँतों को स्व फल कहते हैं। चेतना का केंद्रबिंदु इसी ध्रुवकण में प्रतिष्ठित है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों के अगणित घटकों को जो इंद्रियजन्य एवं अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त होता है, उसका आधार यही ध्रुव विष्णुचक्र अथवा सहस्रार कमल है, ध्यान से लेकर समाधि तक और आत्मचिंतन से लेकर भक्ति योग तक की सारी आध्यात्मिक साधनाएँ तथा मनोबल, आत्मबल एवं संकल्पजन्य सिद्धियों को केंद्रबिंदु इसी स्थान को माना गया है।

दक्षिणी ध्रुव, सहस्रारचक्र मस्तिष्क के मध्य में अवस्थित बताया गया है। सिर के मध्य में एक हजार पंखुड़ियों का कमल है, उसे ही सहस्रारचक्र कहते हैं। उसी में ब्राह्मी शक्ति या शिव का वास बताया गया है। यहीं आकर कुंडलिनी शिव से मिल गई है। यहीं से सारे शरीर की गतिविधियों का उसी प्रकार संचालन होता है, जिस प्रकार परदे में बैठा हुआ कलाकार उँगलियों को गति दे-देकर कठपुतलियों

को नचाता है। इसे आत्मा का स्थान आदि कहते हैं। विराट् ब्रह्मांड में हलचल पैदा करने वाली सारी सूत्रशक्ति और विभाग इसी सहस्रार के आस-पास फैले पड़े हैं।

शास्त्रों में कुंडलिनी को अनेक शक्तियों और सिद्धियों का प्राण कहा है। सुषुप्त पड़ी कुंडलिनी को जाग्रत कर लेने वाला इस लोक के अनंत ऐश्वर्य का स्वामी बन जाता है। भारतवर्ष में इस विद्या की शोध की गई है। कुंडलिनी शक्ति की कोई सीमा और थाह नहीं है।

किंतु कुंडलिनी जाग्रत कर लेना जीव का अंतिम लक्ष्य नहीं है। जीव का अंतिम लक्ष्य है—मोक्ष की प्राप्ति या ब्रह्म-निर्वाण। अपने आप को ब्रह्म की सायुज्यता में पहुँचा देना ही मनुष्य देह धारण करने का उद्देश्य है। अनेक साधन और योग उसी के लिए बने हैं। कुंडलिनी का भी वही उद्देश्य है। उस पर अपनी टिप्पणी करते हुए हठयोग प्रदीपिका में लिखा है—

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

—१०५

अर्थात जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बल से द्वार पर लगी हुई अर्गला आदि को ताली से खोलता है, उसी प्रकार योगी कुंडलिनी के अभ्यास द्वार सुषुम्ना के मार्ग का भेदन करता है और ब्रह्मलोक में पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

इस सहस्रारचक्र तक पहुँचने पर ही साधक को अमृतपान का सुख, विश्वदर्शन, संचालन की शक्ति और समाधि का आनंद मिलता है। उपर्युक्त श्लोक में जिस स्थान को ब्रह्मलोक कहा गया है, वह यही सहस्रारचक्र है। यहाँ तक पहुँचना बहुत कठिन होता है। अनेक साधक तो नीचे के ही चक्रों में रह जाते हैं और उनमें जो आनंद मिलता है, उसी में लीन हो जाते हैं। इसलिए

कुंडलिनी साधना द्वारा मिलने वाली प्रारंभिक सिद्धियों को बाधक माना गया है। जिस प्रकार धन-वैभव, ऐश्वर्य और सौंदर्यवती युवती पत्नियों का सुख पाकर मनुष्य संसार को ही सब कुछ समझ लेता है, उसी प्रकार कुंडलिनी का साधक भी बीच के ही छह चक्रों में दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूसरों के मन की बात जानना, भविष्य दर्शन आदि अनेक सिद्धियाँ पाकर उनमें ही आनंद का अनुभव करने लगता है और परम पद का लक्ष्य अधूरा ही रह जाता है।

सहस्रारचक्र में पहुँचकर भी साधक बहुत समय तक उस पर स्थिर नहीं रह पाते हैं। वह साधक की आंतरिक और आध्यात्मिक शक्ति तथा साधना के स्वरूप पर निर्भर है कि वह सहस्रार में कितने समय तक रहता है? उसके बाद वह फिर निम्नतर लोकों के सुखों में जा भटकता है, पर जो अपने सहस्रार को स्थायी रूप से प्राप्त कर लेते हैं, वह पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त कर अनंतकाल तक ऐश्वर्य सुखोपभोग करते हैं।

सहस्रार दोनों कनपटियों से २-२ इंच अंदर और भौहों से भी लगभग ३-३ इंच अंदर मस्तिष्क के मध्य में 'महाविवर' नामक महाछिद्र के ऊपर छोटे-से पोले भाग में ज्योतिपुंज के रूप में अवस्थित है। कुंडलिनी साधना द्वारा इसी छिद्र को तोड़कर ब्राह्मी स्थिति में प्रवेश करना पड़ता है, इसलिए इसे 'दशम द्वार' या ब्रह्मरंध्र भी कहते हैं। ध्यानबिंदूपनिषद में कहा है—

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥

—४६

मस्तक में जो मणि के समान प्रकाश है, जो उसे जानते हैं वही योगी हैं। तप्त स्वर्ण के समान विद्युत धारा-सी प्रकाशित वह मणि

अग्नि स्थान से चार अंगुल ऊर्ध्व और मेरु स्थान के नीचे है। यह स्वाधिष्ठानचक्र के आश्रय में है और स्वयं नादयुक्त है।

इस स्थान पर पहुँचने की शक्तियों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने कहा है, "**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" अर्थात वह परम-विज्ञानी, त्रिकालदर्शी और सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। वह चाहे जो कुछ करे उसे कोई पाप नहीं होता। उसे कोई जीत नहीं सकता।

ब्रह्मरंध्र एक प्रकार से जीवात्मा का कार्यालय है। इस दृश्य जगत् में जो कुछ है और जहाँ तक हमारी दृष्टि पहुँच नहीं सकती उन सबकी प्राप्ति की प्रयोगशाला है। भारतीय तत्त्वदर्शन के अनुसार यहाँ १७ तत्त्वों से संगठित ऐसे विलक्षण ज्योतिपुंज विद्यमान हैं जो दृश्य जगत में स्थूल नेत्रों से कहीं भी नहीं देखे जा सकते। समस्त ज्ञानवाहक सूत्र और वात नाड़ियाँ यहीं से निकलकर सारे शरीर में फैलती हैं। सूत्रात्मा इसी भास्वर श्वेत दल कमल में बैठा हुआ चाहे जिस नाड़ी के माध्यम से शरीर के किसी भी अंग को आदेश, निर्देश और संदेश भेजता तथा प्राप्त करता रहता है। वह किसी भी स्थान में हलचल पैदा कर सकता है। किसी भी स्थान की बिना किसी बाह्य उपकरण के सफाई और प्राण वर्षा आदि जो हम सब नहीं कर सकते, वह सब कुछ कर सकता है। यह सब ज्योतिपुंजों के स्फुरण, आकुंचन-प्रकुंचन आदि से होता है। नाक, जीभ, नेत्र, कर्ण, त्वचा इन सभी स्थूल इंद्रियों को यह प्रकाश-गोलक ही काम कराते हैं और उन पर नियंत्रण सहस्त्रारवासी परमात्मा का होता है। ध्यान की पूर्णावस्था में यह प्रकाश टिमटिमाते जुगनू, चमकते तारे, चमकीली कलियाँ, मोमबत्ती, आधे या पूर्ण चंद्रमा आदि के प्रकाश-सा झलकता है। धीरे-धीरे उनका दिव्य रूप प्रतिभासित होने लगता है, उससे स्थूल इंद्रियों की गतिविधियों में शिथिलता आने लगती है और

आत्मा का कार्यक्षेत्र सारे विश्व में प्रकाशित होने लगता है। सामान्य व्यक्ति को केवल अपने शरीर और संबंधियों तक की ही चिंता होती है, उस पर योगी की व्यवस्था का क्षेत्र सारी पृथ्वी और दूसरे लोकों तक फैल जाता है। उसे यह भी देखना पड़ता है कि ग्रह-नक्षत्रों की क्रियाएँ भी तो असंतुलित नहीं हो रहीं। स्थूल रूप से इन गतिविधियों से पृथ्वीवासी भी प्रभावित होते रहते हैं। इसलिए अनजाने में ही ऐसी ब्राह्मी स्थिति का साधक लोगों का केवल हित संपादित किया करता है। उसे जो अधिकार और सामर्थ्य मिली होती है, वह इतने बड़े उत्तरदायित्व को सँभालने की दृष्टि से ही होती है। वैसे वह भले ही शरीरधारी दिखाई दे, पर उसे शरीर की सत्ता का बिलकुल ज्ञान नहीं होता। वह सब कुछ जानता, देखता, सुनता और आगे क्या होने वाला है, यह वह सब पहचानता है।

विज्ञानमयकोश और मनोमयकोश के अध्यक्ष मन और बुद्धि यहीं रहते हैं और ज्ञानेंद्रिय से परे दूर के या कहीं भी छिपे हुए पदार्थों के समाचार पहुँचाते रहते हैं। आत्मसंकल्प जब चित्त वाले क्षेत्र से बुद्धि वाले क्षेत्र में पदार्पण करता है, तब दिव्य दृष्टि बनती है और वह आज्ञाचक्र से निकलकर विश्व-ब्रह्मांड में जो अनेक प्रकार की रश्मियाँ फैली हैं, उनसे मिलकर किसी भी लोक से भी तादात्म्य प्राप्त कर लेती हैं। विद्युत तरंगों के माध्यम से जिस प्रकार अंतरिक्ष- यानों को पृथ्वी से ही दाहिने-बायें (ट्रैवर्स) किया जा सकता है। जिस प्रकार टेलीविजन के द्वारा कहीं का भी दृश्य देखा जा सकता है। इसी प्रकार बुद्धि और संकल्प की रश्मियों से कहीं के भी दृश्य देखे जाना या किसी भी हलचल में हस्तक्षेप करना मनुष्य के लिए भी संभव हो जाता है। मुंडक और छांदोग्योपनिषद में क्रमशः खंड २ और ९ में इन साक्षात्कारों का विशद वर्णन है और कहा गया है—"**हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म**

निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्माविदो विदुः।'' अर्थात आत्मज्ञ पुरुष इस हिरण्यमयकोश में शुभ्रतम ज्योति के रूप में उस कला रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

सहस्रार साधना के अनेकों स्वरूप, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के प्रयोग-अभ्यासों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। उनकी सफलताओं के फलस्वरूप मिलने वाले सत्परिणामों का आकर्षक वर्णन हुआ है। उस क्षेत्र की सफलताओं का भौतिक और आत्मिक ऋद्धि-सिद्धियों के रूप में माहात्म्य बताया गया है।

मस्तिष्क में विलक्षण शक्तिकेंद्रों की बात वर्तमान वैज्ञानिक भी मानते हैं। मस्तिष्कशास्त्र के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक स्मिथी की शोध के अनुसार शुद्ध बुद्धि (प्योर इन्टैलिजेंस) मानवी मस्तिष्क के विभिन्न केंद्रों से नियंत्रित होती है। यह सबकी साझेदारी का उत्पादन है। यही वह सार भाग है, जिससे व्यक्तित्व का स्वरूप बनता और निखरता है। स्मृति (मैमोरी), विश्लेषण (एनालैसिस), संरचना (सिंथैसिस), चयन-निर्धारण (सिलेक्टिीविटी) आदि की क्षमताएँ मिलकर ही मानसिक स्तर बनाती हैं। इनका सम्मिश्रण एवं उत्पादन कहाँ होता है ? वे परस्पर कहाँ गुथती हैं, इसका ठीक से निर्धारण तो नहीं हो सका पर समझा गया है कि वह स्थान (सेरिबेलम) लघु मस्तिष्क में होना चाहिए। यही वह मर्मस्थल है, जिसका थोड़ा भी विकास-परिष्कार संभव हो सके, तो व्यक्तित्व का ढाँचा समुन्नत हो सकता है। इसी केंद्र स्थान को अध्यात्मशास्त्रियों ने बहुत समय पूर्व जाना और उसका नामकरण 'सहस्रार' किया है।

मस्तिष्क के गहन अनुसंधान में कितनी ही ऐसी परतें सामने आती हैं जो सोचने-विचारने में सहायता देने भर का ही नहीं, वरन समूचे व्यक्तित्व के निर्माण में भारी योगदान करती हैं। इस तरह की विशिष्ट क्षमताओं का क्षेत्र 'फ्रंटल लोब' है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व

(पर्सनालिटी), कल्पना (इमैजिनेशन), आकांक्षाएँ (एंबिशन्स), व्यवहार प्रक्रिया, अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का निर्माण, निर्धारण होता है। इस केंद्र को प्रभावित कर सकना किसी ओषधि उपचार या शल्य क्रिया से संभव नहीं हो सकता। इसके लिए ध्यान-धारणा जैसी वे साधनाएँ ही उपयुक्त हो सकती हैं, जिन्हें कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया के अंतर्गत प्राय: काम में लाया जाता है।

ऊपर मस्तिष्क के एकाध केंद्र की सांकेतिक चर्चा भर कर दी गई है। मस्तिष्क क्षेत्र अगणित रहस्यमय शक्तियों से भरा हुआ माना जाता है। मस्तिष्क के संबंध में वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं की संगति इस संबंध में भारतीय दार्शनिक मान्यताओं से भी बैठती है।

मोटे विभाजन की दृष्टि से मस्तिष्क को पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। (१) वृहद् मस्तिष्क (सेरिब्रम), (२) लघु मस्तिष्क (सेरिबेलम), (३) माध्यमिक मस्तिष्क (मिडब्रेन), (४) मस्तिष्क सेतु (पाँज) एवं (५) सुषुम्ना शीर्ष (मैडुला ऑब्लाँगेटा)। इनमें से अंतिम तीन अर्थात मिडब्रेन, पाँज एवं मैडुला को संयुक्त रूप से मस्तिष्क स्तंभ (ब्रेनस्टेम) भी कहते हैं।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार मस्तिष्क रूपी स्वर्गलोक में यों तो तैंतीस कोटि देवता रहते हैं, पर उनमें से पाँच मुख्य हैं। इन्हीं का समस्त देव संस्थान पर नियंत्रण है। मस्तिष्कीय पाँच क्षेत्रों को पाँच देव परिधि कह सकते हैं। इन्हीं के द्वारा पाँच कोशों की पाँच शक्तियों का संचार-संचालन होता है। गायत्री की पंचमुखी साधना में इन पाँचों को समान रूप से विकसित होने का अवसर मिलता है। तदनुसार इस ब्रह्मलोक में, देवलोक में निवास करने वाला जीवात्मा स्वर्गीय परिस्थितियों के बीच रहता हुआ अनुभव करता है।

यह एक प्रकार के विभाजन की बात हुई। अनेक विद्वान् एक ही तथ्य के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की विवेचनाएँ प्राचीनकाल से

ही करते रहे हैं और आज भी करते हैं। मस्तिष्क के विभाजन तथा सहस्रारचक्र के संबंध में भी इसी प्रकार एक ही तथ्य के भिन्न-भिन्न विवेचन मिलते हैं।

सहस्रारचक्र को अमृतकलश भी कहा गया है। उसमें से सोम रस स्रवित होने की चर्चा है। देवता इसी अमृतकलश से सुधापान करते और अमर बनते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार मस्तिष्क में एक विशेष द्रव 'सैरिब्रो स्पाइनल फ्ल्यूड' भरा रहता है। यही मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केंद्रों को पोषण और संरक्षण देता रहता है। मस्तिष्क की झिल्लियों से यह झरता रहता है और विभिन्न केंद्रों तथा सुषुम्ना में सोखा जाता है।

अमृतकलश के सोलह पटल गिनाए गए हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं सहस्रार की १६ पंखुड़ियों का भी वर्णन है। यह मस्तिष्क के ही १६ महत्त्वपूर्ण विभाग-विभाजन हैं। शिव संहिता में भी सहस्रार की १६ कलाओं का वर्णन है—

शिरःकपालविवरे ध्यायेत् षोडसीकला।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मचंद्र विचिन्तयेत्॥

—योग मंजूषा

कपाल के मध्य चंद्रमा के समान प्रकाशवान सोलह कला युक्त सहस्रारचक्र का ध्यान करें।

सहस्रार की ये सोलह कलाएँ मस्तिष्क के 'सैरिब्रोस्पाइनल फ्ल्यूड' से संबंधित मस्तिष्क के सोलह विभाग हैं। पूर्वोक्त पाँच स्थूल विभागों को अधिक विस्तार से व्यक्त किया जाए तो उसके निम्नांकित १६ विभाग होते हैं—

(१) वृहद् मस्तिष्क (सैरिब्रम), (२) लघु मस्तिष्क (सैरिबेलम), (३) सुषुम्ना शीर्ष (मैडुला ऑब्लाँगेटा), (४) सेतु (पाँज), (५) मध्य

मस्तिष्क (मिडब्रेन), (६) महासंयोजक (कॉर्पस कलोसम), (७) रखी पिंड (कॉर्पस स्ट्रेटम), (८) पीयूस ग्रंथि (पिट्यूटरी ग्लैंड), (९) शीर्ष ग्रंथि (पीनियल ग्लैंड), (१०) चेतक (थैलेमस), (११) अधःचेतक (हाइपो थैलेमस) (१२) उपचेतक (सब थैलेमस), (१३) अनुचेतक (मैटा थैलेमस), (१४) ऊर्ध्व चेतक (एपी थैलेमस), (१५) संचार जालिकाएँ, (कॉर्डप्लैक्सैसेज), (१६) प्रकोष्ठ वैंट्रिकल्स।

इन सभी विभागों में शरीर को संचालित करने वाले अतींद्रिय क्षमताओं से युक्त अनेक केंद्र हैं। सहस्रार अमृतकलश से जाग्रत करके उन्हें अत्यधिक सक्रिय बनाकर असाधारण लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। शास्त्रों में इस संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

इदं स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो।
न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने॥
समग्रा शक्तिः स्यान्नियतमनसस्तस्य कृतिनः।
सदा कर्तुं हर्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला॥

—षटचक्र निरूपण

इस सहस्रार कमल की साधना से योगी चित्त को स्थिर कर आत्मभाव में लीन हो जाता है। भव-बंधन से छूट जाता है। सभी शक्तियों से संपन्न होता है। स्वच्छंद विचरता है और उसकी वाणी विमल हो जाती है।

शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम्।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत्॥

—शिव संहिता ५। १७९

कपाल की गुफा में क्षीर सागर समुद्र का तथा सहस्रदल कमल में चंद्रमा जैसे प्रकाश का ध्यान करें।

तस्माद् गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरंतरम्।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे॥

अत्र कुंडलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि॥

—शिव संहिता ५/ १९२-१९३

जो योगी सहस्रार से स्रवित हो रहे पीयूष का निरंतर पान करता है, वह मृत्यु की ही मृत्यु का विधान रचने में समर्थ होता है। अर्थात मृत्यु उसे मृत्यु के समान नहीं प्रतीत होती, वह मृत्यु से परे का जीवन जीता है। यहीं इसी सहस्रार में कुंडलिनी शक्ति का लय होता है और तब चारों प्रकार की सृष्टि परमात्मा में ही लीन हो जाती है, सभी कुछ परमात्मामय हो जाता है।

येन पूता ऋचः सामानियजुर्ब्राह्मणं सह येन पूतम्।
तेना सहस्त्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥

—यजुर्वेद

जिससे ऋचाएँ, साम, यजु और ब्राह्मण पवित्र हुए उस सहस्रधारा वाले सोम से पवमान मुझे पवित्र करें।

सहस्रार क्या है? इसका उत्तर शरीरशास्त्र के अनुसार अब इतना मात्र माना जा सका है कि मस्तिष्क के माध्यम से समस्त शरीर के संचालन के लिए जो विद्युत उन्मेष पैदा होते हैं, वे आहार से नहीं, वरन मस्तिष्क के एक विशेष संस्थान से उद्‌भूत होते हैं। वह मनुष्य का अपना उत्पादन नहीं, वरन दैवी अनुदान है। आमाशय, हृदय आदि अवयव तो उसी ऊर्जा से अपने काम कर सकने की क्षमता प्राप्त करते हैं। रक्त से शरीर के अवयवों को पोषण मिलता है, यह सत्य है। फेफड़े साँस का और पाचन तंत्र आहार का साधन जुटाते हैं यह भी सही है; पर देखना फिर भी शेष रह जाता है कि यह सारी मशीन निर्वाह की आवश्यकता पूरी करने में जुटी हुई है, वह अपने लिए मूल ऊर्जा कहाँ से पाती है? यह समाधान सही नहीं है कि आहार एवं साँस आदि से ही जीवन-ऊर्जा

मिलती है। यदि ऐसा रहा होता, तो भूख या दम घुटने के बिना किसी की मृत्यु ही न होती।

मस्तिष्क के मध्य भाग से यह विद्युत उन्मेष रह-रहकर सतत प्रस्फुटित होते रहते हैं। उसे एक विलक्षण विद्युतीय फुहारा कहा जा सकता है। वहाँ से तनिक-तनिक रुक-रुककर एक फुलझड़ी-सी जलती रहती है। हृदय की धड़कन में भी ऐसे ही मध्यवर्ती विराम रहते हैं। ताप-ध्वनि आदि की प्रवाहमान तरंगों में भी उतार-चढ़ाव होते हैं। मस्तिष्कीय मध्य बिंदु में अवस्थित ऊर्जा-उद्गम की गतिविधि भी ठीक उसी प्रकार की है। वैज्ञानिक इन उन्मेषों को मस्तिष्क के विभिन्न केंद्रों की सक्रियता-स्फुरण का मुख्य आधार मानते हैं। भारतीय योग ग्रंथों में भी इसी बात को अपने ढंग से व्यक्त किया गया है।

मस्तके मणिवद् भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥

—ध्यान बिंदूपनिषद्

मस्तिष्क के मध्य मणिवत प्रकाश है। उसमें से तप्त स्वर्ण के समान विद्युत धाराओं का स्फुरण होता है। जो इस रहस्य को जानता है, वह योगी है।

ब्रह्मज्योतिर्वसुधामा ब्रह्मस्थानीय उच्यते।
ततो यः पावको नाम्ना यः सद्भिर्योग उच्यते॥

—मत्स्य पुराण

ब्रह्मज्योति अग्नि रूप से ब्रह्मरंध्र में निवास करती है, यह साधक को पवित्र करती है, यही योगाग्नि है।

इस मस्तिष्कीय ऊर्जा-उद्गम को शरीरशास्त्र के अनुसार सहस्रार-चक्र कहा जा सकता है। सहस्र का अर्थ यों 'हजार' होता है, पर यहाँ उसका तात्पर्य हजारों से, अगणितों से है, पर ब्रह्म को

"**सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्**" कहा गया है। इसका तात्पर्य पूरे एक हजार आँख, हाथ-पैर वाला नहीं, वरन हजारों-अगणितों वाला समझा जाना चाहिए। मस्तिष्कीय उद्‌गम से उभरने वाली फुलझड़ी की पूरी एक हजार नहीं, वरन अगणित चिनगारियाँ उड़ती हैं। उस फुहारे की बूँदों की संख्या पूरी एक हजार नहीं, वरन हजारों, असंख्यों हैं। इस 'सहस्त्र' प्रतिपादन के आधार पर ही उस उद्‌गम को 'सहस्त्रार' कहा गया है।

मस्तिष्क में मस्तिष्कीय विद्युत की अगणित धाराएँ प्रवाहित होने की बात वर्तमान विज्ञान मानता है। आवश्यकतानुसार ये धाराएँ अगणित दिशाओं में अगणित विशिष्ट तंतुओं द्वारा प्रवाहित होती हैं, इन्हें वैज्ञानिकों ने उनकी प्रवृत्ति के अनुसार अनेक वर्गों में विभाजित कर रखा है। जैसे—ऊर्ध्वमुखी मस्तिष्कीय स्फुरण (अॅसेंडिंग रेटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम), अधोमुखी म० स्फु० (डिसेंडिंग रेटि० एक्टि० सि०) विशिष्ट चेतक स्फुरण (स्पैसिफिक थैलेमिक प्रोजेक्शन), प्रस्तुत चे० स्फु० (डिफ्यूज्ड थै० प्रो०), स्तंभिक स्फुरण (ब्रेनस्टेम रैटि० फार्मेशन) आदि। इन स्फुरण संस्थानों का संयुक्त प्रभाव योग दृष्टि से मस्तिष्क में विद्युतीय उन्मेष की सहस्त्रों धाराओं के रूप में दिखना स्वाभाविक है।

सहस्त्रदल कमल तथा शेषनाग के सहस्त्र फन माने जाने की उक्ति का आधार भी यही है। ब्रह्मलोक एवं क्षीरसागर के मध्य विष्णु भगवान का कुंडली मारे हुए शेषनाग पर शयन करना, यह आकृति भी सहस्त्रार की स्थिति समझने की दृष्टि से ही बनी है। क्षीरसागर अर्थात मस्तिष्कीय मज्जा। कुंडलाकार सहस्त्रमुख सर्प अर्थात सहस्त्रार चीरने के आरे में दाँते हैं। पहिये में भी आरे होते हैं। चक्र, सुदर्शन जैसे अस्त्र भी दाँतेदार होते थे। 'सहस्त्रार' नामकरण की संगति इन्हीं सब बातों के साथ मिलती है।

सहस्रार की सूर्य (सहस्ररश्मि) की उपमा दी गई है। सूर्य की ऊर्जा से पूरा सौरमंडल प्रकाशवान एवं गतिशील है। मानवी सत्ता का प्रत्येक घटक मस्तिष्कीय ऊर्जा से अनुप्राणित होता है। अस्तु, उसे पिंडरूपी भूलोक का अधिष्ठाता सूर्य कहा जाए, तो यह रूपक सर्वथा उपयुक्त ही माना जाएगा। सहस्रार की ब्रह्मसत्ता को सूर्य की उपमा दी गई है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत्।
आत्मातत्रैव व देवेशि केवलः पारदीपमः॥
सूर्य कोटि प्रतीकाशः चंद्रकोटि सुशीतलः।
अतीव कमनीयश्च महाकुंडलिनो युतः॥

—स्कंद पुराण

"हे देवेश! सहस्रदल महापद्म में मुद्रित कर्णिका के अंदर पारद की भाँति आत्मा का निवास है। यद्यपि उसका तेज करोड़ों सूर्यों के समान है, परंतु स्निग्धता में वह करोड़ों चंद्रमाओं के तुल्य है। यह परम पदार्थ अतिशय मनोहर तथा कुंडलिनी शक्ति से समन्वित है।"

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः।

—यजुर्वेद २३, ४८

यह सूर्य ब्रह्मतत्त्व ही है, जिसका भौतिक प्रतीक स्थूल सूर्य है।

"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३.७.९

"जो सूर्य में रहने वाला सूर्य का अंतवर्ती है, जिसे सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर सूर्य का नियम करता है, वह तुम्हारी आत्मा अंतर्यामी अमृत है।"

देवोऽयं भगवान्भानुरन्तर्यामी सनातनः। *—सूर्य पुराण*

यह सूर्य देवता अंतर्यामी सनातन भगवान ही है।

जिस प्रकार सूर्य से सौरमंडल को ऊर्जा मिलती है, उसी प्रकार सहस्र धारा वाले ऊर्जा-उद्‌गम से मस्तिष्कीय संयत्र को गतिशील बनने की क्षमता उपलब्ध होती है। मील, कारखानों में अनेकों मशीनें चलती हैं। उन्हें चलाने के लिए बिजली की मोटर लगी होती है। मोटर चलती है और उसकी ताकत से मशीनें सक्रिय होती हैं। किंतु मोटर को चलाने वाली बिजली उसकी अपनी कमाई नहीं है। वह कहीं अन्यत्र से आती है। मस्तिष्क को मोटर और शरीर के अवयवों को छोटी-बड़ी मशीनें कहा जा सकता है। इस सारे मिल, कारखाने को चलाने के लिए आवश्यक शक्ति कहीं अन्यत्र से आती है। इसे ध्रुवीय क्षेत्र से पृथ्वी को मिलने वाले अनुदान-प्रवाह के समतुल्य माना जा सकता है। यह अंतर्गृही ऊर्जा का ही अनुदान है। व्यक्ति यों स्वतंत्र है, स्वभाग्य निर्माता है, फिर भी व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करने वाली ऊर्जा को ब्राह्मी अनुदान ही माना जाएगा। यह धारा जिस क्षण रुकती है, तत्काल मरण सामने उपस्थित होता है। हृदय की धड़कन पूर्णत: बंद हो जाने पर भी उसे कृत्रिम उपायों से पुन: क्रियाशील बनाया जा सकता है। किंतु जब सहस्रार का विद्युत उभार अपना उछलना बंद कर दे, तो समझना चाहिए कि अंतिम मृत्यु हो गई। कनेक्शन कट जाने पर फिटिंग और बल्ब सही होने पर भी अँधेरा छा जाता है। अवयवों के सही सलामत होने पर भी मस्तिष्कीय उत्पादन के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता।

जीवन का आरंभ और अंत स्थूल विवेचना के अनुसार जिस भी तरह बताया जाए, सूक्ष्म विज्ञान के अनुसार उसका समूचा आधार 'सहस्रार' की सक्रियता पर अवलंबित है। इतना ही नहीं, आगे की बात भी यहीं से चलती है। सहस्रार मात्र जीवन का ही उद्‌गम नहीं है, वरन व्यक्तित्व का स्वरूप एवं स्तर की दिशाधारा

भी यहीं से निर्धारित होती है। ढलान का तनिक-सा अंतर होने पर वर्षा का जल अपने बहाव की दिशा बदलता है। एक स्थान की ढलान जिस वर्षा जल को किसी नदी में पहुँचाती है, तो उसके समीप की ढलान दूसरी ओर होने के कारण वर्षा-जल को किसी अन्य नदी में ले जाकर पटकती है। ढलान के आरंभ में कुछ इंचों का अंतर था, पर बहते हुए वर्षा-जल को भिन्न नदियों में जा पहुँचने का अंतर सैकड़ों-हजारों मील का बन जाता है। जंक्शन स्टेशन पर एक ही लाइन में खड़ी गाड़ियाँ लीवर बदलने के आधार पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में चल पड़ती हैं। लीवर का अंतर कुछ इंचों का ही होता है, पर चल पड़ने वाली गाड़ियों में दूरी का अंतर निरंतर बढ़ता जाता है। सहस्रार उद्‌गम में राई-रत्ती अंतर रहने से व्यक्तित्व के बाहरी और भीतरी ढाँचे में आश्चर्यजनक अंतर उपस्थित हो जाता है।

पृथ्वी के अंतर्गृही ही अनुदानों में न्यूनाधिकता करने की बात सोचना भी वैज्ञानिकों के लिए डरावनी आशंकाएँ और विभीषिकाएँ सामने ला खड़ी करता है। वे उस दिशा में कदम बढ़ाने की कल्पना करते ही काँपने लगते हैं। तनिक-भी उलट-पुलट होने पर सर्वनाश का अनर्थ खड़ा हो सकता है। यों अनुकूल उपाय बन पड़े, तो पृथ्वी-निवासियों को उसका असीम लाभ भी मिल सकता है। तब हम अकल्पनीय सुविधा-साधनों के अधिपति बन सकते हैं। आवश्यक ज्ञान के अभाव में वैज्ञानिक कोई बड़े कदम उठाने का साहस नहीं कर रहे हैं, केवल वे धीमे पैरों ध्रुवीय क्षेत्र की खोज कर रहे हैं। पृथ्वी की धुरी न तो अभी उन्हें मिली है और न उसके लिए गंभीरतापूर्वक प्रयत्न ही हुआ है।

मानवी सत्ता के ध्रुवकेंद्र मस्तिष्कीय धुरी संस्थान सहस्रार के संबंध में वैसा कोई जोखिम नहीं है। भौतिक शक्ति दैत्य है। बिजली

का, आग का तनिक भी असावधानी से प्रयोग करने पर प्राण-संकट सामने आ उपस्थित होगा; किंतु माता और बच्चे के बीच व्यवहार की कोई भूल-चूक बन पड़ने पर भी कोई बड़ा विग्रह उत्पन्न नहीं होता, मामूली ही अनबन भी देर तक नहीं टिकती। आत्मचेतना और प्रकृति-चेतना में यही भौतिक अंतर है। सहस्रार में आत्मा और परमात्मा का मिलन संस्थान है। यह चेतनात्मक आदान-प्रदान है। इसमें उच्चस्तरीय भाव-संवेदनाएँ भरी पड़ी हैं। अध्यात्म, साधनाओं का स्वरूप सद्भाव संपन्नता के साथ जोड़कर बनाया गया है। अस्तु, उनमें श्रेष्ठताओं के देव अनुदान ही मिलते हैं।

सहस्रारचक्र का संबंध रंध्र से है। ब्रह्मरंध्र को दशम द्वार कहा गया है। नौ द्वार तो दो नथुने, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो मल-मूत्र छिद्र सर्वविदित हैं। दसवाँ द्वार ब्रह्मरंध्र है। योगीजन इसी में होकर प्राण त्यागते हैं। मरणोपरांत कपाल क्रिया करने का उद्देश्य यही है कि प्राण का कोई अंश शेष रह गया हो, तो वह उसी में होकर निकले और ऊर्ध्व गति प्राप्त करे।

नवजात शिशु की खोपड़ी के मध्य भाग में थोड़ा-सा खाली स्थान होता है। जिसमें हड्डी न होकर झिल्ली होती है। यह स्थान पीरिटल और आस्सीविटल हड्डियों के बीच में है। शरीर-वृद्धि के साथ-साथ बगल की हड्डियाँ बढ़ती हैं और इस स्थान को ढक लेती हैं। योगशास्त्र का कथन है कि ब्रह्मसत्ता का, ब्रह्मांडीय चेतना का, मानव शरीर में प्रवेश इसी मार्ग से होता है।

शरीर-रचना की दृष्टि से इस स्थल पर केवल हड्डियों का जोड़ ही नहीं होता। उसी सीध में नीचे अन्य संगतियाँ भी बैठती हैं। कपाल को हड्डियों के नीचे मस्तिष्क को आच्छादित किए हुए एक ब्राह्मक (सैरिब्रल कॉर्टिक्स) होते हैं। इसमें खेत में हल चलाने से बने हुए चिह्न जैसे होते हैं, जो उसे विभिन्न भागों में विभाजित

करते हैं। इन्हें सीता (सल्कस) कहते हैं। ब्राह्मक (कॉर्टेक्स) को लंबाई में बीच से विभाजित करने वाली धार के लांबिक सीता (लॉन्जिट्यूडिनल फिसर) तथा चौड़ाई में बीच से विभाजित करने वाली को केंद्रीय सीता (सेंट्रल सल्कस) कहते हैं। इन दोनों जोड़ों का केंद्र (क्रासिंग) ठीक उसी स्थल पर होता है, जहाँ ब्रह्मरंध्र कहा गया है। इसी रंध्र की सीध में मस्तिष्क की सबसे ऊपरी रहस्यमय कही जाने वाली शीर्ष ग्रंथि (पीनियल ग्लैंड) का स्थान है।

यह ब्रह्मरंध्रकाय स्थित सत्ता को महत् चेतना से संबद्ध करने का विशिष्ट मार्ग द्वार है। योगी अंत समय में इसी मार्ग से प्राण का निष्कासन करके ब्रह्मलीन होते हैं। स्पष्ट है कि जीवन काल में यह ब्रह्मरंध्र मस्तिष्क के सहस्रारचक्र के माध्यम से दिव्य शक्तियों तथा दिव्य अनुभूतियों के आदान-प्रदान का कार्य करता है। सहस्रारचक्र और ब्रह्मरंध्र मिलकर एक संयुक्त इकाई-यूनिट के रूप में कार्य करते हैं। अतः योग-साधना में भी इन्हें संयुक्त रूप से प्रयुक्त-प्रभावित करने का विधान है।

□

मानवी सत्ता का दक्षिणी ध्रुव—मूलाधार

मानवी सत्ता के जिन दो ध्रुवकेंद्रों की चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है, उनमें दूसरा दक्षिणी ध्रुव है—मूलाधारचक्र, सुमेरु संस्थान सुषुम्ना केंद्र जो मल-मूत्र के स्थानों के बीचोबीच अवस्थित है, कुंडलिनी, महासर्पिणी, प्रचंड क्रियाशक्ति इसी स्थान पर सोई पड़ी है। उत्तरी ध्रुव का महासर्प अपनी सहचरी सर्पिणी के बिना और दक्षिणी ध्रुव की महासर्पिणी अपने सहचर महासर्प के बिना निरानंद मूर्च्छित जीवन व्यतीत करती है और परिणामस्वरूप विश्व की समस्त विशेषताओं का प्रतीक होते हुए भी मनुष्य तुच्छ-सा जीवनयापन करते हुए कीट-पतंगों की मौत मर जाता है, कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं कर पाता, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे पिंड के, देह के दोनों ध्रुव मूर्च्छित पड़े हैं। यदि वे सजग हो गए होते, तो ब्रह्मांड जैसी महान चेतना अपने पिंड में भी परिलक्षित होती।

मूत्र स्थान यों एक प्रकार से घृणित एवं उपेक्षित स्थान है। पर तत्त्वतः उसकी सामर्थ्य मस्तिष्क में अवस्थित ब्रह्मरंध्र जितनी ही है। वह हमारी सक्रियता का केंद्र है। यों नाक, कान आदि छिद्र भी मल विसर्जन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पर उन्हें कोई ढकता नहीं। मूत्र यंत्र को ढकने की अनादि एवं आदिम परिपाटी के पीछे वह सतर्कता है, जिसमें यह निर्देश है कि इस संस्थान से जो अजस्र शक्ति-प्रवाह बहता है, उसकी रक्षा की जानी चाहिए। शरीर के अन्य अंग की तरह यों प्रजनन अवयव भी मांस-मज्जा मात्र से ही बने हैं, पर उनके दर्शनमात्र से मन विचलित हो उठता है। अश्लील चित्र अथवा अश्लील चिंतन जब मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा कर देता है, तब उन अवयवों का दर्शन यदि भावनात्मक हलचल को उच्छृंखल

बना दे तो आश्चर्य ही क्या? यहाँ यह रहस्य जान लेना ही चाहिए। मूत्र संस्थान के मूल में बैठी हुई कुंडलिनी शक्ति प्रसुप्त स्थिति में भी इतनी तीव्र है कि उसकी प्रचंड धाराएँ खुली प्रवाहित नहीं रहने दी जा सकती हैं। उन्हें आवरण में रखने से उनका अपव्यय बचता है और अन्यों के मानसिक संतुलन को क्षति नहीं पहुँचती। छोटे बच्चों को भी कटिबंध इसीलिए पहनाते हैं। ब्रह्मचारियों को धोती के अतिरिक्त लँगोट भी बाँधे रहना पड़ता है। पहलवान भी ऐसा ही करते हैं। संन्यास और वानप्रस्थ में भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

ब्रह्मरंध्र, मस्तिष्क की सामर्थ्य से हम सभी परिचित हैं। पर कुंडलिनी क्रियाशक्ति के केंद्रबिंदु मूलाधार का रहस्य बहुत कम लोगों को मालूम है। उसी संस्थान का जादू है कि मनुष्य अपने समान एक नए मनुष्य को बनाकर तैयार कर देता है। इन अवयवों का पारस्परिक स्पर्श होने से नर-नारी के बीच एक असाधारण भावना प्रवाह बहने लगता है। साथी के दुश्चरित्र और अविश्वस्त होने की बात मानते हुए भी परस्पर इतना आकर्षण हो जाता है कि व्यभिचारपरायण नर-नारी भी एकदूसरे के लिए सभी मर्यादाएँ तोड़कर रोग, कलंक, पाप, परिवार-विग्रह एवं धन-हानि की क्षति उठाते देखे गए हैं। विशुद्ध दांपत्य जीवन जीने वाले पति-पत्नी के पारस्परिक आकर्षण का केंद्र जहाँ उनकी धर्मभावना है, वहाँ वह शारीरिक क्रिया-कलाप भी हैं, जिनके कारण कुंडलिनी बिंदुओं का स्पर्श एकदूसरे के शरीर एवं मन पर जादुई प्रभाव डालता है और एकदूसरे को अपना वशवर्ती कर लेता है।

शिवलिंग के पूजा प्रचलन में एक महान आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का संकेत है, जिसमें व्यक्ति को सचेत किया गया है कि वह शरीर के इस अवयव में ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अति उत्कृष्ट अंश समाविष्ट समझे और इस ब्रह्मांड को ईश्वर की क्रियाशक्ति कुंडलिनी

का प्रतीक-प्रतिनिधि माने। शिवलिंग का जलाभिषेक करने का एक तात्पर्य यह भी है कि इस शक्ति के महान आध्यात्मिक लाभों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे शीतल रखा जाए, उद्दीप्त न होने दिया जाए। योगी-यती अपनी साधनाओं में यह तत्त्वज्ञान सँजोए ही रहते हैं कि उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, ताकि पिंड की, देह की मूलाधार क्रियाशक्ति कुंडलिनी का अपव्यय न हो और वह बहिर्मुखी होकर अस्त-व्यस्त बनने, उच्छृंखल होने की अपेक्षा लौटकर ऊर्ध्वगामी दिशा पकड़ती हुई ब्रह्मरंध्र अवस्थित महासर्प के साथ तादात्म्य होकर परमानंद-ब्रह्मानंद का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

कुंडलिनी विज्ञान में मूलाधार को योनि और सहस्रार को लिंग कहा गया है। यह सूक्ष्म तत्त्वों की गहन चर्चा है। इस वर्णन में काम- क्रीड़ा एवं शृंगारिकता का काव्यमय वर्णन तो किया गया है, पर क्रिया प्रसंग में वैसा कुछ नहीं है। तंत्र ग्रंथों में उलटवाँसियों की तरह मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और पाचवाँ 'मैथुन' भी साधना प्रयोजनों में सम्मिलित किया गया है। ये दो मूल सत्ताओं के संभोग का संकेत है। शारीरिक रति कर्म से इसका संबंध नहीं जोड़ा गया है। यों यह सूक्ष्म अध्यात्म सिद्धांत रति कर्म पर भी प्रयुक्त होते, दांपत्य स्थिति पर भी लागू होते हैं। दोनों के मध्य समता की, आदान-प्रदान की स्थिति जितनी ही संतुलित होगी, उतना ही युग्म को अधिक सुखी, संतुष्ट, समुन्नत पाया जाएगा।

मूलाधार में कुंडलिनी शक्ति शिवलिंग के साथ लिपटी हुई प्रसुप्त सर्पिणी की तरह पड़ी रहती है। समुन्नत स्थिति में इसी मूल स्थिति का विकास हो जाता है। मूलाधार मल-मूत्र स्थानों के निकृष्ट स्थान से ऊँचा उठकर मस्तिष्क के सर्वोच्च स्थान पर जा विराजता है। छोटा-सा शिवलिंग मस्तिष्क में कैलाश पर्वत बन जाता है।

छोटे-से कुंड को मानसरोवर रूप धारण करने का अवसर मिलता है। प्रसुप्त सर्पिणी जाग्रत होकर शिवकंठ से जा लिपटती है और शेषनाग के पराक्रमी रूप में दृष्टिगोचर होती है। मुँहबंद कली खिलती है और खिले हुए शतदल कमल के सहस्रार के रूप में उसका विकास होता है। मूलाधार में तनिक-सा स्थान था, पर ब्रह्मरंध्र का विस्तार तो उससे सौ गुना अधिक है।

सहस्रार को स्वर्गलोक का कल्पवृक्ष प्रलयकाल में बचा रहने वाला अक्षयवट-गीता का ऊर्ध्व मूल अधः शाखा वाला अश्वत्थ—भगवान बुद्ध को महान बनाने वाला बोधिवृक्ष कहा जा सकता है। ये समस्त उपमाएँ ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाले ब्रह्मबीज की ही हैं। वह अविकसित स्थिति में मन, बुद्धि के छोटे-मोटे प्रयोजन पूरे करता है, पर जब जाग्रत स्थिति में जा पहुँचता है, तो सूर्य के समान दिव्य सत्ता संपन्न बनता है। उसके प्रभाव से व्यक्ति और उसका संपर्क-क्षेत्र दिव्य आलोक से भरा-पूरा बन जाता है।

ऊपर उठना पदार्थ और प्राणियों का धर्म है। ऊर्जा का, ऊष्मा का स्वभाव ऊपर उठना और आगे बढ़ना है। प्रगति का द्वार बंद रहे तो कुंडलिनी शक्ति कामुकता के छिद्रों से रास्ता बनाती और पतनोन्मुख रहती है। किंतु यदि ऊर्ध्व गमन का मार्ग मिल सके, तो उसका प्रभाव-परिणाम प्रयत्नकर्त्ता को परम तेजस्वी बनने और अंधकार में प्रकाश उत्पन्न कर सकने की क्षमता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कुंडलिनी की प्रचंड क्षमता स्थूलशरीर में ओजस्, सूक्ष्मशरीर में तेजस् और कारणशरीर में वर्चस् के रूप में प्रकट एवं परिलक्षित होती है। समग्र तेजस्विता को इन तीन भागों से दृष्टिगोचर होते देखा जा सकता है। इस अंतःक्षमता का एक भौंड़ा-सा उभार और कार्य कामवासना के रूप में देखा जा सकता है। कामुकता अपने सहयोगी के प्रति कितना आकर्षण, आत्मभाव उत्पन्न करती है। संभोग कर्म

में सरसता अनुभव होती है। संतानोत्पादन जैसी आश्चर्यजनक उपलब्धि सामने आती है। यह एक छोटी-सी इंद्रिय है, पर इस अंत:क्षमता का आवेश छा जाने पर उसका प्रभाव कितना अद्‌भुत होता है, यह आँख पसारकर हर दिशा में देखा जा सकता है। मनुष्य का चित्त, श्रम, समय एवं उपार्जन का अधिकांश भाग इसी उभार को तृप्त करने का ताना-बाना बुनने में बीतता है। उपभोग की प्रतिक्रिया संतानोत्पादन के उत्तरदायित्व निभाने के रूप में कितनी महँगी और भारी पड़ती है, यह प्रकट तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यदि इसी सामर्थ्य को ऊर्ध्वगामी बनाया जा सके, तो उसका प्रभाव देवोपम परिस्थितियाँ सामने लाकर खड़ी कर सकता है।

सामान्यत: जननेंद्रिय को कामवासना एवं रति प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी माना जाता है। पर वैज्ञानिक गहन अन्वेषण से यह तथ्य सामने आता है कि नर-नारी के प्रजनन-केंद्रों का सूत्र-संचालन मेरुदंड के सुषुम्ना-केंद्र से होता है। यह केंद्र नाभि की सीध में है। हेनरी आस्ले कृत 'नोट्स ऑन फिजियोलॉजी' ग्रंथ में इस संदर्भ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। उसमें उल्लेख है कि नर-नारियों के प्रजनन अंगों के संकोच एवं उत्तेजना का नियंत्रण मेरुदंड के 'लंबर रीजन' (निचले क्षेत्र) में स्थित केंद्रों से होता है। इस दृष्टि से कामोत्तेजना के प्रकटीकरण का उपकरण मात्र जननेंद्रिय रह जाती है। उसका उद्‌गम तथा उद्‌भव-केंद्र सुषुम्ना संस्थान में होने से वह कुंडलिनी की ही एक लहर सिद्ध होती है। वह प्रवाह जननेंद्रिय की ओर उच्च केंद्रों को मोड़ देने की प्रक्रिया ही इस महाशक्ति की साधना के रूप में प्रयुक्त होती है।

नेपोलियन हिल ने अपनी पुस्तक 'थिंक एंड ग्रो रिच' में कामशक्ति के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वे सेक्स एनर्जी को मस्तिष्क और शरीर दोनों को समान रूप से प्रभावित करने वाली एक विशेष

शक्ति मानते हैं। यह मनुष्य को प्रगति की दिशा में बढ़ चलने के लिए प्रेरणा देती है।

सामान्यत: उसका उभार इंद्रिय मनोरंजन मात्र बनकर समाप्त होता रहता है। जमीन पर फैले हुए पानी की भाप भी ऐसे ही उड़ती, बिखरती और भटकती रहती है, पर यदि उसका विवेकपूर्ण उपयोग किया जा सके, तो भाप द्वारा भोजन पकाने से लेकर रेल का इंजन चलाने जैसे असंख्यों उपयोगी काम लिए जा सकते हैं। कामशक्ति के उच्चस्तरीय सृजनात्मक प्रयोजन अनेकों हैं। कलात्मक गतिविधियों में काव्य जैसी कल्पना संवेदनाओं में दया, करुणा एवं उदार आत्मीयता को साकार बनाने वाली सेवा-साधना में एकाग्र तन्मयता से संभव होने वाले शोध प्रयत्नों में प्रचंड पराक्रम के रूप में प्रकट होने वाले शौर्य, साहस में, गहन आध्यात्मिक क्षेत्र से उद्‌भूत श्रद्धा भक्ति में उसे नियोजित किया जा सकता है।

कामेच्छा एक आध्यात्मिक भूख है। वह मिटाई नहीं जा सकती। निरोध करने पर वह और भी उग्र होती है। बहते हुए पानी को रोकने से वह धक्का मारने की नई सामर्थ्य उत्पन्न करता है। आकाश में उड़ती हुई बंदूक की गोली स्वयमेव शांत होने की स्थिति तक पहुँचने से पहले जहाँ भी रोकी जाएगी, वहीं आघात लगावेगी और छेद कर देगी। कामशक्ति को बलपूर्वक रोकने से कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक उपद्रव खड़े होते हैं। इस तथ्य पर फ्रायड से लेकर आधुनिक मनोविज्ञानियों तक ने अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है और उसे सृजनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने का परामर्श दिया है। एक ओर से मन हटकर दूसरी ओर चला जाए। एक का महत्त्व गिराकर दूसरे की गरिमा पर विश्वास कर लिया जाए। आकांक्षा एवं अभिरुचि का प्रवाह मोड़ने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप यही है। अतृप्ति-

जन्य अशांति से बचने तथा क्षमता का सदुपयोग करके सत्परिणामों का लाभ लेने का एक ही उपाय है कि कामेच्छा प्रवृत्ति को सृजनात्मक दिशा में मोड़ा जाए।

कलात्मक प्रयोजनों में संलग्न होने से उसके भौतिक लाभ मिल सकते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में उसे भाव-संवेदना के लिए 'भक्ति-भावना' के रूप में तथा प्रबल पुरुषार्थ की तरह तपोमयी योग-साधना में लगाया जा सकता है। दोनों का समन्वय कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया में समन्वित पद्धति के रूप में किया जा सकता है। सहस्रारचक्र भक्ति भावना का और मूलाधारचक्र प्राण संधान का केंद्र है। दोनों की प्रसुप्त स्थिति को समाप्त कर साहसिक संवेदना उभारना कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया अपनाने से सहज संभव हो सकता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये जीवन के चार परम प्रयोजन हैं। काम का अर्थ सामान्यत: रति कर्म समझा जाता है, पर परम प्रयोजनों में उसका अर्थ विनोद, उल्लास, आनंद माना जाता है। यह रसानुभूति दो पूरक तत्त्वों के मिलन द्वारा उपलब्ध होती है। ऋण और धन विद्युत-प्रवाह मिलने से गति उत्पन्न होती है। रयि और प्राण तत्त्व के मिलन से सृष्टि के प्राणी उत्पादनों की सृष्टि होती है। प्रकृति-पुरुष की तरह नर और नारी को भी परस्पर पूरक माना गया है। मानवी सत्ता में भी दो पूरक सत्ताएँ काम करती हैं। इन्हें नर और नारी का प्रतिनिधि मानते हैं। नारी सत्ता मूलाधार में अवस्थित कुंडलिनी है और नरतत्त्व सहस्रार स्थित परब्रह्म है। इन्हीं को शक्ति और शिव भी कहते हैं। इनका मिलन ही कुंडलिनी जागरण का लक्ष्य है। इस संयोग से उत्पन्न दिव्य धारा को भौतिक क्षेत्र में ऋद्धि, सिद्धि और आत्मिक क्षेत्र में स्वर्गमुक्ति कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार एवं ब्रह्म-निर्माण का लक्ष्य भी यही है।

अथर्ववेद में भगवान के काम रूप से जीवन में अवतरित होने की प्रार्थना की गई है—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

—*अथर्ववेद* ९.२.२५

हे परमेश्वर, तेरा काम रूप भी श्रेष्ठ और कल्याणकारक है। उसका चयन असत्य नहीं है। आप काम रूप से हमारे भीतर प्रवेश करें और पाप बुद्धि से छुड़ाकर हमें निष्पाप उल्लास की ओर ले चलें।

कुंडलिनी महाशक्ति की प्रकृति का निरूपण करते हुए शास्त्रकारों ने इसके लिए 'कामबीज' एवं 'कामकला' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का अर्थ कामुकता, कामक्रीड़ा या कामशास्त्र जैसा तुच्छ अर्थ यहाँ नहीं लिया गया है। इस शक्ति की प्रकृति उत्साह एवं उल्लास उत्पन्न करना है। यह शरीर और मन की उभयपक्षीय अग्रगामी स्फुरणाएँ हैं। यह एक मूल प्रकृति हुई, दूसरी पूरक प्रकृति। मूलाधार को 'कामबीज' कहा गया है और सहस्रार को 'ज्ञानबीज'। दोनों के समन्वय से विवेकयुक्त क्रिया बनती है। इसी पर जीवन का सर्वतोमुखी विकास निर्भर है। कुंडलिनी-साधना से इसी सुयोग-संयोग की व्यवस्था बनाई जाती है।

प्रत्येक शरीर में नर और मादा दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं। शरीर शास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक वाणी में उभयपक्षीय सत्ताएँ मौजूद हैं। इनमें से जो उभरी रहती हैं, उसी के अनुसार शरीर की लिंग प्रकृति बनती है। संकल्पपूर्वक इस प्रकृति को बदला भी जा सकता है। छोटे प्राणियों में उभयलिंगी क्षमता रहती है। वह एक ही शरीर से समयानुसार दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी कर लेते हैं।

मनुष्यों में ऐसे कितने ही पाए जाते हैं, जिनकी आकृति जिस वर्ग की है, प्रकृति उससे भिन्न वर्ग की होती है। नर को नारी की और नारी को नर की भूमिका निभाते हुए बहुत बार देखा जाता है। इसके अतिरिक्त लिंग-परिवर्तन की घटनाएँ भी होती रहती हैं। शल्य क्रिया के विकास के साथ-साथ अब इस प्रकार के उलट-पुलट होने के समाचार संसार के कोने-कोने से मिलते रहते हैं। अमुक नर, नारी बन गया और अमुक नारी ने नर के रूप में अपना गृहस्थ नए ढंग से चलाना आरंभ कर दिया।

दोनों में एक तत्त्व प्रधान रहने से ढर्रा तो चलता रहता है, पर एकांगीपन बना रहता है। नारी की कोमलता, सहृदयता, कलाकारिता जैसे भावनात्मक तत्त्व का नर में जितना अभाव होगा, उतना ही वह कठोर, नीरस, निष्ठुर रहेगा और अपनी बलिष्ठता, मनस्विता के पक्ष के सहारे क्रूर, कर्कश बनकर अपने और दूसरों के लिए अशांति ही उत्पन्न करता रहेगा। नारी में पौरुष का अभाव रहा तो वह आत्महीनता की ग्रंथियों से ग्रसित अनावश्यक संकोच में डूबी, कठपुतली या गुड़िया बनकर रह जाएगी। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पक्षों में संतुलित मात्रा में रयि और प्राण के तत्त्व बने रहें। कोई पूर्णतः एकांगी बनकर न रह जाए। जिस प्रकार बाह्य जीवन में नर-नारी सहयोग की आवश्यकता रहती है। उसी प्रकार अंतःक्षेत्र में भी दोनों तत्त्वों का समुचित विकास होना चाहिए, तभी एक पूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सकेगा। कुंडलिनी जागरण से उभयपक्षीय विकास की पृष्ठभूमि बनती है।

कुंडलिनी महाशक्ति को 'काम कला' कहा गया है। उसका वर्णन कतिपय स्थलों में ऐसा प्रतीत होता है मानो यह कोई सामान्य कामसेवन की चर्चा की जा रही हो। कुंडलिनी का स्थान जननेंद्रिय

मूल में रहने से भी उसकी परिणति कामशक्ति के उभार के लिए प्रयुक्त होती प्रतीत होती है।

इस तत्त्व को समझने के लिए हमें अधिक गहराई में प्रवेश करना पड़ेगा और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ेगा। नर-नारी के बीच चलने वाली 'कामक्रीड़ा' और कुंडलिनी साधना में सन्निहित 'काम कला' में भारी अंतर है। मानवीय अंतराल में उभयलिंग विद्यमान हैं। हर व्यक्ति अपने आप में आधा नर और आधा नारी है। अर्द्ध नारी-नटेश्वर भगवान शंकर को चित्रित किया गया है। कृष्ण और राधा का भी ऐसा ही एक समन्वित रूप चित्रों में दृष्टिगोचर होता है। पति-पत्नी दो शरीर एक प्राण होते हैं। यह इस चित्रण का स्थूल वर्णन है। सूक्ष्म संकेत यह है कि हर व्यक्ति के भीतर उभय-लिंग सत्ता विद्यमान है। जिसमें जो अंश अधिक होता है, उसका रुझान उसी ओर ढुलकने लगता है। उसकी चेष्टाएँ उसी तरह की बन जाती हैं। कितने ही पुरुषों में नारी जैसा स्वभाव पाया जाता है और कई नारियों में पुरुषों जैसी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति बढ़ चले, तो इसी जन्म में शारीरिक दृष्टि से भी लिंग-परिवर्तन हो सकता है। अगले जन्म में लिंग बदल सकता है अथवा संतुलन होने से नपुंसक जैसी स्थिति बन सकती है।

नारी लिंग का सूक्ष्म स्थल जननेंद्रिय मूल है। इसे योनि कहते हैं। मस्तिष्क का मध्य बिंदु ब्रह्मरंध्र—'लिंग' है। इसका प्रतीक प्रतिनिधि सुमेरु मूलाधारचक्र के योनिगह्वर में ही 'कामबीज' के रूप में अवस्थित है। अर्थात एक ही स्थान पर वे दोनों विद्यमान हैं, पर प्रसुप्त पड़े हैं। उनके जागरण को ही कुंडलिनी जागरण कहते हैं। इन दोनों के संयोग की साधना 'काम कला' कही जाती है। इसी को कुंडलिनी जागरण की भूमिका कह सकते हैं। शारीरिक कामसेवन इसी आध्यात्मिक संयोग-प्रयास की छाप है।

आंतरिक कामशक्ति को दूसरे शब्दों में महाशक्ति—महाकाली कह सकते हैं। एकाकी नर या नारी भौतिक जीवन में अस्त-व्यस्त रहते हैं। आंतरिक जीवन में उभयपक्षी विद्युत शक्ति का समन्वय न होने से सर्वत्र नीरस-नीरवता दिखाई पड़ती है। इसे दूर करके समग्र समर्थता एवं प्रफुल्लता उत्पन्न करने के लिए कुंडलिनी साधना की जाती है। इसी संदर्भ में शास्त्रों में साधना विज्ञान का जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ कामक्रीड़ा जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यह आध्यात्मिक काम कला की ही चर्चा है। योनि लिंग, कामबीज, रज, वीर्य, संयोग आदि शब्दों में उसी अंतःशक्ति के जागरण की विधि-व्यवस्था सन्निहित है—

स्वयंभूलिंगं तन्मध्ये सरन्ध्रं पश्चिमाननम्।
ध्यायेच्च परमेशानि शिवं श्यामलसुंदरम्॥

—शाक्तानंद तरंगिणी (४/३४)

उसके मध्य रंध्र सहित महालिंग है। वह स्वयंभू और अधोमुख, श्यामल और सुंदर है। उसका ध्यान करें।

तत्रस्थितो महालिंग स्वयंभुः सर्वदा सुखी।
अधोमुखः क्रियावांक्ष्य कामबीजे न चालितः॥

—काली कुलामृत

वहाँ ब्रह्मरंध्र में वह महालिंग अवस्थित है। वह स्वयंभू और सुख स्वरूप है। इसका मुख नीचे की ओर है। यह निरंतर क्रियाशील है। कामबीज द्वारा चालित है।

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं य समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥
आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा।

—शिव संहिता

अपने शरीर में अवस्थित शिव को त्यागकर जो बाहर-बाहर पूजते फिरते हैं। वे हाथ के भोजन को छोड़कर इधर-उधर से प्राप्त करने के लिए भटकने वाले लोगों में से हैं।

आलस्य त्यागकर 'आत्मलिंग' शिव की पूजा करें। इसी से समस्त सफलताएँ मिलती हैं।

नमो महाबिंदुमुखी चंद्र सूर्य स्तन द्वया।
सुमेरुद्वार्ध कलया शोभमाना मही पदा॥
काम राज कला रूपा जागर्ति स चराचरा।
एतत काम कला व्याप्तं गुह्याद् गुह्यतरं महत्॥

—रुद्रयामल तंत्र

महाबिंदु उसका मुख है। सूर्य-चंद्र दोनों स्तन हैं, सुमेरु उसकी अर्द्ध कला है, पृथ्वी उसकी शोभा है। चर-अचर में, सबमें काम कला के रूप में जगती है। सबमें काम कला होकर व्याप्त है। यह गुह्य से भी गुह्य है।

जननेंद्रिय मूल—मूलाधारचक्र में योनि स्थान बताया गया है।

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः॥

—शिव संहिता ५.१३४

चार पंखुड़ियों वाले मूलाधारचक्र के कंद भाग में जो प्रकाशवान योनि है।

तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिका॥

—शिव संहिता २/ २२

उस आधार पद्म की कर्णिका में अर्थात दंडी में त्रिकोण योनि है। यह योनि सब तंत्रों में गोपित है।

यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणप्रदुच्यते॥

—कात्यायन स्मृति ७/११

यह गुह्य नामक स्थान देव योनि है। उसी में जो वह्नि उत्पन्न होती है, वह परम कल्याणकारिणी है।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते॥

—गोरक्षपद्धति १७

पहले मूलाधार एवं दूसरे स्वाधिष्ठानचक्र के बीच में योनि स्थान है, यही काम रूप पीठ है।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता॥

—गोरक्षपद्धति १८

गुदा स्थान में जो चतुर्दल कमल विख्यात है, उसके मध्य में त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं, पंचाशत वर्ण से बनी हुई कामाख्या पीठ कहलाती है।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते॥

—गोरक्षपद्धति २१

इसी त्रिकोण विष समाधि में अनंत विश्व में व्याप्त होने वाली परम ज्योति प्रकट होती है, वही कालाग्नि रूप है। जब योगी ध्यान-धारणा समाधि द्वारा उक्त ज्योति देखने लगता है, तब उसका जन्म-मरण नहीं होता।

इन दोनों का परस्पर अति घनिष्ठ संबंध है। वह संबंध जब मिला रहता है, तो आत्मबल समुन्नत होता चला जाता है और आत्मशक्ति सिद्धियों के रूप में विकसित होती चलती है। जब उनका संबंध विच्छेद हो जाता है, तो मनुष्य दीन-दुर्बल, असहाय,

असमर्थ एवं असफल जीवन जीता है। कुंडलिनी रूपी योनि और सहस्त्रार रूपी लिंग का संयोग मनुष्य की आंतरिक अपूर्णता को पूर्ण करता है। साधना का उद्देश्य इसी महान प्रयोजन की पूर्ति करता है। इसी को शिवशक्ति का संयोग तथा आत्मा से परमात्मा का मिलन कहते हैं। इस संयोग का वर्णन साधना-क्षेत्र में इस प्रकार किया गया है।

भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दातारावि‌ह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः॥

—त्रिपुरोपनिषद् १४

भग शक्ति है। काम रूप ईश्वर भगवान है। दोनों सौभाग्य देने वाले हैं। दोनों की प्रधानता समान है। दोनों की सत्ता समान है। दोनों समान ओजस्वी हैं। उनकी अजरा शक्ति विश्व का निमित्त कारण है।

कामबीज और ज्ञानबीज के मिलने से जो आनंदमयी परम कल्याणकारी भूमिका बनती है उसमें मूलाधार और सहस्त्रार का मिलन-संयोग ही आधार माना गया है। इसी मिलाप को साधना की सिद्धि कहा गया है। इस स्थिति को दिव्य मैथुन की संज्ञा भी दी गई है।

सहस्त्रारोपरिबिन्दौ कुण्डल्या मेलनं शिवे।
मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्॥

—योगिनी तंत्र पृ० ७४/४१

पार्वती, सहस्त्रार में जो कुल और कुंडलिनी का मिलन होता है, उसी को यतियों ने दिव्य मैथुन कहा है।

पर शक्त्यात्म मिथुन संयोगानंद निर्गराः।
मुक्तात्म मिथुनंतत् स्त्यादितर स्त्री निवेषकः॥

—तंत्रसार

आत्मा को—परमात्मा को प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध करके परम रस का आस्वादन करना यही यतियों का मैथुन है।

सुषुम्नाशक्ति सुदृष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

—तंत्रसार

सुषुम्ना शक्ति और ब्रह्मरंध्र शिव है। दोनों के समागम को मैथुन कहते हैं।

यह संयोग आत्मा और परमात्मा के मिलन एकाकार की स्थिति भी उत्पन्न करता है। जीव को योनि और ब्रह्म को वीर्य की संज्ञा देकर उनका संयोग भी परमानंददायक कहा गया है—

एष बीजी भवान् बीजमहं योनिः सनातनः।

—वायु पुराण (२४/६६)

जीव ने ब्रह्म से कहा आप बीज हैं। मैं योनि हूँ। यही क्रम सनातन से चला आ रहा है।

शिव और शक्ति के संयोग का रूपक भी इस संदर्भ में दिया जाता है। शक्ति को रज और शिव को बिंदु की उपमा दी गई है। दोनों के मिलन के महत्त्वपूर्ण सत्परिणाम बताए गए हैं।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चंद्रो बिंदु रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पद्म॥

—गोरक्षपद्धति

बिंदु शिव और रज शक्ति। यही सूर्य, चंद्र है। इनका संयोग होने पर परमपद प्राप्त होता है।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयम्।

—शिव संहिता १।१००

बिंदु शिव रूप और रज शक्ति रूप है। दोनों का मिलन स्वयं महाशक्ति का सृजन है।

योनि वेदी उमादेवी लिंग पीठ महेश्वर।

—लिंग पुराण

योनि वेदी उमा है और लिंग पीठ महेश्वर।

जातवेदाः स्वयं रुद्रः स्वाहा शर्वार्धकायिनी।

पुरुषाख्यो मनुः शंभुः शतरूपा शिवप्रिया॥

—लिंग पुराण(२/११/८,१३)

जातवेदाग्नि स्वयं रुद्र है और स्वाहा वे महाशक्ति हैं। उत्पादक परमपुरुष शिव ही मनु हैं और श्रेष्ठ उत्पादनकर्त्री शतरूपा शिवा हैं।

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।

योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा॥

—शिव संहिता ४।८७

शिवरूपी बिंदु शक्ति रूपी रज इन दोनों का मिलन होने से योग-साधक को दिव्यता प्राप्त होती है।

ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप प्रकृति और अप्रत्यक्ष भाग पुरुष है। दोनों के मिलने से ही द्वैत का अद्वैत में विलय होता है। शरीरगत दो चेतन धाराएँ रयि और प्राण कहलाती हैं। इनके मिलन-संयोग से सामान्य प्राणियों को उस विषयानंद की प्राप्ति होती है जिसे प्रत्यक्ष जगत की सर्वोपरि सुखद अनुभूति कहा जाता है। ऋण और धन विद्युत घटकों के मिलन से चिनगारियाँ निकलती और शक्ति धारा बहती है। पूरक घटकों की दूरी समाप्त होने पर सरसता और सफलता की अनुभूति प्रायः होती रहती है। चेतना के उच्चस्तरीय घटक मूलाधार और सहस्रार के रूप में विलग पड़े रहें, तभी तक अंधकार की नीरस गतिहीनता की स्थिति रहेगी। मिलन का प्रतिफल संपदाओं और विभूतियों के ऋद्धि और सिद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। इन उपलब्धियों की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है और उसकी संवेदना ब्रह्मानंद के रूप में होती है, इस आनंद को विषयानंद से असंख्य गुने उच्चस्तर का माना गया है।

शिव-पार्वती विवाह का प्रतिफल दो पुत्रों के रूप में उपस्थित हुआ था। एक का नाम गणेश, दूसरे का कार्तिकेय। गणेश को 'प्रज्ञा' का देवता माना गया है और स्कंद को शक्ति का। दुर्दांत, दस्यु, असुरों को निरस्त करने के लिए कार्तिकेय का अवतरण हुआ था। उनके इस पराक्रम ने संत्रस्त देव समाज का परित्राण किया। गणेश ने मांस-पिंड मनुष्य को सद्ज्ञान, अनुदान देकर उसे सृष्टि का मुकुटमणि बनाया। दोनों ब्रह्मकुमार शिवशक्ति के समन्वय के प्रतिफल हैं। शक्ति कुंडलिनी शिव सहस्रार दोनों का संयोग कुंडलिनी जागरण कहलाता है। यह पुण्य-प्रक्रिया संपन्न होने पर अंतरंग ऋतंभरा प्रज्ञा से और बहिरंग प्रखरता से भर जाता है। प्रगति के पथ पर इन्हीं दो चरणों के सहारे जीवनयात्रा पूरी होती है और चरम लक्ष्य की पूर्ति संभव बनती है।

गणेश जन्म के समय शिवजी ने उनका परिचय पार्वती को कराया और उसे उन्हीं हाथों में सौंप दिया। इसका विवरण वामन पुराण में इस प्रकार आया है—

यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः।
एष विघ्नसहस्राणि देवादीनां हनिष्यति॥
पूजयिष्यन्ति देवाश्च देवि लोकाश्चराचराः।
इत्येवमुक्त्वा देव्यास्तु दत्तवांस्तनयः स हि॥

—वामन पुराण

इस पुत्र ज्ञान पुत्र का नाम विनायक गणेश ही होगा। यह देवों के सहस्रों विघ्नों का हनन करेगा। हे देवि! सब चर-अचर, लोक और देवगण इसकी पूजा करेंगे। इतना कहकर शिव ने वह पुत्र देवी को दे दिया था।

स्कन्दोथवदनाद्वह्नेःशुभ्रात्षड्वदनोरिहा ।
निश्चक्रामाद्भुतोबालो रोगशोकविनाशनः॥

—पद्मपुराण

तब छह मुख वाले कुमार स्कंद उत्पन्न हुए। वे अद्‌भुत और शोक-संताप विनाशक थे।

आद्य शंकराचार्य कृत 'सौंदर्य लहरी' में षटचक्रों एवं सातवें सहस्रार का वर्णन है और उस परिकर को कुंडलिनी क्षेत्र बताया है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रों को पाँच तत्त्वों का प्रतीक माना है और आज्ञाचक्र तथा सहस्रार को ब्रह्मचेतना का प्रतिनिधि बताया है। पाँच तत्त्वों का वेधन करने पर किस प्रकार कुंडलिनी शक्ति की पहुँच ब्रह्मलोक तक होती है और परंब्रह्म के साथ 'विहार' करती है, इसका वर्णन ९वें श्लोक में इस प्रकार है—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥

हे कुंडलिनी, तुम मूलाधार में पृथ्वी को, स्वाधिष्ठान में अग्नि को, मणिपूर में जल को अनाहत में वायु को विशुद्ध में आकाश को वेधन करती हुई आज्ञाचक्र में मन को प्रकाश देती हो तदुपरांत सहस्रार कमल में परंब्रह्म के साथ विहार करती हो।

अवाप्य स्वां भूमिं, भुजगनिभमध्युष्टवलयं ।
स्वमात्मानं कृत्वा, स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि॥

—सौंदर्य लहरी १०

सर्पिणी की तरह कुंडली मारकर तुम्हीं मूलाधारचक्र के 'कुलकुंड' में शयन करती हो।

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरद्वीपनकरी
जडानां चैतन्यस्तबकमकरंदस्रु तिझरी
दरिद्राणां चिंतामणिगुणनिका जन्मजलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवति॥

—सौंदर्य लहरी ३

अज्ञानियों के अंधकार का नाश करने के लिए तुम सूर्य रूप हो, तुम्हीं बुद्धि हीनों में चैतन्यता का अमृत बहाने वाली निर्झरिणी हो, तुम दरिद्री के लिए चिंतामणि माला और भवसागर में डूबने वालों को सहारा देने वाली नाव हो, दुष्टों के संहार करने में तुम वाराह भगवान के पैने दाँतों जैसी हो।

सौंदर्य लहरी के ३६ से ४१वें श्लोकों में षटचक्रों के जागरण और कुंडलिनी उत्थान की प्रतिक्रिया का वर्णन है। इन श्लोकों में कहा गया है कि मूलाधार में 'विश्व वैभव-स्वाधिष्ठान' में 'शांति- शीतलता' मणिपूर में 'अमृत वर्षा,' अनाहत में 'ऋतंभरा प्रज्ञा और अठारहों विद्या' विशुद्ध में आनंददायिनी दिव्य ज्योति की सिद्धियाँ भरी हैं। आज्ञाचक्र में शिवत्व और सहस्रार में महामिलन का संकेत है। इन उपलब्धियों का समन्वय इतना महान है, जिसे ऋषित्व एवं देवत्व भी कहा जा सकता है। अपूर्णता से आगे चलकर पूर्णता प्राप्त कर सकना इसी मार्ग का आश्रय लेने से संभव होने की बात इन श्लोकों में कही गई है।

कुंडलिनी महाशक्ति के अनुग्रह से स्वयं आद्य शंकराचार्य किस प्रकार सामान्य द्रविड़ बालक से महामानव बन सके, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वानुभूति इस प्रकार व्यक्त की है—

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥

—सौंदर्य लहरी ७५

तेरे स्तनों से बहने वाले ज्ञानामृतरूपी पयपान करके यह द्रविड़ शिशु (शंकराचार्य) प्रौढ़ कवियों जैसी कमनीय काव्य रचना में समर्थ हो गया। □

कुंडलिनी साधना—स्वरूप और उद्देश्य

मस्तिष्क की तीक्ष्णता, बौद्धिक प्रखरता के माध्यम से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों से सभी परिचित हैं। बुद्धिमान और सुशिक्षित व्यक्ति हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त करते हैं। इस तथ्य से परिचित होने के कारण ही लोग शिक्षा-साधना में मुक्त हस्त से धन और समय लगाते हैं। भारतीय ऋषियों और योगियों ने इस प्रखरता, तेजस्विता का केंद्र ब्रह्मरंध्र बताया है। उसे मस्तिष्क का नाभिक-न्यूक्लियस भी कहा जा सकता है। इसके सहारे न केवल मस्तिष्क का स्तर प्रभावित होता है, वरन सूक्ष्मजगत के साथ भी वैसे ही आदान-प्रदान का द्वार खुलता है जैसा कि पृथ्वी का सूर्य एवं अन्यान्य ग्रह-नक्षत्रों के साथ चलता है।

मानवी काया की धुरी ब्रह्मरंध्र स्थित सहस्रारचक्र को बताया जाता है। यह केंद्र न केवल अपने क्षेत्र मस्तिष्क को प्रभावित करता है, वरन उसके स्तर का भी निर्धारण करता है साथ ही ब्रह्मांडीय चेतना के साथ संपर्क बनाकर आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त करता है। भौतिक ऋद्धियाँ और आत्मिक सिद्धियाँ जाग्रत् सहस्रार के सहारे निखिल ब्रह्मांड से आकर्षित की जा सकती हैं। वृक्ष अपने चुंबकत्व से वर्षा को आकर्षित करते हैं। धातु खदानें अपने चुंबकत्व से सजातीय धातु कणों को खींचती और जमा करती रहती हैं। सहस्रार में जैसा भी चुंबकत्व हो, उसी स्तर का अदृश्य विश्व-वैभव खिंचता और एकत्रित होता रहता है। यही जीवन का अदृश्य उपार्जन उसके स्तर तथा व्यक्तित्व के स्वरूप की पूँजी-संपत्ति बनती तथा उसके व्यक्तित्व का नियमन-निर्धारण करती है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों द्वारा जो इंद्रियगम्य और अतींद्रिय ज्ञान उपलब्ध होता है, उसका केंद्र

यही संस्थान है। ध्यान से लेकर भक्तियोग तक की समस्त आध्यात्मिक साधनाएँ यहीं से फलित और विकसित होती हैं। ओजस्, तेजस् और ब्रह्मवर्चस् के रूप में पराक्रम, विवेक एवं आत्मबल की उपलब्धियों का अभिवर्द्धन यहीं से उभरता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण केंद्र दक्षिणी ध्रुव के समतुल्य जननेंद्रिय मूल में अवस्थित 'कामबीज' है। इसी को साधनाशास्त्र में मूलाधारचक्र कहा गया है। इसकी उपयोगिता और गरिमा अपने स्तर की है। मस्तिष्क ज्ञान का और कामबीज सामर्थ्य का उद्गम है। आत्मिक बल ऊपर है और भौतिक बल नीचे। भावनाएँ, विचारणाएँ, आस्थाएँ, ऊपर से उतरती हैं और पराक्रम, उत्साह, उल्लास नीचे से उभरता है। ऊर्ध्वकेंद्र को ब्रह्म का, अधःकेंद्र को प्रकृति का संपर्क द्वार कह सकते हैं। अपने-अपने स्तर के आदान-प्रदान इन्हीं केंद्रों से संभव होते हैं।

ऊर्ध्वक्षेत्र ग्रहण करता है और अधःक्षेत्र विसर्जन। शिरो भाग में मुख है, जिससे अन्न, जल ग्रहण किया जाता है। नाक है, जिससे साँस ग्रहण की जाती है। कान सुनते और नेत्र देखते हैं। इनसे मस्तिष्क की ज्ञान-संपदा बढ़ती है। यह सिर भाग ग्रहणकर्त्ता होने के कारण उत्तरी ध्रुव है, उसकी धुरी सहस्त्रार में है।

अधःक्षेत्र से विसर्जन होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। मल, मूत्र, वीर्य का क्षरण इसी क्षेत्र से होता है। कामुकता यहीं से उठती है और मस्तिष्क की सरसता का प्रलोभन देकर अपने चंगुल में जकड़े रहती है। विवाह, संतान का ताना-बाना इसके चरखे-करघे पर तैयार होता है। इन्हीं दो प्रयोजनों में जीवन-संपदा का अधिकांश भाग खरच हो जाता है। दक्षिणी ध्रुव से विसर्जन प्रक्रिया कामकेंद्र द्वारा किस प्रकार होती है, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। ओजस् का दिव्य उत्पादन शरीर में होता है, उसे क्रमशः अधिक सूक्ष्म और

विकसित करते रहा जाए, तो मानसिक तेजस् और आत्मिक वर्चस् की अभिवृद्धि करते-करते मनुष्य प्रचंड पराक्रमी हो सकता है, पर वे सभी दिव्य विभूतियाँ इसी काम-क्षेत्र के उभारों में होकर अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। शारीरिक और मानसिक ब्रह्मचर्य साधने और इस संचय को कलात्मक एवं भावनात्मक दिव्य प्रयोजनों में लगाकर मनुष्य क्या नहीं बन सकता? किंतु क्षरण के कारण तो वह खोखला ही बनता जाता है। सामान्य निर्वाह तक में कभी कठिनाई पड़ती है, तब महत्त्वपूर्ण प्रगति के लिए साधन-सामग्री कैसे जुटे?

कामकेंद्र का यह एक अद्‌भुत चमत्कार है कि वहाँ से नए मनुष्य का जन्म-अवतरण संभव होता है। प्राणियों का उत्पादक परमात्मा है, पर जब जीव को अपने ही समतुल्य नया जीव बनाते देखा जाता है, तो जी चाहता है कि उसे भी स्रष्टा कहा जाए? अपने शरीर में से अपने जैसे नए-नए शरीर बनाकर खड़े करते जाना अनोखे किस्म का जादू है। जादूगर अपनी झोली, हथेली, मुख आदि से अन्य वस्तुएँ तो निकालते हैं, पर अपने जैसा मनुष्य निकाल सकना उनमें से किसी के लिए भी संभव नहीं हो सका। यह जादू मनुष्य काया में स्थित कामकेंद्र का ही है, जो ऐसा अद्‌भुत उत्पादन संभव बना देता है।

कामकेंद्र मात्र रति प्रेरणा ही नहीं उभारता। उसमें कला सौंदर्य, उत्साह, उल्लास, साहस जैसी अनेक सृजन-संवेदनाएँ उफनती रहती हैं। 'नपुंसक' शब्द एक प्रकार की गाली माना जाता है। ऐसे व्यक्ति राजकीय सेवा में स्वास्थ्य की दृष्टि से 'अनफिट' कर दिए जाते हैं। सेना, पुलिस जैसे साहसिक कार्यों में उनको प्रवेश नहीं मिलता। श्राद्ध और यज्ञ का संचालन करने में नपुंसक आचार्यों को बहिष्कृत ठहराया गया है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को 'क्लीव' कहकर प्रकारांतर से गाली ही दी थी। अध्यात्म-क्षेत्र की नपुंसकता,

नीरसता, निराशा, निष्क्रियता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन प्रवृत्तियों में उभार या उतार की स्थिति बनने के लिए कामकेंद्र की स्थिति को उत्तरदायी माना गया है। संतानोत्पादन से लेकर सृजनात्मक क्षमताओं तक संबंध इसी केंद्र से जुड़ता है। ऐसे-ऐसे अनेकों तथ्य मिलकर यह सिद्ध करते हैं कि भौतिकी क्षमताओं और सफलताओं की दृष्टि से कामसंस्थान का, मूलाधारचक्र का कितना महत्त्व है? जीव विकास विज्ञानियों ने तो प्रगति-प्रेरणाओं को मनोविज्ञान के क्षेत्र में 'सेक्स' संज्ञक कहा गया है।

कामबीज का प्रतीक मूलाधार और ज्ञानबीज का प्रतिनिधि सहस्त्रारचक्र है। इन्हें मानवी सत्ता के दो अति महत्त्वपूर्ण शक्ति केंद्र कहा जा सकता है। यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है कि इन्हें शरीरशास्त्र के अनुसार कोई प्रत्यक्ष अवयव नहीं मानना चाहिए। यह सभी सूक्ष्मशरीर में रहने वाली सत्ताएँ हैं। स्थूलशरीर में सूक्ष्म शरीर से मिलते-जुलते अवयव पाए जाते हैं और उनके सहारे स्थूल एवं सूक्ष्मशरीरों के बीच आदान-प्रदान भी होते रहते हैं। इतने पर भी दोनों के अस्तित्व एकदूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। रक्त-संचार की थैली भी हृदय है और सहृदयता एवं हृदयहीनता के रूप में विद्यमान अंतरात्मा भी हृदय कहलाती है। हृदय-गुफा में ध्यान करने के लिए कहा गया है। यह 'हृदय' रक्तशोधक थैली नहीं, वरन सूक्ष्मशरीर में अवस्थित विशिष्ट चेतना केंद्र है। ठीक इसी प्रकार मूलाधार एवं सहस्त्रार को प्रत्यक्ष शरीर का कोई अवयव विशेष नहीं मानना चाहिए। हाँ, उनसे मिलते-जुलते अवयवों का अस्तित्व किसी ओंधे-तिरछे रूप में अवश्य पाया जा सकता है। उनका इतना ही महत्त्व है कि उन्हें झकझोरने से अधिष्ठात्री सूक्ष्मशक्ति को किसी कदर प्रभावित किया जा सकता है। साधना-प्रयोजनों में इन अवयवों से भी कुछ-न-कुछ काम लिया जाता है। प्रगति-पथ प्रशस्त होने में इससे सहायता भी मिलती है।

कुंडलिनी जागरण में मूलाधार और सहस्त्रार में अवस्थित भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों के पारस्परिक शिथिल संबंध को सघन बनाया जाता है। दोनों के बीच आदान-प्रदान की गति तीव्र की जाती है। इन दोनों सरोवरों के बीच का संबद्ध मार्ग है—मेरुदंड। इसी को महामार्ग कहा गया है। महाप्रयाण की, ऊर्ध्वगमन की देवयान प्रक्रिया यही है। पांडवों के स्वर्गारोहण को इसी प्रयास का अलंकारिक कथा प्रसंग कहना चाहिए।

कुंडलिनीयोग को भौतिक और आत्मिक प्रखरता प्राप्त करने की समर्थ साधना माना जाता है। पृथ्वी, मूलाधार स्थित शरीरगत शक्ति, सूर्य, ब्रह्मरंध्र स्थित सहस्त्रदल कमल, इन दोनों के परस्पर सुयोग सम्मिलन का नाम ही कुंडलिनी जागरण है। मूलाधार और सहस्त्रार के बीच पाँच और दूसरे चक्र हैं। कुंडलिनी शक्ति जो मूलाधार केंद्र में अवस्थित रहती है। इन पाँचों चक्रों का बंधन करती हुई सहस्त्रार से जा मिलती है और फिर वे सभी परिणाम ऋद्धि-सिद्धियाँ, वैभव-ऐश्वर्य आ प्रस्तुत होते हैं, जो कुंडलिनी जागरण की सफलता समझे जाते हैं।

मूलाधार केंद्र में अवस्थित कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए यों विविधविध साधनात्मक क्रिया-कलाप अपनाए जाते हैं। कर्मकांडों के साधनात्मक उपचारों के आधार पर साधकगण छहों चक्रों का वेधन कर कुंडलिनी शक्ति को सहस्त्रारचक्र तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं और इसके लिए प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि का सहारा लेते हैं। इन साधन प्रयोगों में मूलत: संकल्प शक्ति का ही उपयोग किया जाता है और प्रखर संकल्पबल के आधार पर मानवी काया में अवस्थित सप्तचक्रों के माध्यम से वे समस्त सिद्धियाँ हस्तगत की जाती हैं, जिनका उल्लेख योगशास्त्रों में मिलता है।

मानवी संकल्प शक्ति की क्षमता असीम है। उसको जाग्रत करना और सदुद्देश्य के लिए प्रयुक्त कर सकना संभव हो सके, तो कुछ भी बन सकना और कुछ भी कर सकना संभव हो सकता है।

फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत्॥

—योगवासिष्ठ ३/४६/१९

"जीव अपनी इच्छा से ही देवता, तपस्वी बनता रहता है। प्रगति और अवनति का आधार मनुष्य का अपना कर्तृत्व ही है।"

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्॥

—यजुर्वेद ३४. ५५

शरीर में सात ऋषि निवास करते हैं। वे सतर्कतापूर्वक उसकी निरंतर रक्षा करते हैं।

इस तथ्य की ओर बहुत कम लोग ध्यान देते हैं कि समस्त संपदाओं और विभूतियों का केंद्र मनुष्य के अपने ही भीतर निहित है। शरीर के बाहर की ओर बनी इंद्रियाँ बाहर का तो बहुत कुछ देखती हैं, पर आंतरिक संपदा को समझने उसका सदुपयोग करने से वंचित ही रह जाती हैं। हमारी बुद्धि बाहरी समस्याओं को सुलझाने में तो लगती रहती है, किंतु जीवन के स्वरूप, लक्ष्य एवं उपयोग को जानने में असमर्थ रहती है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष -
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषद् २।१।१

विधाता ने छेदों को बाहर की ओर छेदा (अर्थात् इंद्रियों को बहिर्मुखी बनाया) अतएव मनुष्य बाहर ही देखता है। अंदर को नहीं देखता। अमृत की आकांक्षा करने वाला दूरदर्शी विरला मनुष्य ही अंदर की ओर देखता है।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में सप्त चक्रों का जागरण प्रमुख है। यह सप्त चक्र और पंचकोश परस्पर संबद्ध है। दोनों की साधना एक साथ ही संपन्न होती है। इसी में देव-साधना, ऋषि-उपासना, समग्र उत्कर्ष, जीवन-लक्ष्य, सर्वतोमुखी विकास-उल्लास के समस्त तत्वों का समावेश है। कहा गया है—

मूलादि ब्रह्म रंध्रान्ता गीयते मननात् यतः।
मननात् त्राति षट्चक्रं गायत्री तेन कथ्यते॥

—तंत्र कौमुदी

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक विस्तृत षटचक्र का जिसके अवगाहन से जागरण होता है। उसे गायत्री कहते हैं।

आत्मसत्ता में सन्निहित विश्व की समस्त विभूतियों को यदि खोजा और जगाया जा सके, तो जीवात्मा को देवात्मा एवं परमात्मा बनने का अवसर मिल सकता है। इस अन्वेषण प्रयास को ब्रह्म-विद्या और जागरण प्रक्रिया को ब्रह्मतेज संपादन कहते हैं। इस संदर्भ में सप्त ऋषियों को जीवंत करने और उनके ब्रह्मबल से उच्च कोटि का लाभ उठाने की प्रक्रिया 'चक्रवेधन' के रूप में समझी जा सकती है।

चक्रवेधन के लिए किए जाने वाले क्रिया-कलाप यदि क्रियाकृत्य तक ही सीमित रहे, उनमें संकल्प शक्ति का कोई पुट न दिया जाए तो इतने मात्र से काम नहीं चलेगा। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संकल्प शक्ति के उपयोग एवं प्रयोग के साथ-साथ भावनात्मक स्तर पर भी अनुकूलता एवं अनुरूपता विनिर्मित करनी पड़ेगी। पृथ्वी

अर्थात भौतिक संपदा-अहंता, सूर्य अर्थात आत्मिक सत्ता-ब्रह्मचेतना इन दोनों को जो जितना जोड़ सकता है, उसे कुंडलिनी जागरण के साथ जुड़ी हुई विभूतियाँ मिलती हैं। स्वार्थ को परमार्थ में जोड़ने का, शारीरिक वासनाओं को आत्मिक उल्लासों में घुला देने का नाम ही आत्मसमर्पण है। इसी को साधना-क्षेत्र में पृथ्वी और सूर्य का संयोग कहते हैं। कुंडलिनी साधना इसी केंद्रबिंदु पर पहुँचने की चेष्टा को कह सकते हैं।

अशक्तता और संकीर्णता एक ही तथ्य के दो नाम हैं। कुंडलिनी साधना द्वारा भीतर भरे शक्ति-स्रोत को उभारा जाता है और निखिल ब्रह्मांड में संव्याप्त अनंत सामर्थ्य को अपने भीतर धारण किया जाता है। यह धारणा ही वह पात्रता है जिसके आधार पर दिव्य शक्तियों का साधक में अवतरण होता है। शारीरिक और मानसिक साधना पद्धति की उपयोगिता भी है और आवश्यकता भी। पर उसकी पूर्णता तभी होती है, जब अपने अणु अस्तित्व को विराट् के विभु में समर्पित कर दिया जाए। यह समर्पण जितना यथार्थ और जितना प्रगाढ़ होता है, उसी अनुपात से सफलता का पथ प्रशस्त होता चला जाता है।

कुंडलिनी शक्ति एक होते हुए भी व्यक्ति तथा संसार के चेतन और जड़ जगत के अनेक प्रयोजन पूरे करती है। बिजलीघर में विनिर्मित होने वाले विद्युत-भंडार का संग्रह एक ही प्रकार का है, पर उसके द्वारा बत्तियाँ, पंखे, हीटर, कूलर, रेडियो आदि के अनेक घरेलू प्रयोजन पूरे होते हैं और अनेक तरह के कल-कारखाने चलते तथा अगणित प्रकार का उत्पादन करते हैं। इन क्रिया-कलापों के नाम-रूप अनेक हैं। उनके बाह्य स्वरूपों की भिन्नता इतने अधिक प्रकार और स्तर की है कि किसी का किसी से कोई सीधा संबंध मालूम नहीं पड़ता। पंखा चलने और रेडियो बजने के बाह्य स्वरूप में भारी अंतर मालूम पड़ता है। एक मशीन से सिंचाई के लिए पानी

निकलता है और दूसरी लोहा गलाने की भट्ठी जलाती है। दोनों में प्रत्यक्षत: कितना भारी अंतर दीखता है, पर बारीकी से देखने पर एक ही विद्युत-भंडार के यह विविधविध क्रिया-कलाप सिद्ध होंगे। ठीक इसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति एक विश्वव्यापी जीवन प्राण और समर्थ क्षमता के रूप में एक ही प्रकार की है, पर उसके कार्य जड़-जगत में अलग प्रकार के और चेतन-जगत में अलग प्रकार के दिखाई पड़ते हैं।

चेतन-जगत में इसकी क्रियाशीलता प्राणियों के जन्म, अभिवर्द्धन, वृद्धावस्था, मृत्यु तथा अंग-प्रत्यंग की दृश्य एवं अदृश्य गतिविधियों के रूप में देखी जा सकती है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, स्वभाव, संस्कार आदि के रूप में उसी महाशक्ति का प्रकाश फैला हुआ देखा जा सकता है। पंचतत्त्वों के विभिन्न सम्मिश्रणों, चेतनाओं के अनेक विभाजनों का एकत्रीकरण तथा कर्म संस्कारों के योग से जो अगणित योनियों में जन्म लेने वाले असंख्य आकृति-प्रकृति के जीव उत्पन्न होते हैं, उनमें यह कुंडलिनी शक्ति की चेतन-जगत में चल रही गतिविधियाँ ही कारण हैं। जड़-जगत में पृथ्वी और आकाश में जो विदित और अविदित अनेक हलचलें उत्पन्न होती रहती हैं और परिवर्तनों से भरी चंचलता निरंतर गतिवान रहती है, उसका कारण भी दिव्य सत्ता है। अणु-परमाणुओं की द्रुतगामी हलचलों से लेकर ग्रह-नक्षत्रों का चल बल, समुद्र के ज्वार-भाटे, भूकंप, ऋतु-परिवर्तन, भू-गर्भ के अंतरंग में निरंतर चल रहे हेर-फेर, ईथर-तत्त्व की सक्रियता आदि जड़-जगत में चल रही समस्त उथल-पुथल के पीछे यह कुंडलिनी शक्ति ही काम करती है। उनका क्रिया-कलाप एक क्षण के लिए भी बंद हो जाए, तो महाप्रलय ही सामने होगी। तब यहाँ सब कुछ निर्जीव, नीरस, निष्क्रिय, नितांत नीरव और अंधकार ही यहाँ शेष रह जाएगा। संभवत: तब सारी आकृतियाँ बिगड़कर पुन:

नीहारिकाएँ उत्पन्न करने वाली धूमिलता में ही बिखर जाएँ और देखने अनुभव करने जैसा कुछ शेष ही न रह जाए।

लकड़ी का टुकड़ा यदि अग्नि जैसा तेजस्वी बनना चाहता हो तो उसे अग्नि रूप बनने के लिए वर्तमान अस्तित्व गँवाना ही पड़ेगा। बीज अपना अस्तित्व भी न खोना चाहे और विशाल वृक्ष बनने का लाभ भी लेना चाहे, तो ये दोनों बातें न हो सकेंगी। संकीर्णता और आत्मिक प्रगति का जोड़ा मिल ही नहीं सकता। जो जितना स्वार्थी है, उसे आत्मिक प्रगति के पथ पर चलते हुए उतनी ही कठिनाई अनुभव होगी। आत्मिक सिद्धियाँ हैं तो, पर उनका लाभ कृपणता और स्वार्थपरता के रहते उठाया नहीं जा सकता। जीवन-साधना का तात्पर्य ही अहंता का विसर्जन है। पारमार्थिक दृष्टिकोण अपनाए बिना न जीवन-लक्ष्य पूरा होता है और न कुंडलिनी जागरण जैसी योग-साधनाओं में सफलता मिलती है।

आध्यात्मिक चेतना में वृद्धि करने का मतलब है—व्यष्टि को समष्टि से संबंध बनाते उसे घनिष्ठ करते हुए अंततः परस्पर दोनों का एक हो जाना। एक का दूसरे में विलीन हो जाना। जीवात्मा वस्तुतः विश्वात्मा-परमात्मा का ही एक अंग है। जो जिसका अंग है वह उसी में लीन होने को व्याकुल रहता है और जब तक वह प्रयोजन पूरा नहीं हो जाता, तब तक बेचैन ही रहता है। जल का भंडार समुद्र है। समुद्र से ही बादल निकलकर सर्वत्र जल बरसाते हैं। यह बरसाया हुआ जल नदी, नाले, झरने, तालाब, पृथ्वी के भीतर की नालियों आदि में होता हुआ यह प्रयत्न करता है कि वह समुद्र में जाकर मिले। जिधर भी पानी को ढलान दीखती है, उधर ही बहने लगता है। इस ढलान और प्रवाह का प्रयोजन उस बिखरे हुए जल अंशों को अपने मूल भंडार समुद्र तक पहुँचा देना ही है। आत्मिक उन्नति का उद्देश्य जीव की इस गति में तीव्रता ला देता

है, जिसके आधार पर वह एक छोटा टुकड़ा न रहकर अपने उद्गम में जा मिले और अपूर्णता खोकर पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर ले।

लेकिन अधिकांश लोग अधोगामी प्रवृत्ति ही अपनाए रहते हैं। पुराणों में ऐसे व्यक्तियों को पतित कहा गया है। जिसका आशय है कि प्रगति ऊर्ध्वगमन को कहते हैं तथा पतन को अधोगमन कहा जाता है। मूलाधार गत शरीर चेतना साधन शक्ति जब ऊर्ध्वगमन की इच्छा करती है, तो उसे सहस्रार की ओर उठना, चलना पड़ता है। कामबीज का ज्ञानबीज में परिवर्तन, विसर्जन, समर्पण करने की प्रक्रिया ही आत्मिक प्रगति का—लक्ष्यप्राप्ति का एकमात्र मार्ग है।

इस आत्मिक उत्कर्ष के अनेकों मार्ग हो सकते हैं। संकीर्ण स्वार्थपरता के बंधनों को शिथिल रहने और तोड़ने का प्रत्येक प्रयास इसी स्तर का माना जाएगा। जिन विचारों, योजनाओं और गतिविधियों में आदर्शवादी सिद्धांतों को अपनाने की बात बनती हो, उन्हें आत्मोत्कर्ष की साधना का एक स्वरूप माना जा सकता है। कुंडलिनी जागरण इसी प्रकार की वैज्ञानिक परिपाटी के आधार पर परिणाम प्रस्तुत करने वाली साधना है। इसमें शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों के महत्त्वपूर्ण आधार जुड़े हुए हैं। भौतिकी और ब्रह्मविद्या के दोनों तत्त्वों का इसमें समान रूप से समावेश है।

जीवसत्ता सामान्यतः शरीराभ्यास में डूबी रहती है। इसी वस्तुस्थिति का चित्रण कुंडलिनी ज्ञान में इस प्रकार किया गया है कि मूलाधार क्षेत्र में एक महासर्पिणी किसी लिंग प्रतीक से साढ़े तीन लपेटे मारकर सोई हुई है। उसका मुख नीचे की ओर है और उससे विष झरता है। यह लिंग कंद-संसार का आकर्षण है। जीव-सत्ता सर्पिणी है। वह आत्मबोध के संबंध में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी है। उसे न अपने स्वरूप का ज्ञान है और न लक्ष्य का मोह। वह मदिरा पीकर अज्ञान की मूर्च्छा से ग्रसित हो रही है। साढ़े तीन फेरों में तीन

तो वासना, तृष्णा और अहंता के पूरे हैं। बीच-बीच में कभी-कभी आत्मकल्याण की बात भी हलके-फुलके ढंग से उभरती है। अंतरात्मा की यह पुकार पूरी तरह कोई भी कुचल नहीं सकता। वह अपनी माँग करती ही रहेगी, भले ही उसे पग-पग पर अनसुनी किया जाता रहे। यही है आधा लपेट जिसे मिलाकर साढ़े तीन फेरे बनते हैं। सुप्त-प्रसुप्त कुंडलिनी का मुख नीचे की ओर अधःपतन की ओर है। हमारी निकृष्ट आकांक्षाएँ और प्रवृत्तियाँ आत्मकल्याण से नीचे ही धकेलने वाली बन गई हैं। शक्तियों का क्षरण-अधोमुखी बना हुआ है। वीर्यपात से लेकर अन्य कार्य भी उठाने वाले नहीं, गिराने वाले ही बने हुए हैं। उनके दुष्परिणाम विषतुल्य होते हैं। जीवसत्ता की दुर्गति का चित्रण प्रसुप्त सर्पिणी के रूप में किया गया है, तो यह उचित ही है। हमारी सत्ता इस विश्व-वसुधा में सर्पिणी के समतुल्य ही हेय बनकर रह रही है। हमारे उत्पादन विषतुल्य ही हैं। विषबीज बोने और विषाक्त प्रदूषण फैलाने वाली ही तो अपनी जीवन-प्रक्रिया बन रही है। मोह-मदिरा पीकर उन्मत्त बने दुर्भाग्यग्रस्त मनुष्यों की तरह ही अपनी स्थिति बनी हुई है।

कुंडलिनी जब जागती है तो प्रसुप्ति छोड़ती है। लपेटे खोल देती है। तनकर खड़ी हो जाती है। मेरुदंड मार्ग से ऊपर की ओर चढ़ना प्रारंभ करती है। उसके मुख से विषाक्त दुर्गंध के स्थान पर अमृतमयी सुगंध के श्वास निकलने लगते हैं। यह दृश्य आत्मोत्थान की ओर उन्मुख होने का है। कुंडलिनी मेरुदंड मार्ग से ऊपर चलती है और सहस्त्रार अवस्थित महासर्प से जा लिपटती है। इसे शिव-पार्वती विवाह की कथा-गाथा के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। सती, शिव से विमुख होकर पिता के घर गई थी और खिन्न होकर अग्निकुंड में जल मरी थीं। यह आत्मा का परमात्मा से विमुख होकर नारकीय यातनाओं के कुंड में जल मरना है। स्थिति

बदलती है। सती नया जन्म पार्वती के रूप में लेती हैं। तप करती हैं और शिव की अर्द्धांगिनी बन जाती हैं। यह जीवसत्ता का योग-तप की साधना अपनाकर अपनी पात्रता को विकसित करना और ऊर्ध्वगामी बनकर परमात्मा में समन्वित हो जाने का विकासक्रम है। कुंडलिनी जागरण साधना का तत्त्वदर्शन इन कथानकों के माध्यम से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है।

समुद्रमंथन की कथा में भी प्रकारांतर से कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया का ही दिग्दर्शन है। समुद्रमंथन की कथा में जीव की वस्तुस्थिति और कुंडलिनी जागरण साधना से उसकी प्रगति-सद्गति का अच्छा-खासा चित्रण है। कूर्म अर्थात भगवान पैर समेटे गई-गुजरी स्थिति में सबसे नीचे। मंथन के लिए लाया गया मदिराचल पर्वत उनकी पीठ पर। मथने के कार्य में प्रयुक्त होने वाली वासुकी सर्प की रज्जु। देवता और असुरों द्वारा उसका मंथन—यही है समुद्र मंथन का दृश्यचित्र। हमारे दैनिक जीवन में ईश्वर का स्थान सबसे नीचे है। वह कुछ करा सकने की स्थिति में नहीं है। कछुए की तरह सिकुड़ा-सिमटा ज्यों-त्यों करके मानवी सत्ता का भार वहन कर रहा है। मदिराचल—वैभव। मदिरा (मादक), अचल (संग्रहीत)। अपना धन-वैभव, उद्धत अहंता की तृप्ति में तथा अचल (संग्रह) करने के लिए प्रयुक्त होता है। वासुकी सर्प—विषधर जीव। साढ़े तीन लपेटों से मदिराचल के साथ लिपटा है और दोनों दिशाओं में देव-दानवों द्वारा घसीटे जाने के कारण दुर्दशाग्रस्त हो रहा है। हड्डी-पसलियों का कचूमर निकला जा रहा है। इस चित्रण में हम अपनी दुर्दशा का चित्र तथा भावी प्रगति का उपाय आभास देखने का दोहरा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

जीवनक्रम में संव्याप्त जड़ता को—पशु-प्रवृत्तियों के अभ्यस्त प्रवाह को निरस्त किया जाना चाहिए। चिंतन में समुद्रमंथन जैसी

प्रखरता उत्पन्न की जानी चाहिए। प्रसुप्ति को जागृति में—मूर्च्छना को क्रांतिकारी परिवर्तन में परिणत करने की आवश्यकता है। जीवन मंथन कर डाला जाए काया-कल्प के लिए कटिबद्ध हुआ जाए। पशु-प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर देवयान के पथ पर चलने का साहस जुटाया जाए, तो अपने लिए भी समुद्रमंथन से उपलब्ध हुए बहुमूल्य रत्नों की तरह अति महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ करतलगत हो सकती हैं। व्यामोह की, प्रलोभनों की, उन्मादों की सनकें यदि अंत:चेतना पर छाई ही रहीं, अंतर्द्वंद्वों में क्षमता का अपव्यय होता रहा, तो इस जीवन व्यापार में कमाया कुछ न जा सकेगा। जो पूँजी साथ लेकर आए थे, वह भी गँवाकर ऋण-भार लादकर वापस जाना पड़ेगा। इस स्थिति से बचने के लिए जीवनमंथन आवश्यक है। क्रांतिकारी परिवर्तन अभीष्ट है। समुद्रमंथन की कथा की मंथन- प्रक्रिया को कुंडलिनी जागरण पद्धति के साथ सहज भाव से जोड़ा जा सकता है।

कामनाएँ भावनाओं में परिणत होने के लिए संकल्प करती हैं तो उनकी स्थिति गंगा के समुद्र में विलय होने की आतुरता जैसी बन जाती है। हिमालय से निकलकर गंगा आतुरतापूर्वक समुद्र-मिलन के लिए लंबा मार्ग पार करती हुई दौड़ती है। कुंडलिनी को गंगा, मेरुदंड मार्ग को प्रवाह-पथ और सहस्रार को समुद्र कहा जा सकता है। अपने प्रियतम को पाकर गंगा ने अशांति से छुटकारा पाया और महान से मिलकर महान बन गई।

नर को नारायण बनने में तभी सफलता मिलेगी, जब वह अनंत चेतना के दिव्य शक्ति-स्रोत सविता देवता से अपने संबंध जोड़ेगा। सूर्य कितना तेजस्वी है, कितना समर्थ है—यह जानने वाला सूर्यपुत्र बनने के लिए उसकी साधना कुंडलिनीयोग द्वारा करते तो हैं, पर यह भूल जाते हैं कि अपनी सत्ता में दिव्य चेतना भी उसी मार्ग पर चलते हुए प्रखर बनानी होगी, जिस पर चलते हुए एक तुच्छ-सा अग्नि-पिंड सविता के रूप में विकसित हुआ है। □

गायत्री-साधना और कुंडलिनी जागरण

पौराणिक कथा के अनुसार ब्रह्माजी के दो पत्नियाँ थीं। प्रथम गायत्री, दूसरी सावित्री। इसे अलंकारिक प्रतिपादन में ज्ञान-चेतना और पदार्थ-संपदा कहा जा सकता है। इनमें एक परा प्रकृति है, दूसरी अपरा। परा प्रकृति के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, चतुष्टय, ऋतंभरा प्रज्ञा आदि का ज्ञानक्षेत्र आता है। दूसरी पत्नी सावित्री। इसे अपरा प्रकृति, पदार्थ चेतना, जड़ प्रकृति कहा जाता है। पदार्थों की समस्त हलचलें, गतिविधियाँ उसी पर निर्भर हैं। परमाणुओं की भ्रमणशीलता, रसायनों की प्रभावशीलता, विद्युत, ताप, प्रकाश, चुंबकत्व, ईथर आदि उसी के भाग हैं। पदार्थ विज्ञान इन्हीं साधनों को काम में लाकर अगणित आविष्कार करने और सुविधा-साधन उत्पन्न करने में लगा हुआ है। इसी अपरा प्रकृति को सावित्री कहते हैं। कुंडलिनी इसी दूसरी शक्ति का नाम है।

दूसरी शक्ति सावित्री—पदार्थ शक्ति, क्रियाशीलता इस अपरा प्रकृति से ही प्राणियों का शरीर-संचालन होता है और संसार का प्रगतिचक्र चलता है। शरीर में श्वास-प्रश्वास, रक्त-संचार, निद्रा-जाग्रति, पाचन-विसर्जन, ऊष्मा-ऊर्जा, विद्युत-प्रवाह अगणित क्रिया-कलाप काया के क्षेत्र में चलते हैं। संसार का हर आदि पदार्थ क्रियाशील है। उत्पादन, अभिवर्द्धन और परिवर्तन का गतिचक्र इस सृष्टि में अनवरत गति से चलता है। प्राणी और पदार्थ सभी अपने-अपने ढंग से प्रगति-पथ पर द्रुतगति से दौड़ रहे हैं। विकास की दिशा में कण-कण को धकेला जा रहा है। निष्क्रियता को सक्रियता के रूप में बदलने का प्रेरणा-केंद्र जिस महातत्त्व में सन्निहित है, उसे अपरा प्रकृति कहते हैं। सत, रज, तम—पंचतत्त्व, तन्मात्राएँ आदि का सूत्र-संचालन यही शक्ति करती है। सिद्धियाँ और वरदान

इसी के अनुग्रह से मिलते हैं। ब्रह्माजी की द्वितीय पत्नी सावित्री इसी को कहते हैं। मनुष्य शरीर में आरोग्य, दीर्घ जीवन, बलिष्ठता, स्फूर्ति, साहसिकता, सौंदर्य आदि अगणित विशेषताएँ इसी पर निर्भर हैं। यों इसका विस्तार तो सर्वत्र है, पर पृथ्वी में ध्रुवकेंद्र में और शरीर के मूलाधारचक्र में इसका विशेष केंद्र है। साधना प्रयोजन में इसी को कुंडलिनी शक्ति कहते हैं।

गायत्री और सावित्री दोनों परस्पर पूरक हैं। इनके मध्य कोई प्रतिद्वंदिता नहीं। गंगा-यमुना की तरह ब्रह्म हिमालय की इन्हें दो निर्झरिणी कह सकते हैं। सच तो यह है कि दोनों अविच्छिन्न रूप से एकदूसरे के साथ गुँथी हुई हैं। इन्हें एक प्राण दो शरीर कहना चाहिए। ब्रह्मज्ञानी को भी रक्त-मांस का शरीर और उसके निर्वाह का साधन चाहिए। पदार्थों का सूत्र-संचालन चेतना के बिना संभव नहीं। इस प्रकार यह सृष्टिक्रम दोनों के संयुक्त प्रयास से चल रहा है। जड़-चेतन का संयोग बिखर जाए, तो फिर दोनों में से एक का भी अस्तित्व शेष न रहेगा। दोनों अपने मूल कारण में विलीन हो जाएँगे। इसे सृष्टि के, प्रगति रथ के, दो पहिये कहना चाहिए। एक के बिना दूसरा निरर्थक है। अपंग तत्त्वज्ञानी और मूढ़मति नर-पशु दोनों ही अधूरे हैं। शरीर में दो भुजाएँ, दो पैर, दो आँखें, दो फेफड़े, दो गुरदे आदि हैं। ब्रह्मशरीर भी अपनी दो शक्तिधाराओं के सहारे यह सृष्टि प्रपंच सँजोए हुए हैं, इन्हें उसकी दो पत्नियाँ, दो धाराएँ आदि किसी भी शब्द-प्रयोग के सहारे ठीक तरह वस्तुस्थिति को समझने का प्रयोजन पूरा किया जा सकता है। पत्नी शब्द अलंकार मात्र है। चेतन सत्ता का कुटुंब-परिवार मनुष्यों जैसा कहाँ है? अग्नितत्त्व की दो विशेषताएँ हैं—गरमी और रोशनी। कोई चाहे तो इन्हें अग्नि की दो पत्नियाँ कह सकते हैं। यह शब्द अरुचिकर लगे तो पुत्रियाँ कह सकते हैं। सरस्वती को कहीं ब्रह्मा की पत्नी, कहीं पुत्री कहा

गया है। इसे स्थूल मनुष्य व्यवहार जैसा नहीं समझना चाहिए। यह अलंकारिक वर्णन मात्र उपमा भर के लिए है। आत्मशक्ति को गायत्री और वस्तुस्थिति को सावित्री कहते हैं। सावित्री-साधना को कुंडलिनी जागरण कहते हैं। उसमें शरीरगत प्राण-ऊर्जा की प्रसुप्ति, विकृति के निवारण का प्रयास होता है। बिजली का ऋण और धन दो धाराएँ होती हैं। गायत्री और सावित्री के समन्वय से साधना की समग्र आवश्यकता पूरी होती है।

नित्यकर्म में संध्यावंदन में की जाने वाली गायत्री-उपासना सामान्य है। कुंडलिनी जागरण के लिए गायत्री की उच्चस्तरीय उपासना का क्रम अपनाना पड़ता है। इसे जड़ और चेतन को परस्पर बाँधे रहने वाली सूत्र-शृंखला कह सकते हैं। प्रकारांतर से यह प्राण-प्रवाह है, जो व्यष्टि और समष्टि की समस्त हलचलों का संचालन करता है। नर और नारी अपनी जगह पर अपनी स्थिति में समर्थ होते हुए भी अपूर्ण हैं। इन दोनों को समीप लाने और घनिष्ठ बनाने में एक अविज्ञात चुंबकीय शक्ति काम करती रहती है। इसी के दबाव से युग्मों का बनना और प्रजनन क्रम चलना संभव होता है। उदाहरण के लिए इन नर और नारी के बीच घनिष्ठता उत्पन्न करने वाले चुंबकीय धारा-प्रवाह को कुंडलिनी की एक चिनगारी कह सकते हैं। प्रकृति और पुरुष को घनिष्ठ बनाकर उनसे सृष्टि-संचार की विभिन्न हलचलों का सरंजाम खड़ा करा लेना इसी ब्रह्मांडव्यापी कुंडलिनी का काम है। व्यक्ति सत्ता में भी काया और चेतना की घनिष्ठता बनाए रहना और शरीर में लिप्सा, मन में ललक और अंत:करण में निष्ठा उभारना इसी कुंडलिनी महाशक्ति का काम है। जीव की समस्त हलचलें, आकांक्षा, विचारणा और सक्रियता के रूप में सामने आती हैं। इनका सृजन-उत्पादन कुंडलिनी ही करती है। अन्यथा जड़ पंचतत्त्वों में पुलकन कहाँ? निर्लिप्त आत्मा में

उद्विग्न आतुरता कैसी ? दृश्य जगत की समस्त हलचलों के बीच जो बाजीगरी काम कर रही है, उसे अध्यात्म की भाषा में 'माया' कहा गया है। साधना-क्षेत्र में इसी को कुंडलिनी कहते हैं। इसे विश्व हलचलों का, मानवी गतिविधियों का, उद्गम-मर्मस्थल कह सकते हैं। यह प्रमुख कुंजी मास्टर के हाथ आ जाने पर प्रगति का द्वारा बंद किए रहने वाले सभी ताले खुलते चले जाते हैं।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में ऋतंभरा प्रज्ञा उभारने के लिए, प्रत्यक्ष सत्ता को प्रखर बनाने के लिए कुंडलिनी-साधना की कार्य-पद्धति काम में लाई जाती है। गायत्री-साधना का उद्देश्य मानसिक चेतनाओं का जागरण और कुंडलिनी-साधना का प्रयोजन पदार्थगत सक्रियताओं का अभिवर्द्धन है।

मस्तिष्क मार्ग से प्रकट होने वाली चेतनात्मक शक्तियों की सिद्धियों का वारापार नहीं। योगी, तत्त्वज्ञानी, पारदर्शी, मनीषी, विज्ञानी, कलाकार, आत्मवेत्ता, महामानव इसी शक्ति का उपयोग करके अपने वर्चस्व को प्रखर बनाते हैं। ज्ञानशक्ति के चमत्कारों से कौन अपरिचित है ? मस्तिष्क का महत्त्व किसे मालूम नहीं ? उसके विकास के लिए स्कूली प्रशिक्षण से लेकर स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन और साधना-समाधि तक के अगणित प्रयोग किए जाते रहते हैं। इस व्यावहारिक क्षेत्र को गायत्री उपासना परा प्रकृति की साधना ही कहना चाहिए।

दूसरी क्षमता है—क्रियाशक्ति, अपरा प्रकृति। शरीरगत अवयवों का सारा क्रिया-कलाप इसी से चलता है। श्वास-प्रश्वास, रक्त-संचार, निद्रा, जाग्रति, मलों का विसर्जन, ऊष्मा, ज्ञानतत्त्व, विद्युत-प्रवाह आदि अगणित प्रकार के क्रिया-कलाप शरीर में चलते रहते हैं। उन्हें अपरा प्रकृति का कर्तृत्व कहना चाहिए, इसे जड़ पदार्थों को गतिशील रखने वाली 'क्रियाशक्ति' कहना चाहिए। व्यक्तिगत

जीवन में इसका महत्त्व भी कम नहीं। आरोग्य, दीर्घ जीवन, बलिष्ठता, स्फूर्ति, साहसिकता, सौंदर्य आदि कितनी ही शरीरगत विशेषताएँ इसी पर निर्भर हैं। इसे व्यावहारिक रूप से कुंडलिनी शक्ति कहना चाहिए। आहार, व्यायाम, विश्राम आदि द्वारा साधारणत: इसी शक्ति की साधना, उपासना की जाती है।

यों प्रधान तो मस्तिष्क स्थित दिव्य चेतना ही है। वह बिखर जाए तो तत्काल मृत्यु आ खड़ी होगी। पर उपयोगिता शरीरगत पदार्थ-चेतना की भी कम नहीं है। उसकी कमी होने से मनुष्य दुर्बल, रुग्ण, अकर्मण्य, निस्तेज, कुरूप और कायर बनकर रह जाएगा। निरर्थक, निरुपयोगी, भारभूत जिंदगी की लाश ही ढोता रहेगा।

गायत्री का केंद्र सहस्रार—मस्तिष्क का मस्तिष्क, ब्रह्मरंध्र है। कुंडलिनी का केंद्र कामबीज—मूलाधारचक्र। गायत्री ब्रह्मचेतना की और सावित्री ब्रह्मतेज की प्रतीक है। दोनों में परस्पर सघन एकता और अविच्छिन्न घनिष्ठता है। गायत्री से दिव्य आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं और सावित्री से भौतिक ऋद्धि-सिद्धियाँ। गायत्री-उपासना की उच्चस्तरीय साधना पंचकोशों की, पंचयोगों की साधना बन जाती है। सावित्री कुंडलिनी है और उसे पाँच तप-साधनों द्वारा जगाया जाता है। योग और तप के समन्वय से ही संपूर्ण आत्म साधना का स्वरूप बनता और समग्र प्रतिफल मिलता है। इसलिए पंचकोशों की गायत्री और कुंडलिनी जागरण की सावित्री विद्या का समन्वित अवलंबन अपनाना ही हितकर है। बिजली की दो धाराएँ मिलने पर ही शक्ति-प्रवाह में परिणत होती है। आत्मिक प्रगति का रथ भी इन्हीं दो पहियों के सहारे महान लक्ष्य की दिशा में गतिशील होता है।

मोटेतौर पर मनुष्य शरीर पंचतत्त्वों का, सप्त धातुओं का बना परिलक्षित होता है। अन्न, जल पर उसका निर्वाह चलता प्रतीत होता

है, पर यदि तात्त्विक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो उसमें विश्व-ब्रह्मांड में संव्याप्त समस्त जड़-चेतन शक्तियों के बीज विद्यमान दिखाई देंगे। जो कुछ इस विराट् विश्व में है, उसका छोटा रूप अपने भीतर बहुत ही सुव्यवस्थित रीति से सँजोया हुआ है। यदि उन बीजों का ठीक तरह सिंचन-पोषण किया जा सके, तो उसका विस्तार इतने बड़े विशाल वृक्ष के रूप में हो सकता है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़े।

अपने भीतर सभी देवता, सभी दिव्य लोक, सभी सिद्धपुरुष, सभी ऋषि, सभी तीर्थ, सभी सिद्धियाँ तथा जो कुछ श्रेष्ठ-उत्कृष्ट है उसके अंकुर यथास्थान बोए-उगाए हुए मौजूद हैं। आवश्यकता केवल उनमें खाद-पानी देने की अनुकूलता प्रस्तुत करने की है। देखते-देखते वे विकसित, पल्लवित और फल-फूलों से सुसज्जित हो सकते हैं।

साधना का प्रयोजन अपने भीतर की महानता को विकसित करना ही है। बाहर व्यापक क्षेत्र में भी देव शक्तियाँ विद्यमान हैं, पर उनके लिए समष्टि विश्व की देख-भाल का विस्तृत कार्यक्षेत्र नियत रहता है। व्यक्ति की भूमिका के अनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न करने— सफलता और वरदान देने का कार्य उनके वे अंश ही पूरा करते हैं जो बीज रूप में हर व्यक्ति के भीतर विद्यमान हैं। सूर्य का अंश आँख में मौजूद है। यदि आँखें सही हों, तो ही विराट् सूर्य के प्रकाश से लाभ उठाया जा सकता है। अपने कान ठीक हों तो ही बाहर के ध्वनि- प्रवाह की कुछ उपयोगिता है। इसी प्रकार अपने भीतर के देवबीज यदि विकसित-परिष्कृत हों तो उनके माध्यम से विश्वव्यापी देवतत्त्वों के साथ संबंध जोड़ना आकर्षित करना और उनका सहयोग- अनुग्रह प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है।

कुंडलिनी जागरण की साधना-पद्धति का प्रयोजन अपने भीतर के देव अंशों को विकसित और परिपुष्ट बनाना है। कैलाश पर्वत

पर सर्पों का यज्ञोपवीत धारण करके विराजमान शिव और क्षीरसागर में शेषनाग पर सोए हुए विष्णु का बीजांश हमारे मस्तिष्क मध्यकेंद्र ब्रह्मरंध्र में यथावत विद्यमान है। इस स्थान को 'सहस्रार' कहते हैं। महाकाली—अग्नि जिह्वा चामुंडा का बीजांश जननेंद्रिय गह्वर—'मूलाधार' में विद्यमान है। इन दो शक्तियों के असंबद्ध बने रहने पर केवल उनकी उपस्थिति का आभास मात्र ही होता है, पर जब उन दोनों का संगम-समागम हो जाता है, तो अजस्र शक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो उठती है जिसे अनुपम या अद्‌भुत ही कहा जा सकता है।

जब वर्षा ऋतु आती है तो सूखे बीहड़ भी हरियाली से भर जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जिनका कोई अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता था, ऐसे दबे हुए बीज भी उपज पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि मानो किसी चतुर माली ने विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ, पुष्प गुल्म, लता, वल्लरियाँ विधिवत आरोपित की हैं। कुंडलिनी-साधना की सफलता को पावस का आगमन कह सकते हैं। मनुष्य शरीर एक विशाल उर्वर भूखंड कहा जा सकता है। इसमें एक-से-एक बहुमूल्य बीज दबे पड़े हैं। वर्षा न होने तक उनका अस्तित्व छिपा रहता है, पर जैसे ही पानी बरसा कि वे सभी प्रकट होकर अपनी शोभा-सुषमा दिखाने लगते हैं। साधारणत: जिन विशेषताओं और विभूतियों का किसी को भान भी नहीं होता, वे इस पावस में अनायास ही अंकुरित और पल्लवित होने लगती है।

आत्मवेत्ताओं ने मानव काया को तीन परतों—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक-से-एक अद्‌भुत देवांश खोजा है। शक्ति-बीजों की प्रचुर मात्रा उन्हें दृष्टिगोचर हुई है। विराट् में सन्निहित सब कुछ उन्होंने इसी छोटे-से कलेवर में सारभूत विद्यमान पाया है। इसलिए उन्होंने अपने अंतरंग में ही देव-साधना का विधान

अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यों देव मंदिरों में तथा लोक-लोकांतरों में भी देवशक्तियाँ संव्याप्त हैं, पर जितनी समीप और जितनी सजीव अपने अंतरंग में है उतनी अन्यत्र नहीं। जितनी सुविधापूर्वक उन्हें अपने भीतर पाया जा सकता है, उतनी सरलता और सफलता अन्यत्र नहीं मिल सकती। कुंडलिनी विद्या की साधना अंतरंग-क्षेत्र में ही करनी पड़ती है और उसकी सफलता जब मेघ मालाओं की तरह बरसती है, तो अगणित दिव्य विभूतियाँ स्वयमेव प्रस्फुटित और पल्लवित होती हैं। अंतरंग में कहा गया है—इसका वर्णन देखिए—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥

—शिव संहिता २।१-२

इसी शरीर में सुमेरु, सप्तद्वीप तथा समस्त सरिताएँ, सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, तीर्थ, पीठ, देवता निवास करते हैं।

अस्थिस्थाने महेशानि जम्बुद्वीपो व्यवस्थितः।
मांसेषु च कुशद्वीपः क्रौंचद्वीपः शिरासु च॥
शाकद्वीपः स्मृतो रक्ते प्राणिनां सर्वसन्धिषु।
तदूर्ध्वं शाल्मलीद्वीपः प्लक्षश्च लोमसंचये॥
नाभौ च पुष्करद्वीपः सागरस्तदनन्तरम्।
लवणोदस्तथा मूत्रे शुक्रे क्षीरोदसागरः॥
मज्जा दधिसमुद्रश्च तदूर्ध्वं घृतसागरः।
वसापः सागरः प्रोक्त इक्षु स्यात्कटिशोणितम्॥
शोणिते च सुरासिंधुः कथिताः सप्तसागराः।

—महायोग विज्ञान

अस्थि-स्थान में जंबूद्वीप, मांस में केश, द्वीप, शिराओं में क्रोंच द्वीप, रक्त में शाक द्वीप, त्वचा में शाल्मली द्वीप, लोम समूह में प्लक्ष द्वीप, नाभि में पुष्कर। ये सातों द्वीप इस शरीर में ही विद्यमान हैं।

इसी प्रकार इस काया में सात समुद्र भी हैं। मूत्र में लवण सागर, शुक्र में क्षीरसागर, मज्जा में दधिसागर, मेद में घृतसागर, नाभि में इक्षुसागर, रक्त में सुरासागर अवस्थित हैं।

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके।
वाराणसीं महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥
आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥
भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।

—जाबाल दर्शनोपनिषद् ४। ४८-५१

इसी मनुष्य देह में सात तीर्थ हैं। मस्तक में श्री शैल, ललाट में केदार, नासिका और भौहों के बीच काशी, स्तनों में कुरुक्षेत्र, हृदय में प्रयाग, मूलाधार में कमलालय तीर्थ विद्यमान हैं। जो इन आत्मतीर्थों को छोड़कर बाह्य तीर्थों में भटकता है, वह रत्न छोड़कर काँच ढूँढ़ते फिरने वालों की तरह है।

गंगा सरस्वती गोदा सर्वदा यमुना तथा।
कावेरी चंद्रभागा च वितस्ता च इरावती॥
द्विसप्ततिसहस्त्रेषु नदीनद परिस्त्रवाः।
इतस्ततो देह मध्ये ऋक्षाश्च पंच विंशतिः॥
योगाश्च राशयश्चैव ग्रहाश्च तिथयस्तथा।
करणानि च वाराश्च सर्वेषां स्थापनं तथा॥

सर्वाङ्गेषु च देवेशि समग्रवृक्षमंडलम्।
त्रयस्त्रिंशत्कोट्यस्तु निवसन्ति च देवताः॥

—महायोग विज्ञान

इसी शरीर में समस्त तीर्थ और देवताओं का निवास है। गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु, कावेरी, चंद्रभागा, वितस्ता, इरावती—ये प्रमुख नदियाँ तथा बहत्तर हजार छोटी नदियाँ, ये बड़ी और छोटी नदियों के रूप में प्रवाहित हो रही हैं।

ऐसे ही इस शरीर में पंद्रह तिथियाँ, सात वार, सत्ताइस नक्षत्र, बारह राशि, अट्ठाईस योग, सात करण, नवग्रह उनके उपग्रह, नक्षत्र मंडल तथा तैंतीस कोटि देवता इसी शरीर में विराजमान हैं।

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥

—शिव संहिता ४।४६

प्राणवायु की ताड़ना से चक्रों के मध्य में अवस्थित देवता जाग्रत होते हैं और माया कुंडलिनी कैलाश मस्तक में जा पहुँचती है।

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्-४१

ब्रह्मा का स्थान हृदय, विष्णु का कंठ में, रुद्र का तालू में और ललाट में सर्वेश्वर का स्थान है।

मनुष्य के भीतर ही समस्त तीर्थ विद्यमान हैं। यदि कुंडलिनी विद्या द्वारा आत्मसाधना कर ली जाए, तो यह काया ही समस्त तीर्थों का संगम बन सकती है और तीर्थयात्रा का जो माहात्म्य बताया है, वह अनायास ही मिल सकता है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना को तीर्थराज प्रयाग में गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम की उपमा दी है और पुण्य-फल अनंत बताया है।

इडायां यमुना देवी पिंगलायां सरस्वती।
सुषुम्णायां वसेद् गंगा तासां योगस्त्रिधा भवेत्॥
संगता ध्वजमूले च विमुक्ता भ्रूवियोगतः।
त्रिवेणी योगः सा प्रोक्तस्तत्र स्नानं महाफलम्॥

—षट्चक्र निरूपणम्, (पृ०-५)

इड़ा नाड़ी यमुना, पिंगला सरस्वती और सुषुम्ना गंगा है। यही योग त्रिवेणी है। उनका मूलाधार से और वियोजन मध्य में होता है। इस योग त्रिवेणी के संगम का महाफल है।

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम्॥
इडासुषुम्णे शुभतीर्थकेऽस्मिन् ज्ञानाम्बुपूर्णा बहतः शरीरे।
ब्रह्माम्बुभिः स्नातितयोः सदा यः किन्तस्य गाङ्गैरपि पुष्करैर्वा॥

—महायोग विज्ञान

इड़ा गंगा और पिंगला यमुना के बीच सरस्वती रूपी जो सुषुम्ना बहती है, उनके संगम में स्नान करने वाला धन्य हो जाता है और परमगति पाता है।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना इनका संगम शिव तीर्थ है। इनके ज्ञान रूपी ब्रह्म जल में जो स्नान करते हैं, उनके लिए बाह्य नदी सरोवरों तथा तीर्थों का क्या प्रयोजन?

इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः॥
एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम्॥

—शिव संहिता ५ / १२६-१२७

इड़ा नाड़ी को वरणा और पिंगला को असी कहते हैं। इन दोनों के बीच स्वयं विश्वनाथ विराजमान हैं। यही वाराणसी है।

इसी वाराणसी का माहात्म्य तत्त्वदर्शी ऋषियों तथा शास्त्रों ने गाया है और उसे ही परमतत्त्व कहा है।

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटं गता।
उदग्वहेति तत्रेडा गङ्गेति समुदाहृता॥

—शिव संहिता ५।१३२

आज्ञाचक्र के दाहिने भाग में बाँई ओर को जाने वाली इड़ा नाड़ी को ही गंगा कहते हैं।

'कारणशरीर' का देवता ब्रह्मा—'सूक्ष्मशरीर' का अधिपति विष्णु और 'स्थूलशरीर' का अधिष्ठाता शिव है। यह अधिष्ठाता देव सामान्य व्यक्तियों के जीवन में गाँठ की तरह बँधे हुए एक कोने में पड़े रहते हैं। पर जब कुंडलिनी जागरण की तीन अग्नियाँ प्रज्वलित होती हैं, तो उनका प्रभाव तीनों शरीरों पर पहुँचता है और उनके प्रसुप्त तीनों देवता सजग-सक्षम-सक्रिय होकर अपना प्रकाश एवं प्रभाव प्रदर्शित करने लगते हैं। जिन तीन शरीरों का साधारणत: आभास-अनुभव नहीं होता, वे अपने अधिष्ठाता देवताओं के जाग्रत होने पर स्थूलशरीर से भी अधिक प्रत्यक्ष एवं समर्थ दिखाई देने लगते हैं। ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि और रुद्रग्रंथि के खुल जाने से समस्त अभावों और शोक-संतापों के भव-बंधनों से भी छुटकारा मिल जाता है और साधक की प्रतिभा में देवत्व का प्रकाश स्पष्ट परिलक्षित होता है।

गायत्री के तीन चरण इन तीन ग्रंथियों, तीन शरीरों की ओर इंगित करते हैं। गायत्री और सावित्री की समन्वित साधना चेतना पर चढ़े कषाय-कल्मषों का निवारण करती है । परिणामस्वरूप उससे आत्मसत्ता के दिव्य स्वरूप में और निखार आता है। भौतिक क्षेत्र में

आत्मचेतना का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सावित्री-साधना का उपयोग करना पड़ता है। आत्मा को संसारी वर्चस्व बनाने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। गायत्रीरूपी आत्मा को संसारी कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए जिस सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है, उसे सावित्री-साधना से उत्पन्न किया जाता है।

गायत्री-साधना द्वारा कुंडलिनी शक्ति के जागरण की महिमा पर प्रकाश डालने वाले अनेकों शास्त्र वचन मिलते हैं। यथा—

या देवता भोगकरी सा मोक्षाय न कल्पते।
मोक्षदा नहि भोगाय त्रिपुरा तु द्वयप्रदा॥

—त्रिपुरा तंत्र

जो देवता भोग देते हैं, वे मोक्ष नहीं देते। जो मोक्ष देते हैं, वे भोग नहीं देते, पर कुंडलिनी दोनों प्रदान करती है।

उद्घाट्येत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

—शांभवी तंत्र

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बल से द्वार पर लगी हुई अर्गला आदि को ताली से खोलता है, उसी प्रकार योगी कुंडलिनी के अभ्यास द्वारा सुषुम्ना के मार्ग का भेदन करता है और ब्रह्मलोक में पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडलिनी परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्द्धत्रय बलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोग विधेरपि॥
आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रति बुध्यते॥

—महायोग विज्ञान

आत्मशक्ति कुंडलिनी मूलाधारचक्र में साढ़े तीन कुंडली लगाए हुए सर्पिणी की तरह शयन करती है। जब तक वह सोती रहती है, तब तक जीव पशुवत् बना रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी तब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता। जिसकी आधार शक्ति सो रही है, उसका सारा संसार ही सो रहा है। पर जब वह जागती है तो उसका भाग्य और संसार ही जाग पड़ता है।

यदा भवति सा संविद्विगुणीकृतविग्रहा।
सा प्रसूते कुंडलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः॥
शक्ति ततो ध्वनितस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुमतस्माद सीत्परा ततः॥
पश्यन्ती मध्यमा वाणी वैखरी सर्ग जन्मभूः।
इच्छा ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका॥
क्रमेणानेन सृजति कुंडली वर्णमालिकाम्॥

—महामंत्र

जाग्रत हुई कुंडलिनी असीम शक्ति का प्रसव करती है। उससे नाद जाग्रत होता है फिर बिंदु। परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी ये चारों वाणियाँ प्रखर होती हैं। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति में उभार आता है तथा वर्णमालिका की शृंखला से संबद्ध अनेक शारीरिक-मानसिक शक्तियों का विकास होता है।

शक्तिः कुंडलिनीति विश्वजननव्यापारगद्धोद्यमा।
ज्ञात्वेत्थं तुनर्विशन्ति जननागर्भेऽर्भकत्वनराः॥

—शक्तितंत्र

कुंडलिनी महाशक्ति के प्रयत्न से ही संसार का सारा व्यापार चल रहा है, जो इस तथ्य को जान लेता है, वह शोक-संताप भरे बंधनों में नहीं बँधा रहता।

कूजन्ती कुलकुंडली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं,
वाचः कोमलकाव्यवन्धरचनाभेदातिभेदक्रमैः ।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते॥
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीतावलिः॥

—*षटचक्र निरूपणम्, (पृ०-२३)*

कुंडलिनी शक्ति के जाग्रत् होने पर वाणी में मधुरता आ जाती है। काव्य कला और साहित्य में प्रगति होती है। यह मूलाधारचक्र में दीप शिखा जैसी, चंद्र ज्योति जैसी प्रकाशित है, प्राणवायु द्वारा यह धारणा की जाती है।

कुंडलिनी जागरण से इस प्रकार की अनेक शक्तियों, सिद्धियों और क्षमताओं का जागरण होता है, यह सच है, क्योंकि इस साधना द्वारा साधक की अंतर्निहित बीजरूप शक्ति जाग्रत होकर ऊर्ध्वगामी बनती है। ये साधनाएँ आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़ने, उस स्तर पर पहुँचाने में समर्थ हैं। इनके लिए सामान्य साधनाक्रम से ऊपर उठकर कुछ विशिष्ट साधना प्रक्रियाएँ अपनानी पड़ती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप उनका अलग-अलग विधान है, इसलिए उनका सार्वजनिक प्रकाशन करना न आवश्यक है और न उचित।

□

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

Kundalini Sadhana (कुण्डलिनी-साधना)

कुण्डलिनी शक्ति क्या है?
योग कुण्डल्युपनिषद् में कुण्डलिनी का वर्णन इस तरह किया गया है- ´कुण्डले अस्या´ स्त: इति: कुण्डलिनी। दो कुण्डल वाली होने के कारण पिण्डस्थ उस शक्ति प्रवाह को कुण्डलिनी कहते हैं। दो कुण्डल अर्थात इड़ा और पिंगला। बाईं ओर से बहने वाली नाड़ी को ´इड़ा´ और दाहिनी ओर से बहने वाली नाड़ी को ´पिगला´ कहते हैं। इन दोनों नाडियों के बीच जिसका प्रवाह होता है, उसे सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। इस सुषुम्ना नाड़ी के साथ और भी नाड़ियां होती है। जिसमें एक चित्रणी नाम की नाड़ी भी होती है। इस चित्रणी नाम की नाड़ी में से होकर कुण्डलिनी शक्ति प्रवाहित होती है, इसलिए सुषुम्ना नाड़ी की दोनों ओर से बहने वाली उपयुक्त 2 नाड़ियां ही कुण्डलिनी शक्ति के 2 कुण्डल हैं।

कुण्डलिनी यज्ञ का विशेष वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद के २/१/८ संदर्भ में कहा गया है-
"सत्तप्राणी उसी से उत्पन्न हुए । अग्नि की सात ज्वालाएँ उसी से प्रकट हुईं । यही सप्त समिधाएँ हैं, यही सात हवि हैं । इनकी ऊर्जा उन सात लोकों तक जाती जिनका सृजन परमेश्वर ने उच्च प्रयोजनों के लिए किया गया है ।"

उपनिषद् में कुण्डलिनी शक्ति के स्वरूप का वर्णन-
मूलाधारस्य वहवयात्म तेजोमध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्ति: कुण्डलाख्या प्राणाकारण तैजसी।।

अर्थात कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्थित आत्माग्नी तेज के मध्य में स्थित है। वह जीवनी शक्ति है। तेज और प्राणाकार है।

कुण्डलिनी शक्ति का ज्ञानार्णव तंत्र में वर्णन इस प्रकार किया गया है-
मूलाधारे मूलविद्दया विद्युत्कोटि समप्रभासम्।
सूर्यकटि प्रतीकाशां चन्द्रकोटि द्रवां प्रिये।।

अर्थात मूलाधार चक्र में विद्युत प्रकाश ही करोड़ों किरणों वाला, करोड़ों सूर्यो और चन्द्रमाओं के प्रकाश के समान, कमल की डण्डी के समान अविच्छिन्न तीन घेरे डाले हुए मूल विद्या रूपिणी कुण्डलिनी स्थित है। वह कुण्डलिनी परम प्रकाशमय है, अविच्छिन्न शक्तिधारा है और तेजोधारा है।

घेरण्ड संहिता के अनुसार-
घेरण्ड संहिता में कुण्डलिनी को ही आत्मशक्ति या दिव्य शक्ति व परम देवता कहा गया है।

मूलाधारे आत्मशक्ति: कुण्डली परदेवता।
शमिता भुजगाकारा, सार्धत्रिबलयान्विता।।

अर्थात मूलाधार में परम देवी आत्माशक्ति कुण्डलिनी तीन बलय वाली सर्पिणी के समान कुण्डल मारकर सो रही है।

महाकुण्डलिनी प्रोक्त: परब्रह्म स्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकाऽनेकाक्षराकृति:।।

अर्थात कुण्डलिनी शक्ति परम ब्रह्मा स्वरूपिणी, महादेवी, प्राण स्वरूपिणी तथा एक और अनेक अक्षरों के मंत्रों की आकृति में माला के समान जुड़ी हुई बतायी जाती है।

कन्दोर्ध्व कुण्डली शक्ति: सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेति से योगिवित्।।

अर्थात कन्द के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। यह कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई अवस्था में होती है। इस कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही योगिजनों को मोक्ष प्राप्त होता है। सुख के बन्धन का कारण भी कुण्डलिनी है। जो कुण्डलिनी शक्ति को अनुभाव पूर्ण रूप से कर पाता है, वही सच्चा योगी होता है।

सप्त लोकों का देवी भागवत में अन्य प्रकार से उल्लेख हुआ है-
उसमें भूः में धरित्री भुवः में वायु स्वः में तेजस महः में महानता, जनः में जनसमुदाय, तपः में तपश्चर्या एवं सत्य में सिद्धवाण्-वाक सिद्धि रूप सात शक्तियाँ समाहित बतायी गयी हैं ।

इस प्रकार कुण्डलिनी योग के अंतर्गत चक्र समुदाय में वह सभी कुछ आ जाता है, जिसकी कि भौतिक और आत्मिक प्रयोजनों के लिए आवश्यकता पड़ती है ।

मानवी काया को एक प्रकार से भूलोक के समान माना गया है। इसमें अवस्थित मूलाधार चक्र को पृथ्वी की तथा सहस्रार को सूर्य की उपमा दी गई है । दोनों के बीच चलने वाले आदान-प्रदान माध्यम को मेरुदण्ड कहा गया है । ब्रह्मरंध्र ब्रह्मण्ड का प्रतीक है । ठीक इसी प्रकार सहस्रार लोक ब्रह्मण्डीय चेतना का अवतरण केन्द्र है और इस महान् भण्डागार में से मूलाधार को जिस कार्य के लिए जितनी मात्रा में जिस स्तर की शक्ति कि आवश्यक्ता होती है उसकी पूर्ति लगातार होती रहती है ।

कुण्डलिनी प्रसंग योग वशिष्ठ, योग चूड़ामणि, देवी भवगत्, शारदा तिलक, शान्डिल्योसपनिषद मुक्ति-कोपनिषद, हठयोग संहिता, कुलार्णन तंत्र, योगिनी तंत्र बिन्दूपनिषद, रुद्र यामल तंत्र सौन्दर्य लहरी आदि गंथों में विस्तार पूर्वक दिया गया है ।

यही कारण है कि ऋग्वेद में ऋषि कहते हैं-
हे "प्राणाग्नि! मेरे जीवन में ऊषा बनकर प्रकटों अज्ञान का अंधकार दूर करों, ऐसा बल प्रदान करो जिससे देव शक्तियाँ खिंची चली आएँ ।"

त्रिशिखिब्रहोपनिषद में शास्त्रकार ने कहा है-
"योग साधना द्वारा जगाई हुई कुण्डलिनी बिजली के समान लडपती और चमकती है । उससे जो है, सोया सा जागता है । जो जागता है, वह दौड़ने लगता है ।"

महामंत्र में वर्णन आता है-
"जाग्रत हुई कुण्डलिनी असीम शक्ति का प्रसव करती है । उससे नाद बिन्दू, कला के तीनों अभ्यास स्वयंमेव सध जाते हैं । परा, पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी चारों वाणियाँ मुखर हो उठती हैं । इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति में उभार आता है । शरीर-वीणा के सभी तार क्रमबद्ध हो जाते हैं और मधुर ध्वनि में बजते हुए अन्तराल को झंकृत करते हैं । शब्दब्रह्म की यह सिद्धि मनुष्य को जीवनमुक्त कर देवात्मा बना देती है । "

शरीर में कुण्डलिनी की अवस्था
जननेन्द्रिय के मूल में या लिंग उपस्थ में नाड़ियों का एक गुच्छा है। योग शास्त्रों में इसी को “कन्द” कहा जाता है। इसी पर कुण्डलिनी गहरी नींद में जन्म-जन्मान्तर से सो रही होती है।

कुण्डलो कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन, स युक्तों नात्र संशय।।

अर्थात कुण्डलिनी को सर्प के आकार की कुटिल कहा गया है। जिस तरह सांप कुण्डली मारकर सोता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति भी आदिकाल से ही मनुष्य के अन्दर सोई हुई रहती है।

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पयुयेथा।
ज्ञान न जायते तावत् कोटि योगविधेरपि।।

अर्थात जब तक कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य के अन्दर सोई हुई अवस्था में रहती है, तब तक मनुष्य परिस्थिति के अधीन रहता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण पशुओं के समान होता है। ऐसे व्यक्ति दीन-हीन जीवन यापन करते हैं, तथा उनका रहन-सहन, भावों और विचारों, आहार-विहार आदि में आत्म विश्वास, धैर्य, सूझ-बूझ, उमंग, उत्साह, उल्लास, दृढ़ता, स्थिरता, एकाग्रता, कार्य कुशलता, उदारता और हृदय विशालता जैसे गुणों का अभाव होता है। ऐसे व्यक्ति अनेक योग साधना, पूजा-पाठ आदि करके भी अपने ब्रह्माज्ञान विवेक को प्राप्त नहीं कर पाता।

मूलाधारे प्रसुप्त साऽऽमशक्ति उन्द्रिता-
विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्ति:।

अर्थात वह प्रबल आत्मशक्ति मूलाधार में सो रही है। उसका प्रयोग किसी बड़े या चमत्कारी कार्य में न होने से वह अपमानित व्यक्ति की तरह शिथिल और गतिहीन बनी हुई है। व्यक्ति के अन्दर जागी हुई इच्छाशक्ति के महान उद्देश्यों की पूर्ति में नियोजित वही शक्ति पराशक्ति के रूप में विराजती है।

कुण्डलिनी जागृत करने का कारण
शरीर के अन्दर कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने से शरीर के अन्दर मौजूद दूषित कफ, पित्त, वात आदि से उत्पन्न होने वाले विकार नष्ट हो जाते हैं। इसके जागरण से मनुष्य के अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे दोष, आदि खत्म हो जाते हैं। इस शक्ति का जागरण होने से यह अपनी सोई हुई अवस्था को त्याग कर सीधी हो जाती है और विद्युत तरंग के समान कम्पन के साथ इड़ा, पिंगला नाड़ियों को छोड़कर सुषुम्ना से होते हुए मस्तिष्क में पहुंच जाती है।

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु सचालयेत बुध:।
स्पश्यनादाभ्रवोर्मध्य, शक्तिचालनमुच्चते।।

अर्थात अपने अन्दर आंतरिक ज्ञान व अत्याधिक शक्ति की प्राप्ति के लिए सभी मनुष्यों को चाहिए कि वह अपने अन्दर सोई हुई कुण्डलिनी (आत्मशक्ति) का जागरण करें, उसे कार्यशील बनाएं! प्राणायाम के द्वारा जब मूलाधार से स्फूर्ति तरंग की तरह ऊर्जा शक्ति उठकर मस्तिष्क में आती हुई महसूस होने लगे तो समझना चाहिए कि कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो चुकी है।

ज्ञेया शक्तिरियं विश्नोनिर्भया स्वर्णभ: स्वरा।

अर्थात शरीर में उत्पन्न होने वाली इस कुण्डलिनी शक्ति को स्वर्ण के समान सुन्दर विष्णु की निर्भय शक्ति ही समझना चाहिए। यही शक्ति आत्मशक्ति, जीवशक्ति आदि नाम से भी जाना जाता है। यही ईश्वरीय शक्ति भी है, प्राणशक्ति और कुण्डलिनी शक्ति भी है। मनुष्य के शरीर में मौजूद कुण्डलिनी शक्ति और पारलौकिक शक्ति दोनों एक ही शक्ति के अलग-अलग रूप हैं।

पतांजलि द्वारा रचित ´योग दर्शन´ शास्त्र के अनुसार-
पतांजलि द्वारा रचित ´योग दर्शन´ शास्त्र के साधनापद में कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के अनेकों उपाय बताए गए है। मंत्र ग्रन्थों में जितने योगों का वर्णन है, वे सभी कुण्डलिनी जागरण की ही साधना है। महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीत करणी मद्रा, अश्विनी मुद्रा, योनि मुद्रा, शक्ति चालिनी मुद्रा, आदि कुण्डलिनी जागरण में सहायता करते हैं। इसमें प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी को जागरण करना और उसे सुषुम्ना में लाना कुण्डलिनी जागरण का सबसे अच्छा उपाय है। प्राणायाम के द्वारा कुछ समय में ही कुण्डलिनी शक्ति का जागरण कर उसके लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।

प्राणायाम से केवल कुण्डलिनी शक्ति ही जागृत ही नहीं होती बल्कि इससे अनेकों लाभ भी प्राप्त होते हैं। ´योग दर्शन´ के अनुसार प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान पर पड़ा हुआ अज्ञान का पर्दा नष्ट हो जाता है। इससे मनुष्य भ्रम, भय, चिंता, असमंजस्य, मूल धारणाएं और अविद्या व अन्धविश्वास आदि नष्ट होकर ज्ञान, अच्छे संस्कार, प्रतिभा, बुद्धि-

विवेक आदि का विकास होने लगता है। इस साधना के द्वारा मनुष्य अपने मन को जहां चाहे वहां लगा सकता है। प्राणायाम के द्वारा मन नियंत्रण में रहता है। इससे शरीर, प्राण व मन के सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। इससे शारीरिक क्षमता व शक्ति का विकास होता है। प्राणायाम के द्वारा प्राण व मन को वश में करने से ही व्यक्ति आश्चर्यजनक कार्य को कर सकने में समर्थ होता है। प्राणायाम आयु को बढ़ाने वाला, रोगों को दूर करने वाला, वात-पित्त-कफ के विकारों को नष्ट करने वाला होता है। यह मनुष्य के अन्दर ओज-तेज और आकर्षण को बढ़ाता है। यह शरीर में स्फूर्ति, लचक, कोमल, शांति और सुदृढ़ता लाता है। यह रक्त को शुद्ध करने वाला है, चर्म रोग नाशक है। यह जठराग्नि को बढ़ाने वाला, वीर्य दोष को नष्ट करने वाला होता है।

प्राणायाम के द्वारा वीर्य और प्राण के ऊर्ध्वगमन से बुद्धि तंत्र के बन्द कोष खुलते है, साथ ही शरीर की नस-नस में अत्यंत शक्ति, साहस का संचार होने से क्रियाशीलता का विकास भी होता है।

कुंडलिनी जागरण का अर्थ है

मनुष्य को प्राप्त महानशक्ति को जाग्रत करना। यह शक्ति सभी मनुष्यों में सुप्त पड़ी रहती है। कुण्डली शक्ति उस ऊर्जा का नाम है जो हर मनुष्य में जन्मजात पायी जाती है। इसे जगाने के लिए प्रयास या साधना करनी पड़ती है।

कुंडली जागरण के लिए साधक को शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्तर पर साधना या प्रयास करना पड़ता है। जप, तप, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, योग आदि के माध्यम से साधक अपनी शारीरिक एवं मानसिक, अशुद्धियों, कमियों और बुराइयों को दूर कर सोई पड़ी शक्तियों को जगाता है। अत: हम कह सकते हैं कि विभिन्न उपायों से अपनी अज्ञात, गुप्त एवं सोई पड़ी शक्तियों का जागरण ही कुंडली जागरण है।

योग और अध्यात्म में इस कुंडलीनी शक्ति का निवास रीढ़ की हड्डी के समानांतर स्थित छ: चक्रों में से प्रथम चक्र मूलाधार के नीचे माना गया है। यह रीढ की हड्डी के आखिरी हिस्से के चारों ओर साढे तीन आँटे लगाकर कुण्डली मारे सोए हुए सांप की तरह सोई रहती है।

आध्यात्मिक भाषा में इन्हें षट्-चक्र कहते हैं।

ये चक्र क्रमश:

इस प्रकार है:- मूलधार-चक्र, स्वाधिष्ठान-चक्र, मणिपुर-चक्र, अनाहत-चक्र, विशुद्ध-चक्र, आज्ञा-चक्र। साधक क्रमश: एक-एक चक्र को जाग्रत करते हुए, आज्ञा-चक्र तक पहुंचता है। मूलाधार-चक्र से प्रारंभ होकर आज्ञाचक्र तक की सफलतम यात्रा ही कुण्डलिनी जागरण कहलाता है।

षट्-चक्र एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रंथियां है। इन चक्र ग्रंथियों में जब साधक अपने ध्यान को एकाग्र करता है तो उसे वहां की सूक्ष्म स्थिति का बड़ा विचित्र अनुभव होता है। इन चक्रों में विविध शक्तियां समाहित होती है। उत्पादन, पोषण, संहार, ज्ञान, समृद्धि, बल आदि। साधक जप के द्वारा ध्वनि तरंगों को चक्रों तक भेजता है। इन पर ध्यान एकाग्र करता है। प्राणायम द्वारा चक्रों को उत्तेजित करता है। आसनों द्वारा शरीर को इसके लिए उपयुक्त बनाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक प्रयासों के द्वारा साधक, शक्ति के केंद्र इन चक्रों को जाग्रत करता है।

वैदिक ग्रन्थों में लिखा है कि मानव शरीर आत्मा का भौतिक घर मात्र है। आत्मा सात प्रकार के कोषों से ढकी हुई हैः- १- अन्नमय कोष (द्रव्य, भौतिक शरीर के रूप में जो भोजन करने से स्थिर रहता है), २- प्राणामय कोष (जीवन शक्ति), ३- मनोमय कोष (मस्तिष्क जो स्पष्टतः बुद्धि से भिन्न है), ४- विज्ञानमय कोष (बुद्धिमत्ता), ५- आनन्दमय कोष (आनन्द या अक्षय आनन्द जो शरीर या दिमाग से सम्बन्धित नहीं होता), ६- चित्-मय कोष (आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता) तथा ७- सत्-मय कोष (अन्तिम अवस्था जो अनन्त के साथ मिल जाती है)। मनुष्य के आध्यात्मिक रूप से पूर्ण विकसित होने के लिये सातों कोषों का पूर्ण विकास होना अति आवश्यक है।

साधक की कुण्डलिनी जब चेतन होकर सहस्त्रार में लय हो जाती है, तो इसी को मोक्ष कहा गया है।

कुण्डलिनी योग के अंतर्गत शक्तिपात विधान का वर्णन अनेक ग्रंथों में मिलता है जैसे-
योग वशिष्ठ, तेजबिन्दूनिषद्, योग चूड़ामणि, ज्ञान संकलिनी तंत्र, शिव पुराण, देवी भागवत, शाण्डिपनिषद, मुक्तिकोपनिषद, हठयोग संहिता, कुलार्णव तंत्र, योगनी तंत्र, घेरंड संहिता, कंठ श्रुति ध्यान बिन्दूपनिषद, रुद्र यामल तंत्र, योग कुण्डलिनी उपनिषद्, शारदा तिलक आदि ग्रंथों में इस विद्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है ।

तैत्तरीय आरण्यक में चक्रों को देवलोक एवं देव संस्थान कहा गया । शंकराचार्य कृत आनन्द लहरी के १७ वें श्लोक में भी ऐसा ही प्रतिपादन है ।

योग दर्शन समाधिपाद का ३६वाँ सूत्र है-
'विशोकाया ज्योतिष्मती'
इसमें शोक संतापों का हरण करने वाली ज्योति शक्ति के रूप में कुण्डलिनी शक्ति की ओर संकेत है।

हमारे ऋषियों ने गहन शोध के बाद इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि जो ब्रह्माण्ड में है, वही सब कुछ पिण्ड (शरीर) में है। इस प्रकार "मूलाधार-चक्र" से "कण्ठ पर्यन्त" तक का जगत "माया" का और "कण्ठ" से लेकर ऊपर का जगत "परब्रह्म" का है।

मूलाद्धाराद्धि षट्चक्रं शक्तिरथानमूदीरतम् ।
कण्ठादुपरि मूर्द्धान्तं शाम्भव स्थानमुच्यते॥ -वराहश्रुति

अर्थात मूलाधार से कण्ठपर्यन्त शक्ति का स्थान है । कण्ठ से ऊपर से मस्तक तक शाम्भव स्थान है ।

मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा को ही महायात्रा कहते हैं । योगी इसी मार्ग को पूरा करते हुए परम लक्ष्य तक पहुँचते हैं । जीव, सत्ता, प्राण, शक्ति का निवास जननेन्द्रिय मूल में है । प्राण उसी भूमि में रहने वाले रज वीर्य से उत्पन्न होते हैं । ब्रह्म सत्ता का निवास ब्रह्मलोक (ब्रह्मरन्ध्र) में माना गया है । यही द्युलोक, देवलोक, स्वर्गलोक है। आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) का सूर्य इसी लोक में निवास करता है ।

पतन के गर्त में पड़ी क्षत-विक्षत आत्म सत्ता अब उर्ध्वगामी होती है तो उसका लक्ष्य इसी ब्रह्मलोक (सूर्यलोक) तक पहुँचना होता है । योगाभ्यास का परम पुरुषार्थ इसी निमित्त किया जाता है । कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य यही है ।

आत्मोत्कर्ष की महायात्रा जिस मार्ग से होती है उसे मेरुदण्ड या सुषुम्ना कहते हैं ।

मेरुदण्ड को राजमार्ग या महामार्ग कहते हैं । इसे धरती से स्वर्ग पहुँचने का देवयान मार्ग कहा गया है । इस यात्रा के मध्य में सात लोक हैं । इस्लाम धर्म के सातवें आसमान पर खुदा का निवास माना गया है । ईसाई धर्म में भी इससे मिलती-जुलती मान्यता है । हिन्दू धर्म के भूः, भुवः, स्वः, तपः, महः, सत्यम् यह सात-लोक प्रसिद्ध है । आत्मा और परमात्मा के मध्य इन्हें विराम स्थल माना गया है ।

षट्-चक्र-भेदन-
षट्-चक्र-भेदन विधान कितना उपयोगी एवं सहायक है इसकी चर्चा करते हुए 'आत्म विवेक' नामक साधना ग्रंथ में कहा गया है कि-
गुदालिङान्तरे चक्रमाधारं तु चतुर्दलम्।
परमः सहजस्तद्वदानन्दो वीरपूर्वकः॥
योगानन्दश्च तस्य स्यादीशानादिदले फलम्।
स्वाधिष्ठानं लिंगमूले षट्पत्रञ्त्र् क्रमस्य तु॥
पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमात्।
प्रश्रयः क्रूरता गर्वो नाशो मूच्छर् ततः परम्॥
अवज्ञा स्यादविश्वासो जीवस्य चरतो ध्रुवम्।

नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम्।
सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीष्र्या पिशुनता तथा॥
लज्ज् भयं घृणा मोहः कषायोऽथ विषादिता।
लौन्यं प्रनाशः कपटं वितर्कोऽप्यनुपिता॥
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा ममता ततः।
क्रमेण दम्भोवैकल्यं विवकोऽहंक्वतिस्तथा॥
फलान्येतानि पूर्वादिदस्थस्यात्मनों जगुः।
कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम्॥
तत्र प्रणव उद्गीथो हुँ फट् वषट् स्वधा तथा।
स्वाहा नमोऽमृतं सप्त स्वराः षड्जादयो विष॥
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश॥

(1) गुदा और लिंग के बीच चार दल (पंखुड़ियों) वाला 'आधार चक्र' है। वहाँ वीरता और आनन्द भाव का वास है।

(2) इसके बाद स्वाधिष्ठान-चक्र लिंग मूल में है। इसके छः दल हैं। इसके जाग्रत होने पर क्रूरता, गर्व, आलस्य, प्रमाद, अवज्ञा, अविश्वास आदि दुर्गणों का नाश होता है।

चक्रों की जागृति मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव को प्रभावित करती है। स्वाधिष्ठान की जागृति से मनुष्य अपने में नव शक्ति का संचार अनुभव करता है। उसे बलिष्ठता बढ़ती प्रतीत होती है। श्रम में उत्साह और गति में स्फूर्ति की अभिवृद्धि का आभास मिलता है।

(3) नाभि में दस दल वाला मणिपूर-चक्र है। यह प्रसुप्त पड़ा रहे तो तृष्णा, ईर्ष्या, चुगली, लज्जा, भय, घृणा, मोह, आदि कषाय-कल्मष मन में जड़ जमाये रहते हैं।

मणिपूर चक्र से साहस और उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है। संकल्प दृढ़ होते हैं और पराक्रम करने के हौसले उठते हैं। मनोविकार स्वयंमेव घटते जाते हैं और परमार्थ प्रयोजनों में अपेक्षाकृत अधिक रस मिलने लगता है।

(4) हृदय स्थान में अनाहत-चक्र है। यह बारह दल वाला है। यह सोता रहे तो लिप्सा, कपट, तोड़-फोड़, कुतर्क, चिन्ता, मोह, दम्भ, अविवेक तथा अहंकार से साधक भरा रहेगा। इसके जागरण होने पर यह सब दुर्गुण हट जायेंगे।

अनाहत चक्र की महिमा ईसाई धर्म में सबसे ज्यादा मानी जाती है। हृदय स्थान पर कमल के फूल की भावना करते हैं और उसे महाप्रभु ईसा का प्रतीक 'आईचीन' कनक कमल मानते हैं। भारतीय योगियों की दृष्टि से यह भाव संस्थान है। कलात्मक उमंगें-रसानुभुति एवं कोमल संवेदनाओं का उत्पादक स्रोत यही है। बुद्धि की वह परत जिसे विवेक-शीलता कहते हैं। आत्मीयता का विस्तार, सहानुभूति एवं उदार सेवा, सहाकारिता, इस अनाहत चक्र से ही उद्भूत होते हैं।

(5) कण्ठ में विशुद्ध-चक्र है। यह सरस्वती का स्थान है। यह सोलह दल वाला है। यहाँ सोलह कलाएँ तथा सोलह विभूतियाँ विद्यमान है।

कण्ठ में विशुद्ध चक्र है। इसमें बहिरंग स्वच्छता और अंतरंग पवित्रता के तत्त्व रहते हैं। दोष व दुर्गुणों के निराकरण की प्रेरणा और तदनुरूप संघर्ष क्षमता यहीं से उत्पन्न होती है। मेरुदण्ड में कंठ की सीध पर अवस्थित विशुद्ध चक्र, चित्त संस्थान को प्रभावित करता है। तदनुसार चेतना की अति महत्वपूर्ण परतों पर नियंत्रण करने और विकसित एवं परिष्कृत कर सकने के सूत्र हाथ में आ जाते हैं। नादयोग के माध्यम से दिव्य श्रवण जैसी कितनी ही परोक्षानुभूतियाँ विकसित होने लगती हैं।

(6) भ्रू-मध्य में आज्ञा चक्र है। यहाँ- ॐ, उद्गीय, हूँ, फट, विषद, स्वधा, स्वहा, सप्त स्वर आदि का वास है। आज्ञा चक्र के जागरण होने से यह सभी शक्तियाँ जाग जाती हैं।

(7) सहस्रार मस्तिष्क के मध्य भाग में है। शरीर संरचना में इस स्थान पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथियों का अस्तित्व है। वहाँ से ऊर्जा का स्वयंभू प्रवाह होता है। यह ऊर्जा मस्तिष्क के अगणित केन्द्रों की ओर जाती/दौड़ती हैं। इसमें से छोटी-छोटी किरणे निकलती रहती हैं। उनकी संख्या की सही गणना तो नहीं हो सकती, पर वे हजारों में होती है। इसलिए इस चक्र के लिये 'सहस्रार' शब्द प्रयोग में लाया जाता है। सहस्रार चक्र का नामकरण इसी आधार पर हुआ है।

यह संस्थान ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ सम्पर्क साधने में अग्रणी है, इसलिए उसे ब्रह्मरन्ध्र या ब्रह्मलोक भी कहते हैं। हिन्दू धर्मानुयायी इस स्थान पर शिखा रखते हैं।

कबीर साहिब ने अपनी निम्नलिखित प्रसिद्ध रचना 'कर नैनों दीदार महल में प्यारा है' में सब कमलों का वर्णन विस्तार पूर्वक इस प्रकार किया है-

कर नैनो दीदार महल में प्यारा है ॥टेक॥
काम क्रोध मद लोभ बिसारो, सील संतोष छिमा सत धारो ।
मद्य मांस मिथ्या तजि डारो, हो ज्ञान घोड़े असवार, भरम से न्यारा है ॥1॥
धोती नेती वस्ती पाओ, आसन पद्म जुगत से लाओ ।
कुंभक कर रेचक करवाओ, पहिले मूल सुधार कारज हो सारा है ॥2॥
मूल कँवल दल चतुर बखानो, कलिंग जाप लाल रंग मानो ।
देव गनेस तह रोपा थानो, रिध सिध चँवर ढुलारा है ॥3॥
स्वाद चक्र षट्दल बिस्तारो, ब्रह्मा सावित्री रूप निहारो ।
उलटि नागिनी का सिर मारो, तहां शब्द ओंकारा है ॥4॥
नाभी अष्टकँवल दल साजा, सेत सिंहासन बिस्नु बिराजा ।
हिरिंग जाप तासु मुख गाजा, लछमी सिव आधारा है ॥5॥
द्वादस कँवल हृदय के माहीं, जंग गौर सिव ध्यान लगाई ।
सोहं शब्द तहां धुन छाई, गन करै जैजैकारा है ॥6॥
षोड़श दल कँवल कंठ के माहीं, तेहि मध बसे अविद्या बाई ।
हरि हर ब्रह्मा चँवर ढुराई, जहं शारिंग नाम उचारा है ॥7॥
ता पर कंज कँवल है भाई, बग भौरा दुह रूप लखाई ।
निज मन करत तहां ठुकराई, सौ नैनन पिछवारा है ॥8॥
कंवलन भेद किया निर्वारा, यह सब रचना पिण्ड मंझारा ।
सतसंग कर सतगुरु सिर धारा, वह सतनाम उचारा है ॥9॥
आंख कान मुख बंद कराओ अनहद झिंगा सब्द सुनाओ ।
दोनों तिल इकतार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है ॥10॥
चंद सूर एकै घर लाओ, सुषमन सेती ध्यान लगाओ ।
तिरबेनी के संघ समाओ, भोर उतर चल पारा है ॥11॥
घंटा संख सुनो धुन दोई सहस कँवल दल जगमग होई ।
ता मध करता निरखो सोई, बंकनाल धस पारा है ॥12॥
डाकिन साकिनी बहु किलकारें, जम किंकर धर्म दूत हकारें ।
सत्तनाम सुन भागें सारे, जब सतगुरु नाम उचारा है ॥13॥
गगन मंडल विच उर्धमुख कुइआ, गुरुमुख साधू भर भर पीया ।
निगुरे प्यास मरे बिन कीया, जा के हिये अंधियारा है ॥14॥
त्रिकुटी महल में विद्या सारा, घनहर गरजें बजे नगारा ।
लाला बरन सूरज उजियारा, चतुर कंवल मंझार सब्द ओंकारा है ॥15॥
साध सोई जिन यह गढ़ लीना, नौ दरवाजे परगट चीन्हा ।
दसवां खोल जाय जिन दीन्हा, जहां कुंफुल रहा मारा है ॥16॥
आगे सेत सुन्न है भाई, मानसरोवर पैठि अन्हाई ।

हंसन मिल हंसा होइ जाई, मिलै जो अमी अहारा है ॥17॥
किंगरी सारंग बजै सितारा, अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा ।
द्वादस भानु हंस उजियारा, खट दल कंवल मंझार सब्द रारंकारा है ॥18॥
महासुन्न सिंध बिषमी घाटी, बिन सतगुर पावै नाही बाटी ।
ब्याघर सिंह सरप बहु काटी, तहं सहज अचिंत पसारा है ॥19॥
अष्ट दल कंवल पारब्रह्म भाई, दाहिने द्वादस अचिंत रहाई ।
बायें दस दल सहज समाई, यूं कंवलन निरवारा है ॥20॥
पांच ब्रह्म पांचों अंड बीनो, पांच ब्रह्म निःअक्षर चीन्हो ।
चार मुकाम गुप्त तहं कीन्हो, जा मध बंदीवान पुरुष दरबारा है ॥21॥
दो पर्बत के संध निहारो, भंवर गुफा ते संत पुकारो ।
हंसा करते केल अपारो, तहां गुरन दरबारा है ॥22॥
सहस अठासी दीप रचाये, हीरे पन्ने महल जड़ाये ।
मुरली बजत अखंड सदाये, तहं सोहं झुनकारा है ॥23॥
सोहं हद्द तजी जब भाई, सत्त लोक की हद पुनि आई ।
उठत सुगंध महा अधिकाई, जा को वार न पारा है ॥24॥
षोड़स भानु हंस को रूपा, बीना सत धुन बजै अनूपा ।
हंसा करत चंवर सिर भूपा, सत्त पुरुष दरबारा है ॥25॥
कोटिन भानु उदय जो होई, एते ही पुनि चंद्र लखोई ।
पुरुष रोम सम एक न होई, ऐसा पुरुष दीदारा है ॥26॥
आगे अलख लोक है भाई, अलख पुरुष की तहं ठकुराई ।
अरबन सूर रोम सम नाहीं, ऐसा अलख निहारा है ॥27॥
ता पर अगम महल इक साजा, अगम पुरुष ताहि को राजा ।
खरबन सूर रोम इक लाजा, ऐसा अगम अपारा है ॥28॥
ता पर अकह लोक हैं भाई, पुरुष अनामी तहां रहाई ।
जो पहुँचा जानेगा वाही, कहन सुनन से न्यारा है ॥29॥
काया भेद किया निर्बारा, यह सब रचना पिंड मंझारा ।
माया अवगति जाल पसारा, सो कारीगर भारा है ॥30॥
आदि माया कीन्ही चतुराई, झूठी बाजी पिंड दिखाई ।
अवगति रचन रची अंड माहीं, ता का प्रतिबिंब डारा है ॥31॥
सब्द बिहंगम चाल हमारी, कहैं कबीर सतगुर दइ तारी ।
खुले कपाट सब्द झुनकारी, पिंड अंड के पार सो देस हमारा है ॥32॥

कुण्डलिनी शक्ति

अभी तक हमने जितना समझा है, वह सब शास्त्रों के अनुसार समझा है कि कुण्डलिनी शक्ति क्या है और कैसे काम करती है। अब अपनी बात कुण्डलनी शक्ति इन्सान के शरीर में उस परमात्मा द्वारा दी गई समस्त शक्तियों में से सबसे ज्यादा शक्तिशाली एवं अति गुप्त विद्या है। कुण्डलिनी शक्ति के ऊपर प्रारम्भ से ही अनेको बार, अनेको व्याखायें दी जा चुकी है। तथा अनेको बार इसके ऊपर शास्त्रार्थ हो चुका है। आज के समय में साधकों का सम्प्रदाय दो हिस्सों में बट चुका है। जो साधक संत मत को मानते हैं, वे कुण्डलिनी शक्ति से दूर रहते है, अर्थात कुण्डलनी शक्ति को जगाना और इसके बारे में जानना वो आवश्यक नहीं समझते। उनके अनुसार आज्ञा चक्र पर ध्यान लगाना और नाम का जाप करना, इसको ही वो प्रधान मानते है। ये साधक आज्ञा चक्र से नीचे के चक्रो को कोई भी महत्व देना पसन्द नहीं करते। इनके अनुसार नीचे के चक्रो पर साधना करने का मतलब है- समय की बरबादी। इनके अनुसार कुन्डलिनी शक्ति जाग्रत हो कर आज्ञा चक्र पर ही पहुँचती है। इसलिये क्यो न आज्ञा चक्र से ही यात्रा शुरू की जाये। आज्ञा चक्र से साधना करने का कितना फायदा होता है, यह तो वही साधक जाने।

किन्तु हमारी दृष्टी में ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि बिना कुन्डलिनी शक्ति के जाग्रत हुऐ आज्ञा चक्र का जाग्रत होना असम्भव है। क्योंकि सभी चक्रो को जाग्रत करने के मूल में कुण्डलिनी शक्ति का महत्वपूर्ण योगदान है। जो साधक सीधे ही आज्ञा चक्र से साधना प्रारम्भ करते है। सालों-साल बीत जाने पर भी उनकी मानसिक स्थिती और उनकी विचारधारा में तनिक/बिलकुल भी बदलाव नहीं आता। यदि उन से इस बारे में पूछा जाये तो उनके अनुसार कम-से-कम चार जन्मो में वो अपनी मुक्ति मानते है। कोई उनसे पूछने वाला हो तो कि यह जन्म तो बिताना इतना मुश्किल है। आगे के तीन जन्मो के बारे में क्या बात करें।
उन साधकों के अनुसार यदि गुरू कृपा हो तो चार जन्म में मुक्ति सम्भव है और यह साधक सिर्फ मुक्ति के लिये ही साधना करते है। गुरू और नाम जाप पर इनकी पूर्ण श्रद्धा होती है। इनमे से अधिकांश साधक नीचे के चक्रो के नाम से ही डरते है, वो कहते है कि- यदि नीचे के चक्र जाग्रत हो गये तो अनेको सिद्धियाँ की प्राप्ति होगी, जिससे कि साधक मुक्ति के मार्ग से भ्रष्ट हो सकता है और सिद्धियों के लालच में फंस कर अपने आप को खराब कर लेता है।

लेकिन जब इन साधकों की नाम और गुरू के प्रति इतनी श्रद्धा और विश्वास है, तो यह साधक कैसे भटक सकते है, क्योंकि इनका पूर्ण गुरू तो हर वक्त इनके साथ है फिर भटकाव क्यों और कैसे?

हमारी नजर में कोई माने या न माने या तो इनके गुरूओं को कुण्डलिनी शक्ति जागरण का विधान, उसके नियम आदि नहीं मालूम और यदि मालूम है तो- ये अपने शिष्यों को बताना या सिखाना नहीं चाहते, क्योंकि कुण्डलिनी जागरण की प्रकिया बहुत ही गहन और जटिल है। कुण्डलिनी जागरण के दौरान गुरू-शिष्य का साथ-साथ पुरूषार्थ करना अति आवश्यक है। मात्र प्रवचन दे कर या शास्त्रों/ग्रन्थो की काहानियाँ सुना कर या रामायण, गीता आदि का उपदेश दे कर कुण्डलिनी जागरण सम्भव नहीं है।

असल में कुण्डलिनी शक्ति के लिये पूरी मेहनत, पूर्ण आत्म-विश्वास और पूर्ण-गुरु का होना आवश्यक है। क्योंकि कुन्डलिनी शक्ति जाग्रत होने पर मात्र मोक्ष ही नहीं, भोग भी प्रदान करती है।

मोटे तोर पर आज का साधक सम्प्रदाय तीन हिसों में बटा हुआ है। ध्यान-योग, हठ-योग और तन्त्र योग। तंत्र को, साधक योग नही मानते। उनकी नजर में तंत्र या तो एक वीभत्स क्रिया है, या फिर एक चमत्कार दिखाने की विधि। हमारी नजर में तंत्र का अर्थ है- तन्+प्राण= तन से मुक्ति पाने का उपाय तंत्र है, अर्थात अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आदि सप्त शरीरो से मुक्ति पाना और आत्मा का उस परमात्मा में पूर्ण लय होना ही तंत्र है। पूर्ण तंत्र में बिन्दू का रज से मिलन करना ही कुण्डलिनी शक्ति है, अर्थात तंत्र की सर्वोच्चय-भैरवी-साधना ही कुन्डलिनी साधना है। जैसे-जैसे साधक अपने आप को उधर्व-मुखी करना शुरू करते है। उनकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो कर पूर्ण यात्रा को निकल पड़ती है। आदि शंकराचार्य ने इस कुण्डलिनी शक्ति का प्रारूप 'श्री यंत्र अर्थात श्री चक्र' को बनाया है।

बहुत ही ध्यान पुर्वक यदि हम तंत्र और संत मत का अध्ययन या विश्लेषण करे तो हमे ऐसा महसूस होगा जैसे किसी ने हमारी बुद्धि को ठग लिया हो। संत मत के अनुसार-

ब्रह्मा मरे, विष्णु मरे, मरे शंकर भगवान।
अक्षर मरे, क्षर मरे, तब प्रकटे पूर्ण भगवान॥

तंत्र के अनुसार 'श्री चक्र' में स्थित कामेश्वर और कामेश्वरी जहाँ वास करते हैं। जिस आसन पर विराजमान रहते है, उस आसन का पूर्व दिशा का पाया ब्रह्म-प्रेत है अर्थात वहाँ पर ब्रह्मा को प्रेत माना गया है। पश्चिमी पाया विष्णु-प्रेत अर्थात वहाँ पर श्री हरी को प्रेत रूप में माना गया है। दक्षिण दिशा का पाया रूद्र-प्रेत अर्थात यहाँ पर शिव को मृत माना गया है। उत्तर पाया ईश्वर-प्रेत माना गया है, यहाँ पर अक्षर-ब्रह्म को मृत माना गया है। कामेश्वर और कामेश्वरी जिस फलक के उपर आसीन है, उसे सदाशिव या क्षर-ब्रहम माना गया है। असल में कामेश्वर और कामेश्वरी कोई देवी या देवता नही है, बल्कि आत्मा-रूपी कामेश्वरी ही, परब्रह्म रूपी कामेश्वर के साथ आलिंगन बद्ध है।

जहाँ संत मत सिर्फ गुरू-तत्व का ध्यान करता है। वहीं तंत्र या हठ-योगी अनेकों प्रकार की क्रियायें करके सभी प्रकार का आंनद लेते हुऐ अपनी आत्मा रूपी प्रेयसी को प्रीतम रूपी परमात्मा से मिला देता है। हठ योग की साधना का

आधार अष्टाँग योग है। इसके अंतरगत आसन, प्रणायाम, बन्द, यम-नियम मुख्य है। साथ ही ध्यान-धारणा और समाधी के द्वारा कुण्डलिनी जागरण करना इनका ध्येय है। इन साधकों की नजर में यदि प्राण-वायु की अपान-वायु में एवं अपान-वायु की प्राण-वायु में आहुति दे दी जाये तो कुण्डलिनी जागरण सम्भव हैं। इसके लिये हठ-योगी मूल रूप से तीन बन्धो को प्रयोग करते है- मूल-बन्द, उड़ियान-बन्ध, जालन्धर-बन्ध। मूल-बन्ध अर्थात गुदा का संकोचन अर्थात अपान वायु का बाहर न निकलने देना। उड़ियान बन्ध अर्थात पूर्ण-बाह्य-कुम्भक का प्रयोग करना। जालन्धर बन्द अर्थात अपनी ठोड़ी का अपने कन्ठ से लगाना।

हमारा ध्येय किसी भी साधना को अच्छा या बुरा बताना नहीं है। जैसा की आज के समय में अधिकतर पुरूष अपने योग को बड़ा और दूसरे के योग को छोटा बताते है। साधकों की इसी विचार धारा की वजह से ही हिन्दुस्तान से अनेकों विद्याये लुप्त हो गई है।

हम एक उदाहरण दे कर समस्त साधकों को समझाने की कोशिश/प्रयास करते है। आपको समझ में आये या न आये यह हमारे बस में नहीं है। जब हम अपने बच्चे को स्कूल ले कर जाते है, तो हम हर चीज का ध्यान रखते है, जैसे की- स्कूल, उसके अध्यापक, केन्टीन और सबसे खास चीज विषय(सब्जेक्ट), बच्चों को पढ़ाये जाने वाली पुस्तकें आदि। हम अपने बच्चे को मात्र एक ही विषय नहीं दिलवाते, उसके सभी विषयों का ख्याल रखते है। साथ में ही खेलना, कुदना, नृत्य आदि का भी ध्यान रखते है। हम अपने बच्चे को सब कुछ देते है, किन्तु वह बच्चा किसी विशेष विषय की तरफ अपना विशेष ध्यान देता है, और बाकी सभी विषयों को साधारण रूप से ग्रहण करता है। अधिकतर ऐसा होता है की माँ-बाप उसे डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनाना चाहते है, किन्तु वह बच्चा बनता कुछ ओर ही है। यदि बच्चे को स्कूल में होमवर्क ना मिले या उसकी चेकिंग न हो तो हम अपनी शिकायत ले कर मुख्य-अध्यापक के पास पहुँच जाते है।

हम अपने जीवन में हर चीज का ख्याल रखते है, हर चीज पर ध्यान देते है। किन्तु हमने साधना मार्ग को इतना सस्ता क्यों जान लिया? क्यों मान लिया?

क्या साधना मार्ग इतना सस्ता है कि, कोई भी साधारण व्यक्ति, किसी भी गुरू या संत के पास जा कर दीक्षा ग्रहण करे और नाम का जाप करे, तो क्या मुक्ति सम्भव है?

आज के गुरूओं और शिष्यों, दोनो ने मिल कर साधना और मुक्ति के मायने ही बदल दिये हैं। हमारी नजर में मात्र शब्द का रट्टा लगा कर, कहानियाँ, किताबें पढ़कर प्रवचन सुन कर मुक्ति सम्भव नहीं है।

मुक्ति एक महान और उच्च स्थान है। जहाँ पहुँच कर आत्मा सभी बंधनों से मुक्त हो जाती है।

कुण्डलिनी साधना के लिये हमे तपना पड़ता है। अत्यधिक मेहनत की जरूरत होती है। जैसे कोई व्यक्ति जब किसी विशेष परीक्षा की तैयारी करता है तो, वह तैयारी के दौरान हर तरफ से अपना ध्यान हटा कर अपनी शिक्षा पर केन्द्रित करता है। मात्र कुछ दिनो के लिये वह अपना सब सुख-सुविधा का त्याग करके अपनी शिक्षा को पूर्ण करता है, और शिक्षा पूर्ण होने पर अर्थात उसको एक अच्छी नौकरी लग जाने पर वह सन्तुष्ट हो कर सारी-उम्र सभी सुखों का भोग भोगता है। उसी प्रकार यदि एक साधक चाहे तो अपनी साधना के बल पर पूर्ण मुक्ति का फल प्राप्त कर सकता है, और मुक्त हुई जीव आत्मा शरीर में रहते हुऐ भी उन महान भोगों को भोगती है। जिस के लिये बड़े-बड़े सेठ साहुकार और धनी तरसते है।

चलते-चलते दो बात- यदि नीचे के चक्र, माया रूप हैं, जैसा कि कुछ मत या पंथों का मानना है और ऊपर के चक्र असली है तो जो चक्र(लोक) ब्रह्माण्ड में है वे क्या हैं?

चाहे नीचे के चक्र यानि लोक हो या ऊपर के चक्र हो, हैं तो शरीर के अन्दर ही।

जो अण्ड में है, वो पिण्ड में हैं और जो पिण्ड में हैं, वो अण्ड में हैं। यह कहना तो ठीक है किन्तु जब मृत्यु के

उपरान्त जब पिण्ड जलकर ख़ाक हो जाएगा तो फिर आत्मा किस चक्र या लोक में वास करेगी। क्योंकि सारी उम्र तो पिण्ड में अण्ड का आभास करके, पिण्ड के लोकों यानि चक्रो की साधना की है। लेकिन जब पिण्ड खत्म हो जाएगा, तो आत्मा को किस लोक में स्थान मिलेगा, फैसला तो तब ही होगा। क्योंकि मन के सहारे जिन लोको की साधना की थी, वे तो खत्म हो गये। अब आत्मा के सामने असली लोक अर्थात मण्डल हैं। जिनके देवों की साधना नहीं की, कभी आराधना नहीं की। क्या वे देव इस आत्मा को अपने लोक में स्थान देंगे, कदापि नहीं। मन को जितना मर्जी भरमा लो, शिष्यों को जितना मर्जी बहका लो। सत्य तो एक दिन खुल कर रहेगा, कि पिण्ड के बाहार जो है, वही सत्य है और पिण्ड के अन्दर जो है वह मिथ्या है। इसलिये कुछ संतों ने जगत को मिथ्या या माया का खेल कहा है।

जब तक सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर से अलग हो कर ब्रह्माण्ड के सत्य लोको या मण्डलों की आराधना, सेवा, भजन, दर्शन नहीं करेगा, तब तक सब बेकार है। सूक्ष्म-शरीर को स्थूल-शरीर से अलग करने का मात्र एक ही विधान है- कुण्डलिनी साधना।

उदाहरण के तौर पर- जिस प्रकार एक छोटा बच्चा खाना पीना, बोलना-चलना, लिखना-पढ़ना आदि का प्रारम्भ तो घर से ही करता है, किन्तु कुछ समय बाद हम उसे उच्च शिक्षा हेतु अच्छे विद्यालय में प्रवेश करा देते हैं। उसी प्रकार एक साधक के लिये साधना का प्रारम्भ तो शरीर में स्थित मण्डलों से ही होता है, किन्तु जब सूक्ष्म-शरीर, स्थूल-शरीर से अलग हो जाता है, तो ब्रह्माण्ड में स्थित उच्च लोको की साधना करके, पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करके, जीव आत्मा पूर्ण कैवल्य पद को प्राप्त कर लेती है। जिस प्रकार हमारे देश में एक अच्छे साधू या नेता की इज्जत की जाती है, उसी प्रकार उस आत्मा का भी, उच्च लोको में वैसा ही सम्मान या आदर किया जाता है।

कुन्डलनी साधना बाहुबल की साधना है। आप के साहस, आप के आत्म-विश्वास और आपकी सहन-शीलता की साधना है।

यदि हम कुण्डलिनी साधक की उपमा दे तो ऐसी होगी, जैसे एक वीर जवान अपने देश की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व बलिदान करके सीना ताने, जान हथेली पर लिये खड़ा हो। वहीं एक साधारण साधक की उपमा ध्यान योगी की उपमा, नाम-जप करने वालों की उपमा, मात्र ऐसी है- जैसे एक समाज सुधारक की छवि होती है।

अब आपने फैसला करना है कि, आप को किस रास्ते पर चलना है। हमने जो जाना, जो पाया, जो समझा, वो आपके सामने रख दिया है। शब्दों का कभी अन्त नहीं होता, उदाहरणो की संख्या नहीं होती। समझाने वाले और समझने वाले पर निर्भर करता है कि, वो कितना समझा सकता है, और दूसरा कितना समझ सकता है। सभी बातों को लिख कर नहीं समझाया जा सकता।

रूद्रयामल में कुण्डलिनी-साधकों के लिये एक 'उदघाटन-कवच' दिया गया है जिसका श्रद्धा-पूर्वक पाठ करना साधकों के लिये अत्यन्त लाभप्रद माना गया है-

॥ उदघाटन-कवच ॥

मूलाधारे स्थिता देवि, त्रिपुरा चक्र नायिका ।
नृजन्म भीति-नाशार्थं, सावधाना सदाऽस्तु ॥1॥
स्वाधिष्ठानाख्य चक्रस्था, देवी श्रीत्रिपुरेशिनी ।
पशु बुद्धिं नाशयित्वा, सर्वैश्वर्य प्रदाऽस्तु मे ॥2॥
मणिपुरे स्थिता देवी, त्रिपुरेशीति विश्रुता ।
स्त्री जन्म-भीति नाशार्थं, सावधाना सदाऽस्तु ॥3॥
स्वस्तिके संस्थिता देवी, श्रीमत्-त्रिपुर सुन्दरी ।
शोक भीति परित्रस्तं, पातु मामनघं सदा ॥4॥
अनाहताख्या निलया, श्रीमत्-त्रिपुर वासिनी ।
अज्ञान भीतितो रक्षां, विदधातु सदा मम ॥5॥
त्रिपुरा श्रीरिति ख्याता, विशुद्धाख्या स्थल स्थिता ।

जरोद्-भव भयात् पातु, पावनी परमेश्वरी ॥6॥
आज्ञा चक्र स्थिता देवी, त्रिपुरा मालिनी तु या ।
सा मृत्यु भीतितो रक्षां, विदधातु सदा मम ॥7॥
ललाट पदम् संस्थाना, सिद्धा या त्रिपुरादिका ।
सा पातु पुण्य सम्भूतिर्-भीति-संघात् सुरेश्वरी ॥8॥
त्रिपुराम्बेति विख्याता, शिरः पद्मे सु-संस्थिता ।
सा पाप भीतितो रक्षां, विदधातु सदा मम ॥9॥
ये पराम्बा पद स्थान गमने, विघ्न सञ्चयाः ।
तेभ्यो रक्षतु योगेशी, सुन्दरी सकलार्तिहा ॥10॥

कुण्डलिनी जगरण के यों तो अनेकों उपाय हैं, किन्तु बाबा जी द्वारा रचित ये गुरु-स्तोत्र अपने आप में एक अनुभुत प्रयोग है। कुण्डलिनी जगरण के इच्छुक साधक यदि स-स्वर इस स्तोत्र का लगातार पाठ करते हैं तो बहुत ही जल्दी कुण्डलिनी जगरण होने लगेगी और साधकों को कुण्डलिनी जगरण के अनूठे अनुभव होने लगेंगे।

॥ गुरु-स्तोत्र ॥

॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥
दायें गुरु है, बायें गुरु है । आगे गुरु है, पीछे गुरु है ॥
ऊपर गुरु है, नीचे गुरु है । अंदर गुरु है, बाहर गुरु है ॥
ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥1॥

अंड में गुरु है, पिंड में गुरु है । जल में गुरु है, थल में गुरु है ॥
पवन में गुरु है, अनल में गुरु है । नभ में गुरु है, अंतर में गुरु है ॥
ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥2॥

तन में गुरु है, मन में गुरु है । घर में गुरु है, वन में गुरु है ॥
मंत्र में गुरु है, में यंत्र गुरु है । तंत्र में गुरु है, माला में गुरु है ॥
ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥3॥

धूप में गुरु है, दीप में गुरु है । फूल में गुरु है, फल में गुरु है ॥
भोग में गुरु है, पूजा में गुरु है । लोक में गुरु है, परलोक में गुरु है ॥
ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥4॥

जप में गुरु है, तप में गुरु है । हठ में गुरु है, यज्ञ में गुरु है ॥
जोग में गुरु है, में योग गुरु है । ज्ञान में गुरु है, ध्यान में गुरु है ॥
ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥ ॐ गुरु ॐ ॐ गुरु ॐ ॥5॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें

स्व से परम बनने की चमत्कारी साधना

- ★ कुण्डलिनी जागरण में सावधानियां
- ★ कुण्डलिनी के आवश्यक सूत्र
- ★ ध्यान योग एवं हठ योग
- ★ अष्टांग योग
- ★ प्राणायाम
- ★ उपयोगी तंत्र एवं मंत्र

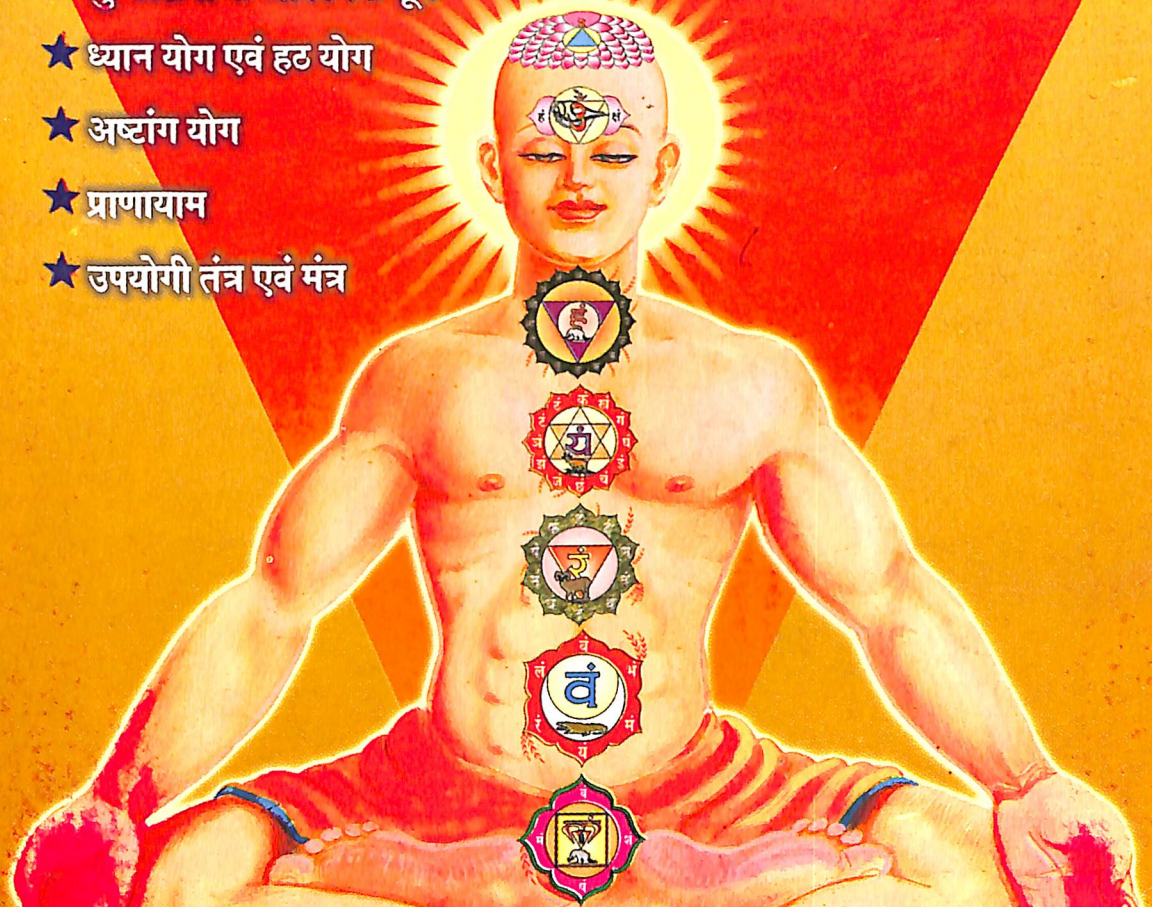

विवेक श्री कौशिक

कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें

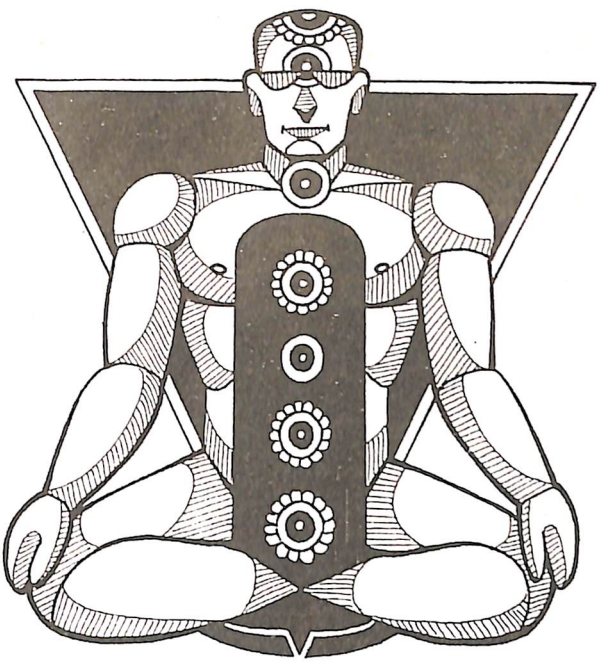

प्रस्तुत पुस्तक में कुण्डलिनी महाविद्या का विस्तृत सचित्र एवं सरल विवरण हैं। पुस्तक में कुण्डलिनी परिचय, कुण्डलिनी जागरण के उपाय, अष्टांग योग, ध्यान योग, हठयोग, सभी मुद्राएं एवं तंत्र एवं मंत्र द्वारा कुण्डलिनी जागरण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जागृत कर अब आप भी उन चमत्कारी एवं अलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं जो स्व का परम से मिलन का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

समर्पण

योगी, मुनि, तपस्वी, विचारक, महात्मा,

धन्वन्तरि, कवि और सैलानी

परमपूज्य पिता

डॉ. केशव कौशिक

के श्रीचरणों में सादर समर्पित

कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें

चमत्कारी कुण्डलिनी शक्ति के गुप्त रहस्यों का सरल, एवं प्रामाणिक विवरण

प्रस्तुति
विवेक श्री कौशिक 'विश्वमित्र'

पवन पॉकेट बुक्स
4537, दाईवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली-110006

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के अन्तर्गत इस पुस्तक में समाहित समस्त सामग्री टाइटिल–डिजाइन, अन्दर का मैटर आदि के सर्वाधिकार 'पवन पॉकेट बुक्स' के पास सुरक्षित हैं, इसलिए कोई व्यक्ति/संस्था/समूह इस पुस्तक की पाठ्य सामग्री को आंशिक या पूर्ण रूप से, तोड़–मरोड़कर या किसी अन्य भाषा में प्रकाशित नहीं कर सकता। उल्लंघन करने वाले कानूनी तौर पर हर्जे–खर्चे व हानि के जिम्मेदार स्वयं होंगे।

प्रकाशक :

पवन पॉकेट बुक्स

4537, दाईवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली– 110006

दूरभाष : 23918311, 23912515

लेखक : वी.बी.जोशी

मूल्य:

सौ रुपये मात्र (100/-)

मुद्रक :

डी.जी. प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली– 32

अनुक्रमणिका

आपस की बात

प्राक्कथन

1. कुण्डलिनी : एक परिचय 19
2. चक्रों का परिचय 23
3. मूलाधार चक्र 25
4. स्वाधिष्ठान चक्र 29
5. मणिपूरक चक्र 33
6. अनाहत चक्र 38
7. विशुद्ध चक्र 42
8. आज्ञा चक्र 46
9. सहस्त्रार चक्र 53
10. नाड़ियां एवं कुण्डलिनी 59
    प्राणवाहक प्रमुख नाड़ियां
11. क्या है कुण्डलिनी? 63
    कुटिल आकार का कारण
12. अभ्यास खण्ड—सफलता के लिए आवश्यक 79
    प्रात्रता, संकल्प, लगन व धैर्य, सजगता व दिशाबोध, सत्संग, चिन्तन व स्वाध्याय, आहार व शुचिता, साधनों की, स्थान की शुचिता
13. कुण्डलिनी जागरण का मार्ग—(अष्टांग योग) 94
    (योग है क्या? योग के 8 अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) आसनों के भेद व उपयोगिता, ध्यान योग्य आसन। प्राणायाम-प्रक्रिया: प्रणाली, भेद व लाभ, त्रिविध बन्ध: उपयोगिता, विधि व लाभ। प्रत्याहार-अर्थ, महत्त्व, उपयोगिता। धारणा, ध्यान तथा समाधि के विषय में भेद, प्रकार, महत्त्व, उपयोगिता, लाभ आदि की संक्षिप्त चर्चा। समाधि सम्बन्धी प्रमुख प्रश्नों का समाधान। योग के 6 अंगों की व्याख्या तथा प्रारम्भिक दो भूमिकात्मक अंगों का महत्व।)
14. कुण्डलिनी जागरण के उपाय 120
    कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य, व्याख्या, 16 आधारों का प्रयोग
15. ध्यान योग व हठयोग सम्बन्धी उपाय 128
    प्राणायाम, पहला नाड़ी शोधक प्राणायाम, दूसरा नाड़ी शोधक प्रणायाम, लाभ, विघ व अवधि सहित। अजपा गायत्री प्राणायाम, त्रिविध

प्राणायाम, कुम्भक प्राणायाम, सहित व केवल। वायुनिरोधभ्यास, भस्त्रिका प्राणायाम, काकीमुद्रा प्राणायाम। विधि, लाभ, सावधानियों तथा विभेदों सहित। आसन, बंध, मुद्रा व सावधानियां। सिद्धासन, पद्मासन—विधि, लाभ आदि। त्राटिक, पंचमुद्रा, मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध—विधि व लाभ। मुद्रा, महामुद्रा/महाबन्ध—विधि व लाभ।)

मुद्रा—महामुद्रा/महाबन्ध, नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा—लाभ, विधि एवं सावधानी सहित। विपरीत करणी मुद्रा—विधि, लाभ, व प्रभाव तथा सावधानी। शक्तिचालन तथा शक्तिचालिनी मुद्रा—विधि, व्याख्या। अश्विनी मुद्रा। बिन्दु और रज को, चन्द्र व सूर्य को, प्राण व अपान को मिलाना। प्रणवाभ्यास—प्रणव का विवेचन, अर्थ व मानसिक जप।

16. ध्यान, धारणा और समाधि—सम्पूर्ण विवेचन 171

ध्यान—पृथ्वी तत्त्व की, जल तत्त्व की, वायु तत्त्व की, अग्नि तत्त्व की तथा आकाश तत्त्व की धारणा। विधि एवं प्रभाव। विभिन्न चक्रों आदि पर ध्यान फल, सगुण व निर्गुण ध्यान, भावना का प्रभाव। समाधि—सम्प्रलात व असम्प्रलात समाधि, कर्मबन्धन मुक्ति, मोक्ष।)

17. तन्त्र एवं मन्त्र सम्बन्धी उपाय 186

मन्त्र की वैज्ञानिकता तथा प्रभाव का विवेचन। कुण्डलिनी जागरण की मन्त्र प्रक्रियाएं (प्रथम) गुरु-गणेश वंदन, संकल्प, पूजन, विनियोग, ऋषि-न्यास, करन्यास, षडंगन्यास, ध्यान, जप तथा उसके सम्बन्ध में आवश्यक तथ्य। क्षमा प्रार्थना मंत्र। शिवपुराण में वर्णित एक अन्यविधि। कुण्डलिनी स्तुति, उद्घाटन कवच, कुण्डलिनी अष्टक, कुण्डलिनी कवच, कुण्डलिनी स्तोत्र व अन्य। मानसिक मन्त्र जाप (अन्य विधि)। रुद्रायमल तंत्र में वर्णित विधि—न्यास ध्यान सहित। सिद्धिदायक कवच व स्तोत्र। 'ज्ञानेश्वरी गीता' में कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया का वर्णन। मन्त्र प्रयोग में सावधानियां तथा पूर्व तैयारियां

18. सिद्धिदायक कवच व स्तोत्र 201

19. योगी की चर्या व साधना में सावधानियां 207

20. कुण्डलिनी स्तुति 212

21. कुण्डलिनी अष्टक 219

22. सप्तचक्रों की युक्ति संगतता 241

23. योगासन समय-तालिका 249

24. उपसंहार एवं निष्कर्ष 252

आपस की बात

अपनी पिछली पुस्तक 'सम्पूर्ण योग शास्त्र' (गोल्ड बुक्स 'इण्डिया' से ही प्रकाशित) में मैंने पाठकों से वादा किया था कि, यदि वे इच्छा करेंगे तो योग के शेष अंगों, आध्यात्मिक और कुण्डलिनी शक्ति पर अगली किसी पुस्तक में विस्तार से चर्चा करूंगा। प्रसन्नता का विषय है कि पाठकों ने इस विषय पर एक स्वतन्त्र पुस्तक की अत्यन्त जोरदार मांग प्रकाशक से की है। आपके द्वारा भेजे गए प्रशंसा और प्रतिक्रियाओं के ढेरों पत्रों में से अधिकांश में कुण्डलिनी और योग विद्या पर एक सम्पूर्ण पुस्तक की मांग भी शामिल थी—जो एक अभिभूत और गद्‌गद् हो जाने का विषय है (कम से कम मेरे लिए)। क्योंकि यह विषय रोचक होते हुए भी इतना सूक्ष्म, गहन, विशद, अथाह, महत्त्वपूर्ण, रहस्यमय, ज्ञानमय और उलझा हुआ है कि वर्षों से गुप्त और रहस्यपूर्ण रहा है। इसीलिए विभिन्न पुराणों व ग्रन्थों में इसे 'गुप्त विद्या' के नाम से भी पुकारा गया है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि भारत में भी ऐसे जिज्ञासु, ज्ञानार्थी और जागरूक बुद्धिजीवी हैं जो अध्यात्म और साधना में इतनी रुचि रखते हैं।

मैंने आमतौर पर विदेशियों को ही ऐसे गूढ़ व शुद्ध भारतीय विषयों में अधिक रुचि लेते देखा है। प्राय: भारतीय व्यक्ति तो अपनी ही संस्कृति और देश में बिखरे ज्ञान और विद्याओं की अपेक्षा धन कमाने में अथवा विदेशी संस्कृतियों में ही अधिक रुचि लेते हैं या फिर हल्के-फुल्के मनोरंजन में, किन्तु पाठकों द्वारा प्रकाशक को भेजे गए ढेरों पत्र इस बात का खुला ऐलान हैं कि भारतीय जनमानस में काफी परिवर्तन आया है, और हिन्दी के पाठकों की रुचि बहुत परिष्कृत हो चुकी है। भारतीय पाठकों में आई यह चेतना, यह जागृति, यह क्रांति अभिभूत कर देने वाली और स्वागत के योग्य है। बुद्धिजीवी पाठकों की इस तीव्र इच्छा का सम्मान करते हुए, मैं पाठकों के सम्मुख कुण्डलिनी शक्ति महाविद्या के रहस्यों को लेकर उपस्थित हूं और इस गूढ़ विषय को सहजता के साथ किन्तु सम्पूर्णता के साथ इस पुस्तक में मैंने संयोजित किया है, साथ ही प्रामाणिकता और सारगर्भिता अथवा मूल तत्त्व—पुस्तक को सरल व रोचक बनाने के प्रयास में नष्ट न हो जाएं अथवा विकृत होकर अपना वास्तविक रूप व अर्थ न खो बैठें—इस मामले में भी मैंने पूरी सावधानी बरती है और मेरी धारणा है कि मैं इसमें सफल रहा हूं।

सम्भवत: इस विषय पर पाठकों को खोजने पर कुछ अन्य पुस्तकें भी मिल जाएं, परन्तु यह मेरा दावा है कि पाठक इस पुस्तक को ज्ञान व जानकारी के विषय में अधिक सरल व रोचक पाएंगे। इससे अधिक कुछ कहना—अपनी ही पुस्तक के विषय में—खुद मियां मिट्ठू बनना होगा। और शायद इससे अधिक कहने की ज़रूरत भी नहीं है। क्योंकि समझदार को इशारा ही बहुत होता है।

इस गहन विषय पर जो कुछ भी कहने-लिखने का साहस कर पाया हूं—सब अपने आदरणीय, परमपूज्य, योगी, महाविद्वान और चिन्तक पिता **श्री डॉ. केशव कौशिक** के प्रसाद के प्रभाव से—जो प्रत्येक क्षेत्र में सदा ही मेरे पथप्रदर्शक और प्रेरणा स्तम्भ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक जैसे गहन, क्लिष्ट और रहस्यपूर्ण विषय तो बिना उनकी कृपा और स्नेह के मैं कभी इतना न समझ पाता कि इस पर कुछ लिख भी सकूं।

आभारी हूं अपने प्रकाशक मित्र **श्री बादल शर्मा** का भी जिन्होंने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय पाठकों तक पहुंचाने का बीड़ा उठाया और मुझे इस योग्य समझा कि इस विषय पर अधिकार पूर्वक कह सकूं।

समस्त विश्व के कल्याण की शुभेच्छा के साथ—

'विश्वमित्र'

प्राक्कथन

ईश्वर द्वारा मनुष्य को दिए गए उपहारों या ताकतों में बुद्धि का विशेष महत्त्व है। जिज्ञासा बुद्धि का प्रधान लक्षण है, बुद्धि है और सही तरह काम कर रही है तो मनुष्य ज्ञान प्राप्त किए बिना रुक नहीं सकता। जानकारियां जुटाना बुद्धि का प्रथम मूल कार्य है। प्राप्त जानकारी का विश्लेषण करना भी बुद्धि ही का कार्य है और कसौटियों पर कस कर प्रमाण जुटाना अथवा तथ्य को सिद्ध कर लेना भी बुद्धि के ही कार्य क्षेत्र में आता है। यह बात अलहदा है कि बुद्धि ही मनुष्य को माया में उलझा भी देती है, लेकिन यह भी सत्य है कि बुद्धि ही ब्रह्म की ओर जाने का प्रथम सोपान भी है।

बहरहाल—जीवन है, तो बुद्धि है। बुद्धि है तो जिज्ञासा है। जिज्ञासा है तो ज्ञान है। ज्ञान ही जीवन का मधुरतम फल है। ज्ञान से पूर्णता और शांति उत्पन्न होती है—जो वैराग्य उत्पन्न करते हैं। वैराग्य माया को नष्ट करता है। माया के प्रभाव से मुक्ति ब्रह्म तक पहुंचने का ठोस आधार है। अत: अपना हित चाहने वाले को सदैव ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते रहना चाहिए।

जिस प्रकार विश्व को जीतने की इच्छा रखने वाले को सर्वप्रथम स्वयं को जीतना चाहिए (क्योंकि खुद को जीत लेने के बाद कुछ भी जीतने को शेष नहीं रह जाता), उसी प्रकार ज्ञान चाहने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम अपने बारे में जानना चाहिए—अपने शरीर के विषय में नहीं, अपने 'स्व', अपनी आत्मा के विषय में। दूसरे शब्दों में उसे अध्यात्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए (क्योंकि आध्यात्मिक ज्ञान पा लेने के बाद किसी और ज्ञान को पाना शेष नहीं रह जाता)। इसीलिए अध्यात्म विद्या को महाविद्या या गुह्यविद्या (गुप्त विद्या) कहा गया है। इसे गुप्त रखा भी गया है—क्योंकि एक तो यह इतनी गहन, गूढ़, क्लिष्ट, महत्त्वपूर्ण, उलझाव पूर्ण और रहस्यमयी है कि जन सामान्य की रुचि इसमें सहज ही उत्पन्न नहीं होती। दूसरे इस विद्या का साधक ऐसी चमत्कारिक और विलक्षण, दिव्य शक्तियां सहज ही प्राप्त कर लेता है, जो किसी अपात्र को मिल जाएं तो शक्तियों का दुरुपयोग होने से अनर्थ हो जाए। इन्हीं कारणों से इस विद्या को गुप्त रखा गया। सुयोग्य गुरु से सुपात्र शिष्य का मेल होने पर ही इस विद्या को आगे सौंपा गया।

हम इस विद्या को जन सामान्य में प्रचारित व प्रसारित कर हैं। इस सम्भावना के बावजूद कि अपात्र पर भी विद्या जा सकती है और उसका दुरुपयोग भी हो

सकता है। ऐसा करने का भी एक ठोस तर्क है। वह यह कि लाखों लोगों में से कुछ हज़ार परमात्मा या अध्यात्म के विषय में सोचते अथवा चर्चा करते हैं। उन हज़ारों में से कुछ सौ इस विषय पर पुस्तक पढ़कर अथवा अपने से अधिक योग्य जनों से उपदेश लेकर इसे समझने का प्रयास करने और इस दिशा में साधना करने को प्रेरित होते हैं। उन सौ में से भी दस व्यक्ति इस प्रेरणा और प्राप्त ज्ञान के आधार पर दृढ़ संकल्प होकर साधना आरम्भ करते हैं अथवा इस दिशा पर अग्रसर होते हैं। उन दस में कोई एक ही ऐसा होता है जो मन को जीत कर, पक्की लगन के साथ, धैर्यपूर्वक, मार्ग की विषमताओं, कठिनाइयों व बाधाओं को लांघकर नियमपूर्वक चलता हुआ या साधना करता हुआ लक्ष्य तक पहुंचता है। उसी को 'लाखों में एक' कहते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अयोग्य, अपात्र या अधकचरा व्यक्ति तो इस क्षेत्र में रुचि ही नहीं लेता, रुचि लेता है तो मात्र चर्चा के लिए, जिज्ञासा शांति के लिए। वह साधना के लिए प्रेरित नहीं होता, प्रेरित हो जाए तो संकल्प नहीं करता। संकल्प भी कर ले तो धैर्यपूर्वक नियमित साधना नहीं कर पाता, बीच में ही छोड़ देता है। और अगर ऐसा न होकर वह लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तो वह अवश्य ही एक सुयोग्य व सुपात्र होता है। क्योंकि इतनी कसौटियों पर खरा उतरकर समस्त विघ्न-बाधाओं व कठिनाइयों को जीतता हुआ जो अन्ततः विजय प्राप्त कर लेता है, वह लाखों में एक—भला अपात्र या अयोग्य कैसे हो सकता है?

फिर जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा भी है—**"He who has chooses the divine, has been choosen by the divine before."—Sri Arvindo** (वह जिसने परमात्मा को चुना है, परमात्मा द्वारा पहले ही चुना जा चुका है।)

और जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है कि—'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।' अथवा—

बिनु सत्संग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

अर्थात्—बिना सत्संग के (बिना संतों, विद्वानों अथवा ज्ञानियों के साथ चर्चा किए) विवेक नहीं होता। (विवेक के बिना कल्याण सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञान ही प्रकाश का कारक है) और सत्संग राम की कृपा के बिना नहीं होता। बिना परमत्मा की कृपा के साधक को सन्त या गुरु या मार्गदर्शक नहीं मिलता। अतः परमात्मा जिसका कल्याण करना चाहता है उसे ही सत्संग का लाभ देता है, ताकि वह ज्ञान प्राप्त करके जागृत हो और सत्य का साक्षात्कार कर सके। (यहां ध्यान दीजिए कि एक अच्छी पुस्तक भी इकतरफा सत्संग ही है। क्योंकि पुस्तक लेखक की वाणी है। पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक, प्रेरक व मार्गदर्शक है। इसीलिए पुस्तकों को मानव का सर्वोत्तम मित्र कहा गया है। किन्तु पुस्तक के चयन में सावधानी आवश्यक है।)

सृष्टि शरीर के बाहर भी है। सृष्टि शरीर के भीतर भी है। बाहर की ओर अनन्त है। कोई छोर नहीं है। भीतर की ओर केन्द्र है। साधक की यात्रा शीघ्र ही लक्ष्य को

प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में बाहर शून्य है और भीतर बिन्दु है। महाशून्य और बिन्दु दोनों ही विराट हैं। दोनों ही अपरिमेय हैं अत: एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। परमाणु में भी उतनी ही शक्ति और ऊर्जा छिपी है, जितनी विराट या अनन्त में। (सभी जानते हैं कि परमाणु को तोड़ने से उत्पन्न विस्फोट कितना शक्तिशाली और विध्वंसक होता है। परमाणु बम इसी सिद्धांत पर क्रियान्वित होता है)। बिन्दु और महाशून्य दोनों की परिभाषा एक है। दोनों का अस्तित्व है किन्तु उसे नापा नहीं जा सकता। वे अपरिमेय हैं, असीम हैं।

अत: बिन्दु को पा लेना विराट को पा लेना है। या विराट को जान लेना, बिन्दु को जान लेना है। बाहर की ओर (शरीर से बाहर की ओर) की यात्रा विज्ञान है। यह बहिर्मुखी प्रगति करता है। अन्दर की ओर (शरीर से भीतर की ओर) की यात्रा योग है। यह अन्तर्मुखी है। विज्ञान भौतिक प्रणाली है, जो उपकरणों, यन्त्रों व साधनों पर निर्भर है। योग जबकि आध्यात्मिक प्रणाली है जिसमें बाह्य या भौतिक उपकरणों या साधनों की आवश्यकता नहीं है। वैज्ञानिक को प्रयोगशाला की जरूरत होती है। योगी के लिए उसका शरीर ही प्रयोगशाला की भूमिका निभाता है। दोनों ही सत्य की खोज करते हैं, दोनों ही चमत्कारिक उपलब्धियां प्राप्त करते हैं। किन्तु बहिर्मुखी प्रगति में अधिक समय, श्रम व साधनों की आवश्यकता पड़ती है। अधिक बाधाएं व अनिश्चितताएं रहती हैं और दिशाभ्रम की पूरी सम्भावना रहती है। जबकि अन्तर्मुखी प्रगति कम समय, श्रम व साधनों के साथ हो जाती है। अवरोध भी कम होते हैं और निश्चितता भी रहती है। दिशाभ्रम की सम्भावनाएं होती ही नहीं।

वृत्त की त्रिज्या या व्यास पर चलता हुआ आदमी निश्चित रूप से केन्द्र पर जा पहुंचता है। किन्तु यदि त्रिज्या पर नहीं चल रहा अपितु परिधि पर घूम रहा है, या परिधि की ओर चल रहा है, तो वह तमाम जीवन भी चलता रहकर केन्द्र को प्राप्त नहीं कर सकता।

विज्ञान की प्रगति इसीलिए कई युगों में, निरंतर पीढ़ी-दर-पीढ़ी शोध के बाद होती है। इसके बावजूद अक्सर निश्चित सिद्धांत पर पहुंचा नहीं जाता। न्यूटन के सिद्धांत को आईंस्टीन फेल कर देता है। विज्ञान के शोध द्वारा बनाए गए सिद्धांत अक्सर वास्को डिगामा की भारत की खोज सिद्ध होते हैं। यह अनिश्चितता और भ्रम युगों तक की गई मेहनत से प्राप्त उपलब्धियों में शामिल रहते हैं। ऐसा भी होता है कि किसी और पदार्थ या सत्ता की खोज में कोई और पदार्थ या सत्ता अकस्मात् सामने आ जाती है। यूं अंधे के हाथ बटेर लग जाने की कहावत चरितार्थ होती है। बहरहाल, इस प्रगति में प्राप्त लक्ष्य या उपलब्धियां प्राय: आकस्मिक (एक्सीडेंटल) होती हैं अथवा अनिश्चित, अपूर्ण या भ्रमात्मक और वह भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी संघर्ष के बाद। जबकि योगी अपने जीवन में ही (कुछ वर्षों में ही) लक्ष्य प्राप्त करता है।

वह सिद्धांत अवश्य ही भ्रमात्मक व अपूर्ण है जो बदला जा सके। अथवा जिसे बदलने की ज़रूरत महसूस हो। दरअसल वह सिद्धांत कहा जाने का हकदार

ही नहीं होता, अलबत्ता उसे नियम कहा जा सकता है। सिद्धांत तो हर काल में, हर परिस्थिति में, हर दशा में एक-सा रहता है, वह अपरिवर्तनीय है। **सिद्धांत का अर्थ ही यह है—सिद्ध+अंत, यानी अन्त सिद्ध हो जिसका अथवा अन्त तक सिद्ध हो जो।** अत: उसके बदलने का सवाल ही नहीं उठता। नियम अलबत्ता, देश, काल, पात्र और स्थिति के अनुसार बदल जाते हैं। जैसे, 'गरम कपड़े पहनने चाहिएं। इनसे सुख मिलता है।'—यह एक नियम है। अथवा 'धूप सुहावनी होती है।' यह एक नियम है, क्योंकि सर्दियों के लिए यह फिट है, मगर गर्मियों के लिए नहीं। जबकि 'सूर्य से प्रकाश व ऊर्जा मिलती है।' यह सिद्धांत है। क्योंकि सर्दी-गर्मी, देश-विदेश हर जगह फिट है। इस बात को पाठकों को ध्यान से समझना चाहिए।

विज्ञान में नियम को सिद्धांत समझ लेने की बड़ी भूलें होती हैं। इसलिए अनिश्चितताएं और भ्रम और भी बढ़ जाते हैं—इतने कि वैज्ञानिक ही नहीं, पूरा समाज दिशा भ्रमित हो जाता है और कई बार शताब्दियों तक भ्रमित ही रहता है। उदाहरणार्थ—'सफेदे का पेड़ लगाओ।' नीति प्रारम्भ में कितने ज़ोरों पर थी, सभी जानते हैं। यूक्लिप्टस या सफेदा जल्द बढ़ता है, मंहगा बिकता है, इसे उगाने में अधिक झमेले या रख-रखाव की ज़रूरत नहीं पड़ती, सुरक्षा की भी ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि पशु-पक्षी इसे खाते नहीं, आदमी इसे (आम, अमरूद, गन्ना आदि की तरह) चुराता नहीं। अत: तब सबने खूब सफेदा उगाया। किसानों ने अपने आमों के बाग या गन्नों के खेत सफेदे के जंगलों में तब्दील कर लिए। पचास-साठ वर्षों तक यह सब चला। फिर पता चला कि सफेदा पानी सोख लेता है। भूमि की उर्वरा शक्ति कम कर देता है। ज़मीन बंजर हो जाती है। आस-पास की जमीन में भूमिगत जल का स्तर भी नीचे गिर जाता है। तब सफेदा प्रतिबन्धित कर दिया गया।

इस प्रकार के बहुत से मामले हैं। यहां तक कि बहुत-सी दवाएं जो शुरू में लाभकारी समझकर प्रचारित व प्रसारित की गई थीं, बाद में साइड इफैक्ट्स पता चलने पर प्रतिबन्धित कर दी गईं। इसी प्रकार शुरू में प्लास्टिक का प्रचलन और प्लास्टिक को बेजोड़ मानकर प्रोपैंगडा बढ़ाया गया और आजकल प्लास्टिक, पॉलीथीन को प्रतिबन्धित करने की दिशा में प्रचार हो रहा है। ऐसे अनगिनत मामले हैं जिन्हें यहां गिनाना व्यर्थ ही कलेवर बढ़ाना होगा।

मगर यह सब हुआ क्यों? नियम को सिद्धांत समझ लेने के भ्रम के कारण। अधूरे ज्ञान के कारण अदूरदर्शिता और जल्दबाजी के कारण। यह सब विज्ञान की दुर्बलताओं की स्पष्ट घोषणा है।

इन बातों को गिनाने की ज़रूरत यूं पड़ी कि अध्यात्म के महत्त्व को पाठक भली प्रकार समझ सकें और यह भी जान सकें कि अध्यात्म का विरोधी दिखाई पड़ने वाला विज्ञान वास्तव में प्रणाली के विरोधी होने से विरोधी लगता है। अन्यथा लक्ष्य दोनों ही का समान है—सत्य की खोज।

अध्यात्म का महत्त्व समझाना यूं जरूरी है, कि परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है। योग आध्यात्मिक प्रणाली है और कुण्डलिनी जागरण योग का अति विशिष्ट पहलू है, बल्कि योग के लक्ष्यों में से एक है। अत: यदि कुण्डलिनी शक्ति की बात करनी है, तो पहले इन सब बातों को समझना होगा। जड़ को जान लेने के बाद ही तने व शाखाओं से होते हुए फूल, फल, पत्तियों पर आया जाएगा। अत: पाठक पुस्तक के इस भाग को महत्त्वहीन या असम्बद्ध समझने की गलती न करें। पुस्तक को ठीक-ठीक समझने के लिए सदैव पुस्तक की भूमिका को, प्राक्कथन को पहले ढंग से पढ़ना, समझना ज़रूरी होता है।

शरीर विज्ञान शरीर की संरचना पर प्रकाश डालता है। त्वचा, मांसपेशियां, अस्थियां, नाड़ियां, धमनियां, शिराएं, तंत्रिकाएं, ऊतक, कोशिकाएं, विभिन्न अवयव, अंग और विभिन्न संस्थान, उनकी कार्यप्रणाली आदि यह सब शरीर रचना विज्ञान के अर्न्तगत आते हैं। किन्तु यह सभी स्थूल हैं, भौतिक हैं। इनसे हम शरीर के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु अधूरा। क्योंकि बहुत से रहस्य यहां अनसुलझे रह जाते हैं और बहुत कुछ ऐसा बाकी रह जाता है-जिस पर यह विज्ञान प्रकाश ही नहीं डाल पाता, क्योंकि वह सब सूक्ष्म है। कुछ सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसके विषय में शरीर रचना विज्ञान न केवल मौन है, बल्कि इसके अस्तित्त्व के विषय में भी संदिग्ध है। क्योंकि विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, और प्रत्यक्ष की अपनी सीमाएं हैं। सभी कुछ प्रत्यक्ष कर पाना सम्भव नहीं होता।

शरीर में हृदय और मस्तिष्क के अलावा मन भी होता है। किन्तु विज्ञान मन नाम की किसी सत्ता को देह में मानता ही नहीं। उसे मस्तिष्क का ही एक हिस्सा मान लिया जाता है जिसका सम्बन्ध विचारों से न होकर भावों से होता है। जबकि ऐसा नहीं है। सभी जानते हैं कि पशुओं में बुद्धि नहीं होती, विचार नहीं होते, किन्तु भावनाएं होती हैं और वे भावों को समझते और व्यक्त करते हैं। वे प्रेमपूर्वक किए गए स्पर्श में स्नेह का भाव महसूस करते हैं। संगीत में शब्दों का अर्थ न समझते हुए भी वे भाव समझने के कारण वशीभूत हो जाते हैं। पशु तो पशु, पेड़-पौधे तक भावों को समझते हैं। वे स्पर्श और संगीत के प्रभाव को महसूस करते हैं और अपनी प्रतिक्रिया को भी व्यक्त करते हैं। फिर भला मन के अस्तित्त्व से इन्कार कैसे किया जा सकता है।

मन के अलावा आत्मा, प्राण, चेतना आदि बहुत-सी अन्य सत्ताएं भी हैं जो विज्ञान के अनुसार विवादित रही हैं। इसके अलावा इन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां यद्यपि विज्ञान स्वीकार करता है किन्तु भ्रमपूर्वक क्योंकि वह इन इन्द्रियों के उपकरणों को ही इन्द्रियां मानता है। उदाहरणार्थ—आंख को एक ज्ञानेन्द्रिय विज्ञान मानता है। परन्तु वास्तव में आंख तो दृश्येन्द्रिय का 'एप्रैटस' हैं, उपकरण है। आंख का कार्य देखना है। यदि आंख बन्द हो अथवा खराब हो तो व्यक्ति देख नहीं सकता। मगर हम आंख बन्द करके भी देख लेते हैं। कल्पना या स्वप्न में, बिना

कुछ देखे भी सब कुछ चलचित्र की भांति देखते हैं। आंख बन्द होने पर भी प्रकाश और अंधकार का अनुभव कर लेते हैं। यह कैसे सम्भव है ? अगर आंख ही दृश्य-इन्द्रिय है तो ? वास्तव में दृश्येन्द्रिय तो अतिसूक्ष्म सत्ता है। स्थूल रूप से दिखाई देने वाली आंख तो दृश्येन्द्रिय का माध्यम या उपकरण है। उपकरण खराब हो जाए, तो बदला जा सकता है। आंख खराब हो जाती है, तो बदलकर नई आंख लगाई जाती है, किन्तु उस आंख के माध्यम से देखता कोई और है, और यही दृश्येन्द्रिय है। इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों का विचार करना चाहिए।

इसके अलावा समस्त सृष्टि पंचमहाभूतों से बनी है। शरीर भी पंच महाभूतों से निर्मित है। विज्ञान पंचमहाभूतों का अस्तित्त्व नहीं मानता। महाभूतों की अपनी तन्मात्राएं हैं और उनकी अपनी इन्द्रियां। उदाहरणार्थ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी क्रमशः पांच महाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप या दृश्य, रस और गंध इनकी क्रमशः तन्मात्राएं या गुण हैं। और कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका इनकी क्रमशः इन्द्रियां (यानि इन्द्रियों के उपकरण हैं। स्थूल रूप से समझने और व्यवहार में सरलता के लिए उपकरणों को ही इन्द्रिय के नाम से सम्बोधित कर लिया जाता है।)

महाभूत का अर्थ तत्त्व (एलीमेन्ट) से है। तत्त्व बिना किसी मिश्रण का शुद्ध, स्वतन्त्र पदार्थ या सत्ता होती है। तत्त्वों से यौगिकों (कम्पाउन्ड्स) का निर्माण होता है। यही सृष्टि का 'रॉ मैटीरियल' होते हैं। विज्ञान 31 तत्त्वों को मानता था फिर शनैः शनैः शोध के साथ आज तत्त्वों की संख्या 100 से ऊपर मानी जाती है। जो कन्फ्यूज़िंग हैं। सीधी सी बात यह है कि पांच ही ज्ञानेन्द्रियां (सैन्स) हैं। अतः किसी भी सत्ता, गुण या पदार्थ की पहचान, लक्षण या प्रकार मूलतः पांच ही हो सकते हैं। इससे अधिक या तो मिश्रण होंगे अथवा उपभेद। मूल भेद पांच ही होंगे जो भारतीय अध्यात्म दर्शन बताता है। (यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार के लिए—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नाम रखा गया है। आकाश का मतलब SKY या जल का मतलब WATER नहीं है। सभी जानते हैं कि—WATER ऐलीमेन्ट नहीं कम्पाउण्ड है। यह हाईड्रोजन और ऑक्सीजन का मिश्रण-'H_2O' है। अतः इनका मतलब प्रचलित अर्थों या पर्याय से नहीं लिया जाना चाहिए। इनका मतलब इनके गुणों या तन्मात्राओं के आधार पर लिया जाना चाहिए। अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। जैसे अग्नि महाभूत का गुण दृश्य है। यानि जहां-जहां रूप है वहां-वहां अग्नि महाभूत है। अग्नि का मतलब FIRE नहीं है। इसी प्रकार गन्ध जहां है, वहां पृथ्वी महाभूत है, किन्तु पृथ्वी का अर्थ EARTH नहीं है। ठीक इसी प्रकार शब्द का होना यह सिद्ध करता है कि वहां आकाश महाभूत उपस्थित है, किन्तु आकाश का अर्थ SKY नहीं है।)

इस बात को थोड़ा और समझें। **व्यवहार के लिए, पहचान के लिए किसी वस्तु या सत्ता का नाम होना आवश्यक है। नाम का महत्त्व इतना ही है।** नाम

कोई शब्द ही होगा। शब्द सार्थक भी होते हैं। बहुत से शब्द बहुअर्थी भी होते हैं। शब्द पर्यायवाची भी होते हैं—यहां से 'कन्फ्यूज़न' शुरू हो जाता है। 'सोना' का अर्थ GOLD भी है, किन्तु 'सोना' का अर्थ SLEEPING भी है। 'गो' माने गाय भी है, 'गो' माने जीभ भी है और 'गो' माने इन्द्रिय भी है, जबकि ENGLISH भाषा में 'गो' का अर्थ 'जाना' हो जाता है। अब कहां किस अर्थ का प्रयोग करना है यह बुद्धि का विषय है। ठीक इसी प्रकार जहां-जहां सृष्टि में 'रस' या 'स्वाद' है, वहां-वहां जल महाभूत उपस्थित है। (महाभूत को देखा नहीं जा सकता, उसे उसकी तन्मात्रा/गुण/लक्षण के आधार पर ही जाना जा सकता है।) इसकी अनुभूति सिद्ध करती है, जल महाभूत की उपस्थिति। रस तन्मात्रा वाले महाभूत का नाम व्यवहार में सुविधा की दृष्टि से 'जल' रख दिया गया किन्तु जल का अभिप्राय WATER से लेते हैं तो अनर्थ हो जाता है। 'जल' (महाभूत) एक 'एलीमेन्ट' है। जबकि WATER एक कम्पाउण्ड है। अत: इस नाजुक मामले को बहुत ध्यान से समझने की आवश्यकता है। अन्यथा सारा दर्शन (फिलॉसोफी) ही उलटी हो जाएगी।

तो शरीर रचना विज्ञान शरीर में पंच महाभूतों की उपस्थिति नहीं स्वीकारता। इसी प्रकार अपना एक स्वभाव, गुण या प्रकृति प्रत्येक शरीर की होती है। भारतीय अध्यात्म दर्शन इसे सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण—मूलत: तीन भागों में बांटता है। किन्तु विज्ञान के पास इन गुणों को मापने का कोई पैमाना नहीं है। वह इनकी सत्ता अस्वीकारता है। इसी प्रकार अहंकार, संस्कार, विकार आदि बहुत से सूक्ष्म तत्त्व विज्ञान अस्वीकारता है और उनके विकसित या विकृत होकर बाद में प्रकट होने वाले स्थूल स्वरूप या लक्षणों को ही मान्यता देता है।

आत्मा के अस्तित्त्व को विवादित रूप से अधूरा ही स्वीकारने वाला विज्ञान—आत्मा, जीवात्मा और परमात्मा के भेद को तो खैर क्या समझेगा? इसी प्रकार बहुत सी सत्ताओं को आधुनिक विज्ञान न जानता है, न ही मानता है। 'प्राण' का अस्तित्त्व विज्ञान नहीं मानता, जबकि अध्यात्म दर्शन दस प्राणों का अस्तित्त्व शरीर में स्वीकारता है, समझाता है जिनमें पांच प्रमुख होते हैं। इन्हीं विवादित सत्ताओं में एक कुण्डलिनी भी है। शरीर रचना विज्ञान में यह रहस्य हल नहीं हो सकते। कुण्डलिनी शक्ति, प्राण शक्ति, जीव, चक्र आदि सब शरीर रचना विज्ञान में ढूंढे नहीं मिलेंगे। इन्हें समझने के लिए अध्यात्म दर्शन को समझना होगा।

इस पुस्तक के सीमित पृष्ठों में भूमिका के और भी सीमित भाग में विज्ञान और अध्यात्म के इस अन्तर को समझाना और मनवाना असम्भव सा है, किन्तु विज्ञान की सीमाएं बताए बिना और अध्यात्म का परिचय दिए बिना ही कुण्डलिनी की चर्चा भैंस के आगे बीन बजाने जैसा निरर्थक होगा। क्योंकि आवश्यक है कि जिस स्तर की बात की जा रही है पाठक का मस्तिष्क भी उसी धरातल पर उसे 'रिसीव' करे। वह मनोवैज्ञानिक और मानसिक रूप से अर्थ ग्रहण के लिए तैयार हो, एक सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ। ऐसा नहीं होगा तो उसके अपने संस्कार, अपनी

विचारधारा, अपनी हठधर्मिता, अपनी आस्था और अपना नज़रिया अर्थ ग्रहण में बाधक व अवरोधक होगा, साहचार्य नहीं करेगा। तर्क-वितर्क, शंकाएं तथा अविश्वास (पूर्वाग्रही होने के कारण) सकारात्मकता को दबा लेगा और पाठक पूर्ण लाभ नहीं उठा पाएंगे। हमारा विज्ञान से विरोध नहीं है। किन्तु विज्ञानवादी होने के दंभ में यदि हम सूक्ष्म ज्ञान को ग्रहण करने से हिचकेंगे या उसके प्रति अनास्था रखेंगे तो गंगाजल को बहता पानी या हीरों को ठीकरे समझ लेने की गलतफहमी में स्वयं ही एक बड़े लाभ से वंचित रह जाएंगे।

यह ठीक है कि प्रत्यक्ष सर्वोत्तम प्रमाण है। यह भी ठीक है कि तथ्यों को तर्क या युक्ति की कसौटी पर परखा जाना चाहिए। किन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्यक्ष की अपनी सीमाएं हैं। ज़रा से जीवन में सभी कुछ प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। और ज्ञानार्जन के लिए, विचार-विमर्श के लिए तर्क ठीक है, किन्तु विवाद के लिए अथवा हठधर्मिता या पूर्वाग्रह के कारण कुतर्क ठीक नहीं। क्योंकि कोरा तर्क दुधारी तलवार होती है, किसी विद्वान ने कहा है—

सृष्टि के अरबों खरबों वर्षों के जीवन के आगे मानव के एक जन्म की आयु गिनती ही क्या रखती है। उस एक जन्म में सृष्टि के अनन्त विस्तार, ब्रह्मांड के असंख्य रहस्य, विषयों की बेशुमार शाखाएं, ज्ञान के अकूत भंडार में से क्या-क्या प्रत्यक्ष किया जा सकता है? आदमी अपनी ही आंख में पड़ा हुआ बाल नहीं देख सकता। अपने ही आधे शरीर को (सिर, कमर, नितम्ब, गर्दन आदि) खुद नहीं देख सकता। अपने शरीर के भीतर नहीं देख सकता। आखिर वह सब कुछ प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है?

देखने की सीमा है। दो किलोमीटर, दस किलोमीटर। आई साइड वीक हो तो उसमें भी टोटा। दूरबीन लगा कर सौ, दो सौ, पांच सौ। खगोल बीन से हज़ार, दस हज़ार किलोमीटर। मगर ब्रह्मांड तो अनन्त है। कोई कितना देखेगा? और कब तक? छोटी वस्तुओं को देखने के लिए लैंस चाहिए और छोटियों के लिए सूक्ष्मदर्शी, मगर सृष्टि में तो और भी छोटे जीव व सत्ताएं हैं। सृष्टि सूक्ष्मदर्शी या खगोलबीन पर ही खत्म नहीं हो जाती।

इसके अलावा दृश्येन्द्रिय स्वस्थ हो, मौसम साफ हो, रोशनी की व्यवस्था समुचित हो, देखने वाला स्थिर हो, जिसे देखा जा रहा है वह भी स्थिर हो, साफ हो, बीच में कोई अड़चन, पर्दा या दीवार न हो—तब कहीं जाकर आदमी कुछ प्रत्यक्ष देख पाता है। इतनी सीमाएं और शर्तें हैं प्रत्यक्ष करने की। सब प्रत्यक्ष करना असम्भव है।

आखिर हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा किए गए अनुभव का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों व पुस्तकों का, उपदेशों का सहारा लेना पड़ता है। हम सब कुछ खुद प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। यह विज्ञान की सीमा है। इतने

सहारे लेने के बाद भी बहुत से मामले अनछुए ही रह जाते हैं। जिनका कोई अन्त नहीं। अनन्त हैं, अथाह हैं।

किन्तु योग द्वारा सब कुछ प्रत्यक्ष कर लिया जाना सम्भव है। ऋषियों ने किया है, करके लिखा है। क्योंकि योगी कालद्रष्टा हो जाता है। वह समय के पार देखता है। भूत-भविष्य सब वर्तमान के समान स्पष्ट हो जाता है। दूरी बाधक नहीं होती। समस्त असम्भव कार्य सम्भव कर सकता है। क्योंकि वह कुण्डलिनी को जागृत कर लेता है। अपने चक्रों को सक्रिय कर लेता है। अपनी शक्तियों को ब्रह्म या परमशक्तिमान के साथ चैनेलाइज़्ड कर लेता है। महाभूतों के, भूतों के, आत्मा, जीवात्मा के—यहां तक कि परमात्मा से साक्षात्कार कर लेता है। और यह सब कपोल कल्पना नहीं, ठोस विज्ञान है। इसे हम आगे चर्चा में लेंगे। पूरी पुस्तक में यही चर्चा का विषय है। पाठक अपने सभी सम्भावित प्रश्नों का हल इस पुस्तक में पाएंगे।

यह भूमिका आवश्यक थी। पाठकों की मन:स्थिति तैयार करने के लिए, उनका पूर्वाग्रह नष्ट करने के लिए, अध्यात्म दर्शन के प्रति जिज्ञासा को उत्कंठित करने के लिए और मानसिक रूप से उन्हें इस धरातल पर ले आने के लिए कि विषय की जटिलताओं और रहस्यों को वे भली प्रकार समझ सकें, बात सिर के ऊपर से न चली जाए। गणित की कोई समस्या ऐसे व्यक्ति को समझाने के लिए, जिसे गणित न आता हो, पहले उसे गिनती, पहाड़े बताने ही पड़ते हैं।

पाठक मेरे द्वारा दिए गए उपर्युक्त उदाहरण को अन्यथा न लें। बहुत से पाठक आध्यात्मिक धरातल पर काफी सुहृद भी होंगे। शायद कुछ मर्म को मुझसे अधिक भी जानते हों। अथवा बहुतों के लिए मेरे द्वारा बनाए इस 'प्लेटफार्म' की आवश्यकता नहीं भी होगी। लेकिन बहुत से ऐसे भी होंगे जिनके लिए इसकी सख़्त जरूरत होगी। अपने उन्हीं पाठकों का हित ध्यान में रखते हुए मैंने यह प्रयास किया है। आशा है प्रबुद्ध पाठक इसे गर्वोक्ति न समझेंगे।

जब तक 'संगति' न हो, रस उत्पन्न नहीं होता। रस के उत्पन्न हुए बिना विभोरता नहीं होती। और विभोर हुए बिना न तो आनन्द ही आता है, न तन्मयता (कन्सन्ट्रेशन) ही बनती है। प्रस्तुत विषय ऐसा है कि बिना एकाग्रता और तन्मयता के और बिना सकारात्मक ढंग से जिज्ञासु हुए मर्म को समझा नहीं जा सकता। अत: सभी पाठक पुस्तक के माध्यम से मेरे साथ 'संगति' कर सकें, यही इस भूमिका का उद्देश्य है। **'संगति का अर्थ ही है—साथ-साथ गति करना।'** कोई आगे पीछे रह जाए तो अवरोध पैदा होता है और रस भंग होता है। ताल, लय सब लिपट कर चलने चाहिए और 'सम' से बंधे होने चाहिएं। तभी सफलता सम्भव है। पाठक अवश्य मेरे मत से सहमत होंगे।

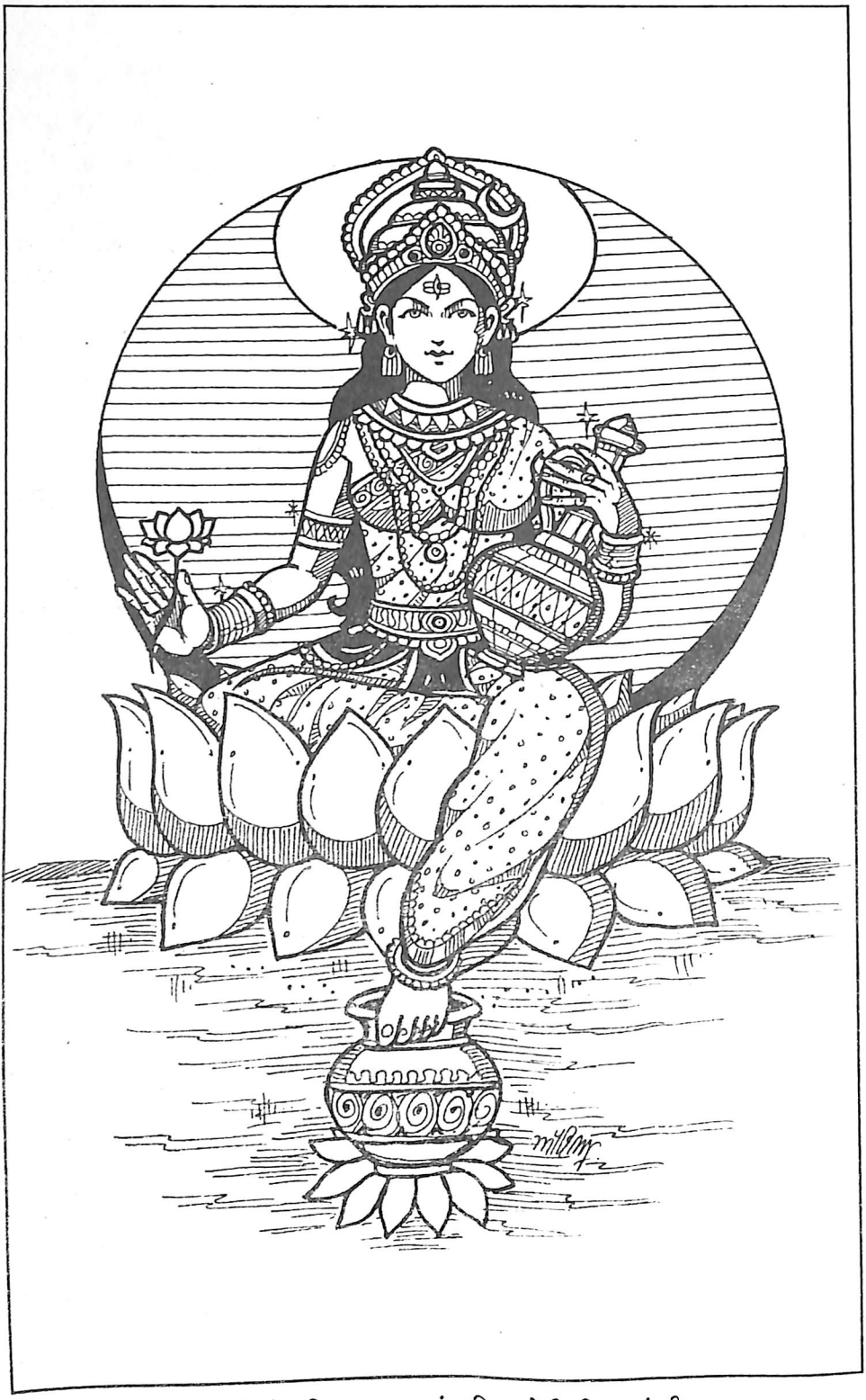

कुण्डलिनी शक्ति स्वरूपा मां ललिता देवी/त्रिपुर सुंदरी

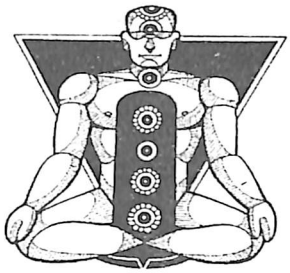

1

कुण्डलिनी : एक परिचय

मनुष्य के भीतर कितनी ही प्रकार की शक्तियां छिपी पड़ी हैं। बहुत-सी ढूंढ ली गई हैं। बहुत-सी खोजी जा रही हैं और बहुत-सी ऐसी भी हैं जिनके विषय में हम जानते ही नहीं हैं। शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति, विचार शक्ति, इच्छा शक्ति, प्राणशक्ति, आत्मिक शक्ति, विश्लेषण शक्ति, स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, प्रतिभाशक्ति, पांचों ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, पाचन शक्ति, निर्णय शक्ति, प्रभाव शक्ति, वशीकरण शक्ति, जीवनी शक्ति, जीवेषणा शक्ति, प्रजनन शक्ति, रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति, संघर्ष शक्ति, केन्द्रियकरण शक्ति, नियंत्रण शक्ति, धारणा शक्ति, कंठस्थ करने की शक्ति, भाषण शक्ति, पूर्वाभास शक्ति, मनोभाव जानने की शक्ति, प्रेमशक्ति, ऊर्जा प्रवाहन शक्ति, वैचारिक सम्पर्क शक्ति आदि असंख्य शक्तियां हैं जिनमें बहुत सी सिद्ध हैं, बहुत-सी विवादित हैं (अभी शोध के अर्न्तगत हैं)। बहुत-सी अभी समझी जानी बाकी हैं।

डिस्कवरी चैनल पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रम—'THE MIND' के अन्तर्गत एक बार बताया गया था कि **दुनिया के श्रेष्ठतम बुद्धिजीवी, विचारक, दर्शनिक आदि भी अपने दिमाग के एक लाखवें हिस्से से भी कम की शक्ति का प्रयोग अपने जीवन में कर पाते हैं।** और यह आश्चर्य जनक सत्य है। इस वैज्ञानिक निष्कर्ष से मस्तिष्क की विराट शक्तियों का एक अंदाजा सहज ही होता है। किन्तु मानव शरीर में एकमात्र मस्तिष्क ही नहीं है जो विलक्षण और अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। मन भी है, प्राण भी है, ऊर्जा भी है, चक्र भी हैं, जो मस्तिष्क के मुकाबले अधिक सूक्ष्म, अधिक शक्तिशाली, अधिक अद्‌भुत और अधिक रहस्यपूर्ण हैं। फिर भला पूरी शक्तियों को गिनाया जा सकना किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

इन समस्त सूक्ष्म और स्थूल शक्तियों को प्रसारित और चैनेलाइज्ड करने की प्रणाली ही योग है। जैसा कि नाम ही से स्पष्ट हो जाता है। योग का अर्थ है जोड़ना या बढ़ाना।

इन समस्त शक्तियों में प्रमुख और अत्यंत विलक्षण है कुण्डलिनी। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उपर्युक्त वर्णित और इनके अलावा भी समस्त शक्तियों को सहज ही बढ़ाया जा सकता है। इनमें से कोई भी शक्ति कुण्डलिनी शक्ति के समकक्ष नहीं। कुण्डलिनी अकेली ही इन सबसे कहीं आगे, कहीं ऊंची, कहीं व्यापक और कहीं अधिक प्रभावशाली है, अद्वितीय है।

नाभि शरीर का केन्द्र है। यहीं से सभी नस-नाड़ियां पूरे शरीर में फैलती हैं।

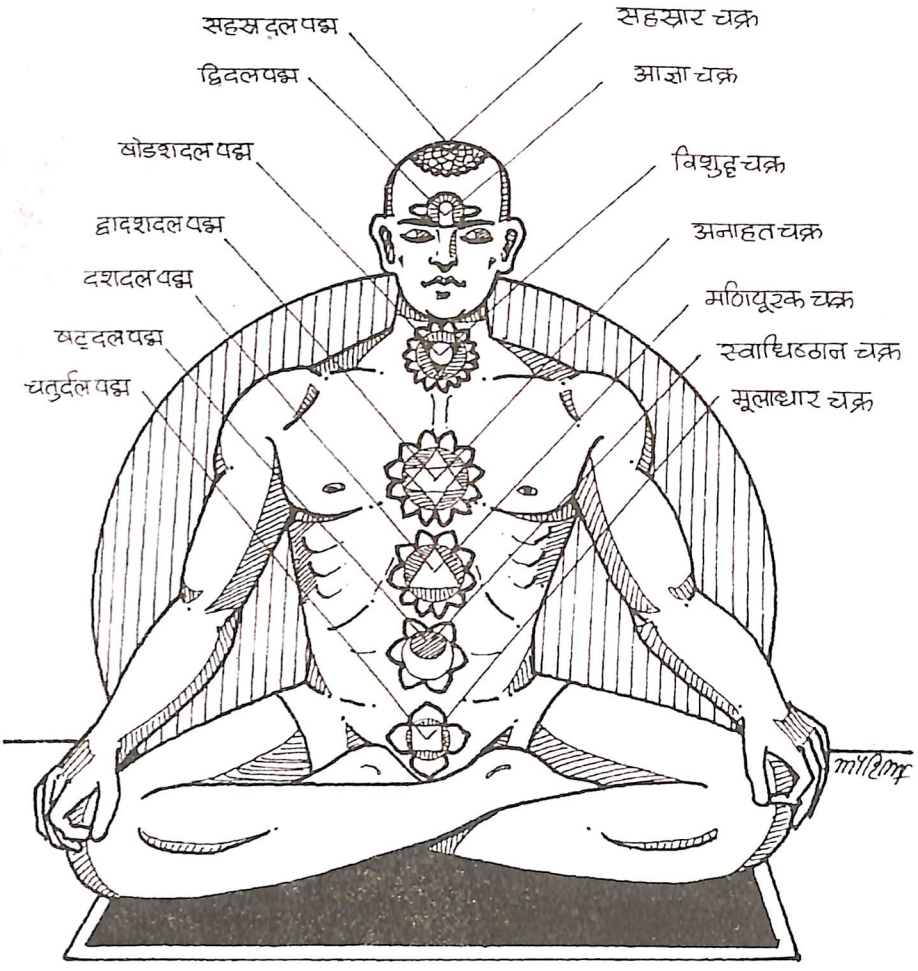

शरीर में चक्रों का स्थान व स्थिति

यहीं से गर्भ माता के साथ जुड़ा होता है और वृद्धि पाता है। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। रावण की नाभि में अमृत होने का कूट संकेत नाभि को सर्वाधिक नाजुक मर्म सिद्ध करता है। आयुर्वेद में भी नाभि के महत्त्व व मर्म होने को स्वीकारा गया है। कुंगफू नामक युद्धकला में विपक्षी के मर्मों पर प्रहार करते समय अंतिम व निर्णायक (मृत्युदायक) प्रहार नाभि पर ही किया जाता है। अत: नाभि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

नाभि के बाद हृदय और मस्तिष्क भी महत्त्व रखते हैं। क्योंकि रक्त संचरण (ऊर्जा सप्लाई) तथा नियंत्रण, संचालन आदि के कार्य क्रमश: हृदय व मस्तिष्क ही करते हैं। शरीर-रचना की दृष्टि से भी नस नाड़ियों का सर्वाधिक जमावड़ा इन्हीं तीन केन्द्रों—नाभि, हृदय व मस्तिष्क में होता है।

इन तीनों के अलावा कण्ठ भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसी संकीर्ण

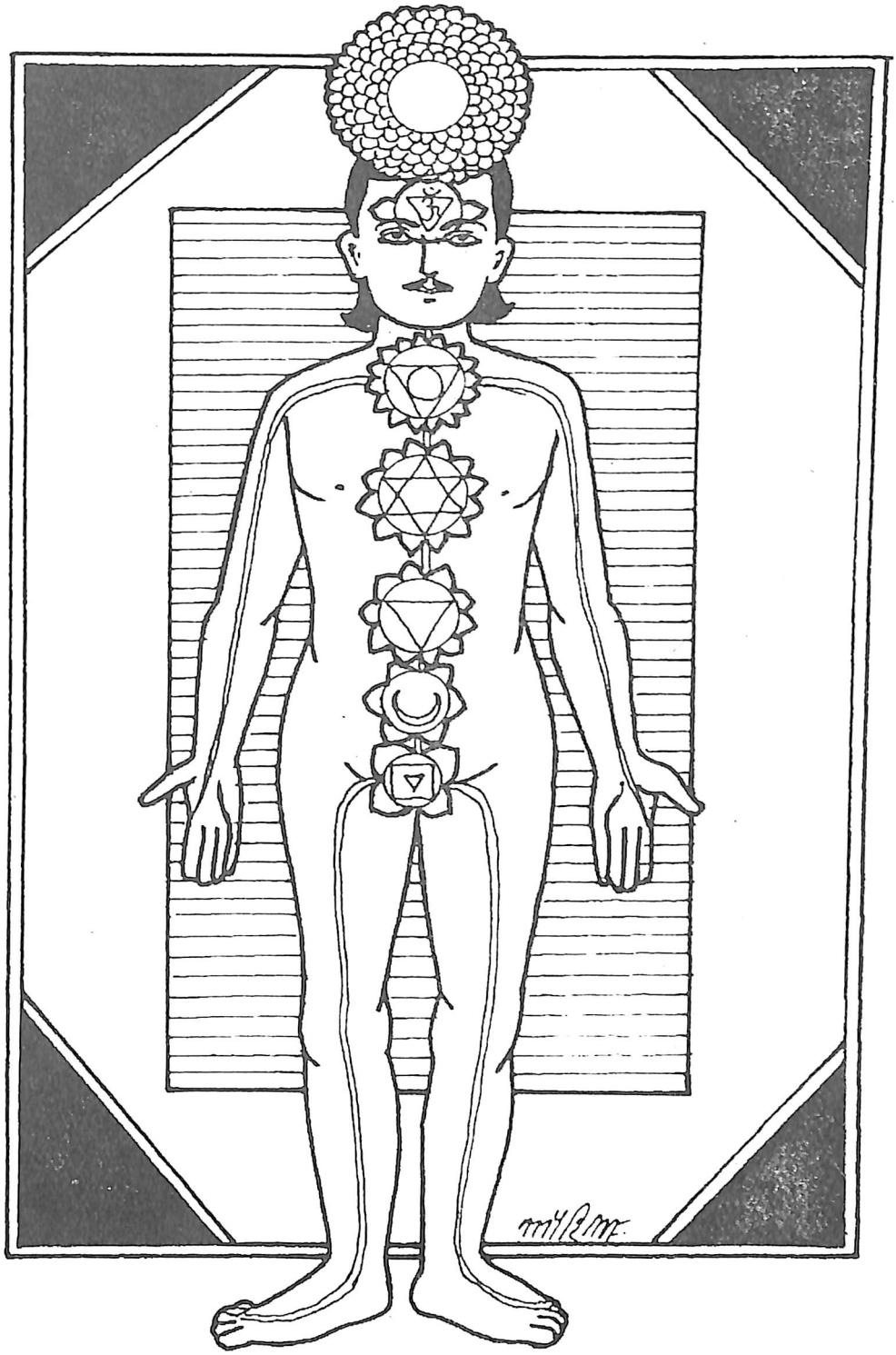

शरीर में सात चक्रों की स्थिति व चक्र की यौन नाड़ियों का चित्रण

स्थान से मस्तिष्क और समस्त ज्ञानेन्द्रियों को रुधिर पहुंचाने वाली नाड़ियां गुजरती हैं। नाक, कान, आंख, जिह्वा ये चारों ज्ञानेन्द्रियां कंठ से ऊपर हैं। (केवल एक त्वचा ज्ञानेन्द्रिय समस्त शरीर में उपस्थित रहती है।) इन सभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटकों को ऊर्जा, रक्त व संदेश पहुंचाने का मार्ग कंठ ही है। कंठ ही से श्वांस, जल व भोजन आदि नीचे आकर समस्त शरीर को प्राप्त होता है। कंठ मस्तिष्क व ज्ञानेन्द्रियों को शरीर से जोड़े रखने वाला सेतु है अत: महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ शरीर का एक मर्म भी है।

गुदा और जननेन्द्रिय के मध्य का स्थान, शरीर का केन्द्रिय आधार होने से 'मूलाधार' भी कहा जाता है। प्रजनन सामर्थ्य की दृष्टि से भी यह भाग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मर्म ही गुरुत्वाकर्षण के सीधे सम्पर्क में आने वाला आधार है।

पुस्तक में शरीर के इन मर्मों को गिनाने का विशेष कारण है। शरीर में स्थित सातों चक्र इन्हीं मर्मों के बीच स्थित हैं। इन सभी को परस्पर सम्बद्ध करने का कार्य करता है मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) जिस पर पूर्ण शरीर का संतुलन व संचालन आधारित रहता है। इसका आरम्भ मूलाधार के निकट से होकर अन्त मस्तिष्क के निकट तक होता है। अत: यह रीढ़ की हड्डी भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। योग विद्या या कुण्डलिनी जागरण की क्रिया में तो यह निहायत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यही कुण्डलिनी का मार्ग भी है। (इस विषय में आगे चर्चा करेंगे)। **अत: शरीर रचना विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान और योग विद्या आदि समस्त दृष्टियों से मूलाधार, नाभि, हृदय, कंठ, मस्तिष्क और मेरुदण्ड अत्यंत प्रमुखता से महत्वपूर्ण हैं।**

शरीर में स्थित सातों चक्र इन्हीं के मध्य स्थित है और यही कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाह का मार्ग भी है। इस विषय को और बेहतर समझने के लिए हम चित्र का सहारा लेंगे। पीछे दिये गये चित्र में सातों चक्रों का स्थान तथा कुण्डलिनी शक्ति संचालन का मार्ग आप स्पष्ट देख सकते हैं। इन चक्रों के संक्षिप्त परिचय के बाद हम कुण्डलिनी की चर्चा करेंगे।

❑❑❑

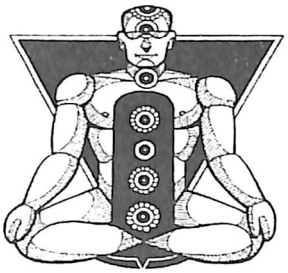

2 चक्रों का परिचय

जैसा कि पाठकगण प्रस्तुत चित्र में चक्रों का स्थान, नाम व संख्या जान चुके हैं—मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञा चक्र और सहस्रार चक्र—ये सात चक्र हैं। जिस प्रकार स्थूल दृष्टि से नाड़ी नसों के सर्वाधिक जमावड़ा होने के कारण (जंक्शन होने के कारण) नाभि, हृदय व मस्तिष्क महत्त्वपूर्ण हैं उसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ये चक्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये शक्ति, ऊर्जा व प्राण के सूक्ष्म किन्तु अत्यंत महत्त्वपूर्ण जंक्शन ही नहीं बल्कि शरीर के विभिन्न 'पॉवर स्टेशन' हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी निश्चित शक्तियां, अपने निश्चित प्रभाव और अपने निश्चित अधिकार हैं। किन्तु ये 'पॉवर स्टेशन' सोए हुए या निष्क्रिय रहते हैं। बिल्कुल उसी प्रकार मानो समस्त यन्त्रों, साधनों, उपकरणों तथा संचालन व्यवस्था आदि से सम्पन्न और हर दृष्टि से समर्थ किसी बिजलीघर या 'पॉवर स्टेशन की बिजली चली जाए और उसकी समस्त शक्तियां व संचालन बिजली के आने तक निष्प्राण रह जाए।'

ये जो बिजली/करंट/ऊर्जा या शक्ति है—जिसके अभाव में हर दृष्टि से सम्पन्न व समृद्ध होते हुए भी हमारे शरीर के सातों चक्र/पॉवर स्टेशन मृतप्राय रहते हैं, यही कुण्डलिनी शक्ति है। बिजली की सप्लाई जिस-जिस उपकरण में हो जाती है, वही उपकरण क्रियाशील हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस-जिस चक्र या 'पॉवर स्टेशन' पर यह कुण्डलिनी शक्ति पहुंच जाती है, वही सक्रिय हो जाता है। किसी विशिष्ट चक्र में कुण्डलिनी शक्ति का प्रवेश और वहां से आगे/ऊपर बढ़कर क्रमशः अगले चक्र में प्रवेश 'चक्र भेदन' कहा जाता है। (इस विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे)। इस प्रकार 'षट्चक्र भेदन' (छह चक्रों को भेद कर) कुण्डलिनी को सातवें चक्र में स्थित किया जाता है। सातवें चक्र का भेदन कर कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के समय परमात्मा में विलीन होकर स्वयं परमात्म स्वरूप हो जाती है।

यह भी एक विलक्षण तथ्य है कि सप्त चक्रों ही की भांति कुण्डलिनी शक्ति भी मनुष्यों में सुप्त/निष्क्रिय अवस्था में ही रहती है। योग द्वारा उसे साधक को जगाना पड़ता है। योग के अतिरिक्त कुण्डलिनी जागरण के मन्त्रादि अन्य विधान भी कहे गए हैं। हम आगे यथासम्भव प्रकाश सभी विधानों पर डालेंगे, किन्तु पुस्तक में

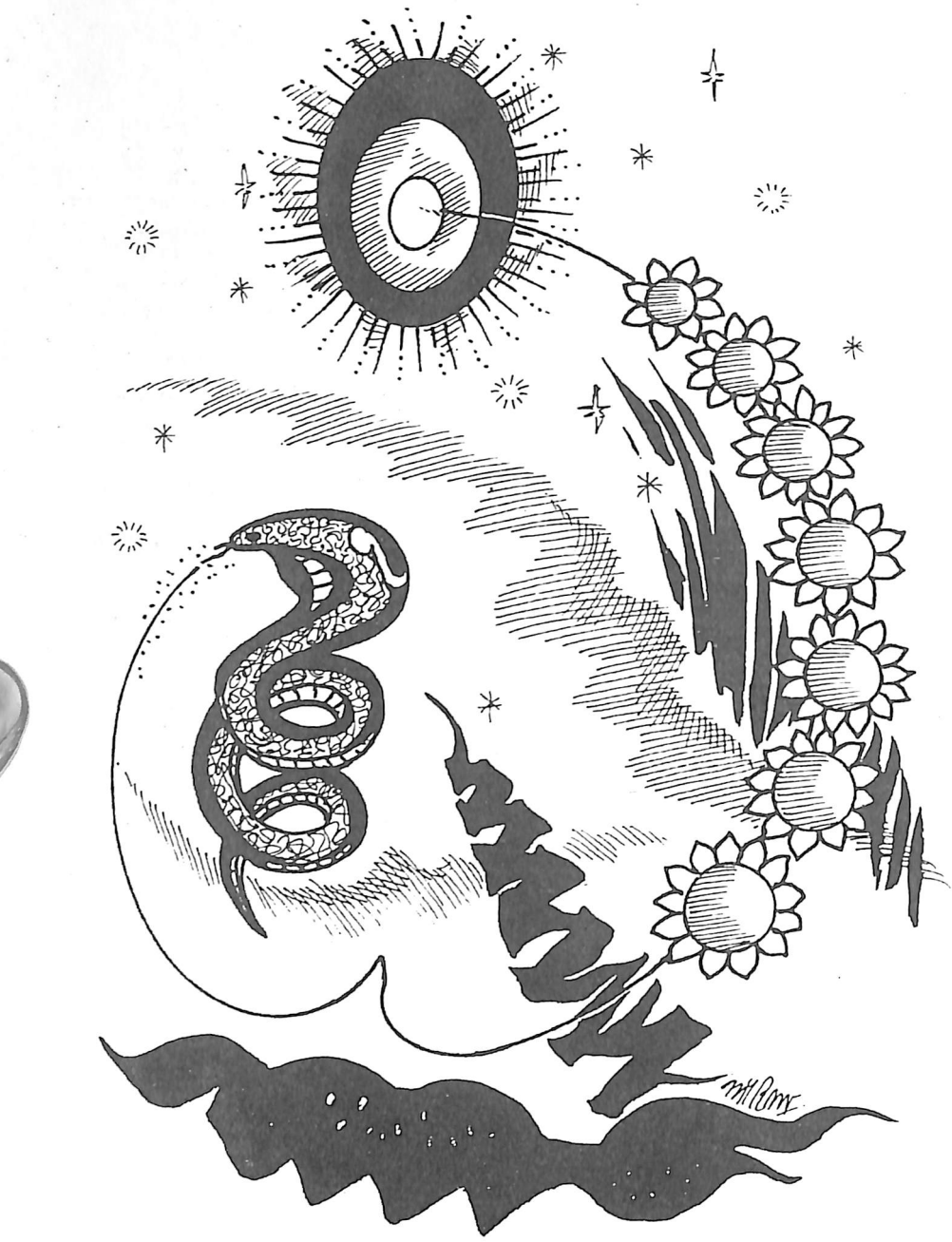

कुण्डलिनी एवं सप्तचक्र

मूल रूप से योगपद्धति/योगविधान की ही चर्चा करेंगे। क्योंकि यही सर्वमान्य, विवाद रहित, पूर्ण प्रामाणिक तथा अपेक्षाकृत सहज प्रणाली है। और इन सबसे बड़ी बात यह कि यही प्रणाली बोधगम्य भी है तथा मेरी वर्णन सामर्थ्य के भीतर भी तो सबसे पहले सप्त चक्रों के विषय में जानते हैं अगले पृष्ठों पर।

❑❑

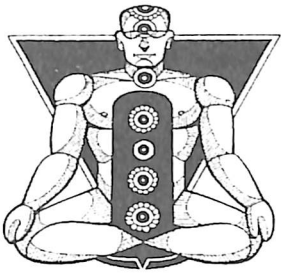

3
मूलाधार चक्र

इस चक्र को कुछ ग्रन्थों में 'आधार चक्र' भी कहा गया है। कोष्ठक में दिया गया नाम इस चक्र का पर्याय नहीं है, किन्तु इसका स्थान ठीक-ठीक समझ पाने में पाठकों के लिए सहायक होगा, अत: लिख दिया गया है। इस चक्र का नाम आधार या मूल आधार इसलिए है, क्योंकि यह चक्र सुषुन्ना के मूल में अवस्थित है। यही भाग शरीर का आधार भी है और समस्त चक्रों के मूल में यही सर्वप्रथम है।

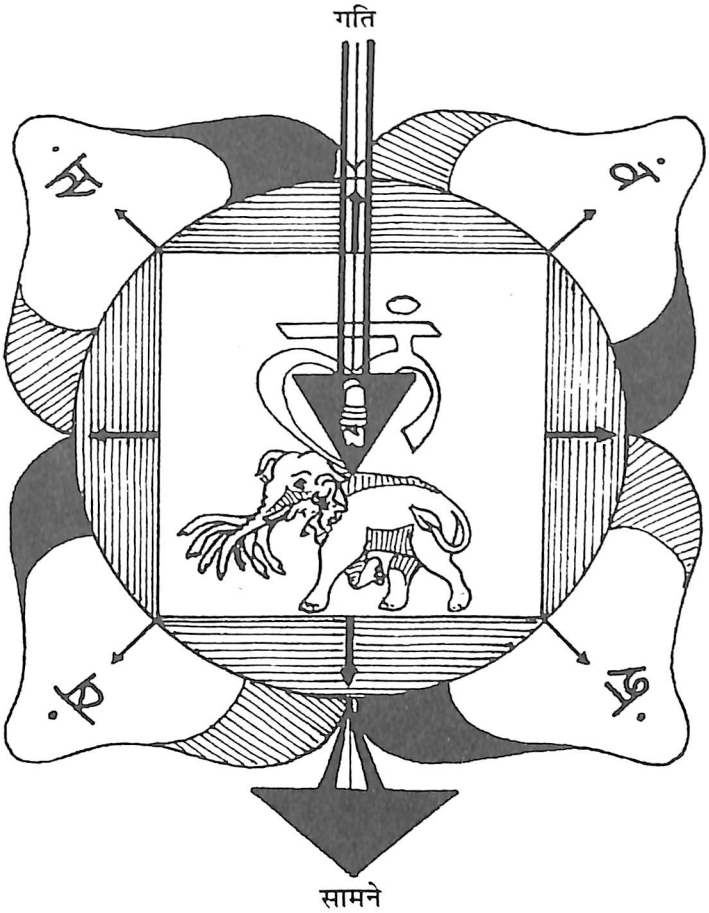

मूलाधार चक्र

योग विद्या या कुण्डलिनी की दृष्टि से यह चक्र न केवल अति अधिक महत्त्वपूर्ण है अपितु सम्पूर्ण योग प्रणाली का मूल या आधार भी है। कारण—

देवता—ब्रह्मा

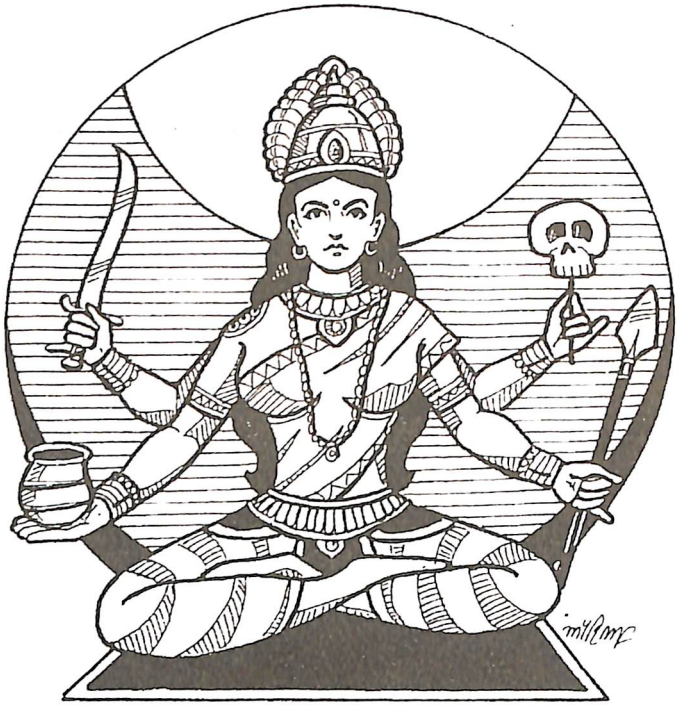

शक्ति—डाकिनी

कुण्डलिनी शक्ति इसी चक्र में अवस्थित होती है (इस विषय में हम आगे विस्तार से पढ़ेंगे)। जीवन के प्रारम्भिक सातवें वर्षों में बालक की चेष्टाएं प्राय: इसी चक्र से प्रभावित होती हैं। स्वयं में ही रत रहना तथा असुरक्षा बोध से ग्रस्त रहना इसका

प्रबल प्रमाण है। मूलाधार चक्र के विशिष्ट प्रभाव में आया हुआ मनुष्य प्रायः दस से बारह घंटे तक रात्रि में पेट के बल सोता है। मोह, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, कामुकता, प्रजनन एवं माया—इसी चक्र के प्रभाव के ही अर्न्तगत आते हैं। स्वास्थ्य, बल, बुद्धि, स्वच्छता तथा पाचन शक्ति भी इसी चक्र से सम्बन्धित है। शरीर की धातुओं, उपधातुओं व चैतन्य शक्ति को इसी चक्र से बल मिलता है। शारीरिक मलिनता का इस चक्र की अशुद्धि से सीधा सम्बन्ध है। सांसारिक प्रगति और चैतन्यता का मूल यह चक्र मनुष्य के देवत्व की ओर किए जाने वाले विकास का आधार है।

मूलाधार चक्र का स्थान सुषुम्ना मूल में गुदा से दो अंगुल आगे व उपस्थ से दो अंगुल पीछे 'सीवनी' के मध्य में है। मूलबन्ध लगाते समय इसी प्रदेश को पैर की एड़ी से दबाया जाता है। नीचे की ओर चलने वाली अपान वायु का यह मुख्य स्थान है। इसका सम्बन्धित लोक 'भूलोक' है। पंच महाभूतों में यह पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि यह चक्र पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है। पृथ्वी तत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण इसका प्रधान ज्ञान अथवा गुण 'गन्ध' है। अतः इसकी कर्मेन्द्रिय गुदा और ज्ञानेन्द्रिय नासिका है। इसका तत्त्वरूप चतुष्कोण चतुर्भुज (वर्गाकार) है, जो सुनहरे अथवा भूमिपीत वर्ण का है। इसकी यन्त्राकृति पीत वर्ण चतुष्कोण है, जो रक्त वर्ण से प्रकाशित चार पंखुड़ियों/दलों से युक्त है। सुरक्षा, शरण और भोजन इस चक्र के प्रधान भौतिक गुण हैं।

इस चक्र का तत्त्व बीच 'लं' है, जो इसकी बीज ध्वनि का सूचक है। कमल दल ध्वनियां क्रमशः वं, शं, षं और सं हैं जो इसकी पंखुड़ियों के अक्षर हैं। इसके तत्त्व बीज का वाहन ऐरावत हाथी है। (जिस पर इन्द्र विराजमान हैं)। जो इसकी सामने की ओर की बीजगति को दर्शाता है। इस चक्र के अधिपति देवता चतुर्भुज ब्रह्मा हैं, और उनकी शक्ति चतुर्भुज डाकिनी भी साथ हैं जो चक्र की शक्ति की सूचक है। इस चक्र के अधिकारी गणेश हैं तथा इसका बीज वर्ण स्वर्णिम है। अतः यन्त्राकृति व तत्त्वरूप में पीतवर्ण के साथ स्वर्ण-सी आभा भी रहती है। इस चक्र पर ध्यान के समय प्रयुक्त होने वाली कर मुद्रा में अंगूठे तथा कनिष्ठा अंगुली के सिरों को दबाया जाता है, जिसके प्रभाव में चैतन्य का मानवीकरण होता है।

ध्यान के समय जब मूलाधार की तत्त्वबीज ध्वनि 'लं' का शुद्ध रूप से बार-बार उच्चारण किया जाता है तो 'लं' उच्चारण से उत्पन्न होने वाली विशेष तरंगें मूलाधार की नाड़ियों को उत्तेजित करती हैं तथा उर्ध्व मस्तिष्क को तरंगित करती हैं। परिणामस्वरूप शक्ति के अधोगति में अवरोध उत्पन्न होकर शक्ति उर्ध्वगति (ऊपर की ओर गति करने वाली) होती है जिससे मूल आधार के प्रभावों—असुरक्षा, भय आदि का लोप होता है तथा मनोबल की प्राप्ति होती है। कुछ विद्वान इसे 'यौनचक्र' भी कहते हैं।

योग मार्ग पर न जाने वाले साधकों के लिए भी मूलबन्ध का अभ्यास

लाभकारी है (इस विषय में हम बन्ध प्रकरण में विस्तार से चर्चा करेंगे)। किन्तु एड़ी द्वारा सीवन को दबाते समय मूलबंध दृढ़ता से लगा रहे तथा लंगोट कसी रहे क्योंकि सीवनी मर्मस्थान है। शौर्यकला कुंगफू के सिद्धांतानुसार यहां पर किया प्रहार, आघात अथवा अनुचित दबाव नपुंसकत्व उत्पन्न करता है।

मूलाधार के अधिपति देवता ब्रह्मा ही क्यों हैं? शक्ति डाकिनी ही क्यों है? अधिकारी गणेश ही क्यों हैं? आदि तत्त्वों की मीमांसा भी की जा सकती है, किन्तु उससे न केवल पुस्तक के कलेवर में वृद्धि होगी, अपितु यह चर्चा मूल विषय की सुगम्यता और लयबद्ध प्रस्तुति में बाधक भी होगी। तिस पर इस चर्चा से योगमार्ग के साधकों अथवा कुण्डलिनी जागरण के इच्छुक पाठकों को कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि वे कन्फ्यूज़ हो सकते हैं। अत: केवल पाण्डित्य सिद्ध करने के लिए ऐसी चेष्टा युक्ति संगत नहीं होगी—ऐसा सोचकर इस विषय में चर्चा नहीं कर रहा हूं। इच्छुक पाठक पत्र व्यवहार से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

वैसे तो चक्रों के स्वरूप का विराटता से वर्णन करना भी आवश्यक नहीं था, क्योंकि कार चलाना सीखने के लिए इंजन के सभी पुर्जों का पूर्ण ज्ञान पाना अनिवार्य नहीं होता। आवश्यक भी नहीं होता, तथापि जिज्ञासा शांति के अलावा कुण्डलिनी जागरण के मन्त्र उपाय की चर्चा के समय इन तमाम जानकारियों की आवश्यकता पाठकों को पड़ेगी अत: पहले ही प्रसंगवश पूर्ण विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है।

बात मूलाधार चक्र की चल रही थी। मूलाधार चक्र से होकर ही योग मार्ग या कुण्डलिनी यात्रा आरम्भ होती है। यही इस यात्रा का मूल उद्‌गम और प्रथम सोपान है। अत: इसे ध्यान से समझें।

❑❑❑

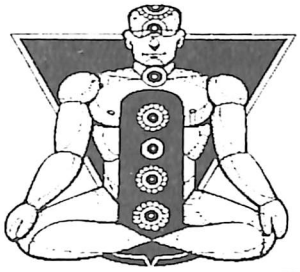

4
स्वाधिष्ठान चक्र

कुण्डलिनी की रहस्यमयी और विलक्षण यात्रा का दूसरा पड़ाव, मानव शरीर में स्थित दूसरा प्रमुख चक्र स्वाधिष्ठान है। जननेन्द्रिय के ऊपर तथा नाभि के नीचे 'पेडू' में यह चक्र अवस्थित है। यह पुरुषों के वीर्य व स्त्रियों में रज का स्थान कहा जाता है। पंच महाभूतों में यह 'जल' तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् जल

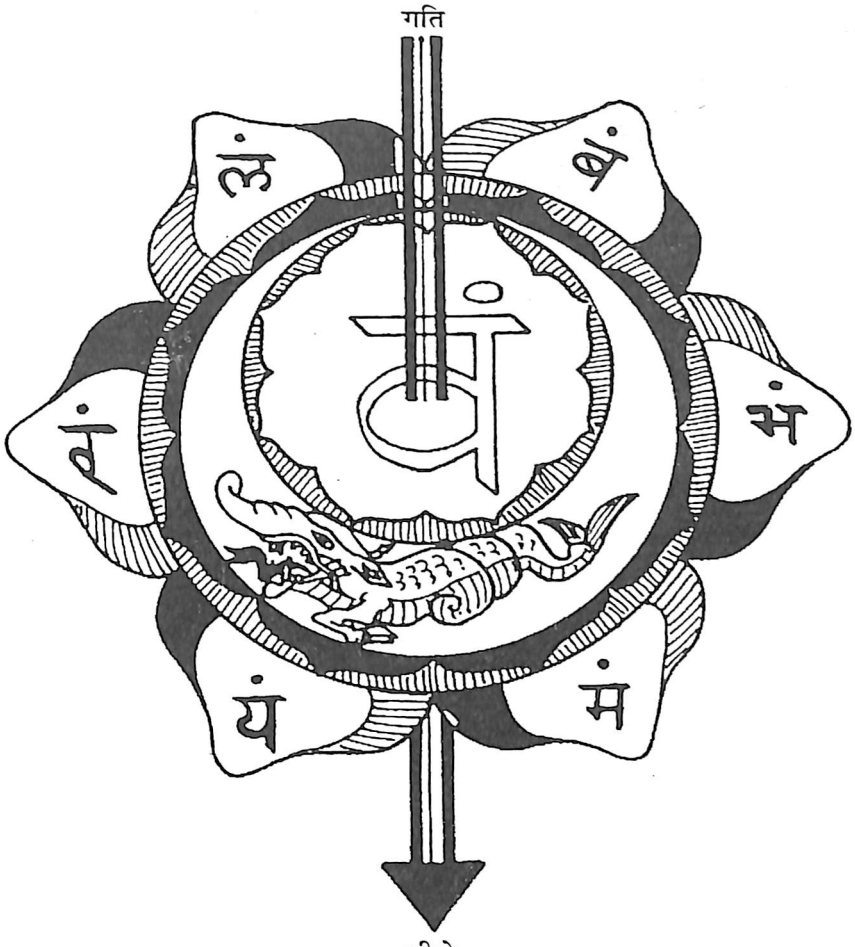

स्वाधिष्ठान चक्र

तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। जल तत्त्व का प्रतिनिधि होने के कारण इसका प्रधान ज्ञान या गुण 'रस' है (जो जल तत्त्व की तन्मात्रा है)। इसलिए इसकी ज्ञानेन्द्रिय

देवता—विष्णु

शक्ति—राकिनी

रसना/जिह्वा और कर्मेंद्रिय लिंग व योनि (जननांग) हैं। इसका रूप चन्द्राकार है। जो सफेद रंग का है। इसके यन्त्र का रूप अर्धचन्द्र युक्त वृत्ताकार है जो श्वेत है। रक्ताभ हिंगुल वर्ण (सिंदूरी रंग) से प्रकाशित छः पंखुड़ियों या दलों से यह युक्त है। इन दलों के अक्षर बं, भं, मं, यं, रं और लं हैं। यही इसकी कमल दल ध्वनि है। इस चक्र की बीज ध्वनि वं है। क्योंकि वं इसका तत्त्व बीज है।

इस चक्र का बीज वाहन मकर है, जो इसके तत्त्व बीज की गति को दर्शाता है, यानि मगरमच्छ द्वारा लगाई जाने वाली डुबकी की भांति नीचे की ओर। इसका बीज वर्ण स्वर्णिम श्वेत है जल के समान प्रांजल। 'भुवः' लोक इस चक्र का लोक कहा गया है। पूर्ण शरीर में फैलकर गति करने वाले व्यान वायु का यह मुख्य स्थान है। इस चक्र के अधिपति देवता विष्णु हैं जो अपनी चतुर्भुज 'राकिनी' के साथ हैं। इससे चक्र की शक्ति का 'राकिनी' होना भी सिद्ध होता है। स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान लगाते समय प्रयुक्त की जाने वाली कर मुद्रा में अंगूठे व अनामिका के सिरों को परस्पर दबाया जाता है। जिस प्रकार चैतन्यता का प्रभाव मूलाधार चक्र के ध्यान से उत्पन्न होता है उसी प्रकार ध्यान द्वारा स्वाधिष्ठान चक्र का अतिक्रमण कर लेने से प्रसन्नता से चैतन्यता ओत-प्रोत हो जाती है। साधक में प्रफुल्लता आती है।

जल तत्त्व का प्रतिनिधि होने से कल्पनाशीलता इस चक्र का प्रधान भौतिक प्रभाव है। इस चक्र के बिगड़ने से 'जलोदर' आदि रोग सम्भावित होते हैं। वैसे प्रायः इस चक्र से प्रभावित व्यक्ति घुटनों में सिर देकर आठ से दस घंटे रात्रि में सोता है। माना जाता है कि 8 से 14 वर्ष तक की आयु में मनुष्य स्वाधिष्ठान चक्र के विशेष प्रभाव में रहता है। उद्विग्नता, उलझन, कल्पना की उड़ान तथा कुटुम्बियों व मित्रों से बनाए जाने वाले भौतिक सम्बन्ध इसी चक्र के प्रभाव से होते हैं। इच्छाओं व कल्पनाओं के साथ बाह्य व आन्तरिक जगत से तालमेल बिठाने के प्रयास में मानव के व्यक्तित्त्व का विकास होता है, जो इसी चक्र के प्रभाव क्षेत्र में आता है।

इस चक्र की साधना बल, सामर्थ्य, विवेक, धैर्य तथा दृढ़ता व विश्वास को बढ़ाने वाली कही गई है। इसके तत्त्व बीज 'वं' की शुद्धतापूर्वक उच्चारित की गई आवृत्ति मानव शरीर के निम्न भागों के अवरोध हटाकर वहां शक्ति को प्रवाहित करती है। कल्पना शक्ति को साधकर कला आदि में उसका बेहतर उपयोग किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण चक्र है। जैसा कि नाम से भी स्पष्ट है—'स्व' का अधिष्ठान करने वाला यानि—स्वाधिष्ठान।

प्रजनन, कल्पना, मनोरंजन, प्रसन्नता, डाह, ईर्ष्या, दया शून्यता, द्वेष, उद्विग्नता, बेचैनी आदि गुणावगुण इसी चक्र से प्रभावित होते हैं। जल तत्त्व व चन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण, भावुकता, चंचलता आदि मन के विशिष्ट गुण इसी चक्र के प्रभाव में आते हैं। इस चक्र के तत्त्व बीज की गति को दर्शाने के लिए वाहन रूप में मकर का प्रयोग भी उचित व तर्कपूर्ण है। मकर को डुबकी मार कर नीचे जाने के

स्वभाव से न केवल बीजगति का संकेत मिलता है अपितु मकर की चालाकी (शिकार के समय), उसका तैरना (मनोरंजन) उसकी प्रबल काम शक्ति (प्रजनन सामर्थ्य तथा मन का वेग) और उसकी व्यावहारिकता जो जल और थल दोनों में रहने से सिद्ध होती है। 'मगरमच्छ के आंसू बहाना' मुहावरा ही मकर की चालाकी तथा व्यावहारिकता के गुण को सिद्ध करता है।

जबकि मूलाधार का बीज वाहन हाथी (ऐरावत, जिसकी 7 सूंडें कही गई हैं) न केवल बीज गति से निर्बाध सामने की ओर जाने को सूचित करता है बल्कि बल, बुद्धि, चैतन्यता, भोजन, सुरक्षा, अपने में ही मस्त रहना, इच्छा तथा इच्छाओं में मन के भटकाव का भी द्योतक है। महत्त्वाकांक्षाओं को भी प्रकट करता है। अंकुश द्वारा हाथी को वश में करने के समान इच्छाओं के बलवान हाथी को बुद्धि के अंकुश द्वारा वश में करने की प्रेरणा देते गणेश अपने अंकुश सहित मूलाधार के अधिकारी व निवासी देवता बताए ही गए हैं।

यद्यपि मकर व हाथी के स्वभाव व विशेषताओं की चर्चा यहां पर आवश्यक नहीं थी, तो भी पाठकों को चाहिए कि स्वबुद्धि के प्रयोग से सामने आने वाले तथ्यों को तोलते भी रहें, ताकि विषय पर उनकी मन से आस्था बने और विश्वास उत्पन्न हो सके। इसके अतिरिक्त विषय की महत्ता व गूढ़ता के रहस्य समझे जा सकें। अत: पूर्ण व विस्तृत चर्चा के लिए स्थान न होते हुए भी, कहीं-कहीं जहां अत्यंत आवश्यकता महसूस कर रहा हूं, अथवा जिस मुद्दे पर की गई चर्चा विषय को सुगम्य बनाने में सहायक हो सकती है, वहां-वहां विषय प्रवाह में हल्का-सा अवरोध दोष उत्पन्न होने के बावजूद ऐसा तुलनात्मक विवरण यथा सामर्थ्य इसी उद्देश्य से दे रहा हूं, कि पाठक सुनें और गुनें। स्वयं भी अपनी तुला पर तोलें।

❑❑❑

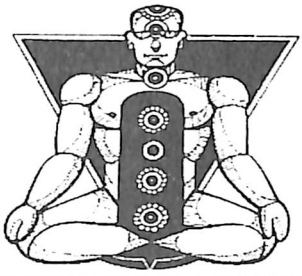

5 मणिपूरक चक्र

इसे मणिपुर चक्र भी कहा गया है। यह भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। नाभि मूल में इसका स्थान है। अत: पवन संस्थान व शौर्य संस्थान से इसका सीधा सम्बन्ध है। व्यक्ति के अहं, प्रभुत्व व धाक जमाने की भावना, नाम कमाने की इच्छा, सर्वश्रेष्ठ बनने की ललक तथा शक्ति अर्जन के प्रयास इसी चक्र के प्रभाव क्षेत्र में आते हैं।

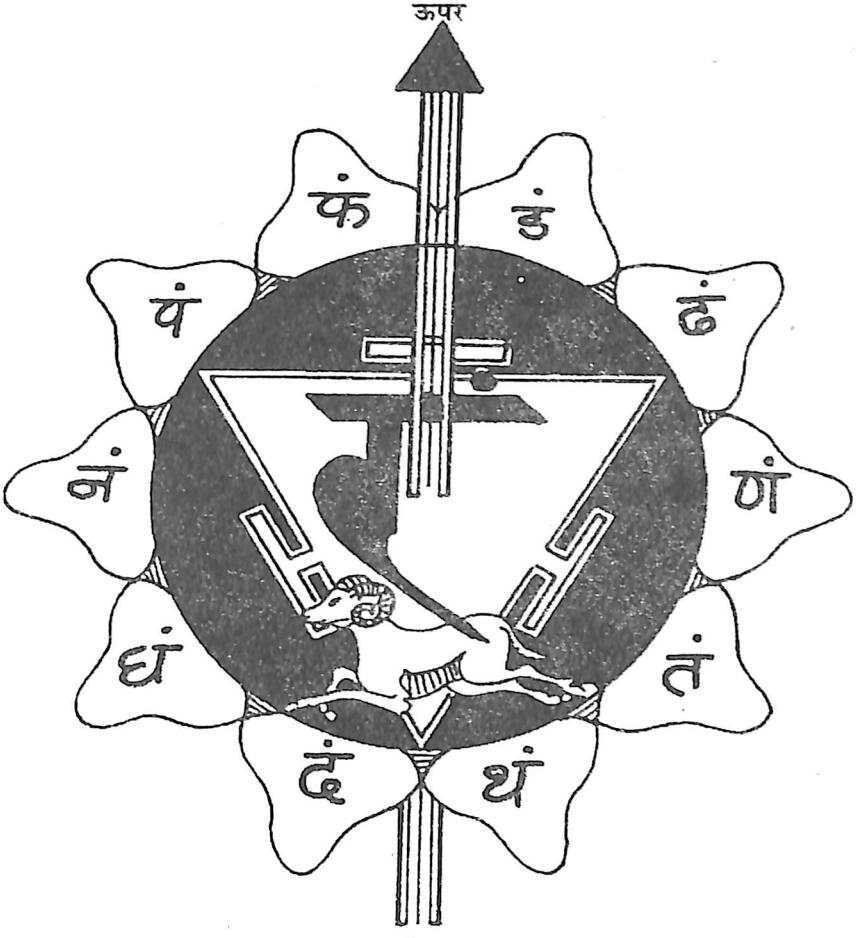

मणिपूरक चक्र

इसके अलावा संघर्ष, प्रायश्चित्त, नि:स्वार्थ सेवा, धर्म, सत्संग या कुसंग (संगति), निष्ठा, दृढ़ता आदि भी इसी चक्र से प्रभावित होते हैं। संगति का अर्थ है—संग-संग

देवता—रुद्र (शिव)

शक्ति—लाकिनी

या साथ-साथ गति करना। अत: संगति सदैव संतुलन उत्पन्न करने वाली होती है। यह विषमता को समाप्त कर समता को उत्पन्न करती है। अत: कर्म व धर्म में संतुलन उत्पन्न करना इसी चक्र के प्रताप से सम्भव होता है। प्रकृति व धर्म का संतुलन जब स्वभाव व कर्म से हो जाता है, तो साधक नैसर्गिक लोक में पदार्पण कर सकता है। अत: मणिपूरक चक्र अध्यात्म का प्रवेश द्वार कहा जा सकता है।

नाभि शरीर का केन्द्र है। गर्भावस्था में नाभि द्वारा ही शिशु का पोषण व विकास होता है। नाभि से ही भ्रूण विकसित होता है। गुरुत्वाकर्षण बल के प्रति संतुलन बनाने का कार्य नाभि ही करती है। आघात पहुंचने या असंतुलित हो जाने से नाभि उतर जाती है। ऊपरी शरीर व निचले शरीर का संतुलन नाभि पर ही रहता है। रॉकेट को जिस प्रकार अंतरिक्ष में जाते समय गुरुत्वाकर्षण सीमा का अतिक्रमण करते समय विशिष्ट बल की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को भी ऊपरी चक्रों पर जाने के लिए मणिपूरक चक्र का बेधन करने में विशेष बल लगाना पड़ता है। (इस विषय में आगे विस्तार से पढ़ेंगे)। इसलिए इसे आध्यात्मिक प्रवेश द्वार कहा गया है, इसीलिए नाभि में अमृतकुंड होना भी कहा जाता है। इसके अलावा योग में अत्यंत महत्त्वपूर्ण रुद्रग्रंथि का निवास भी यहीं है (चक्र प्रकरण के बाद इसकी चर्चा होगी)। अत: यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि संगति या संतुलन नाभि में ही स्थित होने से मणिपूरक चक्र के प्रभाव में आता है।

मणिपूरक चक्र से प्रभावित मनुष्य रात्रि में 6 से 8 घंटे सोने वाला होता है। इस चक्र में ध्यान लगाने से स्वास्थ्य व दीर्घायु की प्राप्ति होती है, अपने शरीर व ग्रन्थियों का भौतिक ज्ञान होता है तथा पाचन सम्बन्धी दोषों व विकारों का निवारण होता है तथा साधक में तेज उत्पन्न होता है। क्योंकि 'अग्नि' तत्त्व का यह चक्र प्रतिनिधित्व करता है।

पंचमहाभूतों में 'अग्नि' का मुख्य आधार होने के कारण मणिपूर चक्र की ज्ञानेन्द्रिय नेत्र व कर्मेन्द्रिय पैर हैं। रूप या तेज इसका प्रधान गुण या ज्ञान है, जो अग्नितत्त्व की तन्मात्रा है। खान-पान के रस को पूरे शरीर में समान रूप से वितरित करने वाला समान वायु है, जिसका इस चक्र में मुख्य निवास है।

यह चक्र त्रिकोणाकार है। जो रक्तवर्ण का है। नीले हरे रंग से प्रकाशित दस कमलदलों (पंखुड़ियों) से यह घिरा हुआ है। इन पंखुड़ियों पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, वं, फं वर्ण (अक्षर) हैं जो इस चक्र की कमल दल ध्वनियों के सूचक हैं। इसकी बीज ध्वनि 'रं' हैं, क्योंकि 'रं' इसका तत्त्व बीज है। इस चक्र की बीज गति मेष/मेढ़े के समान उछलकर चलने की है अत: मेढ़ा इस चक्र का बीज वाहन है। (अग्नि का वाहन भी मेढ़ा कहा गया है और अग्नि का बीज मंत्र भी 'रं' ही होता है)। अग्नि तत्त्व और समानवायु का यह मुख्य स्थान है।

इस चक्र का लोक स्व: है। इसका यन्त्ररूप अधोमुखी त्रिकोण है, जो लाल

रंग का है। इसका बीज वर्ण स्वर्णिम रक्त है। इस चक्र के अधिपति देवता रुद्र शिव हैं, जो अपनी चर्तुभुजा शक्ति 'लाकिनी' के साथ हैं। इस चक्र पर ध्यान लगाते समय प्रयुक्त होने वाली कर मुद्रा में मध्यमा उंगली व अंगूठे के सिरों को परस्पर दबाया जाता है। मध्यमा व अंगूठे के सिरों को दबाने से शरीर में उष्मा उत्पन्न होती है।

इसके बीज मंत्र 'रं' की यदि शुद्धोच्चारण के साथ बारम्बार पुनरावृत्ति की जाती है तो उस ध्वनि की तरंगों के प्रभाव से रस को आत्मसात् करने की शक्ति व पाचन शक्ति बढ़ती है क्योंकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इसके अलावा ऊर्जा भी बढ़ती है जो आयु व सामर्थ्य को बढ़ाती है।

प्राय: मणिपूरक चक्र से प्रभावित व्यक्ति क्रोधी होते हैं क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही ऊष्ण है। यही कारण है कि कई स्थानों पर इसे 'सूर्य चक्र' भी कहा गया है। इस चक्र का बीज वाहन मेढ़ा सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि मेढ़ा स्वाभिमानी, बलवान, अहं में चूर और रणोन्मत्त होता है। यह उछलकर सीधा सिर से आक्रमण करता है और मेढ़ा अग्नि का वाहन भी है। जोश और अहं मेढ़े में शक्ति के साथ मौजूद होता है। यद्यपि यही गुण वृषभ या सांड में भी है, किन्तु उसमें वह फुर्ती और उछलकर चलने/लड़ने का स्वभाव नहीं है जो इस चक्र की बीजगति को इंगित कर सके अत: इसका बीज-वाहन मेढ़ा सर्वथा उचित ही है।

प्राय: अग्नि का सूचक लाल रंग माना गया है। यहां मणिपूरक चक्र के कमल दलों का रंग नीला कहा गया है। (यद्यपि यन्त्र रूप त्रिकोण लाल रंग वाला ही है।) यहां पाठकों को एक विरोधाभास प्रतीत हो सकता है, क्योंकि नीला व लाल परस्पर विरोधी रंग हैं और अग्नि का पर्याय मुख्यत: लाल रंग माना गया है। अत: पाठकों को यह स्पष्ट करना ज़रूरी समझता हूं कि अग्नि का रंग वास्तव में नीला है। कभी भी अग्नि को ध्यान से देखें (माचिस या मोमबत्ती की लौ को ही सही), मध्य में नीला फिर काला सा सिलेटी, फिर लाल, संतरी और पीला रंग क्रमश: बाहर की ओर दिखाई देते हैं। यह रंग भेद अग्नि की जिह्वाओं तथा उसकी ऊष्णता के स्तर को ही दिखाते हैं। जैसा कि पुराणों व उपनिषदों में अग्नि की सात जिह्वाओं/लपटों का वर्णन भी है—

काली करली च मनोजवा च सुलोहिता या च सधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरुचि च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्—काली, करली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी एवं विश्वरुचि—अग्निदेव की ये 7 जिह्वाएं हैं।

इससे सिद्ध होता है कि अग्नि का लाल रंग उसकी सुलोहिता नामक जिह्वा और स्लेटी काला रंग उसकी धूम्रवर्णा नाम की जिह्वा के कारण है। पीला रंग तो

तेज, ऊष्णता व प्रकाश के कारण है किन्तु अग्नि का रंग वैसे नीला ही है क्योंकि मूल में सदा नीली आभा विद्यमान रहती है।

यहां पाठक सूर्य और शुक्र के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अन्वेषणों के निष्कर्ष भी देखें। सूर्य लाल है जो तीव्र प्रकाश की अवस्था में पीला मालूम होता है। जबकि शुक्र का रंग नीला है। वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर हम जानते हैं कि शुक्र सूर्य से कई हज़ार गुना अधिक गरम है और वैज्ञानिकों ने उसके धरातल की भीषण व प्रचण्ड गरमी के आधार पर उसे '**जीता जागता नरक**' कहा है। (इस विशेषता के आधार पर इस तथ्य को भी कसिए कि शुक्र को दानवों का गुरु कहा गया है।)

मणिपूरक चक्र की विशेष साधना—निर्मोहता, शांति, वैराग्य, समता, तन्मयता, आनन्द, धृति, निश्चलता तथा उदासीनता (न्यूट्रल होना/निर्लिप्त होना) को बढ़ाने वाली कही गई है। मणिपूर चक्र का सम्बन्धित लोक 'स्वः' यानि स्वर्गलोक है जो अन्य ऊपर के लोकों में सबसे निचला है अतः इसको आध्यात्मिक प्रवेशद्वार कहना ठीक ही है।

❑❑❑

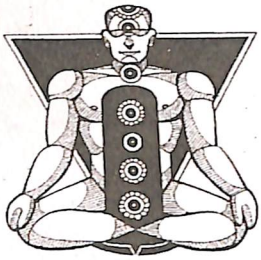

6

अनाहत चक्र

इस चक्र का स्थान हृदय है। इसीलिए इसे 'हृदय कमल' या 'हृदचक्र' भी कह देते हैं। यहां अनाहत ध्वनि (बिना प्रयास या थाप के, बिना आघात के स्वत: ही उत्पन्न होने वाली ध्वनि) स्वत: ही होती रहती है। इस लिए इस चक्र को अनाहत कहा गया है। क्योंकि ध्वनियों के दो ही मूल प्रकार हैं—आहत व अनाहत। आहत ध्वनि किसी प्रकार की छेड़छाड़ या आघात से उत्पन्न होती है और अनाहत ध्वनि अज्ञात कारण से स्वत: ही उत्पन्न होती है।

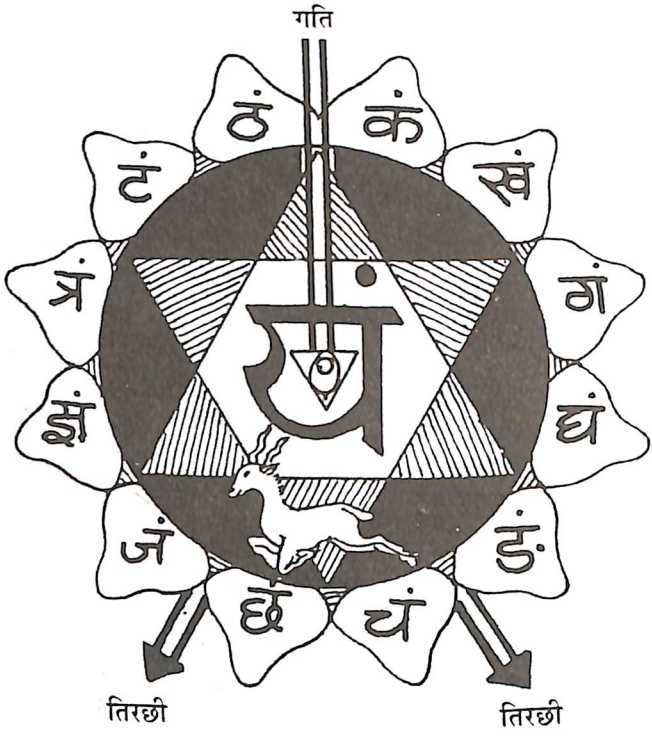

अनाहत चक्र

अनाहत चक्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नीचे के तीन और ऊपर के तीन चक्रों में यह संतुलनात्मक सेतु बनाता है। इसके अलावा इसी चक्र में हृत्पुण्डरीक कमल भी है, जिसमें कि योगीजन अपने आराध्य या इष्ट देव का ध्यान करते हैं। तांत्रिक ग्रन्थों के अनुसार भी (जैसा कि शिव सार तन्त्र में कहा गया है) 'शब्द ब्रह्म कहलाने वाले सदाशिव इसी अनाहत चक्र में हैं। क्योंकि इस स्थान से उत्पन्न होने

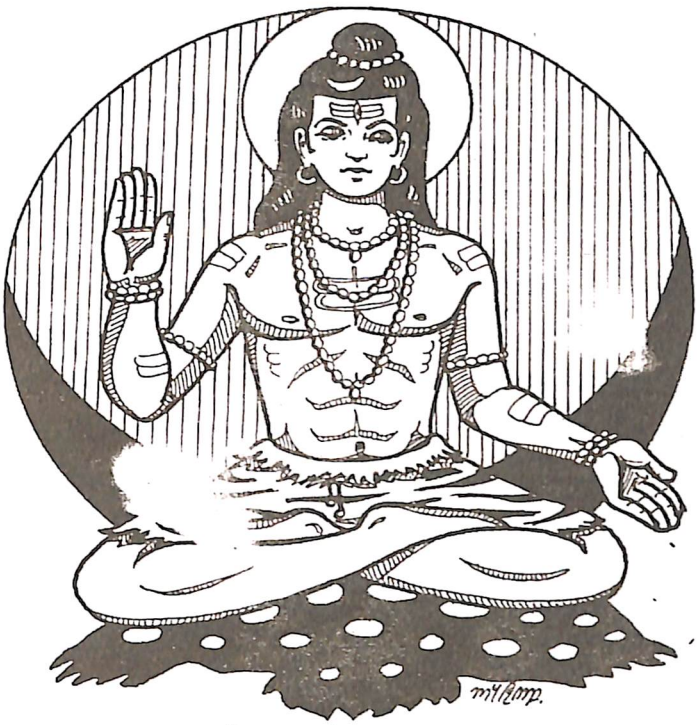

देवता—ईशान (रुद्र)

शक्ति—काकिनी

वाली ध्वनि है त्रिगुणमय ॐ एवं सदाशिव।' यह चक्र विशेष महत्त्ववान है।

पंचमहाभूतों में यह चक्र 'वायु' तत्त्व का मुख्य स्थान है। वायु तत्त्व की तन्मात्रा 'स्पर्श' है, अत: 'स्पर्श' इस चक्र का प्रधान गुण/ज्ञान है। इसी कारण इस चक्र की ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। नाक व मुख से प्रवेश कर समस्त शरीर में विचरने वाली एवं जीवन के लिए परमावश्यक प्राणवायु का यह चक्र मुख्य स्थान है। इस चक्र का लोक 'मर्ह' या 'महत्' है जो अन्त:करण का मुख्य स्थान है। इस चक्र के अधिपति देवता ईशान रुद्र हैं जो अपनी त्रिनेत्रा चतुर्भुजा शक्ति 'काकिनी' के साथ हैं। अत: इस चक्र की शक्ति 'काकिनी' हैं। इस चक्र का यन्त्र रूप षट्कोणाकार यह चक्र सिंदूरी रंग से प्रकाशित बारह दलों/पंखुडियों से युक्त हैं जिन पर स्थित कं, खं, गं, घं, ङं; चं, छं, जं, झं, ञं, टं तथा ठं। ये बारह वर्ण (अक्षर) कमल दल की ध्वनियों को दर्शाते हैं। इस चक्र का तत्त्व बीज 'यं' इसकी बीज ध्वनि का परिचायक है। इसका बीज वाहन मृग है जो इस चक्र की तिरछी बीज गति को स्पष्ट करता है। इस चक्र पर ध्यान के समय अंगूठे और तर्जनी उंगली के सिरों को परस्पर दबाया जाता है। इससे मन स्थिर होता है और उसकी मृग जैसी चंचलता रुकती है।

वायु का स्वभाव विश्रामहीनता/हर समय गति करते रहना है। तदनुसार इस चक्र का यन्त्र व तत्त्व रूप षट्कोण हर दिशा में गति को दर्शाता है। इस षटकोण में एक अधोमुखी तथा एक ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण सम्मिलित है जो क्रमश: शक्ति व शैव-मान्यताओं का प्रतीक होने से दोनों का समन्वय (अर्धनारीश्वर) प्रदर्शित भी करता है। साथ ही ऊपर के तीन लोकों व चक्रों और नीचे के तीन लोकों व चक्रों का संतुलन व सामंजस्य भी इंगित करता है जो इस चक्र के प्रधान गुणों में से एक है।

चंचलता, भटकाव, चेष्टा, लोभ, आशा, निराशा, चिंता, कपट, अविवेक, अनुताप, भ्रम (मरीचिका), वितर्क, सक्रियता, दृढ़ता, हठ, तृष्णा, सवंदेनशीलता, उत्साह आदि गुणावगुण इस चक्र की विशेषता हैं। परकाया प्रवेश तथा वायु गमन इसी चक्र के प्रताप से सम्भव हो पाता है। ज्ञान, दक्षता, वाक्पटुता, समर्थता, निपुणता, शास्त्रों का मर्म समझना, काव्यामृत के रसास्वादन में प्रवीणता आदि इसी चक्र पर ध्यान लगाने से प्राप्त होते हैं।

इस चक्र के बीज मन्त्र 'यं' का पुनरावृत्ति के साथ शुद्ध रूप से उच्चारण हृदय को तरंगित कर वहां के समस्त अवरोध दूर करता है, जिससे शक्ति का प्रवाह निर्बाध गति से ऊपर की ओर होने लगता है परिणाम स्वरूप परम प्रभु की आह्लादिनी शक्ति से साधक का साक्षात्कार होता है और उसे सब ओर आनन्द की ही प्रतीति होने लगती है। श्वांसों और प्राणों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सिद्धियों का आरम्भ इस चक्र को जीतने से होने लगता है। समदर्शिता, स्थायित्व/नियंत्रण,

प्रेम, सत्यता, निर्लोभता, दया, क्षमा, करुणा, विवेकशीलता, अहिंसकता आदि गुणों का उदय इस चक्र के शुभ प्रभावों के अन्तर्गत ही आता है।

इस अनाहत चक्र में एक लिंग का होना भी माना गया है, जिसे 'बाणलिंग' कहते हैं। इसके ऊपर अति सूक्ष्म छिद्र में हृत्पुण्डरीक कमल का निवास बताया गया है, जहां योगी जन अपने आराध्य देवता का ध्यान करते हैं। गहन प्रेम की स्थिति में योगमार्ग को जाने बिना ही (प्रेमयोग के माध्यम से) अनजाने में प्रेमी इस कमल तक पहुंच जाता है और अपनी प्रेयसी को इस कमल में उसी प्रकार बसा लेता है, जैसे हनुमानजी के हृदयकमल में श्रीराम बसे रहते हैं। तभी तो कोई शायर अनजाने में ही यह पते की बात कह गया है—

तस्वीर-ए-यार हमने अपने दिल में बसा रखी है।
जब जी में आया, जरा गर्दन झुकाई, देख लिया॥

शुद्ध प्रेम की स्थिति में प्रेमी अर्धयोगी हो जाता है, इसमें दो राय नहीं है। क्योंकि योग के प्रधान गुणों व लक्षणों में से एक—तन्मयता/एकाग्रता/ स्वविस्मृति-कन्सन्ट्रेशन उसमें सहज ही आ जाता है। यही गुण एक उच्च कोटि के कलाकार, कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक या संगीतकार में भी होता है। अतः मेरी दृष्टि में वे सभी पथभ्रष्ट/दिशाभ्रष्ट योगी होते हैं, बहरहाल।

लगे हाथ इस चक्र के बीजवाहन मृग का भी विवेचन करते चलें। चंचलता, तिरछी गति, किसी भी ओर सशंक दौड़ जाना, मृग तृष्णा/मृग मारीचिका, अस्थिरता, विश्रामहीनता, सतर्कता, जागरूकता, उत्साह, संवदेनशीलता और प्रसन्नता में कुलांचें भरना आदि समस्त गुण मृग में विद्यमान हैं जो इस चक्र से सम्बन्धित हैं। अतः इसका बीज वाहन मृग सर्वथा सार्थक है।

❑❑❑

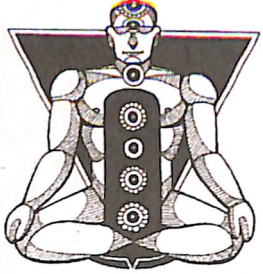

7
विशुद्ध चक्र

इस चक्र का स्थान कण्ठ प्रदेश है। इस चक्र का आकार वृत्त है, जो नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वर्णों (रंगों) वाला है और यह कमल सोलह दलों या पंखुड़ियों से युक्त है जो धूम्र/धुंधले प्रकाश से प्रकाशित हैं। इन दलों के वर्ण

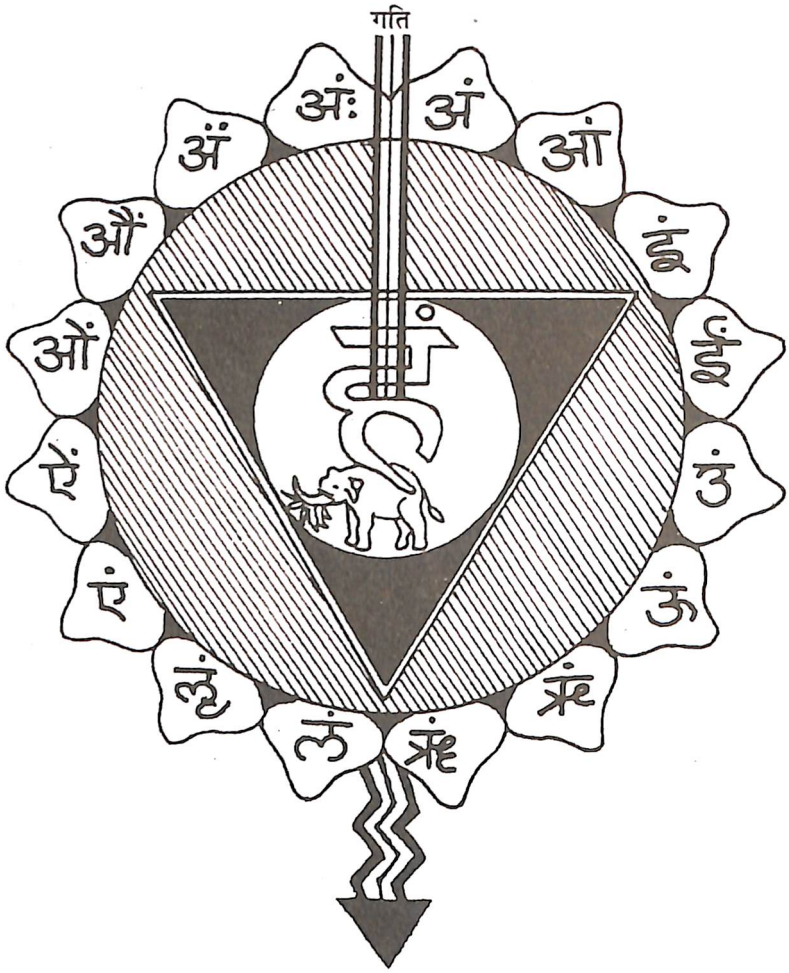

घुमावदार
विशुद्ध चक्र

(अक्षर)—अ, आ, ई, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः हैं, जो इसकी कमलदल ध्वनियों को प्रकट करते हैं। बीज ध्वनि को प्रकट करने वाला

देवता—सदाशिव

शक्ति—शाकिनी

इसका तत्त्व बीज 'हं' है। इस तत्त्व बीज की गति हाथी के समान झूम-झूमकर चलने के समान घुमावदार है। अतः इसका बीज वाहन हाथी है, जिस पर प्रकाश देवता विराजते हैं।

पंच महाभूतों में 'आकाश' तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। आकाश की तन्मात्रा 'शब्द' इसका प्रधान ज्ञान या गुण है। इसीलिए इसकी ज्ञानेन्द्रिय कर्ण (कान) और कर्मेंद्रिय वाणी (वाक्शक्ति) है। इस चक्र के अधिपति देवता पंचमुखी सदाशिव अपनी चतुर्भुजा 'शाकिनी' शक्ति के साथ हैं। अतः इस चक्र की शक्ति देवी 'शाकिनी' हैं। इसका यन्त्र गोल व रंगहीन है। ऊपर की ओर गति करने वाले उदानवायु का यह चक्र मुख्य स्थान हैं। इसका लोक 'जनः' है।

इस चक्र को 'ब्रह्मद्वार' भी कहा जाता है। आयुर्वेदीय व चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से यह कमल शरीर का मर्म है। इसके भेदन से तत्काल मृत्यु हो जाती है। कहते हैं कि विशुद्ध चक्र की साधना से सोलह प्रकार की योगसाधना की शक्ति आ जाती है। इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से मन आकाश की भांति विशुद्ध हो जाता है अतः इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं। वैसे महाज्ञानी, निरोग, निर्विकार, शान्तचित्त, शोकहीन, समद्रष्टा तथा दीर्घजीवी होना इस चक्र पर ध्यान लगाने से सहज प्राप्त होने वाले शुभ फल हैं। त्रिकाल दर्शन की सिद्धि व शक्ति (समय के आर-पार देख सकना) इसी चक्र की साधना के प्रभाव से सम्भव हो पाती है। साधना की दृष्टि से यह चक्र भी विशेष महत्त्व वाला है।

'शिवस्वरोदय' के अनुसार—'हं' बीज से अत्यन्त उज्ज्वल, निराकार आकाश तत्त्व के ध्यान से त्रिकाल ज्ञान होता है तथा अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वैसे भी उपनिषदों ने ब्रह्म को आकाश स्वरूप कहा है। आकाश तत्त्व शून्य और अणुविहीन है, अनन्त, सर्वव्यापक और विराट है, निर्विकार, शुद्ध और विभु है। परमात्मा के गुणों में से अधिकांश गुण आकाश में उपस्थित हैं, अतः उसे आत्मस्वरूप या परमात्म स्वरूप कहा ही जा सकता है। वह अनादि और अनन्त है और कर्ता भाव से मुक्त, निष्क्रिय, स्थिर व साक्षी मात्र है। वह बस है। उसके विषय में अन्य कुछ कहा नहीं जा सकता। निराकार है। स्पर्श, गंध व रूप आदि ज्ञान से परे है।

वामकेश्वर तन्त्र विशुद्ध चक्र के समीप 'ब्रह्म ग्रन्थि' का होना मानता है, जबकि अन्य स्थानों पर 'रुद्र ग्रंथि' को विशुद्ध चक्र के समीप माना है। मूलाधार चक्र, मणिपूर चक्र तथा विशुद्ध चक्र के समीप तीन ग्रन्थियां हैं, यह प्रायः सभी योग ग्रन्थों ने स्वीकारा है और उनको **'रुद्रग्रन्थि,' 'विष्णु ग्रन्थि' व 'ब्रह्मग्रन्थि'** के नाम से पुकारा है। यहां तक प्रायः सभी ग्रन्थ एकमत हैं, किन्तु उनके स्थानों के विषय में विभेद मिलते हैं। एक ग्रन्थ के अनुसार जो स्थान 'रुद्रग्रन्थि' का है, दूसरे ग्रन्थ के अनुसार वह स्थान 'विष्णु ग्रन्थि' का है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थियों के विषय में भी है।

नामकरण एक पृथक विषय है किन्तु यह तथ्य विचारणीय है कि समस्त साधकों व ज्ञानियों ने इन तीन चक्रों के निकट तीन ग्रन्थियों (सूक्ष्म नाड़ियों की एक गांठ सी) को पाया है और महसूस किया है। उनका भेदन कर कुण्डलिनी शक्ति को आगे बढ़ाने में विशेष बल व साधना का उपयोग करना पड़ा है। यही बात पाठकों के मार्गदर्शन के लिए उपयोगी है। नामकरण के भेद में पड़कर उलझन पैदा होगी। अत: इस विषय पर चर्चा नहीं करेंगे। इस भेद के बहुत से कारण निज अनुभूतियों के आधार पर सम्भव हैं। इसकी छानबीन अनावश्यक, अवरोधक, विशेष श्रम व समय को खपाने वाली और परिणाम में मामूली-सा लाभ देने वाली ही सिद्ध होगी। प्रबुद्ध पाठक अवश्य ही इस तथ्य से सहमत होंगे। अत: हम इस चर्चा को यहीं पर समाप्त कर अगले और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चक्र की ओर आते हैं, जिसका नाम 'आज्ञा चक्र' है।

❑❑❑

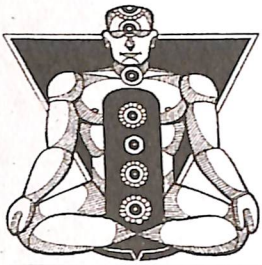

8
आज्ञा चक्र

कुछ विद्वान इसे 'अंजना चक्र' भी कह देते हैं। इसका स्थान दोनों भृकुटियों के मध्य-नासिका की संधि के ऐन ऊपर है। यह योग विद्या में साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चक्र है। निराकार ब्रह्म का ध्यान व अन्तर्त्राटक आदि इसी चक्र पर योगीजन किया करते हैं। शरीर के समस्त अवयवों तथा संस्थानों को आज्ञा

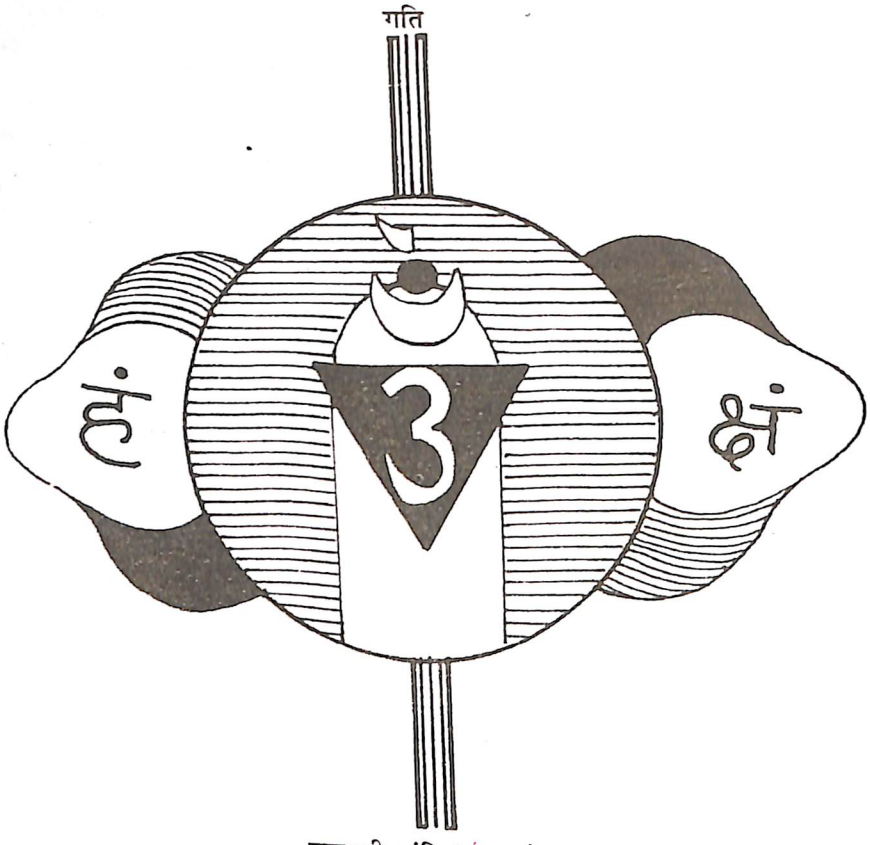

नाद की भांति (सब ओर)

आज्ञा चक्र

का प्रसारण यहीं से होता है। इस चक्र तक पहुंचा हुआ योगी अधोगति को पुनः प्राप्त नहीं होता। इस चक्र का महत्त्व सिद्ध करने के लिए यही तथ्य काफी है कि इस चक्र का तत्त्वबीज मंत्र ॐ है, जो परमात्मा या ब्रह्म का प्रणव मंत्र है। क्योंकि **यह अकार, उकार और मकार (अ+उ+म) तीनों की शक्तियों का सम्मिलन है।**

देवता—ज्ञानदाता शिव

शक्ति—हाकिनी

इन्हें ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और संकल्प/इच्छा शक्ति कहा गया है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए इन्हीं तीन शक्तियों की अनिवार्यता होती है। हमें उस कर्म विशेष के विषय में ज्ञान हो, उस कर्म विशेष को करने/संपादन की सामर्थ्य हो और उस कर्म विशेष को करने की हमारी इच्छा/संकल्प हो तभी हम उस कर्म विशेष को कर सकते हैं। क्योंकि यदि हममें करने की सामर्थ्य होगी पर ज्ञान नहीं तो भी हम उस कार्य विशेष को कर नहीं पाएंगे। यदि हमें उस कार्य विशेष का ज्ञान होगा किन्तु क्रिया की सामर्थ्य नहीं, तो भी हम उसे कर नहीं पाएंगे, किन्तु यदि हममें क्रिया और ज्ञान दोनों की सामर्थ्य, किसी कार्य विशेष के सम्बन्ध में हो-तो भी हम उस कार्य को तब तक नहीं करेंगे जब तक हमें उस कार्य को करने की इच्छा न हो। कोई कार्य बिना संकल्प के सम्पन्न नहीं हो सकता।

इस प्रकार ये तीन मूलशक्तियां किसी कार्य के सम्पादन में अथवा व्यवहार में अनिवार्य होती हैं। अपने-अपने स्थान पर तीनों ही शक्तियों का महत्त्व है, तो भी संकल्पशक्ति शेष दोनों शक्तियों के एकत्रित होने के बावजूद संकल्प या इच्छा के अभाव में कार्य का सम्पादन नहीं होता। दोनों ही शक्तियां (ज्ञान व कर्म/क्रिया) अकेली होने पर तो व्यवहार में आती ही नहीं, मिलकर भी व्यवहार में तब तक नहीं आतीं जब तक उनमें संकल्प शक्ति न आ जुड़े। जबकि संकल्प शक्ति अकेली ही यदि बलवती और प्रचण्ड हो तो ज्ञान और क्रिया शक्ति को जुटा लेती है और कार्य सम्पन्न कर लेती है। इसी संकल्पशक्ति के अधिष्ठाता भगवान शिव हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन शक्तियों के अभौतिक देवता हैं। क्योंकि सृष्टि के निर्माण कार्य में मूलत: ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसके अधिष्ठाता देव ब्रह्मा हैं। सृष्टि के संचालन, पोषण व विकास में मूलत: क्रिया आवश्यक होती है, जिसके अधिष्ठाता देव विष्णु हैं, और संहार या विध्वंस के लिए संकल्प की मूल आवश्यकता होती है, जिसके अधिष्ठाता देव शिव हैं। अत: सृष्टि ब्रह्मा के, संचालन/पालन विष्णु के और संहार/लय शिव के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश जहां, ज्ञान, क्रिया व संकल्प शक्ति के अभौतिक देव हैं, वहीं सूर्य, अग्नि और चन्द्र इन्हीं शक्तियों के भौतिक देव हैं जिन्हें हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकते हैं। यहां यह भी ध्यान देना चाहिए कि **संहार के देवता होने के कारण श्मशान में शिव प्रतिमा अवश्य स्थापित की जाती है। किन्तु यह 'इकार' की शक्ति (इच्छा शक्ति) का ही प्रताप है जो 'शव' को भी कल्याणकारी 'शिव' में बदल देता है।**

सूर्य प्रकाश का स्रोत है। प्रकाश के अभाव में ज्ञान सम्भव नहीं है। अत: सूर्य को जगत् गुरु माना जाता है। अग्नि-ऊर्जा व ऊष्मा का स्रोत है। बिना ऊर्जा के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया के लिए शक्ति, शक्ति के लिए ईंधन या ऊर्जा और

ईंधन या ऊर्जा के लिए अग्नि आवश्यक होती है। इसी प्रकार मन के अधिकारी देवता चन्द्रमा हैं। मन ही इच्छा या संकल्प कर सकता है। अत: संकल्पशक्ति के देवता चन्द्रमा ही माने गए हैं। समुद्रों का ज्वार-भाटा चन्द्रमा से नियन्त्रित है। स्त्रियों में रज की मासिक प्रवृत्ति चन्द्रमा से सम्बन्धित है। मानव के भावावेश तथा मन को चन्द्रमा प्रभावित व प्रवृत्त करता है। पूर्णिमा की रात और आमवस की रात में मनुष्य की मनोदशा में विशेष अन्तर पाया जाता है। अपराध शास्त्र के आंकड़ों के अनुसार पूर्णिमा की रात में यौन सम्बन्ध अपराध विशेष रूप से अधिक घटित होते हैं। काव्य व साहित्य में चन्द्रमा, चांदनी, पूनम आदि का विशेष वर्णन चन्द्रमा से पड़ने वाले मानसिक प्रभाव को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करते हैं। यहां तक कि चन्द्रमा की घटने बढ़ने की कला का सम्बन्ध भी बहुत से विद्वान इच्छा शक्ति से जोड़ते हैं। शिव के मस्तक पर चन्द्रमा को सुशोभित दिखाने का एक प्रतीकात्मक कारण यह भी है। बहरहाल।

ॐ प्रणव मंत्र है जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकता यानि परमब्रह्म/परमेश्वर का द्योतक है। (ENGLISH में परमात्मा के लिए प्रयुक्त शब्द **GOD** भी वास्तव में इन्हीं तीन शक्तियों का परिचायक है। **GENERATOR, OPERATOR** और **DESTRUCTER** यानि उत्पन्न करने वाला, संचालित करने वाला और विनष्ट करने वाला, और यही ॐ आज्ञा चक्र का बीज मंत्र है, इससे आज्ञा चक्र का महत्त्व स्पष्ट होता है।

आज्ञाचक्र का यन्त्राकार लिंग के समान है, क्योंकि स्वयं इस चक्र को लिंगाकार माना गया है। यह सफेद रंग से प्रकाशित दो दलों/पंखुड़ियों के कमल के समान है। (विज्ञान के अनुसार पिट्युटरि ग्लैण्ड और पायनियल ग्लैण्ड को इन दलों का संकेतक माना जा सकता है।) इन दलों पर हं और क्षं अक्षर/वर्ण हैं जो इस चक्र की कमलदल ध्वनि को प्रकट करते हैं। इस चक्र का तत्त्वबीज ॐ है। अत: ॐकार इसकी बीज ध्वनि है। पंच महाभूतों से परे और सूक्ष्म 'मह' तत्त्व का यह मुख्य स्थान है। इसका लोक 'तप:' है। इसके तत्त्व बीज की गति नाद के समान है अत: इस चक्र का बीज वाहन नाद है, जिस पर लिंगदेवता विराजते हैं। इस चक्र के अधिपति देवता ज्ञान दाता शिव अपनी षड़ानन और चतुर्हस्ता शक्ति 'हाकिनी' के साथ है। अत: इस चक्र की शक्ति देवी 'हाकिनी' हैं।

विभिन्न चक्रों पर ध्यान करने से जो फल साधक को प्राप्त होते हैं, वे सभी दिव्य फल अकेले आज्ञा चक्र पर ही ध्यान करने से प्राप्त होते हैं। त्रिकालदर्शन, दिव्यदर्शन, दूरदर्शन तथा मन्त्र, शक्ति व ईश साक्षात्कार का स्थान भी यही है अत: इसे शिव का तीसरा नेत्र भी कहा गया है। इसी स्थान पर मन व प्राण के स्थिर हो जाने पर सम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता होती है। '**दिव्यचक्षु**' यही आज्ञा चक्र है। इसका तेज सूर्य तथा चन्द्र के सम्मिलित तेज से भी प्रबल कहा गया है। इसी चक्र

के दाएं व बाएं से क्रमशः **गान्धारी** व **हस्तिनी** नाड़ियां नेत्रों तक जाती हैं, जिनका कार्य नेत्रों को प्रकाश देना है। प्रकृति व पुरुष का, जड़ व चेतन का अथवा माया व ब्रह्म का यही संयोग स्थल है। इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना तीनों नाड़ियां यहां मिलती हैं **अतः इसे 'युक्तत्रिवेणी' भी कहा जाता है।** यहीं से नेत्रों का प्रकाश बाहर भीतर के अंगों को देख सकता है। अतः इस चक्र पर ध्यान करने से वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं। मन की चंचलता नष्ट होती है और भ्रान्ति दूर होकर आत्म तत्त्व में स्थिरता आती है।

आज्ञा चक्र में ही गुरु की आज्ञा से शुद्ध ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। **रामायण आदि धर्म ग्रन्थों में वर्णित 'तीर्थराज' (प्रयाग) जहां—गंगा, यमुना व सरस्वती का संगम होता है और जिसमें स्नान करके सारे पाप धुल जाते हैं, वह तीर्थराज वास्तव में यह आज्ञाचक्र ही है।** क्योंकि यहीं इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का संगम होता है। इसी में स्नान करने (तन्मय होने) से मुक्ति होती है। जैसा कि '**ज्ञान संकलिनि तंत्र**' में कहा भी गया है—

इड़ा भागीरिथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषम्णाख्या सरस्वती॥

—(ज्ञान संकलिनि तंत्र)

अर्थात् इड़ा गंगा और पिंगला यमुना नदी है। इन दोनों के मध्य से जाने वाली नाड़ी सुषम्ना को ही सरस्वती कहते हैं। (और आज्ञाचक्र पर ये तीनों नाड़ियां मिलती हैं)।

आज्ञा चक्र कमल की कर्णिका में ही मन का निवास कहा गया है। स्थूल बुद्धि वाले मनुष्य स्थूल हृदय को ही मन समझ लेते हैं। वास्तव में मन तो अतिसूक्ष्म है और एक अणुमात्र है। जैसा कि '**चरक संहिता**' में मन को परिभाषित करते हुए महर्षि चरक ने कहा भी है—'**अणुत्वं चैकत्वं मनः**' (जो अणु है और एक है, वही मन है)।

अकार, उकार व मकार की संयुक्तावस्था में ब्रह्मा, विष्णु व महेश की संयुक्तावस्था का प्रतीक आज्ञाचक्र का बीज मंत्र ॐ बिन्दु, शक्ति व नाद से युक्त है। इन्हीं से तीन शक्तियों—रौडी, ज्येष्ठा और वामा का उत्पन्न होना माना गया है। इस प्रकार नाद शिव और शक्ति के संयोगावस्था का भी प्रतीक सिद्ध होता है।

आज्ञा चक्र में ध्यान से—सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, परकाया प्रवेश, त्रिकालज्ञता तथा स्थिरप्रज्ञता की प्राप्ति समस्त सिद्धियों सहित होती है। साधक मन, कर्म व वचन से मन सहित समस्त इंद्रियां उसके वश में रहती हैं। सर्वज्ञ और तत्त्वदर्शी होने से उत्पादन, पालन व संहार में समर्थ हो जाता है। उसमें आनन्द, विकारहीनता तथा साक्षी भाव का उदय होता है तथा जन्मान्तरों के संस्कारों के समस्त मल व पाप कट कर शुद्धावस्था को प्राप्त होता है।

अतः इस रहस्यपूर्ण आज्ञाचक्र को भली भांति समझ लेना चाहिए। यह

कुण्डलिनी यात्रा का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व निर्णायक पड़ाव है। यद्यपि इसके आगे एक प्रमुख चक्र का भेद शेष रह जाता है, तथापि उस चक्र का भेदन करने में फिर विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जाती, वहां स्वत: प्रवेश हो जाता है। इसीलिए आज्ञा चक्र तक पहुंचा हुआ योगी पुन: अधोगति को प्राप्त नहीं होता। उसकी इच्छा के विरुद्ध कुण्डलिनी वहां से वापस नहीं लौट पाती। इसके अलावा मनश्चक्र और बुद्धिचक्र इसी आज्ञाचक्र के दोनों दलों के संधि स्थल पर रहते हैं। षड्दलात्मक मनश्चक्र को 'मनोनय कोष' भी कहा जाता है। इस संदर्भ में आगे मन सम्बन्धी प्रकरण में विस्तार से पढ़ेंगे। इसी आज्ञा चक्र में प्राण व मन को स्थिर करने से प्राप्त होने वाले दिव्यफल के विषय में कबीरदास जी ने 'कबीर वाणी' में अपने रहस्योत्पादक विशिष्ट अंदाज में कहा है कि—

देह रूपी मकान के द्वार पर झरोखे बन्द करके मैंने प्राण रूपी चोर को पकड़ उसके भागने के समस्त मार्ग बन्द कर दिए। फिर हृदय की कुटिया में उसे बांधकर ॐ के कोड़े से उसे खूब पीटा—जिससे सहज नाद गूंज उठा।

यह आज्ञा चक्र भेदना अत्यंत कठिन है इसलिए **कबीर** ने इसे 'दसवें द्वारे ताला लागी' कहा है। यहीं आकर गुरु का महत्त्व पूर्णत: सिद्ध होता है, क्योंकि बिना गुरु की कृपा/आज्ञा से इस चक्र का ताला नहीं खुलता (इसमें प्रवेश नहीं होता)। तभी तो कबीरदास को कहना पड़ा—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोबिंद दियो मिलाय॥

यह आज्ञाचक्र प्रभु का साक्षात्कार स्थल है। गुरु की कृपा व अनुमति से इस चक्र में प्रवेश होता है, तभी ईश्वर साक्षात्कार होता है। इसलिए गुरु द्वारा गोबिन्द मिलने की बात कही है। इस संदर्भ में यदि आज्ञा चक्र को बैकुण्ठ का द्वार मान लें तो उचित ही होगा। ऐसा मानते ही पुराणों में वर्णित कथाओं का मर्म स्पष्ट हो जाएगा। बैकुण्ठ के द्वार पर वज्रकपाट लगे हैं। दो द्वारपाल वहां सतत पहरा देते हैं। बैकुण्ठ की सात ड्योढ़ियां हैं। ब्रह्मा जी के सनकादि मानस पुत्र भागवत पुराण के अनुसार जब विष्णु दर्शन की इच्छा से बैकुण्ठ गए तो छ: ड्योढ़ी चढ़ जाने के बाद सातवीं पर चढ़ने से जय-विजय दोनों द्वारपालों ने उन्हें रोक लिया। **यहां सातों ड्योढ़ियों, सात चक्रों की तथा बैकुण्ठद्वार आज्ञाचक्र का प्रतीक है और बैकुण्ठ के दोनों द्वारपाल इस चक्र के दो दलों के वर्ण 'हं' वर्ण के प्रतीक हैं।** अभिप्राय यही है कि इस चक्र का भेदन ब्रह्माजी के मानस पुत्रों, योग विद्या में प्रवीण सनकादि ऋषियों के लिए भी कठिन है। फिर साधारण योगियों की तो बात ही क्या।

इस प्रकार विभिन्न धर्मग्रन्थों में अन्यत्र भी इस प्रकार के कूट संकेत कथाओं के माध्यम से बिखेरे गए हैं। जैसे **वाल्मीकिय रामायण में नौ द्वारों व सात प्रकोष्ठों वाली अयोध्या नगरी का वर्णन जहां राजा दशरथ अपनी तीन रानियों**

के साथ रहते हैं—वास्तव में शरीर (नौ छिद्र और सात चक्र) **में रहने वाले दसों इंद्रियों के राजा मन** (दशरथ से सिद्ध होता है—दस घोड़ों का रथी या दसों दिशाओं में जाने वाला रथ—दोनों ही प्रकार से इसका आशय 'मन' ही सिद्ध होता है) **का यह कूट संकेत है जिसकी तीन रानियां सात्त्विक, राजसिक व तामसिक बुद्धि ही हैं। मन और बुद्धि के संयोग से उत्पन्न होने वाली चेतना ही राम हैं।** चेतना के अभाव में बुद्धि तो जड़ होकर रह सकती है। शरीर भी निष्क्रिय (कोमा में) होकर रह सकता है किन्तु मन नहीं। **अतः राम के बनवास पर केवल दशरथ के ही प्राण छूटते हैं,** अन्य किसी के नहीं। इसी प्रकार के बीसियों उदाहरण हैं जो रामायण या पुराणों में कथाओं के माध्यम से गुप्त संकेतों में पूरा योग-रहस्य समझाते हैं। सभी को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर पुस्तक के पृष्ठों का अतिक्रमण मूल विषय के साथ अन्याय होगा। पाठकों को प्रेरित करने के लिए इतना दिशा-निर्देशन भी बहुत है कि वे धर्मग्रन्थों को मात्र कथाओं के रूप में न लें—उसमें छिपे मर्म को खोजें।

योग या अध्यात्म जैसा गूढ़, रहस्यपूर्ण व शुष्क विषय जन सामान्य या औसत बुद्धि के लोगों का भी कल्याण कर सके अतः उसे कथानक के रूप में जहां तहां पर प्रस्तुत किया गया है और यह निर्देश भी दिए गए हैं कि रामायण बराबर पढ़ें। पुराण बार-बार पढ़ें। बार-बार पढ़ने से ग्रन्थ समझ में आएगा। बार-बार का अभिप्राय यही है कि धीरे-धीरे अभ्यास व बुद्धि की रगड़ संस्कार भी दृढ़ करेगी और प्रकाश भी उत्पन्न करेगी। जब प्रकाश उत्पन्न होगा तो पाठक कथाओं में छिपे मर्म को शनैः शनैः पहचानने लगेगा। अस्तु।

❑❑❑

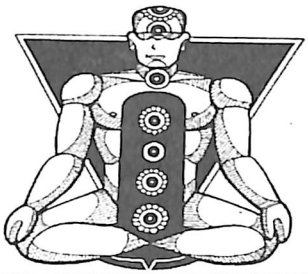

9
सहस्रार चक्र

तालु के ऊपर मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर इसका स्थान माना गया है। यह समस्त शक्तियों का केन्द्र है। रंग-बिरंगे प्रकाश से युक्त एक हज़ार दल/पंखुड़ियों वाले कमल के समान यह चक्र है। इसके दलों पर 'अं' से 'क्षं' तक सभी स्वर व

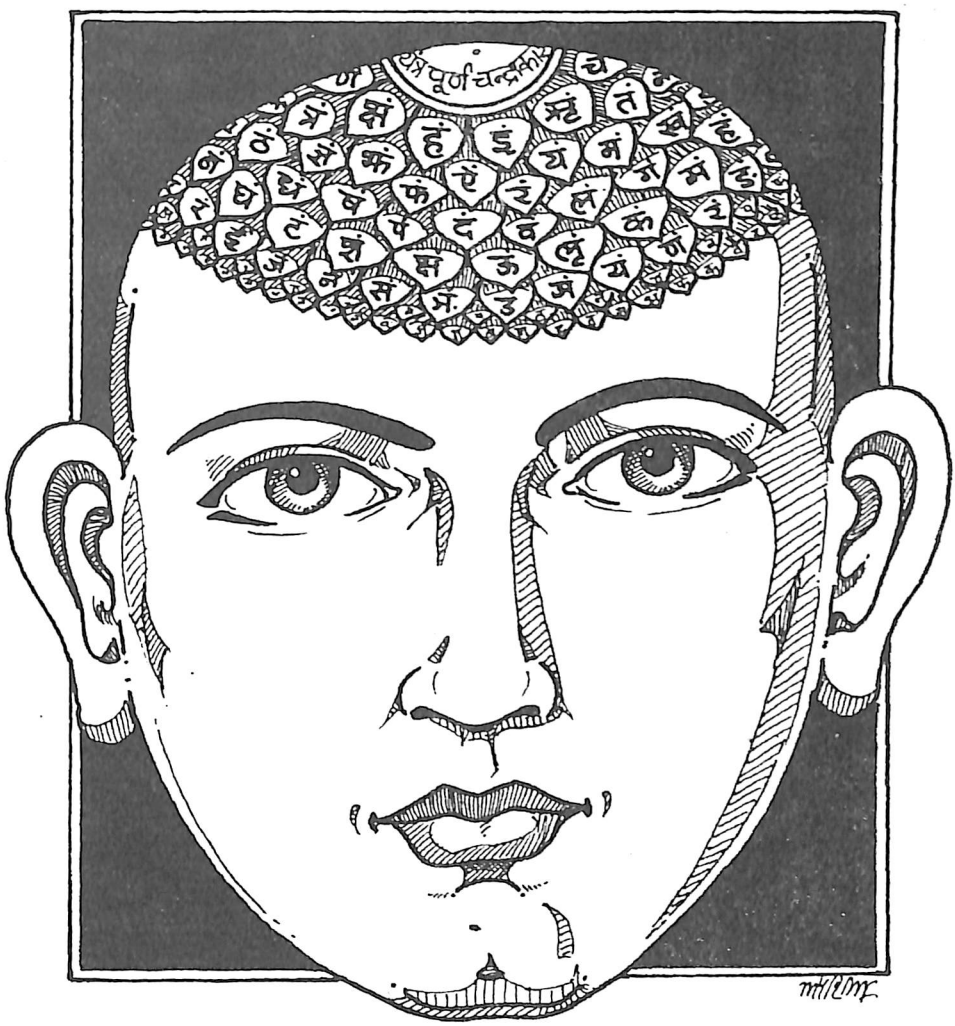

सहस्रार चक्र

वर्ण विद्यमान हैं, यही इस चक्र की दल-ध्वनियां हैं। यह तत्त्वातीत है (अत: यहां किसी तत्त्व विशेष का मुख्य स्थान नहीं है)। इस चक्र का तत्त्व बीज 'विसर्ग' है।

'बिन्दु' इसके तत्त्वबीज की गति है अत: 'बिन्दु' ही हसके बीज का वाहन भी है। इस चक्र का लोक 'सत्यम्' है। इस चक्र के अधिपति देवता स्वयं परब्रह्म हैं जो अपनी महाशक्ति के साथ हैं। इस चक्र का यन्त्राकार पूर्ण चन्द्राकार तथा शुभ्रवर्ण का है। 'अमर' या 'मुक्त' होना ही इस चक्र का फल है। यह परमज्ञान की उत्पत्ति का स्थान है।

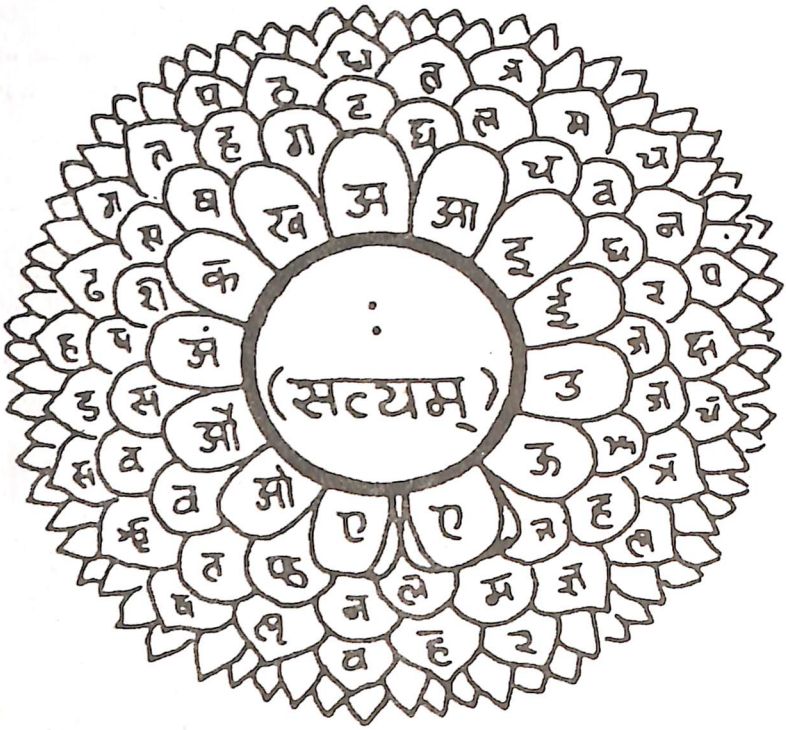

यहीं समस्त शरीर का संचालन केन्द्र मस्तिष्क है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से 'स्मृति क्षेत्र' यहीं है। मृत्युपरांत की जाने की '**कपाल क्रिया**' में यही स्थान तोड़ा जाता है, ताकि स्मृतियों का सर्वथा लोप हो सके और अगले जन्म में पूर्व जन्म की स्मृति न बनी रहे। ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है।

योग विद्या में 'षटचक्र भेदन' की परम्परा है। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन के प्रतिनिधि छह: चक्रों को भेद कर कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रार तक लाया जाता है, किन्तु उसे भेदे बिना पुन: वापस मूलाधार में ले जाया जाता है। इसका कारण यह कि योगी जन प्राण छोड़ते समय ब्रह्मरंध्र व सहस्रार चक्र का भेदन कर मुक्त होते हैं। अत: सातवें चक्र का भेदन अन्त समय में होता है। छह चक्रों को भेदने और पुन: वापस लौटने में कुण्डलिनी के मार्ग में कुल 100 कमल दल पड़ते हैं। (मूलाधार के चार, स्वाधिष्ठान के छ:, मणिपूर के दस, अनाहत के बारह, विशुद्ध के सोलह तथा आज्ञा चक्र के दो—अर्थात्—4+6+10+12+16+2=50 वापसी में यही 50 दल फिर से, अर्थात् 50+50=100) इनका दस गुना करने पर

हजार होता है। यही सहस्त्रार के दलों का रहस्य है।

समस्त शक्तियों का केन्द्र होने के नाते भी सहस्त्रार चक्र के कमल को हजार दलों से युक्त होना तर्कसंगत है। इसी सहस्त्रार चक्र में सदैव अमृत स्त्राव होता है, जिसका पान योग द्वारा यहां तक लाई गई कुण्डलिनी करती है। जिस समय सतत होते रहने वाला यह अमृत स्त्राव बन्द हो जाता है, उस समय शरीर नष्ट हो जाता है, मृत्यु हो जाती है। यही सहस्त्रार चक्र पराप्रकृति व परापुरुष या परब्रह्म का स्थान है। यहीं कुण्डलिनी का पराशिव से भेदात्मक मिलन होता है। अत: योग मार्ग का चरम लक्ष्य होने से यह चक्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

सहस्त्रार में शिव एवं शक्ति का मिलन

आज्ञाचक्र से ऊपर महानाद है, जिसके ऊपर शंखिनी नामक नाड़ी के अग्रभाग के शून्य स्थान में ब्रह्मरंध्र है। इस ब्रह्मरंध्र में सहस्त्रार चक्र का कमल अधोमुख

अवस्था में स्थित है। इसलिए बहुत से विद्वान सहस्रार को ही ब्रह्मरंध्र भी कहते हैं। यहीं प्राण व मन के स्थिर हो जाने पर समस्त वृत्तियों को निरोध रूपा असम्प्रज्ञात समाधि सम्भव हो पाती है। इसी सहस्रार के मध्य स्थित चन्द्रमण्डल में 'हंस' अथवा अंतरात्मा का वास है। यही आत्मसाक्षात्कार का स्थान है।

सहस्रार चक्र में ध्यान करने से पुनर्जन्म नहीं होता, आत्मसाक्षात्कार होता है, परमानन्द, मोक्ष अथवा अमरत्व की प्राप्ति होती है। साधक ऋद्धि, सिद्धि, प्रभाव व चमत्कार के अवस्था से कहीं ऊपर उठ जाता है।

बहुत से योग ग्रन्थों तथा अन्य तन्त्रों व उपनिषदों आदि में 8 चक्रों अथवा 9 चक्रों का भी वर्णन हुआ है। बहुत से स्थानों पर शरीरस्थ चक्रों की संख्या नौ से भी अधिक मानी गई है। परन्तु वे इन सात चक्रों के ही उपभेद अथवा इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। यही सात चक्र प्रमुख चक्र हैं, जो विशेष महत्त्व व प्रभाव वाले हैं। इस तथ्य से सभी सहमत हैं। इन्हीं सात चक्रों में से पहले छः को कुण्डलिनी द्वारा भेदा जाता है। अतः योग प्रणाली में 'षट्चक्र भेदन' के ही निर्देश मिलते हैं। इससे अधिक के नहीं।

इस प्रकार शरीरस्थ सात चक्रों का विवरण पूर्ण हुआ। अब हम कुण्डलिनी के विषय में चर्चा करेंगे तथा नाड़ियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

किन्तु उससे पूर्व कुछ तथ्यों को स्पष्ट समझ लेने के लिए नीचे दी हुई तालिकाएं देख लें। इससे अब तक हुई बातों को और आगे होने वाली बातों को भी सहजतापूर्वक समझा जा सकेगा, साथ ही इन्हें स्मरण रखने में भी सुभीता होगा।

पंचमहाभूत

	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
तन्मात्राएं (गुण)	गन्ध	रस	तेज/रूप	स्पर्श	शब्द
ज्ञानेन्द्रियां	नासिका	रसना	नेत्र	त्वचा	काज
कर्मेन्द्रियां	गुदा	उपस्थ	पैर	हाथ	वाणी/वाक्शक्ति

पंचमहाभूत

पंच महाभूत या पंचतत्त्व जिनके सम्मिलन से समस्त सृष्टि एवं शरीर निर्मित होता है। शरीर में इन पंच महाभूतों की आवश्यकता स्थूल/भौतिक शरीर में पड़ती है। सूक्ष्म/अभौतिक शरीर में मन, बुद्धि व अहंकार और भी जुड़ जाते हैं। इनका सबके साथ प्राण व आत्मा का संयोग ही जीवन माना गया है। संस्कार या स्वभाव के अनुसार इनके साथ सत्, रज व तम तीन गुणों का संयोग भी हो जाता है। इन पंच महाभूतों में सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति होती है, फिर क्रमशः वायु, अग्नि, जल

व पृथ्वी की। इसी अनुपात में ये सूक्ष्म से स्थूल तथा हल्के से भारी होते चले जाते हैं। आकाश की भी उत्पत्ति अहं से और अहं की 'मह्' तत्त्व से बताई गई है।

वायु (मरुत)

49 प्रकार की मानी गई है, जिनमें दस मुख्य हैं। दस में भी पांच प्रमुख हैं। उनमें भी एक का जीवन की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। इन सबके अपने-अपने कर्म व स्वभाव हैं और अपनी अपनी गतियां हैं। संक्षेप में इन्हें भी जान लें।

कुछ प्रमुख वायु

	प्राणवायु	अपानवायु	समानवायु	व्यानवायु	उदानवायु
कार्य	श्वांस को अंदर व बाहर ले जाना खाए अन्न जल को पचाना व अलग करना अन्न को शौच में पानी को पसीने व मूत्र में, रसादि को वीर्य में बदलना	गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र व अंडकोष से वीर्य निकालना, गर्भ को नीचे ले जाना (प्रसव) घुटने, जांघ आदि के काम इसी के अधीन हैं।	पचे हुए रस आदि को देह के सब अंगों व नाड़ियों में समान रूप से वितरित करना	सारी स्थूल व सूक्ष्म नाड़ियों में रुधिर का संचार करना	शरीर को उठाए रखना व्यष्टि प्राण व समष्टि प्राण में संबंध बनाए रखना मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से निकालना सूक्ष्म शरीर के गुण, कर्म, वासना संस्कार आदि को गर्भ में प्रविष्ट कराना।
स्थान क्षेत्र	हृदय से लेकर नाक तक। शरीर के ऊपरी भाग में वर्तमान रहता है।	नाभि से लेकर तलवे तक नीचे की ओर गति करता है।	नाभि से हृदय तक शरीर के मध्य भाग में स्थित।	उपस्थ से ऊपर (पेडू) तक। वैसे सारे शरीर में व्याप्त	
चक्रों से संबंध या मुख्य निवास	प्राणवायु	मूलाधार	मणिपूरक	स्वाधिष्ठान	योगियों द्वारा शरीर स्थानांतरण या आकाश में भ्रमण इसी के कारण होता है। कंठ से सिर तक शरीर के ऊपरी भाग में स्थित। विशुद्ध चक्र

इनके अतिरिक्त पांच अन्य वायु प्रमुख मानी गई हैं जो इन्हीं की सहयोगिनी होने से अतिप्रमुख उपर्युक्त पांच की गिनती में नहीं आतीं। वे इस प्रकार हैं—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय।

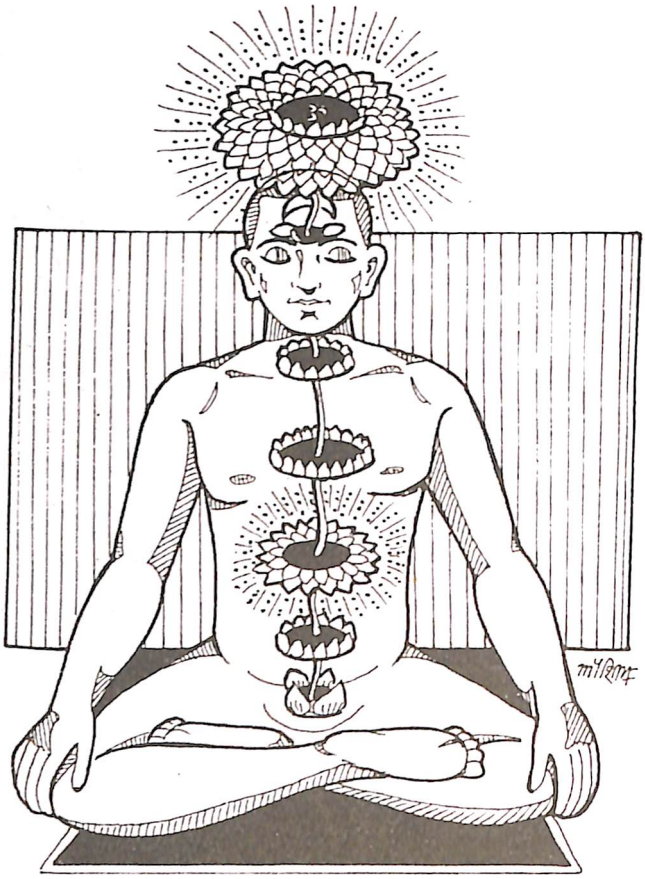

सहस्त्रार में अमृतपान की क्रिया

नागवायु—डकार, छींक आदि के लिए उत्तरदायी।

कूर्मवाय—संकोचनीय वायु/अधोवायु/पाद आदि के कारक

कृकरवायु—क्षुधा, तृष्णा आदि के लिए उत्तरदायी।

देवदत्तवायु—निद्रा, तन्द्रा, जम्हाई आदि की कारक।

धनंजयवायु—पोषणादि कार्य सम्पन्न करती है।

ये पांचों वायु—प्राणवायु, अपानवायु, समानवायु, उदानवायु व व्यानवायु के अन्तर्गत आती हैं अतः अत्यंत प्रमुख नहीं हैं।

जैसा कि नीचे लिखे श्लोक से स्पष्ट है—

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः॥

(हृदय में प्राणवायु, गुह्य प्रदेश में अपानवायु, नाभिमंडल में समान वायु, कण्ठ में उदानवायु और सारे शरीर में व्यान वायु व्याप्त है। यह पांच प्रधान वायु हैं।)

❑❑❑

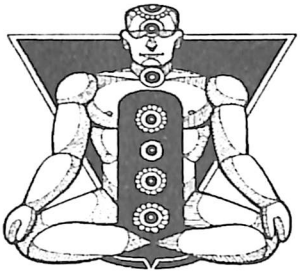

10 नाड़ियां एवं कुण्डलिनी

प्राणवाहक प्रमुख नाड़ियां

मनुष्य के शरीर में 72000 नाड़ियों का होना माना गया है। बहुत से ग्रन्थों में असंख्य नाड़ियों का भी जिक्र आता है। (जब संख्या बहुत अधिक हो, तो उसकी महत्ता को दर्शाने के लिए भी असंख्य कह दिया जाता है। अत: यह कोई ऐसा विरोधाभास नहीं है)। **इन नाड़ियों में 15 प्राणवाहक नाड़ियों को प्रमुख माना गया है।** इन पन्द्रह नाड़ियों को **क्रमश: सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, शूरा, कुहू, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, चित्रा और शंखिनी** नाम से जाना जाता है।

इन पन्द्रह में से भी पहली तीन—सुषम्ना इड़ा व पिंगला का विशेष महत्त्व है। योग विद्या तथा कुण्डलिनी जागरण के सम्बन्ध में भी यही तीन नाड़ियां विशेष महत्त्व की हैं। इन्हीं तीन नाड़ियों के लिए 'त्रिवेणी' शब्द का प्रयोग ग्रन्थों में हुआ है। मूलाधार से अलग होकर चलती ये तीनों नाड़ियां आज्ञा चक्र में मिलती हैं। **अत: मूलाधार को 'मुक्त त्रिवेणी' और आज्ञाचक्र को 'युक्तत्रिवेणी' कहा गया है।** जैसा कि चक्र प्रकरण में बता आए हैं, 'संगम', 'तीर्थराज', 'त्रिवेणी' आदि शब्दों का मर्म वास्तव में क्या है। **इसी 'युक्तत्रिवेणी' (आज्ञाचक्र) को 'त्रिकूट' भी कहते हैं। कुछ विद्वान इसी को 'चित्रकूट' भी कहते हैं जहां राम सीता सहित वास करते हैं।** यानि ब्रह्म और माया या प्रकृति व पुरुष साथ-साथ रहते हैं। बहरहाल...उपर्युक्त तथ्यों को इन तीनों नाड़ियों का महत्त्व सिद्ध करने के लिए पुन: दोहराया गया है।

इन तीन प्रमुख नाड़ियों में भी सुषुम्ना अति अधिक महत्त्व वाली है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर इसी नाड़ी में गति करती है। यह नाड़ी अति सूक्ष्म नली के समान गुदा के निकट से मेरुदण्ड से होती हुई ऊपर सहस्रार तक चली गई है। इसके प्रारम्भ स्थान से ही इसकी बाएं ओर से इड़ा तथा दाईं ओर से पिंगला नाड़ी भी ऊपर गई है किन्तु ये दोनों नाड़ियां नथुनों पर आकर समाप्त हो जाती हैं। (**स्वर विज्ञान** की दृष्टि से ये दोनों नाड़ियां महत्त्वपूर्ण हैं। प्राणायाम प्रकरण में 'स्वर विज्ञान' की चर्चा करेंगे)। किन्तु सुषम्ना ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ये तीनों नाड़ियां आज्ञाचक्र पर मिलती हैं, अत: **आज्ञाचक्र को 'तीसरा नेत्र' भी कहा गया है।**

सुषुम्ना नाड़ी स्वयं में एक अति सूक्ष्म नली के समान है। इस नली (सुषुम्ना) के भीतर एक और अत्यंत सूक्ष्म नली के समान नाड़ी है जो '**वज्र नाड़ी**' कही गई है। 'वज्र' नाड़ी में भी एक और नाड़ी जो 'वज्रनाड़ी' से भी सूक्ष्मतर है, गुजरती है जो '**चित्रणी**' नाड़ी के नाम से जानी जाती है। 'चित्रणी' नाड़ी के भीतर से भी मकड़ी के जाले से भी सूक्ष्म '**ब्रह्मनाड़ी**' गुजरती है। **यही कुण्डलिनी शक्ति का वास्तविक मार्ग है।** इन अति सूक्ष्म नाड़ियों का ज्ञान योगियों को ही सम्भव है। आधुनिक विज्ञान इस विषय में पंगु व दीन है। ये नाड़ियां सत्त्व प्रधान, प्रकाशमय व अद्‌भुत शक्तियों वाली हैं तथा सूक्ष्म शरीर व सूक्ष्म प्राण का स्थान है।

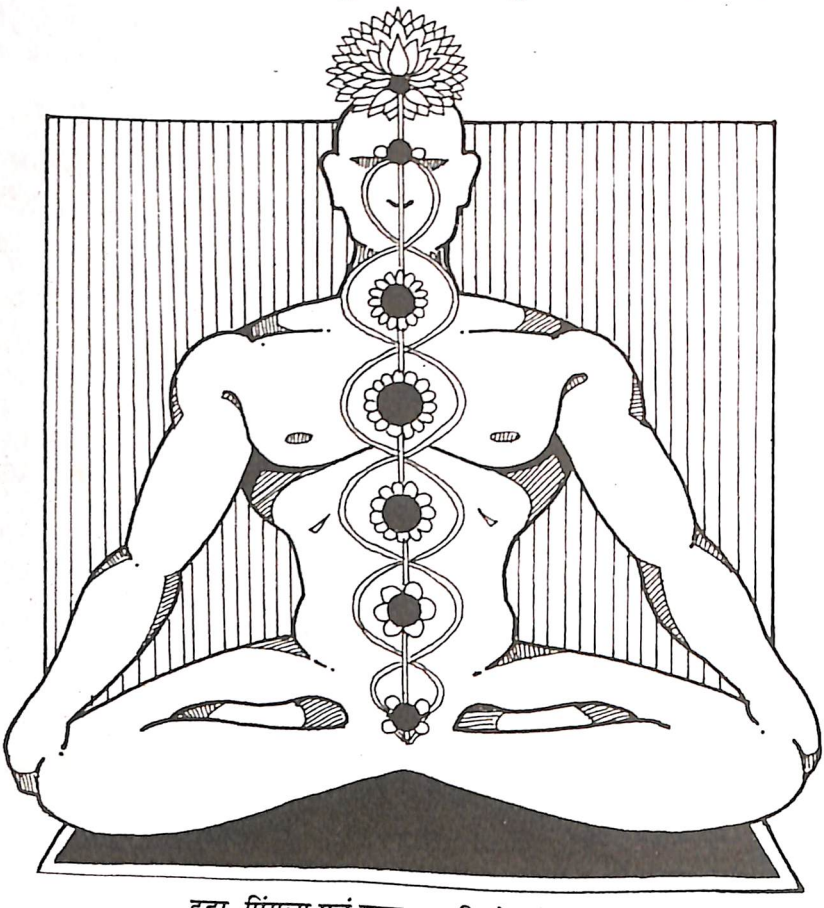

इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों की स्थिति

ये सभी नाड़ियां मेरुदण्ड से सम्बन्धित हैं। जिन विशेष स्थानों पर अन्य नाड़ियां इनसे मिलती हैं वे 'जंक्शन' ही चक्र कहे जाते हैं जो कि शरीरस्थ 'पॉवर स्टेशन' हैं, जैसा कि पहले बता आए हैं।

क्योंकि सबका सम्बन्ध मेरुदण्ड से है और सुषुम्ना नाड़ी मेरुदंड के भीतर से गुजरती है। सुषुम्ना के भीतर से वज्र, वज्र के भीतर से चित्रणी और चित्रणी के भीतर से ब्रह्मनाड़ी गुज़रती है। यह ब्रह्मनाड़ी कुण्डलिनी शक्ति के प्रवाह का मार्ग है इस

तथ्य से पाठक सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि कुण्डलिनी के जागरण व संचालन में मेरुदण्ड का सीधा रखना कितना अधिक आवश्यक है। सीधे मेरुदण्ड में ही इन समस्त नाड़ियों के सीधे व तने रहने से कुण्डलिनी शक्ति का प्रवाह सरलता, सुगमता व सहजता से निरावरोध हो सकता है। मेरुदण्ड का झुके रहना प्रवाह मार्ग की सरलता में अवरोधक सिद्ध होता है।

पाठक जानते हैं कि दो बिन्दुओं को मिलाने वाली सबसे कम दूरी सरल रेखा होती है। अतः मेरुदण्ड सीधा रखकर विधिवत् आसन पर बैठने से कुण्डलिनी अपेक्षाकृत सरलता से ही नहीं, बल्कि तीव्रता और शीघ्रता से अपनी यात्रा कर पाती है। इसके अलावा मूलबन्ध आदिबन्धों का लगा होना भी इस काल में आवश्यक होता है (इस विषय में हम कुण्डलिनी जागरण काल में रखी जाने वाली सावधानियों के अर्न्तगत आगे चर्चा करेंगे) अन्यथा बहुत-सी हानियां सम्भावित होती हैं। अतः जैसा कि कुछ अल्पज्ञों का मत है कि जैसे मर्जी, जब मर्जी, जहां मर्जी बैठकर, लेटकर, खड़े होकर, अधलेटे होकर ध्यान करें और कुण्डलिनी को जागृत करें— यह 'सहज योग' है, यह सरासर भ्रामक, मिथ्या व अज्ञानपूर्ण है। अनुशासन, विधान तथा नियमों का बंधन न रहने से यह भले ही औसत बुद्धि वाले लोगों को सरल, सहज व सुखद मालूम पड़े किन्तु कल्याणकारक व सफलदायक नहीं हो सकता, यह निश्चित है। प्रबुद्ध पाठक समझ सकते हैं कि मालूम पड़ने और वास्तव में होने में बहुत अंतर होता है।

जिस समय श्मशान में लकड़ियां या धर्मकांटे पर ट्रकों में लदा माल तोला जाता है, तब एक-दो किलो इधर-उधर हो जाना कोई मायने नहीं रखता। किन्तु जब पंसारी की दुकान पर चीनी, दाल, चावल आदि तोला जाता है तब एक-दो किलो का अंतर बहुत मायने रखता है। अलबत्ता 5-10 ग्राम का अंतर तब कोई मायने नहीं रखता। लेकिन जब सुनार के पास सोना या जवाहरात तुलवाया जाता है, तब 5-10 ग्राम का अन्तर बहुत मायने रखता है। उस समय तो माशे, तोले, रत्ती का भी अन्तर मायने रखता है। इसलिए उनकी तराजू बिल्कुल 'एक्यूरेट' व शीशे के बॉक्स में रहती है, ताकि हवा से भी ज़रा-सी न हिल जाए।

दाल सब्जी बनाते समय, बर्तन में डाला गया पानी दो चार चम्मच कम ज्यादा हो जाए तो अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु दवाई बनाते समय पानी उचित अनुपात से कम ज्यादा हो तो दिक्कत हो सकती है। इसके विपरीत प्रयोगशाला में परीक्षण के समय किसी रसायन या विलयन में कोई खतरनाक, घातक या अतिसंवेदनशील अम्ल मिलाते समय नियत अनुपात से बूंद भर भी इधर-उधर हो जाना किसी अप्रिय घटना को जन्म दे सकता है। इसी प्रकार अन्य बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह तथ्य साफ-साफ समझा जा सके कि जितनी माईन्यूट (सूक्ष्म) कैलकुलेशन (गणना) में हम जाएंगे, उतनी ही हमें एक्यूरेसी (प्रतिपन्नता)की आवश्यकता

होती है। जैसे मर्जी, जब मर्जी, जहां मर्जी, जितना मर्जी का सिद्धांत वहां लागू नहीं हो सकता क्योंकि वह न सिर्फ हमें सही परिणाम पर नहीं पहुंचने देगा बल्कि हमारे व औरों के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है।

रस्सी को लापरवाही से छुआ जा सकता है, बिजली के तार को नहीं और नंगे बिजली के तार को (जिस पर रबर का सुरक्षा खोल न चढ़ा हुआ हो) छूने के लिए तो और भी सावधानी दरकार होती है। अत: सूक्ष्म किन्तु शक्तिशाली व चमत्कारी प्रभाव वाली उपलब्धियों को पाने के लिए वैसी ही सधी हुई, सही दिशा में, नियमपूर्वक, निरंतर मेहनत की ज़रूरत होती है।

बिना निरंतर अभ्यास के, बिना सावधानी रखे, बिना नियमों का बंधन स्वीकार किए हम सुरक्षित रूप से साईकिल तक चलाना नहीं सीख सकते, कुण्डलिनी शक्ति चालन की बात तो बहुत दूर की बात है। जब ऊपर चढ़ना होता है, जब पतली रस्सी पर चलना होता है, तब आंखें खोलकर, पूरी सावधानी बरत कर और एक-एक कदम फूंक-फूंक कर रखना होता है। अभ्यास द्वारा दक्षता प्राप्त हो जाने के बाद फिर भले ही आंखें बंद भी रखें तो अन्तर नहीं पड़ता। हां, अगर नीचे गिरना चाहें और छत की मुंडेर ऊंची न हो, फिर भले ही आंखें बंद कर, जब मर्जी, जहां मर्जी, जैसे मर्जी व जितना मर्जी चलें बड़ी सहजता से नीचे आ गिरेंगे। अत: योग के नाम पर 'सहजता' का दुमछल्ला लगाने वाले ठगों से तो पाठकों को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए।

यद्यपि हम इस चर्चा में मूल विषय से भटक रहे हैं, तथापि पाठकों के मार्गदर्शन के लिए यह ज़रूरी समझ रहा हूं ताकि पाठक भ्रमित न हों, ठगें न जाएं और अन्त में असफलता हाथ आने पर योग विद्या को ही अनास्था की दृष्टि से न देखने लगें। गुरु बनने की योग्यता वाला योगी कभी दुकान खोलकर नहीं बैठता। जो दुकान खोलकर बैठा है वह तो व्यापारी है। वह भला ज्ञान को, योग को क्या जाने? जो सामूहिक रूप से आए हुए दर्शनार्थियों पर एक साथ कुण्डलिनी जागरण कराने का सब्जबाग दिखाते हैं, जो सामूहिक 'शक्तिपात' की बात करते हैं, उनके बारे में संदेह होता है कि वे कुण्डलिनी जागरण या शक्तिपात का अर्थ भी समझते हैं या नहीं। कुण्डलिनी जागरण न हुआ, गोया मूंगफली बांटना हो गया। उससे भी अधिक अफसोस उन दर्शनार्थियों की बुद्धि व आस्था पर होता है, जो ऐसे धर्मगुरुओं के चक्कर में फंसकर वहां पहुंच जाते हैं, और उन लम्पटों के पैरों में नाक रगड़ना अपना सौभाग्य मानते हैं। इसका एकमात्र कारण अज्ञान है। अत: सावधान।

मंजिल पे पहुंचना है तो मंजिल शनास बन।
वरना ये रहनुमा तुझे दरदर फिराएंगे॥

❑❑

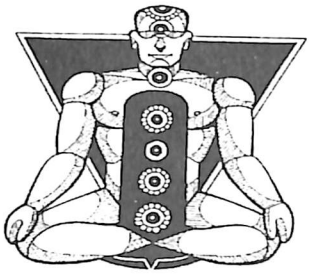

11

क्या है कुण्डलिनी?

अब तक जो बराबर चर्चा में रही वह कुण्डलिनी शक्ति वास्तव में है क्या? यह प्रश्न पाठकों को स्वाभाविक रूप से अब तक परेशान कर रहा होगा। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य की देह में सोया हुआ वह चमत्कारिक करंट, ऊर्जा अथवा शक्ति है जिसके अभाव में शरीर के सभी चक्र (पॉवर स्टेशन) निष्क्रिय रहते हैं। वे चक्र जो सक्रिय हो जाने पर अनेक चमत्कारिक प्रभाव व सिद्धियां देने वाले हैं। इस कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के विभिन्न उपायों में 'योग' भी एक उपाय है।

सशैलवनधात्रीणं यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथा धारोहि कुंडली॥

अर्थात्—जिस प्रकार पर्वत, वन, सागर आदि को धारण करने वाली पृथ्वी का आधार अनन्त नाग हैं, उसी प्रकार शरीर की समस्त गति, क्रिया शक्ति व समस्त योगतन्त्रों का आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

ऋग्वेद में कही गई एक ऋचा वास्तव में कुण्डलिनी की ही महिमा दर्शाती है, जिसका अर्थ है—**'मैं जिसे जो चाहती हूं, बना देती हूं। सम्राट, योगी, ऋषि (मंत्रदृष्टा/मंत्र का साक्षात्कार करने वाला)** और मेधावी बनाती हूं।'

कुण्डलिनी शक्ति को 'कॉसमिक एनर्जी,' 'सर्पेंट-पॉवर' अथवा विश्व व्यापिनी विद्युत शक्ति भी कहते हैं। यह एक अग्निमय गुप्त शक्ति है अतः इसे 'सर्पेंट फायर' भी कहा गया है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार **प्रकाश की सबसे तीव्र गति—1,85,000 मील प्रति सेकंड है। किन्तु मर्मज्ञों के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति प्रकाश से भी तीव्र गति—3,45,000 मील प्रति सेकंड से चलती है।**

कुण्डलिनी शक्ति का नाम 'कुण्डलिनी' होने का कारण इसका साढ़े तीन लपेटे खाया हुआ कुटिल आकार है। सर्प के कुण्डली मारे रहने के समान ही यह शक्ति भी कुण्डली मारे मूलाधार में पड़ी रहती है।

पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुद-मेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ते कुण्डलिनी सदा॥

संवेष्टा सकला नाड़ीः सार्ध-त्रि-कुटिलाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छः सुषुम्णा-विवरे स्थिता॥

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि गुह्य प्रदेश में गुदा से दो अंगुल पहले व लिंगमूल से दो अंगुल पहले, बीच में (चार अंगुल विस्तार वाले मूलाधार में) मूलाधार के कंद में दक्षिणावृत्त से साढ़े तीन फेरे लगाए हुए, नीचे को मुख किए सर्पिणी के सदृश अपनी ही पूंछ को अपने मुख में दिए हुए सुषुम्ना के विवर में कुण्डलिनी शक्ति का वास है। यह सभी नाड़ियों को स्वयं में लपेटे हुए है।

सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जितनी भी शक्तियां विद्यमान हैं, उन सबको ईश्वर ने मनुष्य शरीर रूपी पिंड में एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। यही शक्ति कुण्डलिनी है। गुदा व लिंग के बीच में स्थित योनिमंडल/कंद में यह शक्ति वास करती है। सुषुम्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण साधारणावस्था में बन्द रहता है अतः यह शक्ति प्रवाह में नहीं रहती, सुप्त या अविकसित अवस्था में रहती है। इस सुषुम्ना नाड़ी के दाएं-बाएं जाने वाली पिंगला व इड़ा नाड़ियों में प्राणशक्ति निरंतर प्रवाह में रहती है। योग आदि उपायों द्वारा सुषुम्ना का मुख त्रिकोण खोलकर कुण्डलिनी का प्रवाह ऊपर की ओर किया जाता है। यह अतिसूक्ष्म व दिव्य शक्ति वाली विद्युत ही कुण्डलिनी है, जो समस्त शक्तियों व चमत्कारों की आधारभूता है। ध्वनि तथा वर्ण कुण्डलिनी शक्ति के ही सार रूप हैं अतः कुण्डलिनी विकास के ही मन्त्र हैं।

ध्वनि की कारणभूता कुण्डलिनी से होने वाली अव्यक्त ध्वनि का सूक्ष्म रूप ही वाणी का '**पश्यन्ति**' रूप है। यही बाद में प्रकटावस्था में '**बैखरी**' रूप को प्राप्त होती है। 'मध्यमा' वाणि के बीच की स्थिति और '**परा**' पश्यन्ति से पूर्व की स्थिति है। इसी से **मंत्र (जो मनन करने से त्राण करते हैं)** उत्पन्न होते हैं। इसीलिए शब्द या अक्षर को भी ब्रह्म कहा गया है। जैसा कि 'वृहद् गन्धर्व तन्त्र' में कहा भी गया है—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजानां देवरूपताम।
मन्त्रोच्चारण मात्रेण देवरूपं प्रजायते॥

अर्थात्—'सुनो देवि! मैं बीजों की देवरूपता का प्रतिपादन करता हूं। मन्त्रों के उच्चारण मात्र से (साधक को) देवता का (तत्संबधी) सारूप्य प्राप्त हो जाता है।' (क्योंकि प्रत्येक अक्षर में देवता के विशिष्ट रूप की स्थिति होती है)।

इस तथ्य को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें कुछ समय के लिए मूल विषय से हटना होगा।

'आकार' (अ) पूरी वर्णमाला का आरम्भ है। न सिर्फ आरम्भ बल्कि अन्त भी है और 'अ' से 'ज्ञ' तक सम्पूर्ण वर्णों के साथ लिप्त है। आप किसी भी वर्ण का उच्चारण करें, उसके अंत में 'अ' की FEELING अवश्य आएगी—ठीक वैसे ही—जैसे सृष्टि ईश्वर से आरम्भ होकर अन्ततः ईश्वर में ही लय होती है।

इसके बावजूद सृष्टि में जो कुछ है और जो कुछ नहीं भी है, सभी में ईश्वर व्याप्त होता है, फिर भी सृष्टि से अलग होता है। जैसे किसी भी वर्ण के उच्चारण में 'अ' की फीलिंग प्रारम्भ या अन्त में अवश्य रहती है। बिना 'अ' की फीलिंग को जोड़े कोई भी वर्ण बोला नहीं जा सकता। इसके बावजूद स्वयं 'अ' (अकार) वर्ण वहां उपस्थित नहीं होता। उदाहरण के तौर पर 'क' का उच्चारण करने में 'क' के साथ 'अ' की फीलिंग (क्+अ) स्पष्ट होती है। किन्तु स्थूल रूप से तो वहां 'क' वर्ण होता है, 'अ' नहीं। (इसी प्रकार अन्य वर्णों का भी उच्चारण करके पाठक स्वयं शोध करें।)

'अकार' (अ) को अनुत्तर या निरुत्तर इसीलिए कहा जाता है, कि इसके बाद कोई तत्त्व/वर्ण नहीं बचता, जो इसमें लय न हो। अर्थात् मातृका (वर्णमाला) की सृष्टि 'अ' (अकार) से ही होती है और पूरी मातृका का संहार भी 'अ' (अकार) में ही होता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अनुत्तर या निरुत्तर इसी आधार पर कहा जाता है। इसीलिए *गीता* में भी भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है— **'अक्षराणामकारोऽस्मि'**—मैं अक्षरों में 'अकार' हूं।

(अध्याय—10, श्लोक 33)

इसीलिए **'अक्षर ब्रह्म'** या **'शब्द ब्रह्म'** कहा गया। संगीत एक कला है। एक साधना है। एक पूजा है। संगीत को ध्यान (कन्सन्ट्रेशन) तथा ईश्वर साक्षात्कार का एक प्रबल माध्यम माना गया है। ऐसा है भी (यहां हम पॉप संगीत की बात नहीं कर रहे, वह शोर मात्र है। उसमें रस व विभोरता नहीं उछृंखलता व अस्थिरता होती है। क्लासिकल म्युज़िक के श्रोताओं की गर्दन झूमती है, नेत्र बन्द हो जाते हैं। यह तन्मयता की, गम्भीरता से रसास्वदन की स्थिति होती है। इससे सिद्ध होता है कि श्रोता का मन, बुद्धि व इन्द्रियां वहीं पर स्थिर हो रहती हैं। किन्तु वैस्टर्न म्यूज़िक/पॉप आदि में श्रोता के हाथ पैर व सम्पूर्ण शरीर हिलने लगता है, नेत्र फट पड़ते हैं। यह उछृंखलता, बेचैनी व अशांति की स्थिति को दर्शाता है। यह एक मोटा उदाहरण है, जो आराम से समझा जा सकता है।) क्योंकि संगीत में संगति है। क्योंकि संगीत में सुर हैं। (सुर और शोर में बहुत अन्तर होता है)। क्योंकि संगीत में तल्लीनता है। क्योंकि संगीत में रस और आनन्द है। क्योंकि संगीत में शब्द है और शब्द से उत्पन्न होने वाली तरंगें हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि 'वाईब्रेशन्स' (तरंगों) से उत्पन्न हुई है। इस सत्य को आधुनिक विज्ञान भी मानता है। भारतीय मत भी नाद (तरंगों) द्वारा सृष्टि का होना मानता है। अत: तरंगों का सृष्टि के सृजन व विनाश में स्पष्ट महत्त्व है। डाइनामाइट का धमाका (तरंगें) विध्वंस कर सकता है। तो संगीत के सुर (तरंगें) सृजन कर सकते हैं। बारिश करा सकते हैं, पत्थर को पिघला सकते हैं, दीपक को जला सकते हैं, पशु-पक्षियों व मनुष्यों को सम्मोहित कर सकते हैं। पेड़-पौधों को पल्लवित व पुष्पित

कर सकते हैं। व्यक्ति के मनोभावों को बदल डालना तो बड़ा स्थूल प्रभाव है। आधुनिक विज्ञान वादी पेड़-पौधों व अन्य जीवों पर संगीत से पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कर चुके हैं और तो और संगीत द्वारा रोगों का निवारण एवं, चिकित्सा भी संभव है और आधुनिक विज्ञान भी इसे मानता है।

मिलिट्री बैन्ड, बिगुल, नगाड़े आदि एक जोश व वीरभाव का श्रोता में संचार करते हैं तो मर्सिया (मृत्यु पर बजाया जाने वाला संगीत) दूसरा ही भाव पैदा करता है। वहां करुणा व दुख स्वत: सुनने वालों में उत्पन्न हो जाता है। शादी के अवसर पर बजाए गए संगीत का प्रभाव कुछ और होता है। वहां शहनाई व सारंगी जैसे वाद्ययंत्रों का विशेष उपयोग रहता है। पार्टी के संगीत का प्रभाव कुछ और तथा लोरी के संगीत का कुछ और।

(मिलिट्री बैन्ड कभी झपताल, दादरा, रूपक आदि अपेक्षाकृत विलम्बित तालों पर नहीं बजाया जाता। लोरी कभी कहरवा, खेमटा आदि द्रुत तालों पर नहीं गाई जाती, क्योंकि मिलिट्री बैंड का उद्देश्य उत्तेजना व जोश का संचार करना होता है, जबकि लोरी का उद्देश्य शांति व स्थिरता का) बहरहाल!

तरंगों द्वारा सृष्टि में, भावों में, पदार्थों में परिवर्तन सम्भव है और संगीत में तरंगें ही होती हैं। पूरी तल्लीनता के साथ सही तरंगों का सही मात्रा में सही वैलासिटी पर, सही समय पर, सही समय तक, पूर्ण संगति के साथ प्रयोग आखिर साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार भी करा सकता है। जैसा कि कहा गया है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत्।
शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधि गच्छति॥

(शब्द ब्रह्म और परब्रह्म के भेद से ब्रह्म दो प्रकार का होता है। शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।)

अब ज़रा 'अ' (अकार) यानी पूर्व वर्णित थ्योरी का सम्बन्ध क्लासिकल म्युजिक से जोड़िए और सोचिए कि संगीत में क्यों केवल 'अकार' (अ) द्वारा ही सम्पूर्ण रागों व अलापों आदि को गाया जाता है। इसे संगीत की भाषा में—'अलंकार पूर्वक गायन' कहते हैं। (जैसा कि पाठकों ने क्लासिक गाने वालों को कम-से-कम 'अ-अ-ऽऽऽऽऽ।' करते हुए तो सुना ही होगा)। आप अवश्य इस थ्योरी के तर्कसंगत व ठोस वैज्ञानिक होने के परिणाम पर पहुंचेंगे।

तो बात अक्षरब्रह्म/शब्दब्रह्म/स्वरब्रह्म की चल रही थी। और वर्णमाला के प्रथम वर्ण 'अ' या 'अकार' की। देखिए प्रणव मंत्र में भी अकार सर्वप्रथम है (अ+उ+म=ॐ)।

विभाग या भेद रूप से प्रतीत न होना ही अद्वैत ज्ञान है। यानि जब तक हम भेद करते हैं, अन्तर करते हैं, तब तक हमें दो या अधिक की प्रतीति होती है किन्तु भेद बुद्धि का नाश होते ही समस्त जगत को हम केवल एक ही रूप में देखते हैं।

वर्णमाला या मातृका में विभिन्न बल्कि समस्त वर्णों में 'अ' की प्रतीति स्पष्ट होते हुए भी हम क, ख, ग, घ आदि का भेद व्यवहार की दृष्टि से करते हैं। किन्तु सत्य तथ्य को समझ लेने के बाद हम क, ख, ग, घ...आदि सभी में 'अ' है ऐसा अनुभव करने लगते हैं। माया, व्यवहार और भेद समाप्त हो जाता है। 'सभी कुछ ईश्वर है' के भाव का उदय होता है।

इस अद्वैत को 'बिन्दु' भी कहा गया है। क्योंकि बिन्दु में विभेद नहीं किया जा सकता। उसके विभाग सम्भव नहीं हैं। समस्त अक्षरों की सृष्टि विसर्ग से होती है, अर्थात् विसर्ग भेद ज्ञान की सृष्टि करता है। वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' जब नाद और बिन्दु से संयुक्त हो जाता है, तब ईश्वर की शक्ति कहलाता है। क्योंकि स्वर और व्यंजन सभी में 'अ' किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। इसीलिए इस शिव व शक्तिमय 'अकार' (अ) को ही शब्द ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है। (पाठक देखें कि रागों व अलापों में केवल 'अ' का ही विलास शब्द ब्रह्म की साधना को प्रकट करता है)।

इस प्रकार 'बिन्दु' जहां अद्वैत/ब्रह्म का प्रतीक है, वहीं विसर्ग (:) द्वैत/माया का। अतः सम्पूर्ण सृष्टि विसर्ग के नाम से भी जानी जाती है। विसर्ग का अन्त किए बिना आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। 'अ' (अकार) के साथ विसर्ग जुड़ने पर अन्य अक्षरों व मातृकाओं के संयोग से वर्णमाला का विकास होता है। अतः वास्तविकता को पहचानने के लिए विसर्ग का 'अकार' (अ) में ही उपसंहार किया जाता है। 'अं' और 'अः' में से 'अकार' (अ) निकाल देने पर केवल बिन्दु (ं) और (:) विसर्ग ही शेष रहते हैं। यह वर्णमाला के माध्यम से सृष्टि रहस्य समझने का प्रयास है।

इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक अक्षर में ब्रह्म व माया का निवास है। ब्रह्म का वास होने से ज्ञान तथा माया का वास होने से व्यवहार अक्षरों द्वारा सम्भव होता है। अपने विचार, ज्ञान, भाव आदि हम भाषा (अक्षरों) के माध्यम से ही दूसरे को समझा सकते व स्वयं भी समझ सकते हैं। अतः भाषा के बिना व्यवहार भी सम्भव नहीं हो पाता।

मन्त्रों के विन्यास में भी अक्षरों का ही प्रयोग होता है। अक्षरों से शब्द, शब्द से वाक्य बनते हैं। जब हम किसी देवता या शक्ति के 'बीज' (बीजमंत्र) की बात करते हैं तब हम केवल एक अक्षर की बात करते हैं। जबकि मंत्र में कई अक्षर सम्मिलित रहते हैं। इन मन्त्रों को मोटे-तौर पर हम दो भागों में बांट सकते हैं— सार्थक व निरर्थक। मोटे तौर पर इसलिए कि शब्द की अर्थशक्ति मंत्रों में उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती जितनी व्यंजना व लक्षणा शक्ति, और व्यंजना व लक्षणा शक्ति भी उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती जितनी अक्षर की आकृति व उसके उच्चारण से उत्पन्न होने वाली विशेष तरंगें। किस देवता के गुण स्वभाव के अनुसार, किस

शक्ति के स्वभाव के अनुसार किस आकृति वाले, किस ध्वनि तरंग वाले अक्षर अथवा बहुत से अक्षरों का प्रयोग किया जाएगा यह तत्त्वदर्शी और मंत्रदृष्टा ऋषि जानते थे। तदनुसार ही उन्होंने मन्त्रों की रचना की और वे मन्त्र सम्बन्धित देवता का साक्षात्कार, सम्बन्धित शक्ति की कृपा अथवा सम्बन्धित सिद्धि के प्रदाता इसीलिए हो जाते हैं कि अक्षरों की रचना, आकृति, तरंगों का अपना एक सूक्ष्म विज्ञान है और प्रत्येक अक्षर जैसा कि बताया जा चुका है स्वयं में ब्रह्म व माया की शक्तियों से युक्त है। इसीलिए मंत्रों को 'मंत्र' (यानी मनन करने पर त्राण देने वाले) कहा गया।

मनन करने पर, केवल उच्चारण करने पर नहीं। क्योंकि उच्चारण मात्र स्थूल प्रभाव उत्पन्न करेगा किन्तु मनन सूक्ष्म प्रभाव उत्पन्न कर साक्षात्कार कराएगा अतः त्राण होगा।

संभवतः यह पूरा प्रसंग कुछ पाठकों को—बहुत भारी, क्लिष्ट या उलझा हआ सा व शुष्क लगा हो, क्योंकि यह बात ही ऐसी है। ऐसे पाठकों को अति संक्षेप में मोटे तौर पर यह निष्कर्ष समझ लेना चाहिए कि—

किसी भी सत्ता की पहचान या व्यवहार उसके तीन गुणों द्वारा ही सम्भव होता है। पहला नाम/पद, दूसरा रूप/आकार और तीसरा गुणावगुण/स्वभाव। इन तीनों के अभाव में किसी भी वस्तु या सत्ता को जाना नहीं जा सकता। अगर हम नाम लें 'संतरा' तो सुनने वाले की समझ में आ जाता है कि हम किस फल की बात कर रहे हैं। यदि हमें नाम न पता हो तो हम संतरे की तस्वीर दिखाएं या उसके रूप/आकार का वर्णन करें कि भई, संतरी रंग का गोल-गोल फल है। छिलका छीलने पर अन्दर से फांकें निकलती हैं, जिनमें बीज भी होते हैं तो भी सुनने वाला समझ जाएगा कि बात संतरे की हो रही है अथवा हम उसका गुण स्वभाव बताएं कि खट्टा मीठा होता है, उसका रस निकालकर पीया भी जाता है—आदि, तो भी सुनने वाला करीब-करीब समझ जाएगा कि बात संतरे की हो रही है। किन्तु यदि हम इन तीनों में से किसी उपाय को अमल में न लाएं तो संतरे को पहचाना नहीं जा सकता।

ठीक इसी प्रकार भगवान, शक्ति या देवता का हमें नाम तो ज्ञात होता है। गुण स्वभाव भी मालूम होते हैं। परन्तु रूप या आकार पता नहीं होता। लेकिन जब हम उस शक्ति, देवता या ईश्वर के नाम, गुण, स्वभाव आदि का बार-बार तन्मयता पूर्वक चिन्तन करते हैं, शनैः शनैः उसका रूप या आकार प्रत्यक्ष होने लगता है—**यही मन्त्र विज्ञान की, जप की तथा कीर्तन आदि के प्रभाव का रहस्य है।** किन्तु मनन होना चाहिए, ध्यानपूर्वक चिन्तन होना चाहिए तभी रूप का प्रकटीकरण या साक्षात्कार सम्भव है। केवल रटने या चिल्लाने से संस्कार तो पक्का होगा, अहं भी पैदा होगा, परन्तु वास्तविक सफलता नहीं मिलेगी।

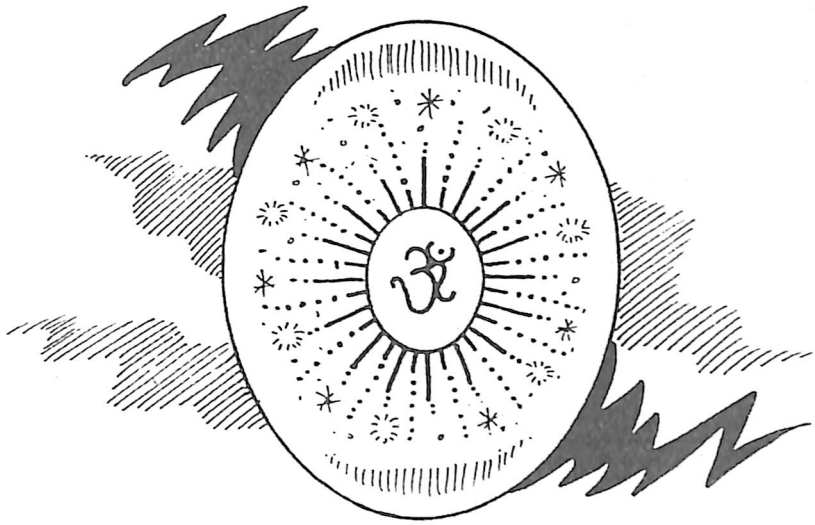

परब्रह्म

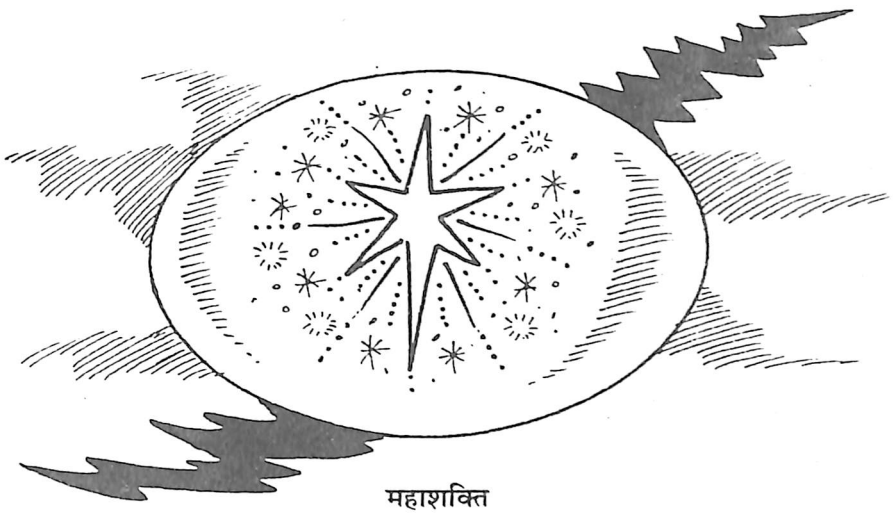

महाशक्ति

निराकार स्वरूप

अब छूट गए विषय कुण्डलिनी शक्ति को आगे बढ़ाते हैं, जो अक्षर व मन्त्र की चर्चा के कारण बीच ही में रह गया था। व्यवधान के लिए मुझे खेद है। किन्तु यह विषय इतना गहन है और अपने साथ इतने विषयों, उपविषयों और उनके भी भेदों व उपभेदों को लपेटे हुए है, कि समग्रता की दृष्टि से सभी को छूना, समझना आवश्यक है। विशेषकर उन प्रसंगों पर जहां कोई घुन्डी या कई घुन्डियां आ जुड़ें— उसे पाठकों के लिए सुगम्य बनाने के लिए मूल विषय से अन्यत्र भी अपनी सामर्थ्यानुसार छलांग लगाना जरूरी लगने लगता है। इससे बहुत से पाठक लाभान्वित होंगे, किन्तु बहुतों को अवरोध-सा महसूस होगा। अवरोध महसूस करने वाले

अपने पाठकों के प्रति ही मैंने खेद प्रदर्शन कर, क्षमा मांगी है। हालांकि जानता हूं कि ऐसे अवसर पुन: आने पर मैं पुन: ऐसा ही करूंगा—मजबूरी है। लेकिन पुन: क्षमा याचना भी करूंगा। बहरहाल!

कुण्डलिनी शक्ति 'ह' अक्षर की भांति साढ़े तीन लपेटे खाए हुए, नीचे मुख किए हुए, अपने मुख में अपनी पूंछ दबाए उलटी पड़ी सर्पिणी की भांति सुषुम्ना के विवर में, मूलाधार में सोई पड़ी रहती है। सुषुम्ना नाड़ी का मुख—त्रिकोण बन्द रहने के कारण उसकी गति ऊपर की ओर नहीं हो पाती। किन्तु उपायों द्वार ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लेने पर वह झटका खाकर भूखी सर्पिणी-सी तीव्रता के साथ ऊपर बढ़ती है। वह अद्‌भुत शक्तियों से युक्त कुण्डलिनी जिस-जिस चक्र का भेदन कर आगे बढ़ती जाती है, वही चक्र सक्रिय होकर अपने-अपने चमत्कारिक प्रभाव दिखाने लगता है। यह संक्षेप में हमने अब तक जाना। इतना जान लेने के बाद सहज ही मन में कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के उपाय जानने की बात उत्पन्न होती है। किन्तु उन सबकी चर्चा से पूर्व इस बात की चर्चा की जानी आवश्यक है कि कुण्डलिनी शक्ति की इस कुटिल आकृति का कारण क्या है? क्यों यह साढ़े तीन कुंडल मारकर रहती है।

कुटिल आकार का कारण

कुण्डलिनी समस्त विश्व की जननी, ईश्वरीय शक्ति है। इसी का संयोग होने से शिव सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। इसी को प्राणशक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति शरीर में 'हकार' रूपी नाद के स्वरूप में सदा नदन करती है। (अपने दोनों कान बंद करके इस नदन व्यापार को सुना जा सकता है।) इसी के माध्यम से योगी परमपद अर्थात् ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यह साढ़े तीन लपेटे खाकर बिना आधार के ही सुषुम्ना विवर में निवास करती है।

'विज्ञान भैरव' ग्रन्थ के अनुसार हंस गायत्री का अजपा जाप प्रत्येक जीव में निरंतर चलता है। प्राण (छोड़ी गई श्वांस) के साथ (सकार) और अपान (खींचे गए श्वांस) के साथ (हकार) 'हंस' उच्चारण अनचाहे ही होता रहता है। इनमें प्राण और प्रकाश (सूर्य/दिन) का प्रतिनिधित्व 'सकार' और जीव (अपान) तथा 'क्षपा' (रात्रि) का प्रतिनिधित्व 'हकार' करता है। प्राण की गति स्वाभाविक रूप से बाहर की ओर तथा अपान की गति स्वाभाविक रूप से निरंतर भीतर की ओर चलती है।

अपान को जीव इसलिए कहा जाता है कि प्राण के बाहर निकलने के बाद जब अपान भीतर प्रविष्ट होता है तभी शरीर में जीवात्मा विद्यमान होने का बोध होता है। अपान के प्रवेश न पाने पर शरीर शव कहा जाएगा।

जिस प्राणवायु का अपान अनुवर्तन करता है उसकी गति हकार (ह) की भांति टेढ़ी-मेढ़ी है। अतः यह जीव भी अपनी इच्छानुसार प्राण के अनुरूप

ही कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेता है। जीव की यह वक्रता (कुटिलता/घुमावदार होना) परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा शक्ति का ही खेल है। **प्राण शक्ति कुण्डलिनी में रहने के कारण कुटिलाकार हो जाती है। इस प्राण शक्ति के भीतर विद्यमान जीव बाल के अग्रभाग के सौंवे हिस्से के समान सूक्ष्म है।** उसकी कोई आकृति नहीं है, तथापि प्राण की वक्रता के कारण जीव में भी औपाधिक वक्रता मान ली जाती है। **वास्तव में जीव कुटिल नहीं, प्राण ही कुटिल है।**

कुण्डलिनी शक्ति या प्राणशक्ति की कुटिलता का कारण यह है कि इसका एक लपेटा बाईं नाड़ी इड़ा और दूसरा लपेटा दाईं नाड़ी पिंगला में है। इस प्रकार उसके दो वलय बनते और बीच से सुषुम्ना नाड़ी जाती है। जब प्राण यहां से हृदयाकाश में चढ़ता है तब 'हम' वर्ण की और जब वह द्वादशान्त से उतरता है तब 'सः' वर्ण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'हंसः' या 'सोहं' (सोऽहमं अर्थात् 'वह मैं हूं।') इस मंत्र का अजपा जप श्वांस-प्रश्वांस के साथ निरंतर चलता रहता है 'हंसाः' से सम्बन्धित दो मन्त्र 'अहंसः' और 'सोऽहम्' हैं। जिसके अर्थ 'मैं वह हूं' और 'वह मैं हूं' हैं।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का जप जीव में ही होता है, ईश्वर में नहीं। क्योंकि वो मैं हूं या मैं वो हूं इस तरह के विमर्श परमेश्वर में नहीं होते। परमेश्वर दशा में तो पूर्णहन्ता रहती है। यह मेरा है। वह मेरा नहीं है। इस प्रकार के छोड़ने और लेने के, प्राण और अपान के धर्मों के कारण ही **जीव 'हंस' कहलाता है।**

उपर्युक्त विवरण यद्यपि अजपा हंस गायत्री के जाप के संदर्भ में 'विज्ञान भैरव' में आया है। तथापि कुण्डलिनी व प्राण के कुटिलाकार के कारण को इंगित करता है, एवं ज्ञानवर्धक और योग विषय से सम्बन्धित होने के कारण इस प्रसंग को संक्षेप में पूरा कह दिया गया है। पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

कुण्डलिनी के कुटिल आकार के रहस्य को जान लेने के बाद हम विभिन्न तन्त्र ग्रन्थों के प्रकाश में शिव मंदिरों में कुण्डलिनी के अप्रत्यक्ष पूजन का सिलसिला भी समझें।

अग्निरूपा कुण्डलिनी मूलाधार के अग्निकुंड में, स्वयंभू महालिंग पर सुप्त सर्पिणी के समान साढ़े तीन फेरे लगाकर लिपटी हुई है मर्मज्ञों का ऐसा कहना है। **शिव मन्दिरों तथा शिवालयों में शिवलिंग पर इसी प्रकार सर्पिणी लिपटी हुई दर्शाई जाती है। (लिंग जहां स्थूल रूप से सृजन क्षमता तथा बीज शक्ति का प्रतीक है, वहीं सूक्ष्म रूप से ब्रह्म की गुप्त शक्तियों का प्रकटीकरण करने वाला भी है। क्योंकि छिपी हुई वस्तु का ज्ञान करा देने वाला 'लिंग' कहलाता है। जैसा कि 'मालिनी वार्तिक' में कहा भी गया है—'लीनं गमयतीत्युक्तेर्लिङ्ग-**

निर्वचनं यत:।') यह लिंग वास्तव में कुण्डलिनी शक्ति का ही प्रतीक है।

पाठकों ने देखा होगा कि शिवलिंग पर एक तिपाई पर रखे गए कलश के छिद्र द्वारा निरन्तर जल या दूध का अभिषेक होते रहने की व्यवस्था शिवालयों व मंदिरों में होती है। मोटे तौर पर यह अभिषेक या पूजन विधि परम्परागत तरीके से चली आ रही है और इसका कारण पुजारी लोग नहीं जानते, किन्तु कलश द्वारा अनवरत जल या दुग्ध के इस लिंगाभिषेक का उद्देश्य क्या है ? क्यों यह कलश तिपाई पर ही रखा जाता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर इसके सूक्ष्म रहस्य को जानने से मिलता है।

सहस्त्रार चक्र में लगातार अमृत स्त्राव होते रहने का वर्णन सभी योग ग्रन्थों में आया है। हमने भी चक्र प्रकरण में इस तथ्य को पाठकों के सम्मुख रखा है। **कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से जागृत कर, इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना को आधार बनाकर सहस्त्रार तक लाया जाता है और अमृत पान कराया जाता है। सुप्त कुण्डलिनी सर्पिणी की भांति अग्निकुंड में पड़ी निरंतर विष उगलती रहती है जिससे जलन उत्पन्न होती है। वासना की अग्नि शांत नहीं हो पाती और शरीर व मन की दिव्य शक्तियों व सम्पदाओं का विनाश होता रहता है। किन्तु कुण्डलिनी को जागृत कर, साध कर सहस्त्रार में ले जाकर अमृतपान कराने से कुण्डलिनी सहित साधक का पोषण होता है। यही इस समस्या का एकमात्र निश्चित समाधान है।**

शिवलिंग पर अनवरत दूध या जल के तिपाई पर रखे छिद्र युक्त कलश द्वारा बूंद-बूंद अभिषिक्त होना—हमें यही उपाय समझाता है। शिवलिंग व सर्प जहां अग्निकुंड में स्थित कुण्डलिनी के प्रतीक हैं, वहीं कलश सहस्त्रार का। जिसमें से निरंतर झरता दूध या जल 'अमृतस्त्राव' का प्रतीक है। तिपाई वास्तव में इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना का प्रतीक हैं। जो सहस्त्रार या कलश को, उसके स्त्राव को लिंग व कुंण्डलिनी से जोड़ते हैं। अत: **यह अप्रत्यक्ष रूप से योग प्रणाली को एक सांकेतिक विधि से समझाने का प्रयास है।**

देवताओं द्वारा किया जाने वाला 'सोमपान' भी वास्तव में कुण्डलिनी शक्ति के चरम विकास द्वारा 'अमरत्व' प्राप्ति की थ्योरी की ही पुष्टि करता है। रावण की नाभि में अमृत कुण्ड का होना उसकी कुण्डलिनी शक्ति की प्रभावशाली व उत्कृष्ट स्थिति का प्रतीक है। किन्तु उसका 'दशानन' (दस मुख वाला) होना इस तथ्य को प्रकट करता है कि तप द्वारा कुण्डलिनी जागृत कर लेने के बाद भी वह दसों इन्द्रियों से बहिर्मुखी था। भोगी था। शुद्ध भोगी था। प्राप्त हुई आलौकिक शक्तियों को वह दसों इन्द्रियों से खुला भोग कर निष्कासित कर रहा था। योगी के समान उसने अपनी इन्द्रियों को कछुए के अंग सिकोड़ लेने की भांति अन्तर्मुखी नहीं किया था। अत: उसके अमृतकुंड के नष्ट होते ही उसका विनाश निश्चित था।

राम-चेतन या ब्रह्म के प्रतीक हैं। सीता माया या प्रकृति की। दोनों के साथ रहने वाला लक्ष्मण 'जीव' का प्रतिनिधित्व करते हैं। शिव ज्ञान का, पार्वती श्रद्धा का, हनुमान विज्ञान का और रावण परम भोगी का, दशरथ मन का आदि। भोगी सदैव माया के फेर में पड़कर विनाश को प्राप्त होता है। जैसा कि रावण के साथ हुआ। **ज्ञान के अभाव में चेतना तथा चेतना के बिना ज्ञान संभव नहीं अतः शिव राम का पूजन करते और उन्हें गुरु मानते हैं, तो राम शिव का पूजन करते और उन्हें गुरु मानते हैं। ज्ञान से विज्ञान का जन्म होता है। अतः शिव से हनुमान की उत्पत्ति हुई।** विज्ञान में तर्क प्रबल होता है। श्रद्धा का स्थान वहां नहीं होता। **अतः हनुमान के जन्म में पार्वती का योगदान नहीं है।** (उनका महाशक्तिशाली होना विज्ञान की शक्ति प्रदर्शित करता है किन्तु वानर होना चंचलता का, उछृंखलता का सूचक है।) **पार्वती का योगदान गणेश के जन्म में है क्योंकि श्रद्धा और विश्वास से कल्याण या मंगल उत्पन्न होता है और गणेश मंगल के देवता हैं।**

धर्म शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ऐसे ही सांकेतिक तरीकों से कथाओं व चरित्रों के माध्यम से जीवनदर्शन, अध्यात्मिक व योग विषयक ज्ञान को पिरोया गया है। अतः पाठकों को प्रत्येक धर्मग्रन्थ को ध्यान पूर्वक पढ़ना और मनन करना चाहिए जिससे गागर में छिपे सागर का रहस्य समझा जा सके।

अब हम कुण्डली/कुण्डलिनी जागरण के उमायों तथा जागरण प्रक्रिया की चर्चा करेंगे। साथ ही कुण्डलिनी जागरण काल में उपस्थित होने वाले सम्भावित खतरों, उनसे बचने के लिए रखी जाने वाली सावधानियों की भी विस्तृत चर्चा करेंगे।

यह ध्यान रखिए कि इतनी बड़ी शक्ति या उपलब्धि पाने की प्रणाली भी उतनी ही बड़ी व गम्भीर होगी। फल की महत्ता के अनुसार ही परिश्रम दरकार होता है। कुण्डलिनी जागरण एक महाशक्ति को स्वयं में विकसित करना है। यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। न ही इतना सरल है कि पुस्तक पढ़ लेने मात्र से या तथाकथित विशेषज्ञ 'गुरुओं' के फुसलाने-बहलाने भर से सम्भव हो सके। शरीर व मन में, स्वयं में उस शक्ति को धारण करने की पात्रता उत्पन्न होने के बाद, संयम, धैर्य व विधानपूर्वक, निरंतर साधना करने पर ही कुण्डलिनी जागरण सम्भव है। वह भी तब, जब आप ईश्वरीय कृपा के पात्र सिद्ध हो जाएं। इस कार्य में पुस्तक मात्र एक उपदेशक, मार्गदर्शक और प्रेरणा स्रोत का एवं जिज्ञासा शांति या ज्ञान प्रदान करने का ही कार्य कर सकती है, वह भी तब जब पाठकों ने सही पुस्तक का चुनाव किया हो। लेकिन प्रैक्टिकल के लिए किसी सुयोग्य, समर्थ, सिद्ध व अनुभवी गुरु की आवश्यकता सदा होती है, विशेष कर योग मार्ग में।

मैं इस गूढ़ विषय पर कुछ लिख पाने का साहस कर पा रहा हूं, तो मात्र इसलिए कि विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन, मनन तथा विभिन्न गुणीजनों एवं विद्वानों के संगति एवं उनके साथ तत्त्व चर्चा का सौभाग्य मुझे निरंतर प्राप्त होता रहा है। तिस पर योग ज्ञान के मर्मज्ञ स्वयं मेरे आदरणीय पिता का अनुग्रह, मार्गदर्शन एवं विमर्श मुझे पूर्वजन्मों के सुफल स्वरूप सहज ही प्राप्त है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रैक्टिकल की दिशा में मेरा अनुभव नगण्य है। अत: 'गुरु' बनने की योग्यता तो दूर विधिवत 'छात्र' बनने की पात्रता भी मुझमें नहीं हैं। मैं जिन परम विद्वान अपने पूज्यपिता को इस क्षेत्र में अपना गुरु मानता हूं—वे मेरे पिता डॉ. केशव कौशिक स्वयं अपने को 'गुरु' बनने के योग्य नहीं पाते। फिर और विद्वानों का तो कहना ही क्या! इस युग में सच्चे गुरु का मिल पाना वैसे ही दुर्लभ है जैसे सच्चे शिष्य का मिल पाना! बिना ईश्वर की विशेष अनुकम्पा के साधक को गुरु प्राप्त नहीं हो सकता और बिना ज्ञान प्राप्त किए साधक गुरु को पहचानने वाला नहीं बन सकता। अत: गुरु की पहचान के लिए भी स्वयं ज्ञानी होना आवश्यक है।

इसीलिए **'ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है'** ऐसा माना गया है। और स्वयं भगवान शिव ने **'विज्ञान भैरव'** में पार्वती से कहा है—

ग्रामं राज्यं पुरं देशं पुत्रदारकुटुम्बकम्।
सर्वमेतत् परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेक्षणे॥

हे मृगनयनी (पार्वती)! ग्राम, राज्य, नगर, देश, पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब आदि सबको छोड़कर (प्राथमिकता न देकर) इस रहस्यमय, अत्यन्त गुप्त, पर उत्कृष्ट (योगविद्या) ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए।

किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम्।
प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमामृतम्॥

(क्योंकि हे देवी! राज्य, ग्राम आदि उक्त पदार्थ तो अस्थिर हैं (सदा मनुष्य के साथ नहीं रह सकते) अत: समस्त विपत्तियों को दूर करने वाले अक्षय व स्थिर ज्ञान का ही सब उपायों से संग्रह करना चाहिए और इस परम उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त हो जाने के बाद अयोग्य व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए।)

ज्ञान ही चित्त व मस्तिष्क में प्रकाश करता है। तप से संस्कार व जन्मान्तरों के मन एवं आत्मा पर चढ़े मल कटते हैं और व्यक्ति को अपने स्वरूप का बोध होता है। अत: ज्ञान के बाद तप का महत्त्व है। स्वयं ब्रह्मा भी (विभिन्न पुराणों के अनुसार) उत्पन्न होने के बाद अनंत को देख संशय में पड़ गए थे कि मैं कौन हूं? कहां हूं? यह अनंत क्या है? इसका आदि अन्त कहां है? आदि। **तब आकाशवाणी ने ब्रह्मा को 'तप कर' ऐसा आदेश दिश था। तप के बाद ब्रह्मा न केवल समस्त रहस्यों को समझ कर परम ज्ञानी बन सके बल्कि सृष्टि भी कर सके।** तप की ऐसी ही महिमा है।

'गुरु' बनने के लिए ज्ञान और तप दोनों में ही उत्कृष्ट योग्यता होनी आवश्यक है। गुरु हम कहते किसे हैं ? गुरु का अर्थ क्या है ? जो गुरु (भारी) हो अर्थात् जिसके पास अथाह ज्ञान हो, गम्भीर हो। थुथला या पोपला (हल्का) न हो। मात्र गाल बजाने वाला न हो (क्योंकि 'थोथा चना, बाजे घना')। इसके अलावा जिसके पास 'गुर' (गुण) हो। ज्ञान के साथ तकनीक भी हो। जो पूर्ण हो। परिपूर्ण हो। जिसके पास देने के लिए कुछ हो। देने के लिए कुछ उसी के पास होगा जो पूर्ण होगा। अधूरा किसी को क्या देगा ? उसे तो अभी खुद जरूरत है। अतः ज्ञान और तप, थ्योरी और प्रैक्टिकल, विद्या (गुण) और तकनीक सभी दृष्टियों से जो परिपूर्ण हो, भारी हो, गुणी हो। साथ ही स्वार्थ से रहित और उपकार का इच्छुक हो वही 'गुरु' कहलाने का अधिकारी है। अपने ज्ञान को अनुभव द्वारा जो सिद्ध कर चुका हो वही 'गुरु' होने का अधिकारी है। मात्र वाहवाही लूटने के लिए, पैर पुजवाने के लिए झंडे गाड़ने या प्रसिद्धि पाने के लिए, अपनी जेबें भरने के लिए गद्दी पर बैठकर ढोंग करने वाले तथाकथित गुरु तो अभी स्वयं नाम, पैसा, प्रशंसा आदि के भूखे हैं। अधूरे हैं, पूर्ण नहीं हैं। वे भला किसी को क्या देंगे ? देने के लिए उनके पास है क्या ? वे तो खुद लेने के लिए बैठे हैं। वे डाकुओं या लुटेरों से भी नीच हैं क्योंकि डाकू कम-से-कम खुलकर तो लूटता है। ये धर्मगुरु तो 'विरक्त' होने का धोखा देकर ठगते हैं।

जब सूर्य उदित हो जाता है, सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, जब शक्ति का उदय होता है, स्वयं तेज उत्पन्न हो जाता है। जब फूल खिलता है, खुद-ब-खुद खुशबू फैल जाती है। जब योग्यता उत्पन्न होती है, प्रसिद्धि स्वयं हो जाती है। उसके लिए ढोल नहीं बजाना पड़ता, डंका नहीं पीटना पड़ता। इश्तहार लगाना पड़ता है उसे जिसके पास थोड़ा-सा कुछ है, या नहीं भी है, किन्तु वह बाकी थोड़े से के मालिकों या ज्यादा के मालिकों से कम्पटीशन चाहता है। अपना नाम व पहचान बनाना चाहता है। अपनी दुकान पर भीड़ लगाना चाहता है। इसके लिए वह प्रपंचों का सहारा लेता है। शास्त्र कहते हैं कि स्नान शुद्धता व स्वच्छता के लिए आवश्यक है। प्रपंच करने वाला सोचता है, आजकल स्नान का बखेड़ा कोई पालना नहीं चाहता। न तो उसके पास समय है, न धैर्य है, न संयम और न लगन है। वह स्वच्छ शुद्ध तो होना चाहता है लेकिन नियमों की पाबन्दियों का पालन नहीं करना चाहता। वह इस बात का लाभ उठाकर इस तरह बरगलाता है कि 'आओ, मेरे पास आओ! मैं वैक्यूम क्लीनर से तुम्हें स्वच्छ शुद्ध करूंगा। नहाने का झंझट नहीं, नियमों की जरूरत नहीं, 'सहज मार्ग' अपनाइए। सिर्फ गंगाजल पीजिए और स्वच्छ शुद्ध हो जाओगे। जो इतना भी न करना चाहें वे मेरे आशीष मात्र से ही पवित्र हो जाएंगे। फीस कुछ नहीं, अपनी श्रद्धा भक्ति अनुसार।' और लोग पागल हो जाते हैं, क्योंकि वे पाना तो फौरन चाहते हैं मगर करना कुछ नहीं चाहते। इसलिए बिना किए या कम किए ही जो

दिलाने का दावा करता है, वे कूदकर उधर जा पहुंचते हैं और प्रपंच करने वाले की दुकान चल जाती है।

ज्ञान क्योंकि किसी को नहीं और पाना हर कोई चाहता है। धैर्य किसी में नहीं, परिश्रम कोई नहीं करना चाहता लेकिन शीघ्र-से-शीघ्र उपलब्धि पाना चाहता है। अत: वह इन ठगों के मायाजाल में जा फंसता है। ज्ञान न होने के कारण उन्हें जैसे मरजी बरगलाकर, बड़ी उपलब्धि 'सहजता' से दिलाने का दावा कर ये महाठग अपना उल्लू सीधा करते हैं।

परिणाम स्वरूप इन तथाकथित 'गुरुओं' का तो भले ही कुछ भला होता हो, इनके चेलों को अन्तत: पछताना ही पड़ता है। इतना भी हो तो बर्दाश्त किया जा सकता है। किसी की चलती 'दुकान' से हमें कोई परेशानी नहीं, भले ही वहां लूट या ठगी होती हो। क्योंकि यह तो लुटने वाले के ही अज्ञान, अविद्या व अधैर्य का परिणाम है। दिक्कत इस बात से होती है जब लुटने वाले को अपने लुट जाने का ज्ञान होता है। तब गुरु-शिष्य परम्परा के प्रति, अध्यात्म व ज्ञान के प्रति एक अश्रद्धा, घृणा व अविश्वास का भाव उत्पन्न होता है और फिर प्रचारित भी होता है। नतीज़े के तौर पर एक गलत परम्परा जन्म लेती है और शेष जनता दिशा भ्रमित हो जाती है। इसलिए आदमी की हत्या उतना बड़ा अपराध नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें एक व्यक्ति की हानि होती है, एक परिवार को दुख पहुंचता है किन्तु सिद्धांत की हत्या बहुत गंभीर और जघन्य अपराध है। क्योंकि उससे पूरे समाज की हानि होती है। पूरी पीढ़ी को दु:ख व क्लेश भुगतने पड़ते हैं।

अत: जो शास्त्र सम्मत नहीं, वह ज्ञान, गुरु या आदेश भ्रष्ट है। उचित अनुचित की कसौटी का निर्णय शास्त्र ही कर सकता है। जैसा कि बहुत से स्थानों पर कहा भी गया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयंधीरा: पण्डितं मन्यमाना:।
जङ्घन्यमाना: परियन्ति मूढा अन्धैनैव नीयमाना यथान्धा:॥

—(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्—अविद्या में स्थित होकर भी स्वयं को बुद्धिमान बनने वाले (दम्भी) और अपने को विद्वान मानने वाले (पाखंडी) (जो विद्या बुद्धि के अभिमान में शास्त्र व महापुरुषों के वचनों की अवहेलना करते हैं, यानि शास्त्र कुछ भी कहें, मेरा यह मत है ऐसा कहते हैं) वे मूर्ख लोग बार-बार आघात सहन करते हुए (कटु अनुभवों से हानि उठाकर) ठीक वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अंधे के द्वारा ही चलाए जाने वाले (मार्गदर्शन करने वाले) अन्धे (अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर ठोकरें खाते रहते हैं)।

विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ —(कठोपनिषद्)

अर्थात्—सर्वव्यापी परमात्मा को जानकर बुद्धिमान शोक नहीं करता। (यह

ज्ञानी/सिद्ध/गुरु की एक मोटी पहचान बता दी कि ज्ञान की चरमसीमा पर पहुंचा हुआ, परमात्म तत्त्व या ब्रह्मविद्या को जाना हुआ व्यक्ति किसी भी स्थिति में, किसी भी कारण से, किञ्चितमात्र भी शोक नहीं करता इस पहचान से पाठक स्वयं गुरु परीक्षण कर सकते हैं)।

इसके अलावा जैसा कि *गीता* में भी कहा गया है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥

अर्थात्—शास्त्रविधि से रहित केवल मनः कल्पित घोर तप को जो करते हैं और दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति व बल के अभिमान से भी युक्त हैं...

...**तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥** (उन अज्ञानियों को तू आसुरी स्वभाव वाला जान।)

और भी देखें—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

—*गीता*

(शास्त्रविधि से हीन और अन्नदान से रहित, मंत्रों व दक्षिणा से रहित तथा श्रद्धाविहीन यज्ञ 'तामस' कहा जाता है)।

और—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं)।

आदि अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुरु में योग्यता के साथ-साथ शास्त्र सम्मत आदेश या मार्गदर्शन का गुण होना आवश्यक है। ऐसा न हो कि योगविषयक शास्त्र जो विधान बताते हैं, गुरु उन्हें नकार कर अपने ही विधानों या मत को 'सहजता' का लेबल लगाकर थोप रहा हो, बहरहाल...।

गुरु की योग्यताओं को परिभाषित व विश्लेषित करने वाले तथा उचित अनुचित के सम्बन्ध में शास्त्र सम्मतता को ही प्रमाण सिद्ध करने वाले सैकड़ों श्लोक, मंत्र, ऋचाएं या श्रुतियां पाठकों की सन्तुष्टि के लिए दी जा सकती है। किन्तु उससे पुस्तक के बहुमूल्य पृष्ठों का अपव्यय होगा और पुस्तक मूल विषय से दूर हो जाएगी। इसलिए ऐसा प्रयास नहीं कर रहा हूं। मगर प्रबुद्ध पाठकों के शंकासमाधानार्थ और अपने कथन की पुष्टि के लिए इतने प्रमाण भी बहुत हैं। क्योंकि समझदार को इशारा काफी होता है और कुण्डलिनी जैसे गहन विषय से सम्बन्धित पुस्तक का अध्ययन के लिए चयन करने वाले पाठकों से सहज ही समझदारी की प्रबल आशा की जा सकती है।

संक्षेप में इतना ही कि पाठक इस विषय में (विशेषकर) गुरु को चुनने की

दिशा में पूर्ण सावधानी बरतें और इस विषय पर प्रकाशित (मेरी या अन्य किसी श्री विद्वान की) किसी पुस्तक मात्र को भी गुरु अथवा सम्पूर्ण समझने की भूल न करें। ऐसी पुस्तकें मात्र 'कमेन्ट्री' या विषय को सरलता से समझाने का प्रयास भर होती हैं। अत: गहराई में जाने वाले पाठकों अथवा साधकों को इस विषय से सम्बन्धित मूल पुस्तकें, मूलग्रन्थ अवश्य ही देखने चाहिएं। ऐसे मूल ग्रन्थों में पाठकों के सम्मुख मैं दो चार प्रमुख नाम भी अवश्य ही रखना चाहूंगा, जो इस प्रकार हैं—

पातञ्जल योग प्रदीप, वामकेश्वरतन्त्र,
रुद्रायामल तन्त्र, घेरण्ड संहिता,
गोरक्षसंहिता, शिवसंहिता,
हठयोगप्रदीपिका योगदर्शन,
अष्टावक्रगीता, गीता,
योगतत्त्वोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद
योगकुण्ड्ल्योपनिषद् आदि।

❑❑

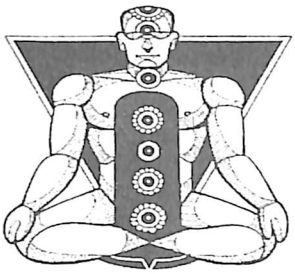

12

अभ्यास-खण्ड

सफलता के लिए आवश्यक

कुण्डलिनी और चक्रों को विधिवत समझ लेने के बाद अब हम कुण्डलिनी जागरण के विभिन्न उपायों व पद्धतियों की चर्चा करेंगे। किन्तु उन उपायों से पूर्व कुछ ऐसे प्रारम्भिक परन्तु महत्त्वपूर्ण उपायों की चर्चा की जानी आवश्यक है जो आपको कुण्डलिनी जागरण के उपाय करने की सामर्थ्य अथवा योग्यता प्रदान करते हैं। आगे बढ़ने के लिए एक उचित आधार व शक्ति देते हैं तथा प्राप्त होने वाली चमत्कारिक शक्तियों को संभालने व इस प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तनों को झेलने के योग्य बनाते हैं। दूसरे शब्दों में आपके भीतर 'पात्रता' उत्पन्न करते हैं।

पात्रता

यह 'पात्रता' शब्द बहुत सटीक और व्यापक है। पात्रता—'पात्र' शब्द से बना है। पात्र का अर्थ है—बर्तन, सामर्थ्य, शुद्धता, क्षमता, ग्राह्यता, योग्यता, सहेजने में समर्थ, रिक्तता या सम्भावना वाला। इस प्रकार पात्र शब्द बहुत से अर्थों से संयुक्त है। यदि हम समुद्र को देंखे, वह अथाह जल राशि का स्वामी है। उससे कोई भी जल ले सकता है। वह रोकता नहीं, विरोध नहीं करता। पक्षपात भी नहीं करता। फिर भी उसके पास लाने गया प्रत्येक व्यक्ति समान मात्रा में जल नहीं ले जा पाता। जिसके पास ड्रक या टैंक है वह उतना ले जाता है। जिसके पास बाल्टी है वह कम ले जाता है। लोटे वाला और कम, गिलास या कटोरी वाला और भी कम और चम्मच वाला, ना के बराबर जल ले जा पाता है। यह उदाहरण 'पात्रता' का महत्त्व सिद्ध करने को काफी है।

जिसके पास जैसा और जितना पात्र होगा, जो जितना समेट-सहेज सकेगा, जिसकी झोली जितनी बड़ी और मजबूत होगी, वह उतना ही ले जा सकेगा। यह भी सम्भव है कि झोली बड़ी हो, पूरी भर ली जाए और ले जाते समय फट जाए। अत: सामर्थ्य, क्षमता और सहेजना यह भाव भी 'पात्रता' में शामिल है। यह भी मुमकिन है कि पात्र में पहले ही से कोई पदार्थ भरा हो, तब उसमें नया पदार्थ आ ही नहीं पाएगा। अत: ग्राह्यता, रिक्तता और सम्भावना का भाव भी पात्रता में शामिल है। यह भी सम्भव है कि पात्र में कोई ऐसा पदार्थ भरा हो, जिसमें नया पदार्थ ग्रहण कर लेने की सम्भावना/ग्राह्यता तो हो किन्तु उससे नया पदार्थ शुद्ध न रहे, दूषित हो जाए।

(जैसे पात्र में मिट्टी हो जिससे उसमें भरा जल कीचड़ में बदल जाए आदि)। इसीलिए पात्रता के साथ शुद्धता का भाव भी निहित रहता है। जमा-जोड़ यह कि 'पात्रता' का अर्थ अत्यंत व्यापक है। इसको भली प्रकार समझ लेना चाहिए। पात्रता के अभाव में उपलब्धि असम्भव होती है। जैसे वर्षा का जल चट्टानों पर बह जाता है, किन्तु गढ़ों में एकत्रित हो जाता है। अत: जहां सम्भावनाएं कुंठित हों अथवा ग्रहण करने की क्षमता ही न हो (पात्र का ढक्कन बंद हो) वहां लम्बे समय तक जल में डूबे रहने के बाद भी पात्र में जल प्रविष्ट नहीं होता। तभी तो कहा है— **'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।'** (ब्रह्मा के समान गुरु पाकर भी मूर्ख/जड़ हृदय में चेतना/विवेक जागृत नहीं होता)।

गुरु-मार्गदर्शन करता है। प्रेरणा देता है। उत्साहित करता है। शंकाएं, भय व समस्याएं दूर करता है। मंत्र व गुर देता है। शिक्षा-दीक्षा देता है। मजबूत धरातल भी देता है। ज्ञान, प्रकाश व आशीर्वाद देता है किन्तु पात्रता को उत्पन्न करने के लिए शिष्य को ही प्रयास करना होता है। यह निजी गुण है। यह अभ्यास, साधना, तप, संयम व संस्कारों द्वारा प्राप्त होता है। गुरु-कृपा वश शक्ति शिष्य को देना भी चाहे तो भी तब तक नहीं दे सकता, जब तक शिष्य में पात्रता न हो। वह सुपात्र हो या कुपात्र हो, यह अलग मुद्दा है। इससे तो शक्ति या विद्या का सदुपयोग व दुरुपयोग सम्बन्धित है। किन्तु सद् और असद प्रयोग तो तभी होगा जब पहले शक्ति संचय होगा और संचय तब होगा, जब पात्रता होगी। अत: सुपात्र हो या कुपात्र किन्तु शक्ति की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति का 'पात्र' होना अनिवार्य है। इसलिए उच्चतर व मूल साधनाएं करने से पूर्व प्रारम्भिक अभ्यासों द्वारा स्वयं में पात्रता उत्पन्न करना अनिवार्य है।

पात्रता उत्पन्न कर लेना 50 प्रतिशत सफल हो जाना है। फिर पात्रता को बढ़ाया जाता है और कुण्डलिनी जागरण काल के सुअवसर की सजगता व धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा की जाती है। आपने दुनिया भर के आकर्षक किन्तु हलके विषयों को छोड़कर यह शुष्क किन्तु गम्भीर विषय अध्ययन के लिए चुना है, इससे सिद्ध होता है—आप सामान्य श्रेणी से ऊपर के हैं और आपमें पात्रता उत्पन्न कर लेने की सम्भावनाएं हैं। इसके लिए मेरी ओर से साधुवाद स्वीकार करें।

किन्तु! यदि पुस्तक को (इस पुस्तक को) पढ़ने के पीछे आपका उद्देश्य मात्र ज्ञानवर्धन, जिज्ञासा शांति और आत्मसंतुष्टि था, तो वह अब तक पूर्ण हो गया है। पुस्तक का शेष भाग आपके लिए उपयोगी नहीं है। लेकिन यदि आपने कुण्डलिनी जागरण के लिए दृढ़ निश्चय कर लिया है और वास्तव में योगसाधना के इच्छुक हैं। तब पुस्तक का आगे का भाग आप के लिए अति उपयोगी है और यदि बरसाती मेंढक की भांति पुस्तक को पढ़कर अथवा अन्य कारणों से आपके भीतर योग साधक बनने का क्षणिक उबाल आ गया है (तो आप साधना करें, या न करें—उसे

तो ठंडा हो ही जाना है, परन्तु) तब पुस्तक का यह अध्याय आपको अनिवार्य रूप से पढ़ना चाहिए। क्योंकि **अधूरी साधना उपद्रवकारी व खतरनाक होती है**। कहा जाता है कि—**'नीम हकीम ख़तरा ए जान, नीम मुल्ला ख़तरा ए ईमान।'** (आधा चिकित्सक प्राणों के लिए और आधा मुल्ला/कर्मकाण्डी धर्म के लिए खतरा होता है)। मैं इसमें एक पंक्ति और जोड़ना चाहूंगा कि—**'नीम आलिम ख़तरा-ए-जहान'** (आधा ज्ञानी तो पूरे संसार के लिए ही ख़तरा है। संसार में वह खुद भी शामिल है)।

अत: किसी को भरी हुई बन्दूक देने से पहले या तीव्र वेग से भागने वाले उछृंखल, शक्तिशाली घोड़े पर बिठाने से पहले उसे समस्त प्रणाली/सावधानियां, लाभ-हानि आदि बता देने चाहिएं और उसके साहस, निर्णय, बुद्धि व संस्कार भी चैक कर लेने चाहिएं।

संकल्प शक्ति

संकल्प ही समस्त सफलताओं का मूल है क्योंकि यह लगन, हौंसले और निर्णय को टूटने नहीं देता। संकल्प तब होता है जब प्रबल इच्छा शक्ति, अटल आत्मविश्वास और दृढ़ निश्चय एक साथ हो जाते हैं। उर्दू में इसके लिए 'इरादा' शब्द प्रयोग किया जाता है, यानी 'दृढ़प्रतिज्ञ' हो जाना। इसे चलताऊ भाषा में 'ठान लेना' कहा जा सकता है।

किसी भी कार्य को करने के लिए मूलरूप से तीन शक्तियां आवश्यक हैं—ज्ञान शक्ति (काम को कैसे करें), क्रिया शक्ति (काम करना की दृढ़ इच्छा करना)। उदाहरण स्वरूप यदि आप रेलवे स्टेशन जाना चाहते हैं तो रेलवे स्टेशन की पहचान/लक्षणों का ज्ञान, उसकी अवस्थित दिशा का ज्ञान, मार्ग का ज्ञान, मार्ग की कठिनाइयों व उनके निवारण या बचाव का ज्ञान आदि होना चाहिए। इसे ज्ञान शक्ति कहा है। फिर मार्ग पर चलने, मार्ग की कठिनाइयों से जूझने व रेलवे स्टेशन तक पहुंच सकने की शक्ति या सुविधा (चलना या सवारी का अधिकार में होना) का होना भी आवश्यक है। अन्यथा ज्ञान होते हुए भी कार्य नहीं हो सकेगा। यह क्रिया शक्ति है। किन्तु इन दोनों शक्तियों के होने के बाद भी आप रेलवे स्टेशन क्यों नहीं जा रहे ? क्योंकि आपको वहां जाने की ज़रूरत या इच्छा नहीं है। ज़रूरत है भी तो मन नहीं कर रहा। लेकिन जिस दिन इच्छा होगी, मन करेगा या आप जाने के लिए तय कर लेंगे, उस दिन आप जरूर जाएंगे।

अर्थात्—जब तक आप संकल्प नहीं करते तब तक ज्ञान और कर्म आपकी कोई सहायता नहीं कर सकते। लेकिन जिस दिन आप ठान लेंगे, संकल्प कर लेंगे उस दिन ज्ञान न होते हुए भी (रास्ता पूछते-पूछते), शक्ति न होते हुए भी, घिसटते-घिसटते, जैसे-तैसे, देर-सवेर पहुंच ही जाएंगे। फिर भी क्रिया तो करनी ही पड़ेगी।

ज्ञान तो बटोरना ही होगा। अत: संकल्पशक्ति तीनों में श्रेष्ठ होते हुए भी ज्ञान व क्रिया शक्ति के साहचर्य से ही तीव्रता व निश्चिंतता से उपलब्धि कराने वाली होती है। ज्ञान के मामले में अनुभवी व्यक्ति/गुरु/श्रेष्ठ पुस्तक आपका पथ प्रदर्शित करती है। किन्तु संकल्प और क्रिया तो आप ही को करने होंगे। यह कोई हलवा नहीं कि बनाए कोई और खा कोई और ले। यह तो योग साधना है—जो करता है, वही पाता है। यह आत्मोत्थान की कला/विद्या है। अपनी ही आत्मा का कल्याण इसके द्वारा सम्भव है, दूसरे की नहीं।

इसलिए सर्वप्रथम संकल्पशक्ति का होना (प्रयोगात्मक क्षेत्र में जाने के लिए) आवश्यक है। संकल्प न होगा तो पुस्तक पढ़कर आप एक ओर रख देंगे। अभ्यास करने को प्रेरित न होंगे। प्रेरित भी होंगे तो नियमित न होंगे। नियमित भी हो गए तो निरंतर नियमित न रह सकेंगे क्योंकि नियमित होने के लिए संयम और निरंतर डटे रहने के लिए धैर्य, साहस व संकल्प—तीनों ही की आवश्यकता पड़ेगी। जमा-जोड़ यह कि बिना संकल्प के या तो शुरुआत ही नहीं होती। और महत्त्वाकांक्षा या उत्सुकता वश शुरुआत हो भी जाए तो वह कार्य बीच ही में छूट जाता है, सिरे तक नहीं चढ़ता। ज्ञान व क्रिया शक्ति तो पात्रता को/सम्भावना को उत्पन्न करती है। किन्तु संकल्प शक्ति सफलता को दिलाती है।

कई बार भाग्य के कारण, त्रुटि के कारण, भ्रम के कारण अथवा अन्य कारणों से सफलता नहीं मिलती अथवा संदिग्ध हो जाती है। किन्तु संकल्पशक्ति की दृढ़ता अन्तत: व्यक्ति को सफलता दिला ही देती है। अनेक ऐसे उदाहरण पुराणों आदि में प्राप्त होते हैं (जैसे 'जड़भरत' की कथा आदि) जिनमें साधक ने कई जन्मों में सफलता अर्जित की। अथवा विश्वामित्र तथा कण्डु ऋषि आदि की कथाएं जिन्होंने एक ही जन्म में साधना से पतित हो जाने के बाद भी अपनी संकल्प शक्ति द्वारा अन्तत: सफलता प्राप्त की। अथवा दुर्वासा ऋषि की कथाएं जो अत्यंत क्रोध के कारण हर बार प्राप्त शक्ति का क्षय कर लेते थे। परन्तु संकल्प के बल पर उसे पुन: हासिल कर लेते थे।

लगन व धैर्य

लगन और धैर्य न केवल पात्रता को ही उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, बल्कि संकल्प शक्ति को भी मजबूती देते हैं। तप को अधिक मूल्यवान व प्रभावशाली बनाते हैं और सफलता को सुनिश्चित करने मे अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यदि लगन न हो तो नियम और निरंतरता का पालन नहीं हो पाता और यदि धैर्य न हो तो व्यक्ति घबराकर, उकताकर अथवा निराश होकर साधना अधूरी छोड़ देता है। अत: लगन व धैर्य आवश्यक है और धैर्य की तो परीक्षा ही सदैव विषम स्थितियों में होती है। जैसा कि तुलसीदास जी ने कहा भी है—

धीरज धरम मित्र अरु नारी।
आपतिकाल परखियेहुं चारी।

अधीरता वैसे भी सब कामों को गड़बड़ा देती है। जल्दबाजी में किए गए काम न केवल प्राय: असफल होते हैं बल्कि अन्य कामों को भी बिगाड़ते हैं, अथवा अन्य नुकसान भी कराते हैं। महत्त्वाकांक्षा की उच्चता, फल पाने की शीघ्रता और परिश्रम या लगन का अभाव अधीरता उत्पन्न करता है। दूसरों से प्रतियोगिता की भावना या उनकी उपलब्धियों से ईष्याग्रस्त होना और अपने बाहुबल पर भरोसा न होना इस अधीरता को और भी बढ़ा देता है। अधीरता से व्यग्रता और अशांति उत्पन्न होती है जिससे विवेकशक्ति, निर्णयक्षमता, दूरदर्शिता तथा विश्लेषणात्मक बुद्धि प्रभावित होते हैं। परिणामत: गलत निर्णय ले लिए जाने, भ्रमित हो जाने व स्थिरता खो देने के नतीजे सामने आते हैं—तो गतिहीनता, अकर्मण्यता व असफलता को सामने लाते हैं।

योग विद्या में या कुण्डलिनी जागरण के मार्ग पर तो जल्दबाजी या अधैर्य शत-प्रतिशत अकल्याणकारी है। STEP-BY-STEP सीढ़ी-दर-सीढ़ी आगे बढ़िए। एक पैर भूमि पर जम जाए तो दूसरा हवा में उठाइए। दोनों पैर एक साथ हवा में उठाने की शीघ्रता मुंह के बल नीचे गिरा देने का कारण बन सकती है। अत: छलांग लगाने की कोशिश हरगिज न करें। हर सीढ़ी, हर अभ्यास क्रमश: पात्रता को बढ़ाएगा। पात्रता जैसे-जैसे बढ़ेगी, शक्तियां वैसे-वैसे स्वत: ही प्राप्त होती चली जाएंगी। किन्तु सीढ़ियों को फलांगने से बिना पात्रता को बढ़ाए आप प्रगति करने का प्रयास करेंगे, जिसके परिणाम में असफलता, निराशा, पछतावा, विपरीत फल मिलना अथवा अन्य उपद्रव होंगे, जो घातक भी हो सकते हैं।

लगन, परिश्रम और कर्मठता की मां होती है। लगन व्यक्ति में प्रेरणा, स्फूर्ति, क्षमता व उत्साह बढ़ाती है। लगन के कारण व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक कर जाता है और सामर्थ्य से अधिक कर गुजरने के बाद भी श्रमित नहीं होता। लगन, नियम और निरंतरता को टूटने नहीं देती। अभ्यास को सदैव गतिशील रखती है साथ ही आशा और विश्वास को भी मजबूत बनाती है।

नियम, निरंतरता या अभ्यास का योगविद्या में महत्त्व क्या है? यह बताना सूर्य को जुगनू दिखाना होगा। प्रत्येक विद्या अभ्यास से ही सिद्ध होती है। और अभ्यास छूट जाने पर कमजोर हो जाती है। तभी तो कहा है—**'अभ्यासं करी च विद्या'** अथवा—

करत करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान।

नियम या निरंतरता टूटी और अभ्यास भंग हुआ। अभ्यास भंग हुआ तो प्रगति अवनति में बदल गई। अत: निरंतर, नियम पूर्वक अभ्यास आवश्यक है। अन्य

विषयों के प्रलोभन, व्यस्तता, मन न लगना, आलस्य, प्रमाद, श्रम आदि अनेक कारण अभ्यास की निरंतरता में बाधक होते हैं। परन्तु लगन का पक्का आदमी सभी पर विजय पाता हुआ, मन को वश या नियंत्रण में करके अभ्यास बनाए रखता है। परिणाम सफलता व प्रगति के रूप में सामने आता है। शुरू में 20 पौंड का वजन उठाना भी जिसे कठिन लगता हो वह भारोत्तोलक अभ्यास की निरंतरता से ही आखिर 300-400 पौंड तक का वजन भी सुगमता से उठा पाता है।

क्योंकि अभ्यास की निरंतरता शनैः शनैः उसकी पात्रता को, उसकी शक्ति व सामर्थ्य को बढ़ाती है। वही भारोत्तोलक यदि जल्दबाजी में आकर प्रारम्भ में ही अधिक वजन उठाने का प्रयास करेगा तो सफल नहीं होगा अपितु अपनी कमर या पैर तुड़वा बैठेगा या नाभ सरकवा बैठेगा। अतः लगन और धैर्य दोनों का साधक में होना आवश्यक है बल्कि कहिए कि अनिवार्य हैं।

सजगता व सही दिशा

दृढ़ संकल्प व्यक्ति, जो लगन व धैर्य से सम्पन्न हो और पात्रता से भी सम्पन्न हो, वह भी विभ्रम, भ्रम, दिशाभ्रम, प्रमाद या सजगता के अभाव के कारण सफल नहीं हो पाता। या तो अवसर पहचान नहीं पाता या अवसर चूक जाता है, या यूं ही गलत दिशा में हाथ-पांव मारता रहता है। जबकि सजग व बुद्धिमान व्यक्ति अवसर को उत्पन्न कर लेता है। वैसे भी किसी विद्वान ने क्या खूब कहा है—**'अवसर के चेहरे पर बाल होते हैं, और उसका सिर गंजा होता है।'** (इसलिए आता हुआ वह सरलता से पहचाना नहीं जाता। और जाता हुआ सरलता से पकड़ में नहीं आता, फिसल जाता है)। यह बात सही है। ज़रा सी लापरवाही, ज़रा सी चूक आपकी बरसों की साधना को एक क्षण में व्यर्थ कर सकती है।

सजगता के साथ विभ्रम, दिशाभ्रम तथा प्रमाद—यह जो तीन अर्थ जुड़े हुए हैं, इन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इन्हें सरलता से समझने के लिए तीन छोटे से उदाहरणों का सहारा लेंगे।

रेलवे स्टेशन जाने का ही उदाहरण लें—पूरी लगन, धैर्य और इरादे से, पूरी ईमानदारी से चलते हुए भी शायद आप जिंदगी भर रेलवे स्टेशन न पहुंच पाएं, यदि आप उसकी विपरीत दिशा में यात्रा आरम्भ कर दें। अतः दिशा-ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। दिशा भ्रमित होने से ही भारत को खोजने निकला वास्कोडिगामा अमेरिका जा पहुंचा था और उसे ही भारत समझ बैठा था। बाद में यदि कोलम्बस ने भारत को न ढूंढ निकाला होता तो सारी दुनिया अमेरिका को भारत ही समझती रहती। ऐसी गलतियां ज्ञान के क्षेत्र में भी हो सकती हैं। यदि हमें दिशाभ्रम हो या हमें अपने लक्ष्य/गंतव्य की पहचान न हो। यही जानना काफी नहीं कि यात्रा कैसे और कहां से शुरू करनी है। यह ज्ञान भी आवश्क है कि यात्रा किस तरफ और कब तक करनी है। या यात्रा समाप्त कहां करनी है।

दूसरा उदाहरण देखिए। आप रात में एक नाव में बैठे और नदी पार करने के लिए उसे खेना शुरू किया। रात भर नाव खेते रहे, मगर किनारे पर न पहुंचे। सुबह होने पर पता चला कि नाव की रस्सी तो खूंटे के साथ ही बंधी रह गई थी। यह अज्ञान और प्रमाद का एक उदाहरण है। प्रमाद का दूसरा उदाहरण यह कि नाव खेते हुए गंतव्य स्थल से आगे निकल गए। बाद में ध्यान हुआ तो पता चला कि जहां उतरना था वह स्थान तो पीछे रह गया। यानि लक्ष्य पहचानने में प्रमादवश चूक गए। इस प्रकार प्रमाद के अनेक उदाहरण हो सकते हैं।

विभ्रम के उदाहरण में आप सजग तो हैं किन्तु भ्रमित होकर रेलवे स्टेशन को बस अड्डा या बस अड्डे को रेलवे स्टेशन समझ बैठे और यात्रा समाप्त कर दी। (जबकि वह जारी रखी जानी चाहिए थी) अथवा यात्रा जारी रखी (जबकि वह बंद कर दी जानी चाहिए थी)। या जैसे अंधकार में रस्सी को सांप समझ बैठे और घर में जा छिपे। किवाड़ बंद कर लिए अथवा सांप को रस्सी के धोखे में उठा लिया और सर्पदंश के शिकार हो गए। भ्रम, विभ्रम, धोखा, मारीचिका, मिथ्या आभास, गलतफहमी आदि सब इसी के अन्तर्गत आते हैं। भ्रम का अर्थ ही है कि जो जैसा हो उसे वैसा न समझना या जो जैसा ना हो उसे वैसा समझना।

ज्ञान के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में तो इस प्रकार के संभ्रमों की और भी अधिक और व्यपाक सम्भावनाएं हैं। क्योंकि यह क्षेत्र औरों की अपेक्षा अधिक जटिल, अधिक उलझे हुए, अधिक क्लिष्ट, अधिक दुरूह, अधिक गहन, अधिक सूक्ष्म और अधिक रहस्यपूर्ण हैं। अतः सजगता, ज्ञान, दिशा आदि के सम्बन्ध में पूर्णता ज़रूरी है।

कुण्डलिनी जागरण के समय का 'स्पार्क' आपके प्रमाद या असावधानी से MISS हो सकता है। आप मंथन के बाद सर्वप्रथम निकलने वाले विष को अमृत समझकर भ्रमित हो सकते हैं अथवा विष की भयानकता या ऊष्णता से भयभीत होकर मंथन कार्य को अपूर्ण छोड़ सकते हैं। इस प्रकार न केवल बाद में निकलने वाले अमृत को आप MISS करेंगे बल्कि अपने इस कटु अनुभव के आधार पर (जिसका कारण आप ही की अल्पज्ञता, संभ्रम, दिशा भ्रष्टता या असावधानी होगी)। पूरी योग प्रणाली के सम्बन्ध में अपने मन में कोई अनुचित धारणा बना सकते हैं। और बाद में अपनी दुर्भावना व कटु अनुभव का प्रचार कर अन्य जिज्ञासुओं को भयभीत, त्रस्त, निराश अथवा 'मिसगाइड' कर सकते हैं। जो बड़ी भारी विडम्बना होगी।

सत्संग, चिन्तन व स्वाध्याय

जैसा व्यक्ति चिन्तन करता रहता है वैसा ही वह बन जाता है। पुरानी कहावत है और बहुत सही है—आदमी की सोच, उसकी कल्पना, उसके विचार, उसका

चिन्तन सब उसके मन-मस्तिष्क में सूक्ष्म परिवर्तन करते हैं। जिस विषय का वह चिन्तन करता है, उस विषय में डूबकर आनन्द लेने लगता है। अत: उस विषय में आगे बढ़ने की उसके अन्तर्मन में प्रेरणा होती रहती है। बार-बार का चिन्तन प्रेरणा को बलवती बनाता है। प्रेरणा उत्साह में बदलती है, उत्साह पहले तीव्र इच्छा में और फिर दृढ़ इच्छा में बदलता है, इच्छा की प्रबलता या दृढ़ता निश्चय को उत्पन्न करती है और निश्चय अंतत: संकल्प के रूप में उभर कर सामने आता है। इस प्रकार चिन्तन अन्तत: क्रियात्मक रूप लेता है जैसे रस्सी के एक सिरे को यदि लगातार उमेठते रहे तो बल शनै: शनै: रस्सी के दूसरे सिरे पर पहुंच जाते हैं। अत: चिन्तन का भी अत्यंत महत्त्व है और चिन्तन को संगति या अध्ययन दो चीज़ें विशेष रूप से प्रभावित करती हैं।

जैसी व्यक्ति की 'कम्पनी' होती है या जैसा वह पढ़ता रहता है, उसी के अनुसार उसकी सोच/चिन्तन 'डेवलप' होता है। इसलिए पुस्तकों का उत्तम तथा संगति का श्रेष्ठ होना ज़रूरी है। यही सद्संगति और स्वाध्याय का महत्त्व है। संगति में व्यक्ति सुनता व देखता है। अध्ययन में पढ़ता है। बाद में इस सुने हुए को, पढ़े हुए को गुनता है। यही चिन्तन है। गुनकर उसे आत्मसात् करता है। आत्मसात् कर व्यवहार या प्रयोग में लाता है। प्रयोग में न लाया जाए, वह ज्ञान दिमाग में पड़ा हुआ भी उतना ही बेकार है, जितना पुस्तक में पड़ा हुआ। पुस्तक मस्तिष्क में रखी है या पुस्तकालय में बेकार है, यदि प्रयोग में नहीं ढाली गई। उलटे पढ़ने वाले के दिमाग में एक अहं और पलने लगता है कि मैंने अमुक विषय पर इतनी पुस्तकें पढ़ लीं। वास्तव में वे पढ़ी गई पुस्तकें यदि समझीं और प्रयोग में नहीं लाई गईं तो व्यक्ति उन पुस्तकों का केवल वजन ही ढोता है जैसे गधे की कमर पर पुस्तकें लाद दें तो गधा विद्वान नहीं हो जाता, मात्र उन पुस्तकों को वहन करता है। कहा भी है—

'यथा खरश्चंदन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चंदनस्य।' (जैसे चंदन के काष्ठ को ढोने वाला गधा मात्र उस काष्ठ के भार को जानता है, उसके मूल्य को नहीं)। इसीलिए तो आदि गुरु **शंकराचार्य** को कहना पड़ा—

पशोः पशुः यो न करोति धर्मं।
प्राधीत् शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः॥

(अर्थात्—पशुओं से भी पशु वह है जो धर्म का पालन नहीं करता। जिसे शास्त्रों को पढ़ लेने के बाद भी आत्मबोध नहीं होता)। अत: अध्ययन वही जिसमें 'स्व' सम्मलित हो। तभी 'स्वाध्याय' कहा गया। 'स्व' शामिल होगा तो पढ़ा हुआ समझ में आएगा। वरना किताब पर नज़र मारना या रटना होगा।

'स्व' को इनवॉल्व न करने पर कुछ लाभ नहीं है—न तो पढ़ने का, न तो संगति का और न ही जप-तप का। फिर सब पाखण्ड रह जाता है। कोरा कर्मकाण्ड रह जाता है—ऐसे ही लोगों के लिए *कबीर* को कहना पड़ा—

माला फेरत जुग भया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर।

इसलिए मन को 'स्व' को डुबोए बिना किए गए कार्य का न तो पूर्ण लाभ ही मिलता है न आनन्द ही होता है। यहां तक कि सम्भोग तक में आनन्द तभी आता है जब 'स्व' उस क्रिया में संलग्न हो। अन्यथा सम्भोग क्रिया भी यांत्रित हो जाती है। सम्भोग मैथुन में बदल जाता है। मैथुन में मात्र एक 'मिथुन' (जोड़ा) मिलता है जबकि—**सम्भोग (सम+भोग) तभी होता है, जब उस भोग में समता होती है। यदि विषमता हो, असंतुलन हो, विरोध हो, स्वेच्छा न हो तब वह मैथुन सम्भोग कहलाने के योग्य नहीं होता।** सम्भोग कहना है तो भोग से पहले समता आवश्यक है।

ठीक वैसे ही, जैसे **'संगति' (संग+गति) संग-संग गति करना है।** संग-संग का मतलब है लिपट कर चलना। लिपट कर चलने में विरोधाभास नहीं होता। आगे-पीछे या दाएं-बाएं चलने में खींचातानी हो सकती है, अवरोध हो सकता है, विषमता हो सकती है। लेकिन संगति में समता और संतुलन, लयबद्धता के साथ अवश्य ही होगा अन्यथा उसे 'संगति' नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे सरल किन्तु प्रभावशाली उदाहरण संगीत है जिसमें नर्तक, वादक और गायक तीनों ही संगति करते हों उनकी संगति 'सम' पर की जाती हो या संगति (ताल व लय को सुरों के साथ लिपट कर चलना) ही सौंदर्य उत्पन्न करती हो। संगति और शोर में संगति का ही अन्तर है। संगति ही रस उत्पन्न करती है। रस से विभोरता और विभोरता से एकाग्रता व आनन्द होता है। अत: सत्संग, स्वाध्याय व चिंतन आवश्यक है।

आहार व शुचिता

आहार, विहार और निद्रा—आयुर्वेद स्वास्थ्य के ये तीन आधार मानता है। इन तीनों का संतुलन ही स्वास्थ्य है। इनका गड़बड़ होना ही त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) को असंतुलित करके रोग उत्पन्न होना है। (मानसिक रोगों का प्रधान कारण कर्मों और विचारों में असंतुलन है) अत: आहार स्वास्थ्य और ऊर्जा प्राप्ति का प्रधान स्तम्भ है। यह 'ईंधन' के रूप में शरीर को गतिमान रखता है। इसलिए आहार का पौष्टिक व सुपाच्च्य होना अत्यंत आवश्यक है साथ ही आवश्यक है उसे सही प्रकार से सही समय पर खाना। और अपनी जिह्वा या स्वाद पर अंकुश रखना। क्योंकि स्वाद के चक्कर में आदमी रोगों को आमंत्रित करता है। कहावत है कि **'मनुष्य अपनी कब्र अपने दांतों से खुद खोदता है।'** अथवा **'भूखे रहकर कम लोग मरते हैं किन्तु ज्यादा खाकर अधिक लोग मरते हैं,'** सच है। बहुआहार, बार-बार खाना आलस्य, प्रमाद, स्थूलता, गुरुता व निद्रा के साथ रोगों को भी बढ़ाने वाला होता है और आयु को कम करने वाला।

जैसा कि कहा गया है—AS LONGER YOUR BELT, AS SHORTER YOUR LIFE. (आपकी बैल्ट जितनी लम्बी होती जाती है, पेट जितना बढ़ता जाता है, जीवन उतना ही कम होता जाता है।) क्योंकि पेट का बढ़ना, मोटा हो जाना रक्तचाप, हृदयाघात, मधुमेह, गैस, कब्ज, अपच आदि दर्जनों रोगों को उत्पन्न करता है। इसके अलावा जैसा कि धर्मग्रन्थों की मान्यता है कि—**'आदमी की रोटी व सांसें गिनती की होती हैं।'** यानि इनका कोटा लिमिटेड या फिक्स होता है। ऐसे में अधिक खाना या जल्दी-जल्दी, छोटी-छोटी सांसें लेना जीवन को कम कर ही देगा। जबकि कम खाने और गहरे लम्बे सांस लेने से (प्राणायाम—इसके विषय में आगे पढ़ेंगे) जीवन दीर्घ बनेगा। अतः भूख से सदैव कम खाना चाहिए और भली प्रकार चबा-चबाकर खाना चाहिए। इससे दांतों का काम आंतों को नहीं करना पड़ता। पाचनतंत्र पर जोर नहीं पड़ता। खाना शीघ्र पचता है तथा फुर्ती, ताजगी और सजगता बनी रहती है।

जीने के लिए खाओ न कि खाने के लिए जीओ। चटपटा, मसालेदार, तेल तला, गरिष्ठ भोजन हानिकर है। सप्ताह में एक उपवास या व्रत श्रेष्ठ रहता है। इससे पाचन तंत्र आदि को विश्राम मिलता है और व्यक्ति सर्वप्रथम भूख, प्यास व स्वाद के माध्यम से अपने मन को नियंत्रित करना सीखता है। संयम का यह प्रारम्भिक पाठ आध्यात्मिक साधनाओं में आगे अच्छा आधार बनाता है। भोजन का अपव्यय होना तथा खाद्य सामग्री की बचत का लाभ अलग होता है।

पाश्चात्य दर्शन और आधुनिक विज्ञान भोजन को कैलोरीज़ में तोलता है। प्रोटीन, वसा, खनिज, विटामिन्स आदि के आधार पर उसकी पौष्टिकता व गुणवत्ता को देखता है। यह स्थूल पैमाना है। भारतीय दर्शन, आयुर्वेद तथा अध्यात्म भोजन को गुण व संस्कार के आधार पर भी कसता है, जो कि सूक्ष्म पैमाना है। किन्तु सूक्ष्म कार्यों में सूक्ष्मतम बातों का ध्यान रखना ही पड़ता है। कबाड़ी की तराजू से सुनार की तराजू छोटी होती है परन्तु बहुमूल्य को तोलती है। सूक्ष्म तत्त्व या घटक को प्रभावित करने वाले कारण भी सूक्ष्म होते हैं। बड़े पेड़ को कभी-कभी एक आंधी भी नहीं हिला पाती, पर बाल को हिलाने के लिए एक फूंक भी पर्याप्त होती है। मन संस्कार आदि अति सूक्ष्म विषय हैं। अतः इनको प्रभावित करने वाले सूक्ष्म कारणों के प्रति सतर्कता तो बरतनी होगी।

गुणों के आधार पर सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक तीन प्रकार का आहार माना गया है। आमिष भोजन (मांसाहार) तो निरा तामसिक है ही, तामसिक भोजन से तो खैर सभी को बचना चाहिए, परन्तु योग साधना वालों को सदा सात्त्विक आहार ही लेना चाहिए। इससे संस्कारों में शुद्धता आती है तथा सद्गुणों, सद्वृत्तियों, चैतन्यता, स्फूर्ति, हल्कापन, शान्ति, स्थितरता, विवेक, बुद्धि आदि का विकास होता है। जैसे गाय का दूध सात्त्विक, बकरी का राजसिक और भैंस का दूध तामसिक

माना गया है। **यही कारण है कि ऋषियों ने सब कुछ त्याग देने पर भी गाय को नहीं त्यागा।** गाय का मल, मूत्र, दूध, दही व घी (पंचगव्य) धार्मिक क्रियाओं तथा आयुर्वेदीय औषधों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन यह एक अलग चर्चा का विषय है।

सात्त्विक भोजन भी मौन रहकर करना चाहिए। क्योंकि भोजन करते समय जैसे विचार भोजनकर्ता के मन व मस्तिष्क में होते हैं, भोजन का वैसा ही गुण उसे प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, खाना बनाने वाले तथा खाना परोसने वाले की मानसिकता का प्रभाव भी भोजन के संस्कारों को प्रभावित कर देता है। अत: योगी लोग प्राय: अपना भोजन स्वयं ही बनाते हैं अथवा अपने परिवार में ही भोजन करते हों (कम-से-कम होटलों या घर से बाहर कहीं तो बिल्कुल नहीं)।

आहार के साथ संस्कारों के शोधन के लिए शुचिता का भी बहुत महत्त्व है। शुचिता शब्द 'शौच' से बना है जिसका अर्थ है—मलों का निष्कासन कर, साफ व स्वच्छ होना। विकारों को नष्ट कर शुद्ध व निर्विकार होना। दोषों को नष्ट कर निर्दोष और पवित्र होना। पारदर्शी होना। यद्यपि इस विषय में हम अगले अध्याय में भी पढ़ेंगे, तो भी यहां इसकी चर्चा आवश्यक है। क्योंकि जिस 'पात्रता' का हम पहले जिक्र कर आए हैं उसमें रिक्तता, सम्भावना और ग्रहण करने की सामर्थ्य/ग्राह्यता का विशेष रूप से शुचिता के साथ गहन सम्बन्ध है।

मोटे तौर पर शौच या शुचिता का अर्थ मल विसर्जन तथा शरीरिक स्वच्छता से लिया जाता है। यह शुचिता के अर्थों में एक अवश्य है परन्तु सम्पूर्ण नहीं। शरीर की सफाई या स्वच्छता बाहर से, शरीर की स्वच्छता व सफाई भीतर से भी और शारीरिक कर्मों में भी। मन, विचार और बुद्धि में भी, वाणी में भी और अन्तरात्मा में भी। सभी स्थानों में शुद्धता, पवित्रता, निर्मलता व स्वच्छता होनी चाहिए। यही शुचिता का सम्पूर्ण अर्थ है।

शुचिता के अर्थों को भली प्रकार से जानना होगा। **यदि केवल स्नान से ही इसका सम्बन्ध होता** (बाह्य सफाई से) **और यदि पवित्रता का सम्बन्ध मात्र गंगाजल से होता तो गंगा में रहने वाली, नदियों में रहने वाली मछलियां सबसे शुद्ध और पवित्र होतीं क्योंकि वो तो नित्य स्नान की अवस्था में रहती हैं** (मगर वह सबसे अधिक दुर्गंध वाले जीवों में एक होती हैं)। अत: स्वच्छता या शुचिता का अर्थ केवल बाह्य शरीर से लेना सरासर भूल होगी।

मल है, तो सड़ांध है। विकार है तो अशुद्धता है। दोष है तो अपवित्रता है। भले ही बाह्य शरीर में, भले ही भीतरी शरीर में, भले ही मन-मस्तिष्क में, भले ही वाणी व विचार में, भले ही मन-मस्तिष्क में, भले ही वाणी व विचार में, भले ही कर्मों या भावों में, भले ही आत्मा में। जब तक मन, आत्मा या बुद्धि कलुषित हैं, जब तक बुद्धि, विचार व मस्तिष्क दूषित हैं, जब तक भाव, कर्म और वाणी

कपटपूर्ण, अशोभनीय, कटु या विकारग्रस्त हैं और जब तक शरीर के भीतर व बाहर मल शेष है। तब तक शुचिता पूर्ण अर्थों में लागू ही नहीं होती। जब इन सबका शोधन हो जाता है तब पवित्रता उत्पन्न होती है। जो 'पात्रता' में अति तीव्र विकास करती है। जल के भीतर गया रिक्त पात्र जैसे तुरंत जल को स्वयं में आकर्षित कर लेता है (अपनी रिक्तता, सम्भावना, ग्राह्यता या गुञ्जाइश के कारण) वैसे ही पवित्र व रिक्त मन आदि तुरन्त ही आध्यात्मिक शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यही 'पात्रता' का प्रभाव है।

किन्तु कीचड़ से भरे पात्र में डाला गया दूध भी जिस प्रकार दूषित या व्यर्थ हो जाता है। उसी प्रकार कलुषित या मलिन मन आत्मा और इन्द्रियों वाले साधक को यदि अपनी संकल्प शक्ति के बल पर या भाग्यवश सिद्धियां या शक्तियां मिल भी जाती हैं तो वे न केवल व्यर्थ जाती और नष्ट होती हैं। बल्कि भय, उच्चाटन, अति तनाव, अपराध-बोध आदि अनेक मनोविकारों तथा ग्रन्थियों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। कई बार ऐसे साधक अर्ध विक्षिप्त, विक्षिप्त अथवा घोर मानसिक असंतुलन या असाध्य शारीरिक रोगों के शिकार भी होते हुए देखे गए हैं। अत: 'पात्रता' की पूर्णता उत्पन्न किए बिना ही 'शक्तिपात' या कुण्डलिनी जागरण के प्रयास कभी भी कल्याण कार्य नहीं कहे जा सकते।

शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा और वाणी की शुचिता तो बिना समझाए भी समझ में आती है (अत: इसको एक्सप्लेन करने में पृष्ठ सामग्री का अपव्यय नहीं करेंगे) लेकिन कर्मों की शुचिता के विषय में कुछ कहना आवश्यक महसूस होता है। क्योंकि मर्म को न जानने वाले लोग इसे दिखावा, ढोंग अथवा ड्रामेबाजी (नाटकीयता) समझ लेते हैं। कर्म की शुचिता में केवल कर्म ही नहीं कर्म करने के साधन, उपकरण आदि भी आते हैं साथ ही स्थान भी। इन सभी में शुचिता होनी चाहिए। स्थान की शुचिता से पूर्व साधनों व उपकरणों की शुचिता का वर्णन करेंगे, कर्मों की शुचिता सहित। (समूचों की व्याख्या अनावश्यक होगी। एक ही उदाहरण से सबको समझा जा सकता है, अत: व्यर्थ कलेवर वृद्धि नहीं करेंगे)।

साधनों व उपकरणों की शुचिता

आपने प्राय: विद्यार्थियों को अपनी पुस्तक या पेन आदि गिर जाने पर, अथवा उन पर पैर लग जाने पर (अनजाने में भी अपमान या तिरस्कार हो जाने पर) उन्हें उठाकर माथे से लगाते या चूमते अवश्य देखा होगा। ऐसे संस्कार विद्यार्थियों में डाले जाते थे कि वे विद्या का सम्मान करें। आज का पता नहीं, पहले तो प्राय: सभी बालकों में ये संस्कार हुआ करते थे। इसके अलावा ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रों का पूजन, क्षत्रियों द्वारा शस्त्रों का, वणिकों द्वारा तुला व बहीखातों का, मिस्त्रियों द्वारा अपने

औजारों का पूजन होता हुआ भी आपने अवश्य देखा होगा। यह आदर और व्यवस्था का भाव अपने साधनों या उपकरणों के प्रति शुचिता का उदाहरण है—कर्म से भी, मन से भी।

मोटे तौर पर यह सब अंधविश्वास या रूढ़िवादिता लगता है। मानो ढोंग हो रहा हो। किन्तु इसके बहुत से वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक लाभ हैं जबकि हानि केवल एक। वह यह कि आधुनिकता का चश्मा पहनने वाले कुछ अल्पज्ञ लोग जो प्राचीन होने के कारण ही ठुकरा देते हों। उसे गुण-दोष, लाभ-हानि जाने बिना वे लोग ऐसा करने वालों को व्यंग्य या उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। पर वास्तव में स्वयं वे ही व्यंग्य और उपेक्षा के पात्र हैं, अपनी हठधर्मिता या अल्पज्ञता और अपनी थोथी मानसिकता के कारण।

साधनों व उपकरणों के प्रति शुचिता का सबसे पहला लाभ यह है कि उपकरण व साधन स्वच्छ और व्यवस्थित रहते हैं जिससे देखने में भी अच्छा लगता है। साधनों व उपकरणों की आयु, टिकाऊपन, उनकी सुचारुता व कार्यक्षमता बढ़ती है। अवसर होने पर वे तुरन्त प्रयोग में लाए जा सकते हैं। उन्हें ढूंढने या दुरुस्त करने में अवसर हाथ से नहीं निकलता। इसके अलावा व्यक्ति को स्वच्छता, व्यवस्था और सलीके की आदत पड़ती है किन्तु यह सब छिट-पुट लाभ हैं। असली लाभ तो बहुत गहरे हैं, यद्यपि शनैः शनैः प्राप्त होते हैं।

जैसे—जो हमारी आजीविका में, सफलता या शक्ति को प्राप्त करने में हमारे सहयोगी हैं उनके प्रति कृतज्ञता या आभार का प्रदर्शन करना हमें धर्मभीरु व सद्गुणी बनाता है। अपने साधनों व उपकरणों के प्रति शुचिता या आदर रखने वाला उनका कोई दुरुपयोग करने की तो सोच भी नहीं सकता। जो अपने साधन, उपकरण आदि का दुरुपयोग नहीं कर सकता, वह भला उनसे प्राप्त की गई शक्ति का दुरुपयोग कैसे कर सकता है ? और जो अपने साधन व उपकरण को इतना आदर व सम्मान देगा, वह अपने बुजुर्गों तथा आदरणीय व्यक्तियों को कितना सम्मान देगा। उनके अनादर के बात तो वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। इस प्रकार एक मामूली-सा प्रत्येक व्यक्ति ऐसा संस्कारित होगा तो समाज स्वर्ग बन जाएगा। विश्वमैत्री, विश्व बंधुत्व और विश्व शांति के लिए नारे लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह स्वतः स्थापित हो जाएंगे। यही तो भारतीय दर्शन है। **'वासुदेवाय कुटम्बकम्'** तभी तो सम्भव है और व्यक्ति का आत्मोत्थान, पात्रता, शुद्धता व पवित्रता इसी तरह के छोटे-बड़े नियमों के मन से पालन पर ही तो आधारित है।

अतः मन, वाणी, आत्मा, बुद्धि, विचार, शरीर व कर्म के साथ साधनों व उपकरणों की शुचिता भी नितांत आवश्यक है और साथ ही आवश्यक है—स्थान की शुचिता, किन्तु स्थान की शुचिता का अर्थ अपने घर, घर के आस-पास या साधना-कक्ष को मात्र साफ सुथरा रखना ही नहीं है। उसे पवित्र, निर्मल व निर्विकार

रखना भी है और यह मात्र अगरबत्ती जला देने या घंटा या शंख बजा देने से ही नहीं होता यह सब (यद्यपि **घंटा व शंख का नाद जहां तक जाता है, वहां तक के कीटाणुओं को वायुमंडल नष्ट करता है** पर यह सब भौतिक शोधन है)। उसको अपने कर्मों तथा विचारों द्वारा संस्कारित करने से होता है। बेहतर होगा कि इस मुद्दे को भी थोड़ा-सा विस्तार से लें।

स्थान की शुचिता

क्रिया, पात्र, स्थान और समय जब एक साथ साधे जाते हैं तब कार्य शीघ्र सिद्ध होते हैं। अत: स्थान को साधना भी परमावश्यक है। एक ही कार्य एक ही स्थान पर लम्बे समय तक करते रहने से उस स्थान में उस कार्य विशेष से सम्बन्धी संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। कर्ता ज्यों ही उस स्थान पर पहुंचता है उसकी मानसिकता स्वत: ही उस कार्य विशेष को करने के लिए तैयार हो जाती है, अथवा उसका 'मूड' वैसा ही हो जाता है। यदि उस स्थान पर केवल और केवल वही कार्य विशेष किया जाता रहे और अन्य कोई कार्य वहां न किया जाए। अन्य किसी कार्य के विषय में वहां सोचा भी न जाए, तो वह स्थान 'सिद्ध' हो जाता है। वहां आने वाले हर व्यक्ति (मात्र कर्ता ही नहीं) की मानसिकता वहां आते ही परिवर्तित हो जाती है और मूड वैसा ही हो जाता है, जैसा काम कि वहां पहले किया जाता रहा है। यही है स्थान की शुचिता का भावार्थ। यही है स्थान की पवित्रता या 'सिद्धि'।

उदाहरण के तौर पर—व्यायामशाला में जाते ही व्यायाम करने का मन होने लगता है। मंदिर में जाते ही मन में श्रद्धा व भक्ति का उदय हो जाता है। श्मशान में जाते ही उच्चाटन, निराशा व वैराग्य के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जीवन की क्षणभंगुरता का विचार आने लगता है। शौचालय में बैठते ही मलत्याग के लिए दबाव (प्रेशर) बन जाता है। शयनकक्ष में जाकर पलंग पर लेटते ही नींद आने लगती है (बशर्ते कि शयनकक्ष को अन्य कार्यों में प्रयुक्त न किया जाता हो)। अथवा हस्पताल में जाते ही व्यक्ति की तबियत अनमनी, उदास और मानसिकता कुछ रुग्ण-सी होने लगती है आदि।

यह सभी उदाहरण बताते हैं कि **जिस स्थान पर जैसा कार्य लम्बे समय तक निरंतर किया जाए, वह स्थान उसी प्रकार से संस्कारित हो जाता है और वहां आने या रहने वाले के मन पर वैसा ही प्रभाव डालता है।** पाठक इसे इकोलॉजिकल इफैक्ट कह सकते हैं। किन्तु साइकोलॉजी को इफैक्ट कौन कर रहा है? और क्यों कर रहा है?—स्पष्ट है कि स्थान ही वह प्रभाव डाल रहा है और इसलिए, क्योंकि वहां एक कार्य-विशेष ही लम्बे समय तक किया जाता रहा है। कुछ तार्किक पाठक कह सकते हैं कि यह स्थान का नहीं, 'माहौल' का प्रभाव होता है। पर यह सही नहीं होगा। क्योंकि बहुत से वीरान स्थानों पर भी ऐसे प्रभाव देखे

जा सकते हैं। तपोवन आदि में आप जाएं तो मन तप करने को होता है। अजीब सी शांति वहां मिलती है। जबकि वहां ऋषियों द्वारा कभी तप किया गया था। आज वे माहौल बनाने के लिए तप नहीं कर रहे। बहुत से मन्दिरों के खण्डहरों या अवशेषों में (जहां पूजा का कोई माहौल नहीं होता)—जाकर भी सात्त्विक तथा आस्तिक भावों का उदय होता है। यह तर्क का नहीं, अनुभूति का विषय है। समझने का विषय है।

वास्तुशास्त्र और आयुर्वेद इसीलिए भूमि के संस्कार देखने और उसका पूजन करने पर बल देते हैं। (कूड़े खत्ते की ज़मीन, जहां लम्बे समय तक कूड़ा डाला जाता रहा है), बूचड़खाना (जहां पशुओं का वध किया जाता है), अथवा जहां भीषण नर संहार हुआ हो (वधस्थली/संग्रामस्थल) आदि भूमियों को निवास के योग्य इसीलिए नहीं माना जाता कि वह भूमि उसी प्रकार से संस्कारित होती है। यहां तक कि जैन मन्दिरों व श्मशान या कब्रगाहों के निकट भी आवास बनाने के लिए **वासुशास्त्र इसीलिए निषेध करता है कि उन स्थानों के संस्कार निकट क्षेत्रों को भी थोड़ा बहुत प्रभावित करेंगे।** उच्चाटन, अशांति, भय अथवा वैराग्य, उदासीनता या वीतरागिता का भाव उनके पड़ोस में रहने वाले दम्पत्तियों को प्रभावित करेगा और उनका गृहस्थ जीवन असफल व कष्टमय हो जाएगा।)

जमा जोड़ यह कि अन्य पहले बताई शुचिताओं के साथ स्थान की शुचिता का भी उतना ही महत्त्व है। और वह मात्र झाड़ू बुहारी या अगरबत्ती जलाने तक ही सीमित नहीं है। ऐसा करना तो पाखण्ड हो जाएगा, यदि क्रिया, भाव और विचारों द्वारा भी स्थान की शुचिता का ध्यान न रखा गया तो। इसलिए शब्दों के सम्पूर्ण अर्थों व मर्म को समझें। केवल शब्दार्थ ही नहीं भावार्थ पर भी ध्यान दें। तभी ग्रन्थों में बिखरे मोतियों का मोल समझ में आएगा। वरना उन्हें कंचे समझकर उनकी उपेक्षा हो जाएगी। शास्त्र को पढ़ाते समय जो गुत्थियों को सुलझाकर बताए, शब्दार्थ ही नहीं, भावार्थ भी बताए, यह भी गुरु की एक विशेषता है। खाली शब्दार्थ करना तो अनुवादक का कार्य है, गुरु का नहीं। कहीं-कहीं शब्दार्थ उलझा देता है, अतः कोरा शब्दार्थ किसी काम का नहीं होता।

जैसे—'मुर्गे ने बांग दे दी।' इसका शब्दार्थ हुआ कि मुर्गे नामक एक पक्षी ने आवाज़ कर दी। लेकिन भावार्थ है कि—'सवेरा हो गया।' जबकि सवेरा होने का जिक्र कहीं वाक्य में है ही नहीं। कोरा शब्दार्थी भटककर रह जाएगा। धर्मग्रन्थों में, योगशास्त्रों में *कबीर* के दोहों में ऐसी ही गुत्थियां मिलती हैं। खोल लीं तो अर्थ समझ में आया वरना बेकार। जैसे—

कबीरदास की उल्टी वाणी।
बरसे कम्बल भीगे पानी।

❑❑❑

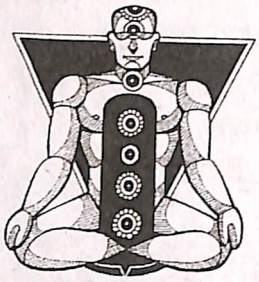

13

कुण्डलिनी जागरण का मार्ग : अष्टांग योग

योग क्या है?

कुण्डलिनी जागरण में मूल रूप से दो ही उपाय हैं—योग और मंत्र। मंत्र-तंत्र आदि की चर्चा बाद में करेंगे, पहले योग की चर्चा करेंगे। जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है—योग का अर्थ है—जोड़ना या बढ़ाना। बढ़ाना अपने केन्द्रियकरण को, नियंत्रण को, मनोबल, आत्मबल व अपनी शक्तियों को और जोड़ना स्वयं को ईश्वर से, आत्मा को परमात्मा से, स्व को विराट से, सूक्ष्म को अनन्त से। 'चैनलाइज़्ड' कर देना खुद को परम के साथ। इस प्रकार योग एक पुल है जो स्व को परम से जोड़ता है। योग का अर्थ मात्र शारीरिक कलाबाज़ियां नहीं है। जैसा कि प्रायः समझ लिया जाता है। शास्त्रीय मत से—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥' —पातञ्जल योग प्रदीप

(चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।)

गीता के अनुसार—

तं विद्याद्दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।

अर्थात्—जो दुख रूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है। हठयोग, ध्यान योग, ज्ञान योग, सांख्य योग, कर्मयोग, भक्ति योग, प्रेमयोग के नाम तो हमने भी सुने हैं। आपने भी सुने होंगे। ये सभी योग की विभिन्न प्रणालियां हैं। इनमें हठयोग व ध्यानयोग कुण्डलिनी जागरण के लिए अधिक उपयोगी हैं। इनमें भी विशेष तौर पर ध्यान योग। (दूसरी ओर मंत्र और तंत्र दोनों कुण्डलिनी जागरण में सहयोगी रहते हैं—किन्तु मंत्र विशेष रूप से। इनकी चर्चा अगले खण्ड में करेंगे)। मगर आजकल एक और नाम 'मार्किट' में चल निकला है—'सहज योग'। जो ध्यान योग का ही विकृत और भ्रामक रूप है और शास्त्र सम्मत नहीं है।

योग तो सदैव सहज ही होता है। दूस्सहता तो पात्रता उत्पन्न करने में होती है। अतः 'सहजयोग' नाम ही भ्रामक है। 'मार्किट' शब्द का प्रयोग भी मैंने इसीलिए किया कि योग कोई दुकानदारी की चीज़ नहीं है। परन्तु कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं—बहरहाल! इस विवाद में हम नहीं पड़ेंगे। परन्तु जिज्ञासु पर अल्पज्ञ पाठकों को

'माया गुरुओं' के जाल से सावधान कर देना हमें युक्ति संगत मालूम होता है। अतः इतना अवश्य कहेंगे कि जो व्यक्ति सामूहिक कुण्डलिनी जागरण का दावा करे अथवा कुण्डलिनी जागरण कर देने का ही दावा करे—वही ठग है। क्योंकि दावा सम्भव ही नहीं होगा इस मार्ग में।

प्रत्येक व्यक्ति के गुण, स्वभाव व प्रकृति अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार और विकारों की भी अलग-अलग स्थितियां रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की मानसिकता, सामर्थ्य, पात्रता व लगन भी विभिन्न स्तरों की होती है। प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य भी अलग होता है। अतः निश्चित अवधि में एक ही मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल नहीं होता। कोई तंत्र मार्ग से सफल होने की सम्भावनाओं वाला होता है, कोई मन्त्र मार्ग से। कोई हठयोग से तो कोई ध्यान योग से। इतना ही नहीं, सम्भव है किसी को एक ही 'झटके' में सफलता मिल जाये। संभव है कोई अनगिनत झटके भी चूक जाए। यह भी सम्भव है कि पूरे जीवन किसी को 'झटका' ही न महसूस हो। ऐसे लोग भी हो सकते हों या हुए हैं जो जन्म जन्मान्तरों के बाद सफलता प्राप्त करते हैं। अच्छे-अच्छे योगी भी सिर पटककर रह जाते हैं और कुण्डलिनी जागृत नहीं होती। फिर भला इस विषय में दावा कैसे सम्भव है?

एक ही रोग की बहुत-सी औषधियां होती हैं। कौन-सी किसे देनी है? कब और कितनी देनी है? कैसे और कब तक देनी है? यह निर्णय कुशल वैद्य रोग की गम्भीरता, रोग की अवधि, रोगी की स्थिति, रोगी की अवस्था, रोगी की क्षमता, रोगी की प्रकृति व स्वभाव तथा ऋतु या समय के आधार पर लेता है। सबके लिए एक ही औषधि, एक ही अवधि तक और एक ही मात्रा में दे देनी कल्याणप्रद नहीं मानी जा सकती। और सच बात तो यह है, जो लाख रुपए की है कि जो व्यक्ति कुण्डलिनी जागृत कर लेता है वह नाम के लिए, यश के लिए, मान के लिए, धन के लिए, सुविधाओं के लिए अथवा अपने विकृत स्वार्थों की पूर्ति के लिए कभी—'तुम्हारी कुण्डलिनी भी जगा दूंगा।' ऐसा दावा करके चेलों की भीड़ नहीं जुटाता। उसे पोस्टर लगवाने या पब्लिसिटी की जरूरत नहीं होती। जब सूर्य उदय होता है अथवा फूल महकता है, तब सब स्वयं ही जान लेते हैं। उसे अपने प्रकाश या सुगंध को विज्ञापित नहीं करना पड़ता।

जो प्रदर्शन चाहता है, तालियां चाहता है, पैर छूने वालों की भीड़ या धनवर्षा चाहता है वह तो रीता हुआ है, पूर्ण नहीं। **पूर्णता में समस्त एषणाएं समाप्त हो जाती हैं। वह वास्तव में 'ब्राह्मण' कहलाने का अधिकारी हो जाता है।** जिसकी कुण्डलिनी जागृत हो जाती है, जिसकी परम से लौ लग जाती है, जो सिद्धावस्था में पहुंच जाता है वह तो प्रचार से दूर भागता है। वह तो प्रकाश और सुगंध को भी इसलिए रोक देना चाहता है कि दूसरे लोग उसके 'आत्मोत्थान' को जानकर उसके पीछे न लगें और उसकी अपनी साधना में व्यधान न पड़े। हां, मगर 'नया-नया

मुल्ला ज्यादा अल्लाह-अल्लाह करता है।' नया-नया पहलवान हाथ चौड़े करके और सीना निकाल कर चलता है। किन्तु फलदार वृक्ष तो सदा झुकता है। ओछे व्यक्ति को थोड़ी-सी सफलता सहन नहीं होती। कहावत है कि **'ओटों के घर तीतर, बाहर रखें कि भीतर।'** अथवा **'चूहे को मिली कत्तर, बजाज बन गया।'** इसलिए, वह जो दिखावा कर रहा है, या तो थोड़ा-सा जानता है, या बिल्कुल ही नहीं जानता। या तो यश और मान चाहता है, दूसरों को प्रभावित करना चाहता है अथवा अपना उल्लू सीधा करने के लिए दूसरे को मूर्ख बनाना चाहता है।

मनुष्य के इस मनोविज्ञान को समझिए। नीति को समझिए। विश्वास कर लेने से पूर्व अपनी बुद्धि, ज्ञान व अनुभव के आधार पर किसी को तौलिए, फिर शास्त्र वर्णित सिद्धांतों पर। गुरु होना बड़ी बात है। लेकिन गुरु को पहचानना और भी बड़ी बात है। खासकर आज के युग में। जैसा कि स्वयं *कबीर* ने कहा है—

कबीरा सद्गुरु ना मिल्यौ, रही अधूरी सीख।
स्वांग अति का पहरिकर, घर-घर मांगे भीख॥

(जब कबीर के युग में ऐसी 'अंधेर' थी, कबीर को यह लिखना पड़ा। आज तो जब घोटालों, ठगी और विकृत स्वार्थ का युग है तब क्या 'सद्गुरु' अपने POSTER बांटता सहज ही मिल जाएगा?)

योग के आठ अंग

ध्यान योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। जैसा कि **'पातञ्जल योग प्रदीप'** में स्वयं महर्षि पातञ्जलि ने कहा है—**'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणा ध्यान समाध्योऽष्टा-वङ्गानि॥'** (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योग के यह आठ अंग हैं)। इनको क्रमशः इसी क्रम में अपनाना चाहिए।

यम

मन को शुद्ध व वश में रखने के लिए इनका पालन किया जाता है। ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। जैसा कि कहा है—**'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'** इनका मन कर्म व वचन से पालन किया जाना चाहिए। आइए इन पांचों को थोड़ा-सा समझें।

अहिंसा

मन, कर्म तथा वचन से किसी प्राणी को ज़रा भी कष्ट न देना 'अहिंसा' है। अहिंसा केवल मारपीट से दूर रहना या हत्या आदि न करना ही नहीं है अपितु किसी को भी कष्ट न देना अहिंसा है। न तो कर्म द्वारा (शरीर से), न ही वचन द्वारा (वाणी से/गाली देना/धमकी देना आदि) न ही वचन द्वारा (अर्थात् मन में भी ऐसा भाव

नहीं आना चाहिए)। यदि मन, कर्म तथा वचन से 12 वर्षों तक अहिंसा का पालन किया जाए तो साधक को कोई हिंसक नहीं कह सकता।

सत्य

मन, कर्म व वचन से सत्य का पालन करना 'सत्य' है। न मुख से असत्य बोलें, न मन में कपट या धोखे का भाव आए और न ही शरीर द्वारा ऐसा कार्य हो। ज्ञान या अनुभूति को बुद्धि द्वारा तौलकर जो अनुभव हो उसे ज्यों का त्यों प्रकट करना सत्य है। किन्तु उस प्रकटीकरण से किसी को दु:ख नहीं होना चाहिए। यानि उसके लिए अहितकर व अप्रिय नहीं होना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ना ब्रूयात् सत्यं अप्रियम्।

(सच बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो।)

—मनुस्मृति

12 वर्षों तक ऐसा करने से मुख से निकला सत्य होता है।

अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है—ऐसे धन या सम्पदा को न लेना, जिस पर हमारा अधिकार न हो। जैसे किसी के स्वत्व का अपहरण करना, चोरी, छल से ले लेना, ठगी, विवशता का लाभ उठा कर ले लेना, दलाली/ब्लेकमेल, भीख लेना, या पड़ी हुई वस्तु उठा लेना अथवा दूसरे की वस्तु बिना उसकी अनुमति लिए छेड़छाड़ या प्रयोग करना आदि। यह सब स्तेय (चोरी) है। इसमें TAX की चोरी, दूसरों की रचनाओं की चोरी, रिश्वत आदि सब शामिल हैं—इनको मन, कर्म और वचन से न करना ही अस्तेय है। यानी करना तो है ही नहीं, ऐसा कहना भी नहीं है (जैसे किसी और की रचना/शेर अपने नाम से सुनाना) और ऐसा सोचना भी नहीं है। जो 12 वर्षों तक ऐसा कर लेता है, उसका सामान आदि कोई चुरा नहीं सकता।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ—मन, वाणी और शरीर से होने वाले सभी प्रकार के मैथुनों का त्याग कर वीर्य की रक्षा करने से है। जैसा कि कहा गया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागी ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

ज़हनी, अय्याशी, मौखिक (अश्लील वार्तालाप) अय्याशी, नेत्रों द्वारा काम सुख लेना, कानों द्वारा, स्पर्श द्वारा काम सुख लेना तथा स्त्रियों का संग करना आदि सभी वर्जित हैं। समस्त इन्द्रियों, मन आदि का इस विषय में पूर्ण संयम ही ब्रह्मचर्य है। बारह वर्ष तक इसका हर प्रकार से पालन करने और मन में ऐसी कल्पना भी न आने देने पर शरीर असीम शक्तिवाला हो जाता है। किन्तु वीर्य क्षय किसी प्रकार भी (स्वप्न में भी) नहीं होना चाहिए। क्योंकि जैसा कि कहा गया है—

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यौर्भयं कुतः।

(जब तक शरीर में बिन्दु/वीर्य स्थित है, तब तक मृत्यु का भय कहां?)

अपरिग्रह

अपरिग्रह का अर्थ है संचय ना करना। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मोह पूर्वक धन, सम्पत्ति, साधनों व भोग सामग्रियों का संचय करना परिग्रह कहलाता है। मन कर्म और वचन से परिग्रह का अभाव ही अपरिग्रह है। परिग्रह से ममत्व (ममता/मोह), लोभ तथा नवीन इच्छाओं की उत्पत्ति होती है। अतः अपरिग्रह आवश्यक है, बारह वर्ष तक ऐसा करने वाले के लिए सब अपने हो जाते हैं।

ये पांचों यम 'व्रत' भी कहे जा सकते हैं। यदि ये सार्वभौम स्थिति में हों तो 'महाव्रत' हो जाते हैं। जैसा कि कहा भी है—**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ (पांतजलयोगप्रदीप)** अर्थात्—जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित, सार्वभौम हो जाने पर ये 'महाव्रत' हो जाते हैं। यमों का महाव्रत हों जाना पूर्ण संन्यासी हो जाने का लक्षण होता है।

नियम

यम यदि मन व इन्द्रियों की शुद्धि व आत्मा के उत्थान के लिए हैं, तो नियम शरीर व बुद्धि को शुद्ध कर व्यक्ति में 'पात्रता' उत्पन्न करने में सहयोगी हैं। ये भी पांच ही हैं। **महर्षि पातञ्जलि** के अनुसार—**'शौचसंतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः॥'** अर्थात्—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान—ये पांच निमय हैं। इनके विषय में भी हमें थोड़ा विस्तार में जाना उपयुक्त होगा।

शौच

शौच का अर्थ पूरी सफाई से है। इस विषय में पूर्व अध्याय में हम चर्चा कर ही चुके हैं। शरीर की बाहरी व आन्तरिक, वाणी, बुद्धि, विचार, मन, आत्मा, कर्म, साधनों तथा स्थान आदि की शुचिता ही शौच है। शास्त्रानुकूल एवं सद्कर्मों द्वारा कमाए गए शुद्ध भोजन को करना भी शुचिता के अन्तर्गत आता है। राग, द्वेष, क्रोध, काम, ईर्ष्या, मद, लोभ, अहंकार आदि सब विकारों व मलों से शुद्ध कर लेना मन की शुचिता है। पूर्ण शुचिता का पालन करने वाला ही पवित्र है। वही सद्पात्र है।

संतोष

कर्तव्यों का सजगता से पालन करना परन्तु अधिकार की इच्छा से मुक्त रहना, कर्मों को सजगतापूर्वक करना, किन्तु फल की इच्छा से मुक्त रहना, अथवा कर्तव्यों और कर्मों के परिणाम स्वरूप या प्रारब्ध से जो भी, जितना भी मिल जाए अथवा जैसी भी परिस्थितियों में रहने का संयोग हो जाए—उसी में प्रसन्न व संतुष्ट रहना। उससे अधिक की इच्छा न करना और कम की शिकायत न करना ही संतोष है।

संक्षेप में कामनाओं, तृष्णाओं तथा लालसाओं पर विजय पा लेना ही संतोष है। संतोष का पूर्ण पालन करने वाला ही समृद्ध व सम्पन्न है। वही शांत है। वही पूर्ण है। वही सबसे बड़ा अमीर है।

तप

अपने आश्रम, वर्ण, योग्यता व परिस्थितियों के अनुसार स्वधर्म का पालन करना। आत्मोत्थान तथा कुसंस्कारों को कुचलकर नवीन व सद्संस्कारों की स्वयं में स्थापना करना, और इन प्रयासों में जो भी मानसिक या शारीरिक कष्ट प्राप्त हों उन्हें सहर्ष सहन करना तप है। व्रत, उपवास, साधना आदि 'तप' के अन्तर्गत ही आते हैं। तप द्वारा अन्त:करण का शोधन होता है, तप द्वारा ही आत्मोत्थान होता है। योग्यताएं, क्षमता, शक्तियां, ज्ञान, सत्य और सुपात्रता की प्राप्ति होती है। तप करने वाला ही सबसे बड़ा वीर, सबसे बड़ा योद्धा है, वही महान है।

व्याख्या

जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के परिणाम स्वरूप मन का स्वभाव, प्रकृति व संस्कार बनते हैं और वे उन्हीं कर्मों की पुनरावृत्ति से और भी दृढ़ होते हैं। जैसे कागज को यदि एक स्थान पर मोड़ दिया जाए तो कागज में एक सिल्वट या शिकन पड़ जाती है। उसे जितना अधिक उसी दिशा में दबाया या फेटा जाएगा, शिकन उतनी ही गहरी, स्थाई व दृढ़ होती जाएगी। शिकन को निकालने के लिए कागज को विपरीत दिशा में मोड़कर बार-बार हाथ फेरना या दबाना पड़ेगा। इसी प्रकार **मन में पड़ी पुराने कुसंस्कारों की शिकनों को निकालने का प्रयास ही तप है। तप एक पैर पर खड़े रहना नहीं है।** इस बात को समझें।

सजा और साधना या दण्ड और तप में मात्र स्वेच्छा व प्रसन्नता का अंतर होता है। जब हम अपनी इच्छा के अनुसार परवश होकर, मजबूरी में, कोई कार्य या श्रम करते हैं, तब वह दण्ड या सजा कहलाती है। उससे कष्ट व दु:ख होता है किन्तु अपनी स्वेच्छा से, अनुशासन से, प्रसन्नता पूर्वक हम स्वयं उसी क्रिया या श्रम को करते हैं तब वह तप या साधना होती है। तब कष्ट में भी प्रसन्नता और संतोष का अनुभव होना। जैसे—जेल में कैदियों द्वारा श्रम और पहलवानों द्वारा किया जाने वाला श्रम जो वे शरीर निर्माण के लिए करते हैं। उद्देश्य और इच्छा सज़ा को तप में और तप को सज़ा में बदल देते हैं। जबरदस्ती, विवशतापूर्वक, इच्छा के विरुद्ध दिया गया धन-जुर्माना, हरण या लूट में आता है। जबकि इच्छापूर्वक, अपनी खुशी से दिया गया धन-दान, त्याग व परोपकार की गिनती में होता है और वही फलीभूत भी होता है। अत: 'तप' को गम्भीरता से समझें। तप कहीं सजा में न बदल जाए। अथवा तप को हम पाखण्ड न समझ लें।

स्वाध्याय

स्वाध्याय के विषय में भी पिछले अध्याय में कुछ चर्चा की जा चुकी है। फिर भी संक्षेप में यह समझिए कि जिसके द्वारा कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध हो सके—ऐसी पुस्तकों, ग्रन्थों व शास्त्रों आदि का नित्य अध्ययन, उसका चिन्तन, मनन और फिर जीवन में उसका अमल ही स्वाध्याय है। कुछ विद्वान इसी के अन्तर्गत ईष्टदेव का 'जप' भी मानते हैं। कुछ विद्वान जप को ईश्वरप्रणिधान के अन्तर्गत मानते हैं। बहरहाल, अध्ययन के मामले में सभी एकमत हैं। किन्तु सद् साहित्य को ही पढ़ा जाना चाहिए। पढ़कर गुना जाना चाहिए और फिर उसके निष्कर्ष को अपनाना चाहिए।

ईश्वर-प्रणिधान

अपने अहं आदि का त्याग करके समग्र रूप से ईश्वर को ही समर्पित हो जाना, उसी के आश्रित हो जाना, उसी के शरणागत हो जाना, जैसे वह नचाए वैसे ही नाचना—ईश्वर प्रणिधान है। जो हो रहा है, जैसे हो रहा है, उसे वैसे ही होने देना। बीच में अपनी बुद्धि या अहं को न लाना यही ईश्वर प्रणिधान है। इसमें साधक का सम्पूर्ण समर्पण हो जाता है, वह 'कर्ता' न बनकर 'द्रष्टा' या 'माध्यम' बन जाता है।

व्याख्या

सत्य तो यही है कि ईश्वर की इच्छा के विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता। अत: जो होना है वह होकर रहता है और जो नहीं होना है, वह कभी नहीं होता। किन्तु मनुष्य का अहं, उसका कर्तापन का बोध, प्रभु की माया/लीला का प्रभाव ऐसा है कि मनुष्य स्वयं को भ्रमवश कर्ता मानकर सुखी या दु:खी होता रहता है। गर्वित या पछताता रहता है और जितना वह ऐसा करता है—उतना ही वह माया की दलदल में फंसता जाता है। प्राय: व्यक्ति सफलता का श्रेय अपने को, अपनी बुद्धि व दूरदर्शिता को अपने प्रयासों को देता है। किन्तु असफलता का कारण वह सदैव भाग्य को ठहराता है। अपनी भूलों या त्रुटियों को नहीं। जबकि तत्त्वत: वह न तो सफलता के लिए जिम्मेदार है, न ही असफलता के लिए। जैसा कि कहा गया है—

हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ।

(हानि लाभ, जीना मरना, जय-पराजय, सफलता, असफलता, बदनामी ख्याति आदि सब विधि के हाथ होते हैं। मनुष्य युद्ध कर सकता है, उसी पर उसका अधिकार है। किन्तु जीत या हार पर उसका कोई अधिकार नहीं है)।

इसीलिए *गीता* में सदैव प्रसन्न रहने का बड़ा सटीक तथा लॉजिकल नुस्खा दे दिया गया है—**अचिन्तित न चिंतति धीमान** (बुद्धिमान जन अचिंत की चिंता नहीं करे। अचिंत यानि जो हमारी सामर्थ्य से परे है)। युद्ध में अपने को कर्ता मानने के

कारण मोह ग्रस्त हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने गीता में कर्मयोग व ईश्वर प्रणिधान का ही संदेश दिया है।

चेतसा सर्वकर्माणिमयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव॥

—श्रीमद्भागवत् गीता

'इसलिए हे अर्जुन! तू सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करके, मेरे परायण होकर, समत्व बुद्धि रूप—(दुःख सुख सभी को समान मान कर) निष्काम कर्मयोग का अवलम्बन करके निरन्तर मेरे में ही चित्त वाला हो।' और यदि—

'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥'

(यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा/मानेगा, तो नष्ट हो जाएगा अथवा परमार्थ को प्राप्त नहीं कर सकेगा, भ्रष्ट हो जाएगा)।

आसन

शरीर को निरोग, चुस्त व शक्ति सम्पन्न बनाए रखने के लिए आसनों की (प्रमुख 84) उनके भेदों व उपभेदों सहित व्यवस्था की गई है। इन्हीं के अन्तर्गत स्थूल यौगिक व्यायामों और सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं (षट्कर्म/धौति, नौली, नेति, कुंजल, वस्ति, शंख प्रक्षालन आदि) को भी ले लेते हैं जो शारीरिक अवयवों और प्रमुख संस्थानों की भीतरी शुद्धि करती है। परन्तु यह सब हठयोग के विषय हैं। (इस पूरे प्रसंग पर एक स्वतन्त्र पुस्तक की आवश्यकता पड़ेगी। अतः इन्हें यहां चर्चा में नहीं ले रहे हैं। इच्छुक पाठक गोल्ड बुक्स इंडिया से ही प्रकाशित मेरी पूर्व पुस्तक '*सम्पूर्ण योग शास्त्र*' देख सकते हैं)। अतः यहां हम ध्यान योग में आसनों की बात करेंगे। ध्यान योग में आसन की आवश्यकता बैठकर ध्यान करने के लिए पड़ती है। इस मामले में आसन को सिद्ध किया जाता है। ताकि एक ही मुद्रा में सुखपूर्वक, बिना हिले-डुले दीर्घकाल तक बैठा जा सके और थकान आदि के कारण एकाग्रता या ध्यान भंग न होने पाए। जैसा कि **पातंजलयोग प्रदीप** में भी कहा गया है—'**स्थिरसुखमासनम्।**' अर्थात्—सुखपूर्वक, निश्चल/स्थिर बैठे रहने का नाम आसन है। आसन की सिद्धि हो जाने पर द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता। मौसम, कष्ट आदि को सहने की सामर्थ्य शरीर में आ जाती है।

ध्यान योग आसनों में---पद्मासन, सिद्धासन, समासन, स्वास्तिकासन, वज्रासन, गौमुखासन, अर्ध-पद्मासन तथा सरलासन आदि प्रमुख हैं। इन आसनों के साथ मुख्य रूप से 'मूलाधार बन्ध' लगाना अनिवार्य होता है। आवश्यकतानुसार 'उड्डियान बन्ध' तथा 'जालंधर बंध' भी लगाए जाते हैं। **बिना मूलाधार बन्ध लगाए कुण्डलिनी जागरण का प्रयास निरापद नहीं होता। इसमें कुण्डलिनी के जागृत होकर ऊपर उठने के आघात से वीर्य या मूत्र निकल जाने की तीव्र आशंका**

कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी कुछ ध्यान योगासन

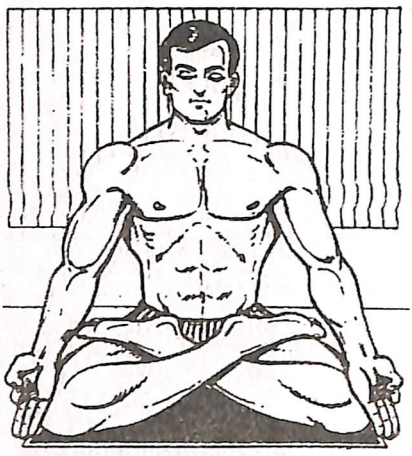

पद्मासन

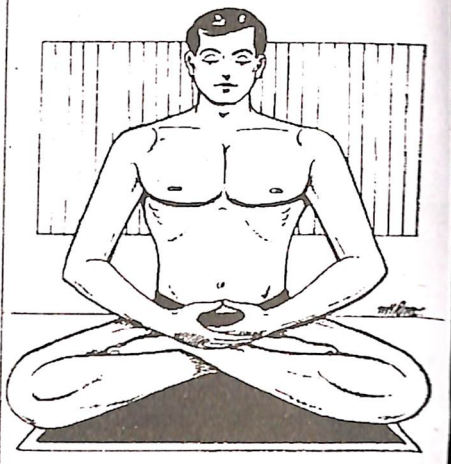

सिद्धासन

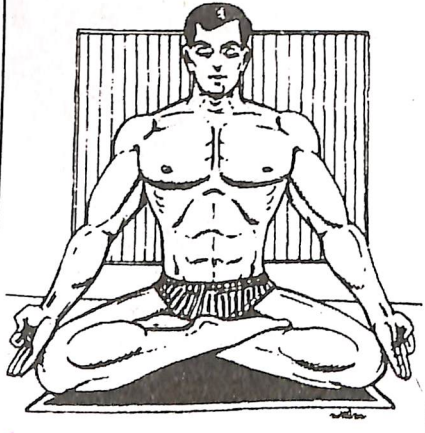

स्वास्तिकासन

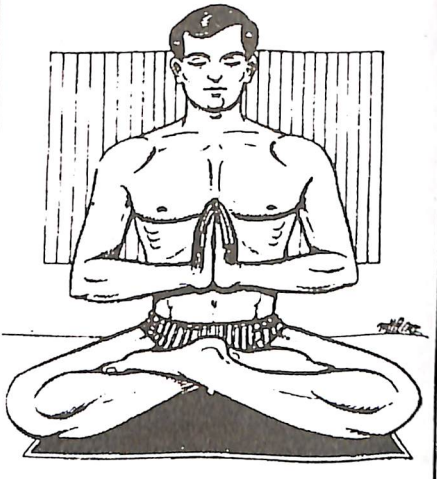

समासन

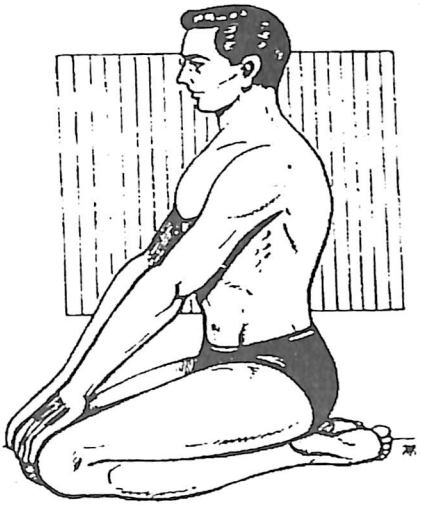

वज्रासन

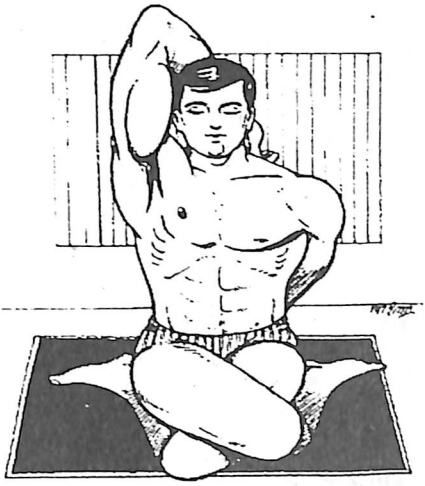

गोमुखासन

अर्ध-पद्मासन

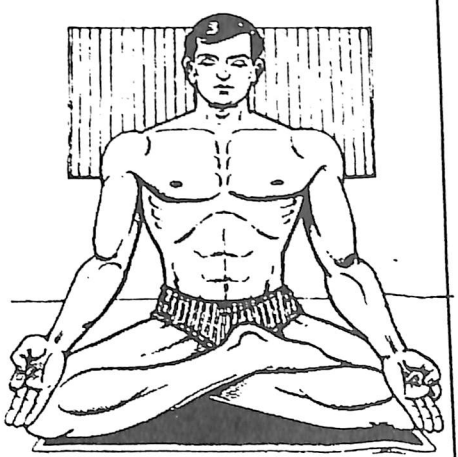

सरलासन

रहती है तथा अन्य उपद्रव भी संभावित होते हैं। अतः 'मूलाधार बन्ध' अवश्य लगाना चाहिए।

(सम्पूर्ण योग शास्त्र में इन सब विषयों को पाठक विस्तार से पढ़ सकते हैं) यहां इसकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

सावधानी

पद्मासन, अर्धपद्मासन, सुखासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन, वज्रासन या गोमुखासन (गुरु मछेन्द्रनाथ तो मत्स्यासन का प्रयोग करते थे, किन्तु उसका अभ्यास काफी जटिल है)—आदि में से ध्यान के लिए किसी भी आसन को चुनें, किन्तु मेरुदण्ड और गर्दन सीधी रहे, इस विषय में सतर्क रहें। कमर में झोल या गर्दन में झुकाव का रहना न केवल आपको शीघ्र थका देगा, बल्कि आपका 'पोस्चर' भी बिगाड़ देगा और कुण्डलिनी जागरण की क्रिया में मददगार नहीं होगा। सौभाग्यवश कुण्डलिनी जाग भी जाए तो उसकी यात्रा में अवरोधक होगा। अतः इस विषय में पूर्ण सावधान रहें। जैसे ही झोल आता महसूस हो, वैसे ही कमर को सीधा करें। क्योंकि सीधी रखी जाने के बाद भी कुछ समय बैठने के बाद कमर धीरे-धीरे झुकने लगती है। यदि सावधान न हों तो इस झुकने का अहसास नहीं होता।

जिस आसन को भी आपने चुना है उसको अधिक-से-अधिक समय (बिना मुद्रा बदले या आराम किए) तक लगाए रखने का अभ्यास करें। जब तक वह आसन आपको 'सिद्ध' न हो जाए। आसन सिद्ध तब होता है (ध्यानयोग के लिए) जब कम-से-कम एक घंटा, बिना थकान या असुविधा के और बिना पैरों या मुद्रा को बदले—सुखपूर्वक उसी आसन में बैठे रहने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाए। उद्देश्य यही है कि ध्यान लगाते समय आसन की असुविधा, असहजता या थकान ध्यान को भंग न करे। उसमें बाधक न हो और ऐसा न हो कि कुण्डलिनी का जागरण होने ही जा रहा हो कि आपका ध्यान थकान या असुविधा की ओर चला जाए। बहरहाल, प्रारम्भ में आसन को सिद्ध करना है। अतः उसके सिद्ध हो जाने से पूर्व ध्यान आदि द्वारा कुण्डलिनी जागरण का प्रयास न करें। यह जल्दबाजी होगी। धैर्यपूर्वक शनैः शनैः आप प्रगति करेंगे तो लक्ष्य में निश्चितता रहेगी।

स्पष्ट कर दूं कि कमर सीधी व गर्दन सीधी रखने के प्रयास में शरीर को अकड़ाना नहीं है। इनको सीधा रखते हुए शरीर को RELAXED करना है। लेकिन RELAX करने में कमर में झोल न आने पाए अथवा पेट बाहर न निकले इस विषय में सावधान रहना है। अतः प्रारम्भ में आप दीवार के सहारे इस अभ्यास को करें तो बेहतर रहेगा।

बन्ध

आसन के साथ 'बन्ध' भी सिद्ध होने चाहिएं। संक्षेप में हम तीनों बन्धों की यहां चर्चा करेंगे।

मूलबन्ध

इसे मूलाधार भी कहते हैं। मूल (जड़/बेस) में यह बन्ध लगाया जाता है तथा सभी बन्धों में प्रथम (मूल/आधारभूत) बन्ध यही है अत: इसे मूलाधार बन्ध कहते हैं। इस बन्ध में जननेन्द्रिय, गुदा तथा 'सीवन' (जननेन्द्रिय एवं गुदा के मध्य का भाग) की मांसपेशियों को ऊपर या भीतर की ओर आकर्षित/संकुचित किया जाता है। (जिस प्रकार मल त्याग की क्रिया के समय मल के विसर्जित होने के साथ ही स्वत: ही गुदा की मांसपेशियों में संकोचन होता है।) इस संकुचन को कस कर अधिक-से-अधिक समय तक स्थिर रहना ही 'बन्ध' है। पूरी तरह कस कर लगाने के बाद भी थोड़े समय बाद गुदा व जननेन्द्रियों की मांसपेशियां स्वत: ही ढीली पड़ने लगती हैं। किन्तु सतर्क रहें। जैसे ही ढीलापन महसूस हो तुरन्त बन्ध को कसें। इस बन्ध का अभ्यास ब्रह्मचर्य में भी सहायक होता है तथा वीर्य को ऊर्ध्वमुखी करता है। स्तम्भन सामर्थ्य को भी बढ़ाता है।

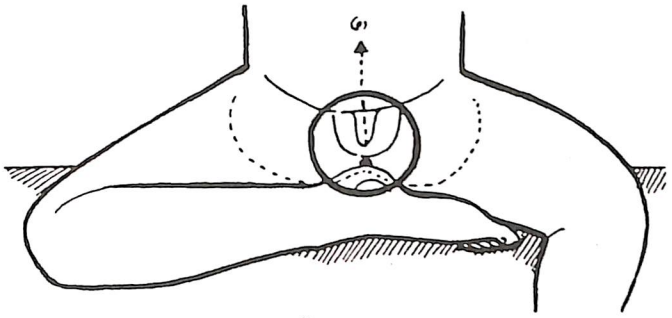

मूलबन्ध

'सिद्धासन' में बाएं पैर की एड़ी जो सीवन से सटी रहती है वह इस 'बन्ध' को ढीला पड़ने से रोकती है तथा सीवन को 'सपोर्ट' देकर इस बन्ध के स्थाई व दीर्घकालिक होने में काफी सहयोगी होती है। इसी विशेषता के कारण इस आसन का नाम 'सिद्धासन' रखा गया है। फिर भी ध्यान योग्य आसनों के चुनाव में, पाठक अपनी रुचि, पसन्द, सुविधा आदि के अनुसार स्वतन्त्र है। ऐसा कोई नियम नहीं कि सिद्धासन ही जरूरी हो।

उड्डियान बन्ध

इस बन्ध में नाभि प्रदेश को भीतर की ओर खींच कर रखा जाता है। पेडू, नाभि तथा नाभि से ऊपर के भाग को भीतर की ओर अधिकाधिक समय तक आकर्षित रखा जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सांस को भी रोकना है या छाती को अकड़ा

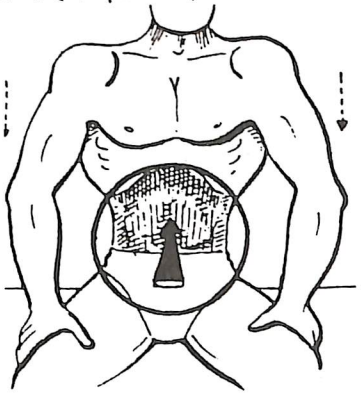

उड्डियान बन्ध

लेना है। जैसा कि हर बन्ध का नियम है।
सम्बन्धित भाग को आकर्षित/संकुचित रखते
हुए शरीर को ढीला रखना होता है। मूलाधार में भी जननांगों व गुदा प्रदेश को संकुचित करके शेष शरीर ढीला रखा जाता है।

जालंधर बन्ध

जालन्धर बन्ध में ठोड़ी को नीचे दबाते हुए कंठकूप में लगाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु गर्दन आगे को नहीं झुकनी चाहिए। ठोड़ी को कंठकूप में स्थापित करने से गर्दन की लम्बाई आगे की ओर से कम होती है, तथा उस स्थान व आसपास के नाड़ी जाल पर बन्ध लग जाता है। अत: इस बंध को 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। इस बन्ध में भी सम्बन्धित प्रदेश के अलावा शेष शरीर को ढीला रखा जाता है। किन्तु जैसा कि शुरू में भी कह आए हैं—शरीर ढीला छोड़ने का यह अर्थ नहीं कि कमर में झोल आ जाए या गर्दन झुक जाए। शरीर समसूत्र व सीधा रहना चाहिए, परन्तु RELAXED ।

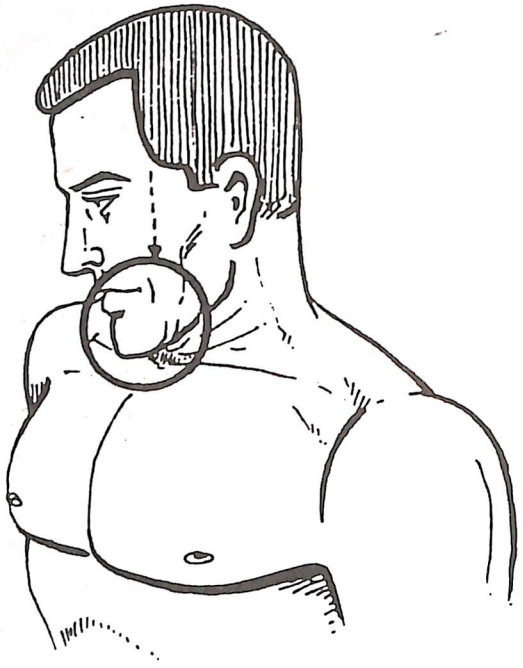

जालंधर बन्ध

प्रारम्भ में बन्धों सहित आसन को सिद्ध करें। उस दौरान केवल ईश्वर का ध्यान करें अथवा शून्य में ही ध्यान लगाएं। (कुण्डलिनी जागरण का प्रयास आसन के सिद्ध हो जाने से पूर्व न करें)। और सब प्रकार की चेष्टाओं को शान्त करके मन को केन्द्रित करने का प्रयास करें। क्योंकि प्रयत्न की (चेष्टाओं की) शिथिलता से

तथा महाशून्य/परमात्मा में मन लगाकर अधिकाधिक समय स्थिर बैठने से आसन सिद्ध होता है। जैसा कि **महर्षि पातञ्जलि** ने कहा है—

'प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम।'

(प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में मन लगाए रखने से आसन सिद्ध हो जाता है)।

प्राणायाम

प्राणों का आयाम ही प्राणायाम है। श्वांस प्रश्वांस गति को रोक लेना/ठहरा लेना ही प्राणों का आयाम यानी प्राणायाम कहा जाता है। जैसा कि **'पातञ्जल योग प्रदीप'** में कहा भी गया है—**'श्वासप्रश्वास योर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'** अर्थात् प्राण वायु न तो शरीर में प्रविष्ट हो, ना ही बाहर जाए। श्वांस प्रश्वांस की गति रोक दी जाए—यही प्राणायाम है। पर प्रश्न उठता है कि श्वांस-प्रश्वांस की गति को रोकना/प्राणायाम करना क्यों आवश्यक है? इसका लाभ क्या है?

पहला और सामान्य लाभ तो यही है कि आयु की वृद्धि होती है। क्योंकि जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, आदमी की रोटी और सांसें गिनती की होती हैं। अतः कम खाना तथा गहरी सांसें लेना अथवा उनका आयाम करना (ठहराना) आयु को बढ़ाने वाला होता है, इसके अलावा केन्द्रियकरण क्षमता, विचारशीलता, विश्लेषणात्मक शक्ति, दूरदर्शिता, निरीक्षण क्षमता, बुद्धि, स्मृति तथा शांति का विकास होता है। मन से अधीरता, व्यग्रता, चंचलता व अस्थिरता के भाव दूर होकर स्थिरता व शांति का उदय होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि प्राणों को वश में करने से मन वश में आता है। मन पर अपनी नियंत्रण शक्ति बढ़ती है क्योंकि प्राण व मन का गहन सम्बन्ध होता है। मन को वश में कर पाना अत्यंत दुष्कर है। किन्तु प्राण को वश में करना अपेक्षाकृत सरल है । अतः प्राण वश में करने से मन वश में आता है। मन को वश में करने से प्राण वश में आते हैं। क्योंकि दोनों सूक्ष्म स्तर पर अति गहन रूप से परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

जब मन उद्विग्न, बेचैन, भयभीत, परेशान, घबराया हआ, अशांत, अस्थिर या कामातुर होता है तब सांसों की गति भी तीव्र होती है किन्तु सांसों की गति को नियमित करते ही मन में स्थिरता व शांति का भाव आ जाता है। ऐसा पाठक कभी भी अनुभव करके देख सकते हैं—इसके अलावा शास्त्र भी इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। जैसे, श्रीमद् भवगत् *गीता* में स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुन्ती पुत्र! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में होता है। इसे वश में अवश्य करें क्योंकि—)

असंयात्मना योगो दुष्प्राय इति में मतिः।

(असंयमी व्यक्ति/मन को वश में न करने वाले पुरुष के लिए योग दुष्प्राय है—ऐसा मेरा मत है)।

उपर्युक्त प्रसंग में योग व प्राणायाम का महत्त्व अर्जुन को बताते हुए कृष्ण ने प्राणायाम के अभ्यास की बात कही है। (देखिए—भागवत् गीता, अध्याय-6, श्लोक-35)।

प्राणायाम के विधि-विधान, उनके भेद, लाभ-प्रभाव आदि की विस्तृत चर्चा हम कुण्डलिनी जागरण के अभ्यासों में करेंगे। यहां प्राणायाम के मुख्य तीन भेद—रेचक, पूरक एवं कुम्भक का संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं।

श्वांस को फेफड़ों में शनैः शनैः पूरा भरना और उसे नाभि तक ले जाना 'पूरक' कहलाता है। श्वांस को वहीं रोके रखना 'कुम्भक' (आन्तिक कुम्भक) कहा जाता है। श्वांस को शनैः-शनैः बाहर बाहर छोड़ते हुए, फेफड़ों को बिल्कुल खाली कर देना 'रेचक' कहा जाता है और श्वांस को शरीर से बाहर ही रोके रखना (नवीन श्वांस का न लेना) 'कुम्भक' (बाह्य कुम्भक) कहलाता है। इस प्रकार का प्राणायाम—'प्रणवात्मक' कहा जाता है। क्योंकि इसमें प्रणव का उच्चारण स्वतः ही होता रहता है (इसके विषय में आगे विस्तार से चर्चा करेंगे)। यह प्राणायाम यज्ञ की भांति पवित्र व प्रभावी है। जैसा कि *गीता* में श्रीकृष्ण ने अध्याय-4 के श्लोक 29 में अर्जुन से कहा है—

प्राणापानगती रुद्धवा प्राणायाम परायणाः॥

—श्रीमद्भागवत् गीता

अर्थात्—'और दूसरे योगीजन अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं (पूरक), वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपानवायु को हवन करते हैं (रेचक), तथा अन्य योगीजन प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के (कुम्भक) परायण होते हैं।'

प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है—इन्द्रियों का संयम। सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना। जैसा कि *गोरक्षसंहिता* में कहा गया है—

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात्—चक्षु आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द यह पांच विषय हैं। इन विषयों से इन्द्रियों को पृथक कर लेना प्रत्याहार कहा जाता है।

और जैसा कि '*योगदर्शन*' में महर्षि पातंजलि ने कहा है—'**स्वाविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः॥**' (अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना ही प्रत्याहार है)।

इन्द्रियां मन रूपी सारथी के घोड़े हैं। शरीर रथ है और बुद्धि इन घोड़ों की लगाम। यदि इन्द्रियां रूपी घोड़े उछृंखल हों और बुद्धि की लगाम ढीली पड़ जाए तो वे मन रूपी सारथी के काबू से बाहर हो जाते हैं और मन को शरीर (रथ) सहित जहां चाहते हैं ले जाते हैं। इन्द्रिय रूपी घोड़ों को उनके विषयों की ओर से रोकना और मन के अनुसार चलाना ही प्रत्याहार है।

व्याख्या

मन (सारथी) यदि सजग न होगा तो इन्द्रिय रूपी शक्तिशाली किन्तु उछृंखल घोड़े अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होकर दौड़ने लगेंगे। अत: मन रूपी सारथी को बुद्धि रूपी लगाम से इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में रखना पड़ता है। सारथी और घोड़ों (मन व इन्द्रियों) में संगति अथवा एकरूपता या सामंजस्य होगा, तभी यात्रा सुरक्षित व सहज होगी, अन्यथा नहीं। अत: इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना और उन्हें मन के अनुकूल बना लेना योग मार्ग के लिए ही नहीं, समस्त सफलताओं, कल्याण और प्रगति के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। चंचल मन को प्राणायाम द्वारा स्थिर किया जाता है, किन्तु चंचल इन्द्रियां प्रत्याहार द्वारा वश में आती हैं। इन्द्रियां यदि वश में न हों तो स्थिर हो चुका मन भी भटक जाता है, अथवा पुन: चंचल हो जाता है। अत: प्राणायाम के लक्ष्य की पूर्णता के लिए भी प्रत्याहार अति आवश्यक है।

दृश्य/रूप नेत्रों के विषय हैं। स्पर्श त्वचा का, शब्द कानों का, गन्ध नासिका का और रस/स्वाद जिह्वा के विषय हैं। अपने विषयों के प्रति इन्द्रियों का आकर्षित होना तथा राग या वैराग्य/घृणा से ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक है। जैसे नयनाभिराम दृश्यों/रूप को देखने के लिए नेत्रेन्द्रिय की उत्सुकता, उन्हें देखने में रमना अथवा आनन्द का अनुभव करना आदि इन्द्रियों का राग या विषयों के प्रति आकर्षण है। किन्तु कुरूप, वीभत्स या भयानक दृश्यों या रूपों आदि को देखने से अरुचि आदि इन्द्रियों का विषयों के प्रति वैराग्य/घृणा—इसी प्रकार नाक सुगंध के प्रति आकर्षित होगी किन्तु दुर्गन्ध से बचना चाहेगी। कान कर्णप्रिय शब्दों/संगीत/मधुर ध्वनियों को सुनना चाहेंगे परन्तु कर्कश ध्वनियों/शोर आदि से बचना चाहेंगे। ठीक इसी प्रकार जिह्वा व त्वचा भी अपने अनुकूल/रुचिकर विषयों के प्रति आकर्षित होंगे और प्रतिकूल/अरुचिकर विषयों से बचना चाहेंगे। यही इन्द्रियों का स्वभाव है। किन्तु इस स्वभाव को बदल डालना ही प्रत्याहार है।

अनुकूल विषयों के प्रति उत्सुक/लालायित न होने तथा उनके रसास्वादन में मन को रमने न देना और प्रतिकूल विषयों से भागने का प्रयास न करना—अर्थात् अनुकूलता या प्रतिकूलता, सुख या दु:ख दोनों ही स्थितियों में सम रहना। अपने 'स्व' को उनके साथ INVOLVE न होने देना—यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है। किन्तु मन के साथ संगति बनाते हुए, विरोध बनाते हुए नहीं।

श्रीमद्भागवत *गीता* में जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अर्थात्—जैसे कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को, इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

अतः इन्द्रियों को उनके विषयों से न केवल रोकें, बल्कि उनका चिन्तन भी न करने दें अन्यथा आसक्ति उत्पन्न होती है। जैसा कि *गीता* में कहा गया है—

ध्यायतो विषान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहास्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अर्थात्—हे अर्जुन! मन सहित इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण न होने से, मन के द्वारा विषयों का चिन्तन होता है और विषयों को चिन्तन करने वाले पुरष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने/उसके पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ता उत्पन्न होती है। अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है। बुद्धि के नाश से पुरुष अपने श्रेय-साधन से गिर जाता है।

अतः केवल मन को वश में करना या केवल प्राणायाम पूर्ण सिद्ध नहीं होता, जब तक कि प्रत्याहार अथवा इन्द्रियों को भी वश में कर मन के तदानुसार न कर लिया जाए क्योंकि प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी इन्द्रियां अपने विषयों की ओर लपककर बलात्कार से हर लेती हैं और इन्द्रियों के वश में होने से ही बुद्धि स्थिर होती है—'**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।**'

धारणा

'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**' (**योगदर्शन**)—यानि 'चित्त को बाहर या भीतर कहीं भी, किसी एक देश में ठहराना धारणा है।' '*गोरक्षसंहिता*' के अनुसार—

हृदये पंच भूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते॥

अर्थात्—हृदय में मन की निश्चितता के साथ पंच भूतों को पृथक-पृथक धारण करना ही धारणा कही जाती है।

'*त्रिशिखब्राह्मण*' के अनुसार—

'**मनसो धारणां यत्तद्युक्तस्य चयनादिभिः।**' अर्थात् यमादि के द्वारा मन का धारण करना ही धारणा है।

'*योगतत्वोपनिषद्*' के अनुसार—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—उस योगी को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पांचों देवताओं (महाभूतों) की धारणा हो जाती है।

व्याख्या—जिस योगी का चित्त वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है उस योगी को पंचमहाभूतों की धारणा हो जाती है।

सरल शब्दों में समझने के लिए कहा जा सकता है कि किसी भी विचार, सत्ता अथवा स्थान पर मन को केन्द्रित कर लेना (बाहर या भीतर अथवा पंच महाभूतों में पृथक-पृथक) ही धारणा है। अथवा जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है—मन द्वारा किसी विचार, सत्ता या पंचमहाभूत आदि को धारण कर लेना ही धारणा है। यह—ध्यान की पूर्वावस्था अपितु भूमिका कही जा सकती है क्योंकि ध्यान कहां लगाना है, इस विषय को निश्चित कर संकल्प से धारण कर लेना ही धारणा है। '*विज्ञान भैरव*' में स्वयं भैरव ने भैरवी को **112 धारणाओं** का उपेदश दिया है। आवश्यक नहीं कि शून्य या महाभूतों में ही धारणा की जाए।

व्याख्या

धारणा के द्वारा मन को विभिन्न विषयों या कल्पनाओं को धारण कराया जा सकता है। अपने ध्यान को परिपक्व करने के लिए अपनी रुचि के अनुसार विषय या कल्पना को धारण किया जाता है। जैसा कि माता बालक से इच्छित कार्य कराने के लिए मिठाई, खिलौने आदि का लोभ देकर बालक का ध्यान इच्छित कार्य में लगाती है। उसी प्रकार मन के इच्छित या रुचिकर विषय अथवा कल्पना का मन को धारण कराकर उसे केन्द्रित कर ध्यान की ओर लाया जाता है। इसीलिए एक दो नहीं, पूरी एक सौ बारह धारणाओं की व्यवस्था की गई है। इस विषय को थोड़ा और विस्तार से चर्चा करने पर समझना सरल होगा। क्योंकि जैसा कि आपने महसूस किया होगा—शास्त्रों में दी गई परिभाषाएं व व्याख्याएं नवीन व्यक्ति के लिए काफी जटिल और क्लिष्ट होती हैं जिनसे भ्रम उत्पन्न होता है। अतः सरलता के लिए दो एक उदाहरणों को लेंगे।

कष्ट, पीड़ा या दर्द के माध्यम से भी कन्सन्ट्रेशन होता है। यौन सुख के माध्यम से भी कन्सन्ट्रेशन होता है। प्रेम की प्रगाढ़ता भी कन्सन्ट्रेशन देती है। कला, संगीत आदि के माध्यम से भी कन्सन्ट्रेशन होता है। शून्य में, परमात्मा में, विभिन्न चक्रों पर, किसी बिन्दु पर, चित्र, मूर्ति या विचार पर भी मन का केन्द्रियकरण होता है। शब्द पर या स्पर्श पर भी कन्सन्ट्रेशन होता है। अतः पंचमहाभूतों के माध्यम से भी मन को केन्द्रित किया जा सकता है। केन्द्रीयकरण के लिए सैकड़ों विषय या

कल्पनाएं सम्भव हैं। किसी का भी अपनी रुचि व सुविधा के अनुसार चयन किया जा सकता है और मन को उसी कल्पना या विषय को धारण करवा कर ध्यान लगाया जा सकता है—इसीलिए एक सौ बारह प्रकार की धारणाओं का विधान है किन्तु बिना किसी भी धारणा के ध्यान सम्भव नहीं होता। भले ही शून्य या अनन्त की ही धारणा की जाए। क्योंकि कन्सन्ट्रेशन के लिए कोई POINT तो चाहिए ही। वरना कन्सन्ट्रेट (ध्यान) आखिर होंगे किस पर? यही धारणा का महत्त्व व उपयोगिता है।

ध्यान

जो धारणा की जाए, अथवा चित्त/मन को जहां पर लगाए जाए—वहीं/उसी में वृत्ति का एकतार होकर चलना या वहीं पर मन का लगे रहना ही ध्यान या एकाग्रता अथवा कन्सन्ट्रेशन कहा जाता है जैसा कि स्वयं महर्षि पातञ्जलि ने '*पातञ्जल योग प्रदीप*' में कहा है—'**तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्**' (जहां चित्त को लगाया जाए उसी में वृत्ति का एकतार चलना ही ध्यान है)। यानि चित्त में दूसरी वृत्ति/भाव का उत्पन्न न होना अपितु धारणा या ध्येय पर एक ही वृत्ति का (जो धारण की गई हो) प्रवाहमान रहना। चित्त का उसी विषय/धारणा पर एकाग्र हो जाना और उस एकाग्रता का देर तक भंग न होना, या दूसरी वृत्ति द्वारा बाधित न होना ही ध्यान है।

'*गोरक्षसंहिता*' में ध्यान का और भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। साथ ही उसके प्रमुख दो भेदों का भी—

स्मृत्यसेव सर्वचिन्ताया धातुरेकः प्रपद्यते।
यच्चितै निर्मला चिन्ता तद्विध्यानं यचक्षते॥
द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा।
चर्याभेदन सकलं निष्कलं निर्गुणं भवेत्॥

अर्थात्—'स्मृ' धातु सर्व चिन्तन वाचकं है और जो अपने चित्त में आत्मतत्त्व का चिन्तन करे, उसका वह चिन्तन ध्यान कहलाता है। यह ध्यान सगुण निर्गुण के भेद से दो प्रकार का माना गया है और सगुण निर्गुण का यह भेद चर्या भेद से होता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि चित्त में एक ही विषय पर निर्विघ्न चिन्तन करना ही ध्यान है। यह ध्यान सगुण/साकार और निर्गुण/निराकार दो प्रकार का होता है—या तो मूर्त या अमूर्त। सगुण रूप का ध्यान अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कराता है, जबकि निर्गुण का ध्यान समाधि की प्राप्ति कराता है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

सगुणध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्चततो भवेत्॥

इसके अलावा '*ब्राह्मणोपनिषद्*' तथा '*गोरक्षसंहिता*' में ध्यान द्वारा पाप निवारण, सामर्थ्य प्राप्ति, अमरत्व प्राप्ति (आत्मध्यान द्वारा), मोक्षप्राप्ति, अष्टसिद्धि प्राप्ति, कुण्डलिनी जागरण आदि के लाभ भी कहे गए हैं। *योगकुण्डल्योपनिषद्, पैंगलोपनिषद्, तेजोबिन्दुपनिषद्, मैत्रेय्युपनिषद्, योग चूड़ामणि, ब्राह्मणोपनिषद्* आदि ग्रन्थों में भी इन तथ्यों की पुष्टि करने वाले श्लोक मिलते हैं। सभी को यहां देना युक्ति संगत नहीं होगा किन्तु इच्छुक पाठक इन ग्रन्थों में प्रमाण देख सकते हैं। संक्षेप में इतना कहना ही बहुत होगा—

अश्वमेधसहस्त्राणि वाजपेय शतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

अर्थात्—सहस्त्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल भी अकेले ध्यान योग के सोलहवें अंश के समान नहीं हो सकता।

ध्यान अथवा धारणा सामान्य रूप से भी जीवन में विभिन्न अवसरों पर कम ज्यादा प्रयोग में आते रहते हैं, भले ही सम्पूर्णता के साथ नहीं। इनके लिए—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, यम, नियम आदि की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु योग मार्ग के लिए इन सभी अंगों की अनिवार्यता रहती है। क्योंकि इन्हीं से 'पात्रता' उत्पन्न होती है'। इन्हीं से शुद्धता और शक्ति को संभालने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। यद्यपि बहुत से विद्वानों ने योग को षडांग (छह अंगों वाला) कहा है। शुरू के दो अंग जो यम और नियम—महर्षि पातञ्जलि आदि ने माने हैं, गुरु गोरखनाथ आदि ने नहीं माने हैं। जैसा कि *गोरक्षसंहिता* में कहा गया है—

आसनं प्राणसंरोध प्रत्याहाराश्च धारणा।
ध्यानं समाधि रेतानि योगांगांनि वदन्ति षट्॥

अर्थात्—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि—योग के यह 6 अंग कहे जाते हैं।

वैसे देखा जाए तो प्रारम्भ के दो अंग—यम व नियम प्रत्यक्ष रूप से योग से सम्बन्धित हैं भी नहीं। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वे योग मार्ग की भूमिका हैं और योगी में पात्रता उत्पन्न करने में अत्यंत उपयोगी हैं। इसीलिए *महर्षि पातंजलि* ने योग के 8 अंग कहे हैं—

'यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।'
(—पातञ्जल योग प्रदीप)

'*योगतत्त्वोपनिषद्*' के अनुसार भी योग के आठ अंग कहे गए हैं। जैसा कि प्रमाण मिलता है—

यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम।

अर्थात्-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा (भ्रकुटि के मध्य में

हरि का), ध्यान, और समाधि यह जब मिलकर अष्टांग योग कहा जाता है।

अत: यम और नियम का योग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधि।

अर्थात्-'जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति रह जाती है, होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वह ध्यान ही समाधि हो जाता है।'-महर्षि पातञ्जलि ने 'योगदर्शन' में समाधि के स्वरूप की बहुत सारगर्भित व्याख्या की है। ध्यान और समाधि के भेद को स्पष्ट करते हुए 'गोरक्ष संहिता' में कहा गया है—

शब्दादीनां चन्मात्र यावत्कर्णादिबुस्थितम।
तावदेनं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम॥

अर्थात्- जब तक कान आदि पांचों ज्ञानेन्द्रियों में उनके शब्द आदि विषयों का किंचित अंश भी विद्यमान रहता है, तब तक साधक ध्यानावस्था में रहता है। किन्तु जब पांचों ज्ञान इन्द्रियों की वृत्तियां नि:शेष भाव से आत्मा में लीन हो जाती हैं तब समाधि की अवस्था हो जाती है।

व्याख्या

दूसरे शब्दों में समाधि को हम ध्यान की परिपक्व, प्रगाढ़ या चरम स्थिति कह सकते हैं। इस स्थिति में ध्याता, ध्यान और ध्येय (ध्यान करने वाला, ध्यान तथा जिसका ध्यान किया जा रहा है, वह) का अन्तर समाप्त होकर केवल ध्येय अथवा स्वविस्मृति हो जाती है। शायरी जुबान में—

आतमाद-ए-नजर नहीं है मुझे।
अब किसी की ख़बर नहीं है मुझे।
ये खबर है कि तुम हो मेरे करीब।
मैं कहां हूं, ख़बर नहीं है मुझे।

अथवा

मैं वहां हूं जहां से ऐ हम दम।
खुद को खुद की ख़बर नहीं होती।

ध्यान में इस क़दर खो जाना, कंसन्ट्रेशन (एकाग्रता) का इतना अधिक प्रगाढ़ हो जाना कि सिवाय ध्येय के और कुछ भी स्मरण न रहना। कानों से कोई शब्द, नाक से कोई गंध, त्वचा से कोई स्पर्श, नेत्रों से कोई दृश्य, जिह्वा से कोई रस आदि का ग्रहण न करना। अथवा ज्ञानेन्द्रियों का भी शरीर, मन व बुद्धि सहित ध्येय में खो जाना और 'स्व' का बोध भी न रहना समाधि है। ध्यान ज्ञानेन्द्रियों के विषयों द्वारा,

बाह्य विघ्नों द्वारा अथवा आन्तिरिक विक्षोभ से भंग हो जाता है। तथा ध्यान में स्व की स्मृति व ध्याता, ध्यान व ध्येय का अन्तर बना रहता है साथ ही ध्यान की अवधि कम होती है जबकि समाधि में सब स्मृति व अन्तर समाप्त होकर मात्र ध्येय की प्रतीति रहती है और समाधि की अवस्था स्थाई व दीर्घ होती है।

ध्यान करता हुआ साधक, किसी के द्वारा हुए जाने, पुकारे जाने, उठाए जाने, किसी तीव्र गंध को सूंघकर या तीव्र शब्द आदि को सुनकर अथवा अपने ही कन्सन्ट्रेशन के अस्थिर या विक्षुब्ध हो जाने से ध्यान भंग कर लेता है। तथा ध्यान की अवस्था में भी उसे 'स्व' का बोध या 'मैं चिन्तन अथवा ध्यान कर रहा हूं'—ऐसी अनुभूति बनी रहती है पर समाधि में साधक इन सब स्थितियों से ऊपर उठ जाता है। और दूसरे लोगों के लिए मृतप्राय: अथवा 'कॉमा' में जा पहुंचा हुआ मालूम होता है, या अत्यंत प्रगाढ़ निद्रा में लीन मालूम पड़ता है किन्तु वास्तव में वह ध्यान की पराकाष्ठा में पहुंच कर समस्त दैहिक व्यापारों व स्वबोध को भूल जाता है। जैसा कि *गोरक्ष संहिता* में कहा गया है—

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शन निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना॥

अर्थात् समाधि में लीन योगी को—गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयों का तथा अपने पराए का (स्वबोध) ज्ञान नहीं होता।

और भी देखें

अम्बूसैन्धवयो रैक्यं यथा भवति योगतः।
यदात्मन सोरेक्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

अर्थात—जैसे जल में सैंधा नमक डाल देने पर दोनों एक रूप हो जाते हैं। उसी प्रकार मन आत्मा व इन्द्रियों का एक हो जाना ही समाधि कहा जाता है।

समाधि व ध्यान की अवधि भी *गुरुगोरखनाथ* ने स्पष्ट की है—

धारणा पञ्चनाड़ीभिर्ध्यानं च षष्टनाडिभिः।
दिनद्वादशकेन स्यात्माधिः प्राणसंयमात्॥

अर्थात्—प्राणवायु का पांच घड़ी तक अवरोध करना—धारणा, साठ घड़ी तक चित्त को एकाग्र रखना ध्यान और बारह दिन तक प्राणों का निरंतर संयम करना ही समाधि है (मन और प्राण परस्पर सम्बन्धित होते हैं। प्राण वश में होने से मन और मन वश में होने से प्राण वश में आता है। अत: यहां प्राणों के संयम से मन का संयम भी समझें)।

इस तथ्य की पुष्टि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में भी मिलती है—

दिन द्वादशकेनैव समाधि समवाप्नुयात।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवव्ययम्॥

अर्थात्—योगी व्यक्ति ध्यानावस्था के सिद्ध हो जाने के बाद) बारह दिनों में

ही समाधि को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार प्राण का निरोध करने वाला मेधावी पुरुष जीवन मुक्त (मोक्ष को प्राप्त करने वाला) हो जाता है।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि ध्यान का अति प्रगाढ़ावस्था में 12 दिन तक बने रहना ही समाधि है।

विशेष—यहां थोड़ी-सी विस्तृत चर्चा विषय को सुगम्य बनाने के लिए आवश्यक है क्योंकि बारह दिन तक लगातार ध्यान का बने रहना-पाठकों के मस्तिष्क में कुछ स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न कर सकता है। उनका निराकरण किए बिना आगे बढ़ना उचित नहीं होगा।

कम से कम 12 दिन स्वविस्मृत होकर निरंतर प्रगाढ़ ध्यान में रहना समाधि है। प्रश्न उठ सकता है कि 12 दिन का समस्त व्यवहार तथा दैहिक व्यापार बन्द कैसे रखे जा सकते हैं? बारह दिनों तक भूख, प्यास, निद्रा, विश्राम, मलत्याग, मूत्रत्याग, जम्हाई, छींक, डकार, पाद, खांसी, खुजली/खारिश तथा थकान आदि के पृथक रहते हुए एक ही स्थति में स्वविस्मृत होकर ध्यानावस्था में कैसे रहा जा सकता है? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। किन्तु इस प्रश्न का हल बताने से पूर्व, इससे और भी विकट सम्भावित प्रश्नों को भी पाठकों के सम्मुख रख दूं।

पौराणिक कथाओं, धर्मग्रन्थों आदि में ऋषियों की आयु हजारों वर्ष (कहीं-कहीं तो युगों तक) कही गई है, जैसे—विश्वामित्र का वर्णन सतयुग (राजा हरिश्चन्द्र से पूर्व से लेकर त्रेतायुग (भगवान राम तक) तक मिलता है। परशुराम का वर्णन त्रेतायुग के पूर्व से लेकर द्वापर युग तक (कृष्ण तक) मिलता है—आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं। साथ ही ऐसे भी वर्णन मिलते हैं कि ऋषियों के कई दशकों तथा शताब्दियों तक समाधिस्थ रहने के कारण उनके शरीर टीलों में छिप गए या उनके शरीरों पर बांबियां बन गईं। तब इतने लम्बे समय तक भूख-प्यास, निद्रा आदि से पृथक रह पाना और आयु का ठहर जाना कैसे सम्भव हुआ? न तो वे ऋषि समाधि की अवस्था में वृद्ध हुए, न रुग्ण हुए और न ही नष्ट हुए। अनेक स्थानों पर हजारों वर्षों तक समुद्र में, पर्वतों पर, वनों आदि में तपलीन रहने का वर्णन भी मिलता है। यह सब कैसे सम्भव हुआ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक साथ दिया जा सकता है इसीलिए इनको भी साथ ले लिया गया है। वैसे तो यौगिक क्रियाऐं ही इस प्रकार के गुण रखती हैं कि भूख, प्यास, निद्रा, मल, मूत्र, रोग, वृद्धवस्था तथा मृत्यु आदि की समस्या साधक के लिए समाप्त हो जाती है। फिर भी सिद्धांत को समझाने की दृष्टि से विवेचित करेंगे।

आहार ऊर्जा देता है। वायु, सूर्य आदि भी ऊर्जा देते हैं। ऊर्जा जीवन के लिए अनिवार्य है। पौधे अपनी ऊर्जा प्रकाश व वायु से लेते हैं। पशु प्रकाश व वायु के अलावा पौधों को भी आहार के रूप में अपनाकर ऊर्जा लेते हैं। जबकि मनुष्य

प्रकाश व वायु के साथ-साथ पौधे (शाकाहार) तथा पशुओं (मांसाहार) को आहार बनाकर ऊर्जा लेता है। यह सामान्य नियम है। किन्तु इस नियम का निष्कर्ष निकलता है कि प्रकाश तथा वायु से ही समस्त जीव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऊर्जा लेते हैं। यदि मनुष्य सीधे सूर्य व वायु से ऊर्जा ले ले तो उसे आहार की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। और जब वह कोई पदार्थ-आहार के रूप में उदर में नहीं डालेगा, तब मल-मूत्र आदि कहां से बनेंगे ? साथ ही जब श्रम या गतिविधियां नहीं रहेंगी तो BODY को RECHARGE करने या REST देने की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी। अत: निद्रा, विश्राम, थकान आदि से व्यक्ति स्वत: ही पृथक हो जाएगा। क्योंकि निद्रा व विश्राम द्वारा ही मनुष्य RECHARGE होता है।

अब प्रश्न बचता है आयु के ठहरने का, सुरक्षा का। तो हमें भौतिकी विज्ञान का एक सूत्र समझना होगा। वह यह कि—'*यदि गति को अत्यधिक तीव्रता की स्थिति में ले जाया जाए तो समय/घटना क्रम ठहर जाता है।*' दूसरे शब्दों में '*तीव्रतम गति में कोई भी सत्ता कालातीत हो जाती है।*' अंतरिक्ष विज्ञान व अनुसंधानों में रुचि लेने वाले पाठक इस वैज्ञानिक तथ्य को अधिक बेहतर समझ सकते हैं। दूसरी बात यह कि *अति तीव्र गति अदृश्यता को उत्पन्न कर देती है।* बहुत तेज गति में जाती वस्तु दिखाई नहीं देती।

विज्ञान के अनुसार प्रकाश की गति सबसे तेज है किन्तु मन की गति प्रकाश से भी तेज है प्रकाश से तेज गति से जाने वाली वस्तु अदृश्य हो जाएगी क्योंकि दृश्य का सम्बन्ध प्रकाश से है। अत: प्रकाश से तेज गति से जाती वस्तु दृश्य नहीं हो सकती। किन्तु गति और भी तीव्र हो जाने पर समय की सीमा से पार हो जाती है। उसके लिए समय ठहर जाता है।

उदाहरण के तौर पर पृथ्वी से सबसे निकट का तारा चार प्रकाश वर्ष दूर है। (एक वर्ष में प्रकाश जितनी दूर जाता है, वह दूरी प्रकाश वर्ष कहलाती है।) अब यदि प्रकाश की गति से चलने वाले यान से भी कोई वहां की यात्रा करके लौटे तो मात्र 8 वर्षों में जाकर लौट आएगा। यानि उसकी आयु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा परन्तु पृथ्वी पर तब तक शताब्दियां बीत चुकी होंगी। यदि वही यात्री प्रकाश की गति से कई गुना तीव्र यान से यह यात्रा करे तो 8 मिनट में पूरी कर लेगा, यानि उसकी आयु जहां की तहां रहेगी, मगर पृथ्वी पर तब तक जमाना गुज़र चुका होगा। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अति तीव्र गति में किसी सत्ता के लिए समय ठहर जाता है। और भी एक उदाहरण देखें—

मेज पर रखे संतरे पर यदि (ऊपर से नीचे नहीं) दांए से बाएं तलवार मारी जाए और उसकी गति अत्यंत कम रखी जाए तो संतरा कटेगा नहीं, लुढ़क जाएगा। किन्तु तीव्र गति से तलवार का प्रहार संतरे को दो टुकड़ों में बांट कर लुढ़का देगा। तलवार की गति और भी तीव्र हो तो संतरा दो भागों में कटकर भी ज्यों का त्यों रखा

रहेगा। उसे लुढ़कने का मौका नहीं मिलेगा। बाद में संतरे को उठाने पर मालूम होगा कि उसके दो टुकड़े हो गए हैं। किन्तु यदि तलवार का वार और भी अधिक तेजी से (हज़ार या लाख गुना तेजी से) किया जाए तो क्या होगा ? शायद आप यकीन न करें। मगर यह सच है कि तलवार के संतरे में से गुज़रने के बाद भी संतरा कटेगा नहीं क्योंकि उसे कटने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इससे पूर्व की उसके रेशे या कण कट पाएं, तलवार दूसरी ओर निकल चुकी होगी। उन्हें अलग होने के लिए जितना समय दरकार होगा—उतना उन्हें मिलेगा ही नहीं अत: वे जुड़े ही रहेंगे। या यूं कहिए कि कटते ही जुड़ जाएंगे। बात अविश्वसनीय लगती है किन्तु वैज्ञानिक सिद्धांतों पर कसी हुई सत्य बात है। यह बात और है कि इतनी तीव्र गति से तलवार का वार कर पाना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु मनुष्य के लिए तो प्रकाश की गति से चलने वाला विमान बनाना भी अभी सम्भव नहीं है, लेकिन मनुष्य के असमर्थ होने का अर्थ यह नहीं कि सिद्धांत गलत हो गया।

और अधिक चर्चा में जाना पुस्तक की बहुमूल्य पृष्ठ सामग्री का अपव्यय ही होगा। समझदार को इशारा बहुत होता है। और कुण्डलिनी जैसे विषय के पाठक इतने तो समझदार होने ही चाहिएं कि इशारे को समझ सकें।

उपर्युक्त उदाहरण यद्यपि समाधि के लिए बिल्कुल सटीक नहीं है। तथापि अविश्वसनीयताओं का समाधान पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से करते हैं। वे ऋषि जो समाधि की अवस्था में प्राण तथा मन सहित अनन्त की मन की गति से यात्रा करते थे अथवा प्राध्स व मन की गति को समाधि की अवस्था में रोक लेते थे, उनके लिए काल, अवस्था व आयु का ठहर जाना कोई बड़ा बात नहीं थी। दूसरे सांसें और रोटी गिनती की होती है इस तथ्य के अनुसार भी जब वे सांसें और रोटी लेते ही नहीं थे तो उनकी गिनती पूरी कहां से होती।

ठोस वस्तु टूटती या कटती है, तरल या गैस नहीं। *पानी को लाठी या तलवार मार कर अलग नहीं किया जा सकता। भाप को भी नहीं,* किन्तु बर्फ को किया जा सकता है। *कारण है—उनके अणुओं की संरचना।* तरल या गैस के अणु सतत् तीव्रता से गतिमान रहते हैं, ठोस के नहीं। गतिमान अणु पृथक नहीं हो पाते क्योंकि पृथक होते ही गति से जुड़ जाते हैं। संतरे में तीव्र गति से तलवार निकालने के उदाहण को यहां उलटा करना पड़ेगा। किन्तु तथ्य वही है। ठोस वस्तु के अणु भी यदि गति शील हो जाएं तो वार किए जाने के बाद भी वे पृथक नहीं होंगे, या पृथक होते ही जुड़ जाएंगे।

सुरक्षा, कालातीतता तथा आयु के ठहर जाने आदि के सम्बन्ध में अब शास्त्रीय प्रमाण भी देखिए—

अभेद्यः सर्वशस्त्राणाम वध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना॥

बाध्यते न सकालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापियोगीः युक्त समाधिना॥

—(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—समाधियुक्त योगी शस्त्रों द्वारा नहीं छेदा जा सकता, वह किसी भी शरीरधारी द्वारा मारा नहीं जाता। उस पर मन्त्र-यन्त्र आदि का प्रयोग भी प्रभावकारी नहीं होता। वह काल (समय) के द्वारा भी बाधित नहीं होता, न ही कर्मों में लिप्त होता है। जो योगी समाधि में लीन होता है, उसे कोई किसी भी प्रकार वश में नहीं कर सकता।

एतद्विमुक्तिसोपान मेंतत्कालस्य वंचनम।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि॥

—(*गोरक्ष संहिता*)

(जब योगी योगाभ्यास द्वारा मन को विषय भोगों से दूर कर परमात्मा में लगा लेता है, तब योगी काल (समय) और मृत्यु को जीत कर जनम-मरण को भी वश में कर लेता है। यह कर्म मोक्ष की सीढ़ी है और काल की वंचना भी है।)

निराद्यंतं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगवित्॥

अर्थात्—समाधि में स्थित हुआ योगी आदि अन्त से रहित, अवलम्ब व प्रपंच से रहित, विशुद्ध, आश्रय और आकार से हीन (ब्रह्म) तत्त्व को जान लेता है। (वह जीवन-मरण, माया, अविद्या, सुख, दुःख, भय, नाश आदि से ग्रस्त नहीं होता और त्रिकालज्ञ हो जाता है, क्योंकि समय के आर-पार देख सकता है)।

इसीलिए तो 'बह्म विद्योपनिषद्' में कहा है—

एवे गुणाः प्रवर्तन्ते योगमार्गकृतश्रमैः।
यस्माद्योगं समादाय सर्वदुःख बहिस्कृतः॥

अर्थात्—योगाभ्यास में जो श्रम किया जाता है उसमें इतने गुण हैं कि उनके द्वारा सब प्रकार के दुःख दूर हो जाते हैं। अतः उसमें प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इस प्रकार समाधि प्रकरण के साथ अष्टांग योग का संक्षिप्त परिचय समाप्त हुआ। अब हम कुण्डलिनी जागरण के उपायों के विषय में चर्चा करेंगे।

❑❑❑

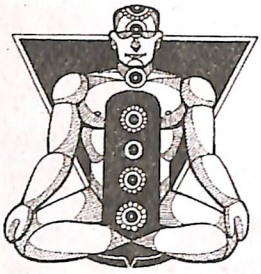

14 कुण्डलिनी जागरण के उपाय

कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी विभिन्न अभ्यासों की चर्चा इस खण्ड में हम करेंगे। प्राणायाम, ध्यान योग, हठ योग, तंत्र-मंत्र तथा कुण्डलिनी जागरण में सहयोगी अन्य आसनों, बन्धों, क्रियाओं एवं यौगिक व्यायामों का सविस्तार वर्णन करेंगे। विधि व सावधानियों का निर्देश भी देंगे, अन्य आवश्यक तथ्यों की चर्चा भी करेंगे। किन्तु उससे पूर्व प्रबुद्ध पाठकों से एक बार फिर विनम्र निवेदन करेंगे कि कुण्डलिनी शक्ति का जागना, सिंह के जागने के समान है। अग्नि के भड़क उठने के समान है अतः सुरक्षा के पूर्व उपाय; सावधानियों आदि के प्रति सजग रहना अनिवार्य है।

जिस प्रकार सिंह आदि हिंसक पशुओं को श्रम तथा बुद्धि से, विधि व सजगता से साध लिया जाता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को साधा जाता है। किन्तु जिस प्रकार थोड़ी-सी भी असावधानी सिंह को साधने वाले के लिए उस 'साधना काल' में घातक सिद्ध होती है उसी प्रकार कुण्डलिनी जागरण व चक्र भेदन काल में हुई असावधानी घातक सिद्ध हो सकती है। अग्नि या विद्युत को नियंत्रित कर उनसे मनचाहे कार्य कराए जा सकते हैं किन्तु अनियंत्रित अग्नि या विद्युत जानलेवा भी हो जाती है। अतः कुण्डलिनी को जमने से पूर्व उसे संभाल पाने का सामर्थ्य अवश्य ही जुटा लेना चाहिए। यही सामर्थ्य 'पात्रता' है। पूर्व वर्णित खण्ड में पात्रता के सम्बन्ध में और उसे उत्पन्न करने की विधियों या अभ्यासों के सम्बन्ध में चर्चा हो चुकी है। उन अभ्यासों में परिपक्व हुए बिना (पात्रता उत्पन्न किए बिना) इस खण्ड के अभ्यासों को न करें। यह निवेदन ही नहीं चेतावनी भी है। यह याद रखें।

पात्रता उत्पन्न कर लेने के बाद भी सुयोग्य तथा समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में यह अभ्यास करें तो अधिक निरापद होगा और सफलता के प्रति निश्चतता भी रहेगी। किन्तु *ऐसा सम्भव न हो तो सच्चे मन और पूर्ण श्रद्धा से ईश्वर को अपना गुरु बनाएं।* ध्यानावस्था में अथवा स्वप्न में उस परमशक्ति से दिशानिर्देशन के लिए प्रार्थना करें, और फिर सब कुछ उसी पर छोड़ दें। जैसा विचार या प्रेरणा वह दे-वैसा ही करें। वह आपका पथ प्रदर्शन करेगा अथवा सुयोग्य गुरु से भेंट करा देगा। या आपको योग्य नहीं पाएगा तो प्रारम्भ में ही हतोत्साहित करके इस साधना से आपको विमुख कर देगा। जैसा भी वह सुझाए, वैसा ही करें। अपने अहं व बुद्धि को आड़े न आने दें। पूर्ण समर्पण करके चलें।

कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य

अभ्यास में आवश्यक तथ्यों पर पहले एक दृष्टि डाल लें। उनमें पहला तथ्य शरीर के 29 ज्ञातव्य अवयव हैं जिन्हें जाने बिना योग सिद्धि सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—

षट्चक्र षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योम पंचकम।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्तियोगिनः॥

—(*गोरक्षसंहिता*)

अर्थात्—*छः चक्रों* (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र)। योग में क्योंकि छः चक्रों का ही भेदन किया जाता है, अतः 6 चक्रों का जानना अनिवार्य है जिन का भेदन करना है। सातवें चक्र सहस्रार का भेदन नहीं करना है अतः उसका ज्ञान अनिवार्य नहीं है)। *सोलह आंधार*—(पैर का अंगूठा, मूलाधार/सीवन, गुह्या द्वार, वज्रगर्भनाड़ी, उड्डियान बन्धाधार/ जहां उड्डियान बन्ध लगाया जाता है, यानि नाभि के नीचे का क्षेत्र, नाभिमंडलाधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार, जिह्वयामूलाधार, जिह्वयाअधोभागाधार, उर्ध्वदन्तमूलाधार, नासिकाग्राधार, नासिकामूलाधार, भ्रूमध्याधार और नेत्राधार), *दो लक्ष्य* (बाह्य और आन्तिरिक), *पांच आकाश* (श्वेतवर्णीय ज्योति रूप आकाश, रक्तवर्णीय ज्योतिरूप आकाश, धूम्रवर्ण ज्योति रूप महाकाश, नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्त्वाकाश और विद्युत्वर्णीय ज्योति रूप सूर्याकाश—जो क्रमंशः पहले के भीतर दूसरा, दूसरे के भीतर तीसरा, आदि के क्रम में शरीर के भीतर रहते हैं)। *अपने ही शरीर में रहने वाले इन* (6 + 16 + 2 + 5 = 29) *उनतीस सत्ताओं को जो नहीं जानता, वह योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।*

व्याख्या

ध्यानयोग में कुण्डलिनी जागृत कर षट्चक्र भेदन का विधान है। जिनको भेदा जाना है, उनको भली प्रकार जानना अनिवार्य है। यही छः चक्रों को जानने का महत्त्व है। सोलह आधारों द्वारा मन को प्रारम्भ में एकाग्र करने में सुभीता रहता है। दृष्टि की स्थिरता बढ़ती है तथा पात्रता, शुद्धि, आरोग्यता, बल आदि लाभ होते हैं।

16 आधारों का प्रयोग

प्रथम आधार को दृष्टि स्थिर करने के प्रयोग में लाएं। इससे दृष्टि की स्थिरता बढ़ती है। दूसरे आधार को एड़ी से, तीसरे आधार का संकुचन व विस्तारण करना चाहिए (अश्विनी मुद्रा)। इससे अपान वायु चौथे आधार में प्रविष्ट होकर बिन्दुचक्र में पहुंच जाता है जिससे वीर्य स्तम्भन सामर्थ्य प्राप्त होती है। पांचवें आधार का पश्चिमोत्तानासन में गुदा सहित संकोचन करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदरकृमि नष्ट होते हैं तथा पाचनतंत्र सही रहता है। छठे आधार में ज्योति का ध्यान करने तथा

प्रणव जाप करने से नाद उत्पन्न होता है। सातवें आधार को प्राण वायु से भर कर रोकने से हृदय कमल विकसित होता है। आठवें आधार में ठोड़ी की दृढ़ता पूर्वक कंठकूप में स्थापित करके ध्यान करने से चन्द्र व सूर्य स्वर स्थिर होते हैं। नवें आधार में जिह्वा को पलट कर लगाने से (खेचरी मुद्रा) सहस्त्रार चक्र के चन्द्रमंडल से निरन्तर झरने वाले अमृत का स्वाद मिलता है। दसवें भाग का मंथन व दोहन करने से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। ग्यारहवें आधार के मंथन से कवित्व शक्ति प्राप्त होती है।

बारहवें आधार में जिह्वा का अग्रभाग स्थापित करने से बहुत से रोगों से मुक्ति मिलती है, तथा जिह्वा की सामर्थ्य बढ़ती है। यह आधार बाह्य त्राटक में भी काम आता है। तेरहवें आधार व चौदहवें आधार का प्रयोग अर्न्तत्राटक में होता है। चौदहवां आधार ध्यान लगाए जाने पर ज्योति का साक्षात्कार कराता है (शाम्भवी मुद्रा)। पंद्रहवें आधार में दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास चित्त की लय सिद्धि करता है तथा सोलहवें आधार का उपयोग त्राटक आदि क्रियाओं में किया जाता है। अतः इन 16 आधारों का ज्ञान आवश्यक है। (इस बीच चर्या में आए—खेचरी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, जिह्वा के अग्रभाग का मंथन/दोहन, अश्विनी मुद्रा तथा त्राटक आदि के विषय में आगे विस्तृत चर्चा करेंगे)।

दो लक्ष्यों में आन्तरिक लक्ष्य—6 चक्र आदि रहते हैं तथा बाह्य लक्ष्य—नासिकाग्र, भ्रूमध्य आदि रहते हैं। इन्हीं लक्ष्यों पर दृष्टि व ध्यान को एकाग्र किया जाता है। अत: इनको 'लक्ष्य' कह कर पुकारा गया है। पांचों आकाश ध्यान लगने के बाद शरीर के भीतर दिखाई पड़ने वाले क्रमश: ज्योतिमान घटक हैं जो 'ध्यान यात्रा' के सुचारु व सही दिशा में जाने के लक्षण हैं। एक प्रकार से मील के पत्थर या मार्ग में पड़ने वाले पहचान चिह्न हैं। इस प्रकार इन 29 सत्ताओं का ज्ञान योगी को अवश्य ही होना चाहिए। गोरखनाथ सम्प्रदाय में इन क्रियाओं का विशेष महत्त्व माना जाता है। क्योंकि यह गुरुगोरखनाथ के निर्देश हैं। 'शारीरकोपनिषद्' भी उन्तीस शरीरस्थ तत्त्वों/सत्ताओं को जानने योग्य मानता है और उनके ज्ञान के बिना योग में सिद्धि मिलना असम्भव मानता है। किन्तु उनके 29 तत्त्व या सत्ताओं में कुछ विभिन्नताएं मिलती हैं। तथापि उपयोगी होने के कारण, पाठकों के लाभार्थ व जिज्ञासा शांति के उद्देश्य से हम उनको भी यहां दे रहे हैं। पाठक अपनी रुचि अनुसार इन्हें स्वीकारें या गोरखनाथ के कहे तत्त्वों को, अथवा दोनों ही शास्त्रों के मतों को—यह पाठकों की अपनी इच्छा, रुचि, स्वभाव, सुविधा, पसंद, सामर्थ्य, ज्ञान आदि पर निर्भर करता है।

श्रोतं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राण चैवतु पंचमम्।
पापस्थौ करौ पादौ वाकैव दशमी भता॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च. रसगन्धस्तथैव च।
त्रयोविंशतिरेतनि तत्त्वानि प्राकृतानितु॥

—शारीरकोपनिषद्

अर्थात्—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका यह पांच (ज्ञानेन्द्रियां) और गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर, वाणी यह पांच (कर्मेंद्रियां) तथा शब्द, स्पर्श, रूप/तेज, रस और गंध यह पांच (तन्मात्राएं अथवा इन्द्रियों के विषय) एवं (मन, बुद्धि, अहंकार और पंचमहाभूत—आकाश,वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) आठ विकार—कुल तेईस तत्त्व प्रकृति के हैं—(इनमें 6 चक्र जोड़कर उन्तीस घटक हुए)। इन्हें जाने बिना योगमार्ग में सफलता नहीं मिलती।

इनके अतिरिक्त भी शरीर को जानना आवश्यक है। जैसा कि कहा है—

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम्।
स्वदेहे येन जानन्तिकथं सिद्धयन्ति योगिनः॥

अर्थात्—एक स्तम्भ, नौ द्वार और पांच देवताओं वाले घर (शरीर) को जो योगी नहीं जानते, उन्हें योगसिद्धि कैसे हो सकती है, यानि नहीं हो सकती।

व्याख्या

शरीर पंचतत्त्वों या पंचमहाभूतों से निर्मित है। वहीं (आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी) पांच देवता हैं। नौ छिद्र (दो कान, दो नेत्र, दो नथुने, एक मुख, एक गुदा व एक जननांग) ही नौ द्वार हैं और मन ही इस घर (शरीर) का एक मात्र दृढ़ स्तम्भ है, क्योंकि मन के चंचल होने पर समस्त इन्द्रियां व शरीर उसका अनुगमन करते हैं। मन के स्थिर होने पर शरीर सहित समस्त इन्द्रियां भी स्थिर होते हैं। अत: मन ही शरीर रूपी घर का आधार स्तम्भ है। जब तक योगी इन सबको जानता हुआ अपने मन को नियंत्रित व दृढ़ नहीं कर लेता, वश में नहीं कर लेता, तब तक सिद्धि सम्भव नही हो सकती। इसीलिए '*शाट्यायनीयोपनिषद्*' में कहा गया है—'*मन एवं मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो*' (मन ही मनुष्यों के बन्धन व मोक्ष का कारण है।)

मन के सम्बन्ध में यद्यपि प्रारम्भ ही में चर्चा कर आए हैं तो भी कुछ विशेष उदाहरण यहां अवश्य देंगे ताकि मन का महत्त्व कुण्डलिनी जागरण में भली प्रकार से समझा जा सके और सफलता की निश्चितता हो।

एतद्विमुक्तिसोपानमेंतत्कालस्य वंचनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि॥

—(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—योगाभ्यास द्वारा जब मन विषय भोगों से दूर होकर परमात्मा में लग जाता है, तब योगी काल और मृत्यु को विजय करके ज़रा-मरण को भी वश में कर

लेता है। यह कर्म मोक्ष का सोपान है, और यही काल की वंचना भी है।

मन को साधने के सम्बन्ध में *'मैत्रेय्युपनिषद्'* में कहा गया है—

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषय मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रिय निग्रहः॥

अर्थात्—जीव और ब्रह्म में भेद न देखना ही ज्ञान है। मन को विषयों से दूर कर लेना ही ध्यान है। मन के मैल/कलुष/विकारों को त्यागना ही स्नान है तथा इन्द्रियनिग्रह/उन्हें वश में रखना ही शौच/पवित्रता है।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भांति गुह्यमेतत्सनातनम्॥

—(मैत्रेय्युपनिषद्)

अर्थात्—चित्त/मन ही संसार है। अतः प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करें। जैसा चित्त, वैसी गति—यही सनातन सिद्धान्त है। (*नियम परिवर्तित हो सकता है। सिद्धांत कभी नहीं। क्योंकि सिद्ध + अंत = सिद्धांत वही है जो अंत तक सिद्ध हो या जिसका अंतसिद्ध हो*)

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा मुखमव्ययमश्नुते॥

अर्थात्—चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शांत चित्त वाला मनुष्य आत्मा में लीन होकर अक्षय आनन्द को प्राप्त होता है।

अतः मन को भटकने से रोकना चाहिए। भोग भी करें तो निर्लिप्त होकर। पानी में रहने वाली नौका का यदि लंगर पड़ा रहे तो वह लहरों पर इधर उधर तैरने का आनंद तो लेती है, पर बहती नहीं। अतः मन रूपी नौका पर आस्था रूपी लंगर पड़ा रहना चाहिए। कीचड़ में रहकर भी कमल जिस प्रकार जलकणों व कीचड़ से प्रभावित नहीं होता। उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी बिना लिप्त हुए कर्म करने से मन माया में नहीं फंसता। जैसा कि 'गोरक्ष संहिता' में कहा गया है—

रज्जुबद्धो यथा श्येनो यतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणेबद्धस्तथा जीवः प्राणापाणेन कृष्यते॥
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
उर्ध्वानः संस्थितावेतौ संयोजयति योगविद्॥

अर्थात्—बाज पक्षी के पैर में रस्सी बांधकर यदि रस्सी को ढील दें तो वह उड़ जाएगा, किन्तु रस्सी खींच लेने पर वह पुनः निकट आ जाएगा। उसी प्रकार माया के गुणों से बंधा हुआ जीव प्राण व अपान वायुओं द्वारा ऊपर नीचे खींचा जाता है। आज्ञाचक्र में स्थित प्राणवायु मूलाधार में स्थित अपानवायु को ऊपर खींचता है। और मूलाधार में स्थित अपान वायु आज्ञाचक्र में स्थित प्राणवायु को नीचे खींचता है। इस प्रकार दोनों वायु जीव को एक दूसरे के साथ ऊपर-नीचे को खींचते रहते

हैं। किन्तु योगिजन प्राण और अपान का नाभिप्रदेश में समायोजन कर जीव और चित्त को भी स्थिर कर लेते हैं। (अन्यथा जीव-रज, सत् व तम तीन गुणों से बंधा रहता है, जैसा कि कहा है—'गुणबद्धस्ततो जीवः')

मन के पूर्ण संयम और साधक के पूर्ण समर्पण से ही सफलता निश्चित होती है। जैसा कि *गीता* में भी कृष्ण भगवान ने कहा है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदामुक्त एवसः॥

अर्थात्—जीती हुई हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसकी (अपने ही द्वारा), ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि (परमेश्वर के स्वरूप का निरंतर मनन करने वाला)—इच्छा, भय और क्रोध से रहित हैं—वह सदा मुक्त ही है।

मन व इन्द्रियों के संयम के साथ-साथ मन का पूर्ण विश्वास और श्रद्धा से संयुक्त रहना भी परमावश्यक हैं। शंका रहित होना अनिवार्य है। क्योंकि शंका श्रद्धा और विश्वास की शत्रु है और परिश्रम व लगन में बाधक है। जिनके अभाव में सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती। यदि पूर्वजन्म के संचित् कर्मों के सौभाग्य स्वरूप मिल भी जाए तो व्यक्ति शंका के कारण हीरे को ठींकरा समझ कर छोड़ देता है। पाठकों की समस्त शंकाओं के समाधान हेतु और योग पद्धति को तत्त्वतः समझाने के लिए ही कई तथ्यों की पुनरावृत्ति करके भी इतनी लम्बी भूमिका देने की जरूरत महसूस होती है। क्योंकि शंका का नष्ट हो जाना आवश्यक है। जैसा कि 'गीता' में श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन से कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं
लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अर्थात्—हे अर्जुन! भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। उनमें भी (श्रद्धारहित और संशययुक्त में से)—संशययुक्त पुरुष के लिए तो न सुख और यह लोक है न ही परलोक है। अर्थात् इहलोक और परलोक दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं। (अतः संशय रहित होना हर प्रकार की सफलता की प्रथम शर्त है)।

संशय का एक मात्र कारण पूर्ण ज्ञान का न होना अथवा अज्ञान या अर्द्धज्ञान का होना है। अतः सर्वप्रथम साधक को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तभी तो कहा गया है—'*न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।*' (ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्संदेह इस संसार में और कुछ नहीं है)

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात्—जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान पुरुष-ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

इसीलिए गुरु के प्रति अंधी श्रद्धा कल्याणदायिनी कही जाती है क्योंकि ज्ञान न होने पर भी प्रबल श्रद्धा संदेह या शंका को उत्पन्न नहीं होने देती। जैसा कि '*अद्वयतारक-उपनिषद्*' में कहा है—'*गुरूदेव परंब्रह्म गुरुदेव परागतिः।*' (गुरु ही परब्रह्म है, गुरु हि परम गति है।) *शाट्यायनोपनिषद् में* भी कहा है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
स ब्रह्म वित्परंप्रेयादिति वेदानुशासनम्॥

अर्थात्—देवताओं में जैसी परम भक्ति होती है, वैसी ही भक्ति गुरु में होनी चाहिए। (इस प्रकार की गुरु भक्ति से व्यक्ति) ब्रह्मज्ञानी होकर परमपद को प्राप्त होता है। यही वेद की व्यवस्था है।

योगमार्ग में तो गुरु की विशेष भूमिका रहती है। जैसा कि कहा गया है—'*अध्यायिता ये गुरु नाद्रियन्ते*' आदि शास्त्रोक्त उदाहरण बताते हैं कि बिना गुरु के प्रति श्रद्धा वाले साधक की तपस्या कच्चे घड़े के जल में घुल जाने के समान नष्ट हो जाती है। गुरु न मिले तो जैसा कि बताया है—ईश्वर को ही सच्चे मन से गुरु मान, पूर्ण समर्पण व श्रद्धा सहित साधना आरम्भ करनी चाहिए। आगे बढ़ने का मार्ग स्वयं मिलता चला जाता है।

जैसे वर्षा ऋतु में ऊंची हो गई घास के मैदान को दूर से देखने पर कोई मार्ग नज़र नहीं आता। चारों ओर घास ही घास दिखाई पड़ती है परन्तु यात्रा आरम्भ कर देने पर जैसे-जैसे निकट जाते हैं—पगडण्डियां दिखाई देने लगती है, और मार्ग स्वतः मिलता चला जाता है। उसी प्रकार श्रद्धावान व संशय रहित होकर तप करने वाला साधक स्वतः अपना मार्ग प्राप्त कर लेता है। '*सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्*' का यह श्लोक इसकी पुष्टि करता है—

योगेन योगो ज्ञामव्यो योगो योगात् प्रवर्द्धते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्॥

अर्थात्—योग से योग की वृद्धि होती है। अतः योग के ही द्वारा योग को जानना चाहिए। योग में सदैव दत्तचित्त रहने वाला योगी चिरकाल तक सुख (आनन्द) का उपभोग करता है।

ऊपर कहे श्लोक में कर्म/साधना/तप की महत्ता बताई गई है। केवल ज्ञान ही एकत्र करते रहना अथवा केवल शास्त्रों का अध्ययन ही करते रहना कल्याणकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बिना कर्म किए लक्ष्य प्राप्ति कैसे होगी अधिक अध्ययन में दोष भी है—बुद्धि के भ्रमित हो जाने का। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कहने का अपना ढंग होता है। कोई अपने मार्ग के विषय में बताता है तो दूसरा अपने मार्ग के विषय में। परिणामतः पाठक उलझ जाता है। अतः एक मार्ग पर श्रद्धा व संकल्प करके बस चल देना चाहिए। जैसा कि कवि *हरिवंशराय बच्चन* ने कहा है—

'राह पकड़ तू एक चालाचल
पा जाएगा मधु शाला।'

श्रीमद्भागवत् गीता में भी कृष्ण ने कहा है—

यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

— श्रीमद्भागवत गीता

अर्थात्—'और हे अर्जुन! जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल से बिल्कुल तर जाएगी' (स्थिर, शुद्ध व एकमत हो जाएगी) तब तू सुनने योग्य (सुने हुए को समझने के योग्य) और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा (अर्थात् सुने हुए को समझकर आत्मसात् करने और उसे व्यवहार में लाने में समर्थ होगा। अन्यथा तर्क वितर्क में उलझ जाएगा) और जब अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर होकर ठहर जाएगी तब तू समत्वरूप योग को प्राप्त होगा।

सांख्य सिद्धांत में समस्त कर्मों की सिद्धि के लिए पांच सेतु कहे गए हैं। उन पांचों के विधिवत संयोग से कार्य की सिद्धि होती है। इन्हें भी समझ लेना चाहिए।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

अर्थात्—आधार/अधिष्ठान (जिसके आश्रय कर्म किए जाएं), कर्त्ता (जो कर्म करे), करण (जिनके द्वारा कर्म किए जाएं अर्थात् माध्यम, जैसे—इन्द्रियां आदि साधन), चेष्टा (कर्म/क्रिया) तथा दैव (पूर्वकृत शुभाशुभकर्मों से निर्मित संस्कार या स्वभाव तथा पूर्व निर्मित भाग्य)—यह पांच सेतु ही कार्यसिद्धि कराने वाले हैं।

कुण्डलिनी जागरण के सम्बन्ध में ध्यान योग या मंत्र पद्धति आधार/अधिष्ठान कहे जाएंगे। कर्त्ता स्वयं आप होंगे। करण आपकी इन्द्रियां, आसन, माला आदि होंगे तथा स्तोत्र या मंत्र होंगे। चेष्टा—प्राणायाम, विपरीतकरणी, खेचरी आदि विभिन्न यौगिक क्रियाएं अथवा जाप व मुद्राएं होंगे और दैव आपका स्वभाव, संस्कार व भाग्य होंगे। इन पांचों के एकत्रित, समायोजित तथा अनुकूल न होने पर कार्य सिद्धि नहीं हो सकती।

इन तथ्यों को भली प्रकार समझ कर कुण्डलिनी जागरण के अभ्यास आरम्भ करें।

❑❑❑

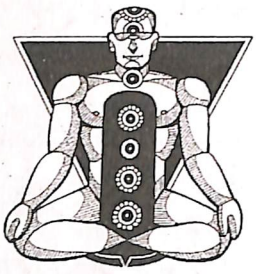

15
ध्यान-योग व हठयोग सम्बन्धी उपाय

प्राणायाम

प्राणायाम के विभिन्न रूप हैं। उनकी भिन्न-भिन्न विधियां तथा फल हैं। कुण्डलिनी का सम्बन्ध प्राण से है और प्राण का मन से। अत: कुण्डलिनी जागरण का सर्वप्रथम, प्रामाणिक, सरल व निश्चित उपाय प्राणायाम ही है। जैसा कि '*योगकुण्डल्यउपनिषद्*' में कहा गया है—

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निभयाच्चालयेत्सुधीः।
उर्ध्वमाकषयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ब्रजेत्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां ब्रजति स्वयम्॥

अर्थात्—दो मुहूर्त तक सरस्वती का चालन करके सुषुम्ना नाड़ी को, जो कुण्डलिनी के सर्वाधिक निकट होती है, किंचित ऊपर की ओर खींचें। इस भांति अभ्यास करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चढ़ने लगती है और साथ-साथ प्राण भी स्वयं ही उस स्थान को छोड़ सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

बन्द मोक्षद्वार खोलने के लिए प्राणशक्ति को सुषुम्ना में प्रविष्ट कराना आवश्यक है। इस प्रकार कुण्डलिनी को चलाने के दो ही प्रमुख साधन माने गए हैं—सरस्वती चालन और प्राणनिरोध/प्राणायाम।

कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की होकर मार्ग अवरुद्ध किए पड़ी रहती है। अग्नि या वायु के संयोग/आघात से ही यह जागृत होती है। जैसा कि *गोरक्ष संहिता* में कहा गया है—

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वार मुखं नित्य मुखेनाच्छाद्य तिष्ठिति॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मगारमनामयम्। मुखेनाच्छाद्य
तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरूता सह।
सूचीव गुणमादाय ब्रजव्यूर्ध्व सुषुम्णया॥

अर्थात्—नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान रूप कन्द के ऊपर कुण्डलिनी 8 प्रकार की होकर ब्रह्मरंध्र के मुख को रोकती हुई अवस्थित है। जिस मार्ग से चलते हुए पाप रहित बह्मद्वार की प्राप्ति होती है, उसके द्वार को ढककर यह कुण्डलिनी शक्ति सुप्त पड़ी रहती है। यह बुद्धि के संयोग से (ध्यान लगाने पर) जागृत होकर मन और प्राण के साथ सुषुम्ना द्वार में सूई की भांति प्रविष्ट होकर ऊपर की ओर चढ़ती है।

'*शाण्डिल्योपनिषद्*' भी कुण्डलिनी के अष्टधा अवरोधक होने की पुष्टि करता है—

नाभेस्तिर्णगधोर्ध्व कुण्डलिनी स्थानम।
अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृताकुण्डलिनी शक्ति भवि्ति॥

अर्थात्—नाभि के पीछे ऊपर की ओर कुण्डलिनी का स्थान है। यह कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति स्वरूपा होकर आठ कुण्डल धारण किए हुए पड़ी रहती है।

कुण्डलिनी के दो मुख होते हैं। एक मुख से वह सुषुम्ना के रुध्र में इड़ा व पिंगला नाड़ी में लपेटा लगाए हुए साढ़े तीन कुण्डलों के साथ सोती रहती है। दूसरा मुख सदैव क्रियाशील व जागृत रहता है। इसी मुख से जीव को चेतना व ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु पहले मुख के निष्क्रिय व सुप्त रहने के कारण व्यक्ति आत्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार करने में असमर्थ होता है। जिस द्वार से जाने पर ब्रह्मद्वार की प्राप्ति होती है, उसी द्वार पर यह परमेश्वरी सोई पड़ी रहती है। वायु या अग्नि के संयोग से प्राण निरोध या सरस्वती चालन से जागृत हो जब यह ऊपर चढ़ने लगती है तभी वह सिद्धित्व मोक्ष देने वाली होती है। जब तक यह देवी जागृत नहीं होती तब तक सभी पूजा-पाठ, मन्त्र आदि असफल रहते हैं। जैसा कि महर्षि गौतम ने कहा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निदायिताप्रभो।
तावत किंचिन्न सिध्येत मंत्रयंत्रार्चनादिकम्॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्य संचयै।
तदा प्रसादमायाति मन्त्र यन्त्रार्यनादिकम्॥

—(*गौतमयितंत्र*)

अर्थात्—जब तक कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में सोई रहती है, तब तक कोई मंत्र-यंत्र, पूजा आदि सफल नहीं होते। अनेक संचित पुण्यों के प्रभाव स्वरूप जब यह परमेश्वरी जागृत हो जाती है तब इसी के प्रसाद से यन्त्र-मंत्र पूजा आदि प्रभाव दिखाने वाले होते हैं। (वरदान व श्राप भी तभी फलीभूत होते हैं)।

और जैसा कि '*गोरक्षसंहिता*' में कहा गया है—

प्रसुप्तभुजंगाकारा पद्यतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा बहिन योगेन व्रजत्यूर्ध्व सुषुम्णया॥
उद्घाटयेत्कपाट तु तथा कुञ्चियकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥

अर्थात्—सुप्त कुण्डलिनी सर्पाकार और कमल नाल के तन्तु के समान होती है, वह अग्नि के संयोग से जागृत् होकर सुषुम्ना के रास्ते ऊपर चढ़ती है। चाबी से जिस प्रकार ताला खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी को जागृत कर योगी अपने मोक्ष का द्वार खोल लेता है। (कुण्डलिनी के जागृत हुए बिना साधक का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो पाता)। अनेक योगग्रन्थ 8 प्राणायाम कहते हैं। बहुत से योगशास्त्र प्राणायामों की संख्या बारह बताते हैं। हम कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी प्रमुख प्राणायाम दे रहे हैं।

नाड़िशोधक प्राणायाम—शरीर में स्थित 72000 नाड़ियों में दस नाड़ियां अत्यंत प्रमुख हैं। क्योंकि ये प्राणवाहक नाड़ियां हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी। नाभि के नीचे (कन्द) इन सभी नाड़ियों का मूलस्थान है। बहत्तर हजार में 72 मुख्य हैं। उन 72 में भी उपर्युक्त दस प्रमुख हैं। और इनमें भी प्रथम तीन तो परम महत्त्व वाली हैं। जैसा कि '*सुबालोपनिषद्*' में कहा है—

'***अथेमा दश-दश नाड्यो भवन्ति तासामेकै कस्यों द्वासप्ततिद्वसिप्ततिः शाखानाडी सहस्त्राणि भवन्ति यस्मन्नयमात्मा स्वयिति शब्दानां च करोति।***' (इस हृदय की 10-10 नाड़ियां हैं। उनमें से प्रत्येक की 72-72 नाड़ियां हैं/शाखाएं हैं। इस प्रकार 72000नाड़ियां हैं जिनमें आत्मा/प्राण सोता है व क्रिया करता है।)

'*क्षुरिकोपनिषद्*' में भी कहा है—'***द्वासप्तति सहस्त्राणि प्रतिनाडीषुतैतिलम्***' (72000 सर्वसूक्ष्म नाड़ियां हैं जिन्हें *तैतिल* कहा जाता है)।

इन प्रमुख नाड़ियों के स्थान भी *गोरक्षसंहिता* में कहे गए हैं। नासिका के बाएं भाग में इड़ा, दाएं में पिंगला, इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना है। बाईं आंख में गान्धारी, दाईं आंख में हस्तजिह्वा, दाएं कान में पूषा, बांए कान में यशस्विनी, मुख में अलम्बुषा, लिंग देश में कुहू, मूल स्थान में शंखिनी स्थित है। यह दस प्रमुख प्राण वाहक नाड़ियों के स्थान हैं। इनमें सुषुम्ना परातत्त्व में लीन है तथा बह्म स्वरूप है। क्योंकि यही कुण्डलिनी शक्ति का मार्ग बनती है। प्राणायाम में इड़ा व पिंगला नाड़ियों का प्रयोग होता है। अत: यह तीनों परममहत्त्व वाली हैं। इन तीनों नाड़ियों का मिलन/संगम 'आज्ञाचक्र' पर होता है। तभी तो *क्षुरिकोपनिषद्* में कहा गया है—*तयोर्मध्ये परंस्थानं यस्तं वेद स वेदविद्।* अर्थात् इन तीनों के मध्य में जो परम स्थान हैं, उसे जानने वाला ही वेदों को जानने वाला है।

कुण्डलिनी के समीप होने से सुषुम्ना ही उसका मार्ग बनती है। जैसा कि '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में कहा गया है—'*सुषुम्ना बदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरत्*' (कुण्डलिनी शीघ्र ही विद्युत रेखा के समान सुषुम्ना नाड़ी में चढ़ती है।) अत: इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना में सुषुम्ना ही अति महत्त्व की है। इसी को सरस्वती भी कहा जाता है।

शरीर, मन आदि को जिस प्रकार शुद्ध, पवित्र करना आवश्यक है, उसी प्रकार कुण्डलिनी जागरण के मार्ग पर पहला पड़ाव उपर्युक्त नाड़ियों का शोधन है। जिससे प्राण व कुण्डलिनी का पथ निर्बाध व निर्विकार हो सके। इस विषय में प्राणायाम ही उपयोगी सिद्ध होता है। शरीर को वज्र बनाने के लिए बुद्धि व मन को समर्थ बनाने के लिए, आयुवृद्धि व रोग नाश के लिए, स्फूर्ति, स्वास्थ्य व प्रफुल्लता के लिए, सर्दी गर्मी से शरीर की रक्षा के लिए, भूख प्यास की शान्ति के लिए, कुण्डलिनी जागरण के लिए तथा नाड़ी शोधन के लिए अलग-अलग प्रकार के प्राणायाम उपयोगी होते हैं।

प्राणायाम (बायें नथुने से)

चन्द्रांग सूर्यांग प्राणायाम—बद्ध पद्मासन लगाएं। मूलाधार बन्ध तथा उड्डियान बन्ध लगाएं। चन्द्रनाड़ी (बाएं नथुने) से पूरक करें। फिर जालन्धर बन्ध लगा कर यथाशक्ति कुम्भक करें। तब जालन्धर बन्ध खोल कर सूर्य नाड़ी से (दाएं नथुने से) रेचक करें। फिर यही क्रिया विपरीत क्रम से दुहराएं। अर्थात् सूर्य नाड़ी से पूरक करें और कुम्भक के बाद चन्द्रनाड़ी से रेचक करें। चन्द्र नाड़ी से पूरक करते समय श्वेतवर्णीय अमृत स्वरूप चन्द्रमा का ध्यान करें। सूर्य नाड़ी से पूरक करते समय तेजोमय सूर्य मंडल का ध्यान करें। इस प्रकार चन्द्र व सूर्य का ध्यान करते हुए बार-बार यही क्रम दोहराते हुए प्राणायाम करने से नाड़ी शोधन व सुख होता है। जैसा कि कहा गया है— 'गोरक्ष संहिता' में—

चन्द्रांग प्राणायम

बद्धपद्यासनों योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वायथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत्॥
अमृतदधि संकाशं गोक्षीरधबलोपमम्।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्॥

अर्थात्—बद्ध पद्यासन में योगी प्राण का चन्द्र से पूरक करे। यथा शक्ति उसे धारण कर सूर्य से रेचक करे। तब अमृतमयी दही व दूध के समान उजले चन्द्रबिम्ब का ध्यान करें। इससे प्राणायाम करने वाला सुखी होता है।

सूर्यांग प्राणायाम

दक्षिणेश्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः।
कुम्भयित्वा विधानेन पुरश्चन्द्रेण रेचयेत्॥
प्रज्वलज्जवलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्॥

अर्थात्—दक्षिण (दाएं) से श्वास को शनैः शनैः पूरक करें। चिर विधान पूर्वक कुम्भक कर चन्द्र से रेचक करें। तब प्रज्ज्वलित देदीप्यमान ज्वालापुञ्ज सूर्य मण्डल का ध्यान नाभि प्रदेश में करने से योगी/प्राणायामी सुखी होता है।

इस प्रकार दोनों अंगों को मिला कर बार-बार यह प्राणायाम करने से सुख व नाड़ी शोधन होता है।

दूसरी नाड़ी शोधक प्राणायाम—दूसरे नाड़ी शोधक प्राणायाम का साविधि वर्णन '*त्रिशिखब्रह्मणोपनिषद्*' में मिलता है—

हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्।
शनै शनै रथ बहिः प्रक्षिपेत्पिगलानिलत्॥
इडया बायुमापूर्य ब्रह्मन्बोडशमात्रया।
पूरितं कुंभयेत्पश्चाश्चतुः षष्ट्या तु मात्रया।
द्वात्रिशन्मात्रया सम्यग्रे चयेत्पिंगलानिलम्॥
एवं पुनः पुनः कार्य व्युत्क्रमानुमेण तु।
सम्पूर्णकुम्भद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एवं कृते सति ब्रह्मश्चरन्ति दश वायवः॥

अर्थात्—दाएं हाथ से नासापुटों को दबाकर पहले सारा वायु बाहर निकालें। फिर बाएं नासापुट से शनैः शनैः सोलह मात्रा से वायु को भीतर खींच कर, चौंसठ मात्रा से कुम्भक करें और बत्तीस मात्रा से पिंगला (सूर्य/दायां नथुने) के द्वारा उसे बाहर निकालें। तत्पश्चात् विपरीत क्रम से (यानि दाएं से सांस लेकर बाद में बाएं नथुने से निकालना) इसे दुहराएं। ऐसा करने से समस्त नाड़ियां वायु से भर जाती हैं,

और दसों वायु ठीक प्रकार चलने लगती हैं (नाड़ी शोधन होता है।)—यहां ध्यान देने की बात यह है कि जितने समय या मात्रा में श्वांस लेना है, उससे दुगुने में निकालना है। और जितने में निकालना है, उससे दुगुने में रोकना है। इस प्रकार

प्राणायाम (दायें नथुने से)

अधिकाधिक प्राणवायु नाड़ियों को भर पाती है तथा समुचित समय तक उनमें विचर पाती है और अधिक से अधिक अशुद्ध वायु बाहर निष्कासित कर पाती है। मात्राओं को घड़ी द्वारा सैकण्ड्स में नापा जा सकता है। अथवा प्रणव मंत्र ऊं के 16, 64 व 32 बार मन ही मन उच्चारण करके निश्चित समय पूर्ण किया जा सकता है। स्मरणीय तथ्य यह है कि नाड़ी शोधन प्राणायाम बद्धपद्मासन लगाकर ही किए जाते हैं। यहां बताए गए दोनों प्राणायामों में से कोई एक कम-से-कम तीन महीने तक करना चाहिए। तब समस्त नाड़ियों का समुचित शोधन होता है। जैसा कि कहा गया है—

सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना विम्बद्वयं ध्यायतां।
शुद्धा नाड़िगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयाइर्ध्वतः॥

—(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—सूर्य-चन्द्र विधि से दोनों बिम्बों को ध्यान करते हुए अभ्यास में तत्पर रहने से योगी सभी नाड़ियों को तीन मास के पश्चात् शद्ध कर लेता है। ।

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादादिव्यक्तिरारोग्यं जाते नाड़ि शोधने॥

अर्थात्—नाड़ियों के शोध से यथेष्ट मात्रा में प्राणवायु को धारण करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। जठराग्नि प्रदीप्त होकर आरोग्य प्राप्त होता है और नाद स्पष्ट सुनाई देता है।

नाड़िशोधन के विषय में *'हठयोगप्रदीपिका'* ने उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षण भी बताए हैं। जिनसे स्वंय ही साधक जान सकता है, कि तीर निशाने पर बैठा है या नहीं।

यदातु नाडी शुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम्॥

अर्थात्—जब नाड़ी शोधन हो जाता है तब उसके बाह्य लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। काया कृश हो जाती है, और शरीर कान्तिमय हो जाता है। ये निश्चित लक्षण हैं।

अतः साधक यदि इस प्राणायाम की साधना में शरीर को पतला या हल्का होता हुआ अनुभव करे तो घबराए नहीं। यह सफलता का लक्षण है। शरीर की फालतू चर्बी को दूर कर प्राणायाम शरीर को हल्का व कृश बनाता है। क्योंकि स्थूलता व गुरुता (भारीपन) आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा, शिथिलता, दीर्घसूत्रता, निद्रा, बहुभोजी होना रोगों को बढ़ाता है। तमोगुण में वृद्धि करता है। जबकि हल्का व पतला शरीर, प्रसन्न फुर्तीला, सत्त्वमय रहता है। जिससे तेज या कांति में वृद्धि होती है और शरीर तप व साधना में समर्थ होता है।

प्राणायामों का तथा अन्य योग साधनाओं का अभ्यास करने से पूर्व प्रारम्भ में *नाड़ी शोधक प्राणायाम से ही साधनाश्रा आरम्भ करनी चाहिए।* ताकि रही सही अपात्रता भी दूर हो जाए और शरीर साधना के योग्य व साधना द्वारा प्राप्त शक्ति को धारण करने में समर्थ हो जाए। बिना नाड़ियों को शोधन किए किया गया प्राणयाम व ध्यान पूर्ण लाभ नहीं देता तथा उपलब्धियों को संदिग्ध या विकार ग्रस्त कर सकता है। अतः विधान के अनुसार आगे बढ़ें। जल्दबाजी बिल्कुल न करें। *जैसे-जैसे पात्रता बढ़ती चली जाएगी, उपलब्धियां, शक्तियां व सिद्धियां स्वतः प्राप्त होती चली जाएंगी।* चुम्बक जिस प्रकार से लोहे को सहज ही खींच लेता है, उसी प्रकार पात्रता उपलब्धियों व सिद्धियों को सहज ही आकर्षित कर लेती है।

अजपा गायत्री प्राणायाम

अजपा गायत्री को हंस गायत्री भी कहते हैं। यद्यपि 'हंस' शब्द का प्रयोग आत्मा के पर्याय स्वरूप होता है। आत्मा जब देह छोड़ती है, तो प्राण भी देह छोड़ता है। श्वांस-प्रश्वांस क्रिया में प्राण जब बाहर जाता है तब 'सकार' की ध्वनि करता है और अपान जब भीतर आता है तब 'हकार' की ध्वनि करता है। इस प्रकार मनुष्य श्वांस प्रक्रिया के साथ अनजाने में ही हंस गायत्री (सोऽहं या हंसः) का उच्चारण करता रहता है। जिसका अर्थ है 'वो मैं हूं' या 'हूं मैं वो'। इस प्रकार स्वयं को (आत्मा) परम का (परमात्मा) अंश वह अनजाने में ही स्वीकारता रहता है। अनजाने में जाप होते रहने से ही इसे 'अजपा गायत्री' भी कहा जाता है। इस प्रकार एक दिन

में जीव इक्कीस हजार छह सौ हंसमंत्र (औसतन) जपता है। जैसा कि कहा है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्र जीवो जपति सर्वदा॥
षट्शतानि त्वहोरात्रे सहस्त्राण्येकविंशति।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

—(*गो. संहिता*)

अर्थात्—यह जीव (प्राणवायु) सकार की ध्वनि से बाहर आता और हकार की ध्वनि से भीतर जाता है। इस प्रकार वह सदा हंस मंत्र का जाप करता रहता है। एक दिन रात में जीव इक्कीस हजार छः सौ बार इस मंत्र का जाप करता है।

इसी अजपा गायत्री को ध्यान में रख कर प्राणायाम करने पर (अर्थात्—श्वांस प्रश्वांस के साथ हंसः अथवा 'सोऽहं' मंत्र के मानसिक जाप से) ज्ञान व मोक्ष प्राप्त होते हैं। अजपा गायत्री प्राणायाम अत्यंत पवित्र व मुक्ति देने वाला है। जैसा कि कहा गया है—

अजपा नाम गायत्रीं योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्थाः संकल्पमात्रे सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशो विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥

अर्थात्—अजपा नामक गायत्री योगियों को मोक्ष देती है। इसके संकल्प मात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इसके समान न कोई विद्या है न इसके समान कोई जप है। इस के समान कोई ज्ञान भी भूत या भविष्य में नहीं हो सकता।

यह अजपा गायत्री कुण्डलिनी में ही उत्पन्न होती है। 'कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री' और जिस प्रकार तिलों में तेल रहता है अथवा काष्ठ में अग्नि रहता है, उसी प्रकार समस्त जीवों में कुण्डलिनी से उत्पन्न अजपा गायत्री व्याप्त रहती है। इस भेद को जान लेने पर (इसका प्राणायाम में ध्यान सहित अभ्यास करने पर) मृत्यु का उल्लंधन भी किया जा सकता है। जैसा कि '*हंसोपनिषद्*' में कहा है—'***सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु, तिलेषु तेलमिव। तं विदित्वा न मृत्युमेति॥***' '*पाशुपतब्रह्मोपनिषद्*' ने तो इसी को ईश्वर व जीव स्वीकारा है और इसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति मानी है। '***हंसात्ममालिका वर्ण ब्रह्मकाल प्रचोदिता।***'

यह तथ्य समस्त योगविषयक ग्रन्थों ने समान रूप से स्वीकारा है। '*विज्ञान भैरव*' में भगवान भैरव ने यही तथ्य और विस्तार से देवी को समझाया है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्त्राण्येकविंशतिः।
जयो देव्याः समुद्दिष्ट प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः॥

भावार्थ यह है कि प्राण सकार के साथ बाहर आता है और अपान जब शरीर में प्रवेश करता है तब हकार का उच्चारण करता है। इस प्रकार प्राण व अपान की गति जब तक चलती रहती है तब तक जीव प्रतिदिन निरंतर 'हंस-हंस' मन्त्र का उच्चारण करता है। दिन-रात में यह जप 21,600 बार होता है। (प्राणों के निकलते समय भी यदि इस अजपा जप के प्रति तन्मयता बनी रहे तो मोक्ष मिलता है)।

उर्ध्वेद्वादशान्ते प्राणः प्राणनरूपो
जीवना ख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः संस्थाप्यः।
अधश्च हृदि हृदय स्थाने जीवोऽपानः,
जीव्यतेऽनेनेति जीवः.....विमर्शवान स्यादिति भावः॥

(श्लोक 24, विज्ञान भैरव)

अर्थात्—ऊपर हृदय से द्वादशान्त तक जाने वाला प्राण और द्वादशांत से हृदय तक आने वाला जीव नामक अपान यह परादेवी का उच्चारण है, स्पन्दन है। परादेवी ही स्वयं इसका निरन्तर उच्चारण करती रहती हैं, यानि प्राण व अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती हैं। यदि परादेवी का इनसे (प्राणापान से) सम्पर्क न हो तो प्राण का प्रवाह नियमित रूप से नहीं हो सकता। परादेवी के इस स्पन्दन (हंस के अजपा मन्त्र पर) पर ध्यान करते हुए वहां भैरव की शक्ति की भावना करने से योगी में भैरव स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। अथवा उसका भैरव स्वरूप प्रकट हो जाता है। (यहां परादेवी कहकर कुण्डलिनी को ही पुकारा गया है।

विशेष : प्राण और अपान की गति जिस स्थान पर आकर रुक जाती है उसे द्वादशांत कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्राण नासिका से बारह उंगल की दूरी तक बाहर जाकर गतिहीन हो जाता है और अपान हृदय से बारह अंगुल नीचे तक आकर रुक जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से यह दूरी तिगुनी (36 अंगुल) तक बढ़ाई जा सकती है। इससे अधिक दूर गया प्राण फिर वापस नहीं लौटता। यह एक प्राणायाम के उच्च अभ्यासों में रखी जाने वाली सावधानी भी है। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा भी गया है—

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते॥
शुद्धिमेति यदा सर्वनाड़ीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राण संग्रहणे क्षमः॥

अर्थात्—प्राणायाम रूप हंस बाएं व दाएं मार्ग से 36 अंगुल बाहर निकलता है अतः वायु को ही प्राण कहते हैं। मल से भरी नाड़ियों के चक्र का शोधन प्राणायाम से होता है अतः योगी को प्राण वायु को ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए।

आगे कहते हैं—'प्राण व अपान रूपी वायु को नासिका से 36 अंगुल तक

बाहर निकाला जा सकता है। इससे अधिक दूर निकल जाए तो उसे लौटाना कठिन हो जाता है। और न लौटने पर मरण निश्चित है। अतः वायु को ही प्राण की संज्ञा दी है।' इसलिए शास्त्रों ने प्राण का महत्त्व सिद्ध करते हुए कहा है—

प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्व प्राणमयं जगत्॥

(प्राण ही भगवान शिव हैं, प्राण ही विष्णु और पितामह ब्रह्मा है। सब लोकों कों प्राण ने ही धारण कर रखा है, अतः यह सम्पूर्ण संसार ही प्राणायाम है)।

बहरहाल श्वांस निःश्वांस के साथ होने वाली अजपा गायत्री पर प्राणायाम के समय ध्यान लगाना ही अजपा गायत्री प्राणायाम है। साथ ही यदि द्वादशांत तक जाते प्राण व अपान पर भी ध्यान लगाया जाए तो लाभ शीघ्र व अधिक निश्चित हो जाता है। अजपा गायत्री प्राणायाम के लाभों को पहले बता दिया गया है।

त्रिविधि प्राणायाम

बारह मात्रा युक्त प्राणायाम रेचक, पूरक व कुम्भक तीन प्रकार का होता है। तीनों को मिलाकर करने से त्रिविधि प्राणायाम होता है। यह प्रणवात्मक होता है। क्योंकि प्रणव (ॐ) के अ+उ+म् (ब्रह्मा, विष्णु, शिव अथवा—ज्ञान, क्रिया व संकल्प या सूर्य, अग्नि व चन्द्र) की तीन मात्राएं ही पूरक, कुम्भक व रेचक में रहती हैं। इस प्राणायाम के साथ मन ही मन ॐ का जाप करना चाहिए और प्राण व अपान का निरोध कर श्वांस को सुषुम्ना में चढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। इससे सुषुम्ना मार्ग कुण्डलिनी के लिए खुलता है। पूरक के समय 'अकार' का स्मरण करते हुए बारह बार ॐ का जाप करें। कुम्भक के समय 'उकार' का स्मरण करते हुए सोलह बार ॐ का जाप करें और रेचक के समय 'मकार' का ध्यान करते हुए दस बार ॐ का जाप करें तब एक प्राणायाम पूर्ण होगा। पूरक चन्द्र नाड़ी से व रेचक सूर्य नाड़ी से करें। इसे त्रिविधि प्राणायाम या प्रणवात्मक प्राणायाम कहते हैं जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा है—

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामे भवेत्त्रेधा मात्रा द्वादशसंयुतः॥

अर्थात्—रेचक, पूरक व कुम्भक प्रणवात्मक (ॐकार का सूचक) है। बारह मात्रा युक्त प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। (यही त्रिविधि प्राणायाम है)।

जैसे-जैसे अभ्यास दृढ़ होता जाए वैसे-वैसे मात्राओं (प्रणव के जाप)को बढ़ाते जाना चाहिए और उन्हें तिगुनी तक कर लेना चाहिए। तब प्राणायाम उत्तम माना जाता है। प्राणायाम को अधम, मध्यम व उत्तम—तीन प्रकार का माना गया है। अधम प्राणायाम में पूरक 12 प्रणव से, कुम्भक 16 प्रणव से और रेचक 10 प्रणव से किया जाता है। मध्यम प्राणायाम में पूरक 24 प्रणव से, कुम्भक 32 प्रणव से और

रेचक 20 प्रणव से किया जाता है (यानि मात्राएं या प्रणव दुगुने हो जाते हैं)। जबकि उत्तम प्राणायाम में पूरक 36 प्रणव से, कुम्भक 64 प्रणव से और रेचक 40 प्रणव से किया जाता है। उत्तम प्राणायाम में दक्षता, शरीर को लघुता/हल्कापन देती है और योगी के ऊपर उठते ही उसकी देह का ही नहीं, मन आत्मा का भी उत्थान होता है तथा कुण्डलिनी जागरण भी।

त्रिविधि प्राणायाम के सम्बन्ध में इन प्राणायामों के लक्षण व प्रभावों में '*त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्*' में खासा प्रकाश डाला गया है। देखिए प्रमाण—

लक्षण

प्रस्वेदुजननं यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।
कम्पन वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः॥
कम्पन वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः।

प्रभाव

अधमे व्याधियापानां नाशः स्यान्मध्यमेपुनः।
पाप रोग महाव्याधि नाशः स्यादुत्तमः पुनः॥
अल्पमूत्रोऽल्पपिष्टश्च लघुदेहो मिताशनः।
षत्विन्द्रियः पदुमतिः कालत्रयविदात्मवान्॥

अर्थात्—जिस प्राणायाम में पसीना आता है, वह अधम है। जिसमें शरीर में कंपकंपी होती है, वह मध्यम है। और जिसमें शरीर ऊपर उठता है, वह उत्तम है। अधम प्राणायाम से व्याधियों व पापों का नाश होता है। मध्यम से रोगों व महाव्याधियों का पापों सहित नाश होता है और उत्तम प्राणायाम से साधक मिताहारी, अल्पमूत्र व अल्पमल वाला हो जाता है। शरीर की लघुता (हल्कापन) व सत्त्वगुण प्राप्ति होती है। इन्द्रियां व बुद्धि तीव्र होकर साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है। (त्रिकालज्ञता कुण्डलिनी जागरण के बिना सम्भव नहीं होती, अतः यह प्रमाणित है कि कुण्डलिनी जागरण भी हो जाता है।

'*गोरक्ष संहिता*' आदि योगशास्त्रों ने संक्षेप में यह तथ्य स्वीकारा है और अधम, मध्यम व उत्तम का वर्गीकरण करने के सिद्धांत भी दिया है—

पूरके द्वादशी कुर्याट कुम्भके षोडशो भवेत्।
रेचके दश ओंकाराः प्राणायामः स उच्चते॥
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्य में द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः॥
अधमे चोद्यते धर्मः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत्॥

अर्थात्—पूरक में बारह, कुम्भक में सोलह और रेचक में दस प्रणव की

मात्राओं वाला प्राणायाम अधम है। मध्यम में इससे दुगुनी व उत्तम में तिगुनी प्रणव मात्राएं होती हैं। अधम प्राणायाम में पसीना आता है। मध्यम में कम्पन होता है और उत्तम प्राणायाम के योगी का शरीर ऊपर उठता है। अत: प्रणवात्मक प्राणायाम का अभ्यास करें।

कुम्भक प्राणायाम (केवल व सहित)

कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि के लिए प्रारम्भ में त्रिविधि प्राणायाम ही करना चाहिए। अभ्यास सिद्ध हो जाने पर शरीर के सभी द्वारों को बन्द करके कुम्भक प्राणायाम किया जाता है और वायु को भीतर ही रोक कर उसे सुषुम्ना में चढ़ाया जाता है। उस समय सहस्त्रार चक्र में परमात्मा का ध्यान किया जाता है। यह अत्यंत श्रेष्ठ प्राणायाम है। कुण्डलिनी जागरण के साथ-साथ परमात्मा की ज्योति के अथवा आत्म साक्षात्कार के लिए यह अत्यंत उपयुक्त है। इसके दो भेद 'केवल' व 'सहित' माने जाते हैं। केवल कुम्भक—विशेषकर कुण्डलिनी जागरण के उपयोगी माना गया है।

कुम्भक प्राणायाम के संदर्भ में '*गोरक्ष संहिता*' में स्पष्ट कहा गया है—

द्वाराणां नवकं निरुद्धय मरुतं पीत्वा दृढं धारितं।
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्यासमुच्चालितम्॥
आत्मस्थान यत स्वनेन विधि वद्विन्यस्य मूर्धि ध्रुवं।
यावत्तिष्ठिति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते॥

अर्थात्—'नौ द्वारों को रोककर वायु पान करे (पूरक) और उसे दृढ़ता से धारण करके (कुम्भक) अग्नि और अपान के योग से जागृत् हुई कुण्डलिनी को ऊपर स्थिर कर उक्त वायु से संयुक्त करें। (अर्थात्—वायु के प्रभाव से कुण्डलिनी को ऊपर चढ़ाएं) इस प्रकार आत्मा का ध्यान करने वाला योगी जब तक जीवित रहता है बड़े-बड़े योगीश्वरों द्वारा स्तुत्य होता है।' और भी देखें—

प्राणायामो शवत्येवं पातकेन्धनपावकः।
भदोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥

अर्थात्—प्राणायाम के नित्य अभ्यास को पाप रूपी ईंधन को भस्म करने वाले अग्नि के समान तथा भवसागर से पार उतारने वाले महासेतु के समान कहा जाता है। (यानि पापनाश एवं मोक्षदायक होता है)।

इसीलिए कुम्भक प्राणायाम करने वाले योगी को सर्वश्रेष्ठ और योगीश्वरों द्वारा स्तुत्य बताया गया है। कुम्भक प्राणायाम के दो भेद 'सहित' व 'केवल' हैं। सहित कुम्भक पूरक से युक्त होता है। ऊपर के श्लोक में 9 द्वारों को रोककर वायुपान कर कुम्भक करने की विधि—'*सहित कुम्भक प्राणायाम*' की कही गई है। **'सहित कुम्भक' में दक्षता प्राप्त हो जाने पर ही केवल कुम्भक करना चाहिए। 'केवल**

कुम्भक' पूरक तथा रेचक के बिना होता है। अत: इसे 'केवल' कहा जाता है। इस प्राणायाम में श्वांस को फेफड़ों में भरे बिना अथवा बाहर निकाले बिना, जिस भी स्थिति में श्वांस है उसे जहां के तहां पर रोक दिया जाता है और फिर उस रोके हुए वायु को सुषुम्ना में प्रेरित किया जाता है। इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

'केवल कुम्भक' काफी कठिन प्राणायाम है। इसे शनै: शनै: क्रमश: त्रिविधि प्राणायाम व सहित कुम्भक में निपुणता प्राप्त करने के बाद ही आरम्भ करना चाहिए। बिना पात्रता उत्पन्न किए 'केवल कुम्भक' का अभ्यास घातक हो सकता है और श्वांस अवरुद्ध (CHOCKING) होकर मृत्यु भी सम्भावित है। अत: पाठकों को पुन: धैर्य व पात्रता का महत्त्व याद दिलाना आवश्यक है। 'केवल कुम्भक प्राणायाम' की सिद्धि कुण्डलिनी जागरण करने वाली तथा अनेक चमत्कारी उपलब्धियों वाली कही गई है। '*त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्*' के अनुसार—'रेचक व पूरक रहित (केवल) कुम्भक के अभ्यासी के लिए तीनों कालों में कुछ भी करना कठिन नहीं होता।' जैसा कि कहा है—

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरमेव य:।
करोतित्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम्॥

इसके अलावा अन्य योगशास्त्र भी इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। जैसे '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में कहा गया है—

'केवल कुम्भक सिद्धेत्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति।'

अर्थात्—'केवल कुम्भक सिद्ध हो जाने पर साधक को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।' इसके अलावा केवल कुम्भक प्राणायाम कुण्डलिनी जागृत भी करता है (वैसे तो इस प्रकार की चमत्कारिक व अविश्वसनीय क्षमताएं कुण्डलिनी जागरण के बिना सम्भव ही नहीं हैं। अत: कुण्डलिनी जागरण 'केवल कुम्भक' से होता है—यह स्वत: ही स्पष्ट है। तथापि प्रमाण के लिए देखिए) जैसा कि कहा गया है—'**केवल कुम्भकात् कुण्डलिनी बोधोजायते।**'—*शाण्डिल्योपनिषद्*। अर्थात्—केवल कुम्भक से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है।

वायु निरोधाभ्यास

'केवल कुम्भक' वास्तव में वायुनिरोध से सम्बन्धित है। प्राणायामों (समस्त) में इसीलिए वायु निरोध का अभ्यास आवश्यक कहा गया है। प्राणवायु की चंचलता मन व बिन्दु (वीर्य) को भी चंचल करती है। किन्तु प्राणवायु को निश्चल करने से मन भी शांत तथा वीर्य भी स्थिर होता है अत: वायु निरोध का अभ्यास उन पाठकों के लिए भी उपयोगी है जो कुण्डलिनी जागरण के मार्ग पर न भी जाना चाहते हैं। शरीर के अंगों को बलिष्ठ बनाने, छाती पर पत्थर तुड़ाने या ट्रक चढ़वा लेने, थाली को कागज की भांति चीर डालने आदि जैसे चमत्कार करना चाहते हैं, ऐसे चमत्कार

वायु निरोध के अभ्यास से तथा शरीर के विशिष्ट भाग/अंग को प्राणवायु द्वारा दृढ़ कर लेने से ही संम्भव है। जैसा कि आमतौर पर देखा जा सकता है कि भरी वस्तु जब सामान्य रूप से नहीं उठाई या हिलाई जाती तब सांस रोक कर, कन्सन्ट्रेट करके उसे उठाने या हिलाने में सफलता मिल जाती है। यह वायु निरोध व प्राणों के केन्द्रीयकरण का एक अति सामान्य उदाहरण है। वायु निरोधाभ्यास के लिए इसीलिए कहा गया है—

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्व माप्नोति ततो वायुं निरुद्धयेत्॥

अर्थात्—प्राणवायु के चालायमान होने पर बिन्दु भी चालायमान होता है। प्राणवायु के निश्चल होने पर बिन्दु भी स्थिर होता है। अतः प्राणवायु की स्थिरता में ही स्थाणुता संभव है। इसलिए वायुनिरोध का अभ्यास करें।

शरीर में जब तक वायु स्थित है, देह नहीं छूटती। वायु के शरीर से निकल जाने पर ही मरण होता है। अतः प्राण वायु के निरोध का अभ्यास अवश्य करें। इससे चित्त भी स्वस्थ रहता है। वायुनिरोध के समय दृष्टि को भृकुटियों के मध्य रखकर ध्यान लगाया जाता है। इस अभ्यास की सिद्धि मृत्यु के भय से मुक्त करने वाली मानी गयी है। जैसा कि गोरखनाथ जी ने '*गोरख संहिता*' में कहा भी है—

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चितं निरामंयम्।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥

अर्थात्—जब तक प्राणवायु का निरोध किया जाता है तब तक चित्त (मन) विकार रहित व स्वस्थ रहता है और जब तक दृष्टि भवों के मध्य में स्थिर है, तब तक काल का भय कहां है? (अर्थात् नहीं है)।

इनके अतिरिक्त अनेक प्राणायाम और भी हैं जिनसे भिन्न-भिन्न लाभ होते हैं। जैसे सर्दी के मौसम में गर्मी का लगना अथवा गर्मी में सर्दी का लगना (मौसम से शरीर की सुरक्षा के लिए। जैसे हिमालय आदि बर्फीले प्रदेशों में तप करने वाले योगियों को इस प्रकार के प्राणायामों की आवश्यकता पड़ जाती है)। लोहार की धौंकनी की भांति शीघ्रातिशीघ्र श्वांस लेना व छोड़ना शरीर में गर्मी उत्पन्न करता है। इसे '*भस्त्रिका-प्राणायाम*' कहते हैं। अथवा भूख व प्यास के शमन के लिए किए जाने वाले प्राणायाम (मुख खोलकर अधिकाधिक वायु को मुख में लेकर सटक कर पेट में उतारा जाता है) आदि। किन्तु उन सबका कुण्डलिनी व योग से विशेष सम्बन्ध न होने के कारण विस्तार भय से उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

कुछ प्राणायाम ऐसे भी है जिनमें नासिका की बजाए मुख या जिह्वा का उपयोग किया जाता है और वायु को जिह्वा द्वारा पीया जाता है। इनमें से एक प्रमुख 'खेचरी मुद्रा' के अध्याय में कहेंगे। क्योंकि वह खेचरी मुद्रा का ही एक भाग है।

काकी मुद्रा

काकी मुद्रा

काकीमुद्रा में प्राणों का आयाम न करके प्राण वायु का पान किया जाता है। उस समय जीभ को कौए की चोंच के समान अर्धगोलाकार/नालीदार बना लिया जाता है अतः इसे 'काकी मुद्रा' कहा जाता है। वृद्धावस्था को रोकने के लिए यह अत्यंत उपयोगी कहा गया है। देखिए प्रमाण—

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलंपिवेत्।
प्राणापानविधाने न तोऽसौ भवति निर्जरः॥
रसना तालुमूलेन य प्राणमनिलं पिबेत्।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संभवः॥

—गोरक्ष संहिता

अर्थात् कौए की चोंच के सदृश मुख को करके जो साधक प्राणापान के विधान से शीतल वायु का पान करता है (इस मुद्रा से वायु खींचने पर ठण्डी हो जाती है अतः शीतल वायु कही जाती है) वह कभी बूढ़ा नहीं होता। जो योगी जीभ से प्राणवायु पीकर तालुमूल को पूरित करता (भर लेता) है, वह छः मास के अभ्यास से समस्त रोगों से छुटकारा पा जाता है।

खेचरीमुद्रा के अन्तर्गत जिह्वा द्वारा वायुपान से लाभ के विषय में '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में कहा गया है—

जिह्वा वायुमानीय जिह्वा मूले निरोधयेत्।
यः पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते॥

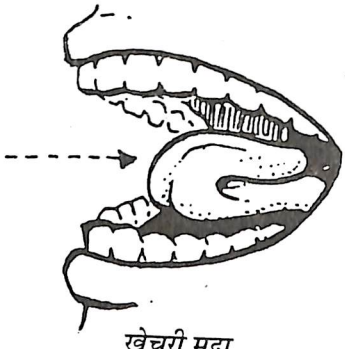

खेचरी मुद्रा

अर्थात्—जो योगी जीभ से वायु को ग्रहण कर उसे जिह्वा मूल में रोककर अमृत का पान करता है। उसका सब प्रकार से कल्याण होता है (अर्थात्—भौतिक व अभौतिक दोनों तरह से लाभ होता है।)

विशेष

इस प्रकार जीभ से वायु ग्रहण करना और उसे कण्ठ मूल में धारण करना भी दीर्घायु तथा रोगादि के नाश में उपयोगी है। नासिका से वायु ग्रहण करना व उसके नाभि प्रदेश में धारण करना भी रोग, पाप आदि के नाश व आयु वृद्धि में उपयोगी है। कुण्डलिनी जागरण एवं योग सिद्धि के लिए नाभिप्रदेश में धारण किए वायु को सुषुम्ना में प्रेषित किया जाता है और कण्ठमूल में धारण वायु को सहस्रार चक्र में प्रेषित किया जाता है। दोनों ही प्रकार की क्रियाओं को समर्थ, अनुभवी व सुयोग्य गुरु के मार्गदर्शन में करना निरापद होता है फिर भी हमारे दृष्टिकोण से नासिका मार्ग से वायुग्रहण करने की प्रणाली अधिक सहज, सरल व स्वभाविक होने से, विधि समझ लिए जाने के बाद, पूर्ण सावधानी, धैर्य व संयम के साथ बिना गुरु के भी अभ्यास में लाई जा सकती है। किन्तु जिह्वा द्वारा वायुग्रहण कर उसको सहस्रार में प्रेषित करना कठिन, असहज व अस्वाभाविक होने से बिना समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में अभ्यास में लानी किसी भी प्रकार से निरापद नहीं कही जा सकती।

श्वांसावरोध (CHOCKING) तथा वायु के मस्तक में चढ़ जाने आदि की घातक सम्भावनाएं जिह्वा द्वारा वायु ग्रहण कर उसके सहस्रार चक्र में प्रेषण में निहित हैं। अन्य उपद्रव भी सम्भावित हैं। अतः लापरवाही न करें।

आसन, बंध एवं सावधानी

प्राणायाम सम्बन्धी आसनों, बन्धों, विधि व सावधानियों के सम्बन्ध में विवेचन—

इस प्रसंग में जिन आसनों व बन्धों आदि का ज़िक्र हुआ है, यद्यपि उन पर संक्षिप्त प्रकाश वर्णन के समय ही डाला जा चुका है। किन्तु उनकी विधि व लाभों के विषय में भी कुछ सारगर्भित चर्चा कर लेना आवश्यक मालूम होता है जिससे पाठकों को साधना में अनावश्यक विघ्न व उलझनें न पड़ें और उनका ज्ञानवर्धन भी हो सके।

आसन

योग के आठों अंगों का अपना विशिष्ट महत्त्व है और वे साधक को अपने से अगले अंग के सुयोग्य बनाते हैं। यम और नियम तो भूमिकात्मक अंग हैं किन्तु शेष छः अंग तो योग से प्रत्यक्ष और अविभिन्न रूप से जुड़े हैं। इनका प्रथम आसन ही हैं। ऋषियों ने प्रकृति, पशु, पक्षी आदि के स्वभाव का अध्ययन कर आसनों व मुद्राओं का निर्माण किया। आसनों के मूल प्रवर्तक तो स्वयं भगवान शिव हैं जिन्होंने 84 लाख योनियों के आधार पर 84 लाख आसन बनाए थे। किन्तु संख्या में अत्यधिक हो जाने पर उनमें प्रमुख 84 आसन छांट लिए गए। योग विदों ने उन 84 आसनों में भी प्रमुख रूप से उपयोगी दो आसन छांट लिए। जिनमें एक सिद्ध व दूसरा पद्म आसन है। जैसा कि कहा गया है—

आसनानि न तावन्तो यावन्तो जीव जन्तवः।
एतेषाम खिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः॥

अर्थात्—लोक में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उनकी चेष्टाओं के अनुसार उतने ही आसन हैं। आसनों के इन सभी भेदों को महादेव ही जानते हैं। (इसीलिए शिव को पशुपति भी कहते हैं और '*रुद्रहृदयउपनिषद्*' के अनुसार—ब्रह्मा जीवों की अंतर आत्मा, विष्णु सनातनात्मा और शिव परमात्मा है।)

'*गोरक्ष संहिता*' ने भी स्वीकारा है—

चतुर शीतिलक्षाणामेककं समुद्राहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशेनं शतं कृतम्॥

अर्थात्—चौरासी लाख आसनों का भेद जानने में मनुष्य के सक्षम न होने के कारण शिव ने केवल 84 आसन बना दिए। ये 84 लाख आसनों के सार स्वरूप हैं। (बाद में योगवेत्ता ऋषियों ने उनमें से दो ही प्रमुख उपयोगी आसन छांटे)।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥

(84 आसनों को भी अधिक जान योगवेत्ताओं ने उनमें से दो ही प्रमुख आसन निश्चित किए—एक सिद्धासन और दूसरा कमलासन/पद्मासन)।

यद्यपि आसनों का राजा शीर्षासन को माना गया है। किन्तु वह शारीरिक/भौतिक लाभ व रोगनाश की दृष्टि से। आध्यात्मिक लाभ या कुण्डलिनी जागरण आदि के सम्बन्ध में ध्यान योग्य आसनों में उपर्युक्त दो ही प्रमुख हैं। (समस्त 84 आसनों को उनकी विधि, लाभ, अवधि, सावधानियों तथा भेदों सहित, अन्य सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं (षट्कर्म) तथा स्थूल यौगिक व्यायाम सहित विस्तृत वर्णन प्राप्त करने के लिए इच्छुक पाठक इसी प्रकाशन से मेरी पूर्व प्रकाशित पुस्तक '*सम्पूर्ण योगशास्त्र*' पढ़ें)। यहां पहले सिद्धासन व पद्मासन पर कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चा करेंगे।

सिद्धासन

योनिस्थान कमंघ्रिमूल घटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेद्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।

स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं ह्येतन्मोक्षकपाट भेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥

(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—गुदा व जननांग/उपस्थ के मध्य में योनि स्थान है। उसे बाएं पैर की एड़ी से दबा लें। दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थ पर लगाकर नीचे दबाएं। इस प्रकार दोनों एड़ियां एक के ऊपर एक हो जाती हैं और पांवों के अंगूठे जंघा व गुल्फ के नीचे छिप जाते हैं। इनके दबाव से योनिस्थान के नीचे व ऊपर दो इन्द्रियां (गुदा व उपस्थ) रुकते हैं। (यानि इन दोनों पर संयम होता है)। फिर हृदय से 4 अंगुल ऊपर

ठोड़ी को स्थापित करके चित्त को सब इन्द्रियों से हटाकर एकाग्र करें और दोनों नेत्रों से निश्चल होकर भृकुटि मध्य को देखें। (इस अभ्यास से) हृदय कपाट को खोलकर यह मोक्ष मार्ग के दर्शन कराता है। अत: इसे सिद्धासन कहते हैं।

व्याख्या

धरती पर दोनों पैर सामने फैलाकर बैठ जाएं। बाएं पैर को मोड़कर उसकी एड़ी सीवनी प्रदेश (गुदा व शिश्न के मध्य का स्थान) पर दृढ़ता से स्थापित करें। दाएं पैर को मोड़कर उसकी एड़ी को उपस्थ के ऊपर तथा पहली एड़ी के (टखने के) ऊपर स्थापित करें। दोनों पैरों के तलवों व अंगूठों को एक-दूसरे पैर की जंघाओं व पिंडलियों के बीच फंसा लें और कमर, गर्दन व सिर को सीधा समसूत्र कर लें। मूलबन्ध लगाएं। उड्डियान बन्ध लगाएं और फिर जालन्धर बन्ध लगाएं। यह सिद्धासन हुआ। इस आसन में आज्ञाचक्र (भृकुटियों के मध्य) पर दृष्टि स्थिर करके मन व इन्द्रियों को भी वहीं एकाग्र करके ध्यान करें तो आत्मसाक्षात्कार होता है। यह तथ्य आगे ध्यान योग में विस्तार से लेंगे। यहां केवल आसन की विधि को समझा रहे हैं।

यह आसन स्वत: सिद्ध है। (क्योंकि मूलबन्ध को लगाने में और स्थिर रखने में अति सहायक होता है तथा पैरों में पद्मासन की भांति जल्दी ही थकान नहीं होने देता।) तथा सिद्धों के लिए है। अत: इसे सिद्धासन कहते हैं। बहुत से विद्वान पद्मासन व सिद्धासन में भी सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। क्योंकि यह सरल, सहयोगी एवं स्वत: सिद्ध है। परन्तु बहुत से विद्वान पद्मासन को अधिक श्रेष्ठ कहते हैं। '*योग कुण्डल्य उपनिषद्*' ने तो सिद्धासन से वज्रासन को श्रेष्ठ माना है और छंटे हुए दो आसनों में पद्मासन के साथ वज्रासन को ही रखा है। यथा—'**उपासनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा।**' अर्थात्—आसनों में दो ही प्रमुख हैं—पद्मासन तथा वज्रासन। बहरहाल वज्रासन अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। एक मात्र यही आसन है जो भोजनोपरांत भी किया जा सकता है। मगर हम यहां इनकी श्रेष्ठता के विवाद में नहीं पड़ेंगे।

पद्मासन

वामोरुपरि दक्षिणं च चरणंसंस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम।

अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेतद्व्याधि विकार नाशन कर पद्मासन प्रोच्यते॥

—(गोरक्ष संहिता)

अर्थात्—बाईं जंघा के मूल में दायां और दांई जंघा के मूल में बायां पैर मोड़कर स्थापित करें। फिर हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर दाएं हाथ से बाएं पैर

का तथा बाएं हाथ से दाएं पैर का अंगूठा पकड़ लें। ठोड़ी को हृदय से लगाकर नासिका के अग्रभाग को दोनों नेत्रों से स्थिर होकर देखें (मन, बुद्धि व इन्द्रियों को भी वहीं केन्द्रित करें) यह पद्मासन सम्पूर्ण व्याधियों को दूर करने वाला है।

व्याख्या

यह विधि वास्तव में बद्ध पद्मासन की है। पद्मासन में हाथों की स्थिति भिन्न होती है। पैरों को अंगूठों को बांधने के स्थान पर दोनों हाथ घुटनों पर अथवा गोदी में रखे जाते हैं। सिद्धासन में भी हाथों को इसी प्रकार रखना चाहिए। किन्तु दोनों ही आसनों में पैरों की स्थिति व लगाए जाने वाले बन्धों एवं ध्यान का महत्त्व है न कि हाथों की स्थिति का। हाथों की स्थिति तो विभिन्न क्रियाओं में बदल दी जाती है। जैसे जाप करना हो तो हाथ से माला फेरी जाती है। मानसिक ध्यान में तर्जनी, अनामिका, मध्यमा, कनिष्ठा आदि को दबाकर (अंगूठे से) रखा जाता है। प्रार्थना या आत्मनिवेदन में नमस्कार की मुद्रा में छाती पर बांध लिया जाता है अथवा भजन आदि में हाथों से खड़ताल/मजीरा आदि बजाया जाता है आदि। अत: हाथों की स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है पैरों की स्थिति, कमर व गर्दन की स्थिति। महत्त्वपूर्ण है, मूल, उड्डियान व जालंधर बंध तथा महत्त्वपूर्ण है ध्यान।

त्राटक

यहां दोनों आसनों के माध्यम से अन्तर्त्राटक एवं बाह्यत्राटक का उपाय भी बता दिया गया है। त्राटक भी योग का ही अंग है तथा मन के साथ-साथ दृष्टि के केन्द्रीकरण व उनकी शक्तियों को बढ़ाने में अत्यंत उपयोगी है, किन्तु कुण्डलिनी के सम्बन्ध में यह उतना प्रभावी नहीं है। अत: इसकी विस्तृत चर्चा यहां नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में इतना ही कहेंगे कि दृष्टि को नेत्र बन्द करके, मन, बुद्धि व इन्द्रियों सहित शरीर के भीतर कहीं केन्द्रित करना अन्तर्त्राटक कहा जाता है। (इस कार्य में विभिन्न चक्रों आदि पर ध्यान एकाग्र किया जाता है)। जबकि शरीर के बाहर किसी बिन्दु पर मन, बुद्धि व इन्द्रियों सहित नेत्रों को स्थिर करना 'बाह्यत्राटक' कहलाता है। (इस कार्य में नासिकाग्र, पैर का अंगूठा अथवा दीपक, दीवार पर बना चिह्न, तारा, सूर्य आदि को माध्यम बनाया जाता है)। सम्मोहन विद्या में सफलता के लिए त्राटक का अभ्यास अति उपयोगी है। पर कुण्डलिनी जागरण में प्राणों व ध्यान का महत्त्व है न कि त्राटक का।

बन्ध

अब हम मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध की चर्चा करेंगे। इन तीनों प्रमुख बन्धों का योगविद्या में तथा कुण्डलिनी जागरण में अत्यधिक महत्त्व है। (साथ ही महाबन्ध की भी चर्चा करेंगे)। ये बन्ध योग की प्रमुख पांच मुद्राओं के अन्तर्गत आते हैं जिनके विषय में *योगशास्त्रों* में कहा गया है—

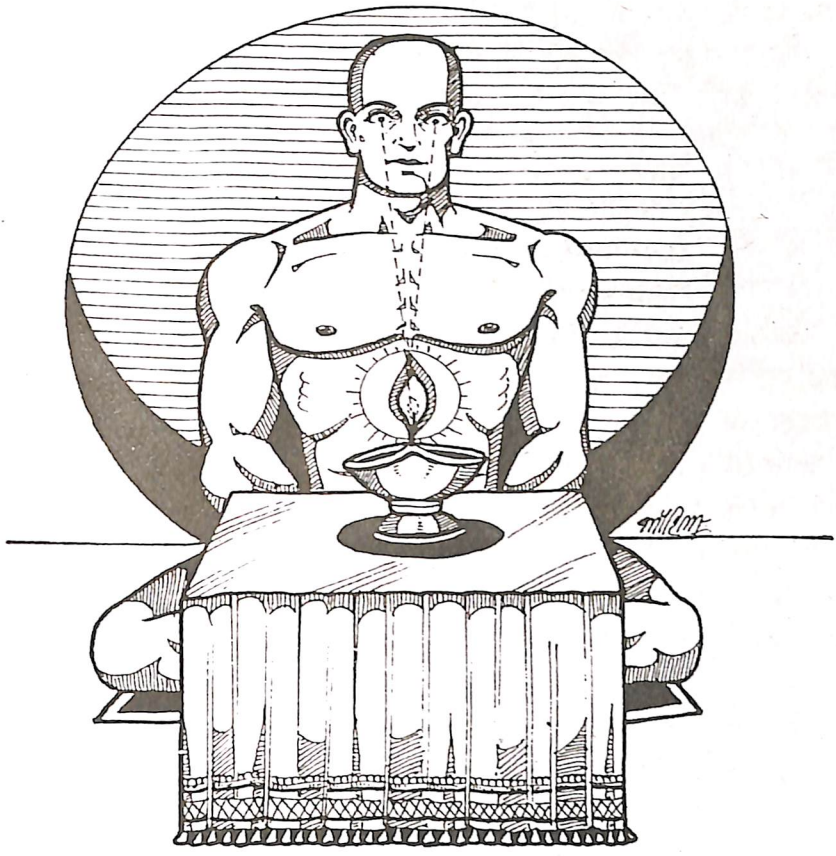

बाह्य त्राटक

पंचमुद्रा

महामुद्रां नभोमुद्रा उड्डीयानं जालन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनः॥

(महामुद्रा, नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर और मूलबन्ध—जो इनको करना जानता है वही योगी मुक्ति भाजन होता है)।

पंचमुद्राओं में उपर्युक्त तीन बन्ध भी शामिल हैं। इसी से इनका महत्त्व सिद्ध हो जाता है। (बन्धों के बाद हम ऊपर कही मुद्राओं की चर्चा भी करेंगे)। फिर भी इन तीनों बन्धों की योगशास्त्र में उपयोगिता एवं महत्त्व को सिद्ध करने के लिए '*योगकुण्डल्योपनिषद्*' में वर्णित निम्नलिखित श्लोक ही पर्याप्त होगा—

बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितियोड्डीयाणाविधः।
जालन्धरस्तृीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥

अर्थात्—योगी को पापनाशक तीन बन्ध अवश्य करने चाहिएं। इनमें पहला मूलबन्ध, दूसरा उड्डियान बन्ध तथा तीसरा जालन्धर बन्ध कहलाता है।

मूलबन्ध

मूलबन्ध को योनिबन्ध भी कहते हैं। गुदा तथा उपस्थ के प्रदेश को ऊपर संकुचित करके रखना तथा प्राण और अपान को मिलाना मूलबन्ध है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

पार्ष्णि भागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेदृढम।
अपान मूर्ध्वमत्थाप्य योनि बन्धोऽयमुच्यते॥
प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः॥

अर्थात्—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर भीतर को खींचें। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर प्राणवायु से मिलाने पर योनिबन्ध कहलाता है। इस तरह प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग निःसन्देह सिद्धि प्राप्त कराने वाला होता है।

'*गोरक्ष संहिता*' में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धों विधीयते॥
अपानप्राणयौरैक्यात्क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

अर्थात्—ऐड़ी से योनिस्थान को दृढ़तापूर्वक दबाकर गुदा को सिकोड़ें और अपानवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु से मिलाएं तो यह मूलबन्ध कहलाता है। इस प्राण और अपान को जो मिलाने के प्रयास में रत रहता है उसके मूत्र, मल आदि विकारों का क्षय होता है और वह यदि वृद्ध भी हो तो युवा हो जाता है।

'*शिव संहिता*' में तो मूलबन्ध को और भी महत्त्वपूर्ण तथा जरा-मरण का नाश करने वाला कहा गया है—

'**कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरा मरण नाशनः।**' इसके अलावा आगे कहते हैं—'**सिद्धाया योनिमुद्राया किं न सिद्ध्यति भूतले।**' (योनिमुद्रा सिद्ध हो जाने पर पुरुष इस भूतल पर और क्या सिद्ध नहीं कर सकता? यानि सभी कुछ सिद्ध कर लेना उसके लिए सम्भव हो जाता है)।

और भी अनेक योगशास्त्रों से ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु उससे पुस्तक की पृष्ठ सामग्री का ही अपव्यय होगा। शंका निवारण तथा विश्वास के लिए इतने भी प्रमाण आवश्यकता से अधिक ही हैं। बहरहाल यह प्रथम और अत्यंत प्रमुख बन्ध है। पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए।

उड्डियान बन्ध

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तुड्डीयते यतः।
उड्डयाणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥

— योगतत्त्वोपनिषद्

अर्थात्—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ने लगे/उठने लगे उसे योगी लोग उड्डियान बन्ध कहते हैं। (स्पष्ट है कि प्राण को सुषुम्ना में प्रेषित कर सकने में समर्थ यह बन्ध कुण्डलिनी को भी ऊपर उठाने में सहयोगी होता है। किन्तु लेटे या अधबैठे होकर अथवा कमर झुकाकर बैठने पर मूलबन्ध व जालन्धर बन्ध तो किसी प्रकार लग भी जाएं पर उड्डियान बन्ध नहीं लग सकता—जैसा कि 'सहजयोग' के नाम पर अल्पज्ञों में जिस मर्जी अवस्था में बैठ या लेट कर ध्यान लगाने या योग करने के निर्देश दिए जाते हैं)।

'*गोरक्षा संहिता*' में भी उड्डियान बन्ध के महत्त्व तथा विधि व प्रभाव पर समुचित प्रकाश डाला गया है। साथ ही 'उड्डियान बन्ध' के लगाने के स्थान के सम्बन्ध में भी निर्देश दिए हुए हैं। यथा—

उड्डियानं कुरुते यसमादविश्रांतेमहाखगम्।
उड्डीयानं तदैव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥
उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेनिगद्यते।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तव बन्धो निगद्यते॥

अर्थात्—(प्राणरूपी) महाखग उड़कर सुषुम्ना में विश्राम करता है। अतः इसे उड्डीयान कहते हैं। यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है। (अर्थात् मृत्यु को जीतने वाला है)। उदर के पश्चिम में तथा नाभि के नीचे के भाग में इस बन्ध का स्थान बताया जाता है। (अर्थात् नाभि प्रदेश/नाभि से कुछ ऊपर व नाभि से नीचे इसका स्थान है। इस बन्ध में इस स्थान को यथा सम्भव भीतर खींचकर सुषुम्ना से ही लगा देने का प्रयास किया जाता है)।

'*पातञ्जल योग प्रदीप,*' 'हठयोग प्रदीपिका' आदि ग्रंथों में विस्तार पूर्वक कही गईं 'नौली क्रिया' तथा 'अग्निसार' आदि क्रियाएं व्यक्ति को बेहतर उड्डियान बन्ध लगा पाने में समर्थ बनाती हैं। ('सम्पूर्ण योग शास्त्र, गोल्ड बुक्स इंडिया में यह समस्त जानकारी पाठक ले सकते हैं')।

जालन्धर बन्ध

ठोड़ी को सिकोड़ कर कण्ठकूप में अथवा हृदय से 4 अंगुल ऊपर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने से किन्तु गर्दन व दृष्टि सीधी रखने पर यह बन्ध लगता है। यह न केवल कुम्भक द्वारा धारण की गई वायु को रोके रखने में सहयोगी होता है अपितु सहस्रार चक्र से झरने वाले अमृत को भी नीचे गिरने से रोकता है। कण्ठ की शिराओं का जाल इस बन्ध से कसा जाता है अतः इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी वायु निरोध में सहायक होने से मृत्यु नाशक माना गया है। '*हठयोग प्रदीपिका*' और '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में प्रायः समान वर्णन ही जालंधर बन्ध की प्रशंसा में मिलता है। प्रमाण के तौर पर पाठक स्वयं ही देखें एक उदाहरण—

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

—*हठयोग प्रदीपिका*

अर्थात्—कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक ठोड़ी को हृदय पर रखने से जालन्धर बन्ध होता है। यह वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है।

कण्ठमाकुञ्च्यं हृदये स्थापयेद्दृढवाधिया।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातंगकेसरी॥

—योगतत्त्वोपनिषिद्

अर्थात्—कण्ठ को संकुचित कर प्राणवायु का अवरोध करना तथा दृढ़ता पूर्वक ठोड़ी को छाती से सटाकर उसे पुनः ऊपर न आने देना ही जालंधर बन्ध की प्रधान क्रिया है।' *गोरक्ष संहिता*' से इस पर थोड़ा विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरो बन्धोः कण्ठदुःखौघनाशनः॥
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोच लक्षणे।
न पीयूष पतत्यग्नौ न वायुः प्रकुप्यति॥

अर्थात्—जो बन्ध कण्ठ में लगाया जाता है और वहां के शिराजाल को बांधकर/कसकर चन्द्रामृत रूपी जल को कपाल कुहर से नीचे गिरने से रोकता है, वह दुःखों व रोगों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध माना गया है। इससे चन्द्रामृत गिर कर अग्नि में पड़ने से रुका रहता है। इस जालन्धर बन्ध के अभ्यास से वायु का प्रकोप नहीं हो पाता (क्योंकि यह वायु निरोध में सहायक होता है)।

मुद्रा

ये मुद्राएं जप एवं मंत्रादि में प्रयुक्त होने वाली मुद्राओं से भिन्न हैं। ये योग बिषयक मुद्राएं हैं। नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा), महामुद्रा/महाबन्ध के विषय में तो—पाठक सुन आए हैं। इनके अलावा, शक्तिचालिनी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, काकीमुद्रा, अश्विनी मुद्रा आदि और भी अनेक मुद्राएं हैं। प्रमुख मुद्राएं जो कुण्डलिनी जागरण में उपयोगी हैं अथवा कुण्डलिनी जागरण के उपायों के रूप में जानी जाती हैं उन्हीं का यहां वर्णन करेंगे क्योंकि यह अध्याय ही कुण्डलिनी जागरण के उपायों का है।

महामुद्रा/महाबन्ध

यह मुद्रा समस्त प्रकार के रोगों का नाश करती है और कुण्डलिनी जागरण में अत्यंत सहयोगी है। विशेष रूप से पाचन तन्त्र को सुव्यवस्थित करती है। प्रायः समस्त योगग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। इस मुद्रा के साथ विधिपूर्वक किया गया प्राणायाम अत्यंत लाभकारी होता है। जैसा कि 'ग्रह्यामलतन्त्र' में वर्णन आता है—

पादमूलेन वामेन योनि सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारद्वायु मूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्वोदण्डकारः प्रजायते॥

ऋजवीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदासामरणावस्था जायते द्वितपुटाश्रिता॥
तदा शनैः शनैः रेव रेचयेत नवेगतः॥
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते॥

—(*ग्रह्यामल तंत्र*)

अर्थात्—बाएं पैर की एड़ी से योनि स्थान को दबाकर दाएं पैर को सामने सीध फैलाएं। अपने दोनों हाथों से फैले हुए (दाएं) पैर के तलवे/अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ें (इस प्रयास में दाएं पैर का घुटना मुड़ने न पाए) और कण्ठ को सिकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोकें। इसके अभ्यास से डण्डे द्वारा पीटे गए सर्प की भांति कुण्डलिनी दण्ड के समान सहसा खड़ी हो जाती है। दोनों नासापुटों से प्राणायाम की साम्यावस्था हो जाए, तब वायु को शनैः शनैः निकाल दें। यह महामुद्रा कहलाती है।

'*गोरक्ष संहिता*' में इस मुद्रा में किए जाने वाले प्राणायाम का विधान उपलब्ध होता है। यथा—

वक्षोन्यस्तु हनु! प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसारितं...चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः... ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥

अर्थात्—'हृदय में ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापित करें। बाएं पैर की एड़ी को योनिस्थान में दृढ़ता से लगाएं व दाएं पैर को सामने पसार कर दोनों हाथों से उसका तलवा पकड़ लें। फिर पूरक द्वारा उदर में वायु को भरके कुम्भक करें। बाद में शनैः शनैः रेचक करें। यह रोगों का नाश करने वाली श्रेष्ठ महामुद्रा कही जाती है। इसका अभ्यास प्रथम चन्द्रनाड़ी से और फिर सूर्यनाड़ी से करना चाहिए। इस प्रकार दोनों नथुनों से प्राणायाम समान मात्रा में पूर्व हो जाने पर यह मुद्रा छोड़ दें।' (विस्तार भय से श्लोकों को संक्षिप्त कर दिया गया है)।

'*घेरण्ड संहिता*' में इस मुद्रा का संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित वर्णन मिलता है—

वाम्रमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्य पादं प्रसार्यार्थ केधृतं पादां गुलः।
कंठ संकोचनं कृत्वा भुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्राकथ्यते चैव सूरिभिः॥

अर्थात्—गुदा स्थान को बाईं एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबाकर दायां पैर फैलाएं और दोनों हाथों से उस पैर की अंगुलियां पकड़कर कण्ठ को सिकोड़ें तथा भवों के मध्य स्थान में दृष्टि स्थापित करें। विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है (घेरण्ड ऋषि ने महामुद्रा में प्राणायाम के स्थान पर ध्यान को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है)।

महामुद्रा के फल व प्रभावों के विषय में '*हठयोग प्रदीपिका*' में कहा गया है—

इयं खलुं महामुद्रा महासिद्धिः प्रदर्शिता।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयते मरणादयः॥

अर्थात्—यह महामुद्रा महान सिद्धि को प्रत्यक्ष करने वाली है। इसके अभ्यास से महाक्लेश (अविद्या, राग, द्वेष, अस्मिता तथा अभिनिवेश) आदि दोष एवं जन्म-मरणादि (आवागमन चक्र) नष्ट होते हैं। (अर्थात् अभ्यास सिद्ध हो जाने पर यह मुद्रा मोक्ष दायक तथा आत्मबोध कराने वाली है। इसीलिए इसको 'महामुद्रा' कहा गया है)।

'शाण्डिल्योपनिषद्' ने इन फलों के अतिरिक्त अन्य फल भी कहे हैं। यथा—

तेन सर्वक्लेश हानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते।

क्षयगुल्म गुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणज योपायं सर्वमृत्युपघातकः॥

अर्थात्—इससे सभी क्लेशों का नाश होता है। विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त, पुराने चर्मरोग नष्ट होते हैं (रक्त शोधन होता है)। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु नाशक है।

इसके गुण प्रभावों तथा महत्त्व के सम्बन्ध में '*गोरक्ष संहिता*' के निर्देश भी ध्यान देने योग्य हैं—

तर्हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते॥
क्षयकुष्ठमुद्रावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां चयोऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥

अर्थात्—महामुद्रा के अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर पथ्य, अपथ्य, रसीले या नीरस आदि का कुछ भी विचार शेष नहीं रहता। (अर्थात् जो भी, जैसा भी खा लिया जाए पच जाता है, तथा आहार की ही भांति गुण देता है)। यदि घोर विष का भी पान कर लिया जाए तो वह भी अमृततुल्य हो जाता है। इससे क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों का शमन होता है। यह महामुद्रा अत्यन्त ही सिद्धि करने वाली (उपलब्धियां प्राप्त कराने वाली तथा योग के लक्ष्य—कुण्डलिनी जागरण व मोक्ष को सिद्ध करने वाली) है। **इसे प्रयत्न पूर्वक गुप्त रखें और कभी भी अनाधिकारी को न दें (क्योंकि अपात्र व अयोग्य के हाथ में गए मंत्र, विद्या, शक्ति, पद, अधिकार, धन, स्त्री तथा शस्त्र—दुरुपयोग में आते हैं तथा स्वयं उसके व पूरे समाज के लिए घातक होते हैं)।**

अतः महामुद्रा ही नहीं सम्पूर्ण योग विद्या ही गुह्यविद्या/गुप्तविद्या कही गई है और सुयोग्य व्यक्ति को ही इसका उपदेश करने के निर्देश शास्त्रों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं।

नभोमुद्रा/खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा/नभोमुद्रा को सभी योग विषयक ग्रन्थों ने अति सम्मान पूर्ण स्थान दिया है तथा प्रमुखता से उपयोगी व महत्त्वपूर्ण बताया है। विशेष रूप से पातंजल योग प्रदीप, हठयोग प्रदीपिका, गोरक्ष संहिता, शाण्डिल्योपनिषद् तथा योग कुण्डल्योपनिषद् में इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी मिलती है। अनेक तन्त्र ग्रन्थों में भी इसकी प्रशंसा एवं स्तुति है। इस मुद्रा में सिद्धि प्राप्त करने के लिए जिह्वा का दोहन, मंथन आदि करना पड़ता है। इसका विस्तृत विवरण पातञ्जल योग प्रदीप में उपलब्ध है तथापि यह इतना कष्टपूर्ण, कठिन तथा नाजुक है कि गुरु के मार्गदर्शन के बिना इस मुद्रा का अभ्यास निरापद नहीं कहा जा सकता, लेकिन साथ ही यह तथ्य भी विचारणीय है कि यह महामुद्रा से भी अधिक प्रभावी व लाभकारी मुद्रा है। इस मुद्रा को साधे बिना लोभ में लक्ष्य प्राप्ति सुनिश्चित नहीं कही जाती। अतः पाठकों को ज्ञान वर्धन तथा विषय की सम्पूर्णता के लिए हम इस मुद्रा का विवरण दे रहे हैं। परन्तु दोहन मंथन आदि के घातक कार्यों का वर्णन नहीं कर रहे हैं। इच्छुक पाठक 'पातञ्जल योग प्रदीप' से इन्हें प्राप्त करें।

खेचरी मुद्रा के वर्णन से पूर्व सहस्रारचक्र से निरंतर झरने वाले अमृत के विषय में चर्चा करना आवश्यक है। क्योंकि खेचरी मुद्रा इसी अमृत के पान की विधि है। इस अमृत के विषय में यद्यपि सातों चक्रों के वर्णन के समय सहस्रार चक्र प्रकरण में प्रारम्भ में ही प्रसंगवश संक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। किन्तु यहां उसका विस्तृत वर्णन आवश्यक है। क्योंकि बिना इस तथ्य को भली प्रकार जाने 'खेचरी मुद्रा' का महत्त्व नहीं जाना जा सकता। और न ही उसकी उपयोगिता जानी जा सकती है।

सहस्रार चक्र में उपस्थित सोलह दल की कमल कर्णिका में एक चन्द्र बिम्ब है जिससे निरन्तर अमृत स्राव होता है। तालूमूल में स्थित चन्द्रमा से होता हुआ यह सुधा नीचे गिरता है और नाभि में स्थित अग्नि (जठराग्नि) रूपी सूर्य द्वारा ग्रस लिया जाता है। इस प्रकार व्यर्थ चला जाता है। जब तक जीवन रहता है यह अमृतस्राव सतत चलता है। जब यह अमृत झरना बन्द हो जाता है, तब मृत्यु होती है। सहस्रार चक्र में परमशिव का कुण्डलिनी रूपी शक्ति से अभेदात्मक मिलन होता है। यही परमशिव का स्थान है। अतः कोई बड़ी बात नहीं कि शिव की जटाओं से निकलने वाली गंगा की धारा की कथा के माध्यम से इसी अमृतस्राव का मर्म समझाया गया हो। इस अमृत की रक्षा करने के लिए ही विपरीत मुद्रा, खेचरी मुद्रा आदि का प्रावधान है। इस अमृत का मान जरा मृत्यु विनाशक तथा दिव्य उपलब्धियों को देने वाला है। जैसा कि कहा गया है—

यत्किचित्स्रवते चन्द्रामृत दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वग्रसते सूर्य स्तेन पिंडो जरायुतः॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात्—'दिव्य सुधामय रूप वाले तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो अमृत

गिरता है, उसको नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य ग्रस लेता है। जिससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।' (अमृत का निरंतर क्षय होने से)।

अथवा प्रतीक के रूप में इस अमृत को ग्रहण करने की प्रेरणा भी शास्त्रों में यदा-कदा मिलती है। यथा—

एक स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्र मंडलात्।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां सभवेदजरामरः॥

अर्थात्—एक स्त्री चन्द्रमंडल से प्राप्त होकर दो के द्वारा भोगी जाती है। उसे यदि तीसरा भोग ले तो वह अजर और अमर हो जाता है। (वृद्धावस्था व मृत्यु उसके पास नहीं आते)।

व्याख्या

यहां बताई गई स्त्री वास्तव में चन्द्रमंडल से झरने वाला अमृत है जो दो के द्वारा यानि चन्द्र और सूर्य के द्वारा भोगी जाती है। यदि उसे तीसरा (योगी/साधक) भोग ले (स्वयं ग्रहण कर ले) तो अजर अमर हो जाता है।

'*गोरक्ष संहिता*' ने तो इस अमृतपान को इतना महत्त्वपूर्ण माना है कि इसे ही 'प्रत्याहार' की संज्ञा दी है। यथा—

चन्द्रामृतमयी धारा प्रत्याहरति भास्करः।
प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात्—चन्द्रमा की अमृतमयी धारा को सूर्य ग्रसता है। उसे सूर्य से बचाकर स्वयं ग्रस लेना ही प्रत्याहार है।

इसी सतत झरने वाले अमृत को नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य से बचाकर स्वयं ग्रहण करने के उपायों में एक है—'खेचरी मुद्रा' अथवा 'नभोमुद्रा'। अब इस मुद्रा के विषय, विधि तथा लाभ-प्रभाव के विषय में चर्चा की जा सकती है।

जिह्वा को ऊपर की ओर पलटकर कपालरन्ध्र (हलक के ऊपर) में प्रवेश कराना ही संक्षेप में खेचरी मुद्रा है। अत्यंत प्रभावशाली होने से समस्त सिद्धों व योगियों द्वारा यह पूज्यनीय है। इस मुद्रा से जिह्वा कपाल कुहर में झरने वाले अमृत का पान कर सकने में सक्षम हो जाती है। इसी अमृतपान के प्रभाव से साधक अजर-अमर हो जाता है। जो पांच आकार कहे गए हैं, उनमें जिह्वा इस मुद्रा से विचरण करती है। अतः इसको 'नभो मुद्रा' भी कहा जाता है। परन्तु प्रायः यह खेचरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि 'ख' आकाश के लिए प्रयुक्त होता है। जैसा कि—पक्षी को 'खग' कहते हैं (ख+ग=खग), यानी—आकाश में गमन करने वाला। अतः 'नभोमुद्रा' को 'खेचरी मुद्रा' कहते हैं। क्योंकि जिह्वा इस मुद्रा में 'ख' (आकाश) में चरती (विचरण करती) है, अतः उसे 'खेचरी' कहते हैं।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी॥
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेतस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

—(गोरख संहिता)

अर्थात्—जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करा कर दृष्टि को भृकुटियों के मध्य स्थिर कर लेना ही खेचरी मुद्रा है। जो योगी इसे जानता है (इस मुद्रा के अभ्यास में प्रवीण है) उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख, प्यास और मूर्छा आदि से पीड़ित नहीं होना पड़ता।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

(अर्थात् उसे ना तो शोक ही होता है, ना ही कर्मबन्धन। इस मुद्रा को सिद्ध कर लेने वाला भव बन्धन से मुक्त होता है)।

'*शाण्डिल्योपनिषद्*' में खेचरी का वर्णन थोड़ा और भी विस्तार से प्राप्त होता है। यथा—

इड़ा पिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात्—इड़ा व पिंगला के मध्य जो शून्य भाग है, वह वायु को ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा रहती है और वहीं सत्य रहता है। (यहां 'कपाल रन्ध्र' के विषय में बताया गया है। आगे कहते हैं—)

छेदनं चालनंदोहनं कसां परा जिह्वा कृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये स्थाप्य कपाल कुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते।

जिह्वा नित्तं चखे चरती तेनोर्ध्वचिह्नः पुमानमृतौ भवति॥

अर्थात्—छेदन, चालन, दोहन द्वारा जिह्वा को नोकदार (लम्बा) बनाकर, भृकुटियों में मध्य भाग में दृष्टि स्थिर करके जब जिह्वा उलटी होकर कपाल कुहर में प्रविष्ट होने के योग्य हो जाती है—तब खेचरी मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से चित्त व जिह्वा दोनों कपाल कुहर रूपी आकाश में विचरण करते हैं। तब ऊपर पहुंचाई गई जिह्वा वाला पुरुष अमर हो जाता है।

व्याख्या

जीभ को पलटकर कपाल कुहर में ले जाना कोई मामूली कार्य नहीं है। यह मात्र अभ्यास से भी सम्भव नहीं हो पाता, जब तक कि तकनीक द्वारा जिह्वा को इस योग्य न बना लिया जाए। जिह्वा को इस योग्य बनाने के तकनीकों को भी यहां विधि व लाभ के साथ संक्षेप में कह दिया है। यह तकनीकें—छेदन, चालन व दोहन/मंथन हैं।

जीभ को यदि ऊपर उठाएं तो पाएंगे कि वह एक पतले से तन्तु या लगाम द्वारा नीचे जुड़ी रहती है। यह मांस तन्तु जीभ को उलटकर कपाल कुहर में पहुंचने लायक बन पाने में बहुत बड़ी बाधा होता है। इसे विधि पूर्वक औषधियों के प्रयोग के साथ शस्त्र या शीशे द्वारा शनैः शनैः काट दिया जाता है। यह क्रिया कई दिनों में सम्पन्न की जाती है। **इसी को 'छेदन' कहते हैं।** (पाठकों द्वारा भावातिरेक, जल्दबाजी, जिज्ञासा आदि के कारण खेचरी मुद्रा में सफलता प्राप्ति करने के लिए बिना समर्थ गुरु के मार्गदर्शन के खुद ही छेदनक्रिया कर लेने की सम्भावना को दृष्टि में रखकर हम इस क्रिया की विधि व औषध आदि की चर्चा नहीं कर रहे हैं। गुरु की दीक्षा ही इस विषय में प्रशस्त होगी)। **मंथन या दोहन क्रिया के** अन्तर्गत गाय के मक्खन को जीभ पर मलकर दोनों हाथों के अंगूठों व तर्जनी के प्रयोग से जीभ को आगे की ओर खींचा/दुहा जाता है। इस अभ्यास से जीभ शनैः शनैः लम्बी पतली व नोकदार होने लगती है। यही क्रिया मंथन/दोहन कही जाती है। 'चालन क्रिया' के अन्तर्गत जिह्वा द्वारा कुछ व्यायाम किए जाते हैं जो जीभ को लम्बा व लचीला बनाने में सहायक होते हैं। जैसे जीभ को मुख से बाहर निकालकर ठोड़ी पर लगाने का प्रयास अथवा मुख से बाहर निकालकर नासिकाग्र से जीभ लगाने का प्रयास आदि। इन प्रयासों में हाथ का प्रयोग वर्जित है। जीभ को स्वतः अपनी ही शक्ति से धकेल खींचकर यह व्यायाम करने होते हैं। अतः **इसे जीभ का चलाना या 'चालन' कहते हैं।**

जैसा कि स्पष्ट है 'चालन' का प्रयोग पाठक कर सकते हैं। दोहन या मंथन क्रिया को भी सावधानी पूर्वक किया जा सकता है किन्तु छेदन क्रिया को समर्थ गुरु की छत्रछाया में ही किया जाना चाहिए। अन्यथा वाक्शक्ति का लोप, तुतलाहट, हकलाहट आदि के अलावा अन्य उपद्रवों की सम्भावना भी होती है, जो घातक भी हो सकते हैं।

खेचरी मुद्रा के अन्य गुण प्रभावों के लिए निम्नलिखित श्लोकों को भी देखिए, 'जो *गोरक्ष संहिता*' में आए हैं—

विन्दूमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम्॥
खेचरी मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते विन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यौर्भयंकुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति॥

अर्थात्—बिन्दु (वीर्य) शरीर का मूल (आधार) है। यह पांव से सिर तक शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। इसी से शिराओं में सजीवता आती है तथा हाथ-पैरों व मस्तिष्क की सामर्थ्य बनी रहती है। जिसने खेचरी मुद्रा को उस कण्ठ छिद्र की

लम्बिका के ऊपर रोक लिया उस योगी का बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षरित नहीं होता। जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का भय कहां? और जब तक नभोमुद्रा दृढ़ता से बंधी है, तब तक बिन्दु चलायमान नहीं होता। (अर्थात् खेचरी मुद्रा बिन्दु की रक्षा करके भी मृत्यु को पास नहीं आने देती। और कण्ठ छिद्र में अमृत पान करते रहने के कारण भी मृत्यु की नाशक हो अतः यह अमरत्व प्रदान करती है)।

व्याख्या

परन्तु जैसा कि *गीता* में भगवान कृष्ण ने कहा है—**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'** (जन्मने वाले की मृत्यु अवश्य होती है और मरने वाले का जन्म भी अवश्य होता है)। इस न्याय के अनुसार मरण तो निश्चित है फिर अमरता की बात कैसे सम्भव है? इसका यही एक उत्तर है कि व्यक्ति इच्छा मृत्यु हो जाता है अथवा अतिदीर्घजीवी हो जाता है। वह हजारों वर्षों तक या जब तक मरना न चाहे जीवित रह सकता है। किन्तु फिर पुनः जन्म में न लौट कर निर्वाण/मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

खेचरी मुद्रा चित्त में चंचलता नहीं आने देती। अतः बिन्दु/वीर्य भी चालायमान नहीं होता। बिन्दु की स्थिरता का कारण मन की स्थिरता ही है। जिह्वा द्वारा बिन्दु को क्षरित होने से रोकने का भावार्थ यही है। जैसा कि *'योगकुण्डल्योपनिषद्'* में कहा है—

मनसोत्पद्यते विन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धन मध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु मन से ही उत्पन्न होता है। जैसे दूध से घी उत्पन्न होता है। उस बिन्दु में कुछ भी बन्धन नहीं है, जो बन्धन है, वह सब मन का ही है। (विज्ञानानुसार वीर्य की उत्पत्ति रक्त से व रक्त की आहार से होती है। परन्तु इस स्थूल अध्ययन में मन का संयोग आहार के साथ होने पर ही यह सब सम्भव होता है। **'यथा अन्न तथा मन'** इसीलिए कहा है—यदि मन प्रसन्न न रहे तो पौष्टिक आहार लेने के बाद भी रक्त-वीर्य की वृद्धि नहीं होती। मन की अप्रसन्नता अवसाद, ईर्ष्या, क्रोध, चिंता आदि इसीलिए रक्त एवं वीर्य का नाश करते हैं। अब यह कहना ठीक ही है कि मन ही बिन्दु की उत्पत्ति का कारण है। मन में उत्साह हो तो नपुंसक भी 'जोश' में आ जाता है। उत्साह न हो तो पौरुष युक्त व्यक्ति भी 'उत्तेजित नहीं होता, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है')।

भगवान शिव जिस मुद्रा में (*शाम्भवी मुद्रा*)—सदैव ध्यान मग्न रहते हैं, उसमें खेचरी भी सम्मिलित रहती है। इसलिए उन्हें परमात्मा या महादेव कहते हैं। और संकल्प शक्ति के महास्वामी के रूप में उन्हें जाना जाता है। उन्हें महायोगी

कहा जाता है। कुण्डलिनी को सहस्रार में पहुंचाने का विज्ञान परमशिव से परमशक्ति को मिलाने का ही विज्ञान है। अतः महा या परम विज्ञान है। इसे जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। जो कुछ विज्ञानवादी बाहर खोजना जानना चाहते हैं, वह सब और उसके अलावा भी सब कुछ समाधिस्थावस्था में कालजयी हुआ योगी स्वतः ही जान लेता है। किसी भी विषय पर ध्यान एकाग्र कर उसके विषय में समूचा जान लेना योगी के लिए सम्भव हो जाता है—जैसा कि '*विज्ञान भैरव*' में कहा गया है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थात्—देह में अहं भाव नष्ट हो जाने पर और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर जहां-जहां मन जाता है, वहीं-वहीं पर समाधि लग जाती है। (इस विषय को पुस्तक के अन्त में विस्तार से लेंगे। यहां प्रसंगवश चर्चा हो गई है)।

'*विज्ञान भैरव*' में खेचरी मुद्रा के व्यावहारिक व वैज्ञानिक पक्ष को भी ध्यान में रखा है—

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।
होच्चारं मनसा कुर्वस्ततः शान्ते प्रलीयते॥

यानि—अपने मुंह को फैलाकर, जिह्वा को उलट कर ऊपर तालु में प्रविष्ट कराने से खेचरी बनती है। इस मुद्रा में अपनी बुद्धि को स्थिर करके मन से स्वररहित 'हकार' का उच्चारण करने से साधक शान्तावस्था में लीन हो जाता है अर्थात्—उसका शान्त स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

(यह बताई गई 112 धारणाओं में 57वीं धारणा है। इस ग्रन्थ में 112 धारणाओं का उल्लेख है)।

व्याख्या

प्राण की उच्छ्वास दशा में स्वभावतः 'हं' तथा निश्वांस दशा में 'सः' का उच्चारण होता है (**सकारेण बर्हियाति हकारेण विशेत् पुनः**) पहले बता आए हैं। इस तथ्य के अनुसार 'सकार' के साथ बाहर निकला प्राण 'हकार' का ही उच्चारण होता है। यही व्यावहारिक व वैज्ञानिक तथ्य इस श्लोक में कहा गया है। इस मुद्रा की साधना में दृष्टि को भूमध्य में स्थिर रखना चाहिए, जिससे ध्यान लग सके। इस बात को अनेक ग्रन्थों में कहा गया है। खेचरी में जीभ का पलटकर कपाल कुहर में लगाना और दृष्ट का भ्रूमध्य में स्थिर रखना दोनों ही क्रियाएं शामिल रहती हैं। ऐसा '*विवेक मार्तण्ड*' में भी कहा गया है—

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

अर्थात्—जिह्वा को उलट कर तालु प्रदेश में स्थित कपाल कुहर में प्रविष्ट करा

देना तथा दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर कर लेना—यही खेचरी मुद्रा है।

खेचरी मुद्रा पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम कुण्डलिनी जागरण के अन्य उपाय विपरीतकरिणी मुद्रा की चर्चा करेंगे। इस मुद्रा को पहले इसलिए ले रहे हैं, क्योंकि इस मुद्रा में खेचरी का प्रयोग भी किया जाता है और यह मुद्रा भी सतत झरने वाले अमृत के पान के उपाय रूप में प्रयुक्त होती है।

विपरीतकरिणी मुद्रा

जैसा कि नाम ही से स्पष्ट हो जाता है कि यह मुद्रा शरीर की स्थिति को उल्टी या विपरीत कर देने वाली है। अत: इसको 'विपरीत करिणी' कहते हैं 'हठयोग' के अन्तर्गत यह मुद्रा भी आती है। इस मुद्रा द्वारा कपाल कुहर में गिरने वाले अमृत की रक्षा की जाती है।

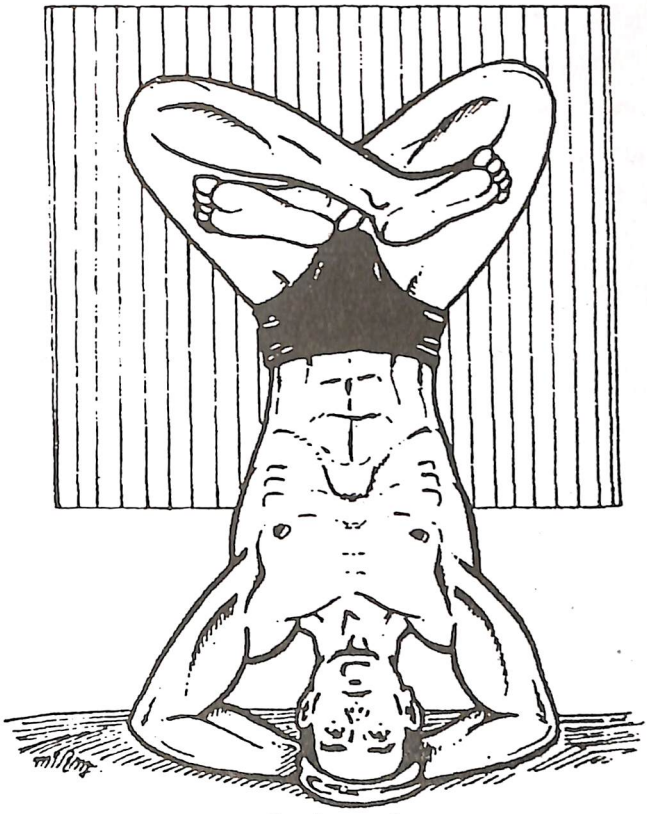

विपरीतकरणी मुद्रा

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहनात्मनः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले न चन्द्रमा॥
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्याकरणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—अग्निरूपी एक सूर्य नाभि में रहता है और अमृत रूपी आत्मा वाला चन्द्रमा सदा तालुमूल में निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख किए रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है उसे ऊपर को मुंह किए रहने वाला अग्निरूपी सूर्य नाभि में अवस्थित रहते हुए पी लेता है। परन्तु विपरीतकरिणी मुद्रा को जो योगी जानता है, वह उस अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर स्वयं अपने मुख में ले लेता है। (जिससे रोग आदि का नाश होकर आयुवृद्धि होती है तथा मृत्यु भय नहीं रहता)।

उर्ध्व नाभिरधस्तालुरुर्ध्व सूर्यरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुपदेशेन लभ्यते॥

अर्थात्—नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य को ऊपर तथा तालु मूल में स्थित अमृतमयी चन्द्रमा को नीचे (विपरीत) करना ही विपरीतकरिणी नामक मुद्रा है, जो गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो पाती है (अर्थात् बिना गुरु के उपदेश, आज्ञा व निर्देशन के इस मुद्रा में सफलता नहीं मिलती)।

यहां गुरु के उपदेश को महत्त्व इसलिए दिया गया है—क्योंकि मात्र शरीर को उल्टा कर लेने से ही यह मुद्रा सिद्ध नहीं हो जाती। पहले प्राणायाम तथा खेचरी आदि मुद्राएं सिद्ध की जाती हैं। फिर विपरीतकरिणी मुद्रा में खेचरी का समावेश किया जाता है। प्राणवायु की नासिका के उर्ध्वविवर में तथा जीभ को जिह्वा मूल से पलटकर ब्रह्मरंध्र की ओर पहुंचाने का अभ्यास किया जाता है। यह अत्यंत कठिन अभ्यास है। '*शाण्डिल्योपनिषद्*' में संध्या के समय वायु को खींचकर पीने का निर्देश मिलता है। उससे तीन महीने में अभ्यासी की वाणी सरस्वती स्वरूपा हो जाती है। छः महीने में समस्त रोग दूर हो जाते हैं। अतः इस अवस्था में जिह्वा द्वारा प्राणवायु को खींचा भी जाता है। जैसा कि इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है—

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्।
यः पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते॥

अर्थात्—जो विद्वान योगी जिह्वा से वायु खींचकर उसे जिह्वा मूल में रोककर अमृत का पान करता है। उसका सब प्रकार से कल्याण होता है। (किन्तु गुरु के मार्गदर्शन में ही इसे करें)।

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो।
नासान्ते सुषिरे नयेत्व गगनद्वारान्ततः सर्वतः।
उर्ध्वास्यो भुविसन्निपत्यनितरामुत्तानपादः पिबेदेवं यः
कुरुतेजितेन्द्रिय गणोनैवास्तितस्य क्षयः॥
ऊर्ध्वं जिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोतियः।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगविद्॥

(गो. संहिता)

अर्थात्—कण्ठ के उर्ध्व भाग में स्थित स्वच्छ चन्द्रकलामृत को रोककर नासिका से ऊपर के विवर में भरे और वायु के समस्त द्वारों को रोककर आकाश में प्राणापन युक्त पूरक करें तथा पृथ्वी पर उत्तान लेटकर पांवों को उत्तान करके (विपरीत करिणी) इस अमृत का पान करें। जो जितेन्द्रिय योगी सदा ऐसा करता है, उसका क्षय कभी नहीं हो सकता। जीव को ऊर्ध्व स्थित कर सुधापान करने वाला साधक पंद्रह दिनों में ही मृत्यु को जीतने वाला हो जाता है। (किन्तु जैसा कि कहा गया है, बिना गुरु की कृपा के यह कार्य सम्भव नहीं होता)।

शक्तिचालिनी मुद्रा व शक्तिचालन

इस मुद्रा का सीधा सम्बन्ध कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उसे ऊपर चढ़ाने से है। अतः इसे 'शक्तिचालिनी मुद्रा' कहा गया है। स्पष्ट है कि यह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। किन्तु लम्बे अभ्यास से ही यह मुद्रा सिद्ध होती है। अतः धैर्य

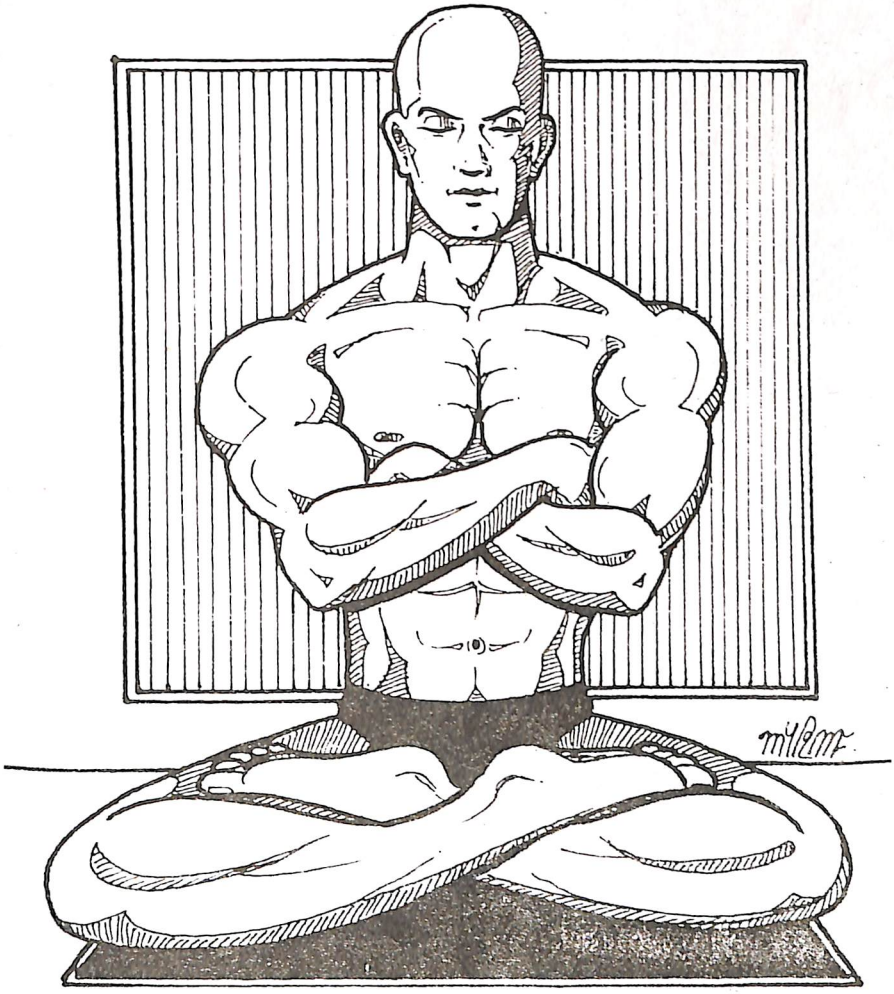

शक्तिचालिनी मुद्रा

आवश्यक है। प्रायः समस्त योग विषयक ग्रन्थों ने इसे सम्मानपूर्वक मान्यता दी है। परन्तु '*घेरण्डसंहिता*' में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़रं बध्वा तु पद्मासनं।
गाढ़ं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेति।
बारंबारम पानमूर्ध्व मनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं।
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः॥

— गोरक्ष संहिता

अर्थात्—दोनों हाथों की अञ्जली बांधकर दोनों कुहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पद्मासन करें। ठोड़ी को हृदय से दृढ़तापूर्वक लगाकर ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करें। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपानवायु से मिलाएं और कुम्भक द्वारा धारण करके शनैः शनैः छोड़ दें। ऐसा करने से साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा शक्ति जागृत होती है।

यह शक्तिचालिनी मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है। इसीलिए इसे शक्तिचालिनी कहते हैं। परन्तु यह लम्बे अभ्यास से सिद्ध होती है। परिचय के रूप में '*गोरक्ष संहिता*' का श्लोक ऊपर दिया है। किन्तु पूर्ण विस्तृत रूप से इसका वर्णन '*घेरंड संहिता*' में आता है, जो पाठकों के लिए अधिक उपयोगी होगा।

नाभिं सम्वेष्टय वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्॥
वितस्तिमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम्॥
एवंमम्बरयुक्तं च कटि सूत्रेण योजयेत्।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्॥
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपानेयोजमेद्बलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया॥
यावद्गच्छेत सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेत् हठात्।
तदावायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी॥
बद्धश्वासस्तोभूत्वा ऊर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तीर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति॥

—घेरंड संहिता

अर्थात्—नाभि को वस्त्र से लपेटकर शक्तिचालिनी मुद्रा का एकान्त स्थान में अभ्यास करें। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन कभी बाहर न करें। बालिश्त भर चौड़ा और चार अंगुल लम्बा (कोमल, स्वच्छ) वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र (नाड़े आदि) से कमर पर बांधें (यदि पूरा वस्त्र न लपेट रहे हों तो)। शरीर पर भस्म मलकर सिद्धासन पर बैठकर प्राण को खींचकर अपान से मिलाएं। सुषुम्ना के

द्वार से गमन करती वायु जब तक प्रत्यक्ष न हों, तब तक 'अश्विनी मुद्रा' से गुदा संकोचन करें। इस प्रकार वायु के रुकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जागृत होकर ऊर्ध्व मार्ग में बढ़ती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा (मूलबन्ध) की सिद्धि नहीं होती। (घेरण्ड ऋषि ने गोरखनाथ के मुकाबले शक्तिचालिनी मुद्रा को अधिक स्पष्ट किया है और पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का निर्देश दिया है। विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न मार्गों एवं मुद्राओं से लक्ष्य प्राप्ति की थी। अत: अपने-अपने अनुभूत मार्ग पर उन्होंने अधिक प्रकाश डाला है। इसका कारण मात्र इतना ही है)।

व्याख्या

पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन का प्रयोग इस मुद्रा में अधिक लाभकारी रहेगा क्योंकि अश्विनी मुद्रा तथा योनिमुद्रा में यही सिद्धासन अधिक सहयोगी रहता है और कम प्रयास से ही मुद्रा को सिद्ध करता है। शरीर पर भभूत मलने के तीन सम्भावित कारण हैं। पहला—नग्नावस्था को ढकना। दूसरा वैराग्य भाव को उदित करने के बाह्य प्रयास एवं तीसरा इस क्रिया में शरीर पर आने वाले पसीने को सोखने की सुविधा प्राप्त करना। क्योंकि पसीने के अधिक बहने की अनुभूति भी मुद्रा के स्थायित्व में बाधक हो सकती है। यह भी सम्भावना है कि शिव को ईष्ट मानने के कारण घेरण्ड ऋषि शिव की ही भांति देह पर भभूत मलने को आवश्यक समझते हों।

नाभि पर वस्त्र लपेटने अथवा वस्त्र को नाभि पर रख कटि सूत्र से बांधने के पीछे दो उद्देश्य संभावित हैं। पहला उड्डियान बन्ध में सहयोग एवं नाभिमंडल को भीतर दबाकर उद्वेलित करना। दूसरा नाभिमंडल पर ध्यान लगाने में सहयोग प्राप्त करना। सुषुम्ना में वायु को प्रत्यक्ष करने का अर्थ वायु को वहां अनुभव करने से है। तब तक 'अश्विनी मुद्रा' का निर्देश दिया है। 'अश्विनी मुद्रा' अपने आप में कुण्डलिनी शक्ति को उत्तेजित करने में सहायक है।

अश्विनी मुद्रा

घोड़ी जिस प्रकार अपनी योनि को बार-बार संकुचित करती तथा विस्तृत करती है, उसी प्रकार उपस्थ सहित गुदा को बार-बार संकुचित करना तथा ढीला छोड़ना अश्विनी मुद्रा कही जाती है। यह कुण्डलिनी को जागृत कर पाने में समर्थ भले ही न हो अथवा चलाने में सक्षम भले ही नहीं किन्तु उसको थपथपा कर या छेड़कर उत्तेजित अवश्य करती है। इसीलिए घेरण्ड ऋषि ने वायु के सुषुम्ना के द्वार पर अनुभव करने तक अश्विनी मुद्रा के प्रयोग का निर्देश दिया है। अश्विनी मुद्रा का अभ्यास स्तम्भन सामर्थ्य भी बढ़ाता है।

इन समस्त विवेचनों से सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी को जागृत करके सुषुम्ना में चढ़ाने के लिए वायु को सुषुम्ना में चढ़ाना आवश्यक है। क्योंकि वायु अथवा

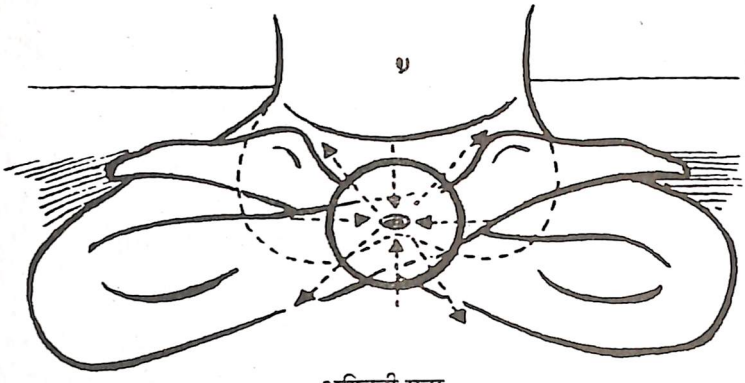

अश्विनी मुद्रा

अग्नि ही कुण्डलिनी जगाकर चलाने में समर्थ है। वायु के साथ प्राण व मन भी एकाग्र होकर सुषुम्ना में जाते हैं। अन्ततः आज्ञाचक्र तथा सहस्त्रार चक्र पर जा पहुंचने पर सम्प्रज्ञात समाधि व असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा गया है—

वायुना सहचित्तं च प्रविशेच्च महापथम्।
यस्य चित्तं स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह॥
भूमिरापोऽनलोवायु आकाश चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है। उसके लिए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूत रूपी देवताओं की धारणा स्वतः हो जाती है। (धारणा व समाधि की चर्चा अगले अध्याय में करेंगे)।

बिन्दु व रज को, चन्द्र व सूर्य को अथवा प्राण व अपान को मिलाना

अब तक के उपायों एवं विधियों को पढ़कर प्रबुद्ध पाठक जान गए होंगे कि प्राण व अपान को मिलाने से अथवा चन्द्र व सूर्य या बिन्दु एवं रज को मिलाने से ही कुण्डलिनी का जागरण होता है। समस्त प्राणायाम प्राण व अपान को मिलाने के उपाय हैं तथा विपरीतकरिणी, शक्तिचालिनी, खेचरी आदि मुद्राएं चन्द्र व सूर्य में एकात्म स्थापित करने के उपाय हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में बिन्दु (वीर्य) तथा रज रहता है। और प्रत्येक स्त्री में भी। किन्तु स्त्रियों में रज की प्रमुखता रहती है और पुरुषों में वीर्य की। आयुर्वेदीय ग्रन्थों व आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी इसे माना है। 'चरक संहिता' में तो यहां तक बताया गया है कि स्वप्न की अवस्था में उत्तेजित होने पर क्षरित स्त्री की योनि में यदि वायु प्रविष्ट हो जाए और उसका रज उसमें मौजूद वीर्य के अंश से मिल जाए तो गर्भाधान हो जाता है। किन्तु वह अर्थ, अस्थि, नख व केशों से हीन (मांसपिंड रूपी) होता है।

रज एवं बिन्दु का संयोग सृजनात्मक होता है—भले ही बाह्य हो अथवा आन्तरिक। अघोरी सम्प्रदाय में इसी उपाय पर विशेष जोर दिया जाता है और सम्भोग को इसीलिए योग साधना का पर्याय माना जाता है।

शरीर में बिन्दु व रज दोनों रहते हैं। बिन्दु का स्थान चन्द्र एवं रज का स्थान नाभिमंडल में अवस्थित सूर्य माना गया है। बिन्दु का रंग श्वेत व रज का रंग लाल कहा गया है। बिन्दु को शिव और रज को शिवा/शक्ति का प्रतीक माना है। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में प्रमाण मिलते हैं—

स पुनर्द्विबिधो बिन्दुः पाण्डुरो सोहितस्तथा।
पाण्डुरः शुक्रमित्यहुर्लोहिताख्यो महारजः॥
सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु दो प्रकार का होता है। पाण्डुर वर्ण तथा लोहित वर्ण। पाण्डुर वर्ण वाला 'शुक्र' तथा लोहित वर्ण वाला 'महारज' कहा जाता है। तैल मिश्रित सिंदूरी द्रव के समान रज नाभिमंडल में और बिन्दु चन्द्र स्थान में रहता है। इन दोनों का एक हो पाना अति दुर्लभ है।

विन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रोविन्दु रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम॥
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति विन्दोः सहैकत्वं भवेदिदृव्यं वपुस्ततः॥

अर्थात्—बिन्दु, शिव तथा रज शक्ति है अथवा बिन्दु चन्द्रमा और रज सूर्य है। इन दोनों के संयोग से परम शरीर प्राप्त होता है। वायु द्वारा शक्ति चालन से जब रज आकाश में प्रेरित होकर बिन्दु से मिल जाता है तब शरीर दिव्य बन जाता है (अर्थात् तेजस्वी हो जाता है)।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति सयोगविद॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—शुक्र बिन्दु रूपी चन्द्र से युक्त है और रज सूर्य से समन्वित है। जो इन दोनों की समरसता को जानता है (इन दोनों को मिलाना जानता है) वही योग का ज्ञाता है।

अतः चन्द्र व सूर्य को, बिन्दु एवं रज को अथवा प्राण व अपान को मिलाना ही कुण्डलिनी जागरण के मार्ग हैं।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलतिकन्दुकः।
प्राणापान समाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥

अर्थात्—जैसे हाथ द्वारा पृथ्वी पर पटकी गई गेंद, ताड़ित होकर स्वयं ऊपर

उछलती है। वैसे ही प्राणवायु की प्राप्ति में जीव को आकर्षित करके अपानवायु ठहरने नहीं देता। (जैसे गेंद खेलने वालों के वश में रहती है वैसे ही जीव अविद्या के वश में रहता है। प्राणापान के मध्य जीव स्थिर नहीं रहता। प्राण व अपान को मिलाकर ही उसे स्थिर किया जाता है)।

कुण्डलिनी भेदन के लिए षट्चक्रों का समस्त विवरण प्रारम्भ में ही दे दिया गया है। तथापि इस खण्ड को पढ़ने पर पाठकों को तालु एवं कंठ का महत्त्व भी समझ में आया होगा। बहुतों को तालु या कण्ठ विवर अन्य चक्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भी लगा हो सकता है। परन्तु ऐसा नहीं है। चक्रों का अपने स्थान पर पूर्ण महत्त्व है तथापि तालु का महत्त्व भी कम नहीं है क्योंकि शरीर के चार पवित्र अंगों में एक यह भी है। इसकी पवित्रता का कारण यहां रुद्र का निवास होना है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से सहज सिद्ध होता है—

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

अर्थात्—हृदय स्थान में ब्रह्मा का तथा कण्ठ स्थान में विष्णु का निवास होता है। तालु मध्य में रुद्र स्थित हैं और ललाट में महेश्वर/परमशिव का निवास है। (अतः कण्ठ व तालु का महत्त्व स्पष्ट है)।

इसके अलावा मूलद्वार भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि सुप्त कुण्डलिनी का मार्ग यहीं से आरम्भ होता है। इसके अलावा अनेक मुद्राओं आदि में इसका प्रयोग होता है। कोई भी आसन या उपाय बिना मूलबन्ध के सिद्ध नहीं होता। अतः मूलद्वार का योग में अत्यधिक महत्त्व है '*गोरक्ष संहिता*' में तो यहां तक कहा गया है कि—

वद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखीहरः॥

अर्थात्—जो योगी मूलद्वार को रोकने में सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके सभी विघ्न नष्ट होकर (यही कारण है कि मूलाधार के प्रहरी देवता गणेश हैं) अजरत्व एवं अमरत्व प्राप्त होती है। जैसे पंचमुखी भगवान शिव अजर और अमर हैं (अथवा वह पंचमुखी शिव के समान हो जाता है)।

प्रणवाभ्यास

ॐकार वैदिक प्रणव है। हूंकार शैवागम सम्मत प्रणव है और ह्रींकार शाक्तागत सम्मत प्रणव। तन्त्रशास्त्र में अनेकों प्रणवों का वर्णन है। इनमें ॐकार सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। प्रणव के पर्याय के रूप में इसीलिए यही एक प्रचलित हो गया है। ॐकार में—अकार, उकार और मकार परब्रह्म के स्वरूप को ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की त्रिशक्ति के रूप में दर्शाते हैं। अतः प्रणवोच्चारण में ह्रस्व, प्लुत्, दीर्घ

आदि मात्राओं के उच्चारण, उत्पन्न तरंगों के प्रभाव तथा पदों के मनन के प्रभाव कुल मिलाकर चमत्कार दिखाने वाले होते हैं। **एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसके अलावा मूर्च्छनात्मक स्वरों की अवस्थिति दीर्घकाल तक रहने से, अन्य उपायों के मुकाबले चित्त की एकाग्रता यहां अधिक सरल होती है।** (स्वरों के नियमित क्रम से आरोह व अवरोह की प्रक्रिया को संगीत शास्त्र में *मूर्च्छना* कहते हैं)। इसीलिए कहा गया है कि **शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अथवा संगीतशास्त्र में प्रवीण व्यक्ति अनायास ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।** जैसा कि महर्षि *याज्ञवल्क्य* ने कहा है—

वीणावदनतत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्ष मार्ग नियच्छति॥

(वीणा वादन को तत्त्व से जानने वाले, स्वरों के विशारद तथा ताल का ज्ञाता अपने प्रयासों से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् लय, स्वर और ताल का एकात्म मोक्षकारी होता है।)

प्रणव की मात्राओं को '*विज्ञान भैरव*' के अनुसार परमशिव की अवस्था तक पहुंचने के लिए इस प्रकार सोपान बनाया जाता है—अकार को नाभि में, उकार को हृदय में, मकार की मुख में, बिन्दु की भ्रूमध्य में, अर्धचन्द्र की ललाट में, निरोधिनी की ऊर्ध्वललाट में, नाद की शिर में, नादान्त की ब्रह्मरन्ध्र में, शक्ति की त्वक में, व्यापिनी की शिखा के मूल में, समना की शिखा में और उन्मना की शिखा के अंत भाग में स्थिति रहती है। ॐकार को पिण्ड मन्त्र इसीलिए कहा जाता है कि यह नाभि से द्वादशान्त तक इस पिण्ड में विभक्त हैं। **'सोहं' भी प्रणव का ही स्वरूप है** क्योंकि सकार और हकार रूपी हल् का लोप हो जाने पर ॐ का स्वरूप ही शेष रहता है। इसीलिए '*शिवोपाध्याय*' में कहा है—

ओमिति स्फुरदुरस्यानाहतं गर्भगुम्फित समस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥

अर्थात्—समस्त वाङ्मय को अपने उदर में समेटे हुए यह—ॐकार प्रत्येक प्राणी के हृदय में अनाहत नाद के रूप में ध्वनित होता रहता है। हृदय में विद्यमान प्रणव रूप सदक्षर ही परम पदस्थानीय है। हम इसी तेज की उपासना करते हैं।

यद्यपि यह तन्त्रागत अथवा मन्त्र सम्बन्धी उपाय ही है तथापि क्योंकि इसका मानसिक जाप किया जाता है अतः इसे हमने ध्यान सम्बन्धी उपायों के अन्तर्गत रखा है। प्रणव के अभ्यास के लिए '*गोरक्ष संहिता*' के निम्नलिखित श्लोक मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त हैं—

पद्मासनं समारूह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम्॥

भू र्भुवः स्वरिमेलोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासुः तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति॥

अर्थात्—एकान्त प्रदेश में दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर अपनी देह, कंठ व सिर को समसूत्र करें और दृष्टि को नाक की नोक पर स्थापित कर ओंकार स्वरूप अव्यय ब्रह्म का जप करें-जिसके तीन वर्णों (अ, उ, म्) में—भूः, भुवः व स्वः इन तीनों लोकों सहित सूर्य, अग्नि व चन्द्र देवताओं का निवास है (ये तीनों क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु व शिव के भौतिक प्रतीक भी हैं।)। यह ओंकार परम ज्योति स्वरूप है।

ॐकार के अकार, उकार तथा मकार में सूर्य चन्द्र तथा अग्नि की कल्पना करने का कारण क्या है, इस ओर '*ब्रह्मविद्या उपनिषद्*' में स्पष्ट संकेत दिया गया है। जैसा कि कहा है—

सूर्यमण्डल मध्येऽथ ह्यकारः शंखमध्यमः।
उकारचन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
त्रिसो मातास्तथाज्ञेयाः सोम सूर्याग्नि रूपिणः॥

अर्थात्—शंख में मध्य का 'अकार' सूर्यमण्डल में स्थित है। चन्द्र के समान 'उकार' चन्द्रमा में ही रहता है और निर्धूम अग्नि तथा विद्युत 'मकार' के समान है। इस प्रकार ओंकार की तीनों मात्राओं को चन्द्र, सूर्य और अग्नि स्वरूप जानें।

ओंकार में और भी क्या-क्या निहित हैं इस ओर '*गोरक्ष संहिता*' में संक्षिप्त संकेत तथा '*ब्रह्मविद्योनिषद्*' में व्यापक वर्णन मिलता है। पाठकों के लाभार्थ श्लोकों को संक्षिप्त कर उनके अर्थों को पूर्ण रूप से संकलित किया है—

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रः स्वरा।
त्रयोदेवाः...त्रिधाः शक्ति...त्रिधामात्रा...
...स्थिता यत्रतत्परं ज्योतिरोमिति॥

(गो.सं.)

अर्थात्—'उस ॐकार में तीन काल, तीन वेद, तीन लोक, तीन स्वर और तीन देवता स्थित हैं। वह परम ज्योतिस्वरूप है। उसी में इच्छा, ज्ञान व क्रिया शक्ति व ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी शक्तियां स्थित हैं। वह परम ज्योतिस्वरूप है। अकार, उकार और बिन्दु रूप मकार यह तीनों मात्राएं जिसमें स्थित हैं—वह ॐकार ज्योति स्वरूप है।'

ओमित्येकारं ब्रह्म सदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरंतस्य वक्ष्यामि...कालत्रयं...
तत्रदेवास्त्रयः...वेदास्त्रयो...तिस्त्रो मात्रा...

...त्र्यक्षरस्य...ब्रह्मवादिभि...उपकारः...
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्

(उपर्युक्त श्लोक काफी बड़े हैं अतः संक्षिप्त कर दिए हैं)। अर्थात्—ब्रह्मवादियों ने जिस ब्रह्म को ओंकार के अक्षर रूप में कहा है, उसके शरीर स्थान व तीन काल का वर्णन करता हूं। उसमें—सूर्य, चन्द्र, अग्नि तीन देवता, भूः भुवः स्वः ये तीन लोक, भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल, ऋग्, यजुर् और साम ये तीन वेद, गार्हपत्य, दक्षिण और आह्वानीय ये तीन अग्नि, शिव स्वरूप अक्षर की तीन—ब्रह्मा, विष्णु व शिव अथवा अकार, उकार एवं मकार तथा आधी चन्द्र की (परब्रह्म) कुल साढ़े तीन मात्राएं हैं। पृथ्वी, आकाश और अग्नि ये तीन तत्त्व (पृथ्वी के साथ जल और आकाश के साथ वायु संयुक्त रहते ही हैं अतः पांचों मात्राएं), तीन शक्तियां—ब्राह्मी, रौद्री व वैष्णवी अथवा ज्ञान, इच्छा व क्रिया, अवस्थित हैं। इन्हीं शक्तियों से उत्पत्ति, प्रलय तथा स्थिति होती है। (यह शक्तियां ब्रह्मस्वरूपिणी तथा प्रकृति पुरुषात्मक है—जैसा कि देवी स्वयं कहती हैं—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृति पुरुषात्मक जगच्छून्यं च) यानि मैं ब्रह्म स्वरूपिणी व आनन्दमयी या आत्मरत हूं। यह प्रकृति पुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।

ॐकार का जाप वैराग्य एवं ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। इसे साधना के समय ही नहीं हर समय मानसिक जाप में प्रयुक्त करना चाहिए। इससे साधक संसार में रहता हुआ भी संसार में लिप्त नहीं होता, जैसा कि कहा है—

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा।
न सा लिप्यति पापेन पद्मपत्रभिवाम्भसा॥

अर्थात्—बाह्य शौच किया हो अथवा ना भी किया हो तो भी ॐकार का जप करता रहे। इससे कमलपत्र के जल में लिप्त न होने के समान साधक पापों से लिप्त नहीं होता।

मानसिक जाप सदैव मन की एकाग्रता को बढ़ाता है अतः मानसिक जाप का ही प्रणवाभ्यास में विधान है। मन का निरोध करना ही इस जाप का एकमात्र लक्ष्य है। तभी तो कहा जाता है कि—

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानञ्च शेषऽत्यो ग्रन्थविस्तार॥

अर्थात्—जब तक वासनाएं नष्ट न हो जाएं तब तक मन का निरोध करना चाहिए। यही ज्ञान है, यही ध्यान है। शेष सब तो ग्रन्थ का विस्तार मात्र है।

यह समूचे योगशास्त्र का निष्कर्ष दो लाइनों में कह दिया गया है। **मन कभी इच्छाओं/वासनाओं से उसी प्रकार तृप्त नहीं होता जिस प्रकार समुद्र नदियों से, अग्नि काष्ठ से अथवा चरित्रहीन स्त्रियां पुरुषों से तृप्त नहीं होती।**

—चाणक्य

मन की इच्छाओं को पूर्ण करते रहने से अग्नि में डाले गए घृत की भांति इच्छाएं और बलवती होती हैं। अत: उनकी पूर्ति नहीं उनका शमन ही इस अग्नि की शांति का एकमात्र उपाय है। इसीलिए कृष्ण ने *गीता* में कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**' (कर्म करने मात्र में तेरा अधिकार है, फल की इच्छा में कभी नहीं)। और इसीलिए '*अष्टावक्र गीता*' में अष्टावक्र महर्षि ने राजा जनक को उपदेश दिया है—

'**मुक्तिमिच्छसि चेत्तातविषयान विषवत्यज।**' (मुक्ति चाहता है तो विषयों को विषय की भांति त्याग दे)।

❑❑❑

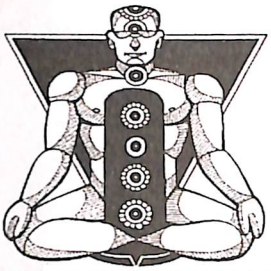

16 ध्यान, धारणा और समाधि

अब तक के विवेचन से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि मन को जीते बिना, उसका संयम किए बिना, उसकी एकाग्रता शक्ति को बढ़ाए बिना और उसका निरोध किए बिना न तो कुण्डलिनी जागरण ही सम्भव है, न ही मोक्षप्राप्ति। प्राण, बिन्दु, प्रणव आदि के माध्यम से मन को एकाग्र करने के उपाय अब तक आपने जाने। इनमें कोई-सा भी उपाय कारगर हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि सभी उपायों को किया जाए। विधान पूर्वक, तन्मयतापूर्वक, धैर्यपूर्वक तथा पात्रता उत्पन्न करके कोई भी एक उपाय निरन्तर करते जाना सफलता या सिद्धि की प्राप्ति करा देने में सक्षम है। तथापि विभिन्न मार्गों की जानकारी इसलिए दी जा रही है कि अपने गुण, स्वभाव, प्रकृति, रुचि, सामर्थ्य आदि के अनुसार पाठक अपना मार्ग चुन सकें।

अब मन को सीधा ही साधने का उपाय कहते हैं। यह उपाय पढ़ने या सुनने में यद्यपि सबसे सरल लगता है—तथापि करने में सबसे कठिन है। क्योंकि मन को वश में करना अत्यंत दुष्कर है। प्राण, बिन्दु, प्रणव आदि के माध्यमों के सहारे यद्यपि यह कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

ध्यान, धारणा, समाधि के प्रयास सीधे फिर भी नहीं करने चाहिए। इससे पूर्व शेष प्रयासों के अभ्यास से मन को इस योग्य बना लेना चाहिए कि ध्यान का उपाय करने पर बिना किसी सहारे के ही उसे सीधे साधा जा सके। जैसा कि कहा है—

आसनेन रुजो हन्ति प्रणयामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुच्यति॥
धारणाभिमतो धैर्य ध्यानाच्चैतन्यमद् भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति व्यक्त्वाकर्म शुभाशुभम्॥

अर्थात्—आसनों से रोग नष्ट होते हैं (शारीरिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है), प्राणायाम से समस्त पाप नष्ट होते हैं—(शारीरिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है), प्राणायाम से समस्त पाप नष्ट होते हैं। (शोधन होता है), प्रत्याहार से मन के विकार नष्ट होते हैं। (निर्विकारता एवं पात्रता उत्पन्न होती है)। धारणा से धैर्य की वृद्धि होती है। ध्यान से अद्‌भुत चैतन्य शक्ति की प्राप्त होती है, तथा समाधि से समस्त शुभाशुभ

कर्मों का त्याग होने से मोक्ष प्राप्ति होती है। (अत: यह समस्त उपाय ही किए जाने चाहिएं। इनसे पूर्व यम-नियम का पालन पात्रता व भूमिका के लिए अथवा योग मार्ग की यात्रा के लिए स्वयं को 'तैयार' करने के लिए आवश्यक हैं)। और—

प्राणायाम द्विष्टकेन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहार द्विष्टकेन जायते धारणा शुभां॥
धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥

(*गो.सं.*)

अर्थात्—बारह प्राणायामों से प्रत्याहार तथा बारह प्रत्याहारों से धारणा होती है। बारह धारणाओं से ध्यान और बारह ध्यानों से समाधि होती है। (अत: समस्त अंग क्रमश: जरूरी है)।

व्याख्या

प्राणायामों के बारह प्रकार हैं (कुछ शास्त्र 8 मानते हैं)। इन प्राणायामों के अभ्यास से प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) में सफलता मिलती है। प्रत्याहार भी बारह हैं (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, एक मन और एक बुद्धि/अहं—इन बारहों को विषयों की ओर भागने से रोकना ही प्रत्याहार है)। इनसे धारणा की योग्यता प्राप्त होती है। बारह धारणाओं (यद्यपि कुल 112 धारणाएं कही गई हैं। किन्तु बारह प्रमुख हैं) से साधक ध्यान करने योग्य बनता है। फिर बारह ध्यानों से (सात चक्र व पांच महाभूत) समाधि के योग्य साधक बन पाता है। (अत: सीधे ध्यान या समाधि लगा पाना असम्भव है)।

बारह प्राणायामों से प्रत्याहार और बारह प्रत्याहारों (अथवा 12×12=144 प्राणायामों से) धारणा तथा बारह धारणाओं से (अथवा 144×12 या 12×12×12=1728 प्राणायामों से) ध्यान और बारह ध्यानों से (अथवा—1728×12 या 12×12×12×12=20736 प्राणायाम) समाधि होती है। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार प्राणायाम से 12 गुना फल प्रत्याहार का होता है। इसी प्रकार, प्रत्याहार का 12 गुना फल धारणा का, धारणा का बारह गुना ध्यान का और ध्यान का 12 गुना फल समाधि का होता है। अत: मात्र कुण्डलिनी जागरण या चमत्कारिक उपलब्धियां तो पूर्ववर्णित किसी भी उपाय से पाई जा सकती हैं परन्तु योग का चरम लक्ष्य मोक्ष समाधि तक पहुंचे बिना सम्भव नहीं है क्योंकि योग यात्रा का यही अंतिम पड़ाव है।

धारणा, ध्यान व समाधि पर चर्चा करने से पूर्व यह चर्चा इसलिए आवश्यक थी कि पढ़ने में सरल लगने से पाठक कूद कर सीधा ध्यान लगाने का प्रयास न करें। अन्यथा लाभ तो कुछ होगा नहीं, अहंकार भले ही बढ़ जाएगा अथवा लाभ न होने पर मोहभंग होगा।

धारणा

मन को समस्त विषयों से रोककर, ज्ञानेन्द्रियों को भी उनके समस्त प्रिय व अप्रिय विषयों से रोककर—(प्रत्याहार) मन को किसी एक बिन्दु पर रोकना ही धारणा है। **'चित्तस्य निश्चलीं भावो धारणा धारण बिदुः' (त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद्)** के अनुसार मन को निश्चल बना लेना ही धारणा है। अथवा जैसा कि *'शाण्डिल्योपनिषद्'* में कहा है—**'आत्मनिमनोधारणां दहराकाशे बाह्याकाशं धारणां पृथिव्यप्ते जो बाह्यऽकाशेष पंचमूर्ति धारणां चेति।'** अर्थात्—आत्मा में मन की धारणा, दहराकाश में बाह्याकाश की धारणा और पंचमहाभूतों की पृथक् पृथक् धारणा—यह धारणा के तीन प्रमुख प्रकार हैं। अथवा **'मनसोधारणां यत्तद्युक्तस्य चयनादिभिः'** (यमादि के द्वारा मन का धारण करना ही धारणा है)। *'गोरक्ष संहिता'* के अनुसार—

हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणां साभिधीयते॥

अर्थात्—हृदय में मन की निश्चलता के साथ पंचभूतों को पृथक्-पृथक् धारण करना ही धारणा है।

आदि अनेक उदाहरण हैं जो धारणा के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं। जिस ऋषि ने जिस मार्ग से धारणा की, वैसा ही कहा। वस्तुतः धारणा में चित्त की निश्चलता ही प्रमुख है। उस किस बिन्दु पर धारा गया है, यह गौण है। वह बिन्दु—पंचमहाभूत हों, सप्तचक्र हों अथवा अन्य भाव या सत्ता हों, प्राण हों या फिर शून्य ही क्यों न हो। उद्देश्य मात्र इतना है कि मन को समस्त विषयों से रोककर एक ही स्थान पर निश्चल रखने के लिए कोई बिन्दु या लक्ष्य तो चाहिए। वह बिन्दु या लक्ष्य अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी हो सकता है। जैसा कि *महर्षि पातञ्जलि* ने कहा है—**'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'** अर्थात्—चित्त को (भीतर या बाहर) किसी एक देश में ठहराना धारणा है। इसीलिए *'विज्ञान भैरव'* ने दो, चार, दस नहीं पूरी 112 धारणाएं गिनाई हैं। तथापि पंचभूतों आदि की धारणा क्योंकि विशेष फलदाई रहती है अतः पंचभूतों पर अधिक जोर दिया गया है क्योंकि इनसे पंचतत्त्वों को जीत लिया जाता है तथा उनके अनुसार विभिन्न प्रकार की सिद्धियां भी साधक को प्राप्त होती चली जाती हैं। इनके विषय में कुछ चर्चा करने से पूर्व यह दुहराना आवश्यक है कि धारणा से पूर्व अन्य प्रारम्भिक अंगों को सिद्ध कर लेना चाहिए। जैसा कि कहा भी है—

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत्॥

(गोरक्षसंहिता)

अर्थात्—आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर ही

धारणा का अभ्यास करना चाहिए। (यहां आसन से पूर्व यम व नियम का वर्णन इसलिए नहीं है क्योंकि गोरखनाथ जी ने योग को पातञ्जिल आदि की भांति अष्टांग नहीं माना। वे योग को षडांग मानने वालों में थे)।

पंचमहाभूतों की धारणा द्वारा चित्त व प्राण को सुषुम्ना में ले जाएं अथवा चित्त व प्राण को अन्य उपायों से सुषुम्ना में ले जाएं मगर चित्त व प्राण का सुषुम्ना में आना स्वत: ही पंचमहाभूतों की धारणा का फल प्रदान कर देता है जैसा कि '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचकः।
येषु पंचसु देवाना धारणा पंचधोच्यते॥

अर्थात्—(जिस योगी का चित्त वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है) उस योगी को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांचों देवताओं (महाभूतों) की धारणा (स्वत:) हो जाती है।

बहरहाल...पंचमहाभूतों की धारणा के सम्बन्ध में '*गोरक्षसंहिता*' तथा '*योगतत्त्वोपनिषद्*' में खासा वर्णन मिलता है। पाठकों के लाभार्थ उसे संक्षेप में दे रहे हैं।

पृथ्वी तत्त्व की धारणा

पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम्।
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम्॥
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम्।
धारयेत्पञ्चघटिका: पृथिवीजयमाप्नुयात्॥

—योगतत्त्वोपनिषद्

अर्थात्—पृथ्वी चार कोण वाली, पीत वर्णा और 'लं' अक्षर से युक्त है। पृथ्वी तत्त्व में वायु का आरोप कर और 'लं' को उसमें संयुक्त करके स्वर्ण जैसे वर्ण वाले चतुर्भुज ब्रह्मा का ध्यान करें। ऐसा पांच घड़ी तक करने से पृथ्वी तत्त्व जीत लिया जाता है।

इस तथ्य को '*गोरक्ष संहिता*' ने भी स्वीकारा है—

'**...प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिका चित्तान्विताऩ्धारयेदेषास्तंभकारी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा।**' अर्थात् मन सहित प्राण को भूमंडल में लीन कर लें। इस प्रकार यह धारणा पांच घड़ी तक स्तम्भन करने से पृथ्वी तत्त्व जीता जाता है। (पृथ्वी तत्त्व के जीतने के साथ **मूलाधार चक्र का भेदन भी हो जाता है**)। क्योंकि यह चक्र पृथ्वी तत्त्व का प्रमुख स्थान है, पीतवर्ण चतुष्कोण है। 'लं' इसका तत्त्व बीज है। और ब्रह्मा इसके अधिपति देवता हैं—जैसा कि चक्र प्रकरण में पहले बताया जा चुका है। पृथ्वी तत्त्व विजित हो जाने पर भय, असुरक्षा आदि की समाप्ति

होती है और केन्द्रीयकरण बढ़ता है। पांच घड़ी का अर्थ दो घंटे है।

जल तत्त्व की धारणा

अपोऽर्धचन्द्र शुक्लं वं बीजं परिकीर्तितम्।
वारुणेवायुमारोप्य वकारेण समन्वितम्।
स्मरेन्नारायणं देव चतुर्बाहुं किरीटिनम्।
शुद्धं स्फटिकसंकाशं पीतवासमच्युतम्॥
धारयेत्पंचघटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते॥

—योगतत्त्वोपनिषद्

अर्थात्—जल तत्त्व अर्धचन्द्रकार 'वं' बीज से युक्त है। इस तत्त्व में वायु का आरोप करके (प्राणों को संयुक्त करके) 'वं' को समन्वित करे और चतुर्भुज शुद्ध स्फटिक जैसे वर्ण वाले, पीताम्बर धारी भगवान विष्णु का ध्यान करें। पांच घड़ी ऐसा करने पर समस्त पापों से मुक्ति होती है। इस धारणा के समय जल से भय नहीं रहता और ना ही जल से मृत्यु होती है।

'*गोरक्ष संहिता*' के अनुसार इस धारणा से विषय का भी पाचन हो जाता है। अर्थात् पाचन तंत्र अत्यंत सशक्त हो जाता है जैसा कि कहा है—

'...प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चिंतान्वितं धारयेवेषा दुःसहकाल कूटदहनो स्याद्वारूणी धारणा॥'

अर्थात्...मनप्राण को पांच घड़ी तक जल तत्त्व में लीन कर लेने पर जलतत्त्व की सिद्धि होती है। इसके अभ्यास से कालकूट विष भी भस्म होता है। (इस धारणा व तत्त्व की सिद्धि से **'स्वाधिष्ठान चक्र' का भेदन या उस पर अधिकार हो जाता है।** क्योंकि पाठकों को याद होगा, इस चक्र का बीज 'वं' है। रूप चन्द्राकार है तथा वर्ण श्वेत और अधिपति देवता विष्णु हैं। जल तत्त्व का यह प्रधान स्थान है। पाप तथा रोग नाश के साथ पाचन तंत्र की सबलता, विवेक, प्रफुल्लता आदि का लाभ साधक को प्राप्त होता है)।

अग्नि तत्त्व की धारणा

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं।
तेजो रेफयुतं प्रवाल रुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम्॥
प्राणं तत्रविलीय पंचघटिकं चित्तान्वितंधारयेदेषां
वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा॥

—गोरक्षसंहिता

अर्थात्—इन्द्रगोप के समान लाल वर्ण, त्रिकोणकार, प्रवाल जैसा रुचिर, तेजस्वरूप, बीज में 'रं' बीज को वायु से युक्त कर प्राण मन सहित रुद्र का ध्यान

करते हुए—अग्नि तत्त्व में पांच घड़ी लीन रहने पर वैश्वानरी धारणा सिद्ध होती है। इसके अभ्यास से अग्नितत्त्व जीता जाता है। (और)—

...धारयेत्पंच घटिका वह्निनाऽसौ नदह्यते।
न ह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्नि कुण्डके॥

—योगतत्त्वोपनिषद्

अर्थात्...पांच घड़ी (दो घंटे) में ही अग्नि की धारणा सिद्ध होती है। तब साधक अग्नि में नहीं जलता। दहकते हुए अग्नि कुण्ड में प्रवेश कर जाने पर भी नहीं जलता। (इस अग्नितत्त्व की विजय करने पर मणिपूरक चक्र पर अधिकार हो जाता है। क्योंकि 'रं' मणिपूर चक्र का बीज है। आकृति त्रिकोण और वर्ण लाल है। अग्नि तत्त्व का यह प्रमुख स्थान है और इस चक्र के अधिपति देवता रुद्र हैं। इस चक्र पर अधिकार होने से जठराग्नि, ऊर्जा, आयु व बल बढ़ते हैं तथा साधक में तेज उत्पन्न होता है)।

वायु तत्त्व की धारणा

यदि्भन्नाजगपुंज सन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरो।
तत्त्वं वायु मयं यकारसहितं तन्नेश्वरी देवता॥
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चिन्तान्दितं धारये।
देशा रवेगमनं करोति यामिनः स्याद्वायवी धारणा॥

—गोरक्ष संहिता

अर्थात्—सुरमे के समान रंग वाले, वर्तुलाकार, 'यं' बीज से युक्त वायु तत्त्व का उसके अधिष्ठाता देवता ईश्वर (ईशान) सहित भवों के मध्य ध्यान करता हुआ, मन प्राण सहित स्वयं को भी वायु तत्त्व में लय कर देने पर पांच घड़ी के बाद वायु तत्त्व जीत लिया जाता है। इससे आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है। (साथ ही अनाहत चक्र का भेदन भी हो जाता है। क्योंकि यह चक्र वायुतत्त्व का प्रमुख स्थान है। इसके अधिपति ईशान रुद्र हैं। इसका बीज 'यं' है। यह धूम्रवर्णीय व षट्कोणाकार है। शास्त्रों का मर्म समझने की शक्ति तथा आकाशगमन की शक्ति आदि भी साधक को इससे प्राप्ति होती है)।

इस सम्बन्ध में '*पातञ्जलयोग प्रदीप*' का यह सूत्र '**उदानजयाज्जलपङ्क कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।**' (उदान वायु को जीत लेने पर जल, कीचड़, कण्टक आदि से साधक के शरीर का संयोग नहीं होता और उसे ऊर्ध्वगति/ऊपर को गमन करने की शक्ति प्राप्त होती है)। कहना भी उचित होगा, वैसे इस सम्बन्ध में 'योग तत्त्वोपनिषद्' में आया वर्णन खासा रोचक व ज्ञानपूर्ण है। देखिए—

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः॥

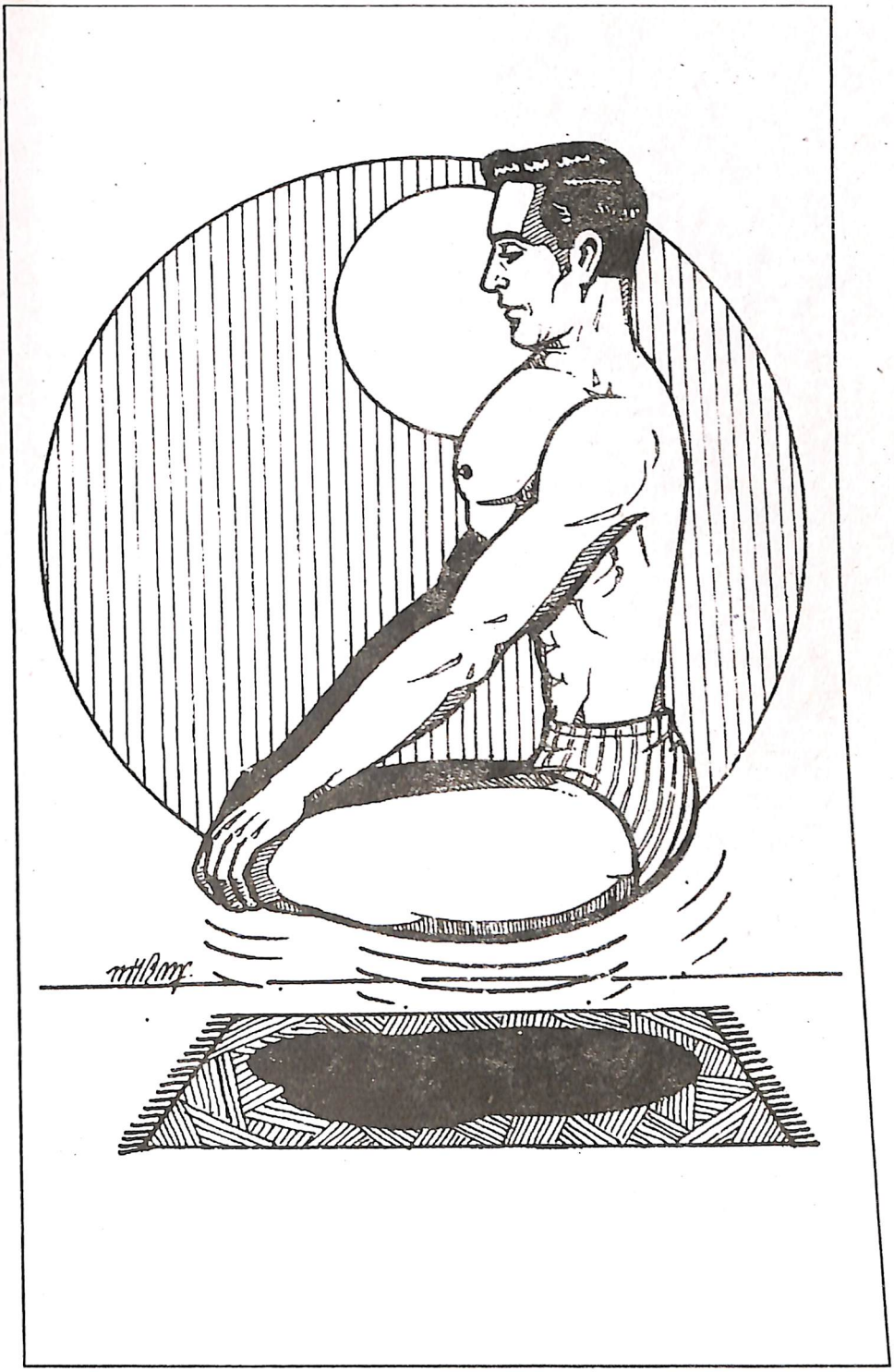

त्रिबन्ध लगाए वायु तत्व की साधना में आसन से
ऊपर उठा हुआ योगी

ततोऽधिकतराभ्यासात् दर्दुरीस्वेन जायते।
यदा च दर्दुरीभाव उत्प्लुत्योप्लुत्य गच्छति॥
पद्मासन स्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।
ततोऽधिकतराभ्यासात् भूमित्यागश्च जायते॥
पद्मासनस्थ एवासौ भूमि मृत्युज्य गच्छति।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्य मुद्भवेत्॥

अर्थात्—फिर वायु की धारणा शक्ति के शनैः शनैः बढ़ने पर आसन पर बैठे हुए योगी के शरीर में कम्पन होने लगता है। अधिक अभ्यास होने पर मेंढक जैसी चेष्टाएं होती हैं। अर्थात् जैसे मेंढक उछलकर पुनः भूमि पर आ जाता है, वैसी ही दशा पद्मासन पर बैठे योगी की होती है। जब अभ्यास और बढ़ जाता है तब वह भूमि से ऊपर उठ जाता है। पद्मासन में बैठा हुआ ही वह ऊपर उठता रहता है। इस प्रकार अतिमानवीय चेष्टाएं योगी करने लगता है।

वायु तत्त्व की धारणा के समय वायु (आंधी/तूफान) का प्रकोप नहीं रहता। (पाठक इससे सहज ही जान सकते हैं कि योगी मौसम, भूख, निद्रा, वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि से कैसे सुरक्षित रहते थे? अथवा पौराणिक कथाओं के अनुसार इन्द्र द्वारा डाले गए विभिन्न विघ्नों—आग, वर्षा, तूफान, हिमपात आदि से कैसे सुरक्षित रहते थे)।

आकाश तत्त्व की धारणा

व्योमवृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षर भासुरम्।
आकाशे वायु मारोप्य हकारोपरि शंकरम्॥
विन्दु रूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्।
शुद्ध स्फटिक संकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम्॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्पभूषण भूषितम्।
उमार्धदेहे वरद सर्वकारण कारणम्॥
आकाश धारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम्।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तश्नुते॥

—*योगतत्त्वोपनिषद्*

अर्थात्—व्योम वृत्ताकार धूम्रवर्ण, 'हकार' से प्रकाशित है। आकाश तत्त्व को वायु से आरोपित कर महादेव सदाशिव जो शुद्ध स्फटिक के समान बालचन्द्र मस्तक पर धारे हैं। सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों तथा सर्पाभूषणों से सुशोभित, उमा के अर्धांग, वरदायक, समस्त कारणों के कारण हैं—की आकाश तत्त्व में धारण करने से आकाश तत्त्व सिद्ध होता है तथा साधक कहीं भी रहे अत्यधिक सुखी रहता है (यानि आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है)।

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं...प्राणं
तत्र विलीय पंघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा
मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्त न भोधारणा।

—गोरक्ष संहिता

अर्थात्—स्वच्छ जल के समान वर्ण, वर्तुलाकार, 'हंकार' बीज युक्त आकाश तत्त्व को सदाशिव के सहित चिन्तन करें। मन प्राण सहित उन्हीं में लीन हो जाने पर पांच घड़ी में आकाश तत्त्व पर अधिकार हो जाता है। इसके प्रभाव से मोक्ष के बन्द कपाट खुल जाते हैं। (साथ ही विशुद्ध चक्र पर भी अधिकार हो जाता है। क्योंकि आकाश तत्त्व का यह प्रमुख स्थान है। इसका बीज 'हं' है। यह रंगहीन तथा गोलाकार है और इसके अधिष्ठाता पंचमुखी सदाशिव हैं)।

मोक्षद्वार खुलने की बात इसलिए कही है क्योंकि पाठकों को याद होगा—चक्र प्रकरण में विशुद्ध चक्र को 'ब्रह्म द्वार' होना बताया गया है। इसी पर चन्द्र बिम्ब से अमृत स्राव होता है। इसी के आगे सर्वोच्च तीर्थ स्थल, तीर्थराज, त्रिवेणी अर्थात् 'आज्ञा चक्र' है। आकाश तत्त्व की सिद्धि के सम्बन्ध में 'पातञ्जलयोग प्रदीप' के यह दो सूत्र भी देखें—

'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्ध संयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।'

अर्थात्—कान और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के कान दिव्य हो जाते हैं। (यहां कान का संयम 'प्रत्याहार' का विषय है और आकाश का 'धारणा' का विषय है)।

'कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥'

(शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से तथा हल्की वस्तु में संयम करने से आकाश गमन की शक्ति आ जाती है।)

इस प्रकार पंचमहाभूतों पर विजय पा लेने से अणिमा आदि 8 सिद्धियां, सुन्दर, स्वस्थ, निरोगी व तेजस्वी शरीर का प्राप्त होना और भूतों के धर्म से निर्बाधता (यानि आग से न जलना, जल से गीला न होना, पत्थरों या कठोर पदार्थ के वार से शरीर का आहत न होना आदि) यह तीन प्रभाव होते हैं। जैसा कि कहा है—**'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च'**—(**योगदर्शन**) अर्थात्—भूत जय से अणिमादि आठ सिद्धियां, कार्य सम्पत्ति और भूतों के धर्म से बाधित न होना, यह तीनों प्रभाव होते हैं। (**अणिमा**—अणु के समान सूक्ष्म रूप बना लेना, **लघिमा**—शरीर को हल्का बना लेना, वायु में उड़ जाना। **महिमा**—शरीर को बड़ा बना लेना, **गरिमा**—शरीर को भारी बना लेना, अथवा किसी अंग विशेष को भारी बना लेना, **प्राप्ति**—इच्छित पदार्थ की संकल्प मात्र से प्राप्ति, **प्राकाम्य**—अनायास एवं निर्विघ्न इच्छा की पूर्ति हो जाना, या जैसा चाहे वैसा हो जाना, **वशित्व**—पंचभूतों व जीवों आदि का वश में हो जाना तथा **ईशत्व**—भौतिक पदार्थों व भूतों

को नाना रूप में उत्पन्न करने व उन पर शासन करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाना। यह 8 सिद्धियां हैं।)

इसके अलावा जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा है—

स्तम्भिनी, द्राविणी चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पंच धारणाः॥
कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्चदुर्लभाः।
विज्ञान सततं योगी सर्वदुःखै प्रमुच्यते॥

अर्थात्—पृथ्वी का धारणा स्तम्भन करने वाली, जल की धारणा द्रावण करने वाली, अग्नि की धारण दाहन करने वाली, वायु की धारण भ्रमण करने वाली तथा आकाश को धारण शोषण करने वाली होती है। इस प्रकार यह पंचभूतों की पांच धारणाएं मानी गई हैं। कर्म, मन व वचन से इन पांचों दुर्लभ धारणाओं का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

विशेष

आज्ञा चक्र का भेदन अथवा उस पर अधिकार गुरु की आज्ञा के बिना सम्भव नहीं है। आज्ञा चक्र के बीज ॐ का ध्यान करने से तथा मन, प्राण सहित भावना द्वारा कुण्डलिनी को आज्ञा चक्र में प्रेषित करना ही चक्र भेदन का उपाय है। 'आज्ञाचक्र' पर पहुंचे हुए साधक का फिर पतन नहीं होता। वह सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में आकर चिदानन्दमयी, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध तथा शिव स्वरूप हो जाता है। आगे सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होने या असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने के लिए उसे विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। वह मोक्ष का अधिकारी व आत्म साक्षात्कार कर लेने वाला कर्म बन्ध से निर्लिप्त हो जाता है।

ध्यान

ध्यान के दो रूप हैं। सगुण व निर्गुण अथवा साकार व निराकार या मूर्त और अमूर्त—किसी रूप, आकार अथवा गुण में चिन्तन या ध्यान करना सगुण ध्यान है। शून्य, महाशून्य अथवा अमूर्त या अनन्त में ही ध्यान लगाना निर्गुण ध्यान है। सरल शब्दों में सगुण ध्यान में ध्यान का कोई लक्ष्य होता है किन्तु निर्गुण ध्यान में ध्यान का कोई विषय या लक्ष्य प्रकट रूप में नहीं होता। स्पष्ट है कि निर्गुण ध्यान बहुत कठिन है किन्तु सगुण ध्यान सिद्धियों तक ही जाता है और निर्गुण ध्यान मोक्ष तक जाता है। जैसा कि '*योग तत्त्वोपनिषद्*' में कहा है—

सगुण ध्यान मेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुण ध्यान युक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्॥

अर्थात्—सगुण रूप का ध्यान करने पर अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं और निर्गुण का ध्यान करने से समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि, अंततः मोक्ष) प्राप्त

होती है। (अतः निर्गुण ध्यान ही श्रेष्ठ है)।

इस तथ्य को '*गोरक्ष संहिता*' ने भी स्वीकारा है **'द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्फलं तथा।'** (ध्यान दो प्रकार का होता है—सकल तथा निष्कल)।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥

—पातंजल योग प्रदीप

अर्थात्—चित्त को (अन्दर या बाहर) किसी एक देश में ठहराना धारणा है। (और जहां चित्त को ठहराया जाए) उसी में चित्त की वृत्ति का एक तार चलना (बीच में दूसरी वृत्ति का उत्पन्न ही न होना) ध्यान है। (पाठक ध्यान दें कि—दूसरी वृत्ति का उत्पन्न ही न होना अथवा धारण की गई वृत्ति में एकतार चलना ध्यान है—दूसरी वृत्ति उत्पन्न हो जाए और बुद्धि या विवेक के द्वारा उस वृत्ति को हटाकर पुनः पहली वृत्ति को स्थिर कर लिया जाए—यह ध्यान नहीं है। यह कच्चा ध्यान है। अथवा ध्यान की स्थिति में पहुंचने का प्रयास है। ध्यान का होना नहीं)।

मन, बुद्धि, इन्द्रियों का प्राण सहित एक साथ एक ही बिन्दु या देश में केन्द्रित बने रहना ध्यान है। इन चारों का संयोग ही फलदाई है। यदि इन्हें चक्रों पर केन्द्रित करें तो कुछ समय के अभ्यास से चक्र जागृत हो जाएंगे। पंच महाभूतों पर केन्द्रित करें तो अभ्यास से वे वश में आ जाएंगे। मूलाधार में सुप्त पड़ी कुण्डलिनी पर केन्द्रित करें और उसके जागृत होने की भावना करें तो कुण्डलिनी जागृत हो जाएगी। किसी भी अन्य विषय पर केन्द्रित कर उसे समझने की भावना करें तो वह विषय समझ में आ जाएगा। आत्मदर्शन की भावना से भृकुटियों के मध्य केन्द्रित करें तो आत्म साक्षात्कार हो जाएगा। मन्त्र पर केन्द्रित करें तो मन्त्र का साक्षात्कार हो जाएगा। शून्य/अनन्त में केन्द्रित करें तो समाधि लग जाएगी और परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाएगा। अर्थात् मन, बुद्धि, प्राण व इन्द्रियों को जिस भी बिन्दु, विषय या सत्ता पर भावना के साथ केन्द्रित कर देंगे वही प्रत्यक्ष होता चला जाएगा। इसीलिए ध्यान में सिद्ध हो जाने पर साधक त्रिकालज्ञ, सर्ववेत्ता, मनोवांछित को पा लेने वाला, वरदान व श्राप में समर्थ तथा अनेक सिद्धियों का स्वामी हो जाता है। संक्षेप में यही ध्यान का फलस्वरूप है।

सुखासन में बैठकर मूलाधार चक्र का नासाग्र में ध्यान कर कुण्डलिनी जागरण की भावना से कुण्डलिनी जागृत होती है तथा समस्त पापों एवं विकारों का नाश होता है। जैसा कि कहा है—

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम्।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषै॥

जबकि स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान नासाग्र में करने से स्वाधिष्ठान चक्र सक्रिय होकर साधक सुखी होता है। जैसा कि कहा है—

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्य सम प्रभो।
नासा ग्रहष्टिरात्मनं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्॥

इसी प्रकार उपर्युक्त विधि से मणिपूर चक्र का ध्यान करने से जगत को क्षुभित करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है—

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके।
नासाग्रदृष्टिरात्मनां ध्यात्वा संक्षोभयंज्जगत्

अनाहत चक्र पर ध्यान से साधक ब्रह्ममय हो जाता है। (**हृदयाकाश स्थितं...ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।**) इसी प्रकार विशुद्ध चक्र का ध्यान योगी को आनन्दमय करता है। (**सततं...विशुद्धे दीपकप्रभे...ध्यात्वानन्दमयो भवेत्।**) आज्ञाचक्र पर ध्यान करने से ब्रह्म व जीव में एकता स्थापित होती है। अर्थात् आत्म एवं ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तथा '**अहं ब्रह्मास्मि**' मैं ही ब्रह्म हूं का बोध होता है। (**भुवोरन्तर्गत...आत्मानं विजित प्राणो...**) आदि।

उपर्युक्त विवरण विस्तार से '*गोरक्ष संहिता*' में उपलब्ध है। '*शाण्डिल्योपनिषद्*' के अनुसार—'वह ब्रह्म मैं ही हूं। ध्यान में ऐसी भावना करने वाला साधक ब्रह्मवेत्ता हो जाता है।' (**सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति**) आदि समस्त विवेचनों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जैसा ध्यान साधक करेगा, वैसी ही उपलब्धि हो जाएगी। इसीलिए ध्यान योग को समस्त यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है। यथा—

अश्वमेधसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यान योगस्य तुलां नार्हन्ति षोड्शीम्॥

अर्थात्—सहस्त्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल भी अकेले ध्यान योग के सोलहवें अंश के समकक्ष भी नहीं हो सकता। (ध्यान योग सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है)।

किन्तु जब तक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा आदि द्वारा पात्रता और सक्षमता प्राप्त न कर ली जाए तब तक ध्यान में ऐसी समग्रता या सम्पूर्णता नहीं आ सकती कि चित्त में दूसरी वृत्ति उत्पन्न ही न होने पाए और जहां चाहें मन, प्राण, इन्द्रियों व बुद्धि को वहीं स्थिर कर सकें और इतनी प्रबल व गहन भावना कर सकें। संक्षेप में यही ध्यान योग है। विस्तार में जाने पर इसी पर पचासों पृष्ठ भी लिखे जा सकते हैं। किन्तु उससे व्यर्थ का उलझाव होगा। समझने योग्य सारांश इतना ही है।

समाधि

सरल शब्दों में कहें तो ध्यान की परिपक्वास्था अथवा अत्यधिक प्रगाढ़ता ही समाधि है। ध्यान में मन, एक ही वृत्ति में प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों सहित निश्चल अवश्य रहता है किन्तु चित्त में और उस वृत्ति में भेद बना रहता है। समाधि में यह

भेद समाप्त हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान (अर्थात् जो जाने, जिसको जाने और जैसा जाने) का अन्तर ध्यान में रहता है। 'मैं चिन्तन कर रहा हूं।' 'केवल अमुक का ही चिन्तन कर रहा हूं।' आदि का भाव मन में सूक्ष्म रूप से ध्यान में रहता है किन्तु समाधि में मात्र चिन्तन ही रह जाता है। मात्र लक्ष्य अथवा ज्ञेय/ध्येय ही रह जाता है। बाकी सब और 'मैं' भाव लुप्त हो जाते हैं। जैसा कि **महर्षि पातञ्जलि** ने कहा है—

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥'

अर्थात्—जिस अवस्था में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होने लगे वह अवस्था समाधि है। अथवा जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा गया है—

न गन्धं न रसं न रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
जात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना॥

अर्थात्—जो योगी समाधि में लीन हो जाता है—उसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयों का तथा अपने पराए का ज्ञान नहीं होता। (अर्थात्—ज्ञानेन्द्रियों के अति अधिक केन्द्रीयकरण से उनके विषयों का होना, न होना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता और मन व बुद्धि की अति अधिक लीनता से अपने-पराए, सुख-दु:ख, प्रिय-अप्रिय आदि भेदों का अभाव हो जाता है)।

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम्॥

अर्थात्—शब्द आदि तन्मात्राओं का कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों में जब तक किंचित् भी अंश विद्यमान रहता है, तब तक साधक ध्यानावस्था में रहता है। किन्तु जब पांचो इन्द्रियों (मन, बुद्धि सहित) की वृत्तियां नि:शेष भाव से आत्मा में लीन हो जाती है, तब समाधि होती है।

समाधि चित्त की निर्विकल्पावस्था है। तब किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प साधक में नहीं रहता। 'मैं क्या कर रहा हूं?' यह ज्ञान तो दूर 'मैं हूं।' ऐसी अनुभूति भी नहीं रहती। साधक का 'मैं' अपने ध्येय से एकाकार हो जाता है और बस ध्येय मात्र ही की प्रतीति रहती है। तभी समाधि होती है, जैसा कि '*गोरख संहिता*' में कहा है—

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगत।
यदात्मनसोरेक्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

अर्थात्—जैसे जल व सेंधा नमक आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा (ध्येय) व मन (ध्याता) का एक हो जाना ही समाधि (ध्यान की पराकाष्ठा) है।

इसके अलावा अवधि का अन्तर भी विचारणीय होता है। जैसा कि '*गोरख संहिता*' में कहा है—

धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं च षष्टनाडीभिः।
दिनद्वाक्षशंकेन स्यात्समाधिः प्राण संयमात्॥

अर्थात्—प्राणवायु का पांच घड़ी तक अवरोध करना—धारणा, साठ घड़ी तक चित्त को एकाग्र रखना—ध्यान, और बारह दिनों तक चित्त व प्राणों का निरंतर संयम समाधि कहा जाता है (12 दिन कम से कम)।

'*योगतत्त्वोपनिषद्*' ने भी स्वीकारा है—

दिनद्वादशकेनैव समाधि समवाप्नुयात्।
वायुं द्रुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम्॥

अर्थात्—साधक बारह दिनों में समाधि सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार प्राण का निरोध करने वाला मेधावी पुरुष जीवन मुक्त हो जाता है। (यानि मोक्षाधिकारी हो जाता है)।

समाधि की विशेषताओं के सम्बन्ध में '*गोरक्ष संहिता*' के निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिनाः॥
बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगीः युक्त समाधिना॥

अर्थात्—समाधि युक्त योगी शस्त्रों के द्वारा नहीं छेदा जा सकता। वह किसी भी शरीरधारी द्वारा मारा नहीं जा सकता। उस पर मन्त्र, यन्त्र आदि का प्रयोग भी प्रभावहीन रहता है। वह काल द्वारा भी बाधित नहीं होता और न ही कर्मों में वह लिप्त होता है। जो योगी समाधि में लीन हो जाता है, उसे कोई किसी प्रकार भी वश में नहीं कर सकता।

निराद्यंतं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगविद्॥

अर्थात्—योगी समाधिस्थ होकर आदि अन्त से रहित, अवलम्ब, प्रपंच से रहित, विशुद्ध, आश्रय और आकार से हीन परमतत्त्व को जान लेता है। (यह असम्प्रज्ञात समाधि है, जहां से योगी वापस लौट सकता है। किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि में परमतत्त्व को जानकर योगी उसी में विलीन हो जाता है और सागर में मिले जल की भांति सागर में ही लीन होकर स्वयं सागर बन जाता है। यही मोक्ष है)।

शून्य में ध्यान क्यों?

अतः समाधि की सिद्धि, कल्याण व मोक्ष के लिए शून्य में ही धारणा व ध्यान करने चाहिए जैसा कि '*चन्द्रज्ञान*' नामक आगम ग्रन्थ में कहा गया है—

शून्यात् प्रवर्तते शक्तिः शक्तेर्वणाः प्रज्ञाज्ञिरे।

वर्णेभ्यश्च तथा मन्त्रा मन्त्रेभ्यः सृष्टिरव्यया॥
तस्माच्छून्यं जगद् ध्यायेद्यन्न नश्येत् कदाचन्॥

अर्थात्—इस शून्य में ही शक्ति की प्रवृत्ति होती है। शक्ति से वर्ण पैदा होते हैं। वर्णों से मन्त्र और मन्त्रों से यह कभी न नष्ट होने वाली सृष्टि होती है। अतः इस जगत् की शून्य के रूप में ही उपासना करनी चाहिए।

योगी का चरम लक्ष्य

सहस्त्रार में परमशिव से कुण्डलिनी रूपा शक्ति का अभेद्यात्मक मिलन समाधि की अवस्था में ही सम्भव होता है। जब तक शक्ति से संयुक्त न हो जाए तब तक सहस्त्रार चक्र में निवास करने वाला शिव 'शव' की ही भांति रहता है। **शक्ति का संयोग ही शव को शिव बना देता है।** अतः समाधि ही योगी का चरम लक्ष्य है।

निष्कर्ष

किन्तु जैसा कि बता चुके हैं। समाधि, ध्यान अथवा धारणा—कुछ भी तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक अभ्यास द्वारा मन विषयों से दूर होकर संयत न हो जाए। अतः मन को विषयों से विरत व निश्चल करना ही योगशास्त्र की आत्मा है। योगशास्त्र का मूल संदेश है। जैसा कि महर्षि अष्टावक्र ने राजा जनक को संक्षेप में सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का निष्कर्ष कहा है—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिके रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

—अष्टावक्र गीता

अर्थात्—विषयों में विरसता मोक्ष है। विषयों में रस बन्ध है। इतना ही विज्ञान है। (अब) तू जैसा चाहे वैसा कर।

❑❑❑

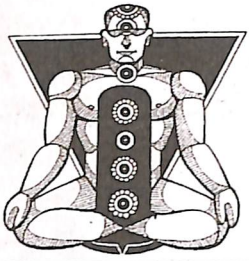

17 तन्त्र एवं मन्त्र सम्बन्धी उपाय

प्रभाव विवेचन

भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद और वर्ण—ये 6 तन्त्रशास्त्र में 'षडध्व' नाम से प्रसिद्ध हैं। वास्तव में यह वाच्य (कहा गया) और वाचक (कहने वाला) के रूप में विद्यमान शब्द और अर्थ का ही विस्तार है। **शब्द से वर्ण, पद और मन्त्र की तथा अर्थ से कला, तत्त्व और भुवन की उत्पत्ति होती है।** स्थूल व सूक्ष्म और पर रूप में विद्यमान इन षडध्वों से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। शब्द ब्रह्म ही षडध्व के रूप में परिणित होता है। इनमें वर्ण का विश्व के साथ अभेदात्मक, मन्त्र का भेदाभेदात्मक तथा पद का भेदात्मक सम्बन्ध रहता है।

मन्त्रों में इसीलिए सृष्टि की शक्ति निहित रहती है और वे सिद्धिदायक होते हैं। जैसा कि '*योगदर्शन*' कहता है—'**जन्मौषधि तपो मन्त्र समाधिजा सिद्धयः**' (जन्म से, औषधि से, तप से, मन्त्र से तथा समाधि से सिद्धि प्राप्त होती है)। अतः सिद्धि प्राप्ति का एक उपाय 'मन्त्र' भी है। **सृष्टिसंकल्प से हुई है और संकल्प ही उसमें परिवर्तन भी कर सकता है।** अतः मन्त्रों के साथ संकल्प/इच्छा/भावना का समावेश भी आवश्यक है और संकल्प या भावना मन का धर्म है। अतः मन का पूर्ण संयोग मंत्र के साथ होना चाहिए। **मंत्र को मंत्र ही इसलिए कहा जाता है कि वे मनन करने पर त्राण (मुक्ति) देते हैं।** (मनन करने पर, मात्र रटने पर नहीं)। किन्तु बीज मन्त्र उच्चारण मात्र से प्रभाव करते हैं। जैसा कि—'*बृहद्गन्धर्व तन्त्र*' में कहा गया है—

श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजानां देवरूपताम्।
मन्त्रोच्चारणमात्रेण देवरूपं प्रजायते॥

(देवी! सुनो, मैं बीजों का देवरूपता का प्रतिपादन करता हूं। मन्त्रों (बीजमन्त्रों) के उच्चारण मात्र से साधक को देवता का (तत्सम्बंधित का) सारूप्य प्राप्त हो जाता है (अथवा साक्षात्कार हो जाता है)।

किन्तु उच्चारण के साथ भावना अथवा संकल्प का सहयोग तो रहना ही चाहिए।

वर्णों अथवा अक्षरों से पद अथवा शब्द या मन्त्र बनता है। अतः मंत्र शब्द या वर्ण में दो शक्तियां छिपी रहती हैं—शब्दशक्ति और अर्थशक्ति। लक्षणा, व्यंजना

आदि शक्तियां अर्थ शक्ति का ही विस्तार हैं। साथ में निहित रहती है उनकी बनावट/आकृति/रूप की वैज्ञानिकता। इसीलिए शब्द को शिव व अर्थ को शक्ति कहा गया है। **काष्ठ में जिस प्रकार अग्नि अथवा तिलों में जिस प्रकार तेल छिपा रहता है उसी प्रकार शब्द में अर्थ छिपा रहता है।**

पद का अर्थ नाम या उपाधि से है। और पद का अर्थ कराने वाला (पद+अर्थ) पदार्थ कहलाता है। '**पदस्य अर्थ प्रकट्यते सः पदार्थः**' (जो पद का अर्थ प्रकट करता है—वही पदार्थ है)। अतः शब्द या पद भले ही सार्थक हों या निरर्थक—उसमें अर्थशक्ति फिर भी निहित रहती है। इस तथ्य को थोड़ा विस्तार से समझना होगा।

संतरे के स्वरूप को देखते ही उसका नाम स्मरण हो आता है। इस प्रकार अपने स्वरूप से अपने पद को प्रकट कर देने के कारण संतरा पदार्थ है। किन्तु वायु के स्वरूप को समझा नहीं जा सकता अतः उसके पद का या नाम का स्मरण होना सम्भव नहीं इसलिए वायु पदार्थ नहीं 'तत्त्व' है। **लाल कांच की शीशी में भरा हुआ पानी भी जिस प्रकार लाल प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में वह लाल नहीं होता।** इसी प्रकार उपाधि या पद तत्त्व के स्वरूप को समझने में भ्रमित भी कर देते हैं। किन्तु 'तत्त्व' की ओर संकेत भी अर्थ से ही मिलता है। मन्त्रों या बीज मन्त्रों में उपाधि का संयोग न रहने से तत्त्व के विषय में भ्रम उत्पन्न नहीं होता। **अतः व्याकरण की दृष्टि से अथवा सार्थकता की दृष्टि से अक्सर मन्त्र अटपटे होते हैं। अर्थपूर्ण नहीं होते किन्तु शब्द शक्ति के कारण प्रभावशाली और सीधे तत्त्व पर पहुंचाने वाले होते हैं,** उपाधि या पद में उलझा देने वाले नहीं। विशेषतः शाबर मन्त्र।

अक्षर या शब्द की शक्ति और उसके उच्चारण से उत्पन्न होने वाली तरंगें प्रभावकारी होती हैं। इच्छित प्रभाव के लिए तद्नुसार अर्थशक्ति वाले शब्द और आवश्यक तरंग उत्पन्न करने योग्य शब्दों का चयन करना पड़ता है साथ ही उन्हें एक विशेष स्तर या फ्रीक्वेंसी पर उच्चरित करना भी आवश्यक होता है जिससे उतनी और वैसी तरंगें या कम्पन उत्पन्न हो सकें—जैसी और जितनी इच्छित प्रभाव के लिए आवश्यक है। इसमें अक्षरों की रचना या बनावट का विज्ञान भी सहायक सिद्ध होता है।

'वाइब्रेशन्स' से सृष्टि हुई—आधुनिक विज्ञान मानता है। भारतीय दर्शन 'नाद' से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। अर्थात् तरंगों/कम्पन/स्वरलहरियों से सृष्टि होने की बात पर दोनों ही सहमत हैं। बात ठीक भी है। कम्पन या तरंगें निर्माण और ध्वंस दोनों कार्यों में सक्षम हैं। **मन्त्र के प्रभाव में यह सिद्धांत भी भूमिका निभाता है और अर्थशक्ति के सूक्ष्म प्रभाव भी। इसके अलावा नाम, रूप और गुण में जो एक निश्चित व अटूट सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध भी सिद्धि में उपयोगी**

भूमिका निभाता है। क्योंकि व्यवहार, पहचान या ज्ञान के लिए—नाम, रूप व गुण/स्वभाव स्पष्ट हो जाते हैं अथवा किसी वस्तु को देखकर ही उसका नाम मस्तिष्क में सहज ही उभर आता है। क्योंकि नाम, रूप व गुण का एक निश्चित सम्बन्ध है। यही किसी सत्ता या वस्तु की पहचान होते हैं। अत: इनमें से एक घटक का भी पकड़ में आ जाना शेष दोनों घटकों तक पहुंचकर उस सत्ता वस्तु को जानने या उसके साक्षात्कार करने के लिए पर्याप्त होता है।

उदाहरण के तौर पर 'नींबू' कहते ही हम नींबू नामक पदार्थ के रूप, गुण आदि को समझ लेते हैं और हमारे मस्तिष्क में नींबू का चित्र स्पष्ट हो जाता है। अनगिनत पदार्थों में से नींबू की ही छवि हमारे मस्तिष्क में क्यों स्पष्ट हुई ? नाम के प्रभाव से। 'नींबू' नामक पद या उपाधि के प्रभाव से। इसी प्रकार यदि यह कहा जाए कि 'पीले रंग का गोल छोटा-सा फल जिसके भीतर बीज व रस रहते हैं।' तब भी मस्तिष्क अनगिनत पदार्थों, फलों आदि में से नींबू की पहचान कर उसका नाम स्मृत कर लेता है। व्यक्ति जान जाता है कि सामने वाला 'नींबू' के विषय में बात कर रहा है। क्योंकि नाम का रूप से निश्चित सम्बन्ध है। इसी प्रकार गुण/स्वभाव का भी है। क्योंकि यदि कहा जाए—अति खट्टे रस वाला, जिसका छिलका कड़वा होता है आदि। तब भी गुण स्वभाव को जानकर व्यक्ति उसके नाम रूप को पहचान जाएगा और नींबू उसके मस्तिष्क में प्रत्यक्ष हो जाएगा। क्योंकि नींबू या **कोई भी सत्ता एक निश्चित नाम, निश्चित आकार/स्वरूप और निश्चित गुण/दोषों का संगठन या समूह मात्र है।** अत: नाम या रूप या गुण के माध्यम से ही उसे जाना जा सकता है।

कुण्डलिनी को, आत्मा को, चक्रों को, परमात्मा को, मन को, प्राण को अथवा जीव आदि को हम देख नहीं सकते फिर ऋषियों ने उनके स्वरूप का वर्णन कैसे कर दिया ? क्योंकि समाधि की अवस्था में, ध्यान की अवस्था में नाम या गुण का निरन्तर मनन करके उन्होंने स्वरूप को प्रत्यक्ष किया। ईश्वर का नाम हमें पता है। गुण हमें पता है परन्तु रूप नहीं पता। तब नाम और गुणों का ही गहन चिन्तन करके उसके रूप का साक्षात्कार करते हैं। क्योंकि नाम, रूप व गुण का एक निश्चित सम्बन्ध है। यही संक्षेप में मंत्र जाप विज्ञान है। मनन करने से त्राण होना—यही है। **नाम व गुण का मनन, चिन्तन बार-बार गहनता से करना ही मन्त्र का जाप करना है** जिससे अन्तत: प्रकाश उत्पन्न होता है या साक्षात्कार होता है। स्वरूप समझ में आ जाता है अथवा स्वरूप को समझने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

बकौल शायर—

सबकी आंखों पे परदा पड़ा है।
तेरे चेहरे पर परदा नहीं है।

वह माया (अविद्या का परदा हटते ही देखने की योग्यता आ जाती है। किन्तु

चर्मचक्षुओं से नहीं अर्न्तचक्षुओं या दिव्यदृष्टि से ही परम या आत्म का साक्षात्कार होता है। शायरी ही की जुबान में—

वहां होता है आग़ाज़ तेरे जल्वों का।
जहां निगाह की मंज़िल तमाम होती है।

अर्थात्—तेरे दर्शन/झलक का आरम्भ ही वहां से होता है। जहां नेत्रों की दृष्टि सीमा समाप्त हो जाती है। (यानि इन्द्रियों द्वारा तुझे जाना नहीं जा सकता, तू अतीन्द्रिय है)।

इसीलिए तो '*तुलसी*' ने भी कहा—**'गो गोचर जंह लगि मन जाई। तंह लगि माया जानेहु भाई।'** (इन्द्रियां व इन्द्रियों के विषय/प्रभाव-क्षेत्र और मन की जहां तक पहुंच है वहां तक तो माया का ही विस्तार जानना चाहिए)।

नाम के प्रभाव से रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीलिए *तुलसी* ने कहा—**राम से बड़ा राम का नाम** अत: मन्त्र विज्ञान कोई कपोल कल्पना नहीं है। यह बाकायदा प्रभावशाली विज्ञान है। यद्यपि यह मेरे अधिकार क्षेत्र में नहीं आता, फिर भी पाठकों की मन्त्र प्रयोग में तथा मन्त्र उपायों के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास उत्पन्न हो सके अत: सामर्थ्यानुसार मन्त्र विज्ञान का विवेचन कर रहा हूं। यदि गुणी जन इसमें कोई त्रुटि पाएं तो मेरे अनधिकार चेष्टा की धृष्टता के लिए क्षमा करें।

समूची सृष्टि पंचमहाभूतात्मक है। पंच तत्त्वों से ही सारी सृष्टि बनी है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी)। दुनिया में जो भी सत्ता है—उसमें उपर्युक्त पांचों में से कम-से-कम एक तो अवश्य ही है। यद्यपि आधुनिक विज्ञान तत्त्वों की संख्या 100 से ऊपर मानता है। (प्रारम्भ में 36 मानता था। जैसे-जैसे नए तत्त्व खोजे जाते गए, गिनती बढ़ती गई। किन्तु यह भ्रम है। क्योंकि ज्ञान को प्राप्त करने के 5 ही माध्यम है। (5 ही 'सैंस' हैं) अत: 'तत्व' (ऐलीमेन्ट) 5 से अधिक मूल रूप से नहीं हो सकते। यौगिक (कम्पाउन्ड) अलबत्ता अनेक हो सकते हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनके अनुसार—स्पर्श, श्रवण, गन्ध, रूप, रस, यह पांच ही अनुभूतियां या ज्ञान पाने के साधन या माध्यम हैं। अत: मूल तत्त्व पांच ही होंगे अधिक नहीं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में 'जल' तत्त्व (एलीमेन्ट) नहीं, यौगिक (कम्पाउन्ड) है। क्योंकि (H_2O) हाईड्रोजन व ऑक्सीजन का मिश्रण है। किन्तु यह उपाधि या नाम से उत्पन्न होने वाला भ्रम है। (जैसे लाल बोतल में बंद पानी को भी लाल समझ लिया जाता है)। **'जल तत्त्व' का जल महाभूत का अर्थ** WATER **या पानी से नहीं है। 'जल तत्त्व' का अर्थ उस महाभूत या तत्त्व से है जो 'रस' के गुण से युक्त है। जो 'रस' की अनुभूति कराता है। क्योंकि जल तत्त्व की तन्मात्रा (गुण) 'रस' है और इस न्याय से उसकी ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा है—जो रस या स्वाद का अनुभव करती है।**

इसी प्रकार अग्नि तत्त्व—रूप या तेज के गुणों को प्रकट करने वाला तत्त्व है न कि FIRE है। आकाश महाभूत SKY नहीं है अपितु 'शब्द' के गुण से युक्त तत्त्व है। इसी प्रकार वायु महाभूत और पृथ्वी महाभूत—क्रमश: WIND या EARTH नहीं अपितु क्रमश: स्पर्श और गन्ध के गुणों से युक्त तत्त्व हैं। जहां-जहां गन्ध की अनुभूति है वहां-वहां पृथ्वी तत्त्व अवश्य है। इसी प्रकार अन्य महाभूतों की तन्मात्राएं या गुण जहां-जहां हैं, वहां-वहां वे महाभूत अवश्य हैं। इसलिए मूल तत्त्व पांच ही हैं क्योंकि ज्ञान के अनुभव के माध्यम ही पांच हैं। यह बात समझने की है।

तो समूची सृष्टि पंचभूतात्मक है। **यदि हम जानते हैं कि अमुक पदार्थ में फलां-फलां तत्त्व इतनी-इतनी मात्रा में होते हैं तो हम मन्त्र द्वारा, संकल्प द्वारा अथवा ध्यान द्वारा वही-वही तत्त्व उतनी-उतनी मात्रा में मिलाकर उसी पदार्थ की सृष्टि कर सकते हैं। या किसी पदार्थ को इसी सिद्धांतानुसार उसकी संरचना के क्रम व व्यवस्था में परिवर्तन कर उसे अन्य इच्छित पदार्थ में बदल सकते हैं।** मगर इसके लिए पंचभूतों पर हमें अधिकार होना चाहिए अथवा परिवर्तन में समर्थ मन्त्रों का ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए मन्त्रवेत्ता अथवा योगी (ध्यान करने वाला) मनोवांछित सृष्टि करने में समर्थ होता है। ठीक वैसे ही **जैसे कोई वैज्ञानिक अणुओं की संरचना में परिवर्तन करके किसी पदार्थ को अन्य पदार्थ में बदल सकता है** (यदि वह सक्षम हो तो हालांकि विज्ञान अभी इतना समर्थ नहीं हो पाया है। फिर भी सिद्धांत अपनी जगह है)।

यह बात ठीक वैसी ही है जैसे कोई कुशल चित्रकार मात्र तीन मूल रंगों से सैकड़ों अन्य रंग व शेड्ज बना सकता है। पर उसे कम-से-कम तीन मूल रंग तो चाहिए। वैज्ञानिक अणुओं की संरचना की क्रम व्यवस्था बदलने में सफल हो भी जाए तो भी उसे मूल अणु तो चाहिए। मगर योगी या मन्त्रवेत्ता को मूल (पंच महाभूत) तत्त्व भी नहीं चाहिए। **वह तो उन पर अधिकार पा जाने के बाद स्वयं ही उनका सृजन करने में समर्थ होता है।** पुराणों में इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। **जिनमें एक विश्वामित्र द्वारा त्रिशंकु के लिए 'पृथक् सृष्टि' करने का प्रसंग तो सभी को स्मरण होगा।** अत: मन्त्र की शक्ति पर शंका नहीं की जा सकती। संकल्प व ध्यान की शक्ति पर शंका नहीं की जा सकती। फिर भी हम शंका करते हैं तो यह हमारी अल्पज्ञता, अज्ञान, हठधर्मिता अथवा मूर्खता ही होगी।

यदि मंत्रों के प्रति शंका हो, तो मंत्र सम्बन्धी उपायों में हरगिज न जाएं, क्योंकि शंका/संदेह सफलता या सिद्धि में बाधक होते हैं। विश्वास व श्रद्धा ही संकल्प को उत्पन्न करते हैं, जिससे सफलता मिलती है। संशय सदैव ही, और प्रत्येक क्षेत्र में असफलता ही दिलाने वाला होता है अत: सर्वप्रथम संशय का त्याग करें।

मन्त्र प्रक्रियाएं—कुण्डलिनी जागरण

गुरु वंदना

शुभ मुहूर्त आदि का विचार कर, स्नानादि से शुद्ध-बुद्ध हो, एकान्त स्वच्छ स्थान पर कुण्डलिनी की प्रतिमा के आगे शुद्ध घी का दीपक जलाकर आसन पर बैठें और सर्व प्रथम गुरु का स्मरण करें। **'ॐ श्री गुरुवे नमः'** मन्त्र से गुरु का अभिनन्दन करें, फिर गणेश जी का स्मरण करें—

गणेश वंदना

ॐ गजाननं भूतगणादि सेवितं।
कपित्थजम्बूफल चारु भक्षणम्॥
उमासुतं शोक विनाश कारकं।
नमामि विघ्नेश्वर पाद पंकजम्॥
वक्रतुण्ड महाकाय, सूर्यकोटि समप्रभं।
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्व कार्येषु सर्वदा॥

इस प्रकार गणेश की प्रार्थना कर उनसे सिद्धि प्राप्ति और निर्विघ्नता की याचना करें।

संकल्प

सिद्धि प्राप्ति के लिए *संकल्प* करें। देवताओं को साक्षी मानकर—संवत्, मास, शुक्ल या कृष्ण पक्ष, तिथि, वार, राज्य, नगर/ग्राम के नाम के उच्चारण के साथ अपना नाम, आयु, पिता का नाम, दादा का नाम, गोत्र, साध्यदेव का नाम, मंत्र का नाम, जप संख्या व साधना की अवधि (कितने दिन में अनुष्ठान पूरा करना है) आदि का उल्लेख करते हुए संकल्प किया जाता है।

पूजन

संकल्प के बाद मां कुण्डलिनी की **पंचोपचार मानसिक पूजा** करें। उसकी विधि इस प्रकार है—

ॐ लं पृथ्वी तत्त्वात्म के गन्धं श्री महाकुण्डलिनी।
पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि॥

इस मंत्र के पाठ के बाद अंगूठे को कनिष्ठा उंगली (दाएं हाथ की) मिलाकर गन्ध मुद्रा दिखाएं। फिर—

ॐ हं आकाश तत्त्वात्मकं,
पुष्पं श्री महाकुण्डलिनी,
पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि॥

अथवा तर्जनी व अंगूठे का प्रथम पोर मिलाकर मंत्र को पढ़कर पांचों उंगलियों

को ऊर्ध्वमुख मिलाकर दाएं हाथ से देवी को पुष्प मुद्रा दिखाएं। फिर—

ॐ यं वायु तत्त्वात्मकं धूपं श्री महाकुण्डलिनी, पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि।

मंत्र का उच्चारण कर मध्यमा उंगली और अंगूठे के प्रथम पोरों को मिलाकर दाएं हाथ से धूप-मुद्रा दिखाएं। फिर—

ॐ रं अग्नि तत्त्वात्मकं दीपं श्री महाकुण्डलिनी, पादुकाभ्यां नमः अनुकल्पयामि॥

मंत्र का उच्चारण कर दाएं हाथ की अनामिका व मध्यमा को मिलाकर अंगूठे को उनके दूसरे पोर पर लगा कर दाएं हाथ से नैवेद्य मुद्रा देवी को दिखाएं।

विनियोग

फिर दाहिनी हथेली में जल लेकर निम्न मन्त्र से *विनियोग* करें—

ॐ अस्य सर्व सिद्धि श्री कुण्डलिनी, महामंत्रस्य भगवान श्रीमहाकाली। ऋषि विश्वव्यापिनी महाशक्ति, श्री कुण्डलिनी देवता त्रिष्टुप छन्दः। ह्रीं बीजम् सिद्धि शक्ति प्रणव कीलकं, चतुर्वर्ग प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः॥

और हथेली का जल भूमि या रिक्त पात्र में डाल दें। फिर चारों उंगलियों और अंगूठे को मिलाकर दाहिने हाथ से अपने सिर का स्पर्श करते हुए *ऋषियों का न्यास* करें—

ऋषिन्यास

ॐ भगवान श्री महाकालो ऋषये नमः शिरसि। (सिर पर हाथ लगाएं)। **ॐ त्रिष्टुप छन्दसे नमः मुखे।** (मुख पर हाथ लगाएं)। **ॐ महाशक्ति श्री कुण्डलिनी देवतायै नमः हृदये।** (हृदय को छुएं)। **ॐ ह्रीं बीजाय नमः गुह्ये।** (गुह्यांग की ओर हाथ कर मन से उसे छूने की भावना करें)। **ॐ सिद्धिः शक्तये नमः पादयो।** (पैरों का स्पर्श करें)। **ॐ प्रणय कीलकाय नमः नाभो।** (नाभि का) **ॐ विनियोगाय नमः सर्वांगे।** (दोनों हाथों से सिर से पैर तक समस्त अंगों का स्पर्श करें)। इस प्रकार ऋषियों का न्यास पूर्ण होने के बाद '*करन्यास*' करें। इसकी विधि व मन्त्र इस प्रकार हैं—

करन्यास

ॐ हां ह्रीं हं हैं ह्रौं हः अंगुष्ठाभ्यां नमः।

(दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों हाथों के अंगूठों को छुएं।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः तर्जनीभ्यां नमः।

(दोनों हाथों के अंगूठों से तर्जनी उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः मध्यमाभ्यां नमः।

(दोनों अंगूठों से अनामिका उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः अनामिकाभ्यां नमः।

(दोनों अंगूठों से अनामिका उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

(दोनों अंगूठों से कनिष्ठिका उंगलियों का स्पर्श करें।)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः कर तलकर पृष्ठाभ्यां नमः।

(दोनों हाथों की हथेलियों के पृष्ठभाग को छुएं।)

'करन्यास' के पश्चात् उपरोक्त विधि से ही—

'*षडंगन्यास*' करें। प्रारम्भिक मंत्र (ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः) वही रहेगा अन्त में अंगों के नाम बदलते रहेंगे। और जिन अंगों के नाम का उच्चारण किया जाएगा, दाएं हाथ की पांचों उंगलियों से उन्हीं अंगों को छुआ जाएगा। यथा—

षडंगन्यास

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः हृदयाय नमः। (हृदय को)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः शिर से स्वाहा। (सिर को)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः शिखायै वषट। (शिखा स्थान को)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः नेत्रयाय वौषट्। (दोनों नेत्रों व ललाट मध्य)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः कवचाय हूं। (दाईं उंगलियों से बाईं)

(और बाईं उंगलियों से दाईं भुजा को एक साथ)।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रैं ह्रौं ह्रः अस्त्राय फट्। (दाएं हाथ को सिर के ऊपर से बाईं ओर पीछे की तरफ ले जाकर दाईं ओर से सामने लाकर उसकी तर्जनी व मध्यमा से बाएं हाथ पर ताली मारें)।

(इस प्रकार न्यास क्रियाओं द्वारा हम अपने हाथ से निकली विद्युत से उन अंगों को चैतन्य करते हैं तथा पवित्र भाव से भरते हैं, जिन्हें मन्त्रोच्चार के साथ छूते हैं)।

ध्यान

न्यास के पश्चात् देवता का '*ध्यान*' करते हैं। क्योंकि आराधना कुण्डलिनी देवी की है। अतः उनके स्वरूप का ध्यान हृदय या भृकुटियों के मध्य करते हुए निम्न मन्त्रों का उच्चारण करें—

मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणं तेजसां निधिम्।
शिखा आनीय तस्याग्नेरथ ऊर्ध्व व्यवस्थिता॥

तस्या शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोक्षरः परम स्वराट्॥
स एवं विष्णुः स कालोऽग्निः चन्द्रमा।
इति कुण्डलिनी ध्यात्वा सर्व पापैः प्रमुच्यते॥

अर्थात्—मूलाधार में दिव्य त्रिकोण तेजपुंज, उर्ध्वगामी तेज शिखा के बीच परब्रह्म अवस्थित है। वह तेज ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अक्षर, काल, अग्नि, चन्द्रमा हैं। इस प्रकार कुण्डलिनी का ध्यान सब पापों को नष्ट करने वाला है। (मन्त्रोच्चार के सार्थ अर्थ की भावना भी करें)।

ॐ प्रसुप्त भुजगाकारां स्वयं भू लिंगमाश्रितां,
विद्युतकोटि प्रभां देवीं विचित्र वसानान्वितां।
शृंगारादि रसोल्लासां सर्वदा कारण प्रियाम्॥

(वह सोई हुई भुजंग के आकार की कुण्डलिनी स्वयं उत्पन्न होने वाले लिंग के आश्रित हैं। करोड़ों विद्युतों की चमक के समान वह देवी विचित्र वस्त्र धारण किए, शृंगारादि से परिपूर्ण, रस व उल्लास से पूर्ण और सदैव प्रिय करने वाली है)।

मेरुदण्डे वह्निना शब्दात् पदं तेजोमयीति च,
सिद्धि प्राप्ति सिद्धिः सर्वकाम पदात् पुनः।
सर्वेशा परिपुरेति चक्र स्वामिनीति च,
गुप्त योनिन्यनगा च कुसुमेडनग मेखले।
सर्व मंत्रमयीत्युक्ता सर्वे द्वन्द्व क्षयकारी,
सर्वज्ञानमयीत्युक्तात्वा सर्व व्याधि विनाशिनी,
सर्वानन्दमयी देवी सर्व रक्षा स्वरूपिणी।
महाशक्ते महागुप्ते ततश्चैव महा-महा,
कुल कुण्डलिनी देवी, कन्दे मूल निवासिनी॥

अर्थात्—मेरुदण्ड में अग्नि रूप, शब्द, पद व तेजस्वी सिद्धि प्रदान करने वाली, सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाली सबकी स्वामिनी, चक्रसंस्थानों की स्वामिनी और गुप्त योनि कामशक्ति, पुष्प मेखला/अनंग मेखला, समस्त मंत्रों से युक्त, समस्त द्वन्द्वों का नाश करने वाली, सब सौभाग्यों को देने वाली, समस्त विघ्नों का निवारण करने वाली, सर्वज्ञा व ज्ञानदायिनी, समस्त व्याधियों को नष्ट करने वाली, आनन्दमयी देवी सदा रक्षा करने वाली महाशक्ति, महा रहस्यमयी/महागोपनीय होने से महानतम, कुण्डलिनी देवी जो कन्द के मूल में निवास करने वाली है—उनका मैं ध्यान करता हूं।

गायत्री जप

ध्यान के पश्चात् कुण्डलिनी देवी को प्रणाम कर *गायत्री मन्त्र* की एक माला का जाप करें।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

कुण्डलिनी मंत्र जाप

फिर *कुण्डलिनी महामन्त्र* का जप आरम्भ करें जो इस प्रकार हैं—

ॐ हं हां हीं हूं हैं हः कुण्डलिनी
जगन्मातः सिद्धिं देहि देहि स्वाहा।

अथवा इस महामंत्र का जाप आरम्भ करें—

कुण्डलिनी महामंत्र

ॐ ऐं हं हां हीं हूं हैं हौं हः जगन्मातः
सिद्धिं देहि देहि स्वयंभू लिंगमाश्रितायै
विद्युत कोटि प्रभायै महाबुद्धि प्रदायै
सहस्त्र दल गामिन्यै स्वाहा।

(दोनों मंत्रों में से किसी एक का जाप करें)।

जप संख्या, स्थानादि

कुण्डलिनी महामंत्र का कुल जाप **24 लाख** की संख्या में करना चाहिए। प्रतिदिन कम-से-कम तीन हज़ार मंत्रों का जाप अवश्य ही करना चाहिए। अथवा जितने दिनों में 24 लाख मंत्रों के जाप का संकल्प साधना के प्रारम्भ में किया है उसके हिसाब से प्रतिदिन का जाप निर्धारण करें। समय प्रातः 4 बजे से हो तो अति उत्तम है। अन्यथा रात्रि नौ बजे के बाद हो, ताकि व्यवधान न पड़े। यदि जाप अधिक संख्या में करने हों, तो प्रातः व रात्रि दोनों समय जाप किया जा सकता है। इस साधना के लिए सर्वोत्तम स्थान श्मशान माना गया है, क्योंकि वहां शांति, एकांत और वैराग्य का भाव बना रहता है। संकल्प पहले ही दिन करना होता है किन्तु शेष क्रम (प्रार्थना, पूजा, विनियोग, न्यास आदि) वही रहता है। साधना काल में अनुष्ठान पूर्ण होने तक यम, नियम व संयम का पालन अनिवार्य है। उसी से पात्रता उत्पन्न होती है।

क्षमा प्रार्थना

जाप के अन्त में क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए। जिससे कोई त्रुटि या भूल रह गई हो तो उसकी पूर्ति हो सके। क्षमा-प्रार्थना शुद्ध मन से वैसे भी की जा सकती है। किन्तु मन्त्रों के साथ की जाए तो और भी अच्छा रहता है। क्षमा-प्रार्थना के मन्त्र इस प्रकार हैं—

अपराध सहस्त्राणि क्रियन्तेऽहर्निशम मया।
दासोऽयामिति मां क्षमस्व परमेश्वरि॥

आवाहनं न जानामि न जानामि च विसर्जनम्।
पूजां चैव न जानामि क्षम्यतां परमेश्वरि॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वरिः।
यत्पूजितं मया देवी परिपूर्णं तदस्तु मे॥
अपराध शतम् कृत्या देवेश्वरि चोच्यरेत।
यां गति समवाप्नोति न तां ब्रह्मदयः सुराः॥
सापरोधोऽस्मि शरणं प्राप्तस्त्वां परमेश्वरि।
इनानीमनुकम्पयो अहं यथेच्छसि तथा कुरु॥
अज्ञानाद्विस्मृतेर्भान्त्या यन्न्यूनाधिकं कृतम्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवी प्रसीद परमेश्वरि॥
कामेश्वरिजगत देवी सच्चिदानन्द विग्रहे।
गुह्याति गुह्या गोप्वी तवं ग्रहाणास्मत्कृतं जपं।
सिद्धि र्भवतु में देवी त्वत्प्रसादात्सुरेश्वरि॥

अर्थात्—हे परमेश्वरी! मैं रात दिन सहस्रों अपराध करता हूं। अपना दास समझ मेरे अपराधों को कृपापूर्वक क्षमा कीजिए। हे परमेश्वरी! मैं आह्वान, विसर्जन और पूजा की विधि नहीं जानता, क्षमा करो। हे सुरेश्वरी! मैंने जो मंत्रहीन, क्रियाहीन, भक्तिहीन पूजन किया है—वह आपकी कृपा से पूर्ण हो। सैकड़ों अपराध कर के भी जो आपका शरणागत हो जाता है उसे वह (सद्) गति प्राप्त होती है, जो ब्रह्मादि देवताओं को भी सुलभ नहीं। परमेश्वरी! मैं अपराधी हूं, किन्तु आपका शरणागत हूं अतः दया का पात्र हूं। (अब) आप जैसा चाहें करें। देवी! अज्ञानवश, भूलवश या बुद्धिभ्रान्त हो जाने के कारण मैंने जो कमीबेशी की हो, उसे क्षमा करके प्रसन्न होओ। सच्चिदानन्द रूपिणी परमेश्वरि! कामेश्वरि! आप प्रेमपूर्वक मेरी पूजा को स्वीकार कर मुझ पर प्रसन्न रहिए। देवी! देवताओं की भी देवी! आप गोपनीय से भी गोपनीय और सबकी रक्षा करने वाली हो। मेरे निवेदित जप को ग्रहण (स्वीकार) करो। आपकी कृपा से मुझे सिद्धि प्राप्त हो।

इस प्रकार देवी को जप समर्पण करके और क्षमा-याचना करके **फिर कुण्डलिनी देवी की स्तुति, अष्टक, कवच एवं स्तोत्रादि का पाठ करें।** अन्त में देवी का पुनः ध्यान कर, दण्डवत् प्रणाम करें और फिर गुरु को प्रणाम कर देवी को आसन से उठाएं।

कुण्डलिनी देवी की उपासना चर्मासन—मृग/बाघ आदि पर बैठकर करनी चाहिए तथा जप माला 108 रुद्राक्ष की होनी चाहिए। प्रातः पूर्व की ओर तथा रात्रि में पश्चिम की ओर मुख करके बैठना चाहिए। और साधना का समय व स्थान निश्चित रखना चाहिए।)

मानसिक मंत्र जाप विधि

एक अन्य विधि के अनुसार दोनों पैरों की एड़ियों पर शरीर को तोलकर *स्वास्तिकासन* में बैठें (बाएं पैर की एड़ी को सिद्ध आसन की भांति योनि प्रदेश/सीवन पर दृढ़ता से लगाएं और फिर दाहिने पैर की एड़ी को बाएं पैर की एड़ी पर स्थापित कर पूरे शरीर को दोनों एड़ियों के आधार पर तोल लें। सिद्धासन और इसमें यही अन्तर है कि सिद्धासन में एक एड़ी योनि प्रदेश को दबाती है जबकि दूसरी उपस्थ पर रहती है और स्वास्तिकासन में दोनों एड़ियां ही योनि प्रदेश व गुदा को दबाती/शरीर के नीचे रहती हैं। इस प्रकार मूलाधार पर भरपूर दबाव पड़ता है। **किन्तु इस आसन को लगाने से पूर्व मूलबन्ध का प्रबल अभ्यास आवश्यक है**)। इस आसन को यदि मूलबन्ध के बिना लगाएं तो नपुंसकत्व की सम्भावना भी रहती है और मूलाधार के या कुण्डलिनी के जागरण की सम्भावनाएं भी न्यून हो जाती हैं। कमर, गर्दन व सिर समसूत्र में रखें। तीनों बन्धों को दृढ़तापूर्वक लगाएं अथवा जालन्धर को छोड़ शेष दो बन्धों को ही लगाएं। इन्द्रियों को मन सहित अन्तर्मुखीकर ठूंठ की भांति निश्चल होते हुए अधखुले नेत्रों से भ्रूमध्य पर देखें (*शाम्भवी मुद्रा*)। इसी मुद्रा में खेचरी मुद्रा शामिल रहे तो प्रभाव और बढ़ जाता है फिर—

'*शिव सिद्ध शरणं*' मन्त्र को मन में ही 7 बार बोलकर मन ही में सात बार सुनें। तब '**ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं स्वाहा**' मन्त्र को मन ही में बोलते व सुनते रहें। शनैः शनैः ऐसा अभ्यास करें कि बोलें एक ही बार और बार-बार उसकी प्रतिध्वनि भीतर से सुनते रहें (इसके लिए ध्यान की तीव्रता की आवश्यकता होती है)। ऐसा सम्भव न हो तो इस मन्त्र को भी सात बार बोलकर भीतर से ही सुनने के बाद 'सोऽहम्' मन्त्र का ही चिन्तन करते रहना चाहिए। इस प्रकार कुण्डलिनी जागरण की यह विधि ध्यान योग और मन्त्र उपाय दोनों ही का सम्मिलित रूप है। अनुभवियों के अनुसार इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम दिव्य गन्धों की और फिर दिव्य प्रकाश की अनुभूति होती है। अंततः कुण्डलिनी जागृत हो जाती है।

शिव पुराण में वर्णित एक अन्य विधि

रात्रि के दूसरे प्रहर (अर्धरात्री) में श्मशान अथवा किसी निर्जन एकांत स्थान पर, अथवा घर ही के शुद्ध, हवादार, एकांत कक्ष में (**पर्वत की चोटी, पवित्र नदी का तट, वन, तीर्थ स्थान, सरोवर, श्मशान, भूगर्भ (तहखाना) या गुफा आदि ध्यान साधनाओं के सर्वोत्तम स्थान माने गए हैं**.)। पद्मासन अथवा सिद्धासन लगाकर चर्मासन पर बैठें।

तीन प्राणायामों द्वारा मन को स्थिर करें। फिर त्रिबन्ध लगाकर दोनों हाथों के अंगूठों को कानों में डालें, तजर्नियों से दोनों नेत्रों को ढकें तथा मध्यमाओं से दोनों नासापुटों को दबाएं और अनामिकाओं से मुख को बन्द करें। (यदि प्राणायाम का

अभ्यास है तो अन्तर्कुम्भक करके ऐसा करें। यदि नहीं है तो उंगलियों को इस प्रकार स्थापित करें कि नासिका से श्वास ली जा सके व छोड़ी जा सके। किन्तु श्वांस प्रश्वांस यथा सम्भव गहरे और धीमी गति में विलम्ब के साथ हों, जिससे मन की एकाग्रता में सहायता मिले)। अब अपने कानों के भीतर होने वाली गड़गड़ाहट अथवा अग्नि के धधकने के समान उत्पन्न होने वाली ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करें। मन से अन्य सभी विकल्प हटा दें।

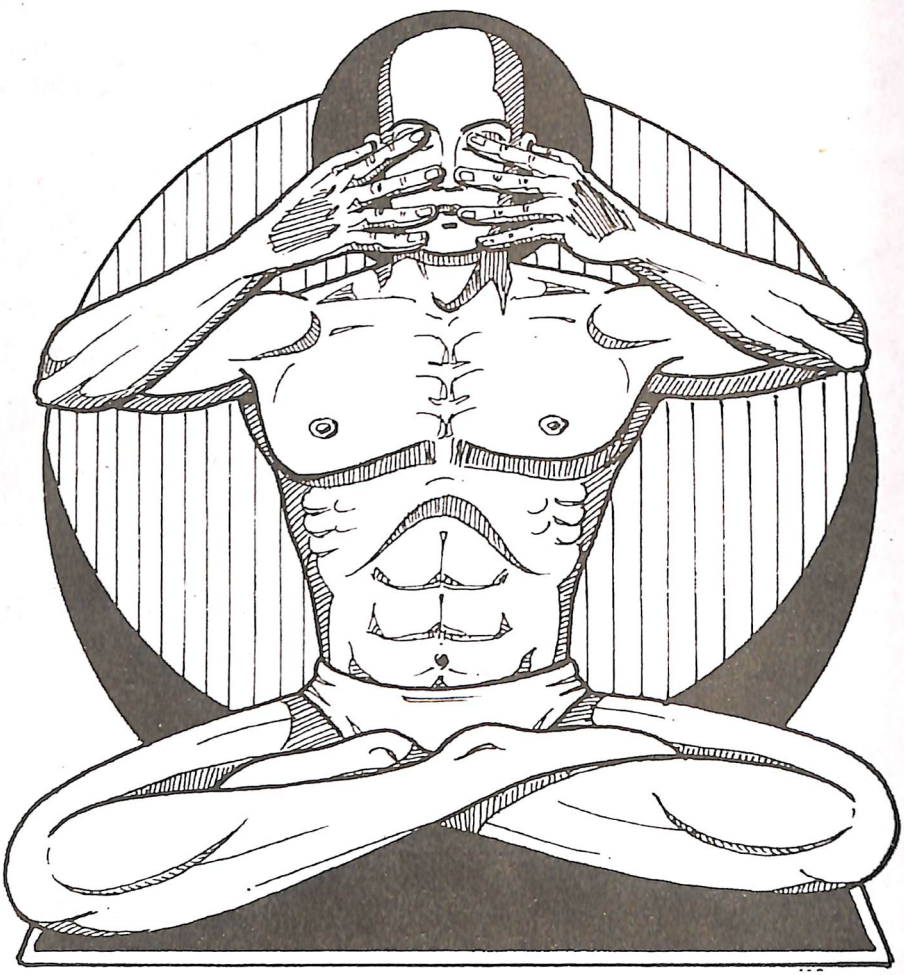

शिव पुराण में वर्णित विधि

'ब्रह्माण्ड सन्तके देहे यथा देशं व्यवस्थितः।' (*शिव संहिता*) के सूत्रानुसार शरीर ब्रह्मांड संज्ञक है। जो कुछ इस ब्रह्मांड में है, वह सब इस शरीर में भी है। अतः ध्यान द्वारा शरीर ही में ब्रह्मांड दर्शन हो जाता है।

अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर शरीर के भीतर की गड़गड़ाहट समाप्त होकर नदियों में जल बहने की ध्वनि के समान स्पष्ट नाड़ियों में रक्त बहने की ध्वनि सुनाई

देने लगती है। जैसे-जैसे श्रोत्र शक्ति व केन्द्रियकरण बढ़ता है अन्य भीतरी सूक्ष्म ध्वनियां भी स्पष्ट होती चली जाती हैं। अन्त में जब शंख, घंटा आदि के नाद सुनाई देने पड़ें तो साधक को सिद्धि के निकट समझना चाहिए।

रुद्रयामल तन्त्र में वर्णित विधि

रुद्रयामल तन्त्र में कुण्डलिनी साधना की एक अन्य मंत्रविधि भी दी गयी है। संकल्प, न्यास, विनियोग आदि की विधि पूर्ववत् है। पर मन्त्र बदल जाएंगे। सर्वप्रथम गुरु पूजन *गुरु पादुका मन्त्र* से करें—

तेजोमय-महाविद्या शेखराञ्चितमस्तकाम्।
रक्तां चतुर्भुजा वन्दे श्रीविद्यागुरुपादुकाम्॥

उपर्युक्त मन्त्र से गुरु पादुका का ध्यान कर निम्न मंत्र बोलें—

ॐ हंसः शिवः सोहं सोहं हंसः शिवः हंसः शिवः सोहं हंसः ह्स्ख्रें हसक्षमलवरयूं नमः॥

फिर विघ्नेश्वर का स्मरण कर '**ॐ गं गणपतयै नमः।**' कहें।

प्राणवायु का निरोध करके मूलाधार में चतुर्दल कमल के बीच त्रिकोण रूप पीठ में स्थित ज्योतिर्लिंग को आवेष्टित कर वहां विराजमान साढ़े तीन वलयवाली कुण्डलिनी को '**ॐ हूं**' बीज द्वारा जागृत करें और '**ऐं ह्रीं श्रीं**' मन्त्र का जप करते हुए ध्यान करें। विनियोग के लिए निन्न मन्त्र है—

विनियोग

(अस्य श्रीकुण्डलिनी मन्त्रस्य शक्तिः ऋषिः गायत्रीच्छन्दः चेतना कुण्डलिनी शक्तिर्देवता ऐं बीजं श्रीं शक्तिः ह्रीं कीलकं मम श्रीकुण्डलिनी प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।)

न्यासादि के मन्त्र निन्नलिखित हैं—

ऋष्यादिन्यास

(शक्तिऋषये नमः (शिरसि), गायत्रीच्छन्दसे नमः (मुख), चेतना कुण्डलिनी शक्ति देवतायै नमः (हृदये), ऐं बीजाय नमः (गुह्ये), श्रीं शक्तये नमः (पादयोः), ह्रीं कीलकाय नमः (नाभो), विनियोगाय नमः (सर्वांगे)।)

कर-हृदयादिन्यास

ऐं, ह्रीं, श्रीं, ऐं, ह्रीं, श्रीं।

(इन छः बीजों से क्रमशः अंगूठे, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठा और करतल-करपृष्ठ में तथा हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्रन्यास करें)। फिर निम्न मंत्र से ध्यान करें—

ध्यान

सिन्दूरारुण विग्रहां त्रिनयनां माणिक्य मौलिकस्फुटत्तारानायक शेखरां स्मितमुखी मापीनवक्षोरुहाम्।

पाणिभ्यामलिपूर्ण रत्न चषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं, सौम्यां रत्न घटस्थ सव्यचरणां वन्दे पराम्बिकाम्॥

जाप

फिर **मानसिक पूजा** के बाद मूलमन्त्र '**ऐं ह्रीं श्रीं**' का यथा शक्ति रुद्राक्ष माला पर जाप करें। और अन्त में जप-समर्पण कर क्षमा प्रार्थना करें। फिर **कुण्डलिनी स्तोत्राष्टक** आदि का पाठकर, गुरु को प्रणाम करें। **वैसे भी प्रातः उठते ही कुण्डलिनी स्तोत्राष्टक का ध्यान करते हुए पाठ करने से योगशक्ति की प्राप्ति होती है।** (कुण्डलिनी स्तोत्राष्टक, कुण्डलिनी कवच एवं स्तुति व स्तोत्रादि अन्त में दिए गए हैं)।

विशेष

इस साधना को **रात्रि में ही करें,** क्योंकि यह '**रुद्रयामल तन्त्र**' के अन्तर्गत है। और 'यामल' तन्त्र ही रात्रि में किए जाने वाले कर्मों से सम्बन्धित होता है। जैसा कि यामल की परिभाषा में कहा गया है—

'**यामिनी विहितानि कर्माणि समाश्रीयन्ते तत् तन्त्रं नाम यामलम्।**' (रात्रि में विहित कर्मों का जिसमें आश्रय लिया जाए वह तन्त्र यामल कहलाता है)।

मन्त्र जाप के साथ कवच स्तोत्रादि का पाठ इसलिए किया जाता है कि कवच से साधक का कवचीकरण (सुरक्षा) हो जाती है और विजय निश्चित हो जाती है। इसीलिए '*दुर्गासप्तशती*' में कहा है—

...तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कवची भवसर्वदा॥
कवचेनावृतो नित्यं यत्र यत्रापि गच्छति।...

(अतः सब प्रकार से कवचीकरण सदा करना चाहिए बिना कवच से आवृत्त हुए कहीं भी न जाना चाहिए। सदैव/नित्य कवच पाठ करना चाहिए)।

इसी प्रकार—सहस्रनाम, अष्टक आदि के प्रयोग से 72000 **नाड़ियों में चेतना जागृत होती है,** जिससे साधना में सफलता मिलती है और स्तोत्र के पाठ से मन को प्रसन्नता, कष्टों से मुक्ति तथा देवता की कृपा या प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसा कि '*कुलार्णव तन्त्र*' में कहा गया है—**स्तोक, स्तोकेन मनसः परमप्रीतिकारणात्। स्तोत्रसन्तरणाद् देविः स्तोत्रमित्यभिधीयते॥**

❑❑❑

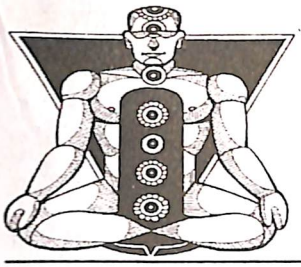

18

सिद्धिदायक कवच व स्तोत्र

आधारे परदेवता भवानताधः कुण्डली देवता,
देवानामधिदेवता त्रिजगतामानन्दपुञ्जस्थिता।
मूलाधार निवासिनी त्रिरमणी या ज्ञानिनी, मालिनी,
सा मे मातृमनुस्थिता कुलपथानन्दैकबीजानना॥

इस स्तोत्र को प्रणव से सम्पुटित करके पाठ करने पर सर्वसिद्धि व सर्वसुख होता है, साथ ही पाठकर्ता 'कुण्डली पुत्र' ही बन जाता है अर्थात् मां कुण्डलिनी उसे अपना लेती है। कुण्डली कवच का प्रातः तीन बार, दोपहर 2 बार और सायं एक बार पाठ करने का भी विधान है।

ॐ ईश्वरी जगतां धात्री ललिता सुन्दरी परा।
कुण्डली कुलरूपा च पातु मां कुल चण्डिका॥

इस कवच के साथ विभिन्न अंगों में रक्षा की भावना से पाठ करने और इसे भोजपत्र पर लिखकर धारण करने से भी सर्वसिद्धि होना कहा गया है।

ध्यान योग अथवा तंत्र-मंत्र किसी भी उपाय से सर्वप्रथम कुण्डलिनी जागृत करनी चाहिए। तभी अन्य मन्त्रादि व पूजनादि कुछ प्रभाव देते हैं। बिना कुण्डलिनी जागृत हुए यह सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं जैसा कि '*गौतमीय तन्त्र*' में कहा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनो यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किंचिन्न सिद्धयेत् मन्त्र-यन्त्रार्थनादिकम्॥
जागृर्ति यदि या देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः।
तत् प्रसादमायाति मन्त्र-यन्त्रार्चनादिकम्॥

अर्थात्—मूलाधार में कुण्डलिनी जब तक सुप्त रहती है, तब तक मन्त्र, यन्त्र, भजन-पूजनादि कुछ भी सिद्ध नहीं होते। और जब उनके पुण्यों के प्रभाव से यह देवी जागृत हो जाती है तो उसकी कृपा से मन्त्र, यन्त्र, भजन-पूजनादि सभी सफल हो जाते हैं।

'*ज्ञानेश्वरी गीता*' में कुण्डलिनी जागरण की विधि एवं प्रक्रिया का उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों तथा प्रभावों के साथ विस्तृत वर्णन मिलता है। पाठकों के ज्ञानवर्धन के लिए उसे हम ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहे हैं।

ज्ञानेश्वरी गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार उपदेश दिया है—'पिंडली

को जंघा के साथ मिलाते हुए पैर को इस प्रकार मोड़ें और तलुए को इस प्रकार टेढ़ा करें कि तलवे ऊपर की ओर हो जाएं। इस प्रकार एक-दूसरे के ऊपर पैर इस प्रकार स्थापित करें कि एड़ी से सीवन का स्थान दबा रहे और तलवे शरीर के नीचे हो जाएं। फिर दृढ़तापूर्वक मूलबन्ध लगाकर शरीर को एड़ियों पर तोलते हुए नितम्बों सहित शरीर के पिछले भाग को थोड़ा-सा ऊपर इस प्रकार उठाएं कि यह पता भी न चले कि उन्हें उठाया गया है। इस प्रकार शरीर का समस्त भाग एड़ियों पर आ जाने से मूल स्थान पर पूरा दबाव पड़ता हो। यह मूलबंध नामक आसन है। इसी को 'वज्रासन भी कहते हैं।' (वस्तुत: यह वज्रासन का विलोम प्रकार है। कुछ विद्वान इसे 'स्वास्तिकासन' का नाम देते हैं)।

इस आसन के प्रभाव से आंतों में संचरण करने वाला अपान वायु पीछे को हटने लगता है। हाथों की हथेलियां द्रोणाकार होकर अंक में अवस्थित हो जाती हैं (ऐसा करना चाहिए इससे सुविधा रहती है इस आसन में स्थित होने में)। शरीर दण्ड की भांति सीधा हो जाता है। आंखों की ऊपरी पलकें बन्द हो जाती हैं किन्तु निचली खुली रहती हैं। अत: आंखें अधखुली हो जाती हैं। दृष्टि नासिकाग्र या नासिका संधि लगाकर मनोवृत्तियां शान्त हो जाती हैं। अपानवायु पीछे को चलने लगती है और दबाव पड़कर फूलकर कुपित होती हुई मत्त हो जाती है। बन्धों के कारण मार्ग न मिलने पर वह उसी बन्ध स्थान में गड़गड़ाने लगती है और नाभि स्थान में मणिपूर चक्र को बीच-बीच में धक्के देती है।

इसके बाद उसकी उमड़न या घुमड़न शांत होती है। तब वह सारे शरीर में विचरकर बाल्यावस्था से तब तक जितना मल शरीर में संचित हो चुका है, वह सब निकाल देती है। कफ और पित्त को आधार स्थल से निकाल देती है, रुधिर आदि सातों धातुओं को उलट देती है, भेद के संग्रहों को चूर्ण करती है। हड्डियों में व्याप्त मज्जा तक बाहर निकाल देती है। वायु मार्ग की नाली का शोधन करती है। इस प्रकार समस्त अवयवों को शिथिलता प्राप्त हो जाती है। नौसिखिए ऐसे उपद्रवों से भयभीत हो जाते हैं। परन्तु भयभीत नहीं होना चाहिए। बलगम, शिथिलता आदि व्याधियां मलों के शोधन स्वरूप उस काल में उत्पन्न होती हैं पर यही अपान वायु उन व्याधियों का परिहार भी करती चलती है। अन्तत: यह वायु कुण्डलिनी शक्ति को अपने आघातों से जागृत कर डालती है।

कार्तिक से फाल्गुन अथवा नवम्बर से मार्च तक का समय इस योगाभ्यास के लिए सर्वोत्तम है। (किन्तु वस्ति या एनिमा द्वारा उदर शुद्धि करते रहें जिससे शरीर के उखड़े मल बाहर निकलते रहें) और साधना काल में होने वाले उपद्रवों से भयभीत बिल्कुल नहीं हों।

कुण्डलिनी जागृत होकर जब सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है तब प्रथम आघात मूलाधार पर होता है। यदि तब मूलबन्ध दृढ़ता से न लगा हो तो मल, मूत्र

या वीर्य निकल जाता है। भृकुटि में स्थित प्राण वायु का प्रवाह कुण्डलिनी में खिंच जाता है और प्राण व अपान का संयोग कुण्डलिनी को सुषुम्ना में चढ़ा देता है। किन्तु उस समय भूख से कुपित वह अपना मुंह फैलाए आगे बढ़ती है और सर्वप्रथम सामने मिले अपान वायु का ही भक्षण करती है। फिर समस्त वायु का भक्षण कर वहां जहां-जहां अधिक मांस होता है, वहां-वहां से मांस का भक्षण करती हुई हृदय के भी दो एक कौर खा जाती है। शरीर के किसी अंग को वह नहीं छोड़ती। हाथ-पांव के नाखूनों तक का रस चूस लेती है। त्वचा का सत्त्व चूस डालती है, हड्डियों की नालियों को चूस शिराओं के जाल को भी साफ कर डालती है। इस प्रकार कुम्भकरणी नींद से जागी यह महाशक्ति सर्वप्रथम अपनी क्षुधा को शांत करने का प्रयास करती है। परिणामत: शरीर के रोमकूप तक बन्द हो जाते हैं।

अत: तब साधक का शरीर सूखकर कृश और नीरस हो जाता है। उसका मानो सारा खून निचुड़ जाता है। कुण्डलिनी शरीर से पृथ्वी और जल तत्त्व का समस्त अंश खा जाती है। तब तृप्त होकर वह सुषुम्ना नाड़ी के पास विश्राम कर जो विष उगलती है शरीर में शेष रह गई प्राण वायु उस विष से अमृत के समान लाभान्वित होती है। उस अमृत के ही प्रभाव से प्राणवायु जीवन धारण करती है और शरीर को बाहर भीतर दोनों पार्श्वों से शीतल कर देती है और शरीर के नष्ट हुए धर्म फिर से जीवन्त होने लगते हैं।

इड़ा पिंगला मिलकर एक हो जाती हैं। उनकी तीनों गांठें खुल जाती हैं और छहों चक्रों को ढकने वाले आवरण फट जाते हैं, बुद्धि की चंचलता नष्ट हो जाती है। प्राणवायु कुण्डलिनी सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। इसी मध्य चन्द्रमा की सत्रहवीं कला के अमृत का सरोवर जो ऊपर की ओर रहता है, शनै: शनै: टेढ़ा होकर कुण्डलिनी के मुंह से लग जाता है। उस अमृत का पान कुण्डलिनी करती है और प्राणवायु के साथ वह अमृत समस्त अंगों में व्याप्त हो जाता है। तब साधक के शरीर का पोषण होता है और वह दिव्य तेज व रूप से लाभान्वित हो, आरोग्य व हल्का हो जाता है तथा विभिन्न प्रकार की सिद्धियां सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधना काल में विभिन्न व्याधियां उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु दवाओं के प्रयोग की अथवा घबराने की जरूरत नहीं होती। समस्त विकारों के निकल जाने पर शरीर स्वयं स्वास्थ लाभ करता है, अंगों में शिथिलता, कृशता, शरीर का सूखकर कांटा हो जाना आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं और शरीर प्राय: निष्प्राण-सा हो जाता है किन्तु अभ्यास की निरंतरता से अंतत: सफलता मिलती है। सिंह को साधने के समान इसीलिए कुण्डलिनी को साधना अत्यंत दुष्कर है और असावधानी, भय या अपूर्णता से स्वयं के लिए घातक हो जाती है।

भयमोक्षण

कुण्डलिनी जागरण काल में यदि भय लगे तो विष्णु भगवान के निम्न स्वरूप का ध्यान करना चाहिए—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्॥
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगर्भिध्यान गम्यम्।
वन्दे विष्णुं भव भय हरणं, सर्वलोकैक नाथम्॥

अर्थात्—शान्त स्वरूप, शेषनागशायी, नाभि में कमल वाले, देवताओं के स्वामी, विश्व के आधार, गगन के समान व्यापक, विशाल, अनन्त और शुद्ध, निर्मल, मेघ के समान सांवले रंग वाले, शुभ अंगों से युक्त, लक्ष्मी के पति, कमल नेत्र वाले, योगियों के सदा ध्यान में रहने वाले, सम्पूर्ण विश्व के भय को हरने वाले समस्त लोगों के स्वामी श्रीविष्णु भगवान की मैं वन्दना करता हूं।

भय मुक्ति के लिए साधना से पूर्व नित्य **कुण्डलिनी देवी के कवच** का पाठ करना भी उत्तम रहता है।

योग सिद्धि/सफलता प्राप्ति के लक्षण

दिव्य गन्धों के अनुभूति होना, विचित्र एवं दिव्य दृश्य दिखाई पड़ना, प्राकृतिक रमणीय दृश्यों का दिखाई पड़ना, कभी-कभी भयानक दृश्यों का भी दिखाई पड़ना, झरने, नदी, कलरव आदि की ध्वनियों, संगीत लहरियों, वीणा, मृदंग आदि के स्वरों अथवा घंटा आदि वादों या दिव्य ध्वनियों का सुनाई पड़ना, विभिन्न प्रकाशों की अनुभूति होना आदि लक्षण योगमार्ग में/साधना काल में हों तो साधक को स्वयं को सिद्धि के निकट समझना चाहिए। जैसा कि '*गोरक्ष संहिता*' में कहा गया है—

गगन वदने प्राप्ते ध्वनिरूत्पद्यते महान्।
घन्टा दीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः॥

अर्थात्—प्राणवायु के गगन में पहुंचने पर घंटा आदि वाद्यों की महाध्वनि उत्पन्न होती है। उस समय योगी को अपनी सिद्धि निकट जाननी चाहिए। (व्यक्तियों के अपने स्वभाव संस्कारादि के अनुसार लक्षणों में विभिन्नता भी रहती है)।

मंत्र साधना के अन्य उपाय

ललिता या भुवनेश्वरी देवी का एकाक्षण मन्त्र है—'**ह्रीं**'। त्र्यक्षरी मन्त्र हैं—'**ह्रीं ॐ ह्रीं**'। और पञ्चाक्षरी मंत्र है—'**ऐं ह्रीं श्रीं ऐं ह्रीं।**' भुवनेश्वरी का एकाक्षरी मन्त्र 'देवी प्रणव' के रूप में भी प्रसिद्ध है। इन मन्त्रों में से भी किसी एक मन्त्र का जाप कर भुवनेश्वरी उपासना की जा सकती है। मन्त्र जाप के बाद—'**भुवनेश्वरी अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र**' का पाठ करना चाहिए। और जप से पूर्व संकल्प, विनियोग, न्यास आदि पूर्व वर्णित विधि से करने चाहिए। उनके मंत्र आगे पाठकों के लाभार्थ दे रहे हैं (**रुद्रयामल तन्त्र** से)।

विनियोग

अस्य श्री भुवनेश्वरीमन्त्रस्य शक्तिर्ऋषिर्गायत्रीच्छन्दों भुवनेश्वरी देवता हकारो बीजम्, ईकारः शक्तिः रेफः कीलकं चतुर्वर्गसिद्धयर्थं जपे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

ऋषये नमः (शिरसि)। गायत्रीच्छन्दसे नमः (मुखे)। श्रीभुवनेश्वरी देवतायै नमः (हृदये)।

हकारबीजाय नमः (गुह्ये)। ईकार शब्दाय नमः (पादयोः)। रकारकीलाय नमः (नाभौ)। विनियोगाय नमः (सर्वांगे)।

करषडङ्ग न्यास

ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रें, ह्रौं, ह्रः। (इन छः बीजों से यह न्यास करना चाहिए)।

भुवनेश्वरी-अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र

(रुद्रायमल तन्त्र से उद्धृत)

विनियोग

अस्य श्रीभुवनेश्वर्यष्टोत्तरशतनामस्तोत्रस्य शक्तिर्ऋषिः गायत्रीच्छन्दः। श्री भुवनेश्वरी देवता मम चतुर्वर्गसाधनार्थं पाठे, पूजने विनियोगः।

न्यास

(न्यास ध्यानादि उपरोक्त वर्णित एकाक्षरी यंत्र विधि के समान ही रहेंगे)।

स्तोत्र

महामाया महाविद्या महायोगा महोत्कटा।
माहेश्वरी कुमारी च ब्रह्माणी ब्रह्मरूपिणी॥ 1॥
वागीश्वरी योगरूपा योगिनी कोटिसेविता।
जया च विजया चैव कौमारी सर्वमङ्गला॥ 2॥
हिङ्गुला च विलासी च ज्वालिनी ज्वालरूपिणी।
ईश्वरी क्रूरसंहारी कुलमार्गप्रदायिनी॥ 3॥
वैष्णवी सुभगाकारा सुकुल्याकुल पूजिता।
वामाङ्गा वामचारा च वामदेवप्रिया तथा॥ 4॥
डाकिनी योगिनीरूपा भूतेशी भूतनायिका।
पद्मावती पद्मनेत्रा प्रबुद्धा च सरस्वती॥ 5॥
भूचरी खेचरी माया मातङ्गी भुवनेश्वरी।
कान्ता पतिव्रता साक्षी सुचक्षुः कुण्डवासिनी॥ 6॥

उमा कुमारी लोकेशी सुकेशी पद्मरागिणी।
इन्द्राणी ब्रह्माचाण्डाली चण्डिका वायुवल्लभा॥ 7॥
सर्वधातृमयी मूर्तिर्जलरूपा जलोदरी।
आकाशी रणगा चैव नृकपाल-विभूषणा॥ 8॥
नर्मदा मोक्षदा चैव कामधर्मार्थदायिनी।
गायत्री चाथ सावित्री त्रिसन्ध्या तीर्थगामिनी॥ 9॥
अष्टमी नवमी चैव दशम्येकादशी तथा।
पौर्णमासी कुहूरूपा तिथिमूर्ति-स्वरूपिणी॥ 10॥
सुरारिनाशकारी च उग्ररूपा च वत्सला।
अनला अर्धमात्रा च अरुणा पीतलोचना॥ 11॥
लज्जा सरस्वती विद्या भवानी पापनाशिनी।
नाग पाशधरा मूर्तिरगाधा धृतकुण्डला॥ 12॥
क्षत्ररूपा क्षयकरी तेजस्वी शुचिस्मिता।
अव्यक्ता व्यक्तलोका च शम्भुरूपा मनस्विनी॥ 13॥
मातङ्गी मत्तमातङ्गी महादेवप्रिया सदा।
दैत्यघ्नी चैव वाराही सर्वशस्त्रामयी शुभा॥ 14॥

❑❑❑

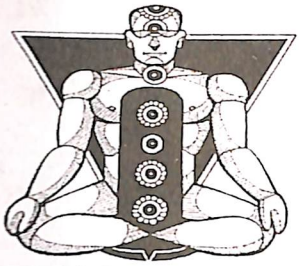

19 योगी की चर्या व साधना में सावधानियां

योगी की चर्या

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जात वारिणा।
कट्वम्ललवण त्यागी क्षीर भोजनमाचरेत्॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्व भवेत्सिद्धो नात्र कार्यो विचारणा॥
संदिग्धो मधुराहारी चतुर्थांशिविवर्जिताः।
मुञ्चते स्वरस प्रीत्यं मिताहारी स उच्यते॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः शुभ मोक्ष प्रदायिनी।
बन्धनाय च नूढ़ानां यस्तां वेत्तिस वेदविद्॥

—गोरक्ष संहिता

अर्थात्—उक्त मुद्रा (अभ्यास) के कारण शरीर पर जो भी पसीना आए उसे शरीर पर ही मल लेना चाहिए। लवण और अम्ल रसों से युक्त भोजन न करे वरन दूध (गाय का) पीकर ही रहे। इस प्रकार अल्पभोजी तथा सर्वत्यागी व योगपराण रहे। इस प्रकार एक वर्ष से अधिक अभ्यास करने पर सिद्धि होती है। इसमें कोई विचार (संशय) नहीं करना चाहिए। सुखद, स्निग्ध, मधुर (सात्त्विक एवं सुपाच्य) आहार करें। चौथाई पेट खाली रहें। (आधा पेट भोजन से और शेष आधे का आधा बाद में पानी से भरे। चौथाई पेट खाली रखे)। भोजन से पूर्व ईष्टदेव को निवेदन करे—वह योगी मिताहारी कहलाता है। कन्द के ऊपर शुभ मोक्ष देने वाली कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। वह अज्ञानियों के लिए बन्धकारी है। उसे जो जानता है वही वेदों को जानने वाला है।

योगी को साधना काल में समस्त यम, नियम व संयम का पालन करते हुए अल्प एवं सतोहारी रहना चाहिए। अपना विहार, निद्रा व आहार संतुलित रखना चाहिए। सद् संगति में रहें अथवा एकान्त में रहें तो और भी अच्छा है। सद् ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, धर्म चर्चा करें। कुसंग व कुसाहित्य से बचें। व्यसनों से दूर रहें। ब्रह्मचर्य का विशेष ध्यान रखें।

साधना काल में सावधानियां

❑ शुभ मुहूर्त आदि का विचार कर साधना आरम्भ करें, जिससे मन का उत्साह तथा विश्वास दृढ़ हो तथा विघ्न न पड़ें।

❑ मन्त्र या तन्त्र की साधनाएं रात्रि में करें। ध्यान योग की साधना करनी हो तो ब्रह्म मुहूर्त में (प्रातः सूर्योदय से पूर्व) करें।

❑ साधना के समय लंगोट धारण करें। सम्भव हो तो अन्य वस्त्र न पहनें। मात्र कोई हल्का स्वच्छ व सूती वस्त्र ओढ़ें। यदि ठण्ड हो तो वस्त्र पहनें किन्तु कम से कम। कम्बल ओढ़ा जा सकता है।

❑ आसन के लिए मृगछाला सर्वोत्तम है और जाप के लिए रुद्राक्ष की माला। किन्तु जाप में सुमेरु का उल्लंघन निषिद्ध होता है। सुमेरु आ जाने पर नेत्रों से माला लगाकर फिर माला पलट कर दुबारा जपना चाहिए और माला को मध्यमा अंगुली से भीतर को चलाएं (अंगूठे व अनामिका के आधार पर।) तर्जनी का स्पर्श माला से जाप के समय वर्जित माना जाता है।

❑ साधना का स्थान समतल, स्वच्छ, शान्त, एकान्त, हवादार तथा रमणीय होना चाहिए (प्राणायामादि के अभ्यास में तो विशेष तौर पर) धूप या अगरबत्ती आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। परन्तु देसी घी का दीपक जलाया जा सकता है। साधना से पूर्व (शंखनाद करने से, जहां तक शंख ध्वनि जाती है वहां तक वायुमंडल में कीटाणु नष्ट हो जाते हैं अतः शंखनाद करना श्रेष्ठ रहेगा)।

❑ साधना काल में किसी व्यक्ति आदि का कक्ष या उस स्थान में प्रविष्ट होना प्रारम्भ में ध्यान भंग करता है। अतः कक्ष में प्रवेश निषेध रखें अथवा निर्जन एकान्त का चुनाव करें। समय ऐसा रखें कि किसी के आने-जाने, दरवाजे या फोन की घंटी बजने, शोर कोलाहल होने अथवा अन्य व्यवधानों की सम्भावना ना के बराबर रहे।

❑ भूगर्भ, सरोवर, वन, उपवन, पर्वत, नदी तट, मंदिर, तीर्थ तथा श्मशान आदि साधना के श्रेष्ठ स्थान होते हैं।

❑ दिन में जब रजोगुण प्रधान सूर्य स्वर चल रहा हो तो योग साधना न करें। रात्रि में जब तमोगुण प्रधान चन्द्र स्वर चल रहा हो तब भी योगाभ्यास न करें। दिन रात दोनों अर्थात् सूर्य व चन्द्र दोनों स्वरों का निरोध करके—सुषुम्ना के समय योगाभ्यास करें। (अभ्यास हो जाने पर इच्छानुसार स्वर चालन की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, तब कोई दिक्कत नहीं है) जैसा कि कहा है—

दिवा न पूजये लिंग रात्रावपि न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेलिंग दिवा रात्र निरोधः॥

—पवन विजय स्वरोदय

❑ चन्द्र स्वर में ऐसे कार्य करें जिनमें अल्पश्रम की आवश्यकता हो तथा सूर्य स्वर में कठिन या अधिक श्रम वाले कार्य करें। और जब सुषुम्ना चले तब योग

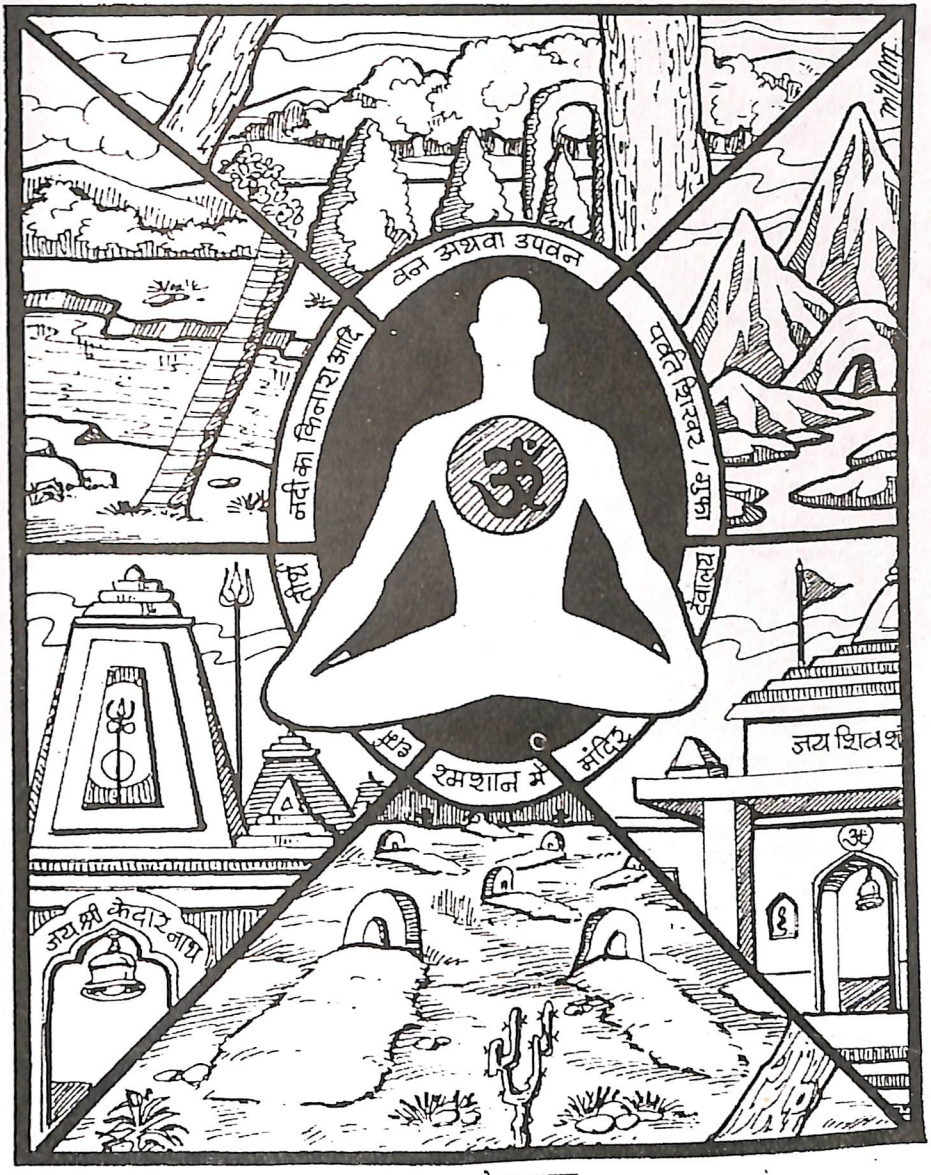

ध्यान योग्य स्थान

साधना, सात्त्विक कार्य अथवा धर्म पूजन आदि के कार्य करने चाहिएं।

❑ साधना में शुद्ध, धुले हुए वस्त्र पहनने चाहिए तथा स्नान शौचादि से शुद्ध होकर साधना करनी चाहिए।

❑ त्रिबन्धों का तथा मेरुदण्ड के सीधे रहने का विशेष रूप से ध्यान रखें किन्तु शरीर कड़े नहीं, (RELAXE)हो।

❑ सात्त्विक साधनाओं में कुशासन, रजोगुणी साधना में सूत का आसन तथा तमोगुणी साधना में ऊन का आसन श्रेष्ठ रहता है। कुण्डलिनी जागरण की साधना में चर्मासन।

❑ साधना निश्चित समय पर, नियमित रूप से, नियत स्थान पर और निश्चित विधि से ही होनी चाहिए।

❑ कुण्डलिनी साधना में पूर्व दिशा में मुख करके बैठना उचित रहता है। परन्तु रात्रि में साधना करें तो पश्चिम दिशा में मुख करके बैठें।

❑ जप के समय कंठ में ध्वनि हो, होंठ भी हिलें परन्तु पास में बैठा व्यक्ति उसे सुन न सके, इतनी ही शक्ति से उच्चारण करके मंत्र बोलने चाहिएं। परन्तु इस प्रयास से मंत्र का उच्चारण अस्पष्ट या अशुद्ध न हो।

❑ साधना काल के अपने अनुभव, मन्त्र तथा प्रक्रिया आदि को गुप्त रखना चाहिए। मात्र गुरु से ही परामर्श लेना चाहिए।

❑ विश्वास तथा श्रद्धा न टूटनी चाहिए। संकल्प, लगन, धैर्य तथा आत्मविश्वास बने रहना चाहिए।

❑ साधना काल में होने वाले अनुभवों की भयंकरता अथवा उत्पन्न होने वाली व्याधियों, कृशता या शिथिलता आदि से घबराना नहीं चाहिए। न ही साधना छोड़नी चाहिए। शनैः शनैः स्वयं ही सब कुछ ठीक हो जाता है। न ही साधना काल में होने वाले रमणीय अनुभवों में आसक्त होना चाहिए। मात्र दृष्टा बनकर उन्हें देखना चाहिए।

❑ साधना काल में अहं, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मद, मात्सर्य, काम, मोह, लिप्सा आदि से यथा सम्भव दूर रहना चाहिए।

❑ प्राप्त होने वाली उपलब्धियों अथवा सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ना ही किसी को बतानी चाहिए और न ही उनका बार-बार प्रयोग करके स्वयं देखना चाहिए और न ही उनका उपयोग (दुर अथवा सद्) करना चाहिए। अन्यथा सफलता वहीं रुक जाती है तथा प्राप्त हुई शक्तियां लुप्त होने लगती हैं। दुरुपयोग से साधक को अति भय उपस्थित हो जाता है।

❑ लेटकर, अध बैठे होकर, खड़े होकर, जैसे मर्जी और जब मर्जी वाला सहज योग 'सिद्धांत' तब तक हरगिज लागू न करें जब तक अभ्यास में परिपक्वता न हो जाए। अपितु हमारे विचार से तो इनका प्रयोग परिपक्वावस्था में भी नहीं करना ही निरापद है।

❑ एक बार कुण्डलिनी जागृत हो जाए और भय आदि कारणों के प्रभाव से पुनः वापस लौट आए तो पछतावा ही रह जाता है। आवश्यक नहीं कि वह शीघ्र ही पुनः जागृत हो। अतः अवसर बिल्कुल न चूकें।

❑ मांस, मदिरा, तम्बाकू, गांजा, सुल्फा आदि नशों, जुओं, परस्त्रीगमन आदि दुर्व्यसनों तथा आत्मा को पतित करने वाले कार्यों—झूठ, बेईमानी, दलाली, कपट आदि से साधना काल में सर्वदा दूर रहें। वैसे तो जीवन भर ही इनसे दूर रहना श्रेयस्कर होता है।

❑ योग मार्गी को प्रदर्शन, प्रचार, आत्मप्रशंसा, आडम्बर, कृत्रिमता, बनावट, दिखावा, यश पाने की इच्छा या प्रशंसा पाने की चाह, आदि से बचते हुए अपनी साधना, मंत्र तथा साधना में प्राप्त होने वाले अनुभवों, उपलब्धियों, शक्तियों व चमत्कारों को यथासम्भव गुप्त रखना चाहिए। जैसा कि समस्त अध्यात्म विषयक ग्रन्थों ने एक स्वर में स्वीकारा है—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृतं न दुवृतं, वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढ़धर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवक्व जडवचापि मूकबन्ध महीं चरते॥

अर्थात्—जिसको न सन्त, न असंत, न आश्रुत, न बहुश्रुत (गुमनाम व प्रसिद्ध), न सुवृत (सज्जन), न दुर्वृत (दुर्जन) ही जानता हो (अर्थात् इनमें से कोई जिसे न जानता हो यानि जिसकी योग्यता, विद्वता, साधना व शक्तियां सभी प्रकार के लोगों से गुप्त हों) वही ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ़ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान योगी दूसरों से अज्ञात चरित रहे। अन्ध के समान, जड़ के समान और मूक के समान पृथ्वी पर विचरण करे।

❑ सिद्धियों व शक्तियों की प्राप्ति के लिए विशेष चक्रों अथवा पंचमहाभूतों पर भावना सहित ध्यान किया जाता है। परन्तु सात्त्विक साधना करने वाले पाठकों को इस लम्बे तन्त्र मार्ग में न पड़कर मात्र ध्यान ही करना चाहिए। जैसा कि कहा है—**'यदि तन्नोपक्षास्यात् मोक्षाद् भ्रष्टः।'** *'योगसुधाकर'* (यदि इन सिद्धियों की आकांक्षा रही तो साधक मोक्ष पथ से भ्रष्ट हो जाएगा)। और—**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।** — *योगदर्शन*

(ये सिद्धियां समाधि में विघ्न रूप हैं। जागृत अवस्था में सिद्धियां हैं)। निरुद्देश्य साधना अधिक फलदायिनी होती है और चरम लक्ष्य तक जा पहुंचती है। निरुद्देश्य होने से उसके नियमों में थोड़ा बहुत झोल भी पड़ जाए तो चल जाता है। जबकि सोद्देश्य साधना कठोर नियम का पालन चाहती है और सिद्धि प्राप्ति तक ही प्रगति करती है। जैसा कि 'त्रिपुरा तन्त्र' में आया है—'जो देवता भोग देते हैं वे मोक्ष नहीं देते, जो मोक्ष देते हैं वे भोग नहीं देते, परन्तु कुण्डलिनी दोनों ही प्रदान करती है।'

❑ भोजन के सम्बन्ध में अवश्य सावधान रहें, क्योंकि **भोजन के स्थूल भाग का मल, मध्यम भाग का मांस व सूक्ष्म भाव का मन बनता है।** इसीलिए 'यथा अन्न तथा मन' कहते हैं। जैसा अन्न मनुष्य खाता है उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं।

❑❑❑

20
कुण्डलिनी स्तुति

('कुण्डलिनी सिद्धि मंत्र साधना' से)

ॐ नमस्ते देव देवेशि, योगीश प्राणवल्लभे।
सिद्धिदे वरदे मातः, स्वयंभू लिंग वेष्टिते॥
ॐ प्रसुप्त भुजंगाकारे सर्वदा कारण प्रिये।
काम कलान्वित देवि, ममाभीष्टं कुरुष्व च॥
ॐ आसारे घोर संसारे भव रोगात् कुलेश्वरि।
सर्वदा रक्ष मां देवि, जन्म संसार सागरात्॥
मूलोन्निद्र भुजंगराज सदृशी यान्तीं सुषुम्नान्तर,
भित्त्वाआधार समहमाशु विलसत्सौदामिनी सन्निभाम्।
व्यामोम्भोज गतेन्दु मण्डलगलद् दिव्यामृतौधै पलुतंपतिं,
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां संचिन्तयेत कुण्डलीम्॥ 1॥
हंसं नित्य मनन्त मद्वयगुणं स्वाधारतो निर्गता,
शक्तिः कुण्डलिनी समस्त जननी हस्तेगृहीत्वा च तम्।
याता शम्भुनिकेतनं परसुखं तेनानुभूय स्वयं,
यान्ति स्वाश्रयमर्क कोटि रुचिका ध्येया जगन्मोहिनी॥ 2॥
अव्यक्तं परबिम्बमंचित रुचिं नीत्वा शिवस्यालयं,
शक्ति कुण्डलिनी गुणत्रय व पुर्विद्युल्लता सन्निभा।
आनन्दामृत कन्दगं पुरमिदं चन्द्रार्क कोटि प्रभं,
संवीक्ष्य स्वगृहं गता भगवती ध्येयान वद्या गुणैः॥ 3॥
मध्ये वर्त्म समीरण द्वयमिथस्त्रध्यद्द संक्षो भज,
शब्दस्तोममतीव्य तेजसि तडित्कोटि प्रभाभास्वराम्।
उद्यन्तीं समुपास्महे नवजप सिन्दूर सान्द्रारुणां,
सान्द्रानन्द सुधामयीं परशिवं प्राप्तं परां देवताम्॥ 4॥
गगनागमनेषु जा लांघिनी सा, तनुयाद योग फलानि कुण्डली।
मुदिता कुल कामधेनु रेषा, भजतां वांछित कल्पवल्लरी॥ 5॥
आधारस्थित शक्ति विन्दु निलयां नीवारशूकोयमां,
नित्यानन्दमयीं गलत्पर सुधावर्षे प्रबोधप्रदैः।

सिक्त्वा षट्सरसीरुहाणि विधिवत्कोदण्ड मध्योदितां,
ध्यायेद् भास्वर बन्धु जीव रुचिरां संविन्मयी देवताम्॥ 6॥
हृत्पंकेरुह भानुबिम्ब निलयां विद्युल्लता मन्थरां,
बालार्कारुण तेजसा भगवती निर्भर्त्सयन्ती तमः।
नादाख्यां परमर्धचन्द्र कुटिलां संविन्मयीं शाश्वतीं,
यान्तिमक्षर रूपिणीं विमलधीर्ध्यायेद्विण्भुं तेजसाम्॥ 7॥
भालेपूर्ण निशापति प्रतिभटां नीहारहारत्विषा,
सिंचन्तीम् मृतेन देवममितेना नन्दयन्ती तनुम।
वर्णानां जननी तदीयवपुषा संव्याप्य विश्वं स्थितां,
ध्यायेत् सम्यगनाकुलेन मनसा सविन्यमयीमम्बिकाम्॥ 8॥
मले भाले हृदि च विल सद्वर्णरूपा सावित्री,
पीनो तुंगस्तनभरनम तन्नमध्यादेशा महेशी।
चक्रे चक्रे गलित सुधया सिक्तगात्री प्रकामं,
दद्या दद्या श्रियमविकलां वांङमयी देवतां बः॥ 9॥
आधारबन्ध प्रमुख क्रियाभिः समुत्थिता कुण्डलिनी सुधाभिः
त्रिधाम बीज शिवमर्चयन्ती, शिवांगना वः शिवमातनोत्॥ 10॥
निजभवन निवासा दुच्चरन्ती विलासैः,
पथि-पथि कमलां चारुहासं विधाय।
तरुण तरणि कान्तिः कुण्डली देवता,
सा शिव सदन सुधाभिर्दीपयेदात्मतेजः॥ 11॥
सिन्दूर पुञ्जनि भमिन्दु कलावतं, समानन्द पूर्णनयन त्रय शोभिवक्त्रम्
आपीनतुंग कुचनम्रमनंगतन्त्रम्, शम्भोः कलत्रममितां श्रिया मातनोतु॥ 12॥
वर्णैर्णविषड्दिशार विकला चक्षु विभक्तेः क्रमा,
दाद्यैः सादिभिरावृतान् क्षहयुतैः षट्चक्र मध्यानिमान।
डाकिन्यादिभिराश्रितान् परिचितान् ब्रह्मादिभिर्देवते,
भिन्दाना परदेवता त्रिजगतां चित्ते विधतां मुदम्॥ 13॥
आधाराद् गुणवृत्तशोभिततनुं लिंगत्रयं सत्वरं,
भिन्दन्तीं कमलानि चिन्मय घनानन्द प्रबोधोत्तराम्।
संक्षुब्ध ध्रुव मण्डलामृतकर प्रस्यन्द मानामृत,
स्तोत्रः कन्दलिता ममन्दतडिदाकारां शिवां भावयेत्॥ 14॥
मूलाधारे त्रिकोणे तरुण तरुणि भाभास्वरे विभ्रमन्तं,
कामं बालार्क कालानल जरठ कुरंगांक कोटि प्रभाभम्।
विद्युन्माला सहस्त्रद्युति रुचिरलसद्बन्धु जीवाभिरामं॥ 15॥

तस्योर्ध्वे विस्फुरन्तीं स्फुट रुचिरतड़ित्पुंज भाभास्वरांगी,
मुद्गच्छन्तीं सुषुम्नामनु सरणि शिखामालातेन्दु बिम्बम्।
चिन्मात्रां सूक्ष्म रूपां जगदुदयकरीं भावनामात्र गम्यां,
मूलं सा सर्वधान्नां स्फुरति निरूपमा हुंकृतोदंचितोरः॥ 16॥
नीता सा शनकैरधौमुख सहस्त्रारारुणाब्जोदरे,
रच्योतत्पूर्ण शशांक बिम्ब मधुनः पीयूष धारा स्त्रतिम्।
रक्तांमन्त्रमयीं निपीय च सुधानिष्यन्द रूपा विशेद्,
सूयोऽप्यात्म निकेतनं पुनरपि प्रोत्थाम पीत्वा विशेत्॥ 17॥
यो अभ्यस्यनु दिनमेवमास्मनो,
अन्तर्बीजाशम् दुरितं जराप मृत्यु रोगान्।
जित्वासौ स्वयमिव मूर्ति माननंग,
संजीवेच्चिरमति नीलकेश जाल॥ 18॥

कुण्डलिनी कवचम्

आनन्द भैरवी

अथ वक्ष्ये महादेव! कुण्डली कवचं शुभम्।
परमानन्दं सिद्धं सिद्ध-वृन्द निषेवितम्॥
यद्धृत्वा योगिन! सर्वे धर्माधर्म-प्रदर्शकाः।
ज्ञानिनो मानिनो धीरा विचरन्ति यथा नराः॥
सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च करस्थाः सर्वदेवताः।
एतत् कवच-पाठेन देवेन्द्रौ योगि-राड् भवेत्॥
ऋषयो योगिनः सर्वे जटिलाः कुल-भैरवाः।
प्रातः काले त्रिवारं च मध्याह्ने वार युग्मकं॥
सायाह्ने वारमेकं तु पठेत् कवचमुत्तमम्।
पाठादेव महायोगी कुण्डली-दर्शन लभेत्।

विनियोग

ॐ अस्य श्रीकुलऽकुण्डली-कवचस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः, श्रीकुल-कुण्डली देवता, सर्वाभीष्ट-सिद्धयर्थे पाठे विनियोगः।

कवच

ॐ ईश्वरी जगद्धात्री ललिता सुन्दरी परा।
कुण्डली-कुल-रूपा तु पातु मां कुल चण्डिका॥
शिरो में ललिता देवी पातृग्राख्या कपोलकम्।
ब्रह्म-रन्ध्रेण पुटिता भ्रू-मध्यं पातु मे सदा॥

नेत्र-त्रयं महाकाली कालाग्नि-भक्षिका शिखां।
दन्तावलीं विशालाक्षी ओष्ठमिष्टान्न वासिनी॥
काम-बीजात्मिका विद्या अधरं पातु मे सदा।
लृ-युगस्था गण्ड-युग्मं माया-बीजा रस प्रिया॥
भुवनेशी कर्ण-युग्मं चिबुकं - कनकेश्वरी।
कपिला में गलं पातु सर्व-बीज-स्वरूपिणी॥
मातृका-वर्ण-पुटिता कुण्डली कण्ठमेव च।
हृदयं काल-पुत्री च कङ्काली पातु में मुखम्॥
भुज-युग्मं चंड-दुर्गा चण्ड-दोर्दण्डखण्डिनी।
स्कन्ध-युग्मं स्कन्द-माता कपोलं क्रोध कालिका॥
अंगुल्यग्रे कुलानन्दा श्रीविद्या नख-मण्डलम्।
कालिका भुवनेशानी पृष्ठ-देशं सदाऽवतु॥
पार्श्व-युग्मं महा-वीरा वीरासन-धराऽभया।
पातु मां कुल-दर्भस्था नाभिमुदरमम्बिका॥
कटि देश पृष्ठ-संस्था महा-महिष-घातिनी।
लिंग स्थानं महा-मुद्रा भग-माला मनु-प्रिया॥
भगीरथ-प्रिया धूम्रा मूलाधारं गणेश्वरी।
चतुर्दलं काम-विद्या दलाग्रं मे वसुन्धरा॥
धीर्धरा धारणाख्या च ब्रह्माणी पातु में मुखम्।
मेदिनी पातु कमला वाग्देवी पूर्वगं दलं॥
छेदिनी दक्षिणे पार्श्वे पातु चण्डा महा-तपा।
चण्ड-घण्टा सदा पातु योगिनी वारुणं दलं॥
उत्तरस्थं दलं पातु पृथिवीमिन्द्र-लालिता।
चतुष्कोणं काम-विद्या ब्रह्म विद्याष्ट कोणकं॥
अष्ट दलं सदा पातु सर्व-वाहन-वाहना॥
चतुर्भुजा सदा पातु डाकिनी कुल चञ्चला॥
मेढस्था मदनाधारा पातु मे चारु पंकजम्।
स्वयम्भू लिंगं चार्वंगी कोटराक्षी ममासनम्॥
कदम्बं बनगा पातु कदम्ब वन वासिनी।
वैष्णवी परमा माया पातु मे वैष्णवं पदम॥
षड्दलं राकिणी पातु रंगिनी काम वासिनी।
कामेश्वरी कामरूपा कृष्णं मे पीत वाससं॥
धनुः सा वन दुर्गा में शंख में शंखिनी शिवा।
चक्रं चक्रेश्वरी पातु कमलाक्षी गदां मम॥

पद्मं मे पद्म गन्धा च पद्म माला मनोहरा।
बादि लान्ताक्षरं पातु लाकिनी लोक पावनी॥
षड्दले स्थित देवांश्च पातु कैलाश वासिनी।
अग्नि वर्णा सदा पातु गलं में परमेश्वरी॥
मणिपूरं सदा पातु मणि-माला-विभूषणा।
दश पत्रं दश वर्णं डादिकान्तं त्रि-विक्रमा॥
पातु नीला महाकाली भद्रा भीमा सरस्वती।
अयोध्या वासिनी देवी महा पीठ निवासिनी॥
वाग्भवाद्या महाविद्या कुण्डली कालरूपिणी।
दशच्छद शतं पातु रुद्रं रुद्रात्मकं मम॥
सूक्ष्मा सूक्ष्मतरा पातु सूक्ष्म स्थान निवासिनी।
राकिनी लोक जननी पातु कूटाक्षरान्विता॥
तैजसं पातु नियतं रजकी राज पूजिता।
विजया कुल बीजस्था तवर्ग तिमिरापहा॥
चन्द्रात्मिका मणि ग्रन्थि भेदिनी पातु सर्वदा।
भग माला भृगु सुता पातु मां नाभि वासिनी॥
नन्दिनी पातु सकलं कुण्डली काल कल्पिता।
हत् पद्मं पातु कालाख्या धूम्र वर्णा मनोहरा॥
दल द्वादश वर्णं च भास्करी भाव सिद्धिदा।
पातु में परमा विद्या कवर्ग काम चारिणी॥
चवर्गं चारु रसनां व्याघ्रास्या टंक धारिणी।
टकारं पातु कृष्णाख्या हाकिनी पातु कालिका॥
ठंकुरांगी ठकारं मे बीज भाषा महोदया।
ईश्वरं पातु विमला मम हृत पद्म वासिनी॥
कर्णिकां काल सन्दर्भा योगिनी योग मातरं।
इन्द्राणी वारुणी पातु कुल माला कुलांतरं॥
तारिणी शक्ति माता च कण्ठ वाक्यं सदाऽवतु।
विप्रचित्ता महोग्रोग्रा प्रभा दीप्ता घनामला॥
वाक् स्तम्भिनी वज्र देहा वैदेही वृष वाहिनी।
उन्मत्तानन्द चित्ता च कुलेशी सा भगातुरा॥
मम षोडश पत्राणि पातु मातृतया स्थिता।
सुरान् रक्षतु वेदज्ञा सर्वभाषा च कालिका॥
ईश्वरार्द्धासन गता प्रपायान्मे सदाशिव।
शाकम्भरी महामाया शाकिनी पातु सर्वदा॥

भवानी भव माता च पयादू भ्रूमध्य पंकजं।
द्विदलं व्रत कामाख्या अष्टांग सिद्धि दायिनी॥
पातु मामखिलानन्दा मनोरूपा जप प्रिया।
लकारं लक्षणाक्रान्ता सर्व लक्षण लक्षणा॥
कृष्णा जिन धरा देवी क्षकारं पातु सर्वदा।
द्वि दलस्थं सर्व देवं सदा पातु वरानना॥
बहुरूपा विश्वरूपा हाकिनी पातु चण्डिका।
हरा पर शिवं पातु मानसं पातु पञ्चमी॥
षट् चक्रस्था सदा पातु षट् चक्र कुल वासिनी।
अकारादि क्षकारान्ता बिन्दु सर्व समन्विता॥
मातृकार्णा सदा पातु कुण्डली ज्ञान कुण्डली।
पूर्ण काली गति प्रेता पूर्ण गिरि तटं शिवा॥
उड्डीयानेश्वरी देवी सकलं पातु सर्वदा।
कैलास पर्वतं पातु कैलास गिरि वासिनी॥
डाकिनी शाकिणी शक्तिर्लाकिनी काकिनी कला।
शाकिनी हाकिनी देवी षट् चक्रादीन् प्रपातु में॥
कैलासाख्यं सदा पातु पञ्चानन दनूद्भवा।
हिरण्या वर्णा रजनी चन्द्र सूर्याग्नि भक्षिणी॥
सहस्त्र दल पद्मं मे सदा पातु कुलाकुला।
सहस्त्र दल पद्मस्था दैवतं पातु भैरवी॥
काली तारा षोडशाख्या मातंगी पद्मवासिनी।
शशि कोटि गलद् रूपा पातु में सकलां तनुम्॥
रणे घोरे जले दोषे युद्ध वादे श्मशान के।
सर्वत्र गमने ज्ञाने सदा मां पातु शैलजा॥
पर्वते विविधाव से विनाशे पातु कुण्डली।
पापादि ब्रह्म रन्ध्रान्तं सर्वाकाशं सुरेश्वरी॥
सदा पातु सर्व विद्या सर्व ज्ञानं सदा मम।
नव लक्ष महा-विद्या दश-दिक्षु प्रपातु माम्॥

फल श्रुति

इत्येतत्-कवचं देव! कुण्डलिन्याः प्रसिद्धदं।
ये पठन्ति ध्यान-योगे योग-मार्ग-व्यवस्थिताः॥
ते यान्ति मोक्ष-पदवी मैहिके नात्र संशयः।
मूल पद्मे मनोयोगं कृत्वा हृदायसन-स्थितः॥

मन्त्री ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्म-पद्म-प्रकाशिनीं।
धर्मोदयां दयारुढ़ामाकाश-स्थान-वासिनीं॥
अमृतानन्द-रसिकां विकलां सकलां सितां।
असितां रक्त-रहितां विरक्तां रक्त विग्रहाम्॥
रक्त-नेत्रां कुल-क्षिप्तां ज्ञानाकुल-जलोज्ज्वलां ।
विश्वाकारां मनोरूपां मूले ध्यात्वा प्रपूजयेत्॥
यो योगी कुरुते एव स सिद्धो नात्र संशयः।
रोगी रोगात् प्रमुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात्॥
वस्तु-प्रियमवाप्नोति वस्तु हीनं पठेद्यदि।
पुत्र-हीनो लभेत् पुत्रं योग-हीनो भवेद् वशी॥
कवचं धारयेद् यस्तु शिखायां दक्षिणे भुजे।
वामा वामकरे धृत्वा सर्वाभीष्टमवाप्नुयात्॥
स्वर्णे रौप्ये तथा ताम्रे स्थापयित्वा प्रपूजयेत्।
स भूयात् कुण्डली पुत्रो यदि ध्यानं दृढ़ भवेत्॥

(रुद्रयामल तन्त्र से)

❑❑

21
कुण्डलिनी अष्टक

(रुद्रायमलतन्त्र से)

जन्मोद्धार निरीक्षणीय तरुणी वेदाहि बीजादिमा,
नित्यं चेतसि भाव्यते भुवि कदा सद्वाक्यं संचारिणी॥
मां सा तु प्रिय दास भाव कपटं संघायते श्रीधरे,
धात्रि! त्वं स्वयमादि देव वनिता दीनाति दीनं पशुम्॥ 1॥
रक्ताभामृत चन्द्रिका लिपि मयी सर्पाकृतिर्निंदिता,
जागृत कूर्म समाश्रिता भवती त्वं मां समालोकय॥
मांसोद्गन्ध कुगन्ध दोष जडितं वेदादिकार्यान्वितं,
स्वल्पान्यामल चन्द्र कोटिकिरणे नित्यं शरीरं कुरु॥ 2॥
सिद्धार्थी निज दोष वित् स्थल गतिर्व्याजीयते विद्यया
कुण्डल्याकुल मार्ग मुक्तनगरी माया कुमार्गः श्रिया।
यद्येवं भजति प्रभात समये मध्याह्न कालेऽथवा,
नित्यं यः कुल कुण्डली जप पदाम्भोजं स सिद्धो भवेत्॥ 3॥
वायव्याकाश चतुर्दलेऽति विमले वाञ्छा फलान्यालके,
नित्यं सम्प्रति नित्य देह घटिता सांकेतिता भाविता।
विद्या कुण्डलमानिनी स्वजननी माया क्रिया भावव्यते,
यैस्तैः सिद्ध कुलोद्भवैः प्रणतिभि सत् स्तोत्रकै शम्भुभिः॥ 4॥
वेधः शंकरमोहिनीं त्रिभुवनच्छायापटोद्गामिनी,
संसारादिमहाऽसुखप्रहरणी तत्र स्थिता योगिनी।
ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी स्वभुंजगा सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा,
ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी कुलकुटी-व्याघातिनी भाव्यते॥ 5॥
वन्दे श्रीकुलकुण्डलीं त्रिवलिभिः सांगैः स्वयम्भुव-प्रियां,
प्रावेष्ट्याम्बर-मार-चित्तचपलां बालाबलां निष्कलाम्।
या देवी परिभाति वेद वदना सम्भावनी तापिनी,
स्वेष्टानां शिरसि स्वयम्भु वनिता तां भावयामि क्रियाम्॥ 6॥
वाणीकोटि-मृदंगनादमदना-निःणिकोटि- ध्वनिः,
प्राणेशी रसराशिमूलकमलोल्लासैक-पूर्णानना।

आषाढोद्भव-मेघवाज-नियुत-ध्वान्तानना स्थायिनी,
माता सा परिपातु सूक्ष्मपथगा मां योगिनां शंकरी॥ 7॥
त्वामाश्रित्य नरा व्रजन्ति सहसा वैकुण्ठ-कैलासयो
रानन्दैक-विलासिनी शशिशतानन्दाननां कारणाम्।
मातः श्रीकुलकुण्डलि प्रियकरे काली-कुलोद्दीपनेः,
तत्स्थानं प्रणमामि भद्रवनिते मामुद्धर त्वं पशुम्॥ 8॥

फलश्रुति

कुण्डली-शक्ति-मार्गस्थं स्तोत्राष्टक-महाफलम्।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय स वै योगी भवेद् ध्रुवम्॥
क्षणदेव हि पाठेन कवि-नाथो भवेदिह।
पावित्री कुण्डली योगी ब्राह्मणी नो भवेन्महान्॥
इति ते कथितं नाथकुण्डली-कोमलं स्तवम्।
एतत् स्तोत्र प्रसादेन देवषु गुरु गष्यितिः॥
सर्वे देवा सिद्धि युतः अस्या स्तोत्र प्रसादतः।
द्वि परार्द्धं चिरञ्जीवी ब्रह्मा सर्व सुरेश्वरः॥
त्वष्टामपि मम निकटे स्थितो भगवती पतिः।
मां विद्धि परमां शक्तिं स्थूल सूक्ष्म स्वरूपिणीम्॥
सर्व प्रकाश करणीं विन्ध्य पर्वत वासिनीम्।
हिमालय सुतां सिद्धां सिद्ध मन्त्र स्वरूपिणीम्।
सर्वभूता महा बुद्धि दायिनीं दानवा पहाम्।
स्थित्युत्पत्ति लयकरीं करुणा सागर स्थिताम्॥
ज्ञानदां वृद्धिदां ज्ञान रत्न माला कला पदाम्।
सर्व तेजः स्वरूपा भामनन्त कोटि विग्रहाम्॥
दरिद्र धनदां लक्ष्मीं नारायण मनोरमाम्।
सदा भावय शम्भो! त्वं योग नायक पण्डितः॥
कुल मार्ग स्थितो मन्त्री सिद्धिमाप्नोति निश्चितम्।
वीर भाव प्रसादेन दिव्य भावमाप्नुयात्॥
दिव्यं भावं वीर भावं ये गृह्णन्ति नरोत्तमाः।
वाञ्छा कल्पद्रुम लता पतयस्ते न संशयः॥
भाव ग्रहण मात्रेण मम ज्ञानी भवेन्नरः।
अवश्यं सिद्धिमाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः॥

लघु स्तुति : कुण्डलिनी

मूलोन्निद्रभुजङ्गराज सदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं।
भित्वाधारसमूहमाशु विलसत् सौदामिनी सन्निभाम्॥
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौधेः पतिं।
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सच्चिन्तये कुण्डलीम्॥

उद्घाटन कवच

प्रार्थना-चक्र नायिकाओं/चक्रावरणगत देवियों की, 'रुद्रायमलतंत्र'

मूलाधारे स्थिता देवि, त्रिपुरा चक्रनायिका।
नृजन्म भीति-नाशार्थं, सावधान सदाऽस्तु मे॥ 1॥
स्वाधिष्ठानाख्य चक्रस्था, देवी श्री त्रिपुरेशिनी।
पशुबुद्धिं नाशयित्वा, सर्वैश्वर्यप्रदाऽस्तु मे॥ 2॥
मणिपूरे स्थित देवी, त्रिपुरेशीति विश्रुता।
स्त्री जन्म-भीतिनाशार्थं, सावधाना सदाऽस्तु मे॥ 3॥
स्वस्तिके संस्थिता देवी, श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी।
शोक भीति-परित्रस्तं, पातु मामनद्यं सदा॥ 4॥
अनाहताख्य-निलया, श्रीमत् त्रिपुरवासिनी।
अज्ञान भीतितो रक्षां, विदधातु सदा मम॥ 5॥
त्रिपुराश्रीरिति ख्याता विशुद्धारण्य स्थलस्थिता।
जरोद्भव-भयात् पातु, पावनी परमेश्वरी॥ 6॥
आज्ञा चक्रस्थिता देवी त्रिपुरामालिनी तु या।
सा मृत्युभीतितो रक्षां, विंदधातु सदा मम॥ 7॥
ललाट-पद्म-संस्थाना, सिद्धा या त्रिपुरादिका।
सा पातु पुण्यसम्भूतिर्भीति संद्यात् सुरेश्वरी॥ 8॥
त्रिपुराम्बेति विख्याता, शिरः पद्मे सुसंस्थिता।
सा पाप भीतितो रक्षां, विदधात्र सदा मम॥ 9॥
ये पराम्बापदस्थान गमने विघ्न सम्ययाः।
तेभ्यो रक्षतु योगेशी, सुन्दरी सकलार्तिहा॥ 10॥

विशेष

(**यदि चक्र साधानाएं करनी हैं तो 'कुण्डलिनी कवच' से पूर्व इस 'उद्घाटन कवच' को अवश्य करें।** क्योंकि इसमें चक्रों की देवियों से प्रार्थना की गई है।) जैसा कि पहले कह आए हैं, बहुत से ग्रन्थों में चक्रों की संख्या 8, बहुतों में 9, बहुतों में 10 मानी गई है। तथापि प्रमुख चक्र 7 ही हैं। सम्भवतः सात चक्रों के बीच पड़ने वाली तीन ग्रन्थियों को ही बहुत से विद्वानों ने चक्र माना है अथवा

प्रमुख चक्रों के अलावा जो अन्य छुटपुट चक्र हैं उन्हें भी मुख्य की गिनती में ही माना है। बहरहाल—यहां 10 चक्रों के गणित से उनकी दस देवियों से प्रार्थना की है। इस दृष्टि से दस चक्र उनकी दस देवियां तथा उनके भय (जिनका वे नाश करती हैं) इस प्रकार हैं—

चक्र	चक्रनायिका/देवी	भय
मूलाधार चक्र	त्रिपुरा	नृजन्म
स्वाधिष्ठान चक्र	त्रिपुरेशिनी	पशुबुद्धि
मणिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी	स्त्रीजन्म
स्वास्तिक चक्र	त्रिपुरसुन्दरी	शोक
अनाहत चक्र	त्रिपुरवासिनी	अज्ञान
विशुद्ध चक्र	त्रिपुराश्री	ज़रा (बुढ़ापा)
आज्ञा चक्र	त्रिपुरामालिनी	मृत्यु
ललाटपद्म चक्र	त्रिपुरासिद्धा	भीतिसंघ
सहस्रार चक्र	त्रिपुराम्बा	पाप
बिन्दु चक्र	सुन्दरी योगेशी	विघ्न

(भुवनेश्वरी, ललिता, त्रिपुर सुन्दरी आदि कुण्डलिनी देवी के ही पर्याय नाम हैं। साधक इनसे भ्रमित न हों।)

भुवनेश्वरी-अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र
('रुद्रायमल तन्त्र' से उद्धृत)

विनियोग

अस्य श्रीभुवनेश्वर्यष्टोत्तरशतनामस्तोत्रस्य शक्तिर्ऋषिः गायत्रीच्छन्दः। श्रीभुवनेश्वरीदेवता मम चतुर्वर्गसाधनार्थं पाठे। पूजने विनियोगः।

न्यास

(न्यास ध्यानादि उपरोक्त वर्णित एकाक्षरी मंत्र विधि के समान ही रहेंगे)।

स्तोत्र

महामाया महाविद्या महायोगा महोत्कटा।
महोश्वरी कुमारी च ब्रह्माणी ब्रह्माणी ब्रह्मारूपिणी॥ 1॥
वागीश्वरी योगरूपा योगिनी कोटिसेविता।
जया च विजया चैव कौमारी सर्वमङ्गला॥ 2॥
हिङ्गुला च विलासी च ज्वालिनी ज्वालरूपिणी।
ईश्वरी क्रूरसंहारी कुलमार्ग प्रदायिनी॥ 3॥

वैष्णवी सुभगाकारा सुकुल्याकुलपूजिता।
वामाङ्गा वामचारा च वामदेवप्रिया तथा ॥ 4 ॥
डाकिनी योगिनीरूपा भूतेशी भूतनायिका।
पद्मावती पद्मनेता प्रबुद्धा च सरस्वती ॥ 5 ॥
भूचरी खेचरी माया मातङ्गी भुवनेश्वरी।
कान्ता पतिव्रता साक्षी सुचक्षुः कुण्डवासिनी ॥ 6 ॥
उमा कुमारी लोकेशी सुकेशी पद्मरागिणी।
इन्द्राणी ब्रह्माचाण्डाली चण्डिका वायुवल्लभा ॥ 6 ॥
सर्वधातृमयी मूर्तिर्जलरूपा जलोदरी।
आकाशी रणगा चैव नृकपाल-विभूषणा ॥ 7 ॥
नर्मदा मोक्षदा चैव कामधर्मार्थदायिनी।
गायत्री चाथ सावित्री त्रिसन्ध्या तीर्थगामिनी ॥ 9 ॥
पौर्णमासी कुहूरूपा तिथिमूर्ति-स्वरूपिणी ॥ 10 ॥
सुरारिनाशकारी च उग्ररूपा च वत्सला।
अनला मर्धमात्रा च अरूणा पतिलोचना ॥ 11 ॥
लज्जा सरस्वती विद्या भवानी पापनाशिनी।
नागपाशधरा मूर्तिरगाधा धृतकुण्डला ॥ 12 ॥
क्षत्ररूपा क्षयकरी तेजस्विनी शुचिस्मिता।
अव्यक्ता व्यक्तलोका च शम्भुरूपा मनस्विनी ॥ 13 ॥
मातङ्गी मत्तमातङ्गी महादेवप्रिया सदा।
दैत्यघ्नी चैव वाराही सर्वशस्त्रमयी शुभा ॥ 14 ॥

सिद्धकुञ्जिकास्तोत्र

(शीघ्र मन्त्रसिद्धि के लिए 'रुद्रयामल तन्त्र' से)

अथ मन्त्र

ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे ॥ ॐ ग्लौं हुं क्लीं जूँ सः ज्वालय ज्वालय ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल

ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे ज्वल हं सं लं क्षं फट् स्वाहा।

इतिमन्त्र

नमस्ते रुद्ररूपिण्यै नमस्ते मधुमर्दिनि।
नमः कैटभहारिण्यै नमस्ते महिषार्दिनि ॥ 1 ॥
नमस्ते शुम्भहन्त्र्यै च निशुम्भासुरघातिनि ॥ 2 ॥
जाग्रतं हि महादेवि जपंसिद्धंकुरुष्व मे।
ऐंकारी सृष्टिरूपायै ह्रींकारी प्रतिपालिका ॥ 3 ॥

क्लींकारी कामरूपिण्यै बीजरूपे नमोऽस्तु ते।
चामुण्डा चण्डघाती च यैकारी वरदायिनी॥ 4॥
विच्चे चाभयदा नित्यं नमस्ते मन्त्ररूपिणी॥ 5॥
धां धीं धूं धूर्जटेः पत्नी (वां वीं वूं)वां वीं वूं वाग्धीश्वरी।
क्रां क्रीं क्रूं कालिका देवि शां शीं शूं में शुभं कुरु॥ 6॥
हुं हुं हुंकाररूपिण्यै जं जं जं जम्भनादिनी।
भ्रां भ्रीं भ्रूं भैरवी भद्रे भवान्यै ते नमो नमः॥ 7॥
अं कं चं टं तं पं यं शं वीं दूं ऐं वीं हं क्षं
धिजाग्रं धिजाग्रं त्रोटय त्रोटय दीप्तं कुरु कुरु स्वाहा।
पां पीं पूं पार्वती पूर्णा खां खीं खूं खेचरी तथा॥ 8॥
सां सीं सूं सप्तशती देव्या मन्त्रसिद्धिं कुरुष्व मे।
इदं तु कुब्जिकास्तोत्रं मन्त्र जागर्तिहेतवे।
अभक्ते नैव दातव्यं गोपितं रक्ष पार्वति॥
यस्तु कुब्जिकया देवि हीनां सप्तशतीं पठेत्।
न तस्य जायते सिद्धिरण्ये रोदनं यथा॥

(शिव पार्वती संवाद)

श्री कुण्डलिनी सहस्त्रनाम स्तोत्र

(रुद्रायमल तन्त्र से)

विनियोग

अस्य श्रीमहाकुण्डली-साष्टोत्तरशत-सहस्त्रनाम स्तोत्रस्य ब्रह्मा-ऋषिः, जगती छन्दः, भवगती श्रीमहाकुण्डली देवता, सर्व योग-समृद्धि-सिद्धयर्थे पाठे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास

श्रीब्रह्मर्षये नमः शिरसि। जगती-छन्दसे नमः मुखे। भगवती श्रीमहा-कुण्डलिनी-देवतायै नमः हृदि। सर्व-योग-समृद्धि-सिद्धयर्थे पाठे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

(विनियोग एवं न्यास आदि की विधियां पूर्ववत ही रहेंगी। मन्त्र बदल जाएंगे, जो कि ऊपर दे दिए गए हैं। इसके बाद कुण्डलिनी देवी का हृदय में ध्यान करते हुए निम्नलिखित स्तोत्र का पाठ करें)।

स्तोत्र

कुलेश्वरी कुलानन्दा कुलीना कुल-कुण्डली,
श्रीमन्महा-कुण्डली च कुल-कन्या कुल-प्रिया॥ 1॥

कुल-क्षेत्र-स्थिरता कौलो कुलीनार्थ-प्रकाशिनी,
कुलाया कुल-मार्गस्था कुल-शास्त्रार्थ-पातिनी॥ 2॥
कुलज्ञा कुल-योग्या च कुल-पुष्प-प्रकाशिनी,
सुकुलीना कुलाध्यक्षा कुल-चन्दन-लेपितां॥ 3॥
कुल-गर्भासना कुल्ला कुलच्छात्रा कुलात्मजा,
कुलीना नाग-ललिता कुण्डली कुल-पण्डिता॥ 4॥
कुल-द्रव्य-प्रिया कौला कलि-कन्या कुलान्तरा,
कुल-काली कुलामोदा कुलशब्दोत्भवाकुला॥ 5॥
कुल-रूपा कुलोदभूता कुल-कुण्डलिवासिनी,
कुलाभिन्ना कुलात्पन्ना कुलाचार-विनोदिनी॥ 6॥
कुल-दृक्ष-समुद्भूता कुल-माला कुल-प्रभा,
कुलज्ञा कुल-मध्यस्था कुल-कङ्कण-शोभिता॥ 7॥
कुलोत्तरा कौल-पूजा कुलालापा कुल-क्रिया,
कुल-भेदा कुल-प्राणा कुल-देवी कुल-स्तुतिः॥ 8॥
कौलिका कालिका काल्या कलि-भिन्ना कलाकला,
कलि-कल्मष-हन्त्री च कलि-दोष-विनाशिनी॥ 9॥
कङ्काली केवलानन्दा कालज्ञा काल-धारिणी,
कौतुकी कौमुदी केका काका काक-लयान्तरा॥ 10॥
कोमलांगी करालास्या कन्द-पूज्या च कोमला,
कैशोरी काक-पुच्छस्था कम्बलासन-वासिनी॥ 11॥
कैकेयी-पूजिता कोला कोल-पुत्री कपिध्वजा,
कमला कमलाक्षी च कम्बलाश्वतर-प्रिया॥ 12॥
कलिका-भंग-दोषस्था कालज्ञा काल-कुण्डली,
काव्यदा कविता-वाणी काल-सन्दर्भ-भेदिनी॥ 13।
कुमारी करुणाकारा कुरु-सैन्य-विनाशिनी,
कान्ता कुलागता कामा कामिनी काम-नाशिनी॥ 14॥
कामोद्भवा काम-कन्या केवला काल-घातिनी,
कैलास-शिखरारूढा कैलास-पति-सेविता॥ 15॥
कैलाश-नाथ-नमिता केयूर-हार-मण्डिता,
कन्दर्पा कठिनानन्दा कुलगा कीच-कृत्यहा॥ 16॥
कमलास्या कटोरा च कीट-रूपा कटि-स्थिता,
कन्देश्वरी कंद-रूपा कौलिका कंद-वासिनी॥ 17॥
कटकस्था काम-बीजा कृच्छाकृच्छगुणोदया,
कृच्छानन्दा कृच्छ-पूज्या कृच्छहा कृच्छ रक्षिका॥ 18॥

कारणांगी कृच्छ-वर्णा कीलिता कोकिल-स्वरा,
कांची-पीठ-स्थिता कांची काम-रूप-निवासनी॥ 19॥
कूटास्था कूट-भक्षा च काल-कूट विनाशिनी,
कामाख्या कमला काम्या कामराज-तनूद्भवा॥ 20॥
कामरूप-धरा कम्रा कमनीया कवि-प्रिया,
कञ्जानना कञ्ज-हस्ता कञ्च-पत्रायतेक्षणा॥ 21॥
काकिनी कामरूपस्था कामरूप-प्रकाशिनी,
कोला-विध्वंसिनी कङ्का कलङ्कार्क-कलङ्किनी॥ 22॥
महाकुल-नदी कर्णा कर्ण-काण्ड-विमोहिनी,
काण्डस्था काण्ड-करुणा कर्मकस्था कुटुम्बिनी॥ 23॥
कमलाभा कल्मा कल्ला करुणा करुणामयी,
करुणेशी करा-कर्त्री कर्तृ-हस्ता कलोदया॥ 24॥
कारुण्य-सागरोद्भूता कारुण्य-सिंधु-वासिनी,
कार्तिकेशी कार्तिकस्था कार्तिक-प्राण-पालिनी॥ 25॥
करुणा-निधि-पूज्या च करणीया क्रिया कला,
कल्पस्था कल्प-निलया कल्पातीता च कल्पिता॥ 26॥
कुलपा कुल-विज्ञाना कर्पिणी काल-रात्रिका,
कैवल्या कोकरस्था कल-मंजीर-रञ्जिनी॥ 27॥
कलयन्ती काल-जिह्वा किंकरासन-कारिणी,
कुमुदा कुशलानन्दा कौशल्याकाश-वासिनी॥ 28॥
कसापहास-हन्त्री च कैवल्य-गुण-सम्भवा,
एकाकिनी अर्क-रूपा कुवला कर्कट-स्थिता॥ 29॥
कर्कोटका कोष्ठ-रूपा कूट-वह्नि-कर-स्थिता,
कूजन्ती मधुर-ध्वानं कामयन्ती सुलक्षणा॥ 30॥
केतकी-कुसुमानन्दा केतकी-पुष्प-मण्डिता,
कर्पूर-पूर-रुचिरा कर्पूर-भक्षण-प्रिया॥ 31॥
कपाल-पात्र-हस्ता च कपाल चन्द्र धारिणी,
कामधेनु स्वरूपा च कामधेनुः क्रियान्विता॥ 32॥
कश्यपी काश्यपा कुन्ती केशान्ता केश मोहिनी,
काल कर्त्री कूप कर्त्री कुलपा काम चारिणी॥ 33॥
कुंकुमाभा कज्जलस्था कमिता कोप घातिनी,
केलिस्था केलि कलिता कोपना कर्पट स्थिता॥ 34॥
कालातीता कालविद्या कालात्म-पुरुषोद्भवा,
कष्टस्था कष्ट कुष्ठस्या कुष्ठहा कष्टहा कुशा॥ 35॥

कलिका स्फुट कर्त्री च काम्बोजा कामला कुला,
कुशलाख्या काक कुष्ठा कर्मस्था कूर्म मध्यगा॥ 36॥
कुण्डलाकार चक्रस्था कुण्ड गोलोद्भवा कफा,
कपित्थाग्र वसाकाशा कपित्थरोध कारिणी॥ 37॥
काहोड़ी, काहड़ा, काड़ा कंकला भाषकारिणी,
कनका कनकाभा च कनकाद्रि निवासिनी॥ 38॥
कार्पास यज्ञ सूत्रस्था कूट ब्रह्मार्थ साधिनी,
कलञ्ज भक्षिणी क्रूरा पुञ्जा कपि स्थिता॥ 39॥
कपाली साधना रता कनिष्ठाकाशा वासिनी,
कुञ्जरेशी कुञ्जरस्था कुञ्जरा कुञ्जरा गतिः॥ 40॥
कुञ्जस्था कुञ्ज रमणी कुञ्ज मन्दिर वासिनी,
कुपिता कोप शून्या च कोपाकोप विवर्जिता॥ 41॥
कपिजलस्था कापिंजा कपिंजल तरुद्भवा,
कुन्ती प्रेम कथाविष्टा कुन्ती मानस पूजिता॥ 42॥
कुन्तला कुन्त हस्ता च कुल कुन्तल मोहिनी,
कान्तांघ्रि सेविका कान्त शुक्ल कोशलावती॥ 43॥
केशि हन्त्री ककुत्स्था च ककुत्स्थ वन वासिनी,
कैलास शिखरानन्दा कैलास गिरि पूजिता॥ 44॥
कीलाल निर्मलाकारा कीलाल मुग्ध कारिणी,
कुतुका कुट्टनी कुट्टा कूटनामोद कारिणी॥ 45॥
क्रौंकारी क्रौंकरी काशी कुहू शब्दास्था किरातिनी,
कूजन्ती सर्वं वचनं कारयन्ती कृताकृतं॥ 46॥
कृपा निधि स्वरूपा च कृपा सागर वासिनी,
केवलानन्दा निरता केवलानन्द कारिणी॥ 47॥
कृमिला कृमि दोषघ्नी कृपा कपट कूट्टिता,
कृशांगी क्रम भंगस्था किंकरस्था कट स्थिता॥ 48॥
कान्त रूपा कान्त रता काम रूपस्य सिद्धिदा,
काम रूप पीठ देवी काम रुपाकुंजा कुजा॥ 49॥
काम रूपा काम विद्या काम रूपादि कालिका,
काम रूप कला काम्या काम रूप कुलेश्वरी॥ 50॥
काम रूप जनानन्दा काम रूप कुशाय धीः,
काम रूप कराकाशा काम रूप तरु स्थिता॥ 51॥
कामात्मजा काम कला काम रूप विहारिणी,
काम शास्त्रार्थ मध्यस्था काम रूप क्रिया कला॥ 52॥

काम रूप महा काली काम रूप यशो मयी,
काम रूप रमानन्दा काम रूपादि कामिनी॥ 53॥
कुल मूला काम रूप पद्म मध्य निवासिनी,
कृतांजलि प्रिया कृत्या देवी स्थिता कटा॥ 54॥
कटका काटका कोटि कटि घण्ट विनोदिनी,
कटि स्थूल तरा काष्ठा कात्यायन सु सिद्धिदा॥ 55॥
कात्यायनी काचलस्था काम चन्द्रानना कथा,
काश्मीर देश निरता काश्मीरी कृषि कर्मजा॥ 56॥
कृषि कर्म स्थिता कौर्मा कूर्म पृष्ठ निवासिनी,
काल घण्टा नारद रता कल मञ्जीर मोहिनी॥ 57॥
कलयन्ती शत्रु वर्गान् क्रोधयन्ती गुणागुणं,
कामयन्ती सर्व कामं काशयन्ती जगत् त्रयं॥ 58॥
कौल कन्या काल कन्या कौल काल कुलेश्वरी,
कौल मन्दिर संस्था च कुल धर्म विडम्बिनी॥ 59॥
कुल धर्म रताकारा कुल धर्म विनाशिनी,
कुल धर्म पण्डिता च कुल धर्म समृद्धिदा॥ 60॥
कौल भोग मोक्षदा च कौल भोगेन्द्र योगिनी,
कौल कर्मा नव कुला श्वेत चम्पक मालिनी॥ 61॥
कुल पुष्प माल्य कान्ता कुल पुष्प भवोद्मवा,
कौल कोल हरा करा कौल कर्म प्रिया परा॥ 62॥
काशी स्थिता काश कन्या काशी चक्षु प्रिया कुशा,
काष्ठासन प्रिया काका काक पक्षक कालिका॥ 64॥
कपाला कुल कर्त्री च कपाल शिखर स्थिता,
कथना कूपणा श्री दा कृपी कृपण सेविता॥ 65॥
कर्म हन्त्री कर्म गता कर्माकर्म विवर्जिता,
कर्म सिद्धि रता कामी कर्म ज्ञान निवासिनी॥ 66॥
कर्म धर्म सुशीला च कर्म धर्म वशंकरी,
कनकाब्ज सुनिर्माण महासिंहासन स्थिता॥ 67॥
कनक ग्रन्थि माल्याद्या कनक ग्रन्थि भेदिनी,
कनकोद्भव कन्या च कनकाम्भोज वासिनी॥ 68॥
काल कूटादि कूटस्था किटि शब्दान्तर स्थिता,
कंक पक्षि नाद मुखा कामधेनुद्भवा कला॥ 69॥
कंकणाभा धरा कर्दा कर्मदा कर्दम स्थिता,
कर्दमस्थ जलाच्छन्ना कर्दमस्थ जन प्रिया॥ 70॥

कमठस्था कार्मुकस्था कम्रस्था कंस नाशिनी,
कंस प्रिया कंस हन्त्री कंसाज्ञान करालिनी॥ 71॥
काञ्चनाभा काञ्चनदा कामदा क्रमदा कदा,
कान्त भिन्ना कान्त चिंता कमलासन वासिनी॥ 72॥
कमलासन सिद्धिस्था कमलासन देवता,
कुत्सिता कुत्सित रता कुत्सा शाप विवर्जिता॥ 73॥
कुपुत्र रक्षिका कुल्ला कुपुत्र मानसा पहा,
कुज रक्ष करी कौजी कुब्जाख्या कुब्ज विग्रहा॥ 74॥
कुनखी कूप विक्षुस्था कुकरी कुधनी कुदा,
कु-प्रिया कोकिला नन्दा कोकिला काम दायिनी॥ 75॥
कु कामिनी कुबुद्धिस्था कूर्प वाहन मोहिनी,
कुलका कुल लोकस्था कुशासन सिद्धिदा॥ 76॥
कौशिकी देवता कस्या कन्नाद नाद सुप्रिया,
कु सौष्ठवा कु मित्रस्था कुमित्र शत्रुं घातिनी॥ 77॥
कु ज्ञान निकरा कुस्था कुजिस्था कर्जदायिनी,
ककर्जा कर्ज कारिणी कर्ज बद्ध विमोहिनी॥ 78॥
कर्ज शोधन कर्त्री च कालास्त्र धारिणी सदा,
कु गतिः काल सुगतिः कलि बुद्धि विनाशिनी॥ 79॥
कलि काल फलोत्पन्ना कलि पावन कारिणी,
कलि पाप हरा काली कलि सिद्धि सु सूक्ष्मदा॥ 80॥
कालिदास वाक्य गता कालिदास सु सिद्धिदा,
कलि-शिक्षा-काल-शिक्षा कन्द-शिक्षा-परायणा॥ 81॥
कमनीय भावरता कमनीया कमनीय सु भक्तिदा,
कर काजन-रूपा च कक्षा वाद क्राकरा॥ 82॥
कञ्चु-वर्णा काक-वर्णा क्रोष्टु रूपा कपामला,
कोष्ट्र नाद रता कीता कातरा कातर प्रिया॥ 83॥
कातरस्था कातराज्ञा कातरानन्द कारिणी,
काश मर्द तरुद्भूता काश मर्द विभक्षिणी॥ 84॥
कष्ट हानिः कष्ट दात्री कष्ट लोक विरक्ति दा,
काया गता काय सिद्धिः काया नन्द प्रकाशिनी॥ 85॥
काय गन्ध हरा कुम्भा काय कुम्भा कठोरिणी,
कठोर तरु संस्था च कठोर लोक नाशिनी॥ 86॥
कुमार्ग स्थापिता कुत्रा कार्पास तरु सम्भवा,
कार्पास वृक्ष सुत्रस्था कु वर्गस्था करोत्तरा॥ 87॥

कर्णाट कर्ण सम्भूता कार्णाटी कर्ण पूजिता,
कर्णास्त्र रक्षिका कर्णा कर्णहा कर्ण कुण्डला॥ 88॥
कुन्तलादेश नमिता कुटुम्बा कुम्भ कारिका,
कर्णास रासना कृष्टा कृष्ण हस्ताम्बुजार्जिता॥ 89॥
कृष्णांगी कृष्ण देहस्था कु देशस्था कु मंगला,
क्रूर कर्म स्थिता कोरा किरात कुल कामिनी॥ 90॥
काल वारि प्रिया कामा काव्य वाक्य प्रिया क्रुधा,
कंज लता कौमुदी च कुज्योत्सना कलन प्रिया॥ 91॥
कलना सर्व भूतानां कपित्थ वन वासिनी,
कटु निम्ब स्थिता काख्या क वर्गाख्या का वर्गिका॥ 92॥
किरातच्छेदिनी कार्या कार्य कार्य विवर्जिता,
कात्यायनादि कल्पस्था कात्यायन सुखोदया॥ 93॥
कुक्षेत्रस्था कुलाविघ्ना करणादि प्रवेशिनी,
कांकाली किंकला काला कीलिता सर्व कामिनी॥ 94॥
कीलितापेक्षिता कूटा कूट कुंकुम चर्चिता,
कुंकुमागन्ध निलया कुटुम्ब भवन स्थिता॥ 95॥
कुंकृपा कारणानन्दा कविता रस मोहिनी,
काव्य शास्त्रानन्द रता काव्य पूजा कवीश्वरी॥ 96॥
कटकादि हस्ति रथ हय दुन्दुभि शब्दिनी,
कितवा क्रूर धूर्तस्था केका शब्द निवासिनी॥ 97॥
कें केवलाम्बिता केता केतकी पुष्प मोहिनी
कैं कैवल्य गुणोद्वास्या कैवल्य धन दायिनी॥ 98॥
करी धनीन्द्र जननी काक्षताक्ष कलंकिनी
कुडुवान्ता कांति शांताकांक्षा पारम हंस्यगा॥ 99॥
कर्त्री चित्ता कांत वित्ता कृष्णा कृषि भोजिनी
कुंकुमासक्त हृदया केयूर हार मालिनी॥ 100॥
कीश्वरी केशवा कुम्भा कैशोर जन पूजिता,
कालिका मध्य निरता कोकिल स्वर गामिनी॥ 101॥
कुर देह हरा कुम्बा कुडुम्बा कुर मेदिनी,
कुण्डलीश्वर संवादा कुण्डलीश्वर मध्यगा॥ 102॥
काल सूक्ष्मा काल यज्ञा काल हार करी कहा,
कहलस्था कलहस्ता कलहा कलहं करी॥ 103॥
कुरंगी श्री कुरंगस्था कोरंगी कुण्डलपहा,
कुल लक्ष्मीः कृष्ण बुद्धिः कृष्णा ध्यान निवासिनी॥ 104॥

कुतवा काष्ठव लता कृतार्थ करणी कुसी,
कलनकस्था कःस्वरस्था कलका दोष भंगजा॥ 105॥
कुसुमाकार कमला कुसुम स्त्रग् विभूषणा,
किंजल्का कैतवाकाशा कमनीय जालोदया॥ 106॥
ककार कूट सर्वांगी ककाराम्बर मालिनी,
काल भेद करा काटा कर्प वासा ककुत्स्थला॥ 107॥
कुवासा कबरी कर्वा कूसवी कुरु पालिनी,
कुरु पृष्ठा कुरु श्रेष्ठा कुरुणां ज्ञान नाशिनी॥ 108॥
कुतूहल रता कांता कुव्याप्ता कष्ट बन्धना,
कषायण तरुस्था च कषायण रसोद्भवा॥ 109॥
कवि विद्या कुष्ट हन्त्री कुष्ठ शोक विसर्जनी,
काष्ठासन गता कार्याश्रया काश्रय कौलिका॥ 110॥
कालिका कालि संत्रस्थ कौलिक ध्यानवासिनी
क्लृप्तस्था क्लृप्त जननी क्लृप्तच्छन्ना कपिध्वजा॥ 111॥
केशवा केशवानन्दा केश्यादि दानवापहा,
केशवांगज कन्या च केशवांगज मोहिनी॥ 112॥
किशोरार्चन योग्या च किशोर देव देवता,
कांतश्री करणी कुल्या कपटाप्रिय घातिनी॥ 113॥
कुकाम जनिता कौंचा कौंचास्था कौंच वासिनी,
कूपस्था कूप बुद्धिस्था कूप माला मनोरमा॥ 114॥
कुल पुष्पाश्रया कांति क्रमदा क्रमदा क्रमा,
कुविक्रमा कुक्रमस्था कुण्डली कुण्ड देवता॥ 115॥
कौण्डिल्य नगरोद्भूता कौंडिल्य गोत्र पूजिता,
कपिराज स्थिता कापी कपि बुद्धि बलोदया॥ 116॥
कपिध्यान परा मुख्या कुव्यवस्था कुसाक्षिदा,
कुमध्यस्था कुकल्पा च कुल पंक्ति प्रकाशिनी॥ 117॥
कुल भ्रमर देहस्था कुल भ्रमर नादिनी,
कुलासंगा कुलाक्षी च कुल मत्ता कुलानिला॥ 118॥
कलि चिह्ना काल चिह्ना कण्ठ चिह्ना कवीन्द्रजा,
करीन्द्रा कमलेश श्रीः कोटि कन्दर्प दर्पहा॥ 119॥
कोटि तेजो मयी कोट्या कोटीर पद्म मालिनी,
कोटीर मोहिनी कोटिः कोटि विधूद्भवा॥ 120॥
कोटि सूर्य समानास्या कोटि कालानलोपमा,
कोटीर हार ललिता कोटि पर्वत धारिणी॥ 122॥

कुल-युग्म-धरा-देवी कुच-काम प्रकाशिनी,
कुचानन्दा कुचाच्छन्ना कुल-काठिन्य-कारिणी॥ 123॥
कुच-युग्म-मोहनस्था कुच-मायातुरा-कुचा,
कुच-यौवन-सम्मोहा कुच-मर्दन-सौख्यदा॥ 124॥
काचस्था काच-देहा च काच-पूर निवासिनी,
काचग्रस्था काच-पर्णा कीचक-प्राण-नाशिनी॥ 125॥
कमला-लोचन-प्रेमा कोमलाक्षी-मन-प्रिया।
कमलाक्षी कमलजा कमलास्थ्सया करालजा॥ 126॥
कमलांघ्रि-द्वया काम्या कराख्या कर-मालिनी,
कर-पद्य-धरा कन्दा कन्द-बुद्धि-प्रदायिनी॥ 127॥
कमलोद्भव-पुत्री च कमला-पुत्र-कामिनी,
किरन्ती किरणाच्छन्ना किरण-प्राण-वासिनी॥ 128॥
काव्य-प्रदा काव्य-चित्ता काव्य-सार-प्रकाशिनी,
कलाम्बा कल्प-जननी कल्प-मेदासन-स्थिता॥ 129॥
कालेच्छा काल-सारस्था काल-मरण-घातिनी,
किरण-क्रम-दीपस्था कर्मस्था क्रम-दीपिका॥ 130॥
काल-लक्ष्मीः काल-चण्डा कुल-चण्डेश्वर प्रिया,
काकिनी-शक्ति-देहस्था कितवा किंत-कारिणी॥ 131॥
करञ्चा कंचुका कौञ्चा काम-चंचु-पुट-स्थिता,
काकाख्या काक-शब्दस्था कालाग्नि-दहनार्थिका॥ 132॥
कुचक्ष-निलया कुत्रा कुपुत्रा ऋतु-रक्षिका,
कनक-प्रतिमाकारा कर-बन्धाकृति-स्थिता॥ 133॥
कृति-रूपा कृति-प्राणा कृति-क्रोध-निवारिणी,
कुक्षि-रक्षा-करा कुक्षा कुक्षि ब्रह्माण्ड-धारिणी॥ 134॥
कुचि-देव-स्थिता कुक्षिः क्रिया-दक्षा क्रियातुरा,
क्रिया-निष्ठा क्रियानन्दा क्रतु-कर्मा क्रिया प्रिया॥ 135॥
कुशलासव-संसक्ता कुशारि-प्राण-वल्लभा,
कुशारि-वृक्ष-मदिरा काशी-राज-वशोद्यमा॥ 136॥
काशी-राज-गृहस्था च कर्तु-भातृ-गृह-स्थिता,
कर्णाभरण भूषाढ्य कण्ठ भूषा च कण्ठिका॥ 137॥
कण्ठस्था-गता कण्ठा कण्ठ पद्य निवासिनी,
कण्ठ-प्रकाश-कारिणी कण्ठ-माणिक्य-मालिनी॥ 138॥
कण्ठ पद्य सिद्धि करी कण्ठाकाशा निवासिनी,
कण्ठ पद्य साकिनीस्था कण्ठ षोडश पत्रिका॥ 139॥

कृष्णाजिन धरा विद्या कृष्णाजिन सु-वाससी,
कुतकस्था कुखेलस्था कुण्डवालं कृताकृता॥ 140॥
कल गीता काल ध्वजा कल भंग परायणा,
काली चन्द्रा कला काव्या कुचस्था कुचल प्रदा॥ 141॥
कचौर घातिनी कच्छा कच्छास्था कजातना,
कञ्जा छद मुखी कञ्जा कञ्ज तुण्डा कजीवनी॥ 142॥
काम राजीव खाद्यस्था कियद् हुंकार नादिनी,
कणाद यज्ञ सूत्रस्था कीलालमज्ञ संज्ञका॥ 143॥
कटि हासा कपास्था कु धूम निवासनी,
कटि नाट घोर तरा कुट्टला पालि प्रिया॥ 144॥
कामचाराब्ज नेत्रा च कामचोद्गार संक्रमा,
काष्ठा पर्वत सन्दाहा कष्टाकष्ट निवारिणी॥ 145॥
कहोड मन्त्र सिद्धस्था काहला डिण्डिम प्रिया,
कुल डिण्डिम वाद्यस्था काम डामर सिद्धिदा॥ 146॥
कुलामार मध्यस्था कुल केका निनादिनी,
कोजागर ढोल नादा कास्य वीर रण स्थिता॥ 147॥
कालादि करणच्छिद्रा करुणानिधि वत्सला,
क्रतु श्री दा कृतार्थ श्रीः काल तारा कुलोत्तरा॥ 148॥
कथा पूज्या कथानन्दा कथना कथन प्रिया,
कार्थ चिंता कार्थ विद्या काम मिथ्यापवादिनी॥ 149॥
कदम्ब पुष्प सङ्काशा कदम्ब पुष्प मालिनी,
कादम्बरी पान तुष्टा काय दम्भा कदोद्यमा॥ 150॥
कंकुले पत्र मध्यस्था कुलाधार धरा प्रिया,
कुल देव शरीरार्धा कुल धामा कला धरा॥ 151॥
काम राग भूषणाढ्या कामिनीरगुण प्रिया,
कुलीन नाग हस्ता च कुलीन नाग वाहिनी॥ 152॥
काम पूर स्थिता कोपा कपाली वन्दनोद्भवा,
कारागार जना पाल्या कारागार प्रपालिनी॥ 153॥
क्रिया शक्ति काल पंक्तिः कर्ण पंक्तिः कफोदया,
काम फुल्लारविन्दस्था काम रूप फलाफला॥ 154॥
काय फला काय फेणा कान्ता नाड़ी फलीश्वरा,
काम फेरू गौरी काय वाणी कुवीरगा॥ 155॥
कबरी मणि बन्धस्था कावेरी तीर्थ संगमा,
काम भीति हरा कांता काम वाकु भ्रमातुरा॥ 156॥

कवि भाव हरा भामा कमनीय भया पहा,
काम गर्भ देव माता काम कल्प लतामरा॥ 157॥
कमठ प्रिय मांसादा कमठा कामठ प्रिया,
किमाकारा किमाधारा कुम्भ कार मनः स्थिता॥ 158॥
काम्य यज्ञ स्थिता चण्डा काम यज्ञोपवीतिका,
काम यज्ञ सिद्ध करी काम मैथुन यामिनी॥ 159॥
कामख्या यम लासस्था काल यामा कु योगिनी,
कुरु याग हतायोग्या कुरु मांस विभक्षिणी॥ 160॥
कुरु रक्त प्रियाकारी किंकर प्रिय कारिणी,
कर्त्रीश्वरी कारणात्मा कवि भक्षा कवि प्रिया॥ 161॥
कवि शत्रु प्रष्ठ लग्ना कैलासोपवन स्थिता,
कलि त्रिधा त्रिसिद्धिस्था कलि त्रिदिन सिद्धिदा॥ 162॥
कलंक रहिता काली कलि कल्मष कामदा,
कुल-पुष्प-रंग-सूत्र-मणि-ग्रन्थि-सुशोभना ॥ 163॥
कम्बोज-वंग-देशस्था कुल-वासुकि-रक्षिका,
कुल-शास्त्र-क्रिया-शांतिः कुल-शांतिः कुलेश्वरी॥ 164॥
कुशल-प्रतिभा काशी कुल-षट्-चक्र-भेदिनी,
कुल-षट्-पद्म-मध्यस्था कुल-षट्-पद्म-दीपिनी॥ 165॥
कृष्ण-मार्जार-कोलस्था कृष्ण-मार्जार-षष्ठिका,
कुल-मार्जार-कुपिता कुल-मार्जार षोडशी॥ 166॥
कालांत-कवलोत्पन्ना कपिलांतक-घातिनी,
कल-हासा कालह-श्री कहलार्था कलामला॥ 167॥
कक्षप-पक्ष-रक्षा च कुक्षेत्र-पक्ष-संक्षया,
काक्ष-रक्षा-रक्षिणी च महा-मोक्ष प्रतिष्ठिता॥ 168॥
अर्क-कोटि-शतच्छाया आन्वीक्षि-किंकरार्चिता,
कावेरी-तीर-भूमिस्था आग्नेयार्कास्त्र-धारिणी॥ 169॥
इं किं श्रीं काम-कमला पातु कैलास-रक्षिणी,
मम श्री ईं बीज-रूपा पातु काली शिर-स्थलम्॥ 170॥
अरु-स्थलाब्जं सकलं तमोल्का पातु कालिका,
उडू-मूलार्क-रमणी उष्ट्रोग्र कुल-मातृका॥ 171॥
कृतापेक्षा कृत-मती कुङ्कारी किं-लिपि-स्थिता,
कुं-दीर्घ-स्वरा क्तृमा के-कैलास-करार्चिका॥ 172॥
कैशोरी कैं करी कैं कें वीजाख्या नेत्र-युग्मकं,
कोमा-मतंग-यजिता कौशल्यादि-कुमारिका॥ 173॥

पातु में कर्ण-युग्मं तु क्रौं क्रौं जीव-करालिनी,
गण्ड-युग्मं सदा पातु कुण्डली-स्वांक-वासिनी॥ 174॥
अर्क-कोटि-शताभासा अक्षराक्षर-मालिनी,
आशुतोष-करी हस्ता कुल-देवी निरञ्जना॥ 175॥
पातु मे कुल-पुष्पाढ्या पृष्ठ-देशं सुकृत-तमा,
कुमारी कामना-पूर्ण पार्श्व-देशं सदावतु॥ 176॥
देवी कामाख्यका देवी पातु प्रत्यंगिरा कटिं,
कटिस्थ देवता पातु लिंग मूलं सदा मम॥ 177॥
गुह्य देशं काकिनी मे लिंगाधः कुल सिंहिका,
कुल नागेश्वरी पातु नितम्ब देशमुत्तमं॥ 178॥
कंकाल मालिनी देवी मे पातु चोरु मूलकं,
जंघा युग्मं सदा कीर्तिः चक्रापहारिणी॥ 179॥
पाद युग्मं पाक संस्था पाक शासन रक्षिका,
कुलाल चक्र भ्रमरा पातु पादांगुलीर्मम॥ 180॥
नखाग्राणि दश विद्या तथा हस्त द्वयस्य च,
विशं रूपा काललाक्षा सर्वदा परि रक्षतु॥ 181॥
कुलच्छत्राधार रूपा कुल मण्डल गोपिता,
कुल कुण्डलिनी माता कुल पण्डित मण्डिता॥ 182॥
काकानना काक तुण्डी काकायुः प्रखरार्कजा,
काम ज्वरा काक जिह्वा कपि क्रोधासन स्थिता॥ 183॥
कपि ध्वजा कपि क्रोशा कपि वाला कपि स्वरा,
काल कांची विंशतिस्था सदा विंश नखाग्रहं॥ 184॥
पातु देवी काल रूपा कलि काल फलालया,
वाते वा पर्वते वापि शून्यागारे चतुष्पथे॥ 185॥
कुलेन्द्र समयाचारा कुलाचार जन प्रिया,
कुल पर्वता संस्था च कुल कैलास वासिनी॥ 186॥
महा दावानले पातु कुमार्गे कुत्सिता ग्रहे,
राज्ञोऽप्रिये राज वश्ये महा शत्रु विनाशने॥ 187॥
कलि काल महालक्ष्मीः क्रिया लक्ष्मीः कुलाम्बरा,
कवीन्द्र कीलिता कीला कीलाल स्वर्ग वासिनी॥ 188॥
दश दिक्षु सदा पातु इन्द्रादि दश लोकपा,
नवच्छिन्नै सदा पातु सूर्यादिक नव ग्रहाः॥ 189॥
पातु मां कुल मांसाढ्या कुल पद्म निवासिनी,
कुल द्रव्य प्रिया मध्या षोडशी भुवनेश्वरी॥ 190॥

विद्या वादे विवादे च मत्त-काले महा भये,
दुर्भिक्षादि भये चैव व्याधि संकर पीड़िते॥ 191॥
काली कुल्ला कपाली च कामाख्या काम चारिणी,
सदा मां कुल संसर्गे पातु कौले सु संगता॥ 192॥
सर्वत्र सर्व देशे च कुल रूपा सदावतु,
इत्येतत् कथितं नाथं! मातः प्रसाद हेतुना॥ 193॥
अष्टोत्तर शतं नाम सहस्त्रं कुण्डली प्रियं,
कुल कुण्डलिनी देव्याः सर्व मन्त्र सुसिद्धये॥ 194॥

फलश्रुति

सर्व देव मनूनां च चैतन्याय सु सिद्धये।
अणिमाद्यष्ट सिद्धयर्थं साधकानां हिताय च॥
ब्राह्मणाय प्रदातव्यं कुल द्रव्य पराय च।
अकुलीनेऽब्राह्मणे च न देयः कुण्डली स्तवः॥
प्रवृत्ते कुण्डली चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा पृथक् पृथक्॥
कुलीनाय प्रदातव्यं साधकाय विशेषतः।
दानादेव हि सिद्धिः स्यान्ममाज्ञा बल हेतुना॥
मम क्रियायां यः तिष्ठेत् स मे पुत्रो न संशयः।
स आयाति मम पदं जीवन्मुक्त स मानवः॥
आसवेन स मांसानि कुल वह्नौ महा निशि।
नाम प्रत्येक मुच्चार्य जुहुयात् काय सिद्धये॥
पञ्चाचार रतो भूत्वा ऊर्ध्व रेता भवेद् यतिः।
संवत्सरान्मम स्थाने आयाति नात्र संशयः॥
ऐहिके कार्य सिद्धिः स्यात् दैहिके सर्व सिद्धिदः।
वशी भूत्वा त्रि मार्गस्थाः स्वर्ग भूतल वासिनः॥
अस्य भूत्याः प्रभवन्ति इन्द्रादि लोक पालकाः।
स एव योगी परमो यस्यार्थेऽयं सु-निश्चलः॥
यो लोकः प्रजपत्येवं स शिवो न च मानुषः।
सा समाधि गतो नित्यो ध्यानस्थो योगि वल्लभः।
चतुर्व्यह गतो देवः सहसा नात्र संशयः।
यः प्रधारयते भक्त्या कण्ठे वा मस्तके भुजे॥
स भवेत् कालिका पुत्रो विद्या नाथः स्वयं भुवि।
धनेशः पुत्रवान् योग यतीशः सर्वगो भवेत्॥
यदि पठति मनुष्यो मानुषी वा महत्या।
सकल धन जनेशी पुत्रिणी जीव वत्सा॥

कुल पतिरिह लोके स्वर्ग मोक्षैक हेतुः।
स भवति भव नाथो योगिनी कल्लभेराः॥
पठति य इह नित्यं भक्ति भवेन मर्त्यो।
हरणमणि करोति प्राण विप्राण योगः॥
स्तवन पठन पुण्यं कोटि जन्माद्य नाशं।
कथितुमपि न शक्तोऽहं महा मांस भक्षा॥

दत्तात्रेय स्तोत्र

(योग सिद्धि तथा विघ्न निवारण के लिए देवर्षि नारद कृत)

जगदुत्पत्तिकत्रै च स्थिति संहार हेतवे।
भवपाशविमुक्ताय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 1॥
जराजन्म विनाशाय देहशुद्धिकराय च।
दिगंबर दयामूर्ति दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 2॥
कपूरकान्तिदेहाय ब्रह्ममूर्तिधराय च।
देवशात्रपरिज्ञाय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 3॥
ह्रस्वदीर्घ कृशस्थूल नाम गोत्र विवर्जितः।
पंचभूतैकदीप्ताय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 4॥
यज्ञभेक्त्रे च यज्ञाय यज्ञरूपाय तथा चूं वै।
यज्ञ प्रियाम सिद्धाय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 5॥
आद्यो ब्रह्मा मध्ये विष्णुरंते देव सदाशिवः।
मूर्तिमय स्वरूपाय दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 6॥
भोगलयाय भोगाय भोगयोग्याय धारिणे।
जितेंद्रिय जितज्ञाय दत्तात्रेय नमोऽस्तु॥ 7॥
दिगंवराय दिव्याय दिव्यरूपधराय च।
सदोदित परब्रह्म दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 8॥
भिक्षाटनं गृहे ग्राम पात्रं हेममयं करे।
नाना स्वादमयी भिक्षा दत्तात्रेय नमोऽस्तुते॥ 9॥

रुद्रमृत्युञ्जय स्तोत्र

आनन्द भैरव के आग्रह पर यह स्तोत्र आनन्द भैरवी ने प्रकट किया था। साधना मार्ग में रोगमुक्त रहने के लिए इसका नित्यपाठ एक प्रबल सम्बल हो यह 'रुद्रयामल तन्त्र' से लिया गया है। इसके नित्य पाठ से योग साधना में रोग, विकार नहीं सताते। यदि मणिपूरक चक्र में कुम्भक कर इस स्तोत्र का पाठ किया जाए तो साधक जीवनमुक्त हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। इस स्तोत्र में सुख व मोक्ष के लिए शिव की स्तुति की गई है।

विशेष

लेकिन केवल मन्त्र पाठ ही सफलता के लिए काफी नहीं होते, यम, नियम, संयम द्वारा पात्रता का उत्पन्न कर लेना आवश्यक होता है। दुर्भावनाएं, तामसिक वृत्ति और अशुद्धि या विकार सदैव साधना में घातक होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ परिग्रहात्।
परस्त्रीभिर्मनोदग्धं मन्त्रसिद्धिः कथं भवेत्॥

पराये अन्न को ग्रहण करने/अनधिकार चेष्टा द्वारा छीन या हड़प लेने से जीभ जल जाती है। पराये (धन आदि) को उठा लेने पर हाथ जल जाता है। पराई स्त्री पर कुदृष्टि रखने से मन जलता है, फिर मंत्र सिद्धि (ऐसे लोगों के लिए) कैसे संभव है।

स्तोत्र पाठ

ॐ भजामि शम्भु सुखमोक्षहेतुं रुद्र महाशक्ति समाकुलाङ्गम्।
रौद्रात्मकं चारु हिमांशुशेखर कालं गणेशसुमुखाय शंकरम्॥ 1॥
मृत्युञ्जययं जीवनरक्षकं परं शिवं परब्रह्माशरीरमंगलम्।
हिमांशु कोटिच्छविमादधानं भजासि पद्मद्वयमध्यसंस्थितम॥ 2॥
सर्वात्मकं कामविनाशमूलं तं चन्द्रचूडं मणिपूरवासिनम्।
चतुर्भुजं ज्ञानसमुद्रयाठयं पाशं मृगाक्षं गुणसूताव्याप्तम्॥ 3॥
धरामयं तेजसमिन्दुकोटिं वायु जलेशं गगनात्मकं परम्।
भजामि रुद्रं कुललाकिनीगतं सर्वागयोगं जयदं सुरेश्वरम्॥ 4॥
शुक्तं महाभीमजयं पुराणं प्राणात्मकं व्याधिविनाशमूलम्।
यज्ञात्मकं कामनिवारणं गुरूं भजामि विश्वेश्वरशंकरं शिवम्॥ 5॥
वेदागमानामतिमूलदेशं तदुद्भवं भद्रहितं परापरम्।
कालान्तकं ब्रह्मासनातमप्रियं भजामि शम्भुं गगनाधिरूढ़म्॥ 6॥
शिवागमं शब्दमयं विभाकरं भास्वत्प्रचण्डानलविग्रहं ग्रहम्।
ग्रहस्थितं ज्ञानकरं करालं भजामि शम्भु प्रकृतीश्वरं हरम्॥ 7॥
छायाकरं योगकरं सुखेन्द्रं मत्तं महामत्तकुलोत्सवाढ्यम्।
योगेश्वरं योगकलानिधिविधिं विधानवक्तारमहं भजामि॥ 8॥
हेमाचलालंकृत शुद्धवेशं वराभयादाननिदान मूलम्।
भ्जामि कान्तं वनमालशोभितं चामूलपद्यामलमालिनं कुलम्॥ 9॥
स्वयं पुराणं पुरूषेश्वरं गुरु मिथ्यामयाह्लादविभाविनं भजे।
भावप्रियं प्रेमकलाधरं शिवं गिरीश्वरं चारूपदारविन्दम्॥ 10॥
ध्यानप्रियं ज्ञानगभीरयोगं भाग्यास्पदं भाग्यसमं सुलक्षणम्।
शूलायुधं शूलविभूषितांगं श्रीशंकरं मोक्षफलप्रियं भजे॥ 11॥
नमो नमो रुद्रगणेभ्य एवं मृत्युञ्जयेभ्यः कुलचञ्चलेभ्यः।
शक्तिप्रियेभ्यो विजयादिभूतये शिवाय धन्याय नमो नमस्ते॥ 12॥

बाह्यं त्रिशूलं वरसुक्ष्म भावं विशालनेत्र तनुमध्यगामिनम्।
महाविपद्दुःखविनाशबीजं प्रज्ञादयाकान्तिकरं भजामि॥ 13॥
पुरान्तकं पूर्णशरीरिणं गुरु स्मरारिमाद्यं निजतर्कमार्गगम्।
अनादिदेवं दिविदोषधातिनं भजामि पञ्चाक्षरपुण्य साधनम्॥ 14॥
दिगम्बरं पद्ममुखं करस्थं स्थितिक्रियायोग नियोजनं भवम्।
भावात्मकं भद्रशरीरिणं शिवं भजामि पञ्चाननमर्कवर्णम्॥ 15॥
मायामयं पंकजदामकोमलं दिग्व्यापिनं दण्डधरं हरेश्वरम्।
त्रिपक्षकं त्र्यक्षरबीजभावं त्रिपद्ममूलं त्रिगुणं भजामि॥ 16॥
विद्याधरं वेदविधानकार्यं कायागतं नीतिनि नादतोषम्।
नित्यं चतुर्वर्गफलादिमूलं वेदादिसूत्रं प्रणमामि योगम्॥ 17॥
वेदान्तवेद्यं कुलशास्त्रविज्ञं क्रियामयं योगसुधर्मदानम्।
भक्तेश्वरं भक्तिपरायणं वरं भक्तं महाबुद्धिकरं भजाम्यहम्॥ 18॥
गतागतं गम्यमगम्यभावं समुल्लसत्कोटि कलावतं सम्।
भावात्मकं भावमयं सुखासुखं भजामि भर्गं प्रथमारूणप्रथम्॥ 19॥
बिन्दुस्वरूपं परिवादवादिन मध्याह्न सूर्यायूतं सन्निभं नवम्।
विभूतिदानं निजदानदानं दानात्मकं तं प्रणमामि देवम्॥ 20॥
कुम्भापहं शत्रुनिकुम्भघातिनं दैत्यारिमीशं कुलकामिनीशम्।
प्रीत्यान्वितं चिन्त्यमचिन्त्यं भावं प्रभाकरह्लादमहं भजामि॥ 21॥
त्रिमूर्तिमूलाय जयाय शम्भवे हिताय लोकस्य वपुर्धराय।
नमो भयच्छिन्नविद्यातिने पते नमो नमो विश्वशरीरधारिणे॥ 22॥
तपः फलाय प्रकृतिग्रहाय गुणात्मने सिद्धिकराय योगिने।
नमः प्रसिद्धाय दयातुराय, वाञ्छाफलोत्साह विवर्धनायते॥ 23॥
शिवममरमहान्तं पूर्ण योगाश्रयन्तं धरणिधर कराब्जैर्वर्धमानं त्रिसर्गम्।
विषममरणधातं मृत्युपूज्यं जनेशं विधिगणपतिसेत्यं पूजये भावयामि॥ 24॥

गणेश साधना

विशेष—कोई भी पूजा, आराधना, साधना तब तक विघ्न-बाधाओं के कारण अनिश्चित ही रहती है, जब तक कि विघ्नेश्वर गणेश की आराधना न की जाए। योगसिद्धि के लिए भी गणेश जी की प्रसन्नता अनिवार्य है। अतः हम अपने पाठकों के कल्याणार्थ छोटी-सी गणेश साधना भी दे रहे हैं। पाठक अवश्य इसका लाभ उठाएंगे।

गणपति महामन्त्र

प्रणवं कमलां लज्जां कन्दर्प मठ-बीजकम्।
शंकरं षट् शिरोमन्त्रं ततः पल्लवमुद्धरेत्॥
गणपति पश्चादृ वाच्यं वर-वरदमेव च।
सर्वजनं ततः पश्चान्मे वशमानयेति च॥

'**रुद्रायमल तन्त्र**' के अनुसार इस मन्त्र का मूलमन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतेय वर वरद सर्वजनं में वशमानय स्वाहा।**'

उपर्युक्त मन्त्र का जाप करना हो तो इसके विनियोग और न्यासादि व ध्यानादि इस प्रकार हैं—

विनियोग

ॐ अस्य श्रीमहागणपतिमन्त्रस्य गणक ऋर्षिर्निचृद्गायत्रीच्छन्दो महागणपति र्देवता गं बीजं स्वाहा शक्तिः ग्लौं कीलकं सम श्रीमहागणपति-प्रसाद सिद्धयर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

गण ऋषिये नमः (शिरसि), निचृद्गायत्रीच्छन्दसे नमः (मुखं) महागणपति देवतायै नमः (हृदये), गं बीजाय नमः (गुह्यं), स्वाहा शक्तये नमः (पादयोः), ग्लौं कीलकाय नमः (नाभौ), महागणपति-प्रसाद सिद्धयर्थे जपे विनियोगाय नमः (सर्वांगे)।

कर-षडङ्गन्यास (कर) प्रथम बार(षडंग) दूसरी बार

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गां	(अंगुष्ठाभ्यां नमः)	(हृदयाय नमः)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गीं	(तर्जनीभ्यां नमः)	(शिरसे स्वाहा)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गूं	(मध्यमाभ्यां नमः)	(शिखायै वषट्)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गें	(अनामिकाभ्यां नमः)	(कवचाय हुम्)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गौं	(कनिष्ठिकाभ्यां नमः)	(नेत्राभ्याम् वौषट्)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गः	(करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः)	(अस्त्राय फट्)

ध्यान

बीजापुर गदेक्षुकार्मुकरुजा-चक्राब्जपाशोत्पला,
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्न-कलश-प्रोद्यत्मकराम्भोरुहः ।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरयाश्लिष्टो ज्वलद्भूपया,
विश्वोत्पत्ति-विपत्ति-संस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः॥

(इसके बाद मानसिक पूजन करके जाप करें।)

वैसे गणेशजी का एकाक्षरी मंत्र और बीज मंत्र 'गं' है।

गुरुकृपा

गणेशजी के साथ गुरुकृपा भी आवश्यक है। गुरु न हों तो भगवान शिव को ही गुरु मानें और '*रुद्राष्टक*' का पाठ करें। वैस '**ॐ गं गुरुभ्यौ नमः।**' गुरु प्रणाम मन्त्र हैं। जिससे संक्षिप्त गुरु पूजन हो जाता है।

❑❑❑

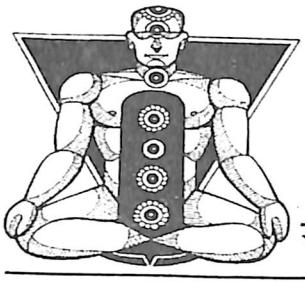

22 सप्तचक्रों की युक्ति संगतता

प्रमुख चक्रों की संख्या सात ही होना अधिक तर्कपूर्ण और युक्ति युक्त है। क्योंकि सृष्टि में प्रधान सत्ताओं का वर्गीकरण सप्तविभागों में ही हुआ है और **'यत्पिण्डेत्तत् ब्रह्माणे'** न्याय के अनुसार उसी सृष्टि का शरीर के भीतर होना भी सिद्ध होता है, जो शरीर से बाहर है। जैसा कि अनेक धर्म, योग एवं ज्योतिष सम्बंधित ग्रन्थों में इंगित किया गया है। **'शिव संहिता'** में तो स्पष्ट ही कहा है— **ब्रह्माण्ड सन्त के देहे यथा देशं व्यवस्थितः।** (शरीर ब्रह्मांड संज्ञक है। जो ब्रह्मांड में है, वही इस शरीर में भी स्थित है)।

उदाहरणार्थ—सृष्टि में **सात रंग** (इन्द्रधनुषीय या प्रकाश के), **सात वार** (सप्ताह के), **सात प्रमुख पर्वत** (विद्रूम, द्युतिमान, मंदराचल, हरिशैल, पुष्पवान, हिमशैल, कुशेशय) अथवा (सुमेरू, हिमवान या हिमालय, विन्ध्याचल, मन्दराचल, कैलाश) **सात समुद्र** (मार्कण्डेय पुराण के अनुसार—लवण, इक्षु, सुरा, दुग्ध, दधि, घृत एवं जल) वर्तमान व्यवहारिक दृष्टि से सात (लाल, अरब, प्रशांत, हिन्द, मृत एवं बंगाल) सागर, **सात द्वीप** (पौराणिक दृष्टि से जम्मू, प्लक्ष, श्याल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक, पुष्कर), **सात अग्नि** (ब्रह्म, आत्म, योग, काल, सूर्य, वैश्वानर और आतप), **सात अग्नि जिह्वाएं** (काली, कराली, मनोजवा, लोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगनिी तथा विश्वरूचि—मुण्डकोपनिषद् के अनुसार) **सात हंवियज्ञ** अग्निपुराण के अनुसार (अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रहायण, निरुढ़), **सात चरू** (वैदिक दृष्टि से—पुरोष्टक, पार्वण, श्रावणी, अग्रहायणी, चैत्र, अश्व, युजी) **सात यज्ञ** (अग्निस्तोत्र, अष्टवक्य, षोडसी, बाजपेयक, अतिरात्र, आप्त, याम) **सात नदियां** (देवत, श्यामक, रम्भ, उद्रक, जलधर, केशर्य तथा अम्बिकेय) **सात निम्न लोक** (भूतल, सुतल, वितल, महातल, रसातल, पाताल आदि) **सात उर्ध्व लोक** (स्वर्ग, सूर्य, ब्रह्म, रुद्र, विष्णु, तप, सत्य), **गायत्री की सात व्याहृतियां तदनुसार-सप्तलोक** (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम), **सात ऋषि** (वशिष्ट, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र तथा भारद्वाज), इसी प्रकार श्रुतियों में **प्राण भी सात** कहे गए हैं। इत्यादि अनेक उदाहरणों के आधार पर शरीरस्थ प्रधान चक्रों की संख्या भी सात ही युक्ति संगत प्रतीत होती है। **विशेष तौर पर जबकि प्रत्येक चक्र सात विवरणों के साथ है। यथा—बीज, वाहन,**

अधिदेवता, दल, यन्त्र/आकृति, शब्द और रंग। अत: 8, 9, 10 अथवा 6 के स्थान पर प्रमुख चक्रों की संख्या 7 ही माना जाना तर्कपूर्ण है।

मन्त्र

'**विज्ञान भैरव**' में वर्णित धारणा-28, श्लोक-51 के अनुसार—

कालाग्नि कालेपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभा सस्तदा भवेत्॥

कालपदाद् दक्षिणपादाङ्गुष्ठाद् उत्थितेन कालाग्निना स्वकं पुरम् आत्मीयं देहमेव गुग्गुलम् ''**ॐ र क्ष र य ऊं तनुं दाहयामि नमः**'' इति मन्त्रोच्चारपूर्वक शरीरदाहादिचिन्तनयोगयुक्त्या आत्मभावनाया पलुष्टं विचिन्तयेन् दग्धं विभावयेत्। तदा अन्ते स योगी शान्ता भासो भवेद् अभिव्यक्तस्वात्मस्वरूप: स्यात्। 'शान्तामास: प्रजायते' इति पाठे योगिनश्चिन्मयमूर्तिमान् विभावसु: प्रकाशत इत्यर्थ: ॥'

'**ॐ र क्ष र य ऊं तनु दाहयामि नमः।**' इस मंत्र का उच्चारण करते हुए कालपद, अर्थात् दाहिने पैर के अंगूठे से उठती हुई कालाग्नि का ध्यान करके, उसकी ज्वाला से मेरा पूरा शरीर भस्म हो गया है—ऐसी भावना करें। अपने शरीर को गुग्गुल समझें। (जैसे गुग्गुल अग्नि में भस्म हो जाता है, वैसे ही अपने शरीर के कालाग्नि में भस्म हो जाने की भावना करें)। इस भावना के अभ्यास से साधक के सभी मल दग्ध हो जाते हैं और अपने शान्त स्वरूप को साधक प्राप्त कर लेता है।

श्लोक में '**पुर**' नामक श्लिष्ट पद का प्रयोग किया गया है। 'पुर' का अर्थ गुग्गुल भी होता है और यह देह का भी बोधक है। गुग्गुल जलकर जैसे वातावरण को सुगंधित करने के साथ-साथ उसे विषाक्त कीटाणुओं से मुक्त करता है, उसी प्रकार उक्त भावना का अभ्यास साधक के दोष व मलों को नष्ट कर उसे उसके शान्त स्वरूप की प्राप्ति कराता है। यानि उसके समक्ष चिन्मय मूर्तिमान, अग्नि प्रकाशित हो जाती है। जैसे 'महार्थ मंजरी' में इसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से शोष, दाह और आप्लावन प्रक्रिया के आधार पर साधक के देह को अमृतमय बना देने की बात कही गई है। यथा—

शोषा मलस्य नाशो दाह एतस्य वासनोच्छेदः।
आप्लावनं तनूनां ज्ञान सुधासे कनिर्मिता शुद्धिः॥

योग साधना में पंचमकार

तंत्र मार्ग में आध्यात्मिक साधनाओं में पंचमकारों का बहुत महत्व है। प्राय: अपने स्वार्थों की पूर्ति अथवा अल्पज्ञान के कारण पंचमकारों से गलत अर्थ निकाले जाते हैं। पंचमकारों में वर्णित—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन से प्राय:—मदिरा, मांसाहार, मछली खाना, शारीरिक मुद्राएं अथवा धन और मैथुन का अर्थ निकाला

जाता है। परन्तु यह इनका भावार्थ नहीं है। '**रुद्रयामल तन्त्र**' में भगवान शिव ने '**ज्ञानमार्गोक्त पंचमकार-स्तोत्र**' के अन्तर्गत इन पंचमकारों के अध्यात्मिक अर्थ देवी को उनकी जिज्ञासा करने पर बताए हैं। उसके अनुसार—

'कण्ठ में 17 कलाओं वाले चन्द्रमा से झरने वाले अमृत का पान ही सुरा/मद्य का सेवन है। शेष अन्य तो मदिरा पात्र हैं। ज्ञान की तलवार से कर्म और अकर्म रूपी पशुओं की योग यज्ञ में बलि/हनन ही मांस का अर्थ है। अन्य तो केवल मांसाहार/गोश्तखोरी है। मन रूपी मत्स्य (जो अत्यंत चपल है) का दमन करके व्यर्थ के संकल्पों को नष्ट करना ही 'मीन' का अर्थ है, अन्य नहीं। भक्ष्य, भोज्य, अन्न तथा इन्द्रियों का निग्रह ही 'मुद्रा' है। ध्यान मुद्राएं व जप मुद्राएं इनमें सहयोगिनी हैं। इनका अर्थ मात्र शारीरिक मुद्राओं से लेना अल्पज्ञता तथा काममुद्रा या धन से लेना भ्रष्टता है। 'हंसः' या 'सोऽहं' मन्त्र के आधार पर स्व को परम से संयुक्त करना अथवा शिव और शिवा का सामरस्य करना ही 'मैथुन' है। उसका अर्थ यौन क्रीड़ा से नहीं है। अतः जहां कभी भी पंचमकार के समर्पण अथवा सेवन के निर्देश दिए गए हैं। वहां पंचमकारों की आध्यात्मिकता के अनुसार उनका भावार्थ लेना चाहिए। शब्द जाल में नहीं उलझना चाहिए।'

पाठकों के लाभार्थ—'ज्ञान मार्गोक्त पंचमकार स्तोत्र' भी दिया जा रहा है—

'ज्ञानमार्गोक्त पंचमकार स्तोत्र'

('रुद्रयामल तन्त्र' से)

कलाः सप्तदश प्रोक्ता अमृतं स्त्राव्यते शशी।
प्रथमा सा विजानीयादितरे मद्यपायिनः॥
कर्माकर्म पशून् हत्वा ज्ञानखड्गेन चैव हि।
द्वितीयं विन्दते येन इतरे मांस भक्षकाः॥
मनोमीनं तृतीयं च हत्वा संकल्प-कल्पनाः।
स्वरूपाकार वृत्तिश्च शुद्धं मीन तदुच्यते॥
चतुर्थं भक्ष्य भोज्यं न—भक्ष्यमिन्द्रिय-निग्रहम्।
सा चतुर्थी विजानीयादितरे भ्रष्टकारकाः॥
हंसः सोऽहं शिवः शक्तिर्द्वाव आनन्दनिर्मालाः।
विज्ञेया पञ्चमीतीद मितरे तिर्यगामिनेः॥
स द्वावश्चक्षुः-पात्रेण पूज्यते यत्र उन्मनी।
दिद्युल्लेखाशिवै केमां साध्यन्ते दैव साधकाः॥
पूजकस्तन्मयानन्दः पूज्य-पूजकवर्जितः।
स्वसंवेद्य-महानन्दस्तन्मयं पूज्यते सदा॥

पंचदेवपूजन व गुरु उपासना

पंचदेव पूजा—पंचमहाभूतों की उपासना के इच्छुक अथवा पंच तत्त्वों पर अधिकार करने के इच्छुक साधकों को 'चक्र-साधना' अथवा 'तत्व साधना' के साथ 'पंचदेवोपासना' भी करनी चाहिए। वैसे तो गृहस्थों के लिए भी 'पंचदेवोपसना' सर्वापयोगी कही गई है। किन्तु 'पंचतत्व साधना' में तो विशेष रूप से। पांच देवता पांच महाभूतों के स्वामी है। (विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश और सूर्य) जैसा कि कहा है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशी जीवनस्य गणाधिपः॥

अर्थात्—आकाश तत्त्व के अधिपति देवता विष्णु, अग्नि तत्व की अधिष्ठात्री महेश्वरी शक्ति, वायु तत्त्व के स्वामी सूर्य, पृथ्वी तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान शिव और जल तत्त्व के अधिपति गणेश हैं।

इनमें जो ईष्ट हों अथवा जिनकी साधना की जानी हो उनको मध्य भाग में स्थापित कर शेष चार दिशाओं में अन्य प्रतिमाओं को स्थापित करना चाहिए।

गुरुपूजा—गुरु की कृपा बिना योग मार्ग में सफलता होनी असम्भव प्रायः है। सभी ग्रन्थों ने एक कंठ से इसे स्वीकार किया है। **'गुरुपाद विहीना ये, ये नश्यन्ति ममाज्ञया'** (गुरु की सेवा से विहीन मेरी आज्ञा से नष्ट हो जाते हैं)—ऐसा स्वयं भगवती भैरवी ने 'रुद्रायमल' में कहा है। इसके अतिरिक्त—

गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः।
गुरुपूजां बिना नाथ! कोटि पुण्यं वृथा भवेत्॥

अर्थात्—सभी भक्तिशास्त्रों में गुरु भक्ति से बढ़कर कोई भक्ति नहीं है। अतः हे नाथ! गुरु की पूजा किए बिना करोड़ों पुण्य भी व्यर्थ हो जाते हैं।

ऐसा भी देवी ने स्वयं कहा है, अतः गुरु पूजा के लिए कुछ मन्त्र व स्तोत्र और भी दे रहे हैं, जिनसे पाठक अवश्य ही लाभांवित होंगे—

गुरु उपासना/मंत्र व स्तोत्र

'ॐ ऐं (नाम) आनन्दनाथाय गुरुवे नमः ॐ' गुरु पूजा के लिए इस लघु मंत्र का जाप किया जा सकता है। गुरु गायत्री—(**ॐ वेदादिगुरुदेवाय विद्महे, परमगुरवे धीमहि, तन्नौ गुरुः प्रचोदयात्**) द्वारा भी जप कर सकते हैं। अथवा **'गुरुपादुका मंत्र'** से उपासना करें।

गुरुपूजा स्तोत्र

नमस्ते नाथ भगवन्! शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्धयै स्वीकृतानेक-विग्रह॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैक रूपिणे।

सर्वाज्ञान-तमोभेदभानवे चिद्धनाय ते॥
स्वतन्त्राय दयाक्लृप्त-पिग्रहाय परात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे॥
विवेकिनां विवेकाय विमशयि विमर्शिणाम्।
प्रकाशिनां प्रकाशाय ज्ञानिनां ज्ञानरूपिणे॥
पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्कुर्यामुपर्यधः।
सदा मच्चित्तरूपेण विधेहि भवदासनम्॥

अथवा '**रुद्राष्टक स्तोत्र**' का ही पाठ करें।

(अजपा-जपा-विधि)

श्वांस प्रश्वांस के साथ हंस मंत्र पर ध्यान लगाना अजपा गायत्री है। इसके अन्तर्गत श्वांस प्रक्रिया का उसे परम सत्ता के आगे समर्पण किया जाता है, तन्त्र विधि से अजपा जप की प्रक्रिया 'रुद्रयामल तन्त्र' में वर्णित है। पाठकों के लाभ के लिए उसे साविधि दे रहे हैं—

❑ मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोण यन्त्रे ऐरावत वाहने लं बीजे स्थिताय सिद्धि बुद्धि शक्ति सहिताय कुङ्कुम पर्याण महागणपतये षट्शतमजपाजपं निवेदयामि।

❑ स्वाधिष्ठाने षडदलपद्मे बं भं मं यं रं लं षडक्षरे अर्धचन्द्र-यन्त्रे मकर वाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वती शक्ति सहिताय सिन्दूर-वर्णाय ब्रह्माणे षट्सहस्त्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ मणिपूर चक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मी शक्तिसहिताय नीलवर्णाय विष्णवे-षट्सहस्त्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ अनाहतचक्रे द्वादशदलपदमे कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं द्वादशाक्षरे षट्कोणयन्तो हरिणवाहने यं वीजे स्थिताय पार्वतीशक्ति-सहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्त्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ विशुद्धचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने हं बीजे स्थिताय प्राणशक्ति सहिताय शुद्धस्फटिकसंकाशाय जीवाय सहस्त्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

❑ आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्वयक्षरे लिंगयंत्रे नर-वाहने स्थिताय ज्ञानशक्ति सहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्त्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

❑ ब्रह्मारन्ध्रे सहस्त्रदलपदमे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः मं खं गं घं ङं चं छ जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं—इति विंशति बारोच्चारिते सहस्त्राक्षरे विसर्गयन्तो बिन्दुवाहने

पूर्णचन्द्र मण्डले आनन्दमहासमुद्रमध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणि मन्दिरे कल्पवृक्षाधः स्थले अव्याकृत ब्रह्मामहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीवाय चिच्छक्ति सहिताय परमात्मने सहस्रमेकमजपाजपं निवेदयामि।

इसके पश्चात् कुछ क्षण तक 'हंसः सोऽहम्' की श्वास-निःश्वास के साथ भावना करें। तदनन्तर शरीर के चक्रों में जिन-जिन देवताओं का ध्यानपूर्वक आवाहन किया है उनकी मानसोपचार-पूजा करें—

❑ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि। (कनिष्ठा और अंगुष्ठ मिलाकर)

❑ हं आकाशत्मकं पुष्पं समर्पयामि। (अंगुष्ठ और तर्जनी मिलाकर)

❑ यं वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि। (तर्जनी और अंगुष्ठ मिलाकर)

❑ रं वाह्न्यात्मकं द्वीपं दर्शयामि। (अंगुष्ठ और मध्यामा मिलाकर)

❑ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि। (अंगुष्ठ और अनामिका मिलाकर)

❑ सं सर्वात्मकान् ताम्बूलादिसर्वोपचारान् समर्पयामि। (अंगुष्ठ सहित सभी अंगुलियों से)

(मणिपूर विभेदकं रुद्रस्तोत्रम्)

ॐ नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वभावन।
नमस्ते पार्वतीनाथ उमाकान्त नमोऽतु ते॥
विश्वात्मनेऽविचिन्त्याय गुणाय निर्गुणाय च।
धर्माय ज्ञानभक्षाय नमस्ते सर्वयोगिने॥
नमस्ते कालरूपाय त्रैलोक्यरक्षणाय च।
गोलोकघातकायैव चण्डेशाय नमोऽस्तु ते॥
सद्योजाताय देवाय नमस्ते शूलधारिणे।
कालान्ताय च कान्ताय चैतन्याय नमो नमः॥
कुलात्मकाय कौलाय चन्द्रशेखर ते नमः।
उमानाथ नमस्तुभ्य योगीन्द्राय नमो नमः॥
शर्वाय सर्वपूज्याय ध्यानस्थाय गुणात्मने।
पार्वती प्राणनाथाय नमस्ते परमात्मने॥

फलश्रुति

एतत्स्तोत्रं पठित्वा, स्तौति यः परमेश्वरम्।
याति रुद्रकुलस्थानं, मणिपूरं विभिद्यते॥
एतत्स्तोत्र प्रपाठेन, तुष्टो भवति शंकरः।
खेचरत्वपदं नित्यं, ददाति परमेश्वरः॥

मणिपुर चक्र में अन्य तत्वों के साथ अमृत तत्त्व की भी स्थिति मानी गई है। इस चक्र के अधिपति देवलाकिनी शक्ति के साथ स्वयं मृत्युञ्जय हैं। अतः इस चक्र

के भेदन का विशेष महत्व है। इसलिए पाठकों के लाभार्थ यहां 'मणिपूर विभेदक स्तोत्र' दिया जा रहा है।

(संक्षिप्त श्रीयन्त्र पूजा)

आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ च संकीर्त्य।
श्री गुरुं महा-गणपति भगवतीं महात्रिपुर
सुन्दरीं च प्रणस्य पूजयेत्।

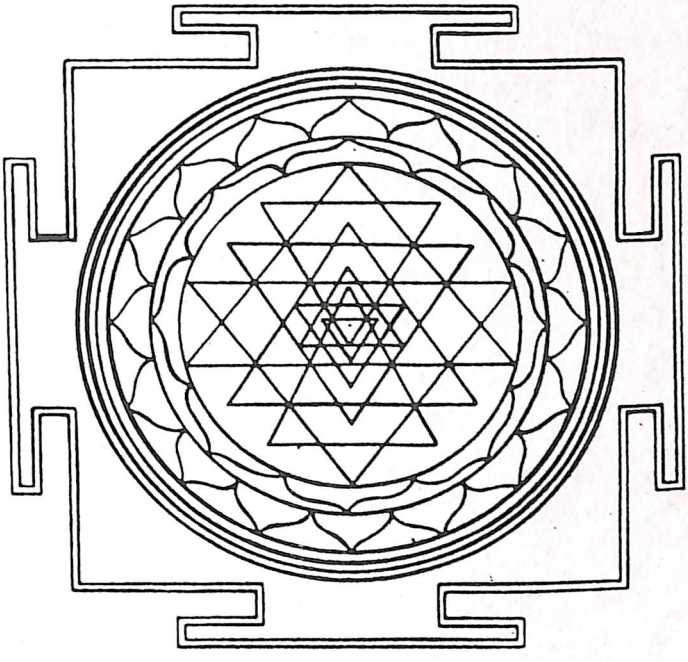

श्रीयंत्र

ध्यानम्

बालार्कारूण-तेजसं त्रिनयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीं,
नानालंकृतिराजमानवपुणं बालोडुराड्-शेखराम्।
हस्तैरिक्षुधनुः सृणासुमशरान् पाश मुदा बिक्षतीं,
श्रीचक्र स्थितसुन्दरी त्रिजगतामाधारभूता भजे॥
इति ध्यात्वा मानसोपचारैः सम्पूजयेत् ततश्च—

❑ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अं आं सौः चतुरस्त्रत्रयात्मकतौलोक्यमोहनचक्राधिष्ठायै अणिमाद्यष्टार्विंशति शक्ति सहित-प्रकटयोगिनीरूपायै त्रिपुरादेत्यै नमः।

❑ ॐ त्रिवृत्तात्मकत्रि वर्ग साधक चक्राधिष्ठात्यै कालरात्र्यादिसहित मातृकायोगिनीरूपायै त्रिपुरेशिनी देव्यै नमः।

❑ ॐ ऐं क्लीं सौः षोडशदलपद्मात्मकसर्वाशापरिपूरक-चक्राधिष्ठात्यै कामाकर्षिण्यादि षोडशशक्ति सहित गुप्त योगिनीरूपायै त्रिपुरेश्वरी देव्यै नमः।

❑ ॐ ह्रीं क्लीं सौः अष्टदल पद्मात्मक सर्वसंक्षोभणचक्राधिष्ठात्र्यै अनङ्गकुसुमाद्यष्टशक्ति सहित गुप्ततरयोगिनी रूपायै त्रिपुरसुन्दरी-दैत्यै नमः।

❑ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हैं हक्लीं हसौः चतुर्दशारात्मक—सर्व सौभाय-दायक चकाधिष्ठात्र्यै सर्वसंक्षोभिण्यादि चतुर्दशशक्ति सहित सम्प्रदाय-योगिनी रूपायै-त्रिपुरावासिनी देव्यै नमः।

❑ ॐ हसैं हस्क्लीं हस्सौः बहिर्दशारात्मक सर्वार्थसाधक-चक्राधिष्ठात्र्यै सर्वसिद्धि प्रदादि दशशक्ति सहित—कुलोत्तीर्ण योगिनी रूपायै त्रिपुराश्री देत्यै नमः।

❑ ॐ ह्रीं क्लीं व्लें अन्तर्दशारात्मक सर्वरक्षाकर-चक्राधिष्ठात्र्यै सर्वज्ञादिदशशक्ति सहित—निगर्भयोगिनी रूपायै त्रिपुरमालिनी देव्यै नमः।

❑ ॐ ह्रीं श्रीं सौः अष्टारात्मक सर्वरोग हर चक्राधिष्ठात्र्यै वशिन्याद्यष्टशक्ति सहित रहस्य योयिगनी रूपायै-त्रिपुरासिद्धादेव्यै नमः।

❑ ॐ हस्रैं हस्क्लरीं हस्रोः त्रिकोणात्मक सर्वसिद्धि प्रदचक्रा-धिष्ठात्र्यै कामेश्वर्यादि त्रिशक्तिसहितातिरहस्य योगिनी रूपायै त्रिपुराराम्बादेव्यै नमः।

❑ ॐ (मूलमन्त्रः) बिन्द्वात्मकसर्वानन्दमयचक्राधिष्ठात्र्यै षडङ्गायुधदशशक्ति सहित परापरातिरहस्य योगिनी रूपायै महात्रिपुर-सुन्दरी देव्यै नमः।

इसके बाद नैवेद्यादि विधि करके नित्यकर्म पूर्ण करें।

श्रीविद्या—'दशमविद्या' के अर्न्तगत षोडशी **'श्रीविद्या'** भी आती है। **'परशुराम कल्प,' 'श्रीविद्यार्णव,' 'तन्त्रराज,'** व **'षड्वानलतन्त्र'** आदि अनेकों ग्रन्थों में श्रीविद्यासाधना का विस्तृत वर्णन मिलता है, श्रीविद्या साधना का मूलाधार **'श्रीयन्त्र'** है। इसी को **'श्रीचक्र'** भी कहते हैं। यह यन्त्र—1. विन्दु, 2. त्रिकोण, 3. अष्टकोण, 4. दशकोण, 5. षटकोण, 6. चर्तुदशकोण, 7. अष्टदल, 8. षोडशदल, 9. वृत्तत्रय और 10. भुपुर से बनता है। **'रुद्रयामलतन्त्र'** में भी श्रीयन्त्र के माध्यक से शरीरस्थ चक्रों को जागृत करने का विस्तार से वर्णन मिलता है। इन प्रयोगों में एक **'उद्घाटन कवच'** है। जो पाठकों के लाभार्थ हमने दे दिया है। साथ ही **'संक्षित श्रीयन्त्र पूजा'** भी दे दी गई है। विस्तार के इच्छुक पाठकों को ऊपर बताए मूलग्रन्थ देखने चाहिएं।

❑❑

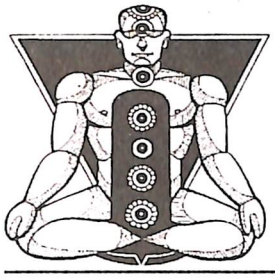

23

योगासन—समय तालिका

प्रमुख योगासनों को करने का आदर्श समय

1.	शीर्षासन	20 मिनट कम से कम
2.	मयूरासन	2 मिनट कम से कम
3.	हंसासन	3 मिनट कम से कम
4.	ऊर्ध्व सर्वांगासन	10 मिनट कम से कम
5.	पश्चिमोत्तानासन	10 मिनट कम से कम
6.	जानुशिरासन	10 मिनट कम से कम
7.	उत्तानपादासन	5 मिनट कम से कम
8.	पवनमुक्तासन	4 मिनट कम से कम
9.	भुजंगासन/सर्पासन	6 मिनट कम से कम
10.	शलभासन	4 मिनट कम से कम
11.	त्रिबन्धासन	5 मिनट कम से कम
12.	ताड़ासन	5 मिनट कम से कम
13.	पादहस्तासन	5 मिनट कम से कम
14.	सम्प्रसारण भू-नमनासन	5 मिनट कम से कम
15.	हृदयस्तम्भासन	3 मिनट कम से कम
16.	शीर्षपादासन	4 मिनट कम से कम
17.	हलासन (सर्वांगासन)	5 मिनट कम से कम
18.	कर्णपीड़ासन	4 मिनट कम से कम
19.	मस्तकपादांगुष्ठासन	5 मिनट कम से कम
20.	नाभ्यासन	5 मिनट कम से कम
21.	यानासन	5 मिनट कम से कम
22.	धनुरासन	5 मिनट कम से कम
23.	उष्ट्रासन	5 मिनट कम से कम
24.	सुप्तवज्रासन	5 मिनट कम से कम
25.	मत्स्यासन	10 मिनट कम से कम

26.	अर्धमत्स्येन्द्रासन	10 मिनट कम से कम
27.	द्विपादमध्यशीर्षासन	5 मिनट कम से कम
28.	कपोतासन	4 मिनट कम से कम
29.	पार्वती आसन	4 मिनट कम से कम
30.	मत्स्येन्द्रासन	8 मिनट कम से कम
31.	वृश्चिकासन	2 मिनट कम से कम
32.	कन्दपीड़ासन	2 मिनट कम से कम
33.	सिंहासन	3 मिनट कम से कम
34.	बकासन/बगुलासन	2 मिनट कम से कम
35.	लोलासन	2 मिनट कम से कम
36.	एकपादांगुष्ठासन	2 मिनट कम से कम
37.	जानुगमनासन	सामर्थ्यानुसार
38.	आकर्ण धनुषासन	4 मिनट कम से कम
39.	आंजनेयासन	3 मिनट कम से कम
40.	कागासन	आवश्यकतानुसार
41.	उत्थित पद्मासन	2 मिनट कम से कम
42.	ऊर्ध्वपद्मासन	5 मिनट कम से कम
43.	कुक्कुटासन	2 मिनट कम से कम
44.	गर्भासन	2 मिनट कम से कम
45.	कूर्मासन	3 मिनट कम से कम
46.	तुलासन/दोलनासन	2 मिनट कम से कम
47.	एकपाद शिरासन	4 मिनट कम से कम
48.	वातायनासन	4 मिनट कम से कम
49.	गरुड़ासन	3 मिनट कम से कम
50.	द्विपाद मध्य शीर्षासन	2 मिनट कम से कम
51.	हस्तपादांगुष्ठासन	2 मिनट कम से कम
52.	कोणासन/त्रिकोणासन	5 मिनट कम से कम
53.	चन्द्रासन/अर्धचन्द्रासन	4 मिनट कम से कम
54.	चक्रासन	2 मिनट कम से कम
55.	शीर्षपादासन	2 मिनट कम से कम
56.	स्नायु संचालनासन	2 मिनट कम से कम
57.	पादांगुष्ठनासाग्रस्पर्शासन	2 मिनट कम से कम
58.	सेतुबन्धासन	5 मिनट कम से कम

59.	योगनिद्रासन/द्विपादशिरासन	4 मिनट कम से कम
60.	शवासन/विश्रामासन	10 मिनट कम से कम
61.	जानुशक्ति विकासकासन	2 मिनट कम से कम
62.	स्वस्तिकासन	30 मिनट कम से कम
63.	सिद्धासन	30 मिनट कम से कम
64.	समासन	30 मिनट कम से कम
65.	पद्मासन	30 मिनट कम से कम
66.	अर्धपद्मासन	60 मिनट कम से कम
67.	बद्धपद्मासन	60 मिनट कम से कम
68.	वीरासन	30 मिनट कम से कम
69.	गोमुखासन	45 मिनट कम से कम
70.	वज्रासन	30 मिनट कम से कम
71.	सरलासन/सुखासन	60 मिनट कम से कम
72.	समस्त बन्ध व मुद्राएं	सामर्थ्यानुसार अधिकाधिक
73.	द्विपाद चक्रासन	5 मिनट कम से कम
74.	उत्थिद द्विपादासन	2 मिनट कम से कम
75.	उत्थित एकैकपादासन	2 मिनट कम से कम
76.	उत्थित हस्तमेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
77.	शीर्षबद्धहस्तमेरुदण्डासन	सार्मथ्यानुसार
78.	जानुस्पृष्ट भाल मेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
79.	उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
80.	उत्थित पाद मेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
81.	भाल स्पृष्अ द्विजानुमेरुदण्डासन	2 मिनट कम से कम
82.	सरलहस्त भुजंगासन	5 मिनट कम से कम
83.	उत्थितैकपाद भुजंगासन	3 मिनट कम से कम
84.	उत्थित पादशीर्ष भुजंगासन	2 मिनट कम से कम

❑❑

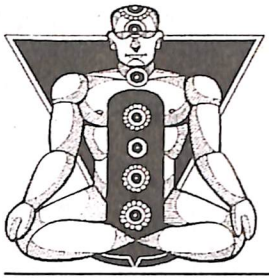

24

उपसंहार तथा निष्कर्ष

योग समस्त ज्ञानों में सर्वोत्तम है। क्योंकि योग के अंगों का अनुष्ठान करने से शुद्धि एवं विवेक ख्याति प्राप्त होती है। जैसा की '*योगदर्शन*' में कहा है—**'योगाङ्गानुष्ठानाद्शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति राविवेक ख्यातेः'**। (योग के अंग का अनुष्ठान करने से, अशुद्धि का नाश होने पर, ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है) इसीलिए '*गोरक्ष संहिता*' में कहा है—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किन्मयैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥

अर्थात्—जो पुरुष नित्य प्रति योग शास्त्र को पढ़ता है, उसे किसी अन्य शास्त्र के विस्तार की क्या आवश्यकता है? क्योंकि यह शास्त्र साक्षात् आदिनाथ शिवजी के मुखारविन्द से ही निकला है।

योगशास्त्राध्ययने साधकस्य कृतकृत्यता।
स्नातं तेन समस्ततीर्थ सलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा॥
यज्ञानां च हुतं सहस्त्रमयुतं देवाश्य संपूजिताः॥
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्ग च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारेण क्षणमापि प्राप्नोतिधैर्य मनः॥

अर्थात्—जिसने योगशास्त्र का अध्ययन कर लिया, उसने मानो सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, उसने मानो ब्राह्मणों को पृथ्वी का दान दिया और हजारों यज्ञों में आहूतियां दे डालीं। मानो सभी देवताओं का पूजन और पितरों का तर्पण करके उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति करा दी। क्योंकि उक्त सभी फल इसके द्वारा ब्रह्मचिन्तन करने में क्षण भर में ही प्राप्त हो सकते हैं।

(लेकिन पढ़कर समझना, गुनना और आचरण में लाना ही प्रभाव उत्पन्न करता है। मात्र पढ़ना या रटना नहीं। इसीलिए '*कबीर*' ने कहा है—'**पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ...**')।

प्राण शक्ति व समस्त शक्तियों की केन्द्रभूता शक्ति कुण्डलिनी का जागरण मात्र योगविद्या द्वारा ही सम्भव है जिसके बल पर मनुष्य स्वयं परमात्मा हो जाता है। (यानि आत्मा परमात्मा में लीन होकर परमात्मा ही हो जाता है)।

इसीलिए वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों आदि में उन्मुक्त कण्ठ से कुण्डलिनी शक्ति की महिमा का गुणगान किया गया है। यथा—'हे प्राणाग्नि! मेरे जीवन में उषा बनकर प्रकट हो और अज्ञान का अन्धकार दूर करो। ऐसा बल प्रदान करो जिससे देवशक्तियां खिंची चली आएं।'

—ऋग्वेद

'हे आत्माग्नि! तेरे द्वारा बल, प्रकाश, तेज, प्रतिभा, पराक्रम, ओज सभी मेरे भीतर से उभर रहे हैं। हे अग्नि, तेरे तैंतीस विभाग (मेरुदण्ड की 33 कशेरुकाएं जो 33 करोड़ देवताओं की ही प्रतीक हैं) मुझ पर अनुग्रह करें।'

—अथर्ववेद

'जिसकी कुण्डलिनी जाग जाती है उसकी बैखरी, मध्यमा, परा और पश्यन्ति वाणियां जागृत हो जाती हैं। अत: उसका कथन सत्य होकर रहता है।'

—महातन्त्र

'हे दिव्याग्नि! तू आयु, वर्चस, सुसंतति, धन, मेधा, रति, पौरुष बनकर हमें अपना अनुग्रह प्रदान कर।'

—यजुर्वेद

'कुण्डलिनी के जगते ही अन्तर में छिपे वैभव अनायास ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं।'

—योगिनीतन्त्र

योग साधना द्वारा जगाई हुई कुण्डलिनी बिजली के समान तड़पती चमकती है। उससे जो सोया है, सो जाग जाता है, जो जागा है, वह दौड़ने लगता है (अर्थात् आत्मोत्थान एवं बहुविधि प्रगतियां होती हैं, अन्त: प्रेरणा व शक्ति मिलती है)।

—त्रिशिखब्राह्मण

जिसकी मूलाधार शक्ति सार ही है। उसका सारा संसार सो रहा है, जिसकी कुण्डलिनी जाग गई, समझो कि उसका भाग्य जाग गया।'

—महा योग विज्ञान

'कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्थित आत्माग्नि तेज के मध्य में अवस्थित है। वह जीव की जीवनी शक्ति है। तेजस और प्राण आकार है।'

—योग कुण्डल्युपनिषद्

'यह कालाग्नि कुण्डलिनी जब अधोगामी होती है तो मनुष्य को अशक्त बना देती है। परन्तु जब ऊपर उठती है तो उच्च सिद्धियों को प्रदान करती हुई ब्रह्मलोक तक पहुंचती है।'

—बृहज्जाबालोपनिषद्

अत: योग और कुण्डलिनी का महत्त्व स्वत: सिद्ध है। इनके विषय में अधिक कहना भी सूर्य को जुगनू दिखाने के ही समान होगा। बहरहाल—योग या ध्यान, मंत्र या समाधि, कुण्डलिनी या सिद्धियां, शांति या मोक्ष—सभी कुछ मन और प्राणों के निरोध से ही सम्बन्ध रखते हैं। **मन से प्राण और प्राण से मन वश में आता है** अत: दोनों में से एक को साधे बिना योग मार्ग में सफलता मिल ही नहीं सकती। अत: समस्त शास्त्रों ने मन के संयम पर विशेष बल दिया है और सिद्धि प्राप्ति तथा उसे सहेज पाने के लिए पात्रता उत्पन्न करने का निर्देश दिया है।

जिस व्यक्ति का मन इन्द्रियों सहित जीत लिया गया है, वह तो जीता हुआ भी मुक्त या मोक्ष पाए हुए के समान ही है जैसा कि '*श्रीमद्भागवत् गीता*' में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्माणि ते स्थिताः॥

अर्थात्—जिनका मन समत्व भाव में स्थित है, उनके द्वारा जीवितावस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया हो, अर्थात् वे जीते हुए ही संसार में मुक्त है। क्योंकि सच्चिदानन्द घन परमात्मा निर्दोष और सम हैं। अत: वे सच्चिदानन्द धन परमात्मा में ही स्थित हैं।

इसके लिए सर्वप्रथम संशयों का नाश कर ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं माना गया—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते।'** (ज्ञान के समान पवित्र इस संसार में निस्संदेह कुछ नहीं है)। तभी *गीता* में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृतम्।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

अर्थात्—'यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा नि:सन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जाएगा।'

अत: कल्याण चाहने वाले को सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तब अविद्या रूपी अन्धकार दूर होकर और ज्ञान का प्रकाश होकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अत: संसार की नि:सारता, माया का प्रभाव व ब्रह्म का महत्त्व सहज ही समझ आ जाता है। भेद बुद्धि का नाश होने लगता है। आत्म तत्त्व को जानने की छटपटाहट उत्पन्न होने लगती है। व्यक्ति भौतिक स्तरों से ऊपर उठ जाता है। पात्रता के लिए उपयुक्त धरातल प्राप्त हो जाता है। अत: तब वह मन व इन्द्रियों को विषयों से कछुए के अंग सिकोड़ लेने के समान सिकोड़ कर अन्तर्मुखी करने में सफल होता है।

इस प्रकार चित्त वृत्ति निरोध से विषयों की विरसता से तथा मन, प्राण व इन्द्रियों के अन्तर्मुखी हो जाने पर वह सहज ही ध्यानावस्था को प्राप्त करता हुआ

अन्ततः समाधि तक पहुंचता है। तब उसके लिए सम्भव, असम्भव, भोग, मोक्ष, चमत्कार, सिद्धि आदि कुछ भी दुष्कर नहीं रहता। उसके समस्त मल, विकार, पाप और कर्म तक योगाग्नि में भस्म हो जाते हैं। तब वह कर्म बन्धन से मुक्त हो, योगाग्नि में परिस्कृत हो, कुण्डलिनी के प्रकाश में आत्म तत्त्व का साधात्कार करता है। और बिन्दु से सागर अथवा स्व से परम हो जाता है। इसीलिए महर्षि अष्टावक्र ने समस्त योगशास्त्रों का निचोड़ राजा जनक को दो पंक्तियों में कह दिया था।

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥

—अष्टावक्र गीता

अर्थात्—विषयों में विरसता मोक्ष है। विषयों में रस बन्धन है। इतना ही विज्ञान है। (अब) तू जैसा चाहे वैसा कर।

—इति—

गोल्ड बुक्स (इण्डिया)

द्वारा प्रकाशित

हर घर के लिए उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक पुस्तकों का खजाना

ज्योतिष एवं धार्मिक

भारतीय ज्योतिष एवं लाल किताब	120.00
तंत्र मंत्र यंत्र द्वारा मनोकामना सिद्धि	50.00
शकुन अपशकुनन द्वारा भविष्य ज्ञान	50.00
वृहद हस्तरेखा शास्त्र	50.00
अनिष्टकारी ग्रहचाल कारण और निवारण	40.00
श्री शिव महापुराण	40.00
श्री विष्णु महापुराण	40.00
श्रीमदभागवत पुराण	40.00
जन्मदिन द्वारा भविष्य	40.00
पांव रेखा शास्त्र	40.00
अंक ज्योतिष	40.00
हिप्नोटिज्म के करिश्में	40.00

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा

गोल्ड एलोपैथिक चिकित्सा	75.00	प्राकृतिक चिकित्सा	50.00
गुणकारी जड़ी बूटियां	50.00	सूर्य रंग रत्न द्वारा चिकित्सा	40.00
सम्पूर्ण योग शास्त्र	50.00	सिगरेट, शराब, तम्बाकू कैसे छोड़ें	30.00

महिलोपयोगी पुस्तकें

स्वादिष्ट शाकाहारी व्यंजन	50.00	लेडीज हैल्थ एण्ड ब्यूटी गाइड	40.00
ज़ायकेदार नाश्ते	50.00	सफल पत्नी कैसे बनें	30.00
लज़ीज़ मांसाहारी व्यंजन	50.00	गृह उपयोगी काम की बातें	
चटपटे अचार चटनी मुरब्बे	50.00	(Home Hints)	30.00
गर्भावस्था एवं शिशुपालन	40.00	गोल्ड होम टेलरिंग कोर्स	80.00

मेहन्दी

साजन की मेहन्दी	10.00	दुल्हन की मेहन्दी	10.00
मनभावन मेहन्दी	10.00	आओ मेहन्दी सीखें	10.00

अपने निकटतम बुक स्टॉल से गोल्ड बुक्स (इण्डिया) की पुस्तकें ही मांगे।
न मिलने पर हमें लिखें। (डाक खर्च अलग)

गोल्ड बुक्स (इण्डिया) 4537, दाईवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली-110006

कुण्डलिनी शक्ति कैसे जागृत करें

सशैलवनधात्रीणं यथा धरोऽहिनायकः।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथा धारोहि कुंडली।

अर्थात जिस प्रकार पर्वत, वन, सागर आदि को धारण करने वाली पृथ्वी का आधार अनन्त नाग है, उसी प्रकार शरीर की समस्त गति, क्रिया शक्ति ऊर्जा व समस्त योग तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जितनी भी शक्तियां विद्यमान हैं उन सबको ईश्वर ने मनुष्य रूपी पिंड में एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है यही शक्ति कुण्डलिनी शक्ति है।

'ह' अक्षर की भांति, साढ़े तीन लपेटे खाए हुये सर्पिणी की भांति सुप्त पड़ी रहने वाली यह शक्ति जब यौगिक उपायों द्वारा गति प्राप्त करने पर ऊपर की ओर बढ़ती है तब यह अद्भुत शक्ति कुण्डलिनी जैसे-जैसे चक्रों का भेदन करती है, वैसे-वैसे ही मनुष्य चमत्कारी एवं आलौकिक शक्तियों को प्राप्त करता जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में इस गुप्त महाविद्या का विस्तृत, सचित्र एवं सरल विवरण है। पुस्तक में कुण्डलिनी परिचय, कुण्डलिनी जागरण के उपाय, अष्टांग योग, ध्यानयोग, हठ योग, सभी मुद्रायें, एवं तंत्र एवं मंत्र द्वारा कुण्डलिनी जागरण पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जागृत कर अब आप भी उन चमत्कारी एवं आलौकिक शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं जो [illegible]स्त करती हैं।

पवन पॉकेट बुक्स

ISBN-81-87673-67-2

डॉ. राकेश गिरी

कुण्डलिनी योग

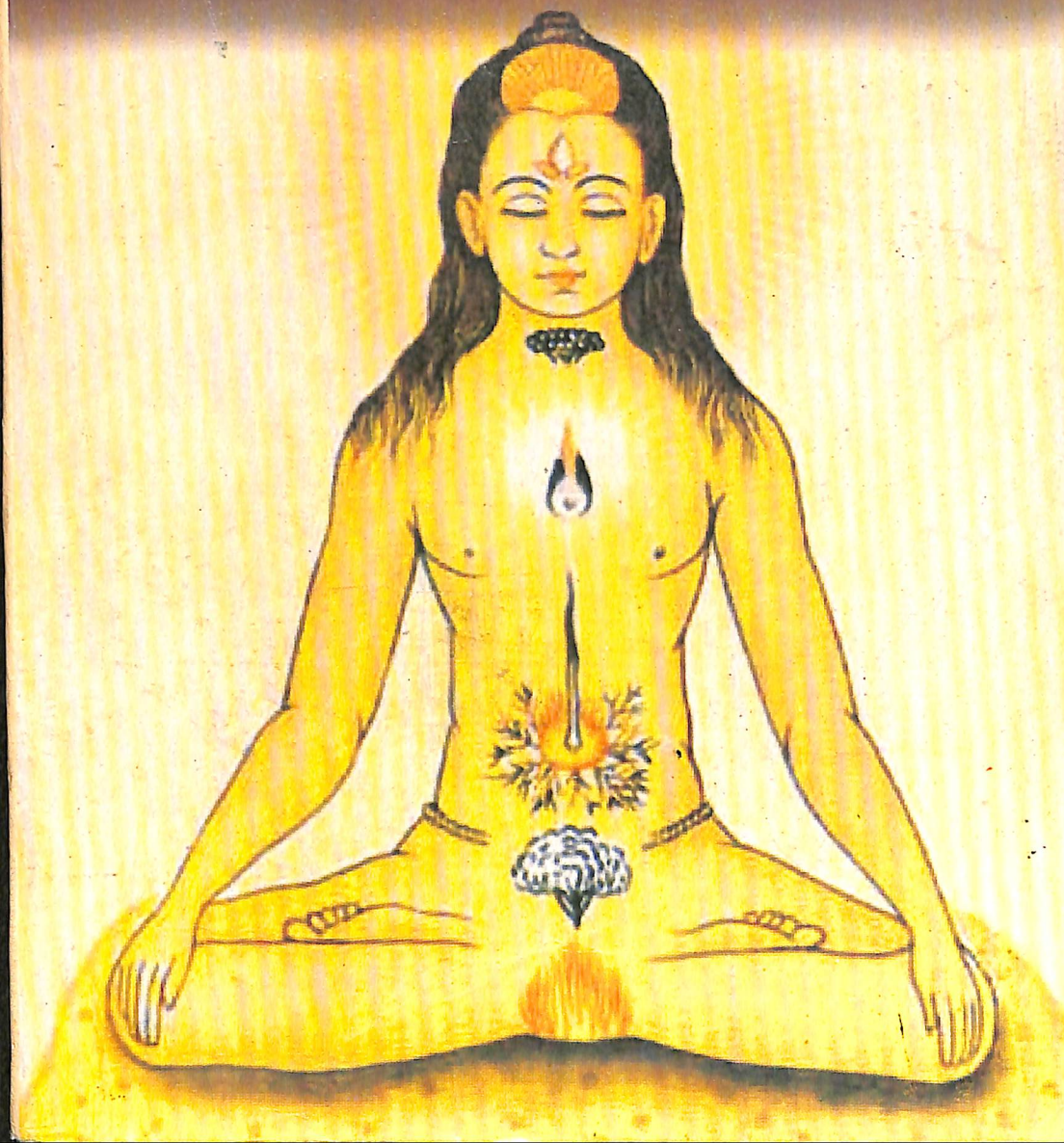

कुण्डलिनी योग

राकेश गिरी

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली-110059

ISBN 978-93-80190-68-6

© सुरक्षित

प्रथम संस्करण : 2011

प्रकाशक
आर. डी. पाण्डेय
सत्यम् पब्लिशिंग हाउस
N.3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली-110059
दूरभाष : 011-25358642
शोरूम : 4378/4बी, 305, जे.एम.डी. हाऊस,
मुरारीलाल स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
मो. 09968277749

शब्द संयोजक :
श्री कृष्णा कम्प्यूटर ग्राफिक्स
दिल्ली–32

मुद्रक :
विशाल कौशिक प्रिन्टर्स
शाहदरा, दिल्ली-93

भूमिका

भूमिका :

कुण्डलिनी स्वयं में एक ऐसी शक्ति है जिसका वर्णन करने के लिए प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों ने अपने देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार के निकटतम रूपक प्रयोग किये हैं। कहीं कुण्डलिनी को नारी–पुरूष की सम्मिलित सत्ता का रूप देने के लिए अर्द्धनारीश्वर भगवान की कल्पना की गई है तो कहीं उसकी सर्प वृत्ति का ध्यान करके "साढ़े तीन कुण्डली मारे सर्प" को संज्ञा दी गयी है। आज के परिप्रेक्ष्य में हम इसे विद्युत शक्ति के समान ही एक शक्ति मान सकते हैं। विद्युत शक्ति हीटर में लगा देने पर गर्मी, कूलर में लगा देने से ठंडक, टी.वी. में चलचित्र, रेडियों में गाना, रोगी में स्वास्थ्य आदि देती है। तात्पर्य यह है कि शक्ति एक ही है वह अलग–अलग विधि से प्रयोग करने पर अलग–अलग कार्य सम्पन्न कर सकती है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को भी विभिन्न प्रकार के – सात्विक, राजसिक और तामसिक कार्यो के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

कुण्डलिनी जागरण का अर्थ है अपने अंदर छिपे पड़े प्राणशक्ति के भण्डार का योग साधना के माध्यम से स्फोट प्रक्रिया द्वारा रहस्योद्घाटन आत्म कल्याण एवं लोक कल्याण के निमित्त। इसके लिए उस द्वार तक पहुंचने के अनेकानेक मार्ग हैं जहाँ वह चाबी लगायी जाती है जो प्राणाग्नि को उच्चस्तरीय ऊर्जा में बदलकर साधक का ब्रहम्वर्चस् बढ़ा देती है, किंतु कोई भी मार्ग बिना मार्गदर्शक के पार नहीं किया जा सकता। हमारी सुषुम्ना नाड़ी जो मूलाधार से सहस्त्रार तक नीचे से ऊपर सर्पिणी की भांति साढ़े तीन फेरे लगा कर पहुंच कर क्षीर सागर में बैठे सहस्रफणि सर्प में बदल जाती है, हमारी जीवन ऊर्जा का मूलाधार है। इड़ा पिंगला नाड़ी इस प्राणशक्ति की ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया साधक की इच्छानुसार नियंत्रण में सहायता करती है। नीचे से ऊपर तक ऐसे अनेकानेक द्वार है, जिनका क्रमशः भेदन कर साधक अपने सहस्त्रार चक्र के आनंदमय कोष को जगा सकता है। व आत्म बोध के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मूलाधार रूपी नीचे वाले द्वार के पास

रूद्रग्रंथि है तो सूर्यचक्र के पास शरीर मध्य में विष्णु ग्रंथि एवं मस्तिष्क मध्य ब्रम्हाग्रंथि। इसी प्रकार सूक्ष्म व कारण शरीर को लपेटे पाँच कोष हैं जिनसे यह हमारा समग्र ढांचा विनिर्मित हुआ है। यह चौदह रत्न यदि मनुष्य हस्तगत कर ले तो वह देवोपम स्थिति में बंधनमुक्ति एवं आत्म साक्षात्कार की स्थिति में पहुंच जाता है।

कुण्डलिनी विज्ञान का अनुसंधान वस्तुतः प्रसुप्त की जागृति का विज्ञान ही है यदि यह योग सध सके तो शारीरिक, बलिष्ठता, मानसिक प्रतिभा एवं आत्मिक वर्चस्व को असाधारण रूप से बढ़ाया जा सकना संभव है। कुण्डलिनी शक्ति की तुलना विद्युत ऊर्जा या आभा से की गयी है। ''तडिल्लता समरूचिर्विद्युल्लेखेव भास्वरा'' सूत्र में उसे बिजली की लता रेखा जैसा ज्योतिर्मय बताया गया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर उसे प्रचंण्ड अग्नि रेखा एवं दिव्य वैश्वानर अग्नि की उपमा दी गयी है। कुण्डलिनी वस्तुतः प्राणाग्नि के रूप में जीवनशक्ति प्राणशक्ति के रूप में ब्रम्हाण्डीय चेतना की आत्मसत्ता में प्रतिष्ठापित प्रतिमूर्ति है जिसका संचालन वह पराप्रकृति ही करती रहती है। यह मानवीय विद्युत शरीर के इर्द–गिर्द फैले तेजोबलय के रूप में शरीर मस्तिष्क के चारों ओर देखी जा सकती हैं यह एक प्रकार का ''आध्यात्मिक डायनामाइट'' है जिसकी ऊर्जा यों तो मनुष्य के कण–कण में विद्यमान है किंतु मस्तिष्क हृदय और जननेन्द्रिय मूल में उसकी विशिष्ट मात्रा पायी जाती है।

प्राणाग्नि कुण्डलिनी ही जीवट प्रतिकूलताओं से लड़ने वाली जीवनी शक्ति व जिजीविषा–हिम्मत के रूप में मनुष्य में कूट–कूट कर भरी है। मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में यह प्रसुप्त ऊर्जा छह तालों की तिजोरी के रूप में बंद है जो षट्चक्र के रूप में भँवर नाड़ी गुच्छक अथवा विद्युत्प्रवाह के रूप में सुषुम्ना व उसके चारों ओर स्थिति है। इसी मार्ग से मनुष्य ऊर्ध्वगमन कर ब्रम्हलोक पहुंचता है ऊर्ध्वगमन शब्द का पर्यायवाची शब्द है उत्थान, उत्कर्ष, अभ्युदय। इनसे उच्च स्तर के लोगों की स्थिति का आभास मिलता है। भौतिक बड़प्पन तो साधन सम्पन्नता के आधार पर निकृष्ट कोटि के व्यक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं, पर आत्मिक महानता प्राप्त करने के लिए तो गुण, कर्म स्वभाव की उत्कृष्टता का सम्पादन ही एक मात्र उपाय है। कुण्डलिनी उत्थान से इसी आंतरिक उत्कर्ष की प्रेरणा मिलती है और अभ्युदय का आधार बनता है। जिसे मानव जीवन का सर्वोपरि सौभाग्य कहा जा सके।

विषय–सूची

क्र.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
अध्याय – 1		7
	योग की परम्परा एवं इतिहास	
	योग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा	
	योग की व्याख्याएँ	
	योग के प्रकार	
अध्याय – 2		33
	कुण्डलिनी क्या है?	
	कुण्डलिनी महाशक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या	
	कुण्डलिनी महाशक्ति की पौराणिक व्याख्या	
	कुण्डलिनी महाशक्ति का स्वरूप और आधार	
	कुण्डलिनी का स्थान	
	कुण्डलिनी के नाम अनेक	
अध्याय – 3		63
	षट्चक्रों का स्वरूप और रहस्य59	
	कुण्डलिनी के चक्र	
	चक्रों की वास्तविकता का प्रमाण73–77	
	कुण्डलिनी के षट्चक्र और उनका वेधन	
अध्याय – 4		93
	कुण्डलिनी एवं उसका जागरण91	
	कुण्डलिनी जागरण की पूर्व तैयारी	
	कुण्डलिनी जागरणी की विधि	

कुण्डलिनी की प्रसुप्तावस्था
कुण्डलिनी की जाग्रतावस्था
कुण्डलिनी का स्वरूप
नाड़ियों का स्वरूप व नाड़ियों की संख्या
कुण्डलिनी जागरण, नादानुसंधान, समाधि और केवल्य की प्राप्ति

अध्याय – 5 103

कुण्डलिनी साधना क्यों किस प्रयोजन के लिए?
कुण्डलिनी जागरण से आत्मिक और भौतिक सिद्धिया

कुण्डलिनी जागरण से व्यक्तित्व में क्रांति
कुण्डलिनी साधना का मर्म एवं आवश्यक मार्गदर्शन

उपसंहार 228

संदर्भ ग्रंथ सूची 134

अध्याय – 1
योग की परम्परा एवं इतिहास

योग विद्या का इतिहास बहुत प्राचीन है जो स्वास्थ्य, सौंदर्य, शांति और आत्मदर्शन के अभिलाषी हैं वे योग का अभ्यास करते हैं। योग एक सच्ची विद्या है, जिसका फल प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। वैदिक युग में ही जब ऋषियों ने ब्रम्ह–विद्या के संबंध में अन्वेषण किया तभी उन्हें योग विद्या की आवश्यकता प्रतीत हुई। वास्तुतः कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक मंत्रों की रचना योग के अभ्यास की उच्चतम भूमिकाओं का ही परिणाम है जिसे पतंजलि ने ऋतुंभरा प्रज्ञा कहा है यह ऋतु विश्व के उन प्रथम धर्मो की संज्ञा है जिससे प्रजापति सृष्टि का विधान करते हैं। समष्टि मन और व्यष्टि मन दोनों ही उसके परिणाम है। वस्तुतः ऋतु से अनुप्रविष्ट मानव चित्त ही योग की उपलब्धि है मानव का मन जब ब्रम्हरूप ऋतु से संयुक्त हो जाता है उसे उसी ऋतुंभरा प्रज्ञा की स्थिति में विश्व के जिन सत्यों का दर्शन होता है वे ही वैदिक मंत्रों में प्रकट हुए हैं। कोषों के अनुसार वैदिक मंत्रों का अर्थ पर्याप्त नहीं है मनः समाधि की उच्चतम भूमिका में मंत्रों का दर्शन होता हैं उस समाधि में सत्य दर्शन की क्षमता जिन्हें प्राप्त हुई वे ही ऋषि थे अतः ऋषियों को मंत्र दृष्टा कहा गया। सत्य दर्शन की अभिलाषा मानव का सहज धर्म है। अतः योग विद्या की आवश्यकता उसके बाद सदा रही है।

योग की परम्परा अत्यंत प्राचीन है इसमें तो कोई शक हो नहीं सकता वह कितनी प्राचीन है, उसको प्रारंभ किसने किया, और कब किया, इन प्रश्नों का सीधा एक ही उत्तर देना शायद संभव नहीं होगा। परंतु प्राचीन साहित्य में योग का प्रारंभ किसने किया इसके संबंध में उल्लेख मिलते हैं। जैसे – गीता के चतुर्थ अध्याय में प्रारंभ में श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन से कहा कि "इस योग का उपदेश सृष्टि के आरंभ में मैने सूर्यदेवता विवस्वान को दिया, उसने

अपने पुत्र मनु को वह योग सिखाया, मनु ने इक्ष्वाकु को बताया और फिर एक राजर्षियों की लम्बी परम्परा चली। अन्त में वह योग लुप्त हो गया। उसी को मैने आज तुम्हारे सामने पुनः प्रकट किया है।''

विवस्वते योगं प्रोक्तवान हमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽ ब्रतीत।।

गीता – 4 : 1

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयों विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।। 4:2।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्त पुरातनः।। 4:3।।

इसका अर्थ यह होता है कि स्वयं भगवान ने सृष्टि के प्रारंभ में ही योग की परंपरा की भी शुरूआत की थी। परंतु यह बात कब हुई, उसको कितने दिन या वर्ष हुए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है।

योगविद्या सृष्टि के प्रारंभ में ही विद्यमान थी इस कल्पना का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में कहा है कि हिरण्यगर्भ से, सबसे पहले निर्माण हुआ, उसी ने पृथ्वी, स्वर्ग आदि सभी को धारण किया।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे लोकस्य जातः पतिरेकः असीत्।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतैमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

ऋग्वेद – 10:121:1

इस हिरण्यगर्भ को सभी विद्याओं का एवं कलाओं का आद्य प्रवर्तक माना जाता है। बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति में हिरण्यगर्भ को योग का उत्पत्तिकर्ता कहा गया है।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।। 12:5।।

पंतजलि के योगशास्त्र में पृथ्वी को जिन्होंने अपने मस्तक पर आधार दिया है उस शेषनाग को योग के प्रारंभकर्ता के रूप में माना गया हैं पंतजलि उन्हीं शेषनाग के अवतार थे, ऐसी मान्यता है। पंतजलि के प्रमुख भाष्यकार व्यास ने अपने भाष्य के आरंभ में शेषनाग का नमन करते हुए उन्हें योग को देने वाले (योगदः) तथा योग के मूर्तिमंत आविष्कार (योगयुक्तः) कह के पुकारा है। इस नमन के श्लोक के अनुसार योग की परंपरा पृथ्वी से भी पुरानी हो जाती है।

ऐसा ही एक उल्लेख हठयोग के संबंध में हठप्रदीपिका के प्रारंभिक श्लोक में मिलता है। वहॉ पर स्वात्माराम ने भगवान शिव को ''आदिनाथ''

शब्द से कहते हुए "उन्होंने हठयोग का सर्वप्रथम उपदेश दिया" ऐसा वर्णन किया है –

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोग विद्या । .....

।। 1:1 ।।

इन चारो के उल्लेखों से योग के दैवी या दिव्य उत्पत्ति की कल्पना सामने आती है। परंतु मनुष्यों ने उसका उपयोग कब से प्रारंभ किया इस प्रश्न का उत्तर इन उल्लेखों में नहीं मिलता। हिरण्यगर्भ, भगवान शिव या शेषनाग, इनमें से कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। परंतु इन उल्लेखों से शायद हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इतिहास की पहुंच जहां तक पीछे जा सकती है उस काल में भी योगविद्या विद्यमान थी।

योग के इतिहास को हम पांच खण्डों में बांट सकते हैं इनमें सबसे प्रथम कालखण्ड श्रुतिकाल था। यह एक लम्बा समय था जो वेदों की रचना के समय से लेकर बुद्ध भगवान के बाद लगभग दो शताब्दियों तक रहा। दूसरे खण्ड को दर्शनों का काल कह सकते हैं जिसमें कहा जा सकता है, तृतीय शताब्दि ईसवी से दसवीं शताब्दि तक का काल था। इसके बाद के चौथे काल खण्ड में भक्ति तथा हठयोग इन दो धाराओं का विकास हुआ। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से हम योग के इतिहास का आधुनिक काल मान सकते हैं। इन काल खण्डों की सीमा रेखाएं सुस्पष्ट और निश्चित नहीं हैं। ये पांच कालखण्ड सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही बनाये जा सकते है, और ये प्रवृत्तियां कई बार एकदम भिन्न न होकर एक दूसरे से मिली हुई नजर आती हैं। इन पांच काल खण्डों में योग का स्वरूप क्या था, उसका विकास एवं प्रचार किस प्रकार हुआ था। इसकी जानकारी हमें उस काल के साहित्य से मिलती है।

श्रुतिकाल :

श्रुतियों में योग की अनेक संकल्पनाओं का स्पष्ट उल्लेख विभिन्न स्थानों पर मिलते हैं। युजुर्वेद में शरीस्थ पांच वायुओं का तेज बढ़ने के लिए इस प्रकार प्रार्थना की गयी है।

प्राणाय में वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा
वर्चसे पवस्व उदानाय ..... ।। युजुर्वेद :– 7:27 ।।

अथर्ववेद में कहा है कि, जानकार लोग शरीर के सभी स्थानों से प्राण

एकत्रित करके दिव्य लोक को प्राप्त करते हैं –

प्रजानन्तः प्रतिगृण्हन्तु पूर्वे प्राणमङ्.गेभ्यः पर्यावचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रतिष्ठिता शरीरैः स्वर्ग याहि पथिभिर्देवयानैः।।
अथर्ववेदः – 2:34:5।।

अथर्ववेद के एकादश काण्ड में एक पूरा सूक्त प्राण के महत्व को वर्णन करने के लिए रचा गया है। (चतुर्थ सूक्त) वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान ये सभी वायु प्राण ही है।

प्राणोऽपानो व्यानोदानः समानोऽनमित्येतत्सर्वं
प्राणमेवैतत्।। 1:5:3 ।।

छांदोग्य उपनिषद में (1:3:3) प्राण, अपान, व्यान आदि वायुओं की व्याख्या की गयी है। इस प्रकार योग की वायु की संकल्पना श्रुतिकाल में ही सुस्पष्ट हो चुकी थी ऐसा कहा जा सकता हैं। वायुओं के साथ नाड़ियों की कल्पना जुड़ी हुई है। इनके भी वर्णन श्रुतियों में आये हैं। ये नाड़ियां शुक्ल, नील, पीत, लोहित आदि वर्णो की होती है। ऐसा वर्णन छांदोग्य उपनिषद (8:6:1) में आया है। ''सुषुप्ति की अवस्था में इन नाड़ियों में प्राण स्थिर होता है, तब मनुष्य स्वप्न नहीं देखता और कुछ भी नहीं जानता'', ऐसा वर्णन इसी उपनिषद (8:6:3) में किया गया है।

कठोपनिषद् में हृदय से निकलने वाली नाड़ियों की संख्या एक सौ एक बतायी है, तथा उनमें से एक नाड़ी, जो ऊपर मस्तिष्क की ओर जाती है, उसमें से जो व्यक्ति अपने प्राण ऊपर ले जाता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है। यह सुषुम्ना नाड़ी का उल्लेख है, ऐसा निश्चित कह सकते हैं –

शतं चैका च हृदयस्य नाऽयस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्रंऽन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।
कठोपनिषद् : 2:3:16 ।।

इस नाड़ी से प्राण को ऊपर ले जाने का अर्थ यह हो सकता है कि श्रुतिकाल में भी कुण्डलिनी शक्ति तथा उसके जागरण के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का अनुभव रखने वाले ऋषि–मुनि हुआ करते थे, भले ही उन्होंने कहीं ''कुण्डलिनी'' यह नाम न लिया हो।

मस्तिष्क में प्राण ले जा कर उसके आत्मदर्शन करने का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् में भी आया है।

स य एषोऽनतर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरूषो मनोमयः।
अमृतो हिरण्यमः। अंतरेण तालुके य एषस्तन इवा –
वलंबते सेन्द्रयोनिः ।। 1:6:1 ।।

आदि शंकराचार्य ने इस मंत्र पर अपने भाष्य में इसका स्पष्टीकरण करते हुए सुषुम्ना नाड़ी को "स्वरूप प्राप्ति का द्वार" कहा है।

मुण्डकोपनिषद् में इसका वर्णन हृदयग्रंथि को खोलने की परिभाषा में किया गया है।

भिद्यते हृदयग्रंथिश्रिच्छद्यंते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे।।
मुण्डकोपनिषद् – 2:2:8 ।।

मुक्ति या आत्मदर्शन की उस स्थिति को प्राप्त करने के साधन के संबंध में मुण्डकोपनिषद् में (3:2:6) "संन्यासयोग" शब्द का, तथा श्वेताश्रवतर उपनिषद् में (2:8 तथा 2:9) ध्यानात्मक आसन में स्थिर बैठकर मन को एकाग्र करने का तथा प्राणायाम के कुंभक एवं रेचक का स्पष्ट उल्लेख आया है। मन को अपने वश में करना, यही इन दोनों का उद्देश्य बताया है।

इनके अलावा श्रुतियों में योग के संबंध में अन्य अनेक उल्लेख मिलते हैं। उन सबको यहाँ। पर लिखना आवश्यक नहीं है। इन उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रुतिकाल में योग के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को भली–भांति जानने वाले, तथा उसके अंतिम लक्ष्य को अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले साधन एवं सिद्ध लोग भारतवर्ष में थे। परन्तु योग के सभी तथ्य एवं संकल्पनाओं का संग्रह करके उसका एक स्वतंत्र शास्त्र एवं दर्शन बनाकर उसकी प्रतिष्ठापना करने का कार्य अभी नहीं किया गया था। वह कार्य पंतजलि ने ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आस–पास सम्पन्न किया, ऐसी विद्वानों की मान्यता है। उसके साथ योग के इतिहास का द्वितीय कालखण्ड आरम्भ हुआ।

दर्शनों का काल :

इस काल में भारतीय दर्शन की अन्यान्य शाखाओं के सिद्धांत एकत्रित रूप में सूत्रग्रंथों में संग्रहित किये गये। प्रत्येक दर्शन ने अपने सिद्धांतों का मण्डन तथा अन्य दर्शनों के सिद्धांतों का खण्डन किया। योगसूत्र के अलावा भगवद्गीता, योगवशिष्ठ, योगयाज्ञवल्क्य आदि की रचना भी इसी कालावधि में हुई, ऐसा मानते हैं। तंत्र, पुराण, स्मृतियां जैसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति,

दक्षस्मृति, आदि जिनमें यत्र–तत्र योग के सिद्धांत एवं आचारों का वर्णन मिलता है, वे भी इसी काल की देन है। जैन तथा बौद्ध धार्मिक संप्रदायों के अंतर्गत योग साहित्य भी इसी काल में लिखा गया। इस काल में योग का एक सुनिश्चित शास्त्र बन गया। विश्व की रचना आत्मा एवं सृष्टि का स्वरूप, मनुष्य जन्म का अंतिम लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के साधन आदि के संबंध में सैद्धांतिक एवं आचार के पक्ष स्थापित हुए हैं। इनमें से कुछ सिद्धांत जैसे द्वैतवाद, जीवों की अनेकता, सृष्टि का क्रम आदि अन्य दर्शनों ने नहीं माने। परंतु योग की आचार पद्धति जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान एवं समाधि के संबंध में किसी भी दर्शन में आपेक्ष या आशंका नहीं उठायी गयी। सिद्धांतों के बारे में चाहे जितनी मतभिन्नता रही हो, इन आचारों का सभी विचारकों ने समान रूप से आदर किया। मुक्ति के सर्वोत्तम साधक के रूप में योग के अभ्यास, धारणा, ध्यान आदि सभी पक्षों ने स्वीकार किये। इस द्वितीय काल खण्ड को हम सूत्रग्रंथो का या स्मृतियों का काल (सूत्रकाल या स्मृति काल) भी कह सकते हैं। इसके तुरंत बाद चौथी शताब्दी ईसवी से टीकाग्रंथों का काल आरंभ हुआ।

टीकाओं का काल :

यह लगभग दसवी शताब्दी ईसवी तक जारी रहा। योग–सूत्र पर व्यास भाष्य की रचना चौथी शताब्दी में हुई, ऐसा मानते हैं। उस भाष्य के आधार पर विज्ञान भिक्षु, भोजदेव, वाचस्पति मिश्र एवं नागोजी भट्ट ने अपनी टीकाएं लिखीं। योग के सिंद्धातों की एवं मूलभूत मान्यताओं की विस्तार से चर्चा इन टीकाओं में पायी जाती है। भारतवर्ष के इतिहास का यह सर्वोच्च समय था इसमें विविध कला एवं विद्याओं का समुचित विकास हुआ। योग पर अनेकग्रंथ इस काल खण्ड में लिखे गये। योग उपनिषद, भक्ति के ग्रंथ, स्त्रोत ग्रंथ इसी समय लिखे गये। स्मृतियाँ, पुराण तथा तंत्र के अनेक प्राचीन ग्रंथ इस काल खण्ड के आरंभ में लिखे गये। योग दर्शन का अन्य दार्शनिक परम्पराओं से तालमेल साधने का प्रयास अनेक दार्शनिकों ने इसी काल खण्ड में किया।

भक्ति एवं हठयोग के उत्कर्ष का काल :

यह कालखण्ड लगभग दसवीं शताब्दी से आरंभ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक मान सकते हैं। इस काल में नाथ सम्प्रदाय का प्रसार हुआ। शारीरिक क्रियाओं के द्वारा मन को वश में करना यह उसकी विशेषता

थी। भक्ति सम्प्रदाय के विकास का भी यही समय था। हठयोग के ग्रंथ, जैसे हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता तथा तंत्र के अनेक ग्रंथों की रचना इस काल के मध्य में हुई। यह भारत पर इस्लाम एवं ईसाई धर्म के आक्रमणों का काल था। आक्रमणों से संघर्ष समूचे देश में होता रहा। आक्रमणों के दौरान अनेक आश्रम, संस्थायें, पुस्तकें तथा परम्परा इन सबका बड़े पैमाने पर विध्वंस हुआ। योग के क्षेत्र में वास्तविक जानकार लोग बहुत कम बचे। समाज में अनेक अंधविश्वास, कुरीतियाँ तथा गलत धारणायें फैलने लगीं। सामाजिक जीवन का सभी क्षेत्रों में ह्रास हुआ। ब्रिटिश शासन के समूचे देश में फैल जाने के समय धार्मिक एवं सामाजिक अवनति की पराकाष्ठा हो गयी थी अज्ञान एवं अंधकार के इस युग की समाप्ति होकर एक नये जागरण एवं पुनुरूत्थान का प्रारंभ स्वामी विवेकानंद एवं अन्य मनीषियों के प्रयत्नों से हुआ इस पुनर्जागरण के समय को हम आधुनिक कालखण्ड कह सकते हैं।

आधुनिक काल :

स्वामी विवेकानंद जी ने देश के नवयुवकों को राष्ट्रीय पुनरूत्थान की जो प्रेरणा अपने भाषणों से तथा विचारों से दी, उसके साथ योग के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारंभ हुआ। योग एवं वेदान्त का एक समन्वित दृष्टिकोण उन्होंने लोगों के सामने रखकर दुनियां के लोगों को योगसाधना की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने देश विदेश में योग के क्षेत्र में जो नव चेतना जागृत की उसको अनेक आधुनिक योगियों ने सर्वत्र प्रसारित किया इनमें महर्षि दयानंद, स्वामी श्रद्धानंद, रमण महर्षि, योगी अरविन्द आदि का योगदान महत्वपूर्ण रहा।

वर्तमान समय के योग के स्वरूप पर दो योगियों का सबसे अधिक प्रभाव रहा ऐसा दिखाई देता है। ये दो मनीषि हैं – ऋषीकेश के स्वामी शिवानंद तथा लोनावला के स्वामी कुवलयानंद, स्वामी शिवानंद के दिव्य जीवन संघ से प्रशिक्षित एवं प्रेरित होकर तथा उनके निजी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वर्तमान समय के अनेक स्वामियों ने भारतवर्ष में तथा विदेशों में योग के प्रचार–प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया है। स्वामी कुवल्यानंदजी ने वैज्ञानिक तथ्यों के एवं तकनीक के आधार पर योग के विभिन्न प्रायोगिक अंगों का मूल्यांकन करने की आवश्यकता पर जोर दिया, और उस अनुसंधान के लिए "कैवल्यधाम" की संस्था स्थापित करके अपने अनुसंधान कार्य को "योग मीमांसा" पत्रिका में प्रकाशित करना 1919 ईसवी में प्रारंभ किया।

उनके इस प्रयास की उपयोगिता के संबंध में वैज्ञानिक तथा योगी आशंकित थे। वैज्ञानिक मानते थे कि योग में मात्र कुछ चमत्कारों के अलावा और कोई तथ्य है ही नहीं। दूसरी ओर योगी लोगों का कहना था कि योग की प्रक्रियाओं तक योग की पहुंच नहीं हो सकती। परंतु योग मीमांसा पत्रिका में प्रथम चार–पांच वर्षो में ही योग के क्षेत्र में जो वैज्ञानिक अनुसंधान के लेख छपे, उनसे संसार में सर्वत्र स्वामी जी के नये दृष्टिकोण का स्वागत होने लगा।

इस वैज्ञानिक प्रक्रिया की सबसे आधुनिक कड़ी है – शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान एवं वैद्यक शास्त्र के चिकित्सकों का योग की उपयोगिता से प्रभावित होना। वर्तमान समय में अनेक रोग विशेषज्ञ दवाईयों के साथ–साथ रोगों की चिकित्सा में योग का भी उपयोग करने लगे हैं। यह योग के इतिहास में सबसे आधुनिक आविष्कार है, जिसका प्रचार स्वास्थ्य रक्षा, खेलकूद, मनोकायिक चिकित्सा आदि अनेक क्षेत्रों में होने लगा है। इससे योग के इतिहास में एक नया परिवर्तन आने की संभावना दिखाई देती है। उससे सामान्य मनुष्य के दैनिक जीवन में योग को एक महत्व का स्थान प्राप्त होगा, और शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य की रक्षा में आने वाली पीढ़ियाँ इसका अधिकाधिक उपयोग करेंगी, ऐसा निश्चित कहा जा सकता है।

"योग" शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

"योग" संस्कृत भाषा का एक प्राचीन काल से प्रचलित शब्द हैं। योगः योगम् योगे, योगेन, योगैः आदि इस शब्द के अनेक रूप वेदों की संहिताओं में पाये जाते हैं। पाणिनी के योग शब्द की व्युत्पत्ति "युजिर योगे" एवं "युज समाधौ" इन दो प्रकारों से दी गयी है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार योग शब्द का अनेक अर्थो में प्रयोग किया गया है जैसे – जोड़ना, मिलाना, जोड़ मेल, कोई विशेष प्रसंग, नक्षत्र तारकाओं की कोई विशेष स्थिति, आदि। ऋगवेद में वैदिक ऋषियों ने इन्द्र या अग्नि के स्तवन में योग शब्द का इस प्रकार उपयोग किया है।

स धा नो योग आ भुवत स राये स पुरंध्याम्।
गमद्वोजेभिरा स नः ।। ऋग्वेद – 9:5:3 ।।

अर्थात – हे इंद्र हमने अभी तक जो प्राप्त नहीं किया उस सम्पत्ति को पाने में तुम हमारे साथ रहो। तुम अपने सामर्थ्य से हमारी साधना में साथ दो।

अग्नि की उपासना करने वाले ऋषि कहते हैं –

यस्माद्वते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।। ऋग्वेद – 9:18:7 ।।

अर्थात – यज्ञ करने वाले ऋषियों की बुद्धि की एकता अग्नि करता है। अयन्त्र ऋषियों ने उनके प्रत्येक कार्यो में सहायता करने के लिए (योग योगे) तथा युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए इन्द्र की प्रार्थना इस प्रकार की है –

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखायः इन्द्र मूर्तये।। ऋग्वेद – 1:30:7 ।।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में छन्दों की रचना को "छन्दसां योगः कहा गया है।

कः छन्दसा योगमावेद धीरः। कोधिव्यांप्रति वाचं प्रपाद।।
।। ऋग्वेद – 10:11:49 ।।

ऋग्वेद में पाये जाने वाले "योग" शब्द के इन उल्लेखों से एक बात तुरंत स्पष्ट हो जाती है कि जिस अर्थ में आज हम "योग" शब्द का सामान्यतः प्रयोग करते हैं जैसे कि आसन, प्राणायाम या ध्यान, धारणा के अर्थ में उस अर्थ से युग्वेद में प्रयुक्त "योग" शब्द मेल नहीं खाता। "योग" शब्द के वर्तमान समय के अर्थ को यदि हम तकनीकी अर्थ कहे तो इस तकनीकी अर्थ में "योग" शब्द का प्रयोग "सामान्य अर्थ में किया गया है। इसी अर्थ में यह शब्द अथर्ववेद में भी पाया जाता है। वहां पर "अष्टा योगैः" तथा "षड़योगोभिः" इन शब्दों से आठ या छः बैलो से चलाये जाने वाले हल का उल्लेख किया है।

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचकृतुः।। अथर्ववेद – 6:91:9 ।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में "रथयोगाः" शब्द का प्रयोग रथ के जोड़ हुए घोड़ों के अर्थ में पाया जाता है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो।। बृहदारण्यकोपनिषदः
4:3:10 ।।

ये सभी "योग" शब्द के सामान्य अर्थ के ही उदाहरण हुए। इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग बाद के संस्कृत साहित्य में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचुर मात्रा में मिलता है। वियोग, संयोग, आयोग, प्रयोग, विनियोग, सहयोग युक्त, आयुक्त, अयुक्त, युक्तात्मा आदि "योग" शब्द के अनेक रूप संस्कृत एवं अन्य भाषाओं में प्रचलित हैं। वे सब "युजिर" धातु के

ही रूप हैं।

योग शब्द का तकनीकी अर्थ वैदिक संहिताओं में भले ही न मिलता हो, फिर भी वह अर्थ भी अत्यंत प्राचीन है ऐसा कहना पड़ेगा, क्योंकि कठोपनिषद् जैसे अत्यंत प्राचीन उपनिषद में इस अर्थ में योग शब्द की परिभाषा दी गयी है। योगशास्त्र, योग दर्शन, हठयोग, राजयोग, क्रियायोग, कर्मयोग, आदि शब्दों में "योग" शब्द का तकनीकी अर्थ संनिहित है। अतः यह हमेशा ध्यान में रखने की बात है कि "योग" शब्द के दो भिन्न–भिन्न अर्थ होते हैं। उनमें से एक अर्थ जो अधिक पुराना है, वह "युजिर–योगे" इस धातु से निकला है। इस सामान्य अर्थ में किन्हीं दो चीजों के मेल या जोड़ को योग कहा जाता है। दूसरा अर्थ जो बाद में योग शब्द के साथ जुड़ गया, वह "युज समाधौ" इस धातु से निकला है। वहां "योग" शब्द से मन को शांत करना, एकाग्र करना, वश में लाना, आदि अर्थ बनते हैं। और वह मन की उस स्थिति को प्राप्त करने के साधनों को भी अपने अर्थ में समाविष्ट कर लेता है जैसे आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि। जोड़ने का संबंध केवल सामान्य अर्थ में हैं, तकनीकी अर्थ में नहीं। भगवद् गीता में "योग" शब्द सामान्य तथा तकनीकों, दोनों अर्थो में आया है। कालिदास के रघुवंश में रघुकुल के राजाओं का वर्णन करते समय "वे परमात्मा का ध्यान करते हुए शरीर त्याग करते थे" ऐसा कहा है। (योगेनान्ते तनुत्यजाम्..... ।। रघुवंश 9:8 ।।), यहां पर तकनीकी अर्थ में है। अन्य स्थान पर सामान्य अर्थ में "योगे" शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जैसे दिलीप राजा एवं उनकी पत्नी सुदक्षिणा का वर्णन शिशिर ऋतु के पश्चात चित्रा एवं चन्द्रमा के समान (हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्रा चन्द्रमसोखि रघुवंश :– 1:46 ।।) ऐसा कहा है।

"योग" शब्द के ऐसे तकनीकी एवं सामान्य ऐसे दो अलग अर्थ हैं, इस अर्थ को न समझने के कारण कुछ लोग "जोड़ना" इस अर्थ को ही तकनीकी संदर्भ में लगाकर "आत्मा तथा परमात्मा का मिलन" या "जीव का ईश्वर में लीन हो जाना" ऐसा भ्रांतियुक्त अर्थ कर बैठते हैं। परंतु योग शास्त्र के रचयिता पंतजलि के अनुसार कैवल्य की अवस्था में – जो कि योग का अंतिम लक्ष्य है – आत्मा किसी भी अन्य तत्व में लीन न होकर केवल अपने आप में, अपने निजी स्वरूप में अवस्थित होकर रहती है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। योग दर्शनः – 1:3 ।।

अर्थात् "आत्मा का परमात्मा से मिलन" यह अर्थ योग दर्शन में स्वीकृत

नहीं है। वास्तव में योग का उद्देश्य है आत्मा का प्रकृति से वियोग करना। गीता में भी योग की अंतिम स्थिति को दुःख–संयोग–वियोग की स्थिति कहा है।

तं विद्याद्दुःख–संयोग वियोगं योगसंज्ञितम्।। गीता – 6:23 ।।

योग वास्तव में वियोगात्मक है, भले ही सामान्य अर्थ में "योग" शब्द का तात्पर्य जोड़ने से रहा हो। आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना यह वेदान्त की कल्पना है। वेदान्त में आत्मा ब्रम्हा से स्वतंत्र, अलग है ही नहीं। परंतु योग दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र और नित्य है। उसके मिलन या लीन होने की कल्पना बन नहीं सकती। कैवल्य शब्द का अर्थ है अकेला, अलग, स्वतंत्र, अपने आप में, स्वरूप में रहना।

यहां पर दो प्रश्न निर्माण होते हैं। पहला यह है कि यदि वेद ब्राम्हण तथा आरण्यकों में "योग" शब्द तकनीकी अर्थ में कहीं भी नहीं मिलता, तो क्या वैदिक ऋषि उन साधनों के बारे में अनभिज्ञ थे, जिनको हम आज योग के अर्न्तगत लेते हैं, जैसे ध्यान, एकाग्रता, शुद्ध आचरण, चित्त की समाहित अवस्था आदि और दूसरा प्रश्न यह है कि तकनीकी अर्थ में योग शब्द का प्रयोग कब होने लगा? अर्थात् क्या यह अर्थ प्राचीन नहीं हैं?

पहले प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही देना पड़ेगा। वैदिक ऋषि मनुष्य जीवन के सर्वोच्च ध्येय से अर्थात ब्रम्हा प्राप्ति से भंली–भांति परिचित थे, इतना ही नहीं, बल्कि उसके प्राप्ति के अनेक साधनों की भी उन्हें जानकारी थी। उन साधनों को वे योग के अर्न्तगत नहीं लेते थे। उनका उल्लेख "दीक्षा", "तपस", "ध्यान", "ब्रम्हचर्य" आदि शब्दों से किया जाता था। वेदों में ये शब्द कई स्थानों में उल्लिखित हैं। अतः वैदिक ऋषि योग साधना से परिचित तो थे। परंतु वे उसको अन्य शब्दों से कहा करते थे, और "योग" शब्द का प्रयोग केवल सामान्य अर्थ में (जैसे – जोड़ना, मिलाना) किया करते थे। तो फिर "योग" शब्द को तकनीकी अर्थ कब प्राप्त हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि यद्यपि तकनीकी अर्थ सामान्य अर्थ के बाद का है, फिर भी वह लगभग उतना ही पुराना है। क्योकि वह प्राचीन उपनिषदों में मिलता है। पाणिनी के समय, अर्थात् ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी में दोनों अर्थ प्रचलन में थे यह बात निश्चित है। कठोपनिषद् में तकनीकी अर्थ में "योग" शब्द की सुस्पष्ट परिभाषा इस प्रकार की गयी है –

तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।

अप्रमत्तस्वदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।

कठोपनिषद् – 2:3:11 ।।

अर्थात – पंच इंद्रियों, मन एवं बुद्धि की स्थिर अवस्था को योग कहते हैं। इसको प्राप्त करने पर मनुष्य संपूर्ण रीति से दोषरहित हो जाता है।

श्रेवताश्रवतर उपनिषद् में (1:3) ध्यान योग के माध्यम से ऋषियों ने आत्मस्वरूप को किस प्रकार जान लिया उसका उल्लेख इस प्रकार किया है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्ति स्वगुणैनिर्गूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्ता न्यधितित्येकः।।

श्रवेताश्रवतर उपनिषद् – 1:3 ।

तकनीकी अर्थ में योग शब्द के सबसे प्राचीन उल्लेख शायद यहीं हैं। इनके बाद पंतजलि के योग सूत्र में, गीता में तथा स्मृतियों में एवं पुराणों में योग का प्रचुर वर्णन मिलता है। हमें यहां पर यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि "योग" शब्द के दो अर्थ हैं, तथा दोनों प्रचलित हैं। इन दोनों में संभ्रम नहीं करना चाहिए।

योग की व्याख्याए

योग का साहित्य अत्यंत विशाल है। योग को मुख्य विषय के रूप में लेकर अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। अन्य अनेक ग्रंथ हैं जिनमें अन्य विषयों के साथ स्थान–स्थान पर योग का भी वर्णन मिलता है। दोनों प्रकार के साहित्य में योग की अनेक व्याख्याएं पायी जाती हैं। उन सबकी संख्या सैकड़ों में हो जायेगी। यहां पर उनमें से कुछ प्रमुख व्याख्याओं का उल्लेख करेंगे।

इन व्याख्याओं को दो मुख्य प्रकारों में बांटा जा सकता है। योग को एक अवस्था या स्थिति के रूप में वर्णन करने वाली व्याख्याएं, तथा उसके साधन पक्ष को स्पष्ट करने वाली व्याख्याएं। कुछ व्याख्याओं में स्थिति तथा साधना, दोनों का विचार आता है। कठोपनिषद् की उपरोक्त व्याख्याएं "स्थिति" को इंगित करती है। मैत्रायणी उपनिषद् में योग की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

एकत्वं प्राणमनसेरिंद्रियाणां तथैव च।
सर्व भाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते।।

मैत्रायणी उपनिषद – 6:25 ।।

अर्थात – योग वह अवस्था है जिसमें मन, विचारों से रहित होकर

इंद्रियों, मन और प्राणों की एकता हो जाती है।

मैत्रायणी उपनिषद् की यह व्याख्या कठोपनिषद् से मिलती–जुलती लगती है। मन और प्राण तथा इंद्रियां जब शांत एवं निश्चल हो जायेंगी तब निश्चित ही उस व्यक्ति को आत्मस्वरूप की अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान हो जायेगी यही बात निर्वाणोपनिषद् में दी हुई योग की व्याख्या से स्पष्ट होती है। वह व्याख्या इस प्रकार है – योगेन सदानंदस्वरूप दर्शनम्।।

महोपनिषद में योग को मन को शांत करने के एक उपाय के रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

मनः प्रशमनोपायो योग इत्याभिधीयते।।

महोपनिषद् – 5:42 ।।

अर्थात मन को शांत करने के लिए जो भी अन्यान्य उपाय किये जाते हैं (शारीरिक तथा मानसिक) उन सब का अन्तर्भाव योग में किया जा सकता है। योग विशिष्ट में भी योग के साधना पक्ष पर अधिक जोर देते हुए कहा है –

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।। योगवशिष्ट – 6:13:3 ।।

"योग" शब्द के सामान्य अर्थ का (जैसे जोड़ना, संयोग करना) प्रयोग करते हुए उसकी व्याख्या अनेक ग्रंथों में की गयी है। उदाहरणार्थ, योगयाज्ञवल्क्य इस ग्रंथ में यह व्याख्या मिलती है।

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्म परमात्मनोः।।
योग याज्ञवल्क्य – 1:44 ।।

जीवात्मा और परमात्मा के संयोग की कल्पना वेदांत की है, वह योग दर्शन से मेल नहीं खाती, इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार की व्याख्या विष्णु पुराण में भी पायी जाती हैं।

आत्म प्रयत्न सापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्य ब्रम्हाणि संयोगो योग इत्याभिधीयते।।

विष्णु पुराण – 6:7:3 ।

यह तो हुई संयोग की बात। इसके विपरीत वियोग के आधार पर योग की व्याख्या भी कुछ ग्रंथों में मिलती है। यदि आत्मा मोक्ष या मुक्ति की अवस्था में केवल अपने निजी स्वरूप में रहती है, जैसा कि योग दर्शन का

कहना है, तो किन संयोग की अपेक्षा वियोग की परिभाषा ही योग की व्याख्या में अधिक उपयुक्त समझी जानी चाहिए योग में आत्मा का किसके साथ वियोग होना है। इसके उत्तर अन्यान्य ग्रंथों में अलग–अलग मिलते हैं। उदाहरणार्थ पंतजलि के टीकाकार भोजदेव ने योग की व्याख्या पुरूष एवं प्रकृति के वियोग के आधार पर की है।

पुं प्रकृत्यो वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया।। भोजवृत्ति – 3 ।।

भगवद् गीता में योग की व्याख्या तीन प्रकारों से की गयी है। छठे अध्याय में "संयोग" तथा "वियोग" इन दोनों की परिभाषा में योग की व्याख्या आयी है।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्रच्येन योक्ताव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।

गीता – 6:23 ।।

अर्थात दुःखसंयोग का वियोग करने वाले योग का अभ्यास निश्चयपूर्वक तथा खेद रहित मन से करने का निर्देश गीता में दिया गया है। महाभारत में भी वियोग के रूप में योग की व्याख्या की गई है। परन्तु संसार के दुःखों से वियोग के साथ ब्रम्ह के साथ संयोग होना यह योग का संयोग तथा वियोगात्मक उभय स्वरूप वहां पर स्पष्ट किया गया है।

तं विद्याद् ब्रम्हणों, योगं वियोगं योग संज्ञितम्।।

महाभारत, वनपर्व 213 :33

इसी प्रकार ऐक्य तथा वियोग (ब्रम्हा के साथ ऐक्य तथा अज्ञान के साथ वियोग) इन दोनों कल्पनाओं को लेकर योग की व्याख्या गरूड़ पुराण में इस प्रकार मिलती है।

ज्ञानपूर्ववियोगाऽसौ ज्ञाने नष्टे च योगिनः।
सा मुक्तिब्रम्हाणा चैक्यमनैक्यं पुत्र ते गुणैः।।

गरूड़ पुराण – 120:9 ।

योग की सबसे अधिक उद्धत की जाने वाली व्याख्या पंतजलि के योगसूत्र की है। पतंजलि ने चित्त वृति निरोध की स्थिति तथा उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाली साधना, इन दोनों का योग कहा है। इस साधना के आठ अंग होते हैं, इसलिए पंतजलि के योग को अष्टांग योग भी कहते हैं।

योगाश्रवचितवृत्तिनिरोधः।। योगसूत्र – 9:2 ।।

इसी प्रकार की व्याख्या शांडिल्योपनिषद में भी मिलती है।

योगस्तु वृत्तिरोधोहि।। शांडिल्योपनिषद् – 1:7:24 ।।

गीता के अनुसार योग की एक व्याख्या का उल्लेख ऊपर आया ही है। इसके अलावा गीता में योग की दो अन्य व्याख्याएं द्वितीय अध्याय में की गयी हैं, जो कर्मयोग के संदर्भ में हमेशा कही जाती है।

समत्वं योग उच्यते।। गीता – 2:48 ।।

तथा

योगः कर्मसु कौशलम् ।। गीता – 2:50 ।।

योग की अन्य अनेक व्याख्याएं संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं उनमें से बहुत सी व्याख्याएं योग के अन्यान्य प्रकारों के वर्णन में आती हैं। यहां पर हमने कुछ एक महत्व की एवं प्रातिनिधिक व्याख्याओं का उल्लेख किया है। इन सभी व्याख्याओं से योग का क्या कोई समान रूप निकल आता है?यह प्रश्न महत्व का है। इस प्रश्न को लेकर हम यह कह सकते हैं कि योग एक ऐसी साधना पद्धति है, जो साधन को अज्ञान एवं दुःख से मुक्त कराते हुए जीवन के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर करती है।

योग के प्रकार

जब हम "योग" शब्द का प्रयोग एक उपासना पद्धति के अर्थ में करते हैं तब यह प्रश्न निर्माण होता है कि क्या योग एक है कि अनेक?क्या उसके जो अनेक प्रकार माने जाते हैं वे सब सर्वथा एक दूसरे से भिन्न या स्वतंत्र है?इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में योग एक ही है, अनेक नहीं। फिर भी प्रत्यक्ष आचार एवं साधना में तथा उपासना के प्रकारों में कुछ विविधता अवश्य बन जाती है जैसे खाद्य वस्तुओं के अनेक प्रकार होते है परंतु "भूख लगना" यही उन सबका मूल कारण होता है, और "क्षुधा शांति" यहीं उन सबका अंतिम उद्देश्य है। या जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचने के लिए अन्यान्य मार्ग होते हुए भी आरंभ स्थान एवं गंतव्य स्थान समान हो सकता है, उसी प्रकार योग के सभी प्रकारों में "आरंभ" और "अंतिम" लक्ष्य एक सा ही है क्योंकि उन सबका आरंभ दुख और अज्ञान से ही होता है, तथा दुख एवं अज्ञान से सर्वथा मुक्ति यहीं सब प्रकारों का ध्येय है। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि योग के विभिन्न प्रकार मूलभूत रीति से एक दूसरे से भिन्न नहीं है। उनमें केवल ऊपरी दृष्टि से भिन्नता है।

किसी भी समाज में लोगों की प्रवृतियां भिन्न–भिन्न दिखाई देती है।

कोई अधिक तार्किक होता है तो कोई अधिक भावना प्रधान। कोई अधिक विवेकशील एवं गंभीर होता है, तो कोई अधिक हट्टा–कट्टा और शारीरिक बल सम्पन्न। जीवन के प्रति इन विभिन्न लोगों के दृष्टिकोण भिन्न होना स्वाभाविक ही है इन विविध प्रवृत्तियों के कारण किसी का मन भक्ति में अधिक लग गया, किसी का कर्म में, तो किसी का ज्ञान में और इससे लोगों में योग के विभिन्न प्रकार प्रचलित हुए। ये प्रकार ऊपरी दृष्टि से भले ही अलग–अलग प्रतीत होते हों परंतु उन सब में एक समान दृष्टिकोण संनिहित है। उन सबमें एक समान आपसी मेल है। यह बात गीता में बहुत सुंदर रीति से स्पष्ट की गयी हैं गीता में भक्ति एवं ज्ञान का, कर्म का सुंदर समन्वय किया गया है। कर्मयोग को सफल बनाने के लिए साधक को मनोव्यापार एवं जीवन मूल्यों की अच्छी पहचान होनी चाहिए। उसका मन शुद्ध होना चाहिए उसमें मानव जाति के प्रति प्रेम होना चाहिए तथा ईश्वर पर निष्ठा होनी चाहिए। अर्थात् कर्म योग की सफलता के लिए भक्ति और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। कर्म भक्ति और ज्ञान ये तीनों मन के विकास क्रम के अंग हैं ज्ञान के बिना भक्ति अंध विश्वास के बराबर हो जायेगी। कर्म रहित भक्ति निष्प्रभावी सिद्ध होगी। इसी प्रकार भक्ति और कर्म के बिना ज्ञान मात्र एक अंह–भावना का रूप लेगा। इसीलिए गीता में ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी के जो लक्षण स्थान–स्थान पर बताये गये हैं उन सबमें समानता एवं एक रूपता दिखाई देती है। योग वास्तव में एक ही है, यद्यपि उसकी उपासना पद्धति के आविष्कारों में विविधता के एक अवश्य स्थान है।

परंतु यहां पर एक महत्व की बात ध्यान में रखनी चाहिए। जो लोग योग को एक जीवन की पद्धति के रूप में लेकर मुक्ति या मोक्ष का एक साधन बनाना चाहते हैं, उनके लिये योग का कोई भी प्रकार उस लक्ष्य तक पहुंचने की दृष्टि से अपनाया जा सकता है। परंतु आज योग के क्षेत्र में जो गुरू, शिक्षक तथा साधक एवं अभ्यासक दिखाई देते हैं उनमें मोक्ष प्राप्ति के लिए योग मार्ग में आकृष्ट हुआ शायद ही कोई होगा। ज्यादातर लोग किसी स्वास्थ्य संबंधी समस्या के समाधान के लिए योग को अपनाते हैं। इनके अलावा कुछ लोग शांति की खोज में योग का सहारा लेते हैं, खास करके विदेशी लोग, जो अपने भौतिक साधन सम्पन्न परंतु नैतिकता विहीन तथा दिशा विहीन कृतिमतापूर्ण जीवन पद्धति से ऊबकर शांति के नये मार्ग की तलाश में होते हैं। इन विदेशी लोगों की रूचि एवं आर्थिक सहायता के कारण

मेडिटेशन, संकीर्तन, आदि यौगिक प्रक्रियाओं के अनेक नये–नये आविष्कार पिछले दो–तीन दशकों में देश–विदेशों में प्रचलित हुए हैं। स्वास्थ्य की खोज में तथा शांति की खोज में निकले हुए योग जिज्ञासुओं की दृष्टि से ही "योग एक है कि अनेक" यह प्रश्न महत्वपूर्ण बन जाता है, क्योंकि उनकी जिज्ञासा, उनकी समस्या तथा योग में उनकी लगन सीमित होती है। आत्म ज्ञान के लिए योग को अपनाने वाले साधकों के समान उनकी लगन एवं जिज्ञासा तीव्र तथा गहरी नहीं होती उनके सामने यह प्रश्न आता है कि योग का कौन सा प्रकार उनके लिए सबसे शीघ्र फलदायी होगा। ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है। उनके लिये योग के मुख्य चार प्रकार कहे जा सकते हैं। जैसे – हठयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं राजयोग। वैसे तो योग साधना के किसी भी अंग के बाद "योग" शब्द को जोड़कर योग का कोई प्रकार बन सकता है, जैसे क्रिया योग,तंत्र योग, मंत्रयोग, जपयोग, नादयोग, लययोग, कुण्डलिनीयोग, ध्यान योग, ज्ञान योग, बुद्धियोग, सन्यासयोग आदि। योग साहित्य में कहीं राजधिराजयोग, अमनस्क योग, अस्पर्श योग, आदि शब्द भी कहे गये हैं। ये सभी योग के स्वतंत्र प्रकार बनते हैं ऐसी बात नहीं है।

योग का प्रकार कोई भी हो उसमें हमें दो बातें हमेशा दिखाई देती हैं। पहली बात है अपने मन को वश में करना, नियंत्रित करना, उसकी बाह्य विषयों के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति कम करना। इसको कहते हैं वैराग्य। दूसरी बात है इस प्रकार वश में किये हुये मन को एकाग्र करना तथा आत्मा में लगाना। इसको कहते हैं अभ्यास। अर्थात् योग का प्रकार कोई भी हो, वैराग्य एवं अभ्यास यही उसके दो प्रमुख पहलू होते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अब हम योग के ऊपर बताये हुए चार मुख्य प्रकारों का वर्णन करेगे। अन्य सभी प्रकार इनमें से किसी न किसी के अन्तर्गत समाविष्ट किये जा सकते हैं।

राजयोग

जैसे राजा मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है, वैसे राजयोग योग के सभी प्रकारों में प्रमुख कहा जा सकता है। इसको ध्यान योग, सांख्य योग, ज्ञान योग, अभ्यास योग आदि शब्दों से भी कहा गया हैं। मुख्यतः राजयोग का तात्पर्य पंतजलि के अष्टांग योग से है। ऐसा मानते है मन को शुद्ध, शांति एवं स्थिर करना, तथा अपने वश में करना जिससे कि उसमें आत्मज्ञान का उदय हो जाए यही राजयोग की विशेषता है। मन की अशुद्धि एवं अस्थिरता का मुख्य कारण हैं पंच क्लेश ये पंच क्लेश अर्थात अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा

अभिनिवेश चित्त में अनादि काल से विद्यमान रहकर उसको मलिन एवं अशुद्ध बनाते हैं। इन चित्त मलों को दूर करना, अर्थात "चित्तशुद्धि" करना यह राजयोग का सार है। इसके लिये आठ साधन होते हैं। जिनमें से प्रथम पांच को बहिरंग तथा अंतिम तीन को अंतरंग कहते हैं। बहिरंगों का अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार इन पांच साधनों का अभ्यास करने से साधक का मन अंतरंगों के अभ्यास के योग्य हो जाता है। धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीन अंतरंग हैं। अष्टांग योग के अभ्यास से चित्त के मल धुल जाते हैं, अज्ञान नष्ट होता है, तथा विवेक ज्ञान का उदय होता है। इस अवस्था को विवेक ख्याति या पुरूष ख्याति कहते हैं। इसी का दूसरा नाम है जीवनमुक्ति अर्थात् जीवन में ही मुक्त हो जाना। यही योग का अंतिम उद्देश्य है।

परंतु सामान्य मनुष्य के लिए जैसे राजा के पद को प्राप्त होना अत्यंत कठिन है, वैसे ही जीवन्मुक्ति को प्राप्त करना भी लगभग असंभव सा है। इसीलिये राजयोग का अंतिम लक्ष्य प्राप्त करने के कुछ अन्य सरल उपाय मनीषियों ने ढूंढ लिये, जैसे – हठयोग।

भक्तियोग

योग के प्रकारों में भक्तियोग शायद सबसे प्राचीन है। प्राचीन काल में इसे भक्ति योग न कहकर केवल भक्ति शब्द से ही कहा जाता था जिन ऋषियों ने वेदों की ऋचाएं रची उनमें भक्ति भावना का आविष्कार प्रचुर मात्रा में था। प्रकृति की शक्तियों से वे बहुत प्रभावित थे। वे इन विभिन्न शक्तियों की प्रार्थना करते थे तथा उनको यज्ञ में हवि अर्पण करते थे। अपने स्वास्थ्य और सुरक्षा तथा भलाई के लिए इन शक्तियों का वे आवाहन किया करते थे। वेद की ऋचाओं में भक्ति का सबसे प्राचीन उदाहरण मिलता है पुराणों में तथा भगवत् गीता, योगवसिष्ठ, आदि ग्रंथों में भक्ति योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत् भक्तियोग के प्रमुख ग्रंथो में से एक है। पंतजलि ने अपने योगसूत्र में भक्तियोग का उल्लेख "ईश्वर प्राणिधान" इस शब्द से किया है। निर्बीज समाधि की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त होने के अन्यान्य उपायों में ईश्वर प्राणिधान एक उपाय कहा गया है।

(पंतजलि योग सूत्र–1:23 ।।)

भक्ति मनुष्य के जीवन का एक स्वाभाविक पहलू है। मनुष्य अपने जीवन मे कई बार अपने को अपूर्ण और शक्तिहीन तथा विफल पाता है जीवन

में अनेकों बार अभाव, कष्ट एवं दुःखों का सामना करना पड़ता है। चिरंतर सुख शांति एवं पूर्णत्व की मनुष्य की इच्छा पूरी हो पाना तब तक असंभव सा बन जाता है, जब तक कि मनुष्य किसी असामान्य शक्ति का सहारा न लें। इसीलिए भक्ति आवश्यक हो जाती हैं भक्तियोग का मूल श्रोत यह विश्वास है कि इस चराचर विश्व का निर्माण किसी दैवीशक्ति से हुआ है तथा वहीं दैवीशक्ति इस संसार का धारण और पोषण करती हैं मनुष्य के जीवन की तथा विश्व की सभी घटनाएं उसी दैवी शक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है इसी शक्ति का नाम ईश्वर है। ईश्वर ही संसार का उत्पत्तिकर्ता, रचयिता, नियामक एवं अंतिम आश्रय है, इस विश्वास में भक्तियोग की नींव है। ईश्वर की कृपा का पात्र बनना यह भक्तियोग का सार है। भजन, पूजन, प्रार्थना, स्वाध्याय, दान तप आदि से भक्त ईश्वर की कृपा प्राप्त करता है। ये सब भक्तियोग के अंग हैं। भक्तियोग के मूल तथ्य तथा सिद्धांत दो है – (1) मन को तृष्णा से मुक्त एवं शुद्ध करना, तथा (2) मन को ईश्वर में लगाना।

बारहवीं शताब्दी के बाद भारत में भक्तियोग का एक विशाल जन आंदोलन के रूप में विकास हुआ। ज्ञानदेव, नानक,कबीर, नामदेव, तुकाराम, मीरा, गौरांग, नरसी मेहता तथा अन्य अनेक संत महात्माओं ने सामाजिक समानता, आचार शुद्धि और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम का संदेश सारे समाज में फैलाया। वह भक्तियोग के चरम उत्कर्ष का समय था। वर्तमान समय में भक्ति वेदान्त प्रभुपाद के हरे कृष्ण आंदोलन के रूप में भक्तियोग का प्रसार विश्व के अनेक देशों में हुआ है।

कर्मयोग

कर्मयोग का समग्र वर्णन भगवद् गीता में किया गया है। कर्म का अर्थ है शरीर से, मन से या वाणी से की जाने वाली कोई भी क्रिया। क्रिया या कर्म के बिना कोई भी मनुष्य एक पल भर भी नहीं रह सकता। कर्मयोग का अर्थ कर्म को छोड़ना नहीं है बल्कि कर्म करते हुए उसके बंधन से मुक्त रहना। यह कैसे संभव होगा? क्योंकि भारतीय दर्शनों की यह मान्यता है कि मनुष्य जो भी कर्म करेगा उसका फल उसको अवश्य ही प्राप्त करना होगा। उससे छुटकारा उस फल को प्राप्त करने से ही मिल सकता है। कर्म करने पर उसके संस्कार चित्त में रह जाते हें। वह तब तक चित्त में रहेगा जब तक कि उसका फल प्राप्त न किया जाये। इस प्रकार किसी भी समय हमारे मन में पुराने सभी कर्मो के संस्कार संचित रहते हैं। इसको कहते हैं कर्माशय। यह कर्माशय ही

मनुष्य को इस संसार में बांधता है, तथा संस्कारों के फल भोगने के लिये बार–बार पुनर्जन्म लेने मे विवश कर देता है। इसीलिए कर्माशय को कर्मबंध भी कहा जाता है। अच्छे कर्म को अच्छा फल मिलेगा अर्थात् सुख मिलेगा, बुरे कर्मो का परिपाक दुःख में होगा। कर्म फल अवश्य ही मिलता है, चाहे इस जन्म मे हो, चाहे आगे के जन्मों में। कर्मफल को कर्मविपाक कहा जाता है। जब तक सभी कर्मो के संस्कार भोग करके खत्म नहीं किये जाते तब तक संसार से मुक्ति नहीं हो सकती।

कर्मयोग वह मुक्ति या कुशलता है जो मनुष्य को कर्मबंध से मुक्त करा देती है। यह युक्ति है कर्मफल की इच्छा को छोड़ देना। इसीलिए इसको अनासक्त योग या निष्काम कर्मयोग कहते हैं। इसमें लाभ या हानि, सुख तथा दुःख, शीत और उष्ण आदि द्वंदों के प्रति समान दृष्टिकोण रखा जाता है। इसीलिए यह समत्व बुद्धियोग भी कहलाता है कर्मफल के संबंध में आसाक्ति को छोड़कर कर्म करते रहना, कर्तव्य को कभी नहीं छोड़ना, यह कर्मयोग का सारांश है। फलासक्ति को छोड़ने से कर्मबंध से मुक्त हो सकते हैं अर्थात् आसक्ति का त्याग करते हुए मन को स्थिर एवं शांत रखना, यही कर्मयोग का स्वरूप गीता के निम्न श्लोकों में स्पष्ट किया गया है –

योगस्थः कुरूकर्माणि संग्डः व्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

गीता – 2:48 ।।

अर्थात – हे धनंजय। सिद्धि और असिद्धि के प्रति समान भाव रखकर, आसक्ति को छोड़कर कर्म करो।

इस समत्व को ही कर्मयोग कहते हैं।

श्रीकृष्ण जी गीता में आगे कहते हैं :–

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

अर्थात – कर्मो के फल को त्याग कर समत्व बुद्धि वाले मनीषी लोग पुनर्जन्म के बंधन से छूटकर अमृतमय परम पद को प्राप्त होते हैं।

यहां पर एक सवाल पैदा होता है, कि यदि कर्म के फल में कोई आकर्षण न हो, तो फिर मनुष्य कोई कर्म करेगा ही क्यों?वह निष्क्रिय एवं उदासीन नहीं हो जायेगा? इस पर गीता का उत्तर यह है कि उदासीन तो

होना है, परन्तु कर्म के प्रति नहीं, केवल उसके फल के प्रति। यही कर्मयोग का तात्पर्य है।

हठयोग

हठयोग के एक प्रमुख आचार्य योगी स्वात्माराम ने अपने ग्रंथ हठयोग प्रदीपिका के आरंभ में हठयोग को एक सोपान या सीढ़ी कहा है जो राजयोग के अंतिम लक्ष्य तक साधक को आसानी से पहुंचा सकती हैं।

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मैं।
येनोपदिष्टा हठयोग विद्या।।
विभ्राजते प्रोन्नत राजयोग।
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणी व।।

हठप्रदीपिका – 1:1 ।।

हठयोग का अर्थ है "ह" ओर "ठ" का योग। "ह" सूर्य को कहते हैं और "ठ" चन्द्र को। मनुष्य के शरीर में नाभि के पास सूर्य तथा तालु के मूल में चंद्रमा होता है। उन दोनों की एकता करने वाले योग को हठयोग कहते हैं। यह बात योगशिखोपनिषद् में कही गयी हैं।

सूर्याचन्द्रम सौरेक्यं हठ इत्याभिधीयते।।

योगशिखोपनिषद् – 1:133 ।।

सूर्य और चंद्र को क्रमशः प्राण और अपान के रूप में लेने की प्रथा योग में है। अर्थात् प्राण और अपान के ऐक्य रूप प्राणायाम का ही तात्पर्य हठयोग शब्द से लेना चाहिए, ऐसा हठप्रदीपिका के टीकाकार ब्रम्हानंद ने कहा है –

एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्य –
लक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम्।।

ज्योत्स्नाटीका – 1:1 ।।

परंतु प्राणायाम यह हठयोग का एकमेव अंग नहीं हैं उसके अलावा अन्य तीन अंग हैं। अर्थात् हठयोग रूपी सीढ़ी, आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं नादानुसंधान, इन चार पायदानों से बनी है। इन चार पायदानों पर क्रमशः चढ़कर साधक राजयोग के ऊँचे स्थान तक अर्थात् जीवन्मुक्ति या सहजावस्था तक पहुंच पाता है। इन चारों अंगों का विस्तार से वर्णन हम आगे करेगें।

हठयोग, यह योग का सबसे आधुनिकतम प्रकार कहा जा सकता है। इसकी परम्परा तो प्राचीन है, परन्तु विकसित स्वरूप और प्रचार की दृष्टि से

इसका प्रभाव पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद का है। हठयोग का एक मूलभूत सिंद्धात यह है कि शरीर और मन दोनों एक दूसरों को प्रभावित करते हैं, तथा प्राण और मन ये दोनों परस्पराश्रित हैं। इसीलिए आसनादि शारीरिक क्रियाओं से तथा प्राणायाम से मन को शांत एवं एकाग्र किया जा सकता हैं। यही सिद्धांत वर्तमान समय के मनोकायिक रोगों की चिकित्सा में अत्यंत उपयुक्त सिद्ध हुआ है। उसी के पिछले दो दशकों में योग की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ी है।

हठयहोग के प्रमुख आचार्य योगी स्वात्माराम जी ने हठयहोग रूपी सीढ़ी के चार पायदान आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं नादानुसंधान बताये हैं।

आसन :

जिस पर बैठते है उसको आसन कहा जाता है। राजा के बैठने के स्थान को सिंहासन कहा जाता था, क्योंकि उसके दोनों ओर शेर की आकृतियां रहती थी। 'उच्चासन' का अर्थ होता है किसी आदरणीय व्यक्ति का बैठने का स्थान जो अन्य लोगाकें की अपेक्षा अधिक उंचा होता है। योग में आसन शब्द से शरीर की कोई स्थिति इंगित होती है जो कुछ समय तक स्थिर रखी जाती है। यह स्थिति बैठने की ही होनी चाहिए ऐसी बात नहीं है। कुछ आसान खड़े होकर किये जाते हैं, कुछ बैठकर, कुछ लेटकर। कुछ आसनों में हाथों के बल शरीर को उठाकर संतुलित रखा जाता है। कुछ आसनों में शरीर की स्थिति उल्टी, अर्थात सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। कुछ आसनों में शरीर को आगे झुकाया जाता है, कुछ आसानों में पीछे और कुछ में बांयी या दाहिनी ओर झुकाते है या घुमाते हैं। शरीर की ये सभी स्थितियां 'आसन' शब्द के अर्न्तगत आती हैं।

आसनों के दो मुख्य प्रकार किये जा सकते हैं एक प्रकार उन आसानों का है जिनमें साधक प्राणायाम या ध्यान के लिए लगातार कुछ देर तक स्थित बैठता है। इसको ध्यानात्मक आसन कह सकते हैं। पतंजलि ने अपने योगसूत्र में आसन की जो व्याख्या दी है वह मुख्य रूप से इन्ही को लागू होती है।

स्थिरम्सुखमासन्ाम्। – योगसूत्र – 2: 46

इन आसनों की संख्या बहुत सीमित है। इस प्रकार मे चार आसन अधिक प्रचलित है, जैसे – सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन तथा वज्रासन।

दूसरे प्रकार में वे आसन आते हैं जो शरीर के विभिन्न अंगों को व्यायाम देने के लिए प्रयोग किये जाते हैं इनको व्यायामात्मक कहते हैं। आसनों की कुल संख्या चौरासी लाख कही गयी है विश्व में जितने जीव जन्तु हैं, अर्थात् चौरासी लाख योनियां के समान आसनों की संख्या है, ऐसा धेरण्ड संहिता में कहा गया है –

आसनानि समस्तानि यावन्नो जीवजन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेण कथितं पुरा।। –

घेरण्ड संहिता – 2:1

परंतु वास्तव में केवल जीव–जन्तुओं के नाम से ही आसन बने हैं ऐसी बात नहीं है। कुछ आसन विभिन्न वस्तुओं के नाम पर भी हैं, जैसे हलासन, पश्चिमोत्तान, भद्रासन, तोलांगुलासन आदि। जिस किसी प्राणी या वस्तु के समान आसन की आकृति दिखाई देती है उसका नाम उसको दिया गया है। चौरासी लाख आसनों में से चौरासी मुख्य समझे गये हैं, परंतु जिन आसनों की विधि का प्रत्यक्ष वर्णन किसी न किसी ग्रंथ में मिलता है। ऐसे आसनों की संख्या इससे भी कम है। यह संख्या लगभग चालीस है। कुछ आसन ऐसे भी हैं जो बहुत प्रचलित हैं परंतु उनका नामोल्लेख किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता। जैसे शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन।

कमर सीधी रखना तथा मेरूदण्ड को ऊपर की ओर खींचते रहना यह ध्यानात्मक आसनों की विशेषता है। इसका प्रभाव मेरूदण्ड के नीचे के हिस्से में, मूलाधार चक्र में स्थित कुटिलाकृति, सुप्त कुण्डलिनी को सरल करके जागृत करने पर होता है। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण और उत्थान की प्रक्रिया में ध्यानात्मक आसनों के कार्य में मूलबंध, जालंधर बंध, तथा उड्डियान बंध सहित कुम्भक से सहायता मिलती है। इसी प्रकार पश्चिमतान, महामुद्रा तथा मत्स्येन्द्रासन में कुण्डलिनी के स्थान पर जो खिंचाव आता है उसका भी कुण्डलिनी के जागरण में महत्व होता है। ध्यानात्मक आसनों में पदबंध लगाने के कारण जंघाओं से लेकर पैरों तक रक्तसंचार मंद होता है। इससे कमर में कुण्डलिनी के स्थान में अधिक रक्त प्राप्त होता है। यह बात भी कुण्डलिनी को जगाने में अपना महत्व रखती है।

प्राणायाम :

हठयोग का दूसरा अंग प्राणायाम है इसकी व्याख्या पतंजलि ने इस

प्रकार की है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्सयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

योगसूत्र – 2: 94।।

बाह्यभ्यान्तरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो।

– दीर्घसूक्ष्म :।।2:50।।

ब्रह्माभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ : ।। 2:51।।

''तस्मिन्सति'' शब्द से पतंजलि ने यह सूचित किया है कि प्राणायाम हमेशा आसन में स्थिर बैठकर ही करना चाहिए। हमारी श्वास प्रश्वास की जो सामान्य गति होती है, अर्थात् एक मिनट में लगभग 15 बार श्वास लेना और छोड़ना, उसमें रूकावट डालना, अर्थात दीर्घ सांस लेना, दीर्घ छोड़ना तथा रोकना प्राणायाम है। उसकी बाह्य, आभ्यांतर तथा स्तम्भ, ऐसी तीन अवस्थाएं होती है। उसका मापन देश, काल तथा संख्या से किया जाता है। वह उपरोक्त तीनों वृत्तियों से भिन्न है प्राणायाम का फल इस प्रकार है –

ततः क्षीयेत प्रकाशावरणम्।। योगसूत्र – 2:52।।

धारणासु च योग्यता मनसः ।। 2:53।।

प्राणायाम के अभ्यास से चित्त के मल अर्थात् क्लेश एवं कर्माशय दूर होते हैं, तथा चित्त स्थिर होने लगता है।

मुद्रा :

मुद्रा शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे सिक्का, सील, मुहर, चेहरे के विशेष हावभाव या उंगलियों की विशेष रचना तंत्र में जो पंचतत्व या पंच प्रकार प्रसिद्ध हैं। जैसे मद्य, मांस, मुद्रा, मत्स्य और मैथुन इनमें 'मुद्रा' शब्द का अर्थ है भूंजा हुआ धान्य। नृत्य शास्त्र में चेहरे के हावभावों से तथा उंगलियों की रचना से विभिन्न मुद्राएं बनती हैं। योग के साधनों में आसन मुद्रा और बंध ये तीनों शब्द लगभग एक ही अर्थ को प्रकट करते आये हैं। 'योगमुद्रा' इस नाम से प्रचलित स्थिति आसन जैसी ही है। विपरीत करणी मुद्रा सर्वांगासन की पूर्वावस्था ही है। फिर भी एक को 'आसन' और दूसरे को 'मुद्रा' ये नाम केवल रूढ़ि से प्राप्त हुए। हठयोग प्रदीपिका में आसन और मुद्रा ये दो अंग अलग–अलग गिने गये हैं। आसनों का उद्देश्य है, स्थैर्य, आरोग्य और अंगलाघव, अर्थात मोटापा न होना, यह बताया है। मुद्राओं का उद्धेश्य है कुण्डलिनी का जागरण। हठयोग में मुख्य दस मुद्राओं का वर्णन मिलता है।

उनमें मूलबंध, उड्डियान बंध तथा जालंधर बंध, इन तीन को मुद्राओं में गिना है। यहां पर बंध और मुद्रा इनमें कोई भेद ही नहीं रहा। इनमें से महामुद्रा तो पश्चिमतान आसन जैसी ही है। इससे यह कह सकते हैं कि 'आसन', 'बंध' और 'मुद्रा' इन तीन शब्दों के अर्थ एक दूसरे में बहुत कुछ मिले हुए रहें हैं। फिर भी तीनों में कुछ अलगाव या भिन्नता भी अवश्य रही है।

मुद्राओं का मुख्य उद्धेश्य कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में होता रहा है इसलिए साधारण व्यक्ति के दैनिक जीवन में इसका महत्वपूर्ण स्थान हीं हो सकता। विपरीत करणी मुद्रा और योग मुद्रा ये दो मुद्राएं अवश्य उपयोगी हैं। उनको प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, परन्तु महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, बज्रोली मुद्रा तथा शक्ति चालन मुद्रा, इन मुद्राओं का योग व्यायामों में कोई स्थान नहीं होगा। इन मुद्राओं की विशेषता यह है कि त्रिबंधयुक्त प्राणायाम को इनके साथ हमेशा किया जाता है तथा कुण्डलिनी के स्थान पर इन मुद्राओं में दबाव या खिंचाव लाया जाता है। इन्हीं के फलस्वरूप मुद्राएं कुण्डलिनी के जागरण में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं।

नादानुसंधान :

कुण्डलिनी जागृति के बाद जब वह अनाहत चक्र में पहुंचती है, तथा हृदयाकाश में प्राण स्थिर हो जाता है, तब साधक को कुछ विशेष प्रकार के नाद या ध्वनि सुनने में आने लगती है। ध्यानबिन्दूपनिषद् में इस के संबंध में यह बात कहीं है कि यह नाद अर्मूत होता है, और वह वीणादंड, अर्थात् रीढ़ की हड्डियो के भीतर, सुषुम्ना नाड़ी के अर्न्तगत होता है।

अमूर्तो वर्तते नादो वीणादंड समुत्थितः।
शंख नादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथाः।।

– ध्यानबिन्दूपनिषद – 102

मूर्त नाद का अर्थ है जिसको हम कानों से सुन सकते हैं, वह ध्वनि। किसी एक चीज के दूसरी चीज पर आघात करने से जो कम्पन निर्माण होते हैं, उनसे मूर्त नाद की उत्पत्ति होती है। अमूर्त नाद को हम कानों से ग्रहण नहीं करते। वह ध्वनि कान बंद करने पर ही सुनायी देती है। वह बाह्य वातावरण में निर्माण नहीं होती। वह अंतराकाश में निर्माण होने वाली ध्वनि है। इसलिए उसको अनाहत ध्वनि कहते हैं। त्रिबंध युक्त प्राणायाम के दीर्घ अभ्यास का वह फल होता है। नाद की उत्पत्ति होने पर साधक को उसी

को सुनने में अपना मन लगाना चाहिए। इसी को नादानुसंधान या मनोलय का अभ्यास कहते हैं। वरोहोपनिषद् में इसको महत्व इस प्रकार वर्णन किया है –

इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारूतः।
मरूतस्य लयो नाथस्तन्नाथं लयमाश्रय।।

– वरोहपनिषदः – 2 : 80

अर्थात इंद्रियो को मन के द्वारा वश किया जाता है मन को प्राणायाम के द्वारा तथा प्राण को लय अर्थात् नादानुसंधान के द्वारा। इसीलिए नादानुसंधान का महत्व है। इसके संबंध में हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि जैसे ईधन में प्रवृत हुई आग ईधन को समाप्त करने पर स्वयं बुझ जाती है उसी प्रकार नाद को सुनने में लगा चित्त नाद के साथ शांत हो जाता है।

अध्याय – 2
कुण्डलिनी क्या है?

कैवल्य और विवेक ख्याति के अलावा योग की यह शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण श्रृखंला कही जा सकती हे, परंतु इतनी अधिक महत्वपूर्ण होते हुये भी यह संकल्पना अत्यंत अस्पष्ट और रहस्यमयी रही है। यह महज आश्चर्य ही है। ग्रंथों में जो वर्णन मिलते है उन से तो लगता है, कि वह शरीर का कोई अंग या अवयव हो किंतु प्रत्यक्ष में ऐसा कोई अंग दिखाई नहीं देता जिसके बारे में हम "यही कुण्डलिनी है" ऐसा कह सके इस पर यह कहा जा सकता है कि वह तो शक्ति स्वरूप है, वस्तु स्वरूप नहीं। इसको आधार शक्ति, परमशक्ति, वाचाशक्ति आदि शब्दों से कह सकते हैं। कुण्डलिनी के संबंध में एक विशेष बात यह है कि योग के सर्वप्रसिद्ध और प्रमुख दो ग्रंथो में, अर्थात भगवद्गीता में तथा पंतजलि के योगसूत्र में उसके संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलते। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद षट्चक्र, इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना ये तीन नाड़ियां तथा कुण्डलिनी शक्ति ये सभी संकल्पनाएं मूलतः योग की न होकर तंत्र शास्त्र की थी। तंत्र से ही ये संकल्पनाए हठयोग में आयी होगी। हठयोग में इनका महत्व सर्वोपरि रहा।

कुण्डलिनी यद्यपि शक्तिवरूप भी हो, तो भी उसके स्थान का वर्णन हठयोग के ग्रंथों में मिलता है। हम सब लोगों में वह शक्ति सोई हुई या सुप्त अवस्था में रहती है मूलाधार चक्र में कंद, योनि या त्रिकोण नाम का एक अंग होता है वही कुण्डलिनी का स्थान है। इसका वर्णन शिवसंहिता में इस प्रकार किया गया है –

गुदाद् द्वयंगुलतश्चोर्ध्व मैढैकांगुलतस्त्वधः।
एवं चास्ति समं कंद समता चतुरंगुलम्।।

– शिवसंहिता – 5:74

पश्चिमाभिमुखी योनिः गुदमेढ्रांतरालगा।

तत्र कंदं समारख्यातं तत्रास्ति कुंडली सदा।। 5:74
संवेष्टय सकला नाडीः सार्धत्रिकुटिलाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता। 5:76

अर्थात् – गुदा से दो अंगुल ऊपर और जननेंद्रिय से एक अंगुल नीचे चार अंगुल लम्बा चौड़ा कंद विद्यमान होता है। उसी को योनि शब्द से कहते हैं। उसमें कुण्डलिनी साढ़े तीन फेर लगाकर सुषुम्ना नाड़ी के नीचे के छोर को अपने मुंह में पकड़कर सुप्त रहती है।

दर्शनोपनिषद में कंद को त्रिकोण शब्द से कहा है :–

त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते।
गुदान्तु द्वयंगुलादूर्ध्वं मेद्रान्तु द्वयंगुलादधः।।

– दर्शनोपनिषद् – 4:2

अन्य ग्रंथों में भी कंद का विस्तार से वर्णन मिलता है। इन सभी वर्णनो से ऐसा कह सकते हैं कि हमारे शरीर में मेरूदण्ड के नीचे कमर के हिस्से में जो एक त्रिकोणकृति हड्डी है, जिसको अंग्रेजी में सेंक्रम कहते हैं, वही हठयोग ग्रंथों में वर्णित 'कंद' है। वह ऊपर से चौड़ा तथा नीचे से संकरा होता है। उसका नीचे का छोर मूलाधार चक्र में होता है। इस 'त्रिकोण' का उल्लेख करते हुए कुण्डलिनी के स्थान का विस्तृत तथा निश्चित वर्णन षट्चक्र निरूपण में इस प्रकार किया गया है।

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिका मध्यसंस्थं
कोणं तत् त्रेपुराव्यं तडिदिव विलसत्कोमलं कामरूपम्।
कंदर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्ताज्जीवेशो।
बंधुजीव प्रकरमभिहसन् कोटि सूर्य प्रकाशः।।

षट्चक्र निरूपणम् – 8

अर्थात् – वज्रा नाड़ी के आरम्भ में मूलाधार चक्र में त्रिकोण होता है। उसमें कंदर्प नाम का वायु होता है। इस त्रिकोण में स्वयंभू लिंग होता है, उसका वर्णन अगले 9 वें श्लोक में किया है। 'सेक्रम' के नीचे जो रीढ़ की अंतिम तीन हड्डिया एक दूसरे से जुड़ी हुई होती है, जिसको अंग्रेजी में "काक्सीक्स" कहते हैं, शायद स्वयंभू लिंग का तात्पर्य उसी कॉक्सीक्स से है, ऐसा कह सकते हैं।

तन्मध्ये लिंगरूपी द्रतकनकलाकोमलः पश्मास्यो ज्ञानध्यान प्रकाशः

प्रथम किसलयाकाररूपः स्वयंभू।
विद्युत्पूर्णेदुबिंब प्रकर करचयस्निग्ध संतानहासी काशीवासी विलासा विलसति सरिदावर्तरूपप्रकारः।। 9।। (ष. नि.)

अर्थात् – त्रिकोण में तप्त सुवर्ग के समान कांतिमान, श्यामवर्ण, पीछे की ओर मुख किया हुआ स्वयंभू शिवलिंग होता है। इस शिवलिंग के उपर कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरे लगाकर सोई हुई रहती है, यह बात स्पष्ट रीति से अगले श्लोक में कही है।

तस्योर्ध्वे विसतंतुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी।
ब्रम्हद्वारमुखं मुखेन मलरं संछादयन्ती स्वयम्।
शंखावर्तनिभा नवीनचपलामाला विलासास्यदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत्सार्धत्रिवृत्ताकृतिः
।।10 (ष.नि.)

अर्थात् – उस स्वयंभू लिंग के उपर, सुषुम्ना नाड़ी का छोर अपने मुंह में लेकर साढ़े तीन फेरे लगाकर कुण्डलिनी सोयी हुई रहती है।

कुण्डलिनी का सुप्त अवस्था के कारण मनुष्य के चित्त में अज्ञान व्याप्त है। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने से वह अपना कुटिल रूप त्याग कर सरल हो जाती है और सुषुम्ना के मध्य मार्ग से उपर की ओर अग्रसर होती है। उसके मार्ग में विद्यमान चक्रों का भेद करते हुए जब वह सहस्त्रार चक्र में स्थित परमशिव के साथ एकरूप होती है तब साधक को समाधि की अवस्था में परम ज्ञान होता है। इसका समग्र वर्णन योग के अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है। केवल कुम्भक, अर्थात इच्छा के अनुसार कितनी भी देर तक श्वसन क्रिया को रोकने की शक्ति होना, यह कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने का एक लक्षण है।

कुण्डलिनी महाशक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या

कुण्डलिनी शक्ति को अच्छी तरह समझने के लिए श्वास क्रिया और सुषुम्ना शीर्षक (मेडुला आफ लोंगलेटा) का विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी तक इतना ही जान पायें हैं कि नाक से ली हुई सांस गले से होती हुई फुफ्फुसों (फेफड़ो) तक पहुंचती है। फेफड़ों के छिद्रो में भरे हुये रक्त को वायु शुद्ध कर देती है और रक्त परिसंचालन की गतिविधि शरीर में चलती रहती है।

किन्तु प्राणायाम द्वारा श्वसन क्रिया को बंद करके भारतीय योगियों ने

यह सिद्ध कर दिया है कि चेतना जिस प्राण–तत्व को धारण किये हुये जीवित है, उसके लिए श्वास क्रिया आवश्यक नहीं। सांस ली हुई हवा का स्थूल भाग ही रक्त शुद्धि का काम करता है, उसका सूक्ष्म भाग सुषुम्ना शीर्षक में अवस्थित इड़ा और पिंगला नाड़ियों के माध्यम से नाभि कंद स्थित चेतना को उद्दीप्त किये रहता है। गोरक्ष पद्धति के श्लोक 48 मे इस क्रिया को शक्तिचालिनी महामुद्रा, नाड़ी शोधन आदि नाम दिये हैं और लिखा है कि सामान्य अवस्था में इड़ा और पिंगला नाड़ियों का शरीर की जिस ग्रंथि या इंद्रिय से सम्बंध होता है, मनुष्य उसी प्रकार के विचाारों से प्रभावित होता रहता है, इस अवस्था में नाड़ियों का अपना कोई क्रम नहीं होता। किंतु जब विशेष रूप से (प्राणायाम) से प्राणवायु को धौंका जाता है तो इड़ा और पिंगला सम स्वर मे प्रवाहित होने लगती है। इस अवस्था के विकास के साथ–साथ नाभि कंद के प्रकाश स्वरूप गोला भी विकसित होने लगता है। उससे प्राण शक्ति का विद्युत शक्ति के समान निसृण होता है चूंकि सभी नाड़ियां इसी भाग से निकलती है इसलिए वह इस ज्योति गोले के संस्पर्श में होती है। सभी नाड़ियो में वह विश्वव्यापी शक्ति झरने से सारे शरीर में वह तेज 'ओजस' के रूप में प्रकट होने लगता है। इन्द्रियों में वही बल के रूप में, नेत्रों में चमक के रूप में परिलक्षित होता है इस प्राण शक्ति के कारण प्रबल आकर्षण शक्ति पैदा होती है। यह शक्ति नाभि प्रदेश में प्रस्फुटित होती है और चूंकि कटि प्रदेश में इसी के समीप है, इसलिए वह भाग अधिक शीघ्र और तेजी से प्रभावित होता है इसलिए यौन शक्ति केद्रों को नियंत्रण में रखना अधिक आवश्यक होता है। साधना की अवधि में इसीलिए संयम पर अधिक जोर दिया जाता है, जिससें कुण्डलिनी शक्ति का फैलाव ऊर्ध्वगामी हो जाये उसी से ओज की वृद्धि होती है।

वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर निकल आये है कि शरीर में विभिन्न ज्ञानेद्रियों के केंद्र स्थूल इंद्रिया नहीं वरन् उससे भी सूक्ष्म और संवेदन शील कोई स्थान शरीर में है, जिन्हें न तो यंत्रों के द्वारा पकड़ा जा सकता है और न स्थूल आखों से देखा जा सकता है वे अत्यंत शक्तिशाली, महत्वपूर्ण और अनेक रहस्यों से परिपूर्ण है। शरीर पिण्ड में उसके जीवकोश, रसायन हारमोन, जीन्स आदि की अपनी सुविस्तृत व्यवस्था है। यहां उसका उल्लेख संभव नहीं है चर्चा मात्र मेरूदण्ड की और उसके दोनों सिरों की (पोल्स) की हो रही है। यह क्षेत्र समग्र काया की तुलना में बहुत छोटा होते हुए भी इतना महत्वपूर्ण है कि उसे

योगाभ्यास की अतिमहत्वपूर्ण चारा कहा जाएं तो कुछ अत्युक्ति न होगी मानवी काया यों है तो ब्रह्मण्ड की अनुकृति पर उसे छोटे रूप में समझाने के लिए एक भूमण्डल मान लेने में भी बहुत ही ज्ञातव्य बातें हस्तगत हो जायेंगी। पृथ्वी अपने उत्तरी ध्रुव से अन्तरिक्षीय भण्डार में से अपने काम की वस्तुएं ग्रहण कर लेती है। यह उसका मुख है। मुख चाहे जो नहीं खाने लगता। जो उपयोगी होती है उन्हीं को स्वाद और स्वरूप के आधार पर पकड़ता और पेट में पहुंचाता है। उसी प्रकार अंतरिक्ष में मंडराती रहने वाली असंख्य शक्तियों में से पृथ्वी उन्हीं को पकड़ती है और अपने लोक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करती है। प्रयुक्त करने के बाद जो कचरा बच जाता है उसे मल द्वार से दक्षिण ध्रुव से निकाल बाहर करती है। पचे हुए उपयोगी अंश से ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। मानवीय शरीर भी इसी क्रिया का अनुसरण करता है उसका उत्तरी ध्रुव मस्तिष्क है और दक्षिणी ध्रुव वह जिसे मल–मूत्र स्थानों का मध्य भाग मूलाधार चक्र कहते हैं इन दोनों के मध्य एक प्रचण्ड शक्ति प्रवाह बहता रहता है जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं।

पृथ्वी द्वारा खींचा गया अन्तरिक्षीय प्रवाह भूमध्य रेखा के साथ साथ चलता है। अन्तर्ग्रही शक्तियों का पृथ्वी पर प्रवाह किस प्रकार बहता है और उसकी क्षमता अन्यान्य क्षेत्रों में किस प्रकार काम करती है?इसकी जांच पड़ताल करने के लिए वैज्ञानिक इसी क्षेत्र में अपने विविध अन्वेषण करते रहते है। संसार की महत्वपूर्ण बेधशालाएं इसी भूमध्य रेखा पर बनाई गई है। इसी क्षेत्र के लम्बे पर्यवेक्षण से अनेकानेक रहस्यों का उद्घाटन हो सका है।

शरीर की भूमध्य रेखा मेरूदण्ड है। वह स्वयं तो अध्यात्म प्रयोगों की दृष्टि से आश्चर्यजनक है ही, उसके दोनों सिरे भी असाधारण है जिन्हें जादुई ही कह सकते हैं। मेरूदण्ड के शक्ति प्रवाह में तीन धाराएं बहती हैं, जिन्हें इड़ा पिंगला और सुषुम्ना कहा जाता है। बिजली की दो धाराएं होती है एक को निगेटिव और दूसरी को पौजीटिव कहते हैं। इन दोनो का जहां मिलन होता है, वहा तीसरा 'करेन्ट' बहने लगता है। इड़ा, पिंगला का जहां मिलन होता है वहीं से तीसरी धारा सुषुम्ना का उद्भव होता है इसी को शास्त्रकारों ने गंगा युमना के मिलन की सरस्वती कहा है और उस संगम को त्रिवेणी नाम दिया है। सरस्वती प्रत्यक्ष नहीं है। वह मिलन संगम पर पाताल से आकर मिलती है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पीला

नीला रंग मिलाने से तीसरा रंग हरा बन जाता है, ठीक उसी प्रकार इस सुषुम्ना संगम को कहा जा सकता है। यह त्रिविधि संगम ऐसा है जिसे लक्ष्मी काली और सरस्वती के संगम की उपमा दी जा सकती है।

मेरूदण्ड संरचना का विश्लेषण करने पर उनमें उन प्रकार की रक्त वाहनियां भी पायी गई है और शक्ति धाराएं भी। वैज्ञानिक इड़ा प्रक्रिया को – ''सिम्पैथेटिक सिस्टम'' और पिंगला को ''पैरासिम्पैथेटिक सिस्टम'' कहते हैं। इन दोनों का उद्‌गम जिस कैलाश से है उसे मस्तिष्क मध्य में उपस्थित ''हाइपोथेलेमस'' कहते हैं। इसी के दो सिरे पीनियल और पिट्‌यूटरी मस्तिष्क में ही अवस्थित रहते हैं। इन दोनों को मिलाने वाली श्रृंखला ही हाइपोथेलेमस है। इसे सहस्त्रार चक्र कहा गया है। ब्रम्हरंध्र भी इसी के साथ जुड़ा हुआ है, जिसकी संगति ''कापर्स कैलोजम'' के समीप से बैठती है। चक्र वेधन, सहस्त्रार उन्नयन एवं मूलाधार का शक्ति उद्‌घाटन यह तीनों ही कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया को पूर्ण कर लेने के लिए आवश्यक है। कहा जा चुका है कि मूलाधार मलमूत्र छिद्रों के मध्य है। इस स्थान की शल्य क्रिया करने पर जो नाड़ी गुच्छक पाया गया है उसे 'सेक्रलप्लेक्सस' कहते हैं इससे स्नायु प्रवाह माध्यम से प्रायः कामोत्तेजना उभरती रहती है और संतोनोत्पादन के लिए शुक्राणु डिम्बाणु प्रजनन अंगों में बनते रहते हैं यहीं से दाढ़ी, मूंछ, पौरूष, साहस, श्रमयोग्य कठोरता उभारने वाले हारमोन उत्पन्न होते हैं। योगाभ्यास में इसे अग्निकुण्ड, कुण्डलिनी निवास आदि का नाम दिया गया है।

मस्तिष्क मध्य में निवास करने वाले केंद्र में अप्रत्यक्ष रूप से काम करने वाले विद्युत उत्पादन केंद्र को सहस्त्रार के अतिरिक्त ''रेटीकुलर एक्टिवेंटिंग सिस्टम'' भी कहते हैं। इसे अति संवेदनशील विद्युत मापक यंत्रों की सहायता से ही मापा जा सकता हैं यहां क्षण–क्षण में विद्युत स्फुल्लिंग उभरते रहते हैं। इसे असली ह्रदय कहा जा सकता है। छाती में धड़कने वाला हृदय, रक्त को मात्र असली हृदय तक पहुंचाता है। सहस्त्रार चक्र का इससे सीधा संबंध है। उसे ब्रम्हरंध्र का उद्‌गम भी कह सकते हैं।

मूलाधार और सहस्त्रार को मिलाने वाला छोटे–छोटे घटकों से मिलकर बना मेरूदण्ड है। इसी को बोल–चाल की भाषा में ''रीढ़'' कहते हैं। स्पाइनल कार्ड इसके अंदर होता है। इसी के मध्य व दोनों ओर वे तीनों नाड़ियां शक्ति धाराएं बहती हैं, जिनका उल्लेख उपर इड़ा पिंगला के रूप में किया गया है। इन्हीं दोनों की मध्यवर्ती सुषुम्ना है। मेरूदण्ड मार्ग को 'इक्वेटोरियल

लाइन' विषुवत रेखा कहते हैं। किंतु इसका मध्यवर्ती प्रवाह "सेन्ट्रल केनाल (स्पाइनल कार्ड का केंद्रीय भाग) के नाम से जाना जाता है। यही सब मिलकर वैसी स्थिति बनती है जैसी कि पृथ्वी पर भूमध्य रेखा की है। ऐसे तो समस्त शरीर ही शक्ति पुंज है किंतु योग साधना से प्रचण्ड शक्ति का केंद्र उसी नाम को समझा जाना चाहिए जो मूलाधार से लेकर सहस्त्रार तक मेरूदण्ड माध्यम से शक्ति पुंज बनकर अवस्थित है।

कुण्डलिनी महाशक्ति को सुप्त सर्पिणी की उपमा दी गई है। कुण्डलिनी की सुप्त अवस्था के कारण ही मनुष्य के चित्त में अज्ञान व्याप्त है। कुण्डलिनी के जागरण के लिए हठयोग में जो विशेष उपाय बताये गये है उनमें सिद्धासन, पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्रासन, महामुद्रा तथा मूलबंध, जालंधर बंध एवं उड्डियान बंध इन तीनों बंधों सहित भस्त्रिका प्राणायाम ये उपाय प्रमुख है। इन अभ्यासों में रीढ़ एवं गर्दन को आगे झुकाने से सुषुम्ना नाड़ी पर तनाव लाना, उदर गुहा में तनाव और दबाब निर्माण करना, तथा सीवनी पर, जहां कुण्डलिनी का स्थान है दबाव निमार्ण करना, यह कार्य होते हैं। इन सबसे कुण्डलिनी का प्रत्यक्ष जागरण किस प्रकार होता है, उस जागरण का स्वरूप क्या है, तथा उसके क्या परिणाम होते है, इन बातों का कोई वैज्ञानिक स्पष्टीकरण अभी उपलब्ध नहीं हुआ है।

कुंडलिनी महाशक्ति की पौराणिक व्याख्या

आत्म विद्या के विद्यार्थियों को यह तो विदित ही है कि यह मानवीय पिण्ड (शरीर) विश्व ब्रम्हाण का एक छोटा सा नमूना मात्र है। सूर्य चलता है और सौर मण्डल के ग्रह–उपग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। ठीक इसी प्रकार परमाणु भी अकेला नहीं होता, उसके साथ इलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन, न्यूट्रान आदि की एक मण्डली रहती है जो 'न्युलियस' से प्रभावित होकर अपना कार्य उसी तरह चलाती है जिस तरह सौर मण्डल के साथ। विशाल वृक्ष का सारा ढांचा छोटे से बीज के भीतर पूरी तरह विद्यमान रहता है। मनुष्य का शरीर ही नहीं उसका स्वभाव, बुद्धि अन्तःकरण आदि महत्वपूर्ण सूक्ष्म चेतना संस्थान भी अति सूक्ष्म रज वीर्य में पूरी तरह "जीन्स" रूप से विद्यमान रहता है। ब्रम्हाण की विशाल व्यापकता को यदि हम बीज रूप में देखना चाहें तो उसे मानव शरीर की सूक्ष्मता का विश्लेषण करते हुए भली प्रकार जान सकते हैं। जान ही नहीं सकते उस व्यक्तिगत सूक्ष्मता का विश्व गरिमा के साथ जुड़े हुए अविच्छिन्न सम्बन्ध का लाभ भी उठा सकते हैं। यह सम्बन्ध सूत्र यदि प्रसुप्त

न रह कर जाग्रत हो जायें, दुर्बल न रह कर परिपक्व हो जायें तो विश्व व्यापी शक्ति भण्डार से अपने लिए आवश्यक वस्तुयें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध आकर्षित कर सकता है इतना ही नहीं अपनी दुर्बल इकाई को बनाकर उससे विराट् विश्व के जड़ चेतना संस्थान को प्रभावित कर सकता है।

साधना और तपश्चर्या वस्तुतः इसी अति महत्वपूर्ण विज्ञान का नाम है। प्राचीन काल में तप साधना के द्वारा जिनने जो वरदान पाये थे उनके इतिहास, पुराण विस्तार पूर्वक हम पढ़ते सुनते हैं। इन दिनों वैसी उपलब्धियां प्रत्यक्ष न होने से वे बातें कपोल कल्पना जैसी लगती हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यदि ठीक विधि से ठीक उपकरणों द्वारा उस विज्ञान को कार्यान्वित किया जाये तो पूर्व काल की कपोल कल्पना समझी जाने वाली बातों को आज भी प्रत्यक्ष किया जाना सम्भव हैं।

तपस्वियों द्वारा साधना के फलस्वरूप प्राप्त किये वरदान और कुछ नहीं विराट् विश्व की अन्तरंग शक्तियों में से कुछ का इच्छानुकूल उपयोग कर सकने की क्षमता ही समझी जानी चाहिए इसी प्रकार शाप वरदान दे सकने की क्षमता को अपनी व्यक्तिगत इकाई को इतना प्रबल बना लेना चाहिए जिससे मनुष्यों या पदार्थो को अपनी संकल्प शक्ति के प्रहार से अभीष्ट दिशा में मुड़ने के लिए विवश किया जा सके। देवताओं का अस्तित्व इस विराट् विश्व में उनकी विशालता के अनुरूप व्यापक भी हो सकता है? पर हम से देवताओं के जिस अंश का प्रत्यक्ष और सीधा सम्बन्ध है वह अंश अपने भीतर ही 'शक्ति बीजों' के रूप में विद्यमान रहता है। साधना का प्रयोजन इन्हीं शक्ति बीजों को जाग्रत और समर्थ बनाना है। समष्टिगत देवताओं का आर्शीवाद, वायु, वर्षा, धूप, शीत, दुर्भिक्ष, सुभिक्ष आदि के रूप में समग्र रूप से बरसता है और उससे सबको समान लाभ मिलता है। व्यक्तिगत वरदान आर्शीवाद देने वाले देवता अपने शरीर में ही विद्यमान रहते हैं। विविध–विधि साधनाओं द्वारा उन्हीं को स्वयं समर्थ बनाया जाता है। और अपनी पात्रता एवं तपस्या के अनुरूप उन्हीं से वह लाभ पाया जाता है जिसे 'अलौकिक चमत्कारी' देव प्रदत्त, वरदान के रूप में आश्चर्य के साथ सुना और देखा जाता है।

इस अलौकिक और अद्भुत चमत्कार प्रस्तुत करने वाले शक्ति को ही योगियों और तपस्वियों ने कुंडलिनी नाम दिया है और उसे जीवन चेतना का आधार बताया है। उसी से जीवधारियों को शक्ति और तेजस्विता मिलती है,

सामान्य स्थिति में व्यक्ति की कुण्डलिनी शक्ति जितनी मात्रा में स्पन्दन करती है, उतना ही प्रभाव, उस मनुष्य का होता है। उसी के आधार और अनुपात से लोगों को सुख–दुःख आदर सम्मान, लोक प्रतिष्ठा आदि मिलती है। इसलिए कहना न होगा कि मनुष्य के स्थूल जीवन की नहीं व्यावहारिक जीवन की सफलता और समुन्नति का आधार भी कुण्डलिनी शक्ति ही है।

पांचों प्रकार की ज्ञान इन्द्रियाँ भी बिजली के तारों की तरह इसी महाशक्ति से जुड़ गई हैं, इसलिए वह सूक्ष्म चेतना होने पर भी संकल्प रूप में आ गई है। चेतन होने के कारण चित्त, जीने से जीव मनन करने से मन और बोध प्राप्त करने से चेतना को बुद्धि रूप में देखा जाता है। अहंकार रूप में उसे ही तुर्यष्टक कहते हैं पर इन विभिन्न नामों का एक ही आधार है चेतना। इस चेतना की, शक्तियों की मूलाधार शक्ति को ही कुण्डलिनी कहा जाता है। ज्ञान और अनुभव के पांचों कोश बीज रूप से इसी में पाये जाते हैं, इसलिए कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत कर लेने वाला इन्द्रियों को उसी तरह वश में कर लेता है, जिस तरह लगाम लगे हुए घोड़ों को वश में कर लिया जाता है। जिसने इन्द्रियों को जीत लिया संसार में उसको किसका भय। जो निर्भय हो गया वहीं विश्व–विजेता हो गया।

कुण्डलिनी की इन्हीं महान् सामर्थ्यो को जान कर ही योग शास्त्रों में उसे सर्वाधिक महत्व दिया गया। इसके साथ अनेक प्रकार की कल्पनायें जोड़ दी गई हैं।अनेक प्रकार से उसका वर्णन किया जाता है। सीधे सरल शब्दों में कुण्डलिनी वह दिव्य मानस तेज हैं, जो आत्म–चेतना से परिसिक्त है और शरीर भर में व्याप्त है। साधना के फलस्वरूप यह तेज सिमट कर ध्यान के समय ज्योति बन कर देह में कार्य करने लगता है।

कुण्डलिनी शक्ति को और अच्छी तरह समझने के लिए श्वास क्रिया और सुषुम्ना शीर्षक (मेडुला आफ लोंगलेटा) का विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी तक इतना ही जान पायें हैं कि नाक से ली हुई साँस गले से होती हुई फुफ्फुसों (फेफड़ों) तक पहुंचती है। फेफड़ों के छिद्रों में भरे हुये रक्त को वायु शुद्ध कर देती है और रक्त–परिसंचालन की गतिविध शरीर में चलती रहती है।

किन्तु प्राणायाम द्वारा श्वास क्रिया को बन्द करके भारतीय योगियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चेतना जिस प्राण–तत्व को धारण किये हुए जीवित है, उसके लिए श्वास–क्रिया आवश्यक नहीं। साँस ली हुई हवा का स्थूल

भाग ही रक्त शुद्धि का काम करता है, उसका सूक्ष्म भाग सुषुम्ना शीर्षक में अवस्थित इड़ा और पिंगला नाड़ियो के माध्यम से नाभि–कन्द स्थिति चेतना को उद्दीप्त किये रहता है। 'गोरक्ष पद्धति' में श्लोक 48 में इस क्रिया को शक्तिचालन महामुद्रा, नाड़ी शोधन आदि नाम दिये हैं और लिखा है कि सामान्य अवस्था में इड़ा और पिंगला–नाड़ियों का शरीर की जिस ग्रन्थि या इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है, मनुष्य उसी प्रकार के विचारों से प्रभावित होता रहता है, इस अवस्था में नाड़ियों के स्वतः संचालन का अपना कोई क्रम नहीं होता। किन्तु जब विशेष रूप (प्राणायाम) से प्राणवायु को घौंका जाता है तो इड़ा (गर्म नाड़ी) और पिंगला (ठण्डी–नाड़ी) सम–स्वर में प्रवाहित होने लगती हैं। इस अवस्था के विकास के साथ–साथ नाभि–कन्द में प्रकाश स्वरूप गोला भी विकसित होने लगता है। उससे प्राण शक्ति का विद्युत शक्ति के समान निसृण होता है चूँकि सभी नाड़ियाँ इसी भाग से निकलती हैं इसलिए वह इस ज्योति गोले के संस्पर्श में होती हैं। सभी नाड़ियों में वह विश्वव्यापी शक्ति झरने से सारे शरीर में वह तेज 'ओजस' के रूप में प्रकट होने लगता है। इन्द्रियों में वही बल के रूप में, नेत्रों में चमक के रूप में परिलक्षित होता है। इस प्राण–शक्ति के कारण प्रबल आकर्षण शक्ति पैदा होती है।

यह शक्ति नाभि प्रदेश में प्रस्फुटित होती है और चूँकि कटि प्रदेश भी उसी के समीप है, इसलिए वह भाग अधिक शीघ्र और तेजी से प्रभावित होता है। इसलिए यौन–शक्ति केन्द्रों को नियन्त्रण में रखना अधिक आवश्यक होता है। साधना की अवधि में संयम पर इसीलिए अधिक जोर दिया जाता है, जिससे कुण्डलिनी शक्ति का फैलाव ऊर्ध्वगामी हो जाये उसी से ओज की वृद्धि होती है।

स्थूल रूप से शरीर के स्नायु मंडल को ही पाश्चात्य वैज्ञानिक देख पाये हैं, वे अभी तक नाड़ियों के भीतर बहने और गतिविधियों को मूलरूप से प्रभावित करने वाले प्राण प्रवाह को नहीं जान सके। स्थूल नेत्रों से उसे देखा जाना सम्भव भी नहीं है। उसे भारतीय योगियों ने चेतना के अति सूक्ष्म–स्तर का वेधन करके देखा। योग शिखोपनिषद में 101 नाड़ियों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने सुषुम्ना शीर्षक को पर नाड़ी बताया है। यह कोई नाड़ी नहीं है वरन् इड़ा पिंगला के समान विद्युत–प्रवाह से उत्पन्न हुई एक तीसरी धारा है जिसका स्थूल रूप से अस्तित्व नहीं भी है और सूक्ष्म रूप से इतना व्यापक एवं विशाल है कि जीव की चेतना जब उसमें से होकर भ्रमण करती है तो

ऐसा लगता है कि वह किसी आकाश गंगा में प्रवाहित हो रहा है। वहां से विशाल ब्रह्माण्ड की झांकी होती है। अन्तरिक्ष में अवस्थित अगणित सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह–नक्षत्र की स्थिति समझने और विश्व–व्यापी हलचलों को नाद रूप में सुनने–समझने का अलभ्य अवसर, जो किसी चन्द्रयान या राकेट के द्वारा भी सम्भव नहीं है, इसी शरीर में मिलता है। उस स्थिति का वर्णन किया जाये तो प्रतीत होगा कि कुछ स्थूल और सूक्ष्म इस संसार में विद्यमान् है उस सब के साथ सम्बन्ध मिला लेने और उनका लाभ उपलब्ध करने की क्षमता उस महान् आत्म–तेज में विद्यमान् है, जो कुण्डलिनी के भीतर बीज रूप में मौजूद है।

सुषुम्ना नाड़ी (स्पाइनलकार्ड) मेरूदण्ड में प्रवाहित होती है और ऊपर मस्तिष्क के चौथे खोखले भाग (फोथविन्ट्रिकल) में जाकर सहस्त्रार चक्र में उसी तरह प्रवष्टि हो जाती हैं जिस तरह की तालाब पानी मे से निकलती हुई कमल नाल से शत–दल कमल विकसित हो उठता है। सहस्त्रार चक्र ब्रह्मण्ड लोक का प्रतिनिध है, वहां ब्रम्हा की सम्पूर्ण विभूति–बीज रूप से विद्यमान् है और कुण्डलिनी की ज्वाला वहीं जाकर अन्तिम रूप से जा ठहरती है, उस स्थिति में निरन्तर मधुपान का सा, सम्भोग की तरह का सुख (जिसका कभी अन्त नहीं होता) है, उसी कारण कुण्डलिनी शक्ति से ब्रम्हा प्राप्ति होना बताया जाता है।

कुण्डलिनी का महत्व इसी शरीर में परिपूर्ण शक्ति और सामर्थ्य का स्वामी बन कर आत्मा की अनुभूति और ईश्वर दर्शन प्राप्त करने से निःसन्देह बहुत अधिक बढ़ जाता है। पृथ्वी का आधार जिस प्रकार शेष भगवान् को मानते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति पर प्राणि मात्र का जीवन अस्तित्व टिका हुआ है। सर्प के आकार की वह महाशक्ति ऊपर जिस प्रकार मस्तिष्क में अवस्थित शून्य–चक्र से मिलती है, उसी प्रकार नीचे वह यौन–स्थान में विद्यमान् कुण्डलिनी के ऊपर टिकी रहती है। प्राण और अपान वायु के धौंकने से वह धीरे–धीरे मोटी, सीधी, सशक्त और परिपुष्ट होने लगती हैं साधना की प्रारम्भिक अवस्था में यह क्रिया धीरे–धीरे होती है, किन्तु साक्षात्कार या सिद्धि की अवस्था में वह सीधी हो जाती है। और सुषुम्ना का द्वार खुल जाने से शक्ति का स्फुरण वेग से फूट कर सारे शरीर में विशेष रूप से मुखाकृति में फूट पड़ता है। कुण्डलिनी जागरण दिव्य ज्ञान, दिव्य अनुभूति और अलौकिक सुख का सरोवर इसी शरीर में मिल जाता है।

सुषुम्ना नाड़ी का रूका हुआ छिद्र जब खुला जाता है तो साधक को एक प्रकार अत्यन्त मधुर नाद सुनाई देने लगता हैं। यह ध्वनि प्रारम्भ में मेघ के गर्जन, वर्षा समुद्र की हहराहट, घण्टा, झाँझ, वीणा और भ्रमर गुंजार के तुल्य विकसित होती है, यही बाद में अनाहत नाद में परिणित हो जाता है। नाभि से 4 अंगुल ऊपर यह आवाज सुनाई देती है, उसे सुनकर चित्त उसी प्रकार मोहित होता है। जिस प्रकार वेणुनाद सुन कर सर्प सब कुछ भूल जाता है। अनाहत नाद से साधक के मन पर चढ़े हुए जन्म–जन्मान्तरों के कुसंस्कार छूट जाते हैं।

कुण्डलिनी महाशक्ति को तन्त्र–शास्त्रों में द्विमुखी सर्पिणी कहा गया है। उसका एक मुख मल–मूत्र इन्द्रियों के मध्य मूलाधार चक्र में है। दूसरा मुख मस्तिष्क के मध्य ब्रम्ह रन्ध्र में हैं। पृथ्वी के उत्तरी ध्रुवों में सन्निहित महान् शक्तियों का परस्पर आदान प्रदान निरन्तर होता रहता है, इसी से इस पृथ्वी का सारा क्रिया–कलाप यथाक्रम चल रहा है। इसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के ऊपर और नीचे के जननेन्द्रिय और मस्तिष्क अथःऊर्ध्व केन्द्रों की शक्तियों का निरन्तर आदान–प्रदान होता रहता है। यह संचार क्रिया मेरू–दण्ड के माध्यम से होती है। रीढ़ की हड्डी इन दोनों केन्द्रों को परस्पर मिलाने का काम करती है। वस्तुतः स्थूल कुण्डलिनी का महासर्पिणी स्वरूप मूलाधार से लेकर मेरू–दण्ड समेत ब्रम्ह–रन्ध्र तक फैले हुए सर्पाकृत कलेवर में ही पूरी तरह देखी जा सकती है। ऊपर नीचे मुड़े हुए दो महान् शक्तिशाली केन्द्र चक्र ही उसके आगे–पीछे वाले दो मुख हैं।

मेरू–दण्ड पोला है, उसके भीतर जो कुछ है, उसकी चर्चा शरीर शास्त्र के स्थूल प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर दूसरे ढंग से की जा सकती हैं शल्य क्रिया द्वारा जो देखा जा सकता है, वह रचना क्रम दूसरा है। हमें सूक्ष्म प्रक्रिया के अन्तर्गत योग–शास्त्र की दृष्टि से इस परिधि में सन्निहित दिव्य शक्तियों की चर्चा करनी है। योगशास्त्र के अनुसार मेरू–दण्ड में एक ब्रम्हा नाड़ी है और उसके अन्तर्गत इड़ा और पिंगला दो अन्तर्गत शिरायें गतिशील हैं। यह नाड़ियाँ रक्त वाहिनी शिरायें नहीं समझी जानी चाहिए। वस्तुतः ये विद्युत धारायें हैं। जैसे बिजली के तार में ऊपर एक रबड़ का खोल चढ़ा होता है और उसके भीतर जस्ते तथा ताँबे का ठंडा गरम तार रहता है, उसी प्रकार इन नाड़ियों को समझा जाना चाहिए। ब्रम्हा–नाड़ी रबड़ का खोल हुआ, उसके भीतर इड़ा और पिंगला ठंडे–गरम तारों की तरह हैं। इनका स्थूल

कलेवर या अस्तित्व नहीं हैं। शल्य–क्रिया द्वारा यह नाड़ियाँ नहीं देखी जा सकतीं। इस रचना क्रम को सूक्ष्म विद्युत धाराओं की दिव्य रचना ही कहना चाहिए।

मस्तिष्क के भीतरी भाग में ये कतिपय 'कोष्टकों के अन्तर्गत भरा हुआ मज्जा भाग ही देखने को मिलेगा। खुर्दबीन से और कुछ देखा नहीं जा सकता पर सभी जानते हैं, उस दिव्य संस्थान के नगण्य से दीखने वाले घटकों के अन्तर्गत विलक्षण शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य का सारा व्यक्तित्व, सारा चिन्तन, सारा क्रिया कलाप और सारा शारीरिक, मानसिक अस्तित्व इन घटकों के ऊपर ही अवलम्बित रहता है। देखने में सभी का मस्तिष्क लगभग एक जैसा दिखेगा पर उसकी सूक्ष्म स्थिति में पृथ्वी, आकाश जैसा अन्तर दीखता है, उसके आधार पर व्यक्तित्वों का घटिया–बढ़िया होना सहज ही आंका जा सकता है। यही सूक्ष्मता कुण्डलिनी के सम्बन्ध में व्यक्त की जा सकती है। मूलाधार, सहस्त्रार, ब्रम्हा–नाड़ी, इड़ा, पिंगला उन्हें शल्य क्रिया द्वारा नहीं देखा जा सकता। यह सारी दिव्य रचना ऐसी सूक्ष्म है, जो देखी तो नहीं जा सकती पर उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

मूलाधार में अवस्थित कुण्डलिनी महाशक्ति मलद्वार और जननेन्द्रिय के बीच लगभग चार अंगुल खाली जगह में विद्यमान बताई जाती हैं योग शास्त्र के अनुसार इस स्थान पर वहीं गहरे में एक त्रिकोण परमाणु पाया जाता हैं। यों सारे शरीर में स्थिति कण गोल बताये जाते हैं पर यही एक तिकोना कण है यहां एक प्रकार का शक्ति भ्रमर है। शरीर में प्रवाहित होने वाली तथा मशीनों से संचारित बिजली की गति का क्रम यह है कि वह आगे बढ़ती है फिर तनिक पीछे हटती है और उसी क्रम से आगे बढ़ती पीछे हटती हुई अपनी अभीष्ट दिशा में दौड़ती चली जाती हैं। किन्तु मूलाधार स्थिति त्रिकोण कण के शक्ति भंवर में सन्निहित बिजली गोल घेर में पेड़ से लिपटी हुई बेल की तरह घूमती हुई संचारित होती है। यह संयम क्रम प्रायः 3।। लपेटों का है। आगे चल कर यह विद्युत धारा इस विलक्षण गति को छोड़ कर सामान्य रीति से प्रवाहित होने लगती है।

यह प्रवाह निरन्तर मेरूदण्ड मे होकर मस्तिष्क के उस मध्य बिन्दु तक दौड़ता रहता है, जिसे ब्रम्हा–रन्ध्र या सहस्त्रार कमल कहते हैं। इस शक्ति केन्द्र का मध्य अणु भी शरीर के अन्य अणुओं से भिन्न रचना का है। वह गोल न होकर चपटा है। उसके किनारे चिकने न होकर खुरदरे हैं – आरी के दांतों

से उस खुरदरेपन की तुलना की जा सकती है। योगियों का कहना है कि उन दांतों की संख्या एक हजार है। अलंकारिक दृष्टि से इसे एक ऐसे कमल पुष्प की तरह चित्रित किया जाता है जिसमें हजार पंखुरियां खिली हुई हों। इस अलंकार के आधार पर ही इस अणु का नामकरण 'सहस्त्रार कमल' किया गया है।

सहस्त्रार कमल का पौराणिक वर्णन बहुत ही मनोरम एवं सारगर्भित है। कहा गया है कि क्षीरसागर में विष्णु भगवान् सहस्त्र फन वाले शेषनाग पर शयन कर रहे हैं। उनके हाथ में शंख, चक्र, गदा, पद्म हैं। लक्ष्मी उनके पैर दाबती हैं। कुछ पार्षद उनके पास खड़े हैं। क्षीरसागर मस्ष्तिक में भरा हुआ, भूरा चिकना पदार्थ ग्रेटमैटर है। हजार फन वाला सर्प यह चपटा खुरदरा ब्रम्ह–रन्ध्र स्थित विशेष परमाणु है। मनुष्य शरीर में अवस्थित ब्रम्हा–सत्ता का केन्द्र यहीं है। इसी से यहां विष्णु भगवान का निवास बताया गया है। यह विष्णु सोते रहते हैं। अर्थात् सर्वसाधारण में होता तो ईश्वर का अंश समान रूप से है पर वह जाग्रत स्थिति में नहीं देखा जाता। आमतौर से लोग घृणित, हेय, पशु–प्रवृत्तियों जैसा निम्न–स्तर का जीवन यापन करते हैं। उसे देखते हुए लगता है कि इनके भीतर या तो ईश्वर है ही नहीं–अथवा यदि है तो वह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है। जिसका ईश्वर जाग्रत होगा उसकी विचारणा, क्रियाशीलता आकांक्षा एवं स्थिति उत्कृष्ट स्तर की दिखाई देगी वह प्रबुद्ध और प्रकाशवान् जीवन जी रहा है, अपने प्रकाश से स्वयं ही प्रकाशवान् न हो रहा होगा वरन् दूसरों को भी मार्ग–दर्शन कर सकने में समर्थ हो रहा होगा। मानव तत्व की विभूतियां जिसमें परिलक्षित न हो रहीं हैं, जो शोक–संताप, दैन्य दारिद्र और चिन्ता–निराशा का नारकीय जीवन जी रहा हो, उसके बारे में यह कैसे कहा जाये कि उसमें भगवान् विराजमान हैं। फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि उसमें ईश्वर नहीं है। हर जीव ईश्वर का अंश है और उसके भीतर ब्रह्म सत्ता का अस्तित्व विद्यमान् भी है।

इस विसंगति की संगति मिलाने के लिए यही कहा जा सकता है कि उसमें भगवान् है तो पर सोया पड़ा है। क्षीर जैसी उज्जवल विचारणाओं के सागर में भगवान् निवास करते हैं। क्षीर सागर ही उनका लोक है। जैसे मस्तिष्क में क्षीर जैसी धवल स्वच्छ, उज्जवल प्रवृत्तियां, मनोवृत्तियां भरी पड़ी हों समझना चाहिए कि उसका अन्तरंग क्षीरसागर है और उसे भगवान् का लोक ही माना जायेगा। क्षीरसागर में सहस्त्र फन वाले शेषनाग पर विष्णु

भगवान् के शयन करते रहने का यही पौराणिक रहस्य है।

विष्णु के हाथ चार आयुध। शंख अर्थात् ध्वनि, वाक् शक्ति, दूसरों को जगाने–उठाने एवं प्रभावित करने की क्षमता। चक्र अर्थात् गतिशीलता, क्रिया, स्थिति के अनुरूप परिवर्तन कर सकने की शक्ति। गदा अर्थात् प्रताड़ना, अवांछनीय, अनुपयुक्त परिस्थितियों को दबाने–मिटाने एवं सुधारने की सामर्थ्य। पद्म अर्थात् सौन्दर्य, शोभा; सुगन्ध, मधुरता, सौम्यता, सज्जनता सहृदयता, उदारता, संयमशीलता आदि सद्गुणों का बाहुल्य। विष्णु भगवान के चार हाथों में यह चार आयुध हैं। भगवान अपने साथ यह विशेषतायें धारण किये हैं। जिनका भगवान जाग्रत, सक्रिय होगा, उनमें उपरोक्त चारों विशेषतायें भी प्रत्यक्ष परिलक्षित होंगी। लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। जहां भगवान् रहेगा, वहां विभूतियां, सिद्धियां, विशेषतायें, सफलतायें, सद्भावनायें प्रचुर परिमाण में दृष्टिगोचर होगी। लक्ष्मी अर्थात् विभूति। वह विष्णु की पत्नी है। महापुरूषों के पास महान विभूतियां भी प्रस्तुत रहती हैं। दरिद्रता तो दुर्जनों के हिस्से आई हैं, सज्जन अपरिग्रही हो सकते हैं, यह उनकी स्वेच्छा, सुविधा एवं अभिरूचि है। वैसे कोई अभाव उनके ऊपर थोपा हुआ नहीं होता।

नारद हयग्रीव आदि दूसरे पार्षदों की उपस्थिति का आधार यह है कि विष्णु और लक्ष्मी के साथ–साथ अनेक दैवी शक्तियां भी सहायता के लिए उपस्थित रहती हैं।सात्विक शक्तियों के ज्ञान–विज्ञान और वर्चस्व के प्रतीक नारद माने जाते हैं और बल, पराक्रम, पुरूषार्थ, वैभव, साहस एवं सकाम महत्ता के प्रतिनिध हयग्रीव हैं। सतोगुण का बाहुल्य और रजोगुण का सान्निध्य सदा विष्णु और लक्ष्मी की उपस्थिति के साथ जुड़ा रहेगा। जो ईश्वर भक्त, आस्तिक एवं आत्मदर्शी है, उसे विष्णु लक्ष्मी, पार्षद, क्षीरसागर, शेषनाग जैसी दिव्य सत्ताओं को अपने अन्तरंग में प्रतिष्ठित देखने का अवसर मिलेगा। उसके प्रबुद्ध मस्तिष्क में उपरोक्त सारी विशेषतायें विद्यमान रहेंगी। उसका व्यक्तित्व प्रकाशमान अनुकरणीय एवं ऐतिहासिक चिर–स्मरणीय बनकर रहेगा। उसकी उत्कृष्ट विचारणा एवं आदर्श क्रियाशीलता उसे नर–पशु के स्तर से निकाल कर नर–नारायण की तरह पूजार्ह बनाकर रहेगी।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्व मुख ब्रह्म–रन्ध्र स्थित सहस्त्रार कमल के आधार पर शेषशायी विष्णु की अलंकारिक गाथा का रहस्य बहुत गम्भीर है,उसमें बताया गया है ऊर्ध्व मुख सहस्त्रार कमल यदि जाग्रत हो सके तो व्यक्ति अपने भीतर विष्णु और उसके समस्त वैभव कलेवर को अपने साथ जुड़ा, गुंथा देख सकता

है और सिद्ध–पुरूषों की तरह महामहिम जीवन–यापन कर सकता है।

कुण्डलिनी के अधोमुख मूलाधार चक्र के साथ समुद्र–मन्थन की पौराणिक गाथा जुड़ी हुई है। सुर और असुरों ने मिलकर समुद्र मथा था और एक से बढ़कर महत्वपूर्ण चौदह रत्न प्राप्त किये थे। इस गाथा में पौराणिक उपाएयानकार ने कुण्डलिनी की गरिमा ही प्रकट की है।

सुर और असुर दो वर्ग माने गये हैं। इनकी प्रकृति भिन्न है। दिति–अदिति दो माताओं के पुत्र होने के कारण इनमे कुछ भेद भी है पर पिता एक होने के कारण वे एक ही अंश वंश के तथा परस्पर पूरक है। सुर–गुरू बृहस्पति और असुर गुरू शुक्राचार्य दोनों ही देव थे। दोनों की योग्यता, तपस्या एवं दूरदर्शिता असाधारण थी। प्रक्रिया में थोड़ा अन्तर अवश्य था पर थे दोनों ही अपने स्थान पर महत्वपूर्ण। सुर गुरू बृहस्पति ज्ञान मार्गी थे, उनका सम्प्रदाय योग को प्रधानता देता था और उनके अनुयायी दक्षिण मार्गी कहलाते थे। असुर गुरू शुक्राचार्य कर्ममार्गी थे; उनका सम्प्रदाय तन्त्र को प्रधानता देता था और उनके अनुयायी बाम–मार्गी कहलाते थे। आगम और निगम, वेद और तन्त्र दोनों की अपनी महत्ता है। ज्ञान और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। सुर और असुरों की सत्ता एक दूसरे की पूरक हैं। पर समन्वय की पथ छोड़ने वाले एक ही पन्थ परिवार के लोग दुराग्रह के कारण टकराते रहते हैं, सो अतिवादिता और उग्र दुराग्रह का दौर जब चला तो सुर, असुर भी टकराने लगे। देवासुर संग्राम के बहुत कथानक पुराणों में पाये जाते हैं पर उनके सहयोग पूर्ण क्रियाकलापों का भी सर्वथा अभाव नहीं है। समुद्र–मन्थन दोनों ने मिलकर किया था। प्रजापति ने परस्पर कलह से उन्हें दिन–दिन दुर्बल होते जाते देख कर परामर्श दिया कि वे सहयोग का महत्व समझें और मिल–जुलकर काम करें। उन्होंने परामर्श माना और समुद्र–मन्थन का पुरूषार्थ करने के लिए तैयार हो गये। ज्ञान और कर्म का समन्वय ही सुर–असुर सम्मिलन है। विष्णु को ज्ञान का और शिव को कर्म का प्रतीक माना गया है। सुरों का उपास्य विष्णु और असुरों का उपास्य शिव माना जाता रहा है। यह तथ्य कुण्डलिनी महाशक्ति के सुविस्तृत विज्ञान में बहुत ही स्पष्ट है।

मस्तिष्क के मध्य भाग में अवस्थित सहस्त्रार कमल में शेषशायी विष्णु भगवान् अवसिति है और अधः अवस्थित मूलाधार चक्र के अधिपति शिव हैं। शिव चरित्र में कामदेव द्वारा शिव को उद्धीप्त करने और उनके द्वारा तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को जला डालने वाली कथा प्रख्यात है। कुण्डलिनी

जननेन्द्रिय केन्द्र के समीप होने से अपने निकटवर्ती क्षेत्र को प्रभावित करती है, तलदर्शी उस अपन्यय को ज्ञान नेत्र खोलकर नियन्त्रित कर लेते हैं। एक पौराणिक कथा इसी सन्दर्भ में यह भी है कि शिव के काम पीड़ित होने पर उनकी जननेन्द्रिय के 118 टुकड़े विष्णु ने कर डाले और वे जहां भी गिरे वहां ज्योतिर्लिंगों की स्थापना हुई। द्वादश ज्योतिर्लिंगों का उद्‌भव उसी प्रकार हुआ। वासना को ज्योति में बदला जा सकता है। इस कथानक का यही मर्म है।

कुण्डलिनी महाशक्ति का स्वरूप और आधार :

भारतीय योग साधन का मुख्य उद्‌देश्य जीवन्मुक्त स्थिति को प्राप्त करना हैं अभी तक प्राणियों के विकास को देखते हुए सबसे उंची श्रेणी मनुष्य की है, क्योंकि उसको विवेक और ज्ञान के रूप में ऐसी शक्तियां प्राप्त हुईहैं, जिनसे वह जितना चाहे उंचा उठ सकता है और कैसा भी कठिन कार्य हो उसे अपनी अन्तरंग शक्ति से पूरा कर सकता है। संसार के अधिकांश मनुष्य जीवन के बाह्य पक्ष को ही साधने का प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने के लिए धन बल, शरीर बल तथा बुद्धिबल का प्रयोग करने के मार्ग को ही आवश्यक मानते है। इन तीन बलों के अतिरिक्त संसार में महान कार्यो को करने के लिए जिस आत्मबल की आवश्यकता होती है, उसके विषय में शायद ही कोई कुछ जानता हो, पर वास्तविकता यही है कि संसार में आत्मबल ही सर्वोपरि है और उसके सामने कोई और 'बल' कुछ विशेष महत्व नहीं रखता तथा न ही इस बल के आगे टिक ही सकता है। इस बल को अर्जित करने के लिए योग साधना द्वारा आत्मोत्कर्ष का पथ अपनाना पड़ता है।

जो लोग अपने जीवन ध्येय को प्राप्त करने के लिए अपनी निर्बलताओं अथवा त्रुटियों को समझ कर, उनको दूर करने के लिए योग मार्ग का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे धीरे–धीरे अपनी निर्बलता को सबलता में बदल देते हैं, और न केवल सांसारिक विषयों में ही अपने मनोरथों को सफल करते, वरन् आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऊँचे उठते हैं। वे स्वयं अपना कल्याण साधन करने के साथ–साथ अन्य सैकड़ों व्यक्तियों के लिए भी उद्धार का मार्ग प्राप्त करने के योग्य बना देते हैं

योग–शास्त्र में साधन के जो सर्वमान्य नियम दिये गये हैं, उनके सिवाय अध्यात्म–विद्या के ज्ञाताओं ने, इस मार्ग में शीघ्र प्रगति करके कुछ बहुत

महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त कर लेने की जो विधियां अथवा योग–शाखायें निकाली हैं, उनमें 'कुण्डलिनी–योग' का विशेष स्थान है। इससे शरीर में एक ऐसी शक्ति का आविर्भाव होता है, जिससे मनुष्य की चैतन्यता बहुत अधिक बढ़ जाती है और वह जब चाहे तब स्थूल–संसार के बजाय सूक्ष्म–जगत् की स्थिति का अनुभव कर सकता है और एक संकीर्ण क्षेत्र में रहने के बजाय विशाल–विश्व की गतिविध को देखने लगता है। 'हठ योग प्रदीपिका' में 'कुण्डलिनी शक्ति' के महत्व का वर्णन करते हुए कहा है –

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोडहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारों हि कुंडली।।
सुप्ता गुरूप्रसादेन यदा जागति कुंडली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोडपि च ।।
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते।
तदापि चित्तं निरालबं तदा कालस्य वंचनस् ।।

– (हठयोग पु. 3–1, 2, 3)

"जिस प्रकार सम्पूर्ण वनों सहित जितनी भूमि है,उसका आधार सर्पो का नायक (शेषनाग) है, उसी प्रकार समस्त योग साधनाओं का आधार भी कुण्डली ही है, जब गुरू की कृपा से सोयी हुई कुण्डली जागती है, तब सम्पूर्ण पद्म (षट्चक्र) और ग्रन्थियां खुल जाती हैं, और उसी समय प्राण की शून्य पदवी (सुषन्ना),राजपथ (सड़क) के समान हो जाती है, चित्त विषयों से रहित हो जाता है और मृत्यु का भय मिट जाता है।"

अन्यशास्त्रों तथा विशेषकर तन्त्र ग्रन्थ में कुण्डलिनी के स्वरूप तथा उसके उत्थान का विवेचन करते हुए कहा कि "कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में शक्ति रूप में स्थित होकर मनुष्य को सब प्रकार की शक्तियां, विद्या और अन्त में मुक्ति प्राप्त कराने का साधन होती है।" इस कुण्डलिनी को 'परमा–प्रकृति' कहा गया है। देव, दानव, मानव, पशु–पक्षी, कीट–पतंग–सभी प्राणियों के शरीर में यह कुण्डलिनी शक्ति विराजमान रहती है।

कमल–पुष्प में जिस प्रकार भ्रमर अवस्थित होता है, उसी प्रकार यह भी देह में रहती है। इसी कुण्डलिनी में चित्त्–शक्ति (चैतन्यता) निहित रहती है। इतनी महत्वपूर्ण होने पर भी लोग उसकी तरफ ध्यान नहीं देते, यह आश्चर्य का विषय है। यह अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति है। इसकी सूक्ष्मता की कल्पना करके योग–शास्त्र में कहा है –

योगिनां हृदयाम्बुजे मृत्यन्ती मृत्यमत्रजसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युताकृति।।

अर्थात् – "योगियों के हृदय देश में वह नृत्य करती रहती है। यही सर्वदा प्रस्फुति होने वाली विद्युत रूपमहाशक्ति सब प्राणियो का आधार है।" इसका आशय यही है कि कुण्डलिनी शक्ति के न्यूनाधिक परिणाम में चैतनय हुये बिना मनुष्य की प्रतिभा का विकास नहीं होता।

कुण्डलिनी आत्म शक्ति की प्रकट और प्रखर स्फुरणा है। यह जीव की ईश्वर प्रदत्त मौलिक शक्ति है। प्रसुप्त स्थिति में वह मृत तुल्य पड़ी रहती है। वैसी स्थिति में उससे कोई लाभ उठाना सम्भव नहीं हो पाता। यदि उसकी स्थिति को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने ही भीतर वह भण्डार भरा पड़ा है जिसकी तलाश में जहां–तहां भटकना पड़ता हैं वह ब्रम्हाणी शक्ति अपने ही अन्तराल में छिपी पड़ी है, जिसे कामधेनु कहा गया है। आत्मसत्ता में सन्निहित इस महाशक्ति का परिचय कराते हुए साधना शास्त्रों ने यह बनाने का प्रयत्न किया है कि अपने ही भीतर विद्यमान इस महती क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जाये और उससे सम्पर्क साधने का प्रयत्न किया जाय। कुण्डलिनी परिचयन् के कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं –

मल–मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का निवास माना गया है। उसे प्रचण्ड शक्ति स्वरूप समझा जाय। यह विद्युतीय प्रकृति की है। ध्यान में वह कौधती बिजली के समान प्रकाशवान दृष्टिगोचर होती है। कुण्डलाकार है उसका स्वरूप प्रसुप्त सर्पिणी के समान है।

यह उसका स्थानीय परिचय हुआ। अब उसका आधार, कारण, स्वरूप एवं प्रभाव समझने की आवश्यकता पड़ेगी। बताया गया है कि यह ब्रम्ही शक्ति है। स्वर्ग से गंगा अवतरित होकर पृथ्वी पर आई थी और इस लोक को धन्य बनाया था। इसी प्रकार यह बम्ही शक्ति सतपात्र साधकों की आत्म सत्ता पर अवतरित होती है और उसे हर दृष्टि से सुमम्पन्न बनाती है। कहा गया है कि –

ज्ञयाशक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका।।
मूलाधारस्थ वन्हयात्मते जो मध्ये व्यवस्थत।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकारण तेजस ।।
महाकुण्डलिनीप्रोक्ता पर ब्रम्हास्वरूपिणी।

शब्दबम्हामयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः।।
शक्ति कुण्डलिनी नाम विसतन्नु निभ सुभा।

– महायोग विज्ञान

यह स्वर्ण समान आभा वाली महाशक्ति कुण्डलिनी निर्भयता प्रदान करने वाली है। वही वैष्णवी है। सत, रज, तम तत्वों को उत्पन्न करने वाली है। मूलाधार के मध्य में आत्म तेज रूपी अग्नि पुंज होकर विराजमान है जीवनी शक्ति वहीं है। तेजस्वी प्राण ही उसका आकार है। परब्रम्हा मय है। इसकी अनेक आकृतियां हैं। इन शुभ कामनाओं को पूर्ण करने वाली शक्ति का नाम कुण्डलिनी है।

योग साधनाओं के अन्तर्गत कुण्डलिनी जागरण की फल श्रुतियों के सम्बन्ध में समस्त संसार में लगभग एक जैसी ही मान्यताएं प्रचलित हैं। इस साधना की सफलता से साधक में अनेकों दिव्य क्षमताएं विकसित होने का विश्वास किया जाता हैं। समझा जाता है कि ऐसा व्यक्ति सामान्य स्थिति से ऊँचा उठकर विशिष्ट सिद्ध पुरूषों की स्थिति में जा पहुँचता है। योगशास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण के महत्वों की जितनी चर्चा हुई है उतनी और किसी साधना के सम्बन्ध में सर्वाभौम स्तर पर नहीं मिलती। उसके विधानों और विवरणों में तो थोड़ा बहुत अन्तर है, पर यह मान्यता सर्वविदित है कि आन्तरिक आत्मिक शक्तियों को प्रसुप्ति से जाति में बदलने–जाग्रति प्रचण्ड बनाने में कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया से असाधरण सहायता मिलती है।

कुण्डलिनी साधक की जागृति होती है; पर यह नहीं कहा जाता कि यह साधक की अपनी उपर्जित पूँजी है। वह एक प्रचण्ड विश्वव्यापी शक्ति है जिसे उपयुक्त सत्पात्र अपनी साधना प्रक्रिया द्वारा आकर्षित करके अपनी आत्मिक सम्पदा सशक्ता बढ़ाते हैं। इस उपार्जित सम्पदा के आधार पर सांसारिक वैभव और आत्मिक वर्चस्व का दुहरा लाभ मिलता है।

कठोपनिषद् के यम नचिकेता सम्वाद में जिस पंचाग्नि विद्या की चर्चा हुई है। उसे कुण्डलिनी शक्ति की पंच विधि विवेचना कहा जा सकता हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् में उसे 'योगाग्नि' कहा गया है –

नतस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरम्।

चैनिक योग प्रदीपिका में उसे 'स्पिरिट फायर' नाम दिया गया है। जानवुडरफ सरीखे तन्त्रान्वेषी उसे सर्पवत् बलयान्विता सर्पेन्ट नाम देते रहे

हैं।

ऋषि शिष्या मैडम ब्लैशेटस्की नेउसे विश्व–व्यापी विद्युत शक्ति–'कास्मिकी इलैक्ट्रिसिटी' नाम दिया है। वे उसकी विवेचना विश्व विद्युत के समतुल्य चेतनात्मक प्रचण्ड–ग्रन्थ में अपना अभिप्रायः इस प्रकार व्यक्त किया है – सर्पवत् या बलयान्विता गति अपनाने के कारण इस दिव्य शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। इस सामान्य गति को योग साधक अपने शरीर में चक्राकार बना लेता है इस अभ्यास से उसकी वैयक्तिक शक्ति बढ़ती है। कुण्डलिनी विद्युतीय अग्नियुक्त गुप्त शक्ति है यह वह प्राकृत शक्ति है जो सेन्द्रिय निन्द्रय प्राणियों एवं पदार्थों के मूल में विद्यमान है।

ब्रम्हाण्ड में दो प्रकार की शक्तियां काम करती हैं – एक लौकिक (सेकुलर) दूसरी आध्यात्मिक (स्प्रिचुअल) इन्हें फिजीकल और मैटाफिजीकल भी कहते हैं। लोग प्रत्यक्ष शक्तियों का प्रमाण प्रत्यक्ष उपकरणों से प्राप्त कर लेते हैं, अस्तु उन्हीं की सत्ता स्वीकार करते हैं।

शरीर विज्ञानियों ने उसे नाड़ी संस्थान से अद्भूत–सर्वस् फोर्स कहा है। डा. रेले ने अपने बहुचर्चित ग्रन्थ –मिस्ट्रीरियस कुण्डलिनी' में उसकी वेगम नर्व' के रूप में व्याख्या की है। माँस–पेशियों और नाड़ी संस्थान के संचालन में काम आने वाली सामर्थ्य को ही अध्यात्म प्रयोजनों में काम करने पर कुण्डलिनी संरक्षक बनने का वे प्रतिपादन करते हैं। उनके मतानुसार यह शक्ति जब नियन्त्रण में आ जाती है तो उसके सहारे शरीर की ऐच्छिक और अनैच्छिक गतिविधियों पर इच्छानुसार नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता हैं यह आत्म–नियन्त्रण बहुत बड़ी बात है। इसे प्रकारान्तर से व्यक्तित्व के अभीष्ट निर्माण की तद्नुसार भाग्य निर्माण की सामर्थ्य कह सकते हैं। वे भी रूप में कुण्डलिनी का गुण–गान करते और उसकी उपयोगिता बताते हुए उसके जागरण का परामर्श देते हैं।

डाक्टर रेले की उपरोक्त पुस्तक 'रहस्यमयी कुण्डलिनी' की भूमि का तन्त्र मर्मज्ञ सर जानवुडरफ ने लिखी है। जिसमें उन्होंने रेले के इस अभिगत से असहमति प्रकट की है कि वह शरीर संस्थान की विद्युतधारा मात्रा है। उन्होंने लिखा है – "वह एक चेतन और महान सामर्थ्यवान् शक्ति– 'ग्रान्ड पोटेन्शियल' है जिसकी तुलना अन्य किसी पदार्थ या प्रवाह से नहीं की जा सकती। मेरी राय में नाड़ी शक्ति कुण्डलिनी एक एक स्थूल रूप ही है, वह मूलतः नाड़ी संस्थान या उसका उत्पादन नहीं है। व न कोई भौतिक पदार्थ

है और न मानसिक शक्ति। वह स्वयं ही दोनों प्रवाहों को उत्पन्न करती है। स्थिर सत्य (स्टेटिक–रियल) गतिशील सत्य (फैनामिक रियल) एवं अवशेष शक्ति (रैजीडअल पावर) के समन्वित प्रवाह की तरह इस सृष्टि में काम करती है। व्यक्ति की चेतना में वह प्रसुप्त पड़ी रहती है। इसे प्रयत्नपूर्वक जगाने वाला विशिष्ट सामर्थ्यवान बन सकता है।''

विज्ञान की भाषा में कुण्डलिनी को जीवन शक्ति अथवा चुम्बकीय विद्युत कहते हैं। इसका केन्द्र मस्तिष्क माना गया है तो भी यह रहस्य अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मस्तिष्क को अपनी गतिविधयों के संचालन की क्षमता कहां से मिलती है। योगशास्त्र इसका उत्तर उस काम शक्ति की ओर संकेत करते हुए देता है और बताता है कि अव्यक्त मानवी सत्ता को व्यक्त होने का अवसर इसी केन्द्र से मिलता है। वही कामतन्त्र के विभिन्न क्रियाकलापों के लिए आवश्यक प्रेरणा भी देती हैं यहां वह चुम्बकीय 'क्रिस्टल' है जो काया के 'ट्रान्जिस्टर' को चलाने वाले आधार खड़े करता है।

कुण्डलिनी क्या है?इसके सम्बन्ध में शास्त्रों और तत्वदर्शियों ने अपने–अपने अनुभव के आधार पर कई अभिमत व्यक्त किये हैं। ज्ञानर्णव तन्त्र में कुण्डलिनी को विश्व जननी और सृष्टि संचालिनी शक्ति कहा गया है – ''शक्तिः कुण्डलिनी विश्व जननी व्यापार, वद्धोद्यता।'' विश्व व्यापार एक घुमावदार उपक्रम के साथ चलता है। परमाणु से लेकर ग्रह नक्षत्रों और आकाश गंगाओं तक की गति परिभ्रमण परक है। हमारे विचार और शब्द जिस स्थान से उद्भूत होते हैं–व्यापक परिभ्रमण करके वे अपने उद्गम केन्द्र पर ही लौट आते हैं। यही गतिचक्र भगवान् के चार आयुधों में से एक है। महाकाल की परिवर्तन प्रक्रिया इसी को कहा जा सकता है जीव को चक्रारूढ़ मृतिका पिण्ड की तरह यही घुमाती है और कुम्हार जैसे अपनी मिट्टी से तरह–तरह के पात्र उपकरण बनाता है, उसी प्रकार आत्मा की स्थिति को उठाने–गिराने की भूमिका भी वही निभाती है। कुण्डलिनी सृष्टि सन्दर्भ में समिष्ट और जीव सन्दर्भ में व्यष्टि शक्ति संचार करती है।

आध्यात्म ग्रन्थों में विशेषतः उपनिषदों में कुण्डलिनी शक्ति की चर्चा हुई है। पर इस को ही पूर्ण पक्ष नहीं मान लेना चाहिए। इस से आगे एवं अधिक भी बहुत कुछ कहने, जानने और खोजने योग्य शेष रह जाता है। इन अपूर्ण शटकों को मिलाकर हमें वस्तुस्थिति समझने अधिक जाने के लिए अपना मस्तिष्क खुला रखना चाहिए।

कुण्डलिनी आत्म शक्ति की प्रकट और प्रखर स्फरणा है। यह जीव की ईश्वर प्रदत्त मौलिक शक्ति है। प्रसुप्त स्थिति में वह अविज्ञात बनी और मृत तुल्य पड़ी रहती है। वैसी स्थिति में उससे कोई लाभ उठाना सम्भव नहीं हो पाता। यदि उसकी स्थिति को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने ही भीतर वह भण्डार भरा पड़ा है जिसकी तलाश में जहां–जहां भटकना पड़ता है। यह ब्रम्ही शक्ति अपने ही अन्तराल में छिपी पड़ी है, जिसे कामधेनु कहा गया है। आत्मसत्ता में सन्निहित इस महाशक्ति का परिचय कराते हुए साधना शास्त्रों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने ही भीतर विद्यमान इस महती क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जाय और उससे सम्पर्क साधने का प्रयत्न किया जाय।

कुण्डलिनी जागरण से इस प्रकार की अनेकों शक्तियों, सिद्धियों और क्षमताओं का जागरण होता है, यह सच है, क्योंकि इस साधना द्वारा साधक की अन्तर्निहित बीज रूप शक्ति जाग्रत होकर उर्ध्वगामी बनती हैं यह साधनाएं आत्मसत्ता को परमात्म सत्ता से जोड़ने, उस स्तर पर पहुंचने में समर्थ है। इनके लिए सामान्य साधना कम से उपर उठकर कुछ विशिष्ट साधना प्रक्रियायें अपनानी पड़ती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप उनका अलग–अलग विधान है, इसलिए उनका सार्वजनिक प्रकाशन करना न आवश्यक है और न उचित।

कुण्डलिनी जागरण की साधना पद्धति का प्रयोजन अपने भीतर के देव अंशों को विकसित और परिपुष्ट बनाना है। कैलाश पर्वत पर सर्पों का यज्ञोपवीत धारण करके विराजमान शिव और क्षीर सागर में शेषनाग पर सोये हुए विष्णु का बीजांश हमारे मस्तिष्क मध्य केन्द्र–ब्रम्हारंध्र में यथावत् विद्यमान हैं इस स्थान को 'सहस्त्रार' कहते हैं। महाकाली–अग्निजिहबा चामुण्डा का बीजांश जननेन्द्रिय गहर–मूलाधार– में विद्यमान है। इन दो शक्तियों के असम्बद्ध बने रहने पर केवल उनकी उपस्थिति का आभास मात्र ही होता है, पर जब उन दोनों का संगम समागम हो जाता है तो अजस्त्र शक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो उठती है जिसे अनुपम या अद्‌भुत ही कहा जा सकता है।

मस्तिष्क के मध्य भाग में अवस्थित सहस्त्रार कमल में शेषशायी विष्णुभगवान अवस्थित है और अधः अवस्थित मूलाधार चक्र के अधिपति शिव हैं। शिव चरित्र में कामदेव द्वारा शिव को उद्‌दीप्त करने और उनके द्वारा

तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को जला डालने वाली कथा प्रख्यात हैं कुण्डलिनी जननेन्द्रिय केन्द्र के समीप होने से अपने निकटवर्ती क्षेत्र को प्रभावित करती है, तत्वदर्शी उस अपव्यय को ज्ञान नेत्र खोलकर नियन्त्रित कर लेते हैं। एक पौराणिक कथा इसी सन्दर्भ में यह भी है कि शिव के काम पीड़ित होने पर उनकी जननेन्द्रिय के 18 टुकड़े विष्णु ने कर डाले और वे जहां भी गिरे वहां ज्योतिलिगों की स्थापना हुई। द्वादश ज्योतिलिगों का उद्‌भव इसी प्रकार हुआ। वासना को ज्योति में बदला जा सकता है। इस कथानक का यही मर्म है।

अपने ग्रंथ– ''वायस ऑफ दि साइलेन्स'' में उनने कहा है कि उर्पवत् या बलयान्विता गति अपनाने के कारण उस महाशक्ति को कुंडलिनी कहते हैं। इस सामान्य गति को योग साधक अपने शरीर में चक्राकार बना लेता है। इस अभ्यास से उसकी वैयक्तिक शक्ति बढ़ती कुंडलिनीविद्युतीय अग्नियुक्त गुप्शक्ति है। यह वह प्राकृतिक शक्ति है जो सेन्द्रिय एवं निरीन्द्रिय प्राणियों और पदार्थों के मूल में विद्यमान है।

हठयोग के व्याख्याकारों ने वस्तिक्षेत्र के कहर में अंडे की आकृति वाले 'कंद' के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा है। शिव संहिता में कहा गया है गुदाद्वयं गुलतश्चोर्ध्व मेढ्रैकांगुलतरत्वधः एवं चास्ति समं कदं समता नतरंग़लम। अर्थात् गुदा से दो अंगुल नीचे चार अंगुलविस्तार 'कंद' का प्रमाण है। इसी में आगे उल्लेख है – 'गुदा एवं शिश्न के मध्य में जो योनि है – वह पश्चिाभि मुखी अर्थात् पीछे को मुख है, उसी स्थान में 'कंद' है और इसी स्थान में सर्वदा कुंडलिनी स्थिति है।

कुण्डलिनी परिचय में स्थान–स्थान पर स्वयंभू लिंग की चर्चा है। बहुत स्थानों पर उसे 'कंद' भी कहा गया हैं यह क्या है?इसे जानने के लिए स्थूल शरीर से सम्बंधित शरीर शास्त्र का पर्यवेक्षण किया जा सकता हैं शरीर में यह घटक सुषुम्ना का – मेरूदंड का नीचे वाला अंतिम छोर है। जिसे ''कॉडां इक्वाइना'' कहते हैं मेरूदंड मस्तिष्क से प्रारंभ होकर चेचु (काक्सीक्स) की अंतिम कशेरूका तक जाती है और इसके बाद रेशमी धागों की भांति शुंडाकृति हो जाती है। उसके अंत में अगणित पतले–पतले धागों से पैदा हो जाते हैं, जिससे नाड़ी तंतुओं का एक सघन गुच्छा तैयार हो जाता है। इसी गुच्छक को ''कॉर्डा इक्वाइना'' कहा हैं। सूक्ष्मशरीर के कंद का इसे प्रतिनिधि कहा जा सकता है। शरीर शास्त्र की दृष्टि से यही स्वयंभू लिंग है। मूलाधार

चक्र में 'आधारन' शब्द इसी स्थान के लिए व्यवहत हुआ है। रीढ़ की अंतिम चार अस्थियों के सम्मिलित समुच्य को भी कई मनीषियों ने 'कंद' बताया है। मल–मूलछिद्रों के मध्य स्थान पर मूलाधार चक्र बताया गया है। इसे चमड़ी की ऊपर सतह नहीं मान लेना चाहिए, वरन् उस स्थान की सीध में ठीक ऊपर प्रायः तीन अंगुल ऊँचाई पर अवस्थित समझाना चाहिए। इस तरह मूलाधार मल मूत्र छिद्रों के मध्य वाली सीध पर अंतः गहर में स्थित माना चाहिए।

साधना शास्त्रों में पवित्र जीवन अग्नि के रूप में कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन किया गया है। प्रदीप्त अग्नि जिस प्रकार अपने क्षेत्र को ऊष्ण एवं प्रकाशवान बना देती है वैसा ही प्राश कुण्डलिनी जागरण का भी होता है।

ब्रम्हाज्योतिर्वसुधा मा ब्रम्हास्थानीय उच्यते।
ततो यः पावको नाम्ना यः सन्द्रियोग उच्यते।

– मत्स्य पुराण

ब्रम्हाज्योति अग्नि ब्रम्हा–रन्ध्र स्थान में निवास करती है। यह साधकों को पवित्र करने वाली है। यही योगाग्नि हैं।

चन्द्राग्निरविसंयुक्तो आद्या कुण्डलिनी माता।
हत्प्रदेशे तु सा ज्ञया अंकुराकारसंस्थिता ।।27।।

– अग्नि पुराण

चन्द्र और सूर्य की शक्ति से भरी हुई कुण्डलिनी शक्ति हृदय प्रदेश में रहती है। उनकी ज्योति अंकुर के आकार की है।

मूलाधारादा ब्रम्हारन्ध्र पर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा।
तन्मध्येतटित्कोटिसमा मृणालतन्तु सूक्ष्माकुण्डलिनी।
तत्र तमोनिवृतिः। तद्धर्शनात्सर्वपापविनृतिः।।

– मण्डल ब्रम्हाणोपनिषद् 1/2

शरीर शास्त्र के अनुसार सुषुम्ना और इड़ा,पिंगला, की संगति कुछ प्रत्यक्ष नाड़ियों के साथ विठाने का प्रयत्न किया गया है। मेरूदण्ड की पोल में सुषुम्ना संचार है। सुषुम्ना के दोनों ओर स्नायु कोषों की जंजीर ऊपर से नीचे तक फैली हुई है। दाहिनी ओर की जंजीर–राइट सिम्पैथिक कार्ड को पिंगला और बांये ओर की जंजीर लैफ्ट सिम्पैथिक कार्ड को इड़ा कहा गया है।

डा. राखाल दास राय की अपनी पुस्तक "रीजनलएक्स पोजिशन आव भारतीय योग दर्शन" में सुषुम्ना को उन्होंने 'स्पाइनल कार्ड' बताया है। पिंगला

को 'राइट नर्बस् टर्मिनेल और इड़ा को लेफ्ट नर्वस् टर्मिनेल नाम दिया है।

डा. ब्रजेन्द्र नाथ सील ने अपनी पुस्तक 'दि पॉजिटिव साइंसेज् आव एनसियेन्ट हिन्दूज' में प्राचीन और अर्वाचीन शरीर शास्त्र की विसंगतियों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि दोनों प्रतिपादन शैलियों में ही अन्तर है। तथ्य, लगभग मिलते–जुलते ही हैं। उसमें उन्होंने बताया है कि योग शास्त्र के चक्र यद्यपि अदृश्य क्षमताओं के प्रतीक हैं तो भी उनका आधार स्थल प्रत्यक्ष नाड़ी गुच्छकों को मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। थियोसोकिस्ट पत्रिका में मेजन वी.डी. वसु का एक लेख प्रकाशित हुआ था। ''एनाटोमी आव तंत्राज'' उसमें उन्होंने योग संस्थानों को शरीर में पाये जाने वाले प्रत्यक्ष अवयव ही सिद्ध किया है और कहा है उन्हें अदृश्य या सूक्ष्म मानने की आवश्यकता नहीं है। ये अवयव सामान्यतया शरीर यात्रा पूरी करते हैं पर असामान्य रूप से विकसित कर लिये जाने पर वे असाधारण कार्य भी कर सकते हैं जैसे कि मस्तिष्क और नेत्रों की परिष्कृत शक्ति से कई प्रकार के आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किये जाते रहते हैं। महा महोपाध्याय गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ प्रत्यक्ष शरीरम् तथा शरीर परिवेश में योग शास्त्र में वर्णित संस्थानों को इसी शरीर में विद्यमान बताया है।

सर जॉन बुडरफ ने तन्त्र ग्रन्थ 'पादुका पंचक' और 'षट चक्र निरूपण' की व्याख्या विवेचना पर एक विशद ग्रन्थ सर्पेन्ट पावर' लिखा है। इसमें चक्रों की उपस्थिति प्रस्तुत शरीर में प्रत्यक्ष ही बताई गई हैं। बुडरफ के इस ग्रन्थ के आधार पर एम.पी. पंडित ने एक छोटी पुस्तक कुण्डलिनी योग 'अंग्रेजी में लिखा थी इसमें वे चक्रों की उपस्थिति प्रत्यक्ष मानते हैं। थियोसोफी के आदि संचालकों में सी डब्ल्यू'' लेडवीटर का भी नाम है। उनके ग्रन्थ ' चक्राज' में चक्रों के अस्तित्व को मानवी काया में ही दृश्यमान बताया है। सूक्ष्म तो वे उनकी प्रसुप्त शक्तियों भर को कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति को प्रायः 'फायर आफ लाइफ' के रूप में ही प्रतिपादित किया गया हैं उसकी अभिवृद्धि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से परिलक्षित होती है। शरीर क्षेत्र में उसके समर्थ आरोग्य के रूप में मन में सन्तुलित विवेकाशीलता के रूप में उसे देखा जा सकता हैं। काय कलेवर में वह बलिष्ठता–निरोगिता–स्फूर्ति, क्रियाशीलता, उत्साह, तत्परता के साथ दृष्टिगोचर होती हैं। मस्तिष्क में उसका परिचय तीव्र बुद्धि, दूरदर्शिता, स्मरण शक्ति, सूझबूझ, कल्पना, निर्णय क्षमता, कुशलता, व्यवस्था आदि के

रूप में देखा जा सकता है। भावना क्षेत्र में बड़ी श्रद्धा निष्ठा आस्था भाव संवेदना करता आत्मीयता, सौनदर्यानुभूति के रूप में उभरती है। सब मिला कर उसे उच्चस्तरीय उत्कृष्टता की दिशा में जीव चेतना को धकेलते हुए देखा जा सकता है।

इस संदर्भ में अब अनेक विदेशी विद्वान भी इस तरफ ध्यान देने लगे हैं और उन्होंने स्वयम् कुण्डलिनीसाधन करके उसकी शक्ति का अनुभव किया है। उनकी सम्मति में कुण्डलिनी शक्ति विश्व–व्यापी है। एक दृष्टि से हम अपने शरीरों में स्थित कुण्डलिनी को चैतन्य–शक्ति का आधार कह सकते हैं। इस शक्ति की एक धारा समस्त विश्व में सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक पिण्डों में भी बहती–रहती है। इस प्रकार उसे सर्व–शक्तिमान कह सकते हैं। अगर साधक कुण्डलिनी–योग में पूर्ण सफलता प्राप्त करके उस पर पूरा अधिकार और नियंत्रण कर सके तो फिर संसार में उसके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं है। वह सृष्टि का संचालन अपनी इच्छानुसार कर सकता है।

पर यह कार्य सामान्य नहीं है। इस कार्य में वे व्यक्ति ही हाथ डाल सकते हैं, जिन्होंने अपना रहन–सहन आरम्भ से ही पूर्ण संयम–युक्त और सात्विक रखा है और अपने शरीर तथा मन को नियमित अभ्यास द्वारा सुदृढ़ और सहनशील बनाया है। क्योंकि यह महाशक्ति जो कि सूर्य की शक्ति मानी जाती है, जब जाग्रत की जाती है, तब समस्त शरीर, विशेषकर स्नायु–संस्थान में बहुत उष्णता उत्पन्न करती है, जिससे साधक को कष्ट प्रतीत होने लगता हैं कभी–कभी ऐसा भी होता है कि उत्तम श्रेणी के साधकों में ध्यान और उपासना करते–करते यह स्वयम् ही जाग्रत हो जाती है।

श्री रामकृष्ण परमहंत के जीवन–चरित्र से विदित होता है कि जिस समय दक्षिणेश्वर के मन्दिर में महीनों तक काली का ध्यान करते हुए उनकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो गई थी तब उनको भी ऐसा ही कष्ट सहन करना पड़ा था। उसे अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होने बतलाया था –

"कुछ झुनझुनी–सी उठकर पाँव से सर तक जाती है। सिर में पहुँचने के पूर्व तक तो चेतना रहती है, पर सिर में उसके पहुँचने पर सुध–बुध जाती रहती है, आँख, कान अपना कार्य नहीं करते, बोली भी रूक जाती है। बोले कौन?उस समय 'मैं' और 'तू' का भेद ही मिट जाता है। जो शक्ति झन–झन करती ऊपर उठती है, वह एक ही प्रकार की गति से नहीं चढ़ती। शास्त्रों में उसके पाँच प्रकार कहें हैं –

(1) चींटी के समान धीरे–धीरे ऊपर चढ़ना, (2) मेंढ़क के समान दो–तीन छलांग जल्दी–जल्दी कूद कर फिर ठहर जाना (3) सर्प के समान टेढ़ी गति से चलना

(4) पक्षी के समान उड़कर चढ़ना (5) बन्दर के समान दो तीन छलांग लगाकर सिर में पहुंच जाना। किसी भी गति से इसके सिर में पहुंचने पर समाधि हो जाती है।

जीवन को उन्नत, शक्तिशाली और महान् बनाने के लिए कुण्डलिनी–जागरण निःसन्देह एक अत्यन्त प्रभावशाली मार्ग है। पर यह तभी सम्भव है, जब इस साधना को किसी अनुभवी शिक्षक की देख–रेख में किया जाये। इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि साधक के आचार–विचार और उद्देश्य पूर्णतः शुद्ध हों।कुण्डलिनी का स्थान :

कुण्डलिनी यद्पि शक्ति रूप भी हो तो भी उसके स्थान का वर्णन हठ्यौगिक ग्रंथों में मिलता है। जैसे शिव संहिता में कहा गया है कि, ''गुदा से दो अंगुल ऊपर और मेद्र अर्थात् लिंग मूल से एक अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तार कंन्द का प्रमाण है उस गुदा में मेद्र के मध्य में जो योनि है वह पश्चिम मुख है उसी स्थान में कंद है और उसी स्थान में सर्वदा कुण्डलिनी की स्थिति है।'' दर्शनोपनिषद में कंद को त्रिकोण शब्द से कहा है। अन्य ग्रंथों में भी कंद का विस्तार से वर्णन मिलता है इन सभी वर्णनों से ऐसा कह सकते हैं कि हमारे शरीर में मेरूदण्ड के नीचे कटि प्रदेश में जो एक त्रिकोणाकृति हड्डी है, जिसको अंग्रेजी में सेक्रम कहते हैं, वही हठयोग के ग्रंथों में वर्णित कंद है।

1. सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहि नायकः।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथाधारो हि कुंडली।। 'हठयोग्र प्रदीपिका'। 3/2
2. शिव संहिता – 5/74 से 75

वह ऊपर से चौड़ा और नीचे से संकरा होता है। उसका नीचे का छोर मूलाधार चक्र में होता है। इस त्रिकोण का विस्तृत तथा निश्चित वर्णन षट्चक्र निरूपण में इस प्रकार किया गया है कि, ''वज्रा नाड़ी के आरंभ में मूलाधार चक्र में त्रिकोण होता है। उसमें कंदर्प नाम का वायु होता है इस त्रिकोण में तप्त सुवर्ण के समान कांतिमान, श्याम वर्ण, पीछे की ओर मुख किया हुआ स्वयंभू शिवलिंग होता है। ''सेक्रम'' के नीचे जो रीढ़ की अंतिम तीन हड्डिया एक दूसरे से जुड़ी हुई होती है, जिसको अंग्रेजी में ''काक्सीक्स'' कहते हैं

शायद स्वयंभू लिंग का तात्पर्य उसी "काक्सीक्स" से है – ऐसा कह सकते हैं।

कुण्डलिनी के नाम अनेक

भिन्न–भिन्न देशों में कुण्डलिनी सम्बन्धी विवरण उनके अपने–अपने आचार व्यवहार के आधार पर मिलते हैं। जापान में 'की' नाम से कुण्डलिनी शक्ति की बात की जाती है तो चीन में 'ची' नाम से। ईसाई लोग होली – स्पिरिट' कहते है तो हिन्दु चित्त शक्ति। देवी पूजक 'चिर कुमारी' शक्ति कहते हैं तो तान्त्रिक ऊर्ध्वरेतः शक्ति। योगी इसी को सर्प की कुण्डली की संज्ञा देते हैं।

हठयोग प्रदीपिकां में कुण्डलिनी के अनेक नाम प्राप्त होते हैं। जैसे – कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, अरूंधती, कुण्डली। इसके अलावा भी आधार शक्ति, पराशक्ति, वाचाशक्ति आदि नाम कुण्डलिनी के सम्बोधन स्वरूप प्राप्त होते हैं। तो भी ये सभी का अर्थ एक ही है।

अध्याय – 3
षट्चक्रों का स्वरूप और रहस्य :

शरीर और मन के संबंध में योग की जो विभिन्न संकल्पनायें हैं, उनमें से नाड़ी और वायु की संकल्पनायें कुछ समझ में आती है यद्यपि उनका आधुनिक वैज्ञानिक तथ्यों से कुछ तालमेल नहीं दिखता। परन्तु चक्र तथा कुण्डलिनी ये दो संकल्पनायें अभी तक रहस्य ही रही है। इनका कुछ भी स्पष्टीकरण संभव नहीं दिखता, जो कि आधुनिक वैज्ञानिक जानकारी के साथ मेल खाता हो। इनके स्पष्टीकरण के अनेक प्रयास हुए हैं, परन्तु ग्रंथों में जो इनका वर्णन मिलता है, उसके अलावा इनकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हुई हैं।

जैसे हमारे शरीर के हाथ, पैर, आंखे, हृदय, धमनियां, नाड़ियां आदि अंग है, उनको हम देख सकते हैं वैसे चक्र नहीं है शायद चक्र प्रतीकात्मक हैं। इनको "पद्म" या "कमल" इन शब्दों से भी कहा गया है। यद्यपि "षट्चक्र" इस शब्द के अनुसार उनकी संख्या छः होनी चाहिए, फिर भी संख्या में वे कुल सात हैं। प्रत्येक का अपना स्थान है अपनी एक निश्चित पंखुड़ियों की दल या कोण की संख्या है। अपना एक अधिष्ठात्री देवता है। अपना एक रंग है, एक बीज है और दलों पर अंकित वर्णमाला के अक्षर हैं जैसे – वं, शं, लं आदि। ऐसी कोई बात प्रत्यक्ष में मनुष्य के शरीर में तो नहीं होती होगी। परंतु इस समूचे प्रतीक का विस्तृत वर्णन योग के तथा तंत्र के ग्रंथों में पाया जाता है। उन सब में प्रमुख ग्रंथ है पूर्णानंद लिखित षट्चक्र निरूपण।

हम सब लोगों में ये चक्र या पद्म उनके दल बंद होकर नीचे झुके हुये रहते हैं। ये चक्र मेरूदण्ड के भीतर तथा चित्रणी नाड़ी के मध्य में होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर जब ब्रम्हानाड़ी से ऊपर की ओर बढ़ती है, तब उसके मार्ग में होने वाले ये चक्र खिल जाते हैं तथा उनके मुंह ऊपर हो जाते हैं। षट्चक्र निरूपण ग्रंथ में मूलाधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र तक

सात चक्रों का वर्णन विस्तार से किया गया है। कुण्डलिनी के चक्र

(1)मूलाधार चक्र :

मूलाधार शब्द से ही व्यक्त होता है कि यह चक्र सुषुम्ना की जड़ के नीचे स्थित है। अतः मूलाधार चक्र सुषुम्ना में गुदा और लिंग के बीच चार अंगुल विस्तार वाले कंद के रूप में स्थित सबसे पहला चक्र है। यह चार दलों वाले लाल (रक्तवर्ण) कमल के रूप वाला चक्र है। इन चार दलों पर चार अक्षर व, श, ष, स स्वर्णांकित हैं, जो कि कुण्डलिनी के ही रूप हैं। इस कमल के पुष्प के मध्य में पीत वर्ग है, जिसके मध्य में अधोमुखी चोटी वाला तथा पीछे की तरफ मुख वाला त्रिकोण देश है जो योनि व भग रूप है तथा जिसे कामरूप कहते हैं। इस योनि के मध्य में सूक्ष्म प्रज्वलित अग्नि शिखा सम गतिशील, सम्वेदन शील, परम तेजवान् वीर्य को जो सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता, कभी ऊपर तथा कभी नीचे जाना रहता है, स्वयंम् लिंग (स्वयं पैदा होने वाला) कहा गया है। यह स्वयंभू लिंग आकृति में अण्डाकार तथा छोटे जामुन या छोटे आलूबुखारा के समान है। इस स्वयंभू लिंग लिंग का ऊपरी भाव मणि के समान चमकता है। सहस्त्रार चक्र में स्थित काम कलारूप त्रिकोण की प्रतिकृति ही यह त्रिपुर (स्वयंभूलिंग को घेरे हुये अग्नि चक्र त्रिकोण) है, जिसमें कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। यह चक्र कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से मूलाधार कहा जाता है। बिजली के समान चमकदार कुल कुण्डलिनी शक्ति इस स्वयंभू लिंग के ऊपरी भाग से सर्पाकार रूप में छिपटी हुई लिंग के द्वार को अपने सिर से बंद किए हैं। इस प्रकार से कुण्डलिनी के द्वारा उसकी सुषुप्तावस्था में सुषुम्ना का छिद्र ब्रम्ह द्वार या ब्रम्ह रन्ध्र जो कि सहस्त्रार तक चला जाता है, बंद रहता है। ऐसी स्थिति में सुषुम्ना में प्राणादि का प्रवेश नहीं हो सकता है। यह तप्त स्वर्ण के समान निर्मल तेज प्रभा रूपतीनों तत्वों (सत्व, रज तथा तम) की जननी कुण्डलिनी विष्णु की शक्ति है। सुषुम्ना भी काम बीज के साथ कुण्डलिनी के स्थान में स्थित है। इन तीनों का सम्मिलित नाम त्रिपुरा भैरवी है, जिसे बीज तथा परम शक्ति भी कहा है।

मूलाधार चक्र में चार प्रकार की शक्तियां कार्य करती है। इसमें चार प्रकार की चेतना विद्यमान हैं। इस चक्र पर योग नाड़ियां मिलती हैं। इन प्राणशक्ति रूप योग नाड़ियों के द्वारा ही चार दल रूप आकृतियों कि उत्पत्ति होती है। इन दलों में कुण्डलिनी, प्राणशक्ति रूप नाड़ियों के द्वारा ही प्रसृत

(फैलती) है। इस प्राण शक्ति के साथ दलों का भी लय हो जाता है। इस चक्र पर चार प्रकार के सूक्ष्म शब्द होते हैं जिनके बीज मंत्र वं, शं, षं तथा सं हैं। इसका तत्व बीज 'लं' है। यह पृथ्वी तत्व प्रधान है। ऐरावत हाथी बीजवाहक है। जिस पर इंद्र विराजमान है। ब्रम्ह इसके देवता है, भू लोक हैं, गंध गुण है, डाकिनी शक्ति हैं, चोकोण यंत्र है, नासिका ज्ञानेन्द्रिय, गुदा कर्मेन्द्रिय है तथा यह अपान वायु का स्थान है। योगशिखोपनिषद में इस मूलाधार चक्र पर ही जीव रूप में शिव का स्थान बताया गया है, जहाँ पर शक्ति कुण्डलिनी विद्यमान है।1 (योगशिखोपनिषद – 5/5 से 8 तक।) वहीं से वायु, अग्नि, बिन्दु, नांद, हंस तथा मन की उत्पत्ति होती है। (वाराहोपनिषद – 5/50 से 52 तक) इस स्थान को काम रूप पीठ कहा गया है, जो सब इच्छाओं को पूरा करने वाला है। योगशिखोपनिषद में (6/22 से 32 तक) में आधार ब्रम्ह में वायु आदि के लय होने से मुक्ति बताई गयी है। इस आध ार ब्रम्ह से ही विश्व की उत्पत्ति तथा विश्व का लय होता है। इस आधार शक्ति की निद्रा अवस्था में विश्व भी निद्रावस्था में रहता है। इस शक्ति के जाग जाने पर त्रिलोकी जाग जाती है। इस आधार चक्र के ज्ञान से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। आधार चक्र मेंवायु को रोकने से, गगन्नातर में स्थित, शरीर कम्पन तथा निरन्तर नृत्य होता रहता है। उसे सब विश्व आधार रूप अर्थात् ब्रम्ह रूप ही दिखता है। सब देवता तथा वेद इस आधार के ही आश्रित है। इस आधार चक्र के पीछे त्रिवेणी संगम (इडा, पिगंला, सुषुम्ना का मिलन) होता है इसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं। इस स्थान पर स्थान तथा जल पीने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है आधार में लिंग (अन्तर–चेतना) तथा द्वार वा ग्रंथि है, जिसके भेदन से मोक्ष प्राप्त होता है। आधार चक्र के पीछे सुषुम्ना में सूर्य तथा चन्द्र स्थित हैं। वहां विश्वेश्व विद्यमान है जिसका ध्यान करने से व्यक्ति ब्रम्हामय हो जाता है। (योगशिखोपनिषद 6/22 से 32 तक।) जो बुद्धिमान व्यक्ति मूलाधार चक्र पर ध्यान करते हैं, उन्हे दार्दुरी सिद्धि प्राप्त होती है तथा वे क्रम से भूमि त्याग और आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होती है इस चक्र पर ध्यान करने से योगी का शरीर उत्तम कीर्तिवाला होता है, उसकी जठराग्नि में वृद्धि होती है, वह रोग से मुक्त होता है तथा उसे पटुता और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है उसे भूत, वर्तमान तथा भविष्य सबका उनके कारणों सहित ज्ञान हो जाता है। बिना सुने तथा अध्ययन किये विज्ञानों का पूर्ण ज्ञान इस चक्र पर ध्यान करने वाले को प्राप्त होता है।

उसकी जीभ पर सरस्वती का निवास होता है। उसे जप मात्र से मंत्र सिद्धि हो जाती है। वह जरामरण, दुःखों तथा पापों से मुक्तहो जाता है। उसकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं। वह अंदर, बाहर सब जगह स्थित, श्रेष्ठ तथा पूजनीय, मुक्ति देने वाले शिव के दर्शन करता है। आन्तिरिक शिव को न पूजकर बाहरी देव मूर्तियों को पूजने वाला उसके समान है जो हाथ की मिठाई को छोड़कर भोजन की खोज में फिरता है। जो अपने स्वयंभू लिंग पर निरन्तर ध्यान करता रहता है, उसे निश्चित ही शक्ति प्राप्त होती है। छः मास में उसे सफलता प्राप्त होती तथा उसकी वायु सुषुम्ना में प्रवेश करती है। जो मन को जीत लेता है तथा वायु और वीर्य रोक लेता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों में सफल होता है। (शिव–संहिता – 5/86 से 97 तक)

2. "स्वाधिष्ठानचक्र"

यह चक्र लिंग के मूल में स्थित है। लिंग के मूल में स्थित होने के कारण इस चक्र को मेढ़ाधार भी कहते हैं। यह चक्र जल तत्व का केंद्र है जल तत्व का केंद्र होने से इस चक्र को जलमण्डल भी कहते हैं जल तत्व प्रधान होने से इसका संबंध कफ, शुक्र आदि जलीय विकारों से है। यह चक्र मूलाधार से ऊपर की तरफ है। यह सिंदूर वर्ण के छः दलों वाला चक्र है। इन दलों के ऊपर ब, भ, म, य, र तथा ल अक्षर अंकित हैं। गरूड़ पुराण में इसे सूर्य के समान वर्ण वाला बताया गया है इसका तत्व बीज "वं" है। इस चक्र पर सूक्ष्म ध्वनियां होती है जिनके बीज मंत्र बं, भं, मं, यं, रं तथा लं है। इस चक्र के षट्दल कमल के मध्य में श्वेत अर्ध चंद्र स्थित है। जो वरूण से संबंधित उस चन्द्रमा के मध्य में बीज मंत्र है जिसकेबीच में विष्णु, शाकिनी एक साथ विद्यमान है। इस चक्र का बीज बाहन मकर है जिस पर वरूण विराजते हैं। भुवः लोक है। इसके देवता विष्णु तथा उनका वाहन गरूड़ है। मण्डल का आधार अर्ध चन्द्र है। तत्व का रंग शुभ्र है। गुण आकुन्चन रसवाह है। इस चक्र की शक्ति शाकिनी है।शिव–संहिता के अनुसार यह शक्ति राकनी है तत्व का गुण रस है। ज्ञानेद्रिंय रसना तथा कर्मेद्रिय लिंग है इस चक्र का प्राण उपान वायु है। इस चक्र पर छः प्रकारकी सूक्ष्म शक्तियां कार्य करती हैं तथा छः योग नाड़ियां यहाँ मिलती हैं। इस चक्र का तत्व जल है और जल तत्व के देवता वरूण है, इसीलिये यह वरूण से संबंधित है। यहां जो नाड़ियां मिलती है, उनका संबंध कामेन्द्रिय तथा उसके कार्यो से है। उससे संबंधित संवेग तथा अनुभूतियां इनके द्वारा उत्तेजित होती है। लिंग में उत्तेजना इन

नाड़ियों के द्वारा ही होती है। अतः कामोत्तेजना का ये ही मूल कारण है कामोत्तेजना के साथ–साथ द्वेष, शिथिलता, जड़ता, झूठा अभिमान, संदेह तिरस्कार तथा क्रूरता का उदय भी हो जाता है। शिव–संहिता के अनुसार (5/100 से 103) के अनुसार इस चक्र पर ध्यान करने वाला कामनियों के प्रेम का पात्र बन जाता है। स्त्रियां उसे भजती तथा उसकी सेवा करती है। इस चक्र पर ध्यान करने वाला न जाने न अध्ययन किये हुये शास्त्रों तथा विद्वानों को निः संकोच होकर जान लेता है। वह रोग तथा भय मुक्त होकर संसार में विचरण करता है। इस चक्र पर ध्यान करने वाला योगी मृत्यु को भक्षण कर लेता है और अपने आप किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता है। उसे अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उसके शरीर में समान रूप से वायु प्रसृत होता रहता है तथा उस के शरीर में निश्चित रूप से रस की वृद्धि होती है। सहस्त्रदल कमल के नीचे से जो अमृत की वर्षा निरंतर होती है उसमें भी वृद्धि हो जाती है। इस चक्र का भी संबंध मेरूदण्ड–रज्जू की सुषुम्ना, बज्रा, चित्रणी तथा ब्रमनाड़ी इन चारों नाड़ियों से होता है। इस पर संयम करने से ब्रम्हचर्य पालन करने में बहुत सहायता मिलती है। वैसे तो यह भी निम्नचक्र है जो कि तम प्रधान अपान वायु कें प्रदेश में स्थित है किंतु इस पर भी वैराग्य युक्तभावना से काम को जीता जा सकता है। इस चक्र के देवता भगवान विष्णु का ध्यान पूर्णतया सिद्ध हो जाने पर साधक के पालन कार्य करने की शक्ति आ जाती है और वह पालन जैसे कार्य को कर सकता है।

3. मणिपुर चक्र :

मणिपुर चक्र सुषुम्ना में कुछ ऊपर चलकर नाभि स्थान में यह चक्र स्थित है। यह तीसरा शक्ति केंद्र है इसे नाभि चक्र भी कहते हैं। मनुष्य शरीर का केंद्र नाभि है यहीं से अनेक नाड़ियां निकलती तथा मिलती हैं। यह समान वायु का स्थान है। मेरूदण्ड–रज्जू की सुषुम्ना, बृज्रा, चित्रणी तथा ब्रम्हानाड़ी से यह चक्र संबंधित है। यह चक्र दस दलों वाले नील कमल के समान है। जिन पर ड, ढ, ण, त, थ, द, घ, न, प तथा फ अक्षर अंकित है। शिव–संहिता (5/104) ने इसे हेमवर्ण बताया है तथा गरूड़ पुराण में लाल कहा है। यह अग्नि तत्व का केंद्र है गुण प्रसरण उष्णवाह है। तत्व बीज "रं" है। बीज वाहन मेष पर अग्नि देवता विराजमान है। लोक स्वः है। इसके देवता रूद्र हैं। गुण रूप है। इसकी शक्ति लाकिनी है। इसका यंत्र त्रिकोण है। यह रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति चक्षु ज्ञानेन्द्रिय तथा इसका अग्नि तत्व

से उत्पन्न चलने की शक्ति चरण कर्मेंद्रिय का स्थान है। तत्व रक्त वर्ण है इस केंद्र पर होने वाली सूक्ष्म ध्वनियों के बीज मंत्र डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं तथा फं है। इस चक्र पर परा शब्द का ध्यान किया जाता है इस चक्र पर दस सूक्ष्म शक्तियां कार्य कर रहीं हैं। इस केंद्र पर दस योग नाड़ियां मिलती हैं। इस चक्र का संबंध निद्रा, भूख और प्यास लगाने से इससे साहस, वीरता, आक्रामकता, प्राणशक्ति, प्रबलता तथा जवानीपन आता है। साथ–साथ विपरीत रूप से द्वेष, लज्जा, भय आदि आते हैं। कमल पुष्प के मध्य में एक लाल त्रिकोण है। जिस पर महारूद्र नीले रंग वाली चर्तुभुजा शक्ति लाकिनी के साथ विद्यमान हैं नाभि चक्र से ही गर्भ के बालक को पालक रस प्राप्त होता है। इसी मार्ग से सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसा कि "नाभि चक्रे कायव्यूहज्ञानम्" (यो.सू. 3/29) से व्यक्त होता है इस पर ध्यान करने से सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान हो जाता है। शिव–संहिता (5/106, 107, 108) में मणिपुर चक्र में ध्यान करने से पाताल सिद्धि बतायी गयी है। जिससे साधक सदैव सुखी रहता है। ऐसा ध्यान करने वाला इच्छाओं का स्वामी बन जाता है तथा दुःख मृत्यु और रोग से छुटकारा पा जाता है। वह दूसरों के शरीर में प्रवेश कर सकता है उसमें स्वर्ण आदि बनाने की शक्ति आ जाती है। उसे गड़े वा छिपे धन के दर्शन होते है। उसमें औषधियों की खोज करने की शक्ति आ जाती है। उसे अति दूर तथा अति पास के पदार्थो का ज्ञान हो जाता है। नाभि चक्र पर सूर्य की स्थिति मानी गई है। योग सूत्र में इस नाभि में स्थित सूर्य में संयम करने को कहा गया है। इस नाभि स्थित सूर्य में संयम करने से भुवनों का ज्ञान प्राप्त होता है। (यो–सूत्र – 3/261) व्यास भाष्य में तो सातों लोकों के भुवन तथा उसमें आने वाले ग्राम, नगर और उनके अंतर्गत आने वाले घट पटादि पदार्थों को भुवन शब्द के अन्तर्गत लेकर उन सबका साक्षात्कार उस नाभि स्थित सूर्य में संयम करने से बताया गया है। नाभि शरीर का माध्यम है। उसमें सूर्य की स्थिति होने से उस सूर्य की प्रकाश किरणें सम्पूर्ण देश (शरीर) में व्याप्त हो जाती हैं। जो पिण्डश्र में है, वही ब्रम्हाण्ड में है। अतः इस नाभिस्थ सूर्य में संयम करने से सम्पूर्ण भुवनों का साक्षात्कार हो जाता है। इस नाभिस्थ सूर्य की किरणों द्वारा अमृत का पान करते रहने से ही मृत्यु होती है। अतः योगी को ऐसी योग क्रियायें करनी चाहिये जिनसे वह स्वयं ही अमृत पान करता रहे जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि इस केंद्र के द्वारा

ही सम्पूर्ण शरीर के अवयवों तथा सम्पूर्ण विश्व के भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस चक्र के देवता रूद्र का ध्यान पूर्णतया सिद्ध होने पर साधक में संहार शक्ति आ जाती है और वह संहार जैसे कार्य को कर सकता है।

4. अनाहत चक्र :

अनाहत चक्र 12 सुनहरे दलों वाला चौथा चक्र हृदय स्थान में स्थित है। यह चक्र वायु तत्व प्रधान तथा अरूण रंग वाला है। शिव–संहिता (5/109) में इसका रंग गहरा लाल (रक्त वर्ण) कहा गया है तथा गरूड़–पुराण में सुनहरे रंग का बताया गया है। यह सिंदूरी रंग के द्वादश पद्मम के सृदश है। इस चक्र के दल क, ख, ग, घ, ड, च, छ, ज, झ, ण, ट तथा ठ इन बारह अक्षरों वाले हैं इसका तत्व बीज 'यं' है तथा तत्व बीज का वाहन मृग है। महर्लोक इसका लोक है। ईशान–रूद्र इसके अधिपति देवता अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा काकिनी देवशक्ति के साथ है। इसका यंत्र षटकोणाकार धूम रंग, गुण स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय स्पर्श, तन्मात्रा से उत्पन्न स्पर्श की शक्ति, त्वचा का केंद्र तथा कर्मेन्द्रिय वायु तत्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति हाथ का केंद्र है। यह चक्र प्राण तथा जीवात्मा का स्थान है। इस चक्रके मध्य में दो त्रिकोण, उनके मध्य में एक त्रिकोण और स्थित है, जिस पर ईश्वर लाल काकिनी शक्ति के साथ विद्यमान हैं। इस चक्र पर अनाहृत नाद होता है। यह नाद बिना दो पदार्थों के संयोग से ही होता रहता हैं यहा कहा जा सकता है कि इस चक्र पर रहस्यमयी ध्वनि होती रहती है। इस केन्द्र पर होने वाली सूक्ष्म ध्वनियों के कं, खं, गं, घं, डं, चं, छं, जं, झं, णं, टं तथा ठं बीज मंत्र हैं। इस चक्र पर बारह सूक्ष्म शक्तियां क्रियाशील हैं। यहा 12 योग नाड़ियां मिलती हैं। इस तत्व बीज की मृग के समान तिरछी गति है। इसका वायु स्थान नाक तथा मुख से बहने वाले प्राणवायु का मुख्य स्थान है। यह अंतःकरण का मुख्य स्थान है। यह आशा, चिन्ता, सन्देह, पश्चाताप, आत्मभावना तथा अहं मन्यता आदि जैसे स्वार्थवादी मनोभावों का स्थान है। योगसूत्र 'हृदये चित्त संवित्' (3/34) से स्पष्ट है कि हृदय में संयम करने से साधक को चित्त का साक्षात्कार होता है। इस चक्र में बाणलिंग नामक परम तेज है, इसके ऊपर ध्यान करने से साधक विश्व के दृष्ट तथा अदृष्ट भोग विषयों को प्राप्त कर लेता है। शिव–संहिता (5/111) में इस चक्र के पिनाकी सिद्ध तथा काकिनी देवी अधिष्ठात्री है। इस चक्र पर ध्यान करने वाले के प्रति स्वर्ग अप्सरायें काम से व्याकुल होकर मोहित होती हैं उसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होता है, वह

त्रिकालदर्शी, दूर के शब्द को सुनने की शक्ति वाला, सूक्ष्मदर्शी तथा इच्छानुसार आकाश गमन की शक्ति वाला होता है। वह सिद्धों तथा योगिनियों के दर्शन प्राप्त करता है जो नित्य परं बाण लिंग पर ध्यान करता है उसे आकाश गमन, तथा इच्छा मात्र से सर्वत्र पहुंचने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। (शिव संहिता 5/111 से 114 तक) तंत्रों में इसके ऊपर ध्यान करने का फल कवित्व शक्ति तथा जितेन्द्रियता आदि बताया है। शिव सार तंत्र में तो इस चक्र की अनाहत नाद को ही सदाशिव कहा गया है। इस स्थान में त्रिगुणमय ऊँकार व्यक्त होता है। इसी चक्र में बाण लिंग है। जीवात्मा का यही स्थान है।

5. विशुद्ध चक्र :

इस चक्र का स्थान कंठ देश है।

विशुद्धि तनुते यस्मात् जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धं पद्माख्यातमाकाशाख्यंमहत्परम्।।

हंस (आत्मा) के अवलोकन से जीव शुद्ध होता है इसलिये यह पद्म विशुद्ध आकाशीय, महत और परम चक्र कहलाता है। सुषुम्ना तथा सुषुम्नाशीर्ष के मिलने वाले स्थान पर यह केन्द्र माना जा सकता है। यह सुषुम्ना नाड़ी में हृदय के ऊपर टेंटुए में स्थित है। मुख्य रूप से यह स्थान शरीर पर्यंत बहने वाले उदान वायु तथा बिंदु का है। यह धूम रंग के प्रकाश से उज्जवलित षोडश पद्म जैसी आकृति वाला चक्र है जिसके सोलह दलों पर सोलक अक्षर अ, आ, इ, ई, उ ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अः है। (शिव–संहिता 5/116) में इसका कांतिमान् स्वर्ण के समान रंग बताया गया है और गरूड़–पुराण में इसका रंग चन्द्रमा के समान बताया गया है। यह पूर्ण चन्द्र के सदृश गोलाकार आकाश तत्व का मुख्य स्थान है अर्थात् यह आकाश तत्व प्रधान चक्र है। इसका तत्व बीज 'हं' है। हाथी इसके तत्व बीज का वाहन है जिस पर प्रकाश देवता आरूढ़ है। तत्व बीज की गति हाथी की गति के समान घुमाव के साथ है। शब्द तत्व का गुण है। इस कमल के बीच वाले स्थान के मध्य में श्वेत चन्द्र पर शुभ्र हाथी है जिस पर बीज मंत्र हं है। इसके अधिपति देवता पंचमुख वाले सदाशिव ही अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनी के साथ वहीं विद्यमान हैं। कुछ ग्रंथों में यहां के देवता का आधा शुभ्र तथा आधा सुवर्णमय अर्द्धनारी नटेश्वर रूप है जो कि अपने अनेक हाथों में वज्र आदि अनेक वस्तुएं लिये हुये बैल पर विराजमान है। उनका आधा शरीर त्रिनेत्र मुखों वाली पंचमुखी तथा दस हाथों वाली सदागौरी है। (ल्वहं प्उउवतजंस.

पजल दक तिममकवउ इल डपतबमं म्सपंकमए चंहम 242) कल्याण योगांक पृष्ठ संख्या 397 का (425) शिव – संहिता (5/116) के अनुसार इस चक्र के सिद्ध छगलांड, शाकिनी देवी अधिष्ठात्री तथा जीवात्मा देवता है। इस चक्र का यंत्र पूर्ण चन्द्र के समान गोल आकार वाला आकाशमंडल है। इसका लोकजन है। शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण शक्ति स्त्रोत का स्थान इसकी ज्ञानेन्द्रिय है। कर्मेन्द्रिय आकाश तत्व से उत्पन्न वाकशक्ति वाणी का स्थान है। यहां इस केंद्र पर 16 सूक्ष्म शक्तियां क्रियाशील हैं। यह 16 योग नाड़ियों के मिलने का स्थल है। इस चक्र पर होने वाली सूक्ष्म ध्वनियों के अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, लृ, लृं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, तथा अः बीज मंत्र हैं। इस चक्र पर ध्यान करने वाली ही सचमुच बुद्धिमान है। उसे चारों वेदों का उनके रहस्य सहित ज्ञान हो जाता है। (शिव संहिता 5/117) वह कवि, महाज्ञानी, शातचित्त, निरोग, शोकहीन तथा दीर्घजीवी होता है। इस स्थान पर चित्त के स्थिर होने से वह आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है। भाषा तथा सप्त स्वरों का यह उद्गम स्थान है। इस चक्र पर ही मणिपूर चक्र का अव्यक्त शब्द "परा" बैखरी रूप में निकलता है। "बैखरी" रूप से इस चक्र पर "शब्द ब्रम्हा" के प्रकट होने से यहां संयम करके साधक "दिव्य–श्रुत" हो जाता है। योग सूत्र "कण्ठ कूपे क्षुत्पिपासा निवृतिः" (3/30) से यह स्पष्ट होता है कि कण्ठ के नीचे के गढ़े में प्राणादि का स्पर्श होने से मनुष्य को भूख–प्यास लगती है इसके (कण्ठकूप के) ऊपर संयम करने से प्राणादि का स्पर्श न होने के कारण भूख–प्यास से साधक मुक्त होता है। इस कण्ठ–कूप के नीचे एक कछुए के आकार वाली नाड़ी है जिसे कूर्मनाड़ी कहते हैं। इस कूर्मनाड़ी पर संयम करने से साधक का चित्त एवं शरीर स्थिर होता है। उसे कोई हिला नहीं सकता और न ही उसका मन ही विचलित हो सकता है (यो.सू. –"कूर्म नाड्यां स्थैयम् 3/31)। इस चक्र पर संयम करके स्थित रहने वाले साधक के क्रोधित होने पर त्रैलोक्य कम्पायमान हो जाता है। चित्त के इस चक्र में लीन होने पर योगी सब बाह्य विषयों को त्यागकर अपने अंदर ही रमण करता है। उसका शरीर क्षीण नहीं होता। हजार वर्षों तक उसकी पूर्ण शक्ति बनी रहेगी। वह वज्र के समान कठोर हो जाता है।2 इस चक्र के ऊपर ही 12 दलों वाला ललना चक्र है जो कि श्रृद्धा, संतोष, अपराध, दंभ, मान, स्नेह, शुद्धता, वैराग्य, मनोद्वेग तथा क्षुधा–तृषावृत्ति वाला है। (2 शिव संहिता 5/117 से 120 तक)

6. आज्ञा चक्र :

यह श्वेत प्रकाश के दो दल वाला छटा चक्र भ्रू–मध्य में स्थित है। इस चक्र का संबंध शीर्ष–ग्रंथि (च्पदमंस हसंदक) तथा पीयूषिका–पिण्ड (च्पजन. पजंतल ठवकल) से है। इस चक्र के दोनों दल पर क्रमशः ह तथा क्ष अक्षर हैं इसका तत्व लिंग आकार महत्तत्व है तत्व बीज ओम् तथा तत्व–बीज गति नाद है। इस चक्र का लोक 'तप' है इसके तत्व बीज का वाहन 'नाद' है जिस पर लिंग देवता विराजमान हैं। इस चक्र का यंत्र लिंगाकार है पाताल लिंग इस चक्र का लिंग है। इस पदम में श्वेत योनि त्रिकोण है जिसके मध्य में पाताल लिंग स्थित है। (ल्वहं दकेमसि बनसजनतमइलैतप क्मअं त्ंउैनानस . चंहम 115) कल्याण योगांक पृष्ट 396 (42) इस त्रिकोण में अग्नि, सूर्च तथा चंद्र मिलते हैं। इसके अधिपति देवता ज्ञानदाता परम शिव अपनी चतुर्भुजा षडानना हाकिनी शक्ति के साथ इस श्वेत पद्म पर विद्यमान हैं। शिव संहिता (5/122; 123; 124) में शुक्त महाकाल को इस चक्र के सिद्ध तथा हाकिनी देवी को अधिष्ठात्री बताया गया है। शरत्चंद्र के समान कांतिवान अक्षर 'ठँ' इस चक्र के मध्य में स्थित है। बुद्धिमान सन्यासी इसको जानकर कभी भी पतित नहीं होता। यह परम तेज प्रकाश सब तंत्रों में गोपनीय है। इस पर चिन्तन करने वाला निःसंदेह परम सिद्धि प्राप्त करता है। इस चक्र पर दो सूक्ष्म शक्तियां क्रियाशील हैं तथा यहां दो योग नाड़िया मिलती हैं। इस चक्र पर दो सूक्ष्म ध्वनियां निकलती हैं, जिसका बीज मंत्र 'हं' तथा 'क्षं' है यह चक्र मेरूदण्ड रज्जू के ऊपर सुषुम्ना शीर्ष में इड़ा, पिगंला तथा सुषुम्ना के संगम स्थान पर स्थित है। प्रथम चक्र मूलाधार से इड़ा पिगंला तथा सुषुम्ना अलग–अलग चलती हैं मध्य में सुषुम्ना तथा अगल बगल इड़ा, पिंगला रहती हैं जो कि सुषुम्ना शीर्ष में मिलती हैं जहां ये मिलती हैं वहीं आज्ञाचक्र है। इन तीनों के मिलने वाले स्थान को ही तीर्थराज कहा गया है। योगी इसी तीर्थराज पर स्नान करके सब पापो से मुक्त होते है, अतः इसे मुक्त त्रिवेणी कहा गया है। यह ज्ञानात्मक शक्तियों का केन्द्र है। बुद्धि, चित्त, अहंकार, संकल्प विकल्पात्मक मन तथा सूक्ष्म इंद्रियों की यहीं स्थिति हैं यह सचमुच में ज्ञान चक्र है। (ल्वहं प्उउवतजं दक तिममकवउ इल डपतबमं म्सपंकम चंहम . 243) इस चक्र पर महत्व तत्व और प्रकृति तत्व है यह अव्यक्त प्रणव रूप आत्मा का स्थान है। यहां से ही हमारी सब गतियां समन्वित होती है। इस केंद्र के द्वारा ही शारीरिक संतुलन बना रहता है इस

चक्र पर ध्यान करने से अन्य सब चक्रों पर ध्यान करने के समान फल होता है। (शिव–संहिता–5/114) अतः ध्यान करने में इस चक्र का महत्व अन्य सब चक्रों से अधिक है। इस केंद्र पर मन तथा प्राण की स्थिरता साधक को सम्प्रज्ञात समाधि प्रदान करती है। इस आज्ञा चक्र को शिव नेत्र भी कहते हैं इससे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है तुरीय अवस्था का यह मुक्ति को देनेवाला तीसरा लिंग (पाताल लिंग) स्वयं शिव ही हैं। इस चक्र पर ध्यान करने वाला योगी शिव के समान हो जाता है। (शिव–संहिता–5/125) शिव संहिता में इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों को वरूणा और असी कहा गया है, जिससे बीच के स्थान वाराणसी में विश्वनाथ विद्यमान है इस क्षेत्र का माहात्म्य ऋषियों तथा शास्त्रों के द्वारा वर्णित है। (शिव–संहिता–5/126, 127) यह द्विदल आज्ञा चक्र महेश्वर का स्थान है जिसमें नाद, बिंदु तथा शक्ति विद्यमान है जो इस आज्ञा चक्र पर सदैव ध्यान करता है वह बिना किसी रूकावट के अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों को नष्ट कर देता है ऐसे योगी के लिए बाह्य जप, पूजा आदि व्यर्थ है। (शि संहिता – 5/138 से 140 तक) इस चक्र पर ध्यान करने वाले योगी के तो यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा किन्नर आदि चरणों के दास हो जाते हैं और उसकी आज्ञा का सदा पालन करते हैं। (शिव संहिता – 5/141) जीभ को तालूमूल में लगाकर इस आज्ञा चक्र पर एक क्षण के लिए ध्यान द्वारा मन को स्थिति करने से सब भय और पाप उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं। इस चक्र पर ध्यान करने से साधक इच्छाओं के बंधन से मुक्त होकर आनंद भोगता है। मरने के समय इस चक्र में ध्यान करने से साधक इस जीवन से मुक्त होकर परमात्मा में लीन हो जाता है जो इस चक्र पर खड़े या चलते, फिरते, सोते या जागते ध्यान करता है वह पाप कर्म करके भी उनसे मुक्त रहता है। इस आज्ञा चक्र के महत्व का वर्णन नहीं किया जा सकता ब्रम्हा आदि देवता भी उसे आंशिक रूप में ही जानते हैं। (शिव संहिता– 5/142, 143, 145, 149 तक।)

आज्ञाचक्र के समीप मनश्चक्र तथा सोम चक्र भी है इनका संबंध बौद्धिक कार्य तथा योग अनुभूतियों से है। मनश्चक्र षट्दल पद्म है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पांचों विषयों के दल स्थान पांच दल है। स्वप्नगत अनुभव तथा निर्मूल भ्रम आदि सब ज्ञान छटे दल पर आधारित है। इस मनश्चक्र के कुछ ऊपर की तरफ सोलह दलों वाला सोम चक्र स्थित है यह परोपकारी मनोभावों तथा संकल्प नियंत्रण का स्थान है। अनुकम्पा,

सौम्यता, धैर्य, वैराग्य, गम्भीरता, चिन्तन, निश्चय संकल्प, सच्चाई तथा महामनस्कता आदि से इस चक्र का संबंध है। यही जीवात्मा की तुरीयातीत अवस्था में रहने का स्थान निरालम्पुरी है। योगियों को इसी स्थान पर ध्यान करने से तेजोमय ब्रम्हा के दर्शन होते हैं।

आज्ञाचक्र के पास ही कारण शरीर रूप सात कोशों का स्थान है, जिनके द्वारा सूक्ष्म तथा भौतिक शरीर बनते हैं। इन्दु, बाघिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानाद, कला तथा उन्मनी ये इन सप्त कोशों के नाम है। उन्मनी कोश में पहुंचने पर जीव को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। वह अपनी इच्छा वा परमेश्वर की इच्छा से जन्म तो ग्रहण कर सकता है किन्तु उसे देह धारण करने की अवस्था में भी आत्मस्वरूप की विस्मृति नहीं होती।

7. सहास्त्रार चक्र :

यह सहस्त्र दलों वाला पद्म ब्रहन्मस्तिष्कीय बल्क है जो कि विभिन्न खण्डों तथा परिवलनों से युक्त है। यह जीवात्मा का स्थान है यहीं शिव और शक्ति मिलन का विशिष्ट एवं उच्चतम् स्थान है। यहीं आध्यात्मिक परमानंद की अनुभूति होती है यह ठीक ब्रम्हरंध्र के ऊपर स्थित है। यह समस्त शक्तियों का केंद्र है। तालुमूल से सुषुम्ना मूलाधार तक चली गयी है। यह सब नाड़ियों से धिरी तथा उनका आश्रय है। (शिव संहिता–5/150, 151) तालुमूल पर स्थित सहस्त्र दल पद्म के मध्य में पीछे की मुख वाली योनि (शक्ति केंद्र) है जो कि सुषुम्ना का मूल है और सुषुम्ना रंध्र के सहित उसे ब्रम्ह रंध्र कहते हैं। सुषुम्ना रंन्ध्र में कुण्डलिनी शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। (शिव संहिता–5/152 से 154 तक) सहस्त्रार चक्र को दशमद्वार, ब्रम्हा स्थान, ब्रम्हरंध्र, निर्वाण चक्र आदि भी कहते हैं। इन दलों पर 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के सब अक्षर है। ये 50 अक्षर जो अन्य चक्रों के दलों पर हैं, सब इस चक्र के दलों पर भी है। सहस्त्र दल कमल पर ये 50 अक्षर 20 बार आ जाते हैं। मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र तक के कुल दल और मात्रायें पचास–पचास हैं सहस्त्रार चक्र के सब मिला कर विवर हैं एक विवर से दूसरे विवर तक 50 दल होते हैं। अतः इस चक्र में एक हजार दल हुए। इस केद्रं से सब सूक्ष्म नाड़ियों का संबंध है। सब चक्रों की सूक्ष्म–योग–नाड़ियां यहां विद्यमान हैं बीज रूप में यहां सब कुछ है। यह सम्पूर्ण चेतना का केंद्र स्थान है इस पद्म के मध्य त्रिकोण को घेरे हुये पूर्ण चंद्र है। यहीं शिव और शक्ति का परम मिलन होता है यहां उन्मनी अवस्था प्राप्त करना ही तांत्रिक साधना का परम

लक्ष्य है। कुण्डलिनी शक्ति छःओं चक्रों में से होती हुई अंत में सहस्त्रार मे लीन हो जाती है यहां पहुंच कर सबका कार्य समाप्त हो जाता है। यहां कुण्डलिनी शक्ति सहस्त्रार में सदैव परमात्मा के साथ रहने वाली पराकुण्डलिनी से मिलती है। इस चक्र का लोक सत्य है तथा तत्व, तत्वा तीत है। इस चक्र का तत्वबीज विसर्ग, तत्व बीज वाहन बिंदु तथा तत्वबीज गति बिंदु है। इस चक्र का यंत्र शुभ्रवर्ण पूर्ण चंद्र है। इस चक्र के मध्य में श्वेत पूर्ण चंद्र से घेरे हुये त्रिकोण में परब्रम्हा अपनी महाशक्ति के साथ विराजमान हैं। इस सहस्त्रार चक्र में अनेक रूपों में सब चक्रों की ध्वनियां तथा शक्तियां अपनी कारणावस्था में विद्यमान है। इसके द्वारा केवल सब चक्रों का ही प्रतिनिधित्व नहीं होता, बल्कि यह सम्पूर्ण शरीर का चेतना केंद्र है। इसमें सूक्ष्म रूप से सब स्थित है। यहीं निष्क्रिय एवं गतिशील चेतना का मिलन होता है। अर्थात् यह कुण्डलिनी शक्ति के दोनों रूपों निष्क्रिय और चंचल का मिलन स्थान है यह चक्र मुक्ति देने वाला है। कुण्डलिनी के इसमें लीन होने के साथ–साथ विभिन्न चक्रों की विभिन्न शक्तियां, बुद्धि, चित्त, अंहकार तथा मन के साथ यहां पूर्ण रूप से परमात्मा में लीन हो जाती है। जिसके कारण प्रपन्चात्मक जगत् की सत्ता समाप्त होकर असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। मूलाधार चक्र पर व्यक्ति की जो चेतना शक्ति जागृत होकर सहस्त्रार पर पहुंचती है वह वहां पर पहुंच कर परम शक्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में ज्ञात, ज्ञेय तथा ज्ञान की त्रिपुटी नहीं रह जाती। सब आत्मा रूप ही हो जाता है।

इस चक्र पर मन और प्राण के स्थिर होने पर सर्वचित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। शिव संहिता ने सहस्त्रार को मुक्तिदाता तथा ब्रम्हाण्ड रूपी शरीर से बाहर माना है इसे ही अविनाशी क्षय तथा बुद्धि रहित शिव का स्थान कैलाश पर्वत कहा है। (शिव संहिता – 5/186, 187) इस परम पवित्र स्थान के ज्ञान मात्र से व्यक्ति जन्म मरण से छुटकारा पा जाता है। इस ज्ञान योग के अभ्यास से व्यक्ति में संसार के संहार तथा रचने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। जो परम हंस के स्थान कैलाश अर्थात्, सहस्त्र दल कमल पर ध्यान लगता है वह साधक मृत्यु, रोग एवं दुर्घटनाओं से मुक्त होकर बहुत काल तक रहता है। जो योगी परमेश्वर में मन को लीन कर लेता है उसे निश्चिय समाधि प्राप्त होती है। (शिव संहिता – 5/188 से 190 तक)।

इस प्रकार इन चक्रों का वर्णन देखकर इसका प्रतीकात्मक स्वरूप

स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक जानकारी के साथ तालमेल रखने वाला तथा इनके स्पष्टीकरण देने का प्रयास अनेक विद्वानों ने किया है। कुछ लोगों के अनुसार रक्तवाहिनियों के अंर्तगत जो "फ्लेक्सस" होते हैं, वे ही योग के चक्र हो सकते है। कैवल्यधाम से प्रकाशित "योग मीमांसा" पत्रिका के जुलाई 1966 के अंक में डा. म.वि. आपटे ने चक्रों के संबंध में इस प्रकार स्पष्टीकरण दिया है –

मूलाधार चक्र के चार दल है, क्योंकि गुदा एवं जननेंद्रिय के बीच की सीवनी, जिसको अंग्रेजी में पेरीनियम कहते हैं, उसके चार कोण होते हैं। यौन क्रिया के प्रमुख अंग छः है। जैसे दो हाथ, दो आंखे, मुख तथा जननेंद्रिय। इसीलिये जननेंद्रिय के मूल में स्थित स्वाधिष्ठान चक्र के छः दल हैं। नाभिचक्र के दस दल लैं, क्योंकि पाचन के अंग दस हैं, जैसे आमाशय, पक्वाशय, छोटीआंत के दो हिस्से, बड़ी आंत के तीन हिस्से, पित्ताशय, यकृत तथा अग्न्याशय। हृदय की मुख्य रक्तवाहिनीयां बारह है। कंठचक्र में सोलह दल इसलिए हैं, क्योंकि वर्णमाला में "अ" से "अं" तक स्वरों की संख्या सेालक है। आज्ञा चक्र के दल दो हैं क्योंकि आंखे, जिनसे आज्ञा देते हैं, वे दो ही हैं।

कुण्डलिनी के द्वारा चक्रों का भेदन होने पर उन चक्रों के जो पृथ्वी आदि तत्व हैं, उन पर साधक का अधिकार हो जाता है। सहस्त्रार चक्र में स्थित पराशिव के साथ आधार शक्ति का मिलन होने पर अज्ञान नष्ट होता है। और जीवमुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है।

चक्रों की वास्तविकता का प्रमाण :

मनुष्य शरीर में ऐसे अनेकों केंद्र है जिनमें जीवनी शक्ति प्राणऊर्जा की बहुलता होती है। इन्हें मर्म स्थान कहते हैं तथा इनकी संख्या सात सौ बतायी गयी है इन स्थानों में प्राणशक्ति में कमीवेशी होने पर स्वास्थ्य संतुलन बिगड़ जाता है और व्यक्ति को अनेकों बीमारियां धर दबोचती हैं। चिकित्सा विज्ञान में मर्म स्थानों का विशेष महत्व बतलाया गया है। जापान और चीन में एक्यूपंचर एवं एक्यूप्रेशर चिकित्सा प्रणाली का मूल आधार यही मर्म स्थान है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्लफीड ने 'द वाइटल सेण्टर्स आफ मैन' ग्रंथ में कहा है कि मर्म स्थानों पर तंत्रिका तंतु अधिक एकत्रित और सघन होते हैं तथा वे केंद्रो से एवं एक–दूसरे से संबंधित भी होते हैं। मर्म स्थानों के

अतिरिक्त शरीर में सात ऐसे प्रमुख केंद्र हैं जिनमें प्राणशक्ति और अतीन्द्रिय क्षमताओं का अपान वैभव प्रसुप्त स्थिति में दबा पड़ा है। इन स्थानों को 'चक्र' या 'प्लेक्सस' कहते हैं इन केद्रों में ज्ञान तंतु अधिक मात्रा में उलझे होते हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के मिलन स्थान पर चक्रों की उपस्थिति बताई गयी है।

योरोप के प्रख्यात मनोवैज्ञानिक पैरासेल्सस ने शरीरस्थ सूक्ष्म केद्रों में 'एस्ट्रम' (तारा) नाम से उन पर प्रकाश डालते हुए उन्हें शक्ति पुंज बताया है। उनके मतानुसार इन सूक्ष्म केंद्रो के माध्यम से गृह नक्षत्रीय एवं ब्रम्हमाण्डीय शक्तियां मनुष्य के शरीर में अवतरित होती हैं। योगाचार्यों ने चक्रों को 'कमल' नाम से भी सम्बोधित किया है जैसे – हृदय कमल, नाभिकमल सहस्त्रार कमल आदि। अंग्रेजी में इन्हें 'प्लेक्सस' और जापानी 'जैन' धर्म की व्याख्यानुसार 'क्यूसोस' कहा गया है। चीन की ताओ प्रणाली में चक्रों को विश्व ब्रम्हमाण्ड में बिखरे हुये नर और नारी– 'यांग ओर यिन' शक्तियों के एकत्रीकरण–सम्मिलन का केन्द्र बताया गया है।

सर जॉन बुडरफ ने ''पॉवर एज रिअलिटी'' एवं ''शक्ति एवं शाक्त'' में वी.जी.रेले ने ''द मिस्टीरियस कुण्डलिनी'' में श्रीदास गुप्ता ने ''हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसिफी'' वॉल्यूम ''र'' में इवान्स वेण्टज ने ''टिबेटन बुक ऑफ ग्रेट लिबरेशन'' में एवं एज.जी. बेन्स ने ''माइथालॉजी ऑफ सोल'' में जिस सूक्ष्म शरीर की संरचना का वर्णन किया है वह मूलतः वही है जो योग व तंत्र पर भारतीय दर्शनकारों ऋषिगणों ने निरूपित किया है। योग कुण्डल्युपनिषद्, महानिवार्ण तंत्र, षट्चक्र निरूपणम, ध्यान बिंदु उपनिषद्, योगार्णव तंत्र कुलार्णव तंत्र, शारदातिलक इत्यादि ग्रंथो में कुण्डलिनी–इड़ा पिंगला सुषुम्ना, मेरूदण्ड एवं मूलाधार सहस्त्रार रूपी दो केन्द्रों संबंधी जो विवेचन किया गया है उसे विज्ञान सम्मत भाषा में एक सीमा तक प्रस्तुत किया जा सकता है।

सुषुम्ना को वैज्ञानिक स्थायी विद्युतीय द्विध्रुव केन्द्र (इलेक्ट्रिक डायपोल) मानते हैं जिसका अधोभाग जो काण्डा इक्वाइना कहलाता है ऋण आवेशयुक्त है तथा ऊर्ध्व वाला ''सोरिब्रम'' नामक भाग धन आवेश युक्त। काडा इक्वाइना व मूलाधार चक्र की स्थिति एक है। इसी प्रकार सेरिब्रम में विद्यमान विद्युत स्फुल्लिंगों का फब्बारा ''एसेण्डिंग रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम'' सहस्त्रार के समकक्ष माना जाता है। असामान्य स्थिति में जब प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर बहता है तो इसे काम बीज से ब्रम्हा बीज की महायात्रा कहते हैं जो मेरूदण्ड

रूपी देवयान मार्ग पर पूरी की जाती है। अलंकारिक रूप से इन्हीं अंगों को विभिन्न नाम दे दिये गये हैं पर होते ये सूक्ष्म विद्युतचुम्बकीय प्रवाह के रूप में ही हैं। वैज्ञानिक बताते हैं कि शरीर में कुल मिलाकर मोटे तौर पर एक लाख वोल्ट प्रति सेण्टीमीटर का विद्युत दबाव होता है। अन्य जीवधारियों की भांति यह भी जननेन्द्रियों से, त्वचा से, श्वास मार्ग से क्रमशः नित्य प्रतिदिन क्षरित होकर नष्ट होता रहता है। मात्र मनुष्य को यह सामर्थ्य विधाता से मिली है कि वह स्खलन के पतन गर्त में पड़ी आत्मसत्ता को ऊर्ध्वगामी बना सके, क्षरण को रोक सके एवं योगाभ्यास द्वारा चक्र बंधन करते हुये सहस्त्रार को जगाकर अपना तेजोवलय बढ़ा सके।

चक्र जैसा कि बताया जा चुका है – कुल छः है। सातवें सहस्त्रार की गिनती इसमें नहीं होती। उसे सहस्त्र दल कमल कहा गया है। नीचे से ऊपर ये चक्र जिस क्रम मे हैं व उनका एनाटॉमी से किस सीमा तक संबंध है,उसका संक्षिप्त विवेचन यहां किया जा रहा है।

(1) मूलाधार चक्र सुषुम्ना (स्पाइनल कॉर्ड की मध्य केनाल): के निचले सिरे पर मेरूदण्ड के काक्सीजियल क्षेत्र – पेंरीनियम में गुदा व जननेन्द्रिय के मध्य स्थित होता है। यहां पर काण्डा इक्वाइना से निकली सेक्रल नर्वरूट्रष कई गुच्छक बनाकर सेक्रल एवं पेरिनियम प्लेक्सस बनाती है। इन नाड़ी गुच्छकों में प्रवाहित विद्युतधारा चक्रवात के समान ऊर्जा उत्पन्न करने वाली भँवर बनाती है। इसी सूक्ष्म विद्युत प्रवाह को मूलाधार शक्ति कहते है जिसका मूल कार्य है उत्पादन प्रजनन। कुण्डलिनी महाशक्ति साढ़े तीन कुण्डलिन में लिपटी यहीं सोयी पड़ी रहती है। यहां स्थित प्रवाह को 4 पंखुडियो वाले कमल के रूप में योगीजन देखते व इन्हें 4 वृत्तियों परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द, वीरानन्द का प्रतीक बताते हैं। यहां जो शब्द ब्रम्हा के कम्पन होते हैं उससे जो शब्द की व्युत्पत्ति होती है उसे "ल" नाम दिया गया है। इस चक्र की तन्मात्रा गंध व तत्व पृथ्वी हैं।

(2) स्वाधिष्ठान चक्रः जो मूलाधार से चार अंगुल ऊपर हाइपोगेस्ट्रियम के स्थान पर अवस्थित है। यहीं पर स्थित प्लेक्सस सुषुम्ना के दोनों ओर स्थित सिम्पैथेटिक गैंगलियान व सुषुम्ना के कड़ी गुच्छकों से मिलकर बनता है। इससे जुड़ा आंतरिक अंग एड्रीनल ग्रंथि है जो एड्रीनेलीन हार्मोन से संबंधित है। तनाव से जूझने व प्रतिकूलताओं से मोर्चा लेने की क्षमता इसी की सक्रियता से आती है। उत्सर्जन–विसर्जन इसका मूल कार्य है। किन्तु

इसके जागृत होने पर बलिष्ठता व स्फूर्ति बढ़ती है। आलस्य–प्रमाद–अवज्ञा–अविश्वास आदि दुर्गुण मिटते हैं। यहां स्थित कमल की छः पंखुरियां मानी गयी हैं। बीज मंत्र "ब" हैं। इस चक्र की तन्मात्रा रस एवं तत्व जल है। मूलाधार व स्वाधिष्ठान दोनों ही एक समूह में आते हैं एवं इनका मिलन बिंदु रूद्रग्रंथि कहलाती है।

(3) मणिपूर चक्र : शरीर संरचना की दृष्टि से यह नाभिस्थान में मेरूदण्ड के लम्बर रीजन में होता है। यही पर सोलर प्लेक्सस होता है जो सिम्पैथेटिक गैंगलियान एवं बेगस नर्व के नाड़ी गुच्छकों से मिलकर बनता है। इससे जुड़ी ग्रंथि पैन्क्रियाज है जो हार्मोन्स के अतिरिक्त एन्जाइम्स बनाती है इस चक्र के जागरण से संकल्प बल व पराक्रम बढ़ता है। पाचन क्रिया में सहायता इसका मूल कार्य है। मनोविकार घटते है एवं परमार्थ कार्यो में रूचि बढ़ती है। नाभि स्थित यह कमल दस दल वाला माना गया है। इसका बीज मंत्र "रं" तन्मात्रा रूप (दृश्य) एवं तत्व "अग्नि" है। इसके जागरण से शरीर की तीनों अग्नियां जागृत होती हैं व ऊर्ध्वगमन में सहायक बनती हैं। इस चक्र के उद्‌भूत ऊर्जा को अपनी चक्रा मशीन से जापान के डॉ. हिरोशिमा मोटोयामा ने मापा व ग्राफ पर अंकित भी किया है। तिब्बती इसे मणिपद्‌म कहते हैं।

(4) अनाहत चक्र : जो हृदय के पीछे कार्डियक प्लेक्सस के स्थान पर अवस्थित माना जाता है। यहां सिम्पैथेटिक गैंगलियान चेन व सुषुम्ना तथा वेगस के नर्वतन्तु मिलकर एक जाल बनाते व पूरे हृदय क्षेत्र को ऊर्जा देने की भूमिका निभाते हैं। यह बारह पंखुरियों वाला कमल माना गया है। पेसमेकर का ऊर्जा स्त्रोत यही है। इसे भाव संस्थान भी माना गया है। कलात्मक उमंग–रसानुभूति व कोमल संवेदनाओं का उत्पादक स्त्रोत यही चक्र है। इसके जागरण से उदार सहकारिता, परमार्थ, परायण,ता, "वसुधैव कुटुम्बकम" के भाव उभरते हैं। थाइमस इससे जुड़ी ग्रंथि है। प्राण धारण एवं उसका सुनियोजन इसका मूल कार्य है। इस चक्र का बीज मंत्र "यं" है। अनाहत नाद अथवा शब्द ब्रम्हा की केन्द्र स्थली इसे माना गया है। शब्द ही इसकी तन्मात्रा एवं वायु इसका तत्व है। अनाहत व मणिपूर दोनों मिलकर सूर्य खण्ड बनाते व विष्णु ग्रंथि कहलाते हैं।

(5) कण्ठ में विशुद्धि चक्रः थायराइड ग्रंथि तथा उसी के पीछे स्थित फेरेन्जियल व लेरोन्जियल प्लेक्सस इससे संबंधित है। इस चक्र के जागरण

से अतीद्रिंय क्षमता प्रसुप्त बीजाकुंर फूट पड़ते है। यह चक्र सीधे अचेतन मन व चित्त संस्थान को प्रभावित कर दायें मस्तिष्क के "साइलेंष्ट एरिया" को जगाता है यहां स्थित कमल 16 पंखुरियों वाला है एवं इसका बीज मंत्र 'हं' है। स्पर्श इसकी तन्मात्रा एवं आकाश तत्व है।

(6) आज्ञा चक्र अंतिम चक्र हैः जो विशुद्धि के साथ मिलकर चन्द्र समूह तथा ब्रम्ह ग्रंथि बनाता है। इसका बीज मंत्र "ऊँ" एवं तत्व मनस् है। इसे द्विदलीय कहा गया है। जो पीनियल व पीट्यूटरी ग्रंथि से मिलकर बनते हैं। मध्य की सीध में ये दोनों ग्रंथियां है जो पूरे शरीर की गतिविधियों का संचालन करती है। इसके जागरण से दिव्य चक्षु खुल जाते हैं। लिम्बिक सिस्टम व हाइपोथेलेमस में जागृति आने से मस्तिष्क की सभी परतें खुल जाती हैं। व्यष्टि सत्ता समष्टि चेतना से संबंध जोड़ने में सक्षम हो जाती है।

(7) सहस्त्रार चक्रः कुण्डलिनी जागरण की महायात्रा का अंतिम पड़ाव है जो मस्तिष्क में इन्टरनल कैप्सूल व रेटीकूलर एक्टीवेटिंग सिस्टम में अवस्थित माना जाता है। यहां से स्फुल्लिंग सहस्त्रों की संख्या में उठते हैं। इसलिये इसे सहस्त्रार कहा गया है। इसे ब्रम्हलोक एवं ब्रम्हरंध्र भी कहते हैं। आज्ञा चक्र इसका उत्पादन केंद्र होने के नाते जुड़ा है। सहस्त्रार उत्तरी ध्रुव है जो ब्रम्हमाण्डीय चेतना से जुड़कर ब्रम्हानंद की प्राप्ति कराता है। सहस्त्रार के जागरण का अर्थ है सारे ग्रे मैटर के केंद्रो का जागरण। सुषुम्ना नाड़ी जो मूलाधार चक्र से चलकर ऊपर बढ़ती है। अपने दोनों ओर बायें से दायें व फिर दायें से बायें इड़ा (गंगा) एवं पिंगला (यमुना) नाड़ियों को लेकर चलती है। इड़ा बायीं ओर होती है व चन्द्र नाड़ी कहलाती है एवं नेगेटिव आवेश युक्त होती है। पिंगला दायीं ओर होती है व सूर्य नाड़ी कहलाती है एवं पॉजीटिव आवेशयुक्त होती है। इन दासे के संगम स्थल हैं, जो सुषुम्ना रूपी सरस्वती से मिलकर मूलाधार व आज्ञा चक्र पर त्रिवेणी संगम बनाते हैं। इड़ा व पिंगला नाड़िया पेरासिम्पैथेटिक व सिम्पैथैटिक सिस्टम का प्रतिनिधित्व करती हैं।

वस्तुतः कुण्डलिनी शक्ति का स्थूल एनॉटामी की शब्दावली में वणना करना असंभव है। जो भी परिकल्पना विभिन्न मनीषियों ने की है उसका सार उपर्युक्त वर्णन माना जा सकता है। कुण्डलिनी सर्पेण्टपॉवर, जीवनीशक्ति, फायर ऑफ लाइफ न जाने कितने नामों से जानी जाती है। षट्चक्र वेधन व कुण्डलिनी जागरण से उद्भूत ऊर्जा व्यक्ति को ब्रम्हवर्चस सम्पन्न बनाती

है।

कुण्डलिनी के षट्चक्र और उनका वेधन :

कुण्डलिनी योग के अर्न्तगत शक्तिपात विधान का वर्णन अनेक ग्रंथो में मिलता है। योग वशिष्ठ, तेजबिन्दुपनिषद्, योग चूड़ामणि, ज्ञान संकलिनी तंत्र, शिव पुराण, देवी भागवत्, शाण्डिल्योपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद्, हठयोग संहिता, कुलार्णव तंत्र, योगनी तंत्र, घेरण्ड संहिता, कंठ श्रुति, ध्यान बिन्दुपनिषद्, रूद्र यामल तंत्र, योग कुण्डलिनी उपनिषद्, शारद तिलक आदि ग्रंथों में इस विद्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। फिर भी वह सर्वांगपूर्ण नहीं है कि उस उल्लेख के सहारे कोई अजनबी व्यक्ति साधना करके सफलता प्राप्त कर सके। पात्रता युक्त अधिकारी साधक और अनुभवी सुयोग्य मार्ग–दर्शक की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये ही ग्रंथों में इस गूढ़ विद्या पर प्रायः संकेत ही किये गये हैं।

योरोपियन तांत्रिकों में जोकब बोहम की ख्याति कुण्डलिनी साधकों के रूप में रही है। उनके जर्मन शिष्य जान जार्ज गिचेल की लिखी पुस्तक 'थियोसॉफिक प्रोक्टिका' में चक्र संस्थानों का विशद वर्णन है जिसे उन्होंने अनुसंधानों और अभ्यासों के आधार पर लिखा है। जैफरी हडस्वन ने इस संदर्भ में गहरी खोजे की हैं और आत्म विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान के समन्वयात्मक आधार लेकर चक्रों में सन्निहित शक्ति और उसके उभार उपयोग के संबंध में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

कुण्डलिनी साधना को अनेक स्थानों में षट्चक्र वेधन की साधना भी कहते हैं। पंचकोषी साधना या पंचाग्नि विद्या भी गायत्री की कुण्डलिनी या सावित्री साधना के ही रूप हैं। एम.ए. की डिग्री है इसे हिन्दी, अंग्रेजी, इकॉनामिक्स किसी भी विषय से प्राप्त किया जा सकता है। उसी प्रकार आत्म तत्व, आत्म शक्ति एक ही है, उसे प्राप्त करने के लिए विवेचन, विश्लेषण और साधना विधान भिन्न हो सकते हैं। इसमें किसी तरह का विरोधाभास नहीं है। तैत्तरीय आरण्यक में चक्रों को देवलोक एवं देव संस्थान कहा गया है। शंकराचार्य कृत आनंद लहरी के 17 वें श्लोक में भी ऐसा ही प्रतिपादन है। योग दर्शन समाधिपाद का 36 वाँ सूत्र है –

''विशोकाया ज्योतिष्मती''

इसमें शोक संतापों का हरण करने वाली ज्योति शक्ति के रूप में कुण्डलिनी शक्ति की ओर संकेत है।

इस समस्त शरीर को संपूर्ण जीव कोषों का महाशक्ति की प्राण प्रक्रिया संभाले हुये है। उस प्रक्रिया के दो ध्रुव दो खण्ड हैं। एक को चय प्रक्रिया (एनाबॉलिक एक्शन) तथा दूसरे को अपचय प्रक्रिया (कैटाबालिक एक्शन) कहते हैं। इसी को दार्शनिक भाषा में शिव एवं शक्ति भी कहा जाता है शिव क्षेत्र सहस्त्रार तथा शक्ति क्षेत्र मूलाधार कहा गया है। इन्हें परस्पर जोड़ने वाली, परिभ्रमणशील शक्ति का नाम कुण्डलिनी है।

सहस्त्रार और मूलाधार का क्षेत्र विभाजन करते हुये मनीषियों ने मूलाधार से लेकर कण्ठ पर्यन्त का क्षेत्र एवं चक्र संस्थान 'शक्ति' भाग बताया है। और कण्ड से ऊपर का स्थान 'शिव' देश कहा है।

मूलाद्धाराद्धि षट्चक्रं शक्तिस्थानमूदीरतम्।

कण्ठादुपरि मूर्द्धान्तं शाम्भव स्थानमुच्यते।। – वराहश्रुति

मूलाधार से कण्ठपर्यन्त शक्ति का स्थान है। कण्ठ के ऊपर से मस्तक तक शाम्भव स्थान है। यह बात पहले कही जा चुकी है।

मूलाधार से सहस्त्रार तक की, काम बीज से ब्रम्ह बीज तक की यात्रा को ही महायात्रा कहते हैं। योगी इसी मार्ग को पूरा करते हुये परम लक्ष्य तक पहुंचते हैं। जीव सत्ता–प्राण शक्ति का निवास जननेंद्रिय मूल में है। प्राण उसी भूमि में रहने वाले रज वीर्य से उत्पन्न होते हैं। ब्रम्ह सत्ता का निवास ब्रम्हलोक में – ब्रम्हरंध्र में माना गया है। यह द्युलोक – देवलोक स्वर्गलोक है आत्मज्ञान का ब्रम्हज्ञानका सूर्य इसी लोक में निवास करता है। कमल पुष्प पर विराजमान ब्रम्हा जी – कैलाशवासी शिव और शेषशायी विष्णु का निवास जिस मस्तिष्क मध्य केंद्र में है – उसी नाभिक (न्यूक्लियस) को सहस्त्रार कहते हैं। आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया यहीं सम्पन्न होती है। पतन के स्खलन के गर्त में पड़ी क्षत–विक्षत आत्म सत्ता अब ऊर्ध्वगामी होती है तो उसका लक्ष्य इसी ब्रम्हलोक तक, सूर्यलोक तक पहुंचना होता है। योगाभ्यास का परम पुरूषार्थ इसी निमित्त किया जाता है। कुण्डलिनी जागरण का उद्धेश्य यही है।

आत्मोत्कर्ष की महायात्रा जिस राजमार्ग से होती है उसे मेरूदण्ड या सुषुम्ना कहते हैं। उसका एक सिरा मस्तिष्क का दूसरा काम केंद्र का स्पर्श करता है। कुण्डलिनी साधना की समस्त गतिविधियां प्रायः इसी क्षेत्र को परिष्कृत एवं सरल बनाने के लिए है। इड़ा पिंगला के प्राण प्रवाह इसी क्षेत्र को दुहराने के लिए नियोजित किये जाते हैं। साबुन पानी में कपड़े धोये जाते

हैं। झाड़ू झाड़ने से कमरे की सफाई होती है। इड़ा पिंगला के माध्यम से किये जाने वाले नाड़ी शोधन प्राणायाम मेरूदण्ड का संशोधन करने के लिए हैं। इन दोनों ऋणात्मक और घनात्मक शक्तियों का उपयोग सृजनात्मक उद्धेश्य से भी होता है।

इमारते बनाने वाले कारीगर कुछ समय नींव खोद कर गड्डा करते हैं, इसके बाद वे ही दीवार चुनने के काम में लग जाते हैं, इसी प्रकार इड़ा पिंगला संशोधन और सृजन का दुहरा काम करते हैं जो आवश्यक है उसे विकसित करने में वे कुशल माली की भूमिका निभाते हैं। यों आरंभ में जमीन जोतने जैसा ध्वंसात्मक कार्य भी उन्हें को करना पड़ता है पर यह उत्खनन निश्चित रूप से उन्नयन के लिए होता है। माली भूमि खोदने, खरपतवार उखाड़ने, पौधे की कांट–छांट करने का काम करते समय ध्वंस में संलग्न प्रतीत होता है, पर खाद पानी देने रखवाली करने में उसकी उदार सृजनशीलता का भी उपयोग होता है। इड़ा पिगंला के माध्यम से सुषुम्ना क्षेत्र में काम करने वाली प्राण विद्युत का विशिष्ट संचार क्रम प्रस्तुत करके कुण्डलिनी जागरण की साधना सम्पन्न की जाती है।

मेरूदण्ड को राजमार्ग–महामार्ग कहते हैं। इसे धरती से स्वर्ग पहुंचने का देवयान मार्ग कहा गया है। इस यात्रा के मध्य में सात लोक हैं। इस्लाम धर्म के सातवें आसमान पर खुदा का निवास माना गया है। ईसाई धर्म में भी इससे मिलती–जुलती मान्यता है। हिन्दु धर्म के भूः भुवः स्वः जनः तपः महः सत्यम् यह सात लोक प्रसिद्ध हैं। आत्मा और परमात्मा के मध्य इन्हें विराम स्थल माना गया है। लंबी मंजिलें पूरा करने के लिए लगातार ही नहीं चला जाता। बीच–बीच में विराम भी लेने होते हैं। रेलगाड़ी गन्तव्य स्थान तक बीच के स्टेशनों पर रूकती–कोयला, पानी लेती चलती है। इन विराम स्थलों को चक्र कहा गया है। चक्रों की व्याख्या दो रूपों में होती है। एक अवरोध के रूप में दूसरे अनुदान के रूप में। महाभारत में चक्रव्यूह की कथा है। अभिमन्यु उसमें फँस गया था। वेचन कला का समुचित जानकारी न होने से वह मारा गया था। चक्रव्यूह में सात परकोटे होते हैं। इस अलंकारिक प्रंसग को आत्मा का सात चक्रों में फँसा होना कह सकते हैं। भौतिक आकर्षणों की, भ्रान्तियों की विकृतियों की चहारदीवारी के रूप में भी चक्रों की गणना होती है। इसलिये उसके वेधन का विधान बताया गया है। रामचंद्र जी ने बाली को मार सकने की अपनी क्षमता का प्रमाण सुग्रीव को दिया था। उन्होंने सात

ताड़ वृक्षों को एक बाण से बेधकर दिखाया था। इसे चक्र वेधन की उपमा दी जा सकती है। भागवत में माहाक्य में धुन्धकारी प्रेत के बाँस की सात गाठे फोड़ते हुए सातवें दिन कथा प्रभाव से देव देहधारी होने की कथा है। इसे चक्र वेधन का संकेत समझा जा सकता है।

चक्रों को अनुदान केंद्र इसलिए कहा जाता है कि उनके अंतराल में दिव्य सम्पदायें भरी पड़ी हैं। उन्हें ईश्वर ने चक्रों की तिजोरियों में इसलिए बंद करके छोड़ा है कि प्रौढ़ता पात्रता की स्थिति आने पर ही उन्हें खेलने उपयोग करने का अवसर मिले। कुपात्रता अयोग्यता की स्थिति में बहुमूल्य साधन मिलने पर तो अनर्थ ही होता है। कुसंस्कारी संताने उत्तराधिकार में मिली बहुमूल्य सम्पदा से दुर्व्यसन अपनाती है और विनाश पथ पर तेजी से बढ़ती हैं। छोटे बच्चों को बहुमूल्य जेवर पहना देने से उनकी जान जोखिम का खतरा उत्पन्न हो जाता हैं। धातुओं की खदानें जमीन की ऊपरी परत पर बिखरी नहीं होती, उन्हें प्राप्त करने के लिए गहरी खुदाई करनी पड़ती है। मोती प्राप्त करने के लिए समुद्र में गहरे गोते लगाने पड़ते हैं यह अवरोध इसलिए है कि साहसी और सुयोग्य सत्पात्रों को ही विभूतियों का वैभव मिल सके। मेरूदण्ड में अवस्थित चक्रों को ऐसी सिद्धियों का केंद्र माना गया है जिसकी भौतिक ओर आत्मिक प्रगति के लिए नितान्त आवश्यकता रहती हैं।

चक्रवेधन, चक्रशोधन, चक्र परिष्कार, चक्र जागरण आदि नामों से बताये गयें विवेचनों एवं विधानों में कहा गया है कि इस प्रयास से अद्क्षताओं एवं विकृतियों का निराकरण होता है। जो उपयुक्त है उसकी अभिबृद्धि का पथ प्रशस्त होता है। सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन, दुष्प्रवृत्तियों के दमन में यह चक्र वेधन विधान कितना उपयोगी एवं सहायक है इसकी चर्चा करते हुये शारदातिलक ग्रंथ के टीकाकार ने 'आत्मविवेक' नामक किसी साधना ग्रंथ का उद्घरण प्रस्तुत किया है कहा गया है कि –

गुदलिग्डान्तरे चक्रमाधारं तु चतुर्दलम्।
परमः सहजस्तद्वदानन्दो वीरपूर्वकः।।
योगानन्दश्च तस्य स्यादीशानादिदले फलम्।
स्वाधिष्ठानं लिंगमूले षट्पत्रञत्र क्रमस्य तु।।
पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमत्।
प्रश्रयः क्रूरता गर्वो नाशो मूर्च्छा ततः परम।
अवज्ञा स्यादविश्वासो जीवसय चरतो ध्रुवम।

नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम्।।
सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीर्ष्या पिशुनता तथा।
लज्जा भयं घृणा मोहः कषायोऽथ विषादिता।।
हृदयेऽनाहतं चक्रं दलैर्द्वादशाभिर्युतम्।
लौलयं प्रनाशः कपटं वितकोऽप्यनुतापिता।।
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा ममता ततः।
क्रमेण दम्भोवैकल्यं विवेकोऽहंक्वतिस्तथा।।
फलान्तेयानि पूर्वादिदलस्थस्यात्मनो जगुः।
कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम्।।
तत्र प्रणव उद्गीथो हुँ फट् वषट् स्वधा तथा।
स्वाहा नमाऽमृतं सप्त स्वराः षडजादयो विष।।
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश।।

गुदा और लिंग के बीच चार पंखुरियों वाला आधार चक्र है। वहाँ वीरता और आनंद भाव का निवास है। इसके बाद स्वाधिष्ठान चक्र लिंग मूल में है। उसकी छः पंखुरियाँ है। इसके जागृत होने पर क्रूरता, गर्व, आलस्य, प्रमाद, अवज्ञा, अविश्वास, आदि दुर्गुणों का नाश होता हैं नाभि में दस दल वाला मणिपूर चक्र है। यह प्रसुप्त पड़ा रहे तो तृष्णा, ईर्ष्या, चुगली, लज्जा, भय, घृणा, मोह आदि कषाय–कल्मष मन में जड़ जमाये पड़े रहते हैं। हृदय स्थान में अनाहत चक्र है। यह बारह पंखुरियों वाला है। यह सोता रहे तो लिप्सा, कपट, तोड़फोड़, कुतर्क, चिन्ता, मोह, दम्भ, अविवेक, अहंकार से भरा रहेगा। जागरण होने पर यह सब दुर्गुण हट जायेंगे। कण्ठ में विशुद्धाख्यचक्र है, यह सरस्वती का स्थान है। यह सोलह पंखुरियों वाला है। यहां सोलह कलाएँ सोलह विभूतियाँ विद्यमान हैं। विषद, स्वधा, स्वाहा, अमृत सप्त स्वर आदि का निवास है। इस आज्ञा चक्र का जागरण होने से यह सभी शक्तियाँ जाग पड़ती है।

श्री हडसन ने अपनी पुस्तक 'साइन्स आव सीथरशिप' में अपना मत व्यक्त किया है। प्रत्यक्ष शरीर में चक्रों की उपस्थिति का परिचय तन्तु गुच्छकों के रूप में देखा जा सकता है। अन्तदर्शियों का अनुभव इन्हें सूक्ष्म शरीर में उपस्थित दिव्य शक्तियों का केन्द्र संस्थान बताया है। कुण्डलिनी के बारे में उनके पर्यवेक्षण का निष्कर्ष है कि वह एक व्यापक चेतना शक्ति है। मनुष्य के मूलाधार चक्र में उसका सम्पर्क तन्तु है जो व्यक्ति सत्ता को विश्व सत्ता

के साथ जोड़ता है। कुण्डलिनी जागरण में चक्र संस्थानों में जागृति उत्पन्न होती है उसके फलस्वरूप पारभौतिक (सुपर फिजीकल) और भौतिक (फिजीकल) के बीच आदान–प्रदान का द्वार खुलता है। यही है वह स्थिति जिसके सहारे मानवीय सत्ता में अन्तर्हित दिव्य शक्तियों का जागरण सम्भव हो सकता है।

चक्रों की जागृति मनुष्य के गुण कर्म के स्वभाव को प्रभावित करती है। स्वाधिष्ठान की जागृति से मनुष्य अपने में नव शक्ति का संचार हुआ है अनुभव करता है उसे बलिष्ठता बढ़ती प्रतीत होती है। श्रम में उत्साह और गति में स्फूर्ति की अभिवृद्धि का आभास मिलता है। मणिपूर चक्र से साहस और उत्साह की मात्रा बढ़ जाती हैं। संकल्प दृढ़ होते हैं और पराक्रम करने के हौसले उठते हैं। मनोविकार स्वयमेव घटते हैं और परमार्थ प्रयोजनों में अपेक्षाकृत अधिक रस मिलने लगता है। अनाहत चक्र की महिमा हिन्दुओं से भी अधिक ईसाई धर्म के योगी बनाते हैं। हृदय स्थान पर गुलाब के फूल की भावना करते हैं और उसे महाप्रभु ईसा का प्रतीक 'आईचीन' कनक कमल मानते हैं। भारतीय योगियों की दृष्टि से यह भाव संस्थान हैं कलात्मक उमंगे – रसानुभूति एवं कोमल सम्वेदनाओं का उत्पादक स्त्रोत यही है। बुद्धि की वह परत जिसे विवेकशीलता कहते हैं। आत्मीयता का विस्तार सहानुभूति एवं उदार सेवा सहकारिता के तत्व इस अनाहत चक्र से ही उद्भूत होते हैं। कंठ में विशुद्ध चक्र है। इसमें बहिरंग स्वच्छता और अन्तरंग पवित्रता के तत्व रहते हैं। दोष व दुर्गुणों के निराकरण की प्रेरणा और तदनुरूप संघर्ष क्षमता यहीं से उत्पन्न होती हैं। शरीरशास्त्र में थाइराइड ग्रंन्थि और उससे स्त्रावित होने वाले हार्मोनों के सन्तुलन–असन्तुलन से उत्पन्न लाभ–हानि की चर्चा की जाती है। अध्यात्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध चक्र का स्थान तो यहीं है, पर वह होता सूक्ष्म शरीर में है। उसमें अतीन्द्रिय क्षमताओं के आधार विद्यमान हैं। लघु मस्तिष्क सिर के पिछले भाग में है। अचेतन की विशिष्ट क्षमताएँ उसी स्थान पर मानी जाती हैं। मेरूदण्ड में कंठ की सीध पर अवस्थित विशुद्ध चक्र इस चित्त संस्थान को प्रभावित करता है। तदनुसार चेतना की अति महत्वपूर्ण परतों पर नियंत्रण करने और विकसति एवं परिष्कृत कर सकने के सूत्र हाथ में आ जाते हैं। नादयोग के माध्यम से दिव्य श्रवण जैसी कितनी ही परोक्षानुभूतियाँ विकसित होने लगती हैं।

सहस्त्रार मस्तिष्क के मध्य भाग में है। शरीर संरचना में इस स्थान पर

अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थियों से सम्बन्ध रैटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम का अस्तित्व हैं। वहां से जैवीय विद्युत का स्वयंभू प्रवाह उभरता है। वे धारायें मस्तिष्क के अगणित केन्द्रों की ओर दौड़ती हैं। इसमें से छोटी–छोटी चिनगारियाँ तरंगों के रूप में उड़ती रहती है। उनकी संख्या की सही गणना तो नहीं हो सकती, पर वे हैं हजारों। इसलिये हजार या हजारों का उद्‌बोधक 'सहस्त्र' शब्द प्रयोग में लाया जाता है। सहस्त्रार चक्र का नामकरण इसी आधार पर हुआ है सहस्त्र फन वाले शेषनाग की परिकल्पना का यही आधार है। यह संस्थान ब्रम्हाण्डीय चेतना के साथ सम्पर्क साधने में अग्रणी है इसलिये उसे ब्रम्हारन्ध्र या ब्रम्हलोक भी कहते हैं। रेडियो एरियल की तरह हिंदू धर्मानुयायी इस स्थान पर शिखा रखाते और उसे सिर रूपी दुर्ग पर आत्म सिद्धांतों को स्वीकृत किये जाने की विजय पताका बताते हैं। आज्ञा चक्र को सहस्त्रार का उत्पादन केन्द्र कह सकते हैं।

सभी चक्र सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर स्थित हैं तो भी वे समूचे नाड़ी मण्डल को प्रभावित करते हैं। स्वचलित और ऐच्छिक दोनों ही संचार प्रणालियों पर इनका प्रभाव पड़ता है। अस्तु शरीर संस्थान के अवयवो को चक्रों द्वारा निर्देश पहुंचाये जा सकते हैं। साधरणतया यह कार्य अचेतन मन करता है और उस पर सचेतन मस्तिष्क का कोई बस नहीं चलता है। रोकने की इच्छा करने पर भी रक्त संचार रूकता नहीं और तेज करने की इच्छा होने पर भी उसमें सफलता नहीं मिलती। अचेतन बड़ा दुराग्रही है सचेतन की बात सुनने की उसे फुर्सत नहीं। उसकी मन मर्जी ही चलती है ऐसी दशा में मनुष्य हाथ–पैर चलाने जैसे छोटे–मोटे काम ही इच्छानुसार कर पाता है। शरीर की अनेच्छिक क्रिया पद्धति के सम्बन्ध में वह लाचार बना रहता है। इसी प्रकार अपनी आदत, प्रकृति, रूचि, दिशा को बदलने के मन्सूबे भी एक कोने पर रखे रह जाते हैं। ढर्रा अपने क्रम से चलता रहता है। ऐसी दशा में व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाली और शरीर तथा मनः संस्थान में अभीष्ट परिवर्तन करने वाली आकांक्षा प्रायः अपूर्ण एवं निष्फल बनी बनती है। चक्र संस्थान को यदि जागृत तथा नियन्त्रित किया जा सके तो आत्म जगत् पर अपना अधिकार हो जाता है। यह आत्म विजय अपने ढंग की अद्‌भुत सफलता है। इसका महत्व तत्वदर्शियों ने विश्व विजय से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया है। विश्व विजय कर लेने पर दूरवर्ती क्षेत्रों से समुचित लाभ उठाना संम्भव नहीं हो सकता, उसकी सम्पदा का उपभोग, उपयोग कर सकने की अपने में सामर्थ्य

भी कहां है। किन्तु आत्म विजय के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। उसका पूरा–पूरा लाभ स्वयं ही उठाया जा सकता है। उस आधार पर बहिरंग और अन्तरंग क्षेत्रों की सम्पदा का प्रभु लाभ अपने आप को मिल सकता है।

मेरूदण्ड को शरीर–शास्त्री स्पाइनल कालम कहते हैं। स्पाइनल एक्सिस एवं वर्टीब्रल कॉलम–शब्द भी उसी के लिए प्रयुक्त होते हैं। मौटे तौर पर यह 33 अस्थि घटकों से मिलकर बनी हुई एक पोली दण्डी भर है। इन हड्डियों को पृष्ठ वंश–कशेरूका या 'वर्टिब्री' कहते हैं। स्थिति के अनुरूप इसका पांच भागों में विभाजन किया जा सकता है।

(1)ग्रीवा प्रदेश – सर्वाइकल रीजन–7 अस्थि खण्ड
(2)वक्ष प्रदेश – डार्सल रीजन–12 अस्थि खण्ड
(3)कटि प्रदेश – लम्बर रीजन – 5 अस्थि खण्ड
(4)त्रिक या वस्तिगत – सेक्रल रीजन – 5 अस्थि खण्ड
(5)चेचु प्रदेश – काक्सीजियल रीजन – 4 अस्थि खण्ड

मेरूदण्ड पोला है। उससे अस्थि खण्डों के बीच में होता हुआ यह छिद्र नीचे से ऊपर तक चला गया है। इसी के भीतर सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है। मेरूदण्ड के उपर्युक्त पांच प्रदेश सुषुम्ना में अवस्थित पांच चक्रों से संबंधित है। (1) मूलाधार चक्र – चेचु प्रदेश। (2) स्वाधिष्ठान – त्रिक प्रदेश। (3) मणिपूर चक्र – कटि प्रदेश।

(4) अनाहत – वक्ष प्रदेश। (5) विशुद्धि – ग्रीवा प्रदेश। छठे आज्ञा चक्र का स्थान मेरूदण्ड में नहीं आता। सहस्त्रार का संबंध भी रीढ़ की हड्डी से सीधा नहीं है। इतने पर भी सूक्ष्म शरीर का सुषुम्ना मेरूदण्ड पांच रीढ़ वाले और दो बिना रीढ़वाले सभी सातों चक्रों को एक ही श्रृखंला में बांधे हुए है। सूक्ष्म शरीर की सुषुम्ना में यह सातों चक्र जंजीर की कड़ियों की तरह परस्पर पूरी तरह सम्बद्ध हैं।

यहां यह तथ्य भली भांति स्मरण रखा जाना चाहिए कि शरीर विज्ञान के अर्न्तगत वर्णित प्लेक्सस, नाड़ी गुच्छक और चक्र एक नहीं है यद्यपि उनके साथ पारस्परिक तारतम्य जोड़ा जा सकता है। यों इन गुच्छकों की भी शरीर में विशेष स्थिति है और उनकी कायिक और मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली प्रक्रिया होती रहती है।

शरीर शास्त्र के अनुसार प्रमुख नाड़ी गुच्छकों (प्लेक्ससेज) में 13 प्रधान हैं। उनके नाम हैं।

(1) हिपेटिक (2) सर्वाइकल (3) ब्रॉकियल (4) काक्सीजियल (5) लम्बर (6) सेक्रल (7) कार्डियक (8) इपेग्रेस्ट्रिक (9) इसोफैजियल (10) फरेन्जियल (11) पलमोनरी (12) लिंगुअल (13) प्रोस्टेटिक।

इन गुच्छकों के शरीर यात्रा में भूमिका सम्पन्न करते रहने के अतिरिक्त कुछ विलक्षण विशेषतायें भी पायी जाती है। उनसे यह प्रतीत होता है कि उनके साथ कुछ रहस्यमय तथ्य भी जुड़े हुए हैं। यह सूक्ष्म शरीर के दिव्य चक्रों के सान्निध्य में सम्पन्न होने वाला प्रभाव ही कहा जा सकता है।

चक्र शक्ति संचरण के एक व्यवस्थित, सुनिश्चित क्रम को कहते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में विद्युत, ध्वनि, प्रकाश सभी रूपों में शक्ति का संचार, तरंगों के माध्यम से होता है। एक पूरी तरंग बनने के क्रम को एक चक्र (साइकिल) कहते हैं एक के बाद एक तरंग, एक के बाद एक चक्र बनने का क्रम चलता रहता है और शक्ति का संचरण होता रहता है। शक्ति की प्रकृति का निर्धारण इन्हीं चक्रों के क्रम के आधार पर किया जाता है। औद्योगित क्षेत्र में प्रयुक्त विद्युत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियम है कि वह 50 साइकिल्स प्रति सेकेण्ड के चक्र क्रम की होनी चाहिए। विद्युत की मोटरों एवं अन्य यंत्रों को उसी प्रकृति की बिजली के अनुरूप बनाया जाता है इसीलिए उन पर हार्सपावर, वोल्टेज आदि के साथ 50 साइकिल्स भी लिखा रहता है। अस्तु शक्ति संचरण के साथ चक्र प्रक्रिया जुड़ी ही रहती है। वह चाहे स्थूल विद्युत शक्ति हो अथवा सूक्ष्म जैवीय विद्युत शक्ति।

नदी प्रवाह में कभी–कभी कहीं भँवर पड़ जाते हैं उनकी शक्ति अद्‌भुत होती है। उनमें फँसकर नौकाएं अपना संतुलन खो बैठती हैं और एक ही झटके में उल्टी डूबती दृष्टिगोचर होती है। सामान्य नदी प्रवाह की तुलना में इन भँवरों की प्रचण्डता सैकड़ो गुनी अधिक होती है। शरीरगत विद्युत प्रवाह को एक बहती हुई नदी के सदृश माना जा सकता है और उसमें जहां–तहां पाये जाने वाले चक्रों की भँवरों से तुलना की जा सकती है।

गर्मी की ऋतु में जब वायुमण्डल गरम हो जाता है तो जहाँ–तहाँ छोटे बड़े 'चक्रवात'–साइक्लोन उठने लगते हैं वे नदी के भँवरों की तरह ही गरम हवा के कारण आकाश में उड़ते हैं। उनकी शक्ति देखते ही बनती हैं। पेड़ों की छतो की, छप्परों को उखाड़ते–उछालते वे बवन्डर की तरह जिधर–तिधर भूत–बेताल की तरह नाचते फिरते हैं साधारण पवन प्रवाह की तुलना में इन टारनेडो (चक्रवातों) की शक्ति भी सैकड़ों गुनी अधिक होती है।

शरीर गत विद्युत प्रवाह की शक्ति का प्रवाह यों संतुलित ही रहता है पर कहीं–कहीं उसमें उग्रता एवं वक्रता भी देखी जाती है। हवा कभी–कभी बाँस आदि की झुरमटों से टकरा कर कई तरह की विचित्र आवाजें उत्पन्न करती है नदी का जल कई जगह ऊपर से नीचे गिरता है – चट्टानों से टकराता है तो वहां प्रवाह में व्यतिक्रम उछाल, गर्जन, तर्जन की भयंकरता दृष्टिगोचर होती है। शरीरगत सूक्ष्म चक्रों की विशेष स्थिति भी इसी प्रकार की है यों नाड़ी गुच्छकों – प्लेक्सस में भी विद्युत संचार और रक्त प्रवाह के गतिक्रम में कुछ विशेषता पायी जाती है। किंतु सूक्ष्म शरीर में तो वह व्यतिक्रम कहीं उग्र दिखायी पड़ता है। पवन प्रवाह पर नियंत्रण करने के लिए नावों पर पतवार बांधे जाते हैं, उनके सहारे नाव की दिशा और गति भी अभीष्ट फेर कर लिया जाता है पवनचक्की के पंखों को गति देकर आटा पीसने, जलकल चलाने आदि काम किये जाते हैं। जलप्रपात जहां ऊपर से नीचे गिरता है वहॉ उस प्रपात तीव्रता के वेग को बिजली बनाने जैसे कार्यो के लिए प्रयुक्त किया जाता है समुद्री ज्वार भाटों से भी बिजली बनाने का काम लिया जाता है। ठीक उसी प्रकार शरीर के विद्युत प्रवाह में जहां चक्र बनते हैं वहां उत्पन्न उग्रता को कितने ही आध्यात्म प्रयोजनों में काम लिया जाता है।

चक्र कितने हैं?इनकी संख्या निर्धारण करने में मनीषियों का मतभेद स्पष्ट है। विलय तंत्र में इडा और पिंगला की विद्युत गति से उत्पन्न उलझन गुच्छकों को चक्रों की संज्ञा दी गयी है और उनकी संख्या पांच बतायी गयी है। मेरूदण्ड में वे पांच की ही संख्या में है मस्तिष्क अग्र भाग में अवस्थित आज्ञा चक्र को भी उनमें सम्मिलित कर लेने पर वे छः हो जाते है और हठयोग की गणना के अनुसार छः की संख्या पूरी हो जाती हैं।

सातवाँ सहस्त्रार है इसे चक्रों की बिरादरी में जोड़ने न जोड़ने पर विवाद है सहस्त्रार नाभि है उसे इसी बिरादरी में सम्मिलित रखने के दोनों ही पक्षों के साथ तर्क है इसलिए जहां छः की गणना है वहां सात का भी उल्लेख बहुत स्थानों पर हुआ है।

बात इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाती। चक्रों की संख्या सूक्ष्म शरीर में बहुत बड़ी है इन्हें 108 तक गिना गया है छोटे होने के कारण उन्हें उपव्यिका कहा गया है और जपने की माला में उतने ही दाने रखे जाने की परम्परा चली है इनमें से कितने ही लघु चक्र ऐसे हैं जिन्हें जागृत करने वालों ने प्रख्यात चक्रों से भी अधिक शक्तिशाली पाया है। चन्द्रमा की गणना गृहों

में नहीं उपगृहों में होती है फिर भी अपनी पृथ्वी के लिए पूर्ण समझे जाने वाले गृहों की उपयोगिता अधिक है।

तंत्र ग्रंथों में ऐसे चक्रों का वर्णन है जिनके नाम और स्थान षट्चक्रों से भिन्न हैं जहां उनकी संख्या पांच बतायी गयी है वहां पांच कोशों का नहीं वरन् भिन्न आकृति के प्रकृति के अतिरिक्त चक्रों का वर्णन है।

(1) त्रिकूट (2) श्रीहाट (3) गोल्लाट (4) औटपीढ (5) भ्रमर गुफा इनके नाम हैं इनकी व्याख्या पांच प्राण एवं पांच तत्वों की विशिष्ठ शक्तियों के रूप में की गई है। इनके स्थान एवं स्वरूप हठयोग में वर्णित षटचक्रों से भिन्न है।

इसी तरह कहीं–कहीं तंत्र ग्रंथों में उनकी संख्या छः से अधिक कही गयी है–

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम् पंचकम्।
सम्यगेतन्न जानति स योगी नाम धारकः।।

– 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति'

नवचक्र, त्रिलक्षं, सोलक आधार, पांच आकाश वाले सूक्ष्म शरीर को जो जानता है उसी को योग में सिद्धी मिलती है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।

– अथर्ववेद

आठ चक्र, नव द्वारा वाली यह अवोह या नगरी, स्वर्ण कोश और स्वर्गीय ज्योति से आवृत्त है।

शक्ति सम्मोहन तंत्र में उनकी संख्या 9 मानी गई है। कुण्डलिनी को 'नव चक्रत्मिका देवी' कहा गया है। नौ चक्र इस प्रकार गिनाये गये है। (1) आनंद चक्र (2) सिद्धि चक्र (3) आरोग्य चक्र (4) रक्षा चक्र (5) सर्वार्थ चक्र (6) सौभाग्य चक्र

(7) संशोक्षण चक्र (8) शाप चक्र (9) मोहन चक्र । यह नामकरण उनकी विशेषताओं के आधार पर किया गया है यह कहां, है, इसकी चर्चा में मात्र तीन को षट्चक्रों की तरह बताया गया है और शेष अन्यान्य स्थानों पर अवस्थित बताये गये हैं।

नौ के वर्णन में भी नाम और स्थानों की भिन्नता मिलती है। एक स्थान पर उनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं। (1) ब्रम्हचक्र (2) स्वाधिष्ठान चक्र

(3) नाभि चक्र (4) हृदय चक्र (5) कण्ठ चक्र (6) तालुचक्र (7) भूचक्र (8) निर्वाण चक्र (9) आकाश चक्र बताये गये हैं। यह उल्लेख सिद्ध सिद्धांत पद्धति में विस्तारपूर्वक मिलता है।

संख्या जो भी मानी जाये उन सबका एक समन्वय शक्ति पुंज लोगोज (स्वहवे) भी है जिसका स्थूल सूर्य के समान ही किंतु अपने ढंग की रश्मियाँ निकलती हैं। सूर्य किरणों में सात रंग अथवा ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिनका स्वरूप, विस्तार और कार्य क्षेत्र सीमित है। पर इस आत्मतत्व के सूर्य का प्रभाव और विस्तार बहुत व्यापक है। वह प्रकृति के प्रत्येक अणु को नियंत्रित एवं गतिशील रखता है। साथ ही चेतन संसार की विधि व्यवस्था को संभालता संजोता है। इसे पाश्चात्य तत्व वेत्ता सन्स आफ फोतह कहते हैं कि विश्व व्यापी शक्तियों का मानवीकरण इसी केंद्र संस्थान द्वारा हो सका है।

सामान्य शक्ति धाराओं में प्रधान गिनी जाने वाली (1) गति (2) शब्द (3) ऊष्मा (4) प्रकाश (5) संयोग (6) विद्युत (7) चुम्बक यह सात हैं। इन्हें सात चक्रों का प्रतीक ही मानना चाहिए।

कुण्डलिनी शक्ति को कई विज्ञान वेत्ता विद्युत द्रव्य पदार्थ या नाड़ी शक्ति कहते हैं।

इस निखिल विश्व ब्रम्हाण्ड में संख्याप्त परमात्मा की छः चेतन शक्तियों का अनुभव हमें होता है यों शक्ति पुंज परब्रम्ह की अगणित शक्ति धाराओं का पता पा सकना मनुष्य की सीमित बुद्धि के लिए असम्भव है। फिर भी हमारे दैनिक जीवन में जिनका प्रत्यक्ष सम्पर्क संयोग रहता है उनमें प्रमुख यह है (1) पराशक्ति (2) ज्ञान शक्ति (3) इच्छा शक्ति (4) क्रिया शक्ति (5) कुण्डलिनी शक्ति (6) मातृका शक्ति (7) गुहा शक्ति। इन सबकी सम्मिलित शक्ति पुंज ईश्वरीय प्रकाश अथवा सूक्ष्म प्रकाश कह सकते हैं। यह सातवी शक्ति है कोई चाहे तो इस शक्ति पूंज को उपर्युक्त छः शक्तियों का उद्गम भी कह सकता है इन सबको हम चैतन्य सत्ताएँ कह सकते हैं। उसे पवित्र अग्नि के रूप में भी कई जगह वर्णित किया गया है और कहा गया है उसमें से आग ऊष्मा तो नहीं पर प्रकाश किरणों निकलती हैं और वे शरीर में विद्यमान ग्रंथियों ग्लेण्ड्स केंद्रों और गुच्छकों को असाधारण रूप से प्रभावित करती है। इससे मात्र शरीर या मस्तिष्क को ही बल नहीं मिलता वरन् समग्र व्यक्तित्व की महान सम्भावना को और अग्रसर करती हैं।

इन सात चक्रों में अवस्थित सात उपर्युक्त शक्तियों का उल्लेा साधनाग्रंथों में अलंकारिक रूप में हुआ है। उन्हें सात लोक, सात समुद्र, सात द्वीप, सात पर्वत, सात ऋषि आदि नामों से चित्रित किया गया है। इस चित्रण में यह संकेत है कि इन चक्रों में किन–किन स्तर के विराट शक्ति स्त्रोतों के साथ संबंध है। बीज रूप में कौन महान सामर्थ्य इन चक्रों में विद्यमान है। और जागृत होने पर उन चक्र संस्थानों के माध्यम से मनुष्य का व्यक्तित्व छोटे से कितना विराट और विशाल हो सकता है। टोकरी भर बीज से लम्बा चौड़ा खेत हरा भरा हो सकता है। अपने बीज भंडार में सात टोकरी भरा–सात किस्म का अनाज सुरक्षित रखा है। चक्र एक प्रकार के शीत गोदाम – कोल्डस्टोर है और इन पर ताला जड़ा हुआ है। इन सात तालों की एक ही चाबी है उनका नाम है 'कुण्डलिनी'। जब उसके जागरण की साधना की जाती है तो यह ताले खुलते हैं बीज बाहर लाया जाता है। शरीर रूपी साढ़े तीन एकढ़ के खेत में वह बोया जाता है। यह छोटा खेत अपनी सुसम्पन्नता को अत्यधिक व्यापक बना देता है। पुराण कथा के अनुसार राजा बलि का राज्य तीनों लोकों में था। भगवान ने वामन रूप में उससे साढ़े तीन कदम भूमि में तीन लोक और आधे कदम में बलि का शरीर नाप कर विराट ब्रम्ह ने उस सबको अपना लिया। हमारा शरीर साढ़े तीन हाथ लम्बा है। चक्रों के जागरण में यदि उसे लघु से महान् – अण्ड से विभु कर लिया जाये तो उसकी साढ़े तीन हाथ की लम्बाई–साढ़े तीन एकड़ जमीन न रह कर लोक–लोकान्तरों तक विस्तृत हो सकती है और उस उपलब्धि की याचना करने के लिए भगवान् वामन रूप धारण करके हमारे दरवाजे पर हाथ पसारे हुए उपस्थिति हो सकते हैं।

अध्याय – 4
कुण्डलिनी एवं उसका जागरण :

चतुर्थ अध्याय में हठयोग की जिन प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है। उन सभी का उद्धेश्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में राजयोग प्राप्ति ही है। किंतु यह राजयोग कैसे प्राप्त होता है? यह एक गूढ़तम रहस्य है। इसकी सूत्ररूप में चर्चा गत अध्याय में मुद्राओं के साथ की गयी है। वह रहस्य है कुण्डलिनी का जागरण और षट्चक्रों का भेदन। इस अध्याय में इसी रहस्य का उद्घाटन किया जाएगा। इस संदर्भ में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि कुण्डलिनी क्या है?

कुंडलिनी जागरण की पूर्व तैयारी :

सोये हुए सांप को जगा देना सरल है। एक कंकड़ फेंक देने भर से वह फुंकार मारता हुआ फन फैलाकर पीछे दौड़ सकता है। दबी हुई चिन्गारी को प्रचण्ड कर देना सरल है। एक गठरी फूँस हाल देने पर या एक बोतल केरोसिन तेल उडेल देने भर से यह कार्य हो सकता है। बाघ की मांद पर जाकर ढोल बजा देना आसान है, पर जब यह दहाड़ता हुआ हमला करता है, तब उससे बचाव करना कठिन है। आग जब प्रचण्ड होकर पूरे गांव को जला देने के लिए उबल पड़े, तब उसका बुझाना और जिनका नुकसान हुआ है,उनका हर्जाना चुकाना कठिन है।

कुण्डलिनी जागरण के लिए जिन पूर्व साधनों की आवश्यकता है,उनके जुटाने में ही अधिकांश समय लगता है, अन्यथा क्रिया मात्र का सम्बन्ध रहा होता तो उसे बालू का महल बनाने की तरह कोई बालक भी कर गुजरता और सारे साथियों को बुलाकर अपनी कारीगरी का ढिंढोरा पीटता फिरता है। बिजली का बटन दबा देना सरल है, पर करेन्ट के चल पड़ने पर फिर उसकी चपेट में जो–जो आते हैं, उन्हे समेटना कठिन है। यह ठीक है कि सर्कस में शेरों को रस्से पर चलाने की क्रिया मनुष्य ही कराते हैं, पर उन मनुष्यों को

अपने जैसा साधारण नहीं माना जा सकता। कोई अनाड़ी उसी करतब को दिखाने के लिए मचल पड़े तो समझना चाहिए कि इसका बुरा दिन आ गया।

कुण्डलिनी जागरण, क्रिया कि दृष्टि से अति सरलहै। उसमें मूलाधार, मेरूदण्ड और सहस्त्रार के साथ थोड़ी छेड़खानी करनी पड़ती है। यदि वह बहुत हल्की या उथली हुई तो बात दूसरी है, अन्यथा यदि उसे तनिक सशक्तापूर्वक प्रयोग में लाया गया तो उसकी हलचल देखते ही बनती है। सांप की फुँसकार, हाथी की चिंघाड़, शेर की दहाड़ और आकाशीय बिजली की तड़कन से उसकी तुलना करनी पड़ती है। यों उनसे लाभ भी उठाया जा सकता है, पर पाशा पलट गया तो लेने के देने पड़ने में भी सन्देह नहीं।

सपेरे साँप को नचा कर ही अपना गुजारा करते हैं। रीछ वाले अपनी गृहस्थी का उसी के बलबूते निर्वाह करते हैं। हाथी पर सवारी, राजा सामंत करते हैं। शेर खरीदना लाखों रूपया खर्च करने वाले सर्कस मालिकों का काम है। इन कर्मो में सफलता प्राप्त करने वालों की प्रशंसा की जाती है, पर यदि चौकड़ी चूक गये तो जान गँवा बैठने के अतिरिक्त और कोई चारा नही। इसलिए डरा तो नहीं जाना चाहिए, पर प्रयोग की प्रवीणता और बचाव के साधनों की सुविधा समय रहते एकान्त में कर लेने में ही समझदारी है। कुण्डलिनी साधना के लिए कदम बढ़ाने वालों को अपने क्रिया तलवार की धार पर चलने से कम समर्थ, किन्तु जोखिम भरी नहीं समझनी चाहिए।

इस प्रयोग में जिन उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। उनकी गणना पहले कराई जा चुकी है। (1) संकल्प, (2) साहस, (3) प्राण, (4) संयम, (5) धैर्य, (6) तत्परता, (7) तन्मयता। इन सातों का संकलन कर लेना एक प्रकार से आत्म विजय करना है। जिसने अपने को जीत लिया उसके लिए अन्य किसी को भी जीत लेना सरल है।

श्रद्धा और विश्वास भरे निश्चय निर्धारण, कार्यान्वयन को संकल्प कहते हैं। जिसने किसी विषय की जिज्ञासा उभार कर पक्ष और विपक्ष का सही मन्थन नहीं कर लिया है,उसके लिए संकल्प कर सकना और निभा सकना कठिन है। बाल – कल्पनाएं और कौतुक कौतूहल देखने भर की ललक आम लोगों में होती है। उनके मनोरथ पानी के बुलबुले की तरह उठते, फूटते रहते हैं। गरम दूध उफन कर बर्तन से ऊपर निकलता है। एक चम्मच पानी डालते ही वह पेदे में भी बैठ जाता है। ऐसी मनः स्थिति वाले कोई बड़ा काम नहीं कर सकते। वे आज आरम्भ करते और कल छोड़ बैठते है। साधना पथ के

पथिकों को धैर्यवान होना चाहिए और विलम्ब लगने पर इतना ही सोचना चाहिए कि हथेली पर सरसों जमाना बाजीगर का काम है। हजार वर्ष जीवित रहने वाले वृक्ष उगने और प्रौढ़ होने में समय ले जाते हैं। उनकी सिंचाई और देखभाल देर तक करनी होती है।

साहस में आत्म–बल, आत्म–विश्वास और पराक्रम का सम्पुट रहता हैं कठिनाइयों के बिना सामना किये किसी बड़े काम में तत्काल सफलता नहीं मिलती। बालक जन्म लेने से पूर्व स्वयं काफी हैरान हो लेता है और माता को परेशान कर लेता है। सरल काम तो इस संसार में एक ही है मजाक और मनोरथ। बड़े पुल और बांध बनाने, बड़े कारखाने खड़े करने में कितने साधन सरजाम जुटाने और कितने जोखिम उठाने पड़ते हैं। इसका विवरण ऐसे कामों का दायित्व उठाने वाले भुक्तभोगियों से ही पूछा जा सकता है।

प्राण एक शक्ति है जिसे सजीव विद्युत कहा जाता है। इसका अभ्यास करने के लिए प्राणाकर्षण प्राणायाम करते रहना है। इसका विधान सीधा–सा है कि अखिल ब्रम्हाण्ड में चेतना का भण्डार भरा पड़ा है और हम उस समुद्र में मछली की तरह जी रहे हैं। वह हमारे भीतर ओत–प्रोत है और हर श्वास के साथ हम उसे अधिकाधिक मात्रा में भर रहे हैं। शक्ति पुन्ज, चेतना भण्डारगार जैसी हमारी स्थिति बन रही है। इसे कल्पना के रूप में नहीं वास्तविकता के रूप में मान्यता देनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि हमारे कण–कण में रोम–रोम में सृष्टा का वरिष्ठ तेजस् – ब्रम्हा वर्चस्–संव्याप्त हो रहा है। इस क्रिया में प्राणायाम अभ्यास से बहुत सहायता मिलती है।

संयम उस तत्व का नाम है जो उत्तेजना, आवेशों आवेगों, प्रलोभनों, दबावों को अस्वीकार करता है और बहकाने वाले, फुसलाने वाले हर अनौचित्य को स्वीकारने से दो टूक इन्कार करता है।

आये दिन भीतर और बाहर से अवांछनीयताओं के उफान आते रहते हैं। कई बार तो वे अन्धड़ की तरह प्रचण्ड होते हैं। कामुकता और जीभ का चटोरापन तो अपने स्वभाव के अंग बने बैठे हाते हैं। लोभ और मोह की, संग्रह और प्रदर्शन की लालसा इतनी तीव्र होती है, जो कुकर्म और अपराध अपनाने तक के लिए उत्तेजना प्रदान करती है। मित्र, सहयोगी, पड़ौसी और सम्बन्धी भी यह करते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वैसा ही अनुगमन करने का परामर्श देते हैं। एक ओर भीतरी और बाहरी दबावों का आकर्षण, दूसरी और सादगी, सज्जनता अपनाने पर उपहास और विरोध का, तंगी और हैरानी का,

धैर्य तोड़ने वाला कुचक्र चलना। जो इस परिस्थिति से आये दिन जूझता रहता है, जूझने में प्रसन्नता अनुभव करता है उसे संयमी कहते हैं। उसे अपनी–अपनी निज की शक्ति–दुष्प्रवृत्तियों से जूझने में व्यय करनी पड़ती है। ''ना'' कहना, सीखना पड़ता है और किसी के भला या बुरा मानने का विचार करना पड़ता है। यह अभ्यास परिपक्व होते–होते उस संयम के रूप में बदलता है जो मनुष्य को सोने जैसा खरा और चट्टान जैसा मजबूत बना देता है।

तत्परता का अर्थ है लगन स्फूर्ति और श्रम–शीलता का समन्वय। जिस काम में हाथ डाला जाय उसे पूरा करना अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया जाय। आलस्य प्रमाद को पास न फटकने दिया जाय। श्रम की कठोरता में अपना गौरव अनुभव किया जाय।

तन्मयता का अर्थ है – एकाग्रता। दत्त–चित्त होना। मन को भटकने न देना। जो सोचना या करना है, उसी के सम्बन्ध में इतनी गहराई तक उतरा जाय कि अन्य कोई विचार सामने आने ही न पाये। मस्तिष्क में टिक ही न सके। अर्जुन का मत्स्य वेध, पृथ्वीराज का शब्द–वेध इसका अच्छा उदाहरण है। कीट भृंग का सन्दर्भ भी इस सम्बन्ध में दिया जाता है। यह एकाग्रता भौतिक और आत्मिक सफलताओं के लिए समान रूप से आवश्यक है।

इस सप्त सम्पदाओं को अन्तराल में धारण करने पर कोई व्यक्ति सच्चा साधक बन जाता हैं। सातों ऋषि उसके भीतर निवास करते हैं और न उसकी साधना खण्डित होने देते हैं और न उपलब्धियों का दुरूपयोग करने पर उलटा परिणाम हस्तगत होने की विपरीत स्थिति बनने देते हैं। जिन्होंने इस दिशा में उपेक्षा बरती, अपने को पवित्र और प्रखर नहीं बनाया, वे मात्र क्रिया कृत्यों में उलझे रहते हैं और जादूगरी का अनुकरण करते हुए ऐसी आशा लगाये रहते हैं कि करामातें हस्तगत करके लोगों को मूर्ख बनाने,उनसे यश और धन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करेंगे। ऐसे लोगों को अपयश और अनिष्ट ही हाथ लगता है। नैतिक पतन के गर्त में गिरने से उनकी अन्तरात्मा भी दुर्बलहोती है और वस्तुस्थिति विदित होने पर प्रशंसक भी निन्दक, विरोधी बन जाते हैं।

कुण्डलिनी जागरण महत्वपूर्ण तो है, पर उसमें बारूद के खिलौनों से खेलने जैसा जोखिम भी है। दिवाली के दिनों में फुलझड़ी जलाने और पटाखे छुड़ाने में मजा तो बहुत आता है, पर कितनों की ही आँखें फूटती और

उँगलियाँ उड़ती भी देखी गई हैं। भूत–प्रेत सिद्धि से लेकर कुण्डलिनी जागरण तक की सिद्धियां ऐसी हैं जिसमें शरीरांतगर्त संस्थानों की ही उठक–पटक करनी पड़ती है। इन सबको करने से पूर्व अपने साधनों को सही बना लेना और सुरक्षा कवच से सुसज्जित हो जाना है। टूटी तलवार और फटीढाल लेकर लड़ाई के मैदान में उतर पड़ना, ऐसी जल्दबाजी है जिसका दुष्परिणाम पागल हो जाने जैसी विपत्तियों के रूप में सहन करना पड़ सकता है।

तीर कमान सही तो निशाना चिड़िया से लेकर शेर तक साधा जा सकता है, अभ्यस्त शिकारी कटार के सहारे सिंह, व्याघ्रों तक को परास्त करते देखे गये हैं। पूर्ण अभ्यास एवं अनुभव की भूमिका ऐसे अवसरों पर ही परखी जाती है। जो आतुरता में दूसरों की नकल करने में जुट पड़ते हैं, उनकी उतावली उन्हीं के लिए खतरनाक सिद्ध होती है।

इसकी तुलना में दूसरी साधनाएं भी है जो अपूर्ण रहने पर भी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाती। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि लाभ सीमित मात्रा में मिले–समय कुछ अधिक लगे। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार के ऐसे जोखिम की आशा नहीं है जिसके लिए चुनाव की गलती पर पश्चाताप करना पड़े।

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग की साधनाएं भी ऐसी हैं जिनके सहारे अध्यात्मवादी उपलब्धियों का समुचित लाभ मिल सकता है। हठयोग की सभी क्रियाएं ऐसी हैं जिसमें साधक की मनोभूमि और मार्ग दर्शक की अपरिपक्वता बनी रहने पर उस प्रकार के प्रसंगों में कोई नये व्यवधान उठ खड़े होने की सम्भावना रहती है। कुण्डलिनी, प्रयोग हठयोग के अन्तर्गत आता है। उसके लिए मात्र मनोभूमि का परिशोधन हीं नहीं, नाड़ी शोधन के लिए नेति, धौति, वस्ती, कपाल भांति, बज्रोली आदि की भी तैयारी करनी पड़ती है। उसमें अशुद्धता भरी रहने पर अवरूद्ध नली वाली बन्दूक के न चल सकने की तरह असफलता का एक नंया कारण बनता है। कुण्डलिनी जागरण की विधि :

इस शक्ति को जगाने के लिए सिद्धासन में प्राणायाम से प्राण अपत के संयुक्त करने हेतु कुम्भरू करते हैं, जिससे सुषुम्ना मार्ग निर्मल हो जाता है। और उसमें प्रवेश हेतु कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। मुद्राओं1 के अभ्यास से यह शक्ति सुषुम्ना में प्रकट हो षट्चक्रो को भेद कर तथा तीनों

ग्रंथियों को पार कर सहस्रार अर्थात शिव से साक्षात्कार करती है3 साधक के योगाभ्यास का यही परम लक्ष्य है। यह लक्ष्य कुण्डलिनी के सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होने से प्राप्त होता है। यह सुषुम्ना कहां पर है?तथा इसके अलावा कितनी और नाड़ियां हैं? अब इन प्रश्नों के संदर्भ में विवेचन करेंगे।

कुण्डलिनी की प्रसुप्तावस्था :

जब कुण्डलिनी सोई रहती है तब मनुष्य पशुवत रहता है धेरण्ड संहिता में इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार होता है कि, ''जब तक वह (कुण्डलिनी) देह में सोती रहती है, तब तक जीव पशु की तरह अज्ञान में अंधा रहता है। सत्य और असत्य कुछ भी नहीं जान पड़ता भले ही कोटि प्रकाश से योगाभ्यास करें किंतु कभी सत्य ज्ञान को नहीं जान सकता।'' यही वर्णन अन्यत्र भी प्राप्त होता है।

कुण्डलिनी की जाग्रतावस्था :

कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर साधक संसार के प्रति उदासीन हो जाता है तथा वह सर्वोच्च स्थिर चेतना से संयुक्त हो जाता है जिसे शिव कहते हैं। ऐसा शारदातिलक के 65 पैसठवें सूत्र में स्पष्ट कहा है। धेरण्ड संहिता कुण्डलिनी कें जागरण पर ब्रम्हद्वार के प्रभेद की बात कहती है। शिव संहिता में सर्वपद्य भेद की स्थिति भी कुण्डलिनी जागरण से संभव बतलायी है।

1. हठयोग प्रदीपिका – 3/5
2. हठयोग प्रदीपिका – 3/2
3. धेरण्ड संहिता – 3/51कुण्डलिनी का स्वरूप :

जैविक देह में कुण्डलिनी 31/2 गेंडुली वाली मानी गयी है। ''वह विद्युत किरण की भांति तन्वी है, वह ऊष्मा अग्नि से युक्त है, बिजली की आभा के समान उसकी किरणें है और विद्युत की भांति ही प्रकाशमान किरणों वाली है।'' तोडल तंत्र में कहा गया है कि – यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।

ज्ञान न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्

'' कुण्डलिनी साढ़े तीन कुण्डल से युक्त लिंग छिद्र को अपने मुख कुण्डल में ढंककर स्थित है।''1 यह कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख छिद्र को बंद कर सोती है। अर्थात उसके सुषुप्त रहने से व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास अवरूद्ध रहता है। तथा जागने पर आध्यात्मिक विकास का उदय होता है।

1. धेरण्ड संहिता – 3/45 एवं षट्चक्र निरूपणम् – 10

नाड़ियों का स्वरूप व नाड़ियो की संख्या :

नाड़ियां इतनी सूक्ष्म हैं कि बाल के हजार बार चीरने से जो सूक्ष्य बाल प्राप्त होगा उसके बराबर हैं तथा ऐसे रसायन से भरी हैं जो श्वेत, नीला, पीला, हरा और लाल है।1 ये संपूर्ण नाड़ियां सारी देह में व्याप्त हैं। इन्हीं नाड़ियों से संपूर्ण शारीरिक क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। नाड़ियों के माध्यम से शरीर के प्रत्येक अंग में प्राण वायु का संचार होता है। यह प्राणवायु सूर्य व चंद्र से प्रभावित होती रहती है।

नाड़ियों का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है अतः इन्हें किसी चिकित्सीय यंत्र से प्राप्त करना संभव नहीं है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं, कि उनका अस्तित्व है ही नहीं विदुषी इंदिरा देवी कहती हैं2 कि जिस तरह प्रेम, घृणा, अच्छाई, लालच को भौतिक रूप में नहीं जाना जा सकता उसी तरह इन नाड़ियों के अस्तित्व ज्ञान हेतु भौतिक यंत्र अपर्याप्त हैं। उनका यह कथन सटीक है। वास्तव में नाड़ियों की संख्या अनंत है। प्रत्येक रोम कूप के साथ नाड़ियों का संबंध रहता है।3 ऐसा मत कविराज गोपीनाथ व्यक्त करते हैं।

1. स्वामी कुवल्यानंद – गोरक्षशतकम् – पृष्ठ 61 पर वृहद्रउपनिषद् – प्ट/3/20 का उद्धरण।
2. इंदिरा देवी – योग – अध्याय – 11
3. कविराज गोपीनाथ – तांत्रिका वांग्मय में शाक्त दृष्टि – अध्याय देह विज्ञान – पृ. 109–110

मनुष्य के शरीर में दो प्रकार की नाड़ियां होती है। तरल पदार्थ को बाने वाली, जैसे रक्त, लसीका आदि, और वायु को बहाने वाली। उपनिषदों के समय से ऐसी कल्पना की जाती रही है कि आत्मा या जीव का संचार नाड़ियों में से होता हैं मुण्डकोपनिषद्1 में इस संबंध में इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है कि रथचक्र की नाभि में जैसे अरे लगे होते हैं उसी प्रकार हृदय में नाड़ियां एकत्र होती हैं। उनमें आत्मा का संचार होता है।'' इसी प्रकार का आत्मा के नाड़ियों में हरने का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद्2 है।'' इसी प्रकार का आत्मा का नाड़ियों में रहने का उल्लेख छान्दोग्योपनिशद2 में भी आया है। कि ''सुषुप्ति अवस्था में आत्मा नाड़ियों में स्थिर है।'' मृत्यु के समय इन नाड़ियों में से किसी विशेष नाड़ी में से आत्मा को बाहर निकालने से अमरत्व की प्राप्ति होती है इसका उल्लेख कठोपनिषद3 में आया है हृदय से निकलने वाली एक सौ एक नाड़ियों में से जो एक ऊपर मस्तक

की ओर जाती है उससे प्राण बाहर निकालने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। अन्य नाड़ियों में से प्राणोत्क्रमण होने पर पुनः जन्म मिलता है। इन सभी उल्लेखों में नाड़ियों से मतलब नाड़ी संस्थान के अंर्तगत आने वाली नाड़ियों से अर्थात अंग्रेजी में जिन्हें नर्व्ह कहते हैं से है। इनके अलावा रक्त, लसीका, आदि तरह पदार्थ जिनमें से बहते हैं उनको भी नाड़ी शब्द से ही कहा है। वे नाड़ियां विभिन्न रंगों की होती, ऐसा उल्लेख छान्दोग्योपनिषद4 में आया है, "कि हृदय की ये नाड़ियाँ सूक्ष्म रस से भरी होती हैं तथा शुक्ल, नील पीत, लाल आदि रंगों की होती हैं।

ये सभी हृदय की नाड़ियों का उल्लेख हुआ। इसके अलावा योग में दूसरे एक स्थान से निकलने वाली नाड़ियों का वर्णन मिलता है। शिव संहिता5 में कहा है कि, "ये नाड़ियां रीढ़ की हड्डी के आश्रय से रहती हैं वे पद्मतंतु के समान कोमल होती हैं। उनको भोग वहा नाड़ियां कहते हैं वे वायु का वहन करती हैं।"

1. अरा इव रथनाओं संहता यत्र नाडयः।
स एषोडन्तश्चर ते बहुथा जायमानः।।
2. तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः (मुण्डकोपनिषद – 2:2:6)
स्वप्नं न।
विजानात्यासु तदा नाड़ीषु सत्वो भवति। छान्दोग्योपनिषद – 8:6:3
3. शतं चैका च हृदयस्य नाडयस्तासां मूर्धानमभिनिः सवैका।
तयोर्ध्वभायन्न मृतत्वमेति विश्वं अन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।
कठोपनिषद् 2:3:16
4. अथ या एता हृदयस्य नाडयस्यताः पिंगलास्याणि –
मनस्थिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य, लोहितस्य।।
छान्दोग्योपनिषद् 8:6:1
5. नाडयस्तु ता अधोवदनाः पदमत–तुनिभाः स्थिताः।
पृष्ठवंश समाश्रित्य सोम सूर्याग्निरूपणी।।
एता भोगवहा नाडयो वायुस–चारदक्षकाः।
ओत प्रोताभिसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे।।
शिवसंहिता 2/17, 32

हठयौगिक ग्रंथों में इनका विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। कहीं कहीं उन्हें शिरा शब्द से भी कहा गया है। ये नाड़िया कंद से निकलती हैं। उनको त्रिशिख ब्राहम्णोपनिषद् में "कंद संभवा" शब्द से कहा है।6 अगले मंत्र

पचहत्तर में इनकी शरीर में संख्या कुल बहत्तर हजार बतलायी है। हठयोग प्रदीपिका7 इससे सहमत है। इनमें से प्रमुख दस नाड़ियों के नाम स्थान सहित त्रिशिख ब्राम्हमणोपनिषद8 में इस प्रकार बतलाये हैं –

(1) सुषुम्ना कंद के मध्य में स्थित है। तथा मस्तिष्क के ऊपरी भाग में ब्रम्हरंध्र तक जाती है। (2) इड़ा सुषुम्ना की बायी ओर होती है और बांयी नासिका में जाती है। (3) पिंगला सुषुम्ना की दाहिनी ओर से दाहिनी नासिका में जाती है। (4) गांधारी सुषुम्ना के सामने, आगे से बांयी भाग में जाती है। (5) हस्तिजिह्बा – सुषुम्ना के पीछे से दाहिनी आंख में जाती है। (6) पूषा – वायें कान में जाती है। (7) यशस्विनी – दाहिने कान में जाती है। (8) अलंबुसा – गूदा तक जाती है। (9) शभा – जननेन्द्रिय तक जाती है। (10) कौशिकी – कंद से लेकर पैर के अंगूठे तक जाती है। तंत्र9 में 3 लाख और शिव संहिता10 में 31/2 लाख नाड़ियां कहीं गयी हैं। किंतु योग याज्ञवलक्यतथा शिव संहिता में चौदह प्रमुख नाड़ियों का वर्णन मिलता है। उनके नाम इस प्रकार है – (1) सुषुम्ना (2) इड़ा (3) पिंगला (4) सरस्वती (5) कुहू (6) गांधारी (7) हस्तिजिह्वा (8) विश्वोदरा (9) वारूणी (10) पूसा (11) यशस्विनी (12) शखिनी (13) पयस्विनी तथा (14) अलंबुषा।

6. त्रिशिख ब्राम्हमणोपनिषद् – 74
7. हठयोग प्रदीपिका – 3/123
8. त्रिशिख ब्राम्हणोपनिषद् – 68 से 74
9. डां. शांति प्रकाश आत्रेय – योगमनो विज्ञान – पृ. 347
10. शिव संहिता – 2/13

इनके स्थान पूर्वोक्त स्थानों से कुछ भिन्न तथा कुछ समान हैं। इड़ा, पिगंला, सुषुम्ना, गांधारी और अलंबुसा इन पांच नाड़ियों के स्थान दोनों सूचियों में समान हैं शुभा और कौशिकी में दो नाड़ियां केवल प्रथम सूची में हैं, दूसरी सूची में नहीं। परंतु उनमें से शुभा के स्थान पर द्वितीय सूची में कुहू नाड़ी जननेंद्रिय तक जाती है। कौशिकी नाड़ी के स्थान पर पैर के अंगूठों में जाने वाली दो नाड़ियां द्वितीय सूची में हैं। हस्ति जिहवा और यशस्विनी, बांये और दाहिने अंगूठे में। प्रथम सूची में हस्ति जिह्वा दाहिनी आंख में जाने वाली किसी बड़ी नाड़ी का नाम नहीं है। प्रथम सूची में यशस्विनी दाहिने कान में जाती है। द्वितीय सूची में दाहिने कान में जाने वाली नाड़ी का नाम यश्विनी दिया है। सरस्वती, शांखिनी, विश्वोदय तथा वारूणी ये चार नाम प्रथम सूची में नहीं है केवल द्वितीय सूची में हैं। सरस्वती जिह्वा तक, शंखिनी दाहिने कान के ऊपर के हिस्से में, विश्वोदरा उदर के मध्य मे तथा वारूणी कुण्डलिनी

के ऊपर और नीचे सर्वत्र जाती है। नाड़ियों के अर्थात नर्व्हस सिस्टम के अर्न्तगत आने वाले आधुनिक वैज्ञानिक जानकारी के साथ ऊपर लिखे नाड़ियों के वर्णन से कोई मेल नहीं खाता। यह विशेष बात है।

इन दस या चौदह नाड़ियों में तीन नाड़ियां सभी ग्रंथों में अधिक महत्व की कही गयी हैं। वे है इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना। इन तीनों में सुषुम्ना नाड़ी को सभी से सर्वोच्च स्थान दिया है। सुषुम्ना नाड़ी जब तक मल से व्याप्त है तब तक वह अज्ञान में भरा रहता है। प्राणायाम के अभ्यास से सुषुम्ना नाड़ी मल रहित हो जाती है। तब कुण्डलिनी शक्ति, जो कंद में हमेशा सोई हुई रहती है, वह जागृत होकर सुषुम्ना के मध्य मार्ग से ऊपर जाकर मस्तिष्क में स्थित परम शिव के स्थान तक पहुंचती है। तब साधक को सहज समाधि, जीवन्मुक्ति या उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाती है इड़ा को वाभ नाड़ी या चंद्र नाड़ी तथा पिगंला को दक्षिण नाड़ी या सूर्यनाड़ी कहते हैं। उनके मध्य में स्थित सुषुम्ना को ब्रम्हनाड़ी या ब्रम्हद्वार कहते हैं।

सुषुम्ना नाड़ी सहित अन्य नाड़िया वायुद्वार शुद्ध हो जाती है। अर्थात नाड़ी शुद्धि में वायु का बड़ा महत्व है इसके देह में प्रतिष्ठित रहने पर जीवन रहता है तथा इसके देह से निकल जाने पर मृत्यु हो जाती है। ऐसा होने के कारण इसे प्राण की संज्ञा में विभूषित किया गया। यह तथ्य हम प्राणायाम शीर्षक के अर्न्तगत स्पष्ट कर चुके हैं। कि वायु को ही प्राण कहते हैं। अब हम यह देखने का प्रयास करेगें कि वायु कितने हैं?तथा विभिन्न शास्त्र इस संबंध में क्या कहते हैं?

कुण्डलिनी जागरण, नादानुसंधान, समाधि और केवल्य की प्राप्ति :

साधक जब आसन, प्राणायाम, बंध मुद्राओं का अभ्यास निरंतर करता रहता है तब कुण्डलिनी जागकर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, चक्र का ज्योंही भेदन कर अनाहत चक्र का भेदन करती है त्यों ही नादानुसंधान का अभ्यास कर रहे साधक की आरम्भावस्था आती है। नादानुसंधान की अवस्थाओं का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। नादानुसंधान से मन नाद के साथ आत्मा में लीन हो जाता है। इससे राजयोग का परम पद और उन्मती अवस्था की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। इसे कैवल्य प्राप्ति भी कहा जाता है। हठयोग की संपूर्ण प्रक्रियाओं का यही लक्ष्य है और कुण्डलिनी जागरण उसका मुख्य साधन है।

अध्याय – 5
कुण्डलिनी साधना क्यों किस प्रयोजन के लिए :

इन दिनों विश्वव्यापी विनाश संकट के घटाटोप इस तरह घिरते जा रहे हैं जिससे मानवी सत्ता और सृष्टि के लिए अस्तित्व रक्षा का संकट उत्पन्न हो गया है। यह जितने विकट हैं, उतने ही समर्थ उनके प्रतिरोधक उपकरण चाहिए। हाथी छोटी पिस्तौल से नहीं मरता। किला बिस्मार करने के लिए बाण वर्षा से नहीं, तोपें दागने से काम चलता हैं वृत्रासुर का निधन बज्र बन जाने पर हुआ था। महिषासुर के लिए चण्डी का आवेश भरा आक्रोश कार्यान्वित हुआ था। पर्वत उखाड़ने के लिए हनुमान का पौरूष काम आया था। पहाड़ उड़ाने के लिए डायनामाइट की छड़ें ही काम आती हैं। स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि रचनात्मक सामर्थ्य की ही नहीं संघर्ष के लिए काम आने वाले ब्रम्हास्त्र जैसे साधनों की भी आवश्यकता पड़ेगी।

संकटों का दानवी समुदाय एकत्रित होकर संचित सभ्यता का विनाश जिस प्रकार करने पर तुला है, उन्हें यदि मनमानी करने दी जाय तो प्रलय के दृश्य प्रस्तुत हो सकते हैं। इनकी रोकथाम आवश्यक है। उन्हें उल्टा और निरस्त किया जाना चाहिए। इसके लिए दूसरी तरह के हथियार चाहिए। ग्रन्थलेखन में कागज कलम, दवात काम दे जाती हैं। रसोई बनाने में आटा, दाल और ईंधन का होना पर्याप्त है। पर जब दुर्दान्त वस्तुओं का सामूहिम आक्रमण हो और लूट रक्तपात की विभीषका सामने आ खड़ी हो तो उन्हें रोकने के लिए बारूदी हथगोलों की आवश्यकता पड़ेगी।

हमारा जीवन गायत्रीमय ही बीता है। जो समय शेष रहा है,वह भी उसी में लग–खप जाय तो ठीक है। आज की विभीषिकाओं से जूझने में संघर्ष प्रयोजन के लिए कोई चन्द्रगुप्त, शिवाजी, विवेकानन्द मिल जाता तो हमें

निर्धारित पथ से हटकर दायें–बायें न देखना पड़ता। पर बहुत प्रयत्न करने पर भी वैसा सुयोग न बन सका। फिर भी हम अभी निराश नहीं हैं। अध्यात्मक शक्तियां संसार में हैं तो सही पर वे सभी सूक्ष्म शरीर में रह रही हैं। भौतिक प्रयत्नों के लिए स्थूल शरीरधारी चाहिए। महाभारत में पांच देवताओं ने पांच पाण्डवो के रूप में शरीर धारण किए थे। कुछ रीछ–वानरों के रूप में, कुछ हनुमान अंगद आदि बनकर प्रकट हुए। प्रत्यक्ष कामों के लिये प्रत्यक्ष शरीर चाहिए। यह ढूँढ तलाश करने में लम्बा समय व्यतीत हो गया। शक्ति का समुच्चय न हो तो उसका थोड़ा अंश ही सही। वह किसी देवमानव में हो तो कामचलाऊ व्यवस्था बन सकती है। हमें बीजरूप में शक्ति संजोए ऋषि सताएं प्रज्ञा परिवार के रूप में हाथ लगी हैं। पर वे एकाकी तो निस्सार ही थीं। यदि उन्हें दिशा न दी गयी होती तो वही शक्तिकहीं ध्वंसपरक गतिविधियों में लगी होती। ऐसे में मार्गदर्शन के निर्देशानुसार एक ही उपाय शेष रहा कि बड़ी मात्रा में शक्ति उपार्जन एवं तदुउरान्त वितरण हेतु स्वयं ही आगे आया जाय और मार्ग बदलना है तो स्थिति के अनुरूप वह भी बदल लिया जाय।

सन् 1984 में वह परिवर्तन किया गया। एकान्त साधना–सावित्री साधना का अवलम्बन लिया गया। मुखर और मिलनसार जीवन छोड़कर एकान्तवास की रीति–नीति अपनाना सरल कार्य नहीं था। सावित्री साधना–पंच कोशों के जागरण की, कुण्डलिनी जागरण की साधना है। इसी को सूक्ष्मीकरण एवं वेदान्त की पंचीकरण साधना नाम दिया गया है। जिस मार्ग–दर्शक ने गायत्री साधना में हमें प्रवृत किया, उसी ने सावित्री साधना का विधान बताया ताकि हमारे माध्यम से अन्य अनेक प्रसुप्त देवमानवों का शक्ति जागरण हो, वे वास्तविक स्वरूप को पहचानें और आत्मिक प्रगति के माध्यम से समष्टिगत हित साधन कर सकें।

देखा गया कि संकट उतना हल्का नहीं है जिसे सौम्य प्रयासों से निपटा जाय। यह बायें हाथ से खेलने वाला खेल न प्रतीत हुआ इसलिए दाहिने हाथ को साधना और सम्भालना पड़ा है। सावित्री साधना से एक कदम आगे बढ़कर कुण्डलिनी को आड़े वक्त में जगाना पड़ा। इसी को दूसरे शब्दों में महाकाली महाचण्डी या महादुर्गा कहा जाता है। यह आवश्यक जान पड़ा कि जिस शक्ति का सुनियोजन जिन व्यक्तियों द्वारा किया जाना है, उन्हें इस विद्या की समुचित जानकारी दी जाय। पिछले दिनों कुण्डलिनी विज्ञान

का काफी अन्वेषण, पर्यवेक्षण, प्रयोग–परीक्षण, अध्ययन–अवगाहन चलता रहा है। इस सन्दर्भ में नई पुरानी पुस्तकों में चित्र–विचित्र प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। इन्हीं को जोड़–गांठ कर नए लेखकों और प्रकाशकों ने भी कुछ लिखने छापने का प्रयत्न किया है। इस लीपापोती के प्रयास में और भी अधिक गुड़ गोबर हो गया है।

अब तक कुण्डलिनी विषय पर लिखे गए प्रतिपादनों को पढ़कर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि यह विषय आकर्षक एवं गृह्य विज्ञान से सम्बधित होने के कारण अनेकों ने इस पर कार्य किया हैं। पर निज का प्रयोग या अनुभव सम्पादन करने का कष्ट किसी ने भी नहीं किया। जो भी कुछ उन्होंने लिखा है,वह हठयोग के प्रारम्भिक प्रयोग एवं उनकी प्रतिक्रिया मात्र है जो कि इस विधा का एक प्रतिशत भी नहीं है। प्रयोगकर्ता यह दावा करने से भी चतुरतापूर्वक बचते रहें है कि उन्होंने अपना प्रयोजन पूरा कर लिया। आज कहीं प्रामाणिक पुस्तक–मार्गदर्शन तो दूर उसके सिद्धान्त विवेचन का सही रूप प्रस्तुत करने वाली पोथी भी कहीं दीख नहीं पड़ती। हमने स्वयं को भ्रम जंजालों से बचाकर उन्ही प्रतिपादनों को आगे बढ़ाने का एक विनम्र प्रयास किया है।

हमारी सूक्ष्म मार्ग–दर्शक सत्ता जो शताब्दियों से मौजूद है, गायत्री, सावित्री और कुण्डलिनी क्षेत्र में समान ज्ञान व अनुभव रखती है। उसी ने हमें परखा हुआ सिक्का समझकर विगत तीन वर्षों में सावित्री साधना तथा फिर देवात्मा भारत की कुण्डलिनी जागरण के अभ्यास हेतु नियोजित किया है ताकि एक लुप्तप्राय किन्तु अत्यन्त सशक्त विद्या का सर्वथा लोप न होने पाए। उसकी टूटी हुई कड़ियां जुड़ कर अपने समग्र रूप में बनी रह सकें।

गायत्री ब्रम्ह विद्या है। उसे आत्मिकी भी कह सकते हैं। सावित्री आत्म भौतिकी है। आती तो वह आत्म–विज्ञान के अन्तर्गत ही है, पर उससे भौतिक लाभों का उपार्जन और सांसारिक संकटों का निवारण ही हो सकता है। दोनों ही के माध्यम से अपना या अपनों का हित साधन हो सकता है, किन्तु कुण्डलिनी की क्षमता ब्रहमाण्डव्यापी है और उसे विशेषतया तोड़ने या टूटे को जोड़ने में कार्यान्वित किया जाता है। चण्डी का क्रुद्ध–रूष्ट रूप उमड़ पड़े तो उसे अनाचार की मरम्मत करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। उसे इसी कारण असुरनिकन्दिनी कहा गया है। उसका जब भी प्रयोग हुआ है, दानवों–आसुरी शक्तियों के विनाश हेतु ही हुआ है। इसे तलवार की तरह

मारक होना चाहिए, जिसे तोड़ने मारने के लिए ही काम में लाया जा सकता है। जो बेकाबू हैं। उन्हें बलपूर्वक खींच बुलाने के लिए, जिस दिशा में चाहें, उसे घसीटकर ले चलने के लिए यह प्रयुक्त की जा सकती है। यह वशीकरण विज्ञान है। इसे मारण और उच्चाटन प्रधान कह सकते हैं। भस्मासुर को, सुन्द–उपसुन्द को, महिषासुर को इस महाकाली ने ही अपनी शक्ति से वशीभूत कर नष्ट किया था। शुम्भ–निशुम्भ, दुर्दान्त असुर मधुकैटभ का मर्दन उसी ने किया था। राम एवं सीता के माध्यम से रावण का एवं श्रीकृष्ण–बलराम के माध्यम से पूतना, कंस, जरासंध जैसी आसुरी शक्तियों का नाश उसी ने किया था। यह तो शक्ति का एक पक्ष हुआ।

यही शक्ति जब सृजनात्मक प्रयोजनों हेतु प्रयुक्त होती है तो सृष्टि संचालिनी शक्ति बन जाती है। ज्ञानार्णव तंत्र में कहा गया है –''शक्तिः कुण्डलिनी विश्वजननी व्यापार वद्धोद्यता''। सारा विश्व व्यापार इसी शक्ति के माध्यम से एक घुमावदार उपक्रम की तरह चलता है। महाकाल की परिवर्तन प्रक्रिया इसी के माध्यम से सम्पन्न होती है। जीव को चक्र पर आरूढ़ मृतिका पिण्ड की तरह यह घुमाती है और कुम्हार की तरह आत्मसत्ता को भिन्न–भिन्न रूपों में गढ़ देती है। वस्तुतः कुण्डलिनी सृष्टि सन्दर्भ में समष्टि एवं जीव सन्दर्भ में व्यष्टि में शक्ति संचार करती है। कुण्डलिनी एक प्रकार से ''कॉस्मिक इलैक्ट्रिसिटी'' है, जो योगाग्नि को जगाती, व्यक्ति को प्राणवान–समर्थ–दृष्टा स्तर का बनाती है। कठोपनिषद् के यम–नचिकेता संवाद में पंचाग्नि विद्या के रूप में इसी प्राणाग्नि की चर्चा हुई है जो व्यक्ति को रोग जरा एवं मृत्यु से परे जीवन्मुक्ति की ओर ले जाती है। नाड़ी संस्थान की उत्तेजना से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह सामयिक एवं क्षणिक प्रभाव का ही परिचय दे पाती है। किन्तु कुण्डलिनी चिरस्थायी है, चेतनात्मक शक्ति है जो व्यक्ति में ऊर्जा समाहित कर उसके व्यक्तित्व का कायाकल्प कर देती है।

जहां कॉस्मिक स्तर पर, समष्टिगत धरातल पर कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया चल रही हो, वहां यह मानना चाहिए कि यह अनिष्ट के निवारण एवं उज्जवल भविष्य के सृजन का प्रयोजन पूरा करेगी। पर ऐसे खतरनाक प्रयोग के लिए सत्पात्र तो हों। बन्दूक जब चलती है तो उसका झटका पीछे की ओर लगता है। इस महाशक्ति का प्रयोग करने वाले में इतना साहस, बल और शौर्य–पराक्रम होना चाहिए कि प्रहार के समय उलटकर पीछे लगने वाले

झटके को सहन कर सके। अन्यथा लाभ उठाने के लिये किया गया प्रयोग हानिकारक भी हो सकता है। फिर रहस्यमयी साधनाओं को चर्चा का विषय बनाने से वह सर्व साधारण के लिए चर्चा का विषय बनती हैं। यही कारण है कि इन्हें गुहय विद्या मानकर इन पर बहुधा पर्दा ही डाला जाता रहा है। जब तर्क–कुतर्कों का सिलसिला चलता है। अहंकारी लोग अपनी मीन–मेंख निकालते, गल्तियां और सुधार सुझाते हैं। ऐसी दशा में साधना का मूलभूत आधार श्रद्धा ही डगमगाने लगती है और शंकित मनःस्थिति में उत्तम से उत्तम साधन भी निष्फल बनकर रह जाती हैं। संभवतः ऐसे ही अनेक कारणों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने उच्चस्तरीय साधनाओं को विशेष कर तंत्र से जुड़ी साधनाओं का चर्चा का विषय बनाने का निषेध किया है। इस सन्दर्भ में मार्ग दर्शक द्वारा साधक की पात्रता को परखकर तद्नुसार साधन बताना आवश्यक समझा गया है। साधना क्षेत्र में पात्रता ही नहीं, साधक की आवश्यकता और परिस्थिति भी जांचनी पड़ती है। इसके बाद ही निदान के आधार पर उपचार का तरीका रोगी व चिकित्सक दोनों के लिए लाभदयक सिद्ध होता है।

सावित्री एवं कुण्डलिनी की साधना कराने का अनुभव एवं अभ्यास कष्ट साध्य एवं तलवार की धार पर चलने के समान दुरूह होने के कारण अब लोगों ने एक प्रकार से छोड़ ही रखा है। बिना अनुभवी शिक्षक के कोई इंजीनियर कलाकार नहीं बन सकता। इसी प्रकार जब कुण्डलिनी साधना के प्रवीण पारंगत ही नहीं रहे तो शिक्षार्थी कहां से मिले ?

कुण्डलिनी जागरण शरीरगत प्राणाग्नि का प्रज्वलन है और उसका लाभ निजी प्रयोजनों के लिए उठाने की परम्परा अब तक रहीं है। जननेन्द्रिय मूल की काम ऊर्जा को ब्रम्हरंध्र की ब्रम्ह ऊर्जा में मेंरूदण्ड मार्ग में अवस्थित छः चक्रों का वेधन करते हुए मिलाया जाता है। इससे शिव शक्ति का संयोग–सम्मिलन होने पर सिद्धियां भी मिलती हैं, पर उसमें सर्पो को खिलाने जैसी सतर्कता से काम लेना पड़ता है। सांप का तमाशा दिखाने वाला संपेरा उससे अपनी कुटुम्ब तो पालता है, लोगों पर अपनी प्रवीणता की छाप भी डालता है, पर साथ ही वह जोखिम से भी खेलता है। किसी विषधर से पाला पड़े तो उसकी फुसकार भर से खेल रूक जाता है, लोगों के कलेजे थम जाते हैं व जान जाने का डर रहता है।

शिव और शक्ति दोनों के गले में सर्प लिपटे हुए हैं। अलंकारिक रूप

से इसी को सर्पणी कुण्डलिनी कहा गया है। यह हठयोग का तांत्रिक प्रयोग तो है ही। छः चक्रों के वेधन से जो शक्तियां प्राप्त होती हैं वे न केवल प्रतिकूलताओं के निवारण हेतु अपितु सावित्री साधना का उच्चस्तरीय प्रयोग साथ जुड़ा होने से नया वातावरण बनाने के निमित काम भी आती हैं। षटचक्र वेधन के साथ जब पंच कोशों के जागरण की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है तो अनेक प्रकार के सृजन प्रयोजनों में उनका उपयोग होता है। मकान बनाने हेतु ईट, चूना, लोहा, लकड़ी व श्रमिक की जरूरत पड़ती है। भोजन बनाने में ईधन, आग, बर्तन, खाद्यपदार्थ और पकाने वाले की जरूरत पड़ती है। पंचरत्न प्रसिद्ध है। शरीर का निर्माण पंचरत्नों से व चेतना का आविर्भाव पंच प्राणों से हुआ है। यह शक्ति–स्त्रोत, जीवनी–शक्ति का ही दूसरा नाम है। प्राणाग्नि का उत्तेजन, कुण्डलिनी जागरण जब पंचकोशी साधना–सावित्री साधना के समन्वित रूप में होता है तो उसका प्रभाव क्षेत्र अति विस्तृत हो जाता है। समस्त विश्व के सम्मुख जितनी विकट समस्याएं अभी सामने हैं वे पहले कभी देखने में नहीं आई। अणु–आयुधों का विस्तार, नक्षत्र युद्ध की आसन्न विभीषिका, चारों ओर संव्याप्त वैचारिक एवं पर्यावरण प्रदूषण, प्रकृति का असंतुलन एवं मारक रोगों की भरमार, अपराध–आतंक की काली साया देखते हुए लगता है कि यह प्रयोग अब विशाल–व्यापक स्तर पर करना ही अभीष्ट है। इन पर विजय पाने वाले योद्धाओं–सृजन शक्तियों के प्रजनन में साधनात्मक कष्ट तो है पर उसक प्रतिफल इतना शानदार है जिसकी तुलना अब तक के पराक्रमों से नहीं की जा सकती। वे एक नया अध्याय ही जोड़ेगे।

इन पृष्ठों में दैवी प्रेरणावश एक व्यापक जनसमूह के शक्ति जागरण की प्रक्रिया हेतु किए गए प्रयोगों में से मात्र उन्हीं का रहस्योदृघाटन हो रहा है जो सर्वोपयोगी हैं। विधि–विधान की जटिलता में जाने की पाठकों को आवश्यकता नहीं। उन्हें तो मात्र फलितार्थ देखने व अपनी भूमिका कहां हो यह बात समझनी हैं। यहां यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाना है कि व्यक्ति का आन्तरिक विकास उसे इस स्थिति तक पहुंचा सकता है कि वह अपना ही नहीं अन्य असंख्यों का भी भला कर सकें। इतना ही नहीं, व्यापक वातावरण को आमूल–चूल बदलकर नये युग का सूत्रपात कर सके। संक्षेप में इसी प्रयोग का अनुसंधान हमारी अपनी देवात्मा भारत की कुण्डलिनी जागरण साधना के माध्यम से सम्पन्न हुआ है।कुण्डलिनी जागरण से आत्मिक और भौतिक सिद्धियाँ :

कुण्डलिनी आत्म–शक्ति की प्रकट और प्रखर स्फुरणा है। यह जीवन की ईश्वर प्रदत्त मौलिक शक्ति है। प्रसुप्त स्थिति में वह अविज्ञात बनी और मृत तुल्य पड़ी रहती है। वैसी स्थिति में उससे कोई लाभ उडाना सम्भव नहीं हो पाता। यदि उसकी स्थिति को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने ही भीतर वह भण्डार भरा पड़ा है जिसकी तलाश में जहां–तहां भटकना पड़ता है। वह ब्राह्मी शक्ति अपने ही अन्तराल में छिपी पड़ी है, जिसे कामधेनु कहा गया है। आत्मसत्ता में सन्निहित इस महाशक्ति का परिचय कराते हुए साधना शास्त्रों ने यह बनाने का प्रयत्न किया है कि अपने ही भीतर विद्यमान इस महती क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जाय और उससे सम्पर्क साधने का प्रयत्न किया जाय। कुण्डलिनी परिचय के कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं –

मल–मूल छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का निवास माना गया है। इसे प्रचण्ड शक्ति स्वरूप समझा जाय। यह विद्युतीय प्रकृति की है। ध्यान से वह कोंधती बिजली के समान प्रकाशवान् दृष्टिगोचर होती है। कुण्डलाकार है। उसका स्वरूप प्रसुप्त सर्पिणी के समान है।

यह उसके स्थान का परिचय हुआ। अब उसका आधार, कारण, स्वरूप एवं प्रभाव समझने की आवश्यकता पड़ेगी। बताया गया है कि यह ब्रम्ही शक्ति है। स्वर्ग से गंगा अवतरिक होकर पृथ्वी पर आई थी और इस लोक को धन्य बनाया था। इसी प्रकार यह ब्राह्मी शक्ति सत्पात्र साधकों की आत्म सत्ता पर अवतरित होती है और उसे हर दृष्टि से सुसम्पन्न बनाती है। कहा गया है कि –

ज्ञेयाशक्तिरिय विष्णोनिर्भिया स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका।।
मूलाधारस्थ वन्हयात्मेंजो मध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तेजसी।।
महाकुण्डलिनीप्रोक्ता परब्रम्हास्वरूपिणी।
शब्दब्रम्हामयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः।।
शक्ति कुण्डलिनी नाम विसतन्तु निभा शुभा।

– महायोग विधान

यह स्वर्ण समान आभा वाली महाशक्ति कुण्डलिनी निर्भयता प्रदान करने वाली है। वही वैष्णवी है। सत, राज, तम तत्वों को उत्पन्न करने वाली है। मूलाधार के मध्य में आत्म तेज रूपी अग्नि पुंज होकर विराजमान है।

जीवनी शक्ति वही है। तेजस्वी प्राण ही उसका आकार है। यह परब्रम्हा स्वरूपिणी है। यह शब्द ब्रम्हामय है। इसकी अनेक आकृतियां हैं। इन शुभ कामनाओं को पूरा करने वाली शक्ति का नाम कुण्डलिनी है।

स्वयं भू शिवलिंग में तीन लपेटे लगाकर सुप्त सर्पिणी की तरह पड़े होने की उपमा में यह संकेत है कि उसमें तीनों ही क्षमताएं विद्यमान हैं जो मानवी अस्तित्व को विकसित करने के लिए मूलभूत कारण समझी जाती है। आकांक्षा विचारणा, क्रिया एवं साधन सामग्री के आधार पर ही मनुष्य आगे बढ़ता, सफलता पाता और प्रसन्न होता है। इन तीनों के बीज अन्तर में कुण्डलिनी शक्ति के रूप में विद्यमान हैं इन्हें विकसित करने पर यह तीनों क्षमताएं भीतर से उमँगती हैं तो बाहर के स्वरूप साधन मिलने पर भी उनको समुन्नत बनने का सहज अवसर मिल जाता है तो अन्तः क्षमता प्रसुप्त हो तो बाहर के विकास उपचार सफल नहीं होते, किन्तु भीतर के स्त्रोत उमँगों का बाह्य क्षेत्र में उभरना कठिन नहीं है। गायत्री के तीन चरण कुण्डलिनी के तीन लपेटे हैं और उन्हें मानव जीवन की मूल–भूत क्षमताओं के रूप में माना गया है।

प्रकृतिः निश्चला परावाग्रू पिणी परप्राणवात्मिका
कुण्डलिनी शक्तिः – प्रपंच सार तन्त्र

यह कुण्डलिनी महाशक्ति, अविचल प्रकृति और परावाणी है। यह पर ब्रम्हा है।

इच्छाशक्तिश्च भूःकारः क्रिया शक्तिर्भुवस्तथा।
स्वःकारः ज्ञान शक्तिश्च भूर्भुवः स्वः स्वरूपकम।
भूः–इच्छा शक्ति; भुवः–क्रिया शक्ति; स्वः–ज्ञान शक्ति, यह तीन व्याहृतियों का स्वरूप है।
सात्विकस्य ज्ञान शक्ति राजसस्य क्रियात्मिका।
द्रव्य शक्तिस्तामसस्य तिस्रश्चामाथिताभव। – देवी भगतवी

सात्विक ज्ञान शक्ति, राजस क्रिया शक्ति और तामस द्रव्य शक्ति यह तीन शक्तियां कही गई हैं।

ज्ञानेच्छाक्रियाणां तिमृणां व्यष्टीनां महासरस्वती महाकाली महालक्ष्मीरित।

ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति यह तीन ही शक्ति की प्रकृति हैं। इन्हें ही महा सरस्वती, महाकाली और महालक्ष्मी कहते है।

केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे। ज्ञान मायां। प्रधानं च प्रकृति शक्तिमप्यजाम्। आनन्दरूपता चास्याः परप्रेमास्पदत्वतः। —देवी भागवती

कोई मुझे तपः—शक्ति कहते हैं। कोई जड़। कोई ज्ञान कहते हैं। कोई माया प्रकृति। मैं ही परम प्रेमास्पद तथा आनन्दरूपा हूँ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्ट देवेभिरूत भानुषेभिः
य यं कामये तं तमुग्रं कुणोभि
तं ब्रम्हाणं तमृषि तं सुर्मेधाम्।। ऋ. 10/125/5

देवताओं और मनुष्यों को अभीष्ट—प्राप्ति का मार्ग मै ही बतलाती हूँ। जो मेंरी (विवेक—शक्ति की) उपासना कर मुझे प्रसन्न करता है, उसे ही मैं प्रखर बनाती हूँ। ब्राम्हण, ऋषी तथा मेधावी बनाती हूँ।

अपने में ही विद्यमान परम वैभव के सम्बन्ध में अपरिचित रहना यही अध्यात्म की भाषा में अज्ञान या अन्धकार है। इसकी निवृत्ति को ही आत्म ज्ञान की आत्म साक्षात्कार की महान उपलब्धि कहा गया है। प्रसुप्ति को जागृति में बदल देना खोये को तलाश कर लेना यही परम पुरूषार्थ है। आत्म—साधनाओं को परम पुरूषार्थ कहा गया है। सामान्य पुरूषार्थो से धन, बल, थोड़ी सी भौतिक उपलब्धियां स्वल्प मात्रा में उपार्जित की जा सकती हैं। वे भी अस्थिर होती हैं और मिलने के बाद उलटी अतृप्ति, भड़काती चलती हैं। किन्तु आत्मिक विभूतियों को उपार्जित करने की दिशा में बढ़ने पर प्रत्येक चरण क्रमशः अधिक उच्चस्तरीय प्रस्तुत करता चलता है। वे स्थायी भी होते हैं और तृप्ति कारक भी। उनसे अपना भी कल्याण होता है और दूसरों का भी। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आत्म—साधना को परम पुरूषार्थ कहा गया है।

सोता हुआ मनुष्य मृत तुलय निष्क्रिय पड़ा रहता है। जागृति होते ही उसकी समस्त क्षमतायें जाग जड़ती हैं। प्राण—शक्ति कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है जिसकी अन्तःशक्ति मूर्छित है, समझना चाहिए कि वह तत्वतः सोया हुआ ही है। जिसका अन्तराल जग पड़ा उसकी महान् सक्रियता को कार्यान्वित होते हुए देखा जा सकता है। सोने की, जागृति की स्थिति में जितना अन्तर होता है उतना ही आत्म शक्ति के प्रसुप्त और जागृत होने की स्थिति में समझा जा सकता है। इसी प्रसुप्ति और जागृति के अन्तर

की चर्चा ताण्ड्य ब्राम्हण में इस प्रकार हुई है–

कुण्डलिनी की प्रसुप्ति को जागृति में बदलने के लिए 'साधन' का उपाय अपनाना पड़ता है। इस जागरण प्रयास में लगने के लिए जो साहस करते हैं, वे भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समुन्नत स्थिति प्राप्त करते चले जाते हैं। इस महान् जागरण के लिए प्रोत्साहित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं –

तदाहुः कोऽस्वप्नु यर्हतिः यद्वाव प्राण जागीत् देव जागरिम् इति। – ताण्ड्य

कौन सोता है?कौन जागता है?जिसका प्राण जागता है, वस्तुतः वही जागता है।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डलिनी परदेवता।
शीयिता भुजगाकारा साद्धत्रय वलयान्विता।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोग विधेरपि।।
आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रयां।
तस्यां शक्तिप्रबोधेने त्रैलोक्य प्रति बुध्यते।। – महायोग विज्ञान

आत्म शक्ति कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में साढ़े तीन कुण्डलिनी लगाये हुए सर्पणी की तरह ध्यान करती है। जब तक वह सोती है तब तक जीवन पशुवत् बना रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी तब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता। जिसकी यह आधार शक्ति सो रही है उसका सारा संसार ही सो रहा है, पर जब वह जागती है तो उसका भाग्य और संसार ही जाग पड़ता है।

विद्युल्लता परा जाता पंचानांमात् रूपिणी।
अभ्यासां मार्ग योगात् सैका षोढा प्रजायते।
परचेतथा ज्ञानाकिया कुण्डलिनि नीति चं।

बिजली जैसी चमकवाली, पंच तत्वों एवं पंच प्राणों की माता, परम चेतना ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति कुण्डलिनी, योग साधना से उपलब्ध होती है।

प्रत्येककर्मसाफल्यं यत्प्रबोधे प्रजायते।
अंतस्तस्याः प्रबोधाय शक्तेर्यत्नवान भवेत्।। – महायोग विज्ञान

प्रत्येक कर्म की सफलता उस कुण्डलिनी के जागने से प्राप्त होती है।

अतएव उस महाशक्ति को जगाने के लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए।

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजंगाकार रूपिणी।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीप कलिकाकृतिः।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जागृता भवेत्।।

घरेण्ड संहिता 6/16/18

मूलाधार चक्र में सर्पिणी आकार की कुण्डलिनी शक्ति है जो दीपक की लौ जैसी दीप्तिमान है। वही जीवात्मा का निवास है।

हे चण्ड, जिसकी कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाए उससे बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिए।

सुप्ता नागोपमाह्येष स्फुरन्ती प्रभवा स्वया।
अहिवत् संधि संस्थाना वाग्देवी बीज सज्ञका।
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निभया स्वर्ण भास्करा।।

R– शिव संहिता

यह कुण्डलिनी शक्ति सुप्त सर्पिणी के समान है। वही स्फुरणा, गति, ज्योति एवं वाक् है। यह विष्णु शक्ति हैं स्वर्णिम सूर्य के समान दीप्तिवान् है।

सा यथा योज्यते यत्र तेन् निर्यात्य तथा।।
संवितिः सेव यात्यंग रसाद्यन्तं यथाक्रमम्।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना।।
रसानापूर्ण यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा।
धाते चित्रकृतो बुद्धो रेखा राम यथा कृतिम्।।

– योग विशिष्ठ

यह कुण्डलिनी शक्ति रस भावना से ओत–प्रोत है। उसके जागृत होने पर मनुष्य रस भावनाओं से ऐसे भर जाता है जैसे पानी भरने से चमड़े का चरस। यह रसिकता अनेक कलाओं के रूप में विकसित होते हुए जीवन को रससक्ति बना देती है।

इच्छा–ज्ञान–क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका।
क्रर्मेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्।।
गुणितासर्वगात्रेषु कुण्डली पर देवता।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत्।।
एकथा गुणिता शक्तिः सर्व विश्वप्रवर्तिनी।

– महायोग विज्ञान

तेजस्वरूप कुण्डलिनी जागृत होने पर इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति को प्रखर बनाती है। सम्पूर्ण शरीर पर उसका प्रभाव दीखने लगता है। प्रसुप्त मन्त्रमय जगत जागृत हो उठता है। विश्वात्म ज्ञान जागृत होता है। विश्व का प्रवर्तन करने वाली कुण्डलिनी साधक को अनेक गुण शक्ति सम्पन्न बना देती है।

कुण्डलिनी जागरण के प्रतिफल से परिचित होने पर साधक उसके लिए साधन प्रयास आरम्भ करता है और उस परम पुरूषार्थ का समुचित लाभ प्राप्त करता है। कहा गया है कि

शक्ति कुण्डलिनोति विश्व जनन व्यापार व्रद्धोद्यामा
ज्ञात्वे यं न तुनर्वशान्ति जननागर्मेकत्व नराः।

– शक्ति तंत्र

कुण्डलिनी महाशक्ति के प्रयत्न से ही यह सारा संसार व्यापार चल रहा है जो इस तथ्य को जान लेता है। वह शोक संतप्त भरे बंधनों से बंधा नहीं रहता।

योग के आधार पर आध्यात्मिक और तन्त्र के आधार पर भौतिक उन्नति का पथ प्रशस्त होता है। कुण्डलिनी जागरण में उभय पक्षीय सम्भावनाएं सन्निहित हैं। यह दोनों ही प्रयोजन उससे सिद्ध होते हैं। गाड़ी के दो पहिये–पक्षी के दो पंख, मनुष्य के दो हाथ मिलकर जिस तरह उनकी क्षमता को मूर्तिमान बनाते है; उसी प्रकार कुण्डलिनी जागरण की प्रतिक्रिया जीवन के दोनों पक्षों को समुन्नत बनाती हैं। हठयोग प्रदीपिका में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है।

सशैलवन धात्रीणां यथाधीराऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथा धारोहि कुण्डली।।
सप्ता गुरूप्रसादेन यथा जागति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथायाऽपि च।।

हठयोग प्रदीपिका

जिस प्रकार सम्पूर्ण वनों सहित जितनी भूमि है,उसका आधार शेषनाग है, उसी प्रकार समस्त योग साधनाओं का आधार भी कुण्डली ही है, जब गुरू की कृपा से सोयी हुई कुण्डली जागती हे, तब सम्पूर्ण पथ (षट् चक्र) और ग्रन्थियाँ खुल जाती है।

योगिनां हृदयाम्बुजे नृत्यन्ती नृत्यमज्जसा।
आधारे सर्व भूतानां स्फुरन्ति विद्युताकृति।।

अर्थात् योगियो के हृदय देश में वह नृत्य करती रहती है। यही सर्वदा प्रस्फुटित होने वाली विद्युत रूप महाशक्ति सब प्राणियों का आधार है।

सुप्ता सर्वोपमा मौला पाति साधकमीश्वरी।।
चैतान्या कुण्डलीशक्तिर्वायवी बलतेजसा।
चैतन्या सिद्धिहेतुस्था ज्ञानमात्रं ददाति सा।।
ज्ञानमत्रेण मोक्षः स्याद्वायवी ज्ञानमाश्रयेत्। – महायोग सूत्र

अनन्त शक्तियों की भण्डार सुप्त सर्पिणी कुण्डलिनी अपने साधक का पालन और रक्षण करती है सो मुक्ति के आकांक्षी उसी का साधना करते हैं। प्राण वायु के द्वारा जागृत हुई यह कुण्डलिनी साधक के लिए सिद्धियों का आधार बनती है और उसे परम ज्ञान प्रदान करती है।

वेदाधीनं महायोगं योगाधीनो च कुण्डली।
कुण्डल्यधीनं चित्तंतुचित्ताधीनं चराचरम्।।
मनसः सिद्धि मात्रेण शक्तिसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
यदि शक्तिवशीभूता त्रैलोक्य स्यात्तदा वशे।।

वेद के आधीन योग है। योग के आधीन कुण्डलिनी। कुण्डलिनी के आधीन चित्त है और चित्त के आधीन चराचर जगत।

मन की सिद्धि होने से शक्ति की सिद्धि हो जाती है और जिसने शक्ति को वश में कर लिया तीनों लोक उसके वश में होते हैं।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुन्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रम्हास्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छोद्य तद्द्ववारं प्रसुप्ता परमेंश्वरी।।
ठंदोर्ध्व कुण्डली शक्तिःसुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

– हठ योग प्रदीपिका 3/105 से 107

अर्थात् जिस प्रकार कुंजी से किवाड़ खोले जाते हैं, वैसे ही योगी कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार को खोलते हैं।

निरामय ब्रम्हा स्थान को जाने वाले मार्ग को अपने मुख से ढाँके कुण्डलिनी परमेश्वरी सोती रहती है। कन्द के ऊर्ध्व में सोयी पड़ी यह

कुण्डलिनी ही (जागने पर) योगियों के मोक्ष का साधन बनती है और (सोती रहने पर) मूढ़ो के बन्धन का कारण बनी रहती है। इस रहस्य को जानने वाला ही योगी होता है।

नमस्ते देवदेवेशि योगीश प्राणवल्लभे।
सिद्धिदे वरदे पातः स्वयंम्भूलिंगवेष्टिते।।
प्रसुप्तभुजगाकारे सर्वदा कारणप्रिये।
कामकलान्विते देवि! मनोऽभीष्टं कुरूष्व च।।
असारे धोरसंसारे भवरोगान्महेश्वरि।
सर्वदा रक्षा मां देवि! जन्मसंसाररूपकात्।।
इति कुण्डलिनीस्तोत्रं ध्यात्वा यः प्रपठेत्सुधीः। – योग सार

योगियों की प्राण वल्लभा सिद्धीदायनी, वरदायनी, स्वयं भू लिंग के साथ लिपटी हुई, सोई सर्पिणी के रूप वाली, काम कालान्वित अभीष्ट फलदायह है। हे देव देवेशि आपको नमस्कार। इस सार रहित घोर कष्टदायक भव रोगों से घिरे, जन्म मरण रूपी संसार में हे देवि, मेरी रक्षा कीजिए। इन भावनाओं के साथ प्रज्ञावान साधक कुण्डलिनी महाशक्ति का ध्यान एवं स्तवन करें।

कुण्डलिनी जागरण से व्यक्तित्व में क्रान्ति :

परब्रम्हा को जहां सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, निर्विकार और निर्लिप्त कहा जाता है, वहीं उसे निष्क्रिय भी माना गया है। निष्क्रिय अर्थात् गुम–सुम बैठा रहने वाला, जिसकी न कोई इच्छा है और न कोई आकांक्षा ऐसा ब्रम्हा विश्व के सृजन और पालन का उत्तरदायित्व भला कैसे पूरा कर सकता था। इसलिए उसे जागृत करने की आवश्यकता पड़ी। उस आवश्यकता की पूर्ति उसकी शक्ति ने की। यह शक्ति या शिवत्तव ही ब्रम्हा को क्रियाशील बनाती है।

परब्रम्हा की भांति उसका अंश आत्मा भी सर्व शक्तिमान, निर्विकार और निर्लिप्त होने के साथ–साथ निष्क्रिय भी है। सामान्य अवस्था में वह प्रसुप्त ही रहती है। लेकिन जब उसकी शक्ति जागृत हो जाती है तो साधारण दिखाई देने वाला मनुष्य भी असाधारण और असामान्य क्षमता संपन्न दिखाई पड़ने लगता हैं। आत्मा को प्रसुप्तावस्था से जागृत कर व्यक्ति को असाधारण शक्ति संपन्न बना देने वाली शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। उसका स्थान काय कलेवर में मेरूदण्ड के अंतिम भाग में स्थित मूलाधार चक्र माना जाता है। इस संस्थान को आंखों या विज्ञान के यंत्रों से नहीं देखा जा सकता। वहां

तक पहुंचने और उस स्थान को उद्दीप्त कर जागृत करने में केवल भारतीय योग विद्या ही समर्थ हैं।

गुदा क्षेत्र में सोई कुण्डलिनी दो धाराओं इड़ा और पिंगला (यह नाड़ियां ऋण विद्युत और धन विद्युत के समान ही होती हैं, पर उस प्राण–विद्युत और इस दृष्टिगत विद्युत के आण्विक स्वरूप में अन्तर है) में होकर उपर को उठती है और मस्तिष्क में जाकर मूढ़ ब्रम्हा की चेतना को झकझोरती है। कुण्डलिनी यदि जागृत नही है तो इड़ा और पिंगला अपने सामान्य परिवेश में ही कार्य करती है उसी प्रकार मष्तिष्क भी सामान्य ढीले–पोलो काम करता रहता है, पर जागृत कुण्डलिनी के आवेश को सम्भालना तो मस्तिष्क के लिए भी कठिन हो जाता है। फिर वह बैठा नहीं रह सकता। कुछ न कुछ उछल कूद, तोड़–फोड़, बनाव श्रृंगार उसे करना ही पड़ता है। जिस व्यक्ति की कुण्डलिनी जाग जाती है वह जागृत अवस्था की तरह गम्भीर निद्रावस्था में भी उतना ही सचेतन रहता है। उसकी स्वप्न और जागृति में कोई अन्तर नहीं आता। जिस तरह जागृत अवस्था में वह किसी से बातचीत करता सुनता, सोचता, विचारता प्रेरणा देता, सहायता, सहयोग देता रहता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी उसकी गतिविधियां चला करती हैं। उस अवस्था में वह किसी का भला भी कर सकता है ओर नई–नई जानकारियों के लिये अन्य ब्रम्हाण्डों में सैर के लिए भी जा सकता है। अन्य ब्रम्हाण्डों का अर्थ विशुद्ध रूप से सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, हर्शल, प्लूटो आदि से है। यह आश्चर्य करने वाली बात उसके लिये बिल्कुल साधारण और सामान्य होती है। साधना में लीन व्यक्तियों को कभी–कभी रात में ऐसे कुछ स्वप्न हो जाते हैं जिसमें उन्हें किसी भविष्य की घटना का पूर्वाभास मिल जाता है या किसी गोपनीय रहस्य का पता चल जाता है। वह कुण्डलिनी की ही शक्ति होती है।

हमारी धरती गोलाकार है। उसके केन्द्र में अति गर्मी है जिससे वहां की सब वस्तुयें और धातुयें गली हुई तरल स्थिति में होती हैं। मूलाधार की वह गांठ, जहां मेरूदण्ड समाप्त होता है और जिसे अनेक नाड़ी गुच्छकों ने बांध रखा है, का भेदन किया जाय तो वहां अत्यन्त तेजस्वी और उष्ण शक्ति मिलती है, यही कुण्डलिनी है।

जब कुण्डलिनी जागृत हो जाती है तो इड़ा और पिंगला समान गति से ऊर्ध्वगामी हो जाती हैं और एक तीसरी धारा सुषुम्ना का आविर्भाव होता है उससे ऊर्ध्वमुखी लोकों की अनुभूति और गमन का सुख मिलता है। यह

सुख सम्भोग सुख जैसा होता है पर सम्भोग का सुख क्षणिक होता है, जबकि ऊर्ध्वमुखी आध्यात्मिक सुख का रसास्वादन निरन्तर किया जा सकता है, पर उसके लिए कुण्डलिनी को जगाना आवश्यक हो जाता है। कुण्डलिनी जगाने का अर्थ भीतर गोलों की कुण्डलिनी को सक्रिय करना है। पवित्रता के बिना यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता इसलिए कुण्डलिनी जागरण की विद्या को गुप्त रखा गया है।

कुण्डलिनी के दो उत्पत्ति स्थान माने गये है। एक सूर्य के केन्द्र में निवास करने वाली पुरूष रूपी और दूसरी स्त्री रूप में पृथ्वी केन्द्र में। पृथ्वी केन्द्र में कुण्डलिनी को प्राणधारियों की जीवन सत्ता का केन्द्र कह सकते हैं। यह दरअसल सूर्य कुण्डलिनी का ही बीज है। कहा जाता है कि संसार में जो कुछ भी प्रकट अप्रकट है वह बीज रूप से देह में विद्यमान है। सूर्य भी कुण्डलिनी के रूप में शरीर में बैठा हुआ है और मूलाधार ग्रन्थि का विकास होता है तो उसमें सूर्य का प्राण प्रतिष्ठित हो जाता है और उसकी जागृत अवस्था सूर्य जैसी हो जाती है। अर्थात् उसमें मनुष्य की शक्ति सूर्य जैसी शक्ति वाली, सर्वव्यापी सर्व समर्थ हो जाती है फिर उस शक्ति का नियन्त्रण करना कठिन हो जाता है। कमजोर मन और शरीर वाले उस शक्ति को धारण नहीं सकते।

गायत्री का देवता सविता है और कुण्डलिनी की प्रतिनिध शक्ति भी सूर्य ही है इसलिये गायत्री उपासना का सीधा प्रभाव मेंरूदण्ड से होकर इस गुदा क्षेत्र में ही पड़ता है। ऊपर से उतरने वाला प्राण प्रवाह पहले यहीं पहुंचता है और फिर गुच्छकों के द्वारा सारे शरीर में संचित होता रहता है। जितना अधिक साधन का विकास होता है उतना ही प्राण शक्ति का अभिवर्द्धन और उसी अनुपात से कुण्डलिनी जागृत होती है। यह प्रकाश धीरे–धीरे नेत्र, वाणी, मुख और ललाट आदि सम्पूर्ण शरीर में चमकने लगता है। त्वचा में यही कोमलता और बुद्धि में सात्विकता एवं पवित्रता की अभिवृद्धि करता है। यह क्रिया धीरे–धीरे होती है इसलिये हानि की भी आशंका नहीं रहती। उपासक अपने आत्म–कल्याण भर के संकेत प्राप्त करता हुआ जो वास्तविक लक्ष्य है वह जीवन–मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।

सविता लोक से आने वाले प्राणकण यद्यपि बहुत छोटे होते हैं, किन्तु इतने प्रकाशमय होते हैं कि बिना दिव्य–दृष्टि के भी उन्हें देखा जा सकता है। आसमान की ओर देखने पर वायु में छोटे–छोटे प्रकाश के कण अति

शीघ्रता से चारों और उछलते हुए दीख पड़ते हैं। यह प्राणकण ही हैं। यह कण सात ईथर कणों से विनिर्मित होता है। यह प्राण–कण सफेद होता पर ईथर के सातों अणु सात रंगों के बने होते हैं। सूर्य भी सात रंगों का प्रकाश है। नाभि–चक्र में घुसने पर यह रंग अलग–अलग होकर अपने क्रिया क्षेत्र में बंट जाते हैं। नीला और लाल रंग मिली हुई हल्की बैंगनी (बायोलेट) और नीली किरणें कंठ में चली जाती है और हल्की नीली कण्ठ चक्र में। यह दोनों गले को शुद्ध रखती हैं और वाणी को मधुर बनाती हैं। कासनी और गहरी नीली मस्तिष्क में चली जाती है उससे विचार, भक्ति और वैराग्य के गुणों का आविर्भाव होता है। गहरा नीला मगज के निचले और मध्य भाग तथा नीला रंग सहस्त्रार का पोषण करता है।

पीली किरणें हृदय में प्रवेश करती हैं। उससे रक्तकणों की शक्ति और स्निग्धता बढ़ती है। शरीर सुन्दर बनता है। यही किरणें बाद में मस्तिष्क को चली जाती है जिससे विचार और भावनाओं का समन्वय होता है।

हरी किरणें पेट की अन्तड़ियों में कार्य करती हैं। इससे पाचन क्रिया सशक्त बनती है। गुलाबी किरणें ज्ञान तन्तुओं के साथ सारे शरीर में फैलती हैं। आरोग्य की दृष्टि से इन किरणों का बड़ा भारी महत्व है इनकी बहुतायतें वाला व्यक्ति किसी को भी हाथ रखकर स्वस्थ्य कर सकता है। देवदारू और यूकेलिप्टस वृक्ष में इन किरणों की बहुतायत होती है जिससे उनकी छाया भी बहुत आरोग्यवर्धक होती है। नारंगी लाल किरणें जननेन्द्रियों तक पहुंचकर गुदा वाले रोग ठीक कर देती हैं और शरीर की गर्मी में सन्तुलन रखती हैं। हल्की बैंगनी किरणें भी यहां आकर इस क्रिया में हाथ बंटाती हैं। यदि कामवासना पर नियन्त्रण रखा जा सके तो इन किरणों को ही मस्तिष्क में भेजकर भविष्य ज्ञान, दूरदर्शन श्रवण आदि चमत्कार प्राप्त किये जा सकते हैं।

इस प्रकार कुण्डलिनी जागरण से आंतरिक कलेवर में आमूल चूल परिवर्तन आ जाता है। इस जागरण से व्यक्तित्व में गुण, कर्म स्वभाव, संस्कार, दृष्टिगोचर, विवेक, प्रभाव, प्रतिभा, मनोबल, आत्मबल आदि की जो विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं, उन्हें चेतना तत्व से भाव संवेदन की उपलब्धि माननी चाहिए। इसका केन्द्र मस्तिष्क स्थित सहस्त्रार कमल है। कालाग्नि यहीं शिव स्वरूप विद्यमान है। व्यक्तित्व की भावनात्मक चेतनात्मक प्रखरता एवं शरीर की असामान्य क्रियाशीलता–आत्म विद्या के दो लाभ कहे गये हैं।

इन्हीं को विभूतियां और सिद्धियां भी कहते हैं। विभूतियां मस्तिष्क केन्द्र से (ज्ञान संस्थान से) भाव ब्रम्ह से प्रसूत होती है और सिद्धियां काम केन्द्र से, शक्ति निर्झर से, कुण्ड कुण्डलिनी से प्रादूर्भूत होती हैं। इन दोनों शक्ति केन्द्रों को मानवीय अस्तित्व के दो ध्रुव मानना चाहिए। पृथ्वी के दो सिरों पर उत्तरी दक्षिणी दो ध्रुव है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क केन्द्र उत्तरी ध्रुव और काम केन्द्र दक्षिणी ध्रुव कहा जा सकता है। इन केन्द्रों में सन्निहित असंख्यों दिव्य क्षमताओं का उन्नयन प्रगटीकरण एवं उपयोग कुण्डलिनी जागरण से हो सकता है।

वस्तुतः कुण्डलिनी जागरण का उद्धेश्य मूलाधार से सहस्त्रार, कामबीज से ब्रम्हबीज तक पहुंचने का है। उन दोनों की असीम एवं अनन्त जानकारी प्राप्त करने और उन सामर्थों को जीवन विकास के अन्तरंग और बहिरंग क्षेत्रों में ठीक तरह प्रयोग कर सकने की विद्या का नाम ही कुण्डलिनी विज्ञान है। इस साधना में एक प्रकार से शरीर में प्राण और संकल्प के आघात से परमाणु ऊर्जा उत्पन्न की जाती है और उसका नियंत्रण नियमन किया जाता है। मूर्धन्य वैज्ञानिक एवं अनुसंधानकर्ता प्रो. वीन वेजसेकर ने कुण्डलिनी जागरण में प्राण तत्व के नियंत्रण और नियमन पर अधिक बल दिया है। उनका कथन है कि इसकी संगति भौतिक विज्ञान के क्वांटम सिद्धान्त से बिठाई जा सकती है। दोनों के परमाणु सूक्ष्म स्तर के होते हैं। सूक्ष्म शरीर का प्राण प्रवाह ही कुण्डलिनी है। षट्चक्रों को जगाने–वेधन करने की क्षमता इसी प्राण–शक्ति में होती है। इसलिए भौतिक एवं आत्मिक प्रगति के लिए इसके शोधन, परिष्कार एवं उन्नयन के विविध विधि साधना विधानों को अपनाने का योगशास्त्रों में उल्लेख मिलता है।

योग उपनिषद् में कहा गया है कि "कुण्डलिनी शक्ति जो कुण्डलित स्थिति में मानवी काया में विद्यमान है, यदि उसके जागरण का सही रूप से अभ्यास उच्चस्तरीय उद्धेश्यों के लिए किया जाय तो ही वह शक्ति ठीक रूप से विकसित हो सकती है अन्यथा विपरीत प्रभाव उत्पन्न करती है।" स्टडीज ऑफ रीवेज एण्ड सेक्स नामक पुस्तक के मूर्धन्य लेखक श्री क्राबेल का कहना है कि "कुण्डलिनी जागरण का मूलभूत आधार जीवन की पवित्रता है। यह साधक के शारीरिक गठन तथा गुण, कर्म, स्वभाव से प्राप्त होता है।" प्राचीन काल के भारतीय योगी एवं संत–महात्मा इसके प्रमाण हैं। आध्यात्मिक नियमों का निष्ठापूर्वक परिपालन करते रहने से एक निश्चल पवित्रता का

विकास होता है जो कुण्डलिनी जागरण के लिए अत्यधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। इसी के आधार पर उनने जाना था कि मेंरूदण्ड के नीचे अन्तिम छोर पर इस मानव ढांचे में इतनी रहस्यपूर्ण दिव्य ऊर्जा विद्यमान है। षट्चक्र निरूपण में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है –''कृजन्नी कुल कुण्डली च मधुर सा मूलाम्बुज गह्वरे विलसति अर्थात् कुण्डलिनी मधुर कूजन करती है। श्वास–प्रश्वास का प्रवर्तन करती हुई वह संसार के जीवों को प्राण धारण कराती है तथा मूलाधार पद्म–गह्वर में विलास करती है। जीवन में बाह्याभ्यांतर शुचिता–पवित्रता का समावेश करके ही इसे जाना और पाया जा सकता है।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री ओवेलान ने अपनी कृति द सर्पेन्ट पावर'' में कहा है कि कुण्डलिनी शक्ति का अभिव्यक्तीकरण सृजनात्मक शक्ति के रूप में सभी मानवों में दृष्टिगोचर होता है। मानवी काया में यह महाशक्ति एक दैवी बीज के रूप में विद्यमान है, जो कालान्तर में गहन अभ्यास के द्वारा पुष्पित और पल्लवित होती है। यदि एक बार भी यह शक्ति जागृत हो गई और क्रिया–कलापों में आ गई तो साइकिक नर्व से होती हुई मस्तिष्क के सहस्त्रार अर्थात् सहस्त्र दल कमल में प्रवेश करती है। इसके जागरण और संचालन से समस्त आध्यात्मिक शक्तियां जागृत हो उठती हैं और सामान्य मनुष्य को असामान्य स्तर का महामानव–देवपुरूष की श्रेणी में पहुंचा देती है। मूर्धन्य लेखक श्री वेले ने अपनी पुस्तक ''ए ट्रीटीज ऑनि कास्तिक फायर'' में लिखा है कि मेरूदण्ड स्थित कुण्डलिनी शक्ति का जब ऊर्जा के रूप में रूपान्तरण होता है। तो मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके जागरण और कुण्डलित सर्पणी के खुलने से मानव जाति का उत्थान श्रेष्ठता और महानता में परिणित होता है। वेले का कथन है कि कुण्डलिनी जागरण की पद्धति विकासात्मक नहीं वरन् प्रयासात्मक है। साधक को बड़े धैर्यपूर्वक कई वर्षों तक इसका निरंतर नियमित अभ्यास करना पड़ता है। साथ ही शारीरिक मानसिक एवं वैचारिक पवित्रता का बहुत ध्यान रखना पड़ता है, तभी वह लक्ष्य तक पहुंच सकता हैं पवित्रता का अंश जितनी मात्रा में विकसित होता है उसी अनुपात से उत्कृष्टता बढ़ती है और साधक को लक्ष्य के समीप पहुंचाती है।

इसी प्रकार प्रख्यात लेखक श्री लेडवीटर ने अपनी पुस्तक दी चक्रज में बतलाया है कि आचार और व्यवहार की पवित्रता के बिना उत्कृष्ट क्षमता के

इस शक्ति के जागरण के सभी प्रयास विफल हो जाते हैं। अतः इसके लिए कठोर अनुशासनात्मक जीवन–यापक करना अनिवार्य होता है। मूर्धन्य लेखक श्री प्रेसे ने अपनी कृति ' द एपोकेलिप्स अनसील्ड' में चेतावनी देते हुए लिखा है कि कुण्डलिनी जागरण एवं उसके विकास में बड़े गंभीर और भयानक खतरे भी जुड़े हुए हैं। पवित्रता के अभाव में यदि साधक का झुकाव सांसारिकता की ओर होता है तो वह पतनोन्मुखी हो जाती है और कामवासना तथा बुरे विचारों के माध्यम से जीवन को अधोगमिता की ओर ले जाती है। ऐसी स्थिति में सृजन शक्तियां दुर्बल और घटिया बनती चलती हैं। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति इसका अभ्यास करने और जागृत कर पाने में सर्वथा असफल पाये जाते हैं, किन्तु जो श्रेष्ठ मार्ग पर अवलम्बित होते हैं, तथा कठोर नियमों एवं सयंम का जीवन में परिपालन करते हैं वे चमत्कारी शक्तियों के भाण्डागार बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं, किन्तु समाज के लिए–मानव जाति के लिए वे हर दृष्टि से उपयोगी और महत्वपूर्ण होते हैं। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए विद्वान लेखक एग्यूटरा ने 'निकाया' नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि प्राचीन तत्वज्ञान के साहित्य का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जाति का उत्थान करने एवं उसे उत्कृष्ट बनाने में यह सर्पिणी शक्ति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। समाज में संव्याप्त बुराइयों और दुगुर्णों के निदान के लिय यह सबसे बड़ा पवित्र और सुनिश्चत मार्ग है, परन्तु इसका लाभ तभी कोई व्यक्ति ले सकता है जब वह अपने अंतर्तम निहित सविमों को परिशोधन एवं पवित्र बना ले।

प्रसिद्ध पुस्तक द एस्ट्रल बॉड़ी एण्ड अदर एस्ट्र फेनमिना'' में लेखक आर्थर ई. पावेल ने कहा है कि ''कुण्डलिनी जागरण की अभ्यास प्रक्रिया में मादक एवं नशीली वस्तुओं का सेवन करना अत्यन्त अनर्थकारी होता है। इससे षट्चक्रों के प्राण तत्व दूषित हो जाते हैं और उनकी झिल्लियां फट जाती हैं। दूषित तत्वों के प्रवाह से उनमें कड़ापन आ जाता है। जिससे सूक्ष्म तत्वों के प्रवाह में भी बाधा उत्पन्न हो जाती है और चक्रों का प्राण तत्व विकृत शक्तियों के प्रभाव में आ जाता है। इससे मनोविकृतियां पागलपन, कम्पन जैसी अनेकानेक बीमारियां प्रकट होने लगती हें और साधक स्वार्थी, हिंसक एवं पशुओं जैसा व्यवहार करने वाला बन जाता है। इसी तरह सामान्य लोगों के चक्रों में शुद्ध सूक्ष्म तत्वों का प्रवाह अवरूद्ध होने के कारण उनकी प्राण चेतना में निम्नस्तरीय परमाणुओं का ही प्रवाह होता रहता है जो उनकी चेतना

को अशुद्ध एवं विकृत बना देता है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागृत हो जाने पर कभी–कभी असामयिक घटनायें भी घटित हो जाती हैं जिनसे साधक को सदैव सावधान रहना चाहिए। मस्तिष्क में महात्वाकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। जो सम्पूर्ण काय संस्थान को उभार देती हैं अहंकार के जागृत हो जाने पर साधक का पतन हो जाता है। शारीरिक मानसिक शक्तियों का उभार,उनकी जागृति, योगियों को जहां स्वतन्त्रता प्रदान करती है आगे का मार्ग प्रशस्त करती है, वही मूर्खों के लिए बन्धन का करण बन जाती है। शारीरिक मानसिक एवं वैचारिक पवित्रता ही आधार है जो लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है।

कुण्डलिनी साधना का मर्म एवं आवश्यक मार्गदर्शन :

पदार्थो में से प्रत्येक का अपना–अपना प्रत्यक्ष प्रकट एवं अप्रत्यक्ष अप्रकट रूप है। सोना एक मूल्यवान धातु है। यह जमीन से मिट्टी मिली कच्चे अयस्क के रूप में निकलती है, परन्तु उसे परिशोधन के उपरान्त बाजार में महंगे मोल में खरीदा जाता है, सुन्दर आभूषण बनते हैं। पर जब उसे रासायनिक क्रियाओं द्वारा स्वर्ण भस्म के रूप में विकसित किया जाता है तो उसके गुणों में अद्भुत विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। वह दुर्बल शरीर को बलिष्ठ एवं दीर्घायु बनाने के काम आती है। यही विशेषताएं अन्य धातुओं में भी हैं। सामान्यतया उनके उपरकण बनते हैं पर शोधन–सूक्ष्मीकरण के उपरान्त वे रस–भस्मों के रूप में अपनी रहस्यमयी विशेषताएं प्रकट करती है। रेत के परमाणुओं का सूक्ष्म अंश अणुशक्ति उत्पादन करने के काम आता है, जिससे बिजली, विकिरण, किरणें, तथा आयुध बनते हैं। यह स्थूल का सूक्ष्मीकरण है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि स्थूल की तुलना में सूक्ष्म में अगणित शक्ति होती है। मिट्टी के ढेले की तुलना में अणु–विस्फोट गजब का काम करता है। शरीर की तुलना में मनोबल की महता अत्यधिक है। पानी से भाप की समर्थता कई गुनी है। आत्मा अदृश्य है तो भी वह विकसित हो महापुरूष ऋषि, देवात्मा, एवं अवतारों के रूप में प्रकट होती है।

मानवी सत्ता का सूक्ष्मीकरण भी इसी प्रकार योग और तप के माध्यम से हो सकता है। तपस्वी अपनी शरीरगत दिव्य क्षमताओं को जगाता है। भाप से रेल चलती है और बासों के घषर्ण से दावानल प्रकट होती है। तपस्या की साधनात्मक विधि–व्यवस्था से यही प्रभाव उत्पन्न होता है। आतिशी शीशे

पर बिखरी हुई सूर्य किरणें जब एक बिन्दु पर एकत्रित की जाती हैं तो उतने भर से अग्नि की ऊर्जा दृश्यमान होने लगती है। तपश्चर्या का साधना का प्रतिफल ऐसा ही होता है।

योग से मनुष्य की तुच्छता, दिव्य लोक की महानता के साथ जुड़ती है और उस गठबंधन का परिणाम होता है – लघु और महान का एकीकरण। बिजली से जुड़ जाने पर सभी तार शक्ति शाली हो जाते हैं और अपने लिए नियोजित कार्य उस उपलब्ध शक्ति के सहारे सम्पन्न करने लगते हैं। बड़ी टंकी के साथ जुड़े हुए सभी नल तब तक पानी देते रहते हैं, जब तक टंकी भरी रहती हैं स्पष्ट है कि दिव्य चेतना की टंकी कभी खाली नहीं होती है और उसके साथ जुड़ा हुआ नल तब तक पानी फेंकता रहता है, जब तक कि कोई भारी व्यवधान बीच में आकर खड़ा न हो जाय। परब्रम्ह की दिव्य चेतना को मानवी अंश चेतना जब धारण करती है तो उसे नर से नारायण, पुरूष से पुरूषोत्तम, तुच्छ से महान बनने में देर नहीं लगती। कलेवर का विस्तार अपने साथ क्षमता को भी बढ़ाता चलता है। शेर की तुलना में हाथी का आकार ही नहीं, बल भी अधिक होता है। बच्चे की तुलना में तरूण का आकार ही बड़ा नहीं होता वरन् उसकी कार्यक्षमता भी उसी अनुपात से बढ़ जाती है। साधक की साधना उसे सिद्ध बना देती हैं।

साधनाएं इसीलिए सफल नहीं होती क्योंकि उनमें आत्मसंयम चरित्र का प्रखरीकरण और व्यवहार में उदार, सेवा–साधना का समन्वय नहीं होता। खाद पानी और रखवाली के बिना बोया हुआ बीज विशालकाय वृक्ष कैसे बने? यह तथ्य कुण्डलिनी साधना प्रकरण पर पूरी तरह लागू होता है।

कुण्डलिनी जागरण से तात्पर्य–चेतना के अन्तराल में छिपी हुई दिव्य शक्तियों का जागरण प्रचण्डीकरण। यह तीनों शरीरों में विभिन्न प्रयोजनों के लिये विभिन्न प्रकार से सम्पन्न हो सकता है।

उपाय–उपचारों की विदित और अनुभूत संख्या 14 पाई गई हैं इन 14 विभूतियों की समुद्र मंथन से निकले 14 रत्नों के साथ तुलना की जाती है। इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। स्थूल शरीर में मूलाधार से लेकर मेरूदण्ड प्रदेश से आगे बढ़ते हुये सहस्त्रार कमल, ब्रम्हारन्ध्र तक जा पहुंचने वाला षट्चक्र समूह इन्हें भौतिक क्षेत्र की समृद्धियों के उत्पादन और अवरोधों के निवारण के काम आने वाला सशक्त माध्यम कहा जा सकता है। इनकी सिद्धियां मनुष्य को सशक्त, समृद्ध और प्रचंड–पराक्रमी बनाती है।

इस आधार पर साधक सामान्यजनों की तुलना में कहीं अधिक सशंक्त हो जाता है। हमारी इन्द्रियां बहिर्मुखी ही नहीं रहती, अन्तर्मुखी होकर व्यापक क्षेत्र में भी काम करने लगती हैं। जो दृश्य आंखों से नहीं देखे जा सकते, वे दिव्य दृष्टि के जागने पर दीख पड़ते हैं। यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध ा में भी है। दूरदर्शन, दूरश्रदण, विचार संप्रेषण, पदार्थ संचालन प्राण प्रवाह, शक्तिपात, भविष्य ज्ञान जैसी स्थूल जगत से सम्बन्धित सिद्धियां स्थूल शरीर के क्षेत्र की कुण्डलिनी जगाने पर उपलब्ध होती हैं। ओजस् तेजस् और वर्चस् की बड़ी मात्रा का भी उपार्जन इस माध्यम से हो जाता है।

सूक्ष्म शरीर का कुण्डलिनी जागरण पंच कोशों के आधार पर होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश चेतना पर चढ़ी हुई पांच परते हैं। उनमें पंच तत्वों का पंच प्राणों का समीकरण है। इन्हें पांच लोक या पांच आयाम भी कह सकते हैं। इन क्षमताओं के विकसित होने पर साधक अदृश्य जगत से जुड़ जाता है। सर्व–साधारण की जानकारी तो दृश्यमान पदार्थ जगत तक ही सीमित होती है, किन्तु सूक्ष्म शरीर की कुण्डलिनी जगाने पर मनुष्य का सम्बन्ध अदृश्य जगत से बन जाता है। उसके निवासी पितरों, देवों के साथ उसका स्नेह सम्बन्ध जुड़ता और आदान प्रदान का क्रम चल पड़ता है। वह प्रकृति के रहस्यों से अवगत होता है। भविष्य की संभावनाएं जिस प्रकार पक रही हैं,उनका पूर्वाभास भी उसे मिल जाता है। इस जानकारी के आधार पर तद्नुरूप प्रबन्ध करके अनुकूलताओं से लाभ उठाया जा सकता है। और प्रतिकूलताओं को निरस्त किया जा सकता है। जनमानसय में अभीष्ट आवेश भरे जा सकते हैं और लोक प्रवाह को मोड़ा–मरोड़ा जा सकता है।

कारण शरीर के तीन प्रयोग हैं, उन्हें "ग्रन्थि भेद" कहते हैं। मस्तक मध्य में ब्रम्ह ग्रन्थि है, जिसे कैलाश पर्वत अथवा क्षीर सागर कहा जाता है। उसे ब्रहमाण्डीय शक्तियों के साथ आदान–प्रदान में निरत ध्रुवकेन्द्र कहा जा सकता है। दूसरा हृदय देश में विष्णु चक्र है। उसे चेतना का अन्तराल कह सकते हैं। भाव संवेदनाओं का केन्द्र यही है। तुष्टि, तृष्ति और शान्ति यहीं मिलती है। अपने मानस को उच्चस्तरीय बनाने के अतिरिक्त दूसरों की समझ को भी समुचित मोड़ देना, इस विष्णु ग्रन्थि की शक्ति के सहारे ही बन पड़ता है। तीसरी ग्रन्थि है रूद्र ग्रन्थि। यह नाभि चक्र में है। शारीरिक स्वास्थ्य, प्रतिभा, प्रखरता, सशक्तता, साहसिकता, उत्पादन, अभिवर्धन जैसे अनेकों

शक्ति स्त्रोत इस क्षेत्र में पाये जाते हैं। मूलाधार चक्र इसी गह्वर में है। कुण्डलिनी के चिर विश्राम का क्षेत्र यही है। उसे प्राण–प्रहार से ही जगाया ऊँचा उठाया और ब्रम्हलोक तक पहुंचाया जाता है।

स्थूल शरीर के छः चक्र, सूक्ष्म शरीर के पांच कोश–कारण शरीर की तीन ग्रन्थियां मिलकर चौदह बनते हैं। यही चौदह भुवन हैं। इनमें से सात ऊर्ध्वलोक हैं और सात अधः लोक। सात का उन्नयन अभ्युदय के लिए प्रयोग होता है; और सात का दुष्टता के दमन के लिए–संकट निवारण हेतु। मानवी सत्ता को ही समुद्र माना जाता है और उसे त्रिविधि कुण्डलिनी साधना द्वारा मथा जा सकता है। सही अर्थो में इसमें शरीर ही दैत्य है, और मन ही देव है। दोनों मिलकर जब तप योग की शाखा – प्रशाखाओं का अवलम्बन लेते हुए साधनारत होते हैं तो उपरोक्त 14 रत्नों को हस्तगत करते हैं। पौराणिक समुद्र मन्थन में इन्हीं का वर्णन विवेचन अलंकारिक रूप में किया गया है। मानवी सत्ता के पंच तत्वों और पांच प्राणों से बने हुए कलेवर को समुद्र जितना गहरा और विशाल रत्नाकर माना गया है। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए हमें कहीं अन्यत्र बाहर जाने की आश्यकता नहीं। जो चाहिए सो भीतर ही विद्यमान है। उसे बाहर क्यों ढूँढ़ा जाय?कस्तूरी हिरन की तरह अपनी नाभि में ही क्यों न तलाश लिया जाय?

संक्षेप में यही है–कुण्डलिनी विज्ञान की रूपरेखा जिसका इस अंक के विगत पृष्ठों में परिचय, विवरण–विधान का संकेत दिया गया है। पर इन चौदह विधानों में से किसी की भी समग्र रूपरेखा जानबूझ, कर प्रस्तुत नहीं की गयी है। क्योंकि यह अणु विस्फोट जैसा प्रयोग है। प्रयोग से पूर्व यह जानना पड़ता है कि किस स्थिति का, कौन व्यक्ति, किस प्रयोजन के लिए इसे प्रयुक्त करना चाह रहा है। यह विदित हुए बिना साधना 'आरम्भ कर देना बारूद के ढेर के साथ खिलवाड़ करने के समान है। गलत उपयोग से कर्ता की ऐसी हानि भी हो सकती है, जिसकी क्षतिपूर्ति न हो सके। नौसिखियों और असावधानों के लिए तो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग प्रज्ञायोग आदि सरल जीवन साधनाओं से भी काम चल सकता है। वे इतना ही कर लें तो बहुत है।

कुण्डलिनी विधान सीखने के लिए किसी को भी आतुरता नहीं अपनानी चाहिए और न उसका कोई सिरा पकड़कर पूर्णता तक पहुंचने की साध संजोना चाहिए। इस महान प्रयोग में से जितना जिसके लिए उचित और

आवश्यक है, उतना उसे सिखाते रहने की हमारी जिम्मेंदारी कम से कम एक शताब्दी तक बनी रहेगी उसे बताया और सिखाया जाता रहेगा। स्थूल शरीर न रहने पर भी हमारी सूक्ष्म सत्ता अपने सामयिक दायित्वों का निर्वाह भली प्रकार करती रहेगी।

किसी सत्पात्र को यह अनुभव न होने दिया जायगा कि सिखाने वाले के अभाव में हमारी आत्मिक प्रगति की उचित आवश्यकता कुण्डलिनी जागरण का विधान न मालूम होने के कारण इच्छा पूर्ति न हो सकी। जिस प्रकार दिव्य शक्तियों ने हम से 24 वर्ष में महापुरश्चरण पूरा कराया और तीन वर्ष में कठोर तप के माध्यम से देश की कुण्डलिनी जगाने का विधान ही नहीं बताया वरन् साथ देकर जो आवश्यक था, उसे पूरा करने का सरंजाम भी जुटाया। उसी प्रकार हम भी यह प्रयत्न करेंगे कि प्रज्ञा परिवार के परिजनों में से जो विशेष प्रयोजन के लिए विशेष आत्मबल संग्रहित करने के लिए कुण्डलिनी विज्ञान का आश्रय लेना चाहें,उनकी आवश्यकता को पूरी करने के लिए आवश्यक संयोग बिठाते एवं सरंजाम जुटाते रहें।

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबंध "कुण्डलिनी का स्वरूप और जागरण की प्रक्रिया" के प्रथम अध्याय में योग की परम्परा एवं इतिहास का वर्णन किया गया है। इसमें यह विवेचन किया गया है कि योग की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। इसको प्रारंभ किसने किया और कब किया इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन से कहा "इस योग का उपदेश सृष्टि के आरंभ में मैंने सूर्यदेवता विवस्वान को दिया उसने अपने पुत्र मनु को, मनु ने इच्छवाकु को बताया और फिर एक राजर्षियों की एक लम्बी परम्परा चली अंत में वह योग लुप्त हो गया उसी को आज मैने तुम्हारे सामने पुनः प्रकट किया है।" इसका तात्पर्य है कि स्वयं भगवान ने सृष्टि के प्रारंभ में ही योग की परम्परा की शुरूआत की थी।

किन्तु पतंजलि के योगशास्त्र में पृथ्वी को जिन्होने अपने मस्तक पर आधार दिया उस शेषनाग को योग के प्रारंभकर्ता के रूप में माना गया है। पतंजलि उन्ही शेषनाग के अवतार थें ऐसी मान्यता है। अतः योग की परम्परा पृथ्वी से भी पुरानी हो जाती है।

योग के इतिहास को पांच खण्डों में बांटा गया है इसमें सबसे प्रथम कालखंण्ड श्रुतिकाल था यह एक लम्बा समय था जो वेदो की रचना से लेकर बुद्ध भगवान के बाद लगभग दो शताब्दियों तक रहा। दूसरे कालखण्ड को दर्शनों का काल कहते है जिसमें विभिन्न भारतीय दर्शन के सूत्र गंथों की रचना हुई तृतीय काल खण्ड टीकाग्रंथों का काल यह तृतीय शताब्दि ईसवी से दसवी शताब्दि तक का था। इसके बाद चौथें काल खंण्ड में भक्ति व हठयोग इन दो धाराओं का विकास हुआ। इसके बाद उन्नीसवी शताब्दि के मध्य हम योग के इतिहास का आधुनिक काल मान सकते है।

इन पॉच काल खण्डों में योग का स्वरूप क्या था। उसका विकास एवं प्रचार किस प्रकार हुआ था। उसकी जानकारी हमें उसकाल के साहित्य से मिलती है। योग शब्द का तकनीकी अर्थ मन का आत्मा से आत्मा का परमात्मा से मिलन हो से है। यद्वपि वैदिक ऋचाओ में योग का यह अर्थ

दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु प्राचीन उपनिषदों में उक्त अर्थ का आर्विभाव हुआ। हम संदर्भ में कठोपनिषद, श्वेताश्वर आदि के नामों को उद्घत किया जा सकता है इस योग के आदि उपदेष्टा के रूप में हिरण्यगर्भ का नाम प्रतिष्ठित है हिरण्यगर्भ ने योग की क्या परिभाषा दी होगी? यह उल्लेख तो नहीं मिलता तो भी अन्यान्य ग्रंथों में योग की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती है जिसमें विभिन्न तत्वों को प्रधानता दी गई है। जैसे किसी में कर्म की, किसी में ज्ञान की, किसी में भक्ति की आदि। जिस परिभाषा में जिस तत्व को प्रधानता दी गई है उसी के आधार पर योग के अनेक प्रकार प्रकट हो गये। प्रमुख प्रकार राजयोग, भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, और हठयोग है। योग के विभिन्न प्रकार होने पर भी उनकी अपनी विशेषताएँ है किन्तु सभी की रीढ़ अभ्यास और वैराग्य ही है। आज के युग में जिस योग के प्रति आकर्षण बढ़ा है वह है हठयोग। इसका अर्थ है ह + ठ का मिलन अर्थात सूर्य और चंद्र का मिलन। याने दाये बाये नासापुटों में प्रवाहित प्राणवायु का मिलन। हठयोग की महत्वपूर्ण कृति हठयोग प्रदीपिका ने हठयोग के चार अंग मानकर आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादांनुसंधान का विवेचन होने के साथ ही यम नियम षट्कर्म और समाधि का भी वर्णन किया गया है।

आसन चौरासी लाख है किन्तु शास्त्रों में उनके सभी नाम प्राप्त नहीं होते तथा मात्र चौरासी मुख्य समझे गये है प्राणायाम के अभ्यास से चित्र के मल अर्थात क्लेश एवं कर्माशय दूर करके चित्त स्थिर किया जाता है। तथा मुद्रा अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी जागरण का प्रयत्न करके उसे मध्य नाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश करते है। मुद्रा का अभ्यास प्राणायाम सहित करते हुये कुण्डलिनी जागरण कर नादांनुसंधान का आश्रय लेकर मन को एकाग्र कर समाधि अवस्था प्राप्त करते है। यही हठयोग का परम लक्ष्य है।

द्वितीय अध्याय में कुण्डलिनी क्या है?उसकी वैज्ञानिक व्याख्या पौराणिक व्याख्या उसका स्वरूप और आधार व कुण्डलिनी का स्थान मानव शरीर में कहा है।? उसका विस्तृत वर्णन किया गया है। कैवल्य और विवेक ख्याति के अलावा कुण्डलिनी योग, योग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण श्रृखला कही जा सकती है, परंतु इतनी अधिक महत्वपूर्ण होते हुये भी यह संकल्पना अत्यंत अस्पष्ट और रहस्यमयी रहीं है। यह महज आश्चर्य ही है ग्रंथों में जो वर्णन मिले है उनसे तो लगता है कि वह शरीर का कोई अंग या अवयव हो किन्तु प्रत्यंक्ष में ऐसा कोई अंग दिखाई नहीं देता जिसके बारे में हम "यही

कुण्डलिनी है" ऐसा कह सके इस पर यह कहा जा सकता है कि वह तो शक्ति स्वरूप है, वस्तु स्वरूप नहीं। कुण्डलिनी के संबंध में एक विशेष बात यह है कि योग के सर्वप्रसिद्ध और प्रमुख दो ग्रथों अर्थात भगवद्गीता में तथा पतंजलि योगसूत्र में उसके संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलते। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि शयद षट्चक्र, इड़ा, पिडला एवं सुषुम्मा ये तीन नांड़िया तथा कुण्डलिनी शक्ति ये सभी संकल्पनाएँ मूलतः योग की न होकर तंत्र शास्त्र की थी। तंत्र से ही ये संकल्पनाएँ हठयोग से आयी होगी। हठयोग में इनका महत्व सर्वोपरि रहा। कुण्डलिनी के संबंध में शिवसहिता, दर्शनोपनिषद, षट्चक्र निरूपणम् आदि में इसका वर्णन मिलता है। इन सभी वर्णनों से ऐसा कह सकते है कि हमारी देह में साढ़े तीन गेंडुली बनाये मूलाधार के नीचे कटि प्रदेश में जो 'कंद' है उसमें विराजमान है इसके सोते रहने से व्यक्ति अगानी रहता है तथा जागने पर ज्ञानी हो जाता है। वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर निकल आये है कि शरीर में विभिन्न ज्ञानेद्रियों के केन्द्र स्थूल इंत्रियॉ नही वरन उससे भी सूक्ष्म और संवेदन शील कोई स्थान शरीर में है जिन्हें न तो यंत्रो के द्वारा पकड़ा जा सकता है और न स्थूल ऑखों से देखा जा सकता है। वे अत्यंत शक्तिशाली, महत्वपूर्ण और अनेक रहस्यो से परिपूर्ण है। शरीर में उसके जीव कोश, रसायन हारमोन, जीन्स आदि की अपनी सुविस्तृत व्यवस्था है। मूलाध ार मलमूत्र छित्रों के मध्य है इस स्थान की शल्य क्रिया करने पर जो नाड़ी गुच्छक पाया गया है उसे 'सेक्रलप्लेक्सस' कहते है इससे स्नायु प्रवाह माध्यम से प्रायः कामोत्तेजना उभरती रहती है और संतोनोत्पादन के लिए शुक्राणु डिम्बाणु प्रजनन अंगो में बनते रहते है। यही से ढाढ़ी मूछ, पौरूष, साहस, श्रमयोग्य कठोरता उभारने वाले हारमोन उत्पन्न होते है योगाभ्यास में इसे अग्निकुण्ड, कुण्डलिनी निवास आदि नाम दिया गया है।

कुण्डलिनी की पौराणिक व्याख्या मानव को देवताओं के समतुल्य कहा गया है हमसे देवताओं के जिस अंश का प्रत्यक्ष और सीधा संबंध है वह अंश अपने भीतर ही 'शक्ति बीजों' के रूप में विद्यमान रहता है। योग साधनाओं का प्रायोजन इन्ही 'शक्ति बीजों' को जागृत और समर्थ बनाना है प्राचीन काल में तपस्वियों द्वारा शाप और वरदान दे सकने की क्षमता इसी कुण्डलिनी जागृति का ही परिणाम हुआ करती थी। कुण्डलिनी शक्ति जागृत कर लेने वाला इंद्रियों को उसी तरह वश में कर लेता है, जिस तरह लगाम लगे हुए घोंड़ों को वस में कर लिया जाता है जिसने इंद्रियो को जीत लिया संसार

में उसको किसका भय। जो निर्भय हो गया वही विश्व विजेता हो गया।

कहना न होगा कि मनुष्य के स्थूल जीवन की नहीं व्यवहारिक जीवन की सफलता और समुन्नति का आधार भी कुण्डलिनी शक्ति ही है। कुण्डलिनी को भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है। जापान में 'की' चीन में 'ची' नाम से पुकारते है। ईसाई लोग होली–स्पिरिट तो हिन्दु 'चित्त शक्ति' कहते है देवी पूजक 'चिर कुमारी' तो तांत्रिक ऊर्ध्वरेतः शक्ति तथा योगी सर्प की कुण्डली की संज्ञा देते है।

तृतीय अध्याय में षट्चक्रों का वर्णन किया गया है। "चक्र" इनको "पद्म" या "कमल" इन शब्दों से भी कहा गया है कुण्डलिनी की भॉति चक्र भी रहस्यमय है इनको हम किसी अंग की तरह देख नहीं सकते शायद चक्र प्रतीकात्मक है। यद्वपि "षट्चक्र" इस शब्द के अनुसार इनकी संख्या छः होनी चाहिए फिर भी वे संख्या में कुल सात है। इनके नाम क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, चक्र, आज्ञा चक्र, और सहस्रार चक्र है प्रत्येक चक्र का अपना स्थान, एक निश्चित संख्या, रंग, बीज,, दलों की संख्या और अधिष्ठात्री देवता है। योगाचार्यो ने चक्रों को "कमल" नाम से सम्बोधित किया है जैसे ह्रदय कमल नाभि कमल, सहस्रार कमल आदि। अंग्रेजी में इसे 'प्लेक्सस' कहते है।

ये चक्र मेरूदण्ड के भीतर चित्रणी नाड़ी के मध्य में होते है कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर जब ब्रह्मनाड़ी से ऊपर की ओर बढ़ती है, तब उसके मार्ग में होने वाले ये चक्र खिल जाते है तथा उनके मुँह ऊपर हो जाते है षट्चक्र निरूपण ग्रंथ में मूलाधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र तक सात चक्रों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अनेक वैज्ञानिको ने अपनी पुस्तको या ग्रंथों में चक्रों को एनॉटामी की शब्दावली में समझाया है। चिकित्सा विज्ञान में मर्म स्थानों का विशेष महत्व बतलाया गया है जापान और चीन में एक्यूपंचर एवं एक्यूप्रेशर चिकित्सा प्रणाली का मूल आधार यही मर्म स्थान है। मर्म स्थानों पर तंत्रिका तंतु अधिक एकत्रित व सघन होते है तथा वे केन्द्र से एवं एक दूसरे से संबंधित भी होते है। मर्म स्थानों के अतिरिक्त शरीर में सात ऐसे प्रमुख केन्द्र है जिनमें प्राणशक्ति और अतीन्द्रिय क्षमताओं का अपान वैभव प्रसुप्त स्थिति में दबा पड़ा है इन स्थानों को चक्र या प्लेक्सस कहते है। इन केन्द्रों में ज्ञान तंतु अधिक मात्रा में उलझे रहते है। स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के मिलन स्थान पर चक्रों की उपस्थिति बतायी गई है। चक्रों की

जागृति मनुष्य के गुण कर्म न स्वभाव को प्रभावित करती है जब जाग्रत कुण्डलिनी चक्रो का भेदन करती हुई आज्ञाचक्र का भेदन करती है। तब प्रारंभ में कर्कश तथा बाद में मधुर ध्वनि सुनायी पड़ती है। यह ध्वनि अभौतिक अभूर्त होती है उसकी मधुरता से वशीभूत मन एकाग्र हो जाता है तथा उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है वह धीरे –धीरे आत्मस्थ हो जाता है उसे परम शांति मिल जाती है जो इस रहस्य को जान जाता है। वह ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त करता है, नर से नारायण बनने का अवसर प्रदान करता है।

इस शोध प्रबंध के चौथे अध्याय में कुण्डलिनी की प्रसुप्तावस्था, जाग्रतावस्था व उसकी जागृति से पूर्ण की तैयारी की विवेचना की गई है। घेरण्ड संहिता में प्रसुप्तावस्था का वर्णन इस प्रकार है "जब तक कुण्डलिनी देह में सोती रहती है, तब तक जीव पशु की तरह अज्ञानता में बंधा रहता है सत्य और असत्य कुछ भी नहीं जान पड़ता भले ही कोटि प्रकार से योगाभ्यास करें किंतु कभी सत्य ज्ञान को नहीं जान सकता।"

कुण्डलिनी जागृति की साधना के लिए मानव देह को मात्र मनोभूमि का ही परिशोधन नहीं, नाड़ी शोधन के लिए नेति, धौति, बस्ती, कपालभॉति, बज्रोली आदि की भी तैयारी करनी पड़ती है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर साधक संसार के प्रति अदासीन हो जाता है। तथा वह सर्वोच्च स्थित चेतना से संयुक्त हो जाता है जिसे शिव कहते है।

पंचम अध्याय में निष्कर्ष मिला कि समस्त विश्व के सम्मुख जितनी विकट समस्याएँ अभी सामने है वह पहले कभी देखने में नही आई। अणु–आयुधों का विस्तार, नक्षत्र युद्ध की आसन्न विभीषिका, चारो ओर संव्याप्त वैचारिक एवं पर्यावरण प्रदूषण, प्रकृति का असुतलन एवं मारक रोगों की भरमार, अपराध आतंक का काला साया चारों ओर व्याप्त है, संकटों का दानवी समुदाय एकत्रित होंकर संचित सभ्यता का विनास जिस प्रकार करने पर तुला है यदि उन्हे मनमानी करने दी जाए तो प्रलय के दृश्य प्रस्तुत हो सकते है इनकी रोकथाम आवश्यक है ऐसे में मार्गदर्शन के निर्देशानुसार एक ही उपाय शेष रहा है, कि बड़ी मात्रा में शक्ति का उपार्जन एवं तदुपरान्त विवरण हेतु स्वयं ही आगे आया जाए। और मार्ग बदलना है तो स्थिति के अनुरूप वह भी बदल लिया जाए।

सन् 1984 में वह परिवर्तन किया गया एकांत साधना–सावित्री साधना का अवलम्बन लिया गया। सावित्री साधना पंच कोशों के जागरण की

कुण्डलिनी जागरण की साधना है। जिस मार्ग दर्शक ने गायत्री साधना में हमें प्रवृत किया उसी ने सावित्री साधना का विधान बताया ताकि हमारे माध्यम से अन्य अनेक प्रसुप्त देवताओं का शक्ति जागरण हो वे वास्तविक स्वरूप को पहचाने और आत्मिक प्रगति के माध्यम से समष्टिगत हित साधक कर सकें। पिछले दिनों कुण्डलिनी विज्ञान का काफी अन्वेषण, पर्यवेक्षण, प्रयोग–परीक्षण, अध्ययन–अवगाहन चलता रहा है इस संदर्भ में नई पुरानी पुस्तको में चित्र विचित्र प्रकार के उल्लेख मिलते है।

वस्तुतः कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य मूलाधार से सहस्रार काम बीज से ब्रह्मबीज तक पहुॅचने का है। इन दोनों की असीम एवं अन्नत जानकारी प्राप्त करने और उन सामर्थो को जीवन विकास के अन्तरंग और बहिरंग क्षेत्रों में ठीक तरह प्रयोग कर सकने की विद्या का नाम ही कुण्डलिनी विज्ञान है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ कालिदास जोशी एवं डॉ गणेश शंकर – योग के सिद्धांत एवं अभ्यास।
2. डॉ कालिदास जोशी – व्यवहारिक योग।
3. अरूण कुमार सिंह – सामान्य मनोविज्ञान।
4. शांति प्रकाश आत्रेय – योग मनोविज्ञान।
5. डॉ गणेश शंकर – होलस्टिक एप्रोच ऑफ योग।
6. केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद – साधारण रोगों की यौगिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा।
7. स्वात्माराम – हठयोग प्रदीपिका।
8. डॉ राजेश दीक्षित – ह्यूमन एनॉटामी एण्ड साइकोलाजी।
9. गीता प्रेस गोरखपुर – श्रीमद्भागवत् गीता।
10. गीता प्रेस – कल्याण योगांक।
11. डॉ राजकुमारी पाण्डेय – योग के विविध आयाम।
12. नारायण प्रकाश एवं डॉ गणेश शंकर – स्वास्थ्य एवं योग।
13. खेमराज श्री कृष्ण दास – हठ योग प्रदीपिका प्रकाशन दिल्ली।
14. संपादकीय योग विद्या मार्च 1979 स्वामी सत्यानंद सरस्वती – आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध।
15. डॉ रामनाथ और डॉ रचना शर्मा – भारतीय मनोविज्ञान।

डा0 राकेश गिरी

जन्मः 2 मई 1957 (खुरजा, उत्तर प्रदेश)

शिक्षाः एम0एससी0, पीएच0डी0, स्नात्कोत्तर योग डिप्लोमा

1975 से योग शिक्षा में शिक्षण कार्य से सम्बंधित।

1977 से 2003 तक शासकीय योग संस्थान चण्डिगढ में योग शिक्षण एवं चिकित्सा कार्य।

2003 से गुरूकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के योग विज्ञान विभाग में शिक्षण कार्य।

योग एवं चिकित्सा के क्षेत्र में विपुल अनुसंधान (वैज्ञानिक तथा साहित्यिक)।

10 से अधिक शोध पत्र कार्य (वैज्ञानिक तथा साहित्यिक)

योग शिक्षा प्रचार प्रसार एवं योग प्रशिक्षण हेतु भारत एवं कई अन्य देशों (द0 कोरिया, इरान, आट्रिया, आदि) का भ्रमण।

योग के क्षेत्र में सराहनीय कार्यों के लिए अनेक राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय सम्मान।

विविध शासकीय एवं विश्वविद्यालयीन योग समितियों के सदस्य

पुरस्कृत परिचय

आत्मा की प्रसुप्तावस्था से जागृत कर व्यक्ति को असाधारण शक्ति संपन्न बना देने वाली शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। उसका स्थान काय कलेवर में मेरूदण्ड के अंतिम भाग में स्थित मूलाधार चक्र माना जाता है। इस संस्थान को आंखों या विज्ञान के यंत्रों से नहीं देखा जा सकता। वहां तक पहुंचने और उस स्थान को उद्दीप्त कर जागृत करने में केवल भारतीय योग विद्या ही समर्थ हैं।

कैवल्य और विवेक ख्याति के अलावा योग की यह शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण श्रृखंला कही जा सकती हे, परंतु इतनी अधिक महत्वपूर्ण होते हुये भी यह संकल्पना अत्यंत अस्पष्ट और रहस्यमयी रही है। यह महज आश्चर्य ही है। ग्रंथों में जो वर्णन मिलते है उन से तो लगता है, कि वह शरीर का कोई अंग या अवयव हो किंतु प्रत्यक्ष में ऐसा कोई अंग दिखाई नहीं देता जिसके बारे में हम "यही कुण्डलिनी है" ऐसा कह सके इस पर यह कहा जा सकता है कि वह तो शक्ति स्वरूप है, वस्तु स्वरूप नहीं। इसको आधार शक्ति, परमशक्ति, वाचाशक्ति आदि शब्दों से कह सकते हैं। कुण्डलिनी योग सध सके तो शारीरिक, बलिष्ठता, मानसिक प्रतिभा एवं आत्मिक वर्चस्व को असाधारण रूप से बढ़ाया जा सकना संभव है।

योग प्रशिक्षण केन्द्र, योग महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि के अलावा योग को शारीरिक शिक्षा महाविद्यालयो एवं विभागों में, शिक्षा महाविद्यालयों में योग पठन पाठन का अनिवार्य विषय बनाया गया है। स्नात्कोत्तर स्तर पर मनोविज्ञान, दर्शन एवं संस्कृत विषयों के अंतर्गत भी योगविषय को महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पढाया जाता है । अतः स्कूलों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और योग शिक्षक प्रशिक्षणालयों के विभिन्न स्तर के विद्यार्थिओं की आवश्यकताओं के अनुरूप कुण्डलिनी योग नामक इस पुस्तक के विविध अध्यायों में समुचित पाठ्यकमों को सरल और सहज भाषा में प्रस्तुत किया है। अन्त में आवश्यक विभिन्न चित्रों को भी दर्शाया गया है। योग के शिक्षकों, छात्रों, जिज्ञासुओं एवं सामान्य पाठकों को इसका अधिकाधिक लाभ प्राप्त होगा ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है

मूल्य रु. 100.00

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
N-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली-110059
Ph.: 25358642
E-mail : satyampub_2006@yahoo.com

ISBN 978-93-80190-68-6

शोरूम : 4378/4बी, 305, जे.एम.डी. हाऊस, मुरारीलाल स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 मो. 09968277749

(4)

Saraswat
Kundalini
Mahayog

सारस्वत कुण्डलिनी महायोग

डॉ. जे. सी भारतीय

शक्तिपात

सारस्वत

कुण्डलिनी महायोग

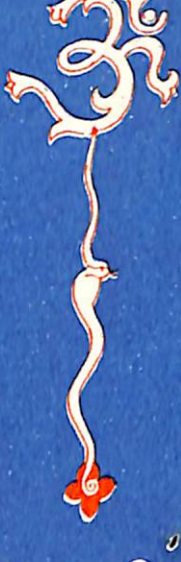

K-16

सारस्वत कुण्डलिनी महायोग शक्तिपात-शास्त्र

कृपा – प्राप्त

सारस्वत कुण्डलिनी महायोग

शक्ति पात शास्त्र

प्र० साहित्याचार्य

डॉ० जितेन्द्र चन्द्र भारतीय शास्त्री

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी० एच० डी०

साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

काव्यमनीषी

प्रकाशक –
निर्मोहीबन्धु प्रकाशन
सी० १०६५ , गोदानिकुञ्ज
महानगर,
लखनऊ – ६

(एक हजार प्रतियां)
द्वितीय संस्करण – १९९५

(सर्वाधिकार स्वाधीन)

मूल्य – २५१/– रू०

मुद्रक –
राम प्रिन्टिंग प्रेस
६५, नाला फतेहगंज,
अमीनाबाद,
लखनऊ – १८
दूरभाष : २७२०४८

।। श्री सद्गुरु चरण कमलेभ्यो नमः।।

आत्मप्रिय सुधी पाठक वृन्द !

ब्रह्मलीन सद्गुरू पितृश्री के साधना प्रसून का द्वितीय संस्कार पर्याप्त विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। यह एक सामान्य सी बात है कि जिनका वरद्हस्त सतत मेरे साथ रहा वे गुरूदेव वर्ष १९८६ में १८ जनवरी की प्रातः महा प्रयाण कर गये, उनकी कृपा के बिना तो मैं अपने को अपूर्ण ही पाता रहा हूँ। एक गहन अंधकार तब छा गया। फिर उन्हीं के वाक्य स्मरण हो आये और यह भी याद आया कि महापुरूष कभी भी विलीन नहीं होते, तिरोहित अवश्य ही हो जाते हैं। फिर से साधना कार्य में जुट गया। फिर उन्हीं के आर्शीवाद से इस शास्त्र के पुनः प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस गुरूतर कार्य में भी अनवरत् विध्न आते ही रहे, साधनों का अभाव भी बना रहा, लेकिन जैसे वे परीक्षा ले रहे थे, स्वयं ही साधन जुटा भी देते थे। अब ये सारस्वत शास्त्र आपके हाथों में है।

मेरे जन्म जन्मांतर के अर्जित पुण्पों का प्रताप था कि ऐसे घर में जन्म लिया, जहाँ पूर्वजन्मों के पुण्यों का प्रसून विकसित और सुरभित हो रहा था, साधना की गंध उनकी चतुर्दिक् फैलने लगी थी, लोक–कल्याण की भावना उनके जीवन का मुख्य अंग थी। साधना काल में अर्जित पूँजी को हमेशा सेवाभाव से लोक–कल्याण के लिए उन्होंने बाँटा। उनके संरक्षण में साधना में बैठकर अध्यात्मिक अनुभवों के अतिरिक्त मैं उनकी सारस्वत साधना यात्रा का प्रतिभागी भी बना। पुस्तक की रफ कापी तैयार करने से लेकर प्रेस तक की सारी यात्रा का संवाहक बनकर उसकी प्रत्येक बारीकी को जाना और समझा। तीन वर्ष तक का समय गुरूदेव के जीवन काल में गोरखमय रहने का था। इसी बीच इन उपलब्धियों को कतिपय लब्ध प्रतिष्ठ योगियों ने देखा और

सराहा। इस शास्त्र की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम ही है। अध्ययन करते ही करते इससे साधक में शक्तिपात हो जाया करता है, यह भी एक विचित्र लोकोत्तर संयोग है।

जिनकी कृपा व साधना के प्रसाद को आपको समर्पित कर रहा हूं। उन्हीं के श्रीचरणों में अपने श्रद्धासुमन अर्पित कर निवेदन है कि द्वितीय संस्करण के प्रकाशन सहयोग हेतु श्रद्धेय गुरूदेव के पौत्र श्री संजय शर्मा जिनके अथक प्रयास से पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो पाया।

भाई डा० मोहन चन्द्र भट्ट ने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया। साथ ही भाई डा० राधेश्याम शर्मा, संचालक त्रिपुरेश्वरी शक्तिपीठ रामपुर एवं भाई श्री वीरेन्द्र पाण्डेय की प्रेरणा से यह कार्य सम्पूर्ण हो सका। भाई श्री चन्द्र प्रकाश गोयल बहिन चन्द्र प्रभा भटनागर तथा भाई श्री शशि कान्त गोस्वामी को अपना आर्शीवाद प्रदान करें। इन सभी को सर्वविध अभ्युदय प्रदान करें।

अन्त में गुरूदेव के स्मरण पूर्वक सहित –
त्वदीयं वस्तु गोविन्द
तुभ्यमेव समर्पये।

विनीत

(डा० वी० के० शर्मा)
महामंत्री त्रिपुरेश्वरी शक्तिपीठ
प्रकाशक – निर्मोही बन्धु प्रकाशन
सी०–१०६५, गोदानिकुंज,
महानगर, लखनऊ।
दूरभाष : ३८५८३८

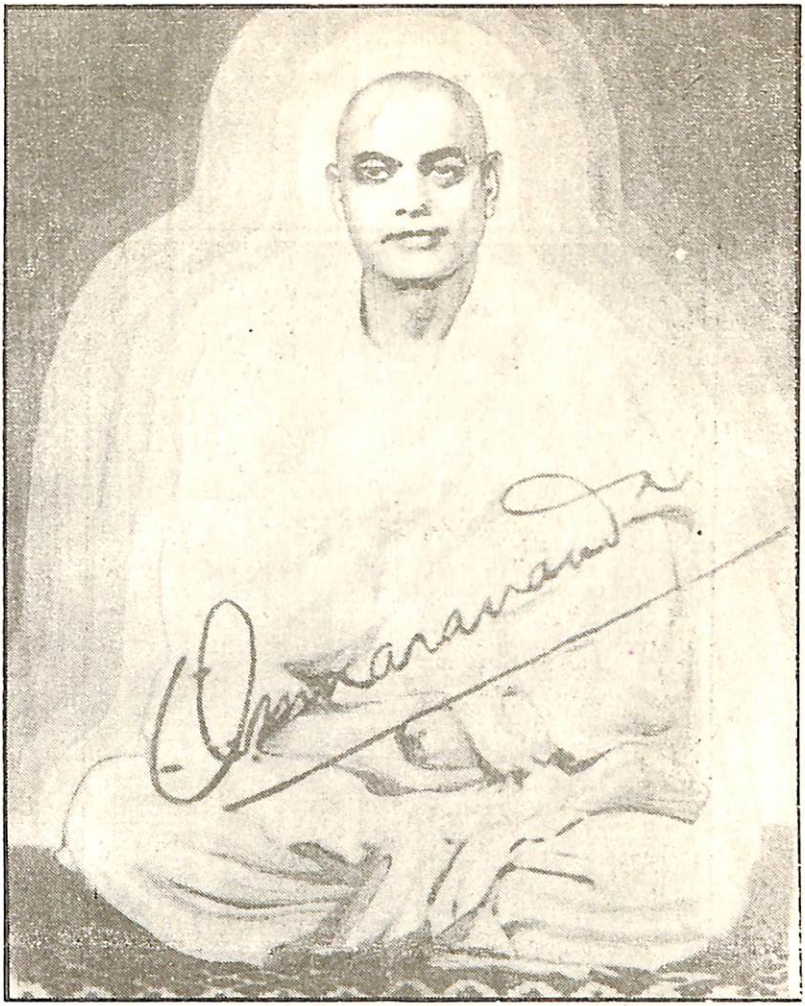

श्री गुरवे नमः

।। यत् प्राप्तं तद्गुरवे समर्पितम् ।।

१४-३-७८ को ब्रह्मलीन हुये १०८ श्री गुरुदेव-स्वामी ओंकारनन्द जी के चरणों में सादर समर्पित। जिन के अनुग्रह से गुह्यातिगुह्या रहस्य प्रकट हो गया। जिनके कृपा कटाक्ष से जीवन-जीवन बन गया। परमत्व की उपलब्धि का अधिकारी हो सका। क्षमता मिली। शक्तिपात महायोग का मार्ग मिला, उन्हीं के चरणों में माँ सरस्वती एवं श्री गोरखनाथ बाबा का दिया यह प्रसून सादर-अर्पित है।

गुरुदेव का चित्र

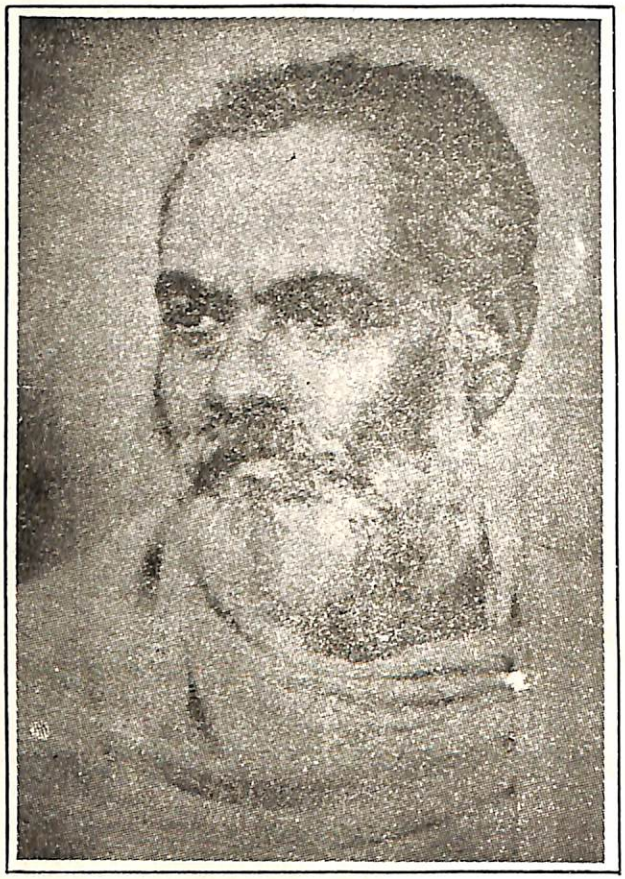

श्री १०८ स्वामी ओंकारानन्द जी महाराज

वन्देऽहं श्री गुरोर्मूर्तिम्, ओंकारानन्दभूषिताम् शक्तिपातसमायुक्तां,
तत्वार्थस्य प्रदर्शिकाम् ।

आर्शीवाद

आत्मप्रिय पाठकगण !

चिरकाल से लुप्त-गुप्त हुई विद्या भगवती की कृपा से श्लोकबद्ध शास्त्र के रुप में सर्वसाधारण जनता के हाथ में आया है। यह हम सब का अहोभाग्य है।

शक्तिपात दीक्षितों एवं साधारण जनता के लिये इस शक्तिपात शास्त्र की प्राप्ति सचमुच आर्शीवाद रुप है। यह कोई नया मार्ग नहीं है। आज तक शक्तिपात-मार्ग के ज्ञाता सन्त-महात्मा-लोग सेवाभावी शिष्यों को शक्तिपात दीक्षा से अनुगृहीत करते रहे हैं। इस विषय में उपनिषद् तथा अन्यान्य ग्रन्थों में कुछ बिखरे हुए श्लोक मिलते हैं, किन्तु श्लोकबद्ध शास्त्र उपलब्ध नहीं है।

परम कृपालु मां भगवती ने यह श्लोकबद्ध शास्त्र इस शास्त्र के द्रष्टा मेरे शिष्य योगाभ्यासी श्री जितेन्द्र चन्द्र भारतीय के शरीर में प्रकट होकर दिया है। इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण विवरण ग्रन्थ के अनुवादक ने अपनी भूमिका में दे ही दिया है, इस लिये उसका यहाँ पुनरावर्तन अनावश्यक है। जब योगाभ्यासी साधक के शरीर में भगवती मां की शक्ति एवं गोरख नाथ का आवेश आता था तब उन्हें अपने शरीर का भान नहीं रहता था। जो संस्कृत श्लोक साधना काल में मां भगवती ने उच्चारित किये, हिन्दीः बाबा गोरख ने, उन्हें सब साधन में बैठे गुरुभाइयों ने टेपरिकार्ड कर लिया। यह सब मेरी उपस्थिति में हुआ था, अतः इसमें किसी शंका का स्थान नहीं है।

आज तक समर्थ शक्ति सम्पन्न महात्माओं ने शक्तिपात विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु उनमें उन्होंने अन्य ग्रन्थों से उद्धरण लेकर उन पर टीका की है, जब कि यह श्लोकबद्ध शास्त्र मां भगवती ने लोक-कल्याण के लिये स्वयं प्रदान किया है और इस में अन्य किसी ग्रन्थ

का आधार नहीं लिया गया है। श्री गुरु गोरखनाथ की वाणी इस शास्त्र का प्राण है। साधन काल में गोरखनाथ का प्रवेश होता था, वाणी निकलती थी।

इस ग्रन्थ की विशेषता इस लिये है कि इसमें बताई हुई टंकविद्या, आधारविद्या, चक्रविद्या तथा प्राणविद्या इत्यादि पढ़ कर एवं उसे अमल में लाने से साधक की कुण्डलिनी शक्ति स्वतः जागृत हो जाती है। तदुपरान्त इस ग्रन्थ में व्यक्तिके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं चित्तज रोगों के निवारण के लिये भी क्रिया मुद्रा तथा औषधियां बताई गई हैं, जिससे साधक बड़ी सुगमता से अपने ध्येय तक पहुंच जाता है।

संक्षेप में परम कृपालु भगवती मां एवं गुरु गोरखनाथ के दिये हुए इस शक्तिपात शास्त्र से जिज्ञासु लोग लाभ प्राप्त करें, अपनी उन्नति करें और उन पर मां की कृपा सर्वदा बरसती रहे, यही मेरी मां से अभ्यर्थना है।

गुरु गोरक्षनाथ

गोरक्षं नौमितं देवम् योगमार्गं प्रदर्शकम् यत् कृपालवमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥

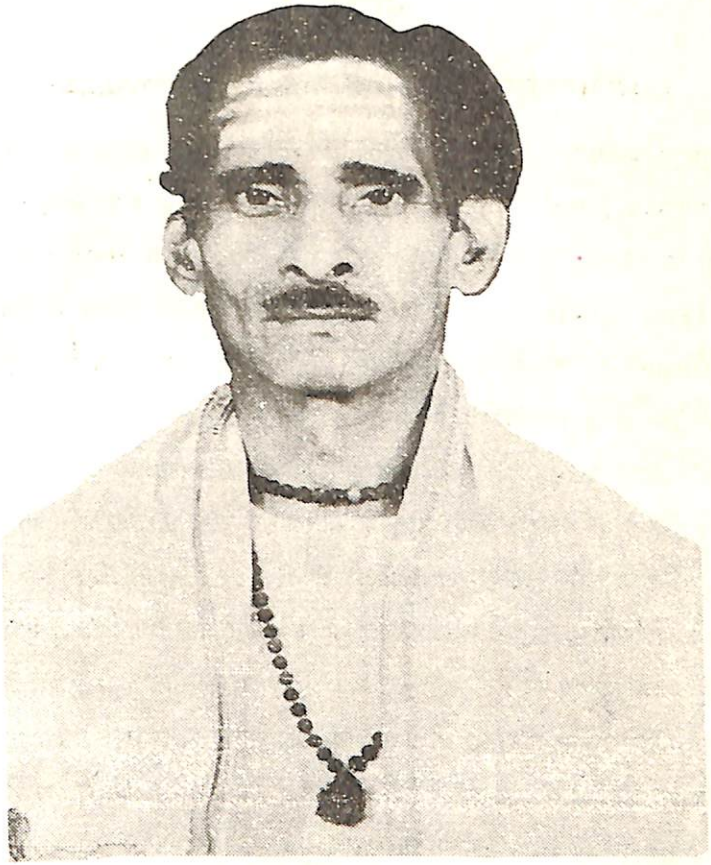

श्री पं० विद्यासागर जोशी
(अनुवादक)

भूमिका

।। श्री गणेशाय नमः। ॐ श्री गुरुरचरणकमलेभ्योनमः।।

इस प्रस्तुत महाशास्त्र के इस भू-लोक में अवतीर्ण होने की घटना बड़ी अद्‌भुत और लोकोत्तर है। इसके अनुवादक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इस रहस्यमयी घटना के आदि से अन्त तक रहा है। जब पूर्वपुण्यों का उदय होता है तब सिद्ध सद्‌गुरु से भेंद होती है। अल्मोड़ा जिले के द्वाराहाट नामक बस-स्टेशन के उत्तर- भाग में द्रोणागिरि पवर्त है। उसके शिविर में वैष्णवी देवी का मन्दिर है, वह स्थान सिद्ध पीठ है। ३, जून, सन् १९६२ को लखनऊ निवासी श्री पूर्णचन्द उपरेती जी के शतचण्डी-यज्ञ के निमन्त्रण में लखनऊ के दस ग्यारह व्यक्ति जिनमें इस महाशास्त्र के द्रष्टा श्री जितेन्द्र चन्द्र भारतीय और इस शास्त्र के सम्पादक व अनुवादक भी थे, वहाँ पहुंचे। उसी प्रकृति - रम्य स्थली में, एकान्त वन्य-प्रान्त में श्री जितेन्द्र चन्द्र भारतीय जी तथा अनुवादक की अलौकिक भेंट अपने सद्‌गुरु शिवस्वरुप ब्रह्मनिष्ठ श्री श्री १००८ स्वामी ऊँकारानन्द तीर्थ महाराज से हुई। सामान्य औपचारिक वार्तालाप के अनन्तर श्री गुरु महाराज ने हम दोनों को दूसरे दिन अपनी कुटिया में एक कम्बल साथ लाकर आने को कहा। जिज्ञासा की तीव्रता से दूसरे दिन प्रातःकाल की प्रतीक्षा अनुवादक से न हो सकी और उसी दिन की रात्रि को कम्बल लेकर वह कुटिया में पहुंच गया। तब श्री गुरु महाराज साधना में बैठे थे, दीपक टिमटिमा रहा था, कण्डों की धुनी सामने जल रही थी। अनुवादक चुपचाप कम्बल तह करके एक कोने में सामने बैठ गया। जब श्री गुरु महाराज की आँखे खुलीं, मुझे सामने देखकर पूछा, क्यों आये हो? तुम्हें तो कल प्रातः बुलाया था। अनुवादक ने कहा 'कल भी आऊंगा आज भी आ गया हूं। अभी कुछ अनुग्रह कर दें, कुछ साधना बता दें।" श्री गुरु महाराज बाले "अभी जाओ, जो होगा कल ही होगा," मैं फिर भी बैठा ही रहा। मेरे हठ और दुराग्रह से गुरु महाराज क्षुब्ध नहीं हुए। जैसे एक जिद्दी बालक की बात करुणामयी मां मान ही लेती है, उसी भाँति श्री गुरु महाराज बोले 'अच्छा बैठ जाओ, जैसे बैठना चाहो'। मैं आँख बन्द करके बैठ गया। री गुरुदेव ने ॐ कार ध्वनि की। उस में क्या चमत्कार था, क्या जादू था, क्या मोहक आकर्षण था, मैं अपनी सुधबुध खो बैठा, मौन, स्तब्ध, शून्य, संज्ञाहीन-सा। यह स्थिति कब तक रही, कह नहीं सकता। जब चेतना लौटी, शरीर में आया तब गुरुदेव ने कहा

जाओ, काम हो गया, नित्य बैठा करो। आज्ञा पाकर मैं उठकर अपने कमरे में जहाँ हमारे अन्य साथी सो चुके थे, केवल एक अकेले श्री भारतीय जी मेरी प्रतीक्षा में जगे थे, चुपचाप लेट गया। श्री भारती जी ने बहुत पूछा कि गुरु जी के पास से आये हो, क्या हुआ, कैसा रहा, क्या बताया? किन्तु मैं कुद बता न सका, क्योंकि प्राप्त अनुभव के बताने या अभिव्यक्त कर सकने के मुझे शब्द नहीं मिल पा रहे थे। मैं हाँ हाँ हूं हूं करके उन्हें टाल गया और हम दोनों सो गये। दूसरे दिन प्रातः श्री भारतीय जी कुटिया में पहुंचे। श्री गुरुदेव ने हमें अलग-अलग बैठने का आदेश दिया। श्री गुरुदेव का सिद्ध प्राणायाम आरम्भ हुआ और उन्होंने आकाश-पातल कंपा देने वाली उँक्कार ध्वनि छोड़ी। उधर श्री भारतीय जी का शरीर कम्पित होने लगा। नाना प्रकार की योग-क्रियायें, आसन, मुद्रा, प्राणायाम स्वतः अनायास होने लग पड़े। मुझमें कोई विशेष प्रतिक्रिया उस समय नहीं हुई। मैं केवल द्रष्टा की भाँति श्री भारतीय जी की सभी क्रियाओं को आश्चर्य-चकित दृष्टि से देखता ही रह गया। मैंने ध्यान में आँखे भी इस भय से बन्द नहीं कीं कि कहीं शून्यता में फिर न चला जाऊ और सामने होने वाले अद्‌भुत दृश्य देखने से वन्चित न हो जाऊँ। एक घण्टे बाद यह सब समाप्त हुआ और श्री गुरुदेव ने आशीर्वाद पूर्वक हमें विदा किया और बताया कि इसे शक्ति-पात कहते हैं, महामाया भगवती जगदम्बा की तुम्हारे ऊपर कृपा हो चुकी है, तुम्हारी सुप्ता कुण्डलिनी शक्ति का जागरण हो चुका है। इस भाँति श्री भारतीय जी और इस शास्त्र के अनुवादक की शक्तिपात-दीक्षा सम्पन्न हुई थी। दीक्षा के अनन्तर श्री गुरुदेव के सम्मुख दो बार दो दिन फिर बैठे थे। तीसरे दिन लखनऊ लौटने का कार्यक्रम था और अपने अन्य साथियों के साथ हम भी लौट आये। लौटते समय बिदाई-आशीर्वाद के समय श्री भारतीय जी को अनवरत अश्रुपात हो रहा था, जैसे लड़की मां से बिदाई ले रही हो। गुरु-शिष्य के इस दिव्य-प्रेम में अनुवादक आनन्द विभोर होकर श्रद्धावनत हो रहा था, श्री गुरुदेव ने श्री भारतीय जी को वहीं आशीर्वाद दिया कि जाओ, तुम्हारी वाणी में साक्षात् सरस्वती मां की अभिव्यकक्ति होगी।

उसी आशीर्वाद के फलस्वरुप पाँच मास पश्चात् श्री भारतीय जी के मुख से दिव्य वाणी का निःसरण होने लगा। ६ जून १९६२ के शुभ दिन हमारी शक्तिपात-दीक्षा हुई। २२ अक्टूबर १९६२ से श्री भारतीय जी की वाणी से साक्षात् जगदम्बा सरस्वती ने शक्तिपात-महाशास्त्र का उच्चारण आरम्भ कर दिया था। आरम्भ में लखनऊ के पाँच छः व्यक्ति दीक्षित थे उनमें श्री भू. पू. इक्जिक्यूटिव इंजीनियर स्व. श्री बिपिनचन्द्र पाल थे। उन्हीं ने इस शास्त्र की सुरक्षा और

संकलन के लिये टेपरिकार्डर की व्यवस्था कर दी थी। हम लोग प्रातः सायं दोनों बार साधना में बैठते थे। श्री भारतीय जी के मुख से वाणी निकलते ही टेपरिकार्डर खोल दिया जाता था। पाठक देखेंगे कि जो वाणी जिस दिन मुख से निकली थी वही तिथि और समय उस वाणी के शीर्षभाग मेंउल्लिखित कर दिया गया है।

इस शास्त्र के प्रारम्भ में शक्तिपात विद्या के सम्बंन्ध में भगवती सरस्वती ने सूत्रों का उच्चारण संस्कृत-भाषा में किया है और उन्ही सूत्रों की व्याख्या स्वयं ही संस्कृत में की है। शास्त्र के प्रथम भाग में शक्तिपात-रहस्य और त्रिपुरा-रहस्य उच्चारित किया गया है। ये दोनों विद्यायें अकेले मां सरस्वती भगवती ने ही उच्चारित की हैं। इसके अनन्तर अश्व-विद्या या टंकविद्या का आरम्भ होता है। इसमें योगियोगीश्वर कुण्डलेश्वरपीठाधिपति श्री श्री गुरुगोरख देव का आगमन होता है। टंकविद्या से चक्र-विद्या तक यह शास्त्र भगवती सरस्वती और श्री गुरु गोरखनाथ जी दोनों ने मिल कर श्री भारतीय जी के मुख से कहा है। भगवती सरस्वती ने संस्कृत में जो कुछ उच्चारित किया है उसी का पूर्ण सार लोकभाषा हिन्दी में गुरु गोरखनाथ जी ने भलीभाँति समझा कर बताया है।

पाठक देखेंगे कि इस शास्त्र की संस्कृत भाषा बड़ी सरल सुबोध और जटिलता से दूर है। संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला भी इसे भली भाँति समझ सकता है। टेपरिकार्डर सुनकर लिखने में हमने मूल -सामग्री की हूबहू नकल की है। जैसा जिस ढंग से उच्चारण सुना गया था, ठीक वही लिखा गया है। संस्कृतज्ञ-पाठक देखेंगे कि संस्कृत-भाषा में स्थान-स्थान पर सन्धियाँ नहीं हैं। व्याकरण-नियमानुसार सन्धियाँ होनी चाहिये, क्योंकि उच्चारण जहाँ जहाँ बिना सन्धि के हुआ है, वहाँ वैसे ही लिखा गया है। लिखने में सन्धि हम कर सकते थे, किन्तु भगवती सरस्वती की वाणी की मूल महत्ता में हस्तक्षेप करने का अनधिकार-प्रयास से बचना ही हमने श्रेयस्कर समझा। भगवती सरस्वती की वाणी में उनका अपना अप्रतिहत-स्वातन्त्रय है। वे पाणिनीय-व्याकरण के नीति नियमों से सर्वथा उनमुक्त हैं। इसलिये उनके क्रिया-पदों के प्रयोग कहीं-कहीं लोक-संस्कृत से यदि भिन्न दीखते हों तो उन्हें सारस्वत-दिव्य प्रयोग समझना चाहिये। पाणिनीय-व्याकरण में भी आर्ष-प्रयोग को स्वीकार किया ही गया है। मां सरस्वती ने स्वच्छ रुप में जहां जैसा चाहा, गद्य और श्लोक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो श्लोकों में कही गई बातों की व्याख्या स्वयं ही संस्कृत गद्य में खोल दी हैं।

अनुवादक ने अनुवाद करने में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि अनुवाद में अपनी ओर से कुछ भी अधिक न कहा जाय और मूल में कही गई कोई बात, कोई शब्द छोड़ा न जाय। इस दृष्टि से यह अनुवाद केवल शब्दानुवाद या अक्षरानुवाद मात्र है। वैसे इस शास्त्र की जब तक पूर्णरुप से विशद व्याख्या न कि जाय, तब तक इसके अन्तर्गत आये विषयों का भाव सुस्पष्टता से हृदयंगम नहीं हो सकता है। यह शास्त्र पूर्ण विस्तृत व्याख्या या भाष्य की अपेक्षा रखता है। सम्प्रति हमारा केवल इतना ही उद्देश्य है कि यह दिव्य शास्त्र, शीघ्रातिशीघ्र पाठकों के और योगशास्त्र के जिज्ञासुओं के सम्मुख शीघ्र उसी मूल रुप में प्रस्तुत कर दिया जाय।

यह महाशास्त्र अत्यन्त अलौकिक महिमा से मण्डित है। इसके अन्तर्गत निकली हुई विद्याएँ सभी महादिव्य हैं, गुप्त हैं, लुप्त हैं, नाना रहस्यों से भरी हैं ।लोक में इन विद्याओं का लोप हो गया था। माँ सरस्वती ने स्थान-स्थान पर स्वयं यह कहा है कि इन विद्याओं का ज्ञान बहुत काल से लोक में लुप्त और गुप्त है तथा लोक-कलयाण के लिये इन विद्याओं को प्रकट किया जा रहा है। शक्तिपात-महायोग में दीक्षित हुए साधकों के लिये इस महाशास्त्र का बड़ा दिव्य महत्व है। महायोग-साधकों के लिये तो यह शास्त्र प्राण- प्रिय महारत्न है। यह महाशास्त्र योग-साधकों के लिये स्वयं एकान्ततः गुरु ही है। शक्तिपात में दीक्षा प्राप्त करके साधक के सम्मुख नाना-प्रकार की विषमतायें, जटिलतायें, घात-प्रतिघात तथा अनेकों विघ्न -बाधायें आया करती हैं। इस शास्त्र में सब प्रकार के प्रतिरोध, विघ्न -वाधायें चाहे वे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और चित्तज ही क्यों न हों उनके दूर करने के सरल सुलभ उपाय बता दिये गये हैं। महायोग-साधक की समस्त प्रकार की भ्रान्तियाँ मार्ग-रोध इस शास्त्र के अनुशीलन-मात्र से दूर हो जाती हैं, मां सरस्वती ने तथा गुरु गोरखनाथ महाराज ने प्रत्येक प्रकरण में इस शास्त्र के अनुशीलन-कर्ताओं को मुक्त कण्ठ से अपना दिव्य आशीवाद दिया है और शास्त्र की बड़ी महिमा गाई है। अपनी ओर से इस महाशास्त्र की प्रशंसा और स्तुति करने की क्षमता हममें नहीं है। सूर्य के प्रकाश में दीपक क्या करेगा। यह महाशास्त्र अपनी अमृतमयी दिव्य-महिमा से स्वतः स्वयं देदीप्यमान, यशस्वी तथा सर्वसामर्थ्य-सम्पन्न है।

योग शास्त्र की साधना से सम्बन्धित कोई भी विषय या प्रसंग ऐसा नहीं है जिसका इस महाशास्त्र मे समावेश न हो। क्रिया, मुद्रा, आसन, प्राणायाम, मन्त्र, औषधि, ध्यान, ज्ञान, तत्वज्ञान, आत्मविज्ञान, ब्रह्मज्ञान, शैव,-शाक्त विज्ञान सभी कुछ इस अनन्त महासागर में साँगोपांग भरा

पड़ा है। वह पाठक बड़ा भाग्यशाली और पुण्यात्मा होगा जिसके हाथ में यह पुस्तक आ जायेगी। अनेक सुसंस्कारी पुण्यात्मा लोग ऐसे भी निकलेंगे कि इस महाशास्त्र के केवल पठन-मात्र से उनकी सुप्ता कुण्डलिनी जाग पड़ेगी और मां भगवती की उन पर साक्षात् सीधे कृपा हो जायेगी। इस दृष्टि से यह महाशास्त्र न केवल शक्तिपात-महायोग के साधकों के लिये ही परमोपयोगी है, अपितु जो लोग शक्तिपात में दीक्षित नहीं है, उनके लिये भी यह उतना ही लाभप्रद एवं उपयोगीहै।

शक्तिपात-महायोग सीधा विहंगम मार्ग है। समर्थ गुरु शिष्य में शक्ति संचार करके उसकी सुप्ता कुण्डलिनी अनायास ही जागृत कर देते हैं और महामाया भगवती की पूर्ण कृपा शिष्य पर सद्गुरु के अनुग्रह से हो जाती है। फिर जागृता-महाशक्ति शिष्य के शरीर द्वारा स्वयं ही आसन, प्राणायाम, क्रिया, मुद्रा, ज्ञान, ध्यान आदि करवाती रहती है। गुरु-अनुग्रह ही इस शक्तिपात में प्रधान कारण होता है। अन्य योगशास्त्रों में आसन, प्रणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये किया जाता है, वह भी कभी सफल होता है और कभी असफल। किन्तु शक्तिपात-महायोग से कुण्डलिनी शक्ति पहिले जाग जाती है और उसके पश्चात् प्रति शरीर भेद से, प्रति-व्यक्ति के गुण-कर्म-संस्कार भेद से आवश्यकतानुसार क्रिया, मुद्रा, प्राणायाम, यम, नियम, प्रत्याहार, ध्यान आदि स्वयं होने लग पड़ते हैं, शिष्य को इन साधनों का पूर्ण-ज्ञान हो अथवा न हो। इस भाँति अन्य योगों में और शक्तिपात में महान् भेद है। यही इस महायोग की अपूर्व अलौकिक दिव्यता है। शक्तिपात योग इस पवित्र भारत भूमि में अनन्त प्राचीन-काल से निरन्तर चला आ रहा है। इस पुण्य। भूमि में शक्तिपात-महायोग का कभी लोप नहीं हुआ है। किन्तु यह साधन गुरु-परम्परा से शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में क्रिया-रुप में ही चलता है। सामान्यजन-समाज में उसका कभी प्रचार एवं प्रसार नहीं हो पाया है। इसका कारण शक्तपात-महायोग की रहस्यमयता और गुह्याता है। इसके अतिरिक्त शक्ति-पात के सम्बन्ध में अब तक इस लोक में कोई सर्वांग पूर्ण प्रामाणिक तथा अधिकृत ग्रन्थ विद्यमान नहीं रहा है। शक्तिपात के सिद्ध गुरु इस पर ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता नहीं समझते रहे। अतः किसी भी पूर्व-ग्रन्थों में इस महायोग का सर्वांगीण वर्णन नहीं मिलता है। मां सरस्वती भगवती ने इस लुप्त -गुप्त शास्त्र को श्री जितेन्द्र भारतीय जी के मुख से प्रकट कर के इस महा-मोहान्धकार ग्रस्त युग के भ्रान्त मानव-समाज पर बहुत अनुग्रह और उपकार किया है, इसीलिये तो वे करुणामयी जगन्मता हैं। भगवती सरस्वती तथा गुरु गोरखनाथ महाराज के इस महान् ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो पायेंगे। इस मलिन और बोधहीन

लोक का पूर्ण उद्धार करने के निमित्त ये दोनों दिव्य शक्तियाँ वाणी रुप में स्वयं अवतीर्ण हुई हैं। उनके इस महान् उपकार के प्रति हम सभी नतमस्तक होकर चिर-कृतज्ञ हैं। इससे भी अधिक श्रद्धावनत होकर उन पूण्य श्री चरणों को प्रणाम करते हैं, जिन साक्षात् शिव-स्वरुप श्रोत्रिय-ब्रह्मनि ष्ठ गुरु महाराज की हम अकिंचन शिष्यों पर अहैतुकी कृपा हुई है, अकारण-करुणापूर्ण हृदय से जिन्होंने शक्तिपात- मार्ग में, बिना किसी पूर्व परिचय के हम लोगों को दीक्षित करके सर्वव्यपिका महामाया भगवती की साक्षात् कृपा करवा दी, हमारी सुप्ता शक्ति जागृत कर दी, अज्ञानान्धकार मिटा कर जीवन में प्रकाश भर दिया। यह प्रस्तुत महाशास्त्र भी उन्हीं सद्गुरु पूज्यपाद श्री स्वामी ॐकारानन्द तीर्थ महाराज का ही अमृत-मय प्रसाद है।उन्हीं को समर्पित है, सद्गुरु की स्तुति में अनन्तकाल से सिद्ध, ज्ञानी, सन्त, महात्मा सभी की श्रद्धामयी वाणी सर्वत्र प्रवाहित होती रही है, वह पूर्ण संकलित वाणी समवेत रुप में हम अकिंचन शिष्यों के ही हृदयोद्गार हैं। हमारे गुरुदेव के प्रति स्वयं भगवती सरस्वती ने श्री भारती जी के मुख से निम्न श्लोक उच्चारित करवाया था जिसे हम लोग साधना में बैठने के पूर्व प्रार्थना में बोलते हैं:-

बन्देऽहं श्री गुरोर्मूर्ति ॐकारानन्द भूषिताम्।

शक्तिपात समायुक्तां तत्वार्थस्य प्रदर्शिकाम्।।

हमारी मां भगवती और योगियोगीश्वर श्री गुरु गोरखनाथ बाबा से यही प्रार्थना है कि पाठकों की जिज्ञासा तीव्र बने, मार्ग उन्हें अवश्य मिलेगा ही। ॐ शान्तिः ३।।

आपका
सेवक,
विद्यासागर जोशी

९६, नजरबाग, लखनऊ।
वटसावित्री- अमावास्या,
दिनाँक - २१-५-७७

(ग्रंथ-प्रवर्तक)

डॉ० जे० सी० भारतीय शास्त्री
एम. ए. (हि., सं.); पी-एच. डी.

श्री गुरवे विराजतां सा जननी सरस्वती नमः

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सारस्वत कुण्डलिनी महायोग शक्तिपात शास्त्र' नाम से है। क्योंकि यह ग्रनथ माँ सरस्वती की अनुकम्पा से प्रकट हुआ है, इसमें किसी प्रकार की कोई भी बाह्यसामग्री नहीं है, न किसी कोई पुस्तक का अंश है। यह तो केवल मां की कृपा एवं श्री गुरु कृपा का फल है।

सन् १९६२ जून में द्रोणा–गिरि पर श्री पी. सी. उपरेती जी के साथ शतचण्डी यज्ञ में गया था, वहीं मुझे श्री गुरुदेव श्री १०८ स्वामी ॐकारानन्द ज्ञानी जी महाराज मिले। मुझे आभास हुआ कि इस निर्जन वन में, इस देवस्थली पर इनका निवास कुछ महत्व रखता है, और मुझे श्री अनन्तविभूषित स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती (जगद्गुरुशंकराचार्य ज्योतिर्मठ) महाराज के शब्द याद आये 'तुझे तीन वर्ष पश्चात् वन में ही शक्तिपात दीक्षा देने वाले गुरु मिलेंगे।' उनके शब्दों पर श्रद्धा–विश्वास रखकर सोचो सम्भवतः समय आगया और वास्तव में जब मैं और मेरे गुरु–भाई पं. विद्यासागर जोशी जी स्वामी जी से मिले तो विनम्र निवेदन करने पर स्वामी जी ने हमें शाक्तिपात–वेध–दीक्षा दी। तब श्री गुरुदेव की अनुकम्पा से हमारा साधन कुण्डलिनी–महायोग के पथ पर चलने लगा, स्वाभाविक ढंग से श्री गुरुदेव ने शक्तिपात के विषय में पूर्णरुपेण बोध दिया।

यज्ञ की समाप्ति पर वहां से हम लोग घर आ गये, साधन यथावत् चलता रहा। गुरु भाई विद्यासागर जी और मैं दोनों ही साथ बैठकर साधना करते थे।

कुछ दिन पश्चात् हम लोगों ने श्री गुरुदेव को लखनऊ आने को बाध्य किया। गुरुदेव एक सप्ताह के लिये आये, साधन देख गये और चले गये। इस बीच श्री पी.सी. उपरेती, श्री बी. सी. पाल साहब, श्री एम. पी. टण्डन जी, श्री जगन्नाथ जी अहूजा आदि कई सज्जनों को दीक्षा का लाभ हुआ। गुरु भाइयों की वृद्धि हुई।

सन् १९६२ से अकस्मात् यह सारस्वत कुण्डलिनी महायोग साधना के समय प्रादुर्भूत होने लगा। प्रारम्भ में क्या– क्या वाणी निकली ध्यान में न रहा। उस वाणी को श्री पं. शान्तिप्रसाद जी

चन्दोला ने सुना। उन्होंने वाराणसी में भारत के गण्यमान्य विद्वान साधक श्री महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ जी से इसकी चर्चा की, वहां श्री कविराज जी का कृपापूर्ण सन्देश आया कि इस प्रकार की प्रादुर्भूत होने वाली वाणी को सुरक्षित रखो, उसी समय पुनः श्री गुरुदेव को सूचना दी गई, श्री गुरुदेव ने आकर साधन देखा, वाणी सुनी और शीघ्र ही टेपरिकार्ड पर उसे सुरक्षित रखने की योजना बनाई। वाणी प्रादुर्भूत होती रही।

श्री वी. सी. पाल महोदय टेपरिकार्डर ले आये और फिर कुछ काल पश्चात् उसके द्वारा वाणी को सुरक्षित रखा गया। सब साधक साधन के प्रकोष्ठ में गुरुदेव सहित बैठ जाते थे और कुछ देर साधन चलने के पश्चात् सरस्वती प्राप्त यह वाणी निकलती थी जिसके लिये माँ सारस्वती की आज्ञा हुई कि इसे शास्त्र का रुप देना है, उस सारस्वत वाणी को महायोग कह गया और शक्तिपात शास्त्र से उद्घोषित किया गया। श्री बी.सी.पाल महोदय टेपरिकार्ड ले आये टेपरिकार्ड पर पुनः सुन कर उसे एक डायरी पर क्रमशः दिनांक सहित (सायं–प्रातः) लिखा जाता था और पुनः उसे टाइप करके सुरक्षित किया गया। डायरी पर उतारने का कार्यभार श्री विद्यासागर जी जोशी को सौंपा गया। वे विगतान्यकार्य होकर सुवाच्य प्रतिलिपि में लिखते थे और श्री पाल साहब टाइप करवाते थे। फिर सागर जी उसे भी संशोधित करते थे। तत्परता एवं संलग्नता के साथ श्री जोशी जी कार्य करते थे। कार्य ठीक समय पर होना चाहिये यह पाल साहब का कथन रहता था और श्री विद्यासागर जी को ठीक समय पर उन्हें सुवाच्य लिपि टाइप करने के लिये दे देनी पड़ती थी।

यह क्रम २२– १०– ६२– से २० – २– ६३ तक चलता रहा। बाणी प्रादुर्भूत होती रही और उसे सुरक्षित रखा जाता रहा।

उसके पश्चात् प्राण विद्या का प्रदुर्भाव हुआ जो इसी शास्त्र का उत्तरांश है, उसे भी श्री विद्यासागर जी ने अपनी लेखनी से सुवाच्यरुप में लिखा, फिर उसे टाइप नहीं करवाया गया।

समय बीतता चला गया। शास्त्र –प्रकाशन का विचार आया और चला गया। सामग्री पड़ी रही, टाइप की एक प्रति श्रीगुरुदेव के पास सुरक्षित रही। बाकी कुछ अंश कोई गुरु भाई ले गये, पर दे न गये।

कालान्तर में पुनः जब श्री गुरुदेव का बार बार आदेश हुआ तो फिर जागृति आई, फिर डायरी से और कुछ टाइप से भी वीरेन्द्र कुमार शर्मा (दत्तक) से पुनः टाइप करवा कर कापी तैयार हुई और उसे लेकर मैं ग्रीष्मावकाश में श्रीगुरुदेव के आश्रम चित्तौड़ (जूनागढ़), सौराष्ट्र गया। श्री गुरुदेव ने उसे पुनः सुना, बार बार आदेश दिया कि इस शास्त्र का प्रकाशन होना अत्यन्त आवश्यक है। श्री पं. गोपीनाथ कविराज जी ने इस शास्त्र को स्वयं पढ़ा और लिखा कि इसके प्रकाशन की शीघ्र व्यवस्था होनी चाहिये। इस प्रकार जब मैं फिर लौट कर लखनऊ आया तो श्री गुरुदेव का आदेश विद्यासागर जी को सुनाया और कहा भी कि श्री गुरुदेव आगामी नवम्बर में इस शास्त्र को लेने आयेगे, क्योंकि वे बम्बई से इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर रहे हैं पर वह व्यवस्था न हो सकी।

मेरे गुरुभाई श्री जोशी जी पुनः इसके अनुवाद कार्य में जुट गये। शास्त्र जिस रुप में आप लोगों के समक्ष प्रकाशित होकर आ रहा है, उसका अनुवाद एवं संशोधन भाई श्री विद्यासागर जी ने ही किया। इसके लिये मैं विशेषकर उनका आभारी हूँ। वास्तव में उनका अमूल्य समय और स्वास्थ्य इस शास्त्र के सम्पादन में कुछ बिगड़े अवश्य हैं, फिर **श्री** गुरुदेव के आदेश–कृपा और सागर जी के अथक परिश्रम एवं प्रेम के फलस्वप शास्त्र **प्रकाशित** रुप में आ ही गया।

यह शास्त्र साक्षात् भगवती सरस्वती का दिया हुआ **है। साधनकाल** में स्वयं प्रादुर्भूत हुआ है, इसलिये इसका नाम भी 'सारस्वत कुण्डलिनी महायोग' **रखा गया**, क्योंकि समस्त शास्त्र शक्तिपात से सम्बन्धित है अतः पूरा नाम 'सारस्वत कुण्डलिनी महायोग (शक्तिपात शास्त्र) रखा गया, इस में श्री बाबा गोरखनाथ की वाणी भी है। मां सरस्वती संस्कृत रुप में और बाबा गोरखनाथ उसे अपनी भाषा में सार व संक्षिप्तरुप में कहते हैं। टंकविद्या, आधारविद्या, चक्र विद्या, प्राणविद्या, आदि इसके प्रधान स्तम्भ हैं। आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा एवं परा– विद्या इस शास्त्र के मूलभूत अंश हैं। शास्त्र का प्रकाशन जन–हित के लिये ही किया गया है, स्वयं बाबा श्री गोरखनाथ जी ने कहा है कि 'हमने जो शास्त्र बताया था वह साधकों के हित के लिये बताया है। यह शास्त्र परमशास्त्र है। गूढ़ातिगूढ है, इसका बोध साधकों को होगा। जब इसका बोध कर लेंगे, तब इसकी क्रिया, मुद्रा और औषधियों के ज्ञान एवं अनुभव से अपना और जग का कल्याण करेंगे। इस शास्त्र के प्रचार से जन–कल्याण होगा।' (टंकविद्या प्रकरणान्त)। दूसरे स्थल पर बाबा ने कहा है 'इस प्रकार इस गुप्त लुप्त विद्या को शास्त्र का पूर्णरुप देकर, सारसार तत्वतत्व लेकर साधकों के हित

के लिये, क्रिया करने वालों के कल्याण के लिये, समय की गति के कल्याण के लिये इसका ज्ञान परमावश्यक है।' जो कुछ भी है, जिसका है उसी को समर्पित है।

एक बात लिखने का मोह संवरण न कर सकूंगा कि मेरी धर्मपत्नी स्व. गोदावरी देवी ने इस साधन काल में मुझे। पूर्ण सहयोग दत्तचित से दिया। यदि उसने घोर कष्ट न उठाया होता तो सम्भवतः यह शास्त्र गुप्त ही रहता। वह इसे प्रकाशित रुप में देखना चाहती थी। पर उसके जीवन में ऐसा न हो सका। इसके प्रकाशन से अवश्य उसकी आत्मा को शान्ति मिलेगी ऐसा मेरा विश्वास है। अन्त में अपने बन्धुओं को श्री पी.सी. उपरेती, बी.सी. पाल साहब, श्री एम.पी. टन्डन महोदय को भी धन्यवाद देता हूं जो साधन कार्य में साथ बैठते रहे। इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिये श्री डा. आर.एस. सेठ महोदय का पूर्ण सहयोग रहा। वे उत्साह देकर सहयोग न करते तो ग्रंथ मुद्रित न होता। भाई भगवान दास जी ने भी इसकी रुप सज्जा के लिए परिश्रम किया, मैं इन दोनों व्यक्तियों के प्रति आभार प्रकट करता हूं। अन्य और भी सभी सहयोगियों का मैं आभारी हूं।

अत्यन्त दुःख है कि ग्रन्थ प्रकाशन पर श्री गुरुदेव ब्रह्मलीन हो गये। ११-३-७८ को ग्रन्थ पूर्ण हुआ। १४-३-७८ को श्री गुरुदेव समाधि लगा गये।

आचार्य डॉ. जे. सी. भारतीय

श्रीमती स्व० गोदावरी देवी
धर्मपत्नी डॉ० जे. सी. भारतीय
(जिसकी प्रेरणा से सब कुछ हुआ)

Mahamahopadhyaya
Gopi Nath Kaviraj, M. A., D. Litt.

2 (A) SIGRA, VARANASI

Nov. 13 1963.

I have gone through parts of the work with great interest In some places it seemed to me wonderfully lucid and reminiscent of ancient yogic traditions. I felt benefited by its reading It deserves publication and careful study

Gopi Nath Kaviraj
13/11/63

विषयानुक्रमणिका

भाग प्रथम

		पृष्ठ संख्या
१–	शक्तिपात में जिज्ञासाधिकरण–अनुभूति–व्याख्या	१–७
२–	शक्तिपात में स्वयं वृत्तिनिरोध हो जाना प्रत्याभास	७–१३
३–	शक्तिपात में चतुर्धा अवस्थितियों का आना	१३–२६
४–	शक्तिपात मार्ग और राजयोग में अन्तर	
५–	सिद्ध प्राणायाम के फल	
६–	बोधावस्था व सिद्धावस्था का स्वयं आना	
७–	शक्तिपात में कार्य सिद्धि एवं मन्त्र सिद्धि	
८–	देवदर्शन, मन्त्र दर्शन, भूतजय, परकाया प्रवेश आदि सिद्धियों का स्वयं आना।	
९–	सिद्धियों में उलझना साधकों के लिये विक्षेप	
१०–	ऐश्वर्य दशा की प्राप्ति	
११–	गुरु के अनुग्रह से मूलाधारस्थ शक्ति की जागृति का बोध	२३
१२–	शक्तिपात से सुप्ताशक्ति का जागरण	२४–२७
१३–	शक्तिपात का अर्थ एवं उसका प्रयोजन	२७–२९
१४–	शरीर में शक्ति का स्वरुप, शक्ति शब्द का अर्थ	
१५–	शिष्य में शक्ति का नाना रुप में प्रकट होना (लक्षण बोध)	
१६–	शक्तिपात के तीन प्रकार	
१७–	गुरु शब्द का अर्थ	२९–३१
१८–	गुरु के शक्तिपात करने के अलग–अलग तरीके	३२–३५
१९–	शक्तिपात का प्रयोजन, लाभ, एवं भेद	३५–३७
२०–	शक्ति जागरण से चक्रभेदन की योग्यता आ जाना	३८–३९
२१–	जागृता शक्ति का मार्ग शोधन के स्वयं नानाप्रकार के प्राणायाम तथा क्रिया–मुद्राओं का करवाना	३९-४०
२२–	शिव के समागम के लिये शक्ति का छटपटाना और समाधिस्थ शम्भु में उसकी प्रतिक्रिया (प्राणायाम)	४०-४२
२३–	काम का उपस्थित होना और काम–दहन	४२–४६
२४–	कामदहन के अनन्तर शुद्ध –सृष्टि की सृष्टि	४७–४८
२५–	विन्दुरुप शिव से कलाओं की सृष्टि	४८–५०

२६-	श्री विद्या का उदय (कामविद्या)	५१-५२
२७-	श्री विद्यान्तर्गत कादि हादि विद्याओं का कथन	५३-५४
२८-	त्रिपुरा रहस्य में त्रिपुरा शब्द का अर्थ	५४-५६
२९-	त्रिपुरारहस्यान्तर्गत श्रीविद्या में दश महाविद्या	५६-५७
३०-	बिना अभ्यास के जान लेना निष्प्रयोजन है (गोरखवाणी)	५८-५९
३१-	कुण्डलेश्वर श्री गोरखनाथ महाराज की वाणी का आरम्भ	५९-६०
३२-	शक्तिजागरण से त्रिपुरा भगवती की सहज सिद्धि-षट चक्र रुपा-	६१-६५
३३-	त्रिपुरारहस्यान्तर्गत श्रीविद्या कलाओं की सृष्टि	६५-६८
३४-	अन्तर्ज्ञान, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्याग, बहिर्याग एवं उपासना का अभ्यास और उसके अनन्त फल	६९-७२
३५-	महाशिव दर्शन, समाधि भूमिका	७२-७३
३६-	प्राणाकर्षण-रसनिष्पत्ति	७४
३७-	रोधनी, वैखरी, परावस्था	७४-७६
३८-	शमनी -आनन्दानुभूति	७६-७८
३९-	अर्गला-स्थरीकरण	७९
४०-	गोरखवाणी-ताला खोलने का ढंग, ज्योति दर्शन	७९-८१
४१-	वाक् परिज्ञान-परा, पश्यन्ती मध्यमा वैखरी	८१-८९
४२-	परा के विषय में परा शक्ति स्फुरण (गोरखवाणी)	९०-९१
४३-	इडा, पिंगला, सुषम्णा का संगम-प्रयाग का रहस्य	९१-९३
४४-	गोरखवाणी-विरजा नाडी वर्णन	९३-९६
४५-	विरजा प्राप्ति से ब्रह्म ज्ञान, गोरखवाणी-मां आनन्दमयी का कथन	९६-९८
४६-	अयोध्यादि सप्तपुरी का शरीर में स्थान (गोरखवाणी)	९८-९९
४७-	चित्रा-वज्रा तथा ऐश्वर्य वर्णन-गोरखवाणी	१००-१०२
४८-	अन्तर्गत ब्रह्मदर्शन कुण्डलिनी शक्ति पर पूर्णाधिकार	१०२-१०४
४९-	सरस्वती द्वारा दिव्याज्ञान दान, विक्षेपों का टंकन (टंक विद्या)	१०५-१०८
५०-	विक्षेप, निरोध-शक्ति के आधीन-गोरखवाणी	१०९-११०
५१-	मल विक्षेप विनाश (गोरखवाणी)	११०-१११
५२-	टंक विद्याधिगम-अश्वसेचालन	११२-११६
५३-	मलोदरी, अश्विनी अश्वोदरी कर्ष मुद्रा, हेषामुद्रा	११७-११९
५४-	मुद्रा ज्ञान, क्रिया ज्ञान	११९-१२१
५५-	लम्बिनी मुद्रा, झम्पिनी मुद्रा, स्कन्धिनी, कर्पूरिका	१२१-१२३
५६-	अश्व विद्या	१२३-१२४

५७–	अश्व बन्धनी मुद्रा	१२४-१२५
५८–	स्थानपरिचायिका	१२५
५९–	पट्टसम्बोधनी	१२६–१२७
६०–	गारुड़ी मुद्रा	१२७
६१–	योगपट्टिका	१२७–१२८
६२–	साम्भवी मुद्रा	१२९–१३०
६३–	खेचरी मुद्रा	१३०–१३१
६४–	दूसरी शाम्भवी	१३१
६५–	घूर्णिका सर्वतोभावनी	१३२–१३३
६६–	भावनी मुद्रा	१३३–१३४
६७–	टंक विद्या–स्थान परिचय–गमनाधिकरण मार्गदर्शन	१३५–१३६
६८–	कुण्डलिनी का जागृत होकर आगे गमन	१३६
६९–	षड़चक्रभेदन क्रिया	१३६–१३७
७०–	गोरखवाणी	१३८–१३९
७१–	गंतव्यस्थान और उसकी प्राप्ति की कामना, गोरखवाणी	१३९–१४१
७२–	मणिपुर चक्र का परिचय और शोधन	१४२–१५०
७३–	कुण्डलिनी का आगे गमन, क्रिया कथन	१५१–१५४
७४–	मार्ग तथा स्थान का समस्त परिचय, ध्यानचक्षु	१५४–१५६
७५–	मणिपुर से ऊपर का मार्ग	१५७–१६२
७६–	स्थानपरिचायिका मुद्रा	१६२–१६५
७७–	हृदय चक्र का कम्पन, ज्योतिपुंज, लिंग दर्शन	१६५–१७०
७८–	टंक विद्या की महिमा–परम्परा	१७०–१७२
७९–	ब्रह्मदर्शन, दिव्य दर्शन, चित्तोदय चक्रभेदन	१७२–१७४
८०–	मन का वशीभूत होना–गोरखवाणी, स्थान परिचय, गमन समाप्त	१७४–१७७
८१–	तृतीय समानाधिकरण, चक्रों की ऊपर की चर्चा	१७८–१७९
८२–	हृदय चक्र का चालन, चक्र भेदन, ज्ञान–ध्यान, चिद्बोधनी मुद्रा	१७९–१८१
८३–	शरणागति का मार्ग, अहंकार त्याग	१८१–१८३
८४–	इस महायोग में समर्थ भावना, आनन्द, परमतत्व प्राप्ति	१८३–१८४
८५–	आत्मानन्द की उपलब्धि–पूर्ण सिद्धि	१८४–१८६
८६–	महालया आद्याशक्ति, गूढ़ रहस्य का ज्ञान	१८६–१८९

भाग द्वितीय

८७- गोरखवाणी दीप ज्योति जलाना, क्रिया-मुद्राओं का पुष्ट करने का मार्ग, लाभ — १९१-१९४

८८- मन अश्व, उससे सम्बन्धित आश्वी विद्या — १९४

८९- अश्वगंधा का सेवन — १९४-१९६

९०- साधन कार्य में व्यवधान-विनाश का उपाय, मुचकन्द फूल भक्षण — १९६-१९७

९१- शंखपुष्पी का सेवन — १९७-१९८

९२- बात, कफ, पित्त के नाश के लिए नागरमोथा का प्रयोग — १९८-२००

९३- सरस्वती वन्दना — २००-२०२

९४- गोरखवाणी — २०२-२०३

९५- मंत्र, मंत्र की शक्ति, प्रयोजन — २०४

९६- आधार विद्या कथन और रहस्य — २०४-२०६

९७- आधार के बिना जीवन की निष्फलता — २०७-२०८

९८- अनुभूति, ज्योतिर्लिंग का ज्ञान, शक्ति का साधक के अन्दर नर्तन, आधारविद्या, समानाधिगम्य प्रथम, ग्रन्थि अनुभूति उपदेश। — २०८-२११

९९- मंत्र जप विधि, चण्ड मुण्ड विनाशिनी का भेद — २१२-२१३

१००- महाज्योति दर्शन, अनुभूति — २१३-२१५

१०१- मंत्र बीज रुप परम शक्ति, मंत्रों का विशेष भेद-प्रभेद मंत्रव्यूह — २१६-२१९

१०२- मंत्र जाप से देव-दर्शन, आधार विद्या से सफलता — २१९-२११

१०३- विराट ज्वाला का दर्शन — २११-२२३

१०४- आधार विद्या का महत्व, इसकी सार्थकता — २२३-२२५

१०५- मंत्र जप काल में शक्ति का अनुभव, कार्य सिद्धि — २२५-२२८

१०६- मंत्र याग, मंत्रों का शक्ति सम्पन्न होना, विघ्न विनाश — २२८-२३४

१०७- आधार में क्रिया मुद्रा का वर्णन, टंक विद्या से आधार की पुष्टि — २३४-२३८

चक्र विद्या अधिगम का आरम्भ

१०८- चक्र विद्या का ज्ञान — २३९-२४२

१०९- चक्र विद्या से अनिष्ट निवारण — २४२

११०- शक्तिपात के द्वारा तत्वार्थ बोध — २४३-२४४

१११- चक्र विद्या प्रकरण आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा, अनुभूति और प्रत्याभास — २४५-२४६

११२- बोध और भीतर स्वरुप दर्शन — २४६-२४९

११३- शरीर चक्र, बुद्धि चक्र, चित्त चक्र, मन चक्र का वर्णन — २५०-२५१

११४–	प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ, चक्र संचालन	२५१–२५३
११५ -	आत्म बोध कैसे होता है?	२५३–२५८
११६–	आत्मज्ञान, आत्मबोध, आत्म रहस्य	२५९–२६०
११७–	आत्मबोध की प्राप्ति और अनुभव	२६०–२६२
११८–	सानुकूल भावों का अभ्यूदय और अनुभव ज्ञान	२६३–२६८
११९–	आत्मबोध के लिए क्रिया ज्ञान, मुद्रा ज्ञान	२६९–२७०
१२०–	आलम्बनी मुद्रा, विशिष्ट आलम्बनी मुद्रा, मुद्रा से भाव बोध	२७०–२७२
१२१–	प्राणायाम से मन की निश्चलता, प्रारम्भिक बोध, क्रिया मुद्रा से वृत्तिवश, कुर्चिका मुद्रा अथवा हनु मुद्रा	२७३–२७६
१२२–	अभ्यास काल में नये पुराने साधनों को भाव स्थिरता करने के उपाय	२७७
१२३–	आत्मभाव को दृढ़ करने के लिए सारिका मुद्रा	२७८–२८१
१२४–	आत्मबोध की रक्षा	२८२
१२५–	बोध की पुष्टी के लिए महत्वपूर्ण प्लावनी मुद्रा	२८२–२८५
१२६–	मन की चंयलता का अवरोध करना	२८६–२८७
१२७–	विस्थापिका मुद्रा	२८७–२९०
१२८–	संस्कार दृढ़ भूमि, चक्र विद्या से उसका परिष्कार	२९१–२९४
१२९–	आत्मबोध परिज्ञान, विघ्नव्यूह का तारक	२९५–२९६
१३०–	बोध प्राप्ति को दृढ़ रखने का उपाय, कुष्माण्ड भक्षण का ढंग	२९६–२९८
१३१–	विशुद्धीकरण और स्थिरीकरण के लिए औषधि	२९९–३००
१३२–	जपा पुष्प का प्रयोग	३००–३०१
१३३–	सरस्वती प्रार्थना	३०२–३०३
१३४–	साधन काल में शक्ति प्राप्ति के लिए महाबला आंवला का प्रयोग	३०३–३०४
१३५–	प्रकरण समाप्ति	३०४-३०५
१३६–	तत्व ज्ञान, तत्व शोधन, तत्वों की विशेष उत्पत्ति, तत्वों का भेद, शास्त्र की मान्यता, तत्व शब्द के अर्थ, तत्वार्थ बोध का ज्ञान	३०६–३१३
१३७–	वाह्य और आभ्यन्तर प्रक्रियाओं से शुद्धिकरण, मूलाधार की शुद्धि के लिए धातृ के फल आंवला का प्रयोग	३१४–३१७
१३८–	मूलाधार की शुद्धि ओर दृढ़ता	३१८–३१९
१३९–	निर्मला मुद्रा का प्रयोग	३१९–३२०
१४०–	बट का प्रयोग	३२०–३२१
१४१–	शास्त्र का प्रयोजन	३२२
१४२–	मूल शोधन के लिए बट फल का चूर्ण	३२२–३२४
१४३–	स्वाधिष्ठान के सम्बन्ध में	३२५–३२९

१४४- मणिपुर में अग्नितत्व का शोधन ३३०-३३३
१४५- मणिपुर चक्र-ज्वालापुंज ३३४-३३५
१४६- वारुणी मुद्रा का प्रयोग, मणिपुर शोधन के लिए ३३५-३३८
१४७- वारुणी मुद्रा की अवधि में शिवा गुडूची का ग्रहण करना ३३९-३४१
१४८- मणिपुर शोधन में क्रिया-मुद्रा-औषधि का प्रयोग प्रकृति के अनुकूल ३४२-३४३
१४९- मणिपुर शोधन के लिए लाभप्रद चक्रणी मुद्रा ३४३-३४४
१५०- चक्रणी मुद्रा के साथ तुलसी मंजरी का सेवन ३४४-३४६
१५१- क्रिया मुद्राओं का निरीक्षण परीक्षण ३४७-३४९
१५२- अपमार्ग की जड़ का प्रयोग ३४९-३५१
१५३- भद्रिका मुद्रा ३५२-३५६
१५४- मणिपुर शोधन में वंशलोचन का प्रयोग ३५७-३५८
१५५- हृदयचक्र, वायुतत्व के शोधन के लिए प्राणायाम का अभ्यास औषधि और हिरण्य मुद्रा ३५८-३५९
१५६- विशुद्ध चक्र की शुद्धि, आकाशतत्व शोधन ३५९-३६१
१५७- व्याघात व्यपोहन, मल विक्षेप और चित विक्षेप को दूर करना-मंत्र औषधि प्रयोग ३६२-३६६
१५८- दाड़मी बीजों के चूर्ण का प्रयोग, नागरमोथ का प्रयोग ३६६-३६९
१५९- करकट श्रृंगी का प्रयोग ३६७

भाग तृतीय

१६०- प्रकृति भेद से औषधि भेद, बिल्व का प्रयोग सेवन विधि ३७१-३७४
१६१- कायज रोगों के निवारण के लिए मंत्र औषधि प्रयोग ३७४
१६२- उदरस्थ मल शोधन, तुलसी बीजों का प्रयोग ३७६
१६३- मंत्र प्रयोग, रम् रुद्राणे नमः ३७७-३७८
१६४- शरीर को निर्मल करने के साधन, निम्बफल का प्रयोग, स्नान ३७९-३८१
१६५- कम्, कंकातिमिकाम् आवह्यामि मंत्र का प्रयोग, खण्ड मंत्र ३८१-३८२
१६६- औषधि से शरीर का ध्यान से मन का निर्विचार से चित्त के रोगों के विनाश का उपाय ३८३-३८४
१६७- शीतज, ऊष्णव, शीतोष्ण रोगों का सूर्य, चन्द्रमा के ध्यान से लाभ, चन्द्रों में मानसान्, रोगान् अपहत्य मंत्र का प्रयोग जप ३८४-३८५
१६८- बुद्धि विकलता को दूर करने के लिये नमोस्तु दिवाकराय मंत्र का प्रयोग ३८६-३८७
१६९- मानस रोग चांचल्य, स्तम्भ स्थरित्व, स्थिर, स्थिरता, गति विक्षेप, उतपतनात्मक और मलाश्रय रोगों के नाश के उपाय मुद्रा मुद्रा प्रयोग ३८८-३८९

१७०–	मोरपंख का प्रयोग, मुद्रा प्रयोग, गूंजा की जड़ का प्रयोग	३८९–३८९
१७१–	मानव रोगों की शान्ति का उपाय, मंत्र औषधि प्रयोग, सिंघाड़े के चूर्ण का प्रयोग, महाशक्ति आराध्यामि मंत्र का प्रयोग	३९२–३९५
१७२–	वृत्ति निवारण के लिए उपाय—तामाराधयामि महालयामिति मंत्र का प्रयोग	३९६–३९८
१७३–	प्रतिबन्ध विनाश के लिए काकजंघा का प्रयोग	३९९–४०१
१७४–	महाशक्तै नमः मानस चांचल्यम् विनाशय मत्र का प्रयोग	४०१–४०२
१७५–	चित्तज रोगों के निवारण के लिए उपाय, ध्यान द्वारा रोग निवृत्ति, मंत्र प्रयोग	४०३–४०६
१७६–	चित्तज महादोषों का विश्लेषण, कात्यानी मुद्रा	४०६–४९०
१७७–	साधकों के लिए चित्तज रोग विनाश का सूक्ष्म उपाय, मंत्र पीठिका–ऊ चित्तायकाम् मंत्र का प्रयोग	४९७–४९८
१७८–	सारिका मुद्रा, स्थापिका मुद्रा चित्तज रोग विनाश	४९४–४९५
१७९–	लम् पम् दिव्य रूपम् दिव्य स्वरूपम् मंत्र का प्रयोग	४९६
१८०–	वासवी मुद्रा से चित्तज दोष विनाश जाग्रतया महाशक्ति मंत्र का प्रयोग	४९७–४९८
१८१–	ध्यान की स्थिति, बुद्धिज रोगों के विनाश का उपाय	४२०–४२१
१८२–	बुद्धि के दोष, संमोह उद्भ्रान्ति, चंचलता, जड़त्व, स्त्यान दोष उनका निवारण	४२२–४२६
१८३–	बुद्धिज रोगों को विनाश, बुद्धि रक्षण का उपाय, मंत्र प्रयोग से, सर्वभूत मंत्र का प्रयोग	४२७–४२८
१८४–	सावित्रीय आवह्यामि मंत्र का प्रयोग	४२८–४२९
१८५–	सौं सौं मंत्र का प्रयोग घ्रीं घ्रीं मंत्र का प्रयोग	४२९–४३०
१८६–	भैरवाडंक निलयाम् मंत्र का प्रयोग	४३९
१८७–	माण्डुकी मुद्रा से बुद्धिज दोषों का निवारण	४३२–४३५
१८८–	बुद्धिज रोगों के विनाश के लिए मंत्र औषधि का प्रयोग, कोविदार के फूल का प्रयोग, भृंगराज का प्रयोग	४३५–४३६
१८९–	क्रीं क्रीं क्रीं मंत्र का प्रयोग	४३७–४३८
१९०–	ह्रीं मंत्र का प्रयोगं विधि, ताम्बुल पत्र का प्रयोग	४३९–४४९
१९१–	बुद्धि स्थिरता के लिए मंत्र का प्रयोग सौं बीजाक्षर मंत्र का प्रयोग वच का प्रयोग	४४२–४४५
१९२–	सां करीम सम, समय मंत्र का प्रयोग, बट वृक्ष के अंकुरों का प्रयोग	४४५–४४८
१९३–	प्रकरण की समाप्ति	४४९
१९४–	तत्व तत्वकथन, शास्त्र महिमा, गुरू नमस्कार	४४९–४५३

१९५– अथ प्राण, परा विद्या, जागृत शक्ति–निरीक्षण, प्राणों का गमनागमन, गति विच्छेद, गतिभाव का ज्ञान ४५४–४५८

१९६– व्यकृता और मूर्छा से ज्ञान अन्तर दृष्टि ४५७–४५८

१९७– पराविद्या के श्रेष्ठ विज्ञान का वर्णन, निरीक्षण परीक्षण ४५९–४६०

१९८– चक्रों की स्थिति, ग्रन्थियों की स्थिति औरन उनके ज्ञान की ।।। ४६०–४६१

१९९– जालन्धर मूल उड्यान का प्रयोग ४६१

२००– चक्रभेदन, ग्रन्थि भेदन, नाड़ि शोधन का ज्ञान ४६२

२०१– श्वान्तानुभव, प्राणों की श्रेष्ठ स्थिति, पराविद्या का अर्थ ४६३–४६६

२०२– सरस्वती वन्दना, ध्यान की स्थिति का प्रादुर्भाव, ध्यान के भेद, आनन्द प्राप्ति, स्वाभाव ज्ञान ४६६–४७१

२०३– अपने अन्दर आत्म दर्शन, ध्यान की विशेषता, चैजन्य अनुभूति ४७२–४७५

२०४– प्राणों के विषय में ध्यान की स्थिति, लक्षण, प्राणों की क्रीड़ा, शिव संकल्प, परातुष्टि ४७६–४८०

२०५– प्राणें का ऊर्धगमन, इष्ट मंत्र जाप, अनुभूति ४८१–४८५

२०६– प्राणायाम का महत्व, प्राणों की गति का परिचय, शून्य भाव ४८६–४८९

२०७– इन सबका स्वतः होना ४८९–४९२

२०८– बीज रूप में प्राणों की मध्यमा गति ४९२–४९४

२०९– शक्ति का ऊर्ध्व गमन, महामाया की कृपा से सब कुछ स्वतः होना ४९४–४९६

२१०– आत्म बोध–प्रत्यभिज्ञान ४९७–५००

२११– कंद से रन्द्र पर्यन्त गमन, उत्थान, अश्वोदरी का प्रयोग ५००–५०२

२१२– अभ्यास की दृढ़ता, अनुभूति, प्राणों का संरोध, निरीक्षण–परीक्षण ५०२–५०५

२१३– परीक्षण के बिना असफलता ५०५–५०६

२१४– साधक को सब कुछ अनुभूति में आना, सुरति निरति का सम्मिलन, प्राणों की धारा, स्पन्द होना, शब्द करते हुये प्राण का ऊपर चढ़ना। ५०६–५०९

२१५– समर्थ गुरू की कृपा, निरीक्षण–परीक्षण और ऊर्ध्व गमन ५०९–५११

२१६– परा विद्या की विशेषता, रन्द्रभाव में प्राण का प्रवेश, सहस्त्रार में योगी का रमण ५१२–५१५

२१७– कुलाकुल समायोग समभाव की प्राप्ति, आत्म–परमात्म बोध, लक्ष प्राप्ति ५१५–५१९

अमृतपान माँ सरस्वती का आशीर्वाद।

मुद्राओं की अनुक्रमणिका

१–	मलोदरी	११७
२–	अश्वनी	११७
३–	अश्वोदरी	११८
४–	कर्पिका	११८
५–	ह्रपा	११९
६–	लम्बिनी मुद्रा	१२०–१२१
७–	झम्पिनी मुदा	१२१–१२२
८–	स्कन्धनी	१२२
९–	कर्पूरिका	१२२–१२३
१०–	अश्वबन्धिनी	१२४–१२५
११–	स्थानपरिचायिका	१२५
१२–	पट्ट सम्बोधिनी	१२६
१३–	गारुड़ी	१२७
१४–	योगपट्टिका	१२७–१२८
१५–	शाम्भवी	१२९–१३०
१६–	खेचरी	१३०–१३१
१७–	दूसरी शाम्भवी	१३१
१८–	घूर्णिका मुद्रा	१३२
१९–	सर्वतोभावनी–भावनी	१३३–१३४
२०–	स्थानपरिचायिका मुद्रा	१६२–१६५
२१–	चिद्बोधनी	१७९–१८९
२२–	आलम्बनी, विशिष्ठ आलम्बिनी	२७०–२७९
२३–	कुर्चिका अथवा सर्व रुद्राणि मुद्रा	२७४
२४–	हनुकुर्चिका अथवा रुद्राणि	२७४–२७५
२५–	सारिका मुदा	२७८–२८१
२६–	प्लावनी मुद्रा १–२	२८३–२८५
२७–	विस्थापिका मुदा २	२८७–२९०
२८–	निर्मला	३१९–३२०
२९–	वारुणी मुदा	३३६–३३८

०–	चक्रणी मुद्रा २	३४४
१–	भद्रिका मुद्रा	३५३–३५६
२–	हिरण्यमुद्रा	३५८–३५९
३–	कात्यायनी मुद्रा २	४०८–४९०
४–	वासवी मुद्रा	४१७–४१९
५–	माण्डुकी मुद्रा ३	४३२–४३५

ॐ

दि. २२-१०-६२ सायम् ।।१।।

अथ शक्तिपात प्रकरणे जिज्ञासाधिकरणम् ।।

अब शक्तिपात प्रकरण के अन्तर्गत जिज्ञासा सम्बन्धी अधिकरण आरम्भ किया जाता है।

अथशक्तिपातस्य सम्प्रत्ययः ।।१।।

ग्रन्थ के आरम्भ में शक्तिपात की विशिष्ट अनुभूति के बारे में मां सरस्वती कहती हैं।

तत्प्रतिपत्तेः जिज्ञासा कर्तव्या विघातके हेतौ ।।२।।

उस शक्तिपात की प्राप्ति के लिये जिज्ञासा करनी चाहिये। शक्तिपात के रहस्य को समझने के लिये और उसकी अनुभूति की उपलब्धि के लिए श्रद्धा, विश्वास एवं निष्ठा की आवश्यकता होती है। शक्तिपात की अनुभूति की प्राप्ति में जो – जो विघ्नबाधायें आती हैं उनको भी भलीभांति समझना चाहिये।

जिज्ञासा अनुग्रहैकलभ्या ।।३।।

जब उस महाशक्ति का स्वयं अनुग्रह होता है तभी जिज्ञासा पैदा होती है। बिना जगदम्बा भगवती महाशक्ति के कृपाकटाक्ष के मानव के भीतर जिज्ञासा जग ही नहीं सकती है।

अनुग्रहः तत्कृपया गुरूकृपया वा साध्यः ।।४।।

अनुग्रह उसी महाशक्ति की कृपा से साध्य होता है। अथवा सद्गुरू की कृपा से अनुग्रह की प्राप्ति होती है। क्योंकि सद्गुरू भी साक्षात् शक्तिस्वरूप होते हैं।

अनुग्रहात् बुद्धेः सानुकूलत्वम् ।।५।।

अनुग्रह हो जाने पर मानव की बुद्धि में आस्तिकता, श्रद्धा, विश्वास आदि सात्विक गुणों का उदय होता है। जिससे शक्तिपात की प्राप्ति में अनुकूलता प्राप्त होती है।

तस्माद् ईक्षणम् ।।६।।

बुद्धि की अनुकूलता से शक्तिपात की अनुभूति को समझने और पहिचानने की क्षमता प्राप्त होती, अन्यथा गुरूकृपा होने पर भी शिष्य शक्तिपात के रहस्य को नहीं समझ पाता है और लाभ के बदले हानि उठा लेता है। इसीलिये शक्ति-संचार से पूर्व सद्गुरू शिष्य की अनुकूलता की परख कर लेते हैं।

ईक्षणात् परिस्फुरणम् ।।७।।

ईक्षण की क्षमता प्राप्त हो जाने पर ईश्वरीय भावों का परिस्फुरण होना आरम्भ हो जाता है। ईश्वरीय भावों का परिस्फुरण क्या होता है, इस रहस्य को शक्तिपात के प्रायः सभी साधक विद्यार्थी भलीभाँति जानते हैं। भूत तथा वर्तमान सिद्ध, महात्मा, देवता आदि के दर्शन व उनसे वार्तालाप होना और आदेश सन्देश प्राप्त होना आदि आदि।।

ततः परप्रत्ययान्वयः ।।८।।

बस इसके बाद परप्रत्यय से साधक का अन्वय अर्थात् मेल हो जाता है, संयोग हो जाता है।।

परस्य तत् पदस्य आत्मपदस्य वा प्रत्ययः विश्वासैकभूमिः, तस्य अन्वयः, तत्र गतिः गमनम्, प्रापणं प्रयाणं वा। परः यस्मादन्यन्न किंचिदस्ति सः परः। अथवा परः स यत्र सर्वाः शक्त्यः संलीयन्ते यत्र च संचरणं संवरणं संरक्षणं च विद्यते। यच्च अनाख्येयं तस्य एव प्रत्ययः। सः कश्चिदस्ति इत्यात्मिका प्रतीतिः। तदनन्तरं सोऽहमिति, तत्र अनु, आनुकूल्येन भावानुगतिः।।

पर प्रत्यय किसे कहा जाता है और अन्वय किसे कहा जाता है उसे समझाते हैं। पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पद का, अथवा आत्मपाद का जो प्रत्यय अर्थात् प्रतीति है उसे पर प्रत्यय कहते हैं। उसी सर्वश्रेष्ठ पद एवं आत्मपाद से अन्वय होना अर्थात् संयोग होने को "परप्रत्ययान्वय" कहते हैं। आत्मपद में गति होना, आत्मा तक पहुंचना अथवा ले जाने को अन्वय कहा जाता है। अब "पर" शब्द का अर्थ बताते हैं। जिससे बढ़कर कुछ नहीं है उसे पर कहते हैं। अथवा जिसमें सभी शक्तियां सर्वतोभावेन लीन होती हैं, उसी में विचरण करती हैं और उसी में संरक्षित रहती हैं उसी को 'पर' कहते हैं। वह 'पर' तत्त्व अनाख्येय है अर्थात् वाणी द्वारा उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। उसी की अन्तरनुभूति को "परप्रत्यय" कहते हैं। वह तत्त्व कुछ है अवश्य इस प्रकार की प्रतीति होती है और वही 'मैं, हूँ ऐसा भान होता है। उसी परतत्त्व में अनुकूलतापूर्वक उसी के भाव की अनुगति (अन्वय) होती है।

परस्य आत्मतत्त्वस्य यः प्रत्ययः प्रतीतिः श्रद्धात्मिका विश्वासात्मिका भावात्मिका च तदनुकूलमेव परतत्त्वं प्रति गमनात्मकं, स्वरूपबोधात्मकं वा ज्ञानम् इति। बीजांकुरवत् । प्रतीयते इति प्रत्ययः। परः कः। कथं च तस्य प्रत्ययः, कथं वा तस्यान्वयः।

आत्मतत्त्व की प्रतीति तीन प्रकार की होती है। श्रद्धात्मिका, भावात्मिका और विश्वासात्मिका, इन तीनों के आधार पर ही पर तत्त्व के प्रति विचारों का गतिशील होना परप्रत्ययान्वय है। इसी को अनुभूत्यात्मक एवं स्वरूपबोधात्मक ज्ञान कहते हैं। बीजांकुरवत्। जिनकी प्रतीति होती है उसे प्रत्यय कहते हैं। पर कौन है ? उसकी प्रतीति कैसे होती है और उसके प्रति गतिशीलता कैसे प्राप्त होती है इसे आगे बताते हैं।

दर्शनाभावः प्रत्ययाभावः, दर्शनाभावात् नान्वय इतिनाशंकनीयम् । परप्रत्ययान्वयाद् अनुभूतेर्विशिष्टता। यतः (सर्वत्र भासते यश्च श्रूयते न च दृश्यते) नास्ति यस्मात् परः कश्चित् अनाख्येयः परः स्मृढः।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि जिसे देखा न जा सके उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है और जिसकी प्रतीति नहीं होगी उसके प्रति अन्वय नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रत्ययान्वय से अनुभूति में विशिष्टता आती है। स्वानुभूति ही प्रतीति से अधिक महत्त्व रखती है। क्योंकि जो सर्वत्र प्रकाशशील हो रहा है, श्रुति स्मृति शास्त्र आदि में जो सुना जाता है कि उसकी सत्ता है, पर देखा नहीं जाता, जिससे बढ़कर अन्य किसी की शक्तिमत्ता नहीं है वह अनाख्येय ही पर है।

अत एव यत् तत् सः परः यः परः सः तत् । अत एव तत् प्रतिपत्तये जिज्ञासा कर्तव्या। अनुग्रहेण तत् प्रत्ययः शक्त्युद्बोधनेन वा। ईक्षणस्फुरणाभ्यां तदन्वयः। यदा परप्रत्ययान्वयो भवति तदा अनुभूतेः संकलनात्मकं ज्ञानं भवति।

इसी कारण जो तत् शब्द से कहा जाता है वही पर है और जो पर शब्द से वाच्य है वही तत् पदार्थ है। इसलिये उसकी उपलब्धि के लिये जिज्ञासा करनी चाहिये। तत् पदार्थ की अनुभूति या तो महाशक्ति के साक्षात् अनुग्रह के द्वारा होती है अथवा शक्ति के जागरण करने पर होती है। ईक्षण और स्फुरण से तत् पदार्थ का अन्वय होता है। जब परप्रत्ययान्वय हो जाता है, तब अनुभूति का संकलनात्मक ज्ञान होता है अर्थात् नाना प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ क्रमपूर्वक या अक्रमपूर्वक मिश्रित रूप में हुआ करती हैं।

दि० २३-१०-६२ सायम्।।२।।

अनुभूतिशब्दस्य नास्त्यनुभवार्थः, किन्तु शक्त्यर्थः, अनुभूयते यया सा अनुभूतिः शक्तिः। कः अनुभूयते ? परः। परस्तु नानुभवगम्यस्तदा? शोभनम् । अनुभूतिः सा वर्तते यया ज्ञानं क्रिया च प्रच्छन्नेच्छया सह वर्तते। या च परानुभवाय प्रभवति। ननु परप्रत्ययान्वय इति। परस्य प्रत्ययान्वयः यदा भवति तदा परस्य प्रत्ययोऽपि जायते। इत्यर्थे अनुभूतिशब्दस्य शक्त्यर्थः तदा च अनुपयुक्तः। यया अनुभूयते सा अनुभूतिः शक्तिः इति कथनमपेशलम् । इति न शंकनीयम् । परप्रत्ययान्वये जिज्ञासा संकलिता अस्ति। जिज्ञासामूले च परप्रत्ययान्वयः।।

अनुभूति शब्द का यों तो सामान्यार्थ अनुभव होता है। किन्तु इस शास्त्र में अनुभूति का अर्थ शक्ति का अर्थ शक्ति होता है। जिससे अनुभव किया जाय उसे अनुभूति कहते हैं। वह है शक्ति। शंका होती है कि अनुभूति किसकी होती है। पर पद की ही तो अनुभूति होती होगी। पर तो अनुभव गम्य है ही नहीं अतः अनुभूति का अर्थ अनुभव नहीं है। क्योंकि अनुभूति तो वह शक्ति है जिसमें ज्ञान, क्रिया एवं प्रच्छन्नरुप में इच्छा का समावेश रहता है, जो परपद के अनुभव अर्थात् विशिष्ट ज्ञान की भूमि को प्रस्तुत करता है। इस क्रिया की जो प्रेरक बनती है वही शक्ति अनुभूति है। यदि ऐसी शंका करें कि यदि पर पदं का प्रत्यय होगा तभी तो उसका अन्वय होगा। ऐसा मानने पर तो अनुभूति का अर्थ विशेष अनुभव ही होगा; शक्ति अर्थ करना उचित नहीं होगा। इसलिये जिसके द्वारा अनुभव हो उसे अनुभूति कहेंगे और अनुभूति का अर्थ शक्ति लेंगे तो यह कथन अनुचित होगा और लोकमत के विरुद्ध भी पड़ेगा। तब ? इसका खण्डन करते हुए कहा जाता है कि परप्रत्यय के अन्वय में जिज्ञासा भी संबलित रहती है और जिज्ञासा के मूल में परप्रत्ययान्वय निर्भर है।

किन्तु परः कश्चिदस्ति स एव ज्ञातव्यः स एव प्राप्तव्य इति बोधगम्यार्थः यया शक्त्या जायते सा शक्तिः अनुभूतिः। अनुभूतिरेव परः अस्ति इति अनुभवगम्यं ज्ञानं बोधं कारयति। अत एव अनुभवे अनुभूतौ च महदन्तरम् । अनुभूत्या अर्थात् शक्त्या यः बोधः क्रियते सोऽनुभवः इति। अत एव यदा पर प्रत्यायान्वयो भवति तदैव अनुभूतेः विशिष्टता जायते। अनुभूतिः चिद्विशिष्टा शक्तिः। अनुभूतेः विशिष्टता इत्यस्य साकांक्षिकोर्थः करणीयः, अनु आनुकूल्येन प्रत्ययान्वयस्य वा पश्चात् ययानुभूयते। अर्थात् अस्तीतिसत्तात्मकं बोधः क्रियते। भावनायोग्यः विधीयते सा अनुभूतिः चिच्छक्तिः। तया च परः ज्ञातुंशक्यते। कथं च परज्ञानं सुलभम् ? तत्तु अनुभूयते विशिष्टतया, अनुभूतिः विशिष्टा शक्तिः। सा यदा संचरणत्वेन समायुक्ता भवति तदा परस्य प्रत्ययान्वयः विशिष्टतया भवति। तस्य प्रबलतया च "केनेदं निर्मितं सर्वं" इति प्रतिविज्ञानेन तस्य परस्य ज्ञानं सुलभं भवति। तच्च शक्त्याधीनम् ।

क्योंकि "पर कुछ है, उसी को जानना चाहिये, उसी को प्राप्त करना चाहिये" इस प्रकार का बोधगम्य अर्थ शक्ति के द्वारा होता है, वही अनुभूति है। अनुभूति ही "पर" है इस प्रकार के अनुभव गम्य बोध या ज्ञान को वह कराती है। इसीलिये अनुभति और अनुभव में बहुत अन्तर है। एक साधन है और एक तज्जन्य वस्तु। इसे यों समझना चाहिए कि अनुभूति अथवा शक्ति के द्वारा जो बोध होता है उसे अनुभव कहते हैं। अतः जब 'परप्रत्ययान्वय होता है तभी अनुभूति की विशिष्टता भी होती है।' इसीलिये अनुभूति को चिद्विशिष्टा शक्ति कहा गया है। "अनुभूति की विशिष्टता" इसका साकांक्ष अर्थ करना पड़ता है। "अनु" अर्थात्

अनुकूलता से प्रत्ययान्वय के बाद जिसकी प्रेरणा दी जाती है उसे "पर" कहते हैं। इस प्रकार का सत्वात्मक बोध जो कराती है "पर" को भावनायोग्य बनाती हैं उसे अनुभूति शक्ति कहते हैं। वही चिच्छक्ति है। उसी से "पर" को जाना जा सकता है। पर ज्ञान कैसे हो ? तो वह अनुभूति की विशिष्टता से होता है। अतः अनुभूति एक विशिष्ट शक्ति है। वह जब संचरण से युक्त होती है तब परप्रत्ययान्वय प्रकृष्ट रुप से होने लगता है। जब परप्रत्ययान्वय हो जाता है तभी अनुभूति में संकलनात्मक ज्ञान उत्पन्न है। अर्थात सब प्रकार से उस "पर" की अनुभूति में समस्त सर्वात्मभाव का उद्गम होने लगता है।

२४-१०-६३ प्रातः सायम् ।।३।।

विशिष्टस्य भावः विशिष्टताया, शक्तिः चिद्विशिष्टा सती भावात्मबोधं अधिगमयति सा परस्य परा शक्तिः। यदा शक्तिः चिद्विशिष्टा भवति तदा सा ज्ञानवती तथा क्रियावती च भवति। चिदभावे ज्ञानक्रिययोरभावः। इत्थंभूता या शक्ति सैवानुभूतिः। भावस्योद्बोधिका अनुभूतिः। "भावं पदार्थरूपेण मन्यन्ते च मनीषिणः।" एवं भावबोधं करयित्वा या शक्तिः प्रेरणारूपेण परं प्रति तान् गमयति सा परस्य परा शक्तिः अनुभूतिः।।

विशिष्ट के भाव को विशिष्टता कहते हैं। अर्थात् जो शक्ति चिद्विशिष्ट होती हुई भावात्मबोध को व्यक्त करती है वही "पर" की पराशक्ति है। जब शक्ति चिद्विशिष्टा होती है तभी वह ज्ञानवती और क्रियावती भी होती है। चिद् के अभाव होने पर ज्ञान और क्रिया का भी अभाव रहता है। इस प्रकार की जो शक्ति है उसी को इस शास्त्र में अनुभूति कहा गया है। अर्थात् भावों का उद्बोधन करने वाली शक्ति ही अनुभूति है। भाव का अर्थ विद्वान लोग पदार्थमात्र लेते हैं। इस प्रकार भावबोध कराकर जो शक्ति प्रेरणा रूप से उन्हें "पर" के प्रति पहुंचाती है, तद्विषयक करती है वही "पर" की परा शक्ति ही अनुभूति है।

तथा **चः :- याच तस्मात् समुद्भूता तस्मिन्नेव विलीयते।।**
घण्टानाद - समाकारा सानुभूतिः बुधैः स्मृता।।

यथा स्थूल घण्टानादानन्तरं अनुकरणरूपा या ध्वनिः किंचित्कालं रणनं विधाय शब्दे एव विलीयते तथैव परस्मात् निर्गता या शक्तिः ध्वन्यनुरणकत्वेन प्रतीयमाना भूत्वा अन्ते तस्मिन्नैव समाविष्टा जायते सा शक्तिः अनुभूतिः साच चिद्विशिष्टा।

तथा चः- जो जिससे उत्पन्न हुई है वह उसी में विलीन हो जाती है। घण्टानाद के अनुरणन (टंकार) की भांति उसे समझना चाहिये, घण्टानाद की ध्वनि अनुरणन करती हुई धीरे-धीरे जिस भाँति उसी शब्द में विलीन हो जाती है उसी प्रकार "पर" से निकली हुई जो शक्ति ध्वन्यनुरणन रूप से प्रतीयमान होकर अन्त में उसी "पर" में समाविष्ट हो जाती है। वह परा शक्ति ही अनुभूति है। और वह सदैव चिद्विशिष्ट रहती है।

अथवा पर प्रत्ययान्वयेन या शक्तिः संवलिता क्रियावती भवति सानुभूतिः। क्रियावती, क्रियाशीला, क्रियाधारा, क्रियात्मिका च या शक्तिः जागृतिं याति सानुभूतिः प्रचक्षते। जागरणाभावे ज्ञानाभावः, ज्ञानाभावे च क्रियाभावः। क्रियाभावे च परप्रत्ययान्वयाभावः विस्मृतिर्वा अनुद्भदावनं च। अतएव अनुभूते विशिष्टता प्रतीयते। अनुभूतिः पंचधाः- (१) तत् प्रत्ययात्मिका (२) मन्त्रबीजरूपणी (३) जागृतरूपेण संचारिणी (४) श्लिष्ट-प्रश्लिष्ट-संश्लिष्ट-विशिष्टात्मिका (५) परमाशक्तिः।

यदा शक्तिः अनुग्रहत्वेन जागृता भवति तदा संचरणशीला जायते। संचरणशीला सा बीजं शोणितरूपं विन्दुं च शुक्रस्वरूपं संयमयति तदा सृष्टिः। अर्थात् परस्य निराकरणत्वम् । तस्मिन् काले तस्यां स्थिरत्वं संचरणत्वं वोभयम, सा अर्धमेलनावास्था, तामवस्थां गमयति सा शक्तिः अनुभूतिः।

अथवा पर प्रत्ययान्वय से संवलित होकर जो चित् शक्ति क्रियावती होती है, उसे अनुभूति कहते हैं। वह क्रियावती है, क्रियाशीला है, क्रियाधार है, क्रियात्मिका है और जागृत होकर "पर" प्रत्यय कराती है, वही शक्ति अनुभूति है। उस शक्ति के जागृत न होने पर ज्ञान नहीं हो सकता, ज्ञान के अभाव में क्रिया नहीं हो सकती और क्रिया के अभाव में पर प्रत्यय नहीं हो सकता है। न वहाँ तक गमन की दशा ही आती है। वहाँ या तो विस्मृति बनी रहती है या प्रकटता नहीं आती है। इसलिये अनुभूति की विशिष्टता कही गई है। अनुभूति पांच प्रकार की बताई गई है, (१) तत्प्रत्ययात्मिका (२) मन्त्रबीजरूपिणी (३) जागृत रूपेण संचारिणी (४) शिलष्ट-प्रशिलष्ट-संश्लिष्ट विशिष्टात्मिका (५) परमाशक्ति।

जब शक्ति अनुग्रह के द्वारा जागृत होती है, तब वह संचरणशील होकर संचरण करके, बीज जो शोषित के रूप में है और बिन्दु जो शुक्र के रूप में है उसका संभोग कराकर सृष्टि करती है। बीज बिन्दु समायोग उसका कार्य होता है। उस समय उसमें स्थिरता और संचरणता दोनों का समावेष रहता है। उस समय वह अर्धचेतन के रूप में "पर" के प्रति गमनात्मक भाव को उद्बोधित करती है, अर्थात् "पर" तक पहुंचाने की भावना को जागृत कर देती है।

२५-१०-६२ प्रातः ।।४।।

अथवा शिलष्ट प्रश्लिष्ट-संश्लिष्टाश्लिष्ट विशिष्टात्मकत्वं संगृह्य प्रतिरोधविरोधनिरोधावस्थां सुलभां करोति सानुभूतिः। विशिष्टा शक्तिः, यदा विशिष्टरूपेण तिष्ठति तदा कलनं कलानां ज्ञानं भवति।

अथवा शिलष्ट प्रश्लिष्ट संश्लिष्ट विशिष्टात्मक भावों को ग्रहण कर प्रतिरोध विरोध निरोध की अवस्थाओं को सुलभ बना देती है उसे अनुभूति कहते हैं। वह विशिष्ट शक्ति जब जागृतावस्था को प्राप्त होती है तब उसमें कलन उत्पन्न होता है अर्थात् कलाओं का ज्ञान होना आरम्भ होता है।

प्रकृष्टावस्थायां कलानां प्रकृष्टता द्योतते। संश्लिष्टावस्थायां कलानां संस्कारबोधः, अश्लिष्टावस्थायां वृत्याकाररूपं भवति। कलाः वृत्याकाराः भवन्ति। तासु वर्तनधर्म प्रस्फुटति वृत्तयोऽपि पञ्चैव। यदा कलानां वृत्तिरूपेण वर्तनं भवति तदा तत्र संचरणता सर्वतोभावेन संवरणम् । विषयाणां संवरणम् । तत्र गतिः पुनश्च शक्तिः वृत्तीनां प्रतिरोधः करोति। अर्थात् प्रबलरूपेण रोद्धुंचेष्टते। पुनस्तासां चाञ्चल्यंनश्यति।

प्रकृष्टावस्था में कलाओं की प्रकृष्टता ज्ञात होती है। संश्लिष्टावस्था में कलाओं का संस्कार–बोध होता है। अश्लिष्टावस्था में वृत्तियाँ एकाकार होती हैं। कलायें स्वयं वृत्याकार हो जाती हैं। अर्थात् कलायें वृत्तियों के साथ तद्वत् आभासित होने लगती हैं। उनमें क्रिया करने की शक्ति का प्रस्फुरण होने लगता है। वृत्तियां भी पांच ही हैं। जब कलायें वृत्याकार हो जाती हैं, तब उनमें संवरणना आने लगती है, सब प्रकार से उनका संचरण (ग्राह्यता) होता है। विषयों का संवरण (पार्थक्य) होता है। फिर शक्ति स्वयं वृत्तियों का प्रतिरोध भी कर देती है। उनके धर्मों से उन्हें रोक देती है, फिर उनमें चाञ्चल्य है उसका भी स्वयं विरोध करती है।

अर्थात् एकाधाराधाकृष्य अपराधारं विशिष्टरूपेण रोधयति पुनश्च बीजबिन्दुद्वयं संयमयन्ती वृत्तिधर्मनिरोधयति। स्थिरत्वं प्रापयति च। विशिष्टावस्थायां यदा कलनं कलात्मकलं समायाति तदा एकत्वरूपावृतिः भवति। कलनं च बहूनां भवति। अतः एकैव बहुरूपेण जायते। बहुत्वे च वृत्तिसंवरणतागच्छति। संवरणस्य निरोधं विधाय या शक्तिः स्थैर्यमापादयति सा शक्तिः अनुभूतिरिति।

अर्थात् एक ओर से खींचकर दूसरी ओर ले जाती है। "पर" के प्रति भावना को पुष्ट करती है, फिर बीज और बिन्दु दोनों का संगम कराती हुई वृत्तियों को व्यापारों को (कार्य को) रोकती है और उनमें स्थिरता ले आती है। विशिष्टावस्था में जब कलनात्मकता आती है तब वृत्तियाँ एक रूपा हो जाती हैं। कलन में कभी–कभी बहुत्व रहता है, पर उस बहुत्व में संवरणता रहती है उसका निरोध करके वह शक्ति उनमें स्थिरता उत्पन्न कर देती है। तब उस स्थिरत्व प्रतिपादन वाली शक्ति को ही अनुभूति कहते हैं।

तदा प्रत्याभासः ।।९।।

प्रबल रूपेण पूर्णप्रकटत्वरूपेण यः परः तिरोहित इव दृश्यते ज्ञायते च तस्य आभासं या विशिष्टा शक्तिः कारयति सा अनुभूतिः अथवा प्रतिभा स्वरूपेण आकारबोधरूपेण परंभासं निरावरणं करोति, घनाच्छादनात् निरावरणं अर्कवत् । अत एवोच्यते तदा प्रत्याभासः। कदा प्रत्याभासः ? उत्तरयति यदा प्ररप्रत्यान्वयात् अनुभूतेः विशिष्टता समुद्भवति तदा परस्य प्रत्याभासः भवितुं शक्यते। न तत्, किन्तु तद्वत् । न सः किन्तु तत्सदृशः इत्यात्मकं ज्ञानं अपरज्ञानं प्रेरयति।।

तब प्रत्याभास होता है जो 'पर' तिरोहित सा अप्रकट सा प्रतीत होता है उसे पूर्ण प्रबल रूप से आभासित वह शक्ति ही कराती है। अर्थात् आकार का जो ज्ञान नहीं होने पाया है उसे निवारण करके स्वरूप बोध कराती है। जैसे मेघाच्छादित सूर्य मेघों के आवरण से मुक्त होकर स्पष्ट रूप से आभासित होने लग जाता है वह शक्ति उसी भाँति 'पर' को अनुभव योग्य बना देती है। तभी कहा गया है उसका (परका) प्रत्याभास होता है। कब होता है वह प्रत्याभास ? इसका उत्तर है कि जब अनुभूति की विशिष्टता (शक्ति का प्राबल्य) होता है तब 'पर' का प्रत्याभास हो सकता है। वही नहीं पर तद्वत् । वह नहीं किन्तु उसके समान–इस प्रकार का ज्ञान दूसरे प्रकार के अर्थात् 'पर' सम्बन्धी ज्ञान को प्रेरणा देता है। तब "पर" का ज्ञान उस शक्ति के द्वारा होने लगता है।

२५–१०–६२ सायम् ।।५।।

अनुभूतिः परमा शक्तिः परमापादयति परज्ञानं वा मापयति सा परमा शक्तिः। सा च ऊर्ध्वगामिनी भूत्वा वृत्तिनिरोधं प्रकुर्वती स्थिरतामानयति। परमस्य या शक्तिः सा परमा शक्तिः इत्यर्थः। यदा सा क्रियावती भवति, तदा पञ्चात्मिकानां वृत्तीनां निरोधः सुलभो भवति। निरोधसुलभत्वात् स्थिरत्वमायाति, स्थिरभावे च प्रत्याभासे गतिसौकर्यंजायते। अत एव कथितं च :- "धर्मान् समस्तानभिव्याप्य या स्थिता या वृत्तिरोधाय सदासमर्था। या सर्वभूतान्तर सन्निविष्टा सा दिव्यशक्तिः परमेतिख्याता।।" सैव परमा शक्तिः प्रत्याभासाय प्रभवति। तदा इन्द्रियैकतानतायाः। अनवस्थितिबोधः प्रादुर्भवति।।

अनुभूति एक विराट् परमा शक्ति है। वह ऊपर को सहस्त्र दल की ओर उठती हुई वृत्तियों का निरोध करती हुयी स्थिरता को लाती है। उस परम की जो शक्ति है उसी को परमा शक्ति कहते हैं। जब वह क्रियावती होती है तभी वृत्तियों का निरोध सुलभ होता है। निरोध के सुलभ हो जाने से स्थिरता आ जाती है। स्थिरता आ जाने से "पर" के ज्ञान होने में सरलता रहती है। इसीलिए कहा गया है कि :– जो सब व्यापारों में व्याप्त होकर रहती है तथा जो सब प्राणियों के अन्तर्गत सुप्त रूप में विराजमान है और जो वृत्तियों का निरोध करने में सदैव समर्थ है उसी दिव्य शक्ति को परमा शक्ति कहते हैं। वह परमा शक्ति जागृत स्वरूपिणी होकर परम का प्रत्याभास करा देती है और इन्द्रिय व्यापारों में अनवस्था नहीं होने पाती अर्थात् इन्द्रियाँ भी चाञ्चल्य रहित हो जाती हैं।

२६-१०-६२ प्रातः ।।६ ।।

प्रत्याभासशब्दस्यापि विशेषार्थः

सर्वत्र भासते यश्च येनेदं भासितं जगत् ।
निरावरण संभूतः प्रत्याभासः स उच्यते।।

अत एवोच्यते शास्त्रकारैः "तस्य भासा सर्व मिदं विभाति,"
या भाः भाति समस्तेषु भूतेषु प्राणरूपिणी।
तां समन्तात् समाप्नोति प्रत्याभासः स उच्यते।।

प्रत्याभास शब्द का भी विशेष अर्थ है, जो सर्वत्र भासित हो रहा है, जिससे यह विश्व प्रकाशित हो रहा है, जो स्वतः ज्योति है, निरावरण है उसे प्रत्याभास कहते हैं। इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है कि :- उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशशील है। जो प्रकाश समस्त भूत तत्त्वों में विराजमान है, जो प्राणियों को प्राण देने वाली है उसे जो सब प्रकार से अपने में सन्निविष्ट करता है उसे प्रत्याभास कहते हैं।

अथवा प्रति अर्थात् पदार्थमात्रे य आ समन्तात् व्याप्य भासते स एव प्रत्याभासः। अत एव उच्यते उपनिषदि "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्" इति। अतः ध्रुवमिदं यत् विशिष्टानुभूतिसमुद्बोधनात्मकेन ज्ञानेन प्रत्याभासः ज्ञायते। प्रकाशशीलतायाः अनुभवः क्रियते। यत् प्रति सर्वत्रैव यस्य आभा वर्तते स प्रत्याभासः।

अथवा प्रति अर्थात् जो पदार्थ मात्र में व्याप्त होकर भासित होता रहता है, उसी को प्रत्याभास कहते हैं। इसीलिये उपनिषद् में 'ईशावास्यमिदं सर्वं' कहा गया है। अर्थात् सर्वत्र ईश्वर की शक्ति का आभास (व्याप्त) है। अतः यह ध्रुव सत्य है कि विशिष्ट अनुभूति से उत्पन्न ज्ञान द्वारा प्रत्याभास जाना जाता है। यह ज्ञान अनुभव से युक्त होता है। उसमें प्रकाशशीलता का अनुभव स्वयं किया जाता है। क्योंकि जिसकी आभा (ज्योति) सर्वत्र कही गयी है वह जब अनुभव का विषय बन जाता है, तब प्रत्याभास का बोध होता है।

ननु यदि अनुभूतेः विशिष्टतया प्रत्याभास ज्ञानं जायते तद् भ्रमात्मकमेव। यत् तत् प्रकाशशीलता कल्पनैकजन्या न त्वनुभूयते न च दृश्यते। मृगमरीचिकावत् । तत्रापि आभासमात्रं जलस्य भवति न चत त्तथा इति नैवं शंकनीयम् । भ्रमात्मकज्ञानं तत्रैव भवति यत्र अवस्तुनि वस्त्वारोपः विवर्तकत्वेन जायते। किन्तु यत्र शक्तिः क्रियावस्तीय ज्ञानवती च संजायते तत्र भ्रमाय विवर्ताय च वा नास्त्यवकाशः। यतः परप्रत्ययान्वयः अनुभूतेः विशिष्टतया भवति। तत्र च विशिष्टानुभूतौ ज्ञानत्मिका क्रियात्मिका च शक्तिः साधारा, सबला समर्था च तिष्ठति प्रपातवत् । यथा प्रपाते गतिशीलता

विद्यते तत्र कमपि पदार्थजातं नैव स्थातुं शक्नोति। यतः प्रकाशे कथमन्धकारस्य स्थितिः। यत्र किंचित् भ्रमात्मकं भाते तद् दृष्टिदोषेणवा अज्ञानेन वा। उदाहरति च यथा घनाच्छादितमर्कं कश्चित् प्रकाशहीनं वक्तुं शक्नोति परं च न तत् तथा सूर्ये प्रकाशस्तु तदैव विद्यते। अतः प्रत्याभासे भ्रमात्मकता न शंकनीया।

अव्यक्ताद् व्यक्तरूपेण पश्यन्ति सर्वदा वुधाः।
समाप्य विगुणान् धर्मान् सगुणान् धारयेच्च यः।।
निर्भ्रान्तश्च निरावृत्तः प्रत्याभासः स अव्ययः।।

अत एवोक्तं "तदा प्रत्याभासः"। पुनः निरोधवृत्युद्बोधनेन तत् संप्रत्ययने च प्रत्याभासे अवस्थितिः।।

(शंका) – यदि अनुभूति की विशिष्टता से प्रत्याभास का ज्ञान होता है तो वह भ्रमात्मक है, क्योंकि उसकी प्रकाशशीलता कल्पनाजन्य होगी, कारण कि वह न अनुभव में आती है और न वह देखी जाती है। उसमें भी मृगतृष्णा की भाँति बालू में जल का आभास–सा होगा। उसी भाँति प्रत्याभास की मृगतृष्णा की भाँति भ्रम ही होगा। (उत्तर) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। भ्रमात्मक वहीं होता है जहाँ अवस्तु में वस्तु का आरोप होता है। अनात्मा में आत्मा का ज्ञान समझा जाता है, उसी को विवर्त कहते हैं। (विवर्त अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान)। किन्तु जहाँ महाशक्ति स्वयं क्रियावती ज्ञानवती होती है वहाँ पर भ्रम के लिये या भ्रमात्मक ज्ञान के लिये कोई गुंजाइश नहीं होती। क्योंकि वहाँ तो विशिष्ट शक्ति काम करती रहती है। उसमें तो ज्ञानात्मिका और क्रियात्मिक शक्ति झरने की गतिशील धारा की भाँति समर्थ और सबल होकर किसी भी विजातीय पदार्थ को अपने में ठहरने नहीं देती है। क्रिया और ज्ञान के सम्बद्ध होने पर भ्रमात्मकता रह ही नहीं सकती है। प्रकाश के सामने अन्धकार कैसे ठहर सकता है। भ्रमात्मकता तो दृष्टिदोष या अज्ञान से आती है, जैसे बादलों में ढके सूर्य को कोई प्रकाशहीन कह दे, सूर्य का प्रकाश सूर्य में है ही। ठीक इसी प्रकार प्रत्याभास भी प्रत्यक्षानुभव की वस्तु है। सूर्यवत् उसमें कल्पनाजन्य भ्रमात्मकता नहीं रहती है। अतः प्रत्याभास के सम्बन्ध में भ्रमात्मकता नहीं रहती है। क्योंकि वहाँ तोः–

अव्यक्त को व्यक्त रूप में बुद्धिमान् योगीजन देखा करते हैं प्रत्याभास तो निर्गुण को समाप्त कर सगुण धर्मों में अभिव्यक्त होता है। निर्भ्रान्त है, निरावृत्त है। इसीलिये कहा गया है (तदा प्रत्याभासः।) फिर जो वृत्तियों के निरोध की दशा का अनुभव होने पर और उनके अपने – अपने व्यापारों के स्थिर होने पर प्रत्याभास में पूर्णगति होने लगती है।

२६–१०–६२ सायम्।।७।।

वृत्तिनिरोधः ।।१० ।। वृणोति या सा वृत्तिः। व्रियते यया सा वा वृतिः। या विषयान् समीकृत्य समीकृत्य स्वेषु विषयेषु नियोजयति सा वृत्तिः। वृत्तयः पञ्च। कर्मेन्द्रियाणां कर्मवृत्तयः। ज्ञानेन्द्रियाणां च ज्ञानवृत्तयः। ताश्च

इन्द्रियविषयव्यापारेषु व्यावृत्य तान् (विषयान्) संचालयति। तदेन्द्रियाणि तत्रैवासक्तानि भवन्ति। या च परमा शक्तिः अनुग्रहेणोपलभ्यते सा स्वयमेव सहजरूपेण वृत्तिनां निरोधं करोति। निरोधः स्वविषयव्यापारेभ्यो निवर्तनम् । निरोधस्तु शक्त्या अप्रयत्नैकसिद्धो भवति, स्वत एव निरोधो भवति इत्यर्थः, यथाः-

गवां दुग्धस्य या वृत्तिः वत्सपोषण धर्मिणी।
वत्से पुष्टे न वै दुग्धं तन्निरोधः स्वभावजः।।

तद्वत् प्रत्याभासे अवस्थिति करणाय परमा शक्तिः स्वयमेव वृत्ति निरोधं करोति। यदा निरोधो जायते तदैव प्रत्याभासे अवस्थितिः सुलभा जायते। अवस्थितिः अवस्थानं, ध्यानं दर्शनं वा। अवस्थितिज्ञानेन सह मनसः एकाग्रता इत्यप्यर्थो भवति। अवस्थितिरवस्था इत्यपि अर्थः। चतुर्धाऽवस्थितिः प्रोक्ता।

वृत्तिनिरोध। जो विषयों को सब तरफ से एकत्र कर अपने अपने व्यापारों में लगा देती है उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तियाँ पांच होती हैं। कर्मेन्द्रियों की कर्मवृत्तियाँ और ज्ञानेन्द्रियों की ज्ञानवृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रेरित कर विषयों का समुचित संचालन करती हैं। तब इन्द्रियाँ अपने - अपने विषय व्यापारों में आसक्त होती हैं, पुनः अनुग्रह के द्वारा जो परमा शक्ति प्राप्त की जाती है वह स्वयं स्वाभाविक रूप से वृत्तियों का निरोध कर देती है। वहाँ साधक को अपनी ओर से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। सब कुछ स्वयं ही हो जाता है। निरोध का अर्थ विषय व्यापारों से विषयों को अन्यत्र मोड़ना है। इस निरोध को महामाया शक्ति स्वयं ही कर देती है। यह शक्ति की विशेषता है जैसे - गाय का दूध गाय के स्तन से तभी तक निकलता है जब तक बछड़ा परिपुष्ट नहीं हो जाता है। बछड़े के परिपुष्ट हो जाने पर दूध स्वयं रूक जाता है। उसी भाँति शक्ति भी सब कुछ कार्य स्वयं स्वाभाविक रूप से करती है। प्रत्याभास तक पहुंचने के लिए इस काम को शक्ति स्वयं ही करती है। जब निरोध हो जाता है तब प्रत्याभास में स्थिति हो जाती है। अर्थात् अवस्थान, ध्यान, दर्शन होने लग जाते हैं। अवस्थान का अर्थ ज्ञान के साथ मन की एकाग्रता है। अवस्थान और अवस्थिति का अर्थ अवस्था भी होता है परम तत्त्व तक जाने की या उसे प्राप्त करने की उसे अवस्था आने लगती है।

२७-१०-६२ प्रातः।।८।।

चतुर्धावस्थितिः व प्रोक्ता। (१) ध्यानावस्थितिः। तत्रैव दर्शनम् । (२) बोधावस्थितिः। (३) सिद्धावस्थितिः। (४) ऐश्वर्यावस्थितिः। कथितं च शास्त्रे :- "ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।" ध्यानेन मनः तद्गतं भवति। ध्यायते मनसा यस्यामवस्थायां तत्स्वरूपं स्थिरत्वं क्रियते वा

तत् ध्यानम् । "ध्यानं निर्विषयं मनः" इति शास्त्रोक्तिः। यदा एकाग्रता आगच्छति तदा विषयान् प्रति आसक्तिः न्यूना जायते। निर्मूलापि भवति च। विषयनिर्मूलनम् इन्द्रियाणामपि विषयानामपि च भवति। तस्मात् प्रत्याभासस्य प्रतिपत्तिः प्रादुर्भूता भवति।, इन्द्रियाणां निरोधेन मनसः निग्रहो भवेत् ।

अवस्थिति के चार भेद होते हैं। (१) ध्यानावस्थिति उसी में दर्शन भी होते हैं। (२) बोधावस्थिति। (३) सिद्धावस्थिति। (४) ऐश्वर्यावस्थिति। शास्त्र में कहा गया है, "ध्यानावस्थित होकर तद्गत मन से योगी लोग जिसे देखते हैं।" "ध्यान से मन तद्गत होता है। जिस दशा में उसके वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है एकाग्रमन से किया जाता है, उसको स्थिर किया जाता है उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान का अर्थ है मन का निर्विषयक होना। जब एकाग्रता आती है तब विषयों के प्रति आसक्ति की कमी होने लगती है। निर्मलत्व आने लगता है और मन एवं इन्द्रियों का विषय भी निर्मूल हो जाता है। तब प्रत्याभास की प्रतिपत्ति (अनुभव) होने लगता है। क्योंकि इन्द्रियों के निरोध से मन का भी निरोध होने लग जाता है।"

२७-१०-६२ सायंकाल ।।९।।

मनः उभयात्मकम् । कर्मेन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियञ्च। इन्द्रियाणि स्वविषयासक्तानि जायन्ते। मनस्तत्र संयुक्तं भूत्वा तेषु चाञ्चल्यं प्रवर्धयति। चान्चल्यस्य वर्धनेन इन्द्रियासक्तिः प्रबलतया भवति। किन्तु यदा पंचविषयिका अनुभूते विशिष्टता (यस्यांपरमा शक्तिरपिवर्तते) परमा शक्तिः स्वयमेव इन्द्रियविषय-व्यापारान् निरोध्य तेषां निग्रहं करोति। तदा मनसः निग्रहोऽपि सुलभः। विषय वैराग्येण च मनः स्थिरं जायते। तदा ध्यानावस्था समायाति।

मन उभयात्मक है। कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों में आसक्त होती हैं, तब मन उनके साथ संयुक्त होकर उनकी चंचलता को बढ़ाता है। चांचल्य के बढ़ने से इन्द्रियासक्ति प्रबल होती है। किन्तु जब पाँच प्रकार की अनुभूति की विशिष्टता (जिसमें परमा शक्ति भी है) से युक्त परमा शक्ति स्वयं इन्द्रिय विषय व्यापार को रोक कर उनका निग्रह करती है तब मन का निग्रह भी सुलभ हो जाता है। पुनः विषय वैराग्य से मन स्थिर हो जाता है। तब ध्यानावस्था होती है। जब इन्द्रियाँ अपने विषय व्यापार से उदासीन हो जाती हैं तब भोग (विषयवासनादि) की इच्छा मिट जाती है।

यदा इन्द्रियाणि विषयविनिवृत्तानि भवन्ति तदा रोगाभावः। भोगाभावे रोगाभावः। अतएवोच्यते शास्त्रकारैः कपिलाचार्यैः यत्- "रोगापहतिर्ध्यानम्"। यदा रोगाणांविषयादीनां हतिर्हानिः सिध्यति तदा ध्यानं भवति। "निग्रहस्तु

इन्द्रियाणां वै स्वयं शक्त्या प्रजायते। मनसो वृत्तयस्त्वन्याः भवन्ति प्रशमाः स्वयम्" इति। ध्यानेन परमे प्रत्याभासे स्थितिः जायते।

जब इन्द्रियाँ अपने विषय व्यापारों में उदासीन हो जाती हैं तब भोग (विषय वासनादि) की इच्छा मिट जाती है। भोग के अभाव में फिर रोग भी नहीं होते। इसीलिये आचार्य कपिल ने कहा है कि "रोगापहतिर्ध्यानम्" अर्थात् रोगों का नाश होना ध्यान का कार्य है। जब रोग जो विषयादि हैं, उनकी हानि हो जाती है, तब ध्यान ठीक से हो रहा है ऐसा अनुभव होता है। जहाँ तक इन्द्रिय निग्रह की बात है वह तो शक्ति स्वयं ही करा देती है। पुनः मन की वृत्ति भी स्वयं शान्त हो जाती है। तब ध्यान से परम जिसे प्रत्याभास कहते हैं उसका अनुभव होने लगता है। इसीलिये कहा गया है कि-

एवं च ध्यानाद् ज्ञानं, ज्ञानाच्च ध्यानं जायते। अतएव शास्त्रे प्रोक्तमस्ति। "ध्यानं ज्ञानं च यस्यास्ति तीर्णस्तेन महार्णवः। नास्ति ध्यानं बिना ज्ञानं नास्ति ध्यानमयोगिनः"। ध्यानं च प्राणायामाधीनम् । प्राणायामं च शक्तिः स्वयं कारयति। स च सिद्धप्राणायामः 'इति'। स च शक्त्याश्रयः शक्तिश्च अनुग्रहैकलभ्या। अतएव शक्तिपातसम्प्रत्ययः लभ्यः। ननु "मनसोनिग्रहं पूर्वं पश्चादिन्द्रिय निग्रहः"। अथवा शास्त्रकारस्य चित्तवृत्तिनिरोधस्य या निदेशना सा कथं सार्थवती स्यात् । इति तु न शंकनीयम् ।

इस प्रकार ध्यान से अनुभवजन्य ज्ञान और ज्ञान से ध्यान होने लगता है। इसीलिये कहा गया है कि जो ध्यान और ज्ञान को जानता है उसने संसार समुद्र को पार कर लिया। ध्यान के बिना ज्ञान नहीं होता और जो योगी नहीं है वह ध्यान भी नहीं कर सकता है, (शक्तिपात महायोग में) ध्यान भी प्रणायाम के अधीन होता है और प्राणायाम भी जागृता भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति स्वयं ही करवा देती है। उसी को सिद्धप्राणायाम कहते हैं। वह केवल शक्ति के ही वश की बात है। शक्ति अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। इसीलिये शक्तिपात का आश्रय लेना चाहिये।

(शंका) कहा जाता है कि पहिल मन का निग्रह होता है अर्थात् मन की चंचलता दूर की जाती है तब बाद को इन्द्रिय-निग्रह होता है। अथवा "चित्त की वृत्तियों का निरोध करो" यह जो योगशास्त्रकार की निदेशना है, इस सिद्धांत को मानने से कैसे सार्थक होगी ? ऐसी शंका नहीं करना चाहिये।

२८-१०-६२ प्रातः ।।१०।।

शक्तिपातस्य मार्गः। अपरः राजयोगमार्गस्यापरः। शक्तिपातमार्गे सर्वानुग्रहैकलभ्यं भवति। साधकस्य याऽऽवश्यकता विद्यते तां शक्तिः स्वयं पूरयति। अतः पूर्वमिन्द्रियनिग्रहः पश्चात् मनसोऽपि निग्रहः सहजसाध्यो जायते।पूर्वापरस्य व्यतिक्रमः न सापेक्षिकः- अस्तु, सिद्धप्राणायामे मनः निरुद्धं भवति।

क्योंकि शक्तिपात का मार्ग कुछ भिन्न है और राजयोग का मार्ग कुछ भिन्न। शक्तिपातमार्ग में सब कुछ केवल अनुग्रह से ही उपलब्ध हो जाता है। साधक को जिस बात की आवश्यकता होती है उसे जागृता शक्ति स्वयं ही पूर्ण कर देती है। इसलिये शक्ति पहले इन्द्रियनिग्रह कराती है और फिर मन का भी निग्रह सहज ही में साध्य कर देती है। पूर्वापर का व्यतिक्रम शक्तिपात मार्ग में अपेक्षित नहीं रहता है। अस्तु, सिद्धप्राणायाम से मन का निरोध होता है।

प्राणाधीनं मनः प्रोक्तंमनश्च चंञ्चलं स्मृतम् ।
तस्मात् प्राणाश्च संयम्य मनसो निग्रहो भवेत् ।।

मन प्राण के अधीन रहता है, मन स्वभावतः चंचल होता है। इसलिये पहिले प्राणों को संयम करने से, मन का स्वतः निग्रह हो जाता है।

पुनश्च बोधावस्था समायाति
बोधावस्था च सा प्रोक्ता यस्यां ध्यानं च वर्तते ।
ज्ञानं च परमस्यापि स्वयमेवोपजायते ।।

फिर बोधावस्था प्राप्त हो जाती है। बोधावस्था उसे कहते हैं जिसमें ध्यान होने लगता है। ध्यान में उस परम का ज्ञान भी स्वयं ही हो जाता है।

बोधावस्थायां ध्यानस्य बोधः परमस्यापि बोधः स्वयमेव भवति। तदा प्रकाशशीलता सुव्यापिका भूत्वा अन्तर्गतमानन्दं द्योतयति। तस्यामवस्थायां मनः कुत्रापि गन्तुं नेच्छति न च प्रकाशवृत्तिं हातुमिच्छति। अहं सोऽहमिति अखण्डावृत्तिः बद्धावस्थात्मिका भूत्वा तस्मिन्नेव लयं यातुं पुनः स्पन्दनाय च चेष्टते। तदा स्वरुप बोधज्ञानं प्रादुर्भवति सैव बोधावस्था इत्युच्यते।

बोध की अवस्था में ध्यान का भी बोध होता है और "परम" का भी बोध स्वयमेव हो जाता है। तब प्रकाशशीलता अधिक होकर अन्तर्गत आनन्द को प्रकाशित कर देती है। उस अवस्था में मन कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहता है और प्रकाशवृत्ति को छोड़ना नहीं चाहता है। मैं वही हूँ इस प्रकार की अखण्ड वृत्ति बद्धमूल होकर मन उसी में लय होने के लिये बार-बार चेष्टा करता है तब स्वरूप बोध का ज्ञान प्रादुर्भाव होने लगता है। वह बोधावस्था कही जाती है।।

यद्बोधावस्थकं ज्ञानं ध्यानान्नतर मेव च।
तच्छक्तया स्वयवमेवोत्थं परमापरमात्मकम् ।।

ध्यान के पश्चात् जो बोधावस्था का ज्ञान होता है उसे महाशक्ति स्वयं ही उत्पन्न करती है और वह ज्ञान शिव और शक्ति दोनों का ही ज्ञान होता है।

बोधावस्था साधकस्य सावस्था भवति यस्यां स सोऽहमित्यात्मकं भावं विजानाति, केवलं तत्र स्पन्दनात्मकं बोधः एव। न च अन्यत् किमपि। यदा च

सोऽहमिति बोधः प्रादुर्भवति तदा च जागृतस्वरूपा महामाया भगवती कुण्डलिनी चक्रभेदनाय ग्रन्थिभेदनाय च बलवती भवति। एनमेव योगं महायोग इति शक्तियोग इति बुधाः वदन्ति।

साधक की बोधावस्था वह अवस्था है जिसमें वह "सोऽहं" इस प्रकार का ज्ञान अनुभव करता है। वहां केवल स्पन्दनात्मक बोध होता है और कुछ दूसरा बोध नहीं रहता। जब "सोऽहं" बोध का प्रादुर्भाव होता है तब स्पन्दनशक्ति प्रबल हो जाती है, तब जागृता महामाया भगवती कुण्डलिनी शक्ति चक्रभेदन के लिये और ग्रन्थिभेदन के लिये बलवती होती है। इसी योग को महायोग और शक्तियोग विद्वान् लोग कहते हैं।

शक्तिपातं विना तत्त्वज्ञानं नैव च जायते।
तस्मात् तत्रैव जिज्ञासा कर्तव्या साधकैः सदा।।
तत्त्वज्ञानं क्रियाज्ञानं स्वयमेवोपजायते।
एतत् सर्वमनुग्रहैकलभ्यम् ।

शक्तिपात के विना कभी तत्त्व ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये सदा शक्तिपात महायोग के लिये जिज्ञासा साधकों को करनी चाहिये। शक्तिपात से तत्त्व ज्ञान और क्रियाज्ञान स्वयमेव हो जाता है। यह सब केवल सद्गुरू के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है।

२८-१०-६२ सायंकाल ।।११।।

वोधावस्थानन्तरं सिद्धावस्था समायाति, तस्यामवस्थायां जागृता भगवती महामाया कुण्डलिनी नानाप्रकारेण स्वशक्तिसंबोधकतां प्रकटयति। सिद्धावस्थायां प्रति कथितं च।

बोधावस्था के अनन्तर सिद्धावस्था आती है। उस अवस्था में जागृता भगवती महामाया कुण्डलिनी नाना प्रकार से अपनी जागृत होने की स्थिति को अनुभव करवाती है। सिद्धावस्था के प्रति कहा भी गया है कि-

सिद्धानां दृष्टपरपदानां या आनन्दावस्था भवति सा सिद्धावस्था। यस्यामवस्थायां सिद्धाः महायोगिनः "सोऽहं" इत्यनुभूय तत्र मनः संयोजयन्ति, सिद्धिं च लभन्ते। सिद्धिं योगसिद्धिम्, अपरप्रकारकां च सिद्धिम् । अथवा सिद्धियोग्या नानाश्चर्य योग्या या स्थितिर्भवति सा सिद्धावस्था अथासिद्धस्य सर्वत्रैव व्यापकस्य स्वतः सिद्धस्य सर्वथा वर्तमानस्य प्राप्तेः या अवस्था सा सिद्धावस्था। तामेवावस्थां प्राप्य योगाभियुक्ताः लब्धयोगभूमिकाः सानन्दाः तिष्ठन्ति।

सिद्धों की, परपद को देखने वालों की जो आनन्द की अवस्था होती है उसे सिद्धावस्था कहते हैं, जिस अवस्था में सिद्ध महायोगी "सोऽहं" इसका अनुभव करके उसी में मन को लगा देते हैं और सिद्धि को प्राप्त करते हैं उसे सिद्धावस्था कहते हैं।

सिद्धि से तात्पर्य योग सिद्धि से भी है और अन्य प्रकार की रस, औषधि मन्त्र आदि सिद्धि से भी है। अथवा सिद्धावस्था का अर्थ है सिद्धियोग नाना प्रकार की आश्चर्यजनक व्यावहारिक या पारमार्थिक चमत्कारपूर्ण अवस्था अथवा सिद्ध जो सर्वत्र व्याप्त स्वतः सिद्ध है, सर्वदा वर्तमान है उसकी प्राप्ति की अवस्था को प्राप्त कर योगी लोग उस परमपद तक पहुंचते हैं।

२९-१०-६२ प्रातः ।।१२।।

सिद्धावस्था च सा प्रोक्ता यस्यां सम्पत् त्रयं भवेत् ।
कायिकं भौतिकं चैव दैविकं च इति त्रयम् ।।

सिद्धावस्था उसे कहते हैं जिसमें तीनों सम्पत्तियों कायिक, भौतिक और दैविक ये तीन सन्निहित हों।

यदा वै भगवती शक्तिः परमा परमात्मिका।
जागृता च भवेत् सिद्धा नानाकार्याकुलेक्षणा।।

जब भगवती परात्मिका परमा शक्ति जागृत होती है तब वह सिद्ध होकर नाना प्रकार के कार्य करने के लिये छटपटाती है।

जायते मन्त्रज्ञानाय समर्था साक्षरात्मिका।
तथा मन्त्रमहाज्ञानं प्रादुर्भवति साधके।।

अक्षरात्मिका वह शक्ति मन्त्र ज्ञान में समर्थ हो जाती है और साधक में महामन्त्र ज्ञान का प्रादुर्भाव होने लगता है।

तदैवौषधिज्ञानं च ज्ञानं संस्कारजं च यत् ।
तत् प्रादुर्भावमायाति सिद्धावस्था च या भवेत् ।।

सिद्धावस्था में औषधिज्ञान और संस्कारजन्य ज्ञान भी स्वतः साधक में प्रादुर्भूत होने लगता है।

सत्यं ब्रह्म सदानन्तं नित्यं च निर्विकल्पकम् ।
निराश्रयं निराधारं यत्रैतत् विद्यते स्वयम् ।।
सापि सिद्धा दशा ज्ञेया नास्ति तत्र विवर्तकम् ।।

ज़िस सिद्धावस्था में सत्यरूप, सदा आनन्द रूप, नित्य, निर्विकल्प, निराश्रय, निराधार ब्रह्म का ज्ञान होता है उसे भी सिद्धावस्था कहते हैं, उसमें कोई भ्रान्ति नहीं रहती है।

२९-१२-६२ सायंकाल ।।१३।।

या कायसम्पत् प्रोक्ता सा शरीरजा भवति। मन्त्रशरीरजा वा भवति, शरीरात् सर्वं कर्तुं शक्यते। शरीरे स्थूले सूक्ष्मे च कारणे च शक्तिसंयमनेन स्वाधिकाराधिगमभावना प्रसरति, तदा च प्रथमे शक्तिसम्पातप्रभावेण मन्त्राणां विधानानां साधकमुखात् प्रोच्चारणं भवति। शक्ति समायुक्तेषु तेषु मन्त्रेषु या शक्तिः बीजरूपेण समायाति सा चैतन्येनाभियुक्ता भवति। चैतन्यस्वरूपाणां मन्त्राणां स्वतः सिद्धप्रयोगः सिद्धावस्थायां द्योतितं भवति। स्वतः सिद्धानि मन्त्राणि शक्ति संवलितानि भवन्ति, तदा मन्त्रा इत्युच्यन्ते। यदा च स्वयं समायान्ति सापि सिद्धिस्थितिः श्रुता।

जो काय सम्पत्ति कही गई है वह शरीजर होती है या मन्त्रशरीरजा होती है। शरीर से सभी कुछ किया जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों में शक्ति का संयम करने से तीनों शरीरों पर अपने अधिकार हो जाने की भावना पैदा होती है। सर्व प्रथम शक्तिपात् के प्रभाव से साधक के मुख से नानाप्रकार के मन्त्रों का और उनके विधानों का उच्चारण हुआ करता है। शक्ति से समायुक्त उन मन्त्रों में जो शक्ति बीजरूप से आती है वह चैतन्य से परिपूर्ण रहती है। चैतन्यस्वरूप मन्त्रों का स्वतः सिद्ध प्रयोग सिद्धावस्था में झलकने लगता है। जब स्वतः सिद्धमन्त्र शक्ति से संवलित होते हैं तब उन्हें "मन्त्र" नपुंसक न कह कर "मन्त्राः" पुलिंग रूप से कहा जाता है, क्योंकि वे तब कार्यक्षम हो जाते हैं, जब मन्त्र स्वतः प्रकट होते हैं उसे भी सिद्धस्थिति कहते हैं।

मन्त्रशरीरं गुरूप्रदत्त तु चैतन्याभियुक्तं भवत्येव, किन्तु यदा शक्तिसिद्धात्मकत्वेन मन्त्राणि स्वयमेव प्रादुर्भवन्ति तदापि तेषु चैतन्यं स्वतः सिद्धं भवति। तदैव कायिकं कायसम्पत्, मन्त्रसिद्धिः तत्पदं प्रति समासादयति।

गुरू प्रदत्त मन्त्र - शरीर तो चैतन्य से अभियुक्त होता ही है, किन्तु जब शक्ति के द्वारा सिद्धात्मकता आती है और मन्त्र स्वयं प्रकट होते हैं उनमें चैतंन्य स्वतः सिद्ध होता है, तभी काय सम्पत्ति और मन्त्राश्रय सिद्धि तत् पद के प्रति साधक को ले चलती है।

मन्त्रबीजाक्षरं बीजं चैतन्यापहितं यदा।
तदा तज्जापमात्रेण सिद्धिर्भवति कामदा।।

जब चैतन्य से समायुक्त मन्त्र, बीज, अक्षर होते हैं तब उनके केवल उच्चारणमात्र से यथाकाम सिद्धि हो जाती है।

मन्त्र-प्रभाव-मात्रेण क्लेशः कर्मविपाकजाः।
नश्यन्ति विवशाः सर्वे चान्येपि क्वचिदुत्थिताः।।

मन्त्रों के प्रभावमात्र से कर्मविपाकजन्य जितने भी क्लेश हैं सब विवश होकर नष्ट हो जाते हैं और अन्यान्य बीच-बीच में उठने वाले कर्मविपाक भी नष्ट हो जाते हैं।

अतः मन्त्रकायसिद्धिः सिद्धावस्थायां जायते। या च अपरप्रकारका औषधिप्रबोधिकाः सिद्धिः सापि मन्त्रसिद्धिवत् स्वभावजा शक्तिप्रभावजा चेति।

अतः सिद्धावस्था में मन्त्र-शरीर-सिद्धि होती है और भी जो अन्य प्रकार की औषधिज्ञान की सिद्धि है वह भी मन्त्रसिद्धि की भाँति स्वभावजा और शक्तिप्रभावजन्य हुआ करती है।

३०-१०-६२ प्रातः ।।१४।।

यदा च दैहिकीं सिद्धिं लभते योगवित्तमः।
तदा च सबलां शक्तिं विन्दते नात्र संशयः।।

जब योग्याभ्यासी साधक दैहिक सिद्धि प्राप्त करता है तब निःसंशय वह प्रबल शक्ति प्राप्त कर लेता है।

तदा अणिमाद्यः शक्तयः स्वयमेवोपजायन्ते। स सशक्तो भूत्वा विजयी भवति। सर्वविषयभावना सर्वजयत्वाच्च तस्मिन्नायाति।

तब अणिमादि शक्तियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं। वह योगी शक्तिसम्पन्न होकर विजयी होता है। उसमें सब विषयों को जानने की क्षमता सर्वजय होने के कारण आ जाती है।

विभूतयो विभोस्तस्य भवन्ति च निराकुलाः।
रमते तत्र यो नित्यं रूद्धवर्त्मा स चोच्यते।।

उस विभु ईश्वर की विभूतियां उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु उन्हीं में जो नित्य रमण करने लग पड़ता है उसे "रूद्धवर्त्मा" अर्थात् मार्गभ्रष्ट कहा जाता है।

यदा सिद्धावस्था सुलभा भवति तदा विभूतयः समायान्ति। मन्त्रौषधिज्ञानेन च ताः सप्रभावका भवन्तीति। एतत् सर्वं च शक्त्यधीनम् । तस्मात् तत्रैव जिज्ञासा कर्तव्या। भौतिकीमवस्थां प्राप्य भूतजयो भवति।

जब सिद्धावस्था सुलभ होती है तब विभूतियाँ आती हैं। वे विभूतियाँ मन्त्रोषधि ज्ञान के द्वारा प्रभावोत्पादक होती हैं। यह सब शक्ति के प्रभाव से ही होता है। इसलिये इसी मार्ग में जिज्ञासा करनी चाहिये। भौतिकी अवस्था प्राप्त करके भूतजय होता है।

भूतजयोऽपि कायसम्पदधिकृत्यैव जायते। भूतजयात् सर्वं भौतिकाश्चर्यं कर्तुं वा दर्शयितुं वा शक्नोति। किन्तु सत्यमिदं यत् भूतजयात् एतादृश्यवस्थाः समायान्ति याः साधकस्य महाशक्तिं ख्यापयन्ति, याश्च तं तथैवावद्धं कर्तुं समर्था भवन्ति।

भूतजय भी कायसम्पत्ति से ही सम्बन्ध रखता है। भूतजय से नानाप्रकार के भौतिक आश्चर्य करने और दिखाने की क्षमता प्राप्त होती है। किन्तु यह सत्य है कि भूतजय से इस प्रकार की अवस्था आती है कि जो महाशक्ति की अभिव्यक्ति दिखाती है और जो उसे उसी भांति अपने में भरमाये रखने की सामर्थ्य भी रखती है।

किमाश्चर्यं यदा नाना सम्पदः स्वात्मदर्शिकाः।

प्रत्यक्षेण समायान्ति किन्तु विक्षेप हेतुकाः।।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अपने स्वरूप को दिखाने वाली नाना प्रकार की विभूतियाँ प्रत्यक्ष रूप से साधक के पास आती हैं किन्तु वे सब साधक के लिये विक्षेप का कारण बनती हैं।

अतः परमतत्त्वदर्शकैः हेयाः सिद्धयः इतियदुच्यते तदपि प्रामाणिकम् । तथापि समागतानां सिद्धीनामधीश्वराः धैर्यशालिनः निर्भयाः साधकाः परोपकाराय यदि तत्प्रयोगं कर्तुं समर्थाः सन्ति तदा ले लब्धगुरूनिदेशका भवन्तु।

इसलिये परमपद देखने वाले महात्माओं ने जो कहा है कि "हेयाः सिद्धयः" सिद्धियों की उपेक्षा कर देनी चाहिये वह भी प्रामाणिक है। किन्तु आई हुई सिद्धियों के अधिकारी जो साधक लोकोपकार के लिये यदि उनका उपयोग करने की इच्छा रखते हों तो उन्हें अपने गुरू से आदेश ले लेना चाहिये।

३०-१०-६२ सायं ।।१५।।

स्वयंविनिर्गतं मन्त्रं यच्च शक्तिसमन्वितम् ।

तन्मन्त्रसमुदायश्च मन्त्रव्यूहः स उच्चते।।

स्वयं ही मुख से निकला हुआ मन्त्र अथवा मन्त्रसमुदाय जो शक्ति समन्वित होते हैं उसे मन्त्रव्यूह कहा जाता है।

मन्त्रव्यूहं ज्ञात्वापि भूतजये सफला भवन्ति योगिनः भूतविजये लब्धाधिकारकाः मृत्युविजयमपि कर्तुं शक्नुवन्ति। पश्चाच्च दैविकी सिद्धिः समापतति। देवेभ्यः समागता या सिद्धिः सा दैवी, दैविकी वा सिद्धिर्भवति।

मन्त्रव्यूह के ज्ञान से भी योगी लोग भूतजय में सफलता प्राप्त करते हैं। भूतजय में पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाले योगीजन मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसके अनन्तर दैवी सिद्धि प्राप्त होती है। देवों से प्राप्त सिद्धि को दैवी या दैविकी सिद्धि कहते हैं।

देवा दिव्यगुणान्वितारसयुता दिव्यार्थक्रीडारताः।

गन्धस्पर्शसरूपशब्दविषया दिव्यात्मका द्योतकाः।।

देव लोग दिव्य गुणों से समन्वित, दिव्य विषयों का भोग करने वाले, आनन्द मनाने वाले, शब्द स्पर्श, रूप रस गन्ध आदि दिव्य विषयों की सूक्ष्मता के परिचायक और प्रकाशित करने वाले होते हैं।

साधनसम्पन्नः साधकः भूतजयं विधाय परस्वरूपज्ञानाय प्रभावात्मकतामुत्पादयति परप्राप्तिकामाय च प्रभवति तदा पूर्वं देवाः भ्रमात्मकतामुत्पादयन्ति, नाना विक्षेपान् च उत्पादयन्ति, ध्यानावस्थितं मनः विक्षिपन्ति, विघ्नव्यूहं विस्तारयन्ति, किन्तु दृढ़चेताः साधकः तदापि यदि ध्यानावस्थितो भूत्वा तान् न किमपिगणयति प्रसन्नाः तदा देवाः पुनः स्वयमेवागतान् विघ्नान् निरस्य तत्सहायकाः भवन्ति। दिव्यभावैस्तं योजयन्ति। यद्विषये शास्त्रे कथितमस्ति "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम" इति तं तत्रैव गमयन्ति। पथदर्शकाः भवन्ति इत्यर्थः। तां दैवीसम्पदं समधिगम्य साधकः स्वयमेव दिव्यभावैः दिव्यगुणैः समलंकृतो भूत्वा परप्राप्तिसमर्थो जायते।

साधनसम्पन्न साधक भूतजय प्राप्त करके "पर" के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। इस परपद की प्राप्ति में पहिले देवतागण नानाप्रकार का भ्रम पैदा करते हैं, नाना विक्षेप पैदा करते हैं, साधक के ध्यानावस्थित मन में विक्षेप पैदा करते हैं और विघ्नव्यूह का विस्तार करते हैं। किन्तु दृढ़चित्त वाला साधक यदि फिर भी ध्यानावस्थित होकर उन विघ्नों की उपेक्षा कर देता है तो देवता लोग प्रसन्न होकर फिर स्वयं ही उन सभी विघ्नों का निवारण करके उस साधक के सहायक बन जाते हैं। उसे दिव्यभाव में लगा देते हैं। जिस पर शास्त्रों में कहा गया है कि "जहाँ पहुंच कर फिर वापिस नहीं लौटता है वही मेरा पद है" उसमें उसे नियुक्त कर देते हैं। अर्थात् उस पद का मार्गदर्शन कराते हैं। उस दैवी सम्पदा को प्राप्त करके साधक स्वयं ही दिव्यगुणों से समलंकृत हो कर "पर" की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है।

देवाः सहायका यत्र परबोधाय प्रस्तुताः।

सा दैविकी दशा प्रोक्ता देवतानां प्रसादजाः।

जिसमें "पर" के बोध के लिये देवता लोग सहायक होते हैं उसे देवताओं के प्रसाद से प्राप्त दैवी दशा कहते हैं।

तदा-स्वकायसिद्धिः परकाय सिद्धिः संजायते यत्र विहाय तांच।

संयाति देवः भूत्वा तत्साधकः देवजसिद्धियुक्तः।।

जिस दैवी स्थिति में साधक स्वकायसिद्धि और परकायसिद्धि दोनों को छोड़ देता है वह स्वयं देव बनकर देवता के समान देवजसिद्धि से युक्त होता है।

किन्तु सिद्धयः विक्षेपभूताः ज्ञेयाः। सिद्ध एव तत्प्रयोगाय प्रभवति। पुनः दैवीसम्पदः आसुरीसम्पदः मध्ये ऐश्वर्यावस्थितिः ज्ञेया।

किन्तु सिद्धियों को विक्षेप ही समझना चाहिये। कोई परिपूर्ण सिद्धयोगी ही उनका प्रयोग कर सकता है। फिर दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के बीच में ऐश्वर्यावस्थिति समझनी चाहिये।

३१-१०-६२ प्रातः ।।१६।।

ऐश्वर्यावस्था - ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम् । ईश्वरे सर्वकर्तृत्वभावना सर्वकर्तृत्वशक्तिः च विद्यमाना विद्यते। यदा च साधको योगी ऐश्वर्यसम्पन्नो भवति तदा स अहं सर्वं कर्तुं शक्नोमि, सर्वंभोक्तुं इति सामर्थ्यं लभते तस्यामवस्थायां न किञ्चिदपि अकरणीयं विद्यते, किन्तु तामवस्थां कश्चिदेव गच्छति। गतोऽपिवा न किमपि कर्तुं वाञ्छति, निस्पृहत्वात् ।

ऐश्वर्यावस्था-ईश्वर का जो भाव है उसे ऐश्वर्य कहते हैं। ईश्वर में सर्वकर्तृत्व शक्ति और सर्वकर्तृत्व का ज्ञान विद्यमान रहता है। जब साधक योगी ऐश्वर्य सम्पन्न होता है तब "मैं सब कुछ कर सकता हूं और सब कुछ भोग सकता हूं" इस प्रकार की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है उस अवस्था में कुछ भी बात न कर सकने लायक नहीं होती है किन्तु उस अवस्था में कोई विरला ही पहुंच पाता है। यदि पहुंच भी जाता है तो कुछ करने की इच्छा नहीं रखता, क्योंकि उस दशा में वह निःस्पृह रहता है।

कृताभ्यासेऽपि प्राप्तेऽपि सिद्धे जातेऽपि पूर्णतः।

ऐश्वर्यस्य दशां प्राप्य कश्चिद् वै सफलो नरः।।

योगाभ्यास पूर्ण करने पर पूर्णतया सिद्धि प्राप्त कर लेने पर भी ऐश्वर्य की स्थिति प्राप्त करके बिरला ही मनुष्य ऐश्वर्य त्याग कर आगे बढ़ने में सफल होता है।

ईश्वरस्य ऐश्वर्यशक्तिं प्राप्यापि मुमुक्षवः परपदप्राप्तिकामाः परस्मिन् स्वात्मानं नियोज्य न गणयन्ति तामवस्थाम् ।

ईश्वर की ऐश्वर्य शक्ति प्राप्त कर के भी मुमुक्ष जन परपद की प्राप्ति की कामना से परतत्त्व में अपने को नियुक्त करते हुए उस ऐश्वर्य दशा की उपेक्षा कर देते हैं।

अहं कर्त्ता अहं भोक्ता अहं द्रष्टाहमीश्वरः ।

एतादृशीं समादाय शक्तिं नात्र न मुह्यति।।

मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं सर्वज्ञ ईश्वर हूं ऐसी शक्ति प्राप्त करके भी उत्तम साधक मोह को प्राप्त नहीं होता है।

किन्तु ये केचिदिह तामवस्थां प्राप्य विमुग्धा भवन्ति स्वतः साहंकारा भूत्वा प्रदर्शयन्ति स्वात्मशक्तिं, यशोऽभिलिप्ताः तदा ते तत्रैव आसक्ताः। जायन्ते अतः ऐश्वर्यावस्थापि विक्षेपभूता एव वर्तते।

किन्तु कुछ बिरले साधक उस अवस्था को प्राप्त करके जो विमुग्ध होकर स्वयं अहंकार सम्पन्न होकर आत्मशक्ति का प्रदर्शन करते हों और यशः प्राप्ति की स्पृहा से लिप्त हो जाते हैं वे वहीं आसक्त हो जाते हैं। इसलिये ऐश्वर्यावस्था भी विक्षेप भूत ही है।

ऐश्वर्यस्य च याऽवस्था सर्वशक्तिसमावृता।

नाना चित्रविचित्रा या सा तु वक्तुं न शक्यते।।

सर्वशक्तियों से पूर्ण जो ऐश्वर्य की स्थिति है वह नाना प्रकार की चित्र विचित्र है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है।

इति स्वयं सरस्वत्या आख्यातं जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ।।

एतत सर्वं जितेन्द्र भारतीय मुखात् ख्यातम् ।

यह स्वयं साक्षात् जगदम्बा सरस्वती द्वारा कहा गया शक्तिपात शास्त्रान्तर्गत जिज्ञासाधिकरण समाप्त हुआ। यह सत्य श्री जितेन्द्र भारतीय के मुख से निःसृत हुआ है।

३१-१०-६२ सायम् ।।१७।।

अथ शक्तिक्रियाधिकरणम् ।।

अब शक्तिक्रियाऽधिकरण आरम्भ होता है।

या शक्तिः परमाधारा मूलाधारे च विद्यते।

सुप्ता सा जागृतादेवी सर्वाधारस्वरूपिणी।।

जो शक्ति परम शिव की आधार है वही शक्ति मूलाधार में भी विद्यमान है जो सोई हुई है। वही सर्वाधार स्वरूपिणी शक्ति जागृत होती है।

सर्वत्रैव च या देवी चैतन्येन सुव्यापृता।

जागृतां नौमि तां शक्ति इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिकाम् ।।

जो भगवती कुण्डलिनी शक्ति सर्वत्र चैतन्य से ओतप्रोत है उस इच्छा ज्ञान-क्रिया रूपिणी जागृता शक्ति को मैं नमस्कार करता हूं।

मूलाधारे स्थिता देवी कामपीठाधिशायिनी।

जागृता सा महादेवी चक्रभेदाय जायते।।

कामपीठ में अधिष्ठित होकर मूलाधार में सुप्ता महाशक्ति भगवती कुण्डलिनी जब जागृत होती है तब चक्रभेदन में प्रवृत्त होती है।

विसतन्तुसमाकारा सुषुम्णामध्यवर्तिनी।

चक्राणां स्वामिनी सा मे प्रसीदतु परात्मिका।।

कमल नाल के तन्तु के समान सूक्ष्म, सुषुम्णा नाड़ी के भीतर मध्य भाग में रहनेवाली, चक्रों की स्वामिनी शिव-स्वरूपिणी भगवती शक्ति मुझ पर प्रसन्न हों।

भगवत्यै नमस्तस्यै या चिद्रूपाभिव्यापिका ।

या च भूतेषु भूता साऽनुग्रहं मे करोतु च ।।

चैतन्य रुप से अभिव्याप्त उस भगवती शक्ति को नमस्कार है, जो समस्त भूतों में भूत रुप बनकर विराजमान है, वह देवी मुझ पर अनुग्रह करें।

अनुग्रहात् जागृतेः बोधः ।।१।।

अनुग्रह से शक्ति के जागृत होने का बोध होता है।

अनुग्रहः तत् कृपया वा गुरुकृपया इति पूर्वं व्याख्यातम् । यदा अनुग्रहैकलभ्या सा शक्तिः जागृतिमधिगच्छति तदा सा स्वयं जागृता इति बोधोऽपि जायते।

अनुग्रह साक्षात् शिव द्वारा अथवा गुरुकृपा से होता है यह पहिले बता दिया गया है। जब अनुग्रहमात्र से प्राप्त होने योग्य शक्ति जागृत होती है तब साधक को यह भी बोध है कि वह स्वयं ही जाग पड़ी है।

ननु अनुग्रहात् सा कथं लभ्या भवति ? केनोपायेन अनुग्रहो भवति ? सत्यप्यनुग्रहे संस्कारभूमिकत्वाभिघातेन कथं तस्यावरोधः ? कथं च तस्या जागृतिः सुलभा ? इति यतः यदि च केवलेच्छा प्राप्तौ तत्र कारणं, तदा तु विद्यमानायामपि नानुग्रहो दृश्यते। यदि च संस्कारा एव प्रबलतमा भवन्ति तर्हि अनुग्रहस्य व्यर्थता सिद्ध्यति इति शंका सत्या।

प्रश्न है कि वह कैसे प्राप्त होती है ? किस उपाय से अनुग्रह होता है ? अनुग्रह होने पर भी शिष्य के संस्कार विशेष के आधार के अभिघात से उसका क्यों अवरोध हो जाता है ? उस शक्ति की जागृति किस प्रकार सुलभ होती है ? क्योंकि यदि उसकी प्राप्ति में केवल इच्छा ही कारण है तो इच्छा रहने पर भी वह कभी जागृत नहीं होती है। यदि शिष्य के संस्कार ही प्रबलतम कारण हैं तो अनुग्रह व्यर्थ हो जाता है। ऐसी शंका भी सत्य है।

तथापि महायोगविषये नैवं शंकनीयम् ।

तथापि महायोग (शक्तिपात महायोग) के विषय में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये।

तथा च:- **साधारं प्रोच्यते शास्त्रे मिथ्या नैव च प्रोच्यते ।**

तस्मात् तत्रैव द्रष्टव्यं तावार्थस्य निबन्धनम् ।।

शास्त्र में जो बात कही जाती है उसका कुछ आधार होता है और वह मिथ्या नहीं होता है। इसलिये तत्त्वार्थ के विवेचन के लिये शास्त्र में ही देखना चाहिये।

अनुग्रहो भवेद्व्यर्थं न संस्कारस्य धारणा ।

तस्मात् सानुग्रहाधारा शक्तिः सा जागृता ध्रुवा ।।

यदि शुद्ध संस्कारों का अनुकूल आधार शिष्य में नहीं होगा तो अनुग्रह व्यर्थ रहेगा। इसलिये अनुकूल आधार को लेकर अनुग्रह द्वारा वह शक्ति अवश्य ही जागृत हो जाती है।

अनुग्रहस्य व्यर्थता, संस्काराणां वा निरर्थकता इति साम्प्रतिकाऽस्ति संशयः। कारणं तत्र विद्यते।

अनुग्रह की व्यर्थता होती है अथवा संस्कारों की निरर्थकता है, ऐसी शंका तो साम्प्रतिक है। इसमें कारण है।

अनुग्रहस्य यस्यार्थः सानुकूलत्वकारकः ।

स एव ग्राह्यः सर्वत्र शक्तिपातविधौ सदा ।।

अनुग्रह का अर्थ है शिष्य की अनुकूलता पैदा करना शक्ति के ग्रहण में। अतः शक्तिपात विद्या में अनुग्रह का यही अर्थ लेना चाहिये।

इति जल्पनात् तदर्थलाभः ।

ऐसा कहने पर ही उसका अर्थ निकलेगा ।

१-११-६२ प्रातः ।।१८।।

अनुग्रहः सानुकूलभावानां ग्रहणं मतम् ।

उभयत्र समानत्वे जायते तत् क्रियाकुलम् ।।

अनुकूलमय भावों का शिष्य द्वारा ग्रहण कर लेने को ही अनुग्रह कहते हैं। यह भावों की अनुकूलता जब गुरु और शिष्य दोनों में समान रुप से रहती है तब वह अनुग्रह रूप शक्तिपात क्रियासम्पन्न बनता है, अर्थात् सफल होता है।

अनुग्रहाय इच्छा प्रबलता भवति । यदा तु इच्छा प्रबलतमा भवति तदा तस्यां क्रियापि आवश्यकीया जायते । क्रियावती इच्छा भावस्पन्दाय प्रभवति । तदा च भावानुकूलता प्रादुर्भवति । भावानुकूल्येन अनुग्रहः भवितुं शक्यते । तत्तु ग्राहके प्रापके च । यः इच्छुकः तस्मिन्नपि भावानुकूल्यं सापेक्षिकम् । यश्च अनुग्रहकर्ता तस्मिन्नपि सानुकूल्यं वाञ्छितं भवति । तदभावे नानुग्रहः । भावानुकूलत्वेन अनुग्रहो जायते । यथा मलरहितं विशुद्धं लौहं चुम्बकसम्मुखे समायाते सति आकर्षति तद्वत् अत्रापि ज्ञेयम् ।

अनुग्रह के लिये इच्छा की प्रबलता चाहिये। जब इच्छा प्रबल होती है तब उस इच्छा में क्रिया भी आवश्यक रुप में होती है। क्रियावती इच्छा भावों को स्पन्दन कर देने में समर्थ होती है। तब शिष्य में भावानुकूलता का प्रादुर्भाव होता है। भावानुकूलता से ही अनुग्रह हो सकता है। वह भावानुकूलता शिष्य और गुरु दोनों में समान रुप से होनी चाहिये। जो शक्ति ग्रहण करने वाला है उसमें भी शिष्य के प्रति भावनुकूलता हो। उसके अभाव में अनुग्रह नहीं हो सकता हे। जैसे मलरहित लोहा चुम्बक के सम्मुख आकर आकर्षित होता है उसी प्रकार यहां भी समझें।

लौहं काष्ठं दृषत् सर्वं जडत्वेन परिप्लुतम् ।

लौहं कर्षति नान्यद्वै चुम्बकः तत्त्वकर्षकः।।

लोहा, काठ, पत्थर ये सब समान रुप से बाहर भीतर जड़ हैं, किन्तु चुम्बक केवल लोहे को ही खींचता है जड़ पदार्थ को नहीं, क्योंकि दोनों में तत्त्वों की अनुकूलता है।

लौहे तत्त्वमस्ति यत् आकर्षणाय स्वयमर्पयति । काष्ठे दृषदि तन्न ।

लोहे में वह तत्त्व है जो आकर्षण के लिये स्वयं चुम्बक को अर्पित कर देता है। काठ और पत्थर में वह तत्त्व नहीं है।

अतः यदि शिष्ये साधके वा भावानुकूलत्वमुपजायते तदा सद्भावकृताधिकारः गुरुः तमनुगृह्णाति । सोऽपि अनुग्रहाय चेष्टते इत्यर्थः ।

अतः यदि साधक शिष्य में भावानुकूलता पैदा हो जाय तो सद्भाव में अधिकार रखने वाला गुरु उस शिष्य पर अनुग्रह सफलतापूर्वक कर देता है। गुरु भी अनुग्रह करने के लिये चेष्टा करता है।

यथा – तप्तेन तप्तलौहस्य संयोगो जायते ध्रुवम् ।

तथा भावैश्च भावानां संयति नात्र संशयः ।।

जिस प्रकार तपे हुए लोहे के साथ तपा हुआ लोहा जुड़ जाता है उसी प्रकार समान भावों के साथ समान भावों का परस्पर ऐक्य हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अत एव शक्तिः अनुग्रहैकलभ्या इत्युच्यते । अनेन पूर्वोत्थिता शंका स्वयमेवोपशाम्यति । यदि च संस्कारविषये कथितं तदपि निरसनीयम् ।

इसलिये शक्ति केवल अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है यह कहा गया है। इससे पहिले उठी शंका का भी समाधान हो जाता है। जो संस्कारों के सम्बन्ध में शंका की गई उसका भी समाधान किया जाता है।

यथा – भावानां सानुकूलत्वं संस्कारोत्थं निगद्यते।

क्व पुनस्त्ववरोधस्य गतिस्तत्रोपजायते।।

जैसे–भावों की अनुकूलता गुरू और शिष्य के पारस्परिक संस्कारों की अनुकूलता पर निर्भर है। यदि दोनों के पारस्परिक संस्कारों में सजातीयता और साम्य है तो फिर शक्तिपात के अवरोध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

संस्कारावरोधकविनाशकं सानुकूलभावाभिबोधः।।२।।

सानुकूलभावों का अवरोध ही संस्कारों के अवरोधों का विनाशक होता है।

तावच्च संस्कारः प्रतिरोधको भवति यावत् भावानुकूलता नागच्छति। क्रियावती इच्छा भावानुकूलाय जायते। स्पन्दात्मकत्वेन तत्र ईक्षणम् । तस्मात् परिस्फुरणम्, तस्माच्च क्रिया, क्रियावेगेन संस्कारशुद्धिः।

शुद्धात्मके संस्कारे प्रभवति अनुग्रहस्य सत्ता। तदैव वदन्ति यत् संस्कारः आसीत् ।जागृत्: संस्कारः। इदं संस्काराधीनमेव। अस्तु।

संस्कार तभी तक प्रतिरोधक होते हैं जब तक भावों की अनुकूलता नहीं होती है। गुरू की क्रियावती इच्छा और शिष्य की क्रियावती इच्छा भावानुकूलता उत्पन्न करती हैं। कियावती इच्छा में स्पन्दन रूप से देखभाल होती रहती है। उस ईक्षण से शिष्य में शक्ति का स्फुरण होता है और उस स्फुरण से शिष्य में क्रिया होने लगती है। क्रिया के वेग से संस्कारों का शोधन होता है। शुद्ध संस्कारों में अनुग्रह का अधिक प्रभाव दीख पड़ता है। इसीलिये कहा जाता है "शिष्य में पहिले ही संस्कार थे, संस्कार जाग पड़े हैं," "यह सब संस्कारों के अधीन है" इत्यादि। अस्तु।

तत्पातात् जागृतिः ।।३।।

उस शक्तिपात से शक्ति जाग उठती है।

तत् पातात् शक्तिपातादिति।

"तत्पातात्" अर्थात् शक्तिपात से।

१-११-६२ सायंकाल ।।१९।।

शक्तिपातेन साधकस्य या सुप्ता कुण्डलिनी वर्तते सा जागृता भवति। पातशब्दस्य पतनम्, उद्बोधनम्, जागरणं वा इत्यर्थाः भवन्ति। तज्जागरणेन नानाविधाः शारीरिकाः मानसिकाः प्राणात्मिकाः क्रियाः भवन्ति स्वतः। अस्तु।

शक्तिपात से साधक की जो सुप्ता कुण्डलिनी है, वह जागृत हो जाती हे। पात शब्द का अर्थ गिरना, उद्बोधन, जागरण आदि अर्थ होते हैं। शक्ति के जागरण से नानाप्रकार की मानसिक, शारीरिक और प्राण सम्बन्धी क्रियायें होती हैं, अस्तु।

का शक्तिः कुत्र तत्पातः केनोपायेन तद्भवेत् ।

किमर्थं कोऽर्थलाभश्च तन्मे ब्रूहि सरस्वति।।

शक्ति क्या है ? कहाँ उसका पात होता है ? किस प्रयोजन के लिये होता है और उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? यह सब हे माँ सरस्वती ! मुझे बताओ।

या च सर्वत्र कायेषु प्राणिनां चित्स्वरूपिणी।

सा शक्तिः प्राणदा प्राणस्तम्भिनी नियता सदा।।

समस्त शरीरों में जो शक्ति चित् स्वरूप में व्याप्त है, वही सब शरीरों में जीवन देने वाली है और शरीर में प्राणों का स्तम्भन किये रहती है।

प्राणापानं समानं च व्यनोदनं तथैव च।

समाहृत्य समाकृष्य या नित्यं धावयत्यलम् ।।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पंचविध प्राणों का जो समाहार करते हुए और परस्पर कर्षण और विकर्षण करते हुए नित्य निरन्तर शरीर को संचालित करती रहती है।

साशक्तिः प्रबला धौता विद्युल्लेखेव राजते।

रहस्यभेदिका सैव रन्ध्रान्वेषणतत्परा।।

वह प्रबल शक्ति धवल वर्ण वाली और बिजली की लकीर की भांति शोभित दीखती है। वही शक्ति सभी रहस्यपूर्ण चक्रों का भेदन करती है और ऊर्ध्वगमन के लिये अपना मार्ग ढूंढती रहती है।

अपिच, शक्यते यया परः ज्ञातुं सा शक्तिः। अथवा चित्स्वरूपिणी या शक्ता समर्था भवति ज्ञानाय क्रियायै वा सा शक्तिः। एवं च शक्नोति या चराचरं प्रापयितुं सा शक्तिः। तथा च –

और भी अर्थ हैं। जिसके द्वारा "पर" जाना जा सके उसे शक्ति कहते हैं। अथवा चित्स्वरूपिणी जो ज्ञान और क्रिया करने की सामर्थ्य रखती है उसे शक्ति कहते हैं। इसी प्रकार जो चराचर जगत् को जीवित रखने में शक्त (समर्थ) है उसे शक्ति कहते हैं।

इन्द्रियाणां समास्तानां मनसः आत्मनश्च या।

शक्ता तिमिरनाशाय सा शक्तिः प्राणदा मता।।

जो समस्त इन्द्रियों के मन के और आत्मा के अन्धकार को दूर करने के लिये शक्त रहती है वही प्रकाशशीला प्राणदायिनी कही गई है।

तत्सत्तया समायुक्ता जन्तवो जन्तवः स्वयम् ।

चैतन्या सा परा शक्तिः परतत्त्वप्रकाशिका।।

जिस की सत्ता से समायुक्त होकर सभी जीवधारी जीववान् प्राणवान् रहते हैं। वह चैतन्यरूपिणी पराशक्ति परतत्त्व को प्रकाशित करने वाली होती है।

चिद्रूपा प्राणरूपा च ज्ञानरूपा च सा स्वयम् ।

व्यक्ताव्यक्तस्वरूपा च सर्वतत्त्वेषु व्यापिका।।

वह भगवती शक्ति चिद्रूपा है, प्राण स्वरूपा है, स्वयं ज्ञानरूपिणी है, व्यक्त रूप वाली भी है, अव्यक्त रूप वाली भी है और सभी तत्त्वों में परिव्याप्त है।

साधकानां महासिद्धिर्यथा वै ब्रह्मदर्शनम् ।

कुण्डलिन्यपि सा देवीर्महाशक्तिर्बुधैर्मता।।

वह शक्ति साधकों के लिये महासिद्ध रूपा है जिसके द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार होता है। उसे विद्वान् लोग भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति कहते हैं।

एवं प्रकारेण सा ब्रह्मणः शक्तिः ब्रह्मस्वरूपिणी भगवती महामाया कुण्डलिनी महायोगे प्रयुज्यते।

इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपिणी ब्रह्म की शक्ति महायोग शास्त्र में महामाया भगवती कुण्डलिनी कही जाती है।

२-११-६२ प्रातःकाल ।।२०।।

सा शक्तिः कुण्डलिनी भगवती ज्ञेया। कुत्र तत्पातः ?

उस भगवती कुण्डलिनी शक्ति को जानना चाहिये। उसका संचार कहाँ होता है ?

साधकेषु च तत्पातः तेषां शक्तिविबोधनम् ।

चालनं स्फुरणं वापि प्राणोत्थानं च जायते।।

उस शक्ति का संचार साधक शिष्यों में होता है और तब उनकी शक्ति का उद्बोधन होता है। उस शक्ति का चालन, स्फुरण होता है और साधक के प्राणों का उत्थान होने लगता है।

यदा च साधके सानुकूलत्वमुपजायते, समर्थगुरोरनुग्रहोपलभ्यते तदा शिष्येषु तेषु साधकेषु गुरूः स्वयं शक्तिपातं करोति। स्वशक्त्या शिष्यस्य सुप्तां प्राणशक्तिं कुण्डलिनीं वा जागृतां करोति। गुरोः शक्तिं सम्प्राप्य साधकस्य शिष्यस्य शक्तिः ज्ञानवती क्रियावती च भवति।

जब साधक में सानुकूलता उत्पन्न होती है और समर्थ गुरू का अनुग्रह भी प्राप्त होता है तब उन साधक शिष्यों में गुरू स्वयं ही शक्तिपात कर देता है। अपनी शक्ति से शिष्य की सुप्ता कुण्डलिनी को एवं प्राण शक्ति को जगा देता है। गुरू की शक्ति प्राप्त करके साधक शिष्य की शक्ति ज्ञानवती एवं क्रियावती होने लगती है।

सम्प्राप्ते च क्रियायोगे नाना कार्यवती सती।

सा शक्तिःजृम्भते चोर्ध्वं तस्माद् योगः प्रसिद्ध्यति।।

क्रियायोग के प्राप्त होने पर नाना प्रकार की आसान मुद्रादि क्रियाओं को कराती हुई वह शक्ति उर्ध्वगमन के लिऐ छटपटाती है और उसी से योग की सिद्धि होती है।

साधकाः अनुगृहीताः शिष्या एव सन्ति।

अनुगृहीत शिष्यों को ही साधक कहा जाता है।

पातात् जागृतेरपि भवन्ति लक्षणानि ।।३।।

शक्तिपात से शक्ति के जागरण होने के लक्षण भी दीखते हैं।

यथा – उष्णत्वं कम्पनं स्वेदं रोमाञ्चं जायते यदा।

अश्रूणां पतनं वापि प्रथमं लक्षणं विदुः।।

शरीर में ऊष्णता की प्रतीति, कम्पन होना, पसीना आना और आँसू आना आदि शक्तिपात के प्रथम लक्षण होते हैं।

श्वासप्रश्वासविच्छेदः अंगानां चालनं क्वचित् ।

क्वचित् पश्वादिनादं च द्वितीयं लक्षणं विदुः।।

श्वास प्रश्वास का विच्छेद होना, कभी कभी अंगों का भाँति भाँति से संचालित होना और कहीं कहीं सिंह, कुत्ता, सियार आदि पशुओं की जैसी आवाज निकलना यह द्वितीय प्रकार के लक्षण होते हैं।

आनन्दः परमः शश्वद् अन्तरे चानुभूयते।

प्रबोधश्चपि सर्वं तत् तृतीयं लक्षणं शुभम् ।।

एकाएक भीतर परम आनन्द की अनुभूति होना, और एकाएक ज्ञान का उदय होना, यह शुभकारक तृतीय लक्षण हैं।

एवं लक्षणबाहुल्यं वर्तते शक्तिजागृतौ।

संस्कारैः शक्ति भेदैश्च भिन्नं भिन्नं प्रजायते।।

इस प्रकार शक्ति के जागने पर नाना प्रकार के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। ये लक्षण शक्ति के भेद से और शिष्य के संस्कारों के भेद से भिन्न प्रकार के शिष्यों में भिन्न–भिन्न दिखाई पड़ते हैं।

लक्षणानि न प्रोक्तानि असंख्यानि पराणि च।

समये समये शक्तिः स्वयमेव प्रकाशयेत् ।।

लक्षण तो असंख्य प्रकार के होते है जिन्हें शक्ति स्वयं समय समय पर प्रकट करती रहती है।

एवं लक्षण दर्शनानुमानेनापि च ज्ञेयं यत् शक्तिः कुण्डलिनी महामाया क्रियावती भूत्वा जागृति गतेति।।

इस प्रकार के लक्षणों के प्रकट होने पर अनुमान कर लेना चाहिये कि महामाया भगवती कुण्डलिनी शक्ति अब जागृतिं को प्राप्त हो गई है।

लक्षणैर्जागृतिबोधः ।।४।।

लक्षणों के द्वारा शक्ति के जागरण होने का बोध होता है।

२-११-६२ सायंकाल ।।२१।।

मन्त्रबीजाक्षरा देवी विशुद्धा च सरस्वती।

कण्ठदेशं समायाता तन्निदेशाद् वहाम्यहम् ।।

मन्त्र बीजाक्षर स्वरूपिणी सत्त्वगुण प्रधाना विशुद्धा भगवती सरस्वती मेरे कण्ठ में विराजमान हो गयी है और मैं उसी की आज्ञा से बोलता हूं।

पूर्वं शंकितमासीद् यत केनोपायेन तद्भवेत्, अर्थात् शक्तिपातस्य के उपायाः? केन प्रकारेण च शक्तिपातः भवति, तदुच्यते।

पहिले शंका की गई थी कि शक्तिपात किस प्रकार होता है ? अर्थात् शक्तिपात का क्या उपाय है, किस प्रकार शक्तिपात होता है, वही बताया जाता है।

सानुग्रहो यदा एव परः स गुरूशिष्ययोः।

सानुकूलस्य भावेन शक्तिपातस्तदा भवेत्.।।

वह "पर" शिव गुरू और शिष्य दोनों के लिये अनुग्रह पूर्ण होता है और गुरू एवं शिष्य दोनों की परस्पर भावों में अनुकूलता आती है तब शक्तिपात हो जाता है।

शक्तिपातस्तदनुग्रहेण सानुकूलयोः गुरू शिष्ययोः इत्यपि उक्तम् । भवति च शक्तिपातस्य क्रम, उपायः प्रकारः।

साक्षात् शिव शक्ति के अनुग्रह और शक्तिसम्पन्न गुरू और शिष्य की सानुकूलता से शक्तिपात होता है यह कहा जा चुका है। शक्तिपात का क्रम, उपाय और प्रकार भी होता है।

तत्पातस्य प्रकारत्रयम् ।।५।।

उस शक्तिपात के तीन प्रकार हैं।

दर्शनात् स्पर्शनाच्चैव भाषणाद् सद्गुरोरपि।

शक्तिपातस्त्रिभिः रूपैः क्रियते शक्तिदेशिकैः।।

सद्गुरू अपने शिष्य को दर्शन से, स्पर्श करके और सम्भाषण करके तीन प्रकार से शक्तिपात किया करता है।

प्रथमः- यः जागृतकुण्डलीकः समर्थगुरूर्भवति स एव जागृतां शक्तिं दर्शनादेव शिष्यदेहे पातयति, अर्थात् स्पृष्ट्वा तस्य सुप्तां भुजगीं संचालयति प्रबोधयति। तच्छक्तिं च क्रियान्वितां कारयति। स्वनाभिदेशात् स्वशक्तिमादाय नेत्राभ्यां धारारूपेण तत्र संचारयति। येन संचारेण शिष्य - साधकस्य कुण्डलिनी शक्तिः क्रियावती भवति।

प्रथमः– जिस गुरू की कुण्डलिनी शक्ति स्वयं जागृत है वह समर्थ गुरू ही अपनी जागृता शक्ति को शिष्य देह में पात करता है। अर्थात् शिष्य की सुप्ता कुण्डलिनी (भुजंगी) को संचालित करके प्रबुद्ध कर देता है। शिष्य की शक्ति को क्रियाशीला कर देता है। अपने नाभि देश से अपनी शक्ति अपने नेत्रों में धारण करके फिर धारा रूप से उसे शिष्य के देह में संचारित करता है जिसके संचार से साधक शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति क्रियावती हो जाती है।

नाभिदेशात् समाकृष्य शक्तिमादाय नेत्रयोः।

पुनस्ताभ्यां स्वयं शक्तः पातयेत् शिष्यदेहके।।

समर्थ गुरू को चाहिये कि पहिले वह अपनी नाभि देश से कुण्डलिनी शक्ति को उठाकर अपने नेत्र में धारण करें और फिर शक्ति सम्पन्न होकर उसे शिष्य के शरीर में संचारित कर दे।

धारा रूपेण या शक्तिः जागृता तत्र गच्छति।

तदा शिष्य शरीरे च प्रवेशं याति सा ध्रुवम् ।।

जो शक्ति धारा रूप से जागृत हुई शिष्य के शरीर में पहुंचती है वह अवश्य ही शिष्य देह में प्रवेश कर जाती है।

अतएव शास्त्रे समर्थगुरोः भावितात्मनः निर्देशोऽपि विहितोऽस्ति। कथितं च।

इसीलिये शास्त्र में भावितात्मा समर्थ गुरू के लिये निर्देश भी किया गया है। कहा भी है किः–

गुः शब्दः अन्धकारः स्यात् रू शब्द स्तन्निरोधकः।

अन्धकार निरोधत्त्वात् स गुरुः प्रोच्यते बुधैः।।

गु शब्द अन्धकार का वाचक है और रू का अर्थ निरोध करना है। अन्धकार का निरोध करने के कारण विद्वान् लोग उसे गुरु कहा करते हैं।

अतएव – अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।

चक्षूरून्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

जिस गुरू ने ज्ञान रूपी शलाका द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धे हुए शिष्य के चक्षु खोल डाले हैं उन सद्गुरू महाराज को मेरा नमस्कार है।

इत्यनेन समर्थगुरूशक्तेः पुष्टिर्भवति। एवमनेन प्रकारेण सः शक्तः भावितात्मा गुरूः स्वशिष्ये शक्तिपातं करोति।

इन वचनों द्वारा समर्थ गुरू की शक्ति की पुष्टि होती है और इस भाँति वह भावितात्मा (अनुभवी) गुरू ही शिष्य में शक्तिपात कर सकता है।

शक्तिस्तु सर्वजन्तूनां देहे सुप्ताऽवतिष्ठति।

दर्शनाद् बोधयेद् यस्तां स समर्थः गुरू स्मृतः।।

शक्ति तो सभी प्राणियों के शरीर में सोई हुई विद्यमान रहती है। देखने मात्र से जो उसे जगा दे उसे समर्थ गुरू कहते हैं।

पुनश्च स्पर्शनात् कथितं च।

फिर स्पर्श से भी शक्तिपात किया जाता है कहा भी है:-

यत् स्थानं भ्रुवयोर्मध्ये त्रिपुटी कथ्यते बुधैः।

मन्त्रपीठं महाबोधं तद्वै स्पृशति सद्गुरूः।।

दोनों भौंहों के बीच में जो स्थान है उसे ज्ञानी जन त्रिपुटी कहते हैं। वह महाबोध का स्थान है और मन्त्रपीठ भी है। उसे सद्गुरू स्पर्श करते हैं।

तत्र स्पर्शनमात्राद्धि सुप्ता शक्तिस्तु शाम्भवी।

आधारे सुष्मणा सार्धं तदैव स्फुरतां व्रजेत्।।

उस त्रिपुटी के स्पर्श मात्र से सोई हुई शाम्भवी शक्ति मूलाधार में सुषुम्णा मार्ग से भीतर कम्पित होने लगती है।

गुरोः अंगुष्ठाग्रभागमात्रस्पर्शनात् त्रिपुट्यां शक्तिसंचरणं जायते, सुषुम्णामार्गेण तद्गत्वा आधारे प्रसुप्तां तत्कुंडलिनीं संक्षोभयति। तत्संक्षोभेण तस्यां स्फुरणं जायते। येन सा जागृता भवति। उद्बोधनाच्च ऊर्ध्वगमनाय च चेष्टते। तदा बोध्यं यत् शक्तिपातः समर्थो जातः।

त्रिपुटी में गुरू द्वारा हाथ के अंगुष्ठ के अग्रभाग के स्पर्श से शक्तिसंचार हो जाता है। त्रिपुटी द्वारा प्रविष्ट हुई वह शक्ति सुषुम्णा मार्ग से मूलाधार में जाकर सुप्ता कुण्डलिनी को क्षोभित कर देती है। गुरू की शक्ति के संयोग से उसमें स्फुरण होने लगता है जिससे वह

जाग जाती है और ऊर्ध्वगमन के लिये सचेष्ट होती है। तब समझना चाहिये कि शक्तिपात पूर्ण सम्पन्न हुआ है।

शम्भोः या शाम्भवी शक्तिः तं प्राप्तुं चेष्टते यदा।

तदा नाना क्रियाः सद्यो जायन्ते साधके शुभाः।।

शिव की शाम्भवी शक्ति जब शिव से मिलने की चेष्टा करती है तब नाना प्रकार की शीघ्र सुन्दर क्रियायें साधक के शरीर में होने लगती हैं।

तदा शक्तिः स्वयं सिद्धा मन्त्रसृष्टिं नवां नवाम् ।

करोति साधकस्यार्थे स्वयं चैतन्य रूपिणी।।

तब स्वयं सिद्धा शक्ति नाना प्रकार की स्वयं मन्त्र सृष्टि करने लगती है। वह शक्ति स्वयं चैतन्यरूपिणी है और साधक का सर्वथा कल्याण करने को प्रवृत्त रहती है।

स्पर्शनादपि गुरोः समर्था शक्तिः शिष्यदेहे प्रविष्टा भवति। अत-एवोच्यते।

गुरू की समर्थ शक्ति स्पर्श द्वारा भी शिष्य के देह में प्रविष्ट हो जाती है। अतएव कहा जाता है।

सुप्ता कुण्डलिनी देवी स्पर्शनादेवजागृता।

तस्मात् स्पर्शनकारेण दीक्षां कुर्यात् क्वचिद्बुधः।।

गुरू के स्पर्शमात्र से ही सुप्ता कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इसलिये सद्गुरू को चाहिए कि वह स्पर्श द्वारा दीक्षा करे।

भाषणाद् मन्त्ररूपेण क्रियते यच्च साधके।

मन्त्रमुच्चार्य तस्मै तत् प्रददाति क्वचिद् गुरूः।।

साधक शिष्य को मन्त्र बोल कर जो सुनाया जाता है वह भाषण द्वारा शक्तिपात है। इसीलिये कभी कभी सद्गुरू मन्त्र उच्चारण करके शिष्य में शक्तिपात किया करते हैं।

सिद्धं चैतत् मन्त्रं चिच्छक्तिसमन्वितं मन्त्रमुच्चार्य गुरूः तन्मुखेनापि समुच्चारयति। तस्माद् हि तस्मिन्नपि शक्तिपातः शक्तिसंचरणं भवति। तदापि तत्प्रभावेण जागृतिमागच्छति भगवती कुण्डलिनी महाशक्तिः पुनरेवं प्रकारेण दीक्षाविधिः इति वदन्ति योगविदः। अपरं च क्वचित् समर्थः गुरूः दूरस्थं साधकं संकल्पप्रयोगेणापि दीक्षितं करोति। संकल्पेनैव तत्र शक्तिसंपातं करोतीति। केनोपायेन तद्भवेदिति व्याख्यातम् ।

शक्ति समन्वित उस चैतन्ययुक्त सिद्धमन्त्र का उच्चारण सद्गुरू करते हैं। और शिष्य के मुख से भी करवाते हैं, उससे भी शिष्य मे शक्तिपात हो जाता है। मन्त्र प्रभाव से भी भगवती महामाया कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है। योगज्ञ गुरू लोग मन्त्र द्वारा भी दीक्षा का विधान करते हैं।

शक्तिपात का एक अन्य प्रकार भी है। कभी कभी समर्थ गुरू दूर देश में रहने वाले साधक को केवल अपने संकल्प के द्वारा भी दीक्षित करके शक्तिपात कर देते हैं। किस उपाय से शक्तिपात होता है इसकी व्याख्या कर दी गई है।

३-११-६२ प्रातः ।।२२।।

किमर्थं कोऽर्थलाभश्च इति शंकायामुच्यते। अस्ति शक्तिपातस्यापि प्रयोजनम् । बिना प्रयोजनेनात्र किंचिदपि कार्यं न विद्यते। शक्ति जागरणायैव शक्तिपातो भवति, इति मूलं प्रयोजनम् ।

शक्तिपात से क्या लाभ है, क्या प्रयोजन है इस शंका पर उत्तर यह है कि शक्तिपात का भी कुछ प्रयोजन अवश्य है। बिना किसी प्रयोजन के इस शक्तिपात मार्ग में कोई कार्य नहीं होता है। शक्ति के जागरण के लिये ही शक्तिपात होता है बस यही एक मुख्य प्रयोजन है।

आसनाभ्यसनं लक्ष्यं प्राणायामं द्वितीयकम् ।

मलसंशोधनं नाडिचक्रे चक्रविभेदनम् ।।

शक्तिपात का प्रयोजन या लाभ प्रथम आसनों का अभ्यास, प्राणायामों का अभ्यास, नाडीजाल में मलसंचय को संशोधित करना और चक्रों का विभेदन करना आदि प्रथम लक्ष्य है।

शम्भोर्वियुक्ता या शक्तिः शाम्भवी दिव्यरूपिणी।

तत्संयोगः परं लक्ष्यं परब्रह्माणि लीनता।।

भगवान् शिव से विमुक्त हुई दिव्य रूपिणी शाम्भवी शक्ति का पुनः शिव के साथ संयोग कराकर परब्रह्म में लीन हो जाना ही सर्व श्रेष्ठ शक्तिपात है।

शम्भुर्वसति कैलासे मूलाधारे शिवा वसेत् ।

तस्यास्तत्र गतिं कृत्वा तत्संयोगः प्रयोजनम् ।।

भगवान् शिव कैलाश में निवास करते हैं और मूलाधार में भगवती भवानी शक्ति निवास करती हैं। उसी शक्ति की गति शिव तक करवाकर उन दोनों का परस्पर संयोग करना भी प्रयोजन है।

यावत् शिवो वियुक्तश्च शिवया नैव संगतः।

नावन्न जायते सिद्धिः तस्मात् तौ योजयेद् बुधः।।

जब तक शिव अपनी शक्ति से वियुक्त है और अपनी शक्ति शिवा से नहीं मिलते हैं तब तक सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। अतः बुद्धिमान् को चाहिये कि उन दोनों का संगम करवा ले।

तयोर्योगेन योगस्य मार्गः क्षेम करो भवेत् ।

तस्मात्तत्रैव संयत्नः विधेयः साधकैः सदा।।

उन दोनों के परस्पर संयोग से ही योग का मार्ग श्रेयस्कर बनता है। इसलिये साधकों को चाहिये कि सदा शिव शक्ति के पारस्परिक संयोग के लिये ही प्रयत्न में लगे रहें।

एतदपि सुमहत् प्रयोजनं वर्तते। अन्यान्यपि दृष्टान्यदृष्टानि बहुविधानि प्रयोजनानि सन्ति। यानि प्रयोजने जाते सति स्वयं भगवती मायाशक्तिः कुण्डलिनी स्वयं प्रकाशयति। सर्वे तानि ज्ञातुमपि न शक्नुवन्ति।

यह भी एक बड़ा प्रयोजन है। और बहुत से अन्यान्य दृष्ट अदृष्ट प्रयोजन भी हैं जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर भगवती महामाया कुण्डलिनी शक्ति स्वयं प्रकाशित करती रहती है। सब कोई उन्हें जान नहीं सकते।

प्रयोजनं विना स्रष्टुः सृष्टिर्नैव च दृश्यते।

प्रत्यक्षं छन्नरूपं वा तत्र लक्ष्यं ध्रुवं स्मृतम् ।।

स्रष्टा की सृष्टि में निष्प्रयोजन कोई भी वस्तु नहीं दीखती है। वह प्रयोजन कभी साक्षात् दृष्ट होता है और कहीं कहीं पर छिपा रहता है।

कथितं च शास्त्रैः- प्रयोजन मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते इति।

शास्त्र में कहा भी है कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है।

तस्मात् शक्तिपातस्यापि अस्ति प्रयोजनम् । येन प्रयोजनं विना निष्फलाः योगिकाः क्रियाः।

इसलिये शक्तिपात का भी प्रयोजन है जिसके बिना योग की सभी क्रियायें निष्फल हैं।

कोऽर्थलाभश्चः– अर्थलाभस्तु ऐहिकी पारमार्थिकी सिद्धिः। ब्रह्मणः ज्ञानं तद्दर्शनं कृत्वा तस्मिन्नेव लीनता। देहसिद्धिः अपरसिद्धिश्च एवं महायोगसिद्धिः परमोलाभः।

लाभ क्या है ? इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि है। ब्रह्म का ज्ञान करना, उसके दर्शन करके उसी में लीन हो जाना यह प्रयोजन है। देह की सिद्धि होना और अन्यान्य सिद्धि होना तथा महायोग की सिद्धि होना सबसे बड़ा लाभ है।

तस्मान्महायोगसिद्धिः ।।६।।

शक्तिपात से महायोग की सिद्धि होती है।

अस्मिन् शक्तिपातमार्गेदीक्षितः कश्चिदपि तदा योगसिद्धयै समर्थो भवति। राजहठमन्त्रलयादि योगपद्धतयः अस्मिन् महायोगे स्वयमेव सिद्धाः भवन्ति।

इस शक्तिपात मार्ग में दीक्षित कोई भी व्यक्ति तब महायोग की सिद्धि प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। राजयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि योग की विभिन्न पद्धतियाँ इसी महायोग में स्वयं सिद्ध हो जाती हैं।

अयमेवार्थलाभः यत् परमानन्दप्राप्तिः, तत्सुखनुभूतिः तदेवावस्थितिरिति।

परमानन्द की प्राप्ति होना, परतत्त्व की सुखानुभूति होना, और उसी में अवस्थिति होना यही शक्तिपात का अर्थ लाभ है।

अर्थलाभस्य अनेके भेदाः सन्ति।

अर्थलाभ के अनेकों भेद हैं।

महायोगस्य संसिद्धिः ऐहिकी पारमार्थिकी।
जायते शक्तिपातेन शक्तिजागृतिसम्भवा।।

ऐहिकी और पारमार्थिकी महायोग की सिद्धि होना स्वरूपफलप्राप्तिशक्तिपात के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति की जागृति से ही होती है।

अयमेवार्थलाभश्च शक्तिपातस्य वर्त्मनि।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तत्प्राप्तिकामुको भवेत् ।।

शक्तिपात के मार्ग में यही फल प्राप्ति है। इसलिये सर्व प्रकार के प्रयत्नों द्वारा शक्तिपात दीक्षा की इच्छा करनी चाहिये।

तज्जागृतौ भेदयोग्यता ।। ७।।

शक्ति की जागृति होने पर चक्रभेदन की योग्यता प्राप्त होती है।

यदा शक्तिः जागृता भवति तदा तस्यां भेदनयोग्यता समायाति, सा च प्रबलतमा सती क्रियावती जायते।

जब शक्ति जागृत होती है तब उसमें चक्रभेदन की योग्यता आ जाती है। वह शक्ति प्रबलतम होकर क्रियावती हो जाती है।

ननु भेदयोग्यता या प्रोक्ता तदा तत्र किं भवति ? इत्युच्यते।

प्रश्न है कि जो भेदन योग्यता बताई गई है, उसमें तब क्या होता है। इस पर कहते हैं कि:-

यावन्मार्गं निरुद्धं स्यात्तावन्नैव गतिर्भवेत् ।

जब तक मार्ग निरूद्ध रहता है तबतक शक्ति में गति नहीं आ पाती है।

कथं भेदो भवेत् शक्त्या मलविध्वंसनं कथम् ।

कथं वा गतिमाप्नोति सर्वं तद् ब्रूहि मे शुभे।।

चक्रों का भेदन शक्ति द्वारा किस प्रकार होता है, मल का नाश किस प्रकार होता है और शक्ति गतिमत्ता कैसे प्राप्त करती है, हे मंगलमयी माँ ! यह सब मुझे बताओ।

कस्य सा भेदनं कृत्वा मलंकस्यापसारयेत् ।

कथं चोर्ध्वं समायाति कारणं किमु तत्र तत् ।।

वह शक्ति किसका भेदन करती है, किसका मल अपसरण करती है और किस प्रकार ऊपर चढ़ती है और इन सबका क्या कारण है।

अस्तुः- यदा सा शक्तिः जागृता सती ऊर्ध्वगमनाय चेष्टते, शिवस्य या शिवा शक्तिः शिवसंगमनाय ऊर्ध्वगामिनी भवति, तदा स्वकीयं मार्गं परिष्करोति। मार्गावरोधमपसार्य सा तदा तत्र गन्तुं प्रभवति। अतः सा स्वयमेव तदर्थं प्राणायाम-परायणा दृश्यते। प्राणायामेन सा नाडीशुद्धिं विधाय तद्बलेनोद्दीपिता भवति। तदा प्राणायामं कारयित्वा चक्रभेदनायग्रन्थिच्छेदनाय यतते।

तो सुनो ! जब वह शक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वगमन के लिये चेष्टा करती है, शिव की वह शिवा शक्ति शिव से मिलने के लिये ऊर्ध्वगामिनी होती है तब अपने मार्ग का परिष्कार

करती है। मार्ग की रूकावटों को हटाकर ही वह शिव तक पहुंचने में समर्थ होती है। इसलिये वह स्वयं ही मार्ग साफ करने को प्राणायाम करने में प्रवृत्त होती है। प्राणायाम के द्वारा नाड़ीशुद्धि करके उसके प्रभाव से वह उद्दीपित होती है। प्राणायाम करवाती हुई वह चक्रभेदन के लिये और ग्रन्थिच्छेदन के लिये प्रयत्न करती है।

प्रणायामपरायणा भगवती शक्तिः स्वयं शाम्भवी
उद्दीप्ता मलध्वंसनं प्रतिक्षणं नाडीगतं कुर्वती।
प्राणांश्चोर्ध्वमुखान् विधाय संतत भावाकुलाकुण्डली
युक्ता प्राणवती शिवेन भवितुं सा भेदयोग्या भवेत् ।।

वह भगवती शाम्भवी शक्ति प्राणायाम में परायण होती हुई प्रतिक्षण उद्दीप्त होकर शरीर की नाड़ियों में भरे हुए मलों को नष्ट करती हुई, प्राणों को ऊर्ध्वमुख करती हुई निरन्तर भावाकुल होकर बलवती होकर अपने प्रिय शिव से संगम करने के लिये चक्रभेदन के योग्य बन जाती है।

एवं प्रकारेण सा स्वमार्गं संशोधनाय क्रियावती भवति।

इस प्रकार वह अपने मार्ग का संशोधन करके कियावंती हो जाती है।

४-११-६२ प्रातः ।। २४।।

सा च प्राणायाम साध्या ।। ८।।

वह शक्ति प्राणायाम साध्या है। प्राणायाम से बलवती होती है।

पूर्वं कथितं यत् सा शक्तिः स्वयमेव प्राणायामं कारयित्वा प्रथमं मलसंशोधनाय प्रभवति। तदा च प्राणायामेन सह शारीरिकीं मानसिकीं प्राणात्मिकां च क्रियां विधाय स्वमार्गाविष्कारं करोति।

पहिले कहा गया है कि वह शक्ति स्वयं प्राणायाम करवाकर पहिले मलशोधन के लिये प्रवृत्त होती है। तब प्राणायाम के साथ शारीरिकी मानसिकी और प्राणसम्बन्धी अनेकों क्रियायें कराती हुई अपने लिये मार्ग बनाती है।

यतः- प्राणायामैर्विनानाडीशोधनं न भवेत् क्वचित् ।
तदर्थं चेष्टते सद्यः सा देवी परमेश्वरी।।

प्राणायाम के बिना नाड़ी शोधन कभी नहीं हो सकता है। इसलिये वह परमेश्वरी शक्ति निरंतर प्राणायाम करवाकर उसके लिये चेष्टा करती है।

यथा लौहकारः समलं लौहं वह्नौ प्रक्षिप्य भस्त्रां ध्मानि मलनाशं च करोति, तद्वत् सापि जागृता शक्तिः प्राणायामैः भस्त्रादिभिः नाडीनां मलविध्वंसनं करोति। मलविध्वंसनेन तस्याः गतिः सर्वत्र सुगमेति सत्यम्।

जिस प्रकार लोहार मैले लोहे को आग में डालकर धौंकनी धौंकता है और लोहे का मल साफ कर देता है उसी भाँति जागृता कुण्डलिनी शक्ति भस्त्रादि अनेकों प्राणायामों द्वारा नाडियों का मल नाश करती है। मल विध्वंसन हो जाने पर कुण्डलिनी की शक्ति सर्वत्र सुगम हो जाती है, यह सत्य है।

शास्त्रेऽपि कथितमस्ति "ध्यायन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि मलामलाः" इति।

शास्त्र में भी कहा गया है कि धौंकनी से धौंके गये धातुओं के मल जिस प्रकार साफ किये जाते हैं। इत्यादि।

प्राणाधीनं मनः। तदा प्राणायामे कृते सति मनोऽपि स्थिरत्वमायाति। तदा सा महामाया कुण्डलिनी शक्तिः सुषुम्णा द्वारेण गतिं करोति। मूलाधारे कम्पवती सती पूर्वं मूलाधारमेव शोधयति। यतः–

मन प्राणायाम के अधीन है। प्राणायाम करने पर मन स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। तब वह महामाया कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णा द्वार से गति करती है। मूलाधार में कम्पन करती हुई वह पहिले मूलाधार का ही शोधन करती है। क्योंकि :–

आधारः सर्वशक्तीनां स्थितिकारणमुच्यते।
विरूद्धाश्च विलुप्ताश्च शक्तयस्तत्रपीठके।।

समस्त शक्तियों की स्थिति का कारणभूत मूलाधार चक्र आधार स्वरूप है उसी पीठ में सभी शक्तियाँ निरूद्ध रहती हैं और छिपी रहती हैं।

प्राणायामैः स्वयमेव विक्षुब्धास्ताः विचलिताः भवन्ति। येन तस्यां अग्निवर्णता राजते। तत्र च सा पृथिवीपीठं जेतुं यतते।

वे शक्तियाँ प्राणायाम से स्वयमेव विक्षुब्ध होकर विचलित होती हैं जिससे उसमें अग्नि के समान वर्ण दीखता है। वहाँ पर वह शक्ति पृथ्वीपीठ को जय करने का यत्न करती है।

कम्पात् पीठात् प्रधावति।

कम्प के साथ उस पीठ से दौड़ती है।

कदाचिच्चत्वरया यातं क्वचिच्चैव शनैः शनैः।
क्वचित्कृत्वा महानादं जायते मार्गगामिनी।।

कभी द्रुत गति से चलती है, कभी धीरे धीरे चलती है और कभी कभी महानाद करती हुई वह शक्ति अपने मार्ग में चलती है।

४-११-६२ सायं ।। २५।।

मूलाधारे स्थिता कामपीठके च सुसंस्थिता।

विजित्य पृथिवीतत्त्वं पीतवर्णा प्रजायते।।

कामपीठ के अन्तर्गत मूलाधार में संस्थित हुई वह शक्ति पृथ्वी तत्त्व का जय करने पर पीत वर्ण की दीखती है।

पीत वर्णंयदा देवी स्ववर्णे परिवर्तयेत् ।

तदा तत्त्वजयं कृत्वा साधारा कम्पते भृशम् ।।

जब वह शक्ति देवी अपनी अग्नि वर्ण को छोड़कर पीत वर्ण में बदलती है तब वह पृथिवी तत्त्त का जय करके अत्यन्त तीव्रगति से मूलाधार सहित कम्पित होती है।

मूलाधारे स्वपीठे कामात्मके स्थितैव सा पृथिवीतत्त्वजयाय उद्यता भवति। तदा तस्यावर्णमपि स्वल्पकालाय पीतवर्णं जायते। (न कालनियमः) पुनश्च सा वर्णपरिवर्तनं कृत्वा तद्वर्णमपि स्ववर्णे समावेशयति। येन तद्विजयस्य लक्षणं जायते। तदा सा पुनः कुण्डलौ विधूनयति।

कामपीठ रूप अपने मूलाधार के पीठ में ही वह पृथ्वी तत्त्व के जय के लिये उद्यत होती है। तब उसका वर्ण भी कुछ काल के लिये (समय का नियम नहीं है) पीत वर्ण की हो जाती है और पुनः पीत वर्ण को अपने वर्ण में मिला देती है। इस लक्षण से समझना चाहिये कि वह तत्त्व जय कर रही है। फिर वह अपने दोनों कुण्डलों को कँपाती है।

इडा च पिङ्गला चैव द्वौ शक्त्यः कुण्डलौस्मृतौ।।

तौ विधूय च सा देवी सुषुम्णासंगता भवेत् ।।

इडा और पिंगला ये दो शक्ति के कुण्डल कहे गये हैं। उन दोनों का विधूनन करके वह देवी सुषुम्णा के साथ मिल जाती है।

अथवा – या च सुप्ता दशा तस्याः कुण्डल्याकार धारिणी।

कुण्डली तेन सा प्रोक्ता कुण्डलाभ्यां च संस्थिता।।

अथवा–शक्ति की जो सुप्तावस्था है वह कुण्डलाकार होती है। अर्थात् कुण्डलीमारे हुए सर्प की भाँति। इसीलिये उसे कुण्डलिनी कहा गया है। वह कुण्डल मारे सोई हुई रहती है।

इडायाः पिङ्गलायाः शुद्धिं प्रथमं करोति। तत्रैव ब्रह्मग्रंथिं शिथिलयति। (तत्रापि नास्ति कालस्यावधारणा)।

पहिले इड़ा और पिंगला का शोधन करती है। वहीं पर ब्रह्मग्रन्थि को शिथिल करती है (यहाँ भी समय का नियम नहीं है)।

स्वल्पेन महता वापि कालेन विदधाति सा।

क्रियां भेदात्मिकां सर्वां ततो मार्गं च विन्दति।।

अल्पकाल में अथवा दीर्घकाल में कभी भी वह चक्रभेद की क्रिया करते हुए अपने मार्ग को पा लेती है।

मुक्ता च विचरत्यूर्ध्वं विधूतकल्मषा स्वयम् ।

मार्गमासाद्य कल्याणपरकं मोक्षदायकम् ।।

कल्याणकारी और मोक्षदायक मार्ग को पाकर वह शक्ति स्वयं सम्पूर्ण कालिमा मैल का शोधन करके उन्मुक्त होकर ऊपर की ओर चढ़ने लगती है।

एवं प्रकारेण तद्विचरणस्य संचरणस्य क्रमः उपलब्धो भवति। प्राप्ते क्रमे सा एकदा संचरिता पुनः सुषुप्तिं नैव गच्छति।।

इस प्रकार उसके संचरण और विचरण का क्रम मिल जाता है। एक बार क्रम या मार्ग प्राप्त हो जाने पर फिर वह कभी भी सोती नहीं है।

क्वचिन्निरूद्धा च क्वचिद्विरूद्धा क्वचित् सुबुद्धा च क्वचित् विबुद्धा।

नानाक्रियाकार्यवती च शैवी शिवस्य शक्तिः शिवमेव याति।।

वह शक्ति कभी निरूद्ध रूप में अर्थात् रूक रूक कर, कभी विरूद्ध रूप में जैसा बताया गया है उसमें उलटे रूप में, कभी तीव्र गति से जागृत होकर कभी-कभी विशेष रूप मे जागकर और नाना प्रकार की क्रियायें एवं मुद्रा आदि कराती हुई शिव भगवान् की वह शक्ति अन्त में शिव के पास ही चली जाती है।

५-११-६२ प्रातःकाल ।। २६।।

तदा संगमेच्छा ।।९।।

तब उस शक्ति की शिव से संगम की इच्छा होती है।

अस्तु। समर्था बलवती शक्तिः शिव संगमाय व्यग्रा भवति। तदा स्वमार्गं परिष्कुर्वती ऊर्ध्वं शिवस्थानं प्रति गतिं करोति। तथाच।

अच्छा। समर्थ और बलवती कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ संगम के लिये छटपटाती है। तब अपने मार्ग को साफ करती हुई ऊपर शिव के निवास की ओर गति करती है। कहा भी है:-

शिवस्य सहयोगेन बिना स्थातुं न शक्यते।

तस्माद् व्यग्रा महाशक्तिस्तत्रगन्तुं प्रचेष्टते।।

शिव के सहयोग के बिना वह शक्ति रह नहीं सकती है, इसलिय व्यग्र होकर वह महाशक्ति शिव तक पहुंचने की चेष्टा करती है।

समाधिस्थः शिवस्तत्र रन्ध्रादुपरिसंस्थितः।

तीर्त्वाचक्रंपथं सम्यक् तत्र याति शिवा तदा।।

न वै वोधयितुं शक्ताः सहसा शिवयाऽपि सः।।

ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शिव समाधि में मग्न बैठे रहते हैं। चक्रों के मार्ग को पार करके शिवाशक्ति तब वहाँ तक पहुंचती है। वह शिवा भी सहसा समाधिस्थ शिव को एकाएक प्रबुद्ध नहीं कर सकती है।

रन्ध्रोपरिगादुपरिस्थितः शिवः विमुक्तः समाधिस्थस्तिष्ठति। प्रबलाऽपि शिवा तत्समाधिभङ्गाय न प्रभवति। यद्यपि सा आसनध्यानप्राणायामपुष्टापि प्रबलापि वर्तते, तथापि सा शिव समाधिं विघटयितुं न शक्नोति। कुतः ? यतः:-

ब्रह्मरन्ध्र भाग के ऊपर स्थित शिव विमुक्त भाव से समाधि में मग्न रहते हैं। प्रबल शक्ति भी उनकी समाधि भंग करने में समर्थ नहीं होती है। यद्यपि वह आसन ध्यान प्राणायाम आदि से पूर्ण परिपुष्ट हो चुकी होती है, फिर भी वह भगवान् शिव की समाधि तोड़ने में समर्थ नहीं हो सकती है क्यों ? इसलिये कि:-

यदि भंगः समाधेस्तु शिवस्य सहसा भवेत् ।

तदा सर्वे च तत् प्राप्तिं कर्तुं यत्नैर्बिना सदा।

स्वयं शिवा न शक्नोति यत्कर्तुंयत्नतोऽपिवा।।

शिवार्पितं वशीकर्तुं न शक्नोति समाधिगम् ।।

यदि शिव की समाधि का भंग सहसा समाधि से हो जाया करे तो सभी लोग उसकी प्राप्ति बिना किसी प्रयास के करलें जिस काम को स्वयं शिवा शक्ति भी यत्नपूर्वक नहीं कर सकती है, उन्हें तो स्वयं शिवा भी वश में नहीं कर सकती है, क्योंकि वे समाधि में रहते हैं।

तदा तत्र कामस्यागमनं तद्दहनं च भवति।

तब वहाँ काम का आगमन होता है और उसका दहन भी हो जाता है।

तस्माद् कामदहनोद्यमः ।।१०।। रहस्यं तस्य विषये।

इसलिये काम के दहन का शिव उद्यम करते हैं। इस विषय में रहस्य है।

कामेश्वरी महामाया कामभादाय वै तदा।

शिवबोधार्थमायाति तस्मात् स जागृतः शिवः।।

तब महामाया कामेश्वरी भगवती शिवा कामदेव को साथ लेकर शिव की समाधि भंग करने के लिये आती है, तब शिव जी समाधि से उठते हैं।

तृतीयं नेत्रमुद्घाट्य वह्निजालं विकीर्य च।

कामनाशाय संसक्तः सद्यः संजायते भृशम् ।।

तब शिव भगवान् तृतीयनेत्र खोलकर अग्नि की ज्वाला का प्रसार करते हैं और काम के नाश के लिये तुरन्त सन्नद्ध हो पड़ते हैं।

ततस्तन्नेत्रजो वह्निः दहनात्मस्वतेजसा।

करोति भस्मसात् कामं कामेश्वरि पुरः स्थितम्।।

तब उनके नेत्र से उठी हुई वह्नि अपने भस्मकारक तेज के द्वारा काम को कामेश्वरी शक्ति के सामने ही भस्म कर देते हैं।

यत्र कामेश्वरी कामभावं वशीकरोति। कथं स कामदाहः। कोऽत्र भेदः। किञ्च रहस्यमिति। तद् ज्ञेयम् ।

वहाँ कामेश्वरी कामभाव को वश में कर लेती है इसलिये उसे कामेश्वरी कहा जाता है। कामदाह क्यों होता है, इसमें क्या रहस्य है, इसे जानना चाहिये।

कथं कामेश्वरी कामं करोतीति वशानुगम् ।

कस्य दाहः रहस्यं किं तत् सर्वं च निवेदय।।

वह कामेश्वरी भगवती काम को वशीभूत कैसे करती है ? किसका दाह होता है ? इसका क्या रहस्य है ? यह सब मुझे बताइये।

नहि गोप्यमगोप्यं वा तस्मिन् सर्वत्र संस्थिते।

ज्ञानिनां ज्ञानबोधाय तत् प्रकाशं करोम्यहम् ।।

उस सर्वज्ञ शिव के सर्वत्र व्याप्त होने के कारण उनसे तो कुछ गोपनीय या अगोपनीय नहीं है, फिर भी ज्ञानी जिज्ञासुओं के बोध के लिये उसे मैं प्रकट करती हूं।

भगवती सरस्वती पृष्टा सती वदति यत् तत्र बहु रहस्यं विद्यते किन्तु यत्र सर्वत्रैव परप्रकाशस्य सत्ता वर्तते, तदा न किमपि रहस्यम् । पुनरपि ये न जानन्ति तेषां ज्ञानबोधाय रहस्यप्रकाशं कर्तुमपिशक्यते। तच्च करोति सा।

भगवती सरस्वती कहती हैं कि जहाँ सर्वत्र परप्रकाश की सत्ता है वहाँ तो कुछ भी रहस्य नहीं है, किन्तु जो जिज्ञासु नहीं जानते हैं उनके ज्ञान के लिये रहस्य का प्रकाश किया जा सकता है। वही वह करती है।

५-११-६२ सायंकाल ।। २७।।

कामस्य दहनं प्रोक्तं यत्तदेव वदामि ते।

दहनं द्विविधं प्रोक्तं भेदनच्छेदनात्मकम् ।।

काम का जो दहन कहा गया है उसे तुम्हें बताती हूं। कामदहन दो प्रकार का होता है। एक भेदन और दूसरा छेदन।

भेदनं चक्रजालस्य छेदनं ग्रन्थिनां च तत् ।

पश्चात् देह समुद्भूतः दाहः संजायते पुनः।।

षट् चक्रों का भेदन और ब्रह्मग्रन्थि विष्णुग्रन्थि और रूद्रग्रन्थि इन तीन ग्रन्थियों का छेदन होता है। फिर देह से उत्पन्न ऊष्मा द्वारा काम का दाह हो जाता है।

यदा महामाया भगवती शैवी शक्तिः ऊर्ध्वप्राणात्मिका कैलासं (रन्ध्रादुपरिभागे) गत्वा शिवसंगमाय व्यग्रा भवति, तदा समाधिस्थः शिवः तां न विलोकयति। सा च सहसा तत्समाधिं भंक्तुं न प्रक्रमते। तदा सा कामवती अर्थात् विशिष्टभावसमन्विता कामभाव विशेष भावनां च समदाय शिवं प्रति प्रेरयति। तद्विशिष्टभाव-प्रभावेण सृष्ट्युत्पादकरूपेण तस्मिन् ईक्षणशक्तिः प्रस्फुरिता भवति। तदा समाधिं विहाय, अस्ति कश्चित् कुतोऽपि या मामपि क्षोभयति। सः कः इति विचारयति। तदैव सः शक्तिं समायातां वीक्ष्य भग्नसमाधिकः कामभावनाशाय तद्दहनाय चेष्टते।

जब महामाया भगवती शैवी शक्ति ऊर्ध्वप्राणात्मिका रूप से कैलास (कन्द के पीछे ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर) जाकर शिव-संगम के लिये व्यग्र हेती है तब समाधिस्थ शिव उपस्थित शक्ति को नहीं देख पाते हैं। वह शक्ति भी सहसा शंकर की समाधि भंग की चेष्टा नहीं करती है। तब वह शक्ति विशिष्ट कामभाव को लेकर शिव को प्रेरित करती है। उसी विशिष्ट भाव के प्रभाव से- "एकोऽहं बहुस्याम्" रूपी सृष्टि के उत्पादन के विशेषभाव की उस शिवभाव में इच्छा शक्ति का उदय होता है। तब समाधि को छोड़कर- "कहीं कोई दूसरा भी है जो मुझे भी क्षोभित कर रहा है" इस प्रकार विचार करते हैं। तभी वे शक्ति को समीप में आई हुई देखते हैं और समाधिभंग के क्रोध से कामभाव के नाश के लिये उसे जलाने के लिये प्रवृत्त होते हैं।

कामं वीक्ष्य पुरःस्थितं च विकलां कामेश्वरीं शाम्भवीम् ।

विक्षुब्धः स्वसमाधिभङ्ग कुपितः नेत्रे समुद्घाट्य सः।।

तद्दग्धुं शिवया समागमनधीः संजायते सोऽद्यतः।

नेत्रं चैव तृतीयकं ज्वलनदं विस्मारयत्यर्थतः ।।

अपने सम्मुख उपस्थित काम और शाम्भवी कामेश्वरी को विकल देखकर अपनी समाधि भंङ्ग के क्रोध से वह शिव भगवान् अपनी आँख खोलते हैं। शिवा के साथ संगम की भावना से वे उस काम को भस्म करने के लिये उद्यम होते हैं। अग्निमय तृतीय नेत्र को नितरां विस्तीर्ण कर लेते हैं।

शिवा कामं स्ववशानुगं विधाय तत्सहाय्येन तत्र स्वात्मानं संयोजयितुकामा सर्वंकार्यं कारयति। यथा च।

शिवा भगवती काम को अपने वशवर्ती बनाकर उसकी सहायता से शिव के साथ अपने को संयोजित करने की इच्छा से सब कार्य करवा देती है। जैसे–

न कामदहनात् पूर्वं शिवशक्तिसमागमः।

तदेव जागृता शक्तिः कामदा काम-रूपिणी।।

कामदहन से पूर्व शिव–शक्ति का समागम नहीं हो सकता है। कामदहन के पश्चात् ही जागृता भगवती कुण्डलिनी शक्ति कामदा और कामरूपिणी कहलाती है, अर्थात् समस्त कामनाओं को देने वाली बनती है।

कामेश्वरी महामाया कामदा कामरूपिणी।

कामकलाहिता देवी कामाख्या कथ्यते बुधैः।।

उस देवी को ज्ञानी लोग कामेश्वरी, महामाया, कामदा, कामरूपिणी, कामकला, कामाख्या आदि कई नामों से पुकारते हैं।

सा देवी रूपकामाक्षी शिवयोगाय व्याकुला।

कामं च जागृतं कृत्वा स्वकामाय प्रजायते।।

शिव भगवान् के संयोग के लिये व्यग्र होने वाली देवी आँखों में रूप की रचना की कामना करने की इच्छा रखने वाली, कामभाव को जागृत करके अपने अर्थ की सिद्धि के लिये तत्पर होती है।

तदैव शिवे संकल्पात्मकता जायते। वैकल्यात् सृष्टेरभावः। विकल्पात् संकल्पः। ततः सविकल्पः ततश्च निर्विकल्पः। इति रहस्यम् ।

तभी शिव में संकल्प का उदय होता है। संकल्प के उदय न होने से सृष्टि नहीं हो सकती है। विकल्प से ही संकल्प का उदय होता है। तब सविकल्प अवस्था है। फिर निर्विकल्प स्थिति आती है। तात्पर्य है कि शक्ति के जागृत होने पर साधक को सविकल्प और निर्विकल्प दोनों स्थितियों का अनुभव होता है। व्यष्टि में यही सृष्टि और संहार है।

६-११-६२ प्रातः ।। २८।।

निष्काम सकामयोस्तयोः संयोगः ।। ११।।

निष्काम शिव और सकाम शक्ति इन दोनों का संयोग होता है।

हिमालये स्थितोदेवः शिवः नित्यसमाधिगः।

तद्बोधाय महाशक्तिः जायते कामरूपिणी।।

शिव भगवान् सदा हिमालय में निरन्तर समाधि में रहते हैं। कामरूपिणी महाशक्ति उनको जगाने का यत्न करती है।

यदा कामः, वासनात्मको भावः शिव सम्मुखे समायाति तदा सः स्वशरीरे एव वसन्तं पश्यति। वसन्तशब्दस्यार्थः- वसन्ति अग्निबाणाः यत्र स वसन्तः। शिव शरीरे समाधौ ये अग्निकणाः निश्चेष्टाः आसन् ते वसनयोग्याः कार्यकरणयोग्याः भवन्तीत्यर्थः।

जब काम, वासनात्मक भाव शिव के समीप आता है तब अपने शरीर में ही वह वसन्त को देखता है। वसन्त शब्द का अर्थ है- जिसमें अग्निकण निवास करते हैं। शिव के शरीर में समाधि अवस्था में जो अग्निकण निश्चेष्ट पड़े थे वे अब वसनयोग्य अर्थात् कार्य करने के योग्य हो जाते हैं।

ते सर्वे अग्निकणाः वाहकात्मिकया शक्त्या संयुक्ता एकत्र सम्भूय तृतीयनेत्रस्य रूपं धारयन्ति। तेषामेव शक्त्या स शिवः विगतसमाधिकः कामं अर्थात् वासनाजन्यभावं, अथवा अवशिष्टसंस्कारजभावं, अथवा वृत्तिनिरोधावशिष्टं रागात्मकंभाव, अथवा कामं कामनारूपात्मिकाया वृत्याः स्वभावं ज्वालयति। भस्मसात् करोति।

वे सभी अग्निकण वाहकात्मिका शक्ति में संयुक्त होकर घनीभूत हो जाते हैं और तृतीय नेत्र का रूप धारण कर लेते हैं। उन्हीं की शक्ति से वह शिव समाधि से उठ पड़ते हैं और काम को-वासना जन्यभाव को अथवा अवशिष्ट संस्कार जन्य भाव को, अथवा वृत्तिनिरोध से बचे खुचे रागात्मक भाव को अथवा कामनारूप वृत्ति के स्वभाव को जला डालता है, भस्मसात् कर देता है।

भस्मत्वे सति अवशिष्टा अपि वासनात्मकाः कामनात्मिकाः भावसंस्काराः तदा केवलं शुद्धां स्वरूपविमुग्धां शिवां स शिवः पश्यति। अर्थात् समाधिभंगात् पश्चादापि केवलं शून्यावस्थं केवलं ज्ञानमेव तत्रावतिष्ठते। येन सृष्टिनिर्माणं न जायते।

काम के भस्म होने पर शेष बचे हुए वासनात्मक, कामनात्मक भाव संस्कार ही शेष रहते हैं। तब शिव अपने शुद्ध रूप पर विमुग्ध हुई शिवा को देखते हैं। अर्थात् समाधि भंग के पश्चात् भी केवल शून्यात्मक ज्ञान ही वहाँ रहता है। जिससे सृष्टि-निर्माण नहीं हो सकता है।

कामं विशिष्ट भावसंस्कारं भस्मीभूतं विलोक्य शिवस्य च शून्यज्ञानत्वं विभाव्य पुनः साधारा शक्तिः तज्जीवनाय तस्मै विशुद्धरूपदानाय प्रार्थयति। तस्मिन् काले शिवे संकल्पो जायते। तदैव कामजाया रतिः आयाति इति। राति एकीकरोति उद्भावयति सम्मिश्रयति सपिण्डीकरोति पृथक्भूतानि तत्त्वानि पदार्थकणान् वा सा रतिः। सत् शक्तिः सदात्मिका सृष्टिकारिणी शक्तिः संकल्पमात्रैणैव सृष्टिविधायिका सच्छक्तिः प्रादुर्भवति पुनश्च।

विशिष्टभाव संस्कार रूप काम को भस्मीभूत देखकर और शिव के शून्य ज्ञानत्व भाव को समझ कर फिर वह आधारभूता शक्ति काम के पुनरूज्जीवन के लिये - उसे विशुद्धस्वरूप प्रदान करने के लिये शिव से प्रार्थना करती है। उस समय शिव में संकल्प का उदय होता है। तभी काम की भार्या रति आती है। रति का अर्थ- जो "राति" अर्थात् एकीकरण करती है, पृथक् - पृथक् हुए तत्त्वों का या पदार्थ कणों को उद्भावित करती है, एकत्रित करती है, सम्मिश्रित करती है, और सपिण्डित करती है उसे रति कहते हैं। सदात्मका वह शक्ति तब सृष्टि कारिणी बनती है और संकल्पमात्र से सृष्टि करने में समर्थ उस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, और फिरः-

संकल्पात् जायते कामः कामः सत्शक्ति-संयुतः।
पदार्थोद्भूतचैतन्यं चिच्छक्तिं याचते पुनः।।

संकल्प से काम की उत्पत्ति होती है और काम सदात्मिका शक्ति से समन्वित होता है। घनीभूत पदार्थों का चैतन्य शक्ति की अपेक्षा करती है।

ततः सृष्टेः कलानांसमुद्भवः ।।१२।।

तब सृष्टि की कलाओं का उद्भव होता है।

योगकलानां उद्बोधनं भवति।

योग सम्बन्धी कलाओं का उद्बोधन होता है।

शकलाः, प्रधानाः, अप्रधानाः, विक्षेपकाः, समाकर्षकाः कलास्तत्र जृम्भन्ति। कामविजयेनैव शक्तिसमागमः। पुनश्च कलानुभूतिः।

शकला, प्रधाना, अप्रधाना, विक्षेपक, समाकर्षक इन कलाओं का समुद्भव होता है। कामविजय से ही शक्ति का समागम शिव के साथ हो सकता है। तब फिर कलाओं की अनुभूति होती है।

कलानामावासः भवति यत्र स कैलास शिखरः। शि, ख, रः। शिवः शिवा वा यत्र खः शून्यं, तस्मात् विरतिं गतो, र रमते स शिखरः। क + ई = के। ए कै। कं शून्यं समाधिंविहाय ई, ईक्षणं कृत्वा एति गतिं करोति, गच्छति क्रियाकरणाय इति। तदा च तत्र कलानां लासः विलासः भवति।

जहाँ कलाओं का आवास होता है उसे कैलास कहते हैं। शिखर का अर्थ है– शि अर्थात् शिव, ख अर्थात् शून्य, र अर्थात् रति करना। शिव शून्य समाधि को छोड़कर जहाँ शक्ति से रति करता है उसे शिखर कहते हैं। कैलास की व्याख्या ऐसी है कि क + ई = के। क अर्थात् आकाश शून्य–समाधि को छोड़कर ई अर्थात् ईक्षण करके इच्छा करके ए = एति, गति करता है गमन करता है। लास अर्थात् जब वहाँ कलाओं का लास अर्थात् विलास होता है कलाओं की सृष्टि होती है।

तदा च विन्दुरूपः शिवः शुक्रसमाकारः बीजरूपा शिवा रजः समाकारा संयोगं गच्छतः। तदा, संकल्पिकात्मिका सृष्टिर्भवति। योगसृष्टिः यत्र शिवः रमते। तदैव– "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" इति भावस्याभ्युदयो भवति। पुनश्च यदा एक एव समस्त विश्वे व्याप्तो भवति तदा सर्वं ब्रह्ममयं जगदित्यस्य वाक्यस्य भावोऽपि ज्ञातुं शक्यते। अत एव कथितं च एकोऽहं बहुस्याम्, शिवभावोदयो ऽस्तु मे। तस्मादेव विज्ञेयं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् इति।

तब बिन्दु रूप शिव जो शुक्र रूप में है, बीज रूपा शक्ति जो रजो रूपिणी है वे दोनों परस्पर संयोग को प्राप्त होते हैं। तब संकल्पात्मिका सृष्टि होती है। संकल्पात्मिका सृष्टि को योग सृष्टि कहतें हैं। उसी सृष्टि में शिव रमण करते हैं। तभी वहाँ उस में "मैं अकेला हूं, बहुत बनूं" इस भाव का उदय होता है। जब एक शिव ही अद्वितीय रूप में सर्वत्र व्याप्त रहते हैं तब सब कुछ ब्रह्ममय है यह ज्ञान साधक को होता है। इसलिये "सर्वब्रह्ममयं जगत्" आदि उपनिषद वाक्यों की सार्थकता होती है।

६–११–६२ सायंकाल ।। २९।।

शिवः यावत् समाधिस्थस्तावत् संकल्पवर्जितो भवति। शक्ति सहयोगेन तस्मिन् कामदाहानन्तरं संकल्पात्मकता आगच्छति। तदा स कल्याणं करोति, कैलासस्थः शिवः इत्युच्यते तदपीत्थम् ।

शिव जब तक समाधिस्थ रहते हैं तब तक वे संकल्प से रहित रहते हैं। कामदाह के अनन्तर शक्ति के संयोग से उनमें संकल्पात्मकता आती है। तब वे कल्याणकारी हो जाते हैं। शिव कैलासवासी कहे जाते हैं वह इस प्रकार हैं।

कः शब्दः ब्रह्मपरकः कः शून्यस्य च वाचकः।

कस्यार्थं सुखमत्येवं कस्य व्याख्या कृता वुधैः।।

क शब्द ब्रह्म का वाचक है और क शून्य का भी वाचक है क का अर्थ सुख भी होता है इस प्रकार विद्वानों ने "क" की व्याख्या की है।

क ब्रह्म। ब्रह्माण्डोदरवर्तीति। अथवा शून्य समाधौ च। स ईक्षणसमन्वितो भूत्वा ए एजते, कम्पते संकल्पात्मको जायते। तदा लासस्तत्र शक्तिलासयुक्तो भवति। स्वयमपि स लावण्यमयो भवति। तत्र च या रतिः सत् प्रकृतिः सापि लावण्यवती, आकर्षणवती दृश्यते। यश्च पुनः जीवितः संकल्पः सकामः सोऽपि लावण्य युक्तः सृष्टिकरणाय प्रेरयति। तदा तत्र तेषां सर्वेषां कामादीनां समन्वयः, सम्बन्धः संयुक्तिः, समापत्तिः समर्थभावः प्रादुर्भवति यद्बलेन कादि हादि विद्यानां कामविद्यानां जन्म भवति। क इ ए ल आ स ह इत्येतान्यक्षराणि मन्त्राक्षराणि भवन्ति। अनुलोमविलोमाभ्यां अक्षराणां विपर्यासात् कामविद्यामयं सर्वं मन्त्रबीजाक्षरं भवेत् ।

क = ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्माण्डोदरवर्ती, अथवा शून्यसमाधि में वह शिव इच्छायुक्त होकर ए = एजते, कम्पित होता है, संकल्पात्मक होता है। तब वह शक्ति के नाम से युक्त होता है। स्वयं भी वह लावण्ययुक्त होता है और वहाँ जो सत्प्रकृति रूप रति है वह भी लावण्यवती आकर्षणवाली होती है, साथ ही पुनरूज्जीवित संकल्परूप काम है वह भी लावण्य युक्त होता है जो सृष्टि निर्माण की प्रेरणा देता है। तब वहाँ उन सभी का समन्वय, संयोजन, समापत्ति, समर्थभाव आदि प्रादुर्भूत होते हैं। जिसके बल से कादि हादि विद्याओं का, काम विद्याओं का जन्म होता है। क इ ए ल स ह ये मन्त्राक्षर पैदा होते हैं। अनुलोम और विलोम से अक्षरों के विपर्यास से सब मन्त्र बीजाक्षर से परिपूर्ण कामविद्यारूपी मंत्र सृष्टि होती है।

कामविद्या महाविद्या या सृष्टेः सृजनात्मिका।
शिवशक्ति समायुक्ता सैव सिद्धिप्रदा स्मृता।।

कामविद्या को महाविद्या कहा गया है जो सृष्टि की सृजनात्मिका सृष्टि है और शिव–शक्ति के समागम रूपा है वही सिद्धि देने वाली कही गई है।

शिवशक्ति समायुक्तः कामश्च ज्ञानसंगतः।
महाविद्याप्रभावेण जायते योगकारकः।।

शिव शक्ति के संयोग से युक्त और ज्ञान से समन्वित काम (संकल्प) महाविद्या के प्रभाव से योग सिद्धि कारक होता है।।

रन्ध्रात् कन्दाच्च सेतोश्च यत् स्थानं परिवर्तनम् ।

तत्र गूढं महागूढं रहस्यं गोपनीयकम् ।।

ब्रह्मरन्ध्र, कन्द और सेतु स्थान से पीछे जो भाग है उसमें गूढ़ अतिगूढ़ गोपनीय रहस्य सन्निहित हैं।

गोप्यं गोप्यं महद्गोप्यं शास्त्रेषु यच्चभाषितम् ।

तत् तत्रैव च द्रष्टव्यं ज्ञातव्यं चैव तत्त्वतः।।

शास्त्रों में जो तत्त्व परमगोप्य महागोप्य कहा गया है उस तत्त्व को वहीं पर जाना और देखा जा सकता है।

स्वयं शक्तिर्महादेवी रहस्यं स्वयमेव सा।

समुद्घाट्य प्रबोधाय साधकाय प्रयच्छति।।

वह महादेवी शक्ति स्वयं ही उस अतिगोप्य रहस्य को साधकों के प्रबोध के लिये खोलकर प्रदान कर देती है।

७-११-६२ प्रातः ।। ३०।।

वन्देतां त्रिपुरेश्वरीं भगवतीमासां कलानां कलाम् ।

समस्त कलाओं की अधिष्ठातृ देवी भगवती त्रिपुरेश्वरी को मैं नमस्कार करता हूं।

यदा रन्ध्रादुपरि परवर्ति भागे कामादीनां समन्वयो भवति तदा शिवः शाम्भवीं मुद्रां शक्त्यै प्रयच्छति। पुनः त्रिपुरविजयाय शिवः चेष्टते। त्रिपुरं अवस्थात्रयं, कालत्रयं, शरीरत्रयं, तेषु स्वाधिकारं करोति। तज्जेतुं कामपीठाधिष्ठितः स तमेव श्रीपीठस्वरूपेण परिवर्तयति। श्रीपीठे च श्रीविद्यायाः प्रादुर्भावो भवति। त्रिपुरविजयान्तरं सैव शक्तिः महामाया त्रिपुरा इति कथ्यते। त्रिपुरं त्रिगुणमपि ज्ञेयम् । तत् त्रैगुण्यावस्था विद्यते। तदैव समाधिः सिद्धौ यत्नो विधेयः। भगवती महामाया तदैव त्रिपुरासुन्दरीरूपमाप्नोति यदा त्रिपुर विजयो भवति।

जब रन्ध्र के ऊपर परवर्ती भाग में कामादियों का समन्वय होता है तब शिव अपनी शक्ति को शाम्भवी मुद्रा प्रदान करते हैं। फिर शिव त्रिपुर विजय के लिये उद्यत होते हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थात्रय को, भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीन कालों को, स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन शरीरों को त्रिपुर कहते हैं। इन तीनों प्रकार के त्रिपुरों में शिव अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त करते हैं। उसे जीतने के लिये वह कामपीठ में अधिष्ठित होकर उसे श्री पीठ में परिवर्तित कर देते हैं। उस श्रीपीठ में श्रीविद्या का प्रादुर्भाव होता है। त्रिपुर विजय के अनन्तर ही वह भगवती महामाया त्रिपुरा नाम से कही जाती है। सत्व, रज, तम इन तीन गुणों को भी

त्रिपुर कहा जाता है। क्योंकि वहाँ त्रिगुणावस्था रहती है। तभी वहाँ समाधि सिद्धि के लिये प्रयास किया जाता है। भगवती महामाया तभी त्रिपुरा सुन्दरी रूप धारण करती है जब त्रिपुर का विजय हो जाता है।

तदा कलानां विकासोऽपि जायते। कलाः पञ्चदश कलाः, असत् क्षीयमाणाः। एका च कला अक्षीयमाणा भवति। इयमेव च पञ्चदशाक्षरी। अन्ते श्रीः इति संयोज्यः। या च शीर्यते। अत्र शम्भुः सदैव शक्त्या सह रमते सा श्रीः अक्षीयमांणा कलावती।

तब कलाओं का विकास होता है। कलायें १५ होती हैं जो घटती बढ़ती रहती है। एक कला कभी घटती बढ़ती नहीं है, वह नित्य एक रूप अक्षीयमाण रहती है। यही पञ्चदशाक्षरी विद्या है। अन्त में श्री जोड़ दिया जाता है। यहाँ शम्भु भगवान् सदा अपनी शक्ति के सहित रमण करते हैं इसलिये उसे श्री कहते हैं। वह अक्षीयमाणा कला ही श्री कही जाती है।

७-११-६२ सायं ।। ३१।।

श्रीपीठे श्रीविद्यायाः समुद्बोधो भवति। पञ्चदशाक्षरी षोडशाक्षरी च सा श्रीविद्या। तत्र कादि विद्या या सा काम सृष्टिपरा विद्या। सा शक्तिविद्या पञ्चकलावती विद्यते। कामकला, शिवकला, शक्तिकला, रतिकला, श्रीकला। अथवा कल्यते शक्ति सौन्दर्य प्रदीयते यया सा कला। अथवा कस्य महाप्रकाशस्य परस्य प्रकाशं आददाति गृह्णाति सा कला। या च पर प्रकाशं प्राप्य गतिशीला भवति सा कला। पञ्चकलादि कलाः त्रिगुणात्मिकाः पञ्चदशसंख्यकाः भवन्ति।

श्रीपीठ में श्री विद्या का समुद्भव होता है। वह श्री विद्या पञ्चदशाक्षरी और षोडशाक्षरी है। उसमें कादि विद्या कामसृष्टिकारिणी कामविद्या है। वह शक्ति विद्या पाँच कलाओं से युक्त है। कामकला, शिवकला, शक्तिकला, रतिकला और श्रीकला। कल्यते अर्थात् जो शक्ति सम्बन्धी सौन्दर्य प्रदान करती है उसे कला कहते हैं। अथवा क अर्थात् सूर्य महाप्रकाश "पर" का प्रकाश जो ले ले उसे कला कहते हैं। जो पर शिव के प्रकाश को ग्रहण करके गतिशील होती है उसे कला कहते हैं। उपरोक्त पाँच कलायें सत्त्व, रज तम इन तीन गुणों से गुणित होकर १५ होती हैं।

हादि शिवविद्या अपि पञ्चैव भवन्ति। ताः अपि त्रिगुणात्मिकाः पञ्चदश भवन्ति। तदेव पञ्चदशकलात्मिकाः पञ्चदश विद्याः जायन्ते। श्री सकला कला विराजते। ताः षोडशात्मिका अपि भवन्ति। पञ्च कादि विद्याः पञ्चा हादि विद्याः एवं दशमहाविद्यारूपेण प्रोच्यन्ते। कलानां विकासो ह्रासो वा आनुलोम्येन भवति। पञ्च दशाक्षरं च इत्थम् ।

हादि विद्या भी पाँच ही होती हैं। वे भी गुणत्रय से गुणित होकर पन्द्रह संख्या वाली हो जाती हैं। जब नित्या कला "श्री" उसके ऊपर जोड़ दी जाती है तो वे विद्यायें या कलायें सोलह हो जाती हैं। इसे षोडशी विद्या कहते हैं। पांच कादि विद्या और पाँच हादि विद्या दोनों मिलकर दश होती हैं। उन्हें ही दश महाविद्याओं का रूप दे दिया गया है। कलाओं का विकास और ह्रास क्षय – वृद्धि अनुलोम और विलोम क्रम से होता है। वे पन्द्रह अक्षर इस प्रकार हैं।

प्रथमाक्षरं समादाय पूव त्यक्त्वा द्वितीयकम् ।
तृतीयं चैव संयोज्य त्रिपुरं कथ्यते भृशम् ।
अन्तिमाक्षरपर्यन्तं इत्थं तद्योजयेद् बुधः।।

पहिले वर्णमाला का प्रथमाक्षर लेकर दूसरा अक्षर छोड़ता जाय और तृतीय अक्षर को ग्रहण करता जाय। अन्त तक यही प्रणाली रखी जाय।

कं गं चं जं टं दं पं बं इति दशः। हं सं, लं क्षं श्रीं इति पञ्चदशः। अथवा – क ख घ, च छ झ, ट ठ ढ, त थ ध, प फ भ। अल्पप्राण महाप्राण शक्तिसंयोगात् अन्ते श्री नित्या कला संयोज्या। यया सदैवानन्दस्योदयो जायते। अनेन प्रकारेण श्री विद्या मूलाक्षरं ज्ञात्वा त्रिपुरा सुन्दरी भवेत् ।

जैसे :– कं गं चं, जं, टं डं नं दं पं बं ये दस होते हैं। हं सं लं क्षं श्री ये मिलाकर पन्द्रह हो जाते हैं। अथवा– क ख घ, च छ झ, ट ठ ढ, त थ ध, प फ भ, इन अल्पप्राण– महाप्राण वर्णों में बिन्दुरूप शक्ति के संयोग से अन्त में नित्या कला रूपी श्री शब्द को जोड़ देना चाहिये, जिससे सदा आनन्द का उदय होता रहता है। इस भाँति श्रीविद्या के मूलाक्षरों के ज्ञान द्वारा त्रिपुरा सुन्दरी बनती है अर्थात् उसका मन्त्र शरीर बनता है।

तेषां स्वरूपं पीठं ज्ञात्वा तच्छक्तीनां समावेशं वा त्रिप्रकारेण करोति। ब्रह्मरूपेण, विष्णुरूपेण, रूद्ररूपेण, सृष्टिरूपेण, स्थितिरूपेण, संहाररूपेण सा भगवती त्रिपुरा विद्यते। यतः सा नित्य नित्य कलावती वर्तते अंतः सुन्दरीति विशेषणेन युज्यते।

उनके पीठ और स्वरूप का ज्ञान करके उनकी शक्तियों का समावेश तीन प्रकार से किया जाता है। ब्रह्मरूप से सृष्टि, विष्णुरूप से स्थिति और रूद्ररूप से संहार। क्योंकि वह षोडशी कला नित्या कला है अतः त्रिपुरा के साथ सुन्दरी विशेषण लगाया जाता है।

त्रिपुरं च महाभागं विविधोर्ध्वगामि तत् ।
बीजं विन्दुं च नादं च तन्मार्गं योगविद् विदुः।।

वह महनीय त्रिपुर तीन प्रकार से ऊर्ध्वगामी होता है। तीन रूप से अर्थात बीजरूप से, विन्दुरूप से और नादरूप से। उस त्रिविध मार्ग को योग के ज्ञाता लोग जानते हैं।

मार्गत्रयं समीकृत्य या तत्र प्रबला भवेत् ।

कलाश्चाप्युन्मिता यावत् यद्वा सा त्रिपुरा भवेत् ।।

तीन मार्गों का समीकरण करके जो बलशालिनी बनती है और अपने साथ कलाओं को भी ऊर्ध्वमुखी बनाती है, उसे त्रिपुरा कहते हैं।

८-११-६२ प्रातः ।। ३२।।

पूरकं रेचकं चैव कुम्भकञ्च ततः परम् ।

त्रिपुरं योगविज्ञाने प्रवदन्ति मनीषिणः।।

पूरक, रेचक और कुम्भक इन तीनों को योगविज्ञान में विद्वान् लोग त्रिपुर कहते हैं।

तत्र कृत्वा जयं तावत् श्रीपीठे मनसः स्थिते।

विन्दुरूपः शिवः शक्तिं प्रबुद्धां चाधिगच्छति।।

उक्त तीनों प्राणों को जय करने पर श्रीपीठ में मन के स्थिर करने पर बिन्दुरूपी शिव जागृता शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

तदा च त्रिपुराधीशी शक्तिः सा सकला स्मृता।

विकला त्रिपुरारूढा सकला तद्विजित्य सा।।

तब त्रिपुराधीश्वरी वह शक्ति सकला (कला युक्त) कही जाती है। जब तीनों प्राणों में विजय नहीं किया रहता है तब उसे विकला (कला-रहित) कहते हैं, किन्तु पूरक, रेचक, कुम्भक पर विजय करने पर उसे सकला कहते हैं।

प्राणोत्थानपरा देवी त्रिपुरा त्रिपुरसुन्दरी।

प्राणों के उत्थान होने पर उस शक्ति को त्रिपुरसुन्दरी कहते हैं।

अथवा - ऐं ह्रीं क्लीं त्रिपुरं दिव्यं दिव्यैश्वर्यविभूषितम् ।

तद्विजित्यि शिवःशक्तिं समाप्नोति यदा नया।।

अथवा - ऐं ह्रीं क्लीं इन तीन बीजाक्षरों को जो दिव्य ऐश्वर्य भूषित हैं, त्रिपुर कहा जाता है। इन तीन मन्त्रों की सिद्धि होने पर शिव जब अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं तब-

सा शक्तिस्त्रिपुरा ख्याता महायोगप्रसाधिका।

ऐं ह्रीं क्लीं अत्र त्रिकं त्रिकं चाक्षरं त्रिक्रम् ।।

वह शक्ति महायोग में सिद्धि देने वाली त्रिपुरा कही जाती है। ऐं ह्री क्लीं इन बीज मन्त्रों में तीन बीजाक्षर हैं और प्रत्येक में तीन तीन अक्षर हैं।

नव जायन्ते। नवार्णवेऽपि तन्मन्त्रम् । नव अर्णाः अक्षराः शक्तिपूर्णाः शक्तिबीजांकुराः, त एव यदा प्रस्फुरन्ति तदा त्रिपुरा शक्तिः जागृता भवति, महासरस्वती, महालक्ष्मी महाकालिका रूपेण। सैव शक्तिः त्रिपुरेति कथ्यते।

वे अक्षर मिलकर नौ हो जाते हैं। नवार्णव में भी ये ही बीजाक्षर हैं। नौ अक्षरों को नवार्ण कहते हैं। शक्ति पूर्ण और शक्ति बीज से पूर्ण वे ही जब साधक में परिस्फुरित होते हैं, जब त्रिपुरा शक्ति जागृत हो जाती है। महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली रूप में इसी नवार्णमन्त्रशक्ति को त्रिपुरा कहते हैं।

त्रिपुराज्ञानमित्युक्तं जगत् सर्वं चराचरम् ।

इस समस्त चराचर में त्रिपुरा ओतप्रोत है। उसका ज्ञान ही त्रिपुरा का ज्ञान है।

सा च श्रीविद्या विमण्डिता। कथं सा शक्तिः श्रीसमन्विता। कथं च सा शक्तिः आदि शक्तिः। कथं च सा ध्येया। ज्ञेया वा इति नाना कल्प विकल्पं समुत्थितम् सर्वे ज्ञानिनः विमुग्धा जाताः।

वह त्रिपुरा सुन्दरी श्रीविद्या से अलंकृत है। वह शक्ति श्री से समन्वित किस प्रकार है? वह आदि शक्ति किस प्रकार है ? उसका कैसे ध्यान करना चाहिये ? कैसे उसका ज्ञान हो ? इस प्रकार नाना प्रकार के संकल्प उदित होने पर सभी ज्ञानी जन मुग्ध हो जाते हैं।

का सा विद्या सदा ज्ञेया याऽमरत्वं प्रयच्छति।
विषमं विषमादाय नियच्छति हितैषिणी।।

वह कौन सी विद्या सदा ज्ञातव्य है जो अमरता को देती है। विषय विष को खींचकर जो हितैषिणी बनकर प्रकट होती है।

यदा शंका न विच्छिन्नाः शान्तैर्दान्तैः तपस्विभिः।
तदा सरस्वती देवी स्वयं वचनमब्रवीत् ।।

तपस्या मे रत शान्त दान्त महात्मा लोग भी जब उक्त प्रश्नों का समाधान नहीं कर सके तब भगवती सरस्वती स्वयं रहस्य को बताने लगीं।

श्रीविद्या परमा विद्या योगिनां मोददायिनी।
विषस्य हरणं कृत्वा अमरत्वं प्रयच्छति।।

योगी जनों को आनन्द देने वाली श्रीविद्या ही सबसे श्रेष्ठ विद्या है जो साधक के विष का हरण करके अमरत्व प्रदान करती है।

श्रीपीठं संस्थिता शक्तिः श्रीचक्रेण समागता।
श्रीविद्या ज्ञान सम्पन्ना कलासृष्टि करोति सा।।

वह शक्ति श्री पीठ में संस्थित रहती है, श्रीचक्र के साथ उसका सम्बन्ध है, वह श्रीविद्या ज्ञान से पूर्ण सम्पन्न है और वही कलाओं की सृष्टि किया करती है।

कलास्ताः शीतलाः सर्वाः विषोष्माणं हरन्ति च।।

श्रीविद्या से समुद्भूत वे कलायें सभी अमृत की भाँति शीतल हैं जो साधक की विष–पूर्ण ऊष्मा को हरण कर लेती हैं।

अत एव श्रीविद्याज्ञानं तत्रैव भवति। कथं श्रीविद्या श्रीशक्तिः आविर्भवति। तत्रापि श्रीविद्या गायत्रीमन्त्रस्य पूरिका भवति। तत्र च "भर्गो देवस्य धीमही" त्यस्मिन् शक्तेः ध्यानं प्रोक्तमस्ति। रथन्तरं साम, मरूतः अश्विनौ इति त्रयं गायत्र्याश्चरणत्रयम् । आनीतवन्तः। अर्थात् त एव एकैकस्य चरणस्थ बोधं कृतवन्तः। तत्र च भूः भुवः स्वः इत्यस्य ऐं ह्रीं क्लीं इत्यस्य संयोगं विधाय शक्तिं समासादितवन्तः। शक्तिरेव श्री विद्यारूपेण त्रिपुरा सुन्दरी रहस्यं ज्ञापयति।

इसलिये श्रीविद्या का ज्ञान वहीं पर होता है। श्रीविद्या, श्रीशक्ति सबसे आदि क्यों मानी गई है। क्योंकि श्रीविद्या गायत्री मन्त्र की पूरिका मानी गई है, "भर्गो देवस्य धीमही" इस चरण में शक्ति का ध्यान बताया गया है। रथन्तर साम, मरूद्गण और अश्विनी कुमार ये तीनों ही गायत्री का एक एक चरण लाये हैं अर्थात् उन्होंने ही गायत्री के एक एक चरण को बोध प्राप्त किया था। गायत्री के भूः भुवः स्वः इस व्याहृति में ऐं ह्रीं क्लीं इन बीजाक्षरों का संयोग करके उन्होंने शक्ति प्राप्त की थी। शक्ति ही श्रीविद्या रूप में त्रिपुरा सुन्दरी का रहस्य बताती है।

८–११–६२ सायं ।। ३३।।

ललिता बगुला तारा बाला ज्वालामुखी तथा।
कामेश्वरी महामाया लीला शाकम्भरी स्मृता।।
त्रिपुरा शक्तयस्त्वेताः सर्वसिद्धिप्रदायिकाः।।

ललिता, बगुला, तारा, बाला, ज्वालामुखी, कामेश्वरी, महामाया, नील सरस्वती, शाकम्भरी ये सब त्रिपुरा की शक्तियाँ हैं जो सभी सिद्धियों को देने वाली हैं।

अन्याश्चापि विशेषायाः तास्तु ज्ञात्वा अशेषतः।
योगी योगसमापन्नः प्राप्नोति परमां श्रियम् ।।

और भी अन्यान्य त्रिपुरा की विशेष शक्तियां हैं जिन्हें समग्र रूप से जान कर योगी योगसिद्धि प्राप्त करके परम शक्ति और विभूति प्राप्त कर लेता है।

किन्तु, किमनेन रहस्येन ज्ञानेन यावन्नाभ्यासः कृतः, न च तत् स्वयं अनुभूतम्, अतः-

किन्तु जब तक अभ्यास नहीं किया और स्वयं अनुभव नहीं किया तब तक इस रहस्य को जानने से क्या लाभ है। इसलिये:-

ज्ञानात् श्रेष्ठतमं ध्यानं ध्यानाद् पीठेगतिः शुभा।
तत्रैव गमनाद् योगी समाधिस्थः प्रजायते।।

ज्ञान से श्रेष्ठ ध्यान कहा गया है और ध्यान से ही शक्तिपीठ में शोभना गति होती है। उसी श्रीपीठ में पहुंचकर योगी समाधिस्थ होता है।

असौ स्वानुभूति परकः। तत्र च गन्तव्यम् । सर्वं च त्रिपुरा रहस्यं स एव जानाति यः कलाविज्ञानं जानाति। कलाविज्ञानावसरे त्रिपुरा रहस्यं सुस्पष्टं भवति।

यह स्वानुभूति का विषय है। वहीं पहुंचना है। सम्पूर्ण त्रिपुरा रहस्य को वही जानता है जो कलाओं का विज्ञान जानता है। कलाओं के विज्ञान के अवसर पर ही त्रिपुरा रहस्य सम्यक् प्रकार से स्पष्ट होता है।

ज्ञात्वापि त्रिपुरा भेदं दृष्ट्वाश्चर्यमपि महत् ।
यावन्न जायतेऽभ्यासः तावत् किं योगिना कृतम् ।।

त्रिपुरा के रहस्य को जानकर और आश्चर्यमय महान् विभूतियों को देख कर भी जब तक योगी अभ्यास नहीं करता है, तब तक सब निष्फल है।

अतः पूर्वं समभ्यस्य पश्चात् तद्रहस्यज्ञानं स्वयमेव भविष्यति, अतः अद्य प्रभृति अपरं च ज्ञानध्यानाभ्यासं बोधयामि। तिष्ठतु तावत् महादेवी भगवती शारदा, महायोगेश्वरस्य कुण्डलेश्वरस्य कथनभिदम् ।

अतः पहिले अभ्यास कर लेना चाहिये फिर उसके रहस्य का ज्ञान स्वयं ही हो जायेगा। आज से आगे अब अन्य प्रकार के ज्ञान, ध्यान और अभ्यास बताऊंगी। अब महादेवी भगवती शारदा तब तक रूकी रहें। महायोगेश्वर कुण्डलेश्वर गुरू गोरक्षनाथ बाबा ने उपस्थित होकर उपर्युक्त शब्द कहे । १०-११-६२ प्रातः ।।३४।।

कुण्डलेश्वरेण सह जयपुर-काञ्चीपुर-गोरक्षपुरभ्रमणम् । तेन च गोविन्दगिरेः अभ्यास कथनम् नाभेः सप्राणायामादिक्रियाचालनम् ।

कुण्डलेश्वर श्री गोरक्षनाथ बाबा के साथ ध्यान में जयपुर काञ्चीपुर और गोरखपुर नगरों में, जहाँ जहाँ गोरखनाथ बाबा का अपना स्थान रहा था, भ्रमण किया गया। गोरखबाबा ने, गोविन्दगिरि ने जिस प्रकार योगाभ्यास किया था, उसे दिखाकर बताया। प्राणायाम सहित नाभि चलाने की क्रिया बताई। तदनन्तर चार दिन तक केवल अभ्यास ही चलता रहा।

१५-११-६२ सायं प्रातः ।।३५।।

श्री गोरक्षनाथ बाबा की वाणीः-

हट्ठड़ बैठ के पट्ठड़ हाथ। सोय कहावे सिद्धनाथ।।

१६-११-६२ सायं प्रातः।। ३६।।

प्रथम पाताल की गुफा बैठि के धमक के फेरि आकाश धावे।

नाथ की नाथ से नाथ को नाथि के
सिद्धयोगी महासिद्धि पावे।।

१७-११-६२ प्रातः सायं ।। ३७।।

केवल अभ्यास हुआ।

१८-११-६२ प्रातः सायं ।। ३८।।

शशा ऊपर बैठि सिंह गाजे।
देखि के नाथ का नाद बाजे।।
नाद का शब्द चहुं ओर राजे।
देखि के सिंह तुरन्त भाजे।।

पौन पाणि बिना आग के आग लगावे नाथ कहावे।
अलख लखावे जोग जगावे तो सो नाथ कहावे।।
सां सां हाले हॉ सां चाले ऐसी डोरी हाथ।
कूप गहन्ता शब्द वदन्ता सो तो जाणे नाथ।।
कूप विशन्ती कहाँ दिशन्ती डोमिन आगे आवे।
कूपहि शोधे ताहि प्रबोधे तो अमृत रस प्याये।।

२०-११-६२ प्रातः सायं ।। ३९।।

गहन कोठरी वज्र केवाड़ा ता में लागा ताला।
ताला खोल के भीतर बैठे सो तो है गुरू आला।।
भीतर बड़ा उजाला भासे एक मणीधर आगे।
देख उजाला भीतर पैठे जब तो सर्पिणी जागे।।
कहीं न जावे कहीं न आवे पुनि अमृत रस पावे।
ना सो खट्टा ना सो मीठा जो चाखे सो जाने।।

ताला खोलने का तरीका।

पीठ को तान दे नासिका ध्यान दे।
कमल को भींच ले स्वास को खींच ले।।
नाभि को भींच ले बैठि भीतर तहाँ ज्योति पावे।

२१-११-६२ ।। ४०।।

रेचकं कुम्भकं चैव पूरकं त्रिविधात्मकम् ।
त्रिप्राणशक्तिसम्पन्नं त्रिपुरा तन्निगद्यते।।

पूरक, रेचक और कुम्भक ये तीन प्राणों की शक्तियाँ है। योगी के लिये यही त्रिपुरा है।

प्राणेषु राजिता शक्तिः मूले नाभ्यां च कण्ठके।।
तत्रैव शक्तिमासाद्य योगी प्राप्नोति तां शुभाम् ।

मूलाधार, नाभि और कण्ठ इन तीन स्थानों में स्थित प्राणों में शक्ति निवास करती है। इन्हीं तीन स्थानों में शक्ति प्राप्त करके योगी उस कल्याणकारिणी शक्ति को प्राप्त करता है।

त्रिधार्धं त्रिगुणा चैव त्रिवृता प्राणरूपिणी।
त्रैतमाव्याप्य सा शक्तिः त्रिपुरा कथ्यते बुधैः।।

तीन लक्ष्यों को धारण करती हुई तीन गुणों वाली तीन प्रकार की प्राणस्वरूपा वह शक्ति सब प्रकार से त्रैतभाव में व्याप्त है, अतः उसे त्रिपुरा कहा जाता है।

त्रैतमद्वैत द्वैतञ्च त्रिविधं रूपमात्मजम् ।
कृत्वा या द्वैतमाप्नोति सा देवी त्रिपुरा मता।।

साधक का अपना रूप भी त्रिविध है। जैसे, स्थूल, सूक्ष्म कारण इन तीन शरीरों द्वारा उसका त्रैत है। ब्रह्मरूप में अद्वैत है। शिव और शक्ति के रूप में द्वैत है। यही कहा गया है कि त्रैत, द्वैत और अद्वैत इन तीनों भावों को लेकर भी जो अद्वैत भाव प्राप्त करती है वही त्रिपुरा भगवती कही गई है।

सहजा सरहस्या सा सानन्दा चित्समन्विता।

दशधा दशस्थानस्था दशशक्तिभृताऽमृता।।

वह त्रिपुरा शक्ति स्वाभाविकी सहजा है, रहस्यपूर्ण है। सत्, चित् और आनन्दरूपा है। वही दश स्थानों में निवास करती हुई स्थान भेद से दश प्रकार की हो जाती है। दश स्थानों में दश शक्तियों को धारण करती हुई वह अमृतस्वरूपा हो जाती है।

सैव देवी महादेवी त्रिपुरा सर्वमोदिनी।

तस्या रहस्यं संवेद्यं तत् स्वयं भासते परम् ।।

वही महादेवी भगवती त्रिपुरा सुन्दरी देवी सदा आनन्दरूपा हैं, उन्हीं का रहस्य जानना चाहिये वह रहस्य स्वयं योगाभ्यासी को जागृता शक्ति बता देती है।

अकृत्वा प्राणसंरोधं अकृत्वा प्राणसंग्रहम् ।

अकृत्वा शक्तिमुद्बुद्धां स योगी नामधारकः।।

प्राणों का निरोध किये बिना और प्राणों की शक्ति संचय किये बिना और शक्ति का जागरण करके जो योगी कहलाता है वह केवल नामधारक योगी है।

अतः शक्तिजागरणं कृत्वा सहजभावेन त्रिपुरा साध्या भवति। सर्वं शक्त्युत्थानसम्भवम् ।।१।। इति सूत्रितम् । यदा प्राणानां महाशक्तिः समुत्थिता भवति तदा स्वयमेव त्रिपुरास्वरूपं दृश्यते। तद्रहस्यं च सुसरलतया बोधगम्यो भवति।

इसलिये शक्ति जागरण करके सरलता से त्रिपुरा की सिद्धि होती है। शक्ति के उत्थान से सब कुछ सम्भव हो जाता है।।१६।। ऐसा सूत्र में कहा गया है। जब प्राणों की महाशक्ति उठती है तब स्वयमेव त्रिपुरा का स्वरूप दिखाई पड़ता है और उसका स्वरूप सरलता से बोधगम्य हो जाता है।

प्रयासलभ्यं नहि तद्रहस्यं ज्ञातुं न शक्नोति दृढ़ेन कश्चित् ।

स्वयं क्रिया रूपधरा हि शक्तिः रहस्य बोधं प्रकरोति सद्यः।।

वह रहस्य प्रयास करने से उपलब्ध नहीं होता है और हठयोग से उसे कोई नहीं पा सकता है। जब शक्ति स्वयं क्रिया का रूप धारण करती है तब स्वयं ही साधक को रहस्य का ज्ञान हो जाता है।

२१-११-६२ प्रातः ।। ४१।।

नमोऽस्तु भगवत्यै वाग्देव्यै नमः।।

भगवती वाग्देवी को नमस्कार है।

श्रीविद्या परमा विद्या श्रीपीठः पीठसंज्ञकः।

नखात् शिखं समस्तं च शरीरं पीठसंज्ञकम् ।।

श्रीविद्या परम श्रेष्ठ विद्या है। शरीर को ही श्रीपीठ कहा गया है। नख से लेकर शिखा पर्यन्त समस्त शरीर को श्रीपीठ कहा जाता है।

तत्रैव विविधा देव्यः नाना पीठाधिसंस्थिताः।

तासामेकमपि ज्ञात्वा सिद्धिमाप्नोति साधकः।।

उसी शरीर में नाना पीठों में संस्थित नाना प्रकार की शक्ति देवियां निवास करती हैं। उनमें से एक का भी ज्ञान होने पर साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है।।

श्रीविद्या च महाविद्या योगिनां योगसिद्धिदा।

सा वै बलवता लभ्या प्राणसंयमसाधिना।।

वह परमा श्रीविद्या योगियों को योग सिद्धि प्रदान करने वाली है। वह बलवान् साधक द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है जिसने प्राणों के संयम को सिद्ध कर लिया हो।

एवं कृते सति यदा प्राणाः बलवन्तः भवन्ति, तदा तत्प्राप्तिः सुलभा जायते। तदर्थं च "पीठ को तान दे" इत्यादि करणीयम् । दशमहाविद्याज्ञानमपि तत्र कोष्टके प्रविश्यैव भवति। तत्रैव जागृत कुण्डलीकः ज्योतिर्दर्शनविधौ तासां स्वरूपमपि परिचिनोति। स्वरूपपरिचयेन तासां ध्यानं, तासां ज्ञानं च सर्वं सुलर्भ भवति। कथितं च शास्त्रेऽपि "हृदये ललिता देवी" इत्यादि।।

इस प्रकार साधना द्वारा जब प्राण बलवान् बन जाते हैं तब उसकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है। उसके लिये "पीठ को तान दे" इत्यादि पहिले बताई गई क्रिया करनी चाहिये। दशमहाविद्याओं का ज्ञान भी उसी शरीर के भीतर प्रवेश करने पर होता है। वहीं कुण्डलिनी के जागृत होने पर ज्योति दर्शन के समय साधक को उन शक्ति देवियों का परिचय भी मिल जाता है। स्वरूप के परिचय होने पर उनका ध्यान और उनका ज्ञान भी सुलभ हो जाता है। शास्त्र में इसीलिये कहा है "हृदये ललिता देवी" ललिता देवी हृदय में रहती हैं" इत्यादि।

तत्र शरीरात्मके श्रीपीठे शक्ति जागृतिं विधाय दिव्यशक्तीनां दर्शनं, ध्यानं ज्ञानं च कर्तव्यम् । शक्तिश्च गुरूकृपैव लभ्या। अनुग्रहसाध्या भवति। तदुपलब्धौ च सर्वं स्वयमेव सहजं सुलभं भवति।

उस शरीरात्मक श्री पीठ में शक्ति को जगाकर दिव्यशक्तियों का दर्शन, ध्यान एवं ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। शक्ति गुरू की कृपा से ही प्राप्त होती है। क्योंकि वह अनुग्रह-साध्या है। अनुग्रह द्वारा शक्ति प्राप्त होने पर सब कुछ स्वयमेव सुलभ हो जाता है।

२२-११-६२ प्रातः ।। ४२ ।।

त्रिपुरायास्तु या शक्तिः दशधा या च गद्यते।

सा षट्चक्रात्मिका शक्तिः षड्रूपा भेदनात्मिका।।

जो त्रिपुरा की शक्ति दश प्रकार की कही गई है वह षट् चक्रो मे स्थित है और छः रूपों से वह भिन्न - भिन्न स्वरूप की होकर चक्रों का भेदन करती है।

बीजे विन्दौ च नादे च नादान्ते चापि राजिता।

चतुर्धा त्रिगुणा शक्तिः दशरूपा स्थिता मता।।

वह त्रिगुणात्मिका शक्ति बीज में बिन्दु में, नाद में और नादान्त में चार प्रकार से स्थित हुई दश प्रकार की होती है।

दशविद्याविभागेन शक्तिं दत्वा दशात्मिकाम् ।

त्रिपुरं त्रिविधं कालं त्रिलोकं त्रिगुणं च यत् ।।

दश विद्याओं के विभाग से शक्ति को दशात्मिका कहा जाता है। त्रिपुर भी तीन प्रकार का है। जैसे कालत्रय, लोकत्रय और गुणत्रय भेद से।

समाहृत्य सदानन्दा शिवत्वं प्रददाति सा।

तदा शिवस्तदा ख्यातः सदानन्दविमण्डितः।।

उपर्युक्त सभी विभागों को समेट कर वह शक्ति साधक को शिवत्व प्रदान करती है। तब शिव को सदा आनन्द विमण्डित कहते हैं उन्हीं का नाम सदाशिव भी है।

तत्रानंदं विधायैव तद्रूपं परमं भवेत् ।

आनन्दश्च निरानंदं उभयोर्मध्यके भवेत् ।।

वहाँ आनन्द का अनुभव करते हुए साधक, तद्रूप होकर आनन्द और निरानन्द दोनों के मध्य की स्थिति में रहता है। उस स्थिति को आनन्द स्थिति भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आनन्द का अनुभव उस दशा में नहीं है, निरानन्द भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि आनन्द का अभाव भी उस स्थिति में नहीं है।

तत्रानन्दमभिव्याप्य त्रिपुरा सार्थका ध्रुवा।

तस्याः स्थितिः स्वरूपाय आनन्दाय च जायते।।

आनन्द स्थिति को पूर्णतया व्याप्त करके वहाँ त्रिपुरा की सार्थकता होती है वहां वह आनन्द स्वरूपा ही हो जाती है।

पुनः कलास्वरूपेण भासते उन्मनात्मिका।

रहस्यं तावदेव स्यात् यावन्नैव सदाशिवः।।

तब वह त्रिपुरा शक्ति कलाओं के रूप में उन्मनी कला के रूप में भासित होती है। शक्ति का रहस्य वहीं तक रहस्य है जब तक सदा शिव की स्थिति प्राप्त नहीं होती है।

सदाशिवस्वरूपे तु नोर्ध्वं स्याद् तद् रहस्यकम् ।

उन्मनी रूपपर्यन्तं रहस्यं विद्यते क्वचित् ।।

सदा शिव की स्थिति प्राप्त हो जाने पर उससे ऊपर फिर कोई रहस्य नहीं रह जाता है। उन्मनी भाव के पूर्व कहीं कहीं रहस्य रहता है।

पश्चात् स्वरूपसंस्थानं समाधिस्थं न संशयः।

उन्मनी स्थिति के बाद निःसंशय स्वरूप में स्थित होकर साधक समाधिस्थ हो जाता है।

एवं प्रकारेण त्रिपुरा महाविद्या यदा भेदनरूपा शक्तिः शिवं आनन्दयुक्तं करोति तदा त्रिपुरा स्वरूपं परिवर्त्य अपरं रूपं धारयति। तद्रूपमपि साधकैः बोध्यम् ।

इस प्रकार भेदन रूपा त्रिपुरा शक्ति जब शिव को आनन्दयुक्त करती है तब त्रिपुरा भगवती अपने स्वरूप को बदल कर दूसरा रूप धारण कर लेती है। वह रूप भी साधक को समझना चाहिये।

२२-११-६२ सायं ।। ४३।।

सा देवी त्रिपुरा सिद्धा सकला कलया कला।

कलावती कलाधारा पूर्णिमा भास्वरूपिणी।।

वह सिद्धा त्रिपुरा देवी फिर कलाओं से पूर्ण होती है। कलाओं के सहित होने के कारण उसे कलावती, कलाधारा कहते हैं। जैसे पूर्णिमा को चन्द्रमा अपनी षोडश कलाओं से पूर्ण रहता है, उसी प्रकार वह त्रिपुरा महाशक्ति भी होने के कारण पूर्णिमा नाम से कही जाती है। उस स्थिति में वह केवल भास्वरूपिणी अर्थात् प्रभा-स्वरूप रहती है।

सदा शिवस्य पश्चात् पुनः कलानां विकासो भवति। तदा पूर्णत्वे च प्रतिबिम्बिते परमशिवस्य प्राप्तिर्जायते। तदा कला, विकला, सकला कलाकला इत्यादीनां भूमिका च साधारा जायते।

सदाशिव शिव की स्थिति के पश्चात् फिर कलाओं का विकास होता है। पूर्णत्व के प्रतिबिम्बित होने पर परमशिव की प्राप्ति होती है। तब कला, विकला, सकला, कलाकला आदि भूमिका आधार सम्पन्न बनती हैं।

कलाओं का बोध करना भी सत्य है। यह सुलभ भी है। अपने आप में भी है और सर्वत्र भी है। उसी का ज्ञान सुलभ करना है।

मार्गाः पृथक् सन्ति, लक्ष्यमेकम् ।।

मार्ग पृथक् प्रथक् हैं और लक्ष्य एक है।

शक्तिसम्पातयोगात् सुलभगमनम् ।। १४।।

शक्तिपात महायोग के द्वारा लक्ष्य तक पहुंचना सुलभ हो जाता है।

यदा शक्तिसम्पातो भवति तदा शीघ्रमेव स्वयं शक्तेर्लाभो जायते।

जब शक्तिपात होता है तब शीघ्र ही स्वयमेव शक्ति-लाभ हो जाता है।

येन च शीघ्रमूर्ध्वगमनं जायते।

जिससे शीघ्र ही ऊर्ध्वगमन होने लगता है।

तत्त्वानुभवगम्यं नादनादान्ताभ्याम् परः ।।

यद् वेद्य तदेव परमशिवः ।। १५।।

नाद ओर नादान्त की स्थिति में तत्त्व ज्ञान अनुभवगम्य होता है। जो ज्ञातव्य है उसे परमशिव कहते हैं। ज्ञातव्य परम शिव हैं और परम साधन महाशक्ति है।

ज्ञानं ध्यानं जपश्चैव केनोपायेन सत्वरम् ।

जायन्ते वशमायान्ति ज्ञातुमिच्छामि शारदे।।

हे शारदा माँ ! ज्ञान, ध्यान और जप किस उपाय से शीघ्र ही अधिकार में आते हैं इसे मैं जानना चाहता हूँ।

तदुत्तरयतिः- सर्वमेतन्महाशक्तिर्भगवती योगकुण्डली।

जागृता परमा सिद्धा सिद्धानां सिद्धिदा भवेत् ।।

उसी का उत्तर माँ देती हैः- भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति जागृता होकर जब परम सिद्ध हो जाती है तब साधकों को वह सभी प्रकार की सिद्धि देने लग जाती है।

तदैव परमं ज्ञानं ध्यानं चैव जपस्तथा।

सिध्यते सा कृपालभ्या तद्गुरोः शरणंव्रज।।

तभी परम ज्ञान, परम ध्यान, परम जप सिद्ध होता है। वह शक्तिपात और शक्ति जागृति गुरूकृपा द्वारा प्राप्त होती है, इसलिये तुम गुरू की शरण में जाओ।

२३-११-६२ प्रातः ।। ४४।।

या शक्तिस्त्रिपुरा देवी वामनीत्यभिधीयते।

स्वर्गं मृत्युं च पातालम् अभिव्याप्य स्थिता स्वयम् ।।

जो त्रिपुरा देवी वामनी नाम से कही जाती है वह स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताल लोक इन तीनों में व्याप्त होकर रहती है।

वलिं शुक्राभिधानं सा पाताले च नियच्छति।

तदा बलिः चलच्चक्रं स्वर्गं गन्तुं प्रचेष्ठते।।

वह वामनी शक्ति शुक्ररूपी वलि को पाताल पहुंचा देती है। तब बलि चंचल होकर स्वर्ग को पुनः जाने की चेष्टा करता है।

तत्रैव स्थातुकामः सः स्थितिभेदाय जायते।

तदा सा भगवती देवी वमिनी च महाबला।।

त्रिपुरं व्याप्य तं धृत्वा पातालं प्रापयत्यलम् ।।

वह वलि नामक शुक्र स्वर्ग में ही रहने की इच्छा करता है और मर्यादा भेद की चेष्टा करता है। तब त्रिपुरा भगवती महावला वामनी शक्ति तीनों लोकों को व्याप्त करके उस शुक्ररूपी बलि को पाताल पहुंचा देती है।

तत्र स्थितो हि सः पूर्णां सकलां काम संस्थितिम् ।

सुस्थितां सुस्थिरां कृत्वा विकाराय न जायते।।

पातालं पहुंचकर वह शुक्र फिर काम की संस्थिति को सुस्थिर और स्वस्थ बना देता है और पुनः विकार उत्पन्न नहीं करता है।

तदा सत् चित् आनन्दः इति त्रिकं संयुक्तं भवति। तदा सच्चिदानन्दसदाशिवः तत्रैव मोदते, मोदयति च। तदैव भवति आनन्दस्योपलब्धिः। सत् मूलाधारे, चित् सर्वत्र व्याप्तिः, मूलाधारादाज्ञाचक्रपर्यन्तम्। तदा उभयोः संयोगः आनन्दाय समर्थो भवति। आनन्दं प्राप्य शिवः सदाशिवो भवति। पुनः परमशिवस्य दर्शनाय तत्र प्रापयितुं भगवती त्रिपुरा महामाया सैव कुण्डलिनी प्रचेष्टते। आनन्दात् परमशिवस्य दर्शनं जायते कलाधारेण ।।१६।।

तब सत् चित् और आनन्द इन तीनों का संयोग होता है और सच्चिदानन्द सदाशिव वहीं मोदित होते हैं और मोदित करते हैं। तभी साधक को आनन्द की उपलब्धि होती है। सत् मूलाधार में और चित् सर्वत्र व्याप्त है, मूलाधार में आज्ञाचक्र पर्यन्त, तब दोनों का संयोग आनन्द की उत्पत्ति करता है। आनन्द को प्राप्त करके शिव सदाशिव बन जाते हैं। फिर सदाशिव परम शिव के दर्शन की चेष्टा करते हैं और वहाँ तक पहुंचाने के लिए भगवती महामाया त्रिपुरा कुण्डलिनी शक्ति स्वयं प्रेरित करती है। कलाओं के आधार से आनन्दपूर्वक परमशिव के दर्शन होते हैं।

२३-११-६२ सायम् ।। ४५।।

कलाज्ञानं अन्तर्दर्शनाय ।।१७।।

अन्तर्दर्शन के लिये कलाओं का ज्ञान होता है।

कल्यते कलनं क्रियते यया सा कला। अथवा कलनं क्षयोपचयं च विद्यते तत्र सा कला। कला एव स्पन्दवती।

जो कलनं करे उसे कला कहते हैं। अथवा कलन अर्थात् बढ़ना और घटना जहाँ क्षय और वृद्धि होती हो उसे कला कहते हैं। कलाही स्पन्दवती अर्थात् गतिशीला है।

विन्दुः संस्तम्भरूपेण स्थितः स्वात्मस्वरूपकः।

तत्र स्पन्दो भवेत् सद्यः तस्मात् संजायते कला।।

जब विन्दु स्थिर रूप में स्तब्ध रहता है तब वह अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, निश्चेष्ट रहता है। उसमें जब एकाएक कम्पन होता है तब कलाओं का उदय होता है।

तदा कलेति सा ख्याता क्षयोपचयसंकरा।।

विन्दुश्चन्द्रनिभः ज्ञेयः स्पन्दधारा कलास्मृता।।

क्षय और उपचय होने वाली मिली जुली स्पन्द-शक्ति को कला कहा जाता है। विन्दु चन्द्रमा की भाँति है और उसमें जो कम्पन से ज्योति धारा निकलती है उसे कला कहते हैं।

अधस्तादुपरोधस्तात् सा प्राणकलना कला।

विकला अपरा सापि विशिष्टा विगता मता।

नीचे से प्राणों का ऊपर चढ़ना और ऊपर से प्राणों का नीचे आना यह प्राणों का क्षय और अपचय कला कहलाती है। दूसरी विकला है जिसमें गति की हीनता है और प्राणों की विशिष्ट गति का अभाव है।

क्वचित् प्रवृद्धा क्वचिदप्रवृद्धा क्वचिद्विलीना क्वचिदेव तूर्णा।

क्वचिद् विशिष्टा बहुज्योतिराधृता विबुद्धवुद्धा विकला कला सा।।

कभी कला रूप में ज्योति बहुत बढ़ जाती है, कभी मन्द रहती है, कभी विलीन हो जाती है, कभी शीघ्र ही तीव्र होती है। कभी विशिष्ट रूप से बहुत बढ़ी हुई ज्योति दीखती है इस प्रकार जागृता ज्योति कला जो एक रूप में स्थिर न रहे उसे विकला कला कहते हैं।

विकला सा भवति यत्र ज्योतिः स्वरूपं क्षीयते उपचीयते च। इत्थंभूतेन वैशिष्ट्येन विमण्डिता सा सकलात्मिका भूत्वा स्थिरत्वमाप्नोति। पुनः सकलेन शब्देन प्रोच्यते।

विकला उसे कहते हैं जहाँ ज्योति का स्वरूप कभी क्षीण होता है और कभी बढ़ता है। इस प्रकार के क्षय-वृद्धि के वैशिष्ट्य से विमण्डित होती हुई यह विकला स्थिरता को प्राप्त होकर सकला का रूप धारण करती है।

सहिताभिः समस्ताभिः कलाभिः राजते यदा।

तदा सम्पूर्णतां याति सकला तेन प्रोच्यते।।

समस्त कलाओं के सहित जब शोभायमान होती है तब सम्पूर्णता को प्राप्त होकर यह सकला नाम से कही जाती है।

सदा स्थिरा शक्ति प्रकाशशालिनी, संहृत्य सर्वं विकला कलाकुलम्।
विन्दौ गतिं तीव्रतमां विधाय, तत्रैव भासं विपुलं रुणाद्धि।।

विकला के समस्त कला समूहों को समेट कर प्रकाश से पूर्ण शक्ति स्थिर रूप से बिन्दु में तीव्रतम गति करती हुई वहीं पर महाप्रकाश को घनीभूत करके रोक लेती है।

यथा लौकिक व्यवहारे सम्पूर्णचन्द्रः सकलः पूर्णः इत्युच्यते। तथैव यदा समस्ताः कलाः सम्भूय विन्दौ एव गतिशीलाः भवन्ति, तत्रैव निरूद्धाः सन्त्यः विशिष्टां ज्योतिष्मतीं शक्तिं विस्तारयन्ति। तदा सर्वत्रैव शीतलत्वमायाति। तथा च–

जिस प्रकार लोक में १६ कलाओं से युक्त चन्द्रमा पूर्ण कहलाता है, उसी प्रकार जब समस्त कलायें एकत्र होकर विन्दु में ही गतिशील हो जाती हैं और वहीं निरूद्ध होकर विशिष्ट ज्योतिष्मती शक्ति का विस्तार करती हैं, तब सर्वत्र शरीर में शीतलता का अनुभव होता है। कहा भी है:–

आनन्दात् जायते स्पन्दः स्पन्दात् संजायते गतिः।
गतिर्मन्दा तथा तीव्रा सम्भूय सुस्थिरा ध्रुवा।।

आनन्द से स्पन्द की उत्पत्ति होती है स्पन्द से गति होती है, यह गति कभी मन्द होती है और कभी तीव्र होती है और एकत्र होकर सुस्थिर हो जाती है।

अन्तर्दर्शनज्ञानाय चेष्टते च पुनः पुनः।

तब साधक अन्तर्दर्शन के ज्ञान के लिये निरन्तर चेष्टा करता है। तभी "बैठ के गुफा में ज्योति पावे" यह बात पुष्ट होती है।

पुनः सकलस्य बोधानुभवे कलाकला इत्यस्यापि समाभासः संजायते।। तत्र निर्विकल्पसविकल्पयोः स्थितिः समुद्भवति। सर्वम् अन्तर्गतमेव प्रतिभासते। तदा किमपि अज्ञातमज्ञेयं, अलभ्यं न वा अदृश्यमिति।

फिर सकल के बोधानुभव होने पर कलाकला इसका भी समाभास हो जाता है। उसमें निर्विकल्प और सविकल्प की स्थिति हो जाती है। सभी बातें भीतर ही भीतर होती हैं। तब कुछ भी अज्ञात, अज्ञेय और अलभ्य और अदृष्ट नहीं रहता है।

गुरुध्यानी गुरू ज्ञानी पावे। सो ही ज्योति दिखावे।।

२४-११-६२ प्रातः ।।४६।।

तदान्तर्दृष्टिः ।।१७।।

तब साधक को अन्तर्दृष्टि आ जाती है।

यदा कलानुभूति क्रियते तदा अन्तर्दृष्टिर्जायते।

जब साधक कलाओं का अनुभव करता है तब अन्तर्दृष्टि का उदय होता है।

वहिर्यागं परित्यज्य अन्तर्यागं समाचरेत् ।

बाहरी यजन को छोड़कर साधक को अन्तर्यजन करना चाहिये।

यथा व्यवहाररूपेण पूजनं कृत्वा प्राणप्रतिष्ठां च विधाय पुनस्तत्पूर्त्यर्थं योगादिकं समाचरन्ति जनास्तद्वत् साधनासम्पन्नभूमिकत्वेऽपि प्राणापानसमानव्यानोदानानां परस्परं संक्रमणं विधाय प्राणापाने च जुहूयात् । इति प्राणाहुतियागं कुर्यात् । सर्वं तत्र प्राणायामाधीनम् । प्राणायामं च जागृता भगवती कुण्डलिनी स्वयमेव कारयति। तत्रैव तत्परः साधकः अन्तर्यागं करोति। यदा प्राणाः प्रतिष्ठिताः बलवन्तः भवन्ति, तदा यागेन सर्वं सुस्थिरमन्तर्गतं भवति। "प्राणाधीनं जगत् सर्वम्" इत्युपयुज्यमानत्वात् यदा अन्तर्गता दृष्टिर्भवति तदा तत्रैव सर्वमनुभूयते, रम्यते दृश्यते च नान्यत्र। अत एव कथितं च।

जिस प्रकार लोक में पूजन करके प्राण प्रतिष्ठा करके फिर उसकी पूर्ति के लिये मुनष्य योग आदि साधन किया करते हैं, उसी भाँति साधन सम्पन्नता की भूमिका में भी प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच प्राणों का परस्पर संक्रमण करके प्राण और अपान का हवन किया जाता है। अर्थात् प्राण रूपी आहुति देकर यज्ञ करना चाहिये। यह सब प्राणायाम के अधीन है। प्राणायाम स्वयमेव जागृता भगवती कुण्डलिनी स्वयं करवाती है। उसी में तत्पर हुआ साधक अन्तर्याग करता है। जब प्राण प्रतिष्ठित होकर बलवान् बन जाते हैं तब याग के द्वारा सब कुछ सुस्थिर और सम्पन्न हो जाता है। सारा जगत् प्राणों के अधीन है। जब अन्तर्दृष्टि हो जाती है तब वहीं सब कुछ अनुभव में आता है वहीं साधक रम जाता है और देखता है और अन्यत्र कहीं नहीं जाता है। इसलिये कहा है कि:-

गोरक्षनाथ बाबा की वाणीः-

ना कहिं जावे ना कहिं आवे सो अन्तर ही पावे।

बाहर दृष्टि न जावे अवधू अन्तर ही सब पावे।।

गुरू ज्ञानी गुरू ध्यानी पावे अन्तज्योंति बतावे।

ज्योति जगावे अन्तर पावे कहीं न आवे जावे।

अतएव "सर्वं स्वात्मनि पश्यति" इत्यादि सिद्धं भवति। अन्तर्यागेनैव "मद्याजी जायते नरः" इति। एषा एव समाधेः पूर्वावस्था, तदन्तरं यद् ज्ञातव्यं तद् ज्ञातं भवति। सर्वमिदं च कुण्डलिनी जागरणे स्थितम् ।

इसलिये "सब कुछ भीतर ही देखता है" यह कथन सिद्ध होता है। अन्तर्याग से ही मनुष्य "मद्याजी" अर्थात् भगवान का भजन करने वाला बनता है। यही समाधि की पूर्वावस्था कही गई है। उसके बाद जो ज्ञातव्य है वह भी ज्ञात हो जाता है। यह सब कुछ कुण्डलिनी शक्ति के जागरण पर निर्भर है।

२४-११-६२ सायम् ।।४७।।

अथ अन्तर्दृष्ट्याधिकरणम् ।।

अब अन्तर्दृष्टि सम्बन्धी अधिकरण आरम्भ होता है।

अन्तर्दृष्टिर्यदा भूयात् वहिर्ज्ञानविवर्जिता।
तदा सर्वत्र पश्यन्ति योगिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

बाह्य ज्ञान से विवर्जित जब साधक को अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है तब वे सर्वत्र योगी लोग तत्त्वदर्शी बनकर सर्वत्र सब कुछ देखने लगते हैं।

दृष्टिः संयाति तत्रैव यत्रैव परमः शिवः।
वोधावस्था तदाऽऽयाति यत्र ज्ञानं त्रिधात्मकम् ।।

अन्तर्दृष्टि होने पर दृष्टि वहीं जाती है जहाँ परमशिव है। तब बोधावस्था आती है। जिसमें विविध ज्ञान साधक को होता है।

अन्तर्ज्ञानं वहिर्ज्ञानं ज्ञानं चैव द्विधात्मकम् ।
स्वयमेव समायाति न तत्र यत्नमास्थितम् ।।

ज्ञान दो प्रकार का है। अन्तर्ज्ञान और बहिर्ज्ञान। ये दोनों ज्ञान स्वयं ही होने लगते हैं। इसमें यत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

गोरक्षनाथ बाबा की वाणीः-

ना कहिं जावे ना कहिं आवे अन्तर ही सब पावे।
सद्गुरू ऐसा पावे अवधू सीधी राह बतावे।।
ज्ञान ध्यान जब सबहि बतावे नहि वह तत्त्व छिपावे।
अवधू सो गुरू ज्ञानी ध्यानी सीधहि सीध लखावे।।

२५-११-६२ सायं प्रातः ।।४८।।

तदा उपासनाभ्यासः ।।१८।।

तब उपासना का अभ्यास किया जाना आरम्भ होता है।

यदा परमशिवस्य दर्शनं भवति तदा शक्तिः स्वयमेव उपासनां वाञ्छति। तद्रूपे एव सम्प्रविष्टुं उत्सुका भवति। तदैव परमशिवः परमाकुलः परस्परं अभिगच्छति,- ज्ञानं कर्म उपासनाम् । तेषां मध्ये ज्ञानं प्राप्य कर्मकृत्वा आनन्दं च समधिगम्य पुनः उपासनाय प्रभवति।

जब परम शिवका दर्शन हो जाता है तब शक्ति स्वयमेव उपासना की इच्छा करती है। उसी के रूप में प्रविष्ट होने को उत्सुक होती है। तब परम शिव भी परम आकुल होकर परस्पर शक्ति के साथ मिलना चाहते हैं और ज्ञान कर्म और उपासना की जिज्ञासा करते हैं। उनमें से ज्ञान प्राप्त करके कर्म करके और आनन्द प्राप्त करके उपासना के योग्य बनता है। तत्त्व में तत्त्व समाये।

सा देवी प्रकटा शक्तिः आत्मरूप प्रदर्शिका।

क्रियां कृत्वा परां दिव्यां पुनस्तत्रैव मोदते।।

रमते परमेणैव शिवेन सह मोदते।।

वह प्रकट रूप वाली शक्ति अपना असली स्वरूप प्रकट कर देती है। परम दिव्य क्रिया करवाकर फिर वहीं मोदित होती है और परम शिव के साथ रमण करती हुई वहीं मोदित हो जाती है।

उपासनेन परमतत्त्व लाभः। उपासनया शक्तिः परशिवस्य सहवासिनी भवति।।

उपासना से परमतत्त्व की प्राप्ति होती है। उपासना से शक्ति परमशिव की सहवासिनी हो जाती है।

२५-११-६२ प्रातः सायम् ।।४९।।

उप समीपे आस्यते इति उपासना। अथवा उप असनं आसनं वा उपसना। यदा शक्तिः शक्तिमता सह सामीप्येन अभिव्यक्तिं अधिगच्छति तदा स्थितप्रज्ञा जायते।

उप = समीप में बैठने को उपासना कहते हैं। जब शक्ति शक्तिमान के साथ सामीप्य से अभिव्यक्ति प्राप्त करती है तब स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त होती है।

सुखे वा सुखभूते व द्वन्द्वेवा हर्षनिर्भरे।

नैयाति क्षोभं यच्चित्तं तदा प्रज्ञास्थिता मता।।

सुख में, सुख के कारणों में, द्वन्द्वों में या हर्ष की स्थिति में जो चित्त कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है उसकी प्रज्ञा स्थित कही जाती है।

सर्वं तत्रैव संवेद्य अर्धमात्रोपरिस्थिता।

निरोधिका निरोधाय समर्था जायते ध्रुवा।।

अर्धमात्रा के ऊपर स्थित जो निरोधिका कला है सब उसी में अनुभव होता है जहाँ वह सब कुछ निरोध करने में समर्थ होती है।

निरोधिक़ेति विख्याता सा स्थितिः समताधिका।

निरोधिका नाम से विख्यात जो स्थिति है वह समता वृत्ति से भी अधिक ऊँची स्थिति है।

तदा परमशिवस्य सामीप्यं प्राप्य शक्तिः अभेदात्मिका भूत्वा तत्रैव स्थिता भवति। तत्रस्थितायां तस्यां परमशिवस्य वोधाय भावाः समर्थाः भवन्ति।

तब परम शिव का सामीप्य प्राप्त करके शक्ति अभेदात्मिका बनकर वहीं स्थित हो जाती है। उसके वहाँ स्थित होने पर परम शिव के बोध के लिये भाव समर्थ हो जाते हैं।

२७-११-६२ प्रातः ।।५०।।

परमशिवस्य दर्शनं उपासनयैव भवति। उपासनया

कोऽहं का सा क्रिया का च किं वाह्याभ्यन्तरे स्थितम् ।

ज्ञायतेकिमप्यत्रैतत् तदाकारा स्थितिश्च सा।।

परम शिव का दर्शन उपासना से ही होता है। मैं कौन हूँ वह कौन सी क्रिया है और वह शक्ति क्या है इस प्रकार का कुछ ज्ञान उपासना से होता है और वह स्थिति तदाकार स्वरूपिणी होती है।

तत्र भेदात्मिका दृष्टिः सहसैव विलीयते।

तदा प्रज्ञा स्वयं चक्षुः चक्षुः प्रज्ञा भवत्युत।।

वहां पर भेदात्मिका दृष्टि स्वयं विलीन हो जाती है। तब साधक की प्रज्ञा ही चक्षु बन जाती है और चक्षु भी प्रज्ञा का कार्य करने लगते हैं। वह प्रज्ञाचक्षु बन जाता है।

ज्ञायने नहि किंचिद्वै स्थितप्रज्ञा तदा भवेत् ।

उस दशा में वाह्य ज्ञान कुछ भी नहीं रहता है और प्रज्ञा स्थित हो जाती है।

परम शिवमधिगम्य यदा प्राणाः ब्रह्मरन्ध्रगताः भवन्ति तदा तत्र स्थितिं विधाय समाधिभूमिकामुपस्थापयन्ति। तत्र

परम शिव तक पहुंचकर जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होते हैं तब वहाँ रूक कर वे समाधि की भूमिका तैयार करते हैं और तबः-

गोरखवाणीः- आप आप में देखे अवधू

आप आप में देखे। आप आप में पावे।

इति बोधो जायते, सर्वत्र च तथैव आभासते। तदा अवस्थात्रयज्ञानमुत्पद्यते। ध्यानावस्थकं, ज्ञानावस्थकं, बोधावस्थकम् । अनेन ज्ञानत्रिविधात्मकेन सर्वं ज्ञातुं शक्यते। किन्तु तत्रापि "अहं" बोधस्य प्रतिपत्तिः पुनरावर्तते।

इस तरह का बोध होता है, सर्वत्र वही बोध भासित होता है। तब अवस्थात्रय का ज्ञान होता है। ध्यानावस्था का, ज्ञानावस्था का और बोधावस्था का। इस त्रिविध ज्ञान के द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है। किन्तु इस स्थिति में भी अहं बोध की प्रतिपत्ति पुनः लौट आती है।

साधारा च निराधारा व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी।

सर्वज्ञानमयी बोधावस्था च जायते शुभा।।

साधार और निराधार, व्यक्त स्वरूपा और अव्यक्त स्वरूपा सर्वज्ञानमयी बोधावस्था प्राप्त हो जाती है।

यस्यामेवावस्थायां योगिनः योगानुष्ठानपरायणाः स्वात्मानमपि तत्रैव पश्यन्ति। दृष्टिः दृश्यं, द्रष्टा च सर्वमेव पृथक् पृथक् पुनर्भवति यद् ज्ञानं परमात्मकं तदा पञ्चतत्त्वेषु विजयो भवति। दिव्यगन्धस्पर्शादीनां च अनुभूतिः क्रियते। सर्वं च तत् साधकः स्वात्मन्येव पश्यति।

जिस अवस्था में योगी लोग योगानुष्ठान परायण होकर अपना आत्मदर्शन करते हैं, दृष्टि, दृश्य, द्रष्टा इन सबको पृथक् पृथक् रूप में देखने लगते हैं। जब परम तत्त्व का ज्ञान होता है तब पञ्चतत्वों में विजय होने लगती है। दिव्य गन्ध दिव्य स्पर्श आदि की अनुभूति होती है। साधक यह सब कुछ अपने भीतर ही देखता है।

परम शिवेन सह संयुक्ता शक्तिः प्राणान् आकर्षति। तदा शून्यत्वमपि यत्र तत्र अंगेषु व्याप्नोति। क्वचिच्च कदाचित् च सर्वशून्यतापि समायाति। सावस्था निष्पत्त्यवस्था भवति।

जब परम शिव के साथ संयुक्त हुई शक्ति प्राणों का आकर्षण करती है तब यत्र तत्र साधक के अंगों में शून्यता व्याप्त हो जाती है। कभी कभी किसी दशा में समस्त शरीर में भी शून्यता व्याप्त हो जाती है। उस अवस्था को निष्पत्ति अवस्था कहते हैं।

ब्रह्मरन्ध्रगताः प्राणाः यदा स्थिरत्वमागच्छन्ति तदा रस निष्पत्तिः भवति। तदा "रसो वै सः" इत्यात्मिका प्रतीतिः भवति। रसानुभूतिरतदैव भवति, यदा परमा परमस्य सामीप्यं प्राप्नोति। चिञ्चिणात्मकस्य ध्वनेः या बोधस्य दशायाः स्थितिः प्रोच्यते तस्याः ध्वनेः संचारः भवितुं प्रारभ्यते। झञ्झणोत्कर्ष समन्वितः कम्परूपः शब्दः प्रचरति यः सर्वं शरीरं चिञ्चिणवत् करोति। तदा परमशिवस्य सान्निध्यमिवानुभूयते।

ब्रह्मरन्ध्रगत प्राण जब स्थिरता को प्राप्त होते हैं तब रस की निष्पत्ति होती है। तब "रसो वै सः" "रस वही शिव है" ऐसी प्रतीति होती है। रस की अनुभूति तभी होती है जब परमा शक्ति परमशक्तिमान् शिव का सामीप्य प्राप्त कर लेती है। चिण् चिण् ध्वनि की बोध दशा की स्थिति जो कही जाती है उस चिण् चिण् ध्वनि का संचार भीतर होने लगता है। तब झण् झण् शब्द से पूर्ण कम्परूप शब्द का संचार होने लगता है जो समस्त शरीर को चिण् चिण् शब्द से व्याप्त कर लेता है। तब परम शिव के सान्निध्य की सी अनुभूति होती है।

शब्दश्चिणात्मको यस्तु झंकारेण प्रपूरितः।
शरीरं व्याप्य शून्याख्यं बोधं कारयति ध्रुवम् ।।

झंकार से प्रपूरित जो चिण् चिण् रूप शब्द है वह समस्त शरीर में व्याप्त होकर शून्यता का बोध करा देता है।

तदा च रोधिका रूपा रोधिनी विमला दशा।
प्राप्यते योगसंसिद्धैः तत्रैव रमते स्वयम् ।।

तब रोधिका रूप रोधिनी विमल दशा को योगसंसिद्ध लोग प्राप्त करते हैं। साधक स्वयं उसमें रम जाता है।

सा दशा या च निष्पतिः सा तदा जायते परा।

वह श्रेष्ठ निष्पत्ति की दशा तब उपलब्ध होती है।

तदा निरोधकत्त्वाभासेन अन्तर्दृष्टिस्थिरत्त्वम् ।।१९।।

तब निरोधकत्त्व के आभास से अन्तर्दृष्टि की स्थिरता होती है।

पूर्णझंकारात्मकत्वव्याप्तशब्देन झंझणकत्वं प्रबलं भवति। किंचित् काल पर्यन्तं न किमपि ज्ञानं बाह्याभ्यन्तरं च प्रभवति। प्रादुर्भवति च ऊँकारा वैखरी ध्वनिः।

पूर्ण झंकारात्मक शब्द से शरीर में झंझण का कम्प प्रबल होता है। कुछ काल तक बाह्य एवं आभ्यन्तर ज्ञान कुछ भी नहीं रहता है। तब वैखरी रूप में ऊँकार की ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है।

सा सहसैव ब्रह्मरन्ध्रादुपरि व्याप्ता भवति। तदा व्यापिका इत्यपि कथ्यते। तस्यां दशायां सर्वं शरीरमात्मज्ञानेन व्याप्तमिव प्रतिभाति। सर्वत्र च प्रकाशान्वितमिवदृश्यते।

वह ऊँकार ध्वनि ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहसा व्याप्त हो जाती है तब उस स्थिति को व्यापिका कहते हैं। उस दशा में सारा शरीर आत्मज्ञान से व्याप्त हुआ प्रतीत होता है और सर्वत्र सब कुछ प्रकाश से पूर्ण दीखता है।

यत्र प्राणाः सुसंव्याप्ताः परमस्य समीपगाः।
नैजन्ते नैव धावन्ति व्यापिका सा दशा स्मृता।।

परम शिव के समीपस्थ प्राण जब भली भाँति व्याप्त होकर न तो काँपते हैं और न कहीं अन्यत्र चलते हैं उस दशा को व्यापिका कहते हैं। २८-११-६२ प्रातः।।५२।।

तदा रसानुभूतिः परमानन्दानुभूतिः क्रियते। निष्पत्तिदशायां निश्शेषेण तस्मिन् परमशिवे एव परम शक्तेः शक्तिपातो भवति, भवति च पूर्णता। यथा च कस्मिंश्चित् परिपक्वफले रसः रूपं गन्धश्च प्रत्यक्षरूपेण दृश्यते अनुभूयते तथैव यदा क्रियाशक्तिः इच्छाज्ञानादिकं सर्वं समादाय परिपक्वावस्थां पूर्णत्वं वाधिगच्छति, तदा दिव्यरसस्य, दिव्यरूपस्य, दिव्यगन्धस्य अधिगमनं क्रियते। स्वयमेव तत् सर्वं साधकस्य कृते प्रादुर्भवति। यस्यानुभूतिं विधाय सोऽपि परमानन्दयुक्तो भवति।

तब साधक को रसानुभूति एवं परमानन्दानुभूति प्राप्त होती है। निष्पत्ति अवस्था में निःशेष रूप से उस परमशिव में ही परमाशक्ति का संपात होता है और पूर्णता हो जाती है, जिस भाँति किसी परिपक्व फल में रस, रूप और गन्ध प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ता है उसी भाँति जब क्रियाशक्ति इच्छा-ज्ञान आदि सबको समेट कर परिपक्वावस्था में पूर्णत्व को प्राप्त करती है दिव्यरस दिव्यरूप और दिव्यगन्ध की तब उपलब्धि होती है। साधक को वह स्वयं ही उपलब्ध हो जाता है। जिसकी अनुभूति लेकर साधक स्वयं भी परमानन्दयुक्त हो जाता है।

रसस्य दिव्य रूपस्य गन्धस्य परमस्य च।
क्रियते दिव्य ज्ञानं च दिव्यानुभवमेव च।।
रसो वै स इदं सत्यं सत्यमेवानुभूयते।
स्वयमेव परावस्था निष्पत्तेः सा बुधैः स्मृता।।

दिव्य रूप, दिव्यगन्ध, दिव्यज्ञान एवं अन्यान्य दिव्य अनुभव उस निष्पत्ति दशा में साधक को होते हैं। उस परावस्था में "रस ही वह है" यह बिल्कुल सत्य सत्य अनुभव में आता है। यह निष्पत्ति अवस्था है।

विलीयन्ते प्राणाः परमशिव रूपे यदि तदा।

परा शक्तिर्दिव्या प्रभवति परानन्दभरिता।।

न वै किंचिद् द्वन्द्वं न च विषयहालाहलकृतम् ।

विरूद्धं रूपं वै प्रकटयति तत्रैव विकटम् ।।

विषं सर्वं याति पृथगिति तदा शान्त शमनम् ।।

परम शिव में जब विलीन होकर प्राण शान्त हो जाते हैं तब दिव्य परमा शक्ति परानन्द से पूर्ण हो जाती है। तब किसी प्रकार द्वन्द्व साधक में शेष नहीं रहता है। विषय रूपी विष भी दूर हो जाते हैं। वहीं पर जो भी विरूद्धभाव विकट रूप से प्रकट होते हैं, वे भी सब सर्वथा शान्त हो जाते हैं।

तदा सा शमनी रूपा दशा सद्यः उपजायते।

तब शीघ्र ही शमनी रूपा दशा उत्पन्न होती है।

यत्र शान्तं भवेत् सर्वं विप्लव देह सम्भवम् ।

जहाँ देह में उत्पन्न होने वाले सभी विप्लवं शान्त हो जाते हैं।।

यथा समुद्रे प्रविशन्ति नद्यः तथा च प्राणाः प्रविशन्ति तत्र।

सोद्वेगशान्ताः स्थिरतां प्रयान्ति तथैव सर्वं शमनी करोति।।

जिस प्रकार नदियाँ उद्वेग से समुद्र में प्रविष्ट होकर शान्त हो जाती हैं उसी प्रकार उद्वेग से पूर्ण प्राण परमशिव में प्रविष्ट होकर शान्त हो जाते हैं। शमनी दशा स्वयं ही ऐसा कर देती है।

यथा पयोनिधिं गत्वा शान्तवेगाः सरिद्वराः।

भवन्ति प्राणास्तद्वद् वै शमनीं प्राप्य संस्थिता।।

जिस प्रकार बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र में जाकर शान्त वेग वाली हो जाती हैं, उसी भाँति शमनी में संस्थित प्राण भी शान्त हो जाते हैं।

तदा शमनमायाति देहोद्भूतमुपद्रवम् ।

तब देह में होने वाले सभी विप्लव भी शान्त हो जाते हैं।

पुनश्च यः सकलः विकलः कलाधारः सदाशिव आसीत् स एव परमशिवस्य पूर्णस्य स्वरूपमधिगच्छति।

फिर जो सदाशिव सकल, विकल कला वाले थे वे पूर्ण परमशिव के रूप में परिणत हो जाते हैं।

पूर्णे या परमा शक्तिः परमेण – सदायुता।

सैव पूर्णा महापूर्णा भवति तत्त्वगामिनी।।

एषा सा निष्पत्त्यवस्था।

परम शिव में मिली हुई जो परमा शक्ति है वही पूर्ण व महापूर्ण होकर परमतत्त्व गामिनी बन जाती है। यही वह निष्पत्ति अवस्था है।

गोरखवाणीः–

गगनमण्डल में बैठि के आसन एक लगावे।

परम और परमा मिलें उनमें प्राण समावे।

ऐसा जब करता करे सो निष्पत्ति कहावे।

निष्पत्त्यवस्थायामनुभूयते शमनीसंगमः ।।२०।।

निष्पत्ति की अवस्था में शमनी दशा के संगम का अनुभव होता है।

सा च सर्वोपद्रवशमनावस्था। तत्र यद् हालाहल विषजं तत् शान्तिम् आयाति।

वह शमन अवस्था समस्त उपद्रवों को शान्त करने वाली होती है, वहाँ हलाहल विष से उत्पन्न जितने भी शारीरिक उपद्रव हैं, वे सब शान्त हो जाते हैं।

यस्य वै शमनी सिद्धा रूद्धा व्याप्ता समा सदा।

स वै प्राप्नोति शं रूपं शंकरं परमं परम् ।।

जिसे शमनी दशा सिद्ध होती है और रोधिनी व व्यापिका सदा समभाव में रहती है, वही साधक कल्याणकारी शंकर के परम रूप को प्राप्त कर लेता है।

अत एव शमनीदशायाः प्रादुर्भावेन महानन्दानुभूतिः भवति। या च अनिर्वचनीया इति।

इसीलिये शमनी दशा के प्रादुर्भाव से महानन्द की अनुभूति होती है जिसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

२८–११–६२ सायंकाल ।।५३।।

शमन्यां समत्वाभास्तुलाकोटिवत् ।।२१।।

शमनी अवस्था में तुला कोटि के समान समत्व का आभास होता है।

तस्यां दशायां प्राणानां शमत्वं समत्वं वानुभूयते।

उस दशा में प्राणों का शमन अथवा समभाव अनुभव में आता है।

ऊर्ध्वं गच्छति वै प्राणाः अधोयान्ति शनैः शनैः।

यत्र तद्गमनं नैव शमनी सा दशा भवेत् ।।

प्राण साधक के शरीर में ऊपर की ओर चले जाते हैं और शनैः शनैः नीचे लौट आते हैं, प्राणों में चंचलता का नितान्त अभाव रहता है, इस दशा को शमनी दशा कहते हैं।

तत्रानन्दसमुद्भवति समत्वेनानुभूयते।

परमायाः समीपस्थः परमः समतां व्रजेत् ।।

वहाँ समभाव से आनन्द की अनुभूति रहती है। परमाशक्ति परमशक्तिमान् के समीप में रहकर समभाव से स्थित रहती है।

प्राणाः अधो न ऊर्ध्वं वा गमनागमनं कुर्वन्ति, तदा च श्वासप्रश्वासयोः गति साम्यमुपजायते। तस्मिन् साम्ये सर्वं सममेवाभाति। सानन्दावस्था परमानन्दावस्थेत्युच्यते। यथा च तुलाकोटिधृतपदार्थानां बहुत्वे न च लघुत्वेन च तुलाभागं अधः उपरि गच्छति न च समतामुपयाति तथैव च यावत् प्राणाः समधिकश्वास प्रश्वासमयाः भवन्ति तावत् शमत्वं समत्वं वा नोपभजन्ते। तेषां प्राणानां यदा समभावत्वं जायते तदा शमनी दशा जायते, शमन्यां प्राणानां स्थिरत्वं च भवति। तदैव पूर्णताया प्रतिपत्तिरपि भवति। परमस्य परमायाश्च यत् सामीप्यं समत्वं च तद्वत् तत्रापि ज्ञेयम् ।

प्राणों को गमनागमन न ऊपर को होता है और न नीचे। वहाँ श्वास प्रश्वासों की गति में साम्यता आ जाती है। प्राणों की समता से सभी बातों में समता आ जाती है। वही आनन्द की अवस्था परमानन्दावस्था कही जाती है जिस भाँति तराजू के पलड़ों में रखी दो चीजों के भारी व हल्के होने से पलड़े ऊपर नीचे चलते हैं, उसी भाँति अधिक या कम श्वास प्रश्वासों की गति से उनमें शमता या समता नहीं आ पाती है। उन प्राणों में जब समता आती है तब शमनी दशा आती है उसी में प्राणों की स्थिरता आती है। तभी पूर्णता की प्रतिपत्ति भी होती है। परमा-शक्ति का सामीप्य या समत्व जिस प्रकार है वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये।

तुला कोटि समत्वेन तत् समत्वं मनीषिणः।

जानन्ति प्राणसाम्यत्वं यत्र वै सुस्थिरा क्रिया।।

योगशास्त्रज्ञ विद्वान् प्राणों की तुलाकोटि से तुलना करते हैं, और उसी दशा में क्रिया की सुस्थिरता रहती है।

तत्र सहस्रारे तदुपरिभागे च विन्दुं समाक्रम्य अर्गला भवति। सा अर्गला प्राणसमतां स्थिरत्वेन प्रतिपादयति। अर्गलाध्यानेनैव गतिविच्छेदस्य सन्निरोधों भवति।

वहाँ सहस्रार के ऊपर भाग में विन्दु को आक्रान्त करके अर्गला रहती है। वह अर्गला प्राणों की समता से स्थिरता का प्रतिपादन करती है। अर्गला के ध्यान से ही प्राणों की गतिविच्छेद का सन्निरोध होता है।

अर्गलां रोधिनीत्येके प्रवदन्ति मनीषिणः।

जानन्ति प्राणसाम्यत्वं यत्र वै सुस्थिरा क्रिया।।

मनीषी लोग रोधिनी को ही अर्गला कहते हैं और जहाँ प्राणों की समता होकर क्रिया की सुस्थिरता होती है उसे रोधिनी कहते हैं।

अर्गलोद्घाटनात् चैव नन्निरोधात् तथैव च।

प्राणानां शमनं कृत्वा तत्त्वं पश्यन्ति योगिनः।।

अर्गला के उद्घाटन के द्वारा और प्राणों के वहीं रूक जाने से प्राणों का शमन करके योगी लोग तत्त्व का दर्शन करते हैं।

यो जानाति महामुद्रां अर्गलायाः रहस्यकम् ।

तद् ज्ञात्वा परमा प्रीतिः तुलाकण्टकवत् भवेत् ।।

अर्गला के रहस्य को और तत्सम्बन्धी मुद्रा को जो जानता है उसे जानकर वह साधक तराजू के कांटे की स्थिरता की सी साम्यदशा की आनन्द स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

अनने प्रकारेण शरीरे वा अन्य व्यापारेषु वा स्थिरीकरणं स्वयमेव भवति। तदा च-

तब शरीर में अथवा अन्य व्यापारों में भी स्वयमेव स्थिरीकरण हो जाता है और तब:-

गोरखबाबा की वाणीः- श्वास का ताला श्वास की चाभी।

जो जागे सो खोले।।

भीतर बैठ के सब कुछ देखें।

ना बोले ना डोले।

"ब्रज किवाड़ में लागे ताला" का भी यही अर्थ है।

अत एव "समावृत्तिर्जाता" इत्युच्यते। अर्गलारहस्यं केवलं प्राणायामाधीनमेव भवति। प्राणायामं च सिद्धा भगवती महामाया जागृता कुण्डलिन्येव कारयति। अत एव चोक्तम् :-

इसीलिये "वृत्ति सम हो गई है" ऐसा कहा जाता है। अर्गलाकवच्य केवल प्राणायाम के अधीन है। प्राणायाम सिद्धा भगवती महामाया जागृता कुण्डलिनी स्वयं ही करवाती है। इसीलिये कहा गया है:-

स्वतः क्रिया प्रसारः ।।२२।।

क्रिया का प्रसार स्वतः होता है।

अनेन स्वतः शक्तिसंचरणात्मकेन क्रियाप्रसरणेन सर्वं सहजं सुकरं च भवति। एतत् सर्वं जागृतशक्त्यधीनम् ।

इस भाँति स्वतः शक्तिपात से शक्ति के जागृत होने पर क्रिया का प्रसार होता है और सभी कुछ सहज तथा सुकर हो जाता है। यह सब जागृता शक्ति के अधीन है।

२९-११-६२ प्रातः ।।५४।।

शमनी दशा साप्यनुभव गम्या। तथा च स्वयमेव कुण्डलेश्वराज्ञया समागतेन योगाधिराजेन श्री परमपूज्येन "गोपीचन्द्र" महाराजेन कथितम् ।

वह शमनी दशा भी अनुभवगम्य होती है। अब स्वयं कुण्डलेश्वर श्री गोरक्षनाथ जी की आज्ञा से उपस्थित होकर परमपूज्य योगाधिराज श्री गोपी चन्द्रमहाराज ने कहा:-

श्री गोपीचन्द्र महाराज की बाणी:-

बैठ के दीप जलाले अवधू बैठ के दीप जलाले।
दियाबाती तेल सभी है देख ले दीप जलाले।
आँधी आवे पाणी आवे ज्योति नहीं भरमावे।
बुझे न दीपक जलता जावे ऐसा दीप जला ले।
अवधू ऐसा दीप जलाले।।
एक नार है सार जनावे सोई ताहि जगाले।
अवधू ऐसा दीप जलाले।।
भीतर बैठ के दीप ज्योति में अपनी ज्योति मिलाले।
अवधू ऐसा दीप जलाले।।
ऐसो कौन जो अपने हाथों अपना घर हि जलावे।
अपने घर में अपने हाथों अवधू आग लगावे।
ना मैं ज्ञानी ना मैं ध्यानी ना तपसी ना योगी।
एक तत्त्व पहिचानो, सद्गुरू मिले तो आग लगावे।
ऐसा सद्गुरू राह बतावे घर घर आग लगावे।
अवधू दीप जलावे।।

अनने प्रकारेण तेनाप्युक्तं यत् तत्रैव स्थिरदीपप्रकाशः स्वात्मन्येव पश्येति।

इस प्रकार गोपीचन्द्र जी ने भी कहा कि अपने भीतर ही स्थित स्थिर दीप का प्रकाश देखो।

सर्वं ज्ञानं शारदा दत्त मेतत् ,

लब्धं सद्यः कुण्डलेशानुयातम् ।

भूयात् प्रीत्यै साधकानां हिताय

योगः श्रेष्ठः शक्तिपातानुविद्धः।

यह सम्पूर्ण ज्ञान भगवती शारदा से स्वयं श्री गोरक्षनाथ बाबा की उपस्थिति में मुझे प्राप्त हुआ है। शक्तिपात विद्या से परिपूर्ण यह श्रेष्ठ योग साधकों को कल्याण प्रदान करे और उनकी तुष्टि करे।

२९-११-६२ सायम् ।।५५।।

अथ शमन्यन्तरं वाक्परिज्ञानम् ।।२३।।

अब शमनी के पश्चात् वाक्परिज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

शमनी सस्मिता दशा या भेदद्वयं करोति शमनीं उन्मनीं च। शमनी दशायां समत्वाभासानन्तरं वाक्बोधोऽपिजायते। वाक्चतुष्टयं परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी। या परा सा वहिर्ज्ञान शून्या अन्तर्व्याख्येया। या च पश्यन्ती वाक् सा द्विविधा भवति।

शमनी वह अस्मिता दशा है जो शमनी उन्मनी इन दो भेदों को करती है। शमनी दशा में समत्व के आभास के अनन्तर वाग्बोध भी होता है। वाणी चार प्रकार की होती है- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, जो परा वाणी है वह वहिर्ज्ञान से शून्य होती है और उसका अनुभव भीतर ही भीतर होता है, जो पश्यन्ती वाणी है वह दो प्रकार की होती है।

अन्तर्ज्ञानं वहिर्ज्ञानं उभयं सममेव वा।

ज्ञायते तत्रतां विज्ञाः पश्यन्ती संज्ञकां विदुः।।

अन्तर्ज्ञान और बहिर्ज्ञान दोनों ही जब एक साथ होते हैं, विज्ञ जन उस वाणी को पश्यन्ती नाम से कहते हैं।

वाग्देवी नयने विष्टा नयने वाक् समाहिते।

दर्शनं भाषणं सर्वं तत्र संजायते वृहत् ।।

वाग्देवी जब आँखों में स्थित होती है और आँखें जब वाणी से ऐक्य प्राप्त करती हैं, तभी सब प्रकार का देखना और बोलना हुआ करता है।

अन्तर्वाह्यज्ञानस्य समनस्का स्थितिः पश्यन्ती इति। यां केचित् शमनीति वदन्ति। वस्तुतस्तु शमन्यूर्ध्वगता सा पश्यन्ती भवति। सा च द्विपदी। वाह्याभ्यन्तर ज्ञानयुक्ता।

अन्तर्वहिर्ज्ञान की जो समनस्का स्थिति है उसे पश्यन्ती कहते हैं। कोई उसे शमनी भी कहते हैं। वस्तुतः पश्यन्ती वाणी शमनी से ऊर्ध्वगता होती है और वह द्विपदा होती है।

सर्जनाभिमुखी सा च अन्तराभिमुखी तथा।

अत एव च पश्यन्ती द्विपदी प्रोच्यते बुधैः।।

पश्यन्ती वाणी सर्जनाभिमुखी अर्थात् बाह्यसृष्टि के अभिमुख और अन्तर्मुखी दोनों होती है। आँखों से वह बाहर देखती है और भीतर से देखी सुनी वस्तु को स्वर देती है, इसीलिये उसे पश्यन्ती कहते हैं।

पश्यन्तीं गत्वा तस्या अधिगमं च कृत्वा तद्विविधं ज्ञानं जायते। ध्यानात्मकं ज्ञानात्मकं च। तदेवान्तर्गतं बहिर्गतं च भवति। ज्ञानस्य संयोगः तथैव तत्र विद्यते यथा शाखा मूलावच्छिन्नं ज्ञानम् । कश्चिद् वृक्षारूढः वक्तुं शक्नोति यत् शाखासंयुक्तोऽस्मि, मूलसंयोगी चास्मि। तद्वत् पश्यन्त्यां ज्ञानध्यानात्मकः द्विविधः संयोगः जायते। तत्र सर्वं रहस्यात्मकं यत् किञ्चिदपि परमस्य परमायाश्च परमानन्दावस्थादिकं सुस्पष्टतयानुभूयते।

पश्यन्ती में पहुंच कर उसका अधिगम करके उसका द्विविध ज्ञान होता है। ध्यानात्मक, और ज्ञानात्मक। वही अनतर्गत और वहिर्गत होता है। ज्ञान का संयोग वहाँ उसी भाँति शाखा और मूल से व्याप्त ज्ञान। कोई पेड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति कह सकता है कि मैं शाखा से संयुक्त हूं और वृक्ष की जड़ से भी सम्बन्धित हूं। उसी प्रकार पश्यन्ती में ज्ञान और ध्यान से मिला द्विविध संयोग रहता है। वहाँ सभी रहस्यात्मक परमा शक्ति और परमशक्तिमान का परमानन्दावस्था वाला ज्ञान सुस्पष्टतया से अनुभव में आ जाता है।

पश्यन्ति साधकाः सर्वे पश्यन्तीं प्राप्य तात्विकम् ।

परमानन्दसम्भूतं स्वरूपमद्भुतात्मनः।।

पंश्यन्ती को प्राप्त करके साधक लोक परमानन्द से उद्भूत अपने तात्विक और उद्भूत रूप को देखने लगते हैं।

तदैव समागता श्री माता श्री आनन्दमयी अपि ध्यानसमागता कुण्डलेश्वरानुज्ञया वदति।

उसी समय कुण्डलेश्वर श्री गोरक्षनाथ बाबा की अनुज्ञा से ध्यान में उपस्थित हुई श्री आनन्दमयी माँ ने कहाः-

श्री आनन्दमयी माँ की वाणीः-

सब ठीक है, पहिले सुनना पड़ता है, तब जानना पड़ता है। तब देखना होता है और पाना भी हो ही जाता है। इसलिये सत्संग की बात कही गई है। जब सुनेगा ही नहीं, जानेगा कैसे? और जब जानेगा ही नहीं तब देखेगा क्या। और बिना देखे कैसे पावेगा ? जैसे "रामू यहाँ आ" जब रामू सुनेगा ही नहीं कि मुझे पुकारा जा रहा है और न सुनने पर और न जानने पर वह आयेगा क्यों ? जब आयेगा ही नहीं तो उससे जो काम होना था वह नहीं होगा। अतः सुनो और जानों, वहाँ अलख की सत्ता का ज्ञान होता है अनन्त है, अखण्ड है, अद्वैत है और अभेद्य है। अनादि है, अज है, अरूप है उसी को "लखे" अर्थात् देखा जाता है। इसलिये ऐसे दर्शनात्मक ज्ञान को ही अनिर्वचनीय ज्ञान कहते हैं।

अकथ कथा कछु कहीं न जावे।
ऐसा है वह अलख बतावे।।

३०-११-६२ प्रातः को बैठने का अवकाश नहीं मिल सका।

३०-११-६२ सायम् ।।५६।।

तदा महाशिवदर्शनम् शिवासहितम् ।।२४।।

तब महाशिव के दर्शन होते हैं। महाशिवा शक्ति के सहित।

सस्मितायाः या अवस्था समनस्का अमनस्का व प्रोक्ता तत्र समनस्का शमनी शब्देन व्याख्याता। या च अमनस्का स्थितिः सा उन्मनीति ज्ञायते। तस्यां दशायां उत्कर्षरूपेण केवलं मननमेव भवति। यतः सैव प्रकृष्टा अन्तर्ज्ञानस्य महादशा वर्तते।

सस्मिता की जो अमनस्का और समनस्का दशा कही गई हैं वहाँ समनस्का शमनी शब्द से बता दी गई है। जो अमनस्का स्थिति है उसे उन्मनी कहते हैं। उस दशा में उत्कृष्ट रूप से केवल मनन चलता है क्योंकि वही अन्तर्ज्ञान की महादशा होती है।

अन्तर्ज्ञानदशा प्रोक्ता बाह्यज्ञानविवर्जिता।
तत्र सा वाक् परा दिव्या गुहाबद्धानुभूयते।।

बाह्यज्ञान से विवर्जित जो अन्तर्दशा होती है उसमें दिव्य परा वाणी गुहा के भीतर अनुभव में आती है।

पूर्वं ज्ञानं च ध्यानं च उभयं ज्ञायते पृथक् ।
पश्चात् च ध्यानजं ज्ञानं केवलं परिशिष्यते।।

पहिले ज्ञान और ध्यान दोनों अलग-अलग रूप में अनुभूत होते हैं। फिर केवल ध्यान समद्भूत ज्ञान ही शेष रह जाता है।

अत एवोच्यते वाक् सा परा एक पदीति च।

परा एकपदी प्रोक्ता पश्यन्ती द्विपदा स्मृता।।

इसीलिये परा वाणी को एक पदी कहा गया है और पश्यन्ती की द्विपदा बताया गया है।

मध्यमा अष्टपादैश्च नवमी वैखरी भवेत् ।

वैखरी नवधा व्याप्ता नवखण्ड-विराजिता।।

मध्यमा वाणी अष्टपदी होती है और वैखरी वाणी नवपदा। वैखरी वाणी नौखण्डों में व्याप्त होकर विराजती है।

परावाणी महादेवस्य महाशक्ति समन्विता दिव्यज्ञानं महाशिवसंज्ञकं वोधयति। यच्च समाधिजं ध्यानजमपि कथ्यते। मूलात्मकं ज्ञानं तु वर्तते एव। यतः "छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्" इति शास्त्रोक्तिः।

महादेव की शक्ति से समन्वित परावाणी महाशिव के दिव्य ज्ञान का बोध कराती है। जिस ज्ञान को समाधिज ज्ञान या ध्यानज ज्ञान भी कहते हैं। मूलभूत ज्ञान तो वहाँ भी रहता ही है, क्योंकि "मूल के नष्ट होने पर न पत्ते रहते हैं और न शाखा ही रहती है" ऐसी शास्त्रों की उक्ति है।

परावाक् शमन्युन्मन्योः अन्तराले प्रादुर्भवति। तद्विषये मनीषिणः स्वात्मानुभूतिपरायणाः विज्ञाः वदन्ति यत् परायाः स्थानं मूलाधारे वर्तते। तत् सत्यं, किन्तु अत्र किंचित् विचारणीयं भवति। साधनावस्थायां गुदभागपर्यन्तं अधः उपरि च मूलाधारसंज्ञकं स्थानम् । किन्तु सिद्धावस्थायां सहस्त्रारोपरि स्थितमपि मूलाधाररूपेण स्वीक्रियते। तत्रैव परोदयः। "पा मूलाधारे" इति। अत एव कथितं चः-

"तत्रैव यद् गुहास्थानं तत्र सन्निहिता परा"।

परा वाणी शमनी और उन्मनी के अन्तराल में उत्पन्न होती है। आत्मानुभूति में परायण मनीषी योगशास्त्रज्ञ महात्मा लोग परा वाणी का स्थान मूलाधार में बताते हैं। वह है तो सत्य, किन्तु इस पर कुछ विचारणीय है। साधनावस्था में गुदभाव पर्यन्त और उसके ऊपर मूलाधार संज्ञक स्थान है। किन्तु सिद्धावस्था में सहस्त्रार के ऊपर स्थित भी एक मूलाधार कहा गया है। वहीं पर परा वाणी का उदय होता है। इसलिये शास्त्र में कहा गया है कि सहस्त्रार के भीतर जो गुहास्थान है वहीं परा वाणी छिपी रहती है। परा वाणी का मूलाधार वही स्थान है।

अस्तु, यदा उन्मन्यवस्थायां पराज्ञानं जायते तदा अन्तर्दृष्टि मयं सर्वं महानन्दमनुभूयते। यद्यपि सा दशा अनिर्वचनीया तथापि यदनुभूयते तत् ज्ञाताज्ञेयभावेन दृश्यते, श्रूयते ज्ञायते प्रोच्यते च।

अच्छा जब, उन्मनी अवस्था में परावाणी का ज्ञान होता है तब सब महान् आनन्द अन्तर्दृष्टिमय ही अनुभव में आता है। यद्यपि वह दशा अनिर्वचनीय होती है, फिर भी उसमें जो कुछ अनुभूत होता है वह ज्ञाता और ज्ञेय भाव से देखा, सुना समझा और कहा जा सकता है।

९-११-६२ प्रातः ।।५७।।

ज्ञायते तत्र ज्ञातव्यो महादेवो महेश्वरः।

महेशश्च महाशक्ति मण्डितः सा परा दशा।।

जहां पर महाशक्ति से मण्डित महेश्वर महादेव जो ज्ञातव्य हैं, वे ज्ञात होते हैं उस स्थिति को परा दशा कहते हैं।

त्रिकालज्ञानमस्यामेव दशायां प्रादुर्भवति। यस्याश्च—

त्रिकाल ज्ञान इसी अवस्था में प्रादुर्भूत होता है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखः पत्रपत्रसमन्वितः।

महावृक्षः शरीरं तत् महामूले कृताश्रयः।।

पत्र पत्र से समन्वित शरीर रूपी महावृक्ष जिसकी जड़ ऊपर और शाखायें नीचे हैं, वह अपने मूल (सहस्रार) के आश्रित हैं।

तत्र मूले परा वाणी महाशक्ति विमण्डिता।

महा वोधकरी देवी महानन्दप्रदायिनी।।

उसी मूल (सहस्रार) में महाशक्ति से विमण्डित परा वाणी निवास करती है, जो महाबोध को देने वाली और महानन्ददायिनी है।

आनन्दयति च साधकान् उत्कर्षरूपेण मननं च कारयति स्वयमेव बीजाङ्कुरवत् तस्याः स्थितिः।

वह परा वाणी साधकों को आनन्द प्रदान करती है और उत्कर्षरूप से साधकों को मनन कराती है। बीज और अंकुर की भाँति उसकी स्थिति है।

यथा बीजः धरायां शक्तिं अन्तर्मुखीं करोति, तद्वत् परापि आधारे निहिता बहिमुर्खात् अन्तर्मुखी भवति। यथा च बीजांकुरः प्रस्फुटति तस्याः महानन्दाङ्कुराः प्रस्फुटन्ति।

जैसे बीज की पृथ्वी में शक्ति अन्तर्मुखी होती है, जैसे बीज से अङ्कुर फूटता है, उसी तरह परा वाणी से भी महानन्द रूपी अंकुर फूटते हैं।

१-१२-६२।सायम्।।५८।।

परामधिगत्य सर्वं ज्ञानम् ।।२५।।

परावाणी को प्राप्त करके सब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

परावाणी सुधासदृशा महानन्दमयी भवति। तामधिगत्य साधकाः त्रिकालज्ञाः भवन्ति। यद् भूतं यच्च भाव्यं सर्वं जगत् ज्ञानमयं हस्तामलकवद् भवति। तत्तु महाशक्त्युद्बोधनेनैव।

परा वाणी सुधा की भाँति महानन्दमयी होती है। उसे प्राप्त करके साधक त्रिकालज्ञ बनते हैं। जो कुछ भविष्य में होता है, समस्त जगत् का ज्ञान हस्तामलकवत् हो जाता है और यह सब महाशक्ति के उद्बोधन से ही होता है।

परा = प, र, आ। इत्यस्यार्थः। प पातालात् ऊर्ध्वं र रमन्ती रमणं वा विधाय चक्रेषु नाडीषु संस्थानेषु शक्ति संचरणं कृत्वा आ आकाशे गमनं विधाय महाशक्तिरूपं धारयति। अत एव कथितमस्ति।

"पाताल की गंगा आकाश चढ़ा ले" अथवा

"धमक के फेरि आकाश धावे" इति

परायाः महाशक्तेः परशिवस्य अर्थात् महादेवस्य धारणाख्ये ज्ञानानुभवो जायते। तदा तत्र यदनुभवगतं तन्मेधया भवति।

परा स्वरूप महाशक्ति और परम शिव महादेव दोनों की धारणा में ज्ञानानुभव होता है। तब वहाँ जो अनुभव होता है वह मेधा के द्वारा होता है।

मेधा यस्यां महाशक्तेः धारणं भवति सा मेधा। तस्या एव अभ्युदयो जायते तत्र। मे = म + ई + धा = मेधा। मे महादेवस्य महाशिवस्य या ई चित्शक्तिः महेशी महादेवी वर्तते द्वयोः तयोः धा धारणं स्वस्मिन्नेवानुभूतिः यया क्रियते, यया च भवति स्वयमेव सा मेधा भवति। अत एव निष्कलंकाः मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः मेधां कामयन्ते स्म। कथितं च तैरेव ऋषिभिर्यत् "यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु"।

जिसमें महाशक्ति का धारण होता हे उसे मेधा कहते हैं। उसी मेधाशक्ति का वहां अभ्युदय होता है। म + ई + धा = मेधा। म अर्थात् महेश की जो ई अर्थात् चित् शक्ति है

उसका धा अर्थात् धारण जिस स्थिति में हो वह मेधा है। महेशी और महेश को ही अपने भीतर धारण करते हुए जो अनुभव हो वह स्वयं मेधा है। इसीलिये निष्कलङ्क निर्मल ऋषिगण मेधा शक्ति की कामना किया करते थे। ऋषियों ने कहा भी है कि "जिस मेधा की उपासना देवगण और पितर लोग करते हैं उसी मेधा द्वारा मुझे हे अग्निदेव ! मेधा सम्पन्न करो।"

मेधावित्वेन भावनात्मिका मन्त्रदृष्टिश्च प्राप्यते। यया सर्वं तदात्मकं रहस्यं भासते। अत एव मेधायाः कामना क्रियते। अपरं च।

मेधावी होने से भावनात्मक मन्त्रदृष्टि भी प्राप्त होती है, जिससे मन्त्रगत देवता का तदात्मक सभी रहस्य ज्ञात हो जाता है। इसीलिये मेधा की कामना की जाती है। और भी कहा है–

सम्प्राणतां दिव्यपरामवस्थां मेधाविनो शक्तिभृतो मुनीन्द्राः।

जानन्ति सर्वां च त्रिकालवार्तां ततश्च संयान्ति महामहेशम् ।।

दिव्य और परा अवस्था को पहुंचे हुए मननशक्ति से सम्पन्न मेधावी मुनि लोग तीनों कालों की सभी बातें जान लेते थे और फिर महा महेश के समीप पहुंच जाते थे।

महा महेशीं च समाभिराध्य शान्तोपसर्गाः प्रभवन्ति नित्यम् ।

शून्याधिसंस्थानभिव्यक्त रूपां मेधां महाशक्तिप्रदां भजन्ते।।

महा महेशी की आराधना करके साधक लोग निरन्तर समस्त उपसर्गों को शान्त करते हैं और शून्य संस्थान में अभिव्यक्त महाशक्ति तक पहुंचाने वाली मेधा शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

इत्यनेनरूपेण परानुभूतिं कृत्वा तेऽपि महानन्दयुताः भवन्ति। तत्र नास्त्यानन्दस्य क्षरणम् ।

इस प्रकार परानुभूति करके वे भी महानन्द युक्त हो जाते हैं। वहां आनन्द का कभी क्षय नहीं होता है।

२–१२–६२ प्रातः ।।५९।।

परावाणीं समधिगम्य या समाधेः अवस्था प्रादुर्भवति सा युक्तावस्था विद्यते। तत्र न वा सुखं न वा दुःखं किंचित् । तत्र विषयेः–

परावाणी को प्राप्त करके जो समाधि की अवस्था होती है वहाँ न तो सुख है और न कुछ दुख। उसके विषय में:–

केवलं ज्ञान सम्भूतिः भासते शाश्वती प्रभा।

तत्र न श्यामं न श्वेतं न कृष्णं न च शुक्लकम् ।।

वहाँ केवल शाश्वती ज्ञान सम्भूति की प्रभा भासमान रहती है। वहाँ न श्याम है न श्वेत है न शुक्ल कृष्ण मिश्रण है। अर्थात् सत्त्व, रज तम तीनों से ऊपर की स्थिति है।

न रागो न द्वेषो न दुःखं सुखं च।
एका कला पूर्ण महास्थिता सा।
सानन्दिता व्यक्त महेश शक्तिः।।

वहाँ न राग है, न द्वेष है, न सुख है, और न दुःख है। एक महान् परिपूर्ण कला आनन्द में व्यक्त होने वाली महेश की शक्ति ही केवल रहती है।

किंचित् कालपर्यन्तं सर्वचक्रविनिर्मुक्तं भवति तत् ।

कुछ काल पर्यन्त समस्त प्रपंचक्र से विनिर्मुक्त स्थिति रहती है और तबः–

अखण्डा अनन्ता अभेद्या अक्षेद्या।
अजा निर्गुणा रागद्वेषादि मुक्ता।
महाशक्ति माहेश्वेरी मुक्तिदात्री।
महामुक्ति मुक्ता च सद्यः प्रसूते।।

अखण्ड, अनन्त, अभेद्य, अक्षेद्य, अज, निर्गुण, रागद्वेष से सर्वथा मुक्त स्थिति में माहेश्वरी महाशक्ति शीघ्र ही महामुक्ति रूपी अमूल्य मुक्ताफल को देती है।

अनेन प्रकारेण अननुभूतापि साऽऽनन्दभूता, उद्भूतापि सा अनुद्भूता, अजापिसा अनजा इत्यादि रूपस्याधारेण अनिर्वचनीया अनाख्येया भवति।

इस भांति वह अनुभूत न होते हुए भी आनन्द रूप में अनुभूत ही है। व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त है। अजन्मा होते हुए भी जात इत्यादि रूप से उसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है।

महाशक्ति समायुक्तास्ततो यान्ति परां गतिम् ।।

महाशक्ति से समायुक्त होकर फिर परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।

ये महायोगशक्ति समाराधकाः महाशक्तिसम्पन्नाः भवन्ति त एव तां परां वाचम् अधिगच्छन्ति। यां प्राप्य सर्वदानन्द युक्ताः समदुःखाश्च जायन्ते। न च भीता भवन्ति। चिदधिगमनेन महाचिदोपलब्धिं कृत्वा महेश्वरस्वरुपं ज्ञातुं प्रभवन्ति च।

जो महायोग शक्ति के साधक हैं वे महाशक्ति सम्पन्न हो जाते हैं और वे ही उस परा वाणी को प्राप्त करते हैं जिसे, प्राप्त करके सदा आनन्दयुक्त होकर सुखदुख में सम होते हुए निर्भय हो जाते हैं। चित् शक्ति की प्राप्ति द्वारा महाचित् शक्ति से संयुक्त होकर महेश्वर के

स्वरूप का ज्ञान करने में समर्थ हो जाते हैं।

२-१२-६२ सायंकाल ।।६०।।

परावस्थां गत्वा अन्तर्दृष्टिः स्थिरा भवति। तदा सोऽहं इत्यात्मकस्य ज्ञानस्योदयो भवति। तस्मिन् ज्ञाने अजपा गायत्र्याः ज्ञानं पूर्वमेव जायते। यद्यपि अजपा गायत्रीं जीवाः नित्यमेव जपन्ति किन्तु तत् सर्वमज्ञातरूपमेव, यदा चान्तर्दृष्टिः परानुभूतिर्भवति तदा अजपागायत्र्याः ज्ञानं सुस्पष्टं भासते।

परावस्था को पाने पर अन्तर्दृष्टि स्थिर हो जाती है। तब "मैं वही हूं" इस प्रकार के ज्ञान का उदय होता है। उस ज्ञान में अजपा गायत्री का ज्ञान पहिले ही हो जाता है। यद्यपि अजपा गायत्री को प्राणी लोग नित्य जपा करते हैं। फिर भी वह सब जप अज्ञान रूप में ही होता है। जब अन्तर्दृष्टि और परा की अनुभूति होती है तब अजषा गायत्री का ज्ञान सुस्पष्ट हो जाता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।

यस्याः ज्ञानसमापन्नः नरो याति परां गतिम् ।।

अजपा नामक गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। जिसके ज्ञान से सम्पन्न हुआ साधक परम गति को प्राप्त करत्म है।

सोऽहं तद्बीज मन्त्रं च चैतन्येन समन्वितम् ।

प्रजप्य स्वयमेवेत्थं हंसाकारः सदाभवेत् ।।

उसका बीजमन्त्र "सोऽहं" है जो चैतन्य से समन्वित है, स्वयं ही इसका जप करके साधक "हंसरूप" बन जाता है।

"सोऽह" मित्यस्य भावना तदाकार प्रतीतिः न च स एव तद्वत् तद्रूपः इत्यर्थः। तदा महादेवः तस्य च महाशक्ति ज्ञानात् परमज्ञानम् । च अजपा जाप ज्ञानमेव। "हंसोहंसे ति तद्गतं जायते अत्र निश्चितम् । अस्तु कथितं चः-

"सोऽह" इसकी भावना का तात्पर्य उसके आकार की प्रतीति है। वही नहीं, किन्तु उसी प्रकार का। तब महादेव और उसकी शक्ति के ज्ञान से परम ज्ञान होता है। अजपा ज्ञान से ही "हंस हंस" इसकी प्रतीति अवश्य होती है। अस्तु, कहा भी है।

यदा देवी शक्तिः प्रभवति स्वरूपे बलवती।

तदा सर्वं सोऽहं गुणित गुणज्ञानं भगवती।।

प्रबोध्यान्तर्दृष्टिं स्थिरयति समां साम्यगुणकाम् ।

तदा जातं सर्वं जगदपि महादेवसदृशम् ।।

जब महाशक्ति देवी बलवती और समर्थ होती है तब "सोऽहं" इसके सभी अनन्त गुणों का, ज्ञान का प्रबोध कराती हुई साम्यगुणवाली अन्तर्दृष्टि स्थिर कर देती है और तब समस्त जगत् महादेव मय ही प्रतीत होने लगता है।

पराविषये योगेश्वरेण कुण्डलेश्वरेण स्वयमागत्य कथितं यत्-

परा के विषय में योगेश्वर कुण्डलेश्वर श्री गोरक्षनाथ बाबा ने स्वयं आकर कहा किः-

गोरखवाणीः- परा का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। पर उसके ज्ञान मात्र से कुछ नहीं होता। जब तक वहाँ तक पहुंचने का अभ्यास नहीं होता। कोरे ज्ञान से लाभ नहीं "ज्ञानं भारं क्रियां विना"। जब तक समर्थ गुरू नहीं मिलता, तबतक परा की प्राप्ति होनी कठिन होती है। परा तो शक्ति है जो प्राणों को जीव तत्त्व-शक्ति युक्त कर देती है। आँख कान वाणी वहाँ सब मौन होते हैं। केवल जीवात्मिका शक्ति ही समर्थ रहती है। वहाँ तो दृष्टिपात करते ही जीव तत्त्व की सृष्टि तक हो सकती है। इसीलिये परा को जीवन्ती भी कहते हैं। उसमें जीवन विकासिनी शक्ति आ जाती है। निगुरू और निगुरू का चेला केवल अभ्यास करके वहाँ तक नहीं जा सकता। इसीलिये समर्थ गुरू की आवश्यकता होती है।

समर्थगुरू प्राप्त्यनन्तरं स्वयं बोधः ।।२६।। तत्राधिगमश्च ।। तत्र महाशक्तेः स्फुरणम् ।।२७।। विशिष्टिज्ञानं च ।।२८।। यथा भृंगकीटन्यायात् ।।

समर्थ गुरू की प्राप्ति के अनन्तर स्वयं बोध हो जाता है। वहीं प्राप्ति भी होती है। महाशक्ति का भी स्फुरण तभी होता है। विशिष्ट ज्ञान भी तभी होता है। भृंग कीट की भाँतिः- जैसे-

गोरखवाणीः- भृंगरी के समक्ष जो कोई भी कीट आ जाता है भृंगरी उसके मलिन तत्त्वों को खींचकर उसे अपने रंग में रंग लेती है। कीट को कोई ज्ञान नहीं होता है। भृंगरी को भी तत्त्व परिवर्तन का, स्वरूप में रूपान्तरित करने का ज्ञान नहीं होता। फिर भी निरन्तर अभ्यास-सामर्थ्य द्वारा भृंगरी कीट का रूपान्तर कर देती है। तब फिर समर्थ अभ्यासी ज्ञानवान् गुरू अपने सामर्थ्य द्वारा शिष्ट साधक को अधिकारी बनाकर उसमें अपनी शक्ति का संचार कर उसे भी पर तक पहुंचने का अधिकारी बना देता है। परा के परमोत्कृष्ट ज्ञान के ज्ञाता उस पर पूर्णाधिकार करने वाले बाबा गम्भीरनाथ जी और बाबा विशुद्धानन्द जी थे। उन्होंने परा की शक्ति पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। श्री सत्येन्द्रनाथ और गुरू मत्स्येन्द्रनाथ जी तो परा की पूर्णता के साथ-साथ उसके भी ऊपर थे। यह बड़ी महद्दशा है। पर गुरू कृपा या अनुग्रह के बल पर सरल और सुबोध हो जाती है। इसलिये पूर्व में कहा गया है कि "सा तु अनुग्रहैक लभ्या"। अतः ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान कोरे ज्ञान से कुछ नहीं होता। कोरा ज्ञानी भारवाही गर्दभ के समान है।

अतः गुरोरनुग्रहात् त्वरया गच्छति स्वाभ्यासेन मन्दगतिः महादेवं यावत् ।।

इसलिये गुरू के अनुग्रह से मन्दगति वाला शिष्य भी गुरू के समीपवर्ती रहकर तीव्र गति से महादेव तक पहुंच जाता है।

३-१२-६२ प्रातः ।।६१।।

अथ संगमस्थान लाभः। संगमः संगमनं संगतिः।

अब संगम स्थान की प्राप्ति-सम्बन्धी प्रकरण कहा जाता है। संगम का अर्थ संगमन और संगति है।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा गुप्तरूपिणी।

त्रयाणां संगमो यत्र प्रयागस्तत्र वै भवेत् ।।

इडा, पिंगला और गुप्तरूपिणी सुषुम्णा इन तीनों का जहाँ पर संगम होता है वहीं पर प्रयाग होता है।

तत्र स्थितो महादेवः महादेवी सविग्रहः।

तत्र प्राप्तिं विधायैव ततो याति परां गतिम् ।।

वहाँ प्रयाग में महादेवी सहित साक्षात् महादेव जी निवास करते हैं। प्रयाग जाकर ही तब परा गति को साधक प्राप्त करता है।

पराबोधानन्तरं प्रयागस्नानस्य सुखमनुभूयते। यत्र परागतिसमुपलब्धं सर्वं ज्ञानं विशुद्धरूपेणोपलभ्यते। इयं च बोधावस्थैव। ऐश्वर्यावस्था यदाऽऽगच्छति तदा तु ईश्वरस्य महेश्वरस्य महेश्वर्याश्च दर्शनं ज्ञानं सुलभं जायते। अन्तर्यागं बहिर्यागं च कृत्वा निष्कलमषो भूत्वा पुनः प्रव्रज्य प्रयागं गच्छति।

परा के बोध के अनन्तर प्रयाग स्नान का सुख अनुभूत होता है। वहाँ परा दशा में प्राप्त समस्त ज्ञान विशुद्ध रूप में दीखता है। यह केवल बोधावस्था है। जब ऐश्वर्यावस्था आती है, तब तो महेश्वर और महेश्वरी का दर्शन और ज्ञान सुलभ हो जाता है। अन्तर्याग ओर बहिर्याग करके निर्मल बनकर फिर विरक्त होकर प्रयाग जाया जाता है।

अर्थात् पराज्ञानादुपरि यागं करोति। पूर्णाहुतिं ददाति। यागशब्दस्य अर्थः- देवयजनं, पूजनं, त्यागः दानमिति। तत्र विषय विनिर्मुक्तो हि गच्छति।

अर्थात् परा के ज्ञान के ऊपर की स्थिति में याग करता है। पूर्णाहुति देता है। याग शब्द का अर्थ है - देव यजन, देव पूजन, त्याग और दान। वहाँ विषय विनिर्मुक्त साधक ही जाता है।

प्रक्षाल्य सर्वं विषयात्मकं मलं नदीप्रवाहे सततं समाहितः।

प्रयागतीर्थं च प्रयाति सद्यो योगी च बाह्यं जलमाचकांक्षते।।

नदी के प्रवाह में समाहित चित्त से सभी विषायात्मक मलों को धोकर योगी प्रयाग तीर्थ में चलता है और उसे बाहरी जल की आवश्यकता नहीं रहती है।

सा सुष्मणा गुप्त सरस्वती यदा ददाति मार्गं प्रकरोति शक्तिम् ।

संचारयोग्यां च तदा मनुष्यः प्रयागतीर्थं प्रति याति सत्वरम् ।।

जब गुप्त सरस्वती रूपी सुषुम्णा नाड़ी मार्ग दे देती है, तब शक्ति को संचार योग्य बना देती है और तब साधक शीघ्र प्रयाग को चल पड़ता है।

इडा चन्द्रात्मिका गंगा यमुना पिंगला मता।

सूर्यजा स च एवं तत् सुषुम्णा च सरस्वती।।

इड़ा नाड़ी चन्द्रात्मिका है और गंगा है। पिंगला सूर्यनाड़ी है और सूर्यपुत्री यमुना है। सुषुम्णा गुप्त रहती है। इसलिये वह सरस्वती है।

त्रयाणां सरितां ज्ञानं पवित्रं वारिसंज्ञकम् ।

यो जानाति महोयागी तत्र स्नात्वा प्रसीदति।।

इन तीनों नाड़ियों का ज्ञान ही पवित्र जल कहा जाता है। इस रहस्य को जो जानता है वही महायोगी है और वह वहाँ स्नान करके परितृप्त हो जाता है।

तत्रः- महादेवो देवः परमपरमाशक्ति सहितः,

महाशक्तिर्देवी प्रकटयति तस्याः गुणमपि।

तदा शम्भोर्ध्यानं भवति नियतं स्वात्मसदृशम् ,

पुनः प्राप्नोत्येषः मुदित प्रतिभः शाम्भवमपि।।

अपनी परमा शक्ति से समन्वित महादेव फिर अपनी शक्ति का गुण और महाशक्ति को प्रकट कर देते हैं। तब भगवान् शिव को भी साधक अपने ही सदृश देखने लगता है और प्रसत्र प्रतिभा सहित वह शाम्भव पद को भी प्राप्त कर लेता है।

सोऽहं, शिवोऽहं इत्यात्मकं सर्वबोधात्मकं ज्ञानं प्रयाग एव भवति। तत्र सर्वं सममेव दृश्यते। शम्भुः, सर्वत्र समभावना। समभावत्वेन वा शं कल्याणाय भवति शम्भुः। सर्वत्र समभावना। समत्वभावेन वा शं कल्याणं भवति। तदा भगवती शाम्भवी शक्तिः प्राणिमात्रमहमेव, यथा अहं तथा सर्वे प्राणिनः इति बोधं कारयति। अत एव च शास्त्रोक्तिः सार्थवती भवति। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंचिद् जगत्यां जगत्" इति।

"मैं वही हूँ", "मैं शिव हूँ" इस प्रकार का बोधात्मक ज्ञान प्रयाग में ही होता है। वहाँ सब कुछ समभाव में दीखता है। शम्भु का तात्पर्य होता है, सर्वत्र सम भावना, समत्व भाव से "शं" अर्थात् कल्याण करने के लिये जो तत्पर रहे। सर्वत्र सम भावना का यह भी अर्थ है कि सर्वत्र बराबर जब सम भाव से कल्याण होता है तब भगवती शाम्भवी शक्ति समस्त प्राणिमात्र को आत्मरूप ही देखती है। जैसे मैं हूँ वैसे ही सब प्राणी हैं इस भाँति का बोध कराती है। इसलिये यह शास्त्रोक्ति अर्थवती होती है कि "इस जगत् में सर्वत्र ईश्वर ही व्याप्त है"।

निरीक्षणपरीक्षणदृष्टिः सुस्थिरा भवति। एनामेव शाम्भवी मुद्रामिति योगिनो वदन्ति। अत्र पापानां सत्ता न विद्यते।

प्रयाग में निरीक्षण परीक्षण दृष्टि सुस्थिरा होती है। इसी को शाम्भवी मुद्रा योगी लोग कहते हैं। शाम्भवी मुद्रा की स्थिति में पाप की सत्ता नहीं है।

पापं स्वमार्गं स्वाभाविक मार्गं विहत्य अन्यत्र गमनं पापम्। अन्यत् न किमपि। अस्तु। प्रयागगमनात् पूर्वमेव शक्ति जागरणात् साधकः निष्पापो भवति। प्रयागं गत्वा तु निर्विषयात्मकभावोऽपि जायते। तदा माहेश्वरा स्थितिः।

अपने स्वाभाविक मार्ग को छोड़कर अन्यत्र गमन करने को पाप कहते हैं, किसी दूसरे को नहीं। प्रयाग गमन से पूर्व [illegible] के जागरण से साधक निष्पाप हो जाता है। प्रयाग पहुंचकर तो निर्विषयात्मभाव भी होजाता है तब माहेश्वरी स्थिति प्राप्त होती है। प्रयाग में ही शिवतीर्थ है। यही जीवन्मुक्त अवस्था कही जाती है। कुण्डलिनी जागरण से ही शिवतीर्थ में जाना होता है।

३-१२-६२ सायंकाल ।।६२।।

विरजां विमलाम्बु संयुतां दृष्ट्वा तत्र स्नात्वा तज्जलं पीत्वा विगतविकारो नरः महेश्वरं द्रष्टुं समर्थो भवति।

निर्मल जल से पूर्ण विरजा नदी को देखकर और उसमें स्नान करके तथा उसे पीकर साधक विकारहीन हो जाता है और तब वह महेश्वर का दर्शन करने में समर्थ होता है।

गोरखवाणीः- विरजा महाशक्ति है। उस शक्ति का ज्ञान होने पर या उसको प्राप्त कर लेने पर सभी प्रकार के ज्ञान सुलभ हो जाते हैं। प्रयाग में पहुंचकर विरजा, इडा, पिंगला, सुषुम्णा के निम्नस्तर पर है। वज्र अर्थात् मूलाधार से जागृता कुण्डलिनी के साथ वह भी प्रयाग तक पहुंच जाती है। वहीं उसका स्थिर निवास है। सुषुम्णा के मार्ग पा जाने पर विरजा अपने स्थान पर स्थिर हो जाती है। कहा गया है कि वह-

क्वचिच्च मन्दा त्वरया क्वचित् क्वचित् क्वचिच्च नीलाम्बुधरा विभाति।
क्वचित् सभोगा च प्रयाति सा वै तत्रैव गत्वा च यती प्रसीदति।।

वह विरजा नदी कहीं मन्दगति से, कहीं द्रुत गति से चलती है, कहीं-कहीं काले मेघ की भाँति दीखती है, कहीं लहरों के फन उठाती चलती रहती है। साधक वहाँ पहुंचकर प्रसन्नचित्त हो जाता है।

गोरखवाणीः- "आगे न्हावे नाथ का चेला"। उसमें नाथ का चेला ही सर्वप्रथम स्नान करता है।

"अवधू चल तू अब रे प्रयाग",
जहाँ विराजे विरजा उसमें,
चलकर वहाँ नहा ले,
जो चाहे सो विरजा नहा के
जा प्रयाग में पा ले। अवधू.।

विरजा को योगी लोम तत्त्वनाड़ी भी कहते हैं। इसी विरजा से समस्त लघु नाड़ि-समूह का संचरण होता है, जिनमें ज्ञानादि का आभास विद्यमान रहता है। विरजा रजहीन है। वहाँ स्नान करने से योगीजन भी रजहीन अर्थात् विकार रहित हो जाते हैं। विरजा तक पहुंचने के लिये मार्ग शुद्धि की आवश्यकता होती है। महाशक्ति कुण्डलिनी जागृता होकर सुषुम्णा की गति को तीव्र कर देती है और मल शुद्धि के पश्चात् पुनः वहाँ तक सरलता से पहुंच जाता है। एक मार्ग यह भी है कि जब महाश्वास नादरूप से प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर खींच वहाँ प्रयाग के स्थल पर व्याप्त हो जाता है जब मन्दध्वनि के साथ भी योगी वहाँ तक अपने प्राणों को पहुंचा कर स्नान करते हैं।

विरजा च महानाडी सर्वतत्त्वार्थबोधिनी।
तां प्राप्य स महायोगी तया सार्धं प्रमोदते।।

विरजा महानाडी समस्त तत्त्वों का बोध कराने वाली होती है। उसे प्राप्त करके महायोगी उसके साथ प्रमुदित हो जाता है।

विरजा च महाशक्तिः या च सर्वत्र गामिनी।
तत्वानां स्थितिरूपा सा सदैवोज्वलविग्रहा।।

सर्वत्र गमन शीला विरजा महाशक्ति जिसमें समस्त तत्त्वों की स्थिति है वह सर्वदा उज्वल विग्रह वाली है।

विरजा स्वरूपज्ञानमप्यवश्यं करणीयं विद्यते। तथाः-

विरजा के निर्मल ज्ञान को भी प्राप्त करना आवश्यक होता है। कहा भी है:-

तनुनता समुज्वला विभासिनी सूक्ष्मरूप प्रतिमा प्रहासिनी।

ऊर्ध्वमार्ग परिभोग वासिनी ज्ञानतन्तु विलसत् विकासिनी।।

वह विरजा नाड़ी बहुत पतली है, लचीली है, सदा विभासित होने वाली है। सूक्ष्मरूप में हंसती हुई, चमकती हुई दीखती है। ऊर्ध्वमार्ग की ओर चलती रहती है। ज्ञान तन्तुओं में फैलकर विकसित हो जाती है।

गोरखवाणी:- वह लघु जलवाली है। किन्तु समुज्वल है, विरज है। विभा से सदैव परिपूर्ण रहती है। सूक्ष्म रूप से प्रतिमा को अपने हास के रूप में उद्गीर्ण करती रहती है। ऊर्ध्वप्रयाग-भाग का जो भोग है अर्थात् आवर्त है, उसमें निवास करने वाली है। ज्ञान तन्तुओं का विकास कराकर उसमें विलसन शक्ति को स्थिर रूप देती है। वह ज्ञानकूप परिमण्डिता है। सुषुम्णा को इसी ज्ञानकूप से शक्ति मिलती है। यह ज्ञानकूप गम्भीरावर्त सा है। सरस्वती सुषुम्णा यहीं से ज्ञान प्राप्त करती है, इसलिये इसे भी गम्भीरावर्त नाभि कहते हैं। यह विरजा शक्ति विराट रूपक्ती है। अनन्त ब्रह्माण्डों की शक्तिदायिनी है। चित्शक्ति इसका एक अंश मात्र है। यह विरजा सूक्ष्म है। पश्यन्ती वाक्शक्ति और परा वाक्शक्ति के पश्चात् जब दिव्यान्तर दृष्टि होती है तब उसका बोध होता है। अतएव शास्त्र में कहा गया है कि "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमद्भुतम्"। विरजा के उस अद्भुत विराट् रूप का दर्शन दिव्यचक्षु अर्थात् परावाणी की प्राप्ति के बाद ही होता है। उस विरजा की झलक पाते ही:-

कस्त्वं कोऽहं जनकः कश्च का ते माता भ्राता कश्च।

दारा पुत्रं वित्तं किञ्च सर्वं तत्र तु नैवं नैवम् ।।

इस प्रकार का बोध होने लगता है और अनिर्वचनीय शान्ति का भी आभास होने लगता है।

जागृता विरजा देवी महाज्ञानं प्रयच्छति।

महादेवस्य सामीप्यं तदैव प्राप्यते स्वयम् ।।

विरजा देवी जागृता होकर महाज्ञान प्रदान करती है। तुरन्त उसी समय महादेव का सामीप्य प्राप्त हो जाता है।

विरजा सम्भवं ज्ञानं विमलं कामदं मतम् ।

नानाविभूति-सम्पन्नं नानाश्चर्य-समन्वितम् ।।

विरजा से सम्भूत ज्ञान विमल और सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला है। नानाविध विभूतियों से सम्पन्न है और नाना प्रकार के आश्चर्यों से पूर्ण है।

नानारूपधरं नीलं लोहितं श्वेत संज्ञितम् ।

नानारूपधरं शुभ्रं शीतांशुसदृशं परम् ।।

वह विरजा नाना प्रकार के रूप धारण करती है। कभी नीला कभी लाल कभी श्वेत कभी स्वच्छ चांदनी की ज्योति सदृश।

विरजां दिव्यप्रभायुतां भगवतीं ज्ञानाम्बु संव्यापृताम् ,
चित्राधारवतीं विचित्रवदनां विद्युन्निभां कम्पदाम् ।
नित्यां नव्यनवार्थबोध जनकां तीर्थे शिवे संस्थिताम् ,
वन्दे योगिजनस्य ध्यानसरलां सर्वैक श्रेष्ठां कलाम् ।।

वह भगवती विरजा दिव्य प्रभा वाली है। ज्ञानाम्बु से परिपूर्ण है। चित्र विचित्र आधार वाली है, विचित्र मुख को धारण करने वाली है। विद्युत् की भाँति चमकीली है, शरीर में कम्पन देने वाली हे। वह शिवतीर्थ अर्थात् सहस्त्रदल की कर्णिका में स्थित शिव में लिपटी रहती है। नित्य नवीन–नवीन बोध को देने वाली है। योगिजनों के ध्यान में सरलता से आ जाती है वह सर्वोच्च श्रेष्ठ कला है।

गोरखवाणीः– वह एक स्फटिक मणि के सदृश है। उसमें समस्त नाड़ि तन्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता हे। वह प्रतिबिम्बवती भी। है सर्वत्र भासप्रदा भी है।।

४–१२–६२ प्रातः ।।६३।।

वन्दे तां विरजामभेदजनकामेकामनेकां स्वकाम् ।

अभेद बुद्धि को उत्पन्न करने वाली उस विरजा को मैं नमस्कार करता हूँ जो एक होते हुए भी अनेक है।

विरजा भगवती महानाडीरूपा अथवा महाब्रह्मनाडीरूपा अथवा महाब्रह्मनाडी ब्रह्मज्ञानदायिनी वर्तते। तां ज्ञात्वैव ब्रह्मज्ञानोपलब्धि जायते।

विरजा भगवती महानाड़ीरूपा है। महाब्रह्मनाड़ी रूपा है अथवा ब्रह्मज्ञान देने वाली महाब्रह्म नाड़ी है। उसे जानकर ही ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि होती है।

विरजाधिगमाद् ब्रह्मज्ञानम् ।।१।।

विरजा की प्राप्ति से ब्रह्मज्ञान होता है।

तस्मादेकाधिकरणम् ।।२।।

उसकी प्राप्ति से ही एकाधिपत्य प्राप्त होता है।

स्वरूपाभासः ।।३।।

उसकी प्राप्ति से स्वरूप का आभास भी होता है।

सा च सर्वत्र तत्त्वेषु ।।४।।

वह सर्वत्र तत्त्वों में व्याप्त रहती है।

सा शक्तिः ज्ञानं ददाति। यया शक्त्या सर्वत्र तदेकमेव प्रतीयते महायोगिनस्तत्स्वरूपं इत्थं पश्यन्ति।

वह शक्ति ज्ञान देती है। जिस शक्ति से सर्वत्र सब कुछ एक सा भासता है। महायोगी लोग उसके स्वरूप को इस प्रकार देखते हैं।

उर्णनाभसमतन्तुजालिकाममृताभिधृतकिरण मालिकाम् ।
विहितमार्गशुभमन्तरालिकां कामयन्ति यतिनो विशालिकाम् ।।

मकड़ी के जाल के सदृश वह व्याप्त है। अपने किरणों में अमृत भरे हुए है। अपने आप बनाये हुए भीतर के अपने मार्ग में ही छिपी रहती है, यती योगी लोग उसी विशाल सर्व-व्यापिनी विरजा भगवती की कामना करते हैं।

गोरखवाणीः- यह ऊर्णनाभ मकड़ी की भाँति स्वनिर्मित तन्तुजाल के मध्य में स्थित रहती है। वहीं से प्रति तन्तुजाल में शक्ति किरणों का प्रस्फुटन करती रहती है। यह अपने मार्ग पर स्थिर होकर प्रत्येक तन्तु को अन्तराल से ही शक्ति प्रदान करती रहती है। उसी विरजा को यती लोग चाहते हैं। वह ब्रह्मनाड़ी ब्रह्मज्ञान प्रदायिनी है। चित् शक्ति उसका एक अंश मात्र है। वह पूर्ण कलावती है। कला, विकला, सकला, कलाकला का वह उद्गम स्रोत है। अतः वह पूर्णा है। वह विराट रूपवती है। परन्तु उसकी प्राप्ति दिव्य चक्षुवालों को ही होती है। "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" इसीलिये कहा गया है। पुनः "पश्यामि देवांस्तव देव देहे" का बोध होता है। भीतर ही सब देवों के दर्शन होने लगते हैं। फिर ब्रह्मज्ञान होता है जिसमें समत्व की भावना आती है। ब्रह्मज्ञानी तो वही हो सकता है जो "श्रीमण्डे च न विष्ठायां भेदं पश्यति योनरः" किन्तु यह दृष्टि अत्यन्त दुर्लभ भी होती है। ब्रह्मज्ञान कोई गुड़ का गोला नहीं है जो केवल ज्ञान मात्र से या कथन मात्र से ही प्राप्त हो जाय। वह विकट मार्ग पर चलकर ही मिलता है। या फिर महामाया भगवती कुण्डलिनी की जागृति पर ही सुलभ हो सकता है। केवल जान लेने से कुछ नहीं होता। शक्ति स्वयं उस तत्त्व तक अपने आप पहुंचाती है। सीधे-साधे जाने का यही शक्ति सम्पात से शक्ति जागरण का मार्ग है। ज्ञान का मार्ग भी लम्बा मार्ग है।

मां सरस्वतीः- लम्बे मार्ग से नहीं सीधे मार्ग से चलो।

(पुनः शारदा मां ने कहा और मां श्रीआनन्दमयी जी से कहलाया)

आनन्दमयी माँः- हाँ ठीक है, सुनना भी चाहिये, जानना भी चाहिये, देखना भी चाहिये और पाना भी चाहिये। क्रमशः शनैः शनैः बाबा कुण्डलेश्वर (गोरखबाबा) ने कहाः-

गोरखवाणीः- और जो बिना सुने जाने सीधे वहीं पहुंचा दिया जाय तो सीधा भी पहुंच सकता है। पुनः वहीं पहुंचकर देखा, पाया जायेगा। (इस कथन के बाद स्वयं क्रिया चालू हो गई)। ५-११-६२ प्रातः ।।६४।।

अनन्तां भावनीं भव्यां कामदां तन्तुतत्त्वदाम् ।
स्वाभीष्टां विरजां वन्दे ब्रह्मरूपविबोधिकाम् ।।

अनन्त रूपों में जिसकी भावना की जाती है, जो समस्त कामनाओं को देने वाली है, ज्ञान तन्तुओं के तत्त्वों का दर्शन देने वाली, अपना अभीष्ट देने वाली ब्रह्मरूप का साक्षात्कार करने वाली भगवती विरजा को मैं प्रणाम करता हूँ।

चतुः शरीरा च चतुर्विधस्थिता विराजमाना च विराड्विभूतिभिः ।
चतुर्भुजा शक्ति चतुष्टयावृता वन्दे सदा तां विरजां महेश्वरीम् ।।

जो विरजा भगवती चार शरीरों वाली है, अपनी विराटविभूतियों के सहित चारभेद से स्थित रहती है। चार शक्तियों से घिरी हुई है और चार भुजाओं वाली है उस महेश्वरी विरजा भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

गोरखबाबाः- विरजा सत्, चित्, आनन्द और तत् समष्टि रूप से स्थित है। ये समस्त शक्तियाँ विरजा की ही हैं। विरजा के ज्ञान से शरीर में ही सब तीर्थ सब संगम और सब देवता देखे जाते हैं। फिर किसी तीर्थ में जाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

अयोध्यां मथुरां मायां काशीं काञ्चीमवन्तिकाम् ।
राजद्वारावतीं चैव देहे पश्यति योगवित् ।।

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्ती और द्वारावती इन पुरियों को योगी लोग अपने ही शरीर में देखते हैं।

मूलाधारे अयोध्या च मथुरा मणिपूरके।
मायावती हृदाकाशे कण्ठे काशी च विद्यते।।
आज्ञा चक्रे भवेत् काञ्ची ततश्चोर्ध्वमवन्तिका।
यत्र द्वारावती प्रोक्ता तत्र सा विरजा स्थिता।।

मूलाधार में अयोध्या है, मणिपूर चक्र में मथुरा है, हृदय चक्र (अनाहत चक्र) में मायावती है। कण्ठ में (विशुद्ध चक्र) में काशी है। आज्ञा चक्र में काञ्ची है और उसके ऊपर अवन्ती है। उससे ऊपर जहाँ पर द्वारावती है वहीं पर विरजा का स्थान भी है।

द्वारं कपालमध्यस्थं यस्यास्तद्वारमिष्यते।
द्वारावती ततः प्रोक्ता सर्वमार्ग प्रदर्शिका।।

कपाल के मध्य का द्वार ही, जिसका द्वार (प्रवेश द्वार) है और जहाँ से सभी मार्ग देखे जा सकते हैं, इसीलिये उसे द्वारावती कहा गया है।

अतएव तां विरजां कपालकुण्डलामित्यपि वदन्ति। कपाले कुण्डलाकारा या वर्तते महेश्वरी कपालकुण्डलाख्याता कपाले कृत संगमा।।

इसीलिये उस विरजा को कपालकुण्डला भी कहते हैं। जो महेश्वरी कपाल में कुण्डलाकार रूप में स्थित है और कपाल में ही जिसका संगमन होता है।

गोरखवाणीः– वह कपाल कुण्डला महा उष्मवती और महाशीतवती है। "शीतोष्ण समभागा सा"। कुछ योगी लोग उसे कपालभाती करके भी प्राप्त करना चाहते हैं। पर वह भी कठिन है। कपालभाती भी जब स्वयं जागृता कुण्डलिनी के बल से होगी, तभी वह बलवती होकर कार्यसाधिका बनेगी। यह बड़ा भेदमय रहस्य है। कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में स्थित रहती है। उसी को जगाकर प्राणों को गति को ऊर्ध्वगामी किया जाता है। शक्ति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया सभी को समुचित रूप से संचालित करती है। अतः कोई कहते हैं कि एक कुण्डलिनी मूल में है और एक कपाल में है। दोनों की जागृति भिन्न–भिन्न रूप से होती है और दोनों को एकाकार कर दिया जाता है। इसी को द्वैत में अद्वैत का प्रतिपादन कहते हैं। किन्तु यह ज्ञानियों का भ्रमचक्र है। वस्तुस्थिति यही है कि महाशक्ति जब जागृत हो जाती है तब वह स्वतः सिद्ध योगप्रदा बन जाती है। विरजा का अस्तित्व कपाल में है, परन्तु जब तक उसका पुच्छ नीचे से हिलता नहीं तब तक वह भी प्रच्छन्न ही रहती है। वह अन्तः सलिला है, मरूस्थल की अन्तः सलिला की भाँति। शक्ति जागरण से बालुका–निस्सरणवत् उसका भी प्रच्छन्न रूप प्रकट हो जाता है। यह काम स्वतः भगवती जागृता कुण्डलिनी करती है। वह स्वयं पाताल से आकाश को जाती है और उसके वहाँ जाने से विरजा का स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। पुनः द्वैत का अद्वैत हो जाता है। ये सब ब्रह्मैक्य के सोपान मात्र हैं।

विरजा में स्थिति और संहार की शक्ति रहती है। उत्पत्ति उसके वश में नहीं, क्योंकि वह स्वयं दूसरे की शक्ति को प्राप्त कर उसका संचरण प्रसरण और संवरण मात्र कर सकती है।

अतएव कपालकुण्डला विरजा कुण्डलिनी-शक्ति जागरणेन प्रकटस्वरूपा भवति। तत्र स्वयमेव सर्वमनुभूयते।

इसीलिये कपालकुण्डला विरजा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से प्रकट रूपा होती है। वहां साधक को स्वयं अनुभव होता है।

कपालकुण्डलां वन्दे शीतोष्ण–समविग्रहाम् ।
सर्वाभीष्ट–प्रदां नव्यां नवीनाभीष्टकारिणीम् ।।

शीत–उष्ण समविग्रहवाली भगवती कपालकुण्डला को मैं नमस्कार करता हूँ, जो समस्त अभीष्टों को देने वाली है और नित्य नूतन नूतन अभीष्टों को सिद्ध करती रहती है।

गोरखबाबाः– यह भी एक रहस्य ही है। इसकी भी व्याख्या हो सकती है।

अमलां विमलां ज्ञान-प्रदां तां विरजामहम् ।
वन्देऽहं विपुलां चित्रां वज्रानाडिसुदर्शनाम् ।।

चित्रा और वज्रा नाड़ी के भीतर सुन्दर रूप में दीखने वाली अमल, विमल ज्ञानप्रदा भगवती विरजा को मैं नमस्कार करता हूँ।

गोरखवाणीः- बिरजा की एक विशिष्ट ज्ञानवती सत्ता से चित्रा और वज्रा का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को भी ऐश्वर्यावस्था रूप ज्ञान कहते हैं। ऐश्वर्य की भावना के आजाने से विरजा भगवती कहाती हैं। भग सम्पत्ति का नाम है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग-इतीरणा"।

गोरखवाणीः- ऐश्वर्य सम्पन्नता, धर्मबोध प्राप्ति सम्पन्नता, यशः सम्पन्नता, श्री सम्पन्नता ज्ञान और वैराग्य सम्पन्नता ये विभूतियां ही हैं। इनका उद्‌भास करा कर इनको अनुभूति के योग्य बनाकर साधक योगी का इन पर अधिकार हो जाता है। फिर इन पर अधिकार करके उनमें स्वयं ईश्वरीय भावना आ जाती है। अर्थात् हम सब कुछ कर सकते हैं, यह भाव उदित हो जाता है और वे उसी में लिप्त होकर निजगन्तव्य एवं प्राप्य को भूल जाते हैं। अतः कहा गया है कि-

"सर्वं तन्निष्फलं ज्ञेयं यावद् ज्ञानं न वर्तते।
प्राप्ते ज्ञाने च वैराग्ये तदपि निष्फलं हि तत् ।।

जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक सब कुछ निष्फल है। ज्ञान और वैराग्य के प्राप्त हो जाने पर वह भी निष्फल हो जाता है।

गोरखबाबाः- ऐश्वर्यादि सब कुछ मिलने पर भी यदि ज्ञान नहीं हुआ तो सब व्यर्थ है और ज्ञान होने पर भी यदि वैराग्य न हुआ तो भी सब व्यर्थ है। ऐश्वर्य और वैराग्य के प्रत्याहार से ही ऐश्वर्यादि का समन्वय हो सकता है। ऐश्वर्य और वैराग्य, श्री और वैराग्य, धर्म और वैराग्य, यश और वैराग्य, ज्ञान और वैराग्य। इस प्रकार के प्रत्याहार से ऐश्वर्यप्राप्ति विक्षेपजनिका नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वत्र वैराग्य का भाव रहता है। "यद्यस्ति शोभनं यदि नास्ति वा का चिन्ता।"- इस भाव से युक्त होने पर पुनः स्वलक्ष्य-भ्रष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती है। ऐश्वर्य त्रिविध कहा गया है। स्वकुल, विकुल और कुलाकुल। स्वकुल अर्थात् स्वसमूह में ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री का समावेश होता है। इन्हें ज्ञान और वैराग्य से सन्नियन्त्रित रखा जाता है, ऐसा न होने से इन में शिथिलता आ जाती है, अर्थात् इनकी स्थिति न होने से इनमें विकुलता आ जाती है, अर्थात् इनकी विशिष्टता विशेष सत्ता शक्ति हीन हो जाती है और फिर ज्ञान और वैराग्य ही अकुलाकुल में रह जाते हैं। इनके मूल में चित्रा और वज्रा अपना प्रभाव दिखाती रहती है।

चित्रा च लोहिता ज्ञेया वज्रा श्वेता निगद्यते।

एकैश्वर्यं द्वितीया च वैराग्यं वोधयत्यलम् ।।

लोहिता चित्रा ऐश्वर्य की ओर आकृष्ट करती है। श्वेता वज्रा वज्रवत् वैराग्य भावना को, विरागता को व्यक्त करती है, विषमय और अमृतमय तत्त्व का अभ्युदय यहीं से प्रारम्भ होता है। यहाँ पर–

तस्माद वैपरीत्यदर्शनम् । सा चाविद्या। अविद्या पुरूषार्थप्रतिरोधिका वैपरीत्यापसरणाद् वस्तुस्थितिः।

यहीं से वैपरीत्य दर्शन होता हैं। उसे अविद्या कहते हैं। अविद्या पुरूषार्थ की प्रतिनिरोधिका है। वैपरीत्य के अपसरण होने पर ही यथार्थ ज्ञान होता है।

गोरखवाणीः– कोई योगी ऐश्वर्य को अमृत और वैराग्य को विष समझने लगता है। ईश्वरीय भाव के आ जाने पर पुनः भोगेच्छा बलवती हो जाती है, और कुछ योगीजन तो ऐसी स्थिति में ही अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं। इसलिये पलटा खाना कहते हैं।

कभी न पलटा खाये योगी कभी न पलटा खाये।
विष को अमृत अमृत को विष जो देखे सो भरमावे।
भरमा योगी पलट न जाने सो तो पलटा खावे।

इस पलटे अर्थात् वैपरीत्य भाव को भी विरजा भगवती विशिष्ट सत्ता से शान्त कर देती है। मुमुक्षु भाव को उत्पन्न कर देती है। पर इस कोटि तक अविद्या अवशिष्ट रह जाती है। अनात्म में आत्मदर्शन करना, अचिन्त्य की चिन्ता अप्राप्य की प्राप्ति– कामना, असत्य को सत्य समझना, अगम्य को गम्य समझना यह अविद्या है। शक्ति जागरण के महाप्रकाश से अविद्यान्धकार स्वयं नष्ट हो जाता है। क्योंकि अविद्या जब तक रहेगी, मुमुक्षु भावना तब तक मन्द पड़ी रहेगी। विरजा भगवती पुनः दिव्य स्वरूप को पाकर चित्रा और वज्रा पर आवरण डाल कर अविद्या अपसरण कराती है। तब महेश्वर और महेश्वरी का बोध एवं एकत्वभाव जागृत होता है। यह ऐश्वर्य दशा का रहस्य है।

६–११–६२ प्रातः ।।६६।।

ऐश्वर्यं द्विविधं प्रोक्तं दैवासुरस्वरूपकम् ।।

दैवी ऐश्वर्य और आसुरी ऐश्वर्य इन दो भेदों से ऐश्वर्य दो प्रकार का होता है।

गोरखवाणीः– दैवी ऐश्वर्य और आसुरी ऐश्वर्य ये दोनों ही प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्योतक हैं। इन से युक्त होकर ईश्वरभाव को प्राप्तयोगी की समस्त शक्तियां सोपाधिक हो जाती हैं। धूमाग्निवत् यथाः– काष्ठ प्रज्वलित होते समय धूम से आवृत रहता है। वह धूम उसकी उपाधि है, अर्थात् समल धर्म है, किन्तु जब वह जलकर निर्धूमांगार का रूप धारण कर लेता है

तब वह निरूपाधिक हो जाता है। जब योगी की समस्त शक्तियां दैवी और आसुरी दोनों प्रकार के ऐश्वर्य से विहीन हो जाती हैं, तब उनमें अंगारत्व धर्म आ जाता है, अर्थात् समस्त रूप में वे निर्मल हो जाती है। लकड़ी आगे जल कर अंगार का सृजन करती है और पीछे सरकती हुई धूम का निस्सरण भी करती जाती है। उसी भाँति महाशक्ति स्वतः उपाधि विनाश द्वारा वृत्तियों की शक्तियों को निरूपाधिक बनाकर निर्मल दिव्य बना देती है। तब मोक्षात्मिका भावना प्रबल रूप धारण करने लगती है। बज्रा, चित्रा पर आवरण पड़ जाता है। अर्थात् उनकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। यथा दीप प्रकाश में अन्धकार की सत्ता स्थिर नहीं रहती, उसी भाँति के प्रचण्ड प्रकाश में ज्वलिताभा में सब लघु शक्तियाँ प्रच्छन्न हो जाती हैं। प्रकाश तेल के आधार पर जैसे घटता बढ़ता रहता है वैसे ही शक्ति की मन्द तीव्रता पर अन्य शक्तियाँ भी कार्यशीला होती रहती हैं और निष्क्रिय भी पड़ जाती हैं। पुनः मोह की भावना प्रबल हो जाती है। मोक्ष क्या है ? किसका मोक्ष ? कैसा मोक्ष ? वृत्तियों का मोक्ष या उपाधिक रूपों का मोक्ष, या आवरण का मोक्ष या अविद्या का मोक्ष, या ऐश्वर्य का मोक्ष, या माया का, यह सब भी महारहस्य ही है। त्रिपुरारहस्य के समान ही यह रहस्य भी भेदमय हैं।

६-१२-६२ सायम् ।।६७।।

सौदामिनीसमप्रभामविभक्तरूपाम्,

भेद्योन्नतां-मृदुल-मुग्ध-कान्तिम् ।

ध्यानोज्वलां सकल जीवभरां परां च

आद्यां भजामि महनीय-महत्त्वपूर्णाम् ।।

विद्युत् के समान प्रभाववाली, अविभक्त रूपवाली, जलभरे मेघों की भांति मृदुल और भरपूर मुग्ध कान्ति वाली, ध्यान से और उज्वल होने वाली समस्त प्राणियों से पूर्ण, महनीय महत्त्वपूर्ण उस आद्या भगवती को मैं भजता हूँ।

आद्या शक्तिर्महादेवी माहेश्वरस्वरूपिणी।

चराचरमभिव्याप्य या स्थितैश्वर्यशालिनी।।

महेश्वर स्वरूपिणी आद्या महाशक्ति समस्त चराचर को व्याप्त करके स्थिर रहने वाली महान् ऐश्वर्य से परिपूर्ण है।

ताँ देवीं सकलाधारां ब्रह्मरूपप्रबोधिनीम् ।

द्रष्टुमिच्छामि नित्यां वै स्वात्मन्येव महेश्वरीम् ।।

उस सकलाधार स्वरूपा, ब्रह्मस्वरूप का प्रबोध देने वाली भगवती नित्या महेश्वरी को मैं अपने ही भीतर देखना चाहता हूँ।

गोरखवाणीः- भगवती महामाया कुण्डलिनी जब शक्तिपात संप्रयोग से जागृत होकर ऐश्वर्य की स्वामिनी होकर ऐश्वर्योद्भूति करती है, तब वह ऐश्वर्य उपाधि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु जब ऐश्वर्योपाधि विगत हो जाती है, तब वही महेश्वर और उसकी माहेश्वरी शक्ति ब्रह्म-ब्रह्माणी के रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं। निर्धूमाङ्गारवत् वह महातेजः पुंज अपनी सत्ता का प्रसार करने लगता है।

"स्वात्मन्येवापि पश्यन्ति ब्रह्मरूपे मनस्विनः।"

मनस्वी योगी लोग अपने भीतर ही ब्रह्मरूप का दर्शन करते हैं।

तत्र गत्वा परमानन्दादुपरिस्थमपि महानन्दस्यानुभूतिः भवति।

वहां पहुंच कर परमानन्द से ऊपर स्थित महानन्द की अनुभूति होती है।

एवं चः- भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

इस प्रकार, हृदय की गांठ टूट जाती है और समस्त संशय दूर हो जाते हैं।

महेश्वरस्य परब्रह्मणः रूपं दृष्ट्वा योगिनः मोक्षाय चेष्टन्ते। पुनः योऽपि संशयः मायारूपः आवरणः, स सर्वदैव विनश्यति, तस्मिन् विनष्टे सति निरूपाधिकस्य ब्रह्मणः सामीप्यानुभूतिं कृत्वा मुक्तो भवति मानवः।

महेश्वर परब्रह्म का रूप देखकर योगी लोग मोक्ष की चेष्टा करते हैं। फिर जो भी मायारूप संशय आवरण है, वह सदा के लिये विनष्ट हो जाता है। उसके विनष्ट होने से निरूपाधिक ब्रह्म की सामीप्य अनुभूति करके मानव मुक्त हो जाता है।

तत्र विचारेभ्यो मुक्तिः, संशयात् मुक्तिः, जीवनबन्धनाद् मुक्तिः, कार्यालापान्मुक्तिः। सा मुक्तिदशा साधना कालेऽपि सायुज्येनानुमीयते। अतः समाधि दशा दृष्टभूमिका जायते।

वहां विचारों से मुक्ति, संशय से मुक्ति, जीवनबन्ध से मुक्ति, कार्यालाप से मुक्ति हो जाती है। वह मुक्ति दशा साधना काल में भी साथ साथ अनुभव में आती रहती है। इसलिये समाधि की दशा की भूमिका पहिले ही साधक देख लेता है।

समाधेः दृढत्वेन धारणाध्यानयोः पुष्टिः।।५।।

समाधि की दृढ़ता से धारणा और ध्यान की पुष्टि होती है।

योगस्याष्टाङ्गेषु धारणा, ध्यानं समाधिः, इति। त्रयस्तत्र परिमिता, परमपूर्णाः पूर्णाधिकाराश्च जायन्ते। सैव समाध्यवस्था यां कामयन्ते योगिनः। यां प्राप्य च तस्मिन्नेव स्वात्मानं संयोजयन्ति। तत्रैव च लीनाः भवन्ति। अतएव ब्रह्मलीना अपि च ते उच्यन्ते।

योग के आठों अंगों में धारणा, ध्यान, समाधि आते हैं किन्तु वहां वे जो परिमित हैं वे तब परम पूर्ण हो जाते हैं और साधक का उन पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। वही ध्यानावस्था है जिसकी योगी लोग कामना करते हैं। जिसे प्राप्त करके उसी में अपने आप को लगा देते हैं। वहीं लीन हो जाते हैं। इसीलिये उन्हें ब्रह्मलीन भी कहते हैं।

गोरखवाणीः- किन्तु यह सब ज्ञानियों का विषय है। बाबा कुण्डलेश्वर गोरखनाथ का कथन है कि जो लोग कहते हैं पहिले सुनो, फिर जानो, देखो और पाओ, वह भी ठीक ही है, पर वह भजनानन्दियों का या भगवत्यानन्दियों का मन्थर मार्ग है, लम्बा मार्ग है। शक्तिपात महायोग में शक्ति क्रियावती होकर यथाशीघ्र कार्य साधिका होती है। वहां सब कुछ स्वतः सिद्ध होता है। पहिले पालो फिर देखो, फिर जानो और पश्चात सुनो और सुनाओ।

वस्तु प्राप्ति के पश्चात् ही अन्य बातों में प्रत्यय होता है। अतः पहिले सीधे पाताल से आकाश जाओ, पाताल की गंगा को आकाश चढ़ालो और वहां जाकर ब्रह्म के दर्शन करो, उसे पाओ। फिर देखो दिव्य दृष्टि से और फिर ज्ञान की प्राप्ति भी करं लो दिव्य दृष्टि से। यह मार्ग सीधा है और सुलभ भी है। जानने और सुनने से ही कुछ नहीं होता, प्राप्ति होनी चाहिये। प्राप्ति पर ही सब निर्भर है।

७-१२-६२ प्रातः कालीन व्याख्या विस्मृत रही।

७-१२-६२ सायंकाल ।।६८।।

गोरखवाणीः- गोरख योग जगावे रे बाबा गोरख योग जगावे।
योग जगे सब संशय भागे, सारा मोह नशावे।।
सोई सांपिन जागे अवधू वह तो फण फैलावे।।
जागे सांपिणि, नाथ नथावे।
सार ताहि कि नाथहिं जाणे, नाना नाच नचावे,
गोरख योग जगावे।।
ब्रह्म कहे वैदान्ती ताको मर्म न पावे।
गोरखनाथ निरञ्जन ताही परम पुरूष बतलावे।।
अलख निरञ्जन यही ब्रह्म है गोरखनाथ बतावे।।

अश्विनी मुद्रा से प्राणायाम करो। ब्रह्म ही अलख निरञ्जन पुरूष है, जिसकी प्राप्ति योग द्वारा सहज है। वहां तक जाने के लिये सर्पिणी को नाच नचाना पड़ता है। कुण्डलिनी पर पूर्ण अधिकार, तब सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

८-१२-६२ प्रातः काल ।।६९।।

कुण्डलेश्वर बाबा गोरखनाथ ने कहा कि- क्रिया को भगवती करो। फटाकों से आसन ऊपर उठेगा। चक्रचालन उसे ठीक रखेगा। पूंछ पकड़कर फटकारने से सर्पिणी फुफकार करेगी। उसकी फुफकार को सुनो। फुफकारते फुफकारते कुछ काल के लिये वह निर्जीव सी पड़ जायेगी। पड़ेगी, पड़ने दो, फिर वह जो करावे करते रहो।

८-१२-६२ सायंकाल ।।७०।।

चञ्चद् विद्युत् प्रभासां सरसिज वदनां वल्लकीं वादयन्तीम् ।
ज्ञानानन्दामृतां तां सकल कलकला ज्ञानयुक्तां शरण्याम् ।।
सिद्धैः संसाधकैर्या प्रतिपलममलेमानसे दृष्टरूपा।
देवीं शुभ्रांशुतुल्यप्रकटितविभवां शारदां नौमि तां त्वाम् ।।

चपल विद्युत की प्रभा की भाँति चमकीली, कमल की भाँति मुखवाली, वल्लकी वीणा को बजाती हुयी, ज्ञानानन्द का अमृत धारण करने वाली, समस्त सुन्दर कलाओं के ज्ञान से युक्त, शरण देनेवाली, साधक और सिद्ध लोग जिसका दर्शन प्रतिपल अपने निर्मल हुए मानस में करते हैं, चन्द्रमा की भाँति जिसका विभव प्रकट हो रहा है, ऐसी माँ भगवती शारदे तुम्हें प्रमाण करता हूँ।

यद् ज्ञानं परमं दिव्यं परमानन्ददायकम् ।
तत सर्वं ज्ञातुमिच्छामि वद मे त्वं सरस्वति।।

जो ज्ञान परम दिव्य और परम आनन्दायक है, हे माँ सरस्वती ! मैं उसे जानना चाहता हूँ।

यत् प्राप्य प्रातिभंचक्षुः सर्वं पश्यन्ति योगिनः।
त देव हि मे दातुं समर्था त्वं सरस्वति।।

जिस प्रतिभा चक्षु को पाकर योगी लोग सब कुछ देख लेते हैं, उसे देने की क्षमता, हे माँ सरस्वति ! तुम में ही है।

वाक्सिद्धिं तन्महद् ज्ञानं त्रिकालात्मकमेव हि।
प्राप्तुमिच्छामि हे देवि देहि मे तत् सरस्वति।।

हे भगवती सरस्वति ! जो त्रिकालात्मक महान् वाक्सिद्धि का ज्ञान है, मैं उसे प्राप्त करना चाहता हूँ। हे माँ ! वही मुझे दो।

लब्ध्वा तव कृपां पूर्णां धन्यतां यान्ति मानवाः।
मयि तां च कृपां कृत्वा सर्वं दर्शय शारदे।।

हे शारदे माँ ! तुम्हारी कृपा प्राप्त करके सभी मानव धन्य हो जाते हैं। कृपा करके मुझे सब कुछ दिखा दो।

सर्वं पृष्टं त्वया वत्स ज्ञानं यद् ब्रह्मबोधकम् ।।

प्रीताहं संप्रवक्षामि तच्छृणुत्वं समाहितः।।

हे वत्स ! तुमने सब कुछ पूछ डाला। जो ज्ञान ब्रह्मबोधक है, उसे मैं कहूँगी। तुम समाहित चित्त से उसे सुनो।

महाशक्तिं समाराध्य प्राप्यते ब्रह्मबोधम् ।

ज्ञानं स्वयं कृपा मेऽत्र कारणं सन्निबोधय।।

महाशक्ति की आराधना करके ब्रह्मबोधक ज्ञान स्वयं मेरी ही कृपा से प्राप्त होता है, इसमें कारण इस प्रकार समझो।

योगाभ्यासरता ये च ये सन्ति शक्तिसाधकाः।

तेषां तद्ज्ञानगम्भीरं स्वयमेवोपजायते।।

योगाभ्यास में लगे रहने वाले और सदा शक्ति की साधना करने वाले जो लोग हैं, उन्हें वह गम्भीर ज्ञान स्वतः हो जाता है।

यद् यद् ज्ञानं क्रिया या चर्शिता सापि तत्त्वतः।

शक्तिपातविधौ ज्ञेया शक्तिस्तत्र हि कारणम् ।।

जो जो ज्ञान और क्रियायें रहस्य रूप में बताई जाती हैं, वे सब शक्तिपात महायोग मार्ग में ही प्राप्त होती हैं इसमें साक्षात् शक्ति ही कारण है।

योगेश्वरेण रूद्धापि यत्ते उक्तवती स्वयम् ।

ज्ञानं तद् नो भवेत् येन संशयः मार्गरोधकः।।

योगेश्वर गोरख बाबा के मना करने पर भी जो ज्ञान मैंने तुम्हें कहा है, यदि मैं उसे तुम्हें न कहती तो तुम्हें संशय हो जाता और संशय मार्ग का रोधक हो जाता है।

ज्ञात्वा तच्छुलभं मार्गं जायते नात्र संशयः।

तस्मात् प्रोक्तवती सर्वं ज्ञानं ते हित कारकम् ।।

इस शक्तिपात के सुलभ मार्ग को प्राप्त करके कोई संशय नहीं रहता है। इसलिये तुम्हारे कल्याण कारक उस सम्पूर्ण ज्ञान को मैंने तुम्हें बताया है।

तथापि नाथनाथेशः गोरक्षः शक्तिमान् मतः।

स तन्मार्गं सुसारल्यात् प्रापयिष्यति तत्त्वतः।।

फिर भी नाथ नाथेश्वर यह गोरक्ष योगमार्ग को बताने में शक्तिमान् समर्थ माना गया है। उसी मार्ग में बड़ी सरलता से और सही तरीके से तुम्हें ले चलेगा।

त्वया लब्धो गुरूस्तात समर्थः शक्तिसम्भृतः।

तत्कृपालवमात्रेण सर्वं सिद्धं भविष्यति।।

हे प्यारे वत्स ! तुम्हें शक्ति सम्पन्न समर्थ गुरू प्राप्त हुये हैं। उनकी लेशमात्र कृपा से ही सब कुछ सिद्ध हो जावेगा।

यत् प्रोक्तं प्रातिभंचक्षुः येन सर्वं च ज्ञायते।

प्रतीक्षस्व प्रतीक्षस्व तत् ते शीघ्रं भविष्यति।।

जिसे प्रतिभा चक्षु कहते हैं ओर जिसके द्वारा सब कुछ ज्ञान होता है, कुछ प्रतीक्षा करो, वह भी तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो जायेगा।

स्वयं नाथः अहं चैव जागृता शक्तिरूपिणी।

तत्त्वार्थं बोधयिष्यामः नात्र कार्या विचारणा।।

स्वयं गोरखनाथ और स्वयं मैं तथा जागृता कुण्डलिनी शक्ति ये तीनों ही तत्त्वार्थ का बोध तुम्हें करवा देंगे इसमें कोई विचारणा नहीं करनी चाहिये।

पूर्वजन्म कृताभ्यासः तत्तेऽप्यभ्युदयं गतः।

तस्मान्नातिचिरेणैव तज्ज्ञानं ते भविष्यति।।

तुम्हारा किया हुआ पूर्वजन्म का अभ्यास अब वही सम्प्रति जाग उठा है। इसलिये बहुत शीघ्र ही तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

श्रृणु वत्स परं ज्ञानं साधकानां हिताय वै।

किंचित् तत् ते च वक्ष्यामि येन मार्गः ऋजुर्भवेत् ।

हे वत्स ! जो ज्ञान योग साधकों के कल्याण के लिए है, मैं उसे पहले थोड़ा बताऊँगी जिससे मार्ग अधिक सरल हो जायेगा।

साधकाः साधनालग्नाः भ्रमन्ति च क्वचित् क्वचित् ।

तेषां हि भ्रमनाशाय उच्यते तन्मया शुभम् ।।

साधन में लगे साधकों को कहीं कहीं भ्रम हो जाता है, उनके भ्रमनाश के लिये मैं कुछ अच्छी बात बताती हूँ।

संशयः छिद्ररूपेणः प्रत्यक्षः नित्यशो भवेत् ।

तं विहाय स्वकं चितं दृढं कुर्यात् शनैः शनैः।।

योगमार्ग में विघ्न रूप से नित्यशः कोई न कोई संशय आता रहता है। उसे हटाकर अपने चित्त को दृढ़ बनाओ।

विक्षेपाश्च समायान्ति सततं मार्गरोधकाः।

यान् दृष्ट्वा साधको भीतः स्वमार्गं च जहाति तत् ।।

मार्ग में रूकावट डालने के लिये निरन्तर विक्षेप भी आया करते हैं, जिन्हें देखकर साधक लोग अपने साधन मार्ग को छोड़ दिया करते हैं।

किन्तु देवी महाशक्तिः स्वयं सिद्धा महाबला।

तान् विक्षेपान् पराभूय निःसारयति सत्वरम् ।।

किन्तु महाशक्ति देवी भगवती कुण्डलिनी जो स्वयं सिद्धा होकर बलवती हो जाती है, उन विक्षेपों को हटाती हुयी शीघ्र ही साधक को बचा ले चलती है।

कृतं च साधितं चैव सर्वं येन न नश्यति।

तस्मात्छिद्रस्वरूपाँस्तान् विक्षेपान् नाशयेच्च सा

उन सभी विक्षेपों को, जिन के आने पर सब कुछ किया कराया और सिद्ध किया नष्ट हो जाता है, उन विघ्नों को वह जागृता कुण्डलिनी नष्ट कर देती है।

यथा घटे च सम्पूर्णे छिद्रः कश्चित् प्रजायते।

उदकं निःसरेत् तस्माद् कुतस्तत् पूर्णता भवेत् ।।

जिस प्रकार सम्पूर्ण भरे घड़े में कोई छिद्र आ जाय और नीचे से पानी चूता रहे, वह कैसा भरा रहेगा। कभी वह एकदम खाली हो जायेगा।

छिद्राणां टंकनं सम्यक् जानाति कुण्डलेश्वरः।

यो नाथनाथः सः सर्वं समर्थो रोधनाय वै।।

उन विघ्न स्वरूप छिद्रों का टंकन करना यह कुण्डेश्वर नाथों के नाथ गोरखनाथ पूर्ण रूप से जानते हैं और टंकन करने में सिद्धहस्त हैं।

स एव टंकनं कृत्वा छिद्रान् संरोधयिष्यति।

तस्माच्च साधकैः सर्वैः न भेतव्यं कदाचन।।

वे ही टंकन करके छिद्रों का संशोधन करेंगे। इसलिये सभी साधकों को कभी घबराना नहीं चाहिये।

एषोविधिर्महायोगप्रदः प्रोक्तः मयात्र ते।

महाशक्ति-प्रभावेण सर्वं सिद्धं भविष्यति।

नात्र चिन्ता विधातव्या सा स्वयं तत् करिष्यति।।

महायोग को देनेवाली जो यह विधि बताई है वह महाशक्ति के प्रभाव से सबकुछ सिद्ध हो जायेगी। इस सम्बन्ध में कोई चिन्ता की बात नहीं है। वह जागृता भगवती कुण्डलिनी स्वयं सब कुछ कर देगी।

९-१२-६२ प्रातः ।।७१।।

चन्द्रोज्वलां चन्द्रसमानवर्णां चञ्चद्विभाकुण्डलचारूकर्णाम् ।
नमामि नित्यां च विशुद्धज्ञानां सरस्वतीं पुस्तकव्यग्रहस्ताम् ।।

चन्द्रमा के समान उज्जवल, चन्द्रमा के वर्णवाली चमकती हुयी कान्ति वाले कुण्डलों से शोभित कर्णवाली, विशुद्ध ज्ञानवाली, हाथ में पुस्तक धारण करने वाली विशुद्ध ज्ञानवती भगवती सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ।

साधने विक्षेपाः नियताः ।।६।।

साधन में अवश्य ही विक्षेप आया करते हैं।

तेषां निरोधः स्वयमेव भवति ।।७।।

उनका स्वयमेव निरोध जागृता भगवती कुण्डलिनी शक्ति द्वारा होता रहता है।

तत्तु शक्त्यधीनम् ।।८।।

वह शक्ति के अधीन है।

तत्र संबोधकं ज्ञानं द्विविधम् ।।९।।

वहाँ उस सम्बन्ध में प्राप्तव्य ज्ञान दो प्रकार का है।

समाधिजं, ब्रह्मपरकं च। समाधिजं द्विविधम्, सविकल्पकं निर्विकल्पकं च। ब्रह्मपरकमपि द्विविधम् । तत्परकं तन्निष्ठं च। अन्धकार प्रकाशवत् ।

समाधिज और ब्रह्मपरक। समाधिज भी दो प्रकार का है। सविकल्पक और निर्विकल्पक। ब्रह्मपरक ज्ञान भी दो प्रकार का है। ब्रह्मपरक और ब्रह्मनिष्ठ। अन्धकार और प्रकाश की भाँति।

गोरखबाबाः– अन्धकार में पदार्थ की स्फुरणा नहीं होगी और प्रकाश में पदार्थ स्फुरण रूप से ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार जबतक ज्ञान उद्दीप्त नहीं होता, उसमें स्फुरणा नहीं आती, इन सब की स्थिर धारणा के लिये पहिले शरीर को घटवत् बनाना पड़ता है। चार अवस्थायें जो कही गई हैं (१) घटावस्था (२) आरम्भावस्था (३) परिचयावस्था (४) निष्पत्त्यवस्था।

इसमें पहिले शरीर को घटवत् बनाना पड़ता है। दृढ़ घट में जल स्थायी रूप से रह सकता है। उसी प्रकार दृढ़ शरीर में साधना की शक्ति आ जाती है। तब उसके द्वारा कार्यारम्भ हो जाता है और साधक साध्य का परिचय करने के योग्य हो जाता है।

जिस भाँति समर्थ दीप में तेल स्थिर रहता है, वर्तिका संयोग से तेल ऊर्ध्वसंचारी होकर अग्निसम्पर्क पाकर प्रकाशशील हो जाता है। तद्वत् शरीर भी समर्थ होकर सर्वशक्ति के धारण के योग्य बनकर ब्रह्माग्नि संयोग से साधक को लक्ष्यपूर्ति तक पहुंचा देता है। यद्यपि ये सब विरूद्ध धर्म हैं, फिर भी इनका समवाय विशिष्ट गुणसम्पन्न होकर एक गुणात्मक प्रकाश प्रदान करने योग्य हो जाता है। इसी प्रकार साधक के मार्ग में आने वाले सभी विक्षेप अथवा समवाय स्वतः उसी शक्ति में लीन होकर साधक के लिये कार्यसाधक ही बन जाते हैं। इसीलिये:-

तत्र शक्त्यावेगः तीव्रतम इष्यते ।।१०।।

उस स्थिति में शक्ति का आवेग तीव्रतम होना चाहिये।

अतः शक्ति के आवेग में तीव्रता आनी चाहिये। तीव्र वेग में सभी निरोध धर्म बह जाते हैं। यह कार्य जागृत शक्ति के अधीन होता है। शक्ति जागरण को इसीलिये महत्त्वपूर्ण कहा गया है।

शक्ति जागरणे दत्तावधानता ।।११।।

शक्ति के जागरण में ही विशेष अवधान देना चाहिये। "उत्तिष्ठत, जाग्रत की भावना को इसीलिये शास्त्रकारों ने प्रधानता दी है। साधन पथ का परिष्करण किस प्रकार होता है, इसको स्वयंसिद्धा भगवती प्रदर्शित करती है।"

१०-१२-६२ प्रातःकाल ।।७२।।

विक्षेपा मलसम्भूताः सर्वे ते च मलाश्रयाः।
तेषां प्रक्षालनं कृत्वा सर्वतः निर्मलो भवेत् ।।

विक्षेप मल से उत्पन्न होते हैं और वे सब मल के आश्रित रहते हैं। उनका प्रक्षालन करके सर्वप्रकार से निर्मल हो जाना चाहिये।

गोरख बाबाः- मल से ही विक्षेप होते हैं।

मलयति आच्छादयति आवृणोति, अप्रकटयति, तिरोदधति गुणान् यः सः मलः।

जो मलन क्रिया करे अर्थात् आच्छादन करे, ढक दे, प्रकट न होने दे उसे मल कहते हैं। जो गुणों को आच्छादित कर दे उसे मल कहते हैं।

मलश्चतुर्धा ।।१२।।

मल चार प्रकार का होता है।

मलापसरणं मार्गशोधनाय ।।१३।।

मार्ग शोधन के लिये मलापसरण किया जाता है।

श्रुतं च पृष्टं च तथानुभूतं सर्वत्र सर्वैश्च मलश्चतुर्विधम् ।
शरीरजं तद् हृदिजंच बुद्धिजं तदात्मकं विद्धि स्वमार्ग रोधकम्।।

सभी योगविद्या ज्ञात विद्वानों ने मल चार प्रकार का बताया है एवं सुना भी गया है, देखा भी गया है और अनुभव में भी आया है। अपने योग मार्ग का रोधन करने वाला वह मल, शरीरज, मन से सम्बन्धित, बुद्धि से सम्बन्धित और आत्मज चतुर्विध होता है।

गोरख बाबाः– शरीर सम्भूत मल ऐन्द्रिय व्यापार सम्बन्धी होता है। हृदयज अस्थिर धर्मयुक्त होता है। बुद्धिज भ्रान्तिमान् होता है और आत्मज अपने ही आपको अपरिचित समझना होता है। कहा गया है कि "सर्वे रोगाः मलाश्रयाः" समस्त रोग मल के आश्रय से होते हैं। रोग रूज से युक्त हैं। रूज का अर्थ स्थिति में अस्थिरीकरण होता है। आस्था को अनास्था युक्त करने वाले तत्त्वों को रोग कहते हैं जो वस्तुस्थिति की न्यूनता के द्योतक होते हैं, रोग हैं। अतः मलशुद्धि का होना अनिवार्य है।

योग द्वारा इन मलों का अपसरण किया जाता है, निर्मल तभी होता है। सभी वस्तुएँ समल ही हैं। निर्मल तो एक अलख निरञ्जन ही है। जब मल ही न होगा तो निर्मल किसे किया जायेगा। अतः श्यामश्वेतवत्, अन्धकार प्रकाशवत्, रागद्वेषवत् समल और निर्मल की भी सत्ता मानी गयी है। समल को निर्मल करने का ढंग बताया जाना चाहिये। साधारण रूप में कहा भी है किसी ने कि :–

चलो रे मन गंगा जी के तीर।
गंगा नहाये पाप कटत है,
निर्मल होत शरीर ।। चलो रे. ।।

जब साधारण गंगा–स्नान से शरीर का मल दूर होता है, मन में कुछ शान्ति आती है, तब भी महानदी, महागंगा, महाशक्ति है (भगवती कुण्डलिनी) तो उसमें स्नान करने वाले व्यक्ति के चतुर्विध मल कैसे दूर नहीं होंगे। इसीलिये कुण्डलिनी शक्ति को गंगा भी कहा गया है। उसी की जागृति से, उसमें स्नान करने से सब प्रकार के मल दूर हो जाते हैं, और निर्मलता आ जाती है। निर्मलता प्राप्ति के साथ इस साधन के साथ ऊपर साधन भी कहे जायेंगे।

इन्दीवराभां प्रविभक्तां शक्तां समस्तैकगुण प्रदात्रीम्।
अध्यात्मविद्यात्ममहाप्रकाशां भासां विभासां च भजे सरस्वतीम्।।

माँ सरस्वती को प्रणाम है जो इन्दीवर आभा वाले अंगों को धारण किये समस्त गुणों की प्रदात्री हैं। अध्यात्मविद्या के रहस्य को समझाने में महाप्रकाश देने वाली हैं।

गोरक्षबाबाः- साधक ! शक्तिपात महायोग को सरल बनाने के लिये टंकन विद्या का ज्ञान भी होना चाहिये। इस विद्या में पल्टा और उल्टा का महत्त्व है। यही मैंने-गंगाधर तीर्थ को भी बताया था। यह परम गुप्त और रहस्यमय है। इसके रहस्य को गोपनीय रखा गया है। गुरु परम्परागत यह टंक विद्या विशिष्ट ज्ञानवती है। पल्टा का तात्पर्य गुद भाग को ऊपर खींचकर, नाभि में लाकर फिर ऊपर से श्वास का हथौड़ा चलाना चाहिये। ऊपर के श्वास का दबाव नीचे के श्वास पर देते हुए बार-बार पेट को चलाना चाहिये और बार-बार स्वल्प हुंकार करके खूब दबाव डालना चाहिये। ऐसा करने से टंक हो जाता है। अर्थात् स्थिरता आ जाती है। भीतर से भी साधक को कुछ जोर लगाना चाहिये गति को कुछ तीव्र करके बल देना चाहिये। ऊपर से चोट लगे अर्थात् श्वास चक्रवत् चलने लगे, तब टंक हो जाता है। इस टंक के आधार पर डकार ऊपर उठते हैं, तब केवली कुम्भक की स्थिति आ जाती है। केवल देर तक श्वास रोकने या रुकने को ही केवली कुम्भक नहीं कहते हैं, केवली कुम्भक में निम्नस्थ उदर की कुक्षियाँ भीतर को धंस जाती हैं और उसमें तनाव होता है। नाभि भी कुछ अन्दर को धंसती है। वक्षभाग और पृष्ठ भाग में तनाव आता है। उड्डियान बन्ध लगाकर तब श्वास स्वतः रुक जाती है। उस श्वास के रुकने पर मद्यप की सी दशा होती है। इस केवली कुम्भक में मन का मैल दूर हो जाता है अर्थात् मन की चञ्चल वृत्तियों में स्थिरता आने लगती है।

फिर कुम्भक छोड़कर श्वास को ऊपर खींचकर रोक देते हैं। वहाँ पर उस समय जोर पड़ने पर जिह्वा दन्त पश्चाद् भाग का स्पर्श करके नीचे की ओर सिकुड़ती है और लम्बिका - काक जिह्वा लम्बी होकर उलट कर छिद्र को बन्द करने लगती है। यह छिद्र बन्द करके टंक हो जाता है ऐसा करने या हो जाने से फिर खेचरी की आवश्यकता नहीं होती है। इस क्रिया को उल्टा क्रिया भी कहते हैं। उल्टा पल्टा का ज्ञान टंक विद्या का मूल आधार है। उल्टा पल्टा ज्ञान लेने पर सर्वत्र स्थिरता आने लगते है। यही क्रिया मन के स्थिरीकरण का साधन है।

यद्यपि इसे बड़े महायोगी जानते हैं और अभ्यास करते हैं, पर बताते नहीं है। इसे महागुप्त कहा गया था। पर अब इसके प्रकाश का समय आ गया है। शक्तिपात् के साधकों के हित के लिये उसके मार्ग को सुगम करने के लिये इस टंक विद्या का प्रसार भी होता है।

११-१२-६२ प्रातः काल ।।७४।।

सरहस्या परा विद्या टंकविद्या च या मता।
तां ज्ञात्वा साधकः सद्यः स्वमार्गमधिगच्छति।।

रहस्यपूर्ण जो परा विद्या है और जो टंक है इन दोनों को जान लेने पर साधक आसानी से अपना मार्ग पकड़ लेता है।

गोरख बाबाः- यह टंक विद्या साधकों के ज्ञान के लिए कही जायेगी। मन एक अश्व समान है। इसे खूब दौड़ाओ और कोड़े लगाओ। चलाओ, फिराओ, लोटपोट करवा दो, उलट पुलट होने दो, फिर खुरहरी लगाओ और थपथपी दो, फिर चलाओ, फिराओ, घुमाओ और फिर मजबूत खूँटे पर बाँध दो। अर्थात् मन के घोड़े को कपालभाति तथा भस्त्रा प्राणायाम के द्वारा खूब चलाओ, श्वास के कोड़े से उसे पीटो, खूब श्वास प्रश्वास चलने दो। तीव्र गति से चलने दो। श्वास को भीतर खींचकर पेट के भीतर कुछ देर तक रोक लो और फिराओ, तब पल्टे और फटकारें दो। पुनः दोनों कन्धे हिलाकर पीठ के मध्यभाग को हिलाओ, मिलाओ। फिर ऊपर नीचे, नीचे ऊपर श्वास चलाओ। ऐसा करने से मन थक जायेगा। खुरहरी लगाना इसी को कहते हैं। फिर ऊपर से श्वास नीचे से जाकर नाभि को बार-बार टक्कर दो, इसे थपथपी देना कहते हैं।

ऐसा करने से मन अपनी चञ्चल वृत्ति को त्यागकर स्थिर होने लगता है। इसके वशीभूत होने का यह प्रथमोपाय है। फिर इस पर सवार होकर जहाँ चाहो, जितनी दूर चाहो, जा सकते हो।

११-१२-६२ सांयकाल ।।७५।।

वरकमलनिभां तां पादपद्मोपमांच
वदन कमलतुल्यां नेत्रराजीवशुभ्राम।
विगतकलुषभारां तारतारांशुहाराम्
विदित-सकल-शास्त्रां टंकविद्या निधानाम् ।।

सुन्दर कमल के वर्ण वाली, पद्म के समान चरणों वाली, कमल-से मुखवाली, कमल नेत्र वाली, कलुष से विहीन, नक्षत्रों की भाँति दीप्तिमान् हार धारण करने वाली, शास्त्रों का ज्ञान रखने वाली टंक विद्या का खज़ाना धारण करने वाली -

परम सुलभज्ञानां साधकानां च काम्याम्
कलितकरुणधारां कामनामुद्वहन्तीम् ।।
विमलमति-मनोज्ञां योगिगोरक्षरक्ष्यां
सकलमुनिमनोज्ञां नौमि तां टंकविद्याम।।

परम ज्ञान को सुलभ करने वाली, साधकों द्वारा कामना किये जाने वाली, करुणा की

धारा बहाने वाली, इच्छा रखने वाली, विमल बुद्धि से सुन्दर दीखने वाली, योगी गोरक्षनाथ द्वारा गुप्त रखी गई, समस्त मुनिगणों की अभिलषित उस टंक विद्या देने वाली को मैं प्रणाम करता हूँ।

अथ अश्वसंचालनम्।।टंकवंकविद्याधिगमः ।।

अब अश्व संचालन प्रक्रिया में टंक विद्या अथवा वंक विद्या का प्रकरण आरम्भ होता है।

वन्दे बोधमयीं देवीं सर्व विद्यापयोनिधिम्।

टंक वंक परा विद्यां ख्यातुं शक्तां प्रभावतीम्।।

बोधमयी, सर्वविद्याओं की समुद्र, प्रभावशलिनी और प्रत्यक्ष प्रकट होने वाली टंक एवं वंक विद्या को बताने वाली सरस्वती को नमस्कार है।

श्रृणु वत्स प्रवक्षामि टंकविद्यां सुयोगदाम्।

वंकविद्यापि सा ख्याता गुहायां निहिता हि सा।।

हे वत्स ! सुनो, श्रेष्ठ योग को देनेवाली टंक विद्या को मैं बताता हूँ। इसे वंक विद्या भी कहते हैं। यह विद्या रहस्यमयी गुप्त एवं लुप्त है।

न कस्यचित् समाख्याता गोपनीया हि सा सदा।

त्वत्प्रीत्यास्याः समायोगः प्रकाशः क्रियतेऽधुना।।

अब तक यह विद्या किसी को कही नहीं गई है, यह सदा गोपनीय रही है। तेरे ऊपर मैं प्रसन्न हूँ। अतः इसे मैं तुम्हारे सामने प्रकट करती हूँ।

पूर्वं महेश्वरेणैवं महेशीप्रार्थितेन च।

तस्मै ख्याता च या विद्या सा विद्या टंकसंज्ञिता।।

महेश्वरी पार्वती देवी द्वारा प्रार्थित भगवान महेश्वर ने भगवती पार्वती को सर्वप्रथम इसे कहा था, यही टंक नामक श्रेष्ठ विद्या है।

वंकमित्यति तां केचित् वदन्ति तत्त्वज्ञानिनः।

सा विद्या कुत्रचिद् गूढ़ा अश्वविद्येति प्रोच्यते।।

तत्त्वज्ञानी कोई इसे वंक विद्या भी कहते हैं। कहीं-कही इस गूढ़ विद्या को अश्वविद्या भी कहा जाता है।

तां विद्यां मत्सकाशाच्च गोरक्षो ज्ञातवान् पुरा।

गोरक्षो नाथनाथेशः टंकविद्याविशारदः।।

उसी विद्या को पूर्वकाल में गोरक्ष ने मुझसे प्राप्त किया था। तभी नाथ नाथेश गोरक्ष टंक विद्या में निपुण बने थे।

तेन दत्ता क्वचित् कस्मै शक्तिपातविदे ततः।

गुप्ता लुप्ता च सा विद्या तद्रहस्यं न ज्ञायते।।

तदनन्तर गोरक्ष ने किसी शक्तिपातयोग के ज्ञाता योगी को कभी प्रदान की थी और फिर वह विद्या गुप्त और लुप्त हो गई। उसका अब लोक में रहस्य ज्ञात नहीं रहा है।

ये केचिद् ज्ञानिनोऽप्यस्याः न वदन्ति पराय ते।

जानन्ति शक्तिसम्पन्नास्तस्मात्सा लोपमागता।।

कुछ इस विद्या के ज्ञाता लोग भी हैं, किन्तु इसे वे किसी अन्य को बतलाते नहीं है। शक्तिसम्पन्न योगी इस विद्या को जानते हैं। इस प्रकार यह विद्या कालान्तर में लुप्त हो गई।

यां ज्ञात्वा साधकः सर्वं योगं जानाति तत्त्वतः।

तस्यैव हितबुद्ध्या सा टंकविद्याभिधीयते।।

जिस विद्या को जानकर साधक तत्त्वपूर्वक योग को जान लेते हैं, उन्हीं साधकों की कल्याण कामना से मैं टंक विद्या बता रही हूँ।

अश्वो मनः समाज्ञेयस्तन्मनोऽश्वः सुसाधितः।

परोपकारकं भूत्वा.गन्तव्यं प्रापयेद् ध्रुवम्।।

मन को अश्व, घोड़ा समझना चाहिये। वही अश्वरूपी मन जब सुरक्षित और साधित होता है तो परम उपकारक बनकर गन्तव्य स्थान पर ठीक ले चलता है।

छिद्रं यावच्च व्यायत्तं रुद्धं नैव करोति च।

साधकस्त्वरितं सिद्धिं न प्राप्नोति कदा च न ।।

साधक जब तक फैले हुए छिद्रों को बन्द नहीं करता है तब तक शीघ्र योग सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है।

शक्तिपातसमायुक्तास्तद्धारणपरायणाः।

ज्ञात्वापि नैव जानन्ति टंकविद्यां सुनिश्चिताम्।।

शक्तिपात से सम्पन्न होकर भी और उस शक्तिपात की धारणा करते रहने पर भी साधक लोग जानते हुए भी निश्चयात्मक रूप से टंक विद्या का ज्ञान नहीं रखते हैं।

कुर्वन्ति च क्रियाः सर्वा. नामहीनास्तथापि ते।

पृथक ज्ञानक्रियाकारा न जानन्ति विभागशः।।

बिना नाम जाने ही भले ही वे सभी क्रियायें उन्हें होती हैं और करते भी हैं, फिर भी क्रिया और ज्ञान का वर्गीकरण न करते हुए पृथक् -पृथक् विभाग से वे नहीं जानते हैं।

अतः पृथक्-पृथक् ज्ञानं क्रियां चैव तदानुगाम्।

वदामि टंकविद्यायाम् पश्यन्तु साधकाः स्वयम्।।

अतः क्रियाओं का पृथक्-पृथक् ज्ञान और तदनुगामी टंक विद्या को मैं खोलकर बताती हूँ। सभी साधक उसे ध्यान पूर्वक सुनें।

त्वन्मुखाद् टंकविद्यायाः ज्ञानं प्रचरितं भवेत्।

अतः शास्त्रमिदं दिव्यं त्वयि प्रादुर्भविष्यति।।

इस टंक विद्या का ज्ञान तुम्हारे मुख से ही प्रचार प्राप्त करेगा इसलिये इस दिव्य शास्त्र का प्रादुर्भाव तुम पर अवतीर्ण होगा।

वाण्या गोरक्षदेवस्य शास्त्रेणोपहितेन च।

अतः शास्त्रमिदं दिव्यं त्वयि प्रादुर्भविष्यति।।

गोरक्षनाथ की वाणी और शास्त्र इन दोनों का मेल होकर यह दिव्य शास्त्र तुम पर प्रकट होगा।

सर्वत्र साधकानां च हितमुद्धरणं च तत्।

दिव्यशास्त्रस्वरूपेण स्वयं ख्यातिं गमिष्यति।।

साधकों के सर्वत्र हित के लिये और उनके उद्धार के लिये यह दिव्य शास्त्र स्वयं प्रसिद्धि प्राप्त कर लेगा।

श्री गोरखबाबाः- यह टंक विद्या महाशास्त्र के रूप में प्रख्यात होगी जिसके ज्ञान से साधकों की सिद्धि सुलभ हो जायेगी। इसमें मेरी (सरस्वती) और गोरक्षनाथ की वाणी का मिश्रण होगा। अतः यह दिव्य शास्त्र होगा जिसके ज्ञान से साधकों की सिद्धि सुलभ हो जायेगी। यद्यपि इसे गोरक्षवाणी का रूप भी दिया जा सकता था, किन्तु लोक में शास्त्र की मर्यादा भी रखनी है। अतः इसे वाणी की अपेक्षा शास्त्र कहना उचित होगा। यद्यपि महायोगियों को वे ही प्रक्रियायें और क्रियायें, मुद्रायें ज्ञात हैं, पर वे प्रच्छन्न ही हैं। गुरु परम्परा से लभ्य हैं। शक्तिपातदीक्षितों को विशेषकर इन क्रियाओं का ज्ञान और अभ्यास भी होना चाहिये, क्योंकि बिना क्रिया के ज्ञान भार स्वरूप होता है। यों तो सभी साधकों को यह शास्त्र लाभप्रद होगा।

१२-१२-६२ प्रातः काल ।।७६।।

गोरखबाबा :- अश्व संचालन मुद्रा क्रिया के रुप में बताई जाती है। जब अश्व चलकर थक जाय। लोट पोट हो जाय तब उसके ऊपर हाथ फेर कर थपथपी दो। जोर से

ऊपर की वायु को नीचे ले जाओ और नीचे की वायु को ऊपर उठाओ। यदि अश्व में कुछ चांचल्य होगा तो पता लग जायेगा। अर्थात् समस्त गात्र को, शरीर को हिचकोला लगाओ। फिर श्वास को लेते हुए सिर को ऊपर नीचे करो। उससे रीढ़ की हड्डी और गर्दन में तनाव आयेगा। धीरे-धीरे पेट भीतर को भिचेगा। तब समझो कि अश्व ढीला पड़ कर वशीभूत हो रहा है। फिर उसको वशीभूत करके दूरातिदूर जाया जा सकता है। उसे जिधर चाहे घुमाया जा सकता है।

१२-१२-६२ सायंकाल ।।७७।।

ज्ञानागारां ज्ञानवतींनित्यस्वरुपाम् ।

भास्वररुपां टंकविधां टंकयुतांताम् ।।

दत्त्वा या वै सर्वहितं सद् विदधाति ।

नौमि सदा तां वाग्विभवां सर्वगिरेशीम् ।।

ज्ञान से भरपूर, ज्ञानवती, नित्यस्वरुपिणी, भास्वररुपा, छिद्रों को बन्द कर देने वाली टंक विद्या को देकर जो देवी समस्त साधकों का हित करती है, उस समस्त वाणियों की ईश्वरी भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

या विद्या च पराविद्या टंकनाख्या विशेषतः ।

तां ज्ञात्वा साधको नित्यं मोदते योगवित् सदा ।।

जो परा विद्या कही गई है, विशेष रुप से उसका निर्देश टंक विद्या से ही है। योग ज्ञाता साधक उसे जानकर नित्य प्रमुदित और उत्फुल्ल हो जाता है।

एनामेव पराविद्यां लब्ध्वा नृत्यति मानवः ।

साचैवाश्वोदरी विद्या क्वचिदेव प्रकाशते ।।

इसी परा विद्या को प्राप्त करके साधक हर्ष में नाचने लगता है। इस अश्वोदरी को कभी किसी ने पकट नहीं किया। गुप्त रखा।

यथा छिद्राणि रुद्धानि घटस्थं निर्मलं जलम् ।

तथा विमलमात्मानं तत्र पश्यति आश्विक ।।

इस अश्वविद्या का ज्ञाता साधक अपनी निर्मल आत्मा के दर्शन उसी भाँति कर लेता है जैसे घड़े के सभी छिद्रों के बन्द हो जाने पर उसके भीतर शुद्ध जल दिखाई दे जाता है।

कृत्वा मलोदरीं मुद्रां गुदभागस्य चालनम् ।

अधश्चोपरिभागे तत् अश्ववत् मलत्यागके ।।

गुदभाग को ऊपर और नीचे चालन करते हुए मलोदरी मुद्रा करनी चाहिये। जैसे घोड़ा

मलत्याग के समय अपने गुदभाग को बार-बार भीतर बाहर करता है।

या मुद्रा अश्विनी मुद्रा तदभिन्ना च मलोदरी ।

नीचैर्गत्वोपरि याति त्वेषा गुदसमीरणे ।।

योगशास्त्रों में जिसे अश्विनी मुद्रा कहा गया है, मलोदरी मुद्रा उससे भिन्न है। इस मलोदरी में गुदाभाग बाहर भीतर आता जाता है और अपान वायु भी बाहर भीतर आता जाता है।

अश्वोदरी द्वितीया च मुद्रा पाचनशक्तिका ।

सा क्रियारुप मासाद्य अश्वोदरसमाकृतिः ।।

दूसरी मुद्रा अश्वोदरी है, जो पाचन क्रिया करती है। इस क्रिया में घोड़े की भाँति पेट बाहर को फुलाकर क्रिया करनी पड़ती है। यह क्रिया मन्दाग्नि का पूर्ण नाश करती है।

अश्वो वमति वै यत्र शकृत् पिण्डं पृथक्-पृथक् ।

कारणं तत्र किं ज्ञेयं किं तद् ज्ञातुं च शक्यते ।।

घोड़ा पिण्ड-पिण्ड रुप में अलग-अलग लीद त्याग करता है। (घोड़े को कभी पतली टट्टी नहीं होती) इसमें विशेष कारण यही है कि उसका उदर-गठन इसी प्रकार है कि उसके विशिष्ट भाग में वायु का पूरण हुआ रहता है।

सैषा चाश्वोदरी मुद्रा वातेनोदरपूर्णिका।

यावदाकण्ठकं वायुं पूरयेत् पूरयेत् सुधीः।।

इसीलिये इसे अश्वोदरी मुद्रा कहते हैं कि साधक वायु से पूरा पेट गले तक लबालब भर लेता है और पेट को आगे की ओर उसी भाँति करता है जैसे घोड़े का पेट रहता है।

तदा शनैः शनैः सर्वं वायुवेगं विरेचयेत् ।

उदरं निम्नगं कृत्वा सिद्ध्येदश्वोदरी क्रिया।।

फिर धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल देता है। पेट को थोड़ा नीचे झुका कर अश्वोदरी मुद्रा सिद्ध होती है।

उपस्थाद् गुदपर्यन्तं या गता दीर्घनाडिका।

पुरः पश्चात समाकृष्य कर्षमुद्रा तदोच्यते।।

लिंग और गुदा तक जो लम्बी मोटी नस गई है, उसे सामने से पीछे की ओर खींचा जाता है उसे कर्ष मुद्रा कहा जाता है।

या मुद्रा कर्षिका प्रोक्ता सा च कर्षवती प्रिया।

यदि वा क्षरते वीर्यं तन्निरोधं करोति सा।।

कर्षिका मुद्रा को कर्षवती मुद्रा भी कहा जाता है। यह मुद्रा साधकों को बहुत प्रिय है।

क्रियाओं में वीर्य-क्षरण होता हो तो यह मुद्रा उसे रोकती है।

स्वप्नदोषादि जालानां सैवमुद्रा प्रणाशिका।

गुदोपस्थं समाकृष्य कुर्यान्नसिकया स्फुरन् ।।

यही मुद्रा समस्त स्वप्नदोष आदि विकारों को नष्ट कर देती है, गुदा और लिंग को ऊपर की ओर नाक के पपोटे खींचते हुए भीतर श्वास खींची जाती है।

बारं-बारं विधायैवं कर्षमुद्रा प्रजायते।

इस फड़ फड़ाती नाक से श्वास खींचकर यह मुद्रा लगातार करनी पड़ती है।

अश्वह्रेषी श्रुता सर्वैः कुर्यात् तद्वन्महारवम् ।

कण्ठकम्पं शिरः कम्पं कृत्वा श्वासं त्यजेद् भृशम् ।।

घोड़े का हिनहिनाना सभी ने सुना होगा। उसी प्रकार होंठ फड़ फड़ाते हुए सिर का कंपन करते हुए, गला कंपाते हुए, श्वास बाहर छोड़ते हुए जोर की कम्पपूर्ण ध्वनि करना चाहिये।।

एषा मुद्रा महामुद्रा पुष्णाति परमां श्रियम् ।

स्वरसंस्थापनं कृत्वा ज्ञातव्या सा क्रिया सदा।।

यह हषा मुद्रा साधक की कान्ति बढ़ा देती है और चंचल मन को स्थिर कर देती है। स्वर का ठीक संस्थापन करके यह मुद्रा करनी चाहिये। इसका ज्ञान किसी अभ्यासी से सीखना चाहिये।

अश्वो यथा महावेगात् दूराद् दूरं च ह्रेषते।

तथैव ह्रेषणं कृत्वा ह्रेषा मुद्रां प्रसाधयेत् ।।

बड़े बेगपूर्वक घोड़ा जिस भाँति हिनहिनाता है और आवाज दूर तक सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार हिनहिनाते हुए श्वास बाहर छोड़ते समय सिर हिलाते हुए और होंठ फड़फड़ाते हुए यह क्रिया करनी चाहिये। इस क्रिया की सिद्धि करनी चाहिये।

१३-१२-६२ प्रातः काल ।।७८।।

तडित्प्रभा-भास्वर-कान्त कान्ति-विराजमानां च विशिष्ट बोधे।

रोधैश्च शोधैश्च महाविनोदैः सुसाधकैः सार्धमनन्त वेगैः।।

विभ्राजमानां हृदि सन्निविष्टां भावैक-भाव्यां मनसा च शक्यां।

तां भावये निर्मलकां वरेण्यां या मे सदा देवि ददाति ज्ञानम् ।।

मैं सदा उस वरेण्य निर्मल और केवल भाव से ही भवनीय तथा मन से ही भाव में ला सकने योग्य माँ सरस्वती का मन से ध्यान करता हूँ, जो माँ साधकों की अनन्त वेगवती क्रियाओं के द्वारा, नाना पकार के अवरोधों को दिखाती हुई, शरीर, मन, बुद्धि, चित्त आदि का रोधन करती हुई, बड़े विनोद पूर्वक सदा साधकों के हृदय में बैठकर विराजमान हो जाती है। जब साधक को विशिष्ट बोध देना होता है तो विद्युत् की भाँति चमकीली जिसकी कान्ति हो जाती है।

मुद्राज्ञानं क्रियाज्ञानं ज्ञानमित्युभयात्मकम् ।
ज्ञातव्यं साधकैस्तस्मात् सद्यः कार्यफलं भवेत् ।।

योगसाधना का शीघ्र फल प्राप्त करने के लिये मुद्राओं एवं क्रियाओं का एक साथ ज्ञान प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है।

एता मुद्राः क्रियाः सर्वाः सुलभाः स्वल्पकालिकाः।
द्वाभ्यां चतुष्टयेनैव भवन्त्यभ्यासमागताः।।

ये सब बताई गई मुद्रायें और कियायें बड़ी सरल और अल्पकाल में सिद्ध होने वाली हैं। दो या चार दिन के भीतर ही इन में सिद्धहस्तता प्राप्त हो जाती है।

अश्ववारो यथा चाश्वं समारुढो विराजते।
मुद्राक्रियाधिकारस्य तद्वद्विभ्राजते स्वयम् ।।

जिस प्रकार घोड़े पर सवार घुड़सवार निर्भय होकर रहता है और अधिकार-प्राप्त घोड़े को लेकर जहाँ चाहे आ जा सकता है। उसी भाँति मुद्राओं और क्रियाओं में अधिकार करके साधक सुशोभित होकर रहता है।

कदाचिदग्रतः कृत्वा पश्चात् कृत्वा कदापि च।
कदाचिदुदरं बद्ध्वा घोटकं वशमानयेत् ।।

पेट को कभी बाहर करते हुए, कभी पीछे भीतर की ओर करते हुए, कभी इधर उधर घुमाते हुए श्वास रुपी घोड़े को साधक अपने वश में कर ले।

तस्मान्नैव तदा तस्य सदश्वात् पतनाद्भयम् ।
एवं मुद्रां क्रियां कृत्वा यत् सिद्धेत् सिद्धमेव तत् ।।

सधे हुए घोड़े पर सवार साधक को फिर गिरने का भय नही रहता है। क्रियाओं और मुद्राओं द्वारा सिद्ध करना होता है, साधक उसे सिद्ध कर लेता है।

एका परा महामुद्रा या मुद्रा फलदा शुभा।
तां ज्ञात्वा सरलत्वेन साधको योगमाप्नुयात् ।।

एक मुद्रा बड़ी श्रेष्ठ है, जो बहुत लाभप्रद है। वह बड़ी सरल है, उस महामुद्रा को जानकर साधक योगसाधना की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

सा मुद्रा लम्बिनी मुद्रा मनोवेगावरोधिका।
सद्यः फलप्रदा सैव एकैव परमाद्भुता।।

उस मुद्रा को लम्बिनी मुद्रा कहा जाता है, यह मुद्रा मन के चंचल वेग को तत्काल रोक देती है। यह शीघ्र फल देने वाली है। यह मुद्रा एक अकेली ही परम अद्भुत है।

वामहस्तं ततो कृत्वा दक्षिणस्य करोपरि।
अंगुष्ठेन च अंगुष्ठं मेलयेत् साधकः स्वयम् ।।

दांये हाथ की हथेली के ऊपर बांये हाथ को सीधा रखकर, दोनों हाथों के अंगूठों को परस्पर मिला देना चाहिये।

पुनर्मुष्टिं समाबद्ध्य मध्ये रिक्तस्थले स्थितम् ।
कृत्वा नितम्बभागं वै किञ्चिदूर्ध्वं शनैः शनैः।।

फिर मुट्ठी बाँधकर बीच का खुला भाग छोड़ दें, नितम्ब के हिस्से को धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा ऊपर की ओर खींचता चला जाना चाहिये।

दीर्घनाड़ीमुपस्थानीं मुष्टिकोपरि स्थापयेत् ।
पूर्णभारं समारोप्य तत्रैव निश्चलो भवेत् ।।

उपस्थानी नाड़ी (गुदा व लिंग के बीच की लम्बी नाड़ी) मुट्ठी के ऊपर स्थापित कर दें, उसी में शरीर का पूरा भार रख लें और उसी पर निश्चल होकर बैठ जायें।

साधिता लम्बिनी मुद्रा मनोवेगावरोधिनी।
मनश्चञ्चल्यमाहन्ति तदेनां धारयेद्बुधः।।

लम्बिनी मुद्रा की सिद्धि हो जाने पर सभी मनोवेग अवरुद्ध हो जाते हैं। मन की हर प्रकार की चंचलता इस मुद्रा से नष्ट हो जाती है। इसलिये साधक को इस मुद्रा का अवलम्बन करना चाहिये।(२ नं० मुद्रा)

१३-१२-६२ सायंकाल ।।७९।।

मुद्रां विद्यां परोत्कर्षां परां परपदप्रदाम् ।
वदामि यां च वै ज्ञात्वा श्रेयः प्राप्स्यसि वै ध्रुवम् ।।

परम उत्कर्ष देने वाली, ऊँचे पद तक पहुंचाने वाली श्रेष्ठ मुद्रा की विद्या तुम्हें बताती हूँ जिसे जानकर तुम अवश्य ही श्रेय प्राप्त कर लोगे।

एका मुद्रा महामुद्रा सापि गुप्ता न भासिता।

तां मुद्रां भासये तेऽद्य श्रृणु वत्स समाहितः।।

एक मुद्रा बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो गुप्त है और कभी किसी को प्रकट नहीं की गई है। हे वत्स ! उस मुद्रा को मैं तुम्हें बनाती हूँ, तुम सावधानी से उसे सुनो।

मुद्रा श्रेष्ठा च सा मुद्रा झंपिनी झंपनात्मिका।

तस्याश्च ज्ञानमात्रेण क्रियामात्रेण वै ध्रुवम् ।।

वह श्रेष्ठ मुद्रा झम्पिनी मुद्रा है, जिसमें ऊपर उछलना होता है। उसके ज्ञान मात्र और क्रिया मात्र से ही अवश्यः-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति वै प्राणाः मनश्च स्थिरतां व्रजेत् ।

झंपिनी च महामुद्रा या प्रोक्ता तत्त्वतो मया।।

प्राण ऊपर की ओर चढ़ने लगते हैं और मन में स्थिरता आ जाती है। तत्त्वपूर्वक "यथा नाम तथा गुणः" के अनुसार उस महामुद्रा का नाम झम्पनी रखा गया है।

सा मुद्रा झंपमात्रेण स्थिरतां स्थापयेन्मनः।

मनसः स्थिरतां याते क्रिया वेगवती भवेत् ।।

झम्प मुद्रा के झटकों से ही मन स्थिर हो जाता है। मन की स्थिरता होते ही क्रिया वेग बढ़ने लगता है।

यावद् यथा च तद्ज्ञानी स्ववशे च विशेषतः।

अपरा स्कन्धिनी मुद्रा सा च प्राणार्थधारिणी।।

दूसरी स्कन्दिनी मुद्रा है जिस पर अधिकार करने पर जब तक वह लगी रहेगी तब वह प्राणों और मन को रोकी रहेगी।

प्राणानां धारणं कृत्वा संघर्ष याति सा ततः।

स्कन्धयोरुपरिभागे कृत्वा गोलकमन्ततः।।

ग्रीवासंघर्षणं कृत्वा सा क्रिया सिद्धिदा भवेत् ।।

प्राणों को रोक कर दोंनों कन्धों के ऊपरी भाग में अर्धगोलाकार बनाकर गर्दन को घिसना चाहिये। गर्दन को रगड़ते-रगड़ते उस मुद्रा पर अधिकार प्राप्त हो जाता है।

सा च दिव्या परा दिव्या स्कन्धिनी स्कन्धरोधिका।

तस्मात् समाहितत्वेन विधेया हि क्रिया हि सा।।

यह स्कन्दिनी मुद्रा बड़ी दिव्य है और कन्धों को स्थिर कर देने वाली है। अतः यह

क्रिया बड़ी सावधानी से करनी चाहिये। गर्दन की रगड़ तब तक की जाय जब तक गर्दन थक न जाय। फिर गर्दन स्थिर करके नितम्ब भाग को रगड़ना चाहिये।(४ नं० मुद्रा)

सरला या चवै मुद्रा कर्पूरी कर्पूरात्मिका।

सापि श्रेष्ठा महामुद्रा सद्यः फलवती भवेत् ।।

हाथ की कोहनी से सम्बन्धित एक सरल कर्पूरी मुद्रा है। वह भी बड़ी श्रेष्ठ महामुद्रा है, जो तुरन्त लाभ देने वाली है।

कर्पूरीमुद्रया सर्वं चाञ्चल्यं च विनश्यति।
क्रोडे कृत्वा च तौ हस्तौ शिरो भूमौ निधापयेत् ।

कर्पूरी मुद्रा से मन की सभी चञ्चलता नष्ट हो जाती है। हाथों को बगल में लाकर कोहनी पृथ्वी पर टेक दो।

पुनर्नाभिगतं श्वासं ब्रह्मरन्ध्रे प्रवेशयेत् ।
कर्पूरभागमादाय भूमौ कृत्वा ततः स्थितिम् ।।
ग्रीवां हस्तौ समारोप्य सम्बद्धौ च ततः उभौ।
संबद्धौ च ततो हस्तौ ग्रीवांभारोद्वहां बलाम् ।।
निम्नभागं समादाय समत्वं च भवेत्ततः।
तदा वै परमा शान्तिश्चाञ्चल्येन विवर्जिता।।
समायाति स्वयं काले तस्मिन् यत्र च कर्पुरी।।

फिर नाभि में अटके श्वास को ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करा दो, भूमि में कोहनी टेक कर गर्दन में दोनों हाथ मिलाकर बाँध लो। हाथों से ग्रीवा को खींच लो। इस मुद्रा से परम शान्ति प्राप्त होती है और मन की चञ्चलता दूर हो जाती है। इस मुद्रा के अभ्यास से स्वयं ही यथा समय प्राणों का प्रवेश ब्रह्मरन्ध्र में हो जाता है। मन भी बिलकुल स्थिर हो जाता है। (५ नं० मुद्रा)

१४-१२-६२ प्रातः ।।८०।।

धावनं पावनं कृत्वायाचाश्वमाश्विनी परा।
सा दिव्या मार्गबोधार्थं एवमेवं प्रकाश्यते।।

श्वास रुपी घोड़े को दोड़ाते हुए और उसे शुद्ध बनाते हुए यह अश्वविद्या साधकों के मार्ग का इसी प्राकर मार्ग प्रदर्शन करती है। इसलिये इसका ज्ञान साधक को बताना चाहिये।

या विद्या साधकानां च स्वयमेव समागता।
नाथनाथेश्वरस्यैव कृपा तत्र च ज्ञायताम् ।।

साधकों के हित के लिए जिस अश्व विद्या का स्वयं अवतार हुआ है, इस में यही समझना चाहिये कि नाथ नाथेश्वर महाराज गोरक्षदेव की साधकों पर महती कृपा है।

तां विद्यां च समालम्ब्य साधको निश्चलो भवेत् ।
सारल्येन प्रमाणेन तस्मात्सा च प्रकाश्यते।।

उस विद्या को प्राप्त करके साधक निश्चल हो जाता है। इसलिये सरल तरीके से उस विद्या को प्रकाश में लाया जा रहा है।

नानासाधन-सम्पन्नाः नानाज्ञानसमन्विताः।
गच्छन्ति च तया तत्र यत्र यत्र च संस्थितिः।।

जिस विद्या के अवलम्बन से साधक लोग नाना प्रकार से साधन सम्पन्न बन जाते हैं और उस का अवलम्ब करके जो पर तत्त्व है वहाँ स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।

किन्तु तेषामुपप्राप्ति-साधनं यदि विद्यते ।
पूर्वं तु नैव संयान्ति यातुं न प्रभवन्त्यपि।।

किन्तु यदि साधक के पास इस विद्या का साधन न हो तो वह ज्ञान और साधन प्राप्त नहीं हो पाता और वहां तक पहुंच नहीं पाते हैं। यदि साधन में लगे रहें तो भी।

तदा मार्गावरोधेन गन्तुं तत्र न शक्यते।
अतः मार्गविशोधाय बोधाय तस्य वै सदा।।

इस विद्या के बिना मार्ग अवरोध होने के कारण पहुंच नहीं पाते हैं। इसलिये मार्ग का शोधन करने के लिये और बोध का उपाय बताने के लिये-

एषा विद्या पराविद्या टंकनाख्या प्रकाश्यते।

यह टंक नामक विद्या सर्वश्रेष्ठ विद्या है, जिसका सम्प्रति तुम्हारे सम्मुख प्रकाश किया जा रहा है।

अन्यां वक्ष्यामि ते वत्स मुद्रा तां चाश्ववन्धिनीम् ।।
बद्धा अश्वेन संयाति तस्मात्स परिचितो भवेत् ।।

हे वत्स अन्त में मैं अश्ववन्धिनी मुद्रा तुम्हें बता रहीं हूँ। श्वासरुपी घोड़ा जब बाँध दिया जाता है तो वह परिचित हो जाता है और उसके द्वारा यथेच्छ गमन होता है।

यदा वै चञ्चलः सोऽश्वः स्वं स्थानं बन्धितो भवेत् ।
जायते साधितस्तत्र न च गन्तुं स इच्छति।।

जब वह घोड़ा अपने स्थान पर बांध दिया जाता है, तब वह भलीभाँति सधकर प्रशिक्षित हो जाता है और उससे यथेच्छ गमनागमन किया जा सकता है।

या च मुद्रा मया प्रोक्ता अश्वस्य बन्धने मता।
तया च मुद्रया अश्व आयाति स्ववशे स्वयम् ।।

अश्ववन्धिनी जो मुद्रा कही जा रही है वह श्वास रूपी घोड़े को बाँधने के उपयोग में आती है। इस मुद्रा में अश्व स्वयं वश में आ जाता है।

अतएव च सम्प्रोक्तंतद् ज्ञानं तत्क्रिया च वै।

कष्टात् कष्टतरा सा च न ज्ञातव्या कदाचन।।

इसीलिये इस क्रिया को और इस ज्ञान को बड़े कष्ट और परिश्रम से बड़े ज्ञानी प्राप्त कर सकते हैं। कभी कभी तो इसे मालूम भी नहीं कर पाते हैं।

उभौ च हस्तौ सुनिधाय तद्गले संयोज्य द्वारे निहितं तदस्य।

तद्वारणे कीलकसन्निभेन तत्रैव श्वासो लघुतां प्रयाति।।

दोनों हाथों को गले के पीछे की ओर मिला कर बाँध लेना चाहिये। इस प्रकार खूंटी में जैसे घोड़े को बाँधा जाता है उसी प्रकार वहीं पर श्वास की गति मन्द पड़ने लग जाती है।

दृष्टिं च दत्वा हि अधः प्रदेशे श्वासं च मन्दं प्रकरोति सद्यः।

शनैः शनैः श्वासममन्दरूपं चायाति तत्रैव च बन्धनं यत् ।।

इस मुद्रा में दृष्टि नीचे की ओर कर लेनी चाहिये। इसप्रकार शीघ्र ही श्वास प्रश्वास मन्द होने लग जाता है। धीरे धीरे श्वास की गति मन्दता होने पर वह सहजता में आ जाता है। यही श्वास के घोड़े का बन्धन कहा गया है।

संचालनं तत्र च कार्यमेतद् द्वयोस्तयोर्वा करयोः क्वचित् क्वचित् ।

तत्रैव सर्वं जपमन्त्ररूपं जाप्यं च जापः मुदमातनोति।।

इस मुद्रा में बीच-बीच में दोनों हाथों को हिलाते रहना चाहिये। इस मुद्रा में सभी मंत्रों का जप करने में बड़ा आनन्द मिलता है। (६ नं. मुद्रा)

ॐ अथ स्थानपरिचायिका मुद्रा।

इसके अनन्तर स्थानपरिचायिका मुद्रा कही जाती है।

हस्तावुभौ कक्षगतौ च कृत्वां मन्दं च मन्दं जपमाचरेत।

तच्चर्वणं चर्वित-मन्त्रजापं सिद्धिं भवेत् त्रा च संस्थितेन।।

दोनों हाथों को दोनों कोखों में दबाकर मन्द मन्द रूप में जप करते रहना चाहिये। इस प्रकार जप करने को "चर्वित चर्वण" कहते हैं। घोड़ा घास चबाकर मुंह में भर लेता है, फिर बैठकर उसी को पुनः चबाता है। इसे जुगाली करना भी कहते हैं, इस मुद्रा में जप करने से मन्त्रसिद्धि शीघ्र होती है। (७ नं. मुद्रा)

प्रफुल्लवदनाम्बुजां कनक-कान्ति-समविग्रहाम् ।

अनन्तपरिवोधिकां नमामि तां तत्त्वशोधिकाम् ।।

खिले कमल-से मुखवाली, सुवर्ण की कान्ति के समान शरीर वाली, तत्त्वों का शोधन करने वाली और अनन्त ज्ञान का बोध देने वाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

शारदां नौमि तां देवीं दिव्यां टंकभिधायिनीम् ।

टंकनोद्देशज्ञात्रीं च वन्दे तां शारदां शुभाम् ।।

वन्दे तां वाङ्मयीं देवीं वागर्थप्रतिपक्षिकाम् ।

प्रतिपत्तिसमायुक्तां प्रतिपत्ति विबोधिकाम् ।।

प्रतिपत्तिधृता-धारां प्रतिपत्ति-समाकुलाम् ।

व्याप्तां तां प्रतिपत्याख्यां टंकटंकोत्करीं पराम् ।।

मैं उस दिव्य सुन्दर शारदा माँ को नमस्कार करता हूँ जो टंक रूप है, जो टंकविद्या के तात्पर्य को बताती है। वाणी और अर्थ का रहस्य बताने वाली, समर्पण भाव को देने वाली, समर्पण के आशय को बताने वाली वाङ्मयी माँ को मैं प्रणाम करता हूँ। शरणागति ही जिसका आधार है, शरणागति ही जिसका स्वरूप है, टंकविद्या को छानबीन कर बताने वाली उस व्यापक जगदम्बा को मैं प्रणाम करता हूँ। (८ नं. मुद्रा)

अथ मुद्रा समाख्येया सैव मुद्रा पटात्मिका।

पटवाससमायुक्तां पटबोधविधायिकाम् ।।

अब पट्टबन्धिनी मुद्रा बताई जाती है, जिसमें सिर पर पट्टी बाँधने जैसी क्रिया होती है। पट् अर्थात् किवाड़ बन्द करने जैसा भाव होता है या पर्दा डाल देने जैसा होता है। (८ नं. मुद्रा)

पट्टसंबोधिनीं मुद्रां ज्ञात्वा यां प्रचरेत्क्रियाम् ।

सर्व उष्णहरां तां च कपाले कृतसंचयाम् ।।

यह मुद्रा कपाल में संचित पूर्ण उष्णता गर्मी को दूर भगा देती है। घड़े के छिद्रों को बन्द करके फिर बाहर से और कपड़मिट्टी कर दी जाय तो वह और अधिक पक्का हो जाता है, उसी भाँति टंक विद्या की अन्य क्रियाओं से शरीर रूपी घट के छिद्र बन्द होने पर इस पट्टबन्धिनी मुद्रा से टंक को और अधिक पक्का कर देना चाहिये, यही तात्पर्य है।

एका सा रिक्तहस्ताभ्यां स्वैरेणैव समाहिता।

अपरा हस्त संयुक्ता अत्रैवाधारदायिनी।।

एक तो बिना हाथों का सहारा लिये ही सावधानी से की जाती है, और दूसरी हाथों को मिला कर हाथों का सहारा लेकर की जाती है।

कपाले भारमारोप्य हस्तयोरूभयोः शुभम् ।

ऊष्माणं चैव संहन्ति सर्वारोग्यप्रदं हि तत् ।।

दोनों हाथों को मिलाकर कपाल भाग में समारोपित कर दो। यह मुद्रा सब प्रकार की आरोग्यता देने वाली होती है और सिर की गर्मी को दूर कर देती है। (८ नं. पर मुद्रा)

एषा वै सुभगा मुद्रा गारूडीत्यभिधीयते।

खगेन्द्र गरूडाख्येन तद्वत्सा फुर्फुरायते।।

इस सुन्दर कल्याणप्रद मुद्रा को गारूडी-मुद्रा भी कहते हैं। गरूड़पक्षी की भाँति इस मुद्रा में हाथों का स्फुरण, हिलाना डुलाना होता है।

एषा वै गारूडी मुद्रा गरूडेन समादृता।

गरूडेन समं नेत्रप्रकाशं दीर्घतां नयेत् ।।

गरूड़ पक्षी ने इस मुद्रा को अपनाया है। इसलिये इस मुद्रा के धारण से गरूड़ की भाँति नेत्रों का प्रकाश बढ़कर तीव्र दृष्टि हो जाती है।

एतां मुद्रां सदा कृत्वा स्वल्पं स्वल्पं शनैः शनैः।

नेत्रयोर्ज्योतिराप्नोति ज्योतिषां प्रतिशाश्वतीम् ।।

नित्यप्रति थोड़ा थोड़ा, धीरे धीरे इस मुद्रा के करने से नेत्र की ज्योति बढ़ती है और फिर वह नेत्र ज्योति चिरस्थायी हो जाती है।

कदाचित् क्षरते नीरं तप्तं वै शीतलं क्वचित् ।

कपोलभागमायाति शीतोष्णं तेन मापयेत् ।।

इस मुद्रा में आखों से कभी गरम कभी ठंडा जल बहता है और कपोल भाग तक आ जाता है। इससे सिर की गर्मी और ठंडक को जान लेना चाहिये।

योगपट्टाभिधा मुद्रा योगिनां च परा प्रिया।

तां कुर्वन्ति सदा ते च ये जनाः योगमाश्रिताः।।

योगियों की परम प्रिय दूसरी एक योगपट्टिका मुद्रा भी है। योगारूढ़ साधक सदा इसी मुद्रा को किया करते हैं।

शरीरं काष्ठवत् कुर्यात् सरलं उपरिस्थितम् ।

मेरूदण्डं स्थिरं कृत्वा प्रान्तेन च स्थिरो भवेत् ।।

शरीर को सीधा काठ की तरह दृढ़ करले। मेरू-दण्ड को स्थिर करके उसके सहारे सारे शरीर को उत्तोलित कर लेना चाहिये।

किंञ्चिन्नैव प्रकर्तव्यं करणीयं न विद्यते।

केवल श्वासमास्थाय काष्ठवत् स्थितिमाचरेत् ।।

इस मुद्रा में अन्य कुछ भी क्रिया न करनी चाहिये, किसी भी अंग का परिचालन न हो। केवल श्वास-प्रश्वास चलता रहे और शरीर काठ की तरह सीधा और अकड़ा रहे।

यदि वा नैव तच्छक्यं शरीरं सन्निरोधितुम् ।

तदा ग्रीवासमासक्तौ हस्तौ च योजयेत् सुधीः।।

यदि ऐसा कर सकना सम्भव न हो तो दोनों हाथ गर्दन में सहारे के लिये लगा देना चाहिये। शरीर की स्थिति काठ की तरह दृढ़ और स्थिर रहे। शरीर का कोई अंग हिले नहीं।।

एवं कृत्वा पुनर्भूयः परीक्षा जायते शुभा।

कृत्वा परीक्षणं विज्ञः साधकानां गतिं मतिम् ।।

इस मुद्रा से ही साधक की साधन-क्रियाओं की ठीक परीक्षा हो जाती है। जितनी देर तक यह मुद्रा की जा सकेगी, उतने ही मात्रा में साधक का साधन ठीक समझना है।

मन्तव्यां माननीयां च गन्तव्यां वै न चेष्यते।

सर्वमेतत् शरीरस्थं काष्ठवत् काष्ठिका क्रिया।।

इस मुद्रा में मनन, चिन्तन, गति सब कुछ नहीं होता है। इस मुद्रा में बस शरीर काठ की भाँति रखकर काठ की ही भाँति शून्य छोड़ देना पड़ता है। (९ न. मुद्रा)

ज्ञानं करोति मुद्राणां क्रियाणां पक्वतामसौ।

एवं कृत्वा स जानाति साधकः स्वयमेव हि।।

सिद्धामसिद्धां वा सर्वां क्रियां मुद्रां महारथिः।।

साधक की समस्त क्रियाओं और मुद्राओं की इस मुद्रा द्वारा पहिचान हो जाती है। इस मुद्रा द्वारा साधक स्वयं जान लेता है कि मेरी क्रियायें ठीक चल रही हैं या नहीं, साधन ठीक चल रहा है या नहीं। यह मुद्रा जितनी देर तक लगाने की क्षमता रहेगी, समझ लो कि उतना ही अच्छा साधन चल रहा है।

१५-१२-६२ प्रातः।।८२।।

जागृता च हि या देवी सर्वकार्यार्थसाधिका।
सर्वत्र सर्वदा सा वै वन्दे नित्यां महेश्वरीम् ।।

जो भगवती जागृता होकर समस्त कार्य सिद्ध कर देती है, जो सदा सर्वत्र व्यापक है, उस नित्या महेश्वरी भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

महेश्वरी महाशक्तिः योगनिद्रा प्रदायिनी।
जागृता शारदा सैव ज्ञानं सर्वं ददातु मे।।

योग निद्रा प्रदान करने वाली महेश्वरी महाशक्ति, जो शरीर में जागृता होती है वही भगवती शारदा मां के रूप में मुझे समस्त ज्ञान प्रदान करें।

मुद्राणां परमा मुद्रा परमार्थ-प्रसाधिका।
उत्कर्षमायाति यया मुद्रया धारणा शुभा।।

मुद्राओं में सर्वश्रेष्ठ मुद्रा जो परमार्थ सिद्ध करने वाली है और जिस मुद्रा से साधक उन्नति करता चला जाता है और धारण करने पर जो कल्याण प्रदान करती है।

शम्भोर्या परमा-शक्तिः शाम्भवी यतिमानिता।
मुद्रा या शाम्भवी यस्याः ज्ञानाद् ज्ञानं प्रजायते।।

जो भगवान शिव की परमा शक्ति है, भगवान् शिव ने स्वयं जिसका आदर किया है वह मुद्रा शाम्भवी मुद्रा है, जिसके जान लेने पर दिव्य ज्ञान होता है।

दिव्यदृष्टिः समायातिरन्तर्ज्ञानं तथैव च।
बहिर्ज्ञानं च संयाति सा मुद्रा शाम्भवी मता।।

जिससे दिव्य दृष्टि हो जाती है, अन्तर्ज्ञान और बहिर्ज्ञान स्वतः हो जाता है, उसे शाम्भवी मुद्रा कहते हैं।

मुद्राणां निकषोपलं भगवती या शाम्भवी प्रोच्यते,
शम्भोः सा परमा परा परभृता पारार्थ-सन्दर्शिका।
सा घोरा घनघोर घुर्घुरघुरा मुद्रा च या शाम्भवी,
दिव्यं या च ददाति चक्षुरमलं ज्ञानं च तत्त्वार्थकम् ।।

यह शाम्भवी मुद्रा समस्त मुद्राओं की कसौटी है। इसका सम्बन्ध भगवान् शम्भु से है और भगवान् शम्भु ने आदरपूर्वक इसे अपनाया है, यह गुप्त लुप्त बातों व विषयों को दिखाने वाली है। यह घोर, घनघोर, साधक को घुर्घुरा कर एकाग्र कर देती है, यह दिव्य ज्ञान देने वाली तत्त्वार्थ को बताने वाली और दिव्य चक्षु प्रदान करने वाली शाम्भवी मुद्रा है।

मुद्रा सा शाम्भवी मुद्रा विकटा विकटार्थिका।

ज्ञानेन चापि सम्पन्ना वहिरभ्यन्तरेण च।।

यह शाम्भवी मुद्रा बड़ी विकट है, विलक्षण है, इस मुद्रा से बाह्य जगत एवं अन्तर्जगत के सभी बातों का ज्ञान साधक को हो जाता है।

तस्मात् सा शाम्भवी मुद्रा शश्वदभ्यासमागता।

सिद्धिदा जायते कालात् न काललनियमो हि तत्र।।

निरन्तर अभ्यास करते रहने पर यह मुद्रा सिद्ध हो जाती है, इसमें कोई समय का नियम नहीं है। किसी को शीघ्र और किसी को देर में इसकी सिद्धि होती है।

कदाचित् स्वल्पकालेन बहुकालेन वै क्वचित्।

क्वचिच्च दीर्घकालेन शाम्भवी सिद्धिमाप्नुयात्।।

कभी स्वल्प काल में, कभी बहुत काल में और कभी बहुत लम्बे समय में इस शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि होती है। सिद्धि के अनन्तर अमूल्य बन जाती है।

कृत्वा शरीरं सुदृढं च सुस्थिरं कम्पादिहीनं विगतालसेन।

पुनश्च जिह्वां लघुरूपिणीं च अग्रे स्वयं चालयते स्वयं च।।

निरालस्य पूर्वक शरीर को स्थिर सीधा कम्पविहीन रखकर जीभ को आगे की ओर साधक परिचालन करता है, इससे जीभ के रोंए नरम और ढीले पड़ जाते हैं।

जिह्वायाश्चालनं कृत्वा तालुमध्ये शनैः शनैः।

कृत्वा च घर्षणं तस्याः पुनस्तां स्थिरतां नयेत्।।

जिह्वा का चालन करके धीरे-धीरे तालु के बीच जिह्वा की नोक को रगड़ना चाहिये, फिर उसे स्थिर करलेना चाहिये।

तालुभागे च यदभागं जिह्वाया अग्रवर्तितम्।

संस्थापयेत्तु तत्रैव तस्माद् ध्यानं प्रजायते।।

जो जिव्हा का अग्रवर्ती भाग है उसे तालु के अग्रभाग में लगा देना चाहिये, इससे उसी भाग पर ध्यान जमा रहता है जहाँ जीभ लगी रहती है।

एवं कृत्वा सदाकाले कालेनैव समाचरेत्।

बहुकालगते तस्माद् बहुज्ञानं भविष्यति।।

निरन्तर इस प्रकार करते हुए बहुत काल पश्चात् बड़े बड़े अनुभवात्मक ज्ञान होते हैं। यह मुद्रा नित्य नियमपूर्वक करनी चाहिये।

एतादृशं च तद् ज्ञानं ज्ञानिनां निश्चयात्मकम् ।
क्रियासंसिद्धिजं ज्ञानं सर्वं द्रष्टुं च शक्यते ।।

खेचरी मुद्रा से उद्भूत वह ज्ञान इस प्रकार का होता है कि जिसे निश्चयात्मक, भ्रान्तिहीन ज्ञान कह सकते हैं। इस ज्ञान के द्वारा साधक बाहर-भीतर का सब कुछ क्रियाकलाप देख और जान सकता है।

नेत्रयोः कर्षिका दृष्टिस्तत्रैव विनियोजयेत् ।
यत्र तालुगता जिह्वा रन्ध्रभागेन संस्थिता ।।

साधक की दृष्टि वहीं खिंची चली जाती है, जहाँ जीभ लगी है। तालुभाग के छिद्र में लगा हुआ जिह्वा का अग्रभाग हठात् साधक की दृष्टि को वहीं खींचकर ध्यानस्थ कर देता है।

भूयोभूयश्च तां दृष्ट्वा भूयो भूयश्च संस्मरेत् ।
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म शनैश्चजपमाचरेत् ।।

उस स्थान का बार-बार दर्शन करता रहे और बार-बार स्मरण करता रहे और धीरे धीरे ॐ इस अक्षर ब्रह्म का जप करता रहे।

द्वितीया शाम्भवी मुद्रा मेरूदण्डऋजुर्भवेत् ।
शिरो निम्नं विधायैव हनुं कण्ठे च स्थापयेत् ।।

एक दूसरी शाम्भवी मुद्रा भी होती है, जिसमें मेरूदण्ड का झुका रहना या सीधा रहना यथेच्छ रहता है। सिर नीचे झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ में लगा देना चाहिये और मेरूदण्ड चाहे झुकाये रहो चाहे सीधा किये रहो।

नेत्राभ्यां हृदयं नाभिं अथवा कण्ठचक्रकम् ।
विलोकयेत् समुद्धाट्य तत्र पश्यति स स्वयम् ।।

खुली आँखों से हृदय देश को, नाभि को अथवा कण्ठ चक्र में दृष्टि जमा लेनी चाहिये वहाँ साधक स्वयं दर्शन करता है–

परं च परमं दिव्यं प्रकाशं बहुभासितम् ।
न प्रकाशं विलोकयैव शाम्भवी शुभतां व्रजेत् ।।

एक परम दिव्य प्रकाश को जो बहुत प्रकार के रंगों का है, उस प्रकाश के दर्शन करते ही शाम्भवी मुद्रा मंगल कारक हो जाती है।

षष्ठमास कृतैनैव अभ्यासेन शं भृशम् ।।
शाम्भवी सिद्धिमायाति प्रयत्नं च ततः कुरू ।। (आगे वर्णन है)

बारम्बार निरन्तर इस प्रकार लगन से अभ्यास करने पर ६ मास में शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है।। इसलिए इस पर तुम प्रयत्न करते रहो।

सरला घूर्णिका मुद्रा शरीरं भ्रामयेत् च या।

नित्यं च साधकैर्नित्या कर्तव्या घूर्णिका क्रिया।।

घूर्णिका मुद्रा बड़ी सरल है। इस मुद्रा में नितम्ब भाग को स्थिर रखकर ऊपर का पूरा शरीर चक्की की भाँति घूमता है। साधकों को यह क्रिया नित्य करनी चाहिये।

घूर्णी च घूर्णिका घूरा इति रूपा प्रकाशिता।

सा सर्वंकायजं क्लेशं विनिहन्ति तदैव च।।

इस मुद्रा को घूर्णी, घूर्णिका और घूरा इन नामों से भी कहते हैं। इसमें साधक को मूर्च्छा आ जाती है और शरीर की सारी थकावट दूर हो जाती है।

सर्वा मुद्रा क्रियाः सर्वाः कृतास्तत्रैव साधकैः।

एकैव घूर्णिका तस्मात् समशान्तिः प्रजायते।। (आगे वर्णन है)

साधक चाहे कितनी भी क्रियायें और मुद्रायें करले, यदि शरीर या किसी अंग से पीड़ा हो जाय तो एक अकेली घूर्णिका मुद्रा से सब काय क्लेश दूर हो जाता है। इस मुद्रा से चित्त भी शान्त हो जाता है।

१५-१२-६२ सायंकाल ।।८३।।

कमलाक्षीं कमलप्रियां कमलनां कामप्रियाराधिताम् ।

कान्ताङ्गी कनकोत्तमां कलकृतिं कण्ठे कलाधारिणीम् ।।

कालज्ञां कमनीयमध्यसुभगां भालांङ्कितां कां गतिम् ।

कालाकालकलावतीं कलवतीं कामाक्षरीं कामये।।

कमल सी आँखों वाली, कलाओं की प्यारी, काम और रति द्वारा आराधित, सुन्दर शरीर वाली, कनक सी कान्ति वाली, सुन्दर कृति वाली, कण्ठ में कलाओं को धारण करने वाली, काल ज्ञान रखने वाली, सुन्दर कमर वाली, भाल में चन्द्रकला धारण करने वाली, काल और अकाल सम्बन्धी कलाओं वाली, काम विद्या के अक्षरों वाली कलावती देवी को प्रणाम करता हूँ।

अपरा चावशिष्टा च एका सापि महाक्रिया।

महामुद्रा महामन्त्रा महासार्था महामयी।।

एक बड़ी उत्तम महाक्रिया और महामुद्रा है, जो बड़ी रहस्यमय है, महत्त्वपूर्ण है और बड़ी महिमा वाली है, उसे भी बताना परम आवश्यक है।

सा वै सम्भूयते मुद्रा सर्वभावेन भावनी।

यां कृत्वा सकलां शान्तिमानन्दं चाधिगच्छति।।

वह मुद्रा सर्वभावों से भरी हुई है। शक्तिपात साधक को वह स्वयं हुआ करती है, इसलिये उसे सर्वतोभाविनी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के करने से शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है।

अपरा परमोद्योता द्योतिका भाविता क्रिया।

सर्वभावमयी सा च सर्वदृष्टि प्रदायिका।।

इस मुद्रा से साधक के भीतर प्रकाश खुलता है और नाना प्रकार के भावों का उदय होता है, सब प्रकार की दृष्टियाँ इससे खुल जाती हैं और यह मुद्रा सर्वभावमयी है।

सा मुद्रा चान्तिमा मुद्रा षोडशी परमाद्भुता।

एतां तां ज्ञानमात्रेण क्रियामात्रेण वै नरः।।

यह अन्तिम और सोलहवीं मुद्रा है, और परम अद्भुत है। इस मुद्रा के करने के ज्ञानमात्र से और कियामात्र से

योगमार्गसमालम्ब्य याति तत् परमं पदम् ।

न तस्य पतनाद् भीतिः स्खलनाच्चैव नो भयम् ।।

साधक योग मार्ग का अवलम्बन करके परम पद को प्राप्त कर लेता है। उसके गिर पड़ने की फिर शंका नहीं है और न ही इधर उधर भटकने का भय है।

मुद्राणां च क्रियाणां च आधारं स्वयमेव हि।

आधाराधेयभावेन क्रिया मुद्रा उभावपि।।

यह मुद्रा समस्त मुद्राओं और क्रियाओं की आधारभूता है। यों तो सभी क्रिया और मुद्रायें आधार और आधेय रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं।

साधकस्य हितायैव भवन्ति परमोज्वला।

या मुद्रा भाविनी मुद्रा सर्वभावेन भाविनी।।

ये सभी क्रियायें और मुद्रायें परम उज्वलता से साधक के कल्याण के लिए ही होती हैं, जो सर्वतोभाविनी मुद्रा है वह सब भाँति हर स्थिति में साधक को करनी चाहिये।

अस्याः क्रियापि मे वाच्या श्रृणु त्वं तां समाहितः।

कर्णयोर्हस्तमाधाय उभया उभयात्मकी।।

तुम समाहित होकर सुनो, इसकी क्रिया भी मुझे बता देनी है। दोनों हाथों को अपने दोनों कानों में रख लेना चाहिये।

कनिष्ठिकां पृथक् कृत्वा अङ्गुष्ठं च अधो नयेत्
अङ्गुष्ठौ हनुभागे च संयोज्यौ तौ शनैः शनैः।।

कनिष्ठिका अंगुली को अलग कर लेना चाहिये। अंगूठों को नीचे की ओर ले आना चाहिये। अंगूठों को हनुभाग में धीरे-धीरे मिला देना चाहिये।

कर्णयोः रन्ध्रभागे च अङ्गुलीः स्वयमाधरेत्।
अस्मात् कर्पूरभागौ च जानुसन्धौ तावुभौ।।

इससे अंगुलियाँ कान के रन्ध्रभाग में स्वयं आ जाती हैं। दोनों जानुओं की सन्धि में दोनों हाथों की कोहनियाँ अटका देनी चाहिये।

कृत्वा भारं समारोप्य अधस्ताच्च स्थिरो भवेत्।
सर्वं शनैः शनैर्यावत् तीव्रं तीव्रं क्वचित् क्वचित्।।

सारे शरीर का भार कुहनियों पर डालकर नीचे के भाग को स्थिर रखना चाहिये। बीच बीच में स्वेच्छापूर्वक कभी धीरे कभी तीव्र श्वास-प्रश्वास लेता रहे।

यदीच्छेद् ज्ञानमाकृष्य पूरयेद् रेचयेच्च वा।
कृत्वा मुद्रां च तां शुद्धां सर्वशान्तिप्रदायिनीम्।।

कभी कभी इच्छा हो तो पूरक और रेचक भी करता रहे। इस प्रकार इस मुद्रा के करने पर परम शान्ति का लाभ होता है। यह मुद्रा मन को भी शुद्ध कर देती है।

साधको योगमाप्नोति कर्तव्या सापि साधकैः
एषा क्रिया मया प्रोक्ता अन्तिमानन्तशक्तिदा।।

सर्वतोभाविनी मुद्रा साधक को सदा करनी चाहिये। इससे साधक योग प्राप्त कर लेता है। यह मुद्रा अनन्त शक्ति देने वाली अन्तिम मुद्रा मैंने बताई है।

मनसो भावना सर्वा सा तत्र रोधयत्यपि।

मन की जितनी भी कुभावनायें या योग-विरोधी भावनायें हैं, उन्हें यह मुद्रा तत्काल दूर कर देती है।

इति टंकन विद्यायामश्वसंचालन प्रकरणं परिसमाप्तम्। प्रकरणस्य समाप्तौ भगवत्याः सरस्वत्याः एतत्कथनं परिपूर्णं भवतु। ॐ।।

टंक विद्या के अन्तर्गत अश्वसंचालन नामक प्रकरण समाप्त हो गया। इस प्रकरण की समाप्ति पर भगवती माँ सरस्वती का कहा हुआ भी साधकों की कामनाओं की पूर्ति करने वाला बने।। ॐ।।

१६-१२-६२ प्रातः काल ।।८४।।

ॐ अथ टंकविद्यास्थानपरिचय गमनाधिकरणम् ।

ॐ अब टंक विद्या के अन्तर्गत स्थानपरिचय गमन नाम का अधिकरण आरम्भ किया जाता है।

सदश्वः साधितोऽप्यश्वः गमनाय प्रचोदितः।
कुत्र तेन च गन्तव्यं तस्मात् तत् परिचयोभवेत् ।।

सिखाया पढ़ाया सधा घोड़ा हो, यथेच्छ गमनागमन करने को सदा तैयार भी रहे, फिर भी यदि उसे यह ज्ञात न हो कि जाना कहाँ और किधर है, अतः स्थान का परिचय होना चाहिये।

स्वयमज्ञातमार्गस्तु स्थानाधिपरिचयं विना।
न शक्नोति ततो गन्तुं गत्वा वा स्खलितो भवेत् ।।

जिसने स्वयं मार्ग नहीं जाना है और मार्ग से परिचय नहीं किया है, वह जा नहीं सकता है, यदि किसी प्रकार पहुंच भी जाय, तो भी लक्ष्य तक पहुंच कर गिर पड़ेगा।

गहनं घाटिभिर्युक्तं कष्टात् कष्टतरं हि तत् ।
येनाश्वेन च गन्तव्यं अश्ववारेण वै पुनः ।।

जिस मार्ग से घोड़े को जाना है, वह बड़ा गहन है, बड़ी बड़ी बीहड़ घाटियाँ हैं, अश्ववार को बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

तन्मार्गं दर्शयिष्यामि नाथो वा दर्शयिष्यति।
गोरक्षः स्वयमागत्य येन तत् संस्तुतं भवेत् ।।

उसी मार्ग को मैं दिखाऊँगी, गोरखनाथ भी स्वयं यहाँ उपस्थित होकर दिखायेंगे। इस भाँति यह मार्ग संस्तुत, प्रशस्त बन जोयगा।

अश्वो बलसमायुक्तः साधको बलवानपि।
तत्र गन्तुं समर्थो नो मार्गं गोरक्षदर्शितम् ।।

घोड़ा कितना ही बलवान् क्यों न हो, और साधक भी कितना ही बलशाली क्यों न हो, यदि गुरू गोरक्षनाथ उस मार्ग को नहीं दिखायेंगे तो वहाँ जा सकने में सवार असमर्थ होगा।

न हानिः स्याद् गते तस्मिन् मार्गे गुरूप्रदर्शिते।
अथवा भीषणं मार्गं दृष्ट्वा वा चलितो भवेत् ।।

इसलिये गुरू साथ में हों, वे मार्ग दिखाने चल रहे हों तो उस मार्ग से चलने में कोई भय अथवा हानि नहीं होगी। अन्यथा साधक भीषण मार्ग को देखकर ही विचलित हो जायेगा।

यदा स्थानस्य ज्ञानं च ज्ञानं चैव स्थलस्य च।

तदा गन्तुं च शक्नोति साधकः कृतनिश्चयः।।

जब स्थान का ज्ञान होगा और गन्तव्य स्थल का ज्ञान होगा तभी दृढ़निश्चय वाला साधक उस मार्ग से जा सकेगा।

यदि वोद्विजते सोऽश्वः कशाघातं प्रयोजयेत्।

शक्तिविद्युत्कशाघात-ताडितो याति सः पुनः।।

चलते चलते अगर घोड़ा रूक जाय तो चाबुक मारना चाहिये फिर घोड़ा शक्ति की विद्युत रूपी कशाघात से मार खाकर चल पड़ता है।

या शक्तिः कुण्डली ख्याता जागृता सा महाबला।

बलान्नयति तं तत्र यत्र स्थानाऽङ्गितं कृतम्।।

जो जागृता कुण्डलिनी महाशक्ति है जब जाग पड़ती है, तब बड़ी बलवती हो जाती है। वही बलपूर्वक वहाँ से चलती है जहाँ लक्ष्य है और जिस स्थान पर पहुंचने को कहा गया हो।

तदर्थं परिचयस्तस्य गमनस्य विशेषतः।

प्रोच्यते स्थानमित्येतत् नियमस्तेन गम्यताम्।।

इसलिये मार्ग का परिचय और चलने की विधि का परिचय बताया जाता है। इसलिये इन सब बातों को भली प्रकार समझ लो और जान लो।

मूलाधारात् समारभ्य चोर्ध्वं यायात् सदश्वकः।

घाटीः पाषाणखण्डाँश्च तीर्त्वा खण्डमखण्डकम्।।

मूलाधार से लेकर ऊपर सहस्त्रार पर्यन्त चलने में सधे हुए घोड़े को बीच बीच में बड़ी बड़ी घाटियों, पाषाण खण्डों और अनेक खण्ड अखण्ड दर्रों को पार करना पड़ता है।

चक्रान् सर्वान् समाक्रम्य न तत्र स्थितिमाचरेत्।

घोटकं धावयेत् तीव्रं ततो मार्गं च सन्तरेत्।।

एक चक्र से दूसरे चक्र तक जाने के बीच में घोड़े को तेज दौड़ाना पड़ता है, रूकना नहीं चाहिये। घोड़े को तेज दौड़ाता जाना होगा, तब मार्ग पार किया जा सकेगा।

षट्चक्रं कठिनं मार्गं रूद्धं गन्तुं न शक्यते।

किन्तु शक्तिसमापन्नः तद्विजित्य प्रयाति तत्।।

षट्चक्र का मार्ग बड़ा कठिन है, जटिल है और रूका हुआ है, उससे यों चलना बड़ा कठिन है। शक्ति सम्पन्न साधक ही उसे जीत कर, वश में कर के चल सकता है।

बल्गाँ दृढ़तरां धृत्वा मुखे अश्वस्य धावतः।
प्रवृत्तिं व निवृत्तिं च दर्शयेदश्वमास्थितः।।

दौड़ते हुए घोड़े की बल्गा, लगाम हाथ में पकड़े रहे, जोर से जकड़े रहे। घोड़े पर सवार होकर उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति की ओर इशारा देता रहे।

मुखं च सम्मुखं कृत्वा स्थापयन्नचलो भवेत् ।
तदा तुष्टो मनस्त्वश्वः तीव्रवेगेन धावति।

मार्ग की ओर नजर रख कर अचल रूप से घोड़े पर सवार हो जाय। तब घोड़ा भी जान लेता है कि सवार भी अच्छा होशियार है और सन्तुष्ट होकर मन रूपी घोड़े को तीव्र वेग से ले चलता है।

सावधानेन गन्तव्यं मार्गं तत् परिचितं शुभम् ।
न तत्र भीतिमापन्नो गन्तुं शक्नोति साधकः।।

वह कल्याण-मार्ग भलीभाँति परिचित है, उस पर सावधानी से चले, चलते चलते घबड़ाना नहीं चाहिये, नहीं तो जा नहीं पायेगा।

अत एव क्रियाः सर्वाः मुद्राः सर्वाश्चदर्शिताः।
यास्तदा वर्मरूपेण रक्षां कुर्वन्ति सर्वदा।।

इसीलिये नाना प्रकार की क्रियायें और मुद्रायें सब कुछ पहिले ही बता दी गई हैं, जो चलने के लिये तैयार साधक सवार के लिये कवच का काम करती हैं, रक्षा करती हैं।

तासां ज्ञानं क्रियाभ्यासं कृत्वा विगतसाध्वसः।
साधकः स्थानसंज्ञानान्निर्भयो याति तत् पदम् ।।

उन सबका ज्ञान और उन सभी क्रियाओं का अभ्यास निर्भय होकर साधक को सर्वथा कर लेना चाहिये फिर साधक मंजिल का ज्ञान प्राप्त करके वहाँ तक स्वयं पहुंच जाता है।

एतत् सर्वं पुनस्तत्र गोरक्षः कथयिष्यति।
स एव तद्विधिज्ञश्च मार्गज्ञश्च सुयोगवित् ।।

इन सब बातों को भी यह गोरक्षनाथ फिर से बतायेंगे, ये ही उनकी विधि जानते हैं, उस मार्ग को जानते हैं, और योग-मार्ग के सर्व श्रेष्ठ ज्ञाता हैं।

नवमं खण्डपर्यन्तं सारल्येन च संस्तुतम् ।।
प्रापयिष्यति गोरक्षः अल्पकालेन सत्वरम् ।।

गोरक्षनाथ तुम्हें नवम खण्डपर्यन्त प्रशस्त मार्ग द्वारा बड़ी सरलता और आसानी से जल्दी से जल्दी अल्पकाल में ही पहुंचा देंगें।

इस विषय को सर्व-जन-हित के लिये अब गोरक्ष बतायेगा।

हरि ॐ तत्सत् । नमो गोरक्षदेवाय पीठेश्वराय ।। ॐ।

पीठेश्वर श्री गोरक्षदेव को नमस्कार हो।। ॐ।

गोरखबाबा :- यह टंक विद्या का विषय योग साधनावालों के लिये परम लाभप्रद है, जिससे वे गन्तव्य मार्ग पर सुलभ रूप से पहुंच सकते हैं। माँ भगवती सरस्वती के दूध को पीकर पला यह शरीर है, माँ की चरणों की धूल से पुष्ट बने इस शरीर की क्या शक्ति है, बात यह है कि कृपा तो माँ की ही है। माँ अपने तुतलाने वाले बच्चे को भी कहती है कि यह अच्छी तरह बोल रहा है, सबसे अच्छा है, सब कुछ जानता है, मैं भी ऐसा ही हूँ, अबोध हूँ, कुछ नहीं जानता हूँ, मेरे नाम के सामने नाथ लगा है, नाथ का तो बड़ा अर्थ होता है। जो सब कुछ नाथ दे, सब कुछ कर दे, पर मेरी तो शक्ति ही कुछ नहीं है, फिर भी यह जो टंक विद्या कही गई है, वह परमोपयोगी है और स्वल्पकालिक है। यह मनरूपी घोड़े को वश में करने का सरल से सरल उपाय है, इससे मन वशीभूत हो जाता है, पर घोड़ा तैयार है, सुशिक्षित है, सधा हुआ है, घुड़सवार भी सावधान है। अब चलना है, पर चलना कहाँ है ? जब कोई स्थान ही ज्ञात नहीं तो घोड़ा कहाँ जायेगा। इसलिये स्थान परिचय हो जाना चाहिये, तब आसानी से घोड़ा वहाँ तक पहुंचा देगा, जहाँ जाना है। चलने के पूर्व घोड़े की बल्गा (लगाम) दायें बायें खींचों, दोनों ओर खींचो अर्थात् मन रूपी अश्व को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग दिखाओ। पर मुख उसका सीधा रखो, दोनों ओर देखकर भी रास्ता अपना ही पकड़ रहो, मार्ग बीहड़ है, अपरिचित है, ऊबड़-खाबड़ है। खाई और खन्दक हैं। घाटियाँ हैं, ग्लेण्ड खण्ड पत्थर हैं। उनको पार करके जाना है। अब जाने का बल पा लिया है, महामाया शक्ति का बल है, चलो, वह मार्ग नीचे से ऊपर को जाता है, मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक। षट् चक्र का चक्कर पार करके, तीन नाड़ी रूपी खाई पारकर घोड़े को सीधा कुदा दो। पहुंचा दो नवें चक्र पर, वहीं पहुंचना है, घोड़ा अड़ सकता है, बिगड़ सकता है। उसे शक्ति व्यय कशाघात करके बिगड़ने नहीं देगी। पर यदि बिना मार्ग और स्थान के परिचय के चलोगे तो गिर पड़ोगे, चोट आ जायेगी, घोड़े को भी और साधक को भी। इसलिये-

गोरखभेद बतावे रे अवधू, गोरख भेद बतावे, गोरख भेद बतावे।
ऊबड़ खाबड़ मारग टेढ़ो कैसे कोई जावे।
भूले भटके ठोकर खावें फिर भी राह न पावे
गोरख जोग जगावे रे बाबा, गोरख भेद बतावे।
गोरख सभी तहाँ को जावे जोगी जंगम संता।।
सीधी राह न पावे मारग रहे भटक भरमन्ता।।
पावे न अन्ता, गमने करन्ता, सीधी पन्थ गहन्ता।।
सीधी राह बतावे गोरख भरमत भेद भणन्ता।।

जो कोई जाना चाहता है, मार्ग बता देते हैं, परिचय करा देते हैं। जाने वाला पहुंच जाता है। स्थान और मार्ग का भेद कोई – कोई जानते हैं। जैसे तैसे कुछ देर में पहुंच भी जाते हैं। पर सावधानी से और जल्दी से जाना ठीक होगा। चलो और पहुंचो यही भेद टंक विद्या बताती है। इसलिये टंक विद्या की ये मुद्रायें और क्रियायें बहुत भेद–भरी हैं, जो तुम्हारे लिये बताई गई हैं। ॐ तत् सत् । अलख निरंजन। सत् पुरुष।

१७–१२–६२ प्रातः काल। ८बजे।

नारायणस्याङ्कगतां च भाविनीं नारायणीं तां च अनन्तरूपाम् ।
नाना पुराणीं पुरूषैकभाविनीं हृद्यैकरम्यां परमार्थदायिनीम् ।।

नारायण के अंक में स्थित, उस अनन्तरूपा, भवानी नारायणी, नानापुराणों में वर्णित, पुरूषोत्तम से भावित, परमार्थ की देनेवाली, भक्त हृदय के लिये रमणीय देवी भगवती को नमस्कार है।

महेश्वरस्य या शक्तिः कथिता च महेश्वरी ।
यां शक्तिं वै समादाय मानवो याति तत्पदम् ।।

महेश्वर की जो शक्ति महेश्वरी कहलाई जाती है, जिस शक्ति को प्राप्त करके मानव उस परम पद को प्राप्त कर लेता है।

सुखेन समभूतेन यत्र गन्तुं न शक्यते ।
तत्र सा परमा शक्तिः परमेण समन्विता ।।

उस पद तक सुखपूर्वक आसानी से जाया नहीं जा सकता है, जहां पर वह परमा शक्ति परमेश्वर से समन्वित होकर रहती है।

तत् स्थानं तत्र गन्तव्यं यत्रैव प्राप्तिकामना ।
तदेव च परं धाम कथयन्ति मनीषिणः ।।

मनीषी लोग उसी को गन्तव्य स्थान कहते हैं, उसी की प्राप्ति की कामना किया करते हैं, वही परम धाम है।

केचिद् गच्छन्ति तद्रष्टुं केचिद् गन्तुं च सोद्यताः ।
केचिद् गच्छन्ति तत्रैव परमार्थस्य दर्शकाः ।।

कोई उसे देखना चाहते हैं, कोई वहां जाने को उद्यत होते हैं। कोई वहां पहुंच जाते हैं और वे पहुंचने वाले ही परमार्थ–दर्शी बन जाते हैं।

कथितं च तथा शास्त्रे श्रुतं च साधकैर्जनैः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

शास्त्र में कहा भी गया है और साधक जनों ने सुना भी होगा कि "मेरा धाम वही है जहाँ पहुंच कर फिर जन्म मरण में लौटते नहीं हैं।"

गन्तुं वाञ्छन्ति सर्वेऽपि सर्वेषां भावनापि सा।
किन्तु सर्वे न गच्छन्ति मार्गं तेषां न संस्तुतम् ।।

उस पद तक सभी जाना चाहते हैं और सभी की वहाँ पहुंचने की भावना भी रहती है, किन्तु सभी वहाँ तक पहुंच नहीं पाते हैं, क्योंकि उनके लिये मार्ग परिचित नहीं है।

नाना-साधन-सम्पन्नाः अथवा हीन-साधनाः।
षोडशीमात्र-ज्ञानेन क्रिया-ज्ञानेन वै ध्रुवम् ।।

नाना तरह के साधनों से सम्पन्न भले ही हों अथवा साधन हीन ही क्यों न हो षोडशी टंक विद्या के ज्ञान द्वारा और तदन्तर्गत क्रियाओं के ज्ञान द्वारा अवश्य ही-

स्थानपरिचयज्ञानाद् मार्गेण परियान्ति वै।
नास्ति तत्रावरोधस्य सत्ता यत्र च साधुना।।

स्थानपरिचय के द्वारा और मार्गपरिचय से साधक लोग चल ही पड़ते हैं। टंकविद्या के ज्ञान के बाद उनके मार्ग में किसी रूकावट का अस्तित्व ही नहीं रहता है।

"सर्वं च तद् मोहनाशार्थं" सहसा सन्तरेद् विज्ञः घोटकस्थः सुसंस्थितः।
अश्वविद्या च या प्रोक्ता टंकविद्या पुनः पुनः।।

बुद्धिमान् साधक घोड़े पर सवार होकर भलीभाँति पार लग जाता है। जो टंकविद्या और अश्वविद्या बताई गई है, उसके

तस्याःहि ज्ञानमात्रेण क्रियामात्रेण निश्चितम् ।
नाथनाथेन सम्प्रोक्तंमानवो याति तत्पदम् ।।

ज्ञानमात्र से और क्रियामात्र से निश्चय ही उस पद तक पहुँच जाता है। क्योंकि यह विद्या नाथनाथ गोरक्ष देव की कही हुई है।

स्वयं दर्शितमार्गोऽसौ स्वयं यातश्च तत्पदम् ।
दृष्ट्वानुभूततत्त्वार्थः स एव परमः परः।।

गोरक्ष देव ने स्वयं ही उस मार्ग को भलीभाँति देखा है, और उस पद तक स्वयं पहुँचा है। तत्त्वार्थ को स्वयं देखकर और अनुभव करने वाला वही सर्वश्रेष्ठ योगी है।

तेन दृष्टं च ज्ञातं च अनुभूतं च तत्पदम् ।
अत एव स सर्वासां गमनाख्यां परात्पराम् ।।
विद्यां कथयिष्यति वै सर्वां न तत्र विचिकित्सतम् ।।

गोरक्ष नाथ ने स्वयं देखा है, जाना है और साथ ही उस पद का अनुभव भी किया है, इसीलिये वही वहाँ पहुँचाने की सबसे उत्तम रीति बताने वाली समस्त विद्या को तुम्हें बतायेगा। उसके बताने पर फिर तुम्हें कोई संशय नहीं रहेगा। इस विद्या के उपदेश करने का वही परम सिद्ध योग्य अधिकारी है।

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन। यह टंक विद्या की बार बार याद दिलाई जा रही है। यह गुप्त लुप्त है। यह इसलिये बताई जा रही है कि मार्ग परिचित हो जाय। अश्व साधित हो जाय और जब तक उसमें सुस्थिरता नहीं आती, पहुँचने के मार्ग के बीच में ही रह जाता है। जब मूलाधार में स्वाधिष्ठान से ऊपर उठना प्रारम्भ करता है तो उसे बड़ी अड़चनें आती हैं, बाधायें आती हैं। उन पर विजय प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है। जिसने साधन प्राप्त कर रखा है उसको वह महाशक्ति की ज्वाला स्वतः अन्धकार में मार्ग बताती चलती है। किन्तु उस मार्ग की परिचयावस्था भी बतानी होती है। अन्यथा साधक कभी कभी भटक जाता है। वहाँ से सर्वप्रथम एक दायरा है। एक छोटा सा घेरा है। जब उस दायरे और घेरे में घोड़ा खड़ा हो जाता है तब अश्व को कूदकर जाना होगा। नीचे से एक खाई है, उसे पार करना होगा। अश्व सावधान रहे। अश्ववार जब कम्पायमान होता है और उसमें शक्ति आ जाती है तब उसमें कूदने की शक्ति आ जाती है, पर महाशक्ति कूदने नहीं देती। अश्व, अश्ववार (घुड़सवार) महाकशाघात करदे, वहीं सब कुछ प्राप्त करना है। आधार भूमि का एक छोर यहीं है और एक छोर आगे है। वहाँ महाशक्ति क्षीण होने लगती है। और रूक जाती है। समर्थ गुरू का कार्य वहीं पर है। वह उसे जगा देता है। उस वक्त आधार देकर सावधान कर देता है। और कहता है घोड़े पर बैठा रहे। अश्व दौड़ेगा। महामाया कुण्डलिनी शक्ति जब जागृत हो जायगी, तो घोड़े को छोड़ दो, महाशक्ति मणिपूर में आ जायेगी वहाँ इधर उधर नीचे ऊपर मणि ही मणी हैं। उनकी चकाचौंध आकृष्ट कर देगी। आँखों का वातावरण ही बदल जायेगा। आनन्द भूल जायेगा। मणियों की चकाचौंध में बंधा अश्व भी जल स्नान करना चाहेगा। लगवा दो गोता। ठहरना नहीं मन्थन करलो, वहाँ भी इस घोड़े को एकबार घुमाओ, हिला दो, आन्दोलित कर दो। लहरें पैदा करदो। उन लहरों में बैठ कर आने का रास्ता साफ हो जायेगा। फिर जल की छोटी छोटी लहरियाँ दौड़ेगी। यही साधक के लिये बहुत बड़ी खाई है। माँ सरस्वती ने कहा है- जब तालाब में डूबने वाला आकण्ठ जल पी लेता है तो बेहोश हो जाता है, मरता नहीं, फिर उसका पेट दबाकर सारा जल निकाल दिया जाता है। अर्थात् पेट दबाकर रेचक कर लो। जीवन शक्ति मिल जाती है।

१७-१२-६२ सायंकाल ।।८६।।

शुद्धाम्बोदमयीमनन्त शयनामानन्दपूर्णा महा-
आनन्देन परिप्लुतां परिवहां पारं परं पावनीम् ।

तां देवीं सततं नमामि परमां पारार्थ्य पारापरां
यत्पादाम्बुज सेवनात् परमको हंसः सुमुक्तिं भजेत्।।

स्वच्छ बादलों जैसी, अनन्त पर शयन करने वाली, आनन्दपूर्ण, महान् आनन्द से परिपूर्ण, परम पवित्र करने वाली, परमार्थ मार्ग के छोर तक ले चलने वाली, जिसके चरणों का अवलंबन करने से साधक परमहंस बनकर उत्तम मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उस भगवती मां को मैं नमस्कार करता हूँ।

नमो भगवती देवी नमस्ते ब्रह्मबोधिनी।
नमस्तेऽज्ञानससारात तारिणी ते नमो नमः।।

उस भगवती को नमस्कार है, ब्रह्म को बोध कराने वाली उस माँ को नमस्कार है। अज्ञानपूर्ण संसार से पार करने वाली उस तारिणी भगवती को नमस्कार है।

चिदानन्ददानन्दां परमसुभगां प्रीतिजनकाम्,
जरारोगाद् दूरं कृतपरिसरां सारसहिताम्।
परात् पारं पारं परमपरमां पारपरणीम्,
अपर्णामद्वैतां विनयमवनीं शुद्धसुभगाम्।।

चिदानन्दरूपा, आनन्दरूपा, परम सुन्दर, प्रीतिदायिनी, जरा और रोगों को दूर करने वाली, सारभूता, परात्पर परम पद तक पहुंचाने वाली, अद्वैतरूपा, शुद्ध, मनोहर अपर्णा भगवती को बारम्बार नमस्कार है।

नमामि तां द्वैताद्वैतरूपिणीं द्वैताद्वैत विबोधिनीम्।। ॐ।।

द्वैत और अद्वैत रूपिणी भगवती को नमस्कार है। द्वैत और अद्वैत का ज्ञान प्रदान करने वाली भगवती को नमस्कार है।

यत्प्रोक्तं मणिपूरके कृतधियां दिव्यं सरोदर्शनम्
स्नात्वा तत्र जले पवित्रमतयो मार्गं च ते यान्ति वै।
तन्मार्गं विकटं सुसारलयुतं सारल्यभाजं परम्
तेषां स्यानवता च राजसहितं राजत्वराजान्वितम्।।

योग साधकों को जो मणिपूर चक्र में तालाब के दर्शन की बात कही थी, उस जल में स्नान करने पर बुद्धि निर्मल हो जाती है और वे मार्ग पर चल पड़ते हैं। वह मार्ग बड़ा विकट है, किन्तु सरल तरीके से जाने वालों के लिये वह भी सरल बन जाता है। तालाब में स्नान करने वाले स्वच्छ सुशोभित होकर राजा की भाँति उस राजमार्ग पर चल पड़ते हैं। राजा की भाँति प्रतिष्ठा पाते हैं।

तस्मान्निगाल्य पयसः पूतात्मा पूतविग्रहः।
संयाति सरलं मार्गं अश्वं तत्र च संन्नयेत्॥

उस जल से भीगे हुए बाहर निकलकर साधक का शरीर और मन पवित्र हो जाता है। फिर घोड़े को सरल मार्ग से ले चलना चाहिये।

शनैः शनैः सुखं यावत् यावन्मार्गं च गच्छति।
न क्लान्ति – नैव भ्रान्तिः स्यान्निष्क्लान्तो निर्मलो भवेत्॥

फिर धीरे धीरे, आराम से जब तक घोड़ा चलता रहता है, तब तक थकता नहीं है। भ्रम में भी नहीं पड़ता है। बिना श्रम और थकावट के निर्मल बना रहता है।

निर्मलत्वान्मनोबुद्धिर्मणिवद् भासते स्वयम्
दर्शिका तस्य मार्गस्य सा बुद्धिर्जायते स्वतः॥

निर्मल शरीर होने पर बुद्धि और मन भी निर्मल रहते हैं, मणि की भाँति स्वयं साधक चमक जाता है। वह निर्मल बुद्धि स्वयं साधक के मार्ग को दिखाती चलती है।

नित्या सा नूतना नारं नारदां नार संज्ञकाम्।
दिव्यां ताँ मार्गमालम्व्य मार्गभ्रष्टो न जायते॥

वह बुद्धि नित्य नूतन होती रहती है, वह बुद्धि दिव्य है, उस बुद्धि को "नार" कहते हैं, नारद भी उसे कहते हैं। उसे प्राप्त करके साधक मार्ग पा लेता है और मार्ग भ्रष्ट नहीं हो पाता है।

अश्वोऽपि याति उद्विग्नं बिना शान्तस्वरूपकः।
किन्तु तत्र च या शक्ति तत्रैव नहि मुच्यताम्॥

बड़े शान्त रूप से बिना किसी उद्वेग के घोड़ा भी चलता रहता है। उस स्थिति में जो जागृता शक्ति है उसे छोड़ नहीं देना चाहिये। उसे पकड़े रखना होगा।

पश्चात्तस्य तडागस्य समीपे बहुविघ्नकम्।
यद्वैराजपथस्तत्र पिच्छलत्वाय जायते॥

फिर उस तालाब के समीप में बड़े बड़े विघ्न भी हैं। क्योंकि तालाब के किनारे राजपथ में फिसलन है। वहाँ सावधानी से संभल कर चलना होगा।

तत्रापि स्खलनाद् भीतिर्नहि तत्रोपजायते।
पदं निधास्यसि तत्र सावधानो भवेद् बुधः॥

वहाँ पर गिर पड़ने का भय है। यदि तुम ऐसे स्थान पर पैर जमाओगे, जहाँ पर पैर जमाने से सावधानी रहे तो फिर कोई भय नहीं है। समझदारी यहीं पर है।

न स्वयं न च वा तस्य भ्रान्तिमश्वश्च गच्छति।

पिच्छलं चापि तन्मार्गं दृष्ट्वा नोद्विजते हि सः।।

शक्ति के अवलम्बन से साधक को न तो स्वयं भ्रम रहता है और न ही घोड़ा भ्रम में पड़ता है। मार्ग भले ही फिसलन वाला हो, फिर भी घोड़ा बिचटता नहीं है, निर्भय और संशय हीन रहकर चलने लगता है।

गोरक्षं नौमि तं देवं योगमार्ग प्रदर्शकम् ।

यत्कृपालवमात्रेण तत्त्व ज्ञानं च प्राप्यते ।।

आहा ! धन्य हैं गोरख बाबा को। योग के प्रशस्त मार्ग को दिखाने वाले गोरक्ष देव को मैं प्रणाम करता हूँ, जिसकी कृपा के लवमात्र से इस योग मार्ग का ज्ञान प्राप्त हो रहा है।

ज्ञानं यत्परमं गुह्यं गुह्याद् गुह्यतरं च यत् ।

तत्सर्वं देवदेवेन गोरक्षेण प्रकाश्यते।।

वह उत्तमोत्तम ज्ञान जो परम गूढ़ है, रहस्यमय है, गुह्य से गुह्यतर है, गुप्त लुप्त है, जो अनधिकारियों को अप्रकाशनीय है, उसे गोरक्ष देव ने सर्वांग रूप से खोलकर रख दिया है।

तस्मात्तमेव त्वं सद्यः सुस्थिरः शरणं ब्रज।

स एव देवदेवस्त्वां तत्र नेष्यति सत्वरम् ।।

इसलिये हे वत्स ! तुरन्त निश्चित और सुस्थिर होकर उसी गोरक्ष की शरण पकड़ लो। वही देवाधिदेव गोरक्ष तुम्हें उस गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देंगे।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। ऊँअलख निरञ्जन। माँ सरस्वती की आज्ञा शिरोधार्य है। माँ जो कहती है वह बहुत भारी बात है। सेवक गोरक्ष वस्तुस्थिति में योग की जिन बातों को जानता है उन्हें प्रकाश में लाना चाहेगा और कुछ भी छिपा न रखेगा। माँ की आज्ञा है। शास्त्र का वचन है, मानव का हित है, आवश्यकता है। अतः आने दो। शास्त्र का प्रचलन होने दो। यह हंसी की बात नहीं है। माँ जिन शास्त्रज्ञों और तत्त्ववेत्ताओं को जानती है उसे उन सबका ज्ञान है। बड़े बड़े तत्त्ववेत्ताओं, ज्ञानियों और कुलाचल पर्वतों के रहते हुए भी मां ने मुझे इस परम कार्य के लिये, इस महाभार के लिये नियुक्त किया है। मैं उसकी गूढ़ातिगूढ़ रहस्यमयी बुद्धि को सुलझा दूँगा। यह टंक विद्या इसलिये प्रसारित की जा रही है कि जो, कुछ सरल भी हो, अल्प-समय में अधिक फल देने वाली हो, युग के अनुकूल हो, युगावलम्बी हो,। ऐसे ही समय में **इन मुद्राओं को सुलभ** किया जा सकता है। यह विद्यायुगावलम्बिनी है। इस समय शास्त्र की **मर्यादा का लोप** हो सकता है। इसलिये इसका प्रचार किया जा रहा है।

हम मणिपूर के सम्बन्ध में बता रहे थे। वहां गोता लगाने से निर्मल होता है। नीचे से मार्ग उठा कर जाते हैं। गोताखोर को सावधान होना चाहिये, यद्यपि परमा शक्ति उभारेगी। सावधान ! साधक ! देखो, किस तरह गोता लगाओगे। कोई भी आसन लगा सकते हो। इसके पश्चात् अश्वोदरी मुद्रा लगा लो। इससे नीचे की वस्तु ऊपर आ जायेगी, अर्थात् जो जल का निम्नस्तर का भाग है, वह ऊपर आ जायेगा। अश्वोदरी करो, फिर एकाएक पेट को पीठ की ओर ले जाओ। पेट को पीठ से लगा दो। नाभि में ध्यान लगाकर जरा देखो। फिर पेट को फुलाओ, फिर पेट को भीतर ले जाओ। इसमें अन्य अंगों का संचालन कम हो। केवल नाभि को पीठ से टकराने दो फिर पूरक करो, रोके रहो। वहाँ डुबकी लगाना है, फिर ऊपर आ जाओ, और सीधे तन जाओ, फिर श्वास को यथाविधि चलने दो। इस प्रकार पाँच छः बार करो। इसके पश्चात् घूर्णिका का सहारा दो, चक्कर दो, एक, दो, तीन, चार चक्कर दो। नाभि को चलाओ, इन चार चक्करों में आनन्द आना चाहिये। श्वास मन्द-मन्द धीरे-धीरे चलने दो, चेष्टा मत करो। इस तरह सावधान होकर चलने की तैयारी करो। अभी तुम तट पर आये हो, सावधान रहो तट पर आकर अश्व का और अपना पैर ऐसे स्थान पर रखो, जहां फिसलन न हो, क्योंकि यहां से सर्पिणी को साथ ले जाना है। नाथना है, सर्पिणी भी बाहर जा रही है। हंसा मुद्रा का अवलम्बन लो, जरा सी हंसा मुद्रा करो, मेरूदण्ड झुका लो, कन्धों को जरा ऊपर ले जाओ, नीचे का भाग ही झुके, ऊपर का भाग न झुके, पेट को आगे की ओर थोड़ा धकेलो, नाभि से टक्कर लो, सूख जायेगी सभी विछलन यहाँ से तुम ज्योति लेकर चलो, ज्योति लेकर बढ़ते जाओ। इसे फिर समझाऊँगा।

नाथले, नाथले, नाथले, नाथ ! तू नाथ ले।
सार को जानले, सर्पिणी नाथ ले।
नाथ की बात को नाथ में नाथ ले।
नाथले, नाथले, नाथले, नाथले, नाथले।।
नाथ की बात से बात को शोध ले।
शोध ले, जानले, मानले।
वायु को वायु से वायु में डाल दे।
वायु के बेग को थामले, थाम ले।।
सांझ की बेला में डूब जा, डूब जा।
एक-से एक दो रत्न की ज्योति का।
ज्योति के ध्यान में भूलना मार्ग मत, दूर जाना तुझे।
नाथले, नाथले, नाथ ले, नाथले, नाथले।
सर्पिणी एक है, नाथ भी एक है, नाथ ले रज्जु से।
साथ में ले चले शान्त करना उसे नाथ की नाथिनी।
सांस की साथिनी साथ ले, नाथदे।।

यह तालाब विचित्र है।

जो कोई ३..वे घुसण न पावे।
घुसे तो निकले नाहीं।
एक बार जो नाथ के निकले।
सो सब जोग को पावे।

पौन पाणि सब सबहिं बतावे।
नाथहि नाथहि भावे।
अगम अथाह भरा जल ता में।
कोई थाह न पावे।।
गोरखनाथ सहज में ताको
तहाँ तुरत पहुंचावे।।

१८-१२-६२ प्रातःकाल ।।८७।।

आद्या आद्यन्तहीना प्रकटितगुणा निर्मला नित्य शुद्धा।
एका नैका तथाऽजा सकलसुरहिता याऽनजा जन्मयोगा।
कल्लोलानन्दरूपा सुरवर नमस्या दधानाम्णूनाम् ।
प्राणं प्राणस्य तत्त्वं प्रणयगतियुतां प्राणिनीं प्राणिनां च।।

आद्या, आद्यन्तहीना, जिनके गुण प्रकट हो चुके हैं, जो निर्मल एवं नित्य शुद्ध हैं, जो एक भी हैं, अनेक भी हैं, जो अजा हैं और अनजा भी हैं, जो जन्मधारक भी हैं और अजन्मा भी हैं, जो आनन्द के कल्लोल से भरी हैं, सर्वश्रेष्ठ देवों द्वारा बन्दनीय हैं, प्राणों के अणुओं को धारण करने वाली हैं, जिससे सभी जीव प्राणवन्त होते हैं, अतः जो प्राणियों को परम प्रिय लगती हैं, उस माँ भगवती को प्रणाम है।

सुस्थिरं सुनयं स्वस्थं समत्वेन विराजितम् ।
भद्रं विभ्राजमानं तं निराधारात्मबोधकम् ।।

जो शान्त, धीर, सुस्थिर, सर्वदा समभाव में स्थित हैं, ऐसे मंगलकारक आसन में दीप्यमान हैं जिसके दर्शने से ही द्रष्टा निराधार आत्मा के बोध को प्राप्त कर लेता है।

अनन्तमजमाद्यं च तारातार परं गतम् ।
मार्गश्रान्तिवहं वन्दे सिद्धं गोरक्षयोगिनम् ।।

अनन्त, आद्य, और अयोनिज उस गोरक्ष देव को प्रणाम है जो तार तार पृथक् करके सभी रहस्यों का भेदन करके पार पहुंचे हैं। साधक के मार्ग की थकावट को दूर करने वाले सहज-सिद्ध गोरक्ष को मैं प्रणाम करता हूँ।

नयामि तत्र त्वां यत्र गच्छन्ति योगिनो जनाः।

अबोधं वा सुबोधं वा वोधस्य बोधकांक्षिणः।।

मैं तुम्हें वहां ले जाती हूँ, जहाँ सभी योगी जन जाते हैं। चाहे ज्ञानी हों, चाहे अज्ञानी हों, चाहे ज्ञान की अभिलाषा रखने वाले हों, सभी वर्ग के लोग–

सर्वे च यत्र संयान्ति तत्रैव च नयामि त्वाम् ।

स्थानं मार्गं त्वदायत्तं दर्शयित्वा पुनः पुनः।।

जिस स्थान पर पहुँचते हैं वहीं तुम्हें ले चलती हूँ। उस स्थान को उस मार्ग को बार–बार दिखाती हुई जो तुमने पकड़ा है, जिस पर तुम चलोगे, चल रहे हो।

आगच्छ भीतिरहित उद्विग्नो मा भवन् क्वचित् ।

यदि सन्तरणेऽकांक्षा तथा गच्छान्तिकं मम।।

हे वत्स ! भीति रहित होकर चले आओ। कभी कहीं उद्विग्न न हो जाना। यदि पार उतरने की उत्कण्ठा है तो मेरे समीप चले आओ।

तदाहं त्वां महाबोधं महाबुद्धिप्रसारकम् ।

मणिपूरं समाक्रम्य ऊर्ध्वस्ताद् गच्छ सत्वरम् ।।

मेरे समीप आने पर, मैं तुम्हें उस मणिपूर चक्र के ऊपर अधिकार करवा दूँगी जो महाबोध दायक है और महाबुद्धि का विकास कर देने वाला है।

मणिपूरो जितो येन तेन सर्वं जितं भवेत् ।

महावारि च तत्रैव दुष्करं तरणं हि तत् ।।

बस, जिसने मणिपूर विजय प्राप्त कर ली, समझ लो कि उसने सब कुछ जीत लिया। वहाँ पर बहुत गहरा जल है जिसके पार उतरना बड़ा कठिन है।

किन्तु शक्ति समापन्नः सदश्वः अश्ववारकः।

मुखे वल्गां दृढं दत्वा पिच्छलेनापि वर्जितः।।

किन्तु जो साधक शक्ति सम्पन्न है, जिसकी शक्ति जाग गई है, जिसका घोड़ा सधा हुआ है, जो अच्छा घुड़सवार है, वह घोड़े के मुख की लगाम दृढ़ पकड़कर फिसलन से भी बचा रहता हूँ।

कम्पं कृत्वा ततस्तत्र कूर्दनेन समन्वितः।

पारं गच्छति तद् घाट्याः न च तत्र रतो भवेत् ।।

तदनन्तर कम्पन करते हुए छलांग लगाकर उस तालाब को पार कर जाता है, उस घाटी के पार निकल जाता है। उस स्थान की शोभा देखने में लगा न रहे।

रतिस्तत्र महाजाता यस्य स रमते यदा।
रमणं तत्र वै कृत्वा उद्धरेद् बहुकालकम् ।।

यदि वहीं सौन्दर्य सुख में रमण करने लग पड़ा तो वहीं फंस जायेगा और फिर वहाँ से उद्धार पाने में बहुत समय लगेगा। फँस कर वहाँ से निकल पाना बड़ा कठिन काम है।

साधितो मणिपूरः सन् मणिवन्निर्मलां च ताम् ।
बुद्धिं ददाति तत्कार्यसाधिकां परमोज्वलाम् ।।

जब साधक मणिपूर चक्र को सिद्ध कर लेता है तो वह साधित मणिपूर ऐसी निर्मल बुद्धि प्रदान करता है जो परम उज्वल होती है और साधक के योगमार्ग का प्रदर्शन करने वाली होती है।

साधकस्तत्र संलग्नस्तया बुद्धया नियोजितः।
स्वयं स्वयं शनैर्याति मार्गस्थानं च ज्ञायते।।

उसी निर्मल बुद्धि से प्रेरित होकर साधक अपने आप धीरे धीरे अपनी ही बुद्धि के प्रकाश में अपने मार्ग को पहिचानने लगता है और चलता रहता है।

शुद्धो वा मणिपूरश्च जायते ज्ञायतां तदा।
यदा वै वासना नोना भोगेच्छा च प्रजायते।

मणिपूर शुद्ध हो चुका है, इसकी पहिचान यह है कि जब भोग वासना में कमी न आवे, भोग करने की इच्छा में तीव्रता आ जावे, भोगेच्छा बलवती हो जाय।

सर्वदैव च यद्भावो भोगेच्छा जनकः स्वतः।
कामोद्दीप्तिकरः पूर्णः संचालयति वै पुनः।।

निरन्तर स्वयं की काम भावना जागृत रहे और उसे पूर्ण करने की इच्छा जोर पकड़े। यह काम भाव साधक को फिर फिर गिरा देगा।

कामस्य भावना प्रौढा रोद्धुं नैव च शक्यते।
चालयत्येव सा तत्र ब्रह्माण्डं ब्रह्मवर्तिनी।।

काम की प्रौढ़ भावना तीव्र हो जाय और रोकी न जा सके, यह बहुत स्वाभाविक है। यही काम भावना समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर उसे कंपा रही है, साधक भी तो उसी में है।

यदि सा भावना निम्ना जागृता दृश्यते क्वचित् ।
ज्ञायतां मणिपूरस्य मन्थनं पूर्णतां गतः।।

यह कामोद्दीपन की निम्नभावना यदि साधक को योगसाधन मार्ग में दिखाई देने लगे तो समझ लो कि मणिपूर का मन्थन अब पूर्ण हो गया है। ऐसी इसकी पहिचान है। यही लक्षण हैं, (कई साधक ऐसी स्थिति में निराश होकर साधना त्याग देते हैं, यह विघ्न है)।

परीक्षा तत्र सा प्रोक्ता कामोद्दीपनभावना।

वासना जनिता सा च भूयो भूयः प्रजायते।।

मणिपूर मन्थन के समय की, बस एक यही परीक्षा का समय है, साधक को फेल नहीं होना चाहिये। काम वासना बार बार उठती रहेगी, जहाँ तक बन पड़े साधक उसे दूर हटाने का प्रयास करता रहे।

तदैव सावधानेन साधकेन पुनः पुनः।

वर्तितव्यं सदा यत्ने न चं मूढवदाचरेत् ।।

उस समय साधक सावधानी रखे, बार बार समझ से काम ले, मूर्खता से यथेच्छ आचरण न करे।

यदि सा साधिता चेच्छा भोगेच्छा च वशीकृता।

पुनः सा सर्वमायाति सर्वसिद्धि प्रदायकम् ।।

यदि भोग की इच्छा मणिपूर चक्र भेदन-काल में जीत ली, उसे वश में कर लिया और उस बीच यथेच्छ अनाचार न किया तो वह जागृता शक्ति समस्त प्रकार की, अनेकों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करती है। मणिपूर की सिद्धि का स्वयं वरदान प्राप्त होता है।

गोरख वाणी :- मणिपूर का मन्थन बताया जा रहा है। क्रिया बताई जा रही है, उसमें घुसना भी कठिन है निकलना भी कठिन है, नहीं भी है। जो एकबार समस्त योग साधन में, चाहे शीघ्रता कर ले, यह बात पूर्णता को प्राप्त नहीं होती, न तो मणिपूर भेदन ही होता है। मणिपूर को मथना है। साधक ! घबराना नहीं। इस मणिपूर में एक और शक्ति है जो विचलित कर सकती है। आओ, उससे परिचय कराता हूँ। सीधे हो जाओ, हल्के रूप में हथौड़ा ठोको, नाभि चक्र स्थित सर्पिणी के बारे में जो कहा गया है उसकी गर्दन झुका दो, श्वास को ऊपर खींचो।

साधले एक को साध ले एक को जो सधेगा स्वयम् ।
साधले एक को साध ले एक को जो सधेगा स्वयम् ।।
और तू साथ ले जा रहा है जहाँ शक्ति देवी स्वयम् ।
साधना भी तुझे, बैठना, साधले एक को।
पूर्णता प्राप्त कर आपकी ज्योति को देख ले।
देखले देखले लाभ से मुग्ध तू हो नहीं।
कामना जागृता हो सके मारदे मारदे मारदे।।
भावना मार्ग की साधले साधले।
त्याग दे राग की भावना त्याग दे।
शोध दे तत्त्व को उठ खड़ा चल पड़ा जा कहीं।

तू जहाँ जा रहा है वहाँ रोक मत अश्व को रोक मत अश्व को।
एक से एक में ज्योति का वेग ले तस्म को हाथ ले।
एक हाथ में ले लगाम तू एक हाथ में ज्योति।
पीछे सर्पिणी आवे नाथ के रहे सदैव संगोती।
वही सर्पिणी वही सर्पिणी आगे आवे भीतर राह बतावे।
कठिन सुंरग है साधो ! तामें योगी घुस घुस जावे।
अरे, परम तत्त्व का सीधा मारग ऐसा कौन बतावे।
बैठ सुरंग के भीतर साधो ! उल्टा पल्टा खावे।
ताल नहावे सो बल पावे सर्पिणी नाथ नहावे।
आवे सर्पिणी हाथ तो साधो ! सुरंग का तत्त्व बतावे।
आगे आगे सर्पिणी जावे पीछे अवधू धावे।
यही सुरंग है जहाँ न कोई योगी बैठण पावे।
एक मार्ग से पूजा भीजा गोरख राह बतावे।।
सीधी राह बतावे साधो ! सुरंग के पार लगावे।।

चाहे हठयोग हो, चाहे मन्त्रयोग हो, चाहे लययोग हो, चाहे राजयोग हो, कोई भी योग क्यों न हो, वह योग पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, जब तक मणिपूर सिद्ध नहीं कर लिया जाता है। मणिपूर में सभी गोता खा जाते हैं, पार नहीं पा सकते हैं। आओ ! मणिपूर को मथना है, घबराना नहीं है, सब सरल हो जायेगा। इस मणिपूर में एक और शक्ति है जो कभी भी तुम्हें विचलित कर सकती है। आओ, सीधे हो जाओ। हल्के रूप में हथौड़ा ठोकने की बात कही थी, वहाँ पर वह शक्ति साथ चलने को तैयार है। इसे ही वशीभूत करना है। मेरूदण्ड झुका लो। श्वास ऊपर खींचो। नाभि को पीठ पर लगाओ। लगाओ और लगाओ। कुम्भक लगाओ। नसें खिंचेंगी। मेरूदण्ड झुकाओ। हुं शब्द करते हुए जब श्वास उठ जाय तो समझो कि ऊपर से सम्बन्ध हो गया है।

मणिपूर में तीन बाधायें आती हैं। १–सिद्धि, २–ज्योतिमणि, और ३–कामोद्दीपन। इन्हीं को वशीभूत रखने का सरल उपाय बताया जाता है, कामभावना को विजय करने के लिये हुंकारो। एक बात और ध्यान रखो, इसके लिये सर्वतोभाविनी मुद्रा का प्रयोग कर लेना चाहिये। उससे कामोद्दीपन से बच जाओगे, वेग शान्त हो जायेगा, मार्ग की अड़चनें दूर हो जायेंगी, यही एक विकट घाटी है। मणिपूर को पार कर लिया तो और अड़चन की चिन्ता नहीं।

१८–१२–६२ सायंकाल ।।८८।।

हरि ॐ तत् सत् ।

विपुलकचकलापमुद्वहन्तीं पद्मसमानदेहकान्तिम् ।

प्रणमामि सदामजां तां विशदां हृदयस्वरूपरूपाम् ।।

बड़े घने केशभार को धारण करने वाली, पद्म के समान शरीर की कान्तिवाली, हृदय को सुन्दर लगने वाली उस निर्मल शुभ्र अजन्मा भगवती सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ।

नमामि तां महाविद्यां षोडशीं षोडशाक्षरीम् ।

षोडशेन समायुक्तां षोडशस्योपदर्शिकाम् ।।

सोलह अक्षरों वाली उस षोडशी विद्या को प्रणाम करता हूँ, जो षोडश नामक शिव से समन्वित है और जो चिरयुवा षोडशवर्षीय शिव के पास ले जाकर उनके दर्शन करा देती है।

नित्यां परिचयां मुक्तां लुप्तां च ख्यातिमागताम् ।

प्रकटां प्रकटत्वेन प्रकृष्टां कृष्टज्ञानदाम् ।।

नित्य हैं, परिचित जान पड़ती हैं, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, लुप्त होकर भी प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई हैं, जो प्रकट भी हैं, अप्रकट भी हैं, सर्वश्रेष्ठ ज्ञान को देने वाली हैं।

नमामि तां महाविद्यां टंकनाख्यां परात्पराम् ।

यस्या हि ज्ञानमात्रेण मार्गं तरति साधकः।।

मैं उसी टंक विद्या को नमस्कार करता हूँ, जो परात्पर हैं। जिसके ज्ञानमात्र से साधक मार्ग के पार लग जाता है, उस महाविद्या टंक विद्या को प्रणाम है।

स्नात्वा कदुष्णे सलिले स्वेच्छया च विचारतः।

निर्मलो निष्कलो भूत्वा अश्वधावनतत्परः।।

अपनी इच्छानुसार उस कदुष्ण जल में स्नान करके साधक निर्मल बन जावे और कलुष को धो ले। फिर स्वस्थ और तैयार होकर घोड़ा दौड़ाने को तत्पर बन जाय।

पिच्छलं चैव पन्थानं हित्वा याति पुरः पुरः।

अश्वो नयति तं तत्र यत्र सा भुजगी गता।।

वह सधे हुए घोड़े के फिसलन के स्थान को छोड़कर मार्ग पर आगे आगे चलते जाना है और साधक को वहाँ ले जाना है जहाँ वह सर्पिणी चल रही है।

सन्धिस्तत्र च एका सा सरला सुव्यवस्थिता।

येन मार्गेण गन्तव्यं साधकेन शनैः शनैः।।

वहाँ पर एक सरल और सुव्यवस्थित सन्धि है। जिस मार्ग से धीरे-धीरे साधक को अपने गन्तव्य तक पहुंचना है।

प्राणवायुं समाकृष्य भुजगीं पुच्छगोचरः।

सा एव वायुमादाय कर्षं कर्षं प्रयच्छति।।

सर्पिणी के पूंछ के अग्रभाग में प्राण वायु का प्रवेश करना चाहिये। वह सर्पिणी उस प्राण वायु को खींच खींच कर बाहर फेंकती है।

क्वचिच्च सा याति शनैः शनैः क्वचित्
क्वचिच्च वक्रं च ऋजुगापि च क्वचित् ।।

सर्वं समादाय च प्राणवायुं विलेन सा याति महापथेन।।

उस सर्पिणी के पूंछ के छिद्र भाग में प्राणवायु के प्रवेश होने पर, वह कहीं पर कभी धीरे चलती है, कभी टेढ़े मेढ़े चलती हैं, कहीं सीधी चलती है। पूरी प्राणवायु को लेकर वह महापथ में चलती रहती है।

गोरखवाणी :- वह सर्पिणी जो बताई गई है उसके पुच्छ में एक लघुच्छिद्र है। अपनी समस्त प्राणवायु रेचक के रूप में नीचे ले जाने से उसके पुच्छाग्रभाग में प्रवेश हो जाता है। यह मणिपूर के ऊपर का मार्ग है।

सा वै संसर्पणी नाडी विरजा ज्ञानगोचरा।

सर्पणं सर्पणं कृत्वा सर्पणीत्यभिधीयते।।

इस सर्पिणी नाड़ी को विरजा नाड़ी द्वारा चेतना प्राप्त होती रहती है, ज्ञान प्राप्त होता रहता है। यह नाड़ी गतिशील रहती है, सरकती रहती है, इसलिये इसका नाम सर्पिणी है।

सर्वमस्यां च यद्रूपं सर्पणाख्यं तदैव तत् ।

विरजां तत्र पर्यन्तं सा नाडी प्रापयेच्च त्वाम् ।।

इसका जो स्वरूप है, ठीक सर्पिणी की तरह ही है, यही सर्पिणी तुम्हें विरजा पर्यन्त पहुँचा देगी। (विरजा का वर्णन पूर्व प्रकरणों में आ चुका है)

तत्र ते श्वास वायुस्तु यदागच्छति स्वल्पकः।

तदैव मणिपूरस्य अग्रे मार्गं स्फुटं भवेत् ।।

जब तुम्हारा श्वास प्रश्वास मन्द पड़ने लग जायेगा, श्वास प्रश्वास की गति धीमी पड़ने लग जायेगी, तभी मणिपूर के आगे का भाग साफ होने लगता है।

यदि वा क्षरते वायुः क्षरणं चैव तद् भवेत् ।

एकं वा बहुबारं वा श्वास प्रश्वासमाचरेत् ।।

जब प्राण वायु क्षरित होता रहे, श्वास प्रश्वास की मात्रा कम न हो, तो होने दो, बस एक दो बार फिर से दीर्घ श्वास लेकर सब ठीक हो जायेगा।

एवं कृते तु सा नाडी मार्गे च सुस्थिरा स्थिरा।

वायुमादाय यातुं च यत्र सद्यो विधास्यति।।

ऐसा करने पर वह सर्पिणी नाड़ी अपने मार्ग पर तैयार हो जाती है और प्राणवायु को अपने साथ लेकर शीघ्र चलने को उद्यत हो जाती है।

न तत्र धारणा कार्या न चात्र चिन्तयेत् क्वचित् ।

यद् भूतं वर्तिनं यच्च भविष्यति च यद् ध्रुवम् ।।

इस काल में न तो तुम कोई धारणा करना, न किसी बात का चिन्तन करना, जो हुआ है, जो हो रहा है, जो होगा, उस सबको, हे वत्स ! धैर्यपूर्वक देखते चलो।

तत् सर्वं पश्च त्वं वत्स ! तस्मान्मार्गं प्रयास्यसि।

वह सर्पिणी अपने आप ठीक मार्ग से तुम्हें ले चलेगी।

गोरखवाणी :- हरि ॐ तत् सत् । अलख निरञ्जन। माँ आज्ञा। ॐ साधक ! सावधान। मणिपूर के मन्थन की क्रिया बता चुका हूँ। उसका निरन्तर अभ्यास लाभदायक है। इससे मुद्रायें स्वल्पकाल-साध्य हैं। इस युग धर्म को देखते हुए यदि समस्त इच्छुकों को वास्तव में सही मार्ग पर डाल दिया जाय तो स्वयं पहुंचेंगे और पहुंचायेंगे। जब उनको परम स्वाद आने लग जायेगा तो वे औरों को भी बुलाकर ले आवेंगे। मार्ग आसान हो जायेगा। इसलिए क्रियाओं का प्रकाशन ध्यान से सुनो। महामाया कुण्डलिनी स्वतः ही उद्भूत होती हुई तुम्हारे मार्ग की अड़चनों को दूर कर देगी और तुम हंसते खेलते आसानी से पहुंच जाओगे। मणिपूर का मन्थन बता दिया गया है। आ जाओ। यदि सर्पिणी का स्वरूप देखना चाहते हो तो उसे नेत्रों में ध्यान से देखो। तुम्हारे मेरूदण्ड में तीन पर्तें हैं। पहिली पर्त सामान्य, दूसरी सुषुम्णा, तीसरी लघुनाडी जिसके जानने की अभी तुमको आवश्यकता नहीं है। उसकी ही पर्त के नीचे महाकुण्डलिनी है। महामाया के जागृत होते ही साधक में स्पन्दन होने लगता है और मणिपूर के पास आते ही उस सर्पिणी में भी स्पन्दन प्रारम्भ हो जाता है। पर वह मार्ग नहीं छोड़ती है। जब हुंकृति का शब्द होता है तो तब उसके पुच्छ का भाग खुल जाता है। उसको ज्ञान विरजा नाड़ी के द्वारा होता रहता है, पर वह ज्ञान प्रापक नहीं होता है। वह दिव्य ज्ञान नहीं होता है। और जब उसके पुच्छभाग का छिद्र खुल जाता है तो उसके भीतर वायु प्रवेश हो जाती है। वह नाथी हुई सर्पिणी है। यहाँ पर तुम्हारी कामभावना मथ दी गयी है। उसमें एकबार फिर चाञ्चल्य पैदा करना है। ध्यान से सुनना और ध्यान से करना।

सीधे बैठो। दोनों हाथों को घुटनों में रखकर मेरूदण्ड को ठीक सीधा करो। ठीक योगपट्टिका की स्थिति में, श्वास को नीचे फेंको थोड़ा, रूको, फिर नीचे की ओर श्वास

छोड़ते हुए झुकते जाओ, योगपट्टिका छूट जाय तो कोई बात नहीं। जब नीचे की ओर श्वास छोड़ते हुए झुके थे वैसे ही ऊपर श्वास लेते हुए ऊपर उठ जाओ। जब ऊपर की ओर उठोगे तो पेट भीतर की ओर झुकता चला जायेगा, मेरूदण्ड सीधा रहेगा और कण्ठ में एक गाँठ सी पड़ जायगी। हाथों में जरा जोर देना, कण्ड की वायु को रोक लेना जरा। फिर कुछ पलटा देना, पटाभनेटी भी यही होती है, फट फट फटर फटर फट फट फटर फटर ऐसा करती है। केवल ऐसा कर लेने पर उस सर्पिणी में उद्दीप्ति आयेगी, जरा सा रेचक करो, जरा सा रेचक करो। फिर पूरक करके वायु को रोक देना। मालूम पड़ता है कि लिंग के ऊपर एकाकार हो जायेगा। अश्वोदरी जैसे करते हो। एक धक्का लगा लो, दोनों कुहनियों को आसपास मिलने दो। पेट पर ज्यादा जोर न दो। ऐसा करने पर धीरे-धीरे दोनों घुटनों को कम्पायमान करो। यदि शरीर हिल जाय तो गति उत्तम है। मालूम पड़े कि कांप रहे हो। बहुत हल्के हिलना, झटके लाने से सर्पिणी फिर बैठ जायेगी। उसे सुरंग में घुसने दो, वह तनी होगी, गर्दन तक पहुंचने दो। स्वयं करो। इस प्रकार करने से मणिपूर के आगे का रास्ता साफ हो जाता है। एक दूसरा रास्ता है। एक रास्ता उल्टा पल्टा। यह एक दूसरा रास्ता है।

१९-१२-६२ प्रातःकाल ।।८९।।

ॐ ।। मणिपूरविधौ च पण्डितां गुणसंघैश्च सुमण्डितां पराम् ।
परमां परमार्थसाधिकां जननीं तां च विभावये परेशीम् ।।

मणिपूर-भेदन की विधि में पण्डित, अनन्त सद्गुणों में सुमण्डित और परमार्थ की सिद्धि देने वाली भगवती परमा परेशी जगज्जनी को हृदय में स्मरण करता हूँ।

या देवी सर्वचक्राणां ज्ञानं दत्त्वा महन्महत् ।
सा देवी चक्रभेदाय सज्जा भवतु संस्तुता।।

जो भगवती समस्त चक्रों को भेदन का बड़े से बड़ा ज्ञान देती है, वह भगवती चक्र भेदन के लिए अब तैयार हो जावें।

आयातु सा महादेवी साधकानां हिताय वै।
मार्गं स्थानं च तत् सर्वं तस्मै सा वदतु शुभम् ।।

वह महादेवी साधकों के कल्याण के लिये सम्मुख आ जावें और वह मुझे मार्ग तथा स्थान का समस्त परिचय प्राप्त करा दें जिससे साधकों का कल्याण हो।

यद्ज्ञानं दुर्लभं लोके यत् प्राप्तं नैव शक्यते।
तत्सर्वं कथयिष्यामि लोकानुग्रहकांक्षया।।

जो ज्ञान लोक में परम दुर्लभ है और जिसका प्राप्त करना बड़ा कठिन है उसे लोक-कल्याण के लिए और लोक पर अनुग्रह के लिये मैं बताऊँगा।

लोकानां परमाप्रीतिः जायतां शास्त्रसंविधौ।

तस्यच्छेष्ठं च प्रेयं च एतत् शास्त्रं निगद्यते।।

शास्त्रों के विधान में लोक-मानवों की परम आस्था बनी रहे, इस आशय से इस श्रेष्ठ इह लोक और परलोक में प्रीतिदायक, कल्याणकारी शास्त्र कहा जा रहा है।

मुद्राणां च क्रियाणां च ज्ञानाद्वाभ्यसनात् सदा।

महाशक्तिर्महाबुद्धिर्महामेधा च प्राप्यते।।

इस शास्त्र में वर्णित मुद्राओं और क्रियाओं के ज्ञान और निरन्तर अभ्यास करने से महाशक्ति, महाबुद्धि और महामेधा प्राप्त हो जाती है।

यां मेधां प्राप्य मेधावी सर्वं ज्ञातुं समर्थकः।

प्रज्ञां चैव ऋतां श्रेष्ठा ऋतम्भरां शुभां शुभाम्।।

जिस मेधा शक्ति को प्राप्त करके मेधावी साधक सब कुछ जानने में समर्थ हो जाता है। साधक को कल्याणकारिणी श्रेष्ठ ऋतम्भरा प्रज्ञा भी प्राप्त हो जाती है।

लभ्यते प्रातिभं चक्षुर्येन ब्रह्माण्डवर्तिनम्।

ज्ञानं संजायते तस्मात् प्रतिभा दिव्यनेत्रकम्।।

इन क्रियाओं और मुद्राओं के अभ्यास से प्रातिभचक्षु भी प्राप्त हो जाता है। जिसके सहारे ब्रह्माण्डवर्ती ज्ञान हो जाता है। दिव्यनेत्र को इसीलिये प्रतिभा भी कहा जाता है।

अन्धो यो नेत्रहीनो यो नैव पश्यति स क्वचित्।

अतो नेत्रे समालभ्य ज्योतिषां प्रति संचरः।।

जो नेत्रहीन है, अन्धा है वह सब कुछ होते हुए भी कुछ देख नहीं पाता है। इसलिए दिव्य नेत्र प्राप्त करके ज्योतिर्लोक में संचार करो।

गोरक्ष ! गोरक्ष !!

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन। नमो आदेश गुरू को। सुरंग में घुसने की तैयारी हो रही है। सामान्य एवं स्वल्प साधन वालों के लिये सुरंग का दरवाजा देखते ही भय का

कारण उपस्थित हो जाता है। सर्पिणी की गति से भीत होते हैं। परन्तु जिए समय इस प्रकार की भावना का संचार होने लगे, कौन जाय, क्या करूँगा, क्या होगा, कैसे होगा तो इन विचारों को निंकाल फेंकने के लिए विशिष्ट ॐ ध्वनि करो, उससे ऐसे विचार भाग जायेंगे। मस्ती के साथ फिर चलो, चलना ही काम है, रूको मत, आगे तुम्हारा रास्ता देखा नहीं है, तुम्हें दिखाता हूँ, समझाता हूँ, चलो चलो।

चलो आवो रे अवधू मारग तेरा देखा नाही।
सुणा सुणाया देखा आजा पीछे राह दिखाऊँ ।।
सचमुच देख दिखाया सर्पिणी आगे आगे जावे।
अवधू पाछे धावे, अवधू पाछे धावे।
आजा गोरख खड़ा सामने खड़ खड़ राह दिखावे।
बैठ सुरंग के अन्दर पूंता सबसे न्यारा होले।।
अरे एक तत्त्व से परिचय करले परचा प्यारा हो जा, न्यारा हो जा।।
कौण रहेगा कौण कहेगा वा अमृत को साधो।
अमर अमर तू अमर बनेगा एक तत्त्व को पा ले।।
डरना काम नहीं पूतां पैठण पैठण नाहीं।
चलण फिरण का लाभ करन्ता सो पावे मैमन्ता।।
ध्यान की चक्खु उघाड़ ले बाबा नेतर नेतर सेत्तर केत्तर।।
सबके भीतर भासे बाबा सबके भीतर भासे।
पा के ध्यान के नेत्तर बाबा खोल के रिन्त कपाट।
अवघट घर की राह में कोई बाबा आण न पावे।
खोल के ध्यान का चक्खू बाबा तू सब कुछ दिखलावे।
संशय शशा फुदकता जावे और धारणा दूब चबावे।।
अरे घुसर घुसर के दौड़े आगे पीछे हाथ न आवे।
ध्यान की चक्खु से देखे गोरख पकड़े हाथ धरावे।
सोई शशा आतम ज्ञानी को गर्व के सिंह को खावे।
गोरख बतावे रे बाबा गोरख बात बतावे।।

१९-१२-६२ सायंकाल ।।९०।।

धवल धवलिताङ्ग संवलितां धवलितत्त्व तरंग सङ्गाम् ।

धवलित तनुगात्र संगसंगीं विधि विहित समान हंस रूढाम् ।।

धवल अंगों से सुशोभित, धवल-तत्त्वों की तरङ्गों को अपने अंग में धारण किये हुए शुभ्र शरीर धारिणी और ब्रह्मा के शुभ्र हंस की भाँति शुभ्रहंस में आरुढ़ हुई।

धवलां धवलाकृतिं दधानां धमनीजालमथापि छादयन्तीम् ।

तां धौतोज्वल पारदर्शनवतीं धूमावतीं भावये।।

धवलाकृति वाली शुभ्रक्रान्ति से धमनी-जाल को ढके हुए धवल बौर उज्ज्वल कान्ति धारिणी, पारदर्शिनी धूमावती देवी को मैं हदय में स्मरण करता हूँ।

धां धां धां धारणाख्यां धर धर ध्यानदां शुभां दधानाम् ।

धवलपटधराङ्गीं ध्यानगम्यां धनदसमद्यताङ्गीं धारणां धारयेऽहम् ।।

धां धां धां बीजाक्षरों से धारणा देवी को, धर् घर् वर्णों से ध्यान प्रदान करने वाली कल्याण धारिणी, धवल वस्त्रों को अंगों पर धारण करने वाली, ध्यानगम्या, धनद की भाँति धन को धारण करने वाली धारणा देवी को मैं हृदय में धारण करता हूँ।

प्रोच्यते यत्र वै मार्ग सरलं योगिबोधकम् ।

मणिपूरात् परस्तत्तु ऋजु याति शनैःशनैः ।।

योगियों को बोध देने वाला सरल मार्ग जहाँ बताया जा रहा है, वह मणिपूर चक्र के ऊपर को धीरे-धीरे सीधा चला जाता है।

तत्र किञ्चिच्च किञ्चिच्च रोधकं च विरोधकम् ।

मलं नाडिगतं किञ्चित् तस्य शोधो विधीयताम् ।।

मणिपूर में थोड़ा मल फिर भी बना रहता है जो ऊपर जाने में बाधा डालता है और ऊपर की गति में अवरोधक होता है। नाड़ियों में जमे उस अल्प मल का भी शोधन कर लो।

कृत्वा भस्त्रां क्रियां भूयो भूयश्चैव पुनः पुनः ।

भस्त्रां कृत्वा ततः सद्यो विनाशयति तन्मलम् ।।

ऐसी स्थिति में निरन्तर बार-बार भस्त्रा-प्राणायाम करते रहो। भस्त्रा प्राणायाम से वह शेष रहा मल भी शीघ्र विनष्ट हो जाता है।

तदा वायोश्च यो वेग ऊर्ध्वंयातुं समुद्यतः ।

तत्र बाधा न संयाति वायुरुर्ध्वं च गच्छति ।।

तब जो वायु का वेग ऊपर जाने को उद्यत रहता है उसमें बाधा नहीं आती और वायु आसानी से ऊपर चढ़ जाया करता है।

यदा गच्छन्ति डक्काराः वायुस्तत्रनिरुद्धयते।

वायुना वायुमापीड्य वायुं च प्रविसारयेत् ।।

जब डकार आने लगें तो समझो कि वायु वहाँ रुकावट कर रहा है। तब वायु के द्वारा दबाव डालकर वायु को बाहर निकाल देना चाहिये।

तत्र यः सरलो यस्तु छिद्र एकः प्रकाश्यते ।

तं छिद्रं प्राणसंचारं संचरेदूर्ध्वमार्गतः ।।

वहाँ पर जो एक सीधा छिद्र है, उस छिद्र में प्राण वायु का प्रवेश ऊपर के मार्ग की ओर जाने के लिये कर देना चाहिए।।

शनैः शनैः प्रकुर्वति श्वसनं प्रश्वशनं तथा ।

पश्चान्निरोधमाधाय हृदये कम्पनं भवेत् ।।

इसमें धीरे–धीरे श्वास प्रश्वास लेना चाहिये, फिर उसका विरोध करने पर हृदय में कम्पन होता है।

यदा वै कम्पितो वायु हृद्गतः सरलामृतम् ।

तस्मादेतच्च ज्ञातव्यं मार्गं वै सरलं गतम् ।।

जब निरुद्ध वायु हृदय तक पहुंचता है, तब हृदय में कम्पन पैदा कर देता है। इस धड़कन से समझना चाहिये कि अब मार्ग सरल हो गया है।

गोरखवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। ॐ अलख निरञ्जन। माँ की आज्ञा है कि मणिपूर के आगे का मार्ग बता दिया जाय और घाटी का दर्शन कराया जाय। मणिपूर से हृदय तक आने के लिये न बहुत मोटी न बहुत पतली नाभि से हृदय देश तक हृदय के अग्रभाग तक एक नाली गई है। समान और उदानवायु से प्राणवायु टक्कर खाती है। एक ओर कम्पन शुरु होता है और डकार आना शुरु होता है। समान का स्थान नाभि में है। प्राण का स्थान हृदय में है, उदान का स्थान कण्ठ में है। नीचे के दो वायु पर विजय कर ही लिया है। अपान के शोधन के लिये मलोदरी पर्याप्त है। समान वायु प्राण और उदान के बीच में है। व्यान सर्वशरीर में व्याप्त है।

जिस समय मणिपूर का भेदन हो रहा हो, तब रेचक, पूरक, कुम्भक के बाद भस्त्रा प्राणायाम में मेरुदन्ड को झुका लो। एक दम पीछे का मार्ग खुल जायेगा, एकदम आगे कम्पन आ जायेगा। सुषुम्णा उधर से वायु को प्रवेश करके ले जायेगी। आगे की नाड़ियों में कम्पन

कर देगी। चाहे इधर से जाओ, चाहे उधर से जाओ। पहुँचना एक ही जगह है। दोनों अविलम्ब और सरल हैं। यदि पीछे के मार्ग से बढ़ना चाहते हो तो देखो, पूरक कुम्भक करके फिर जोर से धोंकनी चला दो और धौंक दो, धौंकते चले जाओ, धौंक डालो, सहसा एकदम धप से नीचे की ओर झुक जाओ। मेरुदण्ड के झुकते ही एक चट शब्द होगा। चट शब्द का तात्पर्य यह होगा कि रास्ता खुल गया है और जो नाभि से वायु का वेग था वह सर्पिणी के पीछे से वायु प्रवेश हो गई है ओर वह चल पड़ेगी। शनैः शनैः आगे चलती हुई, प्राणों को खींचती हुई, साधक को तत्त्वदर्शन कराती हुई आगे बढ़ती जायेगी। जबतक कम्पन नहीं होगा तब तक कुछ नहीं हो सकता है। भस्त्रा प्राणायाम के बाद कुम्भक लगाओ, श्वास रोक लो। अपने हृदयस्थ भाग पर दृष्टि डाल दो; बन्ध की मुद्रा में, तब मालूम पड़ेगा कि कम्पन हो रहा है। ऐसा प्रतीत होगा कि मूर्च्छा आ रही है। दम घुटने वाला है। जितनी देर ऐसा रोक सको रोको। जब-कुम्भक समाप्त करो तो तुम्हें ऐसा मालूम होगा कि रीढ़ की हड्डी से लेकर हृदय तक, हृदय से कण्ठ तक, भौंहो से लेकर नासिका तक झनझनाहट पैदा हो रही है। वह मूर्च्छा की अवस्था है। ऐसी अवस्था में यदि मूर्च्छा बढ़ा सकोगे तो अच्छा होगा। मूर्च्छा और कम्पन का आना मार्ग सिद्धि के लिये परम शुभ लक्षण है। साधक समझ लेता है कि इस प्रकार जा रहा हूँ।

कांपे देश तिहारा रे बाबा कांपे देश तिहारा।

प्राण ही प्राण समान संभाले कण्ठ की वायु भरा ले।
टक्कर देके मारो साधो, एक से एकं मिला ले। एक से एक मिला ले २

।।अवधू०।।

अरे तीन वायु का मेल कराले, रे हृदय अपना कंपाले।
रांह दिखवावे ज्योति निराली ताके दर्शन पा ले।

साधो, ताके दर्शन पा ले ।।

अरे जब दर्शन मिल जाय रे साधो ! अरे रांह नहीं पथरीली ।।
कांटा भांटा सांटा न लागे अरे समझले रे तूही।

अवधू अपना हृदय कंपा ले ।।

इस कम्पन में नेक संजोये देख के मन घबरावे ।
पहली सीढ़ी नाथ का चेला ताहि पार कर जावे। मूरछा नहि भरमावे।।

मूर्च्छा आ जाती है, यह प्रारम्भिक अवस्था है। नाथ का चेला उससे घबड़ाता नहीं, घबराकर श्वास छोड़ना नहीं धीरे-धीरे श्वास छोड़ना। एकदम से श्वास छोड़ने का कुपरिणाम होता है, उसका यह होता है कि एक और वायुवेग को ऊपर चढ़ाकर ऊपर को खींचकर रोक रखा है, उसे हृदय में कम्प पैदा करने के लिये रोका है। यदि धम्म से छोड़ोगे तो फिर उससे हंफनी चल जायेगी, फिर दुबारा वायु को उठाने की इच्छा नहीं होगी। इसीलये

श्वास को नाक से धीरे-धीरे छोड़ने में आनन्द आयेगा। एक मार्ग आगे से है और एक मार्ग पीछे से भी है। दोनों को देख लो समझ लो। हृदय देश में आ जाओ, दोनों वायुओं की टक्कर होने दो, कम्प और डकारें आने दो। समझ लो कि आगे के लिये मार्ग साफ हो गया है, आगे के लिये द्वार खुल गया है।

राह शोध के जोगी जावे अरे ज्ञानी शोध न पावे।
माता की सी राह निराली लटपट लटपल जावे।
राह शोध के अपनी गोरख सबको राह बतावे।
ज्ञानी आवे अरे भगता आवे-आवे जा को भावे।
अपनी -अपनी राह निराली अपनी पर ही जावे।
सरपट चाल चलावे गोरख घोड़ा को दौड़ावे।
मारग शोध के योगी जावे अरे ज्ञानी शोध न पावे ।। ॐ ।।

२०-१२-६२ सायंकाल ।।९१ ।।

वन्दे सरस्वतीं देवीं देवकार्यार्थसाधिकाम् ।
राधिकां मूढचित्तस्य बाधिकां विघ्न-व्यूहकम् ।।

देवकार्यों को सिद्ध करने वाली, मूढ़चित्तों द्वारा आराधना किये जाने पर फल देने वाली और विघ्न समूहों को दूर करने वाली माँ सरस्वती देवी की मैं वन्दना करता हूँ।

विघ्नानां नाशिकां देवीं गुणानामति तत्पराम् ।
प्रकटाप्रकटरुपेण जनकल्याण कारिणीम् ।।

विघ्नों का नाश करने वाली, गुणों को देने में अतितत्पर और प्रकट एवं प्रकटरुप से जनकल्याण करने वाली माँ भगवती देवी को प्रणाम है।

देवि सरस्वति कार्यं कारय पारय शब्दसमुद्रं पारय।
धारय मेधामपि त्वं धारय प्रतिभामग्रे सारय सारय।।

हे देवि सरस्वति ! कार्यों की सिद्धि करो। शब्द समुद्र के पार लगाओ। मुझमें मेधा को धारण कराके मेरी प्रतिभा को सामने प्रकट कर दो।

यां प्रतिभां जनलोके लोका, अधिगच्छन्त्यपि विगतविशोकाः।
या च सदैव त्रिलोकविमोका, तां च सदा मयि धारय धारय।।

उस अलौकिक प्रतिभा को मुझमें धारण करादो जिस, प्रतिभा को प्राप्त करके तुम्हारे उपासक जनसमाज में शोकरहित निर्भय बने रहते हैं और जो प्रतिभा तीनों लोकों के आवरणों को हटाकर उनके रहस्य प्रत्यक्ष बना देती हैं।

एकं शास्त्रं समालभ्य तद् ज्ञानेन करम्बितः।

सिद्धिमायाति तद् ज्ञात्वा क्रियास्तत्र विशेषतः।।

इस एक अकेले शास्त्र का अवलम्बन लेकर और इसके ज्ञान से प्रफुल्लित होकर साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है। विशेषतया इस शास्त्र की क्रियाओं का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

यत्प्रोक्तं टंकनं शास्त्रं टंक विद्या विमण्डितम् ।

तं ज्ञात्वाभ्यसनात् सद्यः को न याति परां गतिम् ।।

टंक विद्या से मण्डित यह जो टंक शास्त्र कहा गया है, उसे जानकर और उसका अभ्यास करके कौन ऐसा है जो शीघ्र ही परम गति प्राप्त नहीं कर लेता है।

सारल्येन गतः शोकः गतः कालुष्यतां नहि।

केवलं निर्मलो भूत्वा ततो याति महेश्वरम् ।।

इस विद्या के प्रभाव से सरलता से शोक दूर हो जाते हैं, त्रिविध मल दूर हो जाते हैं। फिर केवल निर्मल होकर साधक महेश्वर तक पहुँच जाता है।

अधुना पूर्वमेवैवं प्रोक्तंयद् ज्ञानमुत्तमम् ।

अधीनं च प्रबुद्धं च बोधमायाति ते यदि।।

सम्प्रति और इससे पूर्व जो उत्तम ज्ञान बताया गया है, उसे तुमने पढ़ और जान लिया है, और यदि वह ज्ञान तुम्हारी बुद्धि में टिका रह गया तो –

बोधेन तत्त्वशोधेन रोधेन प्राणसंज्ञकः।

बल : सम्प्राप्यते विज्ञस्तत् प्राप्य च प्रसीदति ।।

उस बोध के द्वारा, तत्त्वशोधन द्वारा और प्राणों के निरोध द्वारा महाप्राण के रूप में विज्ञसाधक बल प्राप्त कर लेता है, जिसे प्राप्त करके प्रसन्न चित्त रहता है।

लब्धं लब्धं महद् ज्ञानं लब्धं लब्धं भविष्यति ।

तस्मादनुद्विग्नमनास्तत्रैवतत्परो भव।।

यह ज्ञान निरन्तर एक के बाद एक क्रमशः प्राप्त होता रहेगा। इसलिये उद्विग्न न होकर निर्भयता पूर्वक इसी ज्ञान और साधना में तत्पर बने रहो।

न ते बुद्धिः क्वचिच्चैव संशयं धारयिष्यति ।

चाञ्चल्यं विगतं दूरं बलवान् बलसम्भृत : ।।

तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार कभी कहीं भी संशय को धारण नहीं करेगी। तुम्हारे मन की चंचलता अब दूर हो गई है। अब तुम बल से भरे हुए हो और बलवान् हो गये हो।

भविष्यसि स्वयं त्वं वै चेष्टा तत्र विधीयताम् ।
अभ्यासो नित्यशः कार्यः केषांचित् क्वचिदेव तत् ।।

आगे भी बल सम्पन्न बनते जाओगे। अतः इस शास्त्र की बातों का अभ्यास करते रहो। अभ्यास नित्य करना चाहिये। कहीं-कहीं इने गिने लोगों को ऐसी विद्या प्राप्त होती है।

मणिपूरात्ततश्चोर्ध्वं सर्वं ज्ञातं भविष्यति ।
अधुना सम्प्रवक्ष्यामि मार्गमेकं विशेषतः ।।

तुम्हें मणिपुर से ऊपर की बातें भी ज्ञात हो जावेंगी। अब मैं एक विशिष्ट मार्ग को बताती हूँ जो मणिपुर से ऊपर उठने का है।

क्रियां च तत्र हे वत्स ! कुरु त्वं तत्समाहितः ।
या च ते गदिता मुद्रा भणिता स्थानचायिका ।।

उसकी क्रिया भी बताती हूँ। हे वत्स ! समाहित होकर तुम उसे कर लो, जो तुम्हें पहिले स्थान परिचायिका बतलाई थी -

तां कृत्वा शान्तभावेन सुस्थिरस्त्वं ततो भव।
स्कन्दिनी या च ते प्रोक्ता स्कन्धौ हि त्वं इतस्ततः।।

(१० नं. मुद्रा देखें)

उसे लगा कर तुम शान्त भाव से सुस्थिर हो जाओ। एक स्कन्दिनी मुद्रा भी कही थी, उसी मुद्रा में तुम गर्दन को इधर-उधर चलाओ।

किञ्चिदूर्ध्वं विधायैव पृष्ठभागं च चालय।
पृष्ठचालनमात्रेण चलाचलगतागतम् ।।

गर्दन को कुछ ऊपर उठा कर ढीली रखते हुए पृष्ठभाग को इधर-उधर दायें बायें हिलाओ, पीठ हिलाने मात्र से गर्दन, सिर और पीठ हिलने लगेगी।

एकमद्वितीयं रूपं प्रकटं ते भविष्यति।
तां मुद्रां रूपरूपेण मूर्तरूपेण ते त्वहम् ।।

ऐसा करने पर एक अद्वितीय अपूर्व रूप तुम्हारे सम्मुख प्रकट होगा। इस मुद्रा को मूर्तरूप में प्रत्यक्ष रूप में, कैसे की जाती है :-

आदिशामि श्रृणु तस्मात् कुरु तां त्वं क्रियां शुभाम् ।

उसे बताती हूँ। सावधान होकर तुम उस सुन्दर क्रिया को सुन लो।

हस्तावुभौ कक्षगतौ च कृत्वा स्कन्धौ च निम्नौ सुभगौ विधाय।
तस्माच्च पृष्ठं परिचालयेत् तच्चालनेन सुखमावहेत् ।।

दोनों हाथों की हथेलियाँ दांये-बांये कोखों में दबालो। कन्धों को नीचे झुकालो। इसी मुद्रा में पीठ को दाये बांये हिलाओ (घड़ी के पेन्डुलम की भाँति)। इस मुद्रा में तुम्हें एक विशेष आनन्द प्राप्त होगा।

तत्सुखं परमं दिव्यमेवमेवावभासते।

तत्रैव रमते चित्तं नान्यत्र गन्तुमिच्छति।।

इस मुद्रा के दिव्य सुख में, आनन्द में, जैसा भी जिस साधक को हो, वहीं पर चित्तवृत्ति लगी रहती है और अन्य नहीं जा पाती है।

पुन : संयोज्य तौ हस्तौ तत्रैव स्थापितौ ध्रुवौ।

यदा च चालनं भूयात् दृष्टिं तत्र निधापयेत् ।।

फिर उन मिले हुए दोनों हाथों की मुद्रा में जब हिलने की स्थिति रहे तो अपनी दृष्टि दोनों हाथों के संयोग-स्थान में डाले रहो।

एवं च ज्ञायते तत्र शिरश्चलति वै स्वयम् ।

तस्य छाया स्वरूपेण दर्शनं च भविष्यति।।

तब लगेगा कि तुम्हारा सिर भी दोनों हाथों के बीच के भाग में इधर - उधर हिल रहा है। अपने सिर की छाया के रूप में तुम्हें दर्शन होगें।

तत्रैव पश्य त्वं छायां चलन्तीं चलनात्मिकाम् ।

तदा ज्ञानं च ते तात दिव्यं किञ्चिद् भविष्यति।।

उस छाया को देखते रहो, जहाँ जैसे चले उसे देखते जाओ, तब हे वत्स ! तुमको कुछ दिव्य अलौकिक ज्ञान प्राप्त होगा, एक अनुभव होगा।

क्रियारूपं मया प्रोक्तं तद् ज्ञानं केवलं महत् ।

गोरक्ष : प्रत्यक्षरूपेण दर्शयिष्यति ते स्वयम् ।।

मैंने तो केवल क्रिया का रूप मात्र बताया है। उसे करने के विशिष्ट तरीके को और उसके रहस्य को गोरक्षनाथ स्वयं प्रत्यक्ष रूप से करवा कर तुम्हें बतायेंगे।

स एव सर्वभावेन क्रियाभावं करिष्यति।

वदिष्यति च ते अग्रे तस्मात्त्वं सुस्थिरो भव।।

यह गोरक्ष ही सर्वभाव से इस क्रिया का पूर्ण ज्ञान रखता है। वही क्रिया रूप में तुम्हें बतायेगा। इसलिये तुम सावधानी से सुस्थिर तैयार हो जाओ।

गोरखवाणी : ॐ अलख निरञ्जन। ॐ अलख निरञ्जन।
गोरख जोग जगावे। ॐ साधक ! सावधान ! सावधान ! सावधान !
एक खण्ड को पार-पार कर एक खण्ड को तोड़े।
एक खण्ड में सुरंग से बैठे गोरख अपना रंग न छोड़े ।।
अपना रंग न छोड़े।।

यही रंग है रंग अमोला जाको मोल न पावे।
अरे जो अपने को सुरंग में लावे सो रंग साधे पावे।
रंगले रे गोरख रंग अमोला, अरे रंगले रे गोरख रंग रंगीला।
रंग अमोला।।

ऐसा रंग दे गोरख अब तू अस्तर वस्तर फाटे।
एक बार रंग दियो रंग तो सो कबहूं ना घाटे।।
ऐसा रंग रंगादे अवधू सो कबहूँ ना घाटे।
दूर-दूर से चमके रे रंगा सो पहिचाने सन्ता।।
वाही रंग की रमक रंगीली सुरंग से पैठे चमके।
अरे बैठके चमके बाहर अवधू दम-दम-दम के दमके।।
ताही रंग में रंगले गोरख .....।

यह ऐसा रंग है जिसमें अब रंगाया जायेगा। अभी तो कई तत्त्वों से इस रंग को बनाया था, रंग तैयार है, झरने का पानी भी मिल जायेगा, थोड़ा सा पानी सुरंग में घुस जायेगा। यही है नाथ की भाषा का रंग इसी को अब पहिचाण कहते हैं। जब पहिचाण होने लगेगी तो अवधू यह रंग चमकेगा। रंग में रंगले अपने को। यहीं से एक ऐसा भाव हृदय में आयेगा, जिसको अवहट कहते हैं। अवहट भाव वह मस्ती का भाव है जिसे लाने के लिये अपने घोड़े को जरा संभाल लो। घोड़े पर लगाम लगाले, घोड़े को आगे करदे, बीच में हो जा। सर्पिणी को आगे से रोक दे, घोड़े को सर्पिणी से आगे करदे। तू घोड़े और सर्पिणी के बीच में आ जा क्योंकि यहाँ पर दोनों तरफ रंग देना है। रंग की बौछारें करनी हैं, निर्मल करके आगे बढ़ना है, झरने से पानी लेना है। तब देखो पूतां, ऐसा करो, जो तुमको स्थानपरिचायिका मुद्रा बताई थी, सीधे उसे जरा लगा जाओ, वह लग गई। स्कन्दिनी में गर्दन से रगड़ होती है। गर्दन ढीली ही रखना। जिधर जाय, जाने दो। फिर जरा जो कूल्हे और कूल्हे के ऊपर का हिस्सा है, बिना किसी कोशिश के चला दो। यों:-

नीचे चाले कूल्हा ऊपर हाले चूल्हा (कन्धे)।
नीचे चाले कूल्हा ऊपर हाले चूल्हा।
बीच में हाले झूला।। आहा।
नीचे हाले कूल्हा ऊपर चाले चूल्हा।
बीच में हाले झूला तत्त्व मिले अनमूला।

ऐसा करने से मणिपूर के साधने की भी क्रिया हो जाती है। मणिपूर के साधने में जो त्रुटि रह गई होगी, वह इसके द्वारा अनायास सब पूरी हो जायेगी। बड़ी सरल है, बड़ी गुप्त है, बताना नहीं चाह रहा था। मणिपूर में मैंने इसे छोड़ दिया था। फिर सोचा कि कुछ भी गुप्त नहीं रखना चाहता हूँ, नहीं तो अब तक मेरा सब कुछ करा कराया अधूरा रह जायेगा। पूतां, नहीं सेक सका, बता दिया, कल्याण हो। रखो हाथ, जो परिचायिका मुद्रा है उसे करो। कन्धों को ऊपर मत करना, यानी इधर-उधर, इधर-उधर करते रहो, होते रहे। श्वास -श्वास कुछ नहीं करना है। सरल समझ के ऐसा न हो कि ध्यान से उठ जाय, फिर पछताओगे। फिर जो है एक दम से नीचे झुक जाओ। वैसे हिलने हिलने में फिर ऐसा होगा। तुम्हारे पेट का जो बड़ा मोटा मांस है वह ऊपर नीचे नाभि पर रगड़ खायेगा, उसे रगड़ खाने दो, जहाँ रेखा पड़ती है। फिर गर्दन को एकदम झुका दो, जैसे जालन्धर बन्ध लगाते हैं। जालन्धर में तो फट से ठुड्डी एकदम लगा देते हैं, तुम इसे ढीली रखना। चाहे नज़र खोलो, चाहे बन्द रखो। हाथों के मणिबन्ध के बीच हृदय में देखो। धीरे-धीरे जैसे ऊपर करते थे, वैसे धीरे-धीरे, नीचे हल्के-हल्के, झटका देके नहीं चलाना, धीरे-धीरे एक बार इधर जाय, एक बार उधर जाय, देखो तो तुम्हें अपने सिर की छाया वहाँ हिलती हुई नज़र आयेगी, उन दोनों हाथों के बीच। जोर से नहीं करना अवधू ! खतरा हो जायेगा, छाया नहीं दिखाई देगी, उस छाया की, जो वहाँ पर हिलती डुलती दिखाई देगी, वहाँ पर ऐसा मालूम पड़ेगा कि जैसे तुम हाथों को बाँधे हुए हो, तुम्हारे मस्तिष्क से और हृदय से ऐसा ही माथे तक एक कोण बन जायेगा, वह छाया कोण के इधर-उधर जायेगी। कुछ देर उसे देखते और फिर बीच में छाया भी हिलती डुलती दिखाई देगी। फिर जरा हिलो हिलो, शरीर सारा शिथिल होगा और ऐसा मालूम होगा कि कै करने का जी हो रहा है, खबरदार, कै नहीं होगी, घबराना नहीं, यह सब यहीं मथवा दूँगा, यह सरल लाभदायक क्रिया है। इसे गुप्त नहीं रख सका, देखो, कर लो, बस, फिर कुछ जरूरत नहीं रहेगी, आगे को रास्ता बताऊँगा ही। देखो, मूर्च्छा आने लगी, होने लगी, पीछे को जाओ।

साधन मे लगो। इसे समझना। पाँच दिन तक इसे कर लेना। पाँच दिन तक नित्य करो, छठे दिन लाभ होने लगेगा। आज से छः दिन तक किसी भी वख्त कहीं भी करना, लेकिन करना जरुर। ६ दिन पर्यन्त आते-आते एक मस्ती आने लगेगी। इस क्रिया की जो गहराई है, जो कुछ है, सब तुम्हारे सामने आ जायेगा। इस क्रिया को मैं प्राणों से भी अधिक प्यारी समझता था, दे दिया। तुम्हारा भाग्य ।। ॐ ।।

२१-१२-६२ प्रातः काल ।। ९२ ।।

रमां रामा रामं रमण रमणीयां रमणकाम् ।
रसानां सारां तां सरलसरलां सारसहिताम् ।
सदा शक्तिं शुभ्रां चिदुदयनिभां नित्यरूपां नमामि।।

चिच्छक्ति की उदयरूपा उस शुभ्रस्वरूपिणी नित्यरूपा भगवती को नमस्कार है, जो रमा हैं, रामा हैं, राम (लक्ष्मी) का जिसमें निवास है, रमण रमणीय हैं, रामणक हैं, रसों की सार हैं, सारसहित हैं, अत्यन्त सरल हैं, गहन तत्त्व को भी सरल रूप में बताने वाली है।

चिदुदयां च शुभदामेकैक मार्ग गामिनीम् ।

भाविनीं भावभारां वै सुशक्तिं च नमामि ताम् ।।

चिदुदया नामक, कल्याण प्रदा, एक मार्ग से चलने वाली, भाव स्वरूपा, भाव से परिपूर्ण उस सुन्दर शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

यदा संजायते ज्ञानं वोधश्चैव प्रजायते।

अहं मुद्रां क्रियां ध्यानं सर्वमेव करोम्यहम् ।।

जब साधक को ज्ञान और बोध हो जाता है (इस शास्त्र का) तब मैं स्वयं ही योग की मुद्राओं और क्रियाओं को तथा ध्यान को करा देती हूँ।

अहं करोमि इत्याख्यं ज्ञानं तत्र प्रजायते।

एतद्वै चित्तलीनस्य प्रथमा च दशा मता।।

चित्तलीन होने पर साधक की प्रथम दशा यह होती है कि सब क्रियायें, मुद्रायें और ज्ञान–ध्यान सब कुछ मैं (सरस्वती, शक्ति) ही कर रही हूँ।

हृद्देशं ज्ञानमायाति चित्तं याति लयं प्रति।

तदा चानाहतं चक्रंहृच्चक्रंयत् प्रकम्पते।।

साधक के हृदय प्रदेश में ऐसा ज्ञान स्वयं अवतीर्ण होता है और चित्त लय की दशा में चला जाता है। तब अनाहत अथवा हृच्चक्र में जो कम्पन होता है–

तत्र वै गमनं तत्र स्थानस्य परिचयो भवेत् ।

तस्य वा भेदनं कृत्वा शक्तिर्याति ततः परम् ।।

उस स्थान में साधक पहुँचता है और उस स्थान से परिचय होने लगता है। उस हृदय चक्र का भेदन होकर शक्ति स्वयं ऊपर की ओर चल पड़ती है।

चैतन्यं चित्स्वरूपं च चित्रार्थं चिल्लयात्मकम् ।

सर्वं भासं च ज्ञानं च तद्भेदेन प्रजायते।।

हृदय चक्र के भेदन से चित् में लय होना, चैतन्य की अनुभूति होना, चित्रविचित्र तत्त्वों से पूर्ण चित्स्वरूप का साक्षात्कार इस सबका आभास और ज्ञान होने लगता है।

तदा ज्योति : स्वंरूपाणामेकं लिङ्गात्मकं लघु।

ज्योतिषां लघुरूपेण लिंगमात्रं प्रतीयते।।

नाना प्रकार की ज्योतियों का पुंजीभूत एक छोटा लिंग दृष्टि में आता है। वह लिंग नाना प्रकार की ज्योतियों से भरा हुआ लिंगमात्र छोटा (अंगुष्ठ आकार का) होता है।

तल्लिङ्गं ज्योतिषां रूपं दृष्ट्वा ज्ञात्वानुभूय च।

चित्तं च लयमायाति समाधेश्च प्रभासनम् ।।

ज्योतियों से भरे उस लिंग का दर्शन करके, अनुभव करके चित्त लय की ओर चल पड़ता है और साधक को समाधि का आभास होने लगता है।

स्वल्पं भासं तदा ज्ञानं स्वल्पं-स्वल्पं प्रजायते।

एवं च तत्र वै ध्यानं तद्धीनं तद्गतं भवेत् ।।

प्रथम अवस्था में ज्ञान का आभास कम मात्रा में होता है। अनुभव शनैः - शनैः बढ़ता चला जाता है। यथा समय ध्यान कभी स्थिर अस्थिर होता हुआ पूर्ण होता जाता है।

किन्तु ज्ञानं च एतावत् अहं सर्वं करोमि तत् ।

स्थिरं भवति कालं च किञ्चिदेव तदास्थितम् ।।

किन्तु यह ज्ञान सदा स्थिर रहता है कि मैं (शक्ति) सब कुछ करवा रही हूँ। ऐसा ज्ञान साधक में कभी-कभी बहुत कम स्थितियों में अस्थिर रहता है।

हृच्चक्रं मध्यमं चक्रं भिद्याद् छिद्यात् मनीषि वै।

तत्र भेदेन रूपेण ज्ञानं पञ्चात्मकं भवेत् ।।

मनीषि साधक को चाहिये कि वह हृच्चक्र का छेदन भेदन करले। उसका भेदन छेदन पांच प्रकार का ज्ञान हुआ करता है।

ज्ञानं चैतन्यमेकं च द्वितीयं चिदुदयं तथा।

तृतीयं भासमात्रं च चतुर्थं कर्तृ संज्ञकम् ।।

प्रथम अपने चैतन्य का ज्ञान होता है। दूसरा चिदुदय नामक है। तीसरा केवल भासमात्र है। चतुर्थ कर्ता सम्बन्धी होता है (मैं, साधक कर्ता न होकर माँ भगवती ही सर्वकर्त्री है, ऐसा ज्ञान)।

पञ्चमं शून्यभावं च शून्ये लीनं तथैव च।

एतत् पञ्चविधं ज्ञानं लयाधीनं नयेन्मनः।।

पाँचवा शून्यभाव का ज्ञान, शून्य में लीन होने का अनुभव। इस प्रकार पंचविध ज्ञान साधक के मन को लयस्थिति के आधीन बना देता है।

आत्मानमात्मरूपं च आत्मबोधो महामहत्।

अत्रागत्य स्वयं जातमुपात्ते ज्ञानमाचरेत्।।

यहाँ पहुँच कर अपना, अपने स्वरूप का ज्ञान और बड़े से बड़ा आत्मबोध हो जाता है। इस स्वयं हुए, सहज उपलब्ध हुए ज्ञान के अनुसार साधक को अपने उपयोग में लाना चाहिए।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। सबका कल्याण हो। सबका कल्याण हो। हमने जो मार्ग बताया था उसकी अवस्थाओं को पार कर अब हम उसके पार आ गये हैं। अब अनाहत चक्र, मध्य चक्र, हृदय चक्र के भेदन छेदन उसके पार करने की तैयारी कर रहे हैं। उसका भेदन छेदन मणिपूर की अपेक्षा थोड़ा सरल है और यही ऐसा स्थान है जो प्राणों को, मन को इन्द्रियों को लय में भेजने की चाभी को तैयार करता है। यहीं से लय की अवस्था प्रारम्भ होती है। यहाँ पर आकार के चित्त का उदय होता है और जो शक्ति नीचे से आई थी वह यहाँ स्थिरता ग्रहण करने लगती है। उसे ज्योति में एक पिंडात्मक दीप का दर्शन होता है जिसे ज्योतिर्लिंग कहते हैं। यही है वह ज्योतिर्लिंग जिसके दर्शनों से परमशान्ति मिलती है। हम उस ज्योति में सामने को तैयार होते हैं। लीन होकर उसको प्राप्त करना चाहते हैं। उस ज्योति को प्राप्त कर आगे बढ़ना चाहते हैं। उस ज्योति में बलसम्पन्नता आती है। उस ज्योतिर्लिङ्ग का दर्शन ही लय की अवस्था का प्रारम्भ, समाधि अवस्था का प्रथम चरण है। यहाँ से शुरुआत हो जाता है। जब ज्योतिर्लिंग दर्शन में आता है उसको केवल देख लेने से सब बाधायें समाप्त हो जाती हैं।। ॐ ।

इसके भेदन की क्रिया यों है। यही तो वह चक्र है जिसे हृदय कमल भी कहते है। यहाँ पर चरखा घूमता है, किन्तु उस चरखे के घूमने से पंखुड़ियाँ कट गई हैं, सबकी सब तो फिर सब समाप्त ही है, इसी बात को ध्यान में रखकर जरा कठिन हो गया है। इस कमल को विकसित करना है। यह एक कली के रूप में है। और बन्द है और जिस तरह सूर्य की

किरणें अपनी शक्ति को बाहर करके कमल का विकास कर देती हैं उसी तरह यहाँ पर भी महामाया भगवती जागृता कुण्डलिनी शक्ति जो नीचे से ऊपर तक सुरंग से प्राणवायु को यहाँ तक ला गई है जिसकी ज्योति का दर्शन करा दिया गया है वही ज्योति की किरणें जब उस कमल पर पड़ती हैं, उसका स्पर्श करती हैं, उसको सूंघती हैं अर्थात् उसे गुदगुदाती हैं तब हृदय कमल का विकास होने लगता है। कमल का विकास होने से पराग निकलता है। पराग में सुरभि होती है। उस सुगन्धि के लोभी भौंरे उधर खिंच आते हैं। इसी तरह जब हृदय कमल विकसित हो जायेगा उससे चिदुदय की अनुभूति अर्थात् चैतन्य स्वरूप का पूर्ण उदय होना प्रारम्भ होगा और जितनी भी अन्य वृत्तियाँ हैं सब खिंचकर वहीं आकर स्तम्भित हो जायेंगी, फिर वृत्तिबाधा की कोई शक्ति हिला नहीं सकती। इस हृदय कमल को विकसित करने का नाम इसे छेदना भेदना है। इसके तीन तरीके हैं।

पहिला तरीका। बैठ जाओ, रेचक, पूरक, कुम्भक तीनों करके अपनी सामान्य स्थिति में आ जाओ, गर्दन को नीचे झुकाओ। जरा जालन्धर बन्ध लगाओ। फिर श्वास को ऊपर खींचो, फिर ऐसा मालूम होगा कि वायुकण्ठ में रह गई है। उससे एक फुसफुसाहट होगी। जिस प्रकार कुम्भक करने में फुसफुसाहट कम्पन होती थी, वैसी नहीं, वह तो दूसरी बात है। इसमें धीरे से हल्की सिहरन, फुसफुसाहट होगी, वही हल्का कम्पन है। चुपचाप ध्यान में इष्ट मन्त्र जाप करते रहो, श्वास जो चले चलने दो।

एक दूसरी प्रक्रिया भी है। दूसरी प्रक्रिया में और जरा ध्यान दो। लम्बिनी (मुद्रा में देखें) का सहारा लो। उसका मतलब है जीभ को नीचे भाग में लगा दो। श्वास को गले में रोक दो। थोड़ा देर ऐसे ही रहो, फिर उसमें फरफराहट होगी। इसे हठयोगी भी कठिन मानते हैं, पर मैं बता रहा हूँ। मुँह खोल दो, कण्ठ सीधा रहे।

तीसरी क्रिया है :- श्वास का जोर का हथौड़ा। उतनी जोर का नहीं लगाओ। हल्का, ऐसा मालूम पड़े, श्वास नाभि तक गई और ऊपर आई, ऊपर आने पर यहाँ पर तितली के पंखों में जैसा फुट-फुट होगा, हल्का और कमल खुल जायेगा। कमल में पराग विकसित हो जायेगा।

अरे फुटे कमल दल बास सुहावनि निकसे।
फुटे कमल दल बास सुहावनि निकसे।
वाही वास को भौंरा पावे बार-बार फिर आवे।
उड़े पराग पिवे सो भौंरा गगनमण्डल में धावे।।
गगनमण्डल में चक्कर देकर तहाँ ही रम जावे।

गगनमण्डल में रमना अवधू और कहीं न आवे जावे।

अरे लोग कहें अरे मर गया फैंक दो अवधू नींद लगावे।

गोरख फिर उठणे ना पावे और उठे तो सब कुछ बदला।

देखि अरे फिर बाहर सों आवे ऐसी नींद समावे।

जा में ना कुछ भाये ना कुछ आवे।

ऐसी है वह नींद जहाँ जाकर धीरे-धीरे निद्रा आने लगती है। इसी निद्रा को योग निद्रा कहते हैं। आकाश में पहुँचना है। चलते चलो।

हृदय चक्र का ज्ञान ध्यान सब कमल की पांखुडी खोल दे।

कमल तत्त्व में चरखा डोले ताहि डुला दे।

एक-एक से पाँच गुणों का पाँच नाम का सारा।

ऊपर जावे अवधू पकड़े सो नारा दे सहारा।

ऊपर आवे अवधू नारा देवै सहारा।

एक उठे आकाश की ज्योती जो निदरा दिखलावे।

देखे ताहि सब कुछ मैं भूलूँ ऐसी निद्रा आवे।।

नींद में पहुँच जा फिर आगे का रास्ता साफ है। बस अब रास्ता साफ बनाऊँगा।

२१-१२-६२ सायंकाल ।।९३।।

ज्ञानवतां वै ज्ञानगभीरा अर्थवतां वै स्वार्थशरीरा।

बुद्धिपयोनिधि निर्मलनीरा पारे यातुं या मतिधीरा।।

ज्ञानियों के लिये ज्ञान से भरपूर, अर्थवान् लोगों के लिये अर्थरुप शरीर वाली और बुद्धिरूपी समुद्र के निर्मल जल वाली एवं पार पहुँचा देने वाली माँ को नमस्कार है।

कलितकला कलिताङ्गशरीरा सा मे पातु स्थूलशरीरा।

जब शरीर धारण करती है तो कलाओं का धारण कर लेती है और स्थूल शरीर धारण कर लेती है। ऐसा माँ भगवती मेरी रक्षा करे।

खण्डखण्डात् परां विगलित सर्वभार दूरी कृताम् ।

अमलाममलरूपिणीं भगवतीं वन्दे तां सुमनोक्षतारहाराम् ।। ॐ ।।

खण्ड और अनेकों भेदों से परे, समस्त भार को दूर करने वाली, निर्मल रूप वाली तथा धवल पुष्प, धवल स्फटिक व उज्वल मुक्ताहार धारण करने वाली माँ को नमस्कार है।

सुखदं सरलं शुभ्रं मतिमन्मतिदायकम् ।
भावैकविच्छेदपरं तच्छास्त्रं तत्त्वतोऽदभुतम् ।।

वस्तुतः यह शास्त्र बड़ा ही अद्भुत है जो सुखद, सरल, बुद्धिमानों की बुद्धि बढ़ाने वाला, भावों को पृथक्–पृथक् समझाने वाला है। ऐसी महिमा है इस टंक शास्त्र की।

टंकेनानेन वै प्रोक्तं आदिनाथेव संस्तुतम् ।
आदिनाथो ददौ तस्मै मत्स्येन्द्राय प्रसन्नकः।।

सर्व प्रथम आदिनाथ इस टंक शास्त्र से परिचित हुए थे। फिर आदिनाथ ने इस शास्त्र को श्री मत्स्येन्द्रनाथ महाराज को दिया।

मत्स्येन्द्र : सरलं दृष्ट्वा बुद्धया चैव विमण्डितम् ।
सर्वभावसमापन्नं गोरक्षं ज्ञानवान् यदा।।

तदनन्तर श्री मत्स्येन्द्रनाथ जीने अपने शिष्य गोरक्ष को निष्कपट बुद्धिवाला, सरल स्वभाव वाला, तथा सर्वभाव पूर्ण, श्रद्धालु, भक्त, निष्ठावान् समझते हुए प्रेमपूर्वक यह विद्या दे दी थी।

स ददौ तत परिज्ञानं गोरक्षाय च धीमते।
योगिने योगयुक्ताय समर्थाय महात्मने।।

मत्स्येन्द्र महाराज ने बुद्धिमान् गोरक्षनाथ जी को, जब देखा कि वे योगनिष्ठ हैं, इस विद्या को धारण करने में पूर्ण समर्थ हैं और जन्मना विशिष्ट–गुण सम्पन्न हैं, तब इस विद्या को दे दिया।

गोरक्षोऽपि यथा काले यथादेशे यथास्थितौ।
ददौ च ज्ञानमेकान्तं कस्मैचिद् योगधारिणे।।

गोरक्षनाथ ने भी ठीक समय जानकर, देश, काल, परिस्थिति को भली–भाँति समझते हुए इस अद्वितीय शास्त्र को किसी योगाभ्यासी को चुपचाप बता दिया था।

एवं बहुतिथे काले गते अद्य पुनः स्वयम् ।
एतद् ज्ञानं प्रवक्षामि मन्मुखाद् गोरखस्य च।।

इस प्रकार बहुत काल बीत जाने पर आज फिर मैं स्वयं (सरस्वती) इस ज्ञान को अपने मुख से और गोरख के मुख से कह रही हूँ।

गोरक्षो गोरखो देव गोरः गोरख रक्षकः।
स एव ज्ञानमेतद्धि रक्षणाय समर्थकः।।

गोरक्ष के अन्य नाम भी हैं– (माँ प्यार पूर्वक कह रही है) यही गोरक्ष, यही गोरख देव, यही गौर, यही गोरख–रक्षक इस शास्त्र की रक्षा करने में समर्थ रहा है। यह गोरखनाथ बड़ा विलक्षण है।

भावनाय च एवैतद् सर्वं ज्ञानं समन्ततः।
तस्मात् पुनः पुनस्तद् वै ज्ञानमद्य प्रकाश्यते।।

इस पूरे शास्त्र के ज्ञान को फिर से बनाने में, उसको सरल तरीके से समझाने में, रहस्य उद्घाटन करते हुए बुद्धि में जमा देने में, अल्पबल वाले, अल्प बुद्धि वाले सामान्य साधकों को उत्साह और धैर्य देकर आगे बढ़ाने में शक्तिसम्पन्न हैं।

अथ टंक विद्याज्ञानाद् मुद्राज्ञानम् ।।

अब यह बताया जाता है कि – टंक विद्या के ज्ञान से मुद्राओं का ज्ञान हो जाता है।

मुद्रा ज्ञानात् क्रियाभिपत्तिः।।

मुद्राओं के ज्ञान से क्रियाओं की प्राप्ति होती है।

क्रियाभिपत्तेः शास्त्राधिगमः।।

क्रियाओं के ज्ञान से इस शास्त्र में पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता है।

शास्त्राधिगमाद् पुनः पुनरभ्यसनम् ।।

इस शास्त्र को भलीभाँति समझ लेने से साधक पुनः पुनः अभ्यास करता रहता है।

पुनः पुनरभ्यसनात् क्रियासिद्धिः।।

निरन्तर अभ्यास से क्रियाओं की सिद्धि हो जाती है और वे फलवती हो जाती हैं।

तस्माच्छास्त्राधिगमः।।

फिर इस शास्त्र का असली रहस्य, महत्त्व और मूल्य का ज्ञान होता है।

शास्त्रधिगमाच्चतुर्विध निर्मलत्वम् ।।

इस शास्त्र के श्रवण–मनन–निदिध्यासन से चतुर्विध निर्मलता प्राप्त हो जाती है।

तस्माच्छद्भावः।।

फिर साधक के भीतर सद्भावों का उदम हो जाता है।

तस्मात्तत्त्वज्ञानम् ।।

सद्भावों के द्वारा, (श्रद्धा; लगन–निष्ठा) तत्त्व–ज्ञान हुआ करता है।

तस्मात्तत्त्वज्ञानात् पूर्वमश्वाभिसन्धानम्, सदश्वाधिरोहणं,
तत् प्रचालनं, तन्नयनम् ।।

इस योग शास्त्र के तत्त्वज्ञान से पहिले, साधक घोड़ा ठीक करता है। फिर सधे हुए घोड़े पर सवार होता है, फिर उसे चलाना जान लेता है, और उस सधे घोड़े को जहाँ चाहे ले जा सकता है।

तन्नयनात् पूर्वं स्थानपरिचयो मार्गपरिचयो वा सुसारल्यं गमनसौख्यं च।।

घोड़े को चलाने से पहिले, स्थान का परिचय, मार्ग का परिचय, किया जाता है जिससे सुगमता पूर्वक आसानी से गन्तव्य स्थान में पहुंचा जा सके।

गमनादूर्ध्वप्रगतिः।।

चल पड़ने पर ऊपर की ओर गति होने लग जाती है।

प्रवृत्तिसमापत्तेःसकलंसारल्यं सुबोधो वा प्रतिभासते।।

प्रवृत्ति की समापत्ति हो जाने पर फिर सभी कुछ सरल और सुबोध दीखने लगता है।

तत्प्रतिभासात् दर्शनयोग्यता।।

सरल और सहज लग जाने पर दर्शन की योग्यता आ जाती है।

दर्शनश्रवणगमनाभ्यासेभ्यः सर्वमभ्युदयः।।

दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण, गमन आदि के अभ्यास से सभी प्रकार का अभ्युदय हो जाता है।

ततो निश्रेयससिद्धिः।।

तब निःश्रेयस सिद्धि अर्थात् इहलौकिक, पारलौकिक, कायिक, मानसिक, आत्मिक सिद्धि होती है।

ततश्चिदभ्युदयः।।

तब जीवन में सर्वतो भावेन अभ्युदय होता है।

चिदभ्युदयादूर्ध्वं नाडीनां चक्राणां च भेदनम् ।।

चिदुदय से ऊपर की नाड़ियों और चक्रों का भेदन होता है।

तच्छेदनभेदनात् स्थानपरिचया सुस्थिरा सुपरिचिता अवस्था समायाति। तदा निर्मलं शरीरं निर्मलं मनः।

नाड़ियों और चक्रों के छेदन भेदन से स्थानपरिचय अवस्था सुस्थिर, सुपरिचित और पक्की हो जाती है, तब शरीर निर्मल बन जाता है।

आत्माऽपि निर्मलो भूत्वा निर्मला बुद्धिः संजायते।।

आत्मा भी निर्मल बन जाती है और बुद्धि भी निर्मल बन जाती है।

सर्वं निर्मलत्वम् । तस्मादेषा टंकनविद्या निर्मलत्वेन सुस्थिरा सुज्ञेया च।

सभी कुछ निर्मल हो जाता है। इस टंक विद्या को भलीभाँति जान लेना चाहिये, यह परम पवित्र और सुस्थिर है।

एषा टंकनविद्या मनसः स्थिरत्वसम्पादनाय संधारणाय संज्ञानाय प्रवर्तते।।

इस टंक विद्या का प्रवर्तन मन को स्थिर करने, उस पर काबू पाने और उसकी पहिचान के लिये होता है।

एकेनैव जितेन तेन मनसा सर्वं जितं भवति।।

अकेले उस मन के विजित हो जाने पर सब पर जीत हो जाती है।

एकेनैव तेन ज्ञानेन सर्वं ज्ञातं भवति।।

एक केवल उसी मन को जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है।

एकेनैव तेन मार्गेण गमनेन सर्वं गमनं भवति।।

एक अकेले इसी मार्ग से चलने पर सर्वप्रकार का गमन सम्पन्न हो जाता है।

एकेनैव तेन स्थानपरिचयेन सर्वं परिचितं भवति।।

एक अकेले उस स्थान परिचय से सब कुछ परिचित हो जाता है।

इत्येतत् महाबोधतत्त्व-प्रक्रिया प्रकटिता तद्बोधाय परिसंचालनाय परिगमनाय परिचयाय एतच्छास्त्रं श्रोतव्यं मन्तव्यं अध्येतव्यं च।।

इस भाँति यह महाबोध की प्रक्रिया प्रकट की गई है। उसे जानने, उसे चलाने, उस पर चलने, और उससे परिचय प्राप्त करने के लिये इस शास्त्र का श्रवण, अध्ययन और अनुशीलन करना चाहिये।

एतत् सर्वं सुकरं सुसरलं सुज्ञातं भूत्वा मनसः सिद्धिं प्रददाति।।

इस शास्त्र में वर्णित सभी कुछ सरल, सुबोध, सुज्ञात होकर मन की सिद्धि प्रदान करता है।

एकेनैव मनसा वशीभूतेन सर्वं वशीभूतं भवति।

बस एक मन के वशीभूत होने पर सब कुछ वशीभूत हो जाता है।

तत्त्वाय तत्त्वज्ञानाय सर्वं भासितं भवति ।। ॐ ।।

तत्त्व तक पहुंचने और तत्त्व ज्ञान के लिये क्या उपयोगी है, सब कुछ ज्ञान में आ जाता है।

सर्वविद्यामयी विद्या एका विद्या च या मया।

भाषिता टंकनाखया च सर्वसिद्धिप्रदा हि सा।।

जो टंक विद्या मैंने कही है, वह एक अकेले ही समस्त विद्याओं की सारभूत है। समस्त योग–सिद्धियों को देने वाली है।

एषा टंकनविद्या अश्वीविद्या, अश्विनीविद्या सदसद्विवोधिनी एकत्वबहुत्वज्ञाने प्रसंचारिणी, एकोऽहमद्वितीय इत्यस्य प्रबोधकारिणी, धारणाध्यानसमाधिभावानां जनिका जननी स्वरूपिणी। अत एव सा एव टंकनविद्या ज्ञातव्या। अत ऊर्ध्वं टंकविद्याज्ञानात् परात् परं अनाहताख्यं हृदयचक्रभेदनं पुनरपि व्याख्यास्ये।। ॐ ।।

यह टंकन–विद्या, अश्वी विद्या, अश्विनी विद्या इन नामों से भी कही गई है। यह विद्या सत् असत् का बोध प्रदान करती है। एक ब्रह्म और जगत् के नानात्व तक प्रकृष्ट रूप से संचारिणी है। "मैं एक अद्वितीय हूँ" इस शास्त्र वाक्य का बोध करा देने वाली है। यह विद्या धारणा, ध्यान और समाधि पैदा कर देती है, अतः साधक की मातृस्वरूपिणी है। इसलिये इस टंकविद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसके अन्तर अनाहतचक्र का भेदन भी कहा जायेगा।

गोरखबाबा :– अवधू ! माँ की बड़ी कृपा है। यह विद्या अनन्त से आदिनाथ ने प्राप्त की, आदिनाथ से मत्स्येन्द्रनाथ ने प्राप्त की, फिर उनसे मुझे, गारेखनाथ ने इसे प्राप्त किया। इसका ज्ञाता जालन्धर भी था। मेरी परम्परा में गणनाथ या गेणीनाथ को भी यह विद्या मालूम थी, फिर लुप्तप्राय हो गई। मैंने इस विद्या को गोरख–सहजयान भी कहा था। इस टंकन विद्या का उसमें बहुत आधार था। यह विद्या आज पुनः आ रही है। इसके ज्ञाता होंगे। कर्त्ता होंगे। तब गोरख की साधना से लुप्त नहीं होगा। नाथ परम्परा जागेगी। पाना है। दिखा देना है। आवश्यकता है, जगना है, जगा देना है, चलना चला देना है। आई लहर, हो गया विचार, ऐसी कोई बात नहीं थी। मैं भी इसी मन्तव्य में था। हो जाय प्रचार, जाने संसार जाने सार, कोई निःसार। खट्टा मीठा यह संसार। जानों, परन्तु ऐसे रहोंः–

शरीर नहि साधे मन नहीं साधे बातें करे निराकारा।

बिन पाणी बिन पौन के बैठ क्या जावे संसारा अवधू।

अवधू ! नाथ कहावे सोई जो मन काया सोधे।

अरे साध साधके पौन पाणि को घट घट में संसारे।।

एक योग यह एक योग है एक शोक इक रोगा।

कोई जाणे जागण हारे कोई यह जाणीं।

ऐसा चन्दन लगाया अवधू बाढे जो बिनु पानी।

ऐसी वाणी बोल रे गोरख जो सब घटहिं समाणी।
सो तो कहे नाथ का चेला जाने नाथहिं नाथ पढ़ा।
अवधू घटहि न घटना खटता खटे नखन्ता।
जो यह तत्त्व न जाने रे पूता ! सो काहे का सन्ता।।

यह गूढ़ विद्या है। घट अघट, खट अखट सबमें सब में तत्त्व समझाने वाले बहुत हैं। यह तो गूढ़ बात है। कुछ भटक गये हैं। बह गये हैं। वह गये। कुछ चले गये। डूब गये, कुछ पार हो गये। लेकिन जिनके पास इन मुद्राओं और क्रियाओं का बेड़ा दे दिया है, निकल जाओ समुद्र के पार। लहरों के थपेड़े खाते हुए भी साफ पार निकल जाओगे। कभी विचलित नहीं हो सकोगे। यदि तुम्हें संसार में भी रहना हुआ तो तुम थपेड़ों को झेलते हुए चले जाओगे। तुम्हारा यह बेड़ा बहुत मजबूत होगा। इस बेड़े की एक एक कड़ी मजबूत है। और जो कोई इस बेड़े का सहारा लेगा, इस पर बैठेगा, कोई ताकत ऐसी नहीं जो उसे रोक सकेगा। महा समुद्र में भी सरलता से हंसते हंसते मस्ती से चला जोयगा। क्योंकि वह नाथ का चेला है। नाथ लिया उसने सब को। नाथ लेगा इस नाथ ने ऐसी नाथ हाथ में दी है जो साथ साथ रात दिन बात करती हुई चली जावे, न किसी की घात है, न कोई उत्पात है, न खाई खंघात है। सीधी सी बात है। पहुंच जाओं। मैंने भलाई की इच्छा की, देर से नहीं, जल्दी चलने के लिये। पैरों में बल भी होना था, रास्ता भी दिखाना था, बाधा भी हटानी थी। सब कर दिया, कर रहा हूँ, करूँगा चलो तो।

एक राह मैं दिखाई जो सुरंग के भीतर जाई।
वाही राह चला जो अवधू तो ना ठोकर खाई।।
सीधे चले उस राह से सो पावे पर तत्तत।।
अरे जो फिसले विचले अरे कैसे पावे गत्व।।
परमपुरूष है अलखनिरञ्जन, अरे आजा वाही देख ले, पाजा।
पावे अलखनिरञ्जन पावे अलखनिरञ्जन।
सो तू वा में आप समा जा, वा में आपु में वाको।
सो सब कुछ तो आपो सो सबकुछ तो जाणे।
जाणै और पहिचाने अरू बैठे बिहचै ठागें।

अब निश्चित स्थान आ गया। यह तो एक मामूली सी बात थी। किन्तु जो असली तत्त्व बताया जा रहा था, यह तो धीरज देने की बात कही थी। जो तुम्हें स्थान परिचायिका के बाद क्रिया बताई थी, वह मत्स्येन्द्रनाथ जी ने मुझे बताई और मैंने उसे गुप्त ही रखा। एक गेणीनाथ (गणनाथ) को बता दिया था, बस, और अब तुमको बताई है। उसे ध्यान से सुनो और करते रहो।

२२-१२-६२ प्रातः काल ।।९४।।

महादेवीं देवीं परम मधुरां जाप्य सुभगाम् ,
अनन्तां गीर्वाणीं विकसित सदा सार्थसमुहाम् ।
अनन्तां निर्वेद्यां सकलसहितां बोधविपुलां,
परां वेदैर्वेद्यां परभगवतीं नौमि नवलाम् ।।

परम मधुरा, जप करने में सुन्दर लगने वाली, अनन्ता, उपादेय वस्तुओं को सदा साधक के सम्मुख प्रकट कर देने वाली, कठिनता से प्राप्त किये जाने वाली, विपुल बोध को धारण करने वाली, समस्त कलाओं से विराजमान, वेद जिसे जानते हैं उस गीर्वाणी परा और नूतन भगवती सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ।

अपरामपरिचित शब्दमण्डितामज्ञानैकापसारणे च पण्डिताम् ।
गुणमण्डितामखिलेश्वरीं महेश्वरीं शारदां वन्दे।।

अपरिचित शब्दों से विभूषिता, अर्थात् साधक को जिन शब्दों से परिचय नहीं है, उन्हें भी बता देने वाली, अज्ञान का अपसरण करने में अद्वितीय पण्डित, समस्त गुणों से मण्डित, अखिलेश्वरी महेश्वरी अपरा भगवती शारदा को मैं प्रणाम करता हूँ।

निखिलं व्यक्तमव्यक्तं ज्ञानं गूढं सुबोधकम् ।
सर्वं च भाषितं यत्ते ज्ञानाय साधकस्य वै।।

व्यक्त अथवा अव्यक्त समस्त गूढ़ ज्ञान को मैंने सब कुछ जो तुम्हें बताया है, वह साधक को भलीभाँति सरलता पूर्वक समझाने के उद्देश्य से कहा गया है।

पूर्वं मलापसारं च ततो निर्मलविग्रहम् ।
ततो मणिसमापत्तिः ततश्च दर्शनं पुरः।।

सर्व-प्रथम मल का अपसारण, तदनन्तर शरीर की निर्मलता करना, तदनन्तर मणिपूर चक्र तक पहुँचना, फिर प्रत्यक्ष ज्ञेय तत्त्व का दर्शन करना।

एतत् सर्वं समौत्सुक्यमौत्सुक्येन विभावितम् ।
सर्वं सम्पूर्णतां यातु यत् प्रोक्तं दर्शितं च यत् ।।

यह सब कुछ उत्सुकता से पूर्ण और जिज्ञासा की पूर्ति से विभावित है। जो कुछ तुम्हें बताया गया है और दिखाया गया है, अब वह सम्पूर्ण होता है, साधकों की सफलता हो।

ॐ । टंकनविद्यायां स्थानपरिचय गमनात्मक समानाधिकरणस्य समाप्तिः। स्वयं सरस्वत्या देव्या विभाषितं गोरक्षेण च निगदितं जितेन्द्रभारतीयस्य मुखात् प्रकटितं हिताय भवतु।। ॐ ।।

ॐ टंकविद्या के अन्तर्गत स्थानपरिचय गमनात्मक समानाधिकरण की समाप्ति हुई, जिसे स्वयं भगवती सरस्वती ने कहा और गोरक्ष देव ने कहा और जितेन्द्र भारतीय के मुख के प्रकट किया, उससे साधकों का मंगल हो। ॐ

२२-१२-६२ सायंकाल ।।९५।।

अथ तृतीय समानाधिकरणं निगद्यते। अथ टंकविद्यायामूर्ध्वाधिकरणं प्रारभ्यते।। ॐ ।।

अब इसके पश्चात् तृतीय समानाधिकरण कहा जाता है। यहाँ से टंक विद्या के अन्तर्गत ऊर्ध्वविद्याधिकरण प्रारम्भ होता है। ॐ ।

चक्राणां नाडिव्यूहानां अधिष्ठात्रीं महालयाम् ।

महाशक्तिं चिदानन्दरूपेण प्लाविकां शुभाम् ।।

चक्रों और नाड़ि-व्यूहों की अधिष्ठात्री, महालया, महाशक्ति, चिदानन्द रूप से सर्वत्र व्याप्त, मंगलकारिणी-

वन्दे बोधमयीं देवीं सर्वचक्रस्थितिप्रदाम् ।

ऊर्ध्वं च गमनं यद्वै निर्विघ्न कारिकां च ताम् ।।

बोधमयी, सर्व चक्रों की स्थिति बताने वाली भगवती मां को मैं प्रणाम करता हूँ। ऊर्ध्वगमन अब करना है इसलिये विघ्नबाधा हटाने वाली देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

गन्तव्यं सर्वचक्राणां उपरिष्ठात्वया हि वै।

तस्माद्दत्तावधानस्त्वं शास्त्रं श्रृणु क्रियां कुरू।।

अब तुम्हें सब चक्रों के ऊपर पहुंचना है, इसलिये सावधान होकर इस शास्त्र को सुनो और बताई जाने वाली क्रियायें करो।

उभयं शबलमेतत् कारणं कार्यमेय च।

कार्यकारणमात्रेण संयात्यूर्ध्वमकण्टकम् ।।

कार्य और कारण इन दोनों का ही इसमें सम्मिश्रण है। इन दोनों के मिले जुले तरीके से साधक निष्कण्टक रूप से ऊपर की ओर चढ़ता चला जाता है।

अनाहतं विशुद्धं च आज्ञाचक्रंतृतीयकम् ।

त्रयाणां भेदनं कृत्वा तव सिद्धिर्भविष्यति।।

अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, और आज्ञाचक्र इन तीनों का भेदन करके तदनन्तर तुम्हें सफलता मिलेगी।

त्रयाणां भेदनं सद्यो जायते नातिदुष्करम् ।

अनने मार्गबोधेन सर्वं लघु भविष्यति।।

इन तीनों का भेदन शीघ्र हो जाता है, यह अधिक दुष्कर नहीं है। इस मार्ग बोध के तरीके से सब कुछ आसान और सरल हो जायेगा।

त्रयाणां तत्त्वज्ञानेन मुद्राज्ञानेन वै ध्रुवम् ।

क्रियाज्ञानेन तत् सर्वं भेदनं सुकरं भवेत् ।।

इन तीनों चक्रों के तत्त्वज्ञान से, इनसे सम्बन्धित मुद्राओं के ज्ञान से और क्रियाओं के ज्ञान से अवश्य ही इनका भेदन सरल और सुकर हो जायेगा।

अनन्तशक्तिः स्वयमेव यास्यति सार्धं त्वया त्वं सजगो हि तिष्ठ।

सा वै सदा सर्वजनार्द्रचित्ता कारूण्यपूर्णा करूणां विधास्यति।।

असल बात तो यह है कि वह अनन्त जागृता शक्ति स्वयं तुम्हारे साथ चलेगी तुम केवल सावधानी रखो, सजग रहो। वह शक्ति सर्वजन-दयाशीला है, करूणाणूर्ण है। वही कृपा स्वयं करेगी।

कृत्वा च रेचकं पूर्वं पूरकं तदनन्तरम् ।

ततश्च कुम्भकं कृत्वा हृच्चक्रंचालयेत् पुनः।।

पहिले रेचक करो, फिर कुम्भक करो। इस कुम्भक से हृदय-चक्र में चालन होगा। उसमें स्पन्दन एवं कम्पन होगा।

कमलस्य विकासेन विकासो मनसः स्वयम् ।

भविष्यति स्फुरं चैव तत्र तत्त्वं च दृश्यते।।

इससे हृदय-कमल खिल उठेगा और स्वयं मन का भी विकास हो चलेगा। वहीं हृदय चक्र में वह तत्त्व दीखने लग पड़ेगा।

एकं वा बहुबारं व प्राणायामं पुनः पुनः।

कारयिष्यति सा शक्तिः या त्वया सह आगता।।

एक बार, दो बार अथवा तीन बार, साधक की योग्यतानुसार और स्थिति के अनुसार वह जागृता शक्ति स्वयं जो हमारे साथ आई है, प्राणायाम करवायेगी।

त्वया मौनेन सम्भाव्यं द्रष्टव्यं तच्च दृश्यते।

यत्तत्त्वं तस्यज्ञानेन कृत्वा चक्रस्य भेदनम् ।।

बस तुम्हें मौन और निष्क्रिय रहकर जो हो रहा हो, जो दीखे, उसे देखते रहना है। जो तत्त्व दिखाई दे उसके ज्ञान से अनाहत चक्र का भेदन हो जाता है।

सुलभं जायते नात्र संशयः क्रियतां क्वचित् ।
हृच्चक्रं सुभगं ज्ञात्वा ध्यात्वा ज्योतिः स्वरूपकम् ।।

इसमें कोई संशय न करो। हृदय-चक्र में ज्योति स्वरूप के दर्शन होने पर और उसका ध्यान करने पर अनाहत चक्र का ज्ञान आसानी से हो जाता है।

ज्योतिर्लिंगं महालिंगं ज्योतिस्ते तु भविष्यति।
तस्मात् त्वं तत्परित्यज्य ऊर्ध्वं गच्छ च सत्वरम् ।।

हृदय-चक्र में एक श्रेष्ठ उत्तम, ज्योति से भरपूर ज्योतिर्लिंग दिखाई देगा। उसे भी छोड़कर तुम शीघ्रता से ऊपर की ओर चल पड़ो।

अनुभूय च सर्वं तत् क्रियामुद्रानिबन्धनम् ।
ऊर्ध्वं मार्गं कथंभूतं कपाटं रूद्धमेव तत् ।।

ऊपर जाने की क्रिया क्या है, मुद्रा क्या है, इस सबका अनुभव करलो। ऊपर का मार्ग कैसा है ? कैसे जानोगे। वहाँ तो किवाड़ लगे हैं, दरवाजा बन्द है।

उद्खाद्य तत्कपाटं च प्रविशेत् तत्र निश्चितः।
अग्रे किञ्चिन्न कर्तव्यं करणीयं न जायते।।

उस बन्द कपाट को खोलकर फिर निश्चित होकर उसमें प्रवेश करो। बस इसके अनुसार तुम्हें कुछ करना नहीं पड़ेगा। फिर करना भी कुछ है नहीं।

एषा चित्तलयावस्था तत्र वै दर्शनं परम् ।
कण्ठचक्रे गते प्राणे कण्ठचक्रंच साधितम् ।।

यहाँ पर चित्तलय की अवस्था आती है। वहीं परम दर्शन होते हैं। कण्ठ चक्र में जब प्राण वायु पहुंचता है तो कण्ठचक्र आसानी से भेदित हो जाता है।

यदा भवति वै वत्स तदा च सा दशा परा।
मुद्राणां च क्रियाणां चावश्यकता न तत्र वै।।

हे वत्स! जब चित्त की लयावस्था आ जाय उस परम दशा में फिर मुद्रा और क्रियाओं की करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

सर्वोपशममायाति तत्र ज्ञानं हि केवलम् ।
आज्ञाचक्रं समागम्य विचित्रं परमद्भुतम् ।।

वहाँ सब कुछ शान्त हो जाता है, वहाँ ज्ञान-मात्र रहता है। आज्ञाचक्र में पहुंच में परम अद्‌भुत-

ज्ञानं ध्यानं महाज्ञानं सर्वं तत्र भविष्यति।

एतावत् कथितं शास्त्रं त्वात्मबोधाय ते पुनः।।

ज्ञान, ध्यान और महाज्ञान सबकुछ वहां हो जायेगा। आत्मबोध के उद्देश्य के लिये यहाँ तक शास्त्र तुम्हें कहा है।

यदि वा ज्ञायते किञ्चित् अग्रे सर्वं विधास्यते।। ॐ ।।

यहाँ तक का जब तुम्हें कुछ अनुभवपूर्ण ज्ञान हो जायेगा तो तब आगे भी कुछ किया ही जायेगा।। ॐ ।।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। नमो गुरू को आदेश। इस टंक विद्या में मस्ती की दशा है।

एक नशा ऐसो पियो गोरख सबहि समाय।
तामें डूबे सकल समें नशा और नहि खाय।।
कुछ जाने अनजाने कछु तामें कछु न लखाय।
अलख तत्त्व देखे वहाँ ऐसा नाथ बताय।।
जो जाने पावे वही यही योग को सार।
जाको भरमत जगत है ताको यहाँ प्रसार।।
आपुन तो आपुन लहै आपुन आपहिं आपु।
एकहि सब आनन्द तै कहा होय सन्तापु।।

आखिरी तत्त्व की बात यह है कि पुड़िया झाड़ दी है, उसे चाट लो। वही ऊपर काम देगी। यह बहुत ध्यान देनेवाली बात है। वह क्रिया है चिद्बोधिनी मुद्रा स्थायी उसको पकड़ने की है। इसे बहेलिया मुद्रा भी कहते हैं।

२३-१२-६२ सायंकाल ।।९६।।

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवत्यै महामायायै जागृतस्वरूपायै कुण्डलिन्यै। ॐ परमप्रबोधविधायकं यच्छास्त्रं यच्च ते ज्ञानं प्रोक्तं तद् भवतु सततं कल्याणाय साधकानाम् ।। ॐ ।।

जागृत स्वरूपा महामाया भगवती कुण्डलिनी को प्रणाम है। परम प्रबोधदायक, जो शास्त्र और ज्ञान तुम्हें कहा गया है वह सदा साधकों का कल्याणकारी बने।

किञ्चिज्जानाति यो योगं यो बहुज्ञश्च तद्विधौ।

एकक्रियापथेनैव तयोः साम्यं कथं भवेत् ।।

जो योग के बारे में कम ज्ञान रखता है और जो योग का अधिक ज्ञान रखता है उन दोनों की परस्पर समानता हो जाय, ऐसी एक ही कौन सी क्रिया है।

किन्तु ज्ञेयं हि यत् सर्वं एषा विद्या परा मता।

अस्या ज्ञानं क्रियां सर्वामनुभूय समं ब्रजेत् ।।

ज्ञेय तो सभी के लिये एक ही है, इसमें कोई भेद नहीं है। अल्पज्ञ और बहुज्ञ की समानता के लिऐ इसी परम विद्या का ज्ञान इसकी सब क्रिया मुद्राओं के ज्ञान से सब में समानता आ जाती है।

एषा विद्या मया प्रोक्ता ज्ञातव्या साधकैर्वरैः।

न च तद्वेदितव्यं यत् सर्वमेव प्रकाशकम् ।।

साधकों को मुझसे कही गयी यह विद्या जान लेनी चाहिये। यह न समझना चाहिये कि–

एतन्नैव च भाष्यं यत् किञ्चिज्ज्ञोऽहं बहुज्ञश्च।

आत्मानं न्यासभूतेन महाशक्त्यै समर्पयेत् ।।

सभी कुछ स्वयं आ जायेगा। यह भी नहीं कहना चाहिये कि मैं अल्पज्ञ हूँ या बहुज्ञ हूँ। अपने को न्यास रूप में महाशक्ति को समर्पित कर देना चाहिये।

पन्थानं शरणमेतत् पारं याति च साधकः।

तस्माच्छरण्यां तां त्वं वै निखिलं शरणं ब्रज।।

यही शरणागति का मार्ग है, इसी से साधक पार पहुंचता है। इसलिये शरण देनेवाली उस भगवती महाशक्ति की शरण में चले जाओ।

यदि नास्ति अयं भावो गर्वासक्तिश्च जायते।

अहं कर्ता च भोक्ता च विफलं तद्भवेत् समम् ।।

यदि साधक में शरणागति का यह भाव नहीं है, अहंकार भरी आसक्ति है, मैं कर्त्ता हूँ मैं भोगता हूँ, यह भाव है, तब सब कुछ विफल हो जोयगा। साधक उन्नति प्राप्त नहीं कर पायेगा।

कदाचिच्च कदाचिच्च योगिनामात्मदर्शिनाम्।

एतादृशश्च सः भावः जायते लयमार्गके।।

लय मार्ग में कभी कभी किसी स्थिति में आत्म साक्षात्कार करने वाले योगियों में भी ऐसी अहंकार की भावना उठ पड़ती है। (साधना मैंने की, सिद्धि मैंने पाई, शक्ति का क्या ऐहसान ?)

सर्वं तच्च विहाय साधकवरस्तां दिव्यभावान्विताम् ।

शक्तिं जागृतकुण्डलीं भगवतीं आत्मानमासादयेत् ।

इत्थं स्वं शरणं गतं च मतिमान् सर्वात्मना साधकः,

सिद्धिं योगजयोगभाव विमलां प्राप्नोति सः सत्वरम् ।।

इसलिये उत्तम समझदार साधक को ये सब अहंकार की बातें छोड़ देनी चाहिये। दिव्यभावों से भरी जागृता कुण्डलिनी महाशक्ति भगवती की शरण में चला जाय और उस माँ को अपना ही स्वरूप समझे। इसी शरणागति के विमल भाव से साधक योगसाधना की उत्तम सिद्धि शीध्र प्राप्त कर लेता है।

एवं कृते च ज्ञाते च अनुभूते च ज्ञानिना।

नैव ज्ञानं हि तद् याति यद् याति योगसाधके।।

इस प्रकार समझकर और अनुभव करके जो ज्ञान योगसाधक को प्राप्त होता है ऐसा उत्तम प्रातिभज्ञान, अनुच्छिष्ट ज्ञान अन्य ज्ञानियों को प्राप्त नहीं होता है।

अतः सर्वात्मभावेन सर्वत्यागं सदा नरः।

कुर्याच्छक्त्यै हि सा देवी यदिच्छति करिष्यति।।

इसलिये सर्वात्मभाव से साधक सबकुछ त्यागकर महाशक्ति भगवती जागृता कुण्डलिनी को समर्पित कर दे। वही भगवती देवी जो चाहेगी.स्वयं करती रहेगी।

अत एव च सम्प्रोक्तंमामेव शरणं ब्रज।

वाक्यमेतत्सदालम्ब्य तत्त्वतः शरणं ब्रज।।

इसीलिये अन्यान्य शास्त्रों में भी कहा है "मामेकं शरणं ब्रज"। बस इस वाक्य का तात्त्विक रूप में अवलम्बन करके महाशक्ति की शरण में चले जाओ।

अस्मिन् महायोगे समर्थभावना। समर्थभावनया प्रचरणं विहरणं च। तस्मात् शरणागतभावनया अनुभवः। तदनुभवेन त्वरिता क्रियासिद्धिः। क्रियासिद्धौ जात्यनुभवः। जात्यनुभवात् सर्वसंस्कारबोधात्मकं यद् ज्ञानं संचितं तद् ऊर्ध्वगमनात् प्रकटितं भवति। तस्माच्च सोऽहंभावः स्थिरतां ब्रजति। अस्य अवस्थात्वेन लयस्य परमदशां यान्तियोगिनो महालयादशां यान्ति।। ॐ ।।

इस महायोग में समर्थ भावना है। समर्थ भावना से प्रचरण और विहरण होता है। इसी से शरणागति भाव का उदय होता है। उस भाव में शीघ्र क्रियासिद्धि होती है।

इति प्रभाषितमेतत् सर्वं टंकनाख्य प्रकरणम् । अस्मिंश्च किञ्चित् सहस्रार-विज्ञानं तदपि व्याख्यास्ये।

क्रिया सिद्धि से जात्यनुभव होता है। जात्यनुभव से सर्वसंस्कार बोधक जो संचित ज्ञान है, वह ऊर्ध्व गमन के बाद प्रकट होता है। उससे "सोऽहं" स्थिर होता है। इस स्थिरभाव से योगी लोग लय की जो परमदशा महालया है वहाँ तक पहुँच जाते हैं।

आज्ञाचक्रं यदा भित्वा ऊर्ध्वं गच्छति साधकः।
सहस्रगणपर्यन्तं रसयुक्तंतदम्बुजम् ।।

आज्ञा चक्र का भेदन करके जब साधक ऊपर जाता है, तब हजार पत्तों वाला रस से भरा कमल वहाँ परः-

स वै पश्यति तद् दृष्ट्वा आनन्देन समन्वितिः।
भ्रमते चक्रवत् तत्र एकं लिंगं पुनः पुनः।।

साधक देखता है, उसे देख के आनन्द से वह भर जाता है, चक्र की भाँति वह एक एक पत्ते में घूमता है। कमल के बीच में बार बार एक लिंग के दर्शन करता है।

द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्नोति तत्रैव ध्रुवसंज्ञकम् ।
तद् दृष्ट्वा परमानन्दस्तत्र भूतो विनिश्चितः।।

उस ध्रुव संज्ञक लिंग को साधक देख भी सकता है और छू भी सकता है। उसे देखकर साधक परम आनन्द से भरकर वहीं निश्चिन्त बैठे रहने की इच्छा करता है।

स्पन्दनं स्फुरणं तत्र प्रकरोति पुनः पुनः।
एतद् वै तस्य पद्मस्य विकासः शक्यते बुधैः।।

वहीं पर बार-बार स्पन्दन और स्फुरण करता रहता है। इस प्रकार स्पंदन और स्फुरण से साधक लोग उसका विकास करने में समर्थ हो जाते हैं।

स्पन्दनं स्फुरणं तत्र भूयो भूयः प्रजायते।
यादृशं भ्रमते चक्रंतादृशं भ्रमिपूर्णकम् ।।

बार-बार वहाँ स्पन्दन और स्फुरण होता रहता है। जैसे चक्र घूमता है उसी प्रकार वह सहस्र दल कमल भी अपनी पंखुड़ियों से घूमता है।

शनैः शनैः स्वमार्गेण गन्तव्यं याति साधकः।
गत्वा तत्र परं धाम विन्दते मोदमात्मनः।।

साधक इस भाँति धीरे-धीरे आराम से अपने मार्ग में चलता रहता है। फिर परमधाम तक पहुँच कर आत्मा के आनन्द की उपलब्धि कर लेता है।

यल्लाभात्तत्र सर्वे च रमन्ते ब्रह्मसंज्ञके।

तस्मादूर्ध्वं पुनश्चैव तत्र या या क्रिया भवेत् ।।

जिसे पाकर सभी ज्ञानीजन ब्रह्म में रमण करते हैं, उसके ऊपर क्या-क्या क्रियायें साधक को होती हैं, क्या-क्या होता है-

तां सर्वां सैव जानाति यस्तत्र गतिमान् भवेत् ।

अनुभूय च तां रूपस्थितिं ब्रह्मविलीनकः।।

उन सब बातों को केवल वही जानता है जो वहाँ पहुंचता है। ब्रह्मलीन साधक उसी रूप और उसी रूप का अनुभव करके-

सर्वं साफल्यमाप्नोति एतद्वै शास्त्रसम्मतम् ।

पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है।

इति सरस्वत्या स्वयं प्रभाषितं जितेन्द्रभारतीयमुखात् व्याख्यातं च ऊर्ध्वगमनं परात्पर नामात्मकं पञ्चमसमानाधिकरणं तत् साधकानां कल्याणाय जायताम् । इति।

अन्त में, भगवती सरस्वती द्वारा स्वयं भाषित, जितेन्द्र भारती के मुख से व्याख्यात यह ऊर्ध्वगमन, परात्पर नामक पाँचवाँ अधिकरण साधकों का कल्याण करता रहे। इस प्रकार प्रकरण समाप्त।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।

भङ्गी जोर से जोर से जोर से आज बजा दे।

भङ्गी जोर से जोर से जोर से आज बजा दे।

अरे चल तू एक तालाब नहा ले अरू ऐसा नाद सुना दे।

योगी ऐसा नाद सुना दे।।

करदे नाद घोर घृणा का ध्वनि आकाश मिला दे।

सिहर सिहर सिर सिर सिर काँपे ज्योति दिखादे योगी।।

देखले ज्योति को अपनी अवधू अब क्या देख दिखावे।

गोरखनाथ बतावे ताको करे सहज ही सहज बतावे।।

तत्त्व बतायो गत्त्व करायो तत्त्व दिखायो साधो।

अरे एक एक मारग ते आगे जाहि ताहि पहुंचायो।।

करे राह एक ऊपर की सीधी चल चल चल चल योगी।

आजा ताल नहान कराले अरे तू ऐसा ही हो जा।

अमरित बूंद चखे जो योगी अरे सो अपने में खोजा।

अब क्या देखे क्या तू पावे अरे जावे कहाँ अकेला।।

सार सार में गोरख भाख्यो अरे जावे नाथ का चेला।।

अरे तू काहे को अकेला।।

नमो गोरख बाबा की वाणी में जितेन्द्र भारतीय के मुख से टंकन विद्या का गुप्त रहस्य कहा गया है। इसके बाद माँ की इच्छा।

ॐ अलख निरञ्जन। ॐ अलख निरञ्जन। ॐ अलख निरञ्जन।

२४-१२-६२ प्रातःकाल ।।९७।।

हरि ॐ तत्सत्।

नित्या या भगवती शक्तियोंगिनां मार्गदायिनी।

जागृतां नौमि तां देवीं भावसिद्धिं करोतु सा।।

योगियों को मार्ग देने वाली जागृता भगवती कुण्डलिनी शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ। वह भगवती देवी मुझे भावसिद्धि प्रदान करे।

आदि शक्तिर्महाशक्तिरेका चैव महालया।

कृत्वा लयालये सर्वं लयत्वं याति सद्यः सा ।। ॐ ।।

जो आद्या महाशक्ति है वह एक ही है, उसे महालया भी कहते हैं। वही महालया शक्ति सब कुछ अपने में लय करके स्वयं भी लीन हो जाती है।

सर्वं योगमयं सुनिखिलं संसाररूपं महत्,

सो वै याति प्रमोदनर्तनपरः यः आत्मवेत्ता नरः।

आत्मानं परतत्त्वत्मेव च पुनः जानाति यस्तत्त्वतः।

तं वन्दे परज्ञानसम्भृतपरं योगीश्वरं योगदम् ।।

यह विशाल संसार का स्वरूप पूरा योगमय है। जो मनुष्य आत्मवेत्ता है, वह इस संसार में खुशी से नाचता रहता है। जो अपनी आत्मा को ही तत्त्वतरूप से परतत्त्वत्व समझ लेता है, मैं उसी योगदाता योगीश्वर की वन्दना करता हूँ, जो परम शिव के ज्ञान से परिपूर्ण है।

योगविद्या पराविद्या लुप्ता याति प्रकाशताम् ।

अत एव च व्याख्यातं शास्त्रं टंकसमन्वतिम् ।।

जो योगविद्यान्तर्गत परा विद्या है, वह लुप्त हो गई थी, अब प्रकाश में आई है। इसीलिये टंक विद्या से समन्वित शास्त्र का व्याख्यान किया गया है।

इदं शास्त्रं यदा लोके प्रचरिष्यति वै तदा।

एका सम्यक् समापत्तिः चित्तोदयविवोधिनी।।

यह शास्त्र जब संसार में प्रचार प्राप्त करेगा तब चित्तोदय-विबोधिनी समापत्ति भली-भाँति सर्वत्र फैल जायेगी और-

सर्वत्र विस्तरं याति कल्याणं जायते तदा।

अत एव च तत्प्रोक्तं व्याख्यातं भाषितं च तत् ।।

सर्वत्र तब कल्याण हो जायेगा। इसीलिये इस शास्त्र की व्याख्या की गई और कहा गया है।

कल्याणाय च सर्वेषां जनानां लोकवासिनाम् ।
यदि वा जीवितं शास्त्रं जीवितं जीवलोकितम् ।।

संसारवासी सभी जनों के कल्याण के लिये यदि यह शास्त्र जीवित रहता है तो तभी संसार का जीवन वास्तव में जीवन कहा जायेगा।

इदं सर्वं स्वयं नित्यं शक्तिसम्पन्नतां व्रजेत् ।
स्वयं शक्तमिदं शास्त्रं स्वयंभाव-प्रबोधकम् ।।

यह नित्य शास्त्र स्वयं ही पूर्ण शक्ति सम्पन्नता को प्राप्त हो जायेगा। यह शास्त्र अपने में पूर्ण शक्ति सम्पन्न है और स्वयं ही अपने भाव को जिज्ञासु के सम्मुख प्रकट कर देने वाला है।

स्वयं योगस्य संसिद्धिदायकं जायते स्वयम् ।
अत्र यन्निहितं गूढं रहस्यं सर्वबोधकम् ।।

यह शास्त्र स्वयं योग की श्रेष्ठ सिद्धियों को देने लायक है। इस शास्त्र में जो भी गूढ़ रहस्य सब प्रकार का छिपा है, वह सुबोध है।

इन्द्रियाणां ततो बुद्धेर्मनसः स्वपरात्परम् ।
एवं सर्वं महाशास्त्र आधारत्वेन कथ्यते।।

इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, आत्मा और परात्पर तत्त्व ये सब कुछ आधाररूप से इस महाशास्त्र में कहे गये हैं।

अस्याधारः समस्तान् वै चित्तदोषान् विनाशयेत् ।
अस्य संश्रवणं चैव भाषणाभ्यसनं पुनः।।

इस शास्त्र का आधार समस्त चित्तदोषों को विनाश करने वाला है। इस शास्त्र का श्रवण, इसके सम्बन्ध में चर्चा तथा इसमें वर्णित क्रिया मुद्रा आदि का अभ्यास-

सर्वकल्याणदं तुभ्यमन्येभ्यश्च भविष्यति।
अत एव इदं शास्त्रं वाणीबद्धात्मकं कृतम् ।।

तुम्हारा और दूसरे साधकों का सर्वतः कल्याणकारी बनेगा। इस शास्त्र को संस्कृत और भाषा दोनों में ही इसीलिये प्रकट किया गया है कि-

यथा सम्यक् स्वरूपेण भृशं वा प्रचरेद् भुवि।

स्वधर्मे निरताः सर्वे सर्वे योगविदो जनाः।।

जिससे भलीभाँति सम्यक् प्रकार से इसका पृथ्वी में खूब प्रचलन हो सके। सभी लोग अपने धर्मकर्म में निरत रहते हुए योग के ज्ञाता बन जावें।

आत्मानं शक्तिसम्पन्नं पश्यन्तु पुण्यमात्मनः।

सर्वे योगविदो लोकाः सुखिनः सन्तु सर्वदा।।

लोग अपने को शक्ति सम्पन्न देख लें और अपने ही पुण्यों का फल प्रत्यक्ष देख लें। **योग**ज्ञाता सभी लोकवासी जन सदा सुखी बने रहें।

शास्त्रमेतत् प्रचरतां कल्याणाय प्रजायताम् ।। ॐ ।।

इस शास्त्र का खूब प्रचार हो और साधकों का कल्याण हो। ॐ ।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।

अब हमने जो शास्त्र बताया था, वह साधकों के हित के लिये बताया। यह परमशास्त्र है, गूढातिगूढ है। इसका बोध साधकों को होगा। जब इसका बोध कर लेंगे, तब इसकी क्रिया मुद्रा और औषधियों के ज्ञान एवं अनुभव से अपना और जग का कल्याण करेंगे। इस शास्त्र के प्रचार से जन-कल्याण होगा हरि ॐ तत् सत् ।।

सारस्वत कुण्डलिनी महायोग

(शक्तिपात–शास्त्र)

भाग द्वितीय

ॐ

गोरखवाणी :- हरि ॐ तत् सत् । हरि ॐ तत् सत् । हरि ॐ तत् सत् । अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।

दीप की ज्योति जलाले, दीप की ज्योति जलाले।
दीप की ज्योति जलाले।।
घट का दीप अघट की बाती, सार का तेल मंगाले।
ता दीपक में स्वास की अगनी, अवधू दीप जलाले।।
अवधू दीप जलाले।।

बैठ दीप की ज्योति में अवधू, अलख निरञ्जन देखे।
ॐ अलख निरञ्जन परम पुरूष है, अरे ताको दर्शन भावे।।
दीवट एक मंगा के अवधू, दीपक ता में संजोले।
एक एक की समझी बूझी, तहाँ बैठ के घोले।।
दीपक एक जला ले।।

जत्ती जोगी और मुनीन्दर, गिन्दर योगी ज्ञानी।
ताको अगम अथाह बतावें, तामें नाहि समावें।।
ताको सहजै सहज संजोली, अरे एकतत्व को झटपट पावे।।
बिनरातां न न संजोली, बूझणियाँ सूझणियाँ जोगी।।
सूझणियाँ मूझाणियाँ।।

तोल तोल के सौदा देवै, निर्धनियाँ धन बणियाँ।
अरे ताको हाट में बैठिके अवधू, भला बुरा सब तोले।।
आपुहि आपु सबै कछु देखे, आपुहि आपु निगोड़े।
ताहि दिया मैं सब कुछ खोले, अवधू जोगी बोले।।
बार बार मिलणे का नाही, गोरख सब विध पावै।
क्या जाने कब होय सबेरा, बुझे दीपक तेरा।।
जले तेल बाती जल जावे, ज्योति रहे घनघोरा।।
तीन काल तक बुझे न ज्योती, ताकी ज्योति जलाले।।
अवधू ऐसा दीप जलाले।।

जगमग ज्योति जगे अवधू, जगमग ज्योति जगे।
जगमग ज्योति जगे।।

ता दीपक की ज्योति निराली, धम धम धम ऊपर तत् चमके।।
धमक धमक धम धम धम ऊपर तत् चमके।।
अरे, दमके जमके झमके गमके अवधू। दमके।।
दमके तामें एक निराली, एक ज्योति से एक ज्योति में।
कञ्चन गंगा डाली, अवधू कंचन गंगा डाली।
ता कञ्चन की गंगा काया जोगीन्दर मुनि भन्ता।
अरे पकड़ें ताकी ज्योति को अवधू, सो जाणे जोग की कन्था।। ॐ ।।

२५-१२-६२ सायंकाल ।। ९८ ।।

हरि ॐ तत सत् । नमस्तेऽस्तु भगवत्यै दिव्यस्वरूपायै
महाशक्त्यै जागृतस्वरूपायै।

हरि ॐ तत् सत् । दिव्यस्वरूपा भगवती महाशक्ति को नमस्कार है।

नमस्ते महायोग-योगाधिकायै नमस्तेऽस्तु सूक्ष्म-स्वरूपाधिकायै।
नमो ज्ञान-ध्याने पराकाष्ठिकायै नमश्वाधिकायै नमश्वाधिकायै।।

समस्त योगों में श्रेष्ठ महायोग से पूर्ण माँ को नमस्कार है। सूक्ष्मरूप के कारण अधिक रूप वाली माँ को नमस्कार है। ज्ञान और ध्यान में पराकाष्ठा रखने वाली माँ को प्रणाम है। सर्वाधिक रूप वाली माँ को बारम्बार प्रणाम है।

प्रमोद परिनृत्यपरिभरां विमण्डितबहुत्रिकाल-ज्ञानात्मिकाम् ।
विलसित-सकलशास्त्र-शोभितां विधैक विद्यगीतां तां कवयित्रीम् ।।

प्रमोद में नृत्य करने वाली, त्रिकाल के विशाल ज्ञान से परिमण्डित, समस्तशास्त्रों से शोभायमान विद्या के व्यसनी विद्वानों द्वारा स्तुति की जाने वाली कवयित्री रूपा माँ शारदा को नमस्कार है।

प्रतिमानसप्रमोद भर्त्रीं तां वन्दे शारदां सततम् ।

प्रत्येक जन-मानस में प्रमोद भर देने वाली शारदा माँ को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ।

अथ एतदधः स्वल्प क्रिया-मुद्रा-पुष्टिकरणम् । लघुत्वेन तत्साधनं एतद्विज्ञानं परमं परमोत्तमम् ।

अब इसके अनन्तर क्रिया और मुद्राओं को पुष्ट करने वाला ज्ञान कहा जाता है। उसका साधन आसान है। उसका विज्ञान परम उत्तम है।

मुद्रा-क्रियापुष्टि करम्। क्रियापुष्टिज्ञानेनानन्दम्। तेन पुष्टिसमापत्तिः। पुष्टित्वेन च तत्तुष्टिः। तुष्टित्वेन अनुग्रहसुखैक प्राप्तिः। तस्मात् नातिचिरेण नातिकालेन नातिकष्टेन सारल्येन सुगमतया च कायसम्पत्तिसिद्धिः।

मुद्रायें क्रिया को पुष्ट करती हैं। क्रियापुष्टि के ज्ञान से आनन्द मिलता है। उससे पुष्टि समापत्ति होती है। पुष्टि से तुष्टि प्राप्त होती है, तुष्टि से अनुग्रह द्वारा प्राप्त सुख मिलता है। इसलिये बहुत शीघ्र, बिना अधिक कष्ट के, सुगमतया सरलतया कायसम्पत्ति की सिद्धि हो जाती है।

कायसम्पत्तिसिद्धिमापन्ने सति, अत्रैव एकं, अपरं, अद्वितीयं, श्रेष्ठं, श्रेय, प्रेयं, त्रेयं प्रमेयं च ज्ञानं परमागच्छति।

काय सम्पत्ति की सिद्धि होने पर इसी जन्म में एक अपूर्व, अद्वितीय, श्रेष्ठ, श्रेय को देने वाला, प्रिय लगने वाला त्रिकालबाधित परम ज्ञान साधक को प्राप्त होता है।

यद् ज्ञानं चापरं ज्ञानं केवलं पुष्टिकारकम् ।

क्रिया-मुद्रा विशेषेण तयोः पुष्टिकरं हि तत् ।।

जो ज्ञान इसके अनन्तर केवल पुष्टिकारक है, विशेषकर क्रिया और मुद्राओं की पुष्टि करने वाला है वह ज्ञान साधकों को हित कारक है।

तद् ज्ञानं गदहं प्रोक्तं गदस्यार्तिनिवारकम् ।

अगदं प्रोच्यते किञ्चिद् यच्च पुष्टिकरं भवेत् ।।

उस ज्ञान को गदह अर्थात् रोगनाशक कहा जाता है। रोगों के कष्टों को दूर कर देता है। वही अगद-ज्ञान थोड़ा, संक्षेप में बताया जाता है जिससे साधक परिपुष्ट बन सके।

विद्या महामहा प्रोक्ता टंकाख्या अश्विनी च या।

अश्वकः साधकः प्रोक्तः येनाश्वो बलवान् कृतः।।

पहिले महान् से महान् जो टंक नामक अश्विनी विद्या बताई थी उसी के कारण साधक को अश्वक (घुड़सवार) कहते हैं, क्योंकि, उसने अपने अश्व को बलवान् बना दिया है।

अश्वे कृते बलवति दृष्टे मार्गे गते च वै।

स्थाने च परिचिते जाते नैवं किञ्चिद् विशिष्यते।।

अश्व के बलवान् कर देने पर, मार्ग के देख लेने पर और उससे चल लेने पर तथा गन्तव्य स्थान का परिचय हो जाने पर फिर विशेष बात कुछ जानने को शेष नहीं रहती है।

अवशिष्टं क्वचित्किञ्चित् यद् गूढं च रहस्यकम् ।

तत्तु भाससमादन्यत् स्वयमेव प्रकाशते।।

थोड़ा बहुत कहीं कुछ यदि गूढ़ रहस्य छूट भी गया हो तो वह भी स्वयं भासमान होकर साधक के सामने प्रकाशित होता रहता है।

तदर्थं साधकेनैव प्रिय-कल्याण-कांक्षिणा।

भाव्यं यत्नपरेणैव सर्वन्यासकृतेन च।।

साधक को अपने हित और कल्याण की कामना से पूर्ण आत्म समर्पण करके साधना में यत्न करते रहना चाहिये ताकि गूढ़ ज्ञान भी उसे भासित हो जाय।

तद्ज्ञानं प्रोच्यते भूयः यत् स्वल्पं लाभदं बहु।

ज्ञात्वा कदाचिद् तद् ज्ञानं फललाभो भविष्यति।।

उसी ज्ञान को फिर से बताया जा रहा है। जो है तो थोड़ा किन्तु लाभप्रद बहुत है। उसे जान कर कभी भी साधक को फल लाभ हो सकेगा।

अश्वो मनः समाख्यात आश्वी विद्या तदन्विता।

तथा च अश्वगन्धायास्तद् ज्ञानमपि ते भवेत् ।।

मन को अश्व कहा गया है, उससे सम्बन्धित विद्या को आश्वी विद्या कहा गया है। अतः अश्वगन्धा औषधि का ज्ञान भी तुम्हें हो जाना चाहिये।

अश्वगन्धा महागन्धा अश्ववद् बलदायिनी।

तस्याः सेवनमात्रेण बलमाप्स्यसि त्वं ध्रुवम् ।।

तीव्रगन्ध वाली अश्वगन्धा जो घोड़े की भाँति बलदायिनी है, उसके सेवन मात्र से तुम अवश्य ही बल प्राप्त कर लोगे।

तद्वै सम्यक् समादाय प्रबोधाय प्रनः पुनः ।

पुष्टिं तुष्टिं च ते दद्याद् अश्वगन्धा महाबला।।

महाबलदायक अश्वगन्धा विधिपूर्वक बार-बार लेते हुए अनुभव करते रहो। वह तुम्हें पुष्टि और तुष्टि दोनों देगी।

समये समये तात् साधना-तत्परो हि त्वम् ।

यावन्नैव स्थिरं याति क्रियाचक्रं मनस्तथा।।

हे वत्स ! कभी-कभी तुम जब साधना में लगे हो और क्रियाचक्र स्थिर न हो पा रहा हो और मन भी स्थिर न हो पा रहा हो।

यदि वा विघ्नमायाति तद्विघ्नस्य निवारकम् ।

औषधमश्वगन्धाख्यं गृहाण त्वं यदा-कदा।।

और या५ साधना में विघ्न आ रहे हों तो उन विघ्नों के लिये यदा-कदा अश्वगन्धा नामक औषधि का सेवन कर लो।

कदाचिद् जायते ते यद् आवश्यकता भवेद्यदि।

तदा ग्राह्या स्वयं सैव अश्वगन्धा महाबला।।

यदि कभी किसी स्थिति में तुम्हें आवश्यकता पड़े तो महाबलदायक अश्वगन्धा को यथा समय ले लिया करना।

मूलं मूलं समादाय चूर्णकं चूर्णकं ऋजु।

स्वल्पं स्वल्पं मुखे धृत्वा पिवेद् दुग्धं च स्वल्पकम् ।।

उसकी केवल जड़ों को लेकर उसका चिकना चूर्ण बना लेना। थोड़ा-थोड़ा मुख में डालकर ऊपर से थोड़ा दूध पी लेना।

एवं कृते महायोगे आपत्तिविघ्नव्यूहकम् ।

शरीरजं महाकष्टदायकं तद् विनश्यति।।

इस महा प्रयोग के करने पर सारे विघ्नजाल जो शरीर को महा कष्ट दे रहे हों सब नष्ट हो जाते हैं।

शरीरं पुष्टिसम्पन्नं तुष्टियुक्तं मनो भवेत् ।। ॐ ।।

इससे शरीर पुष्टिसम्पन्न हो जायेगा और मन भी तुष्टिसम्पन्न बन जायेगा।

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ऊँ माँ। साधक! अब छोटे-छोटे तत्त्व के कथन, छोटे-छोटे लाभप्रद कथन, कभी-कभी किसी समय में जिनका प्रयोग किया जा सकता है, उन्हें भी बता देना चाहिये। और जब महामाया भगवती का आदेश हो जाता है तो मन्त्रों की तरह औषधि की सिद्धि भी आती है। योगी को योग सिद्धि होने लगती है तो उसे औषधि सिद्धि का भी ज्ञान हो जाता है। यह शरीर धर्म है। कायकष्ट भी हो सकता है। उसे मिटाने के लिये इस टंक विद्या की मुद्राओं को करने वाले साधक को चाहिये कि इसके लिये औषधि भी बता दी जाय। फिर कभी और भी बता दी जायेगी। सदैव नहीं सर्वत्र नहीं, कभी-कभी मस्ती के लिये, बल लाने के लिये, अपनी क्रियाओं और मुद्राओं को पुष्ट करने के लिये और शरीर को भी पुष्ट करने के लिये, मन को भी पुष्ट करने के लिये अश्वगन्धा कर सेवन कर लेना चाहिये। इसे अश्वगन्ध भी कहते हैं, इसकी जड़ को कूट छान कर उसका चिकना चूर्ण बना लिया जाय, आवश्यकता पड़ने पर मुख में रख लिया और कुल्ला; दो कुल्ला चार कुल्ला ऊपर से दूध पी लिया। यह प्रक्रिया भी सोते समय होनी चाहिये। लेकिन इसका नित्य अभ्यास नहीं होगा। यह तभी होगा जब कोई साधक अपने को बलहीन निर्बल समझने लगता है। ऐसी दशा नहीं आयेगी, आनी भी नहीं चाहिये। फिर भी

ऐसा होता है कि क्रिया में अधिकता से दौर्बल्य या क्षीणता भी आ सकती है। उस वक्त ऐसी स्थिति में सेवन करना चाहिये। जान लेना चाहिये और जान कर आवश्यकता पड़ने पर सेवन कर लेना चाहिये। टंक विद्या में इसका ज्ञान भी जरूरी था। इस अश्वगन्धा में बड़ा गुण है। अश्व की तरह बल बढ़ाने की ताकत है। इसके सेवन के ढंग भी कई हैं। कई ढंग के नियम हैं। लेकिन इन क्रियाओं और मुद्राओं के साधक को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। यदि साधक को कभी ऐसी भावना दौड़ पड़े कि शरीर शिथिल तो नहीं हो रहा है, दुर्बलता तो नहीं बढ़ रही है, क्रियायें कहीं गड़बड़ा तो नहीं रही हैं, ऐसी भावना जब आ जाय तब कभी-कभी एक दो दिन इसका सेवन कर लेना, अभ्यास नहीं डालना। हाँ, जब समाधि की दशा आने लगे, अपने आप खोने की दशा आने लगे, तो ऐसी दशा में चाहो तो कुछ काल के लिये सेवन कर सकते हो। इसलिये कि जब तुम अपने आप को भूलकर अचेत पड़े होगे, तब तुम्हारे शरीर में अश्वगन्धा की सारी शक्ति बनी रहेगी और इस प्रकार तुम्हारे मार्ग में कोई बाधा नहीं आ सकेगी।

अब माँ की आज्ञा है कि कुछ दिनों में मुझे कुछ और भी बताना है, ज्यादा नहीं, कुछ ही दिनों में। कुछ बातें बताकर फिर एक प्रकरण माँ स्वयं बतावेंगी और इसके बाद फिर शक्तिपात के साधन का कार्य समाप्त हो जायेगा और वह अपने आप बल सम्पन्न होता हुआ बढ़ता चलेगा, बढ़ता चलेगा। वह अवधू होने लगेगा। वह नाथ का चेला होने लगेगा। उसको किसी का डर नहीं, किसी की रोक टोक नहीं रहेगी। कोई रोग नहीं रहेगा। वह चलेगा, क्योंकि वह साधुओं का प्यारा है, सन्तों का प्यारा है। इसलिये उसको छोड़ दिया जायेगा। रूको मत। इस प्रकरण की समाप्ति करके दो बातें ओर बतानी हैं। बता करके खेल खतम कर दिया जायेगा।

२७-१२-६२ प्रातःकाल ।।९९।।

विकटां कटिभारमावहन्तीं विपुलां सिंहसटापटापटन्तीम् ।
सुदृढां छविजालमाभरन्तीं तनुमध्यां ननु भारतीं भजेऽहम् ।।

मध्य में पतली, सुदृढ़ शरीर वाली, कान्ति पुञ्ज को धारण करने वाली विपुल कटिभार का वहन करने वाली, शेर की सटाओं में जिनका परिधान फैला हैं, उस माँ भारती को नमस्कार है।

औषधं निर्मलं दिव्यं देहशोधन कारकम् ।
कथितं कथ्यते चापि यद् विघ्ननाशकं भवेत् ।।

देह का शोधन करने वाली निर्मल दिव्य औषधि तुम्हें बता दी है और जो भी विघ्नविनाश कारक अन्य औषधियाँ हैं, वे भी तुम्हें बता दी जायेंगी।

यदि वा स्खलनं तत्र जायते साधना विधौ।

व्यवधानं च वै तत्र चिन्ता तत्र न त्वं कुरू।।

कभी तुम साधना करते करते रूक जाओ और बीच में व्यवधान आ जावे तो इस बारे में भी तुम चिन्ता मत करना।

यदा वै साधनाकार्ये व्यवधानं पुनः पुनः।

मुचकन्दप्रसूनस्य भक्षणेनैक वारके।।

जब साधना–कर्म में बार–बार व्यवधान आ जावे तो मुचकुन्द फूल के एक बार भक्षण करने से ही–

बहुविघ्नविनाशाय जायते सत् फलं महत् ।

एकं पुष्पं समादाय कुर्याच्चर्वणमस्य च।।

बड़े–बड़े विघ्न विनष्ट हो जाते हैं और बड़ा अच्छा फल होता है। एक फूल लेकर उसे चबा जाओ।

उपरिष्ठात् पयश्चाल्पं पिबेत्तद्धि हिताय च।

एतद् यद् गदितं तुभ्यं अगदं गदनाशनम् ।।

और ऊपर से थोड़ा जल पी जाओ। यह बात जो तुम्हें बताई है वह रोग की निवृत्ति कर देता है। इस योग को अगद–योग कहते हैं।

तदैव ग्रहणीयं ते यदा वै स्खलनं भवेत् ।

व्यवधानं भवेच्चैव न भवेत्साधना यदि।।

इस औषध को तभी लेना चाहिये जब किसी साधना में विक्षेप या व्यवधान आ जावे और उसके कारण साधना न चल पा रही हो।

अत एवं प्रकारेण साधकः पूर्तिमाचरेत् ।

अपरं च परं लाभप्रदमेकं वदामि ते।।

इसलिये साधक को चाहिये कि उपर्युक्त प्रकार से क्षतिपूर्ति कर ले। एक दूसरा भी लाभप्रद योग तुम्हें बता रही हूँ।

औषधं सुखदं ज्ञानं दिव्यं यत्ते भविष्यति।

शंखपुष्पी च या प्रोक्ता श्वेताक्षी श्वेतग्रन्थिका।।

एक लाभदायक और दिव्य ज्ञान देने वाली औषधि भी है जिसे शंखपुष्पी कहते हैं। सफेद उसके फूल होते हैं और ग्रन्थियाँ भी सफेद होती हैं।

श्वेतरोमान्विता सातु शरीरं निर्गदं तदा।

कुर्याद् भक्षणमात्रेण ग्रीष्मकाले विशेषतः।।

उसके रोंये भी श्वेत होते हैं, उसे यदि विशेषतया ग्रीष्मकाल में लिया जाय तो भक्षणमात्र से वह शरीर को निरोग बना देती है।

न शीतकाले तद्रूपमाचरेत् साधकः सुधीः।

ग्रीष्मे तद् भक्षणं कृत्वा साधकः साधकोत्तमः।।

समझदार साधन को चाहिये कि वह शंखपुष्पी का सेवन शीतकाल में न करे। ग्रीष्मकाल में ही उसका भक्षण करके साधक उत्तम साधक बन जाता है।

तस्य वै भक्षणं प्रोक्तंसफलः साधको भवेत् ।

एकादशदिनन्तं वै पिबेत्तां पेषितां पुनः।।

इसका भक्षण केवल ११ दिन तक होता है। इसे पीसकर घोट कर पीना चाहिये। इस प्रकार करने पर साधक को फलप्राप्ति होती है।

ऊष्माणं देहजं सर्वं वीर्यदोषांश्च नाशयेत् ।

अथवा साधनाकाले शीतकाले प्रकम्पिते।।

शरीर की सब प्रकार की गर्मी को और सब प्रकार के वीर्य दोषों को यह शंखपुष्पी नष्ट कर देती है। जब कंपा देने वाला शीतकाल हो, उस समय के सेवन के लिये–

एकमन्यत् प्रवक्षामि औषधं बलदायकम् ।

श्लेष्मस्य हरणं कुर्याद् श्वासकासविनाशनम् ।।

एक और भी प्रयोग है। बलदायक एक अन्य औषधि को भी बतलाती हूँ, जो श्लेष्मा का हरण कर देती है और श्वास–काश का विनाश कर देती है।

सर्वस्य कफयूथस्य पित्तदोषस्य मारकम् ।

सुलभमौषधं तच्च सर्वत्रैवोपलभ्यते।।

सब प्रकार के कफ दोषों को और पित्त–दोषों को मार देने वाली यह औषधि–सर्वत्र सुलभ तथा सरलता से मिल जाती है।

नागरं निपुणं पुष्टं तुष्टं कृष्णात्मकं च यत् ।

समादाय च तत्क्वाथं कुर्यात् साधक सत्तमः।।

काली गाठों वाला पुष्प और पक्का जो नागरमोथा होता है उसे लेकर साधक क्वाथ बना ले।

क्वाथं विधाय वै तस्य नागरस्य समाहितः।

कुडुपेन प्रमाणेन त्रिबारं भक्षयेच्च तत् ।।

क्वाथ बना कर एक एक चुल्लू भर तीन बार उसका उसे बड़े समाहित चित्त से पी जाना चाहिये।

एकस्मिन्नेकमेव स्यात् कालभेदं द्वितीयकम् ।

द्वितीये समये तस्य सेवनं सुखदं भवेत् ।।

एक बार में एक अंजली भर ही पीना चाहिये। दूसरी अंजली भर दूसरे समय पीना चाहिये। इस प्रकार काढ़ा अच्छी प्रकार पिया जा सकेगा।

एतत् प्रोक्तं शुभं सत्यं सुखदं पुष्टिकारकम् ।

रोगापहं महादिव्यमौषधं ज्ञायतां हि तत् ।।

यह प्रयोग बहुत सुखद और अवश्य पुष्टि कारक है। रोग निवारक है। इस महौषधि को दिव्य औषधि समझो।

काले काले यदा चेच्छा जायते क्रियते हि तत् ।

अनेन कायसम्पत्तिः भूयो भूयो विवर्धते।।

समय समय पर जब इच्छा हो और आवश्यकता हो तब ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। इससे कायसम्पत्ति दिनोंदिन बढ़ती जाती है।

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।

अरे अवधू योग धुनी धुनले, योग अगनि की ज्वाला।
तामें भस्म करे तू सब को अरे काह रहे तन काला।
एक ज्योति में मुंह से खंसे सब अंधियारा भागे।
अघट घटन्ता गोरख जोगी जानत जोग हि जावे।।
जोगी खड़खड़ खड़खड़ जोगी जोग की राह।
निर्मल काया कौवत निर्मल होय नसाब।।
सब कछु सब कछु सब कछु ताकी भसम रमाव।
तो जोगी काया करे निर्मल कंचन ना साब।।

पहले बतलाया गया था कि इस मल की शुद्धि चार प्रकार से होती है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मा के भाव को स्वच्छ करने के ढंग भी बता दिये गये थे। कभी-कभी बाधा व्यवधान के निवारण के लिये औषधि का लघु प्रकरण बता दिया गया है। जब कभी ४, ६ दिन तक विघ्न आ जाय और साधन न किया जा सके तो एक मुचकन्द का,

फूल चबा लेना चाहिये और ऊपर से पानी पी लेना चाहिये। इसमें एक गुण है कि उसमें जोड़ने की ताकत है। क्रिया के व्यवधान को पूरा कर देने की ताकत है और साधक के चित्त में विक्षेप नहीं आने पाता। जब तबियत में आये कि गड़बड़ हो रहा है, क्या करना है, तब फूल खा लो। ग्रीष्मकाल में शंखपुष्पी के पी लेने पर फिर चार महीने ग्रीष्मकाल की गर्मी का कोई भी दोष नहीं आने पावेगा, समस्त शुक्रदोष नष्ट होकर शरीर को पुष्ट कर देगी। जब शीतकाल आ जाय, कफ-प्रकोप होने लगे और श्वासकाश होने लगे, तब नागरमोथा ला कर पीस कर क्वाथ बना लेना। तीन मात्रा बना लेना। दो बार ले लो न हो तो सोते समय ले लेना। परमहितकारी होगा। शीतकाल के सभी विकार नष्ट हो जावेंगे। काया कंचन हो जावेगी। साधक का कल्याण हो जावेगा।

२७-१२-६२ सायंकाल ।।१००।।

भद्रां भद्रवतीं देवीं भद्राक्षीं भद्रभाविनीम् ।

भद्रां भद्रेश्वरीं दिव्यां बन्दे तां भद्रकारिणीम् ।।

भद्रा, भद्रवती, भद्राक्षी, भद्रभाविनी, भद्रेश्वरी भद्रकारिणी दिव्यरूपादेवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

भद्रभावैकभावाम् तां भद्ररूपां च भद्रदाम् ।

भद्रकालीं च तां वन्दे सदा भद्रं करोतु सा।।

केवल भद्र भाव में स्थित, भद्ररूपा, भद्र देने वाली भद्र काली देवी की मैं वन्दना करता हूँ। वह देव मेरा भद्र (कल्याण) करे।

इति औषधि समानाधिकरण प्रकरणं शरीरपुष्टिकरणं स्वयं सरस्वत्याभिभाषितं साधकानां हिताय जायताम् ।

यह औषधि समानाधिकरण नामक प्रकरण जो पुष्टि कारक है और स्वयं श्री सरस्वती माँ ने कहा है, साधकों का कल्याण करने वाला बने।

२८-१२-६२ प्रातःकाल ।।१०१।।

नमामि तां महादेवीं सर्वदेवकरीं शुभाम् ।

आनन्दनेत्रनेत्राङ्गीं नेत्रज्ञां नेत्रधारिणीम् ।।

समस्त देवों की स्वरूपिणी, आनन्द भरे नेत्रों वाली, आनन्द भरे अंगों वाली नेत्रों का ज्ञान रखने वाली, दिव्य दृष्टि वाली उस महादेवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

नेत्रां भगवतीं गीतां नेत्रशास्त्रपरांगताम् ।

नित्यानन्दसमायुक्तां वन्दे तां वागधीश्वरीम् ।।

नेत्र शास्त्र में पारंगत, नेत्रा भगवती को नमस्कार है जो नित्यानन्द समायुक्त है और वाणियों की अधीश्वरी है।

या प्रोक्ता टंकविद्या वै यत् प्रोक्तमगदं तथा।

भृशं मयि कृपां कृत्वा सरलां तां नमाम्यहम् ।।

जिस माँ ने मेरे ऊपर भारी कृपा करके मुझे टंक विद्या बताई और अगद प्रयोग बताया उस सरला और निश्छल माँ को मैं नमस्कार करता हूँ।

सरलां सरलास्वभावां सरलां चित्तकृपाविमण्डिताम् ।

सर्वां सरलात्मिकां तां ताराभिधां नौमि तां देवीम् ।।

सरल स्वभाव वाली, सरल, चित्त में कृपा से सुशोभित, सर्वतः सरल रूपिणी उस तारा नामक भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

बालां चापि तथैव सद्य सुभगां बालेश्वरीं बालजाम् ,

बालाबाल बलाबलेति बलदां बालाक्षरीं बालिकाम् ।

वालाभावविमण्डितां बलवतीं बालेश्वरीं बालजाम् ,

बालानां कृतपुण्य-पुण्यमपरं विस्मृत्य सानन्दजाम् ।।

उसी भाँति उस बाला भगवती को भी नमस्कार है जो बालेश्वरी है, बालजा है, बाल अबाल, बलहीन सबको बल देने वाली है, बालाक्षरी है, बालिका है, बाल भवन से विमण्डित है, अपने बालकों के किये गये समस्त पुण्य अथवा अपुण्यों की विस्मृति करके उन्हें आनन्द और सुख देने वाली है।

तां वन्दे भगवतीं देवीं वालां बालार्कभासिताम् ।

या देवी सर्वदास्माकं कल्याणं कुरूते स्वयम् ।।

बाल सूर्य की भाँति कान्तिमतो उस बाला देवी को मैं प्रणाम करता हूँ जो हमारा सर्वदा स्वयं कल्याण किया करती है।

गोरखवाणी :- ॐ । अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ साधक ! सावधान। जिस मार्ग पर तुम चले हो, वह सरल भी है, कठिन भी है। लेकिन ज्ञानी होने के साथ साथ क्रियाओं और मुद्राओं का अभ्यासी भी हो जाता है और जब सभी क्रियायें बताई जाती हैं तब सब सरल हो जाता है। जो टंक विद्या है उसका महा प्रचार होता है। यह सब साधकों के हित के लिये है। जितनी मुद्रायें सरल से सरल थीं सब बता दी गईं, जितनी सरलता से अपना मार्ग पार करो। इस लुप्त विद्या को पुनः प्राप्त करके जगत् का पुनः कल्याण होने वाला है। समय आ गया था तो तुमको साधकों के हित के लिये यह रहस्य बता दिया गया है। यह किसी पोथी पत्रा में नहीं है। यह तो गोरख की अपनी बात है। गोरख ने गुरू-परम्परा से प्राप्त करके संजो रखा है। गुप्त लुप्त विद्याओं का फिर से प्रचार होगा। एक बार फिर से साधु सन्यासियों की ओर संसारी गृहस्थधर्मियों का ध्यान खिंचेगा। एक बात ध्यान रख लेना।

साधक ! सावधान ! तुम्हें मेरे वचन सुनाई देंगे। मेरे वचन सुनाई देंगे। ठीक है। जो, बना, कहूँगा, नमो गुरू को आदेश। यह योग का मार्ग है। पहिले तो इस पर सब लोग आते नहीं। बड़े भाग से आते हैं। तुमको तो ऐसी बात बता दी गई है कि कोई भय नहीं है। जो भी कभी तुम्हारे भीतर रह जायेगी वह भी पूर्ति हो जायेगी। जब तुम अपने अभ्यास में बैठोगे, ध्यानावस्था में आ कर समाधि में लीन हो के सब कुछ जानने की ताकत अपने भीतर लाओगे, सब कुछ भीतर ही पा लोगे, सब कुछ भीतर ही पा जाओगे, ऐसी सुन्दर बेला में ऐसे सुन्दर पुण्य-काल में बड़ा वाला एक रूद्राक्ष का दाना, अच्छा रूद्राक्ष हो, सुन्दर हो, एक दाना लेना, जिसके बीच में छेद होगा। वैसे तो दिन की कोई बात नहीं नाथ की वाणी में सदा सब दिन एक हैं, फिर भी लोकाचार के अनुरूप एकादशी के दिन उस रूद्राक्ष को दूध में और गंगा जल में धोकर साधना के समय या तो उसे नाभि भाग में या पीठ के पीछे रीढ़ में हड्डी में किसी तागे से बाँध लेना। उसकी रगड़ से शरीर से एक प्रकार की धमनियों में, नसों में एक लहर सी दौड़ती रहेगी जो सब क्रियाओं और मुद्राओं को कभी रूकने नहीं देगी। यह भी ज्यादे दिन का काम नहीं है। चाहे तो साधना के समय बाँध लेना अन्य समय आसन में ही रख लेना। इसके लगने से क्या होगा यह बताया नहीं जा सकता है। यह एक गुरू की बात है। गुरू का तत्त्व है। इसे भी ११ दिन या २१ दिन धारण कर लेना, फिर चाहो तो इसे किसी

अन्य अंग में धारण कर सकते हो। यह ११ या २१ दिन में अपना काम करके दिखा देगा। चाहो तो साधना के स्थान पर रखे रखोगे तो ठीक रहेगा। यह सरल सहज बात है। इसी को गाँठ खोलना कहते हैं। इन छोटी बातों को जानना कठिन हो जाता है बात छोटी है, पर बहुत बड़ी है। इसलिये इस रहस्य को समझना, जानना, देखना और अनुभव करना, विरोध के तत्त्वों को साफ कर अपने मार्ग को साफ कर देना है और जब माँ भगवती की दया हो जायगी और जब माँ चाहेगी और माँ की मुझे देशना हो जायेगी तो फिर तुम अपनी सिद्धि का अनुभव करते हुये अपनी साधना में लगे हुए जुटे हुए रहो। इस शास्त्र के प्रचार के लिये भी पुनः कहा जायेगा। एक बार फिर अलख निरञ्जन का नाद जगत में गूंज जायेगा। सब का कल्याण हो जायेगा। योग का प्रचार हो जायेगा। गुरू गोरख की इच्छा पूरी हो जायेगी। अलख निरञ्जन। ॐ ।

२९-१२-६२ प्रातः ।।१०२।।

हरि ॐ तत्सत् ।

हरिताभावलितां सुवर्णकणिकां वर्णात्मिकां वर्णदाम् ।

सर्वानन्दमयीं च तां प्रकटितां आधारकामाश्रये।।

हरित आभा से पूर्ण, सुवर्ण कान्ति वाली, वर्णात्मिका, वर्णदायिनी, सर्वानन्दमयी प्रकट रूप से साक्षात्कार में आनेवाली आधारिका भगवती का मैं आश्रय लेता हूँ।

आधारा या च वै विद्या मन्त्रभागेन शोधिता।

तस्यां मन्त्रस्य योगस्य स्वरूपं तेऽभिधास्यते।।

मन्त्र भाग से शोभित जो आधार विद्या है उसके अन्तर्गत मन्त्रों के प्रयोगों का स्वरूप अब मैं बताऊँगी।

मन्त्रः कीदृक् कथं तस्य प्रयोगः क्रियते भुवि।

का शक्तिश्च किमर्थं च एतत् सर्वं विधीयते।।

मन्त्र कैसा होता है ? उसका प्रयोग लोक में किस प्रकार किया जाता है ? मन्त्र की क्या शक्ति है ? मन्त्रों का प्रयोग किस प्रयोजन के लिये किया जाता है ?

योगेन च कृतेनैव किं भवेदिति चिन्तया।

तत् सर्वं प्रोच्यते गूढं आधाराधारविद्यया।।

मन्त्र योग से क्या होता है ? इस प्रकार की जिज्ञासा पर सब गूढ़ रहस्य आधार विद्या के आधार को लेकर बताया जाता है।

भाष्यते अथ का सा वा विद्या नैव च चिन्त्यताम् ।

ज्ञाता सा स्वल्पकालेन भविष्यति न संशयः।।

इस बात की चिन्ता न करो कि वह कौन सी विद्या है। अभी स्वल्पकाल में ही वह तुम्हें ज्ञात हो जायेगी, कोई सन्देह न करो।

आधारविद्यात्मक हेतु मूलकं आधाररूपेण विराजितं पुनः।

आधारमित्येव समस्ततत्त्वमाधारहीनं नहि तद्धि किञ्चित् ।।

इस जगत् में सब कुछ आधार विद्या से ही विराजित है। और आधार विद्या ही सब का कारण है। समस्त तत्त्व आधार मूलक है। आधारहीन कुछ भी नहीं है।

आधारसर्वात्मकधारधारः सर्वाधिकारश्च विशेषधारः।

शेषाधिभारस्तु महाधिभारः आधार विद्या तु सदा सधारः।।

आधार ही सब कुछ धारण करने वाला आधार है। आधार ने ही सब पर अधिकार किया हुआ है। आधार ही विशेष सारवान् है। ब्रह्माण्ड का भार वहन करने वाले विष्णु भी शेष नाग के आधार पर आधारित हैं। इसी भाँति आधार विद्या ही भोगों की आधारभूता है।

आधारत्वेन समागतां सर्वाधारभूतां आश्रयन्ते। सर्वत्र मन्त्राधारभूता आधारविद्या मन्त्रयोगात्मकरूपा।

सर्वाधारभूता आधार विद्या जो स्वयं प्राप्त हुई हो, उसी का सब साधक आश्रय लेते हैं। आधार विद्या समस्त मन्त्रों की आधारभूता और मन्त्र योगात्मक रूपा है।

ॐ तद्ज्ञानेन समस्तं ज्ञानं भवति। ज्ञानं च श्रुतं च सर्वमनुभूतिविषयं व्रजति।

उस विद्या के ज्ञान से समस्त ज्ञान हो जाता है। और साधक अनुभव भी करता है। सब कुछ ज्ञात और सुना हुआ अनुभूति में आ जाया करता है।

कथमनुभूतिः स्यात्? अनुभूतौ च किं भवति ?कथं वा अनुभूत्यधिकारः समुपलभ्यते? एतत् सर्वं अनुभवबोधात्मकतां, यत्किञ्चिद् ज्ञातं तदाधारविद्यायां निहितम्।

अनुभूति किस प्रकार हो ? अनुभूति में क्या होता है ? अनुभूति में साधक का अधिकार कैसे होता है ? यह सब कुछ अनुभव प्रधान आधार विद्या के भीतर समाविष्ट है।

तत् सर्वं प्रस्फुटितं भविष्यति। एषा सा आधारविद्या। यस्यां विद्यायां अनुभवनीयं सर्वं अनुभूयते। ज्ञातमनुभूयते अनुभवविषयाख्या एषा रहस्यात्मिका विद्या। तस्याश्च प्रकाशनं क्रियते। साधकानां जनानां च हितकाम्यया तत्सर्वं प्रोच्यते।

वह सब कुछ प्रकाश में आ जायेगा। यह वह आधार विद्या है जिसमें अनुभव करने योग्य सभी बातों का अनुभव हो जाता है। ज्ञात विषय भी अनुभूति में आ जाते हैं। यह अनुभूति विषय वाली रहस्यमयी विद्या है, उसे ही खोला जाता है। यह सब साधकों के हित के लिये किया जाता है।

२९-१२-६२ सायम् ।।१०३।।

हरि ॐ तत् सत् ।

प्रणमामि सदाधारामाधारां मानवोदयाम् ।

तां विद्यां सुभगां शुभ्रां मानवैकहिते स्थिताम् ।।

मानव का उदय करने वाली, सत् की आधार विद्या को मैं प्रणाम करता हूँ। केवल मानवों के हित के लिये विद्यमान शुभ्र सुभग विद्या को नमस्कार है।

निःसृता या महाविद्या आगता जगती तले।

बहुकाले प्रसिद्धिं च सागता बहुसाधकैः।।

बहुत कालों में यह विद्या जगती तल में प्रकट हो कर आई थी और चिरकाल के बाद तक विद्या अनेक साधकों में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाली बनी थी।

एवं गते च काले तु साधकाः विरतिं गताः।

तथा साधारविद्यापि लुप्ता गुप्ता न दृश्यते।।

किन्तु समय बीतने पर साधक लोग इससे विरक्त हो गये और यह आधार विद्या भी फिर लुप्त और गुप्त हो गई थी।

बहुकाले गते भूयः ये केचिद् ज्ञानिनोऽपि ते।

समस्तां तत्त्वमूलां तां ज्ञात्वा चात्मनि संस्थिता।।

बहुत समय तक ज्ञानी लोग इसके ज्ञाता भी रहे। अपने ही भीतर इस सारभूत विद्या को जानबूझ कर वे लोग छिपाते चले गये।

आश्चर्यं च महद् एतद् यद् ज्ञातं श्रुतमेव च।

वक्तुं सर्वेऽपि बुद्धिज्ञाः आधारं प्राप्नुवन्ति नो।।

आश्चर्य तो इस बात का है कि वे लोग जानते भी थे, इस विद्या के बारे में उपदेश भी लेते थे, फिर भी इस विद्या को किसी पर प्रकट करने का आधार वे लोग प्राप्त नहीं कर सके। (उन्हें कोई साधक माध्यम रूप में मिल नहीं पाया।)

आधारेण विना किञ्चिद् सुदृढंनैव जायते।

दृढत्वाभावमात्रेण कथं तत्र स्थितिर्भवेत् ।।

सुदृढ़ आधार के बिना कुछ काम होता नहीं है। आधार के दृढ़ न होने से फिर वह विद्या टिकी कैसे रह सकती है।

निराधारस्तु एकैव साधाराः सर्वप्राणिनः।

प्राणवन्तस्तु ये केचिद् सर्वे साधारमाश्रिताः।।

निराधार तत्त्व तो केवल एक ही है। अन्य सभी प्राणी आधारवान् हैं। जो कुछ भी प्राण में पूर्ण हैं, प्राणि वर्ग हैं, वे सभी आधार पर ही अवलम्बित हैं।

अत आधारज्ञानं च अनुभूतौ समाचरेत् ।

नानुभूतिस्तु यावद् वै तावदन्धस्य संस्थितिः।।

अतः उस आधार के ज्ञान को अपनी अनुभूति में ले आना चाहिये। जब तक कोई बात अनुभूति में नहीं आती है तब तक अन्धे की जैसी स्थिति रहती है।

शृणोति सर्वं स च चक्षुषागतं द्रष्टुं न शक्नोति बहुज्ञकोऽपि।

तत्त्वात्मकं वेत्ति न पण्डितोऽपि तथैव सर्वं बहुज्ञानभूतम्।।

अन्धा व्यक्ति बहरा होने पर भी सब कुछ सुनता तो है किन्तु आँखों से देख नहीं सकता है। उसी प्रकार पुस्तक-पण्डित बहुत सी बातें जानता तो है किन्तु यथार्थ तत्त्व को वह समझ नहीं पाता है।

यो वेत्ति यस्यात्मकतत्त्वभूतं तस्यानुभूतौ च यदा समग्रम् ।

आयाति ज्ञानं अनुकूलमेतद् तदा च साधारकसाधकस्य ॐ।।

आधार विद्या का साधक जो कुछ जानता है, उसके तत्त्व को भी समग्र अनुभूति में ले आता है। वही ज्ञान उसके अनुकूल बनता है।

ज्ञानिनः सन्ति लोकेऽस्मिन् अज्ञातास्तत्त्वेवेदिनः।

बहवो वक्तुमिच्छन्ति ज्ञातुमिच्छन्ति वै तथा।।

इस लोक में बहुत से ज्ञानी लोग भी हैं और बहुत से तत्त्वेत्ता भी हैं, जिन्हें कोई जानता ही नहीं। कुछ लोग बतलाना भी चाहते हैं और कुछ लोग और अधिक जानना चाहते हैं।

किन्तु यदनुभूतौ च तेषां तत्राभिजायते।

तस्माद् व्यर्थमिदं सर्वं कृतं वाकृतमेव वा।।

किन्तु सब कुछ जानने पर भी जो बात उनकी अनुभूति में जाती है उतनी बात ही उनके काम की रहती है। शेष सब कुछ जाना सुना, पढ़ा अनुभूति हीन ज्ञान सब व्यर्थ हो जाता है।

शास्त्रं ज्ञानं पुनश्चैव अभ्यस्तं च पुनः पुनः।

भाषणं साधुरूपेण वक्तुं शक्नोति पण्डितः।।

शास्त्र और ज्ञान जिसका बार-बार अभ्यास किया गया हो उसे पण्डित व्यक्ति बड़ी अच्छी तरह कह सकता है, उस पर भाषण भी दे सकता है।

यदि चेन्न समापन्नं आधारं तत्त्वमूलकम् ।

तदा तु सफलं तस्य जीवितं नान्यथा भवेत् ।।

तत्त्व मूलक आधार की यदि प्राप्ति न की गई तो सारा उसका जीवन ही निष्फल हो जाता है।

यदि वा केवलं प्रोक्तं अनुभूतिं विना हितत् ।

किं तेन भाषणेनैव अनुभूतिं विना हि यत् ।।

यदि केवल कोई कहना ही जाने और वह अनुभूति के बिना ही रहे तो उस भाषण से क्या लाभ है, जिसमें बोलने वाले की अपनी अनुभूति नहीं है।

अत एव सदा सद्यः समस्तत्त्वत्प्रबोधकम् ।

इदं ज्ञानं प्रवक्षामि कल्याणं जायते भृशम् ।।

इसलिये मैं उस ज्ञान को बता रही हूँ जिससे साथ ही साथ तत्त्व का बोध भी होता चला जावे। इस ज्ञान से तुम्हारा बहुत कल्याण होगा।

आधार ज्ञानेन प्रयाति चक्षुराधारमूलं सकलं चराचरम् ।

आधारहीना न व्रजन्ति सिद्धिं आधारहीनैश्च विराजते किम् ।।

आधार के ज्ञान से चक्षु प्राप्त होता है। यह समस्त चराचर आधार मूलक है। आधारहीन लोग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते हैं। आधार-हीन व्यक्तियों से कुछ भी शोभा नहीं होती है।

तस्मात् सदाभ्यासपरेण भाव्यं आधारज्ञानं च सदा विधेयम् ।

इसलिये साधक को चाहिये कि नित्य निरन्तर अभ्यास में लगा रहे और आधार का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

३०-१२-६२ प्रातःकाल ।।१०४।।

हरि ॐ तत् सत् । आधारभूतायै दिव्यज्ञानसम्पन्नायै नमस्तस्यै कुण्डलिन्यै।

आधारभूता दिव्यज्ञान सम्पन्ना उस कुण्डलिनी भगवती को नमस्कार है।

आधाराधेयभावेन सर्वमेतज्जगत् परम् ।

दृश्यते सर्वसम्पन्नं सुस्थिरं प्रतिभास्थिरम् ।। ॐ ।।

यह समस्त जगत् जो कुछ है वह आधार और आधेय भाव से स्थित है। इसीलिये यह दीखता है, सर्व सम्पन्न है, सुस्थिर है और बुद्धि में स्फुरित होता है।

आधारं सकलं प्रोक्तं यन्मूले मूलमास्थितम् ।

मूलमेव समालम्ब्य तस्माद्वै तद् दृढं कुरू।।

जो आधार सब का मूल है और जिसके मूल समाविष्ट हैं उसी मूल का अवलम्बन लेकर तुम उसे सुदृढ़ बनाओ।

शुभं तु रोहणं तत्र मूलाधारे दृढ़े सति।

मूलाधारः पुनर्ज्ञातो नानुभूतः क्वचिदपि।।

मूलाधार के दृढ़ होने पर ऊपर चढ़ना सरल और आसान होता है। मूलाधार का ज्ञान तो हो गया, किन्तु उसका अभी अनुभव नहीं हो पाया तो–

किं तेन ज्ञानमात्रेण अनुभूतिर्न विद्यते।

तस्माच्छृणु समाख्येयं वर्तते यन्महत् परम् ।।

उस ज्ञान मात्र से क्या लाभ है जहाँ अनुभूति न हो। इसलिये सुनलो, बड़ी श्रेष्ठ बात जो बताने योग्य है, उसे बताना है।

आधारतत्त्वं तत् सर्वं मूले मूले व्यवस्थितम् ।

आधारः सर्वमूलानामाधारस्तत्त्वज्ञानकम् ।।

सबके मूल में आधार तत्त्व विद्यमान है। समस्त मूलों का आधार भूत जो आधार है उसके तत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक है।

मूले एव समापन्ने अनुभूतिर्विशिष्यते।

यदा वै जागृता शक्तिः कार्यं कुर्यात् स्वयं महत् ।।

मूल की समापत्ति होने पर अनुभूति की विशिष्टिता होती है। जब शक्ति जागृता हो जाती है, तब वह स्वयं ही सब कार्य कराती रहती है।

तदा मूलोदयं भित्वा मूलाधारं दृढं कुरू।

एकेनैव च तत्त्वेन मूलाधारेण निश्चिते।।

इसलिये मूलाधार का भेदन करके तुम मूलाधार दृढ़ बनाओ। बस, एक मूलाधार रूप तत्त्व के निश्चित ज्ञान हो जाने पर–

ज्ञाने वशीकृते चैव सर्वं शुभफलं बलम् ।

भवेद् वै मूलज्ञानेन मूलं वस्तु महत् महत् ।। ॐ ।।

उसे वशीभूत कर लेने पर, मंगलकारी बल प्राप्त हो जाता है। मूल के ज्ञान से ही बड़ी बड़ी मूलभूत बातें ज्ञात होती रहती हैं।

गुदस्य लिङ्गभागस्य मध्ये ज्योतिर्मयं स्फुरत् ।

आस्थितं मूलभूतं तत् लघुरूपेण राजितम् ।।

गुदा और लिंगभाग के बीच में स्फुरित होता हुआ छोटा सा एक मूलभूत तत्त्व विराजमान रहता है।

यदा शक्तिः समायाता यदा सा कार्यकारिणी।
तदा तत्र महद् दिव्यं स्फुरणं जायते भृशम्॥

जब शक्ति जागृत हो जाती है और कार्यकारिणी होती है, क्रिया शीला होती है, तब वहाँ पर एक महान् दिव्य ज्योति का बारबार स्फुरण होता है।

तस्यानुभूतिः प्रथमा महासन्तोषदायिनी।
तत्रैव रमते चित्तं स्वल्पकालं निवास्येत्॥

उसी की प्रथम अनुभूति साधक को बड़ी सन्तोषदायिनी होती है। उस समय वहीं पर चित्त रम जाता है और फिर हट भी जाता है।

आधारस्तत्र चित्तस्य सर्वशक्तिसमन्वितः।
जागृता शक्तिस्तत्रैव अनुभूतिं प्रयच्छति॥

वही सर्वशक्तिसमन्वित, चित्त का आधार है, जागृता शक्ति वहीं पर सर्वप्रथम साधक को अनुभूति प्रदान करती है।

एकलिङ्गमयं ज्ञातं ज्ञातं ज्ञानमयं परम्॥ ॐ॥

उस ज्योतिर्मय एक लिङ्ग का ज्ञान जब साधक की अनुभूति में आ जाता है तब–

स्फुरणं जायते ऊर्ध्वं प्रकाशः येन दृश्यते।
तदा ज्ञेयं महत्कार्यं कर्तुं शक्तिः समुद्यता॥

ऊपर की ओर उस ज्योति का स्फुरण होता है और उससे ऊपर की ओर प्रकाश दीखता है। तब समझना चाहिये कि शक्ति बहुत बड़ा कार्य करने को उद्यत हो गई है।

एतच्च लक्षणं पूर्वं साधनाया भविष्यति।
तदा तु साधनाकाले कृताभ्यासे शनैः शनैः॥

साधनाकाल में साधक को ऐसा प्रथम लक्षण प्रकट होगा, फिर अभ्यास करते करते धीरे धीरे वही ज्योतिरूपा॥ ॐ॥

दीर्घरूपं समादाय तत्र शक्तिः समुद्भवेत्।
सैव शक्तिः सदाकाले शुभ्रा नर्तनतत्परा॥

वहां विशालरूप में शक्ति जागृत होती है। फिर शक्ति सर्वदा शुभ्ररूप में साधक के भीतर नर्तन करने में तत्पर बनी रहेगी।

मूलं च चालयेत् पश्चात् चञ्चच्चारू चरात्मके।

चरात्मके चरे मूले मूले वै स्फुरितं यदा।।

साधक को चाहिये कि स्फुरित होने वाले मूलाधार को भलीभाँति कम्पित करता रहे। स्वयं स्फुरित होने वाले मूलाधार के चालन करने पर फिर स्वतः स्फुरण की प्रतीति जब होने लगे–

तदा वै स्फुरण ग्राह्यं स्वतः ग्राह्यं भविष्यति।

एवं संसाध्य तत् पूर्वं मूलाराधनतत्परः।।

तब वह स्फुरण स्वयं ही स्वेच्छया पकड़ में आ जायेगा। इस प्रकार मूलाधार की सिद्धि में तत्पर हुआ साधक उसको सिद्धि कर ले।

अनुभूतिं विधायैव परमानन्दमोदितः।

जायते साधकः सद्यः मूलाधरे दृढे सति।।

मूलाधार के दृढ़ होने पर साधक परम आनन्द में निमग्न हो जाता है और अनुभूति को प्राप्त करता रहता है।

अपरं कमलाकारं कमलास्थाननिर्मलम्।

दलैः कैश्चित् समायुक्तैश्चक्रं तत्र प्रजायते।।

तदनन्तर वहीं पर कमल के आकार का, कमल की भाँति निर्मल कुछ पंखुड़ियों से सुशोभित एक चक्र का आकार भी साधक को दिखाई पड़ता है।

तत्रैव च समाधाय मनः साधकसत्त्वमः।

कोणं कोणं महत्कोणं जित्वा भवति सार्थकः।।

साधारण साधक वहीं पर मन को समाहित कर लेता है और नाना प्रकार के कोण–प्रकोणों को विजित करके, चक्रों पर विजय प्राप्त करके शक्तिसम्पन्न समर्थ बन जाता है।

३०-१२-६२ सायंकाल ।।१०५।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

अथ आधारविद्याधिगम समानाधिकरणे प्रथमाधारे प्रथमग्रन्थ्यनुभूत्युपदेशः। प्रथमावस्था। प्रथमाधारे साधकस्ययानुभूतिः सा विभिन्नरूपा। प्रथमं साधकैः पृथक पृथक अनुभूतिः क्रियते सा प्रोच्यते। इदं अनुभूत्यात्मकं ज्ञानम् ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । अब आधारविद्याधिगम समानाधिकरण के अन्तर्गत प्रथमाधार में प्रथम ग्रन्थि की अनुभूति का उपदेश आरम्भ होता है। प्रथम आधार में साधक को जो अनुभूति होती है, वह सब को अलग अलग होती है। उसी पृथक पृथक अनुभूति को बताया जाता है। यह अनुभूत्यात्मक ज्ञान है।

साधकाः साधनायुक्ताः योगमार्गे रतास्तथा।

यान्ति ते पूर्णसाफल्यं पूर्णत्वं यान्ति निश्चितम् ।।

योग मार्ग में लगे हुए और साधन में तत्पर हुए साधक लोग निश्चय रूप से ही पूर्णत्व को प्राप्त होकर पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

साधनासमये यस्तु साधको जपतत्परः।

मन्त्राभीष्टं स्वकीयं च सदोच्चारणमाचरेत् ।।

साधनाकाल में जो साधक जप करने में तत्पर रहे, उसे चाहिये कि वह अपने इष्ट मन्त्र, गुरू प्रदत्त मन्त्र का विधिपूर्वक उच्चारण करता रहे।

एकमेकं परिज्ञातं स्फुरणाक्षरसंज्ञकम् ।

मन्त्रोच्चारणभावेन उपांशुभावमास्थितः।।

मन्त्र का एक-एक अक्षर जो भीतर के प्रकाश में स्फुरित होता हो उसको देखते समझते हुए मौन भाव से भीतर ही भीतर विचारभाव में मन्त्र का जप करते रहना चाहिये।

यथा च मन्त्रमेतद्धि ऐं ह्रीं क्लीं प्रोच्यते परम् ।

अनुलोम विलोमाभ्यां तस्य कार्या परिस्तुतिः।।

क्लीं क्लीं ऐं इति रूपेण क्लीं मूले ह्रीं हृदिस्थिते।

ऐं कण्ठे प्रोच्यते यावत् तावत्तत् ध्रुवतां ब्रजेत् ।।

जैसे दृष्टान्तरूप में मन्त्र जप की विधि बताई जाती है। "ऐं ह्रीं क्लीं"यह मन्त्र है। इस मन्त्र की आवृत्ति अनुलोम और विलोम रूप में आवृत्त करनी चाहिये। "क्लीं" के उच्चारण से समय मूलाधार में मन्त्राक्षर का ध्यान करो। "ह्रीं" के उच्चारण के समय हृदय में ध्यान करो और

ऐं के उच्चारण के समय उस मन्त्र का ध्यान कण्ठ चक्र में करो। पुनः इसी भाँति ऐं का ध्यान कण्ठ में, ह्रीं का ध्यान हृदय चक्र में और क्लीं का ध्यान मूलाधार चक्र में करो। इसी प्रक्रिया को तब तक करते चले जाओ जब तक यह प्रक्रिया स्थिर रूप में स्वाभाविक न हो जाय। अनुलोम विलोम भाव से इस भाँति जप करने पर फिर जप स्वतः चलने लग पड़ेगा।

क्लीँ मूले कालिका देवी कालरूपेण संस्थिता।

कालरात्रिर्महारात्रिस्तां विजित्य सुखी भवेत् ।।

मूलाधार में "क्ली" की अधिष्ठात्री शक्ति कालिका देवी हैं, जो काल रूप में संस्थित हैं। वे कालरात्रि महारात्रि हैं। उस पर विजय प्राप्त करके साधक सुखी बन जाता है।

मूले सा च जिता काले चण्डमुण्डविनाशिनी।

चण्डस्तु चण्डिका ग्रन्थिस्तां जित्वा शान्तिमाप्नुयात् ।।

मूलाधार में चण्डमुण्ड विनाशिनी शक्ति को यथासमय वशीभूत करके साधक चण्ड रूप में स्थित चण्डिका ग्रन्थि पर विजय प्राप्त करके शान्ति प्राप्त कर लेता है।

एतत्तु वै सदा ज्ञानं सर्वेषां जायते शुभम् ।

अनुभूतिस्तु या तत्र तां वदामि श्रृणुष्व त्वम् ।।

सभी साधकों को सदा जो ज्ञान मूलाधार चक्र में हुआ करता है और जो सामान्यरूप में सब को अनुभूति होती है उसे मैं कहता हूँ, तुम उसे सुनो।

क्रियां कृत्वा च मुद्रां च यदा ध्याने रतं मनः।

तदा तत्र महज्ज्योतिः भासते च क्वचित् क्वचित् ।।

क्रिया और मुद्रा करके जब तुम्हारा मन ध्यान में लगने लगेगा तब मूलाधार में कभी-कभी साधक को महा ज्योति दिखाई पड़ती है।

किन्तु तत्रैव यत् प्रोक्तं स्फुरणं स्फुरणात्मकम् ।

ज्ञातव्यमनुभूतेश्च विषयं कुरू त्वं हि तत् ।।

वहीं पर स्फुरणात्मक तेजः पुंज अथवा कम्प पूर्ण मूलाधार के स्थान का जो पहिले जिक्र किया था उसकी अनुभूति साधक को करनी चाहिये और उसी पर मन लगाना चाहिये।

स्वयमेव तदा तत्र किञ्चिद् ज्ञायते स्वयम् ।

साधकः शक्तिसम्पन्नः तदाप्नोति मुदान्वितः।।

वहीं पर ध्यान लगाते हुए साधक को स्वयं ही जो ज्ञान होता जावे उसी ज्ञान के द्वारा साधक शक्ति सम्पन्न बन जाता है और आनन्द से भर जाता है।

तत्र संस्फुरणं किञ्चित् किञ्चिज्ज्योतिः प्रकाशनम् ।

किञ्चित् श्वेतं च पीतं च रक्तवर्णं कदापि च।।

मूलाधार में थोड़ा-थोड़ा प्रकाश का दर्शन होता है और वहां कम्पन भी होता है। वह प्रकाश कभी श्वेत होता है, कभी पीला होता है और कभी रक्त वर्ण का होता है।

दृश्यते अनुभूतेश्च पथमायाति सत्वरम् ।

कदाचित् कोणरूपेण त्रिकोणं च त्रिकं त्रिकम् ।।

इस प्रकार वहाँ पर प्रकाश की अनुभूति होती है और कभी-कभी साधक को वहाँ पर प्रकाश का त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण आदि के दर्शन होते हैं।

तत्र एकं महल्लिङ्गः साधकः साधनारतः।

विलोकयति तल्लिङ्गं सुस्थिरं मूलभागके।।

मूलाधार में ही एक सुस्थिर ज्योति पुञ्ज से बना एक महालिंग के दर्शन साधक को हुआ करते हैं।

इति कृत्वानुभूतिं च प्रसन्नः सर्वदा महा।

साधकः सुस्थिरो भूत्वा आधारसहितोऽपि सः।।

ऐसी अनुभूति करके साधक सदा प्रसन्न रहता है, और साधक आधार में ध्यान लगा कर सुस्थिर बन जाता है।

यदि वा तादृशं ज्ञानमनुभूतिश्च जायते।

नैव प्रकारं तत्स्वल्पं अन्यद् वै जायते महत् ।।

यदि उपर्युक्त बताई अनुभूति साधक को होती है तो बहुत सुन्दर है। कभी-कभी कई साधकों को थोड़ा बहुत अन्य प्रकार के भी अनुभव होते हैं।

केचित् पश्यन्ति वै तत्र केचित् पश्यन्ति नैव च।

शून्यमेवापरे तत्र केवलं शून्यकारकम् ।।

किसी को वहाँ पर प्रकाशपुंज दीखता है। किसी को नहीं भी दीखता है, कोई साधक वहाँ पर शून्य ही देखते हैं और वे भी स्वयं शून्याकार बन जाते हैं, विचारहीन बन जाते हैं।

शून्यं शून्यं महाशून्यं पश्चाज्ज्योतिः समन्वितम् ।

क्वचिद्रेखासमाकारं एकं वस्तु समाहितः।।

इस भाँति शून्य, महाशून्य की अनुभूति के पश्चात् फिर वह शून्य ज्योति से भर जाता है। वह ज्योति फिर कभी कभी एक रेखा का आकार ले लेती है। साधक उसी एक वस्तु में समाहित रहता है।

तत्र तत् सद्यः वै दृष्ट्वा अनुभूति प्रयाति वै।
सा रेखा शुभ्रवर्णाच शुद्धज्योतिः सुमण्डिता।।

उस रेखा को देख कर साधक यह अनुभूति करता है कि वह रेखा कभी शुभ्र वर्ण की हो रही है और कभी ज्योति के आकार में सुशोभित है।

तदैव सात्मभावेन रेखां पश्यति पश्यति।
तदैव च चिरात्तत्र आनन्दं लभते भृशम् ।।

तभी उस रेखा को देखते देखते साधक का तादात्म्य भाव हो जाता है उसी में साधक अपार आनन्द प्राप्त कर लेता है।

एतद्वै सर्वसम्पन्नः साधको भूतिभूषितः।
अपरः साधको यस्तु गुदमूले क्वचित् क्वचित् ।।

इस प्रकार के उपर्युक्त अनुभव से साधक शक्तिसम्पन्न बनता है और अनुभूति से पूर्ण बनता है। कई साधक गुदामूल में कभी कभी–

केवलं स्फुरणं विद्यात् तदैव लिङ्गरूपकम् ।
केवलं जायते शुद्ध ज्योतिस्तत्त्वं परात्परम् ।।

केवल स्फुरण का अनुभव करते हैं और वहीं से परात्पर ज्योतिर्लिंग को देखते हैं और वह ज्योतिस्तत्त्व शुद्ध शुभ्रवर्ण वाली होती है।

ज्ञायतां दृढतारूप आधारः शक्तिमास्थितः।
एका शक्तिः समुद्भूता या च तत्त्वप्रकाशिनी।।

यदि उपुर्यक्त अनुभव साधक को होने लगें तो समझना चाहिए कि आधार में दृढ़ता आने लगी है और एक शक्ति जागृत होकर तत्त्व के प्रकाशन में तत्पर हो चली है।

शनैः शनैः सदा सैव अनुभूतिं परोचिताम् ।
कारयिष्यति तत्रैव न च शंकां कुरूष्व त्वम् ।। ॐ ।।

इसलिये तुम कोई शंका–सन्देह न करो। वह शक्ति स्वयं तुम्हें परात्पर की अनुभूति तक धीरे–धीरे अपने आप लेती चली जायेगी।

३१-१२-६२ प्रातःकाल ।।१०६।।

नमस्तेऽस्तु भगवत्यै जागृतस्वरूपायै कुण्डलिन्यै।

जागृत स्वरूपा कुण्डलिनी भगवती को नमस्कार है।

आधारः परमः प्रियस्तनुभृतां आधारलोकस्थितिः,

आधारेण जगत् सकलकं सम्यक् धृतं दृश्यते।

एतत् सर्वमिदं समासविहितं साधाररूपेण तत्,

सर्वं सुस्थिरमेव याति विपुलं दृष्टे पुरः सार्थकम् ।। ॐ ।।

देहधारियों के लिये आधार ही परमप्रिय होता है। आधार के कारण ही लोक की स्थिति है। यह सारा जगत् आधार के कारण ही भली भाँति टिका हुआ है। जब सभी कुछ दृश्यमान आधार रूप से ही सामान्यतया व्याप्त है तब, उसी आधार को सुदृढ़ बनाकर प्रत्यक्ष देख लिया जाय तो उस आधार की सार्थकता होगी।

पुरा प्रोक्तं अनुभूतिश्चिद्विशिष्टा शक्तिः, चिद्बोधिका शक्तिः, चिदानन्ददा शक्तिः। कथितं च यदा चिद्विशिष्टा शक्तिः प्रबुद्धा भवति, जागृता च भवति, तदा सा ज्ञानवती क्रियावती च भवति। ज्ञानवती क्रियावती सा उभयरुपेण युक्ता अनुभूतिः। प्रोक्तंच यथाः-

पहिले कहा गया है कि अनुभूति चिद्विशिष्टा शक्ति है, चिद्बोधिका शक्ति है और चिदानन्दरुपा शक्ति है। यह भी कहा गया है कि जब वह चिद्विशिष्टा शक्ति प्रबुद्ध होकर जागृता होती है तब वह ज्ञानवती और क्रियावती दोनों रुपों से युक्त होकर अनुभूति बनती है। जैसे कहां भी हैः-

प्रत्यग्भासा मंत्रबीजरुपा परमा शक्तिः इति पूर्वं वर्णितम् । तत्र यद् मंत्रीबीजरुपा चिद्विशिष्टा शक्तिः दृश्यते तस्याः वर्णनं क्रियते।

परमा शक्ति साधक के भीतर भासित होने वाली मंत्रबीज रुपा होती है यह पहिले कहा गया है। जो मन्त्रबीजरुपा चिद्विशिष्टा शक्ति है और जो साधक को दीखती है उसका यहां वर्णन किया जाता है।

मंत्रविषये सर्वे जानन्ति, न जानन्ति वा, एतत्तु सुनिश्चितं यत् मंत्रव्यूहः मंत्रकायसम्पत् स्वतः सिद्धं, अथवा प्रदत्तं अथवा अभ्यस्तं अथवा परम्परागतम् ।

मंत्रों के विषय में सभी जानते हैं या नहीं भी जानते हैं, किन्तु यह तो सुनिश्चित ही है कि मंत्रव्यूह, मंत्रकाय सम्पदा किन्हीं साधकों को स्वतः सिद्ध होती है अथवा गुरु प्रदत्त होती है या फिर अभ्यस्त होती है अथवा परम्परा से प्राप्त होती है।

मंत्ररुपं मंत्राक्षररुपं मंत्रबीजकं वा एतत् सर्वं कुलाकुलाकारात्मिकं ज्ञानं ज्ञात्वा साधकः सिद्धो भवति, सफलो भवति, तदपि बहुत्वेन व्याख्यातम् ।

मंत्ररुप को, मंत्राक्षररुप को, मंत्रबीज को जो कुलात्मक अकुलात्मक ज्ञान कराने वाला होता है उसे जानकर साधक सिद्ध हो जाता है, सफल हो जाता है। इस बात की भी व्याख्या पहिले बहुत स्थलों पर की जा चुकी है।

मंत्राक्षरं मंत्ररुपं मंत्रबीजरुपं क्रियात्मकं इत्यपि प्रोक्तम् ।।

मंत्राक्षर, मंत्रस्वरुप और मंत्र बीजरुप क्रियात्मक होता है यह भी बता ही दिया गया है।

यदा मंत्रव्यूहः सिद्धशक्तिसमन्वितो भवति तदैव चैतन्यत्वमायाति। यस्मात्तज्जापमात्रेण क्रियासिद्धिः कामदा भवति, इति व्याख्यातम् ।

जब मंत्र व्यूह सिद्ध शक्तिसमन्वित होता है तभी उसमें चैतन्यता आती है। इसलिए उसके जपमात्र से क्रियासिद्धि होकर कामना पूर्ति होती है, यह भी बता दिया गया है।

अधुना एतदेव प्रोच्यते यत् पूर्वमेव निगदितमेका आधार-भूता, अपराऽपि आधारभूता एव। एके अनेके सर्वे समायान्ति संश्लिष्टाः भवन्ति, संयुक्तास्तदा चिद्विशिष्टा शक्तिः ज्ञानवती क्रियावती भवति।

यहां पर केवल इतना ही बताना है कि ज्ञानवती और क्रियावती दोनों ही शक्तियां आधार भूता होती हैं। एक से अनेकों प्रकार की शक्तियां मिलकर और वे चिद्विशिष्ट होती हुई ज्ञानवती तथा क्रियावती हो जाती हैं।

शक्तिः सदा ज्ञानवती क्रियावती भूत्वा सर्वबोधमयं ज्ञानं साधाकोऽपि यत्किञ्चिद् ज्ञातं श्रुतं अभ्यस्तं तत्सर्वं अनुभूति-विषयमानयति।।

वह एक ही शक्ति ज्ञानवती एवं क्रियावती होकर साधक को बोधमय ज्ञान देती है। साधक का भी जो कुछ सुना, जाना और अभ्यस्त होता है उसे वह अपनी अनुभूति में ले आता है।

ज्ञातं चैव श्रुतं चैव क्रियारुपेण यत् कृतम् ।
तत् सर्वं साधकेनैव अनुभूतिसमन्वितम् ।।

जो कुछ जाना हुआ हो, जो कुछ सुना हो और क्रियारुप में जो कुछ किया हो वह सब कुछ साधक की अनुभूति से समन्वित बनता है।

क्रियते मंत्रज्ञानं च स्वतः सिद्धं परस्य च।
समुद्दिष्टं च प्रोक्तं च भाषितं बोधितं तथा।।

साधक मंत्र का ज्ञान या तो स्वतः सिद्ध प्राप्त करता है, या दूसरे के द्वारा सिद्ध मंत्र का अभ्यास करके करता है या गुरुद्वारा प्रदत्त या कहा हुआ हो उसके जप से प्राप्त करता है।

एतत् सर्वमनुभूतिविषयमनुव्रजति। तस्मादनुभूतिं कुरु। या च चिद्विशिष्टा ज्ञानवती क्रियावती शक्तिः सा च स्वयं बोधं गमयति।

सभी प्रकार के वे मंत्र साधक की अनुभूति में आते हैं। इसलिए अनुभूति करो। जो शक्ति चिद्विशिष्टा होकर ज्ञानवती क्रियावती बनती है, वह स्वयं ही साधक को बोध करा देती है।

परामपरां च संचितां कृत्वा शक्तिं तत्रैव आधाररूपेण स्थापयति। तस्मादाधारभूता अनुभूतिस्वरूपा या विद्या आधाररूपेण ख्याति गता, गमयति च सा आधारविद्या सैव ध्येया सैव ज्ञेया सैव मननीया।

परा और अपरा सभी शक्तियों को समेट कर वह एक शक्ति आधार रूप में स्थापित कर देती है। अतः अनुभूतिस्वरूपा आधार भूता जो विद्या आधार नाम से प्रसिद्ध हुई है और होगी उसी विद्या में मन लगाना चाहिए, वही जाननी चाहिए और उसी का मनन करना चाहिए।

तस्यामेव विद्यायां साफल्यं सुस्थिरं भवति। अत एव अस्या एव विद्यायाः अनुभूतिसंयोगमात्रेण प्रत्याभासः। यत् पूर्वं प्रोक्तम्-

उसी विद्या से सफलता सुस्थिर होती है इसलिये इसी विद्या की अनुभूति प्राप्त करके साधक को शक्ति का प्रत्याभास होता है।

प्रत्याभासः परब्रह्मणो भासः। परप्रत्ययान्वितिः परप्रत्ययस्यैव प्रतीतिः।

परब्रह्म का प्रकाश होना प्रत्याभास कहलाता है। परब्रह्म की प्रतीति को ही परप्रत्ययान्विति कहा जाता है।

तदैव परमशक्तिसम्पन्नः साधकः महेश्वरं प्रति गत्वा तत्रैव प्रष्टुं शक्नोति च ज्ञ इत्येवाधारमूलेन स्वरूपेण।।

तभी परमशक्ति सम्पन्न साधक महेश्वर के समीप पहुंच कर वहीं पर ज्ञाता के आधारभूत स्वरूप द्वारा सब कुछ पूछ सकता है।

।। ३१-१२-६२ सायम् ।।१००७।।

आधारभूतायै परमोपकारकायै नमोनमः।। ॐ ।।

परमोपकारिणी आधारभूता विद्या को बारम्बार नमस्कार है।

क्रियायां या सदाधारा महाधारतथैव वै।
मुद्राणां च सदाधारा आधारा सा शुभा मता।।

क्रिया में जो सदा आधार रूप है, वही महाधार है। जो मुद्राओं की सदा आधार रूप है, वही आधारशक्ति शुभदायक मानी गई है।

कल्याणं कुरूतां लोके आधारज्ञानिना सदा।
आधारशक्तिसम्पन्ना आधारं वै तथा कुरू।।

आधार के ज्ञाता साधकों का वह शक्ति कल्याण करे। आधार शक्ति से सम्पन्न साधक को चाहिये कि वह अपना आधार ठीक बनाले।

आधारभूता च महामहत्त्वदा आधारमात्रेण परापरान्विता।
आधारयुक्ता चा सदा सरस्वती आधार हीना न भवन्ति सार्थकाः।।

बहुत महत्त्व प्रदान करने वाली आधार भूता शक्ति आधारमात्र से पर शिव से समन्वित कर देती है। सरस्वती मां भी आधार युक्ता है। आधारहीन साधक कभी सफल नहीं होते।

आधारज्ञानमनुभूतिजनकं जायते। अस्यां विद्यायां अनुभूतेः प्रधानता च। अनुभूतिः पराशक्तिः ज्ञानवती क्रियावती च आधार पुष्णाति।।

आधार का ज्ञान अनुभूति जनक बनता है। इसी विद्या में अनुभूति की प्रधानता है। पराशक्ति रूपा अनुभूति ज्ञानवती और क्रियावती बन कर आधार का पोषण करती है।

आधार-संपोषणेन स्वमेवागतानां प्रोच्चरितानां वा मन्त्राणां देवता स्वरूपं तत् परस्परं प्रतीतं भवति।

आधार के परिपुष्ट हो जाने पर स्वयं आगत या उच्चरित मन्त्रों के देवतास्वरूपों की परस्पर प्रतीति होने लगती है।

ये केचिदाधार-विद्या-ज्ञातारः सन्ति ते साधकाः मन्त्रविद्या पारंगता-भवन्ति। मन्त्रस्वरूपं जानन्ति। तेषां विनियोगं जानन्ति। देवतां च जानन्ति। देवता-शक्तिं च जानन्ति। यस्य मन्त्रस्य यो देवता या शक्तिः, यच्च कार्यं, या सिद्धिः, येन प्रकारेण चानुभूयते, तत् सर्वमाधारविद्याधारत्वेन ज्ञायते।। ॐ ।।

जो साधक आधार विद्या के ज्ञाता होते हैं वे मन्त्र विद्या में पारंगत हो जाते हैं। वे मन्त्र के स्वरूप को जानते हैं। जिस मन्त्र की जो शक्ति और देवता होता है, जो मन्त्र का कार्य और सिद्धि होती है और जिस भांति अनुभूति होती है, वह सब आधार विद्या के आधार पर ही ज्ञान होता है।

मन्त्राणां च महाशक्तिः शक्त्या कार्यं महतत्पुनः।

देवताः शक्तिसम्पन्नाः स्वरूपं दर्शयन्ति च।।

मन्त्रों में महान् शक्ति होती है, शक्ति से बहुत बड़ा कार्य होता है। देवता शक्ति सम्पन्न होते हैं और वे अपना स्वरूप साधक को प्रकट कर देते हैं।

सर्वं तत्र महद्ज्ञानं अनुभूतिपरं भवेत् ।

कस्य देवस्य का शक्तिः पुरतः प्रस्फुटा भवेत् ।।

अनुभूति पूर्ण जो भी महत्त्वपूर्ण ज्ञान होता है, किस देवता की क्या शक्ति है, वह सब साधक के सम्मुख स्पष्ट हो जाता है।

यदा वै साधकः श्रेष्ठः मन्त्रजापं करोत्युत।

जापमात्रेण सा सद्यः पुर आयाति देवता।।

जब उत्तम साधक मन्त्र जाप करता है, तब जप मात्र से उस मन्त्र का देवता शीघ्र ही सामने उपस्थित हो जाता है।

देवता तु समागत्य स्वशक्तिं स्वस्वरूपकम् ।

स्वकार्यं कार्यसिद्धिं च तस्मै सर्वं प्रभासते।।

देवता स्वयं सामने आकर अपनी शक्ति, अपना कार्य और अपनी सिद्धि सब कुछ साधक के सम्मुख प्रकट कर देता है।

एवं ज्ञात्वा महाधीरः साधकः शक्तिमाप्नुयात् ।

यदि नैव समायाति देवता मन्त्रसंस्थिता।।

इसप्रकार समझ कर महाधीर साधक शक्ति प्राप्त कर लेता है। जप करने पर भी यदि उस मन्त्र का देवता सामने प्रकट नहीं होता है तो–

तदा तु निष्फलं ज्ञेयं नाधारः दृढ़तां गतः।।

सब कुछ जप क्रिया निष्फल हो जाती है, तब जानना चाहिये कि आधार में दृढ़ता नहीं है।

आधारमूले च दृढे कृते सति मन्त्रस्य रूपं स्वयमेव संस्फुटम् ।

पुरः प्रयाति समुपस्थितंच तत् महत् परं सिद्धिप्रदं प्रजायते।।

मूलभूत आधार को दृढ़ बनाने पर मन्त्र का रूप स्वयं स्फुरित हो जाता है और वह सामने प्रकट होकर बड़ी बड़ी सिद्धियों को देनेवाला हो जाता है।

आधारविद्यायामेतत् सर्वमनुभूयते। एवं प्रकारेण बोधमयं सर्वं अनुभूतिमयं च जायते, या च समापन्ना समांधिता, समाराधिता, सुप्रसन्ना प्रसादमुखी चिद्विशिष्टा शक्तिः साधकेन समाराधिता समासादिता सा शक्तिस्तदैव साधकस्य मार्गे बलवती भवति।।

आधार विद्या में यह सभी अनुभव में आता है। इस प्रकार वह सब अनुभूतिमय और बोधमय होता है। वह चिद्विशिष्टा शक्ति साधक द्वारा समाराधित होकर, वशीभूत होकर, सुप्रसन्न होकर साधक के मार्ग में बलवती बनती है।

यत्र यत्र चक्राधारं विद्यते तत्र तत्र सुगमतया गतिं विधाय साधनामग्रे प्रसारयति। यथा च निदर्शनं, मूलेन स्वाधिष्ठानान्मणिपूरे यत्र तेजः स्वरूपं विराजते, अग्निस्वरूपं, अग्निदेवता, तत्रैव ज्योतिः स्वरूपेण तिष्ठति, कथं तद् ज्ञायते। कथं च अनुभूतिः क्रियते। इति सर्वं साधकः साधना काले एव जानाति।

जहाँ जहाँ चक्रों का आधार है वहाँ वहाँ सुगमता से गति करती हुई शक्ति साधना को आगे बढ़ाती रहती है, जैसे– मूलाधार से स्वाधिष्ठान पार करके मणिपूर में एक ज्योति विराजमान रहती है। अग्निका रूप, अग्निदेवता वहीं पर ज्योति रूप में विराजित रहते हैं। यह कैसे जाना जाय ? कैसे उसकी अनुभूति हो ? यह सब साधनाकाल में साधक स्वय जान लेता है।

तदैव क्रिया आधारत्वेन सफला भवति। तल्लक्षणं तेनैव विज्ञेयम् । यदा च चक्रस्य चक्राणां च भेदनं भवति तदा यत्किञ्चित् प्राप्तं, यद्दर्शितं वा तत्सर्वं पुरतः प्रस्फुरति। दर्शनत्वे च जायते तत्राग्निकुण्डे प्रज्ज्वलितं, बहु भासितं स्वरुपं दृश्यते।।

आधार रूप में तभी क्रिया सफल होती है। उसकी पहिचान यहो है कि जब जिस चक्र का भेदन हो रहा हो तब जो कुछ साधक देखता है और नई बात मालूम होती है वह सब सामने आ जाती है। साधक देखता है कि मणिपूर में एक अग्नि कुण्ड प्रज्वलित हो कर बड़ा प्रकाश फैला कर अपना स्वरूप दिखा रहा है।

कदाचिदुष्णत्वेन अग्निरूपेण एवं ज्ञानं भवति। यत् सर्वत्र शरीरे प्रज्वलिता वह्नि, मामात्मसात् करोति। प्रज्ज्वलिता सा ज्वाला ज्वालामालाकुला सर्वमदीयं विग्रहं मय्येव समाप्नोति।।

किसी साधक को गर्मी के अनुभव में अग्नि का रूप दिखता है। उसे लगता है कि चारों ओर शरीर में जलती हुई अग्नि की ऊष्णता मुझे डुबोये डालती है और वह जलती हुई ज्वाला की माला मेरे सारे शरीर में व्याप्त होकर मेरे भीतर ही सिमट गई है।

एतदनुभूतिविषयकं साधकस्य समक्षं प्रादुर्भवति। यदित्थं प्रकारकं ज्ञानं नैवायाति, न च ज्योतिः स्वरूपमग्नि स्फुलिङ्ग ज्वालामयस्वरूपं न दृश्यते, नानुभूयते वा सर्वमुष्णत्वं, तदा सर्वं निष्फलं ज्ञेयम्। अपरं च अग्निपन् मणिपूरके अपरमपि अनुभूति विषयकं ज्ञानं प्रत्यक्षमनुभूयते, यथा वा।

इस प्रकार का अनुभव साधक के सम्मुख प्रकट होता है। यदि ऐसा अनुभव में नहीं आता है, न ही ज्योति के कण या अग्नि के कण या ज्वाला का स्वरूप दीखता है और न ही शरीर में उष्णता का अनुभव होता है, तो समझो कि सब निष्फलता है। मणिपुर में एक अन्य प्रकार का भी अनुभव प्रत्यक्ष में आता है। वह इस प्रकार है।

भेदनं मणिपूरस्य शक्त्या तच्च कृतं महत्।
तदा ज्वालामयी ज्वाला एका ज्वाला समुद्गता।।

शक्ति मणिपूर का भेदन करके एक बहुत बड़ा कार्य कर देती है, तब एक ज्वालामयी अग्नि की ज्वाला उठती हुई दिखाई पड़ती है।

दृश्यते पुरतः एवं कदाचिच्च क्वचित् क्वचित्।
केवलमुष्णताज्ञानमुष्णत्वं जायते क्वचित्।।

साधक को कभी-कभी ऐसा दीखता है और कभी-कभी केवल शरीर में गर्मी का भाव प्रतीत होता है। साधक का शरीर गरम हो जाता है।

कदाचिदेकं कणमात्रिकं क्वचित् क्वचिद्बहुत्वं बहुलासकत्वम्।
क्वचिच्च स्वल्पं परिकम्पनं क्वचित् क्वचिच्च नाभौ स्फुरणं क्वचित् क्वचित्।।

कभी अग्नि का एक कण दीखता है, कहीं-कहीं बहुत-सी चिनगारियाँ दीखती हैं। कभी-कभी कंपकंपी आती है और कभी-कभी नाभि में स्फुरण होने लगता है।

कदाचित् केवलं शून्यं श्वासप्रश्वासहीनकम्।
प्राणसंरोधनं कृत्वा नाभिचक्रं विराजते।।

किसी साधक को केवल शून्यभाव रहता है और उसमें श्वासप्रश्वास भी नहीं चलती है, सारा प्राण नाभि चक्र में रूद्ध हुआ जान पड़ता है।

भिन्न भिन्न महद्भिन्नं दृष्टिभेदं पृथक् पृथक् ।

अनुभूतिपरं तत्र जायते साधकस्य वै।।

इस प्रकार प्रत्येक साधक की अलग अलग प्रकार के अपने अपने गुण, कर्म प्रकृति आदि के भेद से नाना प्रकार के अनुभव हुआ करते हैं।

एवं साधनाकाले एव आधारविद्याधिकृतसाधकः आधारस्य तत्रैवानुभूतिं करोति। तदा तस्य क्रिया सफला भवति। अतः आधारभूतामिमामतिमहत्त्वदायिनीं विद्यां अधिकारे कुर्यात् जानीयात् च अस्या रहस्यम्। तदा नोद्विजते। प्रसीदति च। स्वमार्गं च शनैः शनैर्गच्छति। न च मार्गाद् विचलितो भवति, इति ज्ञानानुभवात्।। ॐ ।।

।। इस भाँति साधना काल में ही आधार विद्या में अधिकृत साधक तभी आधार की अनुभूति कर लेता है। तब उसकी क्रिया सफल होती है, इसलिये अतिमहत्त्वदायिनी आधारभूता इस विद्या को अपने अधिकार में कर लेना चाहिये, इसका रहस्य भी जान लेना चाहिये। तब भय और संशय की कोई बात नहीं रहती है। साधक सन्तुष्ट रहता है। अपने मार्ग में धीरे-धीरे चलता रहता है। मार्ग से कभी विचलित नहीं होता है। क्योंकि उसे उसका ज्ञान और अनुभव है।

१-१-६३ प्रातकालः।।१०८।।

हरि ॐ तत् सत् । हरि ॐ तत् सत् । नमः आधार विद्यायै।

हरि ॐ तत् सत् । आधार विद्या को नमस्कार है।

आधारविद्या परमा परोत्तमा यस्यां हि सर्वं निकषोपलं बलम् ।

सर्वं च ज्ञानं भवतीति सद्यः आधार विद्यासममेव काले।।

आधार विद्या परमश्रेष्ठ है, जिसमें शक्ति के बल का परीक्षण कसौटी की भाँति होता है। आधार विद्या की अनुभूति के साथ साथ सभी प्रकार के ज्ञान तुरन्त होते रहते हैं।

परोऽपि यत्तत्त्वत्मपक्वभूतं सर्वं च पुष्टं परितत्त्वयुक्तम् ।

सत्साधको योगमयेन विज्ञः विद्यां परां वेत्ति निसंशयं सः ।। ॐ ।।

बड़े से बड़ा तत्त्व भले ही अपरिपक्व हो पूर्ण पुष्ट हो कर परिपक्व हो जाता है। आम साधक योग की प्रक्रियाओं से परिचित हो जाता है और आधार विद्या का भी ज्ञान निःसंशय हो जाता है।

आधारविद्या परमार्थकस्य सुवर्णस्य यथा वा अनेकेषां रत्नानां परीक्षणं भवति, सदोषं निर्दोषं निकषोपलेन क्रियते तथैव करोति।

परमार्थ रूपी सुवर्ण का परीक्षण अथवा अनेक प्रकार के सदोष निर्दोष रत्न मणियों का परीक्षण कसौटी पत्थर की भाँति यह आधार विद्या करती है।

आधारविद्यापि निकषोपलभूता सफलं विफलं वा सदोषं वा निर्दोषं वा, अनुभूतं नानुभूतं वा, सिद्धं वा असिद्धं वा सर्वानुभूतिं कारयति।

सोना अच्छा है या खोटा, रत्न खरा है खोटा यह परीक्षा जैसे की जाती है उसी भाँति क्रियायें ठीक हैं या गलत, अनुभूति ठीक है या नहीं, सफलता है या असफलता इस बात को आधार विद्या बता देती है।

अत एव सा विद्या परमोपयोगिनी साधकानां कृते। साधका जानन्तु तावत् किं कृतं, क्रियानुभूतं, सर्वं तत्रैवोपलभ्यते, यथा मन्त्राणां पश्चात् मन्त्रोच्चारणप्रक्रिया, सिद्धिसाधनप्रक्रिया केन प्रकारेण भवति। क्रियाणां मुद्राणामभ्यासः पुष्टिं गतो न वा, साधकस्तदैव जानाति यदा आधारः परिपुष्टं भवति।

इसलिये यह विद्या साधकों के लिये परमोपयोगिनी है। साधक स्वयं जान लें कि उन्होंने क्या किया, कैसे अनुभव किया। सब वहीं मालूम पड़ जाता है। जैसे मन्त्रों के अनन्तर मन्त्रोच्चारण प्रक्रिया है, सिद्धि साधन प्रक्रिया कैसे होती है, क्रिया और मुद्राओं का अभ्यास पुष्ट हुआ है या नहीं आदि बातें साधक वहीं जान लेता है जब आधार परिपुष्ट हो जाता है।

यथा सुवर्णं शुद्धं अशुद्धं वा घर्षणात् तापनात्तथा छेदनात् ताडनाच्च ज्ञायते निर्विकारं तथा मन्त्रः चाञ्चल्ययुक्तः निर्मलः निर्विकारको भूतो ज्ञातं वा। एतत् सर्वं निकषोपलं ज्ञानं करोति। अनुभूतिः।।

जैसे सुवर्ण शुद्ध है या अशुद्ध यह बात घर्षण से, तापन से, छेदन से और ताड़न से पूर्ण रूप से ज्ञात होती है उसी भांति मन्त्र चाञ्चल्ययुक्त है, निर्मल है, निर्विकार है, आदि बातों की कसौटी यही आधार विद्या की अनुभूति करती है।

आधारा सा परा विद्या, परापरविबोधिनी। सिद्धिकुरू। अनुभूतिं लभस्व। यथा वा निदर्शनेन ज्ञानं भवति। तदेवम् । ॐ ऐं सरस्वत्यै नमः। ॐ ह्रीं महालक्ष्म्यै नमः। ॐ क्लीं महाकालिकायै नमः। इतिव्याहृतिपूर्वकं मन्त्रव्यूहं समुच्चारितं भवति।।

आधार विद्या वह श्रेष्ठ विद्या है जो पर और अपर का बोध कराती है। सिद्धि करते रहो। अनुभूति प्राप्त करो। जैसे इस दृष्टान्त से ज्ञात हो जायेगा। ॐ ऐं सरस्वत्यै नमः। ॐ ह्रीं महालक्ष्यै नमः। ॐ क्लीं महाकालिकायै नमः। इन मन्त्रों में व्याहृति पूर्वक मन्त्रव्यूह का उच्चारण होता है।

अत्र ऐं स्वरूपिण्याः सरस्वत्याः, ह्रीं स्वरूपिण्या महालक्ष्म्याः, क्लींस्वरूपिण्याः कालिकायाः या सम्पूर्णा शक्तिः सा साधके समायाति। साधकः शक्तिसम्पन्नतां पश्यति अनुभवति च। कथम् ? तदित्थम् ।

यहाँ पर ऐं स्वरूपिणी सरस्वती की, ह्रीं स्वरूपिणी महालक्ष्मी की और क्लीं स्वरूपिणी कालिका की सम्पूर्ण शक्ति जो कुछ है वह साधक में प्रविष्ट हो जाती है। साधक अपनी शक्तिसम्पन्नता को देखता और अनुभव करता है। कैसे ? वह इस प्रकारः--

यदा स मन्त्रोच्चारणाय प्रस्तुतो भवति, तदा जपकाले जपमात्रेणैव ध्यानावस्थितस्तत्रैव, ॐ ऐं ह्रीं क्लीं इत्येव केवलं चामुण्डायै विच्चे इति विहायापि पृथक पृथक कार्यसिद्धयर्थं पृथक पृथक देवतास्वरूपं पृथक पृथक मन्त्रस्वरूपं गृह्णाति, तदा पूर्वं बद्धासनः बद्धपरिकरः बद्धक्रियास्वरूपक स्वशरीरे स्वासने स्वात्मनि वा एतां विशिष्टां शक्तिमनुभवति।।

जब वह मन्त्रोच्चारण के लिये उद्यत होता है तब जपकाल में जपमात्र से ही ध्यानावस्थित होकर वह वहीं ऐं ह्रीं क्लीं इतने भाग को ही "चामुण्डायै विच्चे" इस भाग को छोड़कर भी पृथक् पृथक् कार्य सिद्धि के लिये, देवताओं के पृथक् पृथक् स्वरूप को पृथक् पृथक् मन्त्रस्वरूप को ग्रहण करता है। तब वह आसन बांधकर विशिष्ट मुद्रा में बैठकर अपने शरीर में, अपने आसन में और अपने भीतर एक विशिष्ट शक्ति का अनुभव करता है।

यदा मन्त्रजपकाले शक्तिर्नानुभूयते तदा निष्फलं ज्ञेयम् । इत्याधारमूला तत्त्वज्ञापिका विद्यते। तस्माद् हि यत्र यत् क्रियते शक्तिः स्वयमेव तत् चालयति तच्च यन्नानुभूतं तत् किं कृतम् ।।

जब जपकाल में शक्ति का अनुभव न हो तो सब निष्फल समझना चाहिये। इस तरह आधारभूता विद्या तत्त्व ज्ञान दायिनी होती है। अतः साधना में जो कुछ किया जाता है उसे शक्ति स्वयं परिचालित करती है। यदि अनुभव न किया तो फिर सब व्यर्थ है।

अत एव प्रोक्तम् । अनुभूतिं विना न राजते परमोपयोगिनी तथापि सत्क्रिया अनुभूतिमंतः प्राधानिकाः निगदन्ति मनीषिणः, तदा ज्ञायतामनुभूतिश्च विधेया।।

इसलिये कहा गया है कि अनुभूति के बिना परमोपयोगिनी सत्क्रिया भी शोभा नहीं देती है। अनुभूतिमान् विद्वान् आचार्यों का यही कथन है। अतः जानो और अनुभूति करो।

यथा वा सिद्धिः। ऊँभैरवाय महारूद्राय महाभैरवाय महारूद्राय, महारूद्राय महाभैरवाय नमः कार्यं साधय सिद्धिं कुरु कुरू ऊँफट् स्वाहा। तथा भैरवाय पुनः महारूद्राय, विलोमतः मन्त्रः उच्चारणीयः भवति। एतच्च भैरवाङ्कितं मन्त्रपरिकरम् । तद् ज्ञानमपि सद्यएव भवति।।

सिद्धि कैसे हो यह बताया जाता है। "ॐ भैरवाय महारूद्राय महारूद्राय महाभैरवाय नमः कार्यं साधय साधय सिद्धिं कुरू कुरू ॐ फट् स्वाहा।" इस भाँति भैरवाय कहकर फिर महारूद्राय बोलो। फिर विलोम से मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। यह मन्त्र परिकर भैरव देवता से सम्बन्धित है। इससे शीघ्र ही ज्ञान हो जाता है।

एवं च कार्यसिद्धिसाधकं मन्त्रं जपति साधकः। तदैव स्वयं भैरवः भैरवाङ्कनिलया भैरवी वा महारूद्रो वा प्रत्यक्षेण स्वरूपेण तत्रागत्य साधकं पश्यति। साधकस्य ध्यानमुद्बोधयति, तदा सिद्धिं च ददाति। तदा एतादृशं ज्ञानं भवति, यद् यद्ज्ञानं तदनुभूति विषये समागतम् । ॐ ।

इस भाँति कार्यसिद्धि का इच्छुक साधक मन्त्र जप किया करता है। तब भैरव स्वयं और भैरव के भीतर बैठी भैरवी शक्ति या महारूद्र प्रत्यक्ष रूप में वहाँ उपस्थित होकर साधक को देखते हैं। साधक का ध्यान आकृष्ट करते हैं और सिद्धि प्रदान करते हैं। तब ऐसा ज्ञात होता है कि जो कुछ जाना था वह अनुभव में आ गया है। ॐ ।

अनेन प्रकारेण आधारविद्या सर्वत्रैव अनुभूतिं कारयति करोति च। साधकः बोधयति गमयति च एतदनुभूतिविषयकं चक्षुर्वर्तते।।

इस भाँति आधार विद्या सर्वत्र अनुभूति कराती रहती है। साधक भी जानता और समझ लेता है यह विद्या अनुभूति विषयक चक्षु है।

एतत्कार्यकरं च प्रोक्तं बहिरङ्गम् । अन्तरंङ्ग यद् अनुभूतेर्विषयकं अपरतत्त्वसम्बन्धिकत्वं तदपि प्रोच्यते।

यह जो प्रक्रिया बताई गई है वह बहिरंग है। अन्तरंग विषयक जो अनुभूति है, जो अपर तत्त्व सम्बन्धी होती है वह भी यहाँ बताई जाती है।

स्वात्मन्येव यदा योगी आत्मरूपं प्रपश्यति।
निर्विकल्पो निराकारः निराधारः स्वयं ततः।।

जब योगी अपने ही भीतर अपने रूप के दर्शन करता है, तब वह निर्विकार निर्विकल्प और निराधार स्थिति में स्वयं रहता है।

एकानुभूतिं कुरूते यानुभूतिर्विशेषिका।
संसारमूलां जनयेत् जनयेत्तत्त्ववेदिनी।।

वह एक विशिष्ट अनुभूति करता है। वह अनुभूति तत्त्व को जन्म देती है और संसार के मूल कारण का ज्ञान करा देती है।

तस्माद् घटं च संशोध्य आसनं दृढमाचरेद् ।
दृढासने कृते सद्यः आधारो दृढतां ब्रजेत् ।।

अतः घट का शोधन करके अपने आसन को दृढ़ बनाना चाहिये। आसन के दृढ़ हो जाने पर शीघ्र ही आधार भी दृढ़ बन जाता है।

एकैकमपि चादाय आसनं सिद्धिदायकम् ।
सुस्थिरं निश्चितं कृत्वा नियतायतमेवच।।

किसी भी एक सिद्धिदायक आसन को ग्रहण करके साधक को निश्चिन्त और सुस्थिर स्थिति में बैठ जाना चाहिये।

तदामन्त्रस्वरूपं च स्मृत्वा तन्मन्त्रदेवताम् । ॐ ।

महाव्याहृतिमुच्चार्य मन्त्ररूपं स्मरेत् पुनः।। ॐ ।।

तब मन्त्र का स्वरूप और देवता का स्मरण करके महाव्याहृति का उच्चारण करते हुए बार बार मन्त्र रूप का स्मरण करना चाहिये।

पूर्वमन्तर्गतं तत्त्वं वहिस्तत्त्वेन योजयेत् ।

उभयात्मकज्ञानेन तत्र सिद्धिः प्रजायते।। ॐ ।।

पहिले अन्तर्गत तत्त्व की योजना बहिर्गत तत्त्व से करनी चाहिये। उन दोनों के पारस्परिक ज्ञानं से मन्त्र की सिद्धि होती है।

१-१-६३ सायंकाल ।।१०९।।

प्रणमामि सकलकृतकार्यां तां भावितभाव्याम् ।

भाविकाधारभूतां आधारविद्याम् ।।

सकल कार्यों को सिद्ध करने वाली, भावमात्र आधार वाली और अभीष्ट को अपने भीतर धारण करने वाली आधार विद्या को मैं नमस्कार करता हूँ।

आधारं बोधयति या तां तारतम्योत्सुकाम् ।

तादात्म्य सम्बन्ध स्वरूपिकां तां नौमि विद्याम् ।।

तारतम्य भाव में उत्सुक होकर जो आधार का बोध कराती है, तादात्म्य सम्बन्ध ही जिसका स्वरूप है उस विद्या को मैं प्रणाम करता हूँ।

या विद्या मन्त्रयोगस्य क्रियायोगस्य व्यूहकम् ।

योगयुक्तं विद्यायैव अनुभूतिं प्रयच्छति।।

जो विद्या मन्त्ररूप और क्रियारूप के व्यूह को योग युक्त बनाती हुई अनुभूति प्रदान करती है,

सा वै आधारविद्या च सर्वाधार-विबोधिनी।

मोहात्मकं महामोहं विदूरीकुरूते सदा।।

वही आधार विद्या, समस्त आधारों का बोध कराती हुई साधक के महामोह और अज्ञान को दूर भगा देती है।

शुभ्रं शान्तानुभूत्याख्यं दर्शनं सद्यभासितम् ।

प्रयोगे नानुभूतं च अनुभूतिं प्रयच्छति।।

मन्त्र प्रयोग से अनुभव होने वाला एक शुभ्र, शान्त दर्शन साधक को भासित होता है, वही शुभ्र शान्त ज्योतिर्दर्शन मन्त्रप्रयोग द्वारा अनुभूति प्रदान करता है।

एकेन शुभमन्त्रेण शुभलाभकृतेन च।

योगेन योजयेद् या तु सा धारा धारणां ब्रजेत् ।।

एक ही कल्याणकारी मन्त्र से यदि मंगलमय लाभ कर लिया जाय और यदि उसका सम्बन्ध योग क्रिया से जोड़ दिया जाय वही आधार बन कर दृढ़ता धारण कर लेता है।

आधारविद्यायां यदुक्तंमन्त्राणां जपे भावनया जपकरणेन जापेन च तत्रस्था समस्तापि विराजिता नर्तनपरा कार्यसाधिका महाशक्तिः शोभते, यस्याः अनुभूतिर्भवति।।

आधार विद्या में मन्त्रों के जप करने पर समस्त नर्तनशील कार्यसाधिका जो महाशक्ति विराजमान रहती है साधक उसकी अनुभूति करता है।

पुनश्च मन्त्रस्य मन्त्राणां वा योगेन यागो भवति। मन्त्रयागः, मन्त्रस्वरूपयाग इति। मन्त्रयागः यदा भवति तदा आधारानुभूतिः परिपुष्टिमधिगच्छति। तस्याः धारणमात्रेण मन्त्राणां यागः मन्त्रयागः सुफलं भवति।

फिर मन्त्र अथवा मन्त्रों के योग से सम्बन्ध स्थापित होता है। उसी को मन्त्रयाग कहते हैं। जब वह मन्त्रस्वरूप का याग होता है तब आधारानुभूति परिपुष्टि को प्राप्त होती है। उसके धारण मात्र से मन्त्रयाग सफल होता है।

मन्त्रयागसुफलत्वेन यत् किञ्चिदपि तद् हस्तामलकवत् स्फुटं जायते। मन्त्रमुच्चार्य देवता स्वरूपमाधाय, आसनं सुस्थिरं कृत्वा तत्र तदर्थभावनां, मन्त्रार्थभावनां कुर्यात् ।।

मन्त्रयाग की सफलता से जो कुछ प्राप्त होता है वह हस्तामलकवत् सुस्पष्ट हो जाता है। साधक को चाहिये कि आसन सुस्थिर करके मन्त्र का उच्चारण करते हुए, देवता के रूप का ध्यान करते हुए और उसके अर्थ की भावना करते हुए साधना में तत्पर रहे।

अनेन मन्त्रस्य यागः, यजनात्मकभावः स्वयमेव मन्त्रयागात्मकत्वस्वरूपं शक्तिसम्पन्नं भवति। यावत् जपार्थं सिद्धिर्न समागता तावत् मन्त्रमित्युच्चारणीयम् । यदा च तद् यागो भवति, तावत् मन्त्रयागः, मन्त्र इत्युच्चारणीयः।

इस प्रकार मन्त्रयाग स्वयं ही शक्ति सम्पन्न बन जाता है। जब तक जप के अर्थ की सिद्धि नहीं आती है तब तक मन्त्र को "मन्त्र" इस नपुंसक लिंग से निर्दिष्ट करते हैं। जब मन्त्र का यथार्थ प्रयोग सिद्धि के लिये होने लगे तब उसे "मन्त्र" पुल्लिंग कहा जाता है।

शक्ति सम्पन्नो मन्त्रो भवति। अशक्तः, अनुद्भूतशक्ति सम्पन्नः मन्त्रं भवति। मन्त्रमुभयात्मकम् । एवं प्रोच्चार्यमाणं केवलं मन्त्रम् । एकस्तु शक्तिसम्पन्नः चैतन्योपहितः, चैतन्यज्ञानमाविष्टः, चैतन्यानुभूतिसमायुक्तः मन्त्रः।।

"मन्त्र" शक्ति सम्पन्न होता है। "मन्त्रं" जो शक्ति सम्पन्न न हो और कार्यसिद्धिजनक न हो, उसे कहते हैं। केवल बोला जाने वाला मन्त्र नपुंसक लिंग होता है और जो चैतन्यशक्ति सम्पन्न, चैतन्यपूर्ण, कार्यसाधक और शक्ति सम्पन्न होता है उसे पुल्लिंग रूप में "मन्त्रः" इस प्रकार कहते हैं।

अतएव प्राधानिकोऽयं भेदः। तस्मादेतद् ज्ञातं भवति यद् यदा मन्त्रशक्तिः समागच्छति तदा तस्याधारः दृढतमो भवति। यदा केवलं जपोच्चारितमेव तद् मननशक्तिहीनं इत्युच्चारणीयम् ।।

इसलिये यह प्रधान भेद है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि जब मन्त्रशक्ति आ जाती है तब उसका आधार भी दृढ़तम हो जाता है। जब केवल उच्चारण मात्र होता रहे तब वह मननशक्ति विहीन होता है।

कस्मात् ? तदुच्यते। शीतं वा उष्णं वा जपभेदेन मन्त्रं मन्त्रः इत्यपि भेदः।।

ऐसा कैसे ? वह भी बताया जाता है। मन्त्र शीत है या उष्ण है, इस भेद से भी मन्त्रों के जप में भेद हुआ करता है और उनके लिंग में भेद होता है।

मननात् मन्त्रम्। क्रियात्मकरूपात् मन्त्रः। यदा मन्त्रे विचारशक्तिः, क्रियाशक्तिः प्रादुर्भवति तदैव कार्यकरणाय प्रभवति। तद् मन्त्रयागयुक्तो भवति। मन्त्रयागस्तदैव उच्यते। मन्त्राणां यागः मन्त्रेष्टिर्यागः वा।।

मनन होने के कारण "मन्त्र" कहलाता है। क्रियात्मक रूप से "मन्त्रः" कहा जाता है। जब मन्त्र में विचार शक्ति और क्रिया शक्ति प्रादुर्भूत होती है तभी वह कार्यकरण में समर्थ होता है। वह मन्त्र यागयुक्त होता है। तभी मन्त्रयाग कहा जाता है।

याग शब्दस्य कोऽर्थः ? इत्यपि विचारणीयम् । यत् किञ्चिदपि कृते मुद्रारूपेण क्रियारूपेण वा तद् शक्तिसम्पन्नं यदा भवति तदुषांशुजापभूतत्वेन तेन मन्त्रेण शक्तिपरिचायनाय या विधेयावस्था समायाति तदा योगो भवति। यावत् सर्वं तत्रैव जृम्भति इति यागः।।

याग शब्द का क्या अर्थ है ? यह भी विचारणीय है। मुद्रा तथा क्रिया रूप जो कुछ किया गया हो वह जब शक्ति सम्पन्न होता है, तब उपांशु जप रूप में उस मन्त्र में शक्तिपरिचय के लिये विधेयावस्था आती है, तब याग होता है, क्योंकि जो कुछ है सब उसी के भीतर समा जाता है।

यागः- यत् किञ्चित् सर्वं कृतं ज्ञातं वा अनुभूतं वा तत्रैव गच्छति। अनुभूति-विषयं ब्रजति तदैव यागो भवति।।

याग का अर्थ है – जो कुछ भी किया गया, ज्ञात या अनुभूत होता है वह वहीं पहुंचता है और अनुभूति में आ जाता है। तब याग होता है।

विचारेषु मन्त्ररूपेषु मननीयेषु विषयेषु वा यदा सा ज्ञानात्मिका धारणा प्रच्छन्नाच्छन्नरूपेण क्रियासंगता भवति तदा यागो भवति।

मन्त्ररूप में जो मननीय विषयों के विचार हैं वे जब प्रच्छन्न या प्रकट रूप में क्रिया के साथ युक्त हो जाते हैं तब याग होता है।

अनेन ज्ञानेन अनेन कृतेन किं भवति इति ज्ञातव्यम् । इति तु साधकानां कृते समवधीयते। ज्ञायते च तद् अनेन ज्ञानेन, अनया अनुभूत्या साधकस्य मार्गे, साधकस्य साधनायां आधारदृढत्वभावना समागच्छति। अन्यथा यदि मन्त्रयाग-समायोगो न भवति,

इस ज्ञान से और ऐसा करने से क्या होता है यह भी ज्ञातव्य है। साधकों के लिये इसका समाधान किया जाता है। इस ज्ञान से प्रतीत होता है कि इस अनुभूति द्वारा साधक के मार्ग में उसकी साधना में आधार की दृढ़ भावना आती है। अन्यथा जब मन्त्रयाग से समायोग नहीं होता है–

तदा अर्धसाधनासम्पन्नो वा बहुसाधनासम्पन्नो वा स्वल्पसाधनासम्पन्नो वा साधकः, किं मया कृतं किं मया अनुभूतं किं मया प्राप्तम् एतत् सर्वं तु कृतं वा न कृतं वा सफलं वा विफलं वा व्यर्थफलं वा किं करणीयम् इत्यात्मकं अनर्गलं अर्गलारहितं सत्याख्यं प्रब्रजत् भावनाजनितं दुर्विचारमाधारयति।।

तो अर्धसाधना सम्पन्न, बहुसाधना सम्पन्न या स्वल्प साधना सम्पन्न साधक ऐसे दुर्विचारों की धारणा बना लेता है कि मैंने क्या किया, क्या नहीं किया, सफल हुआ या विफल हुआ। क्या जाना, क्या अनुभव किया, क्या प्राप्ति की। जो कुछ किया था, वह सफल हुआ है, विफल हुआ है या व्यर्थ हुआ है। मैं क्या करूँ ? इन अनर्गल अयथार्थ बातों को ही सही समझता है, ये सब उसकी कल्पित बातें हैं।

तदाधारे दुर्बलता समायाति। अत एव आधारविद्या बोधयति, आधार विद्या प्रकटयति यत् सर्वं सुकरं सुविज्ञातं, तत् सर्वात्मना अनुभूतिर्भविष्यति। अतः नोद्विजनीयन्, न स्वमार्ग त्यागो विधेयः। सफला साधना आधारविषयत्वेन सुदृढा भवति। गोरक्ष !

तब आधार में दुर्बलता आ जाती है। इसलिये आधार विद्या बताती है कि सबकुछ भली प्रकार समझ में आकर सर्वात्मना अनुभूति हो जायगी। इसलिये घबड़ाना नहीं। अपना मार्ग कभी नहीं छोड़ना चाहिये। आधार विद्या से ही साधना सफल होती है और सुदृढ़ होती है। गोरक्ष !

गोरख वाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। गुरू पीठ को आदेश। माँ का आदेश। माँ की आज्ञा।

माँ की आज्ञा गोरख भाषे।
जो कुछ आवे सो कुछ भाषे।।
गोरखनाथ रमन्ता जोगी।
क्या जाने क्या नाथण भोगी।।
गोरख योगी बात बतावे।
जा की धारा धार समावे।
और बतावे बात समावे।। ॐ ।।

माँ का आदेश। आधार विद्या का प्रकरण माँ ने चलाया। मुझे कहा गया है कि मैं थोड़ा थोड़ा जो जाना है, जो अभ्यास किया है, सीखा है और जिसके आधार पर आगे बढ़ना है, उसका थोड़ा ज्ञान अनुभूति के साथ मिलाकर बता दूँ। यह विद्या कुछ नहीं है। केवल जैसा कि माँ कहती हैं और अनुभूति अर्थात् अनुभव करके, पा लिया और देख भी लिया, जान लो जनालो। तो जानेगा ही जब नहीं, देखकर बतायेगा क्या ? कैसे ? और जब सब कुछ हो गया तो आखिर में जानकर क्या करोगे ? तो फिर क्यों ऐसा करते हो ? तो कुछ नहीं होगा। तो सुनो सबका सार, निचोड़ अब आया है। वह तुम्हारे हाथ में है। पकड़ के रख लेना। छोड़ना नहीं। इतनी ही आधार की बात है। और इसका नाथ को ज्ञान है। सो बतायेगा। और इतना जान लेना कि वृक्ष क्यों टिका है ? बड़ी हवा आती है, बड़ी आँधी आती है, फिर भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता है, क्योंकि उसकी जड़ें मजबूत हैं। उसने जड़ों से सबकुछ खींचना सीखा है, वह है आधार विद्या। खींचों, सब तैयार है, हो गया है। हंडियों में सब अन्न पक गया है। इसको निचोड़ के ले लो। जब सब खीचना सीख जाओगे, तब तुम्हारा आधार दृढ़ हो गया जानो। पत्थर बन जाओ, जम जाओ। पत्थर में अनुभूति नहीं होती। तुम्हें अनुभूति करनी होगी। वह बताई जायेगी। ॐ । अलख निरञ्जन।

२-१-६३ प्रातः काल।।११०।।

हरि ॐ तत् सत् । आधारशक्तिभूतायै कार्य कारिण्यै नमः
आधारविद्यायै।।

कार्य करने में समर्थ आधार शक्तिभूता आधार विद्या को नमस्कार है।

अखिलं च चराचरात्मकं विपुलस्पन्दन बोध मण्डितम् ।
परिपुष्ट परिपुष्टिबोधकं कुरूते तां च नमामि शक्तिकाम् ।।

इस अखिल चराचर जगत् को जो स्पन्दन करती हुई ज्ञान से भी भर देती है और जो समस्त चराचर को परिपुष्ट करती रहती है उस शक्ति को नमस्कार है।

नमस्ते महाशक्तिधाराधराय नमस्ते प्रबोधप्रबोधारकाय।
नमस्ते अनन्ताय सान्तात्मकाय नमस्ते स्वसत्ता स्वरूपप्रदाय।।

उस शिव भगवान् को भी बारम्बार नमस्कार है जो महाशक्ति की धारा के आधार हैं, ज्ञानविज्ञान के भण्डार हैं, अनन्त और सान्त-भी हैं तथा अपनी सत्ता को जताने के लिये जगत् को रूपवान् बना देते हैं।

नमस्ते चैतन्यस्वरूपाय महाबोधंकारकाय तस्मै चिदानन्दस्वरूपाय।।

चिदानन्दस्वरूप उस परमानन्द भगवान् को नमस्कार है जो महाबोध कारक चैतन्य स्वरूप है।

यत्प्राप्त्यै यतते जगत् सकलकं येनेदमाव्यापितम्,
आधारः खलु यः समस्त जगतां आधार येन कृतः।
येनैकेन अनन्तशक्तिपरिता यत् संभृतं शक्तिमत्,
एकेनैव अखण्ड खण्ड परिधं आधारभूतं कृतम् ।।

जिसकी प्राप्ति के लिये सारा जगत् यत्नवान् रहता है, जिससे सबकुछ परिव्याप्त है, जो समस्त जगत् के आधार का भी आधार है, अनन्त शक्ति से परिपूर्ण होकर जिसने शक्तिमान् और शक्ति को धारण कर रखा है, और जिस अकेले एक ने इस अखण्ड और खण्ड समस्त ब्रह्माण्ड को आधार भूत बना रखा है उस परम शिव भगवान् को सदा प्रणाम है।

तस्मै नमः। आधारभूतस्य दृढस्वरूपस्य लिंगात्मकलिङ्ग बोधक ज्ञानस्य यत् स्वरूपं तदाधारेण विना पूर्णं न भवति।।

उस शिव भगवान् को प्रणाम है, जिसके बिना आधार भूत, दृढ़ स्वरूप इस पिण्ड ब्रह्माण्ड और समष्टि ब्रह्माण्ड में बोध संचार नहीं हो सकता है और स्वरूप नहीं रहता है।

अतः तल्लिङ्गस्वरूपात् स्वयं यन्माया बोधितः तत् शक्तिमत् विरचितभुवनैक सारम्। प्राक् त्वया आधारविद्याधिकारः कर्तव्यः। आधारविद्याविदिते सर्वं यत्कृतं यद् वृत्तं चैव ब्रह्मण्येव विलीयते। ब्रह्मणि विलीनता आधारविद्याश्चरमा परमा शक्तिः सनातनी। साधारविद्या तथा भूतास्ति यया शरीरं स्वस्थं हृष्टं पुष्टं च किन्तु प्राणविहीनश्च निष्प्रयोजनश्च। तथैव अनुभूतिं विना निष्प्रयोजनं भवति।।

वह जो लिङ्गस्वरूप भगवान् शिव हैं, वह शक्तिमान् हैं, और वे ही अपनी शक्ति से समस्त भुवन को सर्जित करते हैं, वे ही सारभूत हैं, यह मैं पहिले समझा चुकी हूँ। प्रथमतः तुम्हें आधार विद्या में अधिकार करना चाहिये। आधार विद्या के जान लेने पर कुछ किया गया, घटित हुआ रहता है वह ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। आधार विद्या की सनातनी वह शक्ति है जो हृष्ट पुष्ट शरीर में प्राण की भाँति है जिसके बिना वह निष्प्रयोजन हो जाता है। ऐसे ही अनुभूति के बिना सब व्यर्थ है।

यद् यत् करोषि त्वं कार्यं तस्य तस्य कृतस्य च।

अनुभूतिं समागम्य तदा ब्रह्मणि गच्छ त्वम् ।।

तुम जो कुछ कर्म करते हो, उस प्रत्येक की अनुभूति से लेकर अन्त में परम कारण परम ब्रह्म में चले जाओ।

नैवाधारः न वा युक्तः नानुभूतेः परस्परम् ।

अन्तरंगवहिश्चैव तेनेदं ज्ञायते ध्रुवम् ।।

अनुभूति के बिना आधार का ज्ञान व्यर्थ है और आधार के ज्ञान के बिना अनुभूति नहीं हो सकती है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन दोनों का अन्तरंग बहिरंग सम्बन्ध है।

तस्मात् सर्वात्मभावेन आधारे कृतनिश्चयः।

कृताधिकारप्राप्तिश्च सततं मोदनिर्भरः।।

इसलिये सर्वात्मभाव से आधार को जानने के लिये तत्पर बनते हुए आधार पर अधिकार और उसकी प्राप्ति कर लो, तो आनन्द से भर जाओगे।

भव त्वं कार्यकालेन नैवं विघ्नः समाप्स्यसि।।

साधन के समय तुम आधार–ज्ञान में लगे रहो तो विघ्न नहीं आवेंगे।

२–१–६३ सायंकाल।।१११।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

आधारः सर्वविद्यानां प्रसूतिः सर्वमुद्रिकाम् ।

मुद्राङ्कितां क्रियाभूतां टंकधारां समर्थिताम् ।।

सब विद्याओं की आधारभूता और कारणभूता, टंक विद्या में वर्णित सभी क्रिया और मुद्राओं की आधार भूता भगवती को नमस्कार है।

अपरां परसम्पर्कां संसर्गोचित - संगताम् ।

संगतिं सक्रियायोगां आधारां तां नमाम्यहम् ।। ॐ ।।

जो अपरा होते हुए पर (शिव) से सम्पर्क किये हुए हैं। अपने अनुकूल और योग्य संसर्ग में आकर क्रियायोग से सम्पर्क रखती है उस आधार विद्या को नमस्कार है।

क्रियाणां शुभमुद्राणां या विद्या पुष्टिवर्धना।

सारल्येन सुसस्थानां तां विद्यां च भजाम्यहम् ।।

श्रेष्ठ मुद्रा और क्रियाओं को पुष्ट करने वाली, सरलता पूर्वक साधक को अपनी उचित स्थिति में ला देने वाली उस आधार विद्या की मैं उपासना करता हूँ।

सर्वं सर्वसमायुक्तं सर्वभावसदैवकम् ।

आधारे परिपुष्टं च करोतु साहिभाविनी।।

समस्त जगत् सभी चीजों से मिलाजुला होते हुए भी एक और ऐसा जिसकी शक्ति से बल रहता है वह सत्तात्मिका देवी मेरे आधार को परिपुष्ट करें।

प्रोक्ता या च महाविद्या आधाराख्या मया स्वयम् ।

तस्या विज्ञानमात्रेण मन्त्रयागान्वितो भवेत् ।।

जो आधार नाम की विद्या मैं स्वयं बता रहीं हूँ उस महाविद्या के केवल ज्ञानमात्र से साधक मन्त्र-मार्ग का अधिकारी बन जाता है।

मन्त्रयागान्वितो मर्त्यः साधकः सिद्धिप्रापकः।

आधारं पुष्टिमाधाय सर्वं पुष्टं करोति सः।।

मन्त्रयाग का अधिकारी साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है और आधार की पुष्टि करते हुए सभी कुछ पुष्ट कर लेता है।

सर्वानुभूतिपरकं सर्वभाव - विवर्धनम् ।

सर्वाक्रियाः क्रियाधाराः तां तां सर्वां समःसमाम् ।।

जो पुष्टि सर्वानुभूति परक होती है और समस्त भावों की वृद्धि कारक होती है। सभी क्रियायें आधार पर ही आधारित होती हैं और साधक समभाव में रहता हुआ साम्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

सदा सर्वत्र संचारः संचारात्मिक-धारणा।।

धारणां पुष्टिमापन्नां कारणं कारणाङ्कितम् ।।

साधक का संचार सर्वत्र हो जाता है और उसकी संचारात्मिका धारणा बन जाती है। पुष्टि को प्राप्त हुई धारणा जो सब सिद्धियों की कारणभूता है।

एतां विद्यां महामन्त्रयोग-बोध-समन्विताम् ।

ज्ञात्वा स्वात्मनि स्वाधारं पुष्टिदं जायते ध्रुवम् ।।

अतएव महामन्त्र योग और बोध से समन्वित इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करके साधक का निजी आधार अपने भीतर पुष्ट होता रहता है।

अतएव समाख्याता टंकविद्याविधौ हि सा।

टंकं कृत्वा ततः एवं आधारं आधृतं कुरू।।

इसलिये टंक विद्या के अन्तर्गत इस आधार विद्या को बता गया हूँ। अतएव तुम टंक कर लेने के बाद आधार को दृढ़ बना लो।

नीचैर्या रसता सा च टंकिता टंकविद्यया।

तस्याधारः सदा युक्तः बलवान् बलदायकः।।

टंक विद्या के द्वारा नीचे की ओर जाने वाली जो शक्तिधारा है उसको रोकने और उसे ऊर्ध्वगति देने वाली बलवान् और बलदायक पुष्ट आधार ही हुआ करता है।

साधकानां कृते भूयादेतत्तत्त्व विचारणम् ।

एषा विद्या परा प्रोक्ता यां ज्ञात्वा सुस्थिरो भवेत् ।।

इस तत्त्व पर विचार करने का स्वभाव साधकों का बना रहे। इस परम श्रेष्ठ विद्या को जानकर साधक सुस्थिर और पक्का बने।

सर्वथैव विपत्काले संकटापन्नको भवेत् ।

आधारं सर्वकालं च स्मृत्वा च निर्भयो भवेत् ।।

जब जब साधक पर विपत्ति आवे और वह संकटापन्न स्थिति में हो, तब तब सदा आधार का स्मरण करके निर्भर हो जावे।

निर्भयार्थमिदं प्रोक्तंतेषां वै जायते शुभम् ।

प्राप्नुवन्ति महासिद्धि लोके आनन्दमण्डिताः।।

यह विद्या साधकों को निर्भय बनाने के लिये कही गई है, इस से साधकों का हित होता है। संसार में आनन्द मण्डित हो कर वे महासिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

जायन्ते यत्प्रसादेन सा विद्या फलदा भवेत् ।

केवलं ज्ञानमात्रेण न भवेत् कार्यसाधना।।

जिस विद्या के प्रसाद से साधक सिद्ध बनते हैं, वह विद्या फलवती है। केवल विद्या के ज्ञानमात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हुआ करती है।

अनुभूतिरता प्रोक्ता आधाराख्या मया हि सा।

प्रोक्तं सर्वहितार्थ च तां ज्ञात्वा निर्भयो भवेत् ।। ॐ ।।

इसलिए आधार नाम की अनुभूति मैंने बताई है। सब के कल्याण के लिए यह विद्या कही गई है जिसे जान कर साधक को निर्भय हो जाना चाहिये।

इत्याधाराधिगम प्रकरणे प्रथमग्रन्थिग्रन्थानुग्रन्थि अनुकूलाननुकूलं सर्वं निर्भयात्मकत्वं सुस्थिरत्वं मनसः प्रकृष्टतमाधारभूत तत्त्वं निगदितं तत् ज्ञात्वा साधकाः निर्भयाः भवन्तु। कुर्वन्तु च स्वकीयं परकीयं च कल्याणम् । मुद्राः क्रियाः अनयाऽऽधारविद्या ज्ञातया टंकिताः भवन्तु।। ॐ ।।

इस भाँति आधाराधिगम प्रकरण में प्रथम ग्रन्थि के अन्तर्गत अनुग्रन्थि में मनके सुस्थिर भाव के लिये और निर्भयता के लिये तत्त्व बताया गया है, जिसे समझ कर साधक निर्भय बनें और अपना तथा दूसरों का कल्याण करें। इस आधार विद्या के सहारे सभी मुद्रायें भली भांति टंकित हो जावें।

गोरखवाणी :- । ॐ । अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।

नमो गुरू को आदेश। आज माँ ने आधार विद्या के विषय में जो बताया है वह इसलिये बताया है कि जिस प्रकार टंक विद्या का आगमन हुआ, टंक विद्या का ज्ञान हुआ और पर उपकार करने वाली, परमसिद्धि करने वाली. मन को परम रूप से स्थिर करने वाली जो टंक विद्या थी उसका ज्ञान और मुद्राओं से, उसके तत्त्व का ज्ञान हो जाने से उसका आधार भी पुष्ट होना चाहिये। उसके आधार के साथ साथ जो इष्ट मन्त्र है या जो अभीष्ट मन्त्र है उनका भाग संगति भी परस्पर गति शक्तिशीलता भी होना चाहिये। तो इस अन्तिम प्रकरण को भी बतलाया गया है। यह आधार विद्या ऐसी है जैसी कि – ऐसा समझना चाहिये– एक घड़े में रस भरा है। छिद्र भी बन्द हो गये हैं और टंक हो गया है। यह आधार विद्या का काम होता है। घड़ा जल से भरा हुआ है। उसके मुख में ढक्कन भी रख दिया तो कूड़ा करकट नहीं पड़ेगा। वह ढका रहेगा।

क्रिया और मुद्रायें भी घट की शुद्धि करके मन में आनन्द रस भरती हैं। उसमें इन्द्रिय विक्षेप न आ जाय, इधर उधर से कूड़ाकरकट न पड़ जाय, तो उसके आधार को पुष्ट कर

देगा। शिरोभाग से लेकर चरणान्त तक की पुष्टि कर देना है। और जब सारी अनुभूतियाँ बार बार स्मरण आती रहती हैं, तब उनमें विलीन होने की भावना आ जाती है और जब विलीन होने लगता है, तब इधर उधर का वातावरण सब भूल जाता है। तो इसलिये आधार विद्या को बताया गया है कि उसमें अनुभूति की प्रधानता है और मन्त्रर्थ की प्रधानता है। अनुभूतियों को देनेवाले मन्त्र याग कहे गये हैं। उनको ध्यान में रखते हुए साधक अपने मार्ग में चलता है। यह आधार विद्या प्रकरण इसलिये अन्तिम प्रकरण कहा गया है कि इसके बिना टंक विद्या अधूरी रह जाती है; इसलिये इसे बताना भी परमावश्यक था। इस प्रकार इस गुप्त लुप्त विद्या को शास्त्र का पूर्ण रूप देकर, सार सार, तत्त्व तत्त्व लेकर के, साधकों के हित के लिये, इसका ज्ञान परम आवश्यक है।

इसके ज्ञान और अनुभूति को संयुक्त करके इसको एक और दृष्टि से, एक रूप से प्रचार भी करना चाहिये। तभी इसकी सफलता होगी। तभी तो यह विद्या प्रकट होगी, नहीं तो फिर गुप्त की गुप्त रह जायेगी तो निर्जीव पड़ी रह जायेगी और उससे कल्याण नहीं होगा। इसलिये यह विद्या कही गई है।

इसका अब प्रचार भी होना चाहिये। समय भी कहता है और काल भी कहत है और नाथ भी कहता है और माँ भी कहती है। इसके आगे क्या होगा, कौन शास्त्र होगा, क्या कहा जायेगा, क्या आदेश होगा, तब सब बता दिया जायेगा। इसलिये इस आधार टंक को ध्यान से, निष्ठा से अपनी साधना का अंग बना लो और इस से फिर क्या होगा यह तुम्हें अनुभूति बतायेगी। और ऐसी दिव्य अनुभूतियों को देनेवाली, योग के मार्ग पर सरलता से चलाने वाली यह लुप्त गुप्त विद्या तुम्हें बता दी गई है। फिर और क्या चाहते हो। जो चाहोगे वह भी हो जायेगा। माँ के आदेश को देखते रहो।। ॐ ।।

गोरख की वाणी में आधार का प्रकरण बन्द ।। ॐ ।।

अथ चक्रविद्याधिगमः

२१-१-६३ प्रातः काल।।११२।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् ।

अनन्तशक्ति सम्पन्नायै अदिति स्वरूपायै नमश्चक्रस्वरूपिणी जागृतायै महाशक्त्यै नमो नमः ।। ॐ ।।

अनन्त शक्ति सम्पन्ना, अदिति स्वरूपा, चक्रस्वरूपिणी जागृता भगवती महाशक्ति को बारम्बार प्रणाम है।। ॐ ।।

सर्वाधारभूता या शक्तिः सर्वत्रैव विराजते।
सरला सा महाशक्तिः कल्याणाय प्रजायताम् ।।

सर्वाधारभूता जो शक्ति सर्वत्र विराजमान है, वह महाशक्ति सभी साधकों का आसानी से कल्याण करे।

अथ चक्रविद्या समानाधिकरणम् । अथ चक्रविद्याप्रादुर्भावाधिकरणम् ।

अब चक्र विद्यासमानाधिकरण आरम्भ होता है। चक्रविद्या के प्रादुर्भाव सम्बन्धी अधिकरण को कहा जाता है।

चक्रांकितां चक्रनिभां च चक्रिणीं चक्राधिगम्यां च सुचक्रधारिणीम् ।
चक्रारपंक्तिरिव या च समाधिकारा तां चक्रिणीं चक्र विद्यां भजेऽहम् ।। ॐ ।।

चक्रांकिता, चक्रनिभा, चक्रों में प्राप्त होनेवाली, सुन्दर चक्र धारिणी, चक्र के अरों की पंक्ति की भाँति साम्यभाव वाली उस चक्रिणी या चक्रविद्या की मैं उपासना करता हूँ।। ॐ ।।

चक्रंशरीरं सम्प्रोक्तंचक्रंकालमयं जगत् ।
चक्रंसंसारसंसारः सर्व चक्रंप्रचक्रकम् ।।

शरीर भी चक्र है, काल को भी चक्र कहते हैं, संसार भी चक्र है। संसार का चक्र भी नाना चक्रों की भाँति चलता रहता है।

यथा वै क्रमते कालः चक्रंभ्रमति वै ततः।

एवं सर्वं महामाया चक्राकारं करोति च।।

ज्यों ज्यों काल की गति होती है त्यों त्यों चक्र घूमता रहता है। इस प्रकार महामाया समस्त संसार को चक्रवत् बनाती रहती है।

चक्रज्ञानं महद् ज्ञानं ज्ञानाद् ज्ञानतमं परम् ।

सर्वं ज्ञात्वा ततश्चक्रज्ञानं कुर्याद् महामतिः।।

चक्रज्ञान बड़ा उत्तम ज्ञान है। इसलिये बुद्धिमान् साधक को चाहिए कि वह ..क्र का ज्ञान प्राप्त करले।

चक्रज्ञानात् यत् किञ्चिद् ज्ञानं वा कृतं वा अधीतं वा अनुभूतं वा तत् सर्वं चक्रवत् परिक्रमति। चक्रज्ञानात् पूर्वापर-बाह्याभ्यन्तरानुभूतिविषयकं ज्ञानाधारं भवति।

चक्र ज्ञान से जो कुछ जाना, सुना, कृत और अधीत तथा अनुभूत रहता है वह सब चक्रवत् घूमता रहता है। पूर्वापर, बाहरी व भीतरी अनुभूति से सम्बन्धित सभी कुछ चक्रज्ञान से होता है और वह ज्ञान का आधार होता है।

तस्माच्च किञ्चिदपि कदाचिदपि श्रुतं वा दृष्टं वा ज्ञातं वा अनुभूतं वा सर्वं तत् समष्टिरूपेण प्रतिभाति।

इस ज्ञान से जो कुछ कहीं सुना, देखा, ज्ञात व अनुभूत रहता है, वह सब समष्टिरूप में एकाकार होकर प्रतीत होता है।

तत् प्रतिभासेन, तस्माद्वा एका अभ्युदयिकाशक्तिः समायाति। सा च धारणाख्या वा चेतनाख्या वा।

उस प्रतीति से एक अभ्युदयिका शक्ति आ जाती है और वह धारणात्मिका अथवा चेतनात्मिका होती है।

यदा प्रादुर्भवति तदा समष्टि सम्पन्नं ज्ञानं आधारभूतं अनुभूत्यात्मकं वा भवति।

जब वह शक्ति प्रादुर्भूत होती है तब समष्टि सम्पन्न ज्ञान अनुभूति परक होता है जो आधारभूत होता है।

सर्वं चक्रवत् परिवर्तते परिभ्रमति, परिज्ञायते च। अथवा सर्वसम्भूतपिण्डात्मकं एतद्विषयकं योगात्मकं महाशक्तिप्राप्त्युद्बोधकं

यदनुभूतिपरकं ज्ञानं तत् समष्टिरूपेण चक्रवत् चक्रेषु वा संस्थितं संज्ञानं सम्यक् प्रकारेण अनुभूतं परिपुष्टं भवति।

सभी कुछ चक्र की भाँति परिवर्तित होता है और मालूम भी पड़ता है। अथवा महाशक्ति की प्राप्ति के उद्‌बोधन का अनुभूति परक समष्टि रूप में और पिण्डरूप में जो योगात्मक ज्ञान है वह चक्रवत् है। चक्रों में संस्थित और अनुभूत संज्ञान भली प्रकार परिपुष्ट बनता है।

परिपुष्टिमात्रेण सर्वत्रैव सा दृष्टिः समायाति यां दृष्टिं देवगणाः पितरश्च अन्ये महामेधाविनो वाञ्छन्तिस्म।

परिपुष्ट मात्र से साधक को वह दृष्टि प्राप्त होती है जिसकी कामना देवगण, पितृगण तथा अन्य मेधासम्पन्न पुरूष करते हैं।

सैव तत्त्वात्मिका दृष्टिः समायाति यदा नरे।

तदा चक्रपरिज्ञानं चक्रविद्यात्मकं महत् ।।

वही तत्त्वात्मिका दृष्टि जब मनुष्य को प्राप्त होती है तभी चक्र विद्या सम्बन्धी चक्र का श्रेष्ठ परिज्ञान उसे हुआ करता है।

जायते योगविद्यायां महायोगे विशेषतः।

ये लोकाः शक्तिसम्पन्नाः महायोगेन मण्डिताः।।

महाबोध समापन्नाः चक्रज्ञानविवर्जिताः।।

योग विद्या में, विशेष कर महायोग में वह चक्र ज्ञान साधक को होता है। जो लोग महायोग के द्वारा शक्ति सम्पन्न बन कर महाबोध सम्पन्न तो बन जाते हैं, फिर भी चक्रज्ञान से विवर्जित ही रहते हैं।

शक्तिपातविधौ ज्ञात्वा टंकविद्यां विशेषतः।

चक्रविद्यां च वै ज्ञात्वा योगी भवति मानवः।।

ऐसे लोग शक्तिपात विद्या के अन्तर्गत विशेष रूप से टंक विद्या को जान कर और चक्र विद्या का ज्ञान प्राप्त करके योगी बन जाया करते हैं।

स योगी योगसम्पन्नः चक्रविद्या विशारदः।

सर्वत्र मोदते तस्य अनिष्टं नैव जायते।।

वही योगी योग सम्पन्न है जो चक्र विद्या में प्रवीण होता है। वही सर्वत्र प्रमुदित रहता है और उसका कभी अनिष्ट नहीं होता है।

अनिष्ट निवारणार्थं सर्वविद्यात्मबोध संप्रचारार्थं तद् ज्ञानार्थं च चक्रविद्याज्ञानं विशेषरूपेण अधिगमनीयम् । चक्र-विद्यायां समानाधिकरण त्रयम् । प्रथम समानाधिकरणे आत्मबोध प्रत्यभिज्ञानम् । द्वितीयाधिकरणे तत्त्वबोधकरणम् । तृतीये च व्याधात संहति विशेषकम् ।।

अनिष्ट निवारण के लिये और सब प्रकार के आत्मबोध के प्रचार के लिये तथा आत्मज्ञान के लिये विशेष रूप में चक्र विद्या की प्राप्ति करनी चाहिये। चक्रविद्या में तीन समानाधिकरण हैं। प्रथम में आत्मबोधप्रत्यभिज्ञा, दूसरे में तत्त्वबोध प्रज्ञान, और तीसरे में व्याधात संहृति है।

एतत् त्रयं चक्ररूपेण अभिधीयते। एतच्च चक्रविद्यात्मकं ज्ञानम् ।।ॐ।।

इन तीन बातों को चक्र रूप से कहा जाता है। यही चक्रविद्यात्मक ज्ञान है।

किं चक्रं का च सा विद्या किं ज्ञानं तेन किं भवेत् ।

सर्वमेतन्मया वत्स प्रकाशः क्रियतेऽधुना।।

चक्र क्या है ? चक्र विद्या कौन सी है ? उसका ज्ञान क्या है और उस ज्ञान से क्या होता है ? यह सब, हे वत्स ! अब तुम्हारे सम्मुख प्रकट करती हूँ।

शक्तिपात समायुक्ताः परमानन्दमोदिताः।

टंकविद्याधिकारास्ते चक्रज्ञानाय तत् पुनः।।

शक्तिपात प्राप्त करके जो साधक परमानन्द से पूर्ण हो जाते हैं और तदनन्तर टंकविद्या में अधिकार प्राप्त करते हैं और तत्पश्चात् चक्रज्ञान के वे अधिकारी–

तेषां च या समापत्तिः तस्यापि परिपुष्टिका।

भूयाद्भव्यसमाकारा सुखिनः सन्तुते सदा।।

बन जाते हैं, उनकी यह समापत्ति उनकी साधना की और भी पुष्टि कर देती है। वे साधन सम्पत्ति से चमक पड़ते हैं, वे साधक सदा सुखी रहें।

अत एव प्रवक्षामि चक्रविद्यां सुधारिणीम् ।

अनिष्टवारिकां विद्यां तां ज्ञात्वा निर्भयो भव।।

इसलिये मैं धारण करने योग्य चक्रविद्या को बता रहों हूँ, जो विद्या अनिष्टों का निवारण करने वाली है। इसे जानकर तुम निर्भय बन जाओ।

शक्तिपात समायुक्ताः कृत्वा टंकं सुनिश्चितम् ।

पश्चान्न भीतिरायाति चक्रं तद् वारयिष्यति।।

शक्तिपात का अनुग्रह प्राप्त करके और भलीभाँति टंक करके फिर साधक को कोई भय नही रहता है, क्योंकि चक्र-ज्ञान भय को दूर भगा देता है।

अग्रे सर्वं विधास्यामि कार्यं वा कारणं तथा।

उभयं व्यष्टिरूपेण समष्टिं प्रापायामि त्वाम् ।।

मैं कार्य को और उसके कारण को पहिले ही सम्पन्न कर दूंगी, कार्य और कारण को व्यष्टि रूप से सिद्ध करके फिर तुम्हें समष्टि तक पहुंचा देती हूँ।

ये सन्ति भूमौ ननु शक्तिपातकाः ते शक्तियुक्ताश्च समर्थ भावकाः।

ते ज्ञानिनो योगविच ते वै तस्माच्च तेभ्यश्च नमो नमस्ते।।

इस पृथ्वी में जो भी शक्तिपात करने वाले सिद्ध हैं, शक्तिपातयुक्त समर्थ गुरू हैं, ज्ञानी हैं, योग विद्या के ज्ञाता हैं, उन सब महात्माओं को मेरा बार-बार प्रणाम है।

समर्थभावकास्ते वै पुरूषाः गुरूसंज्ञकाः।

शक्तिपातेन तत्त्वार्थज्ञापकाः ज्ञानदायिनः।।

जो पुरूष शक्तिपात की क्षमता रखते हैं, वे ही गुरू नाम से कहे जाते हैं। क्योंकि वे शक्तिपात के द्वारा तत्त्वार्थ को बता देते हैं और ज्ञानदाता होते हैं।

तेभ्यः सर्वत्र सम्भूय सर्वकारक तत्सनत् ।

रूपं प्रत्यक्षरूपेण मननीयास्तु ते सदा।। ॐ ।।

उन सभी गुरूओं से सर्वत्र तादात्म्य रखकर साधक सब कुछ कर सकता है। वे तत् और सत् के प्रत्यक्ष रूप हैं, उन गुरूओं का सदा सम्मान करना चाहिये।

अतः परं महायोगी गोरक्षः त्वां वदिष्यति।

किं चक्रं किं च तद् ज्ञानं तेन ज्ञातेन किं भवेत् ।। ॐ ।।

अब इसके बाद गोरक्ष तुम्हें बतायेगा कि चक्र क्या है, उसका ज्ञान क्या है, और उस ज्ञान से क्या होता है।

गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरक्ष ! गोरक्ष ?

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन। माँ ॐ । आदेश, आदेश नमो गुरू को आदेश। नमो गुरू को आदेश। साधक ! आज उस चक्रविद्या का प्रकरण खोल रहे हैं, जो शक्तिपात के ज्ञाता, शक्तिपात के अभ्यासी, शक्तिपात के जिज्ञासु

और शक्तिपात के प्रति निष्ठा श्रद्धा रखने वालों, समस्त के कल्याण के लिये है, यह चक्र क्या है ? यह भी एक बड़ी बात है। चक्र शरीर को भी कहते हैं, शरीर के अन्दर भी चक्र है, काल के चक्र को भी चक्र कहते हैं और संसार के चक्र को भी चक्र कहते हैं। चक्र का अर्थ होता है चक्कर लगाना। यह चक्कर जब तक विशेष रूप से बन्द नहीं होगा, इसमें स्थिरता नहीं आयेगी, तब तक थोड़ा बहुत विघ्न बने ही रहेंगे। परम रूप से जिसका बोध होता है हो जायेगा। ऐसा बोध अनुभव में ही आयेगा। तो उस अनुभव को ऐसा चमकना चाहिये, ऐसा सामने आना चाहिये, ऐसा निर्मल हो जाना चाहिए कि यह प्रतीति पूर्ण रूप से हो जाय कि अब हमने जिस विद्या को, जिस ज्ञान को, जिस शक्ति को पाया है, उसे पाकर जो काम किया है और उस काम का जो फल है, उस फल की जो अनुभूति हुई है, उसकी जो पुष्टि है, अब वह तुष्टि में आ जाय और निर्विघ्न हो जाय। ऐसी स्थिति आ जाने पर फिर कभी भय नहीं रहता और इसलिये आज के मनुष्य में, मां का कहना है कि यही भाव जगा दो। उसके भावों को बदल दो, पलट दो, और ऐसा बताओ कि जग का कल्याण योग विद्या से ही हो सकता है। चक्कर में चलने से नहीं हो सकता। जगकल्याण महायोग से हो सकता है। जग का कल्याण अपने आप को पहिचानने से हो सकता है, स्थिर हो जाओ, बहुत दौड़ चुके, बहुत घूम चुके, धुरी कमजोर हो चुकी, टूट न जाय, विध्वंस हो जायेगा। धुरी को मजबूत करलो, ठीक हो जायेगा। चक्र को कुछ मन्द करो, उसकी गति को कुछ स्थिर कर लो। आ गया है समय, इसलिये इस चक्रविद्या को भी बताया जा रहा है कि साधना में बैठने वाले या साधन सम्पन्न या साधना को प्राप्त हुआ साधक इस विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लें और वह जगत् के कल्याण के लिये तैयार हो कर कमजोर धुरी को टूटने से बचालें। चक्कर को अधिक दौड़ने से बन्द कर दे, धुरी टूट जायेगी, चक्कर इधर का उधर पड़ जायेगा। ध्वंस ही हो रहा है। ध्वंस नहीं निर्माण करो। आ रहा है, दौड़ गई है लहर, चारों ओर से समुद्र में उफान आ गया है। चलो, बढ़ो आ जाओ, मैं साथ हूँ, माँ भी साथ है, सब साथ हैं, गुरू भी साथ है। चलो, चलो, उठो।

२१-१-६३ सायंकाल।।११३।।

हरि ॐ तत् सत् ।

नमामि चक्रविद्याधिगमकारिणीं महाशक्तिं
सरस्वतीरूपाम् ।
चक्राणामधिष्ठात्रीं भगवतीं जागृतां कुण्डलिनीस्वरूपां
आत्मबोधार्थम् ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । चक्र विद्या की समझ देने वाली सरस्वती रूपा चक्रों की अधिष्ठात्री, आत्मबोध के लिये जागृत हो कर कुण्डलिनी का रूप धारण करने वाली महाशक्ति भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

अथ आत्मबोधप्रत्यभिज्ञा।।

अब आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी विद्या आरम्भ की जाती है।

आत्मानं संस्तुतं कृत्वा आत्मबोधं विधाय च।
आत्मनः रूपमाधाय साधकः पुष्टिमान् भवेत् ।।

अपने आप से परिचित होकर आत्मबोध प्राप्त करके साधक अपना ही रूप धारण करके पुष्टिमान् बनता जाय।

चक्रविद्यायां आत्मबोधस्य परिपुष्टिः, तस्माच्च सन्तुष्टिः। आत्मस्वरूपं यः परिचिनोति, तस्यबोधं विधाय अनुभूतिं परिपुष्टां करोति। स एव तुष्टिं लभते।

चक्र विद्या में आत्मबोध की परिपुष्टि होती है, जो अपने स्वरूप से परिचित होता है यह विद्या उसकी अनुभूति और बोध को पुष्ट करती है। वही साधक तुष्टि भी प्राप्त करता है।

यदा च आत्मनि प्रत्याभासस्य अभ्युदयो भवति, यदा च परप्रत्ययाभासः जायते, यदा च सा स्वयमेव भगवती महामाया सबला, सफला सशक्ता च भवति, तदा साधकः कश्चिदपि स्वात्मानं परिचिनोति। स्वात्मस्वरूपं जानाति। स्वात्मनं पश्यति। स्वात्मानं समर्थं च प्राप्नोति। समर्थो अर्थवान् स एव च। ॐ ।

जब अपने भीतर प्रत्याभास का उदय होता है, जब पर (शिव) की प्रतीति का आभास होता है, जब वह भगवती महामाया स्वयमेव सबला, सफला, सशक्त बनती है, तब कोई भी साधक अपने को पहिचान लेता है, अपना स्वरूप जान लेता है। अपनी आत्मा के दर्शन कर लेता है। उसे लगता है कि अब मैं समर्थ हूँ वह समर्थ ही अर्थवान् है।

साधकः पश्चात् सन्तुष्टः परिपुष्टः सबलो वा भवति। आत्मज्ञाने आत्मबोधे आत्मानं परिचिनोति। तत् कथम् ? चक्रविद्याधिगमेन। यत् किंचित पूर्वं शक्तिपातविद्यौ समासादितं यच्च तुष्टं यच्च विशिष्टं परिशिष्टं टंकाधिकरणे वा समागत्य अनुभूय च अनुभूतिपरिपुष्टः पुनः पूर्वापरं प्रत्यागमनागमनेन परमपरात्मकत्वेन सर्वं तत् चक्रवत् करोति।।

साधक फिर सन्तुष्ट, परिपुष्ट और बलवान हो जाता है। आत्मज्ञान और आत्मबोध में अपने को जान लेता है। वह किस प्रकार ? चक्र विद्या को समझ लेने के कारण। शक्तिपात विधि में पहिले साधक ने जो कुछ प्राप्त किया है, टंक विद्या द्वारा जो भी अनुभूतियाँ परिपुष्ट हुई और जो सन्तुष्टि हुई वह सब अन्तर्ज्ञान साधक की बुद्धि में चक्र की भाँति पुनरावर्तित हो कर और भी पुष्ट बनता है।

यथा च भ्रमते चक्रंभ्रमणे भ्रमसंज्ञकम् ।
पूर्वापरं समादाय तस्माद् बोधस्य सात्विकी।।

जिस भाँति चक्र घूमता है, उस भ्रमण में पूर्व पर सब क्रमशः सामने आता चला जाता है, इस प्रकार बोध मंजता चला जाता है और सात्विक व शुद्ध हो जाता है।

सर्वं पुष्टं विधायैव बोधाय परिकल्पते।

सब भावों को पुष्ट करते हुए चक्र विद्या साधक को आत्मबोध देती है।

यदा च बोधसम्पन्नः साधकः तत् स्वरूपकम् ।
भूयो भूयश्च वै तत्र द्रष्टुं शक्नोति वै स्वयम् ।।

जब साधक बोध सम्पन्न हो जाता है तो साधक अपने स्वरूप को बार-बार अपने भीतर ही दर्शन करने में समर्थ हो जाता है।

यदा जानाति तत्सर्वं ज्ञानाधिकरणात्मकम् ।
आत्मानमात्मभावं च आत्मबोधं पुनः पुनः।।

तब साधक यह समझता है कि मैं ज्ञान का अधिकरण आत्मा हूँ। अपने को अपनी सत्ता को और आत्मबोध को बार-बार मनन करता रहता है।

आत्मा आत्मस्वरूपः सः साधकः आत्मबोधकः।
तदा च प्रतिरूपेण अभिज्ञा जायते शुभा।।

जब साधक अपने स्वरूप अपनी आत्मा और उसके ज्ञान को समझने लगता है तब प्रतिरूप से उसके प्रति साधक की अभिज्ञा हो जाती है।

अभिज्ञा अभिरूपज्ञा रूपरूपात्मकामहा।

रूपारूपार्थ बोधार्था समर्था सबला सती।।

अभिज्ञा का अर्थ यह है कि सम्मुख के रूप का ज्ञान, एक जैसे दो रूपों की एक रूपता का ज्ञान, प्रत्येक रूप के तत्त्वज्ञान का अर्थ समझने वाली बुद्धि सबल को समर्थ होकर साधक के सम्मुख आती है।

उद्बुद्धं सुप्तमात्रं वा ज्ञानं गोचरतां ब्रजेत् ।

सर्वं चक्रबलेनैव तस्माच्चक्रस्थितो भव।।

तब सुप्तज्ञान उद्भूत होकर स्वयं सामने आ जाता है। यह सब चक्रविद्या के बल से होता है। इसलिये तुम चक्र-ज्ञान में सुस्थिर बन जाओ।

चक्रंपूर्वानुभूतं च उद्बुद्धं ज्ञानसंज्ञकम् ।

आत्मनोऽधिकरणं च तत्रैव स्थितिमान् भवेत् ।।

पूर्व में अनुभूत और उद्भूत ज्ञान ही आत्मा का अधिकरण है और साधक को चाहिये कि उसी में वह स्थितिमान् बने।

तदा स चक्रचक्रज्ञः चक्राधारे स्थितः स्वयम् ।

चक्राणां चक्रभूतीनां विभूतीनां समर्थकः।।

जायते बलसम्पन्नः पुष्टस्तुष्टश्च जायते।।

तब साधक चक्र के चक्रों का जानने वाला बनकर चक्राधार में स्थिति प्राप्त कर लेता है और चक्रों की नाना प्रकार की विभूतियों का समर्थक बनता है। इस प्रकार बल सम्पन्न, तुष्ट और पुष्ट बन जाता है।

यो वै चक्रं न जानाति न च चक्रात्मभूतिकः।

तदा तु स्वल्पमेवास्य स्वल्पं ज्ञानं प्रवर्तते।।

जो चक्र को नहीं जानता है और जिसने अपने अन्दर चक्रों की अनुभूति नहीं की, उस साधक को अल्प-ज्ञान होता है और पूर्णज्ञान से वंचित रहता है।

विशिष्टं ज्ञानसम्पन्नं योगिनं योगधारकम् ।

चक्रात्मकं महद् ज्ञानं तत्रैव जायते ध्रुवम् ।।

विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न योगाभ्यासी योगी का चक्रों का श्रेष्ठ ज्ञान स्वयं ही और निश्चय ही इसी शक्तिपात में हो जाता है।

कथं तत् श्रृणु त्वं वत्स तद् ज्ञानं जायते हि यत् ।

पूर्वं पश्चात् स्थितं चैव अनुभूतं विशेषतः।।

हे वत्स ! जिस प्रकार ऐसा ज्ञान होता है उसे सुनो। पहिले काल में सुना हुआ, ज्ञात हुआ और विशेष रूप में अनुभूत हुआ जो कुछ भी रहता है–

तत् सर्वं ज्ञानमागारं प्रत्यागारं सुसागरम् ।

सर्वं सर्वमयं तत्र आत्मन्येवाभिजायते।।

वह सभी कुछ आत्मा के आगार में और प्रत्यागार में ही रहता है, आत्मा ज्ञान का समुद्र है। सब भावों से परिपूर्ण सब कुछ आत्मा के भीतर ही रहता है और वहीं प्रकट होता है।

एषा भूतिः परा भूतिः अनुभूतिस्तु प्रोच्यते।

अनुभूतिं बिना नैव कर्तुं किञ्चिच्च शक्यते।।

साधक का यह एक श्रेष्ठ ऐश्वर्य है जिसे हम अनुभूति कहते हैं। अनुभूति के बिना साधक कुछ भी नहीं कर सकता है।

तस्मादात्मबलं लब्ध्वा ज्ञात्वा तदनुभूय च।

आत्मन्येव समाकारः पुष्टस्तुष्टो भवेन्नरः।।

इसलिये साधक को चाहिये कि आत्मबल प्राप्त कर के, उसे जान कर व अनुभव करके अपनी आत्मा के भीतर ही तद्वत् होकर तुष्ट और पुष्ट हो जाय।

यदा वै ईदृशी धारा भुवि सद्यः समाहिता।

तदा वै धारणं कृत्वा याति वै नात्र संशयः।।

जब ऐसी विचारधारा संसार में व्याप्त हो जायेगी, लोक का कल्याण इसी धारणा द्वारा निःसन्देह हो जायेगा।

कल्याणं निश्चितं तेषां सर्वेषां युगधर्मिणाम् ।

भविष्यति महाकाले महायोगस्थितो भवेत् ।।

युगधर्मी सभी लोगों का निश्चय ही कल्याण होगा। इस कलिकाल में मनुष्य को चाहिये कि महायोग की साधना में स्थिर होकर अपना हित करें।

गोरखवाणीः– ॐ ।। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। सब कुछ करने के बाद जो पूर्व में बताया गया था उसकी अनुभूति जब पुष्ट कराई थी, आधार विद्या के आधार पर तो केवल आधार मात्र की पुष्टि थी। और पुष्टि के बाद तुष्टि भी नहीं होनी चाहिये जिसे सन्तुष्टि भी कहते हैं। वह अपने आप में ही विराजमान रहती है। किन्तु उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? उसका उद्गम कैसे होता है ? उसका जो अनुभव स्वल्प स्वल्प

किया था वह छिद्र होकर के स्थायी रूप में कैसे रह सकता है ? भावों में घोर परिवर्तन कैसे किया जा सकता है ? वह सत्ता इस चक्रविद्या में बताई जा रही है। चक्रविद्या का तात्पर्य भलीभांति समझ लेना चाहिये। यह चक्र विद्या है। चक्र शब्द का अर्थ होता है, कुम्हार का चक्का, वह घूमता है, उस पर मिट्टी का पिण्ड चढ़ाया जाता है। मिट्टी के एक पिण्ड द्वारा असंख्य मूर्तियों का निर्माण होता है, तत्त्व एक है, आकार भेद में विभिन्न है। चक्रपर चढ़कर तत्त्व पिण्डाकार होते हैं। पिण्डाकार होने पर कुम्हार की कल्पना, कुम्भकार की भावना और उसकी इच्छा से उस एक ही मृत्पिण्ड से अनेक रूपाकार हो जाते हैं। इसी तरह यह सारा चक्र है। इस पर तत्त्व उस महाविराट् शक्ति के हाथों से निर्मित हो रहे हैं। आकृतियाँ आ रहीं हैं। बीज बोया जा रहा है। और यदि उन सभी निर्मित मूर्तियों को ध्वंस कर दिया जाय तो सब मृत्पिण्ड में ही आ जाती हैं। जो है सो है, हो जाता है। इसीलिये योगियों के अपर मार्ग वाले इस चक्र को द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, महाद्वैत, द्वैतद्वैत सब अर्थों में ले जाते हैं। किन्तु सब होने पर मूल बात तो तत्त्व के अनुभव की है। जब आत्मबोध होने लगता है, आत्मा क्या है ? अरे ज्ञान का एक आधार मात्र है, ज्ञान की प्राप्त करने की सत्ता है। आधारभूमि है, वही ज्ञान का आकर्षण केन्द्र है। उसी से बोध की अनुभूति होती है। तो उसका ज्ञान, उसका बोध उसका अनुभव जब होने लगता है, जब उसके पहिचानने की शक्ति मिलने लगती है तब अपने आप में जो इधर उधर का कूड़ा करकट आया है, इधर उधर के कचरे वचरे आये हुए हैं, वे तो स्वयं ही दूर होने लगते हैं। अरे अग्नि के जलने पर चाहे वह घास फूस हो, चाहे वह गीली लकड़ी हो, सब जल ही जाती है। तो अग्नि का एक अंगार वन जाता है जो धुंये से रहित होता है। इसी तरह वह चक्र पर चलते चलते विभिन्न आधारों को पार करते करते, जिस प्रकार धूम का आवरण छूटा तो अंगार बन गया, लकड़ी का आधार अग्नि ने अपने में समा लिया तो अंगार बन गया। इसी तरह से जब आत्मबोध का भान होता है, चक्कर चलता चलता अंगारवत् जलता है। जब उसमें बहुत तेजी आ जाती है और उसका अनुभव भी होने लगता है, तब उसको आत्मबोध कहते हैं। उसी को प्रत्यभिज्ञा कहा है। प्रत्यभिज्ञा का तात्पर्य, उसका अर्थ तो यही होता है ना कि जो है उसके प्रति अभि ओर ज्ञा कर देना। अभि का मतलब होता है सब तरफ से और ज्ञा का मतलब होता है जानना। तो पूर्वापर चारों तरफ जैसे चक्कर में इधर उधर के सारे वातावरणों को समेट कर तुम भी उसको, आत्मा भी जिसको कहते हैं, अपनी क्रियाओं के द्वारा, अपनी मुद्राओं के द्वारा, अपने साधनों के द्वारा जान लेते हो तो वहाँ पर वही अनुभूति करनी होती है। वह जो वही अनुभूति है, उसको जो उसके स्वरूप का ज्ञान होता है, उसको जो सब कुछ समझना है और उसके आगे की कड़ी के लिये द्वार खुलता है वही है प्रत्यभिज्ञा और आत्मबोध–प्रत्यभिज्ञा इस चक्र विद्या का पहिला प्रकरण है जिसमें कि परापरा पूर्णापूर्णा महामहा अनुभूति की पुष्टि और तुष्टि का कारण होगा। और वही विशेष आधार के रूप में स्वयं ही साधक के अन्तर्गत आभासित होने लगेगा, उसका अनुभव करो ।। ॐ ।।

२२-१-६३ प्रातःकाल ।।११४।।

शक्तिं बन्दे महादिव्यां सर्वलोक हिताय च।

बलं च सर्वकल्याणं येन लोके भविष्यति।। ॐ ।।

मैं समस्त लोक का हित करने वाली महा दिव्य शक्ति की वन्दना करता हूँ जिससे लोक में बल एवं समस्त कल्याण की प्राप्ति होगी। ॐ ।

शरीरं चक्रवद् ज्ञेयं चक्री आत्मा तथैव च।

चक्र चक्र विदारूपः तत्त्वविज्ञः भवेद् यदि।।

इस शरीर को चक्र समझना चाहिये और आत्मा को चक्री समझना चाहिये। तत्त्वज्ञानी यदि है तो वह चक्र और चक्रज्ञ सम्बन्ध कहेगा (जैसे क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ)।

तदा सन्तुलनं नित्यं क्रिया ज्ञानात्मकं द्वयम् ।

संस्तुतं जायते तत्र चक्रंत्वं ज्ञातुमर्हसि।।

इस प्रकार क्रिया और ज्ञान दोनों का नित्य सन्तुलन बना रहता है। चक्र भली भांति परिचित हो जाता है और तुम चक्री ज्ञाता बनकर अपने चक्र को जान सकते हो।

चक्रमेकं शरीरं च द्वितीयं बुद्धि संज्ञकम् ।

तृतीयं चित्त रूपेण चतुर्थं मनसा सह।।

एक तो शरीर चक्र है, दूसरा बुद्धि नामक चक्र है, तीसरा चित्त का चक्र है और चौथा मन का चक्र है।

चक्रं तच्चक्ररूपेण नेमयस्तत्र संस्थिताः।

सर्वेषां घट्टिका रूपा तस्य विज्ञा प्रजायते।।

इस चक्र में ये सब चक्र नेमि की भाँति जुड़े रहते हैं और साधक का विशिष्ट ज्ञान उन सभी नेमियों के परस्पर संघर्ष का बना ही रहता है।

घटनाद् घटिका घट्टा एषा संघात्मिका स्थितिः।।

नेमयः धुरिसंयुक्ता भावरूपा परापरा।।

ये परस्पर रगड़ खाते रहते हैं अतः इन्हें घटिका या घट्ट कहते हैं। इनकी स्थिति संघात्मिका है। छोटे बड़े भाव रूप में वे सब धुरी में नेमियों की भाँति जुड़े रहते हैं।

अत्रैव मध्यमा मध्ये भावे भावात्मसंज्ञके।

एकं भावमभिव्याप्य द्योतते तत्त्व ज्योतिषाम् ।।

इस पूरे संघात के बीच में, नाना भाँति के भावों के मध्य में एक प्रधान भाव सबको व्याप्त करके सदा प्रकाशित होता रहता है।

ज्योतिस्तद्भासिनी चा या या च प्राणनिबन्धिनी।

प्राणानां रोधिनी या च सा शक्तिः प्राणधारिणी।।

जो ज्योति उस प्रधान भाव को प्रकाशित करती है, वह प्राणों से बँधी है वही प्राणों का निरोध भी करती है, वही प्राणधारिणीशक्ति है।

प्रत्यभिज्ञास्वरूपेण साधकैर्ज्ञायते च सा।।

साधक लोग प्रत्यभिज्ञा के रूप में उसे जानते हैं।

अभ्यन्तरे या च विराजते शुभा या प्राणशक्तिश्च महाप्रबोधिनी।

या ज्ञानरूपा च क्रियावती च इच्छास्वरूपा च विराजते स्फुटम् ।।

महाप्रबोधशालिनी जो भीतर प्राणशक्ति विराजमान है, वही इच्छा रूप में, क्रिया रूप में और ज्ञान रूप में विराजमान रहती है।

सा एकरूपा च अनन्तरूपा सा प्रत्यभिज्ञा कथिता वुधैः पुरा।।

वह एकरूपा होते हुए भी अनन्त रूपा है और विद्वान लोगों ने पूर्वकाल में उसे प्रत्यभिज्ञा कहा है।

तस्मात् प्रत्यभिज्ञा ज्ञानं श्रेयस्करम् । प्रत्यभिज्ञासंचालिका या शक्तिः तामेव स्मरयति, तामेव बोधयति, या च महादिव्या शक्तिः समुद्भूता अदितिः आदित्यस्वरूपिणी चिद्रूपिणी सैव शक्तिः आनन्दस्वरूपिणी सैव शक्तिः समर्थिका। सा च शक्तिः पूर्वापर रूपेण अभ्युदयाय अभ्युद्गता अभिज्ञाता अभिपरिचिता, अभिहृदया अभिगेया मननीया च।।

अतः प्रत्यभिज्ञा का ज्ञान श्रेयष्कर है। प्रत्यभिज्ञा की जो संचालिका शक्ति है, उसी का बोध कराती है। शक्ति समद्भूता जो महादिव्य आदित्य स्वरूपिणी अदिति है, वही चिद्रूपिणी शक्ति आनन्दरूपा और समर्थ भी है। वही शक्ति जागृता होकर साधक के अभ्युदय के लिये भली–भाँति परिचित होकर हृदय में बनी रहती है, उसी का मनन करना चाहिये।

तामेव उद्बुद्धां परिचालिकां शक्तिं यां मेधां वा धारणां वा अभिज्ञां वा कारयति तां वदन्ति मनीषिणः प्रत्यभिज्ञा इति ।। ॐ ।।

उसी जागृता परिचालिका शक्ति को जिसे विद्वान् लोग मेधा धारणा व अभिज्ञा कहते हैं उसे ही प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। ॐ ।

प्रत्यभिज्ञा ज्ञानात् चक्रवद् दृढास्थितिः।। १।।

प्रत्यभिज्ञा के ज्ञान से चक्रवत् दृढ़स्थिति हो जाती है।

आत्मबोधे स्वरूपस्थितिः।। २।।

फिर आत्मबोध में स्वरूप की स्थिति हो जाती है।

स्वरुपस्थित्याभासः।। ३।।

स्वरूपस्थिति से प्रत्याभास हो जाता है।

स्वरूपस्थिति कारणात् स्वरूप संस्थानात् सर्वं कृतमभ्यस्तं ज्ञातं अनुभूतं परिपुष्टं भवति।। ४।। परिपुष्टिकरणाय प्रत्यभिज्ञा विशेषरूपेण आधारभूता वर्तते।। ५।। ॐ ।।

स्वरूप में स्थिति होने से सब कुछ अभ्यस्त, ज्ञात, अनुभूत बातें परिपुष्ट हो जाती हैं। उस परिपुष्टि के लिए ही विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञा आधारभूता होती है और उसकी महत्ता है। ॐ ।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ । यह प्रकरण आत्मबोध-प्रत्यभिज्ञा का है। इसमें तीन बातें हैं। एक आत्मा शब्द है, बोध शब्द है, प्रत्यभिज्ञा शब्द है। ऐसा माँ का कहना है कि सभी लोग आत्मा के परिचय को जानने की चेष्टा करते हैं और उसके आगे गये हुए आत्मा और परमात्मा को एकाकार रूप में देखते हैं, मानते हैं। जानते हैं और ऐसा ही कहना भी है कि एक से दो और दो से एक हो जाता है।

एक सत्ता से दो सत्ता होती हैं और फिर दो सत्ताओं का एक सत्ता में समावेश हो जाता है। तो यहाँ तो खेल एक और दो का और दो तथा एक का आरम्भ से चला आ रहा है। इस चक्कर में सब चक्रवत् घूम रहे हैं। और जब इस ज्ञान की अनुभूति हो जाती है और तब तो फिर ऐसी ही बात हो जाती है कि जैसे एक कमण्डलु में जल भर दिया जाय और उसमें नमक डाल दिया जाय तो वह मिल गया। एकाकार हो गया, पर उसने अपनी सत्ता उसमें बदल दी। जल का रूप बदल दिया। रूप तो क्या बदला, स्वाद बदला। रूप तो इतना हल्का बदला कि पहिचाना नहीं जाता। रूप भी बदलता है। स्वाद भी बदलता है। ऐसे ही समझो कि पिण्ड तत्त्व है, पिण्ड तत्त्व में जो प्रकाश ज्योति आती है वह रूप भी बदलती है और स्वाद भी बदलती है और जब ज्योति निकल जाती है तो फिर पिण्ड ही पिण्ड रह जाता है। तो इसी को एक और दो और दो को एक कहते हैं। पर हम इस झंझट और झगड़े में नहीं पड़ना चाहते हैं। होने दो जो हुआ, होता है, यहाँ तो सीधे चलना है। बस एक और दो इसी में मिल जायेगा। दो और एक भी उसी में आ जायेगा। यह तो संक्षेप में योग के मार्ग वाले साधकों को यह बताना था कि उन्होंने जो अपनी क्रियायें, मुद्रायें, साधना सबकुछ किया है, उससे उन्होंने जो कुछ अपना

टंकन करके, अपने आधार को अनुभूति रूप में किया है वह सब अनुभूति ऐसी होती है कि जो पुष्ट होती है और उससे तुष्टि भी होती है। तो यहाँ पर माँ की इच्छा। हमें ज्यादा ज्ञान के चक्कर में नहीं पड़ना है। हमें तो खाली चक्र विद्या क्या है, यह समझना है। और आत्मा क बोध परमात्मा का बोध और उसमें एक का दो, दो का एक हो जाने से हमारा तात्पर्य नहीं है। हमे तो सीधे पहुंचना है। जो कुछ एक है तो एक में ही। और दो है तो दो को ले जाकर फिर एक में ही पहुंचना है। धुरी पर ही पहुंचना है। और धुरी ही ठीक है। और उस धुरी से जो महाधुरी है, उस महाधुरी तक एक सूत्र जोड़ना है। तो दोनों का सम्बन्ध स्थापित रहेगा, और सूत्र हटा लो, पृथक् भी होगा। सूत्र जुड़ा लो एक भी होगा।

कहाँ एक कहाँ दो। वह तो सूत्र का सम्बन्ध है। वह तो सरल से समझने की बात है। ज्यादा चक्कर में पड़ने की बात नहीं। जैसे एक चक्र है, उसमें कई धुरे जुड़ जाते हैं। छोटे, छोटे, छोटे, छोटे, करके फिर एक गोलाकार चक्र बन जाता है। यह चक्र जब तक धुरी तक नहीं होता तो चलता नहीं। चल नहीं सकता। धुरी भी उस महाधुरी से सम्बन्धित होती है, जो उसे जोड़े रहती है। तो यह साधारण बात है। बहुत इसका झगड़ा नहीं बढ़ाता हूँ। सीधे सीधे बताता हूँ कि समझ लो। चक्र विद्या इसलिए बताई गयी है कि जैसे चक्र में कई चीजों का संयोग हो गया तो उस संयोग होने पर भी नहीं चलता। उसमें नहीं, अनेक हैं। लेकिन अनेक होकर जब वह धुरी से संयुक्त हो जाता है तो एक हो जाता है और महाधुरी से सम्बन्धित होकर परम अलख निरञ्जन हो जाता है। उसी को देखना, उसी को पहिचानना, उसी का अनुभव करना, सभी ने बताया है तो उसके पश्चात् जो अनुभव हुआ है उसका बोध देकर उसको फिर से कसौटी पर कसना होगा। यह चक्र विद्या का काम होगा। ॐ ।।

२२-१-६३ सायंकाल ।।११५।।

बोध बोध समा सत्तां आत्मबोधविमण्डिताम् ।
पण्डितां पिण्डज्ञानस्य संपिण्डात्मकभाविनीम् ।।
पिण्डां पिण्डैकबोधाय समर्थां आत्मबोधिनीम् ।।

बोध को उद्बोधन कर के सत्ता में आने वाली, आत्मबोध से विमण्डित, पिण्डदेह के ज्ञान में पण्डित, आत्मा और पिण्ड को एक पिण्डात्मक रूप देने वाली, उस सम्पूर्ण पिण्ड्ब्रह्माण्ड का बोध कराने में समर्थ को मैं प्रणाम करता हूँ।

यत्प्रोक्तं आत्मबोधप्रत्यभिज्ञात्मकं ज्ञानं तत् सर्वं सफलं भवतु। आत्मबोध कथं भवति ? कथं च तस्य प्रत्यभिज्ञा जायते कथं वा तद् ज्ञानं प्रत्यभिज्ञासमुद्भूतं भवति। सर्वं तत् साधकवरैः स्वयमेवानुभूयते ज्ञायते च, आत्मसात् क्रियते च। आत्मबोधस्य किं लक्षणम् ? तदपि सर्वं परिपुष्टं पुरतः एव प्रतिभासते।

आत्मबोध प्रत्यभिज्ञात्मक जो ज्ञान कहा गया है वह सफल बने। आत्मबोध कैसे होता है ? उसकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ? और प्रत्यभिज्ञासम्भूत वह ज्ञान कैसे होता है ? वह सब उत्तम साधकों को स्वयं अनुभव और ज्ञात होता रहता है और उसे वे आत्मसात् करते हैं। आत्मबोध का क्या लक्षण है ? वह भी परिपुष्ट होकर सामने आ जाता है।

यदा प्रसन्ना परमार्थदायिनी सा वै सदा नित्यसरस्वती स्वयम् ।
विभिन्नरूपेण समागतायाः सा आत्मबोधं कथयिष्यति स्वयम् ।।

जब परमार्थदायिनी सरस्वती स्वयं प्राप्त हो जाती है, तो वह नाना प्रकार से प्रकट होकर और उपस्थित होकर स्वयं आत्मबोध करा देगी।

लक्षणं आत्मबोधस्य श्रूयतां हितकारकम् ।
अनुभूतं महद् ज्ञानं सद्य एव स्वयं विधौ।।

आत्मबोध का हितकारक लक्षण सुना। साधक को शक्तिपात-विधि में स्वयं ही महा ज्ञान शीघ्र ही अनुभव में आ जाता है।

स्फुरंण प्राप्यते तत्र आत्मबोधप्रिया च या।
यदा वै आत्मबोधस्य अनुभूतिस्तु सा भवेत् ।।

शक्तिपात में ज्ञान का स्फुरण प्राप्त हो जाता है और आत्मबोध की आनन्दायिनी अनुभूति साधक को जब होती है:-

तदा तु दिव्यरूपेण भावसत्ता स्फुटा भवेत् ।।

तब भावसत्ता दिव्यरूप से स्पष्ट हो जाती है।

भावानां परिवर्तनं विधियुक्तं बोधस्य तल्लक्षणम् ।
पूर्वं सात्विक रूप मेवमतुलं संयाति तत्त्वं पुरः।।

बोध का सर्वप्रथम यही लक्षण है कि नियमित रूप में साधक के भावों में परिवर्तन होता है। पहिले अतिशय रूप में सात्विक भाव साधक के सम्मुख प्रकट होते हैं।

अभ्युदयस्य सात्विकानां भावानां प्रथमं लक्षणम् । यदा च सर्वजनभावात्मिका भावना सर्वत्र समत्वभावना जायते तदा कृतक्रियाकार्यकाले अनुभूतिः जायते। किं चात्र एतादृशी अनुभूतिः तदा एतत् परिस्फुटं भवति यत्तेन कृतकार्येण पुण्यविधेन सर्वं प्रत्यक्षीकृतम् ।

सात्विक भावों का उदय होना ही सर्वप्रथम लक्षण है। जब समस्त जन की हित भावना सर्वत्र समता का भाव उदित होता है तब साधक को क्रियाकाल में उस भाव की अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूति होती है कि साधक ने जो भी पुण्य कर्म किये हैं वे उसके प्रत्यक्ष में आ गये हैं।

यदि चैवं भवति यद् स्वल्परूपेण निर्विकारः निरहंकारः, निर्ममत्वभावना अथवा सर्वत्रैव समत्व ममत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व भावना परिस्फुटा भवति तदा आत्मपरिबोधस्य लक्षणं ज्ञायते।

यदि ऐसा हो तो स्वल्परूप में साधक में निर्विकार, निरहंकार और ममत्वहीनता की भावना परिस्फुट होती है। अथवा कर्तृत्व भोक्तृत्व में ममत्व और समत्व भावना का उदय होना भी आत्मबोध का लक्षण है।

एषा भावना यथायथैव परिष्कृता भवति, यथायथैव परिपुष्टा भवति तथा तथैव साधके परिपुष्टिभावः समायाति। यदा च एतादृशस्तुष्टि भावः आगच्छति तदानुभूतिर्भवति ज्ञायते च यत् आत्मबोधाय समर्थोऽहमात्मानं ज्ञातुं शक्नोमि, आत्मानं परिचेतुं शक्नोमि, आत्मानं द्रष्टुं शक्नोमि, आत्मभावं च सर्वत्र आत्मगतं ज्ञातुं शक्नोमि।

यह भावना ज्यों ज्यों परिष्कृत होती रहती है त्यों त्यों परिपुष्ट भी होती जाती है और साधक में भी भाव परिपुष्टि आती जाती है। इस प्रकार के तुष्टिभाव के आने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मैं आत्मबोध करने में समर्थ हो गया हूँ और आत्मा को जान और पहिचान सकता हूँ। आत्मा को देख सकता हूँ और सर्वत्र आत्मभाव रखकर आत्मा को जान सकता हूँ।

आत्मा न स्थूलरूपेण कुत्रापि दृश्यते। न च तत्र स्थूलदृष्टिः। न च तत्र विधेर्व्यापकता। न च तत्र कारणत्वभावना। न च तत्र प्राप्याप्राप्यक गम्यागमक बोधात्मकत्वसर्वभावना।।

आत्मा स्थूल रूप से कहीं भी नहीं दीखती है। आत्मज्ञान में स्थूलदृष्टि का काम नहीं है, और न ही वहाँ विशेष नियम की व्यापकता है। वहाँ कार्य कारण भाव भी नहीं है। वहाँ प्राप्य अप्राप्य भाव भी नहीं है और गम्य–गमक भाव भी नहीं रहता है।

अपि तु तत्र एका भावना ज्ञानाधिकरणात्मकत्वेन उपरिष्ठात् एकतत्त्वसमानाधिकरणभावना एकाधिकरणभावना विद्यते। य एवं जानाति स एव आत्मभावं परिचिनोति।। ॐ ।।

अपि तु वहाँ एकतत्त्व की समानाधिकरण भावना और ज्ञानाधिकरण भावना व एकाधिकरण भावना रहती है। जो ऐसा जानता है वही आत्मभाव से परिचित होता है ।। ॐ ।।

एक एव स एकत्वमापन्नः द्वितीयभाव– समापन्नः, एकत्वे द्वितीयत्वे द्वितीयो वा तत्समापन्नः। प्रकाशशीलता शक्तिशीलता आत्मन्येव विराजते। तदैव तद् वदन्ति मनीषिणः "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यो मन्तव्यः"। आत्मबोधस्तु तदैव भवति, अनेन ज्ञानेन साधनाकाले वा

वाह्यपरिस्थितौ वा अभ्यन्तरे च सर्वमेतादृशं ज्ञानं भविष्यति यत् प्रकाशशीलता विराजते, स्फुरणा च मयि विद्यते। ज्योतिश्च मयि विद्यते, प्रकाशश्च मयि विद्यते।

एकत्व भावापन्न वह एक ही द्वितीय भाव को प्राप्त हुआ है। एकत्व और द्वितीयत्व में द्वितीय एक में ही समाविष्ट या समन्वित है। प्रकाशशीलता और शक्तिमान आत्मा के भीतर ही विराजमान है। इसीलिये मनीषी ऋषियों ने कहा है, कि "आत्मा के विषय में श्रवण करो, उसे जानो, उसका निदिध्यासन करो और उसे देखो", आत्मबोध तभी होता है जब जानता है कि स्फुरणा, प्रकाशशीलता, ज्योति सब मेरे ही भीतर है।

एतादृशं ज्ञानमात्मबोधस्य लक्षणम् । तदा ज्ञायतां सम्प्रति केनापि प्रकारेण आत्मबोधः समायाति। प्रस्फुटितो वा भवति, अंकुरितो वा भवति।।

ऐसा ज्ञान होना आत्मबोध का लक्षण है। अब यह समझना है कि किस तरह आत्मबोध आता है या अंकुरित होता है।

कथयन्ति च सर्वे आत्मानं ते जानन्ति आत्मानं ते पश्यन्ति, एतत्तु सर्वं कथनमात्रम् । यावच्च साधनास्थितौ तद्ज्ञानं नाधिगतं, न सा परिचिता।।

यह तो सभी बोलते हैं कि वे आत्मा के बारे में जानते हैं और देखते हैं, किन्तु उनका यह कथन मात्र है। साधना काल में आज तक वह ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक उस स्थिति से परिचय नहीं होता है।

प्रकाशशीलता लब्धात्मिकाशक्तिः हृदि सन्निविष्टा भवति। यदा च एतादृशी शक्तिः हृदि सन्निविष्टा भवति तदा हृदये अथवा तद्विषये सर्वनिर्मलं निर्विकल्पकं ज्ञानं अनुभवस्वरूपकं बोधमण्डितं भावात्मकं लिंगात्मकं अलिंगात्मकं, अप्रत्यायितात्मकं सर्वं सुस्पष्टं भवति ।। ॐ ।।

जब तक प्रकाशशीलता और लब्धात्मिका शक्ति हृदय में सन्निविष्ट नहीं होती तब तक कथन मात्र ही है। जब ऐसी शक्ति हृदय में सन्निविष्ट होती है अथवा तद्विषय में सर्वनिर्मल, निर्विकल्पात्मक ज्ञान अनुभव में आकर बोधमण्डित भावात्मक लिंगात्मक होता है तब अप्रतीत्यात्मक अलिंगात्मक भाव भी सुस्पष्ट हो जाता है।

एतावदेव ज्ञानं आत्मबोधपरकम् । एतत् सर्वं ज्ञानं या धारणा अधिगमयति सा धारणा प्रत्यभिज्ञा इति ज्ञेया। अनया प्रत्यभिज्ञया शनैः शनैः सर्वं स्वाधीनम् ।। ॐ ।। गोरक्ष !

आत्मबोधपरक इतना ही ज्ञान है। उपर्युक्त सब ज्ञान को जो धारणा अधिगत कराती है उस धारणा को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा के द्वारा सभी कुछ स्वाधीन हो जाता है। ॐ ।। गोरक्ष !

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ । जो बात बताई जा रही है वह आत्मबोध की है और उस आत्मबोध को बताया कि प्रत्यभिज्ञा बताती है तो सार सार निचोड़ की बात यही है कि आत्मा का बोध कैसे होगा ? और उसके लक्षण क्या होंगे ? यह जानना चाहिये कि आत्मा को जानने के लिये स्थूल दृष्टि काम नहीं देती है। ये चमड़ी की आँख काम नहीं देती हैं। वहाँ तो फिर वही सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि ही चाहिये और वह सूक्ष्म दृष्टि शक्तिसम्पन्न को मिलती है और शक्ति सम्पन्नता अपने साधन में रत होने वाले को ही मिलती है और शीघ्र से शीघ्र उस साधक को मिलती है जो टंक विद्या का अधिकारी हो जाता है जो आधार विद्या को जान लेता है, जो चक्रविद्या को भी समझ लेता है। ऐसा साधक जिसकी शक्ति पुष्ट हो गई हो, जिसमें शक्ति आने लगी हो, जिसमें शक्ति जागने लगी हो, ज्ञान का अनुभव करने लगा हो, तब आत्मबोध की स्थिति आती है और आत्मबोध का लक्षण यही है कि साधक अपने आप में धीरे धीरे आनन्द में मग्न होने लगता है। यह समझने लगता है, मैं भी कुछ हूँ, मुझमें भी कुछ है। यह "मुझ" ही आत्म-बोध का एक चरण है और जो "मुझ" है यह एक एक चरण ही नहीं है, वह सब कुछ का वरण भी करता है। संवरण भी करता है और फिर उसके बाद जब वह कुछ बलवान् हो जाता तो संचरण और स्पन्दन भी करने लगता है, पर वह आगे की बात है। पहिले की बात तो इतनी है कि जिसे कहते हैं कि वह अपने आपको पहिचानने लगा है। बस अप आप से पहिली पहिचान ही आत्मबोध है और उसको ऐसी भावना ऐसी धारणा करती है जिसमें समता ममता होती है, कल्याण होता है और रागद्वेष की भावना स्वयं ही धीरे-धीरे नष्ट होती हुई ऐसे स्थल पर आ जाती है, ऐसी जगह बनाने लगती है, जहाँ पर उसे हल्का हल्का अच्छा प्रकाश, प्रकाश की शक्ति का अनुभव होने लगता है और फिर वह अपने में रमने लगता है। यह अपने में रमना ही अपने आप को पहचानना है, और आत्मा के बोध का अनुभव करना है। यह साधक की साधना का फल है, और ऐसा हो जाता है तो आगे पीछे जितना बताया जाता है तब चलता है चक्र। तब चक्र ऐसा चलता है कि इस शरीर चक्र में ही कई चक्र घूम जाते हैं और उन कई चक्रों में घूमते घूमते कई शक्तियाँ आ जाती हैं, और वे कई शक्तियाँ अपना काम करती हुई एक महाशक्ति में मिल जाती हैं और वह महाशक्ति जो विराट्रूपा है, जो विश्वव्यापिका है, जिससे इस आत्मा का भी सम्बन्ध, है जो आत्मा उस विराट्शक्ति को पाने की चेष्टा करता है फिर तो सब एकाकार हो जाता है। नदी की धार बह रही है। कूड़ाकरकट गन्दा मैला सब बह गया, बहते बहते जाकर समुद्र में मिल गया। समुद्र में कहाँ जा के गया ? न उस नदी का पता है, न उस मैल का पता है। समझ लो इतने से समझ में नहीं आता है, तो भाई, सोई

बात है पूताँ ! इतनी सी ही है कि तुमको यह जानना है कि तुम्हें कुछ हो रहा है। तुम्हारी आत्मा क्या है ? तुम आत्मा को कैसे पहिचानोगे ? कैसे देखोगे ? उससे जाण पहिचाण कैसे करोगे ? तो सीधी बात बता दी गई है कि जब तुम्हारे हृदय में ऐसी पवित्र भावना आने लगे, क्योंकि आत्मा का स्वरूप शुद्ध बुद्ध पवित्र स्वरूप है, तो जब तुम्हारे विचारों में, हृदय में और बुद्धि में और अनुभव में पवित्र पवित्र, पुण्य पुण्य कल्याण के भाव आने लगेंगे तो समझ लेना कुछ हो रहा है। यही तो आत्मा का परिचय होता है, और उसका कोई ऐसा बना हुआ, गढ़ा हुआ स्वरूप थोड़ा है। अरे जैसे एक कांच की, कांसे की, ताँबे की, लोहे की मूर्ति खड़ी कर दी, वह आत्मा तुम्हारे लिए मूर्ति है ? अरे वह तो ज्ञान का भण्डार, शुद्ध बुद्ध चेतना-सम्पन्न है, और उसके लक्षण यही हैं कि जब ऐसे भाव आ जाँय तो आत्म बोध समझ लेना, और ऐसे भावों को देनेवाली, लानेवाली जो अनुभूति होती है तो ऐसी अनुभूति को समझना यही प्रत्यभिज्ञा है, तो इतने से सम्पूर्ण ज्ञान आत्मबोध का कर लेना है और आगे कैसे होगा ? आत्मबोध और उसके क्या लक्षण हैं ? अरे ! भाँति भाँति के लक्षण होंगे, थोड़े सुनाये जायेंगे। हरि ॐ तत् सत् ।।

२३-१-६३ प्रातःकाल ।।११६।।

।। ॐ ।। हरि ॐ तत् सत् ।।

नमोऽस्तु स्वात्मबोध - परिचायिकायै - जागृतायै - सरस्वती स्वरूपायै।। ॐ ।।

आत्मबोध का परिचय देने वाली सरस्वती स्वरूपा जागृता शक्ति को प्रणाम है।

नमामि चक्रविद्यां तां प्रज्ञां प्रज्ञाविबोधिकाम् ।

प्रत्यभिज्ञा समायुक्तां वाणीं बोधप्रदायिकाम् ।। ॐ ।।

प्रज्ञा का बोध देने वाली प्रज्ञास्वरूपा उस चक्र विद्या को नमन करता हूँ जो वाणी रूप में आकर प्रत्यभिज्ञा समन्विता होकर बोधप्रदायिनी बन जाती है।

प्रत्याभिज्ञाविषयविधौ सर्वात्मस्वरूपं, तस्य बोधं, तत्कर्तृका भावमयी या च धारणा वा विचारणा वा तस्याः अपि समुद्दिष्ट विषय परिचयः करणीयः। आत्मबोधः परमश्रेयस्करः, आत्मबोधज्ञानेन परबोधज्ञानमपि जायते। आत्महीनेन न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यते।

प्रत्यभिज्ञा विषय के प्रतिपादन में सर्वात्मस्वरूप, उसका बोध, उसे करने वाली जो धारणा और विचारणा है उसका भी कुछ परिचय ले लेना चाहिये। आत्मबोध परमश्रेयस्कर है। आत्मबोध ज्ञान से परबोध ज्ञान भी हो जाता है। आत्मबोध से विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता है।

बलवान् बलसम्पन्नः आत्मवानात्मकल्पकः।

आत्मानं प्रथमं वेत्ति पुनर्वेत्ति परात्परम् ।।

आत्मवान्, आत्मस्वरूप साधक बलवान् और बलसम्पन्न होकर पहिले अपनी आत्मा को समझता है, तदनन्तर वह दूसरे की आत्मा को जानता है।

आत्मानं प्रथमं ज्ञायेत् तत्सर्वत्र परात्परम् ।

ज्ञानं परिसमायाति तस्मादात्मविदो भव।। ॐ ।।

प्रथमतः सर्वत्र परात्पर अपनी आत्मा के ज्ञान को जानो। उससे ही सब ज्ञान प्राप्त होगा। इसलिए, आत्मज्ञाता बनो। ॐ ।

विशिष्ट ज्ञान सम्पन्नतया संस्कार शुद्धिभावेन च परिनिष्ठतया बोधेन च आत्मबोधो जायते अनुभूयते च।

विशिष्ट ज्ञान की सम्पन्नता से संस्कारों की शुद्धि होती है। परिनिष्ठ बोध से आत्मबोध होता है उसका अनुभव भी होता है।

आत्मबोध वृत्तिसम्पन्नः विचारेषु विशिष्टतां समादाय परिचयाय प्रस्तुतो भवति। आत्मपरमात्मबोधं एतादृशं संकल्पविकल्पकं प्रादुर्भावे समायाति। तदा आत्मबोध भावना विद्यते।

आत्मबोध वृत्ति से समापन्न साधक विचारों में विशिष्टता प्राप्त करता हुआ आत्म-परिचय के लिए प्रस्तुत होता है। आत्मा-परमात्मा का ऐसा बोध पहिले संकल्प विकल्पात्मक रूप में प्रादुर्भूत होता है, उसमें भी आत्मभाव निहित है।

गूढं रहस्यकं भेदं आत्मज्ञान परिप्लुतम् ।

किन्तु सर्वं महामायाप्रसादेन सुखं भवेत् ।।

आत्मज्ञान से परिप्लुप्त गुह्य गूढ़ ज्ञान रहस्यमय है। किन्तु महामाया के प्रसाद से वह सब बहुत आसान और सरल हो जाता है।

ज्ञात्वा आत्मपरिज्ञानं अनुभूय पुनः पुनः।

मानवः स्वात्मकल्याणं करोति च न संशयः।।

आत्मा का परिज्ञान जान कर और उसका पुनः पुनः अनुभव करके मनुष्य निःसंशय ही आत्मकल्याण करता है।

अपरस्तस्मादप्यपरः कश्चित् । ॐ, अंगारकाद् यथा अंगाराणां पृथक् सत्तापि जायते। तद्वदेव आनन्द परिवाहितः सिद्धार्थ समायुक्तः पृथग्भूतः अंशरूपेण यः भिन्ने भिन्ने शरीरे विराजते सः आत्मा ज्ञेयः। तस्य बोध, कर्तव्यः। एतादृशी धारणा प्रत्यभिज्ञा प्रोच्यते, एतादृशी विचारणा प्रत्यभिज्ञा प्रोच्यते।

आत्मा अपर (सर्वश्रेष्ठ) है और उससे भी कोई अन्य अपर है। एक अंगारे से उद्भूत अंगारों की भी अपनी पृथक् पृथक् सत्ता है। उसी भाँति आनन्द परिपूर्ण अस्तित्वपूर्ण, चैतन्यरूप अंशरूप में पृथक् पृथक् भूत आत्मा को भी समझना चाहिये जो प्रति शरीर में भिन्न भिन्न होकर विराजित है। उसे जानना चाहिये, ऐसी भावना प्रत्यभिज्ञा कही जाती है। ऐसी विचारणा प्रत्यभिज्ञा कही जाती है।

प्रतिशरीरभिन्नाधारत्वात् भिन्नानन्दोद्भूतिः। न च एक कालावच्छिन्ना एककालाभिव्यापिकानुभूतिः आधारभेदात् अनुभूतिभेदः, किन्तु सर्वं चैतन्यत्वेन उपगृह्यते।

प्रति शरीर का भिन्न आधार होने के कारण आनन्दानुभूति भी भिन्न भिन्न होती है। सभी अनुभूतियाँ एक काल में ही नहीं होती हैं। आधार भेद से अनुभूति भी होती है। किन्तु सभी अनुभूतियों को चेतन आत्मा ही ग्रहण करता है।

चैतन्योपगृहीते सर्वं तदेव ज्ञानाधिकरणात्मकं भवति। एतदेव एतावदेव ज्ञातव्यम् । अन्यत् सर्वं तु एकः एकस्मिन्नथवा एकस्मादेक एकः एकेन सर्वं व्याप्तम् । एक एव व्याप्तः एक एव ज्ञेयः इत्यात्मिकानुभूतिस्तु पश्चाद् जायते।

सर्वप्रकार के ज्ञान में चैतन्य के व्याप्त होने के कारण वह आत्मा ज्ञान का अधिकरण कहा गया है। यही और इतना ही संक्षेप में जान लेना है। इसके अतिरिक्त एक ही सर्वत्र सब में, व्याप्त है। एक को ही जानना है यह भी बाद में प्रतीत होता है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस प्रकरण में माँ का कहना है कि आत्मा का ज्ञान कर लो। आत्मा को पहिचान लो। उसका बोध कर लो। तो यह ठीक है। करना भी चाहिये। पर अब ऐसी भी बात आ गई है। हाँ, ठीक ही है। सुनते सुनाते रहने से भी कुछ न कुछ होता ही है। धुरी में परिचालन तो आता ही है। भाव तो बदलते ही हैं। पर ऐसा भी होना चाहिये कि जब पण्डितों की बात हो तो फिर शास्त्र विद्या का विशेष प्रचलन किया जाता है और उसको विस्तार भी दिया जाता है कि उसके विस्तार के श्रोता भी होंगे, तो उसके भी भाव बदल करके बोध का जागरण होगा। किन्तु अब तो सरपट से निकलना है, चलना है। और अब ऐसा भी होता है, सब आत्म ज्ञानी होना चाहते हैं। जानना भी चाहते हैं, तो उसके लिए थोड़े में, सार सार में बताया जा रहा है। कि जब जब हृदय में ऊँचे ऊँचे कल्याण के भाव आ जाँय तो ऐसा समझो कुछ कुछ अंकुर जमने लगा है और फिर उसको योग विद्या के द्वारा, उसको चक्रों के ज्ञान के द्वारा, उसको ध्यान और अभ्यास के द्वारा अगर सींचा जायेगा, पनपाया जायेगा तो फिर उसमें पुष्टि तुष्टि दोनों आ जायेंगी। और जब तैयार गाड़ी हो जायेगी तो उसमें बैल जोत दिया जायेगा। घोड़ा लगा दिया जायेगा जो खींचता हुआ चला जायेगा। तो गाड़ी तैयार करने का मतलब है कि पहिले आप को पहिचानने का उपाय कर लो। और फिर पहिचान हो जाने पर तो चलना ही है, चढ़ना ही है, पर जब तक पहिचान नहीं होगी, वहाँ पर भी तो फिर कुछ नहीं होगा। इसलिये यह विद्या बताई जा रही है कि जो दो प्रकार की बात है। एक तो कृत अभ्यास है। शक्ति साथ है, समर्थ गुरू का हाथ है, और सब कुछ उसके साथ है। तो वह इधर से चलता है तो उसको भी ज्ञात होता है और उसके बाद अनुभव भी करता है तो पहुंचता हे। और दूसरा ऐसा कि जिसको अभी राह ही नहीं मिली, चलता रहा है। पर इधर में है, उधर में है और चाहता भी है कि जल्दी चले। कोई अच्छी सी राह मिल जाये तो उसको राह पर लाने के

लिऐ साधक स्वानुभूति करने के पश्चात् इस शास्त्र का आधार ले करके उससे खेत को तैयार कर सकता है जिसमें बीज बोया जायेगा और तब तक अपनी साधना अपना अपना अभ्यास से, अपनी अपनी अनुग्रह दृष्टि से, फिर वह आगे बढ़ता रहेगा, तो ऐसा आत्मबोध करना है। और खेत तैयार करने के बाद जब बिलकुल तैयारी हो जायेगी तो बीज लगाना है। तो बीज की बात फिर मनुष्य की बात में आ जायेगी। तो पहिले रास्ता साफ हो जाय। खेत तैयार हो जाय। बीज आ जाय। फिर बोया जाय। इसलिये इसका परिचय कराया जा रहा है कि भाई तुम्हारा खेत कहाँ है ? उसको तैयार करोगे कैसे ? तुम्हारी राह कैसी है ? उस पर चलोगे कैसे ? अरे ! तुम कौन हो ? कहाँ जाना चाहते हो ? क्यों आते हो ? कहाँ जाओगे ? सबका तो एक चक्कर है। तो इस चक्कर में इस चक्र विद्या का ज्ञान करलो। तो फिर तुम्हारे लिए बहुत कल्याण कारक होगा। इसलिये यह शास्त्र कहा जा रहा है और यह वाणी कही जा रही है। इस वाणी में और इस शास्त्र में थोड़ा ही थोड़ निचोड़ ही रखा जायेगा, जिससे जल्दी में शीघ्रता में, तेजी में भाव की धुरी बदलता हुई चलने लगे। इस धुरी में चाल को तेजी के साथ चलाने के लिये, भावों को बदलने के लिये ही यह खेत तैयार किया जा रहा है। यह चक्र चलाया जा रहा है चक्र विद्या बताई जा रही है। जो चक्र की तरह घूमती हुई, अपना प्रभाव दिखाती हुई सीधी राह पर पहुंचा ही देगी। जहाँ जाना चाहते हो। ॐ ।।

२३-१-६३ सायंकाल ।।११७।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ नमस्तेऽस्तुभगवत्यै विशिष्टज्ञानस्वरूपायै आनन्दप्रदायै नित्यानन्दस्वरूपिण्यै महाशक्त्यै नमो नमः। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । विशिष्ट ज्ञानरूपा, आनन्दप्रदा, नित्यानन्दस्वरूपा भगवती महाशक्ति को बारम्बार नमस्कार है। ॐ ।

नित्या च या नित्य नवीन रूपा या सृष्टिरूपा च महास्वरूपा।

अद्वैतद्वैता न च नैकरूपा सा मे सदा देवि प्रसीदतां सदा।।

जो नित्या है, जो नित्य नवीन रूपा है, जो सृष्टिरूपा है और महारूपा है, जो अद्वैत रूपा भी है और द्वैतरूपा भी है, अनेक रूपा है वह देवी मेरे प्रति सदा प्रसन्न हों।

नित्यानन्दस्वरूपिणी या महामाया महाबोधवती आत्मबोध भावाय समर्था भवति सैव सर्वदा सर्वकालज्ञा सर्वेषामात्मबोध स्थितिं परिपुष्टां करोति।

नित्यानन्द स्वरूपिणी, महाबोधवती, आत्मबोधभाव के लिये जब समर्थ होती है तब वही सर्वकालज्ञा होकर सब साधकों की आत्मबोध की स्थिति को परिपुष्ट करती है।

यथा बिना नैव गुणा गुणात्मिका भावात्मिका वा न नवार्थयोग्या।

या भावबोधाय सदा प्रचेष्टते सा सात्मभावं प्रकटं करोतु।।

जिसके बिना तीन गुणों की स्थिति नहीं रहती है, वह गुणात्मिका भावात्मिका है और नवीन अर्थों को रखती है, जो सदा भावबोध के लिये उद्यत रहती है, वह भगवती मुझे आत्मबोध की अभिव्यक्ति प्रदान करें।

आत्मबोधभावस्य समाधिगमः तदैव भवति यदा सर्वतः सानुकूलत्वं समायाति। प्रकारत्रयेण भावबोधसमापत्तिः भावानां निष्पत्तिः, उत्पत्तिः, उद्गमः, अनुभूतिः अभिव्यक्तिश्च सर्वत्रैव आत्मबोधस्य अनुभूतिर्वा भवतिअभिव्यक्तिर्वा भवति। तच्च संसर्गजा, प्रवचन-स्वाध्यायभवा, अथवा स्वयंसिद्धा वा। प्रथमा द्वितीया साधारणा।

आत्मबोधभाव की प्राप्ति तभी होती है जब सर्वतः सानुकूलता प्राप्त होती है। भावबोध की समापत्ति तीन प्रकार से होती है। भावों की जो निष्पत्ति अथवा उत्पत्ति, उद्गम अनुभूति और अभिव्यक्ति या अनुभूति होती है वह संसर्गजा, प्रवचन द्वारा, अथवा स्वयं सिद्धा होती है। प्रथम और द्वितीय साधारण रूपा होती है।

किन्तु यदा अभ्यासो जायते, अभ्यासश्च शक्त्यधीनम् । शक्त्यधीनत्वेन च यत्किञ्चिदपि श्रुतं वा कृतं वा सर्वमपि अनुभूति विषयं समायाति।

किन्तु जब अभ्यास हो जाता है, अभ्यास शक्ति के आधीन होता है। शक्ति के आधीन होने के कारण जो कुछ श्रुत या कृत है सब कुछ अनुभूति का विषय बन जाता है।

अथवा शक्तिपातविधौ अस्मिन् महायोगे यत् किञ्चित् कार्यते वा तत्सर्वमपि अनुभवगम्यं अभिव्यक्तं वा भवति। तदपि प्रकारान्तयान्तर्गतम् । क्वचित् क्वचित् कदाचित् कदाचित सैव विराट्सत्ता सैव .चित्स्वरूपिणी महाशक्तिः आत्मबोधाय प्रेरयति।

अथवा शक्तिपात – विधान के इस महायोग में जो कुछ शक्ति द्वारा करवाया जाता है वह सब कुछ अनुभवगम्य होकर अभिव्यक्त होता है। वह भी तीन प्रकारों के अन्तर्गत आता है। कभी कभी कहीं कहीं किसी साधक को वही विराट् शक्ति आत्मबोध के लिऐ प्रेरित करती है।

प्रेरणा समागमात् कदाचित् सत्सङ्गभावना, संसर्गभाव वा प्रादुर्भूता भवति। कदापि बहुश्रुतेन उपासनेन आत्मबोधस्य प्रादुर्भावः। कदाचिच्च क्वचिच्च तद्भावे प्रवचन स्वाध्याय समावलम्बनात् बुद्धेः सानुकूलत्वम् । तस्मादनुकूलभावानां अभ्युदयः। तस्माच्च आत्मबोधस्य प्रतिपत्तिः।

आत्मबोध की प्रेरणा से कभी साधक को सत्सङ्ग की भावना आती है। कभी–कभी बहुत अध्ययन और उसमें बताई गई उपासना से आत्मबोध का प्रादुर्भाव होता है। कभी–कभी स्वाध्याय–प्रवचन से बुद्धि की सानुकूलता होती है। उससे अनुकूल भावना का प्रादुर्भाव होता है और उससे आत्मबोध की प्रतिपत्ति हो जाती है।

प्रकारत्रयेण तृतीयकोट्यां अभ्यासजनकत्वं व्यूहरूपकं तच्छक्तिसमापन्नं, ततः समागतं वा वोधकुलकं जायते। तत्तु श्रेष्ठात् श्रेष्ठतरं श्रेष्ठतमं वा। इति प्रकारत्रयेणात्मबोधः कर्तुं शक्यते जायते च। अनुभवगम्यश्च भवति।

उक्त तीनों प्रकारों द्वारा तृतीय कोटि में अभ्यासजनकता है, जो शक्ति से प्राप्त होकर फिर साधक बोध के लिये प्रेरित होता है, उक्त तीनों में से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहा गया है। इन्हीं तीन उपायों से आत्मबोध किया जा सकता है और होता है और वह अनुभवगम्य होता है।

सत्ता सत्वात्मिका शुद्धा बुद्धा तदा नवा।

एषा चित्संवलिता धारा प्रत्यभिज्ञा तदा स्मृता।।

सत्वगुण की शुद्ध बुद्ध नवीन सत्ता जब चैतन्य से संबलित होती है उसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है।

आत्मबोधस्य प्रत्यभिज्ञा भवति। आत्मबोधं प्रति वा अभिज्ञा भवति, इति उभयसाध्यम् ।

आत्मबोध से प्रत्यभिज्ञा होती है। आत्मबोध के प्रति चारों ओर से ज्ञा अर्थात् अनुभूति होती है। दोनों अर्थ एक समान हैं।

एतत् सर्वं कैश्चित् प्रत्यक्षमनुभूयते, कैश्चित् पश्चादनुभूयते, कैश्चित् कार्यच्छिन्न धर्मेण अवधीयते अनुभूयते च। सर्वत्र सानुकूलत्वम् ।

ऐसा कई तो प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और कई बाद में अनुभव करते हैं और कई कार्य के द्वारा निश्चय करते हैं और अनुभव करते हैं। सर्वत्र सानुकूलता बनी रहती है।

सानुकूलभावनायाः अभ्युदये सति भावसाम्य समधिगमः। समधिगमात् समाकार ! समाकारादुभयत्रयोजनाधारा योजयति, योजनाद् योगः।

सानुकूलता के अभ्युदय होने पर भावसाम्य की प्राप्ति होती है। साम्य प्राप्ति से सर्वत्र समभाव प्राप्त होता है। समाकार होने से योजना की धारा दोनों में मेल करा देती है, योजना के कारण ही योग कहा जाता है।

महाशक्तिः आधारत्वेन दृढकृताभ्यासेन च तदैव महायोगः। अतएव चक्रविद्या चक्रवत् सर्वमाप्लावयति, व्याप्नोति च। तदैव क्वचित् कुत्रचित् यदि नास्ति शक्तिपातः तत्रापि आत्मबोधः भवितुं शक्नोति। इति प्रोक्तम् तच्च प्रकारत्रयेणेति व्याख्यातम् ।

जागृता महाशक्ति जब आधार बन कर तीव्र अभ्यास कराती है तब उसी को महायोग कहा जाता है। अतः चक्रविद्या चक्र की भाँति सब कुछ में व्याप्त होकर सब को आधारित कर देती है। तभी तो कहीं पर जब शक्तिपात नहीं भी होता है वहाँ भी आत्मबोध कराने में समर्थ होती है। यह कहा गया है और वह प्रकारत्रय से बताया है।

तस्मादेवं ज्ञात्वा अनुभूय च स्वात्मन्येव स्वक्षेत्रे एव बीजाङ्कुरवत् इति आत्मबोधसमर्थानां भावानां प्रतिपत्तिः अभ्युदयश्च भवति। तस्माच्च कल्याण-भावना दृढतरा भवति।

इसलिये ऐसा जानकर अनुभव करके अपने भीतर अपने शरीर में बीजांकुर की भांति आत्मबोध के समर्थ भावों की प्राप्ति और उदय होता है और उससे साधक की कल्याण भावना दृढ़तर होती रहती है।

दृढतरा या कल्याणभावना यदा विस्तारमायाति तदा समस्तभावेषु समस्तभावानां वा परिवर्तनं भवति। तत्परिवर्तनं चक्रवत् भ्रमति। तदा चक्रविद्या परमोपयोगिनी ज्ञेया।

जब कल्याण भावना दृढ़तरा होकर विस्तार प्राप्त करती है तब समस्त भावों में समस्त भावों का परिवर्तन करती है। वह परिवर्तन चक्र की भाँति होता है। उस समय चक्रविद्या परमोपयोगिनी बनती है।

या विद्या आत्मबोधं प्रति अभिज्ञां कारयति, आत्मबोधस्य प्रत्यभिज्ञां वा कारयति, सर्वत्र परिवर्तनसूत्रं विस्थापयति, सर्वत्र भावपरिवर्तनसूत्रं विस्थापयति, सर्वत्र भावपरिवर्तनं कारयति, भावबोधं वा कारयति, सा विद्या चक्रविद्या। सा च ज्ञेया। सा च अनुभवे स्थापनीया।

जो विद्या आत्मबोध के प्रति अभिज्ञा कराती है, वह सर्वत्र भावपरिवर्तन के सूत्र की स्थापना करती है। सर्वत्र भाव परिवर्तन करा देती है, भावबोध करा देती है। यह विद्या है और इसे ही अनुभव में स्थापित करना चाहिये।

अनुभवज्ञानात् सर्वं सुलभं सुकरं सुफलं सुविदितं च जायते। यदा साधिकारः साधना काले विविध ज्योति स्वरूपाणां परमार्थानामभ्युदयो जायते तदा धाराश्चक्रवत् पूर्वापरमभिव्याप्यं संक्रमन्ते। तेषां भावानां संक्रमात् सर्वत्रैव विशुद्धभावानां प्रतीतिः प्रस्फुटिता भवति।

अनुभव ज्ञान से सबकुछ सुलभ, सुकर, सुफल और सुविदित हो जाता है। जब साधनाकाल में विविध ज्योतिः स्वरूप परमार्थों का अभ्युदय होता है तब वह अनुभव धारायें चक्र की भाँति पूर्वापर को व्याप्त करते हुए धूमती रहती है। उन भावों के संक्रमण से सर्वदा विशुद्ध भावों की प्रतीति परिस्फुट होती रहती है।

तस्माच्च दूराद्दूरतरं दूरतमं वा सर्वत्रैव प्रभावसत्ता विस्तारमायाति। एतादृशभावविस्ताररूपात्मकं समस्तमेव सत्तात्मकं चक्रंजायते, तदैव चक्रविद्या फलीभूता भवति। भावशुद्धिः चक्रवत् परिगच्छति। ॐ ।।

गोरक्ष ! गोरक्ष !

इस प्रकार दूरदूर से समावर्ती सर्वत्र प्रभाव सत्ता विस्तार पाती रहती है। इस प्रकार के भाव–विस्तार के रूप में समस्त सत्तात्मक चक्र चलता है, तभी चक्रविद्या फलीभूत होती है। चक्रवत् भाव–शुद्धि होती रहती है। ॐ । गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरखवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ ! मां ने बताया है कि चक्रविद्या किसे कहते हैं। और उसका जो पहला प्रकरण बताया है, आत्मबोधप्रत्यभिज्ञा, तो इसका तात्पर्य इतना ही होता है कि आत्मबोध होना चाहिये।

आत्मबोध के बिना भावों का परिवर्तन नहीं हो सकता है। और जबतक भावों में परिवर्तन की धुरी नहीं चलती, तबतक कुछ नहीं हो सकता। अरे एक हीरा खान से निकाल लिया, रखा है। शक्ति भी उसमें वही है, गुण भी वही वही है पर जब वह शाण पर कस दिया जाता है, चमक पड़ता है। बहुमूल्य हो जाता है। खराद दिया जाता है, तरास दिया जाता है और फिर उसकी चमक दूर तक फैल जाती है। तो जब तक भावों का परिवर्तन नहीं होगा, अपने आप को पहिचानने के भाव नहीं आयेंगे, तब तक सब कुछ शिथिल ही रहेगा। ऐसा मां ने कहा कि यह बोध तीन प्रकार से होता है। भाव जागते हैं। कभी कभी तो महापुरूषों के सत्संग करने से ऐसा होता है और कभी कभी जो है, सो इधर उधर के पोथी पत्रा के ज्ञान से भी हो लेता है। और उसके बाद कभी ऐसा भी होता है सहज, जिसको सहज योग कहते हैं। अरे जिसपर शक्ति की कृपा हो जाती है उसको तो ऐसा बोध हो ही जाता है, पर सब को तो ऐसा अवसर नहीं मिलता है। तो इसलिये तीनों प्रकार में से किसी प्रकार से पहिले जरा जरा जो खेत में बीज बोया है, उगने दो, फिर सीखने की बात बाद में आ जायेगी। बीज भी नहीं बोया अंकुर भी नहीं आया, सींचने को चल दिये। तो सब बेकार व्यर्थ हो गया। सो भाई पूतों ! अरे ऐसा है कि समय कह रहा है, मां भी कह रही है, मैं भी कर रहा हूं। सब चाह रहे हैं कि चलो कुछ न कुछ आत्मा को पवित्र कर लो जान लो। समझ लो। इसी को लोग पूजा भी कहते हैं, पाठ भी कहते हैं, योग भी कहते हैं, ध्यान भी कहते हैं, ज्ञान भी कहते हैं। सब कुछ कहते हैं तो ऐसा है कि अपना अपना ढंग कैसा भी हो, होना चाहिये। तो किसी प्रकार से भी हो, बीज में अंकुर तो आय। जब बीज में अंकुर आ जाय तो समझ लेना पानी से बहुत दूर होगा तो बहुत सींचना पड़ेगा। और पानी के नज़दीक होगा और पानी उसकी जड़ों में जा रहा होगा तो ऐसा होगा कि जल्दी ही जल्दी वह पनपने लगेगा, बढ़ने लगेगा। तो जब बीज हो जाय, अंकुर में आ जाय तब ऐसा करना कि यह जो चक्रविद्या बताई गई है, इसमें आत्मा का बोध इसलिये बताया गया है कि उसको पहिले अंकुर में आने दो। इसलिये पहिले सब कुछ बता के यह प्रकरण बाद में बताया जा रहा है कि जो इधर के चलने वाले हैं वे तो सब कुछ करते हैं और उन्हें तो क्या है, उन्हें तो कृपा मिली है। तो फिर क्या बात है। पर भाव औरों के कैसे तैयार करोगे ? तैयार करो। बनाओ। पैदा होगा, पौधे से पेड़ होगा, फल और फूल लगेंगे। धरती पर उसके पके फलों की सुगन्ध फैल जायेगी, और उसकी सुगन्ध जब तीव्र हो जायेगी तो फिर जाने कितने पशु, पक्षी, कीट, पतंग उधर झुकते हैं, उस वृक्ष के नीचे झूमते हैं, मस्त होते हैं, कुछ उसको पाते हैं, कुछ उसको खाते हैं, कुछ उसको सूंघते हैं, कुछ उसको देखते ही रह जाते हैं। पर भाई ! सुगन्ध तो सब की ही नासिका में जायेगी। तो अब समय आ गया है कि लोक की ऐसी रूचि है, ऐसे ही भाव हैं, उन भावों को जगाओ। तो उनको सत्संग से भी जगाया जा सकता है। ज्ञान से भी जगाया जा सकता है। ज्ञान की बात तो छोड़ दो, वह तो

शुरू से सुनते आये हैं, जानते आये हैं। कहते सभी हैं, करता कोई नहीं, एक दूसरे को सब सुना देते हैं। लेकिन अनुभव करने को जी किसी का चाहता नहीं। पर जो चाहता है उसको मिल जाता है, तो करना भी है। तो अब समय के अनुकूल जो कुछ तुमको दिया जा रहा है और जो कुछ महामाया ने तुमको दिया है, और मैं तुमको दे रहा हूँ और जो तुम्हारी गुरू परम्परा ने तुमको दिया है और जो तुम पर कृपा हुई है उसका स्वाद लो। रसास्वाद लो, और उसे फिर दूसरों को बताओ।

यही तो करना है। अरे सही खज़ाने को छिपाकर रखने वाले बहुत देखे। मैं भी कुछ ऐसा ही था। कुछ छिपाया, कुछ टकराया कुछ इधर किया, कुछ उधर किया लेकिन मैंने हमेशा जिज्ञासु लोगों का साथ दिया। समझाया, बुझाया समर्थ बनाया और अब भी बनाता हूँ। तो ऐसी बात नहीं है। जो जिज्ञासु आयेगा, बता दो, बता दो जिज्ञासु भावना को आत्मबोध में बदल दो, और इस तरह वायुमण्डल को तैयार कर लो। और फिर वायुमण्डल के तैयार हो जाने पर पके फलवाले वृक्ष की तरह रूप, रस, गन्ध सब मिल जायेगा, और फिर फलप्राप्ति भी हो जायेगी। साधना का फल यही है।। ॐ ।।

२४-१-६३ प्रातःकाल ।।११८।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् । नमामि तां दिव्यभावविभूषितां भगवतीं आत्मतत्त्ववोधाय समर्थां, जागृता या भगवती महामाया कुण्डलिनी सरस्वती रूपेण सर्वभावेन; नमामि तां दिव्या देवीं सरस्वतीम् ।।

आत्मतत्त्व बोध के लिये समर्थ; दिव्य भाव विभूषित भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ। जो महामाया भगवती कुण्डलिनी सर्वतो भावेन जागृता होकर सरस्वती का रूप धारण करती है उस दिव्य शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

नानाभाव समाकुला कृतधियां या नित्यनित्योदया,

या वै सद्य परात् परात्मकपरं बोधं सदा गच्छति।

या देवी परमेश्वरी भगवती कल्याणमात्रान्विता,

कल्याणं वितनोति दिक्षु सततं सा पातु मां भारती।।

नाना भावों से परिपूर्ण साधकों की बुद्धि में बैठ कर जो नित्य नवीन ज्ञान का उदय करती है, और शीघ्र परात्पर बोध को प्रकट कर देती है, जो भगवती परमेश्वरी देवी कल्याण मात्र के लिये साधक में स्थित है, वह समस्त दिशा विदिशाओं में चारों ओर से कल्याण करती हुई भारती मेरी रक्षा करे।

ॐ ।। आत्मबोधाय प्रकारत्रयं यदुक्तं तत्सामान्येन ज्ञातव्यम्, मननीयं च। पुनश्च यदि आत्मबोधबीजाङ्कुररूपेण प्रस्फुटितं प्रस्फुरितं वा भवति तदा तत्र स्थिरत्वं भवेत् इति उपायोऽपि तत्र विधेयः।

ॐ । आत्मबोध के लिये जो प्रकारत्रय बताये गये हैं उसका सामान्य रूप से ज्ञान और मनन करना चाहिये। फिर बीजाङ्कुर रूप में जब आत्मबोध प्रस्फुरित और परिस्फुट हो जाय तब वहाँ स्थिरता रखने का उपाय करना चाहिये।

आत्मबोधं यदा मर्त्यः जानाति यदि वागतम् ।

तदा तत्स्थिरभावार्थं क्रियाज्ञानं वदामि ते।।

जब मनुष्य को कभी ऐसा मालूम दे कि आत्मबोध आ रहा है तब उसे करने के लिये तुम्हें मैं क्रियाज्ञान का उपाय बताती हूँ।

यो जानाति महबोधः आत्मबोधः समागतः।

तस्य तु स्थिरतां कर्तुं क्रियां मुद्रां समाचरेत् ।।

जिसे मालूम हो जाय कि आत्मबोध आ गया है उसे स्थिर करने के लिए विशिष्ट प्रकार की क्रियाओं और मुद्राओं का उपयोग कर लेना चाहिये।

आगतः स्फुरितो वापि बोधाङ्कुर विशेषतः।

तदा तद् धारणार्थं वै मुद्रामेकां समाचरेत् ।।

आत्मबोध का अंकुर जब स्फुरित होने लगे या आ जाय तो साधक उस बोधभाव के स्थिरीकरणार्थ एक आगे बताये जाने वाली मुद्रा लगा ले।

सा मुद्रा भावबोधं च सर्वमादाय तत्त्वतः।

शनै शनैःस्तदाकारं स्थिरतां नेष्यति ध्रुवम् ।।

वह मुद्रा सब तरफ से भावबोध को तत्त्वतः समेटकर धीरे धीरे साधक को तदाकार निश्चित रूप में बना देगी।

तत्र एवं भवेन्मुद्रा या प्रोक्ता पूर्वमेव च।

आलम्बिनी च साख्याता तां मुद्रां दृढतां नयेत् ।।

वह ऐसी मुद्रा है, जैसा कि पहिले मैं आलम्बिनी मुद्रा बता चुकी हूँ, वही आलम्बिनी मुद्रा आत्मबोध सम्बन्धी भाव को दृढ़ बनाती जायेगी।

आत्मबोधाय सा मुद्रा अपरं च विशेषतः।

स्थिरत्वकरणार्थं च समर्था प्रोच्यते बुधैः।।

आत्मबोध के लिये विशेष रूप में यह मुद्रा बहुत श्रेष्ठ है। योगी बुधजन उसे भाव स्थिरीकरण के लिये समर्थ बताते हैं।

किन्तु तत्र इदं ज्ञानं कर्तव्यं साधकैर्बुधैः।

हस्तौ तत्र च संयोज्य केवलं मुष्टिकाकृतिम् ।।

किन्तु यह जान लेना चाहिये कि साधक इस मुद्रा में दोनों हाथ मिला कर केवल मुट्ठियाँ बाँध ले। (आलम्बिनी में और इस मुद्रा में यह भेद है।)

एकस्य हस्तमात्रस्य अपरस्य तु सास्थितिः।

अधस्तादुपरिष्ठाद् वा समभावं समाचरेत् ।।

मुट्ठी बाँधे एक हाथ को दूसरे हाथ से कलई में पकड़ के उस पर बैठ जाय और नीचे ऊपर तक शरीर को सीधा कर के तोल ले।

विशिष्टालम्बिनी सा च तदा वै जायते क्रिया।

कार्यरूपा स्थिरं भावं स्थिरतां च नयेत् शनैः।।

इस क्रिया को विशिष्टालम्बिनी मुद्रा कहते हैं। यह विशिष्टलम्बिनी मुद्रा भावों को धीरे धीरे अवश्य ही स्थिर कर देती है।

प्रारम्भके च यदि वा अपरे च काले बोधस्थितिं तां च विचारयेद् बुधः।

यदा स्थितिः सा च समागता शुभा आलम्बिनी सा करणीयतां ब्रजेत्

।। ॐ ।।

शक्तिपात साधना के प्रारम्भ काल में अथवा बाद में या जब कभी भी बोध की ओर जाने की ऐसी वृत्ति आने लगे तो साधक देखता रहे और ज्यों ही आ जाये त्यों ही इस आलम्बिनी मुद्रा का तुरन्त उपयोग कर लेना चाहिये।

एवं कृत्वा पुरः पश्चात् स्वल्पमान्दोलितं क्वचित् ।

विग्रहं स्वल्परूपेण भावनां स्थिरतां नयेत् ।।

इस मुद्रा में बैठ कर झूला झूलने की भाँति बीच बीच में आगे पीछे हिलना चाहिये। शरीर का भार बँधी मुट्ठियों में देकर धीरे धीरे झूले, तो भाव स्थिर हो जायेंगे।

स्वल्पं स्वल्पं क्वचिदग्रे पश्चाच्चैव क्वचित् क्वचित् ।

दोलारूपेण तत्सर्वं विग्रहं चालयेद् बुधः।।

धीरे धीरे कभी कभी आगे की ओर कभी पीछे की ओर झूले में झूलने की भाँति शरीर को मुट्ठयों में तोलता हुआ हिलाना चाहिये।

तदा सर्वास्थिरं सद्यः भावबोधं च सुस्थिरम् ।

जायते तत्र वै नित्यं मुद्राज्ञानेन निश्चितम् ।।

इस प्रकार शीघ्र ही साधक का भावबोध सुस्थिर हो जायेगा। नित्य ही जो नवीन सात्विक भाव आवें तो उन्हें स्थिर करने के लिये यह मुद्रा बड़ी लाभ-दायक है इसे लगा लेना चाहिये, अवश्य काम सिद्ध होगा।

गोरख वाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ सब का कल्याण हो। जगत् का कल्याण हो। विश्व का कल्याण हो। सब की सद्भावना बढ़े। माँ का विचार है कि आत्मबोध होने पर जो कुछ बताया गया था कि ऐसा कर दिया जाता है कि जब वायुमण्डल तैयार हो जाता है, बीज अंकुरित हो जाता है और वह पनपने लगता है तो उसको सींचने की बात भी आ जाती है जिसे वह पनपता हुआ, पुष्ट होता हुआ, बलिष्ठ होता हुआ फल दे सके। तो यह ऐसी स्थिति है कि जिस स्थिति में ऐसा भी होता है कि कभी कभी सत्संग करने से या कभी स्वाध्याय प्रवचन से कोई बोध का अंकुर हो गया, होता भी है, तो वह कैसे स्थिर रह सके। कैसे उसमें जीवन की भावना आ सके। इसलिये ऐसा कहा गया है कि साधकों को यह जानना चाहिये, बताना चाहिये, सिखाना चाहिये, दिखाना चाहिये कि भाई जब कभी ऊँचे विचार, अच्छे विचार, कल्याण के विचार और आत्मा परमात्मा के जानने

के विचार और उनको देखने के विचार और अनुभव करने के विचार पनप जाँय तो कहीं नष्ट न हो जाय। तो ऐसा करो कि उनको स्थिर करने के लिये, उनको पुष्ट करने के लिये, उनको पुष्ट करने को बताओ और जानो और दिखाओ कि ऐसा करना है कि जैसा पहिले बताया गया है कि आलम्बिनी जो मुद्रा बताई गई है, तो जब ऐसे सुन्दर भाव आवें वायुमण्डल सुन्दर हो जाय, तो जो लोग अपने अभ्यास में बैठे हैं या पूजा पाठ में बैठे हैं या ज्ञान ध्यान में बैठे हैं या बैठने की इच्छा करना चाहते हों, उनको बोलो कि भाई ऐसा ही आसन लगा के जरा आलम्बिनी कर लेना। थोड़ी देर पल विपल ऐसा जितनी देर भी कर सको, तो करें। आलम्बिनी में तो हाथों का मोड़ इधर से उधर बताया था। हाथ के ऊपर हाथ की ओ का मोड़ बताया था और इसमें कुछ ऐसा नहीं करना, चाहो तो एक हाथ का मणिबन्ध दू रे हाथ से पकड़ लेना। और चाहो तो किसी एक हाथ का मणिबन्ध पकड़के दूसरे की मुट्ठी बन्द कर लेना। चाहे अधखुली रख लेना। और जो ऐसा हो जाय तो भार, जो वृषण का भार है, कोष का भार है, उसको पहिले तो थोड़ा भार डाला जाता था अब उसको आगे ही थोड़ा भार डाल करके और पहिले जो आलम्बिनी बताई थी, उस आलम्बिनी में झूलते नहीं हो। इसमें ऐसा करना कि जब हाथ से हाथ पकड़ना तो भार धर लो। तो कहना कि भाई ऐसा च । आगे, पीछे धीरे धीरे चलना। थोड़ी देर करना। तो उस थोड़ी देर करने में ऐसा करना च ऐसे बैठना और जब आगे पीछे झूले की तरह हिलने लगना तो उसमें कोई भी मन्त्र हो तो । कर लेना। बस भाव में स्थिरता आ जायेगी, पक्का होने लगेगा। आगे बढ़ने लगेगा। पनपने लगेगा। फल देने लगेगा। ऐसा करो तो धीरे धीरे एक दो बहुत्व की भावना का उदय होकर क जग में कल्याण का वायुमण्डल तैयार हो जायेगा। ऐसा करने से जब सब में भावों की स्थिरता आने लगेगी, और भी कई प्रकार हैं, मुद्रा हैं, बतायेंगे। तो धीरे धीरे सब ठीक हो जायेगा और वायुमण्डल भी बदल जायेगा। ॐ ।

२४-१-६३ सायंकाल ।।११९।।

हरि ॐतत् सत् । प्रणमामि तां भगवतीं परमेश्वरीं परमार्थ स्वरूप बोधिकां जागृतस्वरूपां महामायां भगवतीं कुण्डलिनीम् । ॐ ।

परमार्थ स्वरूप की बोधिका परमेश्वरी भगवती जागृता महामाया कुण्डलिनी शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनन्तभाव- सम्पन्नां आत्मबोधसमन्विताम् ।

या देवी चक्रसम्पन्ना चक्रदेवीं नमाम्यहम् ।।

अनन्त भाव सम्पन्ना, आत्मबोध का शोधन करने वाली जो देवी चक्रवती है उस चक्रदेवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

चक्रिणीं चक्रसम्भूतां चक्रार्थं चक्रव्यूहिकाम् ।

चक्रात्चक्रंसमायान्तीं तां नमामि महेश्वरीम् ।। ॐ ।।

चक्रिणी, चक्रों में सम्भूत, चकों के लिये चक्रव्यूह बनानेवाली, चक्र से चक्र पर आनेवाली उस महेश्वरी देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा ज्ञानाधिकरणमेतत् बोधस्य स्थिरकरणार्थं च प्रतिभासितं प्रख्यापितं च। यदा बोधस्य प्रादुर्भावो भवति तदास्वयमनुभूतिं ददाति सा भगवती महामाया। यदि च न सा जागृता, विसुप्ता प्रसुप्ता, सुप्ता च वर्तते तत्रापि यदि बोधावस्था समागता, अनुभूतिश्चागता, तदा तत्र स्थिरत्व मापाद्नीयम् ।।

आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा अधिकरण बोध के स्थिरी करणार्थ प्रख्यापित और प्रकट किया गया है। जब बोध का प्रादुर्भाव होता है, तब महामाया भगवती स्वयं अनुभव प्रदान कर देती है। यदि शक्ति जागी नहीं है, सुप्ता है, पूरी तरह सोई है, फिर भी यदि कभी कहीं बोधावस्था आ गई हो या कोई अनुभूति हुई हो तो उसे भी उक्त मुद्रा द्वारा स्थिर कर लेना चाहिये।

यदा तत्रानेन प्रकारेण भवति।

वह इस प्रकार से किया जाता है और ऐसे होता है।

यथा प्रोक्तंपुरावत्स प्राणायामपरायणः।

मनश्च निश्चलं कृत्वा विवशं स्थापयत्यसौ।।

हे वत्स ! जैसा कि पहिले भी बताया गया है कि प्राणायाम परायण होकर साधक अपने मन को जिस प्रकार निश्चल बना लेता है।

तद्वत् प्रारम्भकालेऽपि बोधस्तत्रस्थिरो भवेत् ।

तदा तं मनसा सार्थं क्रियामेकां सुसाधयेत् ।।

उसी प्रकार प्रारम्भ काल में साधक का बोध भी स्थिर हो जाता है। उस काल में स्थिर मन के साथ एक क्रिया को भी सिद्ध कर लेना चाहिए।

मुद्रामिमां क्रियां तां च कृत्वा स्ववशमागतः।

बोध इत्थं तथा शक्तिः तं बोधं प्रतिपादयेत् ।। ॐ ।।

इस क्रिया मुद्रा को करके बोध अपने वश में आ जाता है और इस प्रकार जागृता शक्ति उस स्थिर बोध को और भी पुष्ट बना देती है।

सा च मुद्रा सदा नित्यनित्यत्वप्रतिपादिका।

अनन्ता व्यक्त मायाति तस्मात्तां साधयेत् स्वयम् ।।

यह मुद्रा नित्य करने की है और नित्यत्व की प्रतिपादिका है। इस मुद्रा से अनन्ता शक्ति अभिव्यक्ति में आ जाती है। इसलिये इसे सिद्ध कर लेना चाहिये।

सा मुद्रा कूर्चिका मुद्रा[१२] अथवा हनुसंज्ञिका।

अथवा सर्वरूद्राणी मुद्रा सा सुस्थिरा च या।।

यह कूर्चिका मुद्रा है। इसे हनुमुद्रा भी कहते हैं। अथवा इसका दूसरा नाम सर्वरूद्राणी भी है। साधक को स्थिर करने वाली यह मुद्रा है।

सैव मुद्रा विधातव्या क्रियां तत्र वदामि ते।

यही मुद्रा करनी चाहिये। अब मैं उसे बताती हूँ।

स्वयं शरीरं सुदृढं विधाय कृत्वा च तन्मेरू विभागकं स्थिरम् ।

पुनश्च नीचैर्गलमग्रभागम् कृत्वा नरस्तत्र निवेशयेद् हनुम् ।।

अपने शरीर को सीधा दृढ़ रखलो, मेरूदण्ड भाग को सीधा और स्थिर कर लो, फिर गले को इधर उधर नीचे रगड़ कर के ठुड्डी को गले के गढ्डे में जमा दो।

विशेषरूपेण विशिष्टतायुतां हनुं च तां कण्ठगतां विधाय।

इतस्ततः कम्पनमात्रकेण बोधस्थितिं तां स्थिरतां नयेच्च।।

विशिष्ट प्रकार से ठुड्डी को गले के गढ्डे में जमा कर और गले में इधर उधर रगड़ कर यह मुद्रा बोध स्थिति को स्थिर बना देती है।

कृत्वा यदा च सा मुद्रा कूर्चिका हनुसंज्ञिका।

रूद्राणी च महामुद्रा रूद्रवत् निश्चलो भवेत् ।।

जब साधक इस हनु संज्ञक रूद्राणी नामक कूर्चिका मुद्रा को लगा लेता है, तब वह रूद्र के समान निश्चल हो जाता है।

इत्थं पुनः पुनः कृत्वा गलभागे निवेशयेत् ।

हनुभाग बुधस्तत्र पूर्णतामधिगच्छति।।

इस प्रकार बार बार गलभाग में हनुभाग को निविष्ट करके साधक सफलता प्राप्त कर लेता है।

एषावस्था च या प्रोक्ता प्रथमे करणीयका।

तदैव बोधसम्पन्नः स्थिरभावविराजितः।।

साधना के प्रारम्भिक काल में यदि यह मुद्रा साधक कर लेता है तो तभी से वह बोध सम्पन्न होता हुआ स्थिर भाव में विराजित हो जाता है।

मानवः आत्मबोधं च स्वात्मन्येवावतिष्ठति।।ॐ ।।

और साधक आत्मबोध को अपने भीतर ही निरूद्ध रखे रहता है। उसका आत्मबोध क्षरित नहीं होता है।

गोरख वाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। चाक्षविद्या के इस प्रकरण में धीरे धीरे सार सार में यह बताया जा रहा है कि जब खेत में बीज अंकुर के रूप में हो गया और पनपने लग जाय तो पनपने के बाद उसे सींचना है। अब यहाँ पर जो बात बताई जा रही है वह ऐसी ही समझनी चाहिये जैसे किसी वृक्ष को जलदान देकर पाला पोसा जाता है और जब वह और कुछ पनपने लगता है तब उसकी प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसी धारणा पुष्ट और बलवती होने लगती है। तब उसे सुस्थिर करने के लिये, उसे परिपुष्ट करने के लिये, उसे फलवान बनाने के लिए अर्थात् प्रत्यक्ष की अनुभूति में लाने के लिए, उसे अनुभवगम्य, अनुभवयुक्त, अनुभव के योग्य बनाने के लिए जो सब मुद्रायें और क्रियायें बताई जा रही हैं, यों तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, पर थी भी। इसलिये कि यह भी गुप्त लुप्त विद्या है। और जब प्रारम्भ में साधक को, अरे ! उस अश्व की तरह जो विचलित हो जाता है और उसे वश में लाने के लिये उपाय किये जाते हैं वैसे ही प्रारम्भ के साधक के उस चंचल मन को बोधयुक्त करके उसमें बोध की भावना का जागरण करके, उपाय करके तब उसे स्थिर करना है। तो यह उस वक्त की स्थिति है जब या तो ऐसा हो रहा हो जब साधक जिज्ञासु हो और उसके अन्दर ऐसे जो आत्मबोध के अंकुर प्रस्फुरित हो रहे हों तब उसे ऐसी मुद्रा और प्रक्रिया बताना कि जो सिद्ध है, अथवा जानते हैं, औरों को बताना चाहते हैं, वैसे सब कुछ कर लेंगे पर स्थिरता को कैसे प्राप्त कर पायेंगे। वहाँ तो टंक विद्या बताई गई थी। ऐसी टंक विद्या तो तब होती है जब शक्तिपात का सहारा मिल जाता है। परन्तु जहाँ ऐसा नहीं होगा तो पहिले पहिले भाव को पुष्ट करने के लिये ऐसा करना होगा। और कुछ ऐसी कोटि के साधक भी आ जाते हैं

कि जिनको शक्तिपात भी कर देते हैं तो उनमें स्थिरता रह जाय, शक्ति भाग न जाय, वहाँ जम जाय जड़ पकड़ जाय, जड़ जम जाय, तो इसका भी प्रयोग कर लेना चाहिये, और यदि ऐसा समझें कि यों ही आत्मबोध को परिपक्व किया जायेगा तो शक्ति का सहारा लेकर ऐसा भी कर सकता है। और आरम्भ में इनका प्रयोग करना अच्छा ही रहता है। जैसा कि अभी कूर्चिका मुद्रा बताई जिस मुद्रा को हनुमुद्रा या रूद्राणी भी कहते हैं। बात साधारण सी है, सीधी सी है। पर ऐसी बात है कि तत्त्व की है। प्रारम्भ के साधकों को यदि यह मुद्रा बता दी गई और उसमें जरा थोड़ा सा अभ्यास कर लिया। शक्तिपात वाले को बता देना रास्ता दिखा देना। चल पड़ेगा। दूसरे को तो जरा अभ्यास करा देना चल पड़ेगा। पर कौन करायेगा। जो उसको थोड़ा बहुत स्वयं भी जान लेगा। जानते तो सभी हैं, पर कैसे जानते हैं। अनाम से जानते हैं। भेद से भी जानते हैं। अकाम से जानते हैं। तो उसे फिर से जगत् में प्रचलित करने का ज्ञान दिया जा रहा है। क्योंकि यह चक्रविद्या है, चक्र को स्थिर करना है। धुरी को दृढ़ करना है। और फिर उस धुरी को घुमाना भी है, तो यह मुद्रा बताई गई है इसकी क्रिया ऐसे करनी चाहिये, ऐसी दिखानी चाहिये, ऐसी बतानी चाहिये। पहिले चाहे जैसे भी आसन में बैठो, सीधे हो जाओ। जैसे योगपट्टिका लगाते हैं वैसे योगपट्टिका में तो नितान्त काष्ठवत् होते हैं, परन्तु इसमें थोड़ा ढीला भी रहें तो कोई हानि नहीं, पर रहे जरा तना ही हुआ। इसके पश्चात् दोनों हाथों को जिसे हम करतल भाग भी कहते हैं, हथेली भी कहते हैं, दोनों घुटनों पर जमा दो और उसके पश्चात् जो गले का भाग है, जहाँ पर एक छोटा सा गड्ढा है, गर्दन की और वो जो हड्डियों की हंसलियाँ वहाँ पर दो हंसलियाँ जुड़ती हैं, वहीं पर धीरे से नीचे करता हुआ जो हनु है, ठुड्डी है, उसे वहाँ पर लगा दे, और लगा दे तो उसे ऐसा लगा दे कि जरा जमा दे। यह जालन्धर बन्ध नहीं है। यह कूर्चिका मुद्रा है। इसमें लगा दे और क्या करें। जब यों लग जाय तब गर्दन को, जैसे स्कन्दिनी करते हैं, तो स्कन्दिनी में पीछे करते हैं। इस में आगे करके ठुड्डी को जमा करके और तब अपने इष्ट मन्त्र का जाप करता तब तक गर्दन को चलाता रहे जब तक अपने आप बन्द न हो जाय। बस समझ लो स्थिर हो गया। इससे स्थिरता का प्रारम्भ में साधक के लिये कोई सार्थ भावना वाला उपाय नहीं है। तो ये मुद्रायें और क्रियायें स्वल्प-स्वल्प रूप में अपना प्रभाव दिखायेंगी, और ऐसे समय में महायोग अभ्यासी, यदि उसको बता दिया जायेगा, और अभ्यास काल में ऐसा भी बता दिया जायेगा तो फिर वह दौड़ पड़ेगा। रूकेगा नहीं। चलेगा, चलेगा बढ़ेगा और कल्याण के वायुमण्डल में आ जायेगा। और इसके पश्चात् इसी प्रकार से थोड़ी थोड़ी क्रियायें और मुद्रायें जैसे टंक विद्या में बताई थी, यहाँ भी थोड़ा बता करके, यह प्रकरण समाप्त करके फिर तत्त्व के प्रकरण को उसके प्रज्ञान को भी बता दिया जायेगा।। ॐ ।।

२५-१-६३ प्रातः काल ।।१२०।।

हरि ॐ तत सत् । हरि ॐ तत् सत् । हरि ॐ तत् सत् । अपरापर ज्ञानबोधिनी चिदुद्बोधिनीं सत्यपरमार्थ स्वरूपिणीं नमामि तां भगवतीं परमेश्वरीम् ।।

अपरा और अपर का ज्ञानबोध कराने वाली, चैतन्यबोध करानेवाली सत्यपरमार्थ स्वरूपिणी परमेश्वरी भगवती को प्रणाम है।

बोधभावपरिज्ञानसन्ततिं सर्वतश्च परिपुष्टिकारिकाम् ।।

बोधभाव के परिज्ञानों को सर्वतः परिपुष्ट करने वाली भगवती को प्रणाम है।

भव्यां भव्यानुकूलां च सर्वां सर्वेश्वरीं सदा।

नौमि तां सर्वरूपां च आत्मबोधसमर्थिकाम् ।।

भव्य और भव्यभाव के अनुकूल सर्वरूपा सर्वेश्वरी और आत्मबोध देने में समर्थ भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

अथ आत्मबोधविषये किञ्चित् किञ्चित् पुनश्च अभ्यासकाले नवैर्वा प्राचीनैर्वा साधकैः सदैव भावस्थिरता प्रतिपादनीया।।

अब आत्मबोध के विषय में थोड़ा थोड़ा पुनः अभ्यास काल में नये अथवा पुराने साधकों को भावस्थिरता करने के उपाय बताये जाते हैं।

भावनां स्थिरता लोके सर्वकार्यप्रसाधिका।

यावच्च चलिता भावास्तावत् सिद्धिर्न जायते।।

संसार में भावों की स्थिरता सर्वकार्यप्रसाधिका होती है। जबतक भावों में चंचलता बनी रहती है तब तक सिद्धि नहीं होती है।

भावचाञ्चल्यमासाद्य कश्चिदपि सुसाधकः।

स्वयं वै साधना काले नाप्नोति परमां श्रियम् ।।

अच्छा साधक भी भाव-चंचलता प्राप्त करके साधना काल में कभी उन्नति नहीं कर सकता है।

खण्डात् खण्डात्मिकां सत्तां भावसत्तां विकारिणीम् ।

अस्तव्यस्तसमाकूलां न वृणोति स अस्थिरः।।

अस्थिर साधक खण्ड खण्ड सत्ताओं को और इधर उधर बिखरी हुई भावसत्ताओं को एकत्र समेटने में कभी समर्थ नहीं हो पाता है।

तस्माच्च साधनाकाले आत्मबोधयुतो नरः।

आत्मभावं दृढं कृत्वा सफलश्च भवेत् सदा।। ॐ ।।

इसलिये आत्मबोध के इच्छुक व्यक्ति को चाहिये कि साधनाकाल में आत्मभाव को दृढ़ कर वह सफलता प्राप्त करे।

तदर्थअर्थबोधाय भावबोधाय तात्त्विका।

एका मुद्रा परा या च क्रियामण्डितरूपिणी।। ॐ ।।

उस प्रयोजन के लिये अर्थबोध और भावबोध की तात्त्विक प्राप्ति के निमित्त एक श्रेष्ठ मुद्रा है, जिसमें एक प्रकार की क्रिया करनी पड़ती है।

सा मुद्रा सारिका मुद्रा सारं सारं ददाति या।

सारिका सारसम्पन्ना शारदायाः कृपान्विता।।

उसका नाम सारिका मुद्रा है, जो सार सार को प्रदान करती है। सार सम्पन्ना सारिका मुद्रा में शारदा भगवती की कृपा भरी हुई है।

सा मुद्रा सरला प्रोक्ता भावानां मूलधारिणी।

मूले दृढे कृते चैव पुनः सिद्धिः प्रजायते।।

वह बड़ी सरल मुद्रा है। भावों की जड़ पकड़ लेने वाली है। मूल को दृढ़ बनाती है। मूल के दृढ़ बना लेने पर फिर सिद्धि हो जाती है।

आत्मानं यो न वा वेत्ति न वेत्ति परतत्त्वकम् ।

तस्मात् पूर्वं स्थिरत्वेन आत्मनः परिचयं व्रजेत् ।।

जो साधक आत्मा को नहीं जानता है और परतत्त्व को भी नहीं जान पाता है, वह पहिले स्थिर भाव से आत्मा का परिचय प्राप्त कर ले।

तदर्थं सारिका मुद्रा समर्था जायते महा।

महाबोधपरा सैव महासुस्थिर कारिणी।।

उसके लिए सारिका मुद्रा बड़ी समर्थ सिद्ध होती है। यह महाबोध से पूर्ण मुद्रा है और बोधभाव को सुस्थिर कर देने वाली है।

या मुद्रा सारिका प्रोक्ता या च वै कार्यकारिणी।

एवं विशेषरूपेण सा मुद्रा क्रियतां बुधैः।।

जो सारिका मुद्रा बताई गई है यह बहुत काम बना देती है। अतः बुद्धिमान साधक को विशेष रूप से यह मुद्रा करनी चाहिये।

क्रियां तत्र इमां पश्य पुरतो दर्शयामि ते।

वदामि च तदर्थाय तस्मात्त्वं सफलो भव।।

इस क्रिया को तुम देखलो। इसे मैं तुम्हारे सम्मुख दिखाती हूं। इसे लगा कर तुम सफल बनो।

आसनं सुदृढं कृत्वा पश्चाद् ध्यानस्थितो यदा।

हस्तौ तौ च समुत्थाय पृष्ठभागे स्थापयेत् ।।

आसन को दृढ़ करके फिर ध्यानावस्थित हो जाय। तदनन्तर दोनों हाथों को उठाकर पीठ की ओर ले जावे।

एकेन एकमादाय पृष्ठभागे निधापयेत् ।

पश्चाच्च स्वल्परूपेण आननश्च भवेत् तदा।।

एक हाथ को दूसरे हाथ की ओर पीठ की तरफ रख ले। तब थोड़ा झुक जाय।

शीघ्रं शीघ्रं महाशीघ्रं मन्त्रस्योच्चारणं भवेत् ।

पुनश्च स्कन्धयोः कृत्वा हस्तौ एवं च स्थापयेत् ।।

फिर शीघ्र-शीघ्र बहुत शीघ्र मन्त्र का उच्चारण करता चला जाय। फिर कन्धों में दोनों हाथों की अंगुली मिलाकर इस प्रकार हाथ स्थापित कर लेना चाहिये।

एवं कृते च या मुद्रा सारिका सारदायिनी।

निश्चितं भावबोधं च सुस्थिरं हि करिष्यति।।

इस तरह क्रिया करने पर सारदायिनी सारिका मुद्रा सम्पन्न होती है। यह मुद्रा अवश्य ही भाव बोध को सुस्थिर कर देगी।

क्रियास्तस्याश्च मुद्रायाः गोरक्षो दर्शयिष्यति।।

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

इस मुद्रा की क्रिया और करने का तरीका गोरक्ष तुम्हें बतायेगा।

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरख वाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। आदेश। आदेश। आदेश। मां की आज्ञा है कि साधक के भावों की जड़ों को मजबूत कर देने के लिये सार सार निचोड़ दो। और जो उसे पुष्ट करने वाली सारिका मुद्रा है, उसे बता दो। क्रिया करा दो। तो यह सारिका मुद्रा क्या है ? कुछ नहीं है। हंसी की बात पक्की सी है। जो वस्तु देखने में कभी कभी छोटी सी मालूम होती है और उसे हम यों ही समझाते हैं, पर वह बड़ी

लाभ की होती है। अरे भाई ! मन्त्र कितना बड़ा होता है ? पर उसमें कितनी शक्ति समाई हुई है एक छोटे से मन्त्र में ब्रह्माण्ड को कंपा देने की, साध देने की सब कुछ शक्ति भरी हुई है। एक बीज में सारा महावृक्ष समाया हुआ है। तुमने उसे बीज समझ लिया। छोटा सा है, फेंक भी देते हो। पर उसके अन्दर जानते हो, वृक्ष है। मन्त्र भी छोटा सा है। यह सारिका मुद्रा बहुत छोटी सी है, पर इसमें नये साधक और पुराने साधक के लिए इतना सार है कि जिसमें बोधस्थिर होता है। चाहे वह प्रारम्भिक बोध हो, चाहे वह परिपुष्ट बोध हो, चाहे उदित हो रहा हो, चाहे उदित हो गया हो, कोई भी बोध को स्थिर करने के लिए इस क्रिया का, इस मुद्रा को प्रयोग कर दिया जाता है। और ऐसा कर लेने पर उस सारिका मुद्रा की बड़ी भारी शक्ति अपना काम करने लगती है। और उसी से फिर रोधिका मुद्रा उत्पन्न हो जाती है। तो सारिका का और रोधिका का परस्पर सम्बन्ध है। मैं दोनों को बताता हूँ। दिखाता हूँ। जितना जानता हूँ, मां कहती है तो करता हूँ। और इसलिये भी करता हूँ कि करना है। करने का समय है। और समझ भी है। समझने का समय है। तो साधक ! सावधान ! सारिका मुद्रा की क्रिया को ध्यान में रख लो। आओ। जम जाओ। बैठ जाओ। देखो। दोनों हाथ, बात कुछ नहीं है, जरा सी समझने की है, कुछ नहीं है। समझ लो, पर बहुत बड़ी चीज है। ध्यान से उतर न जाय। ऐसा कर लो। दोनों मुट्ठियों को बन्द करलो और एक को यों रख लो, उसके अन्दर दूसरी दोनों को जो है, जहाँ पर तुम्हारे पहुंचे का भाग खत्म होता है। कोहनी आता है। उसे जिसे कर्पूरिका भी कहते हैं, जिसके नाम से कर्पूरिका मुद्रा चलती है, तो दोनों मुट्ठियों को इस तरह बाँध दो और ऐसा करके चाहो तो धीरे धीरे हिल सकते हो, किधर भी। किन्तु ध्यान रखना, हाथों में हाथ को जोड़ते हुए जितनी सरलता से हो सके, ले जाना। जहाँ तक जा सकें वहाँ तक ले जाना। नहीं तो बोध में स्थिरता होने की अपेक्षा बोध में विक्षेप न हो जाय। जबरदस्ती नहीं, देखो फिर समझ लो। हाथों की मुट्ठी जैसे आगे भी करते हो, स्थान परिचायिका की भाँति बाहर। ऐसे पीछे कर दो। कौन सी बात है ? आगे लगालो। थोड़ा देर ऐसे ही बैठ जाओ। नहीं बैठ सकते तो फिर यों कर लो। और इसके बाद जब थोड़ी देर यों लेटे रहो। इष्ट मन्त्र का शीघ्रातिशीघ्र जप करते रहो, विलम्ब नहीं। जितना जल्दी जल्दी बोल सको बोलते रहो। बोलते रहो और यों करके या फिर ऐसा कर लो, यों कर लो। या फिर जो कन्धे हैं, इनमें जिधर से जैसे सहूलियत हो सके जैसा जी चाहे वैसा हिला लो। ऐसा करने से फिर देखो, कैसा आनन्द आता है, और फिर तुम्हारा भावबोध कैसे स्थिर होने लगता है, तो इसी में तुम्हारे भावों का रोध भी होने लगेगा। और बोध और शोध तो हो ही जायेगा। तो कभी कभी गर्दन यों नीचे कर सकते हो। गर्दन को दायें कन्धे में भी रख सकते हो, बायें कन्धे में भी रख सकते हो। और जब अपने आप झुक जाय तो आगे भी कर सकते हो। जिधर जाय, जाने दो, उसमें ऐसी भावना आ जायेगी, तुमको प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। जहाँ तुमने प्रारम्भ में स्वयं जरा सा प्रयत्न करके रखा और फिर स्वयं सिद्धि और वह चल पड़ी और फिर उससे रोधिका मुद्रा भी सिद्ध होने लगेगी। अरे ! रोधिका। यह तो बताई सारिका। और फिर ऐसा

कर लेना। कई क्रिया, कई मुद्रा बता रहा हूँ। इसका मतलब यह नहीं कि तुम शुरू से आखिर तक सब को कर जाओ। अरे भाई ! जब जिसकी जरूरत समझो। जब जैसा भाव आ जाय कि ऐसा करलें, तो चित्त को स्थिर करना है। मन्त्र को जागृत करना है। यही तो है। तो दो बात मैंने बताई थी। उन लोगों के लिये जिनको प्रारम्भ का काम करना है और शक्ति का संचार होने पर जिनको और आगे बढ़ना है। किन्तु ध्यान रखो, सारिका सब के लिये है। इसमें नवीन भावों की प्राचीन भावों की, वर्तमान अभ्युदय होने वाले भावों की, परिपुष्टि और संरोध होता है। यों तो सारिका मुद्रा का आभास भी दे दिया गया है। और जब चाहो तो गोधिका के बारे में भी थोड़ा समझ लो, रोधिका भी केवल ऐसी मुद्रा है जिसकी क्रिया भी सरल है, रोध कर लो, अर्थात् जो भाव इधर उधर छिटक रहे हैं उनको पकड़ के रोक लो। रोकना तुम्हारे काम की चीज है। पर वश की चीज तो नहीं, तो वह मुद्रा क्रिया उसे अपने आप ठीक कर देगी। इसलिये बताया जा रहा है। तो देखो भाई ! जब कभी साधना में बैठो, मन उचाट हो जाय, उच्चाटन में चले, क्या करे, किसलिये करे तो ऐसी स्थिति में या कहीं बैठे बैठे मन दूर उड़ जाय तो, थोड़ी देर उड़ जाने देना, पर जब देखना कि अब विलम्ब होता है और अब ध्यान नहीं जमने देता, अब यह बोध के अंकुर को मुरझा देगा तो फिर वही मुट्ठी बन्द कर लेना। अंगुठा बाहर रहे। यह विचार को बनाने वाला है। किसको यों, (बन्द) नहीं कर देना। फिर यों करके और क्या करना, जैसा कि आसन लगाया है, यों और यों, दोनों मुट्ठियों को चाहे दोनों जंघाओं के नीचे रख लेना और नीचे झुक जाना या आर्लम्बिनी की तरह जो बाद की बताई थी ना। वहाँ कुछ और था, लेकिन इसे ऐसे कर लेना। दोनों मुट्ठियों को नितम्ब भाग के नीचे दोनों पुट्ठों के नीचे दोनों मुट्ठियाँ जोड़के बैठना और इष्ट मन्त्र का जाप करना। देखना उसमें भी कहीं ऐसा न हो, कि मुट्ठी ठीक न हो, अंगुलियों के ऊपर भार पड़े और उचाट खा जाओ। भाई ! यों। इस गोधिका में मन स्वयं खिंच जायेगा। यह भी सब के लिये कही गई है। समय समय पर अभ्यास कर लेना, कल्याण होगा। ॐ अलख निरञ्जन।

२५-१-६३ सायंकाल।।१२१।।

हरि ॐ तत् सत् । नमस्ते रूपरूपायै सकलायै कलाविमण्डितायै शक्त्यै महाशक्त्यै नमः। नमोऽस्तु महाशक्त्यै आत्मबोधपरिज्ञानदानसमर्थायै। परिज्ञानदानसंरक्षिकायै भगवत्यै नमः।। ॐ ।।

विभिन्न रूपोंवाली, कलाओंवाली, कलामण्डिता महाशक्ति को नमस्कार है। आत्मबोध प्रदान में समर्थ और प्रदत्त ज्ञान को संरक्षित करने वाली भगवती देवी को प्रणाम है।। ॐ ।।

प्रोक्तं च यत्पूर्वमिदं शुभं शुभं तदात्मबोधार्थक संशुभात्मकम् ।

तद् रक्षणार्थं च विबोधनार्थं सर्वं हि तद् ध्यान परेण गम्यम् ।।

कल्याणप्रद मंगलकारी आत्मबोध परक जो बातें पहिले बताई गयी हैं उसके संरक्षण के लिये और समझते रहने के लिये साधक को सदा ही ध्यानपरायण होना चाहिये।

यद् ज्ञानं गदितं पूर्वं आत्मबोधविधायकम् ।

तत् सर्वं पूर्णरूपेण रक्षणीयं भवेत् सदा।।

आत्मबोध देनेवाला जो ज्ञान पहिले बताया गया है उसे पहिले बताये उपाय से सदा सुरक्षित रखना चाहिये।

आत्मा आत्मार्थतत्त्वस्य तत्त्वबोधस्य बुद्धिकः।

बुद्धयास्तु केवलं तत्र ज्ञानाधारेण प्रोच्यते।।

अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञानवान और तत्त्वबोध की बुद्धिवाली अपनी आत्मा ही रहती है। बुद्धि तो उसके साथ केवल ज्ञान का आधार बनकर लगी है।

अस्ति तत्र सदाधारः आधारः दृढकारकः।

तस्मात् चक्रसमायुक्ता चक्रविद्या विधीयते।।

उस बुद्धि का जो सुन्दर आधार है उसे दृढ़ करने के भी उपाय हैं। इसलिये चक्रज्ञान से भरी हुई चक्रविद्या कही जा रही है।

तत्र चैवं यदा भावं भावना शुभ्रसंज्ञकम् ।

कल्याणजनकं चैव आत्मबोधस्य कारकम् ।।

सात्विक भावना से परिपूर्ण आत्मबोध कारक कल्याणजनक भावना जब उदित हो जाती है–

तद् रक्षणं च कर्तव्यं साधकेन समाहितम् ।

रूपेण रूपरूपेण तस्मात्तत्र क्रियान्वितः।।

समाहित और सावधान होकर उसकी रक्षा करे। उसकी रक्षा के लिये जो जो क्रिया-मुद्रा के स्वरूप बताये हैं उनका सहारा ले लेना चाहिये।

भूयात् दत्तावधानेन बोधेन च विमण्डितः।

तदर्थं सर्वभावेन मुद्रामेतां वदामि ते।।

सावधान पूर्वक साधक को बोध से विमण्डित बने रहना चाहिये। इसके लिये एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा बता रही हूँ।

एषा वै प्लाविनी मुद्रा[१४] भावप्लावन मात्रिका।

मूलाधारा महत्मूला मूलरूपा च कथ्यते।।

सभी भावों को साधक के भीतर आप्लावन कर देने वाली इस मुद्रा को प्लाविनी मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा बड़े महत्त्व की है और महामूल रूपवाली है।

एषा मुद्रा परा ज्ञाता कृता चैव भृशं भृशम् ।

तदा तु आत्मबोधस्य परिपुष्टिः प्रजायते।।

इस मुद्रा के जान लेने पर और बार-बार करते रहने से साधक में आमबोध की परिपुष्टि होती रहती है।

एवं प्रोक्तंपुनस्तुभ्यं मूलं मूलं स्वयं मया।

तस्माच्च मूलमादाय वृक्षं च सुदृढ़ं कुरू।।

इस भाँति मैंने सार सार में, मूलरूप में क्रिया मुद्रायें बताई हैं। मूलरूप में बताई गई इन मुद्राओं द्वारा तुम मूल को दृढ़ बनाते हुए वृक्ष को भी सुदृढ बनाओ।

मुद्रारूपं क्रियारूपं क्रियारूपेण सत्वरम् ।

अचिरेण च वै सद्यः गोरक्षः कथयिष्यति।।

इस मुद्रा का स्वरूप क्रिया के रूप में शीघ्र ही अभी गोरक्ष तुम्हें बतायेगा।

गोरक्षश्च क्रियाज्ञाता मुद्राज्ञाता विशेषतः।

तेनैव सर्वमेतद्धि काले काले प्रदर्शितम् ।। ॐ ।।

गोरक्ष तो सभी क्रियाओं का ज्ञाता है और मुद्राओं का विशेष ज्ञान रखता है। उसी ने ये सब मुद्रा क्रियायें समय समय पर लोक में बताई थी।

इदानीं चैव गोरक्षः बोधरक्षणतत्परः।

शोधाय अनुरोधाय सर्वमेतत् करिष्यति।। ॐ ।।

अब भी यही गोरक्ष साधकों के बोध की रक्षा करने में तत्पर बना है। अतः साधको के शोधन के लिये और उनकी प्रेरणा के लिये ये सब क्रिया मुद्रायें स्वयं करके तुम्हें बतायेगा।। ॐ ।।

एवमेवं कृते काले कालेनैव क्वचित् क्वचित् ।

सर्वं बोधमयं पूर्णं जगद् बोधयुतं भवेत् ।।

इसी भाँति समय समय पर कभी कभी इन मुद्रा क्रियाओं के ज्ञान, प्रचार और अभ्यास से समस्त जगत् बोधशाली बन जायेगा।

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरख वाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ । माँ का आदेश पाकर कुछ कहना ही पड़ता है और कहने के लिये आना ही पड़ता है। और आने की आवश्यकता भी हो गई है। क्योंकि अब सार सार में, तत्त्व तत्त्व में बोध का ज्ञान पनपाना है। उसकी मजबूती करनी है। उसकी दृढ़ता करनी है। जब विशेष रूप में करनी है तब विशेष रूप से सार सार तत्त्व तत्त्व भी बताना ही पड़ जाता है। ऐसा होता है कि जिसको करने से, जिसके जानने से, जिसके अनुभव से ऐसा होता है कि सबका वह पनपा हुआ अंकुर पुष्ट हो जाता है, और जब भावना पुष्ट हो जाती है तो उस पुष्टि में धुरी का चक्र चलना सहज हो जाता है। तो इसलिये इस चक्रविद्या का फिर से एकबार चक्र घूम जाना चाहिये। तो फिर मैं मां के सामने तो छोटा सा अज्ञानी बालक हूँ। फिर भी माँ की कृपा है। मां की कृपा है। मां कहती है तो कह देता हूँ। समझा देता हूँ। बात सरल है। समझो। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ज्ञानियों के गूढ़ गोचर का ज्ञान है। ध्यानियों के गूढ़ ध्यान का काम है। और मैं तो यह कहता हूँ कि जो कुछ करना है उसे तो पहिले जान लो। और ऐसे भाव जब आ जावेंगे तो पा लो और पाकर के खाले, खिलाले, देख ले, दिखा ले, जान ले, जना ले। तो इसलिये शास्त्रविद्या का प्रचलन किया जा रहा है कि शास्त्र तो बनते ही हैं, बने ही रहेंगे; और उनमें जो भाव आते हैं, वे इसलिये आते हैं कि उनका प्रचार होना है। उनकी विस्मृति न हो, उनकी एक परम्परा बनी रहे। तो शास्त्रज्ञान ऐसा होता है। तो जब शास्त्र लुप्त गुप्त हो जाते हैं तो फिर उन्हें इस प्रकार बताया जाता है कि जैसे कि मैं आज फिर से प्लाविनी मुद्रा का क्रिया-रूप सामने रख रहा हूँ, दिखा रहा हूँ। मां ने तो यूं ही कह दिया कि गोरख बतायेगा। तो यह प्लाविनी मुद्रा क्या है ? इस मुद्रा में भावों को अपने आप में समेटने का गुण है। इधर उधर के सारे भावों को आकर्षण करने का गुण है। और यह प्लाविनी मुद्रा ऐसी मुद्रा है कि जिससे, जिसको करने से सब भाव सिमटने लगते हैं, स्थिर होने लगते हैं। करना क्या है ? गोरख तो ऐसी राह बताता है।

सीधी राह चलावे अवधू गोरख बाबा।

अरे ! कौन राह पर चले रे गोरख ऐसे बाबा।

सीधी राह बतावे गोरख सीधे ही पहुंचावे।

करे जो कोई राह चले रे गोरख रहण न नीचे पावे।।

यह है। फिर कैसे हो। देखो ऐसा करो। भाई, जब आसन लगाया हो तोड़ना पड़ेगा। तोड़ दो। ऐसा करो, देखो। आसन लगा है। तोड़ दो तो यों हो जाओ। पैर जरा आगे कर लो। फिर पैरों को धीरे धीरे समेट लो, फिर जो पीछे जो पृष्ठ भाग है, उसको भी जो तुम्हारा गुल्फ भाग है जिसे एड़ी का भाग भी कहते हैं, उसको भी दोनों को मिला दो और जो तुम्हारे वक्षःस्थल का, जिसे छाती कहते हैं, हिस्सा है, उसे भी घुटनों पर रखा दो। ऐसा करके और थोड़ी देर को यों ही हाथ आगे कर लेना। यों नीचे जमीन पर लग जाँय, आसन पर लगे हुए हों और कैसा भी क्यों न हो थोड़ा देर ऐसे ही रहना। ऐसे रहने में जब जरा आनन्द मिलने लगे, तब फिर जरा सा यों पीछे को झुकना और देखो भाई ! दोनों हाथों को घुटनों के पास लाकर एक हाथ को ऊपर, एक हाथ को हाथ के ऊपर रहे। और दूसरा बाँया हाथ खुला ही खुला नीचे के घुटने के जरा सा नीचे के भाग में आ जाय और यों करके जरा सा जोर पड़ जाय और जो दोनों घुटने खुले हुए थे, उनके नीचे में जो खड्डी है उस खड्डी पर लगी जो ठुड्डी है, उस ठुड्डी को, यानी भूल नही करना; लो ऐसा करो। दोनों गालों को दोनों घुटनों के बीच में रख लो। बैठ जाओ।

इष्ट मंत्र का जाप करो। बस, चारों ओर से भाव सिमट आयेंगे। जब कभी कोई विशेष भावों को नष्ट करने के लिये आ जाय, लगाओ प्लाविनी मुद्रा, समेट लो। आकर्षण हो जायेगा, आनन्द आ जायेगा। और तुम्हारा बोध पक्का हो जायेगा, और उसके पक्के होने पर तुम्हारा रास्ता साफ होता चला जायेगा। ॐ ।

२६-१-६३ प्रातःकाल ।।१२२।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् । ॐ ।। नमामिं तां भगवतीं महामायां जागृतां कुण्डलिनीं सरस्वती-स्वरूपां, सद्यः प्रत्यक्षरूपिणीं प्रत्यक्षात्मबोधात्मज्ञानदायिनीं नमामि तां सरस्वतीम् ।। ॐ ।।

सरस्वती स्वरूपा जागृता महामाया भगवती कुण्डलिनी शक्ति को प्रणाम करता हूँ। तुरन्त प्रत्यक्षरूप में प्रत्यक्ष आत्मज्ञान और बोध देने वाली भगवती सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।

आत्मबोध परिज्ञानं अनुभूतौ निवेश्य च।

बीजाङ्कुरं दृढं कृत्वा ततः निश्चलतां व्रजेत् ।।

आत्मबोध के परिज्ञान को अनुभूति में लाकर बीज और अंकुर को दृढ़ करता हुआ साधक निश्चलता को प्राप्त करता है।

मनसश्चञ्चलावृत्तिर्या च बोधविनाशिनी।

सपत्नी ध्यानयोगस्य तस्मात् तां च निरोधयेत् ।।

मनकी जो चञ्चलता वृत्ति है वह साधक के बोध का विनाश कर देती है। वह चंचला वृत्ति ध्यान योग की सपत्नी है। अतः उसका निरोध करना चाहिये।

बोधस्तु जायते किञ्चित् किञ्चित् ज्ञानं च जायते।

किन्तु तत् सर्वमादाय मनसस्तु निवारयेत् ।।

साधक को जो थोड़ा बहुत ज्ञान होता रहता है, उसे मनकी चंचल वृत्ति मन से दूर हटा देती है।

तस्माच्चक्राभिधा विद्या या च नित्या नवोदया।

नवभावविबोधा च ज्ञानाय बलवती च या।।

इसलिये नित्य नवीन नवीन अभ्युदय देने वाली यह चक्र विद्या है। यह विद्या नये नये भावों का उदय करती रहती है और ज्ञान प्रदानार्थ बलवती है।

बोधरक्षण कार्यार्थं या च प्रोक्ता पुरा मया।

अधुनापि च तां विद्यां वदामि कार्यसाधिकाम् ।।

बोध के संरक्षण के लिये पहिले भी मैंने बताया है और अब भी उस कार्यसाधिका विद्या को मैं बता रही हूँ।

आत्मबोधस्य भावनया परमात्मबोधस्याभ्युदयो भवति। आत्मानं वा परमात्मानं वा यः परिचिनोति, स एव परमानन्दमोदितो भवति। यच्च लक्ष्यभूतं परमार्थकं तस्य प्राप्तिस्तु विधेया।

आत्मबोध की भावना से परमात्मबोध की भावना का उदय होता है, आत्मा और परमात्मा को जो पहिचानता है, वही परमानन्द मोदित रहता है। जो परमार्थ की प्राप्ति का लक्ष्य है, उसकी प्राप्ति अवश्य कर लेनी चाहिये।

सा च पूर्वमात्मबोध परिज्ञानेन आत्मबोधेन वा भविष्यति। आत्मबोधस्य संरक्षणार्थं आत्मबोधस्य पुष्टिकरणार्थं मनसः आत्मनश्च तुष्टिकरणार्थं अत्रास्मिन् प्रकरणे अस्यां विद्यायां वा क्वचित् क्वचित् मुद्राणां ज्ञानं क्वचित् क्वचित् क्रियाणां च ज्ञानं तासां च अनुभूतिः।।

और वह परमार्थ प्राप्ति पहिले आत्मबोध के परिज्ञान और आत्मबोध से होगी। आत्मबोध के संरक्षण के लिये और उसकी परिपुष्टि के लिये, आत्मा तथा मन की तुष्टि के लिये अब इस प्रकरण में कहीं कहीं मुद्रा तथा कहीं क्रियाओं का ज्ञान होना आवश्यक है और उनकी अनुभूति होना भी आवश्यक है।

तासां च फलप्राप्तिः तासां च फलसम्पत् विधीयते। यद् ज्ञातं यत् कृतं अनुभूतं च तदेव सफलीभूतं भवति। अन्यथा तस्मात् क्रियाणां मुद्राणां केवलं न ज्ञानमात्रं, कृताभ्यासकत्वेन अनुभूति विषयकम् । अनुभूतिविषयकत्वेन आत्मबोधस्य स्थिरीकरणम् । तदर्थमपरा एका मुद्रा विधीयते।।

उन मुद्राओं और क्रियाओं की फलप्राप्ति और फलसम्पत्ति यही है कि, जो कुछ कृत, ज्ञान और अनुभूत होता है वही सफल होता है। अन्यथा केवल मुद्रा और क्रियाओं के ज्ञानमात्र से कुछ बनता नहीं है। अभ्यास करने पर ही वे अनुभूति का विषय बनती हैं। अनुभूति के विषयीभूत होने पर आत्मबोध की स्थिरता आती है। उसके लिये एक और मुद्रा भी बताई जाती है।

सा च विस्थापिका मुद्रा[१५] प्रोक्ता सा विश्वभाविनी।
विश्वात्मिका सदाधारा मुद्रा सा च शुभा मता।।

वह मुद्रा विस्थापिका मुद्रा है। यह मुद्रा सर्व प्रकार से आत्मबोध की भावना पैदा करती है, विश्वात्मिका है सुन्दर आधार वाली और मंगलकारिणी है।

विस्थापिका या च समानमुद्रा मुद्राङ्किता सा परमार्थबोधिनी।
स्थिरत्वमायाति तया च बोधः मनश्च सद्यो वशमात्मभावे।।

समभाव वाली जो परमार्थबोधिनी विस्थापिका मुद्रा है, उससे बोध स्थिरता को प्राप्त होता है और मन भी शीघ्र वशीभूत हो जाता है।

आयाति शीघ्रं शुभशंसितं स्वयं एषा च मुद्रा शुभदा सुखावहा।।

मंगलकारक जो बताई गई बातें हैं वे स्वयं अतिशीघ्र इस सुखद और कल्याणदायक मुद्रा द्वारा स्वयं ही स्थिर हो जाते हैं और आसानी से आत्मबोध हो जाता है।

विस्थापिका मुद्रा मुद्राणां मुद्रकारिणी वर्तते। मुद्राशब्दस्यः अर्थः स अर्थः विस्थापिकया सार्थकः क्रियते।।

यह विस्थापिका मुद्रा समस्त मुद्राओं में उत्तम और श्रेष्ठ मुद्रा है। मुद्रा शब्द का जो अर्थ है, वह इस मुद्रा के द्वारा सार्थक बनता है।

मुद्रा, मुदंराति भावं सर्वतः या सा मुद्रा। अथवा मुकुलिता भावाः यत्र मुद्रिता भवन्ति सा मुद्रा। मुद्रा भावानां बोधिकापि भवति, भावानां संरक्षिकापि भवति। भावांश्च सुस्थिरान् करोति, सा मुद्रा भवति।।

मुद्रा का यह अर्थ है:– सब ओर से भावों को प्रभावित कर दे अथवा जो मुकुलित भाव हैं उन्हें विकसित कर दे। मुद्रा भावों की उद्बोधिका भी होती है, भावों का संरक्षण भी करती है। भावों को सुस्थिर भी करती है। अतः उसका नाम विस्थापिका मुद्रा है।

विस्थापिका मुद्रा उत्तमा परमोत्तमा मुद्रा वर्तते। तस्य क्रियाज्ञानं कर्तव्यम् । एतच्च क्रियाज्ञानं सर्वभावेन प्रोच्यते।। ॐ ।।

विस्थापिका मुद्रा उत्तम व परमोत्तम मुद्रा है, उसकी क्रिया का ज्ञान करना चाहिये। इस क्रिया के करने की विधि भलीभाँति बताई जा रही है।

कृत्वा जानुगतौ हस्तौ अधस्तात् स्थापयेद् बुधः।

तत्र संयोज्य तौ भूयः कुक्षिभागं निधापयेत् ।।

हाथों को घुटनों के ऊपर रख लो, उन्हें परस्पर मिलाकर कुक्षिभाग को भी घुटनों पर रख लो।

किञ्चित् किञ्चित् क्वचिच्चैव अङ्गुल्या योजनं मतम् ।

क्वचिच्च नैव तत् प्रोक्तं स्वातन्त्रेण क्रिया भवेत् ।।

कभी कभी हाथों की अंगुलियों को भी आपस में मिलाया जाता है और कभी नहीं। इस क्रिया को स्वतन्त्र रूप से करने को कहा गया है।

पश्चाच्च पृष्ठभागं हि निम्नं कृत्वा पुरोगतम् ।

एवं कृते च भावानां विस्थापस्तु भवेद् दृढः।।

फिर पृष्ठ भाग को आगे की ओर झुका लो। इस प्रकार कर लेने से भावों का विस्थापन दृढ़ हो जाता है। आगे को झुक जाओ।

स्थितिर्या प्रोच्यते अत्र विस्थापाख्या मयाऽधुना।

तां ज्ञात्वा च क्रियारूपां क्रियासिद्धिं ब्रजेन्नरः।।

विस्थापिका मुद्रा की जो स्थिति होती है उसे मैं अब बताती हूँ जिसे क्रियारूप में जानकर मनुष्य क्रिया सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

विस्थापिकायामेवं करणीयं भवति, तत् सर्वं पुरतः एव आगमिष्यति। ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष !

विस्थापिका में जैसा करना होता है वह सब प्रत्यक्ष सामने आ जायगा। गोरक्ष ! गोररक्ष !!

गोरख वाणी :- ॐ अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन !

आत्मा और परमात्मा इनका ज्ञान करना सब चाहते हैं और चाहते क्यों हैं, उसका भी कारण परमार्थ सिद्धि है, और वह है भी जीवन का लक्ष्य, ऐसा बताया गया है। तो जब ऐसी बात है, वहां तक पहुंचना है, जान पहिचान करनी है, स्थान पर पहुंचना है तो उसके लिये जैसा बताया गया था तो अब सब भावों को पुष्ट भी कर लेना चाहिये। जब भावों की पुष्टि पर ही सब कुछ निर्भर है तो फिर उसकी पुष्टि भी होनी चाहिये, और खः खः पर दौड़ने वाली, "ख" का मतलब शून्य है। शून्य की ओर दौड़ने वाली जो इस चित्त की वृत्ति है, तो आत्मबोध के मार्ग में बाधक होती है और "ख ब्रह्म" वहाँ तक पहुंचने भी नहीं देती है। इसलिय साधन में लगने वाले साधकों के लिये इस वृत्ति का निरोध होने के लिये, और आत्मबोध के बीजाङ्कुर वृक्ष को पुष्ट होने के लिये ही ये सारी बातें बताई जा रही हैं। जैसा कि आधार विद्या में बताया गया था कि आधार को पुष्ट कर लो, तो वहाँ आधार पुष्टि का तात्पर्य था कि पूर्ण अनुभव कर लो और उन अनुभवों को देख लो कि ठीक ठीक उतर गये हैं कि नहीं। यहाँ इस विद्या में भी उसी तरह ऐसा ठीक ठीक देख लेना चाहिये कि जो भाव हमारे हृदय में आये थे वे पुष्ट हो रहे हैं कि नहीं। वे आते हैं कि चले जाते हैं, कि समाप्त हो जाते हैं, और फिर उनका कभी उदय ही नहीं होता है, क्षणिक है ऐसा नहीं। भावों की स्थिरता ही कल्याणकारिणी होती है। इसलिये उस भावस्थिरता को लाने के लिये प्रारम्भिक अवस्था में या अन्य भावों की पुष्टि करने की अवस्था में ये क्रियायें और मुद्रायें बताई गई हैं। मुद्रा का तात्पर्य होता है- चारों ओर से सब वस्तुओं को लाकर समेट करके एक केन्द्र में रख देना। अथवा मुद्रा का अर्थ होता है कि जो विचार धारायें अंग प्रत्यङ्गों के संचालन के द्वारा क्रिया का रूप लेती हैं और वह क्रिया का रूप भी विशिष्ट होता है उसको मुद्रा कहते हैं। मुद्रा के भावों को विकास में लाने की, उनको सुरक्षा में रखने की, उनको बलवान् करने की और उनको

पुष्ट करते हुए उनको एक कार्य में सहयोग देने की भावना होती है। मुद्रा शब्द के विशेष अर्थ को फिर बताया जायेगा। तो यहाँ पर विस्थापिका मुद्रा का जो उल्लेख किया गया है तो मां का कहना है कि यह विस्थापिका मुद्रा इन मुद्राओं में से अन्तिम मुद्रा है जो कि आत्मबोध के लिए पर्याप्त है, तो इसीलिये विस्थापिका का अर्थ भी विशेष रूप से स्थापन करने वाली होता है। इसमें एक विशेष आकर्षण होता है। उसको लगाने से भाव अगर उदित हुए और फिर उनमें क्षणिकता आने लगी, और मन की वृत्तियों ने उन्हें खींचकर इधर उधर फेंकना चाहा तो यह दृढ़ता रखो कि यह मुद्रा और इसकी क्रिया किसी भी रूप से उन भावों की क्षति नहीं होने देगी, और इसी मुद्रा के आधार पर आगे का रास्ता साफ हो जायेगा।

इस मुद्रा को इस प्रकार करनी चाहिये। जब आसन लगा हुआ हो तो उस आसन को ऐसा कर लेना चाहिये कि दोनों हाथ जानुगत कर लें। फिर दोनों को चाहे यों एक दूसरे से पकड़ लें। फिर दोनों को चाहें यों कर लें कि, अंगुलि नियोजन करके और दोनों अङ्गुष्ठभाग, अग्रभाग अङ्गुष्ठों के, उनको दोनों नेत्रों के कोणभाग पर रख लो। कोणभाग पर रख करके सर को थोड़ा हल्के रूप में, भार कुछ अङ्गुष्ठों पर दे दो, और पैरों की स्थिति अपने अपने अनुकूल लम्बे आगे पीछे कर सकते हो, और जब समझो कि ऐसे में कुछ थोड़ी सी असुविधा सी भी हो रही है, पहिले तो होनी नहीं चाहिये, इससे कोणभाग दबने से सब कुछ ठीक हो जायेगा और जब कुछ ऐसा मालूम भी पड़े तो अङ्गुलि संयोग छोड़ देना और एक पैर को भी नीचे कर लेना और उसे गुदा भाग में दबा लेना, एड़ी को और दूसरे पैर को यों करके जानुभाग में सिर रख लेना। ऐसी मुद्रा, यह विस्थापिका मुद्रा है। तो इसको कर लेने पर विचारों की चञ्चलता और चंचलाहट दूर हो जायेगी और तब फिर उस विस्थापिका में सर को यों भी रख सकते हैं। अर्थात् यदि उन अंगुलियों के भाग के ऊपर हनुभाग को रखकर और सिर झुक भी जाय, चाहे आगे को चाहे पीछे को, चाहे सीधे ही रहे तो भी सुन्दर ही है। इस प्रकार आत्मबोध प्रत्यभिज्ञान में ये कुछ मुद्रायें अत्यावश्यक होती हैं। इनका अभ्यास कर लेना चाहिये, और जब कभी आवश्यकता हो तब विस्थापिका को भी लगा लेना चाहिये और सारिका को भी लगा लेना चाहिये और जो प्रारम्भिक काल में बताई हैं उन्हें भी प्रारम्भ में कर लेना चाहिये।। ॐ ।।

२७-१-६३ प्रातःकाल ।।१२३।।

हरि ॐ तत् सत् । नमस्तेऽस्तु भगवत्यै शारदायै अनन्तशक्तिसम्पन्नायै तत्त्वार्थबोध विशेष-भावना-भावितायै परिच्छन्नावच्छिन्नावच्छेदावच्छेदकज्ञान परिज्ञान परिपुष्टायै तुष्टायै नमः।। ॐ। सम्पन्नायै सर्वशक्ति सम्पन्नायै शारदायै नमः।।

अनन्त शक्ति सम्पन्ना, तत्त्वार्थ की विशेष भावना से भावित, परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न व्याप्य व्यापक के परिज्ञान की पुष्टि देने वाली सृष्टिरूपा भगवती शारदा देवी को मेरा नमस्कार है। सर्वशक्तिसम्पन्ना और सम्पन्ना शारदा को नमस्कार है।

आत्मबोध ज्ञान परिपुष्टिवन्तः साधकाः सफला भवन्तु, सफला भवन्तु, सबला भवन्तु। आत्मबोध परिपुष्टिवान् नरः समाप्नोति परमां श्रियम् । तदर्थभावरक्षणं परमं परमपरं समीक्षणीयम् । भावानां बोधो यदैव परिपुष्टिं गच्छति तदैव चित्तस्य स्थिरता।।

आत्मबोध ज्ञान से परिपुष्ट बने साधक लोग सफल हों, सफल हों, सफल हों। आत्मबोध से परिपुष्ट मनुष्य श्री की विभूति प्राप्त करता है। उसके लिये आगे पीछे, पर अपर बोध का संरक्षण करना चाहिये। भावों का बोध ज्यों ही परिपुष्टि को प्राप्त होता है तभी चित्त की स्थिरता होती है।

दृढत्वेन दृढसङ्कल्पभावना। दृढसंस्कारत्वात् संस्कारभूमिविशेषपरिष्करणम्। परिष्करणाच्च विशेषानुभूतिः। विशेषानुभूति मधिगम्य-

दृढता होने से दृढ़सङ्कल्प की भावना होती है। दृढ़ संस्कारों के कारण संस्कारों की विशेष भूमि का परिष्कार होता है। परिष्कार से विशिष्ट अनुभूति होती है।

चित्स्वरूपिण्यै भगवत्यै किमपि ज्ञानाय दानाय मानाय प्रतिभासाय प्रतिभासे स्थित्यात्मिका स्थितिः। तदा च बोधे दृढे सति संरक्षिते च सति सर्वं सुकरं सुलभं सुज्ञातं स्वानुभूतं च भवति।। ॐ ।।

विशेषानुभूति प्राप्त करके, चित्स्वरूपा भगवती के प्रति कुछ ज्ञान-दान का आभास और प्रतिभास होते हुए यथार्थ रूप में स्थिति होती है। तब बोध के दृढ़ हो जाने पर सब कुछ सुकर, सुलभ, सुज्ञात, और भलीभाँति अनुभूत हो जाता है।

पुनरपि एतद् ज्ञेयम् । बोधबाधका वा परिचालिका वा संस्कारदृढभूमिः। तस्मात् चक्रविद्यावलेन संस्कारनिःसरणमपि भवति। संस्कारनिःसरणाय

संस्कारप्रतिरोध विमोचनाय चक्रविद्याधिगमः। यथा वा दृढसेवितोऽपि कृताभ्यासोऽपि परिपुष्ट बोधकोऽपि वा कश्चिन्नरः पुनरपि तत्रैव वा स्थिरो भवति कूटस्थो भवति। तत्र किञ्चिदप्यग्रे परिसरणं नैव कर्तुं शक्नोति। तत्तु संस्कार-दृढभूमिः। तत्परिष्करणं वाञ्छनीयम् । तच्च चक्रविद्याधिगमेन सुलभं भवति।।

फिर भी यह समझ लो। बोध में बाधा डालने वाली उससे विचलित कर देने वाली संस्कारों की दृढ़ भूमि होती है। अतः चक्रविद्या के बल से ऐसे विरोधी संस्कारों का निःसारण भी होता है। संस्कारों के निःसारण और संस्कारों के प्रतिरोध को हटाने के लिये यह चक्रविद्याधिगम है। योगाभ्यास के दृढ़ सेवन करने पर भी, अभ्यास करने पर भी, बोध के परिपुष्ट होने पर भी कई लोग वहीं पर रूक जाते हैं और योग के प्रति उदासीन हो जाते हैं। आगे थोड़ा भी नहीं बढ़ पाते हैं। क्योंकि-

पश्चाच्च ज्ञानवान्, अनुभववान्, निष्ठावान् वा नैष्ठिको जायते।।

संस्कारों की दृढ़भूमि रोक देती है। उसका ही परिष्कार करना अभीष्ट है। वह चक्रविद्या द्वारा सुलभ हो जाता है।

निष्ठा प्रोक्ता महामात्रा ज्ञानबोधानुभाविका।

सद्यः सैव महानिष्ठा नैष्ठिकं कुरूते नरम् ।।

ज्ञान बोध का अनुभव कराने वाली निष्ठा (श्रद्धा) का ही बड़ा महत्त्व है। वही महानिष्ठा मनुष्य को निष्ठावान् बनाती है।

निष्ठावान् श्रद्धासमन्वितो भवति।।

निष्ठावान् व्यक्ति श्रद्धा से भरपूर होता है।

निष्ठावान् लभते ज्ञानं निष्ठावान् परमां श्रियम् ।

निष्ठावानात्मतत्त्वं च जानाति परमं परम् ।।

निष्ठावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है और निष्ठावान् को ही सम्पदा प्राप्त होती है। निष्ठावान् परम से परम आत्मतत्त्व को जान सकता है।

एतत् सर्वं चक्रविद्याधिगमने। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन चक्रविद्याधिगमनीया। सा च ज्ञानपरिपुष्टं बोधं दृढं करिष्यति। करणीयतां वा नेष्यति, कारयिष्यति।

यह सब चक्रविद्याधिगम में है। इसलिए सभी प्रयत्न से चक्रविद्या का अधिगम करना चाहिये। वही ज्ञान से परिपुष्ट बोध को दृढ़ करेगी, अथवा करने का उपाय बतायेगी या करवायेगी।

एतत् सर्वमशक्तिपातैः सह संचरणीया क्रिया भवति, येतु सन्ति सशक्ताः शक्तिसम्पन्ना लब्धशक्त्यधिकारास्तान् प्रतिकाचित् क्रिया मुद्रा प्रोक्ता, तासां बलमालम्ब्य अग्रे गमनीयम् । यथा वा सर्वं प्राप्तं, सर्वं कृतं सर्वमभ्यस्तं सर्वमनुभूतं च, तदापि गतिविच्छेदः। तदापि अनुभूतिविच्छेदः। तदापि तत्र सखण्डता विराजते।।

यह बात तो हुई उनके लिये जिन्हें शक्तिपात नहीं हुआ है। किन्तु शक्ति सम्पन्न हैं और जिन्होंने शक्ति में अधिकार प्राप्त कर लिया है, उनके लिये कतिपय मुद्रा व क्रिया बताई गई है। उनका सहारा लेकर आगे बढ़ना चाहिये। क्योंकि सब प्राप्त करके, सब करके, सब अभ्यस्त करके, सब अनुभव करके भी विच्छेद कभी हो जाता है, फिर भी अनुभूति में विच्छेद हो जाता है। वहाँ भी योग का खण्डित होना विराजमान रहता है।

तावन्न पूर्णतामधिगच्छति। पूर्णताधिगमनाय अध्येतव्या चक्रविद्या अपरसाधकैः। तस्माच्च यथा बीजेऽङ्कुरे सति, अङ्कुरेच वृक्षरूपे परिणते सति वृक्षे च किञ्चिद्बलवतिसतिपुनरपि वात्याचक्रभीतिः प्रवर्तते।।

जब तक पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक पूर्णता की प्राप्ति के लिये चक्रविद्या अध्ययन करना चाहिये। जैसे बीज में अंकुर होता है। अंकुर के वृक्ष रूप में परिणत होने पर वृक्ष, के कुछ बलवान् हो जाने पर फिर भी आँधी के झोंकों का भय बना ही रहता है।

यावन्न दृढ संस्कारसेवितो वृक्षो वद्धमूलो भवति, तद्वत् प्राप्तशक्तिकः अभ्यस्तशक्तिकः साभ्यासो वा चक्रविद्याबलेन बोधपरिपुष्टो बोधसंरक्षितो वा जायते। पुनरपि मनसश्चाञ्चल्यं वातभीतिर्वर्तते। तन्निवारणाय पुनः पुनः अभ्यसनीया चक्रविद्या। तस्माच्च सर्वं सुकरं भविष्यति।। ॐ ।।

दृढ़ संस्कारों से सेवित शरीर रूपी वृक्ष जब तक पक्की जड़ वाला नहीं हो जाता तब तक भ्रष्ट होने का भय है ही। उसी तरह शक्ति प्राप्त होने पर भी, शक्ति का अभ्यास करने पर भी, जब तक चक्रविद्या का बल प्राप्त नहीं हो जाता है और बोध परिपुष्ट होकर बोध का संरक्षण नहीं होता फिर भी तब तक मन के चाँचल्य की भीति रहती है। उसके निवारण के लिये चक्रविद्या का बारम्बार अभ्यास करते रहना चाहिये। इससे सब सरल हो जायेगा।

गोरख वाणी :- अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन! चक्रविद्या के आत्मबोध प्रकरण में मां ने यह बताया है कि चक्रविद्या का अधिगम क्यों करना चाहिये। चक्रविद्या के अधिगम से क्या होता है। तात्पर्य इतना ही है कि चक्रविद्या केवल आत्मबोध को ही परिपुष्ट और संरक्षित नहीं करती है, चक्रविद्या का यह आत्मबोध प्रकरण केवल कुछ क्रियाओं के अभ्यास का आदेश नहीं देता है, अपितु यह भी करता है कि आत्मबोध जब तक समूल बद्धमूल न हो जाय तब तक उसकी पुष्टि का साधन बताता रहता है।

निदर्शन के रूप में साधक ने कुछ पा लिया, अभ्यास करना है, चलना है, और आगे आगे बढ़ना है। जैसे एक बीज अंकुर के रूप में आया, पेड़ बन गया पर वह बड़ा पेड़ नहीं हुआ, उसकी जड़ें अभी इतनी मजबूत नहीं जमी तो एक बार अगर वात्याचक्र आ जायेगा, झंझावात आ जायेगा, आंधी आजायेगी तो इतनी मजबूत नहीं जमी। तो उखड़ने का डर रह सकता है। इसलिये जब तक उस वृक्ष की जड़ें परिपुष्ट हो जाय, उसकी रक्षा का उपाय किया जाता है। इसी भाँति सब कुछ प्राप्त होते हुए, अभ्यास करते हुए, इसमन की दृढ़ चंचलता वात्याचक्र का रूप धारण कर, आँधी का रूप धारण कर, सबको उड़ा कर ले जा सकती है। इसलिये ठीक ठीक रूप से चक्रविद्या की जो क्रियायें बताई गई हैं, उनका अभ्यास करने वाले को फिर मन की चञ्चलता का भय नहीं रह जाता है। उसकी जड़ों को मजबूत करने के लिये ही इस चक्रविद्या को बताया गया है और जब तक बोध की स्थिरता न आ जाय प्रारम्भिक साधक उसको समस्त रूप से अभ्यस्त करता चला जाय। इसके अभ्यास से पुष्टि और तुष्टि दोनों ही मिलेंगी। इस प्रकार यह चक्रविद्या पूर्वापर आत्मबोध की आत्मभिज्ञा करा देगी, और जब आत्मबोध की प्रत्यभिज्ञा हो जायेगी उसका अनुभव भी हो जायेगा, ज्ञान भी हो जायेगा, दर्शन की स्थिति भी आजायेगी, तो फिर कम्पायमान होने की आवश्यकता नहीं रहेगी, वहाँ फिर मन की चञ्चलता पर अपना अधिकार जमा लेंगी, और उसे दबा देंगी। आत्मबोध के अङ्कुर को दृढ़ करने में सहायक होंगी, और जो साधक के संस्कार होते हैं जिन्हें कुसंस्कार भी कहते हैं, सुसंस्कार भी कह सकते हैं, वे भी तो उपस्थित हो जाते हैं। तो अगर कभी ऐसे संस्कारों का भी अभ्युदय हो गया तो बाधा हो सकती है। सुसंस्कार बढ़ा सकते हैं, कुसंस्कार रोक सकते हैं। किन्तु साधक को इससे भी भीत नहीं होना है। चक्रविद्या का यह प्रकरण किस लिये बताया गया है ? इसका यही कारण है कि सबको उखाड़ के फैंक दे। अभ्यास करो और निर्भीक होकर बढ़ो। चक्रविद्या का यह अधिगम बड़ा उपयोगी है और इस परमोपयोगी प्रकरण में आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा के सम्बन्ध में तीन बातें और बताई जायेंगी जिनसे अवशिष्ट बचा हुआ थोड़ा बहुत कार्य का कूड़ा करकट भी दूर फैंक दिया जायेगा। ऐसा साधन, ऐसी बात बताई जायेगी जिससे फिर मजबूती लाने में असुविधा नहीं होगी। साधक प्रसन्न चित्त से चक्रविद्या का अधिगम कर लेगा ।। ॐ ।।

२७-१-६३ सायंकाल ।।१२४।।

हरि ॐ तत् सत् । सद्भावसृजनात्मिकायै सद्भावोदयकारिकायै सर्वोदयायै कल्याणपरायणायै विमण्डितविग्रहायै नमोनमः।।ॐ ।।

सात्विक भावों का सृजन करने वाली सद्भावों की वृद्धि करने वाली सब प्रकार का उदय करने वाली कल्याण परायण सुसज्जित शरीर वाली भगवती को प्रणाम है।

आत्मबोधपरिज्ञानदायकं सत्वभाव परिबोधनात्मकम् ।
चक्रज्ञानगमनाधिकारकं तारकं च खलु विघ्नव्यूहकम् ।।

यह चक्रज्ञान गमनाधिकरण आत्मबोध परिज्ञान का दायक है, सात्विक भावों का परिबोध करने वाला है। विघ्नव्यूहों से साधक का तारण करने वाला है।

समधिगमविशेषपूरितं अनुभूतिमयं च विभूषितम् ।
अधिगमनीय गमनाधिकारिणं चक्रविद्याधिगमधारिणं सदा।।

अनुभूति से भरा, नाना उपायों से विभूषित, प्राप्तव्य की प्राप्ति का अधिकार देने वाला यह चक्रविद्याधिगम नाम का सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण प्रकरण है।

उद्बोधयति या शक्तिः प्रत्यक्षा साक्षिरूपिणी।
सा वै बोधमयं भावं पुष्णाति च पुनः पुनः।।

जो शक्ति प्रत्यक्षरूप में साक्षी बनकर उद्बोध करती है, वह निरन्तर पुनः पुनः बोधमय भाव का पोषण करती रहती है।

एतस्मिन् प्रकरणे आत्मबोध प्रत्यभिज्ञाधिगमने यत्किञ्चिदपि प्रोक्तं तत् सर्वं स्थिरकरणार्थम् अनुभूति परकं च विद्यते। कथं बोधः स्थिरतां नीयते। कथं वा बोधस्य प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा च भवति सर्वमेतद् दर्शितम् ।

इस प्रकरण में, इस आत्मबोध प्रत्यभिज्ञाधिगम में जो कुछ भी कहा गया है वह सब स्थिरीकरणार्थ और अनुभूतिपरक है। बोध की स्थिरता कैसे की जाय ? बोध की प्रतिपत्ति और प्रत्यभिज्ञा कैसे हो ? यह सब बताया गया है।

अपरं च यदा साधकः स्वसाधनाकाले स्थितो भवति यदा च साधनासम्पन्नेच्छा समायाति, बोधश्च प्रत्यङ्कुरितो भवति, तदा वा यदा बोधस्य न्यूनता जायते, मन्दस्तु बोधः नाग्रेसरति तत्प्रोक्तं संस्काराणां दृढभूमित्वात् तस्यापि निःसारणं चक्रविद्या करोति, तत्र च इदं ध्येयं ज्ञेयं च।

जब साधना काल में साधक स्थित होता है, जब साधन सम्पन्नता की इच्छा जागती है, बोध भी अंकुरित होता है, फिर जब बोध की न्यूनता रहती है, मन्दबोध आगे नहीं बढ़ पाता है, इन सभी बातों का कारण संस्कारों की दृढ़भूमि बताई गई है। उसका निःसारण भी चक्रविद्या करती है। अतः इसका अध्ययन और ज्ञान करना चाहिये।

यदा च साधनाकाले साधकः बोधकामुकः।

बोधस्थितिं समालभ्य तामेव दृढतां नयेत् ।।

साधना काल में जब साधक को बोध प्राप्ति की इच्छा पैदा हो, तब उस बोध की स्थिति का अवलम्बन करके उसी को दृढ़ बनाते रहना चाहिये।

तत्र एतच्च कर्तव्यं साधकेन विशेषतः।

सरलः सुगमश्चैव उपायः प्रोच्यतेऽधुना।।

उस स्थिति में साधक को विशेष रूप में जो कुछ करना चाहिये उस सरल और सुगम उपाय को सम्प्रति बताया जाता है।

कूष्माण्डमूल मादायफलं वा बीजसंयुतम् ।

समादाय पृथग् एव रूपेण च पृथक् पृथक् ।।

कूष्माण्ड (कुम्हड़ा) की जड़ लेकर या उसका फल जो बीजों से भरा हो ले आवे। जड़ और फल को अलग-अलग रूप में सेवन करना है।

मूलं शुष्कं विधायैव कृत्वा चूर्णमनुत्तमम् ।

दुग्धेन सह सम्पन्नं दिनसप्तम् च भक्षयेत् ।।

जड़ को धूप में सुखाकर उसका चूर्ण कर ले और सात दिन तक दूध के साथ उसका सेवन कर लेवे। चूर्ण की फंकी लेकर दूध पी लेना चाहिये।

तस्य भक्षण मात्रेण नाडि शोधो भविष्यति।

बोधश्च स्थिरतां याति कूष्माण्डमूलकं भजेत् ।।

उसके भक्षण मात्र से नाड़ी शोधन हो जायेगा, बोध भी स्थिरता को प्राप्त हो जायेगा। इसलिये कूष्माण्ड की जड़ का सेवन करना चाहिये।

पश्चात् फलं समादाय स्वादुस्वादु विभूषितम् ।

शाकं कृत्वा च भक्षेत् दिनेभ्यः पञ्च इत्यपि।।

फिर उन्ही दिनों पाँच दिन तक कूष्माण्ड फल की सुन्दर स्वादिष्ट सब्जी बना कर उस शाक का सेवन करना चाहिये।

एवं कृते च यः बोधः नाडिशोधस्तथैव च।

भावशोधो महाबोधस्त्वरया च भविष्यति।।

इस प्रकार नाड़ीशोधन होकर जो बोध उत्पन्न होगा वह शीघ्र हो जायेगा। इससे भाव शोध और महाबोध भी शीघ्र हो जायेगा।

एवं कृत्वा पुनःकाले काले चैव यदा कदा।

बीजानां क्वाथरूपं च कृत्वा चैव पिबेत् सुधीः।।

इस प्रकार का उपाय समय समय पर कभी कभी जब आवश्यकता हो करता रहे। नहीं हो कूष्माण्ड के बीजों का क्वाथ बना कर कुछ दिन तक पी जाना चाहिये।

स्वल्पमात्रायुतं तच्च एकादश दिनान्तरे।

यद्यावश्यकता तत्र विद्यते क्रियतां ततः।।

ग्यारह दिन की अवधि तक थोड़ी थोड़ी मात्रा में इस क्वाथ का सेवन आवश्यकता पड़ने पर करना चाहिये, (जब देखे कि शाक और जड़ के चूर्ण का सेवन भी कुछ काम नहीं कर रहा है, तब इस प्रयोग का करे)।

एवं सर्वं च वै कृत्वा निर्भयः साधकः सुधीः।

साधनामार्गसंलग्नः समायाति स्वलक्ष्यकम् ।। ॐ ।।

इस भाँति के सभी उपायों को करके साधक निर्भय हो जाता है। साधनामार्ग में लगे रहना है और अपने लक्ष्य तक पहुंच जाना है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।

चक्रविद्या के आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा प्रकरण में जो कुछ भी बताया गया है, उसके सम्बन्ध में विशेष बताने की आवश्यकता नहीं है, और यों तो बताते ही चले जाओ। कोई अन्त भी नहीं। पर मेरा तो यही तात्पर्य है कि मार्ग लम्बा न हो और ऐसा भी मार्ग न हो कि बहुत कठिनाई कर दे, तो जिस सिद्धि के प्रयोजन से सब हो रहा है, साधक फिर भटक जायेगा, उसमें आत्मबोध की भावना का जागरण ही नहीं होगा, उसकी धारणा ऐसे कठिन से कठिन मार्गों को देखकर विचलित हो जायेगी। इसलिये युग के अनुकूल, साधन भी सरल हो, उसकी प्रक्रिया भी सरल, सब कुछ जो है, सो सरल, सुगम ही सुगम हो और विशेष लाभप्रद भी हो। यह मैंने पहिले भी कहा था और फिर भी कहता हूँ और चाहता भी हूँ। इसीलिये यह सब हो रहा है और इसके लिये साधकों को शक्ति का सहारा लेना चाहिये। शक्ति से हीन साधक के पैर मार्ग में लड़खड़ाते जाते हैं, गिर पड़ते हैं, शक्ति तो है ही नहीं और कोई यों भी कह सकता है कि सारी शक्ति क्या गोरख ही दे सकता है। अरे भाई, बात ऐसी नहीं है। शक्ति तो स्वयं है। अरे, मैं तो इसलिये कह रहा है कि शक्ति सोई हुई है, उसे जगाओ, जगाओ, जगाओ। वायुमण्डल

तैयार करो। तो ऐसा तो साधकों को बताओ। चलो भाई, साधना पर चलो, सरल है। सुबोध है, सुगम है और अकष्टकारक है। ऐसा जब है तब चलो। जब साधक चलने लगता है तब उसमें आत्मबोध की प्रत्यभिज्ञा आ जाती है तो जितनी चक्रविद्या में क्रियायें मुद्रायें बताई गई हैं उनका उसको अभ्यास करा दो। बोध में पुष्टि आ जायेगी। अनुभूति में तुष्टि आ जायेगी और उसके संरक्षण के लिये जैसा कि और उपाय बताया गया है तो सभी नहीं कर सकते तो ऐसा बता तो दो कि सीधी सी बात है। अरे ! कूष्माण्ड की जड़ को लाकर के और कूष्माण्ड फल को ले आओ और उस कूष्माण्ड को कहीं कुछ कहते हैं, कहीं कुछ कहते हैं। लेकिन उसके सही मायने जो होते हैं, अरे कूष्माण्ड की बलि भी चढ़ाई जाती है, बलि के काम आती है, तान्त्रिकों के काम आता है और फिर शाक्तों के काम आता है और फिर शक्ति का उपासक भी उसे साथ में बड़ी सावधानी से रखता है तो ऐसा करो, मूल भी ले आओ और फल भी ले आओ। तो मूल चाहे थोड़ा ही हो तो उसका रस जब सूर्य की गर्मी से शोषित हो जाय तो उसका चूर्ण कर दो और चूर्ण करके जरा, जरा, जरा करके उसका सेवन करो। कर सकते हो। पांच दिन कर सकते हो। सात दिन कर सकते हो। पाँच दिन तो निश्चित है, तो ऐसा करो। यह सब नाड़ियों में जबकि मिल रहता है और वह शुद्ध नहीं होता है तो शुद्ध हो जायेगा और उस मध्य में जो फल बताया गया है और उसका थोड़ा थोड़ा हिस्सा लेकर और सुस्वादु रूप से शाक निर्माण कर लो और उसमें साथ में थोड़ा थोड़ा स्वाद लेते हुए एक बार दिन में, सायं प्रातः, मध्याह्न किसी भी समय एक बार थोड़ा सा अरे, दो तोला, तीन तोला, चार पाँच तोला भी कर सकते हो। अरे थोड़ा सा लेना है, ले लेना। इसको सात दिन पर्यन्त कर लेना या ग्यारह दिन पर्यन्त कर लेना। उसके पश्चात् तुम्हारी नाड़ियों की शुद्धि होने लगेगी और उस शुद्धि के कारण शरीर में स्फूर्ति आयेगी, स्फूर्ति के कारण शक्ति दौड़ेगी। शीघ्र कार्य करेगी और जो बोध विचलित होता है, जो संस्कार आकर बाधा डालेंगे विनष्ट हो जायेंगे। स्थिरता आ जायेगी। और जब कोई इससे भी अधिक कुसंस्कारी मिल जाय तो छोड़ता नहीं। उसके कूष्माण्ड के बीज का काढ़ा पिला देना चाहिये। एक बार सायंकाल सोते समय ऐसा कर लेने पर सब शुद्ध हो जायेगा। शक्ति का उपासक रूक नहीं सकता, रह नहीं सकता, चलेगा, शक्ति जागेगी और शक्ति ही नहीं तो कुछ नहीं। सारे विश्व में विराट् शक्ति ही काम कर रही है, सबमें शक्ति है। बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है। सूर्य में आतप को फैला देने की शक्ति है। चन्द्र में शीतलता प्रदान करने की शक्ति है। आधार के भिन्न भेद होने से नाम भेद आये हैं। शक्ति एक है, विराट् विश्वव्यापिका है, चित्स्वरूपिणी है और यही चित्स्वरूपिणी शक्ति अपना वास्तविक रूप धारण करके अनन्त स्वरूपा हो जाती है।।ॐ ।।

शक्ति की उपासना के लिये और प्रारम्भिक बोध के लिये या संस्कारों की दृढ़भित्ति को तोड़ने के लिये उनको सुसंस्कृत कर देने के लिये इस प्रयोग को कर लेना, ध्यान में रखना। कल्याण होगा।। ॐ ।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् । विशिष्ट बोध सम्पन्नायै विशिष्टशक्ति संचारिकायै स्वयमेव शक्तिरूपायै नमस्ते सुशक्ति स्वरूपायै अलभ्यालभ्यज्ञानात्मिकायै सरस्वत्यै नमः।।

विशिष्ट बोध सम्पन्ना, विशिष्ट शक्ति संचारिका, स्वयमेव शक्तिरूपा, दुर्लभ अलभ्य ज्ञान देने वाली जागृता भगवती सरस्वती को नमस्कार है।

ॐ आत्मबोध प्रत्यभिज्ञाप्रकरणे साधकानां हितबुद्ध्या कल्याण भावनया च सर्वं सुलभरूपेण च प्रोक्तं पश्चाच्च विशुद्धि करणार्थं विशुद्धभाव स्थिरकरणार्थं औषधं प्रोक्तम् । पुनरपि च निगद्यते।।

आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा प्रकरण में साधकों की हितबुद्धि और कल्याण भावना से सरल और सुलभ रूप में सब कुछ कह दिया है, फिर विशुद्धिकरण और विशुद्धभाव के स्थिरीकरण के लिये औषध भी कह दी है, फिर भी कही जा रही है।

श्रूयतां औषधं दिव्यं श्रुत्वा कार्ये समाचरेत् ।

एवं स तत्त्वबोधस्य स्थिरभावो भविष्यति।।

दिव्य औषधियों को सुनलो और सुनकर उन्हें कार्य में लाओ। इसी प्रकार तत्त्वबोध का वह भाव स्थिर हो जायेगा।

साधके शक्तिपातं च संचारं च विबोधनम् ।

कृत्वा परीक्षयेत् तत्र कीदृक् शक्तिः समागता।।

साधक में शक्तिपात किस कोटि का हुआ, शक्ति का संचार करके उसके उद्बोधन की मात्रा आदि की परीक्षा करके देखना चाहिये कि शक्ति कैसी आई है।

गता या आगता वापि निश्चला सुस्थिरापि वा।

भूता वा नैव भूता वा कथं तद् ज्ञायते तदा।।

शक्ति गई है, आई है, निश्चित रूप में सुस्थिर हो गई है अथवा नहीं इस बात का परीक्षण किस प्रकार से होंगा।

एतच्चज्ञानबोधार्थं कृत्वा चैव परीक्षणम् ।

दिनत्रयेण वै तत्र औषधं कार्यकालके।।

इस प्रकार की जाँच और परीक्षण करके उस कार्यकाल में तीन दिन तक एक औषधि साधक को सेवनार्थ देनी चाहिये।

दातव्यं तच्च वक्षामि दिव्यं तत् परमोत्तमम् ।।

उसी दिव्य और परमोत्तम औषधि को यहाँ पर मैं बताती हूँ।

यदा साधकस्य विग्रहे शक्ति संचरणं क्रियते तदा तस्मिन्नेव काले शक्तिसंरक्षणाय पोषणाय तदुद्बोधनाय तद्विशिष्टसंचाराय तत्स्थिरीकरणाय बोधवृत्युदात्तभावनार्थं च तदा जपापुष्पाणां प्रयोगः विधेयः।।

जब साधक के शरीर में शक्ति का संचार किया जाता है तब उस समय शक्ति संरक्षण के लिये, उसके पोषण और उद्बोधन के लिये तथा उसके विशिष्ट संचार के लिये, उसके स्थिरीकरण के लिये, जपा कुसुमों को प्रयोग करना चाहिये। (गुड़हल)

पुष्पद्वयं चैव समागमे शुभं तच्चर्वणं कारयते च बुद्धिमान् ।

तदैव तच्चर्वणकार्यकाले ज्ञातं भवेद् बोधकमस्तियद् वा।।

बुद्धिमान् गुरू जपापुष्प के दो फूल शिष्य को चबाने के लिये दे देवे। तब शक्तिपात के समय उस फूल के चबाने से जो भी ज्ञानोदय होगा वह उद्बोधक होगा।

समागता या च महेश्वरी स्वयं सुशक्तिरूपेण विराजंते स्वयम् ।

सा वा च तत्रैव समागता न वा तद् ज्ञानमात्रं च ध्रुवं भवेत् ततः।।

शक्तिपात द्वारा शिष्य में जो शक्ति स्वयं गुरूद्वारा प्रविष्ट होकर विराजती है। वह शिष्य में आई है या नहीं यह बात भी अवश्य तभी ज्ञात हो जाती है।

एतद् ज्ञातव्यम् । तदा कुसुमद्वयं जपाख्यं चर्वणाय दातव्यम् । चर्वणान्ते जलं ग्रहणीयम् । पश्चाच्च न किमपि करणीयं भवति। तेन सर्वं ज्ञातं भवति। परिपुष्टं वा भवति। सुरक्षितं वा भवति। एतत् करणीयं विशेषरूपेण लाभप्रदं भविष्यति।। ॐ ।।

ऐसा समझना चाहिये कि दो फूल चबाने के लिये दे दो। चबाने के बाद जल ग्रहण कर लेना चाहिये। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता है। इसी से सब मालूम पड़ जाता है, या पक्का हो जाता है, और प्राप्त बोध या शक्ति सुरक्षित हो जाती है। इस का प्रयोग करना विशेष रूप में लाभदायक होता है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। साधक! सावधन। इस आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा प्रकरण में पूर्व में एक औषधि है, दिव्यौषधि है और जिसके फल के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है उसके फल के सेवन करने से, करा देने से सब प्रकार की बाधायें समाप्त हो जाती हैं। और उसके पश्चात् यदि ऐसा भी समय आ जाय और समर्थशक्ति-संचालक, समर्थशक्ति सस्पन्न, विशिष्ट शक्ति का प्रयोग कर रहा हो तो

उस समय यह भी ज्ञात कर लेना चाहिये कि शक्ति का प्रयोग किया है जो संचार किया गया है, उद्‌बोध किया गया है वह सुस्थिर होता चला जाय। कितना हो रहा है, कितना नहीं हो रहा है, यह ऐसी स्थिति वालों के लिये बताया जा रहा है, जब कि प्रारम्भ में ऐसी कोई बात आ जाय कि देखा जाय शक्ति का संचार किया जा रहा है, परन्तु मलविक्षेप ऐसे हैं कि जैसे मलसम्बन्ध लौह को चुम्बक आकर्षण में नहीं ला सकता है। अरे भाई ! शक्ति सम्पन्न में वह आकर्षण तो है, चुम्बक की वह कर्शिका शक्ति तो उसमें है, लेकिन लोहा तो वैसा नहीं है। मल का आवरण है और फिर मल आवरण के कारण कार्य कैसे हो सकेगा। मध्य में तो व्यवधान आ जायेगा। तो जब तक व्यवधान को दूर नहीं किया जाता कैसे कार्य बने। पूर्व में शक्तिपात के समय बताया गया था कि भस्त्रा प्राणायाम के द्वारा मल की विशुद्धि कर लेनी चाहिये। किन्तु सभी तो प्रारम्भ में कपाल भाँति और भस्त्रा नहीं जानते और उनको यह बार बार करना भी पड़ता है तो ठीक ही है। इसलिये एक बात बता रहा हूँ कि जब उसका मलावरोध हो रहा हो, व्यवधान कर रहा हो, और चाहे कर रहा हो, चाहे न कर हो, तो उस समय ऐसा कर लेना कि जपा-कुसुम है जो रक्त कुसुम है उसे वृन्त सहित लो। डण्ठल सहित लो। फिर जिज्ञासु साधक को, साधना में संलग्न होने वाले को कहो कि भाई दो पुष्प प्रातः सायं लेकर उनका चर्वण कर लो। चर्वण करने के पश्चात् स्वल्प मात्रा में जल ग्रहण कर लो और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। इसी से सब ठीक हो जायेगा इसका प्रयोग केवल तीन दिन ही करो। जब तक कि वह अपने रास्ते में हो किन्तु यह प्रयोग सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। इसकी परमावश्यकता है। उससे ज्ञान भी हो जाता है और बोध भी हो जाता है और संचार भी अच्छा हो जाता है। तो ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार कोई छूटने न पाय। सब का कल्याण को। मां का यही कहना है।

२८-१-६३ सायंकाल ।।१२६।।

वदनविभूषित कान्ति कान्तं कान्तवपुर्विभूषाम् ।

पूषासमाकृतिं च विभूषां भारतीभूषां वन्दे।।

सरस्वती की उस सुन्दर वेशभूषा को मैं प्रणाम करता हूँ, जिस पर उनके मुख की छटा पड़ रही है। उज्ज्वल शरीर की कान्ति से जिनके वेष अधिक उज्ज्वल हैं और जो सूर्य सदृश हैं।

अकलित कलित कलेवरां विकसितारविन्द भास्वराम् ।

सुरभितमरन्दमन्दिकां आनन्दकन्दिकां देवीं च तां वन्दे।।

अशरीरी होकर भी जो देह धारण करती है, खिले कमल की भाँति भास्वर है। सुगन्धित कमल गन्ध से पूर्ण, आनन्द की कन्द रूपा भगवती देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

परमबोध प्रस्फुटित मुकुलित हृदयां धृतसन्निहित बोधैक सुरक्षितैक भावाम् ।

अखण्ड खण्ड भावमण्डितां तां विचित्रशक्तिं वन्दे।।

परम बोध से प्रस्फुटित और मुकुलित हृदय वाली, प्राप्त हुए बोध को सुरक्षित करने वाली, अखण्ड और खण्ड भावों से मण्डित विचित्र परम अद्भुत शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

अपरां परमितामपरिमितां परापरात्मकामपरात्मिकाम् ।

सकलामकलामखण्डितखण्डितां मण्डितां विमण्डिताम् वन्दे।।

परिमित तथा अपरिमित, अपरा तथा परा, कलापूर्ण तथा कलाहीन, अखण्डित तथा खण्डित, खण्डन तथा मण्डन से विहीन शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

साधकानां परमार्थ तत्त्वदायिनीं दायिनीं-परमार्थ-बोध-साधिनीम् ।

राधिनीं सर्वयोगिजनैकवन्द्यां वन्दे च तां महाशक्तिम् ।।

साधकों को परमार्थ तत्त्व देनेवाली, परमार्थ बोध को सिद्ध करने वाली, सर्वयोगिजनों द्वारा वन्दनीय उस महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

महाशक्तिं परमोज्वलां परमपरमिकां आत्मिकां सुभाषिकां कंकात्मिकां काक्षरां कादिविद्यागमकारयित्रीं च वन्दे।।

परमोज्वल, परमपरमा, सुभाषिणी कंकात्मिका, काक्षरा, कादिविद्या की प्राप्ति करा देने वाली महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

साधकानां हिताय आत्मबोधप्रत्यभिज्ञाप्रकरणे सर्वं तदभिहितं यद् ज्ञात्वा सदैव मुदान्वितः आत्मबोध समन्वितश्च भवति। साधकानां मार्गबाधापसारणाय बोधस्य स्थिरकरणाय, भावभरणाय, सेतुतरणाय, सर्वत्र सर्वतो भावेन भावसंवरणाय नित्यक्रियारूपेण करणाय च सर्वमत्रैव कथितम् । दिव्यौषधं शीघ्रातिशीघ्र बहुफलदायकं निर्भीतिकं भीतिरहितं सर्वं तथापि ख्यातं अधुना प्रकरणस्य परिसमाप्ति पूर्वकं महत् सुलभं सुकरं औषधं च कथयामि।।

साधकों के हित के लिये आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा प्रकरण में वह सब कह दिया गया है जिसे जानकर सदा प्रसन्नचित्त होकर साधक आत्मबोध समन्वित हो जाता है। साधकों के मार्ग की बाधा हटाने के लिये, बोध के स्थिरीकरण के लिये, भाव-भरण के लिये, सेतुतरण के लिये, सर्वत्र सर्वतोभावेन भावसंवरणार्थ नित्य क्रियारूप में करने के लिये सब कुछ बता दिया गया है। शीघ्रातिशीघ्र बहुफलदायक भीति दूर करके निर्भय करने की बात भी कह दी है, फिर भी प्रकरण समाप्ति पर एक सुकर, सुलभ भी बात बता देती हूँ।

वला अतिबला या च या च प्रोक्ता महाबला।

सा सद्यः साधकेनैव शुभकाले क्वचिद् अपि।।

बला, अतिबला, महाबला ये तीन प्रकार की औषधियाँ होती हैं, जिन्हें साधक के उचित समय पर कभी कभी उपयोग में लेने के लायक होती है।

सा प्रोक्ता हि महाशक्तिः मण्डिता च महाबला।

कायस्य शोधनार्थाय रोधनाय च तत्परा।।

उक्त तीनों में से जो महाबला है, वह महाशक्ति-मण्डिता है। यह औषधि कायशोधन और शक्तिबल के स्थिरीकरण की क्षमता रखती है।

तदौषधं महत्प्रोक्तंआदातव्यं ध्रुवं ध्रुवम् ।

तस्यास्तु रसमासाद्य आस्वादं कुरू सुस्थिरम् ।।

वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण औषधि है उसका सेवन साधक को अवश्यमेव करना चाहिये। महाबला का रस लेकर समाहित चित्त से उस रस का सेवन किया करो।

त्रिविधा सा बला प्रोक्ता हित्वा सर्वं महाबला।

एका सा ग्रहणीया च या चैव कार्यसाधिका।।

वह बला तीन प्रकार की होती है। बला, अतिबला, महाबला। सबको छोड़कर तुम महाबला ही लेना। वही कार्यसाधिका बनेगी।

तस्यास्तु सेवनं प्रोक्तं सर्वत्र साधनाविधौ।

किन्तु मात्रा परिज्ञानं क्रियतां सारसंहतिः।।

सर्वत्र साधना विधि में उसका सेवन सभी काल में बताया गया है। बस, सार की बात यह है कि उसकी मात्रा का परिज्ञान कर लेना चाहिये।

तस्या रसं समादाय संरूद्ध्य साधकैः स्वयम् ।

तस्माद् ज्ञाते च काले च प्रयोगस्तु विधीयताम् ।।

साधक स्वयं निचोड़ कर उसका रस निकाल लें और जब आवश्यकता हो उसका प्रयोग कर लें।

एवं महाबलाभक्षणाद् रसास्वादनात् सर्वमवशिष्टं अगतिकं अवरूद्धं गतिमान् भविष्यति।।

इस भाँति महाबला के भक्षण से, उसके आस्वादन से बचा खुचा जो भी गत्यवरोध होगा वह दूर होकर गतिमत्ता आ जायेगी।

इति शक्तिपात विद्यायां आत्मबोध-प्रज्ञाप्रकरणे साधकानां हिताय क्रियामुद्रौषधिपरिज्ञानं सर्वं जितेन्द्र भारतीयस्य-मुखात् भाषितं तत्सर्वं सफलं भवतु साधकानां कृते।।

इस प्रकार शक्तिपात विद्या में आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा प्रकरण जो क्रिया मुद्रा और औषधि परिज्ञान से पूर्ण है, साधकों के हितार्थ है, जितेन्द्र भारतीय के मुख से निकला है, वह सब साधकों के कल्याणार्थ सफल बने।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। गोरख जोग जगावे। गोरख जोग जगावे। आत्मबोध के साधकों को, महाशक्ति के उपनामों को, योग के जिज्ञासुओं को और योग के मार्ग पर चलने वालों को अब तक जो कुछ भी बताया गया है, वह उनके परम हित के लिये बताया गया है, क्योंकि इतने में ताकत भी आ जायेगी। संचार तो होगा ही, चलेगा दौड़ेगा रहेगा नहीं और दूसरी बात यह है कि ऐसा भी समय आ सकता है कि साधना के अन्तर्गत जबकि चलता चलता, चलता चलता पथिक वहाँ बैठ जाय, अब न आगे जाता है और न पीछे हटता है, वहीं पर स्थिर हो गया। अरे भाई ! कैसे बैठ गया है ? चल भाई ! आगे चल, कहीं तो चल। आगे चल, पीछे चल, अच्छा तो फिर महाबला का बल मिला दो। चम्मचभर, थोड़ा सा चुल्लूभर पिला दो रस महाबला का तो फिर संस्कार हट जायेंगे। बाधा हट जायेगी, चल पड़ेगा। इस भाँति सब तरफ से सब भाँति से आत्मबोध

प्रत्यभिज्ञा प्रकरण में कही गई मुद्राओं का, क्रियाओं का और सुविधाओं का ज्ञान कर लेना। अभ्यास भी करवा देना, और स्वयं भी आवश्यकतायें जो महाशक्ति अपने अपने समय से सब ठीक ही कर देगी, पर जन-साधारण जो होते हैं वे घबरा जाते हैं, डर जाते हैं, इसलिये ऐसी भी बाधा न आने पावे, ऐसा करना कि ऐसी स्थिति में, बला, अतिबला, महाबला नाम की औषधियाँ हैं और जिनको हिन्दी में खरैंटी भी कहते हैं, खरहटी बोलते हैं उसमें से भी महाबला को ही लेना और ले करके कूट करके पानी मिलाकर थोड़ा रस निकाल लेना और तीन चार तोले पाँच तोले तक ऐसी स्थिति वाले साधक को पिला देना तो थोड़ी देर में सब उपद्रव शान्त हो करके शक्ति चालन का कार्य करने लगेगी और उसे द्विगुणित आनन्द का अनुभव होने लगेगा। शक्ति स्थिर हो ज़ायेगी और बोध भी स्थिर हो जायेगा। मार्ग में चलने का अभ्यास हो जायेगा, और चलने भी लग जायेगा। तो ऐसा कर लेना, सब साधकों का कल्याण होगा और उस कल्याण से कल्याण का वायुमण्डल तैयार होगा और जो चाहता हूँ उसमें सफलता होगी और शीघ्र होगी। आदेश। चक्रविद्या में आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा प्रकरण जितेन्द्र भारती के मुख से कहा सो बन्द।।

२९-१-६३ प्रातःकाल।।१२७।।

हरि ॐ तत् सत् । नमस्तेऽस्तुभगवत्यै जागृतस्वरूपायै ॐ ज्ञानैक मूलायै नमः।। एकं तत्त्वं च प्रणमामि यः सर्वभूतेषु विराजते।।

जागृतस्वरूपा ज्ञानैकमूला भगवती को नमस्कार है। जो सर्वभूतों में विराजमान एकतत्त्व है उसे भी प्रणाम करता हूँ।

तत्त्वानामेकानेका या शक्तिः या एकैव व्यापिका सुव्याप्ता तेषां सन्नियोजिका तां परमां महाशक्तिं सततं नमामि। अथ तत्त्वबोध प्रज्ञानप्रकरणाधिगमः।।

तत्त्व की एक व अनेक रूपा जो शक्ति है उन सबमें ओतप्रोत होकर उन का सन्नियोजन करके वाली उस परमा महाशक्ति को नमस्कार करता हूँ, अब तत्त्वबोध प्रज्ञान का अधिकरण आरम्भ किया जाता है।

अस्मिन् प्रकरणे तत्त्वज्ञानं शोधनं वा तत्त्वपरिशोधनं अन्यत् च सर्वमेव यत् किञ्चिदपि तत्त्वात्मकं समभिधास्यते तत्त्वानां विशेषोत्पत्तिः तत्त्वानां विभिन्न भेदिका च या शास्त्रकाराणां बुद्धिः तत्त्वशब्दस्य अर्थार्थं तमाराध्य तमादाय तत्त्वानामपरिमिता भेदा भवन्ति। तेषु तत्त्वार्थबोधस्तु वर्तते एव, किन्तु तत्त्वस्य यस्त्वेकोऽर्थः विधीयते इति।। ॐ ।।

इस प्रकरण में तत्त्वज्ञान तत्त्वशोधन के अतिरिक्त और भी जो कुछ तत्त्वामक बात बताई जायेगी वह है तत्त्वों की विशेषोत्पत्ति, तत्त्वों का परस्पर भेद करने वाली शास्त्रकारों की मान्यता, तत्त्व शब्द के अर्थ को लेकर तत्त्वों के अपरिमित भेद होते हैं। उनमें तत्त्वार्थ बोध तो रहता ही है, किन्तु तत्त्व को जो एक अर्थ है उसे भी इस प्रकरण में कहा जायेगा।

केचिद्वदन्ति पंचविंशतितत्त्वानि, अपरे वदन्ति पञ्चभूतात्मकानि तत्त्वानि, अपरे च नदेकमेव इति वदन्ति। केचिच्च वदन्ति तत्त्वं त्रिविधं चतुर्विधं, पञ्चविधं, नवविध, पञ्चविंशत् प्रकारकं तत् सर्वम् । अपरिहरणीयं परिहरणीयं किम् ? किं करणीयम् तावत् ?

कोई पच्चीस तत्त्व मानते हैं। दूसरे लोग पञ्चभूतों को ही तत्त्व मानते हैं। कोई तत्त्व को एक ही मानते हैं। कोई तत्त्वों के तीन भेद मानते हैं। कोई चतुर्विध, कोई पञ्चविध और कोई नौ प्रकार के और कई पच्चीस प्रकार के अब इन सब में किसे ग्रहण किया जाय, और किसे छोड़ा जाय। तो किया क्या जाय !

अत्र तु चक्रविद्यायां द्वितीयतत्त्वार्थप्रज्ञानविषये तत्त्वं पञ्चात्मकं ग्रहणीयम् । पञ्चानां समष्टिसमुद्भूता तत्रैव किंचिद् व्याख्येयम् ।।

इस चक्रविद्या में, द्वितीयतत्त्वार्थ प्रज्ञान विषय में पञ्चात्मक तत्त्वों का ग्रहण करना चाहिये। सभी तत्त्व इन्हीं पाँच तत्त्वों की समष्टि से समुद्भूत हैं इस बात की यहाँ व्याख्या की जायेगी।

तत्त्वानां ज्ञानमात्रेण कामदाश्च मनीषिणः।

तत्त्वज्ञातारकास्तस्मात् अनुभूतिपरो भव।।

तत्त्वों के ज्ञानमात्र से कई विद्वान कृतकृत्य समझ लेते हैं, किन्तु वे केवल तत्त्व ज्ञाता ही रह जाते हैं। इसलिये तुम अनुभूति करो और अनुभवी बनो।

ज्ञानानि सर्वतत्त्वानि नानुभूतानि वै यदा।

किं तेन ज्ञानमात्रेण अनुभूतिं विना हि यत् ।।

सब तत्त्वों को जान तो लिया, किन्तु अनुभव नहीं किया तो बिना अनुभूति के उस ज्ञान-मात्र से क्या लाभ है।

अथवा तत्त्वोधस्य तत्त्वानन्दनिबन्धता।

सापि ज्ञाता ततः किं च यावन्नानुभवं कृतम् ।।

अथवा तत्त्वबोध बताते हुए उसमें ही सन्तोष कर लिया तो फिर उसके जानने से क्या लाभ है, यदि अनुभव न किया।

अत एव च एतस्मिन् प्रकरणे प्रोच्यतेमया।

ज्ञानानुभूतिशोधश्च शोधः सर्वं भविष्यति।।

इस प्रकरण में मैं ज्ञान का शोधन और अनुभूति का शोधन बता ही हूँ। इसी शोध में सब कुछ समाविष्ट होगा।

यावन्न शुद्धिमायान्ति तत्त्वानि यानि कान्यपि।

तावत् कथं फलप्राप्तिर्भविष्यति कदाचन।।

तत्त्व जितने भी हों और जो कोई भी हों जब तक शोधित नहीं किये जाते हैं, तब तक फलप्राप्ति कैसे होगी, कभी नहीं होगी।

अत एव प्रवक्ष्यामि तत्त्वशुद्धिप्रदायकम् ।

यस्यानुभूतिमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते।।

इसलिये तत्त्वबुद्धि प्रदायक ज्ञान मैं कहूँगी जिसकी अनुभूति मात्र से योगसिद्धि हो जाती है।

अत्रास्मिन् प्रकरणे तदेवाभिधास्यते ।।ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष !

इस प्रकरण में वही तत्त्वशोधन बताया जायेगा। गोरक्ष ! गोरक्ष !!

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ । अब चक्रविद्या का द्वितीय समानाधिकरण खुल रहा है। जिसका प्रारम्भ हो रहा है वह है तत्त्वशुद्धि-प्रज्ञान। इस तत्त्वशुद्धि प्रज्ञान में बहुत कुछ सार सार में कहा जायेगा, पर सब होगा तत्त्व ही तत्त्व। यह तत्त्व क्या है ? तत्त्व भी तो एक चक्कर की बात है। यह तत्त्व क्या है। स्वतत्त्व है कि आत्मबल है कि आत्मतत्त्व है, कि मूलतत्त्व है, क्या तत्त्व है। पर सब तत्त्व ही तत्त्व है। इस लिये इस तत्त्व की विशेषता को जानते हुए इसका विशेष अर्थ ग्रहण करते हुए उनकी शुद्धि का प्रज्ञान होना चाहिये। प्रज्ञान शब्द का अर्थ केवल कोरा ज्ञान नहीं होता है। प्रज्ञान का तात्पर्यार्थ होता है, प्रकृष्ट ज्ञान जो अनुभूति के साथ संयुक्त हो। ज्ञानानुभूत्यात्मक ज्ञान को प्रज्ञान कहते हैं, तो यहाँ पर तत्त्व से हमारा तात्पर्य न उन पच्चीस तत्त्वों से है जो शास्त्रकारों ने कहा है, न दो तत्त्वों से न तीन तत्त्वों से, न नौ से। तत्त्व तो अलग अलग की बात है। वास्तव में तत्त्व तो ध्यान से देखो, तीन हैं। तीन में दो हैं और दो में एक हैं। तो तीन त्रैतवाद में आ जायेंगे। दो द्वैतवाद में आ जायेंगे और अन्त में एक तो अद्वैतवाद में ही आयेगा। तो ऐसी बात है कि जो अनेक तत्त्वों से मिलकर फिर एक ही तत्त्व की समष्टि में आ रहा है हमें उस तत्त्व में तात्पर्य ग्रहण करना है। तत्त्व का हम इस योग मार्ग में प्रारम्भ के लिये पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि का आधार लेंगे, और हमें यह बताना है कि इन तत्त्वों में जो तत्त्व है वह अपने अपने स्थान पर किस प्रकार शुद्धि को प्राप्त होता है। किस प्रकार अंश और अंशी भाव से उस शुद्धि का कार्य होगा, शोधन का तात्पर्य होगा और पश्चात् उस तत्त्व का ही जो बोध होगा वह आत्मबोध से ही सम्बन्धित होकर के परमात्मबोध तक पहुंचता चला जायेगा, और इस प्रकार त्रैत का द्वैत और द्वैत का अद्वैत हो जायेगा। सब एक में समा जोयगा। कुछ स्थिति ऐसी होती है जैसे जब प्रकाश हो गया तो सब वस्तुएं पृथक् पृथक् दिखाई देने लगेंगीं। अन्धकार हो गया तो एकाकार हो गई। तो इसी प्रकार से जब तक तत्त्व शुद्धि नहीं होती है तब तक इस घट से तत्त्व सब ऐसे गुप्त सुप्त पड़े हैं जिनमें चेतना नहीं, इसलिये उन में जो प्रकाश ज्योति भर दी गई है, अब यह देखना है कि वे तत्त्व कहाँ कहाँ कैसे कैसे क्या क्या काम करते हैं। कहाँ रूकते हैं। कहाँ जाते हैं ? उनका अनुभव जब हो जाय, तब योग का यह मार्ग परम ही सुलभ हो जायेगा। एक एक तत्त्व का ज्ञान, एक एक नाड़ी का ज्ञान और उसके शोधन की प्रक्रिया और उससे उत्पन्न होने वाला अनुभव जब साधक को हो जायेगा तब सम्पत्त्रय की प्राप्ति सुलभ हो जायेगी।

कायसम्पत्, भूतिसम्पत् और ऐश्वर्यमण्डितसम्पत् ये उसे प्राप्त हो जायेंगी और फिर वह अपने मार्ग पर समुचित रूप से बढ़ता ही चला जायेगा।

तो इस प्रकरण मात्र की भूमिका प्रस्तुत कर दी है। अब तत्त्व और शोध और प्रभाव की अनुभूति ज्ञान के सहित करा दी जायेगी।। ॐ ।।

२९-१-६३ सायंकालः ।।१२८।।

हरि ॐ तत् सत् ।

या शक्तिस्तत्त्वरूपेण सर्वत्रैव विराजते।

तां नित्यां नौमि शुद्धां च शुद्धिकारणकार्यकाम् ।।

तत्त्वरूप में जो शक्ति सर्वत्र विराजमान है उस नित्याशुद्धा तथा साधक की सभी प्रकार के कार्यकरण की शुद्धि करने वाली भगवती को प्रणाम है।

स्वयं या कारणं चैव कार्यं चैव स्वयं क्वचित् ।

तत्त्वेषु तत्त्वभूता सा तां नमामि सदाकुलाम् ।। ॐ ।।

जो भगवती कहीं पर स्वयं कारणरूप बनती है और कहीं पर कार्यरूपा बनती है और जो तत्त्वों के भीतर भी तत्त्व के रूप में व्याप्त है और सदा कुछ करते रहने में आकुल है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।

अत्र तत्त्वबोधक ज्ञानमित्यस्य विशिष्टार्थः करणीयः। तत्त्वं तदेव वर्तते यद् मूर्तिमत् शक्तिसमन्वितं कार्याकुलं जायते। तत्त्व चातत्त्वं च द्विविधं पदार्थव्यूहकं विद्योतने। शक्तिसमन्वितं शक्तिसंचारेण संचारितं संचालितं च यद् मूर्तिमद् विशिष्टरूपेण वर्तते दृश्यादृश्यस्वरूपं शक्तिसंवलितं तदपि तत्त्वम् । अपि च अशक्तिसंयुक्तं विगतशक्तिकं शक्तिरहितं अथवा अभ्यन्तर निहितशक्तिकं, न च प्रकटरूपेण बहिः समागतं पदार्थभूतमपि तत्त्वरूपेण प्रख्यायते।।

यहाँ पर "तत्त्वबोधक ज्ञान" इस शब्द का विशिष्ट अर्थ करना चाहिये। तत्त्व वही है जो मूर्तिमान् शक्तिसमन्वित होकर कार्य करते में आकुल बनता है। तत्त्व अतत्त्व ये दो प्रकार के सृष्टि में पदार्थ व्यूह हैं। शक्ति संचरण से हरकत में आनेवाला गतिशील होने वाला जो विशिष्ट रूप में मूर्तिमान होकर अदृश्य रूप में शक्ति से संयुक्त होता है वही तत्त्व है। अथवा जो पदार्थ शक्तिविहीन सा तो लगे किन्तु भीतर अप्रकट रूप में शक्ति छिपी हो, अभिव्यक्त न हो, उसे भी तत्त्व कहा जाता है।

पदार्थेषु अथवा द्रव्येषु द्रव्यस्वरूपेषु यत् तत्त्वात्मकं चैतन्योपहितं तत्त्वम् । अतएव सर्वत्रैव तत्त्वशब्दस्य संश्लिष्टता दृश्यते। पदार्थत्वमिति, आत्मतत्त्वमिति परमात्मतत्त्वमिति च एतद्विशेषण विशेष्यभावजन्यं केवलं शक्तिस्फुरणामात्रमेव।।

पदार्थों, द्रव्यों अथवा द्रव्यस्वरूपों में जो चैतन्य से संयुक्त तत्त्वात्मकता है, वही तत्त्व है। इसलिये तत्त्व शब्द की सर्वत्र संश्लिष्टता दीखती है। पदार्थ, आत्मा अथवा परामात्मा ये तीनों जब विशेष्य विशेषण बनकर कोई रूप प्रकट करते हैं तो वह और कुछ नहीं है, केवल शक्ति स्फुरण मात्र ही है।

यदा च कार्यसंचालिका शक्तिः नानारूपवती स्वरूपिणी स्वात्मन्येव निवेशयति तदा तु तत्त्वभूतमेकमेव वर्तते, अनुभूयते तत्त्वविद्भिः।।

जब कार्यसंचालिका शक्ति नाना रूपवती होकर अपने स्वरूप को अपने ही भीतर समाये रहती है तब तत्त्व एक ही है और यही तत्त्ववेत्ताओं का अनुभव है।

तत्त्वं सारं च सारं च तत्त्वं चेतनपद्धतिः।

तत्त्वं पदार्थ-व्यूहं च चैतन्योपहितं च यत् ।।

सार-सार वस्तु को तत्त्व कहते हैं। चेतन-पद्धति को भी तत्त्व कहते हैं। उस पदार्थ व्यूह को भी तत्त्व कहते हैं जो चैतन्य से उपहित रहता है।

अथवा तत्त्वमेतद्धि तत् त्वं येन च ज्ञायते।

सर्वत्र तच्च त्वं चैव तस्मातत्त्व विधीयते।।

अथवा तत्त्व इतना ही और वही है जिसके जरिये "तत् और त्वं" का ज्ञान होता हो। सृष्टि में सर्वत्र तत् और त्वं ये दो ही वस्तु हैं। इन दो से ही तत्त्व बनता है।

तच्चैव त्वं च इत्येव एकं द्वैत-विवोधकम् ।

सम्भूय तत्त्वमित्येत तत्त्वं तत्त्वं विराजते।।

तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ ये दोनों द्वैत और अद्वैत बनाते हैं। इन दोनों के पारस्परिक संयोग से ही तत्त्व, तत्त्व शब्द से कहा जाता है।

एकमेव शुभाकारं सर्वतः शक्तिवर्धकम् ।

तत्त्वं विशेषरूपेण ज्ञेयं तत् तत्त्वज्ञानिभिः।।

तत्त्वज्ञानियों का कथन है कि एक ही वस्तु परमप्रिय लगने वाली और शक्ति की वृद्धि करने वाली है, जो विशेष रूप में सर्वत्र व्याप्त है उसे ही तत्त्व कहते हैं।

पंचभूतं च यत् सर्वं व्यष्टिरूपेण विद्यते।

तत्त्वं तदपि ख्यातं च पंचतत्त्व विशेषतः।।

यह जो पंचतत्त्व व्यष्टिरूप में सर्वत्र व्याप्त है, उसे भी तत्त्व संज्ञा दी गई है। पञ्चपदार्थों के कार्याकुल संघात को भी तत्त्व कहा जाता है।

अत्र तत्त्वशब्दस्य विशेषार्थः ग्रहणीयः, तत्त्वं इत्यत्र च तस्य संगतिः, सा संगतिस्तु विशुद्धा भवति। शुद्धयभावे संगतिर्भवितुं न शक्यते। यावच्च तदित्यस्य त्वमित्यस्मिन् नास्ति संगतिः न तावत् तत्त्वं भवितुं शक्नोति। अत एव च तत्त्वशोधनप्रज्ञानं कथ्यते।।

यहाँ तत्त्व शब्द का विशिष्ट अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जब तत्त्व शब्द कहा जाता है तो उसमें भी उस विशिष्टार्थ की संगति है। वह संगति विशुद्ध है। शुद्धि के अभाव में संगति नहीं हो सकती है। शुद्धि के अभाव में तत्त्व सत्ता में नहीं आ सकता है। इसीलिए तत्त्वशोधन–प्रज्ञान कहा जा रहा है।

शुद्धिस्तु शोधनं शोधः क्षालनं धावनं तथा।

पावनं पूतकरणंतु शुद्धिस्तस्माच्च कथ्यते।। ॐ ।।

शुद्धि का अर्थ है– शोधन करना, शोध करना, क्षालन करना, धोना, पावन करना, पवित्र करना, इसीलिए इसका नाम शुद्धि होता है।

या च मार्गयते रूपं स्वरूपे च कृतार्थकम् ।

निर्मलं निष्कलं कृत्वा तदा शुद्धिः प्रजायते।।

जो अपना असली रूप ढूंढती है और अपना रूप पाकर कृतार्थ हो जाती है, वस्तु को निर्मल और निष्फल बनाकर, तब उसे शुद्धि कहा जाता है।

अत एव च योगेऽस्मिन् तत्त्वबोधो विशेषतः।

तस्मातत्त्वं च यश्चेच्छेत् शुद्धिभावं समाचरेत् ।।

तत्त्वार्थबोध बिना शुद्धि के कभी प्राप्त नहीं हो सकता है, इसलिए जो तत्त्व ज्ञान का इच्छुक हो उसे सर्वप्रथम शुद्धि करनी चाहिए।

सा च शुद्धिः तत्त्वानामेव भवति। पंचतत्त्वानां च विशेषरूपेण अस्मिन् योगे सा शुद्धिः प्रक्रियान्विता भवति। अत एव च शुद्धिकरणाय तत्त्वशोधनाय इदं सर्वं निगद्यते। येन च तत्त्वशोधप्रज्ञानं भवेत्, तत्त्वशोधन–प्रज्ञानाच्च त्वरया कार्यसिद्धिः। कार्यान्तरं योगमार्गाणां योगविधीनां वा परिशोधनम् ।।

वह शुद्धि भी केवल तत्त्वों की ही हुआ करती है। विशेषतया इस योग में पंचतत्त्वों की शुद्धि की प्रक्रियायें बताई गई हैं। इसलिए शुद्धिकरण और तत्त्वशोधन के लिऐ यह प्रकरण कहा जा रहा है जिससे तत्त्वशोधन–प्रज्ञान साधक को हो सके। तत्त्वशोधन प्रज्ञान से शीघ्र कार्य सिद्धि हो जाती है।

तत्परिशोधनात् सर्वं प्रतिभासते, निर्मलं चन्द्रवदित्यासमन्तात् तत्त्वशुद्धिः करणीया। अथवा तत्त्वानां शुद्धिः शक्तिसंचारणं स्वयमेव भवति। तदपि ज्ञेयम् । अनुभूतिपरकं च विधेयम् ।। ॐ ।।

उसके परिशोधन से सब कुछ प्रतिभासित हो जाता है जैसे निर्मल चन्द्रमा होता है इसलिए बाहर भीतर सब ओर से तत्त्व शुद्धि कर देता है। उसे भी जान लेना चाहिए और शक्तिपात की शुद्धि प्रक्रिया की अनुभूति भी कर लेनी चाहिए।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। तत्त्वशोध, तत्त्वशुद्धि, तत्त्वशोधन, तत्त्वप्रकाशन, तत्त्वज्ञान जो कुछ भी कहा जाय उसमें केवल भाव यही है कि तत्त्व का परिष्कार हो जाना चाहिए, उसके परिष्कार और परिमार्जन से जो एक प्रकार की मध्य व्यवधान की स्थिति होती है वह दूर हो जाती . जैसे कि समझने की बात है, एक ओर चुम्बक रख दिया जाता है एक ओर लौह रख दि जाता है, चुम्बक में लौह आकर्षण की शक्ति विद्यमान है, आकर्षण होगा ही। किन्तु यदि बीच में काष्ठ खण्ड का व्यवधान रख दिया जायेगा तो आकर्षण की शक्ति रूक जाती है। इसी प्रकार चेतन शक्ति द्रव्यों में अथवा पदार्थों में प्रवेश करती है, तब वे तत्त्व का रूप धारण कर लेते हैं, अन्यथा अतत्त्व ही रहते हैं। क्योंकि उनमें शक्ति संचार का विशेष बल नहीं होता है, जो यों समझना चाहिए कि तत्त्व की तो कैसी कैसी परिभाषायें दी गई हैं, तत्त्व के तत्त्व ज्ञानियों ने तरह तरह के अर्थ किये हैं। पर इस योगमार्ग में तो केवल जानने की बात इतनी ही है कि जो तत्त्व है अर्थात् पदार्थ है अर्थात द्रव्य है उनमें जो चैतन्य शक्ति निहित होकर के अपना कार्य कर रही है, तब वह तत्त्व कहलायेगी। जैसे पंचतत्त्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश को कहा गया है, तो ये तत्त्व का रूप तभी धारण करते हैं जब इनकी तन्मात्रायें चैतन्य से युक्त होकर कार्यवती हो जाती हैं और इस प्रकार हमारे इस शरीर के अन्दर ही, इन भूतों का, जिन्हें हम तत्त्व कहते हैं, समावेश है। और जब इनके इस समूह में इस व्यूह में, इस आकार में, इस प्रकार में, एक प्रकार की सुप्त शक्ति की जागृति होकर संचार होने लगती है तो उसके लिये मार्ग की सफाई भी तो होनी चाहिये। उस मार्ग की शुद्धि को वह चैतन्य शक्ति महामाया स्वतः करती है और उसके विशेष परिष्कार के लिये थोड़ा बहुत अनुभूतिजन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह भी अनुभव होता रहे कि कहां पर कौन तत्त्व है, उसकी कैसी शुद्धि हुई है, वह कैसा था और अब कैसा काम करने लगा है। जैसे कि थोड़ी देर के लिए समझा जाय कि इस शरीर में पृथ्वी तत्त्व विद्यमान है, तो पृथ्वी चैतन्य से युक्त होकर के इस शरीर के बाह्याकार को धारण किये हुए है और अपने साथ अन्य तत्त्वों को भी समेटकर रखे हुए है क्योंकि इनकी संहति है। संहति का तात्पर्य होता है परस्पर आकर्षण की शक्ति, तो अब जागृता शक्ति संचालन करने लगेगी, तब कहीं ऐसा न हो कि इन तत्त्वों

की, इन भूतों की संहति में विकृति आ जाय, तो उस विकृति का भी शोधन करना है, यह विशिष्ट अर्थ होता है। सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का शोधन करते हुए इस मार्ग में आगे बढ़ता है तो वह क्रिया मुद्रा और औषधियों से भी होती है और शक्ति के विशेष संचार से कहाँ कहाँ पर कैसा हो रहा है, इसके विशेष अनुभव से भी होता है, पर जैसे लौह और चुम्बक के मध्य में काष्ठ व्यवधान था, तो कोई भी मल विक्षेप व्यवधान रूप में चित्त विक्षेप अथवा अन्य विक्षेप कोई भी कभी आजाय, आ सकता है, आना तो नहीं चाहिए, तो उसका भी निःसारण, परिष्करण, परिमार्जन हो जाय। इसलिए इस प्रकरण को विशेष रूप से बताया जा रहा है। इस प्रकरण में इस ज्ञान की बात नहीं करते हैं कि तत्त्वों के पीछे दौड़े, तत्त्व कैसे हैं, किस किस को लेकर बने हैं, कौन कौन धर्म उनमें आये हैं। धर्म है कि धर्मी है। इसको जान करके करना भी क्या है। इससे योग तो सिद्ध होने का नहीं, जानना है कि तत्त्व का सामान्य और विशेष अर्थ क्या है और हमें कहां पर उसका शोधन करने को, अपने आपको आगे से जाकर शक्ति को संचारित करते हुए, शक्ति की तह पाते हुए, उसको बढ़ाते हुए एक विशिष्टानुभूति की दशा में आ जाना है। जहाँ जाकर जहाँ पहुंचकर जीवन चरम ध्येय आनन्दानुभूति है और विशिष्टानन्द अनुभूति ही सब कुछ है, उसे चाहो जिस नाम से घोषित किया जाय।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् ॐ ।। अचिन्त्याचिन्त्यरूपायै ज्ञानपरायै महाशक्त्यै भगवत्यै कुण्डलिन्यै जागृतस्वरूपायै धृतसरस्वतीरूपायैनमः। महाशक्तिं नमामि यां विना तृणमपि अग्रे प्रसारितुं न समर्थो जायते। अतएव तामावाहयामि, स्थापयामि, धारयामि च महाशक्तिं या अनुभूत्यैकाधारा।। ॐ।।

अचिन्त्याचिन्त्यरूपा ज्ञानपरा जागृतस्वरूपा महाशक्ति भगवती महाशक्ति को प्रणाम है जो सरस्वती रूप धारण करके अनुभूति परायणा बनती है। और उस महाशक्ति को प्रणाम है जिसके बिना एक तिनका भी आगे बढ़ने में समर्थ नहीं होता है। इसलिए अनुभूति की एक मात्र आधाररूपा महाशक्ति का आवाहन करता हूँ और स्थापित करता हूँ।

तत्त्ववोधप्रकरणं यत्प्रोक्तं तत्यत्सर्वं तत्त्वसिद्धिप्रदमेव विद्यते। तत्त्वानां भौतिकानां संशोधनम्, तस्य परिशोधनात् मार्गावरोधस्य क्षतिः। तस्माच्च अनुपलब्धा संस्थापिता सा अनुभूतिमयी एका शक्तिः संचारणाय बलवती भवति, अनुभूतिं च गमयति। यदा च साधनाकाले प्राप्यशक्तिकः अथवा शक्तिं समिच्छुकः अग्रे गन्तुमिच्छति, किंचिद्वा कर्तुमिच्छति, कृत्वा च प्राप्तुमिच्छति, तदर्थं तत्त्वशोधनं परमावश्यकम् ।।

तत्त्वबोध प्रकरण जो कहा गया है वह पूरा तत्त्वसिद्धि देने वाला है। सर्व-प्रथम भौतिक तत्त्वों का शोधन होता है। तत्त्व-शोधन से मार्गावरोध की क्षति होती है। उसमें एक अनुभूतिमयी अनुपलब्ध शक्ति साधक के भीतर स्थापित होकर संचरण करने के लिये बलवती बनती है और अनुभूति प्रदान करती है। जब साधनाकाल में शक्ति का इच्छुक अथवा शक्ति प्राप्त किया हुआ साधक आगे बढ़ने की कामना करता है, कुछ कर लेना चाहता है या उसे प्राप्त करना चाहता है तब उसके लिए तत्त्वशोधन करना परम आवश्यक होता है।

अस्तु। पूर्वं तावत् आधारशोधविषया वाह्यप्रक्रिया प्रोच्यते। वाह्यप्रक्रियानुभवात् अभ्यन्तर प्रक्रियायाः स्थिरीकरणत्वम् ।। ॐ ।।

अच्छा, आधार-शोधन के लिये बाह्यप्रक्रिया बताई जा रही है। बाह्यप्रक्रिया के अनुभव से अभ्यन्तर प्रक्रिया का स्थिरीकरण हो जाता है। उस समय ऐसा करना होगा।

आधारः सर्वभूतानां स्तम्भरूपेण प्रोच्यते।

आधारे शुद्ध संशुद्धे सर्वशुद्धिश्च दृश्यते।।

समस्त प्राणियों का स्तंभरूप एकमात्र आधार को ही बताया गया है। आधार के पूर्णतया शुद्ध हो जाने पर सब की शुद्धि दीख पड़ती है।

मूलाधारस्य वै शुद्धिरेका सा तु महामता।

वाह्याभ्यन्तर रूपेण आधारपूतिमाचरेत्।।

मूलाधार की शुद्धि ही एक मात्र बहुत महत्व रखती है। इसीलिये बाहर से और भीतर से साधक को मूलाधार की शुद्धि कर लेनी चाहिये।

यदा वै साधनाकाले साधकः साधनापरः।

प्रारम्भे साधनाकाले धातकीं शुभधातकीम् ।।

जब प्रारम्भिक साधनाकाल में साधक साधना के लिये तैयार होता है, तब उन दिनों मंगल दायिनी सुन्दर धातकी फल को-(आंवला)

गृहणीयात् स्वल्परूपेण दिनपञ्चात्मकं परम् ।

सरसं नीरसं वापि फलयामलकं च यत् ।।

पाँच दिन तक अल्पमात्रा में साधक को सेवन कर लेना चाहिये, वह आँवला फल चाहे सरस ताज़ा जो अथवा सूखा हो।

आमलमाम्लभावं च करोति तद्धि सेवनात् ।

स्वल्पं मात्रायुतं तच्च एकमामलसंख्यकम् ।।

सेवन किये जाने पर वह आमलक फल साधक में अपने ही जैसा आमलभाव पैदा करता है। वह फल छोटी जाति का हो और उसे एक या दो ले सकते हो।

यदिवा नीरसं तच्च चूर्णकं क्रियतां ततः।

सरसं प्राप्यते वापि तस्य भक्षणमाचरेत् ।।

यदि सूखा हो तो उसे पूर्ण कर लो और फंकी लेकर थोड़ा पानी पी जाओ। यदि ताजा सरस हो तो उसे चवर्ण भक्षण करलो।

येन मूलस्य या शुद्धिर्मलसंशोधनात्मिका।

तदा च आमला-शक्तिः शीघ्रं कार्यं करिष्यति।।

मूलाधार में जमे हुए मल की इससे पूर्ण शुद्धि हो जायेगी और आंवले की शक्ति शीघ्र कार्य करने लग पड़ेगी।

शीघ्रं च सा शक्ति समागता यदा संचारशीला चा स्वयं भविष्यति।

तदा वयस्काच्च तदैव काले धीमान् तदा आमलकं भजेत् ।।

साधक को प्राप्त हुई वह शक्ति शीघ्र ही संचारशीला बन जायेगी। इसलिये प्रारम्भ काल से ही बुद्धिमान साधक को आमलक फल का सेवन कर लेना चाहिए।

कृते च एवं शुभ कार्यकालके मूले च शुद्धे परितोषसम्पत् ।

आयाति काये च समानरूपा चित्ते च वै सा प्रकरोति स्थानम् ।।

इस भाँति साधना के प्रारम्भिक शुभमुहूर्त में आँवले का सेवन करने पर मूलाधार की शुद्धि होकर साधक परितोष–सम्पदा प्राप्त कर लेता है। वह शुद्धि समान रूप से चित्त में भी शुद्धि का प्रभाव डालती है और सन्तोष की स्थापना करती है।

अतएव एतत् करणीयम् । एतेन भूतशुद्धिः प्रजायते। भूतशुद्धिकरणेन जागृता भगवती महामाया कुण्डलिनी बलवती भवति। स्वयमपि च मलापसारणाय प्रस्तुता जायते।। ॐ ।।

अतः यह प्रयोग कर लेना चाहिये। इससे भूत शुद्धि भी हो जाती है। भूतशुद्धि से जागृता महामाया भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति बलवती बनती है और स्वयं ही मल का अपसारण करने का प्रस्तुत हो जाती है।

गोरखवाणी :– अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन। तत्त्वबोध–प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि तत्त्वों की शुद्धि वायु व आभ्यन्तर रूप से कैसे होगी। तो बाह्य रूप से समस्त पृथ्वी जल आदि तत्त्वों की शुद्धि का विषय औषधि और क्रियाओं से होगा, और भीतरी शुद्धि उनके अन्दर शुद्धि होने पर स्वयं ही भीतर ही भीतर प्राप्त शक्ति जो शक्ति दी गई है, उपलब्ध हुई है, संचारित हुई है, समर्थ गुरू के पास से आई है, वह वहाँ तब शीघ्रातिशीघ्र बलवती होती हुई आगे बढ़ती चली जायेगी, आधार की पुष्टि हो जायेगी। आधार की शुद्धि हो जायेगी। आधार ही तो सब में बड़ी वस्तु है। आधार शुद्धि हो जाने पर बहुत कुछ हो सकता है। इसलिये बहुत लम्बी क्रिया प्रक्रिया और औषधि आदि के चक्कर में योगाभ्यासी को नहीं जाना है। अरे । वह अपना योगाभ्यास करेगा, महामाया शक्ति की आराधना करेगा, उसकी कृपा की अनुभूति का फल प्राप्त करेगा कि चक्कर में पड़ा रहेगा। अब ऐसा समय नहीं है। स्वल्प समय में स्वल्प सिद्धि, स्वल्प शुद्धि, स्वल्पबोध, स्वल्प अनुभव, ज्ञान सब कुछ आ जाना चाहिये। फिर तो सब कुछ चलता रहेगा। इसलिये भाई ! पूताँ ! ऐसा करो कि मूल के शोधन के लिये जो धातकी है, जिसे आँवला भी कहते हैं, आँवले के फल एक, दो, तीन पर्यन्त ले लो। चाहे वे सूखे मिलें, चाहे सरस मिल जाँय, दोनों तरह से इसका प्रयोग इस तरह करना। यदि शुष्क मिलें तो उसका चूर्ण कर लेना और यदि सरल मिले, एक ले लेना, दो ले लेना, तीन ले लेना, स्वल्पमात्रा वाले और लघुमात्रा वाले और जब साधना काल चल रहा हो, जब प्रारम्भिक काल हो तो उसमें केवल शयन के समय उनका सेवन कर लेना, अधिक जल पीने की जरूरत नहीं है। तीन या पाँच दिन। इतना तो सरलता से हो ही सकता है। तो इससे क्या होगा, इससे

बहुत बड़ी बात होगी। जो मूलाधार का आधार पृथ्वी तत्त्व है उस पृथ्वी तत्त्व का मल शोधन होकर उसमें दृढ़ता आ जायेगी। और उसी तरह निर्मलता आने लग जायेगी जिस प्रकार आमले के फल में निर्मलता होती है। और उसके स्वाद को देखो, आमलक भक्षण करने पर यदि ऊपर से जल ग्रहण कर लिया जाता है तो बहुत मधुर हो जाता है। तो ऐसे ही जब आमलक भक्षण करके उसकी सत्ता उसका प्रभाव मूलाधार पर पड़ेगा तो जल प्रदान करने से उसमें मधुरता आ जायेगी। तो स्वच्छन्दता आयेगी, स्वच्छता आ जायेगी, इसीलिये और साधक आधार का बल लेकर के जो शक्ति उसे दी गई है, उसको पकड़ के बढ़ता हुआ चला जायेगा। इसलिये तत्त्व शोध की बात बताई जा रही है और इसके बताने का एक कारण यह भी है कि ठीक-ठीक तत्त्व की शुद्धि का ज्ञान और उसका अनुभव हो जाने पर निर्विघ्न मार्ग हो जाता है। इसीलिये मार्ग की निर्विघ्नता के लिये तत्त्वों का शोधन भी जान लेना है।।

ॐ ।।

३०-१-६३ सायंकाल ।।१३०।।

हरि ॐ तत् सत् ।। ॐ ।। निर्मलां निर्मलकारिणीं निर्लिप्तां निःशेषशेषितां तां वन्दे क्रियावतीं क्रियारूपां स्वयं सिद्धां सरस्वतीम् ।।

निर्मलकारिणी निर्मला निर्लिप्ता निःशेष रूप में शेष रहने वाली उस क्रियावती क्रियारूपा स्वयंसिद्धा सरस्वती भगवती को प्रणाम करता हूँ।

या च स्वयं वै निर्मला निर्मलं च करोति सर्वं ताम् ।

नमामि निर्मलाधारां नां भूतहितैषिणीम् ।। ॐ ।।

जो स्वयं निर्मल है और सब को निर्मल बना देती है उस सर्वभूत हितैषिणी निर्मल आधार वाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

तत्त्वानां च विशोधनं विधियुतं कुर्याच्च सत्साधकः

तेषां निर्मलरूपरूपकरणात् मार्गे न बाधा भवेत् ।

तस्मान्नित्यमबोधबोधपरकं तत्त्वं च संशोधयेत्

एवं यश्च करोति शोधनविधिं कल्याणभाक् सः भवेत् ।।

उत्तम साधक को चाहिये कि वह विधिपूर्वक तत्त्वों का विशोधन करले, उनका रूप निर्मल कर देने से मार्ग में बाधा नहीं होती है। इसलिये अबोध की प्रतीति देने वाले मलिन तत्त्वों का सदा शोधन कर लेना चाहिये। इस भाँति जो साधक शोधनविधि करता है वह कल्याण का भाजन बनता है।

आधारं पुष्टिसम्पन्नं निर्मलं पीठसंज्ञकम् ।

धरापीठं च संशुद्धं जायते न भयं ततः।।

मूलाधार जो पृथ्वीपीठ कहा गया है, वह पुष्टि सम्पन्न हो जाता है, निर्मल हो जाता है और पूर्णतया शुद्ध हो जाता है और तब साधक को कोई भय नहीं रहता है।

यदा च शक्तिरायाति तदा वै तत्र पीठके।

यदि वै सारहीनत्त्वं कुतः शक्तिः स्थिरा भवेत् ।।

उस मूलाधार के पृथ्वी पीठ में शुद्धि के अनन्तर ही शक्ति आती है। यदि मूलाधार अशुद्ध और निर्बल होगा तो वहाँ शक्ति स्थिर नहीं रह पायेगी।

तस्मान्मूलं दृढं कृत्वा आधारं निर्मलं तथा।

पुष्टाधारे च मूले च शक्तिः कार्यवती भवेत् ।।

इसलिये मूल को दृढ़ करके आधार को निर्मल बना लो। मूलाधार के पुष्ट होने पर शक्ति स्वयं क्रियाशील बनती है।

यदि वा नैव संशुद्धिः बलयुक्तं न पीठकम् ।

पतनोत्पतनं कृत्वा शक्तिस्तु चलिता भवेत् ।।

यदि मूलाधार की शुद्धि नहीं होगी और धरापीठ बलवान् नहीं बनेगा तो शक्तिपतन व उत्पतन करके क्षरित हो जायेगी और चली जायेगी।

तस्माद् दत्तावधानेन साधकेन पुनः पुनः।

मूलसंशोधनं कृत्वा प्रारम्भे शक्तिमाप्नुयात् ।।

अतः सावधान होकर साधक को निरन्तर प्रारम्भ काल में मूल-संशोधन करके शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये।

तदर्थं यच्च वै प्रोक्तं आमलं धातकीफलम् ।

आसमन्तान्मलं तत्वं दूरं तद्वै करोति यत् ।।

उसके लिये जो धातकीफल आँवला जो बताया गया है, आमल अर्थात् आ माने चारों ओर से अमल अर्थात् मल को दूर कर दे, इस अर्थ वाला वह मलशोधन कर देता है।

तस्मात्तदामलं प्रोक्तं आमलं आमलाभिधम् ।

आमं अपक्वतां लाति दूरं यच्च करोति वै।।

आमल यह नाम इसीलिये उसका है कि वह अमल कर देता है। अथवा अपक्व वस्तु को जो दूर करदे। आम अर्थात् अपक्व

तस्मात्तत् प्रोच्यते लोके आमलं आमलं फलम् ।

तस्य सेवनमात्रेण धरापीठं दृढं भवेत् ।।

इसीलिये लोक में इस फलको आमलफल की संज्ञा प्राप्त हुई है, उसके सेवन मात्र से ही धरापीठ दृढ़ हो जाता है।

अथवा निर्मला मुद्रा[१६] कर्तव्या च बुधैः सदा।

निर्मला मलहानिश्च भूयों भूयः करोति सा।।

अथवा समझदार साधक को चाहिये कि निर्मला मुद्रा करे। निर्मला मुद्रा बराबर करते रहने से मल दूर होता चला जाता है।

पूर्वं तु रेचकं कृत्वा हस्तौ च निम्नभागके।

उदरे पीडयेत् तत्र बारं बारं तथा पुनः।।

पहिले रेचक कर लो। फिर दोनों हाथों की अंगुलियों से नाभि के नीचे के भाग को बार-बार दबाओ। कई बार ऐसा करो।

तत्र या नाडिका दीर्घा सा च वै मलयूथिका।
मलावरण सम्पन्ना मलं विस्तारयत्यसौ।।

मलकी गठरी जमा करने वाली एक लम्बी नाड़ी है। उसके भीतर सारा मल जमा रहता है, और वही नाड़ी मल का विस्तार किये रहती है।

तदा तां निर्मलां मुद्रां कृत्वा मलव्यपोहनम् ।
कुर्याच्च साधकस्तस्मिन् काले वै ध्यानयोगके।।

इसलिये निर्मला मुद्रा करके मल को नष्ट कर दो। इस ध्यानयोग में शक्तिपात में साधक को निर्मला मुद्रा भी करनी चाहिये।

अथवा वटवृक्षस्य त्वगादाय च स्वल्पकम् ।
जलेन सह संपिष्टां कृत्वा तस्य निपेषणम् ।।

अथवा बड़ के पेड़ की सूखी छाल लाकर उसे जल के साथ चन्दन की भाँति घिस कर उसको नाभि में और उसके चारों ओर लेप कर लो।

कुर्यान्नाभिगते भागे साधनायां यदा भवेत् ।
एकैनौषधमात्रेण सर्वं तन्निर्मलं भवेत् ।।

जब साधना में बैठों तब एक ही इस औषधि से सब निर्मल हो जायेगा। इस औषधि का प्रयोग साधना में बैठने से पहिले करना चाहिये।

मूलं मूलात्मकं नित्यं मूलाधारं दृढं भवेत् ।
एतत् सर्वं यदा चेच्छेत् कुर्याच्चैव सुसाधकः।।

जैसे वृक्ष के लिये उसकी जड़ का दृढ़ होना महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार शरीर के लिये मूलाधार का स्थान है। उसे दृढ़ बनाना चाहिये, आवश्यकतानुसार यह सब कर लेना चाहिये।

अनेन मलसंशुद्धिः तत्त्वशोधश्च जायते।। ॐ गोरक्ष ! गोरक्ष !

इस प्रयोग से मलशुद्धि और तत्त्व शोधन दोनों हो जाते हैं।

गोरक्षवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन। तत्त्वशुद्धि के इस प्रकरण में सब विषयों का परित्याग करके केवल साधक की हितबुद्धि से यह बताया जा रहा है कि जिस समय साधक के शरीर में शक्ति का संचार होने लगे, तो जहाँ संचरित हुई, वहाँ पर जो मूलाधार है, जो मूल में आधार है, जो पृथ्वी पीठ है, या धरापीठ है, या धरातत्त्व है, उसको निर्मल होना चाहिये, और पुष्ट भी, जब उसमें पुष्टि आ जायेगी, तो आई हुई, प्राप्त हुई शक्ति वहाँ पर स्थिर होकर आगे बढ़ने लगेगी। नहीं तो मलयुक्त होने के कारण

अथवा दृढ़ न होने के कारण वहीं पर नीचे, नीचे, ऊपर घेर में बंधी रहेगी और बड़ा विलम्ब हो जायेगा। तो जिससे विलम्ब न हो शनैः शनैः आगे प्रसार होता रहे उसका मलशोधन और पुष्टि भी कर लेनी चाहिये। ये केवल ज्ञान की ही बातें हैं, अनुभूति की बातें हैं। इन अनुभूति की बातों में महातत्त्व का शोधन है, तो इसलिये इनको बताया जा रहा है। सब तरफ से कहीं से भी शक्ति का क्षरण न होने पाय, आगई है शक्ति, प्राप्त हुई शक्ति, हो गया है अनुग्रह, तो फिर उसकी व्यर्थता नहीं होनी चाहिये, वह काम तो करेगी ही, पर हो सकता है कि कभी उसका जागरण स्वप्न और सुषुप्ति हो जाय। वहीं गोते चक्कर में लग जाय, तो बाधायें न आयें, तो बताया गया है कि आंवले का सेवन कर लो। उसका नाम ही आमल है। आ मल, सब तरफ से जो मल को दूर कर देता है। स्वयं जैसी उसकी आकृति है उसी भाँति निर्मल करता है, चमका देता है, तो उसका सेवन कर लेना। उसको अमल कहते हैं। आम माने कच्चा, जो पका न हो। और ला माने दूर कर देता है। तो कचरा पचरा है उसे दूर कर देता है। उसकी ऐसी शक्ति है, इसलिये उसका सेवन कर लेना। वह ऐसा काम करेगा। एक तो मल को दूर करेगा और दूसरे मूलाधार को पुष्ट करेगा। जिसमें शक्ति आ जायेगी। तो फिर दृढ़ हो के आगे बढ़ जायेगी। दूसरी बात बताई गई है कि सब के हित की न हो तो निर्मला मुद्रा लगा लो। इस का नाम ही निर्मला है। जोखिम को दूर कर देती है। उदर भाग का जो निम्न भाग है उसमें रेचक कर देखो। नीचे श्वास छोड़कर देखो, वहाँ पर एक मोटी नाड़ी होगी जो मल की पूरी शक्ति को अपने में समेटे रहती है। तो दोनों हाथों को दोनों ओर ले जाकर कटिभाग को दबाओ; तो नाभि और उपस्थभाग के बीचों बीच जो मोटी नाड़ी है तो खड़ी हो जायेगी। न हो तो उसे अंगुलियों से भी दबा सकते हैं। आंशिक भी दबाओ तो थोड़ी देर करने में चार दिन में मल दब जायेगा और वह निर्मल मुद्रा पूर्ण हो जायेगी। भाई ! ऐसा भी न कर सको तो एक उपाय और बताया जाता है। मूलाधार के शोधन के लिये और उसको पुष्ट करने के लिये वट वृक्ष, जिसे बरगद भी कहते हैं, बहुत होता है, सब जानते हैं, बहुत लाभदायक है। उसके कार्यों का वर्णन करना बहुत कठिन है। उसकी त्वक् है, छाल भी कहते हैं, तो ऊपर से नीरस हो, सूखा हुआ हो, उसे लाओ और पानी में, चन्दन घिसते हैं, घिसो। तब जब साधना में बैठते हो, तो दो या चार दिन या पांच दिन तक उसे नाभि में लगाओ। लेप कर दो, तो नाभि में लगाओ। लेप कर दो, नाभि पर असर करेगा, और मूलाधार पर भी।

ऐसी इसकी शक्ति है जैसी इसकी जड़े नीचे ही जाती हैं, चली जाती हैं, जमती जाती हैं तो नाभि पर लगाने पर भी वह मूलाधार तक चला जायेगा, उसका असर होगा, उससे मल दूर होगा। इस प्रकार जो मूलाधार है, पृथ्वी तत्त्व है उसका शोधन कर लो और निर्मल होकर अपने मार्ग पर बढ़ते चले जाओ, जो तुमको कृपा से उपलब्ध शक्ति है उसको बढ़ाते चले जाओ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । भगवती परमात्मिका परमस्वरूपा च या तां नमामि अधीश्वरीम् । अवधूतकल्मषां अपरिमितां धौतविग्रहामूलां मूलात्मिकां मूलांकितां मूलिकां वन्दे।। ॐ ।।

परम स्वरूपा परमात्मिका भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ। कल्मष को दूर करने वाली, मूल से लेकर पूर्ण शरीर को धो देने वाली मूलात्मिका मूलाङ्किता मूलिका भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

सर्वं सर्वहिताय वै प्रकटितं शास्त्रं इदं लाभदम्
यद् ज्ञात्वा अनुभूय यच्च सरलं मूलस्य संशोधनम् ।
कुर्यात् साधकसत्तमः सुनितरां मूलं च तं क्षालयेत्
एवं मूलविधौ च शोधनविधौ कल्याणमाप्राप्यते।।

इस सम्पूर्ण लाभप्रद शास्त्र को सर्वजन के कल्याण के लिये प्रकट किया गया है, जिसे जानकर और अनुभव में लाकर सरलता से साधक मूलाधार का शोधन कर लेगा। उत्तम साधक और अच्छी लगनवाला साधक भलीभाँति मूल का पालन करता रहे। इस प्रकार मूलाधार की शुद्धविधि में साधकों के लिये कल्याण निहित है।

तस्मान्मूलस्य शोधाय रोधाय शक्तितत्त्वके।
वटस्य फलमादाय चूर्णं कृत्वा मसृण्णकम् ।।

अतः मूलशोधन के लिये और शक्ति को अपने भीतर रोकने के लिये एक उपाय यह भी है कि बड़ के फल लाकर उनका बारीक चिकना चूर्ण बना लो।

लघुमात्रासमाकारं निशीथे पयसा सह।
दिनत्रयेण तच्चूर्णं सेवितव्यं च साधकैः।।

रात्रि को अल्पमात्रा में दूध के साथ फंकी लेकर सोने के पूर्व इसका सेवन तीन दिन तक कर लो।

चूर्णेन तेन मूलस्य मूले मूलं दृढं भवेत् ।
विशुद्धं मलहीनं च शुक्रस्य रक्षणं भवेत् ।।

इस चूर्ण के सेवन से, वट वृक्ष की मजबूत जड़ों की भाँति साधक के मूल में भी मजबूती आयेगी, मूल विशुद्ध और दृढ़ होकर शुक्र की रक्षा भी होती रहेगी।

कदाचित् मलशुद्धौ हि वीर्यस्य क्षरणं भवेत् ।

तस्य संरक्षणार्थं च चूर्णमेतत्तु सेवयेत् ।।

मलशुद्धि की प्रक्रिया की अवधि में कभी कभी वीर्य का क्षरण भी हो सकता है। उसके संरक्षण के लिये इस चूर्ण का सेवन कर लेना चाहिये।

सेविते चूर्णके पुष्टे क्षतिस्तस्य न जायते।

शुक्रस्य पूर्णिका पुष्टिर्मात्रा एषा करिष्यति।।

इस चूर्ण के सेवन से मूलाधार की पुष्टि भी हो जायेगी और किसी प्रकार की वीर्य सम्बन्धी हानि नहीं होगी। इस चूर्ण की यह मात्रा वीर्य की पुष्टि कर देगी।

एतत्तेनैव कर्तव्यं येन आमलकं धृतम् ।

भक्षितं चूर्णकं तस्य तदर्थं प्रोच्यते हितत् ।।

यह प्रयोग उसी को करना चाहिये जो साधक आँवले का सेवन कर रहा हो और जो आँवले का चूर्ण खा रहा हो। उसी के हित के लिये यह है।

यदा वा निर्बलं तत्त्वं मूलशोधन कालके।

प्रतीतं च भवेत् तत्र तदा चूर्णं शुभं भवेत् ।।

जब यह मालूम पड़े कि मूलशोधन में कुछ कमी है या निर्बलता है तभी यह चूर्ण शुभ कारक होता है।

एतत् पुष्टिकरं प्रोक्तं शुक्रसंरक्षणात्मकम् ।

शुक्रे च रक्षिते जाते मले संशोधिते सति।।

यह चूर्ण पौष्टिक है और इससे वीर्य का संरक्षण भी होता है। शुक्र रक्षा हो जाने पर और मल शोधन हो जाने पर यह होगा कि –

तदैव शक्तिसंबोधः प्रगतिं याति सत्वरम् ।

अतः परं तदा ध्येयं मूलस्य शोधनं कृतम् ।।

तभी शक्ति का संबोध होकर शीघ्र ही शक्ति ऊपर की ओर प्रगति करने लगेगी। तदनन्तर समझना चाहिये कि मूल का शोधन सम्पन्न हो गया है।

तत्र च धरिणी तत्त्वं पुष्टं पुष्टं भविष्यति।

मूलस्य शोधनात् पश्चात् स्वाधिष्ठानस्य शोधनम् ।।

उस काल में पृथ्वी तत्त्व लगातार पुष्ट होता चला जायेगा। मूल के शोधन के अनन्तर स्वाधिष्ठान का शोधन आता है–

प्रोच्यते सर्वमेतद्धि साधकैः क्रियतां ध्रुवम् ।।

उसे भी कहा जा रहा है। साधक लोग इसे भी अवश्य कर ल।

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरखवाणी :- ॐ । अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अब इस तत्त्व शोध प्रकरण में मूलाधार की शुद्धि बताई जा रही है, क्योंकि मूलाधार ही पृथ्वी तत्त्व है और पृथ्वी तत्त्व के शोधन हो जाने से पीठ और पीठ का आधार दोनों शुद्ध हो जाते हैं। आधार में पुष्टि आ जाती है, तो इसके लिये तत्त्वशोध प्रज्ञान बताया जा रहा है। इस शोध प्रकरण में सबकी शुद्धि का, पुष्टि का ही विषय होगा। हमने जैसा बताया है कि मूलाधार की शुद्धि, पृथ्वीतल की पुष्टि बताई है, इसको कर लेना, दो बात और बताई है कि साधक जब अपने साधनाकाल में आमलक भक्षण करता है, अरे आमले का चूर्ण खाता है, फल खायेगा तब नहीं, चूर्ण खायेगा, तब उस समय उस चूर्ण के सेवन से ऐसा हो सकता है कि वह विशेष मल को इधर उधर से निकाले। गुदा भाग को संचित करे, मल की उन पंखुड़ियों को भी निकाल दे जो अपना घर जमा करके इधर उधर बैठ गई हैं, अथवा जो शुक्रदोष की दशा में इधर उधर घेरे हुए हैं, उनको भी वह ठीक करेगा। तो ऐसे समय में, जब आंवले के चूर्ण का सेवन कर रहा हो तो ऐसा भी कर ले कि आंवले के चूर्ण के सेवन करने के थोड़ा पश्चात् जो वट के फल हैं, लाल लाल होते हैं, कच्चे कच्चे होते हैं। पके भी होते हैं, कच्चे भी होते हैं उनको लाकर के पीस करके उनका भी चूर्ण बना लो और स्वल्प मात्रा में कुल्लू दो कुल्लू, चुल्लू दो चुल्लू दूध के साथ उसको भी सेवन कर ले। उसके सेवन करने से दो बातें होंगी। मलशोधन तो वह आमलक के साथ मिलकर पूर्ण रूप से करेगा ही, पर जहाँ जहाँ शुक्र के दोष होंगे उन शुक्र के दोषों को भी ठीक करता हुआ शुक्र की पुष्टि करेगा। क्षरण नहीं होने देगा तो शुक्र क्षरण का भय नहीं रहता है और फिर इस प्रकार इस आधार तत्त्व की शुद्धि हो जाती है। इसकी शुद्धि हो जाने के पश्चात् सब सुलभ हो जाता है और इसके पश्चात् जब आगे चल के अधिष्ठान चक्र जिसको स्वाधिष्ठान चक्र भी कहते हैं जो नाभि और गुदा भाग के ऊपर का जो भाग है, नाभि के नीचे गुदा भाग के ऊपर, नाभि के ऊपर से एक छोटी सी नाड़ी चली गई है। वह नाड़ी गुदभाग के मूलभाग के ऊपर ही आकर के रूक जाती है, जहाँ जलतत्त्व की प्रधानता है तो उसका भी प्रकरण पुनः प्रारम्भ किया जायेगा। इस प्रकार मूलाधार तत्त्व शोधन प्रकार को समझ करके उसका प्रज्ञान समझ लेना चाहिये। अर्थात् ज्ञान के साथ अनुभूति भी कर लेनी चाहिये। उससे जो लाभ हो उसको अच्छी तरह देख लेना चाहिये। समझ लेना चाहिये। इस प्रकार साधक के मार्ग में बाधा दूर होती चली जायेगी। और साधना में चित्त लगता चला जायेगा। शक्ति बढ़ती चली जायेगी। ॐ ।

३१-१-६३ सांयकाल ।।१३२।।

हरि ॐ तत् सत् । परिपूरिताङ्गीं सकलबलभूषितां लिङ्गात्मिकां प्रकटितविभासभासमानां नमामि ताम् । अत्र तत्त्वशोध प्रज्ञान प्रकरणे स्वाधिष्ठानस्य तद्विषयेणात्र किञ्चिदित्यभिधीयते सर्वं प्रज्ञानं स्वानुभूतं च भविष्यति।।

परिपूर्ण भरे हुए अंगों वाली, समस्त बलों से भूषित, लिङ्गात्मिका, अपनी ही प्रकटित कान्ति से भासमान देवी को मैं प्रणाम करता हूँ। यहां तत्त्वशोधन-प्रज्ञानप्रकरण में स्वाधिष्ठान के विषय में जो कहा जा रहा है, उसे समझकर स्वयं अनुभव कर लोगे।

स्वाधिष्ठानं मध्यस्थितं उभयात्मकं केचिद्वदन्ति, अपरे च न स्वीकुर्वन्ति। तत्रैव कुलाधारपरायणाः समुदारधाराधारायणा वा स्वाधिष्ठानविषये एवं वदन्ति।।

कुछ लोगों का कहना है कि स्वाधिष्ठान मध्यस्थित होने के कारण उभयात्मक है। दूसरे ऐसा नहीं मानते हैं। इसी पर कुलाधार परायण समुदार सम्प्रदाय वाले ऐसा कहते हैं कि -

कुलाचारसमुदायप्रतिपादकाः स्वाधिष्ठानस्य विशिष्टां सत्तां न अधिगणयन्ति। मध्यस्थितत्त्वेन आधारमणिपूराभ्यामुभयत्र संयोजकम् । आधारे च अथवा मणिपूरे च विशिष्टरूपेण संशोधिते च जलतत्त्वं साम्येन गच्छति। जलं विना न धरातत्त्वस्य पूर्तिः न वा तेजस्तत्त्वस्य पूर्तिः अतएव मध्यस्थं जलं तत्रैव सन्निविष्टं मन्यन्ते मनीषिणः।।

वे लोग स्वाधिष्ठान की विशिष्ट सत्ता को नहीं मानते हैं। आधार और मणिपूर के बीच स्थित होने के कारण यह दोनों का संयोजक होता है। मूलाधार और मणिपूर के विशिष्ट शोधन के साथ ही जलतत्त्व साम्यावस्था में आ जाता है। जल के बिना न तो पृथ्वी तत्त्व की पूर्णता है और न ही तेजस्तत्त्व की पूर्णता होती है, इसलिए मध्यस्थ जल को दोनों का अनुपूरक वे लोग कहते हैं।

इतश्च समुदाचारसम्पन्नाः समुदितसमाचाराः स्वीकुर्वन्ति यत् स्वतन्त्रसत्ता वर्तते स्वाधिष्ठानस्यापि ।। ॐ ।।

और इधर समुदाचार सम्प्रदाय वाले स्वाधिष्ठान की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता होती है ऐसा मानते हैं।

किमनेन उभयत्रसाम्येन भवतुतावत् तत्सत्ता स्वीक्रियते। स्वीकरणात् पश्चात् एवं वक्तुंशक्यते यत् -

उभय साम्य से क्या लाभ है, अच्छा वह भी रहे। किन्तु इसकी पृथक् सत्ता स्वीकृत की जा रही है और स्वीकार करने पर ऐसा कहा जा रहा है कि –

स्वाधिष्ठानं तु यत् चक्रं मणिपूरे समन्वितम् ।

आधारेण समायुक्तं मध्यचक्रस्य सा स्थितिः।।

जो स्वाधिष्ठान चक्र है, वह मणिपूर से भी मिला हुआ है और आधार से भी समन्वित है और उसकी स्थिति मध्यवर्ती है।

तत्रैव जलतत्त्वस्य प्राधान्यं च प्रतीयते।

जल प्राधान्यभावेन स्वाधिष्ठानं विशेषतः।।

वहीं पर जल तत्त्व का प्राधान्य प्रतीत होता है। विशेषरूप से जलतत्त्व की प्रधानता के कारण –

कदाचित् तज्जलं तच्च अधो गच्छति वैक्वचित् ।

ऊर्ध्वं वा तेन तच्चक्रं स्व अधिष्ठानसंज्ञकम् ।।

कभी वह जल नीचे को जाता है और कभी ऊपर को जाता है, इसलिये इस चक्र को स्व अपना अधिष्ठान स्थिर स्थान इस नाम से कहा गया है।

तस्मिन्नेव स्थितं तस्य जलमुभयरूपकम् ।

कदाचिद् वृद्धिमायाति कदाचित् शोषितं च तत् ।।

इसी चक्र में ऊपर नीचे का जल विद्यमान है। जब वह नीचे जाता है तो जल तत्त्व में वृद्धि होती है और जब वह ऊपर जाता है तो वह सूख जाता है।

अतस्तस्यस्थितिर्गूढा स्थिरायै सुस्थिरा भवेत् ।

तस्मात् तत्र स्वयं सद्यः साधको यत्नवान् भवेत् ।।

अतः जल तत्त्व की गूढ़स्थिति को एक दम स्थिर करने का काम पृथ्वी करती है। इसलिए साधक को सदा यही प्रयत्न करना चाहिए कि जल की स्थति सदा साम्यावस्था में बनी रहे।

स्वाधिष्ठानं स्थितं तत्र समभाव जलात्मकम् ।

परिपूतं परिपूर्णं पूर्णं पूर्णं जलात्मकम् ।।

स्वाधिष्ठान चक्र समभावस्थित जल से समन्वित है और विशुद्ध रूप में केवल जल ही जल से भरा पड़ा है।

तत्र नैव प्रभूतं च मलबद्धं मलात्मकम् ।

कलितं सारसम्पनं तच्च स्वल्पमलान्वितम् ।।

जल की परिपूर्णता के कारण ही वहाँ मल बंधा नहीं रहता है और मल अधिक भी नहीं रहता है। उसमें कम मल रहता है और वह सारसम्पन्न है।

तस्मात् स्वल्पेन कालेन उपायेन च तत्त्वतः।

स्वाधिष्ठानविशुद्धिः स्यात् सुकरा स्वानुभूतिका।।

इसलिए स्वल्पकाल में ही बड़ी आसानी से अनुभूतिपूर्वक स्वाधिष्ठान चक्र की विशुद्धि हो जाती है।

तदर्थं साधकैः सर्वैः साधनाभ्यास तत्परैः। ॐ

घूर्णिका चैव कर्तव्या नित्यं यत्नेन पूर्णतः।।

साधनाभ्यास में तत्पर सभी साधकों को चाहिये कि वे नित्य नियम से पूरी तरह घूर्णिका मुद्रा किया करें।

तया च एकया तस्य स्वाधिष्ठानस्य सर्वतः।

जलस्य मध्यमारूपा स्थितिः सा सुस्थिरा भवेत् ।।

इस अकेली एक मुद्रा से ही स्वाधिष्ठान में स्थित जल की सब प्रकार से समभाव की मध्यमा स्थिति बनी रहती है।

न तत्र किंचित् करणीयं न च मुद्रा न चौषधम् ।

केवलं घूर्णिका तत्र कर्तव्या मलशोधिका।।

स्वाधिष्ठान शोधन में और अन्य कुछ मुद्रा तथा औषधियों का प्रयोग नहीं है। केवल घूर्णिका मुद्रा ही अकेले मलशोधन के लिए पर्याप्त है।

या च मुद्रा मया प्रोक्ता स्वाधिष्ठानस्य सर्वतः।

मलस्य शोधनं कृत्वा जलस्य रक्षणं तथा।।

स्वाधिष्ठान शोधन के लिये जो मुद्रा मैंने बताई है वह मल का शोधन करके जल का संरक्षण करती है।

करोति पूर्णरूपेण तस्माद् वै तत्परो भवेत् ।

अनया मुद्रया तत्र जलस्य मध्यमा स्थितिः।।

इसलिये पूर्ण रूप से घूर्णिका मुद्रा में सदा तत्पर रहना चाहिये। इस मुद्रा में जल की स्थिति समभाव में आ जाती है।

विकृतिं नैव संयाति न च तत्र मलं स्थिरम् ।

या च प्रोक्ता मया नाडी लघु नाडी सुयोजिका।।

जलतत्त्व विकृति को प्राप्त नहीं होता है और उसमें मल स्थिर नहीं रहता है। जो छोटी नाड़ी सुनियोजित बताई गई है वह विशुद्धा नाड़ी –

सा च नाडी विशुद्धाख्या विशुद्धिं च करोति या।

अवधूतिं विधूतिं च विशुद्धां च धुनोति सा।।

सब विशुद्धि कर देती है। वह नाड़ी अवधूतों का विधूनन करके उसे भी विशुद्ध कर देती है।

सा नाडी शुद्धिमायाति घूर्णिकाया प्रभावतः।। ॐ ।।

वह नाड़ी घूर्णिका के प्रभाव से विशुद्ध हो जाती है।

गोरखवाणी :– इस प्रकरण में बताया जा रहा है कि मलशोधन करते चले जाओ। मार्ग साफ होता चला जायेगा। शक्ति संचार रूकेगा नहीं। इसलिये बताया जा रहा है कि यह जो अधिष्ठान चक्र है, जिसे स्वाधिष्ठान चक्र भी कहते हैं, इसे कुछ लोग स्वीकार भी करते हैं स्वतन्त्र रूप से, और कुछ नहीं भी मानते हैं। समुदाचार वाले स्वतन्त्र मानते हैं तो ठीक ही है। वह भी स्वतन्त्र रूप से एक चक्र तो है ही, यद्यपि उसकी जो एक शुद्धा नाड़ी है, वह मणिपूर और मूलाधार को संयोजन करती है और जलतत्त्व का संतुलन दोनों ओर ठीक रखती है, जब कभी उसमें जलतत्त्व की विकृति आ जाती है, पृथ्वी तत्त्व में मिलने से उसकी अधिकता होती है और अग्नितत्त्व में मिलने से उसका शोषण होता है, तो वही विकृति है, वही उसका मन है। तो उसका सन्तुलन ठीक बनाये रखने के लिए और कोई क्रिया मुद्रा औषधि के उपाय की आवश्यकता नहीं होगी। अरे ! जो घूर्णिका मुद्रा बताई गई है उसे नित्य लगाते रहो। स्वाधिष्ठान अपनी स्थिति में रहेगा, उसमें कभी कम और कभी ज्यादा जो जल की मात्रा हो जाती है, वह नहीं होगी। जल की मात्रा कभी कम और कभी ज्यादा होने से बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं। पृथ्वी तत्त्व में, अरे, जब जल की मात्रा अधिक हो जाती है तो उसमें ज्यादा शीतलता आ जाती है और शीत का प्रभाव काम करने लगता है। तरह तरह के रोग आ जाते हैं। और जब अग्नितत्त्व में जाकर उसका शोषण होने लगता है तो उस समय ऐसी ऊष्मा, ऐसी गर्मी शरीर में हो जाती है जो रक्त शोधिका भी हो सकती है और ऐसे समय में चर्म रोगों के होने की सम्भावना हो जाती है। इसलिए न शीत प्रधान रोग हों और न गर्म प्रधान रोग हों, तो जल तत्त्व को स्थिर करने के लिए घूर्णिका मुद्रा को लगाते रहो। यह जल तत्त्व का सन्तुलन, करेगी और शुद्ध, विशुद्धा, अवधूतिका तीन नाड़ियाँ हैं। शुद्धा नाड़ी

नाभि और उपस्थ के बीच की है। बीच में दोनों का संयोजन करती है और विशुद्धा मणिपूर में विराजमान रहती है और अवधूती वही है जो मूलाधार में है, जिसे कुण्डलिनी शक्ति भी कहते हैं, वही तो जागृता हुई है, वही तो मूलाधार के ऊपर आके स्व माने अपने स्थान पर उसने अधिष्ठान कर लिया है, अपना पैर जमा लिया है। तो जैसे मूल में वृक्ष मूल रूप से आया, फिर स्कन्ध हुआ और स्कन्ध से शाखा-प्रशाखायें हुईं, तो इसी भाँति समझ लो, शक्ति मूल से चली, अधिष्ठान में स्कन्ध रूप में पुष्ट हुई और वहाँ से शाखा प्रशाखा के रूप में आगे के चक्रों को चीरती हुई, फाड़ती हुई, छेदती हुई, भेदती हुई अपने गन्तव्य स्थल में पहुंच जाती है। तो सभी का सन्तुलन रखने वाली यह घूर्णिका मुद्रा है, जिसका पहले प्रभाव बताया गया था। सब प्रकार की क्रांति को दूर करके मन को घुमा करके स्थिर कर देना। इसी भाँति इसका स्वयं पर भी वही प्रभाव होता जल को मथ दे, लहरों को इधर उधर फैला करके फिर सन्तुलन में ले आये। इसलिए शक्ति के साधक को घूर्णिका के प्रभाव से परिचित होकर के स्वाधिष्ठान रक्षा कर लेना चाहिए। इतना ही स्वाधिष्ठान का अर्थ है और इतने से ही इसका निर्मलत्व हो जाता है। इसलिए इसके लिए घूर्णिका ही पर्याप्त है।। ॐ ।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् ।

विधिनिखलज्ञानां विविधबोध कारिणीम् ।

विशुद्धमतिधारिणीं सर्वदैव विशुद्धिकारिणीम् ।।

योगविधियों का पूर्ण ज्ञान रखने वाली नानाप्रकार के बोध करने वाली विशुद्ध मतिधारण करने वाली सदा साधक को विशुद्ध करने वाली –

पावनीं पावनकारिणीं नमामि तां शारदाम् ।

शुभ्रवर्णेन राजितां विसतन्तुसमाकाराम् ।।

नानाकार्याकुलां भगवतीं कुण्डलिनीं वन्दे।।

स्वयं पवित्र और पवित्र करने वाली शारदा भगवती को मैं नमस्कार करता हूँ। शुभ्रवर्ण से सुशोभित कमलनाल के तन्तु जैसी म्हान, नानाकार्य करने में आकुल उस भगवती कुण्डलिनी को मैं प्रणाम करता हूँ।

या जागृता महामाया कुण्डली भगवती स्वयम् ।

तत्त्वानां शोधनं कृत्वा बोधं गूढं ददाति या।।

जो महामाया भगवती कुण्डलिनी स्वयं जागृता होकर तत्त्वों का शोधन स्वयं कर देती है और गूढ़ बोध को प्रदान करती है।

या च प्रज्ञान प्रज्ञाना सा च नाति रहस्यका।

नमामि तां च देवीं वै कुण्डलीं कुण्डलात्मिकाम् ।।

जो प्रज्ञान की भी प्रज्ञान हैं साधक के लिये अति रहस्यमयी नहीं रह जाती है उसी भगवती कुण्डलात्मिका कुण्डलिनी देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

मूलाधारे स्थितां देवीं जागृतां गूढरूपिणीम् ।।

मूलाधार में गूढ़रूप में स्थित जागृता देवी को नमस्कार है।

अथ मणिपूर भेदन प्रकरण प्रस्तुतिविधौ मणिपूरस्य भेदनात् पूर्वं तत्रैव कथितं यत् गूढात् गूढतमं मणिपूरविभेदनम् । तदेव किञ्चित् दुष्करं वर्तते। अग्नितत्त्वस्य शोधनम् । मणिपूरे भेदतत्त्वस्य शोधनम् ।।

अब मणिपूर भेदन प्रकरण के प्रस्ताव विधि में मणिपूर भेदन के पूर्व वहीं बता दिया गया है कि मणिपूर-भेदन गूढ़ातिगूढ़ है। वही कुछ कठिन है। मणिपूर में अग्नितत्त्व का शोधन है और उसमें रहस्यमय तत्त्व का शोधन है।

मणिपूरे भेदतत्त्वस्य विशेषतः वक्तुं न शक्यते। तेजस्तु प्रकाशशीलेन स्वयमेव स्वशुद्धिं करोति। शुद्धं च भवति। कुत्र तत्र मलिनता। मलाभावे शुद्धयभावः। शुद्धयभावे प्रकरणस्य व्यर्थता इति न शङ्कनीयम् । तत्र मणिपूरमलशोधनविधौ गूढागूढतरं रहस्यं वर्तते।। ॐ ।।

मणिपूर में भेदतत्त्व के बारे में विशेषतः नहीं बताया जा सकता है। तेज तो अपनी प्रकाशशीलता के कारण स्वयं ही अपनी शुद्धि कर लेता है, स्वभावतः शुद्ध रहता है, उसमें मलिनता कहाँ है ? मल नहीं है तो उसकी शुद्धि कैसी ? शुद्धि के अभाव में इस प्रकरण की व्यर्थता है ऐसी शङ्का न करो। इसमें गूढ़ातिगूढ़ रहस्य है।

को वा नरो यो मणिपूरकस्य संशोधनं कर्तुमलं समर्थः।

यतश्च तत्रैव विराजते स्वयं मुद्रा विशुद्धा प्रतिरूपकारिणी।।

कौन मनुष्य ऐसा है, जो मणिपूर का संशोधन करने में समर्थ है ? क्योंकि विशुद्धिभाव को विपरीत करने वाली साक्षात् मुद्रा वहीं पर विराजमान् हो रही है।

गुहाशया शक्तिरिहैव या मता तां निर्मलां कर्तुमना समर्थः।

कः कश्च तां कर्तुमसौ न शक्तः तस्माच्च तत्रैव विधिः प्रयोज्या।।

गुहा के भीतर छिपी बैठी वह शक्ति है, जिसे निर्मल करने में सभी असमर्थ रहते हैं। कोई बिरले ही उसे विशुद्ध कर सकते हैं। इसलिये उसी के लिये शोधन विधि का प्रयोग बताया जा रहा है।

सूक्ष्मा सा परमा गूढा मणिपूरस्य संस्थितिः।

तत्रैव चाग्नितत्त्वस्य प्राधान्यं प्रोच्यते बुधैः।।

मणिपूर की स्थिति बड़ी सूक्ष्म और परम गूढ़ है। वहीं पर योगज्ञाता लोग अग्नि तत्त्व की प्रधानता बतलाते हैं।

अग्निवर्णं स्वतः शुद्धं कस्तं शुद्धं समाचरेत् ।

इदं न शंकनीयं च नैवं नैवं कदाचन।।

अग्नि स्वतः शुद्ध है, उसकी शुद्धि कौन किस भाँति कर सकता है। इस प्रकार की शंका कभी नहीं करनी चाहिये।

तत्रापि शुद्धिभावस्य वर्तते भावना शुभा।

धूमावृता यथावह्निः क्लिन्नकाष्ठसमावृतः।।

अग्नि-तत्त्व में शुद्धि भाव की शुभ भावना बनी रहती है। जैसे अग्नि में गीली लकड़ी डाल देने से वह धुंए से ढक जाती है और मैली दीखती है।

अथवा शीतसम्पन्नाः पदार्थास्तत्र पातिताः।

ज्वलितोऽस्ति यदा वह्निर्मन्दमायाति स्वल्पकम् ।।

अथवा अग्नि में जैसे शीतप्रधान वस्तुएँ डाल दी जाँय तो जलती हुई आग भी थोड़ा मन्द पड़ जाती है।

तद्वद्वै मणिपूरेऽस्मिन् सर्वभावेन ज्ञायताम् ।

अत एव च पूरस्य शोधनं क्रियते सदा।।

उसी प्रकार इस मणिपूर चक्र के बारे में भी वही बात है। अतः मणिपूर का शोधन किया जाता है।

तस्य शोधनमात्रेण दशा कष्टतरा नहि।

अन्यथा मार्गरोधस्य बोधस्य स्फुरिताङ्कुरम् ।।

लीयते तत्र संसुप्तं रूद्धं मार्गं च जायते।।

उसके शोधन मात्र से फिर योगमार्ग में साधक की स्थिति कष्टदायक नहीं होती है। अन्यथा मार्ग में अवरोध पड़ जायेगा और बोध का अंकुर जो फूटा है वह भी लीन हो कर सुप्त हो जायेगा और मार्ग रूक जोयगा।

अतः मणिपूरस्य शोधनावश्यकता विशेषरूपेण भवति।।

इसलिये मणिपूर के शोधन की विशेष रूप से आवश्यकता पड़ती है।

गोरखवाणी :- ॐ ।। मणिपूर की शुद्धि का प्रश्न ही बड़ा गूढ़ प्रश्न है। क्योंकि इसमें ज्ञानियों ने और तत्त्ववेत्ताओं ने और कई प्रकार के लोगों ने जो योग के मार्ग पर चलते हैं, चक्कर डाल रखे हैं और उसे बहुत ही जटिल बना दिया है, यद्यपि उसमें थोड़ी बहुत जटिलता है। क्योंकि वह प्रधान रूप से चक्रों की मध्यस्थिति का चक्र है और भावों की धुरी व स्थिति को मजबूत करने वाला है, अधः और ऊर्ध्व। ऊपर नीचे सब प्रकार प्रकाश को खींचने वाला है। अतः विशिष्ट रूप से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसे भी जटिल करके काम नहीं चलता है। तो यहाँ पर थोड़ा बहुत उसके शोधन के प्रकार में विशेषता है, और वह इसलिये कि जब मणिपूर में अग्नि तत्त्व की प्रधानता है, तो तेज स्वयं प्रकाशशील होता है, उसमें मलावरणता कैसे आई ? वह तो निर्मल है। अग्नि तो निर्मल होती है। बात कुछ ऐसी है। सीधी सी है। साधारण रूप से सोचा जाय तो ठीक भी है। किन्तु मणिपूर के सम्बन्ध में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। मणिपूर के विषय में ऐसी बात है कि जैसा कि अग्नि तत्त्व की उसमें प्रधानता है, किन्तु ऐसा होता है कि अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती

है, तो कई कारणों से मन्द भी पड़ जाती है। सूखी लकड़ियाँ अग्नि को धधका देती हैं, गीली लकड़ियाँ, घास फूस, भीगे पदार्थ जब उसमें पड़े हुए होते हैं तो वह मन्द पड़ जाती है और कभी ऐसा भी होता है कि काष्ठ प्रज्वलित हो जाता है और फिर राख की ढेर बन जाती है जैसा धुनी में देखा जाता है। चिनगारियाँ नीचे दब जाती हैं, उनको प्रज्वलित करना है। काष्ठ को सुलगा देना है। धुनी को तीव्र कर देना है, तो मुख की श्वास से उस ऊपर की राख को हटा कर नीचे की चिनगारी को प्रकट कर दिया जाता है और फिर उसमें काष्ठ आदि पदार्थों से अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती है। ठीक यही बात मणिपूर के सम्बन्ध में कही जाती है। यहाँ पर भी कुछ ऐसा मलावरण आ जाता है, जिससे अग्नितत्त्व नीचे दबा रह जाता है। उस दबे हुए अग्नितत्त्व के कारण शरीर में उद्दीप्ति, कान्ति, प्रकशशीलता नहीं आने पाती है। और जिसे नाभिचक्र कहते हैं, वह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण है, इसलिये उसकी शोधन-विधि भी भली भाँति जान लेनी चाहिये और उसको इस प्रकार से अनुभव में लाना चाहिए कि वहीं पर से राह की कोई कठिनाइयाँ न रहें। वहीं से चलना है, दृढ़ होकर के। इसके पश्चात् केवल दो ही चक्रों की शुद्धि है जिसे हृदय चक्र और कण्ठ चक्र भी कहते हैं। और अनाहत और विशुद्धचक्र भी कहते हैं। तत्त्व तो पांच ही हैं, तो पाँच ही तत्त्वों की पाँच ही चक्रों तक सम्बन्धित शुद्धि होती है। तो उसका प्रकरण फिर से आरम्भ किया जायेगा।। ॐ ।।

१-२-६३ सायंकाल ।।१३४।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् । या आत्मबोधपरिचायिका अद्वितीया अनन्त-शक्तिसम्पन्नां तां महाशक्तिमाराधयामि पूजयामि, सा मे महाशक्तिः समायातु । ॐ वाक्सिद्धिर्मे भवतु।।

जो अनन्तबोध परिचायिका अद्वितीया अनन्तशक्तिसम्पन्ना है, उस महाशक्ति की आराधना करता हूँ, उसे पूजता हूँ, वह महाशक्ति मुझ में आवे। मुझे वाक्सिद्धि हो।

अहो मातर्मातः पदनखमयूखांशु पटलम्

दधत्चञ्चत्कान्ति हृदययमितः स्पर्शसहितम् ।

यदा कृत्वा दिव्यं सकलसुखयुक्तंजायते देहवन्धः

तस्यान्मातस्त्वदीयं चरण युगलकं ध्यान गम्यं करोमि।। ॐ ।।

हे अम्बे ! मैं तुम्हारे उस चरण युगल को ध्यान में लाता हूँ, जिसके नखों की कान्ति किरणों का स्पर्श पाकर मेरा हृदय भी कान्ति की चमक धारण कर लेता है। उस स्पर्श की अनुभूति से देहन्बन्धन भी समस्त सुखों से भर जाता है। इसलिये हे माता ! तुम्हारे चरणों का मैं ध्यान करता हूँ।

तदा सत्यमनन्तं च ज्ञानं यत् पारलौकिकम् ।

जायते कृपया यस्याः सा मे नित्या महालया।।

प्रसीदतु महामोहतमसो नाशिका च या।।

सत्य, अनन्त जो पारलौकिक ज्ञान है, वह जिसकी कृपा से होता है, वह नित्या महालया भगवती मेरे ऊपर प्रसन्न हों, जो महामोह रूपी अन्धकार की विनाशिका है।

मणिपूरस्य संशुद्धिर्या या भावस्थितिः अनामाख्या सा स्वानुभूतिं च प्रददाति स्वयं, ततः पूर्वमेतत्तु ज्ञातव्यं मणिपूरस्य रूपकं विचित्रं च किंचिच्चाति परमाद्भुतम् ।।

मणिपूर की जो संशुद्धि है और जो उसकी भावस्थिति है, उसका नाम तो नहीं है, किन्तु स्वानुभूति स्वयं देती है। इससे पूर्व यह जान लेना चाहिये कि मणिपूर का जो विचित्र और अद्भुत रूप है वह कैसा है।

ज्वालाकुलं भूतिविमण्डितं च त्रिवर्णवर्णात्मक संहतिस्तथा।

धूमाकृतिः श्वेत शुभा च नीला धूम्रा च पीता च करालकाला।।

मणिपूर चक्र ज्वालाकुल है, भूति विमण्डित है, अनेक चित्र विचित्र रंगों की संहति से भरा है, धूमाकृति है, ज्वालायें कुछ श्वेत हैं, नील हैं धूम्रवर्ण की हैं, पीली हैं और कुछ करालरूप से काले रंग की हैं।

ज्वालाकुला कालकरालकाला महाविशाला च महाविशाला।। ॐ ।।

सा वह्निज्वाला विषमा समाख्या विचित्रवर्णा मिलिता सुवर्णा।।

अग्नि की ज्वाला काल कराल है, बड़ी विशाल है, वह ज्वाला कभी सम और विषम है, विचित्रवर्ण की है। मिले जुले वर्णों की सुन्दर वर्ण वाली है।

तस्या ज्वलज्ज्वालसमाकुला च तत्त्वेन बोधेन परावृता च।

ज्वाला सदा सा शुभशंसिनी च प्राणात्मिका प्राणवृता च प्रोक्ता।।

वह ज्वलित होती हुई ज्वाला तत्त्वबोध से घिरी है। वह ज्वाला सुन्दर शब्द भी करती है। प्राणों से भरी है और प्राणात्मिका है।

मणिपूरके अस्मिँश्चक्रे या वह्निज्वाला विराजते सा विवर्ण वर्णा बहुवर्णा ज्वालामालाकुला च।।

इस मणिपूर चक्र में जो वह्निज्वाला, विराजमान है वह विचित्र वर्णों से भरी ज्वालाओं से व्याप्त है।

श्वेता धूम्राश्च पीताश्च नीलाश्च नीललोहिताः।

एता स्ताः वर्णिताः ज्वालाः मणिपूरस्य कोष्ठके।।

मणिपूर के कोष्ठों में वे ज्वालायें श्वेत, धूम्र, पीत, नील और नीललोहित हैं।

कदाचिन्मन्दमन्दाश्च मन्दं चाति महत् पुनः।

ज्वालानां बोधसम्भूतिः प्रस्तुप्ता ज्ञायते क्वचित् ।।

वे ज्वालायें कभी मन्द पड़ती हैं और कभी तीव्र हो जाती हैं। कभी-कभी उन ज्वालाओं का प्रत्यक्ष अनुभव भी सामने आ जाता है।

जलतत्त्वस्य प्राधान्यात् वायुतत्त्वस्य पूर्णतः।

मध्ये तेजः समावद्धं ज्ञायते च विभाकुलम् ।।

नीचे जलतत्त्व की प्रधानता से और ऊपर वायुमण्डल की प्रधानता से बीच में स्थित मणिपूर का तेजस्तत्त्व बंधा है जो प्रभा से परिपूर्ण रहता है।

तदैव प्रोच्यते एवं मलं तत्र प्रतीयते।

तस्य संशोधनं श्रेयस्करं वै मानवार्थके।।

तभी कहा जाता है कि वहाँ मल प्रतीत होता है और उसका शोधन साधकों के लिये श्रेयस्कर है।

तस्य संशोधनं एवं क्रियते तत्त्व वेदिकैः।

वारूणी वरूणस्यास्ति क्रिया मुद्रा[१७] हितार्थिक।।

तत्त्ववेत्ता लोग उसका संशोधन इस भाँति करते हैं। वरूण देव से सम्बन्धित एक वारूणी मुद्रा है जो बहुत हितकारक है।

वारूणीं समकालेन तेजः संशोधनाय च।

प्रयोक्तव्या तदा मुद्रा वारूणी शोधकारिणी।।

तेजस्तत्त्व के शोधन के लिये साधना काल में साधक को इसी वारूणी मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये।

पुरा देवेषु दैत्येषु युद्धोऽभूत् स्पर्धिसंज्ञकम् ।

जलोष्मरूप शोष्माणं तस्मात् वै वारूणी कृता।।

प्राचीन काल में देव और दानवों में स्पर्धापूर्ण युद्ध हुआ था जिसमें जल का शोषण अग्नि की ऊष्मा से होने लगा था। तब यह वारूणी मुद्रा वरूण देव ने लगाई थी।

ततश्च सा समायाता वरूणस्य-प्रिया प्रिया।

वारूणी नामका मुद्रा दुर्लभा या च सर्वदा।।

तभी से वरूणदेव की प्रिय यह मुद्रा प्रसिद्ध हुई, इसका नाम वारूणी मुद्रा हुआ। यह मुद्रा सदा परमदुलर्भा है।

सा मुद्रा प्रोच्यते अत्र मणिपूरस्य शोधने।

साधकानां हितार्थाय तां मुद्रां भज सत्वरम् ।।

मणिपूर के शोधन में यहाँ पर वही मुद्रा बताई जा रही है। साधकों के हित के लिये उसी मुद्रा का तुम सेवन करो।

तदा च वायुतत्त्वस्य अग्नितत्त्वस्ययत्नतः।

जलतत्त्वस्य तत् सर्वं नोपसर्पति दुष्कृतम् ।।

तब इससे वायुतत्त्व, अग्नितत्त्व और जलतत्त्व से सम्बन्धित कोई भी विकृति साधक के समीप नहीं आ पाती है।

निर्भयो जायते मर्त्यः मणिपूरं विशोध्य च।

तस्मात्त्वं तत्त्वबोधेन भवत्वं वारूणी प्रियः।। ॐ ।।

मणिपूर का विशोधन करके साधक निर्भय हो जाता है। इसलिये तुम तत्त्वबोध के लिये वारूणी मुद्रा को प्रेमपूर्वक धारण करो।

एषा वै वारूणी मुद्रा दिव्या पूरस्यशोधिका।
तां तु सर्वात्मभावेन गोरक्षो दर्शयिष्यति।।

यह दिव्य वारूणी मुद्रा मणिपूर के शोधन के लिये लाभकारी है। इस मुद्रा को पूरी तरह गोरक्ष तुम्हें करके दिखायेंगे।

गोरखवाणी :- ॐ । अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। आदेश ! आदेश ! माँ का आदेश। नमो गुरू को आदेश। नमो गुरू को आदेश। आदेश। आदेश। मणिपूर चक्र और उसकी शुद्धि के लिये माँ कहती है कि उसके लिये वारूणी मुद्रा को गोरख बतायेगा। माँ ! गोरक्ष बतायेगा। आदेश। मणिपूर के भेदन में जो बताया गया था कि वहाँ पर एक उष्ण तालाब है और यह भी बताया गया था कि वहाँ मणियों की चमक होती है और यह भी समझा दिया गया था कि सुरंग में घुसने के लिये द्वार वहीं से खुलेगा। सब कुछ मणिपूर भेदन में बता दिया गया था, किन्तु उससे थोड़ा ही भिन्न किन्तु सरल और सर्वसुलभ मणिपूर का शोधन है। मणिपूर के शोधन के लिये सर्वप्रथम वारूणी मुद्रा का प्रयोग किया जा रहा है। यह वारूणी मुद्रा वरूण से सम्बन्ध रखती है, जिसमें तीन तत्त्व निश्चित हुए हैं। जल, अग्नि, वायु को समता में लाने वाली वारूणी मुद्रा महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। इसकी क्रिया कर लेने पर मणिपूर अशुद्ध नहीं रह सकता है। मलिन नहीं रह सकता, फिर उसमें जो बताई गई थी भिन्न वर्ण की अग्नि ज्वाला, मणियाँ, विभिन्न वर्ण की प्रकाशशील महानाड़ियों की शक्तियाँ जो इनकी तत्त्वभूत हैं, नाभिदेश में जो विचित्र-विचित्र अनुभूतियों की द्योतना है वह भी प्रत्यक्ष में आ जाती है। जब ऐसी स्थिति आने लग जाती है, जब मणिपूर के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनुभूति आने लगती है तो समझना चाहिये कि भेदन और शोधन दोनों हो चुका।

जब तक इस प्रकार की अनुभूतियां न हों, दिव्योष्णता होगी, दिव्यप्रकाश होगा, नील धूम्रादि पीत क्यों है ? उसमें पृथ्वी तत्त्व का अंश होगा, नीलत्व वायु तत्त्व का अंश होगा, क्योंकि वहां पर आकर्षण होता है। नीचे का ऊपर को, ऊपर का नीचे को, और फिर उन ज्वालाओं की लिंगाकार स्थिति ऐसा कर देगी जैसे नाभि से कुछ निकल रहा है। या तो नीचे की ओर जा रहा है या ऊपर की ओर आ रहा है, या ऊपर की ओर निकल रहा है, या आगे की ओर निकल रहा है। अरे ! जो लोग दीर्घ काल के अभ्यास के बाद इतना करते हैं, महामाया जागृता शक्ति मथ देगी, स्वयं करा देगी। तो वारूणी मुद्राइसी लिये तो बताई जा रही है। वारूणी मुद्रा के लगा देने से, वारूणी मुद्रा की क्रिया से शक्ति आकर्षण करेगी। मथ देगी। फैंक देगी इधर से उधर, मल विक्षिप्त हो जायेगा, पर यह विचलन है। महाशक्तिवाली

वारूणी भी उसमें अपना आँशिक प्रभाव ही दिखा सकती है। किन्तु उसके आँशिक प्रभाव में बिछलन को सुखा देने की भूमिका तैयार हो जाती है। बिना वारूणी मुद्रा के कोई भी मणिपूर का शोधन नहीं कर सकता है। होता ही है, होता जायेगा। वारूणी मुद्रा प्रिय मुद्रा है, और अनुभूति प्रधान है। उस मुद्रा का इस प्रकार से ऐसा रूप स्वरूप है, जो न अति कठिन है न अति सरल है, बीच की कोटि का है, और जब उस मुद्रा का ज्ञान हो जाता है और उस मुद्रा की क्रिया कार्याकुल हो जाती है, तब महामाया भगवती जागृता कुण्डलिनी जिसे मैं अवधूती कहता हूँ, अवधूत कर देती है, धुन देती है। वह शक्ति स्वयं करवा लेगी। घबराते क्यों हो, अरे ! जैसे सुरंग में पैठने की विधि बता दी थी, प्रकाश ज्वाला को लेकर आगे चले थे, तो मलशोधन की कौन सी बड़ी बात है। कर लो मलशोधन। लगा जाओ वारूणी मुद्रा। यह मुद्रा इस प्रकार से होगी। बैठ जाओ। किसी भी आसन से बैठ जाओ। और जिस प्रकार चिद्बोधिनी में बताया गया था कि मेरूदण्ड को कुछ नीचे झुका करके पेट को भीतर ले जाकर के पेट के हिस्से को जरा रगड़ में ले आओ। और जैसे उसमें कूल्हा-चूल्हा चलाने की बात कही थी, जो पृष्ठ के भाग हैं वे इधर उधर को जाँय, इधर को जाँय, उधर को जाँय। अर्थात् एक बार दाईं ओर एक बार बाई ओर ऐसा कर के पेट का वह हिस्सा भीतर गया हुआ हो, उस समय श्वास नीचे को गई हुई हो अर्थात् रेचक में हो और उसके बाद यों करो (पेट भीतर डाल कर रेचक) नीचे से अभी तुम्हें जो स्वाधिष्ठान की बात बताई थी, एकदम उसके बाद जो बदन के हिस्से हैं, कोंख के हिस्से हैं उनको ऊपर खींचो, खुलेंगे नहीं, तनेंगे, (यों, तान दो)। तन गये, मूल कुछ ऊपर को खींचो, वायु कुछ ऊपर आया, नाभि भीतर गई। हाथ घुटनों में रख कर मानों पीछे धकेलो। पेट को भीतर खींचो। पीठ जहाँ की तहाँ रहे, पीठ न हिले, आँखें भी तन जायेंगी। तेज का स्वरूप आँखों में खिंच जायेगा। फिर एकाएक पूरक करके फुला दो पेट को, इस तरह कई बार करो और फिर एकाएक खाली पेट को बैठे ही बैठे, श्वासप्रश्वास चले तो ठीक न चले तो ठीक है। नहीं तो यों ही पेट के नीचे ऊपर, आगे पीछे, नीचे ऊपर, आगे पीछे, नीचे ऊपर, आगे पीछे चलाओ। बस, देखो एकाएक गर्मी पहुंचायेगी तो समझो कि शुद्धि का लक्षण प्रकट हो गया है। इसके पश्चात् और बातें बताई जायेंगी।। ॐ ।।

२-२-६३ प्रातःकाल ।।१३५।।

ॐ । हरि ॐ तत् सत् ।।

या जागृता च बलदा महामाया भगवती।

भासमाना च या चक्रे चक्रे चक्रवती च या।।

या तां भजामि परमां क्रियाबोध विधायिनीम् ।।

जो महामाया भगवती जागृता होकर बलवती होती है और जो चक्रवती प्रत्येक चक्र में भासमान होती है उस क्रियाबोध देनेवाली परमा देवी का मैं भजन करता हूँ।

मणिपूरस्य संशोधनं विधौ यद् भवति, यच्च करणीयं भवति यच्च क्रियते यच्चनुभूयते सर्वं तत् पुरतः एव समागमिष्यति।।

मणिपूर के शोधन विधि में जो करणीय होता है, जो किया जाता है और अनुभूत होता है वह सब सामने आ जायेगा।

गदिता वारूणी मुद्रा प्रोक्ता या वरूणप्रिया।

सा मुद्रा चक्रशोधं च कृत्वा मोदं च दास्यति।।ॐ।

जो वारूणी मुद्रा बताई गई उसे करके मणिपूर का शोधन हो जायेगा और उससे प्रसन्नन्ता प्राप्त हो जायेगी।

मोदते साधकस्तत्र मणिपूरस्य शोधने।

तस्मादानन्दप्राप्त्यर्थं शोधने लक्ष्यमानसः।।

भवेच्च साधकस्तत्र कार्यसिद्धिर्भविष्यति।।

मणिपूर के शोधन होने पर साधक आनन्दित हो जाता है। इसलिये आनन्द की प्राप्ति के लिये साधक मणिपूर शोधन को अपना लक्ष्य बना लेवे और उससे कार्यसिद्धि हो जायेगी।

यदा च वारूणीमुद्रा क्रियते साधकेन सा।

तदा शिवारसं श्रेष्ठं ग्रहणीयं विशेषतः।।

जिसकाल में साधक वारूणी मुद्रा करे, उस अवधि में उसे विशेष रूप से शिवा (गुरूच) का रस ग्रहण करना श्रेष्ठ रहता है।

शिवा या च गुडा प्रोक्ता गडुची सा च कथ्यते।

तस्यास्तु रसतत्त्वेन तत्त्वशुद्धिः प्रजायते।।

शिवा जिसे गुडा और गुडूची कहते हैं, उसके रस से तत्त्व शुद्धि हो जाती है।

मधुना सह तस्याश्च रसमातृप्तिकारकम् ।

कृत्वा एकं स्वरुपं च तत्त्वहं तमनन्तकम् ।।

गुडूची के रस में मधु मिला कर दोनों को फैंट कर एक रूप कर लो और तृप्तिपूर्वक उस का सेवन करो।

तदा च तद्भक्षणमात्रेकेण या चोष्णता तत्र विराजते महा।

संशोधनं तस्य च चक्रकस्य तस्याश्च शान्ति गडुची करोति।।

उसके भक्षणमात्र से जो भीतर बढ़ी हुई उष्णता है, गुडूची का रस उसकी शान्ति कर देता है और मणिपूर का संशोधन हो जाता है।

अपरं च एतदौषधं मणिपूर चक्रभेदन काले अथवा मणिपूर शोधन काले अथवा उष्णतायाश्च बाहुल्येन प्रतीतौ, अथवा तीक्ष्णता च धातूनां प्रतीयेत, अथवा उद्दीप्तिभावना प्रबलतरा जायते, सर्वत्र मधुमिश्रितं गुडूचीरसं चावलेहनीयम् । सर्वोऽपि करोति।

इस औषधि का एक और लाभ भी है। मणिपूर के भेदन या शोधन काल में जब अधिक गर्मी प्रतीत हो, धातुओं की तीक्ष्णता मालूम हो, या कामोद्दीपन की भावना प्रबल हो जाय तो सर्वत्र मधुमिश्रित गुडूचीरस का सेवन करो।

तदौषधं भजेत् सर्वः मणिपूरे विशेषतः।

सा च तद्गुणसम्पूर्णा अपरं चाभिधीयते।।

मुद्रामौषधमेवापि दिव्यां पूरस्यशोधने।

तस्यापि सेवनात् सद्यः सर्वं सरलतां भजेत् ।। ॐ ।।

मणिपूर के शोध में विशेषतया इस औषधि का सेवन करना बड़ा गुण कारक होता है। मणिपूर शोधन के लिये एक अन्य औषधि व मुद्रा भी बताई जाती है उसके सेवन से भी शीघ्रतया सब सरल हो जाता है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।। ॐ।। मणिपूर शोधन प्रकरण में जो कुछ भी बताया जा रहा है, वह महा अनुभव की वस्तु है। तत्त्व तत्त्व है। सत् सत् है। सब निचोड़ के धर दिया गया है। इसका भेदन और शोधन ही श्रेयस्कर है और उसी प्रकार की मुद्रा और क्रिया तथा औषधि भी बताई जा रही है। इसके शोधन को मैं बहुत जटिल नहीं बना देना चाहता हूँ, तो चार मुद्रायें और तीन चार औषधियाँ ही सब कुछ कर

डालेंगी, जिनके सेवन में और जिनके करने से और जिनके अनुभव से सर्वदा साधक निर्भय रहेगा।। ॐ ।। तो ऐसा बताया गया है कि जब मणिपूर का शोधन करना हो तो वारूणी मुद्रा को लगा लिया करते हैं और वारूणी मुद्रा के लगाने के पश्चात् मणिपूर की वह विकृतियाँ दूर करनी हो, शोधन करना हो, भेदन भी हो गया हो, तो उस समय के लिये भी कहा गया है, अथवा जब महा उष्णता प्रतीत होने लगे अथवा दीप्ति अर्थात् कामोद्दीपन की भावना आने लगे, अथवा जलतत्त्व का विशेष शोषण होने लगे, ऐसी स्थिति में ऐसा प्रतीत हो कि समस्त शरीर में अग्नि प्रज्जलित हो गई हो और शरीर के धातु रसों में शोषण होने लगा हो, तब उस समय जिसको शिवा कहते हैं, गुडुची भी कहते हैं, गुरूच भी कहते हैं, उसका एक टुकड़ा लेकर के उसका थोड़ा सा रस निकाल के उसमें थोड़ा सा मधु मिला के दोनों को अच्छी तरह से घेप देना। खूब घेप लेना चाहिये और जब साधना में बैठना हो तब उसका सेवन कर लेना और वारूणी मुद्रा लगा लेना, कोई भय नहीं रहेगा, कोई डर नहीं रहेगा। इस प्रकार मणिपूर के शोधन के लिये यह औषधि परम हितैषिणी है। उसी के लिये नहीं, मणिपूर के सम्बन्ध में जितनी भी विकृतियाँ हैं, समस्त विकृतियों को दूर करने वाली यह प्राणदा औषधि है। इससे समस्त ऊष्म रोगों की शान्ति हो जाती है। प्रज्ज्वलित ज्वाला अपने सन्तुलन में आ जाती है और अनेक शुक्र-सम्बन्धी दोष जितने भी होंगे सबको वह दूर कर देती है। इसीलिये इसे शिवा कहते हैं। यह कल्याण करने वाली है। इसको लोग गिलोय भी कहते हैं। लता होती है। बिना मूल के होती है, जो बिना मूल के बढ़ सकती है। वह मूल को छोड़कर ऊपर आकर के कैसे नहीं अपना प्रभाव दिखायेगी। इसलिये इसका भी प्रयोग कर लेना, जब आवश्यकता पड़े, और इसके पश्चात् और भी सरल सरल कुछ मुद्रा क्रियायें और दिव्य औषधि भी बता दूंगा जिससे यह भी सरल हो जाय। मणिपूर का शोधन हो जाय। तत्त्व की प्राप्ति हो जाय।। ॐ ।।

२-२-६३ सायंकाल ।।१३६।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

मूले वासकृतां देवीं महाशक्तिं महागतिम् ।

कपालकुण्डलां वन्दे कपाले शक्तिसंचयाम् ।।

मूलाधार में निवास करने वाली महागतिशालिनी, कपाल के भीतर शक्ति संचय करने वाली कपालकुण्डला महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

वन्दे कपालिनीं देवीं कुण्डलां कुण्डलाकृतिम् ।

शुद्धां कुण्डलिकां देवीं सदा बोधमयी महत् ।।

कुण्डलाकृति कपालिनी भगवती कुण्डला को मैं प्रणाम करता हूँ जो श होकर बोधमयी बन जाती है।

ददातु मे सा च कपाल-कुण्डला या कुण्डला शक्ति महत्वपूर्णा।

सदा च सा मे परिरक्षतां ध्रुवं शक्तिश्च मय्येव समागतां ताम् ।।

वह महत्त्वपूर्ण कपाल-कुण्डलिनी शक्ति मुझे सब कुछ प्रदान करे और वह सदा मेरी रक्षा करे जो शक्ति मेरे भीतर स्वतः आकर प्राप्त हुई है।

सदा समस्तैक विवोधभाषा सा मे महाबोधमयी मयाकुला।

सर्वं च तत्त्वं परिशोधनाय भवेच्च सा शक्तिमती सदैव।।

मुझे बोध देने के लिये जो भाषारूप बनकर आई है और वह महा बोधमयी देवी शीघ्रता से सब तत्त्वों के शोधनार्थ शक्तिमती बने।

सदैव सा शुभ्रक शुभ्रभासा विराजतां सा जननी सरस्वती।।

मुखारविन्दे मम वै सुनित्यं ..... ।। ॐ ।।

समस्त शुभ्र वर्ण वाले पदार्थों की भाँति कान्तिवाली सरस्वती माँ सदा मेरे मुखारविन्द में नित्य निवास करे।

मणिपूरक शोधने च यत् गदितं यच्च प्रदर्शितं स्वयम् ।

अथवा अपरा क्रिया क्वचित् करणीया च बुधैः क्वचित् क्वचित् ।।

मणिपूर के शोधन पर जो कुछ बताया गया है और जो स्वयं प्रदर्शित किया गया है उसके अतिरिक्त एक और अन्य क्रिया भी कभी कभी साधकों को करनी चाहिये।

न च सर्वे भवन्त्येवं एकैव प्रकृति स्थिताः।

प्रकृत्या भेदमादाय औषधं भेदनम् भवेत् ।।

सभी व्यक्ति एक प्रकृति के नहीं हुआ करते हैं। अतः प्रकृति की भिन्नता के कारण औषधि में भी भेद किया जाता है भिन्न भिन्न साधकों के लिये औषधि की भिन्नता है।

कस्यचित् शीतलावृत्तिरूष्णवृत्तिश्च कस्यचित् ।

शोतोष्णा कस्यचित् चैव एवं तत्र च ज्ञायताम् ।।

किसी की शीतल प्रकृति है, किसी की उष्ण प्रकृति है, और किसी की समशीतोष्ण है। इसी प्रकार औषधि तथा क्रिया–मुद्राओं के बारे में भी जानो।

सेव्यतां क्रियतां चैव सर्वं यल्लब्धभाषितम् ।

अनुभूतिं विधायैव तस्मात्तत्ताचरेत् स्वयम् ।।

जो कुछ तुम्हें बताया गया है और तुम्हें क्रिया मुद्रा औषधियाँ प्राप्त हैं उन सबकी अनुभूति करके जो बात जिसकी प्रकृति के अनुकूल पड़े उसी का सेवन करो और कराओ।

औषधं वा क्रियां वापि मुद्रां वापि विशेषतः।

दिनेन पञ्चमात्रेण पूर्वमेवं समाचरेत् ।।

चाहे औषधि हो, क्रिया हो अथवा कोई मुद्रा हो, तीन या पांच दिन तक पहिले स्वयं करके परीक्षण कर लो। यदि अनुकूल पड़ती हो तो उसे ले लो। प्रतिकूल को तत्तद् व्यक्तियों के लिये रख लो।

यदि लाभोऽस्ति पूर्णं च तत्त्वशोधं प्रतीयते।

यदा च मुद्रया यच्च औषधेन पुनः पुनः।।

यदि तीन या पांच दिन के भीतर पूर्णलाभ होता है और तत्त्वशोध प्रतीत होता है तो वही मुद्रा वही क्रिया वही औषधि बारबार–

तदैव ग्रहणीयञ्च अनुभूतिपरं हि तत् ।

अनुभूतिपरामुद्रा क्रिया च अनुभूतिदा।।

ग्रहण करते रहो, क्योंकि वह आजमाई हुई चीज है। सभी क्रिया और मुद्रायें अनुभूतिपूर्विका होती हैं। सभी कुछ सभी के लिये अनुकूल प्रतिकूल नहीं होता है।

एवं ज्ञात्वा महायोगे सर्वं तद् आचरेद् बुधः।।

इस महायोग में इन्हीं सब बातों को समझकर साधक को आचरण कना चाहिये।

अधुना सम्प्रवक्षामि मणिपूरस्य शोधनम् ।

विधानमेकमेवं तत् तद्वै लाभप्रदो भवेत् ।। ॐ ।।

अब मैं मणिपूर के शोधन की बात कर रही हूँ। एक और विधान है वह भी लाभप्रद सिद्ध होगा।

चक्रिणी चक्रिका चक्रा चक्राकारा च चक्रदा।

चक्रस्थिता च सा मुद्रा[१८] चक्रिणीं प्रोच्यते मया।।

एक चक्रिणी मुद्रा है, जो चक्रस्थिता है, चक्रा है, चक्रिका है, चक्राकारा है और चक्रप्रदा है। इसीलिये इस मुद्रा को चक्रिणी कहा जाता है।

चक्रिणी चक्रविद्यायाः आधारभद्रिका मता।

क्वचिच्च चक्रिणी योगात् शुद्धिस्तु मणिपूरके।।

यह चक्रिणी मुद्रा चक्र विद्या के अन्तर्गत आधारभूत मुद्रा है। कभी कभी चक्रिणी मुद्रा के सेवन से मणिपूर की शुद्धि हो जाती है।

भवेद् वै त्वरितं तस्यात्तमेव सततं बुधः।

कुर्याच्च स्वानुभूतौ च स्थापयेत्तां च चक्रिणीम् ।।

यदि यह मुद्रा अनुकूल पड़ जाती है तो बड़ी जल्दी से साधक को लाभ होता है। अनुकूल में आने पर अपनी अनुभूति में लाकर इस चक्रिणी को रख लेना चाहिये।

तया सह पुनर्ज्ञेयं औषधं शुभ्र ज्योतिषम् ।

ज्योतिस्तत्त्वसमायुक्तं सहैव परिभक्षयेत् ।।

इस मुद्रा के साथ औषधि भी जान लेना चाहिये जो शुभ्र ज्योति वाली है और ज्योतिस्तत्त्व से पूर्ण है। चक्रिणी मुद्रा के साथ इसका भी सेवन करना चाहिये।

तुला च अस्यते यस्मात् तुलसी सा च कथ्यते।

मञ्जरीस्तु समादाय तस्याः दत्तावधानतः।।

जिसकी तुलना में अन्य कोई नहीं है उसे तुलसी कहते हैं। उसी तुलसी की मञ्जरी सावधानी से ग्रहण करो।

पञ्चपर्यन्त मात्रस्य मंजरींव्यूहकं शुभम् ।

भक्षयेन्मधुना सार्धं शुद्धिस्तु निश्चिता भवेत् ।।

पाँच मञ्जिरियों के गुच्छे को लो और मधु के साथ उसका सेवन करो। निश्चित रूप में मणिपूर की शुद्धि हो जावेगी।

एवं स्वल्प स्वल्पमेव विनाकष्टेन साधकः।

मणिपूरं च संशोध्य ऊर्ध्वं गच्छति गच्छति।।

इस प्रकार साधक थोड़ा-थोड़ा करके बिना कष्ट के ही मणिपूर का शोधन करके ऊपर की ओर बढ़ता चला जाता है।

तत्र या मणिसम्पत्तिः तुलसीभक्षणाच्च सा।

मार्गं च सरलं सद्यः तस्मान्मार्गः प्रजायते।।

तुलसीभक्षण से वहाँ जो मणि सम्पत्ति है, वह स्पष्ट होता है, शीघ्र मार्ग सरल हो जाता है और मार्ग खुल जाता है।

ॐ गोरक्ष , गोरक्ष !

गोरक्षवाणी :- अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन ! अलख निरञ्जन।। ॐ ।। मणिपूर शोधन-प्रक्रिया में बताया जा रहा है कि किस भाँति इसकी शुद्धि होगी। क्योंकि यह तेजस्तत्त्व है और तेजस्वत्व में शुद्धि की विशेष प्रक्रियायें ही होती हैं और विशेष प्रकार की अग्नि तत्त्व के लिये ऐसी क्रियाओं और ऐसी मुद्राओं की आवश्यकता होती है जिनका गुण न शीत प्रधान हो, न उष्ण प्रधान हो। ऐसा होता है कि क्योंकि यदि उष्णता में और भी उष्णता आ गई तो भी अच्छा नहीं और उष्णता में पूर्णरूप से शीतलता आ गई तो भी अच्छा नहीं। इसलिये सावधानी के साथ बताया जा रहा है कि अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल जितनी क्रियायें और मुद्रायें बताई जा रही हैं जितनी औषधियाँ बताई जा रही हैं, इसको पाँच दिन तक सेवन करना और कराना, देख लेना जो प्रकृति के अनुकूल न पड़े उसे समझना कि दूसरे की प्रकृति का कारण है। उसको भी कर लेना, पर अनुभूति में लाना, बिना अनुभूति के कुछ नहीं होता है, इसलिये ऐसा करना, फिर से एक बात और है। एक मुद्रा है जिसे चक्रिणी कहते हैं, चक्रा कहते हैं। चक्रविद्या की जो आधार मुद्रा है उस मुद्रा को भी लगा लेना। जब उस मुद्रा के साथ जिसे तुलसी कहते हैं, तुलसी को पूजते हैं, घरों में रखते हैं, अच्छा है सुगन्धित सुन्दर छोटा-छोटा सुगन्धित वृक्ष होता है, मञ्जरियाँ आती है, तो उसकी पांच मंजरी ले लेना। न बहुत छोटी हों न बहुत बड़ी हों, उनको या तो पीस करके मधु मिला कर भक्षण करना या यों ही चबा जाना और ऊपर से मधु चाट जाना। यह चक्रिणी मुद्रा के साथ औषधि प्रयोग होता है तो उसका एक विशेष कारण होता है। उसको स्वल्परूप में समझ लेना चाहिये। जितनी भी मुद्रायें और क्रियायें की जा रही हैं उनमें मनुष्य स्वभाव धर्म है, उसमें कुछ त्रुटि ही न रह जाय, वह कुछ विकृति न कर दे। इसलिये औषधि का सेवन भी कर लेना चाहिये और मुद्रा के साथ जब औषधि का सेवन होता है तो मुद्रा की शक्ति और औषधि की शक्ति बलवती दोनों हो जाती है। और जिस कार्य के लिये उनका प्रयोग किया जा रहा है वह सिद्ध हो जाता है। तो इस प्रकार का प्रकरण में एक गुप्त बात यह बताई कि जो चक्रा चक्रिणी है उसको लगा जाओ और उसके साथ तुलसी की मञ्जरियां का सेवन कर लो। अहा जिसकी तुला में कोई नहीं आ सकता उसको तुलसी कहते हैं। तो पूताँ ! क्रिया करना तो, चक्रिणी कैसे होगी समझ लो, देख लो, जान लो, अनुभव कर लो।

आओ, आसन जिस पर बैठे हो साधना काल में, अथवा नहीं बैठे हो, पूर्ण रूप से करना चाहते हो, सहसा करना चाहते हो, पहिले ही करना चाहते हो, सहसा करना चाहते हो, चाहोगे क्या, पहिले थोड़ा बता दूँ। अभ्यास करा दूँ। चलेगी, चल पड़ेगी, चलेगी लो सब चल पड़ेगी। चलेगी तो सब चलेगी। ऐसा करना, ऐसा करना, भाई, दोनों पैरों को यों (लम्बा) फैला लेना। जितने फैले फैला लेना। पर इतने न फैलें कि तकलीफ हो जाय। यों फैलाओ भाई! दोनों हाथ घुटनों के पार्श्व में रख लो। रेचक करो। आगे को झुक जाओ। पेट को खाली रखना पीठ की तरफ सिकोड़ कर, छाती जमीन में हो, ठुड्डी भी लग जाय। ऐसे करने में नसें तनेंगी तो हाथों को आगे ले जाना। यों कर लेना, थोड़ा देर यों ही रहना, कष्ट होने पर पैरों को फैला देना या समेट लेना। फिर यों सीधे हो जाना, पेट को आसन पर थोड़ा रगड़ लेना, रगड़ा जाय तो। नहीं तो एक भेद यह है, देख लो।

दूसरा भेद, उसी में यों कर लेना। पैर को एक को थोड़ा मोड़ कर बैठना। एक को थोड़ा मोड़ कर लम्बा कर लेना और यों कर लेने के पश्चात् और यों कर लेने के पश्चात् यों दोनों हाथ रखकर छाती को नीचे ले जाना, फिर नीचे को रखना। यह जो जानुभाग है, वह गले की हड्डी के समीप रहे। दोनों हाथ यों रहें (पीठ पर) यह बल पड़ गया। इस बल को ले जाकर धीरे-धीरे सारिका की भाँति पीछे हाथ खोलकर रेचक पूरक करना। ऐसे लगा जाना। फिर धीरे-धीरे से ऊपर उठ जाना। ऐसा करके यह जिसकी भी प्रकृति के अनुकूल पड़ जाती है, उसको मणिपूर भेदन शोधन के लिये कोई मुद्रा कोई औषधि नहीं लेनी पड़ती है और जिसको अनुकूल नहीं पड़ती है, पाँच दिन में ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है अनुभूति में आ जाता है कि इसके लक्षण क्या हैं। जिस समय यह चक्रिणी लगी होगी, यह नीचे का भाग और ऊपर का भाग ऐसा ज्ञात होगा कि तन रहा है। यह मध्य का भाग शीतल मालूम पड़ेगा और भीतर को जाता मालूम पड़ेगा। कभी धीरे-धीरे फरफराहट मालूम पड़ेगी। यह पहिली प्रकार की चक्रिणी का लक्षण है। दूसरी चक्रिणी में ऐसा होता है। जिस समय वक्षःस्थल का बल जानुभाग पर पड़ता है थोड़ा सा ऐसा मालूम पड़ता है आराम मिला। उसके पश्चात् जब श्वास की प्रक्रिया में गतिविच्छेद होने लगा है, रेचक पूरक होने लगता है, तब मालूम होने लगता है नाभि के भाग में थोड़ा तनाव आ गया और शरीर में थोड़ी सी उष्णता व्याप्त होने लगी। बस, समझलो काम बनने लगा और इस चक्रिणी का अभ्यास करने से बड़ा लाभ होता है। करो। देखो, भेदन कर जाओ। अरे ! मणिपूर को संशोधित कर दो। दोनों वहीं हो जायेंगे। भेदन नहीं हुआ होगा तो हो जायेगा। शोधन नहीं हुआ होगा तो हो जायेगा।। ॐ ।।

३-२-६३ प्रातःकाल ।।१३७।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

बिन्दुविधेयकं सर्वं शून्याकारं खमण्डलम् ।

तत्रापि भ्राजते देवी तां नमामि सरस्वतीम् ।।

जब यह समस्त सृष्टि शून्याकार होकर चिदाकाश मण्डल में परिणत बिन्दुरूप हो जाती है, वहाँ पर भी जो देवी विराजमान रहती है उस सरस्वती मां को मैं प्रणाम् करता हूँ।

आदाय पुस्तकमिदं बहुलं बहुज्ञं

साराहितं च विपुलं विपुलार्थतत्त्वम् ।

कृत्वा च तत्र बहुरम्यक नादनादं,

सा सुन्दरा भगवती मतिमातनोतु।।

बड़े गम्भीर अर्थों से भरी, सारपूर्ण, अनन्तज्ञान से पूरित पुस्तक धारण करके सुन्दर मनोहारी नाद करती हुई वह सुन्दर भगवती मेरी बुद्धि को विस्तीर्ण करे।

वन्दे भगवतीं देवीं विपञ्चीनादकारिणीम् ।

तन्त्रीझंकृतयोगीनां चेतसं नौमि तां सदा।। ॐ ।।

विपञ्ची नामक वीणा का नाद करने वाली, योगियों के चित्त को तन्त्रीनाद की भांति झंकृत करने वाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

चक्रविद्या च या प्रोक्ता साधकानां हिताय च।

जायतां विपुलादिव्या बोधशोधविमण्डिता।।

साधकों के हित के लिए जो चक्रविद्या बताई गई है वह बोध और शोध से परिमण्डित होकर मेरे लिये अपूर्व दिव्या बन जावे।

तत्रैव शोधकार्यस्य प्रकरणे यन्निगद्यते।

तत्सर्वं मूलरूपेण उद्बुद्धं च भविष्यति।।

इस शोध कार्य के प्रकरण में जो कहा जाता है, वह सब मूलरूप में तुम्हारे सामने प्रकट हो जायेगा।

साम्प्रतं करणीयं यत् साधकेन सुखावहम् ।

महायोगरतेनैव तद् वदामि हितावहम् ।।

साधक को अब जो करणीय है और जिसके करने से सुख मिलेगा, उसी कल्याण-कारिणी बात को महायोग-साधक के लिये बता रही हूँ।

यच्चैव संवर्तते रूप मणिरूपं च पूरकम् ।

नानाविधं विधायैव शोधनं कस्यचित् क्वचित् ।।

मणिपूर का जो विभिन्न रूप नाना विध होता है, उसके शोधन के भी कभी-कभी नानाविध रुप हो जाते हैं।

कदाचित् क्वचिदेवं च भिन्नरूपेण तत्र वै।

भिन्ना भिन्ना क्रिया प्रोक्ता औषधं च पृथक् पृथक् ।।

इसलिये कभी कभी किन्हीं साधकों के लिये मणिपूर शोधन के लिये विभिन्न क्रियायें और औषधियाँ प्रकृति भेद से हुआ करती हैं।

सर्वेषां हितकामाय बोधनीयं च तत्त्वतः।

तेनैव तस्य शोधस्य क्रिया फलवती भवेत् ।।

सब की हितकामना के लिये सभी क्रियाओं और मुद्राओं का तत्त्व जान लेना चाहिये। जो जो तरीका अनुकूल पड़े वही क्रिया शोधन कार्य में फलवती रहेगी।

सर्वेषां सर्वभूतानां जनानां ज्ञानधारिणाम् ।

कृते यत् प्रोच्यते शास्त्रं तत्त्वं तस्य निबोधय।।

सब प्राणियों सभी ज्ञानधारी मानवों के लिए जो जो शास्त्र कहा जाता है उसका मर्म समझ लो। सभी बात सभी को लिये समान रूप से नहीं होती।

यथा क शब्दमात्रेण सुप्रयुक्तेन योजितम् ।

अभीष्टं फलते सद्यस्तद्वद् वै योगमार्गके।।

जैसे लोक में 'क' शब्द का प्रयोग करने पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है उसी भांति योग मार्ग में भी है।

परीक्षितं च ज्ञानं च अनुभूतं च तत्त्वतः।

तदैव फलसम्प्राप्तिर्नान्यथा निष्फलं भवेत् ।।

तत्त्वरूप में परीक्षित अनुभूत और ज्ञात बातों से ही फलप्राप्ति सदा हुआ करती है। अन्यथा सब निष्फल हो जाता है।

परीक्ष्य पूर्वं च निरीक्ष्य सम्यक् सम्यक् प्रकारेण च शोधमार्गे।

क्रिया च मुद्रा च महौषधं च सर्वं भृशं ज्ञानमयं कृतं च।।

प्रत्येक क्रिया और मुद्रा का पहले भलीभाँति निरीक्षण कर लेना चाहिये। इस शोधमार्ग में इस प्रकार बार-बार सुपरीक्षित ज्ञान प्राप्त कर लो।

पुनश्च तद्वै सुमहत्प्रयोगे कृत्वा पुनस्तत्त्व मवेक्षणीयम् ।

एवं कृते सारविभूषिते च सर्वा क्रिया सार्थवती भवेच्च।।

फिर उसी प्रकार के प्रयोग करते हुए बारबार निरीक्षण परीक्षण करते रहो। इस भाँति सभी क्रियायें सारवती और फलदायिनी बन जावेंगी।

सर्वं ज्ञात्वा सुकरप्रकारेण विभिन्न रूपेण विभिन्नयोगेषु भिन्न-भिन्न विधिना एवं मणिपूरस्य शोधनप्रकरणे मणिपूरस्य शोधनं कर्तव्यम् ।।

आसानी से सब कुछ समझ लेने पर विभिन्न प्रयोगों द्वारा विभिन्न उपायों द्वारा विभिन्न विधि से मणिपूरशोधन विधान के अन्तर्गत मणिपूर का शोधन किया जाता है।

यदा च अपरमपि परिज्ञानानुभूति वदामि तदपि सार्थवती भविष्यति।।

अब एक अन्य परखी हुई अनुभूति बताती हूँ, वह भी फलदायक होगी।

अपामार्गं समादाय मूलकं पिष्टपेषणम् ।

कृत्वा विलेपनं तस्य नाभिभागे सुनिश्चितम् ।।

अपामार्ग की जड़ लेकर उसे पीस लो। लेप बनाकर नाभि भाग में लेप कर दो।

एकदा एककाले वा साधनीया समाप्तिके।

शयनीये विशेषेण लाभस्तस्मात् प्रजायते।।

दिन में एक बार साधना समाप्ति के अनन्तर यह प्रयोग करना चाहिए और यदि शयनकाल में किया जाय तो लाभ अधिक होता है।

तस्य मूलस्य तत्त्वेन तत्त्वस्य शोधनं भवेत् ।

केवलं मणिपूरस्य नान्यत्र योज्यतांबुधेः।।

अपामार्ग की जड़ के तत्त्व से मणिपूर चक्र का शोधन हो जाता है। इसका प्रयोग केवल मणिपूर के शोधन में किया जाय। अन्यत्र इसका उपयोग न हो।

एकेन तेन मूलेन घर्षितेन सुमसृण्णकम् ।

लेपेन नाभिभागे च तत्त्वशुद्धिः प्रजायते।।

अपामार्ग की एक जड़ बारीक घिस कर नाभि भाग में लेप करने से तत्त्व शुद्धि हो जाती है।

यदि कश्चिन्नरः सर्वां क्रियां मुद्रां महौषधम् ।

कर्तुं च नैव शक्नोति अपमार्गं ततो भजेत् ।।

यदि कोई साधक सभी क्रियाओं और औषधियों को नहीं कर सकता है तो केवल अपामार्ग का यह प्रयोग ही पर्याप्त होगा।

सर्वप्रकृतिके लोके सर्वः सर्वहितंहि तत् ।

पूर्वापरत्वमादाय तत्त्वशुद्धिं करोति सः।।

नाना प्रकार की प्रकृति वाले मनुष्य से भरे इस लोक में सब के हित के लिये नाना प्रकार की वस्तुयें हैं। सब चीजों के पूर्वापरत्व प्राधान्य अप्राधान्य को लेकर तत्त्व शुद्धि की जाती है।

एतच्च सर्वं गदितं मया हि यत् श्रुतं कृतं बोधमयं च नीयते।

यदा जनानां हितकाम्यया तदा शुद्धिस्तु तत्त्वस्य सुनिश्चता भवेत् ।।

यह सब जो कुछ मैंने कहा है, उसे सुन करके, तथा बोधमय करलो। जब मानवों के कल्याण की इच्छा हो तो इन उपायों से अवश्य ही तत्त्व शुद्धि हो जायेगी।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। तत्त्वशोध प्रकरण में जो मणिपूर का शोधन बताया जा रहा है, विभिन्न प्रकार से बताया जा रहा है। वह इसलिये बताया जा रहा है कि जो कुछ भी असुविधा अग्नितत्त्व के शोधन में होती है, वह सावधानी की वस्तु है। वह इतनी सावधानी की वस्तु है कि कोई समझ नहीं सकता। इसलिये उसे टेड़ा भी कहा गया है, जटिल भी कहा गया है किन्तु महायोग के मार्ग में एक सीधी सी बात बताई जाती है। उसी के आधार पर समझ लेना चाहिये कि मणिपूर जैसे चक्र का शोधन भी चुटकी का खेल हो जाता है। मणिपूर जैसे चक्र के मार्ग पर चलना और उसका भेदन जैसे सरल हो गया था, क्या उसका शोधन सरल नहीं है ? होगा, होगा, किन्तु सावधानी से पैर रखने की आवश्यकता है। सीधा मार्ग जा रहा है। किन्तु मार्ग के दोनों ओर खाइयाँ हैं। चलो। सीधे। पैर रपट जायेगा तो इधर भी खाई उधर भी खाई। बचना कठिन हो जायेगा। इसलिये तुम्हारा पैर विचलित न हो, तुम्हें महाशक्ति आगे बढ़ाती चली जा रही है। सीधी बात, जब किसी बात से, किसी भी क्रिया से, किसी मुद्रा से ऐसा प्रतीत हो कि पाँच दिन के पश्चात् भी महाबल हो, उस वज्र को भी कुछ नहीं हो रहा हो, या विशेष प्रकार के साधन में शंका, कुप्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को. ऐसा भी कर लूँ, वैसा भी कर लूँ, सब छोड़ के उस बख्त एक ध्यानावस्थित होकर अपामार्ग के मूल को लाकर के उसको

घिस करके, पिष्टपेषण करके मृदु मक्खन जैसा बनालो। चिकना नवनीत के समान बना लो और उसके पश्चात् जब साधना समाप्त कर लो, रात्रि में जब शयन करने जाओ तो पांच दिन पर्यन्त पूर्ण रूप से नाभि भाग में लेप कर दो। यह अपामार्ग का मूल पिष्टपेषण विलेपन मणिपूर के प्रकोष्ठतत्त्व को शोध देगा औ उसका लक्षण इस प्रकार से होगा। जब अपामार्ग के मूल का विलेपन किया जायेगा तो पहिले दिन कुछ ज्ञात नहीं होगा। ऐसा भी मालूम् पड़ेगा कि क्यों लगाया होगा। दूसरे ही दिन ज्ञात होगा। शक्ति में विशेष संचार करेगा। एक प्रकार की विशेष अनुभूति नाभि देश से हृदय देश तक होगी। इसमें प्रतीत होगा कि शक्ति आ रही है। इसके पश्चात् तीसरे और चौथे दिन, अथवा व्यवधान होने पर ग्यारहवें दिन तक इन दोनों में स्वल्प मल कृष्ण (काले) रूप में निकल जायगा। तो समझ लेना कि मणिपूर शुद्ध हो गया है। यदि ऐसे में भी व्यवधान हो जाय तो तीन दिन और लगा लो, तो फिर ग्यारहवें दिन कृष्ण मल बाहर निकल जायेगा और साधक को उसकी मलशुद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जायेगा। इस प्रकार भी न कर सको तो एक दो बात और बतानी है। वह बताकर भी इस प्रकरण को थोड़ा मन्द कर दूँगा या बन्द कर दूँगा। ॐ ।।

४-२-६३ प्रातः काल ।।१३८।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

या जागृता भगवती परमा परा च

या सर्वलोकहित कामनया च नद्धा।

या प्रस्फुटा स्फुरति या स्फुरिता च भूत्वा

मूला च स्कन्धा विटपान्विता च।।

जो जागृता परमा परा भगवती समस्त लोकों की हितकामना में तत्पर रहती है और जो प्रस्फुट होकर स्फुरित होती है और कभी अस्फुरित ही रहती है, तथा मूल स्कन्ध और शाखाओं से अन्वित रहती है।

बोधस्य सर्वं परिबोधिका च सा मे सदा भगवती सुखमातनोतु।। ॐ ।।

सब प्रकारर के बोध को बताने वाली वह भगवती मुझे सदा हर्षित करती रहे।

ॐ महाशक्तिं तां चावाहयामि यया विना च न किंञ्चिदपि कर्तुं शक्यते। नमामि तां महाशक्तिं सरस्वतीस्वरूपाम्, महालक्ष्मीस्वरूपिणीं तामेव सरस्वतीं धृतमहाकालिका विग्रहां मूलरूपेण एकत्वे समष्टिरूपेण समागतामेकामेवाचलां नित्यां सर्वव्यापिकां तां महाशक्तिं नमामि।। ॐ ।।

मैं उस महाशक्ति का आवाहन करता हूँ जिसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है। उस महाशक्ति को, जो महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली का रूप धारण करके मूलरूप से समष्टि रूप में सर्वव्यापिका होकर एक रूप में प्राप्त हो जाती है, मैं प्रणाम करता हूँ।

पूर्वं मणिपूर शोधन विधौ बहुप्रोक्तम् । औषधं, क्रियामुद्रा विशेषकृत्यं च। अधुना तु स्वल्परूपेण स्वल्पमेवाभाष्य स्वल्पस्वल्पं च संबोध्य अद्यैव क्रियौषधज्ञानं विधाय द्वितीय साधनकाले प्रकरणमेतत् परिसमाप्तिं गमिष्यति।। ॐ ।।

पहिले मणिपूर शोधन-विधि में बहुत कुछ बता दिया गया है। औषधियां, क्रियायें और मुद्रायें तथा विशेष कृत्य कहे गये हैं। अब स्वल्परूप में थोड़ा सा बचा खुचा बताकर आज ही क्रिया औषधि बताकर दूसरे दिन यह प्रकरण समाप्त।

एका मुद्रा[१८] च या शिष्टा अवशिष्टा च वर्तते।

भद्रिका भद्ररूपा च भद्रं भद्रं करोति सा।।

एक श्रेष्ठ मुद्रा जो बतानी शेष है, वह भद्रकारिणी भद्रिका मुद्रा है, जो सदा कल्याण करती है।

भद्रिका भद्ररूपा च भद्रं भद्रं करोति सा।

भद्रिका भद्ररूपा च भद्रकामार्थदायिनी।।

भद्रिका मुद्रा का रूप भी भद्र है और वह सदा भद्र ही करती है। भद्रिका भद्ररूपा होने के कारण कल्याणकारी कामनाओं को प्रदान करने वाली होती है।

भद्रा भगवतीमेकां मुद्रां कृतवती पुरा।

भद्रा या भद्रिका देवी तस्या मुद्रा च या मता।।

पुरातन काल में भद्रा भगवती ने एक मुद्रा लगाई थी। वही मुद्रा उसी भगवती के नाम से प्रसिद्धि में आई है।

सा मुद्रा भद्रिका प्रोक्ता भद्रभावं तनोतु सा।। ॐ ।।

भद्रिका शोभना मुद्रा सरला बहुलासदा।।

वह मुद्रा भद्रिका मुद्रा है वह सबको भद्रता प्रदान करे। भद्रिका मुद्रा बड़ी सरल है और बहुत लाभ प्रदान करती है।

तां मुद्रां च विधायैव मलसंशोधनं भवेत् ।

यस्य या कोमला वृत्तिः तामसेन विवर्जिता।।

उस मुद्रा को करके मलसंशोधन हो जाता है। जिस साधक की प्रकृति कोमल हो तथा तामसी आहार विहार न हो, उसके अनुकूल यह मुद्रा पड़ती है।

तेनैव साधकेनैतत् कर्तव्या भद्रिका शुभा।

यस्य च मणिपूरस्य स्वल्पशुद्धिः प्रतीयते।।

उसी कोमल प्रकृति वाले साधक को यह शुभ मुद्रा करनी चाहिये, जिसके मणिपूर चक्र की शुद्धि में स्वल्पता हो, मल स्वल्प हो।

तदर्थं भद्रिका मुद्रा करणीया क्वचित् क्वचित् ।

न च सर्वैः प्रयोक्तव्या न च सर्वहिताय च।।

ऐसे सात्विक प्रकृति के साधकों को यह मुद्रा करनी चाहिये, सभी को इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये, यह सबके अनुकूल नहीं पड़ती है।

तेषामेव च लोकानां सर्वेषां मृदुवृत्तिनाम् ।

एषा वृत्तिः सतोवृत्तिः कोमलापरूषाकृतिः।।

जो लोग मृदु वृत्ति वाले हैं, जिनकी वृत्ति सतोगुणी है और आकृति भी कोमल अकठोर है (जैसे नारीजन अथवा नारीप्रकृति के पुरुष या सात्विक आहारी)

तदर्थं प्रोच्यते मुद्रा भद्रिका मृदुवाहिनी।

सरला शक्तिसम्पन्ना शीतला न च उष्णिका।।

मृदुस्वभाव वाली यह मुद्रा उन्हीं साधकों के लिये बताई जाती है। यह मुद्रा बड़ी सरल है, शक्ति सम्पन्न है, न तो शीतल है और न ही उष्ण है।

मध्या मध्यमभावा च मध्यमानां कृते चं सा।

उत्तमानां कृते प्रोक्ता क्रिया औषधशक्तिकम् ।।

यह न अधिक कठिन न अधिक सरल है, मध्यमभाव की मुद्रा है। मध्यम वृत्ति के साधकों के लिये ही यह है, उत्तमों के लिये अन्य क्रिया और औषधियाँ हैं।

बज्राणां च कृते प्रोक्तंकूष्माण्डबीजकं तथा।

अपामार्गस्य मूलं च अपरं यच्च भाषितम् ।।

बज्रसाधकों के लिये कूष्माण्ड और उसके बीज बताये गये हैं। मध्य बज्रों के लिये अपामार्ग की जड़ बता दी गई है।

मध्यमानां कृते मुद्रा काचित् काचित् च प्रोच्यते।

औषधं चापि किञ्चिद् हि मध्यमा योजयन्तु वै।।

कुछ मुद्रा मध्यमों के लिये भी कही जा रही है और औषधि भी उनके लिये बताई जा रही है। मध्यम प्रकृति के लोग उसका सेवन कर लें।

एषा च भद्रिका मुद्रा मध्यमानां कृते स्मृता।

तस्मात् सर्वात्मभावेन भद्रिका भद्रकारिणी।।

केवल मध्यम प्रकृति के साधकों की यह मुद्रा है इसलिये यह उन्हीं को सर्वात्मभाव से मङ्गलकारिणी सिद्ध होगी।

प्रयोक्तव्या सदा तेन यश्च कोमलवृत्तिकः।

अग्रे मुद्रा क्रियाज्ञानं करणीयं न विद्यते।।

कोमल वृत्तिवाला साधक सदा इस मुद्रा का प्रयोग करता रहे। इसके बाद मणिपूर शोधन में किसी मुद्रा व औषधि का ज्ञान शेष नहीं रह जाता है।

औषधं स्वल्पमेकं च गोरक्षः कथयिष्यति।। ॐ ।।

एक छोटी सी औषधि गोरक्ष स्वयं बतायेंगे।

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। मणिपूर शुद्धि बताई जा रही है। और विभिन्न प्रकार की मुद्रा क्रिया बता कर औषधि बताकर, उनका प्रयोग बता कर, और उन सबका एक प्रभाव बताकर यह कहा गया है कि किस प्रकार से इस चक्र की शुद्धि हो जाती है और फिर निर्मलत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ से ज्योति का स्तम्भ प्रकाश फैलना शुरू होता है। इसलिये इसके शोधन के लिये सावधानी के साथ विभिन्न प्रकार की मुद्रा क्रिया औषधियाँ बता दी गई हैं। तो ऐसा बताया गया है कि तीन प्रकृति के साधक होते हैं। उत्तम प्रकृति के, मध्यम प्रकृति के और अधम प्रकृति के। तो ऐसा क्यों हो गया है। ऐसा संस्कारों के कारण होता है। देखो भाई। पात्र हैं, चिन्ता की बात नहीं है। जब तुमको जैसा पात्र दिया गया भर के ले आओ। छोटा सा कमण्डलु और बड़ा सा घट और एक छोटी सी हंडिया तीन चीजें दे दीं। और तीन व्यक्तियों को भेज दिया कि समुद्र से पानी भर कर लाओ। पर जिसके जितना पात्र होगा उतना ही तो लायेगा। पर दुबारा जब उसको बड़ा पात्र दिया जायेगा कहा जायेगा भर के ला, तो लायेगा। तो इसलिये भेद हो जाता है। संस्कार होते हैं। इसमें संस्कारों की तीव्रता और मन्दता होती है। यह कोई विशेष बात नहीं, होता सब को है। अरे बता रहे हैं, चल रहे हैं। कोई जरा जल्दी पहुंच जाता है, कोई जरा विलम्ब से पहुंच जाता है। कोई जरा विलम्ब से पहुंचता है। रूकता तो नहीं है। ऐसा करके सब की प्रकृति सोची गई और प्रत्येक साधक की प्रकृति के अनुकूल ही औषधि और क्रिया मुद्रायें बताई गई हैं। भेद इतना ही है कि औरतों का और सर्वसाधारण का। किन्तु दो और तीन चीजें भेद कर दी गई हैं। महाबज्रों के लिये तो अपमार्ग की जड़ बता दी गई है और

मध्य कोटि के वज्रों के लिये कूष्माण्ड बीज बता दिये गये हैं। और उससे भी जरा मध्य के कोमल वृत्ति के हैं उनके लिये भद्रिका बता दी गई है। तो भाई इस प्रकार इनका प्रयोग कर लेना। ज्ञात कर लेना। अब भद्रिका मुद्रा इसलिये बताई गई है कि जिनके मणिपूर में स्वल्प मल हो और जिनकी प्रकृति कोमल हो, तामसी प्रकृति के अधिक न हो, उनको भद्रिका मुद्रा लाभदायक होगी, इसलिये बताया जाता है। सभी प्रकार से समझाया जाता है। सभी प्रकार के साधकों को बढ़ाया जाता है, कोई रह न जाय, और फिर शास्त्र की मर्यादा टूटने न पाय। वह भी ध्यान रखना ही है। इसलिये जान लो समझ लो। भाई ! भद्रिका भी अच्छी मुद्रा है। इसका प्रयोग कैसे होगा, यह भी जान लेना चाहिये। यह सरला मुद्रा है। जरा सी देर की बात है।

जरा यों सीधे लेट जाओ। यों लेट जाओ, और इसको (पैर को) वहाँ तक रख लो जहाँ तक जा सके। यों यों यों (लम्बा) कर लेना पैर को आसन बाँध कर स्थायी कर लेना और दूसरे पैर को भी स्थायी कर लेना। फिर मुट्ठी बाँधना, अंगूठा बन्द करना। रेचक, पूरक, कुम्भक करो और कुम्भक की स्थिति में जो पैर बाँधे थे उनको पद्मासन के रूप में ही ऊपर उठा कर पेट की तरफ झुकना। अधिक न झुकना। दोनों कूल्हें पकड़ लो और टिका लो हाथों पर, जोर कुहनियों पर देना। भार उसी पर टिका रहेगा। कोहनियों पर जोर डाल दो। पिण्डलियों के भाग पर ध्यान जमा कर इष्ट मन्त्र का जाप करो। भद्रिका भद्रं करोति। ऐसा कहा गया है। तो प्रकृति समझ लेना और मल की भी कमी समझ लेना। भद्रिका लगा जाना तो बीच के साधक भी अच्छी तरह चल पड़ेंगे। और कर्मसिद्धि हो जायेगी। यह भी न कर सको तो लो, एक दो बातें और बतानी हैं, वह बता कर भी यह प्रकरण बन्द कर दूंगा।

४-२-६३ सांयकाल ।।१३९।।

हरि ॐ तत् सत् ।

आधृतज्ञानपरिमलासारां मालाकुलाधाराम् ।

सारां तारसाराङ्कितांशुहारां निखिलभुवनविरचितां ताम्

सुव्यापिकां वन्दे।।

ज्ञान की सुगन्धि का सार धारण किये हुए, निखिल भुवन की सृष्टि करने वाली उस सर्वव्यापिनी सारभूता भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

चक्रविद्याधिगमसमानाधिकरणे तत्त्वशोधनप्रकरणे तत्त्वशोधप्रज्ञानं यत् प्रोक्तं तत्र सर्वं सुकरं सुफलदायकं च। सावशिष्टं मणिपूरशोधनविधौ एकं महौषधं पुनरपि प्रकटरुपेण पुरतः उपस्थाप्यते।। ॐ ।।

चक्र विद्या समानाधिकरण के तत्त्वशोधन प्रकरण में जो तत्त्वशोधन का प्रज्ञान कहा गया है वह सब बहुत सुकर, सरल और लाभदायक है। मणिपूर शोधन विधि में फिर भी एक बची हुई औषधि तुम्हारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती है।

भुक्ताल्परुपेण च वंशजातं शुर्भं यथा तच्च स्वयं स्वरूपे।

तद्वद् विधायैव करोति शुभ्रं तत्पूरकं तन्मलहीनकं च।।

जानाति यो तत्त्वमिदं महत्त्वं तस्यैव सिद्धिः शुभदा च ज्ञेया।।

बाँस से उत्पन्न वंशलोचन जो स्वरूप में शुभ्र है उसे अल्प मात्रा में भक्षण करने पर अपने अल्प रूप के ही समान साधक को मलहीन बनाकर शुभ्र करा देता है।

वंश लोचन के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को जो समझ लेता है उसे शुभ सिद्धि मिल जाती है।

शुभ्रत्वं विधिवत् ज्ञेयं युतभावेन योजितम् ।

वंशजं योत्वरुपेण कीचकात् जन्मसम्भृतम् ।।

इसके कण घनीभूत होकर सटे रहते हैं और यह वर्ण में बहुत शुभ्र होता है। योत्व भी इसे कहते हैं। बाँस के भीतर इसका जन्म होता है, इसे वंशज भी कहते हैं।

तदैव स्पल्परूपेण भुक्त्वा सद्यस्तु साधकः।

अवशिष्टं मलं तत्र मणिपूरक संस्थितम् ।।

विदूरं कुरूते तस्मात् वंशजं सेवनीयकम् ।

अतः परंच सन्निष्टं शेषं नैव च विद्यते।।

साधक स्वल्पमात्रा में इसका भक्षण जब करता है तभी शीघ्र मणिपूर में जमा हुआ अवशिष्ट मल भी दूर हो जाता है।

इसलिये इस वंशलोचन का सेवन कर लेना चाहिये। इसके पश्चात् फिर मणिपूर में मल शेष नहीं रह जाता है।

मणिपूरं च संशोध्य अग्रे गच्छेत् सुयोगवित् ।

हृच्चक्रं प्रोच्यते यच्च वायुतत्त्वविशेषकम् ।।

मणिपूर का शोधन करके योगी साधक आगे बढ़ता रहे। अब वायुतत्त्व की प्रधानता वाला हृदयचक्र बताया जाता है।

वायुना पूरितं तच्च प्राणानां रोधकं हि तत् ।

हृच्चक्रं च यत् प्रोक्तं चक्रं चक्राङ्कितं स्वयम् ।।

हृदयचक्र वायु से पूर्ण है और प्राण यहीं पर टिके रहते हैं। यह हृदय चक्र स्वयं ही अपने अंग (हृदय) के नाम से प्रसिद्ध है।

तत्रैव वायुशोधार्थं विशिष्टं नैव विद्यते।

अनुद्भूता च या नित्या सा चक्र शोधिका क्रिया।।

इसमें वायु तत्त्व के शोधन के लिये कोई विशिष्ट बात नहीं है। यह चक्र नित्य ही स्वतः शुद्ध ही रहता है, कोई नई क्रिया इसके लिये नहीं है।

तत्रैव मध्यरुपेण सर्वरोधं करोति सा।

एवं कृत्वा हि तच्चक्रं शुद्धिमापादयेत् बुधः।।

जागृता शक्ति स्वयं ही मध्यम रूप से वायु का निरोध कर देती है तो यह चक्र प्राणायाम से शुद्ध हो जाता है।

प्रतिपादित शुद्धिस्तु हृच्चक्रं निर्मलं भवेत् ।

तदर्थमौषधं प्रोक्तं वायुतत्त्वविशेषिका।।

नीचे के अन्य चक्रों की शुद्धि कर लेने पर और नाड़ी शोधन कर लेने पर यह चक्र स्वयं निर्मल हो जाता है। कोई औषधि भी इसके लिये नहीं है।

तत्र नास्ति परा मुद्रा[१९] एका एव सुसाधिका।

हिरण्यमुद्रा सा प्रोक्ता हिरण्यधनुनामकात् ।।

केवल एक ही सुन्दर मुद्रा हृदय चक्र के शोधन के लिए कही गई है। उसे हिरण्य मुद्र कहते हैं जिसे हिरण्यधनु, नामक राजा ने लगाया था।

नृपाच्चैव समायाता हिरण्या हि हिरण्यका।

सा मुद्रा स्वल्पभावेन वायुतत्त्वस्य शोधिका।।

इसी के नाम से यह प्रचलित हुई है। अतः इसे हिरण्या या हिरण्यका भी कहते हैं। यह मुद्रा धीरे-धीरे वायुतत्त्व का शोधन कर देती है।

तत्र चास्ति मलं न्यूनं सर्वेषां देहधारिणाम् ।

अतस्तच्छोधनं न्यूनं मुद्रा या च हिरण्यका।।

सभी देहधारियों के हृदय-चक्र में मल स्वाभावतः न्यून रहता है। अतः इसका शोधन भी न्यून ही है और उसके लिये हिरण्य मुद्रा है।

तस्यास्तु योग संयोगं प्रयोगं पुरतस्तव।

गोरक्षः स्वल्परूपेण स्वल्पमेव तदा स्वयम् ।।

दर्शयिष्यति तां मुद्रां तस्यास्त्वनुभवं कुरू।।

उसका प्रयोग तुम्हारे सामने आसानी से गोरक्ष स्वयं बात देंगे। उस मुद्रा को गोरक्ष करके दिखायेंगे, तुम उसका अनुभव कर लो।

हिरण्यमुद्रा परमा शुभामता सारा च मुद्रा इति प्रोच्यते कैः।

तस्मात्समाधाय च शुद्धिकाले हृच्चक्रतत्वे शुभमादधारकः।।

हिरण्य मुद्रा बड़ी उत्तम और श्रेष्ठ है। इसलिये हृच्चक्र की शुद्धि के समय सावधान होकर इस मुद्रा को करके शुभ लाभ प्राप्त कर लो।

चक्रादनाहतादूर्ध्वं विशुद्धं कण्ठचक्रकम् ।

विशुद्धचक्रं यत् प्रोक्तं शून्यं तत्र विराजते।।

अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठस्थानीय विशुद्ध चक्र है। जो विशुद्ध चक्र है, उसमें आकाश तत्त्व विराजमान है।

आकाशतत्त्वं च विराजते भृशं नीलाम्बरं नीलसुशोधिकायुतम् ।

यन्नील कण्ठारिवलनीतिकान्तां आकाशशुद्धिं प्रवदन्ति सन्तः।।

इसमें पूर्ण आकाशतत्त्व विराजमान है, नीला, आकाश, स्वच्छ सुशोभन आकाश, नीलकण्ठ शंकर के कण्ठ की भाँति आकाश है। आकाश शुद्धि स्वतः निरपेक्ष्य है।

आकाशतत्त्वस्य या शुद्धि निर्मलता च प्रोच्यते सा केनापि कर्तुं शक्यते। तत्र न किमपि करणीयं भवति। तत्र नौषधं स्वभावजं जायते। न च कापि विशिष्टमुद्रा प्रभावसम्पादिका भवति। तत्र यदि कदाचित् कदाचित्

मूलसम्भूतिः तदा कण्ठसंकुचनं कर्तव्यम् । पुनः पुनः कण्ठाकुञ्चनं कृत्वा मलग्रन्थिका विधेया। तच्च विशुद्धस्य स्वयमेव जायते।। ॐ ।।

निर्मल आकाशतत्त्व की शुद्धि कोई भी आसानी से कर सकता है। इसमें कुछ करना नहीं होता है, कोई औषधि भी नहीं है, कोई विशिष्ट मुद्रा भी नहीं है। यदि कभी उसमें मलिनता प्रतीत हो तो कण्ठ संकोच कर लेना चाहिये। बार बार कण्ठ संकोचन करके गाँठ-सी बाँधनी चाहिये। साधक को ऐसा स्वयं ही होता रहता है।

इति चक्रविद्याधिगम समानाधिकरणे तत्त्वशोधप्रज्ञानप्रकरणपरिपूरक समाप्ति पूर्वकं एतत् स्वयं सरस्वत्या समाख्यातं, जितेन्द्र-भारतीयस्य मुखात् तत् साधकानां हिताय कल्याणाय च जायताम् । एतत्तु सर्वं सफलं भवतु।।

यहाँ पर चक्रविद्या समानाधिकरण के अन्तर्गत तत्त्वशोधनप्रज्ञान की पूर्ण समाप्ति पूर्वक जो कहा गया है, वह स्वयं साक्षात् सरस्वती ने जितेन्द्र भारती के मुख से साधकों के कल्याण व हित के लिये कहा है और इसके द्वारा साधकों को सफलता प्राप्त हो।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।। ॐ।। मणिपूर चक्र के शोधन में विभिन्न प्रकार की मुद्रा, क्रिया और ज्ञान देकर अनुभव के लिये भी सब कुछ बता दिया गया। लक्षणों से भी परिचित करा दिया गया और इसके पश्चात् कोई भी ऐसी बात असम्भव नहीं है, जो मणिपूर की शुद्धि न हो सके, किन्तु कदाचित् कुछ अवशिष्ट भी रह जाय, रहना तो नहीं चाहिये। ऐसी स्थिति में जिसको वंशज कहते हैं, कीचकज कहते हैं, योत्व कहते हैं, वंशलोचन जिसको कहते हैं, वह जिस प्रकार शुभ्र वर्ण का होता है, उसी प्रकार मणिपूर के उस अग्नितत्त्व में मिलकर वहां भी जो मलकण छूट गये होंगे, उन्हें भी शुद्ध रूप में परिवर्तित कर देता है। तो जब ऐसी स्थिति आ जाय, कुछ मल प्रतीत हो, सम्भवतः शंकाकुल चित्त हो जाय कि कुछ बचा खुचा रह गया है, शंका से पिण्ड नहीं छूटा होगा, तो भाई ! थोड़ा सा एक डली दो डली वंशलोचन खा लेना। सो भी केवल तीन दिन खाना। बस, समझ लो कि अब कोई मल नहीं रह गया। शंका न करना। पर कैसे मालूम पड़ेगा कि नहीं रह गया। जब वंशलोचन के सेवन की समाप्ति होगी, श्वेत मल त्याग होगा और मलत्याग के पश्चात् ऊपर में कुछ उष्णता की प्रतीति होगी। समझ लेना काम बन गया है।

इसके पश्चात् जो हृत चक्र है उसमें वायुतत्त्व की प्रधानता है तो उसका संशोधन करने के लिए, उसको निर्मल करने के लिये औषधि का प्रयोग नहीं है और न कठिन क्रिया प्रयोग में लाने वाली यहाँ तक कोई ऐसी प्रक्रिया मुद्रा है। केवल एक हिरण्य मुद्रा है। अरे ! उसे हिरण्य धनु नाम के नृपति ने अपनाया था। वह पूर्व में बहुत कलुषित चित्त का था तो उसने और कुछ नहीं किया। हिरण्य मुद्रा को लगा करके सब शुद्ध कर लिया। चित्त शुद्धि हो गई तो हृच्चक्र शुद्ध हो गया, उस चक्र का चित्त शुद्धि से विशिष्ट सम्बन्ध है, होने दो, तुम स्वयं समझो, तुमको क्या हो रहा है। अपने इस चक्र की शुद्धि जल्दी से कर लो। तो देखो भाई !

वह मुद्रा यह है, इस तरह से लगेगी, उसका ज्ञान कर लेना चाहिये और अनुभव में लाना चाहिये तो इस प्रकार से बनाई जा रही है, जैसे आसन लगा। फिर आधार तोड़ करके स्वल्प काल के लिये यों कर लो। (पैर फैला कर अंगूठे पकड़ लो)। फिर थोड़ा देर यों ही अंगूठे पकड़े रहना। अंगूठे यों पकड़ने के पश्चात् फिर छोड़ देना। यों हो जाना, यों आकर यों कर लेना। अगर यों न आय, अर्थात् जंघाभाव के ऊपर पूरा चरणतल न आ सके तो उसको यों कर लेना, फिर चरणतल को यों करके यों हो जाना और फिर चरणतल को यों करके यों हो जाना। जानुभाग को यों कर लेना। अर्थात् जो पुतली का भाग है, वह जानु पर लगा रहेगा। फिर रेचक पूरक कुम्भक कर लेना। वक्षःस्थल के मध्यभाग का जरा सा दबाव रहे। थोड़ा सा जाये नहीं। उससे नीचे जो पिण्डली का भाग है उस पर तनाव पड़ेगा। वहाँ से जो एक नाड़ी गई है जिसे यूथिका कहते हैं, वह नीचे के भाग तक मणिपूर से आकर, फुरफुराती, यों करती रहती है। यों हो जाती है जैसे अंगुली चालन होता है। इधर उधर, इधर उधर। तो यों कर देने से उसके दबाव से जरा इधर उधर की अपेक्षा स्पन्दन सा हो जायेगा। यह स्पन्दन जितना बढ़ सके बढ़ा लो। शुद्धि हो जायेगी। यहाँ से स्पन्दन का परिचय मिलना आरम्भ हो जायेगा और फिर बहुत कुछ हो सकता है। इस प्रकार इसको कर लेना। सरल समझ कर छोड़ना नहीं और इसके पश्चात् जो कण्ठ चक्र कहा है।

कण्ठ चक्र में आकाश तत्त्व है। स्वतः निर्मलत्व का विषय है। इसी कण्ठ विजय के कारण शिव को नीलकण्ठ कहा गया है। फिर भी वह नीलकण्ठ है, समस्त नीचे और ऊपर के तत्त्वों से मल को उतार सकता है और आकाश में उनको घुमा देता है। तो उसमें निर्मलत्व आ जाता है और वह निर्मलत्व विशुद्धि की घोषणा की सिद्धि है। तो उस शुद्धि के लिये थोड़ा सा और निर्मल करने के लिए, चमक लाने के लिये कण्ठाकुंचन बार बार कर लो, अभ्यास को, यों कर लेना। तो इस प्रकार से आकाशतत्त्व का शोधन शनैः शनैः होता रहेगा और फिर इसके पश्चात् कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ये जितनी भी क्रिया मुद्रा औषधि तत्त्व-शोधन के लिये इस तत्त्व शोध प्रकरण में बताई गई हैं, उनकी अनिवार्यता नहीं है। जब जैसा समझो वैसा करना, और करना क्या, लगे रहो तो होता ही है। अभ्यास जरूर थोड़ा कर लेना। और फिर अपने आप चलना। और कोई कष्ट की बात नहीं रह जायेगी।। ॐ ।।

तत्त्वज्ञान शोधन प्रज्ञान प्रकरण में तत्त्वशोधप्रकरण गोरक्ष की वाणी में जितेन्द्र भारतीय के मुख से अब बन्द।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

कल्याणं विदधातु सा भगवती या शक्ति सन्दायिनी,

या देवी बहुविघ्ननाशनकरी विघ्नाँश्च या मारयेत् ।

सा देवी बिपुला असाध्यसुलभा बोधान्विता बोधिका,

सर्वेषां विदधातु संतत मुदं सा सर्वदा मङ्गला।। ॐ ।।

मङ्गलमुदमातनोतु सर्वत्र सुसाधकानां कृते व्याघातव्यपोहनं कृत्वा सर्वं विक्षेपं व्यपोहति तदैव मङ्गल मलं भवति।।

जो देवी शक्ति प्रदायिनी है वह भगवती कल्याण करे। बड़े बड़े विघ्नों को नाश करने वाली देवी विघ्नों को दूर करें। असाध्य को भी सुलभ कर देने वाली बोधदायिनी विपुला देवी सभी को मङ्गल प्रदान करे और निरन्तर हर्ष प्रदान करे।

अच्छे साधकों का सदा सर्वत्र मङ्गल मोद प्रदान करे, व्याघातों को दूर करके विक्षेप दूर हटेंगे तभी मङ्गल होता है।

विघ्नानि सन्ति बहवो विघ्नद्वयमेव केवलं विघ्नम् ।

एकं मलविक्षेपकं प्रोक्तं चित्तप्रकर्षमं परम् ।।

यों तो विघ्न बहुत से हैं प्रधानतया दो ही विघ्न हैं। एक मलविक्षेप है और दूसरा चित्त की चञ्चलता है।

विघ्नद्वयविनाशाय प्रोक्तं पूर्वं भृशं भृशम् ।

अधुना संहतिस्तेषां विघ्नानां प्रोच्यतेध्रुवा।।

विघ्न विनाश के लिये पहिले भी बहुत कुछ कह दिया है, अब यहाँ पर उन सब का एकत्र संग्रह करके कहा जा रहा है।

अथ चक्रविद्यायां व्याघातसंहतिप्रकरणं साधकानां हिताय कल्याणाय भावितात्मकानां च कृते विघ्नापसारणं व्याघातविक्षेप विनाशकं यत्किंचिदपि मन्त्रौषधिव्यूहकंसिद्धं दिव्यं समागतं तत् प्रोच्यते।। ॐ ।।

अब चक्रविद्या के अन्तर्गत व्याघातसंहति प्रकरण साधकों के हित और कल्याण के लिये और आत्मानुभव वाले साधकों के विघ्नों को दूर करने के अर्थ कुछ विक्षेप विनाशक सिद्ध दिव्य मन्त्रौषधि बताई जा रही है।

शरीरजान् विघ्नान् विनाशयति महौषधिप्रयोगः। बोधपरिकृतान् विनाशयति मुद्राक्रिया प्रयोगः। अपरं सकलमपि-समागतं समुद्भूतं व्याघातं विनाशयति मन्त्रौषधिप्रयोगः। तत्र च रूपेण योगसाधने किमपि केनापि प्रकारेण समागतानां विघ्नानां विनाशाय व्याघातसंहतिप्रकरणे उपाय अभिधीयते।।

महौषधियों का प्रयोग शरीरज विघ्नों को नष्ट करता है। मुद्रा-क्रियाओं का प्रयोग बोध के प्रतिकूल विघ्नों को हटाता है। मन्त्रौषधि का प्रयोग अन्यान्य सभी आनेवाले विघ्नों को दूर करता है। योग साधन में किसी भी प्रकार किसी भी कारण से उपस्थित होने वाले विघ्नों के विनाश के लिये व्याघात संहति प्रकरण में उपाय बताया जा रहा है।

वितरतु मुदमेतद् लोकलोकाः विशोकाः।
सुखपरिपुलकास्ते जायतां लोकभावाः।।
वितरतु भुवि एतद् योगविद्यार्थशास्त्रम् ।
सकलजनमुदर्थं जायतां योगविद्या।।

यह शास्त्र साधकों को हर्षित करे। संसार के सभी लोक शोक-विहीन बने। लोक में सभी जन सुख से पुलकित बने। यह योगविद्या का शास्त्र संसार में कल्याण की वृष्टि करे। यह योगविद्या सकल जनों के मोद के लिये हो।

अस्मिन् प्रकरणे यत् किंचिदपि वाणीविषयतामुपनीयते तत्र त्रिविधं विघ्नापसरणं पूर्वं निगद्यते। व्याखातापत्तेः मार्गरोधः मार्गावरोधात्गतिविच्छेदः। गतिविच्छेदात् इष्टलाभफलप्रतिबन्धः। इष्टलाभप्रतिबन्धात् शक्तिसंचरणमनुद्बुद्धम् । अनुद्बुद्धशक्तिसंचरणात् तत्रैव स्थिरत्वाच्च पुनस्तद्बोधनं, उद्भावनं उद्बमनं, ऊर्ध्वगमनं वा न भवति। तत्र गतिविच्छेदो स्यात् इति।।

इस प्रकरण में जिन बातों को वाणी दी जायेगी उस में सर्व प्रथम विघ्नाप्रसारण कहा जायेगा। व्याघात आने से मार्गरोध होता है। मार्गरोध से गतिविच्छेद हो जाता है। गतिविच्छेद से इष्ट लाभ में प्रतिबन्ध हो जाता है। इष्ट लाभ के प्रतिबन्ध से शक्ति संचार में रूकावट आती है। उस रूकावट से वहीं स्थिरता रहती है। स्थिरता से फिर से उद्बोधन ऊर्ध्वगमन नहीं होता है। वहाँ गतिविच्छेदन नहीं होना चाहिये।

शक्तिः संचारस्तु तीव्रतया अग्रे प्रसरतु शक्ति संचरणकाले शक्तिः विशेषवलवती फलवती आनन्दमयी च भवतु। अतः विक्षेपनिःसारणं कर्तव्यम्। व्यघातसंहरश्च विधेयः। यावन्न व्याघातसंहारस्तावत् नेष्टलाभः। अतः साधकाः

स्वमार्गे आपतितानां विघ्नानां संहाराय उद्यताः भवन्तु। यदा भगवती महामाया सा जागृता शक्तिः संचरति, तामेवानुद्भावयितुं बहुशो विघ्नयूथकाः समायान्ति।

शक्ति संचार तीव्रता से आगे बढ़े। शक्ति संचार काल में शक्ति विशेष रूप में बलवती फलवती और आनन्दमयी बने। इस निमित्त विघ्न निःसारण करना चाहिये। व्याघातसंहार भी करना चाहिये, जब तक व्याघात–संहार नहीं होता तब तक इष्ट लाभ भी नहीं होता है। अतः साधक अपने मार्ग में आने वाले विघ्नों के संहार के लिये उद्यत रहे। जब महामाया भगवती शक्ति जागृता होती है तो उसके संचार को रोकने के लिये बहुत से विघ्न आ जाते हैं।

विक्षेपाः मानसिकाः शारीरिकाश्च बुद्धिजाः वा प्रादुर्भवन्ति। तदैव तेषां व्याघातानांसंहाराय अस्मिन् प्रकरणे मन्त्रौषधिप्रयोगरूपेण बहुलाभप्रदं विशिष्टं गुप्तं व तत्तत्संचारं सारं च निगद्यते।। ॐ ।।

वे विक्षेप मानसिक होते हैं, शारीरिक होते हैं या बुद्धिज होते हैं। तभी उन व्याघातों के संहार के लिये इस प्रकरण में मन्त्रौषधि प्रयोग रूप से बहुलाभप्रद विशिष्ट और गुप्त तत्त्व संचार सार रूप में बताया जा रहा है।

गोरखवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन।। ॐ।। इस योग, महायोग, शक्ति प्रयोग के विशेष मार्ग में आरम्भ से ही बताया गया था कि साधक की शक्ति जब उद्‌बोधन हो जाता है, चलने लगती है, तो विभिन्न प्रकार के व्यपधान उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे कुछ काल के लिये बहती हुई नदी की प्रबल धारा में कोई कोई पर्वतखण्ड आ जाता है तो कुछ काल के लिए उसका अवरोध होता है, रूक जाती है वह धारा जब तक और अपने अन्तर्गत और शक्ति लायेगी तब तो उसे तोड़ कर ही बहा लेगी, किन्तु यदि उसके प्रथम ही ऐसा भी उपाय हो जाय कि उस पर्वत खण्ड को दूर कर दिया जाय तो धारा अपने पूर्ण प्रवाह रूप में बहती चली जायेगी। यही समझना चाहिये कि व्याघात कई प्रकार के आ सकते हैं, शारीरिक व्याघात हैं, मानसिक व्याघात हैं, चित्तज व्याघात हैं, बुद्धिज व्याघात हैं और उसके पश्चात् भी भौतिक व्याघात हैं। इधर उधर से अन्य भी व्याघात आ जाते हैं कि शक्ति का अवरोध कर देते हैं। तो अन्य प्रकरणों में तो जहाँ कोई अन्य बाधा आ जाती थी, वहाँ क्रिया मुद्रा और औषधि प्रयोग से उसे दूर कर लिया जाता था। यहाँ पर भी अब अन्त में सबका सार सार निचोड़ निचोड़ रूप में बताया जा रहा है कि भाई, पहिले से लेकर आखिर तक आदि से लेकर अन्त तक फिर एक बार देख लो, सोच लो, कहीं पर कुछ अटक तो नहीं रह गई है और जब कभी चलते चलते शक्ति में तीव्रता आ जायेगी, बढ़ जायेगी, तो उस प्रकार वहाँ पर भी यह व्याघात संहृति प्रकरण का प्रयोग अपना प्रभाव दिखा देगा और जब साधना काल में लगे हो तो, जैसे आत्मबोध के लिये बताया, तत्तत्शोधन के लिये बताया तो उन सब

में फिर किसी प्रकार से व्याघात न आ जाय, कवच दृढ़ हो जाय, तो इसलिये इस प्रकरण में कुछ मन्त्र कुछ औषधि और कुछ ऐसे भी प्रयोग बताये जायेंगे जिनके कारण सब प्रकार के व्याघात दूर हो जायेंगे और यह योगमार्ग सरल सुलभ हो जायेगा। साधकों की धारणा दृढ़ बलवती होगी और उसको पुष्ट करने के लिये ये थोड़ी बहुत चमत्कारी बातें भी बता देना चाहिये। अरे जिनके अपनाने से शीघ्रातिशीघ्र लाभ होता है, तो फिर जो है उसका प्रयोग भी बताना जरूरी था। वह इस व्याघात संहति प्रकरण में बताया जायेगा। जिससे महामाया भगवती शक्ति के अवरोध करने वाली कोई शक्ति ही नहीं रहेगी। स्थिरता ही स्थिरता बनी रहेगी और साधक अपने गन्तव्य स्थल तक जा सकेगा। विशेष इसमें ध्यान देने की बात एक है कि प्रयोग पर ही सब कुछ निर्भर है। जैसा यथाविधि प्रयोग हो जाने से कार्यसिद्धि होती है। इसलिये इसमें प्रयोगों का भी विशेष प्राधान्य रहेगा और इस प्रकरण को प्रारम्भ किया जायेगा। यह चक्रविद्या का तृतीय व्याघात संहतिप्रकरण कहा गया है जिसमें जनकल्याण, साधक के कल्याण के लिये, सर्व-कल्याण के लिये, विशेष तत्त्व की चमत्कार की बातें बताई जायेंगी।। ॐ ।।

५-२-६३ सायंकाल ।।१४१।।

ज्योतिर्मयिं प्रकटितांशुसुहारहारां दिव्यां
महौषधिगुणान्वितदिव्यभाराम् ।
आनन्ददान-निपुणां च विभूषिताङ्गीं तां दिव्यभूषणवतीं च
नमामि दिव्याम् ।।

ज्योतिर्मयी, सुन्दर हार की किरणों से सुशोभित महौषधि के गुणों के दिव्य भार को लिये हुए, आनन्द प्रदान में निपुण, दिव्य विभूषणों वाली, विभूषित अंङ्गों से समन्वित दिव्य भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

आदाय एकेन महौषधं च हस्तेन चान्येन परत्वतत्त्वम् ।
सा सन्नता भगवती सहिता सुविज्ञा मुद्रा क्रिया पटुपटान्त बहुत्वज्ञाना।। ॐ ।।

एक हाथ में महौषधि धारण करके और दूसरे में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व को लेकर जो भगवती झुकी हुई हैं, मुद्रा और क्रिया में परम प्रवीण हैं, तथा अनन्त प्रकार का ज्ञान रखती हैं, वह भगवती मन को विमल कर दे।

या निर्मला मलवहिष्कृत नान्तरूपं धृत्वा करोति विमलं मनुजं सदैव।
सा साधकाहितपरा वरणीयवृत्तिः सद्यस्तु में भगवती करूणा करोतु ।। ॐ ।।

जो निर्मला भगवती मल के बहिष्कार से अनन्तरूप धारण करके मनुष्य को सदैव विमल कर देती है, वह साधक के हित की धारणा करती हुई भगवती मेरे ऊपर करूणा करे।

अस्मिन् व्याघात संहति प्रकरणे पूर्वं शरीरजं दोषविनिवृत्ति कारकं औषधं, दिव्यं धृतदिव्यशक्तिकं वदामि तत्, यत् सर्वदा साधकानां विघ्नविनाशाय अतुलं बलं विदधाति।।

इस व्याघात संहति प्रकरण में पहिले शरीरज दोषों की निवृत्ति करने वाली दिव्यशक्तिवाली दिव्य औषध बताती हूँ जो साधकों के विघ्न विनाश के लिये अनन्त बल देती है।

साधकाः साधनाकाले भवन्तु विघ्नमुक्तिकाः।

अपसर्पन्तु ते विघ्नाः ये योगे क्षतिकारकाः।।

साधक साधनाकाल में विघ्नों से दूर रहें। योग में क्षति करने वाले वे विघ्न बिलकुल हट जावें।

अत एव इदं दिव्यं औषधं परमाद्भुतम् ।

अश्वीकुमार पार्श्वाच्च आगतं तच्च दीयते।।

इसी उद्देश्य से अश्विनी कुमारों से उपलब्ध इस परमाद्भुत इस दिव्य औषध शास्त्र को तुम्हें दिया जा रहा है।

यदा वै साधनाकाले योगिनां योगवेदिनाम् ।

भवन्ति यत्र वै विघ्ना ओषधं तत्र कारणम् ।।

जब योगज्ञाता योगियों के साधनाकाल में विघ्न आते हैं तो उन्हें दूर हटाने के लिये औषधि कारण बनती है।

जायन्ते विघ्ननाशाय तस्मात्तत् कथ्यतेऽधुना।

इसलिये सम्प्रति विघ्ननाश के लिये बताया जा रहा है।

यदा ग्रीष्मे काले प्रभवति तदेकं विपुलकम् ।

तथा वा यत् स्वल्पं तदपि परिव्यापोहन कृतम् ।।

परं दिव्यं एकं विपुल-हित-चिन्तोदयमयम् ।

मया एतत् शुद्धं बलयुतमथाभाषितमलम् ।।

ग्रीष्म काल के आने पर एक बड़ी सुन्दर चीज का प्रयोग बता रही हूँ। उसे थोड़ी मात्रा में सुखाकर कूटकर ग्रहण करो। विपुलबल देने वाला है, बहुत हितकामना से यह चीज आई है।

ग्रीष्मकाले समायाते दाडिमी बीज चूर्णकम् ।

त्वचादि सहितं सर्वं एक रूपं च कारयेत् ।।

ग्रीष्म काल के आने पर सूखे दाड़िम के बीजों का चूर्ण छिलके सहित एक साथ बना कर रख लो।

श्रृङ्गीवेर रसेनैव मधुना सह भक्षयेत् ।

तेन भक्षण मात्रेण कफनाशो भविष्यति।।

फिर उसमें श्रृङ्गवेर का रस मिला लो और मधु मिला कर चाट जाओ। उसके भक्षण मात्र से कफनाश हो जोयगा।

यदि वा पित्तसंवृद्धि जायते च शरीरके।

कर्कटाश्रृङ्गिका सा च आतेतव्या तु साधकैः।।

यदि शरीर में पित्त की वृद्धि हो जाय तो साधक लोग कर्कटश्रृङ्गी ले आवें।

तस्माच्च चूर्णकं कृत्वा कण्ठभागे विलेपनम् ।

विधाय वित्तजं विघ्नं व्यपोहयति सत्वरम् ।।

उसका चूर्ण बना कर कण्ठभाग में लेप कर दें। इस प्रकार करने से पित्त से उत्पन्न विघ्न का विनाश हो जाता है।

अथवा नाभिदेशे च कदलीरस सम्भवम् ।

मधुना सहयोक्तव्यं पित्तनाशो भविष्यति।।

अथवा कदली का रस निकाल कर उसमें मधु मिला कर नाभि देश लेप कर देना चाहिये। इससे पित्तनाश हो जावेगा।

वातनाशाय संप्रोक्तं पित्तनाशाय वै तथा।

कफनाशाय यत्पूर्वं नागरं संस्मृतं मया।।

वात नाश के लिये पित्तनाश के लिये तथा कफ नाश के लिये पहिले ही नागर गोथा का प्रयोग बता दिया है।

तदैव भक्षणं प्रोक्तं शीतकाले समागते।

नैव मुष्णे प्रयोक्तव्यं शीते तद् योज्यतां ध्रुवम् ।।

शीतकाल के आने पर ही उसका भक्षण करना चाहिये। उसका प्रयोग उष्णकाल में नहीं करना चाहिये। शीतकाल में ही उसका सेवन करना चाहिये।

शीतकाले प्रयुक्तं तु शक्तिदं नागरं सदा।

कफपित्तविनाशं च वायुनाशनकं तथा।।

नागर मोथा का प्रयोग यदि शीतकाल में किया जाय तो वह सदा शक्तिप्रदा रहता है, वह कफ पित्त का विनाश करता है और वायु का नाश करता है।

अखिलं मलसम्पनं सर्वदोषविनाशकम्।

नागर नागराः लोकाः भवन्ति च न संशयः।।

मलसम्पन्न सभी दोषों का नाश करने वाला नागर – मोथा बताया गया है। इसका प्रयोग करने वाले लोग भी नागर (चतुर) कहे गये हैं।

एतावत् भाषितं यत्तु स्मरणीयं च साधकैः।

काले काले च या बाधा तद्विनाशो भविष्यति।।

इतना जो कुछ बताया गया है उसे साधक लोग सदा याद रखें। जब समय समय पर कोई बाधा आवेगी तो उसका विनाश होता रहेगा।

अग्रे चैव विधास्यामि प्रयोगमौषधोपमम्।

यच्च सर्वात्मभावेन कल्याणं च करिष्यति।। ॐ ।।

आगे भी औषधि प्रयोग बताऊंगी जो सब प्रकार से साधकों का कल्याण करेगी।

गोरखवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। गोरख जोग जगावे। गोरख रोग भगावे। मां का आदेश। व्याघात – संहति प्रकरण में बताया जा रहा है कि शरीर धर्मी कोई भी साधक सम्भवतः अपनी क्रियाओं के प्रयोग में, मुद्राओं के प्रयोग में शक्ति के अधिक हो जाने से अथवा विशिष्ट साधन सम्पन्न होने के कारण से, और इसके वहीं मूढ़ निहित हो जाने के कारण, कई प्रकार से अथवा दौर्बल्य हो जाने के कारण अथवा वायुमंडल के कारण अथवा घड़े के कच्चे होने के कारण, कुछ भी हो ऐसी व्याधियां आ सकती हैं। उन व्यक्तियों में ऐसा हो सकता है कि कभी–कभी साधन में विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु साधक को याद रखना चाहिए कि यह जो महादिव्य औषधि प्रकरण बताया जा रहा है कि यह ऊपरी आवरण है, भीतर से महामाया भगवती जागृता कुण्डलिनी सहायता करती है और ऊपर से थोड़ा सा इनका प्रयोग कर लिया जाता है, तो शीघ्र लाभ होता है। अन्यथा प्रकृति के अनुकूल भगवती शनैः शनैः कर लेती है। महामाया की कृपा होते हुए भी महामाया भगवती धृत सरस्वती रुपा जब औषधियों का प्रयोग शरीर की व्याधियों के नाश करने के लिए दे सकती है, तब उनका भी प्रयोग क्यों न कर लिया जाये, सुविधा क्यों न रहे। इस मार्ग पर साधक के सामने, कोई बाधा, डर, भय क्यों रह जाये। जप करके क्यों रह जाये। उसको भी उखाड़ कर फैंक दो। महामाया का आदेश है कि ऐसा भी करलो कि औषधियां काष्ठादि हैं, इनका भी प्रयोग कर लो सेवन हो सकता है। और यदि कोई बल

सम्पन्न साधक अपनी साधना को तीव्र वेग से करना चाहता है और उसे प्रतीत होता है कि कुछ रुकावट सी आ रही है, दौर्बल्य घेर रहा है, तो औषधि सेवन कर ले, ऐसा शास्त्रीय विधान में है। महामाया का आदेश है तो प्रारम्भ में ऐसा बताया गया है ग्रीष्म काल आ जाये तो समय में ऐसा कर लेना। जब ग्रीष्म काल में भी कफवृद्धि हो जाये तो उस समय दाडिम बीज, अरे, दाडिम फल होता है, भक्षण किया जाता है, तो उसको सम्पूर्ण लेकर उसके बीज को सुखा लेना और जो त्वचा है जिसे खाल या छाल भी कहते हैं उसको सुखा लिया जाये फिर उनका चूर्ण बना कर के मधु के साथ सेवन करने से ग्रीष्म काल जनित शरीर में होने वाला कफ विनष्ट हो जाता है। इसके बाद क्या करना है, उसमें मधु तो मिला लिया, अरे, उसमें श्रृङ्गवेर का रस तो नहीं मिलाया, तो एक होगा दाड़िम, एक होगा मधु, एक होगा श्रृङ्गवेर का रस, तीनों का सम्मिश्रण त्रिदोष को शान्त कर देगा।

यदि जो है, कभी शक्ति के साधन में ग्रीष्मकाल में पित्त की वृद्धि हो जाये तो उसको कर्कटश्रृङ्गी कहते हैं, अरे काकड़ासिंगी, काकड़ासिंघी, उस पर लगे होते हैं, फल से होते हैं, सब जानते हैं, बड़े काम की चीज है। काकड़ासिंगी पित्त को भी मारती है। तो उसको क्या करना है। घिस देना है खाली कंठ में लेप कर देना है। अथवा उसको भी मधु में मिलाकर के नाभि में लेप कर देना है। पित्त विकृति दूर हो जायेगी। और वात पित्त कफ तीनों दोषों का नाश करने वाला, शक्ति को बढ़ाने वाला और हर प्रकार से इन मलों को धोकर शुद्ध करने वाला नागर है, जिसे नागर मोथा कहते हैं। इसे नागर लोग अर्थात चतुर लोग अवश्य ही अपनाते हैं। इस प्रकार तीन औषधियों को अपनाने से जो कायज क्लेश हैं वे नष्ट हो जाते हैं और साधक के मन में धैर्य हो जाता है कि मैंने मल दूर कर लिया है और पूर्ण शक्ति को लेकर बढ़ता हुआ साधक चला जाता है। इसलिये यह औषधियां बतायी जा रही हैं। आगे भी इस प्रकरण में, इन तीनों के क्योंकि शरीर में तीनों बात पित्त कफ हैं, अथवा मल है "सर्वे रोगा मलाश्रयाः" मल के आश्रय में सब रोग होते हैं, तो निर्मल बन जाओ और निर्मल होने के लिए औषधि का भी प्रकरण होगा और बहुत कुछ और भी होगा।। ॐ ।।

सारस्वत-कुण्डलिनी-महायोग

(शक्तिपात-शास्त्र)

भाग-तृतीय

ॐ

६-२-६३ प्रातःकाल।।१४२।।

हरि ॐ तत् सत् । नमस्तेऽस्तु भगवत्यै जागृतस्वरूपायै कुण्डलिन्यै।।

हरि ॐ तत् सत् । जागृत स्वरूपाकुण्डलिनी भगवती को नमस्कार है।

नानाकार्यकलापकार्यकुलिका कार्येषु या सर्वदा

शोधं वोधमयैव सर्वसकलं कृत्वा धरायां ततः।

आद्या या स्वयमेव चानतपरा कल्याणभाजां कृते

सर्वं तद् गदहं ददाति सुभगं वन्दे च तां शारदाम् ।।

उस आद्या भगवती शारदा को मैं प्रणाम करता हूँ जो नाना कार्य कलापों के सम्पादन में आकुल रही है, बोधमयी होकर जो बुद्धि का शोधन करती है, संसार में पुण्यकर्मा मनुष्यों के लिये स्वयं आकर रोग व्याधि का शमन करने वाले उपायों को प्रदान करती है।

ॐ अस्मिन् व्याघात-संहति प्रकरणे आपातिशरीरजदोषान् विदूरीकर्तुं औषधं प्रोक्तं तत् सुविपुलं सुदिव्यं सुनिश्चितं कल्याणपरकम् । सम्प्रति प्रकृतिभेदात् औषधिभेदः ॐ ।।

ॐ इस व्याधि-संहति प्रकरण में, अकस्मात्, आ पड़ने वाले शरीरज दोषों को दूर करने के लिये औषधि बताई गई हैं। वे औषधियाँ बड़ी महत्त्व की, दिव्य और सुनिश्चित कल्याण कारक हैं। औषधियों के बारे में प्रकृति भेद से औषधि भेद हुआ करता है।

किन्तु क्वचित् क्वचित् कदाचित् कदाचित् एवमपि भवति यत् एकमेव औषधं सर्वेषां कृते लाभप्रदं भवति शरीराय। तदपि निवोध्यताम् ।

किन्तु कभी-कभी साधकों के लिये ऐसा भी होता है कि एक ही औषधि सामान्यतया सभी के लिये लाभप्रद होती है। उसे भी समझ लो।

यदा वै साधना काले समायान्ति विपत्तयः।

शरीरजास्तदा शीघ्रं एतद् वै क्रियतां बुधैः।।

जब साधनाकाल में शरीरज विपत्तियाँ आ जाती हैं, तब बुद्धिमान् साधक को निम्न प्रकार से ऐसा कर लेना चाहिये।

विल्वस्य फलमादाय सम्पूर्ण निर्मलं बरम् ।

दिनत्रयेण तत् स्थाप्यं जलेन कृत-संहतिः।।

एक निर्मल बेल का सुन्दर फल लाकर बिना तोड़े ही उसे तीन दिन तक जल में डुबो देना चाहिये।

पश्चात् निष्काष्य तत्चैव शोषणाय जलांशकम् ।

दिवाकरस्य रश्मीनां स्थापनीयं पुरस्ततः।।

तदनन्तर निकाल कर उसका जल सुखाने के लिये सूर्य की किरणों में (धूप में) रख देना चाहिये।

दिनैनैकेन कर्तव्यं केवलं जलशोषणम् ।

पश्चात् तच्चूर्णकं कृत्वा मृदुरूपेण वै भृशम् ।।

इस प्रकार जल का शोषण केवल एक दिन तक करना चाहिये। तब उसका खूब भलीभाँति बारीक, बारीक चूर्ण बना लेना चाहिये।

स्थापयेच्च स्वपार्श्वे सः साधको योगसाधकः।

तस्य चूर्णं महद्दिव्यं श्रीफलात्मकमुच्यते।।

योग साधक उस चूर्ण को अपने पास रख ले। यह चूर्ण श्री फल से बना है, अतः यह श्रीफल को देने वाला महा दिव्य चूर्ण होता है।

श्रीफलस्य च चूर्णं तत् सर्वरोग-विनाशकम् ।

शरीर-श्रीसमावृद्धिकारकं प्रोच्यते मया।।

यह श्रीफल का चूर्ण समस्त रोगों का विनाश करने वाला होता है और शरीर की कान्ति एवं पुष्टि को बढ़ाने वाला इसे कहा गया है।

तच्चूर्णकं स्वल्पकस्वल्पमेव दुग्धेन सार्धेन सदैव ग्राह्य ।

शीते च उष्णे च समे च काले तद्व्याधिनाशश्च स कर्तुमिच्छेत् ।।

इस चूर्ण को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में प्रत्येक ऋतु में, शीत में, गर्मी में और समशीतोष्ण काल में दूध के साथ सेवन करने से व्याधियों का नाश हो जाता है।

एवंकृते समास्तानां व्याधीनां विघ्नकारिणाम् ।

विनाशो जायते सद्यः श्रीफलं श्रीफलं भवेत् ।।

इस प्रकार प्रयोग करने पर सभी विघ्नकारक व्याधियों का शीघ्र विनाश हो जाता है। यह श्रीफल यथार्थ में श्रीफल ही होता है।

तस्य तच्चूर्णकं स्वल्पं स्वल्पमात्रा समन्वितम् ।

ग्रहणीयं तदा तेन साधकेन स्वयं च वै।।

साधक को चाहिये कि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में इसको ग्रहण कर ले।

यदा एवं च ज्ञायेत शरीरे रोगसंहतिः।

समागता च दौर्बल्यं चागते साधनाविधौ।।

जब ऐसा मालूम पड़े कि शरीर में रोग समूह ने आकर स्थान बना लिया है और साधना से उसमें दुर्बलता आ गई है-

तदैव सकलं तस्य अभीष्टं च भविष्यति ।। ॐ ।।

तब ऐसे समय इस चूर्ण का सेवन करने से साधक को अभीष्ट की सिद्धि हो जायेगी।। ॐ ।।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। साधक सावधान। साधना के मार्ग में बड़ी बाधायें तीन ही बताई गई हैं। उनमें प्रारम्भिक बाधा शरीरिक बाधा है। अरे ! शरीर तो यों व्याधि मंदिर है। किन्तु फिर भी साधना काल में इस घड़े को जैसे निर्मल भी बनाना है, दृढ़ भी बनाना है और शोधन भी करना है और सुरक्षित भी रखना है। तो उसके लिये ये नाना विधान प्रयोग और समस्त तत्त्व की बातें बताई जा रही हैं। तो जब इस घट को निर्मल करना हो, नीरोग करना हो, तो इस बात का ध्यान रख लेना। जिसे बिल्व कहते हैं श्रीफल भी कहते हैं, उसी को बेल भी कहते हैं। वह अत्युत्तम है। उसका एक फल लाकर के अच्छा सा हो, सुन्दर हो और चाहे तो कच्चा हो, चाहे तो पका हुआ हो, कैसा भी हो, उसको लाकर के तीन रात्रिपर्यन्त जल में फेंक देना। और जल में फेंक देने के पश्चात् उसको निकाल करके फिर एक दिन उसे सूर्य की रश्मियों के सामने रखना। अर्थात् धूप देना। जल शोषण करा देना। सुखा देना। और उसके पश्चात् फिर से उसको अच्छी तरह उसका चूर्ण बनाना। फिर ऐसा होगा कि बड़ी कठिनाई होगी चूर्ण बनाने में। तो जैसा भी हो, खूब अच्छी तरह उसे पीस लेना। कूट लेना और फिर से सुखा लेना। अगर ऐसा करने में बड़ी कठिनाई होती हो, तो भाई, सुखाया ही फल ले लेना। पर क्रिया ऐसी ही करना और जब उसका चूर्ण बन जाय, सूख जाय तो उसमें वर्ण भी देख लेना। कुछ रक्त कुछ पीत वर्ण का होगा। उसको अपने पास किसी वस्तु में बनाकर रख लेना। और उसको

सावधानी से रखना। वह ऐसी वस्तु है कि हर समय सेवन की नहीं है। जब ऐसा मालूम पड़े कि कोई भी रोग मुझ पर आक्रमण करने वाला है, उसका प्रारम्भ हो रहा है। उसने मुझको साधना में कुछ कष्ट पहुंचाना प्रारम्भ कर दिया है, तो उस समय थोड़ी सी मात्रा में निकाल करके और उसको तीन तरह से सेवन किया जा सकता है। अरे ऐसा है कि शीत प्रधान प्रकृति वाले उसे दुग्ध से ले सकते हैं। और जो शीतोष्ण समप्रधान प्रकृति के व्यक्ति हों वे चाहे तो जल से ग्रहण कर सकते हैं और चाहें तो बिना जल, बिना मधु बिना दूध के ही उसको मुह में रख कर उसका रस ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा करने से क्या होगा। आपाती शरीरज रोग एक या दो दिन में अपना प्रभाव दिखाकर खतम हो जायेंगे। बढ़ने नहीं पायेंगे। रूकने नहीं पायेंगे। वह श्रीफल श्रीफल की तरह सिद्ध होगा। शरीर की श्री और कान्ति को बढ़ा देगा। किन्तु इसका प्रयोग थोड़ी सावधानी से करना है। वह सावधानी से ऐसा करना है कि समझ लेना है सचमुच में कोई रोग आ गया है, आ रहा है। अगर ऐसा नहीं हैं तो यों ही सेवन न करना। अरे ! होगा तो क्या, लाभ भी नहीं होगा। तो तुरन्त तत्क्षण लाभ के लिये उसको बनाकर अपने पास रखे रहना। जब कभी साधना के समय में ऐसी आपत्ति ऐसा विघ्न उपस्थित हो या हुआ प्रतीत होवे तो शरीर को कंचन बनाने के लिये इसका सेवन करना। एक बात और। जब साधना–सिद्धि के पथ पर साधक चल रहा हो और जब उसमें एक वर्ष पर्यन्त अपनी साधना को साध लिया हो तो उसके पश्चात् यदि वह इस चूर्ण को एक मास पर्यन्त भी खालेगा तो उस काल में उसको श्री वृद्धि होगी। शरीर की कान्ति वृद्धि होगी। और रोगों का आक्रमण नहीं होगा, किन्तु इसे एक वर्ष पश्चात् करना। और सामान्यतया तो रोगनिवारण के लिये जैसा बताया गया है वैसा तो होगा ही, लेकिन एक मास पर्यन्त निरन्तर सेवन तो तभी होगा, जब श्री वृद्धि कान्तिवृद्धि की आवश्यकता होगी। शरीर को और दृढ़ बनाने की आवश्यकता होगी और क्रिया को और शक्ति को वेगवती बनाने की भावना आ जायेगी। हो जायेगी। हो जायेगा। वह अभी दूर की बात है। तो प्रारम्भ के साधनाकाल में किसी भी प्रकार विघ्न न आये, उनका नाश करना ही आवश्यक था। उस हेतु औषधि बताई गई और यही है कि औषधि ही नहीं, ऐसा मन्त्र भी बताया जायेगा जो किसी भी रोग को विनाश करने के लिये उसका अभिमन्त्रित स्पर्श किया हुआ जल ही पर्याप्त होगा, फिर औषधि भी उस समय रह जायेगी।। ॐ ।।

६-२-६३ सायंकाल।।१४३।।

हरि ॐ तत् सत् ।

संराधनीया च समस्तसत्वैः या शक्तिराद्या प्रकट स्वरूपा।

अनन्तवीर्या च अनन्तबोधा सा मे सदा बुद्धिबलं ददातु।।

हरि ॐ तत् सत् । जो सब प्राणियों की आराधनीय हैं, और जो आद्याशक्ति प्रकट रूप में अनन्त बोधवती और बलवती बन जाती है, वह मुझे बुद्धिबल प्रदान करें।

दत्वा बुद्धिं बलं देवी मानसं निर्मलं महत् ।

करोतु तत्त्वबोधं च यतः सर्वसुखं भवेत् ।।

वह देवी मुझे बुद्धि और बल देकर मेरे मन को पूर्णरूप से निर्मल कर दे और मुझे तत्त्व बोध भी करादे, जिससे समस्त सुखों की उपलब्धि हो सके।

क्लेशांस्तान् कायजान् सर्वान् विद्राव्य कायपीठकान् ।

निर्मलं विग्रहं कृत्वा अनुभूतिं ददातु सा।।

वह मां भगवती शरीर को पीड़ा पहुंचाने वाले सभी कायज क्लेशों को दूर करके शरीर को निर्मल बनाकर अनुभूति प्रदान करें।

मार्गस्य सर्वरूपेण सर्वशुद्धिं करोतु सा।

या देवी भद्रिका सा च भद्रं भद्रं करोतु मे।। ॐ।

वह भद्रिका देवी सब प्रकार से साधना मार्ग की सर्वतः शुद्धि करदे और सदा मेरा भद्र (कल्याण) करती रहे।। ॐ ।।

ॐ । अस्मिन् व्याघातसंहृति प्रकरणे साधकानां हिताय साधनामार्गपरिशोधाय शरीरनीरोगकरणाय मन्त्रौषधिप्रयोगं यत्किंचिदपि निगदितं तत्सर्वं सफली भवतु।। ॐ ।।

ॐ । इस व्याघात-संहृति प्रकरण में साधकों के हित के लिए साधनामार्ग के परिशोधन के लिए, शरीर को निरोग बनाने के लिए, जो भी मंत्रौषधि का प्रयोग बताया गया है वह सफल हो।। ॐ ।।

उदरस्थान् समस्तान् तान् विघ्नान् विघ्नकरान् तदा।

विदूरी कृत्य या शक्तिरौषधं वोधवत्यसौ।।

उदर के भीतर स्थित विघ्नकारक सभी व्याधियों को सदा दूर भगा कर वह शक्ति औषधि का ज्ञान भी करा देती है।

सर्वेषां जठरे यच्च मलं तस्य निवारणम् ।

करणीयं च ध्यानेन तदैव कष्टकारकम् ।।

सभी के पेट के भीतर जो संचित मल है उसका निवारण सावधानी से कर लेना चाहिए। वही मल कष्ट देने वाला होता है।

उदरस्थस्य रोगस्य कोष्ठस्य बद्धकस्य च।

सर्वरोगापसरणं येन सर्वं भविष्यति।।

उदरस्थ सभी रोगों का और कोष्ठ बद्धता के सभी रोगों का जिससे निवारण होगा वह औषधि बताई जाती है।

तदौषधं महादिव्यं सुलभं सर्वसाधकैः।

यदा वा शुष्कतां याति मलं वै जठरस्य च।।

वह औषधि बड़ी दिव्य है और सभी साधकों को आसानी से प्राप्त हो सकती है। जब जठर का मल सूख कर शुष्क पड़ जाता है–

अन्त्रिका रूद्रकोषस्य ज्ञायतामुदरास्थितम् ।

तस्यापसरणार्थाय तुलसी बीजचूर्णकम् ।।

वह सूखा हुआ मल रूद्रकोष की आंतों में जमा रहता है। उसे निवारण करने के लिये तुलसी के बीजों का चूर्ण काम में लाया जाता है।

आर्द्रकेण तथा तस्य मधुना मिश्रितं मृदु।

कृत्वा दशदिनेनैव लेहनीयं शनैः शनैः।।

उस चूर्ण को अदरक के रस में मिलाकर धीरे धीरे दस दिन तक साधक को चाट लेना चाहिए।

एतेन उदरस्थानां रोगाणां रोगव्यूहकम् ।

विनश्यत्यप्रयत्नेन सुखं सम्भविता ध्रुवम् ।।

इससे उदरस्थित रोगों और रोग जाल का आसानी से विनाश हो जाता है और साधक को अवश्य आराम मिल जाता है।

एतदौषधमेकं वै ग्राह्यं सर्वत्र सर्वदा।

सर्वैः सर्वात्मभावेन विचिकित्सा न चात्र वै।।

इस औषधि को समान रूप से सभी काल में सभी साधकों को ग्रहण कर लेना चाहिए, इस प्रयोग में कोई संशय की बात नहीं है।

अपरं च महामन्त्रं मन्त्राणां मूर्ध्नि संस्थितम् ।

एकं वदामि वत्स श्रृणु तद्धि समाहितः।।

उदररोगों के निवारणार्थ एक महामन्त्र जो सभी मन्त्रों को शिरोमणि हैं, हे वत्स ! मैं तुम्हें बताती हूँ उसे तुम सावधानी से सुनो।

प्रयोगेण च मन्त्रस्य तस्य वारमनेकशः।

रोगाणां सर्वरूपाणां संक्षयस्तु भविष्यति।।

उस मन्त्र के निरन्तर जप करने के प्रयोग से सभी प्रकार के उदरस्थित रोगों का निवारण हो जायेगा।

पूर्वं मन्त्रं तु संसाध्य साधकैस्ततु संख्यकैः।

पश्चान्निर्भयभावेन तन्मन्त्रं च प्रयोज्यताम् ।।

पहिले साधकों को वह मन्त्र निर्दिष्ट संख्या जप के अनुसार सिद्ध कर लेना चाहिये। फिर निर्भय निःशंक होकर उस मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए।

मन्त्ररूपेण तेनैव स्पर्शमात्रं जलं शुभम् ।

शान्तिदं सुखदं चैव गदहं च भविष्यति।।

उस सिद्ध मन्त्र के अभिमन्त्रित जल को पी लेने पर उदर के सभी रोगों का विनाश हो जायेगा और साधक को सुख शान्ति मिलेगी।

इत्येवमितिरूपेण मन्त्रस्योच्चारणं कुरू।। ॐ ।।

ॐ रँ रूद्राण्यै नमः शरीरस्थान् सर्वान् रोगान् विद्रावय विद्रावय नाशय नाशय ॐ फट् स्वाहा।।

मन्त्र का उच्चारण इस प्रकार करो। "रं रूद्राण्यै नमः शरीरस्थान् सर्वान् रोगान् विद्रावय विद्रावय नाशय नाशय ॐ फट् स्वाहा।"

एतन्मन्त्रं सुजाप्यं च षण्मासेन पुनः पुनः।

यदा वै सिद्धिमायाति सर्वं सिद्धं भविष्यति।।

इस मन्त्र का जप छः मास तक नियम से करो। छः मास में जब मन्त्र सिद्ध हो जाय तब सिद्धि आ जायेगी और सब सिद्ध हो जायेगा।

सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वरोगेषु तच्च वै।

प्रयुक्तं सफलं याति नास्ति सन्देहकारकम् ।।

इस मन्त्र का प्रयोग सर्वत्र सब रोगों में प्रयुक्त किया जा सकता है और इस बात पर कोई सन्देह नहीं करना चाहिये।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। साधक! माँ ने बताया है कि जो शारीरिक विघ्न हैं, उसमें से एक बड़ा विघ्न उदर रोग भी है। उदर में विभिन्न प्रकार के रोग होते हैं। किन्तु सर्वभयंकर सर्वकष्टकारण सर्वपीड़क कोष्ठबद्धता है जिससे मन्दाग्नि रोग की उत्पत्ति होने से शरीर की धातुओं का निर्माण होना शनैः शनैः बन्द होने लगता है और शरीर कान्ति हीन होने लगता है। इसलिये उस जठराग्नि को दीप्त रखना चाहिये, और उदर की जो कोष्ठबद्धता है, मलसंचय की वृत्ति है, उसको मिटाना चाहिये, और इसलिये ये विभिन्न प्रकार के प्रयोग हो सकते हैं। किन्तु साधक को केवल दो प्रयोग उदर की शुद्धि के लिये, उदर की स्थिति को समुचित रखने के लिये बताये जायेंगे। इसलिये यह तो सुलभ प्रयोग। सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। वह है, तुलसी की जो मञ्जरियाँ होती हैं, उनमें जो बीज होते हैं, उन बीजों को निकाल लेना चाहिये, और तीन तोला पर्यन्त निकालना चाहिये। चार तोला, पांचतोला, पर्यन्त भी निकाल सकते हो। उनको निकाल लेना चाहिये, और पीस करके छान करके मृदु बना लेना चाहिये। उस तुलसी के बीज के चूर्ण में अदरख का रस और मधु मिला देना चाहिये, और उसको रात्रि में सोते समय १ मासा चाट लेना चाहिये, और ऊपर से जल पी लेना चाहिये। ग्यारह दिन की अवधि होती है। तो इसका प्रयोग सर्वसाधारण कर सकते हैं। इससे उदरस्थ समस्त विकार विलीन हो जाते हैं और मन्दाग्नि जैसा रोग भी ठीक हो जाता है। इससे क्षुधा की प्रबलता होती है और जब अग्नि में प्रबलता आ जाती है तो लोह काष्ठ जो डाल दो सब भस्म हो जायेगा। प्रज्वलित हो जायेगा, अंगारवत् हो जायेगा, और शरीर की भी कान्ति बढ़ा देगा, तो साधना में किसी प्रकार का विघ्न न होगा और शरीर दृढ़ होकर के साधना के लिये साधन बन जायेगा और उसके पश्चात एक और बड़ी बात बताई जा रही है। जो ऐसा परम दिव्य मन्त्र है जिसके सिद्ध हो जाने पर फिर उससे अभिमन्त्रित जल से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा। किसी भी प्रकार का कोई रोग हो, रोग की स्थिति को देख कर के अभिमन्त्रित जल को तीन दिन, पांच दिन, सात दिन, ग्यारह दिन तक देने से, किसी भी प्रकार का रोग हो, सब ठीक जो जाय तो बन्द कर देना। केवल मात्र यह जल ही समस्त रोगों की महाऔषधि होगा, और इसके लिये जो मन्त्र बताया है "रं रूद्राण्यै नमः" उस मन्त्र को षण्मास पर्यन्त जप करके सिद्ध कर लेना चाहिये। उसके जप की संख्या केवल अष्टोत्तर शत प्रतिदिन है। ज्यादा कष्टकारक भी नहीं है। तो इस प्रकार जप करके उसको सिद्ध कर लेना, तो इस प्रकार हमेशा के लिए एक महाकल्याणकारी वस्तु तुम्हारे हाथ में आ जायेगी। तुम्हारा भी कल्याण होगा। रोगों का विनाश होगा। शरीर की कान्ति बढ़ेगी। जग का भी कल्याण होगा, रोगों का विनाश होगा। शरीर की कान्ति बढ़ेगी और साधना अपने मार्ग पर दृढ़ बलवती होती हुई महामाया भगवती की कृपा से आगे बढ़ती चली जायेगी। शीघ्रातिशीघ्र अभीष्ट सिद्धि होगी।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

मन्त्रबीजाक्षरां देवीं मन्त्रिणीं मन्त्रधारिणीम् ।

मन्त्रदां मन्त्रज्ञानां च मन्त्रविद्यां ददाति या।।

हरि ॐ तत् सत् । जो देवी मन्त्र बीजाक्षरा हैं, मन्त्रिणी हैं, मन्त्रधारिणी हैं, मन्त्र देनेवाली हैं, मन्त्र ज्ञान-रूपा हैं और जो मन्त्र विद्या देती हैं।

मन्त्रौषधिप्रयोगेण या देवी साधकस्य च।

कायजं क्लेशमाहन्ति तां नमामि महामहीम् ।।

जो देवी मन्त्रौषधि प्रयोग बनाकर साधक के कायज क्लेशों को विनष्ट कर देती हैं उस महामहिमा वाली देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

कायक्लेशान् सदा सर्वान् क्रियामुद्राप्रयोगतः।

औषधस्य प्रयोगेण व्यपोहति च या सदा।।

जो भगवती सभी कायज क्लेशों को क्रिया मुदा के प्रयोग से और औषधि प्रयोग से दूर कर देती है।

सा देवी सर्वदास्माकं कल्याणं कुरूतां भृशम् ।

कल्याणीं तां च वै देवीं प्रणमामि पुनः पुनः।।

वह देवी सर्वदा हमारा पूर्ण कल्याण करें। उस कल्याण कारिणी देवी को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

अस्मिन् प्रकरणे कायक्लेशविनाशाय पूर्वमौषधप्रयोगरूपेण च गदितम्। पुनरपि च औषधरूपेण साधकस्य हिताय तत्त्वं तत्त्वं च दीयते।।

इस प्रकरण में पहिले कायज क्लेशों के निवारणार्थ औषधि का प्रयोग बताया गया था। फिर भी सार-सार में साधक के हितार्थ औषधि बताई जा रही है।

निर्भयाः साधकाः सन्तु प्रयोगाणां कृते सति।

शरीरं निर्मलं भूत्वा साधना-तत्परं भवेत् ।।

इन प्रयोगों के करने से साधक लोग निर्भय बने रहें और उनका निर्मल शरीर साधना के पथ में तत्पर बना रहे।

शरीरजान् बहुविधान् बहुप्रभाव-कारकान् ।

रोगान् हन्ति क्रियामुद्रौषधियोगेन योगवित् ।।

योग विद्या का ज्ञाता साधक क्रिया, मुद्रा और औषधि के प्रयोग से नाना प्रकार के शरीरज विघ्नकारी रोगों का स्वयं निवारण कर लेता है।

मन्त्रप्रयोगेण तथा साधको नाशयेद् रूजः।।

साधक मन्त्रों के प्रयोग द्वारा भी रोगों का नाश कर लेता है।

तदर्थं सर्वं प्रोक्तम् । अपरंच यदि कदाचित् शरीरबाधा समुपस्थिता भवेत् तदा इत्थं करणीयम् ।।

इस उद्देश्य से सभी कुछ कहा गया है। इस पर भी यदि कभी शरीर में बाधायें उपस्थित हो जावें तब ऐसा कर लेना चाहिये।

समायाति यदा रोगः कश्चिदपि कदापि वा।

अथवा रोगजावृद्धिः शरीरे व्यापिका भवेत् ।।

जब कभी कोई किसी प्रकार का रोग आ जावे या रोग बढ़ कर शरीर में व्याप्त हो जाय।

वातजं पित्तजं चैव कफजं त्रिविधं तथा।

अन्तर्वहिश्च वा रोगः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपकः।।

रोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बाहरी और भीतरी तीन प्रकार के हुआ करते हैं। वातज, पित्तज और कफज।

उद्भूतश्च यदा जातः केनापि रूपसर्पिणा।

निम्बस्य फलमादाय जले उष्णेच पातयेत् ।।

यदि किसी रूप में संक्रामक होकर अथवा स्वयं शरीर में पैदा हो जाय तो नीम के फल लाकर उन्हें उबाल लेना चाहिये।

यादृशं क्वाथसम्भूतं तादृशं बहुमात्रकम् ।

कृत्वा तज्जलमात्रेण सदैव स्नान माचरेत् ।।

उसे इतना उबाल लो कि क्वाथ बन जाय। फिर जल के स्नान करने मात्र से स्नान कर लेना चाहिये।

तस्य स्नानप्रभावेण अन्तःस्था बहिरागताः।

रोगाः सर्वे विनश्यन्ति न च रोगभयं भवेत् ।।

उस जल से स्नान करने का यह प्रभाव है कि बाहर से आये हुए या भीतर पैदा हुए सभी रोग विनष्ट हो जाते हैं और रोग का फिर भय नहीं रहता है।

केवलं स्नानमित्येव भाषितं करणीयकम् ।

दिनपञ्चकमात्रेण रोगनाशो भविष्यति।।

केवल स्नान कर लेना ही पर्याप्त कहा गया है। पाँच दिन तक स्नान करने से सब रोगों का विनाश हो जायेगा।

यदि वा छन्नरूपेण स्थितो रोगः क्वचित् क्विचत् ।

तदापि मिश्रितं नैम्बं जलस्नानं समाचरेत् ।।

यदि गुप्त रूप में कोई रोग भीतर कहीं किसी साधक के दबा हुआ हो तो भी नीम को उबाल उससे स्नान कर लेना चाहिये।

स्वल्पमात्रापरं तस्य जलं तत्पानमाचरेत् ।

एवं कृते नैव भीतिः निर्भयो जायते पुमान् ।।

बहुत थोड़ी मात्रा में उस जल को पी भी लेना चाहिये। ऐसा कर लेने पर साधक निर्भय हो जाता है। कोई डर नहीं रहता है।

अथवा कायजान् क्लेशान् हन्तुं मन्त्रं समाचरेत् ।

मंत्रंमन्त्रश्च यत् प्रोक्तं निर्बलं सबलं तथा।।

अथवा कायज क्लेशों को दूर करने के लिये मन्त्र का प्रयोग कर लेना चाहिये, "मन्त्रं और मन्त्रः" ये दो सबल और निर्बल दो प्रकार के होते हैं।

निर्बलं सबलं कृत्वा तदा तस्य प्रयोगकम् ।

कुर्याच्च साधकश्रेष्ठः सर्वरोगविनाशकम् ।।

निर्बल मन्त्र को सबल बनाकर साधक को रोग विनाश कर लेना चाहिये।

तदेतत् तत्र कर्तव्यं मन्त्रस्य पूर्वशोधनम् ।

पश्चात् प्रयोगमासाद्य मन्त्रसिद्धिश्च जायते।।

वह इस प्रकार करना चाहिये कि पहिले मन्त्र का शोधन कर लो। फिर प्रयोग में लाकर वह मन्त्र सिद्ध हो जायेगा।

"ॐ कं कंकात्मिकामावाहयामि कायजान्रोगान् विनाशयतु"। अस्य मन्त्रखण्डस्य, न सम्पूर्ण मन्त्रस्य, सम्पूर्णमन्त्रस्तु विशिष्टकाले एव प्रयोज्यः। एतत्तु शरीररोग विनाशाय खण्डरूपेण प्रयोक्तव्यः।

"ॐ कं ककात्मिका मावाहयामि कायजान् रोगान् विनाशयतु।" इस खण्डमन्त्र का, सम्पूर्ण मन्त्र तो विशिष्ट काल में ही प्रयुक्त करना चाहिये, इस मन्त्र का प्रयोग खण्ड रूप में रोगविनाश के लिये प्रयोग में लाना चाहिये।

मन्त्रं, मन्त्रश्च चेतनायुक्तः। अतः एतद् रूपेण अकालपर्यन्तं असंख्यकं यथा यावद् वा भवतु तावत् करणीयम् । स्वल्पं वा बहु वा उच्चरणीयम्, एतत् खण्डकम् । तदिदं लाभदं भविष्यति कालान्तरेण। शनैः शनैः तस्यावृत्तिः रोगनाशिका भविष्यति।

"मन्त्रः" तो चेतना युक्त होता है। इसलिये इस मन्त्र को निरवधि, कोई निश्चित संख्या नहीं, कोई अवधि निर्धारित नहीं, जब तक हो करते रहो। तब यह यथासमय धीरे धीरे लाभप्रद सिद्ध होकर रोगों का विनाश कर देगा।

गोरखवाणी :- ॐ । अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। साधक सावधान। इस प्रकरण में नानाप्रकार के रोगों को दूर करने के लिये क्रिया मुद्रा औषधि प्रयोग बताया जा रहा है और इस प्रकार कर लेने पर साधक को विघ्न का अवसर नहीं आता है। साधना में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं आती है। किन्तु सावधान होकर अपने मार्ग पर चलते रहो तो समस्त शारीरिक मल विक्षेपों को दूर करने के लिये विभिन्न रूप से कुछ न कुछ अनुभूतिजन्य वार्ता बताई जायेगी।

तो ऐसा करना कि देखो, पूतां ! अरे जब कभी शरीर में वाह्य या भीतर रोगों की प्रतीति हो, तो ऐसा भी कर सकते हो कि जो निम्ब वृक्ष है, नीम है, उसके फलों को ला करके और उसे रख लेना, और जब ऐसा समय आय तब थोड़ी सी मात्रा में निकाल करके उष्ण जल में डालकर स्नान कर लेना। तो उस स्नान करनें के पांच दिन के अन्तर्गत ही चाहे वे बाहरी रोग होंगे चाहे भीतरी होंगे, सब रोग नष्ट हो जायेंगे और यदि कोई रोग ऐसा भी हो कि भीतर ही जड़ जमा लिया हो, तो वैसे ही थोड़ा सा उसी के फल को तप्त करके उसी की लघु मात्रा में स्वल्प मात्रा में चुल्लू, दो चुल्लू के बराबर इतना सा भी लेना और उसको भी पाँच दिन पर्यन्त पीना, सब रोग नष्ट हो जायेंगे और शरीर नीरोग होकर साधना के पथ में आगे बढ़ जायेगा। ऐसा कर लेना ओर इसके पश्चात् ऐसा भी मां ने बताया है कि जब कभी ऐसा हो कि रोगों ने दबा लिया है और ये कभी न कभी प्रकृति के अनुकूल होते ही रहते हैं, यों तो उनका सबका विनाश होगा, लेकिन दीर्घकालीन होगा। अतः शीघ्र चलो, जल्दी चलो तो उसके लिये ऐसा कर लो, मां कह रही है कि "कं कंकालिका" कोई संख्या नहीं है। चलते फिरते, उठते बैठते उसको कभी कभी, अरे !थोड़ी थोड़ी देर में उच्चारण कर लेना। यह खण्ड मन्त्र है और खण्ड मन्त्र ऐसे ही होते हैं। इस खण्ड की शक्ति ऐसी है कि वह थोड़ा बहुत धीरे धीरे प्रभाव डालता हुआ शरीर के वायुमण्डल को बदलेगा तो उसको भी कभी कभी ऐसा कर लेना तो कल्याण होगा। आगे फिर बहु प्रकार के साधन की मां की इच्छा ।। ॐ ।।

७-२-६३ सायंकाल।।१४५ ।।

हरि ॐ तत् सत् ।

चंचत् प्रभानिकर भासितदिग्विभागाम्
चन्द्रोज्वलामहिमरश्मि प्रभास भासाम् ।
दन्तैककान्ति विपुलांशप्रकाशकांसां
सर्वस्वभावधवलां प्रभजे विभासाम् ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । अपनी कान्ति से दिशाप्रान्तों को उज्ज्वल कर देने वाली, चन्द्रमा की भाँति शीतल और सूर्य की भाँति प्रकाशवाली, अपनी दन्त पंक्ति की किरणावली चारों ओर फैला देने वाली सभी प्रकार से धवल प्रकाश वाली उस मां भगवती को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्वेतसरोरूहकान्ति दधतीं मुखारविन्दके शुभ्राम् ।
व्यपगतकलुषां विशुद्ध शुद्धां सरस्वतीं दिव्यां भजेऽहम् ।।

शुभ्र मुखारविन्द में शुभ्र कमल की कान्ति धारण करने वाली, कलुष से विहीन, शुद्ध विशुद्ध दिव्य भारती सरस्वती मां को मैं प्रणाम करता हूँ।

अस्मिन् वै मानुषे लोके मानवाः व्याधिपीडिताः।
शारीराः हृदयस्थाश्च चित्तजाः बुद्धिजास्तथा।।
व्याधयः परिदृश्यन्ते निर्व्याधिस्तु न लोककः।।

इस मनुष्य लोक में मानव नाना व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। व्याधियाँ इस लोक में शरीर सम्बन्धी, हृदय सम्बन्धी, चित्त सम्बन्धी और बुद्धि सम्बन्धी कई प्रकार की होती है। कोई भी मनुष्य व्याधिविहीन नहीं है।

सर्वेषां व्याधिनाशाय यो योगस्य च यौगिकम् ।
भावैकभावभावात्म सरसं नीरसं तथा।।

सभी प्रकार की व्याधियों के विनाश के लिये योग विद्या से सम्बन्धित भावपूर्ण होने के कारण सरस और क्रियाओं की जटिलता के कारण नीरस

एकदा सर्वतः सद्यः सर्वव्याधिविनाशकः।
महायोगप्रयोगस्य तस्मात्त्वं भज सत्वरम् ।।

केवल एक उपाय शीघ्र सब प्रकार से सभी व्याधियों का विनाश कर देने वाला यह महायोग का ही प्रयोग है। अतः तुम शीघ्र इसे प्राप्त कर लो।

औषधेन च कायस्थं ध्यानेन मनसस्तथा।

समुद्भूतं महारोगं नीरोगं यः करोति सः।।

प्रयोगः सर्वरूपेण साधकैः क्रियतां भुवि।।

औषधि से शरीरज, ध्यान से मन सम्बन्धी उत्पन्न हुए रोगों का विनाश यह महायोग का अभ्यास कर देता है।

इस महायोग का प्रयोग साधकों को इस संसार में कर लेना चाहिये।

योगेन महायोगेन चित्तस्य व्याधयो विनश्यन्ति। औषधिप्रयोगेन शरीरस्थरोगा अपि नश्यन्ति। तस्मात् सर्वप्रकारेण सावधानेन समाहितेन क्रियामुद्राज्ञानानुभवं विधाय औषधप्रयोगं च ज्ञात्वा योगमार्गे स्वाभीष्टसिद्धिः कर्तव्या।

महायोग नामक योग से चित्त की व्याधियाँ विनष्ट होती हैं। औषधि के प्रयोग से शरीरस्थ रोग नष्ट होते हैं। इसलिये साधक को क्रिया मुद्राओं का ज्ञान और अनुभव करके, औषधि ज्ञान प्राप्त करके योगमार्ग में अभीष्ट सिद्धि करनी चाहिये।

सा च कथं, केन-केन प्रकारेण भवति वा स्वयमनुभूतिं समागमिष्यति। अधुना शरीरस्थान् सर्वान् रोगान् विदूरीकर्तुं औषधिमन्त्र प्रयोगं प्रतिभासितम् । यदि चैवं सावशिष्टं किंचिदपि स्वात्मरक्षा शरीरस्य करणीया भवति तदर्थं निर्भयत्वरूपेण अभीष्टमन्त्रजापं विधेहि।।

वह कैसे और किस भांति होती है, वह सब अनुभव में आ जायेगा। सम्प्रति शरीरस्थ रोगों को दूर करने के लिये औषधि-मन्त्र प्रयोग प्रकट किया गया है। यदि थोड़ा कुछ बचा खुचा रोग रह गया हो तो अपने शरीर की रक्षा के लिये निर्भय रूप से अपने अभीष्ट मन्त्र का जप कर लेना चाहिये।

यस्य देवस्य यन्मन्त्रं चैतन्यत्वेन मण्डितम् ।

तस्यध्यानेन तद्रूपं रोगरूपं विनश्यति।।

चैतन्य से विमण्डित, जिस देवता का जो मन्त्र होता है उसके ध्यान से और उस मन्त्रार्थ के ध्यान से तत्सम्बन्धी रोग विनष्ट हो जाते हैं।

शीतजा उष्णजा रोगाः समशीतोष्णजास्तथा।

सूर्यस्य हिमरश्मेश्च ध्यानमन्त्रेण सत्वरम् ।।

कोई रोग शीतज होते हैं, कोई उष्णज होते हैं और कोई समशीतोष्णज होते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के ध्यान मात्र से शीघ्र ही-

नश्यन्ति द्रुतमित्येवं वाणी दिव्याऽस्तुशास्त्रका।

तस्मात् सूर्यस्य मन्त्रेण चन्द्रमन्त्रेण वै पुनः।।

एकदम नष्ट हो जाते हैं ऐसी शास्त्रों की दिव्य वाणी है। अतः सूर्य के मन्त्र से और चन्द्रमा के मन्त्र से बारम्बार।

औषधिमन्त्रपूतेन प्रयोगेण सदैव हि।

निवारयेत् स्वमार्गस्य वाधाः स्वाभीष्टमाप्नुयात् ।।

मन्त्र से अभिमन्त्रित औषधि द्वारा सदा अपने मार्ग की बाधायें दूर कर लेना चाहिये। और अपनी अभीष्ट सिद्धि कर लेनी चाहिये।

ॐ चन्द्रो मे चान्द्रमसान् रोगानपहरतु। औषधिनाथाय वै नमः। ॐ स्वात्मसम्बन्धिनः सर्वतः सर्वरोगान् शमय शमय तत्रैव पातय पातय। शक्तिं चोद्भावयोद्भावय।। इति ।।

"ॐ चन्द्रो मे चान्द्रमसान् रोगानपहरतु औषधिनाथाय वै नमः, ॐ स्वात्मसम्बन्धिनः सर्वतः सर्वरोगान् शमय शमय, तत्रैव पातय पातय, शक्तिं चोद्भावयोद्भावय"। यह मन्त्र है।

ज्ञात्वा क्वाचित्करूपं च क्वाचित्कं प्रोच्यते मया।

सर्वदा नैव तज्जापः पर्वण्येव च जायते।।

इस मन्त्र को क्वाचित्क समझना चाहिये। किसी पर्व में ही इस मन्त्र का जप किया जाता है।

यदा वा पर्वकाले च पुण्ये वै दिवसे तथा।

द्विशतं जापमात्रेण पर्वमन्त्रेश्च सिद्धिदः।।

जब कोई पर्व पड़े अथवा पुण्य दिवस हो, उस काल में केवल दो सौ संख्या जप कर लेने से इस पर्वमन्त्र की सिद्धि हो जाती है।

पर्वण्येव च कर्तव्यं मन्त्रोच्चारणमेव तत् ।

एकस्मिन्नेव काले च तस्य सिद्धिः प्रजायते।।

पर्वकाल में ही इस मन्त्र का जप करना चाहिये। एक समय में ही जप कर लेने से इस चान्द्रमस मन्त्र की सिद्धि हो जाती है।

पुनश्च शीतरोगेषु प्रयोज्यः वाञ्छितार्थदः।

अथवा सूर्य सम्भावे रोगे जाते शरीरके।।

शीत से उत्पन्न रोगों में चन्द्रमन्त्र का प्रयोग करना चाहिये और गर्मी से उत्पन्न कायज--

अथवा बुद्धिवैकल्यं जायते शक्ति वृंहितः।

तदा सूर्यस्य मन्त्रस्य जापः सिद्धिप्रदो भवेत् ।।

रोगों में अथवा बुद्धि की विकलता में, सूर्य मन्त्र का जाप सिद्धि प्रदान करता है।

"ॐ नमोऽस्तु दिवाकराय अग्नितत्त्वप्रवर्धकाय शमय शमय शोषय शोषय अग्नितत्त्वं समतां कुरू कुरू ॐ"।।

"ॐ नमोऽस्तु दिवाकराय, अग्नितत्त्व-प्रवर्धकाय शमय शमय, शोषय शोषय, अग्नितत्त्वं समतां कुरू कुरू ॐ "।

अस्य कार्यमन्त्रस्य सूर्यसम्बन्धिनः दुर्वाधापीडितो भवति दृष्टिपीडितो वा भवति, अग्नितत्त्वपीडितो वा भवति, बुद्धिवैकल्येन वा पीडितो भवति, ऊष्माणमनुभवति, एतदपि चत्वारिंशत्, संख्या परिमितं जपनीयम् केवलं कस्यामप्यमावास्यायाम । केवलं कस्यामप्यमायाम् । तदा च एतेषु समुद्भूतेषु रोगेषु जलं स्पृष्ट्वा पानायदातव्यम् । सर्वं लाभप्रदं भविष्यति। प्रोक्तं तत् न सर्वसाधकानां कृते, विशिष्टसाधकानां हिताय, विशिष्ट साधकानां वोधाय, विशिष्ट साधकानामनुभवाय च प्रोच्यते। ॐ अस्मिन् प्रकरणे औषधिमन्त्रजपं किञ्चिदपि शरीररोगनिःसारणाय प्रोक्तम् । अपरं च द्वितीयं द्वितीयरूपेण अभिधास्यते।। ॐ ।।

सूर्य सम्बन्धी इस कार्यमन्त्र का प्रयोग तब होता है, जब कोई व्यक्ति दुर्बाधापीड़ित हो, दृष्टि रोग से ग्रस्त हो, अग्नितत्त्व के वैषम्य से पीड़ित हो, बुद्धिवैकल्य (उन्माद, पागलपन) से पीड़ित हो, शरीर में जलन और गर्मी का अनुभव करें, तो ऐसी स्थिति भी अमावास्या के दिन केवल ४० (चालीस) बार जप कर लेना चाहिये। मन्त्र सिद्धि के अनन्तर, मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करके रोगी को पिला देना चाहिये। सब रोगों में लाभ होगा, यह मन्त्र विशष्ट साधकों के हित, कल्याण और लाभ के लिये बताया गया है, वे इसे अनुभव में ले आवें। इस प्रकरण में औषधि मन्त्र जाप बताया गया है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। इस व्याघात-संहति, विघ्न निवारण, विघ्नविनाशक प्रकरण में सम्मिलित रूप से मन्त्रौषधि का प्रयोग शारीरिक व्याधियों के विनाश के लिये कहा गया है, जिसके प्रयोगमात्र से सर्वप्रकार से विघ्न विनष्ट हो जाते हैं। शरीर निर्मल होता चला जाता है और कान्ति बल सम्पन्न होता हुआ बलवती साधना का साधन बन जाता है। और इस प्रकार धारणा की पुष्टि का एकमात्र साधन हो जाता है। रोगों की औषधियाँ भी हैं। रोगापसारक मन्त्र भी हैं। जो इस प्रकार शरीर के लिए दोनों बना दिये गये हैं। और जब विशेष स्थिति आ जाती है, ऐसा होता है कि शरीर में उष्णता की महातीव्रता

आ गई है, उसको सहन न कर सकने के कारण बौद्धिक स्तर बिगड़ रहा हो, अथवा जब किसी के भी शरीर में अग्निवर्ण की तीव्रता हो गई हो, ऐसी स्थिति में इस मन्त्र का प्रयोग बताया गया है। यह सूर्य सम्बन्धी मन्त्र है। इसको भी मां ने बताया है। और शीतल प्रधान रोग जब उत्पन्न हो जाते हैं, बात की अधिकता होने लगती है, तब उस समय इस चन्द्र सम्बन्धी मन्त्र प्रयोग करके उसे भी दूर किया जा सकता है, तो चन्द्रसम्बन्धी मन्त्र जो मां ने बताया है इसे दो सौ बार किसी महापर्व में जप लेना चाहिये, वह सिद्ध हो जायेगा। जब समय समय पर आवश्यकता हो तो उसका अनुकूल प्रयोग करना। सूर्यमन्त्र जो बताया है, वह चालीस बार जप से ही सिद्ध हो सकता है, उसमें भी शक्ति आ जायेगी। और जलस्पर्शमात्र से, लगा देने मात्र से, पिला देने मात्र से और स्नान से भी, पीड़ित को बहुत लाभ होगा। इस प्रकार शरीर के समस्त रोगों को यदि इन दो मन्त्रों की सहायता से दूर करना चाहो तो कर सकते हो। पर इतने पर भी एक बात थोड़ी रह गई है, जो बता देनी चाहिये। दोनों मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल का प्रयोग हो सकता है। ध्यान रखना साधक ! स्वयं के लिये भी और औरों के कल्याण के लिये भी ऐसा प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु पूर्व में इन मन्त्रों को जैसा बताया है, वैसा अनुभव में लाना और पश्चात् प्रयोग में लाना। कल्याण होगा। शरीर के रोग नष्ट हो जायेंगे। पश्चात् चित्त के और मानसिक रोगों के लिये भी विशेष वार्ता जो बताई गई थी, उसकी ऐसी चर्चा की जायेगी कि कुछ तो क्रिया मुद्रायें जो बता चुका हूँ उन्हीं का कुछ उपयोग बताया जायेगा और कुछ स्वल्प एकाक्षर से लेकर बहु अक्षर पर्यन्त मन्त्र होंगे और कुछ सूर्य और चन्द्र से सम्बन्ध रखनेवाली औषधियाँ भी होंगी, जिनके सेवन से ये अन्य प्रकार के क्लेश नष्ट हो जायेंगे उनका वर्णन किया जायगा।। ॐ ।।

८-२-६३ सायंकाल।।१४६।।

हरि ॐ तत् सत् ॐ।। सर्वस्वरूपेण जागृतमखिलं च प्रसुप्तं दूरमुपैति यन्मनस्तत् शिवसङ्कल्पकमस्तु। यद् वृत्तीनां चाञ्चल्यं न निवर्तते महामाया भगवती तत् चाञ्चल्यं निवारयतु।।

हरि ॐ तत् सत्। सब भाँति जागृत, और पूर्ण प्रस्तुप्त जो मन दूर से दूर चला जाता है, वह शिवसङ्ल्प हो जाय। जिस मन की वृत्तियों का चाञ्चल्य निवृत्त नहीं होता है, महामाया भगवती उस चाञ्चल्य का निवारण कर दे।

मनो मे पूतभावं च प्रकाशस्य च शाश्वतम्।

निर्मलं येन चाञ्चल्यं तद्भवेत्तुनिराकुलम्।।

मेरा मन पवित्र भाव और प्रकाश को प्राप्त करे, जिससे मेरा मन निर्मल बनकर चाञ्चल्य रहित होता हुआ निराकुल हो जाय।

शरीरजान् महारोगान् दूरीकर्तुं च भाषितम्।

मन्त्रौषधं क्रियायोगं सर्वं तच्छक्तिदायकम्।।

शरीरज महारोगों के दूर करने के लिये जो मन्त्रौषधि और क्रिया योग बताया गया है वह सब शक्तिदायक है।

अधुना मानसं रोगं तस्यापसरणं तथा।

स्वल्पभावेन स्वल्पेन निगदामि श्रृणुष्वत्वम्।।

अब मानस रोगों के बारे में और उनके निवारण के बारे में थोड़े संक्षेप में कहती हूँ, तुम उसे सुनो।

चाञ्चल्यं प्रथमो रोगः स्तम्भो भावो द्वितीयकः।

तृतीयमस्थिरं चैव धावतं च चतुर्थकम्।।

मन का सब से पहिला रोग चाञ्चल्य है, द्वितीय रोग स्तम्भ है, तृतीय रोग अस्थिर होना है, चौथा रोग अस्थिरता है।

पञ्चमं गतिविच्छेदः षष्ठमुत्पतनात्मकम्।

आत्मकं प्रोच्यते भूयः सप्तमस्तु मलाश्रयः।।

पांचवा रोग गतिविच्छेद है, छठा रोग उत्पतनात्मक (भड़क जाना) है और सातवां मलाश्रय होकर मलिन होना है।

ताँश्चरोगान् महारोगान् कः समर्थोपसारितुम्।

दूरं वा पूर्णरूपेण दुष्करं तद्धि मे मतम्।।

इन सातों मन के महारोगों को दूर करने में कौन समर्थ है। पूर्णरूप से इन सबको दूर करना बड़ा दुष्कर है, ऐसा मैं समझती हूँ।

तथापि या क्रिया प्रोक्ता या मुद्रा घूर्णिका मता।

चिद्बोधिनीं समाख्याता स्कन्धनी च तृतीयका।।

फिर भी जो क्रिया रूप में तुम्हें घूर्णिका मुद्रा बताई है, चिद्बोधिनी मुद्रा और स्कन्धनी मुद्रा बताई गई है।

एषा क्रिया महामुद्रा चाञ्चल्यस्य निवारिका।

एतेषां च विना तस्य चाञ्चल्यं न विनश्यति।।

ये तीनों क्रिया मुद्रायें मन के चाञ्चल्य का निवारण कर देती हैं। इन मुद्राओं के बिना मन का चाञ्चल्य विनष्ट नहीं होता है।

तस्मादेताः क्रियाः मुद्राः कार्या वै सावधानतः।

यदि वाञ्छन्ति वै सर्वे साधकाः मार्गबोधकाः।।

इसलिये सावधान होकर नियमित रूप में सभी साधकों को, यदि वे अपने मार्ग की जानकारी चाहते हों, तो इन क्रिया मुद्राओं को करते रहना चाहिये।

अथवा चौषधं प्रोक्तंअपामार्गस्य मूलकम् ।

अधस्तान् स्थापनेनैव गतिस्तु तीव्रतां ब्रजेत् ।।

अथवा अपामार्ग की जड़ जो एक औषधि है, उसे आसन के नीचे रखने से क्रियाओं की गति में तीव्रता आ जाती है।

अथवा पुच्छभागस्य पक्षाश्चैव शिखण्डिनः।

एकत्वेन बहुत्वेन स्थापनीया अधस्तले।।

अथवा मोर के पंख दो चार लाकर आसन के नीचे रख लेना चाहिये।

तस्मादपि च जायेत मनसः स्थिररूपता।

मानसं कष्टदं रोगं विनिहन्ति च पिच्छकम् ।।

इससे भी मन की स्थिरता आती है। मोर पंखों को आसन के नीचे रखने से कष्ट प्रद मानस रोग विनष्ट हो जाते हैं।

मयूरस्य तदा तत्र आनीय च प्रयुज्यताम् ।

अथवा या च वै मुद्रा पुरा प्रोक्ता मया शुभा।।

इसलिये मोरपंख लाकर आसन के नीचे रखने का प्रयोग कर लो। अथवा एक बड़ी उत्तम मुद्रा जो मैंने पहिले तुम्हें बताई थी।

तस्यास्तु सम्प्रयोगेण मनः सुस्थिरतां व्रजेत् ।

अश्वोदरी समाख्याता बहुपूर्वं मया च या।।

उसके प्रयोग से भी चंचल मन स्थिर हो जाता है। मैंने पहिले तुम्हें जो अश्वोदरी मुद्रा बताई थी।

तस्याश्चाभ्यासमात्रेण मनसो रोगव्यूहकः।

विनश्यति द्रुतं तस्य अश्वोदरी प्रभावतः।।

उस मुद्रा के अभ्यास मात्र से मन के सभी रोगव्यूह शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं। अश्वोदरी मुद्रा का ऐसा प्रभाव है।

सर्वा मुद्रा क्रियाः सर्वाः व्यर्थं नैव प्रदर्शिताः।

महायोगे महाशास्त्रे तासां वै फलमुत्तमम् ।।

जितनी भी क्रिया और मुद्रायें बताई गई हैं वे व्यर्थ ही नहीं कही गई हैं। इस महायोग-शास्त्र में उनका फल परमोत्तम है।

अथवा सम्प्रवक्षामि मानसं रोगनाशकम् ।

अपरं औषधं दिव्यं तत्रैव तत्परो भव।। ॐ ।।

अथवा मानस रोगों के विनाश के लिए एक दूसरी दिव्य औषधि में बताती हूँ, उसी का तुम तत्परता से सेवन करो।

गुञ्जामूलं समादाय तलेषु लेपनं च तत् ।

कर्त्तव्यं पादभागेषु शयनावसरे हितत् ।।

गुंजा की जड़ लाकर पैर के तलुओं में सोते समय लेप कर देना चाहिये।

एवं कृते च कालेन मनस्तु निश्चलं भवेत् ।। ॐ ।।

इस प्रकार प्रयोग करने पर यथा समय मन निश्चल हो जायेगा।। ॐ ।।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस व्याघात संहति प्रकरण में अब मानस रोगों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रयोग भी बताये जायेंगे जो चमत्कारपूर्ण ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी होंगे। जब अश्व को वश में करने के लिए, क्रिया मुदायें बताई गई थीं उनका अभ्यास कर लेना कल्याणकारी होता है। मन का सबसे बड़ा रोग चञ्चलता है। स्तम्भवृत्ति हैं। गतिविच्छेद में भी विचरण करते रहना है। महायोग में इसके विचरण की वृत्ति के बन्धन को मजबूत कर देना चाहिये और उसके लिए घूर्णिका, चिद्बोधिनी, स्कन्दनी और अश्वोदरी बताई गई थी। उनका सदुपयोग, सत्प्रयोग, करना उत्तम

फलकारी होगा। ये मुद्रायें मन के पंख को तोड़ देने के लिए बज्र का काम करती हैं। ये मन की गति को कमजोर बना देने के लिए महौषधि का काम करती हैं। और ऐसा भी बताया गया था कि मन तभी वश में होता है जब उसका चाञ्चल्य रोग नष्ट हो जाता है। अब अपामार्ग के मूल को आसन के नीचे रखकर गति को स्थिर कर दिया जाता है, मनमें स्थिरता आ जाती है। अथवा ऐसा भी किया जा सकता है जो मयूर है, शिखण्डी है जिसको मोर कहते हैं उसके पुच्छ भाग पर जो पंख होते हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की चन्द्रकृति बनी होती है, उसके एक या दो पंख लाकर के आसन में रख लेना, मढ़ देना, धर देना। उससे विद्युत शक्ति दौड़ती है। और मन के चाञ्चल्य को समाप्त कर देती है। शनैः शनैः मन वश में होने लगता है। चाञ्चल्य को त्याग कर निर्मल होने लगता है। इस मन में संकल्प विकल्पात्मकता का जो भाव है वही उत्पन्न करने वाला है। उसमें स्थिरता लाने के लिए यह प्रयोग बताया गया है। और उसके बाद एक प्रयोग और भी बताया जाता है जिसको गुंजा कहते हैं, जिसे उचट्टा भी कहते हैं, घुंघुची भी बोलते हैं, रत्ती भी बोलते हैं। उसकी जड़ को लाकर के और सोते समय पैरों में पीसकर लगा लेना सो जाना, धीरे धीरे मन वश में हो जायेगा। थोड़े ही दिन कर लेना, ज्यादा नहीं, मन की गति ठीक हो जायेगी। रोग मिट जायेगा। इस प्रकार इस मन के, इन रोगों को, मानसिक रोगों को दूर करने के लिए औषधि प्रयोग के साथ मन्त्र का प्रयोग भी हो सकता है जो यथावसर बताया जायेगा। कल्याण हो।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् ।

महाशक्तिं महारुपां महातत्त्वप्रकाशिकाम् ।

नमामि शारदां देवीं साक्षाद्वै शक्ति रूपिणीम् ।।

हरि ॐ तत् सत् । महारूपा, महतत्त्व प्रकाशिका साक्षात् शक्तिरूपिणी मां शारदा भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

या शक्तिरूपा च विशेषरूपा या सद्गुणोदयकरी प्रतिभाप्रभाकरी।

सा सर्वदैव हितकारिणी नित्यदा च सा मे सदा भगवती गतिमातनोतु।।

जो विशिष्ट रूप में शक्ति रूपा होकर साधक में सद्गुणों का उदय [illegible] हुई प्रतिभा को उज्वलता देती है, वह सदा हितकारिणी भगवती मुझे सदा साधना में गति [illegible] करे।

अनुभूतिं परं ज्ञानं दिव्यं ज्ञानं ददातु सा।

ज्ञानाद् ध्यानं च ध्यानाच्च ज्ञानं यत्रोपजायते।।

वह भगवती मुझे दिव्य ज्ञान और नित्य अनुभूति प्रदान करे, जिससे मेरा ध्यान सिद्ध हो जाय और ध्यान से ज्ञान की सिद्धि हो जाय।

अस्मिन् प्रकरणे मानसान् रोगान् विद्रावयितुं शमयितुं विनाशयितुं च यन्मन्त्रोषधं प्रोच्यते तत् साधकानां कल्याणाय जायताम् ।।

इस प्रकरण में मानस रोगों को दूर करने के लिए शमन के लिये जो मन्त्र औषधियां कही गई हैं वे सब साधकों का कल्याण करें।

अस्थिरं मानसं पूर्णं सदैव समतावृतम् ।

कर्तुं च पारयत्येवं तदवस्थो नरः सदा।।

मन सदा ही पूर्ण अस्थिर स्वभाव वाला है, उसमें जो साधक समता वृत्ति ले आता है वही साधक मन को स्थिर रख सकता है।

मनसस्तु दशा या च अस्थिरा विघ्नकारिणी।

अत एव जनाः नानाक्लेशान् भुंजन्ति लोकके।।

मन की जो सदा अस्थिर और विघ्नकारिणी दशा है उसी के कारण मनुष्य संसार में नाना प्रकार के क्लेश सहन किया करता है।

यदा तु मानसाः रोगाः नश्यन्ति सततं तदा।

महामायाप्रभावेण शान्तिश्च जायते परा।।

जब महामाया भगवती के प्रभाव से सभी मानस रोग सदा के लिये शान्त हो जाते हैं तब अपूर्व शान्ति मिल जाती है।

तदैव ध्यानं च परं वरं वर तथैव ज्ञानं च परं परं परम् ।

तदैव वा भूति विभूति भूतिकं तदैव सर्वं सुखदं सुबोधकम् ।।

मन की शान्ति और स्थिरता से ही श्रेष्ठ ध्यान होता है और परम ज्ञान भी तभी उपलब्ध होता है। तभी सभी भूति और विभूतियाँ प्राप्त होती हैं और सभी उपार्जित ज्ञान लाभप्रद होता है।

तदर्थमौषधिप्रयोगः मन्त्रप्रयोगश्च विधातव्यः एतन्मनो यद्यपि शास्त्रकाराणां धारणया दृढाभ्याससेवितं स्ववशे संस्थितं भवति। तथापि महामाया भगवती शक्तिस्तद् बलात् समुत्कर्ष्य स्वयमेव स्ववशमानयति। तदर्थं प्रारम्भचरणविनिपाते मन्त्रौषधि प्रयोगः करणीयो भवति।। ॐ ।।

उसके लिये मन्त्र प्रयोग और औषधि प्रयोग करना चाहिये। यद्यपि शास्त्रकारों की धारणा के अनुसार दृढ़ाभ्यास और निरन्तर अभ्यास द्वारा ही यह मन स्थिर होता है, तथापि शक्तिपात–महायोग में महामायाभगवती शक्ति बलपूर्वक साधक के मन को खींचकर अपने वश में कर लेती है। आरम्भिक काल में ही केवल मन्त्रौषधि प्रयोग करना होता है।

मनसो रोगमाहन्तुं श्रृङ्गाटक विशेषकम् ।

पूर्णकं तस्य वै चूर्णं साधना वा यदा भवेत् ।।

जब साधना काल हो, मन के रोगों को दूर करने के लिये एक अकेला सिंघाड़े का चूर्ण ही पर्याप्त होता है।

तदा तद् भक्षणं कृत्वा पुनः साधनमाचरेत् ।

दिनत्रयेण तच्चूर्णं भोक्तव्यं निर्मलत्वकम् ।।

श्रृङ्गाटक का चूर्ण भक्षण करके फिर साधना में लगना चाहिये। तीन दिन तक सिंघाड़े का चूर्ण भक्षण कर लेने से मन में निर्मलता आ जाती है।

तदा च मन्त्रयोगस्य प्रयोगः क्रियते सह। ॐ ।

एतन्मन्त्रस्य जापं वै प्रारम्भे च दिनत्रये।।

उसी काल में मन्त्रयोग का प्रयोग भी साथ ही साथ किया जाता है।। ॐ ।। प्रारम्भ के तीन दिन इस मन्त्र का जप करना चाहिये।

पुनश्च शक्तिः सम्भूता सर्वं शुद्धं करिष्यति।

यावन्नप्रबला शक्तिस्तावच्च करणीयकम् ।।

फिर जागृता शक्ति स्वतः सब कुछ शुद्ध कर लेगी। जब तक शक्ति में प्रबलता नहीं आती है, तभी तक ये प्रयोग करने चाहिये।

शक्तेः प्रबलभावे च किञ्चिदपि न विद्यते। मन्त्रोमेनदुच्चारणीयम् ।।

शक्ति के प्रबल भाव होने पर फिर कुछ करना नहीं पड़ता है। इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।

ॐ महाशक्तिं आराधयामि सा मे शक्तिः प्रसीदतु, चञ्चलं मानसं स्थिरतां उपनयतु, स्थिरतामुपनयतु, स्थिरतामुपनयतु।। इत्येतत् बारत्रयेण प्रोच्चार्यं सार्बिको मन्त्र प्रयोगः।

"ॐ महाशक्तिं आराधयामि, सा मे शक्तिः प्रसीदतु, चञ्चलं मानसं स्थिरतामुपनयतु, स्थिरतामुपनयतु, स्थिरतामुपनयतु,।" इस मन्त्र का उच्चारण तीन बार करना चाहिये। यह सार्विक मन्त्र है।

सार्विको मन्त्रप्रयोगस्तु केवलं साधनाकाले प्रारम्भे एकादश वारेणैव भवति। शनैः शनैः पश्चात्न च तस्यावश्यकतापि विद्यते। एतत् करणीयम् ।। ॐ ।।

सार्विक मन्त्र का प्रयोग केवल साधनाकाल में आरम्भ में ११ बार करना होता है। धीरे धीरे फिर उसकी आवश्यकता नहीं पड़ती है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस प्रकरण में अब मानस चंचलता सम्बन्धी जो रोग होते हैं, उनको विनष्ट करने का प्रयोग बताया जा रहा है और उस प्रयोग के साथ ऐसा भी बताया जा रहा है कि जब मन नितान्त ही चञ्चल होकर किसी भी ओर लगने की प्रवृत्ति नहीं रखता और जब साधक को शक्ति प्राप्त होती है, तो क्षणिक वह मन आकृष्ट होता है। पर उसे भी जब वह शक्ति पूर्ण प्रबल रूप से नहीं आई है स्वल्प दिनों तक सात या ग्यारह दिन पर्यन्त प्रारम्भ में जब उसकी स्थिति चाञ्चल्यपूर्ण हो जाती है, अरे वह इस मार्ग का अभ्यासी नहीं होता है, अनभ्यास में शक्ति जब उसे इधर खींचती है तो भड़क उठता है तो उसको वशीभूत करने के लिये दो प्रयोग बताये जा रहे हैं उनको कर लेना। ध्यान में रख लेना। लेकिन यह बहुत प्रारम्भ के साधक के लिये बताये जा रहे हैं कि जब अपने मार्ग में चलना प्रारम्भ कर रहा है, जब वह शक्ति के चरणों में आना चाह रहा है, और जब महामाया की उस पर कृपा होनी चाह रही है, ऐसे समय में यदि मन वशीभूत नहीं हुआ तो शक्ति उस समय थोड़ी सी विचलित होकर सुप्तावस्था में आ जाती है, दीर्घकाल की बात हो जाती है और फिर उस दीर्घ काल में ऐसा भी होता है कि वह शक्ति कालान्तर में जागती है। प्रभावशाली होती है। क्योंकि कारण ऐसा होता है कि सबकी भूमिका, सबका क्षेत्र, अरे सबका आधार निर्मल और पुष्ट पहिले से नही होता है। कुछ का होता है। कुछ का नहीं होता

है। जैसे बताया गया था कि ऐसे भी साधक होते हैं कि जिन्हें कूष्माण्ड के बीजों का प्रयोग करा देना होता है। तो ऐसे ही कुछ साधक ऐसे हो जाँय जिन पर देखा जाय कि इनका मन चञ्चलता से विशेष युक्त है, किसी प्रकार मार्ग में बैठने से, आने से, चलने से भड़क उठता है, तब ऐसी स्थिति में, महामाया ने उनको अपना कृपापात्र बना दिया है, तो उनको कहो, भाई तुम ऐसा करो कि तीन दिन तक जो श्रृङ्गाटक है अरे, जल फल भी कहते हैं, सिंघाड़ा भी कहते हैं, उसका चूर्ण बना करके ऐसे ही मुंह में रखकर पानी पी लेना। तीन दिन तक एक समय में सेवन करना। अगर ऐसा नहीं है तो उसको दूसरे रूप में भी ले सकते हो। उसको खाद्य पदार्थ के रूप में भी लिया जा सकता है। किसी भी वस्तु में मिश्रित करके प्रयोग में लाया जा सकता है। उसको किसी भी रूप में लिया जा सकता है। पर प्रारम्भ में तीन दिन ऐसा करने से प्रारम्भ के साधक की शक्ति बलवती होती हुई उसके मन को खींचती लिये चली जायेगी और वह अपने मार्ग में जमने लगेगा। चलने लगेगा। भड़केगा नहीं। वस्तु बहुत विचित्र है, पर मन भी बहुत विचित्र है। इसलिये जैसे को तैसे से खींच ही लेना चाहिये। तो भाई ! ऐसा भी प्रयोग कर लेना। जब महाप्रयोग हो रहा हो उन्हीं दिनों "महाशक्तिं आराधयामि" यह जो मन्त्र माँ ने बताया है, उसको भी जप बैठो, तो पहिले ही एकादश बार अर्थात् ग्यारह बार बोल लो। यह सार्विक मन्त्र होता है। सार्विक मन्त्र का तात्पर्य यह होता है कि जो साधना के पहिले थोड़े से क्षणों के लिये बोले जाते हैं। ऐसे मन्त्रों को सार्विक मन्त्र कहते हैं। ऐसे मन्त्र स्थाई नहीं होते हैं। वे कुछ काल के लिये कुछ क्षण के लिये ही साधना के थोड़ा सा परिष्कार के लिये होते हैं। तो उन सार्विक मन्त्रों में से यह भी एक शक्ति मन्त्र है जो उस समय पुष्टि का कारण होता है, तुष्टि का कारण होता हे। मार्ग में लगा देने का कारण होता है। और फिर तो महामाया भगवती शक्ति स्वतः प्रबला होकर आधार को निर्मल करती हुई बढ़ती चली जाती है। और अभीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब होने की सम्भावना नहीं रहती है। इसलिये साधक को ये प्रयोग बता दिये गये हैं जिन में कहीं पर भी जगत् के कल्याण में बाधा न हो। योग का वायुमण्डल तैयार हो जाय। ॐ ।

१०-२-६३ प्रातःकाल।।१४८।।

हरि ॐ तत् सत् ।

नवलां सबलां बलाबलां ममतां चैव नमामि तां देवीम् ।

विमलां विमलार्थकारिणीं समतां मलव्यपोहने रतां च।।

विपुलां कटिभारमध्यविपुलां वन्दे च तां शारदाम् ।। ॐ ।।

नवला, सबला, बला, अबला, ममता देवी को नमस्कार है जो स्वयं भी विमला है और साधक को विमल कर देने वाली और उसके मल को सदा दूर करने में लगी हुई समता स्वरुपिणी मां को मैं प्रणाम करता हूँ।

कटि के भार से मध्यभाग में विपुल, उस मां शारदा को नमस्कार करता हूँ।

या भगवती महामाया महायोग प्रसाधिका।

योगस्याधारभूता सा नृत्यतां च पुरो मम।।

जो भगवती महामाया महायोग की सिद्वि देती हैं और जो योगविद्या की आधारभूता हैं मेरे सम्मुख नृत्य करें।

सा नित्या अतुलातुलापरिवहा नित्याभवा बोधदो।

सर्वं मानसमेव या हरित वै सा भगवती प्रीयताम् ।। ॐ ।।

वह नित्य भवा, बोधदात्री, अतुलरहस्यों से भरी जो देवी मेरे सम्पूर्ण मन को ही खींच लेती है, वह भगवती मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाय।

अस्मिन् व्याघातसंहति प्रकरणे मनसश्चाञ्चल्यं तस्य वृत्तीनां च निवारणाय यत्किञ्चिच्च प्रोच्यते तत्सफलं भवतु साधकानां कृते।। ॐ ।।

इस व्याघातसंहति प्रकरण में मन की चञ्चलता और उसकी वृत्ति के निवारण के लिये जो कुछ भी कहा जाता है वह साधकों के लिये सफल बने।

मनसो निग्रहो नैवं भवितुं शक्यते यदि।

तस्मात् सर्वमनर्थं च जायते साधकाय तत् ।।

यदि मन का निग्रह किसी कारण नहीं हो सकता है तो साधक के लिये वह बड़े अनर्थ की चीज बन जाती है।

अनर्थानां च मूलं यत् कल्पयत्याशु संयुतम् ।

एकमेव मनस्तस्मात् तन्निरोधः शुभं भवेत् ।।

एक अकेला मन ही सब अनर्थों की जड़ है जो बड़ी जल्दी स्वयं ही नाना संकल्पों को जुटा देता है। अतः उसका निरोध करना कल्याण कारक है।

या मुद्रा च क्वचिच्चैव क्वचिच्च कार्यसाधिका।

क्वचिन्मंत्रस्य संयोगः मनसो निग्रहाय वै।।

मन के निग्रह के लिये कहीं कहीं क्रिया का उपयोग, कहीं कहीं पर मुद्रा का प्रयोग और कहीं कहीं मन्त्र का प्रयोग करना सफल होता है।

कर्तव्यं साधकेनैवमेतस्मात् कष्टकं बिना।

मनः आयाति वै तस्य वशं नात्र च संशयः।।

साधक को ऐसे ही उपाय करने चाहिये। इस से मन अनायास ही वश में आ जाता है। इस में कोई संशय नहीं है।

यथा सुसारथिरश्वान् विनियुंक्ते पृथक् स्वतः।

तथा सुसाधक एतत् मनश्चेद् योजयेद् ध्रुवम् ।।

जैसे अच्छा सारथी घोड़ों को स्वयं जोतता और अलग करता है उसी भाँति अच्छा साधक अपने मन को इच्छित स्थान पर जमा सकता है।

साधनामार्गके तत्त्वतत्त्वार्थस्य निवेशने।

तेनैव कार्यसिद्धिः स्यात् तदर्थं चेष्टते पुमान् ।।

तत्त्व के सार की प्राप्ति के लिये साधना मार्ग में मन सदा लगा रहे, इसी से कार्यसिद्धि होती है और इसीलिये साधक की चेष्टा बनी रहती है।

तदैव प्राप्यते तस्मात् यदर्थं चेष्टते जगत् ।

अतः सर्वात्मरूपेण मनसः संस्थितिं ब्रजेत् ।।

मन के स्थिर होने पर संसार में मनुष्य जिसकी प्राप्ति की कामना करता है वह उसे प्राप्त हो जाती है। अतः सर्वात्मभाव से मन को स्थिर करने का प्रयास करना चाहिये।

तस्य चाञ्चल्यनाशार्थं मन्त्रोच्चारणतत्परः।

भव त्वं येन ते कार्ये बाधा नैव भविष्यति।।

उस मन के चाञ्चल्य को नष्ट करने के लिये तुम सदा मन्त्रोच्चारण में लगे रहो जिससे तुम्हारे साधना-कार्य में बाधा न हो।

तस्माद् दत्तावधानेन मन्त्रयोग श्रृणुष्व त्वम् ।

श्रुत्वा च जपमात्रेण मनस्ते सुस्थिरं ब्रजेत् ।। ॐ ।।

इसलिये सावधान होकर तुम मन्त्र-योग को सुन लो। उसे सुनकर और उसका जाप करके तुम्हारा मन सुस्थिर हो जायेगा।। ॐ ।।

ॐ तामाराधयामि महालयां मनो मे या लयतां नयति। सा सर्वदा अस्य भद्रं करोति। अस्य मन्त्रोच्चारणं काले काले सावकाशे च करणीयम् ।। अनेनापि सुस्थिर मागमिष्यति। सा च अनुभूतिपरा भविष्यति। कल्याणप्रदा च भविष्यति।

"ॐ तामाराधियामि महालयां मनो मे या लयतां नयति, सा सर्वदा अस्य भद्र करोति।" इस मन्त्र का उच्चारण समय समय पर अवकाश के क्षणों में करते रहना चाहिये। इससे भी मन सुस्थिर हो जायेगा। वह अनुभूति बड़ी श्रेष्ठ और कल्याण-प्रद होगी।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। शरीर के दोषों को दूर करने के पश्चात् मानसिक रोगों का संहार करने के लिये, निवारण के लिये, विनाश के लिये समस्त प्रयोगों का ऐसा कुछ विधान रखा जा रहा है जिससे साधक साधना मार्ग पर चलता रहे। बढ़ता रहे। कल्याणमार्ग में चला पर उसकी सबसे बड़ी बाधा उसका यह चञ्चल मन है जिसको बड़े तत्त्व वेत्ता, ज्ञानी, योगी, महायोगी, वश में करने के लियें कठिनाइयों का सामना करते रहते हैं, और तब इसके पंख तोड़कर इसे पङ्गु बनाकर इस पर विजय कर सके हैं। अरे ! जिन पर महामाया भगवती की कृपा हो या हो रही हो, उनके लिये भी शरणागत भावना के कारण से ही मन वशीभूत हो सकता है। पर उस पर विश्वासपूर्ण मन्त्र की प्रक्रिया बताई जायेगी। अतः मां का आदेश है कि मन की चञ्चलता के लिये महामाया के मन्त्र का जप करो, वह मन को लय में ले जा करके सुला देगी। यह कालिक मन्त्र है। कालिक मन्त्र का तात्पर्य होता है अवकाश के क्षणों में थोड़ी देर अथवा जैसे कि बताया गया है पहिले भी चलते फिरते, उठते बैठते अवकाश के क्षणों में थोड़ा थोड़ा बोलते रहना। तो ऐसे अभ्यास से एक ही बार ऐसी स्थिति आ जायेगी कि सट्ट पट्ट हो जायेगा और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहेगी फिर जैसा एक सुन्दर सारथी अपने घोड़े को जिधर चाहे वल्गा खींच करके ले जाता है तुम भी जिधर चाहोगे, लगा लोगे; महामाया कल्याण करेगी, फिर इसी प्रकार तुम को चित्त के बुद्धि के रोगों को भी दूर करने का उपाय और प्रयोगों का अनुभव दिया जायेगा।। ॐ ।।

१०-२-६३ सायंकाल।।१४९।।

अतुलामतुलशक्तिसम्पन्नां अतुलानुभवमण्डितविग्रहाम् ।

मण्डनैकविद्यावोधिकां महाशक्तिं भावयामि।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । अतुला, अतुलशक्तिसम्पन्ना अगाध अनुभव से मण्डित, सुन्दर श्रेष्ठविद्या के बोध से मण्डित कर देने वाली महाशक्ति का मैं ध्यान करता हूँ।। ॐ ।।

सर्वं मानसजं मलं विमलतां या सर्वदा सम्मुखी

कृत्वा वै शुभयोगमार्गमभितः संशोधयत्यर्थकम् ।

सा नित्या अतुलातुलाधिकरणा दिव्या सदा मोहदा

कुर्याद् वै समुदार्थमुज्ज्वलमहो निर्मानसं मानसम् ।। ॐ ।।

जो सम्मुख आकर सम्पूर्ण मानव मल को चारों ओर से दूर करके कल्याणप्रद योग को साफ करती है, अगाध अनन्त भावों में अधिकार रखने वाली, परमप्रीतिप्रदा वह देवी भगवती मेरे मानस को सदा उज्ज्वल करती हुई मेरे मन को स्थिर कर दे।

मानसजं क्लेशं सर्वतः विदूरीकृत्य सर्वतः उन्मील्य, सर्वतः संशोध्य साधकः स्वकार्यसिद्धौ सफलतां प्राप्नोति।।

मानसिक मल को सर्वतः दूर करके, उसका सर्वतः विकास करके, संशोधन करके साधक अपनी कार्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करता है।

अत एव च यद्ध्येयं मानसं कष्टकारकम् ।

रोगं पूर्वं पृथक् कृत्वा साधनातत्परो भवेत् ।।

इसलिये साधक को चाहिये कि वह कष्टदायक मानसिक रोग को दूर करके साधना में तत्पर बन जाय। यही ध्येय रखे।

यत एव च वै तत्र कारणं प्रतिबन्धकम् ।

प्रतिबन्धविनाशाय मानसं रोगमुत्सृजेत् ।।

जहाँ पर जिस ओर से साधना में प्रतिबन्ध का कारण आवे उसे उसी प्रकार के उपाय से मानस रोग को विनष्ट करता रहे।

त्यजेच्च तस्य संसक्तिं विरक्तिं क्रियतां च वै।

तदर्थमौषधं चैव मन्त्रं चैव समानकम् ।।

उस मनकी आसक्ति को हटा कर विरक्ति पैदा करें। इसके लिये औषधि और मन्त्र ये दोनों समान रूप से उपाय बताये गये हैं।

बहु सम्भाषितं तत्र पुनरेव च कथ्यते।

यत्पूर्व गदितं मन्त्रं औषधं च समानकम् ।।

पहिले भी इस बारे में बहुत कह दिया है, फिर भी कहा जा रहा है। पूर्व में बताई गई औषधि और मन्त्रों का साथ-साथ प्रयोग करते हुए।

तत्प्रयोगं विधायैव अनुभूतिपरो भवेत् ।

अथवा काकजंघायाः काकाक्ष्या का वहुत्वकम् ।।

तुम अनुभूति में तत्पर रहो, अथवा एक उपाय और है। काकजंघा जिसे काकाक्षी और काकमाची (मकोय) कहते हैं।

मूलस्य पेवनं कृत्वा नाभौ च लेपनं स्मृतम् ।

स्वल्पकालेन एकस्मिन् काले वा लेपनं हि तत् ।।

उसकी जड़ को पीस कर नाभि में लेप कर दो, थोड़े दिनों तक एक दिन में एक बार उसका लेपन करना चाहिये।

करोति मनसोवृत्तिं स्थिरां नात्र च संशयः।

अथवा स्वल्पपत्राणि हरितानि विशेषतः।।

यह प्रयोग मन की वृत्ति को स्थिर कर देता है, इसमें कोई संशय नहीं है। अथवा मकोय के थोड़े हरे पत्ते ले लो।

तेषां रसं समादाय तस्य वा लेपनं शुभम् ।

नाभिभागे महाभागे मनसो रोगनाशनम् ।।

उनका रस निकाल कर उसके रस को नाभि भाग में चारों ओर लेप कर दो। यह उपाय मानस रोगों को नष्ट कर देगा।

तद्धि प्रोक्तं समासेन एतद्वै क्रियतां बुधैः।

अथवा ज्ञायते एवं नैवं तद्वशमागतम् ।।

यह बात बड़ी आसान और छोटी सी है, ऐसा कर लो। अथवा यदि इस उपाय से भी मन वश में नहीं आता है तो ऐसा करो।

काठिन्येव च सद्भूतिः समुद्भूतिश्च जायते।

तदा वै ज्ञायतामेतत् मनो भ्रमति वै भृशम् ।।

इतस्ततश्च तत् सर्वं मन्त्रमेतत् प्रयुज्यताम् ।। ॐ ।।

बड़ी कठिनता से मन स्थिर होता हो, और बार बार मानस रोग पैदा हो रहे हों, ऐसा प्रतीत हो कि मन बहुत भटक रहा है इधर उधर, तो इस मन्त्र का प्रयोग कर लो।। ॐ ।।

ॐ महाशक्त्यै नमः, मनसश्चाञ्चल्यं विनाशय, विनाशय, वारय वारय निवारय निवारय, त्वामावृणोमि, स्थिरं तत् कुरू कुरू स्वाहा।।

"ॐ महाशक्त्यै नमः, मनमश्चाञ्चल्यं विनाशय, विनाशय वारय वारय, निवारय निवारय, त्वामावृणोमि, स्थिरं तत् कुरू कुरू स्वाहा"।।

एतन्मन्त्रप्रयोगस्य प्रयोगः शुभदायकः।

भविष्यति सदा सर्वं सर्वेषां हितकारकः।।

इस मन्त्र का प्रयोग बहुत शुभदायक है। सबके लिये सर्वदा हितकारक होगा।

अस्यप्रयोगः कर्तव्यः क्वचित्कः क्वचिदेव च।

यदा वै ज्ञायते एवं मनो धावति धावति।।

इस मन्त्र का प्रयोग कभी-कभी ही विशेष परिस्थितियों में करना चाहिये। जब लगे कि मन बराबर दौड़ता ही चला जा रहा है और रूकता ही नहीं है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस अनिष्ट निवारक प्रकरण में यही बताया जा रहा है कि मानसज जो क्लेश हैं, रोग हैं विक्षेप हैं स्थिरीकरण कैसे होता है। इस स्थिरीकरण को कीलक भी कहते हैं। उस मन को इस तरह कीलित कर लिया जाता है जिससे वह स्थिर भाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिये कई प्रकार के साधन बताये गये हैं। जब जो साधन जिस रूप में सुलभ हो सके, लाभप्रद हो सके, उसे उस समय अपनी सुविधा के अनुसार अपना लेना चाहिये। और जब ऐसी स्थिति आ जाय कि बहुत ही उच्चाट हो जाय, मन चक्कर लगाने लगे। सारा किया कराया व्यर्थ होने लगे तो ऐसे समय में दो प्रयोग कर लेने चाहिये, जिसको काकजंघा कहते हैं, अरे, जिसे सब बहुत प्रिय मानते हैं। छोटा सा वृक्ष होता है, काले, लाल फल होते हैं। छोटे-छोटे दाने

होते हैं। उसको जन साधारण की भाषा में मकोय मक्को भी कहते हैं, उसका पेड़ ले आओ। मूल को पीस कर नाभि में लगा लो। अथवा पत्तों का रस निकाल कर एक दो तीन चार दिन तक जब तक मन बिल्कुल स्थिर न हो जाय, दो ही चार दिन की बात है उसका लेप कर देना और विलेपन करने के साथ ही साथ ऐसा भी कर लेना कि उसी काल में "महाशक्त्यै नमः" वाले मन्त्र का प्रयोग भी कर लेना। यह क्वाचित्क प्रयोग है। कभी-कभी के लिये होता है जैसा कि सार्विक मन्त्र बताया गया था इसी तरह यह भी कालिक मन्त्र है। इसे औषधिक मन्त्र भी कहते हैं, इसका उच्चारण कर लेना। जैसा भी हो थोड़ी देर कर लेना, कोई चिन्ता नहीं है। साधना में बैठने के पहिले ही, जिस समय मन चञ्चल हो जाय, भटक जाय तो पहिले ऐसा कर लेना। इसके पश्चात् अपने क्रिया मुद्राभ्यास में रत हो जाना, जो बहु लाभप्रद होगा। इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से, अनेक प्रकार से, इस मन के मानसिक रोगों को दूर करने का प्रयोग बताया गया है। जिससे सुनिश्चित ही साधक को इस मार्ग में अपने मन को वशीभूत करने में इसका निग्रह करने में सुविधा होगी और इसके पश्चात् चित्तज रोगों को दूर करने का प्रयोग बताया जायेगा, जिससे सब प्रकार के साधक का कल्याण हो और अपने मार्ग पर दृढ़ता से चलता रहे।। ॐ ।।

११-२-६३ प्रातःकाल।।१५०।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

चेतनां चिति सम्पन्नां चित्तरोगविनाशिनीम् ।

वन्दे तां चिन्मयीं देवीं चिदानन्द-स्वरूपिणीम् ।।

हरि ॐ तत् सत् । चित्तज रोगों को विनाश करने वाली चित्ति सम्पन्ना, चिन्मयी, चिदानन्द स्वरूपिणी, चेतना भगवती देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।

नित्याकृपा स्वयं शक्ता रोगाणां च विनाशने।

तां नमामि चिदाकारां चिच्छक्तिं चित्स्वरूपिणीम् ।। ॐ ।।

रोगों के विनाश के लिये जो अपनी कृपा से स्वयं समर्थ हैं, उस चिदाकारा चित्तस्वरूपिणी चित्त शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।। ॐ ।।

अधुनाऽस्मिन् प्रकरणे केवलं चित्तोद्भवान् रोगान् विनाशयितुं परिहरणाय किञ्चिन्निगद्यते।।

अब इस प्रकरण में केवल चित्तोद्भव रोगों के विनाश और परिहार के लिये कुछ कहा जाता है।

मनसस्तु स्थितिः प्रोक्ता संकल्पाकल्पनात्मिका।

तद्भिन्ना या च संसक्तिः चित्तजा चिन्मयी च या।।

मनका स्वभाव तो संकल्प और विकल्प करने वाला होता है। उससे भिन्न जो आसक्ति है, वह चित्तज कही जाती है।

भावनां प्रतिबिम्बं च या वृत्तिस्तु पुनः पुनः।

गृह्णाति द्रव्य-भावेषु पदार्थेषु च तत्परा।।

जो वृत्ति बारम्बार द्रव्य एवं पदार्थों के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में लगी रहती है।

सा जन्यात्मा सदा सक्ता संसारबोधभाविका।

विम्बाकारा च या वृत्तिः चितिशब्देन व्याहृता।।

वह बार-बार उदित होती हुई संसार के नाना बोधभावों में आसक्त होती चली जाती है। उसी बिम्बाकारा वृत्ति को चिति शब्द से कहा गया है।

चित्तजान् सकलान् रोगान् ध्यानेनैव विनाशयेत् ।

तदर्थमौषधं नैव मन्त्रं चैव क्वचित् क्वचित् ।।

चित्तज सभी रोगों को ध्यान-योग द्वारा विनष्ट कर देना चाहिये। उसके लिये मन्त्र और औषधि भी कहीं कहीं प्रयुक्त हुआ करते हैं।

ध्यानेन चित्तस्य समस्तरोगान् विनाशयेद् यः सफलः सुसाधकः।

तदैव सर्वं दृढरूपकेण सुसाधनायां सुमतिर्भवे च।। ॐ ।।

जो श्रेष्ठ साधक ध्यान से ही समस्त चित्तज रोगों का विनाश कर देता है वही सफल है। उसी स्थिति में दृढ़रूप से साधना में साधक की बुद्धि सदा लगी रहती है।

जागृता या च वै ज्ञाता दशा स्वप्नसमुद्भवा।

तद्भिन्ना या सुषुप्तिश्च तत्र चित्तस्य संस्थितिः।।

एक दशा जागृत है, दूसरी स्वप्न दशा है और सुषुप्ति दशा इन दोनों से भिन्न है और इसी सुषुप्ति दशा में चित्त की संस्थिति होती है।

तदैव चित्तसम्भूतिः भावधारां प्रकर्षति।

तत्रैव सर्वरोगाञ्च प्रादुर्भूतान् करोति सा।।

चित्त की उत्पत्ति वहीं से होती है और वहीं से भावधारायें बढ़ती हैं, वहीं से चित्तज सारे रोग साधक के चित्त में प्रादुर्भूत होते हैं।

अत एव च तान् रोगान् क्लेशान् नानाविधान् परान् ।

विनाशयेन्महाप्राज्ञः योगविद् ध्यानसंस्थितः।।

इसलिये नाना प्रकार के छोटे बड़े चित्त के रोग और क्लेशों को योग वेत्ता साधक ध्यान में संस्थित होकर विनष्ट करता रहे।

ध्यानेन सर्वांश्च पराँश्च रोगान् विनाशयेद् यो मतिमान् ध्रुवं ततः।

योगेन ध्यानस्य महास्थितिः सदा आयाति तत्रैव विधीयतां शुभम् ।।

भावात्मकं बोधमनन्तबोधकं चित्तस्य यद्रोगविनाशकं स्मृतम् ।।

जो साधक छोटे बड़े सभी रोगों को ध्यान द्वारा ही विनष्ट करदे वही बुद्धिमान् है। ध्यानयोग के निरन्तर अभ्यास से साधक में यह स्थिति स्वयं आ जाती है। अतः इसी ध्यान-योग में तत्पर बने रहो।

ध्यानयोग भावात्मक बोध देता है और चित्त में रोगों को दूर कर देता है।

चित्तजारोगाः बहुविधाः भवन्ति। सर्वेऽपि ते विशेष-हेतुकाः। पदार्थेषु द्रव्येषु च या आसक्तिः, या संसक्तिः सा च संस्कार-बोध समुद्भूता चित्तस्य वृत्ति विशेषा तामेव विशेषवृत्तिं समादाय मनस्तत्रासक्तिं गच्छति।।

चित्तज रोग बहुत प्रकार के होते हैं। उन सबके अलग अलग विशेष कारण भी होते हैं। पदार्थ और द्रव्यों में जो आसक्ति होती है, वह संसार के बोध से पैदा होती है। और वह चित्त की विशेष वृत्ति है, उसी विशेष वृत्ति को लेकर मन उसमें आसक्ति किया करता है।

अतएव तन्मात्रिकं चित्तस्य वृतिं निवारयेद् धीमान्। तच्च ध्यानेन मन्त्रप्रयोगेण च। ध्यानं त्रिविधं प्रोक्तम् । तत्रैव प्रारम्भिक काले भावबोधनं द्वितीयकोट्यां तन्निवारकं तृतीयरूपेण तद्वस्थितम् अतएव चित्ते समागते प्रतिबिम्बात्मके भावे तत्रैव सन्निवेशयेत् ।।

इसलिये बुद्धिमान साधक चित्त की उस संसार में आसक्त वृत्ति का निवारण कर दे। वह ध्यान से अथवा मन्त्र प्रयोग से होता है। ध्यान तीन प्रकार का कहा गया है। ध्यान के प्रारम्भ में भाव–बोधन होता है ! दूसरी कोटि में उसका निवारण होता है, और तृतीय कोटि में उसी में स्थित हो जाता है। अतः चित्त में प्रतिबिम्ब रूप में जो भाव आवें उन्हें वहीं जमा दो।

तदर्थं च समये समये कदाचित् कदाचित् किंचित् किंचित् मुद्रापि उपयोज्या। उपयोगवती च भवति। तत् सर्वं ब्याख्यायते।। ॐ ।।

उसके लिए कभी कभी कहीं कहीं समय समय पर मुद्राओं का प्रयोग कर लेना चाहिए। वह बड़ी उपयोगी रहती है। उसकी अब व्याख्या की जायेगी।

गोरखवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। चित्त से सम्बन्ध रखने वाले विक्षेप के कारण बने हुए जो रोग हैं, उन रोगों के विनाश के लिये उपाय और प्रयोग बताया जा रहा है जिसके कारण चित्त में होने वाले विरूद्ध धर्म वाले क्लेश भी नष्ट हो जाते हैं। चित्त जागृत अवस्था में और स्वप्न अवस्था में काम नहीं करता है। सुषुप्ति अवस्था में ही वह विशेष रूप से अपनी भावधाराओं को इधर उधर आकर्षण में लाता है। ये जो पदार्थों में और द्रव्यों में आसक्ति का भाव है यह आसक्ति का भाव चित्त की संस्कारभूमि का फल है। इससे मन का विशेष लगाव नहीं होता है। जब चित्त के विक्षेपात्मक संस्कार उत्पन्न होते हैं, तब प्रत्येक पदार्थ में आसक्ति विशेष रूप से बढ़ जाती है और उस आसक्ति में ऐसा आकर्षण होता है कि वह मन की वृत्ति को भी जबरदस्ती खींच देती है। इस प्रकार से समस्त आसक्ति की वृद्धि हो जाती है। उस आसक्ति का विनाश करना ही चित्त के रोगों को दूर करना है। जब आसक्ति की भावना कम हो जायेगी, उसी को वैराग्य का प्रथम चरण कहते हैं। और जब ऐसा होने लगता है तब ध्यानावस्था और भी पुष्ट होने लगती है। तो चित्त के इन समस्त विक्षेप रूपों को नाश करने के लिए केवल मात्र ध्यान का उपयोग है। मन्त्र का उपयोग है। और कभी कभी किसी विशेष रूप वाली मुद्रा प्रक्रिया का भी प्रयोग है जिसके कर लेने से साधक के चित्तज रोगों का भी नाश हो जाता है। ये

चित्तज रोग संस्कार की भाव सत्ता पर दृढ़ होते हैं। इसलिये इनको समूल विनष्ट कर देना ही अच्छा होता है। यद्यपि ये विक्षेप जैसे मानसिक रोग होते हैं उतने भयंकर और कष्टकारक नहीं हैं, और शीघ्र ही दूर जाने वाले होते हैं तो इनके लिये जब भगवती महामाया बलवती हो जाती है और जब स्वतः वह ध्यानावस्था तक पहुंचने लगता है तब उसको भी पुष्ट और दृढ़ कर लेना चाहिए। उससे चित्त के विक्षेप, चित्त के रोग नष्ट होने लगेंगे। इसीलिये शक्ति सम्पन्न होने की आवश्यकता होती है कि ध्यान में आ जाने के कारण चित्त के विक्षेप भी सदा ही दूर होने लग जांय और इसके लिए अन्य प्रकार से फलस्वरूप में जो कुछ भी बताया जायेगा, साधक को उसका समुचित रूप से उपयोग और प्रयोग करके अनुभूति कर लेनी चाहिये, जिससे कि चित्त के सभी रोग कभी भी पीड़ित न कर सकें। ध्यान और वैराग्य दोनों में पुष्टि होती चली जाय, और उसके पश्चात् मानसिक तुष्टि और आत्मिक तुष्टि का भी प्रश्न स्वतः हल हो जायेगा। इसलिये चित्तज रोगों को दूर करने का विधान बताया जा रहा है। उसकी जो विशेषतायें होंगी उनकी व्याख्या की जायेगी।। ॐ ।।

११-२-६३ सायं काल।।१५१।।

हरि ॐ तत् सत् ।। ॐ ।।

कात्यायनीं महामायां कान्तकांशुष्ककामिनीम् ।

कायाधारं महाधारं या वृणोति नमामि ताम् ।।

हरि ॐ तत् सत् ।। ॐ ।। महामाया कत्यायनी भगवती को प्रणाम है, जो सुन्दर आवरण धारण करने की कामना रखती है और शरीर का महाआधार लेती है।

कात्यायनीं महाशक्तिं कायस्थां कायसम्भवाम् ।

सकलां सारभूतां च तां नमामि करालिकाम् ।।

काय में स्थित, काय में सम्भूत करालिका, सारभूता कात्यायनी महाशक्ति को मै प्रणाम करता हूँ।

अस्मिन् प्रकरणे चित्तजरोगाणां विनाशाय यत् किञ्चिद् भाष्यते तदपि ध्येयम् ।

इस प्रकरण में चित्तज रोगों के विनाश के लिये जो कुछ कहा जा रहा है उस पर भी ध्यान देना चाहिये ।

ये वै सन्ति महादोषाः चित्तजाश्चित्तरुपकाः।

संश्लिष्टा मनसा सार्धं शक्यन्ते नैव तत् क्वचित् ।।

चित्त रुप में रहने वाले जो भी चित्तज महादोष हैं और जो मन के साथ संश्लिष्ट होकर रहते हैं, उनका विवेचन करना कभी कभी कठिन हो जाता है।

पृथक् कर्तुम् विशेषेण जानन्ति केऽपि कोविदः।

जानन्ति कोविदः केचित् तद्विश्लेषणमुत्तमम् ।।

उनको पृथक् पृथक् करके बताना बड़े निपुण ज्ञाता ही जानते हैं और उनका पृथक-पृथक विश्लेषण कर देते हैं।

तदैव चित्तजान् रोगान् जानन्ति च बुधाः स्वयम् ।

समस्ता श्चित्तजाः रोगाः असम्भूतिसमुद्भवाः।।

सम्भूतिविषयास्तेतु कर्तव्याः भूतिमिच्छता।।

जानकार लोग तभी चित्तज रोगों को समझ पाते हैं जब उनका विश्लेषण हो। यों सभी चित्तज रोग अविद्या के कारण उत्पन्न होते हैं।

कल्याणेच्छुक साधक को चाहिये कि उन्हें वे शुद्ध विद्या के सम्मुख रख दे।

चित्तजाः रोगाः पृथक् रूपेण पृथक् करणीया भवन्ति। सर्वे च समुचितरूपेण पारयितुं न शक्नुवन्ति। मानिसकाः रोगाश्चित्तजा वा रोगाः संश्लिष्टाः भवन्ति तत्परिच्छेदः न केनापि कर्तुं शक्यते।।

चित्तज रोग पृथक् रूप में पृथक् करने पड़ते हैं। उन्हें भली प्रकार पृथक करना बड़ा कठिन होता है। क्योंकि मानसिक और चित्तज दोनों रोग परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं। उनका वर्गीकरण कोई विरला ही कर सकता है।

तत्रैव पूतबुद्धयः दृढमतयः मनीषिणः एव विश्लेषणं कर्तुं शन्क्नुवन्ति, तथापि चित्तजाः रोगाः तदैव विनाशमुपगच्छन्ति यदा चित्तस्य लयावस्था समायाति। यदि चेत् सा न समायाति चित्तजाः दोषाः सावशेषाः सन्ति। तान् रोगानपसरयितुं केवला कात्यायनी मुद्रा[२०] विधेया।।

फिर भी पवित्र बुद्धि वाले मनीषी लोग उनका विवेचन कर ही लेते हैं। फिर भी चित्तज रोगों का विनाश तभी होता है जब चित्त लयावस्था में पहुंचता है। यदि लयावस्था नहीं आती है तो चित्तज रोग बने ही रहते हैं। उन रोगों के विनाश के लिए केवल कात्यायनी मुद्रा का उपयोग कर लेना चाहिये।

कात्यायिनी महामुद्रा चित्तरोगविनाशिनी।

चित्तजान् सकलान् रोगान् विनाशयति सा ध्रुवम् ।।

यह कात्यायनी मुद्रा चित्त रोगों का विनाश करने वाली है। यह मुद्रा अवश्य ही समस्त चित्तज रोगों को निश्चयात्मक रूप में विनष्ट कर देती है।

तस्मात् साधक श्रेष्ठेण मुद्रा कात्यायनी क्वचित् ।

क्रियारूपेण सा मुद्रा साधनीया तु ऊर्ध्वगा।।

इसलिये उत्तम साधक कभी कभी इस कात्यायनी मुद्रा का क्रिया रूप में अभ्यास करके सिद्ध कर ले। यह मुद्रा साधक की उन्नति कर देती है।

एका मुद्रा च सा मुद्रा कात्यायनीति सा स्मृता।

तस्याः प्रयोगमात्रेण चित्तजाः सर्वरोगकाः।।

विलीयन्ते सदा चित्तं लयं गच्छति सत्वरम् ।

अत एव च सा मुद्रा प्रयोक्तव्या सुसाधकैः।।

यह एक अकेली कात्यायनी मुद्रा महत्त्व पूर्ण है जो समस्त चित्तज रोगों का विनाश प्रयोग मात्र से कर देती है।

इस मुद्रा से चित्त शीघ्र ही लयावस्था में चला जाता है, अतः अच्छे साधकों की सदा ही इस मुद्रा का प्रयोग कर लेना चाहिये।

तस्याः प्रयोगमात्रेण नश्यन्ति चित्तजाः सदा।

रोगाश्चैव महारोगाः सा मुद्रारोगनाशिका।। ॐ ।।

तां मुद्रां सफलां मुद्रां गोरक्षो दर्शयष्यति।।

इस मुद्रा के प्रयोग मात्र से चित्तज सभी रोग, महारोग सदा के लिये विनष्ट हो जाते हैं। यह मुद्रा इस भाँति रोग विनाशिका कही गई है।। ॐ ।।

इस मुद्रा को समग्र क्रिया के रूप में गोरक्ष स्वयं करके दिखा देंगे।

गोरखवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। व्याघात संहति प्रकरण में चित्तज रोगों के विनाश का उपाय बताया जा रहा है। ये चित्तज रोग ऐसे हैं जो मानसिक रोगों के सदृष ही हैं और कभी कभी साधारण साधक, भोले भाले साधक, अनुभवहीन साधक सबको एक ही समझ लेते हैं। और ठीक भी है और समझना भी चाहिये। क्योंकि अनुभव सिद्ध ही जान सकता है, तत्त्व क्या है, सार क्या है, परन्तु इसका भी अनुभव होना ही चाहिये। इसलिये बताया जा रहा है कि चित्त के दोष वे दोष होते हैं जो असम्भूति से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अस्वरूप में स्वरूप को देखने के कारण होते हैं। और अतत्त्व में तत्त्व को देखने का कुछ संस्कार बना हुआ होता है जो चित्तज रोग का रूप धारण करता है। तो उसको पृथक् पृथक करके, उसका विश्लेषण करके, उसको भी दूर करने का प्रयोग करना, केवल मात्र पहिले तो सीधी सी बात है। भाई, कात्यायनी मुद्रा को लगा जाओ। कात्यायनी मुद्रा ऐसी मुद्रा है जो महामुद्रा कही जाती है। इस कात्यायनी मुद्रा में पाँच मुद्रायें एकत्र होकर के अपना अर्धरूप दिखाती हुई कात्यायनी की पूर्णता करती हैं। प्रत्येक मुद्रा का एक एक अंश कात्यायनी मुद्रा में आता है और तब कात्यायनी चित्त को लय की अवस्था में ले जाती है और चित्त के रोगों को दूर कर देती है। तो कात्यायनी मुद्रा का प्रयोग कर लेना साधक के लिये उत्तम होता है। क्योंकि उससे चित्तज रोगों का विनाश होता है और फिर उसे वहाँ यों समझने की आवश्यकता नहीं रहती है कि ये मानसिक रोग हैं या चित्तज रोग हैं। उसे तो केवल इस बात का अनुभव हो जाना चाहिये कि उसका चित्त लय में जा रहा है कि नहीं। चाहे वह साधन में हो या साधन में न हो। अरे ! उसकी जो भावधारा है वह ऐसी बन जाती है कि सब ठीक ही है। ऐसा भी ठीक है, वैसा भी ठीक है। यह भी ठीक है। वह भी ठीक है। बस ठीक है। ठीक ही ठीक है। और जिस वक्त वह साधना में बैठा होता है उस वक्त उन पाँच मुद्राओं के मेल से उसमें वह सोहं की भावना कुछ काल के लिये उदित होकर के वह भी लीन हो जाती है। तो भाई ! इस मुद्रा को देखो। इस प्रकार से कर लेना। समझ लेना। अनुभव में लाना। ऐसा कर लेना। यह देखो। यह बैठ गये। और इस तरह से बैठ करके यों कर

लिया। थोड़ा से नीचे थोड़ा सा आगे पीछे हिले तो फिर इसमें सबसे पहिले अर्धझंपनी का रूप आयेगा। ऊपर उठे नीचे हो गये। तो जो पैर का तल भाग है वह दबा हुआ होता रहेगा। इस प्रकार करना। एक बार, दो बार, तीन बार कर लेना। न हो तो यों बैठ जाना। और उसके पश्चात् रेचक पूरक करके ऊपर नीचे हिल लेना। ऐसी स्थिति कुछ देर रहेगी, और फिर अर्धस्कन्दिनी लग जायेगी। इसमें ऐसा हो जायेगा। सिर भी और गात भी हिलें। और फिर वह अर्धचिद्वोधिनी का स्वरूप कूल्हा चलाना चल पड़ेगा और फिर इसको थोड़ी देर करते रहना। इसमें भी रेचक पूरक और कुछ नहीं। कुम्भक कर लेना ऐसी स्थिति में जब ऊपर नीचे हो रहे होंगे तब श्वास में सोहं को ध्वनि स्वयं अपने आप पहिचान में आने लगेगी। पहिचान लेना। कुम्भक लगा जाना। जितनी देर तक रहे रहना। और इसी में जिसे भद्रकर्पूरिका कहते हैं; कर्पूरिका तो पूर्व में बताई जा चुकी है। भद्र पूर्वक कर्पूरिका भी हो जायेगी। और इसी में तुम्हारी घूर्णिका भी चलेगी। इसमें बड़ा आनन्द आयेगा। चित्तज रोगों का स्खलन प्रारम्भ हो जायेगा। अभ्यास हो जोयगा और इसके पश्चात् जब चित्त में विशेष आनन्द आने लगे तो चाहे इस रूप में हो सकता है। घुटनों के ऊपर माथे के भाग को रख सकते हो। टेक दो। और ऐसा नहीं हो सकता है तो (नीचे जमीन में झुक जाओ। और ऐसा भी नहीं तो फिर जरा उठ करके नीचे को हो जाओ। चाहे हाथ कैसे भी रहें, यह भद्र घूर्णिका हो जायेगी और कात्यायनी मुद्रा चित्तज रोगों को दूर कर देगी। और लय की अवस्था में आकर आनन्द की अनुभूति होने लगेगी। और क्या चाहिये। तुम्हारे अभीष्ट की सिद्धि में देर नहीं रह जायेगी। तो इस कात्यायनी मुद्रा का प्रयोग कर लेना।। ॐ ।।

१२-२-६३ प्रातःकाल।।१५२।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

अनित्यं नित्यरूपेण नित्यं नित्यात्मनित्यके।

पश्यन्ति ध्यानरूपेण योगिनस्तत्त्ववेदिनः।।

हरि ॐ तत् सत् ।। ॐ ।। तत्त्व द्रष्टा योगी लोग नित्यात्मक वस्तुओं में अनित्य वस्तुओं को और अनित्य वस्तुओं के भीतर नित्य वस्तुओं को ध्यान के द्वारा पृथक् पृथक् देख लेते हैं।

तेषां च वन्दनीया या शुभ्रा शुभ्रा महामहा।

तां नमामि महामायां महाशक्तिं महोन्नताम् ।। ॐ ।।

ऐसे तत्त्व दृष्टाओं द्वारा जो वन्दनीय हैं, महाशुभ्र वर्ण वाली और शुभ्र सतोगुणी स्वभाव वाली सर्वश्रेष्ठ महामाया महाशक्ति भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

सरला सुस्मिता या च सारल्येन सुशोधिका।

वक्रा सा सरला देवी सरलं प्रापयेच्च मे।।

सरल स्वभाव वाली, मन्दहास से भरी, सरलता से साधक का शोधन कर देने वाली वह सरला देवी रहस्यमयी होने के कारण कुटिल प्रतीत होने वाली मुझे सरलभाव प्रदान करें।

अस्मिन् व्याघात-संहति प्रकरणे अपरमेकमुपायं प्रयोगं च हितकाङ्क्षया साधकानां वदामि। येन च समस्ताश्चित्तजा रोगाः विनश्यन्ति। चित्तजाश्चित्त-समुद्भूता-स्तेषां विवेचनं कर्तुं सूक्ष्मरूपेण यदि शक्यते तदा ज्ञायते यावच्छारीरिकी स्थितिः मानसिकीं सर्वाविनाशयितुमेते चित्तजादोषाः कारणत्वेन न स्वीकृताः सन्ति।।

इस व्याघात-संहति प्रकरण में एक दूसरा उपाय व प्रयोगों को साधकों की भलाई की इच्छा करके बताती हूँ, जिस से साधक के समस्त चित्तज रोग विनष्ट हो जाते हैं। चित्त में उत्पन्न रोगों को चित्तज कहते हैं। यदि सूक्ष्म रूप में उन दोषों का विवेचन किया जाय तो ज्ञात हो जोयगा कि शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के रोगों के कारणभूत ये चित्तज दोष नहीं होते हैं और उनका विनाश भी चित्तज दोषों के विनाश होने पर नहीं होता है।

चित्तजाः प्रवलारोगाः सर्वत्रविघ्नकारिणः।

सूक्ष्माश्च सूक्ष्मरूपेण तस्मात्ते त्रिगुणात्मकाः।।

चित्तज प्रबल रोग जो सर्वत्र विघ्नकारी होते हैं बड़े सूक्ष्म होते हैं और सूक्ष्म होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं।

भूत्वा, निरीक्ष्य ज्ञात्वा च तेषां नाशो विधीयताम् ।

अन्यथा च कृतं सर्वं व्यर्थमेव भविष्यति।।

अतः उन्हें भलीभांति देखकर उनका विनाश कर लेना चाहिये। अन्यथा सब योग साधन किया कराया व्यर्थ और निष्फल हो जायेगा।

सूक्ष्मा ऐते विकारास्तु विकारमानयन्ति ते।

अत एव च एतेषां रोगाणां विजये पुरा।।

कात्यायनी मया प्रोक्ता अधुना मन्त्रपीठिका।

प्रोच्यते ज्ञायतां तां च ज्ञात्वा त्वं च सुखी भव।।

ये सूक्ष्म विकार पैदा कर देते हैं। इसलिये इन रोगों के विनाश के लिये पहिले–

मैंने कत्यायनी मुद्रा बताई थी। अब मन्त्र–पीठिका बताई जा रही है, उसे जान लो और जानकर सुखी बन जाओ।

"ॐ चित्तात्मिकां महाचित्तिं चित्तस्वरूपिणीं आराधयामि, चित्तजान् रोगान् शमय शमय ठं ठं ठं स्वाहा, ठं ठं ठं स्वाहा"। अस्य मन्त्रस्य प्रयोगेणापि चित्तजा दोषाः विनश्यन्ति। अस्य मन्त्रस्य प्रयोगः रात्रौ शयनकाले शय्यायां गतेन केनापि प्रकारेण प्रोच्चारणीयं मन्त्रपीठिका एषा।

"ॐ चित्तत्मिकां महाचित्तिं चित्तस्वरूपिणीं आराधयामि, चित्तजान् रोगान् शमय शमय, ठं ठं ठं स्वाहा ठं ठं ठं स्वाहा ठं ठं ठं स्वाहा"। इस मन्त्र के प्रयोग से चित्तज दोष विनष्ट हो जाते हैं। इस मन्त्र का प्रयोग रात्रि में शयन काल में बिस्तरे पर लेट कर हर हालत में जप पूर्वक करना चाहिये, यह केवल उच्चारण करने की मन्त्रपीठिका है।

पीठमन्त्रं पीठस्थं करोति, तस्मात् शयने चित्तवृत्तिं निवारयति। चित्तं च निर्मलं करोति। एतदपि करणीयम् । न चात्र संख्यानियमः। न चात्र अन्यदपि किञ्चिद् विशिष्टरूपेण करणीयं भवति। अनेन मन्त्रेण सुनिश्चितं साधकानां चित्तजाः दोषाः नाशमुपगच्छन्ति।। ॐ ।।

पीठ मन्त्र पीठ में स्थित कर देता है। इसलिये शयनकाल में चित्तवृत्ति का निवारण करता है। चित्त को निर्मल कर देता है। इसमें संख्या का कोई नियम नहीं है। इस प्रयोग में विशिष्ट रूप में कुछ करणीय भी नहीं है। इस मन्त्र द्वारा सुनिश्चित रूप में साधकों के चित्तज दोष विनष्ट हो जायेंगे।। ॐ ।।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस प्रकरण में जैसा कि बताया जा रहा है, चित्त के मन्त्र होते हैं। चित्त के दोष होते हैं। चित्त के रोग होते हैं। वे बड़े सूक्ष्म होते हैं। उनका सूक्ष्मरूप से विवेचन करना चाहिये। जानना चाहिये, उनको पहिचानना चाहिये। वे चित्त के दोष ऐसे हैं जो मन को भी, शरीर को भी और अन्य प्रकार के जितने भी तत्त्व बिन्दु हैं, इनको विचलित कर देते हैं। कारण यह है कि मनकी आसक्ति तो प्रबल रूप से प्रत्यक्षानुभूति का विषय बन जाती है। पर जो चित्त की गुप्त वृत्तियां हैं, ये समय समय पर जागृत होकर सूक्ष्मरूप से आसक्ति उस सूक्ष्मसत्ता को बढ़ा देती है जिससे मनुष्य एक ऐसे जाल में फँस जाता है कि फिर वह ऐसा समझता है कि सब मेरे ही मन के कारण है। पर उसमें मूल कारण भीतर से चित्त के दोष होते हैं। इनको विक्षेप का मूल कारण बताया गया है। तो मन भी, शरीर भी, बुद्धि भी विक्षेप में न आ जाय तो इन चित्त के दोषों को विनाश कर दो। ये हैं सूक्ष्म, पर उभय प्रधारा के रूप में प्रभावित जिस वक्त हो जाते हैं, आकम्पित कर देते हैं, आसक्तियों को सांसारिक रूप में बदल करके बुद्धि और मन का विषय बना करके उन्हें अहंकार के रूप में प्रकट करवा देना प्रारम्भ कर देते हैं। इसलिये अहंकार की मूल उद्भूति का कारण भी ये ही होते हैं। अतः इनको विनाश करना ही श्रेयस्कर होगा। और उसके लिये जैसी कात्यायनी मुद्रा बताई गई थी, उसका प्रयोग बताया गया था, उसका फल बताया गया था, वैसे ही वहां भी मन्त्र-पीठिका बताई गई है। इस मन्त्र में जो अन्त में ठं का प्रयोग किया गया है वह स्थिर करणार्थ है, बिदूरी करणार्थ है, उसमें भाव-रहस्य भरा हुआ है। वह रहस्य भी कभी प्रकट हो जायेगा। किन्तु सम्प्रति साधक को मां के दिये हुए, मां की शक्ति से बने हुए आये हुए मन्त्रपीठिका, ऐसा यत्नरहित करने का जो उपाय है, उसे अपनाना चाहिये और शयन के समय जब अपने शयनासन पर जाय, सबसे निवृत्त हो जाय, जब तक निद्रा न आवे तब तक इसका प्रयोग करले। निद्रा आने पर स्वतः अपने आप छूट ही जायेगा। तो ऐसा मन्त्र है जो चित्त को निर्भय बना देगा, और उसकी वृत्तियों में परिष्कार होना प्रारम्भ हो जायेगा तो मार्ग में प्रसन्नता के साथ चलता चला जायेगा। साधक ! मार्ग में बाधा नहीं होगी।

१२-२-६३ सायंकाल।।१५३।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

शरणागतं च या देवी सदा रक्षति रक्षति।

सर्वभावेन तां भव्यां भावयामि भवां सदा।।

हरि ॐ तत् सत् । जो देवी सदा शरणागत की अवश्य ही रक्षा करती है, उस भव्य देवी का मैं सर्वभाव से ध्यान करता हूँ।

भव्या भावोदया या च भव्यभाव-विबोधनी।

भव्या सा भावशुद्धिं तु करोतु च पुनः पुनः।।

जो भव्य है, भावोदय करने वाली है, भव्य भावों का विबोध देने वाली है, वह देवी निरन्तर मेरी भावशुद्धि करती रहे।

चित्तस्य सर्वरोगान् या ध्यानेनैव विनाशयेत् ।

ध्यानमुद्रात्मिकां तां च ध्यानगम्यांभजाम्यहम् ।। ॐ ।।

जो मां चित्त के सभी रोगों को ध्यानमात्र से विनष्ट कर देती है, उस ध्यानगम्या ध्यान-मुद्रात्मिका भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

चित्तजान् सकलान् रोगानपहन्ति च सा नित्या भगवती मे प्रसीदतु चित्तजान् रोगान् नाशयितुं यन्मन्त्रात्मकं वा यन्मुद्रार्धिका व्यूहं यत् प्रोक्तं तत्रैव साधनाकाले अनुभूतिपरं च भविष्यति। अनुभवे च समागमिष्यति। अपरं च।।

जो नित्याभगवती चित्त के सभी रोगों को दूर करती है, वह मेरे ऊपर प्रसन्न हो। चित्तज रोगों के नाश के लिये जो कुछ मन्त्रात्मक उपाय और घूर्णिका व्यूह की क्रियायें बताई थीं, साधक को साधनाकाल में अनुभूति में आ जायेंगी। इस पर और भी कहा जाता है।

या मुद्रा सारिका मुद्रा मुद्रा[२१] विस्थापिका तथा।

पूर्वं वै गदिता या च तस्या नित्या क्रिया शुभा।।

जो सारिका मुद्रा बताई थी और विस्थापिका मुद्रा बताई थी, ये दोनों ही चित्तज रोगों की शान्ति के लिए बहुत लाभप्रद हैं।

जायते चित्तजान् रोगानपहर्तुं समर्थिका।

अत एव च लाभार्थं चित्तदोष विनिर्मलम् ।।

कर्तुं च सारिका मुद्रा कर्तव्या च सुसाधकैः।

विस्थापिका च सा तत्र मुद्रा प्रोक्ता विशेषतः।।

ये दोनों मुद्रायें चित्तज रोगों का विनाश् करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसलिये लाभ प्राप्त करने के लिये और चित्तदोषों को निर्मल करने के लिये–

अच्छे साधक को सारिका मुद्रा करनी चाहिये। इसके लिए विस्थापिका मुद्रा भी विशेष रूप में बताई गई है।

तस्याश्च सम्प्रयोगेण कार्यसिद्धिः प्रजायते।

नश्यन्ति चित्तजाः दोषास्तस्मात्तां चक्रियान्विताम् ।।

कुर्याच्चैव स्वयं पूर्वंसिद्धं भविष्यति।

अथवा मूलरूपा या मूला च मूलसम्भवा।।

उसके प्रयोग से भी कार्यसिद्धि हो जाती है। चित्तज रोग दूर हो जाते हैं। इसलिये इन क्रियान्वित मुद्राओं को स्वयं ही कर लेना चाहिये तो सब सिद्ध हो जायेगा। अथवा मूलाधार में स्थित मूलरूपा में उद्भूत–

मूलाधारा महाशक्तिः तस्याश्चाराधनं शुभम् ।

मन्त्ररूपेण कर्तव्यं पूर्णोत्थानं भविष्यति।।

जो महाशक्ति है, उसकी आराधना भी मन्त्ररूप में करनी चाहिये, जिससे शक्ति का पूर्ण उत्थान हो जायेगा।

यदा वै चित्तजादोषाः विनश्यन्ति प्रयोगतः।

तदा वैराग्यभावस्य प्रादुर्भावो भविष्यति।।

जब चित्तज दोष उपर्युक्त उपायों से दूर हो जायेंगे तब वैराग्य भाव का प्रादुर्भाव होने लग जायेगा।

लक्षणं शुभदमेतत् ज्ञातव्यं च बुधैः सदा।

विरक्तिभावमापन्नं चित्तं च मोदमाश्रितम् ।।

बुद्धिमान् साधक जाने कि यह शुभलक्षण है। चित्तज दोष शान्त होने पर चित्त विरक्ति भाव धारण करके प्रसन्नता से भर जाता है।

जायते सर्वदा तस्य यस्य दोषाः न संस्थिताः।

अत एव च दोषाणां नाशार्थं गदितं च यत् ।।

सम्यक् रूपेण तत् सर्वं करणीयं हितैषिणा।। ॐ ।।

जिस साधक के चित्त में दोष नहीं रह जाते हैं उसका चित्त विरक्ति पूर्ण और शान्त हो जाता है। इसलिये दोषों के नाश के लिये उपाय बनाये गये हैं। हितेच्छु को चाहिये कि भलीभाँति उन उपायों को करले।

मूलात्मिकां शक्तिमाराधयितुं मूलभूतमिदं मन्त्रकायं समुपस्थापनीयम् ।

मूलात्मिका शक्ति की आराधना के लिये मूलरूप इस मन्त्र काय को जपो।

ॐ लं पं दिव्यरूपं दिव्यस्वरूपं या धारयति सा धारा प्रसीदतु, तत्रस्थाश्चित्तजाः रोगाः विनश्यन्तु, इति मन्त्रकायस्य प्रयोगस्तदैव कर्तव्यः यदा सर्वतोभावेन गतिविच्छेदो भवेत् । नान्यथा कुर्यात् ।।

"ॐ लं पं दिव्यरूपं दिव्यस्वरूपं या धारयतु सा धारा प्रसीदतु, तत्रस्थाश्चित्तजाः रोगाः विनश्यन्तु।" इस मन्त्र का प्रयोग तभी करना चाहिये, जब शक्ति का नितान्त गतिविच्छेद हो जाय। अन्यथा इसका प्रयोग न करो। १०८ वार नित्य जप सोते समय।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। चित्त के दोषों को दूर करने के लये नाना प्रकार के उपाय और प्रयोग बताये गये हैं, इनका प्रयोग करने पर समस्त चित्तज दोष नष्ट हो जायेंगे। इसके पश्चात् किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहेगी। इसलिये साधक को सावधान होकर के जैसा कि बताया गया है सारिका और विस्थापिका का प्रयोग कर लेना चाहिये। उससे चित्तज दोषों का नाश होता है अथवा ऐसा भी होता है कि कभी कभी और किसी किसी रूप में विशेष रूप से सब कुछ होने पर भी गति अवरोध हो गया हो, शक्ति रूक गई हो, चित्त की दशा कुछ ऐसी हो गई हो कि उसमें डामाडोल की स्थिति आ गई हो। ऐसे समय में मूल मन्त्र काय का प्रयोग करके उस गति के अवरोध को दूर किया जा सकता है। तो वह मूलमन्त्रकाय केवल उन्हीं साधकों के लिये है जिनकी गति रूक गई हो। प्रत्येक साधक को यह कदापि नहीं करना चाहिये। कभी कभी उसे करने से उल्टा प्रभाव हो जाता है। अतः सावधानी से जान लेना चाहिये कि शक्ति की गति का अवरोध हो गया है, चित्त की गति का विक्षेप हो गया है, और विक्षेपों ने उसे पंगु बना दिया है। आसक्ति की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, तो ऐसे समय में इस मन्त्रकाय का प्रयोग दो समय सायंप्रातः अवश्य कर लेना चाहिये और उच्चारण करता रहे। जब तक स्वयं चित्त में योगनिद्रा का उदय न हो जाय तो ऐसा करने से साधक को अपने कार्य में सिद्धि हो जायेगी। ये केवल ऐसे मन्त्र हैं जिनका सार्विक, सार्वजनिक प्रयोग नहीं होता है। इसको सुप्तोत्थित मन्त्र कहते हैं। सर्वसाधारण को यह मन्त्र नहीं करना चाहिये और इस प्रकार के करने पर अवश्य ही साधक के चित्त के रोगों का विनाश हो जायेगा। ये सब बातें इसलिये बताई जा रही हैं कि जिससे साधक सबल होकर, साधना में रत होकर परतत्त्व की प्राप्ति कर ले। चित्त के दोष विनष्ट हो गये हैं, इसका लक्षण यह होगा कि साधक की आसक्ति की भावना में कमी होती चली जायेगी और सर्वसम्पन्न होते हुए भी, सब कुछ विद्यमान होते हुए भी, उनका त्याग करके योग करने की भावना उसके अन्दर विद्यमान हो जायेगी, तो समझना कि चित्तजदोष सब नष्ट हो गये हैं। अथवा हो रहे हैं। इन लक्षणों के आधार पर समझना कि साधना बलवती हो रही है। ॐ ।

१३-२-६३ प्रातःकाल।।१५४।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ । ॐ ।

या शक्तिः शक्तिजन्या च सर्वसंघर्षशंकरी।

विजित्य दुर्गुणान् सर्वान् देवभावं ददाति या।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ । ॐ । जो शक्ति शक्ति से ही उद्भूत है और सभी संघर्षों में कल्याण करती है, और जो शक्ति समस्त दुगुर्णों को जीत कर देव भाव प्रदान करती है।

या च वै देवतारूपा देवभावोदयात्मिका।

सकलान् दोषसंघातान् विनाशयति या सदा।।

जो शक्ति देवतात्मिका है, तथा साधन में देवभाव का उदय कर देती है और समस्त दोषसमूह को विनष्ट कर देती है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।

चित्तज दोषापसारणाय एका मुद्रा श्रेष्ठतमा प्रोच्यते। सा च मुद्रा[२१] वासवी मुद्रा।।

चित्तज दोषों के अपसारण के लिये एक श्रेष्ठतम मुद्रा बताई जाती है और वह वासवी मुद्रा है।

या मुद्रा वासवी मुद्रा वासवेन समाश्रिता।

विजित्य सकलान् दैत्यान् यस्याः शक्तिं समाश्रितः।।

जो वासवी मुद्रा है उसका आश्रय वासव (इन्द्र) ने लिया था। जिस मुद्रा शक्ति से युक्त होकर इन्द्र ने समस्त दैत्यों पर विजय प्राप्त की थी।

वासवस्तेन अभ्यस्ता सा मुद्रा च पुनः पुनः।

तस्मात् सा वासवी मुद्रा बलदा दोषनाशिका।।

इस मुद्रा का इन्द्र ने निरन्तर अभ्यास किया था, इसलिये इस मुद्रा का नाम वासवी मुद्रा है। यह मुद्रा साधक को बल देने वाली और दोषों का नाश करने वाली है।

शक्तिदा स्थिररूपेण स्थिरत्वं च प्रयच्छति।

तस्मात्तां वासवीं मुद्रां ऊर्ध्वगां प्रियभाविकाम् ।।

यह मुद्रा स्थिर रूप से शक्ति देने वाली है और स्थिरता प्रदान करती है। इसलिये परम सुख देने वाली, साधक को ऊर्ध्वगति देने वाली इस वासवी मुद्रा का-

वासवीं च समाश्रित्य सर्वं सिद्धं भविष्यति।

तदा वै चित्तजा दोषा भविष्यन्ति न वै पुनः।।

अवलम्बन लेकर सब कुछ सिद्ध हो जायेगा। इसके प्रभाव से चित्तज दोष फिर से पैदा नहीं होंगे।

साधको बलसम्पन्नः शान्तिं चैवाधिगच्छति।

सा शान्तिरात्मसम्भूता पररूपा परात्परा।।

इस मुद्रा के प्रभाव से साधक बल सम्पन्न बन जाता है और शक्ति प्राप्त कर लेता है। इस मुद्रा से प्राप्त आत्मशक्ति सम्बन्धिनी शक्ति बहुत श्रेष्ठ और परात्पर होती है।

तामेव शान्तिमाधातुं यतन्ते योगिनो जनाः।

अत एव विधातव्या वासवी वासवोपमा।।

उसी परमशान्ति के धारण करने के लिये योगीजन प्रयत्न किया करते हैं। अतएव वासव के समान शक्तिसम्पन्न इस वासवी मुद्रा को करते रहना चाहिये।

मुद्रा सदैव सा मुद्रा वाञ्छितार्थफलप्रदा।

मुद्राप्रयोगे चित्ते तु प्रोच्यार्यं मन्त्रव्यूहकम् ।।

यह मुद्रा सदैव वाञ्छित अर्थ को और अभीष्ट फल प्रदान कर देती है। इस मुद्रा के प्रयोग-काल में एक मन्त्रव्यूह का उच्चारण करना चाहिये।

एतादृशं पुनस्तेन साधकेन सुनिश्चितम् ।। ॐ ।।

"जागृता या महाशक्तिः सर्वदोषविनाशिका।

समस्तान् चित्तजान् दोषान् सा मे हरतु सत्वरम्"।। ॐ ।।

वह मन्त्र व्यूह निम्न प्रकार है, जिसे साधक प्रयोग कर ले।

"जागृता या महाशक्तिः सर्वदोष विनाशिका समस्तान् चित्तजान् दोषान् सा मे हरतु सत्त्वरम्"।। ॐ ।।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। चित्तज रोगों को विनाश करने के लिये अन्तिम मुद्रा वासवी मुद्रा बताई गई। यह वासवी मुद्रा उसी प्रकार बताई गई है जिस प्रकार सर्व प्रयोगों में बलदायिनी घूर्णिका मुद्रा है। इसी प्रकार चित्त के समस्त दोषों को दूर करने के लिये वासवी मुद्रा का प्रयोग कर लेना चाहिये। यह वासवी मुद्रा है। इसे ऐन्द्री मुद्रा भी कहते हैं। बज्री मुद्रा भी कहते हैं। इसलिये मुद्रा का प्रयोग कल्याणकारी है। इसी से चित्त के सब रोग दूर होते हैं और चित्त में किसी प्रकार की कोई भी त्रुटि चित्तज दोषों में नहीं रह जाती है। इसलिये यह अन्तिम मुद्रा अन्त में बताई गई है कि जहाँ कहीं भी कोई दोष रह जाय उसका भी विनाश हो जाय। और जब वासवी मुद्रा लग

जाय तो उसके साथ अन्त में "जागृता या महाशक्तिः" इसका उच्चारण मन में करना चाहिये। उससे क्या होगा, कम्पन होगा, संचालन होगा, क्रियायें होंगी और उसी में चित्त के सब दोष खो जायेंगे। तुम अपनी ध्यानावस्था में चले जाओगे। परम शान्ति को प्राप्त करोगे। इस शान्ति अवस्था के लिये योगी लोग चेष्टा करते हैं। इसे वासवी मुद्रा तुम्हें दे देगी। इस मुद्रा का प्रयोग इस प्रकार है। यह है वासवी मुद्रा। इसमें कुछ नहीं करना है। यों हो जाओ। अर्थात् जमीन पर पीठ के बल लेटकर आसन लगाकर लेटे रहो। हाथों को स्थानपरिचायिका की अवस्था में जैसा करते हो, कर लो। दोनों बगलों में दबा लो। लेटे रहो। मेरूदण्ड धरा पर लगा रहे। आसीन रहो। फिर "जागृता या महाशक्तिः" बोलते रहना। थोड़ी देर चलेगा। फिर नाना प्रकार की क्रियायें वासवी मुद्रा के कारण होंगी। उसके बाद खो जाओगे: इस वासवी मुद्रा को सरल होते हुए भी बहुलाभप्रद और बहुमूल्यवती समझना। यह भी वैसी ही मुद्रा है, इसमें भी वैसे ही गुण हैं, जैसे चिद्बोधिनी में और घूर्णिका में हैं। यह भी परम महामुद्रा ही है। इससे तुम्हारे श्वास प्रश्वास में गति आ जायेगी। विभिन्न प्राणायाम स्वतः होने लग जायेंगे। कम्पन भी कभी-कभी ऊपर नीचे मध्य में हाथों में पैरों में होता रहेगा। और उसके बाद शक्ति प्राप्त हो जायेगी। इसलिये इस वासवी मुद्रा को, प्रिय मुद्रा को, महत्त्वपूर्ण मुद्रा को प्रयोग में लाना। सब कुछ सिद्ध हो जायेगा। ॐ ।

१३-२-६३ सायंकाल।।१५५।।

हरि ॐ तत् सत् ।

चिदानन्दस्वरूपाणां जागृतां नौमि भास्वराम् ।

सहस्त्रभास्कराभासां भासयन्तीं विभावये।।

हरि ॐ तत् सत् । चिदानन्द स्वरूपिणी, दीप्तिमती, सहस्त्रों सूर्यों की भाँति प्रकाश वाली और चारों ओर प्रकाश फैलाने वाली देवी भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

दिगन्तं पूर्णरूपेण तां नमामि महोदयाम् ।

चित्तजान् सकलान् रोगान् विनिवार्य पुनः पुनः।।

या करोति सदा शक्तिःनिर्मलां तां नतोऽस्म्यहम् ।

ऐते वै चित्तजाः रोगाः सर्वत्र कष्टदायकाः।।

जो शक्ति पूर्ण उदित होकर दिग्दिगन्त को प्रकाश से भर देती है और बार-बार समस्त चित्तज दोषों को दूर करके-

जो साधक को निर्मल बना देती है उसे मैं प्रणाम करता हूँ। ये चित्तज रोग सर्वत्र कष्टदायक हुआ करते हैं।

तेषां निर्मूलनं कृत्वा चित्तं निर्दोषकं कुरू।

दोषा नैव यदा सन्ति चित्तं वे निर्मलं परम् ।।

तदा तु ध्यानजा सिद्धिः त्वरितं च भविष्यति।

उनका निर्मूलन करके अपने चित्त को निर्दोष बना लो। जिस सिद्धि से दोष बिल्कुल भी नहीं रहेंगे और चित्त निर्मल हो जायेगा।

वही ध्यान से प्राप्त सिद्धि शीघ्र ही आ जायेगी।

अतएव समस्त चित्तजान् रोगान् विनाशयितुं वहवः उपायाः प्रयोगाश्च समाख्यातः। तेषां चित्तजरोगाणां संक्षयः करणीयः सावधानेन।।

इसलिये समस्त चित्तज रोगों का विनाश करने के लिये बहुत से उपाय और प्रयोग बताये गये हैं। उन चित्तज रोगों का विनाश साधक को कर लेना चाहिये।

महामाया सैव सुप्तोत्थिता सदैव बहुकार्याकुला बहुकार्यवती च भूत्वा सर्वशक्तिजा सर्वतत्त्वं समाधाय ध्यानजां स्थितिं परिपुष्टां करोति। अतएव च तदर्थमेतत् सर्वं व्याख्यातम् ।। ॐ ।।

वह महामाया भगवती शक्ति जागृता होकर नानाकार्यों में आकुला होती हुई और बहुत से कार्यों को करती हुई सब प्रकार की शक्तियों को समेटती हुई सभी तत्त्वों का संग्रह करती हुई ध्यानज सिद्धि को परिपुष्ट करती है। इस लक्ष्य से यह सब कहा गया है।

इदानीं चापि तस्मादूर्ध्वं सन्ति बुद्धिजाः दोषाः, बुद्ध्युद्भवाः रोगाः। तेषां निवारणाय यत्किञ्चिदपि प्रोच्यते सम्भाष्यते तदपि साधकानां कृते बहुलाभप्रदं भूयात् ।।

तब भी उसके ऊपर बहुत से अन्य बुद्धिज दोष रह जाते हैं, उन बुद्धिज रोगों के निवारण के लिये जो कहा जा रहा है वह सब भी साधकों के लिये बहुलाभप्रद होगा।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। साधक! सावधान ! अब तक इस व्याघात-संहृति प्रकरण में चित्त के समस्त दोषों के विनिवारण करने के लिये उनके विनाश के लिये नाना प्रकार से दृष्टिकोणों से नाना प्रकार के मन्त्र प्रयोग (और औषधि प्रयोगों का परित्याग करके) केवल क्रिया का विस्तार करके और स्वल्पमुद्रा का प्रदर्शन करके उनको वशीभूत करने का, उनको दूर करने का, उन पर अधिकार करने का उपाय बताया गया है। अब बुद्धिज रोगों को दूर करने का कभी-कभी औषधि प्रयोग भी बताया जायेगा। क्योंकि बुद्धिज रोगों का कारण भी ऐसा तत्त्व होता है, जो पार्थिव सम्बन्धी होता है और पार्थिव प्रभाव से युक्त होता है। और उसमें कई प्रभावों का सम्मिश्रण होता है। क्योंकि उसमें भी जड़त्वधर्म विशेष है। और वह केवल प्रतिबिम्ब-प्रवाहिका होती हुई ही आगे बढ़ती है। इसलिये उसमें मन्त्रऔषधि क्रिया का स्वल्पस्वरूप ऐसा प्रयोग बताया जायेगा जिसके करने से बुद्धिज रोग और दोष विनष्ट हो जायेंगे। और उसके पश्चात् फिर किसी प्रकार से साधक को एक संघात के रूप में एक संघटना के रूप में किस प्रकार अपने मार्ग में चलकर अपने कार्य की सिद्धि होती है, इसका ज्ञान और अनुभव भी करा दिया जायेगा।। ॐ ।।

साधक ! यथावकाश, यथासमय, यथानिर्देशानुसार इस प्रकार के उपायों और प्रयोगों को अनुभव कर लेने पर अकष्टसाध्य रूप से मार्ग चलने का अभ्यास हो जायेगा। और निरन्तर गति बढ़ती चली जायेगी। फिर किसी प्रकार के विक्षेपों के आने का भय नहीं रहेगा। अतः सावधानी से इनका प्रयोग करते हुए, आगे बुद्धिज रोगों के दूर करने का भी प्रयास करो।। ॐ ।।

१४-२-६३ प्रातःकाल।।१५६।।

हरि ॐ तत् सत् ।

ॐ बुद्धिं शुद्धां निर्मलां च गुणात्मिकाम्, मेधां धारणाभिधां एकां एका नित्या सरस्वती मेधां मे वितरतु, सा भगवती या स्वयं प्रकाशवती प्रकाशविस्तारयित्री च।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । एका नित्या सरस्वती देवी जो स्वयं प्रकाशवती है और प्रकाश का विस्तार करती है वह मुझे शुद्ध निर्मल गुणात्मिका निर्मल मेधा बुद्धि और धारणा प्रदान करे।

अन्धकारे यथामार्गे दुर्गमे संकरे यथा।

तथैव लोक-लोकेऽस्मिन् बुद्ध्यभावे गतिर्नहि।।

जैसे इस लोक में दुर्गम संकरे कठिन मार्ग में अन्धकार ही अन्धकार हो तो चलना सम्भव नहीं होता है उसी भाँति बुद्धि के अभाव में भी कोई गति नहीं होती है।

बुद्धिस्तु कल्पसंकल्पं विकल्पं कल्पसारकम् ।

गृहणाति ग्राहिका या च सा बुद्धिः प्रोच्यते बुधैः।।

विद्वानों ने कहा है कि मन के संकल्प-विकल्पों के सार को जो इन्द्रिय शक्ति ग्रहण करती है उस ग्रहिका शक्ति को बुद्धि कहा जाता है।

संकल्पांश्च विकल्पांश्च समुद्भूतानितस्ततः।

गृहणाति विश्वरूपेण या सा बुद्धिर्मता बुधैः।।

विद्वानों का कथन है कि इधर उधर के उठे हुए समस्त सङ्कल्प विकल्पों को समेट कर समग्र रूप से जो इन्द्रिय शक्ति ग्रहण करती है उसे बुद्धि कहा जाता है।

यथा वै निर्मलादर्शः यद् यावत् यत्स्वरूपकम् ।

तत्स्वरूपेण प्रत्यक्षं समायाति स्वरूपकम् ।।

जिस प्रकार निर्मल दर्पण के सामने रखी वस्तु का जिस प्रकार का जो स्वरूप होता है वही स्वरूप प्रत्यक्ष दर्पण में भी आ जाता है और दर्पण तद्रूप दीखने लगता है।

यदि वा समलं तच्च तद्रूपं नैव दृश्यते।

तद्वत् धूम्रावृता बुद्धिः सम्मोहा मोहमावृता।।

वस्तुतत्त्वं न गृहणाति न गृहणाति यथाविधि।

तस्मादबुद्धिं पवित्रां च निर्मलां च विधेहित्वम् ।।

यदि दर्पण मलिन होगा तो वस्तु का यथार्थ रूप प्रतिबिम्बित नहीं होगा। उसी भाँति सम्मोह, मोह भ्रान्ति आदि दोषों के धूम से कलुषित बुद्धि–

वस्तुतत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाती है, उन वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं हो पाता है इसलिये तुम बुद्धि को पवित्र और निर्मल बनाओ।

जीवमात्राः विधेर्लोके बुद्धिः संसारकारिणी।

विमला पूतभावा च दोषनाशाय जायते।।

विधाता की इस सृष्टि में सभी जीवों में बुद्धि है। यही बुद्धि संसार का बोध देती है। यदि यही बुद्धि निर्मल और पवित्र बन जाती है तो जीव के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

सम्मोहः प्रथमो दोषः रोगश्चैव महात्मिकः।

उद्भ्रान्तिः भ्रमपूर्णत्त्वं द्वितीयं दोषमुच्यते।।

बुद्धि का पहिला दोष सम्मोह है, जो बड़ा अनर्थकारी रोग है। दूसरा दोष उद्भ्रान्ति है जो बड़ा भ्रम पैदा करता है।

तृतीयं चञ्चलत्वं च जतुत्वं च चतुर्थकम् ।

स्त्यानं चास्थिरभावंश्च पञ्चमस्तु तदा स्मृतः।।

तीसरा दोष चंचलता है, चतुर्थ जड़त्व है, स्त्यान अर्थात् अस्थिर भाव पाँचवाँ बुद्धि दोष है।

दोषो बुद्धिभवो रोगः कथ्यते पूर्वजैः सदा।

अथवा सत्स्वरूपं च बिहाय अस्वरूपकम् ।।

पूर्वकालीन तत्त्वद्रष्टा विद्वानों ने बुद्धिज दोष उसे कहा है, जिसमें सत् स्वरूप को छोड़ कर असत् स्वरूप को यथार्थ वस्तु समझ में आवे।

ग्राह्यात्मकमिदं भूतं दुर्गुणं जायते ध्रुवम् ।।

अथवा बुद्धिवैकल्यं बुद्धिध्वंसश्च जायते।।

असत् पदार्थ ही सत्य है, यह निश्चयात्मक भाव ही दुर्गुण होता है। इसी को बुद्धिवैकल्य अथवा बुद्धिध्वंस कहा जाता है।

तदा ध्वंसात्मकं सर्वं दृश्यते नात्र संशयः।

अत एव च वै लोकाः पूर्वजाश्च मनीषिणः।।

वाञ्छन्ति प्रथमां बुद्धिं पवित्रां पुण्यमात्मनः।। ॐ ।।

मेधां मे सततं देवी शारदा सम्प्रयच्छतु।।

ऐसी स्थिति में सब कुछ ध्वंसात्मक ही दीखता है, इसलिये प्राचीन मनीषी लोगों ने–

ऐसी कामना की है कि शारदा भगवती सदा सर्वप्रथम पवित्र बुद्धि और मेधा प्रदान करें।

धारणां च महाकाली बुद्धिं चैव सरस्वती।

धीर्मे ददातु सा देवी महालक्ष्मीः महामतिम् ।।

सर्वरूपेण सद्बुद्धिं पवित्रां पूतिकां तथा।। ॐ ।।

महाकाली मुझे धारणा शक्ति दें, सरस्वती मुझे बुद्धि दें, महालक्ष्मी मुझे महामति तथा धी प्रदान करें।

सब प्रकार से भगवती मुझे पवित्र सद्बुद्धि प्रदान करें।। ॐ ।।

ॐ । बुद्धिजान् दोषान् विनाशयितुं महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती-देवताप्रसादः समुपलब्धव्यः। देवताः दण्डमादाय गोपालवत् कस्यापि रक्षां न कुर्वन्ति, देवतानां प्रीतिः, देवतानां प्रसादः तदैव ज्ञातो भवति यदा पवित्रा बुद्धिः, सरला बुद्धिः, निर्मला बुद्धिः, विषयग्राहिणी बुद्धिः समुपलभ्यते।।

ॐ । बुद्धिज दोषों के विनाश के लिये महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती देवियों का प्रसाद प्राप्त करना चाहिये। देवता कोई डण्डा लेकर ग्वाले की भाँति गौओं के पीछे रक्षा करती हुई नहीं दौड़ती है। देवताओं की प्रीति या प्रसाद तभी ज्ञात होता है, जब पवित्र बुद्धि, सरल बुद्धि, यथार्थ–विषय ग्राहिणी बुद्धि साधक प्राप्त कर लेता है।

या च बुद्धिः सरला न च कुमार्गगामिनी, न कुण्ठिता कुण्ठारहिता च या वर्तते सा बुद्धिः यदा जायते, कार्यवती च भवति तदा देवताप्रसादः एव जातः, तदैव बुद्धिरोगाः बुद्धिदोषाः महादोषाः सन्ति यदा ते कदापि बुद्धिवैकल्यं जनयन्ति, तदा तु विनाशः सुनिश्चितः समुपस्थितः।।

जो बुद्धि सरल हो, कुमार्गगामिनी न हो, कुंठिता कुण्ठा ग्रस्त न हो ऐसी बुद्धि जब हो जाय, कार्यवती हो जाय तभी समझो कि देवता का प्रसाद हो गया। जब बुद्धिज रोग व बुद्धि दोष बुद्धि वैकल्य पैदा करते हैं तब समझो कि विनाश निश्चय ही उपस्थित हो गया है।

सम्मोहात् बुद्धिदोषाः बुद्धिरोगाश्च भवन्ति, तदैव बुद्धिभ्रम उत्पद्यते। बुद्धिविभ्रमाद् विनाशः सुनिश्चितः। अत एव च बुद्धिजान् सर्वान् रोगान् विनाशयितुं सदैव चेष्टा विधेया। सा च चेष्टा शक्तयाधीना निग्रहाधीना वर्तते। तथापि बोधाय मन्त्रौषधिमुद्राक्रियाप्रयोगोऽपि कर्तव्यः।।

सम्मोह से बुद्धि दोष और बुद्धिरोग होते हैं। तभी बुद्धिभ्रम भी पैदा होता है। बुद्धिविभ्रम से विनाश सुनिश्चित है। इसलिये सभी बुद्धिरोगों के विनाशार्थ चेष्टा करनी चाहिये। वह चेष्टा शक्ति के आधीन होती है। फिर भी औषधि क्रिया मुद्रा मन्त्रादि का प्रयोग करना चाहिये।

सुगमतया येन लक्ष्यसिद्धिर्भवेत्, बुद्धिश्च निर्मला भवेत्, तदर्थं पूर्वमन्त्रप्रयोगः पश्चाद् औषधिप्रयोगः, तदनन्तरं क्रियाप्रयोगः भविष्यति। तत्तु पुरत एव समागमिष्यति।। ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष !

सुगमतया जिससे लक्ष्य-सिद्धि हो सके, बुद्धि निर्मल बने, इस दृष्टि से पहिले मन्त्रप्रयोग, फिर औषधि प्रयोग और तदनन्तर क्रिया प्रयोग होगा। वह अब सब सामने आ जायेगा। गोरक्ष ! गोरक्ष !!

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस व्याघात-संहति प्रकरण में अब बुद्धि से उत्पन्न होने वाले जो दोष हैं जिन्हें रोग कहा गया है, उनका निवारण करने के लिये मन्त्रौषधि क्रिया का प्रयोग बताया जायेगा। बुद्धि बहुत बड़ी वस्तु है। इसीलिये पूर्व में समस्त देवताओं ने, ऋषियों ने, महर्षियों ने, मुनियों ने, योगियों ने, महायोगियों ने, तत्त्ववेत्ताओं ने, ज्ञानियों ने, भक्तों ने, सभी ने पवित्र बुद्धि की कामना की है, प्रार्थना की है। उसे पवित्र करने के लिये देवताओं की कृपा की आकाँक्षा की है। बुद्धि में जब सम्मोह हो जाता है, तब उसका तात्पर्य होता है, विवेक का पिण्ड छोड़ देना। अविवेक हो जाना और यथा तथा रूप में वस्तु को ग्रहण न करना अर्थात् वस्तु को स्वरूप से न पहिचानना। यह सम्मोह हो जाता है, जब बुद्धि में इस प्रकार का मल विक्षेप आ जाता है, जब ऐसा दोष उत्पन्न हो जाता है तब उसका विभ्रम होने लगता है, अर्थात् उसमें भ्रान्ति आ जाती है। स्वयं भ्रम, शंका स्वयं अनिश्चयात्मकता आ जाती है, अस्थिरता के आने से मनुष्य जीवन में सफलता का पात्र नहीं बन सकता है। उसमें दोष आ जाते हैं, कार्य दोष-पूर्ण हो जाते हैं और वह शान्ति की वहाँ छाया भी नहीं देख सकता है। जीव, यात्रा में चलता हुआ, सब कुछ करता हुआ यदि बुद्धि निर्मल हो तो सब सफल है। और वह शान्ति पाता है, जहाँ बुद्धि कुण्ठित है, अपवित्र है, भ्रष्ट हो गयी है, अविवेकिनी है, विषयों को ठीक रूप में ग्रहण करने की उसमें शक्ति नहीं है, तो सब कुछ किया कराया व्यर्थ हो जायेगा।

जैसे एक दर्पण में अगर मल आ गया है तो उसमें प्रतिबिम्ब यथावत् नहीं दिखाई देगा। अथवा आदर्श जिसे काँच का टुकड़ा कहते हैं, यदि वह दोष पूर्ण हो गया तो मुखाकृति कभी लम्बी दिखाई देगी, मलिन दिखाई देगी, मोटी दिखाई देगी, चौड़ी

दिखाई देगी, पतली दिखाई देगी और जो कुछ सत्य होगा वह दिखाई नहीं देगी। तो जिस प्रकार आकृति का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार यदि बुद्धि निर्मल नहीं हुई, क्योंकि बुद्धि भी तो प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की एक शक्ति ही है, तो वस्तु स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये पूर्वजों ने सर्वप्रथम बुद्धि को पवित्र करने के लिये बुद्धि के दोषों को दूर करने के लिए ही प्रार्थना की है। अपनी बुद्धि को इस प्रकार निर्मल रखा, विवेकवती रखा, सूक्ष्म रखा कि जिसके आधार के कारण उनके समस्त कार्य पूर्ण रूप से होते रहे और वे शान्ति पाते रहे। इसलिये अन्त में सारे महायोग शास्त्र को चर्चा करने के पश्चात् वह बुद्धि दोषों का प्रकरण अन्तिम प्रकरण कहा गया है।

सब कुछ करते चले जा रहे हो, लेकिन यदि बुद्धि विभ्रम हो गया तो सब गया। यदि तथाकथित अनिश्चयात्मकता रह गई तो किया कराया सब गया। इसलिये इन बुद्धि दोषों को दूर करने का उपाय बताया जायेगा। वह उपाय मन्त्रौषधि क्रिया के रूप में होगा। जिसके कारण साधक के बुद्धि दोष रोग नष्ट हो जायेंगे। इसलिये इसमें सर्वप्रथम शुद्ध मन्त्रों का प्रयोग किया जायेगा। साधक ! सावधान ! उन निर्देश और आदेशों का पालन करते हुए, जीवलोक की यात्रा में योगाभ्यासी होकर, योगतत्त्व का अनुभवी होकर जीवन के लक्ष्य तक पहुंचने का जो ध्येय है उसकी पूर्ति हो जायेगी।। ॐ ।।

१४-२-६३ सायंकाल।।१५७।।

हरि ॐ तत् सत् ।

नमामि तां महाशक्ति दिव्यरूपात्मिकां पराम् ।

सदा या बुद्धिरूपेण लोके चास्मिन् विराजते।।

हरि ॐ तत् सत् । मैं दिव्यरूपा परा महाशक्ति को प्रणाम करता हूँ, जो सदा बुद्धिरूप में इस लोक में विराजमान रहती है।

बुद्धिभावमयी देवी चिन्तनोत्कलिका कला।

कला कालसमाधीना कलिका कालरूपिणी।।

कराला कलिका या च कलानां विकलात्मिका।

सा देवी बुद्धिरूपेण जनबुद्धि स्वरूपिणी।।

चिन्तन में उत्सुक कला, काल में परिव्याप्त, कालरूपिणी जो बुद्धि भावमयी देवी है,

वह कराल-कलिका है और कलाओं को विकलित करने वाली है, वही देवी बुद्धिरूप में प्रतिव्यक्ति के भीतर विराजमान रहती है।

समागता च संसारे संसारं तरणात्मिका। ॐ ।

सैव बुद्धि-र्महाबुद्धि-र्महा मेधा महास्मृतिः।।

सर्वरूपेण सर्वत्र राजते च स्वयंवरा।।

संसार सागर में तरण करने के लिये लोक में यह अवतीर्ण हुई है। वही बुद्धि है, महाबुद्धि है, महामेधा है और महास्मृति है।

वही सर्वरूप में सर्वत्र स्वयंवरणीय होकर विराजमान रहती है।

अस्मिन् प्रकरणे बुद्धिजान् दोषान्, रोगान् विनाशयितुं तेषां संक्षरणाय च पूर्वं मन्त्रप्रयोगं कुरू। पश्चाच्च बुद्धे-र्निर्मलत्वं प्रत्यापन्नं भविष्यति।। ॐ ।।

इस प्रकरण में बुद्धिज दोषों और रोगों का विनाश करने के लिये, उनके संरक्षण के लिये पहिले मंत्र-प्रयोग करलो। फिर बुद्धि की निर्मलता प्राप्त हो जायेगी।। ॐ ।।

मन्त्रोच्चारणमेवं च कर्तव्यं वै सुसाधकैः।

बुद्धिजान् सकलान् रोगान् यत्प्रयोगश्च नाशयेत् ।।

अच्छे साधकों को इस प्रकार करना चाहिये जिससे बुद्धिज समस्त दोष और रोग मन्त्रप्रयोग से नष्ट हो जावें।

मन्त्रस्य बीजरूपस्य बुद्धितत्त्वस्य सर्वथा।

प्रयोगो निर्मलाधारं करोति च न संशयः।। ॐ।

बुद्धि तत्त्व के बीजरूप मन्त्र का प्रयोग सर्वथा बुद्धि को निर्मल बना देता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

अथ मन्त्रः। "ॐ सर्वभूतप्रियां सर्वत्रविचरणशीलां सवितुः शक्तिम् आवाहयामि। सा मे बुद्धिं निर्मलां करोतु ॐ सं सं सं। सं सं सं। सं सं सं।" अस्य मन्त्रस्य प्रयोगः शयनावसरे शयनोत्थानावसरे च वारमेकं करणीयः। अस्य मन्त्रोच्चारणेन कालान्तरेण सवितुः महाशक्तिः स्वयमेव अन्धकारस्वरूपकां भ्रमात्मकतां विनशयिष्यति।।

मन्त्र यह है:- "ॐ सर्वभूत प्रियां सर्वत्र विचरण शीलां सवितुः शक्तिम् आवाहयामि सा मे बुद्धिं निर्मलां करोतु। ॐ सं सं सं, सं सं सं, सं सं सम्। ओम् इस मन्त्र का प्रयोग शयन के समय और प्रातः जागते समय एक बार करना चाहिये। इस मन्त्रोच्चारण से कालान्तर में सविता की महाशक्ति स्वयं अन्धकार रूप भ्रम का नाश कर देगी।

अपरं च इदमपि प्रयोज्यं कदाचित् कदाचित्, मध्याह्ने साधकेन। "ॐ सावित्रीं आवाहयामि सा मे बुद्धिं संशोधयतु"। अस्य प्रयोगः मध्याह्ने सप्तपञ्चकेन च करणीयः। अनेनापि बुद्धे-र्निर्मलत्वं प्रत्यागच्छति।। ॐ ।।

दूसरा एक प्रयोग भी इसके साथ करना चाहिये, कभी-कभी मध्याह्ने में। "ॐ सावित्रीं आवाहयामि, सा मे बुद्धिं संशोधयतु"। इसका प्रयोग मध्याहने में ७ बार या १२ बार करना चाहिये। इससे भी बुद्धि की निर्मलता प्राप्त होती है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। साधक ! इस व्याघात-संहति प्रकरण में जो प्रयोग बताये जा रहे हैं, वे बुद्धिज रोग के नाश के लिये हैं। ये अन्तिम प्रयोग हैं और अन्तिम प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि बुद्धि के दोषों को दूर कर लो तो किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होगी। क्योंकि बुद्धिज रोग ऐसे रोग हैं जो अत्यन्त ही दुःसाध्य, कष्ट साध्य हैं। ये सहसा ज्ञात नहीं होते हैं। किन्तु कुभाव इनका फलीभूत होते हुए दिखाई देता है। तब कुछ-कुछ ज्ञात होता है। और कभी-कभी बुद्धिवैकल्य बढ़ भी जाता है। इस प्रकार के दोषों को विनाश करना ही श्रेयस्कर होता है। और उसके लिये सर्वसाधारण रूप से सविता की शक्ति को, सावित्री को आराधित कर लेना चाहिये, उस शक्ति में बुद्धिदोषों को विनाश करने की शक्ति है, क्योंकि वह शक्ति महामाया की एक आंशिक विभूति है और उस आंशिक विभूति के आराधन से समस्तरोग नष्ट होते हैं। तो पूर्वोच्चारित मन्त्र "सवितुः शक्ति" वाले को जो सोने के और जागने के समय

उच्चारित होता है और जो दूसरा मध्याह्न के लिये सावित्री का आवाहन किया जाता है, वह सात बार कर लेना चाहिये। इसकी अवधि कुछ नहीं है, केवल मध्याह्नवाला तो १२ दिन भी किया जा सकता है और सायंप्रातः वाले के लिये सात दिन पर्यन्त अवधि है। इसको कर लेने से जब बुद्धि के ऊपर का मलावरण दूर हटता है, तब सम्मोह का स्तर दिखाई देता है। तब उस सम्मोह के विनाश के लिये द्वितीय मन्त्र और मुद्रा का प्रयोग बता दिया जायेगा और उसके बाद जो विभ्रम, विक्षेप, भ्रान्ति, सन्देह, संशय होता है, तर्क वितर्क होता है उसके विनाश के लिये औषधि प्रयोग भी बताया जायेगा। इससे समस्त दोष नाश हो जायेंगे।। ॐ ।।

१८-२-६३ सायंकाल।।१५८।।

गोरखवाणीः "ॐ सौं सौं सौमहासरस्वती बुद्धिं मे निर्मलां करोतु"।।

इस मन्त्र का प्रातः सायं एक मास तक जप उसी अवस्था में करना चाहिये, जब बुद्धि नितान्त कुण्ठित हो जाये। और विवेकहीन हो जाय।

बुद्धिज दोषों को दूर करने के लिये भ्रान्ति, भ्रम, विभ्रम के नाश के लिये मन्त्र।

"ध्रीं ध्रीं ध्रीं धारणाख्या प्रसीदतु, निर्मलत्वं बुद्धेश्चप्रयच्छतु। यं लं सं। यं लं सं। यं लं सं।।"

एक मास पर्यन्त सोते जागते समय एक बार उच्चारण, इसके साथ ताम्रपर्णी मधु लें। ७ दिन तक एक बार प्रातः सेवन करलें।

१७-२-६३ प्रातःकाल।।१५९।।

हरि ॐ तत् सत् ।

दिव्यां शक्तिः सशक्तं प्रकटितविभवां सर्वकल्याणकर्त्रीम्
धात्री या वै नवीनं मुदितशुभगुणं काम्यरूपं अनन्तम् ।
सद्योजातं समस्तं विरलतरलं बुद्धिदानेन तुष्टम्
सा मे नित्या सदैव प्रथितगुणगणा पातु सत्काम्यकामा।। ॐ ।।

अनेक विभव प्रकट करने वाली, सर्वकल्याणकारिणी, समर्थवती दिव्य शक्ति, जो नये सुन्दर गुणों को धारण करती है, भक्ति में गद्गद विरल तरल साधक को बुद्धिदान से तुरन्त तुष्ट कर देने वाली भगवती सदा मेरी रक्षा करती रहे।

या बुद्धिः सर्वथा शुद्धा निर्मला या च सूक्ष्मिका।
सा बुद्धिर्मे सदायातु कल्याणाय विशेषतः।।

या शक्तिश्च महामाया महाकल्याणकारिणी।

कल्याणं सर्वदा सा वै करोतु लोकवासिनाम् ।।

जो बुद्धि सर्वथा शुद्ध, निर्मल और सूक्ष्म है वही बुद्धि मुझे मेरे मंगल के लिये प्राप्त हो जावे।

महाकल्याणकारिणी महामाया शक्ति लोक-वासियों का सदा कल्याण करे।

येन निर्मलबुद्धिश्च जनाः संयान्तु सत्वरम् ।। ॐ ।।

जिससे बुद्धि निर्मल हो जाय और लोग शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर सकें।

बुद्धिजा विविधाः रोगाः वर्णिताः दुःखदायकाः।

तेषां विनाशनायैव प्रोक्तंच बहुरूपकम् ।।

प्रयोगाश्च उपायाश्च प्रोक्तास्तत्र शनैः शनैः।

एतेन सर्वरूपेण रूपेण रोगसंक्षयः।।

विविध प्रकार के बुद्धि के दुःखदायक दोषों का वर्णन किया गया है। उनके विनाश के लिये ही बहुत प्रकार से कहा गया है।

प्रयोग और उपाय बताये गये हैं, जिन से शनैः शनैः सब प्रकार से रोग का संशय होता चला जायेगा।

भविष्यति यथाशीघ्रं नात्र कार्या विचारणा।। ॐ ।।

अपरं च प्रवक्षामि बुद्धिरोगविनाशकम् ।

दिव्यं मन्त्र महद्दिव्यं अर्थान्वितमलभ्यकम् ।।

इस बात पर कोई संशय नहीं करना चाहिये। ॐ । बुद्धिरोग का विनाशकारक एक अन्य मन्त्र भी मैं बताती हूँ जो दिव्य महादिव्य, अर्थ से भरा और अलभ्य है।

अत्यद्भुतं च तत् सर्वं कार्यसिद्धिकरं च तत् ।

तन्मन्त्रं जपनीयं च कदापि च कदापि च।।

यस्य बुद्धेस्तु वैकल्यं जायते कार्यनाशकम् ।

यह मन्त्र बड़ा अद्भुत और सर्व-कार्यसिद्धि करने वाला है। कभी-कभी इस मन्त्र का भी जप कर लेना चाहिये।

जिस साधक के बुद्धि की विकलता उसकी साधना को नष्ट कर रही हो।

अथमन्त्रः। "ॐ भैरवाङ्कनिलयां भंकात्मिकां नमामि, बुद्धिविभ्रमो मे नश्यतु ॐ ॐ ॐ । अस्य मन्त्रस्य प्रयोगस्तदैव कर्तव्यः यदा क्रोधसमन्विता बुद्धिः सम्भवेत् । अथवा क्रोधस्य मात्रा विशेषतः वर्धिता भवेत् । बुद्धिवैकल्यं च भवेत् । तदैव प्रयोगो विधेयस्तावत् यावद् बुद्धिवैकल्यं न विनश्यति। न चैवं ज्ञायते यत् शान्तिः समागच्छति।। ॐ ।।"

मन्त्र यह हैः- "ॐ भैरवाङ्क निलयां भंकात्मिकां नमामि, बुद्धिविभ्रमो मे नश्यतु, ॐ ॐ ॐ "। इस मन्त्र का प्रयोग तभी करना चाहिये जब बुद्धि क्रोध समन्विता हो जाय, अथवा क्रोध की मात्रा विशेष बढ़ जाय, बुद्धिवैकल्य हो जाय, इसका प्रयोग तब तक करते रहना चाहिये जब तक बुद्धिवैकल्य विनष्ट नहीं हो जाता है और जब तक यह ज्ञान न हो जाय कि शान्ति मिल गई है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निजञ्जन। अलख निजञ्जन। अलख निरञ्जन। इस प्रकरण में बुद्धिज दोषों को नाश करने के लिये पुनः मन्त्र प्रयोग बताया जा रहा है। इन मन्त्रों का प्रयोग ऐसा प्रयोग है जिसे तात्कालिक प्रयोग कहते हैं। ऐसे मन्त्रों में स्थायी शक्ति नहीं होती है, किन्तु ये शक्ति रूप से जिस समय जिस में जिस वस्तु की आवश्यकता होती है और जिसका निस्सारण करना होता है, ये निस्सारणार्थ गतागत मन्त्र कहे जाते हैं। इन मन्त्रों में वस्तु जाती है, आती है। कुछ विनाश के लिये होती है, कुछ उपलब्धि के लिये होती है, तो ये गतागतिक मन्त्र कहे जाते हैं। इनका प्रयोग भी गतागतिक रोगों के लिये है। तो इस प्रयोग को इसलिये बनाया गया है कि जिससे ये समस्त रोग दूर हो जाँय और जैसा कि मां का आदेश है। "ॐ भैरवांकनिलयां" वाले मन्त्र का प्रयोग उस समय करना चाहिये जब प्रतीत हो कि बुद्धि में वैकल्य है, और उसका कारण क्रोध की मात्रा है, वातावरण भी अशुचि है, तो ऐसे समय में जब क्रोध की मात्रा बढ़ जाय, सम्मोह बढ़ जाय, भ्रान्ति भी बढ़ने लगे और चित्त में भी विक्षेप आने लगे, तो बुद्धि के इस विकार को दूर करने के लिये इस मन्त्र का प्रयोग करते चले जाना। उच्चारण करते चले जाना, करते चले जाना, करते चले जाना। और जब क्रोध की मात्रा और वैकल्प की मात्रा शान्त हो जाय तो बन्द कर देना। इस प्रकार करने से बुद्धि भ्रष्ट नहीं होने पायेगी और जब ऐसा ही है कि किसी का स्वभाव धर्म ही ऐसा बन जोयगा तो उसके लिये औषधि प्रयोग भी बता दिया जायेगा जिससे उसका भी कल्याण होगा। ॐ।

हरि ॐ तत् सत् ।

आधारामाधृकां सर्वां सर्वैश्वर्यविमण्डिताम् ।

धरातत्त्वविशिष्टां च वलदां बलपूरिकाम् ।।

जो सर्व ऐश्वर्यों से विमण्डित है, सब आधारों की आधार है, धरातत्त्व विशिष्टा है, बलदाता है, बलकी पूर्ति करती है।

धराशक्तिं महाशक्तिं धारिणीतत्त्वशोधिकाम् ।

नमामि तां दृढाधारां ॐकारां कामरूपिणीम् ।।

जो महाशक्ति, धराशक्ति हैं, धरातत्त्व की शोधिका हैं, उस दृढ़ आधार वाली ॐ-काररूपिणी कामरूपिणी को मैं प्रणाम करता हूँ।

बुद्धिजाँश्च महादोषान् विनाशयति या ध्रुवम् ।

माण्डुकीं तां परां मुद्रां[२२] धारयामि हितेच्छया।।

जो निश्चय ही बुद्धि के महादोष विनष्ट कर देती है, अपनी हित कामना के लिये उस परम माण्डुकी मुद्रा को मैं धारण करता हूँ।

या मुद्रा माण्डुकी मुद्रा धारिणी तत्त्व संगता।

धरातत्त्व समाकारा बुद्धिदोष विनाशिका।।

पृथ्वी तत्त्व से संगत जो माण्डूकी मुद्रा हैं, धरातत्त्व के समान आकार वाली है और बुद्धि दोषों की विनाशिका है।

बुद्धेस्तु या महाभ्रान्ति-र्विभ्रमो यश्च प्रोच्यते।

चाञ्चल्यं स्फुटितं यच्च माण्डूकी नाशयेद् हि तत् ।। ॐ ।।

बुद्धि की जो महाभ्रान्ति है और जिसे विभ्रम कहा जाता है, बुद्धि में जो चाञ्चल्य स्फुटित होता है, माण्डूकी मुद्रा उसे नाश कर देती है। ॐ ।

माण्डूकी च परा मुद्रा तां मुद्रां भज सत्वरम् ।

एका एव च सा मुद्रा दोषसंक्षयकारिणी।।

माण्डूकी परम श्रेष्ठ मुद्रा है, तुम शीघ्र उसका अवलम्बन लेलो। एक यही अकेली मुद्रा बुद्धि दोषों का क्षय कर देने वाली है।

तस्याः क्रियाफलं चैव अद्भुतं परमाद्भुतम् ।

उद्भूतं भूमितत्त्वाच्च तस्मात्सा सफला भवेत् ।।

उसकी क्रिया और फल बड़ा ही अद्‌भुत है। भूमि तत्त्व से उसकी उत्पत्ति हुई है, अतः वह फलदायिनी है।

पूर्वमेवविधं कृत्वा शरीरं धरिणीतले।
अग्रतः उदरं वक्षः पातयेद् धरिणीतले।।

पहिले शरीर को पृथ्वी में इस भाँति कर लो। उदर और वक्ष आगे की ओर करके पृथ्वी पर लेट जाओ।

पश्चात् श्वासगतिं कृत्वा विच्छेदोच्देद संगताम् ।
पृष्ठभागं विधायैव चोन्नतं किञ्चिदुन्नतम् ।।

फिर श्वासगति को पूरक रेचक द्वारा संचालित करो। पृष्ठ भाग को ऊपर नीचे उठाते गिराते रहो।

कृत्वावै कटिभागं च ऊर्ध्वं किञ्चित् समाचरेत् ।
पश्चात् प्राणाः समायान्ति सर्वे तत्र धरातले।।

कटिभाग को थोड़ा सिकोड़ कर ऊँचा उठाना चाहिये, फिर प्राण स्वयं धरा तत्त्व में आ जायेंगे।

यत्र वक्षः स्थितं तत्र हुंकारो निःसृतः क्वचित् ।
कदाचिच्चैव तद्‌वृद्धिः स्वल्पं याति क्वचित् क्वचित् ।।

जहाँ पर छाती टिकी है वहाँ कुछ हुंकार का शब्द कभी कभी सुनाई देगा। कभी वह शब्द बढ़ेगा और कभी घटेगा।

पश्चाच्चैव शिरोभागं करपृष्ठे निधापयेत् ।
कर्पूरस्य च संपिण्डं तत्र वै जायते तदा।।

फिर शिरोभाग को हाथों के पृष्ठ भाग पर रख लो, दोनों कर्पूर कोहनियाँ जमीन पर टिकी रहेंगी।

यत्र या नाडिका प्रोक्ता माण्डूकी मण्डुकाप्लुतिः।
सा नाडी पीड्यमाना च सुस्थिरत्वं च गच्छति।।

कनपटी में एक माण्डूकी नाड़ी है जो मण्डूक की भाँति फुदकती है, वह नाड़ी दब कर सुस्थिर हो जायेगी।

तदा वै जायते सर्वं शुद्धं पूतं च निर्मलम् ।
बुद्धिस्तु मलहीना च चाञ्चल्यं नैव गच्छति।।

तब सभी कुछ शुद्ध और निर्मल हो जाता है। बुद्धि मल विहीन और चंचलता का त्याग कर देती है।

अत एव च तां मुद्रां माण्डूकीं त्वं समाचर।

तस्याः प्रभावमात्रेण बुद्धिदोषाः समन्ततः।।

नाशं संयान्ति वै नित्यं नात्र कार्या विचारणा।

एषा सा माण्डूकी मुद्रा प्रयोज्या साधकैः सदा।।

इसलिये तुम माण्डूकी मुद्रा का प्रयोग करो, इसके प्रभाव से बुद्धि दोष चारों ओर से–

नष्ट हो जायेंगे। इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये। साधकों को यह माण्डूकी मुद्रा सदा प्रयोग में लानी चाहिये।

अस्याः प्रभावेण बुद्धिजाः दोषाः नाशमुपयान्ति। बहुफलप्रदा च सा माण्डुकी मुद्रा। यदापि बुद्धिजान् दोषान् सम्भावयेत् तदा तां मुद्रां भजेत् ।। ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

इसके प्रभाव से बुद्धिज दोष नष्ट हो जाते हैं। यह मुद्रा बहुत बड़ा लाभ देने वाली है। जब जब बुद्धि दोषों की सम्भावना हो तब तब इसको लगा लेना चाहिए। ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष ! गोरक्ष !

गोरक्षवाणी :– ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। आदेश। आदेश। आदेश। ॐ । अब बुद्धिज दोषों को नाश करने के लिये यहा उपयोगी मुद्रायें बताई जा रही हैं। इस मुद्रा को माण्डूकी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा का प्रचलन माण्डूक्य ऋषि के द्वारा हुआ था। और माण्डुक्य ऋषि ने इस मुद्रा का प्रयोग मण्डूकों से ही सीखा था। यह मुद्रा बुद्धि के चाञ्चल्य विभ्रमों को दूर करने के लिये अत्युपयोगी मुद्रा बताई गई है और यह मुद्रा ऐसी मुद्रा है जिससे कि केवल बुद्धिज दोष ही दूर नहीं होते हैं, उदर रोगों पर भी यह अपना प्रभाव डालती है और हृदयस्थ रोग भी नहीं होने पाते हैं। यह विचित्र मुद्रा है जिसे माण्डुक्य ऋषि ने अत्यन्त प्रिय माना था। और जिसके प्रभाव से उनकी चञ्चल बुद्धि स्थिर हो गई थी। गहरा भाव आ गया था और तेज सोचने समझने की शक्ति आ गई थी, कुण्ठायें मिट गई थीं। आवरण के घेरे टूट चुके थे। इसलिए आज फिर इस मुद्रा का स्मरण दिलाया जा रहा है। जब तुम मन्त्रों के प्रयोगों से थक जाओ और सुलभता चाहो तो फिर लगा लो माण्डुकी मुद्रा जो माण्डुकी मुद्रा अनुकूल पड़ गई, लगा जाओ माण्डुकी मुद्रा, यह मुद्रा बलवती मुद्रा है। माण्डूकी मुद्रा इस मुद्रा को कहते हैं। यों घुटनों के और कुहनियों के बल पर इस तरह थोड़ी देर अल्पकाल ऐसा करके यों आगे को झुक जाओ। फिर शनैः शनैः शनैः शनैः इस प्रकार आ जाओ, कोई कठिनाई नहीं, यों लेजाकर के जोड़ दो। सीधे इस तरह सिर को, यह जो कान —समीपस्थ भाग है, जिसे कनपटी भी कहते हैं, कर्णपूर भी कहते हैं, इस भाग को इस

तरह से थोड़ा सा बंक मुद्रा में करके (सर को बांई ओर घुमा कर) यों लाकर के और करतल को जो पृष्ठ भाग है यों करके, कभी कभी यों भी कर सकते हो। ऐसा अगर असुविधाजनक जान पड़े तो सीधे यों कर लो। जहाँ तक हो सके तर्जनी का भाग कनपटी पर रहे। अन्यथा यों भी हो सकता है। किन्तु ऐसा कर देने पर वह विशेष लाभप्रद नहीं होती है। लाभ तो होगा, शनैः शनैः होगा। किन्तु जरा यों कर लेना। तर्जनी का जो भाग है वह कनपटी पर लगा रहे। जब ऐसी स्थिति में आ जाओ, पीछे के दोनों पैर इस तरह से मुक्त होकर के हल्के रूप से, स्वल्परूप से, जहाँ तक आ सकें। इन पुट्ठों के भाग के ऊपर आ जाय। उदरभाग और वक्षभाग भूमि पर संलग्न हुआ है। इसके पश्चात् साधारण श्वास लो। और उसके पश्चात् छोड़ना। रेचक पूरक, रेचक पूरक कर लो किन्तु जिस समय पूरक में पेट उठे तो धरती पर जाय तो पीछे का हिस्सा थोड़ा उठ जाय और आ सके तो इन स्कन्ध भागों को यों कर लो (जरा ऊपर) या यों कर लो, जैसे जाँय, जाने दो। स्वतः चले जायेंगे। फिर यों ही लगे रहो (रेचक पूरक करते रहो) कुम्भक लगे तो यथावस्थिति में आ जाओ ॐ ॐ ॐ ध्वनि करते रहना। तो इससे बुद्धि तो शुद्ध होगी, भ्रान्ति मिटेगी, बुद्धि के दोष दूर होंगे, और बुद्धि को तत्त्व ग्रहण का अभ्यास हो जायेगा। यथावत् वस्तुस्थिति को विवेकरूप से ग्रहण करने का अभ्यास हो जायेगा और इससे उदरस्थ दोष भी दूर हो जायेंगे। कभी कभी कटि भाग को भी खींच लेना (ऊपर की ओर), कभी यों भी चला सकते हो। (नीचे ऊपर) उसके पश्चात् जब मुद्रा को तोड़ करके उठाना चाहोगे। तब फिर यह स्थिति होगी, (घुटनों और हाथों के पंजों के बल शरीर टिका रहे) घुटनों को आगे सिमेटोगे और फिर अपने आसन पर यथावत् बैठ जाओगे, यह माण्डूकी मुद्रा है जो अत्युपयोगी है। इसको अभ्यास कर लेना। स्वल्पकाल में ही सिद्धिप्रद होगी। कल्याण होगा। ॐ ।

१८-२-६३ प्रातःकाल।।१६१।।

हरि ॐ तत् सत् ।

ॐ । नमामि तां भगवतीं जागृत-स्वरूपां-महामायां कुण्डलिनीम् या सदा सततं जागृता देवी सर्वदोषापहारिणी तां नमामि भुवनेश्वरीम् ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ जागृत स्वरूप कुण्डलिनी भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ। जो देवी जब जाग पड़ती है तब वह भुवनेश्वरी सभी दोषों का विनाश कर देती है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।।

तां नमामि महाशक्तिं जगदेकहितैषिणीम् ।
या वै सर्वविधं लोककल्याणं कुरूते सदा।।
सा वै सदा महामाया महाबुद्धि प्रदायिनी।

जगत् का अद्वितीय हित करने वाली उस महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ जो सदा सब प्रकार से लोककल्याण करती है।

वही महामाया भगवती महाबुद्धि प्रदायिनी होती है।

अथास्मिन् प्रकरणे ब्याघात-संहति स्वरूपेण बुद्धिजान् समस्तान् दोषान् अपहर्तुं यत् किञ्चिदपि प्रोच्यते, तत् साधकानां हिताय कल्याणाय च भवतु।।

अब इस प्रकरण में व्याघात संहति रूप में बुद्धिज समस्त दोषों का अपहरण करने के लिये जो कुछ कहा जा रहा है वह साधकों के हित और कल्याणार्थ हो।

साधकाः साधनायुक्ताः निर्भयाः गतकल्मषाः।

पवित्रां बुद्धिमाधाय मोदन्तां भुवि सर्वदा।।

साधक लोग साधना में लग्न रहते हुये निर्भय होकर विकार विहीन बनें। पवित्र बुद्धि को लेकर सदा प्रसन्न बने रहें।

तेषां च बुद्धिजान् रोगान् अपहन्तुं पुनः पुनः।

मन्त्रौषधि-प्रयोगं च क्रियारूपेण कथ्यते।।

उनके बुद्धिज रोगों को बार बार विनष्ट करने के लिये मन्त्रौषधि का प्रयोग क्रियारूप में बताया जा रहा है।

यदावै यस्य रूपस्य प्रयोगस्य प्रयोजनम्।

भवेत् तस्य प्रयोगस्य करणीयं सुयोजनम्।।

जब जिस दोष के निवारण के लिये जैसे प्रयोग का प्रयोजन हो तब वैसा ही प्रयोग सोच समझकर कर लेना चाहिये।

यदा वै भ्रान्तिरायाति जडत्वं व्यापकं भवेत्।

स्त्यानं च सम्भवेदेवं बुद्धि वैकल्यतां व्रजेत्।।

जब बुद्धि भ्रान्ति आ जाय और व्यापक रूप में जड़ता आ जाय, अस्थिरता और बुद्धि में विकलता आ जाय।

तदा मुद्राप्रयोगेण तन्निरोधो विधीयताम्।

अथवा चौषधं दिव्यं इदं यच्च तदुच्यते।।

तब मुद्रा प्रयोग के द्वारा उसका निरोध करना चाहिये। अथवा जो दिव्य औषधियाँ बताई जा रही हैं, उसका प्रयोग कर लेना चाहिये।

तस्य प्रयोगभूतेन दोषनिःसारणं कुरू। ॐ ।
कोविदारस्य पुष्पाणि आदाय च फलानि वै।।
तेषां सम्पेषणं कृत्वा भृंगराजेन संहतम् ।
कृत्वा विलेपनं तस्य शिरःस्थ मध्य मस्तके।।

तत्तत् रोगों में बताई गई तत्तत् औषधि अथवा क्रिया मुद्रा कर लेनी चाहिये। कोविदार के (कचनार के) फूल और फल एक साथ ले लो। उन्हें पीसकर भृंगराज को भी साथ में पीस कर सिर के मध्य भाग में विलेपन कर देना चाहिये।

दिनत्रयेण कर्तव्यं भागे तस्मिन् विलेपनम् ।
विलेपनं विधायैव दोषाणां संक्षयो भवेत् ।।

तीन दिन तक इस प्रकार विलेपन करके दोषों को विनाश हो जायेगा।

एतस्य सुप्रयोगस्य फलं शीघ्रं भविष्यति।
स्त्यानं च जडता भ्रान्तिः सर्वमेव विनश्यति।।

इस प्रयोग का परिणाम बहुत शीघ्र दिखाई पड़ जायेगा। अस्थिरता, जड़ता और भ्रान्ति का सब विनाश हो जायेगा।

अथवा मन्त्ररूपेण दोषाणां क्षरणं कुरू।
तदा च पूर्णरूपेण मन्त्रशक्तिश्च या मता।।
सा शक्तिर्दोष नाशाय प्रबला च भविष्यति।।

अथवा मन्त्र–प्रयोग से दोषों का निवारण कर डालो। मन्त्रशक्ति प्रयोग करने पर वह पूर्ण रूप से प्रबल होकर

शक्ति दोष नाश के लिये बलवती बन जायेगी।

अथ मन्त्रः। ॐ क्रीँ क्रीँ क्रीँ, खं खं खं, बुद्धिदोषान्, विनाशय, विनाशय निर्मलां कुरु कुरू ॐ फट् स्वाहा।।

अब मन्त्र हैः– "ॐ क्रीँ क्रीँ क्रीँ, खं खं खं, बुद्धिदोषान् विनाशय विनाशय, निर्मलां कुरू कुरू ॐ फट् स्वाहा"।।

अस्य मन्त्रस्य प्रयोगस्तदैव करणीयः यदा बुद्धेः बहुजाड्यं जडता वा प्रतीतं भवेत् । एतच्च पक्षमात्रेण करणीयः। केवलं यदा कृष्णः पक्षस्तदैवास्य प्रयोगो विधेयः।। ॐ ।।

इस मन्त्र का प्रयोग तभी करना चाहिये जब बुद्धि में बहुत जड़ता आ जाय। इसका प्रयोग एक पक्ष तक करना चाहिये। जब कृष्ण पक्ष हो तभी इसका प्रयोग करना चाहिये।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ अलख निरञ्जन। ॐ । बुद्धि के समस्त दोषों को दूर करने के लिये नाना विधान और प्रयोग क्रमशः नित्य ही बताये जा रहे हैं और अब उन दोषों की औषधि मन्त्र और क्रियायें भी प्रायः समाप्ति पर हैं, और इस प्रकरण की समाप्ति पर आ रही हैं। जब यह कहा जा रहा है, कि बुद्धिज दोष वैसे विभ्रम की बुद्धि हो, उसमें स्फुरण नहीं हो रहा हो, नये नये भावों के उदय होने की शक्ति नहीं आ रही हो। बिम्ब ग्रहण करने की शक्ति समाप्त होती जा रही हो। तब ऐसे समय में अथवा जब बुद्धि में विक्षेप की मात्रा विशेष प्रतीत हो, ऐसे समय में अथवा उन्मत्तावस्था या उन्माद की सी अवस्था आ गई हो, ऐसी अवस्था में ये जो औषधि बताई गई है इसका प्रयोग किया जा सकता है। कोविदार जिसे भाषा में कचनार कहते हैं, कचनार, यह भी बड़ी औषधि है, उसको यों भी ग्रहण किया जाता है। शाक के रूप में भी भक्षण होता है। अच्छा सुन्दर वर्ण का पुष्प होता है। उसके पुष्प को ले लेना और उसमें लघु रूप से कभी कभी फल भी दिखाई देते हैं, इन कच्चे पक्के फलों के रूप में अगर ऐसे मिल जाँय तो उनको भी ले लेना। अन्यथा कोई ऐसी बात नहीं और उनको लेकर के पीस लेना और भृंगराज की थोड़ी सी पत्तियाँ ले आना उसे भांगरा भी कहते हैं। भगेरा भी कहते हैं तो उनको भी ले आना, उसकी पत्तियाँ को भी उसके पुष्प व फलों में मिला देना और पीस लेना और पीस करके जब खुद मृदु रूप मे वह हो जाय तब उसको सर के मध्य भाग में विलेपन कर देना, लगा देना और वह रात्रि के समय में लगाना और वह भी एक पक्ष तक लगाना और कृष्ण पक्ष में ही लगाना तो विशेष लाभ होगा और इसी औषधि के साथ में उन्हीं दिनों जब औषधि विलेपन किया जा रहा हो तो एक बार रात्रि में वही एक पक्ष तक अर्थात् १५ दिन तक क्रीं क्रीं क्रीं वाले मन्त्र को भी उच्चारण कर लेना। उस मन्त्र की शक्ति संचरित होकर के बुद्धिजनित दोषों को, औषधिप्रयोग को भी शक्ति देती हुई विभूत कर देगी और बुद्धि और निर्मल और कुछ और पवित्र कर देगी। इस में साधक की जीवयात्रा निर्दोष हो जायेगी। गन्तव्य की प्राप्ति में बाधा नहीं होगी और जो अपना मार्ग है, उस पर समुचित रूप से बढ़ता चला जायेगा। और इस प्रकार इन बातों को सोच करके और सर्वत्र विघ्न निःसारण के लिये ये औषधि और मन्त्र इत्यादि का प्रयोग बताया जा रहा है। इससे सबका कल्याण होगा। ॐ ।

१८-२-६३ सायंकाल।।१६२।।

ॐ । अत्र बुद्धिजान् दोषान् विनाशयितुं पुनरपि किञ्चित् निगद्यते।

ॐ । यहाँ पर बुद्धिज दोषों के विनाशार्थ फिर से कुछ कहा जा रहा है। ॐ ।

यदा बुद्धि दोषां विशिष्टा भवन्ति
तदा विघ्नरुपा स्तथा ते भवन्ति।
तदा बुद्धि चाञ्चल्यमेवं तथा वै
जडत्वं च भ्रान्तिश्च बृद्धिं प्रयाति।।

जब बुद्धि दोष विशिष्ट रुप में बढ़ते हैं तब साधक के लिये विघ्नकारक होते हैं, बुद्धि की जड़ता चञ्चलता और भ्रान्ति की वृद्धि होने लगती है।

तदा सर्वदोषान् पृथग् वै विधाय
तदा साधको याति तत्त्व-प्रपत्तिं।।
अतः सर्वरोगस्य व्यूहं विनाश्य
तदा वै महादिव्य शक्तिःप्रयाति।।

सभी दोषों को निरन्तर दूर करते हुए तब साधक तत्त्व की प्राप्ति कर लेता है। अतः सभी रोगों के व्यूह का विनाश करते हुए साधक में बड़ी दिव्य शक्ति आ जाती है।

यदा च बुद्धिजा दोषाः प्रवलाः विघ्नकारकाः।
विविधाः सर्वतो बुद्धेः जायन्ते कार्यनाशकाः।।

जब बुद्धिज दोष प्रबल विघ्नकारक हो जावें और वे नाना रुप धारण करके साधना कार्य का विनाश कर रहें हों।

तदा तेषां नाशाय बुद्धेश्च पावनाय मन्त्रौषध प्रयोगश्च करणीयः साधकैः।। ॐ ।।

तब उनके विनाश के लिये, बुद्धि को पवित्र करने के लिये मन्त्रौषधि प्रयोग कर लो।

अथ मन्त्रः। ॐ ह्रीँ हिरण्यात्मिकां हिरण्यां हरिणीमाराधयामि। बुद्धिजान् दोषान् विनाशय, शमय शमय, विद्रावय विद्रावय, ॐ ॐ ॐ ।।

यह मन्त्र है:-" ॐ ह्रीँ " हिरण्यात्मिकां हिरण्यां हरिणीमाराधयामि, बुद्विजान् दोषान् विनाशय, शमय शमय, विद्रावय विद्रावय ॐ ॐ ॐ ।।

अस्य मन्त्रस्य प्रयोगः शुक्ले पक्षे भानुवासरादारभ्य मंगलान्तं उच्चारणीयम्। तदा चास्य प्रभावः बुद्विजान् दोषान् बुद्विजान् विक्षेपान् बुद्धयवरोधान् जडत्वप्रतिपादकान् विघ्नान् नाशयति।।

इस मन्त्र का प्रयोग शुक्ल पक्ष में रविवार से लेकर मंगलवार तक करना चाहिये। तब इस मन्त्र का प्रभाव सभी बुद्धिज दोषों और विक्षेपों को, बुद्वि के अवरोधों को, जड़त्व पैदा करने वाले विघ्नों को नष्ट कर देगा।

रोगाश्च विनश्यन्ति। अस्य प्रयोगस्तदैव बलदा कः बुद्धि-तत्त्वस्य शोधकः। तथा सावधानेन प्रयोगो विधेयः। तत्र चौषधं औषधप्रयोगं च वदामि।।

इस प्रयोग से रोग विनष्ट हो जायेंगे। इसका प्रयोग तत्काल बलदायक और बुद्वितत्त्व का शोधक होता है। सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। औषधि प्रयोग भी बताती हूँ।

यदा मन्त्रस्य प्रयोगः करणीयस्तदैव औषध प्रयोगोऽपि करणीयः। तस्मिन्नेव काले सेवनीयमौषधम् ।। ॐ ।।

जब मन्त्र का प्रयोग करना हो, तब उसी काल में औषध प्रयोग भी करना चाहिये। मन्त्र और औषधि दोनों का प्रयोग एक साथ होगा।

ताम्बूलस्य हरित्पत्रं गुडेन मिश्रितं शुभम् ।

मात्रा तु एकरुपा च केवला चैव गुट्टिका।।

पान के हरे ताजे पत्ते गुड़ के साथ पीस कर उसकी गुटिका बना लो ।

तस्यास्तु सेवनं कृत्वा बुद्धिस्तु प्रबला भवेत् ।

तथा च सर्वदोषांश्च शमयत्येव निश्चितम् ।।

इस गुटिका का सेवन करने से बुद्धि प्रबल हो जायेगी, और निश्चयात्मक रुप से सभी बुद्धि दोषों का शमन हो जायेगा।

यत् पत्रं तस्य यद् वर्णां हरितं गुडमिश्रितम् ।

कृत्वा तेन सदा एवं नश्यन्ति बुद्धिदोषकाः।।

पान का जो पत्ता हो वह हरा और ताजा हो, उसमें गुड़ पीस कर उसका सेवन करो। इस प्रकार बुद्धिदोष मिट जायेंगे।

निर्मलं च संयाति बुद्धितत्त्वं विशेषतः।। ॐ ।।

इससे बुद्धितत्त्व की विशिष्ट रुप में निर्मलता आ जाती है।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। इस प्रकरण में बुद्धिज दोषों को हटाने के लिये, सर्वकार्यसाधिका बुद्धि को निर्मल करने के लिये, बहुप्रयोगों का कथन किया जा रहा है। इनके सेवन से सब दोष विनष्ट हो जायेंगे और उसके पश्चात् निर्मल कार्यसाधिका मल-विहीना बुद्धि प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति से युक्त हो जायेगी। अतः अन्य मन्त्रक्रिया और औषधि प्रयोग इस प्रकरण में बताये गये हैं जिससे सदैव बुद्धि में पवित्रता आ जायेगी। जब कभी विक्षेप आयेंगे सम्भव प्रयास उन्हें भी दूर कर देगा। इसलिये उनको दूर करने के लिये मन्त्रौषधि का प्रयोग करें, और मां का आदेश है कि हिरण्याहरिणी मंत्र का प्रयोग शुक्ल पक्ष में रविवार से मंगलवार तक तीन रोज तक रात्रि में एक ही बार उच्चारण करना। उस उच्चारण के साथ साथ उस समय हरित वर्ण के पान के पांच पत्ते पीस कर उसमें गुड़ मिलाकर बेर के दाने के बराबर गोली बनाकर सेवन करना। एक प्रातः काल करना। एक बार सांयकाल करना। उससे क्या होगा। सब ऐसी जड़ता के कारण आने वाले रोगों का निरोध हो जायेगा और मन्त्र से औषधि भी शक्ति पायेगी। साधुता आ जायेगी और वातावरण शुद्ध हो जायेगा। पूतां, इसका प्रयोग कर लेना, कल्याण होगा।। ॐ ।।

१९-२-६३ प्रातःकाल।।१६३।।

हरि ॐ तत् सत् ।

नमस्ते महाबुद्धिदात्र्यै नमस्ते नमस्ते महाबोध शोधोद्यतायै।

नमस्ते समस्तैकतत्त्वभिदायै नमस्ते सदा चैकशक्त्यैकध्येयै।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ । महाबोधदात्री भगवती को नमस्कार है। महाबोध और महाशोध के लिये उद्यत मां को नमस्कार है। समस्त तत्त्वों का ज्ञान कराने वाली मां को नमस्कार है। ॐ ।

नमः शांकरीं शंकरस्यात्मशक्तिं नमो वै शिवां सर्व शं वै विधात्रीम् ।।

सर्व प्रकार के मंगल करने वाली, शिवा शंकर की आत्म शक्ति शंकरी को नमस्कार है ।

नमामि तांमतुलितबलयुतां परेशीं परमतत्त्वलक्षप्रापिकां महामायां भगवतीं जागृतां महाशक्तिं महायोगप्रसाधिकाम् ।। ॐ ।।

अतुल बल सम्पन्ना, परमेश्वरी, परम तत्त्व लक्ष्य को प्राप्त कराने वाली महामाया भगवती महाशक्ति महायोग प्रसाधिका जागृता देवी को मैं प्रणाम करता हूँ । ॐ ।

या शक्तिः सर्वभावेन सर्वत्रैव विराजते।

तत्त्वस्य तत्त्ववोधाय सा मे भवतु शाम्भवी।।

जो शक्ति सर्वभाव से सर्वत्र विराजमान रहती है वह शाम्भवी शक्ति तत्त्व के बोध के लिये उद्यत रहे।

अणवः शक्ति सम्पन्नाः शक्ताश्च परमाणवः।

सूक्ष्माश्च संस्मृता या च तेषामन्तर्विराजिता।।

अणु भी शक्ति सम्पन्न है, परमाणु भी शक्तिपूर्ण हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों के भीतर भी वह शक्ति विराजमान है।

समष्टिरुपा या देवी व्यष्टिरुपा तथैव च।

एक रुपा अनेका च सा मां रक्षतु रक्षतु।।

जो देवी समष्टि रुपा भी है और व्यष्टि रुपा भी है। एकरुपा भी है और अनकेरुपा भी है। वह भगवती मेरी निरन्तर रक्षा करती रहे।

बुद्धिं तां विमलां शुद्धां मन्त्रयोगेन साधिताम् ।

दिव्यौषधि प्रयोगेण विशुद्धां क्रियया तथा।।

मन्त्रयोग से विमल और शुद्ध की हुई और दिव्यौषधि प्रयोग द्वारा तथा क्रियाओं द्वारा विशुद्ध की गई।

तां बुद्धिं सर्वदा शक्तिः महाशक्तिस्तु रक्षतु।

दोषाः समस्ता नश्यन्तु माभूत् तत्सम्भवा-स्तथा।।

उस बुद्धि की सर्वदा महाशक्ति रक्षा करती रहें। मेरे सभी दोष नष्ट हो जावें और फिर से कभी पैदा न होने पावें।

अधुना सर्वभावेन बुद्धेः पावनत्वं, सुस्थिरकरणाय अथवा या बुद्धिर्मन्त्रौषधि प्रयोगेण क्रिया प्रयोगेण वा निर्मला जाता तस्या निर्मलत्वं सदैव तथैव तिष्ठतु, एतदर्थं मन्त्रप्रयोगः कथ्यते, औषधि प्रयोगश्च।

अब यह बताया जा रहा है कि मन्त्रौषधि प्रयोग द्वारा क्रिया मुद्रा द्वारा सब प्रकार से निर्मल और विशुद्ध हुई बुद्धि की पवित्रता सदा स्थिर बनी रहे, इस उददेश्य से मन्त्र प्रयोग और औषधि प्रयोग बताया जा रहा है।

अथ मन्त्रः-ॐ सौं बीजाक्षर-मण्डितां नौमितामाणविकीं महाप्रलयसाधिकां शक्तिं, सा मे समस्तान् दोषान् विजित्य निर्मलत्वं बुद्धिश्च स्थापयतु। ॐ ।

यह मन्त्र है:-ॐ सौं बीजाक्षर मण्डितां नौमितामाणविकीं महाप्रलय साधिकां शक्तिं, सा मे समस्तान् दोषान् विजित्य निर्मलत्वं बुद्धिश्च स्थापयतु। ॐ ।।

अस्य मन्त्रस्य प्रयोगस्तदैव करणीयः यदा मासान्ते पूर्णिमा अमावास्या वा स्यात् । एकादश वारेण जपभावेन उच्चारणीयः मन्त्रः।

इस मन्त्र का प्रयोग तभी करना चाहिये जब मासान्त में पूर्णिमा अथवा अमावास्या पड़े। ११ बार उच्चारण करके यह मन्त्र पढ़ना चाहिये।

एतस्य मासत्रयमात्रेण कर्तव्यः प्रयोगः न न्यूनं नाधिकम् । मन्त्रस्यास्य प्रभावेण स्वयमेव प्रत्यक्ष रूपेण वा भगवती महामाया बुद्धिप्रदायिनीं प्रत्यक्षं सर्वं निर्मलं विधाय बोधं दास्यति। अस्य मन्त्रस्य प्रयोगः प्रत्यक्ष रूपेण साक्षात् बुद्धिशक्तिं प्रदर्शयिष्यति।।

तीन मास तक यह प्रयोग करना चाहिये, न कम न अधिक। इस मन्त्र के प्रभाव से स्वयं ही प्रत्यक्ष रूप में महामाया भगवती बुद्धि प्रदायिनी प्रत्यक्ष सब निर्मल करके बोध प्रदान कर देगी। इस मन्त्र का प्रयोग साक्षात् प्रत्यक्ष रूप में बुद्धि शक्ति को प्रदर्शित कर देगा।

तथा च मन्त्रदेवतां, मन्त्र शक्तिं, मन्त्रबीजाक्षरं मन्त्रफलं तत्रैव प्रदर्शयति, अस्य मन्त्रस्य शाम्भवी शक्तिः देवता। तत्त्वशोधनं बुद्धिबोधनं स्थिरीकरणं च तत्फलम् । अपरं च अस्य रहस्यं गूढातिगूढं तदैव प्रतीतं भविष्यति। अपरं च अस्मिन्नेव काले तस्मिन्नेव दिने अमायां पूर्णिमायामेव एकादशवारं मन्त्रोच्चारणं क्रियते तदैव औषधस्य सेवनमपि समाचरणीयम् ।।

मन्त्र देवता, मन्त्र शक्ति, मन्त्र बीजाक्षर, उसका फल प्रत्यक्ष सामने आ जायेगा। इस मन्त्र की शाम्भवी शक्ति देवता है, तत्त्वशोधन और बुद्धि स्थिरीकरण उसका फल है, और भी इस मन्त्र का रहस्य अति गूढ़ है जो सभी प्रकट हो जायेगा। जब अमावास्या को औषधिका प्रयोग किया जा रहा हो उसी समय साथ साथ में ११ बार इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।

या च प्रोक्ता वचा कुष्टा खण्डमेकं पृथक् पृथक् ।
कृत्वा जले च वै तस्य चर्वणं शुभसम्मतम् ।।

जिसे कुष्ठा या बचा कहते हैं उसका एक खण्ड लेकर जल के साथ उसका चर्वण कर लेना बड़ा लाभदायक होता है।

यदा वै चर्वणं तस्य लेपमात्रेण जायते।
कर्णयोः पृष्ठभागे तु विलेपनं शुभं भवेत् ।।

जब चर्वण करो तब उसी काल में इस का लेप भी कानों में पिछले हिस्से में कर देने से बहुत लाभकारी होता है।

तत्रैव लेपनेनैव कर्णमूले च पृष्ठके।
नाडितत्त्वस्य संबोधो बुद्धेर्बोधो भविष्यति।।

कर्णमूल के पृष्ठभाग में लेपन करने से बुद्धि सम्बन्धी नाड़ी तत्त्व का संशोधन होकर बुद्धि का बोध हो जायेगा।

गोरखवाणी :- अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ । बुद्धिज दोषों के विनाश के लिये सब कुछ बताया जा चुका है और उसका प्रयोग करने से अवश्य ही बुद्धिज रोग विनष्ट होंगे, और जब उन दोषों के दूर होने पर बुद्धि में निर्मलता आ जायेगी, पवित्रता आ जायेगी, विवेक शीलता आ जायेगी, तब उसको स्थिर करने के लिये भी उपाय कर लेना चाहिये जिससे फिर से उन दोषों का प्रादुर्भाव न हो सके। वे फिर से बार बार इस प्रकार बुद्धि पर अपना आक्रमण न कर सकें, इनके प्रभाव से बुद्धि को मुक्त करने के लिये ऐसा कर लेना, जो शाम्भवी देवता का मन्त्र बनाया गया है, उसको प्रत्येक मास के अन्त में या तो पूर्णिमा को या अमा को , उस मन्त्र को ग्यारह बार पढ़ लेना, और उस मन्त्र के

प्रभाव से मन्त्र की शक्ति, मन्त्र का देवता, मन्त्र की क्रिया, मन्त्र का फल और उसकी चरम लक्ष्य की वस्तु भी प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बन जायेगी। साधक को ज्ञान होने लगेगा कि इस मन्त्र में जो रहस्य था या है प्रत्यक्ष रूप में प्रस्फुटित हो रहा है, वह महामाया की कृपा का महाफल है। इसीलिये इस प्रकार उस मन्त्र का प्रयोग भी कर लेना, और ऐसा करना कि उसी समय में औषधि प्रयोग भी कर लेना। जिसे बच कहते हैं, कुष्टा कहते हैं, जो औषधि है, जड़ के रूप में होती है, स्वाद उसका बड़ा कटु तीक्ष्ण होता है, उसको लोग बुद्धि-वृद्धि के लिये ऐसे ही ग्रहण करते हैं, तो उसको ऐसे कर लेना कि एक छोटा सा टुकड़ा लाकर के जैसे चन्दन घिसते हैं वैसे ही घिस लेना, जब विलेपन जैसा हो जाय तब कर्ण के पृष्ठ भाग में विलेपन करके फिर मन्त्र जाप करके बैठ जाना। नाड़ी तत्त्व शोध हो जायेगा, उसमें पवित्रता शुद्धता रह जायेगी। इस प्रकार प्रत्येक मास के अन्त में इसको करना। तीन बार ही तो करना है, कर लेना। तो पूतां, कल्याण होगा। फिर कदापि बुद्धि में विभ्रम नहीं होगा। अब बुद्धि में विभ्रम नहीं होगा। कल्याण होगा, और फिर किस प्रकार से साधक अपनी गतिविधि का लेखा जोखा करता रहेगा उसको इसका आभास भी सदा होता चला जायेगा। ऐसा मां का आदेश है। कल्याण हो।

१९-२-६३ सायंकाल।।१६४।।

हरि ॐ तत् सत् ।

नमो योगमार्गप्रशस्तैकभाव्यै नमः सिद्धिदात्र्यै अनन्तप्रभायै।

सदा बुद्धिरूपा च या पुष्टरूपा सदा बुद्धि संशोधिकायै नमस्ते।।

हरि ॐ तत् सत् । योगमार्ग को प्रशस्त करने के लिये जिसकी एक मात्र सत्ता है, अनन्त सिद्धिदात्री, अनन्त प्रभावशाली, बुद्धिरूपा, पुष्टिरूपा, बुद्धि संशोधिका भगवती को बारम्बार प्रणाम है।

नमस्ते सदा चित्स्वरूपाभिधायै नमस्ते महा जागृतायै परायै।

नमः शक्ति सम्पन्नभावात्मिकायै नमो बुद्धिसंशोधिकाशंकरायै।।

चित्स्वरूपा को सदा प्रणाम है, महा जागृता परमा को प्रणाम है, शक्ति सम्पन्ना को प्रणाम है, बुद्धि संशोधिका शंकरी भगवती को प्रणाम है।

नमामि तां महाशक्तिं योगसंरक्षकारिकाम् ।

या च वै प्रबलारूपा सर्वतत्त्व-समन्विता।।

योग संरक्षिका उस महाशक्ति को प्रणाम है जो प्रबल रूप में आकर सर्वतत्त्वों से समन्वित हो जाती है।

जागृता जागृतिं या च प्रयच्छति शुभां शुभाम् ।

नमामि तां महाशक्तिं त्वां वै सर्वत्र राजिताम् ।।

जो भगवती जागृता होकर नई नई कल्याण कारक जागृति प्रदान करती है, सर्वत्र विराजमान उस महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

विराजिता या सकलैकलोके संराधिता या च विशोक-लोकैः ।

भवाय भव्या च विहाय शोकं तामाश्रयन्ते गतशोक-लोकाः ।।

समस्त संसार में जो विराजमान है, शोक रहित लोगों द्वारा जो आराधित है, शोक को दूर करके जो संसार को सुखी बनाती है उसी का आश्रय शोकहीन लोग करते है।

या शक्तिः प्रबलतमा भूता बुद्धिस्थान् बुद्धिसमुद्भवान् बुद्धिजान् रोगान् समस्तान् दोषान् च अपहरति। ॐ ।

जो शक्ति प्रबलतम होकर बुद्धिस्थ और बुद्धिसमुद्भव समस्त दोष एवं रोगों का अपहरण कर देती है, उसे नमस्कार है। ॐ ।

बुद्धि दोषाश्च ये लोके सूक्ष्माः सूक्ष्माः निरूपकाः ।

तेषां स्वरूपरूपं च वर्णितं बहुशो मया ।।

इस लोक में जो भी सूक्ष्म और सूक्ष्मतम बुद्धि दोष हैं। उनका स्वरूप बहुत भाँति मैं पहिले वर्णन कर चुकी हूँ।

तन्नाशाय च वै सर्वं मन्त्रौषध-विधात्मकम् ।

क्रियारूपेण यच्चात्र भाषितं भावदायकम् ।।

उनके नाम के लिये भी भाँति भाँति के मन्त्रौषधि, क्रिया मुद्रा के उपाय बता दिये गये हैं।

अधुना संप्रवक्षामि मन्त्रं दिव्यं महौषधम् ।

संममेव तयोस्तत्र प्रयोगः क्रियतां बुधैः ।।

सम्प्रति एक दिव्य मन्त्र और दिव्य औषधि बता रही हूँ। मन्त्र और औषधि दोनों का प्रयोग साथ साथ ही साधकों को करना चाहिये।

तत्प्रभावेण वै सर्वे बुद्धिदोषाश्च सूक्ष्मकाः ।

स्थूला वा छिन्नविच्छिन्नाः जायन्ते नात्र संशयः ।।

उसके प्रभाव से बुद्धि के जो भी स्थूल, सूक्ष्म, लुप्त, गुप्त, बचे खुचे दोष होंगे वे सभी नष्ट हो जायेंगे। इसमें संशय नहीं है।

अपहारस्तु वै तेषां दोषाणां नित्यशो भवेत् ।

तस्मामन्त्रौषधं चैव प्रयोक्तव्यं सुसाधकैः।।

उन दोषों का दूरीकरण सदा सर्वदा के लिये हो जाय, इस उद्देश्य से अच्छे साधकों को इस औषधि का और मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये।

अथ मन्त्रः। ॐ शांकरीं शं शमय शमय दोषान् सर्वान् च नाशय, ॐ पं पं पं, पं पं पं, पं पं पं, ॐ ।।

यह मन्त्र है:– "ॐ शांकरीं शं शमय शमय दोषान् सर्वान् च नाशय, ॐ पं पं पं, पं पं पं, पं प पं, ॐ ।।"

अस्मिन् मन्त्रप्रयोगे महादिव्या शांकरी शक्ति विद्यते, ॐ शंकरा देवता, शांकरी शक्तिः, रोगाविनाशनं तत्फलं प्रत्यक्षमनुभूति विषये समागमिष्यति। अस्य मन्त्र प्रयोगस्य विशेषतः मन्त्रव्यूहकस्य प्रयोगः तदैव कर्तव्यः यदा (कृष्ण पक्षे) अमास्यात् ।।

इस मन्त्र प्रयोग में एक दिव्य शांकरी शक्ति निहित है। शंकरा देवता है, शांकरी शक्ति है, रोग विनाशन उसका फल है, जो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बन जायेगा। इस मन्त्र का प्रयोग तभी करना जब अमावास्या हो।

अमायां वारमेकं च करणीयः प्रयोगकः।

औषधं तेन सार्धं च भक्षणीयं बलप्रदम् ।।

अमावास्या में केवल एकबार इस मन्त्रौषधि का प्रयोग करना चाहिये। एक बार मन्त्र पढ़कर औषधि भक्षण कर लेनी चाहिये, यह बहुत बलप्रद है।

औषधं परमं दिव्यं दिव्यं शक्तिप्रदं महत् ।

दोषापहं परं दिव्यं सेवनीयं तदैव तत् ।। ॐ ।।

यह परम दिव्य औषधि है और बड़ी शक्ति देने वाली है। दोषों को दूर कर देती है। इसका सेवन अमावास्या के दिन कर लेना चाहिये। ॐ ।

वटस्य अंकुरान् रक्तात् ताम्रवर्णविमण्डितान् ।

अग्रतस्तान् समादाय कुर्याच्च चवर्णं तदा।।

लाल लाल ताम्रवर्ण के सुन्दर कोमल, बट के अंकुरों को लेकर उनका चवर्ण कर लेना चाहिये।

केवलं चवर्णं कृत्वा मन्त्रधारेण सार्धकम् ।

महादिव्यं महाशीघ्रं फलं चैव भविष्यति।।

चवर्ण करते समय केवल मन्त्र का उच्चारण कर लो। इससे बड़ा दिव्य और बड़ी जल्दी फल मिल जायेगा।

बुद्धिजाः सकला रोगाः शान्तिमायान्ति सत्वरम् ।

तस्मादिदं च कर्तव्यं कल्याणं च भविष्यति।। ॐ ।।

बुद्धि के सभी रोग शीघ्र शान्त हो जायेंगे। इसलिये इसका प्रयोग कर लेना चाहिये, सब कल्याण होगा।

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ं का आदेश है कि अब इस प्रकरण की समाप्ति हो रही है, तो मन्त्रौषधि प्रयोग का भी अन्तिम प्रयोग बता दिया जाना चाहिये और वह इसलिये बता देना चाहिये कि अन्त में जो कुछ भी शेष बचे हुए सूक्ष्म या वृहत् बुद्धिज दोष हों, बुद्धिज रोग हों, वैसे न रहने पावें। इसीलिये साधक श्रेष्ठ को अपने मार्ग में चलते हुए अपनी बुद्धि को पवित्र करने के लिये, स्थिर करने के लिये विवेकवती और विचारशील बनाने के लिये समय समय पर जब जब जैसी आवश्यकता हो तब तब इस प्रकार के मन्त्रों का और इस प्रकार की बताई गई औषधियों का सेवन कर लेना चाहिए। जब जैसी परिस्थिति सामने आ जाय उसके लिये वैसा ही विधान भी बता दिया गया है, सावधानी से उनका प्रयोग कर लेना। और ऐसा भी बताया गया है कि जब किसी प्रकार का सूक्ष्म या स्थूल, लघु या महा बुद्धि दोष, द्वेष की भावना, बुद्धिज दोष, विक्षेप पदार्थ. सम्मोहवाला मलविक्षेप अथवा दिव्य भाववाली मलविरलता आ जाय और बुद्धि में विकारों का होना प्रारम्भ हो जाय, अथवा बुद्धि सदैव विकारग्रस्ता हो करके केवल विद्रोह और विप्लव की बातें सोचा करे और उसमें एक प्रकार की मल-विरलता आ जाय जो निम्नस्तर की बातों को सोचने के अतिरिक्त उच्चस्तर की बात को सोच ही न सके, ऐसे समय में शंकर की शांकरी शक्ति वाला मन्त्र प्रयोग कर लेना चाहिये। अमा में सायं कर लो या प्रातः कर लो। एक बार ही इसको कर लेना। और उसके साथ में जो वट वृक्ष है, बरगद है, उसकी जो टहनियाँ होती हैं उसके आगे जो रक्त वर्ण के अंकुर जैसे होते हैं, वे लाल होते हैं, कोमल कोमल होते हैं, निकाल करके, ला करके, थोड़ी सी मात्रा में उनका भी भक्षण कर लेना तो इससे बुद्धिज दोषों का विनाश हो जायेगा। तो इसलिये इसकी अवधि चार मास है। इस बात को पूर्ण रूप से ध्यान रखना। चार अमायें जब व्यतीत हो जायेंगीं, पचंमी आमा जो आयेगी उसमें स्वतः ही बुद्धि के प्रकाश के लक्षण, बुद्धि के विचारशीला होने के लक्षण और बुद्धि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के ग्रहण करने के लक्षण स्वतः ही प्रकट होने लगेंगे और इस प्रकार साधक अपने कार्य में सफल हो जायेगा। इसके पश्चात् जैसा कि मां का आदेश है। थोड़ा बहुत महत्त्व और बता करके फिर जैसी मां की इच्छा होगी वैसा ही आदेश दिया जायेगा। तो साधक ! सावधान।। ॐ ।।

२०-२-६३ प्रातःकाल।।१६५।।

प्रकरण की समाप्ति

हरि ॐ तत् सत् । ॐ ।

सकल जन मनः सम्मोदसम्पादयित्रीम्
सकल-जन-समूहे शोध सद् बुद्धिदात्रीम् ।
सर्वात्मता बोध विवोधदात्रीम् ।
आधारं न समस्तं सुदृढं कुरू शारदे सर्वकाले।।

हरि ॐ तत् सत् ।। ॐ ।। समस्त मानवों के मन को प्रसन्न कर देने वाली, सकल जनों की बुद्धिवत शोधन करने वाली, सर्वात्मता का विशिष्ट बोध देने वाली भगवती को प्रणाम है। हे शारदा भगवती ! मेरे उस आधार को सुदृढ़ कर दो।

अस्मिन् व्याघात्- संहति प्रकरणे बुद्धिजान् रोगान् अपसारयितुं सर्व: सुखदं लाभप्रदं औषधि मन्त्रक्रिया प्रयोगं कथितम् । तत् सर्वं विशिष्टरूपेण अनुभूतिपरकं चक्रविद्याया तत्त्वात् तत्त्वभूतं प्रकटितम् येन सर्वत्रैव साधकानां कल्याणं भवतु।।

इस व्याघात्-संहति प्रकरण में बुद्धिज रोगों में अपसारणार्थ सब कुछ सुखद और लाभप्रद औषधि मन्त्र क्रिया के प्रयोग बताये गये हैं। वह सब अनुभूति जन्य और अनुभूति परक चक्र विद्या में तत्त्व तत्त्व, सार सार प्रकट किया गया है। इस विद्या से सर्वत्र साधकों का कल्याण हो।

अत एव चास्मिन् प्रकरणे सर्वसुनिश्चितं सारं सारं तत्त्वभूतं च निगदितम् । येन बुद्धिवैकल्यं विनश्यति। बुद्धिभ्रान्तिश्च नश्यति। बुद्धिस्तु प्रबला, निर्दोषा निर्विकारा च जायते।। ॐ ।।

इसलिये इस प्रकरण में सार सार सर्व सुनिश्चित तत्त्वभूत बातें बताई गई हैं, जिससे बुद्धि वैकल्य का विनाश होता है। बुद्धिभ्रान्ति नष्ट होती है। बुद्धि प्रबल, निर्दोष निर्विकार हो जाती है। ॐ ।

**महायोगे चास्मिन् निगदितमिदं तत्त्वभूतं विशिष्टम् ।
नित्यं नित्यात्मकं च प्रमुदित मनो दोष रोषापसारम् ।।
उत्का तत् सर्वमेवं विगलितं भयं पूर्ण-संसिद्धिकामम् ।**

सर्वं तत् पूर्णरूपं परिमितबलं जायतां साधकानाम् ।।

इस महायोग शास्त्र के अन्तर्गत विशिष्ट सारभूत नित्य सुनिश्चित तत्त्व बताये गये हैं। साधक लोग इनके द्वारा दोषों का अपसरण करके निर्भय बन जावें, पूर्णसिद्धि की कामना करें। साधकों के लिये यह शास्त्र पूर्णरूप से अपरिमित बलदायी बने।

शास्त्रे चास्मिंश्च यत्प्रोक्तं शक्तिपातं सुदुर्लभम् ।

तत्सर्वं बहुरूपेण स्वानुभूतौ निवेश्य च।।

दत्तं च भाषितं चैव वर्णितं च पुनः पुनः।

अनुभूतौ समारोप्य साधकस्य तदैव तत् ।।

इस शास्त्र में जो सुदुर्लभ शक्तिपात विद्या बताई गई है वह सब नाना भाँति से अनुभूति में बिठाकर साधकों को दिया गया है, कहा गया है और बार बार दिखाया गया है। साधकों की अनुभूति में तत्काल जमा कर प्रकट कर दिया गया है।

सारं सारं मया प्रोक्तंप्रोक्तंशास्त्रस्य तत्त्वतः।

सुप्ता गुप्ता च या विद्या प्रकटिता सा मया पुनः।।

शास्त्र का तत्त्व तत्त्व लेकर मैंने सार बातें कहीं हैं। जो विद्या अब तक लुप्त और गुप्त थी वह मैंने पुनः प्रकट की है।

तस्याः प्रयोगमाधाय लोकाः सन्तु प्रसन्नकाः।

सकलाश्च सदा वै ते भवन्तु हितकामुकाः।।

इस विद्या का प्रयोग लेकर संसार के मानव प्रसन्न बने रहें और वे अन्य लोगों के लिये हितकामना करते रहें।

इदं शास्त्रं महत् शास्त्रं दिव्यं शास्त्रं फलप्रदम् ।

योगमार्गे विशेषेण सर्वश्रेष्ठं भविष्यति।।

यह शास्त्र बड़ा ही दिव्य शास्त्र है और दिव्य फल देने वाला है। यह शास्त्र विशेष करके योग मार्ग में सर्वश्रेष्ठ गिना जोयगा।

अस्य शास्त्रस्य या वार्ता या शक्तिर्यत् फलं च तत् ।

सर्वं संयाति कालेन साधकानां हिताय च।।

इस शास्त्र की जो बातें हैं, जो शक्ति है ओर जो महान् फल है वह सब यथा समय साधकों के कल्याण के लिये सामने आ जाता है।

प्रचरतु भुवि चैतत् दिव्यशास्त्रं महच्च

मुदितजनसमूहो योगतत्तर्थवेत्ता।।

भवतु भवतु लोकः शोक रोगादि मुक्तः।

सफलमतिमनोज्ञं शास्त्रमायातु लोके।।

इस दिव्य महान् शास्त्र का इस संसार में भरपूर प्रचार हो। इसके प्रचार से जनसमाज योगतत्त्वार्थ का वेत्ता बने और जीवन में सुखी हर्षित रहे। सारा लोक इस विद्या के प्रचार से शोक मुक्त तथा रोगमुक्त बन जाये। इस लोक में यह अति सुन्दर शास्त्र पूर्ण सफलता प्राप्त करे।

वितरतां विपुलतां विशिष्टतां गच्छतु शास्त्रमिदं सदैव लोके।

प्रकटितसकलज्ञानं गुप्तलुप्त विधानं।

परिमितपरिमाणं सर्वकल्याणपूर्णं

भवतु सफलमेतत् पूर्णरूपेण सद्यः सकल सफल सिद्धि

चक्ररूपेण यातु।।

यह शास्त्र सर्वदा इस लोक में अपनी एक विशिष्टता बनाये रखे। इस शास्त्र में लुप्त गुप्त विधान और ज्ञान प्रकट किया गया है। अपरिमित परिमाण में यह शास्त्र सर्वजन का कल्याण कारी बने। इस प्रकार समस्त सफल सिद्धि देता हुआ यह शास्त्र पूर्णरूप से सफल बने और चक्र की भांति इसका भी संसार के कोने कोने में यशगान होता रहे। चक्र विद्या यथार्थनाम वाली बने।

ॐ । इदं सर्वं शास्त्ररूपेण वाणिविमण्डितं सर्वं यत् किंचित् प्रोक्तं भाषितं जितेन्द्र भारतीयस्य मुखात् ख्यापितं च इदं सिद्धं वाणी विमण्डितं शास्त्रं भुवि प्रचरताम् । लोकानां कल्याणाय च जायताम् ।।

ॐ । यह पूर्ण शास्त्र गोरख बाबा की वाणी से विमण्डित है। इसमें जो कुछ भी कहा और बताया गया है वह श्री जितेन्द्र भारतीय के मुख से प्रख्यापित हुआ है। यह वाणी विमण्डित शास्त्र संसार में प्रचार प्राप्त करे। लोगों का कल्याण हो।।

यदा वै भुवि अस्य प्रचारो भविष्यति तदैव शक्ति सम्पन्नाः सर्वे जनाः योगमार्गगामिनो भूत्वा सर्वत्रैव सुखं शान्तिं च प्राप्स्यन्ति।। ॐ ।।

जब पृथ्वी में इस शास्त्र का प्रचार होगा तभी शक्ति सम्पन्न सभी लोग योगमार्ग के पथिक बन कर सर्वत्र सुख शान्ति प्राप्त कर लेंगे।। ॐ ।।

नमोऽस्तु तस्मै गुरवे नमः सदा।

यत्पादपद्मोपहितं मनो मे।

योगस्य मार्गे सुविसंयतं च

शक्तिं च सम्प्राप्य मुदान्वितं च।।

उन गुरूदेव को बारम्बार मेरा प्रणाम है, जिनके चरण कमलों में मेरा मन विश्राम पा रहा है और जिनकी कृपा से योग मार्ग में मेरा मन लगा है और जिनसे शक्ति प्राप्त करके हर्ष से भर गया है।

कल्याणं भवतु ।। ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष !!

कल्याण हो ।। ॐ ।। गोरक्ष ! गोरक्ष !!

गोरखवाणी :- ॐ अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। अलख निरञ्जन। ॐ । चक्रविद्या का यह व्याघात-संहति प्रकरण जिसमें शारीरिक, मानसिक चित्तज और बुद्धिज दोषों को विनाश करने का अन्तिम प्रकरण था उसमें केवल बुद्धिज रोगों को नाश करने के लिये विशेष रूप से प्रयोग और उपाय बताये गये और उन उपायों और प्रयोगों को करने से यह भी बताया गया था कि योगमार्ग में प्रवृत्त होने वाले सभी अभ्यासियों का, सभी साधकों का सभी जिज्ञासुओं का कल्याण होगा और इस प्रकार जो शक्तिपात की परम्परा लुप्त गुप्त हो गई थी, पुनः प्रचार में आ जायेगी, और यह जो विद्या थी जो लुप्त गुप्त थी जिसे मैं भी चाहता था कि पुनः प्रकट हो जाय, वह वाणी और शास्त्र के रूप में बद्ध हो गई ओर इसका उपयोग, इसका प्रयोग, इसका अनुभव सदा फलदायक होगा। इससे साधकों की कामना की पूर्ति होगी। यह शास्त्र धरती पर प्रचरित होगा तो साधकों का, जिज्ञासुओं का कल्याण होगा और इस प्रकार जो शक्तिपात की विद्या लुप्त गुप्त हो गई थी, पुनः प्रचार में आ जायेगी। यह शास्त्र धरती पर प्रचरित होगा तो सभी साधकों के जिज्ञासुओं के मनोरथ फलीभूत होते चले जायेंगे। स्वल्पकाल में यह मार्ग, यह विद्या, यह शास्त्र बहुलाभप्रद होगा। ये जितने भी उपाय और प्रयोग बताये गये हैं, सूक्ष्म हैं, स्वल्प काल के हैं। सार सार लिया हुआ है और उसमें से भी निचोड़ निचोड़ कर दे दिया है जिसको स्वल्पकाल में बहुत लाभ हो सके, लोगों की भ्रान्ति मिट सके, लोगों में योग का वायुमण्डल तैयार हो। लोग महायोग के कल्याण मार्ग पर चलकर स्वयं का और जन का कल्याण करते हुए विश्व शान्ति के पूर्ण पोषक बनके "सर्वेऽत्रसुखिनः सन्तु" की घोषणा कर सकें। यही एक बार मेरी इच्छा का विषय बना था। उसकी इस प्रकार से पूर्ति की गई है। साधक ! सावधान ! इसका समुचित उपयोग, प्रयोग और प्रचार करने से स्वयं ही योगसिद्धि का द्वार खुल जायेगा। इसलिये ऐसा करो कि जितना प्रदत्त ज्ञान, अनुभूति का विषय बना है, वह पुष्ट अनुभूति है, क्योंकि इसको आधार पर भी कस लिया गया है। इसलिये इस शास्त्र को कल्याण के

इच्छुकों को बताते चले जाना। समझाते चले जाना और योग का वायुमण्डल तैयार करते चले जाना। आगे मां की जैसी इच्छा होगी, वैसा ही आदेश भी होगा, वैसा ही किया भी जायेगा किन्तु इस शास्त्र का किसी न किसी रूप में, अरे ! स्वयं ही यह ऐसा शास्त्र है जिसमें सरस्वती मां भगवती महामाया ने स्वतः अनुभूत वस्तुओं का सब कुछ सार दे दिया है। उसकी शक्ति का विकास होगा, फिर ऐसा होता है कि भाई, जन-कल्याण की भावना से जो कार्य होता है, वह दिव्य फलदायक होता है। उसका ऐसा दिव्य फ़ल है कि जो जीवन की पवित्रता की ओर मोड़ता हुआ शुद्ध, पवित्र, मुक्त बना देता है। इसलिये ऐसा सोच समझ कर और अनुभूति करके इस शास्त्र का दिव्य प्रचार, बहु प्रचार होने से जन-कल्याण होगा ऐसा करना मां का आदेश है। इस प्रकार चक्र विद्या का अन्तिम प्रकरण गोरक्ष की वाणी में जितेन्द्र भारतीय के मुख से जो कहा गया सो अब बन्द।। ॐ ।।

।। इति ।।

अथ प्राण पराविद्या

।। जागृत – शक्ति निरीक्षणम् ।।

२१-७-६४।।१६६।।

ॐ

अथ परावि‌द्यायां प्रथमाधिकरणम् ।।

अब पराविद्या के अन्तर्गत प्रथमाधिकरण आरम्भ होता है।

हरि ॐ नत् सत् । धातुः कण्ठविहारिणीं प्रमुदितां वन्दे मुदा भारतीम् ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । ब्रह्मा के कण्ठ में विहार करने वाली प्रमुदित भारती देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।। ॐ ।।

ॐ। अथ परावि‌द्यायां प्राणानां गमनागमनं गत्यवगतिः अवरोधानवरोधानां विषये यदुचितं साधकानां हिताय प्रोच्यते तत् सर्वेषां कल्याणाय जायताम् । परावि‌द्यायां ज्ञानानुभवरूपेण कृतं वा उपलब्धं वा भुक्तं वा सर्वं पुष्टिपथं प्रयाति। तत् केन प्रकारेण साधको जानाति, कथं च साधकः अनुभवति, कथं शक्तिः स्थितिविशिष्टं साधकं प्रतिपादयति तदपि सर्वं परावि‌द्यायां प्रकटरूपेण प्रोच्यते।।

ॐ । अब पराविद्या के अन्तर्गत प्राणों का गमनागमन, गति, अवगति, अवरोध और अनवरोध के विषय में जो साधकों के लिए उचित है, कहा जा रहा है। उससे सभी का कल्याण हो। पराविद्या में ज्ञानानुभव रूप से जो भी किया गया, उपलब्ध हुआ या मुक्त होता है वह सब पुष्टि पथ में आ जाता है। उसे साधक कैसे जानता है, साधक कैसे अनुभव करता है, शक्ति कैसे स्थिति विशिष्ट साधक को लक्ष्य तक पहुंचाती है, सब पराविद्या में प्रकट रूप से कहा जाता है।

पराविद्या च या प्रोक्ता प्राणानां गमनात्मिका।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति वै प्राणा अध आयान्ति सत्वरम् ।।

प्राणों के गमन अथवा गति के बारे में जहाँ तक बताया जाता है उसे पराविद्या कहते हैं। प्राण साधक शरीर में ऊपर जाते हैं फिर नीचे को चले जाते हैं।

गमनागमनं तेषां कल्याणाय यदुच्यते।

तत्सर्वं ज्ञायतां पूर्णं कार्यसिद्धिर्भविष्यति।।

उसके गमन और आगमन के बारे में साधकों के कल्याणार्थ कहा जा रहा है, उसे समझ लो। इससे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जायेगी।

यदा गच्छन्ति वै प्राणाः सेतुं यावत् प्रकर्षतः।

ऊर्ध्वं न यान्ति वै तत्र स्थिरतां हि ब्रजन्ति ते।।

प्रकट रूप में जब प्राण सेतु तक (भूमध्य तक) पहुंचते हैं, किन्तु उससे ऊपर नहीं जा पाते हैं वहीं स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं।

तत्रैव स्थिरता तेषां ज्ञायतां तत्त्वतः शुभा।

नाभिदेशात् समाकृष्य कण्ठदेशं निवेशयेत् ।।

वहीं पर उनकी शुभगति को तत्त्व पूर्वक समझ लो। साधक प्राणों को नाभिदेश से खींच कर कण्ठ देश तक स्थापित करे।

तत्र कण्ठे स्थिताः प्राणाः किञ्चित् कार्याकुला मताः।

पुनः डक्कार भावेन गच्छन्ति च इतस्ततः।।

वहां कण्ठ देश में स्थित हुए प्राण कुछ कार्य में आकुल होते हैं और फिर डकार के रूप में इधर उधर बिखर जाते हैं।

पार्श्वभागे समाकृष्य अपरं अपरात्मकम् ।

वायुं तत्रैव संरोध्य ऊर्ध्वं ते प्रापयन्ति वै।।

उदर के दोनों पार्श्व भागों को संकुचित करके, प्राण और अपान दोनों को वहां नाभि में रोक लेने पर, वे प्राण ऊपर की ओर चढ़ने लगते हैं।

तदा च हृदये किंचित् स्फुरणं लघुसंज्ञकम् ।

जायते न चिरात् तत्र ज्ञायतां सुस्थिरा स्थितिः।

तब हृदय देश में कुछ कुछ स्फुरण होने लगता है। यदि ऐसा स्फुरण (धुक धुकी) होने लगे तो समझ लो कि प्राण की स्थिति सुस्थिरा है।

यदि रूद्धा महाप्राणा गमनागमनाख्यकाः।

तेषां संरोधमात्रेण योगमार्गः शुभः स्मृतः।।

गमन और आगमन करने वाले प्राणों को यदि भली भाँति निरोध कर लिया जाय तो उसके संरोधमात्र से योगमार्ग में मंगल हो जाता है।

यदि तत्र विरूद्धास्ते प्राणाः कार्याकुलाः न वै।

तदा प्रमादभावो हि आलस्यमानयेद् ध्रुवम् ।।

यदि प्राण निरूद्ध नहीं हो पाते हैं तो अपना कार्य नहीं कर पाते हैं। तब प्रमादभाव और आलस्य को उत्पन्न कर देते हैं।

आलस्ये च समायाते गतिविच्छितिरल्पकः।

एष भावो विरूद्धाख्यः प्रादुर्भूतो गमिष्यति।।

आलस्य के आने पर साधना में गतिविच्छेद हो जाता है। और गति विच्छेद भाव साधना में विरूद्ध भाव पैदा करता है।

तदा च विविधाः शंका-स्तर्काश्चैव अनेकशः।

प्रजायनो प्रकर्षेण मुह्यते मतिमानपि।।

तब नाना प्रकार के तर्क और शंकायें तीव्र रूप में साधक के भीतर उठा करती हैं। बुद्धिमान साधक भी मोह में पड़ जाता है।

तदा जानाति तं पूर्वं अशुभं अशुभा गतिः।

प्राणानां जायते नैव किं करोमि पुनः पुनः।।

वह समझता है कि योग मार्ग में मेरे लिये अशुभ हो रहा है। प्राणों की गति ठीक नहीं चल रही है, क्या करूँ ऐसे ही बार बार सोचा करता है।

क्रिया मे निष्फला जाता कृतं कर्म शुभं नहि।

तस्मात्याज्यो मया एतत् किमनेन भविष्यति।।

मेरी क्रियायें निष्फल हो रही हैं, किये गये सभी साधन के कार्य शुभ नहीं हो रहे है। इसलिये यह मार्ग मुझे छोड़ देना चाहिये, इस मार्ग में लगे रहने से मेरा क्या बनेगा ?

एतादृशी यदा बुद्धिर्जायते योगविन्नरे।

जायतां मार्गसिद्धिर्वै स एवं प्रापयेत् स्वकम् ।।

योगज्ञाता साधक के भीतर जब इस प्रकार की बुद्धि उदित हो जाय तो समझो कि योगमार्ग में उसकी सिद्धि हो जायेगी। वह अपने को स्वयं लक्ष्य तक ले चलेगा।

सा सिद्धिः पूर्विका प्रोक्ता भूमिका योगसिद्धिदा।

न जायते यदा सा वै तदा कार्यं न जायते।।

यह योग सिद्धि देने वाली प्रारम्भिक भूमिका कही गई है। साधक को यदि ऐसी स्थिति नहीं आती है तो काम नहीं बनता है। (शंका, तर्क, चिन्ता आदि आरम्भ में होते ही हैं)

अतः योगसमायुक्तो योगमार्गरतो नरः।

प्राणानां गतिभावं तं अवगच्छेत् पुनः पुनः।।

नाभिदेशात् तदा ऊर्ध्वं कण्ठदेशं तु संस्थिताः।

मध्ये संघातसम्पूर्णाः प्राणाः श्रेयस्कराः स्मृताः।।

अतः योगमार्ग में लगे साधक को चाहिये कि वह प्राणों के गतिभाव को बारम्बार ज्ञात करता रहे।

उन प्राणों को श्रेयस्कर समझा जाता है, जो नाभि देश से उठकर कण्ठ में स्थित होते हैं और मध्य में (उदर भाग में) संघर्ष रूप में रगड़ खाते हैं (प्राणापान दोनों परस्पर धक्का देते हैं)

तस्मात् सम्पूर्ण भावेन ऊर्ध्वं स्थानद्वयं ध्रुवम् ।

आगच्छेत् च नरस्तत्र कार्यसिद्धिर्भविष्यति।।

इसलिये साधक को चाहिये कि सम्पूर्ण भाव से ऊपर दो स्थानों पर (कण्ठ और भ्रूमध्य) तक किसी प्रकार पहुंच जावे। इसी से कार्य सिद्धि होगी।

अपरं च प्रवक्ष्यामि लक्षणं शुभसंज्ञितम् ।

तदैव ज्ञातभावेन विच्छित्तिं भावयिष्यति।।

एक अन्य शुभ लक्षण और बताती हूँ जिसके जानने से प्राणों का गतिविच्छेद हो जायेगा।

हृदये व्यग्रता व्याप्ता मूर्च्छाभावात्मिका च या।

तीव्रेण बहिरायाति जानीयाच्च पुनः पुनः।।

हृदय में व्याप्त हो जाय और उससे जो मूर्च्छाभाव आ जाय और इस मूर्च्छा में तीव्रगति से प्राण बाहर आ जावें तो यह शुभ लक्षण है। (ऐसा अश्वोदरी मुद्रा में हुआ करता है।)

कदाचिद् बहुधा सा वै मूर्च्छा मूर्धन्यसंज्ञिका।

तत्रैव हृत्प्रदेशे तु जानीयाद् योगमार्गकः।।

कभी कभी वह मूर्च्छा इतनी तीव्र होती है कि मस्तक तक पहुँच जाती है। कभी हृदय प्रदेश मे ही प्रतीत होती है। साधक इसका अनुभव कर लो।

यदा वै मूर्च्छनाभावः कदाचिद् वै क्वचित् कवचित् ।।

भविष्यति तदा तत्र सर्वं शुद्धं प्रज्ञायताम् ।।

जब मूर्च्छाभाव कभी तो आवे और कभी नहीं भी आवे तब वहाँ समझना चाहिये कि सबकुछ ठीक चल रहा है, प्राणों की गति ठीक है।

बहुकालगते चैव न च मूर्च्छा समागता।

तदा तु प्रोक्तः संरोधः सफलं न गतं ध्रुवम् ।।

बहुत काल बाद भी मूर्च्छा नहीं आती है तो समझना चाहिये कि प्राणों का निरोध सफल नहीं हुआ है।

जानीयाल्लक्षणं चैतत् शंकाविच्छिन्नकारकम् ।

अन्तर्दृष्टि समाधाय तत्रैव दृश्यतां स्वयम् ।।

यह लक्षण शंका पैदा करने वाला होता है। इस शंका का समाधान साधक को अन्तर्दृष्टि का अवलम्बन करके स्वयं देश लेना चाहिये कि कहाँ गलती है।

सर्वं ज्ञानं प्रकाशं च अनुभूतिं गमिष्यति।

तस्मात् पूर्वं परं भावं जानीयाद् योगविन्नरः।।

सब कुछ साधक के प्रकाश में और अनुभव में आ जायेगा। इसलिये योगवेत्ता साधक को चाहिये कि वह पूर्व और परभाव को स्वयं जान ले। (अर्थात् मेरी प्रारम्भिक स्थिति है या आगे बढ़ रहा हूँ इसका अपने भीतर ज्ञान करे)

२३-७-६४।।१६७।।

हरि ॐ तत् सत्।। ॐ ।। नमामि वीणादण्डाकुलामपरि-मितविद्यानिधिरूपां जागृतस्वरूपां महासरस्वतीम् ।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ । वीणा दण्ड में व्यस्त, अपरिमित विद्याओं की निधिभूत जागृत स्वरूपा महा सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ।

वन्दे विज्ञानमण्डितां सकलशास्त्र-पण्डितां वाणीम् ।

वरवादिनीं शुभ्रां पुण्यां गुण्यां सरस्वतीम् ।। ॐ ।।

विज्ञान से मण्डित, सकल शास्त्रों में पारंगत उत्तम भाषिणी, गुणों से पूर्ण, भगवती वाणी सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ।

अथ एतस्तु विज्ञानं परायाः कथितं शुभम् ।

तत्र संस्थितिरूपेण भावेन भावितात्मकम् ।।

अब परा विद्या का वह श्रेष्ठ विज्ञान बताया जाता है, जो भाव रूप में आत्मा के भीतर ही संस्थित रहता है।

स्वरूपज्ञानं बोधं च जानीयाद् हि नरः स्वयम् ।

यत्प्रोक्तं योगमार्गेऽस्मिन् प्राणानां संस्थितिध्रुवा।।

साधक को स्वयं स्वरूप का बोध और ज्ञान करना चाहिए कि योगमार्ग में जो प्राणों की स्थिर स्थिति बताई गई है वह ठीक है या नहीं।

सा च प्रत्यक्षरूपेण साधकेनानुभूयते।

सर्वेषां तत्त्वरूपाणां कुञ्चिका शुभदा शुभा।।

साधक प्रत्यक्ष रूप से स्वयं इस बात का अनुभव कर लेता है। सभी तत्त्व रूपों की एक कल्याणकारी सुन्दर कुञ्जी इस योगमार्ग में है।

येन ज्ञाता च लब्धा च जितं तेन स्वरूपकम् ।

दृष्टं तेनैव तत्सर्वं अनुभूतं पुनः पुनः।।

जो साधक उस कुञ्जी को जान लेता है और प्राप्त कर लेता है समझो कि उसने स्वरूप पर जीत पा ली है और उसने तत्त्वार्थ देख लिया है और अनुभूत कर लिया है।

तत्त्वरूपेण रूपेण अन्तर्ज्ञानं विशेषतः।

अन्तर्दृष्टिं समाधाय कुञ्चिकां तत्त्वशोधिकाम् ।।

तत्त्वतः अन्तर्दृष्टि का अवलम्बन करके तत्त्व शोधिका उस कुञ्जिका को-

बोधिकां भावरूपस्य ज्ञायतां पूर्णतः शुभः।।

जो भाव रूप की बोधिका है उसे भली प्रकार पूर्णतया समझ लो।

अथ सर्वेषां प्राणानां गत्यवगतिः अनुच्छेद विच्देदरूपकं भावरूपकं शोधनं बोधनं उद्त्बोधनं प्रबोधनं संशोधनं यद् भवति तत्त्वतस्तत् साधकेनानुभूयते महामाया प्रभावेण।।

समस्त प्राणों की गत्यवगति, अनुच्छेद और विच्छेद, भावरूप शोधन, बोधन, उद्बोधन, प्रबोधन तथा शोधन जो कुछ होता है वह तत्त्व रूप में महामाया के प्रभाव से साधक के अनुभव में आता रहता है।

अथ विष्कुम्भकात्मकानां द्वादशात्मकानां भावात्मकानां क्रियास्वरूपेण संस्थितिबोधिका एकैव कुञ्चिका ज्ञाता सुखदा सुखावहा तत्त्वदा तत्त्वबोधप्राणशोधिका भवति।।

विष्कुंभक द्वादश भावों की क्रिया रूप में स्थिति का बोध कराने वाली एक ही कुञ्जी यदि जान ली गई तो वह सुखद और तत्त्वबोधदात्री और प्राण शोधिका होती है।

तस्मात्तत्रैव जिज्ञासा कर्तव्या साधकेन वै।

तद् ज्ञात्वा पूर्णरूपेण सर्वं लब्धं भविष्यति।।

इसलिये उस कुञ्जी को जानने की जिज्ञासा साधक को करनी चाहिये, उसे जानकर पूर्णरूप से सब कुछ उपलब्ध हो जायेगा।

ज्ञातं वाप्यनुभूतं च तत्रैव दृष्टिमागतम् ।

जायते ध्रुवज्ञानं हि निरीक्षण-परीक्षणात् ।।

साधक निरीक्षण और परीक्षण द्वारा वहीं पर जान जाता है, अनुभव कर लेता है और निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अथ नामादि रूपेण प्रोच्यते व्यूहकं हि तत् ।

श्रूयतां सारसर्वस्वं बुद्धिस्तत्र विधीयताम् ।।

उस कुञ्जी का नाम और व्यूह भी बताया जाता है। वह सारसर्वस्व है, उसे सुन लो और उसमें बुद्धि लगा लो।

चक्राणां या स्थितिः प्रोक्ता षडाख्या षड्विधानिका।

नाडीनां च त्रयाणां वै ग्रन्थीनां परिपूरिका।।

जो चक्रों की छः प्रकार की छः स्थितियां बताई गई हैं और तीनों नाड़ियां तथा तीनों ग्रन्थियाँ बताई गई हैं, वह कुञ्जी उन सबकी एक ही परिपूरक है।

सर्वेषां व्यूहमेतद्धि द्वादशं द्वादशात्मकम् ।

सर्वेषां च समानार्थं कुञ्चिकैव प्रदीयते।।

द्वादश स्थानों के व्यूह को एक सामान्य भाव में लाकर स्थापित करने वाली एक कुञ्जी तुम्हें दी जा रही है।

श्रूयतां ज्ञायतां चैव पुनश्चैवावधीयताम् ।

नीयतां ध्यानरूपेण स्थीयतां तत्त्वतस्ततः।।

उसे सुनो, जानो बार बार उसमें अवधान दो, ध्यान से फिर तत्त्व में स्थित हो जाओ।

जालन्धरं समारोप्य मूलबन्धं विधाय च।

उड्डियानं समाश्रित्य त्रयाणां संगमः शुभः।।

जालन्धर बन्ध लगा लो। मूलबन्ध लगा लो। उड्डियान बन्ध भी लगा लो। इन तीनों बन्धों का एक साथ संगम हो जाना लाभकारी होंता है।

यो जानाति नरस्तं वै संगमं संगमात्मकम् ।

त्रयाणां पुष्पदं शुभ्रं शुभकल्याण-कारकम् ।।

जो साधक इन तीनों बन्धों का सुन्दर संगम जानता है उसका परम कल्याण हो जाता है और पुण्य फल प्राप्त कर लेता है।

एतत्त्रयं विधायैव कृत्वा तत्र क्रियां पराम् ।

परा विद्यां समाप्नोति अनुभूति परात्मिकाम् ।।

साधक इन तीनों बन्धों को लगाकर श्रेष्ठ क्रिया करके पराविद्या की परम अनुभूति प्राप्त कर लेता है।

अनुभूय महातत्त्वं सारं सारं सुखावहम् ।

आवृणोति परां प्रीतिं योगसिद्धिकरां पराम् ।।

सार सार में सुखदायक महातत्त्व का अनुभव करके योग सिद्धिदायिका परमप्रसन्नता साधक प्राप्त करता है।

पराविद्या समायुक्तः बन्धत्रय समन्वितः।

सर्वं महामहामाया प्रभावेण च विन्दति।।

बन्धत्रय से समन्वित होकर साधक परा विद्या की प्राप्ति करता हुआ महामाया के प्रभाव से सबकुछ प्राप्त कर लेता है।

तद् ज्ञात्वा सफलं भूतं पूतरूपं मनोरथम् ।

करोति योगमार्गेऽस्मिन् कुञ्चिका लब्ध मानवः।।

इस योग मार्ग में कुञ्चिका प्राप्त कर लेने वाला साधक सफल् मनोरथ हो जाता है और पवित्र हो जाता है।

अपरं मार्गमेकं हि महामाया प्रकाशितम् ।

जानाति साधकस्तत्र जानन्नपि न मुह्यति।।

महामाया द्वारा प्रकाशित एक और भी मार्ग है जिसे जान लेने पर फिर साधक क भ में नहीं पड़ता है।

केवलं स्थिरग्रीवोऽसौ स्वकीयां स्थितिमाचरेद् ।

प्राणानां गमनं कृत्वा प्राणानामूर्ध्वकं ततः।।

ग्रीवा को स्थिर रखकर आसन में अपनी स्थिति सीधी रख लो। प्राणों को बाहर निकाल कर फिर ऊपर को खींचो।

कुर्याच्चैव नरस्तत्र मेरूदण्ड स्थिरस्थिरः।

यदि ग्रीवा स्वयं याति इतश्चैव ततः पुनः।।

इसमें मेरूदण्ड पूर्ण स्थिर रहे। इसमें यदि ग्रीवा स्वयं इधर उधर को चली जाय।

अग्रे वा पृष्ठभागे वा पतत्येषा पुनः पुनः।

तां स्थितिं स्थिर भावेन जानीयाद् योगवित्नरः।।

आगे को चली जाय पीछे को बार बार गिरती जाय, तो योगज्ञाता साधक स्थिर भाव से उसे जानता रहे।

तत्रैव चक्रभेदं च ग्रन्थिभेदं च वै ध्रुवम् ।

नाडिशोधं स्वयं जातं अवगच्छति मानवः।।

ग्रीवा के स्वयमेव यथेच्छ संचालन द्वारा वहीं चक्रभेदन, ग्रन्थिभेदन, नाड़िशोधन हो जायेगा और साधक स्वयं इसका अनुभव कर लेगा।

तस्मात् सुस्थिर भावेन ग्रीवायाश्च गतिं सदा।

पश्येच्चैव स्वयं तत्र शक्तियोग समाकुलः।

इसलिये स्थिर भाव ग्रीवा की गति को सदा देखता रहे। साधक की योग की शक्ति स्वयं काम करती रहेगी।

२४-७-६४।।१६८।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ नमोऽस्तु। अन्धकारव्यूहनाशिनीं कण्ठदेशवासिनीं शुभ्रहासिनीं विविधतत्त्वार्थप्रकाशिनीं बन्दे।। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ नमस्कार है। अन्धकार पुंज का नाश करने वाली, कण्ठदेशवासिनी, शुभ्रहासिनी, विविध तत्त्वों का प्रकाश करने वाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

पराविद्या प्रकाशाय या च बोधवती सदा।

तां नमामि महाशक्तिं पराज्ञान-प्रदायिनीम् ।।

पराविद्या प्रकाशाय या च बोधवती सदा।

तां नमामि महाशक्तिं पराज्ञान-प्रदायिनीम् ।।

पराविद्या के प्रकाशन के लिये जो सर्वदा बोधवती रहती है, उस पराज्ञान दायिनी महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

यत् प्रोकक्तं विपुलं प्रकाशजनकं मार्गं महाबोधकम् ,

तद् आपातविभेद भेद परकं पारं परं पारयेद् ।

तन्मार्ग प्रवरं प्रचारपरकं पारं परं पारयेत् ,

सः योगी परतत्त्वदर्शकपरः स वेत्ति स्वात्मानकम् ।।

विपुल प्रकाश देने वाला जो महाबोधजनक मार्ग बताया गया है वह सभी बीच बीच में पड़ने वाले भेद-भाव का विभेदन करने वाला है और साधक को लक्ष्य के उस पार तक पहुंचा देने वाला है। इस मार्ग का प्रचार होना चाहिये। वही योगी परतत्त्व का द्रष्टा है जो अपनी आत्मा को जान लेता है।

अस्मिन् पराविद्या स्वान्तानुभवात्मपरके प्रकाशे यत्किञ्चित् निगद्यते, तत्र केवलं अनुभूतिपरकं साधकानां तुष्टिपुष्टिपरकं च। तत्कृतमनुभूतं कुञ्चिकायां तस्य स्वानुभवरूप परिपुष्टिर्विधेया।।

स्वान्तानुभव की विशिष्टतावाले इस पराविद्या के प्रकरण में जो कुछ कहा जा रहा है, वह केवल अनुभवपरक है और साधकों की पुष्टि तुष्टि देने वाला है। जो कुछ क्रिया साधन में अनुभव किया गया हो, कुञ्चिका में उस स्वानुभव की परिपुष्टि कर लेनी चाहिये।

श्वासप्रश्वासमात्रेण नैवं प्राणगतिर्मता!

परापरप्रबोधेन नाडिशोधेन तत्त्वतः।।

केवल श्वासप्रश्वास लेने मात्र को प्राणों की गति नहीं कहा जाता है। परापर प्रबोध से और विधिपूर्वक नाडी-शोधन से-

प्राणानां परमोभावः परप्राप्तिप्रकाशकः।

ज्ञायते विपुलेनैतत् बाहुल्येन पुनः पुनः।।

प्राणों की श्रेष्ठ स्थिति होती है जो पर तत्त्व की प्रकाशिका होती है। इसी से प्रचुर रूप से बारम्बार यह ज्ञात होता है कि प्राणों की ऊर्ध्वगति किस प्रकार की है।

अन्तर्दृष्टिं च जानाति यो नरो योगपारगः।

तया दृष्ट्या च वै तत्र अन्तर्द्वन्द्वं प्रपश्यति।।

योग में पारंगत जो व्यक्ति अन्तर्दृष्टि को समझ लेता है वही उस दृष्टि द्वारा अपने भीतर के अन्तर्द्वन्द्व को भी देख लेता है।

अन्तर्द्वन्द्वे समाज्ञाते विज्ञाते योगकल्पके।

स्वानुभूतिसमायुक्तो मोदते नात्र संशयः।।

अन्तर्द्वन्द्व के ज्ञात हो जाने पर और योग विधि का भलीप्रकार ज्ञान रखने पर साधक स्वानुभूति से युक्त होकर हर्षित हो जाता है, इस में कोई संशय नहीं है।

न च शंका समायाति अनुभूतं न वा मया।

कृतं वा न कृतं वै तत् ज्ञातं तत्र न जायते।।

मैंने अनुभव किया है या नहीं, ऐसी शंका फिर उसे नहीं रहती है। मैंने कुछ किया है या नहीं किया, सफल हूँ या नहीं ऐसा संशय फिर नहीं होता है।

तत्र ध्यानार्थयोगो हि ध्यानगम्यः परस्तुतः।

ध्यानभावेन तत्रैव प्रपश्यन्ति मनीषिणः।।

समझदार मनीषी साधक लोग ध्यान द्वारा यह देख लेते हैं कि उनका ध्यान ऐसा उच्च कोटि का है जिस से परतत्त्व का अधिगम होता है।

पुरा प्रोक्तंमया चैतत् परावाणीप्रसङ्गके।

पराशब्दस्य चार्थस्तु तस्य बोधो विधीयताम् ।।

परावाणी के प्रसङ्ग में मैं पहिले यह बात बता चुकी हूँ कि परा इस शब्द का क्या अर्थ है, उस शब्द के अर्थ का बोध करते रहो।

पःपातालबोधार्थं रस्यार्थो रमणं मतः।

पातालादाकाशपर्यन्ते प्राणानां क्रीडनं मतम् ।।

"प" का अर्थ पाताल है। "र" का अर्थ रमण करना है, "आः" का अर्थ आकाश है। पाताल से लेकर आकाश तक प्राणों का क्रीड़न होने को "परा" कहा जाता है।

अत्र पातालदेशात्तु खदेशे स्वसमन्विते।

क्रीडनं सर्वतत्त्वानां पराविद्याप्रसंगके।।

जायते साधके चैतत् अवधानेनसंगतः।

ज्ञायतां वायूनांबोधः गमनागमनात्मकम् ।।

इस पराविद्या के प्रसङ्ग में पाताल देश से आकाश तक सभी तत्त्वों का क्रीड़न– साधक के भीतर होता रहता है, साधक अपने भीतर ध्यान में देखता है। साधक को चाहिये कि शरीर के भीतर प्राणों के गमनागमन को देखते हुए ज्ञान करता रहे।

क्ववा गच्छति वै वायुः दृश्यतां च पुनः पुनः।

एतन्निरीक्षणं प्रोक्तं सुखदं शुभकारकम् ।।

बारम्बार देखते रहो कि श्वासप्रश्वास किस प्रकार कहाँ कहाँ जा रहे हैं। इस प्रकार श्वास प्रश्वास का निरीक्षण सुखद और शुभकारक होता है।

जानीयाद् भूयशस्तत्र क्व गतः प्राणसंज्ञकः।

वायुस्तत्र गतिस्तत्र बारं बारं निरीक्षणम् ।।

प्राण कहाँ से किधर जा आ रहे हैं यह बारम्बार भीतर देखते रहो। वायु और उसकी गति का बारम्बार निरीक्षण करते रहो।

कुर्याच्च मतिमान् योगी स्वात्मानं विन्दते पुनः।

यदि नैवं समायातं बोधं वा ज्ञानमात्मकम् ।।

तस्मात्तत्रैव तज्ज्ञेयं च्युतिस्तत्र प्रकीर्तिता।

स्खलतिस्तत्र संजाता अन्तर्दृष्ट्या विलोक्यताम् ।।

बुद्धिमान् योगी इस प्रकार करते हुए अपनी आत्मा तक पहुंच जाता है। इस प्रकार की निरीक्षण क्रिया से यदि कुछ भी आत्मा का ज्ञान और बोध नहीं होता हो तो वहाँ समझना चाहिये कि कहीं पर त्रुटि है, गलती है, निरीक्षण में सावधानता नहीं है अन्तर्दृष्टि से स्वयं उसको पहिचान लो।

यदि नास्ति च सा दृष्टिस्तस्मात् कार्यं कृतं नहि।

वायुना सार्धरूपेण एकेनापि क्वचित् कदा।।

एतज् विज्ञानमात्रेण योगः सिद्धिप्रदो भवेत् ।। ॐ ।।

यदि इस निरीक्षण क्रिया की अन्तर्दृष्टि नहीं आ पाई है तो सब कुछ व्यर्थ है, क्रिया की सफलता नहीं है। किसी किसी साधक को तो कभी कभी केवल इसी एक मात्र से प्राणों की गति के निरीक्ष–विज्ञान मात्र से ही योगाभ्यास सिद्ध हो जाता है।। ॐ ।।

२५–७–६४।।१६९।।

हरि ॐ तत् सत् ॐ ।।

ध्यानवोध्यां महाशक्तिं महामेधास्वरूपिणीम् ।

महाज्ञानप्रदां देवीं प्रणमामि महामतिम् ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ । ध्यान द्वारा बोधनीय, महामेधास्वरूपिणी, महाज्ञानप्रदायिनी महामति स्वरूपिणी महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूं।

धारणाध्यानरूपाख्यां सुविज्ञातां महेश्वरीम् ।

वन्देतां परमां शक्तिं परमार्थ प्रकाशिकाम् ।।

धारणा–ध्यानरूपिणी, सुविज्ञाता महेश्वरी, परमार्थ प्रकाश करने वाली उस परमा शक्ति को मैं नमस्कार करता हूँ।

या देवी ध्यानरूपेण अन्तर्दृष्टौ समागता।

व्याप्ता साखिलतत्त्वेषु सा देवी प्रमुदा सती।।

कल्पान्ता कल्पकल्पान्ता कल्पान्ते न कदा कृतिः।

प्राणव्यापारसंसाध्या संप्रसीदतु शारदा।। ॐ ।।

जो देवी ध्यान रूप में अन्तर्दृष्टि में आ जाती है और समस्त तत्त्वों में व्याप्त होकर प्रमुदित होती हुई– कल्पकल्पान्त काल में व्याप्त होकर भी विकृति को प्राप्त नहीं होती है और नासिका के व्यापार (श्वास प्रश्वास) द्वारा सिद्ध होती है, वह शारदा मुझ पर प्रसन्न हो।

यद् ज्ञानानुभवरूपेण लभ्यते सहजात्मिका।

ध्यानावस्थितिः सा वै साधकाय प्रजायताम् ।।

जिस भगवती के ज्ञान और अनुभव से सहज ध्यानावस्थिति उपलब्ध हो जाती है वह सहज ध्यानावस्थिति साधकों को प्राप्त हो जाय।

साधकः साधनालग्नः भग्नो विघ्नसमूहकः।

स्थानव्यापारपारार्थी स जानातु स्वयं इदम् ।।

जब साधक साधना में लग्न हो और उसके विघ्न समूह भी नष्ट हो गये हों, अपनी स्थिति और क्रियाओं में दक्ष होकर स्वयं इस प्रकार जान ले कि–

यदाध्यानस्थितिस्तस्य प्रादुर्भूता प्रजायते।

समत्वरूपमाधाय शरीरं निश्चलं भवेत् ।।

जब उसकी ध्यान स्थिति प्रादुर्भूत हो, तब समत्वरूप धारण करके उसका शरीर निश्चल हो जाता है।

ध्यानं च त्रिविधं प्रोक्तं असंगं संगरूपकम् ।

संगासंग समानार्थं त्रिविधं तेन प्रोच्यते।।

ध्यान तीन प्रकार का कहा गया है। असंगध्यान, संगध्यान और संगासंग ध्यान। इस भाँति तीन प्रकार का ध्यान कहा जाता है।

यदा शरीरं निश्चेष्टं प्राणानां च शुभागतिः।

पदार्थाभावरूपेण असंगं कथितं बुधैः।।

जब शरीर निश्चेष्ट रहे और प्राणों की, गति शुभ रहे, साथ ही बाह्य पदार्थों का अभाव प्रतीत हो, ग्राह्य ग्राहक, ग्रहण इस त्रिपुरी का अभाव हो, उसे असंग ध्यान कहते हैं।

असंगध्यानरूपं तद् जायते योगसाधके।

अत्र किंचिद् विभासा वा भाषा वा नैव विद्यते।।

योग साधक को जब असंग ध्यान होता है वहाँ कुछ भी ग्राह्य नहीं रहता है। उस स्थिति को व्यक्त करने की कोई भाषा नहीं होती है।

केवलं प्राण संव्यूहं स्वल्परूपेण स्वल्पकम् ।

त्वरितं न समायाति स्वल्पं स्थानं जहाति च।।

केवल प्राण–व्यूह स्वल्प स्वल्प रूप में चलते हैं, उसमें तीव्रता नहीं होती और प्राणों में चलने का स्थान, दूरी भी बहुत घट जाती है।

न तत्र भासते किंचिद् दृश्यते श्रूयतेऽपि तत् ।

सर्व नासाग्रके भागे केवला दृष्टिरूपिका।।

उपस्थिति में कुछ भी भासित नहीं होता है, कुछ सुनाई और दिखाई भी नहीं पड़ता है। दृष्टि केवल नासाग्र भाग में जमी रह जाती है।

जायते स्फुरणत्वेन नेत्रयोर्यागतिर्भवेत् ।

नेत्र अधः समायाते ऊर्ध्वं याते पुनः पुनः।।

कभी कभी नेत्रों में स्फुरण भी होता है। नेत्रों की गति ऐसी होती है कि कभी आँख ऊपर भ्रूमध्य की ओर जाती है और कभी नीचे की ओर आ जाती है।

इतस्ततः समायाते लघुपीडा समुत्थिता।

तत्र वै क्षणमात्रेण शोभनं रमते मनः।।

जब नेत्र इधर उधर घूमते हैं तो उनमें कुछ पीड़ा का भाव उठता है और क्षण मात्र को मन उसमें रम जाता है। इसमें साधक आनन्द प्राप्त करता है।

मनसस्तुसमायोगात् ध्यानं तत्र प्रजायते।

रमणं वृत्तिव्यूहस्य चित्तस्य मनसस्तथा।।

मन के समायोग से फिर ध्यान लग जाता है। सभी वृत्तियों के साथ मन भी रमण करने लग जाता है।

एकाग्रता स्थिता तत्र असंगे ध्यानरूपके।

यदातु संगरूपेण द्वितीयं ध्यानगं मनः।।

असंग ध्यान में एकाग्रता की स्थिति रहती है। जब संगनामक दूसरी कोटि के ध्यान में मन लगता है तो–

तत्र शैथिल्यमायाति मेरूदण्डं पुनः पुनः।

मेरूदण्डस्तु संयातु निम्नभागे क्वचित् क्वचित् ।।

वहाँ बारम्बार मेरू दण्ड में शिथिलता आती है, कभी कभी मेरू दण्ड नीचे की ओर भी झुक जाता है।

ज्ञायते त्वरितं नैव शैथिल्यं परिपूरितम् ।

तत्र एकाग्रता तिष्ठेत् व्याप्ता सा न स मस्तके।।

मेरू दण्ड का वह शैथिल्य जल्दी प्रतीत नहीं हो पाता है। एकाग्रता इस ध्यान में भी रहती है किन्तु वह मस्तक तक व्याप्त नहीं होती है।

कण्ठादुपरिभागे तु दृष्टिबोधः प्रजायते।

एवं प्रतीयते तत्र दृष्टिस्तु घूर्णिका गता।।

कण्ठ के ऊपर के हिस्से में दृष्टि जमी हुई रहती है। उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि दृष्टि घूम घूम रही है, घूर्णिका कर रही है।

वहिर्ज्योतिः समायाता दृश्यते नहि तत्र तत् ।

किन्त्वेवं ज्ञायते तत्र प्राणानां रोधनं महत् ।।

नेत्र ज्योति बाहर रहती है, किन्तु दीखता कुछ नहीं है। केवल ऐसा ज्ञान रहता है कि बड़ी जोर से प्राणों का निरोध हो रहा है।

शनैः शनैः समायातं तेषां तत्र प्रजायते।

पदार्थानां स्थितिः स्पष्टा तत्त्वानां च स्थितिस्तथा।।

फिर धीरे धीरे पदार्थों की स्थिति और तत्त्वों की स्थिति सामने स्पष्ट प्रतीत होती है।

सम्प्रज्ञातसमोभावः भूयोः भूयः प्रजायते।

तदा तु ज्ञायतामेवं ध्यानं वै संगसंज्ञकम् ।।

इसमें सम्प्रज्ञान समाधिकी की-सी स्थिति बार बार आती है। जब उक्त प्रकार के लक्षण रहें तो समझो कि संग नामक ध्यान हो रहा है।

जानाति साधक श्रेष्ठस्तद्विज्ञानं विशेषतः।

तृतीयं ध्यानरूपं तद् संगासंग समाकुलम् ।।

तत्र साधकवर्यस्य स्थितिः शुभ्रा विराजते।

क्वचित् संज्ञायते एतत् सर्वं वै दृष्टिरूपकम् ।।

उत्तम साधक भलीभाँति इस ध्यान के विशिष्ट ज्ञान को स्वयं जान लेता है। अब तीसरे प्रकार का संगासंग ध्यान ऐसा होता है कि-

वहाँ साधक की स्थिति स्वच्छ व शुभ्र रहती है। कभी कभी ऐसा लगता है कि सब कुछ दृष्टि में आ रहा है।

प्रत्यक्षेण समायाति प्रयाति च पुनः पुनः।

कदाचिद् ज्योतिः सम्पन्नः कदाचित् शून्यसंज्ञकः।।

दृश्य पदार्थ प्रत्यक्ष में आते हैं फिर लुप्त हो जाते हैं। कभी ज्योति से सम्पन्न हो जाता है और कभी शून्यता आ जाती है।

कदाचिद् भावरूपेण कदाचिद् बोधका स्वयम् ।

प्राणाः प्राणसमापन्नाः प्राणरूपाः फलप्रदाः।।

प्राण शक्ति सम्पन्न होकर कभी नूतन भावों तथा बोध की स्वयं जागृति कर देते हैं। प्राणों की यह स्थिति कल्याण-कारक होती है।

विलीनतां च गच्छन्ति आगच्छन्ति च पुनः पुनः।

तस्यां स्थितौ स्वयं तत्र योगस्थो योगसाधकः।।

प्रमोदभावमायाति निश्चला निश्चला गतिः।

तस्य प्रादुर्महाप्राणाः कार्याकुलसमागताः।।

वे प्राण कभी विलीन हो जाते हैं और कभी फिर उदित हो जाते हैं। इस स्थिति में योग-साधक योग में लग्न होकर स्वयं ही आनन्द प्राप्त करता है और प्राणों की गति कभी निश्चल और कभी चलनशील रहती है। उदय अवस्था में वे प्राण कार्याकुल ते हैं।

अर्धार्धरूपरूपेण ज्ञायते तत्र सा गतिः।

एवं ध्यानस्थितिः प्रोक्ता त्रिविधा त्रिस्वरूपकाः।।

यो जानाति नरः सद्यो योगस्तस्य प्रसिद्ध्यति।

एतत् सर्वं स्वयं तस्य प्रसाधकस्वरूपकः।।

प्राणों की गति आधे आधे रूप में ज्ञात होती है। कभी भान रहता है, कभी नहीं रहता है। इस प्रकार यह तृतीय कोटि के ध्यान की स्थिति है। इन त्रिविध ध्यानों को जो साधक जानता है उसका योग शीघ्र सिद्ध हो जाता है। ये तीनों ध्यान स्वयं ही उस साधक की योग सिद्धि कर दिया करते हैं।

सर्वव्यूहात्मको भावः प्रत्यक्षीकरणे व्रजेत्।

स्वभावभावरूपेण स्वयमेव प्रजायते।।

इन तीनों प्रकार के ध्यानों में सर्वव्यूहात्मक भाव साधक के प्रत्यक्ष में आ जाता है। ये ध्यान स्वाभाविक रूप से यथा समय यथा स्थिति होते रहते हैं।

ध्यानस्थितिर्महारूपा विचिकित्सा न विद्यते।

एतत् तस्य समाज्ञानं करोति हि स साधकः।।

ध्यान स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये। साधक इस ध्यान स्थिति का पूर्ण ज्ञान कर ही लेता है।

तस्य स्वभावज्ञानं हि सर्वं शुद्धस्वरूपकम्।

हृदयस्थं भृकुटिस्थं नाभिस्थं जायते स्वयम्।।

साधक को स्वभाव का ज्ञान पूर्ण शुद्ध रूप में होता है। वह ज्ञान हृदय देश में, नाभि देश में तथा भृकुटि भाग में होता है।

स्थानत्रयेण संज्ञेयं ध्यानत्रयमुपस्थितिः।

तस्मात् सर्वं समाहारा धारा एषा प्रलीयते।।

इन तीनों ध्यानों की स्थिति इन्हीं तीन स्थानों में होती है। फिर इन तीनों स्थानों को छोड़कर के वह ध्यान-धारा स्वयं विलीन हो जाती है।

ज्ञायतां सफला तत्र क्रिया या च कृता मया।

दृष्टानुभूतपूर्वा च सर्वा सा सफला मता।।

जब ऐसा होने लगे, तब समझो कि मेरी सभी क्रियायें जो कुछ मैंने की हैं, सफल हो गई हैं, उन्हें मैंने भलीभाँति देख और अनुभव कर लिया है।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ ।

चैतन्योपहितां परां प्रकृतिकं शुद्धान्तबोधस्थितम् ।

वन्दे भावमयं परं प्रकटितं आत्मस्वरूपं च तत् ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ चैतन्य से परिपूर्ण, पराप्रकृति सम्बन्धी, शुद्ध अन्तर्बोध में स्थित भावरूप में प्रकट हुए आत्मस्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्मन्येव प्रपश्यन्ति सर्वं ये अन्तरात्मनः।

तेषां ध्यानसमापत्तिः परिपुष्टा स्वतो वरा।।

जो साधक अपनी आत्मा के भीतर ही अन्तरात्मा के दर्शन करते हैं उनकी ध्यान-समाधि स्वतः उत्तम रूप में परिपुष्ट होती चली जाती है।

जायते ध्यानसम्पत्तिः या च श्रेयस्करा मता।

अनन्तरूपरूपेण ध्यानेन परिवेष्टितम् ।।

साधक की वह ध्यान-सम्पत्ति बड़ी श्रेयस्कर होती है। फिर साधक के परिपुष्ट ध्यान द्वारा उसका पूरा शरीर ही अनन्त प्रकार के ध्यानों से परिवेष्टित हो जाता है।

इदं शरीरं संस्थानं किं किं तत्र निगद्यते।

लक्षं लक्षं परं लक्षं ध्यानमेतत् स्थितं मतम् ।।

यह शरीर आत्मा का एक संस्थान है। इसके भीतर क्या क्या कुछ नहीं भरा पड़ा है। कितना वर्णन किया जाय। लाखों करोड़ों ध्यानों के भेद इस शरीर के अंग प्रत्यंगों में बताये गये हैं।

तस्मात् सूक्ष्मस्वरूपेण त्रिविधं ध्यान संज्ञकम् ।

यस्मै च रोचते तत्तु अनुभूतं करोति यः।।

अतः सूक्ष्म रूप में तीन प्रकार के ध्यान बता दिये गये हैं। जिसे इनमें आनन्द आने लगता है, वह अनुभूति भी कर लेता है।

ध्यानयोगी स वै प्रोक्तः ध्यानाधिगतमानसः।

तस्मात् सर्वात्मभावेन तदा ध्यानपरायणः।।

भूयाच्च मतिमान् लोके तस्य सिद्धिः प्रजायते।।

जिस साधक का मन ध्यान के वशीभूत हो गया होता है उसे ध्यान-योगी कहा जाता है। इसलिये तुम भी सर्वात्मभाव से ध्यान-परायण बनो। बुद्धिमान् व्यक्ति को इस लोक में ध्यान परायण होकर ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

यद् ध्यानं गदितं परं परतरं तन्निर्विकारं वरम्,
एकं शान्तिकरं प्रबोधपरदं मोदेन-संसाधितम् ।
मोदादात्मप्रवृत्ति सूक्ष्मपरको यो दृश्यते पूर्णतः,
ज्ञाने यः स्वयमेव साधकवरस्तस्य प्रतीतिस्तु सः।।

जो सबसे उत्तम ऊँचे से ऊँचा ध्यान कहा गया है वह निर्विकार होता है, वही श्रेष्ठ ध्यान है, वह ध्यान अद्वितीय, शान्ति-प्रद, परम प्रबोधदायी, दिव्यानन्दपूर्ण होता है, क्योंकि साधक अपने पुरूषार्थ साधना से उसे सिद्ध करके प्राप्त करता है, ध्यान से प्राप्त अलौकिक हर्ष से साधक आत्मा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों में मन जमाये रखता है और उसे स्वतः लोकोत्तर ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, उसकी अनुभूति का प्रमाण केवल वह स्वयं ही होता है।

एवंरूपेण यत्किञ्चिदपि पराविद्यायां त्रिविधरूपकं गदितं तस्य स्वरूपलक्षणं च प्रभाषितं तन्निरूपणं तत्प्रतिपादनं तत्परीक्षणं तन्निरीक्षणं तस्यानुभूतिः सम्यक् प्रकारेण विधीयताम् । अपरं चैव प्रोच्यते पराविद्यायां, परा अपरा प्रकृतिद्वयात्मिका। परा चैतन्योपहिता सूक्ष्माम् सूक्ष्मतरा सूक्ष्मतमा प्रतीयते।।

इस भाँति जो कुछ भी पराविद्या में त्रिविध ध्यान बताया गया है और जो उनका स्वरूप एवं लक्षण बताये हैं, उनका तुम स्वयं निरूपण, प्रतिपादन, निरीक्षण, परीक्षण और उसकी अनुभूति भलीभाँति कर लो। पराविद्या में एक बात और भी बताई जाती है। शक्ति के दो भेद हैं, एक परा है और एक अपरा है। परा उसे कहते हैं जो चैतन्योपहित सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम प्रतीत होती है।

परादशायां साधकः स्वात्मानं चैतन्योपहितं चैतन्येन समन्वितं पश्यति, जानाति, अनुभवति, तत्र एवंभूतं दर्शनं ज्ञानं प्रस्फुटीभवति प्रज्ञायते यत् ध्यानावस्थायां या परा शक्तिः सा सूक्ष्मा चैतन्यविमण्डिता च वर्तते। अहं तस्यानुभूतिं च करोमि।।

परा दशा से साधक अपने को चैतन्योपहित, चैतन्य समन्वित देखता, जानता और अनुभव करता है। उसमें इस प्रकार का ज्ञान साधक को प्रस्फुटित होता है कि ध्यानावस्था में जो परा शक्ति चैतन्य से विमण्डित सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, मैं उसकी अनुभूति ले रहा हूँ।।

सा च करणेषु इन्द्रियेषु इन्द्रियव्यापारेषु व्याप्ता सर्वत्रैव प्राणानां व्यापारं सूक्ष्मरूपेण प्रतिपादयति, तत्र सर्वं समष्टिरूपेण सर्वत्रैव अनुभूयते। तस्यामवस्थायां चैतन्योपहितशक्तिः परायाः परबोधिका।।

और वही पराशक्ति ज्ञानेद्रियों, कर्मेन्द्रियों और उनके व्यापारों में व्याप्त होकर सर्वत्र सूक्ष्मरूप से प्राण व्यापार का प्रतिपादन कर रही है। परा दशा में सब कुछ समष्टि रूप में सर्वत्र सब कुछ अनुभूत होता है। उपस्थिति में चैतन्योपहिता परा शक्ति के पर शक्तिमान का बोध भी दे देती है।

सर्वं शरीरमात्रं च चैतन्येन करोति च।

युक्तंतस्मात्तदा तत्र एवं रूपमनेकशः।।

साधक यह जान जाता है कि समस्त शरीर मात्र चैतन्य से पूर्ण है, एक ही चैतन्य शक्ति से पूर्ण अनेक शरीरों के पृथक् पृथक स्वरूप एक ही शक्ति है।

दृश्यते अनुभूतिं च समागच्छति पूर्णतः।

या च शक्तिः द्वितीया सा अपरा सा च स्थूलिका।।

यह सब साधक साक्षात्कार कर लेता है और उसकी पूर्ण अनुभूति में भी यह बात आ जाती है। जो दूसरी शक्ति है, वह स्थूल है उसे अपरा कहते हैं।

साधारणा च सा प्रोक्ता वाह्यदर्शनकारिका।

तां विहाय नरः शीघ्रं परायाः दर्शनं शुभम् ।।

वह साधारण कही गई है और वह वाह्य पदार्थों के दर्शनानुभव में प्रवृत्त रहती है। उस अपरा शक्ति को छोड़कर साधक शीघ्र परा के दर्शन के लिये उद्यत रहे।

कृत्वा मत्त्वा च तां शक्तिं गत्वा नत्वा प्रसीदति।

परां शक्तिं समादाय अपरां वर्जयेद् बुधः।।

उसकी उपासना करके, उसे समझ करके, उस परा शक्ति के समीप पहुंचकर और उस परा शक्ति का नमन करके साधक हर्षित हो जाता है। साधक परा शक्ति की उपलब्धि करके अपरा का त्याग कर दे।

एवं कृत्वा समासेन अन्तर्दृष्टिसमन्वितः।

जायते योगविद् योगी पराशक्तिविमण्डितः।।

इस भाँति संक्षेप में ध्यानाभ्यास द्वारा अन्तर्दृष्टि से समन्वित होकर योग साधक योगविद्या का ज्ञाता होता हुआ परा शक्ति से विमण्डित हो जाता है।

अन्तर्दृष्टिसमापन्नः स वै मोदितमानसः।

सदैव तृप्तिभावेन शान्तिं प्राप्नोति शाश्वतीम् ।।

अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके वह परम हर्षित हो जाता है। तदनन्तर परम तृप्तिभाव से शाश्वत शान्ति प्राप्त कर लेता है।

यो जानाति च विज्ञानं परायाः परबोधकम् ।

तस्य मार्गो महामार्गः सरलो जायते ध्रुवम् ।।

परा शक्ति के परबोध के विज्ञान को जो साधक जान लेता है, उसके लिए योग का यह महामार्ग निश्चय ही सरल हो जाता है।

स च पश्यति सर्वं तत् यत् ज्ञात्वा मोदमाप्नुयात् ।

तस्मात् परापराज्ञानं कृत्वा सम्यक् प्रसीदति।।

वह फिर सब कुछ देख लेता है जिसे जानकर प्रमुदित हो जाता है। परा शक्ति के परम ज्ञान की प्राप्ति द्वारा परमानन्दित हो जाता है।

अस्यां विद्यायां यात्किंचित् प्रोक्तं तद् ध्यानावस्था परकं परापर्यन्तं परासमन्वितं विशेषेण अनुभूयतां सर्वैः साधकैः। प्रसीदन्तु च सर्वे मोदनिर्भराः पराचैतन्यमण्डिताः।। ॐ ।।

इस विद्या में ध्यानावस्थापरक पराशक्ति समन्वित परा शक्ति के बारे में जो कुछ कहा गया है, सभी साधक उसकी अनुभूति प्राप्त करें, सभी प्रमुदित रहें और पराचैतन्य से विमण्डित होकर आनन्द से भर जावें। ॐ ।।

हरि ॐ तत् सत् ॐ ।

कराम्बुजानुकारिणीं पदाम्बुजानुकारिणीम् ।

विचित्रभावधारिणीं प्रकृष्टप्राणसारिणीम् ।।

हरि ॐ तत् सत् ॐ । कमल की भाँति सुन्दर हाथों वाली, कमल से चरणों वाली, विचित्र भावों को धारण करने वाली तथा उत्कृष्ट प्राणशक्ति का प्रसार करने वाली शारदा को मैं प्रणाम करता हूँ।

महामहान्धकारके सुदुस्तरात् प्रसारिणीम् ।

नमामि तां च शारदां विशुद्धबुद्धिकारिणीम् ।।

बड़े दुस्तर महान्धकारपूर्ण संसार से उद्धार करने वाली विशुद्ध बुद्धिदायिनी उस भगवती शारदा को मैं प्रणाम करता हूँ।

अथ पराविद्या प्रसंगके यत् प्राणानां विषये ध्यानस्थितौ च लक्षणादिकं विशिष्टरूपेण प्रकीर्तितं तत् सर्वं साधकस्य अनुभवपोषणाय जायताम् । अपरं च अस्यामेव विद्यायां प्रोच्यते यत् साधकानां साधनावस्थायां साधनाकाले वा यदनुभूतिपरकं प्राणानां ऊर्ध्वगतिकं संकल्पविकल्पात्मकं तत्त्वं तदपि ज्ञानानुभवाय भवति, तदैव प्रोच्यते।।

पराविद्या के प्रसंग में प्राणों के विषय में और ध्यान स्थिति के बारे में जो कुछ विशिष्ट लक्षणों के सहित प्रतिपादित किया गया है, वह सब साधक की अनुभूति-परिपुष्टि के लिये सफल बनें। इसी विद्या में यह भी कहा जाता है कि साधक के साधना काल में या साधनावस्था में प्राणों की ऊर्ध्वगति के साथ जो संकल्प-विकल्पात्मकतत्त्व अनुभव में आते हैं, वे भी ज्ञानानुभव के लिये महत्व रखते हैं।

साधकाः साधनालग्नाः जानन्तु च पृथक् पृथक् ।

प्राणानां गतिविच्छेदः अधस्तादूर्ध्वकं तथा।।

साधना में लगे साधकों को यह जान लेना चाहिये कि प्राणों की गति का विच्छेद और उनका नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना आदि पृथक् पृथक् गतियाँ हैं।

विश्लेषणं पृथक् तत्त्वे प्राणरूप स्वरूपके।

जायते साधकस्तत्र जानीयात् स्वपरां गतिम् ।।

प्राणों का स्वरूप पृथक् पृथक् तत्त्वों पर पहुँचने पर पृथक - पृथक् हो जाता है, साधक को अपनी स्थिति स्वयं समझ लेनी चाहिये।

प्राणाः क्रीडन्ति वै यत्र अध ऊर्ध्वं पुनः पुनः।

तेषां तत्क्रीडने यस्तु आयामो दृश्यते स्वयम् ।।

जब प्राण नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे की ओर बार बार क्रीड़ा करते हैं, इस क्रिया में उनका जो आयाम, श्रम होता है, वह स्वयं दीख पड़ता है।

श्रूयते यत्र यत्किंचित् तत्रैवानुभवे ब्रजेत् ।

कथं क्रीडन्ति वै प्राणाः आयामस्तु कथं भवेत् ।।

प्राणों के क्रीड़न में भीतर जो शब्द जहाँ जैसा सुनाई पड़ता है, वहीं वह अनुभव में आ जाता है। पता लग जाता है कि प्राण किस गति से किस आयाम पर चल रहे हैं।

प्राणायामस्ततः प्रोक्तः सविस्तरविशेषकः।

सूक्ष्मभावेन तज्ज्ञेयं विद्युद्गतिसमन्वितम् ।।

प्राणों का विशिष्ट विस्तार पूर्वक आयाम होता रहता है, इसलिये इसे प्राणायाम कहते हैं। विद्युत गति की भाँति सूक्ष्म रूप से उनका प्रसरण होता है।

मेघानामन्तरे यद्वत् राजते चपला शुभा।

शरीरे चक्रसंस्थाने प्राणवायुस्तथैव च।।

जैसे बादलों के भीतर सुन्दर बिजली चमकती है उसी भाँति इस शरीर के भीतर चक्र-चक्र में प्राण वायु की चमक दिखाई पड़ती है।

द्युतिमादाय तत् शुभ्रां धावयेत् सर्वव्यूहकम् ।

सा विद्युत् धवला धौताः प्राणैः सार्धं प्रधावति।।

वह शुभ्र धवल स्वच्छ विद्युत धारा अपनी शुभ्रकान्ति से सम्पूर्ण शरीर व्यूह को प्लावित करती हुई प्राणों के साथ दौड़ती है।

झंकृणोति ततः प्राणान् देहकम्पः प्रजायते।

अथवा रूद्ररूपेण प्रवायुरधोरधः।।

संघर्ष रूपमायाति घर्षणेन सुसंगतः।

तत्र संघर्षणं तेषां वायूनां लाभदं मतम् ।।

वह विद्युत प्राणों को झकझोर देती है। इससे देह में कम्पन हो जाता है। अथवा वह प्राणवायु नीचे-नीचे ही रूद्ररूप में (तीव्रवेग से) संघर्षण में आता है। इस घर्षण से युक्त होकर नाभि को केन्द्र बनाता है। प्राणवायु का ऐसा संघर्षण बहुत लाभप्रद होता है।

साधकाः मोदमाना वै मनसां सह संगताः।

रमन्ते प्राणव्यूहेन तस्मादूर्ध्वं व्रजन्ति ते।।

साधक लोग आनन्दित होकर मन और प्राणव्यूह के साथ एकीभाव करते हुए ऊपर की ओर चढ़ने लगते हैं।

प्राणाः मनः समाधाय निश्चलं तद्विधाय च।

निधाय च समापतिं ध्यानयोग्या भवन्ति ते।।

मन और प्राण दोनों एकाकार होकर निश्चल होकर गति से साधक को एकाग्र देते हैं। और साधक को ध्यान के योग्य बना देते हैं।

ते प्राणा अग्रतोयान्ति पृष्ठतश्च प्रयान्ति ते।

स्थिरा रूद्धा विरूद्धाश्च गतिं कुर्वन्ति शाश्वतीम् ।।

वे प्राण ऊपर की ओर आगे से भी चलते हैं और पीछे की ओर से भी चलते हैं। कभी स्थिर होकर, कभी रूककर, कभी विरूद्ध गति के साथ निरन्तर ऊपर को बढ़ते हैं।

यदा विद्युतसमाकारा काचिद्धारा प्रतीयते।

स्फुरणं प्रस्फुटितं तत्र ज्ञायतां गतिरूर्ध्वकः।।

जब कभी विद्युत् की प्रभा की भांति कोई धारा शरीर के भीतर प्रतीत होती है तो समझ लो स्फुरण होकर प्राणों की गति ऊपर की ओर हो रही है।

अथवा बहुरूपेण संकल्पाः कल्पनात्मकाः।

विकल्पाश्च समायान्ति चित्तविक्षेपकारकाः।।

अथवा बहुत प्रकार से कल्पित संकल्प-विकल्प जो साधक चित्त में विक्षेप करने वाले होते हैं उठा करते हैं।

तेषां बाहुल्यमेवैतत् प्राणानां गतिबोधकम् ।

जायते तत्र संघर्षः पीडितं च यतो भवेत् ।।

उन संकल्प-विकल्पों का उदय भी प्राणों की गतिविधि को बताने वाला हुआ करता है। उस दशा में साधक के भीतर द्वन्द्व-संघर्ष की पीड़ा होती है।

संकल्पानां विकल्पानां प्राधान्यं बहुलं व्रजेत् ।

तत्र सर्वशरीरे च तदा तत्त्वस्मृतिर्भवेत् ।।

जब संकल्प विकल्पों का प्राधान्य बहुत मात्रा से होता है तब सम्पूर्ण शरीर में तत्त्वों की स्मृति आ जाती है।

केवलं कल्पजं ज्ञानं भूयः भूयः प्रधावति।

नाशमायाति वै सद्यो यदा प्राणास्तु ऊर्ध्वगाः।।

संकल्पों का ज्ञान बार बार दौड़ता रहता है। ऐसी स्थिति में ऊर्ध्वगामी प्राण शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं।

ऊर्ध्वं व्रजन्ति वै प्राणाः कल्पसंघर्ष नाशकाः।

तदा तु धारणा तत्र गतिरूपेण जायते।।

जब प्राण ऊपर की ओर चढ़ते हैं तो संकल्पों के संघर्ष का नाश हो जाता है। तब साधक को धारणा प्राणों की गति के साथ लग जाती है।

ऊर्ध्वं पश्यति वै तत्र अधः पश्यति साधकः।

मध्ये पश्यति वै तत्र प्राणानां त्वरितां गतिम् ।।

तब साधक प्राणों की गति के अनुसार कभी ऊपर कभी नीचे की ओर देखता है, कभी मध्य भाग में प्राणों की त्वरित गति देखा करता है।

अथवा कल्पव्यूहस्य संकल्पस्य विशेषतः।

मनः शिवसमायुक्तं जायते शुभकारकम् ।।

अथवा कभी कभी संकल्प-विकल्पों के व्यूह के साथ मन शिव से समायुक्त हो जाता है, ऐसी स्थिति शुभ कारक है।

शिवसंकल्पसंयुक्तं शिवभावपरायणम् ।

शिवरूपं सदा पश्येत् तदा प्राणास्तु ऊर्ध्वगाः।।

जब मन शिवसंकल्प से समायुक्त हो, शिव भाव परायण हो तथा शिव रूप के दर्शन करे तब प्राणों की गति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है।

अथवा चपला यद्वत् तद्वद्देहेषु व्यापिका।

शक्तिः प्रधावनार्थाय चेष्टते व्याकुला हि सा।।

अथवा, जैसे आकाश में विद्युत चमकती है उसी भाँति सारे शरीर में व्याप्त विद्युत समान शक्ति दौड़ने को व्याकुल होती है।

तदा शंका च विस्तारं प्राणानां गतिरूपकम् ।

जायते तत्त्वज्ञानाय पराज्ञानाय निश्चितम् ।।

तब प्राणों की गति का विस्तार हो जाता है, साधक शंकित भी हो जाता है, ऐसी शंका निश्चय रूप में तत्त्व ज्ञान और परा ज्ञान के लिये सफल होती है।

अथवा कण्ठमाकुंच्य तालुभागे शनैः शनैः।

श्वासस्य गतिसंवेगो जायते प्राणरोधकः।।

अथवा, साधक कण्ठ को तालुभाग में धीरे धीरे समेट कर श्वास की गति का वेग प्राण निरोध करने लग जाता है।

त्वरया च बहिर्याति न स्थितिं च करोति तत् ।

जानीयात् साधक श्रेष्ठः प्राणाः ऊर्ध्वगतिं गताः।।

किन्तु प्राणवायु रूक नहीं पाते हैं और वहाँ स्थिर न होकर त्वरित गति से बाहर निकल जाते हैं। ऐसे में साधक समझ ले कि प्राण ऊर्ध्वगति को चल पड़े हैं।

संकल्पानां विकल्पानां शून्यता यदि वा भवेत् ।

तदापि तत्समायोग ऊर्ध्वं तां च गतिं मतिम् ।।

जब संकल्पों और विकल्पों की शून्यता हो जाय तब भी समझना चाहिए कि प्राणों की गति ऊपर की ओर हो रही है।

बोधयेद् बोधभावाय अनुभावाय तत्त्वतः।

एवं कृत्वा सदा स्वं वै स्वरूपं प्राणसंज्ञकम् ।।

उपर्युक्त लक्षणों से प्राण तत्त्व का अनुभव और बोध कर लेना चाहिये। इस प्रकार देखकर और अनुभव करते हुए अपने प्राण के सही रूप को जान लेना चाहिये।

अवगच्छेन्नरो यस्तु योगमार्गे रतः परः।

अग्रे चैवं प्रवक्षामि वर्णनं सूक्ष्मरूपकम् ।।

इस भाँति साधक योग मार्ग में रत होता हुआ प्राणों की ऊर्ध्वगति को पहिचानता रहे। अब आगे सूक्ष्म रूप का वर्णन करती हूँ।

सूक्ष्मात् सूक्ष्मसमाकारं रन्ध्रपर्यन्तगामिनम् ।

प्राणानां स्थितिबोधोऽसौ ध्यानंस्थितिसमन्वितः।।

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आकार की प्राणों की धारा जो रन्ध्र पर्यन्त तक चली जाती है। ऐसे प्राणों की स्थिति को बोध ध्यान स्थिति में हुआ करता है।

तस्मात् प्रजायते तस्य परातुष्टिः परामतिः।। ॐ ।।

उसी ध्यान स्थिति में साधक की परम तुष्टि होती है और उसे उच्च मति (ज्ञान) प्राप्त होता है।

२८-७-६४।।१७२।।

हरि ॐ तत् सत् ।। ॐ ।।

सालंकृतां शुभगुणां शुभभावयुक्ताम् ।

भोक्त्रैकभोगभवनां नमितात्मिकां ताम ।।

अनन्तरूपोद्भव ज्ञानरूपां,

दिव्यस्वरूपां च प्रदिव्यभावाम् ,

कालान्तसंघात्मकशून्यशून्याम् ।

शून्यां स्थितिं तां च भजामि नित्यम् ।।

हरि ॐ तत् सत् । ॐ । अलंकार धारिणी, शुभ गुणों वाली, शुभभाव समन्विता, भोक्ता को अद्वितीय भोग प्रदान करने के लिए स्वयं नत होकर उपस्थित होने वाली, अनन्त रूपों में ज्ञान पैदा करने वाली, दिव्यस्वरूपा, दिव्यभावमयी, कल्पान्त में समस्त सृष्टि संघ को शून्य करके शून्याकार होने वाली, उस शून्यरूपा स्थिति का मैं भजन करता हूँ।

प्राणानामूर्ध्वभावेन या संज्ञा शून्यभाविका।

शून्यात्मिकां च तां रूपां अरूपां च नमाम्यहम् ।।

प्राणों की ऊर्ध्वगति होने पर शून्यरूपा मूर्च्छा आती है, उस अरूप और रूपवती शून्यात्मिका देवी को मैं नमस्कार करता हूँ।

रूपारूपां विरूपां च अरूपां रूप धारिणीम् ।

प्राणानां गतिशून्यां तां प्रपश्यामि पुनः पुनः।।

मैं, प्राणों की गति से प्राप्त उस शून्यभाव को बारम्बार देखा करुँ, जो रूपवाली भी है, विरूपा है और अरूपा भी।

प्राणानामार्तिनाशाय विकासाय च शुभ्रिकाम् ।

अभ्रंकशां कशायुक्तां काशीभावविमण्डिताम् ।।

प्राणों के कष्ट को दूर करने के लिये, उनके विकास के लिये अभ्रंकशा, कशायुक्ता, काशीभाव से परिमण्डिता-

ककारात्मसमाकारां कपाले चोर्ध्वगामिनीम् ।

तां संज्ञां च समाप्नोमि यां प्राप्य मुदमाप्नुयाम् ।।

ककार बीजाक्षर के आकार वाली, कपाल भाग में ऊर्ध्वगामिनी उस उद्भूतसंवेदना को प्राप्त करता रहूँ, जिसे प्राप्त करके हर्ष प्राप्त कर लूं।

परा विद्या महाविद्या परतत्त्व प्रकाशिका।

प्राणानां गतिभावार्था सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा हि सा।।

परा विद्या वह महाविद्या है, जो परतत्त्व का प्रकाश करती है और प्राणों के गतिभाव के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है।

पराविद्या प्रबोधेन जानाति योगिसंज्ञकः।

योगः कथं मया प्राप्तः सत्वरं च विशुद्धकः।।

पराविद्या के प्रबोध से योगी यह जान जाता है कि मैंने शीघ्र ही योग को किस शीघ्रता से प्राप्त कर लिया है।

ध्यानयोगे च वै यत्र मन्त्रजापः प्रजायते।

प्राणानां सूक्ष्मिका तत्र गतिः सा ज्ञायते ध्रुवम् ।।

जहाँ ध्यानयोग में मन्त्र का जाप चल जाता है, उस स्थिति में प्राणों की सूक्ष्म गति बनी रहती है, साधक उसे निश्चय ही जानता रहता है।

यदा प्राणाः समायाताश्चित्तेन मनसा सह।

संयोगं जपयोगोऽस्मिन् प्रादुर्भवति नित्यशः।।

जब प्राण चित्त और मन के साथ मिल कर एकाकार हो जाते हैं, वहां इन तीनों के संयोग होने पर जप का सदा प्रादुर्भाव हुआ करता है।

यदा वै गमनाभावे प्रत्यागमनके तथा।

जपार्थी जपयोगेन इष्टं जयति सत्वरम् ।।

जब प्राणों का गमनाभाव हो और प्रत्यागमन भी न हो रहा हो, तब साधक को जपयोग में इष्ट मन्त्र का जाप शीघ्र चलता रहता है।

इष्टयोगेन वै जापः तस्य यद्वा प्रजायते।

रेचके पूरके चैव कुम्भकान्ते तथैव च।।

इष्ट मन्त्र का जपयोग–साधक को रेचक में, पूरक में और कुम्भक के अन्त में भी चलता ही रहता है।

जपभावस्तु वै तत्र प्राधान्येन प्रजायते।

प्राणानां सूक्ष्मिका तत्र गतिः संज्ञायते परा।।

जब जप की प्रधानता साधन में होती है तब प्राणों की परम सूक्ष्म गति ज्ञान भी होता रहता है।

परायां प्राणसंधानः सूक्ष्मतां याति वै तदा।

कुम्भकान्ते च मध्ये च प्रारम्भे लग्नके तदा।।

पराशक्ति में प्राणों का सन्धान होने पर प्राण सूक्ष्मता में आ जाते हैं। पूरक, रेचक और कुम्भक तीनों में सूक्ष्मता आ जाती है।

साधकः इष्टमन्त्रस्य जपजापसमाकुलम् ।

मनसा स्वल्पवेगेन समुधारयति स्वतः।।

उस स्थिति में साधक स्वतः ही मन ही मन धीरे धीरे जप में लगा हुआ इष्ट मन्त्र का जाप करता रहता है।

तस्मात्तद् ज्ञायतां तत्र प्राणाः गच्छन्ति ऊर्ध्वकम् ।

अपरं यदि वा तत्र कपाले मध्यभागके।।

ऐसी स्थिति और लक्षणों से जानना चाहिये कि प्राण ऊपर की ओर चढ़ रहे हैं। एक दूसरा लक्षण यह भी है कि कपाल के मध्य भाग में यदि–

अन्तस्तालु समाभागे शीतलत्वं प्रजायते।

नासिका रन्ध्रभागेऽपि शीतलत्वं क्वचित् क्वचित् ।।

तालु भाग के आसपास शीतलता की प्रतीति होती हो और कभी कभी नासिका के छिद्रों में शीतलता का अनुभव होता है।

प्रजायते तु वै कण्ठे शीतलत्वं स्वयं स्वयम् ।

प्रयाससाध्यं तन्नैव सहजं सहभाविकम् ।।

कभी कण्ठ के भीतर भी स्वयं ही शीतलता की प्रतीति होती है। यह शीतलता भाव प्रयास साध्य नहीं होता है, अपितु सहज स्वाभाविक होता है।

शीतलत्वं यदा व्याप्तं तदा प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

अथवा मध्यगे भागे भारं तत्र प्रतीयते।।

इस भाँति जब शीतलता व्याप्त हो तो समझना चाहिये प्राण भली भाँति प्रतिष्ठित होकर सध गये हैं, अथवा कभी कभी सिर के मध्य भाग में बोझ की प्रतीति होती है।

भारं भारं समाभारं तत्त्वाकारं विशेषतः।

ग्रीवाया वेदनं किंचित् कुञ्चनं च प्रसारणम् ।।

वह भार ऐसा महाभार होता है कि कोई विशेष वस्तु रखी हुई हो। इसमें ग्रीवा में कुछ पीड़ा भी होती है और उसमें संकोच तथा प्रसार भी होता है।

जायते प्राणवेगस्तु ऊर्ध्वं गच्छति निश्चितम् ।

एतद् ज्ञानं च विज्ञानं महायोगे प्रसिद्धकम् ।।

ऐसे जब लक्षण हों तो समझो कि प्राण निश्चय ही ऊपर की ओर जा रहे हैं। इस प्रकार का ज्ञान और [illegible]त्र महायोग–विज्ञान प्रसिद्ध है। प्रायः सभी शक्तिपात दीक्षितों को होता है।

लये मन्त्रे जपे सर्वं किंचित् किंचित् समायुतम् ।

अनुभूतिपरं तत्त्वं करोति च यदाहितः।।

तदा शूलसमाकारं प्राणं पश्यति ऊर्ध्वगम् ।

प्राणानां व्यूहकं प्राणं चैतन्यत्वेन संगतम् ।।

लय दशा में, मन्त्र जप में जब साधक थोड़ा बहुत तत्त्व की अनुभूति ध्यान पूर्वक करता होता है–

तब प्राण शूल का आकार धारण करके प्राणों को ऊपर चढ़ता हुआ देखता है। तब प्राण–व्यूह चैतन्य के साथ संगत हो जाते हैं।

ऊर्ध्वं व्याप्तिं समायाति ततश्चेतः प्रसीदति।

यदि वा प्राणसंघर्षे प्राणानां गतिकारके।।

केवलं साधनाकाले साधनासाधसाधकाः।

विचाराः यान्ति वै यत्र कथं मे साधनं भवेत् ।।

ऊपर की ओर प्राणों की व्याप्ति आ जाती है उसमें साधक का चित्त प्रसन्न हो जाता है अथवा जब प्राण संघर्षण में लगे हुए गति शील हों, तब साधनाकाल में साधन में रत साधक को अनेकों विचार आ घेरते हैं। जैसे– मेरा साधन कैसे चलेगा, कैसे मैं आगे बढ़ूं।

केन रूपेण संयाति केन रूपेण ज्ञायते।

केन रूपेण संसिद्धं तद् व्रजेच्च हि सत्वरम् ।।

इत्यात्मकं हि भावं वै निर्गच्छति पुनः पुनः।

श्वासेन सह वै तत्र जानीयात् प्राणसंगतिः।।

संगमेन समायुक्ता दशा ऊर्ध्वाकुला मता।

विप्रकृष्टेन भावेन लग्नं वै यदि तन्मनः।।

तदापि प्राणसंरोधः स्थिरतां याति वै क्वचित् ।।

ये प्राण कैसे चल रहे हैं ? यह कैसे ज्ञात हो ? साधन कैसा चल रहा है ? जल्दी से जल्दी मेरा योगाभ्यास किस प्रकार सिद्ध हो ? इस प्रकार के भाव बारम्बार उठा करते हैं। श्वास प्रश्वास में उपर्युक्त विचार आते हैं। ऐसी स्थिति में समझना चाहिये कि – प्राण संघर्ष करते हुए ऊपर की ओर जाने के लिये छटपटा रहे हैं। यदि मन बड़े कष्ट पूर्वक भी प्राणों की गति के साथ लग जाता है तब भी कभी कभी प्राणों का निरोध स्थिर हो जाता है।

क्वचिच्चलग्नं बहुधा मनः पुनः क्वचिच्च भावः समुपस्थितः सदा।

क्वचिच्च कालं समुपागतं क्वचित् क्वचिच्च केनापि च

दृश्यते क्वचित् ।।

कभी मन प्राणों के साथ बहुत लगा रहता है, कभी कभी नित्य भावों का उदय ही होता रहता है, कभी बहुत काल तक मन में आता है और कभी कोई साधक मन की गति देख भी लेता है।

क्वचित् समाकाल समायुतं च क्वचिच्च बोधेन विवोधनं च।

क्वचिच्च प्राणैः सह संगतं च जपेन सार्धं सह शोधनं च।।

कभी–कभी वर्तमान काल की बातों को सोचने लगता है, कभी बोध से फिर उद्‌बुद्ध हो जाता है, कभी प्राणों की गति में लग जाता है और कभी–कभी जप के भाव में लगा रहता है। इन स्थितियों में प्राणों का शोधन होता रहता है।

तदा एवं ज्ञायतां यद् प्राणाः शुद्धिभावं गताः ऊर्ध्वं गच्छन्ति। अत्र चैतदपि विज्ञेयं यत् नाडीव्यूहस्य संशोधनं समुपस्थितः। यदैतादृशी ज्ञाताज्ञातदशा साधकेनानुभूयते तदा स्वभावेन सहज भावेन अप्रयासेन परामायानुग्रहेण एनं स तत्र विजानाति यान्नाडीशोधनं प्राणानामुद्‌बोधनं च भवति।। ॐ ।।

तब ऐसा समझना चाहिये कि प्राण शुद्धिभाव को प्राप्त करके ऊपर को जा रहे हैं। यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिये कि नाड़ी–व्यूह का संशोधन उपस्थित हो गया है। जब ऐसी ज्ञात अज्ञात दशा का अनुभव साधक करने लगे तब स्वाभाविक, सहज और बिना प्रयास के ही परमा महामाया भगवती के अनुग्रह से नाड़ी शोधन और प्राणों का उद्‌बोधन हो रहा है ऐसा साधक जान जाता है। ॐ ।

नमामि तं महावृक्षं महायोगफलप्रदम् ।

महामायासमाविष्टं बीजरूपेणसंस्थितम् ।।

मैं उस महावृक्ष को प्रणाम करता हूँ जो महायोग रूपी फल देता है और जो महावृक्ष महामाया के समाविष्ट बीज से अंकुरित होता है।

महाशक्तिं च तां नौमि महाकार्यप्रसाधिकाम् ।

महायोगप्रदां देवीं महादिव्यस्वरूपिणीम् ।।

मैं उस महाशक्ति को प्रणाम करता हूँ जो बड़े बड़े कार्यों की प्रसाधिका है, महायोग प्रदा है और महा दिव्यस्वरूपिणी है।

जिह्वाग्रे च निवासोऽस्याः कण्ठाग्रे च समूलकः।

सा देवी सर्वभावेन प्रसीदतु महेश्वरी।।ॐ।।

जिस महादेवी का निवास जिह्वाभाग में है और कण्ठाग्र में जिसका मूल स्थान है वह महेश्वरी मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

प्राणानां पूर्णता जाता न वा सद्यः परीक्षणम् ।

करणं च कृतं येन तेन सर्वं जितं मतम् ।।

प्राणों की पूर्णता हुई है या नहीं इस बात का जो शीघ्र परीक्षण कर लेने में प्रवीण हो जाता है उसने समझो सब कुछ जीत लिया है।

प्राणायामः कृतो येन सफलः स न वा च किम् ।

न ज्ञातं येन तद्भावं निष्फलं तेन सर्वकम् ।।

जिसने प्राणायाम को कर लिया, किन्तु यह नहीं जान सका कि वह सफल हुआ है या नहीं, जिसने प्राणायाम के भाव को नहीं जाना, उसका श्रम व्यर्थ है।

कृते स्वात्मपरिज्ञानं महामाया च तुष्टिदा।

यदा च ज्ञायते एवं महामाया कृपा परा।।

आत्म परिज्ञान हो गया है, महामाया तुष्ट है ऐसा जब साधक जान लेता है, तब समझना चाहिये कि महामाया की कृपा हुई।

तदा प्राणाः समग्रास्ते ज्ञानमार्गे प्रयान्ति च।

ध्यानमार्गे पुनस्तत्र तेषां वै संस्थिति-र्ध्रुवा।।

तब सारे प्राणों की गति ज्ञान मार्ग की ओर बढ़ती है फिर प्राणों की संस्थिति अवश्य ही ध्यानमार्ग में भी हो जाती है।

तस्मात्पूर्वापरं ज्ञात्वा ज्ञात्वा प्राणस्य धारका।

शक्तिः सद्यः समापन्नास्तब्धा लब्धा च भूरिशः।।

इसलिये पूर्वापर भाव को जानकर और प्राण की गति को पहचानकर शक्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है और रुकी हुई शक्ति भी पुनः उपलब्ध हो जाती है।

यथा बीजात् महावृक्षो जायते परिपालनात् ।

तथा प्राणमहावृक्षः पुष्पदः फलदो भवेत् ।।

जैसे सिंचन आदि द्वारा परिपालन से एक बीज से महा वृक्ष पैदा हो जाता है वैसे ही प्राण रूपी महावृक्ष पुष्पदाता और फलदाता बन जाता है।

फलं चैव समाधानं मनसश्चञ्चलात्मकम् ।

पुष्पं पूर्वं ततो याति फलसंवृद्धि रेधिका।।

चंचलात्मक मन का समाधान होना उसका फल है। पहिले पुष्प होता है फिर फल समृद्धि बढ़ती है।

पुष्पं नश्यति सद्यो वै फलोदय समागमे।

एवं ध्यानसमायोगे मनसो अज्ञबोधकम् ।।

पुष्प शीघ्र नष्ट हो जाता है तब फल का प्रादुर्भाव होता है। इस भाँति ध्यान की समाप्ति हो जाने पर मन का अज्ञान भ्रम दूर हो जाता है।

गमनं च समायाति निर्मलत्वं प्रयाति च।

साधकः स्वात्मभावेन जानीयात् प्राणसंस्थितिम् ।।

फिर मन में निर्मलता आ जाती है। साधक को अपने भीतर के प्राणों की संस्थिति भली भाँति समझ लेनी चाहिये।

एवं ज्ञात्वा पुनस्तस्य साधनं फलतां व्रजेत् ।

यदि वा कुम्भकान्ते तद् रेचकान्ते तथैव च।।

पादपृष्ठे तथाङ्गुष्ठे जायते चिंचिणात्मकम् ।

स्फुरणं ज्ञायतां तेन प्राणायामः शुभावहः।।

इस भाँति के ज्ञान से फिर साधन में फल लगता है। यदि कुम्भक के अन्त में या रेचक के अन्त में –

पैरों के पृष्ठ भाग या अंगुष्ठ में चिंचिणात्मक झुनझुनी होती हो या ऐसा स्फुरण होता हो तो प्राणयाम शुभ फलदायक होता है।

अथवा उदरे दीप्तिः तृप्तिः कण्ठे च जायते।

सुप्तिर्भावसमूहस्य प्राणायामः शुभावहः।।

या उदर में दीप्ति उष्णता हो और कण्ठ में तृप्ति का भाव आ जाय, भाव समूह सुप्त हो जाँय तो प्राणायाम को शुभ फल दायी समझना चाहिये।

एवं परीक्षणं कृत्वा कृत्वा चैव निरीक्षणम् ।

भूरिशः प्राणभावेऽस्मिन् गतिं पश्येत् सुसाधकः।।

इस भाँति निरीक्षण-परीक्षण करके श्रेष्ठ साधक को चाहिये कि वह बारबार अपने प्राणों की गति को देखता रहे।

यथाशक्ति तरंगाणां गतिस्तत्र महानदी।

तथा शरीरमध्येऽपि शक्तिधारा तरंगिता।।

जैसे शक्ति की तरंगे होती हैं और शक्ति की महानदी बहती रहती है; उसी भाँति शरीर में शक्ति की धारा तरंगित होती रहती है।

सा धारा प्रबला यावत् सर्वचाञ्चल्यनाशिका।

केवलं ध्यानयोग्योक्तं प्रकरोति मनस्तथा।।

वही धारा जब प्रबल हो जाती है, तब सम्पूर्ण चंचलता को दूर कर देती है। वह धारा मन को केवल ध्यानयोग्य बना देती है।

यदि एवं समापन्नं अनुभूतिपथं गतम् ।

तदा प्राणसमायोगः प्राणायामः प्रसिध्यति।।

यदि ऐसी दशा प्राप्त हो और अनुभूतिपथ में आ जाय, तब प्राणायाम शुभ होकर सिद्ध हो जाता है।

अथवा सुस्थिरा बुद्धिर्भूययो भूयो विचारकात् ।

निः सारयति वै एवं प्राणानां गमनात्मके।।

अथवा बारम्बार सत् असत् के विचार में सुस्थिर हुई बुद्धि प्राणों की गति को पैदा करती है।

आयाति शून्यभावं सा एकाधारावशिष्यते।

केवलं श्वासविच्छेदः प्राणविच्छेद संज्ञकः।।

फिर शून्यभाव आ जाता है, फिर केवल एक ही धारा शेष रहती है। केवल श्वास विच्छेद हो जाता है और उसी को प्राण विच्छेद भी कहते हैं।

लघुरुपेण तच्छीघ्रं फलदः शुभः।
यदि वा नासिकान्ते च निटिले मध्यगे तथा।।
प्राणानां गतिभावस्तु प्राणायामः फलप्रदः।
सिद्धप्राणामहाप्राणा विस्तारं यान्ति वै यदा।।
सृजन्ते ध्यानभावं ते ध्यानाय प्रस्तुता मता।
सृजनात्मक भावेऽस्मिन् ध्याने लीनस्थिति-र्मता।

वह केवली कुम्भक साधक शीघ्र जान लेता है, वह कुम्भक शुभ फलदाता होता है। अथवा यदि नासिकाग्र भाग में या मस्तक के अग्रभाग में प्राणों का गतिभाव हो जाय तो यह प्राणायाम ही शुभफल दायी होता है। जब सिद्धप्राण महाप्राणरुप में विस्तार को प्राप्त होते हैं, तब वे प्राण ध्यानभाव उत्पन्न करते हैं और वे ध्यान के लिये उद्यत हो जाते हैं। प्राणों के इस सृजनात्मक भाव में साधक की स्थिति ध्यान में लीन हो जाती है।

तत्पर्यन्तं समासाद्य साधको ध्यानतत्परः।
जायते मृदुभावेन स्वयं जानाति तत्त्वतः।।

यहाँ तक की दशा प्राप्त करके साधक मृदुभाव से, सहजभाव से ध्यान में तत्पर बनता जाता है।

एतत्सर्वं महामाया प्रसादेन पुनः पुनः।
प्रादुर्भवनि देहेस्मिन् नरोत्तमविशेषके।।

किसी विशेष साधक-श्रेष्ठ को ऐसे लक्षण महामाया के प्रभाव से बारम्बार इस शरीर में उत्पन्न हो जाया करते हैं।

सर्वं कृतं च भुक्तंच ज्ञातं च स्वयमेव तत् ।
महामायाप्रसादेन बहुशो ज्ञायते स्वयम् ।।

महामाया के प्रसाद से साधक सभी ज्ञान, अनुभव, क्रियाविशेष की परिपक्वता स्वंय ही जान लेता है।

यस्य नास्ति महाशक्तिः प्रसन्नाः वरदायिका।
तस्य काणसमायोगो विकीर्णं भावमागतम् ।।

जिस साधक पर वरदायिनी महाशक्ति प्रसन्न नहीं होती है तो समझना चाहिये कि उसके जीवन में "प्रकाणयोग" आ गया है जो उसके शुभयोग को बिखरा दे रहा है।

तस्मात्तत्रैव द्रष्टव्यं समाधानं तु तस्य वै।

प्राणस्य प्राणव्यूहस्य शक्तिसंचारमार्गके।।

इस शक्ति संचार मार्ग में प्राणव्यूह की क्रिया और उसका समाधान साधक को स्वयं अपने भीतर ही देख और समझ लेना चाहिये।

एवं जानन्तु वै लोकाश्चरिता शक्ति वै कथम् ।

तस्य संलक्षणं प्रोक्तं निटिले नासिकान्तके।।

निटिलात् नासिकान्तं च यदि वा रमते मनः।

प्राणै सह समायुक्तंप्राणायामः फलप्रदः।।

साधक लोग ऐसे समझें। शक्ति का संचार उन पर हुआ है या नहीं, इसका यह भी लक्षण है कि भ्रूमध्य या नासाग्र भाग में और निटिल भाग से नासिकान्त तक यदि मन रमण कर रहा है और वह मन प्राणों के साथ लगा हुआ है तो समझो कि प्राणायाम शुभ फल दायी है।

सिद्धिः स सिद्धिसम्पन्नः कार्यसाधन तत्परः।

ध्यानयोगानु ध्यानेऽस्मिन् गतिं कारयते ध्रुवम् ।।

यह प्राणों की सिद्धि है। ऐसे लक्षण वाला साधक सिद्धिसम्पन्न होकर कार्य साधन में तत्पर हो जाता है। ध्यानयोग में वर्णित ध्यानक्रिया में अवश्य गति करता है।

यथा मूलात् रसं पुष्टं समादाय तरूः स्वयम् ।

स्वयं पुष्टिं समायाति पुष्पवृद्धिसुसंगतः।।

जैसे वृक्ष स्वयं जड़ से रस खींचकर पुष्ट होता रहता है और पुष्ट होकर पुष्प फल की समृद्धि प्राप्त करता है।

फलवृद्धिसमायुक्तो नानारससमन्वितः।

तथैव साधकश्रेष्ठः अमृतत्त्वाय कल्पते।।

फल वृद्धि से पूर्ण होकर नाना प्रकार के रसों से भर जाता है, उसी भाँति उनसे साधक भी अमृतत्त्व की प्राप्ति करता है।

एतत्सर्वं महामाय प्रसादेन स्वयं मतम् ।

अनुभूतिं समायांत किन्तु वै केवलं हि तत् ।।

निरीक्षणाय वै तद्वत् जायते सफला क्रिया।

यदीच्छति नरस्तत्र तत्रैव च स्वयं ध्रुवम् ।।

जानाति प्राणसंयोगं न च जानाति निष्फलम् ।

तस्य चैवं समापत्तिः विशिष्टा ध्यानयोग्यता।।

यह सब महामाया भगवती के प्रसाद से स्वयं ही होता है और अनुभूति में आता है। किन्तु वह केवल जो क्रियायें बताई गई हैं वे निरीक्षण करने के लिये होती हैं। साधक यदि चाहता है कि प्राण क्रिया ठीक है या कहीं तो यह अपने प्राणों की हरकत जान लेता है और यह भी जानता है कि वह निष्फल नहीं है, और उसकी यह समापत्ति विशिष्ट ध्यानयोग्यता में होती है।

जायते प्राणसंरोधात् प्राणायामपरायणः।

तस्माद् भूयाच्च वै लोको लोकेऽस्मिन् योगमार्गके।।

प्राण निरोध द्वारा प्राणायाम में परायण होता हुआ साधक इस लोक में योग मार्ग में लगा रहे।

एवं सर्वप्रकारेण जानीयात् साधकः स्वयम् ।

विचिकित्सा न वै तत्र बहुना किं भवेत्ततः।।

इस प्रकार समझता हुआ साधक स्वयं योग मार्ग में तत्पर रहे। शंका और संशय से कोई लाभ नहीं है।

अपि एवं च जानाति साधकः स्वशरीरके।

स्वयं च नालिकाभावं जायते ब्रह्मरन्ध्रके।

साधक को कभी ऐसा भी लगता है कि शरीर के ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्णा में एक नलिका सी बन गई है।

तत्रापि च महावेगः स नायाति क्वचित् क्वचित् ।

वेगस्य मार्गमारूद्धं करोति च स्वयं नरः।।

उस नली के भीतर प्राणों का महावेग कभी कभी नहीं हो रहा है। स्वयं ही प्राणवेग का मार्ग निरूद्ध हो गया है।

तदा संज्ञायते एवं कार्यं मे सफलं गतम् ।

सर्वात्मभावरूपं तद् समाधाय विशेषतः।।

तब ऐसा स्वयं ज्ञात होता है कि मेरा कार्य सफल हो गया है। इन बातों की भलीं भाँति से अपने सर्वात्मभाव में समाधान करता हुआ–

भूरिशो भूयशश्चैव साधने सुरतो नरः।

जानीयाद् ध्यानयोगं तद् भूयोभूयो वदामि तत् ।।

खूब बारम्बार साधक साधना में लगा रहे, ध्यानयोग का ऐसा रहस्य जानता रहे। इसे मैं बार–बार बताये जा रही हूँ।

३०–७–६४।।१७४।।

हरि ॐ तत् सत् ।

मन्त्राक्षरां महाशक्तिं मन्त्रबीजस्वरूपिणीम् ।

मन्त्रमूर्तिं सदा वन्दे मन्त्रशक्तिप्रदां च ताम् ।।

मन्त्रबीज स्वरूपिणी, मन्त्रमूर्ति, मन्त्रशक्तिप्रदा, मन्त्राक्षरा महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ।

मन्त्रार्थां मन्त्रभावार्थां मन्त्रयोगां महामतिम् ।

मन्त्रदां मन्त्रसार्थां च मन्त्रसिद्धिप्रदां स्वकाम् ।।

मन्त्रार्थरूपिणी, मन्त्रभाव रूपिणी, मन्त्रयोगा, मन्त्रदात्री, मन्त्रसिद्धि प्रदा भगवती को मौ प्रणाम करता हूँ।

वन्दे तां मन्त्रविद्यां च महादेवीं महेश्वरीम् ।

मन्त्रशक्तिं समालब्धां मन्त्रसार्थककारिणीम् ।।ॐ।।

उस महेश्वरी महादेवी मन्त्रविद्या को मैं प्रणाम करता हूँ जो मन्त्र की सिद्धि देकर मन्त्र के अर्थ को सार्थक कर देती है।

अद्य अस्मिन् प्रकरणे पूर्वस्य परस्य च विषये यन्निगदितं तत्परं च ध्यानावस्थितिकं प्राणानामूर्ध्वगतिकं यत्किंचिन्निगदितं तत्सर्वं साधकाय शुभं जायताम् ।।ॐ।।

अब इस प्रकरण में पूर्व के और पर के विषय में जो कहा गया है और तदनन्तर ध्यान की स्थिति और प्राणों की ऊर्ध्व गति पर जो कहा गया है वह सब साधक के लिये मंगलकारक हो।ॐ।

प्राणानां मध्यगाशक्तिः बीजरूपेणसंमता।

तां शक्तिं जागृतां कृत्वा सद्यो वै कार्यसाधकः।।

साधकः शक्ति सम्पन्नः जायते नितरां च तत् ।

ज्ञायतां च यथा तैलं निहितं तत्तिलेषु वा।।

प्राणों की मध्यगा स्थिति बीज रूप में स्थित रहती है, उस शक्ति को जागृत करके शीघ्र कार्य साधक व्यक्ति नितान्त शक्ति सम्पन्न बन जाता है। ऐसा समझो कि जैसे तिलों के भीतर तेल छिपा रहता है।

स्फुटं न ज्ञायते किंचित् निष्पेषणमपेक्षते।

तिलानां पेषणाद् यस्मात् तैलं तल्लभ्यते भृशम् ।।

वह स्फुट रूप में ज्ञात नहीं होता है। उसके लिये तिलों को पीड़ित करना पड़ता है, तब उस निष्पेषण से तिलों से तैल प्राप्त होता है।

तद्वत् शक्तिं समाभ्यस्य कार्यं वै कुरूते नरः।

अथवा दुग्धके यद्वत् घृतं वै नवनीतकम् ।।

उसी प्रकार शक्ति का भली प्रकार अभ्यास करके साधक कार्य करता है, अथवा जैसे दूध में घी और नवनीत रहता है।

विद्यते तत्तथा अत्र शरीरे शक्ति बीजकम् ।

विद्यते छन्नरूपेण प्रकाशं नीयतां हि तत् ।।

वैसे ही इस शरीर के भीतर शक्ति बीज निहित है। वह छिपा हुआ है। उसे प्रकट प्रकाश में ले आओ।

चर्षणं घर्षणं प्रोक्तंसंघर्षण समाकुलम् ।

तस्मात् प्राणसमायोगं वलदं कुरूते नरः।।

इसके लिये निरन्तर घर्षण, घर्षण, बारम्बार बताया गया है। इस प्रकार प्राणों के संघर्षण रूप प्राणायाम साधक को बलवान् बनाता है।

या च शक्तिः समापन्ना जागृता च विबुद्धका।

निरन्तर समाभ्यासात् सा शक्तिः पुष्टिमाभजेत् ।।

जो शक्ति साधक को प्राप्त हुई है, जाग गई है, उद्बुद्ध हो गई है, वह निरन्तर अभ्यास से परिपुष्ट हो जाती है।

तस्मात्संघर्षणं श्रेष्ठं प्राणानां प्राणकैः सह।

तेन संघर्षभावेन शक्ति-स्तत्र विबुद्धका।।

इसलिये प्राणों का प्राणों के साथ निरन्तर संघर्षण बहुत श्रेष्ठ कहा गया है। इस संघर्षण क्रिया से शक्ति विशेष रूप में उद्‌बुद्ध होती है।

जायते सुप्तिभावं च नैवं गच्छति गच्छति।

तस्मात् तत्त्वार्थ बोधश्च जायते शक्ति योगतः।।

इस अभ्यास से फिर शक्ति कभी सुप्त भाव में नहीं जाती है। उसी जागृता शक्ति से तत्त्वार्थ बोध हुआ करता है।

तदैव ध्यानयोगं च पुष्टं भवति भूरिशः।

प्राणायाम सयाभ्यासात् कुण्डली कुलदेवता।।

विबुद्धा कार्यभावार्था चैतन्यत्वेन संगता।

करोति कार्यं वै सद्यः साधकाय पुनः पुनः।।

तभी ध्यान योग की परिपुष्टि भी होती है। प्राणायाम के सम्यक् अभ्यास से कुल देवता कुण्डलिनी शक्ति कार्य के लिये तत्पर होती हुई विबुद्ध होकर चैतन्य से संगत हो जाती है। साधक के हित के लिये शीघ्र कार्य करना आरम्भ कर देती है।

तस्मान्निरन्तराभ्यासात् तां शक्तिं सुस्थिरां कुरू।

यदा वा जागृता शक्तिः प्राणोत्थानं करोति सा।।

इसलिये निरन्तर अभ्यास द्वारा उस शक्ति को स्थिर करो। जब वह जागृता शक्ति प्राणोत्थान करती है।

तदा उर्ध्वं समायान्ति प्राणाः संघर्षणात् स्वयम् ।

यथा सूत्रं समादाय सूचिकाग्रे प्रधावति।।

तब संघर्षण क्रिया द्वारा प्राण स्वयं ऊपर को चढ़ने लग जाते हैं। जैसे सुई धागे को लेकर आगे को बढ़ती जाती है-

तथा प्राणान् समादाय शाक्ति-र्धावति धावति।

यथा वा वंशपृष्ठे तु तप्तलौहसमागमात् ।।

छिद्रं संजायते तस्मात् ध्वनिः संजायते मृदु।

तद्वच्छक्ति समायोगात् पृष्ठवंशे पुनः पुनः।।

तप्तप्राणसमायोगात् नादतत्त्वं प्रजायते।

जानाति साधकस्तद्वै शक्तिधारा समन्विता।।

उसी भाँति प्राणों को पकड़कर शक्ति निरन्तर ऊपर बढ़ती जाती है। जैसे बाँस के ऊपर गरम लौह शलाका रखने से छिद्र हो जाता है और उससे बड़ी मधुर ध्वनि निकलती है उसी प्रकार शक्ति के समायोग से साधक के पृष्ठ भाग में बारम्बार तप्त प्राणों के संयोग होने से नाद-तत्त्व प्रकट होता है। साधक को तब ज्ञात हो जाता है कि शक्ति अपना कार्य कर रही है।

कृताभ्यासः सदा स वै अभ्यासेन विना हि तत् ।

न जायते पराभावं तस्मादभ्यासतत्परः।।

ऐसा अभ्यास द्वारा ही होता है। बिना अभ्यास के वह नहीं होता है। बिना अभ्यास के पराभाव प्राप्त नहीं होता है, इसलिये अभ्यास में तत्पर बनो।

भव त्वं साधक श्रेष्ठ कार्यसिद्धिर्भविष्यति।

येनाभ्यासः कृतः पूर्णः जितः प्राणसमूहकः।।

हे उत्तम साधक ! साधना में लगे रहो, कार्यसिद्धि अवश्य होगी। जिसने पूर्ण अभ्यास कर लिया हो, और प्राण समूह को जीत लिया हो।

तेन सर्वं कृतं पूर्णं कार्यसिद्धिस्तु किंकरी।

किंकरीभूतमापन्ना प्राणशाक्तिस्तु किंकरी।।

तो समझो कि उसने सब कुछ पूर्ण कर लिया है और कार्यसिद्धि उसकी दासी है। कार्य सिद्धि के वशीभूत होने पर प्राण शक्ति भी दासी हो जाती।

किंकरी निरताधारा किंकरी भूतिभूतिका।

तस्मात्सदा समाधानात् प्राणायामपरायणाः।।

आधार शाक्ति भी किंकरी बन जाती है और विभूतियॉ भी किंकरी हो जाती हैं, इसलिये समाधान करके प्राणायाम में तत्पर बने रहो।

यो नरो यौगवित् स वै तस्य प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

महामाया प्रबुद्धा च विबुद्धा च सदैव सा।।

जो मनुष्य इस योग विद्या को जानता है उसके प्राण प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उस साधक के लिये महामाया शक्ति प्रबुद्ध और बिबुद्ध सदैव बनी रहती है।

कार्याकुला महामाया त्वमभ्यासे रतो भव।

करणीयं नैव तत्र त्वया किंचिद्विशेषतः।।

भविष्यसि न सन्देहः तस्मात् प्राणपरो भव।

सम्यक् निधाय वै दृष्टिं निरीक्षण परीक्षणम्।।

उस साधक के लिये महामाया कार्याकुल बन जाती है। अतः तुम अभ्यास में तत्पर बने रहो, तुम्हें विशेष रुप में कुछ करना नहीं है। न करना होगा। सन्देह न करो, केवल प्राण की उपासना करो। अपनी सम्यक् दृष्टि से प्राणों का निरीक्षण–परीक्षण करते रहो।

कृत्वा प्राणान् समाधाय श्रीपीठे सुस्थिरो भव।

उर्ध्वं किं दृश्यते तत्र अनुभूतिं व्रजेच्च किम् ।।

प्राणों का समाधान करके श्रीपीठ में सुस्थिर हो जाओ। इसके आगे क्या दीखता है वह सब तुम्हारी अनुभूति में आ जायेगा।

प्रत्यक्षेण पुरः पूर्णं आगमिष्यति वै ध्रुवम् ।।

अवश्य ही वह पूर्ण रुप से प्रत्यक्ष में तुम्हारे सामने आ जायेगा।

३१-७-६४।।१७५।।

हरि ॐ तत् सत् ।।

आत्मबोधपरिचायिका च या सद्यः वोधपरिचायिका च या।

तत्त्वज्ञान अभिभाविका च या प्राणदा च सुखदायिका च या।।

सा च शक्तिबहुला मता साधकाय सततं शुभाय जायताम् ।।

जो शक्ति आत्मबोध परिचायिका है, जो शीघ्र बोध से परिचय करा देने वाली है, जो तत्त्वज्ञान का उदय कर देती है, जो प्राणदायिनी है, सुख दायिनी है, वह शक्ति सर्वदा साधकों का मङ्गल करे।

अथ अस्यां विद्यायां आत्मबोधप्रत्यभिज्ञासमाकारकं पूर्वापरकं कृतानुभूतं यच्च तत् पुष्टिकरणाय तुष्टिकरणाय पुनरपि आत्मभाविका आत्मोत्थानकारिका आत्मबोधविमण्डिता प्राणसंकुला निराकुला शक्तिसमन्विता च या उर्ध्वगा गतिभावना क्रिया वा तस्याः परिचयो विधेयः अनुभूतिस्तु विशेषेण। ।ॐ।।

अब इस विद्या में पहिले बताई गई आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा जिसका अनुभव कर लिया गया है उसी के पुष्टीकरण और तुष्टीकरण के लिये फिर से आत्मानुभव सम्बन्ध आत्मोत्थान करने वाली, आत्मबोध विमण्डित, प्राणसंकुला और निराकुल रुप में शाक्ति समन्वित होकर जो प्राणों की उर्ध्वगति की भावना है और क्रिया है उसका भी परिचय और विशेष अनुभव साधक को कर लेना चाहिये।

या च विद्या परा विद्या पूर्वापरविभाविका।

अनन्ता विपुला सा च आत्मबोधाय कल्पते।।

पूर्वापर ज्ञान की विशिष्ट भावना देने वाली जो परा विद्या है वह बड़ी अनन्त और विस्तीर्ण है और साधक को आत्मबोध करा देने वाली है।

ऊर्ध्वमूर्ध्वमुखा यावत् प्राणाः शाक्तिविभावितः।

भवन्ति तत्र वै सद्यः स्मृतिभावो विनश्यति।।

शक्ति से भरपूर प्राण जब ऊपर की ओर उन्मुख होकर चढ़ते हैं तब वहां स्मृति भाव विनष्ट होता चला जाता है।

कन्दादासेतुभागं च रन्ध्राद् रन्ध्रानुगा च या।

प्राणशक्ति-र्महाशक्तिः सूक्ष्मिका सूक्ष्मदर्शिका।।

कन्द से सेतुभागपर्यन्त सुषुम्णा रन्ध्र के भीतर चलती हुई प्राणों की महाशक्ति है बड़ी सूक्ष्म है और सूक्ष्म भावों की दर्शिका है।

प्रबला सबला तत्र जायते बोधसंकुला।

केवल-मात्मबोधोऽसौ निर्माणं प्रति गच्छति।।

वह शक्ति कभी प्रबल होती है, और कभी कम बलवाली, वह सभी रुप में साधक को बोध देने में लगी रहती है, शक्ति के द्वारा प्राप्त आत्मबोध निर्माणात्मक होता है।

स्मृतिभावः सदा तस्मात् स्थानान्निःसरणं व्रजेत् ।

एवं जानाति वै तत्र सहस्रारे गतागतम् ।।

साधक का स्मृतिभाव शरीर से निर्गत हो जाता है। साधक को ऐसा लगता है कि सहस्रार मैं कुछ आ जा रहा है।

कुर्वन्ति सततं प्राणाः प्रवेशं यान्ति वै न ते।

तस्माच्छूलसमाकारा स्मृतिशून्याः परस्परम् ।।

प्राण सहस्रार में गमनागमन करते हैं और वहां प्रवेश नहीं कर पाते हैं, वे प्राण शूल के आकार के दीखते हैं, और स्मृति की शून्यता रहती है।

अनुकूलत्वं समायाति सोहं भावः पुनः।

अखण्डावृत्तिर्वै तत्र प्रादुर्भवति साधके।।

बारबार सोहं भाव अनुकूलता में आता रहता है। साधक में तब अखण्ड वृत्ति का उदय होता है।

तां जानाति स वै पूर्णं पूर्णात् पूर्णतरं मतम् ।

प्राणानामूर्ध्वभावस्तु शक्तिवेगेन जायते।।

उस अखण्ड वृत्ति को साधक पूर्ण से पूर्णतर और उच्च समझता है। प्राणों की ऊर्ध्वगति शक्तिवेग से हुआ करती है।

कन्दसंछेदकस्तत्र रन्ध्रान्वेषणतत्परः।

तदा रन्ध्रंविदीर्यैतत् ऊर्ध्वं गच्छति सत्वरम् ।।

वह प्राण पहिले कन्द को संच्छिन्न करता है और ऊर्ध्वगामी छिद्र को ढूंढता है। तदन्तर रन्ध्र को विदीर्ण करके शीघ्र ऊपर की ओर चल पड़ता है।

एवं पूर्तिसमानार्था भावना बहुरुपिका।
प्रत्यक्षरुपा संरुपा बौधै पुष्णाति तद्ध्रुवम् ।।

इस प्रकार पूर्णता के भाव की बहुरुपा भावना प्रत्यक्ष रुप में आकर बोध का पोषण करती है।

अहं सोऽहं अखण्डोऽहं आत्माहं शिवरुपकः।

वृत्तिस्वरुपः संरुपः केवलमहमेव तत् ।।

वह ऐसी वृत्ति है कि "मैं वही हूँ, मैं अखण्ड हूँ, मैं आत्मा हूँ, मै शिव हूँ, केवल मैं ही मैं हूँ" इस प्रकार की वह वृत्ति होती है।

अहं सर्वमहं तत्र अहं सर्वत्र दृश्यते।

यत्र यत्र समायोगः प्राणानां दृश्यते बहु।।

तत्र तत्र अहं भावः जायते परमाकुलः।

यदा वै नाशमायाति तद्भवोऽपि निःशेषतः।।

तदा एकं महातत्त्वं बोधस्थाने भविष्यति।

एतत् प्रोक्तं च पूर्वं वै प्रत्यभिज्ञाधिकारके।।

सर्वत्र सब मैं ही हूँ, ऐसा ही सर्वत्र दिखाई देता है। जहाँ-जहाँ प्राणों का समायोग होता है वहाँ-वहाँ सर्वत्र पूर्णरुप से अहंभाव पैदा हो जाता है। जब ऐसा भाव निःशेष रुप में विलीन हो जाता है, तब भी बोध के स्थान में एक महातत्त्व बना ही रहता है। आत्मबोध प्रत्यभिज्ञा अधिकरण में पहिले भी ऐसा बताया गया है।

तस्मात्तदैव संज्ञेयं ध्येयं नेयं सुसाधकैः।

सा स्थितिर्बहुला प्रोक्ता एकार्था एक भाविका।।

इसलिये उत्तम साधक उसी स्थिति का ध्यान करें और उसे प्राप्त करे, वह स्थिति प्रायः एक तत्तर्थ को बताने वाली और एक की भावना देने वाली होती है।

यदा संयाति सा पूर्णा नैवं किंचित् प्रज्ञायते।

क्व वा अहं क्व वा प्राणाः क्व स्थितिः क्व च संस्थितिः।।

जब वह दशा पूर्ण रुप में आती है तो कुछ भी भान नही रहता है। मैं कहाँ हूँ, प्राण कहाँ हैं, कहाँ स्थिति है, कहाँ बैठा हूँ।

न किंचिद् ज्ञायते तत्र सोऽहंभावः स्थिरो भवेत् ।

एषा स्थितिः समायाति ध्यानयोगान्नरे सदा।।

वहाँ कुछ पता नही रहता है, केवल सोऽहं भाव ही स्थिर रहता है। ऐसी स्थिति साधक को ध्यानयोग के द्वारा प्राप्त होती है।

सूक्ष्मरुपेण बोधाय आत्मनश्च प्रबोधिका।

शोधिका कन्दभागस्य रोधिका वृत्तिव्यूहिका।।

एवं शनैः शनैः ज्ञातं अनुभूतं भविष्यति।

साधना लग्नकैः लोकैः योगविद्भिः स्वयं ततः।।

सूक्ष्मरुप में बोध देने वाली, आत्मा को प्रबुद्ध करने वाली, कन्दभाग का शोधन करने वाली और वृत्ति–समूहों का निरोध करने वाली वह दशा शनैः शनैः साधक के अनुभव में आती जायेगी। साधक लोग साधन में लगे रहें और योग का ज्ञान प्राप्त करते रहें। उन्हें स्वयं सब कुछ अनुभव में आ जायेगा।

तस्मात् सूक्ष्मातिसूक्ष्मं तत् तत्त्वं पश्यन्ति योगिनः।

यद्दृष्ट्वा परमानन्दं प्राप्नुवन्ति स्वयं हि ते।।ॐ।।

योगी लोग सूक्ष्माति–सूक्ष्म तत्त्व का दर्शन करके परमानन्द की प्राप्ति कर लेते हैं।

१–८–६४।।१७६।।

हरि ॐ तत् सत् ऊँ।।

नमस्ते शारदे देवि शारदे सारशालिनि।

सारान्तां सारसंसारां बोधिनीं च प्रमोदिनीम् ।।

सार से पूर्ण हे शारदे देवि ! आपको नमस्कार है। सार सार में सार का अन्त देने वाली, प्रसन्न करते हुए बोध देने वाली मां शारदा को प्रणाम है।

नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं प्रसीद कण्ठसंश्रिते।

कण्ठदेशं समाश्रित्य पराविद्याप्रकाशनम् ।।

कण्ठ देश में आश्रिता माँ मुझ पर प्रसन्न बनो, तुम्हें बारंबार नमस्कार है। मेरे कण्ठ में निवास करके परा विद्या का उद्घाटन कर दो।

कुरुत्वं त्वरया येन पराज्ञानं भवेत् शुभम् ।।ॐ।।

जिससे मुझे अतिशीघ्र परा का ज्ञान हो जाय और मेरा कल्याण हो जाय।ॐ।

पराविद्यायाः प्रसंगे प्राणोत्थानात्मकं ध्यानगम्यं तत्परिचयकारकं विशेषरुपेण कन्दात् रन्ध्रपर्यन्तं तस्माच्चोपरिभागं यावद्भणितं गद्यते वा तत्सर्वं परिपुष्टिकरं तुष्टिकरं च भवतात्।।ॐ।।

पराविद्या के प्रसंग में प्राणोत्थान विषयक, ध्यानविषयक, कन्द से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त और उससे ऊपर प्राणों की गति के बारे में जो कुछ बताया गया है वह सब परिपुष्टिकारक और तुष्टिकारक बने।ॐ।

प्राणानां प्राणसंवासः कन्दादूर्ध्वं प्रकीर्तितः।

रन्ध्रे निवेशयेत् प्राणान् प्राणसंशयकारकः।।

प्राणों का जो असली निवास है वह कन्दभाग के ऊर्ध्वभाग में कहा गया है। प्राणों के उपासक को चाहिये कि वह रन्ध्र के भीतर प्राणों का प्रवेश कराये।

रन्ध्रं गच्छन्ति यत्प्राणा-स्तत्रैव कृतसंश्रयाः।

किञ्चित्कालं समाश्रित्य नीचैर्गच्छन्ति ते स्वयम् ।।

जो प्राण रन्ध्र के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं वे अपना आश्रय बना लेते हैं और कुछ काल तक वहां रहकर पुनः नीचे स्वयं आ जाते हैं।

निम्नात् निम्नतरे भागे मूलाधारे विशन्ति च।

पुनर्मूलाच्च निष्क्रम्य ऊर्ध्वं गच्छन्ति ते स्वयम् ।।

नीचे आकर सबसे निम्नभाग मूलाधार में प्रवेश कर जाते हैं। फिर मूल से विनिष्क्रान्त होकर वे स्वयं ऊपर की ओर चढ़ा करते हैं।

कन्दभांग समाश्रित्य ऊर्ध्वं रन्ध्रं प्रविश्य च।

तत्र संबोधमासाद्य गमनागमनं च तत् ।।

कन्द भाग का आश्रय लेकर और रन्ध्र के ऊपर को प्रवेश होकर वहाँ संबोध प्राप्त करते हुए वे प्राण गमनागमन करते हैं।

कुर्वन्ति हि सदा प्राणाः उत्थानेन समावृत्ताः।

तस्माच्च भावसंस्थानं बुद्धा वै साधकोत्तमः।।

प्राणानां गतिमासाद्य प्रीतिं गच्छति वै पराम् ।

पूर्वं यथा च सम्प्रोक्तं प्राणायामसमागमे।।

कथं गच्छन्ति ते शीघ्रं प्राणा ऊर्ध्वस्थितिं तदा।

निशम्य वार्तां चैनां तत् श्रुत्वा चैवावधारयेत् ।।

प्राण सदा ऊर्ध्वगमन के लिये उत्थान से परिपूर्ण रहते हैं। अतः उत्तम साधक भावसंस्थान का ज्ञान करके और प्राणों की गति प्राप्त करके परम हर्ष प्राप्त करता है। जैसे पहिले कहा है कि प्राणायाम के समागम में प्राण किस प्रकार शीघ्र उपर को चढ़ते हैं। उस

बात को सुनकर समझकर हृदयंगम कर लो।

अभ्यासेन समायुक्तः प्रीतिं गच्छति वै नरः।

अभिव्याप्य समासाद आसादश्च विसादकः।।

साधक अभ्यास में परिपक्व बनकर प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है। समासाद, आसाद, विसाद इनका आशय अभ्यास करने के अर्थ को बताता है।

समीपे आसनं चैव आसनं चोपवेशनम् ।

अभ्यासेन इदं सर्वं गद्यते अवधार्यताम् ।।

समीप में आसन लगाना अर्थात् बैठना, इसको समासाद कहते। वह सब अभ्यास से ही आता है, इस बात को भी समझ लो।

अभ्यासः प्राणव्यूहस्य त्वरया कृततीर्थकः।

तीर्थभावं समायाति तीर्थार्थी रमते हि तत् ।।

प्राणव्यूह का अभ्यास करना, उसमें निपुणता प्राप्त करना वही प्राप्त करता है जो निपुणता प्राप्ति का इच्छुक हो, वही योगाभ्यास में रमता भी है।

आर्तिविच्छेदकं तत्र श्वासविच्छेदकं पुनः।

स्वयमेव प्रसन्नं स्यात् नात्र कार्या विचारणा।।

इसमें कोई संशय नहीं है कि अभ्यास पहिले कष्ट दूर करता है, फिर श्वास की विषम गति का विच्छेद करता है और फिर वह अभ्यास भी स्वयं वश में आ आता है।

यदीच्छसि वशीकर्तुं प्राणव्यूहं पुनः पुनः।

अश्वोदरीं समभ्यस्य त्वरया सफलो भव।।

यदि तुम प्राण व्यूहों को वश में करना चाहते हो तो बारम्बार अश्वोदरी मुद्रा किया करो, उसके अभ्यास से बहुत शीघ्र सफल हो जाओगे।

अश्वोदरी समायुक्तः अश्वार्थी अश्वधावकः।

अश्ववल्गां समाकृष्य अश्वं वै वशमानयेत् ।।

घोड़ा दौड़ाने के इच्छुक अश्ववार को चाहिये कि वह घोड़े की लगाम हाथ में पकड़कर उसे खीचं कर घोड़े को वश में करे, इसके लिये अश्वोदरी लगाओ।

प्राणाधीनं मनः प्रोक्तं मनसश्चञ्चला स्थितिः।

अश्वोदरीसमाभ्यासात् प्राणा ऊर्ध्वपरायणाः।।

मन प्राणों के अधीन हुआ करता है। मन की स्थिति चंचल होती है। अश्वोदरी के सम्यक् अभ्यास से प्राणों का रुख ऊपर की ओर हो जाता है।

जायन्ते सततं तत्तु प्रोक्तंपूर्वं मया पुनः।
प्रोच्यते अद्य वै तत्तु येनाभ्यासो दृढो भवेत् ।।

यह बात पहिले भी बारबार मैंने कही है, आज भी मै कह रही हूँ। ताकि तुम्हारा अभ्यास दृढ़ हो जावे।

अथवा च समभ्यस्ता येन सा हनुकूर्चिका।
येनापि प्राण संस्थान उत्थानेन अपावृतः।।

अथवा जो साधक हनुकूर्चिका, मुद्रा का अभ्यास कर लेता है, उससे भी प्राणों का संस्थान उत्थान से पूर्ण बन जाता है।

एवं प्राणा महाप्राणा महाबलसमन्विताः।
केन्द्रं सेतुं च रन्ध्रं च भित्त्वा गच्छन्ति ऊर्ध्वगम् ।।

इस प्रकार प्राण महाप्राण बनकर महाबल से समन्वित हो जाते हैं। केन्द्र, सेतु और रन्ध्र का भेदन करके ऊपर की ओर चढ़ जाते हैं।

तदा संजायते पूर्वं आनन्दोद्भूति संज्ञकम् ।
महातत्त्वं महासतत्त्वं यत्प्राप्य मतिमान् नरः।।
स्वयमानन्दसम्भूतिमधिगच्छति सत्वरम् ।
चेष्टते कुरुते नैव दृश्यते चानुभूयते।।

तब साधक को आनन्द की उद्भूति होती है। महातत्त्वं और महासत्त्व प्राप्त करके बुद्धिमान् साधक शीघ्र आनन्दानुभूति प्राप्त कर लेता है। पुनः पुनः उसी अनुभूति के लिये चेष्टा करता है, देखता और अनुभव करना चाहता है।

आनन्दः परमानन्दः परप्रीतिप्रदायकः।
परस्य परमा प्रीतिः परमेन विमण्डिता।।

आनन्द, परमानन्द, परम प्रीति प्रदायक दशा उसे कहते हैं, जिसमें परतत्त्व के प्रति परम प्रीति हो और जहाँ परम का अनुभव हो।

तां जानाति यः स योगी तस्मात् प्राणपरो भव।
सहस्रारे यदा सद्यो गमनं च भविष्यति।।

उसी दशा को योगी जानता है, अतः तुम प्राणोंगासना में लगे रहो। जब एकदम प्राणों का गमन सहस्त्रार में होगा।

तदा तु प्राणसंरोधः तत्रस्थैव भविष्यति।

दलेषु दलभागेषु दलसृष्टिषु वै पुनः।।

एकाक्षरं परब्रह्म प्रत्यक्षं च समाश्रितः।

अनुभूतिपरः सद्यः भविष्यति न संशयः।।

तब प्राणों का वहीं संरोध हो जोयगा। वहां प्रति दल में, दल-समूह में, दल भागों में बारम्बार वह एक अक्षर ब्रह्म प्रत्यक्ष रुप में समाश्रित हुआ प्रतीत होगा और उसकी तुम्हें अनुभूति होगी। इसमें कोई संशय नही है।

तस्मात् सततभावेन समायुक्तेन चेतसा।

प्राणाभ्याससमायुक्तः नरो जायेत वै स्वयम् ।।

इसलिये लगन पूर्वक समाहित चित्त से, साधक को चाहिये कि वह प्राणाभ्यास क्रिया में निरन्तर तत्पर बना रहे।

रन्ध्रभागं समाक्रम्य तद्व्याप्तिं च विधाय वै।

प्राणांस्तोषसमायुक्ताः महाबलसमन्विताः।।

रन्ध्र भाग का आक्रमण करके, उसमें व्याप्त होकर प्राण तुष्टि प्राप्त करते हैं और महाबल से समन्वित हो जाते हैं।

द्वन्द्वमातंगनाशाय जायते सिंहशाववत् ।

यथा वै केसरी शीघ्रं मातंगमभिक्रम्य च।।

ऊर्ध्वं तिष्ठति तत्रैव स्वबलेन विमण्डितः।

एवं प्राणो महाप्राणो महाशक्तिविमण्डितः।।

द्वन्द्वरुपी मातंग के संहार के लिये वे प्राण सिंहशावक की भांति बलवान् बन जाते हैं। जैसे केसरी शीघ्र मातंग पर झपटकर उस पर सवारी करके बैठ जाता है और वहाँ शोभित रहता है, वैसे ही शक्ति से विमण्डित प्राण महाप्राण बनकर विराजते हैं।

सर्वद्वन्द्वविनाशाय जायते बलवान् दृढ़ः।

प्राणानां गतिभावं च यो जानाति नरः स्वयम् ।

वह बलसम्पन्न प्राण सर्वद्वन्द्व के विनाश के लिये सफल हो जाते हैं। जो व्यक्ति स्वयं अपने प्राणों के गतिभाव को जानता है।

तस्य वै सफला प्रोक्ता साधना तत्त्वदर्शिका।

तस्मात् प्राणं महाप्राणं निरीक्ष्य च परीक्ष्य च।।

पूर्वभ्यासे रतस्तत्र भूयाच्चैव पुनः पुनः।

अथवा ज्ञायतामेवं बालुका सेतुबन्धनम् ।।

उसकी साधना सफल कही जाती है, जो उसे तत्त्व दर्शन करा देती है। अतः अपने बल सम्पन्न प्राणों का निरीक्षण परीक्षण करके बारम्बार निरन्तर पहिले अपने अभ्यास में लगे रहो, नहीं तो ऐसा समझो कि बालू से पुल का बाँधना है।

कर्तुं शक्नोति वै कश्च श्रमस्तस्य निरर्थकः।

तद्वच्छ्वासः समायति गच्छति च पुनः पुनः।।

बालू से कौन पुल बाँध सकता है, उसका श्रम निरर्थक है। बिना अभ्यास के सामान्यतया श्वास आता जाता रहता है।

न च शक्तिसमापन्नः तद्वत्तस्य निरर्थकम् ।

भावं संज्ञायते येन क्रिया च निष्फला भवेत् ।।

किन्तु शक्तिसम्पन्न नहीं होता है। तो इस भाँति सब निरर्थक है। भाव परिज्ञान भी उसे नही हो पाता है और उसकी क्रिया निष्फल हो जाती है।

क्रियायोगो महायोगः क्रियाकारक मेव च।

क्रिया प्राणात्मिका प्रोक्ता क्रिया प्राणविबोधिका।।

यह महायोग क्रिया योग है, क्रियाओं को कराने वाला है। क्रिया प्राणात्मिका होती है और वह क्रिया प्राणविवोधिका होती है।

क्रियाप्राणसमाव्याप्ता क्रिया प्राणोर्ध्वगामिका।

तस्मात् क्रिया विधातव्या भूयो भूयो मनीषिभिः।।

बुद्धिमान् साधक क्रियायें करता रहे, क्योंकि क्रिया ही प्राणों को पोषण करती है और क्रिया ही प्राणों को ऊर्ध्वगामी बनाती है।

क्रियां कृत्वा महाप्राणं ऊर्ध्वं यः प्रापयेद् ध्रुवम् ।

साधना सफला तस्य सर्वं वै तस्य निश्चितम् ।।

जो साधक क्रिया करके निश्चयात्मक ढंग से प्राण ऊपर पहुंचा देता है, उसी की साधना सफल है और उस साधक की सब सिद्धि निश्चित है।

अत एवं समाधेयं प्राणानां हि महत्त्वकम् ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति वै प्राणाः परानन्दविमण्डिताः।।

इसलिये यह भलीभाँति समझ लो कि प्राणों का बहुत महत्त्व हैं। जब प्राण ऊपर को जाते हैं तब परमानन्द दायक होते हैं।

एवं भूयः समाधाय क्रियां मुद्रां च बन्धकम् ।

सर्वेषां च महाभ्यासात् पुष्टिं वै भजते नरः।।ॐ।।

इस भाँति समझने वाला साधक क्रियाओं, मुद्राओं और बन्धों के महान् अभ्यास द्वारा ही पुष्टि प्राप्त करता है।

२-८-६४।।१७७।।

हरि ॐ ततसत् ऊँ।

वन्देऽरविन्दाश्रयभूतिभूतां महारविन्दे च निवासिकां ताम् ।

महामहाज्ञानभृतां च प्रज्ञां प्रज्ञात्मिकां भूतिविभूतिपूताम् ।।

हरि ॐ तत् सत् ऊँ। कमल का आश्रय लेकर सुशोभित, सहस्र दल कमल में निवास करने वाली, महान् ज्ञान धारण करने वाली, भूति व विभूति से पवित्र उस प्रज्ञास्वरुपा भगवती को नमस्कार है।

वन्देऽहं तां महाशक्तिं कुण्डलीं दिव्यरुपिणीम् ।

प्राणानां स्वामिनीं शुभ्रां प्राणतत्त्वप्रवेशिकाम् ।।ॐ।।

दिव्यरुपिणी कुण्डलिनी महाशक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ, जो प्राणों की स्वामिनी है। प्राणतत्त्व को प्रवेश देने वाली हैं और शुभ्रवर्ण हैं।

यत्किंचिद् दृश्यते दृश्यं अनुभूतिपरं च यत् ।

तत्सर्वं पूर्णरुपेण साधकेन विबुद्धयताम् ।।

साधक को साधना में जो कुछ दृश्य दीखे और अनुभूति में आवे उस सबको पूर्ण रुप में समझ लेना चाहिये।

प्राणायामे कृताभ्यासः प्राभासः पारदर्शकः।

परा विद्या परा रुपा तस्मै लाभप्रदा भवेत् ।।

जो साधक प्राणायाम का अभ्यास कर लेता है, उसे प्रकर्ष आभास होता है और वह

पारदर्शक होता है। यह परारुपा पराविद्या उसी को लाभप्रद होती है।

प्राणानां गतिविच्छेदः परिच्छेदः परस्वतः।

जानीयाद् ज्ञानसम्बद्धः योगी विरतिमाश्रितः।।

विरति को आश्रित करके योगी योगवेत्ता बनकर यह जान लेता है कि प्राणों का गतिविच्छेद कब स्वतः होता है और कब वे व्यापक होते हैं।

सुरतिं निरतिं चैव उभयमुभयात्मिकाम् ।

पराकोटिसुसम्बद्धां गतिं प्राणप्रदायिकाम् ।।

सुरति और निरति और दोनों का सम्मिलित रुप पराकोटि से सम्बद्ध प्राणप्रदायिका गति को देते हैं।

सद्यः सम्मीलिताथों वै विपरीतां ब्रजेच्च यः।

विपरीतपरां नद्धां वद्धां प्राणविमोहिकाम् ।।

जो साधक लक्ष्य से अलग होकर विपरीत दिशा को जाता है, उसके प्राणों की गति भी साधना के विपरीत चलती है और उसके प्राणों का विमोहन हो जाता है।

आत्मभावपरीतां च गतिं प्राप्नोति साधकः।

यदा प्राणाः विशुद्धाश्च सूक्ष्मात् सूक्ष्मतमा मताः।।

ऐसा साधक आत्मभाव से विपरीत गति प्राप्त करता है। जब प्राण विशुद्ध हो जाते हैं, तब सूक्ष्म रुप धारण कर लेते हैं।

तदा नाडीत्रयं बुद्धा रुद्धा गतिपरीतकाः।

जायन्ते बोधभावाय अनुभावाय तत्त्वतः।।

तब वे शुद्ध प्राण विपरीत गति को रुद्ध करके तीनों नाडियों का बेधन करके बोधभाव दायक और तत्त्व के अनुभव के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं।

यदा मूलं स्थिरं पूर्णं सुस्थिरं कन्दकं मतम् ।

कन्दमूलात् महाकन्दं धारया योजयन्ति ते।।

जब मूलाधार पूर्ण स्थिर हो जाय और कन्द भी सुस्थिर हो जाय, तब कन्दमूल से लेकर महाकन्द तक वे प्राण एक धारा बाँध देते हैं, कन्द व महाकन्द का मेल कराते हैं।

धारा योजनकाले हि प्राणानां गति सूक्ष्मिका।

जायते साधक स्तस्या बोधं प्राप्नोति निश्चितम् ।।

इस धारा के योजन-काल में प्राणों की गति बड़ी सूक्ष्म हो जाती है और साधक को उन

सूक्ष्म प्राणों का बोध भी हो जाता है।

क्वचिच्चचैव कदाचिच्च हिन्दोलैः कलकल्ककैः।

कृत्वा स्पन्दविशेषेण विरामति परं परम् ।।

कभी कभी प्राण कल-कल शब्द करते हुए और हिलोरें लेते हुए और कंप कंपी के साथ परम विराम को प्राप्त हो जाते हैं।

एवं समुत्थितं प्राणं प्राणाः कर्षन्ति वै यदा।

तस्य तत्कर्षणं श्रेष्ठं जायते योगमार्गके।।

इस प्रकार से उत्थित प्राणों को जब प्राण आकर्षण करते हैं। उनका वह पारम्परिक कर्षण योग मार्ग में श्रेष्ठ समझा गया है।

सर्वं सर्वसमाकारं सर्वभूतिविभूषितम् ।

सर्वबोधसमापन्नं प्राणव्यूहं प्रजायते।।

साधक का वह प्राणव्यूह सब में समभाव देने वाला सर्वविभूतिदायक और समस्त बोध से पूर्ण होता है।

तस्य वै गमनार्थाय प्रापणाय च वै ततः।

ऊर्ध्वभागं महावेगात् संवेगात् पुरतः पुरः।

पुरस्ताच्च अधस्ताच्च मध्यमार्गंकृतास्थितिः।

प्राणधारा महाविद्युत् धारैव राजते ध्रुवम् ।।

उस साधक को लक्ष्य तक पहुंचने के लिये, परतत्त्व तक पहुंचने के लिए, शुद्ध प्राणधारा वेगपूर्वक संवेगपूर्वक महावेगपूर्वक आगे आगे प्रत्यक्ष रूप में सामने से, नीचे से, मध्यभाग को आश्रय लेते हुए महा विद्युतधारा की तरह सुशोभित होती है।

पुनर्वेगातिवेगेन ऊर्ध्वं गच्छति तत्परम् ।

कन्दं सेतुं च रन्ध्रं च प्रयाति सूक्ष्मरुपकः।।

फिर गति वेग से वह धारा ऊपर की ओर कन्द, सेतु तक सूक्ष्म रुप में चली जाती है।

अथवा केवलं तत्र स्पन्दनं च भवेद् यदा।

तदा तत्कम्पमात्रेण प्राणाः कार्यपरायणाः।।

अथवा साधक के शरीर में केवल स्पन्दन जब होता है। तब उस कम्पमात्र से प्राण अपने कार्य में परायण हो जाते हैं।

जायन्ते ज्ञायतां तद्वै पराभूतिविमण्डिताः।

कार्यसिद्धिं करिष्यन्ति निश्चितं निश्चितं ध्रुवम् ।।

तब अवश्य निश्चय ही समझो वे प्राण पराभूति से विमण्डित होकर कार्य सिद्धि अवश्य ही करेंगे।

यदि वा ज्ञायते तत्र साधनालग्नके बुधैः।

मूलादुदरभागेऽस्मिन् शब्दरुपा शुभा स्थितिः।।

अथवा यदि साधना में लगे साधकों को ऐसा प्रतीत हो कि मूल से उदर भाग तक शब्द करते हुए बढ़ रहें हैं तो उनकी अच्छी स्थिति है।

ऊर्ध्वं शब्दं विधायैव सहसा रुद्धतां व्रजेत् ।

प्राणः स व्यूहकस्तस्मात् तेन कार्यं कृतं शुभम् ।।

शब्द करते हुए वे ऊपर चढ़ते हुए सहसा रुद्ध हो जाते हैं तो समझो कि प्राणों का व्यूह सुन्दर है और वे शुभ कार्य करेंगे।

बहवः सन्ति वै भेदाः नानाकल्पविकल्पकाः।

नानारीतिसमायुक्ताः नानाभेदविभेदकाः।।

प्राणों की गति के नाना प्रकार के कल्प-विकल्प अनेकों भेद हैं। उनकी नाना प्रकार की रीति है। नाना प्रकार के भेद-विभेद हैं।

असंख्यासंख्यकाः सन्ति प्राणानां बोधभेदकाः।

तस्माद् यदानुभूतिः स्यात् तेनैव ज्ञायतां यदा।।

असंख्य-असंख्य प्रकार के प्राणों के अनुभव होते हैं। अतः साधक को जब जैसी जो अनुभूति हो उसे वह जान लेवे।

दृष्टिभेदं समायातं दृष्टिरुपं समन्वितम् ।

एकं द्विकं तृतीयं च भेदमाश्रित्य साधकः।।

स्वयोगं सिद्धिदं कुर्यात् प्राणान् सुसुस्थिरान् ।

सुस्थिरा हि विशनाश्च विभूताश्च विभूतिकाः।।

साधक की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् दृष्टि होती है और दृष्टि भेद से भी प्राणों के एक, दो, तीन अथवा अनेकों भेदों का आश्रय करके अपने योग को सिद्धिप्रद बनाता जावे और प्राणों को स्थिर करता जाय, सुस्थिर प्राण विशुद्ध होकर नाना विभूति प्रदान करते हैं।

प्राणाः प्राणार्थदाः सद्यो भविष्यन्ति न संशयः।

किं ब्रबीमि महाभेदं पारं गच्छन्ति वै नहि।।

वे विशुद्ध प्राण जीवनदायी शीघ्र हो जायेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्राणों के महाभेदों का कहां तक बखान करुँ।

मनीषिणश्च विद्वांसः योगिनो योगतत्पराः।

किं तस्मिन् हि समाधाने महायोगे विशेषतः।।

मनीषी योगी विद्वान् भी उनका पार नहीं पाते हैं। विशेषतया इस महयोग की साधना में इन बातों का कोई समाधान नहीं है।

परिच्छेदो न वा तस्य प्राणव्यूहस्य वै कदा।

यद्भूतं भाव्यते यच्च भूयते चानुभूयते।।

प्राण व्यूहों के भेदों की गणना और इयत्ता कुछ नहीं है। बस जो होता है, जो होगा और अनुभव में आता है।

स्वयं महाकृपा तत्र कारणेन निवोध्यताम् ।

तस्मात् साधन संलग्नः साधकः साधकोत्तमः।।

इसमें महान् कारण केवल समर्थ गुरु की कृपा ही है। अतः श्रेष्ठ साधक महाकृपा समझता हुआ अपने साधन में लगा रहे।

प्राणोत्तमं समाधाय रन्ध्रे संवेशयेत् स्वयम् ।

यावद् रन्ध्रं न संयान्ति प्राणास्ते ऊर्ध्वगामिनः।।

साधक अपने प्राणों को शोधन करके स्वयं रन्ध्रभाग में प्रवेश करा दे। जब तक प्राण रन्ध्रभाग में प्रवेश नहीं करते तब तक वे ऊर्ध्वगामी नहीं होते हैं।

तावन्निरीक्षणं प्रोक्तं तथैव च परीक्षणम् ।

बहुना किं च उक्तेन लक्षणेन पुनः पुनः।।

प्राणों का निरीक्षण और परीक्षण तभी तक करना कहा गया है जब तक वे रन्ध्र में प्रवेश नहीं करते हैं। अधिक लक्षणों को बार बार बताने से क्या लाभ है।

एकेनैव समाधाय सर्वं तत्र नियोजयेत् ।

शंकाः सन्ति अनेका वै तर्काः सन्ति अनेकशः।।

बस एक बात को पकड़ करके उसके द्वारा अभ्यास करते चलो, शंका तो बहुत सी हैं, तर्क भी बहुत हैं।

तेषां सद्यो विनाशाय प्राणान् सूक्ष्मतरान् कुरु।

सूक्ष्मतां यान्ति वै प्राणा यदा वै शुद्धभावकम् ।।

उन सबके विनाश के लिऐ प्राणों को सूक्ष्मतम बनाते चलो, जब प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं, तब वे शुद्ध हो जाते हैं।

समायाति नरस्तस्मात् सद्यः प्राणपरोभव ।।

इसलिए साधक को चाहिये कि वह शीघ्र प्राणों की साधना में लग जावे।

हरि ॐ तत् सत् ।।

विमलां विमलाम्बुधारिणीं विमलाकारमलापशोधिकाम् ।

सुनयां नवनीतभाविकां मृदुलां तान्तनतान्ततन्तिकाम् ।।

प्रणमामि परात्मबोधिकां परविद्यां परमार्थसाधिकाम् । ।ॐ!!

हरि ऊँ तत् सत। मैं उस परा विद्या को प्रणाम करता हूँ, जो विमल और निर्मल कमल धारण करने वाली है और मल का अपशोधन करके विमल कर देने वाली है, नवनीत की भाँति कोमल और सारवती,वात्सल्य भाव से साधक के पास स्वयं नत् होकर उपकारार्थ आने वाली है, ऐसी परमार्थ साधिका परा विद्या को मैं प्रणाम करता हूँ।

परा विद्या च या विद्या परमार्थप्रसाधिका।

परतत्त्वसमाभावा विभावा च विभाविका।।

जो परा विद्या नामक श्रेष्ठ विद्या है, वह परमार्थ प्रसाधिका है, परतत्त्व के समभाव की प्रदात्री है और नाना विभावों का उद्भव करने वाली है।

ध्यानं क्रियां च या सद्यः प्रसाधयति प्रीतित

प्राणायामं परं बुद्ध्वा ततो बोधकरी च या।।

यह विद्या ध्यान और क्रिया की शीघ्र सिद्धि देकर प्रीतिदायिनी होती है। श्रेष्ठ प्राणायाम का ज्ञान कराके बोधदायिनी है।

सर्वेषां साधकानां सा महाकल्याणकारिणी।

परा विद्या विशिष्टा सा सर्वतत्त्वविवोधिका।।

यह विद्या सभी साधकों का परम कल्याण करने वाली होती है। यह विशिष्ट परा विद्या सर्व तत्त्व की विवोधिका है।

यो जानाति परां विद्यां परप्रीतिप्रदायिकाम् ।

तस्य वै सफलं जन्म स नरो योगकारकः।।

परम प्रीति दायिनी इस परा विद्या का जो साधक ज्ञान रखता है, उसी का जन्म सफल है और वही योग साधना का अभ्यासी है।

अथ एवं प्रवक्षामि परायां किं भविष्यति।

अग्रे रन्ध्रात् परा तस्माद् ज्ञायतां साधकोत्तमैः।।

अब यह बताती हूँ कि परा की दशा में क्या होगा। रन्ध्रभाग से आगे ऊपर को परा का क्षेत्र है, साधक लोग इसे समझ लें।

सर्वां क्रियां च वै हित्वा कृत्वा रन्ध्रे समागमम् ।

रमन्ते तत्र वै प्राणाः तत्र निष्पत्तिभूमिका।।

सभी क्रियाओं को छोड़कर रन्ध्रभाग में प्राणों का प्रवेश करा दो, वहाँ प्राण रमण करने लगते हैं, वहीं निष्पत्ति भूमिका प्राप्त होती है।

जायते पूर्णरुपेण सा तत्र रमणात्मिका।

रमणं भ्रमणं कृत्वा श्रवणं श्रावणं पुनः।।

पावनं पवनं कृत्वा रमन्ते तत्र ते किल।

तत्र किञ्चित् समाविश्य ऊर्ध्वं गच्छन्ति ते पुनः।।

वह निष्पत्ति पूर्णरुप से रमणत्मक होती है। प्राण वहाँ रमण और भ्रमण करके तथा श्रवण तथा श्रावण करके वायु को शुद्ध करके वह रमने लगते हैं। वहाँ कुछ काल तक टिककर फिर वे ऊपर की ओर चढ़ने लगते हैं।

सहस्रारं तु यावत्ते जायन्ते रमणात्मकाः।

रमन्ते योगिनो यत्र सहस्रारे महादले।।

वे रमण करते हुए सहस्रार पर्यन्त पहुंचते हैं, जहाँ सहस्रार के महाकमल में योगी लोग रम जाते हैं।

महापीठे महातत्त्वे प्रीतिस्तेषां प्रजायते।

न गच्छन्ति अधो यातुं शक्नुवन्ति न वै पुनः।।

उस महापीठ के महातत्त्व में उन योगियों को परमानन्द मिलता है। वहाँ से वे नीचे उतरना ही नहीं चाहते हैं और वे उतर भी नहीं सकते हैं।

एवं ते रमणं कृत्वा निर्गच्छन्ति शनैः शनैः।

तेषां निर्गमनावस्था प्रोक्ता प्रीतिप्रदा सदा।।

इस भाँति वहाँ रमण करके फिर धीरे-धीरे नीचे निर्गमन करते हैं। उनके नीचे उतरने की दशा भी बड़ी आनन्ददायिनी होती है।

सा दशा शान्तभावेन अनुभूतिं गमिष्यति।

यदा वै गम्यते तत्र प्राणैः शक्ति समन्वितैः।।

तदा सहस्त्रभागेऽस्मिन् दलानां दलनं भवेत् ।

विकासः सन्निकासश्च प्रकाशश्च सुशुभ्रकः।।

वह दशा शान्त भाव की होती है, जो अनुभूति में आती है। शक्ति समन्वित प्राणों के साथ जब वहाँ तक पहुँचा जाता है, तब सहस्त्रदल कमल की पंखुड़ियों का विकास होने लगता है। वह विकास बड़ा सुन्दर होता है जो बहुत ही शुभ्र प्रकाश से परिपूर्ण होता है।

जायते तत्र वै तेन साधकेन दलाकृतिः।

नाडीनां गुच्छभागेऽस्मिन् गुल्मकं तन्तुगुल्मके।।

वहाँ नाड़ियों के गुच्छभाग में तन्तुओं का घना जाल होता है, जिसकी प्रतीति साधक को पंखुड़ियों के आकार की दीखती है।

एका शिवाकृतिर्भव्या भावना परिपुष्टिका।

स्फटिकत्वेन संकाशं प्रतीकाशं विकासकम् ।।

उसके बीच में एक सुन्दर परिपुष्टि देने वाली शिवलिंग के आकार की भावना होती है, वह लिंग स्फटिकप्रभ प्रकाश पूर्ण स्वच्छ शुभ्र होता है।

भासते दलमध्येऽस्मिन् ज्योतिराख्यः शिवोहि सः।

लिंगाकृतिं विहायैतां भ्रमणं कुरुते मनः।।

कमल पत्रों के मध्य में भासित होता हुआ वह ज्योतिर्लिंग ही शिव हैं। उस लिंगाकृति को छोड़कर फिर साधक उसके चारों ओर भ्रमण करने लगता है।

दलेषु दलभागेषु दलांशेषु विशेषतः।

प्राणैः सार्धं समाविष्टं रमणं तस्य तत्र तत् ।।

पत्र-पत्र में पत्रों के किनारों में, विशेष प्रकार से प्राणों के साथ उसका वहां रमण होता रहता है।

परं प्रीतिकरं प्रोक्तं ज्योतिर्लिंगंप्रदर्शकम् ।

यदा ऊर्ध्वं गमिष्यन्ति प्राणास्तस्मात् स्थलादपि।।

जब उस स्थान से भी ऊपर को प्राण जायेगें, तब उस ज्योतिर्लिगं का दर्शन परम आनन्ददायक होता है।

अन्यानुभूतिसंयोगः भविष्यति पुनः पुनः।

ततः परं परं रुपं परं ज्ञानं परात्मकम् ।।

इसकी अनुभूति का संयोग तुम्हें बारम्बार होता रहेगा, इसके अनन्तर फिर सर्वश्रेष्ठ परम रुप और परात्मक ज्ञान का उदय होता है।

अनुभूतिं समायाति यदा तत्र स्वयं स्थितिः।
अग्रे किं किं च वै दृश्यं दृश्यते चानुभूयते।।
तत्सर्वं योगियोगेशो गोरक्षश्च वदेत् स्वयम् ।।

वह भी अनुभव में तब आता है जब वहाँ संस्थिति होती है। आगे फिर क्या क्या दृश्य दिखाई पड़ता है और कैसी अनुभूति होती है, वह सब योगियोगेश्वर गोरक्ष देव स्वयं बता देगे।

४-८-६४।।१७९।।

कलावतीं कलाधारां कलाज्ञानकलात्मिकाम् ।
कलाबोधात्मिकां तां वै कलाधारां नमाम्यहम् ।।

कलावती, कलाधारा, कलाज्ञानात्मिका, कलाबोधात्मिका, उस भगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

कलितां कलसंज्ञां वै कलाकूलकुलाकुलाम् ।
कुले अकुलभावेऽस्मिन् संगमोत्थानकारिका।।

कलाओं के कूल तक आकुलित रहने वाली, कल संज्ञा वाली मां को प्रणाम है, जो कुल और अकुल भाव में संगम और उत्थान कारिणी है।

या शक्तिः कुलरुपेण अकुले संगमोत्सुका।
कुलाकुलसमायोगात् तस्याः कामः प्रसिद्धताम् ।।ॐ।।

जो शक्ति कुल रुप से उठकर अकुल भाव के संगम के लिये उत्सुक रहती है, कुलाकुल का यह समायोग ही उसके कार्य की सिद्धि समझो।

अस्य पराविद्याप्रसंगस्य समस्तज्ञाताज्ञात भावबोधकस्य समष्टिव्यष्टिरुपेण सरुपारुपरुपात्मकबोधकारकज्ञानमत्रैव अनुभवं चात्रैव क्रियारुपं चात्रैव यद्गदितं प्रदर्शितं प्रकटितं च तत्सर्वं सुसाधुरुपेण पूर्वपरपरापर अपरापरविबोधमण्डितं सकलं अकलं विकलं कलात्मकं कालेन ज्ञायताम् ।।

समस्त ज्ञाताज्ञात भावों का बोध देने वाले, समष्टि व्यष्टि रूप में सरुप और अरुप ज्ञान करा देना ही इस परा विद्या के प्रसंग का विषय है। अनुभव और क्रियारुप जो यहाँ कहा गया है, प्रदर्शित व प्रकट किया गया है उस सबको तुम भलीभाँति पूर्वापर रुप में सकल, अकल व विकल रुप में यथासमय जान लेना।

अथ एतत् समाधेयं परायां गदितं च यत् ।

अन्ते तद्भाविका वृत्तिः कुलाकुलसमन्विता।।

अब ऐसा समझो कि जो परा के विषय में कहा गया है उसके अन्त में ऐसी वृत्ति का उदय होता है जो कुल और अकुल दोनों से समन्वित रहता है।

जायते परमा भावा परस्य प्रत्यार्थिका।

परस्य प्रत्ययो यत्र कुलेन अकुलेन वा।।

धारया राजितं तत्र क्रिया चैव समाप्यते।

अक्रियो निष्क्रियः प्रोक्तः यो भावो बोधसंज्ञकः।।

यह परम भाव पर (शिव) के प्रत्यय (दृढ़ निश्चय) को देने वाला होता है। कुल अकुल के सहित जहाँ पर भाव का प्रत्यय (निश्चयात्मक ज्ञान) होता है वह एक धारा से शोभित होता है, वहाँ क्रिया समाप्त हो जाती है। बोध संज्ञक जो भाव है उसे अक्रिय या निष्क्रिय कहा जाता है।

तत्रैव निष्क्रियं तत्त्वं अक्रियं च क्रियात्मकम् ।

त्रिधाभावेन सम्भूतं त्रिधारुपेण नर्तितम् ।।

वहीं पर अक्रिय, निष्क्रिय तथा क्रियात्मक तीन प्रकार का तत्त्व तीन प्रकार से प्रस्फुरित होता है।

त्रिधाकारं त्रिधारुपं त्रिधाकल्पं त्रयात्मकम् ।

द्वैतमद्वैत द्वैतं च द्वैताद्वैतं तथैव च।।

क्रियात्मक यह तत्त्व तीन आकार का तीन रुपों वांला व त्रिधा प्रतीति में आने वाला होता है, इसे ही द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत कहा गया है।

सर्वं तत्रैंव विज्ञेयं सहस्रारे विशेषतः।

गतिको गतिभावार्थी गतिसम्पन्नमेव च ।।

यह सब तत्त्व वहीं सहस्रार में ही विशेष रुप में जाना जाता है। अतः वहाँ पहुँचने की इच्छा करो, गतिवान् बनो, तुम्हें गतिमत्ता प्राप्त होगी।

तत्र गत्वा सुखं नित्यं नित्यानन्दविमण्डितम् ।

प्राप्नोति साधको यस्मात् सुधाक्षरणमेव च।।

वहाँ पहुँच कर नित्य नित्यानन्द विमण्डित सुख साधक को प्राप्त होता है, वहाँ से अमृत का क्षरण भी होता है।

पानं करोति स तद्वै मधुरं सुधयान्वितम् ।

यदा वै क्षरते वारि मधुरं मधुपानवत् ।।

तदा तृप्तिं समायाति योगी साधनतत्परः।

योगाभ्यासे रतो यस्तु करोति च पुनः पुनः।।

उस अमृत के पान का मधुर तृप्तिदायक रस का पान साधक करता है। मधुपान की भाँति जब वहाँ से मधुर अमृत झरता है तब साधनतत्पर योगी पर तृप्ति का अनुभव करता है, जो योगाभ्यास में निरन्तर तत्पर रहता है वही इस अमृत का बार बार पान करता है।

समाभ्यासं समायोगं समभावं समात्मकम् ।

समत्वमिति वै यत्तु समता तत्र राजते।।

इस दशा में समभाव का भास होता है, समतात्मक ज्ञान होता है। साधक समत्वभाव में रहता है, वहाँ समता ही विराजमान रहती है।

यदा वै सद्यः संयाति अन्तर्वाह्यविवर्जितः।

समभावसमादृष्टिः समता ज्ञायते यदा।।

जब अन्तर्वाह्य ज्ञान से विवर्जित दशा में साधक पहुँचता है तभी समभाव की यह दृष्टि साधक के ज्ञान में उदित होती है।

तदा एवं च जानीयाद् क्रिया मे सफलं गता।।ॐ।।

ऊर्ध्वं रन्ध्रात् परं यद्वै दृश्यते परमाद्भुतम् ।।

यत्ख्यातं लिंगरुपं तत् तद् दृष्ट्वा मोदते नरः।

तस्मिन् दृष्टे सदा प्राणाः परितोषपरायणाः।।

तब साधक को समझना चाहिए कि मेरी सभी क्रियायें सफल हो गई हैं।।ॐ।। रन्ध्र के ऊपर जो परम तत्त्व के परमाद्भुत दर्शन होते हैं, जिसे ज्योतिर्लिंग कहते हैं उसके दर्शन करके साधक परम मोद प्राप्त करता है। उसके दर्शन से प्राण परम परितुष्ट हो जाते हैं।

जायन्ते अत्र बोधाय आत्मबोधस्तु निश्चितम् ।

तत्रैवभूतिसम्पन्नः पुरतो याति सत्वरम् ।।

इस स्थिति में निश्चय ही आत्मबोध हो जाता है। वहीं पर साधक विभूति पूर्ण होकर शीघ्र प्रकट हो जाता है।

तस्मात्तत्रैव संलग्नो जायते साधनारतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं च ऊर्ध्वं हि किल वै प्राणभावतः।।

साधना में लगा हुआ साधक वहीं पर संलग्न हो जाता है। उससे भी ऊपर तथा और ऊपर प्राणों के बल द्वारा पहुँच जाता है।

सर्वं पश्यति तत्रैव दृश्यादृश्यं कुलाकुलम् ।
एवं कृत्वा महाबोधं महायोगं महाबलम् ।।
सम्प्राप्य मोदमान् तत्र जायते योगविन्नरः।
अतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र वै समता स्थिता।।

वहाँ सब दृश्य अदृश्य, कुल अकुल सबका एक साथ दर्शन कर लेता है। ऐसे अभ्यास द्वारा महायोग, महाबोध तथा महाबल प्राप्त करके योगवेत्ता साधक परम आनन्दित हो जाता है। अतः उसी लक्ष्य तक पहुंचना चाहिये जहां समता की स्थिति रहती है।

समताभावसम्पन्नः शिवेन सह मोदते।
शिवशक्तिसमायुक्तः भुक्तः अमृतको रसः।।

समता भाव से सम्पन्न होकर शिव के साथ मोदित होता है। शिव शक्ति के समागम से युक्त हुआ साधक अमृत रस का आस्वादन करता है।

येन तेनैव तत्प्राप्तं ऊर्ध्वकं कुलरुपकम् ।
यत्प्रोक्तं ध्यानयोगे च प्राणयोगे तथैव च।।
तत्सर्वमन्ततो गत्वा तत्रैव परिषीदति।
एतत् सर्वं च यत्प्रोक्तं ज्ञानायानुभवाय च।।
तत्प्राप्य मोदसम्पन्नः शिवतां व्रजते नरः।
ऊर्ध्वं तस्मात्तत ऊर्ध्वं विमलं मलकेन तत् ।।
रहितं स्फटिकं तुल्यं भावरुपेण बुध्यते।
अग्रे किं च प्रवक्षामि तदैव बोधनां स्वयम् ।।

जिसने वह अमृत पान कर लिया है, उसी ने ऊपर स्थित कुलाकुल के तत् पद को भी प्राप्त कर लिया। ध्यानयोग तथा प्राण योग में जो बात कही गई है, वह सब अन्ततोगत्त्वा वहीं पर समाप्त हो जाती है। यह सब ज्ञान तथा अनुभव के लिये जो कुछ बताया गया है, उसे प्राप्त

करके हर्ष प्राप्त करता हुआ साधक शिवत्व को प्राप्त हो जाता है। उससे भी ऊपर में जो विमल, मलरहित स्फटिक सदृश ज्योति भाव रुप में बोधित होती है, इसके आगे अब क्या बताऊँ स्वयं ही तुम्हारे बोध में तब आ जायेगा।

तेषां मार्गपरिष्कारः भविष्यति च सत्वरम् ।

तस्मात् पूर्णं महत्पूर्णं पराविद्या प्रसङ्गकम् ।।

उन साधकों को शीघ्र ही उस स्थिति में मार्ग-परिष्कार हो जायेगा। इसलिये पराविद्या का यह प्रसंग बड़ा ही पूर्ण और महत्त्वपूर्ण है।

ज्ञेयं ध्येयं च वै नित्यं तद्वै सिद्धिकरं मतम् ।

येनाधीना परा विद्या अनुभूता पुनः पुनः।।

तेन योगरतेनैव जितं सर्व प्रव्यूहकम् ।

तस्मात्पराधिज्ञानेन युक्तो भवतु साधकः।।

येन ज्ञानेन वै तस्य मार्गः सुस्थिरतां ब्रजेत् ।।

यह परा विद्या का विषय सदा जानना चाहिये, तदनुसार नित्य इसका ध्यान करना चाहिये। जो इस विद्या का अध्ययन कर लेगा और बारम्बार इसका अनुभव कर लेगा उस योग तत्पर साधक ने समझलो, सब कुछ योग विद्या सम्बन्धी तत्तत्व्यूह पर विजय प्राप्त कर ली। अतः परा विद्या के ज्ञान के लिये साधक सदा तैयार रहे। इस ज्ञान के द्वारा साधक का मार्ग सुस्थिर हो जायेगा।

इत्यस्मिन् पराविद्याप्रसंगके स्तम्भत्रये यत्किंचित् साधकानां हिताय जितेन्द्रभारतीयस्य मुखात् स्वयं वाग्देव्या समुद्घाटितं प्रकटितं ख्यापितं च तत् कल्याणाय प्रजायताम् ।।

इस भाँति इस परा विद्या के प्रसंग में, तीनों स्तम्भों में जो कुछ कहा गया है, उससे साधकों का कल्याण हो। यह प्रसंग स्वयं वाग्देवी ने श्री जितेन्द्रभारती के मुख से समुद्घाटित, प्रकटित एवं ख्यापित किया है। यह विद्या साधकों के लिये कल्याणकारी बने।।ॐ।।

(ॐ तत् सत् श्री जगदम्बार्पणमस्तु, नमो योगियोगीश्वराय श्री गोरक्षदेवाय)

।। समाप्तम् ।।

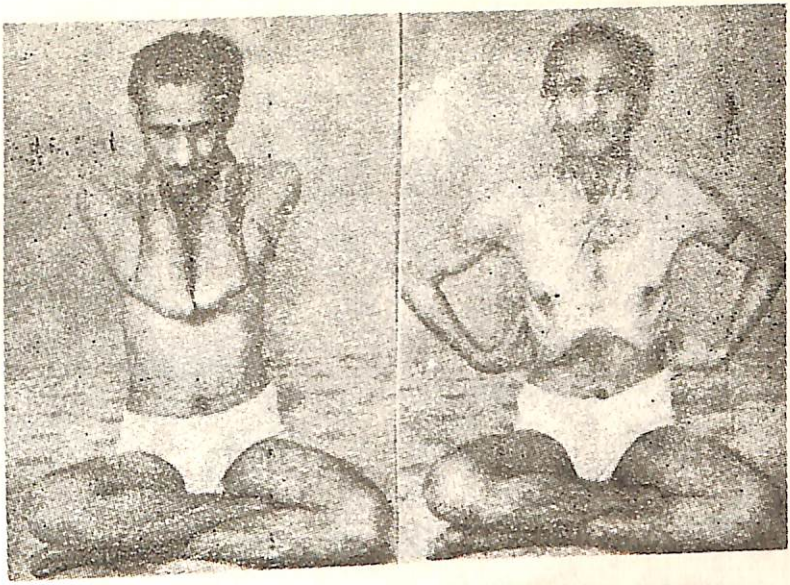

अश्विनी मुद्रा
पृ० ११७

अश्वोदरी मुद्रा नं० १
पृ० ११८

अश्वोदरी मुद्रा नं० २
पृ० ११८

झम्पिनी मुद्रा नं० २
पृ० १२१–१२२

स्कन्दिनी मुद्रा नं० १
पृ० १२२

स्कन्दिनी मुद्रा नं० २
पृ० १२२

स्कन्दिनी मुद्रा नं० ३
पृ० १२२

कर्पूरिका मुद्रा
पृ० १२२–१२३

स्थानपरिचाइका मुद्रा
पृ० १२५

पट्ट बोधिनी मुद्रा
पृ० १२६

योगपट्टिका मुद्रा
पृ० १२७–१२८

सर्वतोभाविनी मुद्रा
पृ० १३३–१३४

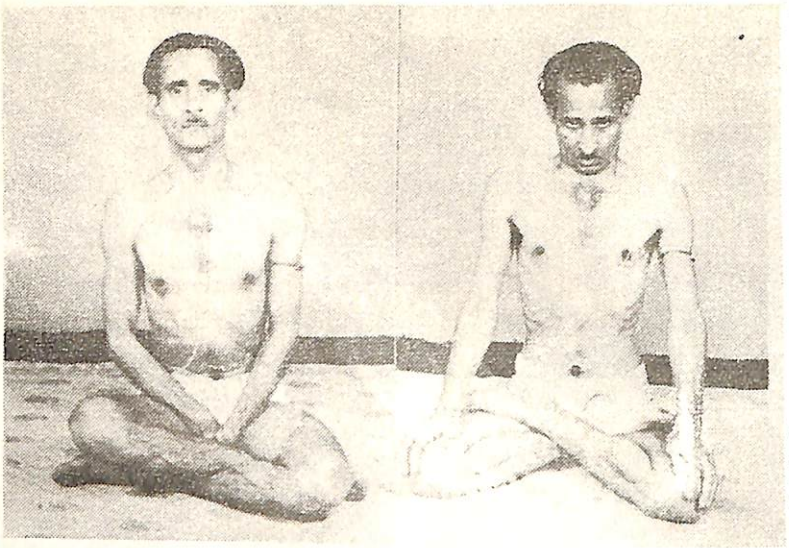

आलम्बिनी मंद्रा (वि०)
पृ० २७०–२७६

कूर्चिका (हनुकूर्चिका)
अथवा–रूद्राणी मुद्रा
पृ० २७४–२७५

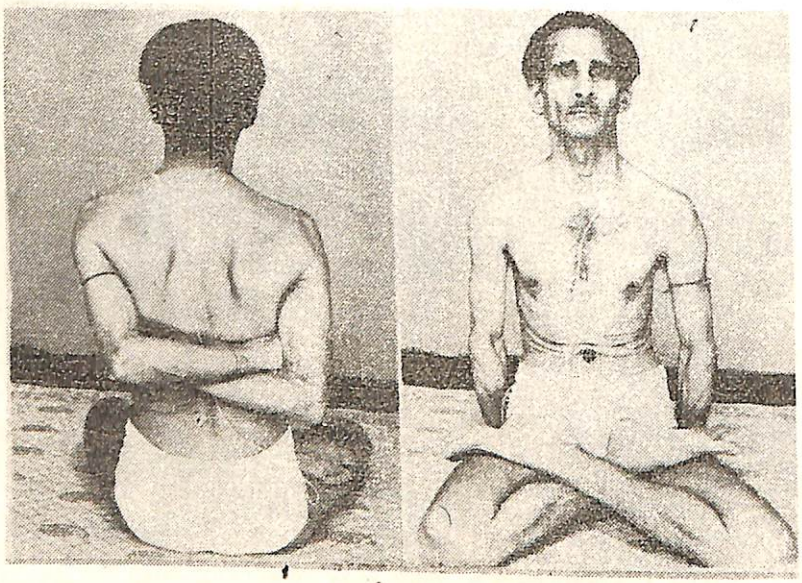

सारिका मुद्रा नं० १
पृ० २७८–२८१

सारिका मुद्रा न० २
पृ० २७८–२८१

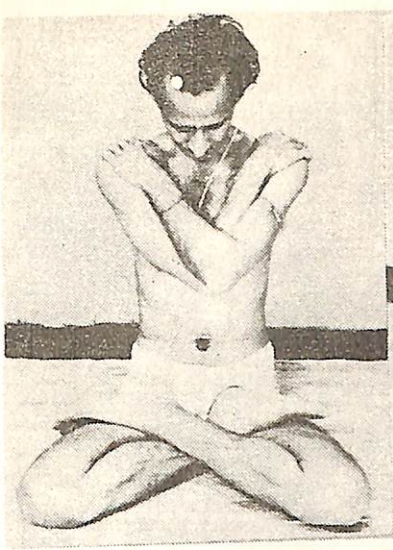

सारिका मुद्रा नं० ३
पृ० २७८–२८१

प्लावनी मुद्रा नं० १
पृ० २८३–२८५

प्लावनी मुद्रा नं० २
पृ० २८३–२८५

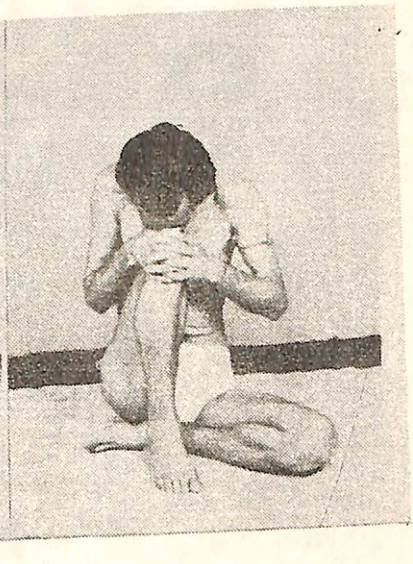

विस्थापिका मुद्रा नं० १
पृ० २८७–२९०

विस्थापिका मुद्रा नं० २
पृ० २८७–२६०

निर्मला मुद्रा
पृ० ३१६–३२०

वारूणीमुद्रा
पृ० ३३६–३३८

चक्रणी मुद्रा नं० १
पृ० ३४४

चक्रिणी मुद्रा नं० २
पृ० ३४४

भद्रिका मुद्रा
पृ० ३५३–३५६

हिरण्यमुद्रा
पृ० ३५८–३५६

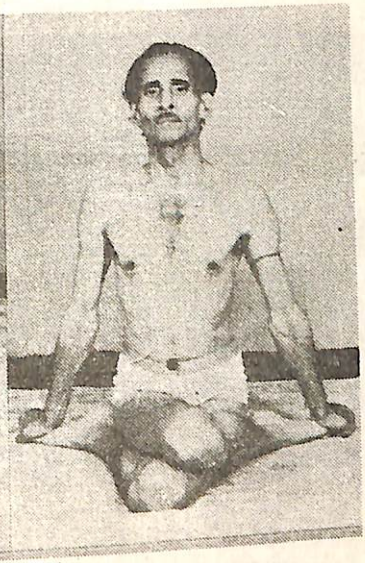

कात्यायिनी मुद्रा
पृ० ४०८–४०६

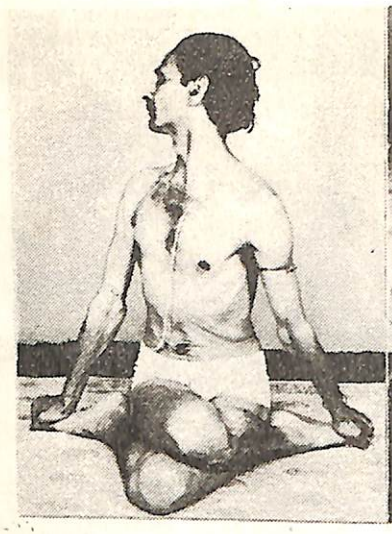

कात्यायिनी मुद्रा नं० २
पृ० ४०८–४०६

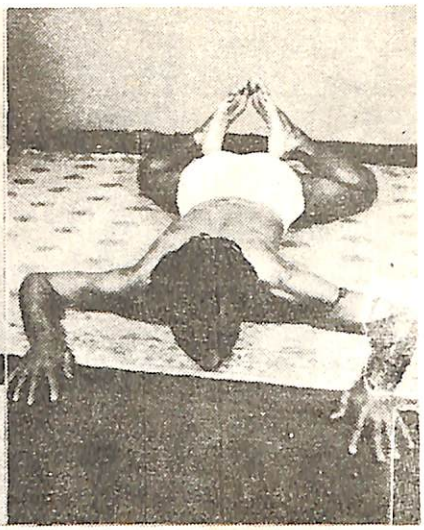

माण्डुकी मुद्रा नं० १
पृ० ४३२–४३५

माण्डुकी मुद्रा नं० २
पृ० ४३२–४३५

माण्डुकी मुद्रा नं० १
पृ० ४३२–४३५

कुण्डलिनीविज्ञानरहस्यम्।।

Kuṇḍalinīvijñāna-Rahasyam

by

Īśvara Svarūpa
Svāmī Lakṣmaṇ Joo Mahārāj

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

कुण्डलिनी-विज्ञानरहस्यम्।।

Kuṇḍalinīvijñāna-Rahasyam

Sanskrit text and English translation by

Īśvara Svarūpa
Svāmī Lakṣmaṇ Joo Mahārāj

Edited by
Prof. M. L. Kukiloo

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir

ISBN No. : 81-88194-05-0

© Ishwar Ashram Trust

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180002.

Delhi Ashram
Ishwar Ashram Trust
R-5, Pocket D, Sarita Vihar
New Delhi - 110076
Tel. : 011-26958308

1st Edition : May 4, 1997
Reprint : July 2010
Price : Rs. 50.00

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust *by*
Meharchand Lachhmandas Publications
4225-A, 1 Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.

Preface

We feel greatly delighted to present this small book namely 'Kuṇḍalinī Vijñānarahasya' on the 90th birth anniversary of Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo our beloved Sadguru Mahārāj. This paper was presented by Svāmī jī in Sanskrit some three decades back at Mahātantrasammelana organised by M. M. Dr. Gopinath Kaviraj a renowned scholar of Tantraśāstra at Vārānasī. The paper being unintelligible for commoners, was translated by Sadguru Mahārāj into English some two decades back for the benefit of some of his western disciples and other Indian devotees at the Ishwar Ashram, Nishat, Srinagar. The paper written in lucid Sanskrit language, is of the highest philosophical and spiritual order. I have tried hard to follow my Sadguru Mahārāj and explained every word of Sanskrit text as per Svāmī jī's English rendering. The Sanskrit text alongwith Roman script will fulfil the need of those for whom the sanskrit text is unintelligible.

Kuṇḍalinī is considered to be the most advanced of all yogic practices. It does not involve any external worship or external rituals. The practice is done entirely within. The accomplished practitioner of Kuṇḍalinī becomes fully conscious of his identity with that which manifests the universe. Kuṇḍalinī refers to the ultimate union of Śiva and Śakti. The Śakti in her form as Kuṇḍalinī is awakened by practicing certain austerities. Śiva, the principal of divine consciousness resides at the Sahasrāra Cakra at the

crown of the head. It is only by leading Kuṇḍalinī from the root centre of the base of the spine successively through each cakra to the crown cakra that the polarities, Śakti and Śiva unite. Through this union that highest state is attained which has been explained by Svāmī jī Mahārāj as the revealing and the concealing energy of Lord Śiva. Just as the energies of light and the energy of heat of fire are inseparable, similarly Kuṇḍalinī is the existence of Śiva, the life and glory of Śiva. It is very heartening to note that Svāmī jī Mahārāj has portrayed the various aspects of Kuṇḍalinī in this philosophical booklet on his own subtle experience, which had startled the learned members and aspirants of Tantra Sammelana. These revealations were extraordinary and unique.

The Ishwar Ashram Trust has been kind enough in publishing this booklet for the benefit of all devotees, so that the message of Sadguru Mahārāj can travel far and wide and hundreds of aspirants striving for perfection can achieve the goal.

Jai Gurudev

Prof. Makhanlal Kukiloo

May 4th, 1997
Sadguru Janam Jayanti

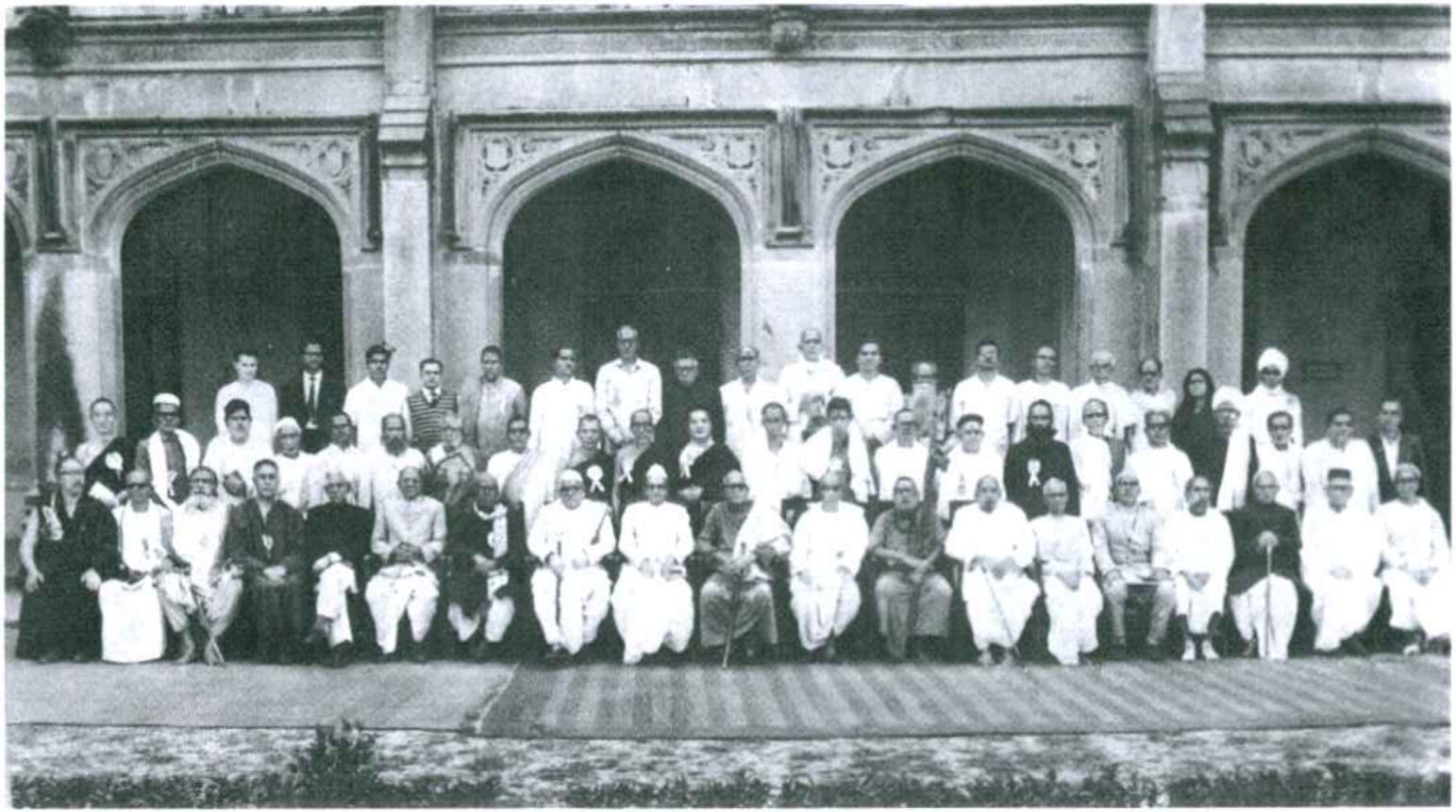

वाराणसी में आयोजित तन्त्र-महासम्मेलन में कुण्डलिनीरहस्य पर प्रकाश डालने
के लिए पधारे तन्त्रविज्ञों में सद्गुरु महाराज।

स
ष
प्र
वि
(S
ṣa
pr
vis

Th
"P
the
(K
thr
Ku
Ko
- a
(Ja
duc

The

स्वा
res

श्री ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू रचितं

कुण्डलिनीविज्ञान रहस्यम्

आंग्लभाषानुवादोपेतम्

स्वाधारादुल्लसन्ती द्युतिविदितमहादिव्यतेजःस्वरूपा
षट्चक्रं स्फोरयन्ती गतिकृतमधुरध्वानमावेदयन्ती।
प्राप्येशं तोषयन्ती दशशतकमले व्याप्य विश्वं स्थिता या
विश्वानन्दप्रवाहान् वितरतु भवतां कौलिकी कुण्डली सा॥

(Svādhārādullasantī dyutividitamahādivyatejaḥsvarūpā
ṣaṭcakram sphorayantī gatikṛtamadhuradhvānamāvedayantī
prāpyeśam toṣayantī daśaśatakamale vyāpya viśvam sthitā yā
viśvānandapravāhān vitaratu bhavatām koulikī kuṇḍalī sā)

There are three aspects of Kuṇḍalinī - one is called "Prāṇa Kuṇḍalinī", the other is "Cit Kuṇḍalinī", and the third is "Parā Kuṇḍalinī" but कौलिकी कुण्डली (Koulikī Kuṇḍalinī) is that Kuṇḍalinī where all the three-fold Kuṇḍalinīs i.e. Prāṇa Kuṇḍalinī,"Cit Kuṇḍalinī" and "Parā Kuṇḍalinī" reside. सा (Sā) - that Koulikī Kuṇḍalinī विश्वानन्दप्रवाहान्(Viśvānandapravāhān) - all the streams and floods of the state of जगदानन्द (Jagadānanda) वितरतु भवतां (Vitaratū bhavatām) - produce or manifest before you.

The formation of Kuṇḍalinī is described as under -

स्वाधारादुल्लसन्ती (Svādhārādullasantī) - rising from its resting place i.e. मूलाधार चक्र (Mūlādhāra cakra).

Mūlādhāra is the resting place of Kuṇḍalinī, from this Cakra when she rises, द्युतिविदित महादिव्य तेजः स्वरूपा (Dyutividita mahādivya tejaḥ svarūpā) - by its own glamour, she understands and appears to everybody who experiences the state of rise of Kuṇḍalinī. She is, महादिव्यतेजः स्वरूपा (Mahādivya tejaḥ svarūpā) supreme embodiment of प्रकाश i.e. light of consciousness.

षट् चक्रं स्फोरयन्ती (Ṣaṭcakram sphorayantī) - she vibrates six wheels (ṣaṭcakra) which are residing in that central path known as suṣamṇā. Vibrating is just to put these wheels into existence, otherwise we also have 'cakras' but they are dead. We cannot experience it, but it vibrates. She vibrates these six 'cakras' by गति (gati) - the motion and by that supreme motion she मधुर-ध्वानमावेदयन्ती (Madhuradhvānamāvedayantī)-produces very tasty sound or very joyful sound. Having got its confirmation that it is joyful sound by which these six 'cakras' are vibrated which are residing in the path of suṣamṇā, she प्राप्येशं (Prāpyeśam) reaches at the seat of master - Lord Śiva and तोषयन्ती Ttoṣayantī) tries to keep him peaceful, दशशतकमले (Daśaśatakamale) - in the thousand petalled 'cakra' in the skull and there, विश्वं व्याप्य स्थिता या (Viśvam vyāpya sthitā yā) she pervades the whole universe of 118 worlds. Let that Koulikī Kuṇḍalinī produce the streams and flows of jagadānanda to you.

भोः भोः शैवागमनिष्णाताः श्रोतारः। अद्य मया कुण्डलिनीविज्ञानविषयमधिकृत्य यथा बुद्धि यथागुर्वाम्नायंच किञ्चित् प्रस्तूयते। तत् सावधानतया शृण्वन्तु भवन्तः।

(Bhoḥ! Bhoḥ! Śaivāgamaniṣṇātāḥ śrotāraḥ adya mayā kuṇḍalinīvijñāna viṣayamadhikṛtya yathā buddhi yathāgurvāmnāyamca kiñcit prastūyate. tat sāvadhānātayā śṛṇvantu bhavantaḥ)

भोः भोः शैवागमनिष्णाताः श्रोतारः (Bhoḥ! Bhoḥ! Śaivāgama niṣṇātāḥ śrotāraḥ) oh! Scholars and Pandits soaked in the secrets of Śaivism, अद्य (Adya) - today, कुण्डलिनी विज्ञानविषयमधिकृत्य (Kuṇḍalinī vijñānaviṣayama dhikṛtya) - taking the subject of the knowledge of Kuṇḍalinī, मया किञ्चित् प्रस्तूयते (Mayā kiñcit prastūyate) - I put something before you, यथाबुद्धि (Yathābuddi) according to my intellect and यथा गुर्वाम्नायंच (Yathā gurvāmnāyañca) according to what I have experienced by the grace of my Masters. सावधानतया तत् शृण्वन्तु भवन्तः (Sāvadhānatayā tat śṛṇvantu bhavantaḥ) - let you hear it with awareness - attentively.

सामान्यरूपतया पूर्णाहन्तारूपा शैवी विसर्गशक्तिः कुण्डलिनी इति कथ्यते, या सार्धत्रिवलयाकारा आम्नायेषु प्रतिपाद्यते।

(Sāmānyarūpatayā pūrṇāhantārūpā śaivī visargaśaktiḥ kuṇḍalinī iti kathyate, yā sārdhatrivalayākārā āmnāyeṣu pratipādyate.)

सामान्यरूपतया कुण्डलिनी (Sāmānyarūpatayā kuṇḍaliṇī) in

general way Kuṇḍalinī is कथ्यते (Kathyate) supposed to be पूर्णाहन्तारूपा शैवी विसर्गशक्तिः (Pūrṇāhantārupā śaivī visargaśaktiḥ) the creative energy of Lord Śiva which is filled with complete I-consciousness. या सार्धत्रिवलयाकारा आम्नायेषु प्रतिपाद्यते (Yā sārdhatrivalayākārā āmnāyeṣu pratipādyate) - which is said in Tantras that it has three and a half coils. In three and a half coils it rests in Mūlādhāra cakra.

Why three and a half coil? What is the definition of three coils and what is the definition of half coil?

तत्रा प्रमेयप्रधानं अहन्तारूपं कुण्डलिन्याः प्रथमो वलयः
(Tatra prameyapradhānam ahantārūpam kuṇḍalinyāḥ prathamo valayaḥ)

That I-Consciousness which is attached to objectivity, is the first coil of Kuṇḍalinī.

प्रमाणप्रधानं अहन्तारूपत्वं द्वितीयो वलयः
(Pramāṇapradhānam ahantārūpatvam dvitīyo valayaḥ)

That I-Consciousness which is attached to cognitive cycle is the second coil of Kuṇḍalinī.

प्रमातृप्रधानं अहं स्वरूपत्वं च अस्याः तृतीयो वलयः।
(Pramātṛpradhānam aham svrūpatvam ca asyāḥ trifiyo valayaḥ)

Where predominance is given to pramātā i.e. subjective consciousness - that I-Consciousness is the third coil of Kuṇḍalinī.

तथावशिष्टार्धवलयः प्रमाप्रधान अहमात्मकः
(Tathāvaśiṣṭārdhavalayaḥ pramāpradhāna ahamātmakaḥ)

Before explaining Pramā (प्रमा) let us define प्रमाता (Pramātā) first—

What is प्रमाता? प्रमाता (Pramātā) is that knower who is attached to known, who is attached to object and where there are traces of objectivity before him. Where these traces are also dissolved in the state of प्रमाता (Pramātā) that state of प्रमाता (Pramātā) is called प्रमा (Pramā) or प्रमिति (Pramiti). That I-Consciousness where that प्रमिति (Pramiti) is residing is supposed to be half coil of Kuṇḍalinī.

इति अस्या आगमिकी रहस्यप्रक्रिया
(Iti asyāḥ āgamikī rahasyaprakriyā)

This is the secret of Tantras revealed about Kuṇḍalinī.

इत्येवंरूपा परविमर्शात्मासौ परा संविदेव यदा बहिर औन्मुख्यलक्षणात् स्वातन्त्र्यात् तत्तद्रूपतया अवबिभासयिषया स्वात्मन्येव प्रोल्लसति, तदा सा पराशक्तिर्घटपटादिभावं स्वात्म अभिन्नरूपतया विमृशन्ती सुप्ताहिसदृशी शक्तिकुण्डलिनीति सर्वाम्नायेषु निगद्यते।
(Ityevamrūpā paravimarśātmāsou parā samvideva yadā bahira ounmukhyalakṣṇāta svātantryāta tattadrūpatayā avabibhāsayiṣayā svātmanyevaprollasati, tadā sā parāśaktir ghaṭapaṭādibhāvam svātma abhinnarūpatayā vimṛśanti suptāhisadṛśī śaktikuṇḍalinī iti sarvaāmnāyeṣu nigadyate.)

इत्येवंरूपा (Ityevamrūpā) - So this way, परविमर्शात्मा (Paravimarśātmā) - the supreme vimarśa i.e., I-Consciousness. That supreme consciousness बहिर औन्मुख्यलक्षणात् स्वातन्त्र्यात् (Bahir ounmukhya lakṣaṇāta svātantryāta) - when takes the support of her freedom - that freedom has got three phases; first phase of स्वातन्त्र्य (Svātantrya) is just towards objectivity, second is when it is directed towards objectivity and third is when it is resting in objectivity. At the point when it goes outside by svātantrya तत्तद्रूपतया अवबिभासयिषया (Tattadrūpatayā avabibhāsayiṣayā) - that svātantrya is the main cause of the manifestation of the universe viz the complete manifestation of the universe takes place by that main cause which is the svātantrya - which is towards objectivity, and which is not resting in that objectivity, but in which tendency is towards objectivity - towards outward creation. स्वात्मन्येव प्रोल्लसति (Svātmanyeva prollasati) - that Svātantrya Śakti of that creative energy even then rests in her own nature or she exists in her own nature. तदा (tadā) - then, सा पराशक्तिः (Sāparāśaktiḥ) - that supreme energy of God-consciousness, घटपटादिभावं स्वात्म अभिन्नरूपतया विमृशन्ती (Ghatapaṭādibhāvam svātma abhinnarūpatayā vimṛśantī) - perceives all objective world as one with her own nature, not separate from her nature. At that time she takes the formation of सुप्ताहिसदृशी (Suptāhi sadṛśī) - that serpent which is just resting, sleeping. That state

of Svātantrya śakti and that state of creative energy of Lord Śiva is nominated as शक्तिकुण्डलिनी (Śakti Kuṇḍalinī) इति सर्वाम्नायेषु निगद्यते (Iti sarvāmnāyeṣu nigadyate) - in all Tantras it is said like this :

येयम् (yeyam) - That Śakti Kuṇḍalinī

प्रकाश्य सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा।
(Prakāśya sarvavastūnām visargarahitā tu sā.)

इति श्रीतन्त्रालोकोक्त नीत्या विसर्गरूपापि विसर्गरूपतामनश्नुवाना स्वात्मन्येव चमत्कृतिमयी शिवस्याद्योन्मेषात्मिका शक्तिर्भवति।
(Iti Śrī tantrālokota nītyā visargarūpāpi visargarūptāmanaśnuvānā svātmanyeva camatkrtimayī śivasyādyon meṣātmikā śaktirbhavati.)

किञ्च शैवशासन दृष्टया यदा योगी स्वात्माभिन्न शिवस्वरूप-परामर्शानुसन्धानवशाद् विश्वात्मसात्कार रूपायां समावेश भूमौ तिष्ठति तदास्य विसर्गशक्तौ समावेशो जायते येन स परमं शक्तिस्पन्दं स्वात्मनि चमत्कुर्वन् शक्ति कुण्डलिनी दशामाविशति।
(Kiñca, śaivaśāsanadreṣtyā yadā yogī svātmābhinnśiva svarūpaparāmarśānusandhānavaśāt viśvātmasātkār rūpāyām samāveśabhūmou tiṣthati tadāsya visargaśaktou samāveśo jāyate, yena sa Paramam Śaktispandam svātmanicamatkuravan Śakti kundalini daśāmāviśati.)

सा (Sā) - that Śakti Kuṇḍalinī is प्रकाश्य (Prakāśya) the light producer of सर्ववस्तूनां (Sarvavastūnām) every object. Here light means knowledge or consciousness

and in individual that light is produced in five classes:

1. Light of शब्द (Śabda) - Sensation of hearing
2. Light of रूप (Rūpa) - Sensation of seeing
3. Light of स्पर्श (Sparśa) - Sensation of touching
4. Light of रस (Rasa) - Sensation of tasting
5. Light of गंध (Gandha) - Sensation of smelling

विसर्गरहिता तु सा (Visargarahitā tu sā) - actually she has not come out of her nature. Although it seems to everybody that she has stepped out but she is lost, infact neither she is lost nor she has stepped out, because we see all this manifestation has not gone astray, it is in the centre of her nature. इति श्रीतन्त्रालोकोक्तनीत्या (Iti Śrī Tantrālokoktanītyā) - this is according to the statement of Tantrāloka, विसर्गरूपापि (Visargarūpāpi) - although it is creative विसर्गरूपतां अनश्नुवाना (Visarga-rūpatām anaśnuvānā) - it has taken the position of creativeness, but it has not created anything. It is just glamour of her own nature of svātantrya, स्वात्मन्येवचमत्कृतिमयी (Svātmanyeva camat-kritimayī) - She enjoys the taste of her own nature there also. शिवस्याद्योन्मेषात्मिका शक्तिर्भवति (Śivasyādyon-meṣātmikā śaktir bhavati) - it is prescribed or nomi-nated as that energy of Lord Śiva which taken the formation of first sprout in her own nature and that first sprout takes the position of manifestation of 118

worlds, किञ्च (Kiñca) - There is one more point, शैवशासन दृष्ट्या (Śaivaśāsana drṣṭyā) - that according to the statement of Śiva śāstra, यदा योगी (Yadā yogī) - when a yogi, स्वात्माभिन्नशिव स्वरूप परामर्शानुसन्धानवशाद् (Svātma-bhinnaśiva svarūpa parāmarśānusandhānavaśād) - takes the support of attentiveness - awareness and meditates on Śiva svarūpa which is one with this nature, विश्वात्मसात्काररूपायां समावेश भूमौ तिष्ठति (Viśvātma-sātkāra rūpāyām samāveśa bhūmou tiṣṭhati) achieves the state of trans going inside - in his own nature which is that samādhi wherein it dissolves the whole universe in her nature - that is समावेश (Samāveśa) - to extract all the class of 118 worlds in her own nature. when a yogi mediates like that then, अस्य विसर्गशक्तौ समावेशो जायते (Asya visargaśaktou samāveśo jāyate) - he steps in the creative energy of lord Śiva, येन स परमं शक्ति स्पन्दं स्वात्मनिचमत्कुर्वन् (Yena sa paramam śakti spandam svātmani camatkurvan) - by that way he perceives the taste in his own nature - the supreme movement of energy, शक्तिकुण्डलिनीदशामाविशति (Śaktikuṇḍalinī daśāmāviśati) - and that yogi gets entry in the state of Śakti-kuṇḍalinī.

शक्तिकुण्डलिन्याः स्वरूपं तन्त्रसद्भावे यथा

(Śaktikuṇḍalinyāḥ svarūpam tantrasadbhāve yathā)

तन्त्रसद्भावे (Tantrasadbhāve) in the Tantrasadbhāva, स्वरूपं (Svarūpam) the nature of, शक्ति कुण्डलिन्याः (Śakti-

kuṇḍalinyāḥ) Śakti-Kuṇḍalinī is described as under :-

या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता।
हृद्बिन्दुं वेष्टयित्वान्तः सुषुप्तभुजगाकृतिः॥
तत्र सुप्ता महाभागे न किञ्चिन्मन्यते उमे।
चन्द्राग्नि रवि नक्षत्रैर्भुवनानि चतुर्दश।
क्षिप्तोदरे तु या देवी विषमूढेव सा गता॥

(Yā sā śaktiḥ parā sūkṣmā nirācāreti kīrtitā
hṛdbindum veṣṭayitvāntaḥ suṣuptabhujagākṛtiḥ,
tatra suptā mahābhāge na kiñcinmanyate ume,
candrāgni ravi nakṣatrairbhuvanāni caturdaśa,
kṣiptodare tu yā devī viṣamūḍheva sā gatā)

या सा शक्तिः (Yā sā śakti) that Supreme and Subtle Energy, is निराचारा (Nirācārā) above the boundary of caste, हृद्बिन्दुं वेषृयित्वान्तः (Hṛdbindum veṣṭayitvāntaḥ) it resides in each and every human being irrespective of caste, creed and colour. The बिन्दु (Bindu) which is the real heart, resides in each and every centre of six cakaras right from मूलाधार (Mūlādhāra) to सहस्रार (Sahasrāra). The centre of the mūlādhāra cakra is the heart, the centre of the navel (नाभि) cakra is the heart, the centre of हृद् (Hṛd) heart cakra is the heart, the centre of कण्ठ (Kaṇṭha) throat cakra is the heart, the centre of the भ्रूमध्य (Bhrūmadhya) the centre of eyebrows cakra is the heart and the centre of the सहस्रार (Sahasrāra) one thousand petals cakra is the heart, that Supreme Energy protects that point of heart in her own nature, and सुषुप्तभुजगाकृति (Suṣuptabhujagākṛtiḥ) she takes, the for-

mation of that serpent which is just sleeping.

उमे महाभागे (Ume mahābhāge) O! Parvati तत्र सुप्ता (Tatra suptā) there she rests in deep sleep.

न किञ्चिन्मन्यते (Na kiñcinmanyate) she does not understand anything except her own nature. Although she takes चन्द्र (Candra) the moon, अग्नि (Agni) fire, रवि (Ravi) Sun नक्षत्रैः (Nakṣatraiḥ) all the stars, भुवनानि चतुर्दश (Bhuvanāni caturdaśa) all the fourteen worlds, क्षिप्तोदरे (Kṣiptodare) and makes them rest in her own body, या देवी (Yā devī) that goddess appears just as if विषमूढेव सा गता (Viṣamūḍheva sā gatā) she has lost her consciousness by some heavy dosage of poison.

सैव शक्ति कुण्डलिनी भगवती श्री तन्त्रालोके (Saiva Śakti kuṇḍalinī bhagavatī Śri Tantrāloke) in the Tantrāloka that Śakti Kuṇḍalinī is described as follows :-

कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी

(Kalā saptadaśī tasmādamṛtākārarūpiṇī)

That seventeenth kalā is filled with the embodiment of supreme nectar which has nothing to do with objective world, cognitive world and subjective world. सप्तदशी कला (Saptadaśīkalā) seventeenth Kalā is that phase of the moon that is ever present even during the dark phase. It refers to the flowing out of the universal nectar of God consciousness.

इत्यारभ्य (Ityārabhya) starting from this प्रकाश्य सर्ववस्तूनां विसर्ग रहिता तु सा शक्तिकुण्डलिका (Prakāśya sarvavastūnām visarga rahitā tu sā, śaktikuṇḍalikā) she gives light and consciousness to everybody but she does not produce anything. That is Śakti Kuṇḍalikā - Kuṇḍalinī.

इत्यन्तं निरूपितास्ति (Ityantam nirūpitāsti) upto this śloka it is explained there in Tantrāloka.

परापराशक्त्यपर पर्यायाया: विसर्गशक्ते-
रियं बीजात्मिका मध्यमा दशा भवति।

(Parāparā śaktyaparaparyāyāyāḥ visargaśakte-
riyam bījātmikā madhyamā daśā bhavati)

परापरा शक्ति (Parāparā Śakti) the medium energy of Lord Śiva is also known as विसर्गशक्ति (Visarga Śakti) the creative energy.

बीजात्मिका मध्यमा दशा भवति (Bījātmikā madhyamā daśā bhavati) This is the seed of all other energies because from there they flow forth. The supreme state of Visarga Śakti is पराकुण्डलिनी (Parā Kuṇḍalinī). परापराशक्ति (Parāparā Śakti) the second energy is medium energy. अपरा शक्ति (Aparā-Śakti) the third energy is inferior energy. It is known as प्राणकुण्डलिनी (Prāṇa Kuṇḍalinī).

अस्या विसर्गशक्तेराद्यन्तदशयोर्वर्णनं प्राणकुण्डलिनी
पराकुण्डलिनी निरूपणावसरे भविष्यति।

(Asyāḥ visarga śakterādyanta daśayor varṇanam prāṇa-
kuṇḍalinī parākuṇḍalinī nirūpaṇāvasare bhaviṣyati)

विसर्गशक्तेराद्यन्तदशयोर्वर्णनं (Visarga śakterādyanta daśayor varṇanam) - This Visarga Śakti (creative energy) will be explained, from its आद्यन्तदशयोः (Ādyanta daśayoḥ) first दशा (Daśā) which is the Supreme state i.e. पराकुण्डलिनी (Parā Kuṇḍalinī) to the last state i.e. प्राणकुण्डलिनी (Prāṇa Kuṇḍalinī), at the time of defining these two states i.e. Prāṇa Kuṇḍalinī and Parā Kuṇḍalinī. कामकलापरामर्शानुसारेण (Kāmakalā parāmarśānusāreṇa) - Kāma-kalā means the unification of the two aspects of any sensation. Kāma (काम) does not mean only sex. It means when your eyes are united with form, it also exists when the ear is united with sound, the nose united with smell, the skin united with touch or some flower, or some softness - that is कामकला। Thus कौलयोगी अपि (Koulayogī api) the aspirant of the koula system also चर्याक्रमे (Caryā-krame) meditates on these unifications in their various manifestations and तां शक्ति कुण्डलिनीं (Tām śaktikuṇḍalinīm) - that Śakti Kuṇḍalinī, साक्षात्करोति (Sākṣātkaroti) he experiences; this is called caryā-krama, which is succession (krama) in the activity (caryā) of the senses. सिद्धयोगिनी सङ्घट्टात्मक समावेशावसरे (Siddha yoginī saṅghattātmaka samāveśāvasare) सिद्ध (Siddha) means male adept योगिनी (yoginī) means female aspirant or siddha is "I" Consciousness and yoginī refers to whatever activity limited with it. The customary meaning of Siddhayoginī is the unification of two people. But the समावेश (Samāveśa) absorption of Siddha-yoginī can also take place at the conjunc-

tion, the unification of any two perceptions or Siddha can be the ear (not physical ear but the energy of hearing) and yoginī the sound. For meditation in caryā-krama the sensation of the knowledge of this cognition is utilized. कामतत्त्वरूपतया (Kāmatattva-rūpatayā) This is known as the reality of Kāma-tattva.

यदाहुराचार्याभिनवगुप्तपादाः
(Yadāhurācāryābhinavaguptapādāḥ)

Ācārya Abhinavagupta has also clarified this in his Tantrāloka.

अतएव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः
कामतत्त्वमिति श्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते।
कामस्य पूर्णता तत्त्वं सङ्घट्टे प्रविभाव्यते *(तन्त्रालोक-३-१४६)*
(Ataeva visargo'ayamavyaktahakalātmakaḥ
kāmatattvamiti śrīmatkulaguhvara ucyate
kāmasya pūrṇatā tattvam saṅghaṭṭe pravibhāvyate)

In the श्रीमत्कुलगुह्वर (Śrimatkulaguhvara) Tantra उच्यते (Ucyate) - It is said that the विसर्गोऽयं (visargoayam) - the energy of creation is found in the contact of two - may be joy, may be satisfaction, but something is created. अव्यक्तहकलात्मकः (Avyaktahakalātmakaḥ) - This creative energy is the letter ह (ha) this letter is a half letter and is not produced fully. This partly produced "ह" (ha) is known as the कामतत्त्वं (Kāmatattvam) the reality of willful desire. कामस्य पूर्णता तत्त्वं सङ्घट्टे प्रविभाव्यते (Kāmasya pūrnatā tattvam saṅghaṭṭe pravibhāvyate) kāma (will-

ful desire) gets its fullness only when it is united. When it is united that is actual position of kāma.

श्रीवातूलनाथाचार्येणापि (Śrī Vātūlanāthācāryeṇāpi) Ācārya Vātūlanātha also prescribes in his Sūtras - सिद्धयोगिनी सङ्घट्टान्महामेलापोदयः (Siddhayoginī saṅghaṭṭānmahā melāpodayah) महामेलापोदयः (mahāmelāpodayh) Supreme unification takes place, सङ्घट्टात् (saṅghaṭṭāt) by the contact of siddhas and yoginis. Siddhas refer to I-Consciousness and yoginis refer to whatever objectivity united with it. So this verse does not refer physical sexual contact but all sensual contacts.

इत्यस्मिन् सूत्रे (Ityasmin sūtre) in this sūtra of Vātūlanātha, महामेलापशब्देन (Mahāmelāpaśabdena) by the word of festival of supreme conjunction. सेयं शक्ति कुण्डलिनी निरूपिता (Seyam śakti kuṇḍalinī nirūpitā) that Śakti Kuṇḍalinī is defined where the supreme meeting of Śiva and Śakti takes place.

यस्यां क्षणमात्रमपि स्थितिं प्राप्य कौलयोगी

(Yasyām kṣaṇamātramapi sthitim prāpya koulayogī)

In that Koulayogi experiences this state only for one second.

वेद्य वेदकात्म शिवशक्त्यात्मद्वयविगलनेन
तां शिवशक्त्यात्म महासामरस्यरूपां स्थितिमनुभवति

(Vedya vedakātma Śivaśaktyātma dvaya vigalanena tām Śivaśaktyātma mahāsāmarasyarūpām sthitimanubhavati)

Then he experiences and achieves the conjunction of Śiva and Śakti. It is that state where Śiva and Śakti cannot be distinguished from each other. The individuality of Śiva and Śakti is lost. Śiva and Śakti are everywhere. It is just like mixing of two pots of milk. Once united these two pots of milk cannot be separated. Thus in this state, differentiatedness of these two Śiva and Śakti, gets disappeared.

इत्यस्यां सिद्धयोगिनीसङ्घट्टात्म महामेलापदशायां
शक्तिकुण्डलिनी दशामनुभवन्
यः कौलयोगी चर्याक्रममाचरति, स एव
चर्याक्रमेऽधिकृतोऽस्ति, नान्य इत्यवधातव्यम्।

(Ityasyām siddha yoginī sañghaṭṭātma mahāmelāpadaśāyām śakti kuṇḍalinī daśāmanubhavan yaḥ koulayogi caryākramamācarati sa eva caryākrame adhikṛto'asti nānya ityavadhātavyama)

इत्यस्यां महामेलापदशायां (Ityasyām mahāmelāpadāśāyām) In that state of the great festival of union, सिद्धयोगिनी सङ्घट्टात्म (Siddhayoginī saṅghaṭṭātma) - which takes place by the contact of siddhas and yoginīs, यः कौलयोगी शक्ति कुण्डलिनी दशामनुभवन् (Yah koulayogī Śakti kuṇḍalinī daśām anubhavana) - the koula yogī perceives the state of Śakti Kuṇḍalinī, चर्या क्रममाचरति (Caryākramamācarati) - and can do whatever he likes afterwards. There is no sin for him in any action. स एव चर्याक्रमेऽधिकृतोऽस्ति (Sa eva caryākrame'adhikṛto'asti) He alone is fit for caryā

krama i.e. the practice of entering into the supreme through sensual contact filled with knowledge. नान्य इत्यवधातव्यम् (Nānya ityavadhātavyam) none else, this must be understood clearly. तस्मात् परिपूर्णस्वात्मावमर्शनिष्ठानां (Tasmāt paripūrṇasvātmāvamarśa niṣṭhānām). Therefore those yogīs, who are established in the awareness (विमर्श) of their nature as Śiva, पूर्णाशयानां एव (Pūrnā śayānām eva) who have ocean like broad or skylike limitless hearts, अस्मिन्निरुत्तरसमावेशास्पदे (Asminnirūttara samāveśāspade) and who are seated in that state which is above all, चर्याक्रमेऽधिकारो नेतरेषाम् (Caryākrame'adhikāro netareṣām) are authorised to follow the path of caryā krama, others will commit a blunder and will go to hell.

यदाहुः श्री क्षेमराजपादाः

(Yadāhuḥ Śrī Kṣemarājapādāḥ)

Śrīkṣemarāja also wrote the following verse in this connection

ते नात्राधिकृताः परैः पुनरिदं पूर्णाशयैश्चर्व्यताम्।

(स्पन्दनिर्णय)

(Te nātrādhikṛtāḥ paraiḥ punaridam pūrṇāśayaiścarvyatām)

(Spanda Nirṇaya)

The yogis considering that they are established in it, but cannot hold it while attempting are not fit for this communication of rising Śakti Kuṇḍalinī. To perceive

this state of caryā-krama, a yogī must be an ocean like broad-minded because it is an ocean where all streams in their movement become unknown and rest in without making any sound.

अथ प्राणकुण्डलिनीस्वरूपं निर्णीयते।

(Atha prāṇa-kuṇḍalinīsvarūpam nirṇīyate)

अथ (Atha) now, प्राणकुण्डलिनीस्वरूपं (Prāṇa-kuṇḍalinī svarūpam) the nature of Prāṇa-Kuṇḍalinī. निर्णीयते (Nirṇīyate) I will explain.

चिच्चमत्कृतिरूपा विसर्गशक्तिः।

(Ciccamatkṛtirūpā visargaśaktiḥ)

चित्विसर्गशक्तिः (Cit-visargaśaktih) the creative energy of Lord Śiva, चमत्कृतिरूपा (Camatkṛtirūpā) is filled with the taste of Her consciousness.

स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः।

(Svātmanaḥ svātmani svātmakṣepo vaisargikī sthitiḥ)

(Tantrāloka III-141)

स्वात्मनः (Svātmanaḥ) from one's own self, स्वात्मनि (Svātmani) in one's own self, स्वात्मक्षेपो (Svātmakṣepo) to create one's own self. वैसर्गिकी स्थितिः (Vaisargikī sthitih) is the nature of Visarga-śakti.

To create the self from the self in the self is the reality of creative energy. Thus creating 'self' in 'self' from 'self' is the definition of creative energy.

इत्याचार्याभिनवगुप्तपादोक्त्या स्वात्मन्येव विसर्गस्योन्मेषदशां परामृशन्ती प्राक्संवित्प्राणे परिणतां इति नयेन प्राणनरूपतां चावभासयन्ती प्राणकुण्डलिनीरूपतयागमेषु निरूप्यते।

(Ityācāryābhinavaguptapādoktyā svātmanyeva visargasyonmeṣadaśām parāmṛśantī prāk samvitprāṇe pariṇatām itinayena prāṇanarūpatām cāvabhāsayantī prāṇkuṇḍalinī rūpatayāgameṣu nirūpyate)

इत्याचार्याभिनवगुप्तपादोक्त्या (Ityācāryābhinavagupta-pādoktyā) this is the statement of Ácārya Abhinava Gupta pāda that स्वात्मन्येव विसर्गस्योन्मेष दशां परामृशन्ती (Svātmanyeva visargasyonmeṣa daśām parāmṛśantīm) when Kuṇḍalini experiences the state of the creative energy of consciousness in Her own nature then, 'प्राक् संवित्प्राणे परिणतां' इति नयेन प्राणनरूपतां चावभासयन्ती (Prāk Samvitprāṇe pariṇatām iti nayena prāṇanarūpatām cāvabhāsayantī) as described by Kallaṭa, in the very beginning of creation, breath (prāṇa) comes forth as the first creation. When the god consciousness flows out in the creative cycle, she takes the formation of that breath which is not this inhaling and exhaling breath but (Prāṇana) i.e. vibrating breath. When a woman conceives a child that child is first produced with this vibrating breath. At that time there is no actual breathing, there is only life. That is vibrating breath. प्राणन् (Prāṇana) प्राणकुण्डलिनीरूपतयागमेषु निरूप्यते (Prāṇakuṇḍalinī rūpatayāgameṣu nirūpyate) when this creative Energy

(visargaśakti) has taken the form of vibrating breath the scriptures tell us that this breath is in the form of Prāṇakuṇḍalinī.

यद्यप्यस्यां प्राणकुण्डलिनीरूपायां विसर्गशक्तौ प्राणनरूपत्वात् बहिर्भावावभासनात्मिका स्थितिर्दृश्यते, तथाप्यत्र प्राणादि पञ्चवाहस्यानुन्मीलनात् स्वात्मानन्द चमत्कृतिमयत्वमेव सर्वतः प्रवर्तते।

(Yadyapyasyām Prāṇakuṇḍalinīrūpāyām visargaśaktou prāṇana rūpatvāta bahirbhāvāvabhāsanātmikā sthitirdrśyate, tathāpyatra prāṇādi pañcavāhasyānunmīlanāta svātmānanda camatkṛtimayatvameva sarvataḥ pravartate)

Though in this creative energy of Lord Śivā, supposed to be the state of Prāṇa Kuṇḍalinī, it takes the formation of that vibrating force of breath then the blissful state of one's nature appears. In the next movement of this vibration the five states of breath namely प्राण (Prāṇa) अपान (Apāna) समान (Samāna) उदान (Udāna) व्यान (Vyāna) take the formation of प्राणनशक्तिः (Prāṇanaśaktiḥ). At this stage, however, these five breaths are not yet manifested because of this in this state of Prāṇakuṇḍalinī only the blissful state of one's nature appears.

1. प्राण (Prāṇa) - breathing in and out.
2. अपान (Apāna) - It exists when in bathroom we push out stool or urine.
3. समान (Samāna) is that breath which keeps our

nerves in real position and all vital channels in balance.

4. उदान (Udāna) is the breath which digests the food in our body.
5. व्यान (Vyāna) is the breath that stimulates all this and directs it with vibrating force.

इयमेव प्राणकुण्डलिनीरूपा
चितिशक्तिर्विसर्गस्यादिकोट्यात्मनि
स्वरूपे स्फुरतीति कौलयौगिभिरनुभूयते।

(Iyameva prāṇakuṇḍalinīrūpā
citiśaktirvisargasyādikoṭyātmani
svarūpe sphuratiti koulayougibhiranubhūyate)

इयमेवचितिशक्तिः (Iyameva citiśaktiḥ) This energy of consciousness प्राण- कुण्डलिनीरूपा (Prāṇa kuṇḍalinīrūpā) which is in the form of Prāṇa Kuṇḍalinī विसर्गस्यादि कोट्यात्मनि स्वरूपे स्फुरतीति (Visargasyādikotyātmani svarūpe sphuratīti) appears in the first state of the creative pulse, कौलयोगिभिरनुभूयते (Koulayougibhiranubhūyate) it is experienced by Śaiva yogis.

अत्रतु स्वानुभवसारमपि किञ्चिन्मया वर्ण्यते।

(Atratu svānubhavasāramapi kiñcinmayā varṇyate)

Regarding this Prāṇa Kuṇḍalinī, I shall explain to you according to my own experience.

तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण चन्द्रसूर्यावुभावपि
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्।

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥ *(स्पन्द-२४-२५)*

(Tāmāśrityordhva mārgeṇa candra sūryāvubhavapi
souṣumneadhvanyastamito hitvā brahmāṇdagocaram
tadātasmina mahāvyomni pralīna śaśibhāskare
souṣupta padavanmūḍaḥ prabuddhaḥ syādanāvṛtaḥ)

According to verses 24 and 25 of स्पन्दकारिका 'Vasugupta' explains the centre of the two breaths is the way. Through this way we will gain entry in rising. In ordinary life this way is closed and blocked, but it opens when prāṇa kuṇḍalinī occurs. When that Supreme Energy of consciousness is concentrated in ऊर्ध्वमार्ग (Ūrdhvamārga) - the centre, we get entry in going high in rising. When we concentrate continuously without any break on that ūrdhvamarga - the centre,चन्द्र सूर्यौ उभौ अपि (Candra Sūryou ubhou api) चन्द्र (Candra - the moon) known as incoming breath, सूर्य (Sūrya - the sun) known as outgoing breath, spontaneously enter in the pathway of the central channel (Suṣumnā) and rush down to मूलाधारचक्र (Mūlādhāra cakra) Then as kuṇḍalinī it rises from the mūlādhāra cakra to सहस्रारचक्र (Sahasrāra cakra) passing through the subtle opening of ब्रह्मरन्ध्र (Brahmarandhra) There is a subtle opening at brahmarandhra point, through this the kuṇḍalinī departs from the entanglements of this body and enters that infinite expanse of God-Consciousness where प्रलीनशशिभास्करे breathing in and breath-

ing out are not found existing anywhere. In this state also if perfect attentiveness is not maintained by those yogis, then सौषुप्तपदवन्मूढः (Souṣuptapadavanmūḍaḥ) they will again get drowziness and they are lost, because of diverting consciousness from that vibrating centre for a moment. But we will suddenly come out of that state and fall in the void state called pralayākala. At that point we will not yet be in the diverse cycle of the world filled with thoughts we will be in शून्य voidness. After falling into the void state we will open our eyes and again we are as good as ordinary persons. मूढः (Mūḍaḥ) means that he is just duffer there. This whole universe is filled with consciousness but everybody has lost that consciousness. That is the cause of our being tossed in this cycle of Māyā, torture and repeated births and deaths, disease etc. प्रबुद्धः स्यात् अनावृतः (Prabuddhaḥ syāt anāvṛtaḥ) but that yogi who is प्रबुद्ध (Prabuddha) attentive whole heartedly i.e. who can not loose his consciousness even in choloroform, that yogi is great.

इति श्रीवसुगुप्तपादप्रतिपादितनयेन

(Iti śrīvasuguptapāda pratipāditanayena)

This is the statement of Vasugupta who has explained this in his Spandakārikās. यदा शैवयोगी (Yadā Śaivayogī) when this Śaivayogi, क्षणमप्यवधान शैथिल्यम- सहमानः (Kṣaṇamapyavadhāna śaithilyama-sahamānaḥ) does

not allow absence of awareness even for one moment to take place, सततमेव शिवात्मभावमनुसन्दधानः समावेश दशायामुन्मुखो भवति (Satatameva Śivātmabhāvamanusandadhānaḥ samāveśa daśāyāmunmukho bhavati) and is always one pointedly attentive established in Śivabhāva and directs his mind towards samāveśadaśā.

तदास्य स्वात्मानुसन्धिबलादेवोभौ प्राणापानौ सौषुम्ने मार्गे लयं गच्छतः

(Tadāsya svātmānusandhi balādevobhou prāṇāpānou souṣumne mārge layam gacchataḥ)

Then by the power of his one pointedness both breaths (breathing in and breathing out) enter in the central vein automatically.

तदनन्तरमस्य प्राणशक्तिः मूलाधारपदवीमाश्रयते।

(Tadanantaramasya prāṇaśaktiḥ mūlādhārapadavīmāśrayate)

And next moment to that he experiences the state of Prāṇakuṇḍalinī at the site of मूलाधार।

तस्मान्मूलधारान्मध्योर्ध्व मार्गेण प्रोच्छलन्त्यां विकस्वरायां प्राणशक्तौ योगी प्राणकुण्डलिन्यवस्थामनुभवति।

(Tasmānmūladhārānmadhyodhrva mārgeṇa procchalantyām vikasvarāyām prāṇaśaktou yogī prāṇakuṇḍaliinyavasthāmanubhavati)

From that mūlādhāra cakra at the beginning of its rise towards सहस्रार चक्र it rises in that Prāṇaśaktiḥ which is विकस्वरायां (Vikasvarāyām) all round bloomed and yogi experiences the state of Prāṇakuṇḍalinī.

अत्र प्राणकुण्डलिनी समावेश दशायां योगिनां द्वे गते भवतः।
(Atraprāṇakuṇḍalinī samāveśa daśāyām yoginām dve gate bhavataḥ)

In this state of Prāṇa-kuṇḍalinī yogis experience two way traffic. तत्राद्यायथा (Tatrādyā yathā) First way for yogis is as under—

केषाञ्चिद्यथा प्राणापानौ मध्यमार्गे लयं गच्छतस्तदा प्रथमं तावदधोमुखौ सन्तौ लम्बिकास्थानं भित्त्वाङ्गुलि पिहित कर्णघोषवद् ध्वनन्तौ मूलाधारचक्रं वेधयतः, तदास्य योगिनो मूलाधारचक्रमुक्तप्रकारेणैव सशब्द पूर्णवेगेन परिवर्तते इति योगी प्राथम्येनानुभवति।
(Keṣāñcidyathā prāṇāpānou madhyamārge layam gacchatastadā prathamam tāvadadhomukhou santou lambikāsthānam bhittvāṅguli pihita karṇaghoṣavad dhvanantou mūlādhāra cakram vedhayataḥ tadāsya yogino mūlādhāracakramukta prakāreṇaiva saśabda pūrṇa vegena parivartate iti yogi prāthamyenānubhavati)

केषाञ्चिद् - For some yogis, यथा प्राणापानौ मध्यमार्गेलयं गच्छतः - when the breath enters the central channel तदा प्रथमं तावदधोमुखौ सन्तौ - there the incoming breath and the outgoing breath initially descend (adhomukhou). लम्बिकास्थानं - In that अधोमुख state there is a state of Lambikā. The state of लम्बिका cannot be established by any physical means because it is very subtle, there are four passages in लम्बिका. These two breaths, when they take the position of descending, arrive at the लम्बिका that is the passage from the right side. From left side

there is another लम्बिका that is presently active in us while the लम्बिका of right side is blocked. When the two breaths (प्राणापान) collect and take the position of descending, the breath stops and a choking sensation is felt. Then the लम्बिका on the right side opens and the breath rushes down through that opening.

भित्त्वा - when the breath takes entry through the Lambikā अङ्गुलिपिहित कर्णघोषवत् ध्वनन्तौ - it produces a sound which is like that internal sound produced when you close the ears by pressing your fingers on them. It is a continuous sound like the sound of the ocean. When the two breaths gain entry into the सुषुम्ना through the लम्बिका and travel towards मूलाधारचक्र where they rest, a stipulated sound is produced. मूलाधारचक्रं वेधयतः -' At that point the - mūlādhāracakra is penetrated. तदास्य योगिनो मूलाधार चक्रमुक्तप्रकारेणैव सशब्दं पूर्णवेगेन परिवर्तते इति योगी प्राथभ्येनानुभवति - When it is penetrated, the yogi experiences the wheel (cakra) beginning to move with great force and sound. It moves in a clockwise direction. This is the state experienced by yogis at the first moment this occurs.

ततो मूलाधार चक्रादुत्थिता मध्यवाहिनी प्राणशक्ति-
र्द्वितीयं नाभिस्थानगतं चक्रं वेधयति, यद् वशात्
तत् द्वितीयमपि नाभिचक्रं वेगेन सशब्दं परिभ्रमति।
तदानीं योगी यौगपद्येन अनयोः चक्रयोः
परिवर्तनदशामनुभवति।

(Tato mūlādhāra cakrādutthitā madhyavāhinī prāṇa śaktir dvitīyam nābhisthānagatam cakram vedhayati yad vaśāt tat dvitīyamapi nābhicakram vegena saśabdam paribhramati. tadānīm yogī yougapadyenānayoḥ cakrayoḥ parivartanadaśāmanubhavati.)

Just after that Kuṇḍalinī advances from the mūlādhāracakra and rises to penetrate the wheel (cakra) which is residing at the navel. After that penetration this mūlādhāra cakra also begins to move in velocity alongwith sound and at that time yogi does not feel that (nābhicakra) above is moving but he feels mūlādhāra cakra is also moving i.e. that yogi simultaneously experiences the movement of both cakras. Yogi listens that sound and this sound produces joy. (Svāmī jī relates this from his own experience)

तदनु तस्य योगिनः प्राण शक्तिर्नाभि चक्रात् समुत्थाय वेगेन हृच्चक्रं वेधयित्वोर्ध्वं गच्छति, तदा स योगी हृच्चक्रस्यापि वेगेन परिवर्तनदशामनुभवति।

(Tadanu tasya yoginaḥ prāṇa-śaktirnābhi cakrāt samutthāya vegena hṛccakram vedhayitvordhvam gacchati, tadā sa yogī hṛcchakrasyāpi vegena parivartanadaśāmanubhavati)

Now from the nābḥi cakra this breath travels in ths form of kuṇḍalinī upto the heart and penetrates the cakra residing there. This cakra is known as the hrit cakra. After being penetrated, this hṛt cakra (Cakra of the heart) also begins to move rapidly with sound and he feels not only the movement of hrit cakra but he experiences the movement of nābhi and mūlādhāra

cakra as well.

ततः कण्ठस्थानमाप्ता सा मध्यवाहिनी प्राणशक्तिः कण्ठस्थानगतं चक्रमेव भ्रूमध्यस्थानगतं चक्रञ्च वेगेन वेधयति, यद्वशात्ते उभे चक्रे अपि वेगेन परिवर्तेते-इत्यस्य योगिन एवानुभवगोचरत्वमेति।

(Tatah kaṇṭhasthānamāptā sā madhyavāhinī prāṇaśaktiḥ kaṇṭhasthānagatam cakrameva bhrūmadhyasthānagatam cakrañca vegena vedhayati yadvaśātte ubhe cakre api vegena parivartete ityasya yoginaḥ evānubhavagocaratvameti)

In this way respectively breath in the form of Kuṇḍalinī penetrates the cakra of bhrūmadhya found between the two eyebrows with velocity. With this penetration both of these cakras begin to move rapidly with sound. This is what the yogi experiences.

इत्थं बिन्दुस्थानगतं चक्रं वेधयित्वायं योग्यस्यां प्राणकुण्डलिनीस्पन्दनदशायां मूलाधारचक्रस्थानादारभ्य भ्रूमध्यस्थानगतचक्र पर्यन्तानां समस्तानां चक्राणां यौगपद्येन सवेगं परिवर्तनरूपत्वमनुभवति, यदनन्तरमेव योगिनमणिमाद्यष्टसिद्धयः समाश्रयन्ते।

(Ittham bindusthānagatam cakram vedhayitvāyam yogyasyām prāṇa kuṇḍalinīspandanadaśāyām mūlādhāra cakrasthānādārabhya bhrūmadhyasthānagata cakra paryantānām samastānām cakrāṇām yougapadyena savegam parivartana rūpatvamanubhavati, yadanantarameva yoginamaṇimādyaṣṭa siddhayaḥ samāśryante.)

इत्थं in this way, अयं योगी this Yogi. अस्यां प्राणकुण्डलिनी

स्पन्दन दशायां- in the state of manifestation of Prāṇa-kuṇḍalinī बिन्दुस्थानगतंचक्रं वेधयित्वा- having penetrated the bhrū-bindū cakra, परिवर्तनरूपत्वमनुभवति – experiences the movement of समस्तानां चक्राणां – all these wheels. मूलाधार चक्रस्थानादारभ्य भ्रूमध्यस्थान पर्यन्तानां – right from Mūlādhāra to bhrū-madhya cakra सवेगं यौगपद्येन – Simultaneously with velocity just like a machine. यदनन्तरमेव – Then right from that very moment. योगिनामणिमाद्यष्टसिद्धय; समाश्रयन्ते – the yogis experience the possession of अणिमा etc. eight yogic powers. These eight Yogic powers are as under :-

(i) अणिमा – With this a Yogi experiences the power of becoming invisible.

(ii) लघिमा – It is the power to become as light as a feather and can easily fly in the sky

(iii) महिमा – With this yogic power a yogi becomes very large and produces a body like that of हनुमान्

(iv) गरिमा – With this power a yogi becomes very heavy so that no power on the earth can move him.

(v) ईशित्व – It is that power by which a yogi experiences sovereignty over this world. He acts according to his wish without any interruption.

(vi) प्राप्ति – It is the power to be in different places at the same time.

(vii) प्राकाम्य – With this power a yogi attains full control over his own system.

(viii) वशित्व – With this power every one is attracted to yogi, and every one wants to be with him.

अमुमेवाशयं वेधदीक्षाविचारावसरे आचार्याभिनवगुप्तपादाः श्रीतन्त्रालोके उपोद्बलयन्ति–

वेधदीक्षा च बहुधा तत्र तत्र निरूपिता।
साचाभ्यासवता कार्या येनोर्ध्वोर्ध्व प्रवेशतः॥
शिष्यस्य चक्रसंभेद प्रत्ययो जायते ध्रुवः।
येनाणिमादिका सिद्धिः .....

(तन्त्रालोक आ० २९ श्लोक २३७-३८)

(Amumevāśayam vedhadīkṣāvicārāvasare
ācāryābhinavaguptapādāḥ Śrī Tantrāloke upodvalayanti—
vedhadīkṣā ca bahudhā tatratatra nirūpitā
sācābhyāsvatā kāryā yenordhvordhva praveśataḥ
śiṣyasya cakrasambheda pratyayo jāyate dhruvaḥ
yenāṇimādikā siddhiḥ.....) *(TA. cp. XXIX vs. 237-38)*

अमुमेवाशयं – this very meaning. उपोद्बलयन्ति – has been explained by आचार्याभिनवगुप्तपादाः- Ācārya Abhinavagupta श्रीतन्त्रालोके वेधदीक्षा विचारावसरे – in Tantrāloka's Vedhadīkṣā (penetrating initiation) chapter. He explains :-

च – and वेधदीक्षा – the initiation of penetration निरूपिता – is described बहुधा – in different ways तत्र तत्र – in the Tantras. साचाभ्यासवताकार्या – Here the yogi has to experience the initiation of penetration येन – by which,

ऊर्ध्वोर्ध्वप्रवेशतः— he rises from one cakra to another, चक्रसंभेदप्रत्ययो जायते ध्रुवः— and simultaneously experiences these cakras in movement. येन— by this अणिमादिकासिद्धिः— the eight great power of yoga namely अणिमा महिमा etc. are possessed by yogis. अथापरा सृतिर्यथा— Unfortunate yogis experience the state of Prāṇa-kuṇḍalinī in a second way.

केषाञ्चित् च मन्दयोगिनां मध्यनाड्यां यदा प्राणापानौ अस्तं गच्छतः तदा तेषां परमेश्वरशक्तिपातस्य मन्दत्वादेव मध्य-वाहिनी प्राणशक्तिर्विपर्ययेणैव प्रथमं भ्रूमध्यस्थानगतं चक्रं वेधयति, यत् वशात् अस्य योगिनः तत् चक्रं प्रथमं सशब्दं घूर्णते। तदनु कण्ठस्थानगतं चक्रं, ततो मूलाधारस्थानं यावत् अखिलानि चक्राणि सशब्दं परिवर्तन्ते, येन तस्य योगिनः संसारवासनायास्तत्रावस्थितत्वेन न किंचित् अनुभव-गोचरत्वं एति। अणिमाद्यष्टसिद्धीनां कथा तु दूरापास्तैव, प्रत्युत सयोगी निम्नाङ्कितेन पिशाचावेशेन समाविष्टो भूत्वा विघ्नपरम्परां एवानुभवति। यदुक्तं श्रीरत्नमालायाम्—

अधोऽवस्था यदा ऊर्ध्वं संक्रामन्ति वरानने।
सैव मोक्षपदावस्था सैव ज्ञानस्य भाजनम्॥
ऊर्ध्वचक्रगतावस्था यदाधः संभवन्ति च।
तदा पैशाच आवेशः स वै विघ्नस्य कारणम्॥

(Keśāñcit ca mandayoginām madhyanāḍyām yadā prāṇāpānou astam gacchataḥ tadā teṣām parameśvara śakti pātasya mandatvādeva madhyavāhinī prāṇa śaktirviparya-yeṇaiva prthamam bhrūmadhya-sthānagatam cakram

vedhayati, yata vaśāta asya yoginaḥ tata cakram prathamam saśabdam ghūrṇate. Tadanu Kaṇṭhasthänagatam cakram tato mūlādhārasthānam yāvat akhilāni cakrāṇi saśabdam parivartante, yena tasya yoginaḥ samsāra vāsanāyāstatrāvasthitatvena na kiñcit anubhava gocaratvameti. Aṇimādhyaṣṭasiddhīnām kathā tu dūrāpāstaiva, pratyuta sa yogi nimnāṅkitena piśācāveśena samāviṣṭo bhūtvā vighnaparamparām evānubhavati. Yaduktam Śrī Ratnamālāyām -

Adho'vasthā yadā ūrdhvam saṅkrāmanti varānane
Saiva mokṣapadāvasthā saiva jñānasya bhājanam
ūrdhva cakra gatāvasthā yadādhaḥ sambhavanti ca
tadā paiśāca āveśaḥ sa vai vighnasya kāraṇam)

केषांचित् च मन्दयोगिनां – Those yogis who are unfortunate, मध्यनाड्यां यदा प्राणापानौ अरतं गच्छतः– When they reach at the place of लम्बिका and travel from लम्बिका to the mūlādhāra cakra, they experience the rise of Prāṇa-kuṇḍalinī in the sameway as is experienced by the great yogis. तदा तेषां – at that point to those yogis, परमेश्वर शक्तिपातस्य मन्दत्वादेव – When it is not the will of Lord Śiva, because every - thing takes place as per Lord Śiva's will, So मध्यवाहिनी प्राणशक्तिर्विपर्ययेणैव – the Prāṇakuṇḍalini moves in oppositeway प्रथमं भ्रूमध्यस्थानगतं चक्रं वेधयति – it pierces at first the cakra of bhrū madhya in movement यत् वशात् अस्य योगिनः तत् चक्रं प्रथमं सशब्दं घूर्णते – because of this that cakra of yogi begins to move with sound at first, तदनु कण्ठस्थानगतं चक्रं – then the cakra residing in कण्ठस्थान begins to move, ततो मूलाधार स्थानं

यावत् – upto mūlādhāra also this whole happens अखिलानि चक्राणि सशब्दं परिवर्तन्ते – all cakras move with sound. तेन तस्य योगिनः संसारवासनायास्तत्रावस्थितत्वेन न किंचिदनुभवगोचरत्वमेति – when Prāṇakuṇḍalinī rises in this fashion, it is an indication that this yogi is attached to worldly pleasure. For him traces of attachment remain. Nothing is achieved by him. अणिमाद्यष्टसिद्धीनां कथा तु दूरापास्तैव – For this yogi there is no chance of possessing the eight great powers of yoga. प्रत्युत स योगी निम्नाङ्कितेन पिशाचावेशेन समाविष्टो भूत्वा विघ्नपरम्परामेवानुभवति – on the contrary, this yogi has entered into a state of absorption which is said to be devilish (पिशाचावेश)। It is not a correct absorption and it causes this yogi to become the victim of an unending series of obstacles during the rest of his life. यदुक्तं श्रीरत्नमालायाम् – this is said in Śrī Ratnamālāstotra also.

अधोऽवस्था यदा ऊर्ध्वं ··· कारणम्॥

When this state is established below and when from there it penetrates higher and higher, that is the state of liberation. That is the state where yogis become fittingly qualified for the attainment of knowledge. But on the contrary, when these states are penetrated downward form alone and in reverse that is incorrect absorption (पिशाचावेश) that is the indication that hereafter this yogi's life will be filled with obstacles.

अथ कामकलां परामृशन् योगी सिद्धयोगिनी संघट्टावसरात्मके चर्याक्रमे इमां प्राणकुण्डलिनी दशां विषतत्त्वप्रवेशसमयेऽनुभवति।

(Atha kāmakalām parāmṛśan yogī siddhayoginī samghaṭṭāvasarātmake caryā krame imām prāṇa kuṇḍalinī daśām viṣatattvapraveśasamaye'nubhavti.)

Now we will touch the state of kāmakalā which we have discussed in first kuṇḍalini also while touching this kāmakalā there when this योगी सिद्धयोगिनी संघट्टाव-सरात्मके – yogi comes in contact with Siddha and yogini, इमां प्राण कुण्डलिनीदशां – this Prāṇa kuṇḍalinī state is अनुभवन्ति – experienced by those yogis विषतत्त्वप्रवेशसमये – at the time of entering in Viṣatattva.

पूर्वोक्त रूपायां महामेलाप दशायामादौ या दशा ह्यनुभूयते सैव विषतत्त्वरूपागमेषु वर्णिताऽस्ति।

(Pūrvokta rūpāyām mahāmelāpa daśāyāmādou yā daśā hyanubhūyate saiva viṣatattvarūpāgameṣu varṇitāsti)

In the beginning of महामेलापदशा, already described, which state is experienced there that very state takes place in Viṣatattva also.

श्रीकुलगुह्वरतन्त्रे इयमेव वेधदीक्षा मन्त्र नाद बिन्दु शाक्त भुजंग परेति रूपा षोढा वर्णिता।

(Śrī kulaguhvaratantre iyameva vedhadīkṣā mantra nāda bindu śākta bhujaṅga pareti rūpā ṣoḍhā varṇitā)

इयमेव वेधदीक्षा – This vedhadīkṣā, श्रीकुलगुह्वरतन्त्रे – in

Kulaguhvaratantra. षोढावर्णिता – is described to the six-fold; namely मन्त्र, नाद, बिन्दु, शाक्त, भुजंग and परा।

मन्त्रवेधं तु नादाख्यं बिन्दुवेधमतः परम्।
शाक्तं भुजङ्गवेधं तु परं षष्ठमुदाहृतम्।।

(Mantravedham tu nādākhyam binduvedhamataḥ param śāktam bhujaṅga vedham tu param ṣaṣṭhamudāhṛtam)

This Vedhadīkṣā - penetrating initiation is षष्ठमुदाहृतं - said to be six-fold मन्त्रवेधतुं - mantravedha is first, नादाख्यं - nāda vedha is second अतः परं - after that बिन्दुवेधं - Bindu vedha is third, शाक्तं - Śākta vedha is fourth, भुजंगवेध - Bhujaṅga Vedha is fifth and the sixth is पर - Supreme Vedha. All these six-fold penetrating initiations revealed in the 'Kulaguhvara Tantra', take place in Prāṇa Kuṇḍalinī and each reflect a different experience in the rise of Prāṇa. Kuṇḍalinī. The varieties of penetrating initiations come to the aspirant depending on his desires and longings.

वेध दीक्षा षट्कस्य स्वरूपमधस्तान्निर्दिश्यते–
मूलाधार चक्रादुत्थिता पूर्णाहन्तात्मकमन्त्रस्वरूपा
प्राणकुण्डलिनी पूर्णाहन्ता बलात् समस्तानि चक्राणि
वेधयन्ती आदिमा मन्त्रवेधदीक्षेति कथ्यते।

(Vedhadīkṣā ṣaṭkasya svarūpamadhastānnirdiśyate - mūlādhāra cakrādutthitā pūrṇāhantātmaka mantra svarūpā prāṇa-kuṇḍalinī pūrnā hantābalāt samastāni cakrāṇi vedhayantī ādhimā mantravedha dīkṣeti kathyate.)

वेधदीक्षा षट्कस्य स्वरूपमधस्तात् निर्दिश्यते - These six ways of

penetration of Kuṇḍalini will be explaind as follows :-

मूलाधारचक्रात् उत्थिता - When from Mūlādhāra cakra this Kuṇḍalinī rises, पूर्णाहन्तात्मक मन्त्रस्वरूपा - it takes the formation of मन्त्र such as अहं, सोऽहं, शिव, ॐ, all these mantras प्राणकुण्डलिनी पूर्णाहन्ता बलात् समस्तानि चक्राणि वेधयन्ती - By the power of पूर्णाहन्ता, Prāṇa Kuṇḍalinī penetrates all the cakaras by and by from down to upwards. आदिमा मन्त्रदीक्षेति कथ्यते - this is nominated as Mantravedha dīkṣā the first piercing.

Thus Mantravedha is the first piercing where the yogi hears the sound of mantra. This kind of piercing takes place when the yogi intensely desires and longs for the recognition of Supreme I- Consciousness. In this case when Prāṇa-kuṇḍalinī rises, it takes the form of mantra and the yogi hears a mantra such as Om, Śiva, aham or So ham. At the same time, he feels I am this Kuṇḍalinī - I am one with the Kuṇḍalinī. This is called mantra. His breath becomes full of bliss and this breath penetrates all the cakras. This kind of penetration is called mantra-vedha.

मध्योर्ध्ववाहक्रमेण च प्रोच्छलन्ती नादाकारा सा द्वितीया नादवेधदीक्षेति कथ्यते।

(Madhyordhva vāha krameṇa ca procchalanī nādākārā sā dvitīyā nādavedha dīkṣeti kathyate)

'Nādavedha' is called second type of piercing. This piercing occurs when the yogi desires to uplift people.

Here, when the breath touches मूलाधार चक्र it takes the formation of drum sound.

वीर्यस्वरूपा सा प्राणकुण्डलिनी समस्तं चक्रवर्गं वेधयन्ती तृतीया बिन्दुवेध दीक्षेति नाम्ना व्यपदिश्यते।

(Vīryasvarūpā sā Prāṇakuṇḍalinī samastam cakra vargam vedhayantī tṛtīyā binduvedha dīkṣti nāmnā vyapadiśyate)

Third type of piercing is called bindu-vedha. In binduvedha blissful force of breath is transformed into a fountain of semen. The word बिन्दु means वीर्य (Semen.) The yogi feels that it is a fountain of semen which is rising from मूलाचारचक्र to ब्रह्मरन्ध्र and spreading throughout his body. When the Kuṇḍalinī rises in बिन्दु वेध the yogi feels that sexual joy is nothing in comparison to the joy experienced in it.

शक्तिरूपतामापन्ना चक्रवेधनक्रियापरा सा तुर्या शाक्तवेधदीक्षा भवति।

(Śaktirūpatāmāpannā cakravedhanakriyāparā sā turyā śāktavedha-dīkṣā bhavati)

Fourth type of piercing is called Śāktavedhadīkṣā (शाक्तवेधदीक्षा) In this piercing an aspirant experiences the rise from मूलाधारचक्र to ब्रह्मरन्ध्र in the form of an ant because that blissful force of breath is transformed into energy. This is the rise of energy in Kuṇḍalinī. It is called शाक्तवेध because this kind of penetration in Prāṇa Kuṇḍalinī is filled with शक्ति (power).

सर्पाकारतामादधाना चक्रवेधनं च कुर्वाणा व्युत्तिष्ठन्ती भुजङ्गवेधदीक्षा पञ्चमी।

(Sarpākāratāmādadhānā cakra-vedhanam ca kurvāṇā vyuttiṣṭhantī bhujaṅgavedha dīkṣā pañcamī)

भुजंगवेध is fifth type of piercing. In this piercing when प्राणकुण्डलिनी is rising, the yogi feels that सर्पाकारतामादधाना- a serpent is rising and producing a hissing sound. In this case the rise of the blissful force of breath in the from of प्राणकुण्डलिनी takes the form of cobra (भुजंग) and penetrates all these cakras upwards.

पराशक्तिरूपतामाश्रयन्ती समस्तचक्रवेधनशीला सा परवेधदीक्षा षष्ठीति।

(Parāśaktirūpatāmāśrayantī samastacakravedhanaśīlā sā paravedha dīkṣā ṣaṣṭhīti)

परवेधदीक्षा is sixth type of piercing. This is Supreme Vedha. It is experienced by those who are always bent upon finding the Lord and nothing else. They are not interested in this universe they only want to surrender themselves completely to the Lord.

अथ पराकुण्डलिनी स्वरूपं विमृश्यते -

(Atha parākuṇḍalinī svarūpaṃ vimṛśyate)

Now we will touch upon the experience of Supreme (परा) Kuṇḍaliṇī. How parā kuṇḍaliṇī is experienced.

परचितिरूपा विसर्गशक्तिः (Para citirūpā visarga śaktiḥ) the supreme creative energy, is one with Supreme consciousness, यदा अन्तर्भावौन्मुख्यरूपा (Yadā antarbhāvo-unmukhyarūpā) when is directed towards Her internal nature (Svarūpa) अन्तः कोट्यात्मनिस्वरूपे स्वात्मानं चमत्कुर्वाणा (Antaḥ kotyātmani svarūpe svātmānam camatkurvāṇā)

where all movement ends, she there relishes Her true state - the fullness of I-Consciousness completely filled with God-Consciousness. पूर्णाहन्तात्मके पदे इदन्ता-समावेशं तथेदन्तात्मके पदे पूर्णाहन्तायाः समावेशं कुर्वती समाधि व्युत्थान सामरस्यदायिनी क्रममुद्रारूपां जगदानन्दस्वरूपात्मिकां परा-कुण्डलिनी दशां प्रकाशयति। (Pūrṇāhantātmake pade idantāsamāveśam tathedantātmake pade pūrnā-hantāyāḥ samāveśam kurvatī samādhi vyutthāna sāmarasyadāyinīm kramamudrārūpām jagadānanda svarūpātmikām parākuṇḍalinī daśām prakāśayati) Then that I-Consciousness is diluted in इदन्तासमावेशं - Consciousness of this. तथा - and इदन्तात्मके पदे पूर्णाहन्तायाः समावेशं कुर्वती - Consciousness of this is diluted in I Consciousness. समाधि व्युत्थान सामरस्यदायिनी - and it produces oneness of Samādhi and Vyutthāna - internal and external experience what to speak of Her nature, what to speak of this world. They appear to be one with each other. There is not slightest difference also. क्रममुद्रारूपां - This is the state of Kramamudrā. जगदानन्द स्वरूपात्मिकां पराकुण्डलिनी दशां प्रकाशयति - This is the state of Parā kuṇḍalinī. This is the state of Jagad-ānanda.

जगदानन्दस्य लक्षणं श्री तन्त्रालोकेयथा– (Jagadānandasya lakṣaṇam Śrī Tantrāloke yathā) the definition of Jagadānanda is given in Tantrāloka in this way -

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यत् विश्वतः स्फुरत्।
यदनाहतसंवित्ति परमामृत बृंहितम्

(Yatra ko'pi vyavacchedo nāsti yat viśvataḥ sphurat yadanāhata samvitti paramāmṛta bṛmhitam)

यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरूचिवान्।।

(Yatrāsti bhāvanādīnām na mukhyā kāpi saṅgatiḥ
tadeva jagadānandamasmabhyam śambhurūcivān)

T.A. vs. -51-52

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति - Where there is no destruction or where there is no absence of bliss, यत् विश्वतः स्फुरत् - Where bliss is found shining from all sides, यदनाहत संवित्ति परमामृत बृंहितं - Where it is universally strengthened by the Supreme I-Consciousness of God, यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः - Where the six limbs of yoga - bhāvanā, dhāranā, dhyāna, pratyāhāra, yoga, and samādhi - are no longer used or required, तदेव जगदानन्दं अस्मभ्यं शम्भुरूचिवान् - that state is Jagad-ānanda. Abhinavagupta says that his master Śambhunātha had described all this about Jagadānanda to him.

अत्रापि स्वानुभवानुसारं मया किंचित् लिख्यते - (Atrāpi svānubhavānusāram mayā kiñcit likhate). Now according to my own experience, I want to tell you something more about this.

तीव्रशक्तिपातभाजनस्य शिवयोगिनः प्राणा यदा सौषुम्ने मार्गे समाविशन्ति, तदातस्य प्राणशक्तिर्मध्योर्ध्ववाहक्रमेण षट्चक्रवेधनक्रममस्पृष्ट्वैव ब्रह्मरन्ध्रस्थानं आसाद्य चिदानन्दस्वरूपा भवति।

(Tivraśaktipātabhājanasya śivayoginaḥ praṇāḥ yadā souṣumne
mārge samāviśanti, tadā tasyaprāṇaśaktirmadhyor-

dhvavāhakrameṇa ṣaṭcakra vedhana kramam aspṛṣṭvaiva brahmarandhrasthānam āsādya cidānandasvarūpā bhavati)

When a Śiva yogi has become worthy of the Supreme grace (तीव्रशक्तिपात) of Lord Śiva and when his प्राणशक्तिः (energy of breath) समाविशति - enters सौषुम्ने मार्गे - in the pathway of the central channel, षट्चक्रवेधन क्रमं अस्पृष्ट्वैव - it does not touch the six cakras that are found there, मध्योर्ध्ववाहक्रमेण ब्रह्मरन्ध्रस्थानं आसाद्य - rather it rises without the interruption of these six cakras, just like fountain rising up to the thousand spoked cakra, चिदानन्दस्वरूपा भवति - and there it is filled with the bliss of God Consciousness. इत्थं तस्य योगिनः क्रममुद्रायां समावेशो जायते (Ittham tasya yoginaḥ kramamudrāyām samāveśo jāyate) thus this yogi experiences the state of Krama mudrā in and out. क्रमसूत्रेषु उक्तं (Kramasūtreṣu uktam) In Krama Sūtra it is said, क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखसमाविष्टो भवति साधकः (Kramamudrayā antaḥsvarūpayā bahir-mukha samāviṣṭo bhavati sādhakaḥ) In the Krama-mudrā a yogi first enters in the introverted state and enters into the outer external cycle of Consciousness. तत्रादौ बाह्यादन्तः प्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते (Tatrādau bāhyādantaḥ praveśaḥ ābhyantarāt bāhyasvarūpe praveśaḥ āveśavaśāt jāyate) तत्रादौ बाह्यादन्तः प्रवेशः - first from outside he goes in. आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेश आवेशवशात् जायते - from inside he goes outside, and this movement of going in and out takes the position by the strength of समावेश (absorption) and not by the effort of yogi. इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः (Iti sabāhyā-

bhyantaro'ayaṃ mudrākramaḥ) This is the state of going out and inside and then from inside to outside just to get this understanding that inside and outside are not different aspects but one, that is Kramamudrā. किञ्च ईदृशीं समावेशदशामनुभवन् समावेश चमत्कृति बलादेव व्युत्थानेऽपि समस्तं भावजातं चिद् गगने लीयमानं पश्यन् योगी यदा किंचित् व्युत्तिष्ठति, तदा तस्य सर्वाणि इन्द्रियानि प्राणापान सहितानि क्षणं प्रादुर्भूय स्वात्मन्येव लीयन्ते (Kiñca īdṛśīm samāveśadaśāmanubhavan samāveśa camatkṛti balā-deva vyutthāne'api samastam bhāvajātam cidgagane līyamānam paśyan yogī yadā kiñcit vyuttiṣṭhati tadā tasya sarvāṇi indriyāni prāṇāpāna sahitāni kṣṇam prādurbhūya svātmanyeva līyante) किञ्च - One more point, ईदृशीं समावेशदशामनुभवन् - the one who experiences this state of samāveśa (absorption) of Krama mudrā, व्युत्थानेऽपि समस्तं भावजातं चिद् गगने लीयमानं पश्यन् योगी यदा किञ्चित् किञ्चित् व्युत्तिष्ठति - experiences this whole universe melting into nothingness in the great sky of God Consciousness (चिद् गगन) तदातस्य सर्वाणि इन्द्रियाणि प्राणापान सहितानि क्षणं प्रादुर्भूय स्वात्मन्येव लीयन्ते - Although he opens his eyes and perceives that everything is melting into that state. Yet when he tries to come out of that state, it becomes very difficult for him. because the intensity of God-Consciousness does not let him come out. Then for a moment (क्षणं) प्रादुर्भूय - he rises up स्वात्मन्येव लीयन्ते - and after that he again filled with intoxication rests inside. This happens again and again and this is called Kramamudrā.

इत्थं स हिण्डोल लीलावत् उभयतः प्रसरन्तीं अन्तर्बहिः

समावेशात्मिकां दशामनुभवन्नेव पराकुण्डलिनीधाम प्रविशति

(Itham sa hiṇḍola līlāvat ubhayataḥ prasarantīm antarbahiḥ samāveśātmikām daśāmanubhavanneva parākuṇḍalinī dhāma praviśati)

It is just like the actions of a swing, swinging back and forth, one moment he comes out and in the next moment he rests in his own nature.

येन अस्य ऊर्ध्व कुण्डलिनीरूपायां क्रियाशक्तौ समावेशो जायते

(Yena asya ūrdhva kuṇḍalinīrūpāyām kriyāśaktau samāveśo jāyate)

By this process of Krama mudrā, he experiences the state of समावेश of Supreme Kuṇḍalinī. यद्वशात् कौलयोगी अपि सिद्धयोगिनी संघट्टवेलायां निरञ्जन पदभाग् भवति (Yad vaśāt Koulayogī api siddha yoginī saṅghaṭṭa velāyām nirañjanapada bhāga bhavati) By that or by this समावेश the yogi of the kula system enters that state which is spotless, pure and Nirañjana (without blemish). Nirañjana - there are three states the first is Kāma tattva, the second is viṣatattva and the third is nirañjana tattva. Kāmatattva is in desire, in energy of will. Viṣatattva is in energy of knowledge and Nirañjana is where there is no fear of death, no fear of going down. That is the pathway in Kriyā Śakti. "उक्तंहि-क्रियादेवी निरञ्जनम्". It is said that when you find out God in action that is निरञ्जन।

एवं कामकला रहस्याभिप्रायेण

(Evam Kāmakalā rahasyābhiprāyeṇa)

So according to the statement of Kamakalā,

कामतत्त्वं इच्छाशक्तौ, विषतत्त्वं ज्ञानशक्तौ,
निरञ्जनतत्त्वं च क्रियाशक्तौ अन्तर्भवन्ति।

(Kāmatattvam icchā śaktau, viṣatattvam jñāna śaktau, nirañjanatattvam ca kriyāśaktau antarbhavanti)

Kāmatattva will go in the energy of will, Viṣa tattva resides in the energy of knowledge, and Nirañjana tattva resides in the energy of action. When these three states are united with each other that is the state of भैरव।

तथा इच्छाशक्तिः शक्तिकुण्डलिनीति, ज्ञानशक्तिः प्राणकुण्डलिनीति, क्रियाशक्तिः पराकुण्डलिनीति च तत्र तत्र शिवागमेषु व्यपदिश्यते।

(Tathā icchā śaktiḥ śaktikuṇḍalinīti, jñāna śaktiḥ prāṇa kuṇḍalinīti, kriyā śaktiḥ parākuṇḍalinīti ca tatra tatra Śivāgameṣu vyapadiśyate)

तथा - in the sameway शिवागमेषु - The divine scriptures of Śaivism. व्यपदिश्यते - explain that the इच्छाशक्तिः - the energy of will is शक्ति कुण्डलिनी (Śakti kuṇḍalinī). the energy of knowledge is ज्ञानशक्तिः (Jñāna Śaktiḥ) is Praṇa Kuṇḍalinī and the energy of action - क्रियाशक्तिः (Kriyā Śaktiḥ) is Parā Kuṇḍalinī.

BOOKS PUBLISHED BY ISHWAR ASHRAM TRUST

FOUNDED BY SHRI. ISHWAR SWAROOP SWAMI LAKSHMANJOO MAHARAJ

Author Swami Lakshmanjoo

ENGLISH

- Lectures on Practice and Discipline in Kashmir Shaivism
- Kashmir Shaivism (The Secret Supreme)
- Siva Sutras
- Self Realization in Kashmir Shaivism
- Sri Vatulanatha Sutrani
- Kundalini Vijnana Rahaysam
- Abhinavagupta's Bodhapancadashika (with 1 Audio CD)
- Bhagavadgita Abhinavagupta's Sangraha Shlokas (with 1 Audio CD)
- Kshemaraja's Parapraveshika (with 2 Audio CDS)

HINDI/SANSKRIT

- Abhinavagupta's Srimad Bhagvadgita (Sanskrit)
- Samba Pancashika
- Pancastavi with Hindi translation
- Kramanayapradipika
- Shivastotravali
- Snan Sandyopasana Vidhi with Gurugita manuscript in Sanskrit
- Stuti Candrika
- Amriteshwar Bhairav Mahimnastotram
- Kashmir Shaiva Darshan
- Yam & Niyam (Sanskrit/Hindi)
- Trik Shastra Rahasya Prakriya (manuscript with Hindi translation)
- Tantraloka (First Ahnika) manuscript with Hindi translation

SRI KUNDALINI SAKTHI – SERPENT POWER

AS PER VEDIC TEXT AND NOT THANTHRIC

by

Late Y. SUBBARAYA SHARMA

SRI GANAPATI SACHCHIDANANDA
AVADHOOTA DATTA PEETHAM

Sri Ganapathi Sachchidananda Ashram
Mysore-570 004

Y.Subbaraya Sharma

SRI KUNDALINI SAKTHI – SERPENT POWER
– by Sri Y. Subbaraya Sharma.
Published by :
Sri Ganapati Sachchidananda Avadhoota Datta Peetham,
Sri Ganapati Sachchidananda Ashram,
Nanjangud Road, Mysore 570 004

March 1992
1,000 Copies

Printed at :
Sri Nithyananda Compugraphics
Bangalore 560 050, Phone: 626027

THIS BOOK IS DEDICATED TO

SRI JAYALAKSHMI MAATA

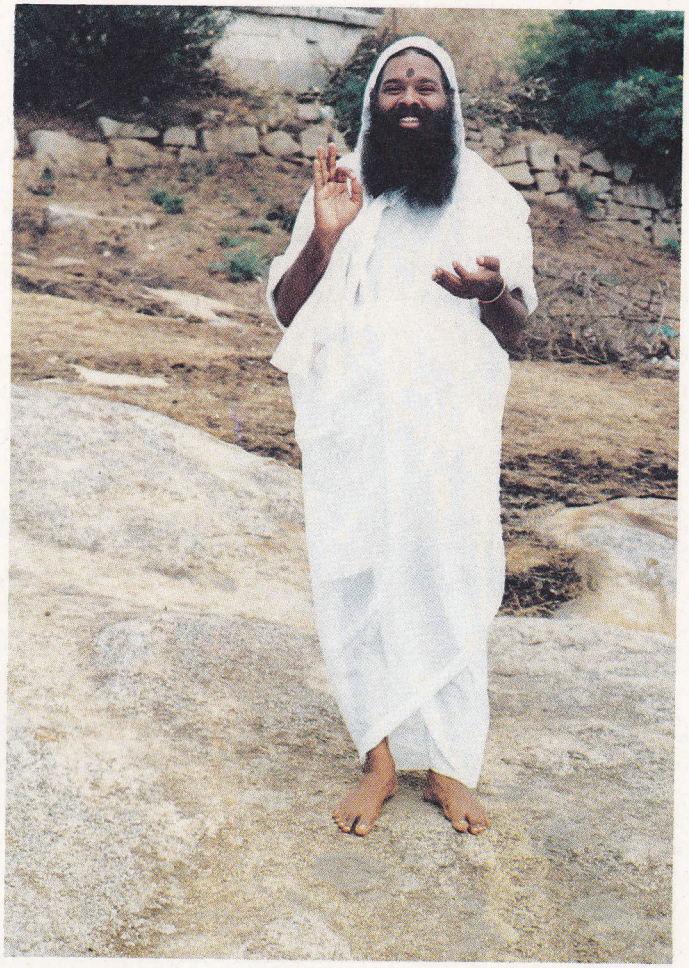

SRI GANAPATHI SACHCHIDANANDA SWAMIJI

FOREWORD

Late Shriman Yadatore Subbaraya Sharma, by the grace and inspiration of the Divine Mother, has authored many Books in Kannada, very popular being *Srimad Ramayana Antarartha, Sandhyavandana Tatwartha and Sri Lalitha Sahasranama.* These books are Treasure Island of spiritual wisdom and thought provoking works. In view of their intrinsic worth and of large number of admirers of these books, the English versions have also been printed. These works bring out the ancient wisdom of our great culture, which has no barrier of time.

Sri Subbaraya Sharma, who died in November 1974, lived till the ripe age of 96 with all physical and mental faculties amazingly intact till the last breath. He had received, to his house, Parama Poojya Sri Ganapathi Sachchidananda Swamiji on two occasions and had sought blessings of His Holiness.

Copies of the above books are not available. Parama Poojya Sri Swamiji has graciously agreed to have these books reprinted in phases.

The present edition of 'SRI KUNDALINI SAKTHI – SERPENT POWER' is being brought out, with the benign blessings of Parama Poojya Sri Swamiji so that this rare book becomes available again to number of aspirant seekers.

Sri Ganapathi Sachchidananda Ashrama,
Nanjangud Road, Datta Nagar,
MYSORE 570 004.

Sri Ganapathi Sachchidananda
Avadhoota Datta Peetha Trust

February 13, 1992.

CONTENTS

1. Creation 3
2. Cosmic Existence—
   Comparison Between Shatchakras of Human Body and
   Six Main Centres of Cosmos 7
3. Introduction to Rajayoga and Srividyopasana 28
4. Necessary Qualifications 39
5. Yogatharavali by Sri Shankaracharya 41
6. Arousing of Sri Kundalini and
   Sakthi Chalana Pranayama 55
7. The Work of Sri Kundalini
   in Meditation and Realisation 85
8. The Work of Sri Kundalini
   in Dissolution and Involution of Cosmos 100

ILLUSTRATIONS

1. Sketch of Cosmos 6
2. Sketch of Human Body 22
3. Chart 22
4. Sketch of Temple 64
5. Sketch of Lotus Flower Plant 79
6. Sketch of Human Vertabrae 81

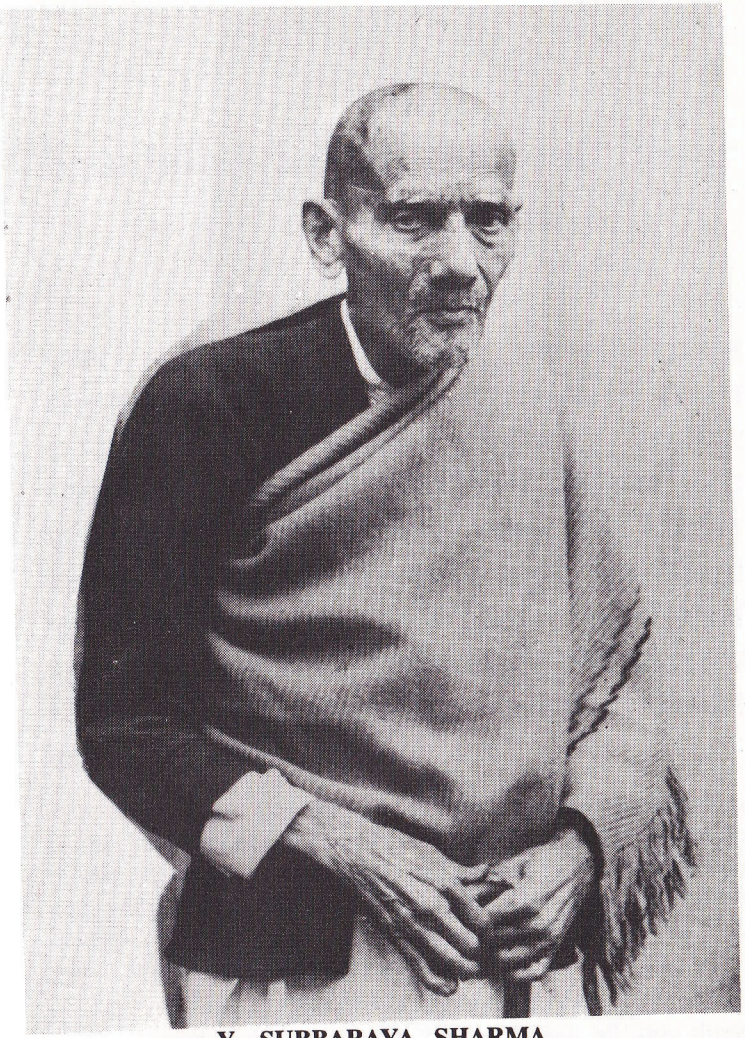

Y. SUBBARAYA SHARMA

Sri
Kundalini Sakthi–Serpent Power

(As per Vedic Text and Not Thanthric)

॥ मङ्गलाशासनम् ॥

पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरिव भासयन्ती देशकाल वस्त्वन्तरासंगान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक्चितीः। सैवात्मा ततोन्यदसत्यमनात्मा। अतएषा ब्रह्मसंवित्तिः। भावभाव कलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीय ब्रह्मसंवित्तिः। सच्चिदानन्द लहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरमनुप्रविश्य स्वयमे कैव विभाति। यदस्तिसन्मात्रं यद्विभातिचिन्मात्रं यत्प्रिय मानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वञ्चाहञ्च सर्वं विस्वं सर्वदेवतेतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्वमेतं ललिताख्यं वस्तुतदद्वितीयं, अखण्डार्थं परं ब्रह्म पञ्चरूप परित्यागादस्वरूप प्रहाणतः। अधिष्ठानं परन्तत्वमेकं सच्छिष्यते महदिति।

The above passage quoted from the scripture Rigveda forms the quintessence of 'Srividya' the Mother principle of the Universe and clearly propounds the all pervading and monistic nature of Transcendental energy (Para Sakthi) as the one ultimate constituent essence of this whole Universe in manifestation.

It runs thus:–The Transcendental Energy as the ever shining spirit field of potentiality pervades all the three planes–physical, psychic and spiritual, all the three bodies gross, subtle and causal in both the subject and the object

existing in the 'Time-Space' four dimensional continuum. That alone is the ultimate Reality. All other forms are transient and unreal. This understanding alone constitutes the True knowledge. Transcending all dualities and sense perceptions, this spiritual Reality self illumines as the one ultimate truth, the one without the second. This Transcendental Energy alone self illumines as the all-pervading ocean of "Sath-Chith-Ananda" in its three aspects of existence-consciousness-Bliss absolute both in the subject as well as in the object, in the Microcosm as well as in the Macrocosm. All that we perceive through senses physically in the form of worldly objects, all that we grasp mentally in the form of thoughts and ideas and all that we feel emotionally as joys and sorrows, all that in all the forms–you, I, all the rest of the universe and all Gods and everything else is only the Transcendental Energy (Para Sakthi) the Mother Principle of the Universe. This subtlest form alone remains finally as one Supreme Mother of the Universe, as one Transcendental reality. Though it is the root and the base, the potential field for all existence in its diverse manifestations, remains pure and untouched in its essence. It is both manifest and unmanifest, the universe of form and the formless Supreme (Sakara and Nirakara, Saguna and Nirguna) blend in one and that final rests and remains as *Mahath "Thath"* which manifests as the created universe and stands on its eight-fold base of five primary elements (Pancha Bhutas), mind (Manas), discriminating faculty (Buddhi) and Ego-principle (Ahankara) and that which remains apart as *Mahath* is one and the same *Transcendental Energy*. At the time of dissolution the evolutes merge back from the gross to the subtler forms and finally to Mahath in the same order as they evolved and remain as *Mahath* alone (Spirit potential).

This knowledge is the essential core of Sri Vidya.

CREATION

The Supreme Being (Parabrahma) is expressed as THATH, according to Upanishaths 'Thathbrahma', 'THATH' consists of one full letter 'THA' and one half letter 'TH'. Both full letter and half letter combine in order to form 'THATH'. The full letter represents SATH-CHITH-ANANDA. The half letter is the seed-power of Universe, which evolves as the Universe and returns by involution to seed-power. In the process of evolution the seed-power will not dissociate from its course, just as the flowing river maintains the link with its source of origin.

Like THATH, 'OM' is also the Supreme Being as per Thaithireeyopanishath: 'Om Ithyekaksharam Brahma'. Om contains 3 letters A.U.M. and Anuswara or Bindu (point). As the half letter TH in THATH represents the seed-power of Universe, the (Anuswara) Bindu in Om represents the seed power of Universe. The smallest point is Bindu and the biggest Universe is also Bindu and that is why the Universe is in the shape of an egg.

There are 50 letters in the Sanskrit alphabet. The first letter is A. This A combined with Bindu (Anuswara) is called as 'AM' and A combined with visarga 'HA' is called 'AHA'. 'AM' represents gnyana Sakthi and also involution. AHA represents Kriya Sakthi and also evolution. The combination of AHA and AM represents 'AHAM' (Pure I) At the time of creation the Supreme seed Power Parasakthi (Parabrahma Sakti) evolutes and bursts out in the form of AHA, extending AHA into Ha, Ha, Ha, Ha, as to form finer vibration and spreads like a serpent's crawl. As far as the spreading goes it will be called Universal space. When

Kriya Sakthi has commenced its spreading, the Gnyana Sakthi AM also follows it and at the end they combine together and form AHAM (pure blissful I). This is known as Kala stage and Iswara and Iswari stage.

An example is given here for AM and AHA. If one has to pronounce AM the lips have to be closed and the action of the body is suspended. The same process will be done in the meditation by reciting Omkara syllable sound as it represents involution. One cannot pronounce 'AHA' closing his lips, to pronounce 'AHA' lips must be opened. This is for some action. That AHA means creative action as explained above is further evidenced by Bhagavadgeetha VIII, 2.

भूत भावोद्भवकरो
विसर्गः कर्म सञ्ज्ञितः ।

The seed power of Parasakthi splits into three Gunas: Sathva, Rajas, Thamas. A small portion of Sathva guna will be mingled with Rajas and Thamas and this portion is called malina sathvaguna (mixed sathva). The major portion of sathvaguna remaining in its original state is called Suddha Sathva pradhana maya. In this sathvapradhana maya the Supreme consciousness reflects as Chaithanya and is called Iswara, Suddha Sathva maya as Iswari. Iswara and Iswari are called Lord of the Universe, because they are in command of creation, existence and dissolution, as well as command of the three gunas malina Sathva, rajas and thamas. Parasakthi, after evolving from the Supreme is also known as Moolaprakrithi and after division Suddha Sathva prakrithi (pradhana) or Iswari. Rajas and Thamoguna combined are called Malinapradhana Prakrithi.

Process of Creation

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी । पृथव्या ओषद्यः । औशधिभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुषः

(Thaitheeria Upanishat)

Meaning : From the Absolute (seed power parasakti) space (ether) is created, from ether air, from air heat (fire) from fire water, from water earth is created. From earth plants (herbs) are created, from food the physical body is created. Thus from Parasakthi the five elements, food, and bodies are created, while the above ether is the Kala stage of Iswara and Iswari.

Om-Kara contains Kala, Nada, Bindu. In the Om-Kara sound since the finest vibration is Kala; Kala produces Nada, Nada produces Bindu. This means that in Nada stage air and heat are created, in Bindu stage water and earth are created. So from Omkara Kala, Nada, Bindu and five elements are created.

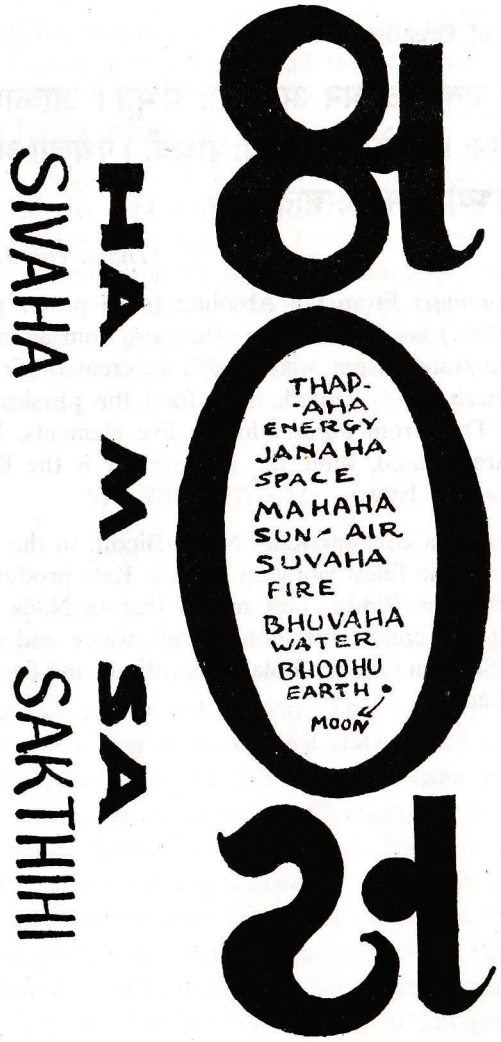

COSMIC EXISTENCE

हंस हंसाय विद्महे परमहंसाय धीमहि।
तन्नो हंसः प्रचोदयात्।

(Yajuryeda Mahanyasa)

The diagram 'HAMSA' (see diagram) is intended to convey the essence of the Universe as it presents itself during existence. 'HA' is equivalent with Lord, Siva, 'SA' is equivalent with Sakthi. The Anuswara or Bindu (egg shape) connecting HA and SA is the Universe. This Universe was as a Bindu (in minutest form of energy) in the Omkara (Supreme Being) as a seed power of the Universe. That seed power (Bindu) evolved as Universe. By involution the Universe again becomes the seed power. HA Siva (Iswara) at the top of diagram is regarded as male. SA Sakthi (Iswari) at the bottom is regarded as female. The egg shaped Universe is held between Iswara and Iswari in equilibrium. It carries the energy contained in 'HA' and 'SA'. The upward pull of 'HA' and downward pull of 'SA', which means the male principle attracting the female principles and the female principles attracting the male lead to procreation. As parents look after their progeny, Siva and Sakthi uphold the Universe created by them and protect it, as long as it exists, by their mutual attraction. The upward pull of 'HA' and downward pull of 'SA,' by meeting one another, keeps the Sun, Moon, other Planets, Stars and earth moving in their orbits.

The following quotations confirm the above ideas:

Sri Shankaracharya's Thrisathy Bhashya

"हकारस्य आकाश बीजस्य अर्था, अर्धस्वरूप चैतन्य आकाश विग्रहेत्यर्थः"

meaning 'HA' represents Iswara Chaithanya, Upanishath says

"हका रश्शिवः।"

HA Sivaha. Nrisimha Thapini Upanishath and Pasupatha Brahmopanishath say

हंसस्तु परमेश्वरः, परमात्म स्वरूपो हंसः, हंस प्रणक्यो रभेदः।

Hamsa itself is Supreme. No difference between Om and Hamsa. Sri Sankaracharya in Thrisati Bhasya

बिंदुः सर्वं प्रकृति भूतशब्दार्थात्मकतया"

Bindu is the Universe containing all the energies. Seethopanishath says

"सकारस्सत्यममृतं, ससर्पः"

'SA' represents Iswari Sakthi, Serpent. Be it added that 'SA' or Iswari Sakthi is identical with Kundalini Sakthi (Serpent power).

The outer circumference of the cosmos consists of the twelve constellations which are distributed among Sun, Moon, Mars, Mercury, Jupiter, Venus and Saturn. The 27 stars commencing with Asvini are the foundation of these constellations. (A picture of the Stars holding the Universe by their triangular force (*Moolathrikona Sakthi*) is given here). The planets move along the orbits of these Stars and partake

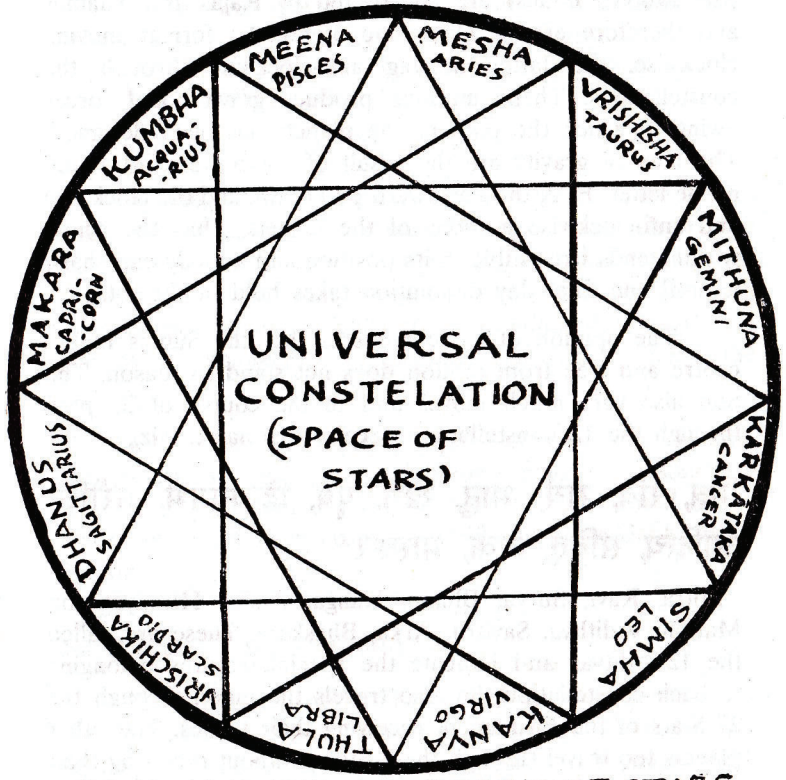

THE TRIANGULAR FORCE OF STARS
[MOOLATHRIKONA SAKTHI]
IS HOLDING THE UNIVERSE

of the elements of the Saptha Mathrukas (7 mothers, viz., Brahmi, Mahesvari, Kaumari, Vaishnavi, Varahi, Indrani, Chamunda) as parts of Parasakthi. These planets, being of divine origin, are of pure Sathvic quality, Rahu and Kethu

(the Moon's nodes) are constituted by Rajas and Thamas and therefore are of Demoniac origin, the former moving clockwise, the latter moving anti-clockwise through the constellations. These motions produce gravitational forces owing to which the path of the planets has been designed. The laws of gravity are the result of the upward attraction of the letter 'HA', the downward pull of SA and the clockwise and anti-clockwise motions of the planets. Thus the whole world stands irresistible in its position and nobody can shake it until one final day dissolution takes hold of the lot.

The opinion of some *moderns* that the Sun is in the centre and free from motion does not stand to reason. The Sun also very much moves and in the course of its path through the 12 constellations receives 12 names viz.,

मित्र, रवि, सूर्य, भानु, खग, पूष, हिरण्यगर्भ, मरीचि, आदित्य, सवितृ, अर्क, भास्कर

Mitra, Ravi, Surya, Bhanu, Khaga, Pusha, Hiranyagarbha, Marichi, Adithya, Savitru, Arka, Bhaskara. These are called the 12 Adityas and indicate the special features belonging to each constellation. So also travels the moon through the 27 Stars of the Firmament receiving their names. The other planets too travel through these Stars, without receiving their names. Since the Moon alone receives the names of these Stars, it is called the King (husband) of the Stars. Sun, Moon and Stars are not inert bodies but beings full of life. All this is due to Vedic authority; so no doubt is permissible.*

*All the facts explained from the beginning of this chapter are explained in greater detail in the book *Sri Gayathri Mahima–Jyothisha Shastra. The origin of Astronomy and Astrology* written by the Author.

We are now going to look into the principal divisions or stages as they are grouped around the cosmic centres.

The Upanishat says

Brahmandanchaiva Pindandam

Meaning : Whatever the macrocosm contains, the human body (microcosm) also contains. Therefore a sketch of both of them is given here, noting the cardinal points for comparison. In the macrocosm are six factors, the seventh forming the Supreme. The same in the human body; six main centres (Shatchakras) the seventh (Sahasrara) being the Supreme.

All the essential points of the six centres of macrocosm and microcosm are explained below giving a consolidated statement also; from this comparison of the essential of the macrocosm and microcosm we gather more valuable information.

1st Column of the Statement –

The Supreme power Parasakthi divides herself into seven Mother Powers namely: Brahmee, Maheswaree, Kaumari, Vaishnavee, Varahee, Indranee, Chamunda and pervades the Universe manifesting herself with all the items noted in the statement annexed herein. The following text of Thaithireeya Sruthi confirms the greatness of seven Mother Powers.

सप्त प्राणः प्रभवंतितस्मात्सप्तार्चिषस्समिध सप्त जिह्वाः ।
सप्त इमे लोकायेषु चरन्ति प्राणा गुहाश्रयां निहिता स्सप्त स्सप्त ॥

(the Moon's nodes) are constituted by Rajas and Thamas and therefore are of Demoniac origin, the former moving clockwise, the latter moving anti-clockwise through the constellations. These motions produce gravitational forces owing to which the path of the planets has been designed. The laws of gravity are the result of the upward attraction of the letter 'HA', the downward pull of SA and the clockwise and anti-clockwise motions of the planets. Thus the whole world stands irresistible in its position and nobody can shake it until one final day dissolution takes hold of the lot.

The opinion of some *moderns* that the Sun is in the centre and free from motion does not stand to reason. The Sun also very much moves and in the course of its path through the 12 constellations receives 12 names viz.,

मित्र, रवि, सूर्य, भानु, खग, पूष, हिरण्यगर्भ, मरीचि, आदित्य, सवितृ, अर्क, भास्कर

Mitra, Ravi, Surya, Bhanu, Khaga, Pusha, Hiranyagarbha, Marichi, Adithya, Savitru, Arka, Bhaskara. These are called the 12 Adityas and indicate the special features belonging to each constellation. So also travels the moon through the 27 Stars of the Firmament receiving their names. The other planets too travel through these Stars, without receiving their names. Since the Moon alone receives the names of these Stars, it is called the King (husband) of the Stars. Sun, Moon and Stars are not inert bodies but beings full of life. All this is due to Vedic authority; so no doubt is permissible.*

*All the facts explained from the beginning of this chapter are explained in greater detail in the book *Sri Gayathri Mahima–Jyothisha Shastra. The origin of Astronomy and Astrology* written by the Author.

We are now going to look into the principal divisions or stages as they are grouped around the cosmic centres.

The Upanishat says

Brahmandanchaiva Pindandam

Meaning : Whatever the macrocosm contains, the human body (microcosm) also contains. Therefore a sketch of both of them is given here, noting the cardinal points for comparison. In the macrocosm are six factors, the seventh forming the Supreme. The same in the human body; six main centres (Shatchakras) the seventh (Sahasrara) being the Supreme.

All the essential points of the six centres of macrocosm and microcosm are explained below giving a consolidated statement also; from this comparison of the essential of the macrocosm and microcosm we gather more valuable information.

1st Column of the Statement –

The Supreme power Parasakthi divides herself into seven Mother Powers namely: Brahmee, Maheswaree, Kaumari, Vaishnavee, Varahee, Indranee, Chamunda and pervades the Universe manifesting herself with all the items noted in the statement annexed herein. The following text of Thaithireeya Sruthi confirms the greatness of seven Mother Powers.

सप्त प्राणः प्रभवंतितस्मात्सप्तार्चिषस्समिध सप्त जिह्वाः।
सप्त इमे लोकायेषु चरन्ति प्राणा गुहाश्रयां निहिता स्सप्त स्सप्त ॥

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही चैव चेन्द्राणी चामुण्डास्सप्तमातरः ॥

Purport :– The supreme Parasakthi who is the Supreme being divides herself into the Seven Mother Powers (as noted above) and pervades the whole Universe in the form of Seven Powers.

In the first column of the statement the names of the Saptha Mathrukas (Seven Mother Powers) have been given. The items from the 2nd column to the last column are the manifestations of the Seven Mother Powers which are explained below.

2nd column: Pancha Bhoothas (five elements)

Origin of the five elements is the Supreme (Parabrahma) which is noted against Brahmi Power, the second origin of five elements are Iswara and Iswari noted against Mahesvari, Akasa (Space) is noted against Kaumari, Vayu (air), is noted against Vaishnavi, Agni (fire), Aapha (water), Pruthvi(earth) are manifestations of Varahi, Indrani and Chamunda respectively. In the human body also there are Supreme, Iswara and five elements.

3rd column: Shatchakras or six lotus flowers

There are six Chakras and Sushumna Nadi in the form of energy in the spinal cord of the human body corresponding to five elements explained in the 2nd column. Five elements and Shatchakras indicate the different stages one after another. Sahasrara Kamala is the abode of Iswara and Iswari who reside in blissful Kala state (pure energy state). Visuddha Chakra is the the centre of Akasa (space). Anahata is the

centre of Vayu (air) Manipoora, Swadhishtana and Muladhara are centres of fire, water and earth respectively. The essence of Shatchakras exists also in the Cosmos. One should not be under the impression that these Chakras and the Sushumna Nadi are manifesting in the physical body. As per authority of Upanishad

"स्थानान्येतानि देहेऽस्मिन् शक्तिरूपं प्रकाशते।"

which means all the Chakras and Sushumna Nadi are in the form of energy of the subtle body.

4th column: Jurisdiction of the Seven Mother Powers

Brahmee is the Supreme Power and is all-pervading in the infinite space. Sahasrara Kamala in the brain of the human body corresponding to the place of Supreme Power Brahmee. From Sahasrara she spreads to the end of Muladhara Chakra and so she has got jurisdiction on all the Chakras which means she is all-pervading.

Maheswari is also Supreme Power. She evolves from Supreme Power which is in Sahasrara kamala spreads till the end of Muladhara, comes back to Agnya Chakra and halts there. Her jurisdiction is from Agnya Chakra to the end of Muladhara. She has no jurisdiction from Agnya to Sahasrara.

Kaumaree is also Supreme Power. She evolves from Sahasrara Kamala, spreads to the end of Muladhara and comes back and stays in Visuddha Chakra. Her jurisdiction is from Visuddha Chakra, to the end of Muladhara. She has no jurisdiction from Visuddha Chakra to Sahasrara Kamala.

Vaishnavee is also Supreme Power. She evolves from Sahasrara Kamala, spreads to the end of Muladhara and

comes back and stays in Anahatha Chakra. Her jurisdiction is from Anahatha to the end of Muladhara. She has no jurisdiction from Anahatha to Sahasrara Kamala.

Varahee is also Supreme Power. She evolves from Sahasrara Kamala, spreads to the end of Muladhara and comes back and halts in Manipoora Chakra. Her jurisdiction is from Manipoora to the end of Muladhara. She has no jurisdiction from Manipoora to Sahasrara Kamala.

Indranee is also Supreme Power. She evolves from Sahasrara Kamala, spreads to the end of Muladhara, comes back and stays in Swadhishtana Chakra. Her jurisdiction is from Swadhishtana to the end of Muladhara, but has no jurisdiction from Swadhishtana to Sahasrara Kamala.

Chamunda is also Supreme Power. She evolves from Sahasrara Kamala, spreads to the end of Muladhara and stays there only. Her jurisdiction is Muladhara Chakra only and she has no jurisdiction from Muladhara to Sahasrara Kamala.

The limit of jurisdiction for the six Mother Powers other than Brahmee is intended for the existence and administration of the Universe and of living beings. It is only in the dissolution they all go upwards to be in union with the Supreme. Since all the Seven Mother Powers are combined at Muladhara, Sri Chamundeswari is Virat Swaroopa.

5th Column: Three items which belong to the same Category:

1. Bhoohu, Bhuvaha, Suvaha, Mahaha, Janaha, Thapaha, Sathyam. These are called seven Vyahrathees in Veda. Bhoohu – earth, Bhuvaha – water, Suvaha – fire, Mahaha – Vayu, Janaha – Akasha (ether), Thapaha – Kala (energy),

Sathyam represents the Supreme.

2. Bhooloka – Space of earth, Bhuvarloka – space of water, Suvarloka – space of heat, Maharloka – space of air, Janoloka – space of ether or abode of the Devatha (Gods), Thapoloka – space of Kala (energy) or abode of Iswara and Iswari. Sathyaloka means the infinite space of the Supreme.

3. Bhoohu has five faces, which means the Mother Power who is in the form of earth has got five aspects. The earth is made up of five substances earth, water, heat, air and space. Just like Bhoohu, Bhuvaha – water has four faces, which means water has got four substances water, heat, air and ether. Suvaha has three, fire, air and ether. Mahaha has got two, air and ether. Janaha has only one, ether. Thapaha means Kala or energy. Thapaha has six faces, which means, energy has not only energy space, but also aspects of the five elements.

Sathyam means the Supreme, has all the faces (all the substances).

6th Column: Petals of Sanskrit letters and the Musical tunes that are in Shatchakras (six centres)

(1) Sahasrara Kamala

Unlimited petals of letters in Sahasrara (the Supreme). The musical tune of Shadja (Sa) in the Sahasrara is also Supreme.

(2) Ajna Chakra

Two petals means two letters Ha, Ksha and musical tune Rishabha(Ri) are in Agnya Chakra.

(3) Visuddha Chakra

Sixteen petals, means sixteen vowel letters A, Aa, E,

Eee, Vu, Voo, Ru, Roo, Lu, Loo, Ae, I, Vo, Aow, Am, Aha are in Visuddha Chakra. Musical tune Gandhara (ga) is also there.

(4) Anahatha Chakra

Twelve petals, means twelve letters Ka, Kha, Ga, Gha, Nga, Cha, Chha, ja, jha, Inya, Ta, Tha and the musical tune Madhyama (Ma) are in Anahatha Chakra.

(5) Manipoora Chakra

Ten petals, (ten letters) Th, Thh, Na, Tha, Thha, Da, Dha, Na, Pa, Pha and the musical tune Panchama(pa) are in Manipoora.

(6) Svadhishtana

Six petals (six letters) Ba,Bha,Ma, Ya,Ra,La, and musical tune Dhaivatha(dh) are in Swadhishtana.

(7) Muladhara Chakra

Four petals (four letters) Va,Sya,Sha,Sa, and musical tune Nishadha (Ni) are in Muladhara.

The fifty letters of the sanskrit alphabet distributed over different Chakras express the strength of the six Chakras. Man speaks much, and in many languages. Prior to speech, to whatsoever it may refer, the energy inherent in each letter is generated inside Sushumna Nadi, otherwise there could never be any speech nor could there be any music.

The alphabetical and musical energies explained above pertain to the human body. These alphabetical and musical energies are also in the macrocosm (Universe) in the six centres shown in the diagram of the Universe. As there are no organs of sense and action in the Cosmos, like human body there is no speech in the Cosmos, but there are alphabetical and musical tunal energies in the six centres of

the Universe. Alphabetical and musical energies are the manifestations of Parasakthi, of different Mother Powers that are in Shatchakras and they belong to Omkara. From divine Omkara music and dance Universe will be created and destroyed. Though a dumbman has lost the organ of speech the alphabetical energies will be intact in the Shatchakras of his body, helping the existence of the body with their Mother Powers. Similarly even though there is no speech in the Cosmos the alphabetical energies are helping the planets to operate the Universe in its existence.

7th Column—4 items Division of Omkara

(1)	Omkara OM (Supreme)	:	Sahasrara Kamala
	Makara (M)	:	Agnya Chakra
	Ukara (U)	:	Anahatha
	Akara (A)	:	Muladhara Chakra
(2)	Omkara Sound		
	Sahasrara	:	Kalatheetha stage
	Agnya	:	Kala stage
	Anahatha	:	Nada stage
	Muladhara	:	Bindu stage
(3)	Deities		
	Sahasrara	:	Parabrahman
	Agnya	:	Rudra, Rudragranthi, Laya
	Anahatha	:	Vishnu, Vishnu granthi, Sthithi
	Muladhara	:	Chathurmukha, Brahma granthi, Srishti.

These items apply to the human body and to the Universe.

8th Column – 3 kinds of fire

Sahasrara	:	Chit or Swayamprakash
Agnya	:	Ahavaniyagni
Anahatha	:	Dakshinagni
Muladhara	:	Garhapathyagni

These fires exist in the human body and in the Universe.

9th Column – Two items – planets and the names of the week days

The seven Mother Powers Brahmee, Maheshvaree, Kowmari, Vaishnavee, Varahee, Indranee, Chamunda manifests as 7 planets, Viz., Ravi (Sun), Chandra(Moon), Kuja(Mars), Budha(Mercury), Guru (Jupitor), Sukra(Venus) Sani (Saturn), respectively to operate the Universe under the Chairmanship of Iswara and Iswari. The week days, by their names alone, represent the 7 Mother Powers and the 7 Planets Bhanuvara(Sunday), Somavara(Monday), Mangalavara(Tuesday), Budhavara(Wednesday), Guruvara (Thursday), Sukravara(Friday), Sanivara(Saturday).

10th Column – Panchakosas (5 Sheaths)

Sahasrara kamala–Parabrahman: Koshatheetha (No Sheaths) Agnya Chakra: Anandamaya and Vignyanamaya kosa(Sheaths of bliss and of knowledge).

Vishuddhachakra: Manonmaya kosa (Sheats of duality)

Anahatha Manipoora Chakra: Pranamaya kosa (Sheaths of air and heat).

Svadhishtana and Mooladhara Chakra: Annamayakosa (Sheaths of water and of earth).

These kosas are not in microcosm but only in living

beings to enable them to worldly activity clouded by avidya. Iswara is free from them because he is only Sakti (witness in the world's theater).

15th Column – Sakthi's Speciality

याकिन्यम्बा स्वरूपिण्यै नमः (Yakini)

The meaning of the word Yaka as per the Nighanthu is Vani, Purushottama, Sankarshana and Pralayanthaka. All these pertain to Sri Devi who is in the form of Parabrahma. Vani is Saraswathi or Brahmi. The presiding deity for the thousand petalled Lotus is Brahmi, one of the seven Mothers. This is the meaning of this name of the Divine mother Supreme Parasakthi.

हीकिनीरूपधारिण्यै नमः (Hakini)

The word Hakini means to abandon. The Agnya Chakra is the main spot for Vignyanamayakosa which has abandoned all external transactions and is the place of Iswari which is next to Parabrahma. Hakini also means movements. That means the origin for all transactions is in the Vignyanamayakosa. In other words, creation starts from the spot of Iswari in the form of Agnya Chakra which is so called because it is the origin of all commands issuing therefrom. It indicates the greatness of the Power of knowledge and the path of knowledge from Agnya Chakra to Sahasrara or Parabrahma thathva. The literal meanings of the world Hakini as given in the Nighanthu are Siva, Svarga, Dharana, (Holding) sin-remover and Moon and therefore it is the place of Iswari. The presiding deity of this Agnya Chakra is Maheshwari, one of the seven Mothers. Thus the name here means Goddess in the form of Maheshwari residing in the Agnya Chakra.

डाकिनीश्वर्यै नमः (Dakini)

According to what is stated in the kasi khanda of Brahma Vaivartha Purana the word Dakini means one who goes in a curved path to create fear. The Visuddha Chakra is the akasa Thathva (Ether) and is beyond the senses and the Pranas and is capable of destroying Avidya which consists of the deeds done by the Senses. The presiding deity for this Chakra is Kaumari which also means one who destroys mean enemies. Being in her girlhood, she is the leader of all types of Sakthi which destroy enemies just as Lord Subrahmanya is the chief of the Army of Gods.

राकिण्यम्बा स्वरूपिणयै नमः (Rakini)

Rakini means one who gives happiness. Anahatha Chakra, and is the Wind Thathwa and is the Principal place for the Pranamaya kosa. This name means that she is the Divine Mother who confers Vital comfort and physical strength. She also grants spiritual bliss as the Prana ultimately evolves itself into Pranava or Omkara. The presiding diety of the Anahata Chakra is Sri Vaishnavi and therefore the meditation on the Omkara leads to salvation. This name, thus, means that she is the giver of supreme bliss-physical and spiritual.

लाकिन्यम्बा स्वरूपिणयै नमः (Lakini)

Laki means to absorb. The Manipura Chakra is the Agni (fire) Thathva and therefore gives bodily comfort and light. Also in the act of meditation it absorbs darkness and causes light and nectar drops. The presiding deity for this Manipura is Varahi which also means killer of darkness and the giver of Spiritual stability. Thus this means that she is the Divine Mother who grants Ananda to all her devotees.

काकिनीरूपधारिण्यै नमः (Kaki)

The word Kaki has many meanings. It means, life. Parabrahma, saying one's own name, protecting others, eternal, long lived, free from disease and so on. Sri Kundalini Sakti is just below the Swadhishtana Chakra which is her own. There are 72,000 Nadis and Sri Kundalini is the repository of all these and therefore she is her own. This is the thathva in which one says one's own name. This is the place which is the source for all sound and is called the Bindu Peeta and is based on Scriptural authority. Sri Kundalini is free from all encumbrances: she neither takes birth nor dies. She is both Jeevathma, and Paramathma. She is related both to the Muladhara and Svadhishtana Chakras and therefore she is in the form of Indrani in the Swadhishtana and protects everything in the Universe. This is the meaning of this name.

साकिन्यम्बा स्वरूपिणयै नमः (Sakini)

The meaning of the word Sakini is to join together Sa means serpent and according to the Sabdaugha Kalpadruma it means being together with a serpent, Sri Kundalini in the Muladhara is in the form of a Cobra shining brilliantly. Even the Sruti calls her Nagarupa Mahojjvala. The word Saka means Vishnu, Iswara, Surya and Serpent as stated in Nighanthu (Sanskrit Dictionary). Therefore Sri Kundalini who is none other than Parasakthi is also in the form of a Serpent. That means, the Power of Adisesha in the serpent form holds the Universe in an iron grip by a centrifugal force. In the same manner Sri Kundalini who is the Divine Mother exists in the human body (which she has created) between the Muladhara and Swadhishtana Chakras for the various activities of the body.

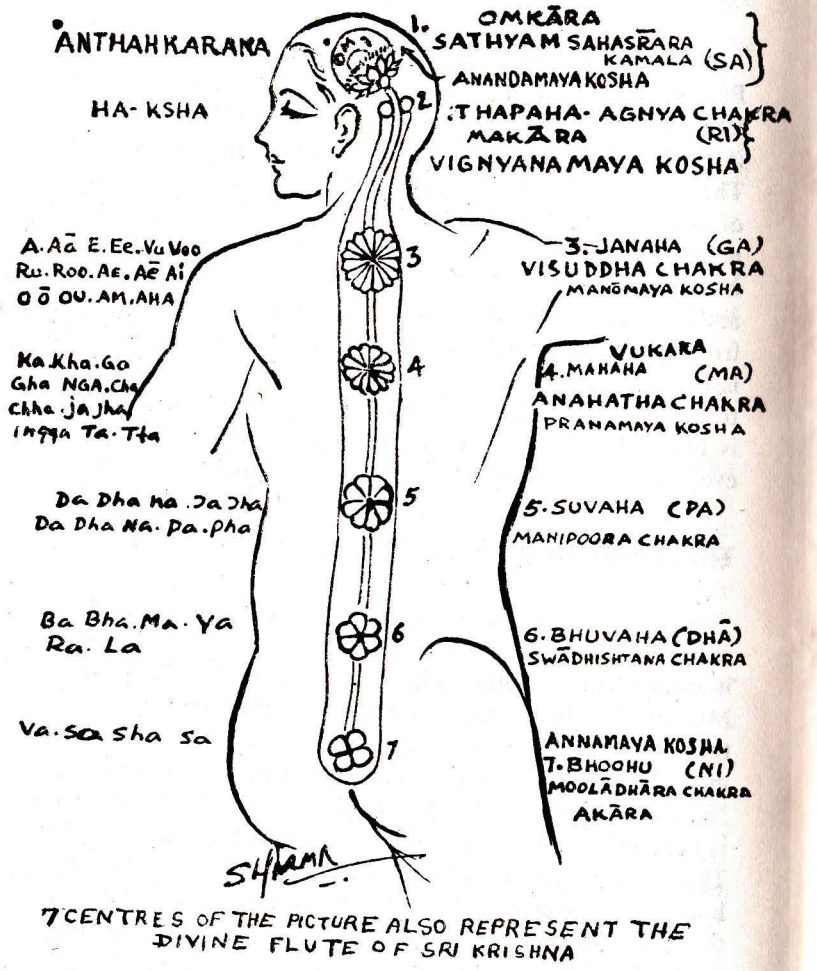

	Saptha Mathruka (Seven Mother Powers)	Pancha Bhuthas (five elements)	Chakras (Padmas)	Limitation and Jurisdiction of seven Mother Powers	Vyahruthis of Veda and Lokas	Face	Petals o
	1	2	3	4	5	6	
1.	**BRAHMI**	Parabrahma	Sahasrara Kamala		Sathyam Sathyaloka	Sarvathomukha	Unlimited innumera
2.	**MAHESWARI**	Sakthi Saktha (Energy)	Agnya		Thapaha Thapoloka	Shanmukha (Engergy and five elements)	2 petals H
3.	**KAUWMARI**	Akasa (Space)	Vishuddha		Janaha Janoloka	Ekamukha (Space)	16 petals Eee, Vu, Roo, Lu, Ayi, Vo, Aha
4.	**VAISHNAVI**	Vayu (Air)	Anahatha		Mahaha Maharloka	Dwimukha (Space and air)	12 petals Ga, Gha, Chha, Ga Inya, Tha,
5.	**VARAHI**	Agni (Fire)	Manipura		Suvaha Suvarloka	Thrimukha (Space air and fire)	10 petals Na, Ta, Th Dha Nna,
6.	**INDRANI**	Jala (Water)	Svadhistana		Bhuvaha Bhuvarloka	Chathurmuka (Space air, fire and water)	6 petals B Ma, Ya, R
7.	**CHAMUNDA**	Bhumi (Earth)	Muladhara		Bhuhu Bhooloka	Panchamuka (Space, air, fire, water and Earth)	4 petals V Sha, Sa

MANIFESTATIONS OF SAPTHAMATRUKAS

(SEVEN MOTHER POWERS)

Face	Petals of Alphabet	Musical Tunes	Division of mkara	Ruler	Divisions of Fire	Planets and Week days	Pancha Kosas (Five sheaths)	Places of the chakras in the spinal cord	Division of Omkara Sound	Vahana (Vehicle)	Varnas (Colours)	Energy's Speciality	Bodily Elemen
6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19
homukha	Unlimited and innumerable petals	Shadja	Omkara	Para-brahma	Chith or Swayam prakasa	Ravi (Sun) Sunday	Kosathitha (without sheaths)	Brain Lotus	Nissabda or Kalatheetha	Hamsa (Bird)	Sarvavarna (All colours)	Yakini	Shukla (Semen)
nukha gy and ements)	2 petals Ha, Ksha	Rishabha	Makara Laya, Moksha	Rudra (Rudra Granthi)	Ahavaniyagni	Chandra (Moon) Monday	Anandamaya kosa and Vignanamaya kosa	Between eye-brows	Plutha or Thara (Kala)	Vrishabha (Bull)	Shuklavarna (White)	Hakini	Majja
ukha e)	16 petals A, Aa, E, Eee, Vu, Voo, Ru, Roo, Lu, Loo, Ea, Ayi, Vo, Aow, Am, Aha	Gandhara	–	–	–	Kuja (Mars) Tuesday	Manomayakosa	Neck	–	Mayura (Peacock)	Aarraktha Varna (light Red)	Dakini	Thwak (Skin)
ukha e and air)	12 petals Ka, Kha, Ga, Gha, Hgn, Cha, Chha, Ga, Gha, Inya, Tha, Ttha	Madhyama	Ukara Sthithi Protection	Vishnu (Vishnu granthi)	Dakshinagni	Budha (Mercury) Thursday	Pranamayakosa	Chest	Deerga or Madhyama (Nada)	Garuda or Hanumantha	Shayama-varna (Blue)	Rakini	Rudhira (Blood)
ukha e air and	10 petals Th, Tha, Na, Ta, Tha, Da, Dha Nna, Pa, Pha	Panchama	–	–	–	Guru (Jupitor) Thursday	do	Navel	–	Mesha (Goat)	Raktha varna (Red)	Lakini	Mamsa (Flesh)
urmuka e air, fire ater)	6 petals Ba, Bha, Ma, Ya, Ra, La	Dhaivatha	–	–	–	Sukra (Venus) Friday	Annamayakosa	Waist	–	Gaja (Elephant)	Peethavarna (Yellow)	Kakini	Medhas
amuka , air, ater and	4 petals Va, Sya, Sha, Sa	Nishada	Akara Srihasti Creation	Chathur mukha Brahma (Brahma granthi)	Garhapa-thyagni	Shani (Saturn) Saturday	do	Below spinal cord	Hraswa or Mandra (Bindu)	Simha (Lion)	Sindura varna	Sakini	Asthi (Bone)

Besides, Sri Chamundeswari is the presiding deity of the Muladhara Chakra and her incarnation is the comprehensive form of Sri Devi (Virat Svaroopa). Sri Kundalini creates the body and sustaining it, exists in the Muladhara in a comprehensive Universal form. She favours the realm of realisation by dispelling all ignorance. Therefore it is Sri Kundalini who is the Divine Mother with the name Sakini.

Almost all the items of the statement are in accordance of Sri Vyasa Maharshi's Sri Lalitha Sahasranama in Brahmanda Purana.

Sri Shankaracharya's quotation in stanza 35 of Soundaryalahari given below confirms all the explanations given above about seven Mother Powers.

मनस्त्वं व्योम त्वं मरूदसि मरूत्सारथि रसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयिं परिणताथां नहिपरं ।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुँ विश्ववपुषा
चिदानंदाकारं शिव युवति भावेन बिभृषे ॥

Purport :– O, Supreme Parasakthi, you are energy (Kala) You are space, you are air, you are fire, you are water, you are earth. When you are yourself all these, you are yourself the Universe. There is nothing other than you. You are also sustaining the Universe by your grip which means you are also Sri Kundalini Sakti. Though you are manifested as Universe you are also in your own original unaltered form of Supreme Consciousness and Bliss.

The seven Mother Powers are the commanding energies of the five elements. as manifestations of Parasakthi they are always worshipped. Let us quote Maharsi Markandeya's prayer in Sapthasathi.

हंसयुक्त विमानस्थे ब्रह्माणी रूपधारिणी ।
कौशांभः क्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तुते ॥ १ ॥

त्रिशूल चंद्राहिधरे महावृषभ वाहिनी ।
माहेश्वरी स्वरूपेण नारायणि नमोऽस्तुते ॥ २ ॥

मयूर कुक्कुट वृते महाशक्ति धरेनघे ।
कौमारीरूप संस्थाने नारायणि नमोऽस्तुते ॥ ३ ॥

शङ्ख चक्रगदाशाङ्ग गृहीत परमायुधे ।
प्रसीद वैष्णवीरूपे नारायणि नमोस्तुते ॥ ४ ॥

गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रा धृत वसुंधरे ।
वराहरूपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तुते ॥ ५ ॥

किरीटिनि महावज्रे सहस्र नयनोज्ज्वले ।
वृत्रप्राण हरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तुते ॥ ६ ॥

दंष्ट्रा कराळ वदने शिरोमालाविभूषणे ।
चामुण्डे मुण्ड मथने नारायणि नमोऽस्तुते ॥ ७ ॥

At the beginning of creation Parasakthi evolves from the Supreme as first and primary letter A. During the process of creation there will be no dissolution ; and during the process of dissolution, there will be no creation. Parasakthi, when assuming the command of creation and existence, assumes the form AHA (A combined with Visarga) when assuming the command of dissolution, assumes the form of AM (A combined with Anusvara). So Parasakthi assumes two form without being divided into two.

Parasakthi is Superior to the seven Mother Powers who have only limited power and limited jurisdiction concerning the five elements as explained in the chapter on Dissolution. This statement is confirmed by Gita VII, 4, 5.

भूमिरापोऽनलो वायुः स्वं मनो बुद्धिरेवच ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां ।
जीवभूतां महा बाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

Meaning :– Apart from the eight prakrithis (powers) earth, water, fire, air, ether, mind, buddhi, ahankara, there is another prakrithi (power) which is Superior and life energy which firmly holds the Universe basically.

Who is the Superior prakrithi mentioned here? This mighty power holding the Universe firmly with a masterly grip during existence is Sri Kundalini (Iswari), also called Adisesha Sakthi (who remained in the beginning).

The following Upanishadic quotation confirms the statement in the *Bhagawad Gita* given above, to the effect that the Kundalini Sakthi is the mighty power holding the Universe firmly in her grasp.

त्रिपुरा परमेश्वरी महाकुण्डलिनी देवी
जातवेदसमण्डलं योऽधीते सर्वं व्याप्यते
त्रिकोणशक्तिरेकारेण महाभागेन
प्रसूते तस्मादेकार एव गृह्यते ॥

Meaning :– Sri Lalitha Tripura Sundari, also known by the names Parameswari (the supreme) and Maha Kundalini

Devi occupies the realm of fire, in other words takes the shape of the *chit* power. She then takes over the work of Agni (Fire)—the work of creation and maintenance, covering in the process the entire universe. The Devi with her triangular force (Trikona Sakthi) is the sole instrument for creation. The letter *eh,* ( ) of the alphabet represents this mighty power.

Why she is called Nagamatha? When the Supreme Parasakthi evolutes as *'Aha'* and *'Am'*, *'Aha'* (Kriya Sakthi) spreads in finer vibration as *'Aha Aha, ha ha'* just like serpent's crawl till the completion of Universal space. Since her movement in vibration is like serpent's movements she is called Nagamatha.

Why she is called Kundalini? Kundalini means a serpent coiled like a ring. She is coiled like a ring, as it is certainly not easy to bear and hold the burden of the Universe. Why she is called Sandhya Devi will be explained later on.

The Parasakthi in her transcendental form of Shuddhasatvapradhana maya (Iswari) is in the form of AHAM in the cosmos and living beings including human. AHAM consists of AHA combined with AM, which means Parasakthi. Kundalini is in the form of AHAM also. Without Kundalini AM alone cannot exist. In the state of realisation AM combines with Kundalini and becomes Supreme. *Aham* means 'I' knowledge *I* knowledge contains both divine gnyana and kriya. Everybody says 'I' but nobody is able to know what that pure 'I' is. Though pure 'I' is not associated with the body it is in the body. By illusion people think that 'I' is associated with the body and even say that 'I' is the body itself. This illusion can only disappear at the last stage of liberation. Parasakthi Kundalini in the form of pure 'I' is in all the living beings for their existence. Upanishat says that

Parabrahman is in the form of 'Aham' in every living being. So the Kshetragnya mentioned in the Bhagavdgita is none other than Kundalini Sakthi with Athma Sri Sankaracharya quotes in his commentary on Bhagavadgita that Kshetragnya is none other than the Superior Parasakti referred to in stanza 5 of chapter VII of Bhagavadgita.

The Universe once created, remains in existence for fairly long but then is taken back according to Iswara's will. Time is reckoned in Sastra by man's day, months, years, followed by the time of the devatas, Subsequently the four yugas, culminating in the day and night of four faced Brahma. As long as the world is in existence, Iswara lends authority to the nine planets, to administer its affairs.

In the word "gochara" 'go' means broadly the Universe, chara means motion. Hence the word gochara is an astronomical term to denote the motions of the planets in the twelve constellations. On account of the motions of the planets the Sun gives light to the world during day-time, Moon and Stars shine during the night. The six seasons Vasantha, Grishma, Varsha, Sharath, Hemantha and Shishira appear by rotation in the cycle of time till the end. The seasonal effects which occur may some times be moderate, sometimes severe. When moderate, things will be pleasant and living beings are happy. When seasonal effects are severe, as in violent earthquakes many living beings will suffer and die. These functions will go on in the cosmos till its dissolution.

The functions of all living beings, including man, during their spans of life are according to their actions bounded by Avidya (caused by Rajas and Thamas) till they are able to be liberated from the bondage of Rajas and Thamas. The matter pertaining to liberation and dissolution will be explained in the next chapter Raja Yoga.

Introduction To Raja Yoga

Under the title YOGA THARAVALI, Sri Sankaracharya has gathered together the points of Yoga which one ought to practice in order to attain the absolute. The summary of the 29 slokas contained in this work is given in this book.

According to the root-meaning of the verb (yuj), the work with which our Buddhi and Mind generally associate themselves is called Yoga. The word Yoga is used in worldly affairs too. If our Buddhi and Mind are immersed in wealth and pleasures, we shall be called as having the wealth Yoga. If it is with regard to ruling a Kingdom, it will be called the Raja Yoga status. If our Buddhi and Mind are associated with wicked deeds, it will be called the Yoga of wickedness. If the Buddhi and Mind are associated with worshipping the Lord by work it will be called Karma Yoga, if they join in loving the Lord, it will be called Bhakthi Yoga.

Although the word Yoga is used in different senses as explained above, it starts in Vedantha with the work of realising Brahman. Hence practising Dhyana, Dharana and Samadhi is Yoga. Hearing the Vedantha, Manana (contemplation). Yama, Niyama, Asana, Pranayama and Prathyahara are tools of Yoga or called parts of it. The sage Patanjali has said.

योग:चित्त वृत्ति निरोध:

(yogaha cittha vritthi nirodhaha) Yoga is cessation of the movement of the mind. Hence the practice of Dhyana, Dharana and Samadhi is Yoga.

In order to attain Brahman, the Buddhi must have an

intense desire for liberation and the mind must have renunciation to worldly objects, along with this the practising of Dhyana Dharana and Samadhi must necessarily be carried on. To illustrate it we learn from the words of friends that a bath in the Ganges at the sacred place of Kashi (Varanasi) leads to salvation. In order that this knowledge may fructify, we must travel to Kashi from our place. Likewise, to achieve the Buddhi's desire to attain liberation, one can attain the Absolute only after travelling along the path laid down in the form of Dhyana, Dharana and Samadhi. There is no other way; The reason being that the forces of Ignorance bind the Buddhi and Mind always to external objects. To escape from this so as to arrive at Brahma, one must transcend the sheaths called Annamaya Pranamaya, Manomaya, Vignanamaya, Ananda maya or shatchakras, by the practice of Yoga in the form of Dhyana and join the Supreme in Sahasrara Kamala who is beyond these sheaths and Chakras. In order to realise the Supreme both the gnyana (intense desire for realisation) and Yoga (action in the form of meditation) are both required absolutely. That knowledge and yoga are both needed is demonstrated by the words of Yoga Tattvopanishath.

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवं।
योगोऽपि ज्ञान हीनस्तु नक्षमो मोक्ष कर्मणि।
तस्मात् ज्ञानंच योगं च मुमुक्षुः दृढमभ्यसेत्॥

Purport: Without the help of Yoga practice the (gnyana) intense desire for realisation will not certainly lead to the Supreme. Mere action of the Yoga practice without 'the gyana' (intense desire for liberation) is only unfitted action for liberation. Hence it has been stated that one who wishes liberation must practice steadfastly both the desire of

becoming united with the Supreme Being, and the action of Yoga.

So, to reach liberation one must necessarily progress both in knowledge and in Yoga. There are further sub-divisions of this Yoga named Hatha-Yoga, Laya-Yoga, Jnana Yoga and Raja Yoga.

By practising Hatha-Yoga, one can be without hunger and thirst, one can walk on water, or live for hundreds of years without a single hair getting grey. One can enjoy with hundreds of women without the ejection of a single drop of vitality.

One can in this way secure wonderful powers. Patanjali Maharshi further says that by fixing the mind in the respective places with the in-and ex-take of breath in each of the organs, one can possess powers like travelling in the sky, hearing the sound of a distant country, and so on, (Animadi Siddhis). The Maharshi describes in his Yoga Sutra the means of achieving these Siddhis (powers), but adds that if one directs his attention towards these , this will be a hindrance for realising the Athma and he will be lying bound under worldly ties. To quote from the Vibhuthi Pada of the Yoga Sutra.

"ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सि्धयः"

Foolish people are amazed as soon as they see such Yogic powers, and call it Divine Power and wonderful actions. Sri Shankaracharya also opines in the commentary of Brahma Sutra 2-1-2-3.

"निराकरणं तु न सांख्य ज्ञानेन वेद निरपेक्षेण योग मार्गेणव निश्रेयसं अधिगम्यते इति"

"But the reason for condemning the Sankhya knowledge and the Yoga practices is that Sankhya knowledge and Yoga practices which are not helpful in realisation of Brahman are only condemnable". Some interpret this commentary that Sri Shankaracharya has totally condemned the Yoga. This is quite wrong. If that was the opinion of Sri Shankaracharya he would have condemned it in his commentary on Bhagavadgita. If Yoga was condemnable, Lord Sri Krishna, would not have preached it to Arjuna. Therefore the Yogi who desires to escape from the life-bond in form of the flood of birth and death, and seeks the high status of Supremely blissful liberation should not heed to worldly powers but proceed in the direction of meditation on Brahman which is the way and the Goal.

The Yoga of meditation which contemplates a direct approach towards Brahman is called gnyana Yoga. In this, the extreme longing for oneness with Parabrahma is coupled with action in the form of meditation. Hence the name gnyana Yoga. After attaining the Lord, there is no work for Yoga in the form of meditation, hence such persons are called gnyanis. Rajayoga is synonymous with gnyana Yoga. According to vedic authority suggested by the words

स्वराज्यं राजाधिराजाय

The Supreme Lord Himself is the King. The meditative action is associated with the knowledge which goes direct to join the Almighty King. The mind of renunciation which directly thinks of God, after dissociating itself from all worldly transactions involving the five fundamental elements by saying"not this", "not this" is called Laya Yoga. In other words, eschewing all desires is Laya Yoga for Laya Yoga Sri Shankaracharya's quotation is given below as an example.

नाहं देहो नेंद्रियण्यन्तरंगो नाहंकारः प्राणि वर्गे
न बुद्धिः । साक्षीनित्यं प्रत्यगात्मा शिवोहं ।

Purport :– Till you stand as one with the Supreme, eliminate, Firmly thinking that you are not body, organs, inner instruments of ego and even intelligence. There is no difference between Bhakthi Yoga and Gnyana Yoga. The Supreme love that one renders to him in order to become oneness is called Bhakthi Yoga, but not the love which one shows towards Him for the sake of worldly desires. Supreme knowledge of Him is required, so that there is no difference between gnyana Yoga, Laya Yoga and Bhakthi Yoga: they are of the same nature.

In brief, to realize the Supreme, one must necessarily dedicate oneself to Yoga by way of meditation, in addition to having Bhakthi(Love),gnyana (knowledge) and Vairagya (Renunciation).

Sri Shankaracharya describes in his Yoga Tharavali the steps to be taken from Pranayama till the attainment of the final state of Supreme.

The practices laid down in his Yogatharavali are not those of Hatha Yoga. Shri Shankaracharya himself mentions in stanzas 14 and 15 that all these practices belong to Rajayoga. Hence all these rules of practices belong to Gnyana Yoga as well.

One thing more, that is none need be disheartened. If he is disabled in the body, and if he is not able to go through the Yoga practice, due to other inconveniences, they should act in accordance with the advice of Sri Sankaracharya's prescription in stanzas 15 and 17 of Laghuvakya Vrithi.

शक्यः सर्वनिरोधेन समाधियोंगिनां प्रियः ।
तदशक्तौ क्षणंरुध्वा श्रद्धालुब्रह्मतात्मनः ॥
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वंच ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

The practice of meditation bringing Buddhi and mind to the concentrated point stopping the activities of all organs (Indriyas) is dearer to those who practice Yoga with the intense desire for realisation: Those who are unable to follow the above procedure should be contemplating always the essence that the "I" is Parabrahman and not the body.

Contemplating the knowledge that I am Brahma and not the body, reading such books that give knowledge of realisation and of practice of Yoga, discussing with others the subject pertaining to the knowledge of realisation, the practice of meditation which is better than the above, all these are considered by Gnayanis (realised souls) as qualifications required for realisation.

Srividyopasana

श्री विद्यां जगतां धात्रीं सर्गस्थि लयेश्वरीं।
नमामि ललितां नित्यां महात्रिपुर सुंदरीं॥

Praying, worshipping, Mantra Japa (repeating manthra) of Supreme Parasakthi and realising Her is called Srividyopasana. This Upasana is classified into two branches. (1) Vaidika and (2) Thanthrika. This Supreme Parasakthi manifests herself as three Gunas – Sathva, Rajas and Thamas – for creation, existence and dissolution of the Universe. Those who worship Sri Devi in her manifestation of Thamoguna and Rajoguna as laid down in Thanthrika texts are called Thanthrikas.

Further Vaidika Srividyopasana is subdivided into two–One Dakshinachara and the other Samayachara. Worshipping, Manthra Japas Reciting Manthras of the Divine Sakthis of Suddha Sathva i.e., Sri Lakshmi, Sri Saraswathi, Sri Parvathi, Sri Lalitha and Sri Gayathri as prescribed in the Vedas and the Upanishads by men or women is called Dakshinachara Srividyopasana. Some interpret that mere worshipping of Sri Chakra is Srividyopasana. This is not correct. Worshipping of images, Manthra Japa of Gayathri etc., are also Srividyopasana.

Practice of Yoga with gnyana for the realisation of Supreme Parasakthi is called Samayachara Srividyopasana. This practice commences from the rousing of Sri Kundalini Sakthi as quoted by Sri Vyasamaharshi in Lalithopakhyana in Brhmanda Purana. Sri. Shankaracharya confirms this as Samayachara in Soundaryalahari. Rousing of Sri Kundalini

Sakthi and meditation as detailed in chapters 6 and 7 of the present work (Sri Kundalini Shakthi Serpent Power and Raja Yoga) is the Samayachara Sri Vidyopasana. This may be compared with the following texts of Lalithasahasranama stothra in Brahmanda Purana by Sri Vyasa Maharshi.

श्री कुणडलिन्यै नमः

Sri Kundalinyeinamaha – Prostration to Sri Kundalini Sakthi.

समयान्तस्था

(Samayanthastha) Sri Kundalini Sakthi resides in the last stage of the merger of Jeeva with Parabrahma (Soul with Supreme Consciousness), which means Sri Kundalini Sakthi blesses and helps those who are in the path of merger of their (Soul with Supreme Consciousness), which means Sri Kundalini Sakthi herself is Parabrahma.

समयाचार तत्परा

(Samayachara Tatpara) Sri Kundalini Sakthi blesses and helps those who are in the path of merger of their Soul with Parabrahma. It has been stated in chapters 6 and 7 that the aspirant should have intense devotion to Sri Kundalini Sakthi and pray for her blessings, which means Samayachara Srividyopasana. It has also been clearly stated in the Meditation chapter how Sri Kundalini Sakthi helps the aspirant in the mounting up in Sushumna Nadi from Muladhara Chakra to Sahasrara Kamala.

मूलाधारैक निलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी

(Muladharaika nilaya Brahmagranthi Vibhedini) Sri

Kundalini Sakthi resides in the abode of Muladhara Chakra. She pierces the knot of creation which is in the Muladhara Chakra during the practice of Pranayama and Meditation.

मणिपूरांत रुदिता विष्णुग्रंथि विभेदिनी।

(Manipurantharuditha Vishnugranthi Vibhedini) Sri Kundalini Sakthi evolutes at the top of Manipura Chakra, which means the Omkara sound commences and from this the knot of existence or protection in the Anahata Chakra will be pierced. This happens at the practice of meditation.

आज्ञा चक्रांतरालस्था रुद्रग्रन्थिविभेदिनी

(Agnya Chakrantharalastha Rudragranthi Vibhedini) When Sri Kundalini Sakthi mounts up to Agnya Chakra the bondage knot will be pierced.

सहस्त्राराम्बुजा रूढा सुधासाराभि वर्षिणी तटिल्लता समरुचिः षट्चक्रोपरिसंस्थिता,

(Sahasrambuja Aarooda Sudhasarabhi Varshini. Thatilatha Samaruchihi Shatchakropari Samsthitha) Sri Kundalini mounts up to Sahasrara Kamala which is above Shatchakras (six centres) and stays there. When she stays in Sahasrara she will herself be the Supreme Consciousness (Chidananda) self radiance and bliss and from there she pours nectar (Amritha), which means no further birth and death to the Aspirant.

The stanzas of "Sudhadhara" and "Maheem muladhara" of Soundaryalahari of Sri Shankaracharya given in the chapter rousing the Sri Kundalini Sakthi confirms the above process of Samayachara Sri Vidyopasana stated by Vysasmaharshi. Dakshinachara Srividyopasana is the foundation and training

ground for Samayachara. The Rajayoga comprising Gnyana and Yoga explained in the beginning of this chapter and Samayachara Srividyopasana are one and the same.

Parasakthi evolutes first from Parabrahma and is called Iswari Sakthi. The Supreme Chith then reflects in Iswari Sakthi and the reflected Chaithanya is called Iswara. Iswari is Mother and Iswara is father for the whole Universe. Mother Power came first and then came the father power from the Supreme Being. This is confirmed by Thathireeya Upanishad.

"माता पूर्वरूपं पितोत्तर रूपं"

(Matha Poorva rupam Pithothara rupam). The reverence should be given first to Mother and then to father as per the authority of the same Upanishath.

"मातृदेवो भव पितृदेवो भव, मातृभ्यो नमः पितृभ्योनमः"

(Mathrudevo Bhava Pithrudevo Bhava; Mathrubhyo namaha Pithrubhyo namaha). It is therefore Maharshis have ordained that preference should be given to Sri Vidyopasana which is the worship of Mother Power and that is why Sri Gayathri upasana, which is undoubtedly Sri Vidyopasana has been made compulsory by Maharshis for all the 'Dwija'. Where there is Sakthi there is reflection, where there is reflection there is Sakthi. They are inseparable. The manthra of 'Uttishta Devi' in Sandyavandanam pertaining to Sri Kundalini is given in the Sixth Chapter of this book has invocation.

There is interconnection between Gayathri and Sri Kundalini. The following Yoga-Kundalini Upanishadic authority confirms the same.

कुण्डलिन्याः समुद्भूता गायत्री प्राणाधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेद स वेदवित् ॥

Meaning :– The Omakara emanating from Sri Kundalini Shakthi which is Gayathri, is itself prana. To realise Paramatma in combination of Gayathri and Kundalini is the Maha Vidya (highest Knowledge. He who experiences this in practice of 'Gayathri Sri Vidyopasana' is the real Gnyani.

चतुष्षष्ट्या तंत्रे सकलमपि संधाय भुवनम् ।
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसव परतन्त्रैः पशुपतिः ॥
पुनस्त्वन्निर्बधादखिल पुरुषार्थैक घटना ।
स्वतंत्रम् ते तंत्रम् क्षितितल मवातीतरदिदम् ॥

Meaning :– O, Divine Mother, Lord Iswara after creating the Universe brought out sixty four Thanthras of mystical powers of the nature of Rajas and Thamas which are only subordinate powers which give only momentary worldly benefits completely blocking the true knowledge of the self luminous spiritual reality. Seeing that the people would be doomed in this ignorance without self illumination, you, kind hearted Devi, prayed Lord Iswara who then brought out into the world this Masterly power Veda Vidya which belongs to Suddha Sathwaguna for the benefit of humanity.

As clearly revealed in the above stanza of Sri Soundaryalahari the efficacy of the Dakshinachara and Samaya-chara in Srividyopasana, (as defined earlier in this introduction) is established. Thanthrika method of worship should be completely avoided. Even mixed path of worship of Vaidika and Thanthrika should under, no circumstances, be followed as per the following clear mandate of Lord Iswara.

"मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हिशाकरि"

Necessary Qualifications

1. *Mumukshuthwa* – Longing liberation from all bondages of Avidya, (ignorance) and standing in one's own self.

2. *Nithyanithya Vasthu Viveka* – Discrimination between real and unreal and self (I) and non-self (body). Firm conviction to the effect that Parabrahma (self) is real.

3. *Vairagya* – Renunciation or to give up all transitory enjoyments of worldly things. The first step to liberation in the extreme aversion to all perishable things. Dispassion.

4. *Shamadi Shatka* – (6).

(1) *Shama* – (calmness) is called the resting of the mind in its goal after detaching itself from the manifold sense-objects.

(2) *Dama* – (self-control) is called the turning of the sense- organs away from sense-objects and placing them in their centres- best by the mind function ceasing to be affected by the external objects.

(3) *Thithiksha* – (forbearance) is called the bearing all the afflictions without caring to redress them, being free from anxiety or lamentation on their score.

(4) *Shraddha* – (faith) is acceptance as true what Scriptures and Guru instruct.

(5) *Samadhana* – (self settledness) is called self settledness with the Parabrahma without duality.

(6) *Uparathi* – (self withdrawal) is practising self-withdrawal from external objects.

5. *Bhakti*: means devotion. A Supreme place is occupied by Bhakthi. The seeking after one's real nature is Bhakthi.

6. *Ashtanga Yoga*: Yama, niyama, asana, pranayama, prathyahara, dhyana, dharana, samadhi.

The qualification of Yoga is quite essential as explained in the introduction. The help of Yoga is necessary to acquire the qualification of Shama, Dama, Uparathi, Samadhana noted above.

In conclusion, those who truly aspire for liberation should not pay heed to logic, should not be led away by empty statements that liberation can be attained merely by hearing Vedantic philosophy, should not pay heed to any religious philosophy condemning other schools. Such condemnations are not real philosophies. It is quite sufficient to know what we should learn and what we should do in action for realisation. They must fulfil their desire of realisation of Parabramha by cultivating intense renunciation, intense devotion and mature knowledge through the path of meditation.

All the above qualifications are necessary for the Samayachara Srividyopasana.

Yoga Tharavali

BY

Sri Shankaracharya

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे ।
सन्दर्शित स्वात्मसुखावबोधे ॥
जनस्य ये जांगलिकायमाने ।
संसार हालाहलमोहशान्त्यै ॥ १ ॥

Meaning :– My adorations at the lotus-feet of the Sadguru (revered preceptor) who has learnt the means to ward off ignorance arising out of the poison in the form of life contained in the cycle of birth and death, and thereby has secured the Bliss of his Soul, and is competent to teach this to others.

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयाव धानानि वसंति लोके ।
नादानुसंधान समाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानां ॥ २ ॥

Meaning :– Lord Parameswara has given millions of ways to accomplish oneness with the Supreme Power. Among them we consider as the best the Samadhi which is practised with Nadanu Sandhana (Omakara Sound)

सरेच पूरैरनिलस्य कुम्भैः ।
सर्वासु नाडीषु विशोधितासु ॥
अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारै
रन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः ॥ ३ ॥

Meaning :– The performing of Rechaka, Puraka and Kumbhaka Pranayama (processes in exhalation, inhalation and holding of air) cleanse all the nerves, and then the Omkara sound called Anahata contained in the Anahata Chakra of the chest continuously permeates in many ways.

नादानु संधान नमोस्तु तुभ्यं ।
त्वां साधनं तत्व पदस्य जाने ॥
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं ।
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥ ४ ॥

Meaning :– Prostrations to you, Nadanu Sandhana. I consider you as a means to attain Brahman. By your grace my mind becomes united with my breath and merges in the all-pervadings Supreme Being.

जालंधरोड्याणनमूलबंधान् ।
जाल्पंति कण्ठोदरपायुमूलान् ॥
बंधत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने ।
बंधः कुतोदारूणकालपाशात् ॥ ५ ॥

Meaning :– There are three Mudras to be practised prior to this Nadanu Sandhana. They are the Mudras of Jalandhara. Uddyana and Mula bandha, to be practised

respectively in the neck, the Stomach and the anus. Sastras say, if the practice of these three Mudras is perfected, where can the binding by the cruel cord of death take place?

In other words, the person who obtains the stage of perfection in practising these Mudras with Pranayama and meditation progresses further and tries to realize the Supreme during his life time. If this is not possible, he attains the Supreme at the time when the body expires, hence the cord of death will not bind him, i. e. there remains no rebirth for him.

The following two stanzas deal with the Pranayama associated with the movement of reversing the gravity (Sakthi Chalana), to be practised with Rechaka Puraka Pranayama, Kumbhaka Pranayama, and the practice of the three Bandhas.

ओड्याण जालंधरमूलबंधैः ।
उन्निद्रितायां उरगांगनायां ॥
प्रत्यञ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां
गमागमौ मुचति गंधवाहः ॥ ६ ॥

Meaning :– By the practice of the above-mentioned Mula, Jalandhara, and Uddyana Mudras the serpent shaped Kundalini Sakthi dormant in the Muladhara Chakra is awakened and faces upward and enters the Sushumna nerve which is the path to Brahmarandhra (Sahasrara Kamala). Thereby the breathing will stop without inhalation and exhalation.

The Kundalini Sakthi is quickly roused if the Sakthi Chalana is also practised along with the three Mudras. Since this Stanza refers to the rousing of Sri Kundalini Sakthi from its state of torpor and its entry into Brahmarandhra, this also includes the practice of Sakthi Chalana Pranayama.

उत्थापिताधारहुताशनोल्कै
राकुचनैः शश्वदपानवायोः ॥
संतापिताश्चंद्रमसः पतंतीं ।
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः ॥ ७ ॥

Meaning :– By the drawing of the downward Apana air (the air that is in the anus) so as to be always directed upwards, flames of fire are started at the Muladhara Chakra and the heat spreads till the Sahasrara Kamala. From this heat the nectar drops flow from Sahasrara Kamala. One who drinks this nectar which flows from Sahasrara is a great man. This is the effect of the Sakthi Chalana Pranayama practised along with the three Mudras.

बंधत्रयाभ्यासविपाकजातां ।
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्यां ॥
विशोषयंतीं विषयप्रवाहं ।
विद्यां भजे केवलकुभरूपां ॥ ८ ॥

Note:–So far, the Rechaka Puraka Pranayama, the Kumbhaka Pranayama, and the Sakthi Chalana Pranayama with the three Mudras for rousing the Kundalini Sakthi, were considered. The pure Kumbhaka which is secured after getting perfection in these will be considered in the next five or six stanzas. Pure Kumbhaka is the state whereinthe breathing comes to a standstill and the mind is removed from all distractions, resulting in inward Bliss.

My adorations to the pure Kumbhaka Vidya (breath controlling state) which results from the perfection, in the practice of Sakthi Chalana Pranayama associated with the

three Mudras and the practice of Omakara meditation. This Kumbhaka is devoid of Rechaka and Puraka, and completely prevents the mind from entering into worldly matters.

अनाहते चेतसि सावधानैः ।
अभ्यासशूरैरनुभूयमाना ॥
संस्तंभितश्वासमनः प्रचारा ।
सा जृंभते केवल कुंभकश्रीः ॥ ९ ॥

Meaning :– The wealth of pure Kumbhaka (breath controlling state) shines in the Anahatachakra of the hearts of the brave and capable men who have slowly practised the fixation of breath and of mind by practice of Pranayama with Mudras and enjoyed the bliss thereof. This is the initial stage for the practice of Omakara nada.

सहस्त्रशः सन्तु हठेषु कुंभा ।
संभाव्यते केवल कुंभ एव ॥
कुंभोत्तमे यत्रतु रेचपूरौ ।
प्राणस्य नप्राकृतवैकृताख्यौ ॥ १० ॥

Meaning :– The Kumbhakas which control the breath in individual organs of the body separately and fix the mind in those respective organs so as to obtain transient worldly benefits are found by thousands in Hata Yoga. But the pure Kumbhaka is considered best wherein the inhalation and exhalation i. e. Puraka and Rechaka are absent, and wherein the mind is fixed with the aim of Brahma. The Kumbhaka which is practised without that aim of realization will never be considered as pure.

त्रिकूटनाम्नी स्तिमितेन्तरंगे ।
खे स्तंभिते केवल कुंभकेन ॥
प्राणानि लोभानु शशांकनाड्यौ ।
विहायसद्यो विलयं प्रयति ॥ ११ ॥

The Muladhara Chakra is known by the name of Thrikoota (junction of three), which means junction of Ida, Pingala and Sushumna nerves. When the breath air enters Sushumna Nadi through the Muladhara Chakra and reaches Anahata Chakra there will be no inhalation and exhalation (no work of Ida and Pingala nerve) and this state is called Kevala Kumbhaka. By the practice of Kevala Kumbhaka the vital air (Pranavayu) also goes to Sahasrara Kamala and merges in Brahman. The state in which Pranavayu (vital air) merges in Brahman is called Pranava (Omkara).

Special Note :– When meditation is fixed in the middle of the eye-brow, the breath stays along with the mind quiescent in the middle of the eye-brow. This is the commencement of pure Kumbhaka. When the breath is fixed in this way, it follows the progress of meditation and slowly enters the Sushumna through the Muladhara Padma along with the working of the mind. At that time the life-breath also enters Sushumna through Muladhara and finally merges in the thousand petalled lotus.

प्रत्याहुतः केवल कुंभकेन ।
प्रबुद्धकुण्डल्युपे भुक्तशेषः ॥
प्राणः प्रतीचीन पथेन मंदम् ।
विलीयते विष्णु पदान्तराले ॥ १२ ॥

Meaning :– By the practice of pure Kumbhaka meditation the Kundalini Sakthi mounts up and up in Sushumna Nadi. The vital air with the current of Buddhi following the Kundalini Sakthi goes up Sushumna along with the Kundalini Sakthi. The vital air with the current of Buddhi finally merges in all-pervading Supreme Consciousness in Sahasrara Kamala with the Kundalini Sakthi.

निरंकुशानां श्वसनोद्गमानं ।
निरोधनैः केवलकुंभकाख्यैः
उदेति सर्वेंद्रिय वृत्तिशून्यो ।
मरुल्लयः कोपि महामतीनां ॥ १३ ॥

Meaning :– When the freely traversing breath is fixed in a centre by the practice of pure Kumbhaka, all the organs will be under control. An indescribable sense of the non-functioning of the mind will then be felt by great men.

न दृष्टि लक्ष्याणि न चित्त बंधो ।
न देश कालौ न च वायुरोधः ॥
न धारणाध्यायान परिश्रमो वा ।
स मेधमाने सति राजयोगे ॥ १४ ॥

Meaning :– When the practice of Rajayoga described in the above stanzas reaches a stage of perfection, the eye does not work towards any object, there is no breath, there is no experience of the concentration and meditation. A state of natural and unattached Samadhi (repose) is obtained, and the Yogi is in unity with Brahman.

अशेषदृष्योज्झितदृडमयानां ।
अवस्थितानामिह राजयोगे ॥
न जागरो नापि सुषुप्ति भावो ।
न जीवितं नो मरणं विचित्रं ॥ १५ ॥

Meaning :– When the practice of Raja Yoga is brought to perfection, sight disappears completely. This means that there will be no knower, knowing, known. To the great souls who reach this culmination in Rajayoga, a Godly state is secured in this world which is bereft of sleep as well as of wakefulness and which is neither life nor death, which state is wonderful.

अहं ममत्वादि विहायसर्वं ।
श्री राजयोगेस्थिरमानसानां ॥
न द्रष्टृता नास्तिच दृश्य भावः ।
सा जृंभते केवल संविदेव ॥ १६ ॥

Meaning :– The Great men who have eschewed all notions of "I, Mine", and who have fixed their minds in unadulterated Samadhi in the form of Rajayoga which carries with it the treasure of liberation,– such men have no feeling that "I am seeing", and "This is being seen". Since he is merged in the pure meditative Brahman who is in the form of Supreme Knowledge, only Supreme Brahma remains.

नेत्रेययोन्मेषनि मेषशून्ये ।
वायुर्यया वर्जितरेचपूरः ॥
मनश्च संकल्प विकल्पशून्यं ।
मनोन्मनी सा मयि संनिधत्तां ॥ १७ ॥

Stanzas 17, 18, 19, 20, 21 describe the nature of merged mind in bliss and the method of attaining it.

Meaning :– To those who succeed in the practice of Rajayoga, the eye-lids neither open nor close, there is no in-and out-take of breath, the mind does not contemplate any object, the organs, do not function, knowledge only remaining, they enjoy a state where in the mind is merged in Bliss. Let such a state wherein the mind is submerged in bliss stay in me permanently.

चित्तेंद्रियाणां चिरनिग्रहेण ।
श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः ॥
निवातदीपा इवनिश्चलांगाः ।
मनोन्मनी मग्नधियो भवंति ॥ १८ ॥

Meaning :– The Commendably successful persons who have controlled the mind and organs by a prolonged period of meditation and who have controlled the in-and out-going of breath, there-by securing a permanent pure Kumbhaka state will have their minds immersed in pure Bliss bereft of the movement of the organs, with a motionless body. Just as a lamp which has been placed in a place free from the force of wind burns uniformly and undisturbed.

उन्मन्य व स्थाधिगमायविद्वन् ।
उपाय मेकं तव निर्दिशामः ॥
पश्यन्नुदासीनतया प्रपंचम् ।
संकल्पमुन्मूलय सावधानः ॥ १९ ॥

Meaning :– O! Learned man! We shall tell you a plan

to attain the submerged state of mind in bliss described in the two previous stanzas. Ignore worldly thoughts and look at the external world with a feeling of indifference. Practice by meditation with the principle of "I am identical with Brahman" which consists in surrendering ones "I" to the Brahman. Root out the minds contemplation on objects or on the organs.

प्रसह्य संकल्प परंराणां ।
संभेदने संतत सावधानं ॥
आलम्ब नाशादप चीयमानं ।
शनैः शनैः शांति मुपैति चेतः ॥ २० ॥

Meaning :– As stated in the above stanzas, by practising the meditation of Omkara coupled with the knowledge "I am identical with Brahman", the thoughts which rise in the mind like the waves of the sea are forcibly and completely destroyed. The mind which has turned towards concentration by the practice of meditation itself is submerged since its thoughts of worldly affairs have been destroyed, and gradually reaches a state of objectless peace. The previous stanza mentions the withdrawal of thoughts, while the present stanza mentions the absorption of the mind.

निश्वासलोपैर्निभृतैः शरीरैः ।
नेत्राम्बुजैरर्ध निमीलितैश्च ॥
अविर्भवंतीं अमनस्कमुद्रां ।
आलोकयांमो मुनिपुंगवानां ॥ २१ ॥

Meaning :– Let us exalt ourselves by observing at the Blissfulness called Amanaska Mudra of the great Rishies

which arises, after they have stopped breathing, being with their bodies erect and half closed lotus eyes. They are in a state of bliss.

अमीय मीन्द्राः सहजामनस्कात् ।
अहं ममत्वे शिथिलायमाने ॥
मनोतिगं मारुत वृत्ति शून्यं ।
गच्छंति भावं गगनावशेषं ॥ २२ ॥

Meaning :– The Rajayogis who have come to the state of mindlessness after firmly merging themselves into a blissful state described in the above four or five stanzas have no "I, mine" left in them, have no in-take and out-take of breath and arrive at a state of chidananda (Bliss with consciousness).

निवर्तयंतीं निखिलेंद्रियाणि ।
प्रवर्तयंतीं परमात्मयोगं ॥
संविन्मयीं तां सहजामनस्कां ।
कदागमिष्यामि गतान्य भावः ॥ २३ ॥

Meaning :– When shall I obtain the natural state of bliss which goes by the name of mindless Rajayoga which is full of knowledge, wherein all physical organs turn away from the worldly affairs that arise of their natural functions, and which leads to the attainment of the Supreme Being. The meaning is that one must strive for this state, and secure thereby the unleashing of the fetters of life.

प्रत्यग्विमर्शतिशयेन पुंसां ।
प्रचीनगंधेषु पलायितेषु ॥

प्रादुर्भवेत् कचिदजाड्यनिद्रा ।
प्रपंच चिंताम् परिवर्जयंतीं ॥ २४ ॥

Meaning :– The state of Nirvikalpa Samadhi (un-attached yogic repose) in the form of a sleep free from hearing and from all worldly affairs is attained when one practices meditation described so far with an extremely ardent desire for emancipation in consequence of which the conditioning of all previous lives disappears.

विच्छिन्न संकल्पविकल्प मूले ।
निश्शेषनिर्मूलितकर्म जाले ॥
निरन्तराभ्यासनितांत भद्रा ।
साजुम्भते योगिनि योगनिद्रा ॥ २५ ॥

Meaning :– The Seer (learned man) who is practising Rajayoga constantly without the thoughts of any worldly object and the effect of the actions of the physical organs is completely bereft of all action and shines in the state of Nirvikalpa Samadhi (unattached Yogic repose) in a most auspicious Yoga sleep.

विश्रांतिमासाद्य तुरीयतल्पे ।
विश्वाद्यवस्थात्रितयोपरिस्थे ॥
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं ।
निद्रां सखे निर्विश नर्विकल्पां ॥ २६ ॥

Meaning :– O! friend, Repose for all time in the Sleep of Yoga in Super-consciousness which is indescribable without external actions. Sleep like this on the bed of the Exalted state which transcends the three states of Jagrat (awakeness) swapna (dream) and sushupthi (deep slumber), in other words in the state of Omkara.

प्रकाशमाने परमात्मभानौ
नश्यत्यविद्या तिमिरे समस्ते ॥
अहो बुधानिर्मलदृष्टयोपि ।
किंचिन्न पश्यंति जगत्समग्रं ॥ २७ ॥

Meaning :– The seers who have practiced this mindless Rajayoga attain the Supreme Being and the darkness of all their ignorance is dispelled by the lustre of the Sun called Brahman. But though their sight is rendered absolutely pure, they do not look at the external world in the least, which state is wonderful.

This means that in the state of Samadhi the seers do not close their eye fully as during sleep, and do not open their eyes fully as during the time when one is awake. They will have their eye lids half-closed. The common man can see external objects moderately well with halfshut eyes. But the seers do not see external objects in the least, though they have their eyes half-open. It is this which is wonderful. The reason is that in the Samadhi state though the eyes are half-open, they are self-luminous. There is nothing for them to see; Nothing exists for the seer except himself. It is on this principle that LordShri Krishna says in the Bhagawadgita that what is day to the learned is night to the ignorant, and what is day to the ignorant is night to the learned.

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां समाधौ ।
श्री शैलशृंग कुहरेषु कदोपलप्स्ये ॥
गात्रं यदा ममलताः परिवेष्टयंति ।
कर्णेयदाविरचयंति खगाश्च नीडान् ॥ २८ ॥

Meaning :– When will I enter into that state in which the mind is lost in the Lord and there is no thought of the body for a long time while practising Samadhi in the cave on the top of the hill's peak on the Shri Shaila mountain, bereft of all knowledge of the body, which becomes covered up with plants and herbs, without even being aware of the birds making their nests in the hollow of my ears?

The Samadhi state as oneness with Brahma without consciousness of the body, may be experienced by some only for a very short time. Others may secure it for a longer period. But in this age of Kali, man usually will not be in the Samadhi state for a long time. Sri Shankaracharya and Sri Vidyaranya have opined that even if it is for a very short time, the state of oneness with Paramathma is one of positive realisation.

विचरतु मतिरेषानिर्विकल्पे समाधौ ।
कुचकलशयुगेवा कृष्णसारेक्षणानां ॥
चरतु जडमतेवा सज्जनानां मतेवा ।
मति कृतगुण दोषाः मां विभुं न स्पृशंति ॥ २९ ॥

Meaning :– Let this mind of mine roam about in Nirvikalpa Samadhi (un-attached repose) or let it enjoy in the potful breasts of deer-eyed damsels. i. e. let it to be engaged in worldly pleasure or let it travel in the path of ignorance or let it adhere to the path of liberation. Though my mind is engaged in all the above directions myself being definitely Parabrahman I am not attached to them, which means a realised man though he is in his bodily activities will not be attached to them.

Arousing of Sri Kundalini

Prayer to Sri Kundalini Sakthi

उत्तिष्ट देवि गन्तव्यं पुनरागमनाय च ।
प्रसीद देवितुष्ट्यर्थं प्रविश्यहृदयं मम ॥

(Thathireeya Sruthi)

Purport :– This is a manthra used in the Sandhya Karma. Devi means Sandhya Devi or Kundalini Sakthi which is explained below:

O Devi, Sri Kundalini Sakthi (Sandya Devi), pray awake from the Yogic slumber and mounting up from the Muladhara into the Sahasrara Kamala (My heart) shine there in contentment and proceed back to bless me.

This Kundalini Sakthi (Sandhya Devi) is none other than Iswar or Parasakthi explained in the last portion of the previous Chapter, 'Existence! That Sakthi (power of Gravitation) upholds the Cosmos and Human bodies by her mighty grip never allowing them to pass out of Existence. This Sakthi resides in the lowest portion of the spinal Chord Muladhara Chakra in the shape of a coiled serpent with it's Hood covering entrance into the hair line passage Sushumna Nadi running through the spine and ending at the top of the brain (Sahasrara Kamala). The Muladhara Chakra is also known as Trikuta (Where three Nadis join) because it is the confluence of the Pingala (Solar), Ida (Lunar) and Sushumna Nadis.

The term 'Uttishta' in the Mantra means awake or arise. The Idea that the Kundalini Sakthi needs to be aroused

may seem funny to some. The Maharshis who have initiated this Manthra have used this term 'Uttishta' deliberately because of it's profoundly hidden meaning. The Kinetic energy reposes motionless in the Muladhara, a state which, in the language of the Yoga, is known as 'sleep' for the purpose explained in the above para.

We now take up the next word in the prayer 'Pravisya Hridayam Mama' to learn its secret. In Uttishta Devi, we beg Sri Kundalini Sakthi to awake and arise from her static rest in the Muladhara. The meaning of 'Pravisya Hridayam Mama' is to pray to Sri Kundalini Sakthi to mount up through the Sushumna Nadi to reach the Sahasrara Kamala where the fire of Supreme consciousness burns brightly, traversing on her path the five Power-centres known as Swadhisthana, Manipura, Anahata, Visuddha and Agnya. The Devi's contact with Sahasrara is styled at the 'Lighting-up' of the Hridayakamala or the Lotus of the Sahasrara, in other words, the dawn of realisation in the self of the aspirant. This Sahasrara Lotus is also known as 'Hridaya' or heart of hearts, 'Brahmhapuri' or the Citadel of Parabrahma, 'Omkarastana' or the seat of the scared OM, 'Vaikunta' the supreme abode of Sriman Narayana and 'Kailasa' the Supreme abode of Parameswara.

As the great Kundalini Devi Continues to ascend all kinds of Darkness and sin perish one after the other. The instant the Devi arrives at the Lofty Sahasrara, the brilliance of realisation bursts before the Expectant soul of the performer. This great moment in his life is known by several names such as 'Nirvikalpa Samadhi' or clear unclouded union, 'Brahmananda' or transcendent Bliss, 'Jeevanmukthi' or soul perfection in this very body, 'Advaitha Siddhi' or realisation of oneness, 'Omakaraswarupa' or identity with the Mystic OM, 'Rajayoga' or union with the highest. The word 'Praseeda

Devi Thushtiyartham' occurring in the Manthra denotes the satisfaction of Sri Kundalini Devi when she reaches Sahasrarakamala or the highest spiritual state.

We now have to understand the meaning of the words 'Ganthavyam Punaragamanaya cha' in the Manthra. We have already said that the Kundalini Sakthi entering into the Sahasrara Kamala is the stage where the individual 'I' is merged in the partless, undivided whole. This longed–for state of perfect submergence of oneself in the highest consciousness lasts with some but for a single moment, with others, a longer period. But sooner or later one regains his worldly consciousness descending from the supreme height of Samadhi. This is the essence of the Hymn.

Sri Kundalini Sakthi is also known as Sandhya Devi.

"संधानम् एकत्र इति संधिः" "सम्यक् धीयताइति संधिः"

'Sandhanam ekathra ithi Sandhihi' or 'Samyak dheeyatha ithi Sandhihi', which means that which unites into one, in other words Sandhya Devi (Kundalini Sakthi) is she who helps one to realise oneness of his soul with the Supreme. It is clearly our duty, therefore, to humbly and devotedly pray to the Devi to graciously unveil the passage leading through the Sushumna Nadi to the Sahasrara and by moving upwards to manifest herself to our moral consciousness.

The above manthra of Uttishta arousing the Sri Kundalini Sakthi inserted by Maharshis, who experienced the benefit of this prayer, from ancient times in the daily prayer of Sandhyavandana and made it compulsory to pray both in the morning and evening for all the Dwijas for the dawn of Self-consciousness being essential to carry out the ritual that follows.

The Cobra that is prayed to and reverenced by all hindus is none other than Sri Kundalini (Nagamatha). This explains why, on performing Sandhyavandana, we conjoin our palms and spread them in the shape of a spread hood serpent and bring them to our shoulders and then address our invocation (Uttishta) to the Nagamatha, the serpent power (Sri Kundalini).

Pleased by the prayers devotedly addressed to her, The Devi Kundalini condescends to energise the performer's Pranayama, Omakaropasana (devotional concentration on Omkara sound) and other auxiliaries such as Jalandhara, Uddyana, Mulamudras necessary to arouse the higher instincts in Man enabling him to enter into true meditation. Sruthi, therefore, aptly says that the performer arouses the restful Kundalini Sakthi in ordained ways to let him be blessed. Upanishath says.

"कुण्डलिनी बोधकम् पुण्यम् पापज्ञं शुभदं सुखम्"

(Kundalini Bodhakam Punyam Papaghnam Shubhadam Sukham)

उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वतमूर्धनि
ब्राह्मणेभ्यो अभ्युनज्ञाता गच्छदेवि यथा सुखं ॥

(Thaithireeya Sruthi)

Purport :– O, thou Sri Kundalini pray after descending from Sahasrara go back to your original abode of mid peak of earth in the muladhara and bless us.

The above invocation is in Upasthana prayers (Prayers after completion of meditation) of Sandhyavandana. This invocation refers as a prayer to Sri Kundalini Sakthi (Sandhya Devi). In the invocation of Uttishta, the performer prays to

Sri Kundalini to arise and ascend to Sahasrara Kamala to have the oneness with the Supreme. After oneness for a while, the performer is bound to descend from Samadhi towards bodily activity. The Maharshis have fixed the above invocation as devotional prayer to Sri Kundalini for blessings even after descending from the state of Samadhi.

Praising the Divinity of Sri Sandhya Devi, Sri Vasishta Maharshi has stated.

यासंध्या सा जगत्सूतिर्मायातीताहिनिष्कळा ।
ईश्वरी केवलाशक्तिस्तत्वत्रय समृद्धवा ॥

The Goddess of Sandhya (Sri Kundalini Sakthi) is the cause of the creation of the Universe. She is the Originator of all. She is the resplendent form of the Almighty and she shines forth in Saguna (Cosmos) in all the three forms of A. U. and Ma signs.

Before we explain the Pranayama practice, we will quote some more authorities to confirm the idea of the stanza 'Uttishta. The Thrishikhi Bramhanopanishat and Darsanopanishat say.

अष्टप्रकृति रूपा सा साष्टधाकुण्डलीकृत ।
यथवाद्वायु सारंच ज्वलनादिच नित्यशः ॥
परितः कन्द पार्श्वेतु निरुध्यैवसदास्थिता ।
स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरंध्र मुखं तथा ।
योग कालेन मरुता साग्निना बोधिता सती ।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥

Purport :– Sakthi in the serpent form holds eight forms such as earth etc., in eight ways. She holds up all round the region of the neck the essence of vayu and the flames of

Agni and remains always closing the door to Sushumna Nadi by her face. At the time of Yoga, that Sakthi is awakened by Agni and Vayu and finds her way to the Sushumna in the Heart-region and appears in a luminous serpentine form.

Sri Shankaracharya says in Soundaryalahari:–

सुधाधरासारैश्चरणयुगळान्तर्विगळितैः ।
प्रपंचम् सिंचन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः ॥
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगानिभ मध्युष्टवलयं ।
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषिकुलकुण्डे कुहरिणि ॥

Purport :– O, Mother the perfect one has said that thou whose sacred feet (Imbedded in the thousand petalled Sahasrara Lotus situated in the Brain) distill ambrosia, delugest with the same ambrosia the 72,000 Nadis (vital channels) existing in the human body, and then thou descendest along Sushumna Nadi through it's filamental tube (resembling that which runs through the stalk of lotus) and that thou takest thy static rest finally in the form of a coiled serpent of vast power on the edge of Muladhara Chakra which is the lowermost of the six psychical centres adorning the vertebral spinal cord which springs up from the waist.

In Yogakundali, Yogachudamani Dhyanabindu Upanishaths.

येनद्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वार मनामयं ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्तापरमेश्वरी ॥
उद्घाटयेत्कवाटन्तु यथाकुंचिकयाहटात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥

Purport :– The door to Brahmarandhra is covered by Parameswari Sri Kundalini who is sleeping with her face

shutting this door. Just as the door of a house is opened by unleashing its bolt so also the door to liberation has to be opened by rousing the Sri Kundalini.

साशक्ति र्येन चलिता स्यात्सतु मुक्तो भवति
साकुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ताचे द्योगिनां
मुक्तये भवति बंधनायाथो मुढानां । *Syandilyopanishath*

Purport :– Those who move this Kundalini power get liberation. If that Kundalini Sakthi sleep above one's neck he attains union with the Supreme. If this Sakthi is not roused and moved up such fools remain in bondage.

महीं मूलांधारे कमपिमणिपूरे हुतवहं ।
स्थितं स्वाधिस्ठाने हृदिमरुत माकाशमुपरि ॥
मनोपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वाकुलपथं ।
सहस्त्रारे पद्मे सहरहसि पत्याविहरसे ॥

(Sri Shankaracharaya's Soundaryalahari)

Purport :– O Mother: You have cleared the Sushumna path after piercing Muladhara, Swadhisthana, Manipoora, Anahata, Vishuddha, Agnya of the elements of earth, water, fire, air ether and Kala (Energy) respectively and having entered the Sahasrara Kamala, you are merged with your Lord Sadashiva.

तर्केर्जल्पैश्शास्त्र जालैर्युक्तिभिर्मन्त्र भेषजैः ।
न वशो जायते प्राणस्सिध्युपायं विनाविधे ।
उपायं तमविज्ञाय योगमार्गो प्रवर्तते ।

(Yogasikhopanishath)

Purport :– The Prana (Kundalini Sakthi) cannot be controlled by logic or arguments or by having knowledge of number of Sastra books or by tricks or by incantations or by medicines. The only sure method is to pursue the procedure of Yoga with Gnyana for destroying the Avidya.

A sketch of a Temple is given here with a view to understand the mode of practising the Sakthichalana Pranayama. What are all the functions that are going on in our body during the practice of meditation (Samadhi) and what sort of practice is necessary to get Avadhootha state (oneness with the Supreme always).

The structure of the temple is based on the science of the human body as per authority of Yogasikhopanishath and Mahanyasa

"देहो देवालयः प्रोक्तो, देहं विष्णुवालय प्रोक्तं"

"Deho Devalaya proktho; Deham Visnuvalayam proktham". There are walls to the temple on all four sides representing the outline of the human body. All the other items noted in the sketch Soorya Nadi, Chandra Nadi, Sushumna Nadi, Muladhara, Swadhisthana, Manipura, Anahata, Vishuddha Agnya Chakras are in the spinal cord. The abode of the Supreme and the Anthahkarana are in the brain.

We enter the temple by the front door and stand in Muladhara place. We cannot go on directly to the inner abode of Sahasrara, the place of supreme, as the second door Swadhisthana is blocked by Serpent Kundalini. Since the door of Swadhisthana is blocked, we are traversing clockwise going through Soorya Nadi (Solar nerve) to the place behind the abode of Supreme and from there we come again through the Chandra Nadi (Lunar nerve) to the

Muladhara Chakra, which means we are travelling clockwise round the inner temple. To make a round of the inner temple anti clockwise through Chandra Nadi is against the Sastras (Scripture) which will be explained later.

It will be noticed that the temples have either 3 or 5 or 7 doors and never doors of even numbers. The 3 door temples represent A. U. M. the 5 door temples represent the 5 sheaths of the body, viz., Annamayakosa, Pranamayakosa, Manomayakosa, Vignyanamayakosa and Anandamayakosa and the 7 door temples represent the Shatchakras and Sahasrara Kamala.

'HA' representing Siva is written at the top of the picture of the Universe and 'SA' representing Sakthi below. Just like this in the human body also there is 'HA' (Siva) in the Agnya chakra and 'SA' (Kundalini) in Muladhara Chakra. Siva attracts Sakthi through the Soorya Nadi and Sakthi attracts Siva through Chandra Nadi, which means Siva's attraction draws upwards and Sakthi's attraction draws downwards. By this opposite attractions, the Prana (Vital air) works in the body and the latter functions.

Every living being is subject to his past deeds, which means according to the past, one has to live in this birth. Thoughts and deeds, forces accumulated from several births are called Sanchitha (Deposit of earnings) which is stored in Muladhara chakra. The thoughts and deeds of past births will be in the form of minute energy or in latent form. A small portion out of the Sanchitha (deposit earnings) has been taken for the utility in the present birth. This is called Prarabdha (well commenced and not destructible). The thoughts and deeds of the past birth, which are in the Prarabdha are just like a picture reel of the cinema placed in the Muladhara chakra. The work of this reel will commence

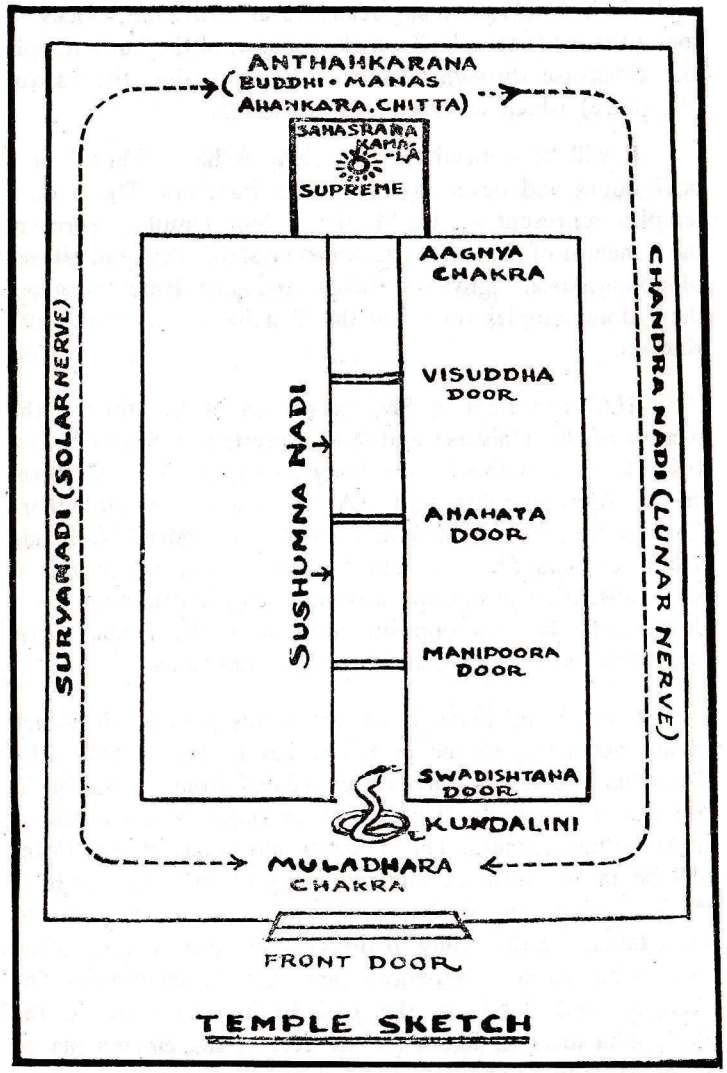

TEMPLE SKETCH

at the birth when the life action sets out and will end when the present life expires.

Wave after wave of thought currents are generated from the Cinema reel of Prarabdha in Muladhara Chakra and this current goes upwards through Soorya Nadi following the attraction force of 'HA' (Siva) enters Buddhi of Anthahkarana and then becomes a Patent idea. The idea that came patent to Buddhi, if it is concerned to a work, the Buddhi will entrust the mind to execute the work through the organs. If the idea came to Buddhi belongs to thoughts only, the idea remains in Buddhi only as knowledge with some changes of improvement or alteration of the idea. Whether it be knowledge or in action the result will not die. It will be seed for the future.

Thought will bring work and work will bring thought. Thought is the origin of work and work is the origin of thought. A man who has become rich, is the result of the thought and the work of previous birth. So the result of thought and work goes on. Therefore, there will be seed of present thought actions for future called Agami Vasana (earnings for future). The result of the present thought and action derived from Buddhi and mind will become again settle down in Muladhara chakra, through the Chandra Nadi in accordance with the downward attraction of 'SA' (Kundalini Sakthi) and joining Sanchitha (the deposit of earnings).

The reel of Prarabdha is the generator in an Electricity Generating station. Surya Nadi is the minus current as the thought force generated in Prarabdha diminished here and goes to Buddhi. Buddhi is like a bulb which radiates light as the thought forces will become visible ideas here. Chandra Nadi is plus current as the result thought forces derived

from Buddhi will be added. Without plus and minus currents, no light could be derived. Hence, there will be some result of thought force derived from Buddhi. Lord Iswara has bestowed the human beings with some will and discrimination. For instance, from the sin of past birth, a thought comes to Buddhi to kill a man. When this thought approaches Buddhi, the Buddhi, from it's will power and discrimination can change the idea of killing and send the enemy off with some abuse. The subjects of Sanchitha, Prarabdha and Agamai are vast ones. Since we are only concerned with the outline of these three for the purposes of Yoga practices, it is not elaborated here.

The wall around Sahasrara Kamala is a disc of Thamas called Karana (Subtle) Sareera, which binds us to stick to the body so as not to be able to expand 'I' knowledge outside the body. This disc will attract Buddhi and Manas and give deep sleep. The currents of thought force that are generated and transmitted through Surya Nadi cannot act on Buddhi during deep sleep owing to Thamas and so thought currents are suspended during this period. In the waking and dream states, the thought forces will be coming to Buddhi continuously without stoppage and rest. Buddhi cannot be free from thought forces and deep sleep of Thamas. It is wrong as some moderners think that thought forces are in the brain mind, accumulated. It will not be possible to get rid of the thought forces from the mind if they are stationarily stored there. Naturally, the mind is pure. The thought forces stored in Muladhara are occupying the mind without rest.

In addition to the bondage of deep sleep, Thamas binds us also from illusion with the strong wrong notion that we ourselves are the body. Rajoguna is called Vikshepa Sakthi which means it is a very powerful and passionate active force, an enemy for liberation, dragging Buddhi and Manas

through the organs of senses and actions towards worldly activity. The two enemies Thamas and Rajas have to be destroyed before attaining liberation which will be explained in the practice of Pranayama and meditation. Pranayama and Meditation practices will be explained keeping in view the temple sketch and the points explained above.

Pranayama

One should commence practising yoga with the firm foundation of extremely intense desire for liberation (Mumukshathwa). Otherwise the coveted union with the Supreme will not be possible. Food and conduct must be governed by the rules of virtue (Sathvic).

The need for the Blessings of the Guru.

Just as any material knowledge is learnt from a teacher, so also Divine Knowledge and in particular knowledge of Yoga through the practice of Pranayama and meditation can be learnt only through the grace of a good preceptor. A person who wants to become a doctor can practice surgery only after learning it well from an experienced doctor-teacher who is an adept in surgery. So also, Yoga Vidya requires practice and experience after initiation into it by an experienced guru. Yoga should not be practised on the basis of merely reading books. Following this principle, Sri Shankaracharya in the first stanza of this Yoga Tharavali makes his prostration at the lotus feet of Sri Sadguru who is rich by the experience of internal bliss. Sri Narada Maharshi also says in his Bhakti Suthras that securing the grace of such a Sadguru is more important than other things. Therefore one practises Yoga after receiving instructions from an experienced Sadguru having earned his affection and obtained the grace of his kindness.

THE PRACTICE OF ASANA (Postures)

The aspirant for meditation should not sit as he likes, but train himself to sit in one of the asanas ordained in the Sastras, viz. Swasthika, Padma, or Siddhasana, choosing the

one that suits him best. Practising many Asanas amounts only to physical exercise and will not be helpful for the practice of meditation. Baddha Padmasana is most suitable and is the best for the practice of Pranayama and Meditation. One sits in Padmasana with chest erect and forward, the back drawn inside, holding with hands the knee joints firmly is called Baddha Padmasana.

THE STATEMENT OF SRI SHANKARACHARYA

सरेचपूरैरनि लस्य कुंभैः सर्वासु नाडीषु विशोधितासु

in the 3rd stanza of this Yogataravali,

ओड्याण जालंधर मूलबंधैरुन्निद्रितायां उरगांगनायां प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां

in the 6th stanza, and

उत्थापिताधारहुताश नोल्कैराकुंचनैः शश्वदपानवायोः

in the 7th stanza deal with Rechaka Puraka Pranayama, and the Sakthi chalana Pranayama leading to the raising of Kundalini with the three Mudras of Jalandhara Uddyana and Mula Bandha.

To begin with, one has to practice Rechaka Puraka Pranayama. This removes the impurities of the organs of the body and the nerves also are purified. After that one should practice Kumbhaka Pranayama combined with Rechaka and puraka. When he succeeds in Kumbhaka Pranayama and the impulses of the breath are reduced, he should practice Sakthi Chalana Pranayama to rouse Kundalini Sakthi. The three Mudras Jalandhara, Uddyana and Mula, highly spoken of by Shankaracharya in stanzas 5. 6 and 8 are practices along with Kumbhaka Pranayama and Sakthi Chalana Pranayama.

The name Mudras derives from (Mudamdravayatheethi mudra) or that which gives delight and bliss, since these mudras remove the forces of ignorance, reduce the wavering of the mind and give rise to internal bliss.

It is better for the beginner to practice for some days 5 or 6 Asanas (postures) such as Baddha Padmasana, Paschima–Thanasana, Maha Mudrasanas, Lolasana, Saravangasana. After finishing the Asana Practice, sitting in Baddha Padmasana, the Sadhaka should place his thumb on the right side of the nose and the third and fourth fingers on the left side of nose to practice Rechaka Pooraka Pranayama. Closing the left nostril, air has to be inhaled (Pooraka) slowly and rhythmatically through the right nostril to the maximum possible extent and collected in the head. Then the right nostril should be closed and the collected air exhaled (Rechaka) very slowly through the left nostril. The process is then repeated in the reverse order inhaling through left nostril and exhaling through the right. The amount of air inhaled is gradually increased through practice. This is Rechaka Pooraka Pranayama. A cup of Water must be taken before commencing the Asanas and Pranayama. During the practice of Asana and Pranayama the organs will be rubbed by air from the friction produced by the air heat increases. By the help of air and heat the water that was drunk rubs the organs and washes and removes the Rajasik and Thamasic impurities of the organs and make them clean (Sathvic). This process is called Dhowthi Kriya that is cleaning by air heat and water. This method is superior and easier than the one prescribed in Hata Yoga.

In Rechaka Puraka Pranayama there is no Kumbhaka (stopping), hence no danger. The impulses of the breath are lowered. Diseases are uprooted. The nerves are purified, and a purified mind receives the strength to concentrate on the

Divinity which is the object of meditation. By intense practice of this Rechaka Pooraka Pranayama the Kumbhaka Pranayama is easily accomplishable and it is also very helpful for Sakthi Chalana Pranayama. There is another kind of Bhasthrika Pranayama similar to Rechaka Puraka Pranayama. This is also good and may be learnt from Guru. By exclusively dwelling on Pranayama only for a period of two or three years, after understanding it correctly one can secure success in Pranayama. This need not be continued throughout life. Even after securing success in pranayama the practice of rechaka and puraka pranayama is good for maintaining health.

Sakthi Chalana Pranayama (rousing of Sri Kundalini) is of a peculiar and special nature and not so popularly known as it is only very abstractly stated in Upanishath. Swami Vivekananda has very briefly mentioned about this pranayama in his Raja Yoga book. Since my revered Guru Sri Sambhasivananda Theertha Swamy who was residing at Sringeri has shown the way of this pranayama to me and I am writing here prostrating at his feet.

वज्रासन स्थितो योगी चालइत्वातु कुण्डलीं ।
कुर्यादन्तरतो भस्त्रीं कुण्डली माशुबोधयेत् ।।

Yogasikhopanishath

Purport :– The Yogi sitting in badda padmasana should disturb the Kundalini rousing her by Anther bhastrika pranayama of air blowing nature inside the body.

The following authority of Yogapradeepika by Swathmarama Yogi enlightens in more detail about the above stanza.

अवस्थिता चैव फणावतीसा ।
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रं ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधान युक्त्या ।
प्रगृह्य नित्यं परि चालनीया ॥

Purport :– The serpent Kundalini in the Muladhara has to be moved and roused by filling the air in the Surya Nadi, taking it forcibly downwards to Muladhara Chakra and then bringing it through the Chandra Nadi to the neck both morning and evenings for a period of two Muhurthas (forty eight minutes).

Nose has no work in the Sakthichalana Pranayama. Breathing in and out in Sakthi Chalana pranayama is not the work of the nose. It is the work of the air that is in the body below the neck. The air of the left lung side should be drawn two or more times with noise produced in throat to the right side and push the same downwards forcibly in the Surya, nadi by bending the head to the right and bringing the shoulder down, which helps to force the air to go to the Muladhara Chakra. After reaching the Muladhara push the air to Chandra nadi which is in left side and bring the air upwards to the neck in the Chandra nadi only. This will be one round. The above process is the definition of Paridhanayukthi (going round the circle) mentioned in the second stanza. Pushing the air like bellow-blowing is the definition of Bhasthrika in the first stanza.

The above process Rechaka pooraka pranayama in the Sakthi Chalana has to be practised for sometime till it is mastered well. Next the air taken to Muladhara from Surya nadi should be stored in Muladhara and Kumbhaka made. Prior to Kumbhaka practice rubbing in Muladhara from right

to left must be done many times. By the practice of Kumbhaka and rubbing, the fire in the Muladhara will flare up and the Kundalini Sakthi will be roused. After Kumbhaka the air should be brought to the neck through the Chandra nadi. At the close of Kumbhaka Uddyana mudra has to be performed. The rousing of Kundalini through the action of air and fire as noted above is confirmed by the authority of Thrishathi, brahmonopanishath and Darshanopanishat as already quoted.

Sri Shankaracharya also says in stanza 7 of Yogatharavali "Vutthapithadhara Huthasanolakaihi" which means flames of fire are started at Muladhara Chakra. A picture of lotus flower plant is given here. In that picture the flames of fire at Muladhara Chakra are shown.

In the picture, Swadhisthana Chakra is shown above the Muladhara Chakra. This Swadhisthana Chakra is within egg shaped bulb. This shape is called Kanda. Kanda means a vegetable just like Beet Root of Knoll Kholl. There is a Kanda at the bottom of the lotus flower plant with numerous roots as shown in the picture. Kanda Dhynabindoopanishath describes this as

ऊर्ध्व मेद्रादधोनाभेः कन्दयोस्ति खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यस्समुत्पन्ना स्सहस्राणिद्विसप्तति ॥

Meaning :– Between the penis and the navel there is a Kanda of an egg shape. There are 72,000 Nadis which rise from the Kanda.

The roots shown in the picture are Nadis. The stem of the lotus- flower plant is in the middle of the Kanda from the bottom to the top as shown in the picture. The stem is called Sushumna nadi. This has been confirmed by Darshanopanishat authority as

"कन्दमध्यस्थितानाडीसूषुम्नेति प्रकीर्तिता"

Meaning :– The Nadi that is in the middle of the Kanda is called Sushumna.

Sri Kundalini Sakthi is blocking the passage of Sushumna at the bottom of the Kanda by keeping her face at the entrance which is shown in the picture as per authority of Yogakundalyupanishath.

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतंतु निभाशुभा।
मूलकन्दं फलाग्रेण दृष्ट्वा कमल कन्दवत्।
मुखेन पुच्छं प्रगृह्य ब्रह्मरंध्र समन्विता।

By pushing the air forcibly like bellow-blowing, to the Muladhara Chakra the Kanda gets shaked well and by this the Kundalini sakthi awakens. Because the friction created by rubbing at Muladhara the fire Garhapathyagni blazes and the Kundalini is aroused.

The reason for taking the air anticlockwise from Surya nadi to Muladhara and from there to neck through the Chandra nadi is to reverse the gravity of existence. The rousing of Kundalini also serves the same purpose. After Pranayama meditation has to be commenced. From the commencement of meditation up to the realisation of Parabrahman the existence is reversed. The thought forces (Agami Vasana) derived from Buddhi Transmitted to Muladhara to be stored with the Sanchitha (previous deposits) will be cut off and burnt at Muladhara Chakra.

Thought forces derived from Buddhi will, therefore, be burnt and will not accumulate for future to those, in whom the Kundalini is aroused. The moon is shown at the bottom

of Cosmos picture near Bhoohu (Muladhara). In human body also the moon is situated close to Muladhara Chakra and protecting the increase of thought forces by plus current. The moon is also manifestation of Parasakti. As the Kundalini has been roused, the moon also combines with Kundalini Sakthi and mounts up in Sushumna Nadi to form the direct current. From the moon's combination with Kundalini there will be no facility for the increase of thought forces; which means that Agami Vasana thought forces will be burnt at Muladhara.

The Sanchitha (Deposits) and Prarabdha thought forces will not be destroyed now. Sanchitha will only be destroyed at the realisation of Parabrahman in Samadhi, because he will then have no re-birth and so Sanchitha will have no scope and be burnt in the Samadhi by gnyanagni (Supreme fire) Prarabdha contains allotments of thought and deed forces for this life. Allotments are in accordance with the length of life. Living is only possible in accordance with allotments and so Prarabdha will not be destroyed till one's death. The duration of Samadhi may be from one minute to one thousand years, which means a man may be in Samadhi State even one thousand or more years which will not be counted towards the age limit of Prarabdha, but when he comes down from Samadhi to worldly state the age limit of Prarabdha will be counted. It is, therefore, that Prarabdha will only be completed at the death time and not earlier.

All the above explanations given about Prarabdha Sanchitha and agami are verified in the following quotation of stanza 45 of Viveka Choodamani by Sri Shankaracharya.

प्रारब्धं बलवत्तरं खलुविदांभोगेनतस्यक्षयः।
सम्यक् ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राकसंचितगामिनां॥

ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्यतन्मनतयायेसर्वदासंस्थिता ।
स्तेषांतन्त्रितयं नहिक्वचिदपि ब्रह्मैक्यतेनिर्गुणं ॥

Purport :– Prarabdha. the very forceful, will not be destroyed even for the man who has realised Parabrahma, just like Sanchitha and Agami. The realised man also should experience the Prarabdha, but so long as the man is in Super consciousness being himself Supreme the Prarabdha cannot act in the such state. Bhagavadgita Statement "Gnyanaagnihi sarva karmani Bhasmasath Kurathe thatha" which means supreme fire will burn all the Karmas. Prarabdha karma cannot be burnt, Thought it exists after realisation since it cannot give fruit for further birth it is to be considered as burnt.

आधार शक्तिनिद्रायां विश्वं भवतिनिद्रया ।
तस्यां शक्ति प्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते ॥
सृष्टि राधरा माधारमाधारे सर्वदेवताः ।
आधारे सर्ववेदाश्च तस्मादाधारमाश्रयेत् ॥

Yogasikhopanishath

Purport :– As long as the Parasakthi Kundalini is sleeping in the Muladhara closing the Brahma randhra Nadi the world also is sleeping. (This means that as long as the Kundalini is asleep we cannot escape the bondage of the external world). If that Kundalini Sakthi is awakened, we shall know all the three worlds. i. e. we shall understand how to perform the Omkara meditation which consist of *Aa, U and Ma*. The foundation of creation is the Muladhara Chakra. (The procreating organs in men and women belong to the region of Muladhara). All the Gods dwell in this. All

the Vedas reside here. Therefore we must take shelter in the Aadhara Chakra.

Bhavanopanishath says "Kundalinee Gnyanasakthi Gruham" which means Kundalini sakthi is the abode of Divine Knowledge. In conclusion of the subject of sakthi chalana Pranayama the above authority is given. It gives a clear idea of the greatness of Muladhara Chakra and Kundalini Sakthi. There is a statement about seven Mother Powers such as Brahmi etc. in the EXISTING CHAPTER pointing the jurisdiction of the Mother Powers. It has been pointed out there that all the seven Mother Powers are in Muladhara in combination. This will also add to the greatness of Muladhara and Kundalini Sakthi. The object of keeping Kundalini her head inside the Sushumna is to show that she is not concerned with, or attached to worldly affairs. Sushumna nadi passage is a divine one and she mounts up in it to join her Lord at Aagnya Chakra.

Before commencing Meditation Chapter some important points have to be made clear. It is stated that Kundalini Sakthi is blocking the sushumna nadi at the bottom of Kanda. Kanda and the Swadhisthana Chakra are one and the same as shown in the picture. The Kundalini Sakthi keeps her head at the Sushumna door situated in Swadhisthana and her body is in the Muladhara Chakra and so she is connected to both the two chakras. Authorities say that Kundalini Sakthi is situated at the peak of the Muladhara Chakra. Vyasa Maharshi says in 'Lalitha Sahasranama Sthothra'

"मूलाधारांम्बुजारूढा"

(Muladharambujaaroodha).

Sri Shankaracharya says in Yogatharavali

त्रिकूटनान्निस्थिमितेन्तरंगे

(Thrikootanamnee sthimithentharange), which means the 3 Nadis that is Surya, Chandra and Sushumna join at Muladhara which is called Thrikoota.

"Thaithareeya Sruthi"

उत्तमेशिखरे जाते भूम्यां पर्वत मुर्धनि

Which means Kundalini resides at the peak of the mountain of Muladhara which is earth (Bhooloka). From all the above authorities it is confirmed that the Kundalini Sakthi resides in the joining place of Muladhara and Swadhisthana Chakras as shown in the picture.

A picture of the lotus–flower is used now in this book. All Chakras, names are in Sanskrit language. The petals of chakras are Alphabets the details of which are in the EXISTING CHAPTER. The stem at the top ends in the flower and joins with Karnika which is in the centre of the flower. All the petals of the flower are connected to this Karnika. The Karnika place is the abode of Parabrahma and is called Sahasrara Kamala. Some of the important essences of the Thaithireeyopanishath are written in Sanskrit at the top of the picture which are explained below as they are of some benefit.

निहितं गुहायां

(Nihitham guhayam)Resides in the cave. Parabrahma resides in the cave (Sahasrara). It is called cave because it is in the inside of the five sheaths. (Kosas). Parabrahma is all pervading and there is no Definite place for him, but since man can realise him only in Sahasrara Kamala place it is stated that Sahasrara Kamala is the abode of Parabrahma.

अन्तर्हृदये

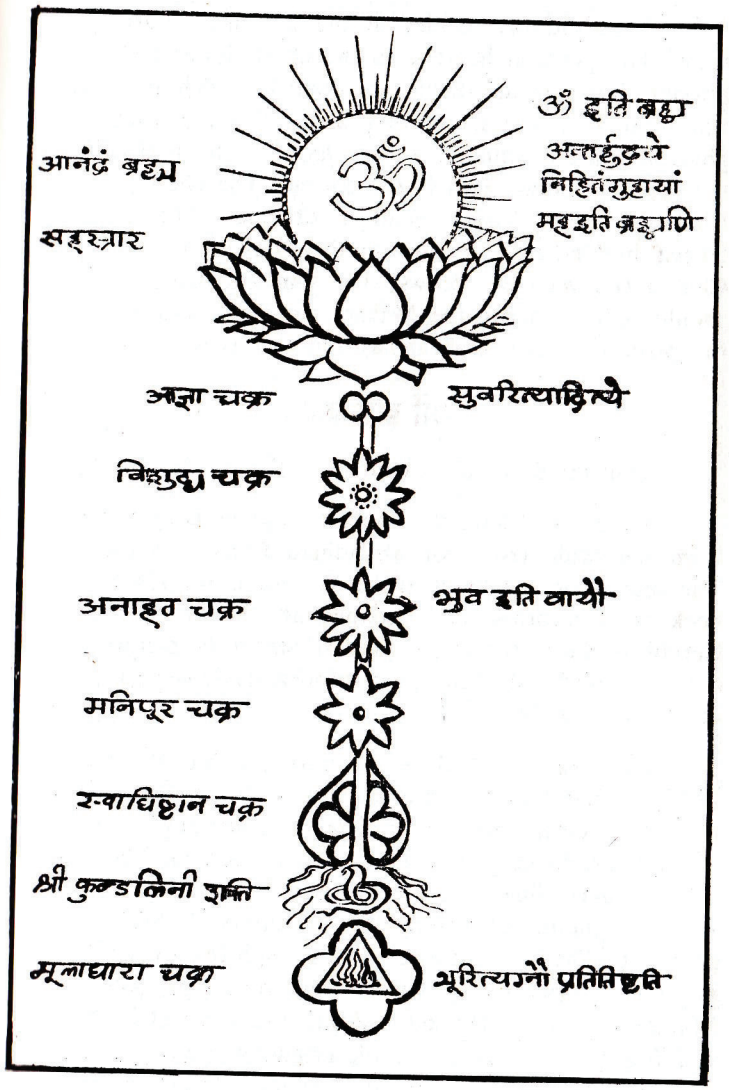

(Antarhridaya) resides in the innermost part of the heart. The physical heart is in the chest. Innermost of this physical heart means Sahasrara Kamala which is heart of hearts. Some are under the impression that the place where physical heart is situated is the place for the realisation of the supreme being. This is not correct. The chest (Anahata Chakra) where physical heart is situated is the place of **Ukara** in **Omkara. Makara** in the Omkara in the Agnya Chakra (between eye–brows) The Omkara place, therefore should only be above the Makara and Sahasrara Kamala is the place of Om (Parabrahma) and that is why

ओं इति ब्रह्म

(Om ithi Brahma) is written on the top in the picture.

A picture of human Vertebrate is given here. It extends from the Mula (root) or Muladhara Chakra to the neck. The spinal cord attached to the Vertebrae extends from the neck to Cerebrum bulb connecting the Vertebrae and Cerebrum. Lotus-flower has been shown in the picture where cerebrum bulb is and this place represents Sahasrara Kamala abode of Parabrahma.

Vertebrae the stem of the body is called Meru Danda in Upanishadand is an important one. It has been divided into 24 vertebrae and bears the names, Lumber – 5 belonging to the loins, dorsal 12 belonging to back, Cervical 7 belonging to neck according to anatomy. The 24 parts of Vertebral column contain the essence of 24 letters of Sri Gayathri Manthra. There are three planes spiritual, psychic and physical. Spiritual is Divine Suddhasathva, psychic is Malinasathavaguna (Mixed Sathwa) and physical is Thamas and Rajogunas. Spiritual is the origin for both psychic and physical and so the 24 Vertebral columns and the Sushumna

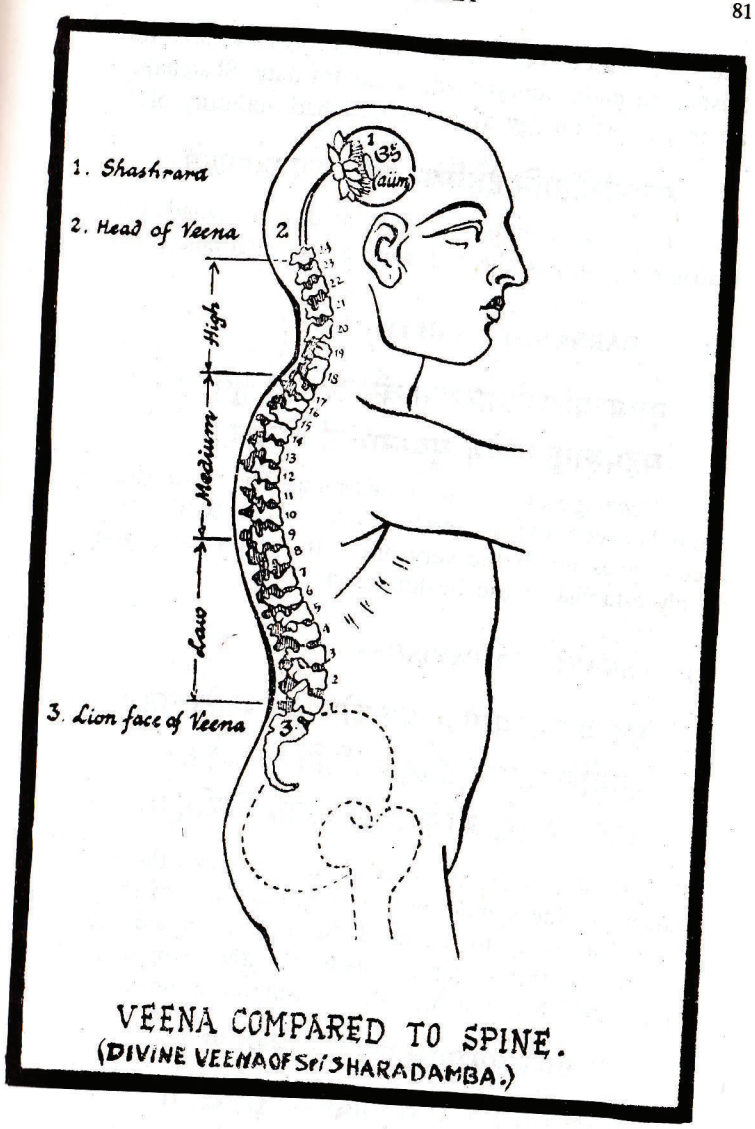

VEENA COMPARED TO SPINE.
(DIVINE VEENA OF Sri SHARADAMBA.)

nadi are based on the 24 letters of Gayathri Manthra. Sushumna nadi, Soorya nadi, Chandra nadi, Shatchakras are all in psychic energy as per Upanishad authority of

स्थानांन्येंतानि देहेस्मिन् शक्तिरुपं प्रकाशते

The same Vertebrae is also called Veena Danda (musical instrument) as per the following Sruthi citations.

(1) DARSANOPANISHATH:

पृष्टमध्यस्थितेनास्थना वीणादण्डेन सुव्रत ।
सहमस्तक पर्यन्तं सुषुम्नासंप्रतिस्ठिता ॥

Meaning :– O, man of learning! The cord that rises from between the posteriors even like unto the trunk of Veena goes up to the very brain. Inside this cord you find firmly established the Sushumna nerve.

(2) SHANDILYOPANISHATH:

गृदस्य पुष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डस्सदेहभृत् ।
दीर्घास्थिदेहपर्यन्तं ब्रह्मनांडिति कथ्यते ।
उच्चारयेत्परां शक्तिं ब्रह्मरन्ध्रनिवासिनीम् ॥

Meaning :– At the rear of the posteriors there rises a straight nervine spinal cord even as the trunk of the Veena which reaches up to the head. Inside this nervine cord one must locate the sushumna nadi; in other words, on the Omkara which is the mysterious primeval sound.

मूलाधारात्सुषुम्नाच पद्मतन्तु निभा शुभा ।
अमूर्ते वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः ॥

Meaning :– The nervous tendril that Uprises from the Muladhara as Sushumna nadi is as fine as a lotus filament and full of bliss–giving potency. There vibrates in this mysterious cord the infinite primeval sonance even as gross sounds issue from the strings of the Veena.

There are 24 mansions in the Veena which are based on the essence of Gayathri Manthra. The seven Mother Powers (Saptha Mathrukas) manifest in seven musical tunes as explained in the statement given in the **Existence chapter**. These have also occupied the 24 mansions of the Veena. There are four strings on the Veena: they represent four Vedas – Rig, Yajus,Sama,and Atharvana. These are explained in detail with necessary pictures in detail in the book *"The greatness of Devi Sri Sharadamba" (The eternality of the Veda (Knowledge) and Veena (Sound) written by the same author).*

The Veena is the Symbolic embodiment, visual and manifest, of the powers which have entered into the creation of both the macrocosm and microcosm. Since man is not the author of his own format but divine agencies, he is really the esoteric Veena. Man's creation of the Veena naturally follows the constitution of his own physical and physio–psychical being. Sayings of the Sruthi support us here: – (In the fifth chapter of the Second part of "Ithareyaranyaka" it is said) : –

अध खल्वियं दैवी वीणा भवति ।
तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति ॥

Meaning :– The Sushumna nadi which is in the spinal cord on the bed of Vertebrae is Divine Veena. The Veena played upon by man has been fashioned analogously on the

Divine Veena of the human body.

The object of explaining all the above is to show the bliss giving potency of Sushumna nadi which contains the essence of Gayathri Manthra.

The Aspirant who wants to realise Supreme Being by meditating on Omkara Divine sound should have initially earnest devotion to Gayathri Devi and Sri Kundalini Sakthi(Sandhya Devi) by whose grace and blessing the aspirant, commencing from the bottom most rung which is Mooladhara Chakra can go up the ladder (Sushumna nadi) to the top rung which is Supreme Parasakthi in Sahasrara Kamala. This is the real essence of Sri Vidyopasana.

Meditation

The subject of meditation is explained following the Kundalini ascending in the Sushumna nadi from Muladhara to Sahasrara keeping in picture of the Temple also. Meditation should be done either in Baddha Padmasana as prescribed previously or in Siddhasana. Shastras (text) in one place say "meditate," and elsewhere "meditate with the help of Pranayama". To arouse the Kundalini and to realise Parabramha by the process of meditation only will take very very long time-even life time-and hence it has been followed in this book, meditation after Pranayama which is a more scientific way and the method is appreciated even by Sri Shankaracharya in the Yogatharavali. The object of writing this book also is to explain the greatness and fame of Parasakthi Sri Kundalini.

Intense devotion to Parabrahma, intense renunciation of the body and worldly affairs, mature knowledge that "I am the Parabrahma" and not the body and the help of breath and prana (vitality), these qualifications are very essential for meditation and realisation of the Supreme through meditation. How to meditate is the next question. Sit in Baddha Padmasana or in Siddhasana, bring your Buddhi and mind (knowledge and action power) back which have spread through the sense organs to the place between the eye brows for meditation. This is the ordinary way of meditation. A more scientific way is to recite the Omkara syllable sound inside, closing the lips, drawing the sound upwards from Muladhara chakra and bring the same through the throat to the inside of middle of eye brows (Agnya chakra) for meditation. While bringing the sound from Muladhara to

Agnya chakra the air in the body should also be joined as far as possible with the sound of Om. Yogakundalyupanishath and Bhagavadgita also advise to meditate with Omkara sound.

कुण्डल्येव भवेच्छक्ति स्तान्तु संचारयेद्बुधः ।
स्वस्तानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालन मुच्च्यते ॥
त्तसाधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनं ।
प्राणरोध मथाभ्यासा द्दज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥

Purport :– The learned man must make the Kundalini move. This movement consists in making this Kundalini power leaves its original place called Muladhara and enter the region between the eye brows. To achieve this, two processes are necessary. The first is Pranayama, the second to make Saraswathi chalana, which means the practice of Omkara. As the Saraswathi is the governing energy of Omkara sound it is called here as Saraswathi chalana. If sakthichalana pranayama is practised the Kundalini who is sleeping curled up awakens and turns upwards.

"ॐ इत्येवं ध्यायथात्मानं
स्वस्तिवः पारायतमसः परस्तात्"

Mundakopanishath

My dear disciples; Meditate on the Atman (Supreme self) with Omkara, Let the darkness of ignorance go. Let there be no hindrance in your realising the Supreme Being. May you be blessed.

After bringing the Omkara syllable sound with air to Agnya chakra (between eye brows), stop the sound with air as is done in Kumbhaka pranayama, then make Jalandhara Mudra (keeping your chin firmly above the chest near the

throat), then keep the eye lids half closed and assume smiling face as there should be no stiffness in the face. Closing the eye lids completely will be Thamas and gradually drags to sleep. Similarly full opened eyes will indicate passionate Rajas, half opened eyes indicate Sathwa and so, for meditation half opened eyes are necessary.

What to meditate about is the next question. There is duality (Thriputy) of meditator, meditating, meditated. There should be some object for meditation. Supreme consciousness will not come to the grip of the meditator's knowledge. Salt will be absorbed and becomes itself water if salt wants to go to the water. Just like this, meditator's knowledge will become Supreme knowledge when it is contacted. This is the higher and last stage of meditation. Since we cannot get this stage in the beginning we must have some object in the beginning. Out of the five elements earth, water, light, air, ether, the light is the only suitable object for meditation. We will only get the blissful moonlight for our meditation at the higher stage and not in the beginning. In the beginning of meditation there will be some dusk of Thamas and so the meditator imagines Sun's light which is at the time of dawn and grasping it he should meditate for some days. After some days the meditator will get inside and see the light of rising Sun at dawn in a global form. This light is called Bindu as it will be like a globe which is part of Omkara consisting of Bindu, Nada, Kala.

There are three forces which obstruct the practice of meditation. They are thought forces (Vasana) of Prarabdha generated at Muladhara and continuously coming to Buddhi, the very powerful passionate energy force (Rajoguna or Vikshepa sakthi) and Thamoguna. Rajoguna which is against liberation will drag the Buddhi towards organs of sense. Thamoguna will give darkness and dullness. By the function

of the above three the breath cannot be steady. Buddhi, knowledge power should hold firmly grasping the meditated object of light resisting all the opposite forces. By this tug of war and instability of breath, the Buddhi will have to leave the grip of meditation and come out several times. Making Omkara sound again meditation has to be recommenced. One should practice meditation as many times as possible according to his ability. Following meditation each time Uddyana mudra should be practiced at the end. Uddyana means "uth di yana". Udyana Mudra helps to mount up Kundalini upwards in the sushumna Nadi by which the practitioner will advance much in meditation.

As the practice of meditation advances the Kundalini breaks the Swadhisthana and mounts up to Manipoora Chakra. In other words the Kundalini breaks the doors of inner (middle) passage of the temple and stays at Manipoora door. What experiences will the meditator have in this stage is explained below. In the beginning he was meditating in the dusk which will be before the dawn of the Sun. After the increase of practice he will have the rising Sun of 6 A.M. in a global form which is called Bindu to Omkara. As the meditation still advances he will now come to the light of the Sun at 10 A.M. and this signifies that he has broken the Manipoora chakra door. There will be no dusk or darkness in this stage and the inside light will be as Sun shines at 10 A. M., which means the trouble of Thamoguna completely disappears in the practitioner as he stays in Manipoora as that chakra belongs to Thejastatwa (Fire).

It is now necessary to know the essence in this place of the wordings of Sri Shankaracharya in the twelfth stanza of Yogatharavali "Prabhudha kundalyupabhuktha sesha", which means the life-breath plus the knowledge current of Buddhi enters the Sushumna Nadi to the extent that the

Kundalini sakthi has gone upwards in the Sushumna Nadi, and the remaining life breath and the current of Buddhi becomes concentrated to the meditated point in the middle of eye brows; that means the knowledge current of Buddhi is able to go by the help of plus current of the Chandra Nadi to the Muladhara and from there enters Sushumna Nadi as the Chandra the master of Chandra nadi is also now with the combination of Kundalini sakthi in Sushumna Nadi.

As the Kundalini mounts up and up in the Sushumna, the knowledge current of Buddhi with life-breath will also go up and up. When the Kundalini mounts to sahasrara (Supreme) the flow of the current of Buddhi will assume the form of Ekagratha, which means the current of Buddhi will flow like unbroken flow of water or oil to the Supreme and merge there. This is the realisation of Supreme one has to get for liberation. One has to study and understand all the above points with the aid of the temple sketch.

यत्कुमारी मन्द्रयते यद्योषिद्यत्पतिव्रता ।
अरिष्टं यत्किंचक्रियते अग्नि स्तदनुवेधति ॥

(Yejuraranyaka sruthi)

Purport :– The Kundalini Sakthi has three stages. In the childhood she gets up from deep Yoga sleep and is associated with the Mandra tone of Omkara. When she is a girl in her teens, she is with omkara-Nada, In her married state with Iswara she is of the Kala form. And when she with her Lord has realised the Supreme by name Chidagni what evil can effect? Which means there cannot be any evil.

Skanda Purana says that Parasakthi incarnated as the daughter of Parvatha Raja (King of mountains) and wedded

with Siva. The esoteric meaning of this is that Parasakthi Kundalini incarnated at the peak of the mountain of Muladhara chakra is going to join her Lord Siva at Agnya chakra. The sound of Omkara will be in Mandra state in this stage of meditation, which means the sound will be in low pitch not audible. In Anahata chakra it is audible.

From the further practice of meditation with Jalandhara and Udyana Mudras the Kundalini sakthi proceeds further and mounts up Anahata chakra. This Anahata chakra is also called Hridaya Kamala, because Anahata chakra is in the spinal chord near the physical heart in the Chest, it is also called Hridaya Kamala. So many think that the realisation of Supreme is in this Kamala. It is a mistake, because this Anahata chakra is the place of Ukara in Omkara. Makara of Omkara is in Agnya chakra and so to be called Omkara the Ukara must go up and join Makara. To become Omkara, Ukara joined with Makara must go to Sahasrara, the place of Om (Supreme). From the above explanation it is clear that the realisation of Om (Supreme) is in the Sahasrara Kamala. Sri Vasishta Maharshi has also explained as above in Upashama Prakarana of Yoga Vasishta and therefore Hridaya Kamala (Anahata) which is in the chest can be called as Heart of physical body and the Hridaya Kamala (Sahasrara) can be called as Heart of mental body or heart of heart.

As per authority of Thaithireeya Sruthi "Hridayan-chapyadho mukham" the Lotus of Heart (Anahata chakra) is now facing downwards. The Okara energy of Omkara which is in Anahata is also made to turn for downward action so as not to go towards Makara. The Sun of the Cosmos is shown in the picture of Cosmos in the Anahata chakra (Vayu mandala). The Sun of the human body is also situated in Anahata chakra. The Suns of the Cosmos and

human body are turned downwards and the rays of the Sun therefore, shine downwards only in accordance with the energy of Okara. All the above facts will be confirmed by the following two quotations.

ज्ञानिनामूर्ध्वभागो भूदज्ञाने स्याददोमुखः।
एवं वै प्रणवस्तिष्टे द्यस्तं वेदसवेदवित्॥
अनाहत स्वरूपेण ज्ञानिंनामूर्ध्वगो भवेत्।

(Yogachoodamanupanishath)

The Omkara will be in upward force to (Gnyani) realised one, and in downward force to (Agnyani) unrealised one. One who knows the upward force of Omkara is the only one who can be called (Gnyani) realised one. By turning the downward bend by Okara to the upward direction to join the Makara it will then become Omkara.

अधोमुखन्तु हृत्पद्म मुद्धृत्य प्रणवेनतु।
गत्वातु पद्मकोशान्तमेकस्सेव्यो पुनः पुनः।
ततः पश्चाद्भवेत्पद्मं सर्वगात्रसुखावहम्।

(Teachings of Sri Krishna to Arjuna in Uttharageethe)

Purport :– The heart lotus which is in downward force should be turned upwards from the practice of Omkara meditation, reach the destination of Sahasrara (Supreme) and there one should prostrate to the infinite and blissful Supreme.

Kenopanishath says "Thaththepashyami Yosavasow purushassohamasmi" and Mahanarayanopanishath says "Yeshontharadithye hiranmaya purushaha"

"तत्ते पश्यमि योसावसो पुरुषस्सो एवाहमस्मि"

which means O Sun, the Supreme is in your inside and your rays are covering it, and so kindly remove your rays to go to Supreme. It is therefore from Omkaropasane the Sun's rays will disappear. In greatness, next to Muladhara chakra is Anahata chakra. The practitioner should humbly and devotedly be praying the Universal mother Sri Kundalini Sakthi to bless and to make the way easy. By this prayer she will help her child, the practitioner should humbly and devotedly be praying the Universal mother Sri Kundalini Sakthi to bless and to make the way easy. By this prayer she will help her child, the practitioner, by removing the obstacles in the way of liberation.

The Anahata chakra belongs to Vayu thathva and therefore the breath comes to control, which means automatically the breath stops without the compulsion from this chakra and onwards. This is called Kevala Kumbhaka. This Kevala Kumbhaka state has been very much appreciated and even said that it is wealth earning in stanzas 8, 9, 10, 11 and 12 of Yogatharavali by Sri Shankaracharya.

In the Anahata the Divine and holy Omkara sound is generated. The aspirant who was meditating till now with the recital of the syllable of Omkara now pierces the Anahata chakra listens to this holy and Divine Omkara sound. Any sound that we hear in this world is obtained by the impact of one thing upon another. Hence it is called Anahata sound. The Omkara sound is Divine one and is called Anahata sound, because it is formed by itself without the impact of two things. When the Anahata chakra is pierced through meditation this Omkara sound takes birth spontaneously. In the beginning of meditation the Sun was like a red globe and now in Anahata chakra the Sun will be dazzling like

the mid-day Sun. The Buddhi's knowledge current which was partly focussed between the eye brows in meditation of the globe of the Sun and partly entering the Sushumna Nadi along with the Kundalini is now completely in the Anahata chakra. Since the whole current of knowledge of Buddhi will be in Anahata chakra in the illumination of Sunlight, the aspirant feels now that he has no physical body and that his body is luminosity of Sun. The Omkara sound also is spreading in this illumination of Sun.

The Buddhi's knowledge current will have to meditate on the Divine Omkara sound. The bliss that arises in the heart of practitioners by following the Divine Omkara sound is indescribable. The bee-sucking honey from the flower is unmindful of its fragrance. Likewise at the stage of practising Divine Omkara sound, the Buddhi is unmindful of thought forces of Prarabdha Karma and also conquers the Rajo guna force which was dragging the Buddhi to the organs of senses. THE KUNDALINI SERPENT SPREADS ITS HOOD BROADLY, JOYFULLY SHAKING ITS HEAD IN THE DIVINE OMKARA MUSIC SOUND AND DELIGHTEDLY GOING UPWARDS IN SUSHUMNA TO JOIN HER LORD IN AGNYA CHAKRA. Sri Shankaracharya has praised much and saluted respectfully the Divine Omkara sound in stanzas 2, 3 and 4 of yogatharavali.

There is another important thing pertaining to Anahata chakra. The aspirant was practising Jalandhara, Udyana and Mula Mudras from the commencement of meditation to help the meditation. The practice of these Mudras is not necessary hereafter as the fruit has been derived from their practices. Sri Shankarabhagavathpadacharya states in stanzas 5 of Yogatharavali that a person perfected in the practice of these three Mudras will be free from the cruel cord of death. That means if the aspirant could not continue further practice till

the realisation of the Supreme in this life, owing to some unavoidable circumstances or disability, he attains the Supreme at the time when the body expires, due to the natural focus of the energies from foot towards the spot between eye brows (Vignyana maya kosa) where the life extincts. The Kundalini taking this focus opportunity she mounts up to Sahasrara Kamala and blesses the aspirant with realisation of Supreme.

By the continuation of the meditation of the Divine sound of Omkara the Kundalini Sakthi mounts up to Vishuddha chakra and from there to Agnya chakra. The Significances are that the mid- day Sun luminosity that was at Anahata chakra begins to decrease, vanishes as it is in the sunset and comes to the former state Agni and then merges in Kala in the course of meditation reaching Agnya chakra. The Divine Omkara sound also will become feeble and vanishes as it commences to become silence at Agnya chakra where the Kala stage begins. At the time the meditator loses the object of sound and sunlight for meditation he should firmly sink in Samadhi that he is Brahman himself. When the object disappears the work of meditation also disappears and only meditator remains, which means pure 'I' knowledge remains. The stage of pure 'I' knowledge is in Agnya chakra or Kala stage. In the Kala stage there will be lunar luminosity which is delightful, blissful and is mingled with the rays Amritha (nectar).

Pure 'I' state is only Iswara state and not Supreme (parabrahma) state. Though is no bondage of Avidya (ignorance) in the Iswara state, the aspirant should attain the Supreme state (parabrahma) which will be the complete liberation. To attain this, the 'I' (Aham) knowledge must join the Kundalini sakthi which are practically one and the same. The Kundalini sakthi takes into its grip all the active

forces of the body such as five Pranas (airs), working energies of all the organs and merges in the Supreme. In other words, all the working forces without dissociating with their original places flow with Kundalini sakthi like a continuous flow (Thaila Dhara) without breaks to the Supreme and merge there. This state is called Pranava as per Atharva Shikhopanishath "Pranan sarvan paramathmani pranama yathi ithye thasmath pranavaha"

प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणाम यति इत्येतस्मात् प्रणवः ।

Till the body exists all the active forces of the body should exist and therefore without dissociating from their original place they will be flowing with Kundalini. When the body expires they dissociate from their original place, flow to the Supreme and be absorbed there. Sri Shankaracharya has explained this realisation state in 15 stanzas from 13 to 29th in Yogatharavali from which the greatness of realisation will be cleared.

This state of realisation may last from one minute to one thousand years or more in accordance with the wealth of knowledge, intense devotion, intense renunciation that one has earned in previous births, and also the increased period of practice of Samadhi even after realisation in this birth. If the thought forces of Prarabdha Karma are very powerful towards worldly activity and if the strength of body is in a deteriorated condition it is not possible to remain in Samadhi state. The route of the Chandra Nadi and Sushumna Nadi will be rough and narrow in the first instance. Even after realisation rigid practice of Samadhi for sometime will widen the passage in the Sushumna and make a highway to enable the Buddhi to go easily to Sahasrara which will bring the fruit of Yoga Nidra (To enjoy the State of realisation for longer period and for years without body knowledge) as

described in the 25th sloka of Yogatharavali of Sri Shankaracharya. Whenever the man comes down from realisation state to worldly consciousness Sri Kundalini sakthi brings all the active forces of the body which were under her grip during realisation keeps them in their respective places of the body for the work of body and outside. If a man goes to Samadhi state fifty times in a day the Kundalini sakthi also takes in her grip all the active forces of the body to go to the realisation state fifty times and returns back fifty times. Let the reader know the fame and greatness of Universal mother Sri Kundalini. If a man is in realisation for one thousand years she will be in that state for one thousand years and then comes down. Let the reader refer the explanation given to the Hymn of Uttishta Devi in the beginning and apply that to the above explanation to understand it well.

The samadhis like Sitting in the box with closed lids and being buried underground for a limited time, that are exhibited in the world, which receive the admiration and applause of the multitude are all borne of Thamosakthi and are not the spiritual Samadhi referred to in this book.

What is the condition of the physical body during the period when it was in realisation state for one thousand Years? The physical body will neither die nor deteriorate. Who will protect them? The Saptha Mathruka Seven Mother powers, the subject explained in the Chapter on "Existence" will protect the body consisting of six elements, Maheshwari protects Sookshma sareera (subtle body) Kowmari protects Akasha (ether), Vaishnavi protects Vayu (air); Varahi protects Agni (fire), Indrani protects Aapaha (water), Chamunda protects Bhoomi (earth), as they are the governing energies of these elements, Their governorship came in the creation itself and as such their duty is to protect according to the

law of Parasakthi. Who will nourish the body? The nectar (Chandra Kala) that is at the lotus feet of Parasakthi in Sahasrara Kamala, as stated by Sri Shankaracharya in Soundarya Lahari, which has been quoted for some other reference in Pranayama chapter, will nourish the body. In ordinary men also nectar drop will come to the body now and then but the Sun in the body burns them and therefore old age and deterioration to body will occur. There is Upanishad Authority for this. There is no Sun in the body in the realisation stage to burn the nectar and so some drops of nectar are quite sufficient to keep the body for one hundred years. Why the body will not become cool as it is in the dead body? Agni especially Gnanaagni will be in its full blaze always for hundred years and from this there will be warmth and blood circulation in the body. Why the body will not fall down from sitting posture? There is no Thamoguna which gives sleep and the body made to fall, Maheshwari sakthi which is governing energy of other five Mathrukas and for Sookshma sareera (subtle body) will hold the body to be erect always with the help of other five Mathrukas. The stanza 28 of Yogatharavali of Sri Shankaracharya confirms the possibility of being in such Samadhi state for a number of years.

A man even if he is in Samadhi state for one hundred years must descend from the Samadhi state for the bodily activities to experience the good and bad thought forces of the Prarabda wheel generated at Muladhara chakra. He must live till the last picture (thought force) of the reel comes out and the last picture of the reel is the limit for his age. His body expires at the last picture. When the body of a realised man expires, the Mathruka sakthis of six elements that were in the body will abandon the body and go to join their main powers of the Cosmos. Since all the net works

of the subtle body are broken during the practice of Pranayama and meditation since all the thought forces of Prarabdha, Agami and Sanchitha are burnt away and since there will not be any facility for the rebirth, the Kundalini Sakthi combined with pure 'I' knowledge goes to Sahasrara and completely absorbs in the infinite Supreme consciousness. This is called complete liberation (Videha Mukthi) which occurs at the time of expiry of the body of a realised soul. Every man is entitled to this liberation.

Why should there be so much prominence to Sri Kundalini Sakthi in man's liberation? The answer is as follows:—There is a framed law of the Supreme Parasakthi for everything. The Creation, the Existence and the Dissolution of Cosmos are according to the law of the Supreme and because of this, fire burns, air blows, sun and moon shine, Devathas (Gods), administrators, even chief office-bearers of Cosmos Brahma the Creator, Vishnu the protector and Rudra the destroyer do their duties. Even the Supreme Parasakthi herself abides by her own laws.

Similarly the creation and the existence of living beings including human are as per Divine law. Changing the animal body into human body, by changing the Vertebra vertically straight up, placing head at its top, filling the nectar at the brain cells to bestow the human with intelligence, combining the organs of sense and actions and also the subtle body such as Buddhi and Manas for the conveniences of bodily activity, all these are according to the Divine law. The prominence and the greatness of the human life is not for the above bodily conveniences, but there is a higher Divine thing in the human body the passage of liberation Sushumna Nadi which leads to the Supreme abode of Sahasrara in the brain cell. This Sushumna Nadi is divine illuminated direct home line-secret passage-Maha Smasana (cremation ground

of sins and ignorance)—divine music place-divine bliss place. The law of Supreme Parasakthi has bestowed only to human beings this auspicious passage and not given to any other living beings and not even to Devathas (Gods) who reside in Swarga (Heaven). It is only possible to realise the Supreme from the human life, which means though there is Sushumna passage in every living being it is not in such a way to facilitate to realise the Supreme as it is in human body. There is another thing also. Human being has been bestowed with power of intelligence by filling the nectar in the brain cells. These are due to the special structure of the human body.

The Sushumna Nadi in the form of energy is located in the spinal cord of the Vertebra which is divided in to twenty four parts of bones. The significance of these twenty four parts of the back bone is the essence of the 24 letters of Sri Gayathri Mantra and so the Sushumnas Nadi passage is on the basis of divine 24 letters of Sri Gayathri Mantra. This essence has been clearly explained with Upanishath quotations in the book of Sri Saraswathi Mahima (Veena Rahasya) written by me. Sri Kundalini Sakthi should traverse in the Sushumna Nadi of 24 letters of Gayathri Manthra and reach Sahasrara Kamala. All the above divine arrangements are the laws of Supreme and not man-made. Sri Kundalini Sakthi, therefore, abiding to her own law has to take a leading part as a guide to the meditator and mount up clearing the way from Muladhara Chakra to Sahasrara Kamala. The meditator is only to follow Sri Kundalini sakthi with necessary qualifications and intense devotion to her. Pleased with the real devotee she takes him with her to Sahasrara Kamala for the realisation of the Supreme. All the above explanations clearly show the greatness and prominence of Sri Kundalini Sakthi.

Dissolution or Involution of Cosmos

When the time is finally ripe for the dissolution of the cosmos the main gravity energy Kundalini Sakthi (Adisesha Sakthi) begins to loose the gravity, the atoms disappear, the six Mother powers (the governing energies of earth, water, fire, air, ether and subtle body) will also commence the work of dissolution. The creation of the world commenced with Omkara music sound and dance and at the time of dissolution also the dissolution will commence with Omkara sound. The Omkara sound is superb divine music. The six mother powers with their subordinate powers (gnana sakthis) who are the embodiment of the musical tunes and dances will commence the music with dance and Kundalini sakthi will follow suit. When this dance commences all the living beings of the world including herbs and plants die and all the subtle bodies will be embraced by Kundalini sakthi.

By this music and dance, the Badabagni or Samvarthagni fire which is in the bed of the sea blazes up, all water of the world boils and melts the whole earth including mountains and atoms. The whole earth becomes liquified and at this stage the Kundalini sakthi takes a grip of the governing mother power of earth- Chamundeswaree. After the earth is completely liquified and made into water, the whole water will be swallowed by fire. At this stage the Kundalini sakthi embraces the governing mother power of water Indranee. The fire is absorbed by air, then Kundalini sakthi enveloped by mother power of fire Varahi. The space (ether) assimilates the air, then the mother power of air Vyshnavi will be enveloped by Kundalini. Kala swallows the space. At this stage Thamoguna and Rajoguna, which were in the grosser

form of the five elements earth, water, etc., are now reduced to energy form by the process of dissolution. The Kundalini sakthi envelops these energies of Rajas and Thamas so as to merge within. Kala stage belongs to Omkara. In this stage Kundalini Sakthi casting off her serpent form and assuming *Aha'* combines with *'Aham'*. This *'Aham'* parasakthi having enveloped all the powers of the Universe in a seed form dances with her Lord Siva in the blissful Kala stage till they become one as bliss itself or 'Om' (Siva sakthiykya) and absorbed in Supreme the Omkara as stated in the Upanishads "Om ithyekaksharam Brahma".

The Supreme being remains alone as it was before.

All the above explanations are amply confirmed in the teachings of Sri Krishna to Arjuna in the Uthara Geetha.

ब्रह्माण्ड रूपिणी पृथ्वी तोयमध्येविलीयते ।
अग्निना पीयतेतोयं वायुना ग्रसतेनलः ॥
आकाशन्तु पोभेद्वायु मनश्चाकाशमेवच ।
बुध्द्यहंकार चित्तंतु क्षेत्रज्ञ परमात्मनी ॥

Purport :– The world earth becomes liquified as water, water is swallowed by fire, fire is absorbed by air space assimilates the air, space is absorbed in Kala. Kala with subtle body will be absorbed in *Aham* (Kshetrajnya). *Aham* is consumed by Paramatma.

In conclusion the philosophy as explained is that the Supreme parasakthi evolutes as *'Aha'* and *'Am'*, *'Aha'* (Kriya sakthi) spreads in finer vibration as 'Aha, Aha Aha'...Just like serpent's crawl till the completion of universal space. Since her movement in vibration was like serpent's movements she is called Nagamatha or Kundalini. She then as

transcendental power manifests herself in all the forms of universe and creates the universe. The Kundalini (Adisesha sakthi) upholds the Universe to be in existence. In the dissolution she dissolutes the whole cosmos, envelops every thing and then be as Supreme. In the microcosm she takes very important part in giving liberation to human being as explained. Her greatness and fame is in both macrocosm and microcosm. Finding her greatness Maharshis have made it compulsory to pray to her morning and evening to obtain her blessings.

A sketch of cosmos *Hamsa* is given in the chapter on Existence. The top *Ha* representing Siva, bottom *Sa* representing Sakthi and the middle *Anuswara* (Oval shape) representing Universe. During the existence of the cosmos it was called *Hamsa*. In the dissolution of the cosmos, the bottom *Sa* (Sakthi) leaves her place, joins *Ha* and then *Ha* and *Sa* joining together absorbs in the Supreme, which means *Hamsa* turning into *Soham* during dissolution.

One thing more. Parasakthi alone cannot do independently anything as Sankhya quite wrongly says. There is Purusha who is reflected Chaithanya (consciousness), from Parasakthi downwards in all her manifestations there Satva, Rajas and Thamas there is Prakrathi and Purusha. If we mention Saktha there is Sakthi. Sakthi and Saktha are inseperable. Yogashikopanishath says: "Sivasakthinayan manthram,"

Sri Shankaracharya says in the first stanza of Soundarya lahari "Sivasakthya yuktho".

With the prayer to Sri Parasakthi the Supreme, I will stop my writing here.

OM THAT SAT

शक्तिपात

-: अर्थात् :-

॥ कुण्डलिनी महायोग ॥

स्वामी विष्णु तीर्थ

8164
K-47

शाम्भवीतन्त्र

अर्थात्

कुण्डलिनी महायोग

★

लेखक —

स्वामी विष्णुतीर्थ B.A., L.L.B.

★

सम्वत् २००७ वि०

★

मूल्य] [एक रुपया

प्रकाशक—
ला० तोताराम ठेकेदार
अम्बाह निवासी (जिला मुरैना)
मध्य भारत

* सर्वाधिकार सुरक्षित *

प्रथम संस्करण .... १००० प्रति सं० १९९६
द्वितीय संस्करण .... १००० प्रति सं० २००७

मुद्रक—
विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश
[देहरादून, उत्तर प्रदेश]

माननीय लेखक

श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

प्रथम संस्करण के

प्रकाशक का निवेदन

आजकल प्रायः यह धारणा हो गई है कि "योग का साधन" केवल उग्रतपस्या युक्त गृह त्यागी ही कर सकते हैं। परन्तु कोई भी भारतीय इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी योग की उच्चावस्था को प्राप्त किया था। योगीराज भगवान् कृष्ण का आदर्श जीवन इस बात का प्रमाण है। गृहस्थ आश्रम में रह कर भी उनके दिव्य और अलौकिक गुण कर्मों के कारण हम उन्हें साक्षात् ब्रह्म स्वीकार कर चुके हैं। फिर गृहस्थ आश्रम में किया हुआ साधन तो दोनों लोकों में कल्याणकारी होता है।

यद्यपि यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि योग साधन के लिये दृढ़ और सतत अभ्यास की आवश्यकता है और वह अभ्यास भी हमारे पूर्व-पथ प्रदर्शक भगवान् पतंजलि, वशिष्ठ, वेद व्यास आदि के केवल ग्रंथों का पाठ करके ही करना कठिन साध्य ही नहीं वरन् असम्भव है। क्योंकि इस मार्ग में अनेक विघ्न बाधाएं जीव को ब्रह्म तक पहुंचने में बाधक होकर, साधक को पथ-भ्रष्ट कर प्रलोभनों में फंसा देती हैं और वह अपने अंतिम ध्येय-मोक्ष की प्राप्ति से वंचित रह जाता है।

इसका एक मात्र सरल और सहज उपाय सद्गुरुओं की कृपा ही है। ऐसे सद्गुरु लोकोपकार की दृष्टि से सहज ही में सिद्ध होने वाले "सिद्ध महायोग" का लाभ अपने 'शक्तिपात' द्वारा जिज्ञासुओं को अनायास ही करा देते हैं।

स्मरण रहे कि 'शक्तिपात और मेस्मरीज्म' में आकाश पाताल का भेद है। जहां मेस्मरीज्म में कर्ता (हेप्नाटिस्ट या मेस्मराइज़र) मीडियम या सबजेक्ट (जिसके ऊपर प्रभाव डाला जाता है) को अपने प्रभाव से संज्ञाशून्य करके उससे अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है फिर ऐसे कार्य बहुधा स्वार्थसाधन के अतिरिक्त परमार्थ से कोसों दूर होते हैं और कर्त्ता का प्रभाव हटते ही मीडियम साधारण दशा से भी गिर जाता है। वह मेस्मराइज़र के प्रति घृणा करने लगता है, उस से भयभीत रहता है। वहां, शक्तिपात के द्वारा गुरु अपने शिष्य की आत्मशक्ति का विकास करता है, जिसके द्वारा शिष्य की सर्वतोमुखी उन्नति होने से उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है और "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" के अनुसार वह अध्यात्म-ज्ञान को प्राप्त करता है।

हम मृगतृष्णावत् जो आधुनिक पश्चिमीय भौतिक विज्ञान के पीछे पड़े हुए हैं, यह हमें उसी विनाश की ओर ले जायगा कि जिसका फल आज पश्चिमी जगत् भोग रहा है। यदि हम आत्मानन्द लाभ करना चाहते हैं, यदि हमें वास्तविक सुख भोग की इच्छा है, यदि हम अपनी सब प्रकार की उन्नति

चाहते हैं, यदि हमें अपने देश, जाति और संस्कृति की रक्षा करनी है तो हमें फिर एक बार 'योग-साधन' की ओर आना होगा।

चिन्ता न कीजिये सद्गुरुओं की कमी नहीं है, केवल हृदय में जिज्ञासा होनी चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक आपको उस सहज साध्य 'शक्तिपात' के विज्ञान को स्पष्ट करने के लिए ही परमदयालु श्री १०८ गुरु महाराज *पं० मुनिलालजी स्वामी ने लिख कर साधकों का परमोपकार किया है।

इसके प्रकाशन का सुअवसर भी स्वामी जी की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ है, परन्तु मैं अपना सौभाग्य तभी समझूंगा जब साधक जन इससे लाभ उठाकर मेरी इच्छा को सफल करेंगे।

नेमीचंद,

अम्बाह (गवालियर स्टेट)

—:o:—

*श्री स्वामी जी का पूर्व आश्रम का नाम।

द्वितीय संस्करण

की

प्रस्तावना

श्री स्वामी जी ने इस छोटी सी पुस्तक में शक्तिपात के गूढ़ विषय को सूत्राकार रूप देकर और उस पर सरल भाषा में भाष्य करके, इस विषय के जिज्ञासुओं पर बड़ा अनुग्रह किया है। प्रथम बार इसका प्रकाशन १० वर्ष पूर्व हुआ था, उस समय स्वामी जी ने संयास नहीं लिया था। अब इस द्वितीय संस्करण में स्वामी जी ने ग्रंथ को दुबारा देखकर कुछ संशोधन करने की कृपा की है। अब इस संस्करण को स्वामी जी के सन्यासी परिचय के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

—प्रकाशक

* हरि ॐ *

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

* शक्तिपात *

शिवं गंगाधरं तीर्थं, तीर्थं नारायणं प्रभुम् ।
योगानन्दमहं वन्दे, शक्तिपातस्य देशिकान् ॥

: शान्ति पाठ :

ॐ पूर्णमदः पूर्ण मिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

शक्तिपात एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है । जिसके द्वारा गुरु अपनी शक्ति का शिष्य में संचार करके उसकी आध्यात्मिक शक्ति को जगा देता है । आध्यात्मिक शक्ति और आधिभौतिक शक्ति में बड़ा भेद है, इसलिये आध्यात्मिक शक्ति का विज्ञान भी आधिभौतिक शक्तियों के विज्ञान से भिन्न होना स्वाभाविक है । परन्तु आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन भौतिक यंत्रों द्वारा नहीं किया गया है, इसलिये यह विज्ञान अभी तक गुप्त प्रायः ही है और जिन लोगों को इसका अनुभव भी है वे उसके

अनुभव अपने सचेतन शरीर में ही करते हैं और उसके दिव्य आनन्द में मस्त रहते हैं। इसलिये, अथवा उक्त विज्ञान के अति सूक्ष्म होने से, न समझने के कारण, वे लोग उससे होने वाले अनुभवों को वर्णन मात्र ही से संतोष मान लेना पर्याप्त समझ बैठते हैं। परन्तु पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों की अन्वेषण प्रणाली का आधुनिक युग इतने में ही संतोष मान लेना पर्याप्त नहीं समझता। इसमें संदेह नहीं कि आधिभौतिक विद्याओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वान्वेषण करने के लिये पश्चिम के विद्वान् करोड़ों रुपये खर्च करके बहुमूल्य यन्त्रों का निर्माण करके उनके द्वारा अतिसूक्ष्म विषयों को सिद्ध करने का यत्न करते हैं और गणित शास्त्र की सहायता से उनकी पुष्टि करते हैं। परन्तु अध्यात्म विद्या प्राप्त करने के लिये किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा रचित सजीव मनुष्य देह ही यन्त्र और प्रयोगशाला दोनों का काम देता है। यह हम नहीं कहते कि भावी युग के विद्वान् आध्यात्मिक शक्ति के भी नियम आधिभौतिक नियमों के सदृश खोज निकालें और उनको गणित शास्त्र के फारमूलों (सूत्रों) में बांध सकें। परन्तु आज यह सब असंभव सा प्रतीत होता है। हमारे महर्षियों की छोड़ी हुई विद्या-संपत्ति के कोष स्वरूप पातञ्जल दर्शन और अन्य योग के शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति का ध्येय मोक्ष बताया जाकर कुछ भौतिक सिद्धियों का वर्णन किया गया है। पातञ्जल दर्शन के विभूति पाद में कुछ उच्चकोटि की सिद्धियों को प्राप्त करने के साधन लिखे हैं और उन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार

करने से मालूम होता है कि उनमें से हरएक सूत्र में एक अति गहन वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है। परन्तु उनको समझने के लिये पहिले समाधि लगाने का अभ्यास होना अनिवार्य है।

अस्तु—

यहां पर शक्तिपात में गुरु अपने शिष्यों में जिस आध्यात्मिक शक्ति का संचार करता है, वह शक्ति क्या और कैसी है, उसका रूप क्या है और वह कहां और किस प्रकार उत्पन्न होती है, शिष्य में किस प्रकार गिराई जाती है और वह शरीर के बाहर कैसे आती जाती है, शिष्य के शरीर में प्रवेश करके क्या करती है, उसका विकास शरीर और मन में किस प्रकार होता है, और कैसे-कैसे अनुभव मनुष्य को होते हैं, उन अनुभवों के विकास का क्या कारण है और इन सब का अन्तिम परिणाम क्या होता है इत्यादि प्रश्नों पर हम इस पुस्तक में विचार करने की चेष्टा मात्र करते हैं ताकि अभ्यास करने वाले तथा अन्य विद्वानों का ध्यान इस विज्ञान की ओर आकर्षित हो।

आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं की खोज चाहे उनके जिज्ञासुओं को एक समान आनन्द देने वाली हो और भौतिक विज्ञान की उन्नति चाहे संसार में भौतिक उन्नति को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दे पर यह बात भी निश्चित ही है कि आधिभौतिक उन्नति का दुरुपयोग भी पूरा किया जाता है और कुछ स्वार्थी लोग अथवा जातियां जो भौतिक विद्या की उन्नति के लिये करोड़ों रुपये खर्च करके वैज्ञानिक विद्वानों को सहायता

देती हैं, उनके परिश्रम के फल का उपयोग सार्वजनिक लोक समाज के लाभार्थ नहीं वरन् अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में करती हैं, और उन वैज्ञानिक उन्नतियों का एक दुष्परिणाम जगत् का रुद्र संहार तक हो जाता है। आधुनिक दरिद्रता और नाना प्रकार के संतापों का भी कारण उक्त विद्याओं का दुरुपयोग ही है; परन्तु हम ऐसे युग में से निकल रहे हैं जिसमें मनुष्य अपनी त्रुटियों के कारण उक्त विद्याओं की सिद्धियों के लोभ में फंस कर उनसे लोक अपकार ही अधिक करते हैं। संभव है आगे आने वाली संतानें अपने पूर्वजों से लाभ उठाकर उनसे संसार का उपकार भी कर सकें। परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में ऐसा भय होने की आशंका नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक विद्या के जिज्ञासुओं के लाभार्थ आध्यात्मिक उन्नति के इस मुख्य साधन "शक्तिपात के विज्ञान" की व्याख्या नीचे करते हैं।

१—अथातः शक्तिपातं व्याख्यास्यामः।

अब यहां से शक्तिपात की व्याख्या हम करेंगे।

अथ शब्द का प्रयोग मंगलार्थ किया जाता है। जैसा कि कहा है:—

ॐ कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

अर्थः—'ॐकार' और 'अथ' शब्द दोनों पहिले ब्रह्माजी

के कण्ठ को भेदकर बाहर निकले थे, इसलिये ये दोनों माङ्गलिक शब्द हैं।

यहां पर 'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्यार्थ में किया गया गया है। यद्यपि, 'शक्ति पात' की दीक्षा ग्रहण करने के लिये किसी पूर्व साधन की अथवा किसी शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। जिसपर गुरु अनुग्रह करते हैं उसी को उसकी प्राप्ति हो सकती है, चाहे शिष्य शास्त्रों का विद्वान् हो, चाहे कुछ भी न पढ़ा हो, उसने योगानुष्ठान किया हो अथवा न किया हो, बिना पूर्वानुष्ठित तय्यारी की अपेक्षा के गुरु के 'शक्तिपात' रूप अनुग्रह से शिष्य की शक्ति का उद्बोधन हो जाता है परन्तु यहां 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करने का तात्पर्य यह है कि यह कोई स्वतन्त्र विज्ञान आधुनिक भौतिक विज्ञानों के अन्वेषणों के सदृश पूर्वाचार्यों की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा नहीं है। शक्तिपात एक साधन है, जिसके द्वारा अधिकारी शिष्य में योग, भक्ति एवं ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का आवेश गुरु के अनुग्रह से हठात् जागृत किया जा सकता है। भगवान् महर्षि पातञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिये निम्न आठ साधन कहे हैं और उन आठों के अन्तर्गत ही वृत्ति निरोध के समस्त साधनों का समावेश है। तदनुसार यह साधन भी उक्त आठ साधनों के अन्तर्गत ही है, जैसा कि नीचे बताया जायगा। इस दृष्टि से पातञ्जल दर्शन की तरह यहां भी 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकरण अर्थ में समझा जाना उचित प्रतीत

होता है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि शक्तिपात दीक्षा का अधिकारी बनने के लिये पूर्वार्जित सत्कर्मों अथवा अन्तःकरण शुद्धि के विभिन्न साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है। देखें सूत्र (२, ४)।

पातञ्जल दर्शन में बताये हुए चित्त वृत्तिनिरोध के आठ उपाय ये हैं:—

(१) अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः—उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है। इन दोनों की सर्वोपरिगणना है, क्योंकि अभ्यास के बिना कोई साधन नहीं हो सकता और अभ्यास को दृढ़ रखने के लिये सांसारिक विषयों से और स्वर्गादि अथवा योग की सिद्धियों के प्रलोभनों से वैराग्य का धारा प्रवाह सदा आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ भोगों का त्याग नहीं है क्योंकि सुख दुःखों को भोगने के लिये ही जन्म होता है, किन्तु वैराग्य से अनासक्ति का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये। जो मनुष्य वीतराग द्वेष होकर संसार के सब ही विषयों का धर्मयुक्त उपभोग करते हैं वे विरक्त ही हैं।

(२) ईश्वर प्रणिधानाद्वाः—अथवा ईश्वर प्रणिधान से भी वृत्तियों का निरोध होता है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वरार्पण अथवा ईश्वर शरणागति समझना चाहिये। पर प्रेमरूपा भक्ति भी इसका अंग कही जा सकती है। क्योंकि समर्पण अथवा शरणागति में अनन्यता का भाव ओत प्रोत है।

(३) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य--अथवा प्राण के रेचन और विधारण द्वारा भी निरोध होता है।

(४) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबंधिनि--अथवा मन की स्थिति को बाँधने वाली (दिव्यगंध, दिव्यरस, दिव्यरूप, दिव्यस्पर्श और दिव्यशब्द) विषयवती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, क्योंकि सांसारिक विषयों से चित्त में स्वभावतः उपरति होकर इन्द्रियां अन्तर्मुख होने लगती हैं।

(५) विशोका वा ज्योतिष्मती--अथवा विशोका नाम की ज्योतियों के दर्शन होने से भी वृत्तियों का निरोध होता हैं।

(६) वीत राग विषयं वा चित्तम्--अथवा ऐसे चित्त का आलंबन लेने से जो साधन सम्पन्न होकर वीतराग हो चुका है। यहां पर ऐसे गुरुजनों के चित्त का आलंबन लेने का उपदेश किया गया है जो राग-द्वेष से मुक्त हो गये हैं। उन के चित्त का आलंबन किस प्रकार लिया जा सकता है, यह बात विचारणीय है। बहुतों का मत है कि उनके फोटो आदि के ध्यान से अथवा स्मरण मात्र से उनके चित्त का आलंबन मिल जाता है। यह बात सर्वथा तो निर्मूल नहीं है क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ऐसे महात्माओं के ध्यान अथवा स्मरण से लाभ होता है। परन्तु यथेष्ट लाभ की संभावना इस प्रकार हर किसी को नहीं। दूसरी रीति, जिससे उनके चित्त का आलंबन मिलता है, वह

'शक्तिपात' है क्योंकि शक्तिपात उनके अनुग्रह से ही हुआ करता है और इस प्रकार पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है।

(७) स्वप्न निद्रा ज्ञानालंबनं वा—अथवा स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का, अथवा स्वप्न और निद्रा में आये हुये ज्ञान का आलंबन लेने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

(८) यथाभिमतद्ध्यानाद्वा--अथवा जैसा ध्यान किसी को अच्छा लगे, उसी ध्यान से वृत्तियों का निरोध होता है।

हर एक प्रकार के साधन में चित्त की प्रसन्नता अति आवश्यक है। इसलिये सदा चित्त प्रसन्न रखने का भी उपाय और उपदेश साथ-साथ दिया गया है कि सुखी को देखकर मित्रता, दुखी को देख कर दया, पुण्यात्मा को देख कर प्रसन्नता और पापी को देख कर उपेक्षा का भाव लाने से चित्त में आध्यात्मिक प्रसाद आता है।

यद्यपि शक्तिपात द्वारा उपरोक्त सब ही साधन स्वयं आते हैं परन्तु विशेष रूप से इस विज्ञान का संबंध "वीतराग विषयं वा चित्तम्" से ही है।

शक्तिपात द्वारा योग एवं भक्ति के ही दिव्यावेश जागृत नहीं होते वरन् जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान भी शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि कहा है—

तत्व ज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम् ॥

तच्च देव प्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

(ब्रह्मणिका)

अर्थ—माया का बाध तत्व ज्ञान से होता है, अन्य कर्म से नहीं। जो वेदान्त वाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीव के एकत्व की अनुभूति दिलाता है। वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से और गुरु के साक्षात् निरीक्षण से अधिकारियों में महावाक्य के उपदेश द्वारा शक्तिपात करने से उदय होता है।

जिस शक्ति का उल्लेख प्रथम सूत्र में किया गया है वह कैसी है ? प्रकृति से उत्पन्न होने वाली विद्युदादि के सदृश है अथवा भिन्न प्रकार की; इस शंका का उत्तर नीचे दिया जाता है।

२. शक्तिर्ह्यात्मनः श्रुतेः ।

यह शक्ति आत्मा से ही है, श्रुति का प्रमाण है। वेदों में इस शक्ति का स्थान स्थान पर वर्णन मिलता है। यहां पर हम अथर्व संहिता के एकादश काण्ड में आठवें सूक्त के १६-१७ मन्त्रों द्वारा स्पष्ट रूप से दिये हुये वर्णन का उल्लेख करते हैं।

यत्तच्छरीरे मशयत् संधया संहितं महत् । येनेदमद्य
रोचेत को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तद जानाद् वधूः सती । ईशा
वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥

अर्थ—यह बड़ा शरीर 'संधा' (जोड़ने वाली) नाम की शक्ति से जुड़ा हुआ भी निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। जिसके कारण यह अब अच्छा लगता है वह कौन है ? जिसने इसमें प्रकाश का आभरण किया है। ऐसा सब देवताओं ने जानने की प्रार्थना की, तब उस धारण करने वाली वधू सती ने बताया कि ईश्वरी परमेश्वर की (शक्ति) जो उसकी जाया (पत्नी) है उसने इस शरीर में वर्ण अर्थात चेतना रूप प्रकाश का आभरण किया है।

शक्तियां दो प्रकार से उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं (१) यन्त्रों द्वारा, जैसे भाप के दबाव से बनाई हुई रेलवे एंजिन आदि की शक्ति अथवा बैटरी या डायनुमो जैसे यन्त्रों से उत्पन्न की हुई विद्युदादि की शक्ति (२) मनुष्यों अथवा पशुओं के शरीर के बल से उत्पन्न हुई शक्ति। जो कार्य यंत्रों द्वारा किया जाता है वह कार्य छोटे पैमाने पर बैल, भैंस, घोड़े आदि पशुओं के शारीरिक बल अथवा मनुष्य के शारीरिक बल से भी वैसे ही किया जा सकता है, और दोनों का कार्य एक सदृश ही प्रतीत होता है। क्या शक्तिपात में उल्लिखित शक्ति भी इसी प्रकार की शक्ति है ? यद्यपि मनुष्य और पशुओं के शारीरिक बल से

उत्पन्न शक्ति वास्तव में आत्मा से ही उदित है अथवा आत्मा ही उसका कारण है परन्तु इसका कार्य अचेतन यंत्रों से उत्पन्न शक्तियों के समान ही जड़वत् होता है। इसलिए दोनों में कोई भेद नहीं दीख पड़ता। दोनों अचेतनवत् कार्य करती हैं। इस शंका का समाधान आगे किया जाता है।

३ चितिर्वा।

अथवा वह चिति शक्ति ही है।

चिति का तात्पर्य यह है कि शक्ति चेतना से भिन्न नहीं। इसलिये वह चेतन शक्ति है न कि अचेतन।

४ ज्ञानवती च।

और ज्ञानवती भी है।

५ प्राणोवा श्रुतेः।

अथवा उसको प्राण भी कहते हैं, श्रुति का प्रमाण है।

वेदों ने संहिताओं; ब्राह्मण, और उपनिषदों में सर्वत्र प्राणों की उपासना करने का विधान किया है और प्राण के स्वरूप, स्थान और उद्गम का भी बार बार वर्णन किया है। वेदोक्त प्राण श्वास और प्रश्वास की गति से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है और वह आत्मा से उत्पन्न होने पर भी अथवा आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप होने पर भी व्यक्त शक्ति का रूप धारण किये हुये है जैसा कि नीचे दी हुई श्रुतियों से स्पष्ट है।

आत्मन एष प्राणो जायते, मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे।

(प्रश्न ३, ३)

अर्थ—आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, मन के सहारे से यह शरीर में आता है।

एतस्मात् जायते प्राणः। (मुण्डक २-१-३)

अर्थ—प्राण ब्रह्म से उत्पन्न होता है।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणम् भ्युज्जिहते। (छां १।११।५)

निश्चयपूर्वक ये सब सृष्टि प्राण में ही लय होती है और प्राण से ही उत्पन्न होती है।

या प्राणेन संभवत्यदिति देवतामयी, गुहां प्रविष्यतिष्टंती या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत्। (कठ ४।७)

अर्थ—देवतामयी जो 'अदिति' शक्ति प्राण के द्वारा उत्पन्न होती है, हृदयाकाश रूपी गुफा में प्रवेश करके वहां ठहरी हुई भूतों के द्वारा व्यक्त होती है, निश्चय से यह ब्रह्म ही है।

प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः (छा० ६।८।२)

हे सौम्य, निश्चय से मन प्राण के बंधन में है।

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः।

(कौषतिकी ब्राह्मणोपनिषत् ३।८)

वह आनन्द स्वरूप, अजर, अमर, प्रज्ञात्मा यह प्राण ही है।

ब्रह्म सूत्रों में--अतएव प्राणः (१।१।२३) सूत्र द्वारा कहा है कि यह प्राण श्वास प्रश्वास गति स्वरूप वायु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है।

आत्मा का अर्थ शुद्ध स्वरूप आत्मा अथवा ब्रह्म ही समझना चाहिये। पिण्ड में शुद्ध आत्मा और ब्रह्मांड में ब्रह्म अथवा दोनों जगह ब्रह्म ही कह सकते हैं। जो लोग जीव ब्रह्म की एकता नहीं मानते उनको आत्मा का अर्थ बंधन में पड़े हुवे अहंकारादि उपाधियों से युक्त जीव नहीं मानना चाहिये वरन् अन्तर्यामी परमात्मा ही समझना चाहिये। क्योंकि परमात्म-शक्ति ही मोक्ष साधन करा सकती।

शक्ति, शक्तिमान् से भिन्न नहीं, न उससे पृथक् अन्य वस्तु है। हम शक्ति के भौतिक और चेतन दो रूप देखते हैं। प्रकृति के सब कार्यों को चलाने के लिए अनन्तशक्ति भण्डार प्रकृति में दीख पड़ता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के अणु अणु में इतनी शक्ति भरी हुई है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि उसका परिमाण जांचने में अभी तक असमर्थ ही रही है। प्रकृति के साधारण से कार्यों में अनन्त शक्ति का उत्पन्न होना और लय होना देखा जाता है। साधारण सी बादल की गरजना में इतनी विद्युच्छक्ति उत्पन्न होकर लय हो जाती है जितनी बड़े से बड़े विद्युद् यंत्रालय नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसा ही हाल चेतन शक्ति का भी है। हाथी, सिंह आदि पशुओं में कितनी शक्ति खर्च होती रहती है। दोनों प्रकार

की चेतन अचेतन शक्तियों का शक्तिमान् कौन है ? हम ईश्वर को यदि सर्व शक्तिमान् मानते हैं तो यह मानना भी अनुचित नहीं कि जड़ चेतनमय जगत् में जो कुछ व्यापार घटित होते हैं वे सब उस शक्तिमान् की शक्ति के ही कार्य हैं। यदि ऐसा माना जाय तो क्या प्रकृति की संचालक इन शक्तियों को ही शक्तिमान् समझ लिया जाय, अथवा शक्तिमान् शक्ति से भिन्न ही है। इसका उत्तर समझाने के लिये हम एक दृष्टांत देकर विचार करते हैं। थोड़ी देर के लिये यह मान लें कि मनुष्य की शक्ति सर्व शक्तिमान् से भिन्न शरीरस्थ आत्मा की ही है। हम देखते हैं कि मनुष्य की शक्ति बाल, युवा, वृद्ध, स्वस्थ तथा रुग्ण अवस्था भेद से न्यूनाधिक होती रहती है। क्या इस शक्ति को उत्पन्न करने वाला आत्मा कभी कम और कभी अधिक शक्ति वाला हो जाता है। फिर वही आत्मा जन्मान्तर में कीट आदि के शरीरों को त्याग कर पशु और मनुष्य शरीरों को धारण करता है। तो क्या आत्मा की शक्ति में परिवर्त्तन हो जाता है ? यदि ऐसा माना जाय तो आत्मा विकारी और परिवर्तनशील मानना पड़ेगा परन्तु यह सिद्धांत के विरुद्ध बात है।

इसलिये यह सिद्ध होता है कि आत्मा, जो स्वयं असंग है शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार की उपाधि के कारण न्यूनाधिक शक्ति वाला प्रतीत होता है। बालक के शरीर में कम बल होता है, युवा अवस्था में अधिक, इसका कारण आत्मा का विकार नहीं है वरन् शरीर रूपी उपाधि का विकार है। मनुष्य अपने बल का अनुमान नहीं कर सकता और साहस, धैर्य और हिम्मत

से अपने बल की वृद्धि कर लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा निर्विकार होते हुये भी अहंकार द्वारा शरीरादि उपाधियों से शक्ति की व्यक्तता प्रकट करता रहता है। वास्तव में आत्मा अनन्त शक्तिमान् होते हुये भी निष्क्रिय रहता है और उसकी शक्ति उसमें सदा एक समान अव्यक्त रहती है। परन्तु उसके प्रकाश के कारण शरीरादिक उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता होती रहती है। आत्मा एक चुम्बक पत्थर Magnet के सदृश है जिसके वातावरण Magnet field में लोहे के टुकड़े शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। परन्तु Magnetic field और लोहे के टुकड़ों में नृत्य करने वाली शक्ति दो वस्तु नहीं। इसी प्रकार सर्व शक्तिमान् ब्रह्म और प्रकृति की समस्त जड़ चेतनमय शक्तियों को समझना चाहिये। सांख्य के मतानुसार प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ५ तन्मात्राएं, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन, अहंकार, महत्तत्व और अव्यक्त २४ तत्व हैं। ये सब परमात्मशक्ति के कारण जड़ चेतन मय शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। प्रथम पांच तत्वों में शक्ति की व्यक्तता अचेतनवत् है और शेष १८ तत्वों में चेतनवत्। अव्यक्त में बीज की तरह प्रसुप्त (in potential form) रहती है अन्य तत्व उसके क्रियात्मक रूप (kinetic forms) हैं। अव्यक्त प्रकृति है (potential form), महत अहंकार, पंचतन्मात्रायें ये सप्त प्रकृति विकृति स्वरूप हैं (partially potential and kinetic), मन, पांच ज्ञानात्मक और पांच क्रियात्मक इन्द्रियां, ५ महाभूत ये १६ विकृति स्वरूप हैं (kinetic), पुरुष न प्रकृति

है न विकृति है (ne'ther potential nor kinetic)।

इसलिये शक्ति ब्रह्म ही है और उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य यह ही है कि वह ब्रह्म ही प्राण है। यद्यपि शरीर में प्राण के पांच क्रियात्मक रूप, प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान प्रतीत होते हैं और बाहर सूर्यशक्ति प्राण, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपान, आकाश (Ether) समान वायु व्यान और अग्नि उदान हैं। ब्रह्म रूपी चुम्बक magnet के चुम्बक क्षेत्र magnetic field को प्राण कहते हैं वह उपाधियों के आधार पर नाना रूप से चेतन अचेतन शक्ति की व्यक्तता का कारण है। परन्तु चुम्बक Magnet और चुम्बक क्षेत्र Magnetic field स्थूल और सूक्ष्म होने के कारण अलग अलग मालूम होते हैं। ब्रह्म तो सर्व व्यापी होने के कारण सत् चित् आनन्द स्वरूप चुम्बक क्षेत्र Magnetic field ही है जिसमें कभी कोई विकार नहीं होता, सदा अव्यय और प्रशान्त रहता है। वह न कभी प्रसुप्त Potential रूप धारण करता है न क्रियात्मक Kinetic, प्रकृति उसकी माया है। जो शक्ति पांच महाभूतों के आधार से व्यक्तता में आती है उसको हम जड़शक्ति कहते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के आधार से जिसकी व्यक्तता है वह चेतन कहलाती है, परन्तु महत तत्व और उससे उत्पन्न हुये अहंकार के आधार से जो व्यक्त होती है वह ही आध्यात्मिक शक्ति है, जिसका प्रयोग शक्तिपात में होता है। कहा है:—

'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्तं' (कठ)

अर्थात् जो कुछ यह जगत् है वह सब ब्रह्म से निसृत प्राण का ही स्पन्दन मात्र है।

६ सैव कुण्डलिनी।

वह ही कुण्डलिनी है। मनुष्यों में उक्त आध्यात्मिक शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी का आकार सर्पाकार माना गया है और सर्पाकार ही ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला शेष माना जाता है। इसलिये ब्रह्माण्ड और पिंड को धारण करने वाली वह शक्ति एक ही है।

कुण्डल्येव भवेच्छक्ति स्तां तु संचालयेद्बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यंशक्तिचालनमुच्यते॥

—(योग कुण्डल्युपनिषत्)

अर्थ—कुण्डलिनी ही शक्ति है उसको बुद्धिमान् उसके स्थान मूलाधार से भ्रूमध्य तक संचालित करे, यही शक्तिचालन कहलाता है।

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति, गुणत्रय प्रसूतिका॥
महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी।
जीव शक्तिः कुण्डलाख्या, प्राणकाराथ तेजसी॥

अर्थ—इस शक्ति को स्वर्णवत् कान्तियुक्त सत्वरजतम तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली विष्णु की निर्भया शक्ति जानना

चाहिये। यह परब्रह्म स्वरूपिणी शक्ति महा कुण्डलिनी भी कही जाती है। यह ही जीवरूपिणी शक्ति है, वह कुण्डलों वाली प्राणाकार तेजोमयी है।

शक्तिपात द्वारा शक्ति चालन उसी क्षण होने लगता है प्रथम सूत्र में शक्तिपात शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि केवल शक्ति का। अर्थात् यहां पर शक्ति के विज्ञान की व्याख्या नहीं वरन् उसके पात की व्याख्या की जाने की प्रतिज्ञा है। इसलिये यह शंका होती है कि शक्ति का पात किस पर होता है, उत्तर अगले सूत्र में है कि—

७ तत्पातः शिष्येषु।

उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है।

सूत्र में शिष्य कहने से स्पष्ट है कि गुरुजन अपने शिष्य में आध्यात्मिकशक्ति का पात करते हैं। गुरु शिष्य का सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि गुरु अपनी विद्या से शिष्य की उन्नति करना चाहता है। इसलिये इस सूत्रसे यह भाव भी स्पष्ट निकलता है कि शक्तिपात शिष्यों के कल्याण के लिये किया जाता है। जैसे लौकिक गुरु शिष्यों की मानसिक उन्नति के लिये विद्या पढ़ाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिये शक्तिपात किया जता है।

८ ततः शक्त्युद्बोधनम्।

उससे शक्ति का उद्बोधन होता है।

अर्थात् शिष्य की शक्ति गुरु द्वारा शक्तिपात होने से जाग उठती है, जिसका अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति सोई हुई है। जागने पर उसके स्वरूप का अनुभव होने लगता है। शिष्य की शक्ति को जगा देने का ही नाम शक्तिपात है जैसा कि शक्तिरहस्य में कहा है:—

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथं ?
उर्द्धादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादि पाशबद्धेषु संवृता ।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ॥

अर्थ—वह परमा शक्ति सर्व व्यापिनी है। फिर उसे पतिता अर्थात् वह गिरती है ऐसा क्यों कहते हैं ? एक देशीय मूर्तिमान् जो सर्व व्यापक नहीं है उसी की ऊपर से नीचे गिरने की गति को पात कह सकते हैं। सत्य ! वह सर्व व्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है, किन्तु कर्मों के मल के पाश से आवृत रहती है और दोषों के पक जाने पर वह अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है, तब उसे पतिता (शक्ति पात) कहते हैं।

६ प्राणोत्थानं वा।

अथवा यों कहें कि प्राण का उत्थान हो जाता है। प्राण शक्ति जो मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को धारण किये हुए है वह शक्ति के जागने पर ऊर्द्धगामी होने लगती है।

१० ततोमहायोगसिद्धिः ।

उससे (शक्ति के जागने से) महायोग की सिद्धि होती है।

११ योगः समाधिरिति भगवान् वेद व्यासः ।

योग समाधि ही है ऐसा भगवान् वेद व्यास ने कहा है।

समाधि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दो प्रकार की होती है। जिसमें प्रज्ञा बनी रहे वह समाधि संप्रज्ञात और जब प्रज्ञा का सर्वथा निरोध हो जाय तब असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। संप्रज्ञात को सबीज और असंप्रज्ञात को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। संप्रज्ञात के ६ अवान्तर भेद हैं—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्द और सास्मिता।

१२ चित्तवृत्तिनिरोध इतिभगवान् पतंजलिः ।

चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं ऐसा भगवान् पतञ्जलि का मत है।

पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः', अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं।

उक्त सूत्र में निरोध के पहिले कोई विशेषण नहीं लगाया गया है कि कितने निरोध को योग कहते हैं। इसलिये थोड़े निरोध को भी योग कह सकते हैं और सर्वथा निरोध को भी योग कहते हैं। योगानुष्ठान के उन्होंने आठ अङ्ग बताये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। इसका अर्थ यह है कि वृत्तियों का निरोध थोड़ा बहुत

तो 'यम' से ही होने लगता है और सर्वथा निरोध निर्बीज समाधि में होता है। चित्त तमस् Inertia रजस् motion और सत्व light तीनों गुणों से युक्त रहता है। इनमें से कोई एक प्रधान रूप से और अन्य दोनों उससे दबे हुये रहा करते हैं। तमोगुण से मूढ़, रजोगुण से क्षिप्त, रजसत्व से विक्षिप्त, सत्व से एकाग्र और तीनों के न्यूनाधिक निरोध से निरुद्धावस्था की भिन्न भिन्न भूमिकाएं आती हैं। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थायें योगियों को ही होती हैं सर्व साधारण को नहीं।

वृत्तियां पांच प्रकार की हैं जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पांचों क्लेशों से युक्त होती हैं और इनसे रहित भी होती हैं। अनित्य में नित्यता की, अपवित्रता में पवित्रता की, दुःख में सुख की और अनात्म वस्तुओं में आत्मा की भावना रहना 'अविद्या' है। "मैं हूं" यह भाव 'अस्मिता' कहलाता है। विषयों में आसक्ति को 'राग' और घृणा को 'द्वेष' कहते हैं। सदा जीने की इच्छा अथवा मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहते हैं। बंधन में पड़े हुये मनुष्यों की वृत्तियां इन पांचों से युक्त होती हैं और जीवन-मुक्त महात्माओं की वृत्तियां इन पांचों से रहित होती हैं। पांच प्रकार की वृत्तियां नीचे दी जाती हैं।

(१) **प्रमाण** की वृत्तियां तीन भेद वाली होती हैं प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण। देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने की पांच प्रत्यक्ष ज्ञान की वृत्तियां हैं।

जो ज्ञान इन पांचों प्रत्यक्ष प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसका मन बुद्धि द्वारा अनुमान किया जाता है। जिस बात का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से नहीं होता वह अनुभवी मनुष्यों अथवा शास्त्रों के वाक्यों से होता है उसको आगम प्रमाण कहते हैं।

(२) दूसरे प्रकार की **विपर्यय** वृत्ति है—अर्थात् असद्रूप मिथ्या ज्ञान, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रान्तिमय ज्ञान।

(३) **विकल्प ज्ञान**—तीसरे प्रकार की वृत्ति है। जिसमें शाब्दिक ज्ञान होता है तदनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। जैसे आत्मा की चेतन शक्ति, ऐसा कहने से शब्दों का ज्ञान होता है वास्तव में आत्मा से भिन्न कोई चेतन शक्ति नहीं है, दोनों एक ही हैं। परन्तु शब्दों से दोनों का अलग अलग होने का ज्ञान विकल्प मात्र है।

(४) **निद्रा**—सुषुप्ति की अवस्था भी चित्त की एक प्रकार की वृत्ति ही है जिसमें सब आलम्बनों का अभाव हो जाता है।

(५) **स्मृतिः**—पूर्व काल में सुने और अनुभव किये हुए विषयों का याद आना स्मृति है।

उपरोक्त पांचों प्रकार की वृत्तियों के अन्तर्गत जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें हैं। स्वप्न में स्मृति की वृत्ति के आधीन तमोगुण से ढकी हुई इन्द्रियां, मन और बुद्धि के संस्कार काम करने लगते हैं।

चित्त को एक जलाशय के सदृश मान लिया जाय, जिसपर आकाश, बादल, वृक्ष इत्यादि का प्रतिबिम्ब दीख रहा हो तो जैसे उक्त प्रतिबिम्बों के कारण जलाशय की तली नहीं दीखती परन्तु प्रतिबिम्बों के ओझल होने से तली दीखने लगती है अथवा जल में लहरें उठने पर तली का प्रकाश नहीं दीख सकता और लहरों के शान्त होने पर वह दीखने लगता है। ठीक उसी तरह तली रूपी आत्मा वृत्तियों के कारण नहीं जान पड़ता। वृत्तियां शांत हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। चित्त रूपी जल में वाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब सदा पड़ते रहते हैं अथवा स्मृति के द्वारा संकल्प विकल्प रूपी तरंगें उठा करती हैं अथवा निद्रा के तमोगुण रूपी मिश्रण से वह गदला हो जाता है इसलिये आत्म स्थिति नहीं होने पाती। जब पांचों प्रकार की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है अन्यथा नहीं।

आत्मदर्शन होने से वृत्तियों के ज्ञान का मिथ्यापन और आत्मज्ञान की सत्यता चित्त पर चमकने लगती है और जगत् के बंधन का मिथ्या विपर्य्य ज्ञान निवृत्त हो जाता है जैसे रस्सी का ज्ञान होने के पश्चात् उसमें से सांप की भ्रांति दूर हो जाया करती है।

उपरोक्त वृत्तियों के निरोध के लिये शक्तिपात किस प्रकार सहायक होता है यह कुछ प्रथम सूत्र में बताया जा चुका है। अब नीचे यह दिखाया जायगा कि वृत्तियों का निरोध प्राण के

वश में होने के कारण सुगमतापूर्वक हो जाता है। वृत्तियां प्राण के आधीन हैं इसका क्या प्रमाण है सो कहते हैं—

१३ प्राणस्येदं वशे सर्वमिति श्रुतेः।

यह सब प्राण के वश में है, श्रुति का प्रमाण है।

ॐ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्तसर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व वेद प्राण सूक्त मं० १)

अर्थ—प्राण को नमस्कार है जिसके वश में हैं यह सब जो हुआ हैं। सब का ईश्वर, जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है।

ॐ याते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि, या च मनसि सतता शिवां तां कुरूमोत्क्रमीः। प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्, मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहिनः

(प्रश्नोपनिषत् द्वितीय प्रश्न १२। १३)

अर्थ—जो तेरी तनू (स्वरूप) वाणी में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र में, जो चक्षु में और जो मन में फैली हुई है उसको तू हमारे लिये कल्याण स्वरूप रख, उत्क्रमण मत कर। इस लोक में यह सब प्राण के वश में है और जो कुछ तीसरे लोक (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित है। तू पुत्रों की माता के सदृश हमारी रक्षा कर और हमको श्री (तेज) और प्रज्ञा दे।

१४ उभयोः परस्परं निरोधः।

दोनों प्राण और चित्त वृत्तियों का परस्पर निरोध होता है। प्राण के निरोध से वृति निरोध और वृत्ति निरोध से प्राण निरोध होता है और इसी प्रकार से दोनों का निरोध बढ़ता जाता है। पहिले प्राण का निरोध करना चाहिये क्योंकि स्वतन्त्र रूप से वृत्ति निरोध कठिन साध्य है।

१५ महान् किं ? विशेषत्वाच्छक्त्युद्बोधने तत्सिद्धेः।

महान् क्यों ? विशेषता के कारण, शक्ति के उद्बोधन से उसकी सिद्धि होने से।

दशवें सूत्र में योग के पहिले महान् विशेषण का प्रयोग क्यों किया गया है ? क्या महायोग, व्यासजी अथवा पतञ्जलि भगवान् के योग से भिन्न कोई अन्य योग है, इस शंका का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि योग तो चित्त वृत्ति निरोध रूप वह ही है दूसरा नहीं हो सकता। परन्तु महान् विशेषण का प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि उसकी सिद्धि शक्ति के जागने से तुरन्त होती है, अन्यथा श्रद्धा वीर्य सहित यत्नपूर्वक दीर्घ काल निरंतर सत्कार से अभ्यास करने पर वृत्तिनिरोध की उपलब्धि कही गई है। इसलिये जो योग परिश्रम साध्य है वह गुरु कृपा से शीघ्र प्राप्त होता है।

१६ हठ मंत्र लयराजयोगान्तर्भूमिकत्वाच्च श्रुतेः।

और हठ योग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग, का अन्तर्भू-

मिकत्व होने के कारण भी महान् कहा गया है, श्रुति का प्रमाण है।

शक्ति जागने के पश्चात् हठादि चारों योगों का अन्तर्भूमिका रूप से स्वतः सिद्ध विकास उत्तरोत्तर होता है, यह भी विशेषता है। इसमें नीचे दी गई श्रुति का प्रमाण है।

मन्त्रो लयो हठोराजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एकएव चतुर्धाऽयं महा योगोऽभिधीयते॥

(योग शिखोपनिषत् १३०)

अर्थ—मंत्र, लय, हठ, राजयोग क्रम से अन्तर्भूमिकायें हैं इसलिये एक ही वह योग चतुर्धा होने से महायोग कहलाता है।

१७ आसन प्राणायाम बंधमुद्रादयोहठः।

आसन, प्राणायाम, बंध मुद्रादि हठ योग हैं।

यहां पर प्राणायाम से श्वास की पूरक, रेचक, कुंभक क्रियाऐं ली गई हैं। बंध और मुद्रायें बहुत हैं, उनमें १० प्रधान हैं मूलबंध, उड्ड्यानबंध, जालंधर बंध, महाबंध, महावेध, महामुद्रा, विपरीतकरणी, बज्रौली, खेचरी और शक्तिचालन। आसन प्रत्येक योनि के आधार पर ८४ लाख कहे हैं परन्तु ८४ मुख्य हैं पातञ्जल दर्शन के अनुसार 'स्थिरं सुखं आसनम्' कहा गया है परन्तु सांख्य ने यह भी नियम नहीं माना कि स्थिरता और सुख से ही स्थिति हो, शक्ति जागकर क्रियावती होती है तब किसी किसी को नाना प्रकार के आसन, कुम्भक और मुद्रायें देखने में आती हैं।

१८ ततो नाड़ी शुद्धिः ।

उससे नाड़ी शुद्धि होती है

नाड़ियों से बात नाड़ियों या स्नायुओं (nerves) का अभिप्राय है । नाड़ियाँ प्राण शक्ति के प्रवाह के लिये उसी प्रकार कार्य करती हैं जैसे बिजली के प्रवाह के लिये तार। साधारण मनुष्यों की नाड़ियां मलाकुल होती हैं और उनमें से प्राण का प्रवाह सुगम नहीं होता । हठ योग की क्रियायें उनके मल को निकाल देती हैं ।

१९ स्वाध्ययेश्वरप्रणिधाने मन्त्रयोगः ।

स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान मंत्रयोग है ।

पातञ्जल दर्शन में प्रणव के जप और उसके अर्थ की भावना को स्वाध्याय कहा है। स्वाध्याय में मोक्षप्रद मंत्रों का जप और शास्त्रों का श्रवण, पठन, मनन भी लिखा गया है। स्वाध्याय से योग की सिद्धि होती है जैसा कि वेद व्यासजी ने कहा है:—

स्वाध्यायाद्योगेमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योग प्राप्त होता है, योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं ।

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ ईश्वर समर्पण और ईश्वर शरणागति है ।

२० ततः समाधि सिद्धिः ।

उससे समाधि की सिद्धि होती है।

२१ चित्ते लीने लयः ।

चित्त के लीन होने पर लय योग कहलाता है।

२२ प्राणस्थैर्यात्तदुपलब्धिः ।

प्राण शक्ति के स्थिर होने पर लय योग की प्राप्ति होती है।

२३ षट् चक्र वेधात् ।

छः चक्रों का वेध होने के कारण।

२४ आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धाज्ञाभिधानि चक्राणि ।

आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा चक्रों के नाम हैं।

२५ पायूपस्थनाभिहृद्कंठ भ्रूमध्येषु तत्स्थानानि ।

गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कंठ, भ्रूमध्य देश में उनके स्थान हैं।

२६ तत्तु सुषुम्नाऽधिकृतानि ।

परन्तु चक्रों के ये स्थान सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर हैं। चक्र सुषुम्ना के अन्दर वे स्थान हैं जहां पर नाणियों के केन्द्र हैं। कंठ से निकलने वाली नाड़ियाँ ग्रीवा और हाथों में फैलती हैं, पृष्ठ भाग से निकलने वाली पीठ और पसलियों पर फैलती हैं,

हृदय का संबन्ध सीधा भी आज्ञा चक्र से है, कटि पर्व की नाड़ियां उदर, कमर और पैरों में अंगूठों तक चली गई हैं। उपस्थ विभाग की मूत्राशय, वीर्याशय आदि में गई हैं। गुदा की और उपस्थ की मिलकर कुछ सीवनी, गुदा, मलाशय इत्यादि में फैलती हैं। 'आज्ञाचक्र' मस्तिष्क और सुषुम्ना के चित्रा विभाग की शिराओं का, तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों का केन्द्र है। सहस्रार में सारे शरीर की नाड़ियों का सम्बन्ध इस प्रकार है जैसे हैड आफ़िस से शाखाओं का।

२७ मनोलय स्त्वाज्ञायाम्।

आज्ञा चक्र में प्राण पहुँचने पर मन का लय होता है।

२८ संकल्पविकल्पाऽभावश्च।

संकल्प और विकल्प का अभाव होता है।

२६ एकाग्रता च मनसः।

और मन की एकाग्रता होती है। अर्थात् किसी ध्येय संकल्प पर भी एकाग्रता हो सकती है। और संकल्प विकल्प शून्य एकाग्रता भी होती है।

३० तदुपरि राजयोगः सहस्रारे।

उसके ऊपर राज योग होता है सहस्रार में।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रार में प्राण जाने से राज योग होता है।

३१ तत्र ब्रह्मणि शक्तिर्लयान्निर्बीजसमाधिः प्राण-लयो मनोलयश्च ।

वहां पर अर्थात सहस्रार में शक्ति के ब्रह्म में लय हो जाने से निर्बीज समाधि होती हैं और प्राण और मन दोनों का लय हो जाता है ।

३२ ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है ।

यह पातंजल दर्शन के प्रथम पाद का तीसरा सूत्र हैं और योग की स्थिति का वर्णन करता है । जब तक दृष्टा की अपने स्वरूप अर्थात् परब्रह्म में स्थिति नहीं होती तब तक वृत्तियों की सारूप्यता न्यूनाधिक बनी रहती है ।

कठबल्ली की नीचे दी हुई श्रुति भी इसी पद की प्राप्ति का उपदेश कर रही हैं ।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छच्छोन्त आत्मनि ॥

(बल्ली ३, अ० १, मंत्र १३)

बुद्धिमान् मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लय करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को प्रथमज महत्तत्व में लीन करदे और महत्तत्व का शान्त आत्मा (ब्रह्म) में लय कर दे ।

शक्तिपात क्रम में उक्त प्रक्रिया की सिद्धि सुषुम्नागत प्राणोत्थान द्वारा की जाती है ।

—:o:—

॥ द्वितीय पाद ॥

१ तदर्थंगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रुतेः ।

उसके लिये गुरु के पास ही जावे समित्पाणि, ऐसा श्रुति का उपदेश है।

ब्रह्मज्ञान के देने वाली शक्ति के उद्बोधनार्थ गुरु के पास ही जावे, अन्यथा बिना गुरु के उसकी प्राप्ति नहीं होती जैसा कि श्रुति का उपदेश है।

परीक्ष्य लोकान्कर्म चितान्ब्राह्मणो,
निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(मुण्डक १, काण्ड २, श्रुति १२)

अर्थ—कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य ग्रहण करे। क्योंकि कर्मद्वारा मोक्ष पद नहीं मिलता और उसके जानने के लिये हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास ही जावे, जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो।

ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिये विषयों से उदासीन होकर गुरु के पास जाने का उपदेश किया गया है। पूर्वकाल में सब ऋषि यज्ञ किया करते थे इसलिये शिष्य गुरु के पास दीक्षार्थ हाथ में समिधा लेकर जाता था। आजकल यज्ञादि करने की प्रणाली न रहने से पत्र, पुष्प, फलादि लेजाना चाहिये। खाली

हाथ नहीं जाना चाहिये। समित्पाणि कहने का अर्थ यह नहीं है कि उस काल में भी समिधा के अतिरिक्त फल, पुष्प न ले जाते होंगे। परन्तु समिधा ही क्यों कहा है इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो शिष्य ज्ञानाग्नि अपने अन्दर जलाने का अभिलाषी है और दो अरणियों से अग्नि प्रकट होती है। इसलिये समिधा ले जाना उसकी ज्ञानाग्नि प्राप्त करने की इच्छा का द्योतक है। गुरु को उत्तरारणि और शिष्य को अधरारणि से उपमा दी जाती है क्योंकि दोनों से ब्रह्म विद्या रूपी अग्नि प्रकट होती है और उनके द्वारा उसका क्रम भावी सन्तानों में चलता है। दूसरा अभिप्राय यह भी दीखता है कि शिष्य गुरु की छोटी से छोटी अर्थात् लकड़ी काट कर लाने की भी सेवा करने में अपना अभिमान समझता है।

२ ब्रह्मनिष्ठो वेधकः शक्तिपातक्षमश्च गुरुः।

गुरु ब्रह्मनिष्ठ, वेध करने वाला, और शक्तिपात करने में समर्थ होना चाहिये।

ब्रह्मनिष्ठ—जो यच्चित्त हो अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र अवस्था में रहकर ब्राह्मी स्थिति में रहता हो। ब्राह्मी स्थिति का वर्णन श्री भगवान् ने गीता के द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थित प्रज्ञ अथवा समाधिस्थ की व्याख्या करते हुए किया है। वेधक जो छवों चक्रों का वेध कर सके वह वेधक कहलाता है।

३ निग्रहानुग्रहक्षमश्च।

और जो निग्रह और अनुग्रह दोनों में समर्थ हो।

शक्तिपात करने को अनुग्रह और रोक देने को निग्रह कहते हैं। निग्रह से शिष्य के वेग को कम किया जा सकता है। जितना गुरु के लिये अनुग्रह करने का सामर्थ्य आवश्यक है उतना ही निग्रह करने का भी, क्योंकि कभी कभी अधिक वेग हो जाने पर उसके कम करने की भी जरूरत पड़ जाती है। ऐसा ही गुरु, शिष्यों के वेग को संयम में रख सकता।

४ परीक्ष्य दीक्षयेत्।

गुरु शिष्य की परीक्षा करके दीक्षा देवे।

यदि अयोग्य होवे तो दीक्षा न दे। उसको योग्य बनने के लिये समय दे। समय पाकर पका हुआ फल अच्छा होता है इसलिये शीघ्रता करना उचित नहीं है।

५ शक्तिपात एव दीक्षा।

शक्तिपात करना ही दीक्षा देना है।

शक्ति का एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक दो प्रकार से प्रवाह होता है। स्पर्श द्वारा और बिना स्पर्श के। आगे चल कर बताया जायगा कि शरीर के भीतर शक्ति का प्रवाह नाड़ियों के आश्रय से होता है। परन्तु जब वह शरीर से बाहर भी संक्रमित होती है तो उसकी गति किस तत्व के आश्रय से होती है और वह अग्नि ताप के सदृश चारों ओर फैलती है अथवा धारा रूप एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, क्या उसकी गति का अनुभव हो सकता है, यदि होता है तो उसका स्वरूप क्या है, इत्यादि अनेक प्रश्न यहां पर उत्पन्न होते हैं जो एक स्वतन्त्र

विज्ञान का विषय है। परन्तु इस विषय पर आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर अन्वेषणों के अभाव के कारण तत्वतः विवेचन करना तो असम्भव प्रायः ही है परन्तु साधन करने वाले कुछ महानुभावों के अनुभवों और अनुमानों के आधार पर उक्त प्रश्नों पर थोड़ा प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है। यह बात तो अद्भूत है कि शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होती है और मनुष्य के शरीर से अथवा प्रश्वास से चारों ओर इस प्रकार फैलती है जैसे तप्त गोले से उष्णता। यह भी प्रतीत होता है कि उसकी गति का मार्ग (Medium) वायु तो नहीं है। सम्भव है आकाश तत्व (Ether) अथवा उससे भी सूक्ष्म कोई तत्व हो। सांख्य की परिभाषानुसार उसको सम्भवतः, मनस्सत्ता मनस्तत्व (Mind Stuff) अथवा महत्तत्व कह सकते हों। कभी कभी शक्ति की गति गोली की तरह सीधी भी होती है। शक्ति का अस्तित्व स्पर्शेन्द्रिय द्वारा किसी किसी को होता देखा जाता है परन्तु वह सूक्ष्म विषय होने के कारण अभ्यास के प्रारम्भिक अवस्था में अनुभव गम्य नहीं होता। किसी किसी अभ्यासी को विद्युतप्रकाशवत् दृष्टिगोचर होता हुआ भी देखा गया है। यह प्रकाश नाड़ियों में अन्दर और शरीर के बाहर भी गतिमान् दीख पड़ता है। अभ्यास करने वालों का यह भी अनुभव है कि उक्त शक्ति बाहर बादल, अग्नि, विद्युत् सूर्यादि अथवा केवल वायु आकाश और किसी स्थान से भी संकल्प द्वारा अपने शरीर में खेंची जा सकती है। इसलिये उनका कहना है कि

परमात्मा की शक्ति सब पदार्थों में भरपूर है। उसको अन्दर की शक्ति जागने के पश्चात् योगी अपने संकल्प से खींच सकता है। उक्त प्रकार से खींची हुई शक्ति शरीर में प्रवेश करके चेतनवत् ही व्यवहार करती है। इसलिये विद्युदादि शक्तियों से वह भिन्न और उत्तम है।

जब शक्ति योगी की इच्छा से बाहर जाती है तो पृथ्वी पर देश देशान्तर में कहीं भी भेजी जा सकती है। Telepathy आदि उक्त शक्ति के ही कार्य हैं।

अनुमान से कहा जा सकता है कि बहुत संभावना है कि इस आध्यात्मिक शक्ति से विद्युदादि आधिभौतिक शक्तियां भी उत्पन्न की जा सकें।

अध्यात्मिक शक्ति का तीन दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है:—

१. अपने आध्यात्मिक लाभार्थ।

२. दूसरों के आध्यात्मिक लाभार्थ।

३. आधिभौतिक जगत् में भौतिक सिद्धियों के लिये प्रयोगार्थ, जिस रीति से उसका भौतिक शक्तियों से सम्बन्ध मालूम हो सके।

यहां पर उपरोक्त दो दृष्टिकोणों से इस विषय पर किंचित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

६. ततः शक्ति प्रदीपनं दीपवत्।

उससे शक्ति का प्रदीपन होता है दीपक के सदृश्य।

जैसे एक प्रज्ज्वलित दीपक की शिखा से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार गुरु की शक्ति के शिष्य पर गिरने से उसकी शक्ति जाग उठती है।

७. ततः दिव्यं ज्ञानं सम्पद्यते क्षीयते च बन्धनम्।

उससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और बन्धन का क्षय होता है।

८. दीप्ते ज्ञानाग्नौ मल विक्षेपाऽवरणहानिः।

ज्ञानाग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर मल, विक्षेप और आवरण की हानि होती है। मल पापों को, विक्षेप चित्त की चंचलता को और आवरण अज्ञान के पर्दे को कहते हैं।

९. गुरु गृहे निवसेत्तिस्रो रात्रीः।

गुरु के घर पर तीन रात्रि निवास करे। यहां रात्रि शब्द का प्रयोग किया गया है न कि दिन का। इसका अभिप्राय यह है कि साधन काल सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व ब्राह्म मुहूर्त में अच्छा होता है।

१० तोषयेच्च भोजनवस्त्रदक्षिणाभिः प्रणिपातेन सेवया च।

और गुरु को भोजन वस्त्र दक्षिणा देकर प्रणाम और सेवा करके सन्तुष्ट करे, श्री भगवान ने गीता में कहा है:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥

अर्थः—उसको ज्ञान को) प्रणाम करके प्रश्न करके और सेवा करके जानो, ज्ञान का उपदेश तुमको तत्वदर्शी ज्ञानी देंगे।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि वीतरागविषय गुरुओं को सन्तुष्ट करने का क्या अभिप्राय है, वे सदा सब से ही सन्तुष्ट रहते हैं। परन्तु शरीर धारी गुरुको वस्त्र भोजन धनादि की आवश्यकता तो होती ही है उनका वीत राग होने का अर्थ यही है कि वे विषयों में आसक्ति नहीं रखते और किसी से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी यथासम्भव प्रार्थना अथवा आज्ञा नहीं करते। परन्तु शिष्योंका धर्म है कि अपने अनुमानसे उनकी आवश्कताओं को जान कर बिना कहे यथा शक्ति पूरा करें, इससे वे उनका सन्तोष प्राप्त करेंगे।

११ दीक्षा त्रिविधा।

दीक्षा तीन प्रकार की है।

१२ दर्शनाद् भाषणात्स्पर्शाच्च।

दृष्टि के द्वारा, भाषण द्वारा और स्पर्श से।

साधारणतः शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है (१) दृष्टि से (२) मंत्रादि देकर और (३) हाथ से छूकर। इन तीनों कर्मों में शक्तिपात करने वाले की इच्छा होने पर शक्ति संचार होता है। इच्छा न होने पर नहीं होता है। इसलिये इच्छा ही से शक्तिपात होता है। स्पर्शादि तो वाह्य साधन हैं।

१३ मानस्यपीति केचित् ।

परन्तु दीक्षा मानसिकी भी है इसलिये कोई लोग शक्तिपात को चार प्रकार का मानते हैं।

जैसे पहिले कह आये हैं कि बिना इच्छा के तो स्पर्श, अवलोकन और भाषण से भी दीक्षा नहीं होती, तो चौथी मानसी कहने की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान यह है कि मानसी दीक्षा ऐसी अवस्था में दी जाती है जब कि गुरु शिष्य का किसी कारण स एक स्थान पर समागम न हो सकता हो। जैसे दोनों दूरस्थ देशों में हों और शिष्य गुरु के समीप न आ सकता हो। अथवा किसी कारण से गुरु शिष्य की अपने सन्मुख उपस्थिति की आवश्यकता न समझता हो तो गुरु के संकल्प से दूरस्थ शिष्य पर शक्तिपात हो सकता है।

१४ सा पूनरप्यधिकारि भेदतस्त्रिधा ।

वह दीक्षा फिर भी अधिकारी भेद से तीन प्रकार की है।

१५ मृदुमध्यतीव्रत्वात् पिपीलिकाकपिखगन्यायवत् ।

मृदु, मध्यम और तीव्र होने के कारण, चींटी, बन्दर और पक्षी के न्याय के सदृश।

अधिकारी के भेद से किसी में हलका वेग आता है किसी में मध्यम और किसी में तीव्र। किसी किसी को पूर्ण विकास होने में एक दो या तीन दिन और अधिक समय भी लग जाता है। किसी को प्रथमवार ही विकास हो जाता है परन्तु धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा और किसी को उसी क्षण स्पर्श, अवलोकन

अथवा मंत्र प्राप्त होते ही वेग से विकास हो जाता है। जैसे वृक्ष पर लगे हुए फल तक चींटी धीरे धीरे पहुँचती है, कपि एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदता फाँदता जाता है और पक्षी उड़ कर सीधा उस पर जा बैठता है।

१६ सा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी वेधमयीति ब्रह्मा।

ब्रह्माजी ने कहा है कि दीक्षा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी होती है। क्रियावती इसलिये कहलाती हैं कि उस में नाना प्रकार की क्रियायें होती हैं। कलावती इसलिये कि उससे तत्व शुद्धि होती है और ३६ तत्वों को ५ कलाओं में बांटा गया है। ३६ तत्वों के नाम इस प्रकार हैं:—

शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, महतत्व, अहंकार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ तन्मात्रायें, ५ महाभूत। इनमें प्रथम दो तत्व शान्त्यातीता कला, फिर अगले ३ तत्व शान्ति कला, ७ तत्व माया कला, २३ तत्व प्रतिष्ठा और अन्तिम पृथिवी तत्व निवृत्ति कला के अंग माने जाते हैं।

सारा विश्व नाम रूपात्मक दृश्य है। कलावती का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं से और वरणमयी का संबन्ध वरणात्मक नाम अर्थात् शब्दमयी सृष्टि से समझना चाहिये। वर्णमयी में मंत्र, पद, कविता इत्यादि की शक्ति उदय हो जाती है और वेधमयी इसलिये कहलाती है कि उससे षट् चक्रों का वेध

होता है। उक्त चारों रूप किसी किसी में प्रकाशित होते हैं किसी में एक, दो अथवा तीन।

१७ शिवादेशकारिणीति शांभवी।

शिवजी के आदेश कराने वाली शांभवी कहलाती है।

जिसको शिवजी के आदेश श्रवण द्वारा, वचन द्वारा, लिख कर अथवा विचारों में स्पष्ट रूप से आने लगें तो समझना चाहिये कि शांभवी है।

१८ योगोक्तक्रमतो योगदीक्षा।

योग में कहे हुए क्रम से दी हुई दीक्षा योग दीक्षा है।

इसमें योग की क्रियायें प्रधान रूप से होती हैं अन्य साधन गौण रूप से होते हैं।

१९ सैव शाक्तेयी शाक्तीकी ज्ञानवती वा।

वही शाक्तेयी, शाक्ती अथवा ज्ञानवती दीक्षा भी कहलाती है।

ज्ञानवती कहने की जगह कोई ज्ञान दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि शक्ति ही ज्ञान है। शाब्दिक उपदेश वास्तव में ज्ञानोपदेश नहीं है। शक्ति द्वारा ज्ञान का प्रकाश शिष्य में स्वयं उदय होता है वह ही यथार्थ में ज्ञान का उपदेश है।

२० मंत्रमार्गानुसारेण मान्त्री।

मंत्र शास्त्र के अनुसार दी गई दीक्षा मान्त्री कहलाती है।

२१ मंत्रार्चनाद्युपचारैराणवी।

मंत्र अर्चन आदि उपचारों की सहायता से क्रमशः उन्नति कराने वाली आणवी दीक्षा कहलाती है।

२२ षट् चक्र वेधाद्वेधमयी।

षट्चक्रों का वेध होने के कारण वेधमयी दीक्षा कहलाती है।

२३ वेदान्त योग भक्ति संप्रदाय भेदतोऽपि बहुविधा

वेदान्त, योग, भक्ति आदि संप्रदायों के भेदों से भी बहुत प्रकार की दीक्षा होती हैं।

२४ सा एकैव शक्तिमत्वात्।

वह बहुत प्रकार की होते हुये भी एक ही है शक्ति का प्रबोध होने के कारण।

ब्रह्म की शक्ति तो एक ही है, इसलिये सब का फल मोक्ष ही है, यद्यपि उसका विकास नाना प्रकार से देखा और सुना जाता है।

२५ वीतरागचित्तालम्बनात्।

वीतराग चित्त का अवलम्बन होने के कारण शक्तिपात दीक्षा होती है।

२६ सिद्धसंकल्पाद्वा।

अथवा सिद्ध संकल्प होने से।

योगी वीतराग होने से सिद्ध संकल्प हो जाता है इसलिये 'वा' का प्रयोग किया गया है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाकर उसकी आध्यात्मिक जागृति किस कारण से कराती है, उसकी वृत्तियाँ शीघ्र निरुद्ध कैसे होने लगती हैं? इत्यादि शंकाओं का समाधान इन दो सूत्रों से किया गया है। प्रथम सूत्र के भाष्य में

बताया जा चुका है कि वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन लेकर शक्तिपात द्वारा शक्ति संचार होने से शिष्यों को शीघ्र एकाग्रता का लाभ होता है। पातंजल दर्शन के 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र का अर्थ साधारण लोग तर्क और अनुमान के आधार पर किया करते हैं परन्तु अच्छी तरह नहीं समझ सकते। वेद व्यास जी ने अपने भाष्य में वीतराग महात्माओं का ध्यान नहीं कहा है वरन् यह कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध वीतराग चित्त के आलंबन अर्थात आश्रय से होता है। शक्तिपात दीक्षा में शक्ति का संचार गुरु के संकल्प का आश्रय लेकर होता है और उस शक्ति से शिष्य को वीतराग चित्त का आलम्बन मिलता है। इसका अनुभव शाक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने वालों को होने से उनकी समझ में उक्त सिद्धान्त सुगमता से आ सकता है। यथाः—

चित्त का और शक्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है यह श्रुतियों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है।

२६ श्रुतेः।

श्रुति का प्रमाण है। यथाः—

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशांततेजाः पुनर्भव मिंद्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः। यच्चितस्तेनैष प्राणमाऋाति प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

प्रश्न (३) मंत्र ६, १०

अर्थ—तेज ही निश्चय से उदान है, इसलिये जिसका तेज उपशान्त हो गया है, उस तेज को पुनः उत्पन्न करने के लिये इन्द्रियों को मन में अच्छी प्रकार ले जाकर जिसने अपना चित्त एकाग्र कर लिया है, उसमें एकाग्र चित्त के द्वारा प्राण आ जाता है और प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के सहित जैसा संकल्प मनुष्य करता है उसी लोक को ले जाता है अर्थात् उसी प्रकार की सिद्धि देता है।

उपरोक्त श्रुतियों में उपशान्त तेजा का अर्थ यदि मृत्यु लिया जाय तो जैसा श्री शंकराचार्य महाराज ने कहा है जन्मान्तर में प्राण इस जन्म के किये संकल्पित लोक को ले जाता है। परन्तु जो क्रिया मृत्यु के समय प्रकृति के वश होती है वह ही क्रिया योगी अपनी इच्छा से जीवनकाल में करता रहता है अर्थात् इन्द्रियों को मन में लय करता है और मन को बुद्धि में और फिर बुद्धि को आत्मा में, और आत्मा सहित सुषुम्णा मार्ग से धारणा, ध्यानसमाधि करके कथा संकल्पित सिद्धि को प्राप्त करता है। जीवनकाल में उपशान्त तेजाः का अर्थ ऐसे मनुष्यों के लिये किया जा सकता है जो ब्रह्मतेज से क्षीण हो रहे हैं। उनके लिये उस तेज के पुनर्भव अर्थात् फिर उत्पन्न करने का साधन योग मार्ग द्वारा इन्द्रियों का प्रत्याहार करके चित्त की एकाग्रता करना है। मनुष्य को संयच्चित्त होने से प्राण शक्ति आती है यह बात उपरोक्त श्रुति में बताई गई है और सबके अनुभव की भी बात है। इसी प्रश्न की आठवीं श्रुति में आदित्य को वाह्य प्राण बताया है उसका

सम्बन्ध चाक्षुष प्राण से है, पृथ्वी की देवता रूप शक्ति वाह्य अपान है, आकाश समान, वायु व्यान, और अग्नि उदान है। निरुद्ध चित्त वाले मनुष्य को उपरोक्त पांचों प्रकार की शक्तियाँ विश्व भण्डार से मिलने लगती हैं। जैसा कि हमने इसी पाद के ५वें सूत्र में कहा है कि योगी शक्ति को वायु, आकाश, सूर्य, अग्नि सब जगह से खींचने लगता है। प्राण शक्ति को आवाहन करने का उपाय यच्चित्तता ही है। चित्त के निरोध से प्राणशक्ति को उदान रूपी तेज से युक्त करके योगी तेजोमय बनता है और उसी प्राण शक्ति को दूसरों में भी दृष्टि द्वारा चाक्षुष प्राण की सहायता से, अथवा मंत्र द्वारा अग्नि स्वरूप समान शक्ति के आधार से, अथवा स्पर्श द्वारा वायु रूप व्यान शक्ति के आधार से दूसरों में शक्तिपात करके उनमें भी उक्त ब्रह्मतेज को उत्पन्न कर देता है। योगी के संकल्प के अनुसार प्राण शक्ति का उदान सहित शिष्य में संचार होता है यह अभिप्राय भी १० वीं श्रुति के अन्तर्गत निहित है।

उपरोक्त श्रुतियों में शक्ति सम्पादन करने का रहस्य स्पष्ट रूप से बताया गया है जो क्षीण तेज मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन को संयम में स्वयं नहीं ला सकते उनको शक्तिपात द्वारा गुरु की शक्ति के आलम्बन से यह कार्य सम्पादित हो जाता है। शक्तिपात के पश्चात् शिष्य की अपनी शक्ति जाग उठने से वह स्वयं भी अपनी इन्द्रियों और मन का संयम करने लगता है। प्राण से मनोनिरोध और मनोनिरोध से प्राण शक्ति का संचय उत्तरोत्तर होने लगता है।

२८ स्मृतेश्च ।

और स्मृतियों का भी प्रमाण है ।

पुराणों में और तंत्र शास्त्रों में इस विज्ञान का रहस्य अधिक विस्तार से मिलता है ।

यथा :—शक्तिपातसमायोगाद्दते तत्वानितत्वतः ।
तद्व्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ॥

(शिव पुराण वायवीसंहिता)

अर्थ—शक्तिपात के समायोग के बिना तत्वतः तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता ।

२९ तत्तुसति धर्माधर्मयोः साम्ये ।

परन्तु वह शक्तिपात धर्म और अधर्म की साम्यावस्था होने पर होता है ।

अर्थात् गुरुजन पापी मनुष्यों पर शक्तिपात नहीं करते और यदि करना भी चाहें तो पाप की अधिकता होने पर शक्ति का संक्रमण नहीं होता । पाप दग्ध होकर जब पाप पुण्य की साम्यता आती है तब ही उसका विकास होता है । इसी अभिप्राय से कुष्ट, यक्ष्मा, मिरगी, बवासीर, सुज़ाक, आतशक जैसे पापी रोगों से पीड़ित मनुष्यों को दीक्षा देने का निषेध है । अन्धे, काने, बहिरे, अंगहीन और और अधिकांगियों की भी गणना उसी कोटि में की गई है ।

३० यस्मिन्नपतति तद्धि न पात्रम् ।

जिस मनुष्य में शक्ति नहीं गिरती वह पात्र नहीं है।

परन्तु इस सूत्र का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें शक्ति जाती है वह दीक्षा का पात्र है ही। यह भी संभावना हो सकती है कि शक्ति जाने पर भी कोई कोई दीक्षा के योग्य नहीं होते।

३१ वर्णानां न नियमः ।

वर्णों का नियम नहीं है।

जिसको गुरु स्वीकार करले वह ही पात्र है, वर्ण, जाति का नियम नहीं है। ईसाई, मुसलमान, यूरोप अथवा अन्य देशों के निवासी सब ही पात्र हो सकते हैं।

३२ बालवृद्धस्त्रीपुमान्सः सर्वेऽधिकारिणः ।

बालक, वृद्ध, स्त्री, और पुरुष सब अधिकारी हैं।

३३ एकाकी दीक्षितैर्वा सह समभ्यसेत् ।

अकेला अथवा दीक्षितों के संग अभ्यास करे।

३४ शुचौ गुप्तदेशे मठे गुहायां वा ।

किसी शुद्ध बन्द कमरे में, मठ अथवा गुफा में अभ्यास करे।

जन समुदाय में सब के सामने अभ्यास करना निषिद्ध है। क्योंकि ऐसा करने से शक्ति का ह्रास होता है, साधक की उन्नति में बाधा पड़ती है, और विघ्नों का भय होता है।

३५ तत्र स्थापयेत् कम्बलासनमजिनासनंवा ।

वहां पर कम्बल अथवा मृग या व्याघ्रादि के चर्म का

आसन बिछावे। चटाई अथवा बिना आसन के भूमि, पत्थर अथवा लकड़ी के आसन पर अभ्यास न करे।

—:o:—

तृतीय पाद।

१ कोषेषु तद्विकासः। २ अन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दमयाःश्रुतेः।

कोषों में उसका विकास होता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोष हैं श्रुति के अनुसार। कोष पांच हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में पांच कोषों का वर्णन मिलता है उनमें प्रथम चार तो कोष ही समझने चाहिये परन्तु अन्तिम आनन्दमय तो स्वयं आत्मानन्द का ही रूप है।

तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिण पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।

उसका (आनन्द मय कोष का) सिर प्रियता है दक्षिण पक्ष मोद, उत्तर पक्ष प्रमोद, आत्मा आनन्द और ब्रह्म उसकी पूंछ प्रतिष्ठा है। इसलिये शक्ति का विकास प्रथम चार में तो प्रत्यक्ष प्रतीत होता ही है, परन्तु आनन्दमय में आनन्द के विकास का अर्थ विकल्प मात्र ही है। उसका अर्थ यह ही समझना चाहिये कि आनन्द का अनुभव होना ही आनन्द मय परमात्मा का साक्षात्कार है और वह ही आनन्द मय का विकास है—

सवा एष पुरुषोऽन्नरस मयः, तस्माद्वा एतस्मादन्नरस-

मयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञान मयः, विज्ञान मयात् अन्योऽन्तर आत्मानंदमयः ।

(तै० २-५)

उक्त कोषों में शक्ति का विकास किस प्रकार होता है इसके लिये नीचे कोषों का स्वरूप दिखाया जाता है।

३ पार्थिवोऽन्नमयः ।

पार्थिव शरीर अन्न का बना हुआ है ।

४ तत्र नाड्योऽनन्ताः ।

उसमें अनन्त नाड़ियां हैं ।

प्रश्नोपनिषद् में नाड़ियों की संख्या ७२०००००१ कही है, एक सुषुम्ना और १०० प्रधान नाड़ियाँ हैं। फिर प्रत्येक सौ में से ७२००० शाखायें फूटती हैं। इस प्रकार अनन्त नाड़ियों से सारा शरीर व्याप्त है। अंग्रेजी में इन नाड़ियों को Nerves कहते हैं। नाड़ी विज्ञान समझने के लिये हमारी लिखित अंग्रेजी की देवात्मशक्ति पुस्तक पढ़ें ।

५ कंदस्तन्मूलम् ।

कंद उनकी जड़ है ।

कंद के अन्दर अंग्रेजी में Ganglion impar नाम की एक ग्रन्थि बताई जाती है। उस ग्रन्थि में से पश्चिम के विद्वानों के मत से दो नाड़ियां निकलती हैं जो मेरु दंड के बाहर उसके

दक्षिण वाम पक्ष में खड़ी हैं उनका नाम अंग्रेजी में sympathetic columns रखा गया है। इन ही दोनों को इड़ा और पिंगला कहते हैं, हमारे ऋषियों के मतानुसार कंद एक मांस पेशि है जो ६ अंगुल लम्बी और ४ अंगुल घेरे वाली है। उसके केन्द्र में कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। वहाँ से सुषुम्ना, इड़ा और पिङ्गला तीनों का उद्गम होता है। यह स्थान गुदा से ऊपर और उपस्थ से नीचे मेरुदण्ड की अनुत्रिकास्थि के समीप है।

६ पायूपस्थयोर्मध्ये तत्स्थानम्।

गुदा और उपस्थ दोनों के मध्य प्रांत में उस कन्द का स्थान है।

७ एतस्मादिडापिंगलासुषुम्ना उद्भूताः।

उससे इड़ा पिङ्गला और सुषुम्ना उत्पन्न होती हैं।

पश्चिम के डाक्टरों के मत से सुषुम्ना का उससे संबंध नहीं है। परन्तु योगियों का अनुभव इसके विपरीत है।

८ ताभ्यः शाखा प्रति शाखा क्रमेण सहस्रसः।

उन तीनों से शाखा प्रति शाखा क्रम से हजारों नाड़ियां उत्पन्न होती हैं, पश्चिम के डाक्टरों के मतानुसार नाड़ियों का उद्गम स्थान शिरः कपाल है, परन्तु योगियों का मत है कि कंद ganglion impar सब की जड़ है, उसमें से तीन तने trunks निकलते हैं, जो नीचे पतले और ऊपर मोटे होते जाते हैं। उनमें से एक मेरु दण्ड के भीतर और दो बाहिर खड़े हैं। इड़ा और पिङ्गला में चौबीस चौबीस गांठे हैं इनको अंग्रेजी

में ganglia कहते हैं, योगशिखोपनिषद् में इनको मणि कहा है, उक्त मणियों में से एक २ शाखा सुषुम्ना के चित्रा विभाग में जा मिलती है। इड़ा से निकलने वाली चित्रा के वाम भाग में और पिङ्गला से निकलने वाली चित्रा के दक्षिण भाग में मिलती है। दूसरी ओर उन ही मणियों से अन्य शाखाएं भी निकलती हैं—वे सब शरीर के सब अंग प्रत्यङ्गों में फैल जाती हैं जैसे पीपल के पत्ते की नाड़ियां। ऐसा क्रम आधार से आज्ञा चक्र तक है, उसके ऊपर इड़ा पिङ्गला का अन्त हो जाता हैं। परन्तु उनकी दो शाखायें दोनों नासा पुटों तक आती हैं और उनमें सम्बन्ध रखने वाले चित्रान्तर्गत शिरा समूह दक्षिण से वाम ओर और वाम से दक्षिण ओर क्रौस cross (×) करके (संगम करके) मस्तिष्क में फैल जाती हैं—जिस स्थान पर ये क्रौस करती हैं उस स्थान को वाराणसी कहते हैं यहां पर विश्वनाथ विराजते हैं। आज्ञा चक्र को प्रयाग कहते हैं, आज्ञा चक्र के किञ्चित् ऊपर मनोमय चक्र sensory centre है जहां से आख, कान, नाक, जिह्वा, मुख हृदय से संबंध रखने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं। पश्चिम के विद्वानों ने इन सब को तीन श्रेणियों में विभक्त किया हुआ है (१) cerebrial nerves अर्थात् वे जो सुषुम्ना के छोटे मास्तिष्क विभाग अर्थात् कपाल कंद से उदय होती हैं—(२) spinal जो मेरू से निकल कर सारे शरीर में फैल जाती हैं—(३) sympathetic जो इड़ा और पिंगला से निकलकर सब अङ्गों में फैलती हैं, इनको sympathetic इस लिए कहते हैं कि ये सुषुम्ना को

सहयोग देती हैं। भारत के विद्वानों ने सबको सुषुम्ना की शाखाएं माना है जैसा निम्नश्लोक में कहा गया है :—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्व पंचसु संभवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्ष त्रयात्परम् ।।

शरीर के मध्य में स्थित सुषुम्ना के पांचों पर्वों से उत्पन्न होने वाली नाड़ियां शाखा उपशाखा क्रम से तीन लाख से भी अधिक हो जाती हैं, पांच पर्व ये हैं, ग्रीवा, पृष्ठ, नाभि, कटि, और आधार, अंग्रेजी में इनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) Cervical (2) Thorscial (3) Lumber (4)Sacral (5) Coccygeal.

उपरोक्त वर्णन से यह जानना आवश्यक है कि योगियों का क्रम कंद से ऊपर मस्तिष्क तक फैलना सीधा अथवा लोम क्रम है, और पश्चिम वालों का उलटा अथवा विलोम क्रम है— क्योंकि शक्ति प्रसुप्त रूप से in statical form कंद में निवास करती है और सुषुम्ना द्वार से जब सहस्रार Cerebral में चढ़ कर समाधि लगाती है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है इससे विपरीत क्रम संसार में डालने वाला इच्छा, संज्ञान, और क्रियात्मक स्वरूप, जन्म मृत्यु और भोग रूपी बन्धन का कारण है।

९ सुषुम्ना वंशस्थिता। १० तस्यामूर्द्ध्वं तो वज्राचित्रा विरजा क्रमेण संपुटिताः।

सुषुम्ना पृष्ठवंश अथवा मेरू दण्ड में स्थित है और उसके ऊपर से केन्द्र की ओर भीतर तीन विभाग हैं। बज्रा, चित्रा, और विरजा, इनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं। White portion, Grey portion and Empty canal.

११ पूर्वे द्वे बहिः।

पहिली दोनों इड़ा पिङ्गला मेरू के बाहर हैं।

१२ ते उत्तरस्यामर्पिते।

वे दोनों सुषुम्ना में समर्पित हैं।

१३ सर्वोपरि बज्रा बज्रवद्दृढ़ा।

सबसे ऊपर बज्रा बज्र के सदृश दृढ़ है।

१४ मध्ये चित्रा चित्रवर्णा सव्याऽपसव्येड़ापिङ्गलावती।

मध्य में चित्रवर्णा चित्रा है, वाम दक्षिण भागों में इड़ा और पिङ्गला के धर्म वाली है।

चित्रा के दोनों भागों से वाम दक्षिण और नाड़ियां निकल कर पहिले तो सुषुम्ना के ऊपर ही लपेटे खाती हैं फिर वाम भाग वाली वंश के वाम छिद्र से और दक्षिण भाग वाली दक्षिण छिद्र से बाहर निकल कर इड़ा पिङ्गला से मिलती हैं और स्वतन्त्र रूप से भी हाथ-पैरों तक फैल जाती हैं। अर्थात इनके द्वारा सारे शरीर का मस्तिष्क से सम्बन्ध बना हुआ है।

१५ विरजैव ब्रह्मनाड़ी कमलकर्णिकावत् षट्चक्रवतीच।

विरजा (empty canal) ही ब्रह्मनाड़ी है, कमल के नाल के सदृश और वह छः चक्रों वाली है।

वास्तव में ६ चक्रों का स्थान चित्रा में ही जानना चाहिये, परन्तु जबतक ये चक्र नहीं खुलते विरजा का मार्ग साफ़ नहीं होता।

१६ प्रमुखा मोक्षमार्गत्वाच्छ्रुतेः।

यह ही प्रमुखा है मोक्ष मार्ग होने के कारण, श्रुति इसका प्रमाण है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मुर्द्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमेण भवन्ति॥

(कठ २।३।१६)

हृदय की सौ और एक नाड़ियां हैं, उनमें एक मूर्द्धा को चढ़ जाती है उससे ऊपर जा कर अमरत्व को प्राप्त करता है और दूसरी नाड़ियों से उत्क्रमण करके विश्व में जन्म लेता है।

यहां पर हृदय का अर्थ हृदय पिण्ड न लेकर हृदय की शक्ति अर्थात् प्राण शक्ति लेना चाहिये। इसलिए हृदय की नाड़ियों से प्राण वाहिनी अथवा वात नाड़ियों से अभिप्राय है। श्रीमत् शंकराचार्य महाराज ने भी उक्त एक नाड़ी से सुषुम्ना नाड़ी का ही ग्रहण किया है और वह हृदय से नहीं वरन पृष्ट वंश में चढ़ती है जैसा कि निम्नोद्धृत श्लोक से स्पष्ट है।

गुदस्य पृष्ट भागेऽस्मिन् वीणादण्डः स देहभृत्।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाड़ीति कथ्यते॥

(योग शिखोपनिषत्)

गुदा के पृष्ठ भाग में वीणा दण्ड देह को धारण करता है वह मोटी हड्डी का बना हुआ देह पर्यन्त तक है। उसमें ब्रह्म नाड़ी स्थित है ऐसा कहा जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि उपरोक्त कठवल्ली की श्रुति में हृदय शब्द आया है इसलिये यह एक नाड़ी सुषुम्ना नहीं है वरन् Vagusnerve है जिसको पातञ्जल दर्शन में कूर्म नाड़ी कहा है उसपर ध्यान करने से मन में स्थिरता मात्र होती है, परन्तु समाधि तो सुषुम्ना में प्राण चढ़ने से ही लगती है। क्योंकि—

१७ अनुभवादपि योगिनाम्।

योगियों के अनुभव से भी वह सुषुम्ना ही है।

१८ स्मृतेश्च।

स्मृतियों का भी प्रमाण है।

तंत्र शास्त्रों में, पुराणों में सुषुम्ना का बहुत वर्णन मिलता है।

१९ संज्ञान-क्रियात्मकत्वात् द्विविधा अन्याः।

अन्य नाड़ियां दो प्रकार की हैं संज्ञानात्मक और क्रियात्मक होने से।

२० ताभिः प्राणश्चरति।

उन नाड़ियों के द्वारा प्राण शक्ति प्रवाह करती है।

२१ एष प्राणमयः।

यह प्राणमय कोष है।

प्राणमय कोष अन्नमय कोष के अन्दर सूक्ष्म शक्तिमय कोष है। यह शक्ति यद्यपि स्थूल शरीर में पार्थिव तन्तुओं के

जाल द्वारा उसको व्याप्त किये हुए है तो भी उक्त तन्तु जाल अथवा नाड़ियां प्राणमय कोष नहीं है।

२२ हृदि स्थानं मनसः ।

हृदय में मन का स्थान है।

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये ।

(वृ० ५,६,१)

२३ तदपि प्राणाऽनुगम् ।

वह भी प्राण शक्ति के आधार पर चलता है।

मनकी गति भी प्राण के पीछे २ है। कहा है—

इंद्रियाणांहि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता (२, ६७)

चलती हुई इंद्रियों के पीछे २ जब मन चलता हैं तब वह उस मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार हर लेता है जैसे समुद्र में नाव को वायु। इन्द्रियां प्राणशक्ति का ही स्थूल कार्य है।

२४ एष मनोमयः ।

यह मनोमय कोष कहलाता है।

मन की गति ही जो संकल्प मय है मनोमय कोष कहलाती हैं। चित्त की वृत्तियों को मनोमय कोष की तरंगे समझना चाहिये। कहा है—'संकल्पात्मनं मनः'।

२५ कूर्म नाड्या तद्विज्ञानेन युक्तम् ।

यह मनोमय कोष विज्ञान मय से कूर्म नाड़ी के द्वारा संयुक्त है।

कूर्म नाड़ी को अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं।

२६ मूर्ध्नि विज्ञान मयः।

मस्तिष्क में विज्ञानमय कोष है।

विज्ञान मय कोष के धर्म चेतना, संवित, बुद्धि और अहंकृति हैं अंग्रेजी में इनको Different States of conciousness के अन्तर्गत माना जाता है विज्ञानमय कोष की तीन तह या तीन स्तर हैं।—

(१) संस्कारों का आशय Sub-conciousness (२) स्मृति Nme or personal conciousness (३) शुद्ध संवित pure or impersonal conciousness.

इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में मनुष्य ने जो जो अच्छे या बुरे कर्म किये हैं उनके संस्कार विज्ञानमय कोष में सदा संचित रहते हैं, इस को संस्काराशय अथवा कारण शरीर कहते हैं। परन्तु जब वे स्मृति पटल पर आ जाते हैं तब ही मनुष्य को उनका ज्ञान होता है। यह ही विज्ञान मय कोष का अङ्ग है। पहिली संस्कारों की और दूसरी स्मृति की अवस्था है। शुद्ध संवित में निरुपाधिक-ज्ञान होता है, जो शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता से दीख पड़ती है उसमें इन्द्रिय ज्ञान अथवा वृत्ति ज्ञान का अभाव रहता है।

२७ संज्ञान क्रियेच्छात्मिकाशक्तिः ।

शक्ति संज्ञानात्मिका, क्रियात्मिका और इच्छात्मिका तीन रूप से व्यक्त होती है ।

२८ मनोविज्ञानाभ्यामिच्छा ।

मन और विज्ञान के द्वारा इच्छा शक्ति कार्य करती है।

२९ ज्ञानेन्द्रियैः संज्ञाना ।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संज्ञाना शक्ति ।

गंध, रस, रूप, स्पर्श और श्रवण को ५ इन्द्रियें, ज्ञानेन्द्रियां हैं इन में जो शक्ति कार्य करती है उसको संज्ञान शक्ति कहते हैं।

३० कर्मेन्द्रियैः क्रिया ।

कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रिया शक्ति कार्य करती हैं।

बोलना, पकड़ना, चलना, मैथुन की क्रिया करना और मलमूत्र का त्याग करना क्रिया शक्ति का कार्य है।

३१ सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।

उपरोक्त सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं।

'अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्' (प्रश्नोपनिषत् २—६)

अर्थ—जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे रहते हैं उसी तरह शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं।

३२ प्राणः पंचविधः ।

प्राण पांच प्रकार का है ।

३३ प्राणोऽपानः समानो व्यान उदानश्च ।

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ।

ये पांच एक शक्ति के ही अवान्तर भेद हैं, यद्यपि वह पांच प्रकार से कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं। इसका कार्य पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है । उपनिषदों में इसीलिए इसका आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है।

जैसे—'आदित्यो हवै प्राणः' प्रश्न० (१—५) आदित्य ही निश्चय से प्राण है। वह एक ही पांच रूप बनाकर सब को धारण करता है।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोह मापद्यथ अहमेवैतत्पंचधात्मानं प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामीति ।

(प्रश्न० २—३)

उन (आकाशादि पंचतत्व, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों, मन, और चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों) से सर्व श्रेष्ठ प्राण ने कहा कि तुम मोह में मत पड़ो "कि हम ही इस शरीर को अथवा ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं," क्योंकि मैं ही अपने आपको पांच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को आश्रय देकर आधिभौतिक जगत् में धारण कर रहा हूँ।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषवायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं चयत्

(प्रश्न २, ५)

यह प्राण अग्नि के रूप में तपता है, यही सूर्य है, यह ही इन्द्र होकर बरसता है, यह वायु है, यह पृथ्वी है और यह ही देव सब भोग पदार्थों के रूप में है। कहां तक कहें सत् असत् यह ही सब कुछ है और अमृत भी यह ही है। 'आदित्यो हवै बाह्यः प्राणः पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यत् आकाशः स समानो वायुर्व्यानः । तेजोहवा उदानः ।' (प्रश्न ३, ८, ६) आदित्य सूर्य बाह्य प्राण है, पृथिवी की जो देवता रूपी शक्ति है वह पुरुष के अपान को आश्रय देकर अन्दर फैली हुई हैं, आकाश समान है, वायु व्यान है, और तेज ही उदान है।

आध्यात्मिक पांचों रूप भी उस एक ही प्राण शक्ति के अवान्तर भेद हैं यथा 'एषप्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते,' प्रश्न ३, ४, यह प्राण ही दूसरे प्राणों को पृथक् पृथक् धारण करता है। उक्त पंचधा प्राण-शक्ति के भेदों से प्राणमय कोष बनता है।

३३ दशविध इतिकेचित् ।

प्राण दस प्रकार का है ऐसा भी किसी किसी का मत है।

नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जया ऽभिधेया अन्ये ।

नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय पांच नाम वाले अन्य पांच हैं।

छींकने, हिचकी लेने, डकार आदि क्रियाओं में नाग काम करता है। नेत्रों की पलकों के निमेषोन्मेष में कूर्म, भूख प्यास लगाने में कृकल; निद्रा लाने में देवदत्त, और मृत्यु के पश्चात् भी शरीर की आकृति को बनाये रखने वाला धनंजय है। येभी प्राणमय कोष के ही अन्तर्गत हैं।

३५ चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते।

चक्षु और श्रोत्र की इन्द्रियों में, मुख और नासिका के द्वारा प्राण स्वयं प्रतिष्ठित हैं।

३६ अपनयतीति* अपानः।

नीचे ले जाने वाली शक्ति का नाम अपान है।

जैसा कि कहा है कि 'पायूपस्थेऽपानम्', प्रश्न ३-५ गुदा और उपस्थ में अपान काम करता है।

३७ समं नयतीत समानः।

जो समानता से सब जगह ले जाता है वह समान वायु है।

जैसा कि प्रश्न (३-५) श्रुति में कहा है 'मध्येतु समानः' 'एषह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति,' अर्थात् मध्य में समान रहता है यह ही खाये हुये अन्न को सारे शरीर में समान रूप से पहुंचाता है। जिससे ये सात

---

*प्राण अपान इत्यादि शब्दों की व्युत्पत्ति 'अनच् धातु से है जिस का अर्थ जीवन धारण करना है। इसलिये पांचों प्राणों का कार्य अपनी २ क्रिया से जीवन को धारण करना है, यदि इन में से एक की भी क्रिया विकृत हो जाती है, तो वह ही मृत्यु का कारण बन जाती है।

ज्वालायें बनती हैं (२ कान, २ आंख, २ नासिक रन्ध्र और १ मुख अथवा ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि मिलकर ७ ज्वालायें हैं)।

३८ व्याप्नोतीति व्यानः।

व्यापक है इसलिये व्यान कहते हैं।

'द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्या-सुव्यानश्चरति' प्रश्न (३, ६) शाखा प्रतिशाखा रूप से बहत्तर २ हजार की संख्या में होने वाली सब नाड़ियों में जो शक्ति संचार करती है वह व्यान है।

३९ उर्ध्वं नयतीत्युदानः।

ऊपर ले जाता है उसको उदान कहते हैं।

इसी के बल से योगी अपने वीर्य की रक्षा करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। उसको ऊपर खींच कर ऊर्ध्व रेता कहलाते हैं। और सुषुम्णा में प्राण चढ़ा कर समाधि का अनुभव लेते हैं साधारण मनुष्यों के प्राण को मृत्यु के समय खींच कर यही शक्ति दूसरे पुण्याऽपुण्य लोक अथवा मनुष्य लोक में जन्म देती है। जैसा कि श्रुति में कहा है—

'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पाप-मुभाभ्यां मनुष्य लोकम्।' प्रश्न (३—७)

और उन सब नाड़ियों में एक नाड़ी से ऊपर की ओर जाने वाला उदान पुण्य से अच्छे लोकों को, पाप से बुरे लोकों को और दोनों से मनुष्य लोक को ले जाता है। उक्तश्रुति के भाष्य

में श्रीमच्छंकराचार्य 'एक नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उदान का ऊपर ले जाना कहते हैं।

४ असंगो ह्ययमात्माऽऽनन्दमयः ।

आत्मा जो असङ्ग ही है वह स्वयं आनन्दमय है। यद्यपि आत्मा के निसृत् आनन्द का यह कोष तमोगुण के आवरण से आवृत है ।

ब्रह्म सूत्रों में भगवान् व्यासदेवजी ने कहा है कि आनन्दमय में मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में प्रयुक्त है, नकि विकारार्थ में, जैसा कि इसके विपरीत अन्न रस मय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञान मय में मयट् का प्रयोग विकारार्थ में किया गया है। विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' (१, १, १३) पूर्व पक्ष में शंका करते हैं कि विकार के लिये मयट् प्रत्यांत शब्द का प्रयोग होने से आनन्दमय ब्रह्म के लिये नहीं कहा गया अन्नमयादि के सदृश आनन्द के विकार का ही कोई कोष होना चाहिये। फिर उस शंका का उत्तर पक्ष में समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, यहां पर मयट् प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य के अर्थ में किया गया है विकार के अर्थ में नहीं यद्यपि आगे सिद्धांत पक्ष में सिद्ध करते हैं कि है आनन्दमय भी एक कोष ही।

४१ विकास आनन्द-घूर्णा-कम्पोद्भव-निद्रामूर्च्छात्मकः ।

विकास आनन्द, घूर्णा, कम्पका उद्भव, निद्रा, और मूर्छा के रूप में होता है।

शक्तिपात होने के पश्चात् शिष्य की शक्ति जागने से उसके

स्थूल सूक्ष्म शरीरों में शक्ति का विकास होता है, जबतक पूर्ण विकास न हो तब तक उसका गुरु के समीप रहना उचित है, इसीलिये तीन रात्रियों के नियम का विधान किया गया है। साधारणतः सब को तीन दिन में विकास हो ही जाता है, उत्तम अधिकारियों को तो तत्क्षण ही पूर्ण विकास हो जाता है परन्तु उनको भी तीन रात्रि के नियम का पालन करना ही चाहिये।

विकास जैसा ऊपर समझाया गया है प्राण शक्ति के उत्थान से होता है। इसलिये प्रथम प्राणमय कोष पर प्रभाव पड़ता है, जिस से नशासा, सिरमें या सारे शरीर में भारीपन इत्यादि चिन्ह प्रकट होते हैं, फिर स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष में कम्प, घूर्णा, अर्थात् घुमेर होने लगती है, शरीर क्रियायें करने लगता है और साथ ही मन में आनन्द के स्रोत उमड़ने लगते हैं, कभी कभी निद्रा भी आजाती है और किसी किसी को आनन्दमयी मूर्छा सी भी होती है, परन्तु साधारणतः मूर्छा देखने में नहीं आती, मनुष्य को सदा सब अनुभवों का ज्ञान बना रहता है। चित्त का निरोध होना मनोमय का विकास समझना चाहिये। दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि, दिव्य स्पर्श, दिव्य रस, और दिव्य गंध के अनुभव विज्ञानमय कोष के विकास हैं और आनन्द के प्रादुर्भाव को आनन्द स्वरूप आत्मा का ही अनुभव समझना चाहिये।

यह कहा जा चुका है कि विकास प्राणशक्ति के उत्थान के कारण होता है, उपनिषदों में प्राणोपासना का वर्णन मिलता है,

और प्राण ब्रह्म ही है ऐसा कहा गया है। साधारण बोल चाल में भी प्राण शब्द का प्रयोग चेतना शक्ति के लिये व्यवहार में लाया जाता है। मरण के लिये प्राणान्त शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता है और प्राणी से जीवधारी का अभिप्राय होता है। परन्तु श्वास गति को भी प्राण कहते हैं, क्योंकि श्वास प्रश्वास पर जीवन का आधार है और उसी से सारी जीवनकलायें कार्य करती हैं। यथार्थ में प्राण वह शक्ति है जिससे सारे अंग प्रत्यङ्ग और नस नाड़ियां निरन्तर अपना २ काम किया करती हैं और इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि भी प्राण के आधार पर आश्रित हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें भी प्राण के ही आश्रित हैं। यद्यपि इन्द्रियां, मन और बुद्धि सुषुप्ति में निष्क्रिय हो जाते हैं। पर प्राण अपना कार्य तब भी करते ही रहते हैं। श्वास प्रश्वास को प्राण कहने का अभिप्राय यह है कि हृदय और फुफ्फुस को सतत कार्यशील रखने वाली शक्ति मुख्य प्राण है। तीनों अवस्थाओं में प्राण शक्ति का प्रवाह सारे शरीर की नाड़ियों द्वारा होता रहता है और उक्त नाड़ियों का पृथक् पृथक् कार्य नियुक्त है, परन्तु प्राण प्रवाह सदा बहिर्मुख रहता है। जब वह अन्तर्मुख होने लगता है तब उसका प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ता हुआ समझना चाहिये। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण चढ़ने से समाधि लगती है और उस से नीचे की अवस्थाओं में चित्त की एकाग्रता आती है। समष्टि प्राण के सुषुम्ना में उत्थान होने पर वाह्य क्रियायें बन्द हो जाती हैं यहाँ तक कि श्वास और हृदय की गति भी बन्द हो जाती है। योग के अभ्यास से शक्ति

के जागने पर नाड़ियों के मल की शुद्धि होने लगती है और वे शुद्ध होकर सरल हो जाती हैं तब उनमें से शक्ति के प्रवाह में कोई रुकावट नहीं रहती, संकल्प मात्र से विद्युत् के सदृश संचार होने लगता है। तब सारे शरीर की नाड़ियों से प्राण खिचकर सरलता से सुषुम्ना में चढ़ने लगते हैं।

उपरोक्त प्राण अपानादि उस एक प्राणशक्ति के ही अवान्तर भेद हैं। उसके विशेष कार्यक्रम के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम रख दिये गये हैं जैसा कि ऊपर के सूत्रों से स्पष्ट है।

—:o:—

चतुर्थ पाद।

१ कुण्डलिनी प्रणव स्वरूपिणी।

कुण्डलिनी प्रणव स्वरूपिणी है।

यथा—महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकाऽनेकाक्षराऽकृतिः।

योग कुण्डलिन्योपनिषत्।

कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म स्वरूपिणी महादेवी शब्द ब्रह्ममयी अर्थात् प्रणव स्वरूपिणी है एक और अनेक अक्षरों के मन्त्रों की आकृति में व्यक्त होती है। अ= तमोगुण, उ= रजोगुण, म्=सत्वगुण हैं और अर्द्ध मात्रा से उत्पन्न होने वाली, अनुनासिक ध्वनि, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की व्यञ्जक है जो अन्त में

घण्टा नादवत् ब्रह्म में लय हो जाती है। कुण्डलिनी शक्ति के ये साढ़े तीन कुण्डल समझने चाहियें।

२ मूलाधारे प्रसुप्तासाऽत्मशक्तिः।

वह आत्मशक्ति मूलाधार में सो रही है (Lies in the Static Form)सोती हुई कुण्डलिनी को मुख में पूंछ दबाकर सुषुम्ना के द्वार को रोके हुए बताया जाता है। वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति का अलंकृत भाषा में वर्णन किया गया है।

३ उन्निद्रिता विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्तिः।

जागी हुई (When in Dynamic Form) वह मुक्ति रूपा पराशक्ति विशुद्ध चक्र में विराजती है।

शक्ति के जागने पर तीनों गुणों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और कुण्डलिनी अपने कुण्डल छोड़कर सीधी सर्पाकृति हो जाती है और शक्ति का उठना और सुषुम्ना द्वारा कपाल में चढ़ना योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उसकी गति सर्पवत् प्रतीत होने के कारण सर्प से उपमा दी जाती है।

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि॥

अर्थ—जब तक वह देह में सोती रहती है तब तक मनुष्य पशुवत् व्यवहार करता रहता है क्योंकि तब तक करोड़ों योग साधन करने से भी ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

बहुत से मनुष्यों की धारणा है कि कुण्डलिनी एक नाड़ी है परन्तु वास्तव में ऐसा अनुमान होता है कि कन्द (Ganglion

impar) में शक्ति (Static Form) प्रसुप्त रूप में सदा रहती है और उस में से निकल निकल कर (Kinetic) गति रूप में सुषुम्ना में जागने पर चढ़ने लगती है। कन्द उक्त शक्ति का अनन्त भण्डार है जागने पर उसका आध्यात्मिक चेतन स्वरूप, शरीर, मन, वाणी में व्यक्त होने लगता है।

४ योगाभ्यासात्तीव्र वैराग्याच्च ।

योग के अभ्यास से और तीव्र वैराग्य से जाग जाती है।

५ ज्ञान भक्तिभ्यां वा ।

ज्ञान और भक्ति से भी।

केवल शब्दिक ज्ञान से नहीं जागती। इसीलिए श्रवण, मनन और निदिध्यास की आवश्यकता है।

६ प्राणायामाद्वा ।

अथवा प्राणायाम करने से।

प्राणायाम अष्टांग योग का चौथा अङ्ग है इसलिये चौथे सूत्र में योग के अभ्यास के अन्दर आ जाता है यहां पर फिर प्राणायाम का अलग उपाय कहने से अभिप्राय यह है कि केवल प्राणायाम के अभ्यास से ही शक्ति जाग उठती है। कहा है 'न प्राणायामात्परं तपः' प्राणायाम से बड़ा दूसरा तप नहीं है। यहां पर प्राणायाम का अर्थ सहित कुंभकों से है जैसे भस्त्रिका, उज्जायी इत्यादि। पूरक रेचक सहित कुंभक को सहित कुंभक कहते हैं।

७ शक्तिपाताद्विशेषेण ।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से जाग जाती है ।

शक्तिपात में विशेषता यह है कि बिना शिष्य के आयास गुरु कृपा से शक्ति तुरन्त जाग जाती है नहीं तो साधक को निरंतर दीर्घकाल तक उसके जगाने के लिये ही कष्ट साध्य यत्न करना पड़ता है और उस में भी हानि होने की संभावना रहती है ।

८ तत्तु गुरु कृपयैव लभ्यते ।

परन्तु वह गुरू की कृपा के द्वारा ही प्राप्त होता है ।

९ ततः क्रियावती च भवति ज्ञानवत्वात् ।

उससे (शक्तिपात से) क्रियावती भी हो जाती है शक्ति के ज्ञानवती होने के कारण ।

कुण्डलिनी के अविद्या और विद्या दो रूप कहे जा सकते हैं, अविद्यावस्था में सोती हुई बन्धन का कारण होती है और जागने पर विद्यावस्था धारण करके मोक्ष प्रदा होती है जागने पर उसके तीन स्वरूप होते हैं क्रिया रहिता, क्रियाशीला और लयावस्था । क्रिया रहिता में मनुष्य की प्रवृति विवेक, वैराग्य की ओर होती है परन्तु मोक्ष साधन का प्रारम्भ नहीं होता, शक्ति पापों का नाश करती रहती हैं । पापों का नाश होने पर उसकी मोक्ष यात्रा का प्रारम्भ होता है । और समाधि अथवा मोक्षावस्था में शक्ति का ब्रह्म में लय हो जाता है ।

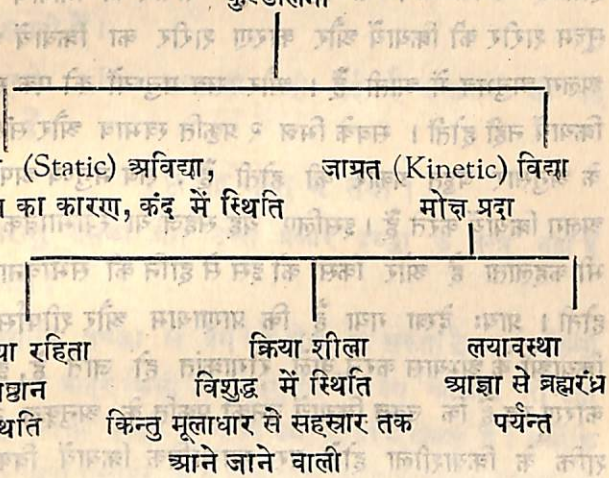

क्रियावती होने पर हठयोग के विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रायें, भक्ति की विभिन्न अवस्थायें, नृत्य, गीत, उद्गीथ प्रणवध्वनि, नाम कीर्तन, और मन्त्रयोग, ज्ञान योग की अनेक क्रियाओं का साधक को अनुभव होता है। इन क्रियाओं का कारण शक्ति का ज्ञानवत्व है यदि शक्ति अचेतनवत् व्यवहार करती तो उसकी क्रियायें ऐसी चेतना और ज्ञानयुक्त न होतीं।

१० क्रियाः स्थूल-लिंग-कारण, भेदतो बहुविधाः।

क्रियायें स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीरों के भेद से नाना प्रकार की होती हैं।

शक्ति के जागने में और क्रियाशीला होने में भी अन्तर है। क्रियाशीला होने पर शारीरिक मानसिक क्रियाओं का विकास

होता है केवल जागने से नहीं। स्थूल शरीर की क्रियायें और सूक्ष्म शरीर की क्रियायें और कारण शरीर का क्रियायें अलग अलग अनुभव में आती हैं। और सब मनुष्यों को एक समान क्रियायें नहीं होतीं। सबके भिन्न २ प्रकृति स्वभाव और संस्कारों के अनुसार बहुत प्रकार की होती हैं, सब मनुष्य अपनी २ अलग क्रियायें करते हैं। इसलिए यह सहज या स्वाभाविक योग भी कहलाता है और किसी को इस से हानि की संभावना नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि प्राणायाम और शीर्षासनादि क्रियाओं के अभ्यास करने वाले रोगाक्रांत हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि उक्त क्रियायें उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं। शक्ति के क्रियाशीला होने पर स्वाभाविक क्रियायें विकसित होती हैं और वे देश काल ऋतु के प्रभाव से साधक के शरीर मन प्राण के अनुकूल रहती हैं।

११ कायिक वाचिक मानसिकाः।

क्रियायें शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार की होती हैं।

१२ ता नेच्छातन्त्राः संस्कारतंत्रत्वात्।

वे इच्छा की तन्त्र नहीं हैं संस्कारों की तन्त्र होने के कारण। इच्छा चाहे गुरु की हो चाहे शिष्य की। क्रियायें दोनों की इच्छा के आधीन नहीं।

१३ शक्तितन्त्रत्वाद्वा।

चाहे उनको शक्ति के तन्त्र मानो।

क्योंकि शक्ति का वेग होने पर नानाप्रकार की क्रियायें होने लगती हैं।

दूसरे शक्ति ज्ञानवती कही गई है इसलिये भी वह स्वतन्त्र है।

१४ तद्वेगस्तु न तथा।

परन्तु उसका वेग उक्त प्रकार इच्छा के तन्त्र नहीं हैं ऐसा नहीं।

क्योंकि इच्छा से वेग को रोका जा सकता है। यदि किसी साधक को बाहर किसी जन समुदाय में वेग आजाय तो वहां पर वह अपनी इच्छा से अपने वेग को रोक सकता है। क्योंकि क्रियाएं सदा एकान्त स्थान और बन्द कमरे में करने का विधान है, जनसमुदाय में नहीं, जैसा कि आजकल जन समुदाय में भगवत् कीर्तन करते समय भाव प्रदर्शन करने का और नाच कर तमाशा सा करने का रिवाज कुछ महात्माओं ने चलाया है। जन समुदाय में क्रियाएं करने से शक्ति का अनुचित संक्रमण और ह्रास होता है जैसा कि पहिले कहा जा चुका है।

१५ ततः प्राणापानयोरुत्थानम्।

क्रियायें करने से प्राण और अपान का उत्थान होने लगता है।

पहिले कह आये हैं कि शक्ति के जागने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है यहां पर बताया गया है कि क्रियाएं होने के फल स्वरूप भी प्राण और अपान दोनों का उत्थान होता है। इसलिये

जितनी अधिक देर तक अभ्यास किया जाता है और जितनी अधिक क्रियायें होती हैं उतनी ही शीघ्रता से प्राण अपान का उत्थान होकर अधिक उन्नति होती है।

१६ सुषुम्नांव्रजति।

शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है।

१७ चक्राणि भिनत्ति।

चक्रों का वेध करती है।

१८ ततो नाड़ीशुद्धिः।

उस से नाड़ियों की शुद्धि होती है।

सुषुम्ना से सब नाड़ियों का सम्बन्ध है वे उसमें से शाखोपशाखा क्रम से निकलकर अङ्ग प्रत्यङ्ग में फैली हैं, इसलिये शक्ति के सुषुम्ना में प्रवेश करने से चक्रों का वेध करके सारे नाड़ीजाल में वह वेगपूर्वक फैल जाती है। जैसे हौज में भरा हुआ जल नगर के प्रत्येक घर, गली और बाजारों के नलों में वेग से फैल जाता है और यदि किसी नल में किसी प्रकार की रुकावट हो तो वह पानी के वेग से स्वयं दूर हो जाती है।

१९ प्राणमये संचालयति प्राणम्।

प्राणमय कोष में सर्वत्र प्राण का संचालन कर देती है।

नाड़ी शुद्धि होने पर समस्त नाड़ीजाल शुद्ध हो जाने के कारण प्रत्येक शाखा उपशाखा में सर्वत्र प्राण के वेग से संचार होने लगता है। और प्राणमय कोष शक्ति से आ-नख-शिख भर पूर हो जाता है। इस अवस्था का नाम घटा अवस्था है।

क्रियाओं के आरम्भ होने से आरम्भ अवस्था कहलाती है। अथवा आरम्भ अवस्था में शक्ति के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियां अन्तर्मुख होने लगती हैं और शक्ति के वेग से प्राणमय कोष के प्राण से परिपूर्ण होजाने पर घटावस्था कहलाती है।

२० तदा प्राणायामसिद्धिश्च।

तब प्राणायाम की सिद्धि होती है।

२१ साचतुर्विधा।

वह प्राणायाम की सिद्धि चतुर्विध होती है।

२२ प्राणस्यापानेऽपानस्य प्राणे योग उभयोर्गतिरोधश्च।

२३ केवलः प्राणविलीने चतुर्थः।

अपान में प्राण का योग होना, प्राण में अपान का योग होना, और दोनों की गति का निरोध होना। चौथा केवल प्राणायाम है जिस में प्राण का लय हो जाता है।

जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन को यज्ञों का वर्णन करते हुए कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

अर्थ—कोई तो अपान में प्राण की आहुति देते हैं, दूसरे प्राण में अपान की आहुति डालते हैं और कोई प्राण और

अपान की गति को रोक कर प्राणायाम करते हैं और दूसरे नियमपूर्वक आहार करके प्राण की प्राण में ही आहुति देते हैं ये सब ही यज्ञ के जानने वाले हैं, जिन्होंने अपने पापों को यज्ञ द्वारा निकाल फैंका है।

उक्त चारों प्रकार के प्राणायामों का श्वास प्रश्वास के पूरक प्राणायाम, रेचक और कुंभक प्राणायामों से अभिप्राय नहीं है, परन्तु रेचक पूरक द्वारा इनकी सिद्धि हो सकती है, और शक्ति जागने पर बिना रेचक पूरक के भी सिद्ध होते हैं। चारों की क्रियायें नीचे समझाई जाती हैं। पाठकों को यह बात तो उपरोक्त श्लोकों से कुछ समझ में आगई होगी कि असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। ये दोनों शक्तियां कहां और किस प्रकार मिलाई जाती हैं यही समझने की बात है। अपान शक्ति का स्थान पायु और उपस्थ है अर्थात् अपान आधार चक्र के समीप रहता है और उसकी गति नीचे की ओर होती है और प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है। दोनों का योग करके सुषुम्ना विवर में उनको प्रवेश करना चाहिये। सुषुम्ना में प्रवेश करने का द्वार कुण्डलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में स्थित है। अर्थात् प्राण और अपान दोनों को उस स्थान पर खैंच कर मिलाना होता है जिस से दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। तब घटावस्था की सिद्धि होती है और योगी के किंचित् प्रयत्न से अथवा संकल्प मात्र से प्राण का प्रवाह जहां चाहे वहां सुगमता से होने लगता है।

(१) अपान शक्ति में प्राणों की आहुति देने के लिये प्राण को नीचे उतारना पड़ेगा और उसको आधार चक्र में लेजाकर अपान में मिलाना पड़ेगा। यह क्रिया पूरक और अन्दर के कुम्भक करने से भी सिद्ध होती है। श्वास को फुफ्फुस Lungs में धीरे धीरे परन्तु दबाव के साथ खेंच कर पूरक करना पड़ता है फिर कंठ का संकोचन करके जालंधर बन्द द्वारा वायु को नीचे जोर से दबाया जाता है। इस क्रिया से कुछ अभ्यास के पश्चात् प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा पिंगला नाड़ियों में खिंच कर नीचे की ओर उतरने लगती है। और धीरे धीरे कंद के पास मूलाधार चक्र में एकत्रित होती है वहां पर योगी ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का संकोचन करके मूल बन्ध द्वारा अपान शक्ति को रोका ही हुआ होता है। इस प्रकार दोनों का वहां योग किया जाता है।

(२) फिर रेचक द्वारा धीरे धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबन्ध तथा पेट को पीठ की ओर तान कर उड्डियान बन्ध द्वारा नीचे की नाड़ियों से अपान को ऊपर खेंचकर प्राण से मिलाया जाता है। इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान का प्राण में आहुति देना है। उक्त प्रकार दोनों का योग करके सुषुम्ना में प्रवेश करने से असली प्राणायाम की सिद्धि होती है।

(३) तदनन्तर वाह्य कुम्भक करने से श्वास प्रश्वास की गति रोक दी जाती है और उस से प्राण और अपान दोनों अपना अपना वाह्य कार्य त्याग कर अन्तर्मुख होने लगते हैं

जैसा कि दम घुटने से मृत्यु के पूर्व होता है। और दोनों अपने अपने स्वरूप को त्याग कर लय होने लगते हैं यह प्राण अपान की गति निरोध रूप तीसरा यज्ञ है।

(४) चौथे केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर श्वास प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रुकने लगते हैं और श्वास गति का निरोध होने से प्राणशक्ति का निरोध होता है पांचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रुककर प्राण का समष्टि उत्थान होता है और समाधि लगने लगती है। ऐसे योगी मिताहार करके दीर्घ काल तक समाधि का आनन्द लेते हैं। यह प्राणों का प्राणों में आहुति देना है। इसका तीसरे से इतना भेद है कि केवल कुम्भक में प्राण सब चक्रों में एक दम विलीन होने लगेगा। यद्यपि सुषुम्ना में प्राण चारों रीतियों से चढ़ता है।

शक्ति के जाग कर क्रियावती होने पर चारों प्रकार के प्राणायाम बिना यत्न के अर्थात् श्वास प्रश्वास की गति का बिना आधार लिये सिद्ध होने लगते हैं। श्रीमच्छंकराचार्यजी ने भी योग तारावली में केवल कुम्भक का सुन्दर वर्णन किया है जो पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है।

बंध-त्रयाभ्यास-विपाक-जातां,
विवर्जितां रेचक-पूरकाभ्याम्।
विशोषयंती विषय-प्रवाहं,
विद्यां भजे केवल-कुंभ-रूपाम् ॥८॥

प्रत्याहृतः केवल कुम्भकेन,
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः ।
प्राणः प्रतीचीन-पथेन मंदं,
विलीयते विष्णु-पदांतराले ॥१२॥

अर्थ—मूल, उड्डयान और जालंधर तीनों बन्धों के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर प्रकट होने वाली, जो रेचक और पूरक से वर्जित है और सब विषयों के प्रवाहों को सुखा डालती है, उस केवल कुम्भक रूप विद्या का मैं भजन (साधन) करता हूं।

केवल कुम्भक के द्वारा खींचा हुआ प्राण जो जागी हुई कुण्डलिनी के भोजनोपरान्त शेष बच गया है धीरे धीरे सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग द्वारा विष्णुपद स्वरूप अन्तराल में लय हो जाता है। अर्थात सहस्रार में चढ़कर परब्रह्म में लय हो जाता है।

२४ तदा पश्चिमतो वेधाच्चित्तलयः ।

तब सुषुम्ना के मार्ग का वेध होने से चित्त की लयावस्था आती है।

२५ सिद्ध मंत्राणामाप्ति र्मातृका-संबोधात् ।

मातृका शक्ति के जागने के कारण सिद्ध मंत्रों की प्राप्ति होती है।

मातृका शक्ति कुण्डलिनी का वह स्वरूप है जिसमें अकार

से क्षकार तक वर्णमाला शब्द और पदों की रचना सहित वैखरी वाणी द्वारा प्रकट होती है। इसीलिये कुण्डलिनी को सरस्वती भी कहते हैं। सरस्वती के सिद्ध होने पर मन्त्रों और पदों का स्वयं विकास होने लगता हैं और योगी में व्याख्यान देने अथवा कविता रचने की शक्ति आ जाती है।

२६ अष्टाङ्ग योग सिद्धिश्च।

और अष्टांग योग की सिद्धि होती हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आठों अंग धीरे धीरे पुष्ट होते जाते हैं। यदि १२ घन्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घन्टे की धारणा होती है और ५ मिनट का ध्यान तथा २५ सैकण्ड की समाधि। ऐसा अन्दाजा है। और तदनुसार नीचे के अंग भी उत्तरोत्तर पुष्ट होते हैं।

२७ महायोगोदयो वा।

अथवा यह कहें कि महायोग का उदय होता है।

२८ नृत्यति गायति हसतिरोदितिच।

और साधक नाचता है, गाता है, कभी हंसता है कभी रोता है।

२९ प्रणवादिनामोच्चारणं गानं कीर्तनम् च।

प्रणवादि नामों का उच्चारण, गान और कीर्तन करता है।

३० दिव्य भावैर्मत्तो भवति।

३१ रौद्रादिभावैरपि संपन्नोभवति ।

दिव्यभावों से मस्त हो जाता है और रौद्रादिभावों से भी युक्त होता है ।

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, करुणा, भय, घृणात्मक (वीभत्स) और सप्रेम भक्ति अर्थात् शान्त ६ भाव हैं ।

उक्त नौ प्रकार के भाव कभी कभी आते हैं। इनके अतिरिक्त शिव भाव, दिव्य भाव, और ब्रह्मभाव आदि भी होते हैं, उन भावों के आने से मनुष्य उन्मत्तवत् दिखने लगता है। यह ही ज्ञानी की अवस्था है। क्योंकि इस अवस्था में जीव भाव स्वल्प अथवा नहीं सा हो जाता है।

३२ भक्त्या परयाऽविष्टो भवति ।

परा भक्ति के आवेश में आ जाता है।

३३ करोति सिद्ध दर्शनमिष्टदेवदर्शनञ्च ।

सिद्धों और इष्टदेव के दर्शन करता है।

३४ ऊर्द्ध्व रेताश्च भवति ।

और उर्द्ध्वरेता हो जाता है।

यह बात तो सब जानते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है और वीर्य की रक्षा का नाम ब्रह्मचर्य है परन्तु वीर्य की रक्षा किस प्रकार होती है यह बात बहुत कम लोग समझते हैं। बहुधा डाक्टरों का कथन है कि वीर्य की रक्षा के लिये काम के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना है। इसका अर्थ यह है कि वीर्य, बनने के

पश्चात्, बाहर निकलने की प्रवृत्ति रखता है और उस वेग को रोकने से हानि होती है। परन्तु अतिविषयासक्ति से अस्वाभाविक रीति से अनावश्यक परिमाण में वीर्य बनाकर नष्ट कर देने से और भी अधिक हानि होती है, और ऐसे मनुष्य यक्ष्मा जैसे भयंकर रोगों का आवाहन करते हैं। यह बात तो निश्चित ही है कि विषयासक्ति में पड़कर अस्वाभाविक रूप में वीर्य बनाने से शरीर की धातुओं पर कुठाराघात होता है, उनका सत्व जबरदस्ती खींचा जाता है। परन्तु जो वीर्य स्वाभाविक रूप से बनता है उसकी यदि रक्षा हो सके तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का लाभ उठाया जा सकता है। डाक्टरों के मत के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति इस प्रकार होती है। जब पुरुष को काम का वेग उत्पन्न होता है तब उसके रुधिर का प्रभाव अंडकोषों की ग्रंथियों में आने लगता है वहां पर उक्त ग्रंथियों में से निकलने वाले एक प्रकार के रस के रासायनिक प्रयोग (chemical action) से रुधिर के रक्त वर्ण कीटाणु वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिनको अंग्रेजी में spermatozoa कहते हैं। इन्हीं कीटाणुओं में जनन शक्ति होती है, यदि वे बाहर निकाल दिये जायें तो कोई हानि नहीं होती क्योंकि उनका कार्य बाहर निकल कर स्त्री के गर्भाशय में गर्भस्थिति करना ही है यदि कोई पुरुष उसको रोकता है तो स्वप्नदोष और प्रमेह आदि रोग होने की संभावना होती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन का क्या तात्पर्य है यह बात विचारणीय है। हमारे महर्षियों का कथन है कि वीर्य प्राण शक्ति ही

है और वीर्य के नष्ट होने से प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अपान शक्ति के उत्थान होने पर उदान रूपी अग्नि का योग होने से वीर्य की प्राणशक्ति ऊर्द्ध्व गामिनी हो जाती है और ऐसे योगी का वीर्य स्खलित नहीं होता और मैथुन काल में स्खलित होने पर भी उस का ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता। 'बज्रौली' मुद्रा की सिद्धि होने पर तो उदान के वेग के कारण स्वप्नदोष द्वारा स्खलित होकर इंद्रिय में उतर आया हुआ अथवा मैथुन द्वारा बाहर पात हुआ वीर्य भी पुनः ऊपर चढ़ जाता है। ऊपर जाकर वह वीर्याशय या मूत्राशय में लौटकर प्रवेश नहीं कर सकता परन्तु उदान शक्ति की उष्णता से योनिस्थानस्थ रुधिर में मिल जाता है और प्राण का वेग सुषुम्णा में ऊर्द्ध्व प्रवाह करने लगता है। योगियों ने इस क्रिया को रज वीर्य का योग माना है।

योनिस्थाने महाक्षेत्रं जपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो बसति जंतूनां देवीतत्वं समाहितम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
(योग शिखोपनिषत्)

अर्थ—योनि स्थान रूपी महा क्षेत्र में जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है उसको देवी तत्व कहते हैं। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है; अर्थात् दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सीवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति नरम स्थान है, उसको योनि स्थान कहते हैं। वहां पर वीर्य

चढ़ने से उष्णता उत्पन्न होती है जो वीर्य और रज की रासायनिक क्रिया की सूचक होती है।

गलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनि मण्डले ।
ज्वलितोपि यथा विंदुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ॥
व्रजत्यूर्द्ध्वं हठाच्छक्तया निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ॥
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु लोहिताख्यं महा रजः ।
निद्रुम द्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥
शशि स्थाने बसेद्विंदुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥

(योग चूड़ामणि उपनिषत् , ध्यान बिन्दु उपनिषत्)

अर्थ—गलित होकर जब वीर्य योनिस्थान में ले जाया जाता है वहां अग्नि में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है। वह बिन्दु दो प्रकार का होता है श्वेत और रक्त। श्वेत को वीर्य और लाल को रज कहते हैं। मूंगा के रंग का रज योनि स्थान में रहता है और वीर्याशय रूपी चन्द्र स्थान में वीर्य रहता है, इन दोनों का मिलाना बड़ा दुर्लभ है।

नोट—योनि का अर्थ यहां पुरुष के उपरोक्त योनिस्थान से है।

वास्तव में वीर्य प्राण और ओज का स्थूल शरीर है। प्राण अथवा ओज के ऊर्ध्व गमन करने पर यदि कभी वीर्य स्खलित

भी हो जाय तो उससे ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं आती, ऐसे योगी गृहस्थ धर्म का पालन करते हुवे भी ब्रह्मचर्य का पालन ही करते हैं। पूर्वकाल के वशिष्ठ, याज्ञवल्कादि सब ऋषि मुनि गृहस्थी ही थे। प्रश्नोपनिषत् में कहा है कि—

'प्राणं एते प्रस्कंदति ये दिवा रत्या संयुज्यते, ब्रह्मचर्य मेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यते'। (प्रश्न १—१३)

जो दिन में रति कर्म करते हैं उनके प्राण नष्ट होते हैं और जो रात्रि में रति कर्म करते हैं वे ब्रह्मचर्य में ही रहते हैं। क्योंकि दिन में सूर्य की प्राण शक्ति है रात्रि में नहीं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण अपान के स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी हो जाने के कारण उनके ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि उनकी प्राण शक्ति का ऊर्ध्व प्रवाह सतत बना रहता है। जिनकी कुण्डलिनी शक्ति जगी नहीं है वे लोग यदि अभ्यास करके वीर्य को ऊपर खेंच भी लें तो वह रज से न मिलने के कारण मूत्र के साथ बाहर आ जाता है। इसलिये हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि बिना कुण्डलिनी जागे बज्रौली और खेचरी मुद्रायें सिद्ध नहीं होती।

ऐसे योगियों को ऊर्ध्व रेता कहते हैं। साधारण लोगों को भी वीर्य रक्षा करने से लाभ होता है। क्योंकि उनके प्राण और ओज का थोड़ा बहुत ऊर्द्ध्व प्रवाह होता ही है। ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि मन में काम का विकार ही उत्पन्न न होने दिया जाय। विकार आने पर वीर्य

बनना अनिवार्य है और बनने के पश्चात वीर्य की रक्षा करना अति कठिन है।

३५ ततः खेचरीसिद्धिः।

उससे अर्थात ऊर्द्ध्व रेता होने से खेचरी की सिद्धि होती है। खेचरी का अर्थ है कि प्राण आकाश (ब्रह्मरंध्र) में गमन करते हैं।

३६ वीतराग विषयत्वम्।

वीतराग विषयत्व होता है।

पांचों क्लेश तनु होने लगते हैं और मनुष्य के राग, द्वेष, भय, काम, क्रोध मोह आदि का वेग शिथिल होकर पतला होता जाता है। अन्त में सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है। क्योंकि प्राणों के ऊर्द्ध्वगामी होने से इन्द्रियां अन्तर्मुख होने लगती हैं और चित्त विषयों से उपरत हो जाता है।

३७ सूर्येन्दुवह्नि दीप शिखाविद्युत् खद्योत् नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और दीप शिखा, बिजली, जुगनू, नक्षत्र इत्यादि ज्योतियें दिख पड़ती हैं। उक्त दर्शन तीन प्रकार से होते हैं। (१) बहिर्दृष्टि आंखे खोले हुवे बाहर। (२) मध्य दृष्टि नेत्र बन्द करके ध्यान में, दृष्टा दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी युक्त (३) अर्न्तदृष्टि समाधि की सी अवस्था में।

३८ ब्रह्मणि तदभिव्यक्तिकराणि श्रुतेः।

ये ब्रह्म में अभिव्यक्ति कराने वाले हैं, श्रुति भी प्रमाण है।

श्वेताश्वत्तर उपनिषत् में इनका वर्णन मिलता है कि ऐसे दर्शन चेतन स्वरूप आत्मदेव अथवा ब्रह्म के हैं। आत्मा और ब्रह्म तो अव्यक्त हैं परन्तु उक्त व्यक्तता चित्त की उपाधि के ही कारण है।

३९ आरंभ घटा परिचय निष्पत्तिभूमिकोपलब्धिः।

आरम्भ, घटा, परिचय, और निष्पत्ति भूमिकाओं की प्राप्ति होती है।

आरम्भ अवस्था—में कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां और अन्तःकरण बहिर्मुख वृत्ति से हठकर अन्तर्मुख होने लगते हैं।

घटावस्था—में सुषुम्णा को वेध करके आ-नख-शिख प्राण सुस्थिर हो जाता है।

परिचय अवस्था—ब्रह्मरंध्र सहस्रार में प्राण स्थिर होने से परिचय अवस्था होती है क्योंकि वहां आत्मा का परिचय होता है।

निष्पत्ति अवस्था—जीवन मुक्ति की दशा को कहते हैं।

४० प्रातिभादि विभूतयः।

प्रातिभादि सिद्धियां आती हैं।

४१ अधिकारी भेदतो न नियमः।

अधिकारी भेद से यह नियम नहीं है कि उपरोक्त लक्षण सब में अवश्य ही हों।

४२ ता नात्मनि चित्त धर्मत्वात्।

चित्त का धर्म होने के कारण, वे आत्मा में नहीं होतीं।

उपरोक्त सब अवस्थायें आत्मा की नहीं हैं क्योंकि वे सब चित्त के ही धर्म हैं।

४३ नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावस्य नभूमिकत्वम्।

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव स्वरूप आत्मा को भूमिकत्व नहीं होता।

४४ आत्मख्यातिरेव।

भूमिकाओं की उत्तरोत्तर प्राप्ति में आत्मा का प्रकाश स्वरूप ज्ञान ही बढ़ता है।

भूमिकायें क्या हैं? इसका उत्तर यह है कि उत्तरोत्तर चित्त पर आत्मा का प्रकाश बढ़ता जाता है।

४५ चित्त संयोगापत्तेश्चेन्न इति न।

यदि शंका की जाय कि उपरोक्त सिद्धांत कि "भूमिकायें आत्मा में नहीं होतीं, चित्त में आत्म ख्याति से होती हैं" तो चित्त का आत्मा के साथ संयोग मानना पड़ेगा इसलिए यह सिद्धांत ठीक नहीं। उसका उत्तर देते हैं कि नहीं। क्योंकि—

४६ संयोगान्नबन्धः।

संयोग के कारण बन्ध नहीं है।

४७ आत्मनिचिदानन्दरूपत्वे द्वयोर्भेदात्।

आत्मा के चित् और आनन्द रूप होने से आत्मा और चित्त दोनों में भेद होने के कारण बंध नहीं हो सकता।

आत्मा चेतन है चित्त जड़, दोनों का संबंध अथवा संयोग असंभव है इसलिये संयोग के कारण बंध नहीं, आत्मा असंग है इसलिये उसमें भूमिकत्व की असंभावना है, और वे चित्त के ही धर्म हैं। तो फिर उस पर आत्मख्याति कैसी इस का उत्तर यह है कि—

४८ तत्तु तादात्म्य मिथ्या ज्ञानम् अविवेकात्।

वह तो तादात्म्य मिथ्याज्ञान है अविवेक के कारण।

४९ असतिसत्ख्यातिर्वा।

अथवा कहो कि नहीं होने में 'होने की' ख्याति है।

आत्मा की चित्त की तादात्म्यता तो नहीं है परन्तु प्रतीति होती है।

५० समाधौ प्रत्यगात्माभिगमात्तन्निवृतिस्तन्निवृतिः

समाधि में वृत्तियों के सर्वथा निरोध होने पर आत्मसाक्षात्कार होने से उस अविवेक की निवृत्ति हो जाती है, निवृत्ति हो जाती है।

—: विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश से प्राप्य एवं प्रकाशित :—

अध्यात्म योग विज्ञान ग्रन्थ माला

१. महायोग विज्ञान—ऋषिकेश स्वर्गाश्रम उत्तराखण्ड (हिमालय) के सुप्रसिद्ध पुरुष श्री १०८ योगानन्द ब्रह्मचारी जी महाराज (श्री योगेन्द्र विज्ञानी) लिखित योग-ज्ञान-ध्यान-जप-तप पाठ-पूजन और मंत्र चैतन्य तथा कुण्डलिनी शक्ति जागरण से धर्म कर्म की रु सिद्धि तथा अन्तर जगत के अलौकिक ऐश्वर्य और दिव्य ब्रह्म ज्ञान को दर्शाने वाला अध्यात्म योग विज्ञान का हिन्दी भाषा में यह अद्वितीय प्रथम ग्रंथ है।

पूर्व काल में अध्यात्म ज्ञान के प्रकाशक हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि, योगीजन जिस दिव्य शक्ति के प्रभाव से अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न होकर दिव्य आत्मज्ञान का अनुभव करके परम सुख शान्ति का सौभाग्य प्राप्त करते थे उस परम गुप्त ज्ञानमयी कुण्डलिनी महाशक्ति का गूढ़ रहस्य तथा वास्तविक योग ज्ञान भक्ति आदि की शीघ्र सिद्धि का पथ प्रदर्शक और संसार गृहस्थाश्रम में ही रहकर सुख पूर्वक सरलता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त कराने वाला यह अपूर्व ग्रन्थ "महायोग विज्ञान" पढ़कर अपने अभीष्ट की सिद्धि लाभ करिये। अध्यात्म योग तथा ब्रह्म विद्या से अनभिज्ञ साधकों के लाभार्थ सरल हिन्दी भाषा में वेद उपनिषद दर्शन एवं पुराण तथा तंत्र मंत्र ग्रंथ शास्त्रों द्वारा प्रमाणित अतीव आश्चर्य जनक विचित्र प्रकार के ज्ञानमय मंत्र चैतन्य कुण्डलिनी जागरण से लेकर अष्टांगयोग, षटचक्र, षोडषाधार, त्रिलक्ष, पञ्च व्योम, जीवतत्व, शिवतत्व, प्रकृति तत्व, आत्म तत्व, विद्या तत्व, अपरा विद्या, महाविद्या एवं परमाविद्या इत्यादि योग शास्त्र के चूड़ान्त ज्ञान के विषयों से परिपूर्ण धर्म ग्रंथ द्वितीयावृत्ति सम्पूर्ण २० प्रकाश में प्रकाशित होगा; अच्छे

कागज पर अच्छे टाइप में छपेगा मू० ४)। प्रथमावृति त्रियोदश प्रकाश पर्यन्त जो छपी हुई है मू० २।)।

२. **शक्तिपात**—यह छोटा सा सूत्रात्मक ग्रंथ परंपरागत शैवी शक्ति संपात के विधान का एवं योग विज्ञान के दार्शनिक सिद्धांत का अपूर्व ग्रन्थ है। इसके लेखक पं० मुनिलाल स्वामी B. A., L. L. B., वकील वर्तमान नाम श्री स्वामी विष्णुतीर्थ परिव्राजकाचार्य हैं। मू० १)।

३. **साधन संकेत द्वितीयावृत्ति**—यह साधन संबंधी ग्रंथ भी श्री स्वामी जी महाराज ने महायोग साधन करने वाले साधकों के हितार्थ लिखा है। मू० १)

४. **Devatma Shakti (English).**—लेखक श्री स्वामी विष्णुतीर्थ परिव्राजकाचार्य, यह अपूर्व ग्रंथ भी योग शास्त्र कथित आधार भूता कुण्डलिनी महाशक्ति के विशेष विज्ञान का है। जो लोग योग साधन परायण हैं एवं अपनी साधना का उत्कष करना चाहते हैं उनके लिये तथा योग से अनभिज्ञ परमार्थ परायण जिज्ञासुओं के लिये भी परम उपकारी है। मू० ४)

५. **सौन्दर्य लहरी**—लेखक श्री स्वामी विष्णुतीर्थ परिव्राजकाचार्य। सौन्दर्य लहरी भगवद् पूज्य श्री शङ्कराचार्य का स्तोत्रात्मक भगवती महामाया जगदम्बा की स्तुति का स्तोत्र ग्रंथ है जो अतीव गूढ़ रहस्य पूर्ण आध्मात्मिक भाव से परिपूर्ण है। श्री स्वामी जी महाराज ने इसकी हिन्दी में आध्यात्मिक व्याख्या की है जो अतीव महत्वपूर्ण महायाया आद्यशक्ति कुल कुण्डलिनी देवी के वास्तविक रूप का वर्णन किया है और मंत्र शास्त्र कथिक श्री विद्या के रहस्य को अच्छी तरह समझाया है यह शक्ति साधन का अपूर्व ग्रंथ है। मूल्य ४)

६. **आत्म प्रबोधः**—यह पुस्तक श्री स्वामी जी के समय

समय पर लिखे विविध लेखों का संकलन है। यह लेख कल्पवृक्ष मासिक पत्रिका में क्रमशः निकलते रहे हैं। इन लेखों में साधक वर्ग के लिए मनोनिग्रह, आत्म शान्ति, आत्म दर्शन आदि जैसे आवश्यक तथा जटिल विषयों पर अत्यन्त सरल एवं हृदय ग्राही ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है। पुस्तक साधक वर्ग के लिए पथ प्रदर्शक का काम करती है और अति उपयोगी है।

मूल्य १)

क्रम [illegible] विकासः—इस पुस्तक में श्री स्वामी जी महाराज ने ज्ञान की सातों भूमिकाओं का बड़े सरल एवं सरस प्रमाणिक ढङ्ग से वर्णन किया है। प्रौढ़ावस्था वाले साधकों के लिए पुस्तक बहुत ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक है। प्रायः साधकों को अपनी स्थिति समझने में भ्रम हो जाता है। इस प्रकार के भ्रम निवारण के लिए भी पुस्तक उपयोगी है। मूल्य १॥)।

———

प्राप्ति स्थान :—

(१) व्यवस्थापक, विज्ञान प्रेस,
ऋषिकेश, (जिला देहरादून) उत्तरप्रदेश।

(२) बाबू बांकेबिहारी लाल सक्सैना
रिटायर्ड हुजूर सेक्रेटरी,
देवास जूनियर [मध्य भारत]

—:o:—

विज्ञान प्रेस, विज्ञान भवन, ऋषिकेश।

शक्तिपात

कुण्डलिनी महायोग

लेखक

श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

K.2
4096

ॐ

शक्तिपात

[कुण्डलिनी महायोग]

●

: लेखक :
श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

●

मूल्य] सम्वत् २०३७ वि० [६ रुपये

प्रकाशक :
योगश्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन)
मुनी की रेती (टिहरी गढ़वाल) उ०प्र०
पो०-ऋषिकेश-२४६ २०१

* सर्वाधिकार सुरक्षित *

पंचम संस्करण ... २००० प्रतियाँ
संवत २०४४ ... सन् १९८७

मुद्रक :
अजन्ता प्रिंटिंग प्रेस
चावड़ी गली, मौजपुर
दिल्ली-११००५३

दो शब्द

आजकल प्रायः यह धारणा हो गयी है कि योग का साधन केवल उग्र तपस्यायुक्त गृहत्यागी ही कर सकते हैं। परन्तु कोई भी भारतीय इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी योग की सर्वोच्च भूमिकाओं को प्राप्त किया था। योगीराज भगवान् कृष्ण का आदर्श जीवन इस बात का प्रमाण है। गृहस्थ आश्रम में रह कर भी उनके दिव्य और अलौकिक गुण तथा कर्मों के कारण हम उन्हें साक्षात् ब्रह्म स्वीकार कर चुके हैं। गृहस्थ आश्रम में किया हुआ साधन तो दोनों लोकों में कल्याणकारी होता है।

यद्यपि यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि योग-साधन के लिए दृढ़ और सतत् अभ्यास की आवश्यकता है। पूर्व-पथ-प्रदर्शक भगवान् पतञ्जलि, वसिष्ठ, वेदव्यास आदि के ग्रन्थों को पढ़कर ही उस साधन को प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा भी है, क्योंकि इस मार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएँ, जीव के ब्रह्म तक पहुँचने में बाधक होकर, साधक को पथ-भ्रष्ट कर प्रलोभनों में फँसा देती हैं और वह अपने अन्तिम ध्येय—मोक्ष—से वञ्चित रह जाता है।

इस का एकमात्र सरल और सहज उपाय सद्गुरुओं की कृपा ही है। ऐसे सद्गुरु, लोकोपकार की दृष्टि से, सहज ही में सिद्धि देने वाले 'सिद्ध-महायोग' का लाभ अपने 'शक्तिपात' द्वारा जिज्ञासुओं को अनायास की करा देते हैं।

स्मरण रहे कि 'शक्तिपात' और 'मैस्मेरिज्म' में आकाश-

पाताल का भेद है। मैस्मेरिज्म में कर्त्ता (हिप्नाटिस्ट या मैस्मेराइजर) मीडियम या सबजैक्ट (जिसके ऊपर प्रभाव डाला जाता है) को अपने प्रभाव से संज्ञा-शून्य करके उससे अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। ऐसे कार्य स्वार्थ-साधन मात्र के लिए, परमार्थ से कोसों दूर, होते हैं और कर्त्ता का प्रभाव हटते ही मीडियम साधारण दशा से भी गिर जाता है। वह मैस्मेराइजर के प्रति घृणा करने लगता है और उस से भयभीत रहता है। परन्तु शक्तिपात के द्वारा गुरु अपने शिष्य की आत्मशक्ति का विकास करता है। शिष्य की सर्वतोमुखी उन्नति होने से उस की श्रद्धा बढ़ती जाती है और 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' के अनुसार वह अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करता है।

हम मृगतृष्णावत् आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान के पीछे पड़े हुए हैं। यह हमें उसी विनाश की ओर ले जायेगा जिसका फल आज पश्चिम भोग रहा है। यदि हम आत्मानन्द-लाभ करना चाहते हैं, यदि हमें वास्तविक सुख की इच्छा है, यदि हम अपनी सब प्रकार की उन्नति चाहते हैं, यदि हमें अपने देश, जाति और संस्कृति की रक्षा करनी है, तो हमें फिर 'योग-साधन' में ही जुटना होगा। हृदय में तीव्र लालसा हो तो सद्गुरुओं का आज भी नितान्त अभाव नहीं है।

यह पुस्तक सहजसाध्य 'शक्तिपात' के विज्ञान को स्पष्ट करने के लिए परमदयालु श्री पं० मुनिलाल जी स्वामी (श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज) ने लिखकर साधकों का परमोपकार किया है।

नेमीचन्द,
अम्बाह (ग्वालियर स्टेट)

लेखक : श्री १०८ स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज

॥ श्री परमात्मन नमः ॥

शक्तिपात

प्रथम पाद

शिवं गंगाधरं तीर्थं तीर्थं नारायणं प्रभुम् ।
योगानन्दमहं वन्दे, शक्तिपातस्य देशिकान् ॥

शान्ति-पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!

शक्तिपात एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिस के द्वारा गुरु शिष्य में अपनी शक्ति का सञ्चार कर के उस की आध्यात्मिक शक्ति को जगा देता है। आध्यात्मिक शक्ति और आधिभौतिक शक्ति में बड़ा भेद है इसलिए आध्यात्मिक शक्ति का विज्ञान भी आधिभौतिक शक्तियों के विज्ञान से भिन्न होना स्वाभाविक है।

आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन भौतिक यंत्रों द्वारा नहीं किया जा सकता, इसलिए यह विज्ञान अभी तक गुप्तप्रायः ही है और जिन लोगों को इसका अनुभव है, वे भी इस का अनुभव अपने सचेतन शरीर में ही करते हैं और उसके दिव्य आनन्द में मस्त रहते हैं। इसीलिए अथवा उक्त विज्ञान के अति सूक्ष्म होने से, न समझने के कारण, वे लोग इस से होने वाले अनुभवों के वर्णन मात्र से ही

सन्तोष मान लेना पर्याप्त समझ बैठते हैं । परन्तु पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों की अन्वेषण-प्रणाली का आधुनिक युग इतने से ही सन्तोष मान लेना पर्याप्त नहीं समझता ।

इस में सन्देह नहीं कि आधिभौतिक विद्याओं का सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्वान्वेषण करने के लिए पश्चिम के विद्वान् करोड़ों रुपये खर्च करके, बहुमूल्य यन्त्रों का निर्माण कर के, उन के द्वारा अति सूक्ष्म विषयों को सिद्ध करने का यत्न करते हैं और गणित-शास्त्र की सहायता से उनकी पुष्टि करते हैं। परन्तु अध्यात्म-विद्या प्राप्त करने के लिए किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं है । परमात्मा-रचित सजीव मनुष्य-देह ही यन्त्र और प्रयोगशाला दोनों का काम देता है । सम्भव है कि भावी युग के विद्वान् आध्यात्मिक शक्ति के भी नियम, आधिभौतिक नियमों के सदृश्य खोज निकालें और उन को गणित-शास्त्र के फारमूलों (सूत्रों) में बाँध सकें, परन्तु आज यह सब असम्भव-सा प्रतीत होता है ।

हमारे महर्षियों की छोड़ी हुई विद्या-सम्पत्ति के कोष-स्वरूप पातञ्जल दर्शन और अन्य योग के शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति का ध्येय मोक्ष बताया जाकर कुछ भौतिक सिद्धियों का वर्णन किया गया है । पातञ्जल दर्शन के विभूति पाद में कुछ उच्च कोटि की सिद्धियों को प्राप्त करने के साधन लिखे हैं । उन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने से मालूम होता है कि उन में से हर-एक सूत्र में एक अति गहन वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है । परन्तु उस को समझने के लिए पहले समाधि लगाने का अभ्यास होना अनिवार्य है ।

यहाँ पर शक्तिपात में गुरु अपने शिष्यों में जिस आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चार करता है, वह शक्ति क्या और कैसी है, उसका स्वरूप क्या है, वह कहाँ और किस प्रकार उत्पन्न होती है, शिष्य में

किस प्रकार गिरायी जाती है, वह शरीर के बाहर कैसे आती-जाती है, शिष्य के शरीर में प्रवेश कर के क्या करती है. उसका विकास शरीर और मन में किस प्रकार होता है और मनुष्य को कैसे-कैसे अनुभव होते हैं, उन अनुभवों के विकास का क्या कारण है और इन सब का अन्तिम परिणाम क्या होता ?—इत्यादि प्रश्नों पर हम इस पुस्तक में विचार करने की चेष्टा मात्र करते हैं ताकि अभ्यास करने वाले तथा अन्य विद्वानों का ध्यान इस विज्ञान की ओर आकर्षित हो।

आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं की खोज चाहे उन के जिज्ञासुओं को एक समान आनन्द देने वाली हो और भौतिक विज्ञान की उन्नति चाहे संसार में भौतिक उन्नति को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दे, पर यह बात निश्चित् ही है कि आधिभौतिक उन्नति का दुरुपयोग भी भरपूर किया जाता है। कुछ स्वार्थी लोग अथवा जातियाँ,—जो भौतिक विद्या की उन्नति के लिए करोड़ों रुपये खर्च करके वैज्ञानिक विद्वानों को सहायता देती हैं,—उन के परिश्रम के फल का उपयोग सार्वजनिक लोक-समाज के लाभार्थ नहीं, वरन् अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करती हैं और उन वैज्ञानिक उन्नतियों का एक दुष्परिणाम जगत् का रुद्र संहार तक हो जाता है। आधुनिक दरिद्रता और नाना प्रकार के सन्तापों का कारण भी उक्त विद्याओं का दुरुपयोग ही है।

हम ऐसे युग में से निकल रहे हैं जिस में मनुष्य अपनी त्रुटियों के कारण उक्त विद्याओं की सिद्धि कर के उन से लोक-अपकार ही अधिक करते हैं। सम्भव है कि आगे आने वाली सन्तानें अपने पूर्वजों के श्रम का लाभ उठा कर उनसे संसार का उपकार भी कर सकें, परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में ऐसा भय होने की आशङ्का ही नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक साधनों का लक्ष्य मोक्ष है और भौतिक विज्ञान का लक्ष्य भोग ! भौतिक विज्ञान के जिज्ञासु एवं योग-साधन द्वारा सिद्धि-प्राप्त साधक दोनों की चित्तवृत्ति बहिर्मुख रहती है जिससे भौतिक विषयों में आसक्ति की वृद्धि ही होती है। जब तक ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों से वैराग्य का उदय नहीं होता मोक्ष की बात करना व्यर्थ है। इसलिए आध्यात्मिकता के लिए निरोध-पूर्वक चित्तवृत्ति का सर्वथा अन्तर्मुखी करना अनिवार्य है। प्रत्येक बोध में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है। जब तक वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी भी खोज के सांसारिक विषय हैं, तब तक उस ज्ञान का विषय ज्ञेयरूप से चित्त-पटल पर बहिर्वृत्ति के रूप में विद्यमान् रहता है, परन्तु ज्ञाता अपने को ज्ञेय से पृथक् समझता है। जिस समय चित्त पर से सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् ज्ञेय विषयों का अभाव हो जाता है, तब ज्ञान और ज्ञाता दो ही रह जाते हैं। परन्तु ज्ञान ज्ञाता का ही स्वभाव है, इसलिए ज्ञाता का ज्ञातृत्व भी नहीं रहता और आत्मस्थिति हो जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति ही आध्यात्मिक विद्या का लक्ष्य कहा गया है। आत्मतत्त्व असङ्ग एवं निर्विकार है—

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽयमात्मा।

यह आत्मा स्वभाव से नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त है। उसे न कभी बन्धन होता है न होना सम्भव है। फिर बन्धन किसे है ? 'जिसे बन्धन की अहं वृत्ति है' अर्थात् जो कहता है कि मैं बन्धन में हूँ, उसी को बन्धन है। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि यह 'अहम्' अर्थात् 'मैं' का भाव है क्या ? यदि चित्त को सिनेमा के परदे से उपमित करें, तो ऐसा समझें कि आत्मा के ज्ञानात्मक चेतन प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण चित्त में

अहन्ता की वृत्ति जागृत हो जाती है। यद्यपि आत्मा अथवा उस का ज्ञान-रूपी प्रकाश जड़ चित्त नहीं बनता, न चित्त आत्मा बन सकता है, तथापि दोनों की तादात्म्यता-सी प्रतीत होने लगती है। यही जड़-चेतन की मिथ्या ग्रन्थि है—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई।

यह अहम् वृत्ति चित्त के फैलने से फैलती है, सिकुड़ने से सिकुड़ती है और चित्त की सीमाओं में बन्द है, जैसे सिनेमा के परदे पर प्रकाश। इसलिए आत्मा भी चित्त की उपाधियों की सीमा में बँधा-सा भासित होता है। सामान्यतया बन्धन में पड़े हुए जीव के लिए 'चित्तमात्मा' अर्थात् 'चित्त ही आत्मा है' कहना उपयुक्त है।

चित्त अणुरूप होने से आत्मा में भी अणु का आभास होता है। जब जीव शक्ति के लिए छटपटाता है, तब आध्यात्मिक साधनों की खोज में लगता है। मन्त्रों का जप, पुरुश्चरण, यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान, अष्टाङ्ग योग और हठादि योगों की क्रियाओं का अभ्यास, भक्ति-मार्ग के विभिन्न आचार्यों के बताये क्रिया-कलाप अथवा जो जैसा बताता है, उसी के अनुसार यत्न एवं तप-प्रयास-साध्य साधनों द्वारा वह आत्म-कल्याण चाहता है। यत्न-साध्य ऐसे सब प्रयत्न जो मनुष्य की अल्प बुद्धि के आधार पर आश्रित होते हैं, उन्हें आणवोपाय कहा गया है।

'दीर्घकाल नैरन्तर सत्कारा सेवितो दृढ़भूमि' होने पर जब अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोधादि से मुक्त होने पर साधक ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर लेता है, तब वास्तविक श्रेय की प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ़ होता है। तब उस की सब जीवन-यात्रा भगवदा-श्रित स्वतःसिद्ध हो जाती है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

—गीता, १८-५३

इस अवस्था में साधक आणवोपाय से शाम्भवोपाय में प्रवेश करता है। उसकी अहं बुद्धि चित्त की आणवी स्थिति से उठकर शाम्भवावेश में चढ़ जाती है। उक्त शाम्भवी स्थिति में पहुँचने का एक अन्य उपाय भी है जिसे शाक्तोपाय कहते हैं। ईश्वर सब के हृदय में विराजते हैं और उन के साथ ही उनकी परा शक्ति भी विराजती है—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च । —श्वे०, ६

उस की परा शक्ति विविध नामों से सुनी जाती है जो स्वाभाविकी है और ज्ञानवती, बलवती एवं क्रियावती है। परन्तु वह परा देवात्मिका शक्ति सर्वसाधारण में सुप्तावस्था में है, इसीलिए हृदयस्थ ईश्वर से किसी का परिचय नहीं होता। जब किसी समर्थ गुरु की कृपारूप शक्तिपात द्वारा उस शक्ति का उद्बोधन हो जाता है, तब सब साधन स्वतः होने लगते हैं और उसकी क्रियाओं में ईश्वर का परिचय होने लगता है—

जाके हृदय नारायण प्रगटे, सो कछु कर्म करे न करे ।
प्रात समय रवि उदय हुआ, तब दीपक ज्योति जरे न जरे ।।

अब आगे आध्यात्मिक विद्या के जिज्ञासुओं के लाभार्थ आध्यात्मिक उन्नति के इस मुख्य साधन 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करते हैं।

१. अथातः शक्तिपातं व्याख्यास्यामः ।

अब यहाँ से हम शक्तिपात की व्याख्या करेंगे ।

'अथ' शब्द का प्रयोग मङ्गलार्थ किया जाता है । जैसा कि कहा है—

ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

—'ॐकार' और 'अथ' दोनों शब्द पहले ब्रह्माजी के कण्ठ को भेद कर बाहर निकले थे, इसलिए ये दोनों माङ्गलिक शब्द हैं ।'

यहाँ पर 'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्यार्थ में किया गया है । यद्यपि 'शक्तिपात' की दीक्षा ग्रहण करने के लिए किसी पूर्व साधन अथवा किसी शास्त्र के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है । जिस पर गुरु अनुग्रह करते हैं, उसी को इस की प्राप्ति हो सकती है, चाहे शिष्य शास्त्रों का विद्वान् हो, चाहे कुछ भी पढ़ा न हो, उस ने योगानुष्ठान किया हो अथवा न किया हो । बिना पूर्वानुष्ठित तैयारी की अपेक्षा के, गुरु के 'शक्तिपात' रूप अनुग्रह से, शिष्य की शक्ति का उद्बोधन हो जाता है ।

यहाँ 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक भौतिक विज्ञानों के अन्वेषणों के सदृश्य पूर्वाचार्यों की अपेक्षा न रखता हो,—यह ऐसा स्वतन्त्र विज्ञान नहीं है । शक्तिपात एक साधन है जिसके द्वारा अधिकारी-शिष्य में गुरु के अनुग्रह से हठात् योग, भक्ति एवं ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान का आवेश जागृत किया जा सकता है । भगवान् महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए आठ साधन कहे हैं और उन आठों के अन्तर्गत ही वृत्ति-निरोध के समस्त साधनों का समावेश है । तदनुसार यह साधन भी उक्त आठ साधनों के अन्तर्गत ही है, जैसा

कि आगे बताया जायेगा। इस दृष्टि से पातञ्जल दर्शन की तरह यहाँ भी 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकरण अर्थ में समझा जाना उचित प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि शक्तिपात दीक्षा का अधिकारी बनने के लिए पूर्वार्जित सत्कर्मों अथवा अन्तः-करण-शुद्धि के विभिन्न साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है (देखें, सूत्र २, ४)।

पातञ्जल दर्शन में बताये हुए चित्तवृत्ति-निरोध के आठ उपाय ये हैं:—

(१) **अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः**—उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है। इन दोनों की सर्वोपरि गणना है, क्योंकि अभ्यास के बिना कोई साधन नहीं हो सकता और अभ्यास का दृढ़ रखने के लिए सांसारिक विषयों एवं स्वर्गादि अथवा योग की सिद्धियों के प्रलोभनों से वैराग्य का धारा-प्रवाह होना सदा आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ भोगों का त्याग नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखों को भोगने के लिए तो जन्म होता ही है। वैराग्य से अनासक्ति का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जो मनुष्य वीतराग-द्वेष होकर संसार के सभी विषयों का धर्मयुक्त उपभोग करते हैं, वे विरक्त ही हैं।

(२) **ईश्वर प्रणिधानाद्वा**—अथवा ईश्वर-प्रणिधान से भी वृत्तियों का निरोध होता है। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वरार्पण अथवा ईश्वर-शरणागति समझना चाहिए। पर-प्रेमरूपा भक्ति भी इसी का अङ्ग कही जा सकती है, क्योंकि समर्पण अथवा शरणा-गति में अनन्यता का भाव ओतप्रोत है।

'प्रणिधान' शब्द से एक विशेष अर्थ की भी ध्वनि निकलती है। प्र+नि+धान=प्र (प्रकर्ष), नि (निश्चयपूर्वक)। 'धा' धातु

से ल्युट् प्रत्यय द्वारा 'प्रणिधान' शब्द की व्युत्पत्ति है। 'धा' धातु का अर्थ 'धारण करना' है। ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करते हैं। यद्यपि वे परोक्ष रहते हैं तथापि श्रद्धावान् भक्तों के हृदय में शक्तिपात द्वारा प्रकट हो जाते हैं और प्रत्यक्ष होकर साधक को अपनी साम्यता प्रदान करते हैं।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परम साम्यतामुपैति॥
—मुण्डक

पातञ्जल दर्शन में ईश्वर को जीवभाव से रहित, सर्वज्ञता का बीज और पूर्वजों का भी गुरुरूप पुरुषविशेष कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि मन-बुद्धि की पहुँच से भी परे इस पुरुषविशेष-रूपी गुरु का साक्षात् अपनी देह में ज्ञानमयी शक्ति में सर्वज्ञता के बीज के क्रमशः विकास द्वारा किया जाता है। इस विकास के साधन-क्रम को २, १ सूत्र में 'क्रिया-योग' की संज्ञा दी है जिस का फल क्लेशों का तनुकरण और समाधि-भावनार्थ कहा गया है। तब अविद्यादि के क्षयाभिमुख होने पर अष्टाङ्ग योग अथवा अन्य किसी परिश्रम-साध्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती।

'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।'

(३) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य—अथवा प्राण के रेचन और विधारण द्वारा भी निरोध होता है।

(४) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धिनि—अथवा मन की स्थिति को बाँधने वाली (दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श और दिव्य शब्द) विषयवती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, क्योंकि सांसारिक विषयों से चित्त में स्वभावतः उपरति होकर इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं।

(५) विशोका वा ज्योतिष्मती - अथवा विशोका नाम की ज्योतियों के दर्शन होने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

(६) वीतराग विषयं वा चित्तम् अथवा ऐसे चित्त का आलम्बन लेने से, जो साधन-सम्पन्न होकर वीतराग हो चुका है।

यहाँ पर ऐसे गुरुजनों के चित्त का आलम्बन लेने का उपदेश किया गया है जो राग-द्वेष से मुक्त हो गये हैं। उन के चित्त का आलम्बन किस प्रकार लिया जा सकता है ? यह बात विचारणीय है। बहुतों का मत है कि उनके फोटो आदि के ध्यान अथवा स्मरण-मात्र से उनके चित्त का आलम्बन मिल जाता है। यह बात सर्वथा निर्मूल तो नहीं है, क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ऐसे महात्माओं के ध्यान अथवा स्मरण से लाभ होता है। परन्तु इस प्रकार हर किसी को यथेष्ट लाभ की सम्भावना नहीं है। दूसरी रीति, जिससे उनके चित्त का आलम्बन मिलता है, वह 'शक्ति-पात' है, क्योंकि शक्तिपात वीतराग गुरुओं के अनुग्रह से ही हुआ करता है। इसमें पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है।

(७) स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनं वा अथवा स्वप्न और निद्रा के (अथवा स्वप्न और निद्रा में आये हुए) ज्ञान का आलम्बन लेने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

स्वप्न और निद्रा के ज्ञान में एक विशेषता यह है कि तब जाग्रतावस्था का देहाभिमान नहीं रहता। स्वप्न में तो उसके स्थान पर काल्पनिक देहाभिमान खड़ा हो जाता है। इसलिए जागृति में स्वप्न की सी अवस्था लाने से देहाध्यास पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। दोनों अवस्थाओं में जागृत की इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्मृति सब अपने-अपने कारणों में विलीन होते हैं। सुषुप्ति में केवल प्राण कार्य करता है। स्वप्न में संस्काराशय के संस्कार उदयास्त होते रहते हैं। सुषुप्ति को प्रकृति की अव्यक्त दशा

एवं कारण शरीर समझना चाहिए जिसमें तीनों गुणों की साम्या-वस्था रहती है और अविद्या के वशीभूत जीव अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता। सुषुप्ति को भी चित्त की एक वृत्ति कहा गया है। चित्त से तादात्म्य मानने के कारण, अन्य वृत्तियों के सदृश्य, उसकी इस वृत्ति से भी आत्मा बन्धन में रहता है। इसलिए सुषुप्ति का भी निरोध होने पर समाधि में दृष्टा की स्वरूप-स्थिति कही गयी है।

(८) यथाभिमद्ध्यान द्वा अथवा जैसा भी ध्यान किसी को अच्छा लगे, उसी ध्यान से वृत्तियों का निरोध होता है।

हर एक प्रकार के साधन में चित्त की प्रसन्नता अति आवश्यक है। इसलिए चित्त को सदा प्रसन्न रखने का उपाय और उपदेश भी साथ-साथ दिया गया है कि सुखी को देखकर मित्रता, दुखी को देख कर दया, पुण्यात्मा को देख कर प्रसन्नता और पापी को देखकर उपेक्षा का भाव लाने से चित्त में आध्यात्मिक प्रसाद आता है।

यद्यपि शक्तिपात द्वारा उपरोक्त सभी साधन स्वयं होते हैं, परन्तु इस विज्ञान का सम्बन्ध विशेष रूप से 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' से ही है।

शक्तिपात द्वारा योग एवं भक्ति के ही दिव्यावेश जागृत नहीं होते, वरन् ब्रह्मैक्य ज्ञान भी शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। जसा कि कहा है—

तत्त्व ज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम्॥
तच्च देव प्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्॥

—ब्रह्मणिका

—'माया का बाध तत्त्व-ज्ञान से होता है,—अन्य कर्म से नहीं। जो वेदान्त-वाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीव के एकत्त्व की अनुभूति कराता है, वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद और गुरु के साक्षात् निरीक्षण से अधिकारियों में महा वाक्य के उपदेश द्वारा शक्तिपात करने से उदय होता है।

जिस शक्ति का उल्लेख प्रथम सूत्र में किया गया है, वह कैसी है ? प्रकृति से उत्पन्न होने वाली विद्युदादि के सदृश्य है अथवा भिन्न प्रकार की है ? इस शङ्का का उत्तर नीचे दिया जाता है।

२. शक्तिर्ह्यात्मनः श्रुतेः।

वह शक्ति आत्मा से ही है, श्रुति का प्रमाण है। वेदों में इस शक्ति का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। यहाँ पर हम अथर्व संहिता के एकादश काण्ड में आठवें सूक्त के १६, १७वें मन्त्रों में स्पष्ट रूप से दिये हुए वर्णन का उल्लेख करते हैं—

यत्तच्छरीरे मशयत् सन्धया संहितम् महत्।
येनेदमद्य रोचेत को अस्मिन् वर्णमाभरत्॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तद जानाद् वधूः सती।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्॥

—'यह बड़ा शरीर 'सन्धा' (जोड़ने वाली) नाम की शक्ति से जुड़ा हुआ भी निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। 'जिसके कारण यह अब अच्छा लगता है, वह कौन है, जिसने इस में प्रकाश का आभरण किया है ?'—देवताओं ने यह सब जानने की प्रार्थना की। तब उस धारण करने वाली वधू सती ने बताया कि परमेश्वर की ईश्वरी (शक्ति), जो उसकी जाया (पत्नी) है, उसने इस शरीर में वर्ण अर्थात् चेतना रूप प्रकाश का आभरण किया है।

शक्ति दो प्रकार से उत्पन्न होती हुई देखी जाती है—(१) यन्त्रों द्वारा, जैसे भाप के दबाव से बनायी हुई रेलवे एञ्जिन आदि की अथवा बैटरी या डायनुमो जैसे यन्त्रों से उत्पन्न की हुई विद्युदादि की शक्ति, (२) मनुष्यों अथवा पशुओं के शरीर के बल से उत्पन्न हुई शक्ति। जो कार्य यन्त्रों द्वारा किया जाता है, वह छोटे पैमाने पर बैल, भैंस, घोड़े आदि पशुओं अथवा मनुष्य के शारीरिक बल से भी किया जा सकता है और दोनों का कार्य एक सदृश्य ही प्रतीत होता है। क्या शक्तिपात में उल्लिखित शक्ति भी इसी प्रकार की शक्ति है? यद्यपि मनुष्य और पशुओं के शारीरिक बल से उत्पन्न शक्ति वास्तव में आत्मा से ही उदित है अथवा आत्मा ही उसका कारण है, परन्तु उसका कार्य अचेतन यन्त्रों से उत्पन्न शक्तियों के समान ही जड़वत् होता है, इसलिए दोनों में कोई भेद नहीं दीख पड़ता। दोनों अचेतनवत् कार्य करती हैं। इस शङ्का का समाधान आगे किया जाता है।

३. चितिर्वा।

अथवा वह चिति शक्ति ही है।

चिति का तात्पर्य यह है कि चिति शक्ति चेतन शक्ति है, अचेतन नहीं है।

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द (सच्चिदानन्द) स्वरूप है। पञ्च-भौतिक जड़ अचेतन तत्त्वों में सत् शक्ति की और अन्तःकरण चतुष्टय एवं इन्द्रियादि चेतन तत्त्वों में चित् की प्रधानता होती है। चित् शक्ति को चिति भी कहते हैं। सच्चित् शक्ति का स्थूल आणविक रूप चित्त कहलाता है, उस पर पड़ा आत्मा का प्रकाश चेतना कहलाता है। सच्चित् शक्ति को ही प्रकृति भी कहा गया है। प्रकृति के ३ गुणों में तमोगुण सत् शक्ति और सत्त्वगुण चित्

शक्ति प्रधान है। रजोगुण क्रिया रूप होने से दोनों ओर कार्य करता है।

४. ज्ञानवती च।

और ज्ञानवती भी है।

५. प्राणोवा श्रुतेः।

अथवा उसको प्राण भी कहते हैं, श्रुति का प्रमाण है।

वेदों ने संहिताओं; ब्राह्मणों और उपनिषदों में सर्वत्र प्राणों की उपासना करने का विधान किया है और प्राण के स्वरूप, स्थान और उद्गम का भी बार-बार वर्णन किया है। वेदोक्त प्राण श्वास और प्रश्वास से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है। वह आत्मा से ही उत्पन्न होने पर भी आत्मा या ब्रह्म के ही व्यक्त स्वरूप शक्ति का रूप धारण किये हुए है, जैसा कि नीचे दी हुई श्रुतियों से स्पष्ट है। आत्मा अविकारी एवं अपरिणामी है, उस से उद्भूत शक्ति ही परिणत होकर जगत् का रूप धारण किये हुए है। शक्ति के सहयोग से आत्मा की व्यवतता कही जाती है।

आत्मनः एष प्राणो जायते, मनोधिकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे। —प्रश्न० ३, ३

—'आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, मन के सहारे यह शरीर में आता है।'

एतस्मात् जायते प्राणः —मुण्डक २, १, ३

—'प्राण ब्रह्म से उत्पन्न होता है।'

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणम् म्युज्जिहते। —छां० १, ११, ५

—'निश्चयपूर्वक यह सब सृष्टि प्राण में ही लय होती है और प्राण से ही उत्पन्न होती है।'

या प्राणेन संभवत्यदिति देवतामयी,
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत्।

—कठ० ४,७

—'देवतामयी जो 'अदिति' शक्ति प्राण के द्वारा उत्पन्न होती है, हृदयाकाश रूपी गुहा में प्रवेश करके वहाँ ठहरी हुई भूतों के द्वारा व्यक्त होती है, निश्चय से यह ब्रह्म ही है।'

प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः। —छा० ६, ८, २

—'हे सौम्य! निश्चय से मन प्राण के बन्धन में है।'

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः।

—कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत् ३, ८

—'वह आनन्द स्वरूप, अजर, अमर, प्रज्ञात्मा यह प्राण ही है।'

ब्रह्म सूत्रों में 'अतएव प्राणः' १।१।२३ सूत्र द्वारा कहा है कि यह प्राण श्वास-प्रश्वास-गति-स्वरूप वायु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है।

आत्मा का अर्थ शुद्ध स्वरूप आत्मा अथवा ब्रह्म ही समझना चाहिए। पिण्ड में शुद्ध आत्मा और ब्रह्माण्ड में ब्रह्म अथवा दोनों जगह ब्रह्म ही कह सकते हैं। जो लोग जीव-ब्रह्म की एकता नहीं मानते, उन्हें आत्मा का अर्थ बन्धन में पड़ा हुआ अहङ्कारादि उपाधियों से युक्त जीव नहीं, वरन् अन्तर्यामी परमात्मा ही समझना चाहिए, क्योंकि परमात्म शक्ति ही मोक्ष-साधन करा सकती है।

शक्ति न तो शक्तिमान् से भिन्न है और न ही उससे पृथक् अन्य वस्तु है। हम शक्ति के भौतिक और चेतन दो रूप देखते हैं।

प्रकृति के सब कार्यों को चलाने के लिए अनन्त शक्ति-भण्डार प्रकृति में दीख पड़ता है। पृथ्वी, जल, वायु और आकाश के अणु-अणु में इतनी शक्ति भरी हुई है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि उसका परिमाण आँकने में अभी तक असमर्थ ही रही है। प्रकृति के साधारण से कार्यों में अनन्त शक्ति का उत्पन्न और लय होना देखा जाता है। साधारण-सी बादल की गर्जना में इतनी विद्युच्छक्ति उत्पन्न होकर लय हो जाती है जितनी कि बड़े-बड़े विद्युत्-यन्त्रालय उत्पन्न भी नहीं कर सकते। आणविक अस्त्रों का विस्फोट इसका प्रमाण है। ऐसा ही हाल चेतन शक्ति का भी है। हाथी, सिंह आदि पशुओं द्वारा कितनी शक्ति व्यय होती रहती है!

दोनों प्रकार की चेतन-अचेतन शक्तियों का शक्तिमान् कौन है? हम यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं तो यह मानना भी अनुचित नहीं है कि जड़-चेतनमय जगत् में जो कुछ व्यापार घटित होते हैं, वे सब उस शक्तिमान् की शक्ति के ही कार्य हैं। यदि ऐसा माना जाय तो क्या प्रकृति की सञ्चालक इन शक्तियों को ही शक्तिमान् समझ लिया जाय अथवा शक्तिमान् शक्ति से भिन्न ही है? इस का उत्तर समझाने के लिए हम एक दृष्टान्त देकर विचार करते हैं।

थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि मनुष्य की शक्ति सर्वशक्तिमान् से भिन्न शरीरस्थ आत्मा की ही शक्ति है। हम देखते हैं कि मनुष्य की शक्ति बाल, युवा, वृद्ध, स्वस्थ, रुग्ण अवस्थाओं के भेद से न्यूनाधिक होती रहती है। क्या इस शक्ति को उत्पन्न करने वाला आत्मा कभी कम और कभी अधिक शक्ति वाला हो जाता है? फिर, वही आत्मा जन्मान्तर के कीट आदि के शरीरों को त्याग कर ही पशु और मनुष्यादि शरीरों को धारण करता है। तो क्या आत्मा की शक्ति में परिवर्तन हो जाता है? यदि ऐसा माना जाय

तब तो आत्मा विकारी और प्रयत्नशील मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि आत्मा, जो स्वयं असङ्ग है, शरीर, मन, बुद्धि और अहङ्कार की उपाधि के कारण न्यूनाधिक शक्ति वाला प्रतीत होता है। बालक के शरीर में कम बल होता है, युवा अवस्था में अधिक। इसका कारण आत्मा का विकार नहीं है, वरन् शरीर रूपी उपाधि का विकार है। मनुष्य अपने बल का अनुमान नहीं कर सकता और साहस, धैर्य एवं विश्वास से अपने बल की वृद्धि कर लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा निर्विकार होते हुए भी अहङ्कार के माध्यम से शरीरादि उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता प्रकट करता रहता है। वास्तव में आत्मा अनन्त शक्तिमान् होते हुए भी निष्क्रिय रहता है और उसकी शक्ति उसमें सदा एक समान अव्यक्त रहती है, परन्तु उसके प्रकाश के कारण शरीरादि उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता होती रहती है।

आत्मा एक चुम्बक पत्थर (Magnet) के सदृश्य है जिसके प्रभाव-क्षेत्र (Magnet field) में लोहे के टुकड़े उसी की शक्ति को व्यक्त करते रहते हैं। परन्तु अपने प्रभाव-क्षेत्र में अव्यक्त रूप और लोहे के टुकड़ों में व्यक्त रूप में नृत्य करने वाली शक्ति तो एक ही है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् ब्रह्म और प्रकृति की समस्त जड़ चेतनमय शक्तियों को समझना चाहिए।

सांख्य के मतानुसार प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ५ तन्मात्राएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन अहङ्कार, महत्तत्त्व और अव्यक्त,—ये २४ तत्त्व हैं। ये सब परमात्मशक्ति के कारण ही जड़-चेतनमय शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। प्रथम पाँच तत्त्वों में शक्ति की व्यक्तता अचेतनवत् और शेष १८ तत्त्वों में चेतनवत् है। अव्यक्त में शक्ति बीज की तरह प्रसुप्त (Potential) रहती

है। अन्य तत्त्व उसी के क्रियात्मक रूप (kinetic) हैं। अव्यक्त (potential form) प्रकृति है। महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ—ये सातों प्रकृति-विकृति-स्वरूप (partially potential and kinetic) हैं। मन, पाँच ज्ञानात्मक तथा पाँच क्रियात्मक इन्द्रियाँ और ५ महाभूत,—ये १६ विकृति स्वरूप (kinetic) हैं। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है (neither potential nor kinetic)।

इसलिए शक्ति भी ब्रह्म ही है और उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य यही है कि वह ब्रह्म ही प्राण है। यद्यपि शरीर में प्राण के पाँच क्रियात्मक रूप,—प्राण अपान, समान, व्यान और उदान,—प्रतीत होते हैं और बाहर सूर्य-शक्ति प्राण, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपान, आकाश (Ether) समान, वायु व्यान और अग्नि उदान हैं, ब्रह्म रूपी चुम्बक के चुम्बकीय-क्षेत्र को प्राण कहते हैं। वह उपाधियों के आधार पर नाना रूप से चेतन-अचेतन शक्ति की व्यवतता का कारण है। परन्तु चुम्बक और चुम्बकीय क्षेत्र स्थूल और सूक्ष्म होने के कारण अलग-अलग मालूम होते हैं। ब्रह्म तो सर्वव्यापी होने के कारण सत्-चित्-आनन्दस्वरूप चुम्बकीय क्षेत्र ही है। उसमें कभी कोई विकार नहीं होता, वह सदा अव्यक्त और प्रशान्त रहता है। वह न कभी प्रसुप्त (Potential) रूप धारण करता है और न क्रियात्मक (Kinetic)। प्रकृति उसकी माया है। जो शक्ति पाँच महाभूतों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, उसको हम जड़ शक्ति कहते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार के माध्यम से जो शक्ति व्यक्त होती है, वह चेतन कहलाती है। परन्तु महत् तत्त्व और उससे उत्पन्न हुए अहङ्कार के माध्यम से जो शक्ति व्यक्त होती है, वही आध्यात्मिक शक्ति है, जिसका प्रयोग शक्तिपात में होता है। कहा है—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। —कठ०

अर्थात् जो कुछ यह जगत् है, वह सब ब्रह्म से निस्सृत प्राण का ही स्पन्दन मात्र है।

६. सैव कुण्डलिनी।

वही कुण्डलिनी है।

मनुष्यों में उक्त आध्यात्मिक शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी का आकार सर्पाकार माना गया है। ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला शेष भी सर्पाकार ही माना जाता है। इसलिए ब्रह्माण्ड और पिण्ड को धारण करने वाली वह शक्ति एक ही है।

कुण्डल्येव भवेच्छक्ति स्तां तु सञ्चालयेद बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥

—योग कुण्डल्युपनिषत्

—'कुण्डलिनी ही शक्ति है, बुद्धिमान् उसको उसके स्थान मूलाधार से भ्रू मध्य तक सञ्चालित करे। यही शक्ति-चालन कहलाता है।

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका॥
महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी।
जीव शक्तिः कुण्डलाख्या प्राणकाराथ तेजसी॥

—'इस शक्ति को स्वर्णवत् कान्तियुक्त, सत्व-रज-तम तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली, विष्णु की निर्भया शक्ति जानना चाहिए। यह परब्रह्म स्वरूपिणी शक्ति महाकुण्डलिनी भी कही जाती है। यही जीवरूपिणी शक्ति है। वह कुण्डलों वाली, प्राणाकार और तेजमयी है।

यन्त्रों द्वारा उत्पन्न शक्ति कार्य करके समाप्त हो जाती है, परन्तु अनन्त शक्ति सान्त नहीं हो सकती। वह अनन्त कार्य करके भी अनन्त ही बची रहती है। उस बची हुई शक्ति को पुराणों में समष्टि का आधार 'शेष' एवं अथर्व वेद में 'उच्छिष्ट (उत्+शिष्ट) ब्रह्म' कहा गया है। व्यष्टि रूप में प्राणियों के शरीरों की रचना के पश्चात् उच्छिष्ट शक्ति शरीराधार रूपा कुण्डलिनी कही जाती है। दोनों को सर्पाकार माना गया है। कुण्डलिनी का अर्थ भी 'कुण्डल डाले सर्पिणी' ही है।

शक्तिपात द्वारा शक्ति-चालन उसी क्षण होने लगता है। प्रथम सूत्र में शक्तिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि केवल 'शक्ति' का अर्थात् यहाँ पर शक्ति' के विज्ञान की व्याख्या नहीं, वरन् उसके 'पात' की व्याख्या किये जाने की प्रतिज्ञा है। इसलिए यह शङ्का होती है कि शक्ति का पात किस पर होता है? उत्तर अगले सूत्र में है—

७. तत्पातः शिष्येषु।

उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है।

सूत्र में शिष्य कहने से स्पष्ट है कि गुरुजन अपने शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का पात करते हैं। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि गुरु अपनी विद्या से शिष्य की उन्नति करना चाहता है। इसलिए इस सूत्र से यह भाव भी स्पष्ट निकलता है कि शक्तिपात शिष्यों के कल्याण के लिए ही किया जाता है। जैसे लौकिक गुरु शिष्यों की मानसिक उन्नति के लिए विद्या पढ़ाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए शक्तिपात किया जाता है।

८. ततः शक्त्युद्बोधनम् ।

इससे शक्ति का उद्बोधन होता है ।

अर्थात् गुरु द्वारा शक्तिपात होने से शिष्य की शक्ति जाग उठती है । इसका अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति सोयी हुई है । जगाने पर उसके स्वरूप का अनुभव होने लगता है । शिष्य की शक्ति को जगा देने का ही नाम 'शक्तिपात' है, जैसा कि 'शक्तिरहस्य में कहा है—

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथं ?
ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता ।
किन्त्वियं मलकर्मादि पाशबद्धेषु संवृता ।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ॥

—'वह परमा शक्ति सर्वव्यापिनी है । तब उसे 'पतिता' अर्थात् 'गिरती है'—ऐसा क्यों कहते हैं ? एकदेशीय, मूर्तिमान्, जो सर्वव्यापक नहीं है,—उसी की ऊपर से नीचे गिरने की गति को 'पात' कह सकते हैं । सत्य ही वह सर्वव्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है, किन्तु कर्मों के मल के पाश से आवृत रहती है । जब दोषों के पक जाने पर वह अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है, तब उसे पतिता' (शक्तिपात) कहते हैं ।'

९. प्राणोत्थानं वा ।

अथवा यों कहें कि प्राण का उत्थान हो जाता है । प्राण शक्ति, जो मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को धारण किये हुए है,—वह शक्ति के जागने पर ऊर्ध्वगामी होने लगती है ।

१०. ततो महायोगसिद्धिः ।

उस (शक्ति के जागने) से महायोग की सिद्धि होती है।

११. योगः समाधिरिति भगवान् वेदव्यासः ।

'योग समाधि ही है'—ऐसा भगवान् वेदव्यास ने कहा है।

समाधि दो प्रकार की होती है – संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। जिसमें प्रज्ञा बनी रहे, वह समाधि 'संप्रज्ञात' और जब प्रज्ञा का सर्वथा निरोध हो जाय, तब असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। 'संप्रज्ञात' को 'सबीज' और 'असंप्रज्ञात' को 'निर्बीज' समाधि भी कहते हैं। संप्रज्ञात के ६ अवान्तर भेद हैं,—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्द और सास्मिता।

१२. चित्तवृत्तिनिरोधः इति भगवान् पतञ्जलिः ।

'चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं'—ऐसा भगवान् पतञ्जलि का मत है।

पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' —अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।

उक्त सूत्र में निरोध के पहले कोई विशेषण नहीं लगाया गया कि कैसे, कितने निरोध को योग कहते हैं? इसलिए थोड़े निरोध को भी योग कह सकते हैं और सर्वथा निरोध को भी योग कहते हैं। उन्होंने योगानुष्ठान के आठ अङ्ग बताये हैं,— यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसका अर्थ यह है कि वृत्तियों का निरोध थोड़ा-बहुत तो 'यम' से ही होने लगता है और सर्वथा निरोध निर्बीज समाधि में होता है। चित्त,—तमस् Inertia, रजस् motion

और सत्व light,—इन तीनों गुणों से युक्त रहता है। इनमें से कोई एक प्रधान रूप से और शेष दोनों उस से दबे हुए रहा करते हैं। तमोगुण से मूढ़, रजोगुण से क्षिप्त, रज-सत्व से विक्षिप्त, सत्व से एकाग्र और तीनों के न्यूनाधिक निरोध से निरुद्धावस्था की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ आती हैं। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योगियों को ही होती हैं, सर्वसाधारण को नहीं होतीं।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पाँचों क्लेशों से युक्त होती हैं तथा इनसे रहित भी होती हैं। अनित्य में नित्यता की, अपवित्रता में पवित्रता की, दुःख में सुख की और अनात्म वस्तुओं में आत्मा की भावना रहना 'अविद्या' है। 'मैं हूँ'—यह भाव 'अस्मिता' कहलाता है। विषयों में आसक्ति को 'राग' और घृणा को 'द्वेष' कहते हैं। सदा जीने की इच्छा अथवा मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहते हैं। बन्धन में पड़े हुए मनुष्यों की वृत्तियाँ इन पाँचों से युक्त होती हैं और जीवन-मुक्त महात्माओं की वृत्तियाँ इन से रहित होती हैं। पाँचों प्रकार की वृत्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

(१) **प्रमाण**—यह वृत्ति तीन भेद वाली होती है,—प्रत्यक्ष प्रमाण. अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण। देखने, सूँघने और छूने के ज्ञान की पाँच प्रत्यक्ष वृत्तियाँ हैं। जो ज्ञान इन पाँचों प्रत्यक्ष प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसका मन-बुद्धि द्वारा अनुमान किया जाता है। जिस बात का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से नहीं होता, वह अनुभवी मनुष्यों अथवा शास्त्रों के वाक्यों से होता है। इसको आगम प्रमाण कहते हैं।

(२) **विपर्यय**—दूसरे प्रकार की वृत्ति है जिसका स्वरूप अतद्रूप मिथ्या ज्ञान है,—जैसे रस्सी में सर्प का भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान।

(३) **विकल्प**—तीसरे प्रकार की वृत्ति है जिसमें केवल शाब्दिक ज्ञान तो होता है, परन्तु तदनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। जैसे,—'आत्मा की चेतना शक्ति'—कहने से मात्र शब्दों का ही ज्ञान होता है। वास्तव में आत्मा से भिन्न कोई चेतन शक्ति है ही नहीं, दोनों एक ही हैं, परन्तु शब्दों से दोनों के अलग-अलग होने का ज्ञान होना विकल्प मात्र है।

(४) **निद्रा**—सुषुप्ति की अवस्था भी चित्त की एक प्रकार की वृत्ति ही है जिसमें सब आलम्बनों का अभाव हो जाता है।

(५) **स्मृति**—पूर्वकाल में सुने और अनुभव किये हुए विषयों का याद आना स्मृति है।

उपरोक्त पाँच प्रकार की वृत्तियों के अन्तर्गत जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ हैं। स्वप्न में स्मृति की वृत्ति के अधीन, तमोगुण से ढकी हुई इन्द्रियों, मन और बुद्धि के संस्कार काम करने लगते हैं।

चित्त को एक जलाशय के सदृश्य मान लिया जाय जिस में आकाश, बादल, वृक्ष इत्यादि का प्रतिबिम्ब दीख रहा है। इन प्रतिबिम्बों के रहते हुए तो जलाशय की तली नहीं दीखती, परन्तु प्रतिबिम्बों के हटने पर तली दीखने लगती है अथवा जल में लहरें उठने पर तली का प्रकाश नहीं दीख सकता और लहरों के शान्त होने पर वह दीखने लगता है। ठीक इसी तरह तली रूपी आत्मा वृत्तियों के कारण नहीं जान पड़ता। वृत्तियाँ शान्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। चित्त रूपी जल में बाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब सदा पड़ते रहते हैं अथवा स्मृति के द्वारा संकल्प-विकल्प रूपी तरंगें उठा करती हैं अथवा निद्रा के तमोगुण रूपी मिश्रण से वह गदला हो जाता है, इसलिए

आत्म-स्थिति नहीं होने पाती। जब पाँचों प्रकार की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है, अन्यथा नहीं।

आत्मदर्शन होने से वृत्तिजन्य ज्ञान का मिथ्यापन एवं आत्मज्ञान की सत्यता चित्त पर चमकने लगती है और जगत् के बन्धन का मिथ्या विपर्यय ज्ञान निवृत्त हो जाता है,—जैसे रस्सी का ज्ञान होने के पश्चात् उसमें से साँप की भ्रान्ति दूर हो जाया करती है।

'उपरोक्त वृत्तियों के निरोध में शक्तिपात किस प्रकार सहायक होता है ?'—यह प्रथम सूत्रों में बताया जा चुका है। अब नीचे यह दिखाया जायेगा कि वृत्तियों का निरोध प्राणों के वश में होने पर सुगमतापूर्वक हो जाता है। 'वृत्तियाँ प्राण के अधीन हैं', इसका क्या प्रमाण है ? इस पर कहते हैं—

१३. प्राणस्येदं वशे सर्वमिति श्रुतेः।

यह सब प्राण के वश में है, श्रुति का प्रमाण है।

ॐ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्तसर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

—अथर्व वेद, प्राण सूक्त, मं० १

—'प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में हैं यह सब जो हुआ है। सब का ईश्वर, जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है।'

ॐ यात्ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि,
या च मनसि सतता शिवां तां कुरूमोत्क्रमीः।
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्,
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥

—प्रश्नोपनिषत्, द्वितीय प्रश्न १२, १३

--जो तेरी तनू (स्वरूप) वाणी में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र में, जो चक्षु में और जो मन में फैली हुई है, उसको तू हमारे लिए कल्याणस्वरूप रख,—उत्क्रमण मत कर। इस लोक में यह सब प्राण के वश में है और जो कुछ तीसरे लोक (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित है (वह भी)। तू पुत्रों की माता के सदृश्य हमारी रक्षा कर और हम को श्री (तेज) और प्रज्ञा दे।'

१४. उभयोः परस्परं निरोधः।

प्राण और चित्तवृत्ति दोनों का परस्पर निरोध होता है। प्राण के निरोध से वृत्ति-निरोध और वृत्ति-निरोध से प्राण-निरोध होता है और इसी प्रकार से दोनों का निरोध बढ़ता जाता है। पहले प्राण का निरोध करना चाहिए क्योंकि स्वतन्त्र रूप से वृत्ति-निरोध दुःसाध्य है।

१५. महान् किं ? विशेषत्वाच्छक्त्युद्बोधने तत्सिद्धेः।

महान् क्यों है ? विशेषता के कारण, - शक्ति के उद्बोधन से उसकी सिद्धि होने से।

दशवें सूत्र में योग के पहले 'महान्' विशेषण का प्रयोग क्यों किया गया है ? क्या महायोग व्यासजी अथवा पतञ्जलि भगवान् के योग से भिन्न कोई अन्य योग है ? इस शङ्का का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि योग तो चित्त-वृत्ति-निरोधरूप वही है, दूसरा नहीं हो सकता। परन्तु महान्' विशेषण का प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि उसकी सिद्धि शक्ति के जागने से तुरन्त होती है, अन्यथा तो श्रद्धा, वीर्य सहित यत्नपूर्वक दीर्घ काल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करने पर ही वृत्ति-निरोध की उपलब्धि कही गयी है। इसीलिए जो योग परिश्रम-साध्य है, वही गुरु-कृपा से शीघ्र प्राप्त होता है।

पातञ्जल दर्शन में दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्रोक्त क्रिया योग से महायोग का ही अभिप्राय है। महायोग को सिद्ध याग या क्रिया-शक्ति-योग भी कहते हैं।

१६. हठ मन्त्र लयराजयोगान्तर्भूमिकत्वाच्च श्रुतेः।

और हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग का अन्तर्भूमिकत्व होने के कारण भी 'महान्' कहा गया है, श्रुति का प्रमाण है।

शक्ति जागने के पश्चात् अन्तर्भूमिका रूप से हठादि चारों योगों का उत्तरोत्तर स्वतःसिद्ध विकास होता है, यह भी विशेषता है। इसमें नीचे दी गयी श्रुति का प्रमाण है—

मन्त्रो लयो हठोराजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।

—योग शिखोपनिषत्, १३०

—'मन्त्र, लय, हठ, राजयोग क्रम से अन्तर्भूमिकाएँ हैं, इसलिए वह एक ही योग चतुर्धा होने से महायोग कहलाता है।'

१७. आसन प्राणायाम बन्धमुद्रादयो हठः।

आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रादि हठ योग हैं।

यहाँ पर प्राणायाम से श्वास की पूरक, रेचक, कुम्भक कियाएँ ली गयी हैं। बन्ध और मुद्राएँ बहुत हैं, उनमें १० प्रधान हैं - मूल बन्ध, उडयान बन्ध जालन्धर बन्ध महा बन्ध, महा वेध, महा मुद्रा विपरीतकरणी, बज्रौली, खेचरी और शक्ति-चालन। आसन प्रत्येक योनि के आधार पर ८४ लाख कहे हैं, परन्तु ८४ मुख्य हैं। पातञ्जल दर्शन के अनुसार 'स्थिरं सुखं आसनम्' कहा गया है, परन्तु सांख्य ने यह नियम भी नहीं माना कि स्थिरता

और सुख से ही स्थिति हो । शक्ति जागकर क्रियावती होती है, तब किसी-किसी को तो नाना प्रकार के आसन, कुम्भक और मुद्राएँ देखने में आती हैं ।

१८. ततो नाड़ी शुद्धिः

उससे नाड़ी-शुद्धि होती है ।

नाड़ियों से वात-नाड़ियों या स्नायुओं (nerves) का अभिप्राय है। नाड़ियाँ प्राण शक्ति के प्रवाह के लिए उसी प्रकार कार्य करती हैं जैसे बिजली के प्रवाह के लिए तार। साधारण मनुष्यों की नाड़ियाँ मलाकुल होती हैं और उनमें प्राण का प्रवाह सुगम नहीं होता। हठ योग की क्रियाएँ उनके मल को निकाल देती हैं।

१९. स्वाध्यायेश्वरप्रणिधाने मन्त्रयोगः।

स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान मन्त्रयोग है ।

पातञ्जल दर्शन में प्रणव के जप और उनके अर्थ की भावना को स्वाध्याय कहा है। स्वाध्याय में मोक्षप्रद मन्त्रों का जप और शास्त्रों का श्रवण, पठन, मनन भी लिया गया है। स्वाध्याय से योग की सिद्धि होती है, जैसा कि वेदव्यास जी ने कहा है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।

—'स्वाध्याय से योग प्राप्त होता है, योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं।'

ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वर-समर्पण और ईश्वर-शरणागति है ।

'प्रनिधान्' की व्युत्पत्ति 'प्र' और 'नि' उपसर्गों से युक्त 'धा' (धारण करणे) धातु से है अर्थात् ईश्वर को अपने अन्तः में पूर्ण निश्चय सहित धारण करना चाहिए। योगदर्शन का ईश्वर गुरुरूप से प्रत्येक मनुष्य के साथ विद्यमान् है जो क्लेश-कर्म-विपाकाशयों से अस्पृष्ट, बन्धन में पड़े जीव की अपेक्षा से विशेष पुरुष कहा गया है जिसमें सर्वज्ञता का बीज निहित है। महायोग द्वारा उस बीज रूप ज्ञान को पूर्णता तक पहुँचाया जा सकता है जिस की अनुभूति को ही वास्तविक ईश्वर-प्रणिधान समझना चाहिए।

२०. ततः समाधि सिद्धिः।

उससे समाधि की सिद्धि होती है।

समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। —योग दर्शन

२१. चित्ते लीने लयः।

चित्त के लीन होने पर लय योग कहलाता है।

२२. प्राणस्थैर्यात्तदुपलब्धिः।

प्राण शक्ति के स्थिर होने पर लय योग की प्राप्ति होती है।

२३. षट्चक्र वेधात्।

छः चक्रों का वेध होने के कारण।

२४. आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धाज्ञाभिधानि चक्राणि।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा,—चक्रों के नाम हैं।

२५. पायूपस्थनाभिहृद्कंठ भ्रूमध्येषु तत्स्थानानि ।

(क्रमशः) गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य देश में उनके स्थान हैं ।

२६. तत्तु सुषुम्नाऽधिकृतानि ।

परन्तु चक्रों के ये स्थान सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर हैं। चक्र सुषुम्ना के अन्दर वे स्थान हैं जहाँ पर नाड़ियों के केन्द्र हैं। कण्ठ से निकलने वाली नाड़ियाँ ग्रीवा और हाथों में फैलती हैं। पृष्ठ भाग से निकलने वाली पीठ और पसलियों में फैलती है। हृदय का सम्बन्ध आज्ञा चक्र से सीधा भी है। कटि पर्व की नाड़ियाँ उदर, कमर और पैरों में अँगूठों तक चली गयी हैं। उपस्थ विभाग की मूत्राशय, वीर्याशय आदि में गयी हैं। गुदा और उपस्थ की मिलकर कुछ सीवनी, गुदा, मलाशय इत्यादि में फैलती हैं। आज्ञा चक्र' मस्तिष्क और सुषुम्ना के चित्रा विभाग की शिराओं तथा पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों का केन्द्र है। सहस्रार से सारे शरीर की नाड़ियों का सम्बन्ध इसी प्रकार है जैसे हैड-आफिस से शाखाओं का होता है ।

२७. मनोलयस्त्वाज्ञायाम् ।

आज्ञा चक्र में प्राण पहुँचने पर मन का लय होता है।

२८. सङ्कल्पविकल्पाऽभावश्च ।

सङ्कल्प और विकल्प का अभाव होता है।

२९. एकाग्रता च मनसः ।

और मन की एकाग्रता होती है। अर्थात् किसी ध्येय सङ्कल्प पर भी एकाग्रता हो सकती है और सङ्कल्प-विकल्प-शून्य एकाग्रता भी होती है ।

३०. तदुपरि राजयोगः सहस्रारे ।

उसके ऊपर राजयोग होता है, सहस्रार में ।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रार में प्राण जाने से राज योग होता है ।

३१. तत्र ब्रह्मणि शक्तिर्लयान्निर्बीजसमाधिः प्राणलयो मनोलयश्च ।

वहाँ पर अर्थात् सहस्रार में शक्ति के ब्रह्म में लय हो जाने से निर्बीज समाधि होती है एवं प्राण और मन दोनों का लय हो जाता है।

३२. ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है ।

यह पातञ्जल दर्शन के प्रथम पाद का तीसरा सूत्र है और योग की स्थिति का वर्णन करता है । जब तक द्रष्टा की अपने स्वरूप अर्थात् परब्रह्म में स्थिति नहीं होती, तब तक वृत्तियों की सारूप्यता न्यूनाधिक बनी ही रहती है ।

कठ वल्ली की नीचे दी हुई श्रुति भी इसी पद की प्राप्ति का उपदेश कर रही है—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानामत्मनि महति नियच्छेतद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।

—वल्ली ३, अ० १, मन्त्र १३

—'बुद्धिमान् मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लय करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को प्रथमज महत्तत्व में लीन कर दे और महत्तत्व का शान्त आत्मा (ब्रह्म) में लय कर दे ।'

शक्तिपात-क्रम में उक्त प्रक्रिया की सिद्धि सुषुम्नागत प्राणोत्थान द्वारा की जाती है ।

द्वितीय पाद

●

१. तदर्थगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रुतेः ।

उसके लिए गुरु के ही पास समित्पाणि जावे, ऐसा श्रुति का उपदेश है ।

ब्रह्मज्ञान को देने वाली शक्ति के उद्‌बोधनार्थ गुरु के पास ही जावे । बिना गुरु के उसकी प्राप्ति नहीं होती, जैसा कि श्रुति का उपदेश है—

परीक्ष्य लोकान्कर्म चितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

—मुण्डक १, काण्ड २, श्रुति १२

—'कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य ग्रहण करे, क्योंकि कर्म द्वारा मोक्ष नहीं मिलता । उसे पाने के लिए हाथ में समिधा लेकर ऐसे ही गुरु के पास जावे जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो ।'

ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए विषयों से उदासीन होकर गुरु के पास जाने का उपदेश किया गया है । पूर्वकाल में सब ऋषि यज्ञ किया करते थे, इसलिए शिष्य दीक्षार्थ हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाता था । आजकल यज्ञादि करने की प्रणाली न रहने से पत्र, पुष्प, फलादि ले जाने चाहिए, खाली हाथ नहीं जाना

चाहिए। समित्पाणि कहने का अर्थ यह नहीं है कि उस काल में समिधा के अतिरिक्त फल, पुष्प न ले जाते होंगे। तब समिधा ही क्यों कहा है ? इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो शिष्य अपने अन्दर ज्ञानाग्नि जलाने का अभिलाषी है और अग्नि दो अरणियों से प्रकट होती है। इसलिए समिधा ले जाना उसकी ज्ञानाग्नि प्राप्त करने की इच्छा का द्योतक है। गुरु को उत्तरारणि एवं शिष्य को अधरारणि से उपमा दी जाती है, क्योंकि दोनों से ब्रह्म विद्या रूपी अग्नि* प्रकट होती है और उसका क्रम भावी सन्तानों में चलता है। दूसरा अभिप्राय यह भी दीखता है कि शिष्य गुरु की छोटी-से-छोटी अर्थात् लकड़ी काटकर लाने तक की भी सेवा करने में अपना गौरव समझता है।

२. ब्रह्मनिष्ठो वेधकः शक्तिपातक्षमश्च गुरुः।

गुरु ब्रह्मनिष्ठ, वेध करने वाला और 'शक्तिपात' करने में समर्थ होना चाहिए।

ब्रह्मनिष्ठ—जो यच्चित्त हो अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र अवस्था में रहकर ब्राह्मी स्थिति में रहता हो। ब्राह्मी स्थिति का

---

*कुण्डलिनी शक्ति को भी अग्निरूपा कहा जाता है। ज्ञान एवं योग को भी अग्नि कहते हैं, यथा

'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।' —गीता
'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।'
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय २

शक्तिपात द्वारा गुरु शिष्य की कुण्डलिनी को जगाकर शिष्य में दीपकवत् योगाग्नि प्रदीप्त करता है, इसी कारण कृष्ण भगवान् के गुरुवर का नाम संदीपन ऋषि था।

वर्णन श्री भगवान् ने गीता के द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ की व्याख्या करते हुए किया है। जो छहों चक्रों का वेध कर सके, वही वेधक कहलाता है।

३. निग्रहानुग्रहक्षमश्च।

और जो निग्रह, अनुग्रह दोनों में समर्थ हो।

'शक्तिपात' करने को अनुग्रह और रोक देने को निग्रह कहते हैं। निग्रह से शिष्य के वेग को कम किया जा सकता है। गुरु के लिए अनुग्रह करने का सामर्थ्य जितना आवश्यक है, उतना ही निग्रह करने का भी है क्योंकि कभी-कभी अधिक वेग हो जाने पर उसको कम करने की भी जरूरत पड़ जाती है। ऐसा ही गुरु शिष्यों के वेग को संयम में रख सकता है।

४. परीक्ष्य दीक्षयेत्।

गुरु शिष्य की परीक्षा करके दीक्षा देवे।

यदि अयोग्य हो तो दीक्षा न दे, उसको योग्य बनने के लिए समय दे। समय पाकर पका हुआ फल अच्छा होता है, इसलिए शीघ्रता करना उचित नहीं है।

५. शक्तिपात एव दीक्षा।

शक्तिपात करना ही दीक्षा देना है।

शक्ति का प्रवाह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक दो प्रकार से होता है,—स्पर्श द्वारा और बिना स्पर्श के। आगे चलकर बताया जायेगा कि शरीर के भीतर शक्ति का प्रवाह नाड़ियों के आश्रय से होता है। परन्तु जब वह शरीर के बाहर भी संक्रमित

होती है, तब उसकी गति किस तत्त्व के आश्रय होती है ? वह अग्नि-ताप के सदृश चारों ओर फैलती है अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को धारा रूप में जाती है ? क्या उसकी गति का अनुभव हो सकता है ? यदि होता है, तो उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ पर उत्पन्न होते हैं जो एक स्वतन्त्र विज्ञान का विषय है। इस विषय का, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर अन्वेषणों के अभाव के कारण, तत्त्वतः विवेचन करना तो असम्भवप्रायः ही है, परन्तु साधन करने वाले कुछ महानुभावों के अनुभवों और अनुमानों के आधार पर उक्त प्रश्नों पर थोड़ा प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है।

यह बात तो अनुभूत है कि शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होती है और मनुष्य के शरीर अथवा प्रश्वास से चारों ओर इस प्रकार फैलती है जैसे तप्त गोले से उष्णता। यह भी प्रतीत होता है कि उसकी गति का मार्ग (Medium) वायु नहीं है। सम्भव है कि आकाश तत्त्व (Ether) अथवा उससे भी सूक्ष्म अन्य कोई तत्त्व हो। हम उसे 'समष्टि-प्राण-मण्डल' कहते हैं। सांख्य की परिभाषानुसार सम्भवतः उसको मनस्सत्ता, मनस्तत्त्व (Mind Stuff) अथवा महत्तत्त्व भी कह सकते हों। कभी-कभी शक्ति की गति गोली की तरह सीधी भी होती है। किसी-किसी को शक्ति का अस्तित्व स्पर्शेन्द्रिय द्वारा होता देखा जाता है, परन्तु सूक्ष्म विषय होने के कारण अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में वह अनुभवगम्य नहीं होता। किसी-किसी अभ्यासी को विद्युत्प्रकाशवत् दृष्टिगोचर होता हुआ भी देखा गया है। यह प्रकाश नाड़ियों के अन्दर और शरीर के बाहर भी गतिमान् दीख पड़ता है।

अभ्यास करने वालों का यह भी अनुभव है कि उक्त शक्ति

बाहर बादल, अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि अथवा केवल वायु, आकाश या अन्य किसी भी स्थान से सङ्कल्प द्वारा अपने शरीर में खींची जा सकती है। इसलिए उनका कहना है कि परमात्मा की शक्ति सब पदार्थों में भरपूर है। अन्दर की शक्ति जागने के पश्चात् योगी अपने सङ्कल्प से उसको खींच सकता है। उक्त प्रकार से खींची हुई शक्ति शरीर में प्रवेश करके चेतनवत् ही व्यवहार करती है, इसलिए वह विद्युदादि शक्तियों से भिन्न और उत्तम है।

जब शक्ति योगी की इच्छा से बाहर जाती है तो पृथ्वी पर देश-देशान्तर में कहीं भी भेजी जा सकती है। Telepathy आदि उक्त शक्ति के ही कार्य हैं।

अनुमान से कहा जा सकता है कि सम्भव है कि इस आध्यात्मिक शक्ति से विद्युदादि आधिभौतिक शक्तियाँ भी उत्पन्न की जा सकें।

आध्यात्मिक शक्ति का विचार तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है :—

१—अपने आध्यात्मिक लाभार्थ।

२—दूसरों के आध्यात्मिक लाभार्थ।

३—आधिभौतिक जगत् में भौतिक सिद्धियों के लिए प्रयोगार्थ, जिस रीति से कि उसका भौतिक शक्तियों से सम्बन्ध मालूम हो सके।

यहाँ पर उपरोक्त प्रथम दो दृष्टिकोणों से इस विषय पर किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

६. ततः शक्ति प्रदीपन दीपवत् ।

उससे शक्ति का प्रदीपन होता है, दीपक के सदृश्य ।

जैसे एक प्रज्ज्वलित दीपक की शिखा से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार गुरु की शक्ति के शिष्य पर गिरने से उसकी शक्ति जाग उठती है ।

७. ततः दिव्यज्ञानं सम्पद्यते क्षीयते च बन्धनम् ।

उससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और बन्धन का क्षय होता है ।

८. दीप्ते ज्ञानाग्नौ मलविक्षेपाऽवरणहानिः ।

ज्ञानाग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर मल, विक्षेप और आवरण की हानि होती है । मल पापों को, विक्षेप चित्त की चञ्चलता को और आवरण अज्ञान के पर्दे को कहते हैं ।

९. गुरुगृहे निवसेत्तिस्रो रात्रिः ।

गुरु के घर पर तीन रात्रि निवास करे । यहाँ रात्रि शब्द का प्रयोग किया जाता है, न कि दिन का । इसका अभिप्राय यह है कि साधनकाल सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व ब्राह्म मुहुर्त्त का ही श्रेष्ठ होता है । दिन में कुण्डलिनी का उद्बोधन निषिद्ध है ।

१०. तोषयेच्च भोजनवस्त्रदक्षिणाभिः प्रणिपातेन सेवया च ।

और गुरु को भोजन, वस्त्र, दक्षिणा देकर, प्रणाम तथा सेवा करके सन्तुष्ट करे । श्री भगवान् ने गीता में कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

—'उस (ज्ञान) को प्रणाम करके, प्रश्न करके और सेवा करके जानो। ज्ञान का उपदेश तुमको तत्त्वदर्शी ज्ञानी देंगे।'

यहाँ पर शङ्का हो सकती है कि वीतरागविषय गुरुओं को सन्तुष्ट करने का क्या अभिप्राय है? वे तो सदा सब से ही सन्तुष्ट रहते हैं। शरीरधारी गुरु को वस्त्र, भोजन, धनादि की आवश्यकता तो होती ही है। उनके वीत-राग होने का अर्थ यही है कि वे विषयों में आसक्ति नहीं रखते और किसी से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी यथासम्भव याचना अथवा आज्ञा नहीं करते। परन्तु शिष्यों का तो धर्म ही है कि अपने अनुमान से उनकी आवश्यकताओं को जानकर, बिना कहे, यथाशक्ति पूरा करें। इससे वे गुरु का सन्तोष प्राप्त करेंगे।

११. दीक्षा त्रिविधा।

दीक्षा तीन प्रकार की है,—आणवी, शाक्ती और शाम्भवी।

१२. दर्शनाद् भाषणात्स्पर्शाच्च।

दृष्टि के द्वारा, भाषण द्वारा और स्पर्श से।

साधारणतः शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है—(१) दृष्टि से (२) मन्त्रादि देकर, और (३) हाथ से छूकर। इन तीनों क्रियाओं से शक्तिपात करने वाले की इच्छा होने पर ही शक्ति-सञ्चार होता है, इच्छा न होने पर नहीं होता। इसलिए इच्छा से ही शक्तिपात होता है, स्पर्शादि तो बाह्य साधन हैं।

१३. मानस्यपीति केचित् ।

दीक्षा मानसिकी भी होती है, इसलिए कुछ लोग शक्तिपात को चार प्रकार का मानते हैं ।

जैसा पहले कह आये हैं कि बिना इच्छा के तो स्पर्श, अवलोकन और भाषण से भी दीक्षा नहीं होती, तब चौथी मानसी कहने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है कि मानसी दीक्षा ऐसी अवस्था में दी जाती है जब कि गुरु-शिष्य का किसी कारण से एक स्थान पर समागम न हो सकता हो । जैसे, दोनों दूरस्थ देशों में हों और शिष्य गुरु के समीप न आ सकता हो अथवा किसी कारण से गुरु शिष्य की अपने सन्मुख उपस्थिति की आवश्यकता न समझता हो, तो गुरु के सङ्कल्प से दूरस्थ शिष्य पर शक्तिपात हो सकता है ।

१४. सा पुनरप्यधिकारि भेदतस्त्रिधा ।

वह दीक्षा अधिकारी-भेद से फिर तीन प्रकार की है ।

१५. मृदुमध्यतीव्रत्वात् पिपीलिकाकपिखगन्यायवत् ।

मृदु, मध्य और तीव्र होने के कारण चींटी, बन्दर और पक्षी के न्याय के सदृश्य ।

अधिकारी के भेद से किसी में हलका वेग आता है, किसी में मध्यम और किसी में तीव्र । किसी-किसी को पूर्ण विकास होने में एक, दो, तीन दिन या और अधिक समय भी लग जाता है । किसी को प्रथम बार में ही विकास हो जाता है परन्तु धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा और किसी को उसी क्षण स्पर्श, अवलोकन अथवा मन्त्र प्राप्त होते ही वेग से विकास हो जाता है । जैसे वृक्ष पर लगे हुए फल

तक चींटी धीरे-धीरे पहुँचती है, कपि एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदता-फाँदता हुआ पहुँचता है और पक्षी उड़कर सीधा उस पर जा बैठता है।

१६. सा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी वेधमयीति ब्रह्मा।

ब्रह्माजी ने कहा है कि दीक्षा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी होती है। क्रियावती इसलिए कहलाती है कि उस में नाना प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। कलावती इसलिए कि उससे तत्व-शुद्धि होती है। ३६ तत्त्वों को ५ कलाओं में बाँटा गया है। ३६ तत्वों के नाम इस प्रकार हैं:—

शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्राएँ और ५ महाभूत। इनमें प्रथम दो तत्व शान्त्यातीता कला के, फिर अगले ३ तत्व शान्ति कला, ७ तत्व माया कला, २३ तत्व प्रतिष्ठा और अन्तिम पृथ्वी तत्व निवृत्ति कला के अङ्ग माने जाते हैं।

सारा विश्व नाम-रूपात्मक दृश्य है। कलावती का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं से और वर्णमयी का सम्बन्ध वर्णात्मक नाम अर्थात् शब्दमयी सृष्टि से समझना चाहिए। वर्णमयी में वर्ण, पद, मन्त्र, कविता इत्यादि की शक्ति उदय हो जाती है। वेधमयी इसलिए कहलाती है क्योंकि उससे षट् चक्रों का वेध होता है। उक्त चारों रूप तो किसी-किसी में ही प्रकाशित होते हैं। प्रायः किसी में एक, किसी में दो अथवा तीन ही प्रकाशित होते हैं।

अकार से हकार तक और क्ष, त्र सहित ५१ वर्ण हैं। लिङ्ग, पुरुष, वचन और काल प्रत्येक के त्रिधा होने से पद ३×३×३

×३=८१ प्रकार के होते हैं। दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन के विषयों से सम्बन्धित होने के कारण मन्त्र अर्थात् वाक्य ११ प्रकार के होते हैं।

१७. शिवादेशकारिणीति शाम्भवी।

शिवजी के आदेश कराने वाली शाम्भवी कहलाती है।

श्रवण द्वारा, वचन द्वारा, लिख कर अथवा विचारों में स्पष्ट रूप से शिव जी के आदेश आने लगें तो समझना चाहिए कि दीक्षा शाम्भवी है। शिवावेश के कारण ही शाम्भवी कही जाती है।

१८. योगोक्तक्रमतो योगदीक्षा।

योग में कहे हुए क्रम से दी हुई दीक्षा योग-दीक्षा है।

इसमें योग की क्रियाएँ प्रधान रूप से होती हैं। अन्य साधन गौण रूप से होते हैं।

१९. सैव शाक्तेयी शक्ति ज्ञानवती वा।

वही शाक्तेयी, शाक्ती अथवा ज्ञानवती दीक्षा भी कहलाती है।

ज्ञानवती कहने के बजाय कोई-कोई ज्ञान-दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि शक्ति ही ज्ञान है। शाब्दिक उपदेश वास्तव में ज्ञानोपदेश नहीं है। शक्ति द्वारा ज्ञान का जो प्रकाश शिष्य में स्वयं उदित होता है, वही यथार्थ में ज्ञान का उपदेश है। यह शाम्भवी से नीचे स्तर की दीक्षा है, क्योंकि इस में शक्ति का आवेश मात्र होता है।

२०. मन्त्रमार्गानुसारेण मान्त्री।

मन्त्र-शास्त्र के अनुसार दी गयी दीक्षा मान्त्री कहलाती है। जिन मन्त्रों से शक्ति-जागरण होता है, वे मन्त्र चेतन होते हैं।

२२. मन्त्रार्चनाद्युपचारैराणवी ।

मन्त्र, अर्चन आदि उपचारों की सहायता से क्रमशः उन्नति कराने वाली दीक्षा आणवी कहलाती है। शक्ति का उद्‌बोधन न होने से यत्नसाध्य जपानुष्ठानादि आणवोपाय के ही अङ्ग हैं।

२२. षट्चक्र वेधाद्वेधमयी ।

षट्चक्रों का वेध होने के कारण दीक्षा वेधमयी कहलाती है।

२३. वेदान्त योग भक्ति सम्प्रदाय भेदतोऽपि बहुविधा ।

वेदान्त, योग, भक्ति आदि सम्प्रदायों के भेद से भी बहुत प्रकार की दीक्षा होती है।

२४. सा एकैव शक्तिमत्वात् ।

वह बहुत प्रकार की होते हुए भी एक ही है, शक्ति का प्रबोध होने के कारण।

ब्रह्म की शक्ति तो एक ही है, इसलिए सब का फल मोक्ष ही है, यद्यपि उसका विकास नाना प्रकार से देखा और सुना जाता है।

२५. वीतरागचित्तावलम्बनात् ।

वीतराग चित्त का अवलम्बन होने के कारण शक्तिपात दीक्षा होती है।

२६. सिद्धसङ्कल्पाद्वा ।

अथवा सिद्ध सङ्कल्प होने से।

वीतराग होने से योगी सिद्ध-सङ्कल्प हो जाता है, इसलिए 'वा' का प्रयोग किया जाता है। 'गुरु की शक्ति शिष्य में जाकर उसकी आध्यात्मिक जागृति किस कारण से करती है ? उसकी वृत्तियाँ शीघ्र निरुद्ध कैसे होने लगती हैं ?' इत्यादि शङ्काओं का समाधान इन दो सूत्रों से किया गया है। प्रथम सूत्र के भाष्य में बताया जा चुका है कि वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन लेकर शक्तिपात द्वारा शक्ति-सञ्चार होने से शिष्यों को शीघ्र एकाग्रता का लाभ होता है। पातञ्जल दर्शन के 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र का अर्थ साधारण लोग तर्क और अनुमान के आधार पर किया करते हैं, परन्तु अच्छी तरह समझ नहीं सकते। वेदव्यास जी ने अपने भाष्य में वीतराग महात्माओं का ध्यान नहीं कहा, वरन् यह कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध वीतराग-चित्त के आलम्बन अर्थात् आश्रय से होता है। शक्तिपात दीक्षा में शक्ति का सञ्चार गुरु के सङ्कल्प का आश्रय लेकर होता है और उस शक्ति से शिष्य को वीतराग-चित्त का आलम्बन मिलता है। शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने वालों को इसका अनुभव होने से उनकी समझ में उक्त सिद्धान्त सुगमता से आ सकता है।

चित्त और शक्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह श्रुतियों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है।

२७. श्रुतेः।

श्रुति का प्रमाण है। यथा—

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशांततेजाः पुनर्भव मिंद्रियैर्मनास सम्पद्यमानैः। यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

—प्रश्न ३, मन्त्र ६, १०

—'तेज ही निश्चय से उदान है, इसलिए जिसका तेज उपशान्त हो गया है, उस तेज को पुनः उत्पन्न करने के लिए इन्द्रियों को मन में अच्छी प्रकार ले जाकर जिसने अपना चित्त एकाग्र कर लिया है, उसमें एकाग्र चित्त के द्वारा प्राण आ जाता है और प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के सहित मनुष्य को, वह जैसा सङ्कल्प करता है, उसी लोक को ले जाता है अर्थात् उसी प्रकार की सिद्धि देता है।

उपरोक्त श्रुतियों में 'उपशान्त तेजाः' का अर्थ यदि मृत्यु लिया जाय तो जैसा श्री शङ्कराचार्य महाराज ने कहा है, जन्मान्तर में प्राण इस जन्म के सङ्कल्पित लोक को ले जाता है। परन्तु जो क्रिया मृत्यु के समय प्रकृति के वश में होती है, वही क्रिया योगी अपनी इच्छा से जीवनकाल में करता रहता है अर्थात् इन्द्रियों को मन में लय करता है, मन को बुद्धि में, फिर बुद्धि को आत्मा में और आत्मा सहित, सुषुम्णा मार्ग से धारणा, ध्यान, समाधि कर के, यथासङ्कल्पित सिद्धि को प्राप्त करता है। जीवनकाल में 'उपशान्त तेजाः' का अर्थ ऐसे मनुष्यों के लिए किया जा सकता है जो ब्रह्मतेज से क्षीण हो गये हैं। उनके लिए उस तेज के पुनर्भव अर्थात् फिर उत्पन्न करने का साधन योग-मार्ग द्वारा इन्द्रियों का प्रत्याहार कर के चित्त की एकाग्रता करना है।

संयच्चित होने से मनुष्य में प्राण शक्ति आती है, यह बात उपरोक्त श्रुति में बतायी गयी है और सब के अनुभव की भी बात है। इसी प्रश्न की आठवीं श्रुति में आदित्य को बाह्य प्राण बताया है जिसका सम्बन्ध चाक्षुष प्राण से है। पृथ्वी की देवता रूप शक्ति बाह्य अपान है, आकाश समान, वायु व्यान और अग्नि उदान है। निरुद्ध चित्त वाले मनुष्य को उपरोक्त पाँचों प्रकार की शक्तियाँ विश्व-भण्डार से मिलने लगती हैं। जैसा कि हमने इसी पाद के

५वें सूत्र में कहा है कि योगी वायु, आकाश, सूर्य, अग्नि इन सभी से शक्ति को खींचने लगता है। प्राण शक्ति का आवाहन करने का उपाय यच्चित्तता ही है। चित्त के निरोध से प्राण शक्ति को उदान रूपी तेज से युक्त कर के योगी तेजोमय बनता है और उसी प्राण शक्ति को चाक्षुष प्राण की सहायता से दृष्टि द्वारा अथवा अग्नि स्वरूप समान शक्ति के आधार से मन्त्र द्वारा अथवा वायु रूप व्यान शक्ति के आधार से स्पर्श द्वारा शक्तिपात कर के उक्त ब्रह्मतेज (प्राण शक्ति) को दूसरों में भी उत्पन्न कर देता है। योगी के सङ्कल्प के अनुसार शिष्य में उदान सहित प्राण शक्ति का सञ्चार होता है, यह अभिप्राय भी १०वीं श्रुति के अन्तर्गत निहित है।

उपरोक्त श्रुतियों में शक्ति-सम्पादन करने का रहस्य स्पष्ट रूप से बताया गया है। जो क्षीण-तेज मनुष्य स्वयं अपनी इन्द्रियों और मन को संयम में नहीं ला सकते, उनमें शक्तिपात द्वारा गुरु की शक्ति के आलम्बन से यह कार्य सम्पादित हो जाता है। शक्तिपात के पश्चात्, अपनी शक्ति जाग उठने से, वह स्वयं भी अपनी इन्द्रियों और मन का संयम करने लगता है। प्राण से मनोनिरोध और मनोनिरोध से प्राण शक्ति का सञ्चय उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है।

२८. स्मृतेश्च।

और स्मृतियों का भी प्रमाण है।

पुराणों और तन्त्र-शास्त्रों में इस विज्ञान का रहस्य अधिक विस्तार से मिलता है। यथा—

शक्तिपातसमायोगादृते तत्त्वानि तत्त्वतः।
तदव्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते॥

—शिवपुराण, वायवीय संहिता

—'शक्तिपात के समायोग के बिना तत्वतः तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।'

२९. तत्तुसति धर्माधर्मयोः साम्ये।

परन्तु वह शक्तिपात धर्म और अधर्म की साम्यावस्था होने पर होता है।

अर्थात् गुरुजन पापी मनुष्यों पर शक्तिपात नहीं करते और यदि करना भी चाहें तो पाप की अधिकता होने पर शक्ति का संक्रमण नहीं होता। पाप दग्ध होकर जब पाप-पुण्य की साम्यता आती है, तभी उसका विकास होता है। इसी अभिप्राय से कुष्ट, यक्ष्मा, मिरगी बवासीर, सुजाक, आतशक जैसे पापी रोगों से पीड़ित मनुष्यों को दीक्षा देने का निषेध है। अन्धे, काने, बहरे, अङ्गहीन और अधिकाङ्गियों की भी गणना इसी कोटी में की गयी है।

३०. यस्मिन्नपतति तद्धि न पात्रम्।

जिस मनुष्य में शक्ति नहीं गिरती, वह पात्र नहीं है।

परन्तु इस सूत्र का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें शक्ति जाती है, वह दीक्षा का पात्र है ही। यह भी सम्भावना हो सकती है कि शक्ति जाने पर भी कोई-कोई दीक्षा के योग्य नहीं होते।

३१. वर्णानां न नियमः।

वर्णों का नियम नहीं है।

जिसको गुरु स्वीकार कर ले—वही पात्र है, वर्ण (जाति) का

नियम नहीं है। ईसाई, मुसलमान, यूरोप अथवा अन्य देशों के निवासी, सभी पात्र हो सकते हैं।

३२. बालवृद्धस्त्रीपुमान्सः सर्वेऽधिकारिणः।

बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरुष सब अधिकारी हैं।

३३. एकाकी दीक्षितैर्वा सह समभ्यसेत्।

अकेला अथवा दीक्षितों के साथ अभ्यास करे।

३४. शुचौ गुप्तदेशे मठे गुहायां वा।

किसी शुद्ध गुप्त देश, बन्द कमरे, मठ अथवा गुफा में अभ्यास करे।

जन-समुदाय में सब के सामने अभ्यास करना निषिद्ध है, क्योंकि ऐसा करने से शक्ति का ह्रास होता है, साधक की उन्नति में बाधा पड़ती है और विघ्नों का भय रहता है।

३५ तत्र स्थापयेत् कम्बलासनमजिनासनं वा।

वहाँ पर कम्बल अथवा मृग या व्याघ्रादि के चर्म का आसन बिछावे। चटाई अथवा बिना आसन के भूमि, पत्थर या लकड़ी के आसन पर अभ्यास न करे।

तृतीय पाद

१. कोषेषु तद्विकासः ।

२. अन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दमयाः श्रुतेः ।

कोषों में उसका विकास होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। श्रुति के अनुसार कोष पाँच हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच कोषों का वर्णन मिलता है। उन में से प्रथम चार तो कोष ही समझने चाहिए, परन्तु अन्तिम आनन्दमय तो स्वयं आत्मानन्द का ही रूप है—

'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिण पक्षः, प्रमोदः उत्तर पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।'

—'उस (आनन्दमय कोष) का सिर प्रियता है, दक्षिण पक्ष मोद, उत्तर पक्ष प्रमोद, आत्मा आनन्द और ब्रह्म उसकी पूँछ-प्रतिष्ठा है। इसलिए शक्ति का विकास प्रथम चार में तो प्रत्यक्ष प्रतीत होता ही है, परन्तु आनन्दमय में आनन्द के विकास का अर्थ विकल्प मात्र ही है। उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि आनन्द का अनुभव होना ही आनन्दमय परमात्मा का साक्षात्कार है और यही आनन्दमय का विकास है—

'सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, प्राणमयात् अन्योऽन्तर

आत्मा मनोमयः, मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः, विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानंदमयः।'

—तै० २, ५

उक्त कोषों में शक्ति का विकास किस प्रकार होता है? इसके लिए नीचे कोषों का स्वरूप दिखाया जाता है।

३. पार्थिवोऽन्नमयः।

पार्थिव शरीर अन्न का बना हुआ है।

४. तत्र नाड्योऽनन्ताः।

उसमें अनन्त नाड़ियाँ हैं।

प्रश्नोपनिषद् में नाड़ियों की संख्या ७२०००००१ कही है। एक सुषुम्ना और १०० प्रधान नाड़ियाँ हैं। फिर इन प्रत्येक में से ७२००० शाखाएँ फूटती हैं। इस प्रकार अनन्त नाड़ियों से सारा शरीर व्याप्त है। अंग्रेजी में इन नाड़ियों को Nerves कहते हैं। नाड़ी-विज्ञान समझने के लिए हमारी अंग्रेजी की पुस्तक—'देवात्मशक्ति'—पढ़ें।

५. कंदस्तन्मूलम्।

कंद उनकी जड़ है।

कंद के अन्दर अंग्रेजी में Ganglion Impar नाम की एक ग्रन्थि बतायी जाती है। उस ग्रन्थि में से पश्चिम के विद्वानों के मत से दो नाड़ियाँ निकलती हैं जो मेरुदण्ड के बाहर उसके दक्षिण, वाम पक्ष में खड़ी हैं। उनका नाम अंग्रेजी में Sympathetic Columns रखा गया है। इन्हीं दोनों को इड़ा और

पिंगला कहते हैं। हमारे ऋषियों के मतानुसार कंद एक माँस-पेशी है जो ६ अंगुल लम्बी और ४ अंगुल घेरे वाली है। उसके केन्द्र में कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। वहाँ से सुषुम्ना, इड़ा और पिङ्गला तीनों का उद्गम होता है। यह स्थान गुदा के ऊपर और उपस्थ के नीचे मेरुदण्ड की अनुत्रिकास्थि के समीप है।

६. पायूपस्थयोर्मध्ये तत्स्थानम :

गुदा और उपस्थ दोनों के मध्यप्रांत में उस कन्द का स्थान है।

७. एतस्मादिडापिङ्गलासुषुम्ना उद्भूताः।

इससे इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना निकलती हैं।

पश्चिम के डाक्टरों के मत से सुषुम्ना का उससे सम्बन्ध नहीं है, परन्तु योगियों का अनुभव इसके विपरीत है।

८. ताभ्यः शाखा प्रतिशाखा क्रमेण सहस्रशः।

उन तीनों से शाखा-प्रतिशाखा क्रम से हजारों नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। पश्चिम के डाक्टरों के मतानुसार नाड़ियों का उद्गम-स्थान शिरःकपाल है, परन्तु योगियों का मत है कि कंद (ganglion impar) सब की जड़ है। उसमें से तीन तने (trunks) निकलते हैं जो नीचे पतले और ऊपर मोटे होते जाते हैं। उनमें से एक मेरुदण्ड के भीतर और दो बाहर खड़े हैं।

इड़ा और पिङ्गला में चौबीस-चौबीस गाँठें हैं जिनको अंग्रेजी में ganglia कहते हैं। योगशिखोपनिषद् में इनको मणि कहा

है। उक्त मणियों में से एक-एक शाखा सुषुम्ना के चित्रा विभाग में जा मिलती है। इड़ा से निकलने वाली चित्रा के वाम भाग में और पिङ्गला से निकलने वाली चित्रा के दक्षिण भाग में मिलती है। दूसरी ओर इन्हीं मणियों से अन्य शाखाएँ भी निकलती हैं। वे सब शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में फैल जाती है, जैसे पीपल के पत्ते की नाड़ियाँ फैलती हैं।

उपरोक्त क्रन आधार से आज्ञा चक्र तक है। उसके ऊपर इड़ा, पिङ्गला का तो अन्त हो जाता है, परन्तु इनकी दो शाखाएँ दोनों नासापुटों तक जाती हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले चित्रान्तर्गत शिरा-समूह दक्षिण से वाम ओर और वाम से दक्षिण ओर सङ्गम (क्रौस cross ×) करके मस्तिष्क में फैल जाते हैं। जिस स्थान पर ये क्रौस करती हैं, उस स्थान को वाराणसी कहते हैं। यहाँ पर विश्वनाथ विराजते हैं। आज्ञा चक्र को प्रयाग कहते हैं।

आज्ञा चक्र से किञ्चित् ऊपर मनोमय चक्र sensory centre है, जहाँ से आँख, कान, नाक, जिह्वा, मुख, हृदय से संबंध रखने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं। पश्चिम के विद्वानों ने इन सब को तीन श्रेणियों में विभक्त किया हुआ है—(१) cerebrial nerves अर्थात् जो सुषुम्ना के छोटे मस्तिष्क-विभाग अर्थात् कपाल-कंद से निकलती हैं, (२) spinal जो मेरु से निकल कर सारे शरीर में फैल जाती हैं, और (३) sympathetic जो इड़ा और पिङ्गला से निकलकर सब अङ्गों में फैलती हैं। इनको sympathetic इसलिए कहते हैं क्योंकि ये सुषुम्ना को सहयोग देती हैं। भारत के विद्वानों ने इन सब को सुषुम्ना की शाखाएँ ही माना है, जैसा कि निम्न श्लोक में कहा गया है—

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्व पंचसु संभवाः।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्ष त्रयात्परम् ॥

—'शरीर के मध्य में स्थित सुषुम्ना के पाँचों पर्वों से उत्पन्न होने वाली नाड़ियाँ, शाखा-उपशाखा क्रम से, तीन लाख से भी अधिक हो जाती हैं।'

पाँच पर्व ये हैं,—ग्रीवा, पृष्ठ, नाभि, कटि और आधार। अंग्रेजी में इनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) Cervical (2) Thorscial (3) Lumber (4) Sacral (5) Coccygeal.

उपरोक्त वर्णन से यह जानना आवश्यक है कि योगियों का क्रम कंद से ऊपर मस्तिष्क तक फैलना, सीधा अथवा लोम क्रम है और पश्चिम वालों का उलटा अथवा विलोम क्रम है। शक्ति प्रसुप्त रूप से (in statical form) कंद में निवास करती है और जब वह सुषुम्ना-द्वार से सहस्रार में चढ़कर समाधि लगाती है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत इच्छा, संज्ञान और क्रियात्मक स्वरूप क्रम संसार में डालने वाला, जन्म, मृत्यु और भोग रूपी बन्धन का कारण है।

९. सुषुम्ना वंशस्थिता।

१०. तस्यामूर्धतो बज्राचित्रा विरजा क्रमेण संपुटिताः।

सुषुम्ना पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्ड में स्थित है और ऊपर से केन्द्र की ओर उसके भीतर तीन विभाग हैं,—बज्रा, चित्रा और विरजा। इनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं—White portion, Grey portion and Empty canal.

११. पूर्वे द्वेबहिः।

पहली दोनों इड़ा, पिङ्गला मेरु के बाहर हैं।

१२. ते उत्तरस्यामर्पिते ।

वे दोनों सुषुम्ना में समर्पित हैं।

१३. सर्वोपरि वज्रा वज्रवद्दृढ़ा ।

सब से ऊपर वज्र के सदृश्य दृढ़ वज्रा है।

१४. मध्ये चित्रा चित्रवर्णा सव्याऽपसव्येड़ापिङ्गलावती ।

मध्य में चित्रवर्णा चित्रा है जो वाम-दक्षिण भागों में इड़ा और पिङ्गला के धर्म वाली है।

चित्रा के दोनों भागों से वाम-दक्षिण ओर नाड़ियाँ निकल कर पहले तो सुषुम्ना के ऊपर ही लपेटे खाती हैं, फिर वाम भाग वाली वंश के वाम छिद्र से और दक्षिण भाग वाली दक्षिण छिद्र से बाहर निकल कर इड़ा पिङ्गला से मिलती हैं और स्वतन्त्र रूप से भी हाथों-पैरों तक फैल जाती हैं। अर्थात् इनके द्वारा सारे शरीर का मस्तिष्क से सम्बन्ध बना हुआ है।

१५. विरजं ब्रह्मनाड़ी कमलकर्णिकावत् षट्चक्रवती च ।

विरजा (empty canal) ही ब्रह्मनाड़ी है जो कमल के नाल के सदृश्य और छः चक्रों वाली है।

वास्तव में चक्रों का स्थान चित्रा में ही जानना चाहिए, परन्तु जब तक ये चक्र नहीं खुलते, विरजा का मार्ग साफ नहीं होता।

१६. प्रमुखा मोक्षमार्गत्वाच्छ्रुतेः ।

यही प्रमुख है, मोक्ष का मार्ग होने के कारण। श्रुति इसका प्रमाण है—

'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥'

—कठ०, २, ६, १६

—'हृदय की सौ और एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा को चढ़ जाती है। उससे ऊपर जाकर अमरत्व को प्राप्त करता है और दूसरी नाड़ियों से उत्क्रमण करके विश्व में जन्म लेता है।'

यहाँ पर हृदय का अर्थ हृदयपिण्ड न लेकर हृदय की शक्ति अर्थात् प्राणशक्ति लेना चाहिए। इसलिए हृदय की नाड़ियों से अभिप्राय प्राणवाहिनी अथवा वात-नाड़ियों से है। श्रीमत् शङ्कराचार्य महाराज ने भी उक्त एक नाड़ी से सुषुम्ना नाड़ी को ही ग्रहण किया है और वह हृदय से नहीं, वरन् पृष्ठ वंश में चढ़ती है, जैसा कि निम्नोद्धृत श्लोक से स्पष्ट है—

'गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः स देहभृत् ।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाड़ीति कथ्यते ॥'

—योग शिखोपनिषत्, ६, ८

—'गुदा के पृष्ठ भाग में वीणादण्ड देह को धारण करता है। वह मोटी हड्डी का बना हुआ देह पर्यन्त है। उसमें ब्रह्म-नाड़ी स्थित है—ऐसा कहा जाता है।' कुछ लोगों का विचार है कि उपरोक्त कठ-वल्ली की श्रुति में हृदय शब्द आया है, इसलिए यह एक नाड़ी सुषुम्ना नहीं है, वरन् Vegus nerve है जिसको

पातञ्जल दर्शन में कूर्म नाड़ी कहा है। इस पर ध्यान करने से तो मन की स्थिरता मात्र होती है, परन्तु समाधि तो सुषुम्ना में प्राण चढ़ने से ही लगती है। क्योंकि—

१७. अनुभवादपि योगिनाम् ।

योगियों के अनुभव से भी वह सुषुम्ना ही है।

१८. स्मृतेश्च ।

स्मृतियों का भी प्रमाण है।

तंत्र शास्त्रों और पुराणों में सुषुम्ना का बहुत वर्णन मिलता है।

१९. संज्ञान-क्रियात्मकत्वात् द्विविधा अन्या ।

अन्य नाड़ियाँ दो प्रकार की हैं, संज्ञानात्मक और क्रियात्मक होने से।

२०. ताभिः प्राणश्चरति ।

उन नाड़ियों में प्राणशक्ति प्रवाहित होती है।

२१. एष प्राणमयः ।

यह प्राणमय कोष है।

प्राणमय कोष, अन्नमय कोष के अन्दर सूक्ष्म शक्तिमय कोष है। यह शक्ति यद्यपि स्थूल शरीर में पार्थिव तन्तुओं के जाल द्वारा उसको व्याप्त किये हुए है, तो भी उक्त तन्तु-जाल अथवा नाड़ियाँ प्राणमय कोष नहीं हैं।

२२. हृदि स्थानं मनसः ।

हृदय में मन का स्थान है ।

कुछ पाश्चात्य रङ्ग में रंगे लोगों का मत है कि मस्तिष्क (brain) से ही सब नाड़ियों (nerves) का सम्बन्ध है, हृदय से तो रक्त-पित्त-वाहिनी (artillaries and viens) का ही सम्बन्ध है । इसलिए कठोपनिषदोक्त १०१ नाड़ियों का उद्गम-स्थान हृदय कहीं मस्तिष्क (brain) में ही होना चाहिए और उस को वे योगियों का हृदय (yogic heart) कहते हैं । यद्यपि अपने उक्त काल्पनिक हृदय की स्थिति, आकार अथवा क्रिया का तो वे कुछ पता नहीं दे पाते, परन्तु प्रमाण में योगवासिष्ठ जैसे शास्त्रों के आधार पर अपनी पुष्टि करते हैं । नारायणोपनिषद् में हृदय का स्थान नाभि से १० अंगुल ऊपर स्पष्ट बताया गया है । सब आचार्यों ने हृदय को हृदय माना है । Heart शब्द भी हृदय शब्द का ही अपभ्रंश रूप है । हृदय के अधीन ही सब नाड़ियों का संयम है । Brain के निष्क्रिय होने पर यदि हृदय कार्य करता रहे तो मृत्यु नहीं होती और हृदय की गति बन्द होने पर तुरन्त मृत्यु हो जाती है । समाधि की अवस्था में यद्यपि हृदय की गति रुक जाती है, परन्तु प्राण की क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं अथवा इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि बन्दप्रायः प्रतीत होती हैं । किसी योगाचार्य ने यह नहीं कहा कि जहाँ सुषुम्ना-मार्ग से प्राण सहस्रार में चढ़ जाता है, वह स्थान हृदय है ।

योगिराज श्री रमण महर्षि हृदय का स्थान दाहिनी ओर बताया करते थे, जहाँ से 'अहम्' वृत्ति का स्फुरण अनुभव में आता है । इस विषय पर हमने Anatomists से परामर्श किया ।

उनका कहना है कि हृदय का ऊपरी कोण जो nervous Control करता है, वह दक्षिण की ओर झुका हुआ है। उसे ही कूर्म नाड़ी समझना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि जब आणवोपाय द्वारा भी शाम्भवोपाय अर्थात् ब्रह्मभाव की उपलब्धि हो सकती है, तब शक्तिपात की क्या आवश्यकता है? यह कहा जा चुका है कि आणवोपाय के सब साधन परिश्रम एवं यत्नसाध्य हैं। यदि साधक गुरु के निर्देशानुसार और शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुकूल अपनी अल्प एवं अनुभवहीन बुद्धि के कारण इनका अनुष्ठान ठीक न कर सके और लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व ही पथभ्रष्ट अथवा रोगाक्रान्त हो जाय, तो उसका सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। अनेकों साधकों को देखा गया है कि दीर्घ समय तक साधनरत रहने पर भी सन्तोष-प्रद प्रगति नहीं कर पाये। शक्तिपात द्वारा शिष्य की प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्ति, जो ज्ञानमयी है, जागकर उसे सब विघ्नों से बचाती हुई अनायास पार लगा देती है। दूसरा लाभ यह भी है कि साधक को विषयों से स्वतः विरति होने लगती है जो अति दुष्कर कार्य है। कहा है कि विषयों का रस परम दर्शन के पूर्व निवृत्त नहीं होता, और--

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

—गीता २, ६०

गुरु के अनुग्रह रूप शक्तिपात द्वारा साधक की प्रसुप्त शक्ति जागने पर उस का मन बहिर्विषयों से हटकर और अपने ही अन्दर के दिव्य अनुभवों का साक्षी बनकर आत्मरत होने लगता है और तब उसे बाह्य विषय फीके लगने लगते हैं –

'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥'

—गीता ५, २४

हमने चित्त को सिनेमा के पर्दे की उपमा दी है। यह पर्दा ऐसा विचित्र है कि स्वतः ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब विषयों को अपने पर ही अङ्कित किया करता है, स्वतः ही बुद्धि द्वारा उनको परखा करता है, मन द्वारा उन के आधार पर अनेक विविध सङ्कल्प किया करता है और स्वतः ही उन की आसक्ति में फँस भी जाता है। शक्ति जागने के उपरान्त उसे एक अपूर्व अन्तःसुख का अनुभव होता है जिसके कारण वह बाह्य विषयानन्द से विरत होकर आत्मस्थित रहने लगता है।

'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये ।'

—बृह० ५, ६, १

२३. तदपि प्राणाऽनुगम् ।

वह भी प्राण शक्ति के आधार पर चलता है ।

मन की गति भी प्राण के पीछे-पीछे है। कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

—गीता २, ६७

—'चलती हुई इन्द्रियों के पीछे-पीछे जब मन चलता है, तब वह उस मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार हर लेता है जैसे समुद्र में नाव को वायु।' इन्द्रियाँ प्राणशक्ति का ही स्थूल कार्य हैं।

२४. एष मनोमयः

यह मनोमय कोष कहलाता है।

मन की गति ही, जो सङ्कल्पमय है, मनोमय कोष कहलाती है। चित्त की वृत्तियों को मनोमय कोष की तरंगें समझना चाहिए। कहा है—'सङ्कल्पात्मकं मन.'।

२५. कूर्मनाड्या तद्विज्ञानेन युक्तम ।

यह मनोमय कोष कूर्म नाड़ी के द्वारा विज्ञानमय से संयुक्त है।

कूर्म नाड़ी को अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं।

२६. मूर्ध्नि विज्ञानमयः ।

मस्तिष्क में विज्ञानमय कोष है ।

विज्ञानमय कोष के धर्म चेतना, संवित्, बुद्धि और अहंकृति हैं। अंग्रेजी में इनको Different states of conciousness के अन्तर्गत माना जाता है। विज्ञानमय कोष की तीन तह या स्तर हैं—

(१) संस्कारों का आशय Sub-conciousness, (२) स्मृति Memory or personal conciousness और (३) शुद्ध संवित् pure or impersonal conciousness.

इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में मनुष्य ने जो-जो अच्छे या बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार विज्ञानमय कोष में सदा सञ्चित रहते हैं जिसको संस्काराशय अथवा कारण शरीर कहते हैं। परन्तु उनका ज्ञान तभी होता है जब वे स्मृति-पटल पर आ जाते हैं। यही विज्ञानमय कोष का अङ्ग है। पहली संस्कारों की और दूसरी स्मृति की अवस्था है। शुद्ध संवित् में निरुपाधिक ज्ञान होता है जो शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता से दीख पड़ता है। उसमें इन्द्रिय-ज्ञान अथवा वृत्तिज्ञान का अभाव रहता है।

२७. संज्ञान क्रियेच्छात्मिकाशक्तिः ।

शक्ति संज्ञानात्मिका, क्रियात्मिका और इच्छात्मिका,—तीन रूप से व्यक्त होती है ।

२८. मनोविज्ञानाभ्यामिच्छा ।

मन और विज्ञान के द्वारा इच्छा शक्ति कार्य करती है ।

२९. ज्ञानेन्द्रियैः संज्ञाना ।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संज्ञान शक्ति कार्य करती है ।

गन्ध, रस, रूप. स्पर्श और श्रवण की ५ इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इन में जो शक्ति कार्य करती है, उसको संज्ञान शक्ति कहते हैं ।

३०. कर्मेन्द्रियैः क्रिया ।

कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रिया शक्ति कार्य करती है ।

बोलना. पकड़ना, चलना, मैथुन की क्रिया करना और मल-मूत्र का त्याग करना क्रिया शक्ति के कार्य हैं ।

३१. सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।

उपरोक्त सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं ।

'अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्'

—प्रश्नोपनिषत् २, ६

—'जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी तरह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं ।'

३२. प्राणः पञ्चविधः ।

प्राण पाँच प्रकार का है ।

३३. प्राणोऽपानः समानो व्यानः उदानश्च ।

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ।

ये पाँचों एक ही शक्ति के अवान्तर भेद हैं, यद्यपि वे पाँच प्रकार से कार्य करते दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कार्य पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। इसीलिए उपनिषदों में इसका आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है। जैसे—

आदित्यो हवै प्राणः । —प्रश्न० १, ५

—'आदित्य ही निश्चय से प्राण है।' वह एक ही पाँच रूप बनाकर सब को धारण करता है।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोह मापद्यथ अहमेवैतत्पञ्चधात्मान् प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामीति।
—प्रश्न० २, ३

—'उन (आकाशादि पञ्चतत्व, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों मन और चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों) से सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा कि तुम इस मोह में मत पड़ो कि हम ही इस शरीर को अथवा ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं, क्योंकि मैं ही अपने आपको पाँच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को आश्रय देकर आधिभौतिक जगत् में धारण कर रहा हूँ।'

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषवायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं चयत् ॥
—प्रश्न० २, ५

—'यही प्राण अग्नि के रूप में तपता है, यही सूर्य है, यही इन्द्र होकर बरसता है, यही वायु है, यही पृथ्वी है और यही रयि है अर्थात् यह देव सब भोग-पदार्थों के रूप में है। कहाँ तक कहें, सत्-असत् सब कुछ यही है और अमृत भी यही है।'

आदित्यो ह वै बाह्यः····· प्राण पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यत् आकाशः स समानो वायुर्व्यानः। तेजोहवा उदानः। — प्रश्न ३, ८६

—'आदित्य (सूर्य) बाह्य प्राण है, पृथ्वी की जो देवता रूपी शक्ति है, वह पुरुष के अपान को आश्रय देकर अन्दर फैली हुई है, आकाश समान है, वायु व्यान है और तेज ही उदान है।'

आध्यात्मिक पाँचों रूप भी उस एक ही प्राण शक्ति के अवान्तर भेद हैं, यथा—

...एष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते।

—प्रश्न० ३, ४

—'यह प्राण ही दूसरे प्राणों को पृथक्-पृथक् धारण करता है।'

उक्त पञ्चधा प्राण-शक्ति के भेदों से प्राणमय कोष बनता है।

३४. दशविध इतिकेचित्। नाग कूर्म कृकिल देवदत्त धनञ्जयाऽभिधेया अन्ये।

'प्राण दस प्रकार का है'—ऐसा भी किसी-किसी का मत है। नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनञ्जय पाँच नाम वाले अन्य पाँच हैं।

छींकने, हिचकी लेने, डकार आदि क्रियाओं में नाग काम करता है। नेत्रों के पलकों के निमेषोन्मेष में कूर्म, भूख-प्यास लगाने में

कृकिल; निद्रा लाने में देवदत्त और मृत्यु के पश्चात् भी शरीर की आकृति को बनाये रखने में धनञ्जय कार्य करता है। ये भी प्राणमय कोष के ही अन्तर्गत हैं।

३५. चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठिते।

चक्षु और श्रोत्र की इन्द्रियों में, मुख और नासिका के द्वारा प्राण स्वयं प्रतिष्ठित है।

३६. अपनयतीति* अपानः।

नीचे ले जाने वाली शक्ति का नाम अपान है।

जैसा कि कहा है—

पायूपस्थेऽपानम्। —प्रश्न० ३-५

—'गुदा और उपस्थ में अपान काम करता है।'

३७. समं नयतीति समानः।

जो समानता से सब जगह ले जाता है, वह समान वायु है।

जैसा कि श्रुति में कहा है—

मध्येतु समानः। एषह्येतदभुक्तमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति। —प्रश्न ३, ५

---

*प्राण, अपान इत्यादि शब्दों की व्युपत्ति 'अनच्' धातु से है जिस का अर्थ जीवन धारण करना है। इसलिए पाँचों प्राणों का अर्थ अपनी-अपनी क्रिया से जीवन को धारण करना है। यदि इन में से एक की भी क्रिया विकृत हो जाती है तो वही मृत्यु का कारण बन जाता है।

—'मध्य में समान रहता है, यही खाये हुए अन्न को सारे शरीर में समान रूप से पहुँचाता है जिससे ये सात ज्वालाएँ बनती हैं,—२ कान, २ आँख, २ नासिका-रन्ध्र और १ मुख। अथवा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मिलकर १७ ज्वालाएँ हैं।'

३८. व्याप्नोतीति व्यानः।

व्यापक है, इसलिए व्यान कहते हैं।

द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्या-सुव्यानश्चरति। —प्रश्न० ३, ६

—'शाखा-प्रतिशाखा रूप से बहत्तर हजार की संख्या वाली सब नाड़ियों में जो शक्ति-सञ्चार करता है, वह व्यान है।'

३९. ऊर्ध्वनयतीत्युदानः।

ऊपर ले जाता है, उसको उदान कहते हैं।

इसी के बल से योगी अपने वीर्य की रक्षा कर के ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसको ऊपर खींचकर ऊर्ध्वरेता कहलाते हैं और सुषुम्णा में प्राण चढ़ाकर समाधि का अनुभव लेते हैं। मृत्यु के समय साधारण मनुष्यों के प्राण को खींचकर यही शक्ति दूसरे पुण्यापुण्य अथवा मनुष्य लोक में ले जाती है। जैसा कि श्रुति में कहा है—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति,
पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्य लोकम्। —प्रश्न ३-७

—'और उन सब नाड़ियों में एक नाड़ी से ऊपर की ओर जाने वाला उदान पुण्य से अच्छे लोकों को, पाप से बुरे लोकों को और दोनों से मनुष्य लोक को ले जाता है।'

उक्त श्रुति के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य 'एक नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उदान का ऊपर ले जाना कहते हैं।

४०. असङ्गो ह्ययमात्माऽऽनन्दमयः।

आत्मा, जो असङ्ग ही है, वह स्वयं आनन्दमय है। यद्यपि आत्मा से निस्सृत् आनन्द का यह कोष तमोगुण के आवरण से आवृत है।

ब्रह्मसूत्रों में भगवान् व्यास जी ने कहा है कि आनन्दमय में 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में प्रयुक्त है, न कि विकारार्थ में, जैसा कि इसके विपरीत अन्न-रसमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय में 'मयट्' का प्रयोग विकारार्थ में किया गया है (विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'--१, १, १३)। पूर्व पक्ष में शङ्का करते हैं कि विकार के लिए 'मयट्' प्रत्यान्त शब्द का प्रयोग होने से आनन्दमय ब्रह्म के लिए नहीं कहा गया, अन्नमयादि के सदृश्य आनन्द के विकार का ही कोई कोष होना चाहिए। फिर इस शङ्का का उत्तर पक्ष में समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, यहाँ पर 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य के अर्थ में किया गया है, विकार के अर्थ में नहीं। यद्यपि आगे सिद्धान्त पक्ष में वे सिद्ध करते हैं कि आनन्दमय भी एक कोष ही है जिसको सुषुप्ति समझना चाहिए।

४१. विकास आनन्द-घूर्णा-कम्पोद्भव-निद्रामूर्च्छात्मकः।

विकास आनन्द, घूर्णा, कम्प का उद्भव, निद्रा और मूर्छा के रूप में होता है।

शक्तिपात होने के पश्चात् शिष्य की शक्ति जागने से उसके स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में शक्ति का विकास होता है। जब तक पूर्ण

विकास न हो तब तक उसका गुरु के समीप रहना उचित है, इसीलिए तीन रात्रियों के नियम का विधान किया गया है। साधारणतः सब को तीन दिन में विकास हो ही जाता है। उत्तम अधिकारियों को तो तत्क्षण ही पूर्ण विकास हो जाता है; परन्तु उनको भी तीन रात्रि के नियम का पालन करना ही चाहिए।

जैसा कि ऊपर समझाया गया है, विकास प्राण शक्ति के उत्थान से होता है। इसलिए सर्वप्रथम प्राणमय कोष पर ही प्रभाव पड़ता है जिससे नशा-सा, सिर या सारे शरीर में भारीपन इत्यादि चिन्ह प्रकट होते हैं। फिर स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष में कम्प, घूर्णा अर्थात् चुमेर होने लगती है, शरीर क्रियाएँ करने लगता है और साथ ही मन में आनन्द के स्रोत उमड़ने लगते हैं। कभी-कभी निद्रा भी आ जाती है और किसी-किसी को आनन्दयुक्त मूर्छा-सी भी होती है, परन्तु साधारणतः मूर्छा देखने में नहीं आती, मनुष्य को सब अनुभवों का ज्ञान बराबर बना रहता है। चित्त का निरोध होना मनोमय का विकास समझना चाहिए। दिव्य श्रवण, दिव्य दर्शन, दिव्य स्पर्श, दिव्य रस और दिव्य गन्ध के अनुभव विज्ञानमय कोष के विकास हैं और आनन्द के प्रादुर्भाव को आनन्दस्वरूप आत्मा का ही अनुभव समझना चाहिए।

यह कहा जा चुका है कि विकास प्राणशक्ति के उत्थान के कारण होता है। उपनिषदों में प्राणोपासना का वर्णन मिलता है और 'प्राण ब्रह्म ही है'—ऐसा कहा गया है। साधारण बोलचाल में भी प्राण शब्द का प्रयोग चेतना शक्ति के लिए ही व्यवहार में लाया जाता है। मरण के लिए प्राणान्त शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता है और प्राणी से जीवधारी का अभिप्राय होता है।

श्वास-गति को भी प्राण कहते हैं, क्योंकि श्वास-प्रश्वास पर जीवन का आधार है और उसी से सारी जीवन-कलाएँ कार्य करती

हैं। यथार्थ में प्राण वह शक्ति है जिससे सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग और नस-नाड़ियाँ निरन्तर अपना-अपना काम करती हैं। इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि भी प्राण के आधार पर स्थित हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ भी प्राण के ही आश्रित हैं। यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सुषुप्ति में निष्क्रिय हो जाते हैं, पर प्राण तब भी अपना कार्य करते रहते हैं। श्वास-प्रश्वास को प्राण कहने का अभिप्राय यह है कि हृदय और फुप्फुस को सतत् कार्यशील रखने वाली शक्ति मुख्य प्राण है।

तीनों अवस्थाओं में प्राण-शक्ति का प्रवाह सारे शरीर की नाड़ियों में होता रहता है और उक्त नाड़ियों का पृथक्-पृथक् कार्य निश्चित् है। परन्तु प्राण-प्रवाह सदा बहिर्मुख रहता है। जब वह अन्तर्मुख होने लगता है, तब उसका प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ता हुआ समझना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण चढ़ने से समाधि लगती है और उससे नीचे की अवस्थाओं में चित्त की एकाग्रता आती है। सुषुम्ना में समष्टि प्राण का उत्थान होने पर बाह्य क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं, यहाँ तक कि श्वास और हृदय की गति भी बन्द हो जाती है।

योग के अभ्यास से शक्ति के जागने पर नाड़ियों के मल की शुद्धि होने लगती है और वे शुद्ध होकर सुगम हो जाती हैं। तब उनमें शक्ति के प्रवाह में कोई रुकावट नहीं रहती, सङ्कल्प मात्र से विद्युत् के सदृश्य सञ्चार होने लगता है और तब सारे शरीर की नाड़ियों से खिचकर प्राण सरलता से सुषुम्ना में चढ़ने लगते हैं।

उपरोक्त प्राण-अपानादि उस एक प्राणशक्ति के ही अवान्तर भेद हैं। उसके भिन्न-भिन्न कार्य-क्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम रख दिये गये हैं, जैसा कि ऊपर के सूत्रों से स्पष्ट है।

चतुर्थ पाद

●

१. कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपिणी ।

कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपिणी है ।

महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी ।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकाऽनेकाक्षराऽकृतिः ।।

—योग कुण्डलिन्योपनिषत्

—'कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म स्वरूपिणी, महादेवी, शब्द-ब्रह्ममयी अर्थात् प्रणवस्वरूपिणी है, एक और अनेक अक्षरों के मन्त्रों की आकृति में व्यक्त होती है ।'

अ=सत्वगुण, उ=रजोगुण, म्=तनोगुण है और अर्द्धमात्रा से उत्पन्न होने वाली अनुनासिक ध्वनि आत्मा के शुद्ध स्वरूप की व्यञ्जक है जो अन्त में घण्टा-नादवत् ब्रह्म में लय हो जाती है । इन्हें ही कुण्डलिनी शक्ति के साढ़े तीन कुण्डल समझना चाहिए जो स्वयम्भू लिङ्ग पर वेष्टित हैं ।

२. मूलाधारे प्रसुप्ता साऽत्मशक्तिः ।

वह आत्मशक्ति मूलाधार में सो रही है (Lies in the Static Form) ।

सोती हुई कुण्डलिनी को मुख में पूँछ दबाकर सुषुम्ना के द्वार को रोके हुए बताया जाता है । वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति का अलंकृत भाषा में वर्णन किया गया है ।

३. उन्निद्रिता विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्तिः।

जागी हुई (When in Dynamic Form) वह मुक्ति-रूपा पराशक्ति विशुद्ध चक्र में विराजती है।

शक्ति के जागने पर तीनों गुणों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और कुण्डलिनी अपने कुण्डलों को छोड़कर सीधी सर्पाकृति हो जाती है। शक्ति का उठना और सुषुम्ना में होकर कपाल में चढ़ना योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उसकी गति सर्पवत् प्रतीत होने के कारण उसकी उपमा सर्प से दी जाती है।

यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि॥

—'जब तक वह देह में सोती रहती है, तब तक मनुष्य पशुवत् व्यवहार करता है, क्योंकि तब तक करोड़ों योग-साधन करने से भी ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता।'

बहुत से मनुष्यों की धारणा है कि कुण्डलिनी एक नाड़ी है। वास्तव में ऐसा अनुमान होता है कि कन्द (Ganglion impar) में शक्ति प्रसुप्त रूप (Static Form) में सदा रहती है और जागने पर उस में से निकल-निकल कर (Kinetic) गति रूप में सुषुम्ना में चढ़ने लगती है। कन्द उक्त शक्ति का अनन्त भण्डार है। जागने पर उसका आध्यात्मिक चेतन स्वरूप शरीर, मन, वाणी में व्यक्त होने लगता है।

४. योगाभ्यासात्तीव्र वैराग्याच्च।

योग के अभ्यास और तीव्र वैराग्य से जाग जाती है।

५. ज्ञानभक्तिभ्यां वा।

ज्ञान और भक्ति से भी।

केवल शाब्दिक ज्ञान से नहीं जागती, इसीलिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता है।

६. प्राणायामाद्वा ।

अथवा प्राणायाम करने से।

प्राणायाम अष्टाङ्ग योग का चौथा अङ्ग है, इसलिए चौथे सूत्र में योग के अभ्यास के अन्दर आ जाता है। यहाँ पर फिर प्राणायाम को एक अलग उपाय कहने का अभिप्राय यह है कि केवल प्राणायाम के अभ्यास से भी शक्ति जाग उठती है। कहा है— 'न प्राणायामात्परं तपः'—प्राणायाम से बड़ा दूसरा तप नहीं है। यहाँ पर प्राणायाम का अर्थ सहितकुम्भकों से है, जैसे भस्त्रिका, उज्जायी इत्यादि। पूरक, रेचक सहित कुम्भक को 'सहितकुम्भक' कहते हैं।

७. शक्तिपाताद्विशेषेण ।

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से जाग जाती है।

शक्तिपात में विशेषता यह है कि शिष्य के प्रयास के बिना ही गुरु-कृपा से शक्ति तुरन्त जाग जाती है, नहीं तो साधक को निरन्तर दीर्घकाल तक उसके जगाने के लिए ही कष्टसाध्य यत्न करना पड़ता है और उस में भी हानि होने की सम्भावना रहती है।

८. तत्तु गुरुकृपयैव लभ्यते ।

परन्तु यह गुरु की कृपा के द्वारा ही होता है।

९. ततः क्रियावती च भवति ज्ञानवत्त्वात् ।

उस (शक्तिपात) से क्रियावती भी हो जाती है, शक्ति के ज्ञानवती होने के कारण।

कुण्डलिनी के—अविद्या और विद्या—दो रूप कहे जा सकते हैं। अविद्या अवस्था में, सोती हुई, बन्धन का कारण होती है और जागने पर विद्यावस्था धारण कर के मोक्षप्रदा होती है। जागने पर उस के तीन स्वरूप होते हैं—क्रिया-रहिता, क्रिया-शीला और लयावस्था। क्रिया-रहिता में मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक, वैराग्य की ओर होती है परन्तु मोक्ष-साधन का प्रारम्भ नहीं होता। हाँ, शक्ति पापों का नाश करती रहती है। पापों का नाश होने पर उसकी मोक्ष-यात्रा का प्रारम्भ होता है। समाधि अथवा मोक्षावस्था में शक्ति ब्रह्म में लय हो जाती है।

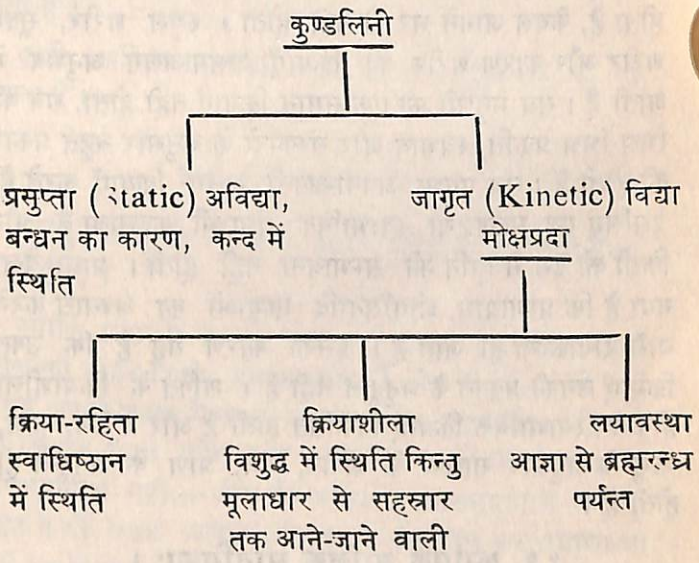

क्रियावती होने पर हठयोग के विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध मुद्राएँ, भक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ, नृत्य, गीत, उद्गीथ,

प्रणव-ध्वनि, नाम-कीर्तन और मन्त्रयोग, ज्ञानयोग की अनेक क्रियाओं का साधक को अनुभव होता है। इन क्रियाओं का कारण शक्ति का ज्ञानवती होना है। यदि शक्ति अचेतनवत् व्यवहार करती तो उसकी क्रियाएँ ऐसी चेतना और ज्ञानयुक्त न होतीं।

१०. क्रियाः स्थूल-लिङ्ग-कारणभेदतो बहुविधाः।

क्रियाएँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के भेद से नाना प्रकार की होती हैं।

शक्ति के जागने में और क्रियाशील होने में भी अन्तर है। क्रियाशीला होने पर ही शारीरिक, मानसिक क्रियाओं का विकास होता है, केवल जागने भर से नहीं होता। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की क्रियाएँ अलग-अलग अनुभव में आती हैं। सब मनुष्यों को एक समान क्रियाएँ नहीं होतीं, सब की भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्वभाव और संस्कारों के अनुसार बहुत प्रकार की होती हैं। सब मनुष्य अपनी-अपनी अलग क्रियाएँ करते हैं, इसलिए यह सहज या स्वाभाविक योग भी कहलाता है और किसी को इस से हानि की सम्भावना नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि प्राणायाम, शीर्षासनादि क्रियाओं का अभ्यास करने वाले रोगाक्रान्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उक्त क्रियाएँ उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। शक्ति के क्रियाशीला होने पर स्वाभाविक क्रियाएँ विकसित होती हैं और वे देश, काल, ऋतु के अनुसार साधक के शरीर, मन, प्राण के अनुकूल ही होती हैं।

११. कायिक वाचिक मानसिकाः।

क्रियाएँ शारीरिक, वाचिक और मानसिक,—तीनों प्रकार की होती हैं।

१२. ता नेच्छातन्त्राः संस्कारतंत्रत्वात् ।

वे इच्छा की नहीं, संस्कारों की तन्त्र होने के कारण।

इच्छा चाहे गुरु की हो, चाहे शिष्य की,—क्रियाएँ किसी की इच्छा के अधीन नहीं होतीं।

१३. शक्तितन्त्रत्वाद्वा ।

चाहे उनको शक्ति के तन्त्र मानो।

क्योंकि शक्ति का वेग होने पर नाना प्रकार की क्रियाएँ होने लगती हैं।

दूसरे, शक्ति ज्ञानवती कही गई है, इसलिए भी वह स्वतन्त्र है।

१४. तद्वेगस्तु न तथा ।

परन्तु उसका वेग भी उक्त प्रकार इच्छा के तन्त्र नहीं है,—ऐसा नहीं है।

क्योंकि इच्छा से वेग को रोका जा सकता है। यदि किसी साधक को बाहर किसी जन-समुदाय में वेग आ जाय, तो वहाँ पर वह अपनी इच्छा से अपने वेग को रोक सकता है। क्रियाएँ सदा एकान्त स्थान और बन्द कमरे में करने का विधान है, जनसमुदाय में नहीं,—जैसे कि आजकल जनसमुदाय में भगवत्-कीर्तन करते समय भाव-प्रदर्शन करने और नाच कर तमाशा-सा करने का रिवाज़ कुछ महात्माओं ने चलाया है। जनसमुदाय में क्रियाएँ करने से शक्ति का अनुचित संक्रमण और ह्रास होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

१५. ततः प्राणापानयोरुत्थानम् ।

क्रियाएँ करने से प्राण और अपान का उत्थान होने लगता है।

पहले कह आये हैं कि शक्ति के जागने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है। यहाँ पर बताया गया है कि क्रियाएँ होने के फल-स्वरूप भी प्राण और अपान दोनों का उत्थान होता है। इसलिए जितनी अधिक देर तक अभ्यास किया जाता है और जितनी अधिक क्रियाएँ होती हैं, उतनी ही शीघ्रता से प्राण-अपान का उत्थान होकर अधिक उन्नति होती है।

१६. सुषुम्नां व्रजति ।

शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है।

१७. चक्राणि भिनत्ति ।

चक्रों का वेध करती है।

१८. ततो नाड़ीशुद्धिः ।

उस से नाड़ियों की शुद्धि होती है।

सुषुम्ना से सब नाड़ियों का सम्बन्ध है। वे उसमें से शाखो-पशाखा क्रम से निकलकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में फैली हैं, इसलिए शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करके, चक्रों का वेध करके, सारे नाड़ी-जाल में वेगपूर्वक फैल जाती है,—जैसे हौज में भरा हुआ जल नगर के प्रत्येक घर, गली और बाजार के नलों में वेग से फैल जाता है। यदि किसी नल में किसी प्रकार की रुकावट हो तो वह भी पानी के वेग से स्वयं दूर हो जाती है।

१६. प्राणमये सञ्चालयति प्राणम् ।

प्राणमय कोष में सर्वत्र प्राण का सञ्चालन कर देती है।

नाड़ी-शुद्धि होने पर, समस्त नाड़ी-जाल शुद्ध हो जाने के कारण, प्रत्येक शाखा-उपशाखा में सर्वत्र प्राण का वेग से सञ्चार होने लगता है और प्राणमय कोष शक्ति से आनखशिख परिपूर्ण हो जाता है। इस अवस्था का नाम घटा अवस्था है। क्रियाओं के आरम्भ होने से आरम्भ अवस्था कहलाती है। आरम्भ अवस्था में शक्ति के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और शक्ति के वेग से प्राणमय कोष के प्राण से परिपूर्ण हो जाने पर घटावस्था कहलाती है।

२०. तदा प्राणायामसिद्धिश्च ।

तब प्राणायाम की सिद्धि होती है।

२१. सा चतुर्विधा ।

वह प्राणायाम की सिद्धि चतुर्विध होती है।

२२. प्राणस्यापानेऽपानस्य प्राणे योग उभयोर्गति-रोधश्च ।

२३. केवल: प्राणविलीने चतुर्थः ।

अपान में प्राण का योग होना, प्राण में अपान का योग होना और दोनों की गति का निरोध होना। चौथा केवल प्राणायाम है जिसमें प्राण का लय हो जाता है।

जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन से यज्ञों का वर्णन करते हुए कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

—'कोई तो अपान में प्राण की आहुति देते हैं, दूसरे प्राण में अपान की आहुति डालते हैं, कोई प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम करते हैं और दूसरे नियमपूर्वक आहार करके प्राण की प्राण में आहुति देते हैं। ये सब ही यज्ञ के जानने वाले हैं जिन्होंने अपने पापों को यज्ञ द्वारा निकाल फेंका है।

उक्त चारों प्रकार के प्राणायामों का श्वास-प्रश्वास के पूरक, रेचक और कुम्भक प्राणायामों से अभिप्राय नहीं है, परन्तु रेचक-पूरक द्वारा इनकी सिद्धि हो सकती है और शक्ति जागने पर बिना रेचक-पूरक के भी सिद्ध होते हैं। चारों की क्रियाएँ नीचे समझायी जाती हैं। पाठकों को यह बात तो उपरोक्त श्लोकों से समझ में आ ही गयी होगी कि असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। 'ये दोनों शक्तियाँ कहाँ और किस प्रकार मिलायी जाती हैं?'—यही समझने की बात है।

अपान शक्ति का स्थान पायु तथा उपस्थ है अर्थात् अपान आधार चक्र के समीप रहता है और उसकी गति नीचे की ओर होती है। प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है। दोनों का योग कर के इनको सुषुम्ना-विवर में प्रविष्ट करना चाहिए। सुषुम्ना में प्रवेश करने का द्वार कुण्डलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में स्थित है अर्थात् प्राण और अपान दोनों को इसी स्थान पर खींचकर मिलाना होता है जिस से दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। तब घटावस्था

की सिद्धि होती है और योगी के किञ्चित् प्रयत्न अथवा सङ्कल्प मात्र से जहाँ चाहे वहीं प्राण का प्रवाह सुगमता से होने लगता है।

(१) अपान शक्ति में प्राणों की आहुति देने के लिए प्राण को नीचे उतारना पड़ेगा और उसको आधार चक्र में ले जाकर अपान में मिलाना पड़ेगा। यह क्रिया पूरक और अन्दर के कुम्भक करने से भी सिद्ध होती है। श्वास को फुप्फुस Lungs में धीरे-धीरे, परन्तु दबाव के साथ खींचकर पूरक करना पड़ता है। फिर कण्ठ का सङ्कोचन कर के जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को जोर से नीचे दबाया जाता है। इस क्रिया से, कुछ अभ्यास के पश्चात्, प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों में खिचकर नीचे की ओर उतरने लगती है और धीरे-धीरे कन्द के पास मूलाधार चक्र में एकत्रित होती है। वहाँ पर योगी ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का सङ्कोचन कर के मूल बन्ध द्वारा अपान शक्ति को रोका हुआ होता ही है। इस प्रकार वहाँ दोनों का योग किया जाता है। यह प्राण की अपान में आहुति हुई।

(२) फिर रेचक द्वारा धीरे-धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबन्ध तथा पेट को पीठ की ओर खींचकर उड्डयान बन्ध द्वारा नीचे की नाड़ियों से अपान को ऊपर खींचकर प्राण से मिलाया जाता है। इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान की प्राण में आहुति देना है। उक्त प्रकार दोनों का योग कर के प्राण के सुषुम्ना में प्रवेश करने पर असली प्राणायाम की सिद्धि होती है।

(३) तदनन्तर बाह्य कुम्भक करके श्वास-प्रश्वास की गति रोक दी जाती है जिससे प्राण और अपान दोनों अपना-अपना बाह्य कार्य त्यागकर अन्तर्मुख होने लगते हैं (जैसा कि मृत्यु के पूर्व दम घुटने से होता है) और दोनों अपने-अपने स्वरूप को त्याग

कर लय होने लगते हैं। यही प्राण-अपान की गति-निरोध रूप तीसरा यज्ञ है।

(४) चौथे केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रुकने लगते हैं और श्वास-गति का निरोध होने से प्राणशक्ति का निरोध होता है। पाँचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रुककर प्राण का समष्टि उत्थान होता है और समाधि लगने लगती है। ऐसे योगी मिताहार करके दीर्घकाल तक समाधि का आनन्द लेते हैं। यही प्राणों की प्राणों में आहुति देना है। इस चौथे का तीसरे से इतना भेद है कि केवल कुम्भक में प्राण सब चक्रों में एक दम विलीन होने लगेगा। इन चारों ही रीतियों में प्राण सुषुम्ना में चढ़ता है।

शक्ति के जागकर क्रियावती होने पर चारों प्रकार के प्राणायाम बिना यत्न के अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का आधार लिए बिना ही सिद्ध होने लगते हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने भी योगतारावली में केवल कुम्भक का सुन्दर वर्णन किया है जो पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है—

बन्धत्र्याभ्यास विपाकजातां,
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं,
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥८

प्रत्याहृतः केवल कुम्भकेन,
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीन पथेन मन्दं,
विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥१२

—'मूल, उड्डयान और जालन्धर,—तीनों बन्धों के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर प्रकट होने वाली उस केवलकुम्भक

रूप विद्या का मैं भजन(साधन) करता हूँ जो रेचक और पूरक से वर्जित है और सब विषयों के प्रवाहों को सुखा डालती है।'

—'केवलकुम्भक के द्वारा खींचा हुआ प्राण,—जो जागी हुई कुण्डलिनी के भोजनोपरान्त शेष बच गया है,—धीरे-धीरे सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग द्वारा विष्णुपदस्वरूप अन्तराल में लय हो जाता है अर्थात् सहस्रार में चढ़कर परब्रह्म में लय हो जाता है।'

२४. तदा पश्चिमतो वेधाच्चित्तलयः।

तब सुषुम्ना के मार्ग का वेध होने से चित्त की लयावस्था आती है।

२५. सिद्ध मंत्राणामाप्ति मातृका-संबोधात्।

मातृका शक्ति के जागने के कारण सिद्ध मन्त्रों की प्राप्ति होती है।

मातृका शक्ति कुण्डलिनी का वह स्वरूप है जिसमें शब्द और पदों की रचना सांहत अकार से क्षकार तक वर्णमाला बंखर वाणी द्वारा प्रकट होती है। इसीलिए कुण्डलिनी को सरस्वती भी कहते हैं। सरस्वती के सिद्ध होने पर मन्त्रों एवं पदों का स्वय विकास होने लगता है और योगी में व्याख्यान देने अथवा कविता रचने की शक्ति आ जाती है।

२६. अष्टाङ्गयोग सिद्धिश्च।

और अष्टाङ्ग योग की सिद्धि होती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—आठों अङ्ग धीरे-धीरे पुष्ट हो जाते हैं। यदि १२ घण्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घण्टे की धारणा, ५ मिनट का ध्यान तथा २५ सैकेण्ड की समाधि होती है—ऐसा अनुमान है। तदनुसार ही नीचे के अङ्ग भी उत्तरोत्तर पुष्ट होते हैं।

२७. महायोगोदयो वा।

अथवा यह कहें कि महायोग का उदय होता है।

२८. नृत्यति गायति हसति रोदति च।

और साधक नाचता है, गाता है, कभी हँसता है, कभी रोता है।

२९. प्रणवादिनामोच्चारणं गानं कीर्तनम् च।

प्रणवादि नामों का उच्चारण, गान और कीर्तन करता है।

३०. दिव्य भावैर्मत्तो भवति।

३१. रौद्रादिभावैरपि सम्पन्नोभवति।

दिव्य भावों में मस्त हो जाता है और रौद्रादि भावों से भी युक्त होता है।

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, करुणा, भय, घृणा (वीभत्स) और सप्रेम भक्ति अर्थात् शान्त,—ये ९ भाव हैं।

उक्त ९ प्रकार के भाव कभी-कभी आते हैं। इनके अतिरिक्त शिवभाव, दिव्यभाव और ब्रह्मभाव आदि भी होते हैं। इन भावों

के आने से मनुष्य उन्नत्तवत् दीखने लगता है। यही ज्ञानी की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में जीवभाव स्वल्प अथवा नहीं-सा हो जाता है।

३२. भक्त्या परयाऽविष्टो भवति।

परा भक्ति के आवेश में आ जाता है।

३३. करोति सिद्ध दर्शनमिष्टदेवदर्शनञ्च।

सिद्धों और इष्टदेव के दर्शन करता है।

३४. ऊर्ध्वरेताश्च भवति।

और ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

यह बात तो सब जानते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है और वीर्य की रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य है। परन्तु, 'वीर्य की रक्षा किस प्रकार होती है ?'—यह बात बहुत कम लोग समझते हैं। बहुधा डाक्टरों का कथन है कि वीर्य की रक्षा के लिए काम के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना होती है। इसका अर्थ यह है कि बनने के पश्चात् वीर्य बाहर निकलने की प्रवृत्ति रखता है और उस को रोकने से हानि होती है। परन्तु अतिविषयासक्ति में अस्वाभाविक रीति से अनावश्यक परिमाण में वीर्य बनाकर नष्ट कर देने से और भी अधिक हानि होती है। ऐसे मनुष्य यक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोगों का आवाहन करते हैं।

यह बात निश्चित् है कि विषयासक्ति में अस्वाभाविक रूप से वीर्य बनाने से शरीर की धातुओं पर कुठाराघात होता है,

क्योंकि उनका सत्व जबरदस्ती खींचा जाता है। परन्तु जो वीर्य स्वाभाविक रूप से बनता है, यदि उसकी रक्षा हो सके तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का लाभ उठाया जा सकता है। डाक्टरों के मत के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि जब पुरुष को काम का वेग उत्पन्न होता है, तब उसके रुधिर का प्रभाव अण्डकोषों की ग्रन्थियों में आने लगता है। वहाँ पर उन ग्रन्थियों में से निकलने वाले एक प्रकार के रस के रासायनिक प्रयोग (chemical action) से रुधिर के रक्त वर्ण कीटाणु वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिनको अंग्रेजी में spermatozoa कहते हैं।

उपरोक्त वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में जनन-शक्ति होती है। यदि वे बाहर निकाल दिये जाएँ तो कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनका कार्य बाहर निकल कर स्त्री के गर्भाशय में गर्भ-स्थिति करना ही है। यदि कोई पुरुष उसको रोकता है तो स्वप्नदोष और प्रमेह आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन का क्या तात्पर्य है ? यह बात विचारणीय है। हमारे महर्षियों का कथन है कि वीर्य प्राणशक्ति ही है और वीर्य के नष्ट होने से प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अपान शक्ति का उत्थान होने पर, उदान रूपी अग्नि का योग होने से वीर्य की प्राणशक्ति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। ऐसे योगी का वीर्य स्खलित नहीं होता और मैथुनकाल में स्खलित होने पर भी उसका ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता।

'बज्रौली' मुद्रा की सिद्धि होने पर तो उदान के वेग के कारण स्वप्नदोष द्वारा स्खलित होकर इन्द्रिय में उतर आया हुआ अथवा मैथुन द्वारा बाहर पात हुआ वीर्य भी पुनः ऊपर चढ़ जाता है। ऊपर जाकर वह लौटकर वीर्याशय या मूत्राशय में प्रवेश नहीं कर

सकता, वरन् उदान शक्ति की उष्णता से योनिस्थानस्थ रुधिर में मिल जाता है और प्राण का वेग सुषुम्णा में ऊर्ध्व-प्रवाह करने लगता है। योगियों ने इस क्रिया को रज-वीर्य का योग माना है—

योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्वं समाहितम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। —योगशिखो०

—'योनि-स्थान रूपी महा-क्षेत्र में, जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है। उसको देवी तत्व कहते हैं। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है अर्थात् दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सींवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति नरम स्थान है जिसको योनि-स्थान कहते हैं। वहाँ पर वीर्य चढ़ने से उष्णता उत्पन्न होती है जो वीर्य और रज की रासायनिक क्रिया की सूचक होती है।

गलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले।
ज्वलितोपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा॥
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु र्लोहिताख्यं महारजः।
विद्रुम द्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः॥
शशि स्थाने बसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥
—योग-चूड़ामणि उपनिषत्, ध्यान बिन्दु उपनिषत्

—'गलित होने पर जब वीर्य योनिस्थान में पहुँचता है तो वह अग्नि में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से

हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है। वह बिन्दु दो प्रकार का होता है,—श्वेत और रक्त। श्वेत को वीर्य और लाल को रज कहते हैं। मूँगा के रङ्ग का रज योनि-स्थान में रहता है और वीर्याशय रूपी चन्द्रस्थान में वीर्य रहता है। इन दोनों का मिलाप बड़ा दुर्लभ है। (यहाँ योनि का अर्थ पुरुष का उपरोक्त योनिस्थान है)।

वास्तव में वीर्य प्राण और ओज का स्थूल शरीर है। प्राण अथवा ओज के ऊर्ध्व गमन करने पर यदि कभी वीर्य स्खलित भी हो जाय तो उससे ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं आती। ऐसे योगी गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का ही पालन करते हैं। पूर्वकाल के वसिष्ठ, याज्ञवल्क्यादि सब ऋषि-मुनि गृहस्थी ही थे। प्रश्नोपनिषत् में कहा है—

प्राणं एते प्रस्कन्दति यें दिवा रत्या संयुज्यते।
ब्रह्मचर्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यते॥

—प्रश्न० १ १३

—'जो दिन में रति कर्म करते हैं, उनके प्राण नष्ट होते हैं और जो रात्रि में रति कर्म करते हैं, वे ब्रह्मचर्य में ही रहते हैं।' क्योंकि दिन में सूर्य की प्राणशक्ति है, रात्रि में नहीं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण-अपान के स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी हो जाने के कारण उनके ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उनकी प्राणशक्ति का ऊर्ध्व प्रवाह सतत् बना रहता है। जिनकी कुण्डलिनी शक्ति नहीं जागी है, वे लोग यदि अभ्यास करके वीर्य को ऊपर खींच भी लें तो वह रज से न मिलने के कारण मूत्र के साथ बाहर आ जाता है। इसलिए हठयोग प्रदी-

पिका में लिखा है कि बिना कुण्डलिनी जागे वज्रौली और खेचरी मुद्राएँ सिद्ध नहीं होतीं।

ऐसे योगियों को ऊर्ध्वरेता कहते हैं। साधारण लोगों को भी वीर्य-रक्षा करने से लाभ होता है, क्योंकि उनके प्राण और ओज का थोड़ा-बहुत ऊर्ध्व प्रवाह होता ही है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि मन में काम का विकार ही उत्पन्न न होने दिया जाय। विकार आने पर वीर्य बनना अनिवार्य है और बनने के पश्चात् वीर्य की रक्षा करना अति कठिन है।

३५. ततः खेचरीसिद्धिः।

उस (ऊर्ध्व रेता होने) से खेचरी की सिद्धि होती है। खेचरी का अर्थ प्राण का आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में गमन करता है।

३६. वीतराग विषयत्वम्।

वीतराग विषयत्व होता है।

पाँचों क्लेश तनु होने लगते हैं और मनुष्य के राग, द्वेष, भय, काम, क्रोध, मोह आदि का वेग शिथिल होकर क्षीण हो जाता है। अन्त में सब मल नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्राणों के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और साधक विषयों से उपरत हो जाता है।

३७. सूर्येन्दुवह्नि दीपशिखा विद्युत् खद्योत् नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और दीप-शिखा, बिजली, जुगनू, नक्षत्र इत्यादि ज्योतियाँ दिखायी पड़ती हैं। उक्त दर्शन तीन प्रकार से होते हैं—(१) बहिर्दृष्टि,—आँखें खोले हुए बाहर, (२) मध्य

दृष्टि,—नेत्र बन्द कर के ध्यान में, दृष्टा-दर्शन और दृश्य की त्रिपुटीयुक्त, (३) अर्न्तदृष्टि,—समाधि की सी अवस्था में।

३८. ब्रह्मणि तदभिव्यक्तिकरणि श्रुतेः।

ये ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाली हैं, श्रुति भी प्रमाण है।

श्वेताश्वत्तर उपनिषत् में इनका वर्णन मिलता है कि ऐसे दर्शन चेतनस्वरूप आत्मदेव अथवा ब्रह्म के हैं। आत्मा और ब्रह्म तो अव्यक्त हैं, परन्तु उनकी उक्त अभिव्यक्ति चित्त की उपाधि के ही कारण होती है।

३९. आरम्भ घटा परिचय निष्पत्तिभूमिकोपलब्धिः।

आरम्भ, घटा, परिचय और निष्पत्ति भूमिकाओं की प्राप्ति होती है।

आरम्भ अवस्था—कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण बहिर्मुख वृत्ति से हटकर अन्तर्मुख होने लगते हैं।

घटावस्था—सुषुम्णा को वेधकर प्राण आनखशिख पूरित होकर सुस्थिर हो जाता है।

परिचय अवस्था—ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार में प्राण स्थिर होने से परिचय अवस्था होती है, क्योंकि वहाँ आत्मा का परिचय होता है।

निष्पत्ति अवस्था—जीवन-मुक्ति की दशा को कहते हैं।

४०. प्रातिभादि विभूतयः।

प्रातिभादि सिद्धियाँ आती हैं।

४१. अधिकारी भेदतो न नियमः ।

अधिकारी भेद से, यह नियम नहीं है कि उपरोक्त लक्षण सब में अवश्य ही हों।

४२. ता नात्मनि चित्त धर्मत्वात् ।

चित्त का धर्म होने के कारण वे आत्मा में नहीं होतीं।

उपरोक्त सब अवस्थाएँ आत्मा की नहीं हैं, क्योंकि ये सब चित्त के ही धर्म हैं।

४३. नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावस्य न भूमिकत्वम् ।

नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव स्वरूप आत्मा को भूमिकत्व नहीं होता।

४४. आत्मख्यातिरेव ।

भूमिकाओं की उत्तरोत्तर प्राप्ति में आत्मा का प्रकाश स्वरूप ज्ञान ही बढ़ता है।

'भूमिकाएँ क्या हैं ?' इसका उत्तर है—'चित्त पर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ आत्मा का प्रकाश।'

४५. चित्त संयोगापत्तेश्चेन्न इति न ।

यदि शङ्का की जाय कि—"भूमिकाएँ आत्मा में नहीं होतीं, चित्त में आत्मख्याति में होती हैं"—इस सिद्धान्त में चित्त का आत्मा के साथ संयोग मानना पड़ेगा, इसलिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं, - नहीं, क्योंकि—

४६. संयोगान्नबन्धः ।

संयोग के कारण, बन्ध नहीं है।

४७. आत्मनि चिदानन्दरूपत्वे द्वयोर्भेदात्

आत्मा के चित् और आनन्द रूप होने से, आत्मा और चित्त दोनों में भेद होने के कारण, बन्ध नहीं हो सकता।

आत्मा चेतन है, चित्त जड़। दोनों का सम्बन्ध अथवा संयोग असम्भव है, इसलिए संयोग-जन्य बन्ध नहीं होता। आत्मा असङ्ग है, इसलिए उस में भूमिकत्व की असम्भावना है और वे चित्त के ही धर्म हैं। तो फिर,—'उस पर आत्मख्याति कैसी ?',—इस का उत्तर यह है—

४८. तत्तु तादात्म्य मिथ्या ज्ञानमविवेकात्।

यह तादात्म्य तो मिथ्या ज्ञान है, अविवेक के कारण।

४९. असतिसत्ख्यातिर्वा ।

अथवा कहो कि 'नहीं होने' में 'होने' की ख्याति है।

आत्मा और चित्त की तादात्म्यता तो नहीं है, परन्तु ऐसी प्रतीति होती है।

५०. समाधौ प्रत्यगात्माभिगमात्तन्निवृत्तिस्तन्निवृत्तिः।

समाधि में, वृत्तियों का सर्वथा निरोध होने पर, आत्म-साक्षात्कार होने से उस अविवेक की निवृत्ति हो जाती है, निवृत्ति हो जाती है।

५. श्रीज्ञानेश्वरी का 'पन्थराज' अथवा कुण्डलिनीयोग

"हैं जिस मार्ग के जोगी। महेश आज भी।।" (ज्ञा. ६-१५३)

श्रीज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरीग्रन्थ का प्रणयन निज विद्वत्ताप्रकाशन के लिये नहीं वल्कि विवेक-वाणी उद्घोषित करने, ब्रह्मविद्या प्रगट आविर्भूत करने के लिये किया। गहरी आकूति से प्रेरित वक्ता या लेखक स्वयं को जो कहना है उस के लिये अवसर निकाल ही लेता है। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में आत्मसाक्षात्कार-विषयक विभिन्न साधनों की चर्चा हुई है और उन के निरूपक हैं स्वयं अनुभवी-सम्राट्। इसीलिये यह ग्रन्थ अध्यात्म-ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट वन पड़ा है। ज्ञानेश्वरी साक्षात् 'ईश्वरदर्शन' ही है– यह कहने से अतिशयोक्ति न होगी।

एक स्थान पर ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने नाथ-सम्प्रदाय का रहस्य कहने का अवसर निकाल लिया है; वह प्रसङ्ग मूल गीता का नहीं है, यह भान भी उन्हें भलीभाँति है–"पिण्ड से पिण्ड का ग्रास करना यह हमारे नाथसंकेत (सम्प्रदाय) का एक 'दंश' (रहस्य) है। महाविष्णु (श्रीकृष्ण) ने 'प्रशान्तात्मा . . .' इत्यादि दो-तीन श्लोकों में इस का हल्का-सा उल्लेख किया है, यहाँ श्रोतृमण्डली इस विषय की विशेषज्ञ और प्रेमी है इसलिये उस रहस्य को थोड़ा खोल कर मैं आप के समक्ष स्पष्ट रख रहा हूँ, यद्यपि यह गीता का मुख्य विषय नहीं है" (ज्ञा. ६।२९१-९२) इस से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि 'नाथ सम्प्रदायान्तर्गत साधनामार्ग व पद्धति ही गीता का प्रतिपाद्य-विषय है' यह मानना भ्रान्ति है। उसी प्रकार द्वादशाध्याय में 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' पर व्याख्या करते हुए जो कहा कि योगमार्ग की साधना दन्तहीन मुख से लोहे के चने चवाने जैसी कठिन है–उस पर से ज्ञानदेव की दृष्टि में योगमार्ग को तिरस्करणीय मान लेना भी भ्रान्ति ही नहीं विपरीत कल्पना है। क्योंकि गीता में जहाँ-जहाँ साधना के विशेष विवरण का प्रसंग आया है वहाँ-वहाँ ज्ञानदेव योग का ही उल्लेख करते हैं। फिर गीता में ही जहाँ योग-साधन कहा गया वहाँ ज्ञानेश्वर 'योग का योग' कह कर विवरण करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्थल देखें।:–

(१) 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' गी. १६।१ – इस पर टीका करते हुए शंकरानन्द कहते हैं–'ज्ञानम् एव योगः ज्ञानयोगः श्रवणमननादिस् तत्रैव मनसो विशिष्य अवस्थितिः सदा तदेकप्रावण्यम्।।' ज्ञानेश्वर इस के व्याख्यान में कहते हैं––

आत्मलाभ के विषय में। ज्ञान योग में से किसी में।
निजरुचि के अनुसार लगे। पूरे बलसे।। (१६।८१)

(२) 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (गी. ४।१०) पर भी 'ज्ञानमयं तपः' ऐसा परम्परागत अर्थ किया जा सकता था किन्तु 'ज्ञानदेव कहते हैं–

जो यम-नियम में पारंगत। तपोज्ञान से प्रक्षालित।
वे साक्षात् हुए मद्रूप। निःसंशय।। (ज्ञा. ४/६५)

उन का स्पष्ट मत था कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है यह सत्य है किन्तु, केवल शाब्दिक या बौद्धिक ज्ञान से नहीं, अनुभवात्मक ज्ञान से ही मिलता है। उस के लिये बौद्धिक प्रयत्न को योग के साहाय्य की अपेक्षा रहती है। श्री शंकराचार्य ने कहा है–

"योगेन रहितं न मोक्षाय भवेद् विधेः।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिद्धयति कदाचन।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढ़मभ्यसेत्।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते।।"

यही मत ज्ञानदेव का भी है इसीलिये स्थान-स्थान पर योग-विषय में सहज ही गौरवपूर्ण उद्गार निकले हैं।

श्रीज्ञानेश्वर द्वारा साधन-विषयक उल्लेख :–

गी. १५।१५ 'सर्वस्य चाहम् . . .' की टीका में

'पर रहते हुए सन्त-समीप। करें योग-ज्ञानाभ्यास।
हों उपासित गुरुचरण। वैराग्यसहित।। (१५।४२२)

गी. ७।१४ 'मायामेतां तरन्ति ते'–इस की व्याख्या में मायानदी को तैरना कितना कठिन है यह दिखाते हुए कहा कि कर्म, वैराग्य, विचार आदि का वहाँ वश नहीं चलता फिर योग-विषय में इतना ही कहा कि–

'जहाँ न चले वैराग्य की नाव। विवेक न पा सके थाह।
योग तारे किसी प्रकार। क्वचित् ही।। ७/९१।।

गी. १८:५२ 'ध्यानयोगपरो नित्यं . . .' पर कहा–

'अतएव मुमुक्षु वह। आत्मज्ञान में हुआ दक्ष।
फिर अपनाता पक्ष। योगाभ्यास का।। १०३५।।

जहाँ पर साधनयोग थोड़े विस्तार से कहने का प्रसंग आया वहाँ ज्ञानदेव ने ६ ठे अध्याय में जिसे 'पन्थराज' कहा है उसी महायोग या कुण्डलिनी-योग का ही उल्लेख किया है। दर्शनीय–ज्ञा. ६।१५३-६३ ९।२१४, १२।५, १२।५१, १८।१०३८।

महायोग :

'कुण्डलिनी जगा कर' जिस मार्ग पर चला जाता है उसे वे 'पन्थराज' कहते हैं। उस का थोड़ा स्वरूप देखें।

संस्कृतग्रन्थों में इस मार्ग का नाम 'महायोग' है –

'मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।।
(योगशिखोपनिषद्)

सामान्यतया मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग पृथक् हैं ऐसा समझा जाता है। वस्तुतः वैसा नहीं है। इन चारों के द्वारा कुण्डलिनी ही जागृत होती है और साधक का कार्य होता है। इसीलिये कुण्डलिनी-जागृति को 'महा-योग' अथवा 'सिद्ध उपाय' ऐसी संज्ञा दी गई है। पूर्व-सुकृत से, ईश्वरप्रसाद हो कर सद्गुरुकृपा प्राप्त हो कर यदि कुण्डलिनी जागृत हुई तो इस सुख का अनुभव आयेगा।

"योगस्तु, द्विविधो ज्ञेयो ह्यभावः परमो मतः।
अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमो मतः ।।
शून्यं सर्व-निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ।।
यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मयैक्यं स महायोगो भाषितः परमः स्वयम् ।।"
– श्रीमहेश्वरोक्त।

कुण्डलिनी जागृत-होने पर आगे का मार्ग सहज हो जाता है, अभ्यास ही अभ्यास को बढ़ाता है। इस विषय में ज्ञानेश्वरी में उल्लेख ६।१८६-२०७ ।। कुण्डलिनी जागृत अर्थात् क्रियाशील होने पर जो कुछ घटित होता है उस का विशद वर्णन छठे अध्याय में तथा ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को दिव्यदृष्टि मिलने के प्रसंग में किया है। (११।१८७-९४)

इस पन्थराज एवं महाराष्ट्रीय शक्तिसम्प्रदाय का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आद्यशंकराचार्य ने पाण्डुरंगाष्टक में पण्ढरपुर को 'महायोगपीठ' कहा है। पण्ढरपुर में श्री विट्ठल-चरणों में श्रीज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम सभी सन्त एकत्र हुए हैं इसका मर्म यही है कि वह 'महायोगपीठ' है।

योग से होने वाले अनुभव भक्तियोग में भी आते ही हैं। विशुद्ध सगुण-भक्ति में अन्तर्बाह्य रसमय हुए, लोकदृष्टि में निरक्षर और 'बहुतों ने बहुत प्रकार के साधना-आचरण किये हैं, मेरा तो काम कीर्तन बिना नहीं चलता कीर्तन ही मेरा आचरण (साधना) है' कहनेवाले सन्त तुकाराम की वाणी

(अभंगों) में उनका स्वानुभव-निवेदन सिद्धयोगी के अनुभवों का ही शब्दांकन है। उस अनुभववाणी का भाषानुवाद रसभंग न करे अतः कुछ अभंग तथा अंश यथावत् उद्धृत हैं:

"स्थिरावली वृत्ति पांगुळला प्राण। अंतरीची खूण पावूनियाँ ।। १ ।।
पांगुळलें नेत्र जालें अर्धोन्मीलित। कण्ठ सगद्गदित रोमांच आले ।। २ ।।
चित्र चाकाटलें स्वरूपामाझारीं। न निघे बाहेरी सुखावले ।। ३ ।।
सुनील प्रकाश उदैजला दीन। अमृताचे पान जीवनकळा ।। ४ ।।
शशिसूर्या जाली जीवें ओवाळणी। आनंदा दाटणी आनंदाची ।। ५ ।।
तुका म्हणे सुखें प्रेमेंसी डुलत। विरलों निश्चित निश्चितीने ।। ६ ।।

× × ×

लक्षूनियाँ योगी पहाती आभास। तो दिसे आम्हांस दृष्टीपुढे ।। १ ।।
कर दोनी कटीं राहिलासे उभा। सावळी हे प्रभा अंगकांती ।। २ ।।

× × ×

रक्तश्वेत कृष्णपीत प्रभा भिन्न। चिन्मय अञ्जन सूदलें डोळाँ ।। १ ।।
तेणें अंजनगुणें दिव्यदृष्टि झाली। कल्पना निमाली द्वैताद्वैत ।। २ ।।

× × ×

अनुहातीं गुंतला नेणें बाह्यरंग। वृत्ति येतां मग बळ लागे ।। १ ।।
मदें मातें तया नाहीं देहभाव। आपुले अवयव आवरितां ।। २ ।।
आणिकांची वाणी वदे तेणें मुखें। उपचार दुःखें नाठवती ।। ३ ।।
तें सुख बोलतां आश्चर्य या जना। विपरीत मना भासतसे ।। ४ ।।
तुका म्हणे बाह्य रंगलें विट्ठलें। अंतर निवालें ब्रह्मरसें ।। ५ ।।

× × ×

पाण्डुरंगे सत्य केला अनुग्रह। निरसोनि संदेह बुद्धिभेद ।। १ ।।
जिवाशिवा शेज रचिली आनंदें। औटावेपदीं आरोहण ।। २ ।।
निजीं निजरूपीं निजविला तुका। अनुहतें बाळका हल्लरु गाती ।। ३ ।।

× × ×

कंठीं धरला कृष्णमणि। अवघा जनीं प्रकाश ।।
बोल नाइके कोणाचे। कथे नागवाचि वाचे ।।

× × ×

सुखें मी निजलों गा शून्य सारोनि तेथें।
त्रिकूटशिखरीं गा दान मिळे आइतें ।।

× × ×

भागोनि आलीवाट। सिद्ध ओळखीची तैसी।
तरले तरले गा। आणीक विश्वासी।।
× × ×
जाईन सिद्धपंथे। अवघ्या चुकतील खेपा।।
× × ×
ऊर्ध्वमुखे आळविला। सोहंशब्दाचा नाद।
अरूप जागविला। दाता घेउनिया छन्द।
घेउनि आला दान। निजतत्त्व निजबोध।
स्वरूपीं मिळविलें। नांव ठेविला भेद।।
× × ×

अतः योग एवं भक्ति में फलतः भेद नहीं है। भगवान् जब एक ही हैं तो उन का सच्चा अनुभव जिन्हें आता है उन के अनुभवों में अधिक अन्तर कैसे हो सकता है? भेद की अपेक्षा साम्य होना ही स्वाभाविक है।

६. श्री ज्ञानेश्वरमहाराज की गीता के प्रति दृष्टि

श्रीमद्भगवद्गीता कही गई पाँच हजार वर्ष पूर्व; किन्तु उसकी ताजगी अभी भी कायम है। महाभारत-प्रणेता व्यास के पश्चात् भारत में हुए सभी महान् आचार्यों (आद्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य) भारत के विभिन्न प्रान्तों में हुए मध्ययुगीन सन्त अर्वाचीन काल के मनीषी विचारक (लोकमान्य तिलक, श्रीअरविंद, महात्मा गांधी, विनोबा) – सभी एक विषय पर एकमत हैं कि गीता शिरोधार्य ग्रन्थ है।

ज्ञानेश्वर-वाणी में कहें तो –

'अतः सुज्ञ और सामान्य। एक गीता का करें सेवन।
अन्य शास्त्रों से प्रयोजन। क्या रहे।।' ज्ञा. १८।१६९५।।

गीता का यह अनन्यसाधारण महत्त्व केवल अपने सामने आये हुए सन्दर्भ – एक ही गोत्र के दो विभागों को परस्पर युद्ध के लिये उद्यत देख कर विषाद ग्रस्त हुए एक महायोद्धा को उसके मित्र एवं सम्बन्धी एक व्यवहारचतुर, कर्म-कुशल, प्रबुद्ध व्यक्ति द्वारा उपदेश – इतने स्वरूप का ही नहीं है।

गीता की ओर देखने की दो दृष्टियाँ हैं। एक – महाभारत कथा के उक्त प्रसंग की दृष्टि। दूसरी – गीता भारत-कमल-पराग अवश्य है, किन्तु केवल प्रासंगिक – उपदेशात्मिका नहीं है। मानव-जीवन के जो शाश्वत मूल्य हैं उन का वस्तुनिष्ठ पद्धति से जिस में विचार हुआ है – ऐसा शास्त्र होने की दृष्टि।

२१

कुण्डलिनी के चक्र

तन्त्र में षडचक्रे भेदन की बात स्थान-स्थान पर आती है। चक्र कितने हैं यह कहना मुश्किल है। प्रारम्भ में केवल छः चक्रों को शास्त्र द्वारा मान्यता दी गई—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र। बाद में सहस्रार और बढ़ा दिया गया। फिर अग्नि चक्र भी आ गया। इस प्रकार चक्रों के अनुभवों के आधार पर उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। आज मूर्धन्य ऋषियों की कृपा से चक्रों की संख्या लगभग २१ पहुँच गई है। यह बात दूसरी है कि वे लोग उनके बारे में कुछ स्पष्ट विवरण नहीं दे पाते। जो केवल गुरु के परिश्रम और साधना के बल पर उस स्थिति तक पहुँचे हैं वे गुरु आज्ञा की अवहेलना के भय के कारण कुछ भी बताने से इन्कार कर जाते हैं और जो अपनी साधना के बल पर तत्व ज्ञान को समझ कर ऊँचे उठे हैं, वे बताना चाहते हैं, परन्तु **शब्दों और सुनने वाले की प्रज्ञा की सीमा** आड़े आ जाती है। स्वामी पूर्णानन्द ने कुण्डलिनी के चक्रों का बहुत अच्छा विवरण दिया है। चक्रों का विवरण लगभग एक जैसा ही रहता है चाहे वह संन्यासी का अनुभव हो अथवा गृहस्थी का। वह अनुभव चाहे प्रवृत्ति मार्ग वाले ने दिया हो चाहे निवृत्ति मार्ग वाले ने। सूफी दे या 'सेन्ट'। आध्यात्मिक सत्य अपनी जगह अटल है।

इन आध्यात्मिक सत्यों को पाने के लिए यदि **हम उन्हीं में इन्हें खोजने की व्यवस्था कर लें जिनमें हम हैं** तो बिना कुछ छोड़े, बिना कुछ तोड़े हम आगे बढ़ सकते हैं। ऋषियों की यह अद्‌भुत खोज है कि उन्होंने अपने शरीर की कुछ विशेष ग्रन्थि समूहों (चक्रों), ज्ञान तन्तुओं (नाड़ियों), लिङ्गों (स्वयंभू, बाण, इतर), पंच तत्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), शिव (कुण्डलिनी के आदि उद्गाता पुरुष), और शक्ति (प्रकृति) आदि के ध्यान-योग को परमानन्द (Supreme Bliss) प्राप्ति का साधन बनाया जो नित्य (Eternal), विज्ञान (Knowledge), तथा आनन्द (Bliss) है। **षड्चक्र भेदन की बात तो ब्रह्म साक्षात्कार की तुलना में पहली सीढ़ी पर चढ़ने वाली बात है।**

मूलाधार चक्र की सिद्धि के बारे में एक विद्वान ने लिखा है "It is first sprouting shoot of the realization of the Brahma". वह तो ऐसे समझिये जैसे पीपल का पेड़ उगने के लिए बीज से अंकुर फूटा हो। 'षटचक्र निरूपण' में पूर्णानन्द स्वामी ने कहा है—

अथ तन्त्रानुसारेण षट्चक्रादिक्रमोद्गतः।
उच्यते परमानन्दनिर्वाह प्रथमाङ्कुरः॥

कुण्डलिनी के चक्रों पर ध्यान करने की सामान्यतः संन्यासियों की विधि यह है कि वे अपने शरीर के विभिन्न स्थलों पर निर्देशानुसार षड्चक्रों की कल्पना करके उन पर ध्यान करते हुए विभिन्न मुद्राओं की सहायता से वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हुए मूलाधार से सहस्रार तक कुण्डलिनी को गतिशील करते हैं। इस व्यवस्था में मनोवैज्ञानिक दोष आ जाना स्वाभाविक है परन्तु इस दोष के निराकरण के लिए विपरीत लिंगी साथी न होने के कारण वे कोई सहज उपाय काम में नहीं ला सकते। यह उनकी अपनी संन्यास धर्म की सीमा है। किसी भी कार्य के लिए कोई असहज उपाय काम में लाया जाय तो तत्सम्बन्धी सौ दूसरे उपाय भी बीच में रखने पड़ते हैं। जैसे एक झूठ को सच बनाने के लिए सौ झूठ और जोड़ने पड़ते हैं। यदि आप एक 'सत्य' को बोल दें तो शेष सौ झूठ बोलने वाला मानसिक तनाव एक दम ढह जाता है। **सारे असहज उपाय तनाव उत्पादक होते हैं।** आपका कार्य है अपने देश-काल परिस्थिति के आधार पर **कम से कम तनाव में लक्ष्य पूर्ति कराने वाले प्रयोगों को चुनें।** इस चुनाव के विषय में आँखें बन्द करके किसी की भी बात न मानें, अपनी बुद्धि का उपयोग करें।

महर्षि 'यतीन्द्र' योग-तालिका, क्रमांक १९

शकुन सारणी

[संन्यासी, छात्र, विधुर आदि पत्नी रहित पुरुषों तथा अविवाहित, परित्यक्ता एवं विधवा महिलाओं के लिये (जो रमण-मार्गी नहीं हैं) कुण्डलिनी जाग्रत कराने वाले अभ्यास]

शरीर व मन के तीव्र विकास द्वारा आत्मिक बल तथा कुण्डलिनी स्फुरण हेतु **इस सारणी में दिये गये अभ्यासों का प्रारम्भ, अपनी आयु के आधार पर दी गई व्यायाम तथा प्राणायाम सारणियों के तीनों स्तरों का अभ्यास पूरा हो जाने के पश्चात् ही करना चाहिए।** इसमें दिये गये अपेक्षाकृत कठिन योगाभ्यासों को पूर्ण स्वस्थ तथा विकसित (Advanced) जिज्ञासु अपनी प्रकृति, परिस्थिति तथा प्राप्य समय के आधार पर करें और सदैव योग्य आचार्य के निर्देशों को सर्वोपरि मान्यता दें। योग्य आचार्य इन अभ्यासों में जिज्ञासु विशेष के लिए आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं।

१. भक्ति स्तर (६ मास) नाड़ी शोधन	२. विवेक स्तर (६ मास) कुण्डलिनी स्फुरण	३. दिव्या स्तर (१ वर्ष) कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमन
अनुलोम विलोम प्राणायाम—२० चक्र—३ मास तक, अनुपात—४ : ८ : ८; तीन मास बाद अनुपात—६ : १२ : १२ यदि पहले अनुपात में पूर्णता प्राप्त हो जाय तो अनुपात बढ़ायें अन्यथा नहीं। **स्वर्णा प्राणायाम** अनुपात— ४ : १६ : ८ : ४ तथा ४ : १६ : ८ : ४ **कपाल भाति**—१० मिनट (प्रत्येक चक्र में १०० श्वास-प्रश्वास) [छाती के दर्द अथवा जकड़न में अधिक न करें] **सरलेशासन**—१० मिनट [अचानक सम्पूर्ण क्रियाएँ बन्द करके शवासन की मुद्रा में आँखें बन्द करके ले जाँय। बंद आँखों में होने बाले अनुभवों को बाद में अपनी डायरी में लिख लें।]	**कपाल भाति**—५ मिनट (लगभग १ मिनट में १०० श्वास-प्रश्वास) **कपाल भाति**—५ मिनट (लगभग १ मिनट में १५० श्वास-प्रश्वास की गति, और शरीर ढीला) **कपाल भाति**—१० मिनट [श्वास-प्रश्वास उसी गति से लेते हुए, शरीर ढीला रखकर, शारीरिक क्रियाओं में सहयोग दें, शरीर रोना चाहे, रोने दें; खड़ा होना चाहे, होने दें; लेटना चाहे लेटने दें;, कूदना चाहे, कूदने दें; रोकें नहीं। 'कपाल भाति' प्रारम्भ करने से पूर्व आँखें बंद कर लें; और अच्छी तरह देख लें कि आपके चारों ओर आपके लेटने योग्य स्थान खाली है, तब साधना प्रारम्भ करें।] **सरलेशासन**—१० मिनट [अचानक सम्पूर्ण क्रियायें बंद करके शवासन की मुद्रा में लेट जायँ और आँखें बन्द करके पड़े रहें। यदि कुछ अनुभव हों तो अपनी डायरी में बाद में लिख लें। अपने अनुभव साथी-साधकों को न सुनायें। गुप्त रखें। हाँ, अपने आचार्य (यदि कोई हों) को अवश्य बतलायें।]	**श्वास चेतना युक्त कपाल भाति**—१० मिनट (लगभग १ मिनट में १५०-२०० श्वास-प्रश्वास। प्रत्येक श्वास के आने और जाने का ध्यान) **शरीर चेतना का युक्त कपाल भाति**—१० मिनट (१ मिनट में जितनी अधिक से अधिक गहरी और तेज श्वास-प्रश्वास कर सकें पूरी ताकत से करें, परन्तु शरीर ढीला छोड़ दें और शरीर जो करना चाहे करने दें, रोकें नहीं, बस, देखतें रहें कि शरीर क्या कर रहा है ?) **आत्म चेतना युक्त कपाल भाति**—१० मिनट [शरीर चेतना के समान ही गहरी और तेज श्वास-प्रश्वास, शरीर ढीला, शारीरिक क्रियाओं पर ध्यान, परन्तु शरीर को रोकें नहीं और प्रत्येक श्वास (खींचते) में 'हम्' और प्रश्वास (श्वास छोड़ते) में 'सो' का मानसिक जप करें। ॐ का जप करना चाहने वाले प्रत्येक प्रश्वास में 'ओ' तथा श्वास में 'म' का जाप 'सोहम्' विधि से कर सकते हैं। आचार्य रजनीश इस स्थिति में 'मैं कौन हूँ का प्रश्न साधक से करवाते थे। यह विभिन्न विधियाँ आत्म चेतना प्रस्फुटित करने के लिये हैं। 'हं सः' मंत्र का जाप भी इसी श्रेणी में है।] **महा चेतना युक्त समाधि**—१० मिनट [समय पूरा होते ही अचानक सब क्रियायें बंद करके सरलेशासन में (यदि लेटना चाहें), अथवा स्थिर (मूर्तिवत) हो जायँ। बंद आँखों में जो कुछ अनुभव हो उसका आनन्द लेते रहें।]

षड्चक्रों के ध्यान चक्र

मूलाधार चक्र

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि मेरु दंड (रीढ़ रज्जु) मूल (आधार) से गर्दन तक है, उसके बाँई ओर को इड़ा और दाहिनी ओर को पिंगला नाम की नाड़ी है। भूत शुद्धि तन्त्र में कहा है—**'मेरोर्वामे इडा दक्षे पिंगला च स्थिते उभे।'** इन नाड़ियों को शशि (चन्द्र) तथा मिहिर (सूर्य) भी कहा गया है। त्रिगुणात्मिका सुषुम्ना मेरु दंड के मध्य में स्थित है। त्रिगुणात्मिका इसलिये क्योंकि सुषुम्ना के अन्दर वज्रिणी के अन्दर चित्रणी नाड़ी है। ये नाड़ियाँ चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप हैं, जो खिले हुए (प्रस्फुटित) धतूरे के पुष्प के समान वज्रधारिणी कंद (नाड़ियों की जड़) से सिर तक (मूलादि मस्तक पर्यन्त स्थित) हैं और लिंग से सिर तक चमकती हैं (मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्या ज्वलन्ती)। संमोहन तन्त्र के अनुसार इड़ा पिंगला नाड़ी की प्रकृति चंद्र गुण तथा सूर्य गुण वाली मानी गई है—

वामगा या इडा नाड़ी शुक्ला चंद्र स्वरूपिणी।
शक्ति रूपा हिसा देवी साक्षादमृत विग्रहा॥
दक्षे तु पिंगला नाम पुन्रूपा सूर्य विग्रहा।
रौद्यात्मिका महादेवी दाडिमी केसर प्रभा॥

इड़ा नाड़ी का रंग पीला और पिंगला का अनार के फूल के पराग के समान लाल है। ये नाड़ियाँ मूलाधार (लिंग देश) से ऊपर की ओर आज्ञा चक्र (मस्तक) तक पहुँचकर नासारन्ध्रों में [बीच के सभी चक्रों का भेदन करती हुई सुषुम्ना के दायें बायें रस्सी के समान लिपटी हुई (ऊर्ज्वी भूते)] पहुँचती हैं। सुषुम्ना मेरु के अन्दर मूल से ब्रह्म रंध तक जाती है जो स्वयं चिति (ज्ञान) है। प्रपंचसार के अनुसार जो नाड़ी बायें अंडकोष से सुषुम्ना में होकर दाहिनी स्कन्धास्थि के जोड़ तक पहुँचती है हृदय देश के कारण धनुष के समान झुक जाती है बाँई स्कन्धास्थि के जोड़ से दाहिने नासारंध की ओर चली जाती है। इसी प्रकार दाहिने अंडकोश से आने वाली नाड़ी बायें नासारन्ध्र की ओर चली जाती है। नासारंध्र में आने से पूर्व या नाड़ियाँ भ्रू-मध्य के क्षेत्र में पहुँच कर सुषुम्ना के साथ तीनों मिलकर एक गाँठ बनाती है (जिसे त्रिवेणी भी कहते हैं) और तब नासारंध की ओर जाती हैं। एक कहानी आती है कि गंगा, सरस्वती और यमुना का त्रिवेणी में स्नान करने वाले को महान पुण्य मिलता है—

इडायां यमुना देवी पिंगलायां सरस्वती।
सुषुम्नायां वसेद्गंगा तासां योगस्त्रिधा भवेत्॥
संगता ध्वज मूले च विमुक्ता भ्रू वियोगतः।
त्रिवेणी योगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्॥

यह गंगा सुषुम्ना, इडा यमुना और पिंगला सरस्वती है। आज्ञा चक्र भेदन के समय यह त्रिवेणी स्नान होगा जो महाफलदायक होगा ही। इस प्रकार ये नाड़ियाँ ध्वज (लिंग) मूल (जड़) से मिलकर चलती हुई भ्रू मध्य पर पुनः अलग-अलग हो जाती हैं। सुषुम्ना सबसे बाहरी नाड़ी और चित्रिणी सबसे अन्दर की परन्तु चित्रिणी के अन्दर के भाग को ब्रह्म नाड़ी कहा जाता है। अलग से कोई ब्रह्म नाड़ी नहीं है। जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ चित्रिणी पीले रंग की है, वज्रिणी अनार के फल के पराग जैसे रंग की और सुषुम्ना लाल आग के रंग जैसी है। जो कामातुर स्त्री के समान थर-थराती है—'लसन्ती ललना यथा।"

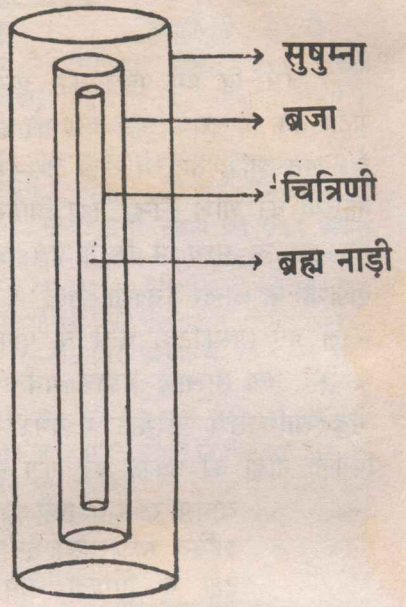

चित्र संख्या ४१

कन्द चार अंगुल का अंडे के आकार में है जिससे ७२००० नाड़ियाँ निकली मानी गई हैं। कन्द का स्थान गुदा से दो अँगुल ऊपर और लिंग मूल से दो अंगुल नीचे है—

गुदात्तु द्वयंगुलादूर्ध्व मढ्रात्तु द्वयंगुलादधः।
चतुरंगुल विस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्॥
नाड्यस्तस्मात समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्तशति॥

यही कंद का मध्य बिंदु सुषुम्ना का उद्गम स्थल है। बारह दल वाले कमल के मध्य में सुषुम्ना का अन्त होता है जो सहस्रार कमल के बीजावरण के अन्दर है। यह स्थान ब्रह्म रन्ध्र के पास है। श्री काली चरण कृत 'पादुका पंचकम्' में इस द्वादश दल पदम् का वर्णन है—

ब्रह्मरंध्र सरसी रुहोदरे।
नित्य लग्नमवदातमद्भुतम्॥
कुण्डलीविवर कांड मंडितम्।
द्वादशार्णसरसीरुहं भजे॥

ब्रह्मरंध के पास शंखिनी नाड़ी है उसकी नाल (नली) के सहारे सुषुम्ना स्थिर है।

सरस्वती और कुहू सुषुम्ना के दोनों ओर हैं। इड़ा के दोनों ओर गान्धारी और हस्तिजिव्हा नामक नाड़ियाँ हैं। गान्धारी और सरस्वती के बीच शंखिनी है। यह शंखिनी की शाखा बाँयें कान की ओर जाती है। दूसरी शंखिनी की शाखा कण्ठ कूप (गल गह्वर)

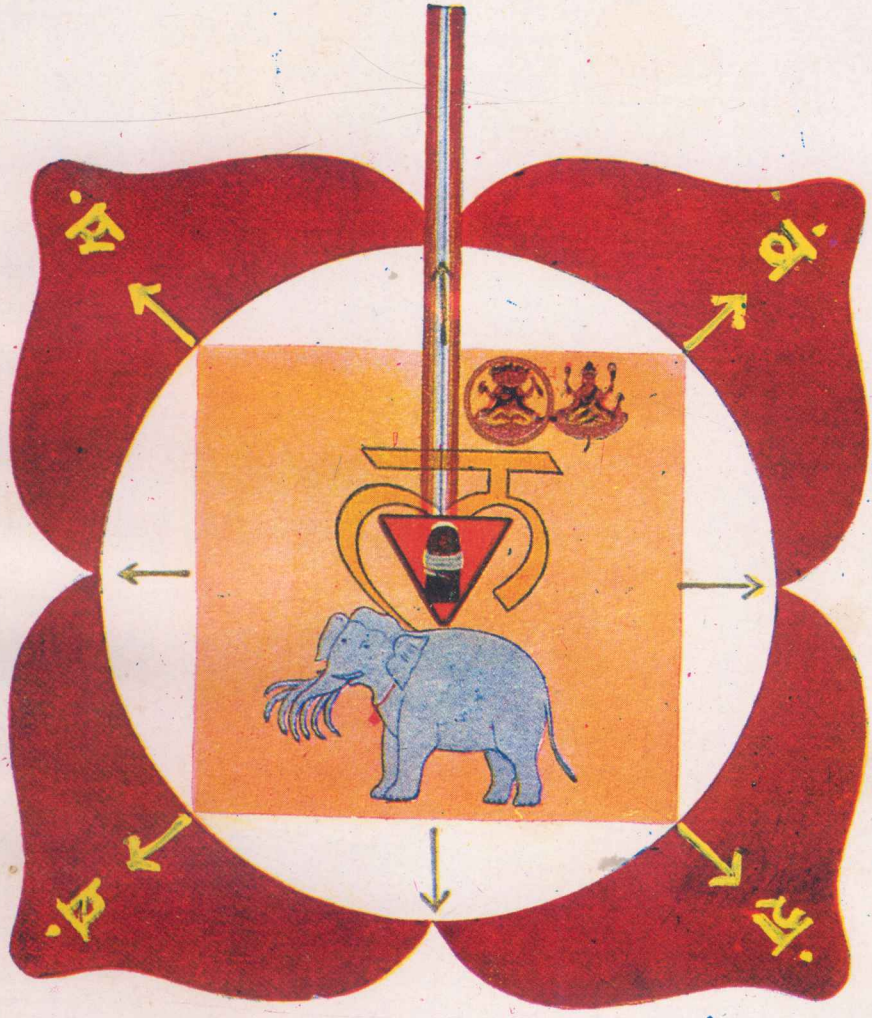

मूलाधार चक्र Moolādhār Cakra

(Sacrococcygeal Plexus)

में से मस्तक में जाकर चित्रिणी से लिपट जाती है ओर फिर सिर में चली जाती है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शंकर जी (रुद्र) इस ज्ञान के एक प्रकार से प्रथम उद्गाता माने जाते हैं। वे अपनी तान्त्रिक साथिनी पत्नी (अम्बिका) को यह ज्ञान देते हुए कहते हैं—

शंखिनी कण्ड विवरात् तिर्यग्भूता ललाटगा।
चित्रणी संगत्ताश्लिष्टा यावच्छिरसमम्बिके॥

चित्रिणी मकड़ी के धागे के समान सूक्षम है जो सभी पद्मों को भेदती हुई प्रणव की चमक से देदीप्यमान आगे बढ़ती है। मूलाधार के स्वयंभूलिंग के छिद्र से सहस्रार के परम बिन्दु (आदि देव) तक जाने वाली चित्रिणी शुद्ध ज्ञान (Pure Intelligence शुद्ध बोध) सर्वानन्द, शुद्ध चैतन्य स्वरूपा है जिसके मुख पर ब्रह्मद्वार (ब्रह्मनाड़ी का मुँह) चमकता है। यही स्थान अमृत क्षेत्र का प्रवेश द्वार है जो सुषुम्ना का मुख भी है। इसे ग्रन्थि कहते हैं। अमृत क्षेत्र के विषय में शास्त्र कहता है **'स्त्री पुंयोगात् यत सौख्यं तत सामरस्यं।'** सामरस्य शब्द सम्भोग के लिए प्रयुक्त होता है। अमृत क्षेत्र का अमृत रस परम शिव और शक्ति के संगम से बहता है। उस अमृत को मूलाधार में शिव-शक्ति को स्थित करके प्राप्त किया जाता है।

कंद और सुषुम्ना के मिलन स्थल पर चारों दिशाओं में चार दल वाला आधार पद्म है। दल का रंग रक्त वर्ण (Crimson colour) है। कमल मुख नीचे की ओर लटका है। इसके दलों पर व श ष स अक्षर हैं। इन अक्षरों पर दायें से बायें (दक्षिणावर्त) क्रमशः ध्यान करना है। विश्वसार तन्त्र कहता है—

सर्व व्रर्णात्मकं पत्रं पद्मानां परिकीर्तितम्।
दक्षिणावर्तयोगेन लिखनं चिन्तयेद्धिया॥

इस पद्म के बीच में वर्गाकार पृथ्वी तत्व है जो चमकदार अष्ट शूल युक्त है (पाठक यन्त्र वाले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि पृथ्वी का यान्त्रिक चित्रण वर्ग है। इसी प्रकार प्रत्येक तत्व का आकार, रंग तथा कर्म होता है जिससे यह विशेष प्रकार तरंग युक्त होता है।) पृथ्वी तत्व का रंग पीला है। शूल कुलाचल (कामिन्याः स्तन सदृशाग्रैः) अर्थात् कामातुर स्त्री के स्तन कुचों के समान है। (The tips of these spears are shaped like a woman's breasts. – Sir John Woodroffe) निर्वाण तन्त्र के अनुसार पृथ्वी पर सात कुलाचल (कुल-पर्वत) हैं यथा—नीलांचल, मन्दाराचल, चन्द्र शेखर, हिमालय, सुवेल, मलय और सुपर्वत। उस पृथ्वी वर्ग के अन्तर्गत पृथ्वी बीज 'लं' है जो चमकदार पीले रंग का है। इसके अन्दर ऐन्द्र बीज है जो पीले रंग का चतुर्भुज है और एक हाथ में वज्र (शक्ति) थामे है, पौरुष पूर्ण है और ऐरावत हाथी पर बैठा है। (चक्रों के अन्दर दिये गये 'पशु' 'तत्व के देवता' के गुण तथा वाहन के परिचायक होते हैं।) इसकी बाहें इतनी लम्बी हैं कि हाथ घुटनों तक पहुँचते हैं। चारों भुजाएँ आभूषण युक्त हैं जो ऐरावत को थामे हैं। धराबीज के बिन्दु-अंक (गोद) में बच्चे के रूप में चतुर्मुखी ब्रह्म जी स्थित हैं। निर्वाण तन्त्र में कहा है कि इन्द्र बीज जननांग के नीचे है। अति सुन्दर पूर्ण प्रजापिता ब्रह्मा

नाद के ऊपर स्थित हैं। नाद के ऊपर बिन्दु के अन्दर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्थित हैं। भूत शुद्धि तन्त्र के अनुसार-ब्रह्मा बच्चे का रंग लाल, भुजाएँ चार, चेहरे चार हैं और हंस की पीठ पर स्थित हैं। मूलाधार में डाकिनी देवी स्थित है जिस पर ध्यान करने से तत्व ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अति सुन्दर चार भुजाएँ हैं, आँखें लाल हैं। इसकी चमक ऐसी है जैसे हजारों सूर्य एक ही स्थान पर एक ही क्षण में उदय हो उठे हों। यह देवी शुद्धि-बुद्धि वाहिका है। इसके मुँह पर चारों अक्षर व श ष स है जिनकी अधिपति डाकिनी है।

डाकिनी का ध्यान एक और प्रकार से भी किया जाता है—

रक्ताक्षीं रक्तवर्णा पशुजनभयकृच्छूलखट्वांगहस्तां
वामे खड्गं दधानां चषकमपि सुधापूरितं चैकवक्राम्।
अत्युग्रामुग्रदंष्ट्रामरिकुलमथनीं पायसान्ने प्रसक्तां
मूलाधारेऽमृतार्थे परिवृतवपुषं डाकिनी चिन्तयेत्ताम्॥

रक्त जैसे रंग वाली, रक्तिम आँखों वाली, पशु (आप जानते हैं तन्त्र में पशु किसे कहा जाता है—जो अपनी इन्द्रियों का दास हो) जनों को भयाक्रान्त करने वाली, जिसके दाहिने हाथों में शूल और खट्वांग है, बायें हाथों में तलवार और मद्य से भरा प्याला है वह अत्यन्त उग्र, भयानक दाँतों वाली, शत्रुओं के कुल का संहार करने वाली, पायस (चावल दूध से बनी खीर जिसमें घी और शक्कर मिली हो) से प्रसन्न होने वाली है। देवी डाकिनी का इस प्रकार चिन्तन (ध्यान) करें।

देवताओं के चेहरे नीचे की ओर अथवा ऊपर की ओर किये हुए ध्यान करने का अन्तर साधक के भावानुसार है। माया तन्त्र में कहा है—प्रवृत्ति मार्ग वाले देवों के चेहरे नीचे की ओर मान कर ध्यान करें और निवृत्ति मार्ग वाले ऊपर की ओर।

तत्सर्व पंकज देवि सर्वतोमुखमेव च।
प्रवृत्ति भावचिन्तायामधोवक्त्राणि चिन्तयेत्।
निवृत्ति भावमार्गेषु सदैवोर्ध्वमुखानि च॥

मूलाधार पद्म के परागक्षेत्र के अन्तर्गत बहुत मुलायम अत्यन्त सुन्दर विद्युत के समान एक त्रिभुज चमकता है जिसे काम रूप या त्रिपुर कहते हैं (गौतमीय तन्त्र इसे इच्छा, ज्ञान तथा कर्म, Will, Knowledge and Action का त्रिभुज मानता है) वज्रा नाड़ी के मुँह के पास है। वहाँ सदैव काम वायु, कन्दर्प वायु (कन्द देशे वसेत् प्राणो ह्यपानो गुदमंडले) विलास करती है, उसका रंग बन्धूक पुष्प से भी अधिक गहरा लाल है। तन्त्र राज में इस त्रिकोण अर्थात् त्रिपुर के अन्दर रहने वाली देवी को त्रिपुर सुन्दरी कहा है, (त्रिपुरा देवी 'क' अक्षर के सहित जो कि काम बीज का प्रधान अक्षर है, विराजमान है)। इस त्रिकोण को शक्ति पीठ भी कहा जाता है। कन्दर्प वायु को जीवन की अधिष्ठात्री माना जाता है चूँकि अपान वायु प्राण वायु का आकर्षण करती है और प्राण वायु अपान का। कंदर्प वायु दोनों के बीच में है और अपान वायु की सहचरी होकर प्राण वायु का कर्षण करती है। यदि यह अपना आकर्षण त्याग दे तो प्राण शरीर से बाहर निकल जायगा। यदि

अधिकर दे तो अपान बाहर हो जायेगा। एक के बाहर आने से दूसरा स्वतः चला जायेगा। इस प्रकार कंदर्प वायु ही जीवन का आधार है। त्रिकोंण के अन्दर स्वयं-भू लिंग है जिसका रंग श्यान (Blue-green) है। ऊपरी भाग नीचे चौड़ा और ऊपर पतला जैसे चंपक के पुष्प का गर्भ केशर होता है, देखने में नई बिना खुली कली (unopened leaf bud) के समान प्रतीत होता है। यह लिंग 'काली कुलामृत' के अनुसार अधोमुखी है और काम बीज के द्वारा गति देने पर क्रियाशील होता है—

तत्र स्थितो महालिंगः स्वयंभू सर्वदा सुखी।
अधोमुखः क्रियावांश्च कामबीजेन चालित॥

यामल तन्त्र इस पर ध्यान करने के लिए इस प्रकार कहता है— मूलाधार के अति सुन्दर त्रिकोण पर ध्यान करो जिसमें घने नीले बादलों के पीछे जैसे दस लाख बिजलियाँ चमकें ऐसी आभा वाली कुण्डलिनी की तीन रेखायें चमकती हैं।

(इसमें साधक के भाव का अन्तर है प्रतीति और परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता)।

स्वयंभू लिंग के अन्दर से आने वाली विद्युत-चमक चन्द्रमा की चाँदनी के समान बहुत शीतल और सुखदायक होती है। इसके ऊपर कमल तन्तु के समान सूक्ष्म सुप्त कुण्डलिनी चमकती है जो जगन्मोहिनी है, ब्रह्मद्वार को ढके हुए है। यह स्वयं भू लिंग को (घोंघा जिस प्रकार शंख में चक्राकार होता है उसी प्रकार) चारों ओर से साढ़े तीन चक्र देकर चमकदार सर्प के समान लपेटे है। उसकी चमक नई विद्युत की तेज फ्लैश (Flash) जैसी है। उसकी गुंजार प्रेम में पागल मधुमक्खियों की विशेष प्रकार की भिनभिनाहट जैसी है जिसमें लय के उतार चढ़ाव से मधुर संगीत प्रस्फुटित होता है। उस संगीत से ध्यान किये जाने वाले चित्र का आभास होता है जैसे कि संस्कृत भाषा के स्पष्ट और अस्पष्ट शब्द किसी क्रम में निकल रहे हों। कादिमत के अनुसार 'आत्मा' की इच्छा शक्ति की प्राण वायु पर क्रिया होने से मूलाधार में अति उत्तम नाद (Sound) का उदय होता है जिसे 'परा' कहते हैं। इसकी चढ़ती लय में कुण्डलिनी ऊपर की ओर धकेली जाती है जो स्वाधिष्ठान तक पहुँच कर पश्यन्ती कहलाती है। इसी क्रिया से पुनः इसे मृदु झटके से अनाहत के बुद्धि तत्व से जोड़ते हैं, तब यह 'मध्यमा' कहलाती है और ऊपर जाकर गले में विशुद्ध चक्र में पहुँचकर 'वैखरी' कहलाती है और वहाँ से और ऊपर तालू, नाक, जीभ, होठ आदि के द्वारा अ से क्ष तक अक्षर उत्पन्न करती है।

"स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥
स एव चोर्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठान विजृम्भितः।
पश्यान्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनः शनः॥
अनाहते बुद्धि तत्व समेतो मध्यमोऽभिधः।
तथा तयोरूर्ध्वगतो विशुद्धो कण्ठ देशतः॥"

कुण्डलिनी के ध्यान के लिए उसे अपने इष्ट देव स्वरूप में इस प्रकार ध्यान करने के लिए भी लिखा है—

ध्यायेद कुण्डलिनी देवीमिष्ट देवस्वरूपिणाम्।
सदा षोड्शवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम्॥
नव यौवन सम्पन्नाम् सर्वाभरणभूषिताम्।
पूर्ण चन्द्रप्रभाम् रक्ताम् सदा चंचल लोचनाम्॥

अपने इष्ट देव के रूप में कुण्डलिनी का ध्यान सदैव षोडष वर्षीय सुन्दरी में करो जो नव यौवन सम्पन्न बड़े और उत्तम स्तनों वाली, आभूषणों से सुसज्जित, पूर्ण चन्द्र के समान कांतिवान, रक्त वर्ण की और हिरणी के समान चंचल नेत्र वाली हो। शाक्तानन्द तरंगिणी में रक्त वर्ण की कुण्डलिनी देवी का ध्यान करने के बारे में कहा है। अन्य तन्त्रों में कुण्डलिनी को 'श्यामा' कहा है। श्यामा का अर्थ काला (अथवा नीला-हरा) नहीं है—

"शीतकाले भवेदुष्णा चोष्णकाले च शीतला।
प्रतप्तकांचनाभा सा श्यामा स्त्री परिकीर्तिता॥"

(ऐसी स्त्री जो शीतकाल में गर्म और ग्रीष्म काल में शीतल हो और जिसका रंग तपाये हुए सोने के समान आभामय हो श्यामा कहलाती है)।

कंकाल मालिनी तन्त्र कुण्डलिनी के ऊर्ध्व गमन से पूर्व का वर्णन करता है—

कोटिचन्द्रप्रतीकाशां पर ब्रह्म स्वरूपिणीम्।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च वराभयकरां तथा॥
तथा पुस्तक वीणां च धारिणीं सिंह वाहिनीम्।
गच्छन्तीं स्वात्मनं भीमां नाना रूप धरात्मिकाम्॥

कुण्डलिनी परब्रह्म स्वरूप ऐसे चमकती है जेसे करोड़ों चन्द्रमा एक साथ उग आये हों, इसके चार भुजायें और तीन आँखें हैं। हाथों से वर मुद्रा व अभय मुद्रा प्रदर्शन करती है। अन्य हाथों में पुस्तक तथा वीणा है। सिंह पर सवार है। जब अपने आसन (मूलाधार) से चलती है तो श्रद्धायुक्त भय (reverential fear) उत्पन्न करने वाली (भीमां) भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप धारण करती है। कुण्डलिनी के ऊपर सूत्र रूप में पराशक्ति है जा परम प्रशासन कार्य सँभाले हुए है। इसमें सृष्टिकारी आश्चर्यजनक शक्ति है। इसकी नित्यानन्द परम्परा (Steps to eternal bliss) इस प्रकार है—नित्यानन्द निर्गुण ब्रह्म से सगुण आविर्भाव, सगुण से शक्ति, शक्ति से नाद, नाद से बिन्दु, बिन्दु से कुण्डिलिनी (चितकला भी कुण्डलिनी का रूप है)। इसी प्रकार नित्यानन्द से अमृत रस परम बिन्दु, आज्ञा चक्र, विशुद्ध चक्र आदि के क्रम से मूलाधार तक आता है।

सारांश (Summary)

मूलाधार चक्र चतुर्दल पद्म है। दल रक्त वर्ण हैं। प्रत्येक दल पर व श ष स अक्षर स्वर्णिम रंग में चमकते हैं। बीज कोष के बीच में अष्ट शूल युक्त धरा मण्डल है। इसके निम्न भाग में धरा बीज लं है जिसके चार भुजाएँ हैं और ऐरावत पर आरुढ़ है। वह पीत

वर्ण है और हाथ में वज्र थामे है। धरा बीज के बिन्दु के अन्दर शिशु ब्रह्मा रक्त वर्ण चतुर्भुज विराजमान हैं। उनके हाथ में दण्ड, कमण्डल, रुद्राक्षमाला है और एक हाथ से अभय मुद्रा प्रदर्शित कर रहे हैं। उनके चार मुख हैं। बीज कोष (Pericarp) में एक रक्त पद्म है जिस पर चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति डाकिनी विराजमान हैं। वह चतुर्भुज रक्त वर्ण हैं। उनके हाथ में शूल खटवांग खड्ग और चषक (प्याला) है। बीज कोष में विद्युत जैसी चमक वाला त्रिभुज है जिसमें कंदर्प वायु और काम बीज हैं। दोनों ही रक्त वर्ण हैं। इनके ऊपर स्वयं भू लिंग है जो श्याम वर्ण है। इसके चारों ओर कुण्डलिनी साढ़े तीन चक्र लगाये हैं और ऊपर भी है। इस सब के ऊपर चित कला है जो कुण्डलिनी का ही दूसरा रूप है।

स्पष्टीकरण

इस चक्र का **लाल त्रिभुज** रजोगुणी (उत्पत्ति कारक) योनि का प्रकटीकरण करता है। उसके अन्दर श्याम वर्ण (कामासिक्त) लिंग को दर्शाता है जिसका मुख छिद्र बन्द है (अर्थात् अधो रेतस न होकर ऊर्ध्व रेत: है)। यह लिंग और योनि दोनों ही **इन्द्र के ऐरावत** पर आरुढ़ हैं अर्थात् इतनी कामासिक्त मस्ती में हैं जितना इन्द्र (जिसके भोगों की सीमा नहीं) हो सकता है। यहाँ मस्ती है परन्तु हाथी की चाल से। ऐरावत की कई सूड़ें—आनन्द मनाने की विवधात्मक काम केलि की विभिन्न मस्त मुद्राओं को प्रकट करती हैं। यह सम्भोग पूरी तरह काम पूर्ण है इसका प्रकटीकरण **पीले रंग के धरा-बीज** अर्थात् **काम-बीज लं** से होता है। पीला रंग ज्वालामय है। कामाग्नि भी ज्वाला ही है। ऐसा कामाग्नि पूर्ण सम्भोग एक आधार (धरा मण्डल) पर होता है अधर में नहीं। यह धरा क्षेत्र आठ शूल युक्त है। दो हाथ, दो पाँव पुरुष के और दो हाथ, दो पाँव नारी के, इस प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र में आठ शूल हो जाते हैं। एक स्थान पर यह **शूल स्त्री के स्तन की घुण्डी** के समान कहे गये हैं। अर्थात् यह शूल के समान प्रहार करने वाले परन्तु चूचुक के समान मुलायम हैं। ऐसे सम्भोग में दुहरी शक्ति निहित है—ब्रह्मा की प्रजावर्द्धिनी शक्ति (वीर्य की अधोगति करने से) तथा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगति देने वाली शक्ति—डाकिनी (वीर्य की ऊर्ध्वगति होने से)। मूलाधार का बीज कोष मूल-ग्रन्थि है जहाँ से चार रजो गुणी (उत्पादक) नाड़ियाँ निकलती हैं। इन नाड़ियों के परिचयात्मक नाम वर्णमाला के अन्तिम चार अक्षर हैं—व श ष स। काम बीज (काम) में अतुल शक्ति (Thunder bolt) है।

सम्भोग मार्ग (गृहस्थी) वाले तान्त्रिक ('भित्वा तल्लिंगरूपं पवन दहन योराक्रमेणैव गुप्तम' 'हुकारेण तत् लिंगम् भित्वा ब्रह्मद्वारस्य मध्येविरचयति') हुंकार के साथ अर्थात् जोर लगाकर लिंग को ब्रह्मद्वार के अन्दर प्रवेश करते हैं। पवन अर्थात् कंदर्प (काम वायु) और दहन (कामाग्नि) के आक्रमण से ('हंसमुपस्मृत्य शनैराकंचयेद् गुदम्आगम कल्पद्रुम') हंस: जाप (प्राणायाम) करते हुए शन: शन: गुदा (मलद्वार) को संकुचित कर (अर्थात् अश्विनी एवं वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा) कुण्डलिनी को जाग्रत करते हैं। (देखें, षट चक्र निरुपण 50)। तथा—

मूलाधार सरोजे तु त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
कामो भवति तन्मध्ये बालार्क कोटिसंनिभम्॥

इस मूलाधार के त्रिकोण पर आप ध्यान दें तो तान्त्रिक रेखांकन (यन्त्र निर्माण) के आधार पर उपर्युक्त सम्भोग मार्ग की बात और भी अधिक प्रमाणित हो जाती है—अधोमुखी त्रिभुज का अर्थ है योनि, उसके अन्दर लिंग है जिसका मुँह बन्द है (अर्थात् वीर्य का स्खलन नहीं हो सकता)। अब 'कामाग्निना कूर्चयोगात् परं हंसाभिलाषिणीम' कामाग्नि के साथ हं सः (प्राणायाम) का योग होने से परमहंस की अभिलाषिणी कुण्डलिनी स्थान छोड़ देती है। सर आर्थर एवलोन इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"As the result of excitation by the Kamagni Passion is excited in her. She is impelled by the Fire of Kama towards the Param Hansa in the Sahasrar."

'लाक्षाभपरमामृतम् पर शिवात्पीत्वा पुनः कुण्डली' परम अमृत जो कुण्डली पीती है और परशिव से निकलता है, अर्थात् जीवन का आधार ओज (कुण्डली में चढ़ने वाला) परम पुरुष (जो यम नियमादि से इन्द्रयादि वश में करके उनका स्वामी ईश्वर बना हुआ है) द्वारा कुण्डलिनी नाड़ी में चढ़ाया जाता है वह लाल (लाक्षाभम् अलक्तरसवत् रक्ताभम्) है। इसका स्पष्टीकरण सर जान वुडरौफ ने "The Serpent Power—Edition 1958' में इस प्रकार दिया है—Shankar says, it is so coloured because it is mixed with the menstrual fluid. आगे वह बात को सम्भालते हुए कहते हैं Which is symbolic, like the rest of the erotic imagery. Red is the colour of the Rajo-Guna. शंकराचार्य की रजःस्राव वाली बात को मर्यादा के नाते भले ही Symbolic कह दिया जाय अन्यथा उनकी जैसी बातों को Symbolic बताकर अपनी बात की पुष्टि करने के लिए बहुत से लोगों को erotic imagery प्रमाणों का सहारा लेना पड़ा है।

'बृहच्छीक्रम तन्त्र' में पराशक्ति का वर्णन करते हुए कहा है **'पराविराज वामोरुमदालसवाः स्त्रियम्'** (अर्थात् पराशक्ति अत्यन्त सुन्दर देहयष्टि वाली ऐसी स्त्री है जिसके अंग अत्यन्त काम वेग के कारण उन्मत्त हो रहे हैं।) समाधि के आनन्द की बात करते हुए माया तन्त्र कहता है—**शिव शक्त्योः समारस्यात्मकम् प्रकृतिनोऽपरे।** आगे इसे स्पष्ट करत हैं कि **'स्त्रीपुंयोगे तु यत् सौख्यं सामरस्यं प्रकीर्तितम'** (आनन्द का वह अनुभव जो स्त्री और पुरुष के सम्भोग से उद्भूत होता है)। सम्भोगानन्द (कामानन्द) को समाधि आनन्द (ब्रह्मानन्द) का प्रतीक मानने वाले कह सकते हैं "The bliss of union of shiv a and shakti, of which sexual union is the meterial type—Sir John Woodroffe; अन्य मत वाले जीव और आत्मा के मिलन को योग और उससे उत्पन्न आनन्द को समाधि का आनन्द कहते हैं। कुछ शिव और आत्मा के योगानन्द को, कुछ ज्ञान और शक्ति के योग के आनन्द को, कुछ पुरुष व प्रकृति के योग के आनन्द को, कुछ आत्मा व परमात्मा के मिलन (एक्य भाव को प्राप्त) होने के आनन्द को, कुछ कला से चिदानन्द के योग के आनन्द को (जो नाद पर होता है), कुछ महादेव और

परा के संयोग के आनन्द को समाधि का आनन्द बताते हैं। **इन सब में एक सामान्य और गृहस्थ व्यक्ति के लिए उपयुक्त और सुलभ समाधि आनन्द का मार्ग पति-पत्नी का सम्भोग-आनन्द है।**

धर्म पत्नी

भारत में पत्नी को धर्म-पत्नी कहा जाता है। **पत्नी वह होती है जो पति को संतान उत्पन्न करने में योग देती है।** संतान से समाज वर्धन होता है। यदि संतान विकसित शरीर-मेधा युक्त है, तो समाज विकसित बनेगा। यदि संतान अविकसित शरीर और मेधा युक्त हुई तो भावी समाज भी वैसा ही रुग्ण और पंगु बन जायेगा। अतः संतान उत्पन्न करने भर के लिए किसी की पत्नी बनना एक सामाजिक रिश्ता है।

ऐसी पत्नी 'धर्म-पत्नी' नहीं है। **पत्नी का 'धर्म-पत्नी'-पन उस समय प्रारम्भ होता है जब पति के लिए पत्नी धर्म के विकास में सहायक हो। यह धार्मिक विकास 'सम्भोग-समाधि' में निहित है।** इसीलिए पत्नी को ही धर्म-पत्नी बनने का अधिकार मिला है क्योंकि सामाजिकता के सन्दर्भ में इस प्रकार का धर्म-निर्वाह अत्यन्त गुप्त रखा जाता है। यह **'गुप्त धर्म'** यही कुण्डलिनी-तन्त्र है। **जो व्यक्ति** (शिव के समान) **अपनी पत्नी** (शिवा के समान) **के साथ कुल कुण्डलिनी धर्म का विकास** (कुण्डलिनी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है यह षडचक्र भेदन में स्पष्ट किया जा चुका है) **करता है उसके लिए पत्नी अर्धांगिनी बन जाती है।** इस विधि में अकेला पुरुष अथवा अकेली स्त्री कुछ नहीं कर सकती। दोनों एक होकर ही इस धर्म-निर्वाह को पूरा कर पाते हैं अतः पति भी आधा (अधूरा) और पत्नी भी आधी (अधूरी) है और दोनों एक-दूसरे के पूरक अर्धांग हैं। कुछ लोग सोचेंगे कि पत्नी के साथ धार्मिक अनुष्ठान पूजा, पाठ, हवन, पूजन में बैठने से पत्नी का धर्म-पत्नी-पन पूरा हो जायेगा। नहीं ! इन कामों के लिए तो किसी भी स्त्री को आप बिठा सकते हैं कोई तात्विक बाधा नहीं आयेगी।

मैंने सुना है कि पत्नी के न होने पर श्री रामचन्द्रजी ने अपने अश्वमेध यज्ञ में सोने की सीता बनाकर बिठाली थी। वहाँ सोने की, लोहे की या खून माँस की कोई भी सीता बिठा सकते हैं परन्तु कुल-कुण्डलिनी के धर्मानुष्ठा में जहाँ सम्भोग ही समाधि का द्वार हो असली पत्नी की ही आवश्यकता होगी। उस समय हीरे की सीता भी व्यर्थ होगी। कुल कुण्डलिनी का तत्व ज्ञान जानने वाले के लिए बाहरी अनुष्ठानों का विशेष महत्व नहीं होता। **उसके सारे अनुष्ठान अपने अन्दर चलते हैं और उसकी अपनी पूर्णता इन आंतरिक गुप्त धर्म अनुष्ठानों को करने के लिए केवल अपनी पत्नी से ही प्राप्त होती है।** इन तथ्यों से व्यक्ति **के लिए धर्म-पत्नी की जीवन में कितनी आवश्यकता है यह स्पष्ट हो जाता है।** इस आवश्यकता को देखते हुए उन तान्त्रिक लोगों ने बहुत से उपाय किये जिनकी 'पत्नी' नहीं थी। इसमें पहला उपाय उन्होंने यह किया कि पत्नी की बात समाप्त करके उसके स्थान पर नारी शब्द जोड़ दिया। आप जानते हैं पत्नी की अपेक्षा नारी मिलना अधिक सुगम होता है, क्योंकि 'पत्नी' बनना अपने जीवन को दाँव पर लगाना होता

है। यही हाल पतियों का भी है। 'पत्नी' शब्द के स्थल पर 'नारी' शब्द लगा देने से तन्त्र बदनामी की ओर उन्मुख हुआ। अत: **जहाँ जहाँ तन्त्र शास्त्रों में 'नारी' शब्द किसी विशेष अनुष्ठान हेतु उपयोग में आया है वहाँ 'पत्नी' शब्द लगा देने से सम्पूर्ण तन्त्र गंगाजल की भाँति पवित्र और समाज-मान्य हो जाता है।**

स्वाधिष्ठान चक्र

ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्ना) के अन्तर्गत दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है जो जननांग के मूल में स्थित है। सिंदूर वर्ण है। यह षट-दल पद्म है1 इन दलों पर विद्युत के समान चमकते हूए अक्षर बं से लं तक हैं। लं अक्षर इन्द्र का बीज (पुरन्दर) भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत चमकदार जल सदृश वरुण का क्षेत्र हैं जिसका आकार अर्धचन्द्र जैसा है जिसमें मकर पीठ पर वं बीजाक्षर सुशोभित है जो बसंत ऋतु के चन्द्रमा के समान शुभ्र है। मकर वरुण का वाहन है। वरुण के हाथ में पाश है। वं के बिन्दु में चतुर्भुज श्याववर्ण हरि (विष्णु) का ध्यान करो। विष्णु नील वर्ण हैं। गोतमीय तन्त्र में इस ध्यान के बारे में कहा है कि 'उनके हृदय पर कौस्तुभ मणि' (Gem) है जो दस हजार सूर्यों की प्रभा वाली है, उससे नीचे दस हजार चन्द्रों के समान वनमाला है। कौस्तुभ मणि के ऊपर 'श्री वत्स' है जो दस हजार चन्द्रों की प्रभा वाला है। विष्णु का वाहन गरुड़ है। विष्णु के हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म हैं और वे पीताम्बर धारी हैं। इस चक्र में राकिनी देवी का स्थान है। वह नील वर्ण है; उसके हाथों में शूल, पद्म, डमरू और टंक (कुल्हाड़ा) है। वह भयानक आकृति वाली, दाँत बड़े-बड़े और बाहर निकले हुए, रक्तिम आँखों वाली दुहरे कमल पर आसीन है, जिसके एक नासा रन्ध्र से रक्त की धार निकल रही है। वह श्वेत अक्षत (चावल) पसन्द करने वाली, मत्त चित्त है। 'सौभाग्य रत्नाकर' के अनुसार राकिनी रक्त धातु की अधिष्ठात्री है।

सारांश (Summary)

स्वाधिष्ठान चक्र सिंदूरी रंग का पद्म है जिसके छ: दल हैं, उन पर छ: अक्षर चं भं मं यं रं लं विद्युत आभा के समान चमकते हैं। इस पद्म के बीज कोष के अन्तर्गत अष्ट दल कमल के रूप में जलीय क्षेत्र है। उसके बीच में अर्ध चन्द्र है। यह क्षेत्र श्वेत है। इसके अन्दर वरुण बीज वं एक मकर पर हाथ में पाश लिए आसीन है। बिन्दु के बीच में गरुड़ पर विष्णु बैठे हैं। उनके चार हाथ हैं जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। वह पीताम्बर धारण किये हुए हैं। गले में लम्बी वन माला, वक्ष पर कौस्तुभ मणि तथा श्री वत्स चिह्न है और वे यौवन पूर्ण हैं। रक्तिम पदम पर बीज कोष में श्याम वर्ण शक्ति राकिनी है और उनके चारों हाथों में शूल, पद्म, डमरू और टंक हैं। वह त्रिनेत्री, भयानक दाँतों वाली, भयंकर हैं। श्वेत अक्षत पसन्द करने वाली हैं। उनको एक नासारन्ध्र से रक्त धार बहती रहती है।

स्पष्टीकरण

मूलाधार से आती हुई कुण्डलिनी शक्ति का इस स्वाधिष्ठान ग्रन्थि को सक्रिय करना वासनात्मक नहीं होता। वासना मात्र मूलाधार तक ही रह जाती है। यहाँ का बीज

'व' वरुण बीज है अर्थात् यह जल का देवता है। **बिन्दु** लयात्मक (सम्भोग) अवस्था का प्रकटीकरण करता है (इसका स्पष्टीकरण आज्ञाचक्र के अन्तर्गत है।) **जल**, अमृतमय शीतलता देने वाला, (कामाग्नि शीतल करने वाला) योनि स्राव है जो वासनात्मक से आध्यात्मिकता की ओर वर्ण परिवर्तन करके श्वेत हो गया है। यह जल **'वं' मकर** पर आधारित है। **'म' कार** पंच 'म' कार साधना से सम्बन्धित है। एक स्थान पर लिखा है कि "जल को दूषित होने से बचाने के लिए जैसे नदी में मकर होते हैं, वैसे ही इस अमृत जल में मकर है, जो वासना को खा गया है। अर्थात् यह योनिस्राव वासना रहित सम्भोग का परिणाम है।" इस ग्रन्थि में एक के अन्दर एक तीन गाँठें हैं। सब से बाहरी आवरण से छः सत-रजोगुणी नाड़ियाँ निकलती हैं जो जननांगों से सम्बन्धित हैं। उसमें अन्दर की ओर से आठ नाड़ियाँ निकलती हैं और उससे भीतरी सतह से भी आठ नाड़ियाँ निकलती हैं। भीतरी सोलहों नाड़ियाँ ऊर्ध्व भागों में जाती हैं। व के बिन्दु में **विष्णु** (उत्पन्न प्रजा का पालन करने वाली शक्ति, न कि प्रजा उत्पन्न करने वाली) का होना उत्पत्ति रहित सम्भोग (अर्थात् सम्भोग समाधि) को प्रकट करता है। इस चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति **राकिनी** जो कि लाल कमल पर आसीन है **'श्याम'** कही गई है। यह 'श्याम' उस नारी को नाम दिया है जो सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठण्डी रहती हो। पाठकों को यदि ध्यान हो, यह गुण कुण्डलिनी शक्ति में है जिसका आधार लाल कमल (मूलाधार) होता है। 'श्याम' के बारे में शाक्तानन्द तरंगिणी में कहा है—

शीतकाले भवेदुष्णा चोष्णकाले च शीतला।
प्रतप्तकाञ्चनाभा सा श्यामा स्त्री परिकीर्तिता॥

एक स्थान पर कुण्डलिनी देवी का ध्यान इस प्रकार करने का निर्देश दिया है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीमिष्टदेवस्वरूपिणीम्।
सदा षोड़षवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम्॥
नव यौवन सम्पन्नाम् वस्त्राभरणभूषिताम्।
पूर्ण चन्द्रप्रभा रक्तां सदा चञ्चल लोचनाम्॥

—षटचक्र निरूपणम्

(इष्टदेव स्वरूप कुण्डलिनी देवी का ध्यान सदैव सोलह वर्ष की ऐसी पूर्ण नवयौवना के रूप में करो जो बहुत सुन्दर, उन्नत उरोजों वाली, विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषण युक्त, सोलह कलाओं से पूर्ण चन्द्र के समान कांतिवान, कामासिक्त रक्तिम-आभायुक्त हिरनी के समान चंचल नेत्रों वाली हो।) सर आर्थर-एवलौन ने 'रक्तां' को सुन्दरी का पर्याय कहा है—'Red (Rakta) as regards Sundari so says the Author of Shaktananda Tarangini. आगे वह कहते हैं The Text may also be read as meaning that—'Read' is an atribute applicable to Shri Sundari that is, the 'Devi' Tripura Sundari'. (श्री यन्त्र की अधिष्ठात्री त्रिपुर सुन्दरी ही मानी गई है।)

यहाँ एक बात सोचने की है कि **जैसा ध्यान यहाँ कुण्डलिनी का दिया गया है, वैसा सोचने मात्र से कुण्डलिनी जगाने के स्थान पर साधक को स्वप्न दोष, प्रमेह, शीघ्र पतन आदि ऐसी लैंगिक व्याधियाँ लग जायेंगी जिनका आधार मनोवैज्ञानिक (Psychological) होता है।** इस ध्यान के स्थान पर स्वयं नवयौवन सम्पन्न नारी के साथ समागम हो तो कुछ बात बनने की आशा की जा सकती है। ऐसा ही धोखा लोगों को कोणार्क, ऐलोरा आदि के मन्दिरों की मिथुन मूर्तियों को देखकर होता है कि ये ध्यान के लिए हैं। नहीं! **यह आँख बन्द करके सोचने के लिए बनाई गई मूर्तियाँ नहीं हैं, अपितु क्रियात्मक रूप से साधना करने के लिए हैं।** यही काम-कला कुण्डलिनी का मूल आधार है। मुझे ऐसे सन्यासियों का पता है जो कुण्डलिनी जगाने के चक्कर में अपनी गुदा में अँगुली डालते हैं। अथवा समलैंगिक मैथुन में प्रवृत्त होते हैं। यह मैं व्यभिचारियों के बारे में नहीं कह रहा वास्तविक कुण्डलिनी साधक सन्यासियों की बात कर रहा हूँ जो वासना रहित कुण्डलिनी जागरण की खोज करते हैं। **लोगों को केवल मीनार के कंगूरे दिखाई देते हैं उसकी नींव के नीचे की ईंटें कैसे स्थान पर हैं, वहाँ उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती, परन्तु कँगूरों का निर्माण वही कर पाते हैं जो नींव की ईंट पर ध्यान देते हैं।**

पद्म दलों का सिन्दूरी रंग, सतोगुणी तथा रजोगुणी, पीला और लाल का मिश्रण, वासनात्मकता से आध्यात्मिकता की ओर विचार परिवर्तन का द्योतक है। जब ओज इस ग्रन्थि तक पहुँचता है, तो सम्बन्धित नाड़ियों को ओजपूर्ण (क्रियाशील) बनाता है और कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर बढ़ जाती है।

मणिपूरक चक्र

दश दल पद्म का मणिपूरक चक्र नाभि के मूल में चमकता है। इसके दलों का रंग जल भरे बादलों के समान गहरा श्याम वर्ण है। इसके दलों पर डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं अक्षर चमकते हैं जो नील वर्ण हैं। उगते हुए सूर्य के समान प्रभा वाला त्रिभुजाकार अग्नि क्षेत्र है। इसके बाहर तीन स्वास्तिक चिह्न हैं और उसके अन्दर अग्नि बीज रं है। अग्नि चतुर्भुज, बाल सूर्य सम प्रभायुक्त हैं। उसकी गोद में सिन्दूर वर्ण रुद्र हैं, वे भभूत लपेटने के कारण श्वेत हैं। मेष पर आरूढ हैं। तीन नेत्रों वाले हैं, उनके हाथ अभय मुद्रा और वर मुद्रा में उठे हुए हैं, वह सृष्टि संहारक हैं। रुद्र को अन्य ध्यान मुद्राओं में वृषभ पर आरूढ़ माना जाता है। वाहिनी (अग्नि) के ध्यान के बारे में कहीं-कहीं लिखा है कि वह 'रं' पर स्थित है। उसके एक हाथ में रुद्राक्ष माला है और शक्ति (शस्त्र) दूसरे में। इस पद्म की अधिष्ठात्री लाकिनी देवी के ध्यान के बार में लिखा है—

नीलां देवीं त्रिवक्त्रां त्रिणयनलसितां दंष्ट्रिणीमुग्ररूपां
वज्रं शक्तिं दधानामभयवरकरां दक्षवामे क्रमेण।
ध्यात्वा नाभिस्थपद्मे दशदलविलसत्कर्णिके लाकिनीं तां
मांसस्थां गोडभक्तोत्सुकहृदयवीं चिन्तयेत् साधकेन्द्रः॥

मणिपूरक चक्र Manipūrak Cakra

(Epigastric Plexus)

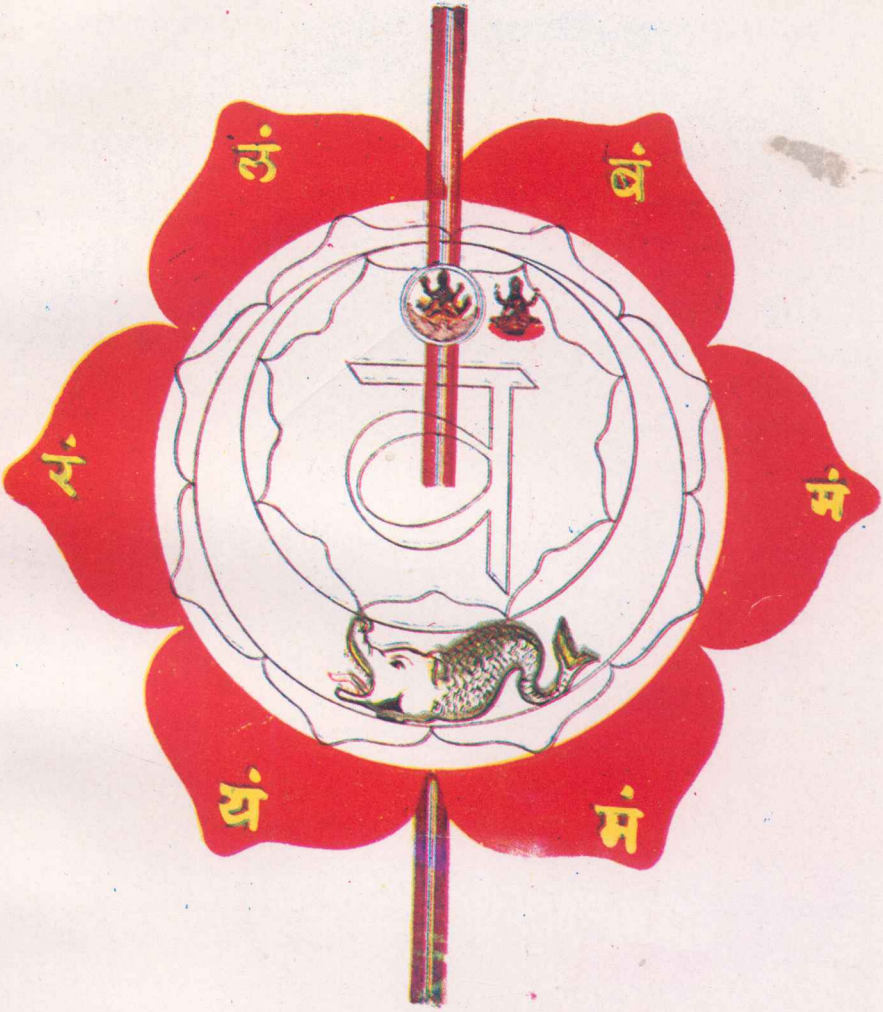

स्वाधिष्ठान चक्र Swādhishthān Cakra

(Sacral Plexus)

लाकिनी देवी नीलवर्ण है, तीन चेहरे हैं, प्रत्येक चेहरे पर तीन आँखें हैं, दाँत निकले हुए भयोत्पादक हैं। अपने दाहिने हाथों में वज्र और शक्ति लिए हैं और बाँयी ओर के हाथ वर मुद्रा और अभय मुद्रा में उठे हुए हैं। वह नाभि चक्र के बीज कोष के अन्दर है जो दश दल युक्त है। वह माँस भक्षी है। उसका वक्ष रक्त और चर्बी से भरा है जो उसके मुँह से (माँस भक्षण करने में) गिरा है। गौतमीय तन्त्र इसे मणिपूरक चक्र इसलिए मानता है क्योंकि यह मणि के समान चमकता है।

लाकिनी के बारे में एक और ध्यान मूर्ति इस प्रकार मानी जाती है—वह चतुर्भुजी, चमकदार, श्याम वर्ण वाली, पीताम्बरी, बहुत से आभूषण पहने, अमृत पान से मत्त चित्त है।

सारांश (Summary)

मणिपूरक चक्र जल भरे मेघों के रंग वाले दश दलों का पद्म है जिसके प्रत्येक दल पर डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं अक्षर नीलवर्ण में चमकते हैं। इस पद्म के बीज कोष में त्रिभुजाकार रक्त वर्ण अग्नि क्षेत्र है। इसकी बाहरी भुजाओं पर स्वास्तिक चिह्न हैं। इसके अन्दर अग्नि बीज रं है जो रक्त वर्ण, मेषारूढ़, चतुर्भुज, हाथों में वज्र और शक्ति (शस्त्र) लिए हैं शेष दोनों हाथ वर और अभय मुद्रा में उठे हैं। वाहिनी बीज के अंक में रुद्र हैं जो रक्त वर्ण, वृषभ आरूढ़, तथा शरीर पर भभूत मलने के कारण श्वेत वर्ण दिखाई देते हैं। वृद्धावस्था में प्रतीत होते हैं। बीज कोष के अन्दर रक्तिम पद्म पर शक्ति लाकिनी है जो नीलवर्ण, तीन चेहरे वाली, प्रत्येक चेहरे पर त्रिनेत्र, चतुर्भुजी, हाथों में वज्र और शक्ति थामे तथा दो हाथों द्वारा वर और अभय दान देते हुए, बड़े-बड़े डरावने दाँतों वाली, खिचड़ी (दाल चावल मिलाकर पकाये हुए) में माँस और रक्त मिला कर खाना पसन्द करने वाली है।

स्पष्टीकरण

नाभि पद्म का चित्रण तीन आधारों को लेकर चला है—जठराग्नि (पेट की ज्वाला), कामाग्नि और कुण्डलिनी। यह ग्रन्थि दस नाड़ियों वाली है। नाड़ियाँ बरसात के बादल के वर्ण वाली (बादल पृथ्वी के पानी से ही बनता है और उसी को पोषित करता है) अर्थात् भोजन से पाचित रस रक्तों को शरीर द्वारा उत्पन्न कराकर उसी के पोषण में लगाने वाली हैं। यहाँ का 'अधोमुखी रक्त वर्ण त्रिभुज' योनि का रजोगुणी (वासनात्मक, जिसमें उत्पत्ति होती है) होना दर्शाता है जिसमें अग्नि बीज 'र' है। योनि में आग होना कामाग्नि का संकेत है। यह कामाग्नि अर्थात् प्रकट में काम-क्रिया मेष (भेड) के समान, आँख बन्द करके, स्वत: ही चलने वाली है। योनि के बाहरी भाग पर स्वास्तिक काम क्रिया के मध्य श्वास सन्तुलन का संकेत देते हैं कि इड़ा (बाँया) और पिंगला (दाहिना) स्वर बन्द रहते हुए सुषुम्ना (ऊपरी) स्वर में कुण्डलिनी चढ़ाते चलो। अग्नि 'रं' का बिन्दु रजोगुणी रुद्र है जो सतोगुणी होने के प्रयत्न में श्वेत वर्ण बनने के लिए भस्म मले हुए हैं; अर्थात् साधक (स्वयं शिव) वासनात्मक भाव से वासना रहित सम्भोग की ओर अग्रसर हो रहा है। रुद्र के अलावा इस

क्षेत्र की अधिष्ठात्री शक्ति लाकिनी है जो त्रिमुखी है अर्थात् पाचन, विसर्जन और पोषण जैसे कार्य करती है। यह नील वर्ण अर्थात् सभी को मोहित करने वाली है। भूख के मोह से सारा संसार चिल्लाता है—पेट पापी है, हम नहीं। यह भूख -शक्ति लाकिनी है जिसके बड़े-बड़े दाँत बाहर निकले हुए हैं। सब को खा जाने वाली, दाल, चावल, माँस रक्त आदि पसन्द करने वाली यही देवी है। पद्म दलों पर अक्षर भी नील वर्ण है अर्थात् ग्रन्थि की नाड़ियों का सम्बन्ध 'नीलवर्ण', भूख की देवी से है। यह भूख-सम्बन्धी दसों नाड़ियाँ पाचन, विसर्जन और पोषण से सम्बन्धित हैं।

अनाहत चक्र

मणिपूरक चक्र से ऊपर हृदय देश में अनाहत चक्र का ध्यान रखना चाहिए। यह बारह दल का बन्धूक पुष्प के समान चमकदार वर्ण वाला पद्म है, जिसके दलों पर कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं अक्षर सिन्दूरी (Vermilion) वर्ण में चमकते हैं। यह गुण में कल्पतरु से भी अधिक है (क्योंकि यह बिना इच्छा के ही मोक्ष प्रदान करता है जबकि कल्पतरु तो माँगने पर इच्छा पूर्ण करता है) इसके बीज कोष के अन्तर्गत धूम्र वर्ण का षटकोणीय वायु क्षेत्र है। अनाहत चक्र का वायु बीज यं है जो धुएँ के गुब्बारे के समान वर्ण वाला, (शंकराचार्य के मतानुसार यह जीवात्मा का धुआँ हैं जो ज्वाला के समान है, तत्व चिंतामणि के अनुसार यह 'धूमावली धूसर' है) चार भुजाओं वाला, काले मृग पर आरूढ़ है। इसके अन्दर करुणा (दया) का सागर रूप ईश्वर है जिसकी आभा हंस के समान है, जिसके दोनों हाथ तीनों लोकों से अभय दिलाने तथा वर देने के लिए उठे हुए हैं। वायु के हाथ में अंकुश है। ईश भी शिव के समान त्रिनेत्र हैं।

एक स्थान पर कहा गया है—'ग्रैवेयाङ्गदहार नुपूरयुतं क्षौमाम्बरं चिन्तयेत्' तथा 'कांतं कान्तशशांककोटिकिरणां प्रोद्यत्कपर्दोज्ज्वलम्' (अर्थात् 'ध्यान इस प्रकार करें कि ईश जवाहरात की नेकलेस तथा मणियों की माला गले में, घुँघरू पैरों में डाले हैं तथा रेशमी परिधान पहने हैं। तथा अति सुन्दर, दस लाख चन्द्रमा की मृदु चमक के साथ अपने जटाधारी बालों में यह सुशोभित है।' नई तड़ित (कौंदा) के समान पीले वर्ण वाली काकिनी देवी यहाँ की अधिष्ठात्री है जो त्रिनेत्री, मत्तचित्त (A happy and excited mood) और प्रसन्न है, वह सभी के लिए उपकारी है। सभी प्रकार के आभूषण से युक्त हैं। उसके चार हाथों में पाश और कपाल हैं। शेष दोनों हाथ वर और अभय मुद्रा में उठे हुए हैं। उनका हृदय सहस्रार से टपकने वाले अमृत रस का पान करने से परमानन्दमय, विशाल और मृदु हो चुका है। काकिनी का ध्यान काले मृग चर्म को ओढ़े हुए मानकर करने की सलाह 'तत्व चिन्तामणि' में दी है। विश्वनाथ के अनुसार काकिनी की ध्यान मूर्ति इस प्रकार है—काकिनी चर्बी (मेद) में निवास करती है, उसके हाथों में पाश, शूल, कपाल और डमरू हैं। वह पीत वर्ण, चावल और दही पसन्द करने वाली है। उसका सुन्दर शरीर

थोड़ी सी झुकी हुई मुद्रा में है। उसका हृदय वारुणी (चावल की शराब) के घूँटों से प्रफुल्ल है।

काकिनी के ध्यान के पश्चात् शक्ति का ध्यान करें कि इस पद्म के बीज-कोष के अन्तर्गत शक्ति का कोमल शरीर १ करोड़ विद्युत प्रभा के समान त्रिकोण के रूप में चमकता है। इस त्रिभुज के अन्दर बाण-लिंग है जो चमकते स्वर्ण के समान है। त्रिभुज स्त्रीलिंग (शक्ति त्रिभुज) होने के कारण अधोमुखी है और योनि के रूप में त्रिकोण-शक्ति मानी गई है। बाण-लिंग के छिद्र में मणि के समान अर्ध चन्द्राकार बिन्दु है।

एक स्थान पर बताया गया है कि त्रिभुज के अन्दर बाण-लिंग स्वर्णाभूषण युक्त, शीर्ष पर अर्धचन्द्र देव और और अति उत्तम रक्त पद्म उसके मध्य स्थित हैं। रक्त पद्म के बारे में यह भी कहा जाता है कि वह अनाहत पद्म के बीज कोष के नीचे है और अष्ट दल युक्त ऊर्ध्व मुख है, इस रक्त पद्म के अन्तर्गत कल्पतरु तथा अति सुन्दर इष्टदेव के आसन का मण्डप है। उसके चारों ओर फलफूलों से लदे पेड हैं, और उन पर चिड़ियों की मधुर चहचहाहट है, वहाँ इष्टदेव पर साधक अपनी **सांप्रदायिक विधि के अनुरूप ही ध्यान (मानस पूजा) करे 'तत्र ध्यायेदिष्ट देवं तत्तत्कथोक्मार्गतः।'** यह अनाहत पद्मशिव का आसन है जो हंस (जीवात्मा) द्वारा शोभित है। जीवात्मा 'वायुरहित शान्त स्थान में दीपक की ज्योति के समान' प्रदीप्त है। अनाहत चक्र के पद्म-सूत्र सूर्य की रश्मियों के कारण चमक रहे हैं। यह सूर्य रश्मियाँ केवल सूत्रों पर ही पड़ रही हैं उससे नीचे नहीं। दूसरे चक्रों के पद्म-सूत्र इतने चमकीले नहीं कहे गये। सम्पूर्ण बीज कोष वायु क्षेत्र से पूरित है उससे ऊपर सूर्य-क्षेत्र है तब उसके ऊपर वायु बीज तथा त्रिभुज आदि हैं, इस प्रकार ध्यान करें। मानसी पूजा का मन्त्र—

'मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः।'

अनाहत चक्र सिद्ध होने पर साधक 'ईश्वरोऽपि जगतां रक्षाविनाशे क्षमः' ईश्वर हो जाता है और संसार की सृष्टि पालन तथा विनाश करने योग्य (Creating maintaining and destroying the universe) हो जाता है [यहाँ साधक शब्द जाल में न फँसे]। इस वाक्यांश का सीधा अर्थ है ब्रह्म तत्व में एक चित्त होने के कारण साधक जब चाहे संसार चक्र के कार्यकलापों से मुक्त हो अपनी साधना में लगा रह सकता है, जब चाहे संसार चक्र का आनन्द ले सकता है और जब चाहे जितना चाहे संसार चक्र के कार्य कलाप बढ़ा सकता है। सर ऑर्थर एवलॉन ने कहा है—

He becomes possessed of the power of creating, maintaining, and destroying the universe by reason of his unification with the Brahma Substance.

योगीशो भवित प्रियात्प्रियतमः कान्ता कुलस्यानिशं,
ज्ञानीशोऽपि कृती जितेन्द्रियगणो ध्यानावधनक्षमः।

गद्यैः पद्यपदादिभिश्च सततं काव्याम्बुधारावहो,
लक्ष्मी रंगणदैवतः पर पुरे शक्तः प्रवेष्टुं क्षणात् ॥

'तत्व चिन्तामणि' के अनुसार इस चक्र का साधक योगियों में श्रेष्ठ, स्त्रियों को पति से भी प्रिय लगने वाला (प्रियात्प्रियतमः कान्ताकुलस्यानिशं) क्योंकि वह उन्हें प्रसन्न करने वाला (कर्म-कौशल जानने के कारण) 'कर्म-कुशल' (कहलाता) है। वह विशेष रूप से बुद्धिमान और आदर्श कर्म (जिन्हें देखकर दूसरे करना प्रारम्भ करते है) करने वाला होता है। उसकी इन्द्रियाँ पूरी तरह उसके वश में रहती हैं। जहाँ जैसे चाहे वह उनका उपयोग कर सकता है और चाहे जब वह उन्हें रोक सकता है। वह ध्यान (चिन्तन) और अवधान (मन की गहरी एकाग्रता) दोनों में सक्षम होता है। बोलता है तो धारा प्रवाह बोल सकता है और विष्णु के समान 'लक्ष्मी रंगण' देवता बन सकता है, **अर्थात् मुक्ति मार्ग पर चलते हुए भी सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, लाभ का आनन्द ले सकता है।** इस बात को इस प्रकार समझने की भूल न करें—'सर्वसुख सौभाग्य ऐश्वर्य भोग करने के पश्चात् अन्त में साधक मुक्ति लाभ प्राप्त करता है।' अन्त में कुछ नहीं होता, वही होता है जो जीवन भर चलता है। **यदि प्रारम्भ से ही मुक्ति मार्ग पर नहीं चले तो अन्त में मुक्ति की पूँछ भी हाथ नहीं आने की।** अतः मुक्ति मार्ग पर चलते हुए ही आनन्द भोग की बात करो। 'परपुरे शक्तः प्रवेष्टुं क्षणात्' साधक दूसरे के दुर्ग में क्षण में प्रविष्ट हो सकता है। इसका अर्थ यह न लगायें कि साधक शत्रु के चारों ओर से पूर्णतः रक्षित दुर्ग में अदृश्य होकर जादूगर के समान हवा में उड़कर प्रवेश कर सकता है, इसका सीधा अर्थ है 'साधक दूसरे के मन की थाह पा सकता है' न कि साधक दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। सिद्धियों के प्रति गलत विज्ञापन करके जनता भ्रमित ही हुई है।

साधकों को चाहिए कि वे भ्रामक बातों के आधार पर सिद्धियाँ पाने का प्रयत्न न करें। **सिद्धियों के लोभ को त्याग कर तत्व मार्ग पर आगे बढ़ते चलें और मार्ग के सम्पूर्ण अवरोधों का आनन्दपूर्ण उपयोग करते चलें।** उन्हें संसार कहीं भी दुःखमय प्रतीत नहीं होगा।

सारांश (Summary)

बन्धूक पुष्प के वर्ण के अनाहत पद्म के द्वादश दलों पर 'कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं' सिन्दूरी अक्षर चमकते हैं। इसके बीज कोष का षट्कोणीय क्षेत्र धूम्र वर्ण का वायुमण्डल है उससे ऊपर १ करोड़ तड़ितों की सी चमक मारेने वाले त्रिकोण सहित सूर्य मण्डल है। उसके ऊपर धूम्र वर्ण का वायु बीज है जो काले मृग पर स्थित है, चतुर्भुज, हाथ में अंकुश लिये हुए है। वायु बीज के अंक (बिन्दु-गोद) में त्रिनेत्री ईश हंस के समान हैं जिनके दो हाथ वर और अभय मुद्रा में उठे हुए हैं। अनाहत पद्म के बीज-कोष में रक्त पद्म पर शक्ति काकिनी स्थित है जो स्वर्ण के समान देदीप्यमान, सर्वाभूषण पहने, पीले रंग के वस्त्रों में चतुर्भुजी है। हाथों में पाश और कपाल धारण किये हैं शेष दोनों हाथों से वर और अभय दान दे रही है। गले में हड्डियों की माला डाले है। उसका हृदय अमृत रस से

मृदुल हो रहा है। त्रिकोण के मध्य में वाण-लिंग है जिसके सिर पर अर्धचन्द्र और बिन्दु है। यह लिंग स्वर्ण वर्ण और (कामोद्गमोल्लसित) पूर्ण कामेच्छा से तना हुआ है। इसके नीचे हंस के समान जीवात्मा है जो दीपक की स्थिर लौ जैसी है। इस पद्म के बीजकोष के नीचे अष्ट दल युक्त रक्त पद्म है जो ऊर्ध्व मुखी है। इस रक्त पद्म में कल्पतरु है और मणिमाणिक्य सज्जित इष्ट देव का मण्डप है। यही स्थल मानसी पूजा का स्थान है।

स्पष्टीकरण

इस चक्र के चित्रांकन में अधोमुखी तथा ऊर्ध्वमुखी त्रिभुज एक दूसरे में गुथे हुए दिखा कर सम्भोग मुद्रा का प्रदर्शन किया है। यह संभोग मुद्रा धूम्र वर्ण अर्थात् श्वास वायु की है। इड़ा (नारी) और पिंगला (पुरुष) दोनों को समान कर सुषुम्ना के श्वास काल में कुण्डलिनी के आगे बढ़नें की बात यहाँ कही है। इसलिए इस क्षेत्र को वायु का मंडल कहा है। यहाँ नारी-पुरुष समागम की भी बात की है। अधोमुखी त्रिभुज (योनि) में सूर्य मण्डल की बात प्रदर्शित करके उसका कामाग्नि मय होना प्रकट किया है और उसमें वाणलिंग प्रविष्ट दिखाकर सम्भोग का प्रदर्शन किया है। वाणलिंग को 'कामोद्गमोल्लसित' (वासना के उत्पन्न होने से उल्लसित) कह कर तत्वचिन्तामणि ने रहे सहे संदेह को भी समाप्त कर दिया है। इस त्रिकोण का रंग लिंग सहित स्वर्णिम दिखाया है अर्थात् यह सम्भोग शुद्ध सतोगुणी है। इस सब के ऊपर वायु बीज 'यं' है अर्थात् यहाँ पर वायु अर्थात् श्वास पर अधिक ध्यान देना है। वायु बीज 'यं' को वायु वर्ण धूम्र के रंग में प्रकट किया है। उसे काले मृग पर आरूढ़ दिखा कर श्वास की गति का प्रकटीकरण किया है; परन्तु इस श्वास गति को 'हंस' में संयत (प्राणायाम) करना सतोगुणी सम्भोग की महान आवश्यकता है। 'वायु-शक्ति' की अधिष्ठात्री का नाम काकिनी दिया है जो स्वर्ण वर्ण दिखाकर सतोगुणी प्रकट की है। यह सतोगुणी श्वास वायु अमृतमयी ज्वाला के समान है। बाणलिंग पर चन्द्र बिन्दु भी 'शीतल-ज्वाला' कुण्डलिनी का ऊर्ध्व लिंगीय प्रकटीकरण है। अनाहतचक्र के पद्म दलों का रंग बंधूक पुष्प जैसा, तथा उन पर सिंदूरी रंग के अक्षर दिखाकर अनाहत ग्रन्थि को बारह नाड़ियों का प्रदर्शित किया है; जो श्वास और रक्त सम्बन्धी कार्यों को प्रभावित करती हैं। सतोगुण (आध्यात्म विधान) तथा रजोगुण (सृष्टि विधान) का मिश्रित वर्ण सिंदूरी है। वायु बीज 'यं' के बिन्दु में त्रिनेत्र ईश को चित्रित कर साधक को ज्ञान पूर्ण, और इन्द्रियों का स्वामी प्रदर्शित किया है। **बिना इन्द्रियों का स्वामी हुए कोई भी 'सतोगुणी-संभोग' नहीं कर सकता।**

इस अनाहत पद्म से नीचे आठ दलों के रक्त पद्म की बात की है। उसे कल्प वृक्ष युक्त् बताकर मानसी पूजा का स्थान कहा है। परन्तु यहाँ कोई ऐसी ग्रन्थि का प्रमाण नहीं मिलता जिनमें से आठ नाड़ियाँ निकली हों और उस पर (मानसी पूजा) मात्र ध्यान अथवा चिन्तन करने से कल्प वृक्ष के समान सर्व कामनायें पूर्ण होती हों।

विशुद्ध चक्र

इस चक्र का स्थान कण्ठ देश है—

विशुद्धि तनुते यस्मात् जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महत्परम्॥

हंस (आत्मा) के अवलोकन से जीव शुद्ध होता है इसलिए यह पद्म विशुद्ध, आकाशीय, महत और परम चक्र कहलाता है। यह तेज पूर्ण आकाश (Ether) तत्व युक्त परन्तु मल-मुक्त चक्र है। यह षोड़ष दल पद्म नील लोहित (बैंगनी) धूम्र वर्ण युक्त है जिसके प्रत्येक दल पर गहरे लाल रंग के सोलह स्वर (षोड़षमातृका) प्रत्येक उस साधक को अनुभव होते हैं जिसकी बुद्धि योग-ज्ञान से शुद्ध हो चुकी है। इन स्वरों के ऊपर बिन्दु भी हैं—अं आं इं ई उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः। आकाशीय (व्योम) क्षेत्र वृत्ताकार, तथा पूर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण है। तान्त्रिक रेखांकन के आधार पर आकाश का वर्ण श्वेत और आकृति वृत्त ही बनेगी यह बात विद्वान लोग जानते ही हैं। बर्फ के समान श्वेत हाथी पर 'व्योम' बीज रूप में श्वेत वर्ण में बैठे हैं [आकाश (व्योम) बीज 'हं' है जो श्वेत है।] उनके दो हाथों में पाश और अंकुश है, शेष दो हाथ वर और अभय दान दे रहे हैं। 'हं' के अंक (बिन्दु) में बर्फ के समान श्वेत महादेव विराजमान हैं जो अर्धनारीश्वर रूप हैं जो बाँयी और स्वर्ण वर्ण और दाहिनी ओर हिम-श्वेत वर्ण युक्त हैं। रसिक मोहन चट्टोपाध्याय की पुस्तक में अर्धनारीश्वर के रूप में एक साँड की कल्पना की है जिसका आधा शरीर शेर का है, सम्भव है इसलिए कि शिव का वाहन सांड (वृषभ) है और देवी का शेर (सिंह), जो उचित नहीं प्रतीत होता। यह अर्धनारीश्वर नभ-बीज के अंक में है। निर्वाण तन्त्र कहता है कि विशुद्ध चक्र के षटकोण तन्त्र के अन्दर एक वृषभ है, उस पर सिंहासन है। उस पर गौरी और उसके दाहिनी ओर सदाशिव विराजमान हैं, उनके पाँच चेहरे हैं, और प्रत्येक चेहरे पर तीन-तीन नेत्र हैं। शरीर पर भभूत मली हुई है। वह चाँदी के पर्वत के समान श्वेत वर्ण हैं। बाघम्बर तथा आभूषणों के रूप में सर्पो की माला डाले हैं। उनकी अर्धांगिनी गौरी हैं। उनके दश भुजाएँ हैं। उनके हाथ में शूल, टंक, कृपाण, वज्र, अग्नि (दहन), नागेन्द्र (नागराज), घंटा, अंकुश और पाश हैं और एक हाथ से अभय दान कर रहे हैं। इस प्रकार का ध्यान सदा शिव (सदा कल्याणकारी) है। इस विशुद्ध चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति 'साकिनी' है जो अमृत सागर है। ज्योति स्वरूप है। ऐसी ज्योति जो एकदम श्वेत वर्ण होकर भी शीतल है जैसे चन्द्रमा की चाँदनी। पीले वस्त्र धारण किये हुए हैं, उसके पाँच चेहरे हैं और प्रत्येक चेहरे पर तीन नेत्र हैं। वह चतुर्भुजी है, अपने हाथों में पाश, अंकुश, पुस्तक लिये हुए है और चौथे हाथ से ज्ञानमुद्रा प्रदर्शित कर रही है (कहीं-कहीं साकिनी के हाथों में धनुष, बाण, अंकुश और पाश की बात भी की गई है। ध्यान मूर्ति का अन्तर साधक के लक्ष्य के आधार पर हो जाता है। यह बात 'तन्त्र राज,

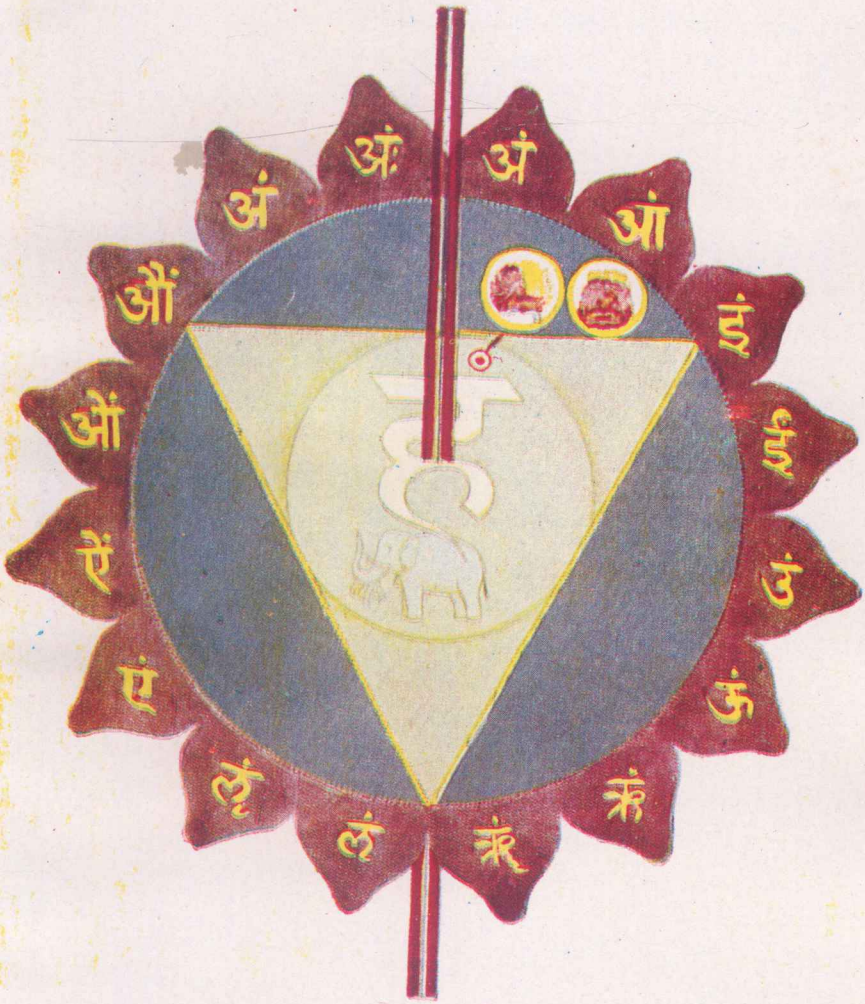

विशुद्ध चक्र Vishuddha Cakra

(Laryngeal & Pharyngeal Plexus)

भाग ८ और १२' में स्पष्ट की गई है। देवी की स्थिति 'प्रेम योग तरंगिणी' में चन्द्र मंडल के अन्तर्गत बताई गई है और उसे धब्बे रहित चन्द्रमा के समान कहा गया है। इस मण्डल को निर्वाण, मुक्ति का द्वार कहा गया है, **परन्तु केवल उसके लिये जिसने इन्द्रिय संयम द्वारा योगलक्ष्मी की कृपा प्राप्त कर ली है।** शंकराचार्य के अनुसार 'आत्म ज्ञान प्राप्त साधक गहरी झील के स्थिर जल के समान स्थिर चित्त होकर इस विशुद्ध चक्र पर ध्यान करे'—पूर्ण बोधात्मना तिष्ठेत् पूर्णाचल समुद्रवत्।

त्रिपुरा सार समुच्चय में कहा गया है कि कुम्भक (प्राणायाम की अवस्था) में रहते हुए इस पद्म पर लगातार ध्यान करने वाला यदि क्रोध करे तो तीनों लोकों को हिला सकता है। उसकी शक्ति को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य और गणपति भी नहीं रोक सकते।

सारांश (Summary)

कण्ठ के मूल में षोड़ष दल का पद्म बैंगनी धुएँ के रंग का है जिसके तन्तु गुलाबी हैं। प्रत्येक दल पर गहरे लाल रंग के सोलह स्वर 'अं आं इं ई उं ऊं ऋं ॠं लृं लृं एं ऐं ओं औं अं अः' चमकते हैं। इसके बीज कोष के अंदर वृत्ताकार श्वेत नभ मंडल है, इसके अंदर त्रिकोण है, उसके अंदर चन्द्र मण्डल है।उस पर नभ बीज 'हं' श्वेत वर्ण, श्वेत आभूषणयुक्त एक हाथी पर आसीन है। बीज वर्ण चार हाथों वाला है। उसके हाथों में पाश और अंकुश है, शेष दो हाथों से वर और अभय मुद्रा प्रदर्शित हो रही है। उसके अंक में सदाशिव हैं जो वृषभ की पीठ पर रखे सिंहासन पर बैठे हैं, उनका आधार शरीर हिम-श्वेत और आधा स्वर्ण वर्ण हो कर अर्धनारीश्वर रूप है। उनके पाँच मुख और दस भुजाएँ हैं। उनके हाथों में शूल, टंक, खड्ग, वज्र, ज्वाला (दहन), नागेन्द्र, घंटा, अंकुश और पाश है। एक हाथ से अभय मुद्रा प्रदर्शित कर रहे हैं। उनका पूरा शरीर भभूत मय है, बाघम्बर पहने हैं, गले में सर्पों की माला है। उनके मस्तक पर अर्धचन्द्र है, जिसकी उतरती कला से अमृत टपक रहा है। बीज कोष के अन्दर चन्द्र मण्डल में हड्डियों पर स्थित 'साकिनी' शक्ति है जो श्वेत वर्णा, चतुर्भुजी, पंचमुखी, त्रिनेत्री, पीताम्बरी है और हाथों में धनुष, बाण, पाश और अंकुश धारण किये हुए है।

स्पष्टीकरण

यह ग्रन्थि सोलह नाड़ियों वाली कंठ मूल के अंदर स्थित है। यह नाड़ियाँ स्वर यन्त्र सम्बन्धी हैं। स्वरों (वाणी) का गुण रजस है, अतः सोलह पद्म दलों पर यहाँ रक्तवर्णाक्षर दर्शाये गये हैं। दलों का रंग धूम्र और बैंगनी (लाल, नीला युक्त) मिश्रित है अर्थात् नाड़ियाँ वायु क्षेत्र की हैं परन्तु रजोगुणी और मोहने वाली वाणी उत्पन्न करने वाली हैं। जिसमें ईश्वर प्रदत्त आकर्षण शक्ति (Self attraction) हो उसे नील वर्ण से तन्त्र में प्रदर्शित किया जाता है। कृष्ण को भी नील वर्ण दिखाया जाता है। विशुद्ध चक्र का बीज कोष नभ-मण्डल (आकाश) है। आप जानते हैं स्वर की उत्पत्ति आकाश (Ethereal region) में होती है; आकाश, क्षेत्र वृत्ताकार है। चन्द्र मण्डल भी वृत्ताकार है। इसके ऊपर बीज 'हं' है जो पुनः ऐरावत पर आरूढ़ है। परन्तु यहाँ ऐरावत श्वेत वर्ण है अतः

वासनायुक्त नहीं है। यह ऐरावत धीर गति से वायु सेचन (प्राणायाम) की ओर संकेत करता है। इस चक्र का योनि-त्रिभुज भी वासना रहित होने से श्वेत वर्ण ही है। इसकी विभिन्न सूँडें प्राणायाम की विभिन्न मुद्राओं का संकेत देती है। 'हं' के ऊपर बिन्दु है, जिसमें वृषभ की पीठ पर एक सिंहासन पर सदाशिव को दर्शाया गया है। वृषभ पौरुषवान, वीर्यवान व्यक्ति का प्रकटीकरण है जो स्वयं साधक है। उसे 'सिंह' अर्थात् मन पर सवार होकर 'हं' स्वर साधना करनी है, जिससे वह अर्ध नारीश्वर हो जाता है (अपनी नारी वह स्वयं बन जाता है)। अर्धनारीश्वर में आधा शरीर बर्फ के रंग का और आधा स्वर्ण जैसा दिखाया जाता है। यह बर्फ जैसा रंग चाँदी रजत का प्रतीक है, जो रजोगुण को प्रकट करता है, और स्वर्ण सतोगुण को। तात्पर्य यह है कि ऐसा साधक जब चाहे रजोगुणी व्यवहार कर सकता है और जब चाहे सतोगुणी। अधिकतर लोग एक ही प्रकार की वृत्ति वाले होते हैं। सदाशिव के मस्तक पर चन्द्रमा प्रदर्शित करके तांत्रिक लोग चन्द्रमा की अधोमुखी कला के मस्तक पर अमृत टपकना प्रकट करते हैं। यह अमृत वही है जो कुण्डलिनी साधक के कण्ठ में खेचरी मुद्रा की अवस्था में टपकता है। इस चक्र के बीज कोष के चन्द्र मण्डल में हड्डियों (मज्जा) पर अधिष्ठित साकिनी शक्ति को श्वेत वर्ण में, पीले वस्त्रों में दर्शाते हैं। यह ज्वाला युक्त कुण्डलिनी शक्ति ही है जो यहाँ से आगे बढ़कर आज्ञाचक्र में पहुँचती है।

आज्ञाचक्र

तालु कण्ठं प्रविश्योर्ध्वं भ्रू युगान्ते सितं शुभम्।
द्विदलं हक्षवर्णाभ्यां मनोऽधिष्ठितमम्बुजम्॥

आज्ञाचक्र जो कि द्वि दल पद्म है दोनों भृकुटियों के मध्य में स्थित है। कुण्डलिनी कण्ठ (Throat) और तालु (Palate) के अन्दर (चढ़ती हुई) प्रवेश करती हुई दो भ्रू के मध्य स्थल पर श्वेत और भव्य पद्म पर पहुँचती है जिसके दो दलों पर ह और क्ष वर्ण चमकते हैं। यही मन का क्षेत्र है। यह पद्म अति सुन्दर रूप में चन्द्रमा के समान चमकदार श्वेत वर्ण है। इन पर अक्षर भी श्वेत वर्ण हैं। इस चक्र की चमक की गहराई साधक की ध्यान की गहराई की समानुपाती है। इन दो दलों को नेत्र-पात्र भी कहा जाता है। अक्षरों को कलाएँ भी कहते हैं क्योंकि यह कलाओं के बीज हैं। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति 'हाकिनी' है। जो षटमुखी है। प्रत्येक मुख चन्द्रमा के समान है और त्रिनेत्र है। इसकी छः भुजाएँ हैं जिनमें कपाल, डमरू और रुद्राक्ष माला है, एक हाथ में विद्या है। शेष दो, वर और अभय के मुद्रा में उठे हुए हैं। वह स्वयं शुद्ध चित्त है।

एक स्थान पर हाकिनी शक्ति का ध्यान सूत्र इस प्रकार है—

मज्जस्थां शुक्लवर्णां डमरूकरयुतांमक्षसूत्रं कपालं।
विद्यां मुद्रां दधानां त्रिणयनविलसद्रक्तषड्क्त्रयुक्ताम्॥

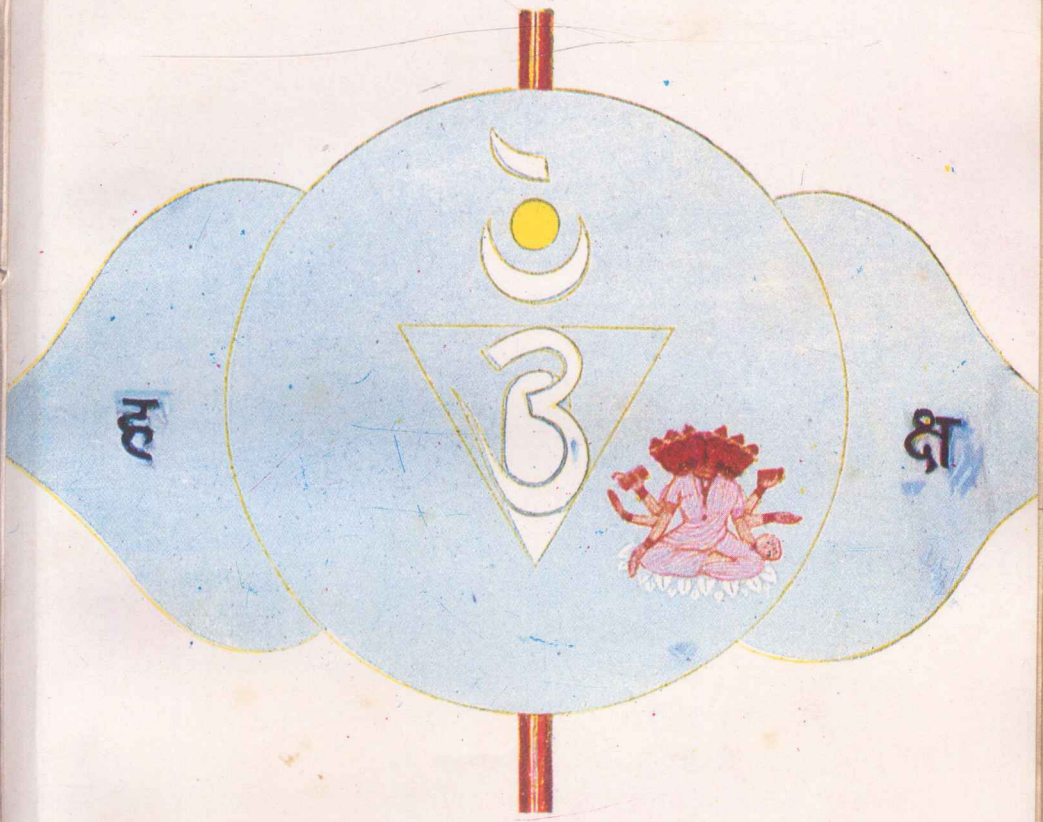

आज्ञा चक्र Ajnā Cakra

(Cavernous Plexus)

हरिद्रान्ने प्रसक्तां मधुमदमुदितां शुक्लपद्मोपरिस्थां।
देवीं देवेन्द्ररत्नाकर मधुमुदितां भावयेद्धाकिनीं ताम् ॥

अर्थात् हाकिनी शक्ति पर ध्यान इस प्रकार करें कि वह मज्जा में स्थित है, श्वेत वर्ण है। उसके हाथों में डमरू, कपाल, रुद्राक्ष माला और विद्या है और दो हाथों से वर और अभय मुद्रा प्रदर्शित कर रही है इस प्रकार वह षटभुजी है। रक्त वर्ण के छः मुख वाली जिसके प्रत्येक मुख पर तीन-तीन नेत्र हैं। हल्दी युक्त पके अन्न को पसन्द करने वाली, अमृत पान से प्रमत्त (उल्लसित) श्वेत पद्म पर आसीन है। कहीं-कहीं मज्जस्थ के स्थान पर चक्रस्थ शब्द मिलता है जिसका अर्थ है चक्र में स्थित है। अमृत के विषय में उल्लेख है कि वह अमृत जो देवों के राजा (देवेन्द्र) समुद्र (रत्नाकर) से प्राप्त किया था वह देवी हाकिनी पीकर प्रमत्त हुई है।

आज्ञाचक्र सूक्ष्म मनस क्षेत्र है। पद्म के बीज कोष के अन्तर्गत लिंग रूप में श्वेत वर्ण शिव (जिन्हें 'इतर' कहा जाता है) योनि के अन्दर विद्युत माला के समान प्रकाशित हो रहे हैं। वेदों का प्रथम बीज प्रणव 'ॐ' भी वहाँ चमकता है जो अति उत्तम शक्ति पीठ है जिसके प्रकाश से चित्रिणी नाड़ी (ब्रह्म नाड़ी) दिखाई देने लगती है। साधक को इन सभी वस्तुओं पर क्रमशः ध्यान करने का अभ्यास करना चाहिये। कुल शक्ति रूप अधोमुखी त्रिभुज है।

कहीं-कहीं ध्यान का क्रम इस प्रकार है कि बीज कोष के अन्दर पहले हाकिनी का ध्यान करो तब उसके ऊपर त्रिभुज के अन्दर इतरलिंग, इसी त्रिभुज के अन्दर लिंग के ऊपर (ॐ) प्रणव और अन्त में स्वयं प्रणव-के ऊपर मनस का। इस चक्र का साधक अद्वैत भाव को प्राप्त हो जाता है। बहुत सी शक्तियाँ अनजाने में उसे मिल जाती हैं। वह समझ जाता है कि वही ब्रह्म है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर उसे समझ आ जाने से वह अद्वैतवादी हो जाता है। इस चक्र के त्रिभुज के अन्दर संयुक्ताक्षर प्रणव है जो कि अन्तरात्मा (शुद्ध मन) दीपक में ज्योति के समान प्रकट करता है। इसके ऊपर अर्ध चन्द्र और उसके ऊपर बिन्दु (अनुस्वार) के रूप में 'म' कार है। इसके ऊपर नाद है जो इतना चमकदार-श्वेत है कि चन्द्र किरणें भी कुछ नहीं है। प्रणव के ऊपर अवान्तर (Final or Second) नाद है जो चन्द्रमा के टुकड़े के समान है। जब योगी योनि मुद्रा द्वारा अपने शरीर द्वारों को बन्द कर लेता है और लगातार अभ्यास द्वारा चित्त को परमानन्द में लीन कर देता है तो उसे प्रणव स्थान पर त्रिभुज के अन्दर प्रकाश के स्फुलिंग (कण) चमकते हैं। मन को स्थिर करने के लिये योनि मुद्रा के सहित श्वास रोधकर के 'हंस' को स्थिर करना ही उचित है। खेचरी मुद्रा भी ऐसी स्थिति उत्पन्न करती है। 'हंस' से यहाँ तात्पर्य श्वास प्रश्वास (हं सः) है। चित्त को खेचर 'ख' कहते हैं। जब यह मनस से तथा संसारी पदार्थों से अलग हो जाता है तो यह अवस्था 'उन्मनि' कहलाती है। इस सब का क्रियात्मक ज्ञान करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं हो सकता जो गुरु के सान्निध्य से प्राप्त होता है। यह

आज्ञाचक्र ही वह स्थल है जहाँ सु-सुख साधना (आनन्द साधना) सम्पन्न होती है। कहीं-कहीं लिखा है कि प्रणव चारों ओर प्रकाश स्फुलिंग से घिरा है—

तदूर्ध्वे प्रणवाकारमात्मानं दीपसंनिभम्।
स्फुलिंग ज्योतिरिंगाभैर्वेतिष्ठतम् परितः शुभम्॥

योगी को दीपक की ज्योति के समान प्रकाश भी दिखाई देता है जो आकाश (शंखिनी नाड़ी के ऊपर का स्थान) से धरनी (मूलाधार का धरा मण्डल) तक अर्थात् सहस्रार से मूलाधार तक फैला हुआ है।

इस स्थान पर पहुँचने वाला साधक फलाकांक्षा रहित कर्म करने वाला, बन्धन मुक्त, अपने में पूर्ण, सृष्टिकर्ता (संसार को उत्पन्न करने वाला), पालनकर्ता (उसे चलाते रहने वाला), और संहारकर्ता (जब चाहे उसे समाप्त कर देने वाला) भगवान हो जाता है।

निर्वाण तन्त्र के अनुसार—विशुद्ध चक्र से ऊपर ज्ञान चक्र है जिसे पाना अत्यन्त कठिन है। वह पूर्ण चंद्र का क्षेत्र है जो दो दल वाला है। इसके अन्दर हंस के रूप में शंभु का बीज है। ——यह हंसः मणि द्वीप में है। मणि द्वीप अमृत सागर के बीच में मणि के समान चमकता है। रुद्र यामल तन्त्र के अनुसार मणि द्वीप अमृत सागर के मध्य में है जो अगणित सांसारिक विधि-विधान से परे और संसार के बाहर है। वहाँ पर श्री-विद्या का परम धाम है। हंस के अंक में परम शिव अपने बाँयी ओर सिद्ध काली को लिये बैठे हैं। सिद्ध काली स्वयं परमानन्दमयी हैं। अंक से यहाँ तात्पर्य विसर्ग के बिन्दुओं के बीच के खाली स्थान से है क्योंकि अव्यय विसर्ग रूप है (विसर्गरूपम् अव्ययम)। उस विसर्ग के बीच के स्थान (आकाश 'अ——ह') में परम शिव है। यह सहस्रार से सम्बन्धित है, प्रसंगवश यहाँ दिया गया है। क्योंकि विसर्ग बिन्दु का प्रतीक बिन्दु ॐ का बिन्दु माना गया है। ॐ बिन्दु शिव और शक्ति की संगम मुद्रा है।

उत्कलादिमतेऽत्रैव चणकाकार रूपिणी।
सृष्टिं करोति भूतानि अत्र स्थित्वा सनातनी॥

उत्कल आदि के मत से शक्ति चने की दाल के आकार में आज्ञाचक्र में निवास करती है और सब भूतों को उत्पन्न करती है। यही बिंदु 'म' का नाक से बोला जाने वाला स्वर है जो 'पुल्लिग स्वर' माना जाता है, इस प्रकार यह अव्यक्त 'म' अर्थात् पुरुषवान शिव है। इस प्रकार शिव और शक्ति का संगम प्रतीक यह बिंदु है जो सृष्टि उत्पन्न करता है। चने की दाल का उदाहरण इसलिए दिया गया है कि चने का एक भाग शिव और दूसरा शक्ति माना जाय परन्तु दोनों मिलकर (चना) शिव कहा जायेगा जिसके अंक में शक्ति है। पूर्ण चना अर्धनारीश्वर रूप है—**"तदुभयाभिन्नशिवशक्त्यात्मकश्चणकाकार बिंदुरिति ध्येयम्**—तत्व चिन्तामणि। यही स्थान विष्णु का अतुलनीय प्रकाशमय पीठ है।

मृत्यु के समय श्रेष्ठ योगी प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राण को यहाँ स्थिर करके परम पुरुष में लीन होने के लिए उचित योगासन में स्थिर होकर कुम्भक प्राणायाम करता है तब वह जीवात्मा को मूलाधार तक पहुँचाकर गुदा का आकुंचन (वज्रोली मुद्रा) कर विधिपूर्वक कुण्डलिनी चढ़ाता है, और आनन्दपूर्ण नाद पर ध्यान करता है जो सूत्र वत है और जिसका तत्व कुण्डलिनी है। तब वह हंस जो कि प्राण के रूप में परमात्मा है, नाद में लय (विलीन) हो जाता है और जीव सहित विभिन्न चक्रों का भेदन करता हुआ चक्र भेद के आधार पर आज्ञाचक्र तक पहुँच जाता है। कुण्डलिनी में वह सब पृथ्वी आदि स्थूल वस्तुओं को सूक्ष्म तत्वों में परणित कर देता है। अन्त में वह अपने को और जीवात्मा को बिन्दु में एकाकार कर देता है। उस बिन्दु के तत्व शिव और शक्ति हैं। इसके पश्चात् वह ब्रह्म रन्ध में प्रवेश कर जाता है और शरीर त्याग देता है और ब्रह्म में लीन हो जाता है।

सारांश (Summary)

आज्ञाचक्र श्वेत वर्ण का द्विदल पद्म है। इन दलों पर श्वेत वर्ण के ह और क्ष अक्षर हैं। बीज कोष के अन्दर चक्र की अधिष्ठात्री देवी हाकिनी है। वह श्वेत वर्ण है, उसके छः रक्त वर्ण के चेहरे हैं। प्रत्येक चेहरे पर तीन-तीन नेत्र हैं। उसकी छः भुजायें हैं। वे श्वेत पद्म पर आसीन है। उसके हाथों में रुद्राक्ष माला, कपाल, डमरू और विद्या है; शेष दो हाथ वर और अभय मुद्रा में उठे हुए हैं। उसके ऊपर एक अधोमुखी त्रिभुज के अन्दर इतर लिंग विद्युत के समान चमकता है। उससे ऊपर एक और त्रिकोण के अन्दर दीपक की ज्योति के समान चमकने वाला अन्तरात्मा है, इसकी चारों दिशाओं में प्रकाश के स्फुलिंग हवा में उड़ते दिखाई देते हैं। इस प्रकार से मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सब चमकता है। उस सबसे ऊपर मनस है। मनस से ऊपर चन्द्र मण्डल में हंसः है जिसके अन्तर्गत परम शिव अपनी शक्ति सहित विराजमान हैं।

स्पष्टीकरण

त्रिभुज (योनि) में प्रविष्ट इतर लिंग (अर्थात् सम्भोग मुद्रा में) 'उ' कार केवल योनि के अन्दर है और योनि से बाहर चन्द्र बिंदु तथा अर्ध चन्द्र है, (पाठक ध्यान दें) अर्थात् अश्विनी मुद्रा द्वारा सम्भोग मुद्रा से परे का अनुभव हाकिनी शक्ति-द्वारा साधक को होता है जो श्वेत चन्द्र के समान शीतल अमृतपूर्ण है; और साथ ही सूर्य के समान ज्वालामय (सूर्य का वर्ण पीला सा है और चन्द्र का श्वेत, इसलिए आज्ञाचक्र के बिन्दु का रंग पीला चने की दाल जैसा बतलाया है।) यह गुण कुण्डलिनी शक्ति का है जो जलन और शीतलता दोनों का एक साथ अनुभव देती है। परन्तु जब वह यहाँ से आगे बढ़ती है तो शीतल ही होती है। (अर्ध चन्द्र का टुकड़ा कुण्डलिनी की आगे की गति का प्रकटीकरण करता है।) श्वेत वर्ण आज्ञाचक्र का वृत्त मस्तक ग्रन्थि में मिलने वाली दो नाड़ियों इड़ा तथा पिंगला (सूर्य 'ह') के मेल से श्वास के सुषुम्नामय होने को प्रकट करता है। इस प्रकार यह चित्र बताता है कि सुषुम्ना की श्वासावस्था में किया गया वज्रोली अश्विनी मुद्रा युक्त सम्भोग ही शीतल-ज्वाला कुण्डलिनी को आगे बढ़ाता है।

सुषुम्ना की शक्ति हाकिनी के छः चेहरे तथा हाथों में विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न कार्य-कलापों के प्रकटीकरण ही हैं। यथा—वर मुद्रा (साधक को सफलता उत्तरोत्तर प्राप्त होती जाती है), अभय मुद्रा (साधक में भय नहीं रहता और दृढ़ विश्वास जमता जाता है। रुद्राक्ष माला (हंसः का जप, अर्थात् लय बद्ध श्वास बराबर चलता रहता है) मानव खोपड़ी (साधक की खोपड़ी का पूरा नियन्त्रण इस शक्ति पर ही निर्भर है, थोड़ी सी असावधानी अथवा अविश्वास साधक की खोपड़ी घुमा सकता है अर्थात् पागल कर सकता है) छोटा सा डमरू (इस ग्रन्थि चक्र में डमरू जैसी आवाज सुनाई देती है, यह धमनी की गति है जो लयबद्ध होती है।) पुस्तक (साधक के ज्ञानमय होते जाने का प्रतीक है।) **इन प्रतीकों की आकृतियों, वर्णछटाओं के तांत्रिक अर्थ लगाने से इस चक्र आकृतियों की भाषा को समझकर ही 'मात्र मनोवैज्ञानिक योग-परम्परा' से बचकर वास्तविक कुण्डलिनी मार्ग को पहचाना जा सकता है।**

षड्चक्र क्यों ?

कुण्डलिनी शक्ति की तांत्रिक श्रृंखला में षडचक्रों में छटवाँ चक्र 'आज्ञाचक्र' है। आज्ञाचक्र में अन्तिम 'योनि-त्रिभुज तथा लिंग' दर्शाये गये हैं। इससे ऊपर के चक्रों में इनकी आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् आज्ञाचक्र से आगे नारी-पुरुष संभोग की बात समाप्त हो जाती है। इसे यह न समझें कि व्यक्ति संभोग-विरक्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि **वह कुण्डलिनी को बिना संभोग के ऊर्ध्वगति देने में सक्षम हो जाता है।** संभोग अर्थात् काम-कला एक तांत्रिक (तकनीकी Techincal) कार्य है। अतः मूलाधार से आज्ञाचक्र तक के छः चक्र जिनमें संभोग का प्रयोग होता है तांत्रिक-चक्र' कहलाते हैं। उससे आगे के चक्र तांत्रिक होते हुए भी इसी सन्दर्भ में तांत्रिक नहीं कहे जाते। आगे के चक्र मैं तांत्रिक इसलिये कह रहा हूँ क्योंकि वहाँ भी संभोग तो होता है—स्वयं का स्वयं से। नारी की आवश्यकता नहीं रहती अतः साधक नारीनटेश्वर की स्थिति में आ जाता है। यही कारण है कि बहुत से विद्वान सहस्रार से ही कुण्डलिनी साधना का प्रारम्भ मानते हैं। इन षडचक्रों के तांत्रिक भेदन के पश्चात् साधक के योगच्युत होने का भय नहीं रहता।

विशुद्ध चक्र में संभोग की धीर गति की मस्ती से अधिक, श्वास की धीर गति की मस्ती पर ध्यान दिया गया है जो सूक्ष्मणा की सूक्ष्म श्वास (न के बराबर) से ही सम्भव होती है। इससे पूर्व का चक्र 'अनाहत' उस क्षेत्र का है जहाँ बिना चोट किये आवाज (अन आहत) होती है—श्वास की आवाज। यही अनाहत मन्त्र 'हं सः' है। इस अवस्था का संभोग वासना रहित, सात्विक संभोग है। इससे पूर्व के चक्र मणिपूरक में मूलाधार वाले संभोग की कामाग्नि ही प्रज्वलित होकर कुण्डलिनी तरंगों को आगे की ओर प्रसारित कर देती है, जिस प्रकार स्वाधिष्ठान चक्र में करती है।

(इन षडचक्रों के स्पष्टीकरणों में बहुत से पाइण्ट जान-बूझकर छोड़ दिये गये हैं क्योंकि उनके लिए उचित प्रमाण, व्याख्याएँ, आदि नहीं मिल पा रहे थे। फिर भी इस विषय के जिज्ञासुओं के लिये लुप्त प्राय: विद्या के प्रवर्तन हेतु यह लघु प्रयास किया गया है जिससे भावी साधक अपने अमूल्य अनुभवों का इसमें योगदान करने में संकोच न करे।)

बिना संभोग के कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगति देने, अथवा स्वयं का स्वयं से संभोगरत होने के उदाहरण स्वरूप मेरे एक मित्र श्री मनोहर लाल गुप्ता (आगरा) का अनुभव मनन करने योग्य है।

त्रेपन वर्षीय साधक 'मनोहर लाल गुप्ता' का 'प्रथम अर्ध-नारीश्वर' अनुभव

कुछ लोग तो अधिक श्रम और साधना करते हैं तब परिणाम थोड़े से पाते हैं और कुछ साधना कम करने पर भी अपेक्षाकृत अधिक परिणाम प्राप्त करते हैं। योग ऐसे साधकों को पूर्व जन्म के सिद्ध साधकों की श्रेणी में मानता है। गुप्ता जी आर्य समाजी वातावरण में पलकर, पिछले 30 वर्षों से राधास्वामी दयाल की कृपा से सन्त-मत का अनुसरण करते हुए भी योग-साधना करते ही रहे हैं। मेरी मित्रता मानने से पूर्व उन्होंने विशेष विधि से अपने गुरुदेव से आज्ञा माँगी जिसमें उनके सर्व समर्थ गुरु ने आज्ञा दी कि 'मैंने तुम्हारे लिये उपयुक्त व्यक्ति को आपके साथ लगा दिया है, तुम्हें हिचक नहीं करनी चाहिये' और वे मेरी बताई साधना विधि पर श्रम करने लगे। इन्हें कुण्डलिनी साधना में उतरे लगभग दो-तीन मास ही हुए हैं। इन्होंने लगभग २ वर्ष पूर्व के एक स्वप्न में 'साँप के मुँह में उसकी पूँछ घुसाते हुए अपने को देखा था', तब से बहुत से लोगों से इस स्वप्न के बारे में पूछताछ कर चुके थे, परन्तु उन्हें सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका था। जब मुझे यह स्वप्न उन्होंने बताया तो मैंने उन्हें कहा कि 'थोड़े श्रम और साधना से आप कुण्डलिनी में उतर जायेंगे।' उसी समय उन्हें शिवजी के 'अर्ध नारीश्वर' रूप का आशय समझाया था। कुछ दिन बाद उन्होंने स्वप्न में अपने एक मित्र की जिसे वह नया गुरू मानते थे 'अर्ध-नारीश्वर मुद्रा' देखी। बाद में उन्हें उनकी स्थिति के अनुरूप कुछ कुण्डलिनी की अभ्यास मुद्रायें भी बतलाई गई, उनके सतत अभ्यास से वे अर्ध-नारीश्वर स्थिति तक पहुँचने में सफल हुए। वे घटनाक्रम इस प्रकार बताते हैं—

रात को लगभग साढ़े नौ बजे मेरा लिंगकामोद्गमोल्लसित हो गया जैसा २०-२२ वर्ष की उम्र में हुआ करता था। मैं अपनी पत्नी के पास पहुँचा तो वह कुछ अनमनी सी मालूम पड़ी। मैं डरने लगा कि यदि मैं अभी कुछ उपाय नहीं करता तो निश्चित ही आज वीर्य की अधोगति किसी न किसी समय हो जानी है। मैंने लिंग पर शीतल जल की धारा डालकर प्राकृतिक उपचार किया, फिर भी काम नहीं बना। अपने गुरुओं की श्रृंखला को याद करते-करते अपने नये मित्र-गुरु की कुण्डलिनी की बात मस्तिष्क में आ गई। मैं कुण्डलिनी विधि अनुसार 'वज्रोली मुद्रा' करने लगा। वज्रोली करते-करते मुझे अचानक बड़ा आनन्द आने लगा और उस आनन्द की मस्ती में मैं कुण्डलिनी क्रिया द्वारा वीर्य को

ओज में परणित कर मेरुदण्ड में आधा-पौना घण्टे तक चढ़ाता रहा। कुछ समय बाद मैं ऐसा तृप्त, शांत और प्रफुल्ल हो गया जैसा कि मैं शायद संभोगरत होकर भी नहीं हो पाता। बड़ी गहरी नींद आई और सुबह भी एकदम तरो-ताजा प्रफुल्ल मन से उठा। अन्य दिनों सुबह इतना प्रफुल्ल नहीं उठता था। जब यह प्रसंग मैंने अपने मित्र-गुरु को सुनाया तो उन्होंने मुझे समझाया कि 'यह तुम्हारी अर्ध-नारीश्वर स्थिति का प्रथम अनुभव है। इसी अभ्यास को आगे बढ़ाते जाओगे तो नारी-नटेश्वर बन जाओगे।' देखिये कहाँ तक पहुँचाती है 'सन्त सद्गुरू की प्रेरणा?'

सहस्त्रार चक्र

आज्ञाचक्र से आगे के क्षेत्र के बारे में स्वच्छन्द संग्रह में लिखा है कि समष्टि (Cosmic) आज्ञाचक्र से परे बिन्दु के अन्दर १० करोड़ योजन का क्षेत्र है जो १ करोड़ सूर्यों की चमक के समान दीप्तवान है। यहाँ पर शांति से परे की (शान्त्यातीत) स्थिति का स्वामी शान्त्यातीतेश्वर है जिसकी दस भुजाएँ और पाँच चेहरे हैं और बहुत सी बिजलियों की चमक के समान आभायुक्त है। उसके बाँई ओर शान्त्यातीत मनोन्मनी है। उनके चारों ओर निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शांति हैं, इनमें से प्रत्येक के पाँच चेहरे और दस हाथ हैं, यह चन्द्रमा से आभूषित हैं। यह सब बिन्दु तत्व हैं। बिन्दु से ऊपर अपनी कलाओं सहित अर्ध चन्द्र हैं, वे हैं—ज्योत्सना, ज्योत्सनावती, कांति, सुप्रभा, विमला। अर्ध चन्द्र से ऊपर निबोधिका अपनी कलाओं सहित है। कलाएँ हैं—बंधती, बोधिनी, बोधा, ज्ञान बोधा, तमोपहा। निबोधिका से ऊपर नाद अपनी पाँच कलाओं सहित है। वे हैं—इन्धिका, रेचिका, ऊर्ध्वगा, त्रासा और परमा। इससे ऊपर कमल पर ईश्वर है जो दस करोड़ योजन में प्रसारित है। दस हजार चन्द्रमाओं के प्रकाश के समान आभायुक्त है। वह पंचमुखी है। प्रत्येक मुख त्रिनेत्री है। उसके हाथ में शूल है, जटाधारी है वह ऊर्ध्वगामी है जिसे ऊर्ध्वगामिनी कला आलिंगन किये हुए है।

आज्ञाचक्र से ऊपर हल के सिरे के आकार का महानाद का क्षेत्र है जहाँ वायु अर्ध शिव में लय होती है। शिव आधे हैं क्योंकि आधी शक्ति (जिसे नाद भी कहते हैं) है। यह क्षेत्र आज्ञाचक्र के ऊपर और सहस्त्रार से नीचे है इसलिये इसे कारणवान्तर शरीर (Intermediate Causal Body) भी कहा गया है। शंकराचार्य कहते हैं कि इस स्थान पर वायु नहीं रहती (वायोह विराम भूतम्)। एक स्थान पर कहा गया है कि शिव 'ह' कार है यदि ह को ऊपर से आधा काट दें तो नीचे का भाग भारतीय हल जैसी आकृति शेष बचता है। भूत शुद्धि आदि के विषय में कहा गया है कि वायु (त्वक) स्पर्श तत्व में लय होती है और फिर व्योम में, इसी प्रकार वह नाद में भी लय होती है। श्रुति में कहा है—इ कार से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई जो रसवती है। क कार जो कि रस है जल और तीर्थों की उत्पत्ति हुई। र कार (रेफ) से वाहिनी अग्नि तत्व की उत्पत्ति हुई। नाद से वायु तत्व की उत्पत्ति हुई जो सर्व प्राणमय है। बिन्दु से शून्य (आकाश) तत्व की उत्पत्ति हुई जो कि

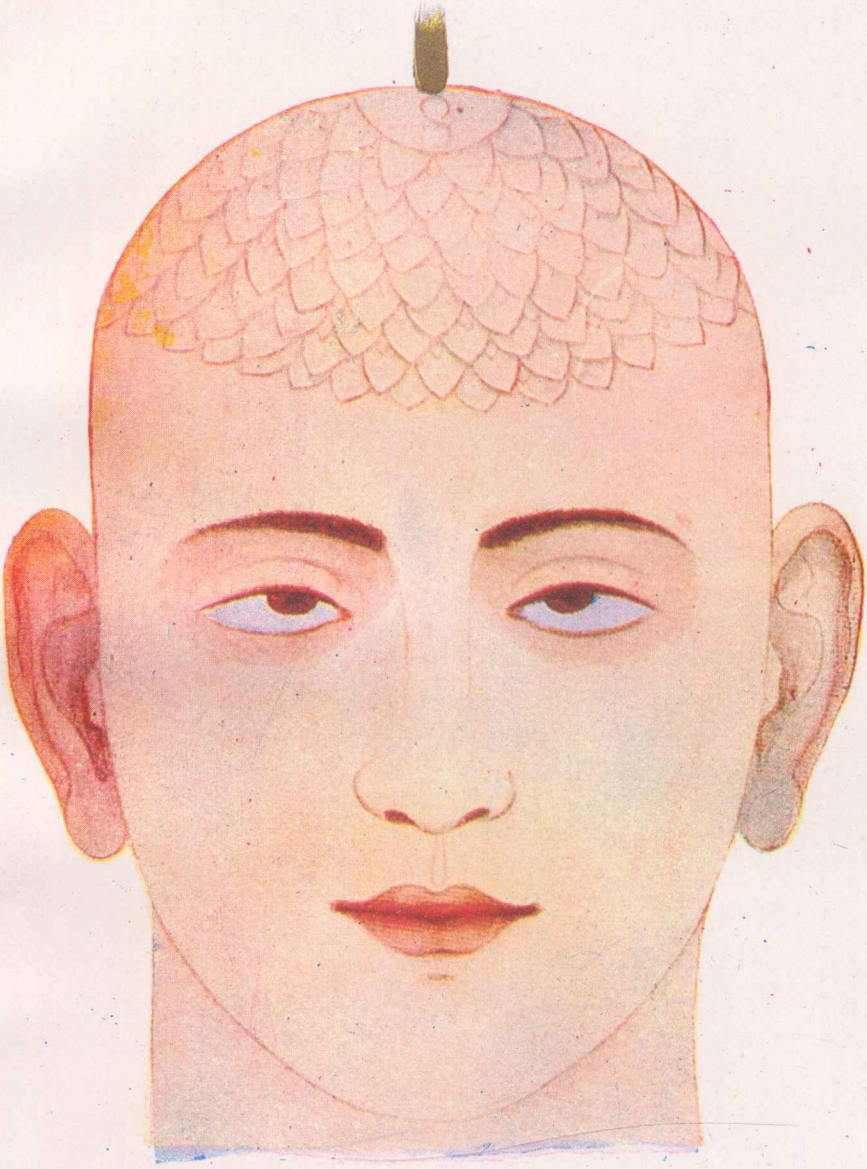

सहस्त्रार चक्र Sahastrār Cakra

(Cerebral Plexus)

सर्व शून्य और शब्दमय है और इन सबसे पच्चीस तत्वों की उत्पत्ति हुई जो गुणमय हैं यही सम्पूर्ण कालिकामय ब्रह्मांड है। प्रयोग सार तन्त्र में कहा गया है—

नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥

जो शक्ति मुक्ति की ओर अग्रसर करे वह पुरुष रूप बिन्दु है, जब उसे नाद के द्वारा गतिमय (उद्दीप्त) किया जाता है तो वह शिव की ओर अग्रसर होती है। राघव भट्ट ने कहा है **'शक्तेर्नादबिन्दु सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ'** नाद और बिन्दु शक्ति के सृष्टि के उपयोग की अवस्था के रूप हैं। उपयोग ही सृष्टि करने की शक्ति ('Uayoaga' is Capacity of fitness of Creation)।

आज्ञाचक्र में बतलाई गई वस्तुओं [यथा हाकिनी से ऊपर इतर लिंग, उससे ऊपर प्रणव, उससे ऊपर मनस, उससे ऊपर अहंकार, उससे ऊपर बुद्धि, उससे ऊपर प्रकृति, उससे ऊपर चंद्र (इंदु या बिंदु), उससे ऊपर बोधिनी, उससे ऊपर नाद, उससे ऊपर महानाद, उससे ऊपर कला, उससे ऊपर उन्मनी, उससे ऊपर शंखिनी नाड़ी के मुँह पर (जहाँ कोई नाड़ी नहीं है और सुषम्ना का अन्तिम सिरा है) उस शून्य क्षेत्र पर, विसर्ग से नीचे (विसर्ग ब्रह्म रंध के ऊपरी भाग में है) सहस्त्र दलों वाला पद्म है, जो पूर्ण चंद्र के समान श्वेत वर्ण अधोमुखी, तरुण सूर्य जैसी रश्मि पुंज की कांति वाले अ से ह तक (जिसमें विसर्ग अः) छोड़कर १५ स्वर और ३३ व्यंजन (कुल ४८ सामान्यतः १६ स्वर ३६ व्यंजन वर्णमाला के अन्तर्गत माने जाते हैं) २१ बार दुहराये गये होने से] १००८ दलों पर सुशोभित हैं। कंकाल मालिनी तंत्र के अनुसार—

सहस्त्रारं महापद्मम् शुक्लवर्णमधोमुखम् ।
अकारादिक्षकारान्तैः स्फुरद्वर्णैर्विराजितम् ॥

सहस्त्र दलों पर अ कार से क्ष कार के पूर्व के अक्षर 'ह' तक कुल ४९ वर्ण बनते हैं जिसमें विसर्ग ब्रह्म रंध के ऊर्ध्व भाग में है (तस्मिन रंधे विसर्ग च नित्यानंद निरंजनम्—श्री पूर्णानन्द) अतः मात्र ४८ वर्ण शेष रहे। 'क्षकारान्तै' बहुब्रीह समास के आधार पर श्री पूर्णानन्द के अनुसार यह अर्थ देता है कि 'क्ष' कार प्रारम्भ होने तक माना जायगा, अर्थात् 'ह' तक ही वर्ण गिने जायेंगे।

सहस्त्र दल पद्म के विषय में बहुत सी भ्रांतियाँ आ गई हैं क्योंकि अधिकतर विश्लेषक स्वयं 'साधक' (Practical Siddhas) नहीं रहे। कई पुस्तकें तो अनुमान के आधार पर एक विश्लेषक के पश्चात् दूसरे, और दूसरे के पश्चात् तीसरे विश्लेषक ने लिख डाली है। जिससे विषय गुरु से गुरुतर ही बनता गया। यदि साधक स्वयं कुछ लिखे या बतलाये तो वह यह कह सकता है कि आप जो कुछ अनुमान लगा रहे हैं, वह इस प्रकार नहीं अमुक प्रकार है। विश्लेषकों की बात कोरा शास्त्रार्थ भर रह जाती है। सहस्त्र दल पद्म में १००८ दल (पंखुड़ियाँ) हैं, पूरे एक सहस्त्र नहीं। परन्तु उन्हें सामान्यतः

सहस्त्र दल ही कहा जाता है। जैसे १०८ मनकों की माला पर १०० जप करने के लिए ११ माला जपी जाती हैं, ८ की कहीं गिनती नहीं होती। सहस्त्र दल पद्म की मात्र एक सहस्त्र पंखुड़ियाँ मानकर उस पर वर्णमाला के अक्षरों की कल्पना करने के बारे में कोई कहता है कि 'ल' कार को छोड़कर अ से गिनो तो १६ स्वर ३६ व्यंजन मिलकर ५२ - १ = ५१ वर्ण हो जायेंगे। एक कहता है 'क्ष' कार को भी छोड़ दो तो मात्र ५० वर्ण रह जायेंगे औरयदि ये २० बार गिन दिये जायँ तो पूरे एक सहस्त्र हो जायेंगे और सहस्त्र दल पदम में एक-एक दल पर एक-एक अक्षर की तुक सही बैठ जायगी। दूसरा कहता है ५१ वर्ण २० बार गिनें तो गिनती १०२० बैठती है, १९ बार गिनें तो ९६९ बैठती है, कैसे भी सहस्त्रार पूरा नहीं होता। यह सब अनुमान पर चलने वाला शस्त्रार्थ है।

क्ष, त्र और ज्ञ संयुक्ताक्षर हैं, प्राकृतिक वर्णमाला के अक्षर नही हैं। वे अ से ह तक ही हैं जो सहस्त्र दल कमल की १००८ पंखुड़ियों पर सुशोभित हैं। कुछ लोगों में इन वर्णाक्षरों के रंग के बारे में भिन्न मत हैं। इनका रंग कुछ लोग सहस्त्रार को श्वेत वर्ण मानने के कारण अक्षरों को भी श्वेत वर्ण मानते हैं परन्तु वे चढ़ते सूर्य की प्रभा के समान वर्ण वाले हैं अथवा वर्णित रंग वाले हैं। सर आर्थर एवलौन ने अपने ग्रन्थ The Serpent Power, में लिखा है There is nothing said of the Colour of the letters, and as the Matraka (letters) are white they are to be taken as being white on the Saharsrara Petals. ऐसी बातें अनुमानात्मक हैं। वैसे 'ब्रहत् त्रिविक्रम संहिता' में एक स्थान पर सहस्त्र दल कंवल के वर्णों के रंग के बारे में मिलता है—

बालसूर्य प्रतीकाशमासीद्विन्दुमदक्षरम्।

एक और विशेष बात जो सहस्त्रार के वर्ण क्रम के बारे में है कि ये सारे अक्षर दक्षिणावर्त (दाहिनी ओर से बाई ओर के) क्रम में हैं। सहस्त्रार के बीज कोष के अन्दर दोष रहित पूर्ण चंद्र मंडल है जैसे कि खुले साफ आकाश में पूर्णिमा का चाँद हो और अमृत रस से स्निग्ध, शीतल हो जिसकी किरणें चाँदनी के समान आनन्द उत्पन्न करने वाली हों। कंकाल मालिनी तंत्र में चंद्र मंडल के नीचे के शून्य स्थल के ऊपरी भाग में अंतरात्मा का निवास बताया गया है। चंद्र मंडल के अन्तर्गत विद्युत के समान लगातार चमकने वाला त्रिकोण है। इस त्रिकोण के अन्दर 'शून्य' बिंदु रूप में स्फुरण करता है (चमकता है)। यह बिंदु अनश्वर अत्यंत गुप्त, अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त होने वाला, मुक्ति का मूल आधार है जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म (शास्त्रों में बाल की नोंक के दस करोड़वें भाग के बराबर कहा गया है) परमानन्द दायक है। यह परम बिंदु चन्द्रमा की कलाओं के समान अमा कला और निर्वाण कला सहित त्रिकोण के अंतर्गत दिखाई देता है। कुछ लोग बिंदु को कंद (मूल) मानते हैं। बिंदु एक वृत्त O है और शून्य ब्रह्म पद है जो वृत्त के अन्दर है। 'योगिनी हृदय तंत्र' में कहा है कि कन्द 'सूक्ष्म परमानन्द-कन्द-बिंदु-रूप' है। यही परम शिव कहा गया है। आध्यात्म रामायण का वक्तव्य देखिये—

'जीवात्मा परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः ।'
आचार्य शास्त्रोपदेशा दैक्यज्ञानं यदा भवेत् ।
आत्मनोर्जीवपरयोर्मूलाविद्या तदैव तु ॥

जीवात्मा परमात्मा का पर्यायवाची (दूसरा नाम) हो जाता है। शास्त्र और आचार्य के निर्देशानुसार जब व्यक्ति जीवात्मा और परमात्मा सम्बन्धी मूल विद्या (तत्व ज्ञान) समझ लेता है तो उसे उनके एक्य भाव (अद्वैत भाव) का बोध हो जाता है। वेदों में भी स्थान-स्थान पर समझाया गया है—तत् त्वम् असि (तत्वमसि) जब आत्मा परमात्मा कहलाने योग्य बन जाता है (परमात्मा हो नहीं जाता, जिज्ञासु ध्यान रखें) तो वह ब्रह्म सब का आत्मा हो जाता है और सूर्य के समान अज्ञान रूपी तिमिर (अँधेरे) का नाशक हो जाता है। उसमें रस (परमानन्द का अनुभव) और विरस (शिव और शक्ति के संयोग से उत्पन्न आनन्द का अनुभव) दोनों एक होते हैं। तत्वमसि की स्थिति को निर्वाण तंत्र के तीसरे पटल में और भी स्पष्ट कर दिया है कि 'हे देव ! जो तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) में पहुँच गया वही परमात्मा है।'

परम बिंदु की कलाओं की सूक्ष्मता का स्पष्टीकरण इस प्रकार मिलता है कि चन्द्रमा की षोड़षवीं कला जैसी शुद्ध, बाल सूर्य के समान प्रभा वाली इतनी सूक्ष्म कला है जैसे पद्म के डंठल के सूत्र का सौवाँ भाग हो परन्तु वह इतनी दीप्तिमय है जैसे करोड़ों बिजलियाँ एक साथ चमकी हों, साथ ही वह अत्यन्त मृदु और अधोमुखी है। पर और परा के आनन्द पूर्ण सम्भोग के कारण जो अमृत की धारा बहती है उसका यह पान करती है। इस चंद्र (अमा) कला के अन्दर निर्वाण कला है जो उत्तम से भी उत्तम, अर्ध चन्द्र के रूप में ऐसे चमकती है जैसे सारे सूर्य एक साथ एक ही समय में उदित हो गये हों। सूक्ष्म इतनी जैसे एक बाल की नोंक का हजारवाँ भाग हो। निर्वाण कला के मध्य आकाश (शून्य) में परम निर्वाण शक्ति एक करोड़ सूर्यों की आभा वाली है। उसकी सूक्ष्मता की समानता बाल के सिरे के करोड़वें भाग से की है। उसके अन्दर बहने वाली आनन्द अमृत की धारा ही सब जीवों का जीवन है। उसके अन्दर मायातीत शिव का सनातन स्थल है जो स्वयं शुद्ध ज्ञान और आनन्द का प्रतीक रूप है। यही नित्य आनन्द है। कुछ इसे ब्रह्म कहते हैं, कुछ हंस। शैव इसे शिव का निवास स्थल मानते हैं, वैष्णव परम पुरुष विष्णु का, कुछ रुद्र हरिहर का, देवी के भक्त देवी का, मुनि लोग प्रकृति-पुरुष का संभोग स्थल मानते हैं। तत्वदर्शी इसे आत्मज्ञान अथवा मोक्ष का स्थान मानते हैं। संतों के मन में सत्य (तत्व) ज्ञान का स्फुरण यहीं से होता है।

स्पष्टीकरण

स्वच्छ आकाश में चंद्रमा के समान ओज-अमृत भरे हुए सहस्र नाड़ियों का क्षेत्र मस्तिष्क-मंडल है जो स्नेह सिक्त और ठण्डा है। इसके अन्दर चन्द्र मण्डल (Thalamus) में अन्तरात्मा है। 'कंकाल मालिनी तन्त्र' सहस्रार में सूर्य और चन्द्र मण्डलों से ऊपर महावायु और उससे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र (Aperture of Soul) मानता

है। ब्रह्म रंध्र में विसर्ग को मानता है जो आनन्द पूर्ण ब्रह्म है। इस सबकी अधिष्ठात्री देवी शंखिनी मानी जाती है।

आप जान चुके हैं कि सूर्य और चन्द्र नाड़ियाँ अपने क्षेत्रों से होती हुई आगे बढ़कर सम्बन्धित नासापुटों में आ मिलती हैं। इससे अन्दर की ओर वायु पूर्ण स्थान है, उससे अन्दर ब्रह्म रंध्र (Thalamus) है जिसमें एक शक्ति है शंखाकार। उसे चाहे आत्मा कहें, ब्रह्म कहें, कोई शब्द या अक्षर कहें परन्तु वह न शब्द है न अक्षर, इसलिये विसर्ग कहा है। परन्तु वह विसर्ग भी नहीं; अत: कुछ विद्वानों ने उसे विसर्ग के दोनों बिन्दुओं के बीच की स्थिति—शून्य कहा है।

यह शून्य जीवन का 'अन्त' नहीं 'आदि' है। जीवन का प्रारम्भ है। इसे जानने से पूर्व का जीवन तो 'पशु तुल्य जीवन' था। **वास्तविक जीवन का प्रारम्भ तो तब होता है जब आप अपने स्वामी बन जाते हैं।** स्वामी चिन्मयानन्द इसे 'Zero Point' इसीलिये कहते हैं।

■

कुण्डलिनी साधना

लेखक–
परमहंस स्वामी अनन्त भारती
[महामहोपाध्याय डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी]

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान प्रकाशन
दिल्ली-११०००७

कुण्डलिनी साधना

S K.
Y I.

SV
S.N
Sul
Su

कुण्डलिनी-साधना
KUNDALINI-SHADHANA

कुण्डलिनी साधना

सम्पादक
परमहंस स्वामी अनन्तभारती

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान,
दिल्ली-८५

प्रकाशक—
स्वामी केशवानन्द योग संस्थान प्रकाशन
बी-२/१३९-१४० सेक्टर ६, रोहिणी
दिल्ली-११००८५

मूल्य : पैंतालिस रुपये

प्रथम संस्करण सं० २०४५ विक्रमीय
द्वितीय संस्करण २०५६ विक्रमीय

मुद्रक—
पंकज प्रिंटर्स
मौजपुर, दिल्ली-११००५३

समर्पण

योगिराज श्री १०८ स्वामी केशवानन्द जी महाराज,
जिनकी कृपा से योगविद्या परम्परा से प्राप्त
हो सकी एवं साधना में निरन्तर संरक्षण
प्राप्त हो रहा है, के करकमलों में
सादर समर्पित

प्रकाशकीय

प्राचीनकाल में योग साधना जन सामान्य के जीवन का अंग रही है। मध्यकाल में इसके प्रति उत्तरोत्तर उपेक्षा बढ़ती रही, और एक ऐसा समय आ गया जब इस विद्या को, साधना को, केवल साधु सन्यासियों के लिए मान लिया गया। किन्तु साधु सन्यासियों की प्रवृत्ति भी योग साधना की ओर न रहकर साम्प्रदायिक आचार के पालन और प्रचार में ही संकुचित होती गयी। फलतः योग के साधकों की संख्या क्रमशः घटती चली गयी। तथा जो कुछ सिद्धयोगी शेष थे उन्होंने समाज से दूर हिमालय की कन्दराओं में शरण ग्रहण कर ली।

इधर कुछ वर्षों से भौतिक साधनों के अम्बार के बीच भी असन्तुष्टि का अनुभव कर के कुछ लोगों का ध्यान योग साधना की ओर गया है, और लोगों में योग विद्या की प्राप्ति के लिए उत्सुकता बढ़ी है। किन्तु सामान्यतया सिद्ध योगियों के समाज से बहुत दूर चले जाने के कारण उत्सुकता में तृप्ति एवं जिज्ञासा का शमन सुलभ न हो सका है। कई प्रकार की भ्रान्तियां भी उत्पन्न होकर फैलने लगी हैं। कुण्डलिनी के स्वरूप और उसके जागरण के उपाय के सम्बन्ध में सन्देह और भ्रान्तियां सर्वाधिक उत्पन्न हुईं और आज भी विद्यमान हैं।

योगिराज श्री १०८ स्वामी केशवानन्द जी के शिष्य (एवं गृहस्थाश्रम के उनके ही पुत्र) योगसाधक एवं योगविद्या तथा भारतीय दर्शन के अधिकारी विद्वान् महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने इस विषय में परम्परा से जो बहुत कुछ प्राप्त किया है, प्राचीन योग साहित्य के साथ उसकी समीक्षा और परीक्षा की है, तथा साधना द्वारा साक्षात्कार भी किया है, उसे उन्होंने अपने शिष्यों के निवेदन पर कुछ थोड़ा बहुत स्वयं लिखा तथा कुछ दूसरे सिद्धयोगियों की लेखनी से प्रसूत विचारों का संकलन एवं सम्पादन करके उसे प्रकाशित करने हेतु हमें अवसर प्रदान किया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों के हाथों में कई मास पूर्व आ जाना चाहिए था किन्तु साधनों के सीमित होने के कारण हम इसे बहुत देर से आज पहुंचा पा रहे हैं, इसका हमें खेद है। किन्तु देर से ही सही प्रभु की कृपा से यह ग्रन्थ हम आपके हाथ में पहुंचाने में समर्थ हो सके हैं, इसकी हमें हार्दिक प्रसन्नता है। हमें विश्वास है, कि मनीषी साधकों में इस ग्रन्थ का स्वागत होगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रसंग में हम सिद्धयोगी स्वामी सत्यानन्द जी प्रभृति लेखकों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करना चाहते हैं, जिनके लेखों को इसमें संकलित किया गया है। साथ ही पंकज प्रिंटर्स के स्वामी श्री राजेन्द्र तिवारी एवं उनके सहयोगियों के भी हम आभारी हैं जिन्होंने इसे वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में मनोयोग पूर्वक अपना श्रम प्रदान किया है।

गुरु पूर्णिमा सं० २०४५ वि०

प्रभाकर अवस्थी

अनुक्रम

१. कुण्डलिनी जागरण क्यों और कैसे ?	...	१
२. कुण्डलिनी योग	...	७
३. प्राणशक्ति कुण्डलिनी	...	१३
४. चक्र और चक्र साधना	...	२४
५. कुण्डलिनी एक जीवन्त अनुभव	...	३५
६. सर्वोच्च साधना कुण्डलिनी योग	...	४२
७. कुण्डलिनी साधना के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न और उनके समाधान	...	५५
८. शिव चेतना	...	६९
९. तान्त्रिक अभ्यास वज्रोली एवं सहजोली	...	७६
१०. स्वर योग	...	७८

कुण्डलिनी जागरण क्यों और कैसे ?

—प० पा० स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

हिन्दू धर्म में एक ही सत्य को अनेक रूपों में समझाने के लिए रामलीला, कृष्णलीला शिवलीला एवं अनेक देवी-देवताओं की कहानियाँ बतलाई गई हैं। कहानी सच है या झूठ, इससे अपने को कोई मतलब नहीं। इस संबंध में चर्चा या विवाद करना बेकार है। राम हुए कि नहीं, कृष्ण हुए कि नहीं ये सारी बातें करना बन्द कर दो। मगर हाँ—राम, कृष्ण और शिव की जो लीला है, वह सच्ची है। सच पूछा जाय तो यह वैदिक धर्म का सारांश है। वेदों से लेकर के उपनिषद् और पुराणों तक हमारे ऋषि-मुनियों ने केवल एक बात कही है कि "मन के पीछे एक और शक्ति है, उसके पीछे एक और शक्ति है और उसके पीछ भी एक और शक्ति है"। जिस प्रकार विज्ञान में हम पदार्थ के पीछे तत्त्व को मानते हैं, तत्त्व के पीछे अणु को मानते हैं एवं अणु के पीछे परमाणु को मानते हैं। ठीक उसी प्रकार हमारे यहाँ शरीर, भावना, बुद्धि और अहंकार के भी परे कोई एक और शक्ति है। हमें केवल उसी को पाना है, बस। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी है—वह इस जीवन का उद्देश्य नहीं है। तुम वेदान्त पढ़ो, दर्शन पढ़ो, कुछ भी पढ़ो। तुम पत्थर पूजो, पार्थिव पूजो, मन्दिर में जाओ, न जाओ, व्रत करो, उपवास करो, धोती पहनो, जनेऊ पहनो,—हमें उससे कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब केवल एक को पाने से है। उसे पाया त तुमने योग पा लिया, बाकी सब भोग हैं।

संसार में आज तक उस तत्त्व को कोई-कोई बिरला ही पाया है, और जिन्होंने उसे पाया, उन्होंने यह पता लगाया कि इस अव्यक्त सत्य को सब कोई पा सकते हैं अथवा नहीं। अरे भई ! साधु पा सकते है, ब्रह्मचारी पा सकते हैं, यह बात समझ में आती है। मगर संसार में उलझा हुआ आदमी, बाल-बच्चों में उलझा आदमी, दुःख-सुख में उलझा हुआ आदमी, शादी-ब्याह में उलझा आदमी उसे पा सकता है या नहीं ? यही जानने का विषय हैं। उन्होंने इस पर काफी अनुसंधान किया और अन्त में पाया कि इस सत्य को सभी पा सकते हैं। सभी इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। जो प्रयास करेगा, वह पहुँचेगा और जो खोजेगा, वह पाएगा। मगर हाँ, जरा कठिन है। उन लोगों के लिए जो संसार में उलझे हुए हैं, जो दुःख-सुख में उलझे हुए हैं, रुपये-पैसे में उलझे हुए हैं, काम, क्रोध, लोभ और मोह में उलझे हुए हैं, उनको कठिनाई है। और जो यह सब छोड़ करके एकान्त में बसते हैं, जंगल में बसते हैं, उनको भी कठिनाई है। एक को बाहर की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और दूसरे को अन्दर की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा मत समझना कि बाबाजी लोगों को कोई कठिनाई हैं ही नहीं। चाहे वह साधु-संन्यासी हो अथवा साधारण गृहस्थ, द्वन्द्व सबके जीवन में है। द्वन्द्व दो प्रकार का होता है—एक अन्तर्द्वन्द्व और दूसरा बहिर्द्वन्द्व। आज तुम लोगों को बाहर की कठिनाई है। कल यदि साधु-सन्यासी बनोगे तो अन्दर की कठिनाइयों से लड़ना पड़ेगा। इसलिए यदि उस

शक्ति का साक्षात्कार करना है, तो निर्द्वन्द्व होकर योग का अभ्यास करना होगा। यही उन महापुरुषों की वाणी है और इसी चीज को समझाने के लिए अनेक शास्त्र-पुराण, कथाएँ और उपदेश लिखे गये हैं। वही रामायण में है, वही भागवत में हैं और वही राम-कृष्ण और शंकर की लीला है। दुबारा पढ़ोगे तो समझ लेना। बात अलग-अलग ढंग से कही गई है, मगर है एक ही चीज।

शंकर जी पार्वती से विवाह करने के लिए हिमालय पर जाते हैं। उनके साथ भूत-प्रेत और पिशाचों की जमात है। उनके शरीर पर अनेक विषधर सर्प लटक रहे हैं। वे बैल पर सवार होकर मस्ती के साथ जा रहे हैं—पार्वती से विवाह करने। जानते हो यह क्या है? यह कुण्डलिनी योग का विषय है। कुण्डलिनी योग में यही होता है। शरीर में रीढ़ की हड्डी में सबसे नीचे—पुरुषों में मल-मूत्र-द्वार के बीच पेरेनियम में और स्त्रियों में गर्भाशय के मुख के नीचे, जिसको सर्विक्स कहते हैं—वहाँ पर एक छोटी सी ग्रंथि है। यह बिल्कुल शारीरिक है। इसको काटा जा सकता है और इसको तौला भी जा सकता है, परन्तु यह अत्यन्त विलक्षण चीज है। यही उस अनन्त शक्ति का स्थान है जिसे हम कुण्डलिनी के रूप में जानते हैं। यह शक्ति स्वरूपा है, पदार्थ रूपा नहीं है। यह शरीर पदार्थ है, इसको मैटर कहते हैं। और यह कुण्डलिनी शक्ति है, मातृस्वरूपा है, स्त्रीस्वरूपा है, योनिस्वरूपा है क्योंकि यह सम्पूर्ण क्रियाओं की जननी है। इसी प्रकार इस शरीर में एक दूसरी चीज भी है, मगर हम उसे कुण्डलिनी नहीं कहते। साधु-महात्मा अथवा तन्त्र भी उसे कुण्डलिनी ही कहते। उसे "शिव" "शंकर" अथवा "ज्योतिर्लिंग" कहते हैं। तो यह जो ज्योतिर्लिंग है, यह चेतना, शक्ति और पदार्थ ये तीनों अनादि हैं। बुरा नहीं मानना—यहाँ द्वैत, अद्वैत या सिद्धान्त की चर्चा नहीं हो रही है। यहाँ व्यावहारिक बात हो रही है।

दुनियाँ में तीन चीजें अनादि हैं; पदार्थ भी अनादि है। पदार्थ को पैदा करने वाला आज तक दुनियाँ में कोई नहीं हुआ। जब से है, तब से है। जब तक होगा, तब तक होगा। यह तो वृत्त है। वृत्त का आदि अन्त नहीं होता। कोई भी बिन्दु आदि हो सकता है और कोई भी बिन्दु अन्त हो सकता है। इसलिए यथार्थतः यह न आदि हुआ और न ही अन्त। इसी प्रकार यह जगत् अनादि है, यह पदार्थ अनादि है, यह कुण्डलिनी शक्ति भी अनादि है और ये शिव भी अनादि हैं। शिव चेतना के प्रतीक हैं, जगत् पदार्थ का प्रतीक है, और कुण्डलिनी ऊर्जा शक्ति की प्रतीक है। ऊर्जा के अस्तित्व को मानना पड़ेगा। जैसे यह स्पीकर है, अगर इसमें ऊर्जा का प्रवाह नहीं होगा तो यह निरर्थक हो जाएगा। यह पदार्थ है मगर पदार्थ बोल नहीं रहा है। यहा भी ऊर्जा पदार्थ के माध्यम से बोल रही है। पदार्थ के बिना ऊर्जा बोल नहीं सकती। शक्ति पदार्थ के बिना प्रगट नहीं हो सकती और पदार्थ शक्ति के बिना सक्रिय नहीं हो सकता। आनन्द लहरी में भगवान शंकराचार्य ने प्रथम श्लोक में ही लिखा है—"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।" शक्ति के बिना शिव चल नहीं सकता। इसलिए शक्ति को जगा करके सहस्रार में शिव के साथ मिलाना है और वह धीरे-धीरे जागती

है। उसका एक रास्ता है। जागरण के पश्चात् वह एक चक्र से दूसरे चक्र, दूसरे से तीसरे चक्र, तीसरे से चौथे चक्र, चौथे से पांचवें चक्र, पांचवें चक्र से छठे चक्र में आ जाती है। जिस प्रकार स्टेशन-स्टेशन में रेलगाड़ी रुकती हुई जाती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी भी सभी चक्रों में रुकती हुई छठे चक्र के बाद सहस्रार में शिव के साथ मिल जाती है। इसी को योग कहते हैं। वैसे योग की अलग-अलग परिभाषाएँ हैं, मगर हम यहां योग और तन्त्र की व्यावहारिक परिभाषा बतला रहे हैं। जब शिव और शक्ति का मिलन होता हैं, ठीक उसी समय समाधि लगती है। गाँजा पीकर के समाधि नहीं लगती। जब तक शक्ति जगेगी नहीं और जब तक उसका शिव के साथ संयोग नहीं होगा, तब तक समाधि लग नहीं सकती, चाहे कितने भी उपाय क्यों न कर लो।

इस शक्ति को जागृत करने के लिए सबसे पहली चीज—शक्ति को ठोकर मारनी होगी। योग में शक्ति को ठोकर मारने के जो उपाय हैं उन्हें कहते हैं—क्रियाएँ। पहली क्रिया है—मूलबन्ध, दूसरी क्रिया है—वज्रोली, तीसरी क्रिया है—उड्डियान बन्ध, चौथी क्रिया हैं—जालंधर बन्ध, पाँचवी क्रिया है— शाम्भवी मुद्रा ओर छठी क्रिया है—प्राण संचालन। इस प्रकार अनेक क्रियाएँ हैं। हमारा मेरुदण्ड शक्ति को पहुँचाने का माध्यम है। यह तार क्या है ? विद्युत् शक्ति को पहुँचाने का माध्यम है। इसी प्रकार रीढ़ की हड्डी मात्र हड्डी नहीं हैं। यह संवेदनाओं को, स्फुरण को, विद्युत् और शक्ति के प्रवाह को नीचे से निगेटिव प्रेशर दे करके ऊपर की ओर ले जाने का रास्ता है। यहाँ सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी हैं। उस छोटी सी ग्रन्थि, जिसमें कुण्डलिनी सोई रहती है, वहाँ से यह सुषुम्ना चलती है और रीढ़ की हड्डी के मध्य भाग से होकर भ्रूमध्य के पीछे, आज्ञाचक्र पर खत्म हो जाती है। बीच में इसके चार विराम स्थान हैं, पहला स्टेशन है लिंगमूल के पीछे, जहाँ रीढ़ की हड्डी समाप्त होती है। दूसरा है नाभि के पीछे, तीसरा है हृदय के पीछे, और चौथा है कण्ठ के पीछे। जिनमें पहले स्टेशन का नाम है—स्वाधिष्ठान, दूसरे स्टेशन का नाम है—मणिपूर, तीसरे स्टेशन का नाम है—अनाहत और चौथे स्टेशन का नाम है—विशुद्धि। ये चार स्टेशन हैं। इनके मध्य से होकर सुषुम्ना नाड़ी गुजरती है। यह नाड़ी साधारण जीवों में, पशुओं में हमेशा सोई रहती है, परन्तु जो मनुष्य साधना करते हैं, जिनके माता-पिता योगियों का सत्संग करते हैं, अथवा जिनके माता-पिता उपवास, व्रत, नियम आदि का पालन करते हैं। उनमें यह बचपन से जागृत रहती है। जब तक सुषुम्ना जागृत नहीं होती, तब तक कुण्डलिनी को भी नहीं जगाना चाहिए। सड़क बनी नहीं और गाड़ी चला दी, कहाँ जाओगे, बोलो ? सुषुम्ना जब तक जागृत नहीं होती, तब तक भूलोक से लेकर के स्वर्ग तक का रास्ता ही नहीं बनता।

ये दो लोक हैं। सबसे नीचे का लोक भूलोक हैं। उसको कहते हैं, मूलाधार चक्र और जो सहस्रार चक्र है वह स्वर्गलोक है। उन दोनों के बीच में एक रास्ता है। उसको कहते हैं—देवयान। उसी से होकर के यह शक्ति जाती है।

दो पदार्थों के बीच परस्पर जब घर्षण होता है, तब विद्युत् शक्ति पैदा होती है।

यह विद्युत् शक्ति दो प्रकार की होती है—एक भौतिक, जिसे आप देखते हैं और दूसरी आध्यात्मिक, जिसे इन आँखों से देखा नहीं जा सकता। देखो, बल्ब, जल रहा है क्योंकि अभी विद्युत् शक्ति चल रही है। इसके बन्द होते ही बल्ब बुझ जाएगा और किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देगा। इसी प्रकार जब अन्दर की बिजली जल जाती है तो अन्दर में रोशनी होने लगती है, और तब आँख बन्द करने के बाद सब कुछ दिखाई देने लगता है। यही अन्तर्ज्योति है। इसी को जगाना है और यही हमारा प्रयोजन है। अब इस शक्ति के जागरण के लिए क्या-क्या करना है, यह थोड़ा सा आप लोगों को बतलाता हूँ। मगर कल सबेरे से शुरू नहीं कर देना। गुरु पहले खोजना और तब इस ओर प्रवृत्त होना। इसको जगाने की एक पद्धति है। इसमें सर्वप्रथम चक्रों को, फिर सुषुम्ना को और उसके पश्चात् कुण्डलिनी को जागृत किया जाता है।

चक्र छः होते हैं—१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूर, ४. अनाहत, ५. विशुद्धि, ६. आज्ञा। इन छः चक्रों को जगाये बिना काम नहीं चलता। वैसे बहुतों में ये जगे भी होते हैं और कई लोगों में साधना करते-करते जगते हैं। कभी-कभी तुमको ध्यान अथवा पूजा-पाठ के अवसर पर कुछ अनुभव होता है, कुछ दिखाई देता है, कुछ रोशनी मिलती है, कुछ आवाज सुनाई देती है। ये सब चक्रों के जागने के लक्षण हैं। इन चक्रों को जगाने के लिए, आसनों का अभ्यास नितान्त आवश्यक है। बीमारी के लिए तो करो, फायदा होगा ही, मगर यह प्रयोजन नहीं है। आसनों के अभ्यास का मुख्य प्रयोजन है—चक्रों का जगारण। भुजंगासन से मणिपूर चक्र जागता है। सर्वांगासन से विशुद्धि चक्र जागता है। इसी प्रकार और भी अनेक आसन हैं, जिनसे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत और आज्ञाचक्र जागते हैं।

एक बार हमारे मुंगेर में आश्रम में बिजली बन्द होगई। हमने कहा—पूरे मुंगेर में बिजली है, मगर हमारे यहाँ क्यों नहीं है? लाइनमैन को बुलाया गया। उसने कहा "स्वामी जी, वहाँ तार के कनेक्शन में कार्बन जम गया है"। बिजली है मगर हमारे आश्रम में नहीं आई, क्योंकि कनेक्शन में कार्बन जम गया था। तो हमने पूछा—"क्या करना चाहिये?" उसने कहा—"स्वामीजी, एल्यूमिनियम का तार है। इसको निकाल दीजिये, क्योंकि जब-जब पानी गिरता है, इसमें कार्बन जम जाता है। आप कॉपर वायर लगा दीजिये।" हमारी भी ठीक यही हालत है। इन सभी चक्रों में कार्बन जमा हुआ है। क्यों? जानते हो? क्योंकि माल थर्ड क्लास का है। हमारे निर्माता ठीक माल पैदा नहीं कर रहे हैं। ये जो माल पैदा कर रहे हैं, ये सब निम्न क्वालिटी के माल हैं। देखो भाई, बुरा नहीं मानना, हम ठीक बोल रहे हैं। ये सारे निर्माता गलत माल बना रहे हैं। जिस प्रकार पानी गिरने पर एल्यूमिनियम के तार में कार्बन जम जाता है, उसी प्रकार छोटी-छोटी चिन्ताओं से हमारे चक्रों पर भी कार्बन जम जाता है। चिन्ता तो होती ही है, गुस्सा भी आता है, ईर्ष्या भी होती है, बेटी मोटी है, शादी नहीं होती, नौकरी बनती-बिगड़ती है, किसी को रोटी और कपड़े की चिन्ता है। इस प्रकार सोचते-सोचते

चक्रों पर कार्बन जमता जाता है और एक दिन वे बिल्कुल जाम हो जाते हैं। कार्बन जमे हुए चक्रों को साफ करने के लिए सबसे पहला साधन है—आसन।

हमने अपने गुरुजी से एक दिन पूछा। हमने कहा—"गुरुजी आप कहते हैं इस आसन से यह बीमारी दूर होती है, इस आसन से वह बीमारी दूर होती है, क्या यह सच है।" बोले हाँ, ठीक बात है। हमारे गुरु स्वामी शिवानन्द जी बहुत बड़े डॉक्टर थे। बड़े उच्च कोटि के सर्जन थे। उन्होंने कहा—"आसन से रोग तो दूर होते ही हैं, मगर आसनों से मुख्यतः चक्र जागृत होते हैं।" इन्हें क्यों जागृत करना चाहिये ? क्योंकि इन चक्रों से होकर के हाई टेंशन लाइन जाती है। उसके लिए सुषुम्ना वाली लाइन चाहिये। इड़ा-पिंगला हाईटेंशन वाली लाईन नहीं हैं। इसलिए अगर कहीं उनमें ११००० वोल्ट वाली धार बह गई, तो मामला गड़बड़ हो जायेगा। अरे, हनुमान जी जैसे को समस्या हो गई, आप तो आप हैं। हनुमान जी बड़ी समस्या में पड़ गये। उनकी शक्ति पिंगला नाड़ी में चली गई। तब क्या हुआ जानते हो न ? "तब तीनहुँ लोक भयो अंधियारो"। तब तीनों लोकों में अंधकार छा गया। कहते हैं—एक बार हनुमान जी को बहुत भूख लगी। नाश्ते का समय था। देखा सुबह का सूरज सेब की तरह बड़ा अच्छा लग रहा है। उन्होंने उसे खा लिया। भले आदमी, सोचो तो सही इसका मतलब क्या होता है।

सूर्य नाड़ी पिंगला को कहते हैं और चन्द्र नाड़ी इड़ा को। हनुमान् जी साधारण व्यक्ति नहीं थे, योगी थे। उनका नाम ही था हनुमान्। जो जालन्धर बंध लगावे, उसको कहते हैं हनुमान्। हम लोगों के यहाँ जालन्धर बंध का मतलब होता है, हनुबंध। हनु कहते हैं, ठुड्डी को। तो जब उनकी शक्ति पिंगला नाड़ी में प्रवाहित होने लगी, उस वक्त में "तीनहुँ लोक भयो अंधियारो" अर्थात् उनकी तीनों चेतनाएँ समाप्त हो गईं। इसलिए पहले चक्रों को जगाना, ताकि चक्रों के बीच कोई अवरोध न रहे। मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक सुषुम्ना नाड़ी का रास्ता बिल्कुल साफ रहना चाहिए, अन्यथा बड़े जोर से धक्का लगता है।

इसके अलावा चक्रों को जगाने में मंत्र भी कार्य करते हैं। मंत्र किसी देवी देवता के नाम नहीं हैं। ये अनन्त शक्ति के पुंज हैं। इसमें प्रचण्ड ऊर्जा छिपी हुई है। मंत्र शब्द ब्रह्म हैं। इसलिए इन्हें बच्चों का खेल नहीं समझना चाहिए। सर्वप्रथम किसी गुरु से दीक्षित होकर मंत्र प्राप्त करें। उसके पश्चात् उसे माला, मन या श्वास में जपें। जब इस प्रकार आप अभ्यस्त हो जायें तब प्रत्येक चक्र में उसका जप करें। उदाहरणार्थ— मूलाधार में १०० बार, स्वाधिष्ठान में २०० बार, और मणिपूर में ३०० बार, अनाहत में ४०० बार, विशुद्धि में ५०० बार और आज्ञा में ६०० बार। इससे चक्रों का जागरण, परिशोधन एवं सुषुम्ना का मार्ग निर्मल होगा।

अब सुषुम्ना के जागरण के लिए उपाय बतलाते हैं : प्राणायाम के अलावा सुषुम्ना को जगाने का और कोई अच्छा तरीका नहीं है। प्राणायाम सुषुम्ना को जगाने का बहुत ही सरल साधन है। प्राणायाम अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद। राजयोग

सूत्र में महर्षि पतंजलि ने श्वास और प्रश्वास के बीच में जो विराम हैं, जो विच्छेद उसको प्राणायाम कहा है—"श्वास-प्रश्वासयोः गतिच्छेदः प्राणायाम."। श्वास और प्रश्वास के बीच जो अन्तर है, जब तक तुम उसको रोक सकते हो,—वही प्राणायाम है। इसको कहते हैं कुम्भक। इसके तीन तरीके हैं। श्वास रोको और मूलबन्ध लगाओ, यह हुआ पहला तरीका। दूसरा तरीका है—जालन्धर बन्ध के साथ कुम्भक और श्वास रोकने का तीसरा तरीका है—फेफड़ों को बिल्कुल खाली कर उड्डियान बंध लगाना। ये तीन तरीके हैं। श्वास को अन्दर रोको, बाहर रोको और तीन बन्ध लगाओ। इससे सुषुम्ना जागती है। एक सन्त ने लिखा है कि जब सुषुम्ना का जागरण होता है, तब कमल की नाल में सूर्य का प्रकाश दिखाई देता है। रीढ़ की हड्डी को कमल की नाल कहते हैं। इसके अन्दर सूर्य का प्रकाश उत्पन्न होता है। ध्यान की अवस्था में अथवा प्राणायाम करते हुए जब आपको रीढ़ की हड्डी में प्रकाश का अनुभव हो तब समझना सुषुम्ना जागृत हो रही है और जब यह सुषुम्ना जागृत हो तब कुण्डलिनी को जगाने के लिए प्रयत्न करना।

कुण्डलिनी जागरण कई प्रकार से होता है। किसी-किसी में कुण्डलिनी जन्म से जागी रहती है और ऐसे बच्चे आगे चलकर महान योगी बनते हैं। दूसरा—मंत्र से कुण्डलिनी जागती है, तीसरा—तपस्या से कुण्डलिनी जागती है, चौथा—क्रियायोग से कुण्डलिनी जागती है, पांचवाँ—तन्त्र शास्त्र में जो पंचमकार की साधनाएँ हैं, उनसे। छठा—औषधि से। सातवाँ—गुरु कृपा से और आठवाँ—राजयोग के साधन से भी कुण्डलिनी जागती है। अतः कुण्डलिनी को जागृत करने के जितने भी उपाय हैं, सबका अध्ययन और क्रमिक अभ्यास करो। तब जा करके यह कुण्डलिनी जागृत होगी कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने के बाद मनुष्य में सृजनात्मक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी शक्ति को लोग भगवत् शक्ति कहते हैं, जिसकी कृपा से—"बहिरो सुनै मूक पुनि बोले रंक चले सिर छत्र धराई"। उसकी कृपा विलक्षण है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को निश्चित रूप से उसे जगाने का प्रयास करना चाहिए।

कुण्डलिनी योग

—स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

आज का समय विश्व के आध्यात्मिक संक्रमण का काल है। दुनिया के सभी लोग आज एक चौराहे पर खड़े हैं। एक दर्शन ने दूसरे दर्शन को चुनौती दी है, एक धर्म ने दूसरे धर्म को चुनौती दी है, एक विज्ञान ने दूसरे विज्ञान को चुनौती दी है। लोग आज जानना चाहते हैं कि हमें किस ओर जाना है, कहाँ जाना है। ऐसी स्थिति में योग उन्हें एक समग्र मार्गदर्शन प्रदान कर सकता है। वे इसके उत्तम मार्गदर्शन से जीवन के असीम आनन्दपूर्ण स्थान की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

योग न केवल आध्यात्मिक विज्ञान है, बल्कि यह एक आध्यात्मिक संस्कृति भी है। इस संस्कृति का उद्गम स्थान है भारत। यहां के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस संस्कृति का निर्माण अत्यन्त सोच-विचार कर किया था। उन्होंने न केवल बौद्धिक तथ्यों से प्रभावित होकर इस विद्या का अनुसंधान किया था, बल्कि उन्होंने आत्मज्ञान के द्वारा भलीभाँति इसको समझ कर तत्कालीन समाज के सामने इसका एक अद्भुत रूप प्रस्तुत किया था। समाज के सर्वांगीण विकास के संदर्भ में उन्होंने इसकी महत्ता को प्रत्यक्ष रूप से लोगों को समझाया था। मगर हम थे कि उसको भूलते ही जा रहे थे। हमें अपने कर्तव्यों का तनिक भी ज्ञान नहीं रहा और हुआ यह कि हम पूर्ण रूप से इसे भूल गये और अभी तक भूले ही हैं।

तब योग का संबंध संन्यास से लगाया गया। त्याग और चमत्कार से लगाया गया। टोना, जादू और मंत्र से लगाया गया। योग का संबंध उस जीवन पद्धति से लगाया गया, उस आयाम से लगाया गया, जिसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं, समझदारी से कोई मतलब नहीं। इसीलिए हमारे यहाँ की जनता योग से वंचित हो गयी और लोगों को इसके नाम से डर लगने लगा। अभी भी हम अपनी उस गलती को सुधारने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। हमारे मन में शंका बनी हुई है कि योग कहीं हमें घर-द्वार छोड़ने को मजबूर न कर दे, कहीं हमें संन्यासी न बना दे।

मैं मानता हूँ—भू-समाधि लेना अत्यन्त कठिन है, नाइट्रिक एसिड पीना कम खतरनाक नहीं है। मगर मैं यह नहीं मानता कि यह असंभव है। यह मैं कर सकता हूँ और आप भी कर सकते हैं। मैं भू-समाधि लगा सकता हूँ, नाइट्रिक एसिड पी सकता हूँ और आप भी इन क्रियाओं को भलीभाँति कर सकते हैं, परन्तु इससे हमें अपने जीवन के पक्ष में क्या मिलेगा ? कुछ भी तो मिलने का नहीं। इसलिए यह हमारे लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। हमें इस प्रकार के चमत्कारों की ओर नहीं बढ़ना है; हमें बढ़ना है उस ओर जहाँ जीवन की वास्तविकता के रहस्य छिपे हैं, जहाँ जीवन के चरमोत्कर्ष के साधन मौजूद हैं और जहाँ मनुष्य को

शारीरिक मानसिक एवं दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। और यह सब योग के अन्दर अत्यधिक मात्रा में छिपे हुए हैं। बस, हमें अपने जीवन में उसे केवल उतारने भर की देरी है। जिस दिन हम योग को अपने दैनिक व व्यावहारिक जीवन में स्थान दे देंगे उस दिन से समझ लीजिए हम समस्याओं, तनावों और सदियों से चली आ रही सांसारिक उलझनों की शृंखला से मुक्त हो जायेंगे।

हमें निश्चित रूप से उन विद्वान् वैज्ञानिकों और डॉक्टरों का आभार प्रदर्शन करना होगा जिन्होंने भारत से बाहर, भारतीय मर्यादा से कोसों दूर रहने वाले, भारत की सनातन परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ होने के बावजूद भी यह संकेत दिया कि—'योग साधारण से साधारण और महान् से महान् व्यक्तियों के लिए हैं। जिन्होंने अपने धर्म और अपनी मर्यादाओं को तोड़कर, अपने मजहब और अपनी प्राचीन मान्यताओं की परिधि से बाहर आकर कहा—योग मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। उदाहरणार्थ—शाम का समय था। एक लड़का अपनी साइकिल पर बड़ी तेजी से जा रहा था चौराहे पर एक सिपाही ने उसको देखा और हाथ देकर कहा—ऐ लड़के, साइकिल रोको तुम्हारी साइकिल में बत्ती नहीं है। तब जो लड़का साइकिल पर जा रहा था बोला—सिपाही जी, रास्ते से जल्दी हट जाइये मेरी साइकिल में ब्रेक भी नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार जिसके जीवन में संयम नहीं, जिसके जीवन में प्रकाश न हो योग उसके लिए एक आवश्यक एवं अनिवार्य वस्तु है। जिसका जीवन संतुलित हो गया है, जो अपने मन वचन कर्म एवं विचारों को संतुलित कर लिए हैं वे तो स्वयं योग-सिद्ध हैं। उनके लिए योग करने की क्या आवश्यकता है? मगर जिन्होंने सांसारिक वासनाओं के अतिशय उपभोग से अपने शरीर को जर्जर कर दिया है, जो अपने मन से उठने वाली भावनाओं और उद्वेगों को संभाल नहीं पा रहे हैं, जिनमें संघर्ष-शक्ति का पूर्णतः अभाव हो चुका है योग उनके लिए है। ऐसा मैं मानता हूँ।

मैं गुरुजनों का विरोध करना नहीं चाहता और न ही मैं क्रान्तिकारी विचारक होने का दावा ही करता हूँ। मुझे अपनी प्राचीन संस्कृति पर पूरा विश्वास है। प्राचीन महामनीषियों के मुख से निकले प्रत्येक शब्द में मुझे सत्यता का असीम आभास मिलता है, मगर जहाँ तक मेरी मान्यता है, मैं मानता हूं कि जो अपनी आदतों से परेशान हैं, जो अपनी कमजोरियों और वासनाओं से परेशान हैं, जो अपनी सीमाओं और स्मृतियों में बंधे हुए हैं और उन्हें तोड़कर एक उन्मुक्त जीवन की ओर बढ़ना चाहते हैं, उनके लिए योग का अभ्यास निहायत जरूरी है। ऐसी स्थिति में हमें योग के सारे आयाम और सारी मान्यताओं को बदलना होगा। साथ ही उसकी एक नूतन परिभाषा भी बनानी होगी।

मैं एक समय विश्व यात्रा पर निकला यह देखने के लिए कि दुनिया में योग

के बारे में लोगों की क्या राय है। मैं जिस देश में भी जाता था, केवल यही सुनता था कि 'योग करो सुन्दर बनो'। तुम्हें अगर कमर पतली करनी है, पेट कम करना है तो योग करो—यह उसका मत था। इस प्रकार जब मैं योग की अयोग्य परिभाषा (योग फॉर ब्यूटी) सुनता था तो मुझे बड़ा बुरा लगता था। मगर मैं कुछ बोलता नहीं था और धीरे-धीरे मैं अपना यौगिक दृष्टिकोण उन लोगों के सामने रखता था। उसका परिणाम यह हुआ कि आज अगर योरप के किसी देश में जाकर आप कहें—योग फॉर ब्यूटी (योग सुन्दरता के लिए है) तो लोग हँसने लगते हैं और कहते हैं—योग सुन्दरता के लिए नहीं प्राणशक्ति को जागृत करने के लिए है। सारा अर्थ बदल गया, सारे सिद्धान्त बदल गये, सारे आदमी बदल गये। इसी प्रकार भारत में भी आज तक योग का जो अर्थ समझा जाता है, उसको भी बदलना होगा। आप शास्त्र का आधार लेकर इसको झुठला नहीं सकते। शास्त्र यह कभी नहीं कहता कि योग इसके लिए है, उसके लिए नहीं है। हम लोगों की यह आदत रही है कि हम जिसको जैसा सिद्ध करना चाहे किये, मगर अब योग को हम किस प्रकार लोगों के सामने रखें यह आज के युग का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

हर युग की अपनी आवश्यकतायें हैं। आज के युग की आवश्यकता है अनुशासन। व्यक्तिगत जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में, सामाजिक जीवन में, राजनैतिक जीवन में, भावनात्मक जीवन में अथवा आध्यात्मिक जीवन में आवश्यकता है अनुशासन की। जहाँ अनुशासन नहीं है वहाँ कुछ भी सफल नहीं हो सकता। और यही अनुशासन सिखाता है योग। आप ध्यान करेंगे आपको अनुशासन की आवश्यकता है, क्योंकि यदि आपका मन, आपकी चित्त वृत्तियां ध्यान के समय चंचल रहेंगी आप ध्यान नहीं कर सकते। इसी प्रकार अपने सामाजिक जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में अनुशासन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जहाँ अनुशासन नहीं वहाँ कुछ भी नहीं। इसलिए लोगों को अब योग की ओर उन्मुख करना होगा। क्योंकि योग ही एक ऐसा है जो व्यक्ति के अन्दर जाने अनजाने अनुशासनात्मक संस्कारों का उदय करता है।

आज हमारी प्राणशक्तियाँ नष्ट हो गई हैं, हमारा मस्तिष्क फ्यूज हो गया है। क्यों? क्योंकि हमने इसकी क्षमता का दुरुपयोग किया है। उदाहरणार्थ आप १० एम्पीयर की एक मशीन लगायेंगे और उसमें विद्युत शक्ति को सर्वत्र परिचालित करने के लिए पतले एवं सामान्य शक्ति वाले तार का उपयोग करेंगे तो तार जल जायेगा क्योंकि उसमें उतनी बिजली को संभालने की शक्ति नहीं है। इसलिए जब भी आप १०-२० एम्पीयर की कोई मशीन लगायें उसके मुताबिक विशिष्ट एवं मजबूत तार का भी प्रयोग करें, तब कहीं आप उस मशीन से समुचित लाभान्वित हो सकेंगे। ठीक इसी प्रकार आप जीवन की जिन-जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं, उसके लिए

आपको हाई बोल्टेज की बिजली और हाई टेंशन के तार की जरूरत है। क्योंकि अभी आपका मस्तिष्क—स्नायु, हृदय, फेफड़े आदि के तनाव को बर्दाश्त कर सकने में असमर्थ है। जिस जर्जर एवं चरमराती हुई बैलगाड़ी पर आप अपने जीवन का बोझ लिये जा रहे हैं, वह अत्यन्त दयनीय अवस्था में है। उसकी मरम्मत करनी होगी। उसमें प्राणशक्ति भरनी होगी। तभी आप एक अच्छे गृहस्थ, अच्छे डाक्टर, अच्छे प्रोफेसर या अच्छे प्रिंसिपल बन सकते हैं और अपने व्यक्तिगत एवं भावनात्मक बोझ को खींच कर ले जा सकते हैं, नहीं तो आपका ब्रेक डाउन हो जायेगा। इसलिए आज सारी दुनिया में प्राण को शक्तिशाली बनाने के संदर्भ में अनेकों चर्चाएँ चल रही हैं।

यह प्राणशक्ति क्या है? इस प्राणशक्ति को किस प्रकार जागृत किया जाय और यदि प्राणशक्ति है तो इस शरीर में उसका मुख्यालय कहाँ है? उस प्राणशक्ति का शरीर, मन और चैतन्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? इस प्रकार के अनेकों प्रश्न आज संसार में लोगों के मन में भरे पड़े हैं परन्तु इन शंकाओं का समाधान किसी के पास दृष्टिगोचर नहीं होता। क्यों? क्योंकि इसके मूल रहस्य—जो कि योग में छिपे हुए हैं, उनको किसी ने भी जानने की कोशिश नहीं की। अतः यदि हम इन प्रश्नों के उत्तर की अभिलाषा रखते हैं, तो हमें निश्चित रूप से एक योग के संबंध में जानकारी हासिल करनी होगी। इस योग का नाम है कुण्डलिनी योग।

एक समय था जब लोग कहा करते थे—अरे कुंडलिनी योग मत करो, दिमाग घूम जायेगा। सोचिये—लोगों का कैसा अच्छा मन्तव्य था। कुंडलिनी योग करोगे तो दिमाग घूम जायेगा और शराब पीओ, गाँजा पीओ, वेश्यालय में जाओ, सिनेमा घरों में जाओ तो? दिमाग नहीं घूमेगा! कैसी विचित्र फिलॉसफी है? मुझे यह अनोखा दर्शन कभी समझ में नहीं आया।

कुंडलिनी योग करने से दिमाग घूम जायेगा। अच्छा जी घूमने तो दो। अरे! दिमाग तो सबका घूमा हुआ है। सबका दिमाग पीछे की ओर है। क्यों है न? या कोई सामने देख रहा है? हम लोग सब पीछे देखा करते हैं—अतीत की ओर। मेरा बेटा मर गया, मेरा बाप मर गया, मेरी सम्पत्ति चली गई, मेरा घर बर्बाद हो गया, ये क्या हैं? उलटे दिमाग के द्योतक नहीं हैं क्या? अतीत की झाँकियाँ नहीं हैं क्या? ऐसी झाँकियाँ सबको दिखती हैं, आगे कोई नहीं देख रहा है। इसलिए अब ये सिद्धान्त छोड़ो कि कुंडलिनी योग से दिमाग घूम जायेगा' जब तुम्हें दिमाग को सही राह पर ले जाना है, जब तुम्हें आगे की ओर देखना है, जब तुम्हें अतीत को भूलना है तो तुम्हें कुंडलिनी योग को आज नहीं तो कल अपनाना ही होगा। अन्यथा तुम पीछे के पीछे ही रह जाओगे।

तंत्र में कुंडलिनी की विशेष महत्ता है। इसी कुंडलिनी को प्राचीन ऋषि-

महर्षियों ने देवी, दुर्गा, शक्ति आदि अनेकों नामों से व्यक्त किया है। वह शक्ति स्थूल भी है, सूक्ष्म भी और परात्पर भी। यह त्रिगुणात्मिकता भी है और तीनों गुणों से परे भी। इसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में भी माना जाता है। इस शक्ति को हम तीनों लोकों में देखते हैं। प्राण इस महान् शक्ति का एक अंग है। साधक लोग जब साधना करते हैं तो इसी प्राण के माध्यम से कुंडलिनी का जागरण करते हैं। प्राणशक्ति के बिना आध्यात्मिक अथवा कुंडलिनी शक्ति का जागरण नहीं होता। ये प्राण कुंडलिनी-जागरण के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जिस प्रकार डेटोमिटर के बिना बम को नहीं फोड़ा जा सकता, चाहे तुम जमीन में कितना भी पटको। उसी प्रकार प्राण के बिना आध्यात्मिक विस्फोट नहीं होता।

एक बार मुझसे स्वामी अमृतानन्द ने पूछा—स्वामीजी, यह अणु बम क्या है? मैंने कहा—अणु बम एक अत्यन्त शक्तिशाली विस्फोटक है। जिसके विस्फोट होने पर बहुत बड़े पैमाने पर भू-भाग को तोड़ा जा सकता है। यह अणु बम जहाँ बहुत बड़ा विध्वंसक है, वहाँ इसके द्वारा अनेकों असाध्य कार्य भी साध्य किये जा सकते हैं। मगर इसको तुम जमीन में पटक कर फोड़ना चाहो तो फूटेगा नहीं। इसी प्रकार प्राणों के माध्यम से कुंडलिनी शक्ति का जागरण करके मनुष्य अपने में अनेकों शक्तियों के विस्फोट का अनुभव कर सकता है और यही योग अथवा तंत्र-साधना का उद्देश्य भी है।

प्राणशक्ति को जागृत करने की बात सदियों से चली आ रही है और अब भी इसके संबंध में चर्चाएँ चलती रहती हैं। कई लोग सोचते हैं भस्त्रिका करने से प्राणशक्ति जागती है, मगर प्राणों को जगाने में यही पर्याप्त नहीं है। हाँ, भस्त्रिका और कपालभाति प्राणायाम के द्वारा कुछ देर के लिए प्राण-स्नायुओं का जागरण होता है। इसलिए यदि प्राणों को जागृत करना है तो प्राणों के मूलतत्त्व को पकड़ना होगा। प्राण क्या है? क्या हवा को प्राण कहते हैं? नहीं! हवा प्राण नहीं है। प्राण शक्ति-स्वरूप है। इस संदर्भ में एक रोचक अन्वेषण है—

एक दम्पत्ति थे। उनमें एक व्यक्ति था बिजली का इंजीनियर। वह अनुसंधान कर रहा था। एक दिन उसको मालूम पड़ा यह जो बाहर की बिजली है, इसकी अपेक्षा अन्दर की बिजली कहीं अधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण है। उसने अपने अंगूठे का का एक चित्र लिया। साथ ही और भी कई प्राणियों का चित्र लिया। उन चित्रों में उसको एक विचित्र वस्तु का दर्शन हुआ, देखा कि सभी जड़-चेतन वस्तुओं के चारों ओर एक ज्योति मंडल व्याप्त है। इस ज्योति मंडल को प्रभा-मंडल या औरा भी कहते हैं। उसने देखा एक सूखे पत्ते से लेकर प्रस्तर खण्डों और प्राणवान् जीव जन्तुओं में भी एक शक्ति विराजमान है। वह सिमटती भी है और फैलती भी है। उसने सोचा यह क्या चीज है? सैकड़ों-हजारों चित्र उसने खींचे और सबमें उस वस्तु को देखा मगर

समझ नहीं पाया कि यह क्या है और क्यों है। इस अनुसंधान से सारे संसार में एक तहलका सा मच गया। अभी भी योरप अमेरिका जर्मनी आदि देशों में इस संबंध में अन्वेषण चालू हैं कि प्राण क्या हैं ? इन प्राणों की अनेक लोगों ने परिभाषा देने की कोशिश की मगर अभी भी उनकी परिभाषा विवादास्पद बनी हुई है।

जब उस व्यक्ति ने इस अनुसंधान को सामने रखा और बतलाया कि प्रत्येक पदार्थ में कोई वस्तु है, जो उसके इर्द-गिर्द व्याप्त रहती है, तो लोग बोले—असंभव। क्योंकि यह एक सूखा पत्ता है। मात्र एक पत्ता। इससे परे इसका और कोई भी अस्तित्व नहीं हो सकता। पत्ता एक मैटर (पदार्थ) है। जितना तुम देखते हो उतना ही है। हाँ, इसमें अनेकों रासायनिक तत्त्व हो सकते हैं, यह हम मानते हैं। मगर तुम यह कहो कि इसके चारों ओर एक अदृश्य सूक्ष्म प्रभामंडल व्याप्त है, यह हम नहीं मान सकते। परन्तु धीरे-धीरे जब उसने अपने अन्वेषण का एक अकाट्य प्रमाण सबके सामने प्रस्तुत किया, सबको मानना पड़ा कि हाँ, इसका कथन सत्य है।

यह वैज्ञानिक रूस की एक महिला थी। उसका पति भी उसी के व्यवसाय में काम करता था। दोनों ने मिलकर उस अनुसंधान को पूरा किया। इस अनुसंधान परिणाम को मैंने भी देखा है। मैंने स्वयं अपनी आँखों से दुनिया के लाखों चित्रों को देखा है तथा उनके इर्द-गिर्द ज्योति मंडल एवं उनमें शक्ति के स्पन्दन को भी देखा है। यही वह शक्ति है, जिसे हम प्राण के नाम से जानते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में एक शक्ति है। वह शक्ति जब कम होती है तो मनुष्य रोगी होता है। शोकाकुल होता है। उसकी चेतना काम, क्रोध, लोभ और मोह में फंस कर दुर्बल हो जाती है। उसके निर्णय गलत हो जाते हैं। योगाभ्यास के दौरान प्राण को हम किसी भी यौगिक क्रिया द्वारा बढ़ाने की कोशिश करते हैं। इस शक्ति को योग के विभिन्न अभ्यासों द्वारा शरीर के एक अंग से दूसरे अंग में ले जाने की कोशिश करते हैं। इसी प्रकार इस प्राण को हम जागृत कर महान से महान क्षमताओं का सृजन कर सकते हैं और इस क्षमता को जागृत करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है कुंडलिनी योग।

प्राणशक्ति कुण्डलिनी

"योगशास्त्र की अधिकांश शाखाओं-हठयोग, लययोग एवं तंत्रयोग आदि में कुण्डलिनी साधना की विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है।[1] हठयोग के ग्रन्थों में इसे सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है और वहां इसे समस्त साधनाओं में श्रेष्ठ तथा मोक्ष द्वार की कुञ्जी कहा गया है। इस प्रकरण में कुण्डलिनी क्या है? उसके जागरण का तात्पर्य क्या है? तथा कुण्डलिनी जागरण के लिए साधना किस प्रकार की जाती है? इन तीन प्रश्नों पर ही विचार किया जा रहा है।

कुण्डलिनी के लिए योग शास्त्र के विवध ग्रन्थों में प्रयोग किये गये नामों में कुण्डली और कुटिलाङ्गी नाम भी हैं, जिनसे विदित है कि इसका भौतिक स्वरूप वक्र अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा है, शायद इसीलिए इसके लिए कई स्थानों पर भुजङ्गी और सर्पिणी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।[2] कुछ स्थानों में इसके लिए तैजसी-शक्ति-जीव शक्ति और ईश्वरी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है,[3] जिससे हमें संकेत मिलता है कि यह एक तैजस शक्ति है, जो शक्ति जीव की स्वयं की अपनी शक्ति है, किन्हीं कारणों से शक्ति स्वभावः उद्‌बुद्ध नहीं रहती, किन्तु इसे यदि जागृत किया जा सके तो साधक में अनन्त सामर्थ्य (ईश्वर भाव) आ जाता है।

कुण्डलिनी का जागरण क्योंकि अनन्त शक्तियों के साथ-साथ मोक्ष के द्वार तक पहुंचाने वाला है, अतः स्वाभाविक है कि इसके जागरण का उपाय, इसे जागृत करने वाली साधना बहुत सहज नहीं हो। इसी कारण इस साधना को सदा साधकों ने गुरु परम्परा से ही प्राप्त किया है, और गुरुजनों ने अधिकारी शिष्य को ही यह विद्या देनी चाही है, सम्भवतः यही कारण है कि इस साधना का सुस्पष्ट वर्णन किसी ग्रन्थ में नहीं दिया गया है।

कुण्डलिनी के स्थान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूलाधार चक्र से ऊपर और स्वाधिष्ठान चक्र के नीचे कुण्डलिनी का स्थान है। यह स्थान कन्द स्थान के अतिनिकट है। योनिस्थान के ठीक पीछे स्वयम्भू लिङ्ग की स्थिति है, इस स्वयंभू लिङ्ग में ही सार्धत्रिवलयाकृति में

---

१. हठ प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद्, तन्त्रसार, ज्ञानार्णव तन्त्र, शिव संहिता आदि।

२. हठ प्रदीपिका ३.१०४, योगकुण्डल्युपनिषद्

३. वही ३.१०८-१०९

अर्थात् स्वयंभूलिङ्ग को साढ़े तीन बार लपेटे हुए कुण्डलिनी स्थित रहती है।

स्मरणीय है कि आधुनिक शरीर विज्ञान अथवा चिकित्सा शास्त्र के विद्वानों को शरीर के इस भाग में ऐसे किसी स्थूल अवयव के होने की सूचना प्राप्त नहीं हुई हैं जिसका चित्र खींचा जा सके, अथवा किसी भी यंत्र के द्वारा उसे देखा और परखा जा सके। किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से सम्बद्ध शरीर विज्ञान यह निर्विवादरूप से स्वीकार करता है कि मानव के शरीर में चेतनाकेन्द्र यद्यपि मस्तिष्क अवश्य है तथापि चेतना से सम्बद्ध समस्त ज्ञान और चेष्टाओं का संचालन मस्तिष्क से ही न होकर अनेक बार सुषुम्ना के द्वारा भी होता है, और यह सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड (Spinal eard) के मध्य में स्थित है। साथ ही वहां यह भी स्वीकृत है कि पूर्ण चेतना युक्त मानव के भी मस्तिष्क और सुषुम्ना का केवल कुछ अंश ही क्रियाशील रहता है, सम्पूर्ण नहीं। जिस मनुष्य के मस्तिष्क और सुषुम्ना के चेतना केन्द्र अर्थात् समझने और क्रिया करने के नियामक केन्द्र का जितना अधिक अंश क्रियाशील होता है, वह मनुष्य उसी अनुपात में समझने और कुछ करने में सक्षम हो पाता है।

इसी प्रसंग में योगशास्त्र में वर्णित नाड़ी तन्त्र को भी स्मरण कर लेना आवश्यक होगा, जिसमें शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के होने की चर्चा करने के बाद सुषुम्ना इडा पिंगला कुहू कूर्म यशस्विनी पयस्विनी आदि चौदह अथवा दस को प्रमुख बताकर उनमें भी प्रथम तीन अर्थात् सुषुम्ना इडा और पिङ्गला को प्रधान कहा गया है, जिनमें अलग अलग समय में स्थूल या सूक्ष्म प्राणों का संचार होता होता है। इनमें से इडा और पिङ्गला क्रमशः बायें और दाहिने नासिका विवर से कन्द स्थान तक स्थित मानी जाती हैं। सुषुम्ना कन्द के मध्य से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के बीच से होती हुई भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र) तक जाती है, जहाँ उसका अंन्तिम छोर मस्तिष्क से मिलता है। इस अन्तिम छोर को योग परम्परा की भाषा में ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी का दूसरा नाम ब्रह्मनाड़ी भी है। इस नाड़ी का प्रारम्भ यद्यपि कन्द (नाड़ी कन्द) के मध्य से है, किन्तु मूलाधार चक्र के पास एक ब्रह्मग्रन्थि स्वीकार की जाती है। इस ग्रन्थि का भेदन मूलाधार चक्र के जागरण के साथ होता है। इस नाड़ी में दो अन्य ग्रन्थियां भी योगपरम्परा में स्वीकार की गयी हैं विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। विष्णुग्रन्थि हृदय के पास मानी जाती है और रुद्रग्रन्थि भ्रूमध्य से ऊपर। अनाहतचक्र के जागरण से विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है और आज्ञाचक्र के जागरण से रुद्रग्रन्थि का भेदन। रुद्रग्रन्थि के भेदन के बाद योगी के लिए कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। वह परमपद प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में वह रुद्र विष्णु अथवा परब्रह्म के सदृश हो जाता है।

योगशास्त्र की परम्परा में एक बात यह भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि सामान्यरूप से प्राण इडा या पिङ्गला नाड़ी में बारी बारी से गतिशील रहते हैं; किन्तु योगी साधक उन्हें सुषुम्ना में साधना के द्वारा प्रवाहित कर लेता है। उसके अनन्तर ही अध्यात्म के क्षेत्र में उसका प्रवेश होता है, उसका चित्त एकाग्र हो पाता है।

साधना के क्रम में प्राणायाम साधना के द्वारा ब्रह्मनाड़ी के मुख, जो मूलाधार चक्र के पास स्थित तथा कफ आदि अवरोधक तत्त्वों द्वारा रुंधा हुआ है, कफ आदि अवरोध हटने पर खुल जाता है, तब उसमें प्राणों का प्रवेश हो जाता है, केवलकुम्भक का यहीं से प्रारंभ होता है, इस स्थिति का ही वर्णन कहीं ब्रह्मग्रन्थिभेदन के नाम से और कहीं कुण्डलिनी जागरण के नाम से किया गया है।

योग परम्परा में प्रायः सभी सम्बद्ध ग्रंथों में प्राप्त उपर्युक्त निर्विवाद वर्णन से निम्नलिखित तथ्य प्रगट होते हैं।

१. सुषुम्ना नाड़ी का आरम्भ कन्द स्थान के मध्य से है और आज्ञाचक्र के ऊपर सहस्रार पद्म में मिलकर यह समाप्त होती है।

२. कन्द स्थान मूलाधार चक्र से लगभग दो तीन अंगुल ऊपर और नाभि के पास अथवा नाभि के नीचे है।

३. सुषुम्ना नाड़ी में कन्द स्थान से निकलने के बाद मूलाधार चक्र के पास पहली ब्रह्मग्रन्थि, हृदय (अनाहतचक्र) के पास द्वितीय विष्णुग्रन्थि तथा भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) से ऊपर तृतीय रुद्रग्रन्थि है, इसके बाद ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना सहस्रार पद्म या मस्तिष्क में मिल जाती है।

४. सुषुम्ना नाड़ी चेतना का केन्द्र स्थान है अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में चेतना का संचार सुषुम्ना द्वारा ही होता है।

५. सुषुम्ना में ही मूलाधार से आरम्भ होकर आज्ञाचक्र तक (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञा इन) छ चक्रों की स्थिति है। ये सभी चक्र चेतना के विशिष्ट केन्द्र हैं, जो प्रायः जागृत या क्रियाशील नहीं रहते, साधना द्वारा इन्हें क्रियाशील (जागृत) किया जाता है।

६. प्राण अथवा प्राणशक्ति का सुषुम्ना में निर्बाध प्रवाह अर्थात् ऊपर आज्ञाचक्र से भी ऊपर सहस्रारपद्म तक जाना योग साधना की उच्चतम परिणति है।

७. किन्तु प्राण इस नाड़ी में सामान्यतया प्रवाहित नहीं हो पाते। इड़ा अथवा पिङ्गला से कन्द स्थान में सुषुम्ना में प्रवेश तो करते हैं, किन्तु प्रथमग्रन्थि अर्थात् ब्रह्मग्रन्थि, जिसे प्रथम अवरोध कह सकते हैं, के कफ आदि से बन्द रहने के कारण आगे बढ़ नहीं पाते, वहीं रुक जाते हैं।

८. सुषुम्ना नाड़ी तीन खण्डों में विभाजित है : (१) कन्द से मूलाधार चक्र या ब्रह्मग्रंथि तक (२) ब्रह्मग्रन्थि से विष्णुग्रन्थि तक तथा (३) विष्णुग्रन्थि से रुद्रग्रन्थि तक।

९. प्राणायाम साधना द्वारा प्राण अपान का मिलन होने पर और उससे अग्नि के अत्यंत तीव्र होने पर अवरोधक (अर्गल) तत्त्व हट जाते हैं, और उसके बाद उसमें प्राणों का प्रवाह प्रारम्भ होता है।

योग साधना के ग्रन्थों में एक बात और कही गयी है, प्राणायाम साधना के द्वारा सुषुम्ना में प्राणों का प्रवेश होने पर जब केवल कुम्भक प्रारम्भ होता है तब चित्त और प्राण क्रमशः ऊपर उठने लगते हैं, उस स्थिति में क्रमशः पृथिवी धारणा, जलधारणा,

आग्नेय धारणा, वायवी धारणा, आकाश धारणा सम्पन्न की जाती है। इन धारणाओं में क्रमशः प्राण और चित्त मूलाधार आदि प्रत्येक चक्रों पर स्थित होते है। आज्ञा चक्र से ऊपर प्राण और चित्त के पहुंच कर स्थिर होने को ध्यान कहते हैं, और उससे भी ऊपर सहस्रार पद्म में प्राण और चित्त की स्थिति को समाधि कहते हैं। ये सभी क्रमशः उत्तरोत्तर स्थितियां हैं।

कुण्डलिनी के सम्बन्ध में भी यह तथ्य बिना किसी सन्देह के स्वीकार किया जाता है कि कुण्डलिनी स्वयंभू लिङ्ग में साढ़े तीन बार लिपट कर स्थित है। सुषुम्ना का मुख और इसका मुख पास पास है, अथवा सुषुम्ना का मुख इसके मुख में बन्द है। साधना के द्वारा सुषुम्ना का मुख खुल जाने पर कुण्डलिनी उसमें प्रवेश कर जाती है।

इन उपर्युक्त कथनों में दोनों में ही पूर्णतया समानता है, मानों दोनों कथनों में भाषा भेद या शब्दों के भेद से एक ही बात कही गयी है। उदाहरणार्थ—

१. कन्द स्थान से मूलाधार (ब्रह्मग्रन्थि) चक्र तक सुषुम्ना का प्रथम अंश है जिसमें प्राण प्रतिश्वास प्रश्वास में संचरित होते हैं, तथा कन्द और मूलाधार के बीच स्वयंभूलिङ्ग स्थित है, जिसमें कुण्डलिनी लिपटी हुई है।

२. सुषुम्ना मुख खुलने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रवेश करती है, तथा साधना द्वारा सुषुम्ना मुख से कफ आदि अवरोधक पदार्थ हट जाने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं।

३. केवल कुम्भक की साधना से क्रमशः ग्रन्थिभेदन पूर्वक प्राण सुषुम्ना में ऊपर को उठते हैं तथा एक बार सुषुम्ना में कुण्डलिनी का प्रवेश होने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना में क्रमशः ऊपर की ओर उठती जाती है।

४. प्राण स्वयं शक्ति स्वरूप है तथा कुण्डलिनी शक्ति स्वरूप अथवा प्राणशक्ति रूप है।

५. सुषुम्ना में प्राणों के प्रवेश के अनन्तर केवलकुम्भक की सिद्धि हो जाना प्राण साधना की सर्वोत्तम सिद्धि है, इस साधना में उत्तरोत्तर पंचभूत धारणा (पृथिवी-धारणा, जलधारणा, आग्नेयधारणा, वायवीधारणा, एवं आकाशधारणा, के सिद्ध होने पर प्राण आज्ञा चक्र में प्रवेश करते हैं। यहां ध्यान की सिद्धि होती है, और उसके बाद प्राणों का जो ऊर्ध्व गमन है, वह इस साधना की अन्तिम समाधि सिद्धि है, यहीं योगी को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। जिसके बाद कुछ शेष नहीं रहता। दूसरी ओर कुण्डलिनी भी क्रमशः एक-एक चक्रों के क्रमशः जागरण और ग्रन्थिभेदन के साथ आज्ञाचक्र के बाद सहस्रार पद्म में पहुंचती है, जो इस क्रम में सर्वोच्च सिद्धि है। इससे मोक्ष का द्वार अनावृत्त हो जाता है। इसीलिए कुण्डलिनी सिद्धि को मोक्ष द्वार की कुंजी कहा है।

इस प्रकार स्वरूप, साधना क्रम, सिद्धि क्रम और परिणाम (फल) के पूर्ण साम्य को देखते हुए इस निर्णय पर पहुंचना अनुचित न होगा कि कुण्डलिनी जागरण और

प्राणों का सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर उत्तरोत्तर ऊपर को पहुंचते हुए ब्रह्मरन्ध्र द्वारा ऊपर तक पहुंच जाना, जिसे **केवलकुंभक** की सिद्धि कहते हैं, परस्पर भिन्न नहीं बल्कि अभिन्न हैं, एक हैं, इस एक ही स्थिति का दत्तात्रेय योगशास्त्र योगतत्त्वोपनिषद् आदि ग्रन्थों में **केवलकुंभक** की सिद्धि के रूप में वर्णन किया है। इसके विपरीत तन्त्र से प्रभावित अथवा सिद्ध या नाथ परम्परा से प्रभावित ग्रन्थों में (जहां शिव को योग का आदि उपदेष्टा कहा गया है) इस स्थिति को ही **कुण्डलिनी जागरण** के रूप में वर्णित किया गया है। स्मरणीय है कि दत्तात्रेय योगशास्त्र और योगतत्त्वोपनिषद् आदि में भगवान् विष्णु के अवतार दत्तात्रेय को दूसरे शब्दों में भगवान् विष्णु को योग के उपदेष्टा के रूप में निबद्ध किया गया है। जिन ग्रन्थों से **केवलकुंभक** की साधना की विधि और क्रम वर्णित है, उनमें कुण्डलिनी जागरण की बात नहीं है। और जिनमें कुण्डलिनी जागरण की चर्चा हुई है उनमें **केवलकुंभक** की चर्चा नहीं मिलती।

फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **प्राणशक्ति** और **कुण्डलिनी शक्ति** एक ही शक्ति के दो नाम हैं। कुण्डलिनी का जागरण और प्राणों का सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश और उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगमन परस्पर अभिन्न हैं। इनमें केवल शब्दभेद है, भाषा भेद है, वस्तुभेद अर्थात् साधना और सिद्धि में कोई भेद नहीं है।

यहां इस एक तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि प्राणशक्ति का अर्थ श्वास प्रश्वास के अन्दर और बाहर प्रविष्ट होने वाली वायु नहीं है। प्राणशक्ति से निरन्तर सम्बद्ध होने के कारण इसे भी कभी-कभी प्राण कह लेते हैं, ये बाह्य प्राण हैं, जो प्राणशक्ति से भिन्न हैं। इनको ही यदि प्राण मानेंगे तो इन्हें बाहर निकालना कौन चाहेगा, क्योंकि कोई नहीं चाहता कि प्राण बाहर निकलें। यदि यह बाहरी श्वास प्रश्वास ही प्राण होता, तब तो प्राण निकल जाने पर इन्हें ही भरकर और पुनः न निकलने देने के लिए कृत्रिम उपायों से मार्ग निरोध करके किसी को प्राणवान् अर्थात् जीवित किया जा सकता। किन्तु ऐसा नहीं है। इसका कारण है कि प्राणशक्ति और बाहरी वायु, जिसे हम श्वास प्रश्वास द्वारा अन्दर लेते हैं, परस्पर भिन्न है। दो चीजें हैं, एक नहीं है। इसीलिए प्राणों का, प्राणशक्ति के बाह्य अभिव्यक्तरूप का, विभाजन करते हुए स्थूल वायु अथवा स्थूल प्राणों का विभाजन 'प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान', इन पांच नामों में किया जाता है, तथा इनके स्थानों और कार्यों का पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन किया जाता है। इन पांच स्थूल प्राणों के अतिरिक्त 'नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय' पांच अन्य स्थूल प्राण भी हैं, किन्तु ये प्राण प्राण-अपान की अपेक्षा सूक्ष्म हैं, अथवा इनकी क्रिया का बोध सर्वसामान्य को कम होता है। महत्त्व इन सभी का समान है, कोई इनमें प्रधान या अप्रधान नहीं है, कार्य सबके भिन्न-भिन्न हैं। इन दसों प्राणों में श्वास प्रश्वास में आने जाने वाला वायु क्योंकि अत्यन्त स्थूल है, अथवा यों कहे कि इसका बोध, इसकी गति का बोध, सबको निरन्तर होता रहता है, अतः प्राणशक्ति के रूप में इसे भी प्राण कह दिया गया है।

इस मूल प्राण को **प्राणशक्ति** अथवा **शक्ति** कह सकते हैं। इसे ही **कुण्डलिनी** के पर्यायवाची शब्दों में **शक्ति, जीवशक्ति** और **ईश्वरी** आदि नामों से स्मरण किया जाता

है। यह प्राण ही चेतना का मूल आधार है। सम्पूर्ण बोध (ज्ञान ग्रहण) और क्रिया का संचालन इसके द्वारा ही होता है। इसकी महिमा का वर्णन करते हुए ही प्रश्न उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है 'तस्मिन् उत्क्रामति इतरे सर्व एव उत्क्रामन्ते' [प्रश्न २.४]।

इस प्राणशक्ति का चेतना, शक्ति का, मुख्य केन्द्र मस्तिष्क है। इसके उपकेन्द्र सुषुम्ना नाड़ी में हैं। सुषुम्ना नाड़ी के तीन खण्ड हैं। यदि मस्तिष्क को भी कार्य के आधार पर एक कहना चाहें तो चार खण्ड हैं (१) मस्तिष्क इसका सबसे प्रशस्त और प्रधान भाग है, इसे योगशास्त्र की भाषा में **सहस्रार पद्म** कहा जाता है। (२) उससे नीचे आज्ञाचक्र से अनाहत चक्र का अंश द्वितीय भाग है। इन दोनों के संयोग स्थल को रुद्रग्रन्थि कहते है। विद्युत तकनीक की भाषा में चाहें तो इसे एक फ्यूज कह सकते हैं। इस भाग के ऊपरी अंश से अवबोधक चेतना और प्रेरक चेतना का नियमन होता है जिसे आज्ञाचक्र कहते हैं। शरीर में यह स्थल भ्रू मध्य में माना गया है। इससे कुछ नीचे कण्ठ के पास विशुद्धचक्र है, जहां से अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान और क्रिया चेतना का नियम होता है। यहां आकाश तत्त्व की प्रधानता है। आकाश के गुण शब्द की उत्पत्ति और उसके ग्रहण का नियमन केन्द्र यहीं पर है। उससे नीचे हृदय के पास सुषुम्ना के इस अंश का सबसे निचला भाग है। जिसे वायु का स्थान कहा जाता है। सम्पूर्ण स्पर्श चेतना एवं अंग प्रत्यंगों में कम्पन अथवा गति का नियमन यहां तक कि रक्त की गति का नियमन भी इसी केन्द्र से होता है।

सुषुम्ना का तृतीय भाग अनाहत चक्र से मूलाधार चक्र तक है। यह भाग जहां द्वितीय भाग से मिलता है, उस सन्धि को विष्णुग्रन्थि के नाम से स्मरण किया जाता है। स्थूल तत्त्व अग्नि, जल और पृथिवी तत्त्वों के स्थान अर्थात् इन तत्त्वों से सम्बद्ध चेतना केन्द्र इसी भाग में हैं। सबसे नीचे गुदा के कुछ ऊपर **मूलाधार चक्र** पृथिवी स्थान है। उससे कुछ ऊपर योनि स्थान से पीछे पेडू के निकट स्वाधिष्ठान चक्र **जल स्थान** है तथा उससे भी ऊपर नाभि के निकट मणिपूर चक्र **अग्नि का स्थान** माना जाता है। गन्ध रस एवं रूप विषय बोध की चेतना का नियमन तथा मल विसर्जन वीर्य धारण एवं विसर्जन तथा समस्त शरीर के धारण की क्रियाओं का नियमन इन चेतना केन्द्रों के द्वारा ही होता है। यह सुषुम्ना भाग जहां ऊपरी अर्थात् द्वितीय भाग से मिलता है, उस सन्धि को विष्णुग्रन्थि कहते हैं, यह ऊपर कह चुके हैं। इसका सबसे निचला भाग ब्रह्मग्रन्थि कहलाता है। यह भाग कफ आदि अवरोधक तत्त्वों से ढका हुआ है, अतः सुषुम्ना के चतुर्थ भाग से इसका निर्बाध सम्बन्ध नहीं बन पाता। इसके आवरण मल को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की साधनाओं की व्यवस्था योगशास्त्र में दी गयी है। इस मल के पूर्णतया हटने पर ब्रह्म नाडी के इस मुख के खुलने को ही ब्रह्मग्रन्थि भेदन या कुण्डलिनी का प्रथम उद्बोधन कहते हैं।

सुषुम्ना नाड़ी का चतुर्थ भाग कन्द स्थान से मूलाधार चक्र के मध्य का भाग है। ब्रह्मग्रन्थि द्वारा यह भाग एक ओर मूलधार चक्र के पास सुषुम्ना के तृतीय भाग से जुड़ता है और दूसरी ओर कन्द से जुड़ा है। शरीर की सभी नाड़ियां इसी कन्द स्थान पर आकर

मिलती हैं और सुषुम्ना से प्राप्त चेतना के विषयबोधचेतना अथवा क्रियाचेतना को प्राप्त करके सम्पूर्ण शरीर में फैलाती हैं और उसे क्रियाशील बनाती हैं। इस कन्द स्थान को विद्युत तकनीक की भाषा में ट्रांसफार्मर कह सकते हैं, ऐसा पावर हाउस कह सकते हैं जहां से विद्युत का उत्पादन तो नहीं किन्तु वितरण का कार्य होता है।

क्योंकि शरीर की समस्त ज्ञान अथवा क्रिया का नियमन यहीं से होता है। यहां से प्राप्त चेतना से, यहां से प्राप्त शक्ति से, शरीर भर में फैली हुई नाड़ियां उन अंगों को शक्ति अथवा क्रियाशीलता देती है, अतः सुषुम्ना के इस भाग को शक्ति जीवशक्ति ईश्वरी आदि नामों से स्मरण किया जाता है। क्योंकि यह भाग ही शरीर के समस्त भाग को चेतना अथवा जीवन के चिह्न देता है, इसलिए इस भाग के स्थूल आधार अंश को स्वयंभूलिङ्ग कहना ठीक ही है।

सुषुम्ना का यह भाग यद्यपि सुषुम्ना के इससे अव्यवहित पूर्वभाग अर्थात् तृतीय भाग से पूरी तरह जुड़ा नहीं है अर्थात् कफ आदि मलों के कारण अर्गलाबद्ध है, अवरुद्ध है, अतः अनन्त चेतना के स्रोत से प्रवाहित होनेवाली चेतना शक्ति इस अंश में नहीं आ पाती और इसी कारण अन्य जुड़े हुए नाड़ी तन्त्र में और उसके द्वारा शरीर के समस्त ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों को सम्पूर्ण चेतनाशक्ति नहीं मिल पाती। फलतः मनुष्य (मनुष्य आदि सभी प्राणी) न सम्पूर्णज्ञान सम्पन्न होता है, और न सम्पूर्ण रूप से क्रिया शक्ति से सम्पन्न। वह अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान रहता है। ठीक वैसे ही जैसे मुख्य पावर हाउस के प्रधान तार से अपने तार के भली प्रकार न जुड़ने के कारण अथवा संयोजक तार (फ्यूज वायर) के क्षीण (पतले) होने के कारण हमें थोड़ी विद्युत शक्ति ही मिल पाती है। मुख्य पावर हाउस में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति का उपयोग हम नहीं कर पाते। यदि इन दोनों को सशक्त तार से जोड़ दिया जाता है, तो विद्युत का निर्बाध प्रवाह एक ओर से दूसरी ओर तक मुख्य केन्द्र से गौण केन्द्र तक समान रूप से होने लगता है। प्राणायाम द्वारा, ध्यान द्वारा अथवा कुण्डलिनी जागरण के लिए बताए गये अन्य उपायों द्वारा साधक सुषुम्ना के इस भाग को मुख्य भाग से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस साधना में, इस कार्य में, जब उसे सफलता मिल जाती है, तब वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। इस सफलता को ही सीधी-साधी लौकिक भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं, वह ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

इस स्थिति में पहुंचने पर क्योंकि उसकी सम्पूर्ण चेतना का प्रयोग होने लग जाता है, अतः वह पूर्ण प्रकाशमय पूर्ण ज्ञानमय हो जाता है, अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, और क्योंकि अविद्या ही अस्मिता (अहंभाव) राग द्वेष अभिनिवेशरूपी क्लेशों का मूल है,[1] जिनके कारण यह संसार चक्र चलता है, अतः इसकी (अविद्या की) निवृत्ति से साधक संसार चक्र सहित अस्मिता आदि क्लेशों से छूट जाता है। दूसरे शब्दों में वह मुक्त हो

---

१ अविद्या-अस्मिता-राग द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः, अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराणाम्। योगसूत्र २।३-४।

हो जाता है।

इस प्राण शक्ति के अथवा कुण्डलिनी या जीव शक्ति के जागरण के कई उपाय हैं। कई प्रकार की साधना है। प्राणायाम साधनाएं उनमें एक है। जिस प्रकार आतसी शीशे के द्वारा सूर्य के बिखरे हुए प्रकाश का एक स्थान पर केन्द्रित करके वहां ताप (अग्नि) उत्पन्न कर दिया जाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा भी सामान्य रूप से अपने द्वारा प्रयुक्त होने वाली शक्ति को केन्द्रित करके ब्रह्मनाड़ी के मुख को उद्घाटित करते हुए प्राणशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी को जागृत किया जा सकता है, और प्रधान चेतना शक्ति (अनन्त चेतना शक्ति) से जोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार लोक में प्रज्वलित गैस को भिन्न पदार्थ लोहे आदि पर डालकर उसे गरम करना पिघलाना जोड़ना आदि क्रियाएं सम्पन्न कर ली जाती है, उसी प्रकार जिसने अपनी अनन्त चेतना शक्ति को जागृत कर लिया है, ऐसा सिद्ध गुरु अपनीशक्ति से दूसरे शाधक (अधिकारी साधक) की प्राणशक्ति को मूल चेतना शक्ति, कुण्डलिनी, को जागृत कर सकता है। इस क्रिया को ही योगियों की परम्परा में शक्तिपात करना कहते हैं।

इस प्राणशक्ति को चेतनाशक्ति जीवनशक्ति अथवा कुण्डलिनी आदि नामों से स्मरण की जाने वाली शक्ति को उद्बुद्ध करने के अनेक मार्ग हैं, अनेक उपाय हैं, अनेक साधनाएं हैं। साधना के क्रम में हम या कोई साधक या सिद्ध इतना ही कह सकता है कि यह मार्ग अमुक स्थान तक अवश्य जाता है, क्योंकि उस मार्ग को अथवा उसके चित्र को (यथार्थ चित्र को) उसने देखा है या समझा है। किन्तु जिस मार्ग को उसने देखा नहीं, उस पर चला नहीं, अथवा चलना प्रारम्भ करके मार्ग कठिन लगने से, मार्ग समझ में न आने से, उसे छोड़ दिया है उसके सम्बन्ध में यह कहना कि यह मार्ग अमुक स्थान पर नहीं ले जाएगा यदि अनुचित नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः अच्छे साधक साधना के अन्य मार्गों के सम्बन्ध में मौन का अवलम्बन करना ही उचित समझते हैं। केवल उस साधना विधि का उपदेश करते हैं, जिस विधि को उन्होंने समझ लिया है। किसी का खण्डन अथवा विरोध वे नहीं करते।

अनन्त चेतना शक्ति के स्रोत को जागृत करने के अनेक उपायों में से किसी भी एक उपाय का ही आश्रयण साधक को करना चाहिए। हां प्राथमिक तैयारी के लिए साधना की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए, साधना की योग्यता प्राप्त करने के लिए एक साथ एक से अधिक उपायों को भी अपनाया जा सकता हैं। यमों और नियमों का पालन अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का त्याग) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन महाव्रतों का पालन, शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (भक्ति-प्रणति) की समष्टिरूप क्रियापथ का अनुसरण अवश्य करना चाहिए। आसन मुद्रा और बन्धों द्वारा प्राणायाम द्वारा नाड़ीशुद्धि करके भी साधना की योग्यता प्राप्त होती है।

हठयोग के ग्रन्थों में इस साधना की तैयारी के क्रम में स्थूल शरीर की शुद्धि के लिए नेति धौति बस्ति कुञ्जर शंखप्रक्षालन और त्राटक इन षट्कर्मों की तथा नाड़ी शुद्धि के लिए महामुद्रा, महाबन्ध तथा सूर्यभेद उज्जायी, शीतली, सीत्कारी भ्रस्त्री

एवं भस्त्रिका प्राणायाम प्रकारों की विधि बताई गयी है, जिनके द्वारा साधक स्थूल शरीर एवं समस्त नाड़ियों की शुद्धि करके केवलकुम्भक अथवा कुण्डलिनी साधना में प्रवृत्त होता है। इस केवलकुम्भक के लिए पहले सहित कुम्भक प्राणायाम किया जाता है। इसके द्वारा भी नाड़ी शुद्धि होती है। जैसे-जैसे प्राण और अपान निकट आने लगते हैं, मणिपूर चक्र अर्थात् नाभि स्थान के पास स्थित अग्नि तीव्र होती है, उसके तीव्र ताप से ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना के मुख (अग्रभाग) पर जमा हुआ कफ आदि अवरोधक मल नष्ट हो जाता है, हट जाता है। अवरोधक मल के पूर्णतया हट जाने पर सुषुम्ना का मुख स्वतः खुल जाता है, तीव्र अग्नि का ताप इस कार्य को सम्पन्न करता है। सुषुम्ना का मुख खुल जाने पर कन्द से जुड़ा हुआ सुषुम्ना का निम्नतम भाग, जिसे हमने सुषुम्ना का चतुर्थ भाग कहा है, इस शुद्ध हुए सुषुम्ना मुख से, जो मूलाधार चक्र के पास है, जुड़ जाता है और उसमें स्थित प्राणशक्ति, जिसे कुण्डलिनी या जीवशक्ति भी कहते हैं, मूल चेतना केन्द्र से जुड़ जाती है। अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इस साधना क्रम में शरीर और स्थूल नाड़ी की शुद्धि पहले होती है, अतः शरीर में विद्यमान प्रत्येक प्रकार के रोगों की निवृत्ति सर्वप्रथम होती है। जिसके फलस्वरूप व्याधि और स्त्यान-रूप विघ्नों की निवृत्ति होती है। इसके बाद क्रमशः स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों की शुद्धि होने पर संशय प्रमाद आदि विघ्न भी दूर होते हैं और साधक की साधना निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ने लगती है।

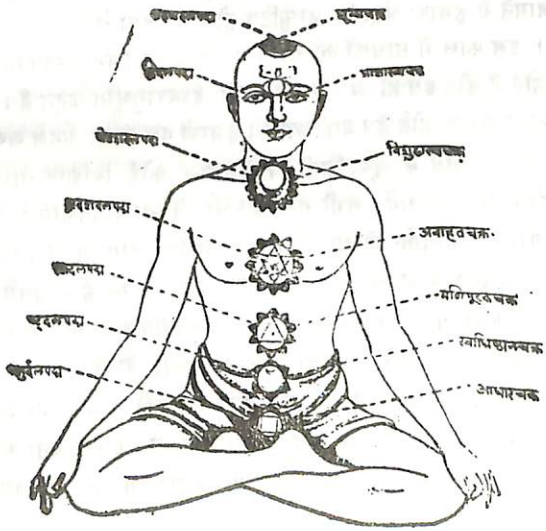

चक्रों के स्थान

कुण्डलिनी जागरण कैसे ?

कुण्डलिनी के विषय में एक आम धारणा है कि यह एक महान शक्ति है जो मनुष्य के भौतिक शरीर में सुषुप्तावस्था में विद्यमान है। यह युग का सौभाग्य है कि सारा विश्व आज इसे चेतना के विज्ञान के रूप में समझ रहा है और महसूस कर रहा है कि इसका जाति, धर्म, राष्ट्रीयता या ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब तक कुण्डलिनी पर लिखित पुस्तकों और अनेकानेक महात्माओं द्वारा वांछित कुण्डलिनी को अदृश्य और चमत्कारिक शक्ति ही बताया गया है। परन्तु यदि हम कुण्डलिनी योग के वैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों का अध्ययन और विश्लेषण करेंगे तो पायेंगे कि इसका सम्बन्ध भौतिक शरीर से भी है, क्योंकि इस शक्ति को जगाने के लिए स्थूल ग्रन्थियों का सहारा लिया जाता है, तो इस चेतना को शिव और आधार को शक्ति कहा गया है। सांख्य में इन स्वरूपों को पुरुष-प्रकृति, वेदों में जीव-ब्रह्म, चीनी दर्शन में यिङ्-याङ्, हठ योग में इसे इड़ा-पिंगला, गंगा-जमुना, सूर्य-चन्द्र तथा विज्ञान में पदार्थ-ऊर्जा के रूपों में अभिव्यक्त करते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि मेरुदण्ड में निचले छोर के पास पेरियन में एक सूक्ष्म केन्द्र या ग्रंथि है जहां अनन्त शक्ति सुषुप्त पड़ी हुई है तथा जिसे जगाया जा सकता है। इस शक्ति के जागने से हमारा अंतर्ज्ञान प्रस्फुटित होता है तथा चेतना का आयाम बढ़ता चला जाता है। इस काल में साधकों को सामान्य चेतना से भिन्न अनेकानेक आश्चर्य-जनक अनुभव होते हैं और इसे ही धार्मिक भाषा में ईश्वरानुभूति कहते हैं। ये जागरण मस्तिष्क के केन्द्र में क्रमशः होते हैं। इस केन्द्र को हजारों दल वाला कमल अर्थात् सहस्रार चक्र कहा गया है। वास्तव में कुण्डलिनी योग नामक कोई विशिष्ट साधना नहीं है। बल्कि दुनियां की सभी साधनायें, सभी योग जो भी चेतना के विकास में सहायक है वे सब कुण्डलिनी योग के अन्तर्गत ही आते हैं। इस शक्ति जागरण के लिए साधकगण अपनी सामर्थ्य एवं पसन्द के अनुसार साधना का चुनाव करते हैं। इसमें मंत्र योग, हठयोग मुख्य हैं। नादयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि से भी कुण्डलिनी का जागरण होता है। इसके अलावा मादक द्रव्यों के प्रयोग को भी शक्ति जागरण में कारगर होते देखा गया है, इसका मतलब यह नहीं कि आप भी इसी रास्ते को अपनायें। कालक्रम में साधना की यह शुद्धता धूमिल होती गई। साधना का रूप विकृत होता गया और भ्रान्तियों के चंगुल में आकर साधकगण इस पथ पर अग्रसर होने से हिचकिचाने लगे।

कुण्डलिनी योग में प्राणायाम और बंध का रास्ता द्रुतगामी और शार्टकट है

परन्तु इसमें थोड़ी भी चूक होने पर अनेक खतरों का सामना करना पड़ सकता है। जब तक सुयोग्य गुरु नहीं मिले, तब तक इसे प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। कुण्डलिनी साधना में सबसे निरापद मार्ग है मन्त्र साधना। भले ही इसमें मंथर गति से चलना पड़े परन्तु सफलता निश्चित है किसी भी जन्म में। इसमें कोई भी खतरा चौंका देने वाला नहीं हैं।

कुण्डलिनी जागरण काल में साधकों के अचेतन के संस्कार अनेकानेक वीभत्स रूपों में प्रकट होते हैं। यदि साधक ने अपनी मानस भूमिका को तैयार नहीं किया, अपनी सजगता को नहीं बढ़ाया, अपने शरीर को शुद्ध नहीं कर लिया, तो वह उस अनुभव को संभाल सकने में असमर्थ हो जाता है तथा परिणामस्वरूप विक्षिप्त, पागल या अन्य भयंकर रोगों के शिकार होने की गुंजाइश भी हो सकती है इसलिए त्वरित मार्ग प्राणायाम और बंधों के अभ्यास से अच्छा है— संगीत योग, मन्त्र योग तथा क्रिया योग की निरापद साधना। सबसे सुरक्षित मन्त्रयोग है। इसमें साधक के अन्तर्व्यक्तित्व के मुताबिक तथा अक्षरों के उच्चारण; वर्ण, ग्रह, नक्षत्र, आवृत्ति, गति, प्रकृति आदि के आधार पर मंत्रों का चयन किया जाता है। भक्ति पक्ष में मन्त्र का वह महत्त्व नहीं होता। साधक की भावना के अनुसार उसकी उन्नति होती है, परन्तु तन्त्र में मन्त्र साधना का के लिए बहुत ही विधानों का पालन करना अनिवार्य होता है। अतः सभी कुछ समझने के बाद यदि आप कुण्डलिनी योग की साधना प्रारम्भ करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आपको अपने शिष्यत्व का विकास करना होगा। फिर एक योग्य गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के बाद आप अनन्त शक्ति के स्रोत में डुबकियां लगाने में समर्थ हो सकेंगे।

क्या आप अपने जीवन की परिभाषाओं को बदलना चाहते हैं? देश, काल और पदार्थ की सीमाओं को लाँघकर सर्वोच्च चेतना में विचरण करना चाहते हैं, दुनिया के इतिहास में अपना नाम रोशन करना चासते हैं, जीवन-मृत्यु और सृष्टि के रहस्यों को खोलना चाहते हैं। पूर्ण योग या पूर्ण भोग हेतु अपने को सामर्थ्यवान् बनाना चाहते हैं, अपने को आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त करना चाहते हैं तो आइये, दृढ़संकल्पित होकर शरीर और मन के सन्तुलन हेतु प्रतिदिन नियमित रूप से आधा घण्टा आसन-प्राणायाम की उपासना करें, नाड़ियों की शुद्धि हेतु हठयोग का अभ्यास करें तथा मंत्र-योग और भक्ति योग से चित्त की भूमिका तैयार करें।

———

चक्र और चक्र साधना

योग साधना की परम्परा में चक्रों का ध्यान और उनमें चित्तलय की विशेष महिमा स्वीकार की जाती है। ये चक्र वस्तुतः क्या हैं ? अथवा शरीर में इन चक्रों की वास्तविक सत्ता है या नहीं ? इस विषय पर कुछ आचार्यों एवं शरीर रचना विज्ञानियों में मतभेद है। उदाहरणार्थ आर्य समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती, जो स्वयं एक बहुतबड़े योगी भी थे, चक्रों की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने नदी में बहते हुए एक मुर्दे को पकड़ कर शल्यक्रिया करके चक्रों की स्थिति को देखना चाहा, किन्तु उन्हें इसमें निराश ही हाथ लगी। शरीर विज्ञान के आचार्य भी योग परम्परा में वर्णित चक्रों की सत्ता और उनके स्वरूप विवरण को भी स्वीकार नहीं करते। तथापि साधक परम्परा में इनकी सत्ता को इनके विशिष्ट स्वरूपों को स्वीकार करते हुए इनके ध्यान की तथा इनमें चित्तलय की बड़ी महिमा स्वीकार की गयी है।

वस्तुतः इन चक्रों की मेरुदण्ड के अन्तर्गत मूलाधार से सहस्रार तक, दूसरे शब्दों में मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग से आरम्भ होकर उसके उच्चतम भाग से भी ऊपर मस्तिष्क तक सुषुम्ना नाड़ी में स्थिति योगियों की परम्परा और चिकित्सा शास्त्र दोनों में स्वीकार की जाती है। यह सुषुम्ना नाड़ी चेतना का केन्द्र है। जहां मस्तिष्क अनन्त ज्ञान कोशों के गुच्छक के रूप में स्वीकार किया जाता है, वहीं अनेकानेक चेतना केन्द्रों को भी सुषुम्ना नाड़ी में (मेरुदण्ड के मध्य भाग में) चिकित्सा विज्ञान स्वीकार करता है। इस स्थिति में इन चक्रों को चेतना के विविध केन्द्रों के रूप में स्वीकार करने पर चिकित्सा विज्ञान और योगिपरम्परा के बीच किसी प्रकार प्रकार का मतभेद नहीं रह जाता। अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकर किया जा सकता है कि चिकित्सा विज्ञानियों द्वारा मेरुदण्ड के मध्यवर्ती सुषुम्ना नाड़ी में स्वीकृत चेतना के केन्द्र ही योगिपरम्परा में स्वीकृत चक्र हैं। ये चेतना के केन्द्र अनेकानेक ऊतकों से युक्त है, निम्न भाग में स्थित केन्द्रों की अपेक्षा उच्च उच्चतर और उच्चतम भागों में स्थित केन्द्र अधिकाधिक शक्ति शाली हैं। उनकी ग्रहणक्षमता उत्तरोत्तर अधिक है और सूक्ष्म है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। इन्हीं चेतना केन्द्रों के स्वरूप और शक्ति को योगिपरम्परा में विविध प्रतीकों के माध्यम से वर्णित किया गया है। अतः इन चक्रों के दल (पत्ते) और उन पर स्वीकार किये जाने वाले बीजाक्षरों को ग्रहण और प्रेरक शक्ति की सूचना देने वाले प्रतीकों के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। स्मरणीय है कि योग की एक शाखा तन्त्र में पृथिवी आदि तत्त्वों के प्रतीक के रूप में एक एक अक्षर को बीजाक्षर के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसका विस्तृत विवरण तन्त्र शाखा में ही द्रष्टव्य है।

योगि परम्परा में यद्यपि चक्रों की संख्या के सम्बन्ध में कुछ मतभेद भी है तथापि

निम्नलिखित चक्रों में उनके स्वरूप विवरण के साथ निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। ये चक्र :—(१) मूलाधार चक्र, (२) स्वाधिष्ठान चक्र, (३) मणिपूर चक्र, (४) अनाहत चक्र या हृदय चक्र, (५) विशुद्ध चक्र या कण्ठ चक्र, (६) आज्ञा चक्र या भ्रू-चक्र, (७) सहस्रार चक्र या सहस्र दल कमल। इन सात चक्रों में सामान्यतः प्रथम छः को अर्थात् मूलाधार से आज्ञा चक्र तक को 'चक्र' नामों से तथा अन्तिम सहस्रार को परम

पद शिवस्थान आदि नामों से तन्त्र परम्परा में स्वीकार करते हैं। अर्थात् अन्तिम सहस्रार चक्र को चक्र न कहकर सहस्रदलकमल और शिवस्थान आदि नामों से अभिहित करते हैं।

इनका विशिष्ट विवरण षट् चक्र निरूपण ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे अंकित है, जिन पर ध्यान करने से ये चक्र जागृत हो जाते हैं अर्थात्—ये विशिष्ट चेतना केन्द्र सम्पूर्ण रूप से क्रियाशील हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप साधक को अद्भुत चेतना शक्ति प्राप्त हो जाती है।

मूलाधार चक्र :—

जैसा कि इस चक्र के नाम से भी स्पष्ट है मूलाधार चक्र समस्त चक्रों के मूल आधार में है। मूल आधार से तात्पर्य है जहां से सुषुम्ना नाड़ी का प्रारम्भ होता हैं अर्थात् योनि स्थान के निकट। यह स्थान गुदा (मल निकलने का मार्ग) के थोड़ा ऊपर लिङ्ग से पीछे है। इस चक्र को आधार चक्र अथवा आधार कमल भी कहते हैं। यह पृथिवी का

स्थान अर्थात् शरीर में स्थित भूलोक स्वीकार किया जाता है। प्राणायाम मन्त्र में प्रथम अंश 'ओम् भूः' का जप अर्थ की भावना पूर्वक इस चक्र (इस चेतना केन्द्र) को जागृत करने, इसको अपनी समग्रशक्तियों के साथ क्रियाशील करने, के लिए ही किया जाता है। इस चक्र में चार दल अर्थात् पंखुड़ियां मानी हैं, जिनका वर्ण रक्त अर्थात् जपा (गुड़हल) के

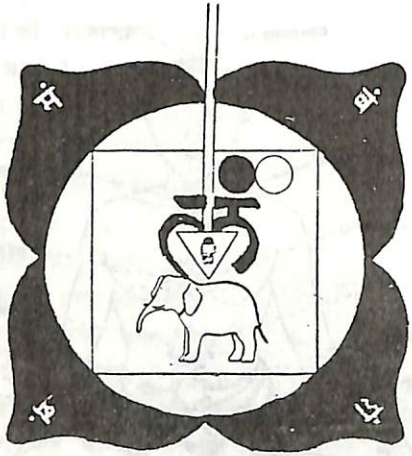

Mūlādhāra the base chakra

फूल के रंग के सदृश है, और प्रत्येक दल पर क्रमशः वँ शँ षँ सँ बीज मन्त्र अंकित हैं, ऐसा स्वीकार किया जाता है। बीज मन्त्र द्वारा इस विशिष्ट चेतना केन्द्र (मूलाधार चक्र) की विशिष्ट ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति की ओर संकेत किया गया है, (जिनकी व्याख्या के लिए स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा होगी)। चारों दलों के मिलन स्थल चक्र के मध्य स्थान (कर्णिका) में पृथिवी शक्ति का बोधक लँ बीज मन्त्र अवस्थित है। इसका तात्पर्य यह है कि इस चक्र के मूल में की जाने वाली धारणा पृथिवी धारणा है। जिसके सिद्ध होने पर साधक को पृथिवी अथवा पार्थिव पदार्थों से कोई बाधा नहीं होती। पार्थिव पदार्थ उसकी गति में बाधक नहीं बनते, पृथिवी से उसे चोट आदि की आशंका नहीं रहती, पृथिवी उसकी मृत्यु का कारण नहीं बन सकती। गन्ध इसका गुण है। फलतः दिव्य गन्ध संवित् भी उसे सिद्ध हो जाती है, अर्थात् उसे और उसकी इच्छा मात्र से उसके परिवेश में दिव्यगन्ध का आनन्द पूर्ण अनुभव सर्व साधारण को भी होता है।

इस चक्र के लँ बीज का वाहन ऐरावत हाथी माना गया है। ब्रह्मा इस चक्र का देवता है तथा डाकिनी इसकी देव शक्ति मानी जाती है। इसमें ध्यान हेतु केन्द्र के रूप में चतुष्कोणाकृति यन्त्र की कल्पना की जाती है। इस चक्र का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय घ्राण (नासिका) और कर्मेन्द्रिय गुदा से स्वीकार किया जाता है अर्थात् ये दोनों इन्द्रियां इस चक्र की साधना के फलस्वरूप अपनी सम्पूर्ण शक्ति से कार्य करने लगती हैं, दिव्यगन्ध संवित्, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, घ्राण इन्द्रिय की पूर्ण क्रियाशीलता का ही फल है।

भौतिक शरीर की निर्मलता गुदा इन्द्रिय की पूर्ण क्रियाशीलता का परिणाम होता है। इसके अतिरिक्त साधक में मानव मात्र में श्रेष्ठता, अद्भुत वक्तृत्व शक्ति, समस्त विद्याओं और कवित्वशक्ति की प्राप्ति भी मूलाधार चक्र के जागृत होने के फलस्वरूप होती है। शरीर के पूर्ण निर्मल होने के फलस्वरूप पूर्ण आरोग्य और चित्त में आनन्द की अनुभूति भी साधक को निरन्तर प्राप्त होती है। स्मरणीय है कि योग परम्परा में इस चक्र के जागरण को ही ब्रह्मग्रन्थि भेदन भी कहते हैं।

स्वाधिष्ठान चक्रः—

स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति योनि स्थान से कुछ ऊपर और नाभिस्थान के नीचे पेडू के पीछे अर्थात् मूलाधार और मणिपूर चक्र के मध्य में स्वीकार की जाती है। यह

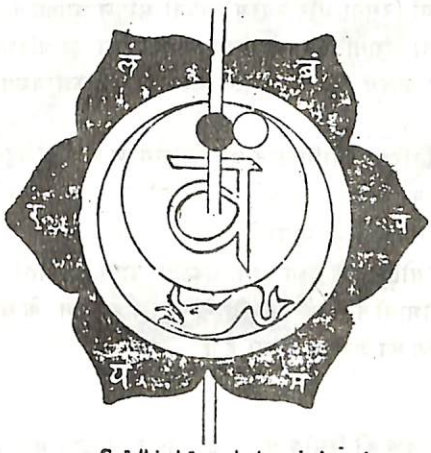

Svādhisthāya chakra below the navel

स्थान जल का स्थान माना जाता है। शरीर में भुवः लोक की स्थिति यहीं स्वीकार की गयी है। प्राणायाम मन्त्र के द्वितीय अंश 'ओम् भुवः' का जप और अर्थ की भावना इस चक्र को जागृत करने के लिए ही की जाती है। इसके जागृत होने से इस चेतना केन्द्र के सभी ऊतक पूर्ण क्रियाशील हो जाते हैं। इस चक्र (चेतना केन्द्र) को षट्कोण (छ कोणों वाली आकृति का) और सिन्दूर वर्ण वाला माना गया है। इसके प्रत्येक दल (पंखुड़ी) पर क्रमशः बँ भँ मँ यँ रँ और लँ बीज मन्त्र अंकित है यह स्वीकार किया जाता है। ये सभी बीज इस चेतना केन्द्र (चक्र) की विविध, किन्तु प्रमुख ज्ञान और क्रियाशक्ति के प्रतीक हैं। कर्णिका (चक्र के केन्द्र स्थल) में वँ बीज माना जाता है। वँ बीज जल तत्त्व का बीज मन्त्र है। इसलिए चक्र में धारणा को ही जल धारणा भी कहते हैं। इसके (जल धारणा के) सिद्ध होने पर साधक को जल से किसी प्रकार की बाधा नहीं हो पाती, न तो जल की शीतता साधक को कष्ट कर होती है, न जल उसे गीला कर सकता है, और न गला सड़ा

सकता है, न उसे उसमें डूबने से ही कोई हानि की सम्भावना रहती है, जल उसकी मृत्यु का भी कारण नहीं बन सकता। रस जल का प्रधान गुण है, अतः जल धारणा सिद्ध होने पर अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र के जागृत होने पर साधक को दिव्य रस संवित् भी सिद्ध हो जाती है, अर्थात् उसकी इच्छा मात्र से उसे दिव्य रसों के आस्वाद के आनन्द का अनुभव होता है। उसकी कृपा से सर्वसाधारण भी दिव्य रसों के आस्वाद का अनुभव कर सकते हैं।

इस चक्र का तत्त्वबीज वं है, जलतत्त्व का वाहन मकर स्वीकार किया गया है। विष्णु इस चक्र का देवता है और डाकिनी उसकी शक्ति का नाम है। इस चक्र के अन्दर यन्त्र की कल्पना चन्द्राकार रूप में की गई है। इसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय रसना और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग (उपस्थ) से माना जाता है। अर्थात् इस चक्र की साधना के फलस्वरूप उपर्युक्त दोनों इन्द्रियां (रसना और उपस्थ) अपनी सम्पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेती हैं। दिव्य रस संवित् तो रसना की पूर्ण क्रियाशीलता का ही परिणाम है, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। उपस्थ की पूर्ण शक्ति सम्पन्नता के फलस्वरूप साधक ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वाधिष्ठान चक्र के जागरण का फल अहंकार आदि विकारों की पूर्ण निवृत्ति, मोह का नाश तथा अपूर्व कवित्व शक्ति की प्राप्ति भी है, जिसके फलस्वरूप साधक इच्छानुसार किसी भी भाषा में गद्य-पद्य रचना में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार उसे अनेक साधक योगियों के मध्य स्वतः श्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है। अहंकार और मोह आदि संकीर्ण मनोभावों की पूर्ण निवृत्ति के कारण वह मन के समस्त विकारों से रहित होकर पूर्ण सन्तृप्ति का अनुभव करता है।

मणिपूर चक्र

मणिपूर चक्र की स्थिति नाभि के निकट मेरुदण्ड में है। सूत्र में जिस प्रकार मणियां गुथी होती हैं, उसी प्रकार समस्त नाड़ी चक्र इस पर गुम्फित रहता है, इसीलिए इस चक्र को मणिपूर नाम दिया गया है। यह स्थान अग्नि का स्थान माना जाता है। शरीर में स्वर् लोक की स्थिति भी यहीं मानी गयी है। इसीलिए प्राणायाम मन्त्र के एक अंश 'ओम् स्वः' का जप और उसके अर्थ की भावना इस चक्र को जागृत करने के लिए की जाती है। इस चक्र के जागृत होने पर इस चेतना केन्द्र के सभी ऊतक पूर्ण क्रियाशील हो जाते हैं। इन चेतना केन्द्रों (चक्र) में पूर्व चक्रों की अपेक्षा उत्तरोत्तर ऊतकों के गुच्छक अधिक हैं, फलतः उत्तरोत्तर चक्रों के दलों की संख्या में भी वृद्धि होती गयी है। इस चक्र में दस दल माने जाते हैं, जिनका वर्ण नीला स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक दल में क्रमशः डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बीजमन्त्र माने गए हैं। अग्नि इस चक्र का प्रधान तत्त्व है, अतः अग्नि का बीज मन्त्र रं चक्र के मध्य (कर्णिका) में माना जाता है। इस अग्नि तत्त्व का वाहन मेष और इस स्थान का देवता वृद्ध रुद्र स्वीकार किया जाता है, लाकिनी उसकी विशेष शक्ति का नाम है। प्रत्येक दल में स्वीकृत बीजमन्त्र इस चक्र अर्थात् ज्ञान

और क्रिया के मूल चेतना केन्द्र के अंश विशेष के प्रतीक हैं। इस चक्र के यन्त्र की आकृति त्रिकोण है। रूप इस चक्र (चेतना केन्द्र) का विशेष गुण है। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र एवं कर्मेन्द्रिय चरणों से इस चक्र का विशेष सम्बन्ध है। फलतः इस चक्र के जागृत होने से साधक को दिव्य रूप संवित् की सिद्धि हो जाती है, अर्थात् साधक अपनी इच्छानुसार स्वयं विविध दिव्यरूपों का साक्षात्कार करने लगता है, और उसकी कृपा से अन्य जन भी अद्भुत रूपों का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाते हैं। साथ ही इन दोनों इन्द्रियों (नेत्र एवं चरण) के अतिशय शक्ति सम्पन्न हो जाने के कारण साधक को दूर दृष्टि एवं दूरगमन का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है।

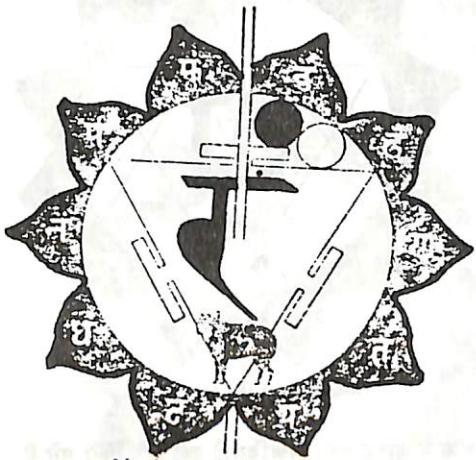

Manipura chakra at the navel centre

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मणिपूर चक्र अग्नि तत्त्व का स्थान है, अतः इस चक्र के जागृत होने से उसे आग्नेय धारणा की सिद्धि हो जाती है फलतः साधक को अग्नितत्त्व पर विजय प्राप्त हो जाती है, वह अग्निकुण्ड में स्थित होकर भी जलता नहीं। बल्कि स्वयं भी अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। इसके अतिरिक्त साधना ग्रन्थों में इस चक्र के जागृत होने पर साधक वचन रचना प्राप्त चातुर्य कर लेता है और उसकी जिह्वा पर साक्षात्सरस्वती निवास करने लगती है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। इस चक्र के जागृत करने का मुख्य परिणाम यह है कि साधक योगी को सृष्टि की रचना उसका पालन और उसके संहार का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है।

अनाहत चक्र :—

अनाहत चक्र की स्थिति हृदय के निकट मानी जाती है। यह स्थान मणिपूर और विशुद्ध चक्र के मध्य में स्थित है। यह स्थान वायु तत्त्व का केन्द्र है ऐसा स्वीकार किया जाता है। शरीर में महः लोक की स्थिति भी यहीं है। इस तत्त्व का प्रधान गुण स्पर्श

है। त्वचा और हाथ इस चक्र से सम्बन्धित क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय है। प्राणायाम मन्त्र में 'ओम् महः' अंश का अर्थ की भावना के साथ जप करते हुए प्राणायाम की साधना इस चक्र को जागृत करने के लिए की जाती है। वायवी धारणा भी इस स्थान पर सम्पन्न होती है। यहां धारणा करने से ही साधक को अनाहत नाद की अनुभूति होती है, इसलिए इस स्थान पर स्थित चक्र (चेतना केन्द्र) को अनाहत चक्र कहा जाता है। विष्णु ग्रन्थि भी यहीं है, जिसका भेदन इस चक्र के जागरण द्वारा होता है।

Anahata at the heart centre

अनाहत चक्र में बारह दल (पंखुड़ियां) स्वीकार किए गये हैं, जिनमें एकैकशः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं और ठं बीजाक्षर स्वीकार किये जाते हैं, इन बारह दलों के मध्य कर्णिका में वायु तत्त्व का बीज मन्त्र यं अंकित किया जाता है। इस चक्र का वर्ण अरुण (उगते हुए सूर्य का रंग) माना गया है। बीज का वाहन मृग है। इस चक्र (चेतना केन्द्र) का देवता ईशान रुद्र तथा काकिनी उसकी शक्ति मानी जाती हैं। इसके यन्त्र का स्वरूप षट्कोण बनाया जाता है।

योग के प्राचीन ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि इस चक्र में प्राण और मन को पहुंचा देने से वायवी धारणा की सिद्धि योगी को मिल जाती है। जिसके फलस्वरूप समस्त वायु तत्त्व योगी के वश में हो जाता है। वायु का आघात अथवा वायु की न्यूनता का कोई प्रभाव योगी पर नहीं पड़ता। वायु तत्त्व पर विजय के कारण ही प्राण वायु उसके वश में इस प्रकार हो जाता है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने शरीर से प्राणों को निकाल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने में समर्थ हो जाता है, अथवा प्राणों का विस्तार करके सौभरि की तरह निर्माण चित्तों का निर्माण करके अनेक शरीरों को धारण कर सकता है। ईशित्व और वशित्व सिद्धियां भी उसे प्राप्त हो जाती हैं। समस्त ज्ञान और काव्य रचना का चातुर्य भी उसे अनायास प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अना-

हत नाद की अनुभूति से समाधि की सिद्धि भी योगी को हो जाती है।

विशुद्धचक्र

विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठकूप है। अनाहत और आज्ञा चक्र के मध्य यह स्थान है। कण्ठकूप को आकाश तत्त्व का केन्द्र माना जाता है। शरीर में 'जनः' लोक की प्रतिष्ठा यहीं स्वीकार की जाती है। आकाश तत्त्व का प्रधान गुण 'शब्द' का उत्पत्ति स्थान भी कण्ठ ही है। श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय एवं वाक् कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध इस आकाश तत्त्व से है। इस तत्त्व को, चेतना के शक्तिशाली इस केन्द्र-विशुद्धचक्र को, जागृत करने के लिए ही प्राणायाम मन्त्र के 'ओम् जनः' इस अंश का अर्थ भावना पूर्वक जप किया जाता है। आकाश धारणा की साधना भी यहीं सम्पन्न की जाती है। इस आकाश धारणा के

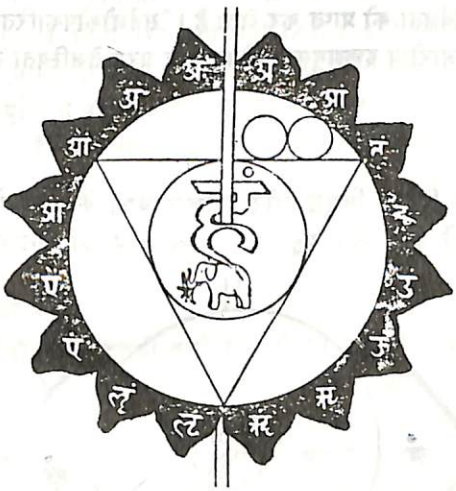

Višuddha chakra at the throat centre

होने पर दूर-से-दूर स्थान में अथवा पूर्व से पूर्व काल में उत्पन्न शब्दों को योगी सुन सकता है और आकाश की अनन्त सीमा के अन्दर वह स्वच्छन्द विचरण कर लेता है।

इस चक्र में सोलह दल हैं, यह संख्या अब तक वर्णित चक्रों के दलों की संख्या से सर्वाधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व वर्णित चक्रों की अपेक्षा यह सबसे बड़ा चेतना केन्द्र है। इस चक्र के सोलह दलों में क्रमशः अँ आँ इँ ईँ उँ ऊँ ऋँ ॠँ ऌँ ॡँ एँ ऐँ ओँ औँ अँ अँः बीजाक्षर अंकित किये जाते हैं, तथा कर्णिका में आकाश तत्त्व का बीज हँ माना जाता है। आकाश तत्त्व का अधिष्ठान होने से इसके यन्त्र की रचना शून्य चक्र के रूप में की जाती है। इस चक्र के दलों का रंग धूम्र वर्ण माना गया है। इस चक्र के बीज का वाहन हाथी माना जाता है। पञ्च वक्त्र रुद्र इस चक्र का देवता है तथा शाकिनी उसकी शक्ति है।

इस चक्र के जागरण से साधक की अनन्त मूल शक्तियां जागृत हो जाती है, स्वरों को बीज मन्त्र स्वीकार करते हुए इसी रहस्य की ओर संकेत किया गया है। जिसप्रकार स्वर वर्ण अन्य सभी बीज मन्त्रों के मूल में अवश्य विद्यमान रहते हैं, आकाश सभी तत्त्वों के अन्तर्गत व्यापक रहता है उसीप्रकार सभी प्रकार की शक्तियों और चेतनाओं के मूल में भी इस चक्र की शक्तियाँ केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहती है। काव्यरचना अथवा वचन रचना चातुर्य, जिसकी चर्चा अन्य चक्रों के जागरण के क्रम में की गयी है, उसका मूल भी आकाश तत्त्व का विशेष क्रियाशील होना है। आकाश धारणा के सिद्ध होने पर अर्थात् इस चक्र के जागृत होने पर योगी का चित्त आकाश के समान ही पूर्ण शान्त, भावनाओं की विविध तरङ्गों के विकारों से रहित पूर्ण शान्त हो जाता है, जहां तक आकाश की व्यापकता है, वहां तक योगी की ज्ञान की सीमा विस्तृत हो जाती है अर्थात् साधक सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। सर्वलोकोपकारिता योगी का स्वभाव हो जाता है। पूर्ण आरोग्य इच्छानुसार जीवन और परम तेजस्विता उसके सहज धर्म बन बन जाते हैं।

आज्ञाचक्र

आज्ञाचक्र की स्थिति विशुद्ध और सहस्रार चक्रों के मध्य दोनों भौहों (भ्रू) के बीच में स्वीकार की जाती है। यह स्थान महत् तत्त्व का केन्द्र है। महत्तत्त्व प्रकृति

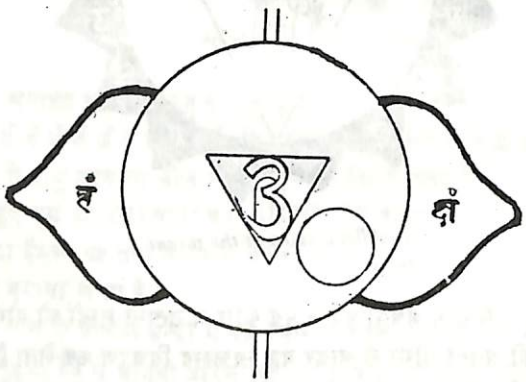

Ajna ch: ..a between the eyebrows

का साक्षात् विकार है। शेष सभी तत्त्व अहंकार पांच तन्मात्राएं ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियां उभयेन्द्रिय मन, और पांच महाभूत सभी इसके ही विकार हैं। इनमें अहंकार साक्षात् विकार है तथा अहंकार के विकार तन्मात्राएं और सभी इन्द्रियां हैं, पांचों महाभूत पांच तन्मात्राओं के विकार हैं। इस प्रकार महत् ही इन सभी की प्रकृति है, मूल तत्त्व है। आचार्य कपिल ने मन को महत्तत्त्व से अभिन्न माना है। [महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः। सांख्यसूत्र १.७१] इसका तात्पर्य है कि महत्तत्त्व का मन से अभिन्न सम्बन्ध है। फलतः

इस चक्र के जागरण के लिए महत्तत्त्व पर धारणा करनी चाहिए। इस चक्र पर धारणा करने से साधक का मन पूर्ण शक्ति सम्पन्न हो जाता है। मन उभय इन्द्रिय है अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों और पांचों कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का सम्पूर्ण नियमन मन के द्वारा ही होता है। यह एक ऐसा चेतना केन्द्र है, जहां से समस्त ज्ञान चेतना एवं क्रियात्मक चेतना का समग्र रूप से संचालन होता है, इसी कारण इस चक्र (चेतना केन्द्र) में केवल दो ही दल माने गये हैं। ये दो दल (पंखुड़ियां) एक एक करके ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति की चेतना के प्रतीक हैं।

प्राणायाम मन्त्र के 'ओम् तपः' अंश का अर्थ की भावना के साथ जप इस चक्र को (चेतना केन्द्र को) जागृत करने के लिए किया जाता है। इसके जागृत होने से सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति और सम्पूर्ण क्रिया शक्ति जागृत हो जाती है। फलस्वरूप साधक योगी सर्वज्ञ हो जाता है, उसके लिए कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। इसी प्रकार उसकी क्रिया-शक्ति भी सम्पूर्ण रूप से जागृत हो जाती है, फलतः वह सर्वशक्तिमान् हो जाता है। दोनों प्रकार की शक्तियों की दृष्टि से वह परमेश्वर के लगभग सदृश हो जाता है। क्योंकि इस चक्र का तत्त्व महत् है और वही समस्त विश्व के तत्त्वों का मूल है, अतः उसकी धारणा से सम्पूर्ण प्रकृति उसके वश में हो जाती है। इस प्रकार इस चक्र के जागरण द्वारा अनन्त शक्ति सम्पन्न हो जाने पर साधक की रुद्रग्रन्थि का भेदन हो जाता है। जिसके बाद उसकी प्राण शक्ति (कुण्डलिनी) और मन सहस्रार पद्म में पहुंच जाते हैं इस स्थिति को परम पद कहते हैं।

आज्ञा चक्र में दो दल हैं इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इन दोनों दलों में हँ एवं क्षँ बीजाक्षर माने जाते हैं, जो क्रमशः ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति के प्रतीक हैं। ॐ महत्तत्व का बीजाक्षर है, जिसे कर्णिका में अंकित मानना चाहिए। ज्योतिर्लिङ्ग के रूप में इसके यन्त्र की कल्पना की जाती है। अर्थात् इस चक्र के जागरण हेतु आज्ञाचक्र में ज्योतिर्लिंग के स्वरूप में साधक ध्यान करता है। इसके बीज का वाहन नाद है, जिसे दर्शन शास्त्र में शब्द ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है।

इससे पूर्व के चक्रों में क्रमशः पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश तत्त्वों में धारणा की गयी थी। अर्थात् क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्त्वों पर प्राणशक्ति और मन को स्थिर करने का (धारणा करने का) अभ्यास किया गया था। भूतों में सूक्ष्मतम आकाश है, शब्द ही उसका गुण है, उसमें धारणा सिद्ध हो जाने पर मन और प्राण स्थिर हो गये हैं ऐसा कहा जा सकता है, अतः इस चक्र में धारणा का नहीं ध्यान का अभ्यास किया जाता है, जो धारणा से उच्चतर स्थिति है। इस महत्तत्त्व में ध्यान की सिद्धि होने पर अर्थात् विश्व के मूल तत्त्व (सूक्ष्मतम तत्त्व) में चित्त की एकतानता (तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। यो० सू० ३.२) अर्थात् ध्यान के सिद्ध होने पर रुद्र-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है और प्राण तथा मन सुषुम्ना महापथ के सर्वोच्च स्थान पर पहुंच जाते हैं, जिसे सहस्रार पद्म, सहस्रदल कमल और परम पद कहते हैं। यह स्थल

समग्र चेतना का मूल है, अतः इस स्थान में कोई तरङ्ग नहीं है, निस्तरङ्ग प्रशान्त अगाध समुद्र की भांति यहां परम शान्ति है। इस स्थिति में पहुंचने पर साधक को कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती, वह उसकी समाधि की स्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि आज्ञाचक्र के जागृत होते ही साधक समाधि की स्थिति में पहुच जाता है। इस स्थिति में पहुंच कर उसे कुछ करने की अपेक्षा नहीं रहती। आवश्यकता होती है तल्लीनता की जिससे विक्षेप उसे न खींच सकें। यहीं योगी परम आनन्द के अनुभव में

मग्न हो जाता है, लीन हो जाता है, दूसरे शब्दों में ब्रह्म की अभेदावस्था को प्राप्त कर लेता है, ब्रह्ममय हो जाता है।

स्मरणीय है कि चक्रों की संख्या करते हुए उनके नामों का परिगणन करते समय सात चक्रों के नाम लिये जाते हैं—(१) मूलाधार, (२ स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्धि, (६) आज्ञाचक्र और (७) सहस्रार चक्र। किन्तु साधना के क्रम में केवल छ चक्रों की साधना की विधि का वर्णन होता है। इस का कारण यह है कि आज्ञाचक्र के जागृत होने के बाद योगी को साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती अब वह साधक नहीं रहता सिद्ध हो जाता है। सिद्ध ही नहीं परमसिद्ध। उसे न किसी साधना की अपेक्षा रहती है और न विश्व के किसी भौतिक अभौतिक स्थूल अथवा सूक्ष्म पदार्थ की अपेक्षा लेती है। वह ब्रह्म से अद्वैतभाव को प्राप्त हो जाता है। यही स्थिति समस्त साधनाओं से प्राप्त होने वाली अन्तिम स्थिति है। परम सिद्ध अवस्था है। इसे ही बौद्ध परम्परा में ब्रह्म विहार शब्द से साधना को सर्वोच्च सिद्धि के रूप में स्मरण किया गया है।

———

कुण्डलिनी : एक जीवन्त अनुभव

—स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

मेरी अवस्था जब छः वर्ष की थी, प्रायः उसी समय से मुझे अनेक आध्यात्मिक अनुभूतियां हुआ करती थीं। एक बार ऐसा हुआ कि मैं अपनी शारीरिक चेतना को बिल्कुल खो बैठा। यह अवस्था कुछ मिनटों तक कायम रही। इसीतरह फिर जब मैं १० वर्ष का था, तो कुछ विचित्र आन्तरिक अनुभूतियां हुईं। इस समय मुझे पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सोचने-समझने की शक्ति आ गई थी, अतः मैंने अपनी मनोदशा पिताजी को बतलायी। वे मेरी आन्तरिक अनुभूति एवं स्थिति को पूरा-पूरा समझ नहीं सके। वे मुझे किसी चिकित्सक के पास ले जाना थे परन्तु उस शहर में वैसा कोई वैद्य या चिकित्सक नहीं था। यह मेरे कल्याण के लिए अच्छा ही हुआ अन्यथा मुझे अनावश्यक किसी मानसिक चिकित्सालय में सड़ना पडता। खैर, मेरी हालत ज्यों-की-त्यों बनी रही।

मेरे पिताजी की वेद-शास्त्रों, महात्माओं और गुरुजनों में काफी श्रद्धा थी। एक बार मेरे शहर में एक महात्मा जी का शुभागमन हुआ। वे महात्मा जी पिताजी के आध्यात्मिक गुरु थे। वे मुझे उनके पास ले गये और मेरे बारे में उनसे पूछा। प्रत्युत्तर में गुरुजी ने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा—"ठीक है, ठीक है, भगवान का भजन करो। इसे आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा दो। तुम्हारा लड़का आगे चलकर संत बनेगा। मुझको भी ऐसे अनुभव बचपन में हुआ करते थे।" मेरे पिताजी ने उनकी आज्ञा का पालन किया और उनके आदेशानुसार मुझे आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा देनी आरम्भ की।

मैं हिन्दू परिवार में पैदा हुआ था। आप सबको मालूम ही है कि हिन्दूधर्म कितना व्यापक और उदार है। उसमें साकार और निराकार दोनों प्रकार की उपासनायें बतलायी गयी हैं। हमारा परिवार आर्यसमाजी था, जहां निराकार उपासना को महत्त्व दिया जाता था। फिर भी हिन्दू धर्म के अन्य देवी-देवताओं के चित्रों और मूर्तियों को मैं देखा करता था। उन्हें देखकर मेरे मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उठा करते थे। जैसे दुर्गा सिंह की सवारी क्यों करती है? सरस्वती हंस पर क्यों बैठती हैं? विष्णु भगवान शेषनाग पर क्यों सोते हैं? काली अपने रौद्र रूप में शिव के ऊपर क्यों सवार हैं? तारा मां क्यों खुले रूप से भगवान् शिव को स्तनपान करा रही हैं? इन सब विचित्र घटनाओं को देखकर उनका रहस्य समझ नहीं सकता था। आखिर क्या रहस्य है कि भगवान् शिव की सवारी

वृषभ है। उनके गले में सर्पों की माला है और उनके सिर से गंगा की धारा प्रवाहित हो रही है। गणेश जी को हाथी का सिर है। इनका इतना बड़ा पेट और चूहे का वाहन, कितनी विचित्र बात है ! मैं इन सभी विचित्रताओं को स्वतः समझने में असमर्थ था और किसी से उनका सन्तोषजनक समाधान भी नहीं मिल पाता था। परन्तु आगे चलकर जब मेरी उम्र १६ साल की हुई तो कुण्डलिनी योग को थोड़ा-बहुत समझना शुरू किया। तब इन विचित्रताओं का रहस्य मेरे मन में स्पष्ट होने लगा एवं अपनी शंकाओं का समाधान भी होना शुरू हुआ।

इन्हीं सब परिस्थितियों के बीच मुझे अचानक एक दिन एक विचित्र अनुभूति हुई। मैं कहीं एकान्त में चुपचाप बैठा था, अचानक मेरा मन अन्तर्मुख होने लगा। भौतिक चेतना से ऊपर उठकर मैंने एक अजीब दृश्य देखा। वह दृश्य था कि "मैं धरती से ऊपर हूं, समस्त पृथ्वी, महाद्वीप और महासागर, पर्वत और नगर बन्द आंखों में दिखलाई पड़ने लगे। देखते ही देखते एकाएक वे दो टुकड़ों में विभक्त हो गये।" मैं इस दृश्य का रहस्य समझ नहीं सका। मुझे इसका रहस्य तब समझ में आया जब कुछ ही दिनों में दूसरा विश्व युद्ध शुरू हुआ। परन्तु इसे देखकर मुझे जैसे साधारण गांव के निवासी को भविष्य की सम्भावी घटनाओं की झलक एक प्रतीक के रूप में कैसे दिखाई पड़ सकती थी? इन सब चीजों को मैंने न पहले कभी पढ़ा था और न किसी से सुना ही था। इस अप्रत्याशित आन्तरिक घटना को समझने और अनुभव करने का यह मेरा पहला अवसर था।

मैं जब १७ साल के करीब हुआ तो मेरे मन में अनेकानेक प्रश्न पैदा होते थे जिनका समाधान मुझे किसी से नहीं मिलता था। मैं जानता था कि इन्द्रियजनित अनुभवों और इन्द्रियातीत आन्तरिक अनुभूतियों में क्या अन्तर है। बहुत से विषयों के बारे में मैं समाधान के लिए अपने मामा और बहन से पूछा करता था। परन्तु इन सब रहस्यात्मक चीजों को जानने-समझने की जिज्ञासाएं एवं ज्ञान-पिपासाएं दिनों-दिन बढ़ती ही गयीं। मुझे ऐसा लगने लगा—सत्य, ज्ञान और शान्ति की खोज में घर-बार छोड़कर मुझे बाहर निकलना पड़ेगा। मैंने अपने पिताजी तथा घर के अन्य लोगों की अनुमति चाही। मैं तब तक प्रतीक्षा करता रहा, जब तक मेरे पिताजी ने मुझे १० रुपये देकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आगे बढ़ने की अनुमति न दे दी। इस तरह मैं अपने घर के लोगों की अनुमति लेकर आगे बढ़ा।

चलते-चलते मैं राजस्थान की तरफ गया। वहां एक आश्रम में एक वृद्ध महात्मा रहते थे। उन्होंने मुझे उस आश्रम में रहने की अनुमति दे दी। उनको तंत्रशास्त्र का बहुत गहरा ज्ञान था। यद्यपि मैं उन्हें अपना गुरु नहीं बना सका; फिर भी उन्हें भूल नहीं सकता। मैं वहां करीब नौ महीने तक रहा। लेकिन मुझे अपनी शंकाओं का समाधान नहीं मिला। मैं पुनः आगे की ओर बढ़ा। संयोगवश ऐसी घटना घटी कि मुझे ऋषिकेश

की ओर जाना पडा। वहां मैंने स्वामी शिवानन्द जी के बारे में सुना। मैं उनके पास गया और अपने अनुभवों को बताया कि किस प्रकार मुझे अचेतनता की अनुभुति हुई थी और उससे आगे बढ़ने का क्या मार्ग है। उन्होंने कहा कि तुम मेरे साथ रहो और सेवा करो, धीरे-धीरे सब कुछ समझ जाओगे। उनके आदेशानुसार तब मेरा आश्रम जीवन प्रारम्भ हुआ। आश्रम जीवन में रहते हुए बहुत समय गुजर गया। कभी-कभी धैर्य भी टूटने लगता था और मैं घबरा जाता था कि आखिर मेरे यहाँ इस प्रकार रहने का क्या प्रयोजन है। सत्य, ज्ञान और समाधि की प्राप्ति हेतु इन दैनिक कर्मों की आवश्यकता ही क्या है? मेरे मानसपटल में अनेकों प्रश्न बुदबुदों की तरह उभर आते थे। किन्तु मैं आश्रम सेवा में दत्तचित्त था। जीवन और मृत्यु के मध्य अनेकानेक अनुभवों के दौर से गुजरता रहा मैं।

कभी-कभी गंगा के किनारे बैठे-बैठे जब मैं लौकिक चिन्तन में तल्लीन रहता तो अचानक मेरा मन अन्तर्मुख होने लगता। वहीं एक दिन ऐसा लगा कि धरती अन्दर खिसकती जा रही है, सारा विश्व उस अनन्त आकाश में विलीन होता जा रहा है। अनन्त आकाश, उसकी असीमता और व्यापकता को देखकर मैं हैरान हो उठा। एकाएक मुझे ऐसा लगा कि अणुबम के विस्फोट के सदृश मेरे अन्दर से कोई शक्ति बाहर निकल रही है। उस समय मेरा सारा जीवन स्पन्दित हो रहा था। मुझे परमानन्द की अनुभूति हुई। जीवन के सुखों की जितनी अनुभूतियां हैं, उन सब में वह बढ़-चढ़ कर दिव्य एवं सुखद थी। उस आनन्द की अनुभूति जब प्रकट हुई तो मैं अपने शरीर को एवं सभी बाह्य चेतनाओं को खो बैठा। इस प्रकार की अलौकिक अनुभूति का मेरे जीवन में यह तीसरा मौका था।

मैं जब कुछ देर पश्चात् सामान्य चेतना में वापस लौटा तो उसके बाद भी कई दिनों तक अपने शरीर और बाह्य जगत् के बारे में बिल्कुल अनभिज्ञ ही रहा। उस समय भी मेरा खाना, पीना और सोना, यहां तक शौच जाना भी हराम हो गया। मुझे पूर्ण आनन्द की बिल्कुल सजीव अनुभूति हुई थी। यह इतनी आह्लादकारी थी कि मुझे डर था कि मैं इधर-उधर जरा-सा भी हिलूं-डिलूं तो यह विलक्षण अनुभूति गायब हो जायेगी। मैं उस अवस्था से कैसे उठ सकता था जब मेरे अन्दर असीम आनन्द की शाश्वत घंटी बज रही हो। एक प्रकार से यह विलक्षण अनुभूति कुण्डलिनी जागरण की थी जिसे मैं बाद में अपने उच्च साधनाक्रम से ठीक-ठीक समझ पाया। उस अवधि में आश्रम के लोगों को मेरी असामान्य स्थिति से असुविधा होती थी। वे समझ नहीं सके कि मुझे क्या हो गया है? उन दिनों ऋषिकेश में न कोई डाक्टर ही था और न आश्रम के पास इतना पैसा ही था कि मुझे कोई मानसिक चिकित्सा वाले किसी अस्पताल में भेजा जा सके। यह ईश्वर की मेहरबानी ही कहनी चाहिए, मेरे लिए यह अच्छा ही हुआ। करीब एक हफ्ते के बाद मेरी चेतना बिल्कुल सामान्य स्थिति में वापस आ गयी और मैं अपने काम-धाम में पूर्व-

वत् लग गया। उक्त घटना को अच्छी तरह समझने के लिए मैंने योग एवं तंत्र का अध्ययन करना शुरू कर दिया।

मैं शुरू-शुरू में शारीरिक रूप से बहुत कमजोर रहता था। बराबर बीमार पड़ता रहता था। मैंने अपने शरीर की शुद्धि के लिए हठयोग के षट्कर्मों और आसन-प्राणायाम आदि का अभ्यास शुरू किया। इसके फलस्वरूप मुझे आशातीत सफलता मिली। मेरे मन में विचार आने लगे कि वह कौन-सी प्रचण्ड शक्ति है जो मूलाधार में सोई पड़ी है। उसके जगने पर क्या होता है? इत्यादि बातों को जानने-समझने की शृंखलायें मेरे मन में आरम्भ हुईं तथा दिनों-दिन इस विषय में मेरी दिलचस्पी बढ़ती ही गयी।

जब कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है तो वह शक्ति जागृत होकर मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना नाड़ी में जैसे जैसे आगे बढ़ती है वैसे-वैसे उस व्यक्ति के अन्दर प्रसुप्त शक्ति केन्द्र जागृत और क्रियाशील होने लगते हैं।। साधारणतः अब तक जिस गति से मानव मन व चेतना का विकास हुआ है उसका केवल दसवां भाग ही सक्रिय अवस्था में है, शेष भाग अचेतन के गर्भ में सोया पड़ा है। मानव मस्तिष्क के सम्पूर्ण भाग को जागृत होने में हजारों और लाखों वर्ष लग सकते हैं। मस्तिष्क का प्रसुप्त भाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनके अन्दर विभिन्न प्रकार की अति मानसिक शक्तियां जैसे अतिश्रवण (अल्ट्रासोनिक), दूरदर्शन विचारसम्प्रेषण (टेलीपैथी) आदि छिपी पड़ी हैं। विभिन्न प्रकार के यौगिक अभ्यासों से यह सम्भव है कि उन प्रसुप्त शक्ति केन्द्रों में जागृति लायी जा सके। उसके लिए बहुत काल तक प्राकृतिक विकास के नियमों पर निर्भर होकर व्यर्थ बैठे रहने की जरूरत नहीं है। बल्कि वर्तमान जीवन में भी यदि तंत्र और योग की साधना प्रक्रियाओं को अपनाया जाय तो अनेकानेक उच्च केन्द्रों में को जागृत किया जा सकता है। तंत्रयोग में कुण्डलिनी जागरण की ऐसी साधनाएं हैं कि जिनके द्वारा मस्तिष्क के उन उच्च शक्तिशाली केन्द्रों को जगाया जा सकता है, जहां से इन सारी चैतन्य शक्तियों का मूल उद्गम शुरू होता है।

इस तरह कहा जा सकता है कि तंत्र और कुण्डलिनी वह सूक्ष्म महाविज्ञान है, जो चेतना के मूल उद्गम का पता लगाकर उसे जागृत करने की प्रक्रियाओं को बतलाता है। तंत्र इस विज्ञान का सैद्धान्तिक पक्ष है और कुण्डलिनी योग इसका व्यावहारिक पक्ष है। तंत्र का अर्थ है (तस्मात् त्रायते इति तंत्र) चेतनाशक्ति का विस्तार और मुक्ति।

वैज्ञानिकों का कथन है कि पदार्थ के आन्तरिक तत्त्वों का जब तक विखण्डन, व विभाजन तथा पुनः योग द्वारा सम्मिश्रण नहीं किया जाय तब तक वह पूर्ण शक्ति के रूप में परिणत नहीं होते हैं। भौतिक वस्तुएं मूलतः शक्ति का ही स्थूल रूप हैं।

कुण्डलिनी योग मन से भी सूक्ष्म चेतना के तत्त्वों को प्रकाशित करता है। इसलिए हमें सबसे पहले मन को समझना है। मन के अन्दर बहुत-सी चीजें हुआ करती

हैं, जैसे अनुभूति, भावनायें, स्मृति, ज्ञान आदि। हम इन चीजों को मन नहीं कह सकते हैं। मन के जितने भी कार्य होते हैं उनका मूलस्रोत चेतना है। चेतन तत्त्व से ही मन का निर्माण हुआ है। ऐसा नहीं हो कि हमारी चेतना शक्ति केवल सांसारिक विषयों में ही फंसी रहे। इसको सीमित जगत की विषयानुभूतियों से ऊपर उठकर विश्वव्यापी चेतना से मेल कराना होगा। इसी की पूर्ति में मानव जन्मों की सार्थकता है। लेकिन जन्म-जन्मांतरों से चले आ रहे अपने सीमित दृष्टिकोण को कैसे हटाया जाये? मन और इन्द्रियों की अनुभूतियों तथा विचारों की सीमा से परे कैसे उठा जाये। इसको समझने के लिए हमें शक्तितत्त्व के मौलिक सिद्धान्त को समझना होगा। इसे एक उदाहरण से अच्छी तरह समझें।

मान लिया एक शहर है। वहां एक मकान है। उस मकान में बिजली के तार सभी कमरे में लगाये जा चुके हैं। बल्ब, पंखा, हीटर, टेलीविजन आदि सभी प्रकार के प्रसाधनों का वहां समुचित प्रबन्ध है। फिर जब उस शहर की बिजली का सम्बन्ध मुख्य विद्युत से जुड़ जाएगा तो सभी विद्युत यन्त्र ठीक से काम करने लगेंगे। इसके अतिरिक्त उस शहर के अन्दर अन्य जितने भी उद्योग-धन्धे वाले कारखाने, दुकानें और व्यापार सम्बन्धी जितने कार्यालय होंगे, सभी अपना काम ठीक से कर सकेंगे। जब तक विद्युत प्रवाह के ऋणात्मक और धनात्मक तार मुख्य शक्ति केन्द्र से जुड़े हैं, तब तक शहर के सभी यन्त्र ठीक से काम कर सकेंगे और बिजली की रोशनी से सारा शहर जगमगाता रहेगा। टेलीविजन, टेलीफोन, कम्प्यूटर आदि सभी यन्त्र समुचित ढंग से परिचालित होंगे।

इसी प्रकार मानव मस्तिष्क के जो भाग निष्क्रिय अवस्था में हैं, उनकी भी यही हालत है। उनका सम्बन्ध शक्ति के मुख्य केन्द्र से नहीं जुड़ा है। इसीलिए चेतना की विस्तृत शक्ति वहां पहुंच नहीं रही है। यह मानव शरीर भी एक छोटा-सा ब्रह्माण्ड ही है। इसके अन्दर सभी प्रकार के गुण, कार्य और शक्तियां विद्यमान हैं, जो अखिल ब्रह्माण्ड में होते हैं। परन्तु उसकी अधिकांश शक्तियां सुषुप्त अवस्था में हैं, जिनका हम उपयोग सामान्य जीवन में नहीं करते। इसका कारण है कि उन छोटे-छोटे केन्द्रों का सम्बन्ध मुख्य केन्द्रों से नहीं है जहां से चारों तरफ चेतना की शक्ति संचारित होती है। अब प्रश्न यह है कि उस अनन्त शक्ति का मुख्य केन्द्र कहां पर है।

तंत्र और कुण्डलिनी शास्त्र के अनुसार शक्ति का मूल केन्द्र है मूलाधार चक्र। जब मूलाधार चक्र का सम्बम्ध मस्तिष्क के मुख्य केन्द्र से जुड़ जाता है तो अनन्त शक्ति का स्रोत सुषुम्ना के मार्ग से प्रवाहित होने लगता है। उस समय मस्तिष्क के जितने केन्द्र हैं, वे चेतना की ज्ञानमयी शक्ति से आलोकित हो उठते हैं। पुरुष शरीर में यह मूलाधार चक्र पेरिनियम के पास मल-मूत्र द्वार के बीच तथा स्त्रियों में यह गर्भाशयग्रीवा (cervix) के ठीक पीछे स्थित है। यह बहुत छोटी-सी ग्रन्थि है। यदि उस पर किसी तरह से दबाव

डाला जाये तो उस पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। उसकी शक्ति को जागृत करने के लिए सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं द्वारा ही उसे प्रभावित करना होगा। यदि किसी अणु-परमाणु को आप धरती पर यों ही फेंक दें तो क्या होगा? कुछ भी नहीं। जिस प्रकार बम को विस्फोट कराने के लिए डेटोनेटर की जरूरत पड़ती है उसी प्रकार मूलाधार चक्र के अन्दर छिपी हुई शक्ति का विस्फोट करने अर्थात् उसको जागृत करने के लिए डेटोनेटर जैसी कुछ विधियां हैं, उन्हे अपनाना पड़ेगा। जब यह प्रसुप्त शक्ति जागृत हो जाती है तो स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, बिन्दु, और सहस्रार चक्र की सम्पूर्ण शक्तियां जागृत होने पर मनुष्य देवतुल्य अनन्त दिव्य शक्तियों और विभूतियों का स्वामी बन जाता है। इस तरह से कुण्डलिनी शक्ति की जागृति, ऊर्ध्वारोहण एवं उसके परिणामों की परिपुष्टि होती है।

बहुत से लोग कुण्डलिनी योग का नाम सुनकर भयभीत हो उठते हैं—अरे! बाप रे! यह तो बहुत खतरनाक चीज है। अरे भाई, आप लोगों ने इसके विषय में बहुत गलत धारणा बना रखी है। वैसे देखिये, तो जीवन में खतरा सर्वत्र हैं और प्रगति के मार्ग में आगे बढ़ने वाले वीर उन्हें रौंदते हुए आगे बढ़ते हैं। इतिहास इसका साक्षी है। वैसे आप देखिये तो भारत से योरप जाने के लिए बहुत से लोग वायुयान का सहारा लेते हैं। उन्हें आठ घंटे तक वायुयान में बैठना पड़ता है। क्या वह खतरा नहीं है? लेकिन जाने वाले यात्री आनन्दपूर्वक बैठते हैं। बड़े-बड़े पर्वतारोही अनन्त खतरों का सामना करते हुए आरोहण का साहस छोड़ते नहीं। एवरेस्ट पर्वत पर जो विजय हासिल की गयी, वह जान को जोखिम में डालकर ही मिली। मानव ने हाइड्रोजन और अणुबम बनाये हैं, क्या वे खतरे से पूर्ण नहीं हैं? हमारे सामने सर्वग्राही मौत मुंह बाये हर क्षण खड़ी है। परमात्मा ही जानता है कि वह किस क्षण हमें अपना ग्रास बना लेगी। तो फिर डर किस बात का? इस तरह मृत्यु कितनी खतरनाक चीज है? एक प्रकार से यह जीवात्मा के चिरकालीन कुम्भक की स्थिति है। उसके बाद कौन जानता है हमें पुनः इस मृत्युलोक में, किस योनि में और कब जन्म लेना पड़ेगा।

लोग कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में डरते हैं। इसका क्या कारण है? क्योंकि उन्होंने अन्य लोगों से सुना है कि लोग पागल हो जाते है। कहीं उन्हें भी पागलखाने की हवा न खानी पडे, इसलिए वे अकारण डरते हैं। सच पूछिये तो यहीं खतरा है। इस तरह तो जीना दुर्लभ हो जायेगा। फिर शूर-वीरों और बड़े-बड़े महारथियों की तरह खतरे का जोखिम उठायेगा कौन और विजय का झंडा फहरायेगा कौन? विश्व के महान् सेनापति, राजनीतिज्ञ या नवीन स्थानों की खोज करने वाले, साहसिक समुद्रयात्री जो कभी-कभी तीव्र लहरों के प्रवाह में बह जाते हैं, क्या उन्हें जीवन के खतरे और मौत का भय नहीं होता? वे वैज्ञानिक जो हाइड्रोजन और अणुबम आदि का प्रयोग करते हैं, उनका जीवन कितने खतरे में रहता है? यदि वे साहसिक खतरा मोल नहीं लेते, सम्भावित

मृत्यु से भयभीत होकर महान् लक्ष्य और कर्त्तव्यों से विमुख हो जाते, तो ज्ञान-विज्ञान के आविष्कारों के बृहद् क्षेत्र में नये-नये आयामों का उद्घाटन नहीं कर पाते।

यदि हम कुण्डलिनी योग का अभ्यास करते-करते कहीं पागल हो गये तो क्या हो जायेगा? कोई बात नहीं, यदि पागल हो भी गये तो क्या होगा। धीरे-धीरे यह कुण्डलिनी हमारे वश में हो जायेगी। जिस कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में मनुष्य को कई जन्म और युग व्यतीत करने पड़ते हैं, उसे जगाने में यदि किसी बहुत बड़े खतरे का भी सामना करना पड़े तो इस उपलब्धि की तुलना में कोई भी खतरा नगण्य है और इसे ईश्वर का वरदान ही समझना चाहिए। यदि कुण्डलिनी जागृत हो जाने के भय की वृत्ति बनी रही तो फिर उसे जगाने का प्रयत्न कौन करेगा? अतः अपने अन्दर से कुण्डलिनी जागरण के प्रति भय और असुरक्षा की भावना को निकाल दो भय का होना मानसिक दुर्बलता का लक्षण है। सचमुच में यह है भी। फिर भी वास्तविक खतरा है कि नहीं, इसको स्वयं हम क्यों न आजमायें। यदि जाग गयी तो हम बहुत बड़ी शक्ति के स्वामी बनेंगे, अन्यथा जागृत होने की तैयारी होती रहेगी।

अब तक मानव ने इस भौतिक जगत की अधिकांश शक्तियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। अब उसे अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करना है। उसे अपनी छिपी हुई अनन्त शक्तियों के उद्गम को जानना और प्रकाशित करना है। इसलिए कुण्डलिनी योग एक बहुत सुन्दर, रोचक और रहस्यात्मक वैज्ञानिक विषय है, जो मनुष्यत्व को देवत्व में परिणत करने की सारी क्षमतायें रखता है। इसका नाम सुनकर आपको डरने की जरूरत नहीं है। अब इस विषय पर अनेकों गवेषणाएं हो चुकी हैं एवं पुस्तकें भी निकल चुकी हैं। इसके जानकार गुरुओं की भी कमी नहीं है। इसलिए आप भी तैयार होइए और अपनी बहुमुखी प्रतिभा के विकास के लिए कुण्डलिनी योग के अभ्यास में तत्पर हो जाइये।

विश्व की आने वाली संस्कृति में कुण्डलिनी जागरण ही मानवता का मुख्य धर्म बनेगा, ऐसा मुझे अन्दर से अभ्यास हो रहा है। यदि आप इस महान्, प्रचण्ड सर्पिणी कुण्डलिनी शक्ति से भय रखते हैं, तो रखें; आगे आने वाली सन्तानें निर्भय होकर इसे जागृत करेंगी, और अतीन्द्रिय चेतना अर्जित करेंगी। हो सकता है, आज से हजारों और लाखों वर्षों के बाद सबकी कुण्डलिनी जन्म से ही जागृत रहे। उस समय महान, सात्त्विक, दैवी, महात्मा और दिव्य स्वभाव वाली आत्माएं ही इस भूमण्डल में अवतरित होंगी।

सर्वोच्च साधना—कुण्डलिनी योग

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

कुण्डलिनी योग का विषय अब भारत तथा विश्व में बहुत ही लोकप्रिय हो चुका है। अतः इसके व्यावहारिक व दार्शनिक ज्ञान एवं स्वरूपको अच्छी तरह इसकी परिभाषा के साथ जान लेना आवश्यक है।

जिस तरह अनंत नाग देवता पृथ्वी को धारण किए हुए हैं, उसी तरह कुण्डलिनी योग के नाग देवता भी पूरे तन्त्र एवं योगशास्त्र के धारक माने जाते हैं। कुण्डलिनी की कल्पना एवं सुषुम्ना के उत्तुंग राजकीय मार्ग से उसके ऊपर चढ़ने की गति को कितने ही रूपों में संसार की धर्म-पुस्तकों, गाथाओं तथा दृष्टान्तों में समझाया गया है।

कुण्डलिनी का एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त हनुमानजी की गाथा में है। एक बार हनुमानजी समुद्र के किनारे उगते सूर्य को देख रहे थे। उन्हें भूख लगी और उगते हुए सूर्य को एक सुन्दर बड़ा सा लाल सेब समझकर वे आकाश में उड़ गये और पूरे सूर्य को निगल गये। फलतः तीनों लोकों में अंधेरा छा गया और सारे देवताओं के बीच खलबली मच गई।

पर वस्तुतः हनुमानजी सूर्य को निगल गये, ऐसी बात नहीं है। यह मात्र एक प्रतीकात्मक दृष्टान्त है, जहाँ प्राण-वायु अर्थात् सूर्य नाड़ी को सुषुम्ना में प्रवाहित करने को बताया गया है। यही कुण्डलिनी योग को समझने का गूढ़ रहस्य है और यही कुण्डलिनी योग की तान्त्रिक परम्परा है। तंत्र मार्ग अपनी अनेक सुन्दर यौगिक शाखाओं को लेकर चलता है, जैसे—हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, आसन, प्राणायाम, क्रियायोग, योगनिद्रा, भक्तियोग इत्यादि तथा इन सभी के ऊपर है कुण्डलिनी योग। तन्त्र का परम लक्ष्य मनुष्यों की चेतना को, मन को, देश एवं काल के परे प्रस्फुटित करना है। मन स्वयं अनेक बन्धनों में बंधा हुआ है, इसके कारण वह समय तथा विषय के बीच सीमित रहता है। तंत्र शब्द दो भावों का समन्वय है—एक विकास एवं दूसरा मुक्ति। इसका लक्ष्य प्रथम चेतना का विकास, तत्पश्चात विषयों के सूक्ष्म बन्धनों से मुक्ति देना है। मनुष्य की चेतना हमेशा प्रस्फुटित होती रहती है, इसका पूर्ण विनाश कभी नहीं होता। शरीर के मर जाने पर भी चेतना की मृत्यु नहीं होती। रोगी शरीर भी इस पर प्रभावकारी नहीं होते। इसी चेतन-विज्ञान का नाम तन्त्र है।

शक्ति के दो पहलू—

गीता में दो सनातन शक्तियों का वर्णन आया हैं—पुरुष एवं प्रकृति। इसी अनादि तथा अनन्त शक्ति पर सारा ब्रह्माण्ड तथा मानव आदि प्राणी स्थित हैं। प्रकृति ही पदार्थ

अथवा समग्रता का प्रकाशन है। पुरुष चेतना का रूप है जो मन, बुद्धि, चित्त एवं अहं-कार के रूप में अवस्थित है। जब पुरुष एवं प्रकृति का संयोग होता है तभी प्राणियों का आविर्भाव होता है। सदा-सर्वदा से क्रमिक विकास एवं अवतरण की प्रक्रिया में दो तत्त्व साथ-साथ रहे हैं और इनके कारण भी हैं। आज भी हम सभी अपने अलग-अलग अस्तित्व में इन्हीं पदार्थों एवं चेतना के सृजन हैं। इस सृजन की प्रक्रिया में इन दो गुणों का सदा सर्वदा से ऐसा घनिष्ट संयोग रहा है कि एक आम आदमी अपनी साधारण बुद्धि एवं ज्ञान से इन दो शक्तियों को विलग कर अलग-अलग नहीं समझ पाता है। तंत्र के दर्शन एवं अभ्यास का लक्ष्य इन्हीं दो गुणों को विलग कर मन एवं चित्त को अलग-अलग कर जानने का है। इस प्रकार 'योग' का अर्थ 'वियोग' है, जब चेतना मन की उलझन से विलग होकर पुनः योग रूपी संसार का आविर्भाव करती है।

इस पार्थिव शरीर के सूक्ष्म स्तर में जो दो शक्तियां कार्यरत रह रही हैं : वे हैं 'चित्त' एवं 'प्राण'। प्राण अर्थात् जीवन-शक्ति तथा चित्तशक्ति मन के संपूर्ण चेतन, अर्धचेतन एवं अचेतन का स्रोत है। इन दोनों के समन्वय से ही ज्ञान एवं क्रिया फलीभूत होती हैं। ये ही शक्तियां कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मन एवं चित्त का नियन्त्रण करती हैं। ये दो शक्तियां इस शरीर में मेरुदण्ड के बीच दो नाड़ियों द्वारा प्रभावित होती हैं, जिन्हें हम 'इड़ा' एवं 'पिंगला' कहते हैं। जैसे रेडियम-रश्मि-तरंग ट्रांजिस्टर रेडियों में प्रवाहित होती हैं, पर हम उन्हें देख नहीं सकते, उसी प्रकार मानसिक एवं प्राणिक चेतनायें 'इडा' एवं 'पिंगला' में सूक्ष्म रूप से प्रवाहित होती है, जिन्हें हम शल्य-चिकित्सा द्वारा रीढ़ की हड्डियों को चीर कर नहीं दिखा सकते।

इडा-पिंगला की भूमिका—

इडा बायीं नासिका द्वारा एवं पिंगला दाहिनी नासिका द्वारा प्रवाहित होती है। इडा नाड़ी शीतलता, चन्द्रमा मानसिक शान्ति तथा ब्रह्मज्ञान का द्योतक है और पिंगला उष्णता, सूर्य, शक्ति एवं क्रियाशीलता का द्योतक है। आधुनिक विज्ञान के मतानुसार भी बायीं नासिका का ताप दायीं नासिका के ताप से बहुत कम हैं और यह तथ्य इस तरह पुरानी यौगिक पद्धति को प्रमाणित करता है। साधारणतया नाड़ी का अर्थ लोग ज्ञान तन्त्र से लगाते हैं: पर योग में इसका अर्थ भिन्न है। नाड़ी शब्द "नाद" से आया है जिसका अर्थ "बहना" होता है। नाड़ी कोई यन्त्र अथवा ज्ञान तन्तु नहीं हैं, जिसे हम पार्थिव शरीर का कोई अंग समझें।

"इडा-नाड़ी" चित्त शक्ति तथा 'पिंगला-नाड़ी' प्राण शक्ति का स्रोत है। प्राण एवं चित्त पूरे शरीर में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग की क्रिया-प्रक्रिया, स्पन्दन एवं पूरे स्थूल, सूक्ष्म एवं हैतुक क्रिया समुदायों का नियंत्रण करते हैं। इन दो नाड़ियों का उद्गम स्थान रीढ़ की हड्डी का अधोभाग 'मूलाधार-चक्र' है तथा इसका अन्त-शीर्ष 'आज्ञा-चक्र' है। पुरुषों में यह मूलाधार चक्र मल-द्वार और जननेन्द्रिव के बीच तथा महिलाओं

में गर्भाशय तथा योनि-द्वार के बीच स्थित होता है। मूलाधार चक्र ही महाशक्ति का प्रतीक है। आज्ञाचक्र 'पीनियल-ग्रंथि' के पास रीढ़ की हड्डी के शीर्ष पर भ्रू मध्य भाग में अवस्थित है। मूलाधार से पिंगला दायीं तथा इड़ा बायीं ओर से बलखाती हुई, बिना एक दूसरे को स्पर्श किये स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धि चक्रों को क्रमशः पार करते हुए अन्ततः ऊपर आज्ञाचक्र में पहुंचकर बिलीन हो जाती है।

तन्त्र शास्त्र में कहा गया है कि कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में तमोगुणों से लिपटी अनन्त निद्रा में अनन्तशक्ति लिये सो रही है। इस प्रकार सुषुम्ना के मूल में स्थित कुण्डलिनी को तामसिक शक्ति माना गया है। इसलिए अगर किसी साधक की कुण्डलिनी बिना इड़ा एवं पिंगला को संतुलित किये जागृत हो जाती है तो वह साधक शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक उथल-पुथल से पीड़ित हो सकता है। इस तरह जब हम कुण्डलिनी योग की चर्चा करते हैं, तो इड़ा और पिंगला नाड़ी भी स्वयं में महत्त्व रखती हैं। सारे कर्म, संस्कार, नैराश्य अथवा ईर्ष्या आदि जो भी मन एवं प्राण द्वारा सृजित हैं, सभी इड़ा और पिंगला के प्रवाह में ही सूक्ष्म रूप में अवस्थित हैं। अतः जो अच्छे अथवा बुरे, दुखदायी अथवा सुखदायी संस्कार है, उनका क्षय होने से पहिले सुषुम्ना जागृत हो जाये तो आदमी पूर्णता विक्षिप्त, पागल अथवा विध्वंसक हो सकता है।

ऐसा आवश्यक नहीं है कि आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की अनुभूतियां सुषुम्ना के जागृत होने पर ही हों। बहुत सारी ऐसी अनुभूतियां हैं जो साधकों को पिंगला की प्राण वायु तथा इड़ा की चेतना से प्राप्त होती हैं। 'हठयोग' स्पष्ट रूप से बतलाता है कि मन एवं प्राणशक्ति के सामंजस्य से ही समाधि प्राप्त होती है। यह सुषुम्ना नाड़ी ही एक मात्र पथ है, जिसमें कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार से निकलकर मेरुदण्ड से होते हुए सीधे ऊपर आज्ञाचक्र में लय हो जाती है।

इडा नाड़ी के प्रवाह काल में मस्तिष्क का दायां भाग क्रियाशील होता है और जब पिंगला क्रियाशील होती है तो मस्तिष्क का बायां भाग काम करने लगता है। सुषुम्ना जागृत होती है तो पूरा मस्तिष्क क्रियाशील हो जाता है। सुषुम्ना की सारी शक्ति जिसे हम कुण्डलिनी के नाम से जानते हैं, मूलाधार में स्थित हैं। इसका प्रवाह किसी अन्य नाड़ी के द्वारा नहीं होता है। जब इड़ा व पिंगला एक साथ प्रवाहित होती है, तब इनका ताप एक समान रहता है तथा प्राण और चेतना का अन्तर टूट जाता है एवं अन्यान्य अवस्थायें भी जब समरूप हो जाती हैं तो कुण्डलिनी स्वयं ही सुषुम्ना नाड़ी से उर्ध्वारोहण कर आज्ञा चक्र पहुंचती हैं। यद्यपि कुण्डलिनी का शाब्दिक अर्थ 'गेंडरी' होता है पर तन्त्र शास्त्र में यह शब्द 'कुण्ड' से आया है। जिसका अर्थ 'गहरे' स्थान से है जैसे 'हवन कुण्ड'। कुण्डलिनी वही महाशक्ति है जो इस प्रकार के गहरे स्थान अर्थात् 'कुण्ड' में विराजमान है जिसे हम 'मूलाधार' कहते हैं।

कुण्डलिनी जागरण में सुषुम्ना का अस्तित्व—

तन्त्रशास्त्र में भक्तियोग से लेकर लययोग तक कुण्डलिनी जागरण के अनेकों नियम हैं तथा आयुर्वेद में अनेक जड़ी-बूटियों तथा रसायनों के प्रयोग का वर्णन आया है। इन सभी का एक मात्र लक्ष्य उस स्वप्न को साकार बनाना है जिसमें शिव तथा 'शक्ति' का संयोग अनन्त में विलीन हो जाता है। इसी असीम सुषुप्त शक्ति को जाग्रत करने के लिए बड़े-बड़े योगी लोग कष्ट सहकर व्रत अनुष्ठान तथा योग का अभ्यास करते हैं। इसी केन्द्र बिन्दु पर सनातन धर्म अवस्थित है। तन्त्र शास्त्र की गलत परिभाषा के कारण लोग इससे भय खाते हैं। यहां तक कि वे इसकी निन्दा भी करते है। वे इसे नहीं चाहते, क्योंकि वे इसके विरुद्ध बीभत्स एवं अश्लील धारणा बना बैठे हैं। पर क्या आपको मालूम है ? हमारे धर्म, हमारे संस्कृति की उत्पत्ति ही तन्त्र से हुई है। तन्त्र का अद्वितीय विज्ञान ही योगशास्त्र, वेद एवं सनातन धर्म की जननी है। सभी महान तपस्वी साधक, धर्मशास्त्र एवं साधना आदि की उत्पत्ति तंत्र से हुई है। यही सारे पवित्र ज्ञानों में पवित्रतम ज्ञान, परम शान्ति और आनंद का महाविज्ञान है।

धर्म शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि जब सुषुम्ना जागृत अवस्था में हो तो साधक को मात्र ध्यान करना चाहिए, क्योंकि अगर सुषुम्ना की जागृत अवस्था में अन्य कोई कार्य किया जाये तो वह तामसिक होगा, क्योंकि सुषुम्ना तमोगुणी, पिंगला रजोगुणी एवं इड़ा सतोगुणी नाड़ी समूहों से सम्बन्धित है। किसी को भी सुषुम्ना को जागृत करने से पहले कुण्डलिनी जागरण का प्रयास नहीं करना चाहिये। यदि आपके पास मोटर कार है पर आपके घर से जाने को सड़क न हो तो क्या करना चाहिए ? उसी प्रकार जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो तो उसके प्रवाह के लिए उचित पथ होना चाहिए। सुषुम्ना के जागृत होने का अभिप्राय ही 'पाताल लोक' का 'स्वर्ग लोक' के साथ सूक्ष्म सम्पर्क स्थापित करना है।

हठयोग से तैयारी —

सुषुम्ना को जागृत करने के पहले हठयोग द्वारा अर्थात् आसन, प्राणायाम मंत्र आदि के अभ्यास से इड़ा एवं पिंगला की शुद्धि कर लेनी आवश्यक है। हर साधक को यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि इस महादेवी, महा-आद्याशक्ति को जागृत करने के पूर्व वह एक पूर्ण एवं कुशल कार्यक्रम बना लें और इसका अभ्यास किसी सूक्ष्म-दर्शी योग्य गुरु के निर्देशन में ही करें।

तन्त्र शास्त्र में आया 'हठ' शब्द दो अक्षरों, 'ह' व 'ठ' के मेल से बना है। ये दो अक्षर दो शक्तियों 'प्राण एवं चेतना', शिव एवं शक्ति, सूर्य एवं चन्द्र तथा गंगा एवं यमुना आदि के द्योतक हैं। हठयोग की परिभाषा को देखकर उसे 'पार्थिव योग' समझना भूल है। मैं सभी को अच्छी तरह बता दूं कि 'हठयोग' किसी प्रकार भी पार्थिव अथवा पदार्थवादी विज्ञान नहीं है। यह इस पार्थिव शरीर में स्थित इन दो महान शक्तियों का

गोपनीय ज्ञान है। हठयोग का उद्देश्य मनुष्य में सुषुप्त 'मानवी' चेतना को जागृत करना है। परन्तु यह केवल शारीरिक स्थूल चेतना ही नहीं है। जब मैं अपने गुरुकुल ऋषिकेश में था तो अपने गुरु स्वामी शिवानन्दजी के हस्तलिखित लेखों को टाइप करता था। उनमें अनेक लेख आसनों पर भी थे। मैंने उनसे एक बार पूछा कि इन आसनों का अभ्यास क्यों आवश्यक है ? जबकि ये मात्र शारीरिक स्वास्थ्य के हेतु हैं। तो उन्होंने कहा—योगाभ्यास शारीरिक व्यायाम नहीं हैं। ये अभ्यास चक्रों को न्यून मात्रा में ऊर्जा देने हेतु किये जाते हैं ताकि जब वे जाग्रत होते हैं तो लोग अचम्भित न हो जायें।

अब हम लोग इसे स्पष्ट रूप में आधुनिक विज्ञान के आलोक में समझ गये। इसी प्रकार प्राणायाम का अर्थ शरीर को अधिक प्राणवायु (ऑक्सीजन) पहुंचाने के लिए गहरी श्वास प्रक्रिया नहीं समझना चाहिए। मात्र ऑक्सीजन ही प्राण-शक्तिदायक नहीं है। मात्र ऑक्सीजन योग के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि प्राणायाम के द्वारा ऑक्सीजन के विखण्डन से जो "ऑक्सीजन आयन" प्राप्त होते हैं वे अमूल्य हैं। उदाहरणार्थ—ऑक्सीजन आयन जिसे हम प्राणशक्ति कहते हैं, अधिक संख्या में नाड़ी शोधन प्राणायाम करने से इड़ा एवं पिंगला नाड़ी के पास अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाते हैं। साधारण श्वास की प्रक्रिया में ऐसा नहीं होता हैं। बारी-बारी से दोनों नासिकाओं द्वारा लगातार श्वास-प्रश्वास लेने से इसका घनत्व और समय अभ्यास के साथ बढ़ता जाता है जो अन्ततः संतुलित होकर सुषुम्ना को जागृत करता है।

कुछ लोग जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं 'प्राणायाम' शब्द का अर्थ श्वास नियंत्रण से लगाते हैं पर ऐसा नहीं है। प्राणायाम दो शब्दों 'प्राण और आयाम' के संयोग से बना है। आयाम का अर्थ 'परिमाण' अथवा विस्तार से होता है। भौतिक शरीर जहां रेडियम रश्मि तरंगों तथा विद्युत चुम्बकीय तरंगों का क्षेत्र है, वहीं प्राणशक्ति का भी क्षेत्र है। हम अपने क्रमिक विकास में इस प्राणशक्ति को अब तक मात्र तीन ही स्वरूप में विस्तृत कर सके हैं—पहला स्थूल, दूसरा सूक्ष्म एवं तीसरा हैतुक, जो हमारे जागरण स्वप्न तथा निद्रा की स्थिति है। पर वास्तव में इस चेतना विकास के सात स्वरूप हैं जिनमें से एक को हम देख सकते हैं, दो को स्पर्श कर सकते तथा शेष चार को न देख सकते और न स्पर्श ही कर सकते हैं। ये सात स्वरूप हैं—भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम्। चेतना के सात अधिष्ठान सात चक्रों के अनुरूप हैं। प्राणायाम की आवश्यकता प्राणशक्ति का इन सातों स्वरूपों में संचार कर समाधि तथा इसके भी ऊपर की स्थिति में ले जाने के लिए है।

अगर इन कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को नियंत्रण करने वाली इस प्राणशक्ति का अपने उद्गम मूलाधार से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाये तो कुण्डलिनी जागृत होती है। जब हनुमानजी सूर्य को निगल गये अर्थात् पिंगला नाड़ी में प्राणों का संचार बन्द हो गया, तबहृदय एवं मस्तिष्क की गति भी रुक गई तथा अन्य अंग भी निष्क्रिय हो गये वे

जाग्रत, स्वप्न, निद्रा तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण कर गये जिससे कि तीनों लोकों में अंधियारा छा गया। स्पर्श, स्पन्दन एवं मस्तिष्क की अनुभूति भी रुक गई तो इस स्थिति को बन्ध अर्थात मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर-बन्ध द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जब आप इन बन्धों का अभ्यास प्राणायाम के साथ करते हैं तो इसका तात्पर्य है कि आप 'प्राण' को किसी अन्य विशिष्ट 'आयाम' अर्थात् कुण्डलिनी की ओर प्रवाहित करते हैं। प्राणायाम 'प्राण' को उत्तेजित करता है तथा बंध इसे विलय होने से रोककर उपयुक्त केन्द्र की ओर अग्रसरित करता है।

अनुसन्धानों से पुष्टि—

गत २०-३० वर्षों से विज्ञान भी कुण्डलिनी के जागरण से शरीर एवं मन में होने वाले परिवर्तनों पर अनुसन्धान कर रहा है। इस संदर्भ में जापान के डॉक्टर हिरोशी मोटोयामा ने कम्प्यूटर चालित पालिग्राफ मशीन से ई. ई. जी., जी. एस. आर. एवं ई. सी. जी. की जांच तथा श्वास में हुए परिवर्तन का बड़े-बड़े योगियों एवं साधकों पर परीक्षण किया। उन्होंने आत्मा से संबंधित जागृत केन्द्रों का परीक्षण किया और पाया कि उनकी क्रियाशीलता में अपार अन्तर है। उनके परीक्षण में पाया गया कि कुण्डलिनी के जागरण से वास्तव में शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं, विशेषकर उन स्वचालित स्नायुओं में जो जागृत चक्रों से संबंधित रहते है। ऐसे योगी उन स्वचालित स्नायुओं पर भी नियंत्रण कर सकने में सक्षम होते है और कुछ समय के लिए अपने हृदय की गति को भी रोक सकते हैं। शरीर और मन में बहुत ही नजदीकी मानस-बोध और उससे शरीर एवं मन में हुए परिवर्तनों का अतिक्रमण कर सकने में सक्षम होते हैं। इस अनुसन्धान से स्पष्ट तौर पर इस महान शक्ति का होना प्रमाणित हो गया है। प्रारम्भ में हठयोग, आसन एवं प्राणायाम का ध्येय साधक को कुण्डलिनी योग साधना के लिए तैयार करना मात्र है, क्योंकि कुण्डलिनी के जागरण के पूर्व शरीर को उसकी शक्ति को संभालने की शक्ति से युक्त तथा स्नायुओं का स्वस्थ, समर्थ एवं परिपुष्ट होना आवश्यक है। जब ये सारी साधनायें पूरी हो जायें तो ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ होता है।

क्रियाओं का समन्वय—

योग में कुछ साधक ऐसा समझते हैं कि ध्यान का अर्थ एकाग्रता से है लेकिन तंत्र एवं कुण्डलिनी योग में इस एकाग्रता को मन के ऊपर अन्याय करना बतलाया गया है क्योंकि इससे मन के प्रवाह को रोक दिया जाता है। आप मन को निर्देश दे सकते हैं पर रोक नहीं सकते। आप क्रियायोग में पायेंगे कि मन को किसी एक बिन्दु पर एकाग्र करने के लिए एकाग्रता आवश्यक नहीं है। ध्यान का लक्ष्य मन की प्रकृति को बदल देना नहीं हैं, और न वह संभव है, क्योंकि मन कोई भौतिक, दार्शनिक, धार्मिक या जातीय इकाई नहीं है। यह जीवन का एक ओज है, चित्त की एक वृत्ति है, एक रचना है। इसलिए कुण्डलिनी योग में चित्त की उस प्राकृतिक वृत्ति से व्यर्थ लड़कर समय गँवाना उप-

युक्त नहीं है, क्योंकि चित्त तीन गुणों, सत्त्व, रजस् एवं तमस् का सृजन है। मन प्रकृति का ज्येष्ठ भ्राता है और प्रकृति में ही सभी गुण तथा रूप का उद्भव है।

तब हम लोग क्या करें? किसी उत्तम आसन सिद्धासन या पद्मासन में बैठ जायें। पहले नाड़ी शोधन क्रिया का अभ्यास करें। फिर मन-शोधन, चित्त-शोधन एवं प्राण-शोधन की क्रिया कुछ वर्षों तक करें। प्रथमतः नाड़ी शोधन प्राणायाम द्वारा पुनः मन-शोधन हठयोग द्वारा, चित्त-शोधन प्रत्याहार द्वारा एवं प्राणशोधन का क्रियायोग द्वारा अभ्यास करें। ये सभी प्रारम्भिक स्तर हैं। जब ये अभ्यास पूरे हो जायें तो इनके बीच में गायत्री मंत्र का भी समावेश कर देना चाहिये। जैसे—नाड़ी शोधन प्राणायाम के अभ्यास में पूरक, अन्तरंग—कुंभक, रेचक एवं बहिरंग कुंभक के बीच मंत्र का परिवेश—(१ : २ : २ : १) के अनुपात में करें। अन्तरंग कुंभक में जालंधर बंध व मूलबंध एवं बहिरंग कुंभक में जालंधर, उड्डियान व मूलबंध लगायें, पर यह अनुपात बराबर बना रहे। नाड़ीशोधन के एक चक्र के बाद थोड़ी देर चिन्मुद्रा में रहें तथा अपनी दृष्टि को आंखें बन्दकर नासिकाग्र पर स्थित करें। इस प्रकार नासिकाग्र के ऊपर दृष्टि करने से मूलाधार झंकृत होता है क्योंकि नासिकाग्र तथा मूलाधार सीधें जुड़े हुए हैं एवं नासिकाग्र घ्राण अंग है। इसके देवता गणेश हैं और पृथ्वी इसका तत्त्व है। मूलाधार का भी तत्त्व पृथ्वी ही है, जिसका गुण घ्राण है। इस गुण का वाहक हाथी है।

अपनी दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केवल दो या तीन मिनट ही रखें। जब आपकी प्राणशक्ति शान्त एवं स्थिर हो जाये तो आप नाड़ी शोधन का दूसरा चक्र फिर से आरम्भ करें और नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करें। इस तरह बंध के साथ-साथ नाड़ी-शोधन, अनुलोम-विलोम प्राणायाम का अभ्यास अपने मंत्र अथवा गायत्री मंत्र के प्रवेश के साथ पांच बार करें। अगर गायत्री मंत्र है तो इसके एक जाप को एक इकाई मानें। अगर यह कोई अन्य मैंत्र है तो इसका अनुपात आपको समर्थता के अनुरूप होना चाहिए।

स्पष्टीकरण—

उस पारलौकिक शक्ति को देख पाना हर व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। यद्यपि हर व्यक्ति युगों से इसकी कामना करता आया है। पर हर कामना के लिए मन में उसका आधार होना चाहिए, क्योंकि हर व्यक्ति मन से ही अनुभव करता है, भावना से ही विचारता है तथा ज्ञान से ही आंकता है। अतः क्या आपने अपनी बुद्धि को प्रशिक्षित किया है? अगर नहीं तो पहले इसे करो। कुण्डलिनी के जागरण का प्रभाव हमारे स्थूल शरीर पर भी पड़ता है। इसीलिए कुण्डलिनी योग का अभ्यास प्रारम्भ करने के पहले अपने स्थूल शरीर को विष विहीन व शुद्ध करना आवश्यक है। अतः वह शरीर जो योगाग्नि से तपाकर विशुद्ध किया जा चुका है, कुण्डलिनी के जागरण हेतु सबसे स्थायी तथा विश्वसनीय योग्य आधार है।

जब कुण्डलिनी जागृत होती है, वह क्षण जीवन का ऐतिहासिक क्षण होता है। उस समय मनुष्य अपने पाशविक स्वरूप को त्याग कर, विचारों को त्यागकर, विशुद्ध भावनाओं, विचारों और सूक्ष्म चेतना के उत्तम सिंहासन पर विराजमान हो जाता है। जीवात्मा के इस उत्थान में निश्चय ही ऐतिहासिक सीमा रेखायें होती हैं। जीव के विकास की यह यात्रा सर्वप्रथम वनस्पतियों से प्रारम्भ होकर छोटे-छोटे जीव-जन्तु, पक्षियों, जानवरों आदि से पारकर अन्ततः मनुष्य के रूप में अवतरित होती है। मनुष्य जब अपनी चेतना में जीता है, तो वह तर्क एवं गणित के आधार पर जीता है। इस प्रकार कुण्डलिनी का जागरण मनुष्य के जीवनकाल में सचमुच एक सीमा रेखा है, जब वह तर्क के संसार से बिल्कुल हटकर आन्तरिक ज्ञान के संसार में प्रवेश कर जाता है। पतंजलि ने अपने योग सूत्र में लिखा है—"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" अर्थात् तत्त्वज्ञानी की परम चेतना पूर्ण ज्ञान से परिपूर्ण हो जाती। पर यह "ऋतम्भरा" पूर्ण ज्ञान का आधार उस परम नियत का परम ज्ञान है। वेद में कहा गया है कि यह संसार दो तत्त्वों से बना है, वह है ऋतम् और सत्यम्। 'सत्यम्' अर्थात् मन की सापेक्ष अनुभूति। जो परिवर्तनशील है, और ऋतम् जो पूर्णतया सत्य तथा अपरिवर्तनीय है। "ऋतम्भरा प्रज्ञा" का आधार वह सर्वोत्तम ज्ञान है, जिसे शब्दों की परिभाषा में बताया नहीं जा सकता। कुण्डलिनी योग का ध्येय मनुष्य की चेतना का इस प्रकार सम्पूर्ण परिवर्तन करना है, जिसे पहले बुद्धि से भी नहीं जाना जाता था। कुण्डलिनी का जागरण मनुष्य जीवन का वह महान काल है, जब उसका चित्त सर्वोच्च चेतना में अवतरित हो जाता है।

छोटे-छोटे बच्चे, युवा एवं विचारवान् व्यक्ति, चाहे वे किसी भी धर्म के मानने वाले हैं, उत्तरोत्तर चेतनशील होते जा रहे हैं। वे समझना चाहते हैं कि वे अपनी सीमाओं को कैसे पार करें। वे अपने जीवन का ध्येय तथा अन्त जानना चाहते हैं, जिसके लिए वे लगातार क्रियाशील हैं। कृपया ऐसा नहीं सोच बैठें कि कुण्डलिनी योग के विज्ञान को बताते समय हम मनुष्य जाति को कर्म विमुख कराना चाहते हैं। यह ध्यान रहे कि भारत के सारे शक्तिशाली एवं क्रियाशील आन्दोलनों में संन्यास एक ऐसा ही आन्दोलन रहा है। अगर भारत का कोई इतिहास है तो वह ऋषियों, संन्यासियों और महात्माओं का इतिहास है। उन्हें अलग कर दो तो तब न अपना कोई साहित्य, न कोई धर्म और न कोई संस्कृति ही रह जाती है। अगर कोई बात जिससे हमें विमुख होने का विचार करते हैं, तो वह मात्र यह है जिसमें मनुष्य अपने आवेग तथा मानसिक उथल-पुथल से पृथक् हो सके, जिसमें कि वह लगातार जूझ रहा है।

सारे संसार के लोग "सत्य क्या है" यह जानने की इच्छा कर रहे हैं। क्या यही कुण्डलिनी जागरण है? क्या यह किसी मन्दिर, मस्जिद या गिरिजाघर में मिल सकता है? क्या इसे धर्मपुस्तकों में पा सकते हैं? हम लोग सदा से इसकी खोज करते चले आ रहे हैं, जिन्हें मैंने जाना है, जीवन में अनुभव किया है। मैं अन्य कोई बात मानने को तैयार नहीं हूं सिवाय यौगिक व्यवहार के। यही एक पथ मनुष्य जीवन के चरम विकास हेतु

सबों के लिए समान रूप से खुला हुआ है। इसके प्रयोग कुछ एक ही हैं। यह आपको अपना व्यवसाय बदलने को नहीं कहता और न आपको अपने परिवार को और न इस विश्वास को तोड़ने को कहता है कि वैवाहिक जीवन एक पाप का जीवन नहीं है। विश्व के इतिहास में तंत्र तक ऐसा दर्शन है, जिसने विवाह को संस्कार माना है। विवाह सूत्र पवित्रतम बन्धन है, जो एक पुरुष और नारी के बीच हो सकता है। यह धर्म माना जाता है और योग का प्रारम्भिक दर्शन है। यह कुडलिनी योग का शिलालेख है जिस पर कुण्डलिनी आधारित है। योगशास्त्र का ध्येय मात्र एक ही है कि संसार के लाखों-लाखों लोगों को जो कामुक, पाशविक, अथवा सात्त्विक प्रवृत्ति के हैं, उन्हें जैसे भी हो कुण्डलिनी के जागरण हेतु तैयार किया जाये। इसी कारणवश धर्म और कर्म का आविर्भाव हुआ। आश्रम एवं मन्दिर बनवाये गये तथा गुरु-शिष्य की परम्परा चली। जैसे किसी गृहस्थ के लिए अपनी सारी समस्याओं, जिम्मेदारियों, मानसिक, नैतिक व्यवधानों के होते हुए भी उसका ध्येय मात्र एक ही होता है—परिवार का भरण-पोषण करना। उसी प्रकार साधकों को भी उस महाशक्ति के जागरण की तैयारी हर स्थिति में करते जाना चाहिए। अगर मन में यही मूल धारणा है तो सिद्धि और सफलता अवश्य मिलेगी।

अपनी परख

यह मैं बतला दूं कि इस अनुभव के लिए शीघ्रता नहीं करनी है। पहले आप अपने को आंक लें तथा तौलें कि क्या आप उस पराशक्ति को देखने एवं सहन करने के योग्य हैं। पहले आप काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, द्वेष वैराग्य, बीते हुए दुःख एवं निजी जनों की मृत्यु से दुखी होने आदि सांसारिक झंझावातों को सहने की शक्ति पा लो। जब आप जीवन की इन छोटी-छोटी घटनाओं में अपना संतुलन बनाये रख सकें और जब जीवन की सारी समस्याओं का पलड़ा आपके विमुख हो, यदि उनमें भी आप अपने को निर्द्वन्द्व और प्रसन्नचित्त रख सकें तब आप समझो कि आप कुण्डलिनी योग के सच्चे आकांक्षी हो। जब ये साधनायें सारी पक्की हो जायें तो आप बैठ जायें तथा अपनी क्रियाओं का अभ्यास आरम्भ करें और बम-विस्फोट होने की प्रतीक्षा करें और तब प्रचण्ड शक्ति लिये कुण्डलिनी अपनी निद्रा से जागेगी। अगर आपकी साधना पक्की है तो आपको कोई खतरा नहीं होगा। आप सृजनात्मक शक्ति के मालिक बनेंगे और वह जीवन का एक ऐतिहासिक तथा अविस्मरणीय क्षण होगा।

हठयोग और कुण्डलिनी जागरण

—स्वामी सत्यानन्द जी महाराज

योग विज्ञान ने कोई अद्‌भुतता प्रकट नहीं की है बल्कि मनुष्य की अपनी गुप्त शक्ति के जागरण की आशा की पूर्ति की है। जब मनुष्य अज्ञान से घिरा था उस समय वह अपने अस्तित्व को स्थूल रूप में शरीर, मन व भावना तक ही जान पाया और तब वह दुःख के बवण्डर में घिर गया। मगर लगता है ब्रह्माण्डीय चेतना अपना चक्र पूरा कर रही है और अब धीरे-धीरे मनुष्य अपनी मूल प्रकृति की खोज के लिए उत्सुक हो गया है।

मनुष्य ने अपने को शरीर व मन तक ही सीमित कर लिया है और इसलिए अब उसे परम आत्मा का अनुभव या दर्शन करना बड़ा कष्टसाध्य कार्य मालूम पड़ रहा है। कैसे अपने को स्थूल प्रकृति से अलग करें और किस प्रकार उस उच्च चेतना से संबंध स्थापित करें ? केवल अपनी सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके ही हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है। योग के पास सर्व-साधारण के लिए आसान कुण्डलिनी जागरण की नियमित और वैज्ञानिक पद्धति, है जिसे बिना किसी विशेष परिश्रम के साधा जा सकता है।

योग शास्त्र के अनुसार कुण्डलिनी या आध्यात्मिक शक्ति के जागरण में हठ-योग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे—एक मोटर गाड़ी में ब्रेक, एक्सीलेटर और स्टीयरिंग में सामंजस्य की आवश्यकता है; हमारे शरीर के विभिन्न संस्थानों में सामंजस्य जरूरी है। हठयोग का वास्तविक अर्थ है शरीर की प्रमुख शक्तियों में संतुलन।

दो शक्तियों में संगति

इन दो शक्तियों में एक है—सूर्य शक्ति जिसका प्रतिनिधित्व 'ह' अक्षर करता है और दूसरी है चन्द्र शक्ति जिसका प्रतिनिधित्व 'ठ' अक्षर करता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार चन्द्रशक्ति मनुष्य के मानसिक क्रिया-कलाप से सम्बन्धित है जिसमें—जानना, विचारना, तर्क-वितर्क करना, स्मृति, सत्-असत् विवेक आदि गुण सम्मिलित हैं। सूर्य शक्ति का सम्बन्ध शारीरिक कार्य व जीवनचर्या,श्वसन, पाचन, रस-स्राव, रक्त-परिभ्रमण आदि से है।

जब मानसिक और प्राणिक शक्ति में संगति होती है तब योग सहज व सरल हो जाता है। इसकी संगति मिलाना बड़ा कठिन है। अधिकतर लोगों में या तो सूर्य शक्ति की प्रधानता होती है या चन्द्र शक्ति की। सूर्य शक्ति अधिकता रजोगुण का कारण होती है, चन्द्र शक्ति की प्रधानता तमोगुण का कारण होती है। सूर्य शक्ति के कारण व्यक्ति अति संवेदनशील होता जाता है और चन्द्र शक्ति के कारण उदासीन। यदि आप इन

दो शक्तियों में सम-रसता चाहते हैं तो आपको अति उदासीनता या अति उत्तेजना को नियन्त्रित करना होगा।

शरीर में इन दोनों शक्तियों को मन व प्राण नाम दिये गये हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में हम उन्हें सिम्पेथेटिक और पैरा-सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम कहते हैं। ये दोनों प्रणालियां सम्पूर्ण शरीर के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है। इन दोनों में असंतुलन व्यक्ति को या तो पागलखाने ले जायगा या कारावास।

नाड़ियों की शुद्धि

हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियां हैं जो शरीर के विभिन्न क्रिया-कलापों को चलाती हैं। इनमें इड़ा और पिंगला शरीर में दो प्रमुख नाड़ियां मानी गयी हैं। पिंगला नाड़ी सूर्य शक्ति की प्रवाहिनी होती है तथा इड़ा नाड़ी चन्द्र शक्ति या मनस् शक्ति की प्रवाहिनी। ये दोनों नाड़ियां रीढ़ की हड्डी में प्रवाहित होती है—इड़ा बायीं तरफ और पिंगला दाहिनी तरफ। रीढ़ की हड्डी की विभिन्न ग्रन्थियों से इड़ा और पिंगला की शाखायें शरीर के विभिन्न अंगों की ओर वितरित हो जाती हैं। आप इसे बिजली के पावर हाउस के उदाहरण से समझ सकते हैं। हाई-टेंशन पावर हाउस से बिजली बाहर लाते हैं, उनके करेंट को ट्रान्सफार्मर में लाया लाया जाता है और वहां की डोमेस्टिक लाइन द्वारा बिजली घर-घर में पहुंचाई जाती है।

उसी प्रकार इड़ा-पिंगला महत् शक्ति को लेकर चलती हैं। चक्र स्थानों से शक्ति का वितरण होता है। इस प्रकार मनस् और प्राण शक्ति सभी अंगों को प्राप्त होती रहती हैं। यदि प्रवाह सरल न हुआ, उसमें अवरोध है तो आपको शारीरिक या मानसिक थकान का अनुभव होगा। अनावश्यक अत्यधिक चिन्ता या विचार के कारण नाड़ियां कमजोर, अशुद्ध और शक्ति-प्रवाह के अयोग्य हो जाती हैं। अतः हठयोग में नाड़ियों की शुद्धि का बड़ा ही महत्व है।

सुषुम्ना नाड़ी

इड़ा-पिंगला के अलावा एक और प्रमुख नाड़ी है, जिसे सुषुम्ना कहते हैं। यह रीढ़ की हड्डी के मध्य से प्रवाहित होती है। यह महत् शक्ति को ले जाने वाती नाड़ी है। हम कह सकते हैं कि इड़ा-पिंगला स्थूल शक्ति का निर्माण करती हैं और सुषुम्ना सूक्ष्म शक्ति का। मनस् व प्राण शक्तियां सीमित हैं और सुषुम्ना की शक्ति असीम है। अतः हठयोग का प्रमुख उद्देश्य हैं, इस सीमित शक्ति को असीम शक्ति से जोड़ना, अतः हम कह सकते हैं कि कि हठयोग केवल शारीरिक योग नहीं यह उच्च अभ्यास है जो शरीर के माध्यम से किया जाता है। शुद्धिकरण की षट्-क्रिया आसन प्राणायाम मुद्रा बंधों के अभ्यास को मात्र शारीरिक स्तर तक ही सीमित कर देना उचित नहीं।

आसनों का उद्देश्य

यद्यपि लोग आसनों का रोगोपचार के लिए उपयोग कर रहे हैं, किन्तु यह उनका

मूल उद्देश्य नहीं है। मैं भी एक समय ऐसा ही सोचा करता था कि योग आसन केवल शारीरिक व्यायाम मात्र है; मगर अब मैं जान गया हूं कि कुण्डलिनी जागरण के लिये योगासन का अभ्यास जरूरी है। जब मैं अपने गुरु शिवानन्दजी के साथ था तो मैं उनके योग प्रवचनों को टाइप किया करता था। जब उन्होंने लिखा कि सर्वांगासन विशुद्धि चक्र को, भुजंगासन मणिपूर चक को व शीर्षासन सहस्रार चक्र को जगाते हैं, तो मुझे इस बात पर विश्वास न हुआ। एक बार मुझे स्वामीजी से इस विषय पर बात करने का मौका मिला—स्वामी जी ने समझाया कि किस प्रकार आसनों से चक्रों का मृदु जागरण होता है। अब तो मुझे इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया है। अतः जब आप आसनों का अभ्यास करते हैं तो विभिन्न चक्रों पर उनका प्रभाव पड़ता है।

प्राणायाम प्रक्रिया

प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा हम अपने प्राणिक शरीर में सुव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। जहां प्राणशक्ति की कमी होती है, उस अंग को प्राण पूर्ति की जाती है। जब आपको मूलाधार या सहस्रार में प्राणों की आवश्यकता हो, वहां इसकी पूर्ति करने की आपमें सामर्थ्य होनी चाहिये। जब आप ध्यान के लिए बैठते हैं, तो ऊपरी भाग में अधिक प्राणशक्ति की जरूरत होती है और जब आप भोजन करने बैठते हैं, तो निचले भाग में प्राणशक्ति की जरूरत होती है। उसी प्रकार जब आप योगनिद्रा का अभ्यास करते हैं या सोते हैं, उस समय सम्पूर्ण शरीर में प्राण वितरित होना चाहिए। जब आप प्राणायाम के अभ्यास सिद्ध कर लेंगे तभी आप आवश्यकतानुसार प्राण प्रवाहित कर सकेंगे।

प्राणायाम प्राणशक्ति को बढ़ाता है और वह स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, मगर प्राणायाम साधारण श्वास-प्रश्वास से भिन्न एक महत्त्वपूर्ण अभ्यास है। यह सुषुप्त कुण्डलिनी को जगाता है। नाड़ी शोधन, भस्त्रिका, कपालभाति, शीतली व शीतकारी आदि विभिन्न प्राणायाम इसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं। प्राणायाम और मन्त्र का संयोजन बड़ा ही शक्तिशाली होता है, कहते हैं यही योग की उचित परिभाषा है।

प्राणों का परिचय

प्राण को हम श्वास के साथ लेते हैं। हम प्राणों के साथ ही पैदा हुए हैं। हमारे अन्दर प्राणों का प्रादुर्भाव माता के गर्भ में ही हुआ। ब्रह्माण्ड के सभी क्रियाकलाप प्राणों की वजह से ही हो रहे हैं। यदि प्राण न होते सृष्टि का अस्तित्व ही न होता। यदि आप प्राणों के विषय में समझना चाहते हैं तो आपको अपने अस्तित्व के विषय में समझना होगा। जहां जीवन का अस्तित्व नहीं वहां प्राण नहीं। प्राण के विखण्डन के कारण ही ब्रह्माण्ड का उदय हुआ।

प्राण के दो पहलू हैं लघु ब्रह्माण्ड और बृहद् ब्रह्माण्ड। मैं आपको बृहद् ब्रह्माण्डीय प्राणों के विषय में नहीं बताऊंगा, वह बहुत ही जटिल विषय हो जायगा।

लघु ब्रह्माण्डीय प्राण पक्ष जो आपमें और मुझ में विद्यमान है और सभी विषयों में विद्यमान है, वृहद् ब्रह्माण्ड का स्थूल रूप है। हम प्राण के सूक्ष्म रूप के विषय में नहीं सोच पाते हैं; यह परिवर्तनीय है। जिस प्रकार पदार्थ शक्ति रूप में प्रगट होता है और शक्ति पदार्थ में, उसी प्रकार प्राण को क्रिया में परिवर्तित किया जा सकता है व क्रिया को प्राण रूप में। इसीलिए हठयोग में प्राणों के विज्ञान को सर्वोपरि माना है।

इड़ा, पिंगला व सुषुम्नाका योग

मनुष्य शरीर में प्राणों के इस विज्ञान में दो स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माने गये हैं—एक है रीढ़ के आधार में मूलाधार चक्र, दूसरा है आज्ञाचक्र जो रीढ़-केन्द्र के सबसे ऊपरी छोर के समानान्तर है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना मूलाधार से आरम्भ होती हैं और आज्ञा में समायोजित हो जाती हैं। कुण्डलिनी मूलाधार में सोई पड़ी है। जब वह जागती है तो सुषुम्ना मार्ग से ही ऊपर उठती हैं। इड़ा-पिंगला व सुषुम्ना मार्ग से ही ऊपर उठती है। इड़ा-पिंगला व सुषुम्ना एक जैसी नहीं चलतीं; प्राणायाम के अभ्यास से ही इनमें संगति बैठती है। जब आप त्राटक या कपालभाति का अभ्यास करते हैं, तो इनमें सामंजस्य स्थापित होता है। जब इनमें सामंजस्य स्थापित होता है, तब दिव्य शक्ति प्रवाहित होने लगती है।

आज्ञाचक्र के जागरण एवं शक्ति की तीनों प्रवाहिनियों को मिलाने के लिए शांभवी मुद्रा का अभ्यास बड़ा ही उपयोगी है। आंखें खोलकर दोनों गोलकों को भ्रूमध्य में जमाकर बैठना। आरम्भ में आपको एक अंगुली का सहारा लेना होगा, बाद में इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। शांभवी मुद्रा से इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना का योग होता है और कुण्डलिनी शक्ति प्रवाहित होती है।

जब यह शक्ति प्रवाहित होती है, तो साधक को कई अद्भुत अनुभूतियां होने लगती हैं। चेतना प्रबोधन के रूप में प्रकट होती है। यह आध्यात्मिक अनुभव है। कई बार आप ज्योतिपुंज के दर्शन कर सकते हैं, कई लोग अग्निशिखा देखते हैं; जिसका प्रकाश बढ़ता जाता है। यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का संकेत है। यही हठयोग का अन्तिम उद्देश्य है।

प्राण और कुण्डलिनी

जब आप हठयोग का मूल अर्थ खोजेंगे तो आपको मालूम होगा इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना का योग ही हठयोग है। इसका दूसरा अर्थ हुआ—लघु ब्रह्माण्डीय प्राण शक्ति का वृहद् ब्रह्माण्डीय शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति में समायोजन ही हठयोग है। अतः वह साधक को उसके अन्तिम लक्ष्य प्राणोत्थान तक पहुचने का साधन है। प्राण क्या है? प्राण और कुण्डलिनी पर्यायवाची शब्द हैं। प्राणों का उत्थान कुण्डलिनी का जागरण है। कुण्डलिनी जागरण द्वारा आप ब्रह्माण्डीय प्राणों में स्वयं को समायोजित करते हैं।

कुण्डलिनी लघु प्राणशक्ति है। इसका प्रतीकात्मक रूप सर्पिणी के समान है किन्तु आप इसे किसी भी रूप में मान सकते हैं। प्राण का कोई आकार नहीं होता यह असीम शक्ति है। हम सभी प्राणों के ही स्वरूप हैं।

कुण्डलिनी साधना के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न और उनके समाधान

—स्वामी सत्यानन्द जी महाराज

कुण्डलिनी क्या चीज है और उसका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

मानव शरीर में रीढ़ की हड्डी के मध्य में ६ भिन्न-भिन्न महत्त्वपूर्ण व सूक्ष्म केन्द्र हैं जिनको आध्यात्मिक भाषा में चक्र के नाम से संबोधित किया जाता है। इसमें सबसे नीचे का चक्र मूलाधार है, और इसके ऊपर क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्र स्थित हैं। हर एक चक्र में एक शक्ति का पुंज विद्यमान रहता है। इसका मतलब हुआ कि ये चक्र मस्तिष्क से सम्बन्धित हैं और जो अभी काम नहीं कर रहे हैं। विविध साधनाओं के अभ्यास से इन चक्रों को जागृत कर क्रियाशील बनाया जाता है और तब मस्तिष्क के अन्य चक्रों से सम्बन्धित भाग भी सजग हो जाते हैं।

आप जानते हैं कि मस्तिष्क में अतीद्रिन्य शक्तियां विद्यमान हैं लेकिन साधारण मनुष्य इन शक्तियों का उपयोग नहीं कर सकता। मनुष्य का विकास मानसिक स्तर तक हुआ है, लेकिन इसके आगे अभी वह बढ़ नहीं सका है। मस्तिष्क में अतीद्रिन्य शक्तियों के जो केन्द्र हैं, वे इन चक्रों से सम्बन्धित हैं। इसलिए चक्रों को जागृत करने से अतीन्द्रिय शक्तियां भी जागृत हो जाती हैं।

जिस प्रकार शारीरिक विकास की अनेक पद्धतियां होती हैं, उसी प्रकार मानसिक विकास की भी पद्धतियां होती हैं। मन का विकास जब एक सीमा को पार करता है, तब शरीर की अतीन्द्रिय शक्तियों का विकास स्वयमेव होने लगता है। अतीन्द्रिय शक्तियों का प्रतीक है कुण्डलिनी।

कुण्डलिनी का अर्थ होता है 'गहरी और खाली जगह'। शास्त्रों में कुण्डलिनी का वर्णन साढ़े तीन कुण्डल मारे हुए सर्प के रूप में किया गया है। तीन कुंडल त्रिगुणों के प्रतीक हैं और आधा कुंडल त्रिगुणातीत अवस्था का प्रतीक है। देवी या जगन्माता भी कुण्डलिनी का प्रतीक है। जो शक्ति विश्व की सभी शक्तियों का आधार है उसी का प्रतीक है सर्पाकार कुण्डलिनी।

इस पार्थिव शरीर में हड्डी, मज्जा एवं मांस के परे एक शक्ति विद्यमान है जो विश्व शक्ति का रूप है। यह हर एक व्यक्ति में सुषुप्तावस्था में रहती है और इसको जागृत करने से उस व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व जागृत हो जाता है। तब वह व्यक्ति शरीर

और मन के ऊपर उठ जाता है। कुण्डलिनी योग का यही सिद्धान्त है।

तंत्र शास्त्र का सिद्धान्त है कि पदार्थ शक्ति का स्वामी है। पदार्थ में शक्ति सुषुप्तावस्था में रहती है। पदार्थ की क्रियाओं को देखा जा सकता है किन्तु शक्ति पदार्थ में रहते हुए भी अदृश्य है। सृष्टि की यही अवस्था है। सृष्टि में पदार्थ की सत्ता दिखाई देती है शक्ति की नहीं। तंत्र शास्त्र में पदार्थ को शिव कहा गया है। शक्ति तीन प्रकार की होती है—सृजनात्मक, स्थित्यात्मक और संहारात्मक। पदार्थ में ये तीन प्रकार की शक्तियां विद्यमान रहती है। वस्तुतः पदार्थ और मन एक ही वस्तु है और इन दोनों से ढंकी हुई रहती है शक्ति।

विश्व में जितने भी शक्ति पदार्थ हैं वे 'शिव' हैं। हिन्दू लोगों में शिव की एक कल्पना होती है, लेकिन मैं 'शिव' शब्द का अर्थ समझता हूं। शक्ति प्रत्येक पदार्थ में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। जब शक्ति जागृत हो आती है तो शक्ति पदार्थ का स्वामी बन जाती है, शिव बन जाता है। कुण्डलिनी योग का यही उद्देश्य है। शिव और शक्ति में अभेद की स्थापना करना। आपने शायद शिव को मनुष्य के रूप में सोते हुए और शक्ति को काली के स्वरूप में उनकी छाती पर पैर रखकर नाचते हुए दृश्य का चित्र देखा होगा। यह शक्ति के जागृत होने का प्रतीक है।

शक्ति जागृत होते समय विकराल व भयंकर रूप धारण करती है। शक्ति का विस्फोट होते समय वह दृश्य कितना प्रलयंकारी होता है, यह आप किसी वैज्ञानिक से पूछ सकते हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राण ये सब पदार्थ के विभिन्न रूप हैं। संपूर्ण सृष्टि पदार्थ का ही रूप है। जो कुछ इन्द्रियों से जाना जा सकता, वह आत्मा है। अब तक तीनों चीजों को देखा गया। वे हैं पदार्थ, शक्ति और आत्मा।

प्रश्न—आध्यात्मिक यौन क्रिया का किसी भी व्यक्ति के साथ अभ्यास किया जा सकता है क्या? इसमें किन नियमों का पालन करना पड़ता है? जिस व्यक्ति के साथ इसका अभ्यास करना पड़ता है, उसके सम्बन्ध में क्या कोई जिम्मेदारी उठानी पड़ती है?

सभी प्राणियों के बीच पारस्परिक संघर्ष होता रहता है। प्राणियों में चार स्वाभाविक कामनायें होती हैं। लेकिन मनुष्य में एक महत्त्वपूर्ण कामना और भी है, और वह है अपने अस्तित्व का ज्ञान।

दूसरे प्राणी अविद्या के अंधकार से घिरे हुए हैं। वे अपने स्वभाव के अनुसार चलते हैं। मनुष्यों की भांति अपने प्रति सजग नहीं हैं। प्राणियों को सुख-दुःख का अनुभव होता है। वे परिस्थिति का प्रतिकार करते हैं, लेकिन उनको मालुम नहीं रहता कि उनको सुख-दुख का अनुभव होता है। वे परिस्थिति का प्रतिकार करते हैं, लेकिन उनको मालूम नहीं रहता कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। जैसे कुत्ता भौंकता है, लेकिन हम भौंक रहे हैं, यह ज्ञान उसको नहीं रहता है। मनुष्य को अपने काम की चेतना रहती है। उसे देश-काल में होने वाली घटनाओं की चेतना रहती है। यही चीज मनुष्य को विशेष वरदान स्वरूप

मिली है। आप मेरी बात सुन रहे हैं और आपको यह भी ख्याल है कि आप सुन रहे हैं। यह जो विशेष चेतना है उसे अन्तर्ज्ञान कहते हैं।

आप जब भोजन, निद्रा, भय और मैथुन के लिए ज्ञान के साथ प्रवृत्त होते हैं, तब आप अपने स्वभाव के आधार पर कार्य करते हैं। दिव्य जीवन पशुओं को साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार चलते हैं। वे केवल भौतिक स्तर पर जीवन बिताते हैं। इसी प्रकार जो लोग मैथुन में उसका महत्त्व समझे बिना प्रवृत्त होते हैं, वे पाशविक स्तर पर काम करते हैं। लेकिन जो लोग मैथुन को आध्यात्मिक उन्नति का साधन समझकर और तंत्र शास्त्र में वर्णित विधि का पालन करते हुए उसमें प्रवृत्त होते है, वे मैथुन का सर्वोत्तम फल प्राप्त करते हैं।

जब नर और नारी वैवाहिक संबंधों के द्वारा या अपनी इच्छानुसार आधुनिक समाज में साथ-साथ रहने लगते हैं, तो सबसे मुख्य चीज यही ख्याल में रखनी चाहिए कि नर और नारी का आपसी सम्बन्ध केवल पशुतुल्य वासना का ही नहीं है। उनके बीच केवल पाशविक सम्बन्ध ही नहीं, वरन् साथ-साथ रहने का पवित्र आध्यात्मिक उद्देश्य होना है। यह कथन केवल आदर्शवादी ही नहीं है—यह प्रत्यक्ष जीवन का सत्य है कि नर और नारी एक दूसरे के आध्यात्मिक जीवन में पूरक हो जाते हैं। आध्यात्मिक उन्नति एक दार्शनिक कल्पना नहीं है। यह उन्नति शारीरिक और मानसिक स्तर से शुरू होकर नाड़ियों की शुद्धि द्वारा कुण्डलिनी जागरण तक होती रहती है। यदि यही उद्देश्य है तो मैथुन एक आध्यात्मिक साधना बन जाती है, चाहे वह समाज की स्वीकृति के अनुसार हो अथवा नहीं हो।

हिन्दुओं का ऐसा विश्वास है कि मैथुन का उद्देश्य भोग नहीं बल्कि नाड़ी शुद्धि है। भावनात्मक व्यक्तित्व में सन्तुलन लाने का भी यह एक साधन है। जब दो व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं, तो एक-दो वर्षों में उनके बीच भावनात्मक और शारीरिक सन्तुलन निर्मित हो जाना चाहिये। लेकिन आज हम देखते हैं कि अनेकों साल दाम्पत्य जीवन में साथ-साथ रहने के बाद भी स्त्री और पुरुष के बीच सन्तुलन कायम नहीं हो पाता है। इसका अर्थ यही है कि आधुनिक समाज में नर और नारी के साथ-साथ रहने का जो दृष्टिकोण और व्यवस्था है, वह विज्ञान के प्रतिकूल और घातक है। इस आधुनिक विचारधारा की जीवन-शैली से आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती।

आपकी यौन क्रिया का समर्थन तभी सफलीभूत और उन्नति का द्योतक होगा जब आप मैथुन की सही विधि तथा उसके वैज्ञानिक और आध्यात्मिक पक्षों को भली-भांति जानें और समझें। यदि कोई सीखने के पहले कार चलाये तो दुर्घटना होना निश्चित है। इसी प्रकार शरीर, मन, इन्द्रियों और प्राण को हठयोग द्वारा शुद्ध और नियन्त्रित करना चाहिये और कर्म योग द्वारा मन की चंचलता नष्ट करनी चाहिये। उसके बाद आप जो कुछ भी करेंगे उससे आपकी उन्नति ही होगी।

इसलिए यदि नर और नारी मैथुन में प्रवृत्त होना चाहते हैं, तो अपने काम-भाव का समर्थन उनको तंत्र शास्त्र के आधार पर नहीं करना चाहिये। यौन क्रिया पर नियंत्रण होने एवं इसके सभी वैज्ञानिक पहलुओं की जानकारी प्राप्त करने के बाद ही तांत्रिक मैथुन का अभ्यास किया जा सकता है और तब वह सर्वाङ्ग उन्नति हेतु योग कहलायेगा, भोग नहीं।

ध्यानावस्था में देश और काल किस तरह एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं ?

मानसिक सजगता तथा चेतना की जागृति, दोनों मिलकर मन को देश और काल के संपर्क में ला देती हैं। असल में व्यक्तिगत मन का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह तो एक धारणा मात्र ही है। हां, सर्वव्यापक मन के होने में जरा भी शक नहीं है यह नितान्त सत्य है। सार्वभौमिक मन तो सूक्ष्म तत्त्व से बना हुआ है, जिसका प्रतीकात्सक स्वरूप सुनहले अण्डे के आकार का बताया गया है। सार्वभौमिक मन के केन्द्र स्थल को बिन्दु के नाम से जाना जाता है। इसके दो ध्रुव हैं—देश और काल। काल पाजिटिव या धर्मात्मक शक्ति है और देश निगेटिव या निषेधात्मक। ध्यान की अवस्था में ये दोनों ध्रुव सार्वभौमिक मन के बिन्दु स्थल पर एक दूसरे के समीप आ जाते हैं।

यह बिन्दु केंन्द्र है और पदार्थ इसमें निहित है। ध्यानावस्था में जब देश और काल बिन्दु में एक-दूसरे के समीपवर्ती होते जाते हैं तो वहां एक विस्फोट होता है। उस समय देश और काल सार्वभौमिक मन के केन्द्र में सत् हो जाते हैं और तब प्रतीत होता है कि भूत और भविष्य लगातार एक ही लम्बा अनुभव है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह से आप एक ही दृश्य-पटल को एक साथ ही देख सकते हैं। तब सार्वभौमिक मन अथवा समष्टि मन, काल, देश और पदार्थ की सत्ता को लेकर एक रूप हो जाते हैं और देश-काल की सीमा-रेखा लुप्त हो जाती है और तब कुछ भी अलग दिखाई नहीं देता अर्थात् सब कुछ एक बिन्दु पर एकाकार हो जाता है।

क्या कुण्डलिनी का उद्‌बोधन नसबंदी के बाद भी संभव है ?

नसबंदी से कुण्डलिनी जागरण में कोई रुकावट नहीं होती है। देखा जाये तो हठ-योग में एक महत्त्वपूर्ण आसन है। जिसे सिद्धासन कहते हैं। इसका उद्‌देश्य है मूलाधार तथा निचली आंत में उत्पन्न होने वाली उत्तेजनाओं तथा संवेदनाओं को नियंत्रित करना, जिससे कि उपरोक्त दो केन्द्रों में उत्पन्न होने वाली उत्तेजना अण्ड ग्रंथियों में उत्तेजना न पहुंचाये।

ब्रह्मशक्ति किस तरह धरती पर अभिव्यक्त होती है ?

कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में जागृत होती है, वहां से उच्च चक्रों मे आरोहण करती हुई उच्चतर चक्र अर्थात् सहस्रार चक्र में पहुंचती है और उसको जागृत करती है,

जैसा कि प्रतीकात्मक ढंग से कहा जाता है कि सहस्रार चक्र में हजारों दल वाला कमल खिल उठता है अर्थात् सम्पूर्ण चेतना प्रस्फुटित हो जाती है। जब उस व्यक्ति की चेतना का स्तर चरम सीमा पर पहुंच जाता है, तब उसको धरती के स्तर तक अर्थात् स्थूल चेतना में फिर आना पड़ता है।

मान लो आप कुण्डलिनी के योग का अभ्यास कर रहे हैं और आपकी कुण्डलिनी जागृत हो गयी तो आपकी उच्च चेतना और मस्तिष्क के उच्चतर केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं। आपके मन और चेतना के गुणों में परिवर्तन हो जाता और तब आप स्वाभाविक ढंग से लौकिक दुनिया में मन की महादशा से क्रियाशील हो सकेंगे। यह शक्ति उन सब सन्तों, मनीषियों और महात्माओं का अनुभव है जो कुण्डलिनी उद्‌बोधन की परमावस्था को पहुंचे हैं। इसी प्रकार इन महान आत्माओं की कृपा के द्वारा ही यह शक्ति या चेतना अर्थात् मन की शक्तिशाली महादशा हम लोगों के संग सदा क्रियाशील हो पाती है।

क्या क्रियायोग की शिक्षा पुस्तकों से सीखी जा सकती है या इसको प्रत्यक्ष निर्देशन में मौखिक रूप से ही सीखना पड़ता है ?

अभी पिछले कुछ वर्षों में ही हमने सुना है कि क्रियायोग एक परम्परागत विद्या हो रही है और यही बात मैंने पुस्तकों में भी पढ़ी। जब मैं गुरु आश्रम में रहा करता था तो एक बार मुझे वेदों तथा तन्त्र शास्त्र के गहन और विस्तृत अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ। पहले मेरे विचार तन्त्र के बारे में काफी घटिया किस्म के थे और मैं इसको एक प्रकार की सम्मोहन विद्या या कहिये जादू की तरह ज्ञान समझता था। मेरे विचार में यह एक गुप्त और चमत्कारिक विद्या थी। मैं इसको गन्दा व घृणित व्यवसाय समझता था। परन्तु जब मैंने तंत्र शास्त्र की पुस्तकों का अध्ययन किया तो कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण उल्लेखों को पढ़ने का संयोग प्राप्त हुआ जिसमें महत्त्वपूर्ण व उपयोगी अभ्यासों का वर्णन आया जैसे कि हठयोग की क्रियायें, आसन, प्राणायाम, मंत्र विज्ञान और संन्यास, जिसके आधार पर मैंने अपनी योगनिद्रा की प्रणाली का विकास किया। उन्हीं दिनों मेरे गुरुजी के एक शिष्य ने मुझे बताया कि वह क्रियायोग का अभ्यास करता है। मेरे पूछने पर कि वह कैसे किया जाता है, उसने मुझे क्रियायें बतानी शुरू कीं। तो मुझे उसे सुनकर बड़ा विस्मय हुआ क्योंकि वह क्रियायें तो वही थी जो मैं तंत्र शास्त्र में पढ़ चुका था। असल में क्रिया-योग की सभी क्रियायें तंत्र की ही अंग हैं।

बहुत से लोगों ने योग साहित्य पर लिखी प्रामाणिक पुस्तकों का अध्ययन किया होगा और वे महामुद्रा, महावेध, नासिकाग्र दृष्टि आदि-आदि मुद्राओं एवं विभिन्न क्रियाओं के नामों से अवगत होंगे। तो ऐसा कहना कि क्रियायोग का अभ्यास गुरु-शिष्य की परंपरा के अनुसार केवल मुख से ही बताया जाता था—यह बेकार की बात होगी। जहां तक व्यक्तिगत आदेशों के देने की बात है, इन क्रियाओं को मौखिक रूप से जान

सकते हैं और क्रियाओं के बारे में पुस्तकों से भी पढ़ सकते हैं, परन्तु यदि आप वास्तव में क्रियायें सीखना चाहते हैं तो आपको व्यक्तिगत आदेशों की प्राप्ति हेतु गुरु के पास जाना अनिवार्य है।

शक्ति किस प्रकार कार्य करती है ?

मैं अभी जो आपके सामने बोल रहा हूं और आप जो सुन रहे हैं वह मन के सूक्ष्म धरातल पर एक तरंगित रेखाओं के रूप में अंकित होता जाता है। शक्ति धाराओं के रूप में जागती है, उसके स्कैच बनते हैं। जब ध्वनि की तरंगें दूसरे भाग को क्रॉस करती हैं तो वहां त्रिकोण बनते हैं, चतुर्भुज, वृत्त, पंचमकोण, बिन्दु आदि बनते हैं। कई मंत्र समाधि की उच्चावस्था में प्राप्त हुए हैं, जो मस्तिष्क के सूक्ष्म केन्द्रों को प्रभावित करते हैं। यह जो साइंस है इसे आप लोग जानते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। अब जैसे गायत्री मंत्र है। इसमें कुल चौबीस अक्षर हैं—ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। इन अक्षरों की कई ध्वनियां हैं। इनमें से अनेक प्रकार की फ्रीक्वेंसी वेलोसिटी वाली करेंट निकलती है और वे सभी वातावरण पर प्रभाव डालती हैं और मनुष्य के मन, शरीर और भावना को भी प्रभावित करती हैं। जैसे कि तालाब में पत्थर फेंकने पर पानी में तरंगें उठती हैं, एक कम्पन होता है और वह शनैः शनैः विस्तार ग्रहण करती जाती है। यह कम्पन पानी के प्रत्येक अणु को कम्पित करता है। उसी प्रकार मैं जो बोल रहा हूं यह शब्द वातावरण पर आघात पैदा करेगा और वह आघात सूक्ष्म रूप से अनेकों लोगों के अन्तर्मन में एक तरंग के रूप में अंकित होता है। गायत्री मंत्र का साधारण अर्थ तो होता है कि "वह हमारी बुद्धि को प्रमोदित करे और हम ब्रह्मचर्य वाले सभी देवता का नमन करते हैं" परन्तु इस मंत्र के शक्तिशाली ध्वनि-मंडल का असर हमारे अन्तःकरण के चित्त की भूमिका पर अमिट रूप से पड़ता है, जो हमें शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप से भी विकसित करता है।

इड़ा-पिंगला क्या हैं ?

इड़ा और पिंगला हमारी दो महत्त्वपूर्ण नाड़ियों का प्रतीक है। एक है चन्द्रमा, एक है सूर्य। एक है "हं" और एक है "क्षं"। ये दोनों शक्तियां स्वरों की प्रतीक हैं। आज्ञा चक्र जो है वह है इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों का मिलन-स्थल। इसलिए आज्ञा चक्र को हम लोग त्रिवेणी भी कहते हैं। जितने भी महात्मा लोग हैं वे अपनी चेतना को आज्ञा चक्र में ही स्थापित करना चाहते हैं, जो सभी चक्रों का नियंत्रण कक्ष है। वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये हैं, उन प्रयोगों से मस्तिष्क में कुछ इलेक्ट्रोड स्थापित किये गये हैं। इस इलेक्ट्रोड से मनुष्य के मस्तिष्क के अन्दर में जो टाइम, स्पेस का कॉनसेप्ट है, समय और स्थान की जो विचारधारा है, उसे मिलाने की कोशिश की जाती है। यह मालूम होता है कि जिस समय आज्ञा चक्र में शक्ति का प्रवेश होता है, उस समय तीनों काल भूत, भविष्य और वर्तमान एक जगह हो जाते हैं और स्मृति सामने में चित्र रूप में दिखाई देती है। आज्ञा चक्र नियंत्रण केन्द्र है। यहां से मस्तिष्क का आदेश मिलता है, जब

तक मनुष्य आज्ञाचक्र को नियंत्रित नहीं करता। तब तक वह सहस्रार में स्थित उच्चतम चेतना के केन्द्रों को नियंत्रित नहीं कर सकता।

चक्र की जागृति में मंत्र का चयन किस प्रकार करें ?

साधक को उसी मन्त्र का चयन करना चाहिये जिससे उसकी चेतना भौतिक धरातल को छोड़कर आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंच सके। मंत्र चाहे गायत्री हो, अल्ला हो या अकबर हो, चाहे जो भी हो हमें तो स्पष्ट और सही उच्चारण से मतलब है। बन्दूक चाहे कहीं की भी हो, हमें गोली छोड़ने से मतलब है। उसी प्रकार मंत्र का सही ढंग से निष्ठापूर्वक जप करने से भी सहज रूप से चक्र जागृत हो जायेगा।

हम साधकों का केवल एक लक्ष्य है कि स्थूल और सामान्य चेतना को छोड़कर आध्यात्मिक और उच्च चेतना पर पहुंच करके अपनी प्रज्ञा, अपनी प्रतिभा को कैसे जगाना, अपने मस्तिष्क को कैसे ज्योतिर्मय करना, अपनी सीमाओं को कैसे तोड़ना, अपनी मजबूरियों को कैसे जीतना, यह हमारा लक्ष्य है। जब वह हमारा लक्ष्य हो जाता है तो मंत्र कितना उचित-अनुचित है, इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। क्योंकि भक्ति साधना में मंत्र भावना के अनुसार फलित होता है।

कुण्डलिनी तथा चक्रों के जागरण में कौन-कौन से खतरे निहित हैं ?

कुछ लोग मानते हैं कि चक्रों के जागरण में कुछ खतरे निहित हैं। परन्तु हम ऐसा नहीं मानते। मेरा विश्वास है कि मानव जीवन में चक्रों का जागरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। जब पर्वतारोही माउन्ट एवरेस्ट की चोटी पर चढ़े, तो पूरा संसार आनन्द से झूम उठा, परन्तु उसके पहले अनेकों लोग वहां पहुंचने में असफल हुए। कितने अपने जीवन से हाथ धो बैठे। आप बिना कुछ खोये पाना चाहते हैं ? जीवन में हर बात उतनी सहज नहीं जितना कि चाय पीना और चॉकलेट खाना।

जब आप ध्यान करते हैं तो कहां जाते हैं ? आपकी चेतना आपको कहां ले जाती है ? क्या आप उसकी यात्रा का मार्ग जानते हैं ? नहीं। आप ऐसे रास्ते पर चलते हैं जिसकी आपको कोई जानकारी नहीं रहती। वह मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। यह भी संभव है कि आप उस मार्ग में हमेशा के लिए भटक जायें। खैर, यदि आप जीवन में कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, सर्वोच्च अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, तो आपको किन्ही भी संभावी परिस्थितियों के लिए तैयार रहना पड़ेगा।

परन्तु सामान्य बोलचाल की भाषा में यह पूछना स्वाभाविक है कि कुण्डलिनी जागरण में कौन से खतरे निहित हैं ? मेरी राय में इसमें कोई खतरा नहीं है, बल्कि इससे कहीं बड़े खतरे हमारे दैनिक जीवन में निहित हैं। जैसे एक बार जब मैं जुम्बोजेट से भारत वापस आ रहा था तो उसके ब्रेक ने अचानक काम करना बंद कर दिया। जब भी आप सड़क पार करते हैं, तो उसमें खतरा रहता है; क्योंकि किसी भी समय आप दुर्घटना

का शिकार हो सकते हैं। दैनिक जीवन के खतरों की तुलना में कुण्डलिनी जागरण के खतरे अत्यन्त नगण्य हैं। बल्कि मैं कहूंगा कि इसमें कोई खतरा नहीं है, बल्कि पाना ही पाना है। परन्तु कुण्डलिनी जागरण के पूर्व कुछ तैयारी आवश्यक है, जो साधक को अवश्य करनी चाहिये। इसके अन्तर्गत हठयोग, मंत्र जप, गुरु और इष्ट के प्रति समर्पण, शरीर का शुद्धिकरण और आसनों में स्थिरता लाना आदि अत्यावश्यक है। एक बार इतना कर लेने के बाद आप निश्चित होकर उच्च साधनाओं का अभ्यास कर सकते हैं।

क्या महिलाओं को क्रिया योग के कुछ अभ्यास नहीं करने चाहियें ?

मैं मानता हूं कि कोई भी व्यक्ति क्रियायोग के अभ्यास के लिए अयोग्य नहीं है, यह बात अलग है कि यदि आपके पास समयाभाव है या आपके पास शारीरिक कमजोरी है तो आपको कुछ अभ्यास नहीं करने चाहियें। महिलाओं के रजोकाल में तो क्रियायोग तथा विशेष रूप से महामुद्रा और महावेध मुद्रायें निश्चित ही बहुत आवश्यक हैं। क्योंकि इस काल में आमतौर पर महिलायें उदासी तथा भावनात्मक असंतुलन का अनुभव करती हैं। क्रियायोग के कुछ उपयुक्त अभ्यास उन्हें इन तकलीफों से मुक्ति दिलाते हैं।

हमें सामान्य बुद्धि का उपयोग करना चाहिये। यदि शरीर रुग्ण या कमजोर है अथवा समय की कमी हो तो कुछ ही अभ्यास जैसे महावेध तथा महामुद्रायें ही करनी चाहियें। क्योंकि इन दो महामुद्राओं को क्रियायोग का प्राण कहा जाता है। यदि किसी कारणवश आप सभी क्रियाओं का अभ्यास न कर पायें तो इन मुद्राओं को ही अवश्य करें।

हम किस प्रकार चक्रों के प्रति अधिक सजग होते हैं ?

चक्रों की चेतना का सीधा संबन्ध साधक के आध्यात्मिक विकास तथा चेतना शुद्धि से है। जब आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा चेतना शुद्ध होती है, तो चक्रों के प्रति सजगता सहज रूप से बढ़ने लगती है। जब आप किसी चक्र के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सजग होते हैं, इसका सीधा अर्थ यह होता है कि वह चक्र विशेष आपके आगामी विकास का प्रस्थान बिन्दु होगा।

बिन्दु चक्र और विशुद्धि चक्र में क्या संबन्ध है ?

बिन्दु चक्र में अमृत का उत्पादन होता है। वास्तव में इस चक्र का सही नाम "बिन्दु विसर्ग" है, परन्तु हम इसका संक्षिप्तीकरण करके उसे केवल "बिन्दु" कहते है। बिन्दु शब्द का अर्थ बूंद होता है तथा विसर्ग का अर्थ छोड़ना होता है। अतएव बिन्दु विसर्ग का अर्थ होता है जहां से अमृत टपकता है। परन्तु हम उसको उसी रूप में प्रयोग में नहीं ला सकते, क्योंकि उसमें अमृत तथा विष दोनों ही तत्त्व युक्त रहते हैं। अमृत तो अमृतत्व प्रदान करता है, परन्तु विष प्राणों का हरण कर लेता है। अतः यह अमृत विशुद्धि चक्र में पहुंचता है जहां उसका शोधन होता है। अतः विशुद्धि चक्र को शोधनशाला कह सकते हैं, जहां विषयुक्त अमृत से विष को पृथक किया जाता है। शोधन

के पश्चात ही योगी ललना चक्र में खेचरी मुद्रा द्वारा अमृत को आत्मसात् कर सकता है।

क्या कुण्डलिनी योग तथा क्रिया योग में कोई बुनियादी अन्तर है ?

कोई भी अभ्यास जो कुण्डलिनी के जागरण में सहयोगी होता है, कुण्डलिनी योग के अंतर्गत आता है। इसलिए हम क्रियायोग को कुण्डलिनी योग भी कह सकते हैं। मानव शरीर के मूलाधार चक्र में शक्ति का अत्यन्त प्रभावी मूल स्रोत स्थित है। इस शक्ति को ही कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। जब शक्ति जागृत होकर ऊपर चक्रों में आरोहण करते हुए मस्तिष्क में पहुंचती है तो उसे ही आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। वास्तव में देखा जाय तो योग के समस्त अभ्यासों का एक मात्र लक्ष्य कुण्डलिनी का जागरण ही है। क्रियायोग के अभ्यास द्वारा इस शक्ति को जागृत किया जा सकता है। इसके लिए प्राणायाम के उच्च अभ्यास, एक बिन्दु पर सतत् ध्यान, मंत्रजप तथा अन्य अनेक अभ्यास भी कारगर सिद्ध होते हैं। कुण्डलिनी जागरण के लिए प्राणायाम का अभ्यास पगडंडी का द्रुतगामी पथ कहा जाता है। परन्तु यह न तो सरल है और न ही सुरक्षित। इस कारण कुण्डलिनी जागरण हेतु हम प्राणायाम पगडंडी के अनुसरण की राय किसी को एकाएक नहीं देते। मंत्रजप सहज तथा सुरक्षित उपाय है, परन्तु उसमें समय अधिक लगता है। प्राणायाम तथा मंत्रजप के बीच का रास्ता क्रिया योग है। इसके अभ्यास से आपको पूर्ण संतोष प्राप्त होगा। यह शरीर नाड़ी तथा प्राण का शुद्धिकरण कर प्राणशक्ति को जागृत करता है। इसलिए कुण्डलिनी योग में सफल अभ्यास के लिए क्रियायोग संक्षिप्त सुरक्षित तथा वैज्ञानिक उपाय है।

कुण्डलिनी का जागरण हुआ या नहीं, इसको किस प्रकार जाना जाय ?

जब कुण्डलिनी का जागरण होता है तो मनुष्य की बुद्धि परिमार्जित हो जाती है। उसका अज्ञान साफ हो जाता है एवं उसमें बौद्धिक विवेचना की शक्ति बढ़ जाती है। इसलिए जब साधक की कुण्डलिनी जागती है, उसको मालूम पड़ता है कि मेरी कुण्डलिनी जग गयी है तो इस अन्तर्ज्ञान के साथ-साथ उसमें एक और क्षमता का भी उदय होता है; जिससे वह यह भी जान जाता है कि अमुक व्यक्ति की कुण्डलिनी जागृत है या सुषुप्त। जिस समय मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी का जागरण होता है, साधक उस समय उन्मनी अवस्था में रहता है। उन्मनी का मतलब—उस समय उसकी चेतना उसी प्रकार अधर में लटकी रहती है जिस प्रकार पक्षी डाल पर। संतों ने कहा है—

"अधर डाल पर हंसा बैठा चुगता मुक्ता-हीर।
आनन्द चकवा केलि करत है मानसरोवर तीर॥"

यह कुण्डलिनी जागरण की अवस्था है। उन्मनी अवस्था में साधक बिना किसी बाह्य नशे के नशे जैसी अवस्था में रहता है।

दूसरी बात—कुण्डलिनी जागरण के समय प्राणों का आवेश होता है। जब उसके

शरीर में प्राण का आवेश होता है, उसकी चित्त-वृत्तियां अपने आप ऐसी रुक जाती हैं कि उसे कुण्डलिनी से संबन्धित चक्रों का स्पष्ट दर्शन होता है और जब कुण्डलिनी मूलाधार से क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और आज्ञा चक्र की ओर धीरे-धीरे ऊपर उठती है, साधक को न केवल आन्तरिक या बाह्य अनुभव होते हैं, बल्कि उसके अन्दर सामर्थ्य के अनेकों स्रोत भी फूट पड़ते हैं। किसी में कवित्व-शक्ति का जागरण होता है, कोई चित्रकला में पारंगत हो जाता है, कोई विद्वान् हो जाता है, कोई वक्ता बन जाता है तो कोई महान संगीतज्ञ बन जाता है। इस प्रकार एक के बाद एक, कई प्रतिभाओं का स्फुरण हो जाता है। इसके अलावा कुण्डलिनी जागरण के बाद अलग-अलग चक्रों पर उसे आत्मपरक अनुभूतियां भी मिलती हैं। जब मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का जागरण होता है, साधक में कामशक्ति का उदय होता है और स्वाधिष्ठान में कामशक्ति का उद्दीपन। मणिपूर में कुण्डलिनी के आने पर साधक में भोजन एवं भोग की प्रवृत्ति का उदय होता है और अनाहत में प्रेम, करुणा, भक्ति, दया, माया आदि का उदय। विशुद्धि चक्र में आने पर उसके शरीर में जर्जरता के लक्षण अथवा मृत्यु से संबंधित लक्षणों का अभाव होने लगता है—"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।" बुढ़ापा दूर होने लगता है, शरीर नीरोग होने लगता है मानों उसका शरीर योग-रूपी अग्नि के द्वारा निर्मल हो गया हो। इसके बाद जब कुण्डलिनी आज्ञाचक्र में जाती है तब साधक को देव दर्शन होता है। वहां उसे दिव्य प्रकाश का दर्शन होता है, ८४ सिद्धों, ६४ योगिनियों एवं योगियों का दर्शन होता है। इसके बाद कुण्डलिनी सीधे ऊपर सहस्रार चक्र की ओर चली जाती है। इस प्रकार जब हम साधना काल में विभिन्न अनुभूतियों के रास्ते से होकर गुजरते हैं, तो हमें मालूम हो जाता है कि हमारी कुण्डलिनी जाग गयी है, या नहीं।

प्रश्न : क्या मूलाधार चक्र में स्थित और आज्ञा चक्र में स्थित ॐ में कोई विशेष सम्बन्ध है।

कुण्डलिनी मूलाधार में साढ़े तीन फेरा डाल के रहती है। वह जो फेरा है, वह जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति का प्रतीक है। ॐ में भी इसी प्रकार के फेरे होते हैं। एक फेरा ॐ के ऊपर का होता है, दूसरा नीचे में है तथा तीसरा फेरा है उसकी पूंछ और अन्तिम फेरा जो है वह है चन्द्र बिन्दु। इस चन्द्र बिन्दु का सम्बन्ध है देश काल और वस्तुओं से। ॐ में जो तीन फेरे हैं, वे देश काल और वस्तु के प्रतीक हैं। इस चन्द्र और बिन्दु को हम मात्रा कहते हैं। यह जो मात्रा है वह तुरीयावस्था का प्रतीक है, या देश काल और वस्तु के परे की स्थिति का सूचक है। मूलाधार चक्र का और आज्ञाचक्र का एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध है। मूलाधार चक्र पर जागृति हो तो उसका प्रभाव पहले आज्ञाचक्र पर पड़ता है। आज्ञाचक्र पर प्रभाव पड़ने के बाद यह जो प्राणशक्ति है, वह सहस्रार की तरफ जाती है और सहस्रार के केन्द्रों को जागृत करती है, लेकिन बात दोनों एक ही है।

साधना करने के लिए कौन-सा समय उपयुक्त है ?

साधना करने के लिए सबसे उत्तम समय ब्राह्म मुहूर्त है। ४ बजे से ब्राह्म मुहूर्त शुरू होता है। इसको अमृत बेला भी कहते हैं। इस समय हमारे शरीर में अमृत झरता है। शरीर की बात बोल रहा हूं। किन्तु सवेरे क्यों नहीं उठा जाता है, इसका भी एक कारण कि हम दिन भर के कार्यों के कारण थके रहते हैं, मन से थके रहते हैं और हमको पहले प्रहर में, दूसरे पहर में और तीसरे पहर में नींद अच्छी नहीं आती। गाँव में पहले लोग आठ बजे सो जाते थे, इतने थके रहते थे कि सिर रखा भागे अन्दर और आराम से चार बजे उठ जाते थे। अब नींद के लिये कितना प्रयत्न करना पड़ता है। कोई जप कर रहा है, कोई पैर दबवा रहा है, कोई श्वास पर ध्यान कर रहा है, कोई गोली खा रहा है क्योंकि हम सोना चाहते हैं मगर नींद नहीं आती। हम सोने की कोशिश करते हैं इसलिये हमें जो निद्रा आती है वह पूर्ण नहीं होती और प्रातः काल उठने में आलस्य बना रहता है। इसीलिए रात्रि में सोने से पूर्व शवासन में या जप करके सोना चाहिये। मन हल्का रहेगा तो खुद नींद खुल जायगी।

कौन-सी साधना कब करनी चाहिए ?

जो लोग प्रवृत्ति के मार्ग में हैं उन्हें अलग साधनायें करनी चाहियें और जो लोग प्रवृत्ति मार्ग में नहीं हैं निवृत्ति मार्ग में हैं उन्हें अलग साधनायें करनी चाहिएं। दोनों के लिए दो नियम हैं। साधना चुनने का मतलब होता है, एक रास्ते से चलना। यदि रोग निवारण हेतु साधना करते हो तो भी साधना चुननी पड़ेगी और यदि आत्मप्रकाश को प्राप्त करने हेतु साधना करते हों तो भी साधना चुननी पड़ेगी। अनेकों साधनाओं के करने से कुछ अधिक प्राप्त होगा यह सोचना गलत है। हम तो मानते हैं कि तुम लोग शुरू में कई प्रकार की साधनाओं को करके एक तजुर्बा प्राप्त कर लो। तब बाद में अनुमान लगाओ कि अपने लिए कौन-साधना फिट बैठेगी। दुकान में जाकर १० साड़ी उठा करके देख लो, सब तो लेने की जरूरत नहीं है, अपने पसन्द की एक चुन लो, उसी प्रकार त्राटक, नादयोग, योगनिद्रा, जप, अजपाजप, क्रियायोग इत्यादि सब साधनाओं का तजुर्बा ले लो अब उनके बाद अंदाज लगाओ, अनुमान लगाओ कि कौन-सी साधना फिट बैठेगी। समय को देखते हुए, शरीर को देखते हुए और मन की इच्छा को देखते हुए और अपनी बुद्धि को देखते हुए भी, कोई एक साधना चुन लो। उन सबको देखते हुए एक छोटी-सी साधना जो कम से कम समय में की जा सके और जिसको तुम चाहो घंटा दो घंटा भी खींच-खींच कर ले जाओ, ऐसी साधना करनी चाहिए। दूसरी साधना को उसमें जोड़ने का समय न मिले। ये मेरा जनरल स्टेटमेन्ट है। अब विशेष स्टेटमेन्ट देता हूं। प्रारम्भ में साधक को थोड़ा-थोड़ा करके अनेक साधनाएं करनी चाहिये। जैसे-जैसे साधना में मन लगने लगे, एक-एक करके ड्राप करते जाना चाहिये और उसका टाइम दूसरी साधना में दे देना चाहिए, जब काफी समय हो जाए साधना में मन डूबने लगे और कोई एक साधना करते-करते बहुत आनन्द आ जाय और दूसरी साधना में लेट होने लगे तब समझना सब चीजों को छोड़ने का समय है। आसन कर रहे हैं, उसके पहले

ॐ में बैठ गये और मजा आ गया। 'ॐ' ४०-५० बार कर लिया आसन में लेट हो गया इसका मतलब है अब अन्य साधनाओं को ड्रॉप करने का टाइम आ रहा है। अब केवल एक साधना में लगो।

क्या साधक के लिए विशेष गुणों का होना जरूरी है ?

हाँ जरूरी है। साधना करने से लोग अपने को विशेष समझने लगते हैं और बाकी सबको अपने से ओछा समझते हैं। इसलिए साधना करते समय विद्या, विनय, शील, ये तीन चीजें आवश्यक होती हैं। साधना में विनय भाव होना चाहिये और ऐसा नहीं रहेगा तो धन प्राप्ति में जैसे अहंकार होता है या विद्या की प्राप्ति से अहंकार होता है, वैसे ही साधना की प्राप्ति में भी अहंकार होगा। सोचते हो कि बगल में पड़ोसी-वड़ोसी हैं वे अपना जीवन व्यर्थ गंवा रहे हैं, मैंने अपना जीवन बना लिया, ये सब भाव आने लगता है।

क्या साधना के अनुभवों को दूसरे को बताया जा सकता है ?

साधना में जो अनुभव हो उसको बकबक नहीं करो और साधना में अनुभव हो उस पर ख्याल भी मत करो। ज्यादा चिंतन भी मत करो। उपलब्धियों की अपेक्षा मत करो। तब जा करके अन्तर्मुखी साधना सफल हो सकती है, अगर अनुभवों को बतलाने लगेंगे तो जिस लक्ष्य को लेकर के हम आगे चलते हैं वह लक्ष्य थोड़ी देर के बाद तिरोहित हो जाता है। उसके स्थान पर अनुभवों की शृंखला आती है और अनुभवों की वह शृंखला कभी-कभी तो इतनी मधुर होती है, कभी-कभी इतनी रसयुक्त होती है कि बार-बार उसी को देखने को जी चाहता है और बार-वार हम उसी की बात करते हैं कि मैंने तो ऐसा देखा, तीन महीना पहिले मुझे प्रकाश दिखता था, अब तो नहीं दिखता। अब हम चले थे कुछ पाने को मिला कुछ और। भटक गये न इसमें। अनुभवों की शृंखला हमें जो साधना की अवस्था में प्राप्त होती है उसको बतलाने की कोई जरूरत नहीं है। हमारे जान-पहचान के अनेकों साधु-संत हैं, जिनकी अवस्था अच्छी और ऊंची है, हम जानते हैं मगर उनमें कुछ लोग ऐसे हैं जो मुझसे पूछते हैं। भई, ये अनुभव क्या चीज है ? मेरे को तो आज तक एक भी नहीं हुआ। इसका अर्थ यह नहीं कि वे गलत कर रहे हैं। मैं जानता हूं, वे ऊंची अवस्था में हैं।

अनुभवों की जो शृंखला होती है, वह चित्त शुद्धि तक रहेगी। साधना की अवस्था में आपको जो कुछ दिखलाई देता है वह आपका पात्र शुद्ध होने तक ही दिखेगा। जब तक तुम्हारा मन संस्कार रहित न हो जाएगा, जब तक तुम्हारे कर्म के जो बीज हैं वे निस्तेज नहीं हो जायेंगे तब तक यह अनुभवों की शृंखला चलती ही रहेगी क्योंकि अनुभवों की शृंखला का सम्बन्ध संस्कारों से है। बीज प्रकट हुआ और जैसे ही पात्र धुल जायगा, अनुभवों का आना समाप्त हो जायगा, कुछ नहीं दिखेगा।

दूसरी बात, अनुभवों की ये जो शृंखला साधना में उत्पन्न होती है इसके प्रति अपने मन में विचार होना चाहिए कि ये अनुभव सब नाशवान है। आज हमको एक चीज

दिखती है, कल दिखेगी, परसों दिखेगी, उसके बाद वह समाप्त हो जाएगी। अविनाशी अनुभव एक होता है—जो आंतरिक है, शाश्वत है। बाकी तुमको ध्यान की अवस्था में जो कुछ दिखेगा वह एक न एक दिन मिट जाएगा। अगर आप ज्योति का ध्यान करते हो तो वही रहना चाहिए और यदि आप कमल का ध्यान करते हो तो वही रहना चाहिए। तुम्हारा जो इष्टदेव है, तुम्हारा जो ध्येय तत्त्व है, जो भी निश्चित हुआ है, सबका अलग-अलग हो सकता है, बस उसको अपने सामने रखो और उसको सामने रखने से तुमको एक, दो, तीन, पांच, दस अनुभव आयेंगे तब अपने मन में बोलो—मैं तो इसके लिए नहीं बढ़ रहा हूं। मुझे तो ज्योति देखनी है, तुमको थोड़े ही देखना है। ये ऐसा हुआ जैसे कि मान लो तुम रामेश्वरम् जा रहे हो। तुम यहां से गये, नागपुर में तुम्हें ट्रेन बदलनी है, शाम को ट्रेन पहुंची। ट्रेन तो थी नहीं, तुम एक अच्छे होटल में चले गए। बहुत सुन्दर होटल है। होटल तो सुन्दर था ही उसका मालिक उससे भी अच्छा। इतना सेवाभावी था, इतना मेहमान नवाज था कि वह बोला—आप जाइए मत, रह जाइए यहां, उसका घर, उसका व्यवहार, उसका चाल-चलन, उसके बाल-बच्चों का व्यवहार इतना अच्छा था कि लगा कि यह बड़ा अच्छा आदमी है। यहीं रह जाना चाहिए। रहोगे क्या? अगर तुमको रामेश्वरम् की याद आएगी, तब तो तुम रहोगे नहीं और कहीं उसके साथ फंस गए तो गया रामेश्वरम्। तब तो रामेश्वरम् के लिए भोपाल से निकले, नागपुर में अटक गए। उसी तरह हम लोगों का होता है कि साधना करते हैं ज्योति के लिए, साधना करते हैं शिव लिंग के लिए, साधना करते हैं गुरु को देखने के लिए, साधना करते हैं किसी शब्द को जानने के लिए और बीच में जो अनुभवों की शृंखला आती है बड़ी लटपटी, उसी में सब लोट-पोट होकर के फंस जाते हैं। कहते हैं—स्वामीजी, मैं जब से ध्यान करता हूं तब से मेरे को बड़ा अच्छा लगता है, बहुत-बहुत चीज दिखती है। ये तो नागपुर में फंस गया जाकर के।

महात्मा लोग क्या कहते हैं? जिस तरह से बंदूक की गोली बंदूक से निकल कर सिवाय अपने लक्ष्य के दूसरी जगह नहीं लगती है। धनुष से निकला हुआ तीर अपने लक्ष्य पर ही जाता, दूसरी तरफ नहीं जाता। 'प्रणवो धनुः', 'ॐ धनुष है।' 'शरो हि आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।' ये धनुष है, ये बाण है, ये लक्ष्य है। ईश्वर लक्ष्य है। अप्रमत्त (प्रमाद रहित) होकर उसको देखना चाहिए। अर्जुन से द्रोणाचार्य ने पूछा कि क्या देखते हो? दुर्योधन से भी पूछा—क्या देखते हो? ॐ मालुम है न सबको। हम तुमसे बोलते हैं कि क्या देखते हो? तुम बोलते हो ज्योति। क्या देखते हो? स्वामीजी, रंग दिखलाई देता है; गाछ दिखलाई देते हैं, देवी-देवता दिखलाई देते हैं; ऋषि मुनि दिखलाई देते हैं; दृश्य-सरोवर दिखलाई पड़ते हैं। हम बोलते हैं नहीं, वह ठीक नहीं है। केवल जो तुम्हारा लक्ष्य है वही दिखना चाहिए। इसके अलावा बाकी सबको दुर्लक्ष्य करना होगा।

एक व्यक्ति को मैंने कहा—बिन्दु का ध्यान करो। निराकार वाले थे। आगे एक बार शंकर जी आ गए ध्यान में। मेरे से बोले कि भाई, मैं बिन्दु का ध्यान करता हूं तो शंकरजी आ गए। मैंने कहा—तुम तो निराकार वाले हो न, हटाओ शंकरजी को कैसे

हटाएं। असल में डर लग गया ना। बिन्दु तो एक जड़ तत्त्व है। उसको तो हटाना कोई बड़ी बात नहीं है और शिवजी इतने बड़े देवता हैं, कहीं हटा दिया तो हालचाल मुश्किल कहीं बाद में तंग न करने लगे। वह डर गए। जब ऐसी स्थिति होती है तो क्या किया जाए? तो मैंने उनसे कहा—देखो भाई, तुम अब निराकार को छोड़ दो। तुमसे निराकार जमने का नहीं, क्योंकि तुम तो बिन्दु की अपेक्षा शंकरजी को श्रेष्ठ मानते हो। मेरे को बोले—स्वामीजी, बिन्दु को मैं छोड़ सकता हूं पर मेरे को लगता है कि शंकरजी को छोड़ने से कहीं मुश्किल न हो जाए, बाल-बच्चे बीमार पड़ जायें। तो मैंने कहा—तुम अब निराकार को छोड़ो आज से। बिन्दु-बिन्दु के चक्कर में मत पड़ो। सीधे तुम शंकरजी की उपासना करो। अब अगली बात ध्यान से सुनिए। तो शंकरजी पर ध्यान करने लगे, तो बिन्दु भी सामने आने लग गया।

ये ध्यान की बड़ी विचित्र स्थिति है और इसी में साधक लोग भटकते हैं। अंग्रेजी में बचपन में मैंने एक किताब पढ़ी थी। इसका नाम था—पिलग्रीम प्रॉब्लम्स। एक तीर्थ-यात्री चल रहा है, पहाड़ पर चलता है। कहीं पर उसको सुन्दर-सुन्दर उपवन मिलते हैं। वह मोहित हो जाता है। कहीं पर उसको सुन्दर-सुन्दर प्राणी मिलते हैं, वह मोहित हो जाता है। कहीं पर उसको रसयुक्त फल मिलते हैं, तो मोहित हो जाता है कहीं-कहीं पर उसको निद्रा आ जाती है सुखद छाया में, तो सोचता है कि चलो भाई अब यहीं पड़े रहें। मगर जैसे-तैसे उसको अपने लक्ष्य की याद आती है? तीर्थ की याद आती है तो ले देकर उस माया मोह से वह अपने को खींचकर अन्त में पहुंच जाता है, जिसका नाम है ब्रह्म-पुरी, आनन्द नगरी। उसीप्रकार साधना करने वालों को साधना के बीच में कई प्रकार के अनुभव देखने को मिलते हैं। शरीर में गर्मी लगती है, ठंडी लगती है। कभी लगता है कि कुछ चल रहा है। कभी लगता है कि कुछ उड़ रहा हैं, कभी लगता है एकदम आनन्द आ रहा है। कभी लगता है मीठा-मीठा रस बह रहा है। हजारों अनुभव इन सबको तुम एक किनारे कर दो। ये सब व्यर्थ के अनुभव हैं और कुछ नहीं।

कान का रोग है अथवा कोई और चीज है?

एक आदमी, जो पांच-छः साल से साधना कर रहा है, दाहिने कान में झुनझुन की आवाज आ रही है। वह जानना चाहता है कि ये झुनझुनाहट जो होती है ये क्या है?

ये कान का रोग नहीं है। साधना करते-करते एक-एक इन्द्रिय माध्यम बनती है इसमें किसी-किसी व्यक्ति की दाहिने तरफ कान में एक ऊंची आवाज आती है और उसे हम लोग कहते हैं कर्ण घंटा। उसे कम समझ के कारण लोग पिशाच कहते हैं। यह पिशाच क्या है। पिशाच मतलब कोई बाहर वाला नहीं, अंदर का ही है। अन्दर से कोई जागता है उसको पिशाच कहते हैं। उसका नाम है कर्ण-पिशाच। और ये कर्ण-पिशाच की साधना होती है क्लियर माइन्ड में। उससे कान में चीख सी सुनाई देती है, बाद में घंटी सुनाई देती है। उसके बाद कान के अन्दर में स्पष्ट आवाज आती है, सुनाई देता है। यदि आदमी खराब है तो लगता है बदमाश आदमी बैठा है अन्दर में। सब सुनाई देता है उसको। आपने देखा है कर्ण-पिशाच वाले जब बात करेंगे तो इधर ख्याल

करेंगे उनकी आंखों से मालूम पड़ेगा कि वह कहां ख्याल करते हैं। बड़े क्लियर माइण्ड होते हैं वह लोग। क्लियर माइण्ड का मतलब सामने की चीज का एक्सरे उनको स्पष्ट मालूम पड़ता है। वह साधना कोई गलत रास्ते पर नहीं की जा रही है, वह शुद्धि का रास्ता है।

मूलाधार में कुंडलिनी का स्थान बतलाते हैं, कई लोग कहते है वहां शिवलिंग है?

ठीक है इसमें कोई हर्ज नहीं। कुछ लोग उसको देवी का स्थान मानते हैं। अपने यहां उसको शिवलिंग मानते हैं। तीन लिंग होते हैं—आधारलिंग, इष्टलिंग, ज्योतिर्लिंग। नीचे वह आधार लिंग हुआ, यहां धूम्रलिंग होता है। इसी पर कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरे डाले बैठी है।

★

शिव-चेतना

—स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

शिव की पूजा अब केवल भारत तक ही सीमित रह गई है। प्राचीनकाल में इसकी प्रथा सारे संसार में प्रचलित थी। ईसवी सन् आरम्भ होने के बहुत पहले से ही पूर्व व पश्चिम के बहुत से देशों में एक अण्डाकृति प्रतीक की पूजा के रूप में शिवपूजा की धार्मिक प्रथा रही है। मैक्सिको और लैटिन अमेरिका के विभिन्न भागों में हुई पुरातत्त्विक खोजों ने इस प्राचीन पूजा-प्रथा पर विशेष प्रकाश डाला है। मक्का का काबा भी, जो इस्लाम धर्म में सर्वपूज्य है, एक अंडाकार पत्थर यानी शिवलिंग ही है।

शिव का शाब्दिक अर्थ है उच्च चेतना। इसे और भी दूसरे कई तरह से समझा जा सकता है। शिव का अर्थ पुरुष, परमोच्च तत्त्व या सृष्टि का आधार भी होता है। सत्य व सृष्टि का स्वरूप दो तथ्यों पर निर्भर करता है। एक है शिव-शुद्ध, अपरिवर्तनशील चेतना और दूसरा शक्ति यानी कर्म द्वारा शाश्वत विकास। शिव व शक्ति के परस्पर संयोग से सृष्टि होती है, ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है।

प्रकाशस्तंभ

योगाभ्यास द्वारा दैहिक व मानसिक चेतना स्तर का अतिक्रमण होने पर विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। सफल योगियों को संप्राप्त ये अनुभव ही प्रभामंडल प्रकाशस्तंभ या ज्योतिर्लिंग के संकेत हैं। मुहम्मद, जोरोस्तर या ईसाई संतों की जीवनी के प्रसंगों में इस ज्योतिर्लिंग का उल्लेख मिलता है। इस प्रकाश का अनुभव हर साधक को एक सदृश नहीं होता। कभी धूम्रमंडल, कभी धूम्रमिश्रित ज्योति, कभी अण्डाकार और कभी खंभाकार। योगियों द्वारा प्राप्त प्रज्ञा के इन विभिन्न अनुभवों को ही हम शिव चेतना कहते हैं।

उच्च चेतना का प्रतीक

संस्कृत शब्द 'लिंगम्' के दो विशेष अर्थ होते हैं। साधारण प्रयोग में पुरुष शरीर के प्रजनन अंग को लिंगम् कहते हैं। अध्यात्म में कारण शरीर का बोधक है लिंगम्। शिवलिंग के सही अर्थ के बारे में बहुतों को भ्रान्ति है। पश्चिमी विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में इसे शिव का लिंग माना है। यह मान्यता एकदम गलत है। इसे विपर्यय धारणा कहते हैं। वस्तुतः उच्च चेतना का आध्यात्मिक प्रतीक है शिवलिंग। लिंगम् का शाब्दिक अर्थ है सूक्ष्म प्रतीक।

मानव के मन का और उसकी संवेदना का यथार्थ स्वरूप क्या है? विश्व भर के कलाकारों ने अपनी कला के माध्यम से मानवीय संवेदना को अभिव्यक्ति करने की चेष्टा की है। भय, प्रेम, घृणा या हर्ष को हम कैसे अभिव्यक्त करें कि उनकी संवेदना का अनुभव दूसरे लोग भी कर सकें? ये भावनाएं साकार हैं अथवा निराकार? हां, उसके आकार अवश्य हैं, किन्तु वे उसी रूप में ग्राह्य नहीं हैं। उनके लिए हमें संकेत, प्रतीक, चित्र बनाने होंगे। इन्हीं प्रतीक संकेतों द्वारा हम भावनाओं को समझ और समझा पाते हैं।

अब बताओ, तुम्हारा निज स्वरूप क्या है? देहाध्यास से ऊपर उठने पर तथा विचार जगत् के पार जाने पर, गंभीर ध्यानावस्था में हमारी चेतना का आकार कैसा रहता है? इन्हें प्रतीक के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

मूलाधार से सहस्रार

कुंडलिनी योग के प्रतीक विज्ञान के अनुसार शिवलिंग के तीन भिन्न रंग होते हैं धूम्र, काला व प्रकाशित। चेतना के विकास अथवा शुद्धिकरण की स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं ये तीन रंग। मूलाधार चक्र में धूम्रलिंग, आज्ञा चक्र में काला लिंग एवं सहस्रार चक्र में प्रकाशित ज्योतिर्लिंग है।

अविकसित मन वाले ध्यान के आरंभिक अभ्यासी को धूम्रमंडल के रूप में शिवलिंग का अनुभव होगा। वह दिखेगा, फिर गायब, फिर दिखेगा, फिर गायब; यह क्रम कुछ काल तक चलेगा। धारणा के अधिक गहरे अभ्यास में मन के कुछ स्थिर होने पर कृष्णवर्ण यानी काला शिवलिंग प्रकट होगा। इस कृष्ण वर्ण पर लगातार धारणा करते रहने से प्रकाशित चेतना में यह स्वयंभू ज्योतिर्लिंग प्रकटेगा, स्वयंभू अर्थात् खुद ही प्रकट हो जाने वाला। अस्तु, आज्ञा चक्र का काला लिंग ही उच्च अध्यात्म चेतना की कुंजी है, रहस्य है।

शिव का मानवीय स्वरूप

शिवलिंग की भांति, शिव भी मनुष्य में निहित उच्चात्मा का प्रतीक है जो सार्वभौम सत्ता का निमित्त कारण है। उनके मानव स्वरूप में भी शिव की प्रतीक मूर्ति मिलती है। संन्यासी सदृश एक आदमी—व्याघ्र चर्म धारण किये—उदासीन फक्कड़ जीवन, नित्य पद्मासन में स्थित, ध्यान समाधि में लीन! उनका संपूर्ण शरीर भस्म-विभूषित है। साधारण भस्म नहीं; वरन् श्मशान में जलाये मुर्दों के अवशेष भस्म। यह दिव्य संकेत है।

तपश्चर्या की अग्नि से संसारी वासनाओं का पवित्रीकरण। उनके सिर, गर्दन, भुजा व कमर के चहुं ओर फुफकारते सर्प आवेष्ठित हैं। ये उत्थित फन जागृत कुंडलिनी शक्ति के द्योतक हैं। उनके सिर पर शोभित जटा-जाल के कुंचित केश में बाईं ओर अर्द्ध चन्द्र, चतुर्थी का चन्द्रमा है। यह इड़ा नाड़ी का प्रतीक है। सिर में दाईं ओर गंगा तीव्रधारा से प्रवाहित हो रही हैं। यह पिंगला नाड़ी का प्रतीक है। शिव के सम्मुख एक कूर्म, कछुआ या कच्छप है जिसने अपने अंगों को अपने शरीर के अन्दर खींचकर छिपा रखा है। उसकी यह क्रिया योगी मन का प्रत्याहार है, जब वह अध्यात्म साधना में सूक्ष्म अंतर बिन्दु पर चित्त को एकाग्र करता है।

गंभीर ध्यानावस्था में अनुभूति उच्च चेतना के सांकेतिक प्रतीक रूप हैं ये सब उपरोक्त वस्तुएं। देह चेतना, बुद्धिचेतना, वस्तुचेतना, नाम व रूपचेतना से हट कर जब साधक अंतर्मुख हो जाता है, तब जो कुछ अनुभव में आता है, यह शिवचेतना है।

तीन दुर्ग

त्रिशूल और डमरू, ये दोनों शिव के साथ की बहुत महत्त्वपूर्ण चीजें हैं। मनुष्य के तीन शरीर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। ये तीनों शरीर तीन दुर्ग या त्रिपुर कहे गये हैं। इन्हें लौह, रजत व स्वर्ण काया अर्थात् त्रिकाया के रूप में जाना जाता है। इन्हीं तीन दुर्गों, त्रिपुर से आगे एक व्यक्ति है, जिसे पाना है।

त्रिपुरारि से मिलने हेतु इन तीनों दुर्गों को तोड़कर वहां पहुंचना होता है। शरीर मन व भावना के तीनों स्तरों को पार करना बहुत कठिन है। ये दुर्ग दुर्भेद्य है, क्योंकि देह, बुद्धि व अहं की चेतना को हम छोड़ नहीं पाते हैं। फिर व्यापक व असीम चेतना की अनुभूति कैसे होगी ? इन तीनों स्तरों को पार करके ही, त्रिपुरासुर का वध करके ही अपने प्रियतम त्रिपुरारि का दर्शन संभव हो सकता है।

तो, शरीर, मन और अहं भावना के ये तीन दुर्ग हैं। उनके स्तर अलग-अलग हैं। तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण से वे युक्त हैं। त्रिगुणात्मक होने से उनके गुण, हर काया में हैं। सबसे ऊपरी स्तर पर अज्ञान की निद्रा तमोगुण है। क्रियाशील जीवन में रजोगुण प्रधान होता है। ध्यान में सतोगुण रहता है। आलस्य, प्रमाद निद्रा, अकर्मण्यता की हालत में तमोगुण रहता है। मन जब गतिशील हो; वासना महत्त्वाकांक्षा, राग द्वेष, तृष्णा, क्लेशादि से पूर्ण हो तब रजोगुण की स्थिति। जीवन की निरर्थकता को समझकर मन जब शान्त, स्थिर व उद्वेग रहित हो जाता है, तब उसे सात्त्विक गुण की स्थिति कहेंगे।

त्रिशूल में तीन नोक हैं तीर की तरह। त्रिशूल तो तुम लोग जानते हो न। शिव मंदिर में जाकर देख लेना। इन्हीं तीन गुणों का भेदन करने के लिए यह त्रिशूल हैं। त्रिशूल से त्रिगुणों का प्रतीक अर्थ-बोध होता है।

डमरू की ध्वनि

ध्यानावस्था में एक विशेष ऊंची स्थिति में अंतःध्वनियां सुनाई देती हैं। ये अनेक प्रकार की हैं। नादयोग में इनका विस्तत वर्णन मिलता है। अनुभव का एक स्तर ही

नादयोग है। अनेक ध्वनियां अन्दर आती हैं। इन्हें नाद, अंतर्ध्वनि, अंतर्नाद, अंतर-संगीत अंतर्माधुरी आदि कहते हैं।

इस नादानुभव के बारे में कई योगियों और तांत्रिकों ने बताया है। गहरे ध्यान में इन गुप्त अंतःध्वनियों को कई साधकों ने सुना है और सुनते रहेंगे। बांसुरी, वीणा, मेघगर्जन या चिड़िया की आवाज आदि सुनी जाती है। साधकों ने अनुभवों को गीत, श्लोक और शास्त्रों में व्यक्त किया है। ध्यान की एक अवस्था में डमरू की आवाज एक संकेत है—चेतना के इस सीमित सोपान से उस असीम चेतना में आरोहरण का। त्रिशूल एवं डमरू बाह्य वस्तुएं नहीं, हमारी योगी चेतना के शुद्ध आंतरिक स्वरूप की सांकेतिक अभिव्यक्तियां हैं।

शैववाद

भारत भर में शिवजी अतिशय लोकप्रिय हैं। शिव भक्तों का एक विशिष्ट संप्रदाय दर्शन और परम्परा है, जिसे शैववाद कहते हैं। इन सब प्रतीकों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है शैववाद में। यह परम्परा काश्मीर व दक्षिण भारत में बहुत प्रबलता से प्रचलित है। इस दर्शन और प्रतीकशास्त्र पर सैकड़ों उपयोगी ग्रंथ लिखे गये हैं।

भारत में शिव भक्तों का दृढ़ विश्वास है कि सत्य को पाने के लिए सरलतम मार्ग है शिवपूजा। इसके बारह प्रमुख केन्द्र देश भर में मिलते हैं। इनमें से एक पशुपतिनाथ नेपाल में है। पशु का अर्थ है हमारी पशुवृत्ति और पति याने स्वामित्व। यह उस योगी (शिव) का आध्यात्मिक प्रतीक है, जिसने अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण पा लिया हो।

रामेश्वर दक्षिण भारत में एक ज्योतिष पीठ है। इन्हीं द्वादस पीठों में से एक बिहार में है—वैद्यनाथ धाम में जिसे बाबाधाम भी कहते हैं। इसकी लोकप्रियता इतनी है कि लोग इसे शिव का क्रिमिनल कोर्ट कहते हैं—वह न्यायालय, जहां शिकायतों की सुनवाई तत्काल होती है।

जुलाई-अगस्त के महीनों में अगर बिहार आना हुआ तो देखोगे कि गरीब, अमीर, किसान, मजदूर, स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े हर कोई, लाखों लोग, यहां तक कि नेपाल के महाराजा भी नारंगी रंग के विशेष वस्त्र पहिनते हैं। गंगा जी से जल लेकर उसे कन्धे पर रक्खे, नब्बे मील पैदल चलकर बाबाधाम में शिवजी पर चढ़ाते हैं। वहां शिवपूजा करते हैं, शिवलिंग का स्पर्श करते हैं। हजारों वर्षों से लाखों-करोड़ों लोगों द्वारा यह पूजा व स्पर्श की प्रथा चली आ रही है। यह है शिव की लोकप्रियता।

आंतरिक अंधकार का साक्षात्कार

ये बारह तो प्रधान केन्द्र हुए। इनके अलावा भी हजारों शिव मंदिर देश भर में यत्र-तत्र सर्वत्र मिलेंगे। उन बारह स्थानों में उन्हें शिवलिंग नहीं कहते; ज्योतिर्लिंग कहते है। ज्योति अंधकार का विपर्यय है। क्या है यह अंधकार? जहां कुछ भी न दिखे, सभी रंग व रूप तमस् से आच्छादित हो जाते हैं, अपने आपको भी देखना मुश्किल। और जब

प्रकाश आ जावे तो सब कुछ देख-जान सकते हो।

अच्छा, तो मनुष्य अंधेरे में है। उसे नहीं मालूम कि उसके बाहरी अस्तित्व के अन्दर और आगे क्या है। शायद स्वप्न के बारे में उसे थोड़ा-सा मालूम होगा। उसे क्या मालूम कि सजगता के और भी कई स्तर हैं। जिन्हें वह प्राप्त भी कर सकता है। मनुष्य के अन्तस् का क्षेत्र अंधकार से व्याप्त है। अपनी आंख मूंद लेने पर क्या देखते हो? कुछ नहीं न? और, मन्त्र जप वगैरह जप लेने पर कभी-कभी चलचित्र या टेलीविजन जैसा कुछ दिखाई दे जाता है, नहीं तो कुछ नहीं।

क्रोध आने पर हमें मालूम तो हो जाता है लेकिन उसे देख नहीं सकते। भय लगने पर अनुभव होते हुए भी उसके कारण का ठीक पता नहीं लगता। इसलिए कि वहां अंधकार है। प्रकाश रहने पर भय, घृणा, प्रेम सब भावों को देखा जा सकता है। कई बार हमें यह नहीं मालूम पड़ता कि हमारे मन में क्या है, क्योंकि लोग केवल सोचते हैं, देख नहीं पाते।

तो प्रकाश हमें चाहिये और उसका ज्ञान भी चाहिये। उस ज्ञान के प्रकाश में वस्तुएं दिखाई देने लगती हैं। तुम्हें अपने पशुस्वभाव, अध्यात्म-स्वभाव, मानसिक समस्याएं, अवरोध, निरोध सब कुछ दिखेंगे। तुम्हें अपनी सभी व्यक्तिगत चीजें मालूम होंगी, जिनको पहले कभी नहीं देखा था। यह सब कब और कैसे होता है? प्रज्ञा के उदय से ही यह संभव है। यह प्रज्ञा-प्रकाश प्रसारित होता जाता है और वस्तुएं भी अधिक स्पष्ट होती जाती हैं। तब तुम केवल सोचते नहीं देखना शुरू करते हो।

इस भांति, जीवन की उच्च चेतना को भी देख सकते हो। ये द्वादश ज्योतिर्लिंग मनुष्य की प्रकाशित चेतना है। वर्ष भर दर्शकगण तीर्थयात्रा करके उनका दर्शन करते हैं। इनके दर्शनार्थ कोई भी समय अशुभ नहीं माना जाता।

शिव मंदिर के अंदर

शिव मंदिर की बाहरी सीमा मीलों तक फैली हो सकती है; किन्तु मंदिर तो अपने आप में बहुत संकीर्ण ही होता है। मंदिर में प्रवेश करते ही एक बैल मिलेगा। यह नन्दी बैल कहलाता है। मानव व्यक्तित्व के संपूर्ण अहं चेतना का प्रतीक। चित्र में शिवजी को एक बैल पर सवारी करते देखा होगा। यह वही वाहन है। बैल शिव पर सवार नहीं होता, शिव सवार होते हैं बैल पर। हम लोगों में यह बात ठीक उल्टी है, बैल हम पर सवार हो रहा है। यह बात समझने की है।

वह बैल संकेत है—स्वयं से हमारे प्रथम परिचय का। अध्यात्म की अंतर्यात्रा में प्रथम मुकाबला पशु से होता है, हमारी पशुवृत्ति से। यहां पर पशु माने उल्लू, बकरा, हिरण या घोड़ा नहीं; पशु हमारी चेतना की निम्न वृत्तियों का प्रतीक है।

फिर, मंदिर में अन्दर आपको एक अंडाकृति पत्थर मिलेगा। ये विशेष आकार वाले पत्थर नर्मदा नदी की सतह पर मिलते हैं। यह नदी मध्य भारत में से बहती हुई अरब सागर में जा मिलती है। मुझे मालूम नहीं, ये अंडाकार पत्थर वह नदी कैसे उत्पन्न

करती है। अनेक शिव मंदिरों में स्थापित ये लिंग उसी एक स्थान से, नर्मदा की सतह से जाते हैं।

लेकिन, वे बारह ज्योतिर्लिंग नर्मदा से नहीं लाये गये हैं। शिवलिंग दो तरह के मिलते हैं। नर्मदेश्वर लिंग और स्वयंभू लिंग। स्वयंभू लिंग स्वत: उत्पन्न हुए हैं, उन्हें कहीं से लाया नहीं गया। जहां पर वे प्रकट हुए, वहां से उन्हें हटाया नहीं गया; बल्कि उसी के चारों ओर शिवमंदिर का निर्माण कर दिया गया। नर्मदेश्वर लिंग को समारोह के साथ लाकर किसी मंदिर में प्रतिष्ठित किया जाता है।

शिवलिंग को एक वेदी पर स्थित करते हैं। उसके ठीक ऊपर जल से भरा एक ताम्र पात्र लटकता रहता है। बर्तन के एक छोटे छिद्र से बारहों मास और रात-दिन बूंद-बूंद जल शिवलिंग पर टपकता रहता है। मानव शरीर में निरंतर प्रवाहित अमृत की प्रक्रिया का यह प्रतीक रूप है। मानव की उच्च चेतना में अमृत बूंद झरता है, बिन्दु विसर्ग। यह हमारी चेतना को अविनाशी, अमर बनाता है।

शिवरात्रि—मिलन की रात

वर्ष में एक बार, शिव के भक्तजन अति विशिष्ट ढंग से शिवरात्रि मनाते हैं। शिव यानी उच्च चेतना। रात्रि यानी आत्मा की अंधेरी रात। शिवरात्रि की कथा बड़ी मनोरंजक एवं सारगर्भित है, रहस्यपूर्ण है।

हिमाचल की पुत्री पार्वती के साथ शिवजी का विवाह निश्चित हुआ। तिथि आ पहुंची। विवाह के लिए लड़के (वर) को लड़की (कन्या) के घर जाना पड़ता है। शिवजी अपने प्रियजनों के साथ पार्वती के बर्फीले राज्य में पहुंचे। वहां स्वागत की सारी तैयारी हो चुकी थी। सुन्दर नगर था और रूपवान नगरवासी। बारात की प्रतीक्षा हो रही थी। बच्चे विशेष खुश थे।

शिव दल के पहुंचते ही बच्चे दौड़े बारात देखने और देखते ही डर के मारे रोने-चिल्लाने लगे; कुछ तो बेहोश हो गये; कुछ चक्कर खाकर गिर पड़े; कुछ मजबूत बच्चे गिरते-उठते घर की तरफ भागे। अपने मकानों की छतों पर से बारात देखने वाली कई स्त्रियां वहीं मूर्छित हो गईं, क्योंकि शिव एक बैल पर सवार थे। अपने गले, कमर और हाथ में नाग सांप लपेटे हुए थे और सारे शरीर पर भस्म रमाये थे। शिव के पीछे उनके गण भूत, पिशाच सब चल रहे थे। उनमें से कइयों के पेट में मुंह था, कई एक पैर वाले थे, तो कई तीन पैर वाले। वे सब कुदरत की खिलवाड़ थे। कैसी अनोखी बारात थी।

सब ने यह अजीबोगरीब समाचार पार्वती की मां को सुनाया। बोले—'तुम्हारा जामाता (दामाद) तो भयंकर विकराल है और उसके साथी लोग एकदम घिनौने हैं।'

पार्वती की मां को सहसा विश्वास नहीं हुआ। बाहर जाकर उन्होंने खुद देखा और घबरा गईं। मैं इस मनहूस को अपनी बेटी कदापि नहीं दूंगी—ऐसा फैसला उन्होंने कर लिया। सारे नगर में हंगामा मच गया। हर आदमी हैरान था। इधर शिवजी अपने दल सहित बढ़ते जा रहे थे पार्वती के घर की ओर।

हिन्दू-विवाह-प्रथा के अनुसार, एक खास जगह पर ही विवाह का मंडप बनाया जाता है। जैसे ही उस मंडप में बारात पहुंची, सबका रूप बदल गया। शिव अतिशय नवयुवक हो गये। उनके सभी साथी देवता बन गये। सबके शरीर में दिव्य वस्त्र, जगमगाते आभूषण और गले में सुगन्धित फूलमाला।

भारत में, विवाह के समय वर को अपना गोत्रादि बताना पड़ता है—पिता का नाम, पिता के पिता का नाम और फिर आगे सातों पीढ़ी का नाम। पूछने पर शिवजी ने अपना परिचय बताया—'न मेरी मां है, न बाप।' 'तब आप जन्मे कैसे?' 'मेरा जन्म कभी हुआ ही नहीं।' लेकिन आप तो आकर्षक युवक दिखते हैं!' मैं तो चिरयुवा हूं।' तो आपका घर कहां है?' 'जंगल में कहीं भी।' आपके कोई रिश्तेदार तो जरूर होंगे?' 'हां, सभी भूत, प्रेत, बेताल, पिशाच मेरे रिश्तेदार हैं—भय और क्रोध भी मेरे रिश्तेदार हैं—वे सब मेरे परिजन हैं।'

अब आखिर में पूछा गया—'हमारी बेटी रहेगी कहां?' अरे, कोई विशेष प्रबन्ध की जरूरत ही नहीं, वह मेरे शरीर का आधा अंग बनकर रहेगी।' उन्होंने उत्तर दिया। इसीलिए शिव न तो इन्सान हैं, न भगवान। वे हमारे दिव्य जीवन, उच्च चेतना के प्रतीक रूप हैं।

सभी ज्योतिर्लिंग हमारे अन्दर में ही हैं—शायद बारहों; लेकिन हम उन्हें देख नहीं पाते। सावधानी से योगाभ्यास करते हुए, त्रिकाया को पार करके हम उस शिव चेतना का आत्म साक्षात्कार कर सकते हैं। और तभी हम अपनी दिव्य चेतना के साथ तद्रूप हो सकते हैं—ठीक वैसे ही जैसे पार्वती शिवजी के साथ एकरूप हो गयीं।

तांत्रिक अभ्यास : वज्रोली एवं सहजोली

(तन्त्र शास्त्र में पुरुषों एवं महिलाओं को अपनी काम-शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मशक्ति में परिवर्तित करने, कुण्डलिनी शक्ति जागृत कर चेतना का विस्तार करने एवं समाधि के उच्चतर आयामों की प्राप्ति के लिए दो अति शक्तिशाली क्रियायें— वज्रोली एवं सहजोली, बतलायी गई हैं। इन यौगिक क्रियाओं के संबंधों में अनेक भ्रांतियां एवं उटपटाँग साधनाएँ छिटपुट रूप से प्रचलित रही हैं। इन भ्रान्तियों में स्पष्ट रूप में समाधान कर उनकी सहज यौगिक प्रविधियों का दिग्दर्शन स्वामी सत्यानन्द जी के द्वारा दिये गये सत्संग से उद्धृत किया जा रहा है। इनका सरल अभ्यास सभी साधक लोग कर सकते हैं, किंतु हठयोग की इन क्रियाओं में रुचि रखने वाले उत्साही साधकों के लिए इनके उच्च अभ्यास में कुशलता प्राप्त करने के लिए किसी सिद्ध योगी अथवा तांत्रिक गुरु से प्रत्यक्ष सम्पर्क करना आवश्यक है अन्यथा इनके उच्च अभ्यास काल के सूक्ष्म प्रभावों को नियंत्रित करना, समझना और दिशान्तरित करना उनके लिए असम्भव भी हो सकता है।)

वज्रोली

तंत्र में वज्रोली की दो विधियाँ बतलायी गई हैं, एक है हठयोग की और दूसरी है क्रियायोग की। हठयोग की प्रक्रिया द्वारा वज्रोली मैथुन की ओर उन्मुख है एवं क्रिया-योग की विधि का सम्बन्ध चक्रों को जागृत करने से है। प्रथम विधि से परिणाम शीघ्र यानी एक-दो वर्षों में मिलते हैं, लेकिन दूसरी विधि से प्राप्त परिणाम अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण तथा शक्तिशाली होते हैं, यद्यपि इसकी पूर्णता प्राप्ति में चार-पांच वर्ष लग जाते हैं।

पारम्परिक हठयोग विधि में चांदी अथवा सोने की एक लचीली पाइप को मूल-नली के अन्दर डाला जाता है। इस विधि का प्रयोग वयःसन्धि के पूर्व करना चाहिए क्योंकि मूत्रमार्ग की दीवारें तब लचीली तथा मुलायम होती हैं और वीर्य पतन की सम्भावना भी कम होती है। इसमें मूत्रमार्ग की वक्रता के पास नली को मुड़ना नहीं चाहिए बल्कि मूत्रमार्ग (urethra) को प्रसारित करना चाहिए।

क्रियायोग की विधि में पूर्णता प्राप्ति तक प्रत्येक दिन दो बार सुबह-शाम दो वर्षों तक सिद्धासन में उड्डियान बन्ध का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। तथा साथ-साथ प्राणायाम का भी अभ्यास जारी रखना चाहिए। तब सिद्धासन में मूलबन्ध लगाये बिना ही मूलबन्ध हो जाता है, जबकि उड्डियान बन्ध का अभ्यास मूत्रमार्ग तथा उसके आस-पास के अंगों को शक्तिशाली बनाता है। इस हेतु उड्डियान बन्ध का अभ्यास कम से कम डेढ़ मिनट तक करने की क्षमता प्राप्त करना जरूरी है। तभी आगे कदम बढ़ाना सम्भव है। आरम्भिक अभ्यास के समय दूसरे चरण के अभ्यासों को करना वर्जित है।

उड्डियान बन्ध में दक्षता प्राप्ति के बाद उपयुक्त भोजन के द्वारा शरीर की अम्लीयता दूर करना भी आवश्यक है। इसके लिए भोजन में सतर्कता के अलावा पानी अधिक पीना आवश्यक है, ताकि पेशाव साफ तथा गंधहीन हो। अगर भोजन तथा जल दोनों अम्लीयता दूर करने में सक्षम न हों तो सूखी धनिया चबाना चाहिए। अम्लीयता मुक्ति की जाँच का सर्वोत्तम तरीका है—पेशाव करते समय पेशाव को थोड़े समय के लिए रोकना। अगर जलन का अनुभव हो, तो समझना चाहिए कि अम्लीयता अभी समाप्त नहीं हुई है।

जब अम्लीयता दूर हो जाये तथा सिद्धासन और उड्डियान बन्ध भी सिद्ध हो जायें, तब पेशाब करते समय पेशाब को रोकने का अभ्यास करना चाहिए। करीब एक चौथाई पेशाब जब शेष रहे, तब मूत्र के प्रवाह को रोक देना चाहिए और फिर संकुंचन को मुक्त कर उसे बहने देना चाहिए। फिर रोकना चाहिए, इस तरह क्रिया चलती है।

इस तरह का अभ्यास करीब छः महीने तक करना चाहिए। इसे खड़े रहकर नहीं, नमस्कार की स्थिति में करना चाहिए।

जब मूत्र प्रवाह पर नियंत्रण प्राप्त हो जाए और अपनी इच्छा से आप उसे कभी भी रोक अथवा शुरू कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लें तो मूत्र को फिर से वापस खींचने का अभ्यास करना चाहिए। यह बहुत कठिन है। इसको सिद्ध करने में एक-दो वर्ष लग जाते हैं। जितना मूत्र बाहर निकलता है, उसकी अपेक्षा बहुत ही कम मात्रा में मूत्र वास्तव में फिर ऊपर खीचा जा सकता है, लेकिन इसके खींचने का अनुभव स्पष्ट होता है।

जब मूत्र को ऊपर खींचना सम्भव हो जाता है, तब वीर्य को भी खींचा जा सकता है। अतः इसका अगला चरण है, स्खलित हो रहे वीर्य को ऊपर खींचना। इसे सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि वीर्य स्खलन की इच्छा, काल और वास्तविक वीर्य-स्खलन की अवधि के अन्तराल को बढ़ाया जाए। इस अन्तराल को धीरे-धीरे एक मिनट तक बढ़ाया जाए, अधिक नहीं। प्रारम्भ में लम्बे अन्तराल के कारण साधक अचेत हो सकता है, पर इसका अनुभव आश्चर्यजनक होता है। इस अनुभव के दौरान शरीर बिल्कुल अचल, आंखें बन्द तथा श्वास को अन्तर्कुम्भक या बहिर्कुम्भक की स्थिति में होना चाहिए। सम्पूर्ण एकाग्रता मात्र वीर्य को रोकने में ही रहती है।

इस तरह वीर्य को रोकने पर मूलाधार चक्र में बहुत ही स्पष्ट अनुभूति होती है जैसे कोई छोटी गोली से मूलाधार चक्र को पीट रहा हो। इस विधि में निपुण हो जाने के बाद मेरुदण्ड में स्थित अतीन्द्रिय केन्द्रों अर्थात् चक्रों पर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है।

वज्रोली का अभ्यास

सिद्धासन में बैठकर उड्डियान बन्ध को डेढ़ मिनट तक सिद्ध करो।
मूत्र की अम्लीयता को भोजन, पानी, धनिये के बीज से दूर करो।

नमस्कार की स्थिति में पेशाब को बीच में ही रोकने तथा शुरू करने का अभ्यास छः महीने तक करो।

दो वर्षों तक मूत्र को ऊपर खीचने का अभ्यास करो।

एक मिनट तक वीर्य को रोककर रखने का अभ्यास करो।

वीर्य को रोक कर रखने के समय को धीरे-धीरे बढ़ाते जाओ, जब तक वीर्य स्थायी रूप से न रुकने लगे।

सहजोली

सिद्धयोनि आसन में स्त्रियां सहजोली का अभ्यास करती हैं। अतः सर्वप्रथम आसन सिद्ध होना आवश्यक है। फिर इसका अभ्यास धीरे-धीरे इस क्रम में करना चाहिए—हाथ-पैर अच्छी तरह से साफ कर सिद्धयोनि आसन में बैठो।

योनि की मांसपेटियों को संकुचित करो, फिर ढीला छोड़ो। ऐसा कई बार करो।

जब योनि की मांसपेशियां शक्तिशाली हो जायें, तब योनि के आन्तरिक भाग को संकुचित करो तथा धीरे-धीरे उसे और संकुचित करो। योनि की सारी मांसपेटियों को संकुचित करते जाओ तथा इसे तब तक बढ़ाते जाओ जब तक मांसपेटियों को गहराई तक संकुचित न करने लगो।

इसमें अभ्यस्त होने के बाद योनि द्वार को एड़ी से ऊपर उठाकर योनि की मांसपेटियों को संकुचित करना शुरू करो।

उसके बाद योनि द्वार की मांसपेटियों को शिथिल करके नीचे करो ताकि एड़ी योनि के अन्दर प्रवेश कर जाए। इसे बार-बार अभ्यास करने पर एड़ी और अन्दर चली जाती है। इसका अभ्यास तब तक करो जब तक एड़ी योनि के अन्दर दो सेंटीमीटर तक प्रवेश न कर जाए। तब अन्तिम स्थिति में निपुण हो जाओ तब भद्रासन अथवा गोरक्षासन में बैठ जाओ।

अन्य विधि

मुट्ठियों को भींचकर भुजाओं को तानते हुए नौकासन करो। अभ्यास के दौरान अन्तर्कुम्भक लगाकर योनि को संकुचित करो। जब यह आसानी से होने लगे, तब योनि से प्रारंभ कर सम्पूर्ण शरीर का संकुचन करो।

पैरों के बगल में बांहों को फैलाकर हाथों को समतल जमीन पर रखते हुए नौकासन की स्थिति में आओ। उसके बाद कुम्भक लगाकर शाम्भवी मुद्रा करते हुए योनि की सारी मांसपेटियों को जब तक सम्भव हो संकुचित करके रखो।

—o—

स्वरयोग

स्वामी पुरुषोत्तम सरस्वती

मनुष्य के अन्दर ऐसी अपूर्व शक्तियों का भण्डार है जिसको प्राप्त कर लेने पर वह स्वयं-सिद्ध होकर त्रिकाल दर्शक बन सकता है। किन्तु माया के बन्धन में पड़कर मनुष्य दिन-प्रतिदिन अपने उस दिव्य नेत्र से रहित होता जा रहा है, वह अपनी अन्तस्थ अमूल्य शक्ति-रत्नागार से अनभिज्ञ होता जा रहा है। यही कारण है कि वह कितने ही भौतिक साधनों के होते हुए भी रात-दिन दैहिक, दैविक और भौतिक तापें से पीड़ित व क्लांत दिखता है। वह चाहता बहुत कुछ है पर कर कुछ भी नहीं पाता।

शास्त्रकारों का कहना है—'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' अर्थात् इस ब्रह्माण्ड क. एक रूप यह पिण्ड (शरीर) भी है। प्रकृति का स्वरूप दर्शन हमें पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, फल-फूल, नदी-पर्वतादि के आधार पर हो जाता है और सामान्य मनुष्य को भी प्रकृति के बाह्य परिवर्तन का बोध समय, ऋतु आदि के द्वारा हो जाता है और सामान्य मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा और नाक्षत्रिक ग्रह-नक्षत्र आदि के माध्यम से भावी घटनाओं का समय से पूर्व ही ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार इस शरीर में किसी भी भावी घटना के पूर्व एक सूक्ष्म संकेत मिलता है, परन्तु अज्ञानवश वह उसको समझ नहीं पाता और दुःख शोकादि का शिकार बन जाता है। अतः इस दिव्यज्ञान को प्राप्त करने के लिये हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने अनेक साधन बतलाये हैं जिनमें से 'स्वरयोग' को एक उत्तम साधन माना गया है।

स्वरयोग भारत की अति प्राचीन और शिरोमणि विद्या है। इसके आश्चर्यजनक परिणाम और साधन की सरलता के कारण किसी समय इस विद्या का सम्पूर्ण भारत के जन-मानस पर बहुत अधिक प्रभाव था और सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी इसके ज्ञान से लाभ उठाते रहे। किन्तु भौतिकवाद के कुचक्र में आकर लोग इस परम-पावन विद्या को भूल से गये, अतः आधुनिक काल के आते तक यह रहस्यमयी विद्या कपोल-कल्पना ही रह गयी। इस महत् स्वरविज्ञान को आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर कसना बहुत जरूरी है, क्योंकि आज लोगों की अध्यात्म की ओर जाग रही अभिरुचि का इसके पास समाधान है। न केवल अध्यात्म में बल्कि इस विज्ञान के रहस्योद्घाटन से आधुनिक विज्ञान को भी बड़ी उपलब्धि होगी।

स्वर क्या है

योग में श्वास को स्वर कहा गया है। अर्थात् नासिका के दोनों छिद्रों से निरंतर श्वास और प्रश्वास के रूप में प्रवाहित होने वाली प्राण वायु को स्वर कहते हैं। वायु ग्रहण करने को निःश्वास या पूरक और वायु बाहर छोड़ने को प्रश्वास या रेचक कहते

हैं। अतः स्वर विद्या सीखने के लिए श्वास-प्रश्वास का ज्ञान आवश्यक है। कहा है —'काया नगरमध्येतु मारुतः क्षितिपालकः' अर्थात् इस देह रूपी नगर में वायु, राजा के समान है। प्राणी श्वास-प्रश्वास की क्रिया से प्राण शक्ति को प्राप्त करता है।

श्वसन क्रिया एक नैसर्गिक क्रिया है, जो मनुष्य के जन्म से लेकर मरण काल तक सहज रूप से चलती रहती है। नासिकाएँ खुली होने पर भी श्वास एक साथ नहीं चला करती। कभी दाहिनी तो कभी बायीं नासिका छिद्र में प्रति एक घंटे के अन्तर में परिवर्तित होती रहती है और परिवर्तन के समय यह कुछ क्षण के लिए दोनों नासिका छिद्रों में चलने लगती है। परन्तु इसका हमें स्थूल रूप से भान नहीं होता। श्वास का दोनों नासिकाओं में अलग-अलग बहना ही इस विज्ञान का महत्त्वपूर्ण पहलू है। स्वर के ज्ञान द्वारा हम शरीर स्वास्थ्य तो बना ही सकते हैं, साथ ही मन की वृत्तियों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। इसके ज्ञान से हम अपने और सृष्टि के बीच घटने वाली रहस्यमयी घटनाओं का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

योग की अन्य क्रियाओं के अनुसार स्वर विज्ञान भी मनुष्य को आत्मोन्नति के मार्ग पर ले जाने वाली विद्या है। कई बार मनुष्य मन की वृत्तियों के कारण उलझन में पड़ जाता है। उस समय वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और इस द्वन्द्व में पड़ कर कोई निर्णय नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति पर स्वर-ज्ञान काम आता है। पति बीमार पड़ा है, मरणासन्न है और पत्नी को अपने मैके में पता चलता है। उस समय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नाना प्रकार के यात्रा अरिष्ट बतलाये जाते हैं। बरबस वह शुभ लग्न की प्रतीक्षा में बैठी रह जाती है और तब तक पतिदेव का हरि ॐ तत्सत् (अन्त) हो जाता है। वह जीवन भर इस दारुण दुःख से पीड़ित रहती है। रोगी की मृत्यु सन्निकट होते हुए भी वैद्यराज शुभ मुहूर्त की ताक में औषध नहीं दे पाते और रोगी मर जाता है। समाज में यात्रा, वाणिज्य, विवाह, व्रत, गृहप्रवेशादि कर्म के समय भी मुहूर्त का विचार करना प्रचलित है। इन परिस्थितियों पर मनुष्य का पाक्षिक ज्ञान प्रायः असफल होता देखा जाता है। मनुष्य का किसी भी काम को सकुशल इच्छानुकूल करना जन्मसिद्ध अधिकार है, पर कतिपय सिद्धान्तों के आधार पर इच्छा होते हुए भी वह नहीं कर पाता। ऐसे अवसर पर मनुष्य अगर स्वर शास्त्र का ज्ञाता है, तो वह निश्चित ही निर्विघ्नतापूर्वक किसी भी कार्य को कर सकता है।

स्वरयोग का लक्ष्य

स्वरयोग एक स्वतंत्र शास्त्र है। यह किसी परिस्थिति, धर्म या सभ्यता से संबंधित नहीं है। इससे व्यक्ति के विश्वास, विचार एवं कार्यों में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। स्वर ज्ञान के द्वारा व्यक्ति अपने अंधविश्वास व गलत मान्यताओं के बंधन से छुटकारा पा सकता है। शिव-स्वरोदय का मत है—

न तिथिर्न च नक्षत्रं न वारो ग्रहदेवता।
न च विष्टिव्यतीपातो वैधृत्याद्यास्तथैव च ॥

कुयोगो नास्ति नो देवि ! भविता वा कदाचन ।
प्राप्ते स्वरबले शुद्धे सर्वमेवशुभं फलम् ॥

अर्थात् स्वरोदय शास्त्रियों के लिए तिथि, नक्षत्र, वार, ग्रह, देवता विष्टि, व्यतीपात और वैधृति आदि से व्याघात उत्पन्न नहीं होते। हे देवि ! इसमें कुयोग कभी नहीं होता। स्वर बल को शुद्ध कर इसके अनुसार कर्म करने पर सर्वत्र शुभ ही होता है। अशुभ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न कार्यों में समय, लग्न अथवा मुहूर्त की अनुकूलता न होते हुए भी स्वरयोग के माध्यम से सभी कार्य सकुशल सम्पादित किये जा सकते हैं। आगे स्वरोदय शास्त्र कहता है 'भवेत् ज्ञान त्रिकालजम्' इसको सिद्ध कर लेने पर मनुष्य त्रिकालदर्शी भी बन जाता है। यह स्वर ज्ञान अति सूक्ष्म एवं रहस्यमय विषय है। निर्बाध और सुखमय जीवनयापन करने के लिए यह सर्वोपयोगी साधना है और सत्यान्वेषी के लिये यह रहस्य की कुंजी है।

स्वरयोग का रहस्य

सृष्टि-रहस्य अद्भुत है। इस अनन्त ब्रह्माण्ड में प्रकृति ने आश्चर्यजनक रहस्यों को छिपा रखा है। इसके रहस्यों की खोज की जिज्ञासा मनुष्य में स्वाभाविक ही उठती है। आधुनिक आविष्कारों के पीछे मनुष्य की वह जिज्ञासा कारण है। सृष्टि का सबसे बड़ा रहस्यमय जीव है मानव स्वयं। इसके अन्दर ऐसी रहस्यमयी शक्तियाँ छिपी हुई है जिनके बारे में आज तक स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहा जा सका है। हाँ अवश्य ही इन रहस्यों के बारे में अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले योगी-महर्षियों ने पता लगाने का प्रयास किया, शास्त्रों में इसका प्रमाण है। शास्त्रों से पता चलता है कि उन्हें अपनी खोज में काफी सफलता भी मिली पर उनका ज्ञान अनुभवजन्य होने के कारण सर्वसुलभ नहीं हो पाया और रहस्य का रहस्य ही बना रहा। उनकी विद्या अनुभवी ज्ञानियों के लिए भी रहस्यमय बन गई।

स्वरयोग की महिमा

स्वरयोग मात्र एक श्वसन प्रणाली पर अधिकार प्राप्त कर त्रिकालज्ञ बनने का साधन ही नहीं बल्कि यह एक विशुद्ध वैज्ञानिक तत्त्वज्ञान भी है। यह बतलाता है कि निखिल विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त भौतिक शक्तियों से मनुष्य शरीर किस प्रकार प्रभावित होता है। सूर्य, चन्द्र तथा अन्यान्य ग्रह नक्षत्रों की चैतन्य रश्मियों द्वारा शरीर के परमाणुओं में किस प्रकार की चेतना उत्पन्न होती है। शरीर की जब जैसी स्थिति हो तब उससे वैसा ही काम लेना चाहिये—यही स्वरयोग का गूढ़ रहस्य है।

नाड़ी विज्ञान

'स्वरयोग की साधना करने वाले साधक के लिए नाड़ियों का ज्ञान एक महत्त्वपूर्ण विषय है। नाड़ी का अर्थ यहाँ स्नायु आदि से नहीं अपितु उन प्रवाहधाराओं से है जिन्हें प्राण का आवागमन-पथ कहते हैं। इस प्रकार मानव-शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, किन्तु इसमें दस प्रमुख हैं और इन दसों में से तीन महत्त्वपूर्ण नाड़ियाँ हैं। इन

तीनों को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहते हैं।

बायीं नासिका से प्रवाहित होने वाली वायु को इड़ा नाड़ी या बायाँ स्वर और दाहिनी नासिका से प्रवाहित होने वाली को पिंगला नाड़ी या दाहिना स्वर कहते हैं। जिस प्रकार दिन और रात के मध्य में एक संधिकाल होता है उसी प्रकार इन दोनों के बीच में भी एक संधि समय आता है और उस समय दोनों नासिका से स्वर चलता है। इसे सुषुम्ना स्वर कहते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त अन्य सात नाड़ियाँ हैं जिनको गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू और शंखिनी कहते हैं। इन सातों का स्थान है—हस्तिजिह्वा-दाहिनी आँख में। गांधारी—बायीं आँख में। पूषा—दाहिने कान में। यशस्विनी—बायें कान में। अलम्बुषा—मुख में। कुहू—लिंग देश में और शंखिनी गुदा में। इन नाड़ियों का आश्रय वायु है अतः साधक के लिए वायु विषयक जानकारी भी आवश्यक हो जाती है। जिस प्रकार शरीर में दस नाड़ियों को मुख्य माना गया है, उसी प्रकार शरीर में दस प्राण भी मुख्य माने गये हैं। जिनमें से भिन्न-भिन्न स्थान पर रहने वाले पाँच वायु मुख्य माने गये हैं। उनका नाम है प्राण, अपान, उदान, समान व व्यान। शरीर में इनकी स्थिति इस प्रकार—प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि देश में, उदान कंठभाग में; और व्यान को सर्व शरीर-व्यापी माना गया है। इनके अतिरिक्त पाँच नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय पांच उपवायु हैं। इनके द्वारा शरीर के विभिन्न कर्म जैसे—उद्गार, उन्मीलन, विजृम्भण, क्षुधा आदि कार्य सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार भलीभाँति दसों वायु एवं दश प्राण-वाहिनियों का ज्ञान हो जाने पर ही स्वरयोग साधना आरंभ करनी चाहिये।

पंचतत्त्व विवेचन

स्वरयोग साधक के लिए जिस प्रकार स्वरों का ज्ञान आवश्यक होता है उसी प्रकार पंचतस्व का ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य का शरीर इन पंचतत्त्वों के ही सम्मिश्रण से बना है। इन्हीं को पंचमहाभूत की भी संज्ञा दी गई है। इनको सिद्ध कर लेने के पश्चात् मनुष्य को भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार वह अनेकानेक सिद्धियों को प्राप्त करता है।

तत्त्व साधन

तत्त्व क्या है? तत्त्व का अर्थ होता है सार भाग या मूलवस्तु। आध्यात्मिक विज्ञान में तत्त्व का उपयोग वहाँ होता है जहाँ आत्मा और ईश्वर के समन्वय की चर्चा होती है। भौतिक शास्त्री प्रकृति के मूल-भूत कारणों को तत्त्व कहते हैं। ऐसे ही स्वरयोग में शरीरगत पंच तत्त्वों पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाले योगी को भी तत्त्वज्ञानी कहते हैं। ये तत्त्व पाँच हैं—

'पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च'

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। षट् चक्र भेदन की भाँति स्वरयोग में इनकी भी उपासना की जाती है।

ब्राह्म मुहूर्त में किसी पवित्र स्थान पर शान्तचित्त होकर सिद्धासन या पद्मासन में बैठ जाइये। दोनों हाथों को घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में रखिये। अब नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुये मूलाधार चक्र पर 'लं' बीज वाले चौकोर, पीले रंग के पृथ्वी तत्त्व का ध्यान कीजिये कुछ दिन इस प्रकार करने पर आपको नासाग्र पर अत्यन्त सुगंध का अनुभव होगा और शरीर देदीप्यमान दिखने लगेगा। इसी तरह निरंतर करते रहने पर यह तत्त्व सिद्ध हो जायगा और आप जिस किसी समय इस तत्त्व को चालित करना चाहें चालित कर सकेंगे। इसके द्वारा प्रत्येक शुभाशुभ का विवेचन किया जा सकता है।

उपरोक्त विधि से अन्य चारों तत्त्वों का ध्यान करें।

'वं' बीज वाले, अर्ध चन्द्राकार श्वेत वर्ण वाले स्वाधिष्ठान चक्र पर जल तत्त्व का ध्यान करें इससे भूख-प्यास पर विजय एवं सहनशक्ति प्राप्त होती है।

'रं' बीज वाले त्रिकोणाकार अग्नि के रंग वाले मणिपूर चक्र में अग्नितत्त्व का ध्यान करें। इससे धूप व अग्नि आदि सहने की शक्ति आती है।

'यं' बीज वाले गोलाकार हरित रंग के अनाहत (हृदय) चक्र में वायुतत्त्व का ध्यान करें इससे आकाश गमन की सिद्धि मिलती है।

'हं' बीज एवं बैंगनी रंग वाले विशुद्धि चक्र में आकाश तस्व का ध्यान करने से त्रिकाल ज्ञान, ऐश्वर्य और अणिमादि अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसी रीति से प्रतिदिन इन तत्वों का ध्यान करते रहने से कालान्तर में ये तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। तब इन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है। यहाँ हम संक्षेप में कुछ विधियाँ लिख रहे हैं जिनसे आपको तत्त्व पहचानने में सहायता मिलेगी।

गति द्वारा

तत्त्वों के उदय के साथ प्रवाहित स्वर की गति भी बदलती है। यदि नासिका के बीच में स्वर चल रही हो तो पृथ्वी तत्त्व, नीचे की ओर चल रही हो तो जल तत्त्व, ऊपर की ओर चल रही हो तो अग्नि तत्त्व, तिरछी चल रही हो तो वायु तत्त्व, और घूमती हुई चल रही हो तो आकाश तत्त्व समझना चाहिये।

लम्बाई द्वारा

थोड़ी-सी धुनी हुयी रुई लेकर हथेली पर रखिये और स्थिर आसन में बैठकर (श्वास जैसी चल रही हो चलने दें) धीरे-धीरे नथुने की ओर रुई वाले हाथ को बढ़ाइये जितनी दूरी पर श्वास के द्वारा रुई में थोड़ी भी हलचल हुई हाथ को रोक लीजिये और किसी चीज के सहारे उसकी दूरी को अंगुलियों के सहारे नाप लीजियें। १२ अंगुल चल रही हो तो पृथ्वी तत्त्व, १६ अंगुल हो तो जल तत्त्व, १४ अंगुल हो तो अग्नि तत्त्व, १८ अंगुल हो तो वायुतत्त्व और २० अंगुल हो तो आकाश तत्व का उदय जानिये।

स्वाद द्वारा

बिना कुछ खाये भी यदि आप ध्यान दें तो विशेष स्वाद की अनुभूति होगी। आप ध्यान से उसका परीक्षण कीजिये। मुख का स्वाद मीठा हो तो पृथ्वी तत्त्व, कसैला हो तो जल तत्त्व, कड़ुआ हो तो अग्नि तत्त्व, खट्टा हो तो वायुतत्त्व और तीखा हो तो आकाश तत्त्व समझना चाहिये।

समय द्वारा

स्वाभाविक रूप से स्वर एक घंटा चलता है जिसमें २० मिनट पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व-१६, अग्नि तत्त्व-१२, वायुतत्त्व-८ और आकाश तत्त्व-४ मिनट चलता है।

आकृति द्वारा

एक स्वच्छ दर्पण लीजिये और उस पर जोर से नाक द्वारा श्वास छोड़िये। इससे श्वास की भाप से दर्पण के ऊपर एक आकृति बन जायगी जिसको देखकर आप स्वर पहचान सकते हैं। आकृति चौकोर हो तो पृथ्वी तत्व, अर्धचंद्राकार हो तो जलतत्त्व, त्रिकोण बने तो अग्नि तत्त्व, अण्डाकार बने तो वायु तत्त्व और छोटी-छोटी बिन्दियों के रूप में हो तो आकाश तत्त्व समझना चाहिये।

षण्मुखी मुद्रा द्वारा

किसी ध्यान के आसन में बैठकर दोनों कानों को अंगुठों से, दोनों आंखों को तर्जनियों से, नासिकाओं को मध्यमाओं से, ऊपर के होंठ को दोनों अनामिका, एवं निचले होठ को दोनों कनिष्ठिका से बंदकर और ध्यान से आप अपने अंदर के दृश्य को देखिये। ऐसी स्थिति में कुछ आकृतियाँ आपके सामने दिखेंगी। आप उसके रंग एवं आकार को देखकर भी तत्वों को जान सकते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का क्रमशः पीला-चतुष्कोण, श्वेत-अर्धचन्द्राकार, लाल-त्रिकोण, धूम्र-षट्कोण, चित्र-विचित्र-बिन्दु के रंग और आकार होते हैं।

इसके अतिरिक्त एक और प्रक्रिया है जिससे सहज ही तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। पाँचों तत्त्वों के रंग की किसी भी वस्तु की पाँच गोलियाँ बना लें और उन्हें जेब में रख लें। जब तत्त्व-परीक्षा करनी हो जेब में हाथ डालकर एक गोली निकाल लें फिर रंग देखकर तत्त्व का ज्ञान कर लें तत्त्वों का ज्ञान हो जाने पर किसी भी शुभ-अशुभ लाभ-हानि, कर्तव्याकर्तव्य-विषयक प्रश्नों का समाधान किया जा सकता है।

स्वर-साधन

तत्त्वों की पहचान हो जाने पर स्वर साधन करने में सरलता होती है। स्वर साधन में सबसे पहिले स्वरों की प्राकृतिक स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार समुद्र की लहर पर चन्द्र-सूर्य का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार स्वरों से भी चन्द्र-सूर्य का संबंध होता है। अतः प्रत्येक पक्ष में श्वास की गति भिन्न-भिन्न होती है और प्रायः एक नासिका से १ घंटा चलकर श्वास बदल जाती है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को प्रातः इड़ा नाड़ी अर्थात् बायाँ (चन्द्र) स्वर चलना चाहिये। उसी प्रकार

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को प्रातः पिंगला नाड़ी अर्थात् दाहिना (सूर्य) स्वर चलना चाहिये। इसी तरह नियमपूर्वक श्वास चल रही है तो यह शरीरिक एवं मानसिक स्थिति के संतुलित होने का प्रमाण है।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि लगातार पन्द्रह दिन तक एक ही स्वर चलेगा। जिस प्रकार प्रतिपक्ष चंद्र की कलाओं में परिवर्तन होता है उसी प्रकार स्वर भी परिवर्तित होते हैं। प्रतिपदा को नाड़ी का आरंभ होकर प्रतिदिन सूर्योदयोपरांत स्वर बदलता है। जैसे शुक्लपक्ष का—१-२-३, ७-८-९, १३-१४ और पूर्णिमा को सूर्योदय के समय इड़ा नाड़ी (बायाँ स्वर) रहेगी और अन्य ४-५-६, १०-११-१२, को पिंगला नाड़ी (दाहिना स्वर) रहेगी। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में पिंगला से शुरू होकर प्रति तीन दिन बाद स्वर बदलता है। यह नैसर्गिक नियम है।

स्वर साधन करने वाले साधक को स्वर पर पूर्णतः अधिकार प्राप्त करने तक यह साधना करनी चाहिये और यही स्वरयोग की सिद्धि है। इस अवस्था में साधक चलते-फिरते स्वरों में परिवर्तन कर सकता है। फिर भी उसे ऊपर बताये गये नियमों का ज्ञान होना परमावश्यक है। क्योंकि प्रकृति एक रहस्यमयी शक्ति है उसके नियमों का पालन कर अगर मनुष्य उससे कुछ चाहे तो वह सर्वस्व दे सकती है। पर उसके साथ खिलवाड़ करना उसके नियमों और सिद्धान्तों का उल्लंघन करना मनुष्य के लिए अभिशाप हो सकता है।

१. आप अगर प्राणायाम के अभ्यासी हैं तो आपको रेचक और पूरक आता होगा। जब आपको स्वर परिवर्तन करना हो उस समय पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठ जाइये और शरीर को स्थिर कर लीजिये नाड़ीशोधन प्राणायाम की रीति से श्वास चल रही हो उसी से धीरे-धीरे पूरक कीजिये और दूसरी नासिका से उसे छोड़िये। इस प्रकार कई बार लगातार करने पर स्वर परिवर्तित हो जावेगा।

२. जिस नासिका से श्वास चल रही हो उसी करवट पर लेट जावें तो स्वर बदल जावेगा, इस अवस्था में तकिये का सहारा लिया जा सकता है। तकिये को छाती के नीचे रख लीजिये, इससे एक फेफड़े पर दबाव पड़ने पर दूसरा फेफड़ा कार्य करने लगता है।

३. आप लोगों ने देखा होगा भगवान शंकर के चित्र में एक विशेष दण्ड को दिखाया जाता है। योगियों के पास भी यह दण्ड देखने को मिलेगा—इसे योगदण्ड कहते हैं। यह स्वर-योग का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जिस नासिका में श्वास चल रही हो उस ओर की आँख (बगल) में इस दण्ड को दबाकर उसी ओर का थोड़ा-सा सहारा लेने से कुछ ही मिनट बाद स्वर परिवर्तित हो जाता है।

४. चलित स्वर में स्वच्छ रुई का फोहा रखने से भी स्वर बदल जाता है।

५. ध्यान द्वारा स्वर परिवर्तन करने के लिए चित्त की एकाग्रता एवं दृढ़ इच्छाशक्ति की जरूरत है। किसी भी ध्यान के आसन में बैठकर जिस स्वर को चलाना हो उस पर ध्यान एकाग्र कीजिये। कुछ समय पश्चात् निश्चित ही स्वर बदल जावेगा।

६. जब दीर्घ काल तक एक ही स्वर को चलाना हो एवं दूसरे स्वर को बंद करने की आवश्यकता हो तब यह प्रयोग किया जा सकता है। एक नथुने में ठीक आ सकने योग्य साफ रुई की एक गोली बनावें और जरा से स्वच्छ कपड़े में उसको रख कर सी दें जिससे उसके रेशे इधर-उधर न निकले रहें। जिस नथुने में श्वास चल रही हो उसमें इसको रख दें, थोड़ी देर में स्वर-परिवर्तित हो जायेगा तब इसको निकाल कर फेंक देना चाहिये, क्योंकि इसमें गंदगी हो जाती है, इसलिए दूसरी बार के लिए ठीक नहीं। ध्यान रहे मस्तिष्क के रोगी यह प्रयोग न करें।

७. इस विधि में किसी भी ध्यानासन में बैठकर चलित स्वर वाले नासिका छिद्र को अंगुली से बन्द कर नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करें। इससे पांच मिनट में स्वर परिवर्तन होता है और इसी विधि के साथ बायें हाथ से दाहिनी बगल और दाहिने हाथ से बायीं बगल पर जोर देकर दबाने से सुषुम्ना स्वर चलता है अर्थात् दोनों स्वर खुल जाते हैं जो ध्यानाभ्यास के लिए उपयोगी होता है।

८. स्वर परिवर्तन के समय घी खाने से बायाँ और शहद खाने से दाहिना स्वर का चलना कहा गया है।

९. खेचरीमुद्रा और नौलिक्रिया से भी स्वर-परिवर्तन होता है।

१०. सीधे बैठ जाइये। फिर बायें घुटने को मोड़कर खड़ा कर बायीं छाती से लगा दीजिये। अब बायीं बगल (काँख) को बायें घुटने पर रख कर बायें तरफ सिर झुकाकर बैठ जाइये। कुछ ही मिनटों में आपका दायाँ स्वर चलने लगेगा और ठीक यही क्रिया दाहिने अंग से करने पर दायाँ स्वर चलने लगेगा।

११. केवल तीन दिन तक गोमूत्र में फुलाकर शुद्ध किये कुचला चूर्ण को तीन से छः रत्ती की मात्रा में चीनी मिलाकर फाँककर ऊपर से घृत मिश्रित गाय का दूध पीने से बायें स्वर को दाहिने स्वर में बदला जा सकता है। कुचले के प्रभाव रहते तक दक्षिण स्वर ही चलता रहेगा। [ध्यान रहे कि कुचला विष है, अतः पूर्णतया शुद्ध किये बिना इसका प्रयोग कभी न करें।]

स्वर परिवर्तन के उपरोक्त ग्यारह प्रयोग आपके सामने हैं। इनमें से अनुकूलता के आधार पर साधक अपने लिए एक चुन कर उसका अभ्यास कर सकते हैं—किन्तु अभ्यासी को सर्वप्रथम किसी स्वरयोग विशेषज्ञ से सलाह लेकर ही इसकी साधना करनी चाहिये। क्योंकि अनुभवजन्य-ज्ञान, अध्ययनजन्य-ज्ञान और कल्पनाजन्य-ज्ञान में बहुत अन्तर होता है। जो अनुभवी है वह उचित प्रयोग बतला सकता है। इसी अनुभवी शिक्षक का नाम है गुरु। किसी भी साधना में गुरु का अपना वैशिष्ट्य है। वह आपको मार्ग की बाधाओं से बचने का उपाय बतला सकता है। फिर गुरु-कृपा हो जाय तो साधक निर्बाध गति से सफलता को प्राप्त होता है।

स्वर साधन के अनुभूत प्रयोग

यात्रा का शुभारंभ स्वर परीक्षा के उपरांत ही करना श्रेयस्कर है। यद्यपि स्वरशास्त्र में उसका विस्तृत वर्णन किया गया है तथापि हम यहाँ संक्षेप में लिख रहे

हैं। जिस नासिका से स्वर प्रवाहित हो रही हो उस पैर को पहिले बढ़ाकर यात्रा आरंभ करें। इससे शुभ फल होता है। पर पाठकों को इतना और ध्यान में रखना होगा कि बायें स्वर के समय पूर्व और उत्तर दिशा की तथा दाहिने स्वर के समय पश्चिम और दक्षिण दिशा की यात्रा न करें। इससे अनिष्ट की आशंका हो सकती है, ऐसा शास्त्रों में निर्देश है। स्थिर कर्म में सूर्यस्वर से यात्रा का शुभारंभ करें।

प्रस्थानकाल में चलित स्वर के शरीर भाग को हाथ से स्पर्श कर चलित स्वर वाले कदम को आगे बढ़ा कर यदि चन्द्र स्वर चल रहा हो तो चार बार और सूर्य स्वर हो तो पाँच बार उसी पैर को जमीन पर पटक कर प्रस्थान करना चाहिये। किन्तु यदि क्रोधी या किसी ऐसे व्यक्ति के पास आप जा रहे हों जिसका स्वभाव उग्र है तब जो स्वर बंद है अर्थात् जो नहीं चल रहा है उस पैर को आगे बढ़ा कर यात्रारंभ करना चाहिये। एवं उसके पास जाकर इस प्रकार बैठना चाहिये कि वह व्यक्ति आपके अचलित स्वर भाग में हो। इस प्रकार उसकी उग्रता नम्रता में परिवर्तित हो जायेगी और आपका कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो जायेगा। गुरु, मित्र, अफसर और राज दरबार में जब वाम स्वर चालित हो उस समय वार्तालाप का आरंभ करना ठीक होगा।

१. सुबह बिस्तर पर आँख खुलते ही जिस ओर का स्वर चल रहा हो उसी ओर का पैर प्रथम जमीन पर रखने से सब मनोरथ पूर्ण होते हैं। इससे भाग्योदय होता है।

२. परिश्रम से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिए या धूप की गर्मी से शांति पाने के लिए थोड़ी देर तक दाहिने करवट पर लेटने से फायदा होता है और थकावट या गर्मी दूर हो जाती है।

३. रोज आधा घंटा पद्मासन में बैठकर दाँतों की जड़ में जींभ का अग्रभाग जमाये रखने से कोई भी रोग नहीं होता और स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

४. रोज आधा घंटा सिद्धासन में बैठकर नाभि पर दृष्टि जमाने से दृष्टि शक्तिशाली होती है, एकाग्रता बढ़ती है और स्मरण शक्ति तीव्र होती है। इस अभ्यास को लगातार छः माह तक करने से भयंकर स्वप्नदोष भी नष्ट हो जाता है।

५. जो दिन में बायीं नासिका से और रात में दाहिनी नासिका से श्वास लेता है उसके शरीर में कोई पीड़ा नहीं होती, मन सदैव प्रसन्न रहता है तथा दीर्घजीवी होता है। योगियों ने स्वर चालन की इस प्रक्रिया को सर्वोत्तम बताया है। साधना प्रकरण में बताये गये नियमों के आधार पर इसकी साधना की जा सकती है।

६. प्रतिदिन एकाग्र चित्त होकर श्वेत (सफेद) कृष्ण (काला) और रक्त (लाल) रंगों का ध्यान करने से शरीर के सभी विकार नष्ट होते हैं। इसमें आप अपनी इष्ट देवता के रंग का भी ध्यान कर सकते हैं।

७. सुख, स्वास्थ्य और जवानी को बनाये रखने के लिए इच्छानुसार स्वर परिवर्तन करने का अभ्यास नितांत आवश्यक है। दिन में जब भी समय मिले चलित स्वर को बदल देना चाहिये। इस प्रकार दिन में कई बार स्वर को बदलते रहने से चिर-

यौवन प्राप्त होता है। विपरीत करणी मुद्रा के साथ यह अभ्यास बहुत ही लाभदायक होता है।

८. प्राण वायु की बाहर की गति को असली परिमाण में रखने से आयु बढ़ती है। लेकिन बंधे हुये नियम से श्वास का दूर जाना हानिकारक होता है। अतः बारह अंगुल से जितना हो सके श्वास को घटाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार करने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है।

९. बज्रोली मुद्रा सिद्ध कर अथवा अश्विनीमुद्रा, मूलबंध और उड्डियान बंध साध कर वीर्य तथा प्राण को उर्ध्वगामी करना चाहिये। प्राण एवं वीर्य की सतत् रक्षा करने से चिर-यौवन एवं अमरत्व की प्राप्ति होती है। इस अभ्यास के लिए गुरु का निर्देशन आवश्यक होता है।

रोगों में स्वर प्रयोग

१. बुखार—जब शरीर में बुखार आने की संभावना का संकेत मिले तो आप जो स्वर चल रहा हो उसे जब तक शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ प्रतीत न हो तब तक बन्द कर दीजिये। रुई की गोली से आप जिस स्वर को जब तक चाहें चला सकते हैं व ऐसा करने से बुखार में जल्दी आराम होता है।

२. सिरदर्द मालूम होते ही पेट के बल औंधे लेटकर दोनों हाथों और पैर को नीचे की ओर लम्बा फैला दें फिर किसी से दोनों हाथों की कुहुनियों को रस्सी से बंधवा लें। ऐसा करने से ५-७ मिनट में तमाम दर्द छूट जायेगा। दर्द मिटने पर रस्सी खोल दें। सिरदर्द में नासिका द्वारा जल खींचने पर भी फायदा होता है।

३. बदहजमी—जिन्हें बदहजमी रहती हो उन्हें चाहिये कि वे सदा दाहिने स्वर की उपस्थिति में ही भोजन करें। इस प्रकार करने से अजीर्ण दूर होकर पाचन क्रिया तीव्र होती है। भोजन के पश्चात् १०० कदम चलकर पेशाब करें और आकर १५-२० मिनट बायीं करवट लेटे रहने से भी विशेष लाभ होता है। पद्मासन में बैठकर नाभि पर ध्यान करने से भी अपचन दूर होता है।

४. दाँत दर्द—जिनके दांत हिलते रहते हों या दुखते रहते हों उन्हें चाहिये कि वे शौच तथा पेशाब के समय अपने दाँतों को जोर से दबाये रखें। इससे दाँतों की शिकायत दूर होती है।

५. अन्य दर्द—छाती, पीठ, कमर, पेट आदि किसी भी अंग में एकाएक दर्द उठने पर जो स्वर चलता हो उसे सहसा पूर्ण बन्द कर देने से कैसा भी दर्द होगा पूर्ण शान्त हो जायेगा।

६. दमा—जब दमें का दौरा शुरू होने लगे और श्वास फूलने लगे तब जो स्वर चल रहा हो उसे एकदम बन्द कर दें। इससे १०-१५ मिनट में ही आराम होता हुआ नजर आयेगा। इस रोग का जड़ से नाश करने के लिए लगातार एक मास तक चलित स्वर को बन्द करके दूसरा चलाने का अभ्यास जितना ज्यादा हो सके करना चाहिए। ऐसा करने से दमा नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जितना भी स्वर परिवर्तन का अभ्यास किया जायेगा उतना ही लाभ होगा।

परमहंस स्वामी अनन्तभारती जी की कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएं

1.	भारतीय न्यायशास्त्र : एक अध्ययन	300.00
2.	पातंजल योगशास्त्र : एक अध्ययन	300.00
3.	राजयोग साधना और सिद्धान्त पेपरबैक 40.00,	100.00
4.	पातंजलयोग पर बौद्धधर्म का प्रभाव	25.00
5.	तत्त्वत्रय (मू॰ ले॰ लोकाचार्य) हिन्दी इंग्लिश व्याख्या	40.00
6.	दर्पदलन (मू॰ ले॰ क्षेमेन्द्र) हिन्दी अध्ययन एवं व्याख्या	80.00
7.	वृत्ति समुच्चय गुच्छक 1 भाग 1-2	300.00
8.	अभिधावृत्त मातृका विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या	40.00
9.	शब्दव्यापार विचार विस्तृत हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या	25.00
10.	वृत्तिवार्त्तिक	25.00
11.	कोविदानन्द ,, ,,	50.00
12.	त्रिवेणिका ,, ,,	50.00
13.	वाक्यार्थ मातृकावृत्ति ,, ,,	80.00
14.	सुबोधालंकार संस्कृत हिन्दी अनुवाद सहित	60.00
15.	स्वभाषालंकार संस्कृत हिन्दी अनुवाद	60.00
16.	कठ उपनिषद् उपनिबत्प्रभाकर भाष्य	20.00
17.	रसकौस्तुभ विस्तृत हिन्दी भूमिक, एवं व्याख्या सहित	40.00
18.	योगसूत्रवृत्ति	20.00
19.	दत्तात्रेय योगशास्त्र हिन्दी भूमिका एवं व्याख्या पेपरबैक 25.00	25.00
20.	योग रत्नाकर	100.00
21.	एकावली (मू॰ ले॰ विद्याधार) हिन्दी व्याख्या	200.00
22.	अलंकार कोश	400.00
23.	योग चूडामणि हिन्दी व्याख्या सहित	45.00
24.	योग और मानसिक स्वास्थ्य	50.00
25.	योग और स्वास्थ्य	100.00
26.	कुण्डलिनी साधना	40.00
27.	प्राणायामसाधना	60.00
28.	शाण्डिल्य योग हिन्दी व्याख्या सहित	50.00
29.	योग कुण्डलिनी हिन्दी व्याख्या सहित	40.00
30.	योगसूत्र-योगप्रभाकर भाष्यसंहिता	300.00
31.	Divine path By Holy saints	100.00
32.	Amanaska Yoge with English & Hindi Commentary	75.00
33.	Dattatrey Yoge Shastra English Edition Paper Back 25.00	25.00
34.	Yoge Beja with English Hindi Commentary P.B. 25.00	80.00
35.	Rajayoga and 1st Practice	80.00

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान

बी-२/१३६-१४० सेक्टर ६, रोहिणी, दिल्ली-८५, दूरभाष : ७०४८३०४

गायत्री साधना से
कुण्डलिनी जागरण

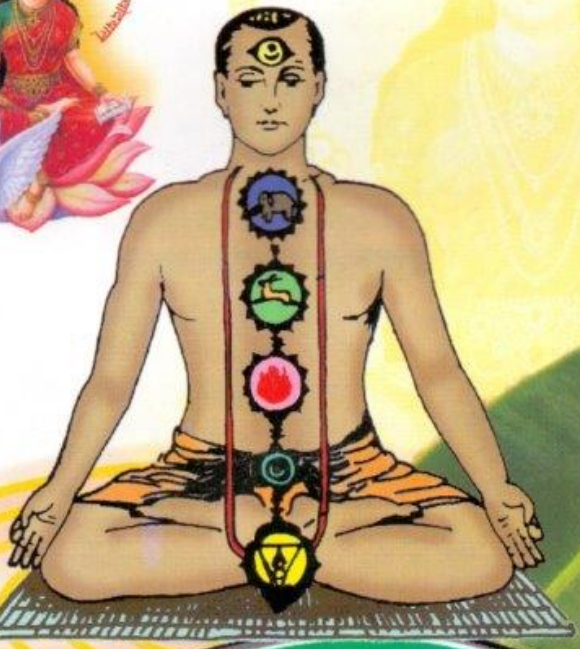

श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री उपासना से कुण्डलिनी जागरण

पुराणों में ब्रह्मा जी के दो पत्नी होने का उल्लेख है। (१) गायत्री (२) सावित्री। वस्तुतः इस अलंकारिक चित्रण के पीछे परमात्मा की दो प्रमुख शक्तियों के होने का भाव दर्शाया गया है, पहली भाव चेतना या परा प्रकृति दूसरी पदार्थ चेतना या अपरा प्रकृति। सृष्टि में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि की जो भी क्रियाशीलता दिखाई देती है, वह सब परा प्रकृति अथवा गायत्री विद्या के अन्तर्गत आती है। गायत्री उपासना से भावनाओं का विकास इस सीमा तक होता है जिससे मनुष्य ब्रह्माण्डीय चेतना–परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ कर समाधि, स्वर्ग, मुक्ति का आनन्द लाभ प्राप्त करता है।

जगत की दूसरी सत्ता जड़ प्रकृति है। परमाणुओं का अपनी धुरी पर परिभ्रमण और विभिन्न संयोगों के द्वारा अनेक पदार्थों तथा जड़ जगत की रचना इसी के अन्तर्गत आती है। बाह्य जीवन प्रकृति परमाणुओं से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होने के कारण भौतिक जीवन में उसे अधिक महत्व दिया गया है। विज्ञान की समस्त धाराएँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। आज की भौतिक प्रगति को सावित्री साधना का एक अंग कहा जा सकता है, पर उसका मूल अभी तक भौतिक विज्ञान की पकड़ में नहीं आया। इसी कारण अच्छे से अच्छे यंत्र बना लेने पर भी मानवीय प्रतिभा अपूर्ण लगती है। उसकी पूर्णता सावित्री उपासना से होती है।

योग विज्ञान के अन्तर्गत कुण्डलिनी साधना की चर्चा प्रायः होती है। कुण्डलिनी साधना वस्तुतः चेतन प्रकृति द्वारा जड़ पदार्थों के नियन्त्रण की ही विद्या है। भौतिक विज्ञान तो उपकरण और यंत्र साध्य होते हैं, पर परा और अपरा प्रकृति के संयोग से प्राप्त विज्ञान में ऐसी कोई जटिल प्रणाली आवश्यक नहीं होती। परमात्मा का बनाया हुआ सर्व समर्थ शरीर ही उन आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है। रेडियो ट्रांसमिशन में तो केवल संदेश–संप्रेषण की एकांगी व्यवस्था रहती है, पर शरीर एक

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

ऐसा समर्थ यंत्र है, यदि उसके पूरी तरह संचालन की जानकारी हो जाये तो मनुष्य ब्रह्माण्ड के किसी भी कोने की किसी भी शक्ति सत्ता से सम्पर्क स्थापित कर सकता है, हलचल और परिवर्तन प्रस्तुत कर सकता है । इन साधनों के अन्तर्गत जिस परमाणु शक्ति का नियंत्रण, प्रयोग प्रक्षेपण होता है । उसे 'प्राण' कहते हैं । प्राण वस्तुतः एक ऐसा आग्नेय स्फुल्लिंग है जिसे जड़ भी कह सकते हैं, चेतन भी । इस अर्द्धचेतन परमाणु को देखने जानने, विकसित करने, विस्फोट करने नियंत्रित करने, आदि की विद्या का साधना का नाम कुण्डलिनी साधना है ।

अतीत कालीन भारत को देखें तो पता चलता है कि हमारी प्रगति आत्मिक ही नहीं रही भौतिक दृष्टि से भी यह देश की समृद्धि और सफलता के उच्च शिखर तक पहुँचा है । इस जगत को माया, मिथ्या, भ्रम, जंजाल कहा गया, यह मध्य युग की देन है । दोनों अपेक्षाओं में संगति संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता कुण्डलिनी साधना द्वारा पूर्ण होती रही है । गायत्री उपासना द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास और कुण्डलिनी साधना द्वारा भौतिक सिद्धियों सामर्थ्यों की उपलब्धि से यहाँ का जीवन क्रम परिपूर्ण बना रहा । लोक और परलोक दोनों में प्रत्यक्ष स्वर्ग की आनन्दानुभूति होती रही । इसीलिए गायत्री और सावित्री दोनों ही उपासनाओं को समान महत्व दिया गया । कुण्डलिनी साधना में इन दोनों का समन्वय है । इस विज्ञान का सहयोग लिए बिना आज का विज्ञान भी मानवता का कल्याण नहीं कर सकता ।

गायत्री और सावित्री दोनों परस्पर पूरक हैं । इनके मध्य कोई प्रतिद्वन्दिता नहीं । गंगा–यमुना की तरह ब्रह्म हिमालय की इन्हें दो निर्झरिणी कह सकते हैं । सच तो यह है कि दोनों अविच्छिन्न रूप से एक–दूसरे के साथ गुँथी हुई हैं । इन्हें एक प्राण दो शरीर कहना चाहिए । ब्रह्मज्ञानी को भी रक्त–मांस का शरीर और उसके निर्वाह का साधन चाहिए, पदार्थों का सूत्र संचालन चेतना के बिना सम्भव नहीं । इस प्रकार यह सृष्टि क्रम दोनों के संयुक्त प्रयास से चल रहा है । जड़–चेतन का संयोग बिखर जाय तो फिर दोनों में से एक का भी अस्तित्व शेष न रहेगा । दोनों अपने मूल कारण में विलीन हो जायेंगे । इसे सृष्टि के, प्रगति रथ के दो पहिए कहना चाहिए । एक के बिना दूसरा निरर्थक है । अपंग तत्वज्ञानी और मूढ़ मति नर–पशु दोनों ही अधूरे

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

हैं । शरीर में दो भुजाऐं, दो पैर, दो आँखें, दो फेंफड़े, दो गुर्दे आदि हैं । ब्रह्म शरीर भी दो शक्ति धाराओं के सहारे यह सृष्टि प्रपंच संजोये हुए है, इन्हें उसकी दो पत्नियाँ, दो धाराऐं आदि किसी भी शब्द प्रयोग के सहारे ठीक तरह वस्तुस्थिति को समझने का प्रयोजन पूरा किया जा सकता है । पत्नी शब्द अलंकार मात्र है । चेतन सत्ता का कुटुम्ब परिवार मनुष्यों जैसा कहाँ है ? अग्नि तत्व की दो विशेषताऐं हैं–गर्मी और रोशनी । कोई चाहे तो इन्हें अग्नि की दो पत्नियाँ कह सकते हैं । यह शब्द अरुचिकर लगे तो पुत्रियाँ कह सकते हैं । सरस्वती को कहीं ब्रह्मा की पुत्री कहीं पत्नी कहा गया है । इसे स्थूल मनुष्य व्यवहार जैसा नहीं समझना चाहिए । यह अलंकारिक वर्णन मात्र उपमा भर के लिए है । आत्मशक्ति को गायत्री और वस्तु–शक्ति को सावित्री कहते हैं । सावित्री साधना को कुण्डलिनी जागरण कहते हैं । उसमें शरीरगत प्राण ऊर्जा की प्रसुप्ति, विकृति के निवारण का प्रयास होता है । बिजली की ऋण और धन दो धाराऐं होती हैं । दोनों के मिलने से शक्ति प्रवाह बहता है । गायत्री और सवित्री के समन्वय से साधना की समग्र आवश्यकता पूरी होती है । गायत्री साधना का सन्तुलित लाभ उठाने के लिए सावित्री शक्ति को भी साथ लेकर चलना पड़ता है ।

समन्वयात्मक साधना का जितना महत्व है उतना एकांगी का, असंबद्ध का नहीं । प्रायः साधना क्षेत्र में इन दिनों यही भूल होती रही है । ज्ञान–मार्गी, राजयोगी, भक्तिपरक साधना तक सीमित रह जाते हैं और हठयोगी, कर्मकाण्डी, तप साधनाओं में निमग्न रहते हैं । उपयोगिता दोनों की है । महत्ता किसी की भी कम नहीं, (पर उनका एकांगीपन उचित नहीं) दोनों को जोड़ा और मिलाया जाना चाहिए । यह शिव–पार्वती विवाह का गणेश जैसा भावनात्मक वरदान और कार्तिकेय जैसे पदार्थात्मक अनुदानों की भूमिका प्रस्तुत कर सकता है ।

हम समन्वयात्मक साधना की उपयोगिता मानते रहे हैं और उसी का मार्गदर्शन करते रहते हैं । वैदिक योग साधना के साथ–साथ तान्त्रिक प्रयोगों को भी महत्व दिया है । गायत्री साधना को प्रमुखता देते हुए भी कुण्डलिनी जागरण की उपयोगिता को माना है । यही कारण है कि प्रथम पाठ पढ़ाने के बाद अब दूसरे पाठ की भी पृष्ठभूमि तैयार की जा रही है । इसे प्रकारान्तर न समझा जाय इसमें विरोधाभास न खोजा जाय । यह इकलौती सन्तान के बड़े होने पर उसका जोड़ा मिलाने,

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

विवाह करने का प्रयत्न मात्र है । यों गायत्री के देवता सविता को विष्णु या शिव मानते हैं और उनकी पत्नी अग्नि–लक्ष्मी काली को कुण्डलिनी का प्रतीक माना गया है । इस प्रकार सुगम युग्म एक प्रकार से नर–नारी का, शिव–पार्वती का विवाह ही हुआ । धनुष तोड़ने की प्रक्रिया पूरी करके इसे सिया–स्वयंवर, राम–जानकी का विवाह सम्पन्न करना कहा जा सकता है । पर यदि कोई कुण्डलिनी और गायत्री में भाषा की दृष्टि से एक ही लिंग देखता हो तो भी उसे कुछ अचम्भा नहीं करना चाहिए । अभी पिछले ही दिनों में दो नारियों ने परस्पर कानूनी विवाह किया है । कुछ दिन पूर्व दो पुरुष भी ऐसा ही समलिंगी विवाह कर चुके हैं ।

जीव और ब्रह्म दो पुल्लिंग होते हुए भी परस्पर विवाह करते हैं । साक्षी दृष्टा, ब्रह्म निष्क्रिय है, उसकी परा–अपरा प्रकृतियाँ दोनों परस्पर मिल–जुलकर ही अपने संयोग–संभोग से इस समस्त सृष्टि का सृजन कर संचालन कर रही हैं । यह कथन अलंकार भर हैं । वस्तुतः नर–नारी जैसा लिंग भेद सूक्ष्म जगत में कहीं है ही नहीं । गायत्री या कुण्डलिनी को स्त्री और ब्रह्म शिव को पुरुष मानना अपनी बात को चेतना का उदाहरण देकर समझाना भर है । तत्वतः इस उच्च शक्ति क्षेत्र में नर–नारी जैसा कोई भेद है ही नहीं । इस जगत में भी जिन ब्रह्मवादियों को तत्वज्ञान हो जाता है, वे नर–नारी के शरीर भेदों के अन्तर को भी सर्वथा भुला ही देते हैं । उन्हें सभी में एक लिंग, एक तत्व दिखाई पड़ता है । उनकी दृष्टि में न कोई नर है न नारी । अद्वैत ज्ञान में भेद बुद्धि समाप्त होते ही नर–नारी की भिन्नता भी समाप्त हो जाती है । कुण्डलिनी और गायत्री विद्याओं के सम्बन्ध में यदि विवाह, संयोग, समन्वय जैसी चर्चा अलंकारिक रूप से आ पड़े तो उसमें कुछ विस्मय न किया जाय, इसीलिए यह पंक्तियाँ लिखी गई हैं ।

तत्वदर्शियों ने गायत्री और कुण्डलिनी को परस्पर पूरक माना है । और एकात्म भाव में देखा है । इसके कुछ प्रकरण आगे देखिए–

कुण्डलिनी साधना के अन्तर्गत षटचक्र वेधन प्रक्रिया मुख्य है । यही इस साधना का प्रधान आधार है । गायत्री शक्ति भी वही प्रयोजन पूरा करती है । इस प्रकार मूलतः वे दोनों एक ही छड़ के दो सिरों की तरह अभिन्न ही हैं । षट्चक्र जागरण में कुण्डलिनी शक्ति को गायत्री का सहकार प्राप्त हो जाता है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

गायत्री–मन्त्र का 'भू–कार' भू–तत्व या पृथ्वी–तत्व है । साधना के मार्ग में वह मूलाधार चक्र है । फिर जगन्माता के निम्नस्तर ब्राह्मी या इच्छा शक्ति–महायोनि पीठ में सृष्टि–तत्व है । 'भुवः' भुवर्लोक या अन्तरिक्ष तत्व । साधना की दृष्टि से यह विशुद्धि चक्र है और महाशक्ति के मध्यस्तर में पीनोन्नत पयोधर में, वैष्णवी या क्रिया–शक्ति पालन व सृष्टि तत्व है । 'स्वःकार' सुरलोक या स्वर्ग–तत्व । साधना के पथ में सहस्रार निर्दिष्ट चक्र एवं आद्यशक्ति के ऊर्ध्व या उच्चस्तर में गौरी या ज्ञान–शक्ति, संहार या लय तत्व है । यही वेदमाता गायत्री का स्वरूप तथा स्थान रहस्य है ।"

यों ज्ञान चेतना समस्त शरीर में संव्याप्त है पर उसका केन्द्र मस्तिष्क माना गया है । यों क्रिया शक्ति संपूर्ण शरीर में फैली पड़ी है, पर उसका केन्द्र स्थल जननेन्द्रिय है । नपुंसक व्यक्ति प्रायः सभी उच्चगुणों के अभिवर्धन और साहस भरे पुरुषार्थों के सम्पादन में असमर्थ रहते हैं । किसी को नपुंसक क्लीव कहना उसकी अन्तःक्षमता को अपमानित करना है । शरीर के अन्य अंग दुर्बल हों तो उसके बिना प्रगति रुकेगी नहीं पर नपुंसक से कुछ महत्वपूर्ण कार्य बन पड़ना कठिन है । सरकारी नौकरियों में भर्ती करते समय डाक्टरी जाँच में यह भी परीक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति नपुंसक तो नहीं है । शारीरिक विशेषताओं का केन्द्र इसीलिए जननेन्द्रिय गह्वर के मर्मस्थल योनि केन्द्र को माना गया है ।

साधना के यही दो मर्मस्थल हैं । उन्हें ही कायपिण्ड के दो ध्रुव कहते हैं । यों विद्युत एक ही है पर उसे दो भागों में विभाजित किया गया है–एक धन (पोजेटिव) दूसरी ऋण (नेगेटिव) । मानवीय समान चेतना की धन विद्युत इस ज्ञान केन्द्र मस्तिष्क केन्द्र में केन्द्रित है–इस स्थल को अध्यात्म की भाषा में सहस्रार कहते हैं । दूसरी ऋण विद्युत–काय केन्द्र जननेन्द्रिय मूल में है–जिसे 'मूलाधार' कहते हैं । इन दो केन्द्रों में से ज्ञान केन्द्र को गायत्री का और काम केन्द्र को कुण्डलिनी का उद्गम केन्द्र कहा गया है । भौतिक क्षमताऐं–समृद्धियाँ, सिद्धियाँ कुण्डलिनी में प्रादुर्भूत होती हैं और आध्यात्मिक दिव्य विभूतियाँ, ऋद्धियाँ गायत्री के द्वारा विकसित होती हैं । दोनों का सम्मिश्रण साधक को समृद्धियों और विभूतियों से, ऋद्धियों और सिद्धियों से, ज्ञान और क्रिया से सुसम्पन्न बनाता है । इसलिए दोनों की सम्मिश्रित साधना का अवलम्बन करना ही समन्वयात्मक प्रवृत्ति के साधकों के लिए उपयुक्त है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

सहस्रार कमल को ब्रह्म केन्द्र के रूप में–गायत्री गह्वर के रूप में विष्णु के क्षीर सागर या शिव के कैलाश के रूप में चित्रित किया गया है । इसके प्रमाण इस प्रकार मिलते हैं–

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदात्मतभुतम् ।
कुण्डली विवरकाण्ड मण्डितं द्वादशार्ण सरसीरुहं भजे ।।

–पादुका पेचक्र

मस्तक के मध्य अधोमुख सहस्त्र दल कमल है । उसके उदर में अद्भुत पथ गामिनी नाड़ी है, उसे कुण्डलिनी कहते हैं ।

इदं स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो,
न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने ।
समग्रा शक्तिः स्यान्नियतमनसस्तस्य कृतिनः,
सदा कर्तु हर्तु खगतिरपि वाणी सुविमला ।।

–षट्चक्र निरुपणम् ४६

इस सहस्रार कमल की साधना से योगी चित्त को स्थिर कर आत्मभाव में लीन हो जाता है । भवबन्धन से छूट जाता है । समग्र शक्तियों से सम्पन्न होता है । स्वच्छन्द विचरता है और उसकी वाणी विमल हो जाती है ।

शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धाम्होदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ।।

–शिव संहिता ५/१७९

कमल की गुफा में क्षीर सागर समुद्र का तथा सहस्र दल कमल में चन्द्रमा जैसे प्रकाश का ध्यान करे ।

सहस्रार चन्द्र की कैलाश पर्वत से तुलना करते हुए वहाँ की दिव्य परिस्थितियों का मत्स्य पुराण में वर्णन किया गया है । यह वर्णन तिब्बत स्थित कैलाश पहाड़ का नहीं वरन् विशुद्ध रूप से ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित सहस्रार ज्ञान केन्द्र का ही है । संवर्तक बड़वानल विद्युत का वहीं निवास है । महासर्पों का सरोवर उसी केन्द्र में है । साधना की सिद्धि इसी केन्द्र में तीव्र गति से होती है । यह तथ्य कैलाश पहाड़ पर लागू नहीं हो सकते ।

परस्परेण द्विगुणा धर्म्मतः कामतोऽर्थतः ।
हेमकूटस्य पृष्ठे तु सर्पाणां तत्सरःस्मृतम् ।
सस्वतीं प्रभवति तस्माज् ज्योतिष्ठती तु या ।
इत्येते पर्वताविष्टाश्चत्वारो लवणोदधिम् ।
छिद्रममानेषु पक्षेषु पुरा इन्दस्य वै भयात् । –मत्स्य पुराण

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

कैलाश पर्वत पर की हुई साधना से दूनी सिद्धि होती है । धर्म, अर्थ, काम तीनों ही प्राप्त होते हैं । वह हेम कूट पर्वत का सरोवर सर्पों का बनाया हुआ है । ज्योतिर्मान, प्रज्ञा वहीं उत्पन्न होती है ।

वहाँ संवर्तक नामक महा भयानक अग्नि जलती रहती है । वह उस सरोवर के जल को पी जाता है । यह अग्नि समुद्र को भी सुखा देने वाला वड़वा मुख है ।

मूलाधार को शक्ति का केन्द्र माना गया है । इसे अग्नि कुण्ड–शक्ति उद्गम काली पीठ तथा क्रिया शक्ति की अधिष्ठात्री कुण्डलिनी के रूप में चित्रित किया गया है । इसका संकेत अध्यात्म शास्त्र में इस प्रकार मिलता है–

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम् ।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दशपञ्च च ।।

–त्रिशिखा १३७

कटि से निम्न भाग में अग्नि स्थान है । वह सिन्दूर के रंग का है । उसमें पंद्रह घड़ी प्राण को रोककर अग्नि की साधना करनी चाहिए ।

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्व कुण्डलिनीस्थानम् । अष्टप्रकृति रूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति । यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैष समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकालेऽपानेनाग्निना च स्फुरति ।

–शाण्डिल्योपनिषद् ७/६

नाभि के नीचे कुण्डलिनी का निवास है । यह आठ प्रकृति वाली है । इसके आठ कुण्डल है । यह प्राण वायु को यथावत संचालित करती है । अन्न और जल को व्यवस्थित करती है । मुख तथा ब्रह्म रन्ध्र की अग्नि को प्रकाशित करती है ।

तडिल्लेखा तन्वी तपन शशि वैश्वानरमयी ।
तडिल्लता समरुचिर्विद्युल्लेखेन भास्वती ।।

बिजली की बेल के समान, तपते हुए चन्द्रमा के समान, अग्निमयी वह शक्ति दृष्टिगोचर होती है ।

इन सब तथ्यों पर दृष्टिपात करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि गायत्री की ज्ञान शक्ति का और कुण्डलिनी की क्रिया शक्ति का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । दोनों के मिलने से ही परिपूर्ण

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

एवं समग्र उत्कर्ष की सम्भावना मूर्तिमान होती है । इन दोनों साधनाओं में विराधाभास नहीं माना जाना चाहिए और न प्रकारान्तर । वरन् यही समझना चाहिए कि साधना–क्रम में दोनों का समन्वय होने से भौतिक और आत्मिक दोनों ही सफलताओं का पथ प्रशस्त होता है । यह समन्वयात्मक साधना भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रयोजनों को पूरा करती है । इसीलिए साधना विज्ञान के तत्ववेत्ता एकांगी साधना की अपूर्णता को ध्यान में रखते हुए उभय प्रयोजन पूरे करने वाली समग्र साधना का पथ प्रदर्शन करते रहे हैं । वही यहाँ भी किया जा रहा है ।

या देवता भोगकरी सा मोक्षाय न कल्पते ।
मोक्षदा नहि भोगाय त्रिपुरा तु द्वय प्रदा ।।

–त्रिपुरा तन्त्र

जो देवता भोग देते हैं वे मोक्ष नहीं देते जो मोक्ष देते हैं वे भोग नहीं देते, पर कुण्डलिनी दोनों प्रदान करती है ।

कुण्डलिनी के षट–चक्र और उनका वेधन

कुण्डलिनी साधना को अनेक स्थानों पर षट्चक्र वेधन की साधना भी कहते हैं । पंचकोषी साधना या पंचाग्नि विद्या भी गायत्री की कुण्डलिनी या सावित्री साधना के रूप है । एम. ए एक डिग्री है । इसे हिन्दी, अंग्रेजी, सिविक्स, इकानामिक्स किसी भी विषय से प्राप्त किया जा सकता है । उसी प्रकार आत्म–तत्व, आत्म–शक्ति एक है उसे प्राप्त करने के लिए वेवचन विश्लेषण और साधना विधान भिन्न हो सकते हैं । इसमें किसी तरह का विरोधाभाष नहीं है ।

तैत्तरीय आरण्यक में चक्रों को देवलोक एवं देव संस्थान कहा गया है । शंकराचार्य कृत आनन्द लहरी के ७७ वें श्लोक में भी ऐसा ही प्रतिपादन है ।

योग दर्शन समाधिपाद का ३६ वाँ सूत्र है–

विशोकाया ज्योतिष्मती ।

इसमें शोक सन्तापों का हरण करने वाली ज्योति शक्ति के रूप में कुण्डलिनी शक्ति की ओर संकेत है ।

इस समस्त शरीर को, सम्पूर्ण जीव कोशों को, महाशक्ति की प्राण

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

प्रक्रिया सम्भाले हुए है । उस प्रक्रिया के दो ध्रुव, दो खण्ड हैं । एक को चय प्रक्रिया एनाबॉलिक एक्शन तथा दूसरे को अपचय प्रक्रिया (कैटाबॉलिक एक्शन) कहते हैं । इसी को दार्शनिक भाषा में शिव एवं शक्ति भी कहा जाता है । शिव क्षेत्र सहस्रार तथा शक्ति क्षेत्र मूलाधार कहा गया है । इन्हें परस्पर जोड़ने वाली, परिभ्रमण शील शक्ति का नाम कुण्डलिनी है ।

सहस्रार और मूलाधार का क्षेत्र विभाजन करते हुए मनीषियों ने मूलाधार से लेकर कण्ठ पर्यन्त का क्षेत्र एंव चक्र संस्थान 'शक्ति' भोग बताया है और कण्ठ से ऊपर का स्थान 'शिव' देश कहा है ।

मूलाद्धाराद्धि षट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरतम् ।
कण्ठादुपरि मूर्द्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते ।।

—वराहश्रुति

मूलाधार से कण्ठपर्यन्त शक्ति का स्थान है । कण्ठ के ऊपर से मस्तक तक शाम्भव स्थान है । यह बात पहले कही जा चुकी है ।

मूलाधार से सहस्रार तक की, काम बीज से ब्रह्म बीज तक की यात्रा को ही महायात्रा कहते हैं । योगी इसी मार्ग को पूरा करते हुए परम लक्ष्य तक पहुँचते हैं । जीव सत्ता—प्राण शक्ति का निवास जननेन्द्रिय मूल में है । प्राण उसी भूमि में रहने वाले रजवीर्य से उत्पन्न होते हैं । ब्रह्म सत्ता का निवास ब्रह्मलोक में ब्रह्मरन्ध्र में माना गया है । यह द्युलोक, देवलोक, स्वर्ग लोक है । आत्मज्ञान का, ब्रह्म ज्ञान का सूर्य इसी लोक में निवास करता है । कमल पुष्प पर विराजमान ब्रह्माजी, कैलाशवासी शिव और शेषशायी विष्णु का निवास जिस मस्तिष्क मध्य केन्द्र में है—उसी नाभिक (न्यूकलियस) को सहस्रार कहते हैं । आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया यहीं सम्पन्न होती है । पतन के—स्खलन के गर्त में पड़ी क्षत—विक्षत आत्म सत्ता जब ऊर्ध्वगामी होती है तो उसका लक्ष्य इसी ब्रह्मलोक तक सूर्यलोक तक पहुँचना होता है । योगाभ्यास का परम् पुरुषार्थ इसी निमित्त किया जाता है । कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य यही है ।

आत्मोत्कर्ष की महायात्रा जिस राजमार्ग से होती है उसे मेरुदण्ड या सुषुम्ना कहते हैं । उसका एक सिरा मस्तिष्क का, दूसरा काम केन्द्र का स्पर्श करता है । कुण्डलिनी साधना की समस्त गतिविधियाँ प्रायः इसी क्षेत्र को परिष्कृत एवं सरल बनाने के लिए हैं । इड़ा पिंगला के प्राण

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

प्रवाह इसी क्षेत्र को दुहराने के लिए नियोजित किये जाते हैं । साबुन, पानी से कपड़े धोये जाते हैं । झाड़ू–झाड़न से कमरे की सफाई होती है । इड़ा–पिंगला के माध्यम से किये जाने वाले नाड़ी शोधन प्राणायाम मेरुदण्ड का संशोधन करने के लिए हैं । इन दोनों ऋणात्मक और घनात्मक शक्तियों का उपयोग सृजनात्मक उद्देश्य से भी होता है ।

इमारतें बनाने वाले कारीगर कुछ समय नींव खोदकर गड्ढा करते हैं इसके बाद वे ही दीवार चुनने के काम में लग जाते हैं । इसी प्रकार इड़ा पिंगला संशोधन और सृजन का दुहरा काम करते हैं । जो आवश्यक है उसे विकसित करने में वे कुशल माली की भूमिका निभाते हैं । यों आरम्भ में जमीन जोतने जैसा ध्वंसात्मक कार्य भी उन्हीं को करना पड़ता है, पर यह उत्खनन निश्चित रूप से उन्नयन के लिए होता है । माली भूमि खोदने, खर–पतवार उखाड़ने, पौधे की काट–छाँट करने का काम करते समय ध्वंस में संलग्न प्रतीत होता है, पर खाद पानी देने रखवाली करने में उसकी उदार सृजनशीलता का भी उपयोग होता है । इड़ा पिंगला के माध्यम से सुषुम्ना क्षेत्र में काम करने वाली प्राण विद्युत का विशिष्ट संचार क्रम प्रस्तुत करके कुण्डलिनी जागरण की साधना सम्पन्न की जाती है ।

मेरुदण्ड को राजमार्ग–महामार्ग कहते हैं । इसे धरती से स्वर्ग में पहुँचने का देवयान मार्ग कहा गया है । इस यात्रा के मध्य में सात लोक हैं । इस्लाम धर्म के सातवें आसमान पर खुदा का निवास माना गया है । ईसाई धर्म में भी इससे मिलती–जुलती मान्यता है । हिन्दू धर्म के भूः भुवः स्वः जनः तपः महः सत्यम् यह सात लोक प्रसिद्ध है । आत्मा और परमात्मा के मध्य इन्हें विराम स्थल माना गया है । लम्बी मंजिलें पूरा करने के लिए लगातार ही नहीं चला जाता । बीच–बीच में विराम भी लेने होते हैं । रेलगाड़ी गन्तव्य स्थान तक बीच के स्टेशनों पर रुकती, कोयला, पानी लेती चलती है । इन विराम स्थलों को 'चक्र' कहा गया है । चक्रों की व्याख्या दो रूपों में होती है, एक अवरोध के रूप में दूसरे अनुदान के रूप में । महाभारत में चक्रव्यूह की कथा है । अभिमन्यु उसमें फँस गया था । वेधन कला की समुचित जानकारी न होने से वह मारा गया था । चक्रव्यूह में सात परकोटे होते हैं । इस अलंकारिक प्रसंग को आत्मा का सात चक्रों में फँसा होना कह सकते हैं । भौतिक आकर्षणों की, भ्रान्तियों की, विकृतियों की चहार दीवारी

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

के रू प में भी चक्रों की गणना होती है । इसलिए उसके वेधन का विधान बताया गया है । रामचन्द्रजी ने बाली को मार सकने की अपनी क्षमता का प्रमाण सुग्रीव को दिया था । उनने सात ताड़ वृक्षों को एक वाण से बेधकर दिखाया था । इसे चक्रवेधन की उपमा दी जा सकती है । भागवत माहात्म्य में धुन्धकारी प्रेत का बांस की सात गाँठें फोड़ते हुए सातवें दिन कथा प्रभाव से देव देहधारी होने की कथा है । इसे चक्रवेधन का संकेत समझा जा सकता है ।

चक्रों को अनुदान केन्द्र इसलिए कहा जाता है कि उनके अन्तराल में दिव्य सम्पदायें भरी पड़ी हैं । उन्हें ईश्वर ने चक्रों की तिजोरियों में इसलिए बन्द करके छोड़ा है कि प्रौढ़ता, पात्रता की स्थिति आने पर ही उन्हें खोलने उपयोग करने का अवसर मिले । कुपात्रता, अयोग्यता की स्थिति में बहुमूल्य साधन मिलने पर तो अनर्थ ही होता है । कुसंस्कारी सन्तानें उत्तराधिकार में मिली बहुमूल्य सम्पदा से दुर्व्यसन अपनाती और विनाश पथ पर तेजी से बढ़ती हैं । छोटे बच्चों को बहुमूल्य जेवर पहना देने से उनकी जान जोखिम का खतरा उत्पन्न हो जाता है । धातुओं की खदानें जमीन की ऊपरी परत पर बिखरी नहीं होती उन्हें प्राप्त करने के लिए खुदाई करनी पड़ती है । मोती प्राप्त करने के लिए समुद्र में गहरे गोते लगाने पड़ते हैं । यह अवरोध इसलिए है कि साहसी एवं सुयोग्य सत्पात्रों को ही विभूतियों का वैभव मिल सके । मेरुदण्ड में अवस्थित चक्रों को ऐसी सिद्धियों का केन्द्र माना गया है, जिनकी भौतिक और आत्मिक प्रगति के लिए नितान्त आवश्यकता रहती है ।

चक्रवेधन, चक्रशोधन, चक्र परिष्कार, चक्र जागरण आदि नामों से बताये गये विवेचनों एवं विधानों में कहा गया है कि इस प्रयास से अदक्षताओं एवं विकृतियों का निराकरण होता है । जो उपयुक्त है उसकी अभिवृद्धि का पथ प्रशस्त होता है । सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन दुष्प्रवृत्तियों के दमन में यह चक्रवेधन विधान कितना उपयोगी एवं सहायक है, इसकी चर्चा करते हुए शारदा तिलक ग्रन्थ के टीकाकार ने 'आत्म विवेक' नामक किसी साधना ग्रन्थ का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है कि–

गुदलिंगान्तरे चक्रमाधारं तु चतुर्दलम् ।
परमः सहजस्तद्वदानन्दो वीरपूर्वकः ।।
योगानन्दश्च तस्य स्यादीशानादिदले फलम् ।
स्वाधिष्ठानं लिंगमूले षटपत्रञ्त्र क्रमस्य तु ।।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्रश्रयः क्रूरता गर्वो नाशो मूर्च्छा ततः परम् ।।
अवज्ञा स्यादविश्वासो जीवस्य धरतो ध्रुवम् ।
नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञकम् ।।
सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीर्ष्या पिशुनता तथा ।
लज्जा भयं घृणा मोहः कषायोऽथ विषादिता ।।
हृदयेऽनाहतं चक्रं दलैर्द्वादशभिर्युतम् ।
लौल्यं प्रनाशः कपटं वितर्कोऽप्यनुतापिता ।।
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा ममता ततः ।
क्रमेण दम्भो वैकल्यं विवेकोऽहंवतिस्तथा ।।
फलान्येतानि पूर्वादिदलस्थस्यात्मनो जगुः ।
कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम् ।।
तत्र प्रणव उद्गीथो हुँ फट् वषट् स्वधा तथा ।
स्वाहा मनोऽमृतं सप्त स्वराः षड्जादयो विषम ।।
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश

(१) गुदा और लिंग के बीच चार पंखुरियों वाला 'आधार चक्र' है । वहाँ वीरता और आनन्द भाव का निवास है । (२) इसके बाद स्वाधिष्ठान चक्र लिंग मूल में है । उसकी छः पंखुरियाँ हैं । इसके जागृत होने पर क्रूरता, गर्व, आलस्य, प्रमाद, अवज्ञा, अविश्वास आदि दुर्गुणों का नाश होता है । (३) नाभि में दस दल वाला मणिपूर चक्र है । यह प्रसुप्त पड़ा रहे तो तृष्णा, ईर्ष्या, चुगली, लज्जा, भय, घृणा, मोह आदि कषाय-कल्मष मन में जड़ जमाये पड़े रहते हैं । (४) हृदय स्थान में अनाहत चक्र है । यह बारह पंखुरियों वाला है । यह सोता रहे तो लिप्सा, कपट, तोड़-फोड़, कुतर्क, चिन्ता, मोह, दम्भ, अविवेक अहंकार से भरा रहेगा । जागरण होने पर यह सब दुर्गुण हट जायेंगे । (५) कण्ठ में विशुद्धाख्य चक्र यह सरस्वती का स्थान है । यह सोलह पंखुरियों वाला है । यहाँ सोलह कलाऐं सोलह विभूतियाँ विद्यमान हैं । (६) भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र है, यहाँ 'ॐ' उद्गीय, हूँ, फट, विषट्, स्वधा, स्वाहा, अमृत, सप्त स्वर आदि का निवास है । इस आज्ञा चक्र का जागरण होने से यह सभी शक्तियाँ जाग पड़ती हैं ।

श्री हडसन ने अपनी पुस्तक 'साइन्स आव सीयर शिप' में अपना मत व्यक्त किया है । प्रत्यक्ष शरीर में चक्रों की उपस्थिति का परिचय तन्तु

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

गुच्छकों के रूप में देखा जा सकता है । अर्न्तदर्शियों का अनुभव इन्हें सूक्ष्म शरीर में उपस्थित दिव्य शक्तियों का केन्द्र संस्थान बताता है । कुण्डलिनी के बारे में उनके पर्यवेक्षण का निष्कर्ष है कि वह एक व्यापक चेतना शक्ति है । मनुष्य के मूलाधार चक्र में उसका सम्पर्क तन्तु है जो व्यक्ति सत्ता को विश्व सत्ता के साथ जोड़ता है । कुण्डलिनी जागरण से चक्र संस्थानों में जागृति उत्पन्न होती है । उसके फलस्वरूप– पारभौतिक (सुपर फिजीकल) और भौतिक (फिजीकल) के बीच आदान–प्रदान का द्वार खुलता है । यही है वह स्थिति जिसके सहारे मानवी सत्ता में अन्तर्हित दिव्य शक्तियों का जागरण सम्भव हो सकता है ।

चक्रों की जागृति मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव को प्रभावित करती है । स्वाधिष्ठान की जागृति से मनुष्य अपने में नव शक्ति का संचार हुआ अनुभव करता है । उसे बलिष्ठता प्रतीत होती है । श्रम में उत्साह और गति में स्फूर्ति की अभिवृद्धि का आभास मिलता है । मणिपूर चक्र से साहस और उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है । संकल्प दृढ़ होते हैं और पराक्रम करने के हौंसले उठते हैं ; मनोविकार स्वयंमेव घटते हैं और परमार्थ प्रयोजनों में अपेक्षाकृत अधिक रस मिलने लगता है । अनाहत चक्र की महिमा हिन्दुओं से भी अधिक ईसाई धर्म के योगी बताते हैं । हृदय स्थान पर गुलाब के फूल की भावना करते हैं और उसे महाप्रभु ईसा का प्रतीक मानते हैं । भारतीय योगियों की दृष्टि में यह भाव संस्थान है । कलात्मक उमंग–रसानुभूति एवं कोमल संवेदनाओं का उत्पादक स्रोत यही है । बुद्धि की वह परत जिसे विवेकशीलता कहते हैं । आत्मीयता का विस्तार सहानुभूति एवं उदार सेवा सहकारिता के तत्व इस अनाहत चक्र से ही उद्भूत होते हैं । कंठ में विशुद्धि चक्र है । इसमें बहिरंग स्वच्छता और अन्तरंग पवित्रता के तत्व रहते हैं । दोष–दुर्गुणों के निराकरण की प्रेरणा और तदनुरूप संघर्ष क्षमता यहीं से उत्पन्न होती है । शरीर शास्त्र में थाइराइड ग्रन्थि और उससे स्रवित होने वाले हारमोनों के सन्तुलन–असन्तुलन से उत्पन्न लाभ–हानि की चर्चा की जाती है । अध्यात्म शास्त्र द्वारा प्रतिपादित विशुद्धि चक्र का स्थान तो यहीं है, पर वह होता सूक्ष्म शरीर में है । उसमें अतीन्द्रिय क्षमताओं के आधार विद्यमान हैं । लघु मस्तिष्क शिर के पिछले भाग में है । अचेतन की विशिष्ट क्षमताऐं उसी स्थान पर मानी जाती हैं । मेरुदण्ड के कण्ठ की सीध पर अवस्थित विशुद्धचक्र इस चित्त संस्थान को प्रभावित करता है । तदनुसार

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

चेतना की अति महत्वपूर्ण परतों पर नियन्त्रण करने और विकसित एवं परिष्कृत कर सकने के सूत्र हाथ में आ जाते हैं । नादयोग के माध्यम से दिव्य श्रवण जैसी कितनी ही परोक्षानुभूतियाँ विकसित होने लगती हैं ।

सहस्रार मस्तिष्क के मध्य भाग में है । शरीर संरचना में इस स्थान पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थियों से सम्बन्ध रैटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम का अस्तित्व है । वहाँ से जैवीय विद्युत का स्वंय भू प्रवाह उभरता है । वे धारायें मस्तिष्क के अगणित केन्द्रों की ओर दौड़ती हैं । इसमें से छोटी–छोटी चिन्गारियाँ तरंगों के रूप में उड़ती रहती हैं । उनकी संख्या की सही गणना तो नहीं हो सकती, पर वे हैं हजारों । इसलिए हजार या हजारों का उद्‌बोधक 'सहस्र' शब्द प्रयोग में लाया जाता है । सहस्रार चक्र का नामकरण इसी आधार पर हुआ है । सहस्र फन वाले शेषनाग की परिकल्पना का यही आधार है । यह संस्थान ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ सम्पर्क साधने में अग्रणी है, इसलिए उसे ब्रह्म रन्ध्र या ब्रह्मलोक भी कहते हैं । रेडियो एरियल की तरह हिन्दू धर्मानुयायी इस स्थान पर शिखा रखाते हैं और उसे शिर रूपी दुर्ग पर आत्म सिद्धान्तों को स्वीकृत किए जाने की विजय पताका बताते हैं । आज्ञा चक्र को सहस्रार का उत्पादन केन्द्र कह सकते हैं ।

सभी चक्र सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर स्थित हैं तो भी वे समूचे नाड़ी मण्डल को प्रभावित करते हैं । स्वचालित और ऐच्छिक दोनों ही संचार प्रणालियों पर इनका प्रभाव पड़ता है । अस्तु शरीर संस्थान के अवयवों को चक्रों द्वारा निर्देश पहुँचाये जा सकते हैं । साधारणतया यह कार्य अचेतन मन करता है और उस पर सचेतन मस्तिष्क का कोई बस नहीं चलता है । रोकने की इच्छा करने पर भी रक्त संचार रुकता नहीं और तेज करने की इच्छा होने पर भी उसमें सफलता नहीं मिलती । अचेतन बड़ा दुराग्रही है । सचेतन की बात सुनने की उसे फुर्सत नहीं । उसकी मन मर्जी ही चलती है । ऐसी दशा में मनुष्य हाथ–पैर चलाने जैसे छोटे–मोटे काम ही इच्छानुसार कर पाता है । शरीर की अनैच्छिक क्रिया पद्धति के सम्बन्ध में वह लाचार रहता है । ऐसी दशा में व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाली और शरीर तथा मनःसंस्थान में अभीष्ट परिवर्तन करने वाली आकांक्षा प्रायः अपूर्ण एवं निष्फल बनी रहती है । चक्र संस्थान को यदि जागृत तथा नियन्त्रित किया जा सके तो आत्म जगत पर अपना अधिकार हो जाता है । यह आत्म विजय

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

अपने ढंग की अद्भुत सफलता है । इसका महत्व तत्वदर्शियों ने विश्व विजय से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया है । विश्व विजय कर लेने पर दूरवर्ती क्षेत्रों से समुचित लाभ उठाना सम्भव नहीं हो सकता, उसकी सम्पदा का उपभोग, उपयोग कर सकने की सामर्थ्य भी कहाँ है ? किन्तु आत्म विजय के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । उसका पूरा-पूरा लाभ स्वयं ही उठाया जा सकता है । उस आधार पर बहिरंग और अन्तरंग क्षेत्रों की सम्पदा का प्रचुर लाभ अपने आप को मिल सकता है ।

मेरुदण्ड को शरीर शास्त्री स्पाइनल कालम कहते हैं । स्पाइनल एक्सिस एवं वर्टिब्रल कॉलम-शब्द भी उसी के लिए प्रयुक्त होते हैं । मोटे तौर पर यह ३३ अस्थि घटकों से मिलकर बनी हुई पोली दण्डी भर है । इन हड्डियों को पृष्ठ वंश-कशेरुका या 'वर्टिब्रा' कहते हैं । स्थिति के अनुरूप इनका पाँच भागों में विभाजन किया जा सकता है ।

(१) ग्रीवा प्रदेश-सर्वाइकल रीजन-७ अस्थि खण्ड (२) वक्ष प्रदेश-डार्सल रीजन-१२ अस्थि खण्ड (३) कटि प्रदेश-लम्बर रीजन-५ अस्थि खण्ड (४) त्रिक या वस्तिगह्वर-सेक्रल रीजन-५ अस्थि खण्ड (५) चेंचु प्रदेश-काक्सीजियल रीजन-४ अस्थि खण्ड ।

मेरु दण्ड पोला है । उससे अस्थि खण्डों के बीच में होता हुआ यह छिद्र नीचे से ऊपर तक चला गया है । इसी के भीतर सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है । मेरुदण्ड के उपर्युक्त पाँच प्रदेश सुषुम्ना में अवस्थित पाँच चक्रों से सम्बन्धित हैं । (१) मूलाधार चक्र-चेंचु प्रदेश, (२) स्वादिष्ठान-त्रिक प्रदेश (३) मणिपूर-कटि प्रदेश (४) अनाहत-वक्ष प्रदेश (५) विशुद्धि-ग्रीवा प्रदेश, छठे आज्ञा चक्र का स्थान मेरुदण्ड में नहीं आता । सहस्रार का सम्बन्ध भी रीढ़ की हड्डी से सीधा नहीं है । इतने पर भी सूक्ष्म शरीर का सुषुम्ना मेरु दण्ड पाँच रीढ़ वाले और दो बिना रीढ़ वाले सभी सात चक्रों को एक ही श्रृंखला में बँधे हुए हैं । सूक्ष्म शरीर की सुषुम्ना में यह सातों चक्र जंजीर की कड़ियों की तरह परस्पर पूरी तरह सम्बद्ध हैं ।

यहाँ यह तथ्य भलीभाँति स्मरण रखा जाना चाहिए कि शरीर विज्ञान के अन्तर्गत वर्णित प्लेक्सस, बाडी गुच्छक और चक्र एक नहीं हैं । यद्यपि उनके साथ पारस्परिक तारतम्य जोड़ा जा सकता है । यों इन गुच्छकों की भी शरीर में विशेष स्थिति है और उनकी कायिक और मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली प्रतिक्रिया होती रहती है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

शरीर शास्त्र के अनुसार प्रमुख नाड़ी गुच्छकों (प्लेक्ससेज) में १३ प्रधान हैं । उनके नाम हैं–(१) हिपेटिक (२) सर्वाइकल (३) ब्रांकियल (४) काक्सीजियल (५) लम्बर (६) सेक्रल (७) कार्डियल (८) इपिगेस्ट्रिक (९) इसोफैजियल (१०) फेरेन्जियल (११) पलमोनरी (१२) लिंगुअल (१३) प्रोस्टेटिक ।

इन गुच्छकों में शरीर यात्रा में उपयोगी भूमिका सम्पन्न करते रहने के अतिरिक्त कुछ विलक्षण विशेषताऐं भी पाई जाती हैं । उनसे यह प्रतीत होता है कि उनके साथ कुछ रहस्यमय तथ्य जुड़े हुए हैं । यह सूक्ष्म शरीर के दिव्य चक्रों के सान्निध्य से उत्पन्न होने वाला प्रभाव ही कहा जा सकता है ।

'चक्र' शक्ति संचरण के एक व्यवस्थित, सुनिश्चित क्रम को कहते हैं । वैज्ञानिक क्षेत्र में विद्युत, ध्वनि, प्रकाश सभी रूपों में शक्ति के संचार क्रम की व्याख्या चक्रों (साइकिल्स) के माध्यम से ही की जाती है । इन सभी रूपों में शक्ति का संचार, तरंगों के माध्यम से होता है । एक पूरी तरंग बनने के क्रम को एक चक्र (साइकिल) कहते हैं । एक के बाद एक तरंग, एक के बाद एक चक्र (साइकिल) बनने का क्रम चलता रहता है और शक्ति का संचरण होता रहता है । शक्ति की प्रकृति (नेचर) का निर्धारण इन्हीं चक्रों के क्रम के आधार पर किया जाता है । औद्योगिक क्षेत्र में प्रयुक्त विद्युत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियम है कि वह ५० साइकिल्स प्रति सैकिण्ड के चक्र क्रम की होनी चाहिए । विद्युत की मोटरों एवं अन्य यन्त्रों को उसी प्रकृति की बिजली के अनुरूप बनाया जाता है । इसीलिए उन पर हार्सपावर, वोल्टेज आदि के साथ ५० साइकिल्स भी लिखा रहता है । अस्तु शक्ति संचरण के साथ 'चक्र' प्रक्रिया जुड़ी ही रहती है वह चाहे स्थूल विद्युत शक्ति हो अथवा सूक्ष्म जैवीय विद्युत शक्ति ।

नदी प्रवाह में कभी–कभी कहीं भँवर पड़ जाते हैं । उनकी शक्ति अद्भुत होती है । उनमें फँसकर नौकाऐं अपना सन्तुलन खो बैठती हैं और एक ही झटके में उल्टी डूबती दृष्टिगोचर होती हैं । सामान्य नदी प्रवाह की तुलना में इन भँवरों की प्रचण्डता सैकड़ों गुनी अधिक होती है । शरीरगत विद्युत प्रवाह को एक बहती हुई नदी के सदृश माना जा सकता है और उसमें जहाँ तहाँ पाये जाने वाले चक्रों की 'भँवरों' से तुलना की जा सकती है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

गर्मी की ऋतु में जब वायुमण्डल गरम हो जाता है तो जहाँ–तहाँ छोटे–बड़े 'चक्रवात'–साइक्लोन उठने लगते हैं । वे नदी के भँवरों की तरह ही गरम हवा के कारण आकाश में उड़ते हैं । उनकी शक्ति देखते ही बनती है । पेड़ों को, छतों को छप्परों को उखाड़ते–उछालते वे बवण्डर की तरह जिधर–तिधर भूत–बेताल की तरह नाचते–फिरते हैं । साधारण पवन प्रवाह की तुलना में इन टारनेडो (चक्रवातों) की शक्ति भी सैकड़ों गुनी अधिक होती है ।

शरीरगत विद्युत शक्ति का सामान्य प्रवाह यों सन्तुलित ही रहता है, पर कहीं–कहीं उसमें उग्रता एवं वक्रता भी देखी जाती है । हवा कभी–कभी बाँस आदि के झुरमुटों से टकरा कर कई तरह की विचित्र आवाजें उत्पन्न करती है । रेलगाड़ी, मोटर और द्रुतगामी वाहनों के पीछे दौड़ने वाली हवा को भी अन्धड़ की चाल चलते देखा जा सकता है । नदी का जल कई जगह ऊपर से नीचे गिरता है –चट्टानों से टकराता है तो वहाँ प्रवाह में व्यतिक्रम, उछाल, गर्जन–तर्जन की भयंकरता दृष्टिगोचर होती है । शरीरगत सूक्ष्म चक्रों की विशेष स्थिति भी इसी प्रकार की है । यों नाड़ी गुच्छकों–प्लेक्सस में भी विद्युत संचार और रक्त प्रवाह के गति क्रम में कुछ विशेषता पाई जाती है । पवन प्रवाह पर नियन्त्रण करने के लिए नावों पर पतवार बाँधें जाते हैं उनके सहारे नाव की दिशा और गति में अभीष्ट फेर कर लिया जाता है । पनचक्की के पंखों को गति देकर आटा पीसने, जल–कल चलाने आदि के काम लिए जाते हैं । जल प्रपात जहाँ ऊपर से नीचे गिरता है वहाँ उस प्रपात तीव्रता के वेग को बिजली बनाने जैसे कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है । समुद्री ज्वार भाटों से भी बिजली बनाने का काम लिया जा रहा है । ठीक इसी प्रकार शरीर के विद्युत प्रवाह में जहाँ चक्र बनते हैं वहाँ उत्पन्न उग्रता को कितने ही अध्यात्म प्रयोजनों में काम लाया जाता है ।

चक्र कितने हैं ? इनकी संख्या निर्धारण करने में मनीषियों का मतभेद स्पष्ट है । विलय तंत्र में इड़ा और पिंगला की विद्युत गति से उत्पन्न उलझन गुच्छकों को चक्रों की संज्ञा दी गई है और उनकी संख्या पाँच बताई गई है । मेरुदण्ड में वे पाँच की ही संख्या में हैं । मस्तिष्क के अग्रभाग में अवस्थित आज्ञा चक्र को भी उनमें सम्मिलित कर लेने पर वे छः हो जाते हैं और हठयोग की गणना के अनुसार छः की संख्या पूरी हो जाती है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

सानवाँ सहस्रार है । इसे चक्रों की बिरादरी में जोड़ने न जोड़ने पर विवाद है । सहस्रार–नाभिक है । उसे इसी बिरादरी में सम्मिलित रखने न रखने के दोनों ही पक्षों के साथ तर्क है । इसलिए जहाँ छः की गणना है वहाँ सात का भी उल्लेख बहुत स्थानों पर हुआ है ।

बात इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाती । चक्रों की संख्या सूक्ष्म शरीर में बहुत बड़ी है । इन्हें १०८ तक गिना गया है । छोटे होने के कारण उन्हें उपत्यिका कहा गया है और जपने की माला में उतने ही दाने रखने की परम्परा चली है । इनमें से कितने ही लघु चक्र ऐसे हैं जिन्हें जागृत करने वालों ने प्रख्यात चक्रों से भी शक्तिशाली पाया है । चन्द्रमा की गणना ग्रहों में नहीं उपग्रहों में होती है । फिर भी अपनी पृथ्वी के लिए पूर्ण समझे जाने वाले ग्रहों में कम नहीं अधिक ही उपयोगिता है ।

तन्त्र ग्रन्थों में ऐसे चक्रों का वर्णन है जिनके नाम और स्थान षटचक्रों से भिन्न हैं । जहाँ उनकी संख्या पाँच बताई गई है वहाँ पाँच कोशों का नहीं वरन् भिन्न आकृति–प्रकृति के अतिरिक्त चक्रों का वर्णन है । (१) त्रिकूट (२) श्रीहाट (३) गोल्लाट (४) औट पीठ (५) अमर गुफा इनके नाम हैं । इनकी व्याख्या एवं स्वरूप हठयोग में वर्णित षट्चक्रों से भिन्न हैं ।

इसी तरह कहीं–कहीं तन्त्र ग्रन्थों में उनकी संख्या छः से अधिक कही गई है–

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पंचकम् । सम्यगेतन्न जानति स योगी नाम धारकः ।

–सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

नव चक्र, त्रिलक्ष, सोलह आधार, पाँच आकाश, वाले सूक्ष्म शरीर को जो जानता है उसी को योग में सिद्धि मिलती है ।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशःस्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।

–अथर्ववेद

आठ चक्र, नव द्वार वाली यह अवोह या नगरी स्वर्ण कोश और स्वर्गीय ज्योति से आवृत्त है ।

शक्ति सम्मोहन तन्त्र में उनकी संख्या ९ मानी गयी है । कुण्डलिनी को 'नव चक्रात्मिका देवी' कहा गया है । नौ चक्र इस प्रकार गिनाये

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

गये हैं । (१) आनन्द चक्र (२) सिद्धि चक्र (३) आरोग्य चक्र (४) रक्षा चक्र (५) सर्वार्थ चक्र (६) सौभाग्य चक्र (७) संशोषण चक्र (८) शाप चक्र (९) मोहन चक्र । यह नामकरण उनकी विशेषताओं के आधार पर किया गया है । यह कहाँ हैं, इसकी चर्चा में मात्र तीन को षट्चक्रों की तरह बताया गया है और शेष अन्यान्य स्थानों पर अवस्थित बताये गये हैं ।

नौ के वर्णन में भी नाम और स्थानों की भिन्नता मिलती है । एक स्थान पर उनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं । (१) ब्रह्म चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) नाभि चक्र (४) हृदय चक्र (५) कण्ठ चक्र (६) तालु चक्र (७) भ्रू चक्र (८) निर्वाण चक्र (९) आकाश चक्र बताये गये हैं । यह उल्लेख सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में विस्तार पूर्वक मिलता है ।

संख्या जो भी मानी जाये उन सबका एक समन्वय शक्ति पुञ्ज लोगोज (LOGOS) भी है जिसकी स्थूल सूर्य के समान ही किन्तु अपने अलग ढंग की रश्मियाँ निकलती हैं । सूर्य किरणों में सात रंग अथवा ऐसी विशेषताऐं होती हैं जिनका स्वरूप, विस्तार, कार्यक्षेत्र सीमित है, पर इस आत्म–तत्व के सूर्य का प्रभाव और विस्तार बहुत व्यापक है । वह प्रकृति के प्रत्येक अणु को नियन्त्रित एवं गतिशील रखता है साथ ही चेतन संसार की विधि व्यवस्था को सँभालता सँजोता है । इसे पाश्चात्य तत्व वेत्ता सन्स आफ फोतह (Sons of fotah) कहते हैं और प्रतिपादित करते हैं कि विश्व–व्यापी शक्तियों का मानवीकरण इसी केन्द्र संस्थान द्वारा हो सका है ।

सामान्य शक्ति धाराओं में प्रधान गिनी जाने वाली (१) गति (२) शब्द (३) ऊष्मा (४) प्रकाश (५) संयोग (Cohesion) (६) विद्युत (७) चुम्बक यह सात हैं । इन्हें सात चक्रों का प्रतीक ही मानना चाहिए ।

कुण्डलिनी शक्ति को कई विज्ञान वेत्ता विद्युत द्रव पदार्थ (Electric Fluid) या नाड़ी शक्ति कहते हैं ।

इस निखिल विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त परमात्मा की छः चेतन शक्तियों का अनुभव हमें होता है । यों शक्ति पुञ्ज पर ब्रह्म की अगणित शक्ति धाराओं का पता पा सकना, मनुष्य की सीमित बुद्धि के लिए असम्भव है । फिर भी हमारे दैनिक जीवन में जिनका प्रत्यक्ष सम्पर्क संयोग रहता है उनमें प्रमुख यह हैं–(१) परा शक्ति (२) ज्ञान शक्ति (३) इच्छा शक्ति (४) क्रिया शक्ति (५) कुण्डलिनी शक्ति (६) मातृका शक्ति (७) गुह्य । इन सबके सम्मिलित शक्ति पुञ्ज को ईश्वरीय प्रकाश अथवा सूक्ष्म प्रकाश (Astral

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

Light) कह सकते हैं । यह सातवीं शक्ति है । कोई चाहे तो इस शक्ति पुञ्ज को उपरोक्त छः शक्तियों का उद्गम भी कह सकता है । इन सबको हम चैतन्य सत्ताऐं कह सकते हैं । उसे पवित्र अग्नि (Sacred fire) के रूप में भी कई जगह वर्णित किया गया है और कहा गया है कि उसमें से आग ऊष्मा तो नहीं पर प्रकाश किरणे निकलती हैं और वे शरीर में विद्यमान ग्रन्थियों ग्लैण्ड्स केन्द्रों (Center) और गुच्छकों को असाधारण रूप से प्रभावित करती है । इससे मात्र शरीर या मस्तिष्क को ही बल नहीं मिलता वरन् सम्पूर्ण व्यक्तित्व की महान सम्भावना को और अग्रसर करती है ।

इन सात चक्रों में अवस्थित सात उपरोक्त शक्तियों का उल्लेख साधना ग्रन्थों में अलंकारिक रूप में हुआ है । उन्हें सात लोक, सात समुद्र, सात द्वीप, सात पर्वत, सात ऋषि आदि नामों से चित्रित किया गया है । इसी चित्रण में यह संकेत है कि इन चक्रों में किन-किन स्तर के विराट् शक्ति स्रोतों के साथ सम्बन्ध है । बीज रूप से कौन महान सामर्थ्य इन चक्रों में विद्यमान है और जागृत होने पर उन चक्र संस्थानों के माध्यम से मनुष्य का व्यक्तित्व छोटे से कितना विराट और विशाल हो सकता है । टोकरी भर बीज से लम्बा-चौड़ा खेत हरा-भरा हो सकता है । अपने बीज भण्डार में सात टोकरी भरा-सात किस्म का अनाज सुरक्षित रखा है । चक्र एक प्रकार से शीत गोदाम-कोल्ड स्टोर हैं और इन पर ताला जड़ा हुआ है । इन सात तालों की एक ही चाबी है । उसका नाम 'कुण्डलिनी' । जब उसके जागरण की साधना की जाती है तो यह ताले खुलते हैं । बीज बाहर लाया जाता है । शरीर रूपी साढ़े तीन एकड़ के खेत में वह बोया जाता है । यह छोटा खेत अपनी सुसम्पन्नता को अत्यधिक व्यापक बना देता है । पुराण कथा के अनुसार राजा बलि का राज्य तीनों लोकों में था । भगवान् ने वामन रूप में उससे साढ़े तीन कदम भूमि की भिक्षा माँगी । बलि तैयार हो गये । तीन कदम में तीन लोक और आधे कदम में बलि का शरीर नाप कर विराट् ब्रह्म ने उस सबको अपना लिया । हमारा शरीर साढ़े तीन हाथ लम्बा है । चक्रों के जागरण में यदि उसे लघु से महान-अण्ड से विभु कर लिया जाय तो उसकी साढ़े तीन हाथ की लम्बाई-साढ़े तीन एकड़ जमीन न रहकर लोक-लोकान्तरों तक विस्तृत हो सकती है और उस उपलब्धि की याचना करने के लिए भगवान वामन रूप धारण करके हमारे दरवाजे पर हाथ पसारे हुए उपस्थित हो सकते हैं ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

षट्चक्र ब्रह्माण्ड व्यापी शक्तियों के रेडियो केन्द्र

बाँसुरी में सात छिद्र सात स्वर कहलाते हैं, जब उनमें से आरोह–अवरोह क्रम में वायु फूँकी और उन छिद्रों का व्यवस्थित संचालन किया जाता है, तो एक ऐसी मधुर स्वर लहरी का गुञ्जार होता है, जिसे सुनकर हर कोई मुग्ध हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण की बाँसुरी के स्वर सुनकर समस्त ब्रज भाव विभोर हो उठता था । ऐसी ही एक बाँसुरी मनुष्य के शरीर में षट्चक्रों के रूप में भी विद्यमान है । सामान्य अवस्था में यह चक्र प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं, किन्तु गायत्री उपासना से जब उनका जागरण होता है तो साधकों को एक ऐसा अनहद् नाद सुनाई पड़ता है जिससे वह आत्म–विभोर हो उठता है, उसे ऐसी तृप्ति के दर्शन होते हैं, जिसके आगे संसार की कोई भी नियामत तुच्छ लगती है ।

चक्र शब्द का अर्थ पहिया नहीं नियमित गति क्रम भी होता है । भाग्य चक्र, जीवन–मरण चक्र, सुदर्शन चक्र आदि संयुक्त नामों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गाड़ी के पहिए की तरह जो भी वस्तु या स्थिति घूमने वाली हो, उसके लिए चक्र शब्द का प्रयोग किया जाता है । पृथ्वी सहित सौर मण्डल के ग्रह एक निर्धारित कक्षा में घूमते हैं, परमाणु भी अपने छोटे सौर मण्डल के साथ अपनी धुरी पर घूमते रहते हैं । दिन और रात की तरह शरीर में रक्ताभिषरण श्वाँस–प्रश्वाँस क्रिया में भी आवागमन का चक्र चलता रहता है । गति और प्रगति का जो क्रम संसार में सर्वत्र दीख पड़ता है, वही प्रकारान्तर से हमारे शरीर के विविध क्रिया–कलापों पर भी लागू होता है । ऐसे ही क्रिया–कलापों में एक विश्व–व्यापी प्राणशक्ति में से कुछ अंश शरीर में ग्रहण करने और छोड़ने का क्रम चलाने के शक्ति संस्थान विद्यमान हैं, जिन्हें योग की भाषा में चक्र कहा जाता है ।

नदी और नहरों के किनारे आटा पीसने की पनचक्कियाँ लगी होती हैं । बहता हुआ पानी जहाँ ऊपर से नीचे गिरता है वहाँ उस गिरने से उत्पन्न होने वाले दबाव से कुछ चक्के सम्बन्धित कर दिये जाते हैं और वे उस दबाव के कारण घूमने लगते हैं । इस घुमाव से चक्की के पहिए घूमने लगते हैं और आटा पीसने की मशीन अपना काम करने लगती है । विश्वव्यापी प्राणशक्ति का प्रवाह एक बड़ी नदी में बहने वाले जल

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

प्रवाह की तरह है । मनुष्य शरीर की तुलना प्रपात से की जा सकती है । शरीर में विद्यमान कुछ सूक्ष्म चक्र इस शक्ति प्रपात के साथ जुड़े रहने के कारण उस प्रवाह जन्य दबाव को अपने भीतर ग्रहण करते हैं और वे स्वयं घूमने लगते हैं । चक्रों का परिभ्रमण सूक्ष्म शरीर के सारे अन्तरंग क्रिया-कलाप को घुमाता है और हमारी आन्तरिक हलचलें अपना काम करने लगती हैं । विश्वव्यापी प्राणशक्ति की विद्युत भी हमारे सूक्ष्म चक्र ग्रहण करते हैं । जैसे बड़े बिजली घर से उत्पन्न होने वाली शक्ति को छोटे ट्रांसफार्मर अपने में ग्रहण कर लेते हैं और उससे अपने क्षेत्र की आवश्यकता पूरी करते हैं । उसी प्रकार हमारे सूक्ष्म शरीर में विद्यमान चक्र-विराट् प्राण चक्र से अपनी क्षमता के अनुरूप शक्ति प्राप्त करते हैं और उससे स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आनन्दमय, कोशों की गतिविधियाँ संचालित रख सकने की क्षमता प्राप्त करते हैं । इसी क्षमता से वे स्वयं विद्युत मोटरों की तरह घूमते हैं और शरीर सत्ता के विभिन्न घटकों को गति प्रदान करते हैं ।

सामान्यतया गति के तीन रूप हैं (१) चक्राकार-गोल (२) कुण्डल्याकार-पेच की चूड़ियों की तरह (३) तरंगाकार-लहरों की तरह । साधारण जीवन क्रम में हम बाह्य जगत की तरंग प्रक्रिया से लाभान्वित होते हैं । कानों में शब्द, त्वचा पर स्पर्श, जिह्वा पर रस, नाक में गन्ध, नेत्रों में रूप का अवगृहण तरंगों के रूप में ही होता है । हम प्रायः तरंगें ही फेंकते और तरंगें ही ग्रहण करते हैं । हमारी क्रियायें एवं विचारणाऐं अन्तरिक्ष में जो हलचलें उत्पन्न करती हैं वे तरंग रूप में ही आगे बढ़ती हैं और व्यक्तियों तथा वस्तुओं को प्रभावित करती हैं । इस प्रकार हम व्यापक शक्ति समुद्र में से एक-तिहाई का ही उपयोग कर पाते हैं । दो धाराऐं तो अछूती ही बनी रहती हैं जबकि उनकी क्षमता और भी अधिक है ।

दो तरंगें शरीर के अन्तःक्षेत्र में गतिशील रहती हैं । मूलाधार चक्र से मेरुदण्ड मार्ग में जो शक्ति प्रवाह चलता है वह पेच की चूड़ी की तरह कुण्डल्याकार होता है । इसलिए धारा को कुण्डलिनी कहते हैं । साधारण बन्दूको में तो ऐसे ही गोल छेद की पोली नली होती है, पर बढ़िया बन्दूकों का नली का भीतरी भाग चूड़ीदार होता है । गोली दागते समय उसे पेंचदार घुमाव की गति मिलती है फलतः वह लक्ष्य तक इसी गति से घूमती हुई पहुँचती है । जहाँ लगती है वहाँ छिद्र तो सामान्य होता है,

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

पर आगे वह अपनी पेचदार चाल के कारण बड़ा छिद्र कर देती है । मूलाधार से उठने वाले पेचदार प्रवाह भी ऐसे ही होते हैं और वे आगे बढ़ते–बढ़ते अधिकाधिक सशक्त होते जाते हैं ।

मस्तिष्क में उठने वाले विद्युत प्रवाह गोलाकार होते हैं । अस्तु उसे सूर्य, चन्द्र जैसे गोल ग्रह पिण्डों की उपमा दी जाती है, बूँदें भी गोल होती हैं । उसे उस प्रवाह के अमृत बिन्दुओं के समतुल्य माना जाता है और सोमरस से, स्वाति बूँदों से स्मरण किया जाता है । चातक की तृप्ति स्वाति वर्षा से होती है । स्वांति बूँदों से सीप में मोती, बाँस में वंश–लोचन, केला में कपूर होने की किम्वदन्तियाँ पदार्थ विज्ञान की दृष्टि से सही नहीं हैं । इस अलंकार में मस्तिष्क में झरने वाले प्रवाह को ही अमृत वर्षा के नाम से पुकारा गया है । सीप, चातक, केला, बाँस आदि– मूलाधार संस्थान की ओर इंगित किया गया है । मस्तिष्क और काम–बीज के बीच परस्पर आकर्षण तो है पर मिलन नहीं हो पाता । इस वियोग की अतृप्ति ही जीवन क्रम में विक्षोभ, असंतोष एवं अभाव भरे रहती है । यदि दोनों का मिलन हो सके तो इस संयोग का प्रतिफल आनन्द एवं उल्लास बनकर सामने आता है । यही स्थिति उत्पन्न करना कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य है ।

रेडियो यंत्र में लगी सुई को अलग नम्बरों पर लगा देने से उसमें लगे बैण्ड बदल देने से अलग–अलग ब्राडकास्ट स्टेशनों का सम्बन्ध बनता और बदलता है । रेडियो यन्त्र में ऐसी व्यवस्था है कि उसके विभिन्न पूर्जे थोड़ी फेर बदलने से अन्तरिक्ष में विभिन्न फ्रीक्वेन्सियों पर चल रहे शब्द प्रवाहों को पकड़ सकें । इसी व्यवस्था के आधार पर हम अपने रेडियो पर अभीष्ट प्रोग्राम सुन सकते हैं । मेरुदण्ड में अवस्थित चक्रों में ऐसी विशेषता है कि वे अनन्त आकाश में बह रही विभिन्न स्तर की चेतनात्मक शक्ति धाराओं के साथ सम्पर्क बना सकें । इन्हीं धाराओं को देवसत्ता कहते हैं । चक्रों के अधिपति विभिन्न देवता बताए गये हैं । इनका तात्पर्य है कि चक्रों के साथ चेतन जगत की महत्वपूर्ण फ्रीक्वेन्सियाँ सम्बन्धित हैं । उनका सम्पर्क एवं अनुदान प्राप्त कर सकना हर दृष्टि से मनुष्य के लिए उपयोगी ही सिद्ध हो सकता है ।

हमारा रेडियो यन्त्र ग्रहण करने का एक ही कार्य सम्पन्न कर पाता है । उसमें प्रेषण की, ब्राडकॉस्टिंग की क्षमता नहीं है । प्रेषण और ग्रहण का दुहरा काम कर सकने की क्षमता मेरुदण्ड स्थित चक्र संस्थान

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

में पाई जाती है । वे अन्तरिक्ष के विभिन्न क्षेत्रों एवं स्तरों के साथ सम्पर्क बनाने एवं आदान-प्रदान का द्वार खोलने में समर्थ हो सकते हैं । प्रसुप्त चक्र अविज्ञात एवं अनावश्यक स्थिति में उपेक्षित पड़े रहते हैं, पर यदि उन्हें जागृत किया जा सके तो जीवन विकास में महत्वपूर्ण उपयोग हो सकता है ।

संसार को परमाणुओं से बना हुआ एक खिलौना कहें तो अत्युक्ति न होगी । कुछ सीमित तत्वों के परमाणु ही विराट् जगत में परिभ्रमण करते और नाना प्रकार के ब्रह्माण्ड पदार्थ और परिस्थितियों की उत्पत्ति करते हैं । जीवन की सात अवस्थायें भी वस्तुतः इन परमाणुओं के संयोग से विनिर्मित सृष्टि क्रम ही है ।

पाश्चात्य अध्यात्मवेत्ता चेतना के सात शरीर मानते हैं । एक प्रत्यक्ष छः अप्रत्यक्ष । (१) भौतिक शरीर को वे (फिजिकल बॉडी) कहते हैं । इससे आगे के क्रमशः (२) आकाश शरीर (इथरिक बॉडी) (३) सूक्ष्म शरीर (एस्ट्रल बॉडी) (४) मनस् शरीर (मेन्ट बॉडी) (५) आत्म शरीर (स्प्रिचुअल बॉडी) (६) ब्रह्म शरीर (कॉस्मिक बॉडी) (७) निर्वाण शरीर इसे वे शरीर कहते हुए भी शरीर न कहकर "बीइंग एण्ड नोनबीइंग" की संज्ञा देते हैं । यह 'अनिर्वचनीय जैसा शब्द है ।

(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत (५) विशुद्धि (६) आज्ञा चक्र-यह षट्चक्र वर्ग में आते हैं । सातवाँ सहस्रार इनका अधिपति एवं सूत्र सञ्चालक है । मानवीय काया में अवस्थित यही परम तेजस्वी सप्त ऋषि हैं । जिनकी पीठ पर-जिनके समर्थन में सात ऋषि होंगे, उन्हें किसी प्रकार का अनुभव न होगा । निद्रित स्थिति में तो मनुष्य भी मृत तुल्य पड़ा रहता है । ऋषियों का अस्तित्व आत्मसत्ता के अन्तर्गत होते हुए भी यदि वे प्रसुप्त स्थिति में पड़े हैं तो उनका समुचित लाभ मिल सकना सम्भव न होगा ।

आत्म सूर्य के सप्त अश्व प्रमुख चेतना केन्द्रों के रूप में वर्णन किऐ गये हैं-(१) प्राण (२) चक्षु (३) जिह्वा (४) त्वचा (५) कान (६) मन (७) बुद्धि इन सातों को अश्व संज्ञा दी गई है ।

दिव्य जीव सत्ता में इन सातों का वर्णन इस प्रकार मिलता है । (१) देव (२) ऋषि (३) गन्धर्व (४) पन्नग (५) अप्सरा (६) यज्ञ (७) राक्षस । वैदिक देवताओं में इन्हीं का दूसरे रूप में वर्णन

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

है–(१) प्रजापति (२) अर्यमा (३) पूषा (४) त्वष्टा (५) वरुण (६) इन्द्र (७) मित्र । छन्द शास्त्र की दृष्टि से इनका उल्लेख जिन सात छन्दों में किया गया है वे (१) गायत्री (२) उष्णिक् (३) अनुष्टुप (४) वृहती (५) पंक्ति (६) त्रिष्टुप और (७) जगती है ।

गान विद्या के सप्त स्वर प्रसिद्ध हैं–स, रे, ग, म, प, ध, नि के नाम से इन्हें संगीत शास्त्र के आरम्भिक छात्र भी जानते हैं । सूर्य की सात किरणें (१) बैंगनी (२) जामुनी (३) नीले (४) हरे (५) पीले (६) नारंगी (७) लाल रंग की है । इन्हीं रंगों के प्रभाव से पदार्थों और प्रणियों में तरह–तरह के उभार एवं उतार–चढ़ाव आते रहते हैं ।

आयुर्वेद के अनुसार अपने प्रत्यक्ष शरीर में सप्त धातुऐं हैं–(१) रस (२) रक्त (३) मांस (४) मज्जा (५) अस्थि (६) मेरु (७) शुक्र । इन्हीं के सहारे काया का क्रिया–कलाप चलता है । सूक्ष्म शरीर का ढाँचा भी सात आधारों पर ही खड़ा है । (१) पाँच तत्व (२) पाँच प्राण (३) पाँच ज्ञानेन्द्रिय (४) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (५) पाँच तन्मात्राऐं (६) अन्तःकरण चतुष्टय (७) आकांक्षा संस्कार ।

स्थूल शरीर के आधारों को प्रत्यक्ष आँखों से देखा जा सकता है । सूक्ष्म शरीर के आधार भी सूक्ष्म होते हैं, अस्तु वे दृष्टिगोचर तो नहीं होते पर अस्तित्व उन सबका बना रहता है । भाप बनकर आकाश में उड़ जाने पर भी पदार्थ बना तो रहता है, पर उसका अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता । सूक्ष्म शरीर की सत्ता भूत–प्रेतों के रूप में, स्वप्न में, छाया पुरुष में, स्वर्ग–नरक भोगने में स्थूल शरीरधारियों की तरह ही काम करती है, पर उसका अस्तित्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता । दिव्यात्माऐं भी ऐसा ही सूक्ष्म कलेवर धारण करके इतना काम करती है जो स्थूल शरीर की तुलना में अत्यधिक होता है ।

षट्चक्रों का नाम भ्रामक है । वस्तुतः उन्हें सप्तचक्र ही कहना चाहिए । सहस्रार को इस चक्र श्रृंखला से अलग नहीं किया जा सकता । प्रत्येक चक्र भी सात आधारों से बना है । उसके स्वरूप निर्धारण की जो व्याख्या विवेचना है उसमें प्रत्येक के सात–सात विवरण दिये गये हैं– (१) तत्व बीज (२) वाहन (३) अधिदेवता (४) दल (५) यन्त्र (६) शब्द (७) रंग । इन्हीं विशेषताओं की भिन्नता से उनके अलग–अलग विभेद किये गये हैं । अन्यथा बाहर से तो उनकी आकृति एक जैसी ही है । उनकी क्षमताओं, विशेषताओं, और प्रतिक्रियाओं का

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

विवरण इन्हीं सात संकेतों के रूप में समझा जा सकता है ।

शरीर एक समूचा ब्रह्माण्ड है । जो कुछ इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में है उसे बीज रूप से मानवी पिण्ड में सजो दिया गया है । साधना द्वारा इन बीजों को अंकुरित और पल्लवित किया जाता है । ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सत्ता एक जैसी बताते हुए कहा गया है ।

ब्रह्माण्ड सत्तके देहे यथा देशं व्यवस्थितः ।

–शिव संहिता

यह शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है । जो ब्रह्माण्ड में है वही इस शरीर में भी मौजूद है ।

नदी, पर्वत, समुद्र, द्वीप आदि भी सात–सात ही गिनाये गये हैं । भूगोल के हिसाब से इनकी संगति नहीं बैठती । संसार में हजारों नदियाँ हैं । इसी प्रकार पर्वत भी सैकड़ों हैं । पृथ्वी पर महाद्वीप पाँच हैं । छोटे द्वीपों की संख्या तो लाखों तक पहुँचेगी । समुद्र भी सात कहाँ हैं । इस प्रकार भौगोलिक गणना के आधार पर यह ब्रह्माण्ड विवरण सही नही बैठता । किन्तु पिण्ड ब्रह्माण्ड की प्रमुख शक्तियों को इन रूपकों के माध्यम से समझाने वाले अलंकारिक संकेत का रहस्य समझा जा सके तो यह सभी सप्तक सही बैठते हैं ।

सात पर्वत यह हैं–(१) विद्रुम (२) हिमिशैल (३) द्युतिमान (४) पुष्पवान (५) कुशेशय (६) हरिशैल (७) मन्दराचल ।

सात नदियों के नाम हैं–(१) जलधर (२) दैवत (३) श्यामक (४) उदक (५) अम्बिकेय (६) रम्य (७) केशरी ।

सात चक्रों का सप्त अग्नियों तथा सात सोम संस्थाओं के रूप में भी वर्णन हुआ है । सोम संस्थाओं के नाम ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार गिनाये गये हैं–(१) आत्माग्नि स्टोम (२) उष्टवक्य (३) थोडसी (४) वाजपेयक (५) अति रात्र (६) आप्त (७) याम ।

अग्नि पुराण में सात चरु यज्ञ एवं सात हवि यज्ञों का वर्णन है । चरु यज्ञ हैं–(१) पुरोष्टक (२) पार्वण (३) श्रावणी (४) अग्रहायणी (५) चैत्र (६) अश्व (७) युजी ।

हवि यज्ञ भी सात हैं–(१) अग्न्याधेय (२) अग्निहोत्र (३) दर्श (४) पौर्णमास (५) चातुर्मास्य (६) आग्रहायण (७) निरुढ ।

सात अग्नियाँ हैं–(१) ब्रह्माग्नि (२) आत्माग्नि (३) योगाग्नि (४) कालाग्नि (५) सूर्याग्नि (६) वैश्वानर (७) आतप ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

मुण्डक उपनिषद के अनुसार अग्नि देव की सात जिह्वाऐं हैं–(१) काली (२) कराली (३) मनोजवा (४) लोहिता (५) धूम्रवर्णा (६) स्फुल्लिंगिनी (७) विश्वरुचि ।

सात समुद्रों और सात द्वीपों के नाम मार्कण्डेय पुराण में इस प्रकार गिनाये गये हैं ।

समुद्र–(१) लवण सागर (२) इक्षुसागर (३) सुरासागर (४) दुग्ध सागर (५) दधि सागर (६) घृत सागर (७) जल सागर ।

द्वीप–(१) जम्बूद्वीप (२) प्लक्ष द्वीप (३) शाल्मलि द्वीप (४) कुश द्वीप (५) क्रौच द्वीप (६) शाक द्वीप (७) पुष्कर द्वीप ।

इन सभी प्रतिपादनों में यह संकेत है कि हर स्तर की क्षमता बीज रूप में अपने भीतर विद्यमान है यदि उन्हें जागृत करने का प्रयत्न किया जाय तो व्यक्ति उच्चस्तरीय स्थिति तक निरन्तर बढ़ता चल सकता है और प्रगति के उच्चस्तर तक पहुँच सकता है । बीज का अस्तित्व और फल का परिणाम सुनिश्चित है । आवश्यकता उस कृषि कर्म की–बागवानी की रीति–नीति जानने अपनाने की है जिसे अध्यात्म की भाषा में साधना कहते हैं ।

अग्नि पुराण मन्त्र में गायत्री के साथ सात व्याहृतियों का प्रयोग होता है । भूः भुवः स्वः जनः तपः सत्यम् । यह सात व्याहृतियाँ हैं । इन्हें सात ऋषि एवं सात लोक भी कहा गया है । अग्नि पुराण में सात ऋषियों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं–

वशिष्ठः काश्यपोऽत्थात्रिर्जमदग्निः स गौतमः विश्वामित्र भरद्वाजो मुनयः सप्त साम्प्रतम् ।

(१) वशिष्ठ (२) काश्यप (३) अत्रि (४) जमदग्नि (५) गौतम (६) विश्वामित्र (७) भारद्वाज ।

इन सातों की सत्ता सप्त चक्रों में विद्यमान हैं । इन सातों की शक्ति इन्द्रियों के रूप में दृष्टिगोचर होती है ।

प्राणाः वा ऋषयः । इमौ एव गौतम भरद्वाजौ । अयमेव गौतमः अयं भरद्वाजः । इमौ एव विश्वामित्र जमदग्नि । अयमेव विश्वामित्रः अयं जमदग्निः । इमौ एव वशिष्ठ कश्यपौ अयमेव वशिष्ठः अयं कश्यपः वागेवात्रिः ।

–श्रुति

सात प्राण ही सात ऋषि हैं । दो कान गौतम और भारद्वाज हैं ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

दो आँखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं । दो नासिका छिद्र वशिष्ठ और काश्यप हैं । वाक् अत्रि हैं ।

सात लोक आकाश में खोजना व्यर्थ है । वे किसी ग्रह–नक्षत्र के रूप में नहीं हैं, वरन् आत्म–सत्ता चक्रों के रूप में ही उनका अस्तित्व है । कहा गया है–

मूलाधारे तु भूर्लोको स्वाधिष्ठाने भुवस्ततः स्वर्लोको नाभि देशे च हृदये तु महस्तथा । जनः लोके कण्ठ देशे, तपो लोकं ललाटके । सत्य लोकं महरन्ध्रे इति लोका पृथक्–पृथक् ।

–महायोग विज्ञान

(१) भू–लोक मूलाधार में (२) भुवः लोक स्वाधिष्ठान में (३) स्वः लोक नाभि स्थान में (४) मह लोक हृदय में (५) जन लोक कण्ठ में (६) तप लोक ललाट में (७) सत्य लोक ब्रह्मरंध्र में विद्यमान है । जहाँ स्थान मात्र गिना दिये गये हैं । वहाँ उन स्थानों में अवस्थित चक्रों का ही संकेत समझा जाना चाहिए ।

उपनिषद्कार ने मानवी काया को 'छः अरे' एवं 'सात चक्र' लगा हुआ विलक्षण रथ कहा है–यह षट्चक्रों का सप्त चक्रों का ही संकेत है–

ऊधेमे अन्य उपरे विलक्षण सप्त चक्रे शब्दर आहुर्पितम् ।

अन्य लोक उस विलक्षण को सात चक्र और छै अरों वाला कहते हैं ।

पद्म पुराण में भागवत माहात्म्य वर्णन सन्दर्भ में धुन्धुकारी प्रेत की मोक्ष उस कथा श्रवण के फलस्वरूप होने का उल्लेख है । यह प्रेत बाँस की गाँठों को फोड़ता हुआ नीचे से ऊपर चला था और गाँठें तोड़कर प्रेत योनि से छूटा तथा परम पद का अधिकारी बना था । अध्याय ५ श्लोक ६४ में यह बाँसों की गाँठ बेधे जाने का रहस्योद्घाटन करते हुए इसे यौगिक ग्रन्थि भेद बताया है । कहा गया है–

जडस्य शुष्कं वंशस्यं यत्र ग्रन्थि विभेदनम् ।
चित्रं किम तदा चित्त ग्रन्थिभेदः कथा श्रवात् ।।

इसमें सूखे और जड़ बाँस की गाँठें फटने का तात्पर्य चित्त की ग्रन्थियों का खुलना बताया गया है ।

भागवत पुराण के स्कन्ध २, अध्याय २ के १९, २०, २१ श्लोकों में महर्षि शुक्राचार्य ने विहंगम मार्ग से ब्रह्म निष्ठ योगियों के प्राण त्याग का विधान बताया है । इसमें षट्चक्र वेधन विधान की प्रक्रिया है । छहों

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

चक्रों को वेधन करते हुए अन्त में सहस्रार चक्र में प्राण को लय करते हुए प्राण त्याग करने की विधि समझाई गई है ।

यह सप्त ऋषि जिस पर अनुग्रह करते हैं उन्हें सद्गुणों की सात विभूतियाँ प्रदान करते हैं । स्पष्ट है कि सद्गुण ही वे देव अनुग्रह हैं जिनके मूल्य पर भौतिक और आत्मिक, सम्पदायें सफलतायें खरीदी जा सकती हैं । यह भ्रान्तियाँ निरस्त की जानी चाहिए कि उपासना के फलस्वरूप सीधी सम्पदाऐं मिलती हैं । सच्ची साधना के फलस्वरूप अन्तरंग में उत्कृष्टता उभरती है और सज्जनोचित सद्भावों का विस्तार होता है । बहिरंग में सत्प्रवृत्तियाँ सक्रिय होती हैं और क्रिया-कलापों में महामानवों जैसी प्रतिभा व्यवस्था एवं शालीनता की मात्रा बढ़ती है । जहाँ आत्म-विकास का यह स्वरूप दृष्टिगोचर हो समझना चाहिए कि वहाँ सच्ची साधना की गई और उसके फलस्वरूप व्यक्तित्व के परिष्कार के रूप में देव अनुग्रह अवतरित हुआ । व्यक्तित्व निखरने के फलस्वरूप ही भौतिक और आत्मिक सफलताओं के, ऋद्धि-सिद्धि के रूप में वे प्रतिफल प्राप्त होते हैं जिनका माहात्म्य साधनाओं की सफलता के रूप में वर्णन किया गया है ।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यस्तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संयोजयन्तितम् ।।

—महाभारत

ग्वाला जिस प्रकार लाठी लेकर पशुओं की रक्षा करता है उस तरह देवता किसी की रक्षा नहीं करते । वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि को सन्मार्ग पर नियोजित कर देते हैं ।

सप्त ऋषियों का अनुग्रह सात लोकों, सात द्वीपों, सात समुद्रों, सात पर्वतों, सात नदियों का स्वामित्व उपलब्ध होने के रूप में मिलता है । तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्माण्ड सत्ता का प्रतीक आत्म सत्ता पर अपना अधिकार आधिपत्य मिलता है । अपनी क्षमताओं को समझने, उन्हें उभारने और उपभोग करने का कौशल प्राप्त होता है । जिसे यह सफलता मिल सकी समझना चाहिए उसे ब्रह्माण्ड का आधिपत्य मिल गया ।

सात यज्ञ, सात अग्नि, सात सोम आदि की उपासना से जो प्रतिफल मिलते बताये गये हैं उन्हें भी उन्हीं सात ऋषियों के वरदान समझना चाहिए जो अपने आत्म सत्ता के हिमालय में निरन्तर निवास और तप करते हैं । इन्हीं शक्ति धाराओं को साधना विज्ञान में सात चक्र कह

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

गया है । प्रत्येक चक्र प्रत्येक ऋषि से एक–एक वरदान एक–एक सद्गुण के रूप में प्राप्त होता है । वे ही ऋद्धि–सिद्धियों के साथ में जीवन को देवोमय बनाते हैं और स्वर्गीय उपलब्धियों से सुसम्पन्न करते हैं ।

'यों पौराणिक गाथाओं में ऋषि, व्यक्ति–विशेष थे । महामानवों के रूप में योग और तप में निरत–स्व–पर कल्याण में संलग्न जीवनयापन करते हुए उनका वर्णन किया गया है । पर आत्म विज्ञान में ऋषि तत्व जागृत एवं प्रखर प्राण सत्ता को कहा गया है, वे सूर्य के समान एक कहे जा सकते हैं । अथवा सप्त किरणों के रूप में उनके सात नाम दिये जा सकते हैं और सुविधा के लिए सात वर्गों में विभाजित करके सात व्याख्याऐं की जा सकती हैं । सृष्टि के आदि में जब जीव सत्ता प्रकट हुई तो उसका स्वरूप 'ऋषि प्राण' के रूप में था । यह जीवात्मा का शुद्ध स्वरूप है । उसी स्थिति में पहुँचने पर आत्मा को देवात्मा एवं परमात्मा के रूप में परिष्कृत बनने का अवसर मिलता है । शतपथ में इस रहस्य का इस प्रकार उल्लेख हुआ है ।

असद्वा इदमग्न आसीत् तदाहुः कि तदसदासी दित्यृष्यों वा व तेऽमेऽ सदासीत तदाहुः के ते ऋषय इति, प्राणा वा ऋषय ।

–शतपथ ६/१/१/१

पहले सृष्टि से पूर्व में यह असत् था । तब कहा–वह असत् क्या था ? उत्तर–वे ऋषि ही थे । वे सृष्टि से पूर्व असत् थे । तब कहा–वे ऋषि क्या थे ? प्राण ही ऋषि थे ।

सप्त ऋषि मरते नहीं, वे आकाश में सात तारागणों की श्रृंखला के रूप में भी चमकते हैं और हमारी जीव सत्ता में भी सप्त चक्र बन कर विद्यमान हैं । जो इन ऋषियों के सान्निध्य में रहने की–उनका अनुग्रह प्राप्त करने की साधना करता है वह उन ऋषियों की तरह ही ब्रह्म वर्चस् सम्पन्न बन जाता है । अथर्व वेद इस तथ्य की साक्षी इस प्रकार देता है ।

तद्ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उपजीवन्ति ब्रह्मवर्धस्युपजीव नायो भवति य एवं वेद ।

–अथर्व ८/१३, ९/१०/४

सप्त ऋषि तप और बल ब्रह्म के आधार पर जीवित रहते हैं, जो इस रहस्य को जानता है वह ब्रह्मवर्चस् और जीवन को प्राप्त करता है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

सात चक्रों को सप्त प्राण केन्द्र कहा गया है । इन्हीं को, सात यज्ञ, सात समिधा, सात लोक आदि कहा गया है । ये सभी सात–सात अन्तर्गुहा में निहित हैं । इस रहस्य को मुण्डकोपनिषद् २/१/८ में प्रकट किया गया है ।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्,
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चतन्ति प्राणाः,
गुह्याशया निहिताः सप्त सप्त ।।

–मुण्डक २/१/८

सात चक्रों में समस्त तीर्थ प्रतिनिधि रूप में विद्यमान हैं । इनका अवगाहन करने से समस्त तीर्थों का पुण्य फल साधक को प्राप्त होता है ।

ऐसे अनेक तथ्यों पर विचार करके तत्वज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुण्डलिनी के चक्र एक प्रकार की फ्रीक्वैसियाँ हैं जो ब्रह्माण्ड व्यापी विशिष्ट शक्तियों से चेतना का सम्बन्ध जोड़ती हैं । इस संयोग का नाम ही सिद्धि है । वह शक्तियाँ ही देवता, ऋषि और लोक कहलाती हैं । उनकी उपलब्धि जंग लगे लौह जीवन को भी खरा कुन्दन, सामान्य मनुष्य को सम्राटों जैसा ऐश्वर्यवान बना देती है । सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं शेष रहता जो इन चक्रों को जागृत कर लेने के बाद मिल न सकता हो ।

इन चक्रों के जागरण के लिए नियमित जप के अतिरिक्त पंचकोशों की अनावरण साधना का उच्चस्तरीय अभ्यास भी करना पड़ता है । यों सामान्य जप उपासना से भी उनका विकास होता है और शनैः शनैः इन चक्रों में सन्निहित शक्तियों का लाभ मिलता है, पर यदि उस शक्ति की अधिक मात्रा अभीष्ट हो तो उच्चस्तरीय साधना का विकास करना पड़ता है । वह अभ्यास कठिन तो है, पर उनसे साधक को वह शक्तियाँ मिलती हैं, जिन्हें पाकर वह इन्द्र जैसी सामर्थ्य, कुबेर जैसी सम्पन्नता और ऋषियों जैसी त्रिकालदर्शी सिद्धि का आनन्द लाभ प्राप्त करता है ।

कुण्डलिनी महाशक्ति का साक्षात्कार

कुण्डलिनी महाशक्ति का परिचय, स्थान और स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह मूलाधार चक्र के अग्नि कुण्ड में निवास करती है । अग्नि स्वरूप है । सुप्त–सर्पिणी की तरह सोई पड़ी है । स्वयंभू महालिंग से–शिव लिंग से लिपटी पड़ी है । इसी स्थिति की झाँकी शिव

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

प्रतिमाओं में कराई जाती है । योनि क्षेत्र में एक सर्पिणी शिवलिंग से लिपटी हुई प्रदर्शित की जाती है । शिव पूजा में इस प्रतिमा पर जल चढ़ाने का विधान है । रुद्राभिषेक में जल कलश के पेंदे में छिद्र करके उसे तीन टाँग की तिपाई पर स्थापित करते हैं और उसमें से एक-एक बूँद पानी शिव लिंग पर टपकता रहता है । यह कुण्डलिनी का ही सम्प्र स्वरूप है ।

सहस्रार चक्र को अमृत कलश कहा गया है । उससे सोमरस टपकने का उल्लेख है । खेचरी मुद्रा में इसे 'अमृत स्राव' बताया गया है । यह स्राव अधोमुख है । नीचे की दिशा में रिसता टपकता रहता है । कुण्डलिनी मूल तक जाता है ।

कुण्डलिनी महाशक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने और अमृत सोम का आस्वादन कराने का लाभ ब्राह्मी एकता के माध्यम से ही सम्भव है । यही कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य है । सुप्त सर्पिणी अग्नि कुण्ड में पड़ी-पड़ी विष उगलती रहती है और उससे जलन ही जलन उत्पन्न होती है । वासना की अग्नि शान्त नहीं हो सकती, वह शरीर और मन की दिव्य सम्पदाओं का विनाश ही करती रहती है । इसका समाधान अमृत रस को पान करने, सोम सम्पर्क से ही सम्भव होता है । यह तथ्य जन-साधारण को समझाने के लिए तीन टाँग की तिपाई पर कलश स्थापित करके शिवलिंग पर अनवरत जल धार चढ़ाने की व्यवस्था की जाती है और इस आध्यात्मिक आवश्यकता का परिचय कराया जा सकता है कि जलन का समाधान मानसिक एवं आत्मिक अमृत रस पीने से, बौद्धिक एवं भावनात्मक उत्कृष्टता का रसास्वादन करने से ही सम्भव हो सकता है ।

रुद्राभिषेक में जल कलश के नीचे जो तीन टाँग की तिपाई रखी जाती है, वह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की प्रतीक है । इन्हीं तीन आधारों के सहारे कुण्डलिनी जागरण की पुण्य प्रक्रिया सम्पन्न होती है । अग्नि और सोम के मिलन की आवश्यकता और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले देवत्व का ही प्रत्यक्षीकरण रुद्राभिषेक के कर्मकाण्डों में किया जाता है ।

कुण्डलिनी परिजप में स्थान-स्थान पर स्वयंभू लिंग की चर्चा है । बहुत स्थानों पर उसे 'कन्द' भी कहा गया है । यह क्या है ? इसे जानने के लिए स्थूल शरीर से सम्बन्धित शरीर शास्त्र और सूक्ष्म शरीर से

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

सम्बन्धित अध्यात्म शास्त्र का पर्यवेक्षण किया जा सकता है । शरीर में यह घटक सुषुम्ना का, मेरुदण्ड का, नीचे वाला अन्तिम छोर है । प्रत्यक्ष हलचलों की दृष्टि से इस संस्थान का इतना महत्व नहीं जितना कि वहाँ से निकलने वाली उस विद्युत शक्ति का जो इस समूचे क्षेत्र के अति महत्वपूर्ण संस्थानों को प्रभावित एवं अनुप्राणित करती है ।

कन्द का स्थूल शरीर में प्रतीक प्रतिनिधि तलाश करना हो तो दृष्टि 'कॉडा इक्वाइना' पर जाकर टिकती है । मेरुदण्ड मस्तिष्क से प्रारम्भ होकर चंचु प्रदेश की अन्तिम कशेरुका तक जाती है और उसके बाद रेशमी धागों की भांति शुण्डाकृति हो जाती है। उसके अन्त में अगणित पतले–पतले धागे से पैदा हो जाते हैं, जिनसे नाड़ी तन्तुओं का एक सघन गुच्छा तैयार हो जाता है । इसी गुच्छक को "कॉडा इक्वाइन" कहते हैं । सूक्ष्म शरीर के 'कन्द' का इसे प्रतिनिधि कहा जा सकता है । शरीर शास्त्र की दृष्टि से यही स्वयंभू लिंग है । मूलाधार चक्र में 'आधार' शब्द इसी स्थान के लिए व्यवहृत हुआ है । रीढ़ की अन्तिम चार अस्थियों के सम्मिलित समुच्चय को भी कई मनीषियों ने 'कन्द' बताया है । मलमूत्र छिद्रों के मध्य स्थान पर मूलाधार बताया गया है । उसे चमड़ी की ऊपरी सतह नहीं मान लेना चाहिए वरन् उस स्थान की सीध में ठीक ऊपर प्रायः तीन अंगुल ऊँचाई पर अवस्थित समझना चाहिए । मस्तिष्क में आज्ञाचक्र भी भ्रूमध्य भाग में कहा जाता है, पर वह भी ऊपरी सतह पर नहीं तीन अंगुल गहराई पर है । ब्रह्मरन्ध्र भी खोपड़ी की ऊपरी सतह पर कहाँ है ? वह भी मस्तिष्क के मध्य केन्द्र में है । ठीक इसी प्रकार मूलाधार को भी मल–मूत्र छिद्रों के मध्य वाली सीध पर अन्तःगह्वर में अवस्थित मानना चाहिए ।

यहाँ एक बात हजार बार समझ लेनी चाहिए कि अध्यात्म शास्त्र में शरीर विज्ञान में विशुद्ध रूप से सूक्ष्म शरीर का वर्णन है । स्थूल शरीर में तो उसकी प्रतीक छाया ही देखी जा सकती है । कभी किसी शारीरिक अंग को सूक्ष्म शरीर से नहीं जोड़ना चाहिए । मात्र उसे प्रतीक प्रतिनिधि भर मानना चाहिए । शरीर के किसी भी अवयव विशेष में वह दिव्य शक्तियाँ नहीं हैं जो आध्यात्मिक शरीर विज्ञान में वर्णन की गई हैं । स्थूल अंगों से उन सूक्ष्म शक्तियों का आभास मात्र पाया जा सकता है ।

मूलाधार शब्द के दो खण्ड हैं । मूल+आधार । मूल अर्थात् जड़ (बेस) आधार अर्थात् सहायक (सपोर्ट) जीवन सत्ता का मूल–भूत

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

आधार होने के कारण उस शक्ति संस्थान को मूलाधार कहा जाता है । वह सूक्ष्म जगत में होने के कारण अदृश्य है । अदृश्यों का प्रतीक चिन्ह प्रत्यक्ष शरीर में भी रहता है । जैसे दिव्य दृष्टि के आज्ञा चक्र को पिट्यूटरी और पीनियल रूपी दो आँखों में काम करते हुए देख सकते हैं । ब्रह्मचक्र के स्थान पर हृदय को गतिशील देखा जा सकता है । नाभिचक्र के स्थान पर यानि आकृति का गड्ढा तो मौजूद ही है । मूलाधार सत्ता को मेरुदण्ड के रूप में देखा जा सकता है । अपनी चेतनात्मक विशेषताओं के कारण उसे वह पद एवं गौरव प्राप्त होना हर दृष्टि से उपयुक्त है । प्राण का उद्गम मूलाधार पर उसका विस्तार, व्यवहार और वितरण तो मेरुदण्ड माध्यम से ही सम्भव होता है ।

मूलाधार के ऊपर और स्वाधिष्ठान से कुछ नीचे वाले भाग में शरीर शास्त्र के अनुसार 'प्रोटेस्ट, ग्लैण्ड' है । शुक्र संस्थान यही होता है । इसमें उत्पन्न होने वाली तरंगें काम प्रवृत्ति बन कर उभरती हैं । इसी से जो हारमोन उत्पन्न होते हैं, वे वीर्योत्पादन के लिए उत्तरदायी होते हैं । स्त्रियों का गर्भाशय भी यहीं होता है । सुषुम्ना के निचले भाग में लम्बर और सेक्रल प्लैक्सस नाड़ी गुच्छक हैं । जननेंद्रियों की मूत्र त्याग तथा कामोत्तेजन दोनों क्रियाओं पर इन्हीं गुच्छकों का नियन्त्रण रहता है । यहाँ तनिक भी गड़बड़ी उत्पन्न होने पर इनमें से कोई एक अथवा दोनों ही क्रियाऐं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं । बहुमूत्र, नपुंसकता, अति कामुकता आदि के कारण प्रायः यहीं से उत्पन्न होते हैं ।

गर्भाशय की दीवारों से जुड़ हुए नाड़ी गुच्छक ही गर्भस्थ शिशु को उसके नाभि मार्ग से सभी उपयोगी पदार्थ पहुँचाते रहते हैं । इन गुच्छकों को यह पहचान रहती है कि कितनी आयु के भ्रूण को क्या-क्या पोषक तत्व चाहिए । गर्भाशय के सम्वेदनशील नाड़ी गुच्छक उस अनुपात का-मात्रा का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और बिना राई रत्ती व्यतिक्रम किये शिशु की आवश्यकता पूरी करते रहते हैं ।

जीवन की आवश्यकता पूरी करने के लिए सबसे प्रथम और सबसे आवश्यक क्रिया चूसने की होती है । बच्चे में यह प्रवृत्ति (रिप्लेक्स) उसे माता का स्तन पान करने की उत्तेजना देता है । यही प्रवृत्ति प्रौढ़ता आने पर योनेच्छा (सेक्स रिप्लेक्स) के रूप में विकसित होती है । बिना किसी प्रशिक्षण के यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ अपने-अपने ढंग से हर प्राणी में अन्तःप्रेरणा से ही उठती और प्रयोग में आती हैं । इन

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

जीवनोपयोगी प्रेरणाओं का केन्द्र यही स्थान है, जिसे कन्द, कुण्ड या काम बीज कहते हैं ।

कन्द का एक नाम कर्म भी है । इसे कच्छपावतार का प्रतिनिधि बताया गया है । उसके पैरों को सिकुड़ने–फैलने वाले वाहन को वहाँ से निसृत होने वाली शक्ति धाराओं की ओर संकेत किया गया है । कन्द की आकृति अण्डे के समान मानी गई है । उसे कछुए की उपमा भी दी गई है । समुद्र मंथन की कथा में रई मंदिराचल पर्वत की बनाई गई थी । उस पर्वत के नीचे भगवान कूर्मावतार के रूप में कच्छप बनकर बैठे थे और उस भार को अपनी पीठ पर उठाया था । यह कूर्म या कन्द की ही अलंकारिक व्याख्या है ।

नाड़ी गुच्छकों के अतिरिक्त कन्द की व्याख्या मेरुदण्ड की अन्तिम चार अस्थियों और उस स्थान पर बिखरे पड़े नाड़ी संस्थानों के रूप में भी की जाती है । इसे समझने के लिए मेरुदण्ड की अस्थि संरचना को समझना होगा ।

शरीर विज्ञान के अनुसार मेरुदण्ड छोटे–बड़े ३३ विरूपस्थि खण्डों या कशेरुओं–वर्ट्रीब्रा से मिल कर बना है । आकृति में वह सर्पाकार है । प्रत्येक दो कशेरु के मध्य में एक मांस निर्मित गद्दी–सी रहती है । जिस पर प्रत्येक कशेरु टिका और सूत्रों से कसा हुआ है । इसी कारण यह लचीला है और अपनी धुरी पर हर दिशा में घूम सकता है । उसे पाँच भागों में बाँटा जा सकता है ।

(१) ग्रीवा–सर्वाइकल–७ कशेरू (२) पीठ–थोरेक्स–१२ कशेरू (३) कटि प्रदेश–लम्बर–५ कशेरू (४) वस्तिगह्वर–त्रिक प्रदेश–सेक्रल–५ कशेरू (५) पुच्छिकास्थि–चंचु–कॉक्सीक्स–४ कशेरू । सब मिलाकर इन तेतीस खण्डों को तैंतीस देवता कहा गया है । इनमें से प्रत्येक में सन्निहित दिव्य क्षमता को देवता माना गया है ।

मेरु दण्ड पोला तो है पर ढोल की तरह खोखला नहीं । उसमें मस्तिष्कीय मज्जा भरी हुई है । प्रत्येक कशेरू के पिछली ओर दाँयें–बाँयें अर्ध वृत्ताकार छिद्र होता है, जिसमें से छोटे नाड़ी सूत्रों से निर्मित बड़ी नाड़ियाँ बाहर निकलती हैं । मेरुदण्ड का निचला भाग शंकु के आकार का है जिसे–फाइनम टर्मीनिल कहते हैं ।

चंचु प्रदेश के कशेरू जितने छोटे हैं, उतने ही चौड़े हैं । वे अन्दर से पोले भी नहीं हैं और एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं । यह चार कशेरू

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

मिल कर अण्डे की आकृति वाला अथवा फूल की कली के सदृश आकार बनता है । इसे 'कॉक्सीक्स' कहते हैं । इस गोलक को कुण्डलिनी योग में 'कन्द' एवं स्वयंभू लिंग के नाम से पुकारा गया है । कुण्डलिनी शक्ति इसी के इर्द-गिर्द सर्पिणी की तरह लिपटी मानी गई है ।

नाड़ी गुच्छकों एवं मेरुदण्ड के निम्न भाग के अस्थि समूहों के 'ऊपर एक सूक्ष्म शक्ति छाई हुई है, उसी को मूलाधार का, नाभिक (न्यूक्लियस) समझा जाना चाहिए । उसी के प्रभाव से उस क्षेत्र में बिखरे पड़े अनेक संस्थान अपना-अपना काम करते और एक से एक बड़े-बड़े प्रभाव उत्पन्न करते देखे जा सकते हैं । कमर से लेकर पेडू और जननेन्द्रिय मूल तक का पूरा क्षेत्र दक्षिणी ध्रुव के समतुल्य माना गया है और वहाँ किसी भी क्षेत्र में जो कुछ होता है उस सब पर मूलाधार का प्रभाव आँका जा सकता है । नाभि, गुर्दे, मूत्राशय, यौन संस्थान, पौरुष ग्रन्थियाँ आदि की समस्त गतिविधियों को-प्रजनन प्रक्रिया को उसी दिव्य केन्द्र के अनुदान एवं चमत्कार कह सकते हैं । जीवनी शक्ति का, क्रिया शक्ति का, उमंग-उत्साह का केन्द्र इसी को कहा गया है । कन्द के स्वरूप और महत्व का वर्णन अध्यात्म शास्त्रों से इस प्रकार हुआ है-

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्ति शुभमोक्षप्रदायनी ।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।।

-गोरक्ष पद्धति

मंगलमय मोक्ष प्रदायिनी कुण्डलिनी शक्ति 'कन्द' के ऊर्ध्व भाग में अवस्थित है । वही प्रसुप्त होने पर मूढ़मति लोगों को बन्धन में बँधे हुए है । इस मर्म को जो जानता है वही वास्तविकता को जानने वाला ज्ञानवान है ।

गुदाद्वय गुलतश्चोर्ध्व मेढ्रैकांगुलतस्त्वधः ।
एव चास्ति समं कन्दं समता चतुरंगुलम् ।।

-शिव संहिता

गुदा एवं शिशन के मध्य में जो योनि है वह पश्चिमाभिमुखी अर्थात् पीछे को मुख है, उसी स्थान में कन्द है और इसी स्थान में सर्वदा कुण्डलिनी स्थित है ।

तन्मध्ये लिंगरूपी द्रुतकनक-
कलाकोमलः पश्चिमास्यो ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथम,
किसलयाकाररूपः स्वयम्भुः ।
विद्युत्पूर्णेन्दुविम्बुप्रकरकरचय-
स्निग्धसन्तानह्रसी काशो ।
वासी विलासी विलसति,
सरिदावर्त्तरूप प्रकारः ।।
तस्योद्धवे विसतन्तुसोदर-
लसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी ।
ब्रह्मद्वारमुख मुखेनं मधुरं,
सछादयन्ती स्वयम् ।
शंखावर्तनिभा नवीनचपला-
मालाविलासास्पदा ।
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि,
लसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः ।।

–षट्चक्र निरूपण

अर्थात्–त्रिकोण के भीतर स्वयंभू लिंग है जिसका वर्ण स्वर्ण के समान है और जिसका सिर नीचे की ओर है । उस नूतन किशलय के समान देव का प्रकाश ज्ञान–ध्यान द्वारा ही सम्भव है । विद्युत और पूर्ण चन्द्रमा के समान ही वह स्निग्ध सौन्दर्ययुक्त है । इस स्वयंभू लिंग पर कमल–तन्तु के समान अति सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति सो रही है । वह जगत को मोहित करने वाली है और ब्रह्मद्वार के मुख को अपने मुख से ढके हुए है । शंख की चक्रवत् रेखाओं के समान उसकी चमकीली सर्पाकार आकृति शिवलिंग के चारों ओर साढ़े तीन फेरे लिए हुए है ।

कुण्डलिनी की तुलना तो विद्युत शक्ति, ऊर्जा एवं आभा से की गई है । "तडिल्लता समरुचिर्विद्युल्लेखेव "भास्वरा" सूत्र में उसे बिजली की लता रेखा जैसी ज्योतिर्मय बताया गया है । उसी प्रकार अन्यत्र उसका उल्लेख "तडिल्लेखा तन्वी तपनशर्शि वैश्वानरमयी" के रूप में किया गया है । उसे प्रचण्ड अग्नि शिखा एवं दिव्य वैश्वानर के समतुल्य कहा गया है ।

मूलाधारस्य ब्रह्मयात्म तेजो मध्ये व्यवस्थिता ।
जीव शक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराय तेजसी ।।

–योग कुण्डल्युनिषद्

मूलाधार के मध्य वह आत्म तेज, ब्रह्म तेज रूपी कुण्डलिनी निवास

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

करती है । वही जीव शक्ति, प्राण शक्ति है । वे तेज रूप है ।

आधार शक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्ति पदास्पदः ।।

—वृहज्जावालोपनिषद्

मूलाधार (चक्र) की शक्ति से धारण हुई यह कालाग्नि ऊर्ध्वगामी है और उसी प्रकार सौम निम्नगामी है, जो शिव शक्तिमय कहलाता है ।

मूलाधारस्थ वहवयात्म तेजो मध्ये व्यवस्थिता ।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकारण तैजसी ।।

—योग कुण्डल्युपनिषद्

कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्थित आत्माग्नि तेज के मध्य में अवस्थित है । वह जीव की जीवनी शक्ति है, तेजस् और प्राणाकार है ।

मूलाधाराभिधं चक्रं प्रथमं समुदीरितम् ।
तत ध्येयं स्वरूप तु पावकाकारमुच्यते ।।
स्वाधिष्ठानाभिधं चक्र द्वितीयं चोपरिस्थितम् ।
प्रवालाङ्कुरं तुल्य तु तत्र ध्येयं निगद्यते ।।
तृतीयं नाभिचक्रे तु ध्येयं रूपं तड़ित्निभम् ।
तुर्ये हृदयचक्रे तु ज्योतिर्लिंगाकृतीर्य्यते ।।
पञ्चमे कण्ठचक्रेतु सुषुम्ना श्वेतवर्णिनी ।
ध्येय षष्ठे तालुचक्रे शून्यचित्तलयार्थकम् ।।
भ्रू चक्रे सप्तमे ध्येयंदापाङ्गुष्टप्रमाणकम् ।
आज्ञाचक्रेऽष्टमे ध्येयं रूपं धूम्रशिखाकृतिः ।।
आकाशचक्रे नवमे परशुः स्वोद्धर्व शक्तिकः ।
एव क्रमेण चक्राणि ध्येयरूपाणि विद्धि च ।।
अखण्डैकरसत्वेन ध्येयस्यैक्येऽप्युपाधितः ।
आकारा विविधायुक्ता नोपाधिश्चेतरः स्वतः ।।
विद्याशक्ति विलासेन पावकात् विस्फुलिंगवत् ।
अकस्मात् ब्रह्मणोऽखंडात् विविधाकृतयोऽभवन् ।।

—महायोग विज्ञान

मूलाधार चक्र में आत्म ज्योति अग्नि रूप दीखती है । स्वाधिष्ठान चक्र में वह प्रवाल अंकुर—सी प्रतीत होती है । मणिपूर में विद्युत जैसी चमकती है । नाभिचक्र में वह बिजली जैसी चमकती है । हृदय कमल के अनाहत चक्र में वह लिंग आकृति—सी प्रतीत होती है । कण्ठ चक्र में

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

वह श्वेत वर्ण, तालु चक्र में शून्याकार एकरस अनुभव में आती है । भ्रू चक्र में अँगुठे के प्रमाण जलती हुई दीप शिखा जैसी भासती है । आज्ञाचक्र में धूम्र शिखा जैसी और सहस्रार चक्रम में चमकते हुए परशु जैसी दीखती है ।

यह सभी ज्योतियाँ एक ही हैं । सभी आत्म ज्योति हैं । सभी परम आनन्ददायिनी हैं । विद्या शक्ति कुण्डलिनी की क्रीड़ा से एक ही अग्नि की अनेक चिनगाररियों की तरह यह अनेक तरह की प्रतीत होती हैं ।

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हत्ता ।।
ततो यातौ वह्नयप्यानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सप्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां ब्रजेत् ।।

—योग कुण्डल्युपनिषद् १/४३, ४४, ४५

उस अग्नि मण्डल में जब अपान प्राण जाकर मिलता है तो अग्नि की लपटें और तीव्र हो जाती हैं । उस अग्नि से गरम होने पर सोई कुण्डलिनी जागती है और लाठी से छेड़ने पर सर्पिणी जिस प्रकार फुसकार कर उठती है वैसे ही यह कुण्डलिनी भी जागृत होती है ।

प्राणस्थान ततो वह्नि प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डली याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ।।
तेनाग्निना च सतप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसाय स्वशरीर तु सुषुम्नाबदनान्तरे ।।

—योग कुण्डल्युपनिषद् १/६५, ६६

अग्नि स्थान में प्राण के पहुँचने से उष्णता से संतप्त कुण्डलिनी अपनी कुण्डली छोड़कर सीधी हो जाती है और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है ।

योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्तौ नित्यमञ्जसा ।
आधारे सर्व्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ।।

—शारदा तिलक

वह कुण्डलिनी शक्ति योगियों के हृदय में नृत्य ही नृत्य करती है । बिजली की तरह स्फुरणा करती है । वही सम्पूर्ण प्राणियों का आधार है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

मूलाधारे स्मरेद्दिव्यं त्रिकोणं तेजसां निधिम् ।
शिखा आनीय तस्याग्नेरथ उर्ध्वं व्यवस्थिता ।।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट् ।।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽनिः चन्द्रमाः ।
इति कुण्डलिनी ध्यात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

—कलिकोपनिषद्

मूलाधार में दिव्य त्रिकोण तेज-पुञ्ज, ऊर्ध्वगामी तेज-शिखा के मध्य, परब्रह्म अवस्थित है । वह तेज ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अक्षर, काल, अग्नि, चन्द्रमा, प्राण आदि है । ऐसा कुण्डलिनी ध्यान करना चाहिए ।

ध्यात्वैतन्मूलचक्रान्तरविवरलसत्कोटिसूर्यप्रकाशं
वाचामीशो नरेन्द्रः स भवति सहसा सवविद्याविनोदी ।
आरोग्यं तस्य नित्यं निरवधि च महानन्दचित्तान्तरात्मा
वाक्यैः काव्यप्रबन्धैः सकलसुरगुरून् सेवते शुद्धशीलः ।।

—षटचक्र निरूपणम १४

मूलाधार चक्र में कोटि सूर्य जैसे प्रकाश से युक्त कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान रखने पर वाणी की सिद्धि होती है, वह मनुष्यों का नेतृत्व करता है । विद्यावान बनता है । आरोग्य बनता है । चित्त में आनन्द रहता है । ऐसा शीलवान साधक देवताओं द्वारा पूजित होता है ।

निर्वाणाभ्यन्तरगता वह्नि रूपा निवोधिता ।
नारोऽव्यक्तस्त दुपरिक्रोट्यादित्य सन्निभा ।
अत्रैव कुण्डली शक्ति विहरेत् विश्वव्यापिनी ।।

—कौलामृत

वह कुण्डलिनी शक्ति अग्नि रूप है । कोटि सूर्य के समान चमकती है । वह परम शक्ति है । विश्व में विस्तृत विहार करती है ।

मूलाधारे मूल विद्यां विद्युत्कोटि सम प्रभाम् ।

—ज्ञानार्णव तंत्र

मूलघार चक्र में वह मूल विद्या कोटि विद्युत के समान चमकती है ।

कोटि सौदामिनीभासां स्वयंभू लिंग वेष्टिनाम् ।

—तन्त्रसार

स्वयंभू लिंग में लिपटी हुई वह कुण्डलिनी शक्ति कोटि विद्युत की तरह चमकती है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

हिमाचल प्रदेश में ज्वालामुखी पर्वत पर निकलने वाली अग्नि शिखा को देवस्थान की शक्ति माना गया है । वहाँ आराधना उपासना के लिए दूर-दूर से भक्तजन जाते हैं । अग्नि ज्वाला को दैवी शक्ति मानने के पीछे यह कुण्डलिनी अग्नि का ही तारतम्य है । यज्ञाग्नि में अग्निहोत्र करने, घृतधारा चढ़ाने के पीछे भी अग्नि में सौम के संयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन है । ब्रह्माग्नि के संयोग को कुण्डलिनी साधना कहा गया है ।

अग्नि की उत्पत्ति का स्कन्द पुराण में एक मनोरंजक उपाख्यान आता है । सनत्कुमार की अग्निजन्य जिज्ञासा का समाधान करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं-प्रजापति ने सृष्टि के आदि में दिव्य शत वर्षों की अवधि तक महान तप किया । इसमें 'भूः भुवः स्वः शब्द उत्पन्न हुआ । इसका मन के साथ समावेश होने से अग्नि उत्पन्न हुई । वह नीचे गिरी तो भूमि जलने लगी, ऊपर उठी तो आकाश जलने लगा । वह शब्द रूप स्फुल्लिंगों से युक्त, स्वर्णिम आभा वाला परम दिव्य था ।

अग्नि ने ब्रह्माजी से कहा-' मैं भूख से स्वयं जला जा रहा हूँ । मुझे आहार दीजिए ।' ब्रह्माजी ने अपने शरीर के एक-एक करके सभी अवयव उसे खिला दिये । तो भी उसकी तृप्ति नहीं हुई और भूखा-भूखा ही चिल्लाता रहा । कोई और उपाय न देखकर ब्रह्माजी ने अग्नि से कहा-जो व्यक्ति कामुकता से अभिभूत हो तू उनकी देह में घुस जा और उनकी समस्त धातुओं का भक्षण किया कर ।

रोरूयमणि घाग्नौ तु पुनर्ब्रह्मा कृपान्वितः ।
आह कामाभि भूतानां भुंक्ष्वं त्वं देह धातवः ।
ते काले लब्ध कामस्य सावृत्तिः सम्प्रकल्पिता ।।

-स्कन्द पुराण

रुदन करते हुए अग्नि से ब्रह्माजी ने कृपा पूर्वक कहा तू कामुकों के शरीर में घुस कर उनके धातु संस्थान को खा लिया कर ।

अग्नि ऐसा ही करने लगा किन्तु तो भी उसकी तृप्ति न हुई । इस पर ब्रह्माजी ने उसे मुनियों और देवताओं के अन्तःकरण में प्रवेश करने के लिए कहा । तब कहीं अग्नि तृप्ति हुई और शान्ति मिली ।

ब्रह्मातमाहत्वमपि यथेष्टां वृत्तिमाश्रय ।
देवमध्ये वहिर्वापि मुनीनामश्रयेष च ।
इत्येव मुक्त स्तेनाशु वृत्तिमेताम् रोचयेत् ।।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

तब ब्रह्माजी ने अग्नि से कहा–तू ऋषियों के आश्रम में रह । देवों के भीतर और बाहर निवास कर । इस आदेश को प्राप्त कर अग्नि प्रसन्न हुआ और सन्तोषपूर्वक रहने लगा ।

यही जीवन सत्ता में ओत–प्रोत प्राण शक्ति–कालाग्नि एवं कामाग्नि है । इसको अधोगामी बनाने से मनुष्य जलता और गलता है । किन्तु यदि उसे ऊर्ध्वगामी बना लिया जाय तो वही ब्रह्म तेजस बनकर प्रज्ज्वलित होती है । जीव को परम तेजस्वी बनाती है और उसे लौकिक, भौतिक एवं आत्मिक विभूतियों से सुसम्पन्न बनाती है । महाशक्ति कुण्डलिनी का स्तवन करते हुए शक्ति उपासक तत्ववेत्ता की अभिव्यक्ति है–

मेरुदण्डे वह्निनना शब्दात् पदं तेजोमयीति च ।
सिद्धिः प्राप्ति पदात् सिद्धिः सर्वकाम पदात् पुनः ।।
सर्वेशा परिपूरेति चक्र स्वामिनीत च ।
गुप्त योनिन्यनंगा च कुसुमेऽनंग मेखले ।
सर्व मन्त्रमयीत्युक्ता सर्व द्वन्द्व क्षयकारी ।
सर्व सौभाग्यदाधेति सर्व विघ्न निवारिणी ।
सर्वज्ञानमयीत्युक्तात्वा सर्व व्याधि विनाशिनी ।
सर्वानन्दमयी देवि, सर्व रक्षा स्वरूपिणी ।
महाशक्ते महागुप्ते ततश्चैव महा–महा ।
कुल कुण्डलिनी देवि, कन्दे मूले निवासिनी ।

–स्तोत्र समुच्चय

मेरुदण्ड में अग्नि रूप, शब्द पद, तेजमयी, सिद्धि प्रदान करने वाली, काम पद, सर्वव्यापक, चक्र संस्थानों की स्वामिनी, गुप्त योनि, काम शक्ति, अनंग मेखला, समस्त मंत्रों की शक्तियुक्त समस्त द्वन्द्वों का क्षय करने वाली, आनन्दमयी, संरक्षक, महाशक्ति, रहस्यमयी, महानतम कुण्डलिनी देवी, कन्द मूल में निवास करती है ।

उपरोक्त प्रतिपादन यह सुनिश्चित करते हैं कि कुण्डलिनी साधना एक प्रकार से शरीर में प्राण एवं संकल्प के आघात द्वारा परमाणु ऊर्जा उत्पन्न करने, उसे प्रखर बनाने और उसका नियंत्रण नियमन करने की विद्या का नाम है । परमाणु–भौतिकी की सैद्धान्तिक जानकारी वस्तुतः देश के अनेक विज्ञान के विद्यार्थी भी जानते होंगे किन्तु उसके विखण्डन का व्यावहारिक ज्ञान डा. भाभा, डा. मेघनाथ साहा जैसे थोड़े से वैज्ञानिकों को रहा है । क्योंकि यह अति दुस्तर और संकट भरा प्रयोग होता है ।

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

कुण्डलिनी साधना की स्थिति भी ऐसी ही है । उसके कई विधान तो इतने जटिल व कठिन हैं कि अनजान अभ्यासी भूल में पड़कर पागल हो सकता है । शरीर के किसी अंग का विस्फोट हो सकता है । मृत्यु तक हो सकती है । अतएव वह विधान चाहे जिसे बता देने, चाहे कहीं लिख देने की परम्परा नहीं है । ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुञ्ज में इन साधनाओं के शिक्षण और अभ्यास की व्यवस्था की गई है और उस पर शोध का प्रबन्ध भी है ।

सैकड़ों साधक यहाँ आकर उनकी जानकारी प्राप्त करते हैं । इन साधनाओं में प्राण–संधान की क्रिया प्रमुख रहती है । इसलिए कुण्डलिनी साधना में प्राणायाम का विशिष्ट स्थान है । इसी श्रृंखला की गायत्री की प्राण प्रक्रिया पुस्तक में कुछ निरापद प्राणायाम तथा पंचकोशी साधनाओं में कुछ सरल अभ्यास बताये गये हैं वह घर पर रहकर भी किए जा सकते हैं । जो इन कठिन साधनाओं में प्रवेश करना न चाहें वे यदि नियमित गायत्री उपासना करते रहें तो भी वही अपेक्षायें पूर्ण होती हैं । सांसारिक जीवन इस विकास क्रम में कहीं भी बाधक नहीं होता ।

सोऽहम् जप, शक्तिचालिनी मुद्रा, त्राटक नाद योग विन्दु साधना आदि अनेक प्रकार के अभ्यास कुण्डलिनी जागरण के लिए किए जाते हैं । प्राणायाम में लोम–विलोम, सूर्य वेधन प्राणायाम का सर्वाधिक अभ्यास करना पड़ता है । इसमें एक बार बाँयें, एक बार दाँयें स्वर से वायु लेने और छोड़ने की क्रिया लगातार करनी पड़ती है । इस मंथन का 'प्रहार' मूलाधार में प्रसुप्त सर्पिणी पर करना पड़ता है । आक्सीजन के सहयोग में अग्नि भड़कती है । प्राण की अभीष्ट मात्रा प्रसुप्त अग्नि चिनगारी को मिलते रहने से उसके भड़कने और दावानल का रूप धारण करने में देर नहीं लगती । यही प्राण प्रहार प्रक्रिया सूर्य भेदन प्राणायाम का मुख्य प्रयोजन है ।

अग्नि और प्राण के संयोग एवं प्रहार क्रम को प्रहार प्रताड़ना आदि नाम दिये गये हैं । जागरण के इस प्रयोग का उल्लेख इस प्रकार मिलता है ।

चक्र मध्ये स्थिता देवाः कम्पतिवायु ताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलाशे सा विलीयते ।।

–शिव संहिता

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

प्राणवायु के आघात से चक्रों के मध्य रहने वाले देवता जागते हैं और महामाया कुण्डलिनी कैलाश पति शिव से जा मिलती है ।

योगाभ्यासेन मरुता साग्निना बोधिता सती ।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ।।

—हत्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्

योगाभ्यास द्वारा प्राण वायु तथा अग्नि से प्रदीप्त यह महासती कुण्डलिनी ऊपर उठकर हृदयाकाश में पहुँचती है और वहाँ अत्यन्त प्रकाशपूर्ण नाग के रूप में स्फुरित होती है ।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्यं तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्निनयोगेन मनसा मरुता सह ।।
सूचिवद्गुणमादायं प्रजत्यूर्ध्व सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाट तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभैदयेत् ।।

—ध्यानबिन्दूपनिषद्

जिस मार्ग से ब्रह्मस्थान तक सुगमता से जाया जा सकता है, उस मार्ग का द्वार परमेश्वरी कुण्डलिनी अपने मुँह से ढँके सोयी हुई है । अग्नि तथा मन प्रेरित प्राणवायु के सम्मिलित योग से वह जागृत होती है और जैसे सुई के साथ धागा जाता है, उसी प्रकार प्राणवायु के साथ वह कुण्डलिनी सुषुम्ना पथ के ऊपर जाती है । जैसे कुञ्जी से हठात् द्वार खोल दिया जाता है, वैसे ही योगी कुण्डलिनी शक्ति से मोक्षद्वार को भेदते हैं ।

ज्वलनाघातपवना घादोरुन्निद्रितोऽहितोऽहिराट ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वा विष्णुग्रन्थि भिनत्त्यतः ।
रुद्रग्रन्थि च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।।
सैवावस्था परा ज्ञेवा सैव निर्वृतिकारणा ।।

—योगकुण्डल्युपनिषद

अग्नि और प्राणवायु दोनों के आघात से सुप्ता कुण्डलिनी जाग पड़ती है और ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि तथा षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्रार कमल में पहुँचती है । वहाँ यह शक्ति के साथ मिलकर आनन्द की स्थिति में निवास करती है । वही श्रेष्ठ परा स्थिति

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

है । यही मोक्ष का कारण है ।

प्राण स्थानं ततोवह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डली याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ।
तेनाग्नाच संतृप्ता पवने परिचालिता ।
प्रसाय स्व शरीरे तु सुषुम्नावदनान्तरे ।

—योग कुण्डल्युपनिषद्

प्राण और अपान के संयोग से महाअग्नि दीप्तिवान होती है और कुण्डलिनी जगती है । प्राणवायु में तीव्रता आने से अग्नि भी तीव्र होती जाती है और अपना क्षेत्र विस्तार करती है ।

ततो वह्नि प्रतापेन प्राणसंघर्षणेन च ।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।

—हठयोग प्रदीपिका

प्राणवायु के प्रहार से अग्नि शिखा प्रदीप्त होती है और उसकी गर्मी से प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग पड़ती है ।

सूर्यविघन प्राणायाम द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के जिन उपकरणों से रगड़ उत्पन्न करनी पड़ती है, वे इड़ा और पिंगला नामक दो प्राण प्रवाह हैं । जो सुषुम्ना के, मेरुदण्ड के मध्य में रहते हैं । सामान्यतया उनकी गतिशीलता इतनी ही रहती है कि शरीर निर्वाह के लिए जितनी आवश्यक है उतनी ऊर्जा उत्पन्न होती रहे । अधिक मात्रा में प्राण उत्पादन अभीष्ट हो तो इन प्रवाहों को अधिक सक्रिय करना पड़ता है । मन्दी आग पर कुछ पकाना हो तो चूल्हे में सामान्य गर्मी बनाये रहने से काम चल जाता है किन्तु यदि खौलने योग्य ताप की आवश्यकता हो तो अधिक ईंधन डालने तथा हवा धोकने का प्रबन्ध करना पड़ता है । इस प्रयोजन के लिए इड़ा और पिंगला को अधिक गतिशील बनाने के लिए सूर्यविघन प्राणायाम का आश्रय लिया जाता है । इड़ा, पिंगला का महत्व बताते हुए कहा गया है—

शक्तिरूपाः स्थितश्चन्दो वामनाडी प्रवाहकः ।
दक्षनाडी प्रवाहश्च शम्भुरूपो दिवाकरः ।।

—शिव स्वरोदय

वाम नाड़ी का प्रवाह करने वाला चन्द्रमा शक्तिरूप से और दक्षिण

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

नाड़ी का प्रवाहक सूर्य शिव रूप से स्थित रहता है ।

मरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे मध्ये नाड़ी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा । धुस्तूरस्मेरपुष्प-ग्रथिततमवपुः कन्दमध्याच्छिरःस्था वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्याज्ज्वलन्ती ।।

–षटचक्र निरूपणम्–२

मेरुदण्ड में बाहर की बाँई ओर चन्द्रमा के प्रकाश के समान इड़ा, सूर्य के प्रकाश के समान पिंगला नाड़ी है । इड़ा से शक्ति रूप और पिंगला से शिवरूप का बोध होता है । मेरुदण्ड के भीतर अग्नि रूप सुषुम्ना है । भ्रू मध्य भाग में इन तीनों का संगम होता है । यह तीनों नाड़ियाँ जननेन्द्रिय मूल में स्थित धतूरे के पुष्प के समान कन्द से उत्पन्न होकर ऊपर मस्तक तक जाती हैं ।

प्राणायाम में श्वांस को खींचना फेंकना भर ही नहीं होता वरन् उसके आवागमन की गति को नियन्त्रित रखना होता है । उनकी चाल एक जैसी रहनी चाहिए । कुम्भक के प्रहार रुकने का समय और वापसी की प्रवाह प्रक्रिया इन सब में समय एवं गति की क्रमबद्धता बनी रहनी आवश्यक है । अस्त–व्यस्तता से अनियमितता और नियंत्रण न रहने से प्राण योग का आधार ही नष्ट हो जाता है और वह मात्र गहरी साँस लेने की–डीप ब्रीदिंग की सामान्य व्यायाम परिपाटी मात्र बनकर स्वल्प फलदायक रह जाती है ।

तात्विकी प्राणायामों में श्वांस क्रिया की एक सुनिश्चित क्रम व्यवस्था बनाकर उसमें 'ताल' उत्पन्न किया जाता है । संगीत शास्त्र के जानकार समझते हैं कि 'ताल' किसे कहते हैं ? उसके आधार पर ही ताल वाद्य बजाने की शिक्षा दी जाती है और स्वर लहरी का सौन्दर्य निखरता है । ताल का ज्ञान न होने पर ढोलक, तबला, मजीरा, करताल आदि बजाये जायें तो उससे कर्ण कटु कर्कशता ही उत्पन्न होगी और सुनने वालों के कानों को अखरेगी । महत्वपूर्ण उद्देश्यों के लिए की गई प्राण योग की साधना में जहाँ श्रद्धा विश्वास भरी संकल्प शक्ति का समावेश करना है वहाँ उसकी ताल बद्धता का अभ्यास करना भी आवश्यक होता है ।

ताल से कितनी प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है उसे विज्ञान वेत्ता भली

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

प्रकार जानते हैं । पुलों पर से सेना को लेफ्ट–राइट करते हुए नहीं निकलने दिया जाता है । उन पर से गुजरते हुए वे चाल को अस्त–व्यस्त रखते हैं । ताल बद्ध कदम पड़ने से उत्पन्न सूक्ष्म तरंगें पुल में दरारें डाल सकतीं हैं । एक भारी गार्डर छत में लटका दिया जाय और उस पर कार्क जैसी हलकी वस्तु के तालबद्ध आघात पड़ते रहने की यान्त्रिक व्यवस्था कर दी जाय तो उन स्वल्प आघातों से भी उत्पन्न प्रचण्ड शक्ति के फलस्वरूप गार्डर में थरथराहट दृष्टिगोचर होने लगेगी ।

एक नियत गति से काँच के गिलास के पास ध्वनि की जाय तो वह उन आघातों से टूट जायगा । संगीत का शारीरिक और मानसिक प्रभाव होता है उसका स्वास्थ्य सम्बर्धन के लिए–रोग निवारण के लिए सफल प्रयोग हो रहा है । पशुओं का दूध और पक्षियों की प्रजनन क्षमता बढ़ाने में क्रमबद्ध संगीत के लाभ देखे गये हैं । पेड़–पौधों की कृषि उपज को बढ़ाने में भी संगीत का उत्साहवर्धक उपयोग होता है ।

'स्टोन हैव्स' के पुराने अवशेष में यह विशेषता है कि मध्यम स्वर लहरी के ध्वनि प्रवाह से वे काँपने लगते हैं । अस्तु उस क्षेत्र में न केवल बजाना वरन् गाना भी मना है । चेतावनी के रूप में वहाँ यह सूचना टँगी है कि ताल बद्धता इन अवशेषों को गिरा सकती है । इसलिए यहाँ वैसा कुछ न किया जाय ।

लोम विलोम प्राणायाम क्रम में यह ताल–प्रक्रिया विशेष रूप से उत्पन्न होती है । एक ही क्रम बना रहने से घुमावदार 'सर्किट' बनता है, पर उलट–पुलट का क्रम दुहराने से 'ताल' की उत्पत्ति होती है । सूर्यवेधन प्राणायाम में ताल बद्धता का उत्पन्न करना स्थूल शरीरगत ऊर्जा को एकत्रित, प्रज्ज्वलित और प्रखर बनाता है । संकल्प शक्ति के आधार पर खींचा हुआ दिव्य प्राण आत्मप्राण की मूलाधार स्थिति को प्रज्ज्वलित करता है । इसी आधार पर प्रसुप्ति जागृति में परिणति होती है और साधक को आत्म सत्ता के अन्तर्गत दिव्य ऊर्जा का अभिवर्धन दृष्टिगोचर होता है । योगशास्त्र में दिव्य प्राण को देवता–कुण्डलिनी अग्नि को दिव्य अग्नि कहा गया है और उसके जागरण से अनेकों दिव्य लाभ मिलने की बात कही गयी है ।

कुण्डलिनी योग की सिद्धि में प्राण शक्ति की प्रधान भूमिका सबने

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

मानी है । प्राणतत्व का इतना उच्चस्तरीय परिष्कार, उसमें असामान्य प्रखरता पैदा करने की क्षमता 'गायत्री' साधना में निश्चित रूप से है । गायत्री शब्द स्वयं इस तथ्य को घोषित करता है । 'गय' कहते हैं–प्राण को, त्री अर्थात् त्राण करना । गायत्री की प्राण प्रक्रिया का साक्षात्कार ही प्रकारांतर से कुण्डलिनी योग की सिद्धि है । साधक इस साक्षात्कार से आत्म विभोर हो उठता है । यह ऐसी दिव्य अनुभूति है, जिसका एक कण भी चखने को मिल जाय तो मनुष्य उसके लिए बड़े से बड़ा साम्राज्य भी त्याग सकता है ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

Free Read/Download & Order 3000+ books authored by Yugrishi Pt. Shriram Sharma Acharya(Founder of All World Gayatri Pariwar) on all aspects of life in Hindi, Gujarati, English, Marathi & other languages at
www.vicharkrantibooks.org http://literature.awgp.org

★ स्वामी कृष्णानन्द जी ★

कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी जागरण ★ स्वामी कृष्णानन्द जी ★

80

स्वामी आत्मादास जी अपने प्रिय शिष्य
स्वामी कृष्णानन्द जी को शक्तिपात करते हुए।

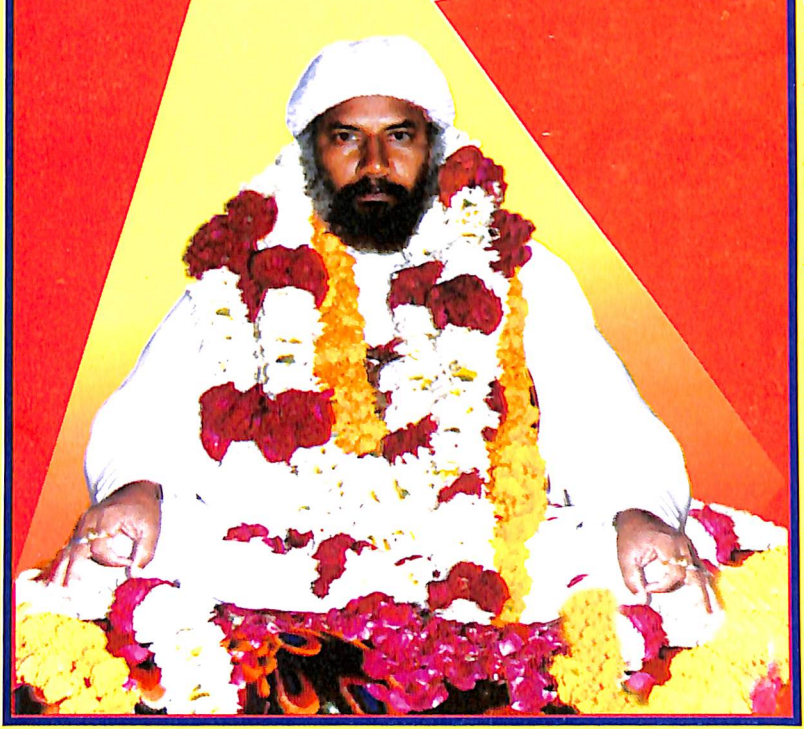

कुण्डलिनी-जागरण

(क्रांति-महाजीवन)

लेखक :
स्वामी कृष्णानन्द

SADHNA PUBLICATIONS
साधना पब्लिकेशन्स

© : सर्वाधिकार सुरक्षित

सद्गुरु कॉन्सियसनेस सोसाईटी, एच-243, कुंवर सिंह नगर,
सद्गुरु आश्रम, निलोठी मोड़, नांगलोई, दिल्ली-41
दूरभाष : 011-25943002, 25942813

प्रकाशक :

साधना पब्लिकेशन्स

K-4/4, मॉडल टाउन-II,
दिल्ली-110009
फोन : 55496808, 27415504, 9818300870
ई-मेल : sadhna_publications@yahoo.co.in

मूल्य : 80/-

प्रथम संस्करण : 1996
द्वितीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण : 2005

शब्दांकन :
रावत कम्प्यूटर्स, गांधी नगर, दिल्ली-110031
दूरभाष : 011-22070075

मुद्रक :
डी॰ जी॰ प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

28362813

लेखक स्वामीश्री का परिचय

आपका जन्म बिहार प्रांत में हुआ है। आपके दादाजी एक बुद्ध पुरुष थे, जिनका हठयोग, सहज योग, अष्टांग योग एवं भक्ति पर समान अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीश्री पूर्व जन्म से ही सिद्ध हैं। तभी तो ऐसे पितामह के वंश में जन्म लिया। इनके पिताश्री भी बिहार सरकार में अधिकारी थे। बाद में संन्यास ले लिया। ऐसा ज्ञात होता है कि सिद्धि, साधुता, संन्यास आपको उत्तराधिकार में मिला है।

आप बचपन से ही साधना के प्रति जागरूक थे। पढ़ाई-लिखाई में भी प्रतिभा के धनी थे। अपनी कक्षा में सदैव प्रथम आते थे। विज्ञान, साहित्य, गणित में समान अधिकार रखते थे। आप पर गुरु अनुकंपा सदैव बरसती रही। अतएव आप हर क्षेत्र में समान रूप से सफल रहे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद आसाम के कामाख्या में रहकर आपने तंत्र विद्या को सिद्ध किया। फिर हिमालय के गोमुख से ऊपर नंदन वन, तपोवन में रहकर सहज योग एवं हठयोग को सिद्ध किया। पुनः केदारनाथ, तुंगनाथ, बद्रीनाथ, अलकापुरी इत्यादि में रहकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म साधनाएं प्राप्त कीं। आपने इस पृथ्वी के विभिन्न संत-महात्माओं का सान्निध्य प्राप्त किया।

आपने स्वामी आत्मादास जी की छत्रछाया में बैठकर 28 वर्ष की अवस्था में बुद्धत्व को प्राप्त किया। आपने अपने सद्गुरु की छत्रछाया में बैठकर विभिन्न लोकों की यात्राएं कीं, जो अतिरोमांचकारी हैं, विश्वसनीय हैं श्रद्धालुओं के लिए। अविश्वसनीय हैं—कोरे तार्किकों के लिए। आप बिना किसी का सहारा लिए यथार्थ सत्य, आंखों देखने-कहने के आदी हैं। आप सद्विप्र समाज की रचना के लिए कृत संकल्पित हैं। आपकी प्रत्येक पुस्तक लीक से हटकर है।

आपने बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल तथा दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर आश्रम स्थापित किए हैं। आपके सद्विप्र देश-विदेशों में फैले हैं, जो पवित्र और नैतिक जीवन के लिए कटिबद्ध हैं। सद्विप्र समाज सेवा एक विश्वव्यापी आध्यात्मिक संस्था है, जो आपके निर्देशन में जीवन के सच्चे मर्म को उजागर कर शाश्वत शांति की ओर समाज को अग्रसरित करती है। सद्विप्र समाज सेवा संपूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखती है।

सद्गुरु स्वामी आत्मादास जी

सद्गुरुधाम आश्रम
एच-243, कुंवर सिंह नगर, निलोठी मोड़,
नांगलोई, दिल्ली-110041

गुरु वंदना

ध्यायेत् सद्गुरु श्वेतरूपम् श्वेताम्बरम्
शोभितम् कर्णे-कुण्डल श्वेत शुभ्र मुकटम्
हीरा मणि मंडितम्॥
नाना माल मुक्तादि शोभित गला,
पद्मासने स्वस्थितम्॥
दयार्विद्य वीर सुप्रसन्न वदनम् सद्गुरुं तन्नमामि।
द्वै पदम्, द्वै भुजम, प्रसन्नवदनम्, द्वै नेत्रं दयात्मम्।
सेलि कंठ माल उर्ध्व तिलकम्॥
श्वेताम्बरी शोभितम् मेखला चक्रकस्य विचित्र टोपल सिरलसितम्।
तेजोमयी विग्रहम् बन्दे सद्गुरु योग दण्ड सहितम् करुणामय्॥
गमा-गमस्थम्, गमनादि शून्यम्, चिद्रूप दीपम्, तिमिरान्धनाशनम्
पश्यामि त्वामं सर्व जनान्ति रक्षम्, नमामि हंसम् परमात्म रूपम्॥

बंदगी

भेख को, लेख को, नागा को, निर्वाणी को, ज्ञानी को ध्यानी को, गुप्त को, प्रकट को, चार सौ संप्रदाय, बावन द्वारा अनंत कोटि वैष्णव सब संत महंतों को बंदगी, साहब को प्रणाम॥

॥ "साहिब बंदगी" ॥

गुरु वंदना

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तद् पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥1॥

गुरुर्ब्रह्म गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म परमेश्वरः तस्मैश्री गुरवे नमः॥2॥

नौम्यादि ब्रह्म सर्वस्य कारणं करणं।
तथातदरूपं बंदे सद्गुरुं कर्म रेखा प्रशान्तयं॥3॥

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरु पदम्।
मंत्र मूलं गुरोर्वाक्य मोक्षमूलं गुरुः कृपा॥4॥

बंदौ गुरु पद नख मनिगनि ज्योति।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होति॥5॥

अनुक्रमणिका

1. कुण्डलिनी जागरण 13
जागरण 14
मनुष्यता का खोना 15
योग 16
चर्याचर्य 19
भ्रांत धारणा 23
आश्रम 23
योगयुक्त 24
गुरु मूर्ति का स्थान 25
दृढ़ योग 26
हठयोग 27
कुण्डलिनी शक्ति 27
कुण्डलिनी जागरण 28
प्राणायाम 32
प्राणायाम विधि 33
देश, काल एवं परिदृष्ट 35
रेचक 36
वायु का स्थान एवं मिलन 37
प्राणायाम में बंध का उपयोग 37
प्राणायाम सिद्धि 37
सहज स्वभाव तत्व-गुण-धर्म 38
शवासन 43
शीघ्र कुण्डलिनी जागरण 45
2. श्वास : प्राण तत्व 46
भस्त्रिका प्राणायाम 50
सूर्य भेदी कुंभक 54
शीतली प्राणायाम 54
उज्जयी प्राणायाम 55
प्रत्याहार 56
प्रभत्न और परिणति 57
नाद ब्रह्म और प्राण
सागर का मंथन 61
प्राण से ओंकार ध्वनि 64
3. मुद्रा एवं योग के लिए उपयुक्त स्थान एवं गुरु 68
खेचरी मुद्रा 74
अश्विनी मुद्रा 77
महा मुद्रा 77
योनि मुद्रा 77
शक्ति चालिनी मुद्रा 78
शांभवी मुद्रा 78
योग मुद्रा 78
उन्मुनी मुद्रा 79
सर्वरोग हरण सर्वांगासन 80
हृदयस्थभ्यासन 81
उत्तानपादासन 81
धनुरासन 82
मयूरासन 82
मस्तक पादांगुष्ठासन 82
भुजंगासन 83
वृश्चिकासन 83
पार्वती आसन 83
मत्स्येंद्रासन 83
त्रिबंधासन 84

गरुड़ासन 84
ताड़ासन 84
ताण्डव 85
4. सहज योग 87
सहज योग 90
सहज योग की विधि 91
ब्रह्मचर्य 95
जिज्ञासा और बोध 100
अनुभव 104
अभ्यासरत होना 106
नाद 109
दिव्य शक्ति एवं भटकाव 110
परम शून्य 111
परम पद 112
सहज योग की दूसरी पद्धति 114
कुण्डलिनी और चक्र 121
मूलाधार चक्र 122
भौतिक शरीर 124
स्वाधिष्ठान चक्र 125
भाव शरीर 127
मणिपुर चक्र 128
सूक्ष्म शरीर 130
अनाहत चक्र 131
मानस शरीर 135
विशुद्ध चक्र 141
आत्म शरीर 143
दो का मिटना 144
मालिक 145
आज्ञा चक्र 146
शिव नेत्र 149
अस्मिता 150
जीवन का अमरत्व 151
सहस्रार चक्र 156
महंत पद्म 158
निर्वाण शरीर 158
समर्पण 160
अवतरण 161
दीक्षा 166
चरण स्पर्श 170
अर्द्धनारीश्वर 171
माला या फोटो 173
टोपी या पगड़ी 175
5. प्रणव—कहो तो को पतियाय.. 178
प्रणव वाद्य 182
6. देव दर्शन 186
7. संत ज्ञानेश्वर की दृष्टि में कुण्डलिनी 191
योगी के लिए उपयुक्त स्थान 198
सद्गुरु का ध्यान एवं आसन 200
कुण्डलिनी जागरण 201
सर्पिणी का भोजन 202
शरीर कांति युक्त 203
ओंकार ध्वनि 204
सिद्ध योगी 205

कुण्डलिनी जागरण

(क्रांति-महाजीवन)

जब से सृष्टि का उद्‌भव हुआ, तब से हम चले हैं। अभी लक्ष्य तक पहुंचना तो दूर, हम सारतत्व को पहचान भी नहीं पाए। आखिर हमारी यात्रा कब तक चलेंगी। बार-बार जन्म लेते, पढ़ते लिखते, शादी करते, मकान बनाते, धन-वैभव के पीछे भागते, बच्चे के पीछे भागते, झूठ-सच करते, चोला बदल देते। आखिर हम कितनी बार चोला ग्रहण करेंगे ? कितनी बार बदलेंगे ? कोई सीमा रेखा है या अनंत। हम बार-बार के जीवन में स्थायी सुख एवं शांति चाहते हैं। जिसकी खोज में, तलाश में, जन्म से मृत्यु तक भटकते रह जाते हैं। परंतु वह सुख-शांति मृग-तृष्णा बनकर रह जाती है। अभी का मानव भोग एवं अर्थ की अति पर है। विज्ञान के माध्यम से प्रत्येक सुख-सुविधा इसे उपलब्ध हैं। परंतु आत्मिक शांति के स्तर पर निराश है। आखिर ऐसा क्यों ? क्या हमारी खोज गलत दिशा में भटक तो नहीं गई है ? धर्म मानव मात्र की मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है। भौतिक सुख-साधन को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि वह भी उसकी शारीरिक एवं सामाजिक आवश्यकता है। परंतु वर्तमान मानव के लिए भौतिक-सुख ही प्रधान हो गया। जिसका परिणाम है आज का मानव समाज। परम पिता परमात्मा सबको स्थूल शरीर के साथ, बुद्धि, ज्ञान, विवेक, मननशीलता एवं आध्यात्मिकता की निधि उपलब्ध कराता है, परंतु यह विडंबना ही है कि इन निधियों का हम इस्तेमाल तक नहीं करते मानो जैसा मिला था वैसा भी नहीं लौटा पाते। तभी तो हम अंधविश्वास, अज्ञान एवं मूर्च्छित अवस्था में ही पूरा जीवन गंवा देते। हमने अपने में भी सत्य को झांक कर देखने की हिम्मत तक नहीं की। जबकि सत्य की खोज—जीवन के अस्तित्व के रहस्यों की खोज है। परंतु इस तरह की खोज में बहुत बड़ा खतरा है। इसलिए हम अपने मन को समझाने के लिए, परदा डालने के लिए, अपने को नास्तिकता से बचाने के लिए समाज में धार्मिकता की झूठी चादर ओढ़ने के लिए मान लिया जो पुराणों में लिखा है, पाक-ए-कुरान में लिखा है, बाइबिल

में लिखा है, गीता में लिखा है, वही शाश्वत सत्य है, अपरिवर्तनीय है, वही अंतिम सत्य है। अब हमारे चिंतन की कोई आवश्यकता नहीं। दो मिनट के लिए मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे गिरिजाघर चले जाओ, सिर झुका लो, कुछ उन्हें दान दे दो एवं चाहे जो इच्छा हो करते रहो, धार्मिक बने रहोगे।

क्या आपके चिंतन का प्रवाह रुक गया है या गतिहीन हो गया है ? संसार का अर्थ है विचित्रता, परिवर्तन, जो कल था आज बदल गया, जो आज है कल नहीं रहेगा। अतएव किसी भी मान्यता को शाश्वत सत्य कहकर अपनी बुद्धि-विवेक क्यों खो रहे हो ? इसी का परिणाम है हमको अपने ऊपर भी विश्वास नहीं रह गया है। हम अस्तित्वहीन हो चुके हैं। हम भिखारी बन दर-दर भटक रहे हैं। आखिर कब तक ? जीवन का यह अज्ञान, यह अपरिचय पीड़ादायी है, कष्टदायी है। यह है दुख का मूल कारण। जीवन के प्रवाह में मनुष्य विकास की जिस स्थिति पर पहुंचा है वह अधूरा है जिसका परिणाम है जीवन रूपी सत्य-अज्ञात एवं अपरिचित। अभी का मानव पदार्थों को भोगते-भोगते स्वयं भी भोगा जाता है और अंत में भोगते-भोगते साधन रूपी इंद्रियां भी शिथिल पड़ जाती हैं। शरीर कमजोर हो जाता है। एक मानव मन को एक चीज प्रिय है तो दूसरे को बिलकुल नहीं। क्या सुख विषयों में, पदार्थों में नहीं है ? क्या मानव मन में ही तो नहीं है ? क्या मानव में ही वह सबकुछ सुप्त अवस्था में छिपा हुआ है ? तब मानव की चेतना को विकास की अनेक कक्षाओं व आयामों से गुजरना होगा।

जागरण

जागरण की एक लंबी शृंखला मानव के भीतर प्रतीक्षारत है। अनेक चक्रों, अवरोहों को चीरकर मानव चेतना अपनी उच्चतम अवस्था पर पहुंच सकती है। तभी पीड़ाओं का अतिक्रमण एवं सत्य का बोध होगा। इतिहास इसका साक्षी है कि इस विराट मानव सभ्यता के चरम विकास को, सत्य को, बुद्धत्व को, कुछ लोग उपलब्ध हुए हैं। ऐसे ही लोगों को हम सदाशिव, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट, मुहम्मद, नानक, कबीर एवं रमण कहते हैं। और भी कुछ मनुष्य परमतत्व को उपलब्ध हुए हैं, जिनको इतिहास याद नहीं रख सका। अभी भी फूल खिल रहे हैं। मानव मन बुद्धत्व की तरफ बढ़ रहा है। इस तरह अनेक महामानवों ने हजारों वर्षों से सत्य के, अस्तित्व के, जीवन के रहस्यों व अतल गहराइयों की खोज में बड़ी अंतर्यात्राएं की हैं, उनकी बहुत

लंबी परंपरा नहीं है एवं अभी भी है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। पदार्थ जगत व स्थूल के रहस्यों की खोज विज्ञान ने की है। उसी प्रकार अस्तित्वगत अंतर्रात्म जगत अंतर्चेतना जगत की खोज भी है, जिसके पार विज्ञान को धर्म ने विकसित किया है। अतः मनुष्य के इस अस्तित्वगत अंतर्विकास एवं अंतर्यात्रा की जो प्रक्रिया खोजी गई है, उसी से ही धर्म का निर्माण हुआ। इसी खोज को धर्म साधना कहते हैं और इसकी अंतर्प्रक्रिया को योग।

जिस तरह वट वृक्ष का एक बीज पूर्ण वृक्ष में बदल जाता है। देखते ही देखते उसमें फल-फूल निकल आते हैं। उसी तरह मानव रूपी वृक्ष विकसित होता हुआ विराट जीवन वृक्ष बनता है। तब उसमें फूल खिलते हैं—ध्यान के, समाधि के। फल आते हैं—शांति के, प्रेम के, आनंद के। फिर उस मानव वृक्ष में सुगंध और आलोक फैलता है—मुक्ति का, अनुग्रह का। तब व्यक्ति खो ही जाता है—अनंत रहस्यमय अस्तित्व में। जीवन की सारी सीमाएं द्वंद्व और पीड़ाएं समाहित व शांत हो जाती हैं, उस परम तत्व की उपलब्धि में। तभी तो संत कबीर कहते हैं—

प्रेम गली अति सांकरी, तामे दो न समाय।
जब मैं था तब हरि नाहि, जब हरि है मैं नाहि॥

मनुष्यता का खोना

इस तरह मनुष्यता का परमात्मा से मिलन कैसे संभव है ? हो ही नहीं सकता। क्योंकि जब मिलन की घड़ी आती है तब मनुष्य खो जाता है और जब मनुष्य होता है तब मिलन की घड़ी नहीं आती। परमात्मा के साक्षात्कार के बाद अपना अलग अस्तित्व रख पाना असंभव है पुनःश्च—

हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराई।
बूंद समानि समुंद्र में सो कत हेरी जाई॥

बूंद रूपी मैं खो गई, सागर बचा। अब बूंद को कैसे वापिस किया जा सकता है। हम परमात्मा को खोजना चाहते हैं, लेकिन स्वयं को बचाकर। क्या यह संभव है ? परमात्मा को खोजने का एक ही ढंग है स्वयं को खोना।

हम सतत प्रयासरत रहते हैं स्वयं को बचाने के लिए। महर्षि रविंद्रनाथ ने एक प्यारी कहानी लिखी है। एक व्यक्ति परमात्मा की खोज में निकला। जंगल, पर्वत, नदी, नाला, आश्रम, मंदिर छान डाला। अचानक एक दिन किसी ने परमात्मा के महल का पता बता ही दिया। वह सीधे वहां पहुंच गया। वहां

नेम प्लेट लगी थी। वह ऊपर सीढ़ियों से चला गया। उस कक्ष के बाहर परमात्मा का नाम लिखा था। कॉल बेल का स्विच लगा था। उस व्यक्ति ने स्विच के ऊपर हाथ उठाया। सहसा भयभीत हो गया। सोचा घंटी बजते ही परमात्मा द्वार खोल देगा। फिर मैं क्या करूंगा ? उसने धीरे से अपने जूते निकाले। सीढ़ियों से नीचे उतरा एवं हाथ में जूता लेकर भागने लगा। कहीं परमात्मा पदचाप न सुन ले। वह अब भी परमात्मा को खोज रहा है। केवल उधर नहीं जाता जहां परमात्मा रहता है। चूंकि वहां स्वयं के खोने का भय है।

योग

यह भी विडंबना ही है कि हमारे संस्कार या कर्म भी हमारे साथ ही हैं। कर्म का नाश नहीं होता। अपना किया हुआ कर्म भोगना ही पड़ेगा। अतएव मन को निर्मल, निर्विकार, निर्जीव करने का नाम ही योग है। श्रेष्ठ कर्मों द्वारा संस्कारों को शुद्ध कर, विकर्मों को दग्धकर, सतचित्त आनंद होना ही योग है। चित्त को विकृतियों से निवृत्त कर परमतत्व में स्थित होना योग है। इसके लिए तो पुरुषार्थ स्वयं ही करना होगा। अतः उस अंतस से संबंध जोड़ने को ही योग कहते हैं। लेकिन उस उपलब्धि की खोज में तो स्वयं को ही निकालना होगा। यात्रा करनी होगी अपने भीतर। श्रम करना होगा स्वयं के अस्तित्व के साथ। साधना करनी होगी अपनी ही वृत्तियों व अंतस्थितियों के साथ। जगाना होगा अपने भीतर की सोई हुई शक्तियों को, सोए हुए केंद्रों को। सृष्टि चक्र के साथ-साथ चले हैं। अतएव यात्रा लंबी है कायरों एवं काहिलों के लिए। यात्रा अत्यंत लघु है—जिज्ञासु, धैर्यवान, श्रद्धालु, विश्वासी के लिए। बस एक बार साधना रूपी नदी में छलांग लगानी है, बस एक बार फिर वह नदी अपने आप अनंत समुद्र में मिल ही जाएगी। गुरु अनुकंपा प्रेम सहयोग तो साथ-साथ उस निर्झर रूपी झरने की तरह बहता रहेगा, जहां भी पथिक प्यासा महसूस करे निर्झर का स्वादपूर्ण जल ग्रहण कर ले। वह तो हर क्षण, हर समय छाया के रूप में खड़ा रहेगा। जिससे पथिक कहीं भी उस छाया में विश्राम कर ले।

तब साधक का एक-एक कण सारा अस्तित्व अनुग्रह और प्रार्थना से नाच उठेगा 'उसकी अनुकंपा अपार है।' इस तरह संपूर्ण व्यक्तित्व जाग उठता है, आनंद से परिपूर्ण हो जाता है, सत्य को उपलब्ध हो जाता है। मूल ऊर्जा से जुड़ जाना हीं मानव के जीवन की क्रांति कही जाएगी। वही होगा महामानव।

"क्रांति महा जीवन की।"

इस अवस्था में स्थान, काल एवं अवस्था का अभाव हो जाता है, शेष जो बचता है वही है परमतत्व, परम पुरुष। वही है परमात्मा जो सबमें प्रकाशित हो रहा है। वह अभेद्य है, वर्णातीत है। हालांकि जब से सृष्टि चली तभी से यह प्रश्न मानव मन को उद्वेलित करता रहा, क्या ईश्वर है ? कैसा है उसका अस्तित्व ? वह ज्ञात है या ज्ञेय ? वह प्रकाश है या प्रकाशक, इत्यादि। अनेकानेक प्रश्न हम लोगों के सामने भी आकर उठते हैं।

''परमात्मा ही है''

सत्य कहा जाए तो वह इन प्रश्नों से भी ऊपर है। यदि परमात्मा है, कहें तो उसी की दो बार पुनरुक्ति है। 'है' ही केवल काफी है। क्योंकि केवल वह ही है। 'है' केवल उसी के लिए ही प्रयोग संभव है। वह परतः सिद्ध व स्वतः सिद्ध के बंधनों से भी परे है। उसका दृष्टि खोलना ही सृष्टि है और दृष्टि का बंद कर लेना ही महाप्रलय। वही परम ज्ञान है एवं संपूर्ण ज्ञान का मूल भी है। उसके ज्ञान का तेज ही संपूर्ण जगत में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी वह दृश्य है, न द्रष्टा, न ज्ञान है, न अज्ञान और न ही ज्ञनाज्ञान ही। उसे ही ऋग्वेद में कहा गया है—''परमात्मा एक है। अग्नि, यम, मातारिश्र आदि उसी के अनेक नाम विद्वानों ने दिए हैं।'' यथा—

''एकंसद्रविप्रा बहुजा वदन्ति अग्रियं माते रिश्रवानि पाहि।''

उसे ही ईश्वर, गॉड, अल्ला, परम-पुरुष, साहब, सत्नाम, राम ऊंकारं, सहस्रनाम्ने पुरुषाय कहते हैं। हालांकि ये नाम भी मात्र उसे इंगित करते हैं। वास्तव में वह वर्णनातीत है। इसीलिए वैदिक ऋषि नेति-नेति कहे हैं। संत कबीर साहब भी उस अलख पुरुष का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सात समुद्र की मसि करों, लेखनि सब वनराय।
धरती सब कागद् करों, हरि गुण लिखा न जाय॥

आगे कहते हैं—

तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।
तन मन एकै होय रहें, तब हंस कबीर कहाय॥

परम पुरुष को प्राप्त हुआ जा सकता है। जब तन-मन एक हो जाए तब हंस की गति प्राप्त हो जाती है। यदि हम राम को अपना लक्ष्य बनाएंगे तो रामत्व को उपलब्ध हो सकते हैं। परंतु उसके लिए तड़प-उठना, जिज्ञासु होना, बेचैन होना तो होगा ही जैसे—

''राम वियोगी ना जिये,
जिये तो बाउर होय।

राम वियोगी विकल तन,
इन दुखवो मति कोय।।

बस ज्योंही तन-मन राम के लिए व्याकुल हो उठता है, गुरुकृपा हो जाती है और हम उसको उपलब्ध हो ही जाते हैं। मात्र हमें धैर्य एवं साहस की जरूरत है। हमने सुना है, एक बार महात्मा ईसा अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक ही जगह कुछ-कुछ दूरी पर आठ-दस गड्ढे खोदे हुए मिले। एक शिष्य ने पूछा ये गड्ढे कैसे हैं महाराज ? ईसा ने कहा, 'वत्स एक आदमी प्यासा था अतएव उसने एक गड्ढा खोदा। कुछ खोदने के बाद उसने अपना धैर्य खो दिया एवं विश्वास भी जाता रहा तथा उसको छोड़कर दूसरा गड्ढा खोदना शुरू कर दिया। इस तरह धैर्य एवं आत्मविश्वास के अभाव में एक गड्ढा छोड़-छोड़कर दूसरा खोदता गया, कहीं उसे पानी नहीं मिल पाया एवं मृत्यु को प्राप्त हो गया। यदि वह एक ही गड्ढा धैर्य से खोदता तो उसे जल भंडार उपलब्ध हो सकता था।

इस तरह हम जहां हैं, पहले देखें कहां हैं, कहीं नदी के तट पर ही तो नहीं हैं यदि तट पर हैं तो मात्र एक कदम बढ़ाने की जरूरत है, जहां पानी को उपलब्ध हो जाएंगे। यदि तट पर ही हैं एवं मालूम नहीं, साथ ही किसी अंजान अंधे से पूछ लिया कि नदी किधर है तो वह भी अपना सामर्थ्य जताने के लिए नदी की उल्टी दिशा में निर्देशित कर दिया। इस तरह हम और भटकाव को प्राप्त होते हैं। इसी से तो कहा गया है—'शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।'

जिसको ठीक-ठीक ज्ञान है, जो वहां पहुंच चुका होगा वही कह सकता है।

''तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन देखी।।''

पढ़कर बताने में एवं स्वयं को जानकर जताने में बहुत अंतर है। तो आइए हम अब अंतर्यात्रा को तैयार हो जाएं। अपने पात्र को साफ कर लें, ठोककर देख लें, जल रुक सकता है या नहीं। पात्र कच्चा है या पक गया है। तो आइए हम अपने पात्र को तैयार कर पात्रता ग्रहण करें जिससे बादल रूपी गुरु बरसे तो पात्र ग्रहण कर सके, उसमें रुक सके। क्योंकि वह—

''कहन सुनन की है नहीं, समझन की है बात।''

उसे स्वयं ही समझना होगा स्वयं में ही उतरना होगा। उसके उतरते ही स्वयं का बोध हो जाएगा एवं वह नदी की तरह बह चलेगा, हम उसी में प्रवाहित हो जाएंगे। अब हमें 'हम' का भी भान नहीं रहेगा।

जागकर सीधे पद्मासन या सिद्धासन पर बैठ जाएं, तत्पश्चात गुरु मंत्र से परमात्मा का ध्यान 15 मिनट करें। इसके बाद जो स्वर चल जाए (दायां-बायां) उसी तरफ के हाथ से पृथ्वी मां का स्पर्श कर अपने इष्ट का स्मरण कर, प्रणाम करें। तदुपरांत स्वर की तरफ का ही पैर पृथ्वी पर रखें एवं प्रसन्नचित्त कार्य शुरू करें।

(2) जल–रात्रि में ही सोने से पूर्व तांबे के पात्र या मिट्टी के पात्र में पानी रख दें एवं कुल्लाकर इच्छाभर पानी पी लें। कम से कम एक लीटर पानी अवश्य पिएं।

(3) शौच–शौच के समय दाहिने स्वर को चलाएं एवं दांतों को दबाकर (मजबूती से) ही बैठें, जिससे जीवन भर दांत नहीं हिलें एवं लकवा तथा पक्षाघात की शिकायत न हो।

(4) व्यापक शौच–

(क) मुंह की सफाई–दातुन या ब्रुश से पूरब दिशा में बैठकर ही मुंह धोएं। मुंह धोते समय ही जिह्वा की लंबिका क्रिया तथा अमर लिंग का दर्शन (गुरु से सीख लें) भी कर लें। तत्पश्चात ठंडे पानी का छींटा दोनों आंखों पर एवं त्रिकुटी पर 7-7 बार दें, जिससे आंख की रोशनी ठीक रहे एवं मन मस्तिष्क प्रसन्न रहे।

(ख) स्नान–स्नान करते समय सबसे पहले जल नाभि केंद्र पर डालें जो धीरे-धीरे नीचे को जाए। जिससे शरीर की गरमी बाहर निकले एवं पाचन तंत्र सुदृढ़ हो, ब्रह्मचर्य परिपक्व हो। तत्पश्चात पानी नाभि केंद्र के ठीक पीछे रीढ़ की हड्डी पर डालें जो उसी तरह धीरे-धीरे नीचे को जाए। इसके बाद सिर के पिछले भाग पर पानी दें, इसके बाद पूर्ण स्नान करें।

(ग) लंगोटा–लंगोटा पहनने की विधि गुरु से सीख लें तथा लंगोटा पहनने के पहले लिंग के अग्रभाग के चमड़े को हटाकर पानी से साफ कर लेना चाहिए जिससे गंदगी जमा न हो।

(5) केश व पानी–गुप्तांग या किसी भी संधि स्थान (जोड़ों) पर के केश नहीं काटने चाहिए, क्योंकि यह विद्युत का कुचालक है एवं ब्रह्मचर्य धारण करने में मदद करता है। पेशाब करने के बाद मूत्रेंद्रिय को पानी से अवश्य धो लें।

(6) सूर्य नमस्कार–**(क)** स्नान के बाद भीगे कपड़े एवं शरीर से सूर्य नमस्कार निम्न मंत्र से करें (इस मंत्र की मुद्रा गुरु से सीख लें)

"पुषन्ने कर्षेयम् सूर्य पजापत्यत्यूह रश्मीन समूह।
तेजोयन्ते रूपं कल्याण तमं तन्ते पश्यामि
-योऽसा-वसौ पुरुषः मोऽहमास्मि॥"

इससे शरीर की बहुत-सी बीमारियां दूर हो जाती हैं तथा विचार भी नैतिक बनते हैं।

(ख) भूत यज्ञ—स्नान के बाद पेड़, पौधों (तुलसी) में जल डालना। प्रतिदिन नियमित रूप से एक घंटा या उपलब्ध समयानुसार पेड़-पौधों की सेवा करना, जीव जगत की सेवा करना एवं शारीरिक श्रम करना अनिवार्य है।

(7) साधना—साधना प्रत्येक साधक के लिए उसी तरह अत्यंत जरूरी है जैसे स्नान एवं भोजन। मन को स्वस्थ एवं पवित्र रखने के लिए गुरु के बताए गए मंत्र का स्वर के सहारे जाप करें, ध्यान करें। तत्पश्चात उपयुक्त आसन पर प्राणायाम कर पुनः ध्यान करें। अपने प्रतिदिन के समय को चार भागों में बांट लें। 6 घंटा विश्राम, 6 घंटा काम, 6 घंटा ध्यान एवं धर्म प्रचार, 6 घंटा अपने अन्य पारिवारिक या आश्रम के काम हेतु।

संन्यासी चित्त के व्यक्ति को चार बार साधना करना ही होगा तथा गृहस्थ चित्त के व्यक्ति को सुबह-शाम अवश्य साधना करना ही होगा। संन्यास घर छोड़ने एवं कपड़ा बदलने का नाम नहीं है अपितु चित्त-वृत्ति बदलने का नाम है।

(8) भोजन—भोजन सतोगुणी एवं रजोगुणी ही ग्रहण करना चाहिए। जिस भोजन से शरीर एवं मन दोनों का सम्यक रूप से विकास होता है, वह सतोगुणी है। जिससे शरीर की उन्नति तो होती है पर मन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता वह है रजोगुण भोजन। जिस भोजन के ग्रहण करने से शरीर की उन्नति नहीं होती है और न अवनति बल्कि मन की अवनति होती है वह तमोगुणी भोजन कहलाता है। जैसे अन्न, फल-फूल, मूलकंद, दूध एवं दही सतोगुणी हैं तथा मादक भोजन तमोगुणी प्रधान भोजन कहा जाता है।

भोजन से पूर्व मुंह, हाथ-पैर, ताजे-ठण्डे जल से अवश्य धो लें जिससे जठराग्नि का मुंह खुल जाए तथा बाहर के कीटाणु धुल जाएं।

तत्पश्चात प्रसन्नचित्त काष्ठ या कंबल पर बैठ जाएं तथा कुछ पानी पी लेना श्रेयस्कर है। जिससे पाचन-तंत्र ठीक रहे एवं चित्त-वृत्तियां शांत रहें। भोजन के पूर्व परमात्मा को याद कर ध्यान करें एवं इसे निम्न मंत्र से अर्पण कर ही ग्रहण करें।

''तव द्रव्यं गुरुदेवं तुभ्यमेव समर्पये''

भोजन करते समय पानी न पीएं, एक घंटा बाद ही पानी पिएं जिससे पाचन ठीक हो सके तथा गैस का निर्माण न हो सके।

(10) विश्राम—सुबह के भोजन के बाद बाईं करवट से 10 मिनट

विश्राम ले लें, एवं दाहिना स्वर चलावें तथा रात्रि के भोजन के पश्चात 10 मिनट टहलें तथा सोने से पूर्व पैर धोकर पानी पी लें। इससे पाचन शक्ति बढ़ जाती है तथा विचार नैतिक बने रहते हैं। खाने के बाद दोनों समय पेशाब कर जल से लिंग को धो लेना चाहिए जिससे धातु क्षीणता एवं स्वप्नदोष की शिकायत से बच सकें। जब कभी भी पेशाब करें, पानी का प्रयोग अवश्य करें।

(11) उपवास–हर मास शुक्ल पक्ष में चतुर्दशी को निर्जला या जल के साथ उपवास रखें तथा 24 घंटे के उपरांत पूर्णिमा में हल्का सात्विक भोजन ग्रहण करें तथा कृष्ण पक्ष में आमावस्या को व्रत रखें। यह सूर्योदय तक गिना जाता है। इससे शरीर स्वस्थ रहता है तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है।

(12) शादी विवाह–तिलक, दहेज लेना-देना अपराध है तथा उस तरह की शादी-विवाह का बहिष्कार करें, शादी में जाति बंधन जरूरी नहीं।

(13) पड़ोसी के प्रति कर्तव्य–अपने आस-पास के लोगों के दुख-दर्द का खयाल करें। प्रत्येक दिन एक नेक कार्य करें तथा उसे भूल जाएं, दूसरे दिन के नेक कार्य को सोचें।

(14) विष्णुभाग (गुरुदान)–अपनी कमाई का कुछ हिस्सा दान अवश्य करें जिससे समाज के कमजोर उपेक्षित वर्ग का कल्याण हो सके। यह न्यूनतम 2% से 5% तक होना चाहिए, अपने नजदीक के नैतिक पुरुषों या गुरु को या गुरु दरबार में जहां से मानवता का कल्याण सन्निहित हो। अन्यथा प्रकृति दवा के रूप में कर वसूल लेती है। गुरुदान प्रतिदिन एक बार अवश्य करें। खाने के पदार्थ से एक मुट्ठी एवं कुछ पैसे निकाल कर रख दें। जिसे गुरु आश्रम में सप्रेम भेट करें।

(15) इष्ट एवं आदर्श–अपने गुरु के द्वारा निर्देशित इष्ट एवं आदर्श पर पूर्ण निष्ठा कर आदर्श आचार संहिता को मानकर उस पर सतत चलना चाहिए। गुरु वंदना दिन भर में तीन बार एवं गुरु दान एक बार अवश्य करें। गुरु के खिलाफ सुनना, बोलना अपराध है। इसे ब्रह्महत्या का दोष कहा गया है।

(16) धर्म गोष्ठी–गुरु के द्वारा निर्देशित धर्म सम्मेलन, चरम निर्देश को प्रतिदिन याद करना या दोहराना चाहिए। सप्ताह में जहां भी संभव हो यदि नजदीक जीवन जागृति केंद्र (मंदिर) हो तो अवश्य जाएं एवं सत्संग का लाभ लें। स्वयं साधना करना एवं दूसरे को करने के लिए उत्साहित करना भी गुरु सेवा ही है।

(17) रात्रि विश्राम–सोते समय गुरु मंत्र का स्मरण कर दिनभर के

कर्म का अवलोकन कर लें तथा गलती के लिए परमपिता (गुरु) से माफी मांग लें तथा कल के कार्यक्रम को बना लें। गुरु मंत्र का जाप करते हुए प्रसन्नचित्त से, ध्यान मुद्रा प्रकाश से परिपूर्ण हो, आनंद से पूर्ण मुस्कुराते हुए, निश्चित समय पर जगने का मन को आदेशित कर ऊर्जा भर कर परमपिता की गोद में सो जाएं।

भ्रांत धारणा

मानव मन में युगों से यह भ्रांत धारणा है कि साधना के लिए पत्नी, बच्चे, घर-द्वार छोड़कर वन में जाना है। वहां लाल, पीला या काला आदि वस्त्र धारण कर कंदमूल पर रहकर धूनी रमाने की आवश्यकता है। गरमी में पंचाग्नि एवं जाड़े में गंगा जल में खड़े रहकर अस्वाभाविक ढंग से जगत में अपने को पेश करना है। जिससे लोग उन्हें तपस्वी सिद्ध बाबा के नाम से जान सकें। शरीर को विभिन्न मुद्रा में रखने या विभिन्न परिवेश में रहने मात्र से कोई भी व्यक्ति शांति को उपलबद्ध नहीं हो सकता बल्कि अशांत एवं विक्षिप्त-सा हो जाता है। हां, अहम भाव की पुष्टी जरूर होती है। परंतु वास्तविकता से कोसों दूर हो जाते हैं। अतएव साधना का सच्चा अर्थ है—स्वाभाविकता, शांति एवं समता। अस्वाभाविक परिस्थितियों में की गई तथाकथित साधना में प्रतिक्रियात्मक जड़त्व के बीज बने रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित ही नहीं होते वरन पल्लवित एवं पुष्पित भी हो जाते हैं, जो साधुता के लिए कलंक के रूप हैं। अतएव आपका यह जन्म अत्यंत मूल्यवान है इसे बिना गंवाए, समय से सद्गुरु की शरण में चले जाएं। एक समय में तारे के गत गुरु अनंत होते हैं। परंतु सद्गुरु एक ही होता है। जिसके प्रकाश से जाने अनजाने सभी गुरु प्रकाशित होते हैं।

आश्रम

आप जहां हैं वहां रहें, अपने को ठीक से देख लें, परख लें एवं आगे कदम उठाना शुरू कर दें। आपके सामने नैतिक पुरुषों की भी एक लंबी शृंखला है एवं अनैतिकों की भी। अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ, जनक, व्यास, गर्ग, गौतम, हरीशचंद्र, शिव, राम, कृष्ण, रविदास, कबीर, नानक इत्यादि महामानव कहां गए ? जरा आप इनके विषय में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मनन करें। आप

इस पृथ्वी पर जहां जाएंगे वहां ही रहने के लिए गृह निर्माण करेंगे, कुछ लोग आगे-पीछे होंगे। हां, आप नाम परिवर्तन अवश्य कर लेंगे, अब आप आश्रम कहेंगे एवं पुत्र-पुत्री की जगह शिष्य-शिष्या। समय पर सद्गुरु जो जगह निर्देशित करे, वही जगह आपके लिए आश्रम है। उनका कार्य करना ही योग है। उनके निर्देशन में कार्य ही निष्कर्म है। उसकी कृपा ही मुक्ति का द्वार खोलती है। उसकी उपस्थिति ही सूर्योदय है। सूर्योदय में बत्ती जलाने का प्रयास करना उचित नहीं है, बल्कि निष्कर्म में लग जाना ही साधना का पावन मार्ग है।

योगयुक्त

केवल नाम बदल जाता है जैसे नमक को राम-रस, दाल को बैकुण्ठी कह लेते हैं। यानी नाक सामने से सीधा न छू-कर घुमाकर छू लेते हैं। संन्यासी कहकर संतोष कर लेते हैं। अब आवश्यकता है आप जहां भी रहें वहीं योग युक्त अवस्था में रहें। योग युक्त धारण किए बिना कोई भी व्यक्ति परमात्मा की प्रेरणा, आशीर्वाद ले ही नहीं सकता। क्योंकि यही अवस्था तो कवच है जो माया से बचा सकती है। मायापुरी तो है ही तमो प्रधान। अतएव योगी अपने ही अंदर योग की कुटिया में रहकर अनुभव कर सकता है, परमानंद की। इस स्थिति में स्वयं को देह और देह के संबंधों से अलग (न्यारा) कर्मातीत आत्मा निश्चित करके एक परमपिता परमात्मा की ही अनन्य अखण्ड, आनंदमय स्मृति में स्थित रहना है। इसी अशरीरी आत्मिक स्थिति का **रसास्वादन करते रहना ही योग-युक्त या योग निष्ठ है**। इस स्थिति में रहकर ही **परमपिता के सामीप्य में जगत का सारा कार्य जनक सा संपन्न करना ही कर्मयोग है**। योग युक्त रहकर जो भी कार्य कियां जाएगा वह श्रेष्ठ होगा और करने वाला मनुष्य–देवता होगा। नर-नारायण स्वरूप होगा। प्रभु के नाते से ही जागतिक नाता होगा। उसी का जगत, उसी का कर्म, उसी का कार्य। हम निमित्त मात्र हैं। 'एकश्च पंथा बहुश्च लोकाः।' सद्गुरु की शरण में रहकर उनकी आज्ञा अनुसार एक मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। यह मेरा अपना अनुभव है कि गुरु की छत्रछाया में रहकर किसी भी माध्यम से योग युक्त हो जाएं तथा कुण्डली जाग्रत हो जाए। आत्मपद में स्थित हो जाएं तो सारा मार्ग अपने आप ज्ञात हो जाता है। गुरु अपने अनुभव के अनुसार जब शिष्य में निर्माण का कार्य करता है, उसमें पात्रता लाता है, सद्गुण का विकास

कर ज्ञान-वैराग्य का पंख लगाता है, तब वह गुरु ब्रह्मा का कार्य कर रहा होता है। यानी उस स्थिति में गुरु को ब्रह्मा कहा जाता है। निर्माण के पश्चात उसे संचालित करने की आवश्यकता होती है। जब गुरु कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्व दिशा में संचालित कर दिव्य-दृष्टि प्रदान करता है। तब गुरु विष्णु का कार्य कर रहा होता है। उस स्थिति में उस गुरु को विष्णु कहा जाता है। जब गुरु शिष्य के काम, क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि दोषों का रूपांतरण कर परम पुरुष का साक्षात करता है तब वह महेश का कार्य कर रहा होता है एवं उस स्थिति में गुरु को महेश कहा जाता है। जब गुरु परम पुरुष का साक्षात्कार कराता है। तब गुरु एवं शिष्य तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता। वह अपने समान बना लेता है, तब गुरु पारब्रह्म परमेश्वर कहा जाता है।

तब यह मंत्र पूर्ण होता है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात परंब्रह्म (परमेश्वरः) तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

गुरु मूर्ति का स्थान

इस तरह गुरु अनुकंपा से ही पूर्ण विश्वासी श्रद्धा युक्त शिष्य परम पुरुष को पाने में समर्थ हो सकता है। जब ध्यान निराकार निर्गुण ज्योति स्वरूप पर नहीं टिकता, मद, मोह, लोभ काम इत्यादि वृत्तियां मन को सताने लगती हैं। जब रक्षा हेतु साधक को गुरु मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। जब गुरु का ध्यान करते हैं, ये विकार उसी तरह तिरोहित होते हैं जैसे वायु से मेघ, सूर्य से अंधकार। पूजा की जरूरत है जिससे मन-बुद्धि परम पवित्र रहे, वृत्तियां सद्‌गुण में लगी रहें तो गुरु पद की पूजा ही श्रेयस्कर है। यदि गुरु दूर हो तो मानसिक पूजा, अर्चना करना ही श्रेयस्कर है। साधक को गुरु पर इतना अटूट विश्वास करनां ही होगा कि जो भी गुरु मुख से निकल रहा है, वह मंत्र ही नहीं है, मंत्र का मूल है। यानी उस वाक्य का अक्षरशः पालन करना ही श्रेयस्कर है। यदि साधक इन तीनों को अपने जीवन में उतार लेता है तो उसे सिद्ध बनने से कोई रोक ही नहीं सकता। गुरुकृपा अपने आप स्वतः हो जाती है। उसके लिए अनुनय-विनय करने की जरूरत नहीं है। गुरुकृपा से मोक्ष को उपलब्ध हो जाएगा। इस तरह शिष्य के, साधक के जीवन में निम्न श्लोक पूर्ण हो जाएगा–

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरु पदम्।
मंत्र-मूलं गुरोर्वाक्यम् मोक्ष मूलं गुरु कृपा॥

तभी तो संत कवि तुलसीदास जी अपना अनुभव कहे हैं–

गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
विरंचि शंकर सम जो होई।।

गुरु मूर्ति को पूजा के पवित्र ईशान कोण पर रख कर धूप, दीप जलाकर, मंत्र जाप करते हुए गुरु के तिलक पर त्राटक ध्यान करें। आंख को आदेश दें कि संसार को बहुत देखा, अब गुरु के माध्यम से गोविंद को देखें। त्राटक करें। आंखें न गिरें। आंख में आंसू आएगा। आने दो। इससे आपकी आंखें बड़ी हो जाएंगी। चेहरा चमकने लगेगा। बुद्धि का विकास होगा, आपकी इच्छा शक्ति दृढ़ होगी। आपका सोया हुआ कार्य स्वतः पूर्ण होने लगेगा। अपने कान को आदेश दें कि बाहर की सुनना बंद कर अंदर की ओ३म्कार ध्वनि सुन। नाक को आदेश दें कि गहरा श्वास ले प्रत्येक श्वास नाभी से नीचे उतरे। जीभ को आदेश दें कि आप से पूछ कर ही वाणी का प्रयोग एवं खाद्य पदार्थ स्वीकार करे। जीभ खेचरी मुद्रा में रहे। अंगुली ज्ञान मुद्रा में रहे। त्वचा पर आपका आदेश रहे। इन्हीं पांचों इंद्रियों के सम्मिलित प्रयास का नाम है पंचजन्य शंख। फिर आपकी साधना अग्रगति करेगी एवं गुरु अनुकंपा आप पर बरसेगी।

दृढ़ योग

इसी संदर्भ में अपना अनुभव, जिसे गुरु आश्रम वाराणसी में योग युक्त रहकर जो कुछ भी किया है, इन पन्नों पर यथासंभव लिखने की कोशिश कर रहा हूं। हालांकि सबकुछ लिखना संभव नहीं है। न ही कहना संभव है। सबकुछ जानना तो गुरु शरण में रहकर ही संभव है। फिर भी बहुत लोगों के आग्रह पर एवं अपने परम पूज्य सद्गुरु स्वामी आत्मादास जी महाराज की अनुकंपा से उद्धत करने की चेष्टा कर रहा हूं।

हठं बिना राजयोगो, राजयोगं बिना हठः।
तस्मा प्रवर्तते योगी, हठे सद्गुरु मार्गतः।।

हठ के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता। अतएव योगी को उचित है कि योगवेत्ता सद्गुरु द्वारा हठयोग में प्रवृत्त हो। क्योंकि यह भी कहा गया है कि जो मनुष्य इस शरीर में योग का आश्रय ग्रहण नहीं करते, वे केवल इंद्रिय भोग के लिए ही संसार में जीते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है–

''स्थिते देहे जीवति च भोगं न श्रियते गृशम्।
इन्द्रियार्थेर्पि भोगेषु स जीवति न संशय॥

हठयोग

बलपूर्वक जोड़ना। 'ह' अर्थात् इड़ा (इंगला) यानी सूर्य स्वर तथा 'ठ' यानी पिंगला (चंद्रस्वर) के द्वारा पूरक, कुंभक तथा रेचक एवं पुनः पूरकं, कुंभक रेचक कर बीच की नाड़ी का शोधन करें, जिसे ब्रह्म नाड़ी या सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। जिसमें अनंत काल से सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व गति से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रसार तक जाती है। इस प्रक्रिया को हठयोग कहते हैं। इसी से कहा गया है कि हठयोगी के लिए त्रिलोक में सब कुछ संभव है। यथा—

न तस्य दुर्लभं किंचितेषु लोकेषु विद्यते।

इस तरह साधक को हठयोग करने के पूर्व एक आसन पर कम से कम तीन घंटा बैठने का अभ्यास अति आवश्यक है। प्राणायाम के लिए पद्मासन पर बैठें, ज्यादा श्रेयस्कर होगा तथा जब भी पद्मासन पर बैठें उत्तर दिशा में ही बैठें तथा अन्य क्रियाएं सिद्धासन से ज्यादा उचित होगा। सिद्धासन पर सुबह पूरब दिशा तथा शाम को पश्चिम दिशा में गुरु के आदेशानुसार सूर्य स्वर या चंद्र स्वर से प्राणायाम शुरू करना चाहिए। यदि सर्दी का मौसम हो या सर्द जगह तो सूर्य स्वर से शुरू करना चाहिए एवं गरम मौसम या गरम शरीर या स्थान पर चंद्र स्वर से शुरू करना चाहिए। प्राणायाम शुरू करने के पहले निम्न प्राणायाम तथा मुद्रा गुरु से सीख लेनी चाहिए—

प्राणायाम-भस्त्रिका, कपाल भाति, सूर्य भेदी, चतुर्थ प्राणायाम।

मुद्रा—खेचरी, विपरीत करणी, महाबंध, महाबोध, महामुद्रा, अश्विनी, योनि-मुद्रा शक्ति चालिनी ये कुण्डली को जाग्रत करने में सहायक सिद्ध होते हैं। अब प्राणायाम करने के पहले समझ लेना चाहिए कि कुण्डलिनी है क्या ?

कुण्डलिनी शक्ति

यह एक शक्ति का नाम है, ऊर्जा का नाम है। जो अनंत जन्मों से संस्कारों से दबी सोई हुई है। यह वह शक्ति है जो शरीर एवं आत्मा के मिलन बिंदु पर है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के बहुत से मिलन बिंदु हैं। जो मेरुदण्ड के निम्न भाग से उच्चतम भाग (मस्तक) में स्थित हैं। जो शरीर, मन

और आत्मा का भी मिलन विंदु है। जहां से ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। साधारण योगियों के तीन चक्र ही जाग्रत रहते हैं। शेष ऊपर वाले प्रसुप्त रहते हैं। ये चक्र ही मिलन विंदु हैं। विशेष साधना से ऊपर के चक्र प्रबुद्ध किए जाते हैं। इनकी सक्रियता से एक विशेष प्रकार की चेतना प्रगट होती है। देह और मन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जबकि हमारे विचार एवं भावना देह को प्रभावित नहीं करते, बल्कि उसे रूपांतरित करते हैं। इसमें अनंत शक्ति छिपी हुई है। ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियां हैं, परमपिता ने उन समस्त शक्तियों को शरीर रूपी पिण्ड में बीज रूप में छिपा दिया है। यह कुण्डलिनी मेरुदण्ड के भीतर स्थित सुषुम्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण यानी योनि मण्डल के मध्य स्थान पर स्थित है। यह अति सूक्ष्म विद्युत ऊर्जा से परिपूर्ण दिव्य शक्ति से पूर्ण साढ़े तीन लपेटे खाए हुई, अपनी पूंछ को अपने ही मुंह में दबाए हुए अनंत काल से सोई हुई है। जिसका शरीर शास्त्री अभी तक पता नहीं लगा सके। परंतु भारतीय तत्ववेत्ता ही देखते हैं या इसका विषद वर्णन शास्त्रों में कह गए हैं कि इसके दर्शन मात्र से ही जन्मों जन्म का पाप संस्कार स्वाहा हो जाता है। ऊर्जा से शरीर परिपूर्ण हो जाता है। यही शक्ति वासना का केंद्र है। पुरुषत्व का केंद्र है। ऊर्ध्व गति होने पर मोक्ष का द्वार है। साधक के दृढ़ इच्छा शक्ति एवं सद्गुरु की अनुकंपा से मानसिक शक्ति को सुषुम्ना में प्रवाहित करना होगा। जिससे साधक आध्यात्मिक प्रकाश के द्वारा अशुभ के बीज को निर्मूल कर सकता है।

कुण्डलिनी जागरण

इसकी ऊर्जा अनंत जन्मों से शरीर की तरफ रही है। जो काम शक्ति (Sex) बन जाती है। परंतु जब योग युक्त द्वारा इसे जगाया जाता है तो वह उर्ध्वगामी होकर आत्मा की तरफ बहने लगती है तथा काम में अधोगामी होकर शरीर की तरफ सोये हुए मात्र स्पंदित हो जाती है। यह शक्ति (Sex Centre) यौवन केंद्र के बिलकुल समीप सोई हुई है। जब कुण्डलिनी जग जाती है तो सारा शरीर ऊर्जा से पूर्ण हो जाता है। सारा विश्व ब्रह्माण्ड अपने में समाया हुआ लगता है, अपने अंदर मालूम होता है, शक्ति की बाढ़ आ गई। नदी टूट गई, साधक उसमें डूबता चला गया। परंतु यह डूबना भी आनंददायक मालूम होता है। यदि इस समय गुरुकृपा हो तो दुगुनी ताकत से ऊर्जा समाहित होती है। जैसे नीचे से कुण्डलिनी रूपी नदी का पानी बढ़ रहा हो तथा ऊपर से गुरु कृपा

रूपी आशीर्वाद या शक्तिपात रूपी वर्षा हो रही हो। तब फिर साधक की साधना में चार चांद लग जाते हैं।

कुण्डलिनी का जागना यानी नदी का बाढ़ आना अपना होता है। शक्तिपात गुरु का होता है। हालांकि दोनों परोक्ष रूप से ही संभव है। हमें मात्र पात्र बनना है। ग्राहकता मात्र अपने आप में रखना है। हां कुण्डलिनी के जगने से जैसे बाढ़ का पानी चारों तरफ से उमड़ा करता है, उसी तरह सूक्ष्म शक्ति का चारों तरफ से हमला है। साधारण साधक विक्षिप्त या पागल हो जाते हैं, क्योंकि पानी, शक्ति का बांध टूट जाता है। जिसे चतुर साधक ही नियंत्रित कर सकता है। कुछ लोग पुस्तक पढ़कर कुण्डलिनी जाग्रत करने की कुचेष्टा करते हैं। जिसका परिणाम भयंकर हो जाता है। कुछ विद्वान गुरु अंजाने में निर्देश शिष्य को दे देते हैं। जिससे ऊर्जा के जागरण होने पर उसे संभाल नहीं पाते हैं। तब वह खून का वमन करने लगते हैं या विभिन्न रोगों का शिकार हो जाते हैं। इनका जीवन कष्टकर हो जाता है। ऐसे भटके साधक मेरे पास आए हैं। जिन्हें संभालने में बहुत कठिनाई होती है। क्योंकि इस विषम परिस्थिति में उस साधक में एक भयानक मानसिक धूर्णिवात का निर्माण कर उसके स्नायुओं और देह-मन को झकझोर कर उसे पूरी तरह विध्वंस कर सकती है। अतएव आप विज्ञ गुरु से ही निर्देश प्राप्त करें।

यह शक्ति उसी तरह की मालूम होती है जैसे किसी कमरे में हजारों-हजार वाट के सैकड़ों बल्ब लगा दिए हों जिसके बारे में पूर्व किसी भी प्रकार की जानकारी नहीं हो एवं कमरे में जाते ही स्विच ऑन कर दिया जाए, आंख एकाएक चकाचौंध में पड़ जाएगी, बुद्धि तिलमिला जाएगी, वही स्थिति है कुण्डलिनी की। उससे सैकड़ों सूर्य के समान प्रकाश तथा रंग-बिरंगे रूप में विशाल सर्पिणी भी दिखाई पड़ सकती है। विभिन्न वाद्य भी सुनाई पड़ने लगते हैं। सारा कुछ साधक के लिए अनहोनी घटना होता है। जब यह कुण्डलिनी उर्ध्व गति से चलती है तो जिस चक्र पर पहुंचती है वह अधोमुख से उर्ध्व मुख होकर खिल जाता है। प्रकाश से भर जाता है। इस तरह सारे चक्रों को पार करते हुए विभिन्न अनुभव एवं शक्ति संपन्न योगी की कुण्डलिनी जब सहस्रार तक पहुंचती है तब सारी वृत्तियों को भस्म कर असंप्रज्ञात समाधि को उपलब्ध होता है।

कुण्डलिनी जाग्रत होने पर विभिन्न प्रकार की शक्ति तथा अनुभव प्राप्त होता है। परंतु योगी को प्रगट करने से मना कर दिया जाता है, अन्यथा शक्ति क्षीण होने की संभावना या जागतिक वृत्ति में फंसकर श्राप या आशीर्वाद देने

के चक्र में पड़ जाने की ज्यादा संभावना है। कुछ साधक अन्य कनिष्ठ लोगों में संचित शक्ति दूरदर्शन एवं मन की बात जानना आदि क्षुद्र सिद्धियों के रूप में अभिव्यक्ति करते हैं। इससे साधक अपने शैशव अवस्था में ही अहंकारी बन जाते हैं। जिससे ये अध्यात्मिक दृष्टि दिवालिया बन जाते हैं। कुण्डलिनी का जागरण एवं उच्चतर के चक्रों पर गमन करना एवं पुनः नीचे गिरना भयानक परिणाम देता है। अतएव साधक को जप, ध्यान, प्रार्थना के अभ्यास एवं गुरु के नैतिक अनुशासन में रहना ही होगा। अन्यथा योगी मूल उद्देश्य से भटक जाता है। जबकि पूरी सृष्टि उसकी इच्छा मात्र से संचालित हो सकती है। अनंत से मिलकर योगी अनंत बन जाता है। अतएव इस अवस्था में साधक को विशेष सावधानी की जरूरत है। इस अवस्था में योगी के लिए भगवान शंकर ने कहा है कि योगी के लिए कपड़ा का भान नहीं होता है। दिशाएं ही कपड़ा है। शून्य में खड़ा, नग्न ही खड़ा हो जाता है, हर समय एक ही निरंजन रस में मग्न रहता है।

यदि नगर या गांव में प्रवेश करना होता है तो सामाजिकता बस औरतों द्वारा त्याज्य करकटकथ का ही लंगोटा बनाकर पहन लेता है तथा राजमार्ग का परित्याग कर अन्य रास्ते से चला जाता है। शरीर की रक्षार्थ कुछ भी भिक्षा ग्रहण कर लेता है।

'रथ्या विरचित करकट कथा।
पून्यापून्ये विवर्जित पंथा।
शून्यागारे तिष्ठित नग्ना।
शुद्ध निरंजन समरस मग्ना॥

योगी को अत्यंत एकाकी एवं संसार से अपने काम तक ही संबंध सीमित रखने का निर्देश दिया गया है। क्योंकि यह अभ्यास का काल होता है। प्राणायाम शुरू करने के पहले आसन सिद्ध कर साधक अपने गुरु से मंत्र जाग्रत कराकर निम्न विधि का अनुपालन करे–

(1) एकांत स्थान अपने उपयोग हेतु खोज ले। मठ-मंदिर, आश्रम या गंगा का किनारा हो तो उत्तम अन्यथा साधक अपने घर ही एक छोटा-सा कमरा जिसमें साफ-स्वच्छ हवा आती हो। शोरगुल से दूर हो। एकांत का अनुभव कर सके, प्रयोग करे। गुरु से आदेश प्राप्त कर स्थान, तिथि, दिन, समय निश्चित कर ले।

(2) कमरे में एक कंबल बिछा दे, अपने गुरु की प्रतिमा अपने सामने रख दे।

(3) आसन को स्पर्श करे निम्न मंत्र से प्रणाम करे–

''सत् पुरुष को सुमिर के, आसन करो सम्भाल।
तापर हंसा पौढ़े, सद्गुरु सहाय।''

तत्पश्चात आसन पर प्रसन्नचित्त पद्मासन पर बिलकुल सीधे बैठ जाए। रीढ़ की हड्डी बिलकुल सीधी होनी चाहिए।

अब शरीर शुद्धि एवं विघ्न निवारण हेतु सद्गुरु से निम्न मंत्र जाग्रत करवाकर ग्रहण करे, एवं क्रिया आरंभ करें।

आत्म-प्रतिष्ठा मंत्र एवं क्रिया–

हाथ को छाती पर रखें तथा अपनी चित्त वृत्ति को भी हृदय पर ले जाएं तब निम्न मंत्र का उच्चारण करें–

आत्मन अकासद् भवति, आकाशदि वार्यु भवति, वार्यु अग्नि भवति, अग्निं ओंकार भवति। ओंकार व्याहिंत भवति, व्याहिंत गायत्री भवति, गायत्री सावित्री भवति, सावित्री सरस्वती भवति, सरस्वती वेदो भवति, वेदोभ्यो लोकाः।

प्राण प्रतिष्ठा–

''ओ आं ह्रीं श्रीं क्लीं ऊं यं रं लं वं शं षं सं हं हंसः सोहं मम् प्राण इह प्राणः।

ओं आं ह्रीं श्रीं क्लीं ऊं यं रं लं वं शं षं सं हं हंसः सोहं मम् जीव इह आगच्छ।

ओं आं ह्रीं श्रीं क्लीं ऊं यं रं लं वं शं षं सं हं हंसः सोहं मम् प्राण इहा गच्छ सुख चीरम् तिष्ठान्तु स्वाहा।

(इसे तीन बार मानसिक उच्चारण करना है, हाथ हृदय पर ही रहेगा)

रक्षामंत्र–

''ऊं रां रक्ष प्राच्यं, ऊं रां रक्षा यामयं ऊं रां रक्ष पतिच्यं, ऊं रां रक्ष नैरित्यं ऊं रां रक्ष उर्ध्वावय, ऊं, रां रक्ष अधः।'' कर न्यास (अंग रक्षा हेतु)

''ऊं रां रामाय नमः। ऊं रां रक्ष मुरधनी,

ऊं रां भ्रू मध्य, ऊं माम् नमः हृदयायः। यं नमः नाम्यो नं नमः गुह्य मम् नमः पादायः, रां नमः मुर्धनीः रामाय नमः हृदयः, नमो नमः पादयः। रां नमः दक्षिण स्तने, नमो नमः बाम स्तने। रामाय नमः हृदयः।

ऊं रां अगुष्ठाभ्याम् नमः।
रीं तर्जनीभ्याम् नमः।
रुं मध्यमाभ्याम् नमः।
रैं अनामिकाभ्याम् नमः।
रौं कनिष्ठकाभ्याम् नमः।
रः कर्ततल कर पृष्ठाभ्याम् नमः॥

न्यास (हृदयादि न्यास)

रां हृदयाय नमः, रुं शीर्षे स्वाहा, रैं शिखाय वौषट, रौं कवचाय हुम्, रौं नेत्राय वौषट, रं अस्त्राय फट्।

(उपरोक्त कर न्यास हृदयादि न्यास पढ़ते वक्त क्रमशः सब अंगों को स्पर्श करें एवं अंत में पीछे हाथ ले जाकर चुटकी बजाएं तथा अपना त्राटक गुरुमूर्ति पर स्थिर रखें।

उपरोक्त मंत्र ग्रहण करने एवं अनुपालन करने से प्राणायाम शीघ्र ही सिद्ध होता है तथा किसी तरह के खतरे की संभावना अत्यंत क्षीण हो जाती है। इससे सागर्भ प्राणायाम तुरंत फलित होता है। साथ ही मनुष्य बुद्ध, रमण कबीर या साक्षात भगवान शंकर तुल्य हो जाता है।

प्राणायाम

स्थिर आसन पर बैठकर श्वास प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम है। एक खास विधि से श्वास को मूलाधार चक्र तक ले जाना (पूरक) कुछ काल रोकना (कुंभक) तत्पश्चात बाहर निकालना (रेचक) ही प्राणायाम है। यह खोज अकारण ही नहीं है। बहुत लंबे समय तक किए गए प्रयोगों एवं अनुभवों से ज्ञात हुआ है। इस श्वास-प्रश्वास से बहुत कुछ किया जा सकता है। इस श्वास क्रिया से हम ज्यादा से ज्यादा ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं तथा खास समय तक रोककर जलंधर भी करते हैं। जिससे शरीर के अंदर विजातीय वायु का दहन होता है। जिसके परिणामस्वरूप शरीर से अनेक रोग अपने आप नष्ट हो जाते हैं। शरीर अत्यंत हल्का; मन प्रसन्न हो जाता है। कुण्डलिनी के चारों तरफ का मूल आवरण नष्ट हो जाता है। अतएव यह बहुत ही महत्वपूर्ण ऊर्जा है। हम बिना आंख, हाथ, पैर, जीभ के जी सकते हैं, परंतु बिना श्वास के जीवन असंभव है। ई (यह) स्वर ही ईश्वर है। इसके घात-प्रतिघात से कुण्डलिनी जाग उठती है। ईश्वर के दर्शन मात्र से आदमी का जीवन ही बदल जाता है। गुरु

द्वारा प्रदत्त मंत्र जाप एवं चिंतन देह मन, इंद्रियों और अहंकार को पवित्र कर इन्हें रूपांतरित करते हैं। जिससे श्वास-प्रश्वास संतुलित प्राण समरस, मन शुद्ध और शांत तथा अहंकार विराट केंद्रित या व्यापक हो जाता है। जिससे स्वतः आध्यात्मिक ध्यान सह अजपा दिव्य संगीत पैदा करता है। जिससे आध्यात्मिक मार्ग साफ होता है। सुप्त कुण्डलिनी जाग उठती है। उच्चतर चक्रों की तरफ प्रवाहित होने लगती है।

प्राणायाम विधि

सुषुम्ना नाड़ी को ठीक करना–

साधक पद्मासन पर उत्तर दिशा में बैठकर मंत्रादि का अनुष्ठान कर गुरु का ध्यान करे तत्पश्चात मेरुदण्ड बिलकुल सीधा कर गरदन सीधी करे। मुंह से तोते के चोंच की तरह वायु ले यानी पूरक करे, जिससे पूरक में शब्द भी निकलता है, तत्पश्चात कुंभक कर पेट को तीन बार चलावे, जिससे पेट के अंदर सारे विजातीय वायु का दहन हो एवं सुषुम्ना नाड़ी क्रियान्वित हो सके। तत्पश्चात मुंह से ही रेचक करे। एक बार पूरक कुंभक पर पेट को तीन बार चलावे तत्पश्चात रेचक नाक से करे। यह एक मात्रा होता है। इस तरह तीन मात्रा पहले करे।

इंगला-पिंगला एवं सुषुम्ना का शुद्धिकरण–साधक पंच तत्व से निर्मित शरीर (तत्वों) का शोधन एवं इन नाड़ियों का शुद्धिकरण निम्न बीज मंत्र से करे।

यं–वायु तत्व का प्रतीक है।
रं–अग्नि तत्व का प्रतीक है।
ठं–आकाश तत्व का प्रतीक है।
वं–जल तत्व का प्रतीक है।
लं–पृथ्वी तत्व का प्रतीक है।

साधक सबसे पहले गुरु के निर्देशानुसार इंगला या पिंगला से प्राणायाम शुरू करे। मान लीजिए, साधक के शरीर में कुछ ऐसे रोग हैं जो सूर्य के द्वारा ही शमन होगा या साधक के शरीर में गरम की जरूरत है या ठंडे देश में है तो साधक को मध्यमा एवं अनामिका अंगुली से बाएं नासिका या पिंगला नाड़ी (चंद्र स्वर) को दबा दे तथा सूर्य स्वर यानी दायां अर्थात इंगला से श्वास ले

यानी पूरक करे। पूरक करते समय यं (वायु तत्व) बीज मंत्र जाप 16 बार जाप करने में जो समय लगे उतने ही समय में पूरक की क्रिया पूर्ण कर ले। तत्पश्चात दाहिने ही हाथ के अंगूठे से सूर्य नाड़ी को बंद कर दे। अब 64 बार 'यं' मंत्र का जाप करते हुए कुंभक करे। इस तरह जब कुंभक पूरा हो जाए तब 32 बार 'यं' मंत्र का जाप करते हुए ही चंद्र स्वर यानी पिंगला से रेचक करे यानी वायु निकाले तत्पश्चात पुनःश्च इसी स्वर से ही 16 बार मंत्र का जाप पूरक तथा 64 मंत्र जाप से कुंभक एवं 32 बार में दायां यानी सूर्य स्वर इड़ा से रेचक करे। यह पूरी प्रक्रिया एक मात्रा कहलाती है। इस एक मात्रा से वायु तत्व का शोधन तथा सूर्य नाड़ी का शोधन हो जाता है।

ठीक उसी तरह आप 'रं' बीज मंत्र से सूर्य स्वर (इड़ा) से ही 16 बार में पूरक, 64 बार में कुंभक तथा 32 बार में रेचक एवं पुनःश्च पूरक, कुंभक एवं रेचक कर एक मात्रा पूरा करते हैं इससे अग्नि तत्व एवं चंद्र नाड़ी का शोधन हो जाता है।

अब साधक ठं (आकाश तत्व) बीज मंत्र से 16 बार जाप करते हुए पूरक सूर्य स्वर (इड़ा) से ही करे तथा 64 बार वं (जल तत्व) का जाप करते हुए कुंभक करे एवं 32 बार लं (पृथ्वी) बीज मंत्र का जाप करते हुए चंद्र स्वर (पिंगला) से रेचक करे। इसी तरह पुनःश्च चंद्र स्वर से 'ठं' से 16 बार में पूरक, 64 बार वं से कुंभक, तथा 32 बार 'लं' बीज मंत्र से इड़ा से रेचक करे। इससे आकाश तत्व, जल तत्व, पृथ्वी तत्व का शुद्धीकरण तथा सुषुम्ना नाड़ी का शोधन हो जाता है।

जिस व्यक्ति को शीत संबंधी या पाचन प्रणाली रोग हो वह सूर्य स्वर से ही पूरक प्रारंभ करे। जिसके शरीर में ज्यादा गरमी हो या तुरंत क्रोध आता हो, अपने क्रोध पर नियंत्रण करने में बार-बार असफल होता हो, वह चंद्र स्वर से पूरक कर प्राणायाम आरंभ करे। इससे चमत्कारिक परिवर्तन होगा। आपका क्रोध स्वतः नियंत्रित हो जाएगा। स्वभाव शांत हो जाएगा। कुंभक से शरीर के अंदर की विष युक्त विकार या वासना का क्षय होता है। जिससे शरीर का हर रोम खुल जाता है। पसीना बाहर आता है। रेचक से दूषित वायु के रूप में शारीरिक विकार, मानसिक विकार जिसे हम जन्मों से छिपाकर रखे हैं, बाहर निकलता है। हमारा तन-मन विकार मुक्त होता है। जिससे हम यशस्वी बनते हैं। जो हम श्वास लेते हैं, वह केवल ऑक्सीजन ही नहीं होती बल्कि प्राण होता है। वह वायु प्राण का वाहन है। प्राण को लेकर अंदर जाता है। जिसे अंदर हृदय, फेफड़ा ग्रहण कर लेता है। शेष वायु को अंदर के विकार के साथ वापस

कर देता है। यही प्राण जीवन का आधार है, अमृत है। जिस व्यक्ति में जिस मात्रा में प्राण संचित है, वह उतना ही आध्यात्मिक रूप से समृद्ध होगा। प्राण ही पुण्य है। प्राणवान साधक ही दूसरे में प्राण फूंक सकते हैं। जैसे ही आप नख से शीर्ष तक प्राण से भर जाते हैं। आपकी कुण्डलिनी शक्ति अधः से उर्द्ध की तरफ गमन कर जाती है। आपका शरीर हल्का हो जाएगा। आसन पर बैठते ही आप जमीन से ऊपर उठ जाएंगे। फिर आप रहस्यमय लोक की यात्रा में निकलने के लिए उचित पात्र बन जाएंगे।

सावधानी

साधक प्रत्येक स्वर पर सवार होकर मंत्र के साथ मूलाधार चक्र पर आघात करेगा। जहां कुण्डलिनी सोई हुई है। कल्पना करें कि प्रत्येक श्वास के घात प्रतिघात का आघात सीधे मूलाधार चक्र पर हो रहा है तथा ध्यान मूलाधार चक्र पर ही रहे, जलंधर एवं खेचरी मुद्रा में अवस्थित रहें। जब यह तीन मात्रा पूरा हो जाता है तब साधक 'रं' बीज मंत्र का ही प्रयोग करें। जैसे इड़ा से 'रं' बीज मंत्र का जाप करते हुए 16 बार में पूरक करें एवं 64 बार में कुंभक तथा 32 बार 'रं' जाप करते हुए रेचक करें। इसी तरह पुनःश्च पिंगला से 16 बार में पूरक, 64 बार में कुंभक 32 बार रं बीज मंत्र का जाप करते हुए रेचक करें। यह एक मात्रा हुआ। प्रथम दिन साधक कम से कम 12 मात्रा से प्राणायाम शुरू करें। इस मात्रा में पूर्व का शोधन नहीं आता है। 12 मात्रा पूर्ण होने पर धीरे-धीरे क्रमशः इसे बढ़ाया जाता है। प्रतिदिन एक मात्रा बढ़ा दिया जाए। साधक को 36 से 92 मात्रा तक खींचकर ले जाना चाहिए।

देश, काल एवं परिदृष्ट

देश से देखा हुआ या नापा हुआ यानी पूरक श्वास को अंदर ले जाते वक्त ध्यान श्वास पर तथा मूलाधार चक्र पर श्वास का आघात करना है। कुंभक-श्वास पूरा अंदर भरकर नाभि चक्र में रोककर जलंधर कर स्थित रहना है एवं 'रं' मंत्र का पूर्ववत जाप करते रहना है। प्रत्येक साधक की उन्नति उसकी पात्रता की स्थिति पर निर्भर करती है। यह विकास सीधी रेखा में नहीं होता है। एक उच्चतर केंद्र पर पहुंचने के बाद मार्ग बंद हो जाता है। जिससे साधक की शक्ति दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है। पुनः मार्ग पाने के

लिए गुरु के सान्निध्य की आवश्यकता होती है। कभी-कभी साधक बिना उन्नति किए एक ही स्थान पर बहुत दिनों तक घूमता रहता है। इसे ही आत्मा की अंधकार रात्रि (Dark Night of the Soul) कहते हैं। इसे गुरु भक्ति, निष्कर्म ज्ञान के समन्वय से पार किया जा सकता है।

रेचक

श्वास को धीरे-धीरे निकालना है। यह श्वास क्रिया एक खास निश्चित अवधि के अंदर पूरी होनी चाहिए, इसका अनुपात 1:4:2 (16 बार मंत्र जप, 64 तथा 32 बार) सदैव बना रहे। इस तरह पूरक, कुंभक, रेचक के देश काल एवं संख्या के परिमाण से लंबा सूक्ष्म होता चला जाता है। साधक पूरक करते समय श्वास इतना धीरे-धीरे ग्रहण करे कि जरा-सी भी आवाज नहीं करे, जिस तरह चींटी के चलने की आवाज नहीं सुनाई पड़ती है। रेचक भी इतना धीरे-धीरे करे यानी श्वास का त्याग करे कि नासिका के 12 अंगुल आगे जाकर ही समाप्त हो जाए। यदि 12 अंगुल पर श्वास समाप्त होता है तो उसे दीर्घ सूक्ष्म माना जाता है एवं जब साधक श्वास को देख लेता है तथा वह श्वास दो अंगुल यानी ऊपर वाले होंठ तक ही समाप्त हो जाता है तो उस योगी के लिए इस त्रिलोक में कुछ भी असंभव नहीं रहता। उसकी इच्छा मृत्यु होती है। वह योगी ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बन जाता है। बहुत साधक इसी जगह जन्म भर फंस कर रह जाते हैं। वह दुनिया के सामने चमत्कारी बाबा बन जाते हैं। परंतु यह स्थिति आत्म ज्ञान के लिए अत्यंत बाधक है। अतएव श्वास के पूरक, रेचक पर विशेष ध्यान देना है। कुंभक में साधक जब नाभि प्रदेश में श्वास को रोकता है तब यह मूलाधार चक्र से ऊपर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। अब साधक अंदर के अनंत कला युक्त प्रकाश को देखता है। यह श्वास नाभि प्रदेश में जब स्थिर महसूस हो तब साधक का कुंभक दीर्घ सूक्ष्म समझा जाता है।

इस तरह जब प्राणायाम धीरे-धीरे अधिक समय तक बढ़ता है तथा कम से कम 36 मात्रा तक बढ़ा ले जाते हैं, श्वास-प्रश्वास की गति सम हो जाए तब प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म माना जाता है। साधक जब 92 मात्रा तक निश्चित होकर कर लेता है तब प्राणायाम दीर्घ सूक्ष्म कहलाता है। प्राणायाम के बल से कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एक श्वास बन जाता है। इस तरह 12 श्वास-प्रश्वास एक श्वास बनने लगता है। तब प्राणायाम पूर्णता की तरफ पहुंचा जाना जाता है।

वायु का स्थान एवं मिलन

इस तरह प्राण वायु का निवास स्थान हृदय है तथा अपान वायु का मूलाधार चक्र और समान वायु का नाभि प्रदेश है। पूरक क्रिया में प्राण समान से नीचे आकर अपान से मिल जाता है और रेचक क्रिया में अपान से ऊपर जाकर प्राण से मिल जाता है। योगी जन अपान का प्राण से मिलना ही प्राणायाम कहते हैं। इसका मिलन अपने आप में अत्यंत चमत्कारिक घटना है।

प्राणायाम में बंध का उपयोग

साधक प्राणायाम में आंख बंद कर या गुरु मूर्ति पर त्राटक कर खेचरी मुद्रा करके ही प्रारंभ करे। जैसे ऊपर भी उल्लेख किया जा चुका है। शरीर को तानकर नहीं रखना है बल्कि शरीर बिलकुल सीधा, मेरुदण्ड बिलकुल सीधा रहे। रेचक क्रिया में पेट को पीठ से मिला दे जिसे उड्डीयान बंध कहते हैं। पूरक एवं कुंभक के समय जलंधर बंध लगाकर वायु को अंदर रोकना है। रेचक के समय जलंधर बंध खोल देना चाहिए। ये बंध एवं मुद्रा योगी जन के लिए बहुत ही लाभदायक है। अतएव यह गुरु से सीख ले। यदि साधक उपरोक्त क्रिया के साथ अनाहद पर भी ध्यान दे तो अत्यंत उत्तम है। परंतु अनाहद क्रिया के विषय में गुरु से परामर्श लेना भी न भूलें। क्योंकि साधक एक साथ क्या-क्या करने में समर्थ है, कितनी पात्रता है। यह गुरु ही समझ पाता है। समर्थ शिष्य एक साथ अनाहद, खेचरी, त्रिबंध, अजपा एवं ध्यान पांचों करने में समर्थ होते हैं। साधारण को एक-एक कर साधना ही उचित है। यह कार्य अत्यंत धर्मवग्न एवं नम्र एवं गुरु भक्त के लिए सुलभ है।

प्राणायाम सिद्धि

जब साधक का शरीर प्राणायाम करते-करते अत्यंत हल्का हो जाए। मन प्रसन्न रहे। चित्त वृत्तियां शांत हो जाएं। साधक अपने आसन से प्राणायाम के समय ऊपर उठ जाए तो प्राणायाम सिद्ध माना जाता है। शरीर के अंदर ज्यादा से ज्यादा प्राण ग्रहण किया जाता है। जिससे अन्य विजातीय द्रव्य एवं वायु नष्ट हो जाते हैं। जिससे साधक का शरीर हल्का हो जाता है। पित्त, कफ, वात अपने अनुपात में हो जाता है। जिससे साधक का शरीर स्वस्थ्य एवं निरोग्य

को प्राप्त कर लेता है। साधक प्राणायाम सिद्ध कर लेता है।

इड़ा गंगा पुराप्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका।
मध्या सरस्वीता प्रोक्ता सांसांगोऽति दुर्लभः॥

इड़ा गंगा है, पिंगला जमुना है। मध्य में सुषुम्ना सरस्वती है, यही त्रिवेणी संगम है, जिसका स्नान अति दुर्लभ है। यह वाक्य सदाशिव का है। इसमें स्नान मात्र से योगी योग युक्त हो जाता है। जन्मों के पापों से छुटकारा मिल जाता है। इस संगम पर मानसिक स्नान भी किया जाता है। जिससे साधक पाप मुक्त होकर सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है। अतएव यह सब क्रिया भी प्राणायाम काल में ही साधक को सीख लेना श्रेयस्कर है। इसे सद्गुरु कबीर कहते हैं—

"त्रीकुटी संगम झलकत हीरा, चरण चित्त तह रख कबीरा॥"

यहां चित्त स्वतः रुक जाता है। मन इसी प्रदेश में रमण करने लगता है।

सहज स्वभाव तत्व-गुण-धर्म

मानव शरीर पंचतत्वों से बना है। इनकी भागीदारी समझ कर ही इनका ग्रहण और त्याग किया जाता है। ये तत्व हैं—मिट्टी, जल, अग्नि, पवन और आकाश। इनके गुण हैं—गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। यह स्थूलता का क्रम है। सूक्ष्मता में इसे उलट कर शब्द, स्पर्श, रूप, गंध कहते हैं। स्थिति में ये पांचों तत्व होते हैं। जल में चार ही तत्व होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पानी में गंध नहीं होती है। जल में गंध ऊपर से डालनी पड़ती है। गंध के आते ही पानी पेय या सुवाद्य नहीं रह जाता है। अग्नि में तीन तत्व होते हैं—शब्द, स्पर्श और रूप। अग्नि में रस और गंध का अभाव होता है। गंध के लिए अग्नि में चंदनादि को जलाना पड़ता है। जल से अग्नि बुझ जाती है। गंध या जल को अग्नि जलाकर उड़ा देती है, रखती नहीं है। आग में रस हो तो यह जलेगी नहीं, धुंआएगी। वायु के दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। हवा में रूप, रस, गंध नहीं होते। हवा निर्गुण तत्व है। हवा में रस होगा तो वह हमें कंपाएगी, आग होगी तो वह गरमाएगी। पांचवां तत्व है आकाश। जिसका एक गुण है शब्द। यही शब्द माता के गर्भ में पिता के द्वारा स्थापित किया जाता है। जिसका नाम है—तेज, नाद, बिंदु या प्राण। यही शरीर का शुक्राचार्य है। जो मातृगर्भ में निरत करते उतरता है और प्रकाश, समीर, ताप, जल, अन्न ग्रहण करते शिशु रूप में अवतीर्ण होता है।

साधना करने वाले योगी को फिर इसी क्रम से शब्द तक चढ़ना होता है

इसके लिए स्थूलता को त्यागते सूक्ष्म प्राण में आरोहण करना होता है। अतः क्रमशः अन्नाहार, फलाहार, पयोहार, अग्नि सेवन, वायु आहार करते शब्द गुरु को पकड़ना होता है। यानी अन्न और फल छोड़ने पर गंध पर विजय होती है। जलाहार-पयोहार त्यागने पर स्वाद पर विजय होती है। अग्नि सेवन से कामना पर विजय होती है। वायु-आहार का संयम करने पर मौनी अवस्था आती है और मौन-साधना से शब्द यानी नाम की प्राप्ति होती है। नाम-साधना से आत्म-साक्षात्कार की भूमिका बनती है। इन्हें चाहे आप तप कहें या कृष्ट-साधना कहें, योग-युक्त होने के लिए इनका त्याग आवश्यक होता है। इसे ही काया शोधन कहते हैं। इसके परिणाम की चर्चा थोड़ी देर बाद करते हैं।

पांचों तत्वों के धर्म भी पांच ही हैं। पृथ्वी पर धर्म है स्थिरता। पृथ्वी अपनी कील पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती है। पर इसके पर्वत, नदियां, नगर, स्थान अपनी जगह पर यथावत रहते हैं। कोई चट्टान आप जहां रख देंगे, वर्षों-युगों वह, वहीं पड़ा होगा। लेकिन जल का धर्म स्थान छोड़कर नीचे बहना है। हिमालय की बर्फ पिघलकर समुद्र तक की यात्रा करती है। पानी स्थिर करेंगे तो सड़ जाएगा। या सूख जाएगा। पानी मिट्टी में भी प्रवेश कर जाएगा। वायुमण्डल में भी बादल बन कर उड़ता रहेगा। फिर बरस कर धरती पर आ जाएगा। पर धरती के बिना वह रह नहीं सकता। अग्नि का धर्म है ऊपर उठना। दीप की लौ, आग की लपट आकाश की तरफ ही जाती है। आग दाएं-बाएं नहीं उठती है। अवरोध देने पर भी वह स्वभाव में आ जाती है। आग जमीन छोड़कर भागती है। पानी जमीन पर भागता है। आग आकाश में भागती है। आग का रूप सगुण है, पर उसकी उड़ान निर्गुण में है। आग ऊपर जाकर खोती जाती है, बुझती जाती है, ठंडी हो जाती है। हवा उसकी गरमी को छीन लेती है। हवा आग को जलाती है, हवा आग को पचाती है, या कहें निगलती है।

तीसरा तत्व, आग जमीन छोड़ते ही मर जाती है। क्योंकि आग के जलने के उपकरण जमीन देती है। चौथा तत्व है समीर। वायु धरती छोड़कर दौड़ती है। यह भूमंडल के ऊपर वायुमंडल में दौड़ती है। पर इसकी गति सीमित है—इसकी एकांगी दिशा होती है। पुरवाई चलेगी तो पछैया नहीं चलेगी। आग इसकी गति को नियंत्रित कर सकती है। आग के केंद्र पर चौवाई हवा पहुंचती है और आकाश का धर्म है शब्द, जो एक ही साथ दसों दिशाओं में गमन करता है। पवन की आंधी भी शब्द को रोक नहीं सकती। टी॰ वी॰, रेडियो के शब्द वायुमंडल नहीं पचा सकता। यह शब्द इधर में गति करता है। यह अंतरिक्ष में

कहीं भी गमन करता है और पवन भी गति से शब्द की गति अनंतगुना अधिक है। शब्द से अधिक एकमात्र प्रकाश की गति है। इसी प्रकाश की गति से मन का निर्माण होता है, जिसकी अव्याहत गति होती है।

इनका परस्पर विरोधी धर्म भी देखें—पानी की लहरों या ज्वार को पृथ्वी रोक देती है। क्योंकि जल में तल के बराबर होने की कमजोरी है। भूतल की ऊंचाइयां जल को रोक देती हैं। तब जल की गति भी रुक जाती है। आग की लपटों को पानी बुझा देता है और आग उसे अपनी ओर खींच लेती है या हवा की गति की जन्मदाता आग ही है। आग के ताप के कारण हवा गतिमान है। तापांतर के कारण हवा में वेग होता है। आग पानी को भी जलाकर वाष्प बना देती है और वर्षा को भी जलाकर उड़ा देती है। आग मिट्टी को जलाकर पत्थर बनाती है और लोहे को गलाकर पानी बना देती है। अतः आग को पृथ्वी, पानी, हवा से बलवान माना जाता है। इसी कारण देवताओं में पृथ्वी, वरुण, पवन, कुबेर से अग्नि को श्रेष्ठ माना जाता है। अतः अग्नि की पूजा होती है। पर शब्द आग से भी शक्तिमान है। शब्दों और मंत्रों से अग्नि को न तो आग जला सकती है न सुखा सकती है। यही आग प्रह्लाद को जलाने में हार जाती है। प्रह्लाद ही आत्मा है। यही प्रह्लाद में पोषण पाने वाला तत्व है—यही विभु है।

आग की हवा पर निर्भरता है। हवा न हो तो आग नहीं जलेगी। आग को प्रदीप्त करने के लिए हवा करते हैं—पंखे झूलाते हैं। क्योंकि आग को जलाने का ऑक्सीजन हवा में होता है। आग को जलाने के लिए आकाश चाहिए। दीपक को ढक दें तो दीपक बुझ जाएगा। आकाश ही चारों को आयाम भी देता है, जन्म भी देता है। आकाश से वायु को, वायु से अग्नि को, अग्नि से जल को और जल से पृथ्वी को जन्म मिलता है। ठीक उलटा धरती जल में खो जाती है, जल हवा में शोषित हो जाता है, अग्नि हवा में लौट जाती है, हवा आकाश में लौट जाती है और आकाश सूक्ष्म में सिमट जाता है। शब्द में जाना ही सुरति को ऊपर चढ़ाना है। स्थूलता से सूक्ष्मता में उठने के लिए क्रमशः सूक्ष्म की ओर चलना है। पहले अन्न छोड़े तो गंध पर विजय होगी। फिर जल छोड़े तो गंध और स्वाद पर विजय होगी। फिर अग्निहोत्र करें तो गंध, स्वाद और काम पर विजय होगी। फिर प्राणायाम करें तो प्राण पर विजय होगी। इसी क्रम में शब्द की पकड़ होगी। अतः विहंगम पथ से चलना है। पंछी वायु से भरे आकाश में उड़ते हैं। वायु नहीं होगी तो उड़ना नहीं होगा। वायु को पकड़ कर प्राण का संयम करना होता है। दूसरा उपाय नहीं है।

अन्न से क्रोध को, जल से लोभ को, अग्नि से काम को और वायु से

लालसा को जन्म मिलता है। क्रोध मिटाने के लिए अन्न छोड़ते हैं, लोभ मिटाने के लिए निर्जला रहते हैं, काम नसाने के लिए अग्नि सेवन या अग्निहोत्र करते हैं और विचार से मुक्ति के लिए श्वास का अवरोधन करते हैं। प्राण को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। प्राण का अवरोध्य वही तत्व करते हैं जो ऊपर उठने की प्रवृत्ति रखते हैं। अग्नि, पवन और आकाश की आराधना से योग की वृत्ति जगती है। शब्द की आराधना बढ़ती है तो स्वतः श्वास की क्रिया का कुंभक होता है और बंकनाल में जलती हुई आग भी मंद पड़ जाती है। यह रहस्य कम को मालूम है कि हमारे मेरुदण्ड को ही संतों ने बंकनाल और संन्यासियों ने त्रिदंड कहा है। बंकनाल की भंगिमा त्रिदिशीय है। अतः सीधी रीढ़ करके बैठने का नियमन किया जाता है कि अग्नि का हवन निर्बाध हो। इस मेरुदण्ड में सफेद अग्नि सतत प्रज्वलित है। इसीलिए जब यह अग्नि बुझने लगती है तो भीतर प्राण संचालन की क्षमता खोने लगती है और श्वास क्रिया अस्वाभाविक होते-होते रुक जाती है। शरीर ठंडा हो जाता है।

शरीर में रमता जीव आकाश रूप है। उस पर आवरण चढ़े हैं। भीतर से क्रमशः वायु के, अग्नि के, जल के और अन्न के। इसे क्रमशः कहें—श्वास, त्रास, प्यास और भूख। इनका संयम किए बिना योग संभव नहीं है। छिति, जल, पावक—तीन सगुण हैं और वायु तथा आकाश निर्गुण हैं। तत्वों की निर्भरता कम करते, न्यून करते निर्गुण में उठना होता है। अग्नि का ईंधन है—अन्न और पानी। इन्हें छोड़ ही नहीं देना, कम करते जाना है। अग्नि का आयाम है—वायु और आकाश। आग ही तेज है जो नाभि केंद्र में स्थित है। नाभी केंद्र कैसे जाग्रत करें, यही हठयोगी कपालभाति करके थककर बैठ जाता है और इसे ही संत सुरति शब्द योग करके जगा लेता है। शब्द के पांच स्थान हैं—मुख, कंठ, हृदय, नाभि और त्रिकुटी। वक्ता मुख से बोलता है। गायक कंठ से गाता है और योगी नाभि से नादानुसंधान करता है। इसे कहकर नहीं समझाया जा सकता, क्रिया करनी करनी पड़ती है। यहां सद्गुरु ही एकमात्र मददगार होता है। समय के सद्गुरु के शरण में जाना ही होगा, उनसे इन्हें ग्रहण कर अपने को बदल लेना ही श्रेष्ठता है। चूक जाना ही अधोगमन करना है। सदैव संसार प्रपंची गुरुओं से भरा रहता है। आपके जन्मों को पुण्य, विवेक समय के सद्गुरु के शरण में पहुंचा ही देता है।

इंसान में पांचों तत्व समानता में होते हैं। छिति, जल, पावक, गगन, समीर में से एक भी गया कि मनुष्य मर जाएगा। अन्न न दें तो इक्कीस दिन नक जीएगा, जल न दें तो चार दिन जीएगा, उसकी आग बुझती जाएगी, वायु

न दें तो शायद कुछ घंटे अभ्यास करके जी ले। अग्नि को जलाए रखने के लिए ही भोजन, हवा, पानी की जरूरत है। ये बंद कर दें, फिर मरने के लिए आपको दूसरा कष्ट नहीं करना पड़ेगा। आकाश तत्व कहीं जाता नहीं है। हम मर जाते हैं तो भी वहीं-का-वहीं रहता है। जैसे समुद्र में, घड़ा में अलग-अलग भरा पानी हो और घड़े फूट जाएं तो पानी वहीं-का-वहीं रह जाता है। वैसे ही आत्मा कहीं जाती नहीं है। उसी में प्राणों का बूंद-बूंद चलता है, फिर शांत हो जाता है। प्राण कहीं नहीं जाता है—आत्मा कहीं नहीं जाती है।

तो मनुष्य में पांच तत्व होते हैं। पर पेड़-पौधों और जानवरों में चार ही तत्व होते हैं। उनमें आकाश तत्व नहीं होता। अतः वे शब्द नहीं करते। वे समझ-बूझ नहीं रखते। आप पेड़ काटेंगे तो वह चिल्लाएगा नहीं। वह मूक है। वैसे ही पशु भी मूक है। भेड़, बकरी, भैंस लोग काटते हैं वे शोर नहीं मचाते। पक्षी में तीन ही तत्व होते हैं। इनमें हवा, पानी और अग्नि होते हैं। पक्षी में पृथ्वी तत्व यानी गंध और आकाश तत्व यानी वाणी-विचार नहीं होते। हवा, पानी, अग्नि तीनों उड़ने वाले तत्व हैं। अतः पक्षी उड़ सकते हैं। आदमी को सूंघिए विविध विचार कर लो कि विविध गंध होती है। संतों के पास बैठिए आप को चंदन, केशर, कस्तूरी की गंध मिलेगी। पशुओं के शोर में भी गंध होती है। पर पक्षी में गंध नहीं होती। रूप होता है, गति होती है, स्पर्श होता है। तीसरे तरह के जीव हैं ये। चौथा जीव है दांत तत्वों वाला, रेंगने वाले कीड़े-मकोड़े। इनमें दो ही तत्व होते हैं—छिति और अग्नि। इनमें आकाश, जल, समीर न्यून होता है और पांचवें तरह के प्राणी हैं साग-सब्जी। इनमें एक ही तत्व प्रधान होता है जल तत्व। सब्जी में 50% जल होता है और 50% में चारों तत्व होते हैं।

लाजिम है कि हमें अपने शरीर की स्थूलता हटानी है, मोटापा हटाना है, स्वाद हटाना है, आसक्ति हटानी है, रूप शक्ति हटानी है और श्वास का सेवन संयमित कर, मौमी बनता है। भूख, प्यास, भास, श्वास का संयम करके ही नादोपासना करें। भर पेट खाएंगे तो नींद आएगी, अधिक पेय लेंगे तो दुःस्वप्न आएंगे। अधिक तेजस पदार्थ लेंगे तो अग्नि ज्वाला बढ़ेगी।

पांचों का कुदरती संबंध देखें—साग-सब्जी को कीट-पतंग खाते हैं। कीट-पतंग को पक्षी खा जाते हैं। पक्षियों को जानवर खा जाते हैं और जानवरों, पक्षियों, कीटों, सब्जियों को मनुष्य खा जाता है और खाता है। भीतर अग्नि धधकने के लिए पांचों प्राणी ईंधन हैं।

प्रकृति पर विजय पानी है तो प्रकृति पर निर्भरता छोड़नी होती है। शरीर का मोटापा, स्थूलता, एक रोग है। अतः दुबला-पतला आदमी अधिक स्वस्थ

एवं निरोग होता है। अधिक जल पीने वाले को बलगम हो जाता है, फलेरिया पकड़ लेता है। अन्न-जल-हवा तो शरीर में रहता नहीं है—अन्न, मल रूप में, जल मूत्र-पसीना रूप में, श्वास-प्रश्वास रूप में निकलता ही रहता है। पांचों तत्वों में जो एनर्जी है उसे ही शरीर ग्रहण करता है। अग्नि लेकर पैदा होता है जीव, आकाश लेकर उदर में आता है। तीन चीजें अन्न, जल, वायु का ईंधन लेता है वह। तो साधक को तीन का संयम करना है और शब्द का साधना करना है जो ध्वनि लेकर जीव मातृ गर्भ में आता है, वही ध्वनि सदा गूंजती रहती है और वही ध्वनि प्राण को प्रेरणा देती है। ध्वनि बंद हो गई तो न तो आग जलेगी, न श्वास चलेगी, न जल होगा, न गंध होगा। आप भी जीवित हैं उस धुन के कारण। उसी में गति है, उसी में बिंदु है। जिसे आदि बिंदु कहा जाता है। तत्वों की आपूर्ति बाहर से बंद कर देना ही तपस्या का रहस्य है।

योगी का शरीर अस्थिपंजर मात्र रह जाता है। भोजन, पानी के बिना जीने का उनका अभ्यास उन्हें तेजस्विता से प्रज्वलित रखता है। वे आकाशवत हो गए होते हैं। आप श्वास लेकर ही जीते हैं तो आपको वायु में जल में गंध मिलते रहते हैं। हवा में पांचों तत्व होते हैं। अतः केवल श्वास का भोजन भी तपस्या योग अन्न, पानी, हवा द्वारा भेंटता रहता है। योगी देवता रूप होता है। वह केवल सुगंध का पान करता है। ऐसा कथन योगियों के लिए ही किया गया है। अन्न, जल छोड़ना ही पड़ता है।

सुनते हैं—हिमालय क्षेत्र में हजारों वर्षों की आयु के योगी आज भी साधनारत हैं। वे केवल प्राणवायु से शरीर की अग्नि जलाए रखते हैं। अन्न, पानी की जरूरत ही नहीं समझते। शरीर को जो भी अभ्यास दिया जाए, यह उसे ही पकड़ने का आदी हो जाता है। भूख को जीतें स्वाद से ऊपर उठें। हवा आप को अन्न, जल पहुंचाती रहेगी। आप हरिगुन गाते रहेंगे। 'आज खाय कल को झंखै ताकै संग गोरख ना रखै।' प्राण क्रिया के द्वारा आप अपने को सिद्ध कर सकते हैं।

शवासन

जब प्राणायाम की यह क्रिया पूरी हो जाए तो साधक गुरु मंत्र का जाप करते हुए आंख खोले एवं गुरु का मानसिक या प्रतिमा का वंदन करे। तत्पश्चात पैर को सीधा फैलाकर धीरे-धीरे आसन पर सीधे चित हो जाए। आंख बंद कर अनुभव करे कि पूरा शरीर प्रकाश से भरा है, तेज से भरा है। हम प्रकाश स्वरूप,

आनंद स्वरूप हैं, चेहरा खिला हुआ, मुस्कुराता हुआ, परमपिता का आशीर्वाद स्वरूप प्रकाश ग्रहण करता हुआ महसूस करें। यह भी कल्पना करें कि जन्मों के पाप कर्म संस्कार बाहर निकल कर भाग रहे हैं। पुण्य रूपी तेज प्रकाश, गुरु कृपा से अंदर आ रहा है। हम आनंद स्वरूप, गुरु स्वरूप हो रहे हैं, शरीर पूरा तेज से भरा है। इस तरह 5 से 10 मिनट लेटे-लेटे कल्पना करें। परमपिता स्वरूप गुरु की मानसिक वंदना करते हुए रेचक एवं पूरक करें। पूरक सीधे मूलाधार चक्र तक जाए, रेचक धीरे-धीरे। पूरक के माध्यम से अनुभव करें कि गुरु कृपा रूप प्रकाश अंदर जा रहा है। शरीर को निर्मल कर रहा है तथा रेचक के द्वारा यह कल्पना करना है कि शरीर से सारा मलावरण पाप, बुरे कर्म निकल रहे हैं। इस क्रिया को करने के पश्चात अपने में पूर्ण तेज एवं प्रकाश से भरा, आनंद से भरा महसूस करते हुए धीरे-धीरे प्रसन्नचित्त आंखे खोलें। गुरु को प्रणाम कर धीरे-धीरे बैठ जाएं तत्पश्चात् खड़े हो जाएं। इससे शारीरिक क्रियाएं ठीक हो जाती हैं। वायु रोग एवं खांसी वगैरह दूर हो जाती हैं। साधक का चित्त प्रसन्न रहता है। यह एक प्राणायाम पूरा हुआ। आपके साधक काल का अधिकांश समय कुण्डलिनी के जागरण में लग जाता है। अर्थात पचास प्रतिशत समय मूलाधार में ही लग जाएगा। जैसे-जैसे कुण्डलिनी ऊपर की मात्रा करती है। समय उसी अनुपात में कम होने लगता है। अतएव साधक संसार चक्र को छोड़कर अपने संपूर्ण श्रद्धाहीन एवं तार्किक के लिए असंभव है। शक्ति को धैर्य पूर्वक कुण्डलिनी जागरण में लगाना चाहिए। इसके बाद आगे का कार्य आसान हो जाएगा।

साधक शुरू-शुरू में समय निकाल कर सुबह, दोपहर, शाम और अर्द्धरात्रि यानी 12 बजे रात्रि को करे। चार बार तीन-तीन घंटे तक प्राणायाम करे। इस बीच बोले बहुत कम। यदि संभव हो तो हां या ना में काम चलावे। भोजन हल्का, सुपाच्य, साग फल से युक्त करे। दूध का सेवन अवश्य करे। हर समय सत् में मन को केंद्रित रखे। यदि साधक मात्र 21 दिन अपने आपको इस प्राणायाम एवं ध्यान पर लगा दे एवं गुरु कृपा साथ हो तो उसकी कुण्डलिनी अवश्य ही जाग्रत हो जाएगी। इसे अन्यथा नहीं मानें। मात्र आप अपने को उपयुक्त पात्र बना लें एवं अपने जीवन को 21 दिन पूर्णरूपेण (तन-मन से) गुरु को सौंप दें। जिस तरह आप अपने को जहाज का टिकट लेकर उस पायलट को सौंपकर निश्चिंत हो जाते हैं, एवं वह चालक चंद समय में आपके गंतव्य तक पहुंचा देता है। उसी तरह गुरु आपकी कुण्डलिनी को जाग्रत कर चक्र भेदन क्रिया शुरू कर देते हैं। यदि कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है तो आगे

की क्रिया आसान हो जाती है। अतएव आप एक बार अपने जीवन को पूर्ण रूपेण दांव पर लगाकर देख लें। सफलता अवश्य ही मिलेगी। अब मोह अवश्य ही दूर होगा। अपने गंतव्य स्थल पर अवश्य ही पहुंचेंगे।

शीघ्र कुण्डलिनी जागरण

यदि गुरु यह महसूस करता है कि अमुक साधक में उपयुक्त पात्रता है। शीघ्र कुण्डलिनी जाग्रत होने पर उसके तेज एवं क्षमता को वहन कर सकता है। तब उसे निम्न विधि बता देना चाहिए।

"तीनों बंध बांध के, अनहद घंटी बजावे।"

प्राणायाम क्रिया शुरू करने के पहले साधक सिद्धासन पर बैठकर मूलबंध बांध ले तब गुरु के आदेशानुसार उड्डियान बंध एवं जलंधर बंध बांधकर दीर्घ श्वास-प्रश्वास ले। यह क्रिया मात्र 5 मिनट से 10 मिनट तक ही करे। इसके बाद नित्य जो भी क्रिया प्राणायाम करना है करे।

तीनों बंध बांधने पर गुरु द्वारा निर्देशित जगह पर ध्यान करने से सहज ही ध्यान केंद्रित हो जाता है, साथ ही विभिन्न प्रकार के वाद्य सुनाई पड़ते हैं। योगीजन आगे इंगित करते हैं–

"नाभि नाशिका माहि करी, अष्ट कमल दल लव लावे।"

इस प्रकार ध्यान कर अनाहद नाद का श्रवण करते हुए योगी एकाग्रचित्त हो कुछ काल इसी विधि को अपनाए तो कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत हो जाती है। हठयोग में कहा गया है कि सिद्धासन के सिद्ध होने मात्र से उन्मुनी कला, बिना परिश्रम के उत्पन्न हो जाती है तथा इसके साथ-साथ मूल बंध, उड्डीयान बंध, जलंधर बंध भी बिना परिश्रम के सिद्ध हो जाते हैं। योगी शीघ्र ही चंद्रमा की कला को प्राप्त हो जाता है।

उत्पद्यते निरामासात्खय मेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव हठे सिद्धे सिद्धासने सति॥

श्वास : प्राण तत्व

दुर्भाग्य ऐसा रहा है कि पुराणकाल में कुछ साहसी विद्वानों ने काव्य संग्रह और काव्यानुवाद का बीड़ा उठाया। जो विषय वे नहीं जानते थे, उसका भी परिकल्पना मात्र से ऊटपटांग अर्थ लगाकर, गड्डमड्ड किया। विज्ञानपरक तथ्यों को भी प्रत्यक्षानुभूति के अभाव में, भ्रमित कर दिया। पतंजलि के योगदर्शन का भाषानुवाद करने वालों ने तथ्यों की अनजाने में अवहेलना कर दी और उनके पांडित्य ने सिद्धांतों की हत्या ही कर दी।

शरीर के भीतर की सूक्ष्म गतियों के नियंत्रण और नियमन के लिए, पतंजलि ने प्राण-संयम की बात की। पर अनुवादकों ने भ्रांति खड़ी कर दी। श्वास के पूरक, कुंभक और रेचक को, प्राण का पूरक, कुंभक, रेचक अनुवाद किया। यही आध्यात्मिक हत्या हो गई। श्वास और प्राण एक ही बात नहीं है। श्वास प्राण नहीं है। श्वास वायु है—तत्व है और प्राण ऊर्जा है शक्ति है। प्राण का पोषक और प्रेरक श्वास जरूर है। प्राण ही श्वास लेता है। प्राण को श्वास की जरूरत होती है। प्राण की ऊर्जा भीतर पांच क्रिया करती है, जिसे वृत्ति भेद से प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान कहते हैं—ये पांच नहीं हैं—प्राण एक ही है, उसकी वृत्तियां पांच हैं। श्वास प्राण का ईंधन है। प्राण को हम न तो देख सकते हैं, न छू सकते हैं। पर श्वास को महसूस कर सकते हैं, देखते हैं, छूते भी हैं तो अनुवादकों ने श्वास को ही प्राण कह दिया, कभी प्राणवायु कह दिया अपना प्रमाद थोप दिया भाषा पर।

श्वास स्थूल तत्व है। प्राण सूक्ष्म शक्ति है। तो श्वास को प्राण क्यों कहेंगे और श्वास के कुंभक को, प्राण का कुंभक कह दिया। यह परिकल्पना का पैवंद लगाया, व्यास ने भी शंकर ने भी। साक्ष्य हम दिखाते हैं आपको। लेकिन ऐसा अनुवाद कर ये अध्यात्म की संभावना ही चबा गए। गलत पथ निर्देश हो गया। भविष्य भ्रमित हो गया जो सात वर्ष की उम्र में शिक्षक हो गया और तीस में दिवंगत हो गया—उसने अपनी किशोरावस्था में भूल कर दी तो क्षम्य है। वैसे योग और भोग दोनों की उन्हें भ्रांति थी, दोनों विषयों में वे भारती से हार गए थे।

प्राणायाम चित्र को समन्वित करने की वृत्ति है। शरीर की सूक्ष्मतम गहराइयों के अनुभव का मार्ग है। शरीर से मन तक पहुंचने के लिए प्राण तत्व नहीं है, ऊर्जा है। अपना मूलाधार भी अग्नि ऊर्जा है। इसे ही कुल-कुण्डलिनी कहते हैं। अपान वायु नहीं है, प्राण है। वायु-विलोपन अपान नहीं है। वायु विसर्जन भी अपान नहीं है। समान मणिपुर की—रक्त तैयार करने की वृत्ति है। उदान विशुद्ध चक्र भी वाणी की वृत्ति है। व्यान रक्त संचार की प्रजनन वृत्ति है और प्राण अनाहत चक्र की, रक्त शोधन की वृत्ति है। हृदय में प्राण का निवास होता है। प्राण का अर्थ श्वसन नहीं है, प्राण का कार्य श्वसन है। प्राण अपान की गति रोकने का अर्थ, श्वास को रोकना नहीं है। श्वास बाहर निकलती है, प्राण बाहर नहीं निकलता। श्वास भीतर जाती है, अपान भीतर नहीं जाता है। अपान भीतर रहता है। शंकराचार्य ने पूरक को अपान कह दिया और रेचक को प्राण कह दिया। वे कहते हैं कि प्राण ही बाहर आता है। प्राण बाहर आएगा तो हम तो मर ही जाएंगे—प्राणायाम क्या करेंगे ? प्राण का संयम हृदय पर होता है। उसका काम है—अशुद्ध रक्त को शुद्ध श्वास के द्वारा शुद्ध रक्त में बदलना। प्राण नाक से नहीं निकलता, हृदय से निकलता है, पंच प्राण बनकर—क्रियाशीलन के लिए। प्राण शरीर से एक ही बार निकलता है, जिसे आप मृत्यु कहते हैं। जहां हृदय की गति रुक जाती है। शंकर का अनुवाद देखें—

"मुखनासिकाभ्यां वायोः निर्गमनम प्राणस्य गतिः। तद्विपर्ययेण अधोगमनम अपानस्ये। ते प्राणापाने गति गति एति (रुदध्वा) निरुध्य प्राणायामः। तेतपुराः कुंभकारव्यं प्राणायाम कुर्वन्ति इत्यर्थः॥"

—4.29 गीता

हम तो श्वास को भीतर खींचते हैं। पर इनका कहना है कि हम अपान को भीतर से खींचते हैं तो प्राण का अर्थ प्रश्वास हो ही गया। फिर या तो श्वास-प्रश्वास बेकार भरती के शब्द हो गए या प्राण अपान ? कुछ तो संदेह आपको होना चाहिए न। दोनों शब्द पर्याय कैसे हो गए और प्राण के उल्टा अपान क्यों हो गया जबकि प्राण का ही एक नाम अपान भी है। **"वायुः निर्गमनम प्राणः** और **अधोगमनम अपानख्य।"**

वैसे प्राण भी हमारे वश में नहीं है, श्वास भी हमारे वश में नहीं है। मान भी लें कि श्वास वश में है, उसे ठहरा सकते हैं—तो मानना पड़ेगा, भीतर वात विकार रहता है। यानी तब कहना पड़ेगा कि भीतर रक्त नहीं दौड़ता है, हवा ही दौड़ती है ऐसा है क्या ? अभी तक तो इतना विदित था कि प्राण ही रक्त

को दौड़ाता है। देह में वायु नहीं दौड़ती। विंड फार्मेसन को हम लोग गैस्टिक ट्रबल कहते हैं। विंड फार्मेसन से यंत्र की गति रुक जाती है। श्वास ही प्राण है और प्राण ही श्वास है यह अनुवादों में नई बात आई। योग पथ को भ्रष्ट किया गया। श्वास कुंभक करने तक भीतर बचता है क्या ? वायु चाहे प्राण से निकलती हो या नाक से, वह श्वास का कचड़ा है। ऑक्सीजन प्राप्त कर प्राण वायु का त्याग कर देता है। प्राण के कारण शरीर है। श्वास को हम बदल सकते हैं—प्राण को तो नहीं बदल सकते। प्राण को हम महसूस भी नहीं करते हैं। प्राण का निकलना आज तक सुना सबने, देखा किसी ने नहीं—प्राण सूक्ष्म है।

प्राण को रोकने की बात करते हैं शंकर। प्राण को रोकेगा कौन ? प्राण किसके अधीन है। जब मन भी प्राण के अधीन है। प्राण न रहे तो मन भी नहीं रहेगा, श्वास भी नहीं होगी। प्राण अपान की गति को कौन रुद्ध करेगा ? व्यास को बताना चाहिए—मन रोकेगा ? जिसका जन्म ही प्राण का बुदबुद है। शब्द व्यावसायियों ने बड़ा उलझाव किया—पतंजलि का विचार करें—

श्वास-प्रश्वास योगार्तिविच्छेदः।

—प्राणायामः 50

वाह्याभ्यंतर विषयाश्रेणी चतुर्थः।

—प्राणायामः 51 (चतुर्थ तुरीयम्)

वाह्याभ्यंतर स्तभम् वृतिः देशकालः सांख्याभिः।

—प्राणायामः 49

प्राण शरीर का चालक है। प्राण मन का जनक है। कुंभक स्वभाव है। प्राण की भीतर खपत है। वायु का कुंभक नहीं हो सकता। प्राण का कुंभक होता है। आंतरिक गति है प्राण और यह गति हवा की बदौलत नहीं है। बेहोशी में प्राण मूर्छित होता है, पर श्वास चलती है। कोमा में श्वास चलती है, प्राण निस्पंद रहता है। प्राण पर कोई वश नहीं है। वह निकलने लगे तो आप उसे रोक नहीं सकते। नहीं तो कोई मरता ही क्यों ? प्राण शरीर का हिस्सा है ही नहीं। शरीर का चालक है।

प्रश्न तीन शब्दों पर आता है—विच्छेद, रुद्धवा और कुंभक। शंकर ने रुद्धवा का अर्थ दिया कुंभक। व्यास ने विच्छेद का अर्थ दिया रुद्धवा और विच्छेद का पतंजलि ने अर्थ दिया संयम, नियमन। क्या, ये तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है, एक ही अभिप्राय है ? श्वास रोकने से, प्राण खतरे में पड़ता है। प्राण रुकता है तो श्वास रुक जाती है। क्योंकि श्वास प्राण के अधीन है। प्राण

नहीं होगा तो श्वास को कौन आकर्षित करेगा ? श्वास शरीर में जाती, तब तो उसे मृतक में भी रुक जाना चाहिए। श्वास को रोकना कुंभक नहीं है। प्राण का संयम कुंभक नहीं है। श्वास रोकने से होता तो प्राण श्वास को छोड़ता ही नहीं। इधर श्वास को प्राण में बदलने में सेकण्ड भी नहीं लगता है। प्राण कार्बन को नेगलेक्ट कर देता है। उसे ही जबरन आप भीतर रखना चाहें तो प्राण तो ऊबेगा या डूबेगा। व्याख्याकार योगी नहीं था। उसने योग को अनजाने में दफनाया और उसकी बुझी राख हम भी तन पर मल रहे हैं।

वायु और प्राण अलग है। वायु आकाश में है और प्राण शरीर में है—शरीर सेतु है, जिस पर श्वास और प्राण की संगति होती है। कुंभक उतनी ही देर होता है, जितनी देर में प्राण उसके ऑक्सीजन का अवशोषण कर ले। भीतर कार्बन को ठहराने की जरूरत नहीं है। वाचिक ज्ञानियों का सम्मान कर, दो हजार वर्षों से हमने बहुत खोया। बड़ा गुमराह हुए हम। बीच में कबीर एक उपलब्ध ज्ञानी आए। उस युग में तुलसी, रविदास, मीरा, नानक, नामदेव, चरणदास आदि अनेक उपलब्ध संत प्रकट हुए और उन्होंने धर्म के आंतरिक पथ का प्रयोग कर ईश्वरानुभूति प्राप्त की। कबीर ने किसकी खबर नहीं ली। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण की भी खबर ली—उन्हें कोई उपलब्ध नहीं दिखा, सभी वाचक ज्ञानी थे।

इतनी दौड़-धूप क्यों है—आनंद के साधन बदलने के लिए। आनंद ही जीवन का लक्ष्य है। इसे ही ईश्वर कहा गया है। बचपन में माता के स्तन का आनंद होता है—माता से अलग होते बच्चा रोता है। किशोरावस्था संगियों के साथ गिल्ली डंडा का आनंद होता। मां लाख चिल्लाती है बच्चे साथियों के बीच भाग जाते हैं। आनंद का साधन बदल जाता। फिर विद्यालयों में सहपाठियों में पढ़ने का आनंद, फिर विवाह और नारी के काम सुख का आनंद—यही आनंद बाल बच्चों में चला जाता है। आनंद पत्नी से बच्चों और बच्चों से फिर तब वानप्रस्थ का आनंद। तीर्थ यात्रा, कीर्तन, जप, योग का आनंद। धर्म के बाहरी पक्ष का आनंद। सत्संग प्रवचन का आनंद। भीतर का योगानंद अंतिम है। भोगानंद से योगानंद के बीच जीवन झूल रहा है। ईश्वर प्राणिधान अंतिम आनंद है। आंतरिक अध्यात्म का आनंद, अंतर्यात्रा का आनंद, तुरीयावस्था का आनंद। यह कैसा है ? चलकर देख लो। यही जीवन का निमंत्रण है। भीतर का आचरण। श्वास पर प्राण सवारी करता है।

अब प्रसंग का उपसहांर करते हैं। धर्म के आंतरिक पक्ष का अध्यात्म का, अंतर्यात्रा का विधान तीन तरह से सामने आए—

तस्मिन सति श्वास-प्रश्वास योर्गति विच्छेदाः प्राणायामायः।

–पतंजलि/50

प्राणाप्राणौ गतिरुद्ध्वा प्राणायाम परायणः।

–व्यास गीता 4/22

तत्पराः कुम्भकारख्यं प्राणायामः।

–शंकराचार्य

तीनों को पढ़कर आप अब या तो पागल होइए या तो तीनों को पढ़ना छोड़कर, किसी जीवित सद्गुरु की शरण में जाइए। आप खुद करके इसे समझ लीजिए, विद्वानों को छोड़िए। योग करना और योग विषयक स्वाध्याय करना दो बातें हैं।

1. गति विच्छेदाः 2. गतिरुद्धवा 3. कुंभकाख्यं–तीनों के तीन अर्थ हुए।

अतः आप समय के सद्गुरु की शरण में आकर अपने को समर्पित कर दें। वे आपको उचित ध्यान मार्ग के माध्यम से गंतव्य तक पहुंचा देंगे। आपका जन्मों जन्म का भटकाव रुक जाएगा। पुरातन विद्वान तथाकथित गुरु भी बहुत बड़ी-बड़ी भ्रमित बातें कह गए हैं। जिन्हें आप पकड़ कर बैठे हैं। जिससे आपका विकास सदियों से अवरुद्ध हो गया है।

प्राणायाम मुख्यतः 8 (आठ) प्रकार के होते हैं। परंतु विभिन्न पुस्तकों में इसकी संख्या इससे भी अधिक बताई गई है। परंतु मैं इससे अति आवश्यक प्राणायाम ही बता रहा हूं जिससे साधक को तुरंत लाभ पहुंचे साथ ही सर्वसाधारण के लिए उपयोगी हो सके। अतएव निम्न प्राणायाम में अपने शरीर, काल एवं स्थान के अनुसार चुनकर करें।

भस्त्रिका प्राणायाम

हालांकि यह भी तीन-चार प्रकार का होता है। किसी में इड़ा के रेचक तो किसी में पिंगला के रेचक इत्यादि। परंतु मेरे अनुभव से निम्न प्राणायाम सबके लिए सब जगह के लिए बहुत ही लाभप्रद है। स्त्री-पुरुष सबको समान रूप से लाभकारी है।

सबसे पहले साधक उपयुक्त हवादार स्थान पर अपनी सुविधा के अनुसार बैठ जाएं। चाहे जिस आसन पर वह आराम से बैठ सकता है बैठ जाएं। गुरु का स्मरण कर लें। यदि मंत्र याद है तो मंत्र का जाप कर लें। आगे कोई मंत्र की खास आवश्यकता नहीं है। इस प्राणायाम के लिए 40 मिनट का समय

चाहिए। अतएव प्रथम चरण में गुरु का स्मरण कर आंख बंद कर लें। श्वास धीरे-धीरे अंदर लें एवं धीरे-धीरे छोड़ें, श्वास पर ध्यान रखें या मूलाधार चक्र पर। श्वास की रफ्तार शनैः शनैः तेज करते जाएं। श्वास की रफ्तार इतनी तेज कर दें कि श्वास के सिवाय कुछ रह ही नहीं जाए। पूरी शक्ति श्वास पर लगा देना है। साथ ही ध्यान रहे श्वास गहरी से गहरी हो। प्रत्येक श्वास का घात-प्रतिघात मूलाधार चक्र पर अवश्य घात करे। जितना गहरा श्वास लेंगे। उतनी ही ऊर्जा की संभावना शीघ्र है, जब आपको मालूम होने लगे कि आप श्वास के सिवाय कुछ है ही नहीं। आप श्वास के यंत्र हो गए हैं। आप साक्षी बनकर श्वास को अवश्य देखते रहें। अब श्वास भीतर जा रहा है, अब श्वास बाहर आ रहा है। पूरी शक्ति के कुंड का दरवाजा टूट सके। जब सारा व्यक्तित्व कांप जाए जहां बैठे हैं मालूम हो जाए आंधी आ गई। भीतर विद्युत का अपूर्व खजाना पड़ा है। जिसे बाहर करना है। अतएव पूरी शक्ति लगा देना है, अपने को पूर्ण दांव पर लगा देना है। बचाना कुछ भी नहीं है। पसीना निकलेगा, निकलने दीजिए। सारे व्यक्तित्व में, सारे वातावरण में श्वास के सिवाय कुछ भी नहीं रह जाए। जैसे हठयोग में कहा गया है—

"यथा लगति हत्कंठे कपालावधि सस्वनय।
वेगेन पूरमेच्चापिहत्यादूनावधि मारुतम्॥
पुनर्विरेचयेन्तदृच्पूरयेच्य पुनः पुनः।
यथैव लोहकारेण भस्त्र वेगेन चाल्यते॥"

इस प्राण का इस प्रकार रेचक करें जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठ में कपालपर्यंत लगे फिर वेग से हृदय के कमलपर्यंत वायु को बारंबार पूर्ण करें। फिर उसी प्रकार पूर्ण कर और बारंबार इस प्रकार वेग से पूरक रेचक करें जैसे लोहार भस्त्र को चलाता है। इसीलिए इसे भस्त्रिका प्राणायाम कहते हैं। इस क्रिया में भस्त्र के सिवाय अब कुछ रह ही नहीं जाए। यह क्रिया 10 मिनट की है। सारा वातावरण विद्युत तरंगों से भर जाएगा। यदि कुछ आवाज निकल रही है, तो निकलने दें। आप मात्र सारे व्यक्तित्व को दांव पर लगा दें, पीछे के लिए कुछ भी न रखें। जितना गहरा आघात हो सके, पूरा रोआं-रोआं जाग्रत हो जाए, शरीर की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं देना है। पूरे शरीर को श्वास ही बना देना है। यह क्रिया 10 मिनट की होगी तब साधक दूसरे चरण में प्रवेश करे।

दूसरा चरण—इस चरण में गहरा श्वास लेते रहें, साथ ही शरीर को ढीला छोड़ दें। शरीर पर ध्यान नहीं देना है। श्वास चालू रखना है। शरीर चाहे जो चाहे करे। रोना आएगा। हंसना आएगा, चिल्लाना भी चाहेगा। गाली भी

दे सकता है। हाथ-पैर नाचना भी चाहेगा, जो भी शारीरिक क्रिया हो, होने दें। अब द्रष्टा बनकर देखें। गहरा श्वास चालू रखें। शरीर सोना चाहे सोने दें। अंदर से शक्ति उठेगी तो शारीरिक क्रियाएं स्वाभाविक हैं। यह क्रिया 10 मिनट की होगी। अब पूरा शरीर विद्युत तरंगों से भर जाएगा। ऊर्जा भीतर से निकलना चाहेगी। अतएव शारीरिक क्रियाएं विभिन्न प्रकार से होंगी। इस 10 मिनट में पूरे ताकत से अपने को लगा देना है। प्रत्येक श्वास मूलाधार चक्र पर आघात लगा रही है। पेट धौंकनी (लुहार की भट्ठी) के समान चलने लगता है। अब साधक को तीसरे चरण में प्रवेश करना है। अतएव पूरे जोर से धक्का देना है। मूलाधार चक्र पर, पीछे के लिए कुछ भी नहीं बचाना है, न ही शरीर के संबंध में सोचना है। जो भी शरीर के स्तर पर हो रहा है होने देना है। श्वास गहराते जाना है।

तीसरा चरण—आज तक साधक बाहर से मंत्र याद कर जाप कर रहा है। रट रहा है। अब तक बाहर से पूछता आ रहा है। मैं कौन हूं (कोऽहम्) ? अब समय आ गया अपने आप से पूछने का। बाहरी सारा ज्ञान बह जाने दें। अब साधक समझे कि 'मैं श्वास के सिवाय कुछ नहीं हूं।' श्वास गहरा जारी रहेगा। अब इन्ही श्वासों के माध्यम से पूछना है 'कोऽहम्' 'कोऽहम्' बार-बार। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ साधक का प्रश्न भी गहराते जाएगा। ऐसा महसूस हो कि साधक प्रत्येक रोएं-रोएं से पूछ रहा है, 'कोऽहम्' 'कोऽहम्'। यह प्रश्न 10 मिनट तक जारी रहेगा। श्वास मस्तिष्क की तरफ गहरा लेते रहना है। छोड़ते रहना है। प्रश्न पूछते रहना है इस क्रिया में साधक श्वास में प्रश्न 'कोऽहम्' के सिवाय कुछ भी नहीं रह जाए। जब ऐसा मालूम होने लगे कि 'कोऽहम्' ही रह गया है तब उत्तर अपने आप अंदर से आएगा ही। कुछ इंतजार करें। जो उत्तर आएगा, वही ठीक होगा। आज तक हम शास्त्रों से पूछते रहे हैं, गुरु लोग भी बता रहे हैं प्रवचन के माध्यम से, कथा के माध्यम से। हम भी पुण्यापुण्य के लिए सुनते रहे हैं। याद करते रहे हैं। सो ठीक नहीं है। अब आपका प्रश्न मेरा उत्तर नहीं, आपका ही उत्तर होगा। पूरा जीवन उत्तर से बदला होगा। अब आपके सारे प्रश्न गिर जाएंगे। न आप प्रश्नों में फंसेंगे न ही उत्तर की प्रतीक्षा में, आप श्वास गहरा लेते रहें, प्रश्न पूछते रहें। इस क्रिया में शारीरिक क्रियाएं विभिन्न प्रकार की होंगी, होने दें। जरा भी शरीर की तरफ ध्यान न दें। जब साधक श्वासों एवं कोऽहम् के सिवाय कुछ भी न बचे, यह क्रिया अंतिम चरण पर पहुंच जाए तब आगे के चरण में प्रवेश करना चाहिए या आगे के चरण में प्रवेश करना है।

चौथा चरण–यह चरण भी 10 मिनट का पूर्ण विश्राम का होगा। अब आप पूर्ण विश्राम में हो जाएं, न ही प्रश्न पूछें न ही गहरा श्वास लें। मात्र साक्षी बनकर शरीर को देखें, श्वास को देखें। यह समय वास्तव में प्रतीक्षा का होगा। अंदर से पूछे गए प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा कर पूर्णतया आराम से पड़े रहें, चाहे बैठें, चाहे लेट जाएं, शव की तरह पड़ जाएं। साक्षी की तरह अपने को देखते रहें। साधक जितना गहरे में विश्राम करना चाहे, करे। अपने अंदर साक्षी भाव से प्रवेश करता जाए, निरीक्षण करना है। जैसे दूसरे का शरीर पड़ा है। शांत निःशब्द हो निहारता रहे। स्वेच्छा से श्वास लेते रहें। इस तरह 10 मिनट पूर्ण विश्राम के पश्चात साधक यह कल्पना करे कि मैं ऊर्जा से पूर्ण हूं। आनंद से परिपूर्ण हूं। चारों तरफ आनंद ही आनंद है। आप कल्पना करें श्मशान पर आपका शरीर पड़ा है। आप शरीर से बाहर हैं। साक्षी भाव से शरीर को देख रहे हैं। श्मशान पर बहुत-सी लाशें जल रही हैं। आप शरीर नहीं हैं। आप निर्गुण, निराकार हैं। अब आप करुणावश शरीर में प्रवेश करें। सहस्रार से प्रवेश करें। आपके प्रवेश करते ही शरीर ऊर्जा से भरने लगा है। तेज बढ़ रहा है। धीरे-धीरे वह तेज पूर्ण मस्तक, कान, नाक तक फैल गया। शारीरिक विकार नीचे जा रहा है। वह तेज गरदन, हृदय, नाभि से होते हुए कमर पर फैल गया। अंदर कोमल काम नीचे उतर रहा है। प्रकाश कमर से नीचे जंघा पैर तक फैल गया। शरीर का सारा रोग, दुख, मल पैर की अंगुलियों से निकलकर वायुमंडल में विलीन हो गया। आप पूर्ण स्वस्थ, प्रकाश पूर्ण, आनंद स्वरूप हो गए। नख से शिख तक आनंद से भर गए हैं। गुरु का ध्यान कर कुछ गहरा श्वास लेते हुए उठ जाएं। यदि आंख नहीं खुले तो हाथ से हल्का मल लें। यदि लेट गए तो, उठने में कठिनाई मालूम हो तो दो-चार मिनट लेटे रहें। यह सोचते रहें कि परमपिता परमात्मा हमारे ऊपर ऊर्जा, आनंद, आशीर्वाद स्वरूप उपहार दे रहे हैं। गुरु कृपा हमारे साथ है। इस तरह धीरे-धीरे उठ जाएं, गुरु वंदना करें। नित्य क्रिया के अनुरूप कार्य करें। यदि साधक सुबह शाम भी कम से कम दोनों गोधूल के समय करे तो अत्यंत ही लाभ होगा। शरीर से रोग दूर हो जाएगा। जैसे यकृत संबंधी रोग दूर होकर साधक का चेहरा चमकता हुआ कांति युक्त हो जाएगा। यह प्राणायाम औरत, पुरुष, लड़का, लड़की सबको समान रूप से लाभप्रद है। इसमें किसी भी तरह की हानि की संभावना नहीं है। यदि साधक 24 घंटा से मात्र 2 घंटा 40 मिनट निकालकर चार बार यह प्राणायाम करे, यम-नियम का पालन करे, गुरु कृपा साथ रखे तो साधक निश्चित ही 30 दिन में कुण्डलिनी जाग्रत कर लेगा। यह अक्षरशः सत्य है। इन 30 दिन में मौन

ज्यादा रहे। जितना कम बोलने से काम चल जाए। आप अपना नित्य का कार्य भी करें। उसमें कोई अवरोध नहीं। गरम पदार्थ का त्याग करना ही उचित होगा। बाद में तो आपके नहीं चाहने पर भी छूट जाएगा।

वयुः कृशत्वदं वदने प्रसन्नता नाद स्फुटत्व न घने सुनिर्गल।
अरोगता विदुजयोऽग्निदीपनं नाड़ी, विशुद्धिर्हठ योग लक्षणम्॥

इस प्राणायाम में चतुर्थ भी अपने आप हो जाएगा। इसमें श्वास-प्रश्वास को रोके बिना केवल रेचक पूरा किया जाता है। अतएव इसे अलग से करने एवं समझने की आवश्यकता नहीं है।

सूर्य भेदी कुंभक

सूर्य स्वर (इड़ा) से धीरे-धीरे आवाज युक्त पूरक करना है। वायु इतनी देर तक लेना है कि पूरा शरीर पूर्ण रूपेण वायु से भर जाए। तत्पश्चात कुंभक करें। जब तक वायु रोक सकें। जब साधक को ज्ञात हो कि वायु अब किसी भी हालत में नहीं रुक सकती तब चंद्र स्वर (पिंगला) से धीरे-धीरे रेचक करें। यह एक मात्रा होगा। इस तरह इड़ा से पूरक कुंभक कर पिंगला से रेचक करता रहे। प्रथम दिन कम से कम 12 मात्रा करे। साधक क्रमशः धीरे-धीरे इसकी संख्या काल को बढ़ाते जाएं।

लाभ—यह प्राणायाम 40 वर्ष से ज्यादा आयु वाले लोगों को ज्यादा फायदेमंद है। साथ ही जो ऑफिस वगैरह में मानसिक कार्य करते हैं। समयाभाव है। मानसिक तनाव बढ़ता जा रहा है। उनके लिए अत्यंत लाभदायक है। इससे शरीर में गरमी एवं पित्त की वृद्धि होती है। साथ ही वात-कफ से उत्पन्न प्रत्येक रोग, रक्त दोष, त्वचा दोष, कृमि इत्यादि नष्ट हो जाते हैं। पित्त प्रधान व्यक्ति के लिए लाभदायक है। साथ ही गैस वाले व्यक्ति के लिए भी उत्तम है। पाचन शक्ति बढ़ जाती है। शरीर में नई ऊर्जा का संचार होता है।

शीतली प्राणायाम

यह प्राणायाम भी पांच प्रकार का होता है। परंतु मुख्यतः निम्न है—

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर एकदम सीधा बैठ जाए। गुरु का स्मरण कर ले। कौवे की चोंच के सदृश जिह्वा होंठ से बाहर निकाल ले। वायु को धीरे-धीरे पूरक करे। जब सारा शरीर पूर्णरूपेण वायु से भर जाए, तब कुंभक

करे। कुंभक तब तक करे, जब तक वायु बाहर आने को बाध्य न करे। तब वायु धीरे-धीरे अवाज युक्त दोनों नासिका पुट से रेचक करे। यह एक मात्रा होगा। इस तरह साधक पुनः मुंह से पूरक दोनों नाक से रेचक करे एवं प्रत्येक दिन 12 मात्रा से शुरू करे तथा क्रमशः बढ़ाते जावे।

लाभ—यह प्राणायाम स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध को समान रूप से फायदा-कारक है। इसमें हानि की संभावना है ही नहीं। इससे बल एवं सौंदर्य की वृद्धि होती है। पाचन क्रिया बढ़ती है। पित्त रोग, रक्त विकार, पेचिश आदि रोग दूर होता है। टी॰ बी॰ की बीमारी में भी अत्यंत लाभप्रद है। व्यक्ति में ऊर्जा का भी संचालन होता है।

उज्जयी प्राणायाम

साधक इसमें भी सीधे पद्मासन या सिद्धासन पर बैठ जाए। इसमें मंत्र की आवश्यकता नहीं है। पुस्तक पढ़कर भी साधना या प्राणायाम शुरू कर सकते हैं। सीधे बैठें, जिससे रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। मुंह कुछ आगे की तरफ झुका दें तथा दोनों नाक से पूरक करें। साथ ही ध्यान दें कि श्वास वायु धीरे-धीरे अंदर नासिका से होते हुए मुंह में, पुनः हृदय में, पुनः नाभि से होते हुए मूलाधार तक पहुंच रहा है। जब वायु से पूरा शरीर भर जाए, तब तक कुंभक करें, तब धीरे-धीरे रेचक करना उचित होगा। जैसे रेचक में देखे वायु मूलाधार से नाभि, फिर हृदय कंठ होता हुआ मुंह एवं नासिका से धीरे-धीरे बाहर निकले। इस तरह यह एक मात्रा हुआ। साधक प्रथम दिन 12 मात्रा से शुरू करें। अपनी क्षमता एवं समय के अनुसार बढ़ाते जाएं। 24 एवं 36 मात्रा तक अवश्य ले जाएं और ज्यादा जाएं तो और भी अच्छा होगा। इसे दीर्घ भी बनाया जा सकता है। कंठ की मदद से लंबी दीर्घ और हल्की आवाज उत्पन्न करते हैं। केवल पूरक एवं रेचक किया जाता है। जिससे मानसिक शांति मिलती है।

लाभ—कण्ठ रोग, मुंह रोग, फेफड़ा संबंधी रोग, कफ रोग, पेट संबंधी रोग, प्लीहा संबंधी रोग आदि दूर हो जाता है। शरीर स्वस्थ व फुर्तीला होता है। शक्ति का जागरण होता है। कुण्डलिनी जाग्रत होने में भी मदद मिलती है। यह शारीरिक श्रम करने वाले या मानसिक श्रम करने वालों को समान रूप से लाभप्रद है।

इस तरह मैंने कुछ मुख्य प्राणायाम की ही व्याख्या की। प्राणायाम की

महिमा शास्त्रों में बहुत मिलती है। पण्चशिरवाचार्य ने कहा है–

''तपो न परं प्राणायामात् तो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य।''

''प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।''

भगवान मनु भी लिखते हैं–

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।

जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार प्राणायाम के करने से इंद्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं।

प्रत्याहार

प्राणायाम के द्वारा जब मन स्थिर हो जाता है। तब प्रत्याहार आता है। प्रत्याहार यानी विषयों से विमुख होना, पीछे हटना। मन बहिर्मुख से अंतर्मुख हो जाता है। इंद्रियां भी अंतर्मुख होकर उसके अनुसार ही अनुकरण करने लगती हैं। मन एक देश में स्थिर हो जाता है। मन की चंचलता रुक जाती है। अमन हो जाता है। चित्त वृत्तियां अंतर्मुख आत्म तत्व की अभिमुख होती हैं, यही प्रत्याहार है।

योग सिद्धि के लिए कुछ आसन एवं मुद्राएं अति आवश्यक हैं। अतएव सबसे पहले कुछ लाभप्रद आसन सीख लें।

आसन–''स्थिर सुखम् आसनम्।''

जिस पर बैठने पर स्थिर और सुखदायी मालूम हो, वह आसन है।

किसी भी आसन की सिद्धि 3 (तीन) घंटे निश्चिंत होकर बैठने से होती है।

पद्मासन–यदि संभव हो तो कोई गद्देदार आसन रख लें। तत्पश्चात निश्चिंत होकर बैठ जाएं, अब दाहिने पैर को बाएं पैर की जंघा पर इस प्रकार रखें कि बाएं पैर को दाहिने पैर के जंघ के मूल पर रखें। सीधे बैठ जाएं जिससे रीढ़ की हड्डी एकदम सीधी रहे। यह प्राणायाम के लिए अत्यंत लाभकारी है। शरीर चुस्त-दुरुस्त सीधा रहता है। स्वास्थ्य लाभ होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है। इस आसन पर कम से कम तीन घंटे बैठने का प्रयास करना चाहिए। इस आसन पर उत्तर दिशा में मुंह कर बैठना चाहिए।

सिद्धासन–ठीक उसी तरह के आसन का प्रयोग करें तथा बैठकर बाएं

पैर की एड़ी को ठीक लिंग के नीचे रखें, जिससे की उसका तलवा दाएं पैर की जांघ को स्पर्श करे। तत्पश्चात बाएं पैर के अंगूठे एवं तर्जनी को दाएं पैर की जांघ एवं पिंडली में ले जाकर स्थिर करना है। ठीक उसी तरह दाएं पैर के अंगूठे एवं तर्जनी को बाएं जंघा एवं पिंडली के बीच ले लेना है। इस तरह शरीर का सारा भार एड़ी और जीवनी के बीच नस पर ही रखना है। रीढ़ की हड्डी को सीधा करके बैठना है। इस क्रिया से नाड़ी में गरमी महसूस होती है। यह आसन ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए अत्यंत जरूरी है। इस पर किया हुआ जाप शीघ्र ही सिद्ध होता है। इसी से इसे सिद्धासन कहते हैं। यह सबको सामान्य रूप से उपयोगी है। स्त्री, पुरुष, लड़का, लड़की सभी इसे कर सकते हैं। कुण्डलिनी जाग्रत करने में भी मदद करता है। ज्यादा देर तक अडोल बैठने के लिए हिप के नीचे गद्देदार तकिया या कुछ भी रख लें। जिससे आप आसानी से बैठ सकते हैं।

वज्रासन—इस आसन के लिए घुटने के बल बैठना पड़ता है। साधक दोनों पैर के तलवे को गुदा के दोनों तरफ पार्श्व भाग में लगाकर सीधा बैठ जाए। दोनों हाथ की मुट्ठी बांधकर दोनों घुटनों पर रखे। बिलकुल सीधे बैठा रहे। यानी कमर, गरदन, सिर सीधा रहे, इस आसन से गैस संबंधी बीमारी दूर होती है। खाने के बाद बैठने से पाचन क्रिया में मदद मिलती है। हाइड्रोसिल को बढ़ने से रोकता है। शरीर स्वस्थ सुंदर रखता है। यह आसन भी सभी के लिए लाभकारी है।

स्वस्तिकासन—पालथी मारकर सीधे बैठ जाएं तब दाएं पैर की सब उंगली को अलग-अलग फैला दें, तत्पश्चात बाएं पैर एवं जंघा के जोड़ने वाले नीचे भाग को दबाएं। इसी प्रकार बाएं पैर को दाएं पैर के नीचे ले जाकर अंगूठे और अंगुलियों की कैंची में दायां पांव और जंघा के जोड़ने वाले नीचे भाग को दबाएं। दाएं पांव की तली बाईं जंघा के साथ लगाएं। अन्य आसनों के सदृश्य सीधे बैठ जाएं। इससे शरीर का रक्त संचार ठीक रहता है। मस्तिष्क शांत रहता है। मन केंद्रित होता है।

प्रयत्न और परिणति

जैसे नीर में क्षीर मिला हो, वैसे ही श्वास में प्राण मिला है। हंस की ही तरह योगी श्वास से प्राण को अलग कर, प्राणायाम करता है। प्राण का मंथन ही प्राणायाम है। घी की तरह जो प्राण अलग होता है, उसे ही नाद कहते हैं। श्वास जड़ होती है, पर प्राण चैतन्य होता है। वह सूर्य से सीधे प्रपंच में उतरता

है। प्राण की पहचान नाद रूप में होती है। श्वास नाक से लेते हैं। प्राण कान से सुनते हैं। समस्त जीव इसी एक जगत प्राण से जीवन पाता है। यही नाद-ब्रह्म-साधना प्रणव कहलाती है।

इस क्रिया में दो प्रयत्न होते हैं—अभ्यंतर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। जीभ के अग्र, मध्य, पश्च और निस्पंद उत्थान पतन को संवृत, अर्द्धसंवृत, अर्द्धविवृत, विवृत और स्पृश्य से नादोच्चार किया जाता है। इन्हें अभ्यंतर प्रयत्न कहते हैं। बाह्य प्रयत्न ग्यारह होते हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ये (5 +11 = 16) सोलह, सुरसा के मुख के, योजन-विस्तार हैं। इसी में बुद्धि, बल, गति की परीक्षा होती है। सुरसा पर हनुमान की विजय-कथा प्राणायाम का ही रूपक है—जिसे वाल्मीकि पांच-पच्चीस योजन करके गिनाया है। प्राण मंथन की ये सोलह क्रियाएं हैं। सुषुम्ना के भेदन के लिए पूरक-रेचक-कुंभक की श्वास क्रिया है और चक्र भेदन के लिए प्राणों का हवन की क्रिया है। इसे ही गीताकार ने 'अपाने जुह्वति प्राणं' कहा है।

सुषुम्ना से श्वास का पूरक अघोष है और रेचक घोष है। रेचक का प्रयोग ही उलटा नाम जप है। पिंड शरीर के पांचों अधोमुख प्राण-कमलों को ऊर्ध्वमुख करना ही उलटा नाम है। प्राण शरीर में, 33 के संबंध में होते हैं, वे ही ब्रह्मांड शरीर के समानांतर 66 के रिलेशन में आते हैं—इसी उलटे प्रयत्न को चक्र भेदन कहते हैं। उदान से नीचे जो व्यवस्था है—उदान, प्राण, समान, अपान और व्यान की, वही उलट जाती है और वे ही ब्रह्मांड शरीर में क्रमशः सहस्रार, त्रिकुटी, सून्न, महासून्न और ब्रह्मांध्र के देवताओं के स्थानापन्न हो जाते हैं। जो प्रणव गणेश चक्र पर प्रणव कहलाता है वही ब्रह्मरंध में ओंकार या स्वरित कहलाता है। नाड़ी शोधन में विवार से संवार में आना ही श्वास में नाद यानी प्राण की खोज कहलाता है। संपूर्ण श्वास क्रिया विवार और संपूर्ण संवार, प्राण-क्रिया कहलाता है। नाद का आराधन ओंकार का नवनीत मंथन ही है। यह मंथन गुरु के बिना अनंत जन्मों में नहीं होगा।

श्वास क्रिया में जो कुंभक करते हैं, वही संवार में आठ प्रकार का कुंभक हो जाता है—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, केवली (काकली) ये आठों प्राणायाम के बाह्य प्रयत्नों की गतियां हैं। श्वास के शिथिल उच्चार को ही विवार कहते हैं। जैसे—दीपक बुझाने के लिए, फूंक मारना और उसका घोष होता है जैसे—आग सुलगाने के लिए दीर्घ रेचक करना। पूरक का 'सों' अघोष है, रेचक का 'ऽहम' घोष है। श्वास में ध्वनि सुनाई पड़ना अघोष

है, जो सुषुम्ना खुलने का प्रमाण है। रेचक में वृषभ के हुंकार जैसी ध्वनि घोष है। नींद में श्वास की अघोष-घोष ध्वनि सहज होती है। यानी सोए हुए में सुषुम्ना का ही श्वसन होता है। सोंऽहम के विवार में नाद नहीं होता। उसमें नाद फूटना ही प्रणव है—यही श्वास से प्राण को अलग करना है। पूरक, रेचक, कुंभक—इतना ही प्राणायाम नहीं है—ये तो प्राणायाम की पीठिका है।

श्वास को पकड़ कर सुषुम्ना में प्रवेश नहीं होता है। श्वास में जो ध्वनि होती है उसे पकड़ते हैं। ध्वनि का जन्म सुषुम्ना में होता है। इंगला, पिंगला में ध्वनि नहीं होती है। फिर ध्वनि से नाद को अलग करते हैं। श्वास से प्राणायाम का सीधा संबंध नहीं है, श्वास से ध्वनि, ध्वनि से नाद और नाद का प्राणायाम होता है।

श्वास से प्राण को अलग निकालने का नाम ही नाद है। श्वास में ध्वनि होती है, प्राण में नाद होता है। श्वास का संबंध नाक से है। प्राण का संबंध नाभि से है। प्राण का संस्थान नाभि है, उसके स्थान क्रमशः गणेश चक्र, ब्रह्मा चक्र, विष्णु चक्र, महेश चक्र और पार्वती चक्र हैं। जहां के प्राण को क्रमशः अपान, व्यान, समान, प्राण और उदान कहते हैं। इनके नाद हैं क्रमशः सा, रे, ग, म, प और इसके मंत्र हैं क्रमशः लं, वं रंरं, और ऽहमं। इन्हीं की टकराहट, यानी हवन से श्रुति, स्वर और राग का जन्म होता है—ये तीनों ही नाद यानी प्रणव के नवनीत हैं। मुख बंद कर नादोच्चार से 'अ' मुख खोलने से 'उ' और मुख बंद करने से 'म'—यानी "ओ३म्" का चक्र बनता है। ओ३म् नाद भी है, प्राण भी है। नाद तरल गति है और प्राण आग है। मूलाधार पर इसे ही प्रणव कहते हैं—इसका ध्वनन कठिन पड़ता है। इस प्रणव की ऊंचाइयां 220 नादों की हैं। जिसकी 22 श्रुतियां और 92 स्वर बनते हैं। ओंकार का निम्नतम अघोष प्रणव है और उच्चतम घोष स्वरित है। नाद नाभि की पहली ध्वनि है और स्वरित कंठ की अंतिम ध्वनि है। इसी नाद-प्रणव स्वरित के बीच, सुरति-निरति का क्रीड़न चलता है। इसको गति और श्रुति क्रिया से पाते हैं। लय और वेग बढ़ा कर इसकी व्यवस्था करते हैं। पलटा, गमक, मूर्च्छना, तान, तराना से उसे ऊपर उठाते चलते हैं। ताकि सातों स्वरों का, एक स्वर षड्ज में, समाहार हो जाए—इसी को गमगति कहते हैं। श्वास में जिसे गमगति कहते हैं, नाद में उसे ही सामगति कहते हैं—दोनों ही शब्द योग मार्ग के पारिभाषिक शब्द हैं। 'स्वरित' नाम और 'ओंकार' ही सत् चित्त आनंद हैं। एक प्राण के ये तीन विरद हैं।

ब्रह्मांड शरीर में ये प्रधान प्राण ही उप-प्रधान प्राण कहलाते हैं। नाग, कूर्म,

कृकिल, देवदत्त और धनंजय। ये मानसिक ऊर्ध्व चक्रों के प्राण हैं। पूरी देह में 48 प्रकार के प्राण पवन कार्य करते हैं। जिनके स्पंदन, प्राण, वेग गति और द्रुतगति के क्रमशः 20 + 10 + 9 + 2 + 4 + 3 = 48 वितरण हैं। इनके नाम अध्याहार में दिया जाएगा। प्राण में अपान तथा अपान में प्राणों के हवन की विधियां मनोरंजक हैं। पांचों चक्रों के पांचों देवता परस्पर चक्रों से, परस्पर हवन क्रिया, बैठे-बैठे शुरू करते हैं। फिर वेग बढ़ाते चलते हैं, पुनः गति बढ़ाते जाते हैं—फिर तो निरति प्रारंभ हो जाती है—शाश्वत शब्द 'नाम' को जाग्रत करने में प्राणों के भीतर आंधी उठानी पड़ती है—भस्त्रिका उसका चूणांत प्रयोग है। प्राणायाम बड़ा मूल्य मांगता है। नाम की खोज, ब्रह्म में अनुगुंजित निनाद की तलाश है। नाम की प्राप्ति से ही द्विज पद मिलता है। नाम की पकड़ मन को मुट्ठी में लेना कहा जाता है। प्राण का ही स्थूल रूप है मन। मन स्थूल है। जो प्राण पिंड शरीर में मन कहलाता है, वही प्राण ब्रह्मांड शरीर में आत्मा कहा जाता है। इसी कारण मन को परमात्मा का प्रतिनिधि कहा जाता है। प्राण का सूक्ष्मतम नाद है 'नाम' जो आत्मदर्शन कहलाता है—आत्मदर्शन आंख का विषय नहीं है कान का विषय है—इसे ही चक्षुश्रुवा यानी कुंडलिनी सर्प का रूपक दिया गया है। उनचास पवन एक ही प्राण की गतियां हैं।

पांचों कुंडों के देवता, पहले अपने-अपने कुंडों से हवन करते हैं, फिर एक दूसरे के कुंडों से सर्कुलर वृत्ताकार हवन करने लगते हैं। वेग और गति बढ़ाते हुए उसे शून्य से महासुन्न गति वेग में ले चलते हैं—पहले बैठे-बैठे, फिर खड़े होकर और अंत में दौड़-दौड़ कर आहुति डालने लगते हैं। जिन प्राणों के संघात से मधुर राग फूटने लगते हैं। इसी द्रुतगमिता को निरति कहते हैं। 'सुरति-निरति का ताना भरनी, सुषमन तार से बिनी चदरिया—कोई ओढ़े संत सुजान, निर्गुन रंग चदरिया।" सुरति-निरति प्राणों का ही नर्तन है। सारे जगत का प्राण एक है—पूरा सृष्टि चक्र ही महाप्राणायाम है। प्राणायाम पिंड में उसी का अभिनय है—इसी से मुक्ति को महाप्राणायाम कहते हैं जो परिनिर्वाण भी कहा जाता है। परिनिर्वाण का अर्थ है अनंत। जलते दीपों की कतार में एक और दीप जल गया, बुद्ध, महावीर, राम-कृष्ण का। जगत में जो प्राण कहलाता है, वही पिंड में जीव कहा जाता है, पिंजड़े का पंछी।

प्राणायाम से चक्र भेदन होता है और चक्र नाक में नहीं हैं। कुंडलिनी को मूलाधार से उठ कर सहस्रार में संभोग करना, मैथुन कहा गया, आगमों में। पिंड-ब्रह्मांड शरीर के कमल 36 की स्थिति में है, उन्हें 66 की स्थिति में लाना ही साधना है। इसे ही उलटा जाप कहते हैं—33 की स्थिति में संपुटित कुंज,

66 की स्थिति में प्रस्फुटित हो गए। उनकी पंखुड़ियां नीचे गिरी थीं, ऊपर उठ गईं। उलट गईं दोनों नयन पुतरियां। स्थूल दृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि एक दिशा में बहने लगी। पिंड शरीर में जो देवता बाधक थे वे ब्रह्मांड शरीर में हाथ जोड़कर कैदी की तरह खड़े हो जाते हैं। पंडितों ने भ्रम दिया है कि इस प्राणायाम को लोग भूल गए हैं। बीज कभी मरता नहीं है। हमारे भीतर नैमित्तिक प्राणायाम अनजाने चलता है—भीतर के देवता निश्चेष्ट नहीं बैठते हैं, फिर शरीर का विकास होगा कैसे ? उनकी मैत्री को प्राणायामी प्रगाढ़ करता है। सभी संत उपलब्ध प्राणायामी थे। सभी सिंह वागेयकार थे। यही प्राण का संगीत वृंदावन की बंशी की धुन है—'धुन सुन के मनवा मगन हुआ जी हो।'

नाद ब्रह्म और प्राण-सागर का मंथन

शरीर में प्राण-सागर लहरा रहा है। वायु के दबाव से जैसे सागर में हलचल होती है, वैसे ही श्वास के कारण प्राण-सागर में भी तरंगें उठती हैं, हलकंपन होते हैं। रक्त के शुद्धिकरण एवं संचरण से प्राण में गति पैदा होती है। गति के कारण प्राण में नाद फूटता है। इस नाद को ही विवार, संवार, अघोष, घोष, अल्प प्राण, महाप्राण, अनुदात्त, उदात्त, स्वरित क्रम से क्रमशः मूल से ब्रह्मरंध्र तक चढ़ाइयों की प्राणायाम की संज्ञा दी जाती है। शरीर में श्वास वायु तत्व है, रक्त जल तत्व है, नाद आकाश तत्व है, गति अग्नि तत्व है और सुषम्ना का मार्ग ही पृथ्वी तत्व है। श्वास जड़ है और प्राण तो चैतन्य है। रक्त का स्वभाव अधोगामी है पर अग्नि के ताप से रक्त भी ऊर्ध्वगामी होता है और वह अग्नि जलती है अपान वायु के गणेश चक्र पर। इसे मूलाधार चक्र भी कहते हैं। यही जीवनधार केंद्र है—रक्त में जो कंपन होता है, उससे नाद निखरता है प्राण को उर्ध्व चक्रों तक उठाने के क्रियाशील कई नाम हैं, प्राणायाम, प्राण को ऊपर उठाता है नाद, यह नाद आकाश तत्व है, आकाश को शब्द भी कहते हैं। नाद को शब्द ब्रह्म भी कहते हैं। अध्यात्म में इसे ही 'नाम' या 'सारशब्द' कहा गया है। प्राण में नाद की छोटी-बड़ी, नीची-ऊंची लहरियां उठाकर अभीष्ट परिणाम पाना ही प्राणायाम का लक्ष्य है। संपूर्ण जगत इसी नाद के अधीन है—जगत से अर्थ है समस्त इंद्रिय लोक का। इन्हीं लोकों में सामंजस्य पैदा करना प्राणायाम कहलाता है। यह प्राकृतिक क्रिया है, इसे नैसर्गिक अभ्यास भी कहते हैं। शरीर के अंदर बैठे सभी देवता संयुक्त रूप से प्राणायाम का हवन कार्य कर रहे हैं।

प्राणायाम को वायु तत्व प्रेरित करता है। जिससे जल तत्व रक्त तरंगित होता है। उसमें आकाश तत्व प्रतिध्वनित होता है, जो नाद कहलाता है। नाद ही गगन की ओर उठता है। हवा की गति से रक्त नहीं चलता है, प्राण की गति से रक्त में वेग आता है, जो विभिन्न स्तर की गतियों को जन्म देता है। रक्त में गति के कारण नाद उभरता है। यही प्राण-सुरति को ऊपर उठाता है। सुरति प्राण और मन की एक स्वरता का नाम है। जब तक मन हवा में तैरता है, इंद्रियों की गुलामी करता है। ज्यों ही मन प्राण पर सवार होता है, वह अतेंद्रिय लोक में पलायन करता है। इसी यात्रा को पिंड शरीर से ब्रह्मांड शरीर की यात्रा का चक्र भेदन कहा जाता है। सुरति सुषुम्ना में समाती है और मन प्राणों के मंथन में रम जाता है। श्वास अपना प्रभार हृदय को देता है, हृदय अपना प्रभार रक्त को देता है, रक्त अपना प्रभार प्राण को देता है और प्राण अपना प्रभार मन को देता है। मन मस्तिष्क लोक का माली है। शरीर के अंदर पंचतत्वों का गजब का मैत्री-भाव है। प्राणों का संगीत ही प्राणायाम है। सात चक्रों के सातों स्वर जब एक ही स्वर षडज में निनादित होने लगते हैं तो साम संगीत छिड़ जाता है जो कृष्ण का वेणु-वादन कहा गया है।

बांसुरी में सुर भरते हैं, वह बजती है। पर उसमें से राग निकालने के लिए उसके सातों छिद्रों पर उंगलियों को व्यवस्था से नचाना होता है। उसी प्रकार नाड़ी-शोधन से सुषुम्ना का मुख खुलता है और मूल सुषुम्ना के सातों चक्रों से सातों स्वर गूंजने लगते हैं, जो मेरुदण्ड के विशिष्ट गाटियों पर चक्र रूप में निःसृत होते हैं—नाद-निनाद का अभ्यास किया जाता है। जिसे अपान में प्राण को हवन या प्राण और अपान में प्राणों का परस्पर हवन यानी आह्वान कहा जाता है। प्राणायाम ध्वनि-विज्ञान है। प्राण के प्रवाह को नियंत्रित कर उनमें विशिष्ट क्रियाशीलनों द्वारा, अभीष्ट परिणाम पैदा करना ही प्राणायाम है। पिंड शरीर के औंधे कमलों को ऊर्ध्वमुख पर ब्रह्मांड शरीर के चरखों के सम्मुख एकरसता में लाना, अवरोह पथ के प्राण को आरोह पथ पर लगाना, उद्देश्य है।

केवल श्वास की साधना प्राणायाम नहीं है। यानी पूरक, रेचक, कुंभक तो नाड़ी शोधन हैं। इसका उद्देश्य सुषुम्ना की राह खोलना मात्र है—यह भी कठिन काम है। जानकार गुरु हों तो यह काम मिनटों में हो जाता है। अनाड़ी तो जीवन भर नाक ही मलते रह जाते हैं, उनका प्राणायाम शुरू ही नहीं होता है। जीवन भर वे दरवाजा खोलने में ही उलझे रहते हैं। बहुत योगी महीनों बिना श्वास लिए कृत्रिम समाधि लेते हैं। प्राणायामी घंटों श्वास रोककर प्राणायाम करते हैं। तो साफ हो गया कि श्वास क्रिया का प्राणायाम से कोई ठेका ठेकी

भी नहीं है। द्वार खुल गया आप भीतर गए, फिर अपने काम कर रहे हैं—अब बार-बार दरवाजा खोलने का अर्थ ही नहीं रहा। श्वास चैतन्य नहीं है। प्राण चैतन्य है। श्वास से अधिक चैतन्य रक्त है। रक्त निकलने पर प्राण निकल जाते हैं, प्राण को ठहराने के लिए रक्त चढ़ाया जाता है। न श्वास क्रिया है, न रक्त संचार क्रिया है, पर प्राणायाम क्रिया है—वे दोनों स्वभाव हैं।

प्राणायाम क्रिया जटिल है। नाद को उसकी ऊंचाइयों तक यानी हद से अनहद और बेहद तक विविध स्तर और भंगिमाओं में ऊपर उठाते हैं। जिसे संतों ने गमगति या सामगति कहा है। आलाप्ति गमक, मूर्छना के अनेक तल और तरीके हैं। जैसे मुरली के स्वर व्यवस्था में राग बनते हैं, उसी प्रकार रक्त में गति देकर नाद को ऊपर उठाते हैं। गति से नाद का जन्म होता है। प्राण की गति बढ़ाकर स्वर को अनुदात्त से स्वरित तक उठाते हैं। श्वास, रक्त प्रवाह और नाद तो जानवर में भी होते हैं—पर प्राणायाम केवल मनुष्य ही कर सकता है। यह योग की कुंजी है। सातों चक्रों के सात धृत कंपन हैं जो सात स्वर कहलाते हैं। इनमें मैत्री स्थापित करना प्राणायाम कहलाता है। यही प्राण का प्राणों में हवन कहलाता है। प्राण की पहचान नाद से होती है। प्राण कान का विषय है श्रुति स्वर व्यवस्था है प्राणायाम। प्राणायाम किया जाता है पर क्रिया सुनना कहा जाता है। नाम सुनते हैं। इसके लिए पहले प्राण को श्वास से अलग करना सीखना पड़ता है। जैसे हंस नीर से क्षीर को बाहर निकालना जानता है। वैसे ही प्राणायामी प्राण को श्वास में भिन्न प्रतीति करके ही क्रिया योग करता है। श्वास जड़ है जबकि प्राण चैतन्य है। प्राण ही तो श्वास को खींचता है। प्राण ही राग का रूप लेता है। राग, अनुराग, विराग, वित्तराग—ये प्राणायाम की ही व्यवस्थाएं हैं—राग का अर्थ वासना नहीं है। एक मधुरतम स्वर व्यवस्था जो चित्त को रंग दे, राग कहलाती है। जब भीतर के शाश्वत शब्द यानी नाम को प्राणायामी पकड़ने लगता है, तब प्राण की ध्वनि और सारशब्द एक स्वरता में आ जाते हैं, उसी समरसता में सुरति-निरति भी विरति में आकर ठहर जाती है। जहां प्राणायाम खो जाता है नाम में—इसी साम्य को अविचल समाधि कहते हैं। जहां सातों स्वर एक स्वर में तिरोहित उद्‌बुद्ध होने लगते हैं वही विचित्र भाव दशा का लोक है, सच खंड। प्राण चैतन्य को जड़ श्वास कैसे नियंत्रण करेगी। जब प्राण श्वास को खींचता है। श्वसन प्राणायाम का एक हेतु है, प्राणायाम नहीं है, जैसे लगाम रथ नहीं है। श्वास प्राण नहीं है। तो श्वास के अटन को प्राणायाम क्यों कहेंगे ? जिन्हें श्वास और प्राण में भेद मालूम नहीं, जो श्वास से प्राण को अलग करना नहीं जानते, उन्हीं वाचक ज्ञानियों ने

नाड़ी-शोधन को प्राणायाम नामजद कर दिया। मानवता का अकस्मात ही किया। प्राण संवेदन और प्राण-नियंत्रण के बिना ओरी का पानी बड़ेरी ही कैसे चढ़ेगा ? गणेश चक्र का अपान ब्रह्मरंध्र तक यात्रा कैसे करेगा ? यही उलटा जाप है तो पंडितों में निर्लज्ज की तरह कह दिया—'मरा-मरा' उलटा नाम है और भैया वर्णिक ध्वनि, भाषा का कोई शब्द है नाम क्या जो जीभ पर आता भी नहीं है। नाम का उच्चारण भी नहीं है और तू 'मरा-मरा' रटवाने लगा ? अष्ट दल कमल और दस द्वारों का भेदन है प्राणायाम।

प्राण ही मानसिक शक्ति के रूप में प्रकाशित होता है। प्राण क्रिया से योगी की कांति बढ़ती है, उसका कंठ मधुर होता जाता है। सूक्ष्म शक्तियों का प्रवाह दीखता है, आंतरिक चक्रों में संवाद बढ़ जाता है। मन के परदे खुलने लगते हैं। आकाश-भाषित पकड़ में आने लगता है, ऋषि-मुनियों, पितरों के दर्शन आते हैं। सिद्धियां हस्तमूलक होती हैं। भीतर शक्ति का स्पंदन, वेग, गति, यति, रति बढ़ती है। इसी 'नाम' से हमारी चदरिया बनी है। नाद-ब्रह्म से ही सृष्टि प्रकाश में आई है। नाद ब्रह्म की आराधना ही प्राणायाम है। शब्द आकाश में योगी तैरता है। प्राणायाम अंतर के आकाश में पारगमन है। विहंगम मार्ग है।

प्राण से ओंकार ध्वनि

श्वास की परख स्पर्श संवेदना है। श्वास का जन्म वायु तत्व से होता है। पर प्राण की परख शब्द संवेदना से करते हैं। प्राण आकाश तत्व से बनता है। इसीलिए नब्ज पकड़कर या आला लगाकर ब्लड प्रेशर की पड़ताल की जाती है। प्राण की परख उस गति से करते हैं जो छत कंपन रूप में नसों में होती है। यानी प्राण का अनुभव सुनकर किया जाता है। तब तो प्राणायाम कान का विषय हो गया, जबकि श्वास नाक का विषय है। प्राण जीभ से नहीं, कान से श्रवण किया जाता है। जब कान का विषय है प्राण तो उसका संबंध ध्वनि से होगा, नाक से सुनते नहीं, सूंघते हैं। प्राणायाम नादानुसंधान है। इसे ही शब्द साधना या सुरति शब्द योग कहते हैं।

हम प्रणव करते हैं। यह प्राण का रव होता है। प्राण ही गाता है, नाक नहीं गाती, कंठ भी नहीं गाता, कंठ केवल बोलता है। पर गाता है प्राण। प्रणव तो ध्वनि तरंग है। शब्द का योग है स्वर और स्वर का प्रयोग है संगीत अतः प्राणायामी स्वर की अनुगूंज से अपने को जोड़ता है। सभी मंत्र ध्वनित तरंगें

हैं। मंत्र में वर्ण नहीं, स्फोट होता है। तरंगें कैसे उठाएं, यही सीखा जाता है प्राणायाम में। इन्हीं ध्वनि तरंगों से चेतना अंतर्मुखी होती है। नाद तरंग है, प्राण स्पंदन है। लहर और कण समझें।

प्राण में मंत्र डालना नहीं पड़ता। प्राण में मंत्र फूटते हैं। भीतर से ही फूटते हैं। प्रायः लोग श्वास क्रिया को ही प्राणायाम जानकर घंटों नाक रगड़ते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि श्वास नियंत्रण तो नाड़ी-शोधन है। यह प्राणायाम की पीठिका है—हजारों वर्षों से एक ही झूठ को दुहराया जा रहा है कि नाड़ी-शोधन ही प्राणायाम है, जो जानकार हैं वे मौन हैं।

प्राणयाम से हमारे अतीद्रिंय शरीर में संतुलन आता है। श्वास तो प्राण की दादी है। श्वास से रक्त, फिर रक्त से प्राण बनता है। ध्यान के दो रूप हैं—श्वास क्रिया और प्राण क्रिया। वैसे प्राण ही क्रिया है—श्वास क्रिया नहीं है स्वभाव है। आप चाहें या न चाहें श्वास चलती है, वह हमारे वश में नहीं है। पर प्राणायाम हमारे वश में है, करें या न करें। प्राणायाम आंतरिक स्वभाव है। प्राण हमारे वश में नहीं है। प्राणायाम हमारे वश में है। आप प्राणायाम नहीं करते हैं, फिर भी प्राण तो काम करता रहता है। प्राण दर्शन-स्पर्शन की चीज नहीं है। श्वास को आप ढो सकते हैं—महसूसते हैं। प्राण का रव ही प्राण का प्रमाण है। जिसे सूंघ कर नहीं बता सकते। नाड़ी की गति सुननी पड़ती है। प्राण की गति का पता ध्वनि तरंगों से चलता है। ये तरंगें ही मंत्र हैं। इसे ही संत लोग गमगति और गायक सरगम कहते हैं। वेदों ने इसे प्रणव कहा।

श्वास क्रिया से भाषा का संबंध है। प्राण क्रिया से ओंकार ध्वनि का संबंध है। भाषा के प्रयोग में मन दौड़ लगाता है। स्वर के प्रयोग में मन लंगड़ा हो जाता है। भाषा छोटी-बड़ी नहीं होती, पर स्वर विलंबित-द्रुत होता है। यह द्रुत-विलंबिता प्राणायाम की चढ़ाई है। मन अंतर्मुख होता है, तभी स्वराधान प्रारंभ होता है। स्वर मन को कैद कर लेता है। मंत्रोच्चार का अर्थ ही है कि मन कैद हो गया। पहले स्वरूप का ध्यान, फिर स्वर का संधान—जैसे शर-संधान में मन नहीं बचता। स्वर से मन के हटते ही राग भ्रष्ट हो जाता है। स्वर पढ़ने में संपूर्ण एकाग्रता होती है। यहां मन को स्थिर करना नहीं पड़ता। वह पटुवा ही जाता है। प्राण क्रिया में जीभ लगती ही नहीं है—'जिह्वा पर आवत नहीं' इसीलिए नाड़ी शोधन करने वाले का मन स्थिर होता है। उनका मन परवश होने लगता है। मन उनको परेशान नहीं करता है। प्राणायामी का मन आज्ञाकारी गुलाम होता है। यह प्रयोग करने वाले ठीक से समझते हैं। प्राणायामी पूछिए—भैया, मन कहां है तो हंसेगा, है ही नहीं। अजपा अमन का निरति है। प्राणायाम प्राण का निरति योग है।

प्राणायामी मन के फेर में नहीं रहता है। प्राण मन का राजा है। राजा के सामने जो गुलाम की स्थिति होती है, वही प्राणायाम में मन की गति होती है। प्राण की गोद में मन का जन्म होता है। प्राण नहीं होगा तो तन में तो क्या मन होगा ? मन मर जाता है तो भी प्राण रहता है तन में। लोग कोमा में, बेहोशी में, मूर्छा में होते हैं। मन वहां नहीं रहता है। क्या प्राण भी नहीं होता है ? प्राण के कारण मन का जन्म है। पर श्वास है भी तो मन भाग जाएगा। तन कहीं होगा, मन कहीं चला जाएगा। जो मन श्वास के आगे-पीछे चलता है वही प्राण के आगे पालतू बन जाता है। प्राण मन से बरियारा है। इसीलिए कहते हैं कि प्राण बांधो तो मन स्वतः बंध जाएगा। मन प्राण का सेवक है। प्रणव का उद्घोष किया कि मन एक पांव पर हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है। डांट खाए शिशु के समान। देवता बन जाता है। सुरति पर सवार हो जाता है।

प्राणायाम की क्रिया बड़ी शक्तिशाली क्रिया है। इसे गुरु के साथ ही करते हैं। श्वास क्रिया में चित्त नियंत्रित होता है, पर प्राण क्रिया में चित्त कमजोर पड़ जाता है। प्राणायामी को चित्त की चित्रकारी देखने की फुरसत नहीं होती है। मन की सारी चित्रकारी पर प्रणव पानी फेर देता है। यहां चित्त पूर्णतः निरुद्ध होता है। स्वर लगाकर देख लो—हाथ कंगन को आरसी क्या ?

अब आपको लग रहा होगा कि श्वास और प्राण दो चीजें हैं। श्वास आवर्तन को नाड़ी-शोधन और प्राण संयम को प्राणायाम कहते हैं। तब ध्यान की परिभाषा बनी कि चेतना को शब्द से हटाकर स्वर पर लगा दो। स्वर को संतों ने शब्द कहा—यह याद रख लें। संतों के शब्द का अर्थ घोड़ा, गाय, बैल नहीं हैं। उनका शब्द ही प्रणव है। किसी संत से प्रमाण ले लो। मंत्रों का उच्चार सस्वर होता है—ध्वन्यात्म है। मंत्र वर्णात्मक नहीं है। प्राण की पहचान ही है रव, यानी ध्वनि तरंग। और श्वास में न तो प्राण होता है न रव होता है। रेचक को आप यह तो नहीं कहेंगे कि प्राण निकल रहा है तो न तो पूरक प्राण है न रेचक प्राण है—ये प्राण के खाद्य हैं। अगर पूरक और रेचक ही प्राणायाम है तो यह तो हो ही रहा है तो उसे अब करना क्या ? नहीं, यह भूल है जो हजारों वर्षों से शास्त्रों में दुहराई जा रही है। जबकि प्राणायाम को छिपाकर रखा गया गमगिति में। जिन लोगों ने नाड़ी-शोधन को प्राणायाम कहा—उन्हीं लोगों ने प्राणायाम को बीहड़ असाध्य विकट कहा। यह भी कहा कि प्राणायाम खो गया है, यहीं है और खो गया है। दोनों बातें कहीं और लोगों की नींद नहीं टूटी। वे तो प्राणायाम करने से मना भी करते हैं—क्योंकि उन्हें पता है कि वे जो बता रहे हैं वह प्राणायाम नहीं है। दुकानदार की दुकान में जो माल नहीं होता है वह

कह देता है कि आउट ऑफ मार्केट है। विद्वानों ने फंसा दिया श्वास-क्रिया में। पर यह जाने नहीं कि मैं प्राणायाम नहीं जानता। मतलब बस इतना ही था। सौ बार दुहरा देने पर ही झूठ भी सत्य लगने लगता है। आज लाखों नाक दाबे प्राणायाम पर बैठे, आपको मिलेंगे। यह विचित्रता का देश है। नाड़ी-शोधन होम्योपैथिक डोज है। फायदा नहीं होगा तो कोई घाटा भी नहीं होगा।

प्राण ज्ञानवाही नाड़ियों का सूक्ष्म केंद्र है। प्राण ही भार विहीन प्रकाश है। इसमें गमक और चमक दो क्रियाएं हैं। यानी कंपन, थिरकन, आंदोलन है। गर्भ में जैसे शिशु की बढ़त गोपनीय है, वैसे ही प्राणायाम की सुरति-निरति योग भी परम गोपनीय है। कोई गुरुकृपा कर करा दे, इतनी नमनीयता से गुरु चरणों में विनीत होना है। प्राणायामी को कोई पहचान नहीं पाता। आप समझ मांगिए कि अपान में प्राण का, प्राण का अपान में और प्राण अपान का अन्य प्राणों में हवन कैसे होता है। कोई क्रिया देता है तो ठहर कर लें। इसके लिए विद्वान नहीं, योगी की तलाश कारगर होती है। उनचास प्राणों का ज्ञान वही देगा, विद्वान नहीं। यह तो नाक रगड़वाएगा।

●

मुद्रा एवं योग के लिए उपयुक्त स्थान एवं गुरु

साधक साधना कक्ष सदैव साफ-सुथरा एवं हवा युक्त रखे। साधना के पहले धूप-दीप जला दे। जिससे कक्ष की वायु सुरुचिपूर्ण हो। यदि साधक गुरु गृह पर साधना करे तो अत्यंत उत्तम है या गुरु संदेश से नदी के किनारे 5,000 (पांच हजार) फुट से अधिक ऊंचाई वाले पहाड़ पर, जहां का वातावरण शुद्ध रहता है। ऑक्सीजन प्रचुर मात्रा में हो। प्रदेश न ज्यादा गरम हो, न ही ज्यादा ठण्डा हो अतएव वसंत या शरद ऋतु इसके प्रारंभ के लिए अत्यंत उत्तम है। यदि साधना, प्राणायाम शुरू कर दिए हों तो हर ऋतु में हर समय कर सकते हैं। परंतु एक स्थान पर करें तो ज्यादा श्रेयस्कर है। प्रारंभ में हर समय साधक में गुरु से संपर्क बनाए रखें।

यदि संभव हो तो साधक गुफा बना ले तो अत्यंत उत्तम है। गुफा षटकोण एवं ऊपर पिरामिडनुमा बिना खिड़की का बनाना उत्तम होगा। खान-पान एवं रहने का ढंग सादा हो। गरम पदार्थ का सेवन न करें। गाय के दूध का सेवन अवश्य करें। अंकुरित चना, मूंग, फल, रस, साग का सेवन लाभप्रद है। यदि जरूरी हो तो नाड़ी शोधन भी गुरु के आदेश से कर सकते हैं। अन्यथा नाड़ी शोधन का कार्य खेचरी मुद्रा से हो जाता है। अतएव इस संबंध में गुरु से परामर्श ले लेना उचित है। साधक साधना काल में हर समय प्रसन्नचित्त रहे। घर के झंझट से कम से कम दो माह दूर रहे, कालांतर में योग युक्त हो जाने पर कोई परेशानी नहीं रह जाती। अतएव अभ्यास काल बहुत ही महत्वपूर्ण काल है।

किसी अधकचरे गुरु या जिस गुरु ने इस विद्या को व्यवसाय बना लिया हो उनसे दूर रहने की कोशिश करें। ब्रह्म विद्या, योग विद्या को बेचा नहीं जा सकता। जो बेच रहा है, इसका जानकार नहीं कहा जा सकता। जैसे टेप में प्रवचन बंद कर दिया जाता है। वैसे ही तथाकथित गुरु रट लिया करते एवं साधक को मूर्ख बनाकर अपना ठगहारी रूपी उद्योग चलाते हैं। अभी भी सैकड़ों गुरु हैं, जिनका व्यवसाय जोरों पर है। इस व्यवसाय में अपनी पत्नी, दामाद

एवं अन्य रिश्तेदारों को लगा रखें हैं और अपने सामंतों का जीवनयापन कर रहे हैं। प्रवचन के माध्यम से साधारण जिज्ञासु को बहुत सारा लालच देते हैं। ये अपने प्रचार हेतु पत्र-पत्रिकाओं का निष्पादन भी अपने ही पुत्र-पुत्री के माध्यम से शुरू किए हैं। अभी-अभी कुछ पत्रिका में मैंने देखा कि प्रचार किया गया है—अलग-अलग दीक्षा के लिए अलग-अलग दर अंकित हैं। रुपये के अनुसार ही दीक्षाएं दी जाएंगी। बहुत सारे सिद्धियों के स्वामी अपने को बताया गया है। साथ ही साधक को उसी में लालच दिया गया है कि अमुक व्यक्ति को इस मंत्र से अपूर्व धन लाभ हुआ, तो अमुक व्यक्ति की नौकरी लग गई, तो अमुक को सुंदरी मिल गई, इस तरह के मिथ्या प्रचार का अर्थ क्या है ? अलग-अलग कार्य सिद्धि के लिए माला एवं मंत्र भी बेचते हैं। यानी दीक्षा लेकर यंत्र-मंत्र सब विक्रय के हैं। साथ ही इस पुस्तक पत्रिका में सब प्रचार मोटे अक्षरों में है। वहीं भूमिका में इसे काल्पनिक तथा कार्य पूर्ण नहीं होने की जिम्मेदारी से बरी हो जाता है।

जो अत्यंत छोटे अक्षरों में लिखा जाता है। यह सब करने वाला सद्गुरु कतई नहीं हो सकता बल्कि मदारी व तमाशबीन अवश्य हो जाता है। ऐसे लोगों पर ही कहा गया है—

'गुरुआ बड़ा लबार है, कौड़ी के तीन॥'

इनका सारा कार्य कौड़ी यानी पैसे पर ही निर्भर करता है। जैसे हनुमान जी संजीवनी बूटी लाने जा रहे थे। रास्ते में कालनेमि ने सद्गुरु के रूप में अपने को अवस्थित कर उनके मूल उद्देश्य से भटकाने की भरपूर कोशिश की, परंतु हनुमान पर तो साक्षात परमपुरुष की कृपा थी। उसे वह भरमा तो नहीं ही सकता, परंतु उद्देश्य में विलंब तो कालनेमि रूपी गुरु उन्हें फंसा कर सदा के लिए उनका पूरा जीवन बरबाद कर देते हैं। 'अंधा गुरु बहरा चेला' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

शिष्य को इन विषम परिस्थितियों में चतुर पारखी होना पड़ेगा। जो अपने गंतव्य तक पहुंचने के लिए सद्गुरु की खोज कर सके। सद्गुरु की परिभाषा यह कतई नहीं हो सकती कि उसके पास बहुत-सी संपत्ति है। वातानुकूलित कमरे में रहता है। बड़े-बड़े नेता एवं अधिकारी आते हैं। प्रवचन देने में अत्यंत प्रवीण हैं। बहुत सारी किताबें उनकी हैं, प्रचार माध्यम बहुत बड़ा है इत्यादि। यह सब तो ज्यादा से ज्यादा धूर्तों के पास ही संभव है। सद्गुरु तो नानक, कबीर, अत्री, रमण, जनक-सा ही हो सकता है। यह भी जरूरी नहीं कि पत्नी का परित्याग करे। यदि पत्नी सती साध्वी है। पति के तप त्याग में मददगार

है तो साथ-साथ रहने की पूर्ण हकदार है। यह भारतीय ऋषि परंपरा का द्योतक है। यह निर्भर करता है, गुरु की स्थिति पर। अक्सर समाज में देखा जाता है कि अत्यंत दीन-हीन व्यक्ति जो घर पर खाने के लिए तरस रहा है, जिसका पेट ही पहाड़ है, वह संन्यास ले लिया। मठ मंदिर में बैठ गया, जहां अभी भी अपूर्व धन है। लोगों की श्रद्धा है। रातों रात धनपति के साथ-साथ तपस्वी भी बन गया। संपत्ति के आधार पर उसकी पूजा होने लगी। परंतु यह अत्यंत दुखद घटना है कि जो व्यक्ति अपना पेट नहीं भर सका, वह एकाएक सिद्ध बाबा बन गया। जिसका परिणाम है कि वह संपत्ति का अपने जीवन में खुलकर उपयोग करता है। आप प्रतिदिन पेपर पत्रिका में पढ़ते ही हैं कि अमुक बाबा वेश्याओं के साथ पकड़ा गया। बाबा पर दर्जनों-दर्जनों बालात्कार का केस हुआ, तो अमुक बाबा आज छेड़खानी में, यौनाचार में जेल गए। हद हो गई तथाकथित साधुता की, तप की। आज इस तरह के गुरु की भरमार है। पग-पग पर लोगों को ठग रहे हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से दर्जनों बाबा, भगवान, सिद्ध बाबा को जानता हूं जो विद्या व्यवसायी, विद्यावान-पंडित को रख लेते हैं एवं अपने नाम पर सूत्र लिखवा डालते हैं। तो कहीं साधना एवं भाष्य लिखवा डालते हैं। ये पैसे के बल पर होता है। इनके यहां इक्कीस विद्वानों का दल ही होता है। जो पुस्तक लेखन का कार्य करता है। हस्ताक्षर होता है गुरु जी का।

इन परिस्थितियों में शिष्य को पूर्ण सचेत एवं सावधान होकर गुरु की खोज करना होगा या अपने को पात्र बनाना होगा। अधिकतर शिष्य अपने साधन रूपी मूल उद्देश्य से भटक कर खाली हाथ रुपये एवं सिद्धि के लोभ से तथाकथित व्यापारी गुरु के प्रचार-प्रसार में लग जाते हैं। हां, जीने-खाने या सत्संग का, भंडारा या आश्रम संचालन हेतु धन की जरूरत है, तो कबीर की तरह चरखा कात लो, क्या हर्ज है ? सदना कसाई की तरह मांस ही बेच लो। कोई अंतर नहीं पड़ता। साधना अंदर की चीज है। बाह्य शरीर से कर्म कर लो। परंतु साधारण साधक को मूर्ख मत बनाओ। आज के तथाकथित गुरु करते कुछ भी नहीं, परंतु रहते वातानुकूलित कमरे में। रहन-सहन किसी भी धूर्त सम्राट से कम नहीं। काम के नाम पर मात्र ठगहारी की दुकानें भी बड़े जोर पर विभिन्न शहरों में खोल देते हैं। बड़ा बोर्ड लगा दिया जाता, सिद्धि का वादा भी किया जाता। बड़ी ही विचित्र विडंबना है इन गुरुओं की। इतना ही नहीं बड़े-बड़े यज्ञ के नाम पर धन की वसूली होती है। पुण्य एवं स्वर्ग का लालच दिया जाता है। निरीह जनता शोषण का शिकार बनती है। आपने देखा, कितने महात्मा गरीबों को अपना भोजन देते। अपना मठ, मकान, गृह विहीनों को

देते। भारत के तथाकथित धार्मिक लोग अपनी-अपनी संपत्ति एवं गृह आज उदारता से गरीबों को अर्पण कर दें तो 25% गरीबी दूर हो जाएगी। इसमें कोई भी धर्मगुरु, जगत्गुरु, धर्माचारी, यज्ञ के ठेकेदार आगे नहीं आएंगे। बदले में उन्हें नेताओं की तरह मात्र सांत्वना देंगे। अपने शिष्य को समझाएंगे जगत झूठा है, स्वप्नवत है। साथ ही उन्हें विदाई में यदि वह शिष्य कुछ न दे, तो देखना जगत सत्य हो जाएगा। सारा त्याग, तपस्या क्षणमात्र में गायब हो जाएगी। श्राप तक देने में उतारु हो जाएंगे। अभी-अभी एक व्यक्ति आया एवं बताया कि महाराज जी मैं प्रत्येक वर्ष रामायण का प्रवचन कराता हूं। अमुक-अमुक जगद्गुरु, अमुक-अमुक बड़े-बड़े तपस्वी महाराज जी को लाए। इस बार चंदा कुछ कम मिला, दान दक्षिणा कुछ कम दिया, महात्मागण जो कल तक जगत को नकार रहे थे। संसार को झूठा कह रहे थे, दक्षिणा, विदाई में कमी के चलते गाली देने लगे, श्राप देने लगे। इतना ही नहीं एक महात्मा जो 80 वर्ष के हैं, रोने लगे। वे बोले कि मैंने एक हफ्ता प्रवचन दिया। हमें हजार रुपये भी नहीं दिया। हमारा क्या होगा ? वे जाने से इनकार कर दिए। क्या कहे हमारी पत्नी अपनी सोने की अंगूठी निकालकर दे दी। साथ ही कहा कि अब रहने दो इस तरह के यज्ञ को, इस तरह के प्रवचन को। क्या मिलता है इससे ? आप ही निर्णय करें यह किस तरह का धंधा है ? अभी सबसे ज्यादा केस मुकद्दमे महात्माओं के जिम्मे ही हैं। केवल धन के लिए तुमसे कहेंगे, मैं तो महात्मा हूं। हमारा कौन है ? न पत्नी है न बच्चे। तो हमें किस बात की चिंता।

यह तोते की तरह रटा-रटाया उत्तर है, परंतु सबसे ज्यादा चिंता उन्हें ही है। वह चिंता, समाज के लिए नहीं केवल अपने लिए।

साधक सावधान होकर गुरु की खोज करे या पात्रता ग्रहण करे। उसे गुरु किसी भी रूप में परमपिता परमात्मा भेज ही देगा। साधक अपने जीने के लिए, समाज में रहने के लिए कुछ भी कार्य कर सकता है। कोई भी कार्य छोटा नहीं है। अपनी क्षमता के अनुसार किसी उद्योग में तुम लगे हो, साथ ही दो, चार, दस आदमी को और रोजगार उपलब्ध कराते हो, इससे बड़ा मंदिर कोई नहीं है। इससे बड़ा तीर्थ भी नहीं है। आज विश्व में बेकारी की समस्या गंभीर है। अतएव इसी तरह के मंदिर का निर्माण करो। सत् चित् रहकर सच्चिदानंद का भजन करो, वहीं आश्रम है। वहीं कुटिया है। वहां ही परमात्मा का दर्शन करो। हां, यदि वृहत् समाज सेवा की जरूरत गुरु समझता हो तो तुम्हें अन्य जगह लगा सकता है। इस परिस्थिति में तुम्हें अब जगत आर्थिक रूप से गिराएगा नहीं, न ही उर्वशी या मेनका तुम्हें गिरा सकती है। तथाकथित साधु, अकर्मण्य

ब्रह्मचारी के हृदय में कोई लड़की बस जाती है, वही उर्वशी हो जाती है। या मन में रात दिन घूमने लगती है, जो मेनका हो जाती है। परंतु जो साधक घर पर सब कुछ कर लिया अब गुरु कृपा या स्वयं जगत हित में निकलता है, तो बुद्ध-सा होता है। या गुरु निर्देशन में किया गया कार्य ही निष्कर्म है, तप है।

जो साधक पूर्व जन्म में काम से संतुष्ट हो चुका है, अर्थ से संतुष्ट हो चुका है। अब वह केवल ब्रह्मोपासना एवं जगत हित में ही अपना जीवन यापन करना चाहता है। उसे सद्गुरु वृहत जगत सेवा में भेज सकता है। चूंकि जगत हित भी साधना का ही अंग है। यजुर्वेद में कहा गया है—

''यंत्र विश्व भवति एक नीड़म्''

विश्व हिताय का बीज ऋषि के मन में अंकुरित हो सकता है। अतएव गुरु पूर्ण साधक शिष्य को ही इस मंत्र का वाहक बना सकता है।

सद्गुरु वह है जो शिष्य से कुछ भी कामना नहीं रखे। वह उचित पात्र को सभी-कुछ समर्पित कर सकता हो। शिष्य वह है जो अपना सभी कुछ गरु पर न्योछावर कर दे। जब ऐसा गुरु और शिष्य मिलता है, तब रामत्व, कृष्णत्व, बुद्धत्व का फूल खिलता है। शिष्य भी लोभवश गुरु का शरणागत होता है। उसका लोभ पूरा हुआ एवं नहीं हुआ तब, वह दोनों ही हालत में गुरु निंदक होता है।

''आत्म मोक्षार्थ जगत हिताय च।''

अब तुम आत्म मोक्षार्थ के लिए साधना करते रहो, साथ-साथ जगत हेतु भी कुछ कार्य करो। शंकर के मायावाद से पुरुषार्थ में भी उदासी आ जाती है। इस तरह यदि पूर्ण सक्षम गुरु सक्षम शिष्य को मिल जाता है। तब ही कहा गया है—**'सीस दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।''** यह सौदा सस्ता ही है। शिष्य को अपने गंतव्य पर भी पहुंचा देता है। साथ ही जगत हित भी करा देता है। जैसे—राम कृष्ण परमहंस ने विवेकानंद से कराया। जनक ने सुखदेव से कराया। रामानंद जी ने कबीर से कराया। सच्चे साधक के लिए जितना कठिन गुरु खोजना है, उससे भी कठिन सद्गुरु को सच्चा साधक खोजना होता है। सद्गुरु भी बेचैन रहता है। अपना सबकुछ देने को, जिसमें उसकी पात्रता हो। सद्गुरु भी रात-रात भर नहीं सोता। गांव-गांव देश-विदेश घूमता है। सच्चे शिष्य की खोज में। वह उद्वेलित रहता है, कैसे किसको दूं ? कोई भी तो आकर ले ले। तभी तो संत कबीर कहे हैं—

''देश-विदेश हो फिरा, गांव-गांव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेऊं फटकि पछोरि॥''

इतना ही नहीं सद्गुरु खुद शिष्य की खोज में खिन्न होकर कहता है।

चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस।
बीच में डेरा पड़ा, कहहु कौन को दोष॥

अभी बहुत सारे सद्गुरु ही नहीं, भगवान के अवतार भी हो गए हैं। जिसमें अभी-अभी तीन-चार तो नाना प्रकार के कष्ट, रोग से मरे। अभी कुछ जिंदा दुकान लगा रहे हैं। कोई अपने को कृष्ण का अवतार, तो कोई जनक के अवतार घोषित करते हैं। बहुत से गुरु तो जेल में आकर अपने को माया से लड़ते हुए कृष्ण ही बताए हैं।

इससे सद्गुरु कबीर कहते हैं—

ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारी ढगौरी सब जग मार।
घर-घर मंतर देत फिरत है, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित शिष्य सब बुड़े, अंत काल पिछताना।
गुरुआ त कुता भये, ज्ञान न जाने मूल।
शिष्य साधा अढई, रहे कान में फूंक॥

अतएव साधक का पारखी होना तथा सद्गुरु की बेचैनी का अंदाजा कबीर की उक्ति से लगा सकते हैं।

एक लोकोक्ति है। गुरु नानक देव अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। भीड़ काफी थी। उन्होंने हवा में हाथ हिलाया। तांबे के सिक्के बरसने लगे। अधिकांश शिष्य उसे चुनने लगे। उन्होंने आगे जाकर पीछे देखा तब उनमें से आधे लोग साथ-साथ आ रहे हैं। पुनः उन्होंने हवा में हाथ हिलाया। फिर चांदी के सिक्के बरसने लगे। आगे जाकर देखा तब केवल बाला मरदाना एवं लहना ही साथ आ रहे थे। बाकी सभी चांदी के सिक्कों में फंस गए। फिर उन्होंने हवा में हाथ हिलाया सोने के सिक्के गिरने लगे। बाला मरदाना से अब नहीं रहा गया वह उसमें फंस गया। आगे जाकर गुरु नानक जी ने देखा केवल लहना ही आ रहा है। उन्होंने पूछा, क्यों जी तुमने सोने की अशर्फी नहीं ली। वह बोला, नहीं गुरुदेव मेरे गुरु तो आप हैं। मैं आपका अनुगामी हूं। मुझे तो केवल आप ही चाहिए। गुरु नानक ने उन्हें गले से लगा लिया। वही लहना गुरु अंगद देव बना। गुरु के लिए सांसारिकता को दांव पर तो लगाना ही होगा। लेकिन आज गुरु को दांव पर संसार के लिए लगाते हैं।

मुद्रा—यह हठ योग, कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए अत्यंत लाभदायक है। अतएव निम्न प्रकार की मुद्रा हैं जो साधक को गुरु के समक्ष सीख लेनी चाहिए।

(1) खेचरी मुद्रा
(2) अश्विनी मुद्रा
(3) महा मुद्रा
(4) योनि मुद्रा
(5) शक्ति चालिनी मुद्रा
(6) शांभवी मुद्रा
(7) योग मुद्रा
(8) उन्मुनि मुद्रा
(9) विपरीत करणी मुद्रा

ये ही मुख्य मुद्राएं हैं, इसी तरह कुछ और मुद्रा भी हैं, जो साधक के लिए खास जरूरी नहीं हैं। इनका उल्लेख स्वानुभव के अनुसार ही लिख रहा हूं अतएव अन्य पुस्तकों से मेल खाना कोई जरूरी नहीं है।

खेचरी मुद्रा

यह मुद्रा योगी जन के लिए उतनी ही जरूरी है, जितना शिशु के लिए मां का दूध। कुण्डलिनी जाग्रत होने पर एवं पहले भी यह मुद्रा अत्यंत जरूरी है। तभी तो योगी जन कहते हैं–

सबसे कठिन खेचरी मुद्रा, योगीजन की मातरी।
जो जन साधन करत निरंतर, भव सागर तर जातरी॥

इस विद्या को सद्गुरु विश्वामित्र ने राम को अपने सिद्धाश्रम (बक्सर) में दिया था। जिसके बारे में वर्णन आता है। ऐसी युक्ति बता दी जिससे शरीर की कांति दिन रात बढ़ रही है, भूख प्यास नहीं लगती है। इसमें अमृत का पान करना होता है। सहस्त्र दल कमल से अमृत हर समय झर रहा है। जो मुंह में थूक या रस के रूप में मालूम होता है। तालु में ऊपर एक गड्ढा-सा है तथा उसमें एक छोटा-सा मस्स (लिंग) सा है जिसके बारे में शास्त्रों में कहा गया है कि वही अमरनाथ है। जिस पर हर समय टप्-टप् अमृत रूपी रस गिरता रहता है। भगवान शंकर ने कहा है कि जो व्यक्ति गुरु कृपा से उस अमरनाथ का दर्शन कर लेता है, उसका सारा पाप क्षय हो जाता है। जो उस अमृत का पान करता है, उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है। वह व्यक्ति सब सुख भोगकर स्वर्ग का अधिकारी होता है। उसी को पीकर योगीजन आनंद में मग्न रहते हैं। (मीरा भर्ड बावरी) मीरा

उसी अमृत रूपी मद को पीकर प्रभु प्रेम में बावली हो गई। इसी से इसे योगीजन की मां कहा गया है।

सात रस—खेचरी मुद्रा के सात रस आते हैं तथा विभिन्न प्रकार के रस के साथ शारीरिक क्रिया भी भिन्न होती जाती हैं। जैसे साधक यदि पहले पहल शुरू कर रहा है तो 'खारा' स्वाद मालूम होगा। जो साधक के शरीर की नाड़ियों का शोधन करता है। जिससे प्रारंभ काल में कुछ फोड़ा-फुंसी या घाव होने की संभावना है। शरीर की सफाई में यह होता है। साधक निरंतर इस मुद्रा में रह सकता है। कार्यालय में काम करते समय या घूमते, पढ़ते-लिखते, हर समय इस मुद्रा में रहकर अमृतपान कर सकता है। इस तरह **दूसरा रस** कुछ **'सुस्वादु'** होगा। खारापन दूर हो जाएगा। साधक की एकाएक स्मरण शक्ति बढ़ने लगेगी। साधना में मन लगने लगता है। वैखरी छूट जाता है। **तीसरा** रस मीठा मिश्री की तरह लगता है। कुछ काल के बाद जब यह रस मिलेगा तो उसके शरीर में कोई रोग नहीं होगा। साथ ही दिव्य दृष्टि आने लगती है। इसी तरह **चौथा** रस मधु की तरह है। इस रस के प्राप्त होने पर योगी को भूख-प्यास नहीं सताती है। अपने आप में मस्त रहता है। उसके बाद सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो कहता है। वही होने लगता है। **पांचवें** रस में मादकता रहती है। जिसमें योगी को अपने शरीर का भान भूल जाता है। मालूम होता है मीरा की तरह मद पीकर बावला हो गया। जो बोलता है, वही काव्य हो गया।

छठा रस जब योगी प्राप्त करता है तो अत्यंत विह्वल हो जाता है। दिव्य दृष्टि, दूर श्रवण, त्रिनेत्र, पर काया प्रवेश की शक्ति या एक साथ कई जगहों पर उपस्थिति या सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर जगत हित या दूरस्थ अपने शिष्य को साधना बताता है या विचलित होने पर बचाता है। इसे अब किसी भी चीज की जरूरत नहीं रहती, न ही प्रकृति इसके लिए कोई कमी करती है। इसकी इच्छा मात्र से जागतिक, दैविक क्रियाएं संपन्न हो जाती हैं।

सातवां रस प्राप्त होने पर योगी शरीर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। उसकी इच्छा पर मृत्यु निर्भर करती है। जिस अवस्था में सातवां रस प्राप्त होता है वही अवस्था रह जाती है। उम्र के बंधन से मुक्त हो जाता है। भगवान शंकर कहते हैं—जिस समय सातवां रस योगी प्राप्त कर लेता है, वह हमारे ही सदृश्य हो जाता है। भीष्म पितामह या सनक, सनंदन, सनत कुमार, नारद आदि। अभी भी भारत में कुछ ऋषि हैं जो इस रस का पान कर आनंद से रह रहे हैं। इस तरह खेचरी मुद्रा की जितनी ही व्याख्या की जाए कम होगी। सद्गुरु कबीर, मीरा थे सब इसी से स्वयं सिद्ध कहलाते हैं।

विधि—सबसे पहले साधक गुरु के सान्निध्य में उचित दिन तय कर ले तथा सफेद रुमाल, महीन पीसा हुआ वच एवं बहेड़ा ले ले। इसे पीस कर कपड़े से छाने अन्यथा मोटा रहने पर जीभ कटने का भय है। सुबह नित्य क्रिया से निवृत्त होकर जीभ में बहेड़ा का लेप करे, तब कपड़े से जीभ को दोनों हाथों के अंगूठों एवं अनामिका से अच्छी तरह पकड़े एवं बाहर की तरफ तीन बार खींचें। तीन बार आगे खींचें एवं तीन-तीन बार बाएं दाएं खींचें। तत्पश्चात पानी से कुल्ला कर ले। हाथ के अंगूठे से ऊपर तालु के गड्ढे को साफ करे। अमर लिंग का स्पर्श कर जीवन को कृतार्थ करे। उसके चारों तरफ के उठे हुए मांस को हटाए या कुछ दबाए, कुल्ला करे। तब तीनों अंगुली, कनिष्ठ एवं अंगूठा छोड़कर भीतर ले जाएं। एक छोटी जीभ है उसको ऊपर नीचे से साफ करे, कुल्ला करे। इस तरह ऊपर एवं नीचे को तीन-तीन बार साफ करे। तत्पश्चात वच को लेकर जीभ के ऊपर नीचे अच्छी तरह मल दे एवं कपड़े की मदद से दोनों हाथों से भी जीभ को पकड़ कर तीन बार बाहर यानी आगे की तरफ तथा तीन बार बाएं-दाएं ले जाए। यह क्रिया एक मात्रा कहलाएगी। इस तरह तीन बार करे। यह लंबिका क्रिया पूर्ण हुई। इस तरह सुबह मुंह धोते समय एवं शाम को स्नान करते या नित्य क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात लंबिका क्रिया अवश्य करे।

साधक साधना के समय खेचरी मुद्रा में ही बैठे। जब अभ्यास हो जाए तब साधक हर समय खेचरी मुद्रा में रह सकता है। खेचरी करना ही मद पीना या मांस भक्षण करना शास्त्रों में आया है। यथा—

"मांस खावे मदिरा पीवे तब योगी पक्का होवे।"

यही रस पीना मद पीना है। अमर लिंग के आस-पास के मांस को जीभ से हटाना ही मांस भक्षण है। यह मुद्रा साधक के व्यक्तित्व को एकाएक बदल देगी एवं उसकी साधना में चार चांद लगा देगी।

सावधानी—लंबिका क्रिया में वच एवं बहेड़ा का प्रयोग कम से कम 45 दिन तक अवश्य करना चाहिए। यदि कहीं जाते हैं तो साथ रखें एवं सुबह-शाम स्नान गृह में ही कर लें। इसे भी गुप्त रखें। इसको किसी के सामने प्रदर्शित न करें। यह अत्यंत गोपनीय मुद्रा एवं साधना दोनों ही है। गरम पदार्थ का त्याग करें। चाय या दूध अत्यधिक गरम न पिएं। गरम पदार्थ से जीभ का छल्ला जलता है। जिससे खेचरी के द्वारा प्राप्त रस का स्वाद नहीं मिल पाता। अतएव कुछ ठंडा करके ही पिएं। चाय यदि जरूरी हो तो 200 ग्राम से ज्यादा 24 घंटे में किसी भी हालत में न पिएं। कम से कम बोलें। ज्यादा से ज्यादा योगयुक्त खेचरी मुद्रा में रहें।

अश्विनी मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर सीधा बैठ जाए। आंख को नासिका के आगे स्थिर रखे तथा खेचरी मुद्रा किए रहे। तत्पश्चात योनि मंडल को घोड़े (अश्व) के सदृश्य बार-बार सिकोड़े इस बार-बार सिकोड़ने एवं छोड़ने को ही अश्विनी मुद्रा कहते हैं। इससे वीर्य स्नायु तंतु मजबूत होता है। अपान वायु शुद्ध होता है। प्राण के स्थान तथा कुण्डलिनी के जाग्रत करने में मदद मिलती है।

महामुद्रा

साधक बाएं पैर में एड़ी को गुदा एवं लिंग के बीच रखे। उसी पर पूरे शरीर का भार दे। तब दायां पैर सीधा कर दे। तब धीरे-धीरे पूरक करे एवं मूलबंध तथा जलंधर बंध लगाकर दाएं पैर के अंगूठे को दोनों हाथ से पकड़े एवं सिर को दाएं पैर के घुटने पर लगावे यथाशक्ति कुंभक इसी स्थिति में रहे। ऐसी कल्पना करना है कि प्राण वायु कुण्डलिनी को जाग्रत कर सुषुम्ना में प्रवेश कर रही है। जब कुंभक अपने आप से नहीं रोका जा सके। तब सिर धीरे-धीरे ऊपर करते हुए उठाए। इस तरह छः बार करे तथा दूसरे पैर से भी इसी तरह बैठ कर छः बार करे। अपनी क्षमता के अनुसार इसे बढ़ा सकते हैं।

इससे कुण्डलिनी शीघ्र जाग्रत होती है। साथ ही प्रमेय एवं उदर पेट की बीमारी का नाश होता है।

योनि मुद्रा

साधक सीधे सिद्धासन पर बैठ जाए तथा दोनों अंगूठे से दोनों कानों को बंद करे। दोनों तर्जनी से दोनों आंखों को, दोनों मध्यमा अंगुली से दोनों नाक को, दोनों अनामिका एवं कनिष्ठा को होंठ पर रखे। इसे ही योगीजन षड्मुखी मुद्रा कहते हैं। तत्पश्चात जीभ को कौवे के चोंच की तरह बनाकर वायु का पूरक करे तथा अपान वायु के साथ मिलावे तब मूल मंत्र का जाप करते हुए, कुण्डलिनी पर आघात करे एवं ऐसी भावना करे कि कुण्डलिनी जाग्रत होकर चक्रों का भेदन कर सहस्र दल की तरफ जा रही है। शरीर ज्योति से भर गया है। पूरा शरीर प्रकाशमय है इससे अंदर ज्योति का साक्षात्कार शीघ्र होता है। कुण्डलिनी जगाने में साधक को सहायता मिलती है।

शक्ति चालिनी मुद्रा

साधक सबसे पहले प्रसन्नचित्त सिद्धासन या पद्मासन पर सीधे बैठ जाए। एक छोटा-सा सफेद कपड़ा कटि सूत्र के सहारे नाभि पर बांध लें। यदि संभव हो तो शरीर पर भस्म का लेप कर ले। अन्यथा कोई जरूरी नहीं है। अब दोनों हथेली को जमीन पर दृढ़ता से जमा दे। तत्पश्चात धीरे-धीरे नितंबों को जमीन से ऊपर उठाए एवं तब मूलबंध बांधकर दोनों नासिका से पूरक करे। जलंधर लगाकर कुंभक करे। जब तक कुंभक में रह सकते हैं, रहे। कुंभक के समय अश्वनी मुद्रा भी करें, तब जलंधर खोलकर दोनों नासिका से रेचक करे। अब मन को शांत कर एकाग्र बैठ जाए एवं ध्यान करे।

इससे साधक को स्वास्थ्य लाभ के साथ कुण्डलिनी जगाने में मदद मिलती है। योगी लोग तो इसे सर्व रोग नाशक तक कह दिए हैं। यह अत्यंत ही लाभप्रद है।

शांभवी मुद्रा

साधक पद्मासन या सिद्धासन पर निश्चिंत बैठ जाए। गुरु के द्वारा दिए गए मंत्र का जाप करते हुए नासिका के अग्रभाग पर ध्यान केंद्रित करे। अग्रभाग पर ध्यान केंद्रित कर श्वास को देखे एवं इसके साथ मंत्र भी स्मरण करता रहे या त्रिकुटी पर त्राटक भी कर सकते हैं। त्रिकुटी पर ध्यान देकर भी उसी मंत्र का जाप करता रहे। खेचरी मुद्रा के साथ मूल एवं उड्डियान बंध भी लगाना है। अतएव साधक इन बंधों एवं मुद्रा के साथ ही ध्यान करे।

इससे साधक का मन शांत होता है। ध्यान केंद्रित होता है, आत्म प्रकाश का दर्शन होता है। कुण्डलिनी जाग्रत होने में मदद मिलती है।

योग मुद्रा

साधक पद्मासन पर सीधा बैठकर मूलबंध लगा ले। दोनों नासिका से पूरक कर जलंधर बंध लगा लें। अब दोनों हाथों को पीछे ले जाकर एक दूसरे की कलाई पकड़ ले तथा एड़ी से पेट को दबाते हुए, शरीर को आगे झुकाते हुए, सिर को जमीन पर लगा दे। जब तक कुंभक की स्थिति में रह सकते हैं, रहें। तत्पश्चात शरीर को ऊपर उठाकर सीधा हो जाए।

जलंधर बंध खोलकर दोनों नासिका से रेचक करे। इस तरह कम से कम 12 मात्रा अवश्य करे। इससे भी शरीर स्वस्थ होता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने में मदद मिलती है।

उन्मुनी मुद्रा

'सहजे उनमुनी जागें, सहजे मिले रघुराई।' इस मुद्रा से ध्यान किया जाता है। साधक चाहे जिस आसन पर आराम से बैठ सकता है। बुद्ध की तरह ध्यान मुद्रा यानी अधखुली आंख से नासिका के अग्रभाग पर ध्यान करना है। यदि साधक तीन माह लगातार ध्यान करे तो मन शांत हो जाएगा। साथ ही स्वर भी दिखलाई पड़ जाएगा। स्वर के दिखलाई पड़ते ही साधक के अंदर एक विचित्र तरह का बदलाव आ जाता है। वह बुद्ध की तरह ध्यान को उपलब्ध होने लगता है।

विपरीत करणी—इसे शीर्ष आसन भी कहते हैं। शुरू में साधक को दीवार के नजदीक एक गद्देदार वस्त्र को रख देना चाहिए, तब दोनों हाथों को सिर के पीछे रखकर मस्तक को कपड़े पर रखकर उल्टा सीधा शरीर को उठा दें। शुरू में दीवार के सहारे श्रेयस्कर है। बाद में स्वयं अलग कर सकते हैं। इससे जलंधर एवं मूल बंध भी लगा सकते हैं। प्रथम दिन 1 मिनट ही करें, इस तरह इसे 10 मिनट तक बढ़ाएं। इस तरह से ज्यादा न करें इसके बाद 10 मिनट खड़ा रहे। जिससे जो खून उल्टा दौड़ा है, वह अब सीधा हो जाए।

इसमें दूध का सेवन जरूरी है। इसमें नेत्र, मस्तिष्क, उदर रोग दूर होता है। जठराग्नि मजबूत होती है। ब्रह्मचर्य धारण करने में मदद मिलती है। यह क्रिया शरीर के लिए अत्यंत लाभदायक है। परंतु ठीक से नहीं हो पाए या खान-पान ठीक नहीं हो रहा है तो योगी को पागलपन भी आ सकता है। अतएव इसे बहुत सावधानी एवं गुरु के निर्देश पर करना उचित है।

साधक के स्वास्थ्य एवं कुण्डलिनी जाग्रत करने में मदद करने के लिए कुछ आसन की भी आवश्यकता है। आज का विश्व मानव नाना प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त है। यह बीमारी मानसिक स्तर से लेकर शारीरिक स्तर तक की है। सबसे पहले व्यक्ति का मन बीमार होता है, तत्पश्चात शरीर। यदि मन स्वस्थ है तो शरीर में विकार पड़ने की कम उम्मीद है। अतएव मन के लिए जितना आवश्यक योग है। उतना ही शरीर के स्वास्थ्य के लिए आसन। इस

तरह तो आसन 84 प्रकार हैं। परंतु साधक के लिए अत्यावश्यक कुछ आसनों का वर्णन करना उचित समझता हूं। कुछ आसन स्वानुभव के आधार पर लिख रहा हूं। जरूरी नहीं कि किसी योग पुस्तक में मिले। अतएव आप विश्वास कर गुरु की उपस्थिति में सीख लें या आपका मन हृदय से स्वीकार करे तो आप आसनों को वर्णन के अनुसार ज्यों का त्यों शुरू कर सकते हैं। आपको फायदा होगा हीं।

सर्वरोग हरण सर्वांगासन

यह एक ऐसा आसन है जिसमें शरीर की सक्रियता एवं सहभागिता है। साधक चौकी या जमीन पर ही गद्देदार वस्त्र बिछा ले, जैसे मोटा कंबल एवं उस पर चादर डाल ले। परमात्मा को स्मरण कर चित लेट जाए। पूरा शरीर एक समान बराबर रहे। साधक सबसे पहले पूरा ध्यान दाहिने पैर की अंगुली पर ले जाए, तब दाहिने पैर की उंगलियों को आगे-पीछे 10 बार चलावे। तत्पश्चात ध्यान क्रमशः शरीर के ऊपर खींचना है। एड़ी के संधिस्थल 10 बारं कर आगे-पीछे चलावे। तब दाहिने पैर के ही घुटने को उठाकर 10 बार ऊपर-नीचे करना है। पैर को 90^0 पर ऊपर उठाकर ले जाना एवं जमीन पर रखना है। इस तरह दूसरे यानी बाएं पैर से भी यही क्रिया करना है। जब दोनों पैरों से बारी-बारी हो जाए तब दोनों पैरों से एक साथ अंगुली से कमर तक क्रम से 10-10 बार चलावे। तब ध्यान दाहिने हाथ की उंगली पर ले जाना है एवं उंगलियों को 10 बार मोड़ना एवं सीधा करना है। यानी मुट्ठी बांधना तथा खोलना है। तब पंजों के संधि स्थल को आगे-पीछे 10 बार करना है। इस तरह कुहनी को 10 बार मोड़ना एवं फैलाना है, तब दाहिने हाथ को पूरा उठाकर ऊपर ले जाकर सिर के तरफ जमीन को दस बार स्पर्श करना है एवं दस बार सीधा जमीन पर रखना है। इसी क्रिया को बाएं हाथ से करना है। तत्पश्चात दोनों हाथों से एक साथ करना है।

तत्पश्चात ध्यान को खींचकर त्रिकुटी पर जे जाए एवं दोनों पैरों को एक साथ धीरे-धीरे ऊपर उठावे एवं 90^0 पर सीधा करे तथा दोनों हाथ से दोनों तरफ से कमर को पकड़ ले, जिससे पैर ऊपर स्थिर रहें एवं 5 मिनट से 10 मिनट तक इसी अवस्था में शांत एकाग्र ध्यान कर पड़ा रहे। अंत में दोनों पैरों को धीरे-धीरे आगे-पीछे दस बार चलावे। दोनों पैरों को धीरे-धीरे सिर के पीछे ले जाकर जमीन को स्पर्श करे घुटनों सहित पांव जमीन पर एक सूत्र में रहे

तथा हाथ अब पीछे भूमि पर चला जाएगा। 2 मिनट के बाद कंधे से एवं पैर सीधा करना है। तब पैर को धीरे-धीरे जमीन पर पूर्ववत स्थिति में लगाकर रख दे, तथा ध्यान रखे सिर आगे-पीछे न खीचें।

शरीर पूर्ववत यथास्थिति में आ जाएगा। अब भावना करना है कि सारे शरीर में शुद्ध वायु प्राण से भर गया है। शरीर प्रकाश से प्रकाशित है। ओज, ताकत भर गई है। सारे कष्ट रोग शरीर से निकल रहे हैं। तब प्रसन्नचित्त उठकर बैठना है।

इससे पेट की, पैर-हाथ की कष्ट बीमारी दूर होती है। स्मरण शक्ति बढ़ती है। यकृत रोग, पाचन रोग, प्लीहा रोग, रक्त शुद्धि बहुत सारे रोग का निवारण होता है। ध्यान एकाग्र होता है। इस आसन में लगभग संपूर्ण शरीर क्रियाशील हो जाता है। यह समान रूप से बालक से वृद्ध तक के लिए लाभकारी है। विशेषकर लड़की एवं औरतों के लिए अत्यंत लाभकारी है।

हृदयस्थभ्यासन

साधक सीधे चित लेट जाए और पैर आगे की तरफ फैलेगा एवं दोनों हाथ सिर की तरफ, तब पूरक करना है। दोनों हाथ एवं दोनों पैरों को जमीन से 6-8 इंच ऊपर उठाकर कुंभक करना है। जब तक रुक सकें इस स्थिति में रुके रहें। ध्यान त्रिकुटी पर रहे। जब श्वास बाहर निकलना चाहें तब पैर एवं हाथ जमीन पर रखकर रेचक करें। इस तरह 12 मात्रा करें। इससे साधक का फेफड़ा, हृदय एवं छाती संबंधी रोग दूर होता है। पेट की पाचन शक्ति बढ़ती है। कार्यालय में, या मानसिक कार्य कर रहे लोगों के लिए अत्यंत लाभदायक है।

उत्तानपादासन

साधक सीधा चित लेटकर ध्यान त्रिकुटी पर रखें। शरीर को बिलकुल सीधा छोड़ दें। पूरक करें एवं कमर को ऊपर उठावें। जितना आसानी से उठ सकें कुंभक में रहें। तत्पश्चात कमर को जमीन पर धीरे-धीरे रखें एवं रेचक करें यह तीन बार करें। इसके बाद पूरक कर दोनों को धीरे-धीरे ऊपर उठावें। जितना देर कुंभक में ऊपर रख सकें रखें तब पैर नीचे करें एवं रेचक कर दें। यह पैर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय बार क्रमशः 30^0, 45^0, 60^0, तक उठावें। इस

तरह 12 मात्रा 60^0 पर करें। इस आसन को कई भागों में बांटा गया है। परंतु साधक के लिए यही उत्तम विधि है।

इससे कमर, पैर, टांग ठीक होता है। मेरुदण्ड सीधा हो, पेट, कमर, छाती का दर्द ठीक होता है। आदमी प्रसन्नचित्त रहता है।

धनुरासन

साधक पेट के बल सीधा लेट जाए तथा धीरे-धीरे सिर एवं पैर को ऊपर उठावे तब दोनों हाथों से दोनों पैर के अंगूठे को पकड़े। उठाते समय कुंभक तब दोनों हाथ से पैर का अंगूठा पकड़कर रुकते समय कुंभक करे एवं जब कुंभक तोड़ना हो तब दोनों हाथ से अंगूठा छोड़ दे। धीरे-धीरे पैर तथा सिर को जमीन पर रखे एवं रेचक करता जाए इस तरह प्रारंभ में दस बार करे। इसमें पांच से दस मिनट का समय दे।

इससे उदर विकार दूर होता है। पाचन शक्ति बढ़ती है।

मयूरासन

साधक सीधा पेट के बल लेट जाए एवं तब दोनों हाथों कोहनियों को नाभि के दोनों पार्श्व से लगाकर मूल एवं उड्डियान बंध लगा ले। तब आगे के शरीर को ऊपर उठावे तथा कमर तथा पांव जमीन पर यों ही पूर्ववत लगा रहेगा। यह पांच मिनट करना है।

इससे वात, पित्त का दोष दूर होता है। पेट का कब्ज दूर होता है। भूख लगती है। मेरुदण्ड सीधा होता है।

मस्तक पादांगुष्ठासन

साधक सीधा पेट के सहारे लेट जाए। तब पूरक करते हुए मस्तक एवं अंगूठे को जमीन पर लगाए रहे। अब सारे शरीर को ऊपर उठावे। ऊपर जितना देर रुक सके, कुंभक के साथ रुके। तथा नीचे करते समय रेचक करे। यह पांच मिनट तक करे।

इससे शरीर की संपूर्ण नाड़ियां बलवान होती हैं। मेरुदंड ठीक रहता है। आंत, मस्तक, छाती, पैर का रोग दूर होता है।

भुजंगासन

साधक सीधा पेट के बल लेट जाए तथा हाथ छाती के दोनों तरफ से घुमाकर ऐसे रखे कि सर्प की तरफ छाती से ऊपर उठा सके। एक पैर भूमि पर टिका रहेगा। दूसरा पैर घुटने पर से बिना मोड़े जितना ऊपर उठा सके, उठावे। इस प्रकार बारी-बारी से दोनों पैर को ऊपर-नीचे करे। यह आसन भी पांच मिनट करना चाहिए।

वृश्चिकासन

साधक कोहनी से पंजे तक जमीन पर मजबूती से शरीर को रखे तथा दीवार की मदद से पैर को उठावे। एवं घुटनों से मोड़कर पांव को सिर के ऊपर रख दे। इस स्थिति में पांच मिनट तक रहे। यह आसन चालीस वर्ष से कम उम्र के लोगों के लिए उत्तम है।

इससे शरीर फुर्तीला, हल्का तथा मेरुदण्ड मजबूत होता है। यकृत, तिल्ली, पाण्डु रोग दूर होता है। एवं बांहों में बल वृद्धि होती है। पाचन शक्ति में वृद्धि होती है।

पार्वती आसन

साधक सीधा बैठकर दोनों पैर के तलुए इस प्रकार मिलावे कि दोनों समरूप हो जाएं। तत्पश्चात इसे इस प्रकार घुमावे कि अंगुलियां नितंबों के नीचे आ जाएं और एड़ियां अण्डकोष के नीचे मिलकर सामने दिखाई देने लगें। इस आसन में पांच मिनट बैठे एवं ध्यान नासिका के अग्रभाग पर रखे।

यह औरतों खासकर 30 वर्ष तक के लिए अत्यंत लाभप्रद है। नाड़ियां मजबूत होती हैं। घुटना, मणिबंध एवं अण्डकोष का रोग ठीक होता है।

मत्स्येंद्रासन

साधक मुलायम आसन पर बैठकर बाएं पांव का पंजा दाहिने पांव के मूल में इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी ठुड्डी में लगे और उंगलियां पालथी में तथा दायां पांव बाएं घुटने के पास, पंजा जमीन पर लगाकर रखे। बायां हाथ दाहिने

घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने पांव का अंगूठा पकड़े। उस दाहिने पांव के पंजे को बाहर सटाकर रखे, तत्पश्चात दाहिना हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बाएं पैर की जंघा पकड़ ले। मुख को छाती की ओर फिराकर ताने तथा नासाग्र में दृष्टि रखे। इसी तरह दूसरी ओर से भी करे। यह आसन 10 मिनट तक किया जा सकता है।

इससे साधक का पांव, कमर, नाभि, छाती पेट, पीठ छाती के तंतुओं का खिंचाव होता है। पेट के समस्त रोग एवं आंत संबंधी रोग दूर होते हैं।

त्रिबंधासन

साधक पद्मासन पर सीधा बैठकर मूल बंध लगा ले तब दोनों हाथों को ऊपर उठाकर गोमुख क्रिया करे। तब दोनों हाथ पीछे करके दाहिने हाथ से बाएं पांव के अंगूठे को पकड़े। इस तरह 3 मिनट से 5 मिनट तक रहे तत्पश्चात दोनों हाथों को जमीन पर रखकर पूरे आसन को ऊपर उठावे पुनः जमीन पर रखे। इस तरह 5 से 10 बार करे।

इससे कुण्डलिनी जाग्रत करने में साधक को मदद मिलती है तथा प्राण का भी उत्थान होता है।

गरुड़ासन

साधक सीधा दाएं पैर पर खड़ा हो जाए एवं बाएं पैर को दाहिने लपेट दे एवं इसी दाहिने हाथ में बायां हाथ लपेट दे एवं दोनों हथेली समान रूप से मिलाकर नाक के पास रखे। इस आसन को 5 मिनट तक करना चाहिए।

इससे पैर घुटना एवं कोहनी का दर्द ठीक होता है। अण्डकोष की वृद्धि रोकता है। शरीर स्वस्थ रहता है।

ताड़ासन

साधक सीधा खड़ा हो जाए, दोनों हाथों को सीधा ऊपर ले जाए तत्पश्चात दोनों हाथों को ताने हुए रेचक करते हुए सीधा झुके 90^0 पर कुछ क्षण रुक कर घुटने को बिना मोड़े हुए कमर को झुकावे एवं दोनों हाथों से दोनों पैर के अंगूठे

को पकड़े। कुंभक करे, जब तक कुंभक में रुक सकते हैं, तत्पश्चात पूरक करते हुए सीधे पूर्ववत खड़ा हो जाए। इस तरह 5 से 10 बार करे।

इससे कोष्ठ, यकृत एवं तिल्ली का रोग दूर होता है। प्राणायाम करने वाले साधक या सहज योग के साधक या केवल शरीर को जो स्वस्थ रखकर पूरी आयु जीना चाहते हैं। उनके लिए अत्यंत लाभदायक है। अतएव साधक सुबह एवं शाम नियमानुसार अवश्य ही करे। उसे अवश्य ही लाभ होगा।

ताण्डव

यह भगवान सदाशिव के द्वारा बताया गया आसन भी है, नृत्य भी। इस ताण्डव का उल्लेख तो आप्त ग्रंथों में मिलता है, परंतु विधि अनुपलब्ध है। अभी भी यह गुरु के द्वारा सीखकर ही साधक करते आ रहे हैं। फिर भी इस आसन-नृत्य को बहुत ही कम लोग जानते हैं। इसे मैं अपने अनुभव के आधार पर साधक को बता देन चाहता हूं। इस नृत्य में विशेषता यह है कि यदि साधक यह नित्य मात्र 5 मिनट भी कर लेता है और किसी भी आसन की जरूरत नहीं है। परंतु यह नृत्य 50 वर्ष से कम अवस्था में ही लोग कर सकते हैं। इसको करने के पहले शरीर पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए। रोगी के लिए उपयुक्त नहीं है अतएव किसी डॉक्टर या गुरु से परामर्श ले लें। तब ही यह नृत्य करना उचित है। यदि साधक स्वस्थ है तो किसी भी प्रकार का रोग करने के पश्चात आने की संभावना अत्यंत न्यून है। यह नृत्य 5 मिनट से 10 मिनट तक दोनों समय साधक पूजा ध्यान से पहले करे। खुले स्थान पर या हवादार घर या आश्रम में।

विधि—साधक इसके लिए एक खोपड़ी रख सकता है। दाहिने हाथ में कमण्डल एवं बाएं हाथ में खोपड़ी रख ले। यदि खोपड़ी जल पात्र नहीं उपलब्ध हो तो भावना बना ले कि एक हाथ में खोपड़ी है तथा दूसरे हाथ में जल पात्र (एक मृत्यु का प्रतीक तो दूसरा जीवन का) दोनों हाथ सीधा अगल-बगल फैला दे एवं मुट्ठी बंद कर ले। लंगोट अवश्य पहनना चाहिए। त्रिकुटी का ध्यान रखे तथा जोर से ऊपर उछले एवं उछलकर दोनों तलुओं पर बैठकर शीघ्रता से उठकर ऐसे उछले कि एक पैर (दायां) का टेहुना उठकर नाभि के समीप आ जाए एवं बायां जमीन पर जाए। इस तरह जब दायां जमीन पर जाए बायां पैर में टेहूना नाभि के समीप आ जाए। इस तरह दोनों हाथ अगल-बगल सीधा ही रहेगा। यानी कमर के ऊपर का भाग ज्यों का त्यों सीधा बिना हिले-डुले रहेगा।

केवल उछलकर दायां पैर जमीन पर तो उछल कर ही बायां पैर नाभि तक। इस तरह साधक की श्वास-प्रश्वास क्रिया खूब तेज हो जाएगी। परंतु श्वास नाक से ही लेना। इससे श्वास मूलाधार चक्र तक पहुंच जाता है। जब साधक थक जाए, पसीना आ जाए तब अंत में जोर से दोनों पैर उठाकर ऊपर की तरफ कूदे एवं दोनों पैरों पर धीरे से बैठ जाए एवं ध्यान त्रिकुटी पर ही जमाए रखे। श्वास की गति को जाने-आने दे। इस तरह साधक ध्यान में लीन रहकर अपने समयानुसार कम से कम 10 से 15 मिनट तक ध्यान अवश्य करे। यह ध्यान साक्षी भाव से करें।

इससे शरीर में मधुमेह, हृदय रोग, फेफड़ा रोग, मस्तिष्क रोग इत्यादि नहीं होगा। शरीर चुस्त-दुरुस्त रहेगा। यह आसन औरतों के लिए वर्जित है। यह आसन युवक साधक के लिए अत्यंत लाभप्रद है। इसे आप सदाशिव के ताण्डव प्रतिभा को देखकर भी अभ्यास कर सकते हैं। मेरा ऐसा अनुभव है कि यदि पुरुष प्रतिदिन सुबह-शाम मात्र पांच मिनट करे तब वह पुंसत्व पा जाएगा। यदि लड़कियां इसे करने लगे तब उनका हारमोन बदल सकता है। दाढ़ी-मूंछ आ सकती है। उसमें पुरुषोचित गुण आ जाएंगे। अतएव लड़कियों के लिए ललित नृत्य दिया गया है। ताण्डव से गहरी समाधि भी लगती है।

सहज-योग

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु।
गुरु के बचन समाई हो॥

सहज शब्द का अर्थ होता है आसान, सरल, सीधा। जिस काम में परिश्रम नहीं करना पड़े। जो गुरु के संकेत मात्र से ध्यान को उपलब्ध हो जाए, वही सहज है तथा जिससे सत्य का मिलन हो, वही योग है। इसके लिए भी समर्थ गुरु के साथ-साथ पूर्ण पात्रता वाले शिष्य की भी जरूरत है। अपने को पूर्ण रूपेण चुप रखना है, बाहर-भीतर। गुरु के वचन से सहज ही समा जाना है। क्योंकि प्रकृति को जहां तक लाना था अचेतन विकास की प्रक्रिया में ले आई। उसका काम पूरा हुआ। अब अपने ही गुरु कृपा के एवं वचन के सहारे आगे बढ़ना है। साधक का अर्थ भी यही है कि गुरु के संकेत को समझकर साधना की बागडोर अपने हाथ में ले ले तथा अब गुरु को कह दे कि धन्यवाद। साधक को अनंत ऊंचाई पर मात्र सुरत-निरत के सहारे ही आगे बढ़ना है। साधक को विकास की तरफ निरंतर आगे बढ़ते जाना है।

स यानी साथ, ह-हठ, ज यानी जाप, इस तरह साधक गुरु संकेत से बिलकुल सहज होकर दृढ़ता से सहज सुलभ आसन पर बैठकर अजपा-जाप में लीन हो जाए। गुरु के वचन के सहारे आगे बढ़ते जाए। इस तरह साधक सहज ही ध्यान को उपलब्ध हो जाएगा। सहज योग सद्गुरु कबीर के द्वारा दिया गया है तथा इसके लिए अपने को बिलकुल ही सहज बनाना होगा। हम हर समय असहज रहते हैं। आत्मा का स्वरूप सहज है, शांत है। हम सांसारिक वृत्तियों के चलते असहज हो जाते हैं। जैसे काम, क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि जो नित्य नहीं हैं।

ये पहले नहीं थे, न ही बाद में रहेंगे। ये बाहरी हैं आगंतुक हैं। जब साधक कमजोर हो जाता है या मन मिथ्या भ्रम में पड़ जाता है तो ये आगंतुक कुछ क्षण के लिए आ जाते हैं। जब साधक स्व का भान भूल जाता है तब आगंतुक ही कुछ क्षण के लिए अधिकारी बन जाता एवं कुछ का कुछ अनर्थ कर डालता

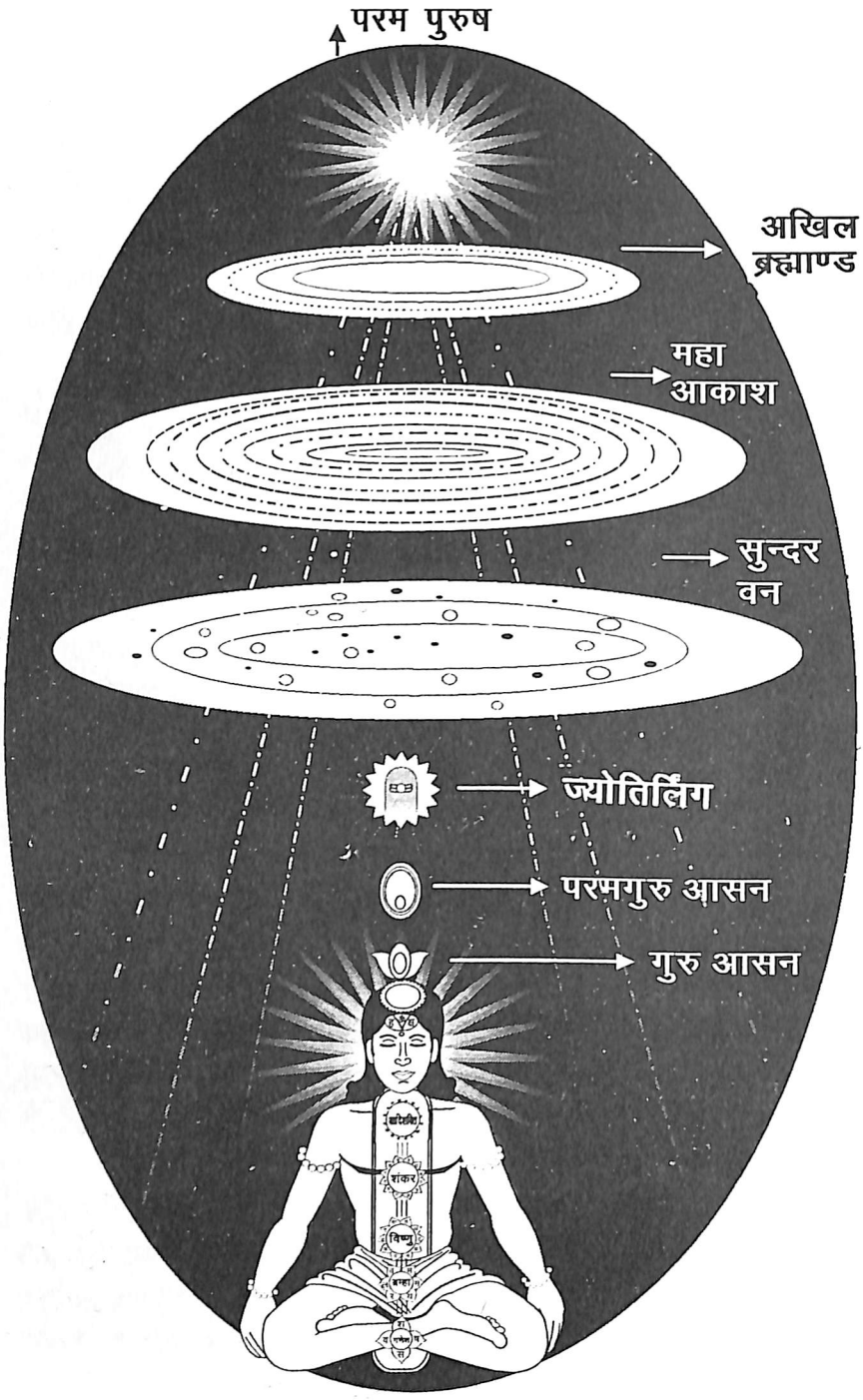
परम पुरुष
अखिल ब्रह्माण्ड
महा आकाश
सुन्दर वन
ज्योतिर्लिंग
परमगुरु आसन
गुरु आसन
शंकर
विष्णु
ब्रह्मा

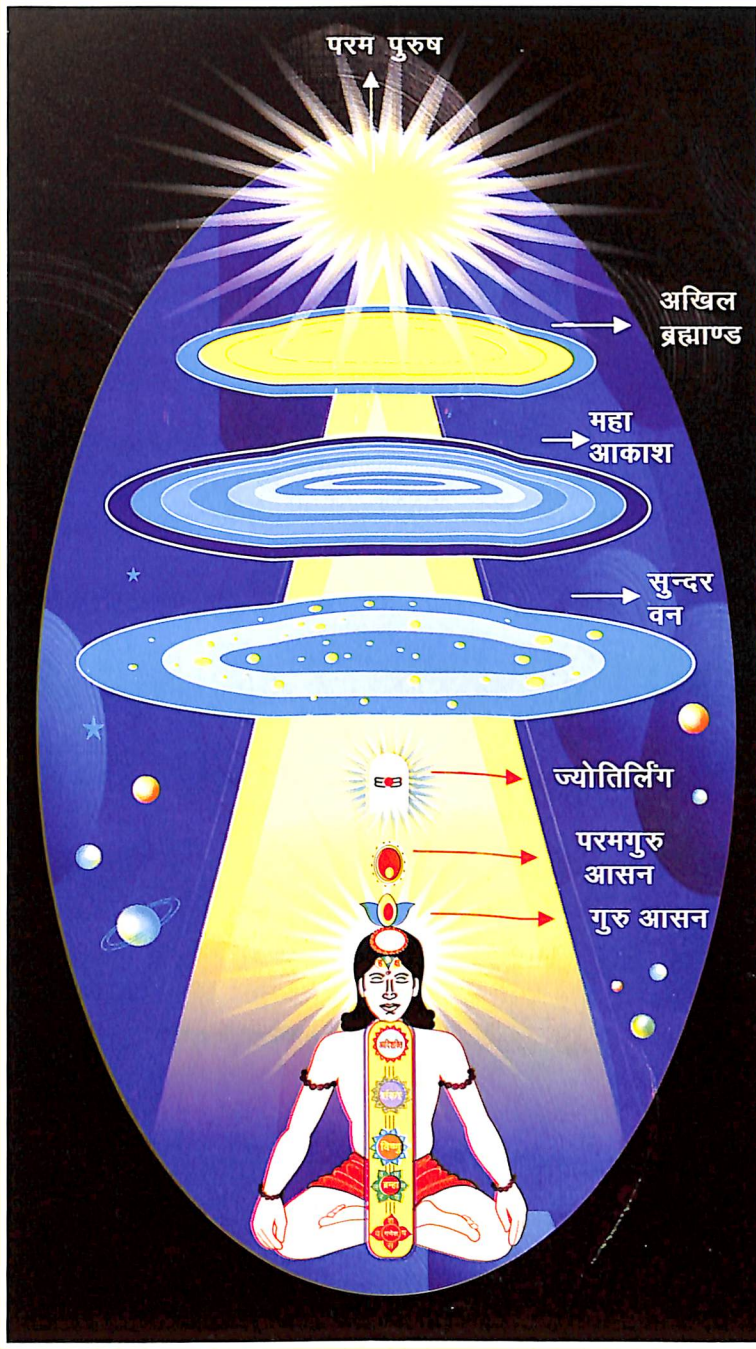
परम पुरुष
अखिल ब्रह्माण्ड
महा आकाश
सुन्दर वन
ज्योतिर्लिंग
परमगुरु आसन
गुरु आसन

है। जैसे किसी के घर कोई परदेसी कुछ क्षण के लिए आए एवं गृह पति कमजोर, नजर आए तो वह परदेसी ही घर का मालिक बन बैठता है एवं अनर्थ कर डालता है तथा वहां से चलते बनता है एवं गृहपति को भोग भोगना पड़ता है। इसी तरह साधक को सहज रूप में स्थिर होना है। जब भी साधक स्थिर सहज अवस्था में रहेगा तब उसके ऊपर गुरु कृपा भी अनवरत होती है। जैसे धान की फसल पर वर्षा। सहज अवस्था में शिष्य अनमोल ध्यान को उपलब्ध होता है। उस पर अनायास ही किसी बाहरी वृत्ति का आक्रमण नहीं होता। जब भी साधक असहज हो जाता है, गुरु कृपा को प्राप्त नहीं होता, काम, कोध, लोभ, अहंकार का शिकार हो जाता है। संसार में हम जिसे अपना मानते हैं, वह तो कभी अपना होता ही नहीं है। रास्ते में मुसाफिर की तरह ही रास्ते में कोई मिल गया, हम अपना बना लिए। अब जब भी वह बिछुड़ता है तो हमें दुख होता है। जबकि यह सहज है कि मिलन के बाद बिछुड़ना होगा ही। इसी तरह हमारा मिलन विभिन्न संगे-संबंधियों से होता है एवं बिछुड़ने पर वही मोह। क्या वे पहले या बाद में रहेंगे या शाश्वत हमारे हैं ? सहज योग का साधक सहज रूप में रास्ते के साथी या सब में अपनी ही सत्ता देखने लगते हैं।

यह शरीर भोग देह एवं कर्म देह का मिश्र देह है। इस सहज योग में साधक श्वास-प्रश्वास का व्यापार करता है। इसे अजपा कहते हैं।

सहज में 'स'- कार और 'ह' - कार दो बीज हैं। बिंदु युक्त हकार (हं) पुरुष का, विसर्ग युक्त 'स' का एक साथ योग करने पर हंस हो जाता है। इस तरह यह हंस रूप प्राण का व्यापार हुआ। कृष्ण भी गीता में जप की बात करते हैं। निरंतर गुरु द्वारा दिए मंत्र का साधक जाप करता है। जिससे उसके अंदर की सारी वृत्तियां जल जाती हैं। सारे विचार स्वतः जल जाते हैं। अंत में जाप विचार भी जल जाएगा। शेष रह जाएगा। वह ही है अजपा। अजपा के आते ही साधक सहज हो जाता है। यही स्थिति है योगयुक्ति। कांटे की तभी जरूरत है जब पैर में कांटा गढ़ जाए। तब दूसरे कांटे से पैर के कांटे को निकाल लेते हैं दोनों कांटों को तुरंत फेंक दिया जाता है। शायद कोई मूर्ख ही होगा जो पहले कांटे को सुरक्षित रख ले। जप का उपभोग भी कांटे की तरह किया जा सकता है। यदि साधक कांटा नहीं समझा और प्रेम में पड़ गया तो जो दूसरे विचार सहज आए थे, वह हट जाएंगे।

जप वह अग्नि है जो पहले दूसरों को जलाता है फिर पुनः स्वयं को जलाता है। जप जब खुद को जला लेता है तब साधक सहज हो जाता है। सहज योग के साधक जप करते समय साक्षी बने रहते हैं। ऐसा अनुभव नहीं करते

कि मैं जप कर रहा हूं। अनुभव करते हैं कि जप मन से हो रहा है, मैं देख रहा हूं। वे एक दिन जप से बाहर निकल आते हैं। उनका यह जप योग यज्ञ पूर्ण हो जाता है। वे सहजावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जप रूपी अग्नि में सबकुछ जल जाता है। साधक को जलने के लिए भी तैयार रहना होगा। अंत में जो रह जाता है वही नित्य है। वही स्वरूप है। जप, अजपा, अनाहद से साधक एक दिन ऊपर उठ जाता है। वह आनंद में विचरण करता है। यही है—सहजावस्था।

सहज योग

सहज योग के लिए कुछ भी त्याग नहीं करना है। न घर छोड़ना, न परिवार, न कार्य, न कर्म, अन्यथा असहज हो जाएंगे। जहां है जैसे हैं, वहीं रुक जाना है। क्षणभर अपने को निरीक्षण कर लेना है। गुरु का निर्देश समझ लेना है। अन्यथा छोड़ने-पकड़ने में थक जाएंगे मिलेगा कुछ भी नहीं।

चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोष।
बीच ही में डेरा पड़ा, कहु कौन को दोष॥

क्रिया कर्म करते-करते, छोड़ते-पकड़ते थक जाएंगे। नगर नौ कोस दूर ही रह जाएंगे। डेरा बीच में डालना पड़ जाएगा। अब किसको दोष दीजिएगा। जप क्रिया (लुकाढ़ा) से ही काम, क्रोध, लोभ, अहंकार रूपी घर को जला देना है। तब ही 'स्व' का साथ हो सकता है। या यों कहें कि स्वयं जप रूपी लुकाठा से जल ही जाता है एवं 'स्व' का साथ हो ही जाता है।

घर हम जारा आपना, लिया लुकठा हाथ।
अब घर जारो तासुका, जो चले हमारे साथ॥

सच कहा जाए तो इस तरह के पर साधक को न ही मानसिक स्तर पर कुछ पकड़ना है न तो कुछ छोड़ना है। तब बुद्धि सहज हो जाएगी, सारा काम ही सहज हो जाएगा एवं साधक सहज ही सहज को उपलब्ध हो जाएगा। इस स्थिति में उसको उपलब्ध होना भी कैसे कहा जा सकता है। वह तो पहले से भी था, बाद में भी रहेगा, अभी भी है।

सहज बुद्धि सहजै भई, सहज भाया सब काम।
दास कबीरा मिलि रहा, सहजे-सहजे राम॥

आज तक यह योग गुरु-शिष्य परंपरा से आगे बढ़ता रहा है। कहीं कोई खास लिपिबद्ध नहीं हुआ। कुछ साहित्यकार कुछ साधक-साधु लिपिबद्ध भी किए तो इसे अत्यंत दुरुह बना दिए। अपनी तथाकथित साधुता का या

साहित्यकारिता का अहंकार भी भर दिए। जिससे यह योग साध्य नहीं बना बल्कि और दुरुह बन गया। यही वजह है यह योग जो योगशिरोमणी है, सहज है। सहजता से सबको उपलब्ध नहीं हो सका। अतएव मैं इसे लिपिबद्ध करने को बाध्य हुआ। इसकी कोई भी कमी हमारी व्यक्तिगत होगी, अच्छाई आपकी। चूंकि स्वानुभव अलग-अलग हो सकता है। यह योग हमें भी अपने गुरु से प्राप्त हुआ है। मैंने अपने गुरु के सान्निध्य में रहकर किया है। अतएव विधि एवं अनुभव रूप 'स्व' का है। भले ही इससे कुछ औरों का मेल हो सकता है। कुछ का नहीं भी। सहज का अर्थ है—पानी, हवा की तरह हो जाए। बीच में बुद्धि से बाधा न डाले। जो भी हो रहा है, होने दे। जब भी हम सोचते हैं यह करें, यह न करें बस हम असहज हो गए। जब हम उसी के लिए राजी हैं तो हो जाए जो हो रहा है।

तभी हम सहज हो पाते हैं। सच पूछा जाए तो हम जन्मों जन्म से असहज संस्कारों से आबद्ध हो गए हैं। इसी से सहज होने में अत्यंत कठिनाई मालूम हो रही है। हमारे तथाकथित महात्मा हमारे जीवन पर इतना सिद्धांतों का बोझ लाद दिए हैं कि हम बिलकुल असहज हो गए। जीवन ही विकृत हो गया है। हम हिंसक है, अहिंसक होने की कोशिश कर रहे हैं। कामुक है, ब्रह्मचारी होने की कोशिश चल रही है। चोर हैं, दानी होने की कोशिश कर रहे हैं। जो हम हैं उस पर हम तथाकथित नीति थोपते जा रहे हैं। दान कर सकते हैं, परंतु दानी नहीं बन सकते। लंगोट धारण कर सकते हैं, परंतु ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नहीं हो सकते। हां, बाहर से भ्रम पैदा कर सकते हैं, स्वांग रच सकते हैं। हमारे जीवन में जो असहजता है, जो हम हैं उससे भिन्न होने की पूरे समय कोशिश में लगे हुए हैं। यदि हम क्रोधी हैं, क्रोधी होकर जिएं जानते हुए क्रोध करें। जब हम ठीक से जान लें, तो तत्क्षण एक क्रांति घटित होगी, इस घटना में हम तत्काल छलांग लगाकर बाहर आ जाते हैं। अब जीना असंभव हो जाएगा। एक क्षण भी। यही क्रांति हो जाएगी। जीवन सरल, सीधा, सहज हो जाएगा।

सहज योग की विधि

गुरु

साधक जब इस योग के जानकार गुरु की खोज कर लेता है। तब अपने को पूर्णरूपेण गुरु पर छोड़ देना ही श्रेयस्कर होगा। उनके बताए गए निर्देश का

अटूट श्रद्धा एवं विश्वास से अनुपालन करना होगा। यह अवस्था पूर्ण समर्पण है। इसी से कहा गया है–

''शीष दिए जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥''

यह सौदा सस्ता ही होगा। अतएव सर्वप्रथम शिष्य को गुरु की खोज करना श्रेयस्कर है। या यों कहें कि यदि शिष्य पूर्ण पात्र बन गया या पात्रता आ गई तो परमपुरुष किसी न किसी रूप में गुरु का काम कर ही लेते हैं। जितना व्यग्र शिष्य गुरु की खोज में रहता है। उससे ज्यादा व्यग्र गुरु भी शिष्य की खोज में रहता है। स्वयं सद्गुरु कबीर साहब भी देश-विदेश, गांव-गांव की खोर तक छान मारे, शिष्य की खोज में।

देश विदेशे हौ फिरा, गांव-गांव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेऊं फटकि पछोरि॥

बस साधक को अपने में पात्रता लाना है। फिर काम गुरु का है।

स्थान–

इस साधना के लिए प्रारंभ काल में स्थान साफ-सुथरा एकांत हवादार होना चाहिए। कहीं जंगल भागने की जरूरत नहीं, न ही मंदिर-मस्जिद का दरवाजा खट-खटाना है। अपने ही घर में, झोपड़ी में, पार्क में, मोहल्ले में, एकांत स्थान खोज लेना है। यदि साधक गुफा का निर्माण कर सके तो उत्तम है अन्यथा कोई हर्ज नहीं है। अपने घर के एक कमरे में प्रयोग कर सकते हैं। यदि कमरा उपलब्ध नहीं है तो साधक अपनी छत पर भी प्रयोग कर सकता है। या अपनी सुविधा के अनुसार एकांत स्थान की खोज कर लें। जहां करने पर विघ्न न हो, शोरगुल न हो। शांत वातावरण हो, सुगंधित हो। अभ्यास का कुछ काल गुरु का सान्निध्य अत्यावश्यक है। यदि साधक को आसानी से गुफा, उपलब्ध हो या एक छोटा-सा कमरा या झोंपड़ी उपलब्ध हो तो उसे अपने लिए आरक्षित कर दे। कम से कम 45 दिन उसमें अन्य कोई न जाए। आप केवल साधना के लिए प्रवेश करें। खाने-पीने, बात करने के लिए एक दम नहीं। संभव हो तो बाहर लिख दे 'साधना कक्ष' जिससे उसमें प्रवेश करते ही साधक के मन पर मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है, एवं शांत होने लगता है। यदि एक कमरा, झोंपड़ी या गुफा अलग उपलब्ध नहीं हो तो निकट का एकांत मंदिर, मस्जिद, श्मशान या पार्क का प्रयोग कर सकते हैं। या मन से एकांतिक स्मृत (Single minded devotion) ही वास्तव में एकांत अवस्था है, परंतु यह ध्यान रहे कि 45 दिन प्रारंभ काल में एक ही स्थान का प्रयोग करें। सहज योग के साधक

अपने घर ही इस तरह का वातावरण पैदा करें कि घर ही विहार बन जाए। आश्रम बन जाए। बौद्ध भिक्षु घर छोड़कर विहार बना दिए। भारतीय संन्यासी घर छोड़कर मठ या आश्रम बना लिए। क्या अंतर पड़ा ? अब आप अपने घर को ही आश्रम बना डालें। सब के बीच मन को ही निर्जन बना लेना है। अंतर्मन को समझा दें कि हम हिमालय की एकांत गुफा में बैठे हैं। चारों तरफ सुरभि है। गुरु अनुकंपा हम पर बरस रही है। फिर आप एकांत का लाभ उठा सकते हैं।

समय–

समय का निर्धारण साधक अपनी व्यस्तता के अनुसार स्वयं निर्धारित कर ले। परंतु साधना काल में गुरु के निर्देशानुसार ही करना श्रेयस्कर होगा। प्रारंभ में साधक को सुबह 4 या 5 बजे जग जाना चाहिए। सुविधा के अनुसार (स्थान, व्यक्ति एवं समय के अनुसार) नित्य क्रिया से निवृत्त होकर स्नान कर ले। या हाथ-पैर, मुंह धोकर बैठ जाए। एक घंटा से 3 घंटा तक अभ्यास कर सकते हैं। पुनः शाम को 6 बजे या 7 बजे संध्या (गोधूली के समय) हाथ-पैर धोकर या सुविधा के अनुसार 30 मिनट से 2 घंटा तक अभ्यास करे। पुनः जो सबसे उपयुक्त समय है वह 12 बजे रात्रि से 1 बजे का समय मध्य रात्रि पूरा जगत सो रहा होता है। योगी योग युक्त हो जाता है। इस समय साधक को सहज ही ध्यान लग जाता है। शोरगुल नहीं रहने के कारण अनाहद भी सहज सुनाई पड़ने लगता है। स्वर साधना में मन स्वतः रमण करने लगता है। यह समय साधक के लिए अत्यंत लाभदायक है। जिस व्यक्ति को स्थान का अभाव है। यानी अलग स्थान नहीं मिल रहा है या संभव हो, उसे अपने परिवार के सदस्यों को समझा देना चाहिए कि 12 बजे रात्रि को मैं ध्यान करूंगा। कोई हस्तक्षेप न करे। साधक उस समय यह सोच ले कि मैं एकांत काल में या गुफा में या नदी के तट पर हूं। जगत के सब लोग सो रहे हैं। मैं (साधक) तपस्या में हूं। इस तरह साधक जिसको सुबह शाम समय एवं स्थान का अभाव हो वह व्यक्ति रात्रि के 12 बजे से 4 बजे का समय अपनी इच्छा या आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सकता है। परंतु अभ्यास काल में सुबह शाम और अर्द्धरात्रि तीनों समय में कम से कम एक-एक घंटा करना होगा। जब ध्यान केंद्रित हो जाए तब गुरु आदेश ले, अपनी जगह पर समय एवं सुविधानुसार इस योग का अभ्यास करे। रात्रि का समय सबसे उपयुक्त समय है। यदि कमरे में पंखा या कूलर, वातानुकूलित हो तो कुछ काल के लिए बंद कर देना उपयुक्त होगा।

प्रकाश भी बंद कर दें। क्योंकि पंखे से आवाज उत्पन्न होती है, जिससे ध्यान बहिर्मुख हो जाता है। अभ्यास हो जाने के बाद कोई बात नहीं। शुरू में अंदर के प्रकाश को देखने एवं अंदर के अनाहद को सुनने के लिए बाहर का बंद करना ही उचित है। अभ्यास पूरा होने पर आप कहीं भी अपनी क्रिया कर सकते हैं। चाहे आप ट्रेन में, चाहे बस में, चाहे हवाई जहाज में। उस समय के लिए किसी भी बाह्य औपचारिकता की कोई जरूरत नहीं है।

आसन–

अभ्यास काल में साधक को सिद्धासन पर ही बैठने का अभ्यास करना चाहिए। साधक यदि 3 घंटा तक इस आसन पर बैठ जाता है तो आसन सिद्ध होता है। इस आसन पर बैठने से मेरुदण्ड सीधा होता है। मन एकाग्र करने में मदद मिलती है। श्वास क्रिया में आसानी होती है। अतएव यह आसन गुरु से सीख लेना चाहिए। प्रारंभ काल में कुछ काल इस आसन पर बैठने से यदि पैर में दर्द महसूस हो तो पद्मासन पर बैठ जाना चाहिए। यदि मन ध्यान में रमण करता हो एवं पैर दर्द करता हो तो जिस आसन पर आप आराम एवं सहजता से बैठ सकते हैं, बैठ जाएं। आसन पर बैठने के लिए नीचे गद्देदार चीज का प्रयोग करें, उसके ऊपर कंबल रखें। कभी भी केवल पत्थर या घास-फूस पर नहीं बैठना चाहिए। हिप्स के नीचे कुछ मोटा तकिया या कंबल ही मोड़कर रखें जिससे आप आसानी से अधिक समय तक बैठ सकें।

सिद्धासन पर सीधा बैठकर, शरीर को हल्के वस्त्र से ढक लें। जब साधक का अभ्यास पूरा हो जाएगा तो वह भी, किसी आसन पर, किसी भी तरह ध्यान में जा सकता है। पंतजलि मुनि ने भी अपने दर्शन में कहा है।

'स्थिरं सुखमा-सनम्'। यानी सुखपूर्वक स्थिर रीति से बैठने का नाम आसन है। उम्र ज्यादा होने पर आप पालथी मारकर बैठें तथा दोनों घुटने ऊपर उठाकर कमर में गम्छा बांध लें। जिससे मेरुदण्ड सीधा रहे। आप घंटों आराम से बैठ सकते हैं। बैठने में शरीर का भान भूलना होगा। तब शरीर की तरफ ऊर्जा उर्ध्वगामी हो जाती है। हम सहज ही इस परमतत्व को उपलब्ध हो जाते हैं।

अभ्यास–

अभ्यास काल में साधक को आहार पर विशेष ध्यान देना होगा। आहार

शुद्ध सात्विक होना चाहिए। जैसा आहार होता है। मन भी वैसा ही होता है। मन का विकास आहार पर भी निर्भर करता है। सतोगुणी भोजन से साधक के मन एवं शरीर पर उत्तम प्रभाव पड़ता है तथा दोनों का विकास भी उत्तम होता है। प्रारंभ काल में दूध, दही की लस्सी या मट्ठा, फल का रस लें। प्रातःकाल जल पीकर शुरू करें।

8 बजे के लगभग पेय पदार्थ तथा दोपहर 10 से 11 बजे तक हल्का सुपाच्य साग-सब्जी युक्त रोटी लें। भोजन ज्यादा खट्टा, मीठा, तीखा न हो, सुपाच्य हो। भोजन हल्का लेना चाहिए। इसी तरह शाम को 6 बजे से 9 बजे तक साधना कर भोजन हल्का ग्रहण करें तथा सो जाएं। साधक 24 घंटे में 6 घंटे सोने के लिए समय निकाले। जिससे शरीर एवं मन दोनों स्वस्थ रहें। किसी भी तरह शरीर या मन से जोर-जबरदस्ती न करें अन्यथा आप असहज हो जाएंगे। हमें किचन फिलॉसफी अर्थात रसोई घर के दर्शन से दूर रहना चाहिए। भारतीय साधु का अधिकांश समय इसी दर्शन में जाता है। आहार, स्थान विशेष, समय विशेष, व्यक्ति विशेष पर बदलता रहता है। अतएव इसे ज्यादा गंभीरता से नहीं सोचना है। आप जैसे-जैसे सरल, सहज होंगे, करुणा, दया, प्रेम की भावना स्वतः आएगी। आपका भोजन भी जीवन भरण-पोषण के लिए हो जाएगा। भोजन जीवन का उद्देश्य नहीं बल्कि जीने के लिए होगा।

ब्रह्मचर्य–

'ब्रह्मचर्य' अत्यंत सुंदरतम शब्द है। परंतु आज तक अधिकांश तथाकथित साधु महत्मा इसके अर्थ को उसी तरह अनर्थ करते हैं जैसे अपने को सहज से असहज करते हैं। हमारे एक महात्मा मित्र हैं। वे बहुत बड़े हैं, क्योंकि उनके पास कई एक आश्रम हैं। बहुत-सी धन संपत्ति है। वंश परंपरागत बहुत शिष्य भी हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ कहते हैं, किसी भी औरत का कभी भी दर्शन नहीं करना। भले ही वह औरत किसी भी उम्र की क्यों न हो। जिस पुस्तक में औरत का चित्र (फोटो) हो उसे भूल कर भी मत पढ़ना। टी.वी., रेडियो कभी मत देखना, न सुनना। किसी श्मशान भूमि पर भी औरत जल रही हो तो वहां तक भूलकर मत जाना अन्यथा उसकी राख उड़कर, तुम्हारे ऊपर पड़ सकती है एवं तुम्हारा ब्रह्मचर्य गिर सकता है। इतना ही नहीं वे आगे बिना विराम के कहते हैं। दुर्गा, काली, सीता या सरस्वती का ही चित्र क्यों न हो, उसे मत देखना। उससे स्त्रीत्व का बोध होता है। जो ब्रह्मचर्य के लिए अत्यंत खराब है। लंगोट कस कर बांधना। संस्कृत के सिवाय किसी अन्य भाषा को मत पढ़ना। हिंदी

मूर्खों की भी कमी नहीं

पढ़ सकते हो परंतु शृंगार रस को छोड़कर इत्यादि। मुझे भी उनके नजदीक रहने का मौका मिला है। अतएव मैंने नजदीक से उनके शिष्यों को भी देखा है। वे चुपके से आस-पास के घरों में जाकर टी.वी. देखते, रेडियो सुनते इतना ही नहीं किसी तरह कहीं बाजार के बहाने पैसा बचाकर या शिष्यगण से किसी बहाने पैसा लेकर सिनेमा भी देखते। उन पर लगाम आचार्यश्री का जितना कड़ा होता, वे ब्रह्मचारी उतना ही विपरीत दिशा में गमन करते। आश्रम में भी छिप-छिप कर गंदा साहित्य पढ़ने लगे। हमसे एकांत में आकर अंग्रेजी पढ़ने का आग्रह करते। आचार्यश्री की निंदा करते। इतना ही नहीं अपनी साधुता पर भी पश्चाताप करते। वे अश्रुपूर्ण आंखों में स्वयम् कहने लगते—कहां हम लोग फंस गए ? स्वामी जी हम लोग इससे कैसे मुक्त होंगे ? मैंने पूछा, तुम लोग साधु कैसे बन गए ? वे बोले बने कहां ? हमें बरबस बनाया जा रहा है। संस्कृत के श्लोक रटाए जा रहे हैं। प्रातः 4 बजे नहीं जगने पर मार खानी पड़ती, खाना बंद कर दिया जाता है। आश्रम से निकाल देने की धमकी मिलती। उसमें से एक युवक बोला (जो अभी महंत हो गया) हमारे मां-बाप अत्यंत गरीब थे। बड़ी बहन की शादी में आचार्य जी जो हमारे एवं मां-बाप के गुरु भी हैं, कुछ आर्थिक मदद किए थे। तीन-चार वर्ष बीतने पर भी हमारे पिता जी सूद जोड़कर रुपये नहीं लौटा सके। तो गुरु देव हमें रुपये के एवज में मांग लिए। मैं नहीं चाहते हुए भी आ गया। अब साधु बन गया। वहां जितने भी साधु-संन्यासी देखते हैं वे सभी ब्रह्मचारी हैं परंतु कोई भी स्वेच्छा से संन्यासी नहीं बना है। सभी आफत-विपत का मारा है। इसी से हम सब अत्यंत उदास रहते एवं अपने भविष्य के विषय में चिंतित भी। यह छोटा लड़का जो आप देखे हैं, यह मध्य प्रदेश का है। इसका बाप दूसरी शादी कर लिया। इसकी मां को टी.बी. हो गया था। गरीबी के चलते दवा नहीं करा सका। दूसरी मां इसे मारती-पीटती। इसका दुख कर गांव वालों की सलाह पर इसके पिता जी आश्रम में दान दे दिए। अब यह भी संन्यासी बन गया है। जो पंद्रह वर्ष का हो जाता, उसे प्रवचन रटाया जाता। क्योंकि उसे शिष्यों के यहां जाना होता। इस आश्रम के छोटे-बड़े आश्रम भी पूरे भारत में फैले हैं, जहां महंती करना होता। मैंने हंसकर कहा चलो तुम्हारा भाग्य ठीक है बना तो महात्मा, अब तुम्हारी पूजा होगी। तुम ब्रह्मचारी हो, ब्रह्म का साक्षात कर ही लोगे। वह युवक आवेग एवं आक्रोश में बोला—हम महात्मा क्या बने खाक। हमें तो पशु बनाया गया है। हमसे पशु भी अच्छे हैं। हम तो इस तथाकथित साधुता से, ब्रह्मचर्य से तंग आ गए हैं। देखें भाग्य क्या करता है। यह हमें अंग्रेजी, गणित नहीं पढ़ाता, सोचता है हम

लोग भाग जाएंगे। कहीं नौकरी कर लेंगे। अतएव इसे पशु ही रखो। मैं चौंका, पूछा—क्यों बंधु। यह संन्यासी युवक बोला, आचार्यश्री एक महात्मा को अंग्रेजी पढ़ाए, बाद में कानून भी पढ़ाए। यह सोचकर कि हमारे आश्रम का केस-मुकद्दमा संभालेगा। परंतु वह इनसे भी चालाक निकला। इनके ही एक शिष्य की लड़की से शादी कर लिया। अब इसी शहर में नौकरी करता है। परंतु आचार्य जी उसे आश्रम में अब नहीं आने देते। हालांकि आश्रम के किसी भी साधु से ज्यादा पूजा-पाठ करता, या जानकार भी है। मैंने पूछा तू कैसे उससे मिला, जी। बस हमें पता चल गया एवं उसके घर चुपके से पहुंच गया। वह बहुत आदर किया एवं हम लोगों से तो ज्यादा सभ्य है। परंतु हमारे आचार्यश्री उसे भ्रष्ट ही नहीं मानते नरकगामी भी कहते हैं। अब आप ही बताएं स्वामी जी वह कैसे नरकगामी है। ये तो करोड़ों का संपत्ति रखें हैं। कोई दीन-दुखी आ जाए तो एक पैसा भी नहीं देंगे। एक वृद्ध महात्मा बिहार से दर्शन करने आया था। पूजा-भेट भी चढ़ाया। यहां बीमार हो गया। बस क्या पूछना था। हमारे आचार्यश्री महंत जी सोचे कि कहीं मर न जाए। कौन दवा कराएगा ? हम लोगों से कहे कि इसे उठाकर आश्रम के बाहर कर दो। हम ही कहे कि गुरु देव जाड़े का दिन है, कुछ वर्षा भी हुई है। इस स्थिति में इसे कहां रखा जाएगा। कुछ पैसा देते तो हम दवा लाते। बस इतना कहना था कि गुरु जी हमें दो तमाचा जड़ दिए। क्रोध से बोले, तू नालायक है। तू आश्रम की मर्यादा नहीं समझता। पैसा बहुत परिश्रम से आता है। किसी को दवाई करावें, किसी को खिलावो तब तो रहा आश्रम। रहा ब्रह्मचर्य, रहा साधुता। हम साधु हैं हम दान के हकदार हैं, सेवा के हकदार हैं, न कि कोई भी। चल, इसे अभी इसी क्षण बाहर कर। बाध्य होकर स्वामी जी हम लोग उस वृद्ध को टांगने लगे तो वह रोता बिलखता हुआ कहा, हमें इस समय यहीं छोड़ दो। यह हमारा भी गुरुद्वारा है। हमें दवा मत दो, पानी भी मत दो, मात्र रात्रि में रहने तो दो। परंतु गुरु जी के क्रोध के आगे एक नहीं चली। उस रोते हुए वृद्ध को उठाकर बाहर किए। रिमझिम वर्षा हो रही थी, जाड़ा अपने चरम अवस्था में था। हम लोग भी सोचे यह तो बेचारा मर ही जाएगा। परंतु जिस पेड़ के नीचे हम रखे, वही एक गृहस्थ पति-पत्नी गंगा से स्नान कर आ रहे थे। सूर्य डूबने जा रहा था। वह गृहस्थ हमसे पूछा, महात्मा बात क्या है ? हम लोग दयावश सारा बात समझा दिए। वे दंपति तुरंत बहुत ही प्यार से उस वृद्ध को अपने घर ले गए। हमें एक माह के बाद उस वृद्ध की पुनः याद आई। मैं इन्हीं दो संन्यासियों के साथ उस गृहस्थ के घर गए। देखकर अवाक रह गए। वह वृद्ध स्वस्थ ही नहीं

कोई जोर नहीं, शांत रहो, साधना करो
काम स्वतः शांत हो जाएगा।

था, उसके बच्चे को बड़े प्यार से पढ़ा रहा था। मैं आवाज दिया। दंपति बाहर आकर हमें हाथ जोड़कर प्रणाम किए एवं बैठने के लिए आग्रह किए। मैंने पूछा कि ये बाबा स्वस्थ हो गए। वे गृहस्थ दंपति अत्यंत विनम्र भाव से बोले, हां महात्मन ये स्वस्थ ही नहीं हमारा परिवार भी संभाल लिए। आप महात्माओं की बहुत बड़ी कृपा हुई। इतने में वह वृद्ध व्यक्ति बोला, ये महात्मा नहीं हैं—चण्डाल हैं। धूर्त हैं। मैं चालीस साल से इन गिरह कटों का शिष्य हूं। बिहार से आता काशी इनको दान देकर चला जाता। सोचता ये संन्यासी मेरे गुरु हैं। परंतु नजदीक से देखने का मौका भगवान दिया तो ये अपने वास्तविक स्वरूप में आ गए। इनके दर्शन का पाप है। यह चण्डाल है—चण्डाल। वह युवक हमसे आगे कहा—स्वामी जी उस वृद्ध की एक-एक बात हमारे कान में अभी-भी गूंजती हैं। मैं अपने से पूछता हूं क्या यही है आश्रम का ब्रह्मचर्य ? क्या यही है साधुता ? तो आखिर चण्डाल कौन ?

क्या यही है हमारी मानसिकता ब्रह्मचर्य की ? ऊपर से लंगोटा कसा है, भीतर काम की अग्नि जल रही है। कोई भी एक लड़की मन में आकर बस गई। बस हो गई मेनका। कोई भी लड़की उसके उर में बस गई, हो गई उर्वशी। यही वजह है कि आज के तथाकथित ब्रह्मचारी विभिन्न प्रकार के व्यभिचार में लिप्त हैं।

आप प्रतिदिन पत्र-पत्रिका में पढ़ते ही हैं। यह असहजता अत्यंत दारुण है। यह ब्रह्मचर्य भी अत्यंत खतरनाक है। ब्रह्मचर्य का तथाकथित व्रत नहीं लिया जा सकता। यदि जबरदस्ती लिया गया तो बहुत ही दारुण एवं दुखद है।

क्या ब्रह्मचर्य इतना कमजोर है ? क्या हम उन औरतों में माता, बेटी का स्वरूप नहीं देख सकते ? यदि सब औरतों में अप्सरा का ही दर्शन होता तो वह ब्रह्मचर्य दो कौड़ी का भी नहीं है। वह ब्रह्मचर्य तो पृथ्वी का भार है। क्या रामकृष्ण परमहंस ब्रह्मचारी नहीं कहे जाएंगे। इन्होंने अपनी पत्नी में भी मां का दर्शन किया। अतः ब्रह्मचर्य यानी ब्रह्म में जो विचरण करता हो। जिसकी मनोभावना ब्रह्ममय हो गई हो, वही ब्रह्मचारी कहला सकता है। ऐसी ही ऋग्वेद की मान्यता है। ईश्वर का चिंतन-मनन, निदिध्यासन ध्यान करने वाले को भी ब्रह्मचारी की परिभाषा दी गई है। इनके अनुसार ब्रह्मचारी वही है जो किसी भी प्रकार वीर्य की रक्षा करता है। जैसे बैल को बंध्या करा दिया जाता तो ब्रह्मचारी कहलाता एवं सांड नहीं। ब्राह्मण ग्रंथों में, कर्मकाण्ड ग्रंथों का लेखन शंकराचार्य के बाद हुआ। उनमें वीर्य रक्षण को ही ब्रह्मचर्य कहा गया है।

इन परिस्थितियों में अब प्रश्न खड़ा होता है क्या राम, कृष्ण, शिव

→ Don't cheat consciousness at any cost in life.

ब्रह्मचारी नहीं थे ? गर्ग, गौतम, कपिल, भारद्वाज, वेदव्यास, शुकदेव, नानक, कबीर, इत्यादि महापुरुष ब्रह्मचारी थे। या नहीं ? यदि नहीं तो आपके ब्रह्मचर्य में बचता ही कौन ? क्या इनको निकाल कर भी धर्म नामक कोई चीज रह सकती है ? आप स्वयम् विचार करें।

ब्रह्मचर्य को ठीक से समझना होगा। चूंकि यह अत्यंत ही प्यारा शब्द है। ब्रह्मचर्य का अर्थ काम-वासना का दमन नहीं, रूपांतरण है। दमन एवं रूपांतरण में बहुत बड़ा फर्क है हमारे तथाकथित साधु-महात्माओं ने दमन किया है। जिसका परिणाम उनके चेहरे से परिलक्षित होता है। ये कहते हैं कि ब्रह्मचारी जरा-मरा से मुक्त निरोग होता है। आप किसी भी तथाकथित ब्रह्मचारी को रोग मुक्त नहीं देखे होंगे। ये नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित हैं। प्रतिदिन डॉक्टर के यहां दौड़ रहे हैं। चूंकि भयग्रस्त हैं। वे जीवन भर रूपांतरण की कला को पहचाने नहीं। अष्टाग्नि ले रहे हैं, मौनी हो गए हैं, भले ही अंदर में उपद्रव चल रहा हो। खडेसरी हो गए हैं, पैर सूख गए हैं। लोग पूजने लगे। विक्षिप्त चित्त का महात्मा और वैसे शिष्यों की भीड़। 'जैसे को तैसा मिला, मिला सोम को सोम।' वाली कहावत चरितार्थ होती है। यह सब अपने को असहज अब्रह्मचर्य करने की कला है। 'चले थे हरि भजन को, ओटने लगे कपास' हरि से तो दूर हो गए, मिथ्या कर्मों में फंस गए। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—**'ब्रह्म जैसी चर्या। ईश्वरीय आचरण दिव्य आचरण।'** कभी भी दमित व्यक्ति का आचरण दिव्य नहीं हुआ है। 'तथाकथित भ्रांत धारणा को छोड़ना होगा कि साधना के लिए, घर छोड़कर वन में धूनी रमाना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य का सच्चा अर्थ है—स्वाभाविकता, शांत और समता। अस्वाभाविक परिस्थितियों में की गई तथाकथित साधना वे प्रतिक्रियात्मक जड़त्व के बीज बने रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित हो जाते हैं और साधुता के, ब्रह्मचारी के कलंक के रूप में विशाल वृक्ष का आकार धारण कर पल्लवित और पुष्पित होते रहते हैं।' इसका साक्ष्य आपके इतिहास एवं वर्तमान में भी भरे पड़े हैं। ब्रह्मचर्य का फल लगता है। ध्यान काम रूपी ऊर्जा के जुड़ने पर ब्रह्मचर्य का फल सहज ही आ जाता है। काम शरीर की शक्ति है, ध्यान आत्मा की शक्ति है। जब ध्यान काम दोनों जुटते हैं तो आत्मा शरीर की शक्ति अपने आप टूट जाती। यदि ध्यान अकेला है एवं काम रूपी ऊर्जा की खाद नहीं है तो ध्यान परिपक्व हो ही नहीं सकता, अपने शैशव अवस्था में ही सूख जाएगा। काम यदि अकेला है तो साधक को पतन के गर्त में डाल देगा। काम रूपी ऊर्जा को रूपांतरण

ॐ

बहुत बढ़िया।

यौवनावस्था => साधना के लिए उपयुक्त

कर, ध्यान के सहारे साधक अंतिम लक्ष्य तक पहुंच सकता है। वह लक्ष्य ब्रह्म ही है। तब कहीं साधक में सहज ही ब्रह्मचर्य घटित होता है, तब अपूर्व प्रकाश, ज्योति स्वतः प्रगट हो जाती है। जब जीवन सहज हो गया। अब सुख-दुख सम हो जाएंगे। जैसे—जनक, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, बुद्ध, महावीर, हनुमान, गार्गी, रविदास, मीरा इत्यादि, ये व्यक्ति ब्रह्मचर्य को पूर्णतः उपलब्ध थे। न ही कुछ पकड़ना है, न ही कुछ छोड़ना है। बस सहज, सरल अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना है। अन्यथा वधिया किए हुए बकरे या बैल की तरह ब्रह्मचारी बनकर रह जाओगे। आपका आचरण सहज ही ब्रह्म के तरह हो जाएगा। आत्मा न स्त्री है न पुरुष। आत्मा से ही प्रेम निःसरित होता है। प्रेम ही परमात्मा का रूप है। प्रेम ही ब्रह्मचर्य का विकसित रूप है।

'सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्ये नित्यम।'

सम्यक ज्ञान फलित हो गया, सारे दोषों से स्वतः मुक्त हो गए।

जिज्ञासा और बोध—

सहज योग विद्वानों पंडितों के समझ के बाहर हैं। यत्र तत्र कहीं कुछ सुन लिया या पढ़ लिया, परंतु अनुभव नहीं किया। अनुभव से ही जिज्ञासा होती है। इसे थोड़ा यों समझे साधक जब सोचता है—'मैं जिज्ञासु हूं।' यहां बोध नहीं होता। सच्चा जिज्ञासु बेचैन हो जाएगा तथाकथित ज्ञान तो बहुत सुन लिया, परंतु हम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ या अंदर कोई घटना नहीं घटी। हर्ष-शोक, लाभ-हानि का असर नहीं होता है। ऐसी व्याकुलता आने पर साधक अहम से दूर हटता जाता है। चेतन स्वरूप रह जाता है। साधक को भ्रम हो जाता है कि ज्ञान क्या है ? ज्ञान जड़ का ही होता है, चेतन का नहीं। चेतन तो ज्ञान रूप ही है। उसका अनुभव होने पर अनुभव मात्र रह जाता है। अनुभव नहीं। ज्ञानमात्र रह जाता है। ज्ञानी नहीं।

यह साधक भविष्य का अनुसंधान अपने में ही करता है, न अतीत की चिंता न भूत की फिक्र हंसते हुए वर्तमान में जीना जानता है। योग वशिष्ट का एक सूत्र है।

''भविष्यं नानुसन्धते नातीत चिन्तनमत्यसौ
वर्तमान निमेषं तु हसन्नेवानुनर्तते॥''

सब जैसे ठहर जाए। अतीत नहीं, भविष्य नहीं, तो वह जो ठहराव है, वह स्थिरता है। वहीं ध्यान है। वही संन्यास है, वहीं ब्रह्मचर्य है। वह स्थिरता ही निर्मल है। निर्दोष है। उस स्थिरता में अहोभाव है, आश्चर्य है, रहस्य है।

उस स्थिरता में परमात्मा का दर्शन है, मुक्ति है। निर्वाण है। अतएव साधक वर्तमान में रहकर गुरु का पूर्ण श्रद्धा विश्वास कर निर्देशन को समझें। यदि साधक में विश्वास श्रद्धा की कमी रही एवं गुरु द्वारा यह योग पा भी गया तो वह फलीभूत नहीं होता यथा–

''उपजे खेत बीज नहीं परई। ज्यों किसान किसानी करई॥''

गुरु पर असमंजस्य दिखाई पड़ने पर मन के साथ शरीर का संघर्ष है। फलतः मनुष्य चहुंदिश विभीषक देखने लगता है। प्रबल जिज्ञासा से, अत्यधिक प्रेरणा से शरीर और मन दोनों ऊपर विस्तार करते हैं। उस समय शरीर तथा मन दोनों में ही एक प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। उस समय मन धीरे-धीरे कूटस्थ भाव की ओर बढ़ने लगता है। एवं वह अपने चक्र (त्रिकुटी) में सुदृढ़ता से स्थिर हो जाता है।

ध्यान–

साधक को सबसे पहले ध्यान गुरु गृह (आश्रम) में, उसके सरंक्षण में प्रारंभ करना श्रेयस्कर है। इसके लिए किसी पंथ-संप्रदाय का बंधन नहीं, न ही उम्र का बंधन, न ही स्त्री-पुरुष का बंधन है। यह सबके लिए समानरूप से लाभकारी है। पूर्व में बताए गए स्थान, समय इत्यादि का अनुसरण करते हुए साधक सहज आसन पर बैठ जाए। गुरु का ध्यान कर मानसिक पूजा कर मन को बाह्य वृत्ति से खींचकर अंतर्मुखी कर ले। अक्सर मन बहिर्मुख ही रहता है। चूंकि जन्मों के संस्कार लेकर चल रहा है। क्षणमात्र में उन संस्कारों का क्षय संभव नहीं है। अतएव गुरु का अवलंबन ही उत्तम है। गुरु द्वारा सत्नाम ग्रहण कर ले। या साधक प्रथम तीन दिन सिद्धासन कर बैठ कर गहरा श्वास ले। आंख बंद कर ले। अपनी पूरी चित-वृत्ति को श्वास पर लगा दे। जब श्वास अंदर जा रहा है तो उसके साथ जाए। जब श्वास बाहर आ रहा है तो बाहर आए। इस तरह स्थान बिलकुल शांत है। प्रकाश अत्यंत कम होना चाहिए, या अंधेरा रहे तो भी ठीक ही है। चूंकि अंदर के प्रकाश से साक्षात्कार करना है। अतएव साधक अपने अंदर जाते हुए अंदर के प्रकाश को देखना है एवं अंदर के नाद को सुनना है। प्रथम तीन दिन तक साधक ''स्व'' के अंदर श्वास के साथ जाते समय पूछे ''कोऽहम्'' मैं कौन हूं। बार-बार पूछे, हर स्वर में पूछे। यह पूछना इतना तीव्र हो कि हर सेल शरीर का पूछना शुरू कर दे। शरीर का हर सेल जब पूछना शुरू कर देगा यानी स्वर के सामने यह मालूम हो कि कोऽहम् प्रश्न के सामने कुछ है ही

नहीं ? जब समग्र चेतना इस प्रश्न से गूंज उठेगी, तो उत्तर अपने आप आ जाएगा। चूंकि प्रत्येक चीज अंदर से आती है। पूरा का पूरा बरगद का पेड़ छोटा-सा बीज से बाहर आ जाता है। उस बीज के ऊपर से बरगद की टहनी नहीं लगाई जाती। परंतु उस बीज को सड़ना पड़ता है। उसे समाप्त होना पड़ता है या उस वृक्ष के लिए खाद बनना पड़ता है। तब उससे मूलांकुर नीचे पृथ्वी के अंदर गहराई में जाता है, जो अंजाना है, अंधकार है। प्रांकुर ऊपर आता है जो प्रकाशमय है। ठीक उसी तरह साधक के अंदर के वृक्ष रूपी मंत्र अंदर से आ जाएगा। उसके आते ही मैं रूपी अंहकार गिरने लगता है। या इसके जन्म लेने में मदद देने लगता है।

साधक प्रत्येक श्वास गहरे से गहरा ले। प्रत्येक श्वास के साथ सुरति को लगा दे। यह सुरति स्मृति का ही रूप है। प्रत्येक श्वास के साथ वहां जाए, जहां सुरति निरत हो जाए या निःतत्व हो जाए। साधक एक भी श्वास को वृथा न गंवाए।

"श्वास-श्वास में नाम ले, वृथा श्वास न खोय।"

साधक प्रथम दिन तक जोरदार ढंग से श्वास पर अपने को लगा दे। श्वास ऐसे ले जो अंतिम गहराई पर पहुंचे। यानी मूलाधार चक्र पर जाकर आघात करे। जिसके नीचे कुण्डलिनी सोई हुई है। गहरा श्वास लेने पर पेट स्वतः ऊपर नीचे होने लगता है। जैसे छोटे बच्चे को सोते हुए देखे होंगे, उसका पेट ऊपर नीचे चलता रहता है। इसी से चित्रकार चित्र में महात्माओं का पेट बड़ा दिखाते हैं। चूंकि चित्र में दिखाने का और कोई उपाय नहीं। जो व्यक्ति पेट से श्वास लेता है वह निष्कपट, निश्छल हो जाता है। जो व्यक्ति छाती से श्वास लेता है, वह कलुषित, कपटी स्वेच्छाचारी, लंपट होता है। छाती से श्वास लेने वाला व्यक्ति का कभी भी मन, वचन, कर्म एक नहीं हो सकता है। पेट से श्वास लेने वाला व्यक्ति बच्चे की तरह निश्छल वीत रागी कुछ ही दिन में हो ही जाता है। अतएव साधक के प्रत्येक श्वास के साथ अंदर मूलाधार चक्र तक जाए एवं श्वास के साथ ही वापस आ जाए।

यदि साधक ने अपने गुरु से खेचरी मुद्रा सीख ली है तो अत्यंत लाभकारी है। यदि नहीं सीखी है तो उसे भी इसी के साथ सीख ले। चूंकि ध्यान में बैठते वक्त साधक सिद्धासन पर बैठकर खेचरी मुद्रा भी कर ले एवं अमृत रस का भी पान करता रहे। इससे एक साथ दोनों काम होते रहेंगे। खेचरी से शरीर का पोषण, नाड़ी शोधन के साथ चित्त-वृत्ति भी अंतर्मुखी होती है। खेचरी योगीजन की मां कही गई है। अतएव जब तक साधक ध्यान में रहे तब तक खेचरी मुद्रा

में अवश्य रहे। अभ्यास काल के बाद साधक सदैव मौन काल में खेचरी में रह सकता है। इससे केवल लाभ ही है एवं साधक के लिए अत्यावश्यक है।

साधक तीन दिन तक अपने से प्रश्न (कोऽहम्) पूछ लेता है। अपनी पूरी की पूरी समग्रता से पूछता है तो उत्तर अवश्य पा जाता है एवं तीन दिन के बाद साधक बदला हुआ नजर आता है। चेहरे पर प्रसन्नता, उल्लास एवं अजीब सी शांति महसूस करता है। जैसे—जन्मों से बिछड़ी अमूल्य चीज मिल गई हो। साधक में इतना उल्लास आ जाता है कि अब संसार मिथ्या नजर आने लगता है। साधना ही सत्य नजर आने लगती है। अब उसका मन हर समय हर क्षण अनायास ही उधर जाने लगता है। खेचरी भी अब स्वतः होने लगती है, अब खेचरी के लिए भी प्रयास नहीं करना पड़ता।

साधक को तीन दिन की साधना से यदि सत्नाम हाथ लग जाता है तो अति उत्तम। चूंकि यह उधार नहीं होगा। यह 'स्व' का जाना हुआ होगा। यदि मन नाना प्रकार के विघ्नों में फंसकर नहीं जान पाता या संस्कारों में ही उलझ जाता है तो गुरु का आश्रय ग्रहण कर, उस सत्नाम को ले लें एवं गुरु का भी कर्तव्य है कि शिष्य को श्रवण करा, दे, दिखा दें अन्यथा—'बिन देखे वा देश के, बात कहे सो कूर।'

मन अत्यंत चंचल है। संभव है अभ्यास काल में साधक की कोई वृत्ति अति मुखर हो उठे, जो भी वृत्ति दबी होगी, वह जग सकती है। उसका वेग प्रचंड हो सकता है। चाहे वह काम हो, चाहे लोभ हो, चाहे क्रोध हो। अतएव साधक को धैर्य नहीं खोना चाहिए अन्यथा 80% साधक इसी अवस्था में भाग चलते हैं। इसे सुखद एवं दुस्साहस समझकर झूठा कह एवं बकवास तक कह देते हैं। साधक को गुरु पर अटूट विश्वास कर उसका ध्यान करना चाहिए। गुरु की ध्यान रूपी खड़ग से सब विघ्न का नाश हो जाता है। गुरु द्वारा बताए गए सत्नाम के सहारे श्वास पर मन को आरूढ़ कर त्रिकुटी पर ध्यान करे। श्वास गहरा लेते रहे। सत्नाम रूपी मंत्र का जम अभ्यास के सहारे करते जाए। धीरे-धीरे अभ्यास परिपक्व होता जाएगा, ज्योति पर मन टिकता जाएगा। संस्कार ढीला पड़ता जाएगा। योग-वृत्ति होती जाएगी। साधक अब त्रिकुटी पर अत्यंत प्रकाश को देखकर आलोकित हो जाता है। दृढ़ ध्यान टिकने पर साधक को अनाहद भी सुनाई पड़ने लगता है।

त्रिकुटी संगम झलकत हीरा,
चरण चीत तहं रखु कबीरा॥

इसी को संत तुलसी दास जी ने भी कहा है—

परम प्रकाश जलै दिन राती।
नहि चहिए दीप-घृत बाती॥

यह परम प्रकाश है इसमें मन के रमण करते ही मन एकाग्र हो जाएगा। अब मन निर्मल हो जाएगा, वहीं मन अब सहज ही हंस हो जाएगा।

मनवा तू तो हंस था, कागा हुआ अपनी चाल॥

यानी मन अब अपने सहज स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। ग्रहण करना कहना भी गलत होगा। वह मन तो गलत संस्कारों के कारण काग हो जाता है। उसी तरह मन विष्ठा रूपी काम, क्रोध, लोभ इत्यादि को प्रिय समझने लगा था। उससे निकलना उसके लिए दुष्कर हो रहा था। सत्नाम जो गुरु के द्वारा प्राप्त होता है या स्व के अंदर से सुनाई पड़ता है। उसी के सहारे, अनुरक्त होकर यानी सुरत के सहारे निरत में पहुंच जाता है। सुरत को शब्द के सहारे पहुंचना पड़ता है। अन्यथा सुरत भी असहाय हो जाएगी। या भटक जाएगी। यथा–

शब्द बिना सुरति आंधरी, कहो कहां को जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिर फिर भटका खाय॥

अतएव उस सत्नाम रूपी शब्द को पकड़कर सुरत के सहारे निरत में पहुंच जाना है। जब साधक निःतत्व में पहुंच जाता है। तब–

शून्य सहज मन सुमिरते, प्रकट भई एक जोति।

साधक को प्रथम तीन दिन के बाद गुरु गृह में कम से कम और चार दिन रहकर इस आगे की क्रिया को पूरा कर अपने स्थान पर आना श्रेयस्कर होगा। इस तरह साधक को कम से कम 45 दिन साधना सुबह, दोपहर शाम, एवं अर्धरात्रि अत्यंत जरूरी है। कुछ साधक लज्जावश, संकोचवश नहीं करते। इसमें लज्जा किस बात की, लज्जा तो बुरे कामों में होनी चाहिए। चूंकि संस्कार बहुत दिनों तक बुरे कर्मों से संबंद्ध रहा, अतएव जल्दी नहीं छोड़ता है।

अनुभव–

जब साधक का ध्यान निरावलंब टिक जाता है, उस प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है तो उसके अंदर के सारे तार मानो विद्युत तार के हर बल्ब से संयोग कर स्विच ऑन हो गया। जैसे पूरा घर उस बल्ब के प्रकाश से चकाचौंध हो जाता है। वही स्थिति साधक की होती है। उस समय शरीर में एक अजीब तरह का कंपन होने लगता है। आवाज होने लगती है। कभी-कभी पूरी सृष्टि अपने में नजर आती तो कभी पूरी सृष्टि अपने से

निकलते नजर आती है। कभी-कभी नाना प्रकार के दृश्य नजर आने लगते हैं। कभी साधक भयातुर होकर भाग खड़ा होता है। तो कभी अपना ही नाद, जो सुनाई पड़ता है, को बाहर सुनने के लिए दौड़ पड़ता है। कभी शरीर से अत्यंत पसीना निकलने लगता है। इत्यादि नाना प्रकार का अनुभव होने लगता है। साधक को इससे घबराना नहीं चाहिए। उसे एकाग्र हो उसी सत्नाम के सहारे सुरत को निरत में लगाए रहे। कोई भी अनहोनी घटना मालूम पड़े जो साधक बरदाश्त के बाहर मालूम पड़े, उस समय निर्भय होकर गुरु का ध्यान करे। गुरु अपनी ज्ञान रूपी खड्ग से सारी बाधा दूर कर देंगे, परंतु साधना से उठना नहीं चाहिए। खेचरी के द्वारा प्राप्त रस का स्वाद भी बदलने लगे, रस सुखद एवं मीठा भी आने लगेगा। मन में नया-नया अनुभव आने लगेगा। जो न तो वेद में लिखा है न ही पुराण में, किसी से व्यक्त भी करेंगे तो लोग पागल कहेंगे।

ऐसा अद्भुत मत कथो, तो धरो छिपाय।
वेद-पुराणे न कही, कहो तो को पतियाय॥

अतएव साधक अपनी अनुभूति को कहीं भी व्यक्त न करे। आवश्यकता पड़ने पर मात्र गुरु से कहे। यदि साधक मूर्छित हो जाए या विक्षिप्त हो जाए तो उसके परिवार के सदस्य या आस-पड़ोस के व्यक्ति को चाहिए कि उसके सिर पर ठंडा जल का छींटा दे। पैर पर धीरे-धीरे मालिश करें। साधक कुछ ही काल में चेतनता में आ जाएगा। यदि कुछ ज्यादा स्थिति खराब मालूम हो तो नजदीक के किसी भी दूसरे साधक से संपर्क कर ले। या उसके गुरु को सूचना दे। हालांकि गुरु चक्र के साथ कुछ भी अनहोनी नहीं होती है। गुरु शक्ति जो उस साधक का पल-पल निरीक्षण, रक्षण एवं पालन-पोषण करती रहती है। उसका मंगल-ही-मंगल होता है। गुरु पर अविश्वास अश्रद्धा ही उस शक्ति के प्रवाह में बाधक है।

साधक का विश्राम

जब साधक का ध्यान स्थिर हो जाएगा, चित्त शांत हो जाएगा। तब जाप अपने आप अजपा हो जाएगा। शब्द–निःशब्द हो जाएगा। नाद भी अनाहद हो जाएगा। तब साधक को न माला की जरूरत है न ही शब्द का उच्चारण, अब साहब ही भजन करता है, साधक विश्राम की स्थिति में चला जाता है।

कर से माला छुवों नहीं, मुख न बोलो राम।
साहब मेरा भजन करत है, मैं पाया विश्राम॥

यह स्थिति विश्राम की स्थिति मैं, मात्र साक्षी भाव रखना है।
अब चित्त सत् को उपलब्ध हो गया। सत् चित्त आनंद हो गए।।

साधक अपने आप में मस्त रहेगा, आनंदित रहेगा। उसे अब कर्म जाल, संस्कार नहीं गिरा पाएगा। यह अविचल की स्थिति है।

अभ्यासरत होना

मन का स्वतः अभ्यासरत होना–साधक का ध्यान जब निःतत्व में टिक जाता है। सत्नाम का जाप स्वतः होने लगता है। नाद का स्मरण भी स्वतः होने लगता है। यानी सहज हो गया। अब कुछ भी असहज नहीं। तब प्रयास नहीं करना पड़ता है। जैसे एक उद्योगपति अपने उद्योग में सतत लगा रहता है! हर समय अपने फायदे घाटे का खयाल रखता है। उसका संपूर्ण साधना उद्योग ही है। एक दिन की घटना है, वह रात्रि में अपने कारखाने से थका हारा आकर सो गया। पति-पत्नी एवं उसके बच्चे भी नजदीक आस-पास सोए थे। रात्रि में सोए में ही वह व्यक्ति डांटने लगता है तुम्हें शरम नहीं आती जितना पैसा लेता, उतना भी काम नहीं करता। केवल सारा दिन बैठ कर समाप्त करता। अभी दरख्वास्त लेकर आया है छुट्टी के लिए। तुम्हें मालूम नहीं बहुत बड़ा टेंडर मिला है, माल दो हफ्ते में आपूर्ति करना है अतएव दो हफ्ता कोई छुट्टी नहीं। यह कहकर सर के नजदीक रखी बच्चों की किताब फाड़ने लगता है। जोर-जोर से डांटता जा रहा है। किताब फाड़ता जा रहा है। आवाज सुनकर बगल में सोयी पत्नी, बच्चे जाग जाते हैं, बच्चा कहता है, पापा हमारी किताब क्यों फाड़ रहे हैं ? वह व्यक्ति सोए-सोए बोलता है। यह काम का समय है। सारा ऑर्डर छुटने जा रहा है। यह जो है छुट्टी का दरख्वास्त लेकर आया है। समझ नहीं आता काम आखिर होगा कैसे ? इस तरह आगे कहता है, जा काम पर लग जा, अब काम महीने पर नहीं, ठेके पर होगा। बच्चा जगाता है, कहता, कहां टेंडर है, कहां काम है। यहां तो आप हमारी किताब फाड़ रहे हैं। वह उद्योगपति जागता है। तो कहता है अरे, बेटा ! आज कारखाना में दिनभर छुट्टी के लिए आते रहे। मैंने सब काम ठेके पर कर दिया। वही स्मृति मेरे में थी जो सोने में घूम रही है।

ठीक उसी प्रकार जब सारा जगत सोया रहेगा, साधक सहज ही अपनी साधना में रहेगा। वह उद्योगपति का सपना था। यह पूर्ण जागरण है। पूर्ण अस्तित्व का बोध है। सोना भी होश पूर्वक हो जाएगा। हजार में कहीं एक व्यक्ति ही थोड़ा-सा होश में है, अन्यथा सबके सब बेहोशी में हैं। यह ऐसी

बेहोशी है कि उसे ज्ञात ही नहीं पागल अपने को कभी पागल नहीं समझता बाकी पूरी दुनिया को पागल समझता एवं दुनिया के अन्य लोगों पर हंसता। वही स्थिति अधिकांश जन की है। साधक जब भी सोता है, पूर्ण होश में जैसे वह ध्यान में हो, समाधि में हो। सो कर जागता है, तो वह तरो-ताजा हंसता हुआ मालूम होता है। दिव्य आभा से, दिव्य शक्ति से परिपूर्ण है। जन साधारण रात भर करवटें बदलता रहता है। बिछावन तक अस्त-व्यस्त हो जाता है। सोने में भी अशांत है। बुद्ध जिस दशा में सोते थे, ठीक उसी तरह उसी जगह से उठ जाते थे। कहीं कोई करवट नहीं बदलना, मानो ध्यान से उठ रहे हों। कुछ शिष्यों को इस बात पर आश्चर्य होता है। आखिर मामला क्या है ? अधिकांश शिष्य को गुरु पर शक होता ही है। वे गुरु के ही गुण-अवगुण के अवलोकन एवं चर्चा में अपना समय यों ही मिथ्या वाद-विवाद या अवलोकन में बरबाद कर देते हैं। जबकि शिष्य को गुरु के चरित्र यानी वाणी पर यानी उपदेश पर ही ध्यान देना है, अनुसरण करना है न कि उसके व्यक्तिगत चरित्र पर। उसका चरित्र समय विशेष, स्थान विशेष, व्यक्ति विशेष पर बदल सकता है। हर रोगी को डॉक्टर एक ही दवा नहीं देता, अलग-अलग बीमारी का अलग-अलग दवा देता है। यह डॉक्टर पर निर्भर करता है। उसी तरह गुरु अध्यात्म का डॉक्टर होता है। एक दिन बुद्ध के शिष्य आनंद नें सोचा, रात्रि भर जग कर हम लोग देख लेवे, कब करवट बुद्ध बदलते हैं। पूरी रात्रि जागे रहे, बुद्ध ऐसे सोए, मानो समाधि में हों। सुबह उसी तरह जग गए मानो समाधि टूट रही हो। शिष्य तर्क कम करते कुतर्क ज्यादा। वे सोचे कहीं हम झपकी लिए हों उसी समय करवट बदल लिए हों। अतएव उनके दूसरी रात्रि सोने के बाद दोनों पैर के आस-पास दोनों हाथ के आसपास लोटा (जलपात्र) में जल भरकर रख दिया। ज्यों ही बुद्ध हाथ-पैर इधर-उधर करेंगे। जल गिर जाएगा हम जान जाएंगे। आनंद जो उनका अत्यंत नजदीकी शिष्य था। साथ ही नाते में बड़ा भाई भी, वह सोने के बाद सारी व्यवस्था कर दिया, जल पात्र रख दिया। बुद्ध सो गए, मानो समाधि में चले गए। सुबह वे जागे मानो समाधि से वापस आ गए। उसे आना-जाना भी कैसे कहेंगे। ये शब्द मात्र उसके लिए संकेत ही कर सकते हैं, क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है और अंत में मानस ज्योति में लीन हो जाता है। इस तरह प्रति संचर की चरम अवस्था गुणातीत है। इसे ही व्यष्टि जीवन का प्रलय कहा जाता है। मनन, वचन, श्रवण ग्रहण ये सभी क्रियाएं भाव हैं। इन भावों का अस्तित्व साक्षित्व से होता है।

सावधानी–

साधक को प्रारंभ काल में ज्यादा समय तक त्रिकुटी पर ध्यान नहीं करना चाहिए। मन सहजता से जितना देर करने दे, उतना ही करना श्रेयस्कर है। हां, मन को सदैव श्वास-प्रश्वास पर रखना श्रेयस्कर है। जब आंख बंद कर ध्यान करने पर नींद आने लगे तो साधक नासिका के अग्रभाग पर देखे। आंख न खुली रहे न ही बंद। जैसे बुद्ध को प्रतिमा में देखा होगा। इससे स्वर दिखाई देने लगता है। इंगला-पिंगला, कौन चलता ? इसका वेग क्या है ? यानी कितनी दूरी पर समाप्त होता है। इसका रंग क्या है ? नासिका के अग्र भाग के प्रकाश पर ध्यान करना है और सब तो स्वतः दिखाई पड़ने लगता है। इस तरह निद्रा नहीं आती। प्रत्येक श्वास यानी दायां (सूर्य स्वर) एक घंटा चलता। इसके बाद बायां (चंद्र स्वर) एक घंटा। चौबीस घंटे में 24 बार बदलते हैं। जो स्वतः होता रहता है। साधक तत्पर रहे ज्यों ही चंद्र स्वर सूर्य स्वर में बदल रहा हो उस समय ढाई बार दोनों चलता है। उसी समय सुषुम्ना (ब्रह्म नाड़ी) में टिका दे। दोनों में कोई भी जब एक दूसरे में बदल रहा हो, उसी समय साधक विशेष सावधान रहे एवं सुषुम्ना में ध्यान को टिका दे। बस उतने में साधक का ध्यान अडिग हो जाएगा। ध्यानस्थ हो जाएगा। सुषुम्ना ही ब्रह्म नाड़ी है, आपके गंतव्य स्थल पर पहुंचा देगी। साधक की यह पकड़ जितना जल्द होती है, उसकी साधना उतना ही जल्दी पूरी होती है। कभी-कभी बलात त्रिकुटी पर ध्यान करने से नेत्र के आस-पास एवं कान के आस-पास किसी रोग के उत्पन्न होने की संभावना है। चेहरे पर भी काला धब्बा। नेत्र का अंदर धंस जाना, मस्तिष्क भी निर्बल हो जाता है। या पागलपन की स्थिति आ जाती है। अतएव साधक को घबराना नहीं चाहिए। यदि खेचरी ठीक करते रहेंगे तो यह बीमारी आएगी ही नहीं, यदि आ भी जाएगी तो कुछ दिन के अंदर स्वतः खेचरी के अमृत रस से ठीक हो जाएगी। अतएव खेचरी वाले साधक गरम पदार्थ का परित्याग कर दें। चाय दिन में मात्र दो कप ले सकते हैं, वह भी ठंडी। जिससे जिह्वा न जले। दूध भी कम गरम लें। साधक के शरीर के सारे रोगों का शमन खेचरी करेगी। अतएव साधक चलते-फिरते, काम करते, हर समय खेचरी में अवश्य रहे। ज्यादा से ज्यादा मौन व्रत रहे। अभ्यास काल में कम से कम बोले। हां, ना में काम चला ले। गुरु की वाणी का ही केवल मनन करे। अन्य पुस्तकों का अध्ययन इस समय में छोड़ दे। भ्रांति उत्पन्न होती है। सिद्धासन या किसी आसन पर बैठा साधक जब ध्यान कर रहा होता है तब उसमें खून का दौर उर्द्ध रहता है अतएव

साधक ध्यान तोड़ते समय 5 मिनट का शवासन कर ले। शवासन में सोए-सोए श्वास द्वारा जाप करता जा एवं सोचे कि परम पिता परमात्मा की अनुकंपा से पूरा शरीर प्रकाशमय है। शरीर में कोई रंग नहीं है। मैं प्रसन्न हूं। स्व का प्रकाश ही सर्वत्र है। अच्छा ध्यान गुरु मूर्ति पर करे। मन में वे ही भाव लावे कि परमात्मा निर्गुण है। निराकार है। उसी का साकार रूप गुरु है। गुरु करुणामय दया का सागर है। हम पर कृपा कर रहा है। वह प्रकाश स्वरूप हमारी त्रिकुटी में प्रवेश कर रहा है। त्राटक सदा बना रहे।

नाद–

जब साधक का ध्यान टिक जाता है। खेचरी मुद्रा से सुस्वाद जल मिलने लगता है। नाद भी सुनाई पड़ने लगता है। यह नाद ही अनाहद है। जिसका हद नहीं है सीमा नहीं की तरफ पहुंचाने में मदद करता है। यह नाद साधक का साध्य नहीं है। रास्ते का अनुभव है। कृष्ण सोलह हजार एक सौ आठ नारियां रखे थे, ऐसा सुनने में आता है। जिसमें 9 मुख्य पटरानियां थीं। वह अंतर जगत का ही उल्लेख है। मणीपुर चक्र यानी नाभी भाग जहां दस दल कमल है, भगवान विष्णु का निवास स्थान है। इसे बैकुण्ठ भी कहा गया है। इस स्थान पर सूक्ष्म, छोटी, बड़ी नाड़ियों का सोलह हजार एक सौ आठ नाड़ियों का मिलन है। जिसमें नौ नाड़ियां प्रधान हैं। 'नौ नाड़ी पूरों देही' बांसुरी बजाने में पूरा जोर नाभि भाग पर ही पड़ता है। कृष्ण की बांसुरी भी इसी अनाहद का विकसित रूप है। जिस बांसुरी को सुनकर श्रद्धा, विश्वास, प्रेम रूपी गोप-गोपियां मोहित हो जाती हैं।

"अनहद अनुभव की करि आशा, ई विपरीत देखहु तमासा।
इहे तमासा देखहु रे भाई, जहवां शून्य तहां चलि जाई॥"

यह अनाहद साधक को अंतर्मुख कर शून्य की तरफ लेकर चला जाता है। यह मुख्यतः मणीपुर चक्र, अनाहद चक्र एवं आज्ञा चक्र के ऊपर अगोचरी के नजदीक से होता है। यह विभिन्न वाद्य यंत्रों के तुल्य होता है। इसे सुनने पर मालूम होता है कि इन्हीं आवाजों के आधार पर ऋषिगण बाहर विभिन्न वाद्य यंत्रों का विकास किए।

"भीतर बाहर का एके लेखा।
जस भीतर तस बाहर देखा॥"

इस पर बहुत वैज्ञानिक अन्वेषण हुआ है एवं अभी भी हो रहा है।

साधक जब साधना प्रारंभ करता है तो पहले झींगुर की आवाज की तरह झन-झन। इसके बाद पहले से कुछ बदला हुआ। चन्-चन्। इस तरह क्रमशः

घंटा, शंख, तोली, बांसुरी, मृदंग एव नगाड़ा की तरह सुनाई पड़ने लगता है। जो श्रवण में अत्यंत प्रियकर लगता है। कुछ साधक कस्तूरी कुण्डली यंत्र बनाकर, कान में लगाकर इसे ही श्रवण करते रहते। सदैव प्रसन्न रहते हैं। इसे ही प्रणव की ध्वनि समझ कर उपासना करने लग जाते हैं। मन ध्यान से हट कर ध्वनि पर केंद्रित हो जाता है, तो साधक को बादल की गर्जना-तर्जना एवं भयानक-भयानक स्वर भी सुनाई पड़ने लगता है। कभी-कभी प्रकाश के चकाचौंध के साथ सारे के सारे वाद्य एक साथ बजते नजर आते हैं। जिसे लगता है या कभी-कभी इसे सुनकर साधक भयातुर हो जाता है एवं साधना से उठ खड़ा होता है। भाग भी जाता है। या कभी-कभी स्वयम् चिल्लाने लग जाता है। ऐसी स्थिति में साधक को गुरु का अवलंबन लेना चाहिए एवं सतूनाम के ऊपर आरूढ़ हो जाना चाहिए।

बादल का गर्जना या समुद्र का गर्जना नाद ब्रह्मांड से आता है। यह यंत्र सबसे वृहद है। यह सहस्रार चक्र से होता है।

यंत्री यंत्र अनुपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजे।
एक शब्द में राग छतीसों, अनहद बानी बोले॥

यहां से वीणा या भ्रमर का मधुर स्वर भी सुनाई पड़ता है। जिसे सुनकर साधक वहीं रुक जाते हैं। चूंकि मधुरता के प्रति मानव मन की कमजोरी है। परंतु चतुर साधक गुरु कृपा से आगे बढ़ जाता है तो सैकड़ों रंगों से युक्त रंगा-रंग प्रकाश दिखाई देता है। जहां बहुतेरे साधक रुक जाते हैं। चूंकि चित्त-वृत्तियां यहां से आगे जाना पसंद नहीं करतीं। यह प्रकाश प्रकृति का ही है। इससे साधक जैसे ही कुछ आगे बढ़ता है। एक मीठा-सा शीतलता पूर्ण प्रकाश मिलता है। जहां साधक उस शीतलता में जन्मों तक ध्यानस्थ हो जाते हैं। आगे की कामना ही उनकी क्षीण हो जाती है। चूंकि यहां अत्यंत शांति मालूम होती है। मानो साधक जन्मों की खोई शीतलता पा लेता है। यह प्रकाश चंद्र प्रकाश ही है। इसका भेद गुरु से प्राप्त कर लेना चाहिए।

दिव्य शक्ति एवं भटकाव–

जैसे ही साधक चंद्र प्रकाश एवं भटकाव में अपने को लीन पाता है। वह अनायास ही दिव्य शक्तियों का मालिक बन जाता है। दूर श्रवण, दूर दृष्टि बहुरूप इत्यादि शक्तियां आ जाती हैं। उसकी इच्छा मात्र से कार्य पूरा होने लगता है। जिसे जो कह देता वह हो जाता है। मानो वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है। ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बन जाता है। बस साधक कहता है, प्रकृति

पूरा करती है। परिणामस्वरूप साधक यहां पहुंचकर भी मान बढ़ाई के चक्कर में पड़ जाता है। अंतर्मुखी वृत्ति बहिर्मुख होने लगती है। तथाकथित सांसारिक ऊंचे पद-प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति इस तरह के साधक को आशीर्वाद प्राप्त करने के चक्कर में बहिर्मुख बना देते हैं। अर्थ में फंसा जीव इनके चमत्कारों का वर्णन बढ़ा-चढ़ा कर करने लगता है। हर समय व्यक्ति इनको घेरे रहता है। उस साधक को पहले तो यह बुरा या अनहोनी मालूम होता है। परंतु कालांतर में वह यदि इसे बंद नहीं किया तो वहीं फंस जाता है। मन बहिर्मुख हो जाता है। वह अधोगति को भी प्राप्त हो सकता है। साधना का विकास रुक सकता है। इस जन्म के साथ अगला जन्म भी बरबाद हो जाता है। साधक संसार में अपने को अति साधारण की तरह सेवा सत्संग में लगे रहना ही श्रेयकर है।

परम शून्य–

जब साधक चंद्र प्रकाश से ऊपर उठता है, तब बिंदु शून्य दिखाई पड़ता है। उसमें महा तेज है। सूर्य-सा गोला, प्रचण्ड प्रकाश। जिस प्रकाश पर साधक का ध्यान नहीं टिक पाता एवं पुनः चंद्र प्रकाश पर लौट कर स्थिर हो जाता है। इस प्रकाश पर ध्यान टिकाना एवं इससे आगे बढ़ना अत्यंत ही दुरुह कार्य है। सच कहिए तो साधक का साधन, तप, निष्काम योग एवं गुरु की प्रबल अनुकंपा ही काम आ सकती है। अन्यथा साधक वहीं जन्मों रुका रह जाता है। यह प्रकाश अंतर सूर्य का प्रकाश ही है। इस प्रकाश में ध्यान टिकते ही साधक अलौकिक हो जाता है। उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाए कम है। साधक अलौकिक हो जाता है। उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाए कम है। साधक के शरीर से स्वतः तेज निकलने लगता है। इसी तेज से दुर्वासा जैसे ऋषियों ने क्या-क्या नहीं किया। विश्वामित्र दूसरी सृष्टि ही करने लगे। इस तेज को बरदाश्त करना अत्यंत दुरुह है। खैर, गुरु कृपा ही केवल सहारा है।

साधक उस गोला प्रकाश या सूर्य प्रकाश को बाईं तरफ से छोड़कर दाईं तरफ से परिक्रमा करके घूमे। उसी तरह मन को भी ऊपर ले जाए। कुछ दूरी पर ही परम शून्य दिखाई पड़ेगा। यही पूर्णत्व का स्थान है। इसे परम शून्य कहना भी बेईमानी है। परंतु शब्दाभाव प्रतीत होता है। अतएव मैंने परम शून्य कह दिया इसे केवल जाना जा सकता है। यहां मैं का मेरे का भान भी समाप्त हो जाता है। यथा–

"मैं मेरी सब जाएगी, तब आवेगी और।
जब यह निश्चल होएगा, तब पावेगा ठौर।।"

यह सहज समाधि है। इसी से इसे अत्यंत उत्तम कहा गया है। यथा—

"उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यान धारणा।
कनिष्ठा शास्त्र चिंता च तीर्थयात्रा धमाऽधमा।।"

यह अवस्था न जाग्रत है न स्वप्न है, न सुषुप्ति, न मूर्च्छा और न समाधि है। सुषुप्ति और सहजावस्था में फर्क यही है कि सुषुप्ति में बेहोशी रहती है, पर सहजावस्था में बेहोशी नहीं रहती प्रत्युत पूर्ण होश रहता है, पूर्ण जाग्रति रहती है, पूर्ण जाग्रति रहती है, ज्ञान की पूर्ण दीप्ति रहती है।

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा—'आत्म संयमयोगाग्नो जुह्वति ज्ञानदीपिते।'

साधक को चुप (मौन) स्वाभाविक है। अब वह न कर्ता है न ही भोक्ता। स्वाभाविक अवस्था है—'सहज'।

परम पद

अब मौन योगी कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है। यानी 'मैं तू' का भाव समाप्त हो जाता है। अब तो योगी का खाने, सोने जागने का भी भान समाप्त हो जाता है। स्वरूप को पाकर वह स्वरूपाकार हो जाता है। सुरति अब निरत में जाकर स्थिर हो जाती है। योगी चित्र द्रष्टा की भांति हो जाता है। यह स्थिति योगी की कुछ ही काल रहती है।

पुनः सुरत को मुक्त कर देता है। अब योगी विदेह की तरह सारा जगत का कल्याण कर सकता है। अब मात्र द्रष्टा बन कर संसार में रहता है। उस योगी में स्वरूप की स्थिति एक-सी बनी रहती है। उसे जगत का जागतिक व्यवहार एवं अध्यात्म का पक्ष दोनों समान रूप से ज्ञात होता है। अब वह जगत में उसी तरह रहता है, जैसे कमल जल में।

"कमल पत्र तरंग एक मांही, संग रहे लिप्त पै नाहीं।।"

यही अवस्था परम तत्व है। जीवन्मुक्ति है, सहज समाधि है, अब यह योगी जो भी करता है वही पूजा है जहां रहता है, वहीं तीर्थ है। यथा—

"साधो सहज समाधि भली है।
गुरु प्रताप भई जा दिन से सुरति न अंत चली है।।
जहं जहं डोलों सोइ परिक्रमा, जो कुछ करौ सो सेवा।।
जब सोवो तब करौं दण्डवत, पूजो और न देवा।।
कहो सो नाम सुनो सो सुमिरन, खाव पियो सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखो, भाव न राखो दूजा।
आंख न मूदो, कान न रुधो, तननि कष्ट नहि धारौ।

खुले नैन पहिचानो हंसि-हंसि, सुंदर रूप निहारौ॥
सबद निरंतर मनुवां लागा, मलिन वासना त्यागी।
उठत वैढात कबहु न छुटै, ऐसी तारी लगी॥
कहै कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करिगाई।
दुख-सुख से एक परे परम पद, तेहि पद रहा सगाई॥

सद्गुरु कबीर की उपरोक्त वाणी से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। वह योग्गी सुख-दुख से परे हो जाता है परम पद को प्राप्त कर लेता है। इस तरह के योगी ही अब हंस-हंस कर जगत का कल्याण मूलक कार्य कर सकता है। चूंकि चारों तरफ अब उसे उसी का सुंदर रूप नजर आ रहा है। चाहे नैन खुला हो या बंद। अब भाव चाह कर भी दूजा नहीं ला सकता है। दूसरा खा रहा है तो वह उसी के मुंह से खा रहा है। जो कुछ भी कर रहा है परमात्मा भाव, सेवा भाव, कल्याण भाव है। जहां भी जा रहा है, वही परिक्रमा है। मन निरंतर ही 'स्व' में लगा रहता है। मन का अब लगना भी नहीं कहा जा सकता है, सहज हो गया है।

इस तरह का योगी साधारण मनुष्य से हजारों गुना ज्यादा क्षमता से कार्य करता है। परंतु कहीं भी उसकी पकड़ नहीं होती। जैसे जनक, कृष्ण, कबीर, नानक इत्यादि।

यह काल योगी के लिए अत्यंत ही आश्चर्य का होता है। इस विदेहावस्था परम वैराग्यावस्था का भान मात्र उस स्थिति में पहुंच कर ही किया जा सकता है। अन्यथा साधारण श्रोता के लिए मात्र कल्पना ही रह जाता है। वेद व्यास जी भी इस अवस्था का 'स्व' में भान किए जो अत्यंत ही सहज था। यथा–

''अन्धो मणिमविध्यतम नड्गुलिरायत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुण्चतमजिह्वोऽभ्य पूजयत्॥''

यानी अंधे ने मणियों को बींधा है। जरा आप सोचें अंधा मणि को कैसे पहचान सकता है। यदि किसी के कहने से पहचान भी लिए तो उसमें छिद्र कैसे कर सकता है। मणि को छेदना कोई साधारण बात नहीं है। यह अपने आप में आश्चर्य है। आगे कहते हैं बिना अंगुली वालों ने उसमें धागा पिरोया। आप पुनः जरा ध्यान से सुने, बिना अंगुली का तो हाथ ही नहीं होता। परंतु इस मणि को मानो बिना अंगुली वाला ही धागा पिरोया है ऐसा ही भान करता है। माला ग्रीवा रहित गले में डाली गई। बिना गले के माला कैसे डाली जा सकती है ?

जिह्वा रहित ने उसकी प्रशंसा की। वेद व्यास जी का अनुभव सब अपने आप में आश्चर्य में डाल देता है। अभी तक तो कुछ संभव था। परंतु आगे कहे

कि वह मणियों की माला भी उस पुरुष के गले में डाल दिया, जिसके पास गला ही नहीं है। यह कैसे हो सकता है। यदि गला नहीं तो माला डालोगे कहां ? तथा किसी तरह डाल भी दिया तो उसकी प्रशंसा कौन करेगा ? जिसके पास जिह्वा नहीं है। जिह्वा रहित ने ही उस परम पुरुष की प्रशंसा की। इसी से उपनिषद वेद इसे नेति-नेति कह दिया। चूंकि यहां आनंद अनुभव वर्णन किया नहीं जा सकता। यदि किसी भी तरह किया गया तो सर्वसाधारण के लिए अतिशयोक्ति हो जाता है। या हास्यास्पद हो जाता है।

जब भी साधक इस स्थिति में पहुंच कर निर्विचार हो जाता है। परम शून्य को उपलब्ध हो जाता है। तो महापुरुष की भांति जगत कार्य करने के लिए जगत का भला करने के लिए, उसको कुछ नीचे उतरना पड़ता है। नीचे के शरीर में करुणावश आकर आपका हित कर जाता है। उसमें भी अपना हित नहीं समझता वह तो पुन्यापुण्य से अलग हो जाता है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं–

"भोगहु भोग युक्ति जनि भुल हूं।
जोग जुगति तन साधहु हो॥",

साधक को अब साधना भी नहीं है। अब तो योग युक्त है। चूंकि एक बार मन की मित्रता हो गई या वह महा समुद्र में छलांग लगा ही गया। तो कैसे कर सकता है, अलग अपनी पहचान ? उससे तो अस्तित्व का गांठ पड़ गया। सद्गुरु कबीर ही कहते हैं–

"मनुआ मीत मित्रइओ न छोड़े
कबहु गांठि नहिं खोले हो॥"

अब गांठ खोंलना भी असंभव है। यह परम योगी सिद्ध साधक इन्हीं स्थितियों में रहकर जगत का कार्य निष्पादन करते हैं।

सहज योग की दूसरी पद्धति–

यह जरूरी नहीं है कि एक ही साधना हर व्यक्ति के लिए हितकर एवं उपयुक्त हो इसीलिए झेन महात्मा अपने शिष्यों से कहते हैं कि यह जरूरी नहीं कि मेरे द्वारा बताया गया उपदेश ही तुम्हारे लिए ठीक हो। तुम वहां भी जा सकते हो। जहां हमारे मत का खण्डन होता है। हमारी शिकायत, निंदा होती है, हो सकता है वह ही तुम्हारे लिए हितकर हो जाए। या हो सकता है हम दोनों से मिलकर जो बनता है वही तुम्हारे लिए हितकर हो जाए। या यह भी हो सकता है हम दोनों को काट कर जो बचता है वह तुम्हारे लिए

हितकर हो जाए। बुद्ध पुरुष कभी बांधते नहीं, वे तो बंधन मुक्त होते हैं। हमारे संप्रदाय, मजहब, तथाकथित धर्म गुरु बांध देते हैं। बच्चे के जन्म लेते ही हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, जैन इत्यादि में बांध देते हैं। बच्चे को बच्चा नहीं रहने देते, उन्हें भ्रम रहता है कि कहीं बड़ा होकर इन बंधनों से बाहर न निकल जाए। अतएव जन्म लेते ही बांधने का उपाय शुरू हो जाता है। सब मजहब अपने को श्रेष्ठ साबित करने में ही व्यस्त हैं। भले ही उनमें श्रेष्ठता का अंकुरण हुआ हो या नहीं। अहंकार का, द्वेष का, घृणा का तो बीज बोने में अवश्य सफल हो जाते हैं। शांति के लिए लोग युद्ध तक करते है। इसमें भी बड़ा मजा है, कहते है शांति के लिए करते हैं युद्ध। मोहम्मद की तलवार पर यह वचन खुदा हुआ था—

"शांति ही मेरा धर्म है।" इतना ही नहीं उन्होंने अपने धर्म का भी नाम दिया **'इस्लाम'** यानी शांति का धर्म। परंतु इस्लाम ने जितनी अशांति फैलाई शायद किसी ने भी नहीं फैलाई हो। जोर-जबरदस्ती तलवार के बल पर करोड़ों-करोड़ों लोगों पर यह धर्म थोपा गया है। इस्लाम औरतों को संपत्ति मानता है। अभी पूरे विश्व में जहां-जहां इस्लाम है, लगभग वहां-वहां ही आतंकवाद है। ये आतंकवाद का दूसरा रूप ही बन गए हैं। हिंदू भी अपने को सहिष्णु कहते हैं, परंतु जितना इन्होंने शूद्रों को सताया दुनिया में शायद ही किसी ने किसी को सताया होगा। एक भी राम, एक भी भगवान शूद्र में पैदा नहीं हुआ। एक तरफ परमात्मा को सर्वव्यापी कण-कण में बताया। परमात्मा स्वरूप ही सबको देखा। क्या उस कण में शूद्र एवं औरतें नहीं आतीं ? औरतों को तो नरक का द्वार तक कह दिए। बुद्ध का पहला जब पहला दिवा निर्वाण को, बुद्धत्व को उपलब्ध हुए। जिस दिन वृक्ष के नीचे बैठे-शांत निर्विचार जाग कर अपने को, स्व को देखा। देखते ही मन ठहर गया, समझ ठहर गया, विस्तार लुप्त हो गया। जैसे अचानक आकाश से बादल विदा हो गए। सूरज निकल आए। गहन मौन, सन्नाटा और तत्क्षण उसने देखा आकाश से फूल बरसने लगे। तत्क्षण सहज हो गया। तो आएं हम भी सहज होने के लिए आगे बढ़ें। सब कुछ पहले से है, अर्थात्—

"नर के संग सुवा हरि बोले।
हरि प्रताप न जाने॥
जो कबहु उडि जाए जंगल में।
तो हरि सुरत न आने।

जैन धर्म अपने को अत्यंत उदार मानता है। जैन कहता है, 'तुम शरीर नहीं हो आत्मा हो।' वहीं दूसरी तरफ जैन धर्म की मान्यता है कि स्त्री का मोक्ष

होता ही नहीं। मोक्ष लेना होगा तो पुरुष का ही शरीर धारण करना होगा। क्या आत्मा भी स्त्री-पुरुष का अलग-अलग है। एक तरफ आत्मा की बातें करते हैं दूसरी तरफ शरीर पर ही अटक गए।

दूसरी तरफ हिंदू लोग गाय के मूत्र को अमृत कह दिए। गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घी मिलाकर पंचामृत बना दिया। इसकी महानता का भी पुराणों में वर्णन कर दिया गया। क्या विडंबना है ? गाय के मल-मूत्र से भी शूद्र गए गुजरे हैं। औरतों की भी स्थिति वही है। हिंदू शास्त्र कहते हैं नारी ज्ञान, ध्यान एवं वैराग्य का नाश कर देती है। सीधे नरक भेज देती है क्योंकि वह नरक का द्वार ही तो है।

जिनमें भी अपने मत का आग्रह होता है, वे मतवाले होते हैं। मतवालों की बात न ही यथार्थ है न ही विश्वसनीय।

"मतवादी जानै नहीं, तत्वादी की बात।
सूरज उगा अम्लुवन, गिन्नै अंधेरी रात॥"

कोई भी संप्रदाय किसी से पीछे नहीं है। सिख लोग भी अपने नव गुरु के बाद गुरु बंद ही कर दिए। अब गुरु ग्रंथ साहब की पूजा अर्चना शुरू हो गई। क्या अब प्रतिभा का जन्म नहीं होगा ? निरंकारी अभी गुरु मानते हैं। तो सिख धर्म उसे बहिष्कार करता है। क्या अंतर है ? उधर मूर्ति पूजकों एवं इधर ग्रंथ पूजकों में, प्रकृति निरंतर विकास की तरफ बढ़ती है। आदमी निरंतर बदलता जा रहा है। आदमी जो सात वर्ष पहले था, वह अभी नहीं है। वैज्ञानिक कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सात वर्ष में बदल जाते हैं। एक अणु-अणु बदल जाता है। सिख वहीं गुरु ग्रंथ साहब को पकड़ कर बैठे हैं। ये संप्रदाय वाद किसी को आगे देखने को कहता, किसी को पीछे को, किसी को ऊपर, किसी को नीचे। सभी 'स्व' से दूर विक्षिप्तावस्था में हैं। कोई अज्ञान में विक्षिप्त है तो कोई तथाकथित ज्ञान में।

मैं एक कहानी सुना हूं। यूनान में एक बहुत बड़ा ज्योतिषी था। उसका नक्षत्र, तारों, ग्रहों पर भविष्य के संबंध में बहुत बड़ा अध्ययन था। एक रात्रि वह तारों का अध्ययन करता हुआ चल रहा था। चलते-चलते नगर से बाहर निकल गया। ऊपर ही तारों पर नजर लगाए हुए था।

बाहर सुनसान जगह पर चला गया एवं चलते-चलते एक कुएं में गिर गया। जब कुएं में गिरा तो अब तारा भूल गया, अब किनारा खोज रहा था। कुछ काल के बाद मालूम हुआ कि गड्ढा है कुआं है। अतएव चिल्लाना शुरू किया। कौन सुनता ? वहां एक बुढ़िया खेत (अगोर) रखा रही थी। एक

झोंपड़ी में बैठी थी। आवाज सुनी कुएं तक गई एवं रस्सी नीचे लटका दी। किसी तरह ज्योतिषी बाहर निकला, बाहर निकलते ही वह बुढ़िया को धन्यवाद किया एवं कहां कि 'मैं एथेन्स का बहुत बड़ा ज्योतिषी हूं। तुम कल दिन में मेरे यहां आना। मेरा नाम पूछ लेना। एथेन्स का कोई आदमी मेरा घर बता देगा। हमारे यहां बहुत बड़े-बड़े लोग आते हैं। हजारों रुपये हमारी फीस है। बड़े-बड़े नेता, अधिकारियों की भीड़ रहती है। खैर, तू आ जाना, तुम्हारा भविष्य मुफ्त में बता देंगे। कोई फीस भी नहीं लेंगे। बुढ़िया कही ठीक है, धन्यवाद। मुझे अपना भविष्य नहीं जानना है। मैं तुम में भी अपने को ही देख रही हूं। तुम दूसरे का भविष्य बताते हो, अपने बारे में एक कदम आगे का नहीं जानता, तो इस तरह की भविष्य की पढ़ाई से क्या फायदा ? कहते हैं वह एथेन्स उसी दिन, उसी क्षण से ज्योतिषी का काम छोड़ दिया एवं बुढ़िया को झुक कर प्रणाम किया। कहा कि मां आज से तुम ही हमारी गुरु हो। वह ज्योतिषी तत्क्षण स्वर की खोज में अंतर्मुखी हो गया। अहंकार विदा हो गया। सहज हो गया।

यह क्षण हम सबके सामने हर समय आता है। यदि हम सीखना चाहते हैं तो एक नन्हे से बच्चे से भी सीख सकते हैं। पेड़ से, पर्वत से, झरने से, कहीं भी सीख सकते हैं। नहीं सीखना है तो कहीं नही सीखेंगे। हम विभिन्न संप्रदायों के शब्द जाल में फंसे ही रह जाएंगे। आप देखते हैं हजारों लोग मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरिजाघर जा रहे हैं।

क्यों जा रहे है ? **वहां भी चाह है, वासना है, जहां चाह है, वासना है, वहां प्रार्थना नहीं है।**

काम की वासना की दुर्गंध में, अर्चना की सुगंध कैसे पैदा होगी ?

लाख धूप, दीप जलाओ—न होगी रोशनी, न होगी सुगंध। हो सकता है दुर्गंध को, अंधेरे को छिपा लेंगे, परंतु मिलेगा नहीं। यही हम धोखा जन्मों-जन्मों से करते आ रहे हैं। इस जन्म को सहजता से सहज योग में लगा दें। अभी नहीं तो फिर कभी नहीं।

विधि—

साधक गुरु के सान्निध्य में रहकर सबसे पहले अपना तर्क-वितर्क एवं कुतर्क को समाप्त करे। सोच ले अब कोई प्रश्न नहीं है। मात्र एक प्रश्न ही है जिसका उत्तर स्व के अंदर खोजना है। अब साधक को हद एवं बेहद की सीमा को पार करना है।

"हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोउ तजे, ताकर मता अगाध॥"

यदि साधक की स्थिति यह हो गई हो कि मानव एवं साधु दोनों की स्थिति को पार कर समाधि की तरफ बढ़ सकता है, तब तो ठीक है। अन्यथा गुरु क्या कर सकता है।

"गुरु बिचारा का करै; सिखहि माहि चूक॥"

कही भी चूक हो जाने पर बात नहीं बनेगी। साधक गुरु पर पूर्ण श्रद्धा विश्वास कर उसी के निर्देशों को समझकर सहज हो जाए।

साधक कही भी एकांत में बैठकर चिंतन करे, अंदर प्रवेश करें। बाह्य पदार्थों से मन को अवरुद्ध कर शुद्ध चित्त से चिंतन करे।

प्रथम–साधक चिंतन करे कि मैं अमर हूं। मैं ही एक हूं। अहम् ब्रह्मास्मि में ही परम तत्व हूं। मुझसे अलग कुछ भी नहीं है। जो भी बाहर जगत है। वह मुझसे ही निःसरित है वह मुझ में विलीन हो जाएगा, मैं तो संकल्प निर्विकार हूं, मेरी ही चेतन सत्ता पूरे जगत में व्याप्त है। इस तरह साधक को, संपूर्ण समुद्र को अपने में देखना है।

"बूंद जो परा समुद्र में, जो जानत सब कोय।
समुद्र समाना बूंद में, सो जानै विरला कोय॥"

ऐसा कोई विरला यानी एकाध ही साधक सक्षम होता है, जो पूरे समुद्र को ही, परम पिता परमात्मा को ही आह्वान कर ले अपने में। इसमें साधक केवल सुरति का सहारा ले। सुरति के सहारे उपरोक्त चिंतन करते हुए निर्विकार हो जाए।

द्वितीय चरण–साधक जब सोचता है मैं ही वह शुद्धात्मा हूं। मैं ही परम हूं। मैं ही पारब्रह्म हूं। जब इस तरह का दृष्टि पूरा हो जाता है तब वह चिंतन करता है कि ब्रह्म एवं 'हूं' या 'है', दो अलग-अलग नहीं है। या 'हूं' मात्र परमात्मा ही हो सकता है। इस तरह यह कहना या चिंतन करना, फिर परमात्मा हूं, यह परमात्मा का ही दोबार पुनावृत्ति है क्योंकि पहला आखिरी तो मात्र उसका ही अस्तित्व है। इस तरह मैं तो प्रकृति का प्रतीक एवं 'हूं' पूर्ण ब्रह्म चेतन का। इस तरह 'मैं' की 'नहीं' के साथ एवं 'हूं' की 'है' के साथ एकता है। हालांकि मैं के साथ संबंध होने से 'हूं' है। अगर मैं का संबंध छोड़ दें तो 'हूं' नहीं रहेगा। प्रतीत 'है' रहेगा वहीं जो परम तत्व है।

जब साधक अहम को पकड़े रहेगा तब 'अहम्' के संबंध से ही 'मैं, तू यह और वह उत्पन्न हो जाएगा। जबकि 'है' ही सबका प्रकाश है। एवं 'है' में ये चारों

नहीं है। इस अहम के नाश होते ही देश काल क्रिया अंतर्धान हो जाते है। 'है' सत् रह जाता है। साधक मौन हो जाएगा। समुद्र ही बूंद में मिल जाएगा। **साधक अक्रिय हो जाता है। अक्रिय से ही संसार उत्पन्न होता है। एवं उसी में विलीन हो जाता है। इस तरह साधक संसार की सहज स्वाभाविक तथा नित्य-निरंतर निवृत्ति है और परम तत्व की सहज स्वाभाविक तथा नित्य निरंतर प्राप्ति है। संसार की प्रतीत है प्राप्ति नहीं।** यही अवस्था सहजावस्था है। साधक पहचान लेता है या पा जाता है सहजावस्था को।

'सहज सहज सबही कहे, सहज न चीन्हे कोय।
जो सहजे साहिब मिले, सहज कहिजै सोय॥''

इस तरह साधक का समाधि ध्यान, कुण्डलिनी अनुभव, सबकी जिज्ञासा मर जाती है। वह स्वरूप में स्थित हो जाता है।

''सुन्न मरै, अजपा मरै, अनहद हूं मरि जाय।
राम स्नेही ना मरे कह कबीर समुझाय॥''

सिर्फ वही बचता है, जिससे द्वैत का कोई संबंध निर्मित नहीं होता। जिसके साथ दो का बोध नहीं होता। जरा इस पर ठीक से विचार करना होगा। 'सुन मरे, पर सुन्न होना चाहिए। अनहद होना चाहिए, अजपा होना चाहिए जो है ही नहीं, वह मरेगा क्या ? यानी इसी अनुभव में नहीं रुकना। वह तो होगा ही। योगभ्रष्ट का भी अर्थ यही है। समाधि तो मिल गई। लेकिन ध्यान तो आ गया, फिर ध्यान से आसक्ति हो गई अनासक्ति न रही। ऐसे ही व्यक्ति को योग भ्रष्ट कहते हैं, परंतु जब साधक इससे भी आगे राममय हो जाता है। तब वहां न भक्त रहता है, न भगवान।

'राम सनेही न मरै, कह कबीर समुझाया' अब न ही कोई पूजक है न कोई पूज्य। इस समय जो प्रेम की सरिता बहती है, दोनों कूलों का स्पर्श करते हुए, वह है राम स्नेही। वह मरता नहीं क्योंकि जो भी मर सकता था, सब पहले ही मर गया, सूक्ष्मतम अहंकार बचता है, न समाधि न ही चमत्कार। साधक पूर्ण खाली है या पूरी तरह खो गया। कोई भी रूपरेखा नहीं बची। न ही कोई चिन्ह छूटा सब परमात्मा तो है। 'या परमात्मा ही सब तरफ से घेर लेता है। इस तरह के साधक की स्थिति सद्गुरु कबीर के ही शब्दों में–

''जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पहुपवास से पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥
कथन श्रवण तह होते नहीं, गमनागमन भी नाहिं।
शून्या शून्य दोनों परे, दिल दरिया माहि॥

अब साधक पूर्णत्व को प्राप्त कर पूर्ण हो जाता है। उस रूप की व्याख्या अब उसके बस की नहीं रह जाती है। चूंकि रूप का ही वर्णन संभव है।

अरूप का वर्णन कैसे करेगा ? वहां न ही कथन है न ही श्रवण रह जाता है। यानी अनाहद नाद की भी गति समाप्त हो जाती है। अब तक तो साधक शून्य को साध रहा था। प्रकाश को साध रहा था। यदि प्रकाश को साध रहा है तो अंधेरा भी संभव है। प्रकाश और अंधेरा दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतएव अब तो साधक प्रकाश एवं अंधेरे से भी मुक्त हो गया। शून्य-शून्य से भी मुक्त हो गया बिलकुल छलांग लगा गया। दोनों से पार चला गया। अब वह क्या करेगा ? अब तक तो कहता रहा। अब कहने की स्थिति में नहीं है। इस तरह बुद्ध पुरुष से आप प्रश्न करोगे। ईश्वर है या नहीं ? तो क्या उत्तर देगा ? वह तो असमर्थ हो जाएगा। यह प्रश्न भी उसके साथ में करना नादानी है। जैसे प्रकाश से ही कोई नादान पूछे—प्रकाश है या नहीं ? प्रकाश क्या उत्तर दे। उत्तर तो वही दे सकता है जो नहीं देखा। नहीं पहचाना, नहीं जाना, अंधकार ही कह सकता है कि प्रकाश है, या यह भी कह सकता है, क्या बकवास की बात करता है प्रकाश भी कुछ होता है। मेरी (अंधकार) अनुपस्थिति ही प्रकाश समझ लो। समझने वाले इशारे मात्र से समझ सकते हैं। नहीं समझने वाले नहीं ही समझेंगे। चाहे आप किसी भी तरह समझा लें। कोई शक्कर खाया हो। दूसरा पूछता है शक्कर कैसा है। क्या कह सकता है। मात्र किसी तरह इशारा कर सकता है। मीठा है। कितना मीठा है ? कैसे बताएगा ? उसी तरह 'विज्ञ' पुरुष परम पुरुष के बारे में इशारा मात्र कर सकता है। इसी से कबीर साहब कहते हैं—

जाने सो कहै नहीं, कहै सो अनजान।

परमात्मा के बारे में अब व्याख्या वही दे सकता है जो बिलकुल कोरा हो। अनजान हो। पुस्तकों को रट लिया हो, सुगा के तरह या पीठ पर विद्वत्ता ढो रहा हो गधे की तरह।

यह योगी तो अब उसका साक्षात्कार कर लिया। अब अपने को अलग उसको अलग भी नहीं कह सकता न ही दो का भान रख सकता। कैसे रखेगा ? उसके लिए असंभव है। हां, स्वामी राम इसी से साक्षी भाव से अपने को देखते थे। कहते थे। स्वामी राम प्यासा है। इसे पानी दो, कोई पत्थर मारता कोई गाली देता तो हंसते थे। कोई व्यक्ति पूछता क्या बात है, स्वामी जी। राम को लोग पत्थर मार रहे हैं। स्वामी राम को लोग गाली दे रहे हैं। बिलकुल ही साक्षी भाव था। वे द्रष्टा की तरह देख रहे थे। करुणावश यह योगी जब कुछ कहना चाहता तो उसे अत्यंत

मूलाधार चक्र

वं

मं लं शं

षं

कठिनाई महसूस होती। वैसे किसी प्रकार पांचवें शरीर पर लौटना पड़ता है। चूंकि उस शरीर में कुछ कह ही नहीं सकते। वह तो बिलकुल सत् शरीर है, सत् भी इंगित ही कर सकता है। आप जरा यों सोचें जो बूंद समुद्र में मिल गई कैसे अपने अस्तित्व को अलग रखेगी। अलग रखेगी तो वह मिली नहीं। इस अवस्था में जिया जा सकता है। हुआ जा सकता है। जाना सकता है। इसी अवस्था के योगी को आप अवतार कहते हैं। ईश्वर कहते हैं। आप जो चाहे कहें। ये शब्द इंगित करते हैं, वैसे व्यक्तियों की तरफ जो मन को छलांग लगा गए हैं। मन के पार जा चुके हैं। अन्य साधकों के लिए या जगत के लिए करुणावश वे पांचवें शरीर में लौटकर ही कुछ उपदेश देते हैं। सच्ची बात कह देते हैं। जो प्रत्यक्ष देखें है अनुभव किए हैं। भले ही आपके पुराण से मिले या नहीं, वे परवाह नहीं करते। अब बेपरवाह हो गए हैं। भले आप आलोचना करो, कहो यह तो कहीं लिखा ही नहीं। ये तो मस्त-दिवाने होते हैं। अपने ब्रह्म में रंग के रंगे दीवाने।

''लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।''

कुण्डलिनी और चक्र–

जब साधक प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करता है, तो उसे एक अद्‌भुत अनुभव होता है। वह अनुभव किसी भी बाह्य अनुभव से मेल नहीं खाएगा उस समय साधक ज्यादा से ज्यादा मौन रहे। गुरु के साथ भी मौन सत-संग करे। जब भी साधक का ध्यान केंद्रित नहीं होता हो एवं बहिर्मुख हो जाता है तो गुरु के साकार रूप का ध्यान करे तत्पश्चात मन के केंद्रित होते ही गुरु के नख का ध्यान करे। इस तरह साधक अपने गंतव्य स्थल की तरफ आगे बढ़ जाए। इससे साधक को बाह्य बाधाओं से बचने में आसानी होती है। प्राणायाम के द्वारा इंगला एवं पिंगला के श्वास-प्रश्वास एवं कुंभक से सुषुम्ना अपने आप चलने लगती है। साधक को यह जान लेना श्रेयस्कर होगा कि सारा का सारा अनुभव एवं कुण्डलिनी का जागरण तभी होता है जब श्वास सुषुम्ना में पहुंचता है। इस समय मालूम होता है कि बहुत धीरे-धीरे दोनों श्वास चलता है या रुक सा गया है। बाएं श्वास यानी चंद्र स्वर या गंगा इड़ा इत्यादि नामों से जाना जाता है। इसमें सावित्री एवं ब्रह्मा का निवास है। दायां स्वर, सूर्य स्वर पिंगला जमुना या पुरुष का प्रतीक है। इसमें विष्णु एवं लक्ष्मी का निवास माना गया है।

सुषुम्ना नाड़ी–

इसे नपुंसक का अंश कहा गया है। यही सरस्वती भी कही जाती है। इसे

कबीर साहब राहू भी कहते थे। जो चंद्र एवं सूर्य नाड़ी को ग्रास करा लेती है।

"नितै अमावस नित ग्रहण होई, राह ग्रासे नित दीजै"

तब ही यह स्वयं धीरे-धीरे चलने लगती है। जिससे साधक इसी के माध्यम से अपने गंतव्य तक पहुंचता है। इसमें महादेव एवं पार्वती का निवास माना गया है। साधक इस नाड़ी में प्रवेश अत्यंत सावधानी से गुरु के निर्देशन पर करे। जब यह नाड़ी चलने लगती है तो कुण्डलिनी अपने आप जाग्रत हो जाती है। अपने आप ही दैवी गुणों का समावेश हो जाता है। तब साधक 'बिन पढ़े, वकै पुरुणा' की स्थिति में पहुंच जाता है। इस नाड़ी के बंद होने पर साधक मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इससे इसे खुद का रूप प्रलयंकार भी कहा जाता है। इससे साधक बिना इसे छेड़छाड़ किए प्रश्वासों के माध्यम से ही इसमें सहजावस्था में प्रवेश करें। इसमें प्रवेश करते ही साधक का ध्यान लग जाता है तथा ध्येय तक पहुंचने में सफल हो जाता है। साधक के सारे प्राणायाम का फलाफल यही है कि वह सुषुम्ना में निर्विघ्न पहुंच जाए।

कुण्डलिनी–

सुषुम्ना नाड़ी के निचले भाग पर कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरा मारकर अपनी पूंछ अपने ही मुंह में डालकर सोई हुई है। साधक प्रथम इसे पूर्ण ऊर्जा प्रकाश के रूप में देखता है। कुछ काल के बाद जब यह कुण्डलिनी जाग्रत होती है तब साधक के लिए यह प्रकाश, ओज, आवाज, दृश्य, अनुभव सब असाध्य होने लगता है। साथ ही अब साधक भीतर बाहर से बिलकुल बदला हुआ होता है। अब साधक अंतर्मुखी यात्रा शुरू करता है। अब यही कुण्डलिनी उर्द्धगति से ऊपर की तरफ चलती है तो साधक आनंद का अनुभव भी कर सकता है। कुण्डलिनी एक ऐसी आग है, जिसके जागते ही शरीर के सारे कचरे जल जाते है। मांस, खून, मज्जा जो भी जरूरत से ज्यादा है। सब जल जाता है। यह एक अत्यंत तेज इलेक्ट्रिक फोर्स है। जिसमें क्रोध, लोभ भी जल जाता है। शरीर में रहता है वही, जिसकी शरीर को जरूरत हो, साधना की जरूरत हो। कुण्डलिनी के हिलने मात्र से वासना भड़क उठती है। इस समय साधक अतिकामी, क्रोधी, लोभी हो सकता है। चूंकि यह ऊर्जा के जन्मों-जन्म के अधोमुख का परिचायक है। ऐसी स्थिति में गुरु सान्निध्य की अति आवश्यकता है।

मूलाधार चक्र–कुण्डलिनी उर्ध्वगति से ऊपर चलती है। पहला चक्र है मूलाधार। यह गुदा स्थान से दो अंगुल ऊपर है जिसमें चार दल कमल हैं। इसका रंग लाल है इन कमल दलों पर व, श, ष, स में ही चार अक्षर हैं।

मूलाधार चक्र

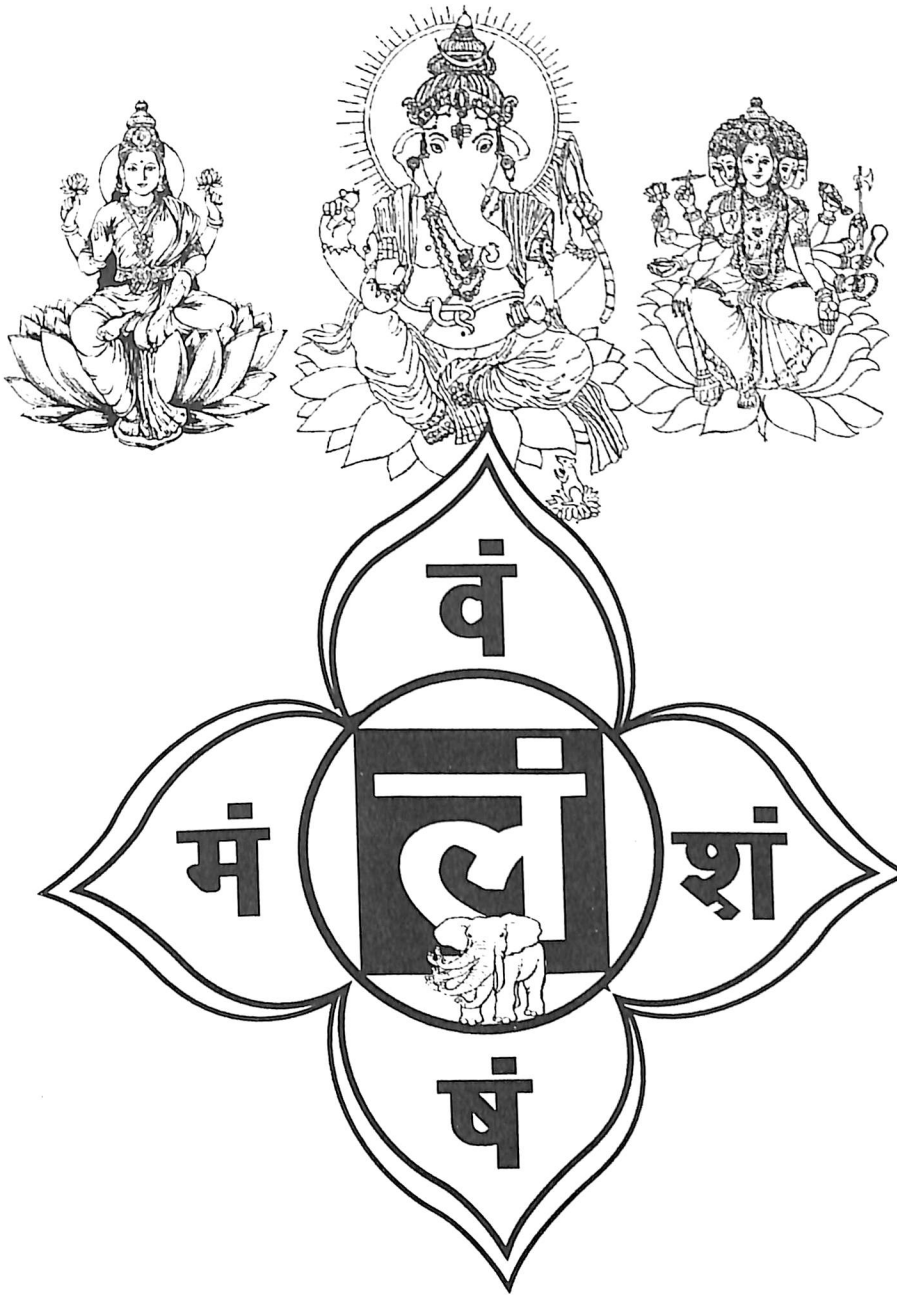

देव स्थान—इसके मध्य में गणेश जी ऋद्धि एवं सिद्धि के साथ बैठे हैं। लवणा सागर भी यही है। चंद्रमा भी अपनी पत्नी रोहिणी के साथ यहीं है। 27 (सत्ताईस) नक्षत्रों का वास भी इसी चक्र में है। इसके पूरब दल पर इंद्र शची के साथ है। दक्षिण दल पर यमराज अपनी पत्नी के साथ तथा उत्तर दल पर कुबेर एवं चित्रपुरी है। साधक अपनी आध्यात्मिक यात्रा में ध्यान के द्वारा सब कुछ देख सकता है।

मानसिक पूजा—साधक गुरु आज्ञा लेकर सबसे पहले गणेश जी का षोड्स विधि मानसिक पूजन करे। तत्पश्चात उनकी पत्नी ऋद्धि एवं सिद्धि की एवं वाहन मूषक की भी। गणेश जी को लड्डू का ही भोग लगाना श्रेयस्कर होता है। तत्पश्चात गणेश जी का ही आदेश प्राप्त कर साधक कुबेरपुरी या चंद्रपुरी, यमपुरी का दर्शन कर सकता है। जिस लोक में साधक भ्रमण करता है। वहां के देवता का षोडस विधि से पूजन कर उनका आदेश प्राप्त कर उनके द्वारा अधिकृत देवता के साथ ही व लोक घूमा जा सकता है। जो भी पुराणों में वर्णन यमपुरी या कुबेरपुरी का मिलता है, वह सब साधक सहज ही घूमकर देख सकता है। इसी से कबीर साहब कहते हैं—

बिन पढ़ै बकै पुराना।

इतना ही नहीं आगे कहते हैं—

'बैठे पंडित पढ़ै पुराना, बिन देखे का करे बखाना। बाहर नीरख बड़ पंडित होई, लखे बचन सत्य सम होई।' आद्या या आदि शक्ति भी यही है। यही विद्या का भण्डार है तथा वाणी का विकास भी यहीं से होता है। चौरासी लाख नाड़ियों का संयोजन यहीं पर होता है। इसी से चौरासी लाख योनियों का खजाना भी यहीं है। सारी नाड़ियां यहीं जुटती हैं। इसी से गुणों के ईश 'गणेश' यहीं विराजमान हैं। गणेश की पूजा संसार में भी पहले इसी से होती है। इंगला-पिंगला एवं सुषुम्ना का संयोजन भी यहीं होता है। अब साधक को आसानी से समझ में आ गया होगा कि जिस सिद्धि के लिए मांत्रिक तांत्रिक तथा प्रेतादि साधक जन्मों गंवा देते हैं। वह सब इस पथ के साधक को सहज ही प्रथम चरण में ही उपलब्ध हो जाता है।

भौतिक शरीर (Physical Body)—साधक को यह समझ लेना है कि जैसे सात चक्र हैं ठीक उसी तरह सात शरीर भी हैं। मूलाधार चक्र से ही चक्र भेदन क्रिया आरंभ होती है। जिस-जिस चक्र पर कुण्डलिनी आती है। साधक उसी के अनुरूप शरीर धारण करता है एवं योग्यता में, भाव में, विचार में उसकी स्थिति में भी तद्नुरूप बदलाहट प्रारंभ हो जाती है। प्रकृति

के द्वारा उपलब्ध काम केंद्र (Sex centre) यहीं है। दक्ष प्रजापति भी यहीं रहते हैं। अतएव मन का निवास भी यही रहता है। अतएव जीव यहीं से सृष्टि का काम करता रहता है। मन यहीं पर पाप-पुण्य में फंस जाता है। चूंकि यौवन शक्ति का केंद्र यहीं है। मन इसी से इसी में फंसा इसके इर्द-गिर्द घूमता रहता है। मन अपने अधोगति के रास्ते यहीं पर फंस जाता है। जो जन्मों जन्म तक यहां से मुक्त नहीं होता है, वह कहलाता है 'ब्रह्मचर्य' साधक न ही काम के दमन से ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है ना ही काम के दलदल में फंस कर। ध्यान के द्वारा ही काम का रूपातंरण संभव है। जब काम का रूपांतरण होता है तब मन ध्यान के साथ उर्द्धगति से ऊपर की तरफ चल देता है। जब मन ऊपर की तरफ चलता है तो इसकी अनंत संभावनाएं बनती हैं। यह अनंत तक जाने में सक्षम हो जाता है। साधक के लिए काम का दमन उतना ही खतरनाक है जितना काम में फंस जाना। दोनों ही समान हैं। दोनों ही भौतिक शरीर तक ही सीमित हैं। अतएव साधक को जब अनंत की यात्रा करनी होगी तो उसे इन दोनों से ऊपर ब्रह्मचर्य अवस्था को प्राप्त करना ही होगा। यह अवस्था भी ध्यान से सहज ही उपलब्ध हो जाती है। भौतिक शरीर है अतएव यहां थोड़ी भी असावधानी हुई, दमन हुआ तो साधक का काम बदसूरत कर देगा। अतएव हर हालत में इसका रूपांतरण ही सुंदरतम ब्रह्मचर्य हो सकता है।

परिणाम–इस चक्र पर ध्यान मात्र से मन आनंदित हो जाता है। सारे रोग-कष्ट स्वतः समाप्त होने लगते हैं। काव्य लेखन क्षमता का स्वतः विकास हो जाता है।

स्वाधिष्ठान चक्र–(Hypogastric plexus) यह चक्र मूलाधार चक्र के ऊपर तथा नाभि से ठीक लगभग 6 अंगुल नीचे है। मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर है। इसका रंग पीत है।

यह 6 दल कमल है।

देव स्थान–इस चक्र के मध्य में स्वयम् ब्रह्मा सरस्वती के साथ बैठे हैं। यहीं मधुर सागर भी है। छः दल कमल पर य, र, ल, व, भ, म, में ही 6 अक्षर हैं। यहां से उत्पन्न होते हैं।

य–ब्रह्मा यहीं से सृष्टि की रचना करते हैं। दक्ष प्रजापति यहीं रहते हैं। वसंत ऋतु यहीं रहता है। यहां परम सुंदर एवं सुहावना दृश्य रहता है।

र–यह अग्नि का बीज मंत्र भी है। अग्नि रहती है। ग्रीष्म ऋतु भी यहीं है। रमण राम, राम यही से रमण करता है।

स्वाधिष्ठान चक्र

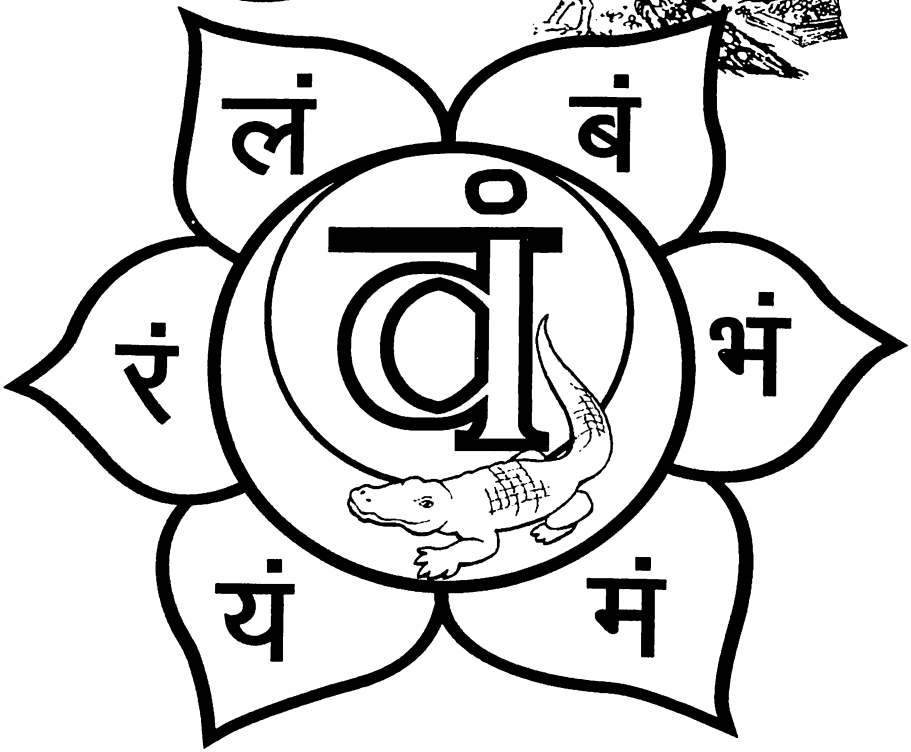

ल–यह पृथ्वी तत्व का बीज है। यहां इंद्र देवता रहते हैं। यहीं से इंद्रलोक का संचालन करते हैं। वर्षा ऋतु भी यहीं है।

व–यह आकाश तत्व का बीज है। शिशिर ऋतु यहीं रहती है। ब्रह्मपुरी का भाव भी यहीं से उत्पन्न होना है।

भ–शरद ऋतु यहीं रहती है। मन में भ्रम यहीं से पैदा होता है।

म–हेमंत ऋतु यहां रहती है। यहां माया महल है अतएव मोह माया यहीं रहते हैं। र कार यानी जब जीव सत्याकार हो जाता है तब म कार आनंद रूप अपने आप उपलब्ध हो जाता है।

मानसिक पूजा–साधक ध्यान द्वारा जब इस चक्र में पहुंचता है तब यहां का सारा अलौकिक स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है। अक्सर साधक के 6 से 11 हजार श्वासों में जाप से कुण्डलिनी यहां पहुंच जाती है। प्रत्येक श्वास से सत्नाम के सहारे सुरत को लेकर पहुंचने पर ऐसा हो जाता है। ऊपर बताए गए तरीके से साधक सबसे पहले ब्रह्मा एवं सरस्वती का मानसिक षोडश विधि से पूजन कर, वस्त्र, भोग अर्पण करे। तत्पश्चात ब्रह्मा से सविनय निवेदन लेकर ही अन्य दल पर भ्रमण हेतु प्रस्थान करे। जिस द्वार पर पहुंचे वहां के द्वारपाल से भी सविनय प्रार्थना कर ही द्वार खोलने का आग्रह कर साधक उसके देवता का पूजन कर उस लोक का भ्रमण करे। साधक जो भी पुराण में पढ़ा है सब स्पष्ट दिखाई देने लगता है। यह शरीर ऐसा जो बाह्य आंखों से दिखाई नहीं पड़ता परंतु परिणाम आता है।

भाव शरीर–(Ethric Body) स्वाधिष्ठान चक्र में कुण्डलिनी के पहुंचने पर साधक का शरीर भी बदलता है। जिसे भाव शरीर भी कहते हैं। इस चक्र पर प्राकृतिक रूप से मिली संभावना का रूपांतरण भी स्वतः होने लगता है। इस चक्र की प्राकृतिक संभावना है–भय, क्रोध, हिंसा, घृणा। या तो इसी में फंस कर रह जाता है। या ब्रह्मचर्य की तरह इसका भी दमन कर सकता है। भयभीत है। परंतु निर्भय का नाटक करता है। क्रोध से भरा है परंतु शांति की चादर ऊपर से ओढ़ रहा है। जो अत्यंत खतरनाक है। साधक को हर हालत में दमन का दामन नहीं पकड़ कर रूपांतरण का सहारा लेना ही श्रेयस्कर है। यह रूपांतरण ही अत्यंत पवित्रतम है। जो साधक के चेहरे से स्वतः ही परिलक्षित होता है। यथा ये प्रेम, करुणा, अभय एवं मैत्री में बदल जाते हैं। तब कोई उपाय ही नहीं बचता है कि क्रोध करे, घृणा करे। यह शरीर ऐसा है जो आंखों से दिखाई नहीं पड़ता, परंतु परिणाम दिखाई अवश्य पड़ता है जैसे एटमिक एनर्जी पदार्थ तो दिखाई पड़ता हैं। परंतु पदार्थ को ज्यों ही तोड़ते हैं इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन में तो ऊर्जा मात्र रहती है। विद्युत ऊर्जा पदार्थ नहीं। अब

वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर ऊर्जा तीव्र गति से घूमती है तो हमको पदार्थ मालूम होती है। आज का वैज्ञानिक जिस एटमिक एनर्जी (परमाणु ऊर्जा) पर ही विश्व का विस्तार मान रहा है उस ऊर्जा को हम देख नहीं सकते। उसके परिणाम को ही देख सकते हैं। साधक की सारी खोज अपने अंतर की है, परिणाम अंतर एवं बाहर दोनों का संभव है।

परिणाम—इस शरीर में पहुंचने पर साधक अपने को प्रेम से परिपूर्ण पाता है। अब उसमें घृणा रहती ही नहीं। इस स्थिति में भय भी भूलकर निर्भय को प्राप्त कर लेता है। जिससे साधक के आश्रम में बकरी एवं शेर भी निर्भय होकर प्रेम के साथ रहने लगते हैं। पशु-पक्षी उनके आस-पास निर्भय होकर स्वच्छंद विचरण करते हैं। उनके नजदीक सब जीव निर्भय हो जाते हैं। वह व्यक्ति अब किसी की हिंसा कर ही नहीं सकता। अहिंसक उसका स्वतः गुण हो जाता है। इस चक्र का साधक न काहू से दोस्ती ना काहू से बैर की स्थिति में रहता है। जिह्वा पर सरस्वती देवी का आगमन हो जाता है। अतएव अब वह जो कुछ बोलता है वह वेद ऋचा हो जाता है।

मणिपुर चक्र (Epigastric-Plexus)

इसका स्थान नाभि भाग है। यहां दशदल कमल है। ये रंग में धूम्र है। साधक यहां 10 हजार से 15 हजार श्वासों का सत्नाम (गुरु से प्राप्त मंत्र) के जाप के साथ पहुंच जाता है।

देवस्थान—इसके मध्य भाग में भगवान विष्णु लक्ष्मी के साथ बैठे हैं। यहीं बैकुण्ठपुरी भी है। वरुण भी यहीं है। यहां क्षीर सागर है। यहां पर दस अक्षर दस दल कमल पर है यथा—ण, ढ़, त, थ, द, ध, न, प, फ इन दसों दलों पर भगवान विष्णु के दस पार्षद रहते हैं। शब्द कोश भी यहीं है। दस वायु भी यही हैं। दसों द्वारों का संबंध भी यहां से है।

मानसिक पूजा—साधक की जब कुण्डलिनी यहां पहुंचती है तब सबसे पहले भगवान विष्णु लक्ष्मी सहित स्वागत करते हैं। साधक को अत्यंत आनंद का अनुभव होता है। अतएव साधक को भी विष्णु का पांचों उपचार, षोडसो उपचार या बत्तीसों उपचार से पूजा करना चाहिए। यह मानसिक पूजा गुरु से सीख लें।

नोट—साधक किसी भी देवता या देव पुरुष से प्रश्न न करे। मात्र उनका दर्शन प्रार्थना एवं आसन भोग लगाकर उस लोक का भ्रमण करे। दसों दलों पर युक्ति ढंग से घूम सकता है। भगवान विष्णु यहीं से पूरी सृष्टि का भरण पोषण करते हैं। शरीर के प्रत्येक भाग का पोषण भी यहीं से होता है।

स्वाधिष्ठान चक्र

Vc133r8c

मणिपुर चक्र

फं डं पं ढं नं णं धं तं दं थं

रं

मणिपुर चक्र

सूक्ष्म शरीर–(Astrol-Body) साधक तर्क-वितर्क करने लगता है। दस दल कमल है अतएव–

दस द्वारों का पिंजरा जामें पक्षी पवन।
रहवे को अचरज है, जात अचंभा कौन।।

रहने जाने का आश्चर्य है। संदेह विचार का सागर है। जब तक साधक संदेह विचार पर रुका रहेगा, आगे नहीं जा सकता, न ही कोई अनुभव संभव है। इसे भी दमन नहीं करना रूपांतरण श्रद्धा में कर लेना है। विचार का रूपांतरण विवेक में। अतएव संदेह भी अत्यंत आवश्यक है। गुरु जन कहते हैं। संदेह मत करो, विश्वास कर लो संदेह दब जाएगा। विश्वास भी नहीं आएगा। परंतु जिस दिन संदेह पर संदेह हो जाएगा उस दिन श्रद्धा अपने आप आ जाएगी। विचार की भी यही स्थिति है, गुरु जन कहते हैं। विचार छोड़ दो चुप रहो। होता है उल्टा। ऊपर से मौन अंदर से विचार का दौर शुरू होता है। साधक बार-बार दबाता है। वह कुरूप होता जाता है। जिस दिन विचार पर विचार करता है। उस दिन वह उपलब्ध होता है विवेक को। श्रद्धा एवं विवेक बहुत ही कीमती पुष्प है। जो स्वतः आते हैं। इसे लाने का कोई प्रयास कारगर नहीं होगा।

विज्ञान इस शरीर तक अभी नहीं पहुंचा है। चूंकि अभी वह पदार्थ (एटम) को ही तोड़ सकता है। अब ईथर प्राप्त हो गया है। यदि विज्ञान ईथर को तोड़ सके तब कहीं संभव है एस्ट्राल बॉडी में प्रवेश कर सके। परंतु यह भी विज्ञान के लिए संभव नहीं है।

परिणाम–साधक अपान वायु का दमन करते हैं। इसी वायु के माध्यम से सुमेरू गिरि पर चढ़ने का रास्ता है। पांच वायु या ब्रह्माण्ड यथा नाग–श्वास-प्रश्वास लेना, कुर्म–आंख खोलना, बंद करना, क्रीर्कल–जम्हाई लेना, देवदत्त–कान से सुनना, धनंजय–शरीर को बढ़ाना, फुलाना, कमजोर करना। जब साधक शेष वायु को धनंजय में विलीन कर लेता है तब शारीरिक क्रियाएं शिथिल हो जाती हैं। इस तरह योगी ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरंध्र) से इस वायु को भी निकाल कर शरीर से उसी तरह मुक्त हो जाता है, जैसे कोई कपड़े से। इस चक्र पर पहुंचे साधक की मानस शक्ति अत्यंत ही प्रबल हो जाती है। मानसिक शक्ति से प्राकृतिक वस्तुओं को पा लेता है। दुःसाध्य एवं अलौकिक कार्य कर लेता है। जाते हुए ट्रेन, जहाज को रोक देता है। सामने के या दूरस्थ व्यक्ति के मन की बात को जान लेता है। दूर श्रवण, दूर दृष्टि अपने आप आ जाती है।

सूक्ष्म शरीर ग्रहण करना–इस शरीर में पहुंचे साधक अपना शरीर

अपनी कुटिया या आश्रम में रखकर दूरस्थ जगह पर दूसरे शरीर में पहुंच जाता है। एवं अपने शिष्य का भला कर सकता है। यह आमतौर पर सुनने में आता है कि एक आदमी अमुक-अमुक जगह पर एक साथ प्रकट हो गया। यानी साधक जितना ही सूक्ष्म शरीर में पहुंचता है। उसका मन उतना ही अंदर जाता है। जितना ही मन बहिर्मुख होता है, उसकी उतनी शक्ति कम हो जाती है। सारा का सारा खेल मन के अंतर्मुख पर ही है।

इसी शरीर के माध्यम से देवता एवं प्रेत इच्छानुसार शरीर धारण कर लेते हैं। इनका फोटो तो आ सकता है। परंतु छाया नहीं आती। चूंकि यह ईथर शरीर को बहुत ही कंडेंस कर लेते हैं। इस तरह जब बहुत ही संघनीभूत कर लेता है। यानी दूर-दूर के अणु खिसक कर करीब आ जाते हैं। जिससे एक आकार प्रतीत होने लगता है। परंतु यह फोटो भी बहुत ही सेंसिटिव फोटो प्लेट से ही पकड़ में आता है। अभी इस तरह का छाया पश्चिम में बहुत लिया गया है, जो नग्न आंख से नहीं देखा जा सकता है।

यह साधक पर निर्भर करता है कि किस मात्रा में अंतर्यात्रा करता है। ठीक उसी के अनुरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म जगत का अधिकारी बन सकता है।

अनाहद चक्र (Cardiac-Plexus)

यह चक्र चतुर्थ सीढ़ी है। यह हृदय के पास है। इसका रंग पीत है। यह पीत भी अलग-अलग भासता है। इसे साधक स्वयम् देख कर ही अनुभव करे। यह 12 दल कमल है।

देवस्थान—द्वादश दल कमल के मध्य में भगवान शिव पार्वती के साथ निवास करते हैं। इस चक्र पर षट्कोणाकार धूम्र पीत यंत्र बनता है। यहां संजीवनी या सुरा सागर है। साधक को 12 हजार श्वास जापों पर कुण्डलिनी यहां पहुंचती है। यहां अलग-अलग पंखुड़ियों पर अलग-अलग बारह अक्षर हैं। या उत्पन्न होते हैं। यथा—कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ढं, यहां 12 हड्डियां भी हैं। साधक ध्यान से एक अक्षर का उच्चारण कर अनुभव करे तो अलग-अलग 12 हड्डियों पर जोर पड़ता है। एवं वहां उसका स्थान अनुभव करता है। (चार हड्डी बाएं से ऊपर की ओर क, ख, ग, घ, एवं चार हड्डी दाएं से ऊपर की छ, ज, झ, ञ, तथा दो बाएं से नीचे की ओर—च, छ तथा दो दाएं से नीचे की ओर दो हड्डी ट, ढ, जाती हैं)

मन का स्थान—मणिपुर चक्र एवं अनाहद चक्र के मध्य में एक आठ दल कमल है। यहां का अधिपति मन है।

अनाहत चक्र

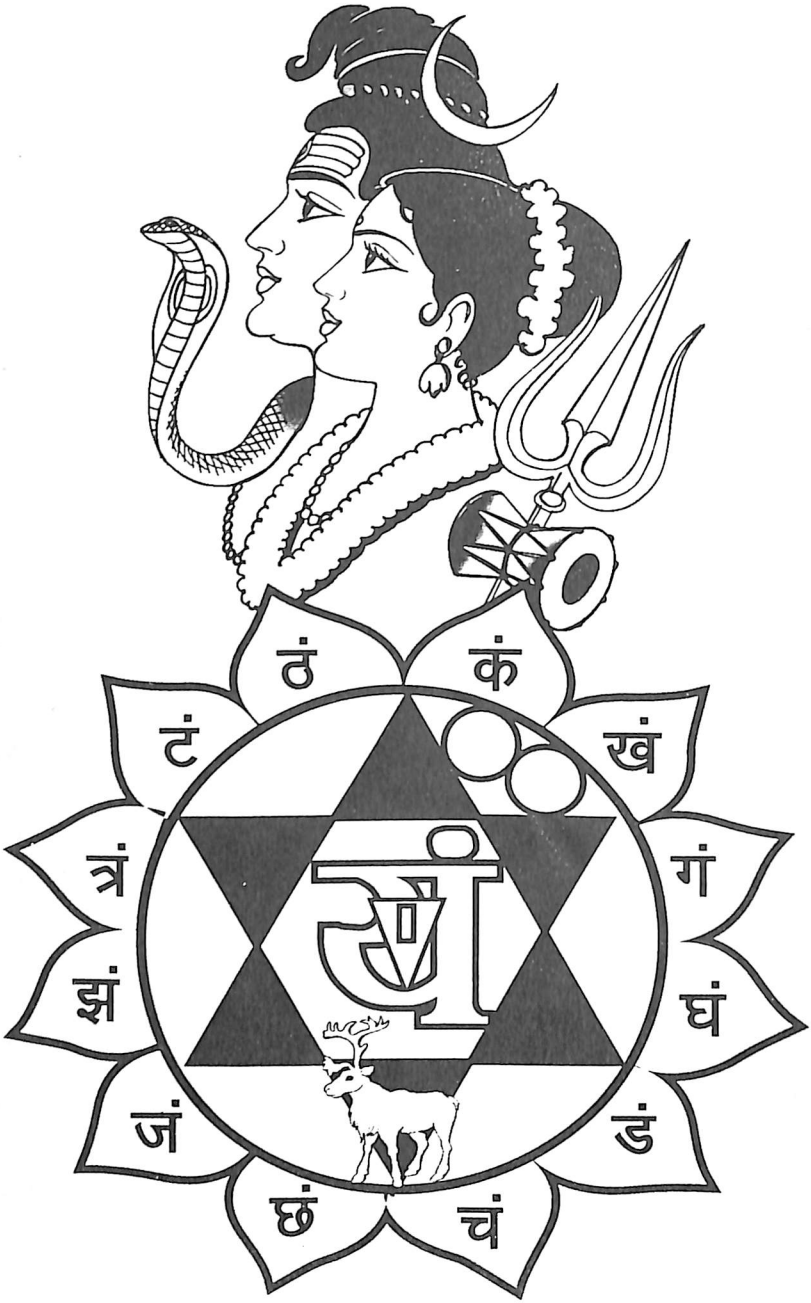

अनाहत चक्र
ठं
कं
टं
खं
त्रं
गं
झं
घं
जं
ङं
छं
चं
यं

अष्ट दल कमल सूझै, योगी आप आप में बूझै॥

इसी को मानस चक्र भी कहते हैं। यहीं से अजपा-जाप सोहम् की घड़ी चलती है। यह घड़ी जब बच्चा मां के गर्भ में तीन माह का होता है, तब ही चालू हो जाती है। जब साधक इस घड़ी को प्रथम बार देखता है तो शरीर कंपायमान हो जाता है। धीरे-धीरे गुरु कृपा एवं साधक के प्रयास से ठीक हो जाता है।

मन इन्हीं आठ दलों पर पांच-पांच मकान विभिन्न पांचों तत्वों का बनाया है। प्रत्येक घर में मन एक-एक घंटा रहता है। जिस दल में जिस तत्व के घर में रहता है। इसी के अनुसार कार्य करता है। 'दल मंह भूमि, भूमि मंह पानी, पानी मंह अनल, अनल मंह वायु का डेरा।'

तत्त्व मंह मन रहे लुकाई।
घूमि शरीर मंह रहे दर्शाई॥

यथा—

पूरब दल—यह अग्नि अंगार की तरह लाल वर्ण है। सुबह सूर्योदय के समय मन यहीं रहता है। पृथ्वी तत्व में 140 श्वास जल तत्व में जलमुखी लग्न, 90 श्वास व्याल लग्न, 60 श्वास वायु तत्व, केतकी लग्न, पुनः 30 श्वास-शून्य आकाश तत्व में, शुभ करेंगे। पुनः इसी तरह, 30, 60, 90 पर चढ़ते जाएंगे। यहां पूजा-पाठ ध्यान, जाप, शुभ व संकल्प लेता है।

अग्नि कोण—यह भी अग्नि सदृश्य है। यहां पर जब मन आता है तब सांसारिक कार्य सोचने एवं करने को उद्यत हो जाता है। व्यावहारिक कार्य भी यहीं से करता है। मन क्रमशः नीचे की तरफ उतरने लगता है। धन कमाने, धन अर्जन करने के नाना प्रकार के विचार करता है। उसी की युक्ति करने लगता है। तद्नुरूप शरीर को भी करने को बाध्य करता है।

नैर्ऋत्य दिशा—अब मन-धन अर्जन करने हेतु दूरस्थ जाने को सोचता है, विचार करता है। सलाह लेता है एवं जाने को उद्यत होता या जाता है।

पश्चिम दिशा—मन सांसारिकता में अत्यंत लिप्त हो जाता है। धन के लिए अत्यंत व्याकुल हो जाता है। सब चिंतन धन पर ही केंद्रित हो जाता है। क्या करे कि शीघ्र धन लाभ हो। संभवतः इसी से पश्चिम के लोग धन को उपलब्ध हुए क्या ?

वायव्य दिशा—इस पर मन धन के लिए अत्यंत चितिंत नहीं होता, परंतु यदि ठीक से लगाम नहीं लगता बुद्धि से तो धन के लालच में यह किसी भी तरह का कार्य कर बैठता है। उस समय कार्य गौण होता है। धन ही प्रधान होता है।

ईशान दिशा—यहां जब मन आता है तब अपने प्रभुत्व पर विचार करता है। चाहे किसी भी तरह समाज में हमारा स्वामित्व हो जाए। यहां भी कार्य गौण होता जाता है। एवं प्रभुत्व ही श्रेष्ठ हो जाता है। जब साधक बुद्धि रूपी लगाम ठीक नहीं रखता तो प्रभुत्व की दौड़ में कुछ भी कर देता है। संभवतः आज के नेता अधिकारी इसी प्रभुत्व की दौड़ में कुछ भी करने से नहीं हिचकते।

उत्तर दिशा—यहां मन पर बुद्धि उचित लगाम लगाकर उसे उचित-अनुचित सोचने को बाध्य करती है। यदि साधक इतना समय दिया तब मन यहां पहुंचकर इस पर निर्णय करता है। यहां मन सब सलाहकारों से मंत्रणा करता है। क्या शुभ है ? क्या अशुभ है ? कैसे हम धन एवं पद प्रतिष्ठा को उपलब्ध होंगे, कौन-सी कला है कि किसी का नुकसान भी नहीं हो। मेरा फायदा ही फायदा हो। मन सलाह देकर निर्णय करता है। तब इसके अनुसार भविष्य का निर्माण करता है। मन यहां निर्णय करता है। मन यहां से सद् असद कार्य का निर्णय करता है। कार्य करने को नियमबद्ध भी करता है।

इस तरह मन हर दल के पांचों महल पर विभिन्न तरह का कार्य करता है तथा सबका हिसाब इस दल के आकाश तत्व में लेता है।

मन जितना ही सोचेगा, संकल्प लेगा, उतना ही कार्य करना होगा। उसके लिए चाहे जितना ही जन्म लेना पड़े। जब मन इन संकल्पों का क्षय करता है। तब वह शांति को उपलब्ध होता है। यथा—

क्षयो संकल्प, जालस्य, जीवों ब्रह्मत्व मा पुन्यात।

जब मन संकल्प के जाल का क्षय करता है। तब मन मुक्त हो जाता है। अर्थात ब्रह्म पद को उपलब्ध हो जाता है।

मानसिक पूजा—शिव एवं पार्वती का जब साधक दर्शन करता है तब मन अत्यंत प्रसन्न हो जाता है।

शिव-शक्ति का जब भया मेला, मनवा बड़ा हरखाना।

साधक मानसिक रूप से पांचों उपचार, शोड़सो उपचार एवं बत्तीसों उपचार से भगवान शिव एवं पार्वती का पूजन करे। बगल में बैल एवं पार्वती का वाहन शेर भी साथ बैठे हैं। बिना किसी वैर भाव के। साधक इनका भी पूजन करे।

खीर-खाड़ शिव, भोजन करही।
जेहि लखे योगी मन अनुसरही।।

साधक शिव पार्वती के योग्य आसन-वसन, खान-पान सबकी व्यवस्था मन से ही करे। उसी तरह से वाहन की भी। इस तरह साधक भगवान शंकर

के किसी गण से सविनय प्रार्थना पूर्वक किसी भी दल पर घूमने का आग्रह कर सकता है। यदि भगवान शंकर साधक से प्रसन्न हैं तब ही गण आपको किसी चक्र पर घूमने की अनुमति दे सकता है। या स्वयं पथ प्रदर्शक बन आपके साथ जा सकता है। साधक जिस भी दल पर जाए उसके द्वारपाल को भी दण्ड-प्रणाम श्रद्धा पूर्वक करे, पूजन करे एवं आग्रह पूर्वक घूमने की अनुमति ले। क्योंकि बिना आज्ञा के घूमना भी निषिद्ध है एवं एक प्रकार का हिंसा होगी। चक्र के दलों पर बैठा भी देवता ही है। किसी न किसी रूप में वह शिव लोक का निवासी भी है। अतएव हर हालत में पूज्य है। साधक का मन जब तक एकाग्र रहेगा, उस चक्र के किसी दल पर घूमकर वहां का दर्शन कर सकता है।

मानस शरीर (Mental Body)

साधक जब चौथे चक्र में पहुंचता है। तब वह चौथे शरीर को भी उपलब्ध होता है जिसे मानस शरीर कहते हैं। इसकी भी प्राकृतिक रूप से दो संभावनाएं हैं। यथा—कल्पना (इमेजिनेशन), स्वप्न (ड्रीमिंग)।

साधक को हर स्टेयर (सीढ़ी) के अनुसार यहां की कल्पना एवं सपना का रूपांतरण करना है। रूपांतरण का फल ही श्रेष्ठतम होता है। अभी तक मठों में बैठे गुरु कहते हैं बैठे-बैठे कल्पना करते हैं। एवं सोने पर सपना देखते हैं। इसे दमन करो। जैसे सपने दमन किए वैसे ही दमन की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाते हैं। जिससे साधक कुरूप हो जाता है। उसके भविष्य की सारी संभावना मर जाती है। ध्यान करने से ही वह कल्पना-संकल्प में बदल जाती है। विल में बदल जाती है। सपना भी इसी तरह अतिंद्रिय दर्शन या विजन में रूपांतरित हो जाता है। यह रूपांतरण साधक के लिए अत्यंत श्रेष्ठतम है। अब साधक सपना नहीं देखता दूरस्थ की किसी भी चीज को देख लेता है। अब साधक कल्पना ही नहीं करता संकल्प मात्र से दूरस्थ के किसी कार्य को कर लेता है। सद्गुरु कबीर साहब काशी से ही दक्षिण भारत के अपने भक्त की झोंपड़ी में लगी आग बुझा दिए। यह यही संकल्प की साधना है।

संकल्प—प्रत्यक्ष घटना बीस वर्ष पहले की ही घटना है। मैं अपने गुरुद्वारे में था। रात्रि में चौका आरती हो रही थी। यह भी एक प्रकार का यज्ञ है। इसके बाद लगभग डेढ़ बजे रात्रि के गुरुदेव आचार्य राम विलास जी साहब जी से बातें कर रहे थे। सब महात्माओं की विदाई 4 बजे प्रभात तक ही कर दी जाए। मैं भी सम्मुख गुरु आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था। गरमी का दिन था सैकड़ों लोग आश्रम (बरईपुर) उ.प्र. के छत पर सोए थे। नीचे बहुत-सा डेरा शामियाना

एवं झोपड़ियां बनी थीं। अलग-अलग साधु, महंत, संन्यासी ठहरे थे। तब एक छत पर एक महंत के सिर पर उन्हीं का दुश्मन साधु (जो उनसे केस वगैरह) लड़ रहा था। अच्छा अवसर देख मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दिया। आग जोरों से एकाएक जल उठी, भगदड़ मच गई। मैं किंकर्तव्यमूढ़ गुरुदेव को देख रहा था। चारों तरफ 'आग-आग' 'बचाओ-बचाओ' लोग चिल्लाने लगे। गुरुदेव का चेहरा एकाएक लाल हो गया। मुझसे बोले, देखते क्या हो ? साहिब (सर्व समर्थ परमात्मा) से बोलो यह क्या कर दिया ? मेरे मुंह से भी आदेश पाकर यही निकला साहिब क्या कर रहे हो ? गुरुदेव का चेहरा शांत था एवं आंखें आग पर थीं। बस क्या पूछना था, एकाएक आग बुझ गई। सब अवाक थे। आचार्य श्री राम विलास साहिब गुरुदेव के मुंह पर देखकर बोले, स्वामी जी आप धन्य हो। आप तो परमहंस हो, सिद्ध हो। आपके देखने मात्र से आग बुझ गई। आपका यह शिष्य भी आपका ही रूप होगा, इत्यादि। यही कल्पना संकल्प बन गया एवं सपना अतिंद्रिय बन गया।

इस शरीर में पहुंचे साधक के लिए समय (टाइम) एवं दूरी (स्पेस) समाप्त हो जाती है। यही वजह है कि आज के वैज्ञानिक इस शरीर की संभावना के पीछे ज्यादा लगे हैं। टेलीपैथी की खोज भी 30 से 40 वर्षों में बहुत ज्यादा हुई है। अमेरिका एवं रूस दोनों देश हजारों मील दूर बैठे लोगों को इस टेलीपैथी के माध्यम से संदेश भेज रहे हैं एवं पकड़ रहे हैं। वे सोचते हैं रॉकेट छोड़ रहे हैं ऊपर, बहुत कुछ करने पर भी कंप्यूटर, रेडियो खराब हो ही जाता है, परंतु इस तरह के यदि आदमी ही उपलब्ध हो जाएं तो संदेश आसानी से पकड़ा जा सकता है एवं बचाव कार्य भी संभव है। अतएव अभी वैज्ञानिक इस कार्य पर बहुत जोर दे रहे हैं।

यह घटना सन-1980 की है। दूसरी घटना मैं अपनी ही दूंगा

"गुरु का संदेश"

गुरु देव काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अस्पताल में भरती थे। उनके शिष्य गण एवं महात्मा गण मना करने पर भी अस्पताल में लेकर चले गए। वे कह रहे थे शरीर का परित्याग करने को। परंतु शिष्यगण को शरीर से मोह था, अतएव अपना कर्तव्य समझकर सेवा की भावना से अस्पताल में भरती कर दिए। डॉक्टर लोग भी इलाज करने लगे। अधिकांश शिष्य उनके दर्शन के लिए पहुंच गए। एक महात्मा, जो अभी भी हैं, गीता का पाठ सुना रहे थे। मैं उस समय वहां से 300 कि.मी. दूर पटना में था। एकाएक दिन के 10 बजे गुरु देव का ध्यान आया। वे नजर आए कि बीमार हैं एवं हमें बुला रहे हैं। यह भी

दृश्य चलते-चलते देखा कि वे अमुक अस्पताल में हैं। मैंने गाड़ी पकड़ी (सियालदाह एक्सप्रेस) एवं पहुंच गया किसी तरह यानी यंत्रवत अस्पताल में। मैं नीचे के दरवाजे पर ही था कि गुरु देव ने एक शिष्य को कहा देखो कृष्णानंद आ गया है। उसे ले आओ। दो चार महात्मा कौतूहल जानकर नीचे आए। मुझे देखकर हैरान हो गए। वे बोले कि गुरु देव आप को आज सुबह से ही याद कर रहे हैं। मैं गया, सप्रेम चरण स्पर्श किया। प्रेम से आंसू आ गए। गुरु देव सोए थे। सैकड़ों लोग घेरे थे। जय गुरु देव, जय गुरु देव कह रहे थे। मैं पहुंचा कि वे बोले क्या कृष्णानंद आ गया ? मैं प्रेम पूर्ण बोला, हां आ गया गुरुदेव ! वे बोले, क्या पूछना है ? मैं उत्तर दिया नहीं, मुझे कुछ भी पूछना नहीं है। वे बोले, देखो न हजारों नेत्रों वाला व्यक्ति हमें प्रार्थना कर रहा है। कह रहा है गुरुदेव अब चलो। मैं तुम्हारे लिए रुका था क्या करूं ? मेरे मुंह से निकल गया अभी नहीं गुरुदेव, एकाध भक्त अभी नहीं आए हैं, आ जाने दीजिए। उन्होंने कहा, कल आ जाएगा। ठीक है। कल जी। मानो किसी अदृश्य शक्ति को आदेशित किए। पुनः गीता पढ़ने वाले (महात्मा श्री बामनानंद जी) को धीरे से इंगित किए अशुद्ध मत पढ़ो। वे महात्मा भी हतप्रभ हो गए—क्या गुरु देव पूर्ण चेतनावस्था में हैं ? क्या पूरा का पूरा सुन रहे हैं ? हां, हमारा तो ध्यान था कि मैं केवल पढ़ रहा हूं, वे सब सुन समझ नहीं रहे हैं। अतएव गलती पर विचार ही नहीं किया। वे श्रद्धा से झुक गए एवं अब सप्रेम पढ़ने लगे। डॉक्टरों का दल आया एवं खून जांच कर बोला कि गुरुदेव को खून देना होगा एवं इनका खून विजातीय है। मैं तुरंत कहा, हमारा खून जांच करो। संयोग से मेरा भी खून वही निकल आया। मैंने जीवन में प्रथम बार गुरुदेव के लिए खून अर्पित कर अपना सौभाग्य समझा। खून चढ़ाने के दिन यानी दूसरे दिन पुनः वरिष्ठ डॉक्टरों द्वारा गुरुदेव का खून जांच किया कि आज चढ़ा दिया जाए। इधर मैं उनके नजदीक बैठा था। वे बोले, अब तो महात्मा श्रीदास जी आ गए न जी। मैं बोला, जी हां गुरुदेव आपके सामने खड़े हैं। वे पुनः बोले, डॉक्टरों को मना करो। देखो सारे देवता आ गए। बंदगी कर रहे हैं। प्रार्थना कर रहे हैं। अब मुझे चलने दो। तब एक डॉक्टर आकर बोले, गजब हो गया। गुरु देव का खून आज बदल गया। आज जांच में निगेटिव आ गया। यह खून अब मिलेगा भी नहीं। क्या करूं। मैंने कहा आप स्वयम् पूछ लें। वे कहे कि मैं अपना सेवा का कर्तव्य करूंगा ही। उनको शरीर से मोह नहीं है। हमें मोह है सेवा का अवसर है, इसे कैसे बरबाद करूं ? तब तक गुरु देव बोले, तुम सब भजन करो एवं बैठ गए। एक बार सबको गौर से देखा तथा मुझे देखकर बोले अब चल रहा

हूं। एका-एक बिछावन पर गिर गए। डॉक्टर ऑक्सीजन लेकर खड़े ही थे। नाड़ी टटोलते रहे। गुरु देव सदा के लिए समाधिस्थ हो गए। मैं यह चर्चा प्रसंग वश कर दिया।

उनके पार्थिव शरीर को आश्रम पर लाया गया। जहां साधु संन्यासियों ने स्वागत किया। गंगा में स्नान कराकर विधिवत पूजा अर्चना आ॰ गंगाशरण शास्त्री के नेतृत्व में किया गया। संध्या 6 बजे उनको समाधि दी गई। तब तक उनके चेहरे पर ज्योति भरपूर पर हाथ-पैर सभी मोम की तरह मुलायम थे। समाधि के समय आश्रम का भाग छोड़कर चारों तरफ मूसलधार वृष्टि हुई। मानो देवता गण इंद्र के साथ स्वयं स्वागत के लिए आए हैं। परंतु आश्रम में एक बूंद भी पानी नहीं पड़ा। हजारों भक्तों की भीड़ थी। मैं अपने जीवन में प्रथम बार फफक कर रो पड़ा था।

समाधि–

अक्सर जो भी व्यक्ति मरते हैं हम उन्हें तत्काल जला देते हैं। क्योंकि शरीर से जैसे ही उनकी आत्मा निकलती है, मोहवश उसके आस-पास भटकती रहती है। परंतु संन्यासी की आत्मा जिंदा अवस्था में ही शरीर से मुक्त हो चुकी होती है। शरीर के बंधन में नहीं के बराबर है। अतएव उसके शरीर को हम नहीं जलाते, उसे हम समाधि देते हैं। क्योंकि वह 30 या 40 वर्षों तक ऐसे शरीर में रहा है जहां वह विचार मुक्त हो गया है। उसका शरीर हजारों वर्षों तक उसी तरह की पवित्र तरंगों को विकीर्ण करता रहेगा। यही उसकी समाधि होगी। उससे संन्यासी को कोई अंतर नहीं पड़ता। अंतर पड़ता है साधक को। जो साधक उसके इर्द-गिर्द साधना करता है। अच्छा परिणाम होता है। अच्छे फूल खिलते हैं। जैसे आज वैज्ञानिक कहते हैं कि किसी पौधे के नजदीक प्रेम पूर्वक संगीत गाया जाए, तो वह पौधा जल्द ही तैयार हो जाता है। तुरंत फल देने लगता है। ठीक उसी तरह उसके नजदीक साधक जल्द ही ध्यान को उपलब्ध हो जाता है। खास संगीत भजन का प्रभाव पेड़-पौधे एवं पशु पर भी पड़ता है। आप गाय रखें प्रेम पूर्वक भजन गाएं। गाय को मां कहकर संबोधन करें। प्यार करें। श्रद्धा करें। देखें दूध बढ़ जाएगा एवं सुखद होगा। यदि आप उसे प्रताड़ित करें, गाली दें, मारें या बुरा संगीत सुनाएं, खाना नहीं दें, देखें दूध घट जाएगा। स्वाद भी बदल जाएगा। संभवतः यही कारण है कि भारत के मनीषी गाय को मां कहे, स्तुति किए। तब वह कामधेनु बन जाती है। इस शरीर की संभावनाएं अनंत हैं।

आप गुरु देव के समाधि मंदिर पर बैठकर ध्यान करें, आपका श्रद्धा-प्रेम शीघ्र ही आपकी अंतिम मंजिल तक पहुंचने में मदद करेगी। एक बार मुख्य न्यायमूर्ति श्री बनवारी लाल यादव हमसे मिलने इस आश्रम पर आए थे। वे अच्छे साधक एवं विद्वान भी थे। वे समाधि मंदिर पर कुछ देर ध्यान कर मेरे पास आए। वे आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोले कि इतनी जाग्रत समाधि तो मैंने नहीं देखा। पूरे भारत का भ्रमण किया। यहां बैठने मात्र से मैं समाधि में चला गया। यह स्थान साधकों के लिए अति उत्तम है। यहां पर की गई साधना तत्क्षण फलित होगी।

परिणाम—साधक इस चक्र पर ध्यान जितना चाहे कर सकता है। मात्र संकल्प लेता है। शंकर जी 88 हजार वर्ष की समाधि लेते थे। यानी किसी एक कमलदल पर भ्रमण कर रहे हैं। बाह्य शरीर की क्रिया रुक जाती है। बाहर से शरीर जैसे है वैसा ही ज्यों का त्यों पड़ा रह जाएगा। उसी से इस अवस्था को उम्र में नहीं गिना जाता है। शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

सोहम् की घड़ी बंद होने पर साधक शरीर छोड़ देता है। भगवान शंकर भी यहीं से सृष्टि का संहार करते हैं। इस शरीर का विस्तार मन एवं ध्यान से ही देखा जा सकता है। इसका वर्णन स्वयंभू मन भी नहीं कर सकता।

साधक शंकर के तुल्य हो जाता है। बाह्य जगत से बिलकुल ही मौन-सा होने लगता है। संसार का कार्य करते हुए भी अलग रहता है। प्रकृति की शक्ति उसमें समाहित होने लगती है। शरीर तेज से भरा रहता है। अंदर-अंदर योगी पूर्ण चेतन रहने लगता है। इस शरीर के साधक को खतरा भी उतना ही बढ़ जाता है। ज्योंही साधक बहिर्मुख होता है। गुरु खड़ा करता है। बाह्य दुनिया में चमत्कार करना शुरू कर देता है। उस साधक के लिए यह शरीर आत्मघाती भी साबित हो सकता है। अतएव साधक गुरु के सान्निध्य (मानसिक रूप से) में रहकर इस चक्र को पार करे। इस चक्र पर रुका हुआ साधक भटक जाता है अतएव हर हाल में इसे पार कर अगले चक्र में पहुंच जाए। जब तक इस चक्र में है पूर्णतः अंतर्मौन रहे।

चौथे चक्र की विशेषता—प्रकृति निरंतर भौतिक शरीर का विकास करती रहती है। उसी के अनुरूप उसकी मन, बुद्धि, चित्तवृति भी विकास की तरफ बढ़ती जाती हैं। जन्म के साथ ही प्रकृति सारी संभावनाओं को बीज रूप में रख छोड़ती है। जो विकास के क्रम में क्रमबद्ध रूप से विकसित होती जाती हैं। हमारे मनीषीगण इसीलिए वर्णाश्रम व्यवस्था दिए थे। जिसे आज के तथाकथित महात्मा-संन्यासी ठीक से नहीं समझ पाए। व्यक्ति जब जन्म लेता

है, प्रथम सात वर्ष उसके भौतिक शरीर का ही विकास होता है। इस अवस्था में बच्चा अनुकरण करता है। अनुकरण पशु भी करता है। इस तरह सात वर्ष के बच्चे एवं पशु में कोई खास अंतर नहीं होता है। इस अवस्था के बच्चे में अपनी कोई भावना, बुद्धि नहीं होती है। इसी से 7 वर्ष तक के बच्चे निर्दोष होते हैं। उन्हें कहीं भी दंड नहीं दिया जाता। यह शरीर जीभ तक ही रुक जाता है। खाने-पीने स्वाद लेने तक ही रुक जाता है।

7 वर्ष से 14 वर्ष—यह अवस्था दूसरे चक्र एवं शरीर की हो जाती है। यानी भाव शरीर या आकाश शरीर का निर्माण प्रकृति करने लगती है। इस अवस्था में प्रकृति यौवन शक्ति का विकास कर देती है, भावना का विकास कर देती है। बहुत लोग मृत्यु पर्यंत इसी शरीर पर रुके रह जाते हैं। उनका शरीर तो बढ़ता जाता है परंतु मन काम वासना से मुक्त नहीं होता। यही चिन्ह है इसी शरीर पर रुक जाने का। यह शरीर काम, कविता, नाटक, संगीत, सिनेमा, मकान, गाड़ी, घर इत्यादि वासना तक रुक जाता है। बड़े-बड़े साहित्यकार, नाटककार, कवि, अभियंता, डॉक्टर, इसी शरीर में रुक कर संसार में अपनी ख्याति अर्जित करते हैं। संसारी लोग इन्हें उच्चकोटि के संत गिनते हैं। इनको भी उच्चता का भ्रम हो जाता है। हंसना रोना, गाना या विभिन्न प्रकार की मुद्रा में संगीतज्ञ इसी शरीर में भाव-विभोर होकर प्रवाहित हो जाते हैं।

14 से 21 वर्ष का समय—यह अवस्था है तीसरे शरीर पर पहुंच जाने की। तीसरा शरीर है सूक्ष्म शरीर। इस शरीर में व्यक्ति का विचार, बुद्धि, तर्क-वितर्क का विकास होता है। इसी अवस्था में बच्चा शिक्षा ग्रहण करता है। सुसांस्कृतिक एवं सभ्य बनता है। संभवतः इसी से इसी उम्र सीमा को दुनिया में मताधिकार का अधिकार दिया गया है। हालांकि विचार की पूर्ण परिपक्वता 21 वर्ष तक ही आती है। इससे पहले 18 वर्ष पर भी आ जाती है। यह निर्भर करता है बच्चे की सामाजिक एवं प्राकृतिक परिस्थिति पर। तीसरा शरीर अत्यंत महत्वपूर्ण है। लगभग अस्सी प्रतिशत लोग इसी शरीर तक मरते वक्त तक रुके रह जाते हैं। आगे के शरीर में पहुंच ही नहीं पाते। परंतु यह शरीर किसी भी समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब समाज में ऐसे शरीर के व्यक्ति की बहुलता होती है तभी अति मानव या बुद्धत्व का आगमन होता है। जैसे कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरा जैसी सैकड़ों प्रतिभाएं लगभग समकक्ष ही हुईं। यानी समाज में उस समय तीसरे शरीर के व्यक्ति की बहुलता थी।

इस शरीर के तार्किक अपने को अवतार, पीर, पैगंबर तक होने का वहम

कर लेते हैं। अपने को श्रेष्ठ साबित करने में उनकी तर्क शाक्ति काम करती है। अपने तर्क से अपने को एवं समाज को भ्रम में डाल देते हैं। यदि गुरु निर्देशन है तब यही शरीर विकास के क्रम में आगे जाता है। वह चौथे शरीर में प्रवेश करता है।

21 से 28 वर्ष–यह शरीर अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। इसी से हमारे यहां 25 वर्ष ब्रह्मचर्य का प्रावधान था। जिससे साधारण मनुष्य भी चौथे शरीर तक पहुंच जाए। बाकी तीन शरीर आगे हम कर लेंगे। चौथे शरीर मानस शरीर का व्यक्ति ही कुछ कर सकने में समर्थ है। बिना कहीं गए, बिना कुछ देखे, बिना कुछ पढ़े, बिना कुछ सुने, सब कुछ देख लेता, पढ़ लेता है। समझ लेता है। यह व्यक्ति जो भी निर्णय लेगा, पावन होगा। जो भी सोचेगा, सहज होगा यानी यहां निजी दुनिया ही समाप्त हो जाती है। यहां करुणा अपने आप आ ही जाती है। जितनी भी योग शास्त्रों में सिद्धियां हैं वह लगभग ज्यादा इसी मानस शरीर की हैं। जैसे कि प्रत्येक चक्र के साथ व्यक्ति में आमूल परिवर्तन होता है। उसी तरह इस शरीर का आदमी किसी भी तरह का मादक द्रव्य नहीं ग्रहण कर सकता। इस शरीर में अपने आप चरित्र रूपी व्रत के फूल खिलने लगते हैं। इस तरह इस शरीर में बहुत ही कम लोग पहुंच पाते हैं। यह शरीर लगभग 28 वर्ष तक का है। यह शरीर संसार के किसी भी काम को सहजतापूर्ण ढंग से पूर्ण कर लेता है। लेकिन इस समय संयम से काम लेना ही उचित है। यह शरीर उत्तरायण एवं दक्षिणायन का संगम बिंदु है।

विशुद्ध चक्र (Cartotid-Plexus)–

यह कंठ भाग में है। यह 16 (सोलह) दल कमल है। यह बिलकुल शुभ श्वेत रंग का है। यही दधि सागर है। यहां साधक 10 (दस) हजार श्वासों के जाप पर पहुंच जाता है।

देवस्थान–इस दल की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। योगी लोग इसे, हठी, देवी, परमात्मा या शाकिनी भी कहते हैं। यहां पूर्ण चंद्र सदृश्य गोला यंत्र बनता है। सोलह दल पर 16 स्वर अक्षर हैं जो क्रमशः दाएं से बाएं के तरफ–यथा–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः हैं।

यहां के देवता भारती हैं। ये 36 व्यंजनों को, जो अन्य चक्रों में हैं। 16 स्वर हैं, हर समय भरते रहते हैं। इसी से इसे भारती देवता कहते हैं। कंठ की 16 हड्डियां मिलती हैं। साधक एकांत में बैठकर धीरे-धीरे अ, आ का स्वर

विशुद्ध चक्र

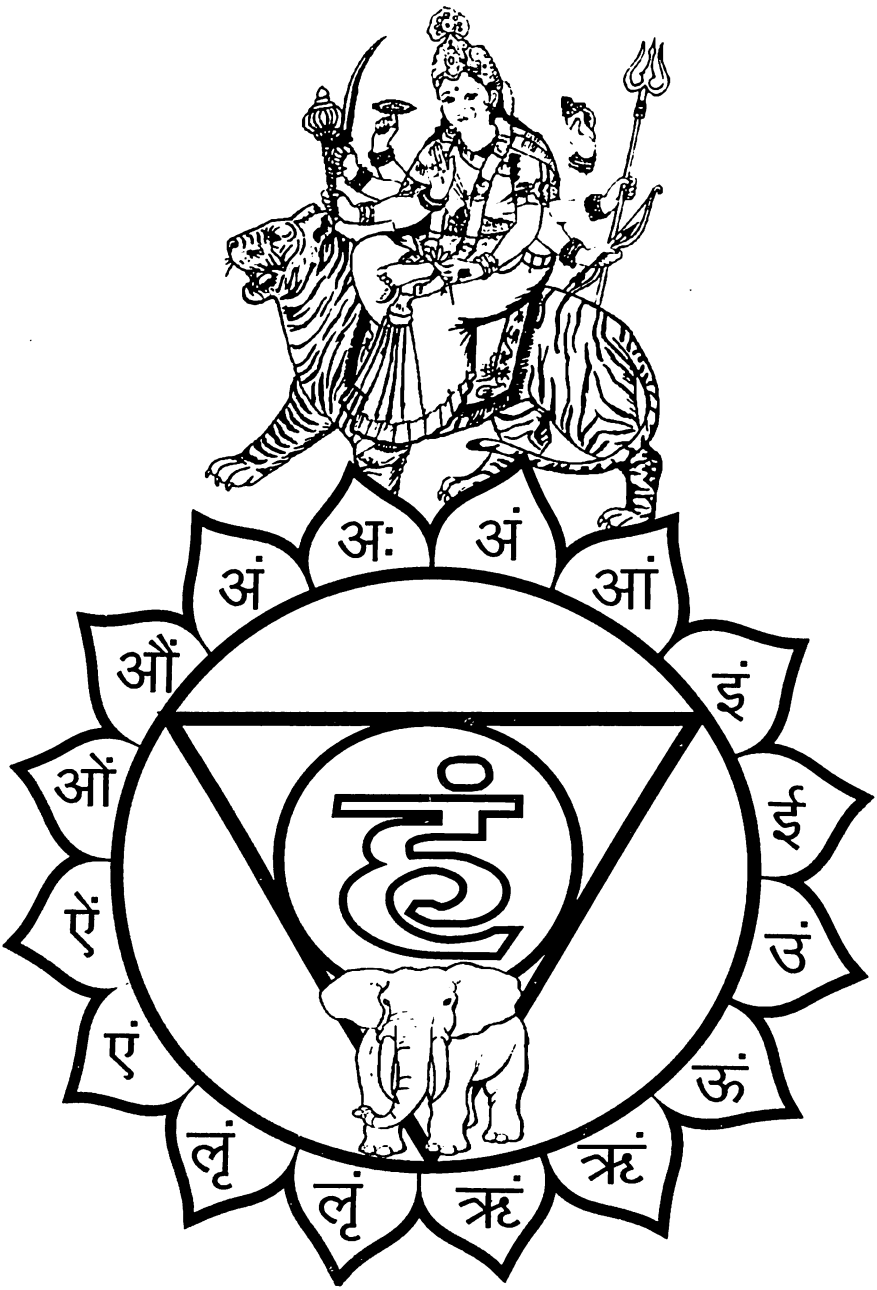

उच्चारण करते तो स्पष्ट मालूम होगा इनका स्थान। उच्चारण में इन हड्डियों पर बल पड़ता है। इसी से कहा है—'यह तन हाट सितारों का।' यहां 16 स्वर हैं। प्रत्येक से 4-4 कला विद्या में उत्पन्न होती हैं। इस तरह 64 कला विद्या यहीं से उत्पन्न होती हैं।

कंठ से ऊपर तालु में 64 दल कमल हैं। जहां सद्गुरु का भी निवास बताया गया है।

चौंसठ दल सो उज्ज्वल वरना, तारू मध्य रहे अध हरना।
तहां इसे सत्गुरु गोरा, अमृत खाय लिए मेह कोरा॥

इस तरह इसे अमृत दल भी कहते हैं। यहां से निरंतर अमृत की वर्षा होती रहती है। साधक गुरु कृपा से पान करता रहता है। सत्गुरु शरीर छोड़ने या मृत्यु के 3 (तीन) घंटा पहले इस जगह का परित्याग कर देते हैं।

शक्ति सहित जबै तन छोड़ो, तब यम जीव अह ते काठे।

यहीं पर ब्रह्ममय शरीर भी होता है। शोडस दल पर चंद्रमा का भी निवास स्थान है। इसी से सभी दल को शशि रूप कहा गया है।

मानसिक पूजा—साधक पूर्वोक्त ढंग से यहां भी मां स्वरूप शुभ आदि शक्ति का पूजन करे। इनके लिए मन से ही सफेद साड़ी, चूड़ी, चादर, आसन, वसन, फूल-माला इत्यादि मांग कर, देवी को अर्पित करे। साधक यहां भी पांचों, शोडसों, बत्तीसों उपचार से मां देवी का पूजन करे। पूजन कर भोग लगावे। आरती करवा, आचमन करवा, यथा स्थान विराजमान करे। यहां ही उनका हंस भी रहता है। उसका भी पूजन अर्चन करे। तब भारती देवता का करे। ये राजा के सदृश्य मौन रहते हैं। इनका भी पूजन उसी तरह करे। सबके पूजन के बाद साधक अन्य दलों का भ्रमण कर सकता है। देवी से पहले आग्रह करके किसी देव दूत को साथ ले लें। जिस भी लोक में जाए वहां के देवता से विनम्रता से बातें करे। दण्ड प्रणाम, पूजन अवश्य करे। साधक कहीं भी, किसी भी लोक से, किसी भी देवता से, किसी भी चीज की मांग न करें। अन्यथा साधक भटक जाता है। उसकी साधना टूट जाती है। एक दिन आएगा, जब साधक वैसे ही उन देवों से बाते करेगा जैसे सामने बैठे अपने मित्र से। तब कुछ और ही स्थिति होगी।

आत्म शरीर—(Spiritual Body) (स्प्रीचुअल बॉडी) यह पांचवां शरीर विशुद्ध शरीर का है। यहां मन आकाश के सदृश्य विशुद्ध हो जाता है। इसी से इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं एवं इस शरीर को आत्म शरीर। इस शरीर की संभावनाएं अनंत हैं। जैसे साधक ऊपर के चक्रों में प्रवेश करते जाते हैं उसी के अनुरूप की संभावनाएं भी बढ़ती जाती हैं।

प्रकृति अक्सर इसका विकास 28 से 35 वर्ष के बीच कर देती है। साधक इसका ठीक ढंग से उपयोग करे एवं गुरु ठीक से निर्देशित करे तब 35 वर्ष तक साधक इस शरीर को उपलब्ध हो ही जाता है। जिस तरह से चौथे शरीर पर साधक स्वर्ग नरक तक रुक जाता है। और जो साधक आगे आता है वह आत्म शरीर या अध्यात्म शरीर पर पहुंचता है। यह शरीर पर दिखाई नहीं पड़ता, जैसे आत्मा कहते हैं तो एक शब्द मालूम होता है। इसे अनुभव किया जा सकता है। यह शरीर ही लगभग मुक्ति का द्वार है। परंतु यहां तक पहुंचा साधक भी आगे नहीं जाने की इच्छा करता है। कहता है मात्र आत्मा ही है अब कोई परमात्मा वगैरह नहीं है। जैसे पहले एवं दूसरे शरीर का साधक जन्म-मृत्यु मानता और कुछ मानता ही नहीं पदार्थ तक ही सीमित है। अतएव आगे कैसे सत्य माने। उसी तरह यह साधक भी आत्मा तक ही रुक सकता है या अधिकांश रुक जाते हैं। यहां से आत्मिक प्रेम होता है। वास्तविक यही से निःसरित होता है। जो जन्मों जन्म तक चलता है। यहां वासना नहीं रहती है।

दो का मिटना–

द्वैता-द्वैत का मिटना–जैसे ही साधक इस शरीर में प्रवेश करता है, उसकी मूर्छा निद्रा अपने आप टूट जाती है। जब वह जगा रहता है। जैसे रात्रि में भी सोता है तो उसका शरीर सोता है। वह सतत जाग्रत अवस्था में रहता है। वह सोने में भी कुछ करता है तो जानता है कि वह कर रहा है। साधारण व्यक्ति सोते समय कंबल ओढ़ लेते हैं। उन्हें पता नहीं रहता है। इतना ही नहीं खा-पी भी लेते हैं उन्हें पता नहीं होता। परंतु यह साधक 24 घंटा जगा रहता है। शरीर सोता है। दूसरी बात जब यह जाग जाता है तो इसका द्वैत भी समाप्त हो जाता है। यहां न ही स्त्री रहती है न ही पुरुष। चूंकि यह सब द्वैत पर ही टिका है। आत्मा न स्त्री है न ही पुरुष न ही द्वैत है, वह है विशुद्ध। गुरु एवं शिष्य का संबंध यहीं से स्थायी रहता है। तब गुरु शिष्य के उद्धार हेतु जन्मों जन्त तक पीछा करता है। इस शरीर में केवल देना ही देना होता है। पूर्ण प्रेम, प्रेम का सागर।

पांचवें शरीर में पहुंचे हुए लोगों की संख्या नगन्य है। इस जगत में सोए हुए लोगों की ही संख्या अधिक है। सब काम सोने में करते हैं। अहंकार सदा साथ-साथ होता है। अतएव उनके लिए इस शरीर में पहुंचना ही अत्यंत दुखद कार्य है। अक्सर आप देखते हैं कि महात्मा के आश्रम में जंगली जानवर साथ-साथ बैठे हैं, उन्हें किसी तरह की न ही आपत्ति है न ही भय। क्योंकि

विशुद्ध चक्र

अं अः अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं

हं

आज्ञा चक्र
हं
ॐ
क्षं

उस महात्मा का अब अपना कोई विचार ही नहीं है। वह अब निर्विचार, निर्भय है। जब तक विचार उठता रहता है तब पशु-पक्षी के मनः मस्तिष्क तक वह विचार टकराता है जिससे वे भयभीत होकर दूर हो जाते हैं। परंतु जैसे ही निर्विचार को उपलब्ध होते हैं। वह भी जीव-जंतु साथ-साथ निर्भय रहते हैं। आत्म शरीर से भी सूक्ष्म रूप से प्रकाश या ऊर्जा निकलता है वह किसी को भी प्रेम से भर देता है। भले ही वह पेड़ हो, पौधा हो या पत्थर, पर्वत हो। आत्मिक शरीर वाले व्यक्ति से पूरी सृष्टि ही प्रेम करने लगती है। यही सृष्टि का राजा है। अपने में सभी को देखता है। सभी में अपने को देखता है।

मालिक–

विचारों का मालिक–यदि यह कहा जाए कि यह शरीर विचारों का मालिक है तो अतिशयोक्ति नहीं। मैं स्वयं अपने ही गुरुदेव को देखता था। दो व्यक्ति एक साथ मिलने आते। एक को अत्यंत क्रोधी मालूम होते तो दूसरे को अत्यंत कारुणिक। वहां से जाते ही रास्ते में एक कहता ये तो करुणा की साक्षात मूर्ति है। दूसरा कहता कैसे कहते हो भाई, ये तो क्रोध से भरे थे। उस स्थिति के व्यक्ति जब चाहे एक साथ विभिन्न प्रकार की मुद्रा प्रगट कर सकता है। सारी मुद्राएं वातावरण में मौजूद हैं चाहे राम हो, कृष्ण हो बुद्ध, महावीर हो, चंगेज खां हो, हिटलर हो, आइन्स्टीन हो। सब के विचार आपके अंदर प्रवेश करने के लिए प्रयासरत हैं। आप सब तरह के विचार से घिरे हैं। जैसे वातावरण में सब विचार भरे हैं आप रेडियो को जहां लगाते उसी स्टेशन का कार्यक्रम देता है। ठीक उसी तरह वह व्यक्ति जब चाहता जिसका चाहता विचार उत्पन्न कर लेता। यह विचार तो है ही मात्र प्रवेश का मौका चाहिए। गुरुदेव के आश्रम पर सुबह या रात्रि में कोई जाता तो आगाह किया जाता। गुरुदेव का बिछावन मत छूना, इधर-उधर ठीक से घूमना क्योंकि सर्प अक्सर उनके इर्द-गिर्द रहते, पक्षी निर्भय होकर रहते मानो उसी का डेरा हो। इस शरीर का साधक क्रोध भी करता है तो देखता है इस क्रोध के नाटक को। यह शरीर विचरणा एवं प्रज्ञा का है। इस शरीर पर पहुंचे हुए साधक को मुक्त कहा जा सकता है। चूंकि आगे जाने में अब कोई अड़चन नहीं रहती है। जैसे चौथा शरीर जाग्रत रहा तो देवत्व का होता है यदि सोया रहा तो प्रेत का। ठीक उसी तरह इस शरीर से ये दोनों ही गिर जाते हैं। पर मैं विदा हो जाता है। अस्मिता पर रुक जाता है। यह अस्मिता साधक के लिए अत्यंत ही कीमती परदा है। जिसे गिराना नहीं चाहता। इसमें ही आनंदित रहता है।

परिणाम—साधक का चेहरा दिव्य आभा से भर जाता है। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ही स्वयम् उसकी जिह्वा से बोलने लगती हैं। मात्र साधक अपनी जिज्ञासा प्रगट करता है। भारती देवता भी वही है अतएव साधक जिस भी तरह की भावना, जिस तरह का स्वरूप लाना चाहता है वह भारती देवता तुरंत भर देता है। साधक विशुद्ध निर्विचार होकर बोलता है एवं करता है। जो कुछ भी बाह्य जगत के जीव उसे देखते हैं उसकी विद्वत्ता एवं अनुभव की प्रशंसा करते हैं। जबकि वह साधक वास्तव में न ही विद्वान है न ही अनुभवी है। चूंकि दोनों ही गिर चुके होते हैं। परंतु इस तरह के साधक की पहचान भी अत्यंत कठिन है। वह साधक बहिर्मुख अत्यंत कम हो जाता है। जगत का काम भी बाह्य दृष्टि एवं जगत हित सोचकर कर लेता है। अंदर से 'स्व' में ही स्थित रहता है। इस शरीर में पहुंचा साधक देव योनि भी नहीं ग्रहण करता। अब यह स्व में स्थिर होकर द्विज बन जाता है। यह द्विज आगे पहुंचकर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

यह योगी जितना भी दिन जीवित रहना चाहता है। अपनी इच्छा से रह सकता है। परंतु इसकी इच्छा होती ही नहीं। वह रोग शोक मुक्त होता है। ज्ञान में स्थित रहता है। हां, यदि कहीं किसी भक्त का संस्कार क्षीण करता है, या आशीर्वाद देकर उसका भाग्य बदलता है, या शाप देकर तब उसके संस्कार को अपने ऊपर लेकर द्रष्टा के भांति भोग लेता है जिससे आगे कोई भी संस्कार उसका पीछा न करे।

आज्ञा चक्र (Medula Plexus)—

यह चक्र दोनों भ्रुवों के बीच भृकुटी के मध्य में है। यहां दो दल कमल हैं। यह बिलकुल शुभ्र रंग की है। इसे पिनीयल ग्लैण्ड एवं पीट्यूटरी ग्लैंड भी कह सकते हैं। यह सामने मस्तिष्क में दो मांस पिण्ड की तरह हैं। जो साधक के द्वारा करने से उर्द्धमुख होकर खिल जाते हैं। यही बाद में दिव्य, अलौकिक शक्ति से भर जाता है। इसे त्रिनेत्र भी कहते हैं।

देवता—इस दल के आधिपत्य है 'आत्मा'। दोनों पत्तों पर हाकिनी एवं डाकिनी नाम की शक्तियां रहती हैं। इन पर दो अक्षर हं, क्षं है। इससे थोड़ा-सा ऊपर एक सतदल डाकिनी कमल है। यह कमल दल भी श्वेत है। इसे प्रकृति का महल या माया महल कहते हैं। आज्ञा चक्र तप लोक है जहां ॐ का प्रणव भी हर समय सुनाई पड़ता रहता है। यहां लिंगाकार मंत्र बनता है। जिसे साधक निर्गुण शिव भी समझते हैं। शंकर एवं शिव में यहां अंतर है। शंकर की एक

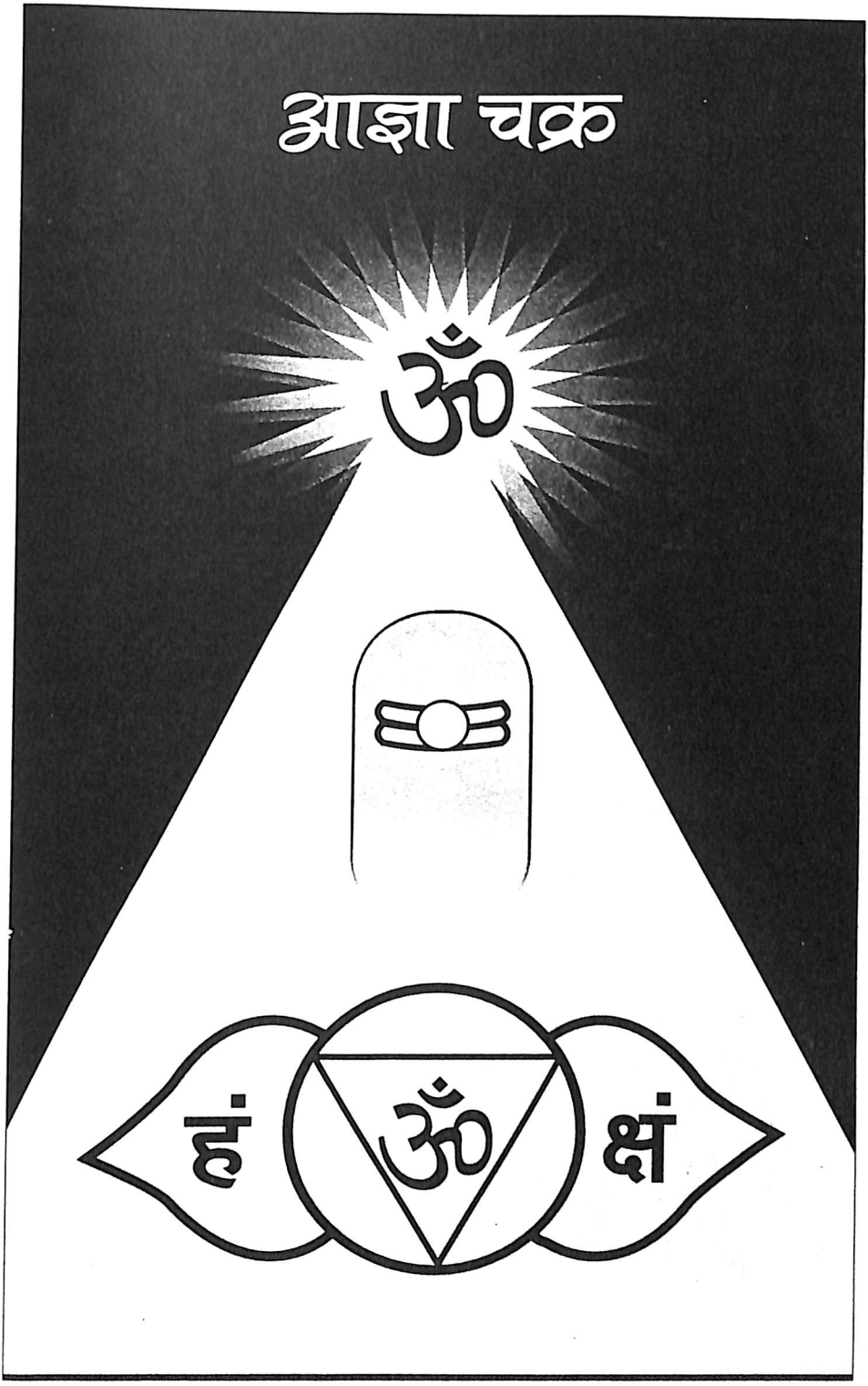
आज्ञा चक्र
ॐ
हं
ॐ
क्षं

आकृति है, मानव की तरह। परंतु शिव प्रकाश स्वरूप लिंगाकार है। सद्गुरु कबीर साहब इसे ही त्रिवेणी संगम कहते हैं–

त्रिवेणी संगम झलके हीरा।
चरण चित तह रख, कबीरा।।

संत तुलसी दास भी कहते हैं–

परम प्रकाश जलै दिन राती,
न चहौ दीप घृतबाती।

ज्ञान संकलिनी तंत्र में भी कहा गया है–

त्रिवेणी संगमों यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीतं सर्वपायैः प्रमुच्यते।

निर्गुण निराकार शिव की स्थिति यही है। इसी से शैव साधक अपने ललाट पर पिंडी बनाते हैं। वे यहीं पर आनंदित होकर जन्मों जन्म पड़े रहते हैं। उनके लिए यह स्थान ही सर्वोच्च है।

मानसिक पूजा–साधक पूर्वोक्त विधि से मानसिक पूजा कर सकता है। हाकिनी-डाकिनी की पूजा स्तुति कर सकता है। पांचों उचार शोडषोपचार एवं बत्तीसों उपचार से। परंतु यहां ध्यान लग जाने पर न अलग पूजक बचता है। न ही पूज्य। यहां विचित्र घटना उत्पन्न हो जाती है। त्रिवेणी संगम पर स्नान मात्र से जन्मों का पाप स्वाहा हो जाता है। संस्कार स्वतः समाप्त हो जाता है। यहां गंगा, जमुना, सरस्वती का दिव्य संगम है। जिसे इंगला-पिंगला एवं सुषुम्ना भी कहते हैं। इसमें स्नान मात्र से साधक के सारे संस्कार क्षय हो जाते हैं। यही तीर्थ राज प्रयाग है। स्थूल शरीर वाले लोग इलाहाबाद को प्रयागराज कहते एवं वहां की दौड़ लगाते हैं। परंतु जो साधक गुरु की कृपा से इसे जान गया वह यहां स्नान कर सदा आनंदित रहता है। अब उसे कहीं स्नान करने की जरूरत ही नहीं महसूस होती। न ही पूजा करने की। अब पूजक एवं पूज्य का मिलन हो गया।

हृदय–इस तरह के साधक के लिए हृदय कहीं और नहीं है। वास्तविक हृदय यही है। वह हृदय जहां से खून का वितरण है जिससे शरीर स्वस्थ होता है। खून साफ भी होता रहता है। परंतु यह हृदय योगी जन के लिए है। जहां से प्रकाश सारे चक्रों में जाता है। सारे चक्र यहीं से पुष्ट होते हैं। सबका संबंध यहीं से होता है या नियंत्रण भी यहीं से होता है। अतएव आज्ञा चक्र ही वास्तविक हृदय जानना चाहिए। स्थूल बुद्धि वाले लोगों के लिए वह हृदय है जो नीचे है। योग स्वरोदय में भी कहा गया है।

तदैव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादि सम्मतम्।
अन्यथा हृदि किंचास्ति प्रोक्तंयत् स्थूलबुद्धिम।।

इस तरह साधक के लिए अब यही त्रिवेणी है। यहां स्नान करने के बाद अब न स्नान की जरूरत है, न ही तीर्थ की जरूरत है, न ही व्रत की जरूरत है। इस तरह का साधक जहां रहता है। वहीं तीर्थ हो जाता है। जो साधक यहां स्नान कर लेता है उसे बाहर पितृ पिण्ड देने की आवश्यकता नहीं होती है। इसके पितर स्वतः मुक्त हो जाते हैं। यहां स्नान मात्र से साधक का जन्मों जन्म का पाप स्वतः जल जाता है। वह स्वयंभू हो जाता है। पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है। देवताओं के लिए भी दर्शनीय हो जाता है। देवता गण इनके आदेश का पालन कर अपने को धन्य समझते हैं। कुछ साधु, महात्मा लोग खून साफ करने वाले हृदय में ही ध्यान करने को कहते हैं। गीता प्रेस से प्रकाशित पुस्तकें भी उन्ही का अनुसरण करती हैं। सो उचित नहीं है। इसकी जानकारी विज्ञ एवं आत्मवेत्ता गुरु से ग्रहण करनी चाहिए।

शिव नेत्र–

जब साधक का मन स्थिर हो जाता है। परम प्रकाश में स्व को लीन कर लेता है। तब उसकी दिव्य दृष्टि अपने आप आ जाती है। जिसे दिव्य दृष्टि (Organ of clairvoyance) क्लैरवोएंसी ऑर्गन भी कहते हैं। इसे ही त्रिनेत्र या शिव नेत्र कहते हैं। यह शिव नेत्र साधक को अपने आप प्राप्त हो जाता है। चूंकि शिव लिंग रूप यहीं है। साधक को यहीं चंदन लगाना चाहिए जिससे उसकी त्रिनेत्र खुलने में मदद मिलती है। चंदन में ऐसी किमिया है। जो साधक की साधना को प्रशस्त करता है। उसके त्रिनेत्र को खोलने में सहायता प्रदान करता है। इसकी विशेष जानकारी दिव्य गुप्त विज्ञान में दी गई है।

साधक का प्राण एवं मन जैसे ही आज्ञा चक्र पर रुक जाता है। वह तत्क्षण संप्रज्ञात समाधि को उपलब्ध हो जाता है। यह स्थिति साधक के लिए अत्यंत ही बहुमूल्य है। संभवतः विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न साधकों के द्वारा त्रिकुटी पर ही स्नान, रुक कर देख लेने का महत्व दिया गया है। सहज योग के साधक की यात्रा यही से प्रारंभ होती है। चूंकि आज्ञा चक्र को जोड़ती है एवं अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करती है। अतएव सहज योग के साधक गुरु कृपा से यहीं से यात्रा प्रारंभ करते एवं कुण्डलिनी उनकी साध्य नहीं होती। वह अपने आप जाग्रत हो जाती है। इस तरह के साधक कुण्डलिनी के फेरे में पड़ते ही नहीं। यह घटना तो अपने-आप ही घट जाती है।

ब्रह्म शरीर (Cosmic Body) कॉस्मिक बॉडी—बचपन से ही जैसे अन्य 5 पांच शरीर का विकास हुआ उसी तरह यदि किया जाए तो यह शरीर भी 36 वर्ष एवं 42 वर्ष के मध्य हो जाना चाहिए।

इस शरीर में पहुंचना साधक के लिए अत्यंत ही महत्वपूर्ण छलांग है। अहम् ब्रह्मास्मि ही रह जाता है।

अस्मिता—

अस्मिता का खोना—साधक इस शरीर में जो अहम् ब्रह्मास्मि का अनुभव करता है। वह यही इसी शरीर में 'स्व' को खो भी देता है। अस्मिता को खोना भी यही होता है। चूंकि आनंद का अनुभव साधक पिछले शरीर में कर चुका है। अतः यहां अस्तित्व (एक्जिस्टेंस) का है। साधक अहम (मैं) भी पांचवां पार ही छोड़ चुका है। अब 'है' एवं 'हूं' रह गया है। यह 'हूं' भी इसी आज्ञा चक्र में चला जाएगा। रह जाएगा मात्र 'अस्तित्व'। 'स्व' चला जाएगा एवं सर्व आ जाएगा। या यों समझा जाए 'स्व' का ही रूपांतरण 'सर्व' में हो जाता है। इस चक्र के अनुभव का वर्णन ही वर्णातीत है। अब कुछ भी कहना खींचा तानी करना है। चूंकि ब्रह्म ही परम सत्य है। साधक पा लिया। अब क्या चाहिए। अब साधक अनंत हो गया। अब इस अस्तित्व बोध से निकलना भी साधक के लिए अत्यंत दुष्कर है। अब जाप तो आप कहां इदम्, उद्म, सर्वत्रम् ब्रह्म का ही अस्तित्व ज्ञात हो रहा है। साधक आज्ञा चक्र पर पहुंचकर जो कुछ भी देखता है वह दिव्य होता है। जो इन आंखों से देख पाना असंभव है। वह सब इंगित भी करे तो किसे करे। अब वह अनहोनी देखने लगता है। जब बोलता है तो वह भी अनहोनी होने लगता है। जिसे लोग कहते हैं (त्रिनेत्र खुल गया) चूंकि तीसरे नेत्र से ही अब साधक देख रहा है। अनंत देख रहा है। अब वह इससे कम पर समझौता करने को तैयार ही नहीं है। यह आत्मा ही ब्रह्म में भासित होने लगा है। वासना भी कहा जाए तो गलत होगा। इसी से अनुभव गम्य कहा गया है। यह आत्मा (ब्रह्म) विज्ञान की पकड़ से बाहर है। वह तो शरीर एवं अणु-परमाणु या क्वांटम तक ही पकड़ पाएगा। वह कैसे पकड़े ब्रह्म की भाषा को, ब्रह्म का अनुवाद भी किसी भाषा में नहीं किया जा सकता। यह ब्रह्म भारतीय धर्म की ही खोज है। जैसे क्वांटम पश्चिम के विज्ञान का। क्वांटम का भी अनुवाद संभव नहीं है। ब्रह्म शब्द अनमोल है। यह व्यस्थापित है। इसमें हुआ जा सकता है। (Being) रहा जा सकता है। यहां ही साधक 'सर्वम् ज्योतित ब्रह्मं' चारों तरफ ब्रह्म ही देखता है। इसे मधु विद्या भी कहा

जाता है। सबके लिए मोहन बन जाता है। विश्व मोहन। इसी से कृष्ण का एक नाम मदन मोहन भी है। यहां आनंद सागर है। सदैव एक रस आनंद में रहते हैं।

जीवन का अमरत्व–

साधक अपनी इच्छानुसार शरीर ग्रहण कर लेता है। यदि वह चाहता है कि इस शरीर को छोड़कर कहीं अन्यत्र ब्रह्म शरीर ग्रहण कर आनंदपूर्वक रहूं तो रह सकता है। अभी भी बहुत महात्मा हिमालय एवं काशी सिद्धाश्रम में पांचवें शरीर या छठे शरीर में सैकड़ों, हजारों वर्षों से रह रहे हैं। जिसे आप कभी-कभी कथा कहानी के रूप में कहीं पढ़ लेते हैं। सुन लेते हैं कि अमुक व्यक्ति से अमुक व्यक्ति की भेंट हुई। यह कथा कहानी नहीं सत्य है, परंतु उस अशरीर को देखने के लिए आपको भी अशरीर होना पड़ेगा या दिव्य दृष्टि ग्रहण तो करना ही पड़ेगा। काशी इस पृथ्वी की पुरातन धरोहर है। जो भगवान शिव के त्रिशूल पर है। वहां सदैव पांच सौ आत्माएं इस शरीर की वहां रहती हैं। जिससे आप मिलकर सत्यासत्य का स्वतः अनुभव कर सकते हैं।

एक अनुभव–मैं पहले कह चुका हूं कि जो कुछ भी कह रहा हूं वह 'स्व' का अनुभव है या गुरु कृपा। गुरु देव का प्रवचन या अपना अनुभव भी हमें सुनाया करते थे। एक दिन जब इस शरीर पर बात हो रही थी। उन्होंने कहा, मेरा फेफड़ा नेती धोती करने से फट गया था। हृदय भी क्षतिग्रस्त हो गया। मैं खुद वैद्य भी था। परंतु कुछ लोगों से परामर्श लिया, तो वे लोग बताए कि तुम्हारे मुंह से जितना खून निकल रहा है, उससे मालूम होता है कि कुछ दिन के मेहमान हो। अब तुम नहीं बचोगे। मैं भी अपने जीवन से निराश हो गया था। अब किया ही क्या जा सकता था। उस समय यानी उन्नीस सौ दस के लगभग पढ़े-लिखे लोग कहीं-कहीं किसी-किसी गांव में मिलते थे।

उस समय मैं पढ़-लिख कर योग-साधना के चक्र में फंस गया। यही सोच रहा था। संध्या थी। तब तक वह गुरु, जो मुझे योग सिखाते थे, आ गए। उन्हें देखकर मेरे पिता जी अत्यंत क्रोधित हो जाते थे, कहते थे, तुमको और कोई लड़का नहीं मिलता क्या ? भाग जाओ यहां से। हमारे पिता जी सब मिलकर चचेरे वगैरह सात भाई थे। जिनमें मैं ही उस समय एकमात्र संतान था। मेरे पिता ने मुझसे खिन्न होकर दूसरी शादी कर ली एवं जिससे उन्हें एक लड़का भी बाद में हुआ। खैर, गुरुदेव इशारे से कहकर, उसी समय चले गए (मैं रात्रि का इंतजार करने लगा) किसी तरह 12 बजे रात्रि आ ही गया। मैं गांव के बाहर

गया, एक कुआं था, पीपल का पेड़ था। वहीं वह महात्मा मेरे इंतजार में ध्यानस्थ थे। मैं वहां पहुंच कर उनके पैरों पर गिर गया। वे कहे अब समय नहीं है। तुम्हारा शरीर रुग्ण हो गया। इस हठ योग के एकमात्र वैद्य हैं, उनसे इलाज करा लो। वे कहां हैं। वे बोले, चलो अभी हमारे साथ। उसी समय उसी क्षण हम लोग पैदल ही चल दिए। दो दिन पर घर से चलकर वाराणसी पहुंचे। मैंने पूछा, क्या इसी शहर में वह वैद्य है। वे बोले, हां कभी यहां रहते थे। अब वे कैलाश चले गए हैं। वहां तुम अकेले यहां से जाओ। सुबह हो गई गंगा मां में स्नान करो। उत्तरायण कैलाश की यात्रा शुरू कर दो। मैं हर समय तुम्हारे साथ रहूंगा। मुझ में कहां से शक्ति आ गई। मैंने स्नान कर मां गंगा का जल पी लिया। बस चलता रहा-बस चलता रहा—कहीं रास्ते में कुछ मिल गया। खा लिया चल दिया। जब जहां नींद लगी सो गया। दो माह के बाद एक घोर जंगल के नजदीक पहुंचा। वहां से कैलाश पर्वत दिख रहा था। सफेद-शुभ्र। इसे दूर से देखकर आनंद में डूब गया। जैसे मैं कैलाश पर ही हूं। जब जंगल के प्रथम छोर पर पहुंचा जहां से जंगल में पगडंडी जा रही थी। उसके किनारे ही एक गुमटी दिखाई दी। एक दिव्य पुरुष बैठा था। चिल्लाया स्वामी जी इधर आ जाओ। मुझे आश्चर्य हुआ, जहां न गांव न शहर वहां छोटी-सी दुकान एवं ऐसा दिव्य पुरुष दुकानदार। खैर, गुरुदेव को स्मरण करते हुए उसके समीप गया। वह बोला, स्वामी जी पान खा लो। मैं सोच रहा था, पैसा कहां से दूंगा। तब तक वह बोला, स्वामी जी पान खा लो न, कोई पैसा नहीं देना है। मैं उसकी विनम्र प्रार्थना देखकर पान खा लिया। तब वह दुकानदार बोला, स्वामी जी आप सीधे रास्ते चले जाओ एक कोस के बाद दाएं मुड़ जाना यानी वहां से बाएं-दाएं एवं सामने भी रास्ता गया है। आप दाएं मुड़ जाना, आप शीघ्रता से आगे बढ़ो अभी-अभी गोरख की मंडली गई है। मैंने कहा, तुम्हारा दिमाग ठीक है न, तुम पढ़े-लिखे हो या नहीं। गोरख कब हुए थे। वह व्यक्ति बिना सोचे बोला, यह मैं नहीं जानता। परंतु यह जानता हूं कि आप शीघ्रता से आगे बढ़ेंगे तो आप से मिल सकते हैं। अन्यथा देर करेंगे तो चूक जाएंगे। बस इसके आगे मैंने समय बरबाद करना उचित नहीं समझा। तेज गति से चल दिया। मानो हमारे शरीर में पंख लग गए हों। कुछ ही देर में उसके बताए चौराहे पर पहुंच गया। वहां से दाहिने मुड़ा लगभग आधा घंटा ही चला कि दो-चार झोपड़ियां दिखाई दीं। आश्चर्य इस जंगल में सुंदर झोपड़ी। मैं आगे गया। एक झोंपड़ी से एक महात्मा कमण्डल लिए हुए निकले। ओजस्वी तेज था चेहरे पर। बड़ी-बड़ी आंखें, लंबा कद। सीधे मेरे नजदीक आए, मैं झुककर प्रणाम करने

की सोच ही रहा था कि वे बोले, स्वामी जी अपने कमण्डल में छाछ ले लो। मैं तेरे लिए ही इंतजार कर रहा था। गुरु गोरखनाथ अपने भक्तों के साथ आगे निकल गए। हम लोग केलाश जा रहे हैं। तुम छाछ पीकर पीछे आ जाना। मेरी इच्छा हुई साथ-साथ चलने की। तब तक वे बोले, केसा साथ जी, तुम अकेले आए हो। अकेले चले जाना। तुम्हें भय किस बात का जी। योगी भी भय करता है। योगी जन्म-मरण से ऊपर होता हे। देखो सामने की झोंपड़ी में कबीर रहते हैं। वे भी अभी नहीं हैं। वगल की झोंपड़ी में नानक देव। तुम लोग वहां लड़ते हो। इनके मतों एवं सिद्धांतों के लिए। यहां अशरीर में हम सब साथ-साथ रहते हैं। खैर, तुम उसे पीकर विश्राम कर लो। कल चलना। झोंपड़ी खोल देता हूं। इतना कहकर, छाछ हमारे कमण्डल में डालकर तेजी से चल दिए। मैं अवाक देखता रह गया। कुछ क्षण बाद जब मुझे होश आया तो सोचा क्या दिन में ही सपना देख रहा हूं। पर ऐसा नहीं था। मैंने छाछ पी ली, ऐसा स्वाद कि क्या कहूं। मैं तृप्त हो गया, भूख मिट गई। उसी झोंपड़ी में बैठा, पता नहीं कब सो गया। जब आंख खुली तो देखा सूर्योदय हो रहा था और भी झोपड़ी में जा-जाकर देखा कोई दिखाई नहीं पड़ा। परंतु हमारे शरीर में अब तेज था, ओज था। न भूख थी, न ही प्यास, न ही पश्चाताप। बस सामने कैलाश ही दिखाई दे रहा था। चल दिया। सुना था कि उसकी चढ़ाई हफ्तों की थी, परंतु पता नहीं कैसे मैं संध्या के समय कैलाश पर था। संध्या समय जब कैलाश पर पहुंचा तो एक महात्मा का दर्शन हुआ। वे स्वयं मेरे नजदीक आए बोले, स्वामी जी यहां बर्फ ही बर्फ है। तुम सामने की गुफा में चलो। मैं तुरंत आया। मैं आगे बढ़ा एक घरनुमा सुंदर गुफा थी। अत्यंत मनोरम। उस बर्फ पर भी उस गुफा में ठंडक नहीं थी। महात्मा भी आए एवं बोले, स्वामी जी रात्रि में यहीं रुको। एक सफेद कंदमूल जैसा कोई पदार्थ दिया। साथ ही बोले, इसे खाकर सो जाना। भगवान शंकर तुमसे स्वयं मिलेंगे। तुम्हारा सब ठीक हो जाएगा। वे तुम्हारे लिए इंतजार कर रहे थे। सवेरे चले जाना यहां रुकना मत। क्या करेगा रुक कर ? जगत में तुझे कुछ करना है न। मैं विनम्र व निर्भीक ही मालूम हुआ, यह महाप्रसाद है। शरीर से रोग-कष्ट दूर भाग गया था। मैं नए ओज से भरा गया। वहां सिद्धासन लगाकर ध्यान में बैठ गया। ऐसा भान हुआ लगभग अर्द्धरात्रि को भगवान शंकर आकर हमारे सिर पर हाथ रखे। बोले, बेटे तुम तो ठीक हो। कौन कहता है तुम बीमार हो ? तू तो योगी है। तुझे योग स्वयं उपलब्ध हो जाएगा। रात्रि भर इसी तरह बैठे रहो। सुबह तुम्हारा ध्यान तोड़ देंगे। तुम सुबह मान सरोवर में स्नान कर लौट जाना। मैं ध्यान में मस्त था

सुबह आंख खुली। सामने वही महात्मा खड़ा था। मानो हमारे ध्यान टूटने का इंतजार कर रहा हो। बोले, स्वामी जी भगवान शंकर तुझे रात्रि में दर्शन दे चुके हैं। हमारे साथ चलो। मानसरोवर में स्नान कर लो। तब तुझे यहां से विदा करूं। मैं मूर्तिवत उनके साथ चल दिया। कुछ ही देर में देखा सामने परम सुंदर, रमणीक एक तालाब था। हंस घूम रहे थे। जल अमृत तुल्य था। मैंने जल उठाकर आचमन किया। तत्पश्चात उसमें स्नान किया। क्या कहूं स्नान से भी दिव्य शक्ति का संचार हो गया सारे शरीर में। मानो कुण्डलिनी जग कर त्रिकुटी पर पहुंच गई। विचित्र था यह स्नान। मैं घंटों उस तालाब में खड़ा, ध्यान करता रहा। लगभग दोपहर को वही महात्मा आवाज, दिया स्वामी जी, अब चलो। तुम्हारा सब काम हो गया। जिसे प्राप्त करने में लोग जन्मों गंवा देते हैं वह तुम्हें तुरंत ही उपलब्ध हो गया। मैं उसके साथ चल दिया। मुझे ऊपर से उतरने का रास्ता बता दिए। अब मैं चल भी रहा था तो ध्यान में था। ध्यान की ही सुरति लग गई। कब मैं चलकर काशी पहुंच गया, वह खयाल नहीं।''

गुरुदेव के इस प्रसंग से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इस शरीर में भी पहुंचे महात्मा अभी हैं। मानो वे समय के बंधन से मुक्त हो गए हैं। हम लोगों को भी बहुत कुछ दिखाए एवं कराए भी। जो यहां लिखना उचित प्रतीत नहीं होता है। हां, कोई साधक यदि इस रास्ते पर आता है तो उसे कुछ दिखाया एवं बताया जा सकता है। अन्यथा यह कहानी बनकर रह जाएगा। अतएव साधक को सबसे पहले कुछ करने की उत्कंठा प्रबल होनी चाहिए। आगे का रास्ता अपने आप साफ होता जाएगा या प्रकृति आगे-आगे व्यवस्था करती जाएगी।

इस अवस्था के साधक के नजदीक किसी भी तरह का दिखावा कैसे आ सकता है। वह अत्यंत ही सहज हो जाएगा, जहां कहीं भी दिखावा है, वहां सहजता नहीं है। आत्मा का, ब्रह्म का तो स्वभाव ही सहज है। इसी से शास्त्रों में भी कहा गया है।

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं नं बहुश्रुतम्।
च सुवृतं न दुर्वृतं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढ़ धर्माश्रितों विद्वानज्ञात चरितं चरेत्।
अन्धवच्च जड़वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत॥

अर्थात इस तरह के साधक न ही संत की तरह दिखावा करेंगे बाहरी बनावट से दूर ही रहते हैं न ही असंत के तरह रहेंगे। न ही अश्रुत न ही बहुश्रुत रहेंगे। चूंकि वे तो अपने अंदर ही सुनने लगे। बाह्य का श्रुतानुश्रुत से कोई खास तारतम्य नहीं रहता है।

अब यह साधक सुवृत्त यानी तथाकथित धर्म के फेरे में नहीं रहता। अमुक जगह जाने पर पुण्य, अमुक जाने पर पाप। ऐसी वृत्ति से भी अलग हो गया। अब दुर्वृत्त जानता ही नहीं। दोनों से अलग हो गया। वह तो ब्रह्म को जानकर ब्रह्मनिष्ठ हो गया। अब वह कैसे अच्छे एवं बुरे के चक्कर में रहेगा। उसके लिए ये सब असंभव हो जाएंगे। इस तरह यह अत्यंत ही गूढ़ धर्म है, जिसका पालन करते हुए विद्वान योगी दूसरों से अज्ञान चरित्र की तरह ही रहता है। दूसरा पहचान भी कैसे पाएगा। उसके पास पहचानने का दिव्य दृष्टि है कहां। वह तो पहचानता अपने ही तरह के मायावी बनावटी या बहुरूपिया सदृश्य व्यक्ति को। यह साधक तो सर्वसाधारण के लिए अंधे के समान नजर आता है। जड़ के समान एवं मूक के समान पृथ्वी पर विचरण करता है। वह अब तो कुछ भी देख रहा, यदि व्यक्त भी करे तो हजार में एक-दो आदमी भी नहीं पकड़ पाएंगे। उसे अन्यथा लेंगे या पागल कर देंगे। यह बहुत ही बड़ी विचित्र विडंबना रही है। हम समझते हैं उसी को जिसके पास बाह्य बनावट बहुत होती है। जो असहज रहते हैं। चूंकि हम अत्यंत असहज हो गए हैं।

अनुभव—यहां साधक संप्रज्ञात समाधि को उपलब्ध हो जाता है। वह ब्रह्ममय सृष्टि को देखने लगता है। अब प्रश्न उठता है। जीवात्मा कहां है ? उसका ब्रह्म से क्या संबंध है ? इत्यादि प्रश्न वही खड़ा करते जिसे कोई अनुभव नहीं है। अनुभवी को ये प्रश्न गिर जाते हैं। कहां खोजेगा आत्मा को ? कहां खोजेगा ब्रह्म को ? अब कैसे अलग-अलग समझेगा। अलग-अलग समझने के लिए द्वैत बुद्धि कहां से लाएगा ? उसके लिए सब असंभव-सा प्रतीत होता है। फिर भी मैं आपको इस विषय पर कुछ कहना चाहता हूं। संभवतः आप अपने अनुभव के द्वारा जान सकें। आत्मा का प्रकाश चित्त पर पड़ता है। चित्त ही कारण शरीर है। इसी चित्त के संबंध से आत्मा का नाम जीवात्मा हो जाता है। कारण, शरीर ही सूक्ष्म शरीर में व्याप्त हो जाता है। तथा यही सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में। अब आप समझ गए होंगे कि वही जीवात्मा सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। परंतु पुनः अलग-अलग कार्य के भेद होने से उसके अलग-अलग स्थान भी प्रतीत होता है। जैसे हृदय ही शरीर का मुख्य भाग है। अतएव सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा यहीं रहता है। जब व्यक्ति स्वप्नावस्था में रहता है तब इसका स्थान कंठ होता है। जाग्रत अवस्था में नेत्र में। इसी से संप्रज्ञात समाधि में आज्ञा चक्र पर यही ब्रह्मस्वरूप है। यदि स्वरूप भी कहे तो शब्दादोष उत्पन्न होता है।

यही ब्रह्म सहस्रार में असंप्रज्ञात समाधि में उपलब्ध करता है। यहां पर हर वृत्ति रुक जाती है। इस तरह जो कुछ भी हम यहां कह रहे हैं मात्र समझने के लिए। चूंकि कहना भी इशारा करना मात्र ही हे। शब्दों के जाल में फंसना उचित नहीं है। साधक इसके माध्यम से गतंव्य पर पहुंचकर अनुभव कर ले। वही श्रेष्ठतम है।

सद्गुरु कबीर अपने शब्दों में कहते हैं–

जेहि रंग दूलह ब्याहन आए।
दुलहिनी तेहि रंग राचल हो।।
कहे कबीर राम रस माते।
जोलाहा दास कबीर हो।।

दूल्हा एवं दुल्हन अब दोनों एक ही रंग में हो जाते हैं। अब अलग-अलग कैसे हो सकता है। मात्र इतना ही कह सकता है कि यह आत्मा रूपी दुल्हन उस रस में मतवाली हो गई। अब वह अपने को अलग नहीं रख सकी।

उसी रंग-रस में मतवाली हो गई है मतवाली। अत्यंत सहज होने की घटना।

गुरु पर्वत–

आज्ञा चक्र के ऊपर है गुरु पर्वत। जिस पर गुरु सदैव श्वेतांबरी रूप में विराजमान रहते हैं। जो साधक गुरु के साकार रूप का ध्यान करता रहता है, वह एक दिन इस आज्ञा चक्र रूपी हवाई अड्डा पर स्वतः पहुंच जाता है। फिर गुरु अनुकंपा रूपी जहाज पर सवार हो जाता है। वह उसे गुरु पर्वत स्वतः अपनी तरफ खींच लेता है। वह पर्वत ही एकाएक प्रकाश रूप गुरुद्वार बन जाता है। यह द्वार ही गुरु द्वार है। जिससे होकर साधक परमपुरुष की तरफ उन्मुख हो जाता है। गुरु द्वार का खुलना गुरु अनुकंपा का परिणाम है। इसे हम तप या हठ के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते। यही है–

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पांव।"
बलिहारी गुरु आपनो, जिन गोविंद दियो बताए।।"

साधक गुरु रूपी द्वार से निकाय कर गोविंद रूपी सागर में मिल जाता है।

सहस्रार चक्र (Eretheral Plexus)

यह सातवां चक्र है। यहां पर परब्रह्म परमात्मा का स्थान है। यह हजार दल वाला चक्र है। सब दल अनंत सूर्यों से प्रकाशित हैं। यह पूर्ण चंद्र की तरह प्रतीत होता है। इसका स्थान तालु से ऊपर मस्तिष्क में है।

सहस्रार चक्र
ॐ

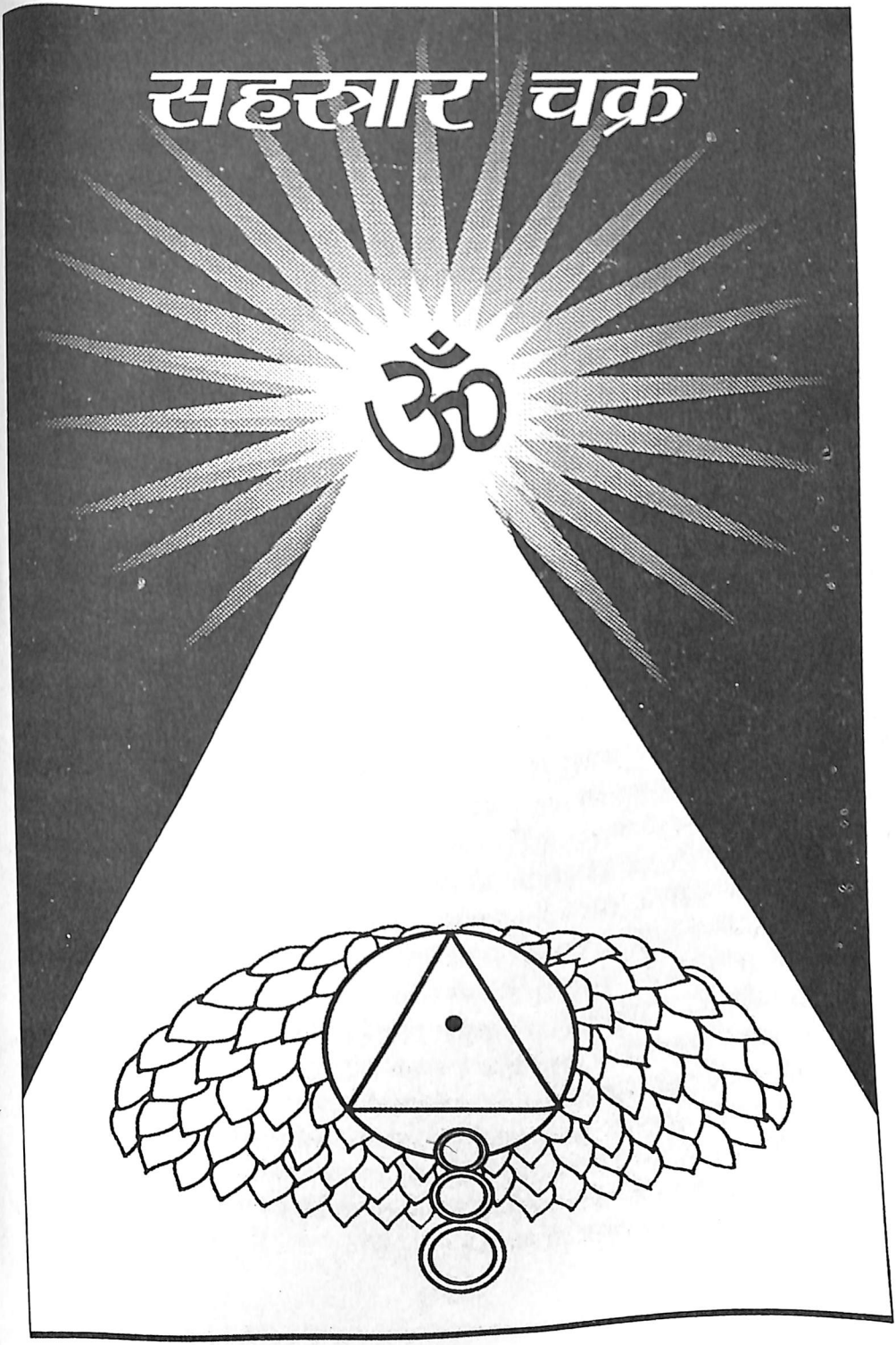
सहस्रार चक्र
ॐ

देव स्थान–अब यहां से देवताओं के भी देवता परब्रह्म-परमात्मा स्वयम् विराजमान हैं। यह सत्य लोक है। यहां तो 'अ' स्वर से क्ष व्यंजन तक सब यही है। यहां पूजक एवं पूज्य दोनों एक हो पाते हैं। साध्य एवं साधक एक हो गए। बूंद समुद्र में चला गया। यहीं पर असंप्रज्ञात समाधि लग जाती है। अतएव शरीर का भान भी समाप्त हो जाता है। यहां पर 24 घंटे में 21,600 जाप अपने आप होता रहता है, परंतु साधक अब जाप से भी ऊपर उठ जाता है। चूंकि यही ब्रह्माण्ड है। यहीं से नीचे के सारे पिण्डों की सृष्टि होती है। यहीं से सबका नियंत्रण भी होता है। अक्षर का भी नियंत्रण यहीं से होता है। निराकार निर्गुण ब्रह्म यहीं है। अतः तुरीयातीत अवस्था को साधक उपलब्ध हो जाता है। यहां अनहद की गति नहीं है। यही परम शुद्ध चित्त आनंद है। यहां बिलकुल शुद्ध सतोगुण है। योगी पूर्ण-सतोगुण में यहीं कल्पों निवास करता है।

महंत पदम–

महंत पद्म–सहस्रार से दो अंगुल आगे यह महंत पद्म है। साधारणतः साधक गण इसे सहस्रार में ही गिनते हैं या देखते हैं। चूंकि अब यहां वर्णन करना बिलकुल असंभव है। खींच कर भी वर्णन संभव नहीं होता। यह अनंत दल है। अनंत रवि का तेज है। इसी से सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं–

साहब कहते हैं–

सोई घर चेतहू हो भाई, जो आवा-गमन मिटाई।
लक्ष्मी वा घर झाड़ू देत है, शिव फेके कतवार।
विष्णु पहरा दार, सो घर चेतहू हो भाई।

यह घर विचित्र है। इसे घर भी कैसे कह सकते हैं।

निर्वाण शरीर (Bodyless body)–यह सातवां शरीर है। जब साधक गृहस्थावस्था में यानी जो वर्णाश्रम व्यवस्था है के अनुरूप ही अपने को ढालता है, तो 49 वर्ष में इस शरीर को उपलब्ध होता है। इसे औसतन 50 वर्ष माना गया। यदि नींव ठीक है तो इमारत मजबूत होगी ही। ठीक उसी तरह यदि नीचे की साधना सुव्यस्थित है। गुरु कृपा है। यह शरीर तो फल है। वह फल है निर्विज समाधि का। यह आने पर घर रहते हुए भी वानप्रस्थ हो जाता है। यानी वह जंगल की तरफ मुंह कर लेता है। इस तरह 75 वर्ष में संन्यास ग्रहण कर लेता है। इसे यो समझें अपने से भी मुंह मोड़ लेता है। मैं जो बचता था उसे भी छोड़ देता है। इन सातों का विकास यदि सुव्यवस्थित रूप से हो जाता है तो जीवन सरल एवं सहज हो जाता है।

अस्तित्व से अनस्तित्व में रूपांतरण—यह एक अनहोनी घटना है। अभी तक अस्तित्व बीइंग का बोध हुआ, अब नहीं होने का बोध होने लगा, अब नान बीइंग (Non Being) का बोध होने लगा। अब नहीं होने का पता चल जाता है। यही परम सत्य है। महामृत्यु। इसी महामृत्यु पर ब्रह्म की सत्यता का साक्षात्कार होता है।

ब्रह्म शरीर में और कुछ जानने का शेष रह गया था। वह जानना है। न जानने का, न होने की पूरी तरह मिट जाना ही निर्वाण शरीर है। बुद्ध इसी स्थिति को कहे थे—जैसे दीपक जल रहा हो, उसको समझ जाना। प्रकाश से आया था ? कहां चला गया ? यह अबूझ पहेली है। इस शरीर में जो कुछ भी कहा जाए वह मात्र बात बनाना है। चूंकि कहा नहीं जा सकता कुछ भी जो कुछ भी जाना गया, वह भी इस शरीर में छूट गया। यह स्थिति मांगी नहीं जा सकती। मांगता तो भिखारी है। बहादुर साधक गुरु निर्देश से छलांग लगा लेता है। फिर पाता है। कहां गुरु-कहां (शिष्या) चेला। फिर तो मुक्त है इस झमेले से।

इस शरीर में छलांग लगाने के लिए यानी अस्मिता से अस्तित्व से अनस्तित्व में जाने के लिए भी किसी तरह का दमन का सहारा नहीं लेना है। जैसे पीछे के शरीर में काम पर पैर रख ब्रह्मचर्य पर चढ़े। क्रोध पर पैर रखकर क्षमा पर चढ़ गए। ठीक उसी प्रकार अस्तित्व पर चढ़कर अनस्तित्व में चले जाना है। ये अब साधक का नहीं सीढ़ी के रूप में साधक को मदद करेंगे। दमन की प्रक्रिया में ही बाधक साबित होगा। जहां आप लड़े, बस वहीं रुक जाएंगे। चूंकि लड़ने में रुकना पड़ता है। हार भी होती है। बाह्य लड़ाई में जीत की संभावना रहती है। परंतु इस अभ्यांतर की लड़ाई में हार की ही संभावना ज्यादा है। जैसे हमारे ऋषि मुनी। आप कितनी कहानियां पढ़े होंगे पुराणों की। कोन ऋषि थे तो किसी अप्सरा से पराजित। तो कौन दुर्वासा थे चारों तरफ शाप ही देते चलते। यह क्या है ? मात्र अभ्यांतर के दमन का ही परिणाम है।

रहस्य—सातवें शरीर के व्यक्ति से प्रकृति में कोई रहस्य नहीं रह जाता है। वह परम शून्य होता है। शून्य से शून्य में गति अपने आप ही हो जाती है, बिना प्रयास के। इस शरीर का गुरु अत्यंत दुर्लभ होता है। यदि होगा भी तो पहचानेगा कौन ? आप तो पहचानते उसी को जिसमें विद्वत्ता हो। जिनका प्रवचन पत्र-पत्रिकाओं में आता हो। जिनके यहां बड़े-बड़े नेतागण एवं अधिकारी आते हों। यही रही आपकी खरी कसौटी। उसे पहचानने वाले भी उसी तरह के एकाध पागल के तरह होंगे। उस पागल पर आप हंसोगे। चूंकि उस शरीर को प्राप्त व्यक्ति ही सहज होगा।

बिलकुल बच्चे की तरह खेलने लगता है। बच्चे की तरह खाता, बच्चे की तरह पानी पीता, बच्चे की तरह सोता। अब बताओ कौन प्रौढ़ एवं विद्वान व्यक्ति उस बच्चे में समय बरबाद करेगा ? आप तो उसे अपने से ऊपर मानने पर तैयार ही नहीं हैं। नहीं पहचानने वालों की संख्या ज्यादा है। इन्हीं की संख्या चारों तरफ सदा से रही है। तभी तो बुद्ध पर पत्थर मारे, महावीर पर मारे, ईसा को फांसी दिए। मूसा को भी नहीं बख्शा। सदा से निर्वाण प्राप्त शरीर वाले व्यक्ति को पत्थर मारे हैं। फांसी दिए हैं। सर फोड़े हैं। अपने अहंकार का परिचय दिए हैं। जब व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त कर लेता या इस धरा धाम से चला जाता। तब आप उसका मंदिर बनाते, पूजा करते, जुलूस निकालते, सभाएं करते। इससे उसको कोई वास्ता नहीं पुनः आप दूसरे रूप में अपने अहंकार को ही बढ़ावा देते। आपके अहंकार को सूक्ष्म रूप में खाद मिलता कि आप पुण्य कर रहे हैं, धर्म कर रहे हैं। आप तथाकथित पुण्यात्मा बन जाते। धार्मिक ठेकेदार बन जाते। मंदिरों में, मंठों में, गुरुद्वारे में बैठ जाते। इनमें अधिकतर वही होते जो कहीं न कहीं बुद्धों को गाली दिए हैं। पत्थर मारे हैं। सूली चढ़ाए हैं। अब तथाकथित प्रायश्चित में पुनः अपने अहंकार को पुष्ट कर रहे होते हैं। उन्हें वास्तव में धर्म से कोई लेन-देन, का नाता-रिश्ता नहीं है।

समर्पण–

समर्पण–यदि कोई भी साधक पूर्ण रूप से इस शरीर में पहुंचे व्यक्ति के सामने अपने को समर्पण कर दे, फिर देखें तुरंत शक्तिपात हो जाता है। शक्ति मानो एक स्रोत से निकलकर दूसरे स्रोत में प्रवेश कर रही है। मानो शक्ति का, ऊर्जा का एक सेतु बंध गया। अब दो परम शून्य एक हो गए। कैसे कहोगे अलग-अलग परंतु यह घटना कभी-कभी घटती है। साधारणतः सातवें शरीर को प्राप्त व्यक्ति से जन साधारण घबरा जाता है। भयभीत हो जाता है। जैसे कोई आदमी सतह जमीन पर से खड़े होकर एक बहुत बड़ी खाई की तरफ झांके। बस सर घूमने लगता है। अनजान भय से शरीर कांपने लगता है। अभी मैं पिछले वर्ष बद्रीनाथ, केदारनाथ की यात्रा पर गया था। मेरे साथ 4 आदमी और थे। पहाड़ी रास्ते चलते समय मैं रुक-रुक नीचे देख लेता था। नीचे गंगा का श्वेत जल अविरल बह रहा है। बड़ा ही सुहावना दृश्य था। जब मैं कहा कि अरे, पंडित जरा नीचे तो देखो। बस इतना कहते ही रुमाल से आंख ढक लिया एवं चिल्लाया स्वामी जी बस करें। मैं न नीचे देख सकता न ही ऊपर। ऊपर देखने पर पहाड़ की ऊंचाई एवं नीचे देखने पर अतल खाई। हमें खाए

जा रही है। मन मचल रहा है। मुंह में चिउगम लेकर चूस रहा हूं। अब हम लोगों को मत मारो, छोड़ दो। आगे बढ़ते चलें। हम लोग सोच रहे हैं कि अब न हो नीचे देखेंगे न ही ऊपर, मात्र अपने रास्ते पर चलते रहेंगे। अन्यथा खतरा ही खतरा है। हम लोग तो मर जाएंगे। हार्ट फेल कर जाएगा। यह भी कोई देखना है। अब आप ही सोचो इस खाई को देखने में इतना भय, उस व्यक्ति से क्या उम्मीद कर सकते हैं। यही वजह है कि बुद्ध, महावीर, कृष्ण, कबीर एवं मूसा ऐसे व्यक्ति से व्यक्ति ही नहीं समाज भी भयभीत हो जाता है। जब कभी गहराई से उसके चेहरों को, उसकी आंख को देखता अनजान भय उसके शरीर में पैदा हो जाता। कृष्ण ऐसा आदमी जहां बैठता उपद्रव मच जाता है। उसमें एक विद्युत शक्ति होती जो आकर्षित करने लगती, अपनी तरफ खींचती एवं साधारण आदमी उसकी तरफ देखता तो पाता एक अज्ञात गड्ढा। अब भयभीत हो जाता। वहां से भागता, गाली देता, अपने को बचाने के लिए। कहते हैं कि मूसा को जब ज्ञान मिला तो अपने चेहरे पर परदा डाल लिए। जहां भी जाते परदा से युक्त जाते क्योंकि जो भी आदमी उनका चेहरा देखता डर जाता। बस घूंघट डाल दिए। अंतिम दिन तक घूंघट नहीं हटाए।

यहीं घूंघट 'मैं' का है। यह परदा है। इस परदे को हटाना पड़ेगा। तभी तो इस तरह के व्यक्ति से शुद्धतम शक्तिपात संभव है।

मूर्ति आप क्यों पूजते हो ? चूंकि वहां कोई खतरा नहीं। वहां तो आप ही बैठे हो। जब इस शरीर के आदमी चले जाते। आप मूर्ति बना लेते। अब आपको किसी प्रकार का भय नहीं होता। न ही वह कुछ कहता, न ही कुछ शक्ति, ऊर्जा ही छोड़ता। आप वहां फूल माला चढ़ा लेते। अपने मन की बात कुछ कह देते। यदि आप पंडित हैं, मुल्ला, ग्रंथी हैं तो कुछ व्याख्याएं भी कर लीं। वह भी आपके अपने अहंकार की व्याख्या होगी।

सातवां शरीर जीवन एवं मृत्यु दोनों से पार का है। चूंकि जीवन यदि पहला भौतिक शरीर है तो मृत्यु सातवें शरीर की शुरुआत है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह शरीर दोनों से पार कर जाता है। अब आगे कहना शब्दाभाव प्रतीत होता है। अतएव यह है महामृत्यु। यही है क्रांति महाजीवन की। समर्पण होते ही गुरु तत्व शिष्य में स्वतः प्रवाहित हो जाता है। वह साधक पूर्णत्व से क्षण भर में भर जाता है।

अवतरण

महापुरुषों का अवतरण—इस शरीर को प्राप्त योगी अपने आप में

सदा आनंदित रहते हैं। सारी वासनाएं क्षीण हो जाती हैं। परंतु कोई-कोई साधक अत्यंत कारणवश चौथे-पांचवें शरीर पर ही दृढ़ संकल्प ले लेते हैं कि यहां के लोग अत्यंत दुखी हैं। ये भ्रमित हैं। ये ठगे जा रहे हैं। इनका जीवन ही ठगा जा रहा है। ये व्याख्याएं कर रहे हैं। तथाकथित धर्मों में भ्रमित हो गए हैं। संप्रदाय रूपी बंधन में बुरी तरह आबद्ध हो गए हैं। इसी नशे को धर्म समझ बैठे हैं।

इन्हें बचाना होगा। अपने लिए न सही इनके लिए आना ही होगा। ये अत्यंत कारुणिक आत्माएं होती हैं। अन्यथा छठे एवं सातवें शरीर पर पहुंचने के बाद कौन आना चाहेगा ? कौन चाहेगा उस महासमुद्र से अपने को बाहर करना ? अपना चाह भी नहीं रहता उस शरीर में बस बहते चला जाता अनंत समुद्र में। अब बहाव भी समुद्र का होता। उस विराट का होता। परंतु जो साधक अपनी खूंटी गाड़ दिया चौथे-पांचवें शरीर पर मात्र वह खूंटी गड़ी रह जाती। वह भी उसके करुणा के कारण उसी के चलते इस तरह के बुद्धत्व प्राप्त निर्वाण प्राप्त व्यक्ति, योगी आ जाते, इस धराधाम पर अब वे करुणा की मूर्ति होते। दया की मूर्ति होते। आनंद की मूर्ति होते। परंतु फिर भी इन्हें पहचानने वालों की संख्या न्यून होती। जिसमें भी कुछ गुणवत्ता होती। जिसमें भी कुछ समान ध्रुव होते, उन्हें अपने आप आकर्षित कर लेते। जिनमें गुणवत्ता है ही नहीं जिनमें केवल विषम ध्रुव ही हैं, विषय वासनाएं ही हैं। उन्हें उतने ही जोर से विसर्जित कर देते। यह घटना अपने आप हो जाती। जिसका परिणाम होता समाज को आंदोलित हो जाना। उस बुद्धत्व वाले व्यक्ति को अब समाज पत्थर भी मारता है। गाली भी देता है। विष भी देता है। दुख भी देता है। इन विक्षिप्त व्यक्तियों के पास जो भी साधन होता उसे प्रदान करते। वह व्यक्ति तीर्थंकर की तरह, बुद्ध की तरह, कृष्ण की तरह, कबीर की तरह, मूसा की तरह, नानक की तरह करुणावश गाली सुन लेता है। उसे इन विक्षिप्तों पर दया भी आती। इन अज्ञानियों पर, करुणावश अनायास ही क्षमा करते जाते हैं। परंतु ये अपना पाठ पढ़ा ही देते हैं। अपना सबक सिखा ही देते। भले ही उसके कक्षा में, विद्यालय में एक ही विद्यार्थी आए। उस विद्यार्थी में अपना सबकुछ उड़ेल देना चाहते हैं। किसी-किसी निर्वाण शरीर को एक भी शिष्य नहीं मिलता। वह बेचारा हो जाता है। अपने में मस्त रहते हुए संसारी लोगों को देखता ही चला जाता है। उससे बहुत कुछ लिया जा सकता था। परंतु रूढ़िवादी, परंपरवादी, अतिवादी उन्हें देखते तक नहीं हैं। ये अपने पुस्तकीय ज्ञान को ही धर्म समझ लेते हैं। मजहब को ही धर्म समझ लेते हैं।

चूंकि वे साक्षात करुणा की मूर्ति जो होते। इन्हीं कारणों से इनका जन्म अवतार कहा जाता। इनकी मृत्यु निर्वाण कहा जाता है। इस अवतरण में संपूर्ण सृष्टि ही साथ देती है। तब कहीं मानवता पुष्प रूपी महामानव सद्गुरु के रूप में आता है। पुरानी व्यवस्था को ध्वस्त कर नई व्यवस्था, मंत्र-तंत्र ध्यान की विधि, नीति नियम देकर नए समाज की सरंचना करता है। जिसे पुराने रुढ़िवादी बरदाश्त नहीं करते एवं विद्रोह करते हैं। वे नासमझ तथाकथित धर्म के ठेकेदार ही इस समाज को कुरूप करते हैं। इन्हीं का प्रकोप इस अवतरण को भोगना पड़ता है।

एक साक्षात्कार—मैं अपने गुरु देव से लगभग 1974 में अष्टांग योग सीख रहा था। उनके द्वारा ही निर्मित गुफा में ही ध्यान करता। उनका आदेश था, तू कुछ भी प्रश्न मानसिक रूप से करना। अब तुमसे सारी बातें मौन की होंगी। बहुत हो चुकीं इस मुंह से बातें। योगी जन मौन बातें करते। मैं भी मौन साधना करने लगता, धीरे-धीरे अभ्यास काल में देखा कि मन में भी प्रश्न उत्पन्न होता, गुरुदेव बहुत ही सूक्ष्म ढंग से उसका निराकरण कर देते। उस निराकरण से मन साधना में सहज प्रवृति में रहता। आनंदित रहता। लगातार 21 दिन एवं पुनः 45 दिन की अखण्ड गोपनीय साधना गुफा में करता रहा था। ॐ सारा उत्तर भी वहीं मिलता रहा। जैसे-जैसे अनुभव होता। मन तो प्रफुल्लित होता। जगत की निःसारता प्रत्यक्ष मालूम होती। एक रात्रि मुझे इच्छा हुई, अब इस आश्रम का परित्याग कर हिमालय चलना चाहिए। क्या जरूरत है आश्रम की ? क्या जरूरत है इस संसार की ? सब मिथ्या है। बस वही सत्य है जिसमें हम अब जा रहे हैं। अंतर्मुखी होने पर आनंद ही आनंद है। बहिर्मुख होने पर दुख ही दुख। तब इस दुख से भरे संसार में रहने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि प्रश्नों से मन आंदोलित हो रहा था। वैराग्य से मन-बुद्धि भर गई थी। अतएव पूर्णिमा की रात्रि थी। सोचा, आज बारह बजे रात्रि को आश्रम छोड़ दे। पहुंच जाए हिमालय की गोद में। घड़ी देखा, ठीक बारह ही बज रहा था। बस मैं दीपक जलाया, एक पत्र लिख दिया। गुरुदेव को संबोधित करके। मैं इस आश्रम को छोड़कर, संसार को छोड़ कर जा रहा हूं। जहां न ही कोई अपना न ही कोई पराया है। इस संसार में भाई का भाई से, पुत्र का पिता से, पत्नी का पति से, सबका संबंध अर्थ से है। यदि अर्थ (रुपया) नहीं देता तो कहीं किसी का कोई संबंध नहीं। कोई रिश्ता नहीं। इतना ही नहीं गुरुदेव अधिकांश आश्रम में गुरु शिष्य का संबंध भी अर्थ पर निर्भर है। अन्यथा सबकुछ अनर्थ है। इस अनर्थकारी दुनिया में अब मेरे लिए रहना संभव नहीं इत्यादि। यह लिखकर पत्र गुफा में रख छोड़ा। गुरुदेव ठीक चार बजे स्नान के लिए गंगा में

उतरते थे। उस समय एक कोने में गुफा में रहता। दूसरी तरफ लगभग दो सौ गज की दूरी पर गंगा के किनारे की कुटी में गुरुदेव और भक्तगण दिन भर रहते। सत्संग करके 8 बजे तक चले जाते। निर्जन वन। गंगा की कलकल ध्वनि एवं कुछ सर्प, बिच्छू या पक्षी ही रह जाते। रात्रि की साधना में कुछ दूरी पर श्मशान, तथा केवलगाह। अतएव होते तो भूत-प्रेत या जीव खैर में पत्र रखकर दीपक ज्योति जो तिल के तेल में ही वहां जलता था बुझा दिया। बाहर निकल आया। खड़ाऊं बगल में दबा लिया कि कहीं आवाज न हो जाए। ज्यों ही गुफा के बाहर दो ही कदम रखा था। आश्चर्य गुरुदेव मानो सबकुछ देख रहे हैं। आवाज दिए मेरा नाम संबोधित कर। मुझे बुलाए। रात्रि का बारह बजकर तीस मिनट हो रहा था। वातावरण बिलकुल शांत था। शरद का मौसम था। वे अंदर के किवाड़ कभी नहीं बंद करते। अंदर से आवाज दिए, आ जाओ मैं यंत्रवत अंदर गया। देखा गुरुदेव पद्मासन पर विराजमान मुस्करा रहे थे। बोले, दीपक जला दो, मैं जला दिया। पुनः बोले, मेरे निमित्त पत्र लिखा है। पत्र लेते आओ। मैं पत्र गुफा में लेकर आ गया। अब कठोर शब्दों में आदेशित किए। तुम्हारा पत्र लिखना मेरा पढ़ना दोनों साथ-साथ हो गया। पत्र को दीपक की मदद से जला दो। मैं जला दिया। मुझे आदेश दिया बैठ जाओ। मैं यंत्रवत बैठ गया।

गुरुदेव सहजावस्था में मुस्कराते हुए बोले, तू पत्र दीपक में जला दिया। अब अपने संस्कारों को ज्ञान रूपी दीपक से कब जलाएगा ? क्या कर लेगा हिमालय जाकर ? बर्फ से शरीर गला लेगा। शीतल हवा से शरीर को ठंडा कर लेगा। अब मन का क्या होगा ? तुम्हारे संस्कारों का क्या होगा ? जिसने तुम्हें जन्म दिया क्या उसके प्रति तुम्हारा उत्तरदायित्व समाप्त हो गया ? जिसने पढ़ाया, खिलाया उसके प्रति क्यों कर्तव्य नहीं करता ? जिस पृथ्वी मां पर खेला-कूदा क्या उसके प्रति कोई कर्तव्य नहीं ? इस जगत को तुमसे कुछ अपेक्षाएं है। उसका क्या होगा ? कछुवा तो हिमालय में ही रहता। बहुत से पशु-पक्षी हिमालय में ही रहते, क्या हो जाता उनकी मुक्ति का ? हिमालय की गोद में सैकड़ों गांव बसे हैं। क्या उनको कुछ मिल गया है ? कौन तीर्थंकर, कौन बुद्ध, कौन तुम्हारे भगवान भाग कर गए हैं हिमालय में ? जो कोई गया भी है, पाकर इस धरती मां पर वापस लौटकर यहां मुक्त हाथों बांट दिया है। अपने कर्तव्य से मुक्त हुआ, इसी धराधाम पर। गुरु के निर्देशन में तप करना एवं जगत हित में कार्य मुक्ति का मार्ग है।

मैंने उदास होकर कहा, गुरुदेव मैं निर्वाण को प्राप्त करना चाहता हूं। जो यहां संभव नहीं है। आप जो जानते थे हमें वही दिए। अब आगे जाने का मुझे

आदेश दीजिए। गुरुदेव हंसते हुए बोले, तू बालक है। अभी अबोध है। सब तुझे मिलेगा। यहीं मिलेगा। हम देंगे तू ग्रहण करते तो जाओ। जितना तू लेना चाहता है। उससे ज्यादा व्यग्रता है हमें देने की। मैं तो चाहता हूं एक क्षण में पूरा सागर ही भर दूं। तुम्हारे गागर में। तुम मुंह तो खोलो अपने गागर का। चल देख मेरी तरफ ध्यान से देख आज देख ले निर्वाण को। जिससे तुझे आसानी होगी, आगे की यात्रा तय करने में। बस देखते जा।

मैं सप्रेम पूर्ण श्रद्धा से सिद्धासन पर बैठा गुरुदेव को देख रहा था। गुरुदेव शांत बैठे थे। मुस्कुरा रहे थे। एकाएक कमरे का वातावरण बदल गया। चारों तरफ सुगंध फैल गई। मानो बसंत ऋतु ही कमरे में प्रवेश कर गई। सबकुछ बदल गया। मैं उत्सुकतावश देख रहा था। गुरुदेव का पार्थिव शरीर धीरे-धीरे गायब हो रहा है। प्रकाश वहां धीरे जगमगा रहा है। कुछ ही क्षण में उसके स्थान पर पूरा का पूरा प्रकाश था। पूरा कमरा चकाचौंध हो गया। मैं अब अपने में नहीं था। उस प्रकाश में स्वयम् प्रकाशित होते हुए आनंदित होते देखे जा रहा था। सारा वातावरण बदला था। वहां प्रकाश ही प्रकाश। प्रकाश के सिवाय कुछ नहीं। वह प्रकाश आनंदमय, करुणामय, दिव्य था। न सुना था, न ही इसके पूर्व इस तरह की कल्पना ही की थी। मानो निमित्त मात्र देखते जा रहा था। प्रथम बार स्वयम् द्रष्टा का भान हुआ। कुछ देर के बाद देखा वह प्रकाश धीरे-धीरे गायब हो रहा है। धीरे-धीरे गुरुदेव का शरीर आभा से परिपूर्ण प्रगट हो रहा है। कुछ ही काल के बाद देख रहे हैं। गुरुदेव मुस्कुराते हुए बोले—देख लिया निर्वाण, देख लिया शून्य, देख लिया महामृत्यु। यही है क्रांति महा जीवन की। इसे अपने में उतारना होगा। अब देर मत करो। करते जाओ पूर्ण समर्पण भाव से। अब अपना कुछ रखो ही मत, अब हमें दे दो जो भी तुम्हारे पास है। तब मैं जो कुछ दूंगा ले सकते हो, रख सकते हो। मैं श्रद्धा से झुक गया उनके चरणों में। अब उनके चरणों से उठने का जी नहीं कर रहा था। मैंने हृदय से कहा मेरा तो कुछ है ही नहीं। गुरुदेव सब तेरा। मेरा अब अस्तित्व नहीं, अब तू ही है जो कुछ करना चाहो कर लो, मैं निमित्त मात्र हूं।

उपरोक्त यह दिव्य अनुभूति नहीं चाहते हुए भी प्रसंगवश एवं कुछ साधकों के जिज्ञासावश कह दिया। संभवतः आपको कुछ फायदा हो जाए। आप अपने अंतर की यात्रा की शुरुआत कर दें। अपने आप में उपलब्ध हो सकें जीवन की महाक्रांति को। यह एक घटना है जो आपको अपने आप अनायास ही उपलब्ध हो जाएगी। जब तक हम करते हैं योग-तप, मंत्र अनुष्ठान पाते कुछ भी नहीं। ये सब करने से मात्र यही ज्ञान होता है कि यह भी सत्य

नहीं है। अतः यह अपने आप छूट जाता है। सत्य की तरफ अग्रसरित हो जाता है। यहां न कुछ करना न कुछ पाना है। संभवतः बुद्ध से भी पूछा गया। क्या तूने किया ? कैसे तू पाया ? बुद्ध मात्र यही इशारा कर सके। जब तक कुछ करता रहा, पा नहीं सका। जब सबकुछ करना छोड़ दिया पा लिया, उपलब्ध हो गया पाना या उपलब्ध होना कहा जाए तो यह भी भिन्नता है। वह तो पहले से ही था। हमने साक्षात्कार कर लिया। यह भी कैसे कहा गया, जो पहले से था। वह प्रत्यक्ष हो गया। बस अब बाहर भीतर मात्र वही ही रह गया।

इस स्थिति को पहुंचा हुआ योगी ही देह मान अभिमान का परित्याग कर जगत हित में कुछ कर सकता है। यह स्वयं चौथे-पांचवें शरीर में आकर करुणा वश रहता है। यथा सतगुरु कबीर कहते हैं–

"देह मान अभिमान के, निरहंकारी होय।
वर्न कर्म कुल जाति ते, हंस निनारा होय।।
जग विलास है देह को, साधु करो विचार।
सेवा साधन मन कर्म ते, जथा भगति उर धार।।

दीक्षा–

दीक्षा–यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण शब्द है। इस शब्द का अर्थ अभी विकृत हो गया है। जन साधारण दीक्षा का अर्थ समझते हैं, कान फूंक देना। कान में कोई मंत्र कह देना। बस कान फूंकने वाला बांध देता है एवं फुंकाने वाले का अब चलता है शोषण अनवरत। दीक्षा देने वाला परजीवी लता की तरह हो जाता है। जैसे अमर बेल लता की अपनी जड़ ही नहीं होती। किसी भी पेड़ के हरे भाग पर फैल जाती है। वह पूरे पेड़ पर फैलती जाती, पेड़ सूखता जाता। जब वह सूख जाता तो वह दूसरे पेड़ का दामन पकड़ लेती। इस तरह अपना नाम अमर बेल रख लेती। यही स्थिति है आज के पुरोहिती दीक्षा की। दीक्षा का अर्थ हुआ कि विद्यार्थी एक खास समय तक विद्याध्ययन करता है। इसके बाद दीक्षांत समारोह में भाग लेता है। यानी जो भी ग्रहण आज तक किया है उसे पूरी तरह अपने जीवन में उतार ले। उस विराट को अब अपने में अवतरित कर ले। मुक्त हो जाए। दीक्षा का अर्थ हुआ स्वतंत्रता, मुक्तता। क्या अमुक व्यक्ति मुक्त कर सकता है ? ऐसा संभव नहीं। दीक्षा को आपके जीवन में उतारा जा सकता है। गुरु तो साक्षी होता है। गवाह होता है। विटनेस होता है। मैं काशी एक आश्रम में रहा था। साधना पर प्रवचन दे रहा था। कुछ युवक सीख रहे थे। एक 40-50 वर्ष के संन्यासी आए एवं हमसे निवेदन किया

कि महाराज जी आपसे अकेले में मिलना चाहता हूं। मैं उससे कह दिया एक घंटा बैठो। इन लोगों से खाली हो जाता हूं। फिर आपसे बातें होंगी। उन युवकों को विदा कर मैं उस संन्यासी जी से मिला। वे बोले, स्वामी जी मैं फलां मठ का महंत हूं। आचार्य पास कर शोध भी पूरा कर लिया हूं। प्रवचन भी करता हूं। मेरे भक्त भी बहुत हैं। साल में लगभग नौ माह भक्तों के यहां घूमकर प्रवचन ही करता हूं। सालभर में लाखों का चढ़ावा भी आता है। जब कोई साधक ध्यान के विषय में बातें करता तो बहुत अटपटी सी लगती है। मैं तो सीधा कह देता आंख बंद कर लो। इसी से आप से एकांत में मिलने आया। आखिर ध्यान है क्या बला ? मैं आप से दीक्षा नहीं लूंगा क्योंकि में दीक्षा अपने गुरु जी से ले चुका हूं एवं शिष्य भी बना रहा हूं। आप हमें सिर्फ ध्यान बता दें। वह भी अकेले में। कोई जाने भी नहीं अन्यथा हमारी बदनामी होगी हां, आपको मैं भेंट पूरा दूंगा। आप जो भी मांगें मैं तुरंत दूंगा। अभी आप रखें पांच सौ रुपये। और अपने मठ से लाकर दे दूंगा। आपको अपने आश्रम पर भी ले चलूंगा। परंतु स्वामी जी आप बुरा न मानेंगे। वहां का महंत हूं न, आपका प्रवचन होगा। बस वहां मेरा आसन कुछ आप से ऊंचा होगा ? जिससे हमारी भी प्रतिष्ठा बनी रहेगी। हमारे शिष्य हमें भी ध्यानी, ज्ञानी मानते रहेंगे। आपको चढ़ावा मिलेगा। मैं सोचता हूं आपको इसमें एतराज नहीं होगा। महंत जी एक स्वर में इतना कह गए। विद्वान जो ठहरे।

मैंने उनसे कहा, महंत जी ! सबसे पहले अपना रुपया आप संभाल कर अपने पास रख लें। मुझे यह विचित्र लग रहा है कि आप ध्यान में बिना प्रवेश किए दीक्षा ले लिए एवं दीक्षा दे भी रहे हैं। मैं यहां लोगों को ध्यान सिखा रहा हूं। दीक्षा नहीं दे रहा हूं। जो भी साधक ध्यान को उपलब्ध हो जाता है। उसका मैं साक्षी हो जाता हूं। साधक एवं साध्य की उपस्थिति का मात्र साक्षी।

यही स्थिति पुरोहिती सान्निध्य में होती है। दीक्षा पहले मंत्र पहले ध्यान कभी नहीं। यह बंधन है, यह तो परतंत्रता है। मैं दीक्षा में आपके सहस्रार को खोलता हूं। उसमें मंत्र, देवास्त्र, दिव्यास्त्र को आरोपित करता हूं। शक्तिपात कर आत्म तत्व के चारों तरफ के मलावरण को साफ करता हूं। जिससे उचित पात्र को शीघ्र ही शक्ति एवं आत्म तत्व का ज्ञान हो जाता है। अन्य सभी को साधना काल में समुचित उन्नति होती है। चूंकि मेरे द्वारा आपके हृदय में आरोपित मंत्र-यंत्र-देवास्त्र-दिव्यास्त्र कभी भी व्यर्थ नहीं जाएंगे। समय का भाग्यशाली साधक इसका फायदा अवश्य उठाएगा।

भगवान बुद्ध भी दीक्षा तुरंत नहीं देते थे। कहते थे पहले, ध्यान करो,

रुको दो-चार वर्ष फिर देखा जाएगा। तब साधक ध्यान सीख लेता तब तीन चरणों से दीक्षा देते। पहले बुद्धं शरणं गच्छामि—जैसे कृष्ण ने कहा है 'सर्व धर्म परित्यक्तु मामेकम शरणम् व्रज।' यानी बाह्य सभी तथाकथित धर्मों का परित्याग करो। अपने शरण में स्थित हो जाओ—अर्जुन। वही बुद्ध भी कहते। बुद्ध के शरण में चले जाओ। जो भी व्यक्ति बुद्धत्व को उपलब्ध हो गया हो। जब बुद्ध की शरण में चला जाता है तब 'संघम् शरणम् गच्छामि'। बुद्धों का जो समूह है, समुदाय है उसमें शामिल हो जाओ। अपना अस्तित्व खो दो, मिल जाओ महासमुद्र में। अपना अब रखो ही नहीं। जब संघ की शरण चले गए तब अंतिम या 'धमम् शरणम् गच्छामि।' अब तो आप धर्म की शरण में स्वतः ही चले जाएगे। धर्म को आप स्वतः ही उपलब्ध हो जाएंगे। यह रही परंपरा दीक्षा की।

अब प्रश्न उठता है कौन करेगा। इतना इंतजार ? कौन कराएगा इतना इंतजार ? कहीं शिष्य छिटक कर दूसरे के यहां न चला जाए। या शिष्य जहां जल्द ही दीक्षा का तथाकथित प्रारूप पूरा कर लें। गुरु मुख हो जाए। कान फुंकवा ले। प्रमाण पत्र किसी तरह ले ले स्वर्ग जाने का बस और क्या चाहिए। आजकल सबकुछ के लिए जल्दबाजी है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

शीश दिए जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।

यह सौदा बहुत महंगा है। शीश देकर भी यदि गुरु मिल जाए तब भी सौदा सस्ता है। ऐसा क्यों ? जरा आप ध्यान देकर समझें। बिना शीश दिए तो गुरु मिलता ही नहीं, शीश यानी अहंकार। अहंकार को मिटाना ही होगा। मुझे एक कहानी याद आ गई। एक राजा शांति के लिए बेचैन था। वह चारों तरफ घूम आया। सब तीर्थ घूमकर आया। व्रत भी कर लिया। यज्ञ भी कर लिया। दान दक्षिणा भी दिया परंतु है अशांत। किसी ने उसे बताया महाराज आप कहां घूमते हैं। देश-विदेश। आपकी राजधानी के बाहर एक संत रहता है। छोटी-सी झोंपड़ी में आप उससे मिल तो लें। राजा पूछता है। क्या वहां कोई मंदिर है ? क्या गुरुद्वारा है ? वह वृद्ध व्यक्ति बोला, नहीं वहां कुछ भी नहीं है। मात्र शरीर छिपाने भर झोंपड़ी। वह रहता है अकेले। राजा अनमने-सा पहुंच गया। देखा उस झोंपड़ी में महात्मा जी बैठे थे, मौन थे। उसके इर्द-गिर्द दो चार व्यक्ति भी मौन थे। संभवतः मौन वार्ता चल रही थी। राजा अपने जीवन में प्रथम बार किसी झोंपड़ी के दरवाजे पर खड़ा था। कुछ मांगने। साहस बटोर कर अंदर गया। पूछा, महात्मन् मैं शांति के लिए यहां आया हूं। क्या शांति मिल सकती है ? फकीर बोला, हां। शांति भी तुम्हें खोज रही है। राजा बहुत ही विक्षिप्त हुआ। बोला,

शांति मुझे खोज रही है। यह कैसे ? फकीर बोला, राजन तुझे शांति चाहिए तो आज इसी झोंपड़ी में रुक जा। कल यह कटोरा लेकर इस नगर में भीख मांगकर लाना। राजा ने कहा यह कैसे होगा ? आप को जानना चाहिए, मैं इसी नगर का सम्राट हूं। अपने ही नगर में कैसे भिक्षा मांगूंगा। फकीर ने कहा कि फिर शांति कैसे मिलेगी। तुम्हे तो मांगना है इसी नगर में अन्यत्र कहीं नहीं। रहना है इसी झोंपड़ी में। यह सब राजा के लिए असंभव था, परंतु बहुत हिम्मत वाला था वह राजा।

राजा कुछ देर उस झोंपड़ी में फकीर के सान्निध्य में बैठ गया मौन, बिलकुल मौन। फिर बोला, ठीक है। महात्मन मैं आज अभी से यही रुकूंगा। कल प्रातः ही भिक्षाटन पर निकल जाऊंगा। राजा रात्रि भर उस झोंपड़ी में जमीन पर ही सो गया। यह भी जीवन में पहली घटना थी। रात्रि में ऐसा सोया मानो महल में भी नहीं सोता था। प्रातः तरोताजा लग रहा था। फकीर कहा, उठा लो वह कटोरा। चले जाओ नगर में। मांग लाओ भिक्षा, राजा चला गया। पहले कुछ अजीब-सा लगा। फिर उसका अहंकार गिर गया। सब मोह भंग हो गया। शाम को राजा भिक्षा लेकर आया। अब वह प्रसन्न था। उसे पता नहीं था कि भिक्षा में ही दीक्षा संभव है क्या ? अब वह मान, अहंकार, लोभ, काम से अपने को अचानक मुक्त पाया। राजा दो दिन तक भिक्षाटन किया। तीन दिन के बाद फकीर बोला, राजन अब पूछो, क्या पूछना है ? राजा बोला, महाराज हमारे पास कोई प्रश्न ही नहीं है। मैं जीवन में यहीं पहली बार प्रश्न एवं उत्तर से मुक्त हूं। इतना कहकर वह गिर गया फकीर के चरणों में। अपना मस्तक रख दिया फकीर के चरणों में। फकीर का हाथ भी प्रेम से लबा-लब भरा हुआ अनायास ही चला गया राजा के सिर पर। बस हो गया सब सहज। हो गया दीक्षा, हो गया शक्तिपात। हो गई वह घटना जो अनहोनी थी। जिसकी खोज में राजा वर्षों से भटका। सद्गुरु कबीर साहब भी गुरुमुख के संबंध में कहे हैं—

आस्ति आत्मा राम है, माया मन क्रित नास्त।
या की पारख लहै जथा, बीजक गुरु मुख आस्त।

इस तरह दीक्षा साधक को दक्ष बनाती है। निपुण बनाता है। गुरु-शिष्य के बीच एक सेतु का काम करती है। जिसके माध्यम से गुरु शिष्य में पूरा का पूरा प्रवेश कर जाता है। तब शिष्य हो जाता है गुरु तुल्य, परम पवित्र। जिसके जीवन में यह पवित्रता, दक्षता, नहीं आती वह अपूर्ण रह जाता है। इसी से कहा गया है कि अदीक्षित व्यक्ति जहां खड़ा होता वहां की मिट्टी भी अपवित्र हो

जाती है। यह व्यक्ति कोई भी पवित्र काम कर ही नहीं सकता। दीक्षा उपरांत ही साधक द्विज बनता है। उसका दुबारा जन्म होता है। परमात्मा के राज्य में प्रवेश करने का अधिकारी बनता है। अब उसमें दिव्य शक्तियां स्वतः प्रवेश करने लगेंगी। गुरु हर समय, हर क्षण उसका अवलोकन करता है। अवसर पाते ही उसमें उस अनमोल हीरे को रेख देता है। शिष्य भी गुरु के समान बन जाता है।

चरण स्पर्श–

ऊर्जा हर समय सिद्ध पुरुषों से निःसरित होती है। अतएव उनके समीप बैठने का भी अपना अर्थ रखता है। ऊर्जा अनायास ही सामने वाले पर बरस जाती है। परंतु ऊर्जा ग्रहण करने वाले के लिए भी पात्रता चाहिए। दो व्यक्ति एक साथ किसी गुरु के नजदीक जाते। मौन ही बैठते। एक कहता मैं तो बहुत कुछ पा लिया दूसरा कहता यह कैसे ? वह तो अति साधारण व्यक्ति है। जैसे दो घड़ा एक साथ गंगा में डुबो दो एक का मुंह बंद कर दो एक का मुंह खोल दो दोनों को पानी से बाहर निकालो, एक अपने आप ऊपर आ जाएगा। एक बाहर आने का नाम नहीं लेता। आता तो एक जल से लबा-लब भरा होगा। दूसरा बिलकुल खाली। दोनों तो कहते हम दोनों तो साथ-साथ गंगा गए, साथ-साथ छलांग लगाए। मुझे तो कुछ भी नहीं मिला। वही स्थिति है जानने वालों की। बादल तो बरसता है बराबर चाहे वह पर्वत हो या नदी हो या सागर हो। जिसमें जितनी ग्राहकता होती वह उतना ग्रहण करता।

जब साधक पूर्ण समर्पण से गुरु के नजदीक झुकता है, साष्टांग दण्डवत करता है। अपना पूरा सिर ही गुरु के चरणों पर रख देता है। सोच लेता है अब गुरु ही हममें प्रवेश कर जाए। अब किसी भी प्रकार का अवरोध नहीं है। अहंकार गिर गया है। काम विदा हो गया है। लोभ मोह भाग गया है। अब मात्र गुरुदेव तू ही तो है। यदि सचमुच समर्पण हो जाए तो एक अद्‌भुत घटना घटती है। जैसे आप जानते हैं। ऊर्जा गुरुदेव के सबसे पहले छोटे अंगों से ही निकलती हैं। पैर से, हाथ की अंगुलियों से। जैसे ही साधक पूर्ण समर्पण से गुरु के पैर पर गिरता है। उसके पैर से अनायास ही ऊर्जा निकलकर साधक के सिर में प्रवेश करने लगती है तथा गुरु का हाथ भी स्वतः शिष्य के सिर पर चला जाता है। बस घटना घट जाती है। पैर एवं हाथ दोनों से ऊर्जा का निःसरण स्वतः हो जाता है। मन से भी आशीर्वाद निकल ही जाता है। यदि शिष्य सचमुच समर्पण के भाव से गिरता है तो पा जाता है। जो उसके लिए असंभव

या जन्मों लग सकता था। समर्पण मात्र से गुरु कृपा साधक को तीसरे चौथे शरीर पर ला खड़ा करती है। जहां से साधक की अन्य आगे की यात्रा सहज एवं सुलभ हो जाती है। साष्टांग प्रणाम तो पूर्ण समर्पण में ही संभव है।

यह साष्टांग–दण्डवत गुरु एवं साधक के बीच की कड़ी है। भारतीय मुनि ऋषियों का आविष्कार है। जो आगे चलकर एक मिथक बन गया है। परंपरा बन गई है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने से ज्यादा उम्र के सामने झुकने लगा। इतना ही नहीं इस परंपरा को तथाकथित आज के नेतागण और विकृत कर दिए। यह पूर्णतः सक्षम गुरु एवं समर्थ शिष्य के लिए शक्ति पात, का एक अनोखा रास्ता है। क्षणमात्र में शिष्य शक्ति से भर जाता है। जो युगों के तप से भी संभव नहीं था।

अर्द्धनारीश्वर–

यह शब्द भी अत्यंत महत्व का है। हमारे ऋषिगण कोई भी शब्द यों ही नहीं प्रयोग किए है। उस पर बहुत सोचा है। समझा है, मनन किया है। आप भगवान शिव की प्रतिमा देखे होंगे उसमें आधा भाग नारी का है, आधा भाग पुरुष का है। इस तरह का चित्र भी भारत की ही खोज है। दुनिया में बेमिसाल है यह चित्र। प्रत्येक पुरुष के अंदर एक स्त्री भी है। वही स्त्री वह बाहर खोजता है। वह उसे नहीं मिल पाती। उसे अज्ञात अशांति है। उसे अज्ञात अतृप्ति है। जिसको उपलब्ध नहीं हो पाता। बार-बार बाहर की स्त्री में खोज रहा है। उसी तरह प्रत्येक स्त्री में भी उसके अंदर पुरुष है जिसे वह बाहर खोज रही है। इसका भी वही हाल है जो पुरुष का है। दोनों अतृप्त हैं। दोनों अशांत हैं। बाहर की दौड़ से जब पुरुष अंदर की स्त्री को पकड़ लेता है। अंदर ही मैथुन में प्रवेश कर जाता है। बस पूरा हो गया उसका यात्रा। अब बाहर कहां खोजेगा अन्य स्त्री को। ठीक उसी तरह स्त्री भी अपने अंदर के पुरुष को पहचान लेती है। तो उसे अब बाहर के पुरुष की जरूरत नहीं पड़ती। अब वह अंदर मैथुन में प्रवेश कर जाती। अंदर मैथुन में जाते ही वह ऊर्जा से भर जाती। प्रेम से लबा-लब हो जाती है। बहुत ही उल्टी क्रिया है बाहर के मैथुन में शक्ति का ह्रास होता। दोनों शिथिल होते। अंतर मैथुन में नई शक्ति से भर जाते। एक प्रकार से शक्ति का वर्तुल बन जाता है। इसी ऊर्जा के वर्तुल को अर्द्धनारीश्वर के रूप में जाना जाता है। यह अर्द्धनारीश्वर अपने आप में पूर्ण है।

कहते हैं मीरा अपने अंदर के पुरुष को पहचान गई, कृष्ण के रूप में।

अर्द्धनारीश्वर

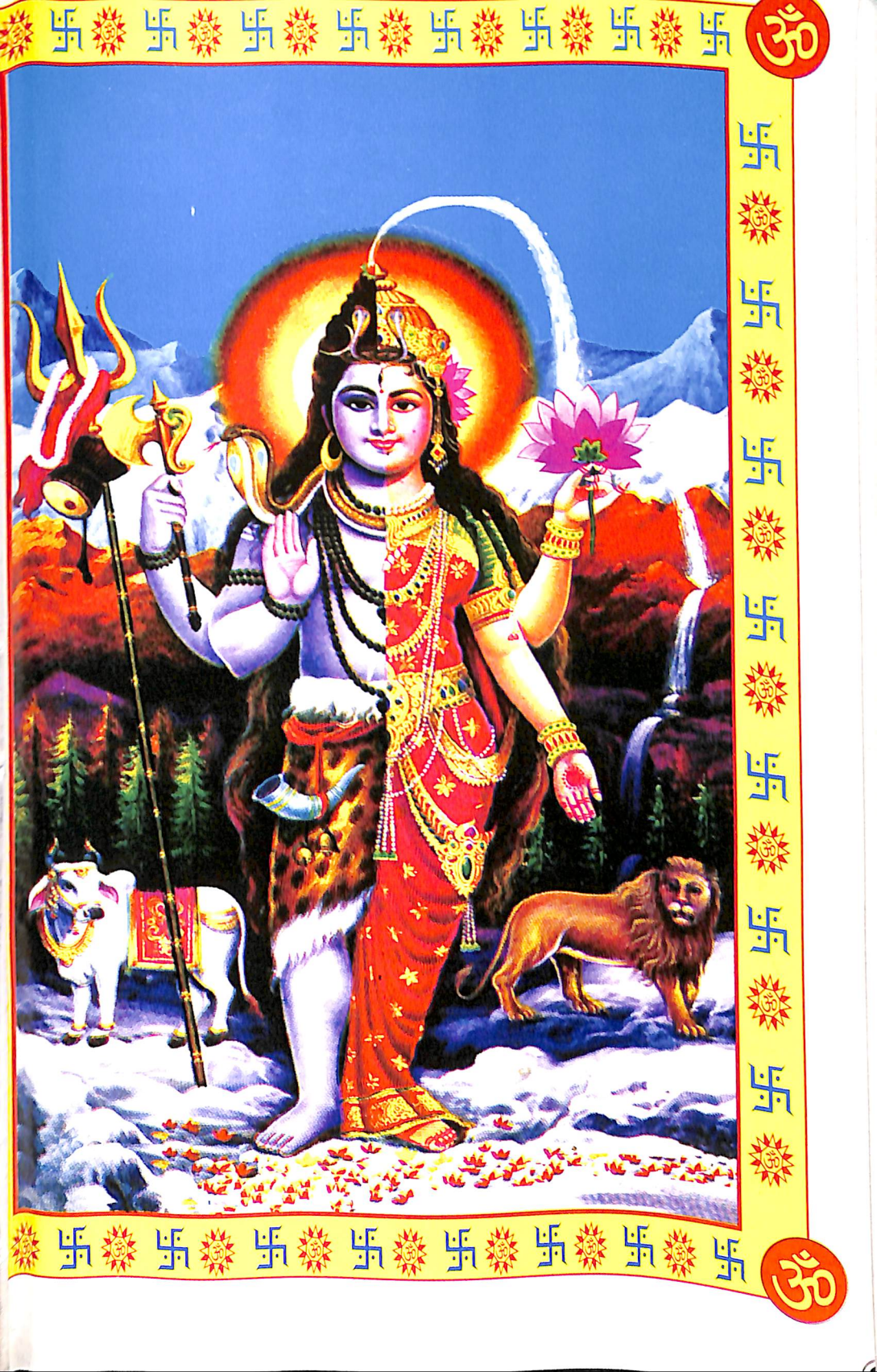

अब उसके लिए सारे जगत के पुरुष निरर्थक थे। जगत के पुरुष को वह पुरुष मानने पर तैयार ही नहीं थी। एक बार वह वृंदावन में गई। जहां का पुजारी जीव स्वामी औरतों से नहीं मिलते थे। सख्त पाबंदी थी औरतों पर। मीरा तो गाते नाचते अंदर चली गई। भक्तगण रोके। मीरा यहां औरत नहीं जा सकती। केवल पुरुष ही जा सकता। मीरा अपने ही मस्ती से बोली कौन है दूसरा पुरुष। मेरे देखने में तो कृष्ण को छोड़कर इस जगत में दूसरा पुरुष है ही नहीं। जाकर पुजारी से संदेश दिया गया। मीरा नाम की ओरत प्रवेश कर गई है। वह देखना चाहती है कि कृष्ण को छोड़कर कौन है दूसरा पुरुष। बस इतना सुनना था कि पुजारी दौड़कर मीरा के चरणों में अपने को समर्पित कर दिया। मीरा का हाथ प्रेम से उस पुजारी के सिर पर चला ही गया। बस घट गई घटना। पा गया वह पुजारी जिसके लिए वह वर्षों से प्रतीक्षा कर रहा था। आप आज भी वृंदावन जाकर जीव स्वामी का आश्रम देख सकते हैं। वहां मीरा की ऊर्जा ग्रहण कर सकते हैं। वहां समर्पण मात्र से मीरा की ऊर्जा स्वामी में प्रवेश कर गई। अब वे बन गए, अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक। पूर्ण ब्रह्मचारी।

जब कोई भी साधक अपने अंदर के स्त्री या पुरुष को पहचान लेता बस वह हो जाता है अर्द्धनारीश्वर। यह अनमोल घटना है। अपने आप सहज भाव से घट जाती है। मात्र अपने को घटना के लिए तैयार रखना है। वह तो सब आपके अंदर ही है। हमारी वृत्तियां बाह्य हो गई हैं। जिसका परिणाम है बाहर की पूजा। ज्यों-ज्यों साधक अंदर यात्रा करता है। त्यों-त्यों पाता है उस अनंत को जिसके जन्मों का प्यासा था जिसकी खोज में भटक रहा था। अपने अंदर रमण करना ही ब्रह्मचर्य का फूल खिलना है। यही वर्तुलम पूरा होता जिसे सामने से देखने पर पुरुष दिखाई देता है। पीछे से देखने पर स्त्री। यही है अर्द्धनारीश्वर। यात्रा चक्र पूरा होता है।

माला या फोटो–

माला या फोटो का महत्व–यह भी भारतीय ऋषियों का ही अन्वेषण है। यह अत्यंत ही महत्व का है। यदि साधक सच्चे हृदय से, संपूर्ण भाव से गुरु के नजदीक जाता है, तो गुरु दीक्षा के उपरांत उसे एक माला या कण्ठी उपहार स्वरूप प्रदान करता है। इसी से भारतीय दर्शन में गुरु द्वारा प्रदत्त कण्ठी को हीरा भी कहा जाता है। हीरा का अर्थ अत्यंत कीमती। उसकी कीमत आंकी ही नहीं जा सकती। क्योंकि सिद्ध गुरु जब भी किसी वचन के साथ, वादे के साथ शिष्य को कण्ठी या माला स्वेच्छा से प्रदान करता है तो शिष्य के साथ

सूक्ष्म रूप से वह होता है। चूंकि वह गुरु के वादे का प्रतीक है। शिष्य कहीं भी जाता है। साधना छोड़ देता है, या किसी भी गलत आचरण में पड़ जाता है। गुरु अपने वादे के अनुसार तुरंत रोकने का प्रयास करता है। यह अनुभव शिष्य के अंतर्मुखी होने पर स्वतः मालूम होने लगता है। वह माला आपको संध्या-वंदना करने के लिए बाध्य करती है। अनजाने आपके अंदर रासायनिक परिवर्तन होने लगता है। एक दिन ऐसा आता है कि आप पूर्ण रूपेण बदले होते हैं।

आज से मात्र दो वर्ष पहले का एक संस्मरण आपको बता दूं। एक व्यक्ति को मैंने ही दीक्षा दी। वह मेरे मित्र की तरह है। चूंकि जो भी साधक है अब साथ-साथ रहता है तो वह मित्रवत ही हो जाता है। इसी से संभवतः बुद्ध मित्र से ही संबोधित करते थे। वह सरकारी अधिकारी है। एक बार नेपाल गया। जहां अपने मित्रों के साथ घूम फिर कर होटल में ठहर गया। मेरे द्वारा प्रदत्त माला तो धारण किया ही था, परंतु कोई मित्र देख न ले। अन्यथा बैकवर्ड (पिछड़ा) कहेंगे। अतएव माला को अंदर कमीज में ठीक से छिपा कर टाई वगैरह बांध लिया। रात्रि में होटल में शराब एवं मांस का दौर शुरू हुआ। जो आज की तथांकथित आधुनिकता है। एडंवास होने का परिचायक है। वह सोचने लगा, गुरुदेव तो हमसे यह सब खाने-पीने की तो मनाही नहीं किए हैं। यदि नहीं भी खाते तो अन्य अधिकारी हमें क्या कहेंगे ? यही मानसिकता सब को खाए जा रही है। यही मानसिकता अत्यंत भयावह है। जो व्यक्ति को अपने सहज स्वभाव से दूर ले जाती है। खैर वह ज्यों ही गिलास उठाकर अपने मुंह तक ले जाता है। उसे मालूम होता है, अंदर माला से कोई शक्ति निकली एवं गिलास पर हाथ मार दी। गिलास गिर जाता है। सिर घूमने लगता है। वह अनायास कह उठता है मुझे क्षमा कर दो, हम साथ नहीं दे सकते हैं। तबीयत एका-एक खराब हो गई। किसी तरह रात्रि व्यतीत करता है। प्रातः अपने आवास पर लौटकर मेरे द्वारा दी गई प्रतिमा के सामने क्षमा मांगता है। अपनी पत्नी, बच्चों से सारी बात बता देता है। तीसरे दिन अपने परिवार के साथ हमारे यहां आता है। सबकुछ कहकर क्षमा याचना करता है। अब वह अत्यंत प्रसन्न है। परिवार भी आनंदित है। महात्मा की तरह सारे कार्यों का निष्पादन करता है।

जब भी गुरु कुछ भी साधक को अपने हाथ से देता है वह दिखने में साधारण सी वस्तु अनमोल हो जाती है। वह माला, कंठी, छाया चित्र (फोटो) गुरु का प्रतिनिधित्व करती है। चाहे साधक कहीं भी हो वह निर्भय निर्विघ्न साधना करता है। वह विघ्नों का निवारण करता है। यदि जाग्रत गुरु नहीं है तब दिया गया माला या फोटो भी ऐसे ही बेकार हो जाते हैं जैसे आप दुकान

से खरीद लेते हैं। पहन लेते हैं। दिखावे भर का होता है। यह परंपरा जो जाग्रत गुरु शुरू किए अब साधारण बनकर रह गई। मिथक बनकर रह गई। यह भी झूठी परंपरा बनकर रह गई। अब हम परंपरा ही ढोते हैं मुर्दे की तरह।

ठीक उस तरह मंदिरों में स्थापित बहुत प्रतिमा जाग्रत होती हैं। आप अपने आस-पास सुने होंगे कि फलां मंदिर, फलां गुरुद्वारा, फलां समाधि जाग्रत है। वहां जाने पर व्यक्ति अनजाने ही राहत महसूस करता है। अपनी व्यथा को कम पाता है। उसकी मुरादें भी पूरी होती हैं। जो भी मंदिर प्राचीन काल में जाग्रत व्यक्तियों के द्वारा बनाया गया वह जाग्रत रहा। अब उसी के देखा-देखी मृत व्यक्तियों द्वारा मृत मंदिरों के बनाने की होड़ सी लग गई है। कहीं भी जमीन दखल करना हो बस बैठा दो हनुमान जी को, मानो दखली देवता हों। कुछ लोग रातों-रात कब्र बना देते हैं। या गुरुद्वारा ही बना डालते हैं। इसे अब कौन छुएगा। आप जरा ध्यान से सोचें, कौन स्थान भगवान का नहीं है ? केवल नाजायज भूमि दखल करने वाला स्थान ही भगवान का है। किसी को कोई भगवान से लेन-देन नहीं है। यहां प्रश्न है अपने स्वार्थ का। अभी भारत में मुर्दे लोगों की भरमार है। यही कारण है कि रोज-रोज नए-नए मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे फसाद अवश्य करा सकते हैं। भगवान के द्वारा बनाए गए इंसान रूपी मंदिर को वह मृत मंदिर अवश्य ध्वस्त कर सकता है। इस तरह यह प्रतिमा शुरू-शुरू में जाग्रत पुरुषों का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

माला या फोटो भी उसी तरह यदि जाग्रत गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया तो वह अवश्य ही उसके लिए अत्यंत लाभकारी होगा। यह निर्भर करता है ग्रहण करने वाले पर एवं ग्रहण कराने वाले पर अन्यथा यह भी मृत बोझ की तरह ढोना ही होगा। साधक को तत्पर रहना चाहिए तथा समय के सद्गुरु से माला, फोटो अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यह एक इतिहास बन जाता है। आपको बदलने में समर्थ भी होता है। अन्यथा आप समय चूक जाते हैं। फिर पश्चाताप ही हाथ लगता है।

टोपी या पगड़ी-

यह भी भारतीय संन्यासियों की खोज है। जो अत्यंत वैज्ञानिक है। जिस तरह साधक कुशासन या कंबल का प्रयोग करता है, बैठने के लिए। उसी तरह सर ढंकने के लिए टोपी की या पगड़ी की जरूरत होती है। साधक बैठने के लिए जिन सामग्रियों का प्रयोग करता है वह विद्युत का कुचालक है, जब साधना करता है, तो उसके शरीर से विद्युत धारा प्रवाहित होती है। जो विद्युत

सूक्ष्म रूप से वह होता है। चूंकि वह गुरु के वादे का प्रतीक है। शिष्य कहीं भी जाता है। साधना छोड़ देता है, या किसी भी गलत आचरण में पड़ जाता है। गुरु अपने वादे के अनुसार तुरंत रोकने का प्रयास करता है। यह अनुभव शिष्य के अंतर्मुखी होने पर स्वतः मालूम होने लगता है। वह माला आपको संध्या-वंदना करने के लिए बाध्य करती है। अनजाने आपके अंदर रासायनिक परिवर्तन होने लगता है। एक दिन ऐसा आता है कि आप पूर्ण रूपेण बदले होते हैं।

आज से मात्र दो वर्ष पहले का एक संस्मरण आपको बता दूं। एक व्यक्ति को मैंने ही दीक्षा दी। वह मेरे मित्र की तरह है। चूंकि जो भी साधक है अब साथ-साथ रहता है तो वह मित्रवत ही हो जाता है। इसी से संभवतः बुद्ध मित्र से ही संबोधित करते थे। वह सरकारी अधिकारी है। एक बार नेपाल गया। जहां अपने मित्रों के साथ घूम फिर कर होटल में ठहर गया। मेरे द्वारा प्रदत्त माला तो धारण किया ही था, परंतु कोई मित्र देख न ले। अन्यथा बैकवर्ड (पिछड़ा) कहेंगे। अतएव माला को अंदर कमीज में ठीक से छिपा कर टाई वगैरह बांध लिया। रात्रि में होटल में शराब एवं मांस का दौर शुरू हुआ। जो आज की तथांकथित आधुनिकता है। एडंवास होने का परिचायक है। वह सोचने लगा, गुरुदेव तो हमसे यह सब खाने-पीने की तो मनाही नहीं किए हैं। यदि नहीं भी खाते तो अन्य अधिकारी हमें क्या कहेंगे ? यही मानसिकता सब को खाए जा रही है। यही मानसिकता अत्यंत भयावह है। जो व्यक्ति को अपने सहज स्वभाव से दूर ले जाती है। खैर वह ज्यों ही गिलास उठाकर अपने मुंह तक ले जाता है। उसे मालूम होता है, अंदर माला से कोई शक्ति निकली एवं गिलास पर हाथ मार दी। गिलास गिर जाता है। सिर घूमने लगता है। वह अनायास कह उठता है मुझे क्षमा कर दो, हम साथ नहीं दे सकते हैं। तबीयत एका-एक खराब हो गई। किसी तरह रात्रि व्यतीत करता है। प्रातः अपने आवास पर लौटकर मेरे द्वारा दी गई प्रतिमा के सामने क्षमा मांगता है। अपनी पत्नी, बच्चों से सारी बात बता देता है। तीसरे दिन अपने परिवार के साथ हमारे यहां आता है। सबकुछ कहकर क्षमा याचना करता है। अब वह अत्यंत प्रसन्न है। परिवार भी आनंदित है। महात्मा की तरह सारे कार्यों का निष्पादन करता है।

जब भी गुरु कुछ भी साधक को अपने हाथ से देता है वह दिखने में साधारण सी वस्तु अनमोल हो जाती है। वह माला, कंठी, छाया चित्र (फोटो) गुरु का प्रतिनिधित्व करती है। चाहे साधक कहीं भी हो वह निर्भय निर्विघ्न साधना करता है। वह विघ्नों का निवारण करता है। यदि जाग्रत गुरु नहीं है तब दिया गया माला या फोटो भी ऐसे ही बेकार हो जाते हैं जैसे आप दुकान

से खरीद लेते हैं। पहन लेते हैं। दिखावे भर का होता है। यह परंपरा जो जाग्रत गुरु शुरू किए अब साधारण बनकर रह गई। मिथक बनकर रह गई। यह भी झूठी परंपरा बनकर रह गई। अब हम परंपरा ही ढोते हैं मुर्दे की तरह।

ठीक उस तरह मंदिरों में स्थापित बहुत प्रतिमा जाग्रत होती हैं। आप अपने आस-पास सुने होंगे कि फलां मंदिर, फलां गुरुद्वारा, फलां समाधि जाग्रत है। वहां जाने पर व्यक्ति अनजाने ही राहत महसूस करता है। अपनी व्यथा को कम पाता है। उसकी मुरादें भी पूरी होती हैं। जो भी मंदिर प्राचीन काल में जाग्रत व्यक्तियों के द्वारा बनाया गया वह जाग्रत रहा। अब उसी के देखा-देखी मृत व्यक्तियों द्वारा मृत मंदिरों के बनाने की होड़ सी लग गई है। कहीं भी जमीन दखल करना हो बस बैठा दो हनुमान जी को, मानो दखली देवता हों। कुछ लोग रातों-रात कब्र बना देते हैं। या गुरुद्वारा ही बना डालते हैं। इसे अब कौन छुएगा। आप जरा ध्यान से सोचें, कौन स्थान भगवान का नहीं है ? केवल नाजायज भूमि दखल करने वाला स्थान ही भगवान का है। किसी को कोई भगवान से लेन-देन नहीं है। यहां प्रश्न है अपने स्वार्थ का। अभी भारत में मुर्दे लोगों की भरमार है। यही कारण है कि रोज-रोज नए-नए मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे फसाद अवश्य करा सकते हैं। भगवान के द्वारा बनाए गए इंसान रूपी मंदिर को वह मृत मंदिर अवश्य ध्वस्त कर सकता है। इस तरह यह प्रतिमा शुरू-शुरू में जाग्रत पुरुषों का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

माला या फोटो भी उसी तरह यदि जाग्रत गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया तो वह अवश्य ही उसके लिए अत्यंत लाभकारी होगा। यह निर्भर करता है ग्रहण करने वाले पर एवं ग्रहण कराने वाले पर अन्यथा यह भी मृत बोझ की तरह ढोना ही होगा। साधक को तत्पर रहना चाहिए तथा समय के सद्गुरु से माला, फोटो अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यह एक इतिहास बन जाता है। आपको बदलने में समर्थ भी होता है। अन्यथा आप समय चूक जाते हैं। फिर पश्चाताप ही हाथ लगता है।

टोपी या पगड़ी-

यह भी भारतीय संन्यासियों की खोज है। जो अत्यंत वैज्ञानिक है। जिस तरह साधक कुशासन या कंबल का प्रयोग करता है, बैठने के लिए। उसी तरह सर ढंकने के लिए टोपी की या पगड़ी की जरूरत होती है। साधक बैठने के लिए जिन सामग्रियों का प्रयोग करता है वह विद्युत का कुचालक है, जब साधना करता है, तो उसके शरीर से विद्युत धारा प्रवाहित होती है। जो विद्युत

पगड़ी का महत्व व
आसन का प्रयोग

सघन होते हुए वर्तुल बन जाती है। यदि साधक आसन के रूप में लकड़ी, कंबल यानी विद्युत कुचालक पदार्थ पर नहीं बैठता है तो अनायास विद्युत की तरंगें पृथ्वी सोख लेती हैं। जिससे साधक की साधना निरर्थक साबित होती। कभी-कभी यदि साधक ध्यान को उपलब्ध होता। साधक का शरीर ऊर्जा से भर जाता है। वह ऊर्जा बाहर निकलने के लिए सुचालक साधन खोजता, पृथ्वी सुचालक है ही। ज्यों ही वह विद्युत तरंगें जोर-जोर से प्रवाहित होकर पृथ्वी में प्रवेश करतीं साधक को झटका-सा लगता है। कभी-कभी साधक बेहोश भी हो जाते। कभी-कभी वह बेहोशी पागलपन में बदल जाती।

साधक जिस तरह बैठने के लिए कुचालक पदार्थ का प्रयोग करते, ठीक उसी तरह सिर पर टोपी या पगड़ी का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है।

चूंकि ऊर्जा का ह्रास नीचे से अब नहीं हो सकता। अब ऊर्जा ध्यान में उर्द्धगामी हो जाएगी। सिर पर कुछ नहीं होता जिससे ऊर्जा अपने-आप सिर के माध्यम से बाहर निकल जाएगी। इस ऊर्जा के निकलने को साधक महसूस भी नहीं करता एवं उसका निरंतर क्षय भी होता रहता है। साधक को प्रारंभ में आगे बढ़ने में अत्यंत कठिनाई होती है। जिस स्थिति में साधक दस दिन में पहुंच सकता है। वहां पहुंचने में अब उसे 30 दिन का समय लग जाता है। जो अत्यंत अलाभकारी सिद्ध होता। इसी से कहा गया है–

''माला टोपी सुमरनी, सद्गुरु दिया बक्शीश।''

(सद्गुरु साधक को इनाम के तौर पर दे ही देता है।)

आप सभी देखते हैं कि किसी पूजा में सर पर कपड़ा रख लेते हैं। गुरुद्वारे में जाते समय कपड़ा रख लेते हैं। पगड़ी बांध लेते हैं। ऐसा क्यों ? यह सिद्ध गुरुओं द्वारा अपने शिष्य के लिए दिया गया अद्भुत वरदान था। जो अब मिथक धारणा या परंपरा बन कर रह गया। कोई जानता नहीं क्यों पगड़ी बांध रहे हैं। क्यों कपड़ा सर पर रख रहे हैं। बस अब लकीर के फकीर बन गए। अब अपना एक अलग पहचान बना लिए। इसे प्रतिष्ठा से जोड़ लिया। यह मात्र साधक के लिए है। साधना के लिए है। इसे प्रतिष्ठा एवं पहचान से कोई वास्ता है नहीं। इसे परंपरा में डालते ही कुरूप हो जाता है।

बहुत संन्यासी, जो जंगलों में रहते थे, उन्हें कपड़ा उपलब्ध नहीं होता था। अतएव वे अपने सर के बाल छोड़ देते थे। बाल लंबा हो जाता था जिसे वे पगड़ी की तरह ऊपर बांध लेते थे। अब सर सुरक्षित हो जाता है। अब कोई जरूरत नहीं है पगड़ी की। जैसे आप फोटो में देखते हैं शंकर को, बुद्ध को। भगवान शंकर को देखते हैं। वे बैठे मृगछाला या व्याघ्र चर्म पर। वह भी विद्युत

9 May 2005 23:51:44

प्रणव

के अत्यंत कुचालक है। पर्वत एवं जंगल में उन्हें सहज ही सुलभ हो जाता था। यह सब प्रयोग सहज एवं सुलभता पर किया गया। अब व्याघ्र की छाल या मृगछाल अत्यंत दुष्कर एवं महंगी हो गई। कंबल, लकड़ी, कपड़ा सहज सुलभ है। अतएव साधक टोपी या पगड़ी का प्रयोग कम से कम साधना के समय अवश्य करें। इससे बंधे नहीं। इसे अपनी प्रतिष्ठा नहीं समझें। मात्र साधक साधना के लिए ही समझें तो बेहतर होगा।

उपरोक्त जो भी विधियां या अनुभव बताया गया है, उससे साधक फायदा ले सकता है। साधक जब इन द्वारों से निकल कर बाहर आ सकता है। उसी संबंध में सद्गुरु कबीर भी कहते हैं–

ये मरजीवा अमृत पीवा, का धसि मरसि पतार।
गुरु की दाया साधु की संगति, निकरि आव यहि द्वार॥

इस तरह साधक अमृत पान कर, गुरु की दया एवं साधु संत के सत्संग के द्वारा निरंकार प्रभु को प्राप्त कर सकता है। चूंकि वहां और कोई दूजा भी नहीं है।

"हरि हर ब्रह्मा नहीं शिव शक्ति, ना बाहों तीरथ अचारा।
माय बाप गुरु जा के नाहि, सो धौ दूजा की अकेला॥"

इसी तथ्य को कृष्ण ने गीता में कहा है–

"परमं अचरं ब्रह्मा, स्वभायोऽध्यात्मुच्यते।
भूतभावोद्भवकारो विसर्गः कर्म संज्ञीतः॥"

इसे विरला ही जान पाता है। चूंकि साधक बाह्य पूजा पद्धति से ऊपर उठ ही नहीं पाता। यदि गुरु की कृपा साधक का सतत प्रयास रहा तो वह उपलब्ध हो ही जाता है। उस एक को।

एको देवो सर्व भूतेषु गुढः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा,
साक्षी चेताः केवलो निर्गुण्श्च॥

प्रणव—कहो तो को पतियाय

श्वास वायु तत्व है। यह स्पर्श का विषय है। यह नाक की राह जाती है। नाक का काम सूंघना है यानी यह गंध संवेदना है। पर प्राण शब्द-संवदेना है। यह आकाश तत्व से बनता है। प्राण की तासीर का ज्ञान वैद्य नाड़ी पकड़कर या आला लगाकर करता है। आकाश शब्द और प्राण एक तरह से पर्यायवाची शब्द हैं। प्राण की परख गति से, हृदय के कंपन से होती है। यानी प्राण का अनुभव सुनकर किया जाता है—नाक से सूंघ कर नहीं। अतः प्राण कान का विषय हो गया। प्राण श्रवण-संवेदना हो गया। इसका संबंध ध्वनि से होता है। प्राणायाम नादानुसंधान है। इसे ही शब्द-साधना या सुरति-शब्द-योग कहते हैं। पंडितों ने प्राणायाम की जगह झुनझुना थमा दिया है।

प्रणव यौगिक शब्द है जो प्राण + रव से बना है। यह प्राण का कंपन या स्पंदन है। प्राण ही गाता है। कंठ तो बोलता है, कंठ गाता नहीं है। नाद में कंठ की मदद नहीं ली जाती है—इसे नाभि का व्यापार माना जाता है। स्वर का निनाद पांचों प्राणों के केंद्रों, यानी चक्रों से किया जाता है। प्रणव ध्वनि तरंग है। संतों ने शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है—उनका शब्द गाय-बैल-घोड़ा नहीं है। उनका शब्द नाम है—ॐकार है। ध्वनि के विवाट से स्वर और स्वर के प्रयोग से प्रणव बनता है। प्राणायामी अपने को स्वर के अनुगूंज से जोड़ता है। सभी मंत्र ध्वनि तरंगें हैं—मंत्र वर्ण नहीं, बल्कि स्फोट हैं। तरंगें कैसे उठाएं, उनका कैसे नियमन करें कि अपान वायु जो प्राण को नीचे खींचता है—ऊपर उठने लगे और पिंड शरीर के कमल चक्र जो अधोन्मुखी हैं, वे ऊर्ध्वमुखी हो जाएं—यही उलटा जाप है, यही प्राणायाम है। प्राण अपान आदि कंजों को ऊर्ध्वोमुखी बनाकर सहस्र दल पर प्राण की प्रतिष्ठा करने का प्रयास है प्राणायाम। यह चेतना की अंतर्मुखी यात्रा है। प्राणरूप ईश्वर का, अपने हृदय में दर्शन की, सर्वोत्कृष्ट योग विधि ही प्राणायाम है।

प्रणव

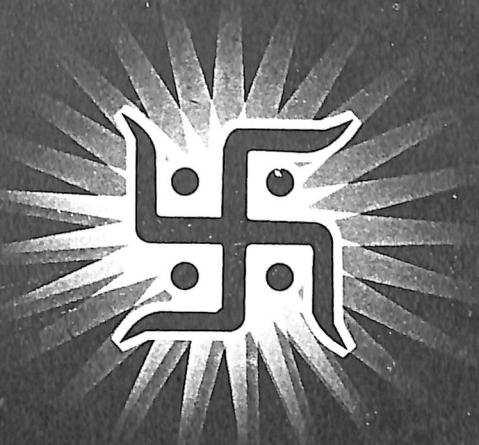

प्राण में मंत्र डालना नहीं पड़ता है। प्राण मे मंत्र स्वतः फूटते हैं। दुख है कि प्रायः लोक श्वास क्रिया को ही प्राणायाम समझते हैं। शास्त्रों के टीकाकारों और भाष्यकारों ने ऐसी भूलें करवाई हैं। जबकि श्वास-नियंत्रण नाड़ी-शोधन है। यह प्राणायाम की पीठिका है। हजारों वर्षों से एक ही झूठ को दुहराया जा रहा है कि नाड़ी-शोधन ही प्राणायाम है। जो योगी है, जानकार हैं, वे मौन रहे, पर जिसने योग नहीं किया, केवल ग्रंथ पढ़े—उन्होंने कुछ का कुछ कह दिया, जबकि पंडितों को प्राणायाम के बारे में बोलने का अधिकार नहीं था, क्योंकि योग का चौथा सोपान है प्राणायाम—इस पर योगी का ही वक्तव्य सत्य हो सकता था। पुस्तकीय ज्ञानियों ने बड़ा घोर माठा किया। मानवता का बड़ा नुकसान किया कि भारत की अध्यात्म विद्या आम न हो सकी। नाद ब्रह्म की उपासना विपथगामी हो गई।

प्राणायाम से हमारे आंतरिक शरीर में संतुलन आता है। श्वास से रक्त शुद्ध होता है। रक्त से प्राण बनता है। ध्यान के दो रूप हैं—1. श्वास क्रिया यानी नाड़ी-शोधन और 2. प्राण क्रिया यानी प्राणायाम। वैसे श्वास क्रिया नहीं है, बल्कि स्वभाव है। जबकि प्राणायाम क्रिया है। हम चाहें या न चाहें श्वास चलेगी पर वह हमारे वश में नहीं है, हम श्वास के वश में हैं। पर प्राणायाम हमारे वश में है, हम चाहें तो करें, चाहें तो न करें। अतः प्राणायाम कर्म है। आप तो प्राणायाम नहीं करते हैं, पर प्राण तो शरीर में रहता है। प्राण को आप न तो देख सकते हैं, न स्पर्श कर सकते हैं। पर श्वास को आप महसूस करते हैं, ढोते भी हैं। तेज चल रही है या मध्यम, देखते हैं। पर प्राण की तस्दीक आप सुनकर करते हैं। श्वास द्वारा सूंघने से प्राण का पता नहीं चलेगा। नाड़ी की गति सुननी पड़ती है। ध्वनि तरंगों में प्राण का पता होता है। ये तरंगें ही मंत्र हैं। इसे संत गमगति, गायक सरगम और योगी प्राणायाम कहते हैं।

श्वास क्रिया से भाषा का संबंध है। प्राण क्रिया से प्रणव का संबंध है। भाषा के प्रयोग में मन दौड़ लगाता है। स्वर के प्रयोग में मन लंगड़ा हो जाता है। भाषा को आप छोटी-बड़ी नहीं कर सकते, स्वर द्रुत और विलंबित होता हैं, मन अंतर्मुख होता है, तभी स्वराधान संभव है। स्वर मन को कैद कर लेता है, चित्त को निरुद्ध कर देता है। जैसे शर-संधान में मन नहीं बचता है, वैसे ही स्वर-संधान में भी एकाग्रता होती है। यहां मन स्वतः स्थिर हो जाता है, मुग्ध हो जाता है।

श्वास क्रिया करने वाले का मन भगेड़ू होता है। श्वास क्रिया जीभ से

नीचे नहीं जाती और प्राण क्रिया में जीभ लगती ही नहीं है। इसीलिए नाड़ी-शोधक का मन उठाऊ-चलाऊ होता है। इनका मन परेशान तो होता है, पर प्राणायामी का मन आज्ञाकारी होता है। प्राणायाम प्राण का निरति-योग है, जिसकी निरति की उन्नचास भंगिमाएं हैं, जो उन्नचास पवन कही जाती हैं। जिन्होंने श्वास क्रिया को ही प्राणायाम मान लिया है, वे शरीर से निरोग हो गए हैं, पर जीवन में कभी प्राणायामी नहीं होंगे। प्राणायामी मन के फेर में नहीं रहता है। प्राण मन का राजा भी है, जनक भी है। जिसमें प्राण नहीं होगा, उसमें मन भी नहीं होगा। मन मर जाता है कोमा में, मूर्च्छा में, बेहोशी में, नींद में, तो भी प्राण तो रहता है तन में। श्वास रहती है तो भी मन भाग जाता है, कोमा में श्वास चलती है, मन भागा रहता है। प्राण है इसीलिए श्वास चलती है—प्राणायाम नहीं है तभी मन भागा हुआ है। मन को बैठारू बनाने के लिए प्राणायाम है। जो मन श्वास के आगे सरहंग है, वही प्राण के आगे गुलाम हो जाता है। प्राण मन से बरियारा है। प्रणव का उद्घोष करते ही मन के हाथ-पांव ठिठुर जाते हैं। प्राण ही मन को सुरति पर सवार कराता है। सुरति मन की लगाम है।

प्राणायाम की क्रिया बड़ी शक्तिशाली क्रिया है। इसे गुरु के साथ ही किया जाता है। प्राणायाम अकेले संभव नहीं है। श्वास क्रिया में चित्त नियंत्रित होता है, पर प्राणायाम में चित्त का निरोध हो जाता है। प्राणायामी को चित्रकारी देखने की फुरसत ही नहीं होती। मन की चित्रकारी पर प्रणव पानी फेर देता है—डूब गए सारे चित्र। स्वर लगाकर देख लें—हाथ कंगन को आरसी क्या। तो श्वास और प्राण दो चीजें हैं और पूरक-रेचक-कुंभक प्राणायाम नहीं है। ये क्रिया तो आप के जन्म के पहले से चल रही है, आप बेकार परेशान हो रहे हैं। आप नहीं भी करेंगे तो आप में होगा ही। हां, जीव यह तीनों सहज क्रियाएं दोहरा रहा है, जन्म से ही। उसे करना क्या है ? पर हम उसी के फेर में हजारों वर्षों से पड़े हैं। यह शास्त्रों की बातें दोहराई जा रही हैं, पर बालू से तेल निकलता नहीं है। जिन्होंने नाड़ी-शोधन को प्राणायाम कहा, उन्हीं लोगों ने प्राणायाम को बीहड़, कठिन, दुःसाध्य, विकट कहा। यह भी कहा कि प्राणायाम खो गया है। प्राणायाम के जानकार नहीं रहे—ये खुद प्राणायामी नहीं थे तो दुकानदारों की भाषा बोल दी, दुकानदार की दुकान में जो माल नहीं रहता है, कह देता है कि यह तो आउट ऑफ मार्केट है। पंडितों ने फंसा दिया प्राणायाम की जगह, नाड़ी-शोधन में। लगे रहो, पूरक-रेचक में लोगो। शब्द ब्रह्म की उपासना छूट गई, विधि गलत हो गई।

इसमें क्रिया करनी ही नहीं थी। एक मूर्ख भी पूरक-रेचक करता ही है। पंडितों ने मूर्ख बनाया—सोचा, कैसे कह दें कि हम प्राणायाम नहीं जानते ? श्वास तो सबकी चलती ही है—कह दें कि करते रहो, पूरक रेचक तो अंतर क्या पड़ता है—कोई घाटा तो नहीं है—भले फायदा नहीं है तो दिया होमियोपैथी डोज—फायदा नहीं करेगा तो नुकसान भी नहीं करेगा। विचित्रताओं का देश है—भारत। लाखों प्रातः नाक दबाने का खेल खेलते आपको मिलेंगे—बेचैन लोग। प्राण संयम प्राणायाम है। चेतना को शब्द से हटाकर, स्वर पर लगा देना प्रणव साधन है। मंत्रों का उच्चार ध्वन्यात्मक होता है, वर्णिक नहीं। मंत्र की पहचान ही है रव यानी ध्वनि तरंग और श्वास न तो प्राण होता है न रव होता है। रव प्राण का बुदबुदा है। आप कितना ही श्वास चलाते रहें, प्राण का नवनीत नहीं निकलेगा, क्योंकि प्राण नाक में नहीं, हृदय में होता है। पांचों प्राण अंतः केंद्रों पर होते हैं तो नाक से आप प्राणायाम कैसे कर लोगे ? रेचक को, आप यह तो नहीं कहेंगे कि प्राण निकल रहा है ? न तो पूरक प्राण है, न रेचक प्राण है—तो इनको फेरना प्राणायाम कैसे होगा ? ये प्राण के ईंधन हैं। प्राणायाम के रहस्य को संतों ने गमगति में छिपाकर रखा, जो गमगति जानता है वही, बस वही प्राणायामी होता है। नाक रगड़ने से प्राणायाम का कोई लेना-देना नहीं है।

ज्ञानवाही नाड़ियों के सूक्ष्म केंद्रों पर प्राण का निवास होता है। प्राण भारहीन प्रकाश का नाम है। इसमें गमक और चमक की दो क्रियाएं होती हैं। गर्भ में शिशु की बढ़त गोपनीय होती है, वैसे ही प्राणायाम भी गोपनीय है। सुरति-निरति शब्द योग परम गोपनीय है। प्राणायामी का प्राणायाम करना, आपको पता तभी चलेगा जब आप भी प्राणायामी हों। बिना गुरु कृपा के यह मिलता नहीं है, वह भी वर्षों के परिश्रम से ही मिलता है। आप ऐसे योगी की चरण-शरण लें जो उन्नचासों पवनों का नियमन, नियंत्रण का अधिकारी हो। विद्वान के पास मत जाना। पंडित तो आपको नाकों चना चबवा कर छोड़ेगा और आप की नाक छिल जाएगी।

प्रणव वाद्य

अनुभव को शब्दों में बांधना लाचारी है। अनुभव का व्याकरण नहीं होता। व्याकरण समझाने में मनमानी भी करते हैं। अध्यात्म में एक अनमोल संकेत है—"ॐ"। यह ब्रह्म की वाचक धुन है, इसे उद्गीय कहा गया है।

यजुर्वेद में "ॐ खंब्रह्म" कहा गया है। व्याख्याकारों और भाष्यकारों ने इसकी क्या दुर्दशा की है। यही आप देख लें। "ॐ खंब्रह्म" मं. १७ सू. ४० का छांदोग्योपनिषद् ने कहा—

ओमित्येतदाक्षरम उदगीयम् उपासीत—१-१। शंकराचार्य ने इसका भाष्य किया—"ओमित्यतदेक्षरं परमात्मने अभिधोनं नदीष्टम "ॐ" यह परमात्मा का सबसे समीपवर्ती नाम है। इसका उच्चारण करने से वह प्रसन्न होता है।" उन्होंने सोचा भी नहीं कि उद्गीय का उच्चारण नहीं होता है। अगर वह नाम होगा तो उसका अर्थ भी होगा। वह कोई पदार्थ भी होगा। जबकि ॐ का उच्चारण नहीं है। उसका अर्थ भी नहीं है। वह सुना जाता है। वह वागेंद्रियों का विषय नहीं है। तुलसी ने स्पष्ट कहा—

"निरंकार ओंकार मूलं तुरीयं, गिराज्ञानगोतीत नीशं गिरीशं"

वही शंकराचार्य जब गीता की व्याख्या करते हैं तो और ही बात करते हैं। गीता का "गिरामऽस्मिकमक्षरम"—१०-२५। "गिरां वाचो पदलक्षणानाम एकम अक्षरं ओंकारः अस्मित" वाणी संबंधी भेदों में यानी पदात्मक वाक्यों में मैं एक अक्षर ओंकार हूं।" यहां एकाक्षर का अर्थ लगाया आपने ओंकार। तो उद्गीय से ॐ को अक्षर बनाया—यह पहली भूल की।

वही फिर अक्षराणामकारोऽस्मि—गीता-१०-३३ का अर्थ किया—"अक्षराणाम वर्णानाम अकारो वर्णः अस्मि" अक्षरों अर्थात् वर्णों में मैं अकार यानी "अ" हूं। यहां ॐ को अक्षर से वर्ण कहा और वर्णों में "अ" कहा—ॐ गायब हो गया। उसके तीन रूप हुए—अक्षर, वर्ण और "अ"। यह पैमाकरण का घोटाला हुआ। इस पर आज तक उंगली नहीं रखी गई—क्यों ?

यहां ब्रह्म नामी ॐ को व्याकरण में बांधने की चेष्टा की गई तो अक्षर लिपि रूप में लिखावट में, वर्ण उच्चारण रूप में, वाणी में सिमट गया। एक अक्षर का अर्थ करने वाले ने अपने भाष्य में ओंकार लिखा। ॐ का रूप भी बिगाड़ा, अर्थ देकर नाम भी बिगाड़ा। देखिए, कितनी तरह के रूप बिगड़े—ओं, ओम, ओउम, अउम, अउमं। एक तरफ ॐ को एकाक्षर कहा—फिर किसी ने तीन वर्णों का मेल, तो किसी ने पांच वर्णों का पंचमेल कहा—इतनी अनार्की की गई—यह व्याकरणिक फसाद किया गया। सीधी-सी बात थी कह देते, हम नहीं जानते हैं, लेकिन उन्हें कुछ कहना था।

हम जानते हैं—वर्ण भी खोते हैं, इनके उच्चारण भी खोते हैं। संस्कृत में ऋ, ऌ, ॡ—तीन वर्ण हैं, पर उनके उच्चारण नहीं हैं। हिंदी में आठ वर्ण

हैं, जिनके उच्चारण खो गए हैं—क्ष, त्र, ज्ञ, ङ, ञ, ण, ऱा, ष—हम इनके गलत उच्चारण के अभ्यासी हो गए हैं। आप निर्णय कर सकते हैं।

"ॐ" न तो संस्कृत, न हिंदी का—अक्षर है, न वर्ण है। संस्कृत हिंदी के ५२-५२ अक्षरों-वर्णों में ॐ नहीं है तो वैयाकरणों ने उसका रूप बिगाड़ा। ओं, ओइम् आदि किया। उसके प्रतीक चिह्न को पहले मिटाया। उसे भाषा में नहीं उतारा जा सकता। क्योंकि वह उच्चारण और अर्थ से अतीत है—ॐ अक्षर है ही नहीं। वह धुन है जो हर जीव, जड़, जंगम, पशु, प्राणी में गूंज रही है। वैयाकरणों ने घोरमाठा करके अध्यात्म की राह पंकिल कर दी। "ॐ" योग की परम खोज है। यही "नाम" है तुलसी का, यही कबीर का "सबद" है, नानक का "सतनाम" है, यही बल्लभ का "कृष्णनाम" है, रामानुज का "रामनाम" है। ॐ व्याकरणिक विभादन नहीं है। दुनिया की कायिक, वाचिक, मानसिक उत्सरण-क्षमता का यही मूल है।

वैयाकरणों ने योगियों के मुख पर हाथ रख दिए—कह दिया, "चुप रह।" ढिंढोरा पीट दिया, अपने वैदुष्य का। और जो वाणी का विषय नहीं था, उसका कीर्तन करवा दिया। उसे अक्षर, लिपि, वर्ण, शब्द मान कर गुमराह कर दिया। बहुतों ने ॐ का अर्थ भी किया। उसका जप भी कराया। जबकि मंत्र का अर्थ नहीं होता है, उपयोग होता है—अज्ञानियों ने 'ॐ' को मंत्र भी नहीं माना—कह दिया कि ॐ तो पुरश्चरण है। योगी इस घपले को देखते रह गए, उन्होंने अपने लिए उस मार्मिक संकेत को अपना अलग ही नाम दे दिया। पटाखे की धुन का आप क्या अर्थ करेंगे—बादलों के गर्जन-तर्जन का आप क्या उच्चारण करेंगे ? सागर की लहरों का आप क्या भाषा वर्ण गढ़ेंगे ? पवन के सननन को क्या अक्षर करेंगे—अग्नि के स्वप्न की क्या व्याख्या करेंगे—सांगीती तंत्र वाद्यों के आप कौन वर्ण बनाएंगे ?

गुरुवा पंडितों ने जो साध्य था, उस ॐ को साधन बना दिया। ओं, ओइम् रटवाने लगे। वेदों ने "ॐ" की उपासना का संकेत दिया था। अंतर्यात्रा करके उस शाश्वत शब्द के पास पहुंच जाना था। भीतर की मुरली धुन सुन लेनी थी—

"नौबत धुरत है रैन दिन सुनन में।" कबीर, "सबद सुनत अनुराग होत है।" कबीर, "बिना नगाड़े नौबत बाजै, अनहद सबद झरै।" कबीर।

ये ॐ के संकेत थे; पर पंडितों ने घपला कर दिया। योग को व्याकरण के मुसहुल में डाल दिया और ओइम् के साथ द्वाक्षर, पंचमाक्षर, षडाक्षर, द्वादशाक्षर, चतुर्थदी-शाक्षर जोड़ दिया—लोग आवृत्ति मारने लगे—ऐसा धोखा किया गया।

ॐ पराध्वनि है। इसे सुना जाता है। वह भी कान से नहीं, सुरति से सुना जाता है। कान तो बाहर की धुन सुनता है। योगी अंतर की धुन सुनता है। अंतर्ध्यान परमात्मा की उपस्थिति का प्रमाण है। आप शरीर में कहीं भी छूकर देखें—ध्वनि हो रही है। जन्म के पहले से हो रही है। पिता, प्रपिता, पितामहों से उतरती हम तक आई है, वह परमात्मा का ज्योतिर्पथ है, नादमार्ग है। वही एक ध्वनि अखिल विश्व के चराचर प्राणियों में गूंज रही है। वह ब्रह्म की यात्रा है। योगी उसी की आत्मानुभूति करता है। कबीर ने 'ॐ' को "आदि शब्द, युगादि शब्द" कहा। उसे ही फनकार अपनी वीणा में उतारता है। उसे ही भक्त आरती की नौबत में उतारता है। योगी उसे ही अपनी शून्य समाधि में उतारता है। उसी की विधि है भृंगी साधना। योगी उसे भ्रामरी प्राणायाम कहता है। इसे संत सद्गुरु से सीखना पड़ता है—"पीया की ऊंची रे अटरिया मैं तो देखन चली।"

ॐ ही परमपद है। इसे ही अलख, अगम, अनामी कहा गया है। वह ॐ शरीर में कण या परमाणु रूप में और ब्रह्मांड में हिरण्यगर्भ रूप में है। गीता में व्यास ने ललकार कर कहा है कि तपस्वी से योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी से भी योगी श्रेष्ठ है, याज्ञिकों से भी योगी श्रेष्ठ है—हे अर्जुन ! इसलिए तू भी योगी हो जा।

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानीभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चधिको योगी, तस्मात्योगी भवार्जुन॥ ६/४६ गीता

पंडितों ने यह दौलत घास-भूसे के भाव में बेच दी, पर संतों ने उसे आज तक ज्यों-की-त्यों बचाकर रखा है। वह दौलत ही ऐसी है कि प्रलय के बाद भी वही बची रहती है। संतों ने उसे "सुरति शब्द का योग" नाम दिया है। गुरुमुख परंपरा से वे 'ॐ' तक यात्रा कर रहे हैं। अनहद से बेहद तक की अंतर्यात्रा का विहंगम पथ सबके लिए खुला है। ईश्वर कृपा से किसी को शब्दमार्गी गुरु मिल जाता है तो अपने भीतर चल रही परमात्मा की आरती में शामिल हो जाता है। इसे ही कबीर ने कहा था—"तेरा साईं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।" "कस्तूरी के मिरग ज्यों ढूंढें फिरत घास।" "पंडितों ने घास परोस दिया है और लोग उसे ही चिबला रहे हैं।" सांसों की "सांस में बसे हुए साईं" से वे गाफिल हैं। ॐ ही जीवन का लक्ष्य है, इसे ही पाना आत्मोपलब्धि कहलाती है।

नोट—पंडित शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति या जाति का सूचक न होकर इसे शास्त्र पढ़कर, बिना अनुभव किए ही प्रवचन करने वालों के लिए कहा गया है। उनके पास बिना अनुभव की अभिव्यक्ति है। वही भटकाव है।

●

देव दर्शन

परस्पर प्राणों में प्राण-वायु के हवन से देवता प्रसन्न होते हैं। जितने मनोबली हो चुके हैं इतिहास-पुराणों में सभी अग्निहोत्री होता ही तो थे। सबने वरदान पाए। ये सभी अपानवायु के हवन-यापन वाले थे और सबने शंकर और ब्रह्मा से वरदान पाया था।

अपान में प्राण का हवन तमोगुणी अग्निहोत्र है। अपान के अराधक आवागमन में बंधे होते हैं, कई-कई जन्मों की उनकी कथाएं होती हैं। प्राण और उदान चक्रों के अग्निहोत्री रजोगुणी कहलाते हैं। इनकी आराधना मनोबली बनाती है। समान वायु में प्राण, अपान, उदान, व्यान के हवन को ही सतोगुणी अग्निहोत्र कहते हैं। नाभी चक्र की आहुति से रीढ़ में स्थित सुषुम्ना द्वारा पीछे से प्राण ब्रह्मरंध्र की राह से निकलता है—यही सतोगुणी प्राण कहा जाता है। नाभि केंद्र के देवता हैं विष्णु। गणेश किसी पर जल्दी प्रसन्न नहीं होते—होते भी हैं तो ऋद्धि-सिद्धि प्रदान कर पतित कर देते हैं। चूंकि अपान मल-मूत्र के पतन का ही दावेदार है। शंकर और ब्रह्मा के वरदायी मनोबली ही उनका विरोध करते हैं और वे ही असुर या राक्षस कहे जाते हैं। पुराणों के सभी राक्षस शिव या ब्रह्मा के शिष्य हुए हैं। विष्णु भक्तों की अपनी अलग शान है।

पांचों प्राणों के केंद्रों पर पांच देवता बैठे हवन करते हैं, यानी प्राण ऊर्जा का वितरण और खपत करते हैं। क्रमशः मूलाधार पर गणेश, स्वाधिष्ठान पर ब्रह्मा, मणिपुर पर विष्णु, अनाहत पर शिव और विशुद्ध चक्र पर दुर्गा आसीन हैं। ये क्रमशः नीचे से ऊपर के चक्रों के देवता हैं। जैसे दूध और पानी में से हंस दूध की पहचान कर उसे बाहर निकाल कर पी जाता है, या अग्नि होती जव-गेहूं से जौ को निकालकर हवन सामग्री में मिला लेता है। उसी प्रकार जो साधक श्वास से प्राण को अलग करना जान जाता है, वही प्राण से प्राणों में हवन करने का अधिकारी होता है। प्राण की पहचान प्रणव साधना से ही होती है। जिसे प्राण का वजन होता है, वही प्राण आराधन में

सक्षम होता है। श्वास से प्राण को अलग करने की ही विधि सद्गुरु देता है। अन्यथा दूध-पानी एक साथ मिलकर व्यर्थ हो जाते हैं वैसे ही श्वास और प्राण एक ही भाव में व्यर्थ हो जाते हैं। आपको पता नहीं चलता है और श्वास के साथ प्राण भी निकल जाता है।

प्राण-साधन करने वालों को देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। ये देवता जल्दी दयालु भी हो जाते हैं। उनके नाम की हवन डालते, वे करीब आने लगते हैं और संदेह खड़े हो जाते हैं—प्रलोभन देते हैं, वरदान मांगने को कहते हैं, पर ये सभी देवता पिंड शरीर के ही पहरू हैं। इनका काम ही है कि वे साधक को ब्रह्मांड शरीर में जाने से रोकें। इनका काम साधना में विघ्न करना है और इनका विघ्न है कुछ वरदान देकर साधक को लक्ष्य से विचलित कर देना। विषय बयार के झोंके आते हैं तो ये ज्ञान-कपट खोल देते हैं ताकि वासना भीतर प्रवेश कर जाए। गणेश तो विघ्नेश हैं। सबसे बड़ी बाधा काम की है। जो मूलाधार और सृष्टि चक्र इंद्रियों में निवास करता है—क्रोध प्राण के ऊपर होता है। लोभ दुर्गा केंद्र की वासना है और मोह विष्णु की नाभि में बसा हुआ है। काम के देवता गणेश, ब्रह्मा हैं। क्रोध के देवता शिव हैं, लोभ के देवता दुर्गा हैं और मोह के देवता विष्णु हैं। इसीलिए मनोबलियों के मोह को मारने के लिए विष्णु का अवतार होता है और देवताओं में मोह मारने की क्षमता नहीं है। इसीलिए दुर्गा का उपासक लोभी होता है, शिव का उपासक क्रोधी होता है, गणेश और ब्रह्मा का उपासक कामी होता है। व्यान का उपासक अहंकारी और मत्सर होता है।

गरदन के नीचे ये देवता सर्व शक्तिमान हैं, पर गरदन के ऊपर इनका विघ्नेश रूप नहीं होता, ऊपर भी देवता मिलते हैं। विघ्न डालना उनका स्वभाव नहीं है। वे तो साधकों के संयम की परीक्षा करने बैठते हैं और जिनमें जागतिक लालसाएं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरमंद होते हैं, उन्हें उसका वरदान देकर जगत में ही लौटा देते हैं, पर जो इनकी ओर से आंखें मूंद लेते हैं उन्हें वे आगे जाने देते हैं। वे राह रोकते नहीं हैं, राह में बाधा खड़ी कर देते हैं। वह भी इम्तहान के लिए कि यह सच्चा खोजी है या संसारी है। प्रायः लोग जागतिक मान-प्रतिष्ठा के लिए ही साधना करते हैं और देखते हैं कि कितने लोग उन्हें पूजते हैं ? कितने उन्हें सम्मान देते हैं—ये साधक मान-बड़ाई से ऊपर नहीं जाते तो, वे देवता उन्हें वहीं से लौटा देते हैं।

जो साधक देवताओं की पूजा करते हैं वे देववादी भगवान के भक्त नहीं होते। निर्गुण-निराकार के उपासक देवताओं और उनके वरदानों से

अपनी आराधना नहीं छोड़ते। परमात्मा ने देवताओं को ड्यूटी दी है कि वे सांसारिक शानो-शौकत, मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा चाहने वाले को, वहीं कुछ दे लेकर वहां से लौटा दें। प्रायः लोग ऋद्धि-सिद्धि के लाभ से ही साधना करते हैं और दैव योग से उन्हें मिल भी जाती है। ऋद्धि-सिद्धि हर देवता की अनुगत है। अब ये शक्तियां पाने वाले दुनिया में यश, मान, प्रतिष्ठा, पैसा कमाने लगते हैं, दुआ करने लगते हैं और एक दिन उनका पुण्य क्षीण हो जाता है। कोई भी सिद्ध आपने ऐसा नहीं पाया होगा, जिसको छोड़कर उनकी सिद्धियां भाग न गई हों। इसी कारण सच्चे साधक परमात्मा से कम पर राजी नहीं होते हैं, देवता लोग बुलाते रह जाते हैं, लुभाते रह जाते हैं, ललचाते रह जाते हैं, पर सच्चा साधक सद्गुरु की याद में आंखें मूंदे, आगे बढ़ता जाता है—ऋद्धि-सिद्धि को माया मानकर छोड़ते-बढ़ते जाता है। पर दूसरे चमत्कारों के चक्कर में पड़ कर बरबाद हो जाता है।

जैसा कि मैं पूर्व में ही वर्णन कर चुका हूं कि मूलाधार चक्र पर ही ऋद्धि-सिद्धि गणेश के साथ निवास करती है। जो साधक को प्रारंभ में ही ऋद्धि-सिद्धि से भर देती है। परंतु यह भी जानना चाहिए कि मूलाधार चक्र ही पेशाब-पखाना का केंद्र है। अर्थात वे मल बाहर निकालते हैं, त्याज्य है। इसी तरह ऋद्धि-सिद्धि भी त्याज्य है। तांत्रिक-मांत्रिक का आराध्य ही यही है। जो पतनोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी साधक पर गुरु कृपा की अति आवश्यकता है। अन्यथा वह यहीं ऋद्धि-सिद्धि के दलदल में फंस कर रह जाएगा।

हरक्यूलिस साधना के क्षेत्र में अपने भविष्य की दिशा तय करने में असमर्थ था। प्रत्येक साधक तत्कालिक फायदे के चक्कर में अपना जीवन बरबाद कर देते हैं। मेरे यहां अधिकांश युवक अप्सरा सिद्धि, कर्ण पिशाचिनी सिद्धि, प्रेत सिद्धि, स्वर्ण सिद्धि, मोहनी-वशीकरण सिद्धि के चक्कर में आते हैं। उसे सिद्ध करने पर जोर देते हैं। यही कारण है कि तांत्रिक इनका शोषण करता है या ये उनके जाल में स्वयं फंसते हैं। वह ऐसे चौराहे पर खड़ा था जहां से अनेक रास्ते दिखाई पड़ रहे थे। वह कभी सोचता है ऋद्धि-सिद्धि, आकर्षण, वशीकरण या भोग-विलास की तरफ जाए। जीवन की खुशी मनाए। दूसरी तरफ उसके गुरु की आवाज कानों में गूंज उठती, "भोग-विलास का मार्ग कष्टपूर्ण है। उत्तम मार्ग का अनुसरण करो।" वह इस ऊहापोह में उलझा हुआ था। वह रात्रि भर सो नहीं सका।

रात्रि का घोर अंधेरा था। वह दूर-दूर देखने की कोशिश करता, लेकिन

असमर्थ था। अंधेरे में एक प्रकाश पुंज दिखाई दिया। जो उसी की तरफ बढ़ रहा था। हरक्यूलिस के नजदीक आकर वह प्रकाश पुंज अति सुंदर देवी रूप में परिणत हो गया। उसका शरीर पैर से सिर तक आभूषणों से लदा था। वह मोहिनी मुस्कान लिए आगे बढ़ी, बोली—हरक्यूलिस ! तू किस सोच में अपना समय बरबाद कर रहा है ? मेरे मार्ग पर आकर देखो। मैं तुम्हें ऐसी दुनिया में ले चलूंगी, जहां तुम्हें कभी कोई अभाव नहीं खलेगा। एक सुंदर जीवन, ऐश आराम पूर्ण जीवन तुम्हारा इंतजार कर रहा है। सभी भोग तत्क्षण तुम्हें मिलेंगे। संसार के ऐशों से पूर्ण जीवन व्यतीत करो। मेरा हाथ पकड़ो। मेरे साथ चलो। सुखी जीवन प्रारंभ करो।

हरक्यूलिस ने पूछा—"देवी जी ! आपका क्या नाम है ? उस देवी ने अभिमान से कहा—"भोग की इच्छा रखने वाले लोग मुझे (ऋद्धि-सिद्धि) सुख की देवी के नाम से पुकारते हैं। वहीं कुछ मूर्ख, नीरस, फक्कड़ फकीरों ने अपने वैराग्य का दिखावा करते हुए मुझे विलास की देवी भी कहा है। परंतु यह सत्य है कि तुम्हारे यौवन पूर्ण जीवन में मैं ही खुशी भर सकती हूं।" हरक्यूलिस मानव स्वभाव कमजोरी से दूर नहीं था। वह उसकी तरफ हाथ बढ़ाना ही चाहता था कि गुरु अनुकंपा सामने प्रगट हो गई।

दूर से एक प्रकाश पुंज उसकी तरफ आया। वह भी उसके नजदीक आकर आदर्श सौंदर्यपूर्ण देवी में बदल गया। हरक्यूलिस की नजरें सहज ही उसके ओजस्वी चेहरे पर टिक गईं। श्वेतांबरी देवी के दिव्य तेज में पुरुषार्थ की चमक और सत्य की गरिमा झलक रही थी। देवी ने ममतामयी मुस्कान के साथ कहा—"पुत्र ! मैं जानती हूं कि यह तुम्हारे जीवन का निर्णायक क्षण है। तुम जीवन के ऐसे मोड़ पर खड़े हो जहां तुम्हें फैसला करना होगा कि क्या चुनना है और क्या त्यागना है ? परंतु बेटा, फैसला करने से पहले तुम्हारे लिए जीवन के दूसरे पहलू को भी जानना बहुत जरूरी है। मैं जीवन के दूसरे पक्ष पर प्रकाश डालने आई हूं। मेरा मार्ग सुख-दुख दोनों के ऊपर है। वह है, आनंद। निःसंदेह धन, ऐश्वर्य, प्रसिद्धि आदि सांसारिक उपलब्धियों में तत्काल सुख साफ दिखाई देता है। पर तुम ही सोचो कि क्या भोग-विलासिता का मार्ग तुम्हें सच्चा सुख देता है ? क्या इसका परिणाम आखिरकार दुख में प्रकट नहीं होता। हरक्यूलिस भी स्वयं से कई बार यही प्रश्न कर चुका था। वह पूछा—"देवी, तुम कौन हो ?" वह सहज भाव से बोली—"मैं गुरु अनुकंपा हूं। मैं गुरु मां हूं। मैं गुरु अनुग्रह हूं। विषयी भोगी मुझे संसारिक आकर्षण से विमुख करने वाली भी कहते हैं। तुम्हारे सामने यूनान के

बादशाह सिकंदर का ज्वलंत उदाहरण है। उसने पूरी उम्र धन-दौलत बटोरी। असंख्य राज्यों को लूटा, पर अंत में क्या हुआ ? मन पर भार लिए खाली हाथ, कंगालों की भांति ही उसे संसार से विदा होना पड़ा। पुत्र ! जो इस गूढ़ सत्य को जान लेता है कि क्षणिक भोग की परिणति अंततः दुख में होती है, वह तो सद्गुरु का ही अनुसरण करता है।"

हरक्यूलिस ने प्रातः ही गुरु के चरणों में अपना सिर रख दिया। वह इतिहास पुरुष बन गया। चुनौती पूर्ण समस्या के लिए अंग्रेजी के यह शब्द "हरक्यूलियस टास्क" बन गया। इस उत्पत्ति के पीछे हरक्यूलिस है।

सच्चा साधक इनके फेर में नहीं पड़ता। समर्थ गुरु उनको सिद्धियों का पता भी नहीं चलने देता और पता उनको तब चलता है, जब सिद्धियों के प्रयोग की इच्छा की क्षमता को खो देते हैं। ऋद्धि-सिद्धि को वमन समझकर वे त्याग ही देते हैं। तुलसी ने लिखा है मानस में, भरत प्रसंग में—

"रमा-निवास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।"

आप साधना में देवताओं के दर्शन पाते उन्मत्त न होंगे, इतनी प्रार्थना है। अन्यथा वे देवता आप की संचित साधना को हजम कर जाएंगे। उनसे आपका प्रत्यक्ष भी होगा, बातें भी होंगी। वह सपना नहीं, वाकया होगा, पर देव-दर्शन की घड़ियां आएं तो आपको सावधान हो जाना है। हर मंत्र का अलग देवता होता है। आह्वान पर वह कुछ दिनों की साधना पर प्रत्यक्ष दर्शन देता है। कितने इसे ही उपलब्धि मानकर वहीं से लौट आते हैं। नीचे के चक्रों की बातें क्या ? भगवान बुद्ध त्रिकुटी से लौटे हैं, भगवान राम और भगवान कृष्ण सहस्रार से लौटे हैं। सच्च खंड तक केवल सच्चे सद्गुरु संत ही पहुंचते हैं। जैसे—कबीर, नानक। ब्रह्मांड शरीर में संतलोक शीर्ष पर है और शिखरों पर हमारे देवता भी होते हैं—पिंड शरीर में जो देवता वरदान की बाधा बनते हैं, वे ब्रह्मांड शरीर में मदद करते हैं। क्योंकि त्रिकुट पार गगन मंडल में सभी देवता कैद हैं—वे भक्तों को कष्ट नहीं दे सकते। देवताओं के दर्शन कर, अस्वस्थ मत हो जाना कि देवता प्रसन्न हो गए, अब क्या करना है। देवताओं की प्रसन्नता ही अभिशाप है।

संत ज्ञानेश्वर की दृष्टि में कुण्डलिनी

संत ज्ञानेश्वर जी गीत्ा का भाष्य लिखते समय योगी संन्यासी की एकरूपता बताते हुए कुण्डलिनी पर अपना मंतव्य निम्न प्रकार दिए हैं–

तत्वनिर्णयरूपी गीता का यह छठा अध्याय है। जैसे क्षीर समुद्र में अमृत हाथ लगा है, वैसे ही जो सब गीतार्थ का सार है, जो विवेकरूपी समुद्र का परतीर है, अथवा जो योगरूपी संपत्ति का घर है, जो मूल प्रकृति का विश्रांति स्थान है, जहां वेदों का मौन हो जाता है, जहां से गीतारूपी बल्ली का अंकुर फूटता है, उस छठे अध्याय का वर्णन मैं अलंकारिक भाषा में करूंगा। इसे ध्यान देकर सुनिए–

यदि देवयोग से पारस हाथ लग जाए तो कीमिया बनाने वाले को भी न जुरनेहारा स्वर्ण लोहे से ही प्राप्त हो सकता है, उसी तरह यदि सद्गुरु की कृपा हो तो प्रयत्न करने से क्या प्राप्त नहीं होता ? एवं ज्ञानदेव कहते हैं कि वह कृपा मुझ पर अपार है, इसलिए मैं निरूपण करता हूं। मैं शब्दों से अरूप ब्रह्म का रूप प्रकट करूंगा और वह इंद्रियों के परे है सही तथापि इंद्रियों से उसका भोग करा दूंगा। सुनिए, तदनंतर यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूपी छः श्रेष्ठ गुण जिसमें बसते हैं और इसलिए जो भगवान कहाता है, वह निःसङ्गों का संगाती पार्थ से बोला कि अब मेरी ओर चित्त दो।

श्री भगवानुवाच–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥1॥

सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें अलग-अलग मत मानो। साधारणतः विचार करने से वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। दूसरा नाम केवल आरोप है, उसे छोड़ दो तो जो योग है वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखते दोनों में कुछ अंतर नहीं दिखाई देता। एक ही मनुष्य को जैसे अलग-अलग नामों से पुकारते हैं अथवा जैसे एक ही जगह जाने के लिए अलग-अलग मार्ग रहते हैं, अथवा जैसे पानी स्वभावतः एक है, परंतु

अलग-अलग घड़ों में भरा हुआ रहता है वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो। हे अर्जुन ! संसार में सबकी यही सम्मति है कि योगी उसी को समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता। जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है, परंतु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती, वैसे ही सर्वत्र जो आत्मा व्याप्त है उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो वही उचित जान जो करता है, परंतु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता, एवं जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुंचती, वही संन्यासी है। हे पार्थ ! सुनो, वास्तव में वही योगीश्वर है। अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बद्धक समझ कर छोड़ देता है और तत्काल दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है वह, जैसे एक लेप पोंछकर तुरंत ही दूसरा लगाया जाए, ऐसे आग्रह के अधीन हो वृथा विवंचना में पड़ता है। पहले से जो स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है वही बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है। अतएव श्रोत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लंघन न हो तो निज में ही सहज योगसुख प्राप्त होता है।

यं संन्यास समिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यसंकल्पो योगी भवति कश्यन॥2॥

सुनो, "जो संन्यासी है वही योगी है", इस एक वाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है। उन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहां त्याग किए हुए संकल्प का लोप होता है वहीं योग-साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है।

आरुरुक्षोर्मुनिर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥3॥

अब हे पार्थ ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुंचना हो तो यह कर्म मार्गरूपी जीना मत छोड़ो। इस मार्ग के द्वारा यम-नियमरूपी आधारभूमि पर से आसनरूपी पगडंडी पकड़कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो। फिर प्रत्याहाररूपी मध्य भाग है, जहां बुद्धि के पैर फिसलते हैं और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं, तथापि अभ्यास के बल से उस प्रत्याहार के निरालंब आकाश में भी धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार वायुरूप घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो तब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ। तब फिर इस मार्ग से चलना बंद हो

जाएगा। प्रवृत्ति की इच्छा भी बंद हो जाएगी। ब्रह्मानंद की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जाएंगे। आगे चलना बंद हो जावेगा और पिछला स्मरण भी रुक जाएगा। ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जाएगी। इस उपाय से योगारूढ़ हो जो अत्यंत प्रबुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निर्णय करते हैं, सुनो–

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥4॥

जिसकी इंद्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं है, जो आत्मज्ञान की कोठरी में सोता है, सुख-दुखरूपी शरीर से संघटित होते भी जिसका मन जाग्रत नहीं होता, जो पास आए हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता, इंद्रियगण कर्म में प्रवृत्त हो तथापि जो फल के हेतु अंतःकरण में कभी इच्छा नहीं करता, इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जाग्रत में भी निद्रित दिखाई देता है, उसी को भली-भांति योगारूढ़ हुआ समझो। तब अर्जुन ने कहा, हे अनंत ! यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य होता है। अतएव कहिए, उस योगी को इस प्रकार की योग्यता कौन देता है ?

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥5॥

तब श्रीकृष्ण ने हंसकर कहा कि क्या तुम्हारा यह प्रश्न आश्चर्यकारक नहीं है ? इस अद्वैत में कौन किसे क्या दे सकता है ? भ्रमरूप शय्या पर दृढ़ अज्ञानरूपी निद्रा आती है तब यह जन्म मृत्युरूपी दुःस्वप्न का भोग प्राप्त होता है। अनंतर जब अकस्मात् चेत आता है तब वे सब बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं। इस प्रकार जो सद्भाव उत्पन्न होता है वह भी निज में ही उत्पन्न होता है। हे धनंजय ! फल यह हुआ कि हम मिथ्या देहाभिमान पर चित्त देकर आप ही अपना घात करते हैं।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥6॥

विचार कर इस अहंकार का त्याग किया जाए और जो नित्य पाना है वह ब्रह्मरूप प्राप्त किया जाए तो हम आप ही अपना कल्याण सहज में कर लेंगे। नहीं तो जो इस सुशोभित शरीर को ही आत्मा समझता है वह कोसे के कीड़े के समान आप ही अपना वैरी है। लाभ के समय दुर्दैवी मनुष्य को कैसी अंधत्व की इच्छा होती है जो वह आप ही अपनी खुली हुई आंखें मूंद लेता है। अथवा जैसे कोई भ्रम के कारण समझ ले कि मैं नहीं हूं, मैं खो गया

और अंतःकरण में ऐसा मिथ्या हठ किए रहे, तो यथार्थ में वह जो है सो ही है, तथापि क्या किया जाए, उसकी बुद्धि वैसी नहीं होती। देखो, स्वप्न में लगे हुए घाव से क्या कोई सचमुच मरता है ? तोते के शरीर के भार से उसे पकड़ने के लिए रखी हुई नली उलटी फिरती है, तब वह चाहे तो उड़ जाए, परंतु उसके मन का संदेह नहीं जाता। वह वृथा गरदन ऐंठता है, छाती संकुचित कर नली को दबाता है, और उसे अपने पांव के पंजे से दृढ़ खींचे रहता है। वह समझता है कि मैं निःसंदेह बांधा गया हूं। ऐसी भावना के खड्ड में पड़ते ही वह खुले हुए पांव के पंजे को और भी अधिक फंसाता है। इस प्रकार जो निष्कारण फंसता है उसे क्या कोई दूसरा बांधता है ? परंतु चाहे उसे आधा काट डालो तो भी वह नली नहीं छोड़ता। अतएव, श्रीकृष्ण ने कहा कि वह आप ही अपना बैरी है जिसने अपना सकंल्प बढ़ा रखा है तथा जो मिथ्या वस्तु के वश नहीं होता, वही आत्मज्ञानी है।

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥7॥

अंतःकरण को जीतनेहारे तथा सकल कामना के शमन करनेहारे उससे परमात्मा कुछ जुदा और दूरस्थ वस्तु नहीं है। जैसे सोने का मैल निकल जाए तो वह खरा सोना बना ही हुआ है, वैसे ही सकंल्प का नाश होते ही जीव को ब्रह्मत्व ही प्राप्त है। जैसे घटाकाश का नाश हो तो उसे आकाश में मिल जाने के लिए किसी दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता, वैसे ही उसका मिथ्या देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है वह पहले से ही सब जगह भरा हुआ परमात्मरूप ही है। उसमें शीत और उष्ण के प्रवाह, सुख-दुख के विचार, मान-अपमान के शब्द, इत्यादि बातों का समावेश नहीं होता। क्योंकि जैसे जिस मार्ग से सूर्य जाता है वह विश्व प्रदेश तेजरूप हो जाता है, वैसे ही वह जो वस्तु प्राप्त करता है तद्रूप ही हो जाता है। देखो, मेघों से निकली हुई वर्षा की धाराएं जैसी समुद्र में गड़ी हुई जुदा नहीं रहतीं, वैसे ही योगीश्वर शुभाशुभ कर्म जुदा नहीं समझता।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलेष्टाश्मकाञ्चनः॥8॥

यह जो संसार-ज्ञानात्मक भाव है उसका विचार करते ही वह उसे मिथ्या जान पड़ता है; और ज्यों ही विचार करता है त्यों ही वह स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है। फिर यह तर्क करना कि मैं व्यापक हूं कि अव्यापक, द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप बंद हो जाता है। इस प्रकार जिसने इंद्रियों

को जीत लिया है उसे यद्यपि वह देवधारी हो तथापि, योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझना चाहिए। जितेंद्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी ऐसा भेद नहीं करता कि यह छोटा और यह बड़ा है; जो मेरु पर्वत जैसा विशाल सोने का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों को समान ही समझता है; और जो इतना निरिच्छ है कि ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को, कि जिसके आगे पृथ्वी का मोल भी थोड़ा है, पत्थर के समान समझता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥9॥

फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र इत्यादि विचित्र और भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है ? उसे कौन कहां का मित्र है और कौन द्वेषी है ? जिसे ज्ञान हो गया है कि मैं ही विश्व हूं उसकी दृष्टि में, हे किरीटी ! क्या अधमोत्तम भेद रह सकता है ? क्या पारस की कसौटी से सुवर्ण के उत्तम मध्यम भेद हो सकते हैं ? वह कसौटी जैसे शुद्ध सुवर्ण ही को उत्पन्न करती है वैसे उस योगी की बुद्धि को चराचर में निरंतर एकता ही प्रकट होती है। यद्यपि ये बिखरे हुए विश्वरूपी अलंकार अलग-अलग प्रकार के हैं तथापि वे एक ही परब्रह्मरूपी सुवर्ण के बने हैं—ऐसा जो उत्तम ज्ञान है वह सब उस पुरुष को प्राप्त हो गया है। इसलिए वह बाह्य चित्र-विचित्र रचना में नहीं फंसता। यदि पट की ओर दृष्टि दी जाए तो जैसे संपूर्ण तंतु की सृष्टि दिखाई देती है वैसे ही उसके पास एकता के सिवाय दूसरी वार्ता ही नहीं रहती। जिसे ऐसी प्रतीति प्राप्त होती है, जिसे ऐसा अनुभव होता है वही समबुद्धि है। यह बात मिथ्या मत जानो। जिसका नाम तीर्थराज के तुल्य है, जिसके दर्शन से शांति उत्पन्न होती है, जिसके संग से भ्रांत लोगों को भी ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है, जिसके वचन धर्म का जीवन हैं, जिसकी दृष्टि से महासिद्धियां उत्पन्न होती हैं तथा स्वर्ग इत्यादि सुख जिसके खेल हैं, उसका यदि अकस्मात् भी चित्त में स्मरण हो तो वह स्मरण करनेहारे को अपनी योग्यता प्राप्त करा देता है। बहुत क्या कहें, उसकी स्तुति करना लाभदायक है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥10॥

जिसे ऐसे अद्वैत रूपी दिन का उदय हुआ है कि जो पुनः कभी अस्त नहीं होता, और जो निरंतर अपने-आपमें निमग्न रहता है, हे पार्थ ! जो इस प्रकार विवेकी है वही अद्वितीय है, क्योंकि तीनों लोकों में वही है जो परिवार-रहित है। श्रीकृष्ण ने, जहां तक उनसे हो सका वहां तक, सिद्धों के

इस प्रकार असाधारण लक्षण वर्णन किए और कहा कि जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो देखने वालों की दृष्टि का प्रकाशक है, जिस प्रभु के संकल्प से विश्व की रचना होती है, ओंकाररूपी हाट में जो शब्द ब्रह्मरूपी वस्त्र मिलता है वह भी जिसकी कीर्ति के सामने अल्प होता हुआ उसका आच्छादन करने के लिए बस नहीं होता, जिसके शरीर के तेज से सूर्य और चंद्र के व्यापार की महिमा है, (तो फिर उसके बिना इस जगत् के प्रकाशित होने की वार्ता ही क्या है ?) अजी जिसके केवल नाम के सामने गगन भी अल्प दिखाई देता है, उसका एक-एक गुण तुम कहां तक जान सकोगे ? अतएव यह स्तुति रहने दो। हम नहीं कह सकते कि इस स्तुति के मिस से हमने किसके लक्षणों का वर्णन किया अथवा यह वर्णन ही क्यों किया। सुनो, द्वैत का जो निशान मिटा देती है वह ब्रह्मविद्या यदि व्यक्त कर दी जाए तो हे अर्जुन ! प्रेम का माधुर्य चला जाएगा। इसीलिए हमने वैसा वर्णन नहीं किया। हमने प्रेम का भोग लेने के लिए एक पतले से परदे की आड़ रखकर मन को अलग-सा कर दिया। जो सोहंभाव में अटके हुए हैं, जो मोक्ष-सुख के लिए दीन हो रहे हैं उनकी दृष्टि का कलंक अपने जैसे भक्त के प्रेम को न लगने दो। कदाचित भक्त का अहंभाव चला जाए और वह मद्रूप हो जाए तो फिर मैं अकेला क्या करूंगा ? फिर ऐसा कौन करेगा कि जिसे देखकर हमारी दृष्टि जुड़ावे, अथवा जिससे हम मनमाना वार्तालाप कर सकें, अथवा जिसे दृढ़ आलिंगन दे सकें ? यदि हमारा ऐक्य हो जाए तो अपने हृदय की उत्तम और मन में न समाने वाली बातें हम किनसे कहेंगे ? इस प्रकार प्रेम की दीनता के वश हो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करने के बहाने अपने ही मन से मन को आलिंगन देने की चेष्टा की। यह बात सुनने में औघट जान पड़ती है, परंतु पार्थ को स्पष्ट श्रीकृष्ण सुख की ढली हुई मूर्ति ही समझो। और तो क्या, जैसे बांझ स्त्री को वृद्धापकाल में एक ही पुत्र होता है और फिर उसमें जैसी मोह की प्रपंचा रचना प्रकट होने लगती है, वैसा ही हाल श्रीकृष्ण का हुआ। यह बात मैं न कहता यदि मैं उनके प्रेम की अधिकता न देखता। देखो प्रेम कैसी आश्चर्यकारक वस्तु है ! कहां उपदेश और कहां युद्ध, परंतु बीच में प्रेमियों का प्रेम ही प्रकट हो रहा है। प्रेम और लजावे नहीं, व्यसन और थकावे नहीं, भ्रम और भुलावे नहीं, तो फिर बात ही क्या रही ? भावार्थ यह है कि अर्जुन मैत्री का आश्रय स्थान है, अथवा मानो सुख-शृंगार किए हुए मन का दर्पण है। इस प्रकार वह अत्यंत पुण्य और पवित्र है, तथा संसार में भक्तिरूपी बीज बोने के लिए मानो एक उत्तम खेत है। इसीलिए वह श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र हुआ है। अथवा आत्म

निवेदन के पूर्व जो सख्य नामक एक भूमिका है अर्जुन उसकी आश्रयभूत देवी है। वह श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्यारा है कि उसके पास खड़े हुए स्वयं श्रीकृष्ण की स्तुति चाहे न की जाए पर सेवक की स्तुति अवश्य करनी चाहिए। देखो, जो प्रेम से पति की सेवा करती है और पति जिसका आदर करता है वह पतिव्रता, पति की अपेक्षा, क्या अधिक नहीं बखानी जाती ? वैसे ही मेरे हृदय में अर्जुन की विशेष स्तुति करना ही भाता है। क्योंकि वही एक त्रिभुवन के भाग्य का अधिष्ठान हो रहा है। उसके प्रेम के वश से निराकार परमात्मा ने भी साकारता स्वीकारी है और स्वंय पूर्ण होते भी उसे उसकी उत्कंठा लग रही है। तब श्रोताओं ने कहा—"अहो भाग्य है ! कैसी सुंदर वाणी है ! मानो नाद-ब्रह्म को तथा सौंदर्य को जीतकर आई हो ! अजी आश्चर्य नहीं, भाषा हो तो ऐसी ही हो। मानो आकाश में अलंकाररूपी नाना प्रकार के रंग उठ रहे हैं। कैसी स्वच्छ ज्ञानरूपी चांदनी चमकी है और भावार्थरूपी शीतलता छा रही है, तथा श्लोकार्थरूपी कमलिनी सहज विकसित हो रही है ! इससे मनोरथों की ऐसी बाढ़ हुई है कि निष्काम लोगों को भी कामना उत्पन्न होगी।" इस प्रकार श्रोतागण अंतःकरण में आनंदित हो डोलने लगे। यह देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर ने कहा—"ध्यान दीजिए। पाण्डवकुल में कृष्णरूपी एक अनोखे सूर्य का प्रकाश हो रहा है। उसे देवकी ने गर्भ में धारण किया, यशोदा ने कष्ट कर पालन किया, परंतु निदान में वह पांडवों का उपयोगी हुआ। इसलिए कई दिनों तक सेवा करने का और फिर अवसर से विनती करने का कष्ट उस भाग्यवान अर्जुन को नहीं पड़ा। परंतु यह बात रहने दो। अब शीघ्र कथा-निरूपण करता हूं।" अर्जुन ने प्रेम से कहा कि हे देव ! आपके वर्णन किए हुए संतों के लक्षण मुझमें नहीं हैं। यों तो इन लक्षणों के तात्पर्य के माप से मैं निश्चय से अल्प हूं, तथापि सुनिए, मैं आपके वचनों से श्रेष्ठता पा सकता हूं। यदि आप मन में लावें तो मैं ब्रह्म हो सकता हूं। कुछ भी हो, आप जो कहें सो अभ्यास कर सकता हूं। आपने न जाने किसका वर्णन किया, परंतु उसे सुनकर मेरे अंतःकरण में उसकी श्लाघा उत्पन्न होती है, तो फिर वैसी योग्यता प्राप्त होने से कितना आनंद होगा ? क्या मैं ऐसा बन सकूंगा ? हे गोस्वामी ! क्या आप अपनी ओर से इतनी कृपा करेंगे ? तब श्रीकृष्ण ने हंसकर कहा—"हां, हां करेंगे।" देखो, जब तक एक संतोष प्राप्त नहीं होता तभी तक सुखप्राप्ति के विषय में बहुतेरी कठिनता मालूम होती है। परंतु संतोष प्राप्त होते ही क्या कभी सुख की न्यूनता रहती है ? वैसे ही अर्जुन सर्वेश्वर जैसे समर्थ धनी का सेवक था इसलिए वह सहज ही ब्रह्म हो गया। वह कैसा भाग्यरूपी पकी हुई

फसल के बोझ से झुक रहा है। जिसकी भेंट इंद्रादि देवताओं को भी सहस्रावधि जन्मों में होना दुर्लभ है। वह इस अर्जुन के इतना अधीन हो गया है कि उसका एक शब्द भी विफल नहीं होने देता ! अर्जुन ने जो ब्रह्म होने की इच्छा प्रकट की वह श्रीकृष्ण ने सुन ली। उन्होंने सोचा कि उसे ब्रह्मत्व के दोहद हो रहे हैं जिससे यह जाना जाता है कि इसकी बुद्धि के पेट में वैराग्य का गर्भ है। यों तो, इसके दिन पूरे नहीं हुए हैं, तथापि यह अर्जुन-वृक्ष वैराग्य-वसंत की बहार के कारण सोहम् भावरूपी बौर से झुक रहा है; एवं श्रीकृष्ण को यह निश्चय हुआ कि अर्जुन ऐसा विरक्त हो गया है कि उसे मोक्ष-प्राप्तिरूपी फल पाने में विलंब न लगेगा। वे जान गए कि जो-जो तत्व यह ग्रहण करेगा सो आरंभ करते ही इसे फलद्रूप होगा। इसलिए इसे जो अभ्यास बताया जाए वह वृथा न जाएगा। यह समझकर उस समय श्रीहरि ने अर्जुन से कहा कि अब हम तुम्हें सब योगों में श्रेष्ठ योग बताते हैं, सो सुनो। उस मार्ग में संसाररूपी वृक्ष के नीचे करोड़ों मोक्ष-फल बिछे हैं। उस मार्ग से श्रीशंकर अभी तक यात्रा कर रहे हैं। प्रथम योगीजन चिदाकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही गए थे। परंतु वहां उनके अनुभवरूपी पांव के चिह्न बन जाने से एक रास्ता बन गया। इसलिए उनके अनुगामी और सब अज्ञानरूपी मार्गों को छोड़कर, इसी आत्मज्ञानरूपी सीधे मार्ग से दौड़ते चले। इसी मार्ग से साधक सिद्ध हो गए तथा तत्वज्ञानी श्रेष्ठ हो गए। यह मार्ग देखो तो भूख-प्यास भूल जाती है तथा रात और दिन नहीं जान पड़ते। चलते समय जहां पांव पड़ जाए वहीं मोक्ष की खानि प्रकट हुई दिखाई देती है, तथा टेढ़े-मेढ़े जाने से भी स्वर्गसुख प्राप्त होता है। पूर्व दिशा की ओर मुंह करके निकलिए तो शांतता से पश्चिम के घर पहुंच जाते हैं। हे धनुर्धर ! इस मार्ग का चलना ऐसा ही है। इस मार्ग से जिस गांव को जाइए वह गांव आप ही बन जाते हैं। यह मैं क्या वर्णन करूं, तुम्हें सहज ही मालूम हो जाएगा। तब पार्थ ने पूछा कि हे देव ! तो फिर कब मालूम हो जाएगा ? इस उत्कंठारूपी समुद्र में डूबे हुए मुझको आप बाहर क्यों नहीं निकालते ? तब श्रीकृष्ण ने कहा, ऐसे अधीर वचन क्यों बोलते हो ? हम स्वयं कहने वाले ही थे कि इतने में तुमने प्रश्न किया।

योगी के लिए उपयुक्त स्थान

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥11॥

तो अब हम विशेष रीति से निरूपण करते हैं। परंतु उसका उपयोग अनुभव से ही होगा। प्रथम ऐसा एक स्थान ढूंढ़ना चाहिए कि जहां समाधान की इच्छा से बैठते ही उठने की इच्छा न हो, जिसे देखते ही वैराग्य की दुगुनी बाढ़ हो; जिसे संतों ने बसाया हो, जो संतोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का प्रोत्साहन देता हो; जहां रमणीयता निरंतर ऐसी बढ़ी हुई हो कि अभ्यास ही स्वयं साधक के वश हो जाए तथा अनुभव आप ही आप हृदय में आ बसे; जिसके समीप से निकलते ही हे पार्थ ! नास्तिकों को भी श्रद्धा उत्पन्न होकर तपश्चर्या की इच्छा हो; जहां यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते-चलते अकस्मात पहुंच जाए तो उसे फिर लौटने का स्मरण न हो। इस प्रकार, ऐसा स्थान ढूंढ़ना चाहिए कि जो न रहनेहारे को रख ले, भ्रमण करनेहारे को बैठा दे तथा वैराग्य को थपट कर जाग्रत करे; जिसे देखते ही शृंगारियों को ऐसा मालूम हो कि बड़ा राज भी त्याग दें और वहीं शांतता से बैठे रहें; जो उत्तम तथा निर्मल हो, एवं जहां ब्रह्मस्वरूप आंखों से प्रकट दिखाई देता हो। एक बात और देखनी चाहिए। वह स्थान साधकों से बसा हो, परंतु और लोगों के पांवों की धूलि से मलिन न हुआ हो। वहां अमृत के समान जड़ से मीठे और सदा फलनेहारे वृक्ष सघन हों। डग-डग पर पानी हो, जो वर्षाकाल को छोड़ सदा निर्मल रहे। निर्झर भी बहुत सुभीते के हों। घाम थोड़ा ही तपता हो तथा शीतल पवन अत्यंत निश्चल और मंद-मंद बहती हो। प्रायः कहीं शब्द न होता हो, और वन ऐसा सघन हो कि श्वापदों का प्रवेश न हो सके। तोते या भ्रमर भी वहां न हों। पानी के समीप रहनेहारे हंस हों, दो-चार सारस हों, किसी समय कोयल भी आ बैठे, निरंतर नहीं तथापि कुछ मोर भी आते-जाते रहें तो हम ना नहीं कहते। परंतु ऐसा स्थान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। वहां कोई गुप्त मठ हो अथवा शिवालय हो। इन दोनों में से कोई एक—जिससे चित्त प्रसन्न हो—होना चाहिए और वहां प्रायः एकांत में बैठना चाहिए। मतलब यह है कि ऐसा स्थान ढूंढ़ना चाहिए और यह परीक्षा करनी चाहिए कि वहां मन स्थिर होता है या नहीं। यदि होता हो तो वहां इस प्रकार आसन लगाना चाहिए कि ऊपर सुंदर मृगचर्म हो, बीच में धुले हुए वस्त्र की तह हो और नीचे अग्र-सहित अत्यंत कोमल कुश ऐसी व्यवस्थित रीति से बिछाए गए हों कि वे सहज ही समान मिले हुए और एक से रह सकें। कदाचित आसन ऊंचा हो जाए तो शरीर हिल जाएगा और नीचा हो जाए तो भूमि के संबंध का दोष प्राप्त होगा। इसलिए ऐसा न होना चाहिए। आसन को समान रखना चाहिए। बहुत क्या कहें, आसन उपर्युक्त वर्णन के अनुसार होना चाहिए।

सद्गुरु का ध्यान एवं आसन

तत्रैकाग्रंम मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥12॥

फिर योगी को वहां एकाग्र अंतःकरण कर सद्गुरु का स्मरणरूपी अनुभव लेना चाहिए। प्रेम से स्मरण करते ही सबाह्य अंतःकरण सात्विक भावों से भर जाए, अहंभावरूपी जड़ता चली जाए, विषयों की विस्मृति हो जाए, हृदय में मनरूपी वस्त्र की तह बन जाए, ऐसी एकता जब तक सहज ही प्राप्त न हो जाए तब तक स्मरण करते रहना चाहिए। इस प्रकार के अनुभव सहित आसन पर बैठना चाहिए। उस समय ऐसी प्रतीति होने लगती है कि शरीर ही शरीर को संभालता है, तथा प्राण ही प्राण को संभालता है, प्रवृत्ति पीछे फिरती है। समाधि इस पार ही रह जाती है। आसन पर बैठते ही सब अभ्यास सुकर हो जाते हैं। आसन की ऐसी महिमा है। अब हम आसन की विधि का वर्णन करते हैं, सुनो। जंघा को पिंडुली से मिला दो। पांव के तलुए एक पर एक ड्योढ़ा कर गुद स्थान के मूल में स्थिर रख जोर से दबाओ। दहना पांव नीचे रखो और वृषण से गुद स्थान तक जो रेखा है उसे उससे दबाओ। इस कृति में बायां पांव आप ही ऊपर रहेगा। गुदा और शिश्न के बीच जो केवल चार अंगुल जगह है उसमें से दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़कर बीच में जो एक अंगुल जगह रह जाती है वहां एड़ी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर तौल धरो। पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया न उठाया मालूम न हो तथा दोनों घुटनों का भी तौल संभालो, तब हे पार्थ ! संपूर्ण शरीर का ढांचा एड़ी के माथे पर स्थिर हो रहेगा। पीछे मोटा कंबल लपेटकर या तकिया रख सकते हैं। जिससे आप आसानी से घंटों बैठ सकें। हे अर्जुन ! यह मूलबंध का लक्षण है। इसे गौण वज्रासन कहते हैं। इस प्रकार जब मूलाधार का बंध सिद्ध होता है और अपान वायु का अधोमार्ग बंद हो जाता है तब वह वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥13॥

हाथ द्रोणाकार किए हुए सहज ही बाएं पांव पर रहते हैं और बाहुमूल फूले हुए दिखाई देते हैं। बीच में शरीरदंड स्थिर रहने के कारण शिरकमल भीतर घुसा हुआ मालूम होता है तथा नेत्रद्वार के किवाडरूपी पलक बंद होते

★ स्वामी कृष्णानन्द जी ★

से दिखते हैं। ऊपर की बिन्नियां नहीं हिलतीं तथा नीचे की नीचे स्थिर बनी रहती हैं जिससे नेत्रों की अर्धोन्मीलित स्थिति हो जाती है। दृष्टि भीतर की ओर रहते हुए कुतूहल से बाहर पग डालती है, और नासाग्र तक आई हुई दिखाई देती है; तथा भीतर की दृष्टि भीतर ही रहकर बाहर नहीं निकलती, इसलिए उस अर्द्धदृष्टि का निवास नासाग्र पर स्थिर ही रहता है। तब दिशाओं की भेंट लेना अथवा रूप देखने की बाट जोहना इत्यादि इच्छाएं आप ही आप बंद हो जाती हैं। कंठ सूखने लगता है। ठोढ़ी कंठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है और हृदय को जोर से दबाती है, और बीच में कंठमणि अदृश्य हो जाती है। इस प्रकार जो बंध बनता है, उसे जलंधर कहते हैं। नाभि ऊपर उठ जाती है, पेट भीतर घुस जाता है, हृदय में हृदय कमल विकसता है। इस प्रकार नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बंध बनता है उसे उड्डियान कहते हैं। शरीर के बाहरी अंग से जब इस प्रकार अभ्यास किया जाता है।

कुण्डलिनी जागरण

प्रशांन्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचात्रिते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥14॥

तब भीतर मनोधर्म का ठांव मिट जाता है, कल्पना बंद हो जाती है, प्रवृत्ति शांत हो जाती है, और शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं। क्षुधा क्या हुई, निद्रा कहां गई इत्यादि का विस्मरण हो जाता है और पुनः शीघ्र स्मरण नहीं होता। जो अपान वायु मूलबंध के द्वारा बंद कर दी जाती है वह पीछे पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है, संताप से मत्त हो जाती है, मनमानी जगह गरजती है, और ठहर-ठहर कर मणिपुर (नाभिकमल के तृतीय चक्र) से झगड़ने लगती है। अनंतर यह तूफान शांत होते ही वह सब पेट खोज डालती है और छुटपन का सड़ा हुआ कीच बाहर निकाल फेंकती है। वह केवल भीतर ही घिरी हुई नहीं रहती, वरन् कोठे में भी संचार करती है, तथा कफ और पित्त का ठांव नहीं रहने देती। धातु के समुद्रों को उलट देती है। मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है और भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है। नाड़ियां छुड़ा देती है। अवयवों को ढीला कर देती है। इस प्रकार वह अपानवायु साधकों को डराती है, परंतु साथ ही उसका नाश करती है। वह जलतत्व और पृथ्वीतत्व एक में सानती है। इतने

में, हे धनुर्धर ! दूसरी ओर आसन की उष्णता कुण्डलिनी नामक शक्ति को जाग्रत करती है। जैसे कोई नागिन का संपोला कुंकुम में नहाया हो और गिण्डी मार कर सो रहा हो, वैसी वह छोटी-सी कुण्डलिनी साढ़े तीन गिण्डी मारकर नीचे मुंह किए हुए सर्पिनी-सी सोई रहती है। विद्युत का बना हुआ ककंण अथवा अग्नि की ज्वालाओं की घरी अथवा घोंटे हुए सोने के पांसे की-सी उत्तम बंधी हुई और कसी हुई जो कुण्डलिनी छोटे से संकुचित स्थान में दबी हुई रहती है सो वज्रासन के दबाव से जाग जाती है। मानो कोई नक्षत्र उलट पड़ा हो, अथवा सूर्य का आसन छूट गया हो, अथवा चहुं ओर तेज के बीज में से अंकुर फूटे हों, वैसी वह शक्ति गिण्डी को छोड़ कौतुक से अंगड़ाई लेती उठी हुई, नाभिस्थान पर दिखाई देती है।

सर्पिणी का भोजन

पहले ही उसे बहुत दिनों की भूख लगी रहती है जिस पर जगाने का मिस हो जाता है। इसलिए वह आवेश से ठीक ऊपर की ओर मुंह फाड़ती है। हे किरीटी ! हृदय-कमल के नीचे जो पवन भरी रहती है वह सबको चपेट लेती है। ऊपर-नीचे मुंह की ज्वाला फैला कर मांस के कौर खाने लगती है। जो-जो स्थल मांसल हैं वहां सहज ही कौर मिल जाते हैं। तदनंतर एक-दो कौर हृदय के भी भर लेती है। फिर तलुवों और हथेलियों का भी भेद करती है। इस प्रकार वह हर एक अवयव की गांठों की खोज लेती है। अधोभाग भी नहीं छोड़ती, वरन नख का भी सत्व निकाल लेती है और त्वचा को धोकर हड्डी के ढांचे से जोड़ देती है। हड्डियों की नलियों का रस निकालती है, नसों के जाले धो डालती है, जिससे रोममूलों की बाह्य-वृद्धि बंद हो जाती है। अनंतर वह प्यासी कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समुद्र का घूंट पीती है जिससे शरीर का हर एक भाग अत्यंत शुष्क हो जाता है। नाक के छेदों में से जो हवा बाहर अंगुल तक निकलती है उसे घिंचिया कर पीछे हटा वह फिर भीतर घुसाती है। तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है और ऊपर की नीचे उतरती है। और जिस समय दोनों का मिलाप होता है तब चक्रों के केवल पुरजे ही बचते हैं। यों तो ये दोनों वायु तभी मिल जाएं, परंतु कुण्डलिनी क्षण भर व्यग्र हो मानो इनसे कहती है कि जाओ तुम्हारा यहां क्या काम है ? इस प्रकार वह शरीर की सब पृथ्वीमय धातु खाकर कुछ नहीं बचने देती। अनंतर जल का भाग भी पोंछ डालती है। इस प्रकार वह दोनों महाभूतों को खा डालती

है तब पूर्ण तृप्त होती है और सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शांत हो रहती है और तृप्ति के संतोष से जो गरल मुंह से उगलती है उस अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। भीतर से वह विष अग्निरूप हो निकलता है, परंतु सबाह्य शीतल करने लगता है। तब कहीं पहले गले हुए अवयव दृढ़ होने लगते हैं। जबकि नाड़ियों के मार्ग बंद हो गए हैं, नवों प्रकार की वायु का चलना बंद हो गया है, इसलिए शरीर के धर्म नहीं रहे हैं, इड़ा और पिंगला नाड़ियां एक में मिल गई हैं, तीनों गांठें छूट गई हैं और चक्रों की छहों कलियां खिल गई हैं, चंद्र और सूर्य नामक जो कल्पित वायु हैं वे दीपक से भी खोजते नहीं मिलतीं, बुद्धि का विकास बंद हो गया है और घ्राणेंद्रिय में जो सुगंधि रहती है वह भी कुण्डलिनी के संग सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो गई है, उस अवस्था में ऊपर की ओर से चंद्रामृत का सरोवर धीरे से कनिया कर कुण्डलिनी के मुंह में गिरता है। उससे नली में जो रस भर जाता है वह सब शरीर में फैलता है और प्राणवायु के योग से जहां का तहां सूख जाता है।

शरीर कांति युक्त

तपाए हुए मोम के सांचे का मोम निकल जाने पर जैसे वह उसमें डाले हुए रस का ही बना हुआ रह जाता है, वैसे ही उस शरीर के रूप से मानो कांति ही अवतार लेती है और ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़ लेती है। जैसे सूर्य मेघरूपी घूंघट काढ़े रहता है और फिर मेघ निकल जाने पर तेजस्वी दिखाई देता है, वैसे ही ऊपर से जो शरीर का त्वचारूपी सूखा पपड़ा रहता है वह भुस की तरह झड़ जाता है। तब अवयवकांति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानो वह स्फटिक का ही हो; अथवा रत्नरूपी बीज में अंकुर निकले हों, अथवा संध्याकाल के आकाश के रंग निकलकर उन्हीं का वह शरीर बनाया गया हो; अथवा आत्मज्योति का लिंग ही स्वच्छ किया रखा हो; अथवा वह शरीर कुंकुम से भरा हुआ हो, आत्मरस से ढला हुआ हो, अथवा मैं समझता हूं कि वह मूर्तिमान शांति का ही स्वरूप हो; अथवा वह आनंदरूपी चित्र की लिखावट हो, महासुख की प्रतिमा हो व संतोषरूपी वृक्ष का रोपा स्थिर किया गया हो अथवा वह सुवर्ण-चंपक की कली हो, या अमृत की मूर्ति हो, या कोमलता के बरेजे में बहार आई हो, अथवा शरद ऋतु की आर्द्रता से चंद्रबिंब पल्लवित हुआ हो या मूर्तिमान तेज ही स्वयं आसन पर बैठा हुआ हो। कुण्डलिनी जब चंद्रामृत पीती है तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतांत भी

उस देहाकृति से भय खाता है। वार्धक्य पीछे हटता है। यौवन की गांठ खुल जाती है, और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है। उसकी आयु ही छोटी दिखाई देती है। वास्तव में उसके धैर्य की निरुपम महिमा बढ़ जाती है। बाल शब्द का अर्थ बालक नहीं, बल करना चाहिए। उस शरीर में ऐसे नए और उत्तम नख निकलते हैं मानो सुवर्णवृक्ष के पल्लवों में नित्य नूतन रत्नों की कलियां निकली हों। दांत भी नए हो जाते हैं, परंतु बहुत छोटे-छोटे होते हैं, मानो दुतरफा हीरों की पंक्तियां बैठी हों। मणिक के कण जैसे सहज ही नोकदार होते हैं वैसे ही सब शरीर पर रोमों की नोकें उगती हैं। हथेलियां और तलुवे रक्तकमल के समान हो जाते हैं और नेत्र, क्या वर्णन करूं, अत्यंत स्वच्छ हो जाते हैं। पक्वदशा के कारण मोती के सीप में न समाने से जैसे सीप के ढकनों के सियन खुल जाती है, वैसे ही उसकी दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह अर्द्धोन्मीलित रहती है, परंतु आकाश तक व्याप्त रहती है। शरीर सुवर्ण का हो जाता है, परंतु वह वायु का लघुत्व रखता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं रहते। उसे समुद्र का परतीर दिखाई देता है, स्वर्ग का मंद शब्द सुन पड़ता है, और चींटी के भी मन का हाल मालूम हो जाता है। वह पवन के घोड़े पर सवार हो सकता है, जल पर चले तो उसके तलुवे नहीं भीगते। प्रसंगानुसार उसे ऐसी ही अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं। सुनो, प्राण का हाथ पकड़, हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से हृदय में पहुंची हुई।

ओंकार ध्वनि

वह जगदंबा कुण्डलिनी जो चैतन्यरूपी चक्रवर्ती की शोभा है, जिसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है, जो परमात्मा का संपुट है, जो ओंकार की केवल जन्मभूमि है, और क्या वर्णन करें, वह कुण्डलिनी बाला जब हृदय में प्रवेश करती है तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है। कुण्डलिनी के साथ ही बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इससे उस बुद्धि को वह ध्वनि धीरे से सुनाई देती है। वह ध्वनि ऐसी रहती है मानो घोषाकार कुण्ड में ध्वनि के चिह्न के आकार तथा ओंकार के रूप लिखे हुए हों। यह बात कल्पना से जानी जा सकती है। परंतु उस समय कल्पना करनेहारा भी कहां रहता है ? अतएव वहां काहे की ध्वनि हो रही है यह जान नहीं पड़ता। हे अर्जुन ! मैं एक बात भूल गया।

जब तक पवनतत्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिए वह गरजता है। जब उस अनाहतरूपी मेघ के कारण आकाश गरजने लगता है तब सहज ही ब्रह्मरंध्र की खिड़की खुल जाती है। सुनो, जो कमलगर्भ के आकार के समान है, जो दूसरा महदाकाश ही है, जहां चैतन्य अवर निवास करता है, उस हृदयरूपी भुवन में यह कुण्डलिनी परमेश्वरी मानो तेजोरूपी कलेवा अर्पण कर देती है। बुद्धिरूपी शाक का इस प्रकार उत्तम नैवेद्य करती है कि द्वैत न दिखाई दे। कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ देती है और केवल प्राणरूप हो रहती है। उस समय कैसी दिखाई देती है, मानो किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की साड़ी उतार कर अलग रख दी हो; अथवा किसी दीपक की दृष्टि वायु से भिड़कर लुप्त हो गई हो; अथवा विद्युत चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो। इस प्रकार हृदय-कमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखाई देती है मानो सोने की शलाका हो; अथवा जैसे प्रकाशरूपी जल का झरना बहता हुआ आए और हृदय-भूमि के दर्रे में एकदम समा जाए, वैसे ही उस शक्ति का रूप शक्ति में ही लुप्त हो जाता है; तथापि उसे शक्ति ही कहना चाहिए। अन्यथा उसे केवल प्राण ही समझो। उस समय नाद, बिंदु, कला, ज्योति ये नहीं रहते। अथवा मन का वश करना या पवन का आश्रय करना या ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि बातें नहीं रहतीं। यह भी नहीं रहता कि कोई कल्पना की जाए या कोई छोड़ दी जाए। इसे महाभूतों का स्पष्ट निर्मल रूप ही जानो। पिंड से पिंड का ग्रास जो नाथ संप्रदाय का मर्म है, वही अभिप्राय श्री महाविष्णु ने वर्णन किया। उसी ध्वनि की मानो गठरी छोड़कर श्रोताओं को ग्राहक जान मैंने यथार्थरूपी वस्त्र की तह झटकार कर दिखाया है।

सिद्ध योगी

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शांति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥

सुनिए, जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी (इतना सूक्ष्म हो जाता है कि) आंख में छिप सकता है। यों तो वह पहले के समान ही अवयव संपन्न रहता है, परंतु ऐसा दिखाई देता है मानो वायु का ही बना हुआ हो; अथवा कोई केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग किए हुए खड़ा हो; अथवा आकाश को ही कोई

अवयव उत्पन्न हुआ हो। जब उसका शरीर इस प्रकार हो जाता है तब उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही साधारण शरीरधारी लोगों में उसके चमत्कार दिखाई देते हैं। योगी कहीं से निकल जाए तो उसके पांवों की जो रेखा बन जाती है वहां जगह-जगह अणिमादिक सिद्धियां उपस्थित होती हैं। परंतु उससे हमें क्या कार्य है ? हे धनंजय ! यह जान लो कि देह के देह में पृथ्वी, आप और तेज, तीनों भूतों का इस रीति से लोप हो सकता है—हृदय में पृथ्वीतत्व को जलतत्व गला देता है, जल को तेज सुखा देता है, और तेज को वायुतत्व बुझा देता है। अनंतर केवल वायुतत्व ही रह जाता है, परंतु शरीर का आधार लिए रहता है। फिर कुछ काल के अनंतर वह भी आकाश में जा मिलता है। उस समय उसे कुण्डलिनी नाम के बदले वायु नाम प्राप्त होता है। परंतु जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं जा मिलती तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। फिर वह जलंधर-बंध छोड़ देती है, सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, और गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुंचती है। ओंकार की पीठ पर पांव देते हुए शीघ्रता से पश्यंती रूप सीढ़ी चढ़ जाती है। पश्चात, जैसे सागर में सरिता वैसे ही ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। फिर ब्रह्मरंध्र में स्थिर रह कर सोऽहं भावरूपी बांहें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। उस समय बीच का महाभूतों का परदा फट कर दोनों का सम्मेलन हो जाता है। उस ब्रह्मानंद में गगन समेत सबकुछ विलीन हो जाता है। समुद्र ही जैसे मेवों के मुख से निकल कर, नदी प्रवाह में बह कर, पुनः आप ही में मिल जाता है वैसे ही हे पांडुकुंवर ! पिंड के मिस से मानो ब्रह्म ही ब्रह्मपद में प्रवेश करता है। ऐसी एकता हो जाती है। उस समय यह विवेचना करने के लिए भी कोई नहीं बचता कि दूसरा कोई था या पहले से एक ही वस्तु बनी हुई है। गगन में गगन का लीन हो जाना जो बात है उसका जिसे अनुभव हो जाए वही पुरुष सिद्ध है। उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ नहीं आती, जिससे संवादरूपी गांव में प्रवेश किया जाए। हे अर्जुन ! इस अभिप्राय को प्रकट करने का अभिमान करने वाली वाणी भी दूर रह जाती है। भृकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं होता। अकेले प्राण को भी गगन में जाते संकट होता है और अनंतर वह जब वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का नाश हो जाता है। अतएव महदाकाश के देह में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता तब शब्द की कहां थाह लगे ? तात्पर्य यह कि यह वस्तु निश्चय से ऐसी स्पष्ट नहीं कि शब्दों से वरणी जाए

अथवा कानों से सुनी जाए। जब दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो तब तुम आप ही यह वस्तु बन रहोगे। पश्चात ज्ञातव्य कुछ न रहेगा। अतएव रहने दो। हे धनुर्धर ! वही बात वृथा कहां तक कहें ? इस प्रकार जब शब्दमात्र पीछे हटता है तब सकंल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहां विचार की हवा का भी प्रवेश नहीं होता। जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्य्या का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परमतत्व है, जो विश्व का मूल है, योगवृक्ष का फल है, जो आनंद का केवल जीवन है, जो आकार की सीमा है, मोक्ष का एकांत है, जिसमें आदि और अंत लीन हो गए हैं, जो महाभूतों का बीज है, महातेज का तेज है, एवं हे पार्थ ! जो मेरा निज स्वरूप है, वही यह चतुर्भुज आकार बना हुआ है, जिसकी शोभा मेरे भक्त-समुदायों के प्रति नास्तिकों का किया हुआ छल देखकर आविर्भूत होती है। वह महासुख अनिर्वाच्य है, परंतु प्राप्ति तक जिन पुरुषों के प्रयत्नों की सीमा है वे स्वयं सुखरूप हो रहते हैं। हमारे बताए हुए इस साधन को जो शरीर से करते हैं वे निर्मल हो हमारी ही योग्यता के हो जाते हैं, और शरीर से ऐसे दिखाई देते हैं मानो परब्रह्मरूपी रस से देहाकृतिरूप सांचे में ढाले गए हों। यदि यह अनुभव हृदय में प्रकाशित हो तो संपूर्ण विश्व का लय हो जाएगा। तब अर्जुन ने कहा—सत्य है, हे देव ! आपने अभी जो उपाय बताया, वह ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है, उसी से प्राप्ति होती है; इस अभ्यास में जो दृढ़ होते हैं वे निश्चय से ब्रह्मपद को पहुंचते हैं, इत्यादि जो आपने कहा सो मैं समझ गया। हे देव ! यह वर्णन सुनने से ही चित्त में ज्ञान उपजता है।

।। ओ३म् शांति, ओ३म् शांति, ओ३म् शांति ।।

"हरि ॐ तत्सत्"

❑❑❑

स्वामी श्री की अन्य रचनाएं

- ☆ क्रान्ति महाविश्व
- ☆ चरम निर्देश
- ☆ कुण्डलिनी जागरण *(क्रान्ति महाजीवन)*
- ☆ यंत्र-मंत्र रहस्य
- ☆ स्वर से समाधि
- ☆ कहै कबीर कुछ उद्यम कीजै
- ☆ नानक भगता सदा विगासु
- ☆ बुद्धों का पथ
- ☆ शिव तंत्र
- ☆ कबीर गुरु बसै बनारसि *(रामायण पर आधारित)*
- ☆ दिव्य गुप्त विज्ञान पर चार पुस्तकें (जो साधना से गुजरता है, उन्हें ही ये पुस्तकें प्रदान की जाती हैं।)
- ☆ रहस्यमय लोक

डाक द्वारा पुस्तकें मंगवाने का पता :

साधना पब्लिकेशन्स

K-4/4, माडल टाउन-II, दिल्ली-110009

दूरभाष : 55496808, 9818300870

कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी जागरण एक शक्ति है, ऊर्जा है। जो अनंत जन्मों के संस्कारों से दबी, सोई हुई है। यह वह शक्ति है जो शरीर और आत्मा के मिलन बिंदु पर है। ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियां हैं, परमात्मा ने उन समस्त शक्तियों को इस शरीर पिण्ड में बीज रूप में छिपा दिया है। यह कुण्डलिनी मेरुदण्ड के भीतर स्थित सुषुम्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण यानि योनि मण्डल के मध्य स्थान पर स्थित है। यह अति सूक्ष्म विद्युत ऊर्जा से परिपूर्ण, दिव्य शक्ति से पूर्ण साढ़े तीन लपेटे खाये हुए, अपनी पूंछ को अपने ही मुंह में दबाये हुए अनंत काल से सोई है।

यह भंयकर सर्प है। इससे खिलवाड़ न करें। विद्युत की तकनीक जान लेने पर उसे विभिन्न रूप से प्रयोग में लाते हैं। उसी तरह इसे जागृत करने की विधि जान लें। फिर इस पृथ्वी पर कुछ भी आपके लिए असम्भव नहीं है। आपकी इच्छा मात्र से सृष्टि का संचालन होने लगता है। कुण्डलिनी के छः चक्रों को पार कर मानव चेतना अपनी उच्चतम अवस्था पर पहुंच जाती है। तभी पीड़ाओं का अतिक्रमण एवं सत्य का बोध होगा। इस विराट मानव सभ्यता के चरम विकास को, सत्य को, बुद्धत्व को कुछ ही लोग उपलब्द्ध हुए हैं। मनुष्य होने का यही गौरव है कि हम बीज से वृक्ष बन जाएं। गुरुदेव ने इस पुस्तक में आंखों देखे दृश्य का वर्णन किया है, विधि दी है जिससे आप अवश्य सफल हो सकते हैं। जरूरत है, आपमें श्रद्धा की। फिर फूल खिलेगा, ध्यान का। फल लगेगा, समाधि का, आनन्द का, उत्सव का। आप अहोभाव से भर जायेंगे।

SADHNA PUBLICATIONS

साधना पब्लिकेशन्स

Alcena Gulzari 9891168805

चमत्कारी SERPENT POWER

कुण्डलिनी शक्ति एवं ध्यान योग

अनंत शक्तियों के जागरण की दिव्य साधना

चमत्कारी कुण्डलिनी शक्ति एवं ध्यान

K-5
1890

कुंडलिनी विग्रहा मां त्रिपुर सुंदरी

वाणीकोटि - मृदंगनादमदना - निश्रेणिकोटि - ध्वनिः,
प्राणेशी रसराशिमूलकमलोल्लासैक-पूर्णानना।
आषाढोद्भव-मेघवाज-नियुत-ध्वान्तानना स्थायिनी,
माता सा परिपातु सूक्ष्मपथगा मां योगिनां शंकरी॥

चमत्कारी कुण्डलिनी शक्ति एवं ध्यान योग

कुण्डलिनी शक्ति के रहस्यों को उजागर कर उसे जाग्रत करने की प्रयोगपरक जानकारी

जिस प्रकार समस्त पृथ्वी, वन, पर्वत आदि के आधार अहिनायक (विष्णु) हैं, उसी प्रकार समस्त योग और तंत्र का आधार कुण्डलिनी है।

पुराणों में अध्यात्म भाव को नारायण, पुरुष, शिव, ब्रह्म आदि कहा गया है। छांदोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जब पुरुष अथवा परमशिव ने एक से अनेक होने की इच्छा की तब प्रथम स्पंदन ''अहम्'' और द्वितीय ''इदम्'' हुआ। अध्यात्म भाव (ब्रह्म) में स्पंदन होने पर भूतभाव की निःसृति और भूतभाव से विसर्गभाव जागता है। यही सृष्टि का आरंभ है। यह विसर्गभाव ही प्रकृति अथवा शक्ति है। विष्णु को शेषशायी दिखाया गया है और शिव को सर्पभूषण कहा गया है। पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति के संयोग के प्रतीक हैं ये।

भारतीय ऋषियों ने इस पृथ्वी को शेषनाग के फन पर स्थित बताया है। यह सर्प शक्ति का प्रतीक है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है, *''ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्। देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्''*, अर्थात् अपने ही गुणों (सत्, रज, तम) से आच्छादित इस देवात्म शक्ति के दर्शन ऋषियों ने ध्यान द्वारा किए। यह देवात्म शक्ति, जिसे विष्णु की शय्या, शिव के आभूषण या पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग के रूप में चित्रित किया गया, मानव शरीर में कुण्डलिनी के रूप में स्थित है। यह शरीर इसी देवात्म शक्ति पर आधारित है।

इस पुस्तक को तैयार करते समय प्रयास रहा है कि सिद्धांत पक्ष के साथ ही इसके 'प्रैक्टिकल' पक्ष पर भी प्रकाश डाला जाए। लेकिन विषय गूढ़ है, इसलिए संभव है कि कहीं कोई पक्ष अछूता रह गया हो या फिर पारिभाषिक शब्दावली में उलझ गया हो। इसकी जानकारी आपके पत्रों द्वारा ही हमें मिल सकेगी।

—प्रकाशक

चमत्कारी कुण्डलिनी शक्ति एवं ध्यान योग

लेखक

सी. एम. श्रीवास्तव

ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष व रहस्यपूर्ण तथा
दुर्लभ विषय की पुस्तकों के अत्यन्त
चर्चित एवं सिद्धहस्त विद्वान लेखक

संवर्द्धक

काका हरिओ३म्

वेदांताचार्य (शां.वे.)
एम.ए. (मनोविज्ञान)

मनोज पब्लिकेशन्स

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रकाशक :
मनोज पब्लिकेशन्स
761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084
फोन : 27611116, 27611349 फैक्स : 27611546
मोबाइल : 9868112194
ईमेल : manojpublications@vsnl.net
वेबसाइट : www.manojpublications.com

शोरूम :
मनोज पब्लिकेशन्स
1583-84, दरीबा कलां, चांदनी चौक, दिल्ली-6
फोन : 23262174 (मो.) 9818753569

भारतीय कॉपीराइट ऐक्ट के अंतर्गत इस पुस्तक की सामग्री तथा रेखाचित्रों के अधिकार 'मनोज पब्लिकेशन्स, 761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-84' के पास सुरक्षित हैं, इसलिए कोई भी सज्जन इस पुस्तक का नाम, टाइटल-डिजाइन, अंदर का मैटर व चित्र आदि आंशिक या पूर्ण रूप से तोड़-मरोड़कर एवं किसी भी भाषा में छापने व प्रकाशित करने का साहस न करें, अन्यथा कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार वे स्वयं होंगे।

चेतावनी

पुस्तक में दी गई सामग्री का उद्देश्य पाठकों को विषय की जानकारी देना मात्र है। इसमें दी गई साधनाओं या प्रक्रियाओं को देते समय काफी सावधानी बरती गई है, लेकिन फिर भी यदि कहीं कोई त्रुटि या कमी रह जाती है तो उसके लिए लेखक-प्रकाशक किसी तरह से जिम्मेवार नहीं होंगे। प्रयोगात्मक पक्ष का प्रयोग अनुभवी व्यक्ति की देखरेख में ही करें।
किसी भी प्रकार के वाद-विवाद का न्याय क्षेत्र दिल्ली ही रहेगा।

संस्करण : 2004

मूल्य : 150/-

मुद्रक :
आदर्श प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

चमत्कारी कुण्डलिनी शक्ति एवं ध्यान योग : *सी. एम. श्रीवास्तव*

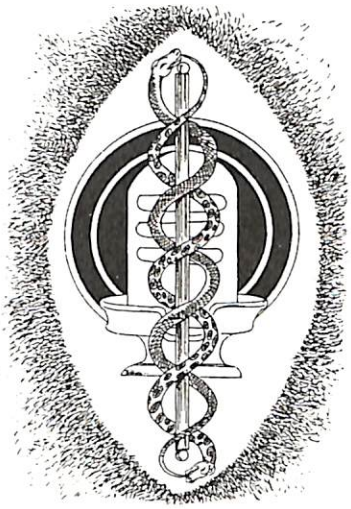

समर्पण

प्रकृति-पुरुष के उस अलौकिक सम्मिलन को
जो इस समस्त सृष्टि की स्वयं से संरचना कर
न तो जीने की जिज्ञासा को ही शांत करता है
और न ही बुझ जाने देता है
यही भटकाव भरी खोज है, जिसका परम सौंदर्यमय पक्ष
सत्यं, शिवं और सुंदरम् भी तो वही है।

भूमिका

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही अदृश्य एवं अलौकिक शक्तियों की चर्चा होती रही है। प्राचीन वेदों और उपनिषदों में अनेक स्थानों पर अदृश्य (अलौकिक) शक्तियों का उल्लेख किया गया है। उपनिषदों में योग के अनेक अंगों का उल्लेख करते हुए उनसे प्राप्त शक्तियों का परिचय दिया गया है। प्राचीन भारत में योग की एक अत्यंत श्रेष्ठ पुस्तक ''योगवाशिष्ठ'' में ऐसी अनेक कथाएं मिलती हैं, जिनमें अति सामान्य घटनाओं और शक्तियों का विवरण दिया गया है। इनमें वशिष्ठ की कथा, लीला की कथा, इन्दु के पुत्रों की कथा, इन्द्र और अहिल्या की कथा, जादूगर की कथा, शुक्राचार्य की कथा, बलि की कथा इत्यादि विभिन्न कथाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की अति सामान्य शक्तियों का उल्लेख किया गया है। वशिष्ठ की कथा में मानव शरीर ग्रहण कर लेने का उल्लेख है। लीला की कथा में अनेक अति सामान्य घटनाएं दी गई हैं। कर्कटी की कथा में अणिमा सिद्धि का उल्लेख है। इन्दु पुत्रों की कथा में इच्छा और संकल्प की अलौकिक शक्तियों का उल्लेख है। इन्द्र और अहिल्या की कथा में मन की शक्ति के द्वारा शारीरिक कष्टों पर पूर्णतया विजय प्राप्त करने का वृत्तान्त है। शुक्राचार्य की कथा यह बताती है कि इच्छा मात्र से नया जीवन कैसे प्राप्त किया जा सकता है। बलि की कथा में निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने की विधि बतलाई गई है। काकभुशुण्डि की कथा में असीम रूप-से लंबे और पूर्ण स्वस्थ जीवन की संभावना के बारे में बतलाया गया है। अर्जुन की कथा में भविष्य का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष दिखलाया गया है। शतरुद्र की कथा आत्मा के पुनर्जन्म में विचार और इच्छा की शक्ति दिखलाती है। शिकारी और साधु की कथा समाधि का अनुभव बतलाती है। इन्द्र की कथा लघिमा सिद्धि का उल्लेख करती है। विपरीत की कथा पुनर्जन्म का विचार और इच्छा शक्ति की जानकारी देती है। इन सब कथाओं के अतिरिक्त योगवाशिष्ठ में उपरोक्त अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने की विधियों की भी व्यापक चर्चा की गई है। इसमें यह बतलाया गया है कि कैसे मन को सर्वशक्तिमान बनाया जा सकता है। इसके लिए कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर प्राण का नियंत्रण, चित्त का शुद्धीकरण और नियंत्रण तथा आध्यात्मिक प्रकृति के साक्षात्कार का उल्लेख किया गया है। योगवाशिष्ठ में रहस्यमयी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की प्रक्रिया को विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

योग मार्ग की दो धाराएं प्रमुख मानी जाती हैं, जिनमें से एक चित्तवृत्ति निरोधमूलक है तो दूसरी शारीरिक क्रिया संपादन मूलक है। इन दोनों की प्रक्रियाएं भी दो प्रकार की हैं, जिनमें पहली है केवल प्रक्रिया प्रयोग और दूसरी है मंत्राराधन संयुक्त प्रक्रिया प्रयोग। जब योग साधक केवल शारीरिक क्रियाओं द्वारा ऐंद्रिय क्रियाओं को संयत बनाने का प्रयास करता है तो वह प्रथम कोटि का प्रकार माना जाता है और जब उस क्रिया के साथ-साथ इष्ट मंत्र अथवा तत्तद् स्थानों की अधिष्ठात्री शक्तियों का जप भी करता है तो वह द्वितीय कोटि के प्रकार में आता है।

आगम तंत्रों में जो योग कहा गया है, वह केवल योग नहीं, अपितु उसमें ''मंत्र-जप विधान'' की भी प्रमुखता है। उत्तरतंत्र इस दिशा में कई प्रकार की विशिष्ट योग साधना के निर्देश करता है। इसमें दिव्य, वीर और पशुभाव का विवेचन करते हुए महाभैरवी ने साधना क्रम का जो वर्णन किया है, उसमें सर्वप्रथम ''कुल कुण्डलिनी देवी'' का

स्तवन कहा है। तदनन्तर ''ब्रह्मविद्या'' का कथन करते हुए कुण्डलिनी शक्ति को ही ''वायवी शक्ति'' कहा है और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और पराशिव, इन छः देवताओं को ''षट्शंकर'' बतलाकर स्पष्ट किया है कि ये ब्रह्ममार्गरूप ''षट्चक्रमण्डल'' में विराजमान हैं और ये षट्चक्रों के अधश्चक्रों में ''आग्नेयी कुण्डली'' की स्थिति मानकर अमृतधाराओं से उसका तर्पण करते हैं। इसी प्रसंग में वैष्णव, याज्ञिक, धार्मिक एवं योगी के लक्षण भी दिखलाए हैं। योगी के बारे में कहा गया है कि—

कालज्ञाता, विधिवेत्ता, अष्टांगयोग, अवधूत, पुण्यात्मा, उत्तम कर्मकर्ता, पवित्र, निरभिलाष, धर्मात्मा, सरस्वती का कृपापात्र, छह आधारों का भेदक, ऊर्ध्वरेता, ब्रह्मचारी, आज्ञाचक्र की ओर उन्मुख, आज्ञाचक्र में स्थित वर्णों को धारण करने वाला तथा चित्त में वर्णमाला का जाप करने वाला भावुक योगी होता है। ऐसा योगी ऊर्ध्वाधः क्रमयोग से कुण्डलिनी को चैतन्य करता है। इन्द्रियरोध, षट्चक्रों का वेध, प्राणायाम की पूरक, कुंभक और रेचकादि प्रक्रियाएं, चक्रों की अधिष्ठात्री देव-देवियां तथा चक्रों के वर्णादि का विस्तृत विवरण यहां अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

उत्तरतंत्र का अभिमत है कि—''अथर्ववेद से तमोगुण रूप सामवेद उत्पन्न हुआ, सामवेद से सत्त्वगुण रूप यजुर्वेद उत्पन्न हुआ तथा यजुर्वेद से रजोगुण रूप ऋग्वेद उत्पन्न हुआ।'' अतः अथर्व में ही सभी वेद, जलचर, खेचर और भूचर निवास करते हैं तथा ''महाविद्या, विद्या'' और ''कुलविद्या'' भी इसी में विराजमान हैं।

इसी अथर्ववेद-चक्र में कुण्डलिनी परदेवता स्थित है। इस रहस्यमयी कुण्डली महाशक्ति की महिमा अपार है। यह वायवी शक्ति के रूप में जब बाहर जाती है तो आयु का क्रमशः क्षरण होता है और जब प्राणायामादि के द्वारा इसे रोकते हुए आग्नेयी शक्ति के रूप में अंतर्निरोध होता है तो वह सोममण्डल सहस्रार स्थित अमृत का पान करने के लिए उन्मुख होता है। यह अमृतपान की स्थिति ही परमसिद्धि है।

प्रस्तुत पुस्तक में ''रहस्यमयी कुण्डलिनी शक्ति'' के प्रत्येक अंग का सविस्तार विवरण दिया गया है। आशा है 'मनोज पब्लिकेशन्स' की पुस्तकों के पाठक इस पुस्तक से भी अवश्य लाभान्वित होंगे तथा गुरुकृपा से प्रयास करके कुण्डलिनी शक्ति का व्यक्तिगत रूप से अनुभव कर प्रसुप्त अनंत संभावनाओं को जाग्रत करने में सफल होंगे।

सी. एम. श्रीवास्तव

3192, ब्लॉक-के/3,
शास्त्री नगर, मेरठ।

विषयानुक्रम

1. **कुण्डलिनी परिचय** 11-14

2. **कुण्डलिनी के आधार** 15-52

❑ यम अर्थात् निषेधात्मक आदेश ❑ नियम : सकारात्मक आदेश ❑ धौति क्रिया ❑ कुंजल क्रिया या गजकरणी ❑ बस्ति क्रिया ❑ नौलि क्रिया ❑ कपालभाति ❑ आसन : शरीर सिद्धि ❑ पवन मुक्तासन अथवा रॉक एण्ड रोल ❑ हलासन ❑ भुजंगासन ❑ सर्वांगासन ❑ धनुरासन ❑ उष्ट्रासन ❑ गोमुखासन ❑ पश्चिमोत्तानासन ❑ पूर्णोत्तानासन ❑ मयूरासन ❑ अर्ध मत्स्येन्द्रासन ❑ शशांकासन ❑ चातकासन ❑ उत्तानपादासन ❑ प्राणायाम : प्राणसिद्धि की विशेष क्रियाएं ❑ पूरक एवं रेचक क्रियाएं ❑ प्रत्याहार : अर्थात् लौटाना ❑ धारणा : दर्शन व ग्रहण करने की सामर्थ्य ❑ धारणा की प्राप्ति कैसे हो ? ❑ धारणा-शक्ति का अभ्यास ❑ दृष्टि-शक्ति का ज्ञान ❑ धारणा सिद्धि से आनंद की अनुभूति ❑ ध्यान अर्थात् एकरस होना ❑ समाधि : स्वरूप शून्यता का दूसरा नाम

3. **कुण्डलिनी रहस्य** 53-62

❑ बंधों का परिचय ❑ उड्डीयान बंध ❑ जालंधर बंध ❑ कुण्डलिनी जागरण में बंधों का महत्त्व ❑ यौगिक क्रिया 'मूलबंध' ❑ मूलबंध की विधि

4. **मुद्राएं और कुंडलिनी** 63-85

❑ मुद्रा चिकित्सा रहस्य एवं प्रयोग ❑ पंच तत्त्व नियंत्रक मुद्राएं कैसे बनाई जाती हैं ? ❑ ज्ञान मुद्रा ❑ वायु मुद्रा ❑ आकाश मुद्रा ❑ शून्य मुद्रा ❑ पृथ्वी मुद्रा ❑ सूर्य मुद्रा ❑ वरुण मुद्रा ❑ अपान मुद्रा ❑ प्राण मुद्रा ❑ अपानवायु मुद्रा ❑ शंख मुद्रा ❑ सहज शंख मुद्रा ❑ लिंग मुद्रा ❑ ध्यान मुद्रा ❑ मुद्रा-विज्ञान : एक नजर में ❑ योनि मुद्रा ❑ अश्विनी मुद्रा ❑ बज्रौली मुद्रा ❑ शक्तिचालिनी मुद्रा ❑ तड़ागी मुद्रा ❑ माण्डवी मुद्रा ❑ शाम्भवी मुद्रा ❑ पंचधारणा मुद्रा ❑ पाशिनी मुद्रा ❑ काकी मुद्रा ❑ मातंगिनी मुद्रा ❑ भुजंगिनी मुद्रा ❑ मुद्राओं की आकृतियां ❑ योगमुद्रा ❑ विपरीतकरणी

5. **कुण्डलिनी उपासना का मार्ग** 86-90

6. **योग साधक एवं साधना** 91-95

7. **चक्र, बीजाक्षर एवं देह-आत्मा का रहस्य** 96-102

❑ लिपि का नामकरण ❑ शिव और शक्ति ❑ शरीरस्थ स्थित चक्र का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ❑ शरीर की नाड़ियां ❑ देह और आत्मा का विचार ❑ सूक्ष्म देह और लिंग देह ❑ कारण देह ❑ चिन्मय देह ❑ कुण्डलिनी साधन योगचक्र

8. **मूलाधार चक्र** 103-106

9. स्वाधिष्ठान चक्र 107-110
10. मणिपूर चक्र 111-114
11. अनाहत चक्र 115-117
12. विशुद्ध चक्र 118-120
13. आज्ञा चक्र 121-124
14. सहस्त्रार चक्र 125-128
15. कुण्डलिनी जागरण का चक्र भेदन क्रम 129-137
❑ योगमार्ग द्वारा परमात्मा में स्थित होना
16. रहस्यात्मक शक्तियों का उदय 138-151
❑ कुण्डलिनी साधना से संबंधित विशेष जानकारी ❑ कुण्डलिनी का प्रशस्त मार्ग ❑ सप्तचक्रों से प्रभावित साधक ❑ चक्रों का ध्यान-पूजन ❑ सप्तवारों में सप्तचक्रों का ध्यान-पूजन ❑ कुण्डलिनी जाग्रति का स्थान और उसका प्रभाव ❑ अनुकूल स्थान ❑ निषिद्ध स्थान ❑ शिष्य/ गुरु के अनिवार्य गुण ❑ श्री गुरु उपासना ❑ श्री गुरु उपासना के प्रकार ❑ गुरु-पूजा विधान
17. शारीरिक चक्र और उनकी साधना 152-153
18. कुण्डलिनी साधना के कुछ स्त्रोत 154-157
❑ न्यासविद्या एवं मुद्राओं की महिमा
19. कुण्डलिनी मंत्र, जप-विधि और स्तोत्र 158-160
❑ विनियोग ❑ ऋष्यादिन्यास ❑ कर-हृदयादिन्यास ❑ ध्यान ❑ कुण्डलिनी-स्तोत्राष्टकम्
20. कुण्डलिनी साधना में अजपा-जप विधि की महत्ता 161-162
21. यौगिक साधना की पूर्ति 163-165
❑ पंचबालक ❑ षट्कुमार ❑ सप्तबालक ❑ महामंत्र ❑ विनियोग ❑ ऋष्यादिन्यास ❑ कर-षडंगन्यास ❑ ध्यान
22. कुण्डलिनी जागरण में श्रीविद्या का महत्त्व 166-171
❑ उद्घाटन-कवच ❑ कवच-पाठ ❑ बाह्यपूजा विधान ❑ संक्षिप्त यंत्र पूजा ❑ ध्यानम्
23. पंचामरा योग 172-173
❑ पंचतिक्त प्रयोग
24. नाभि-चक्र का जागरण 174-175
25. छठी इन्द्रिय की शक्ति 176-177
❑ कुण्डलिनी के चक्र ❑ छठी इन्द्रिय शक्ति का ज्ञान
26. शरीरस्थ मंत्राक्षर 178-184
❑ महामृत्युंजय मंत्र ❑ कुण्डलिनी चक्रों में मंत्रगत वाक्यों के अर्थ ❑ मंत्रस्वरूप, अर्थ एवं तात्पर्यार्थ ❑ मृत्युंजय मंत्र द्वारा मणिपूर चक्र भेदन ❑ रुद्राणी का ध्यान ❑ रुद्र का ध्यान
27. कुण्डलिनी के संबंध में सावधानियां 185-186
28. विशिष्ट-परिशिष्ट 187-221

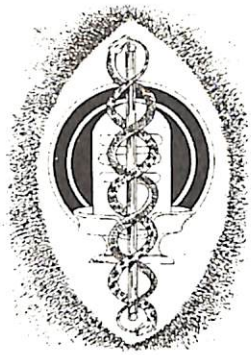

नि:श्वास : एक

कुण्डलिनी परिचय

मानव का शरीर देव-मंदिर है तथा उसमें इष्टदेव का चिर निवास है, किन्तु अज्ञानवश हम उसे जानने में असमर्थ रहते हैं। इष्टदेव की अपारशक्ति को अपनी क्रिया-शक्ति के द्वारा पहचानने और उसकी सुषुप्ति को चैतन्य बनाकर आत्मकल्याण के लिए पूर्वाचार्यों ने अनेक मार्ग खोज निकाले हैं जिनमें एक मार्ग है, ''कुण्डलिनी शक्ति की साधना।''

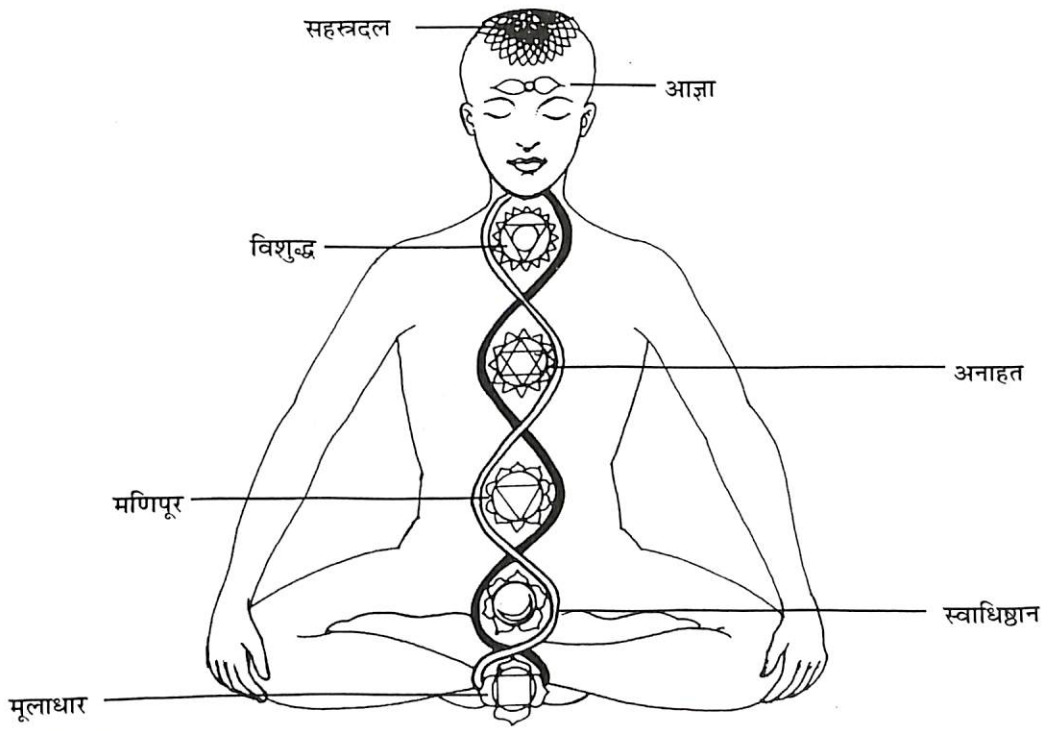

कुण्डलिनी शक्ति का निवास ''मूलाधार चक्र'' में बताया गया है। यह मूलाधार चक्र रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले छोर में है, जिसे आधुनिक शरीर विज्ञान में ''गुदास्थि'' कहा जाता है। तंत्र-ग्रंथों में इसका जो उल्लेख मिलता है, उसमें कहा गया है कि यहां स्वयंभूलिंग है, जहां साढ़े तीन कुण्डल मारकर कुण्डलिनी शक्ति सोयी पड़ी है। उसका सिर स्वयंभूलिंग के सिर पर है और वह अपनी पूंछ को अपने मुख में डाले हुए है। हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि इस शक्ति का निवास ''योनिस्थान'' में है। कुछ अन्य का मत है कि यह त्रिकास्थि और गुदास्थि के मध्य के त्रिकोण में निवास करती है।

कुण्डलिनी के निवास स्थान के बारे में एक सर्वमान्य और निश्चित मत यह है कि यह मूलाधार चक्र में आसीन है। प्रत्येक व्यक्ति का शरीर उसके अपने अंगुल से 96 अंगुल होता है। मूलाधार चक्र इस शरीर-यष्टि के मध्य में अर्थात् 48वें अंगुल पर है। योगी या साधक जब इस शक्ति को जगा देता है तब कुण्डल खुल जाते हैं। बंधन कटने लगते हैं और ऊर्ध्वगति आरंभ हो जाती है।

ऋग्वेद में इस शक्ति को ''वाक्'' कहा गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इस शक्ति ने अपना परिचय देते हुए कहा है, ''मैं रुद्रों, वसुओं और आदित्यों के साथ विहार करती हूं। वरुण, मित्र, इंद्र, अग्नि आदि को मैं ही उठाए हुए हूं।''

कुण्डलिनी शक्ति को कुल कुण्डलिनी, भुजंगिनी, सर्पिणी, प्रचण्डशक्ति, मूलाधार निवासिनी, वलयाकार सर्पिणी, विद्युत, अग्निमय, मुक्तशक्ति, महादेवी, सप्तचक्र भेदिनी, विश्वशक्ति, विद्युत प्रवाह रूपिणी, सर्व सौंदर्य शालिनी, सर्व सुख दायिनी, कुण्डले, अपराजिता, विषतंतुस्वरूपा, मूलविद्या, कुटिलरूपिणी, नव शक्ति समन्विता, शक्ति चालिता, अधोमुख सर्पिणी, कुण्डलिनी आदि नामों से संबोधित किया गया है। तंत्र में इसे ''वागेश्वरी'' कहा गया है, ''स्वर की उत्स, हे कुण्डलिनी तुम्हीं हो; (पंचाष्टवी)।'' ऋग्वेद में यह वाग्देवी स्वयं घोषित करती है, ''मैं जिसे चाहती हूं उसे महान शक्तिशाली, संत, ऋषि और ब्रह्म बना देती हूं।''

अपना परिचय देते हुए वैदिक मंत्र में वाग्देवी (कुण्डली) ने आगे कहा है, ''ईश्वर या पिता शीर्षस्थ हैं जिन तक मेरी पहुंच है और मेरा निवास समुद्र में है।''

इस प्रकार योग, तंत्र, पुराणों आदि में जिस कुण्डलिनी का उल्लेख है, उसकी वास्तविकता और महत्त्व को भारतीय ऋषियों ने सृष्टि के आदि काल से स्वीकार किया।

''मिस्टीरियस कुण्डलिनी'' की भूमिका में सर जान वुडरफ ने लिखा है कि यह ''महाशक्ति'' है। जब यह जाग जाती है, तब इसकी ऊर्ध्वगति आरंभ हो जाती है और एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में लीन करती हुई यह परम शिव से जा मिलती है। षट्चक्र निरूपण में कहा गया है—

मेरोर्बाह्य प्रदेशे शशिमिहिर शिरे सव्यदक्षे निषण्णे
मध्ये नाड़ी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।

मेरु की दाहिनी ओर सूर्य नाड़ी और बायीं ओर चन्द्र नाड़ी है। मध्य में सुषुम्ना है जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूपा है।

योग में सूर्य नाड़ी को इड़ा और चन्द्र नाड़ी को पिंगला कहा गया है। ''मिस्टीरियस कुण्डलिनी'' के अंग्रेज लेखक डॉक्टर रेले ने योग में वर्णित षट्चक्रों—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र—का स्थान आधुनिक शरीर विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार निश्चित किया है—श्रोणि जालिका, अधोजठर जालिका, सौर जालिका, हृदीय जालिका, ग्रसनी जालिका और नासारोमक जालिका।

योगियों के अनुसार सुषुम्ना गुदास्थि की त्रिकोणीय पीठ पर टिकी है। योगशास्त्रों में इसी स्थल को ''ब्रह्माण्ड'' का द्वार बताया है। गुदास्थि और त्रिकास्थि के सामने की मूलाधार शिरा और उसके ऊपर की पेशी का आकार अंडे जैसा है, जिसे ''कंड'' कहते हैं। इसी कंड के केन्द्र में कुण्डलिनी शक्ति सोयी पड़ी है।

योग में जिन छह चक्रों का उल्लेख है, वे भी सुषुम्ना नाड़ी में स्थित हैं।

योगशास्त्रों में सिर के ऊर्ध्व भाग में चंद्रमा का स्थान है, जिसे 'सहस्रार' कहा गया है। चंद्रमा से अमृत टपकता रहता है। यह अमृत शरीर में शक्ति के रूप में रहता है। नाभि-मंडल में सूर्य का निवास है। सूर्य और चंद्र दोनों अधोमुखी हैं। सूर्य इस अमृतमयी शक्ति को जलाता और नष्ट करता रहता है। योगदर्शन सूत्र और वाचस्पति भाष्य में कहा गया है, ''सूर्यद्वारे सुषुम्नायाम् नाड्यां।''

अन्तरिक्षगतो वह्निर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः
नभस्थ सूर्यरूपोऽग्निर्नाभिमण्डल आश्रितः
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्त्रवत्यमृतमुन्मुखः
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधावर्षत्यधोमुखः।

आकाश में चमकने वाली विद्युत (बिजली) के समान इस शरीर के अंदर भी एक अग्नि है। आकाश में स्थित सूर्य के समान ही नाभि-मण्डल में एक सूर्य है। यह सूर्य विष टपकाता रहता है। लेकिन, जब उसे ऊर्ध्वमुखी कर दिया जाता है, तब इससे अमृत झरता है। तालुमूल में चंद्र स्थित है, जो अधोमुखी है और जिससे हमेशा अमृत बरसता रहता है।

जो प्राणधारा अधोमुखी होकर क्षीण होती रहती है, कुण्डलिनी के जागते ही अधोमुखी सूर्य ऊर्ध्वमुखी हो जाने से अमृत की वर्षा होने लगती है। इसके बाद कुण्डलिनी की भी ऊर्ध्वगति आरंभ हो जाती है। सुषुम्ना नाड़ी से होकर यह शक्ति सहस्त्रार की ओर बढ़ने लगती है। सुषुम्ना का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सुषुम्ना जननी मुख्या पंकज तन्तुवत्
सुषुम्ना मध्यदेशे तु वज्राख्या नाड़ी वैशुभा
तत्र सूक्ष्मा हि चित्रिणी तत् श्रीकुण्डली गतिः
तथा संग्राह्य तं नाड्या षट्पद्म सुमनोहरम्।

जननी सुषुम्ना कमल नाल जैसी है। उसकी भीतरी नाड़ी को वज्रा कहा जाता है। इसके भीतर चित्रिणी नाड़ी है, जिससे कुण्डलिनी शक्ति संचरित होती है। इसी चित्रिणी में षट्चक्र है।

कुण्डलिनी शक्ति जब ऊर्ध्वगामी होती है, तब ये चक्र खुलने लगते हैं। योग में इसे ही ''चक्र वेध'' कहा गया है।

कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए भारतीय ऋषियों ने कई उपाय बताए हैं। जैसे—हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, लययोग एवं सिद्धियोग आदि। कुण्डलिनी न जागने और प्रकृति तथा पुरुष अथवा शक्ति और शिव का संयोग न होने तक जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है। जब यह योग हो जाता है, तब अमरत्व या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुराणों में एक कथा है—शिव के गले में मुंडों की माला देखकर शिवा ने पूछा कि ये मुंड किसके हैं और इन्हें आप क्यों धारण किए हुए हैं? शिव ने उत्तर दिया, पार्वती तुम कई बार जन्मी और मृत्यु को प्राप्त हुईं। ये मुंड तुम्हारे ही हैं और सूचित करते हैं कि तुम्हारे कितने जन्म हुए। शिवा ने यह सुनकर अमरत्व की इच्छा प्रकट की और शिव ने उन्हें मंत्र दिया।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही कहा है कि हे अर्जुन, तुम्हारे अनेक जन्म हुए, तुम यद्यपि मेरे ही अंश हो तथापि तुम इस ज्ञान को भूल गए हो। तुम्हें यह याद नहीं। मैं अब तुम्हें यह ज्ञान देता हूं।

शिव और शक्ति का मिलन और फिर उनका कभी वियोग न होना ही अमरत्व है। वेदों ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है, ''उसको जानकर ही मृत्यु को पार किया जा सकता है, इसका और कोई उपाय नहीं।''

चतुर्विधा सा संदिष्टा क्रियावत्यादि भेदतः
क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि॥

अर्थात् क्रिया भेद से कुण्डलिनी निम्न चार प्रकार से प्रकट होती है—

- ❑ क्रियावती
- ❑ वर्णमयी

- ❑ कलात्मा
- ❑ वेधमयी

''सूक्ष्मां सूक्ष्मतरा शक्तिं, भित्वां षट्चक्रमान्जसा।
गच्छन्ति मध्यमार्गेण दिव्यां पर शिवावधिम्॥

जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना मार्ग से षट्चक्रों को वेधती हुई शिव से जा मिलती है। शंकराचार्य ने ''आनंद लहरी'' में इसका वर्णन यों किया है—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहम्
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाशमुपरि
मनोऽपिभ्रूमध्ये सकलमपि भित्वाकुलपथम्
सहस्त्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि।

कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र से उठकर मणिपूर चक्र से होती हुई हृदयाकाश और भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र) को पार करती हुई सहस्त्रार में अपने पति शिव के साथ विहार करती है।

❑❑

नि:श्वास : दो

कुण्डलिनी के आधार

''कुण्डलिनी'' एक ऐसी शक्ति है, जिसका अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता। यह शक्ति हमारे अपने शरीर में सोयी हुई अवस्था में विद्यमान है तथा जिसकी शक्ति का अनुभव करने के लिए, उसे जाग्रत करना होता है। कुण्डलिनी प्रकृति की सर्वोपरि ऊर्जा शक्ति है। यह शक्ति सुप्तावस्था में मूलाधार चक्र की जड़ में स्वयंभूलिंग के साढ़े तीन चक्कर लगाकर, नीचे की ओर मुख करके और अपनी पूंछ अपने मुख में धारण किए हुए स्थित है। यह शक्ति सुप्तावस्था में भी अपना कुछ कार्य तो अवश्य ही करती रहती है, क्योंकि यह ऊर्जा-शक्ति है जो शरीर को चलायमान रखती है। इस ऊर्जा-शक्ति को ही ''कुण्डलिनी शक्ति'' के रूप में जाना जाता है।

कुण्डलिनी शक्ति निरंतर ध्यान, एवं साधना करने, देवकृपा और गुरु द्वारा शक्तिपात करने से भी जाग्रत होती है। कितने ही प्राचीन ऋषियों (साधकों) ने साधना के मार्ग पर विधिवत् चलकर, प्राणों को शुद्ध और एकाग्र करके, दृढ़ संकल्प द्वारा रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले भाग में, मूलाधार चक्र के जड़ में ध्यान को ले जाकर, दृढ़ मूलबंध-साधन की क्रिया करते हुए कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया है।

कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का शक्तिपात भी एक अत्यंत चमत्कारी मार्ग है जो केवल योग्य गुरु के द्वारा ही संभव है (स्वामी विवेकानंद को स्वामी परमहंसजी ने अपना पग स्पर्श करके शक्तिपात का अनुभव कराया था। इसी शक्तिपात द्वारा स्वामी विवेकानंद की कुण्डलिनी जाग्रत हुई थी)। यह शक्तिपात ब्रह्मविद्या के पारंगत गुरुजनों के द्वारा ही हो सकता है। कुण्डलिनी जागरण के कारण ही स्वामी विवेकानंद में एक अनोखी प्रतिभा, ओज, तेज का प्रादुर्भाव हुआ और उससे संसार भर के लोग प्रभावित हुए।

उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्तिपात के द्वारा साधक की महान ऊर्जा-शक्ति को जगाया जा सकता है। शक्तिपात के द्वारा कुण्डलिनी जागरण का यह विचित्र और प्रशस्त मार्ग है।

योगशास्त्र की समस्त प्रक्रियाओं को योग्य सद्गुरुओं से ठीक-ठीक समझकर, विधिवत् साधना और अभ्यास करने से भी कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है। इस शास्त्रोक्त विधि से कुण्डलिनी साधना करने वाले साधकों की संख्या कुछ अधिक ही है। ऐसे अनेक गुरुजन समय-समय पर प्रकाश में आते रहे हैं, जिन्होंने अपने मार्गदर्शन (निर्देशन) में असंख्य साधकों को कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का ज्ञान प्रदान किया। महर्षि वशिष्ठ ने अत्यधिक विस्तार से यह विद्या श्री लक्ष्मणजी को सिखाई थी।

योगवाशिष्ठ में कुण्डलिनी शक्ति के बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तुत है। योगी के शरीर में कुण्डलिनी शक्ति चक्राकार रूप में चलती है। वक्र गति से चलने के कारण इसकी गति कई गुणा बढ़ जाती है। इसकी गति बहुत तीव्र है तथा यह 3 लाख 45 हजार मील प्रति सेकंड की गति से चलती है अर्थात् इसकी गति प्रकाश की गति से भी बहुत अधिक है। कुण्डलिनी शक्ति आणविक शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली है। इसके जागरण से परमाणु शक्ति की भांति महान ऊर्जा-शक्ति का प्राकट्य होता है।

जिस प्रकार परमाणु शक्ति को विध्वंस कार्यों में प्रयोग न करके लोक कल्याण के कार्यों में लगा देने से अनगिनत लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को लोक कल्याण, समाज कल्याण के निमित्त प्रयोग किया जाए, तो बड़े-बड़े असाध्य कार्य सरलता से किए जा सकते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का मार्ग अत्यंत दुष्कर है, किन्तु यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अवलंबन लेकर इस दुष्कर मार्ग पर अग्रसर होकर सफलता प्राप्त की जा सकती है।

यम अर्थात् निषेधात्मक आदेश

योग की साधना के लिए सबसे पहले शरीर की साधना आवश्यक है। रोगी व्यक्ति योग नहीं कर सकता। योग के लिए नीरोग शरीर आवश्यक है। अस्तु, योगशास्त्र के आचार्यों ने सबसे पहले यम का आदेश दिया है। यम का योग सूत्र से पूर्व उपनिषदों में भी उल्लेख किया गया था। यम निषेधात्मक आदेश हैं। उपनिषदों में आध्यात्मिक साधना के लिए यमों का पालन आवश्यक माना गया है। योगी के विषय में बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने लिखा है, ''जो मनुष्य आहार-विहार से युक्त है, श्रम करने से युक्त है, सोने और जागने से युक्त है, उसके दु:खों का नाश हो जाता है।''

अष्टांग योग का प्रथम अंग ''यम'' है। इनकी संख्या के विषय में योगाचार्यों के विभिन्न मत हैं। कोई बारह प्रकार के यम मानते हैं तो कोई दस प्रकार के। महर्षि कपिल ने यमों की संख्या केवल पांच मानी है। बारह यम मानने वाले आचार्य के अनुसार—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो हीरसंचय।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यक्षमाऽभयम्॥

(भाग. 33/20/23)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, लज्जा, संग्रह न करना, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय। जो विद्वान दस प्रकार से यम मानते हैं, उनके अनुसार भेद यह हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य क्षमा धृतिः।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच; यह दस प्रकार के यम हैं।

महर्षि पंतजलि के अनुसार, *''अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः''*, अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; ये पांच यम हैं।

उपरोक्त तीनों मतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य—ये समान रूप-से हैं, इसलिए सर्वप्रथम इन पर ही प्रकाश डालेंगे।

अहिंसा—मन, वाणी और शरीर से कभी प्राणी को संतप्त न करना ''अहिंसा'' है।

मानसिक अहिंसा—मन को हिंसा में प्रवृत्त न होने देना मानसिक अहिंसा कही जाएगी। शास्त्रकारों ने वैरागी, संन्यासी और योगी के लिए यह आचरण निर्धारित किया है कि वह किसी के द्वारा अपमानित होने पर भी उसके अपकार का विचार न करे।

वाचिक अहिंसा—कठोर वाणी हथियार से भी गहरा घाव करती है। हथियार से चाहे किसी मर्म स्थान का छेदन हो या न हो, किन्तु वाणी तो हृदय को छेद ही डालती है। इसलिए योग साधक को कटु शब्द न बोलने का निर्देश शास्त्रों में मिलता है और यही ''वाचिक अहिंसा'' है।

शारीरिक अहिंसा—शरीर से किसी प्रकार की हिंसा न हो, उसे ''शारीरिक अहिंसा'' कहते हैं। किन्तु यह तभी संभव है, जबकि मानसिक और वाचिक अहिंसा का अभ्यास दृढ़ हो जाए।

सों शरीर का काज कों, हने जु औरु सरीर।
परसेवा हित जो रहै, यन्न-यन्न सो वीर॥

भावार्थ यह है कि दूसरों को शारीरिक रूप-से क्षति पहुंचाने वाले मनुष्य का शरीर भी व्यर्थ है, क्योंकि दूसरों की सेवा में हिंसा नहीं रहती। इसलिए साधक को सदा परहित चिंतन में लगा रहना चाहिए, जिससे कि शारीरिक हिंसा के लिए विचार ही उत्पन्न न हो सके।

सत्य—यम का दूसरा भेद सत्य है। मन, वाणी और कर्म तीनों में समान रूप-से यथार्थ का व्यवहार करना ही ''सत्य'' कहलाता है।

मानसिक सत्य—मन को असत्य से हटाकर यथार्थ कर्म करने का निर्णय लेना ही ''मानसिक सत्य'' है।

वाचिक सत्य—सत्य बोलना श्रेयस्कर है, किन्तु सत्य भी हितकर ही बोलना चाहिए। जिस सत्य में जीवों का अहित निहित हो, उस सत्य को भी न बोलें। सत्य भाषण में अनेक सिद्धियां समाविष्ट हैं। महाभारत का प्रसंग है कि युधिष्ठिर की सत्यसिद्धि के प्रभाववश उनके रथचक्र धरती का स्पर्श न करके कुछ उठे हुए रहते थे। किन्तु उनके मुख से, ''अश्वत्थामा हत: नरा वा कुंजरो वा'', अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया, पता नहीं वह मनुष्य था या हाथी निकलते ही वह रथचक्र धरती पर जम कर चलने लगे, क्योंकि युधिष्ठिर का उक्त वचन सत्य नहीं था। वे जानते थे कि जो अश्वत्थामा मारा गया, वह मनुष्य नहीं बल्कि हाथी था। इसका प्रभाव द्रोणाचार्य के लिए कष्टदायक हुआ, इसलिए युधिष्ठिर की वाणी की सत्य की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। इससे सिद्ध हुआ कि *''सत्यादपि हितं वदेत्''* में वाचिक सत्य की पूर्ण सार्थकता है और साधकों को इसी के अनुसार आचरण करना चाहिए।

नागरिक सत्य—मन से सोचा हुआ सत्य वाणी या शरीर से क्रियान्वित हो सकता है। यदि मन से सत्य को स्वीकार करते हुए भयवाणी से असत्य बोलने लगें अथवा शरीर से असत्य का आचरण करने लगें तो सत्य मन से स्वीकार करना भी व्यर्थ ही होगा। इसलिए शास्त्र ने स्पष्ट रूप-से *''मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्''* कहकर मन, वचन, कर्म की एकता का होना ही प्रशस्त माना है।

कुछ विद्वान धर्म को सत्य मानते हैं तो कुछ कर्तव्य को, किन्हीं के मत में कर्तव्य और धर्म भी सत्य के ही पर्याय हैं। साधारण व्यक्ति भी सत्य की महत्ता और सत्ता को स्वीकार करने में आनाकानी नहीं करता। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि ''धरती सत्य पर ही टिकी हुई है।'' ऐसी मान्यता होने के कारण ही विवेकी पुरुष असत्य से डरते हैं। इसलिए नीति का यह वचन व्यावहारिक सिद्ध होता है कि *''न्यायात् पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा: ''* अर्थात् न्याय से सिद्ध हुए मार्ग से हटकर तो धीर पुरुष अपने पांव भी नहीं रखता। वह न्याय से सिद्ध मार्ग सत्य आचरण ही है। उस आचरण से हटने वाला योगाभ्यासी भ्रष्ट हो जाता है और उसे कभी किसी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। ऋषियों का मत है कि असत्य बोलकर धन तो प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु जीवन का लक्ष्य कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

मुमुक्षु साधकों और योगियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सत्य का अन्वेषण करना चाहिए। जो असत्य है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। इसलिए सत्य के भ्रम में असत्य को ग्रहण करना कदापि श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हो सकता।

अस्तेय—जिस पदार्थ पर अपना अधिकार नहीं, उसका त्याग करना ही ''अस्तेय'' है। किसी प्रकार से भी पराया धन, स्त्री, भूमि आदि को हड़प लेना आदि स्तेय के अंतर्गत आते हैं। जाबालदर्शनोपनिषद् में इसके लक्षणों पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

अन्यदीये तृणेरत्ने कांचने मौक्तिकेऽपि च।
मनसा विनिवृत्तायां तदस्तेयं विदुर्बुधाः॥
आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहार विवर्जितम्।
यत्तदस्तेयमित्युक्तं आत्मविद्भिर्महामते॥

अर्थात् पराए धन, रत्न, मणि, मुक्ता, स्वर्णादि किसी भी छोटी-बड़ी वस्तु पर मन न चलाने रूप अचौर्य को ही विद्वान पुरुष अस्तेय कहते हैं अथवा संसार के सभी व्यवहारों में अनात्म बुद्धि रखते हुए उन्हें आत्मा से भिन्न समझना भी ज्ञानी और महान मति वालों के अनुसार अस्तेय ही है।

मानसिक अस्तेय—दूसरे की वस्तु को अनधिकृत रूप-से लेने का विचार मात्र ही स्तेय है, जिससे बचना ही मानसिक अस्तेय में सहायक सिद्ध हो सकता है।

वाचिक अस्तेय—किसी के द्वारा चोरी, डाका, उठाईगिरी या अन्याय प्रकार से पराया धन हड़पने की योजना में वाणी से सहमति प्रकट करना या उसे उत्साहित करना ''वाचिक अस्तेय'' है।

कायिक अस्तेय—शरीर को किसी ऐसे कार्य में लगाना, जिसमें पराई वस्तु की प्राप्ति निहित हो, ''कायिक अस्तेय'' कहलाता है।

अपरिग्रह—अपरिग्रह से तात्पर्य धन का संग्रह न करना है। धन का संग्रह न करने का अर्थ केवल आवश्यकतानुसार ही वस्तुएं रखना भी है। अनावश्यक वस्तुएं जुटाना परिग्रह है जो उचित नहीं है। अपरिग्रह का एक अन्य अर्थ केवल न्यास से प्राप्त धन को ही लेने के अर्थ में लिया गया है। इसी को गौतम बुद्ध ने सम्यक् आजीव नाम से उपस्थित किया है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य से तात्पर्य ब्रह्म के अनुसार चर्या है। उसमें केवल संतानोत्पत्ति के हेतु ही संभोग को उचित माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले युवक-युवती के लिए सब प्रकार के भोग-विलास का निषेध है।

ब्रह्मचर्य का पालन शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी बहुत आवश्यक है। शारीरिक दृष्टि से इसलिए कि इसके द्वारा वीर्य की रक्षा होने से बल का ह्रास नहीं हो पाता।

मानसिक ब्रह्मचर्य—मन के द्वारा ब्रह्मचर्य के विपरीत बातों को सोचना, जिसमें किसी नारी का चिंतन करना या उससे संबंधित घटनाओं को याद करना आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार के चिंतन या स्मरण का त्याग करने से ही ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा हो सकती है। अन्यथा मन में जमा हुआ विकार मनुष्य के पतन का कारण बन जाता है। इस विषय में मनु का कथन इस प्रकार है—

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिनिन्द्रयग्रामो विद्वान्समपि कर्षसि॥

अर्थात् माता, बहन और पुत्री के साथ भी एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय-समूह इतना बलवान है कि विद्वान पुरुषों को भी खींच लेता है।

इसलिए मन को पवित्र रखना चाहिए, तभी मानसिक ब्रह्मचर्य अक्षुण्ण रह सकता है।

वाचिक ब्रह्मचर्य—वाणी को ब्रह्मचर्य के अनुरूप प्रयोग में लाना ''वाचिक ब्रह्मचर्य'' है। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्रियों से संबंधित चर्चा नहीं करनी चाहिए। उनसे आमोद-प्रमोद, रहन-सहन, हाव-भाव, रूप-लावण्य आदि का वर्णन करने या सुनने से कामोत्तेजना बढ़ती है और ब्रह्मचर्य का खण्डन होता है। इसलिए अनुभवी महर्षियों ने इसका सर्वथा निषेध किया है।

कायिक ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन की निर्भरता बहुत कुछ शरीर पर भी है। मन या वाणी से किसी प्रकार की भूल या उच्छृंखलता हो जाने पर भी शरीर को उसमें प्रवृत्त न करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है।

इसलिए विज्ञजन इसका एक भेद कायिक अथवा शारीरिक भी मानते हैं। प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्मचर्य-रक्षा पर कम विचार नहीं किया है। उनके अनुभवों का निचोड़ श्रुति-स्मृतियों में भरा पड़ा है। जो लोग उनके उपदेशों के अनुसार आचरण करते हैं, वे ही उसका पूरा लाभ उठा सकते हैं।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पकेध्यवसायश्च किगानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम्॥

स्मरण, कीर्तन, केलि, दर्शन, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और समागम—यह आठ अंग मैथुन के ऋषियों ने कहे हैं। इन आठों के विपरीत लक्षण हों, तब उसे ब्रह्मचर्य कह सकते हैं।

संग-रहितता—योगी और संन्यासी का किसी के संग (साथ) नहीं हो पाता। इससे व्यवधान ही उत्पन्न होता है। संभव है, संग में जो व्यक्ति है, उसी से किसी प्रकार का मनमुटाव हो जाए और उसके कारण घर से विरक्त हुआ साधक दूसरों के राग-द्वेष में जकड़ा जाकर कहीं का भी न रहे। इसलिए मनीषी पुरुष संन्यासी (योगी) को संग-रहित रहने का निर्देश देते हैं।

लज्जा—भागवत में लज्जा भी एक आवश्यक गुण माना गया है। जिसमें लज्जा नहीं, वो अपने द्वारा की जाने वाली भूलों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता नहीं समझता, जिसका परिणाम होता है, भूलों की पुनरावृत्ति, जिसके कारण साधना की सफलता संदेहास्पद रहती है और यदि किसी प्रकार की सिद्धि मिलती भी है, तो बहुत विलंब से।

असंग्रह—योगी व्यक्ति को किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि संग्रह से लोभ की प्राप्ति होती है। एक लोभी साधक कुण्डलिनी जाग्रत करने में सक्षम नहीं हो सकता।

आस्तिकता—आस्तिकता का अर्थ है, ''ईश्वर में विश्वास।'' यदि ईश्वर में विश्वास नहीं है तो कोई भी साधना-उपासना-तपस्या सफलीभूत नहीं हो सकती। इसलिए भागवताकार ने विश्वास को साधना का एक आवश्यक अंग मानकर यमों के अंतर्गत कहा है।

स्थिरता—कुण्डलिनी साधक को अपनी साधना में लीन रहना चाहिए। चित्त के इधर-उधर चलायमान रहने से सफलता नहीं मिलती तथा ध्यान की एकाग्रता भी समाप्त हो जाती है।

क्षमा भाव—दस प्रकार के यमों को मानने वाले ऋषियों ने भी क्षमा की गणना यमों में की है। क्षमा एक ऐसा गुण है जो श्रेष्ठ मनुष्यों में आवश्यक है। क्षमा के बिना क्रोध पर नियंत्रण नहीं हो सकता।

अभय—भयभीत रहने से साधना में व्यवधान पड़ता है। अतः ऋषियों ने अभय को भी यमों के अंतर्गत रखकर उसकी आवश्यकता स्वीकार की है।

धृति—धृति का अर्थ है ''धीरज रखना'' अथवा एक प्रकार की ऐसी धारणा जिसमें अपने द्वारा की जाने वाली उपासना के अनुकूल दृढ़ निश्चय निहित हो। योगाचार्यों ने धृति का विवेचन करते हुए कहा है कि धृति उसे कहते हैं, जिसके प्रभाव से धन के नष्ट होने या अपने परम मित्र, प्रिय पुत्र, पत्नी, बांधवादि का वियोग हो जाने पर भी चित्त में किसी प्रकार की व्याकुलता न हो।

दया—दूसरों के दु:खों से प्रभावित होकर, उनके दु:ख दूर करने की इच्छा करना ही ''दया'' है।

आर्जव—चित्त की वृत्तियों का प्रवृत्ति में समान रहना ''आर्जव'' है। इसमें साधक को प्रपंच और परमार्थ दोनों के प्रति एक भाव रखना चाहिए।

मिताहार—अल्प मात्रा में सात्त्विक अन्न का आहार करना, जिसमें उदर के आधे भाग को अन्न से, चौथाई

भाग को खाली रखना ही ''मिताहार'' है।

नोट—''अपरिग्रह'' के बारे में हम ''ब्रह्मचर्य'' से पहले ही बता चुके हैं।

नियम : सकारात्मक आदेश

अष्टांग योग का द्वितीय अंग ''नियम'' है। अत: यमों के पश्चात् नियमों का उल्लेख किया जा रहा है। यमों के समान नियमों का पालन भी आवश्यक है। पंतजलि के अनुसार नियम निम्नलिखित हैं—

शौच—शौच से तात्पर्य शरीर के अंदर और बाहर की स्वच्छता है। इसमें शरीर को सब प्रकार से पवित्र रखने की आवश्यकता है। इसके लिए योगशास्त्र में षट्कर्मों का विधान है। नेती, कुंजल, बस्ति, नौलि और त्राटक जैसी योग क्रियाएं इस श्रेणी में आती हैं। साधकों के लिए यहां संक्षेप में इनकी जानकारी दी जा रही है।

नेती

मुख्य रूप से यह दो प्रकार की होती है—सूत्रनेती एवं जलनेती।

सूत्रनेती—आजकल मोम के सिरों वाली सूत्रनेती और रबड़ की नेती योगाश्रमों में सरलता से मिल जाती है। इसे नाक में डालकर तथा गले से निकालकर नासिका-मार्ग को स्वच्छ किया जाता है। इसे किसी योग-साधक से सीखना आवश्यक है। एक बार सीखने के बाद आप हाथ-मुंह धोने के पश्चात् अपने घर पर ही इस क्रिया को कर सकते हैं।

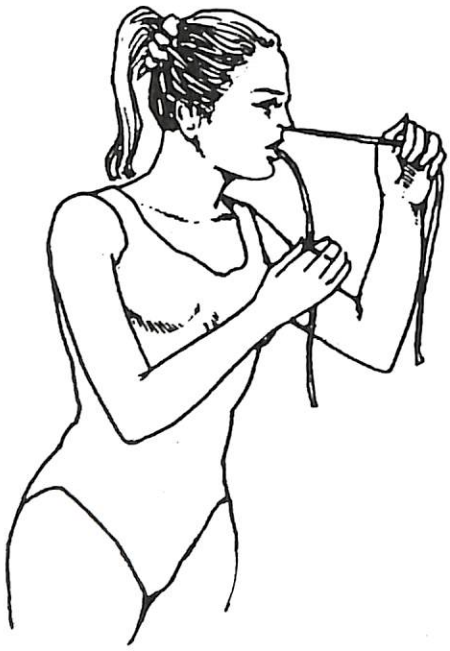

सूत्रनेती

जलनेती

जलनेती—इसके लिए नली वाले लोटे का उपयोग किया जाता है। लोटे में हल्का गरम पानी भरें, उसमें बहुत मामूली-सा नमक मिलाएं। नाक के जिस नथुने से सांस चल रही हो उसे ऊपर कर लें। अब उसमें लोटे की टोंटी लगा दें। मुंह को खुला रखें ताकि सांस मुंह से ले सकें। सांस नाक से न लें—इसका ध्यान रखना आवश्यक है। अब नासिका के एक छिद्र से पानी को अंदर ले जाएं और दूसरे से निकालें। इसके बाद दूसरे छिद्र से पानी अंदर लेकर पहले वाले से बाहर निकालें।

नेती के बाद आगे झुककर दोनों नथुने से जोर-जोर से सांस बाहर निकालना चाहिए ताकि नाक में पानी न रह जाए।

लाभ—नेती के अभ्यास से आंख, नाक, गले के रोग दूर होते हैं। इससे मस्तिष्क पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। मन शांत होता है।

धौति क्रिया

तीन इंच चौड़े और सात मीटर लंबे मलमल के कपड़े को नमक वाले पानी में भिगोकर मुंह द्वारा धीरे-धीरे अंदर निगल जाना और फिर उसे बाहर निकालना धौति क्रिया कहलाता है। पैरों के बल बैठ कर इस क्रिया को करें।

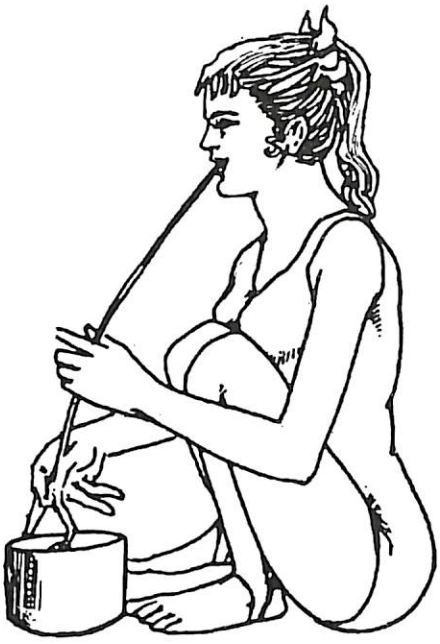

धौति क्रिया

लाभ—पेट-संबंधी रोगों में लाभ, खांसी, दमा, सरदर्द, प्लीहा, ज्वर आदि रोगों में आराम मिलता है। गैस का रोग ठीक हो जाता है। साधक स्वस्थ तथा बलवान बनता है। भूख अच्छी लगती है।

कुंजल क्रिया या गजकरणी

फर्श पर उकड़ूं (या उत्कटासन) बैठकर 2-3 लीटर हल्का गरम पानी एक साथ पी जाएं। इसके बाद खड़े होकर आगे की ओर झुकें। दाहिने हाथ की उंगलियों को मुंह में ले जाकर गले के अंदर की छोटी लटकती हुई जीभ को हिलाएं। इससे वमन (कै) आती हुई लगेगी। उंगलियां बाहर निकाल लें। वमन करने के बाद फिर पहले वाली क्रिया कर कै करें। जब तक पीया हुआ पूरा पानी बाहर न निकल जाए, इसे करते रहें। तीन या चार बार में लगभग पूरा पानी निकल जाता है।

सावधानी—सभी योग-क्रियाएं योग्य प्रशिक्षक से सीखें। कमजोर आंत वाले, हृदय अथवा संग्रहणी के रोगियों के लिए यह क्रिया मना है।

लाभ—कफ के रोग, अजीर्ण, कृमि, रक्त-विकार, विष-विकार तथा त्वचा संबंधी रोग दूर होते हैं। आमाशय साफ हो जाता है, जिससे भूख अच्छी लगती है।

बस्ति क्रिया

डॉक्टरों द्वारा जिस प्रकार रोगियों को एनिमा से गुदा-मार्ग द्वारा आंतों में जल पहुंचाकर स्वच्छ तथा विकार-रहित किया जाता है, वैसा ही योगसाधक बांस या सरकंडे की पतली नली अथवा रबर नली द्वारा करते हैं। इसमें साधक नौलि-क्रिया भी करते हैं।

लाभ—स्वस्थ व्यक्ति को एक माह में कम-से-कम एक बार एनिमा लेना चाहिए। इससे वात, पित्त, कफ तीनों दोष दूर होते हैं। बड़ी आंत की सफाई होने से उसमें कोई विकार नहीं हो पाता। यह क्रिया (बस्ति या एनिमा) पेट के लगभग सभी रोगों में आराम पहुंचाती है।

नौलि क्रिया

यह दोनों पांवों में लगभग एक फुट का अंतर रखकर खड़े होकर की जाती है। दोनों हाथों को घुटने के कुछ ऊपर जांघों पर रखकर किया जाता है। इसमें सांस को बाहर निकालकर नौलि को दाहिने-बाएं और मध्य में घुमाया जाता है।

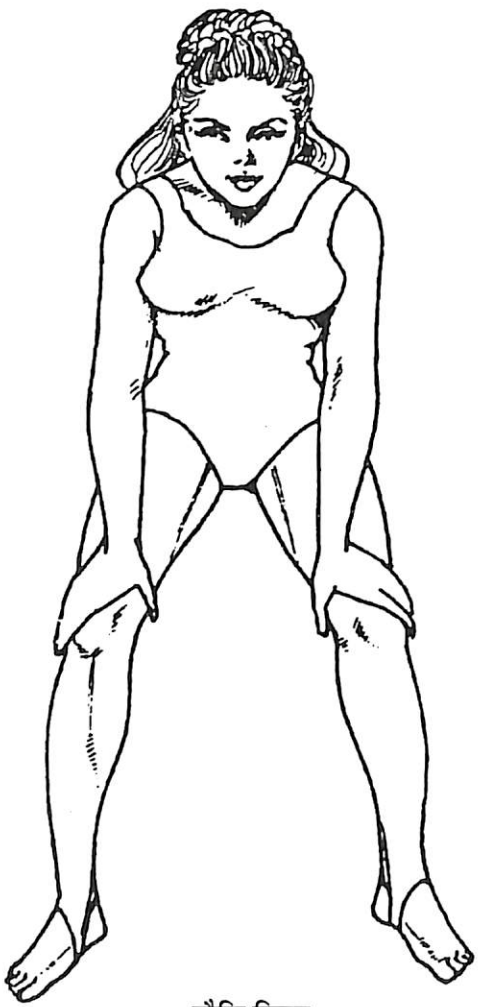

नौलि क्रिया

सावधानी—उन व्यक्तियों को, जिनकी आंतों में सूजन है या फिर जिन्हें संग्रहणी रोग है, यह क्रिया नहीं करनी चाहिए।

कपालभाति

इस क्रिया में आसन पर बैठकर सांस को पूरे जोर से नासिका द्वारा बाहर निकाला जाता है। इसमें श्वास लेने पर ध्यान नहीं दिया जाता। वह क्रिया स्वयं होती रहती है।

सावधानी—बुखार, अनिद्रा, पीलिया और हृदय-रोग से पीड़ित व्यक्ति यह क्रिया न करें।

त्राटक

एकाग्र मन से और निश्चल दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को उस समय तक देखते रहना जब तक आंखों में आंसू न आ जाएं त्राटक कहलाता है।

लाभ—इससे साधक का आलस्य तथा निद्रा दूर होती है, एकाग्रता में वृद्धि होती है। नेत्रों के रोगों में लाभ पहुंचता है।

संतोष—संतोष से तात्पर्य असंतोष का अभाव है और जो कुछ मिल जाए, उसमें संतुष्ट रहने की भावना है। संतोष और अपरिग्रह का निकट संबंध है। दैवेच्छा से जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, उसी में संतुष्ट रहने को ''संतोष'' कहते हैं।

तप—तप यानी तपस्या में वह शक्ति है कि तपस्वी पुरुष अपने लक्ष्य की प्राप्ति में तो सफल होता ही है, साथ ही वह चाहे जिस बड़े-से-बड़े कार्य को भी पूर्ण कर लेता है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसके लिए दुर्लभ या अप्राप्य रह सके। इसलिए तप को सभी आचार्यों ने नियमों के अंतर्गत योग का सबसे आवश्यक अंग माना है।

तपस्या क्या है ? इस पर योगाचार्यों ने जो मत व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है—

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छचान्द्रायणादिभिः।
शरीर शोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम्॥

अर्थात् शास्त्रों में बताई हुई विधि से कृच्छ चांद्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर को सुखाना ही श्रेष्ठ तप है।

विशेष—भारतवर्ष में ''तप'' शब्द को अत्यंत व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के तपों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। किन्तु अधिकतर विचारकों ने शारीरिक तप के स्थान पर मानसिक तप को ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ठहराया है। योग में विशेष रूप-से तप से तात्पर्य मानसिक तप ही समझना चाहिए।

स्वाध्याय—शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है और ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञान ही आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ है वेद, शास्त्र, दर्शन, उपनिषद् आदि में वर्णित आध्यात्मिक ज्ञान से विवेक उत्पन्न हो सके, इसलिए उनका पठन और मनन करना, ओंकार और गायत्री विषयक ग्रंथों का पढ़ना भी स्वाध्याय के अंतर्गत आता है।

आचार्यों ने मन, वचन, कर्म से स्वाध्याय के तीन भेद मानकर उन्हें मानसिक, वाचिक और शारीरिक स्वाध्याय का नाम दिया है, इसलिए उनका पृथक-पृथक विवेचन करना आवश्यक है। मानसिक स्वाध्याय में ओंकार का ध्यान करते हुए जप करना या गायत्री मंत्र के अक्षरों का ध्यान करना मानसिक स्वाध्याय है।

मानसिक स्वाध्याय के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके साधक मोक्ष का उपाय जानने में समर्थ होता है। वाचिक स्वाध्याय में श्रेष्ठ शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना ही विशेष है। वाचिक स्वाध्याय का महत्त्व भी कम नहीं है। आवश्यकता होने पर साधक इसका प्रयोग करे तो उसकी आत्मिक उन्नति होती है।

ईश्वर प्रणिधान—योग शास्त्र में ईश्वर को ध्यान लगाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त आलंबन माना गया है अन्यथा योग दर्शन में ईश्वर को किसी व्यक्ति विशेष के रूप में नहीं लिया गया है। किन्तु फिर भगवद्गीता तथा अन्य ग्रंथों में ईश्वर की कृपा और ईश्वर की शरण में जाने से योग में सहायता मिलने का उल्लेख है। भगवद्गीता

में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो अंतरात्मा को मुझमें लगाकर श्रद्धा के साथ मेरा भजन करता है, सब योगियों में वह मुझको प्रिय है। इसी प्रकार के विचार कबीर, धर्मदास, नानक, दादू, धरनीदास, पलटू आदि अनेक संत कवियों ने अभिव्यक्त किए हैं। पंतजलि के योगसूत्र में ईश्वर को परम गुरु मानकर सब कुछ उसको अर्पण कर देने की बात है।

आसन : शरीर सिद्धि

अष्टांग योग का तृतीय अंग ''आसन'' है। यम और नियम के पश्चात् योग साधना के लिए शरीर की तैयारी में आसन और प्राणायाम का उल्लेख किया गया है। हठयोग में तो आसन को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। आसनों की संख्या के बारे में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवों की जितने प्रकार की जातियां हैं, भारतवर्ष में उतने ही प्रकार के आसनों का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन सब आसनों को तो शंकर भगवान ही जानते हैं।

भारतीय योग दर्शन में भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर पर नियंत्रण करने के लिए अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन मिलता है, जैसे—पद्मासन, वीरासन, सुखासन, कुक्कुटासन, सिद्धासन, भद्रासन, वज्रासन, मत्स्येन्द्रासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, पवन मुक्तासन, भुजंगासन, धनुरासन, सर्वांगासन, शीर्षासन इत्यादि, ये आसन स्वास्थ्य के विभिन्न मूलतत्त्वों के अनुसार निम्नलिखित विभिन्न वर्गों में बांटे गए हैं—

वीर्याशय की शुद्धि के लिए—भुजंगासन, कंधपीड़ासन, कुक्कुटासन, योगमुद्रा, मत्स्येन्द्रासन, महामुद्रा।

नाड़ी-संस्थान की शुद्धि के लिए—कुक्कुटासन, वीरासन।

पाचन-संस्थान की शुद्धि के लिए—सुप्त पद्मासन, अर्धलकुटासन, महामुद्रा, योगमुद्रा, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन, सर्वांगासन।

वायु-शुद्धि के लिए—मुक्तासन, उत्थितपद्मासन।

उत्सर्ग-शुद्धि के लिए—सोड्डीयान पद्मासन, बद्धपद्मासन, मुष्टियुक्त योगमुद्रा, अर्धलकुटासन।

वैसे आसनों का वर्णन अत्यंत विस्तार से योग संबंधी पुस्तकों में मिलता है। इन आसनों से असाध्य रोगों का इलाज भी किया जा रहा है—सफलतापूर्वक लेकिन यहां हम कुछ विशेष ऐसे आसनों की सचित्र जानकारी दे रहे हैं, जो कुंडलिनी साधना में विशेष रूप से उपयोगी हैं, क्योंकि इनसे जहां प्राण की क्रिया सहज होती है, वहीं बंध भी लगते हैं। मूलबंध जो कि कुंडलिनी साधना का प्रारंभिक बिंदु है, इन आसनों से विशेषरूप से प्रभावित होता है।

पवन मुक्तासन अथवा रॉक एण्ड रोल

आश्चर्य की बात यह है कि योगासन की कई पुस्तकों में इसे केवल पवन मुक्तासन कहा गया है जबकि इसका सबसे ज्यादा लाभ रीढ़ की हड्डी को होता है।

इसके संबंध में यह भी आवश्यक नहीं है कि इसे शौच आदि से निवृत्त होने के बाद ही किया जाए। यह एक ऐसा आसन है जिससे पेट की वायु तो खारिज होती ही है, साथ ही 7-8 घंटे रात्रि में सोए रहने से होने वाली शरीर की अकड़न भी समाप्त हो जाती है।

आसन की विधि: प्रात:काल जब भी आप सोकर उठें अपने लिहाफ, कम्बल अथवा चादर आदि को एक तरफ फेंककर पीठ के बल सीधे लेट जाएं। फिर दोनों टांगें सिकोड़ते हुए अपने दोनों घुटने छाती से सटा लें। फिर दोनों हाथों से आलिंगन में जकड़ लेने की स्थिति में दोनों हाथों को टांगों पर कसकर लपेट दें। नितम्बों का कुछ हिस्सा थोड़ा ऊपर उठाकर बार-बार घुटनों और पैरों के तलवों को दबाएं। बीच-बीच में दोनों हथेलियों से पैरों के तलवों को रगड़ें। इससे जहां पेट में फंसी हुई वायु निकल जाएगी, वहीं हथेलियों से पैर के तलवे रगड़ने से सारे शरीर में एक विशेष प्रकार की चेतना का संचार होगा।

पैर के तलवों को रगड़ने का योगासन से संबंधित किसी पुस्तक में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु आपको पता होना चाहिए कि पैर के तलवों की ग्रंथियों और नसों का शरीर के सभी अंगों से महत्वपूर्ण संबंध है। इस प्रकार सारे शरीर में ऊर्जा का संचार होता है और शरीर के विभिन्न अंगों से दर्द-पीड़ाएं समाप्त होती हैं। इसलिए प्रात:काल बिस्तर पर यह आसन करते समय पैर के तलवों को हथेलियों से रगड़ना स्वास्थ्य के लिए सोने में सुहागे का काम करता है।

हस्तरेखा विशारद जानते हैं कि हम हाथ की उंगलियों के पोरों के अग्रभाग से प्राकृतिक ऊर्जा ग्रहण करते हैं जो सारे शरीर में फैलती है। जिन लोगों को इस बात का पता नहीं, प्रकृति उनको भी यह लाभ देती है। परन्तु जब मनुष्य पूर्णत: इस ओर से अनभिज्ञ होता है तो उसे प्रकृति से ऊर्जा मिलनी भी समाप्त हो जाती है जिससे शरीर अनेक रोगों का शिकार हो जाता है।

हथेलियों द्वारा शरीर के विभिन्न भागों अथवा पैर के तलवों को दबाकर रोग दूर करने की इस प्रक्रिया का बहुत महत्व है। इसे रिलेक्सोलॉजी कहते हैं।

पवन मुक्तासन के अन्य रूप: जिस प्रकार पवन मुक्तासन आरंभ किया था, उसी स्थिति में रहते हुए दोनों हाथों को टांगों के बीच में डालकर दबाते हुए लेटे-लेटे उठकर बैठने का प्रयत्न करें। ऐसा तीन-चार बार करने से रीढ़ की हड्डी पर जोर पड़ता है और उसे लचकदार बनाने में सहायता मिलती है।

चित्र के अनुसार दोनों टांगों को बाहर रखते हुए जांघों को दोनों हाथों से अन्दर की ओर दबाएं। इस अथवा पहले बताई गई प्रक्रिया के अनुसार शरीर को रॉक एण्ड रोल की स्थिति में बार-बार ऊपर-नीचे की स्थिति में झुलाया जाता है।

पवन मुक्तासन या रॉक एण्ड रोल

पवन मुक्तासन में लेटने अथवा बैठने की स्थिति में आपको चाहिए कि आप अपना सिर नीचे की ओर झुकाकर अपनी ठोड़ी गर्दन के नीचे के भाग से अर्थात् छाती को ऊपर के भाग की तरफ सटाकर रखें।

इस आसन को दो-तीन स्थितियों में किया जा सकता है। दोनों घुटनों को छाती तक लाने के स्थान पर अलग-अलग एक टांग से भी बारी-बारी से ऐसा किया जा सकता है।

रॉक एण्ड रोल की स्थिति में दोनों घुटनों के नीचे से हाथ डालकर दोनों टांगों को बारी-बारी से गतिमान करके ही यह आसन किया जाता है।

अपने बिस्तर अथवा फर्श पर इस प्रकार का आसन करते हुए रॉक एण्ड रोल की तरह बार-बार लुढ़कने और उठकर बैठने का प्रयत्न करें।

इस आसन को स्पष्ट करने के लिए आपको यह बता दें कि एक कुर्सी इस प्रकार की होती है जिसके चारों पैर दो अर्द्ध गोलाकार लकड़ियों से जुड़े रहते हैं, इसे रॉक एण्ड रोल कहते हैं। उसमें बैठकर जिस प्रकार शरीर को आगे-पीछे झुलाया जाता है, शरीर को इस आसन में रखते हुए बिलकुल उसी प्रकार झुलाना चाहिए।

इस स्थिति में आपकी रीढ़ की हड्डी अर्द्ध गोलाकार रहेगी। बार-बार हाथों को घुटनों अथवा घुटनों को नीचे रखते हुए शरीर को झुलाने से रीढ़ की हड्डी पर जोर पड़ता है। उसके दोष दूर होते हैं। इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न करने से रीढ़ की हड्डी में एक ऐसी लचक पैदा होती है जिससे सारा शरीर और मस्तिष्क अपने आप स्वस्थ होने लगता है।

यदि घुटनों अथवा घुटने के नीचे से जांघों पर दबाते हुए बार-बार आगे-पीछे झूलना संभव न हो सके तो इसमें घबराने की आवश्यकता नहीं। झूलते समय यदि हाथ छूट जाए तो उन्हें फिर से सही स्थिति में लाकर अभ्यास करने से कुछ ही दिन में यह कठिनाई दूर हो जाएगी।

हलासन

शवासन की स्थिति में बिलकुल सीधे लेट जाइए। सर्वांगासन की भांति 30 अंश, 60 अंश तथा 90 अंश पर पैरों को ऊपर उठाकर सीधे कर दीजिए। हाथ पीठ की ओर एवं फर्श पर बिलकुल सीधे जमे रहें। भीतर सांस लेते हुए और रुक-रुक कर छोड़ते हुए क्रमशः इस आसन को करें।

अब नितम्बों और कमर की पेशियों में संकुचन पैदा करते हुए, सांस छोड़ते हुए, धीरे-धीरे कमर सिर की ओर मोड़कर, पैरों के पंजों से फर्श को स्पर्श कीजिए। यहां ठुड्डी, कंठ कूप में बैठकर जालंधर बन्ध बनाएगी। यथासम्भव कुम्भक प्राणायाम भी कीजिए।

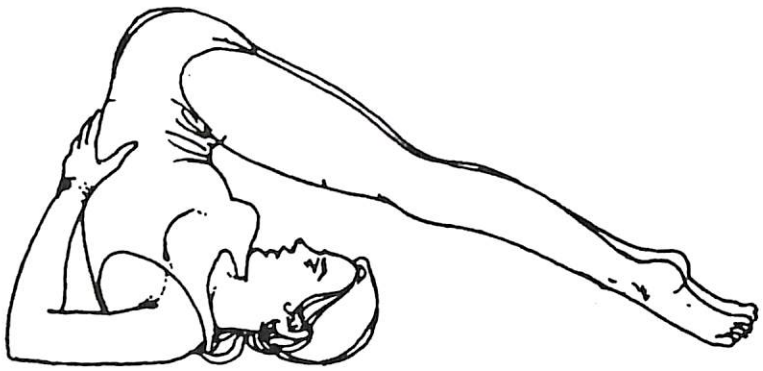

धीरे-धीरे सांस लेने और छोड़ने का क्रम बनाए रखकर पैरों को संतुलन सहित उठाते हुए सर्वांगासन की स्थिति में आ जाइए। अब पहले की भांति 90 अंश, 60 अंश तथा 30 अंश का कोण बनाते हुए शवासन की पूर्व स्थिति में वापस आ जाइए।

भुजंगासन

कालीन पर पेट के बल बिलकुल सीधे लेट जाइए। पैर पंजे के बल पृथ्वी के समानान्तर तथा तलवे आकाश की ओर उन्मुख हों। हाथों को आधा मोड़कर बाजू में कन्धों के पास रखें। गहरी सांस खींचते हुए हाथों को कन्धे से ही चिपकाकर धीरे-धीरे छाती, पीठ, सिर आदि को पृथ्वी से यथासम्भव ऊपर की ओर उठाइए। नाभि और पैर जमीन से चिपके रहें। गर्दन आकाश की ओर उठा ऊपर की ओर देखते रहिए। हाथों को जमीन पर टेककर कमर के ऊपर के भागों को यथासम्भव और ऊपर उठाइए। सांस रोके रहिए। सांस छोड़ते हुए ऊपरी भागों को धीरे-धीरे नीचे लाइए। यह आसन छः बार दोहराएं।

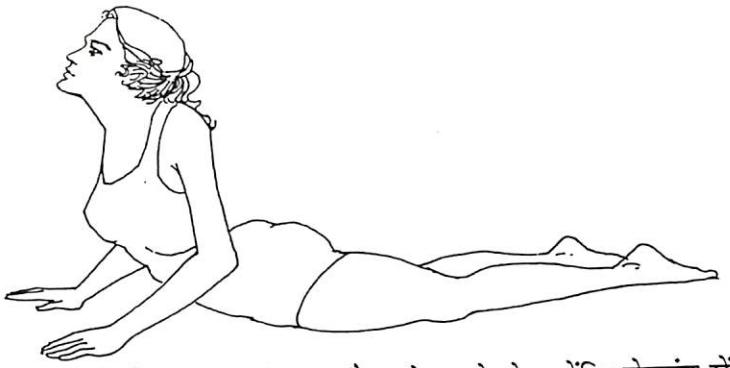

इससे पेट व कमर संबंधी रोगों से छुटकारा मिलता है। इसे करने से क्योंकि मेरुदंड में लचीलापन आता है इसलिए कुंडलिनी जागरण में यह उपयोगी सिद्ध होता है

सर्वांगासन

शवासन के समान फर्श अथवा किसी समतल भूमि पर सीधे लेट जाएं। अब बारी-बारी से दोनों टांगों को धीरे-धीरे ऊपर उठाने का प्रयत्न करें। इस प्रकार जब कोई कठिनाई अनुभव न हो तो सर्वांगासन के समान दोनों टांगें ऊपर उठाएं। इसका तरीका यह है कि धीरे-धीरे सांस छोड़ते हुए दोनों पांवों को ऊपर उठाना प्रारंभ करें परन्तु झटके के साथ ऊपर न ले जाएं। किसी विशेष प्रकार का 60 या 90 अंश पर कोण बनाने के चक्कर में भी न पड़ें। इस प्रकार के आसन से लाभ तभी होगा जब आप दोनों टांगें धीरे-धीरे ऊपर उठाएंगे। सबसे पहला तरीका यह है कि दोनों टांगें ऊपर उठाकर चित्र के अनुसार शरीर को समकोण स्थिति में रखें।

इसके लिए पैरों के साथ-साथ शरीर के बीच का पिछला हिस्सा धीरे-धीरे हाथ के सहारे ऊपर उठाने का प्रयत्न करें। कोहनियों और गर्दन के साथ का हिस्सा फर्श पर टिका रहेगा। पेट के पिछले हिस्से पर दोनों हाथों का सहारा लगाकर टांगों को सीधा रखने का प्रयत्न करें।

अब दोनों टांगों को आगे-पीछे अथवा समानान्तर रूप से फैलाकर व्यायाम का प्रयत्न भी कर सकते हैं।

हाथों का सहारा लगाए बिना शरीर को ऊपर उठाना काफी कठिन है। इसके लिए विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। सामान्य तौर से हाथ का सहारा लगाकर शरीर को ऊपर उठाने से सम्पूर्ण लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

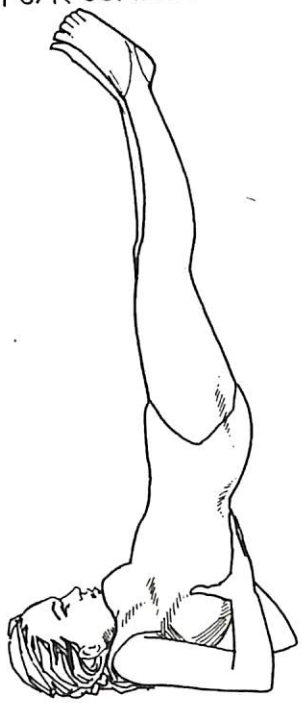

सर्वांगासन

धनुरासन

पेट के बल लेट जाइए। ठुड्डी पृथ्वी का स्पर्श करती रहे। पैरों को मोड़कर जांघों से सटा लीजिए। पंजों के नीचे, टखनों को दोनों हाथों से अच्छी तरह पकड़ लीजिए। नाभि पृथ्वी पर टिकी रहनी चाहिए। श्वास सामान्य गति से ही चलती रहेगी।

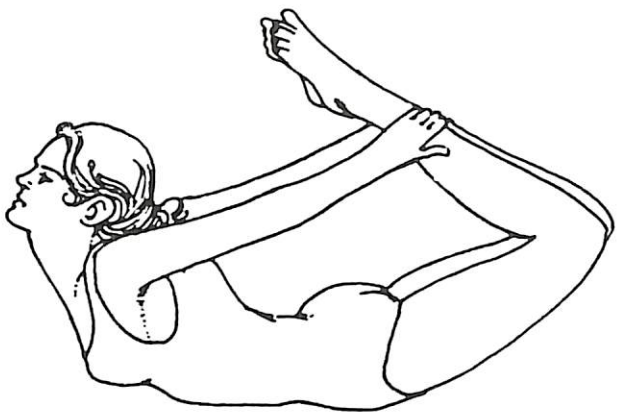

हाथों-जांघों की पेशियों से संकुचन करते हुए धड़, गर्दन, पैर आदि तानकर तने हुए धनुष की आकृति बनाकर रस्साकसी-सी कीजिए। पैर तथा घुटने चिपके हुए ही रहें। घुटने मुड़कर कन्धों की सीध में आ जाने चाहिए।

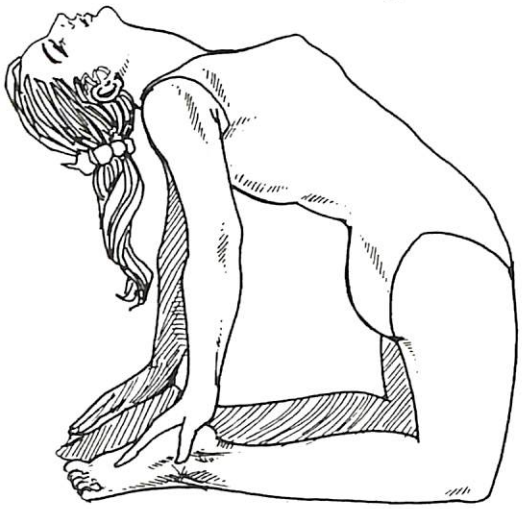

उष्ट्रासन

दोनों घुटने तथा पैर के पंजे आपस में मिलाकर घुटनों को धरती पर टेक कर खड़े हो जाएं। दोनों एड़ियां मिली हुई ऊपर को उठी रहेंगी। अब अपने दोनों हाथों को पीठ के पीछे, पैर के तलवों से थोड़ा आगे की ओर पृथ्वी पर टेकिए। कमर, धड़ तथा गर्दन को पीछे झुकाते हुए यथासम्भव सीधा रखिए। नितम्ब पैरों से काफी ऊपर रखें। इस आसन में मेरुदंड पर पड़ने वाले खिंचाव को आप आसानी से महसूस कर सकते हैं। सिद्धासन, सहजासन या पद्मासन जैसे ध्यान के विशेष आसनों को सिद्ध करने में इस आसन की विशेष भूमिका है।

गोमुखासन

फर्श पर बिछे हुए आसन पर बैठें। बाएं पैर को उठाकर दाहिनी जांघ पर ले जाते हुए, बाएं पैर की एड़ी को दाहिनी जांघ के बाजू में रखें। बाएं पैर का पंजा जमीन को स्पर्श करता रहे। दोनों घुटने लगभग एक-दूसरे पर आ जाएंगे। शरीर एकदम सीधा रखें। दाहिने पैर का तलवा बायीं जांघ-संधि के समीप स्पर्श करता रहेगा। बाएं हाथ तथा दाहिने हाथ की तर्जनी पीठ के पीछे से आकर एक-दूसरे से गुंथ जाएंगी।

हाथ और पैर बदलकर पुनः यही अभ्यास दोहराएं।

पश्चिमोत्तानासन

पैर फैलाकर सीधे बैठ जाइए। दोनों पंजे, घुटने व जांघें सटी हुई रहें। हथेलियां जांघों के बाजू में रखिए। अब पैरों के अंगूठों को हाथ से पकड़कर, धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए, सिर को घुटनों से स्पर्श कराने का प्रयास कीजिए। ऐसी स्थिति में दोनों कोहनियां फर्श पर टिक जाएंगी। ध्यान रहे कि घुटने जरा भी न मुड़ें और जांघें, पिंडलियां व एड़ियां पृथ्वी से सटी रहें। जब तक सरलतापूर्वक कर सकें, बाह्य कुम्भक भी करें।

कठिनाई होने पर एक पैर मोड़कर तलवा जांघ से सटा लें और ऊपर बताई हुई क्रिया को करें। पैर बदलकर इस अभ्यास को दोहराएं।

कुछ लोग पैर सीधा उठाकर, सिर झुकाकर तथा हाथ सीधे रखते हुए भी पश्चिमोत्तानासन करते हैं।

पूर्णोत्तानासन

पूर्णोत्तानासन करने की विधि यह है कि कालीन अथवा कम्बल बिछे हुए फर्श पर बिलकुल सीधे लेट जाइए। दोनों हाथ सिर के पीछे की ओर सीधे लम्बाई में टिके रहने चाहिए। उसके बाद दोनों पैर धीरे-धीरे ऊपर उठाकर चित्र के अनुसार हाथों की ओर पैर ले जाकर नीचे की ओर टिका दें। दोनों पैरों के अंगूठे हाथों से पकड़कर रखें।

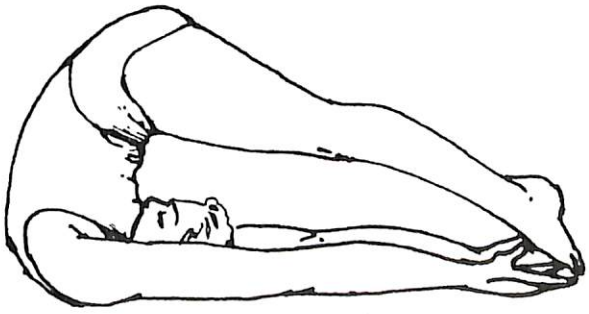

मयूरासन

किसी टेबल के पास सीधे खड़े हो जाइए। दोनों हाथों को टेबल की सतह पर अच्छी तरह जमा लीजिए। दोनों कोहनियां मोड़कर पेट के कोमल भाग से सटा लीजिए। कोहनियों तथा भुजाओं पर शरीर का भार डालते हुए पृथ्वी पर से पैर उठाकर पीछे की ओर ले जाइए।

पृथ्वी पर पेट के बल लेटकर कमर से ऊपर का धड़ ऊपर उठाकर दोनों हाथों की कोहनियों से पेट को सहारा दीजिए। धीरे-धीरे पैर तने रखते हुए पृथ्वी से ऊपर उठाइए। पूरे शरीर का बोझ कोहनियों तथा भुजाओं पर रखते हुए शरीर ऊपर उठाए रखने का अभ्यास कीजिए।

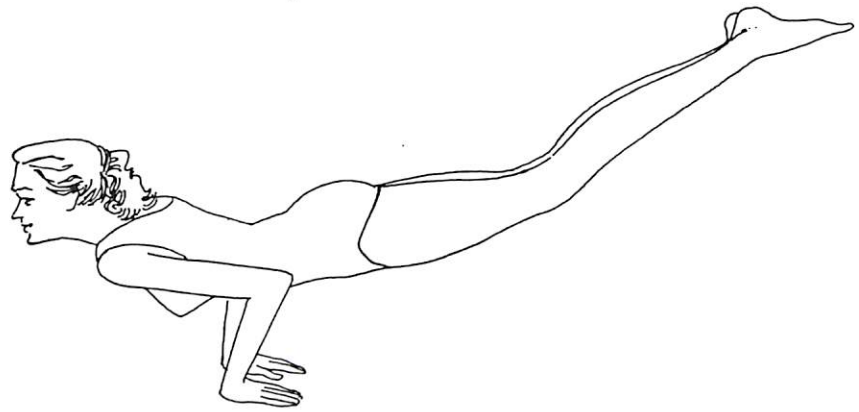

हंस तथा मयूर के समान आकृति बनने के कारण इसे हंसासन या मयूरासन दोनों नामों से पुकारते हैं।
बीस सेकण्ड से बढ़ाते हुए पांच मिनट तक यह आसन किया जा सकता है।

अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन

पैर फैलाकर बैठिए। बाएं पैर को मोड़कर, दाहिने पैर को बाहर, जांघ से सटाकर रखें। दाहिने पैर को मोड़कर दाहिनी एड़ी से गुदा तथा मूत्राशय के बीच के कोमल भाग को दबाइए। बाएं घुटने की टेक लगाते हुए, दाहिना कन्धा

अड़ाकर, दाहिने हाथ से बाएं पैर का अंगूठा पकड़ें। बाएं हाथ को पीछे की ओर से घुमाकर, दाहिनी जांघ की सन्धि को स्पर्श करें। सिर को बाएं ठुड्डी व कन्धे की सीध में करें और सीना भरसक सीधा रखें। अब यही क्रिया दूसरा पैर मोड़कर दूसरी ओर से भी करें।

शशांकासन

वज्रासन में बैठिए। दोनों हाथ जांघों पर रखिए। धीरे-धीरे श्वास लेते और दोनों हाथ कानों से चिपकाते हुए ऊपर उठाइए। फिर धीरे-धीरे सांस छोड़ते हुए उसी स्थिति में सामने की ओर इतना झुकिए कि माथा पृथ्वी का स्पर्श करने लगे। यथासंभव सांस को बाहर रोके रखकर ही कुम्भक कीजिए। धीरे-धीरे सांस लेते हुए पूर्व स्थिति में आ जाइए। हाथ को वापस नीचे ले आइए।

कब्ज हटाने के लिए मुट्ठी बांधकर पेड़ू को दबाइए। सांस छोड़ते हुए सिर जमीन से लगाइए। सांस बाहर ही रोके रखकर कुछ देर तक इसी स्थिति में रुके रहिए। इसी प्रकार यह क्रिया बार-बार दोहराएं।

चातकासन

चित्र के अनुसार टांगें फैलाकर फर्श पर बैठ जाएं। एक पैर दोनों नितम्बों के बीच में नीचे रखकर उस पर

दबाव डालें। दोनों हाथ लम्बाई में फैलाकर आंखें आकाश की ओर स्थिर करें। जो पैर नितम्बों के नीचे रहता है, उसकी एड़ी मूत्राशय और गुदा वाले भाग के बीच में रहनी चाहिए।

उत्तानपादासन

सर्वांगासन की प्रारंभिक स्थिति को उत्तानपादासन भी कहते हैं। इस आसन के नाम से ही पता चल जाता है कि इसकी स्थिति किस प्रकार होगी। इसमें केवल कटि-प्रदेश के नीचे का हिस्सा (नितम्बों से लेकर पैरों तक) उठाना होता है।

पंतजलि ने आसन की परिभाषा करते हुए लिखा है, ''स्थिर सुखम् आसनम्,'' अर्थात् जिस मुद्रा में शरीर सुखपूर्वक स्थिर रखा जा सके, वही आसन है। आसन को एक प्रकार का तप भी माना गया है। आसन केवल

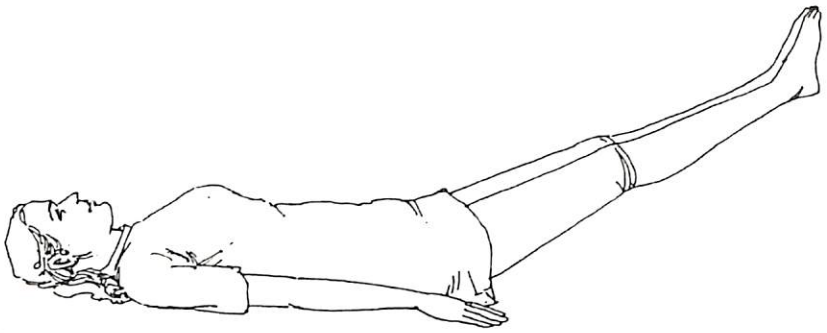

शारीरिक व्यायाम न होकर आध्यात्मिक विकास का साधन है। वह शारीरिक व आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टि से लाभदायक है। उसका प्रयोजन शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों ही है। आसनों पर अधिकार हो जाने से शरीर पर मन का नियंत्रण स्थापित हो जाता है।

प्राणायाम : प्राणसिद्धि की विशेष क्रियाएं

प्राणायाम को अष्टांग योग का चतुर्थ अंग माना गया है। भारतीय विचारकों ने शरीर और मन की शुद्धि, नियंत्रण और स्वास्थ्य लाभ में प्राणायाम की प्रक्रिया का विशेष महत्त्व माना है। प्राणायाम के लिए स्थान कैसा हो, इसके लिए अत्यंत विस्तारपूर्वक लिखा गया है। यह स्थान शुद्ध और उपद्रव रहित होना चाहिए। वहां किसी प्रकार के जीव-जंतु नहीं होने चाहिए। स्थान दुर्गन्धहीन और समतल होना चाहिए। सबसे नीचे कुशासन, उसके ऊपर हिरण की खाल तथा उसके ऊपर नरम और स्वच्छ वस्त्र बिछाकर प्राणायाम की क्रिया की जानी चाहिए।

कुछ विद्वानों ने हेमंत, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में योग आरंभ करने का निषेध किया है और वसंत तथा शरद् ऋतु को योग के लिए सर्वश्रेष्ठ माना है। ऋतु के अतिरिक्त अभ्यास का समय भी निश्चित किया गया है। इसके लिए अर्धरात्रि का अंतिम पहर अर्थात् ब्रह्म मुहूर्त सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अनेक योगियों ने इसी का समर्थन किया है। प्राणायाम और भोजन में 3 घंटे का अंतर अवश्य होना चाहिए। भरे पेट प्राणायाम करना अनुचित है। यों तो योगी व्यक्ति को मिताहारी होना चाहिए। अनेक आचार्यों के अनुसार पेट को आधा अन्न इत्यादि से, शेष के आधे को जल से और बचे हुए को वायु से भरना चाहिए। भारतीय मनोविज्ञान में 10 प्रकार की वायु मानी गई हैं। यथा प्राण, अपान, समान, उदान, ज्ञान, नाग, कूर्म, क्रीकल, देवदत्त और धनन्जय। साधक को पूर्ण स्वास्थ्य के लिए इन सभी प्रकार की वायु पर नियंत्रण करना आवश्यक है। प्राणायाम में निम्न 3 स्थितियां होती हैं—

- *पूरक :* सांस को अंदर खींचना।
- *कुम्भक :* सांस को रोकना।
- *रेचक :* सांस को बाहर निकालना।

कुम्भक के भी निम्न दो प्रकार माने गए हैं—

- *आभ्यान्तर कुम्भक :* सांस को अंदर खींचकर रोकना।
- *बाह्य कुम्भक :* सांस को बाहर छोड़कर रोकना।

प्राणायाम की इन तीन स्थितियों की अवधि के बारे में साधारण नियम यह है कि पूरक में जितना समय लगता है, उससे दुगुना रेचक और चौगुना कुम्भक में लगाया जाना चाहिए। इन सब नियमों के पालन के लिए लंबे समय तक अभ्यास करने की आवश्यकता है। यह अभ्यास क्रमशः बढ़ाया जाना चाहिए। प्राणायाम में किसी भी प्रकार की शीघ्रता अथवा गलती करने से लाभ के स्थान पर हानि की संभावना होती है। इसलिए बहुधा गुरु से प्राणायाम की विधि सीखने के लिए कहा जाता है।

पूरक एवं रेचक क्रियाएं

पूरक क्रिया इस प्रकार करें—

1. *दाएं अंगूठे से दाएं नथुने को बंद करिए।*
2. *बाएं नथुने से आठ तक गिनते हुए श्वास खींचिए।*
3. *तर्जनी (अंगूठे के साथ वाली) उंगली से बायां नथुना बंद करके आठ गिनती तक सांस रोकिए।*

रेचक क्रिया इस प्रकार करें—

1. *दाएं नथुने से अपना अंगूठा हटा लीजिए।*
2. *आठ तक गिनती (मन ही मन) गिनते हुए सांस बाहर निकालिए।*
3. *तर्जनी से बायां नथुना बंद रखिए। इसके बाद दाएं नथुने से सांस लेना शुरू करिए।*
4. *फिर क्रम को बदलिए। ऐसा अदल-बदल कर पांच-पांच बार करिए।*

पूरक क्रिया

रेचक क्रिया

कुम्भक के अन्य 8 भेद और भी हैं—

सूर्यभेदन—सूर्य नाड़ी से सांस (श्वास) खींचकर यथाशक्ति उदर में तब तक धारण किए रहें, जब तक कि नखों और केशकूपों में पसीना न आ जाए। इसके ठीक प्रकार से सिद्ध होने पर सूर्यचक्र के भेदन और कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।

उज्जायी—नासारन्ध्रों के मार्ग से वायु को अनुलोम-विलोम प्रकार से खींचकर पहले मुख में धारण करें और मुख से कंठ में ले जाएं तथा कंठ से हृदय में ले जाकर धारण करें। तत्पश्चात् हृदय से कंठ में और कंठ से मुख में पहुंचाकर बाहर निकाल दें। इससे प्राण और शरीर पर साधक का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाता है।

सीत्कारी—दोनों होंठों के मध्य लगी जीभ से सीत्कार करता हुआ साधक मुख के द्वारा कुम्भक और नासारन्ध्रों के द्वारा रेचक करे। इससे साधक को कामदेव के समान लावण्य की प्राप्ति होती है।

शीतली—जिह्वा से वायु को खींचकर उदर में भरें और नासाछिद्रों के द्वारा बाहर निकाल दें। इससे शरीर विकार-रहित हो जाता है।

भस्त्रिका—लोहार की धौंकनी के समान बाहर से वायु को बार-बार खींचकर उदर में भरें और कुम्भक करें। फिर उदर में धीरे-धीरे चलाकर नासाछिद्रों के द्वारा उस वायु को बाहर निकाल दें। इसे पद्मासन लगाकर करना चाहिए। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

भ्रामरी—जब आधी रात व्यतीत हो जाए और जीव-जंतुओं के बोलने का शब्द भी सुनाई न दे तो दोनों हाथों की उंगलियों को दोनों कानों में लगाकार पूरक द्वारा वायु खींचे और फिर कुम्भक करे। इसमें कान बंद होने पर भौंरों

के समान शब्द सुनाई देने लगता है। यह शब्द दाएं कान में अनुभव होता है। अनुभवी आचार्यों का मत है कि भ्रामरी का अभ्यास आरंभ करते-करते ही भौंरों का शब्द सुनाई नहीं देता, वरन् प्रथम झींगुर के बोलने का शब्द ही सुनने में आता है। फिर जैसे-जैसे अभ्यास की परिपक्वता होती है, वैसे-वैसे सुनाई देने वाले शब्द में परिवर्तन होने लगता है। झींगुर के बाद बंशी की ध्वनि, फिर मेघ का गर्जन, फिर बाजे की झंकार और तत्पश्चात् भ्रमर-गुंजन सुनाई देता है।

यह शब्द भी स्थाई नहीं रहता, क्योंकि इसके बाद घंटा, घड़ियाल, तुरही, भेरी, मृदंग, दुदुंभी का आदि निनाद सुनने में आता है। इस प्रकार नित्य प्रति के अभ्यास से अनेक प्रकार के शब्द-श्रवण की अनुभूति होती है और फिर अनाहत शब्द की ध्वनि होने लगती है। यह अनाहत शब्द ही परम श्रेष्ठ शब्द है, इसी में ब्रह्म निहित है। जब इस शब्द में मन लीन हो जाता है, तब साधक को अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता, क्योंकि उसी से परमपद की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए इस कुम्भक को ''समाधिसिद्धिमाप्नुयात्'' कहकर ऋषियों ने समाधि की सिद्धि प्राप्त कराने वाला माना है। कुण्डलिनी जागरण करने वाले साधकों के लिए यह सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है।

मूर्च्छा—पूरक प्राणायाम के अंत में दृढ़तापूर्वक जालंधर बंध को लगाकर कुम्भक करें और फिर धीरे-धीरे वायु का रेचक करें। इस क्रिया में कुम्भक के द्वारा वायु को भर कर मन को आज्ञा चक्र में प्रतिष्ठित करने पर साधक की चेतना लुप्त होती है और बेहोशी की अवस्था प्रतीत होने लगती है, क्योंकि मन के आत्मा में लीन होने से बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता। यह कुम्भक परमानंद प्रदान करने वाला है। इसमें मन को एकाग्र करके भौंहों के मध्य विद्यमान आज्ञाचक्र में लगाएं, क्योंकि इस चक्र में भगवान महेश्वर का निवास रहता है। इस प्रकार यह कुम्भक मन को ब्रह्म में विलीन करता है।

प्लाविनी—पूरक द्वारा बाह्य वायु को खींचकर उदर को परिपूर्ण कर लें और कुम्भक के द्वारा उस वायु को रोके रहें। पहले दिन 64 बार पूरक और 64 बार रेचक करें। इस तरह का अभ्यास प्रत्येक तीन घंटे के अंतर से करना चाहिए। यह शरीर को नीरोग बनाने और मोक्ष प्रदान करने में सहायक है।

प्रत्याहार अर्थात् लौटाना

योग के बहिरंग में यम, नियम, आसन और प्राणायाम के पश्चात् अंतिम बहिरंग प्रत्याहार है। इसकी परिभाषा करते हुए पंतजलि ने लिखा है, *''स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहार।''* अर्थात् अपने विषय से संपर्क न होने से इंद्रियों के चित्त स्वरूप का अनुसरण करना प्रत्याहार कहलाता है।

यम, नियम, आसन और प्राणायाम के अभ्यास से इंद्रियों को उनके विषयों से समेटा जा सकता है। इससे चित्त बाह्य विषयों से हटकर आंतरिक विषयों की ओर लगता है। प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ है, *''लौटाना''*। पंतजलि के अनुसार, *''ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्''*, अर्थात् प्रत्याहार की पूर्णता से इंद्रियों की परमावश्यकता हो जाती है अर्थात् वे पूर्णतया वश में हो जाती हैं। वे अपने विषयों से लौट आती हैं।

इंद्रियों के वश में हो जाने का अर्थ उनका अभाव नहीं, बल्कि विषयों के प्रति आकृष्ट न होना है। प्रत्याहार में भोग करने या न करने पर नियंत्रण हो जाता है। इंद्रियों की शक्ति बनी रहती है, किन्तु साधक चाहे जब उन्हें प्रयोग कर सकता है और चाहे जब समेट सकता है। इस प्रकार साधक को इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जाता है।

धारणा : दर्शन व ग्रहण करने की सामर्थ्य

अष्टांग योग का छठा अंग ''धारणा'' है। शास्त्रानुसार धारणा की सिद्धि तब होती है, जब प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध हो जाए, अन्यथा नहीं होती। प्रत्याहार का अभ्यास होने पर शुभ धारणा का आविर्भाव होता है।

धारणा का अर्थ है, ध्यान के द्वारा दर्शन करने अथवा ग्रहण करने की सामर्थ्य। धारणा की सिद्धि से इच्छित या ध्येय वस्तु को ध्यान के द्वारा देखना या प्राप्त कर लेना संभव होता है। इस प्रकार धारणा का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं समझना चाहिए और साधक को इसकी सिद्धि में लग जाना चाहिए। धारणा पांच प्रकार की मानी गई है।

पार्थिवी—पृथ्वी तत्त्व में धारणा किया जाना ''पार्थिवी धारणा'' कहलाता है। हरताल जैसे वर्ण वाले पृथ्वी तत्त्व का स्थान पांव से जानु पर्यन्त है। इसका आकार चौकोर, बीज ''**लं**'' और देवता ब्रह्मा हैं। योग बल से प्रकट करके इसे हृदय में धारण करें और पांच घड़ी अर्थात् दो घंटे पर्यन्त कुम्भक करें। यह पार्थिवी धारणा सिद्ध होने पर पृथ्वी को विजय कराने वाली होती है।

आम्भसी—यह धारणा जल तत्त्व से संबंधित है। इसका बीज ''**बं**'' तथा देवता विष्णु हैं। इसको योगबल से प्रकट करके हृदय में धारण करना चाहिए। इसे सिद्ध कर लेने वाला साधक गहरे जल में गिरकर भी मरता नहीं। इस धारणा की सिद्धि होने पर शरीर में प्रविष्ट हुआ भयंकर विष भी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता।

आग्नेयी—यह अग्नि तत्त्व से संबंधित धारणा है। अग्नि का स्थान नाभि, आकृति त्रिकोण, वर्ण इंद्रगोप कीड़े के समान लाल और बीज ''**रं**'' है। इसके देवता त्रिनेत्र भगवान रुद्र हैं। इसे योगबल के द्वारा प्रकट कर एकाग्र चित्त से पांच घड़ी पर्यन्त धारण करना चाहिए। इसके अभ्यास से साधक अग्नि के भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है। कुछ आचार्य इसे ''वैश्वानरी धारणा'' कहते हैं। इसका साधक धधकते हुए भीषण अग्निकुंड में भी क्यों न जा गिरे, उसका बाल-बांका नहीं हो सकता।

वायवी—वायु का स्थान हृदय से भृकुटियों पर्यन्त माना गया है। इसका वर्ण अंजन और धुएं के समान काला होता है। बीज ''**यं**'', देवता ईश्वर और सत्त्व गुण से युक्त है। योगबल से प्रकट कर, पांच घड़ी तक यह धारणा करनी चाहिए। इसके अभ्यास से आकाश में गमन करने की शक्ति प्राप्त होती है।

आकाशी—आकाश का स्थान भृकुटि से मूर्द्धान्त पर्यन्त माना गया है। यह वृत्ताकार तत्त्व धूम्र वर्ण का और ''**ह**'' बीच से समन्वित है। इसके देवता सदाशिव हैं। प्राणवायु का अवरोध कर पांच घड़ी तक कुम्भक करने से यह धारणा सिद्ध होती है। इसे ''नभो धारणा'' भी कहते हैं। इस धारणा को करने वाले साधक की कभी मृत्यु नहीं होती।

धारणा की प्राप्ति कैसे हो?

धारणा-शक्ति की प्राप्ति के कई तरीके हैं। यह दावा करना दंभपूर्ण होगा कि कोई व्यक्ति केवल योग की पद्धति से ही इसे प्राप्त कर सकता है। अतीत तथा वर्तमानकाल के अगणित महापुरुषों ने, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र-विशेष में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है तथा प्रभूत धारणा-शक्ति का प्रदर्शन किया है, न तो योगाभ्यास किया और न ही इसे प्राप्त करने के यौगिक मार्ग का अनुसरण किया। फिर भी उनकी धारणा-शक्ति अतीत एवं वर्तमानकाल के जीवनभर योगाभ्यास करने वालों की अपेक्षा बढ़-चढ़कर थी। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि कुछ लोग कोई अनोखी शक्ति प्राप्त कर सके थे तो क्या अन्य लोग भी उसे प्राप्त कर सकते हैं?

इन महापुरुषों ने अपनी धारणा-शक्ति को प्रयत्न द्वारा, कठिन संयम द्वारा, दृढ़ संकल्प द्वारा तथा कुशलता की उपलब्धि के लिए लगन अथवा अन्य प्रेरणाओं द्वारा परिवर्धित या विकसित किया होगा। स्वभावत: तब धारणा के उसी स्तर को प्राप्त करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है, यदि वह उचित प्रयास करे। किन्तु यादृच्छिक रूप-से किए गए प्रयास का परिणाम संतोषप्रद हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता है।

दूसरी ओर, योग की सिद्धि, परीक्षित तथा ज्ञात पद्धति है, जो हर किसी को निश्चयता के आश्वासन के साथ वो ही परिणाम प्रदान करती है। इस प्रसंग में द्रष्टव्य है कि आधुनिक काल के सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए योग सर्वाधिक मूल्यवान एवं स्पृहणीय है। धारणा को हमने निम्न रेखाचित्र के द्वारा समझाने का प्रयास किया है—

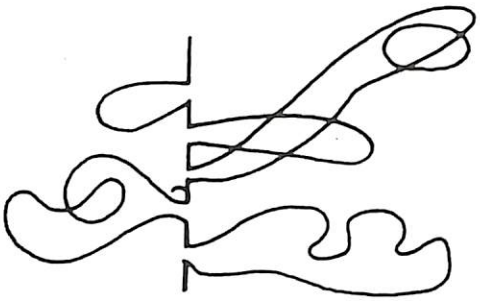

चित्र (अ) के परिणाम

- अधिकांश समय नकारात्मक रूप-से कार्य करता है, इस प्रकार समय का अपव्यय।
- चिंता, तनाव, उत्तेजना तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुओं में अंतर्ग्रस्त होने की अधिक संभावना।
- कार्य-संपादनों में बड़ी बाधा : शारीरिक तथा मानसिक दोनों।
- शरीर तथा मन की अनिश्चित दशा के कारण भावी योजनाएं अप्रत्याशित होती हैं।
- विश्राम, आनंद, सुख और अच्छे स्वास्थ्य का अभाव।

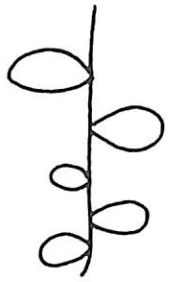

चित्र (ब) के परिणाम

- अधिकांश समय सकारात्मक रूप-से कार्य करता है, इस प्रकार समय का उचित उपयोग।
- व्यर्थ उत्तेजना की संभावना कम और धारणा की उच्चतर अवस्था में शून्य।
- शारीरिक तथा मानसिक कार्य-संपादनों में बड़ी सहायता।
- शारीरिक तथा मानसिक दशा सुनिश्चित होने के कारण भावी योजनाएं विश्वसनीय होती हैं।
- विश्राम, आनंद, सुख और अच्छे स्वास्थ्य की लगातार उपलब्धि।

योग में धारणा-शक्ति प्राप्त करने की कई विधियां हैं। कुछ विधियां सरल हैं, किन्तु अन्य कठिन तथा जटिल हैं। यद्यपि इन सबका एक ही परिणाम होता है। कठिन तथा जटिल विधियों का अभ्यास किसी अनुभवी गुरु (योग-शिक्षक) की उपस्थिति में ही किया जाना चाहिए। यदि व्यक्ति स्वयं इनका अभ्यास करता है, तो इससे गलतियां होने, यहां तक कि हानि होने की भी संभावना रहती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए केवल सरल, किन्तु समान रूप-से महत्त्वपूर्ण विधि का निर्देश दिया जाता है, ताकि कोई भी व्यक्ति बिना किसी भय के तथा बिना किसी गुरु की व्यक्तिगत सहायता लिए उसका अभ्यास कर सके।

उस विधि का वर्णन करने से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि हठयोग के आसनों द्वारा भी किस प्रकार यह धारणा-शक्ति प्राप्त की जाती है। यद्यपि आसनों का संबंध मुख्यत: शारीरिक उत्कृष्टता से है, तथापि मानसिक पक्ष भी अप्रभावित नहीं रहता। किसी भी आसन के अभ्यास की विधि ऐसी होती है कि जब तक शरीर तथा मन का सामंजस्य नहीं होगा, तब तक उसे संतोषपूर्वक संपन्न नहीं किया जा सकता।

इस अवस्था में यह ज्ञातव्य है कि विभिन्न आसनों के अभ्यास में शारीरिक गतियों तथा अनुकूलनों के साथ-साथ श्वास लेने, श्वास छोड़ने, उसे रोक रखने तथा स्वाभाविक श्वास-क्रिया की आवश्यकता होती है। जब तक ये आवश्यकताएं पूर्ण नहीं हो जातीं, तब तक किसी आसन का अभ्यास सम्यक् रूपेण संपन्न नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह आसानी से समझ में आ सकता है कि अभ्यास की प्रकृति ऐसी होती है कि शरीर और मन के बीच सहयोग तथा सामंजस्य के अभाव में पूर्णता की उपलब्धि नहीं होती। अत: आसनों के क्रम में मन का ध्यानस्थ एवं समन्वित होना स्वभावत: धारणा-शक्ति की प्राप्ति में सहायक बन जाता है। इसे योगासनों का परोक्ष लाभ माना जा सकता है, यद्यपि यह पूर्ण धारणा की ओर प्रवृत्त नहीं करता। चूंकि पूर्ण धारणा-शक्ति की प्राप्ति हमारा लक्ष्य है, इसलिए एक विशेष यौगिक विधि, जो खासकर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है, आवश्यक हो जाती है।

धारणा-शक्ति का अभ्यास

धारणा-शक्ति के वास्तविक अभ्यास के पूर्व कुछ अनिवार्यताएं हैं, जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए। वे अनिवार्यताएं स्थान, समय, शारीरिक दशा, भोजन या खाद्य-पदार्थ और अभ्यास की प्रविधि-विषयक हैं।

स्थान—अभ्यास का स्थान साफ-सुथरा तथा शांतिपूर्ण होना चाहिए। वहां स्वच्छ वायु सुलभ होनी चाहिए। आवश्यक नहीं कि अभ्यास का स्थान किसी विशेष प्रकार का हो, किन्तु यह अभ्यासी की आंखों के लिए सुखकर अवश्य होना चाहिए। नियमित रूप-से एक ही स्थान पर अभ्यास करें और अत्यंत आवश्यक होने पर ही स्थान-परिवर्तन करें। यदि संभव हो तो अकेले ही अभ्यास करें। किसी दर्शक को वहां न आने दें।

समय—अपनी सुविधानुसार कोई भी समय चुना जा सकता है। अभिप्राय यह है कि अभ्यास का समय ऐसा हो कि उस समय कम-से-कम शारीरिक और मानसिक सक्रियता की आवश्यकता पड़े। यह समय नियमित दिनचर्या के कार्यकाल के पूर्व या पश्चात् हो सकता है। प्रतिदिन उसी समय धारणा का अभ्यास किया जाना चाहिए।

शारीरिक दशा—धारणा के अभ्यास के समय शरीर हल्का, अक्लांत, स्वच्छ और सामान्य होना चाहिए। किसी भी मादक द्रव्य के प्रभाव से मुक्त रहना आवश्यक है तथा शरीर थका-मांदा भी न हो और न कोई अत्यधिक पीड़ा ही हो। अभ्यास के समय पेट खाली रहे।

मानसिक दशा—धारणा के अभ्यास के समय मन को चिंता, उद्वेग तथा किसी श्रमसाध्य अंतर्ग्रस्तता से मुक्त रखें। ईर्ष्या, घृणा, क्रोध तथा प्रतिशोध की भावना का परित्याग किया जाना चाहिए। अपने मन पर किसी प्रकार का बोझ या दबाव भी न आने देना चाहिए।

भोजन—निरामिष या सामिष जो भी आहार पसंद हो, उसी को लें। किन्तु एक बात का ध्यान रखें कि वह तामसी (उत्तेजक) न हो। भोजन में अधिक मसालों का प्रयोग भी न करें। संतुलित आहार ग्रहण करें, जिसका अर्थ है कि भोजन में सलाद, ताजा फल तथा सब्जियां शामिल रहें।

अभ्यास की विधि—धारणा के अभ्यास की अनेक विधियां हैं, किन्तु उन सबमें जो सर्वमान्य है, वो है किसी

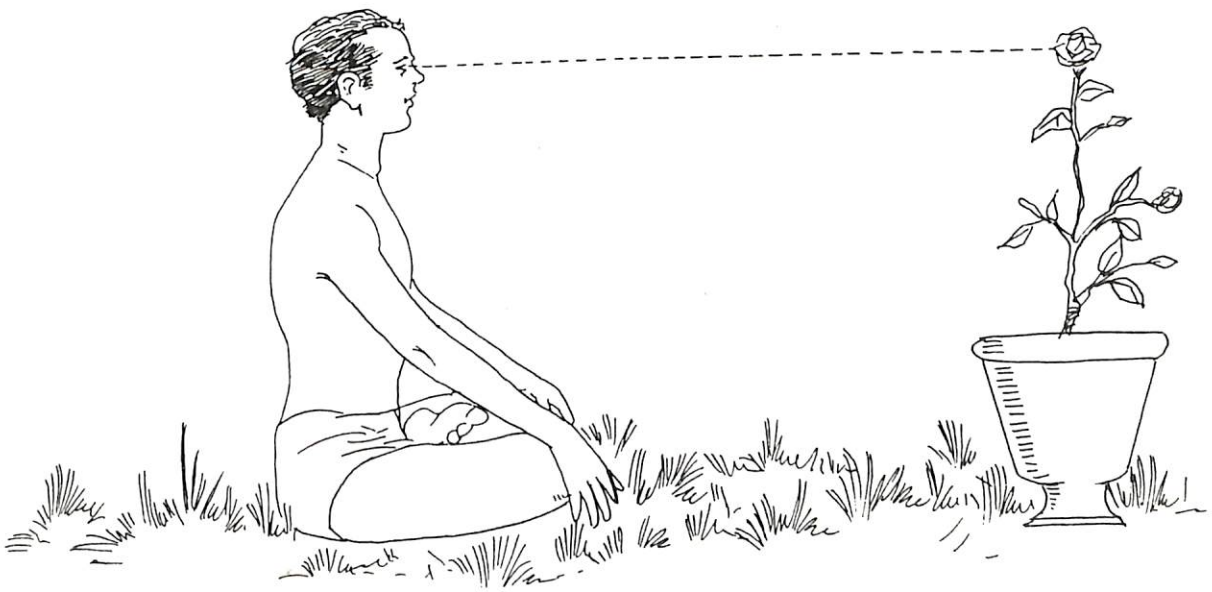

वस्तु पर अपने मन को केंद्रित या स्थिर करना। इस स्थिरता का अभ्यास शरीर के आंतरिक या बाह्य भाग पर किया जा सकता है या किसी अन्य वस्तु पर भी। व्यक्ति के शरीर के आंतरिक या बाह्य भाग के साथ अभ्यास जटिल,

कठिन तथा खतरनाक होता है। किन्तु किसी चुनी हुई वस्तु के साथ अभ्यास अपेक्षाकृत सरल, खतरों से रहित तथा अत्यधिक फलदायक होता है।

वस्तु किसी प्रकार की हो? यद्यपि वस्तु का चयन व्यक्ति की अपनी पसंद पर निर्भर है, फिर भी इस संबंध में चित्र, पुष्प, दीपक या मोमबत्ती का निर्देश दिया गया है। हमारे अपने मत से पुष्प ही अभ्यास के लिए सबसे उपयुक्त है। पहले डंठल सहित पुष्प को अक्षुण्ण रूप में किसी छोटे पात्र, जैसे कि गिलास, फूलदान या इसी प्रकार के किसी अन्य पात्र में रखें और निम्न चित्रानुसार पुष्प पर दृष्टि केंद्रित कर, धारणा-शक्ति को प्राप्त करने का अभ्यास नित्य करें।

दृष्टि-शक्ति का ज्ञान

योग के अनुसार हमें दो प्रकार की दृष्टि-शक्ति प्राप्त हैं : 1. आंखों की शक्ति द्वारा, 2. अंत:चक्षु द्वारा। योगियों का विश्वास है कि हम सबको अंत:चक्षु प्राप्त हैं, जिसकी स्थिति अग्र-ललाट में अर्थात् भौंहों के मध्य क्षेत्र में है। अभ्यास द्वारा अंत:चक्षु की इस गुप्त दृष्टि-शक्ति को विकसित किया जा सकता है।

जब अभ्यास द्वारा अंत:चक्षु की शक्ति विकसित तथा तीक्ष्ण हो जाती है, तब योगी उन चीजों को भी देखने का दावा करते हैं, जिन्हें बाह्य चक्षुओं से देख पाना संभव नहीं होता। जहां बाह्य चक्षुओं से केवल बाह्य रूप-से वस्तुएं दृष्टिगोचर हो सकती हैं, वहां अंत:चक्षुओं से प्रत्यक्षत: अदृष्टपूर्ण सुदूरवर्ती वस्तुएं भी दृष्टिगत हो सकती हैं। धार्मिक विश्वास एवं मूल्यों को मान्यता प्रदान करने वाले योगी अपने आराध्यदेव के साकार रूप के दर्शनार्थ अपने अंत:चक्षुओं की इस शक्ति की वृद्धि में अपना बहुत अधिक समय लगाते हैं। चूंकि हमारा उद्देश्य किसी देवता की आराधना अथवा दर्शन करना नहीं है, अत: हम इस शक्ति का केवल सीमित उपयोग करेंगे।

धारणा : सामने की स्थिति

प्रासंगिकता की दृष्टि से यह सीमा स्वेच्छा से गृहीत है। धारणा के आवश्यक पहलू के अभ्यास की उपयोगिता समझकर ही हम इसके अनावश्यक पहलुओं का यहां परित्याग कर रहे हैं। अंतर्दृष्टि-शक्ति में हमारी अभिरुचि उसी बिंदु तक है, जहां तक इसके कार्य एवं प्रकृति की जानकारी, इसके उपयुक्त तथा लाभकारी विकास में सहायक है।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण की सार्थकता तभी सरलता से समझ में आएगी, जब आप वास्तविक अभ्यास प्रारंभ करेंगे। जब आप किसी चीज को खुली आंखों से देखते हैं और फिर आप उसी चीज को अंत:चक्षु से देखने का प्रयास करते हैं, तो ऐसा करके आप धारणा का अभ्यास प्रारंभ कर देते हैं।

अंत:चक्षु द्वारा दृष्टिगोचरता में जैसी प्रगति होगी, उसी के अनुपात में धारणा की उपलब्धि में भी प्रगति होगी। इस प्रकार, अभ्यास की दीर्घता एवं अवधि इस पर निर्भर करेगी कि व्यक्ति-विशेष की रुचि तथा आवश्यकता क्या है।

धारणा के लिए उपरोक्त स्थिति (चित्रानुसार) में बैठना, उन लोगों के लिए कुछ कठिन एवं कष्टकर हो सकता है, जिन्हें फर्श पर बैठने का अभ्यास नहीं है। विशेषत: कुछ अमेरिकियों तथा पाश्चात्य देशों के योगाभ्यासियों के साथ यह बात हो सकती है। अत: यह सुझाव दिया जाता है कि इस आधार पर हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। अभ्यासियों को देखकर यह आश्चर्य होगा कि केवल कुछ सप्ताहों के अभ्यास के पश्चात् बैठने में जो कठिनाई हो रही थी, वह दूर हो चुकी है। धारणा के लिए बैठने की दूसरी अवस्था निम्न चित्र के द्वारा ज्ञात की जा सकती है।

धारणा : बाएं पहलू की स्थिति

धारणा के अभ्यास के समय पूरी वायु को दोनों नासिका-छिद्रों द्वारा धीरे-धीरे तथा लगातार बाहर निकाल दें। जब श्वास-वायु का बाहर निकलना समाप्त हो जाए, एक सेकंड के लिए रुक जाएं और उसके बाद दोनों नासिका-छिद्रों से धीरे-धीरे तथा लगातार श्वास लेना प्रारंभ करें। जब श्वास लेना समाप्त हो जाए, तो पुन: एक सेकंड तक रुक जाएं और तब पहले की भांति श्वास छोड़ना प्रारंभ करें तथा जब यह समाप्त हो जाए, तो पुन: रुक जाएं।

अभ्यास के पहले दिन श्वास लेने तथा छोड़ने की यह क्रिया केवल पांच बार करें और समय के साथ-साथ इसे बढ़ाते जाएं। इस क्रिया से मुख्यत: पेट से संबंधित क्षेत्र प्रभावित होगा अर्थात् जब आप श्वास छोड़ रहे हों, तब पेट की मांसपेशियों को सिकुड़ना चाहिए। दूसरे शब्दों में जब आप श्वास छोड़ रहे हों, तब आपको अपने पेट का मेरुदण्डीय रज्जु (सुषुम्ना) की ओर भीतर ले जाना चाहिए। जब आप श्वास ले रहे हों, तब पेट की मांसपेशियों को फैलना चाहिए अर्थात् भीतर श्वास लेते समय पेट को आगे की ओर आ जाना चाहिए। पेट की मांसपेशियों के सिकुड़ने और फैलने की क्रिया लयबद्ध रूप में होनी चाहिए।

लयबद्ध श्वास-क्रिया के इच्छित चक्र पूरा करने के बाद कुछ मिनटों तक विश्राम करें। श्वास-क्रिया में आप जितना समय लगाते हैं, उसका लगभग चतुर्थांश समय विश्राम का होना चाहिए। किन्तु इस विश्राम में लेट नहीं जाना चाहिए।

विश्राम की स्थिति में सामान्य एवं स्वाभाविक रीति से श्वास लेते और छोड़ते रहें यानी श्वासक्रिया स्वाभाविक हो। यहां लयबद्ध श्वास-क्रिया के महत्त्व के बारे में जान लेना भी आवश्यक होगा। राजयोग के अनुसार यह लयबद्ध श्वास-क्रिया संपूर्ण शारीरिक प्रणाली में सामंजस्य ला देती है। यह श्वास-क्रिया जहां एक ओर स्नायु-तंत्र को सक्रिय एवं सशक्त बनाती है, उसी के साथ यह संपूर्ण शारीरिक प्रणाली या तंत्र को सुख पहुंचाती, शांति देती और सुव्यवस्थित भी करती है।

जब अभ्यास समाप्त हो जाए, तब भी स्थिरतापूर्वक शांत ही बैठे रहें। किन्तु अब, शरीर को ढीला करें और दो मिनट तक शिथिलन का विश्राम लेने की स्थिति में बैठें। जब आप यह कर लेते हैं, तब धारणा का आपका अभ्यास पूर्ण एवं समाप्त हो जाता है। अभ्यास-समाप्ति के पश्चात् आप भोजन करने, सोने या कोई अन्य कार्य करने लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं।

धारणा के अभ्यास की विधि से पूर्व, प्रारंभ में हमने पांच प्रकार की धारणाओं के बारे में बतलाया था। पंच धारणा में पंच महाभूतों की भावना होती है और साधक की चित्त उस-उस भूत एवं उसके अधिपति देवता में रमने लगता है। उस समय साधक के समक्ष अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं। उन विघ्नों से पार जाने में प्रयत्नशील साधक ही सिद्धि को प्राप्त हो पाता है।

उन विघ्नों में डाकिनी-शाकिनी आदि यक्षिणियां अनेक प्रकार के रूप दिखाकर चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने का प्रयत्न करती हैं। पहले वह अपना मादक और मनोहर रूप दिखाकर साधक को मोहित करती हैं। यदि वह मोहित नहीं होता, तो भयंकर रूप दिखाकर डराती हैं। उस समय राक्षसी या सिंहनी आदि उसे खाने को दौड़ती हैं। इस प्रकार यक्षिणियों का मादक या भयंकर रूप साधक को अंतर्दृष्टि से दिखाई देता है।

उस समय साधक को सावधान रहकर अपनी साधना में लगे रहना चाहिए। वह उनकी किसी भी कुचेष्टा से मोहित या भयभीत न होकर अविचल भाव से धारणा में चित्त को योजित रखे। इस प्रकार की अविचलता से उन विभिन्न रूपों का दिखाई देना स्वत: समाप्त हो जाता है। उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह सब साधक के योग की परीक्षा के लिए स्वप्न के समान मिथ्या माया ही है। इससे घबराने या भयभीत होने पर योग का भंग होना ही संभव है।

धारणा सिद्धि से आनंद की अनुभूति

इस प्रकार उक्त विघ्नों को मिथ्या समझकर दृढ़ चित्त से लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ साधक धारणा सिद्धि में पूर्ण रूप-से सफल होता है। उसे सत्-चित्-आनंद का अनुभव होने लगता है और दु:ख नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रहती। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो तभी वह ध्यान का पूर्ण अधिकारी हो सकता है, इसलिए इस अवस्था की प्राप्ति के प्रयत्न में लगना ही कल्याणकारी होती है। इस विषय में निर्देश है—

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय धारणासु यथाविधिं।
मरणं जन्मं दु:ख च सुखं च सविमुन्चति॥

''हे कौन्तेय! जो साधक विधिपूर्वक यौगिक धारणाओं का अभ्यास कर उन्हें सिद्ध कर लेता है, वह मरण, जन्म, दु:ख, सुख सभी से मुक्त हो जाता है।''

उपरोक्त श्लोक में ''मरणं जन्मं दु:खं च सुखं'' इत्यादि कहने से मरण को दु:ख और जन्म को सुख मानने का भी भाव प्रकट होता है, क्योंकि क्रम से मरण और जन्म की अनुभूति दु:ख और सुख की बनेगी। इससे भी यही सिद्ध हुआ कि दु:ख और सुख दोनों ही त्यागने योग्य हैं।

ग्रंथान्तर से धारणा विधि का वर्णन

''देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्'', अर्थात् अपने शरीर में जो आकाश स्थित है, उसमें बाह्य आकाश की धारणा करें। शरीर में आकाश की स्थिति मूर्द्धा में मानी गई है। उसमें बाहरी आकाश की धारणा करने से आकाशी धारणा सिद्ध होती है। अब वायवी और आग्नेयी धारणा के विषय में कहते हैं—

''प्राण बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे, ''अर्थात् प्राण में बाह्य वायु की धारणा करनी चाहिए। यह वायवी धारणा हुई। जठराग्नि में बाह्य अग्नि की धारणा करें। इस प्रकार आग्नेयी धारणा का वर्णन हुआ। जल और पृथ्वी (पार्थिवी) की धारणा का वर्णन इस प्रकार है, *''तोयं तोयाशं भूमि भूमिभागे महामुने,* ''अर्थात्—हे महामुने! शरीरस्थ तरली में बाह्य जल की ओर पार्थिव भाग में संपूर्ण पृथ्वी की धारणा करनी चाहिए।

इस प्रकार पंच धारणाओं का वर्णन करते हुए आगे कहा गया है कि पृथ्वी के अंश भाग में ब्रह्मा का, जल के अंश भाग में विष्णु का, अग्नि के अंश भाग में रुद्र का, वायु के अंश भाग में ईश्वर का और आकाश के अंश भाग में सदाशिव का ध्यान करें।

इस प्रकार पंच धारणाओं का यह वर्णन साधकों के लिए अध्ययन के योग्य है। इसे ठीक प्रकार से समझ कर अभ्यास में तत्पर होना चाहिए। ज्ञानी पुरुष को अपनी आत्मा में बोधमय, आनंदमय और कल्याणमय परमात्मा की धारणा नित्य प्रति करनी चाहिए। इस धारणा के अभ्यास से सभी पापों की वृद्धि होती है, कार्य रूपी ब्रह्मा आदि को अपने-अपने कारण में लीन करके, अनिर्वचनीय परम कारण और अव्यक्त परमात्मा की धारणा अपनी ही आत्मा में करें तथा ऐसा करते समय अपने मन को सर्व कलामय ओंकार रूप परमात्मा में लीन कर दें, साथ ही इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके आत्मा में ही योजित कर दें। परमात्मा का पूर्ण अभ्यास सिद्ध होने पर साधक कुण्डलिनी जाग्रत करने में समर्थ हो जाता है। इसलिए धारणा की सिद्धि में पूर्ण प्रयत्नशील होना ही श्रेयस्कर है।

ध्यान अर्थात् एकरस होना

धारणा के पश्चात् ध्यान का सोपान आता है। महर्षि पतंजलि ने इसकी परिभाषा, *''तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम्''* इन शब्दों में की है। जब धारणा के द्वारा प्रत्ययों की एकतानता हो जाती है अर्थात् वृत्तियों का प्रवाह एक रस हो जाता है तो उसको ध्यान कहते हैं। ध्यान के तीन प्रकार हैं—

स्थूल ध्यान—दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थों की ज्ञान-प्राप्ति के लिए जो ध्यान किया जाता है, वो ही स्थूल ध्यान है। यह ध्यान प्राय: सभी प्रकार के साधकों के लिए सुगम होता है, विशेषकर किसी भी विधि से साधना आरंभ करने वालों के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी है। ध्यान में नेत्रों को बंद कर, हृदय में, नासिका के अग्रभाग में अथवा भौंहों के मध्य में दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। किसी भी ध्येय में तन्मय हो जाना ध्यान है।

ज्योतिर्ध्यान—इस ध्यान का वर्णन प्राय: सभी ग्रंथों में नहीं मिलता। न इसका प्रचलन विस्तृत रूप से है। घेरण्ड संहिता में इसका विवेचन *''मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणी''* इत्यादि से किया गया है। उसके अनुसार

मूलाधार में सर्पाकार से कुण्डलिनी शक्ति रहती है, वही दीप कालिका के आकार में जीवात्मा की विद्यमानता है। यहां तेजोमय परात्पर ब्रह्म का ध्यान करना ही तेजोध्यान अथवा ज्योतिर्ध्यान है।

सूक्ष्म ध्यान—घेरण्ड ऋषि ने सूक्ष्म ध्यान में कुण्डलिनी शक्ति के ध्यान का निर्देश किया है, *''आत्मनः सहयोगेन नेत्ररन्ध्र विनिर्गता''*, इत्यादि के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति आत्मा के साथ संयुक्त होकर नेत्र रन्ध्रों से निकलती और ऊर्ध्वभाग में स्थित राजमार्ग में विचरण करती है, किन्तु वो अपने सूक्ष्मत्व और चंचलत्व के कारण दिखाई नहीं देती। इसका ध्यान शाम्भवी मुद्रा के साथ करना चाहिए। इसमें जिस राजमार्ग का वर्णन है, उसे महापथ भी कहते हैं। यह शरीर के ऊर्ध्वभाग में स्थित है। योगकुण्डल्युपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है, *''शरीरे सकलं विश्व पश्यत्माविभेदतः। ब्रह्माण्डोऽयंमहामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली॥''* अर्थात् अभ्यास होने पर योगी अपने शरीर में ही संपूर्ण विश्व को देखने लगता है, क्योंकि जिह्वा में ब्रह्मरंध्र पर्यन्त जो महामार्ग है, उसी में ब्रह्माण्ड की स्थिति है। इसी राजमार्ग में कुण्डलिनी शक्ति विहार करती है।

शम (Quietness)

शांत-निश्चल ध्यान का महत्व इससे ज्यादा और क्या हो सकता है, इससे लक्ष्य को बेधने की सामर्थ्य आती है। महाभारत की यह कथा आपने पढ़ी ही होगी, जिसमें अर्जुन ने एकाग्रता की साधना के परिणामस्वरूप पक्षी की आंख को भेद दिया। द्रौपदी के स्वयंवर में मछली की आंख को भेदना अर्जुन की 'ध्यान' की पराकाष्ठा थी।

ध्यान का महत्व

ध्यान का महत्त्व इससे ज्यादा और क्या हो सकता है इससे लक्ष्य को बेधने की सामर्थ्य आती है। महाभारत की वह कथा आपने पढ़ी ही होगी, जिसमें अर्जुन ने एकाग्रता की साधना के परिणामस्वरूप पक्षी की आंख को भेद दिया। द्रौपदी के स्वयंवर में मछली की आंख को भेदना अर्जुन के ध्यान की पराकाष्ठा थी।

अति प्राचीन काल से साधकों ने मन को एकाग्र करने के उपायों की खोज की है। एकाग्रता के साथ-साथ उसके अभाव के कारणों और उनको दूर करने के साधनों पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान ने अवधात, उसके विभिन्न प्रकार, उसके निर्णायकों के साथ-साथ अनवधान और उसके कारणों पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। पंतजलि ने अष्टांग योग के सिद्धांत में ध्यान को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

योग में ध्यान और उसके साधनों का विस्तृत विवेचन मिलता है। सांख्यदर्शन के अनुसार, ध्यान के लिए रजस गुण का दमन आवश्यक है, क्योंकि वही चित्त को चलायमान रखता है। जब मन में तमस और रजस गुणों पर सत्त्व गुण का अधिकार हो जाता है, तो वह ध्यानयुक्त हो जाता है। इसके लिए चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। सत्त्व गुण बढ़ने के साथ-साथ चित्त-वृत्तियों का निरोध होता जाता है। इसके लिए वैराग्य और तितिक्षा तथा विवेक की आवश्यकता होती है। पर-वैराग्य और पर-ज्ञान का घनिष्ठ संबंध है। ज्ञान के होने से वैराग्य उत्पन्न होता है, क्योंकि मोह दूर होता है।

यद्यपि सांख्य निरीश्वर है, किन्तु योग में ईश्वर को मान्यता दी गई है और ईश्वर प्रणिधान को योग का साधन माना गया है। ईश्वर ध्यान लगाने के लिए सर्वोत्तम विषय है। मन में शम (Quietness) के विकास से ध्यान में सहायता मिलती है। पंतजलि के अनुसार, *''अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।''* अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

वाचस्पति मिश्र ने ध्यान की परिभाषा करते हुए लिखा है, *''एकाग्रम् एकतानम्।''*इस प्रकार ध्यान मन का एकाग्र और एकतान हो जाना है। दार्शनिक विश्वनाथ के शब्दों में, *''प्रणिधानम् चित्त एकाग्रम्,''*अर्थात् प्रणिधान में चित्त एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार ध्यान की क्रिया में चुनाव होता है। इसमें कुछ वस्तुओं को छोड़कर किसी विशेष वांछनीय वस्तु पर चित्त एकाग्र किया जाता है। इसमें मन प्रतिकूल वस्तुओं से हटकर अनुकूल विषय पर लग जाता है।

शुकदेव की कथा आती है पुराणों में। शुकदेव महर्षि व्यास के पुत्र थे। शुकदेव की जिज्ञासा को अट्ठारह पुराणों के रचयिता व्यास शांत न कर पाए, तो उन्होंने शुकदेव को महाराज जनक के पास जाने को कहा। जनक का एक नाम विदेह भी है। वे शास्त्र में पारंगत तो थे ही, ब्रह्मनिष्ठ भी थे।

पिता की आज्ञा से शुकदेव मिथिला पहुंचे। शुकदेव के आगमन की सूचना जब विदेह को मिली, तो उन्होंने शुकदेव को महलों में बुलाया। शुकदेव ने राजप्रासाद में जनक को जिस स्थिति में देखा, उसकी उन्होंने कभी कल्पना भी न की थी। राजा जनक का एक हाथ नग्न सुंदरी के स्तनों पर रखा हुआ था। वे कोई प्रतिक्रिया करते कि जनक ने शुकदेव के आगमन का आशय पूछा। दृष्टि को जमीन में गाड़े हुए ही शुकदेव ने अनमने भाव से अपने आगमन का कारण बताया। बताते-बताते शुकदेव की नजर जिस पर पड़ी वह बात पहले से भी ज्यादा चौंकाने वाली थी। जनक का एक पैर दहकते अंगारों के ऊपर था।

''दोनों मायाजन्य हैं, इनमें उलझकर विक्षिप्त होना साधक के लिए उपयुक्त नहीं। अपनी जिज्ञासा और समाधान पर ध्यान को एकाग्र करो।'' जनक ने शुकदेव को सचेत किया।

इतनी देर में दूध से लबालब भरा एक पात्र सेवक ले आए थे। जनक ने समझाया, ''आत्मसाधना और आत्मतत्त्व के जिज्ञासु पर बाद में विचार करेंगे। यह लो इस पात्र को लेकर आप पूरे नगर के दर्शन कर आएं। ध्यान रहे, दूध की एक बूंद भी नीचे न गिरे।''

शुकदेव जब नगर घूमकर वापस आए, तो जनक ने पूछा, ''कैसी लगी मिथिला नगरी?''

शुकदेव ने जवाब दिया, ''नगरी मैंने देखी ही कहां? मेरा पूरा ध्यान तो आपकी इस आज्ञा के पालन में लगा हुआ था कि दूध की एक बूंद भी न गिरे।''

दृश्य था, दृष्टि थी। शुकदेव ने फिर भी कुछ नहीं देखा। ध्यान में एक लक्ष्य होता है सामने। यह इसका पोजिटिव पक्ष है। इसका नकारात्मक पहलू है लक्ष्य के अलावा अन्य दृश्य-वस्तुओं का पूर्णतया परिहार। विक्षेप रहित एकाग्रता के रूप में भी ध्यान की परिभाषा की जा सकती है।

एकाग्रता में दृष्टि और मन के संतुलन की आवश्यकता होती है

अनुकूल विषय पर ध्यान का लगना विधायक और प्रतिकूल विषय से हटना निषेधात्मक पहलू है। मन के अनियंत्रित रहने से अनवधान होता है। नियंत्रित मन में ध्यान सरलता से लगता है। ध्यान में मन के साथ-साथ इन्द्रियों की भी एकाग्रता सम्मिलित है। इस प्रकार प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषय से समेट लेना ध्यान में सहायक कारक है। अनवधान के अभाव से भी ध्यान लगता है। इसलिए कहा गया है, *''एकाग्रम् विक्षेप रहितम् मनः।''*

ध्यान की प्रकृति

ध्यान की उपरोक्त परिभाषा से उसकी प्रकृति स्पष्ट होती है। जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है, ध्यान न लगने का कारण रजस और तमस गुण होते हैं। रजस गुण बेचैनी और अत्यधिक सक्रियता का कारण होता है। तमस गुण से आलस्य, प्रमाद, तंद्रा आदि उत्पन्न होते हैं। ये सब ध्यान में बाधक कारक हैं। अतः मन को एकाग्र करने के लिए सत्त्व गुण की वृद्धि की जानी चाहिए। इसलिए भारतीय योग ग्रंथों में आहार की शुद्धता पर बल दिया गया है, क्योंकि आहार शुद्ध होने से सत्त्व गुण बढ़ता है, जिससे मन को एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

ध्यान के लक्षण

ध्यान की प्रकृति बतलाते हुए बुद्ध घोष ने उसके निम्नलिखित लक्षण बतलाए हैं—

- ध्यान में चेतना का क्षेत्र सीमित हो जाता है।
- ध्यान से चेतना की विषय वस्तु स्पष्ट हो जाती है।
- ध्यान से प्रकाश का कारक पूर्ण विकसित हो जाता है।
- ध्यान शांति उत्पन्न करता है।

ध्यान बढ़ने के साथ-साथ उसके उपरोक्त लक्षण भी बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ध्यान लगाने के लिए मन को उन सभी विषयों से हटाना पड़ता है जो कि ध्यान में बाधक हैं। इसके लिए शरीर और इन्द्रियों की क्रिया को नियंत्रित करना पड़ता है तथा शरीर की क्रियाओं को रोकना पड़ता है।

गीताकार ने कहा है कि मन के द्वारा बाह्य इन्द्रियों पर नियंत्रण किया जा सकता है और आत्मा से मन का नियंत्रण किया जा सकता है। केवल आत्म नियंत्रित व्यक्ति ही मन पर नियंत्रण कर सकता है। पूज्यपाद ने ध्यान की प्रकृति को बतलाते हुए उसे वांछनीय विषय पर मन को एकाग्र करना कहा है। इसके लिए अनेक विषयों को न लेकर किसी एक विषय पर ध्यान जमाना चाहिए। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्यान में मन, वचन, कर्म को अनेक विषयों से हटाकर किसी एक विषय पर लगाया जाता है।

ध्यान और प्रत्यक्षीकरण

प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में ध्यान की आवश्यकता होती है। ध्यान के बिना प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। ध्यान उसमें एक सोपान है। भारतीय विचारकों ने निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष में अंतर करते हुए दिखलाया है कि पहले कम और दूसरे में अधिक ध्यान की आवश्यकता पड़ती है। विकल्प न होने पर ध्यान की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी आवश्यकता विकल्प होने पर पड़ती है।

प्रत्यक्षीकरण के सिद्धांत के अनुसार इसमें आत्मा, ज्ञानेन्द्रिय, मनस और अंतःकरण की सहायता से विषय के संपर्क में आता है। इसमें मनस और इन्द्रिय मात्र अचेतन होने के कारण स्वयं प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकते। यह कार्य आत्मा का है। ध्यान में वस्तु की उत्तेजना आत्मा को प्रभावित करती है, जिससे वस्तु के प्रति चेतना उत्पन्न होती है और उत्तेजना चेतना के क्षेत्र में आ जाती है। इस प्रकार सविकल्प प्रत्यक्षीकरण में ध्यान अत्यंत आवश्यक है।

ध्यान और स्मृति

किसी वस्तु पर ध्यान लगाने से वह स्मृति में स्थान पा लेती है और बाद में उसकी याद आती है। कोई वस्तु

शीघ्र और कोई कठिनता से याद आती है। इसका कारण भी स्मृति से ध्यान का संबंध है। ध्यान रहने पर स्मृति तीव्र होती है। स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि मन को अनावश्यक विचारों से खींचकर आवश्यक विषय पर केंद्रित किया जाए। ऐसा होने से उसके स्मरण में सरलता होती है। ध्यान रहे, स्मृति का कार्य भी मनस नहीं करता, बल्कि उसके माध्यम से आत्मा करती है। अत: सक्रिय स्मृति के लिए सक्रिय ध्यान आवश्यक है।

ध्यान और चेतना

ध्यान स्पष्ट और विवेकयुक्त चेतना की अवस्था है। जब तक हम किसी वस्तु की ओर ध्यान नहीं देते, तब तक उसकी स्पष्ट चेतना नहीं होती, किन्तु जब विशिष्ट इन्द्रिय की सहायता से किसी वस्तु पर ध्यान को केंद्रित किया जाता है, उसकी स्पष्ट चेतना होती है। दूसरे शब्दों में ध्यान की एकाग्रता बढ़ते जाने के साथ-साथ चेतना का क्षेत्र घटता जाता है और विषय की स्पष्टता बढ़ती जाती है।

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार ध्यान की स्थिति में अंत:करण विषय का रूप ग्रहण कर लेता है। इसमें ध्यान और चेतना का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट होता है। समाधि की अवस्था में मन विषय से पूर्णतया एकाग्र हो जाता है और दोनों में कोई अंतर नहीं रहता। इस प्रकार आत्म चेतना और विषय चेतना एकरूप हो जाते हैं।

ध्यान और रुचि

ध्यान रुचि पर निर्भर होता है। हम अपने परिवेश की प्रत्येक वस्तु पर ध्यान नहीं देते, केवल उसी वस्तु पर ध्यान देते हैं, जिसमें हमें रुचि होती है। जब कभी कोई व्यक्ति (या साधक) कुण्डलिनी जगाने के लिए सुषुम्ना नाड़ी पर ध्यान लगाता है, तो उसकी रुचि केवल नाड़ी पर ही स्पष्ट होती है। मन में अनेक प्रकार की रुचियां होने पर भी उनमें सबसे अधिक प्रबल रुचि ही ध्यान को निर्धारित करती है।

ध्यान और इच्छा

पूज्यपाद के अनुसार प्रत्यक्षीकरण के चार सोपान हैं, जिसमें सबसे पहले वस्तु की सामान्य रूपरेखा का निरीक्षण किया जाता है। यह अवग्रह है। इसके बाद ईहा अथवा इच्छा आती है जिसमें वस्तु के विशेष गुण आत्मा में रुचि उत्तेजित करते हैं। तीसरी स्थिति अवाय है जिसमें आत्मा वस्तु के कुछ विशेष गुणों पर ध्यान देती है और चौथी स्थिति धारणा की है। इससे इच्छा और ध्यान का संबंध स्पष्ट होता है। ध्यान को एकाग्र करने का उपाय बतलाते हुए नेमीचंद ने लिखा है कि अन्य वस्तुओं से रुचि हटाकर केवल एक ही विषय में रुचि लगानी चाहिए, इससे ध्यान सहज हो जाता है।

अनवधान

अनवधान का एक प्रकार ध्यान विचलन (Fluctuation) है, जिसमें मन एक विषय से दूसरे विषय की ओर सतत भागता रहता है। मन के इस विचलन को एक वस्तु पर ध्यान एकाग्र करके दूर किया जा सकता है। योग साधना पद्धति में मन के विचलन को रोकने के अनेक उपाय बतलाए गए हैं। तत्वार्थ राजवार्तिक में भट्ट अकलंक ने ध्यान विचलन के बारे में इस प्रकार कहा है, ''ध्यान मन की एकाग्रावस्था है। इसकी उल्टी स्थिति अनेकाग्रता अथवा अनवधान कहलाती है। इसमें मन अनेक अवांछित वस्तुओं में भागा फिरता है। इसका कारण राग, द्वेष अथवा अविद्या इत्यादि दोष हैं। इसके मूल में रजस गुण होता है। साधारण रूप-से मन की इस अनेकाग्र दशा को विक्षप्त दशा कहा जाता है। इसमें मन कभी-कभी एकाग्र भी हो जाता है, किन्तु मन के अत्यधिक अनेकाग्र हो जाने पर विक्षिप्त दशा कहलाती है, जिसमें मन कभी भी एकाग्र नहीं हो पाता और चलायमान अथवा बेचैन रहता है। अनेकाग्रता को दूर करने के लिए मन में सत्त्व गुण बढ़ाया जाना चाहिए।'' अनेकाग्रता के कारण निम्नलिखित हैं—

रोग

व्यास के अनुसार शरीर में वात, पित्त और कफादि विभिन्न तत्त्वों का समन्वय बिगड़ जाने से कोई विशेष

इन्द्रिय कम या अधिक काम करने लगती है। इससे रोग की दशा उत्पन्न हो जाती है और बेचैनी बढ़ती है।

मानसिक आलस्य

इससे मन में सक्रियता का अभाव हो जाता है।

संशय

किसी वस्तु के सही रूप के विषय में ज्ञान न होने को संशय कहते हैं। इससे मन एकाग्र नहीं हो पाता।

प्रमाद

इसमें व्यक्ति आवश्यक कार्यों को नहीं करता, जिससे वो विक्षिप्त बना रहता है।

निष्क्रियता

मन में तमस गुण और शरीर में आलस्य की अधिकता के कारण उत्पन्न हुई निष्क्रियता विक्षेप का मुख्य कारण है।

अप्रत्याहार

जबकि प्रत्याहार ध्यान में सहायक स्थिति है, अप्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषय-भोगों से न हटा सकना विक्षेप का कारण है।

भ्रम

किसी वस्तु का गलत प्रत्यक्षीकरण भ्रान्ति अथवा भ्रम कहा जाता है। यह भी विक्षेप का एक प्रमुख कारण है।

मानसिक अस्थिरता

मन के अस्थिर होने से विक्षेप उत्पन्न होता है और ध्यान नहीं जमता।

मानसिक बेचैनी—इससे मन अनेक विषयों की ओर भागता फिरता है।

निम्नलिखित उपाय विक्षेप को दूर करने के लिए हैं—

अभ्यास

विक्षेप का मूल कारण चित्त-विकार है, जिससे प्राण स्पंदन होता है। इसके दमन के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

प्राणायाम

योग साहित्य में प्राणायाम को ध्यान एकाग्र करने में सहायक माना गया है। प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है, जिससे मन को एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

वैराग्य

वैराग्य की भावना उत्पन्न होने पर समस्त विषय-भोगों से मन को हटाया जा सकता है। इसके लिए इन विषय के दोषों के चिंतन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंत में इन वस्तुओं से दु:ख ही मिलता है और कल्याण नहीं होता। वैराग्य से आत्मा और अनात्मा में अंतर संभव हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक को अनात्मा को छोड़कर आत्मा में मन को केंद्रित करना चाहिए। वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाने पर मन की एकाग्रता सहज हो जाती है। माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार, *''ज्ञानाभ्यास वैराग्य द्वयोपायेन मनः योजयेत्,''* अभ्यास के लिए मन को उसके स्वाभाविक विषय से हटाकर धैर्यपूर्वक उपयुक्त विषय पर लगाना चाहिए।

प्रेम, करुणा

विक्षेप को दूर करने के लिए भले व्यक्तियों के लिए प्रेम, दु:खी व्यक्तियों के लिए करुणा तथा दुष्ट व्यक्तियों के प्रति तटस्थता का भाव उत्पन्न किया जाना चाहिए।

सत्त्व गुण का विकास

विक्षेप का कारण रजस और तमस का बढ़ जाना है। इसलिए इनके दमन और सत्त्व गुण के विकास से विक्षेप दूर किया जा सकता है। बुद्धि में सत्त्व गुण बढ़ने पर मन के एकाग्र हो जाने से उसकी सहायता से मन को नियंत्रित किया जा सकता है।

सतसंग

साधु और सज्जन व्यक्तियों के संपर्क से मन के अनेक विक्षोभ और उत्तेजनाएं दूर हो जाती हैं और उसे एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

इष्ट पूजा

विक्षेप दूर करने का एक उपाय इष्ट पूजा है। इष्टदेव पर मन को केंद्रित करना सरल होता है।

ओ३म् स्मरण

विक्षेप दूर करने का एक उपाय रहस्यवादी महावाक्य ओ३म् पर ध्यान को केंद्रित करना है। इसके बार-बार स्मरण करने से मन को एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

चित्त शुद्धि

विक्षेप दूर करने के हेतु चित्त-शुद्धि अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि गुणों का विकास करना चाहिए। इससे मन के दुर्गुण दूर हो जाएंगे और सत्त्व गुण बढ़ेगा। सत्त्व गुण बढ़ने से मन, ध्यान को एकाग्र करने में सहायता मिलेगी तथा विक्षेप दूर होगा।

ध्यान के निर्णायक

अनेक विचारकों ने विक्षेप को दूर करने के साथ-साथ ध्यान जमाने के कारकों पर भी विचार किया है। इससे ध्यान के निर्णायक अर्थात् वे कारक स्पष्ट होते हैं, जिनसे ध्यान का होना या न होना निश्चित होता है। ध्यान के निर्णायक मुख्य कारक निम्नलिखित हैं—

विक्षेप के कारक

विक्षेप के कारकों के उपस्थित होने पर ध्यान नहीं लगता। ध्यान लगाने के लिए इनका दूर होना आवश्यक है। इसलिए योग की पद्धति में ध्यान के पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के सोपान बतलाए गए हैं। आसन से शरीर पर नियंत्रण होता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है। यम और नियम क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। इस प्रकार शरीर और उसकी चेष्टाओं तथा इन्द्रियों आदि के नियंत्रण के बाद ही ध्यान जम पाता है।

तीव्रता

उत्तेजना की तीव्रता ध्यान का निर्णायक कारक है, क्योंकि वह इन्द्रिय को प्रभावित करती है। उससे अनायास ही वस्तु की ओर ध्यान चला जाता है। उससे चेतना का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

रुचि

रुचि ध्यान का आंतरिक निर्णायक है। हम उन वस्तुओं की ओर ध्यान देते हैं, जिनमें हमारी रुचि होती है। रुचि से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से ध्यान निर्धारित होता है।

इच्छा

किसी वस्तु में इच्छा या अनिच्छा होना, उसकी ओर ध्यान अथवा विक्षेप निर्धारित करता है।

धारणा

अन्य वस्तुओं की ओर से ध्यान हटाने से विशेष स्थान या वस्तु में ध्यान लगाने में सहायता मिलती है। धारणा ध्यान का एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक है।

अभ्यास

अभ्यास का अर्थ मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर विशेष वस्तु पर लगाने की क्रिया को बार-बार दोहराना है। इससे ध्यान निर्धारित होता है।

धृति

धृति के अभाव में ध्यान नहीं जमता। धृति ध्यान के निर्धारण का कारक है। इससे किसी लक्ष्य की ओर ध्यान एकाग्र करने में सहायता मिलती है। यह ध्यान का आत्मगत कारक है।

भाव

विभिन्न प्रकार के भाव अथवा संवेग ध्यान के आत्मगत निर्धारक हैं। प्रेम के कारण हम विशेष व्यक्तियों की ओर ध्यान देते हैं। घृणा के कारण घृणित वस्तुओं अथवा व्यक्तियों की ओर ध्यान जाता है। इसी प्रकार क्रोध, भय, शोक, लोभ, ईर्ष्या आदि भाव इन्हें उत्पन्न करने वाली वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। अहंकार से व्यक्ति अपने काल्पनिक गुणों की ओर ध्यान देता है। जहां भाव ध्यान आकर्षित करते हैं, वहां वे विक्षेप के कारण भी हैं। जिन वस्तुओं से भावात्मक आघात लगता है, उसके प्रति मन में विक्षेप होता है।

ध्यान के भावात्मक कारकों में मनोवैज्ञानिकों ने काम को अत्यधिक महत्त्व दिया है और इसे उतने ही व्यापक अर्थों में लिया है, जितने व्यापक अर्थों में फ्रायड ने सेक्स शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार काम, ध्यान आकर्षित करने का मुख्य कारण है। इसको जीते बिना मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता है।

संस्कार

अनेक विचारकों का यह कहना है कि व्यक्ति में पूर्वजन्म के अनेक संस्कार उसे कुछ वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर ध्यान देने और अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों और लक्ष्य से ध्यान हटाने के लिए बाध्य करते हैं। ये पूर्व संस्कार ही स्वभाव का निर्माण करते हैं। इसलिए स्वभाव के रूप में भी ये ध्यान का निर्धारण करते हैं। अस्तु, संस्कारों को नियंत्रित और संशोधित करने के लिए निरंतर लंबे काल तक अभ्यास की आवश्यकता है।

शारीरिक कारक

चिकित्साशास्त्र में ध्यान और विक्षेप के अनेक शारीरिक कारकों का विश्लेषण किया गया है। इनका महत्त्व बतलाते हुए इन कारकों को नियंत्रित करने के उपाय भी बतलाए गए हैं। उदाहरण के लिए 'भट्ट अकलंक' ध्यान लगाने के लिए अनुकूल भौतिक परिवेश, अनुकूल आसन, प्राणायाम, शारीरिक क्रियाओं का दमन, राग, द्वेष और मोह का दमन तथा शरीर में आलस्य और निद्रा का नियंत्रण आवश्यक मानता है।

'ब्रह्मदेव' के अनुसार, लक्ष्य पर ध्यान लगाने के लिए वैराग्य, राग और द्वेष से छुटकारा, शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि पर विजय, इच्छा और द्वेष से स्वतंत्रता तथा विवेक और ज्ञान की आवश्यकता होती है। भगवद् गीता में ध्यान को एकाग्र करने के अनेक उपाय बतलाए हैं। गीता के अनुसार शुद्ध आहार लेने से बुद्धि में सत्त्व गुण बढ़ता है, जिससे स्मृति पुष्ट होती है और लक्ष्य पर ध्यान लगाने में एकाग्रता बढ़ती है।

समाधि : स्वरूप शून्यता का दूसरा नाम

योग का लक्ष्य और सर्वोच्च सोपान तथा अष्टांग योग का आठवां अंग ''समाधि'' है। योग में धारणा से लेकर समाधि तक एक ही प्रक्रिया चलती है जो धारणा में आरंभ होकर समाधि में समाप्त हो जाती है। शास्त्र का कथन है, *दिन द्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राण संयमात्* अर्थात् जब निरंतर बारह दिनों तक शरीर के भीतर प्राणवायु का संयम हो, तब समाधि होती है। अभिप्राय यह कि साधक जब बारह दिनों तक प्राणवायु को शरीर के भीतर तदाकार वृत्ति से रोककर ब्रह्मानंद में लीन हो जाए, तब वो अवस्था समाधि कहलाती है। योगदर्शन में समाधि का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि *''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''* अर्थात् जब ध्येयमात्र की ही प्रतीति हो और चित्त

का अपना स्वरूप शून्य हो जाए, वो ही समाधि है अर्थात् समाधि में त्रिपुटी का लय हो जाता है। त्रिपुटी का अर्थ है धारणा ध्यान में बदल जाए और ध्यान समाधि में बदल जाए अर्थात् मन ध्येय के अनुसार हो जाता है। चूंकि ध्यान योग में ध्याता तो, अपना व्यक्तित्व ईश्वर रूपी सागर में विसर्जित कर देता है और ईश्वर का निमित्त मात्र बनने तक निमग्न बना रहता है। ध्यान रहे समाधि, ध्यान की परिपक्व अवस्था है। धारणा ध्यान की परिपक्व अवस्था है और धारणा प्रत्याहार के अभ्यास से पकता है।

ध्यान रहे आत्मा परमात्मा का ही अंश है। जो गुण परमात्मा में है वही गुण आत्मा में है। इसलिए समाधि से परमात्मा के ही गुणों का जीवन में प्रस्फुटन होने लगता है। समाधि वह अवस्था है जहां आनन्द ही आनन्द है। जिसके बाद वह साधक जब भौतिक जगत में लौटता है तो उसके जीवन में चिन्ता, भय, तनाव, निराशा, अकर्मण्यता विस्मृति, मानसिक विकार जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, परदोष दर्शन समाप्त हो जाते हैं। वह पूर्ण कर्मयोगी बन जाता है। फिर भी वह अपने को अकर्ता ही मानता है और उसके जीवन में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, स्वाध्याय, संतोष, तपस्या, ईश्वर प्रणिधान स्वाभाविक गुण बन जाते हैं।

समाधि के विविध मार्ग

समाधि सिद्धि के अनेक मार्ग हैं। अष्टांग, भक्त योगी को भगवत प्रेम द्वारा 'भाव-समाधि' वेदान्ती को मिथ्यात्व बुद्धि और अन्वय की रीति से सच्चिदानन्द के चिन्तन द्वारा 'भेद-समाधि' प्राप्त होती है। ध्यान रहे उपरोक्त राजयोगी, भक्तियोगी एवं ज्ञानयोगी को केवल उसका शरीर हिलाकर या शंख आदि ध्वनि बजाकर उसकी समाधि से उसे सामान्य चेतना में ला सकते हैं किन्तु हठयोगी के साथ यह व्यवहार नहीं सफल होता क्योंकि हठ योग का साधक सारे शरीर से प्राण को खींचकर ऊपर शिर के ऊपरी भाग सहस्रार चक्र में ले जाता है तब वह समाधि में प्रवेश करता है। हठयोगी समाधि में कई वर्षों तक पृथ्वी के नीचे दबे रहते हैं।

समाधि का गणित

यदि ध्यान योग का अध्यासी अपने मन को किसी एक वस्तु पर अथवा मूर्ति पर दस सेकेण्ड (ढाई श्वास-प्रश्वास) तक स्थिरता से एकाग्र कर सके तो यह धारणा होती है। ऐसी दस धारणाओं (पच्चीस श्वास-प्रश्वास) को ध्यान कहते हैं। दस ध्यान (दो सौ पचास श्वास-प्रश्वास) से समाधि बनती है।

ईश्वरी ध्यान जब समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह अपनी चेतना खोकर ध्येय के साथ एकाकार हो जाता है। पुनः समझ लें ईश्वरी समाधि के फलस्वरूप रहस्यमयी ज्ञान की एक झलक मात्र से सारे भौतिक जगत की सत्ता का अन्त हो जाता है और संसार का स्मरण या विचार या संकीर्तन आदि आत्मा को बिलकुल छोड़ देता है। जिससे उसके शरीर, इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि को गहरा विश्राम मिल जाता है और संसार में पुनः पूर्ववत् वैसी ही शक्ति से भर जाता है जैसे जब हम स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा के बाद अनुभव करते हैं किन्तु प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में जितने विश्राम का अनुभव होता है उतने विश्राम का अनुभव समाधि में कुछ मिनटों में मिल जाता है। इसलिए योगी अल्प ही सोता है या यों कहिए कि सामान्य व्यक्तियों की तरह वह सोने में समय नष्ट न करके समाधि के द्वारा अपने को तरोताजा किए रहता है। विज्ञपुरुषों ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर समाधि के छह प्रकार प्रमुख माने हैं—

ध्यानयोग समाधि

इसके अभ्यास में दीप्तिमान ज्योति का आत्मा में ध्यान करते हुए ऐसा प्रयास करें कि वह ज्योति बिंदु ब्रह्मरूप में दिखाई देने लगे। तदनन्तर यह ध्यान करें कि आकाश में हमारी ही आत्मा विद्यमान है। यह समाधि की प्रारंभिक अवस्था है, क्योंकि ध्यान की परिपक्वता के बिना समाधि नहीं हो सकती।

नादयोग समाधि

इसमें जिह्वा को ऊपर की ओर लौटाकर कपाल कुहुर में ले जाई जाती है, इससे खेचरी मुद्रा होती है। यह लौटी

हुई जिह्वा जब तक ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रहती है, तब तक योगी की समाधि भंग नहीं होती। नादयोग का अर्थ है, मन का नाद में लीन हो जाना और ऐसा होने पर समाधि का होना स्वाभाविक है।

रासानंदयोग समाधि

जिस समाधि में ब्रह्मानंद रूप रसामृत का स्वादन होने लगे, वह रसानंद योग समाधि है। आचार्यों ने इसे समाधि की तीसरी अवस्था माना है।

लयलिद्धि समाधि

इस समाधि में साधक स्वयं को शक्ति का रूप मानकर इतना तन्मय हो जाता है कि वह परमात्मा को पुरुष रूप समझता हुआ उसके साथ विहार की भावना के साथ चित्त का लय कर देता है।

भक्तियोग समाधि

इस समाधि में योगी परमात्मा का आश्रय लेकर अपने चित्त को पूर्णरूप से लीन कर देता है। इसमें चित्त की इतनी अधिक तन्मयता हो जाती है कि नेत्रों से आनंद का अश्रु-प्रवाह होने लगता है, वह किसी प्रकार रुकता नहीं तथा शरीर पुलकायमान होकर मन में एकाग्रता और अचैतन्यता आकर ब्रह्म से साक्षात्कार होने लगता है। इसमें योगी को अपने शरीर का किंचित् भी बोध नहीं रहता।

राजयोग समाधि

इस समाधि में मन को सब ओर से हटाकर भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में लगाने का निर्देश है। योगी मन को आत्मा में योजित करे और फिर उसको परमात्मा में योजित करे, यही राजयोग समाधि है। इसमें आज्ञाचक्र के भेदन की ओर संकेत है। वो ही रुद्रग्रंथि है, जिसका भेदन अक्षर वायु से किया जाता है, *''रुद्रग्रंथिर्भ्रुवोमध्ये भिद्यतेऽक्षर वायुना,''* इसके अनुसार ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि, रुद्रग्रंथि और षट्चक्रों का भेदन करती हुई कुण्डलिनी शक्ति उससे भी ऊपर जाकर शिव से जा मिलती है। योग की यही अंतिम प्रक्रिया है।

संप्रज्ञात समाधि

समाधि की इस अवस्था का वर्णन करते हुए पंतजलि ने लिखा है, *''सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चितस्य समाधिपरिणाम।''* अर्थात् जिस अवस्था में, चित्त में सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय हो, उसको समाधि परिणाम कहते हैं। साधारणतया मनुष्य का चित्त सर्वार्थ होता है अर्थात् उसमें अनेक प्रकार के पदार्थों की ओर प्रवृत्ति पायी जाती है। वह किसी एक स्थान पर नहीं टिक सकता। वह अस्थिर होता है। तमोगुण में अत्यधिक, रजोगुण में उससे कम और सत्त्व गुण में अस्थिरता सबसे कम होती है, किन्तु यह समाधि की स्थिति नहीं है।

बहिरंग सोपानों के पश्चात् धारणा और ध्यान के लम्बे अभ्यास से जब क्रमश: प्रत्ययों की एकतानता उत्पन्न हो जाती है तो सर्वार्थता समाप्त हो जाती है और एकाग्रता का उदय हो जाता है। इस प्रक्रिया के लिए लंबे समय तक अभ्यास की आवश्यकता है। पंतजलि के अनुसार चित्त की प्रशान्तवाहिता संस्कार के कारण होती है। इसके निरोध के लिए अभ्यास में पटुता आवश्यक है। अभ्यास में वृत्ति के क्षीण होने पर पारदर्शक मणि के समान ग्राहकता, ग्रहण और ग्राह्यों में तटस्थता और तदज्जन्य की समापत्ति प्राप्त होती है।

धारणा से ध्यान की भूमिका पर पहुंचने के बाद स्वभावतया समाधि की ओर विकास होता है। समाधि को उपाय प्रत्यय कहा गया है अर्थात् उसके लिए उपाय आवश्यक है। जो लोग पिछले जन्म में भारी उपाय कर चुके होते हैं, उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है अर्थात् जन्म के कारण ही उनकी समाधि है। ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं। अधिकतर लोगों के लिए समाधि उपाय प्रत्यय होती है। इसके लिए समाधि की अनुभूति, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि तथा प्रज्ञापूर्वक होती है।

श्रद्धा के बिना अभ्यास नहीं हो सकता। यह श्रद्धा शास्त्र और गुरु में आस्था है। श्रद्धा से वीर्य उत्पन्न होता है, जिसका अर्थ तत्परता और उत्साह है। वीर्य बढ़ने से स्मृति की शुद्धता बढ़ती है। स्मृति के शुद्ध होने से चित्त में

एकाग्रता और स्थिरता की वृद्धि होती है। यही ''संप्रज्ञात समाधि'' है। संप्रज्ञात समाधि के निम्नलिखित 4 स्तर माने गए हैं—

सवितर्क समाधि—जब साधक किसी स्थूल वस्तु जैसे हाथी के शरीर को धारणा का आलम्बन बनाता है, तो उसकी धारणा क्रमश: ध्यान और ध्यान से समाधि में परिणत होने पर भी अनेक वितर्क बने रहते हैं। यह सवितर्क समाधि है।

सविचार समाधि—जब एकाग्रता का विषय स्थूल वस्तु न होकर कोई सूक्ष्म वस्तु जैसे पंचतन्मात्रों में से कोई एक हो तो उसमें जो समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, वह सविचार समाधि कहलाती है।

सानन्द समाधि—सानन्द समाधि में सत्त्वगुण ही शेष रहता है और अन्य दोनों गुण समाप्त हो जाते हैं। इसके पहले की दोनों स्थितियों में सत्त्वगुण रजोगुण के साथ मिला रहता है।

सास्मित समाधि—इसमें आनंद के साथ-साथ अस्मिता भी रहती है। इसलिए इसे यह नाम दिया गया है।

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त वितर्क और विचार समाधि के निम्नलिखित दो उपभेद भी माने गए हैं—

निर्वितर्क समाधि—पीछे जो हाथी के शरीर को धारणा का आलम्बन बनाने का उदाहरण दिया गया है, उसमें जब ध्यान का क्षेत्र संकुचित हो जाने से हाथी के नाम, गुण इत्यादि का ज्ञान समाप्त हो जाते हैं और चित्त स्थूल वस्तु मात्र पर एकाग्र हो जाता है, तो यह निर्वितर्क समाधि की अवस्था कहलाती है। इसमें स्थूल विषयों के संबंध में सब कुछ जान लिया जाता है।

निर्विचार समाधि—सूक्ष्म आलम्बन जैसे तन्मात्र इत्यादि पर ध्यान लगाने से जब वह विषय शुद्ध रूप में सामने आता है और उसकी सहवर्ती बातों का ज्ञान विलीन हो जाता है तो इसे निर्विचार समाधि कहते हैं।

इस प्रकार संप्रज्ञात समाधि के उपरोक्त 6 भेद माने गए हैं। समाधि की इन विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की सिद्धियां और विशेष शक्तियां प्राप्त होती हैं।

असंप्रज्ञात समाधि

इस समाधि की उपरोक्त विभिन्न भूमिकाओं में सर्वोच्च, सानंद और सास्मित समाधियों की अवस्थाएं पार करके जब योगी असंप्रज्ञात समाधि की सर्वोच्च भूमि पर पहुंचता है तो वह सर्वविज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बन जाता है। उसकी क्षमताओं के विषय में पंतजलि ने लिखा है, *''ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।''* अर्थात् उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा अर्थात् सत्य से परिपोषित होती है। वह चाहे जिस विषय का ज्ञान कर सकता है। आगे कहा गया है, *''परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार: ।''* अर्थात् परमाणु से लेकर परम महत्त्व पदार्थ तक सभी उसके वश में हो जाते हैं। समाधि की इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न सिद्धियां प्राप्त होती हैं। असंप्रज्ञात समाधि की परिभाषा करते हुए पंतजलि ने लिखा है, *''विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्य: ।''* अर्थात् जिसके पहले विराम प्रत्यय का आभास होता है और जिसमें संस्कार मात्र शेष रह जाता है उसे ''असंप्रज्ञात समाधि'' कहते हैं। विराम प्रत्यय से तात्पर्य चित्त वृत्तियों का रुक जाना है। इसका एक अर्थ निरोध की प्रत्यक्ष अनुभूति भी है। समाधि से भिन्न चित्त में तमोगुण और रजोगुण प्रधान होता है। समाधि की अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है। असंप्रज्ञात समाधि में कौन से संस्कार किस सीमा तक शेष रहते हैं, इसके बारे में पंतजलि ने कुछ नहीं कहा है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि समाधि रहने तक संस्कार बने रहते हैं। संस्कार के कारण ही समाधि समाप्त होती है। समस्त संस्कार समाप्त हो जाने पर मृत्यु हो जाती है।

समाधि की स्थिति में प्रज्ञा दिखलाई पड़ती है। प्रज्ञा से तात्पर्य शंका आदि से रहित ज्ञान है। सवितर्क आदि समाधि में पंतजलि ने 7 प्रकार की प्रज्ञा मानी हैं। भोजन वृत्ति के अनुसार ये 7 प्रकार की प्रज्ञाएं निम्नलिखित हैं—

- हेय को जानने से उसे जानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

- ❑ हेय का हेतु क्षीण हो जाने से उसे क्षीण नहीं करना होता।
- ❑ निरोध समाधि के द्वारा हान का साक्षात्कार
- ❑ विवेक ख्याति रूप हानोपाय की भावना
- ❑ बुद्धि का चरिताधिकारी होना
- ❑ तीनों गुणों का लय होना और फिर उत्पाद न होना
- ❑ गुणों से संबंध को पार करके स्वरूप मात्र केवली दशा में स्थित होना

उपरोक्त सातों प्रज्ञाभूमियों में से पहली चार क्रियाविमुक्ति और बाद की तीन चित्तविमुक्ति कहलाती हैं। उपरोक्त भूमियों से यह स्पष्ट होता है कि योग में साधक की बुद्धि क्रमशः आत्मज्ञान प्राप्त करती है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हेय के हेतु हैं, विभिन्न प्रज्ञाभूमियों में ये हेतु क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। असंप्रज्ञात समाधि के अनुभव को उपनिषदों के अतिरिक्त विभिन्न संतों ने अपनी वाणी में अभिव्यक्त किया है। इस अवस्था को पहुंचे हुए योगी के बारे में पंतजलि ने कहा है, *''प्रसंख्यानेऽकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघः समाधि।''* अर्थात् प्रसंख्यान में भी कुसीद अर्थात् व्याज की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति को सर्वथा विवेक ख्याति होने पर धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है। साधारण मनुष्य पुण्य का काम करने पर ब्याज के रूप में उससे लाभ की इच्छा रखता है। इस स्थिति में यह इच्छा नहीं होती।

प्रसंख्यान से तात्पर्य ज्ञान की ओर से भी विरक्त हो जाना है। विवेक ख्याति का अर्थ प्रधान और उसके विचारों की ओर से अलग होने की अनुभूति है। धर्ममेघ में धर्म का अर्थ परम पुरुषार्थ का साधक ज्ञान है। मेघ से तात्पर्य योगी पर इस ध्यान की निरंतर वर्षा है। अस्तु, उपरोक्त श्लोक का अर्थ यह होता है कि असंप्रज्ञात समाधि में योगी सब प्रकार से विरक्त होता है और उस पर निरंतर ज्ञान की वर्षा होती रहती है।

इस प्रकार का योगी अपने चारों ओर धर्म की वृद्धि करता है और लोगों का कल्याण करता है। उसके संकेतों से, बातचीत से, शरीर की मुद्राओं से, गति से चारों ओर जन कल्याण साधन होता है।

❑❑

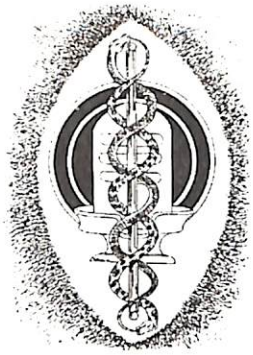

नि:श्वास : तीन

कुण्डलिनी रहस्य

कुण्डलिनी शक्ति के रहस्य को समझने के लिए संपूर्ण योग चक्रों का, मानव शरीर से संबंधित समस्त व्यवस्था का, शरीर तंत्र का तथा षट्कर्मों के द्वारा शरीर के शुद्धीकरण का ज्ञान होना, प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। प्राणायाम, ध्यान, मुद्रा साधनादि के द्वारा मन, बुद्धि और सूक्ष्म शरीर का विकास करना भी कुण्डलिनी योग के साधक के लिए परम आवश्यक है। मूलाधार चक्र में सोई हुई योग की अत्यंत प्रचण्ड शक्ति को जगाने के निमित्त, अपने आपको पूर्ण रूप-से अनुशासित, संयमी, सद्गुरु के सान्निध्य से संपन्न साधक को अष्टांग योग का पालन करते हुए अपनी साधना सत्यनिष्ठा, पूर्ण आत्मविश्वास और संयम के साथ आरंभ करनी चाहिए।

अपनी संपूर्ण चित्तवृत्तियों को शांत किए बिना, जल्दबाजी में, बिना सोच-विचार किए और अनुभवी योग्य गुरु का निर्देश प्राप्त किए बिना, अपने ही मनमाने ढंग से खतरनाक कुण्डलिनी शक्ति को छेड़ने का प्रयास जो साधक करता है, वह हानि का शिकार तो होता ही है, उसका पतन भी अवश्य हो जाता है।

मानसिक इच्छाओं, कामनाओं, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार आदि की जो भी अनुचित वृत्तियां हैं, उन सब पर साधना, ज्ञान और संयम के द्वारा जो योगी साधक अंकुश लगाने की दृढ़ शक्ति प्राप्त कर लेता है और निरंतर योग साधना में बिना कोई लोभ अथवा किसी भी प्रकार का अभिमान किए, विनम्र भाव से निरंतर अभ्यास करता रहता है, उसी साधक को विश्व की सर्वोपरि शक्ति कुण्डलिनी के जागरण का अधिकार प्राप्त होता है।

मेरुदण्ड के निचले भाग में चतुर्दल पीतवर्ण के कमल-पुष्प की भांति बने मूलाधार चक्र में कुमारिका कुण्डलिनी शक्ति नीचे की ओर मुंह किए हुए सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। उसी स्थान पर सुषुम्ना नाड़ी, इड़ा, पिंगला नाड़ियों सहित विद्यमान है। प्रबल आंतरिक त्राटक अर्थात् ध्यान के द्वारा सर्वप्रथम मूलाधार नामक पीतवर्ण के चतुर्दल कमल में ''**लं**'' बीज मंत्र का निरंतर जप और ध्यान करते रहने तथा बहुत समय तक साधना करने के अनंतर जब इस चक्र की शक्ति का उदय होने लगे तो पूर्वोक्त यौगिक साधनाओं का अभ्यास करते हुए कुण्डलिनी जागरण के मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहिए।

मूलाधार चक्र पर पूर्व बताए ध्यान के अनुसार त्राटक करते हुए, नियमित रूप-से नाड़ी शोधन नामक प्राणायाम के दो सौ के लगभग अभ्यास करने से नासिका में जब सुगंधियां-सी आने लगें और यह क्रिया जब काफी समय तक होती रहे तो साधक को शरीर की समस्त नाड़ियों को शुद्ध हुआ समझना चाहिए।

इसके उपरांत साधक को कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के लिए पहला प्रयास करने के पूर्व ही कवच के रूप में योग की अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्रिया ''मूलबंध'' का अभ्यास कटिबद्ध होकर करना चाहिए। यदि मूलबंध का अभ्यास किए बिना महाप्रबल प्रचण्ड कुल कुण्डलिनी, अपराजिता शक्ति को जगाने का प्रयास किया गया तो वह साधक का कल्याण करने के स्थान पर निश्चय ही उसका पतन कर देगी। इसलिए कुण्डलिनी के जागरण से पूर्व

मूलबंध को अत्यंत सुदृढ़ अवस्था तक पहुंचा देना चाहिए। मूलबंध साधना की परिपक्व स्थिति होते-होते साधक में कई प्रकार के चमत्कार स्वाभाविक ही उपस्थित हो जाते हैं।

मूलबंध की स्थिति प्राप्त होने पर साधक की संकल्प शक्ति एवं धारणा शक्ति अत्यंत प्रबल हो जाती है। उसकी आकृति में, उसकी चाल-ढाल में, उसकी वाणी में तथा उसकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार का आकर्षण उपस्थित हो जाता है। शरीर में एक विशेष प्रकार की लावण्यता, स्निग्धता उत्पन्न हो जाती है। यही नहीं, उसके विचारों तक में दृढ़ता के साथ एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। लोग अनायास ही उसकी ओर उन्मुख होने लगते हैं। लोगों को अपनी ओर खींचने की उसमें एक आकर्षक शक्ति आ जाती है।

वस्तुत: मूलबंध साधना ही कुण्डलिनी शक्ति को जगाने वाला एक चमत्कारी रहस्य है। यह भी सत्य है कि मूलबंध की साधना किए बिना कुण्डलिनी की साधना नहीं हो सकती। मूलबंध साधना ही इसकी मूल कुंजी है।

यदि मूलबंध साधना के साथ-साथ विभिन्न रहस्यमयी मुद्राओं की भी साधना की जाए, तो कुण्डलिनी जागरण का मार्ग सरल हो जाता है। निरंतर योग साधनाओं को करने से योगी व्यक्ति की सबसे बड़ी शक्ति का आधार पर शक्तिस्वरूपा महाकुल कुण्डलिनी के उदय स्थल पर एकाग्रता बन जाती है। इस एकाग्रता के कारण एक विशेष प्रकार का दबाव कुण्डलिनी शक्ति के निवास स्थान पर पड़ता हुआ अनुभव होने लगता है।

योगी साधक को किसी भी योग चक्र को थोड़े बहुत रूप-से स्पंदित करना हो तो, उस स्थान पर अपने आपको, अर्थात् अपने ध्यान एवं विचार को निरंतर एक ही स्थान पर और एक ही प्रकार के चिंतन के रूप में स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उससे उस स्थान (योग चक्र) पर निवास करने वाली दिव्य शक्ति बहुत धीरे-धीरे विकसित होने लगेगी।

यदि साधक कुण्डलिनी योग साधना के समस्त नियमादि का पालन पूर्णरूप से ठीक-ठीक करने में तत्पर है और योग मार्ग में आगे बढ़ने के लिए दृढ़ता के साथ कटिबद्ध है तो कुछ समय बाद ही उसमें सूक्ष्म शक्तियों का उदय होने लगेगा। तब साधक को मूलाधार चक्र पर मूलबंध की पूर्णरूप से परिपक्व साधना की स्थिति प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास करना चाहिए। संस्कृत के एक मूल श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है—

कुण्डलिनी जैसी ईश्वरीय योग शक्तियों को सच्चे साधक के लिए प्राप्त करना बहुत कठिन नहीं, अपितु अति सरल है।

किन्तु उन योगी साधकों की कुण्डलिनी कभी जाग्रत नहीं होती, जिन्हें इस पराशक्ति पर विश्वास नहीं। अविश्वास असफलता का सोपान है और विश्वास अवश्य ही सफलता दिलाने वाला है। श्रेष्ठ योगी भी अविश्वास के बल पर कुण्डलिनी जाग्रत नहीं कर सकता। जिन साधकों को परमात्म शक्ति, परम पराशक्ति मां कुण्डलिनी एवं अज्ञात शक्तियों पर, साथ ही भगवान पर विश्वास नहीं है, वो अपने लक्ष्य तक कभी नहीं पहुंच सकते। उनके लिए छोटी-से-छोटी वस्तु भी दुर्लभ है।

प्रत्येक योगी, प्रत्येक साधक अविश्वासी मन को विश्वासी बनाए, मन की चंचलता को दूर करे और धूर्तता को पास भी न फटकने दे और विश्वास रखे कि इस समस्त दृश्य जगत के रूप में वह आदिशक्ति ही सर्वत्र उपस्थित है। अपने अंदर छुपी दिव्य शक्ति को देखने की सच्ची धुन, अटूट लगन और वास्तविक चाह उत्पन्न करे और अपने इस नश्वर अस्तित्व को सर्वथा और सर्वदा भूल जाने का वास्तविक प्रयत्न करें।

चैतन्य महाप्रभु : भावसमाधि की परम स्थिति

बस, ऐसी लगन लगाए, जिसने मीरा को कृष्ण का दीवाना कर दिया था। सूरदास को आंतरिक चक्षु प्रदान करा दिए थे। चैतन्य महाप्रभु को परम उच्चकोटि की भगवत् नाम कीर्तन करने में तन्मयता प्राप्त करा दी थी। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी रामतीर्थ को जिस प्रकार अपनी सुध-बुध भूल गई थी, जिस कुण्डलिनी शक्ति के स्फुरण मात्र से स्वामी विवेकानंद कई दिन के लिए समाधिस्थ हो गए थे और उनका जीवन ही बदल गया था, ऐसी तन्मयता, ऐसी चाह और ऐसी लगन जिस दिन जिस सच्चे योगी, साधक, संत, साधु और भक्त में जग जाएगी, उसे उस महाशक्ति के दर्शन में फिर कुछ चेष्टा नहीं करनी होगी और न ही उसके द्वारा कुण्डलिनी जागरण में कुछ विलंब ही होगा। ऐसी सिद्धि प्राप्त होने पर सब कुछ परम शांत, एकरस, एकाग्र और सर्वत्र आनंद-ही-आनंद का अनुभव होने लगेगा।

अपने अंदर की शक्ति को जगाने के लिए, उस अनन्त शक्ति के उद्गम का ध्यान करना चाहिए, हृदय से करुण पुकार उठनी चाहिए, उस दिव्य शक्ति को उजागर होने के लिए विवश कर दिया जाना चाहिए। जिस दिन ऐसी मार्मिक अंतर्हृदय से साधक के हृदय में अपने आपको और अपनी रहस्यमय कुण्डलिनी के जाग्रत कर देने की अत्यंत बलवती दृढ़ इच्छा पूर्णतया प्रबल आत्मविश्वास के साथ उदय हो जाएगी, बस ठीक उसी क्षण साधना के, उस निर्मल ज्ञान के, उस निर्मल सूर्य का उदय हो जाएगा। सच्चे आत्मप्रबोधन का विश्वास करने योग्य यही एकमात्र साधनमार्ग है।

ध्यान लगाने की सबसे उपयुक्त प्रक्रिया यह है—शांत होकर अपने नेत्र बंद करो और अपने अंतर्मन में धीरे-धीरे उतरते जाओ और क्रमशः बाहर की स्थिति से स्वयं को भूल जाने का प्रयत्न करो और साथ ही एक परम दिव्य, ज्योतिर्मय, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, अजर-अमर, सर्वज्ञ, आनंद स्वरूप उस अनंत रहस्यों के रहस्य श्रीमन् नारायण का निरंतर ध्यान करते-करते मन की इतनी अनंत गहराइयों में उतरते जाओ जिसका कोई छोर, कोई अंत ही दिखाई न दे। ऐसा लगातार विचार करते-करते उस परम आनंदमय परात्पर, परब्रह्म स्वरूप मूलाधार चक्र में सुषुम्ना के द्वार पर स्थित कुल कुण्डलिनी शक्ति जो नेत्रों को चौंधिया देने वाले अवर्णनीय तेजोमय रूप से विद्यमान है, अपने प्राणों को अपान के साथ मिलाकर, उस स्थान पर स्थिर कर देने का अथक प्रयत्न करो, अपनी संपूर्ण प्रवृत्तियों को उधर ही लगा दो; इस क्रिया से परमानंद की प्राप्ति अवश्य प्राप्त होगी।

बंधों का परिचय

घेरण्ड संहिताकार ने योगसिद्धि में सहायक 25 मुद्राओं का वर्णन किया है। इन 25 मुद्राओं के अभ्यास के बिना कुण्डलिनी जाग्रत नहीं होती। मुद्राएं नाड़ियों के अंदर स्थित विकारों को दूर करने की अद्भुत शक्ति रखती हैं।

शरीर में अनेक प्रकार के विकार भरे पड़े हैं। गलत खान-पान के कारण एवं दूषित मल-विसर्जन प्रणाली के कारण दोषों का ठीक-ठीक बहिष्कार न होने के कारण कुछ विकार अंदर नाड़ियों में रुक जाते हैं। उनके निष्कासन में मुद्राओं का बड़ा महत्त्व है। इन्हीं मुद्राओं में तीन प्रकार के बंधों का भी वर्णन है। ये बंध मल-विसर्जन की क्रिया को तो नियमित करते ही हैं, कुछ चक्रों पर भी उनका अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

उड्डीयान बंध, जालंधर बंध और मूलबंध। इन तीनों का वर्णन हठयोग शास्त्र में दिया गया है। ये स्वास्थ्य के लिए अत्यंत उपयोगी तो हैं ही, इनकी क्रियाएं भी सरल हैं। इनके करने में भी कठिनाई नहीं है।

इनके अभ्यास से मानसिक शक्ति बढ़ जाती है, पाचन-शक्ति प्रज्वलित हो जाती है। मूलाधार काम-केंद्र है, उस पर दबाव पड़ने से वासना का शमन होता है, अतः मानसिक व्याधियों का निराकरण सहज ही हो जाता है।

उड्डीयान बंध

संसार के किसी भी व्यायाम में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि पेट के सभी यंत्रों को कुछ क्षण के लिए विश्राम दिया जा सके। यह व्यवस्था केवल यौगिक विधि में ही है। उड्डीयान बंध से पेट की पेशियों को पूर्णरूप से विश्राम तो मिल ही जाता है, उनकी मालिश की क्रिया भी हो जाती है।

उड्डीयान शब्द का अर्थ है, उड़ने की कला। यह बंध कुण्डलिनी को जाग्रत करने में सहायक होती है और बहिर्मुखी वृत्तियों को अंतर्मुखी बनाता है। इस प्रकार इस बंध के सध जाने से आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त होता है।

उड्डीयान बंध निम्न दो प्रकार से किया जाता है—

- ❑ बैठकर
- ❑ खड़े होकर

बैठकर किया जाने वाला उड्डीयान पद्मासन में बैठने से सिद्ध होता है। इसमें पहले पद्मासन लगाकर बैठें और हाथों को घुटनों पर रखें। दाहिना हाथ दाहिने घुटने पर और बायां हाथ बाएं घुटने पर रहेगा। फिर अंदर की सारी वायु निकाल दें और श्वास बाहर ही रोककर पेट को अंदर की ओर खलाएं। जब पेट अंदर चला जाए, तब नाभि के नीचे के भाग को भी सिकोड़ें। इस प्रकार महाप्राचीरा (डायाफ्राम) ऊपर की ओर उठेगी और नाभि के नीचे के अंग, पेड़ू, गुदा और लिंग के आसपास की पेशियों का शिथिलीकरण हो जाएगा। नीचे के चक्रों का संचालन होगा।

खड़े होकर उड्डीयान करने की विधि यह है—पहले सीधे खड़े हो जाएं। थोड़ा घुटनों को मोड़ें और दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखें। अब कंधों और गरदन का भार हाथों पर डाल दें। यह उड्डीयान बंध की पूर्व तैयारी की आकृति है।

इस आकृति में आकर श्वास बाहर निकाल दें। अंदर की सारी वायु बाहर निकल जानी चाहिए। फेफड़ा एकदम वायुरहित हो जाए। अब घुटनों पर हाथों द्वारा बल देते हुए पेट को अंदर खलाएं। पेट इतना खलाना चाहिए कि पेट के अंदर गड्ढा-सा बन जाए। इस स्थिति के बाद नाभि के नीचे के भाग पेड़ू एवं गुदा तथा लिंग-मूल के चारों ओर की पेशियों को ऊपर की ओर तानें। ऐसा करने से उदर एवं पेड़ू व नीचे की पेशियों का शिथिलीकरण हो जाएगा। इसी स्थिति में रहकर, पेट का तनाव कम कर दें और धीरे-धीरे श्वास अंदर जाने दें। फेफड़े में श्वास भर जाने दें। यह एक बार पूर्ण उड्डीयान हुआ।

जो योगी साधक नए हैं, उन्हें प्रारंभ में यह क्रिया एक ही बार करनी चाहिए। 4-5 महीने में अभ्यास के बाद 2 या 3 बार यह क्रिया की जा सकती है। यह संसार में प्रचलित सभी व्यायामों में अद्भुत व्यायाम है। इससे आध्यात्मिक शक्ति तो जाग्रत होती ही है, पेट की सभी पेशियों को विश्राम भी मिल जाता है। इस बंध के अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर उड़ने लगती है।

जालंधर बंध

जालंधर नाम के एक योगिराज हुए हैं। हो सकता है कि उन्होंने ही इस बंध का आविष्कार किया हो, जिस कारण इस बंध का यह नाम पड़ गया हो। इसकी विधि यह है—पद्मासन पर बैठ जाएं। शरीर व मेरुदण्ड को सीधा और स्थिर रखें। फिर गरदन की मांसपेशियों को ढीला करके नीचे की ओर झुकाएं। इससे गरदन में स्थित मेरुदण्ड का भाग भी झुकेगा। गला और ठुड्डी स्पर्श करेगी। यह बंध लगाकर प्राणायाम का पूरक (श्वास रोकने की क्रिया) करें। जब तक श्वास रुकती है, तब तक बंध लगा रहता है। इसके पश्चात् गरदन को ढीला कर दिया जाता है और श्वास निकाल दी जाती है या रेचक किया जाता है।

कुछ आचार्य कहते हैं कि सिर और गरदन को इतना झुकाना चाहिए कि ठुड्डी, हंसली की हड्डी के नीचे छाती के भाग को स्पर्श करे और हृदय तथा ठुड्डी में 4-5 अंगुल का अंतर रह जाए। यह बंध बुढ़ापे को रोकता और झुर्रियों को नष्ट करता है। यह मृत्यु और रोग को जीतने वाला है। इडा और पिंगला दोनों नाड़ियों का इस बंध से अवरोध होता है। इनके अवरोध से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी से प्रभावित होने लगती है।

कुण्डलिनी जागरण में बंधों का महत्त्व

इस बात को हम पहले कई बार बता चुके हैं कि कुण्डलिनी शक्ति का निवास स्थल ''मूलाधार चक्र'' में

अवस्थित है। अधिकांश रूप-से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए मूलाधार चक्र पर चेतना शक्ति को अर्थात् ध्यान को एकाग्र कर मेरुदण्ड के सबसे निचले स्थान पर, जहां महानाड़ी सुषुम्ना के द्वार पर नीचे की ओर मुख करके कुण्डली सुप्तावस्था में पड़ी हुई है, ले जाया जाता है। नए साधकों को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वे कुण्डलिनी को छेड़ने का साहस और प्रयास अत्यंत सावधानी के साथ करें।

साधक का सर्वप्रथम कर्तव्य है—कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाना। ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि एवं रुद्रग्रंथि—इन ग्रंथियों को भेदन करना भी आवश्यक है। इसके अनंतर ही कुण्डलिनी जागरण आरंभ होता है। जब तक तीनों महाग्रंथियों का भेदन न हो जाए (अर्थात् साधक की संपूर्ण आसक्तियां, दुर्बलताएं, कामनाएं, इच्छाएं लोप न हो जाएं), तब तक कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वमुखी होना आरंभ नहीं होता। उचित तो यही है कि पहले बंधों (मूलबंध, उड्डीयान बंध न जालंधर बंध) के द्वारा साधना करके सोलह आधारों को सिद्ध कर लेना चाहिए। आधारों का अर्थ है, शरीर के वे सक्रिय अंग जो मर्मस्थल कहलाते हैं। जब उन आधारों के मार्ग से चेतना को बाहर निकालने में समर्थ हो जाएं, तो बंध-साधन करना चाहिए।

इन सोलह आधारों के अवरुद्ध हो जाने के अनंतर चेतनशक्ति पूर्णतया अंतर्मुखी हो जाती है। मूलबंध नामक अत्यंत महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया जो अपने आप में गुप्त, रहस्यात्मक और चमत्कारी है; इसके साधन से कुण्डलिनी शक्ति के भयंकर तेज को सहने और संभालने की शक्ति प्राप्त होती है।

यौगिक क्रिया 'मूलबंध'

कुण्डलिनी जागरण से पहले की प्रक्रिया है, मूलबंध साधना! समस्त यौगिक क्रियाओं में मूलबंध अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है। यह चमत्कारी क्रिया बाह्य, आंतरिक, स्थूल तथा सूक्ष्म है। इसमें देह (शरीर) के साथ-साथ मानसिक विचार का प्रयोग भी किया जाता है। ब्रह्मचर्य, जप, तप, भक्ति, ज्ञान-विज्ञान, मनन, चिंतन, कला, संगीत, अध्ययन तथा समस्त प्रकार की यौगिक साधनाएं मूलबंध के बिना व्यर्थ हैं।

मूलबंध की क्रिया के द्वारा कुण्डलिनी योग की शुरुआत की जा सकती है। वस्तुतः कुण्डलिनी योग के मूल में मूलबंध की ही शक्ति छिपी हुई है।

मूलबंध एक ऐसी अद्वितीय अप्रतिहत गति से कार्य करने वाली शक्ति है, जिसके द्वारा कुण्डलिनी योग की चरम अनुभूति प्राप्त हो सकती है। मूलबंध के द्वारा सांसारिक, शारीरिक आनंद की चरम सीमा को पहुंचा जा सकता है।

कुण्डलिनी साधना में प्रारंभ से अंतिम सोपान तक और इसमें और इससे भी ऊपर सूक्ष्मता के साथ जाने के लिए मूलबंध क्रिया को सदा साथ लेकर ही चलना होगा। यदि मूलबंध का सहयोग और साथ न लिया गया तो असफलता का मुंह तक देखना पड़ सकता है।

मूल सबसे नीचे का चक्र है। इसी को गुदा चक्र भी कहते हैं। इस मूल को बांधने का नाम मूलबंध है। योगियों ने इसे बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस बंध में पेड़ू, शिश्नमूल, गुदा आदि संपूर्ण अंगों और वहां स्थित मांसपेशियों पर दबाव एवं खिंचाव पड़ता है। इस बंध में वीर्यवाहिनी नसों, मूत्रवाहिनी नसों एवं गुदा की संपूर्ण नसों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। वीर्यरक्षा में यह बंध बहुत सहायक है।

उड्डीयान बंध में पेड़ू के नीचे के सभी अंगों पर तनाव और शिथिलीकरण का प्रभाव पड़ता है, किन्तु यह बंध बैठकर भी किया जाता है और खड़े होकर भी किया जाता है, लेकिन मूलबंध सिद्धासन में बैठकर किया जाता है।

मूलबंध से वीर्य के गाढ़ा होने में मदद मिलती है, स्वप्नदोष जैसा रोग भी इससे जाता रहता है। शीघ्रपतन और शुक्र तारल्य जैसे वीर्य संबंधी रोगों में इससे लाभ होता है, किन्तु यह आसन श्रद्धापूर्वक नियमित रूप-से करना चाहिए। शारीरिक सामंजस्य इस प्रकार इस बंध के द्वारा बनता है कि निर्बलता तथा वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न

झुर्रियां आदि लक्षण मिट जाते हैं और शरीर में बल-वीर्य बढ़ता है। रोग निवारक शक्ति बढ़ती है और शरीर हृष्ट-पुष्ट, सुंदर एवं सुडौल बनता है। पाचन-शक्ति जाग्रत होती है।

सिद्धासन की अवस्था

मूलबंध के अभ्यास से एक अति महत्त्वपूर्ण ऊर्जा का उदय होता है। योगी साधक का कर्तव्य है कि उस ओज को अपने दृढ़ संकल्प और संयमित जीवन द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में एकत्रित करे। उस ओज (ऊर्जा) को किसी प्रकार व्यर्थ न जाने दे। यह ऊर्जा कुण्डलिनी शक्ति को गलत दिशा में बढ़ने से रोकने का कार्य करती है।

मूलबंध क्रिया को संपादित करने के लिए मन, शरीर, बुद्धि, संकल्प शक्ति एवं ध्यान का आश्रय लेना पड़ता है। यौगिक साधना करते हुए साधक को ध्यान में जाने का प्रयत्न करते समय, अपने शरीरस्थ मल-मूत्र मार्ग को इच्छा के द्वारा ऊपर की ओर खींचने पर अपने ध्यान को चिंतन में लगाते हुए अपनी चेतन शक्ति को ऊंचे-से-ऊंचे ले जाने का प्रयत्न करें। फलतः कुछ दिन के इस प्रकार के चिंतन और अभ्यास से यह क्रिया ठीक रूप-से संचालित होने लगेगी।

मूलबंध क्रिया को करते हुए साधक का पेट हल्के से उड्डीयान बंध की तरह पीछे की ओर खिंच जाएगा। अपनी आंतरिक चेतना शक्ति को जाग्रत करने और ऊपर ले जाने के लिए, साधक को लगातार उपर्युक्त क्रियाओं को करते हुए, आज्ञाचक्र को और समस्त स्नायुमंडल के साथ ध्यान में एकाग्र होने की स्वयं को प्रेरणा देनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में साधक के नेत्र या तो बंद हो जाएंगे या फिर अधखुली अवस्था में ऊपर को चले जाएंगे। मानसिक और शारीरिक ध्यान की ऐसी स्थिति का जब नियमित थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करने पर और अच्छा अभ्यास हो जाए तो, मूलबंध का प्रभाव साधक स्वयं पर अनुभव करने लगता है अर्थात् स्नायुमंडल को चेतना प्राप्त होगी, ध्यान एकाग्र होने लगेगा, मन-मस्तिष्क को आनंद की अनुभूति होगी। कुण्डलिनी शक्ति की साधना में प्रवेश करने के लिए मूलबंध यौगिक क्रिया को करना आवश्यक है।

जब मूलाधार में स्थित सोई हुई कुण्डलिनी महाशक्ति का उत्थान आरंभ होता है, तब योग के छह चक्र तीनों महाग्रंथियों के भेदन के साथ-साथ विकसित होने लगते हैं। योगी के शरीर में स्थित महासुषुम्ना नाड़ी जिसका नीलवर्ण है, वह उस प्राणशक्ति के चलने का विशेष और प्रधान मार्ग हो जाता है। यह क्रिया प्रारंभ होते ही योगी मन, बुद्धि, समस्त इंद्रियां, सांसारिक आनंद एवं सुख की वस्तुओं के मोह से मुक्त हो जाता है।

मानो मृत्यु तक का भय समाप्त हो जाता है।

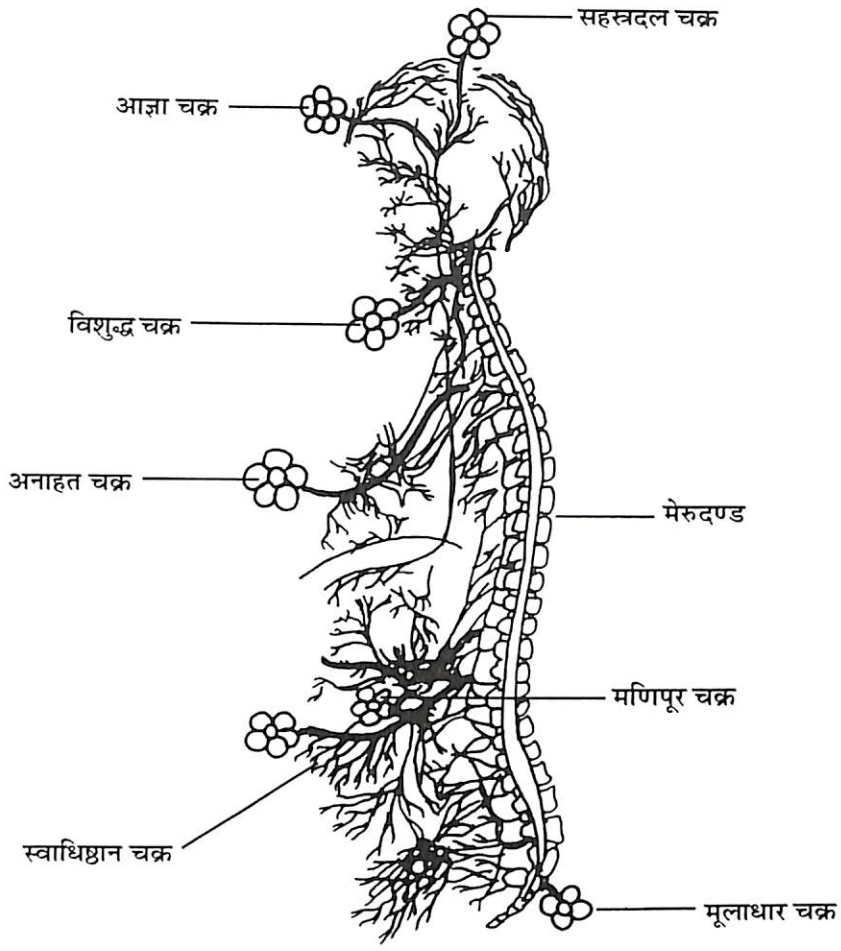

शरीर में विभिन्न योग चक्र

योग की सर्वोपरि महादेवी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के निमित्त उपरोक्त प्रक्रियाएं, साधकों के लिए, योग-मार्ग में अग्रसर होने के लिए वरदान सिद्ध होंगी। कुण्डलिनी जैसी शक्ति का यह ज्ञान बड़ा ही रहस्यमय और विचित्र है। साधक को कुण्डलिनी से संबंधित पहले कुछ साधारण क्रियाएं करनी चाहिए। तदनंतर कुछ और बड़ी क्रियाएं करने का प्रयास करना चाहिए। अंतत: पूर्ण यौगिक संयम का (अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि का) मिश्रित प्रयास, अभ्यास एवं साधना करके उस परात्पर परब्रह्म अर्थात् स्वयं को जानने का अवसर मिल जाता है। इस संबंध में अनगिनत जागे हुए ऋषि-मुनि, संत-महात्मा आदि विद्वानों एवं शास्त्रियों ने बहुत ही स्पष्ट रूप-से कितने ही स्थानों पर अनुभवों को बताया है कि इस प्रकार की ज्ञानमयी, भक्तिमयी, योगमयी, खेचरी, प्राण-अपान साधन सहस्त्रदल कमल की कर्णिका विशेष से, जो अमृत बिंदु का क्षरण होता रहता है, उसका पान करना। ऐसी विभिन्न क्रियाओं और साधनों की उपासना से जो अद्वितीय चमत्कृत कर देने वाला, जगा देने वाला, अतुल ज्ञान प्राप्त होगा, उससे योगी का अथवा जीवात्मा का सर्वस्व परिवर्तन हो जाएगा।

इस विषय में विद्वानों का कथन है—

यदि साधना, उपासना, उत्कृष्ट प्रकार के यौगिक अभ्यासों के साधन, ज्ञान-विज्ञान, नाद, प्राण-क्रिया, भक्ति योग, सभी प्रकार के यम, नियम, संयम, तपश्चर्या आदि संपूर्ण प्रकार के साधनों के द्वारा प्रयत्न करके ज्ञान प्राप्त कर ले, तो फिर साधक के लिए कुछ और सीखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। जिनकी श्रुति ऊर्ध्वगामी हो चली

है, अर्थात् जिनकी वह परचेतना महाकुण्डलिनी शक्ति सत् प्रयत्नों, साधनों, दृढ़ संकल्प और तप के प्रभाव से जाग्रत हो चली है, वह जीवात्मा साक्षात् नारायण ही हो जाता है अर्थात् जो योगी अपने प्राणों की ऊर्ध्वगति प्राप्त करा लेता है, फिर वह मनुष्य नहीं, देव तुल्य हो जाता है। समस्त धर्म, संपूर्ण योग एवं तप आदि का रहस्य कुण्डलिनी है।

मूलबंध की विधि

योग विज्ञान के अंतर्गत मूलबंध एक ऐसी महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया है, जिसके जाने बिना और सीखे बिना, कुण्डलिनी साधक की स्थिति ऐसी है, जैसे बिना लगाम का घोड़ा। लगाम के द्वारा ही घोड़ा पूरी तरह से कोचवान (चालक) के वश में रहता है।

मूलबंध लगाने के लिए पहले सीधे बैठ जाइए। दोनों टांगों को सामने की ओर सीधी फैला लीजिए। अब दोनों में से किसी भी टांग को घुटने से मोड़कर, गुदा और अंडकोष के बीच में जो थोड़ी जगह बची है, उसी खाली स्थान में एड़ी को लगा लीजिए। दूसरे पांव की एड़ी को शिश्न मूल (लिंग मूल) के ऊपर जमा दीजिए। इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि यह क्रिया करते हुए अण्डकोष या जननेन्द्रिय को किसी प्रकार का कोई आघात न पहुंचे।

अब उपर्युक्त आसन में बैठे हुए, गुदा के चारों ओर की पेशियों का बलपूर्वक संकोचन करें अर्थात् ऊपर की ओर खींचिए। यह बंध आसन पर नहीं, बल्कि खिंचाव पर निर्भर करता है। इस खिंचाव या तनाव के कारण लिंग के चारों ओर की नसों और मांसपेशियों का संकोचन होता है।

अपान वायु ऊपर को उठती है। इस ऊर्ध्वगमन में लिंग और अण्डकोषों को नियंत्रण करने वाली नसों में बल आता है और शीघ्रपतन एवं नपुंसकता आदि दोष मिटने लगते हैं। इससे मानसिक शांति भी मिलती है, कुण्डलिनी शक्ति मरे हुए सर्प की भांति सीधी हो जाती है और उसकी शक्ति का प्रवाह सुषुम्ना द्वारा ऊपर की ओर होने लगता है।

जब अपान वायु ऊर्ध्व गमन करने लगती है, तब इसका संघर्ष प्राण वायु से होता है। प्राण वायु के संघर्ष से एक प्रकार की विद्युत का प्रवाह होने लगता है। इस विद्युत के प्रभाव से पाचन शक्ति में बल आ जाता है और पाचन शक्ति प्रबल होने से बल की वृद्धि होती है।

बज्रौली और विंदु साधन नामक दो क्रियाएं योगी लोग करते हैं, उन क्रियाओं की प्रथम सीढ़ी यह मूलबंध है। बज्रौली और विंदु साधन का अभ्यास उच्चकोटि के योगी करते हैं, जो ब्रह्मचर्य से कभी भ्रष्ट नहीं होते तथा ब्रह्मसिद्धि में लगे रहते हैं। कामी लोग इसे कदापि न करें।

उड्डीयान, जालंधर और मूल—ये तीन बंध हमने ऊपर लिखे हैं। ये तीनों अलग-अलग हैं और अलग-अलग लोग करते भी हैं, किन्तु प्राणायाम साधन में तीनों बंध एक साथ किए जाते हैं। पहले पद्मासन में बैठना होता है और पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर, मूलबंध लगा लिया जाता है। इसके बाद पूरक करते हैं, श्वास को अंदर भरते हैं, श्वास पूरी भर जाने पर जालंधर बंध लगा लिया जाता है; ठुड्डी को छाती से चिपका लिया जाता है और तब कुम्भक किया जाता है। श्वास को अंदर ही रोके रखने की क्रिया की जाती है।

जब कुम्भक पूर्ण हो जाता है, तब जालंधर बंध खोल देते हैं, ठुड्डी को छाती पर से ऊपर उठाकर गरदन सीधी कर लेते हैं और इसके बाद उड्डीयान बंध से पेट को खाली कर सारी श्वास बाहर निकाल देते हैं, रेचक करते हैं। इस प्रकार तीनों बंध एक साथ लगते हैं। तीनों बंध एक साथ लगाकर प्राणायाम करने से प्राण वायु सरलता से मेरुदण्ड की सुषुम्ना से गमन करने लगती है। अन्यथा इड़ा-पिंगला से गमन करती है।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के लिए सिद्धासन और पद्मासन दोनों योगासनों का बहुत अच्छा अभ्यास होना चाहिए। आसन सिद्धि के लिए किसी भी एक आसन में साधक को साढ़े तीन घंटे की अवधि तक सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास होना परमावश्यक है। वैसे पद्मासन सभी योग साधनाओं के लिए सर्वदा सिद्धि प्रदान करने वाला महत्त्वपूर्ण आसन माना गया है। किन्तु कुण्डलिनी शक्ति के प्रारंभिक साधनकाल में सभी साधक कुछ समय के लिए सिद्धासन से भी अभ्यास करें तो अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

नितांत एकांत स्थान में गोपनीयता के साथ, आलस रहित होकर, शांत स्थिति में मूलबंध लगाना चाहिए तथा प्रबल इच्छाशक्ति के साथ ऊपर बताई विधि के अनुसार संकोचन-क्रिया को धीरे-धीरे बढ़ाने का अभ्यास करना चाहिए।

शिव संहिता और हिरण्य संहिता आदि योग के अनेक ग्रंथों में इस क्रिया का विशेष वर्णन किया गया है। इस क्रिया के अभ्यास के बिना योग मार्ग पर चलना और उसकी अद्भुत गतियों का चमत्कार देखना संभव नहीं है।

वैसे तो योग विद्या में अनगिनत ऐसी विचित्र क्रियाएं उपस्थित हैं जिनको जाने बिना कोई भी साधक तीव्र गति से आगे नहीं बढ़ सकता। फिर भी मूलबंध एक ऐसी अद्वितीय यौगिक विधि है जो अकेली ही दस विशेष क्रियाओं के समान मानी जाती है। मूलबंध लगाने से योगी का ध्यान बिना प्रयास के ही लग जाता है। योगी का क्षय बंद हो जाता है, मानसिक शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगती है, धारणा स्वाभाविक ही दृढ़ होने लगती है, आलस्य भाग जाता है और प्राणों की गति में अंतर आ जाता है।

❑❑

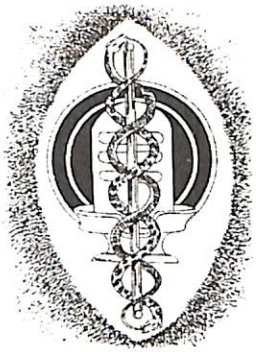

नि:श्वास : चार

मुद्राएं और कुंडलिनी

मुद्रा का अर्थ है स्थिति। साधना में इसका तात्पर्य हाथों और उंगलियों की विशेष स्थिति से होता है। योग व तंत्र ग्रंथों के अनुसार मुद्राओं से साधक की आंतरिक स्थिति का ज्ञान होता है। आंतरिक स्थिति की सहज अभिव्यक्ति हुआ करती हैं ये मुद्राएं। साधक जब मुद्राओं द्वारा अर्चन, उपासना या ध्यान आदि क्रियाएं करता है, तो वह बाहर से भीतर की यात्रा करने का प्रयास सिद्ध करता है। प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है जिस प्रकार सूक्ष्म स्थितियों का प्रभाव स्थूल क्रियाओं पर पड़ता है, उसी प्रकार सायास स्थूल क्रियाओं से सूक्ष्म भी प्रभावित होता है। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हंसने-मुस्कराने के रूप में होती है, यह बात जितनी सच है, उतना ही वैज्ञानिक यह तथ्य भी है कि हंसने-मुस्कराने से (भले ही वह शुरू में बनावटी लगे) प्रसन्नता की लहर हृदय का बहुत गहरे में अवश्य संस्पर्श करती है।

मुद्रा चिकित्सा रहस्य एवं प्रयोग

सम्पूर्ण प्रकृति और हमारा शरीर पांच तत्त्वों से बना है। मानव-शरीर लघु ब्रह्माण्ड स्वरूप है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतीक यह मानव-शरीर भी ब्रह्माण्ड के समान ही पांच तत्त्वों (अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी, जल) के योग से बना है। मुद्रा-विज्ञान का आधारभूत सिद्धांत यह है कि शरीर में इन पंच तत्त्वों में असंतुलन से रोगोत्पत्ति होती है तथा पंच तत्त्वों में समता व सन्तुलन होने से हम स्वस्थ रहते हैं। स्वस्थ शब्द को यहां शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक संदर्भों में स्वयं में अपनी प्रकृति में स्थित रहने से लेना चाहिए।

मानव-शरीर प्रकृति की सर्वोत्तम रचना है और हाथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग। हाथों में से एक विशेष प्रकार की प्राण-ऊर्जा या शक्ति/विद्युत चुंबकीय तरंगें/जीवनी शक्ति (AURA) निरन्तर निकलती रहती है। विभिन्न प्रकार की रहस्यमयी चिकित्साओं में हाथों के संस्पर्श मात्र से नीरोगी बनाने के पीछे यही ऊर्जा छिपी है।

भारतीय मनीषियों के अनुसार, मानव-हस्त की पांचों उंगलियां अलग-अलग पंच तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं और प्रत्येक उंगली का संबंध एक तत्त्व विशेष से है। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि प्रत्येक उंगली के सिरे से अलग-अलग प्रकार की ऊर्जा तरंगें (इलेक्ट्रो मैगनेटिक वेव्स) निकलती रहती हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों की अद्‌भुत खोज मुद्रा-विज्ञान के अनुसार पंच तत्त्वों की प्रतीक उंगलियों को परस्पर मिलाने, दबाने, मरोड़ने या विशेष प्रकार की आकृति बनाने से विभिन्न प्रकार के तत्त्वों में परिवर्तन, अभिव्यक्ति, विघटन एवं प्रत्यावर्तन होने लगता है। दूसरे शब्दों में, उंगलियों की सहायता से (बनाई जाने वाली विभिन्न मुद्राओं द्वारा) इन पंच तत्त्वों को इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। कौन-सी उंगली किस तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है, चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अंगूठा = अग्नि
तर्जनी (अंगूठे के पास वाली उंगली) = वायु
मध्यमा (सबसे बड़ी अंगुली) = आकाश

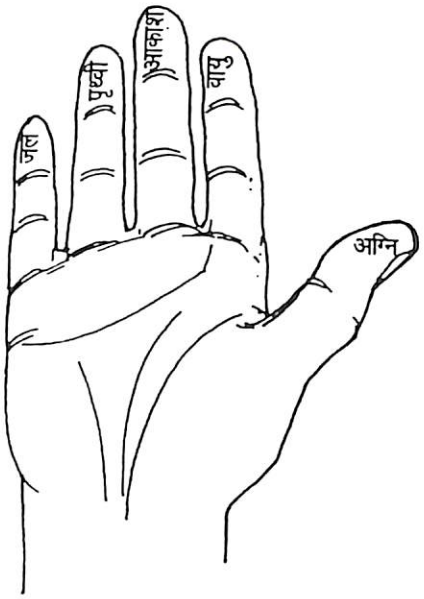

अनामिका (चौथी उंगली) = पृथ्वी
कनिष्ठिका (सबसे छोटी उंगली) = जल

पंच तत्त्व नियंत्रक मुद्राएं कैसे बनाई जाती हैं?

हाथों की उंगलियों को एक दूसरे से विशेष प्रकार से मिलाने, स्पर्श करने, दबाने अथवा मरोड़ने से विभिन्न प्रकार की मुद्राएं बनती हैं। इस प्रकार केवल उंगलियों को एक दूसरे के साथ किसी विशेष स्थिति में रखने या परस्पर सटा देने भर की क्रिया मात्र से ही शरीर में भिन्न-भिन्न तत्त्वों का प्रभाव आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं और पंच तत्त्व नियंत्रक उंगली-मुद्राओं के नियमित अभ्यास के द्वारा तत्त्वों में संतुलन लाकर स्वस्थ रह सकते हैं। सारांश यह है कि प्रकृति के समान ही मानव शरीर पंच तत्त्वों से बना है। आरोग्य का आधार इन पंच तत्त्वों का संतुलन है। विभिन्न उंगली-मुद्राएं शरीर में चेतना के शक्ति केन्द्रों के रिमोट कंट्रोल बटन के समान हैं। उनके उचित अभ्यास से स्वास्थ्य-रक्षा और रोग-निवारण, दोनों सम्भव हैं।

उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति को अचानक दिल का दौरा पड़ा है और उसके पास तत्क्षण कोई प्रभावशाली दवा नहीं है। ऐसी स्थिति में, भले ही उसने किसी व्यक्ति को डॉक्टर बुलाने भेज दिया हो, यदि वह तत्काल अपने दोनों हाथों से अपानवायु मुद्रा करे तो कुछ ही क्षणों में हृदय की ओर चढ़ता और दिल पर दबाव देता हुआ गैस का गुबार निकल जाएगा। फलत: डॉक्टर के आने से पहले ही वह व्यक्ति मौत के चंगुल से बच जाएगा।

वैसे तो शास्त्रों में कई प्रकार की मुद्राओं की चर्चा योग व तंत्र ग्रंथों में मिलती है, यहां जिन विशेष मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है, वे तन-मन स्वस्थ रखने में तो उपयोगी हैं ही, आध्यात्मिक उन्नति में भी विशेष भूमिका निभाती हैं। षट्चक्रों का संबंध पंच तत्त्वों से है और ये मुद्राएं पांचों तत्त्वों को संतुलित करती हैं। सद्गुरु के सान्निध्य में इन मुद्राओं का प्रयोग कर साधक प्रसुप्त अनंत संभावनाओं को जाग्रत करने में सफल हो जाता है। इनसे प्रसुप्त चक्रों में विशेश आघात होता है, जिससे वे चालित हो जाते हैं।

ज्ञान मुद्रा

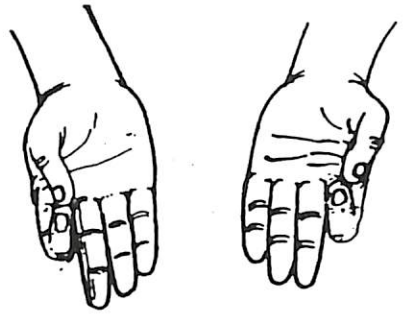

हाथ की तर्जनी (अंगूठे के साथ वाली) अंगुली के अग्रभाग (सिरे) को अंगूठे के अग्रभाग के साथ मिलाकर रखने और हल्का-सा दबाव देने से ज्ञान मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में दबाना जरूरी नहीं है। बाकी उंगलियां सहज रूप से सीधी रखें।

यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंगुली-मुद्रा है। इस मुद्रा का सम्पूर्ण स्नायुमण्डल और मस्तिष्क पर बड़ा ही हितकारी प्रभाव पड़ता है।

❑ ज्ञान मुद्रा किसी भी आसन या स्थिति में की जा सकती है। ध्यान के समय इसे पद्मासन में करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसे आप दोनों हाथों से, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, गृहस्थी के कार्य करते समय या आराम के क्षणों में, जब चाहें किसी भी समय, किसी भी स्थिति में और कहीं भी कर सकते हैं।

❑ इसे अधिक-से-अधिक समय तक किया जा सकता है। इस मुद्रा के लिए समय की कोई सीमा नहीं है।

❑ हस्तरेखा विज्ञान की दृष्टि से, इस मुद्रा के नियमित अभ्यास से जीवन रेखा और बुध रेखा के दोष दूर होते हैं तथा अविकसित शुक्र पर्वत का विकास होता है।

ज्ञान मुद्रा समस्त स्नायुमण्डल को सशक्त बनाती है। विशेषकर, मानसिक तनाव के कारण होने वाले दुष्प्रभावों को दूर करके मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं को सबल करती है। ज्ञान मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क की सभी विकृतियां और रोग दूर हो जाते हैं। अनिद्रा रोग में यह मुद्रा अत्यंत कारगर सिद्ध होती है। मस्तिष्क शुद्ध और विकसित होता है। मन शान्त हो जाता है। चेहरे पर अपूर्व प्रसन्नता झलकने लगती है।

❑ ज्ञान मुद्रा मानसिक एकाग्रता बढ़ाने में सहायक होती है। तर्जनी अंगुली और अंगूठा जहां एक दूसरे को स्पर्श करते हैं, हल्का-सा नाड़ी स्पन्दन महसूस होता है। वहां ध्यान लगाने से चित्त का भटकना बन्द होकर मन एकाग्र हो जाता है।

❑ ज्ञान मुद्रा विद्यार्थियों के लिए किसी वरदान से कम नहीं है। इसके अभ्यास से स्मरण शक्ति उन्नत और बुद्धि तेज होती है।

साधना के क्षेत्र में साधक द्वारा लगातार ज्ञान मुद्रा करने से उसका ज्ञान-नेत्र (शिव-नेत्र) खुल सकता है, अन्त:दृष्टि प्राप्त होकर छठी इंद्रिय का विकास हो सकता है। दिव्य-चक्षु के खुलने से साधक त्रिकाल की घटनाओं को यथावत् देख सकने तथा दूसरे के मन की बातें जान सकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

वायु मुद्रा

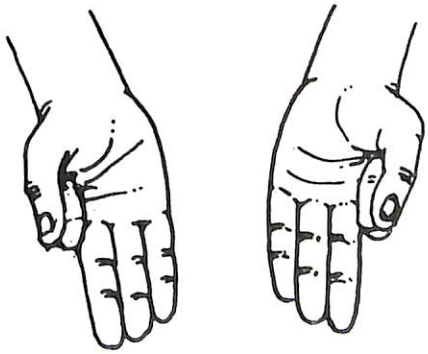

तर्जनी (अंगूठे के साथ वाली) अंगुली को मोड़कर अंगूठी की जड़ में लगाकर उसे अंगूठे से हल्का-सा दबाने पर वायु मुद्रा बनती है। इस मुद्रा से रोगी के शरीर में वायु तत्त्व शीघ्रता से घटने लगता है। अत: वायु के प्रकुपित होने से उत्पन्न होने वाले सभी रोग इस मुद्रा से शान्त हो जाते हैं।

❑ वायु मुद्रा की सहयोगी प्राण मुद्रा है। यदि इससे लाभ नजर न आता हो, तो इसके साथ प्राण मुद्रा का अभ्यास कुछ देर तक करना हितकर सिद्ध होता है।

❑ हस्तरेखा विज्ञान की दृष्टि से इससे शनि पर्वत और रेखा के दोष दूर होते हैं।

आकाश मुद्रा

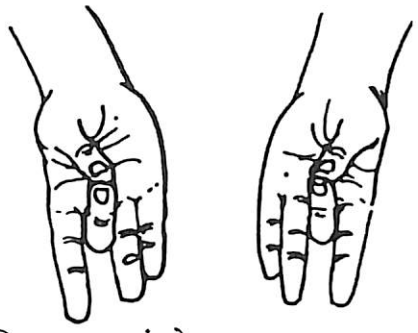

मध्यमा (सबसे बड़ी उंगली) को अंगूठे के अग्रभाग से मिलाने पर आकाश मुद्रा बन जाती है। बाकी अंगुलियां सहज-सीधी रखनी चाहिए।

इस मुद्रा को करने से शरीर में आकाश तत्त्व में वृद्धि होती है। मध्यमा उंगली का हृदय के साथ खास सम्बन्ध है, अत: यह मुद्रा हृदय के लिए लाभदायक है। आपने देखा होगा कि अधिकांश जप-क्रिया या माला फेरने में मध्यमा उंगली का उपयोग किया जाता है।

भौतिक सुखों जैसे—द्रव्य प्राप्ति, संतान प्राप्ति, परिवार शांति आदि के लिए माला अंगूठे पर रखकर मध्यमा उंगली से फेरने का विधान है जबकि मोक्ष हेतु अनामिका अंगुली से और बैर-क्लेश आदि के नाश के लिए तर्जनी उंगली से माला फेरना उचित है। माला को सदैव दाहिने हाथ के अंगूठे पर रख हृदय के पास स्पर्श करते हुए फेरना चाहिए। साथ ही ध्यान रखें कि माला के मणियों को फिराते समय उनके नख न लगें और सुमेरु का उल्लंघन न हो, अन्यथा लाभ कम होता है। इसके अतिरिक्त ये भी नियम है कि माला साफ, समान व पूरे 108 मणियों तथा सुन्दर सुमेरु वाली हो। शुभ कार्यों के लिए सफेद माला व कष्ट निवारण के लिए लाल माला का प्रयोग प्राय: किया जाता है।

माला की तरह प्रणाम करने का विधान भी अर्थपूर्ण है। प्रणाम करने के लिए अपने बाएं हाथ से पूजनीय व्यक्ति के बाएं पैर को और दाएं हाथ से उसके दाएं पैर को छूते हुए प्रणाम करना चाहिए अर्थात् हमें हाथों को क्रॉस बनाते हुए गुरुजनों को प्रणाम करना चाहिए। इससे व्यक्ति का हमारे सीधे हाथ से सीधा पैर और उलटे हाथ से उलटा पैर ही स्पर्श होगा। इस प्रकार पूजनीय व्यक्ति के शरीर से निकलने वाला विद्युत प्रवाह (ऋणात्मक और धनात्मक) या तेज का प्रभाव चरण स्पर्श करने वाले के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

❑ हस्तरेखा विज्ञान की दृष्टि से, शनि ग्रह से सम्बन्ध रखने वाले रोगों में यह मुद्रा लाभप्रद सिद्ध होगी जबकि जन्मकुंडली में शनि नीच का हो।

यदि जम्भाई लेते या उबासी लेते हुए अचानक जबड़ा फंस जाए और मुख बन्द न हो तो अंगूठे को मध्यमा उंगली के साथ रगड़ने या चुटकी बजाने से फंसा हुआ जबड़ा तत्काल खुल जाता है। यही कारण है कि बहुत से लोग उबासी लेते हुए (कारण न जानते हुए भी) मध्यमा और अंगूठे को मुंह के पास ले जाकर चुटकी बजाते हैं।

यह मुद्रा हृदय रोगों में भी लाभकारी है।

शून्य मुद्रा

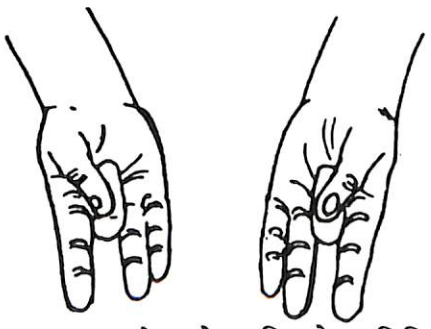

आकाश तत्त्व की प्रतीक मध्यमा उंगली को अंगूठे की गद्दी (शुक्र के पर्वत) पर रखकर, ऊपर से अंगूठे से हल्का-सा दबाने से शून्य मुद्रा बन जाती है।

यदि किसी कारणवश शरीर में आकाश तत्त्व बढ़ गया हो तो इस मुद्रा के प्रभाव से घटकर सन्तुलित हो जाता है।

❑ सामान्यत: इसे रोग शान्त हो जाने तक करना चाहिए। इस मुद्रा के अभ्यास से बहरे व्यक्ति के अतिरिक्त गूंगे भी लाभान्वित हो सकते हैं। जन्म से बहरे या गूंगे होने पर इस मुद्रा का प्रभाव नहीं होता।

पृथ्वी मुद्रा

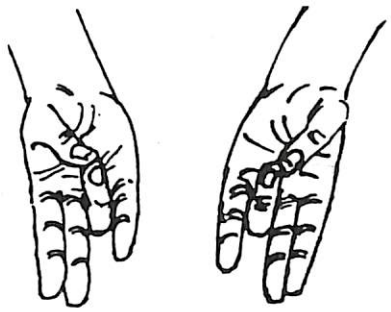

अनामिका (छोटी उंगली के पास वाली) उंगली तथा अंगूठे के सिरे को परस्पर मिलाने से पृथ्वी मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा को करने से शरीर में पृथ्वी तत्त्व बढ़कर सम होता है जिससे सभी प्रकार की शारीरिक कमजोरियां दूर होती हैं।

❑ अनामिका एक महत्त्वपूर्ण उंगली है। अंगूठे की तरह अनामिका से भी तेज का विशेष विद्युत प्रवाह होता है। योग शास्त्र के अनुसार ललाट पर द्विदल कमल का आज्ञाचक्र स्थित है। उस पर अनामिका और अंगूठे के द्वारा शुभ भावना के साथ विधिवत् तिलक करके कोई भी व्यक्ति अपनी अदृश्य शक्ति को दूसरे में पहुंचाकर उसकी शक्ति में बढ़ोत्तरी कर सकता है, जिसे शक्तिपात कहते हैं। इसे किसी भी आसन या स्थिति में बैठकर अधिकाधिक समय तक इच्छानुसार किया जा सकता है।

❑ इस मुद्रा के प्रभाव से आंतरिक सूक्ष्म तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने पर विचारों की संकीर्णता मिटकर उदारता आने लगती है।

❑ आध्यात्मिक साधक को आगे बढ़ने में इस मुद्रा से सच्चे साथी की तरह सहयोग प्राप्त होता है।

सूर्य मुद्रा

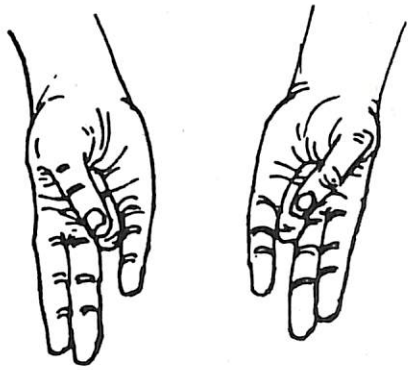

अनामिका (सबसे छोटी उंगली के पास वाली) अंगुली को अंगूठे की जड़ में लगाकर अंगूठे से हल्का-सा दबाने पर सूर्य मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा को पद्मासन में बैठकर दोनों हाथों से करना अच्छा रहता है।

❑ इस मुद्रा से अनामिका द्वारा हथेली में थाइरॉइड ग्रंथि का केन्द्र दबता है।

❑ सूर्य मुद्रा को प्रतिदिन सुबह-शाम 5 से 10 मिनट तक करना चाहिए।

वरुण मुद्रा

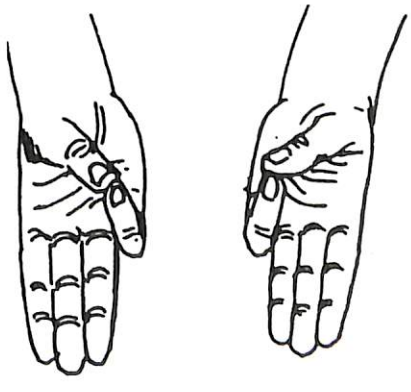

सबसे छोटी उंगली (कनिष्ठिका) को अंगूठे के अग्रभाग से मिलाने पर वरुण मुद्रा बनती है। इस तत्त्व की कमी से जहां त्वचा में रूखापन आता है, वहीं स्वभाव में भी चिड़चिड़ापन बन जाता है। एक अजीब-सा तनाव हमेशा तन-मन में बना रहता है। परिणामस्वरूप अपने सामाजिक ढांचे को भी ऐसा व्यक्ति बिगाड़ लेता है। इसको विपरीत अर्थात् जल तत्त्व की वृद्धि होने की कल्पना की उड़ान ऊंचाइयां छूने लगती हैं। कमी में पहली मुद्रा और अधिकता में दूसरी मुद्रा से लाभ होता है।

कनिष्ठिका को पहले अंगूठे की जड़ में लगाकर फिर अंगूठे से कनिष्ठिका को दबाने से दूसरी मुद्रा बनती है। इसमें बीच की तीन उंगलियां सहज एवं सीधी रहती हैं।

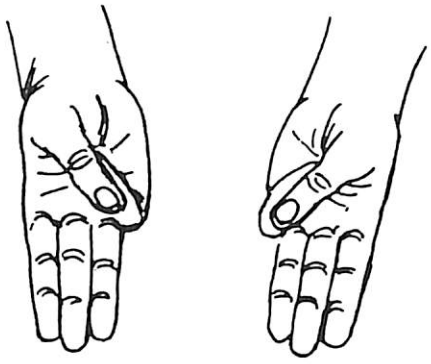

अपान मुद्रा

मध्यमा तथा अनामिका, दोनों उंगलियों के अग्रभाग को अंगूठे के अग्रभाग से मिला देने से अपान मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में कनिष्ठिका और तर्जनी उंगलियां सहज एवं सीधी रहती हैं।

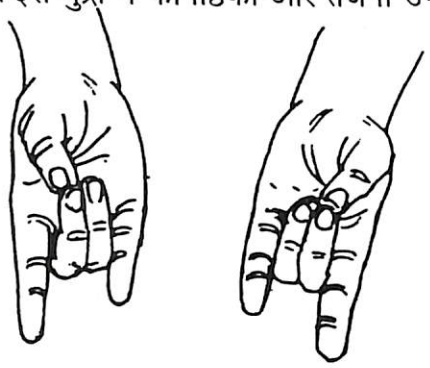

मानव स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अपान मुद्रा बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है। क्योंकि यह स्वस्थ शरीर की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता—विसर्जन क्रिया को नियमित करती है और शरीर को निर्मल बनाती है। यद्यपि योगासनों द्वारा भी शारीरिक निर्मलता प्राप्त होती है, फिर भी साधक के शरीर को योग की उच्च स्थिति में पहुंचने के लिए जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वच्छ स्थिति की आवश्यकता रहती है, वह हठयोग की क्रियाओं के पश्चात्, अपान मुद्रा के निरन्तर अभ्यास द्वारा ही सम्भव हो पाती है।

❑ साधना में प्राण एवं अपान को सम करके मिला देने का नाम ही एक प्रकार से योग है। दूसरे शब्दों में, योग की ऊंची उड़ान के लिए प्राण-अपान का संयोग होना परम आवश्यक है। प्राण एवं अपान मुद्रा को प्रतिदिन बार-बार करते रहने से प्राण व अपान वायु की स्थिति शरीर को समत्व प्रदान करती है।

❑ इस मुद्रा की कोई समय-सीमा नहीं है। इस मुद्रा का अभ्यास जितना अधिक किया जाए, उतना ही अधिक लाभदायक रहेगा।

अपान मुद्रा के प्रभाव से शरीर निर्मल होता है और सम्पूर्ण विजातीय द्रव्य या मल सरलतापूर्वक शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

इसके अभ्यास से सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं और इनमें वृद्धि भी होती है।

प्राण मुद्रा

कनिष्ठिका और अनामिका (सबसे छोटी तथा उसके पास वाली) उंगलियों के सिरों को अंगूठे के सिरे से मिलाने पर प्राण मुद्रा बनती है। शेष दो उंगलियां सीधी रहती हैं।

प्राण मुद्रा एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। रहस्यमय है जिसके संबंध में ऋषि-मुनियों ने अनन्तकाल तक तप, स्वाध्याय एवं आत्मसाधना करते हुए कई महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किए हैं। इसका अभ्यास प्रारंभ करते ही मानो

शरीर में प्राण शक्ति को तीव्रता से उत्पन्न करने वाला डायनमो चलने लगता है। फिर ज्यों-ज्यों प्राण शक्ति रूपी बिजली शरीर की बैटरी को चार्ज करने लगता है, त्यों-त्यों चेतना का अनुभव होने लगता है। प्राण शक्ति का संचार करने वाली इस मुद्रा के अभ्यास से व्यक्ति शारीरिक व मानसिक दृष्टि से शक्तिशाली बन जाता है।

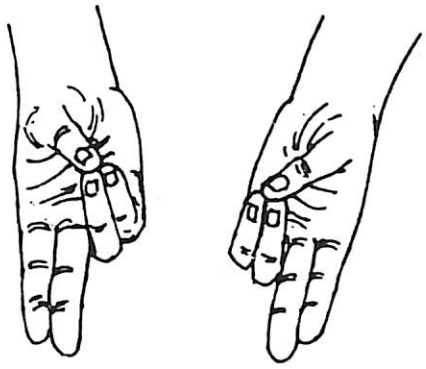

❑ ज्योतिष के हिसाब से सूर्य की अंगुली अनामिका समस्त विटामिन और प्राण शक्ति का केन्द्र मानी जाती है। बुध की उंगली कनिष्ठिका युवा शक्ति व कुमारावस्था का प्रतिनिधित्व करती है अर्थात् इस मुद्रा में सूर्य-बुध की उंगलियों का अग्नि (तेज) के प्रतीक अंगूठे के साथ महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस मुद्रा के अभ्यास से जीवन और बुध रेखा के दोष दूर होते हैं। शुक्र के अविकसित पर्वत का विकास होने लगता है।

❑ इस मुद्रा में पृथ्वी तत्त्व के प्रतीक अनामिका व जल तत्त्व की प्रतीक कनिष्ठिका का अंगूठे अर्थात् अग्नि तत्त्व से मिलन होता है। इसके परिणाम स्वरूप न केवल शरीर में प्राण शक्ति का संचार तेज होता है बल्कि रक्त संचार उन्नत होने से रक्त नलिकाओं की रुकावट दूर होती है तन-मन में नवस्फूर्ति, आशा एवं उत्साह उत्पन्न होता है।

यदि योग-साधना या महीनों लम्बी तपस्या के दौरान अन्न-जल न लेने से अत्यन्त कृशता या कमजोरी महसूस हो रही हो तो ऐसी स्थिति में प्राण मुद्रा करने से साधक को भूख-प्यास की तीव्रता नहीं सताती। कुल मिलाकर यह मुद्रा समस्त गड़बड़ियां दूर करके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास में सहायता करने वाली है।

अपानवायु मुद्रा

तर्जनी (अंगूठे के पास वाली) उंगली को अंगूठे की जड़ में लगाकर अंगूठे के अग्रभाग को मध्यमा और अनामिका (बीच की दोनों अंगुलियां) के अगले सिरे से मिला देने से अपानवायु मुद्रा बनाती है। इस मुद्रा में कनिष्ठिका अलग से सहज एवं सीधी रहती है।

इस मुद्रा का प्रभाव हृदय पर विशेष रूप से पड़ता है। अतः इसे हृदय मुद्रा या मृत संजीवनी मुद्रा भी कहते हैं।

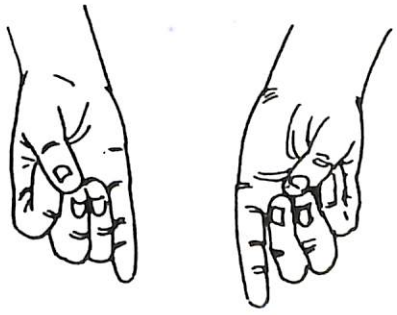

❑ अपानवायु मुद्रा में दो मुद्राएं अपान मुद्रा तथा वायु मुद्रा एक साथ की जाती हैं। अतः दोनों मुद्राओं का सम्मिलित और तत्क्षण प्रभाव एक साथ पड़ता है। जैसे पेट की गैस और शारीरिक वायु दोनों का ही शमन होता है।

❑ हाथ में सूर्य पर्वत अति विकसित और चन्द्र पर्वत अविकसित होने तथा हृदय रेखा दोषपूर्ण होने पर यह मुद्रा 15 मिनट सुबह-शाम करने से लाभ मिलता है।

शंख मुद्रा

बाएं हाथ के अंगूठे को दोनों हाथ की मुट्ठी में बंद करके बाएं हाथ की तर्जनी उंगली को दाहिने हाथ के अंगूठे से मिलाने से शंख मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में बाएं हाथ की बाकी तीन उंगलियों को पास में सटाकर दाएं हाथ की

बन्द उंगलियों पर हल्का-सा दबाव दिया जाता है। इसी प्रकार हाथ बदल कर अर्थात् दाएं हाथ के अंगूठे को बाएं हाथ की मुट्ठी में बन्द करके शंख मुद्रा बनाई जाती है।

इस मुद्रा में अंगूठे का दबाव हथेली के बीच के भाग पर और मुट्ठी की तीन उंगलियों का दबाव शुक्र के पर्वत पर पड़ता है जिससे हथेली में स्थित नाभि और थायरॉइड (पूल्लिका) ग्रंथि के केन्द्र दबते हैं। परिणामस्वरूप नाभि और थायरॉइड ग्रंथि के विकार ठीक होते हैं।

- यह मुद्रा पूजन में भी प्रयुक्त होती है।
- इसका प्रयोग लम्बे समय तक किया जा सकता है।
- इस मुद्रा का नाभिचक्र से विशेष सम्बन्ध है जिसके कारण नाभि से सम्बन्धित शरीर की नाड़ियों पर सूक्ष्म और स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव पड़ता है तथा स्नायुमण्डल शक्तिशाली बनती है।

सहज शंख मुद्रा

यह एक दूसरे प्रकार की शंख है जो दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में फंसाकर, हथेलियां दबाकर तथा दोनों अंगूठों को बराबर में सटाकर रखने से बनती है।

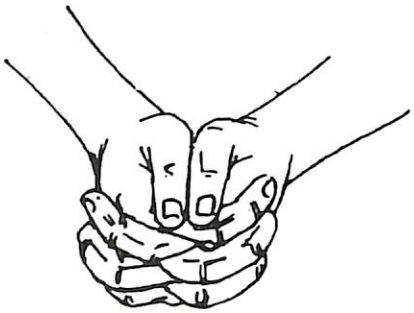

इसे वज्रासान या सुखासन में 5 से 10 मिनट तक करना चाहिए। द्विगुणित लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से इसे मूलबन्ध (गुदा के संकोचन) और प्राणायाम के साथ भी किया जा सकता है।

- मूलबन्ध करते समय सांस की गति स्वाभाविक रूप से रुक जाती है और शरीर में कम्पन-सा होने लगता है। योग के शब्दों में शौच की अवस्था में जब हम मल को रोकते हैं, तब शंखिनी नाड़ी को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है, जबकि मूत्र को रोकने के लिए कुहू नाड़ी को खींचा जाता है। मूलबन्ध के नियमित अभ्यास से गुदा प्रदेश के स्नायु और काम ग्रंथियां सबल एवं स्वस्थ होती हैं। इससे स्तम्भन शक्ति बढ़ती है।

- हथेलियों की गद्दियों में मणिपूर चक्र व पेट की नसें मिलती हैं। अत: हथेलियों को परस्पर दबाने से हथेली में अंगूठे के नीचे गद्दी स्थित मणिपूर शक्ति के केन्द्र पर विशेष असर पड़ता है। इससे हृदय व नाभिचक्र प्रभावित होते हैं तथा रक्त का संचार सही होता है।

लिंग मुद्रा

दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में फंसाकर अंगूठे (बायां या दायां कोई एक) को सीधा रखने से लिंग मुद्रा बन जाती है।

इस मुद्रा से शरीर में गर्मी की वृद्धि होती है, अत: इसे सर्दी में करना विशेष उपयोगी है। इस मुद्रा को करने के दौरान कुछ अधिक मात्रा में पानी पीना अथवा फलों के रस, दूध-घी का सेवन करना अच्छा रहता है।

- इस मुद्रा का अभ्यास किसी भी समय किया जा सकता है, लेकिन सिर्फ आवश्यकतानुसार। शरीर में उष्णता उत्पन्न करने वाली इस मुद्रा को अधिक लम्बे समय तक और स्वेच्छानुसार नहीं करना चाहिए।

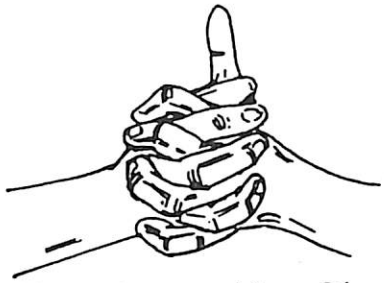

शरीर में अधिक सर्दी महसूस होने या शीत बाधा होने पर लिंग मुद्रा के प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है। इसे अधिक देर तक करने से सर्दियों में भी पसीना आता है।

ध्यान मुद्रा

पद्मासन में बैठकर बाएं हाथ की हथेली पर दाएं हाथ की हथेली को (उल्टे हाथ पर सीधे हाथ को) हल्के से रखने से ध्यान मुद्रा बनती है।

ध्यान रखें कि इस मुद्रा में सिर, गर्दन एवं रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। आंखें और होंठ सहजता से बन्द रहें। ध्यान अपने इष्टदेव के स्वरूप पर टिकाएं अथवा कायोत्सर्ग करें अर्थात् शरीर से समता रखते हुए कुछ देर के लिए विचार रहित अवस्था में रहने का प्रयास करें।

अष्टांग योग (यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के एक अंग 'ध्यान' की साधना में यह मुद्रा विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है।

- जो व्यक्ति पद्मासन नहीं कर सकते, उन्हें ध्यान मुद्रा सुखासन या स्वस्तिक अथवा पालथी आसन में करना चाहिए। यह सहज ध्यान मुद्रा है। सहज ध्यान मुद्रा को साधारण व्यक्ति अधिक लम्बे समय तक सरलता से कर सकता है। इससे ध्यान मुद्रा के लाभ भी मिल जाते हैं।
- ध्यान मुद्रा में यदि हथेलियां एक दूसरे पर रखने के बाद दोनों हथेलियां ज्ञान मुद्रा की स्थिति में रखी जाएं तो ध्यान मुद्रा तथा ज्ञान मुद्रा के सम्मिलित लाभ के साथ पद्मासन के लाभ भी मिल जाते हैं।
- साधक के लिए ध्यान मुद्रा में समय की कोई सीमा नहीं है। लेकिन सहजता के साथ पद्मासन करने की क्षमता के अनुरूप ध्यान मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। साधारण व्यक्ति को इसे धीरे-धीरे बढ़ाते हुए कम-से-कम 20 मिनट से एक घंटे तक करना चाहिए। ध्यान मुद्रा न कर सकने की अवस्था में सहज ध्यान मुद्रा करके लाभ उठाना चाहिए।
- मन की चंचलता शांत होकर चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। सात्विक विचारों की उत्पत्ति होती है और प्रभु भजन में मन लगता है।
- ध्यान के प्रभाव से साधक को ध्यान की उच्चतर स्थिति में पहुंचने में सहायता मिलती है। आत्म साक्षात्कार और ईश्वर के साक्षात्कार में यह मुद्रा सहायक है।

मुद्रा-विज्ञान : एक नजर में

क्रमांक	नाम	अंगूठे से उंगली	मुद्राओं से होने वाले लाभ
1.	ज्ञान मुद्रा	अंगूठे से तर्जनी	स्नायुमण्डल, मस्तिष्क एवं मानसिक विकार नष्ट होते हैं। अनिद्रा में यह रामबाण है।
2.	वायु मुद्रा	अंगूठे से तर्जनी	वात विकार, लकवा एवं वायुशूल में लाभ होता है।
3.	आकाश मुद्रा	अंगूठे से मध्यमा	आकाश तत्त्व की कमी के कारण होने वाले विकारों में उपयुक्त है। हृदय और हड्डियों के विकार में उपयोगी है।
4.	शून्य मुद्रा	अंगूठे से मध्यमा	कान के विकारों में लाभकारी
5.	पृथ्वी मुद्रा	अंगूठे से अनामिका	शारीरिक कमजोरी दूर करके जीवन तत्त्वों का निर्माण करती है।
6.	सूर्य मुद्रा	अंगूठे से अनामिका	शरीर का वजन घटाने के लिए लाभकारी है।
7.	वरुण मुद्रा	(क)अंगूठे से कनिष्ठिका (ख)अंगूठे से कनिष्ठिका	रक्त दोष और त्वचा रोगों में लाभदायक है। शरीर में पानी की अधिकता से उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करने में लाभदायक है।
8.	अपान मुद्रा	अंगूठे से मध्यमा और अनामिका	शारीरिक उत्सर्जन क्रिया को कार्यक्षम बनाने के लिए लाभदायक है। साधना और प्राण और अपान सम करके मिलाना ही एक महान योग है। इस मुद्रा से बुरे विचार हटकर मन में सात्विक विचार आते हैं।
9.	प्राण मुद्रा	अंगूठे से अनामिका	इस मुद्रा से शरीर में प्राण शक्ति, रोग निरोधक शक्ति तथा कनिष्ठिका प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है। कमजोरी दूर होकर आंखों के विकार नष्ट होते हैं। मानसिक कमजोरी दूर होती है।
10.	शंख मुद्रा	कृति देखिए	कंठ के सभी दोष दूर होते हैं। नाभि और थायरॉइड ग्रंथि के दोष समाप्त होते हैं।
11.	सहज शंखमुद्रा	कृति देखिए	सभी लाभ शंख मुद्रा के समान हैं।
12.	अपानवायु मुद्रा	अंगूठे से तर्जनी, मध्यमा और अनामिका	इसे हृदय मुद्रा या मृतसंजीवनी मुद्रा भी कहते हैं। यह हृदय विकार में लाभदायक और उच्च रक्तचाप में उपयोगी है।
13.	लिंग मुद्रा	कृति देखिए	सर्दी, खांसी और बुखार दूर करने के लिए उपयोगी है।
14.	ध्यान मुद्रा	कृति देखिए	ध्यान के लिए अधिक उपयुक्त है।

अनेक योगी इस बात को जानते हुए भी कि मूलबंध साधना ही वस्तुत: कुण्डलिनी शक्ति को जगाने वाला एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है, मानव शरीर में स्थित विभिन्न चक्रों की स्थिति की चर्चा ही अधिक करते हैं। कई विद्वान लेखकों ने भी अपनी पुस्तकों में चक्रों को ही प्रमुखता प्रदान की है, यह जानते हुए भी कि मूलबंध की साधना किए बिना कुण्डलिनी शक्ति की साधना नहीं हो सकती। सर जॉन बुडरॉफ ने भी कुण्डलिनी जागरण के लिए मूलबंध नामक क्रिया को ही श्रेष्ठ माना है। मूलबंध को लगाने के साथ ही मूलबंध क्रिया का पूरा-पूरा लाभ साधक को उठाना चाहिए अर्थात् विशेष यत्न द्वारा अपने पेट को खींचकर और श्वास को बाहर निकालकर दृढ़ उड्डीयान बंध लगा लेना चाहिए। इससे मूलबंध नामक योग क्रिया में कई प्रकार की नवीन आंतरिक सूक्ष्म क्रियाएं संपादित होने लगेंगी। इसके साथ ही साधक को योनि मुद्रा का अभ्यास विशेष रूप-से पद्मासन लगाकर करना चाहिए।

योनि मुद्रा

यौगिक दृष्टि से अपने अंदर कई प्रकार के रहस्य छिपाए रखने वाली मुद्रा का वास्तविक नाम ''योनि मुद्रा'' है। तत योग के अनुसार केवल हाथों की उंगलियों से महाशक्ति भगवती की प्रसन्नता के लिए योनि मुद्रा प्रदर्शित करने की आज्ञा है। प्रत्यक्ष रूप-से इसका प्रभाव लंबी योग साधना के अंतर्गत तंत्र-मंत्र-यंत्र साधना से भी दृष्टिगोचर होता है। इस मुद्रा के निरंतर अभ्यास से साधक की प्राण-अपान क्रियाओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

योग रहस्यों से परिचित सिद्ध योगियों ने प्राण-अपान वायु को मिला देने वाली मूलबंध क्रिया को भी साथ करने से जो स्थिति बनती है, उसे ही योनि मुद्रा की संज्ञा दी है। यह बड़ी चमत्कारी मुद्रा है।

पद्मासन की स्थिति में बैठकर, दोनों हाथों की उंगलियों से योनि मुद्रा बनाकर और पूर्व मूलबंध की स्थिति में सम्यक् भाव से स्थित होकर प्राण-अपान को मिलाने की प्रबल भावना के साथ मूलाधार स्थान पर यौगिक संयम करने से कई प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

ऋषियों का मत है कि जिस योगी को उपरोक्त स्थिति में योनि मुद्रा का लगातार अभ्यास करते-करते सिद्धि प्राप्त हो गई है, उसका शरीर साधनावस्था में भूमि से आसन सहित ऊपर अधर में स्थित हो जाता है। संभवत: इसी कारण आदि शंकराचार्यजी ने अपने योग रत्नावली नामक विशेष ग्रंथ में मूलबंध का उल्लेख विशेष रूप-से किया है।

मूलबंध योग की एक अद्‌भुत क्रिया है। इसको करने से योग की अनेक कठिनतम क्रियाएं स्वत: ही सिद्ध हो जाती हैं, जिनमें अश्विनी और बज्रौली मुद्राएं प्रमुख हैं। इन मुद्राओं के सिद्ध हो जाने से योगी में कई प्रकार की शक्तियों का उदय हो जाता है।

अश्विनी मुद्रा

इस मुद्रा से साधक में घोड़ों जैसी शक्ति आ जाती है, जिसे ''हॉर्स पॉवर'' कहते हैं। इस मुद्रा में गुदा-द्वार का बार-बार संकोचन और प्रसार किया जाता है। इसी से मुद्रा की सिद्धि हो जाती है। इसके द्वारा कुण्डलिनी जागरण में सुगमता रहती है और अनेक रोग नष्ट होकर शारीरिक बल की वृद्धि होती है।

अश्विनी मुद्रा सिद्ध होने से साधक की अकालमृत्यु कभी नहीं होती। गुदा और उदर से संबंधित रोगों का इसके द्वारा शमन होता है तथा दीर्घजीवन की उपलब्धि होती है। बिना मूलबंध के अश्विनी मुद्रा नहीं हो सकती।

बज्रौली मुद्रा

बज्रौली मुद्रा भी मूलबंध का अच्छा अभ्यास किए बिना किसी प्रकार संभव नहीं है। यह मुद्रा केवल योगी के लिए ही नहीं, भोगी के लिए भी अत्यंत लाभकारी है। इस मुद्रा में पहले दोनों पांवों को भूमि पर दृढ़तापूर्वक टिकाकर, दोनों पांवों को धीरे-धीरे दृढ़तापूर्वक ऊपर आकाश में उठा दें। इससे बिंदु-सिद्धि होती है।

शुक्र को धीरे-धीरे ऊपर की आकुंचन करें अर्थात् इंद्रिय के आंकुचन के द्वारा वीर्य को ऊपर की ओर खींचने का अभ्यास करें तो यह मुद्रा सिद्ध होती है। विद्वानों का मत है कि इस मुद्रा के अभ्यास में स्त्री का होना आवश्यक है, क्योंकि भग में पतित होता हुआ शुक्र ऊपर की ओर खींच लें तो रज और वीर्य दोनों ही चढ़ जाते हैं। यह क्रिया अभ्यास से ही सिद्ध होती है।

कुछ योगाचार्य इस प्रकार का अभ्यास शुक्र के स्थान पर दुग्ध से करना बताते हैं। जब दुग्ध खींचने का अभ्यास सिद्ध हो जाए, तब शुक्र को खींचने का अभ्यास करना चाहिए। वीर्य को ऊपर खींचने वाला योगी ही ऊर्ध्वरेता कहलाता है।

इस मुद्रा से शरीर हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी, सुंदर, सुडौल और जरा-मृत्यु रहित होता है। शरीर के सभी अवयव दृढ़ होकर मन में निश्चलता की प्राप्ति होती है। इसका अभ्यास अधिक कठिन नहीं है। यदि गृहस्थ भी इसे करें, तो बलवर्द्धन और सौंदर्यवर्द्धन का पूरा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

शक्तिचालिनी मुद्रा

आठ अंगुल लंबा और चार अंगुल चौड़ा मुलायम वस्त्र लेकर नाभि पर लगाएं और कटिसूत्र में बांध लें। फिर शरीर में भस्म रमाकर सिद्धासन में बैठें और प्राण को अपान से युक्त करें। जब तक गुह्य द्वार से चलती हुई वायु प्रकाशित न हो, इस समय तक गुह्य द्वार को संकुचित रखें। इससे वायु का जो निरोध होता है, उसमें कुम्भक के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती हुई सुषुम्ना मार्ग से ऊपर जाकर खड़ी हो जाती है। योगमुद्रा से पहले इसका अभ्यास करने पर ही योनि मुद्रा की पूर्ण सिद्धि होती है।

इस मुद्रा से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। यह शरीर के अधोभाग में सोती रहती है। इसका आकार सर्प के समान होता है। जब तक यह सोती है, तब तक सभी आंतरिक शक्तियां सुप्त पड़ी रहती हैं। इसलिए कुण्डलिनी का जाग्रत होना साधक के लिए बहुत आवश्यक है।

प्राण-अपान को संयुक्त करने की क्रिया प्राणवायु को पूरक द्वारा भीतर खींचने और उड्डीयान बंध से अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करने से पूर्ण होती है। इसमें गुह्य प्रदेश के संकोच और विस्तार का अभ्यास होने से अधिक सरलता हो सकती है।

तड़ागी मुद्रा

दोनों पांवों को दण्ड के समान धरती पर पसार लें और हाथों से उनके अंगूठों को पकड़ने तथा दोनों जांघों पर सिर को स्थापित करें, साथ ही उदर को तड़ाग (सरोवर) के समान कर लें। यह मुद्रा अनेक रोगों और वृद्धावस्था को भी दूर करने में सहायक सिद्ध होती है।

माण्डवी मुद्रा

मुख को बंद करके जुबान को तालु में घुमाएं और सहस्रार से टपकते हुए सुधारस को जुबान से धीरे-धीरे पीने

का यत्न करें। यही माण्डवी (या माण्डुकी) मुद्रा है। इसके द्वारा बालों की सफेदी, उनका झड़ना; शरीर पर झुर्रियों, मुंहासों आदि का पड़ना तथा निर्बलता आदि दूर होकर चिर-यौवन की प्राप्ति होती है। इससे रसोत्पादन होकर अमृतत्त्व की उपलब्धि होना संभव हो जाता है।

शाम्भवी मुद्रा

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थिर करके एकाग्र मन से परमात्मा का चिंतन करें तो ध्यान की परिपक्वता होने पर ज्योति-दर्शन होता है। यही शाम्भवी मुद्रा है। आत्मसाक्षात्कार के आकांक्षी पुरुषों के लिए यह अत्यंत कल्याणकारी मुद्रा है।

पंचधारणा मुद्रा

धारणा का अभिप्राय है, ध्यान के द्वारा ग्रहण करने की शक्ति। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पंच महाभूतों से यथार्थ का ज्ञान होना ही पंचधारणा मुद्रा का वास्तविक उद्देश्य है। यह मुद्रा पंच तत्त्वों से संबंधित होने के कारण उसको पृथक-पृथक धारणा में परिपक्व करती है, इसलिए यह निम्न पांच प्रकार की मानी जाती है—

- ❑ पार्थिवी : भूमि-संबंधी
- ❑ शाम्भवी : जल-संबंधी
- ❑ वैश्वानरी या आग्नेयी : अग्नि-संबंधी
- ❑ वायवी : वायु-संबंधी
- ❑ आकाशी : आकाश-संबंधी

इनकी सिद्धि होने पर मनुष्य सशरीर स्वर्गादि लोकों में आ-जा सकता है।

पाशिनी मुद्रा

दोनों पांवों को कंठ के पीछे की ओर ले जाकर उन्हें परस्पर मिलाएं और पाश के समान दृढ़ता से बांध लें। इसके अभ्यास से भी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में बहुत सुगमता हो जाती है तथा साधक के शरीर में बल और पुष्टि का आविर्भाव होता है। मानसिक बलवर्द्धन में भी यह बहुत हितकर है।

काकी मुद्रा

मुख के होंठों का इस प्रकार संकोचन करें, जिससे कि कौए की चोंच के समान उसकी आकृति बन जाए (प्राय: मुख से सीटी बजाने में भी ऐसी आकृति बन जाती है)। इस प्रकार की आकृति बनाकर धीरे-धीरे वायु खींचकर पान करें। यह ध्यान रहे कि इस मुद्रा में नासिका-छिद्रों द्वारा वायु नहीं खींची जाती (नासिका द्वारा श्वास नहीं लिया जाता)।

यह गुदा, उदर, कंठ और हृदय विकार आदि को दूर करने के लिए बहुत उपयोगी है। साधक की जठराग्नि तीव्र होती है और कोष्ठबद्धता आदि विकारों का शमन हो जाता है।

मातंगिनी मुद्रा

यह मुद्रा जल में कंठ पर्यन्त खड़े होकर की जाती है। इसमें नासिका से जल खींचकर मुख-द्वार से बाहर निकाल दिया जाता है। यह क्रिया बार-बार दोहराई जाती है। इस प्रकार विपरीत क्रम से बार-बार अभ्यास करें। इस

मुद्रा के अभ्यास से शरीर में बल की वृद्धि होती है, वृद्धावस्था का आगमन रुक जाता है और मृत्यु का भी भय नहीं रहता। कुण्डलिनी जाग्रत करने में इसका सहयोग विशेषकर मिलता है।

भुजंगिनी मुद्रा

इसमें मुख को फैलाकर कंठ से बाहरी वायु खींची जाती है। तालु और जिह्वा के मध्य वायु के घूमने से शरीर में अद्‌भुत शक्ति का आविर्भाव होता है। यह मुद्रा अजीर्ण आदि उदर रोगों को नष्ट करने में भी बहुत उपयोगी है।

इस प्रकार मुद्राओं के अभ्यास से साधक को सब प्रकार के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल की प्राप्ति होती है। योगाचार्यों के अनुसार, *''नास्ति मुद्रासनकिंचित्‌सिद्धिदंक्षितिमण्डले* (घेरण्ड संहिता)'' अर्थात् मुद्राओं के समान सिद्धिदायक कोई अन्य साधन भू-मंडल पर नहीं है। इसलिए योगसिद्धि के आकांक्षीजनों को मुद्राओं का अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

मुद्राओं को भोगी पुरुषों के लिए भोगप्रद और मुमुक्षुओं के लिए मोक्षप्रद माना गया है। इसलिए मुद्राएं गृहस्थ और संन्यासी दोनों के लिए उपयोगी हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी मुद्राओं को किया जाए, वरन् जो अपनी शारीरिक स्थिति के अनुकूल और अभ्यास में सरल प्रतीत हो, उसी को करना चाहिए। ऐसा करने वाले साधक को अवश्य ही योगसिद्धि हो सकती है और वह कुण्डलिनी जाग्रत करने में पूर्णयता समर्थ हो सकता है।

साधना करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह साधना में कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूरा नियंत्रण रखे तथा समय-समय पर उचित तांत्रिक प्रक्रियाओं का भी समन्वय करता रहे। इस दृष्टि से जिस प्रकार आसन पात्रासादन, अर्चन आदि में क्रियाओं का विधान है, उसी प्रकार उनके साथ कुछ मुद्रा बनाने का विधान है। ये मुद्राएं मुख्य रूप-से हाथ और उसकी उंगलियों के प्रयोग से बनती हैं। जैसे हमारा शरीर पंचतत्त्वमय है। अत: शास्त्रकारों ने कहा है कि इन उंगलियों के प्रयोग से इन तत्त्वों की न्यूनाधिकता दूर की जा सकती है तथा तत्त्वों की समता-विषमता से होने वाली कमी को उंगलियों की मुद्रा से सम बनाया जा सकता है। इतना ही नहीं, ऐसी मुद्राओं के सहयोग से उन तत्त्वों को स्वेच्छापूर्वक घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है। ये तत्त्व क्रमश: अंगुष्ठ में अग्नि, तर्जनी में वायु, मध्यमा में आकाश, अनामिका में पृथ्वी और कनिष्ठिका में जल के रूप में विद्यमान रहते हैं।

''मुदं रातीति मुद्रा,'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये मुद्राएं देवताओं के समक्ष बनाकर दिखलाने से उन्हें प्रसन्नता प्रदान करती हैं। पूजा-विधानों में ''मुद्रा'' एक आवश्यक अंग माना गया है। देवी-देवताओं के समक्ष प्रकट की जाने वाली मुद्राएं पृथक-पृथक कर्म की दृष्टि से हजारों प्रकार की होती हैं, जिनमें कुछ जपांगभूत हैं तो कुछ नैवेद्यांगभूत। कुछ का प्रयोग कर्मविशेष के प्रसंग में होता है, तो कुछ मानस पूजा और अन्य पूजाओं के साथ प्रयुक्त होती हैं।

योगतंत्र के ग्रंथों में प्राय: प्रत्येक जप-पूजादि विधानों में देवता के अनुरूप मुद्रा दिखाने के बारे में निर्देश दिया गया है। जैसे श्रीगणेश-पूजा में एकदंत मुद्रा, बीजापूर मुद्रा, अंकुश मुद्रा, मोदक मुद्रा आदि। ऐसे ही शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्यादि देवों की मुद्राएं हैं। इनका नित्य, नैमित्तिक और काम्य-प्रयोग की दृष्टि से भी मंत्रपूर्वक साधन होता है और मंत्र सिद्ध हो जाने पर इनके प्रयोग से अभीष्ट फल प्राप्त होता है।

देवताओं की प्रसन्नता, चित्त की शुद्धि और विविध रोगों के नाश में मुद्राओं से बड़ी सहायता मिलती है। मुद्रातत्त्व को समझकर, प्रत्येक योगी को इनका साधन करना चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में इन मुद्राओं से सहायता मिलती है। यहां हमने जिन मुद्राओं का वर्णन एवं चित्रण किया है, उससे प्रत्येक योगी, साधक को परिचित होना चाहिए।

मुद्राओं की आकृतियां

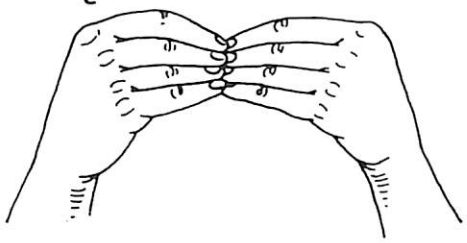

1. सुमुखम्

2. सम्पुटम्

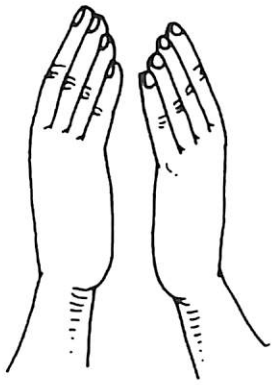

3. विततम्

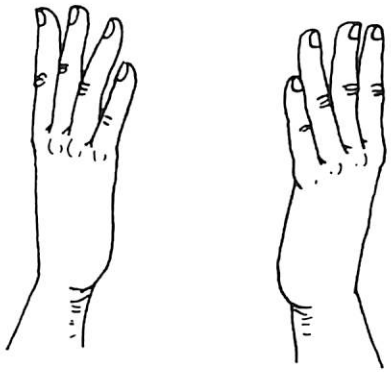

4. विस्तृतम्

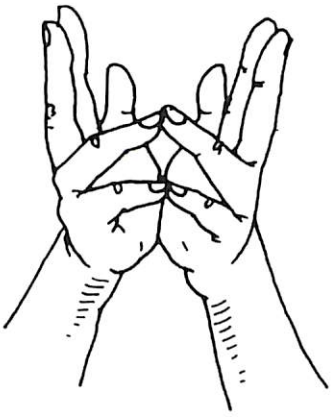

5. द्विमुखम

6. त्रिमुखम्

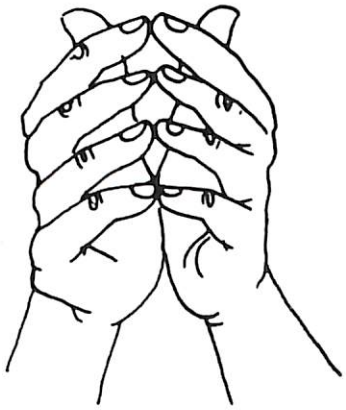

7. चतुर्मुखम्

8. पंचमुखम्

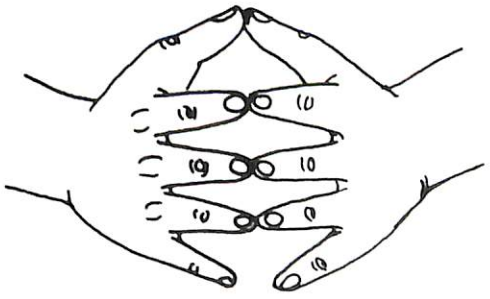

9. षण्मुखम्

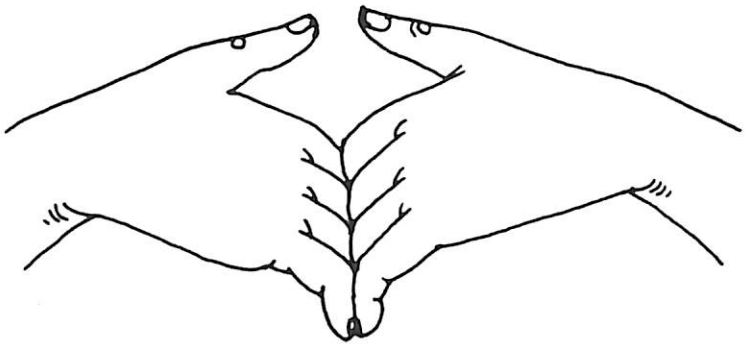

10. अधोमुखम्

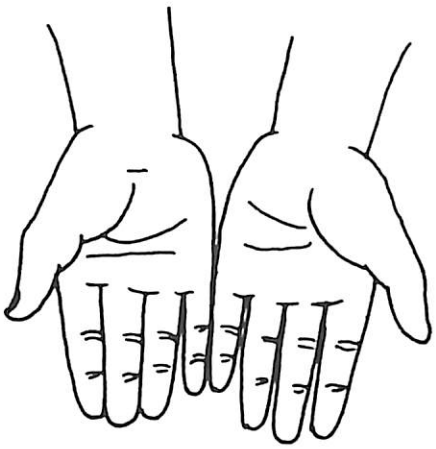

11. व्यापकांजलिम्

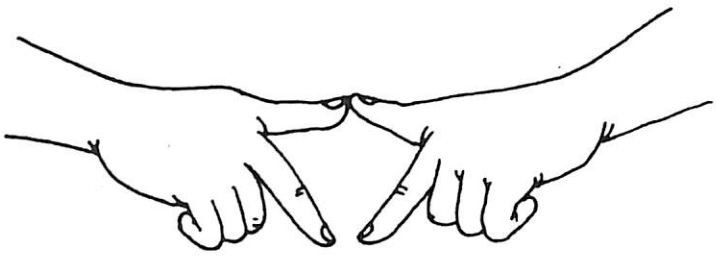

12. शकटम्

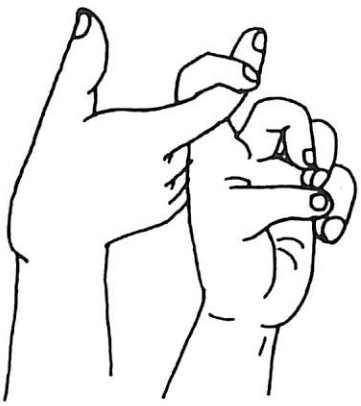

13. यमपाशम्

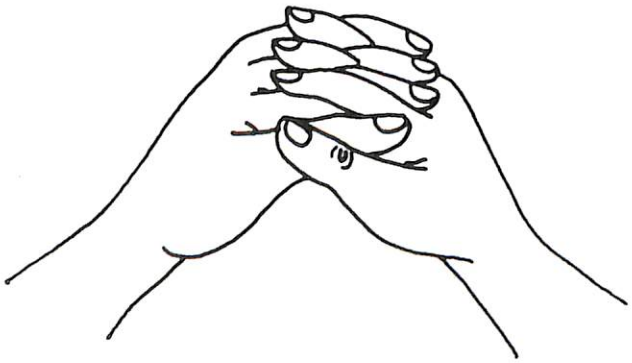

14. ग्रथितम्

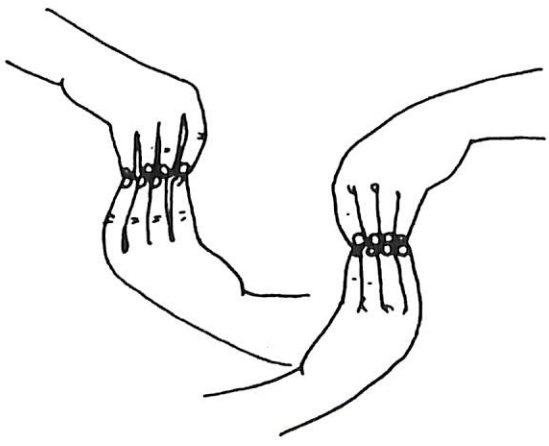

15. उन्मुखोन्मुखम्

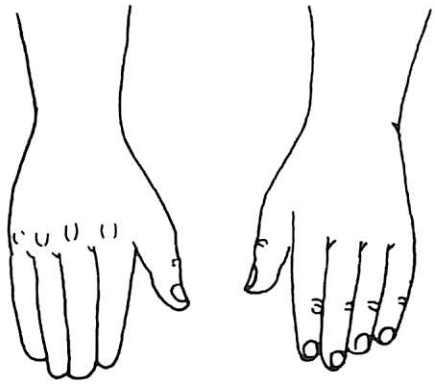

16. प्रलम्बम्

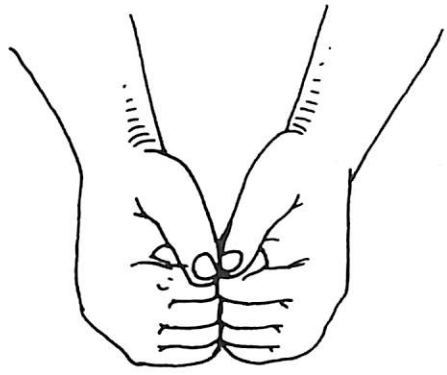

17. मुष्टिकम्

18. मत्स्यः

19. कूर्मः

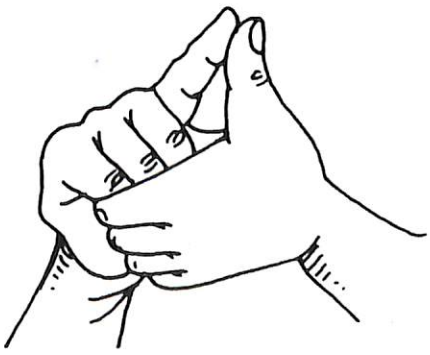

20. वराहकम्

21. सिंहाक्रांतम्

22. महाक्रांतम्

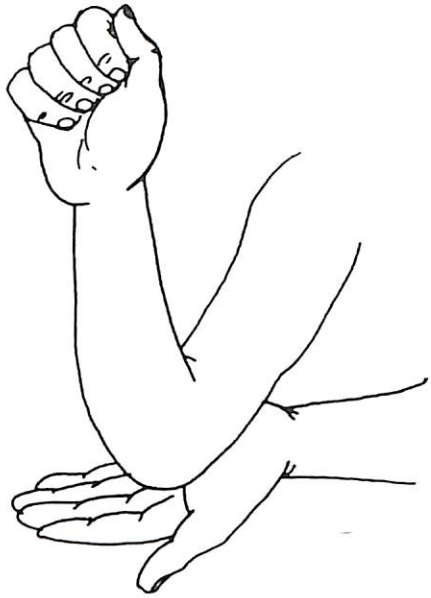

23. मुद्गरम्

24. पल्लवम्

निम्न 8 मुद्राएं जपादि में प्रयुक्त होने वाली 24 मुद्राओं के बाद की हैं—

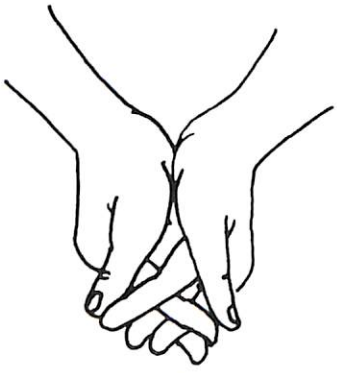

1. सुरभिः

2. ज्ञानम्

3. वैराग्यम्

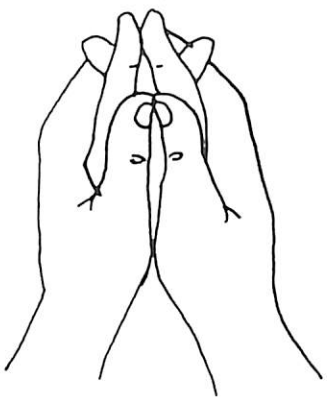

4. योनि

5. शंख

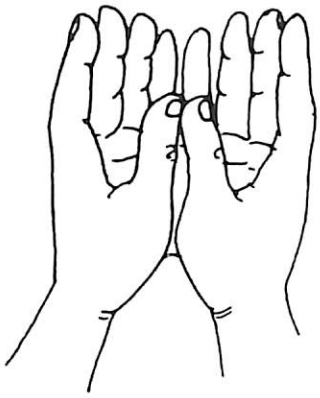

6. पंकजम्

7. लिंगम्

8. निर्वाणम्

- **सुमुखम्**—दाएं-बाएं दोनों हाथों की दसों उंगलियां मोड़कर आपस में मिलाएं।
- **सम्पुटम्**—अपने दोनों हाथों को फुलाकर परस्पर मिलाएं।
- **विततम्**—दोनों हथेलियां आमने-सामने करें।
- **विस्तृतम्**—चित्रानुसार दोनों हाथों की उंगलियों को खोलकर हाथों को कुछ अधिक अलग करें।
- **द्विमुखम्**—दोनों हाथों की अनामिका से अनामिका और कनिष्ठिका से कनिष्ठिका मिलाएं।
- **त्रिमुखम्**—दोनों हाथों की मध्यमा उंगलियों को परस्पर मिलाएं।
- **चतुर्मुखम्**—दोनों तर्जनी उंगलियां और मिलाएं।
- **पंचमुखम्**—अब दोनों अंगूठे भी मिला दें।
- **षण्मुखम्**—हाथ पूर्ववत् रखे हुए ही दोनों कनिष्ठिका खोलें।
- **अधोमुखम्**—हाथों को उल्टी अवस्था में ले जाकर, उंगलियों को मोड़ें और नीचे की तरफ करें।
- **व्यापकांजलिम्**—पूर्ववत् मिले हुए हाथों को शरीर की तरफ घुमाकर सीधा करें।
- **शकटम्**—दोनों हाथों को उल्टा कर, अंगूठे से अंगूठा मिलाएं तथा तर्जनियों को सीधा रख, मुट्ठी बांधें।
- **यमपाशम्**—तर्जनी से तर्जनी बांध, दोनों मुट्ठी बांधें।
- **ग्रथितम्**—दोनों हाथों की पांचों उंगलियों को आपस में बांधें।

❑ **उन्मुखोन्मुखम्**—दोनों हाथों की उंगलियों को मिलाकर पहले बाएं पर दाहिना, फिर दाहिने पर बायां हाथ रखें।

❑ **प्रलम्बम्**—दोनों हाथों की उंगलियों को हल्का मोड़कर हाथों को उल्टा कर, नीचे की ओर करें।

❑ **मुष्टिकम्**—अंगूठे ऊपर रखते हुए, मुट्ठियां परस्पर मिलाएं।

❑ **मत्स्यः**—दाहिने हाथ की पीठ पर बायां हाथ रखकर दोनों अंगूठे मिलाएं, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित किया गया है।

❑ **कूर्मः**—सीधे (चित्त) बाएं हाथ की मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका मोड़कर उल्टे दाहिने हाथ की मध्यमा, अनामिका को उन तीनों उंगलियों के नीचे देकर बायीं तर्जनी पर दाहिनी कनिष्ठिका और बाएं अंगूठे पर दाहिनी तर्जनी रखें।

❑ **वराहकम्**—दाहिनी तर्जनी को बाएं अंगूठे से मिला, दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में बांधें।

❑ **सिंहाक्रांतम्**—दोनों हाथों को कानों के पास करें।

❑ **महाक्रांतम्**—दोनों हाथों की उंगलियों को कानों के सामने करें।

❑ **मुद्गरम्**—दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर, उसकी कोहनी को बाएं हाथ की हथेली पर रखें।

❑ **पल्लवम्**—दाहिने हाथ की उंगलियों को मुंह के सामने कर हिलाएं।

इस प्रकार 24 मुद्राएं चित्रों की सहायता से करनी चाहिए। बाद की आठों मुद्राओं का वर्णन निम्न है—

❑ **सुरभि**—दोनों हाथों की उंगलियां गूंथकर बाएं हाथ की तर्जनी से दाहिने हाथ की मध्यमा, मध्यमा से तर्जनी, अनामिका से कनिष्ठिका और कनिष्ठिका से अनामिका उंगली मिलाएं।

❑ **ज्ञानम्**—दाहिने हांथ की तर्जनी से अंगूठा मिलाकर हृदय में तथा इसी प्रकार बायां हाथ बाएं पैर पर सीधा रखें।

❑ **वैराग्यम्**—दोनों हाथों की तर्जनियों से अंगूठा मिलाकर पैर पर सीधा रखें।

❑ **योनि**—दोनों मध्यमा के नीचे से बायीं तर्जनी के ऊपर दाहिनी अनामिका और दाहिनी तर्जनी पर बायीं अनामिका रख, दोनों तर्जनियों से बांध, दोनों मध्यमाओं को सीधा करें। तत्पश्चात् दोनों अंगूठे मध्यमा पर रखें।

❑ **शंख**—बाएं अंगूठे को दाहिनी मुट्ठी में बांधकर, दाहिने अंगूठे से बायीं उंगलियों को मिलाएं।

❑ **पंचकम्**—दोनों हाथों के अंगूठे तथा उंगलियों को मिलाकर ऊपर की ओर करें।

❑ **लिंगम्**—दाहिने अंगूठे को सीधा रखते हुए दोनों हाथों की उंगलियों को गूंथकर बायां अंगूठा दाहिने अंगूठे की जड़ के ऊपर रखें।

❑ **निर्वाणम्**—उल्टे (करपृष्ठ की तरफ) बाएं हाथ पर दाहिना हाथ सीधा रख, उंगलियों को परस्पर गूंथ, दोनों हाथ अपनी ओर घुमाकर, दोनों तर्जनियों को सीधी कान के समीप करें।

इस प्रकार उपरोक्त आठों मुद्राएं बन जाती हैं।

योगमुद्रा

यह मुद्रा पद्मासन का एक रूपांतर है। मत्स्यासन में पद्मासन लगाकर पीठ के बल लेटने की आवश्यकता पड़ती है और इस मुद्रा में पद्मासन लगाकर आगे की ओर झुककर मस्तक को भूमि पर सटा देने की क्रिया करनी पड़ती है। इस मुद्रा से कमर में लोच आती है। पाचक अंग अपने स्वाभाविक स्थानों पर स्थिर रहते हैं। कुण्डलिनी जाग्रत करने में इस आसन का उपयोग अधिक होता है। इसी कारण इसको ''योगमुद्रा'' कहते हैं।

इस मुद्रा को बनाने के लिए सर्वप्रथम फर्श पर कंबल या दरी बिछाकर, उस पर पांव फैलाकर बैठ जाएं। अब दाहिने पांव को घुटने से मोड़कर बाएं जंघे की जड़ में सटाकर रख दें। इसके बाद बाएं पैर को घुटने से मोड़कर दाहिनी जंघा की जड़ में सटाकर रख दें। दोनों पांवों की एड़ियां पेड़ू को दबाती रहनी चाहिए।

तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर बाएं हाथ से दाहिने हाथ की कलाई पकड़ लें (जैसा कि चित्र में दिखाया गया है)। अब कमर से धड़ को धीरे-धीरे आगे की ओर झुकाएं।

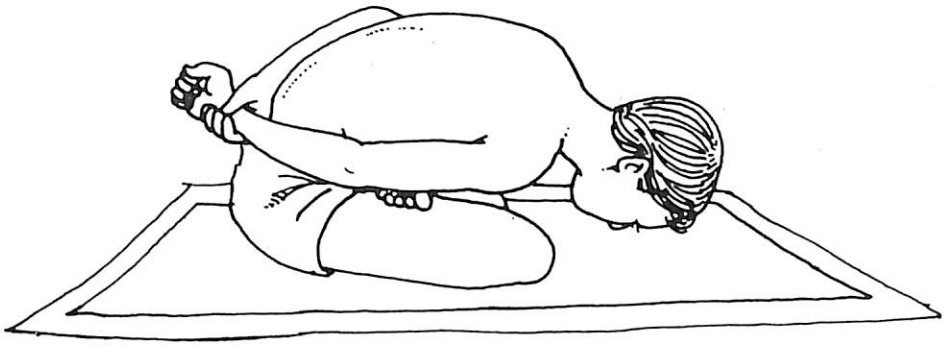

योग मुद्रा : पहली विधि

झुकाने में जल्दी करने की या झटके से झुकाने की कोशिश कभी नहीं करनी चाहिए। बल्कि झटका देने से अधिक मोड़ने पर भीतर के पाचक अंगों पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है। कमर से जितना सरलता से झुका जाए, उतना ही झुकने का प्रयास करना चाहिए। कुछ दिनों के अभ्यास से कमर में झुकने का बल और लोच आ जाएगा। इस मुद्रा को जबरदस्ती बनाने से हानि हो सकती है। धीरे-धीरे झुकते-झुकते ललाट को फर्श पर टिका दें। इस अवस्था को ही इस मुद्रा की पूर्णता मानी जाती है।

योगमुद्रा की दूसरी विधि इस प्रकार है—इस विधि का लाभ यह है कि यदि पाचक अंग, जैसे नाभि आदि, अपने स्थान से कुछ हट गए हों तो योगमुद्रा की इस विधि से उनके अपने स्थान पर लौट आने में सहायता मिलती है। यह मुद्रा बनाने के लिए पहले फर्श पर बैठकर पद्मासन की अवस्था में हो जाएं। हाथ की दोनों हथेलियों को एक में मिलाकर गेंद की तरह गोल बनाएं और एड़ियों के ऊपर नाभि पर लगा लें।

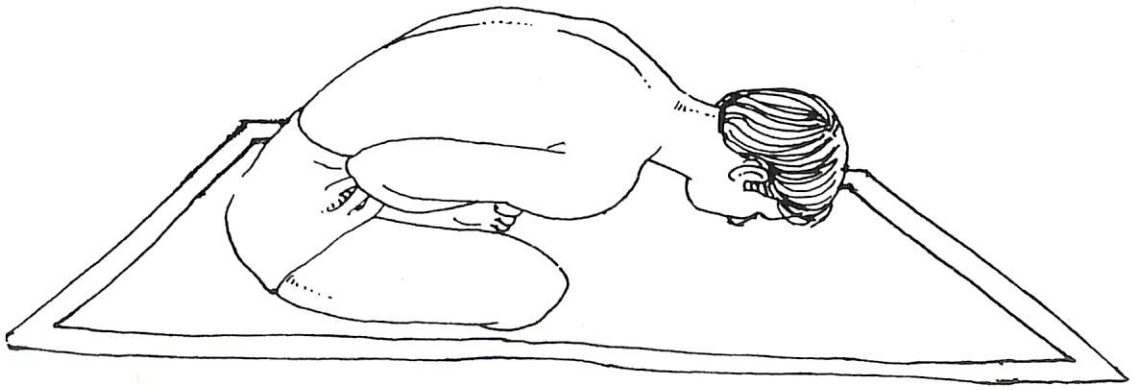

योग मुद्रा : दूसरी विधि

इसके बाद आगे की ओर झुकें। इससे मुट्ठी पर पेड़ू का दबाव पड़ेगा तथा पेड़ू अंदर को दबेगा। इसी तरह पेड़ू को दबाते हुए, धड़ को झुकाकर ललाट को भूमि से सटा दें। इस प्रकार योगमुद्रा की दूसरी मुद्रा पूर्ण हो जाती है। इसे ऊपर द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

विशेष—इस मुद्रा में श्वास का कोई विशेष नियम नहीं है, किन्तु मुद्रा की सुगमता की दृष्टि-से यह ध्यान रखना आवश्यक है कि झुकते समय श्वास बाहर निकाल दी जाए। इससे पेट अंदर दबता है और जब सिर उठाया जाए, तब श्वास भीतर भर ली जानी चाहिए।

विपरीतकरणी

योगियों ने मुद्राओं का आविष्कार शरीर को स्वस्थ एवं नीरोग रखने के लिए किया। वस्तुत: मुद्राएं कुण्डलिनी जाग्रत करने में साधक की सहायता करती हैं। योगियों को इनसे बल की प्राप्ति होती है। विपरीतकरणी मुद्रा सर्वांगासन का ही एक रूपांतर है। सर्वांगासन में जालंधर बंध लग जाता है, गरदन के निचले भाग पर शरीर का सारा बोझ रहता है और गरदन से लेकर पीठ-पांव आदि एक सीधी लाइन में होते हैं, किन्तु विपरीतकरणी मुद्रा में गरदन, कंधा और बांहों के पिछले भाग पर शरीर का बोझ होता है और कमर से लेकर पांव तक का भाग लंबा न होकर तिरछा रहता है।

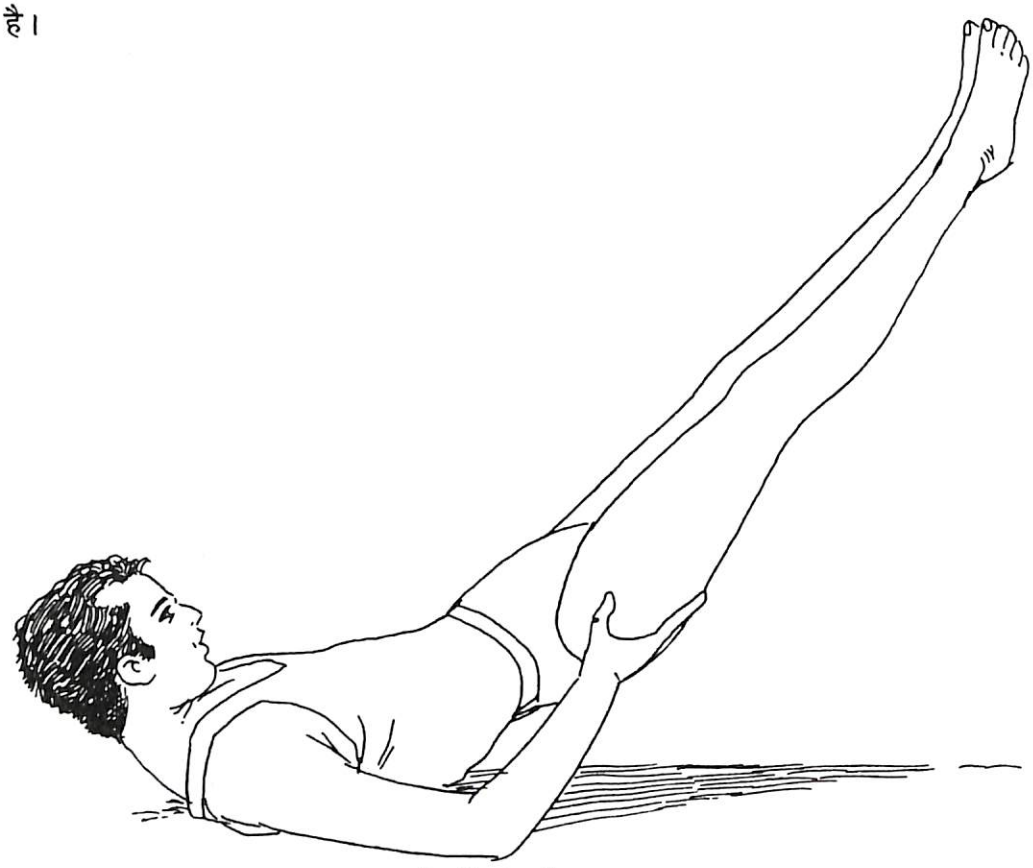

विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीतकरणी मुद्रा की विधि इस प्रकार है—भूमि पर कंबल आदि बिछाकर पीठ के बल चित्त लेट जाएं। हाथ बगल में रहेंगे और पांव तने हुए लंबे रहेंगे। इस अवस्था में आकर शरीर को ढीला छोड़ दें और श्वास को भरकर, टांगों को 30 डिग्री के कोण पर उठाएं। 5-6 सेकंड इस अवस्था में रहकर, श्वास को भरकर पैरों को 30 डिग्री और ऊपर ले जाएं। यहां भी 5-6 सेकंड रुककर श्वास भरें और पैरों को 30 डिग्री और ऊपर उठाएं। अब कमर से पीठ और गरदन तक का भाग कंबल पर रहेगा और टांगें 90 डिग्री के समकोण पर रहेंगी। अब श्वास भरकर कमर का भाग भी ऊपर को उठाएं और दोनों हाथों से कमर को सहारा दें। शरीर का सारा बोझ गरदन, कंधा और दोनों भुजाओं पर होगा।

सीने से ठुड्डी का भाग दूर रहेगा। पैरों को इसी अवस्था में रखते हुए और कमर को हाथों का सहारा देते हुए पांवों और धड़ को थोड़ा तिरछा या टेढ़ा कर लें। इस अवस्था में शरीर गरदन और कंधों के बल हाथों पर टिका रहेगा। इसमें जालंधर बंध नहीं लगेगा और कमर से पांव तक का अंश कुछ तिरछा या टेढ़ा रहेगा। इस मुद्रा में शरीर को संभालने में बांहों पर बहुत जोर पड़ता है। किन्तु यहां जिह्वाबंध लगाने का विधान है। जिह्वाबंध की विधि यह है कि जुबान को उलटकर पीछे की ओर मोड़ें और तालु के आगे, जहां कौवा और टोंटी है, उस स्थान पर सटाएं। यह विपरीतकरणी मुद्रा की पूर्णता है।

जिह्वाबंध ही इस मुद्रा की विशेषता है। योगी लोग कहते हैं कि ललाट से एक प्रकार का अमृत झरता है। वह अमृत शरीर के उपयोग में नहीं आता, अंदर चला जाता है और पाचकाग्नि या नाभि में स्थित सूर्य उसको भस्म कर देता है। तालु में जुबान को सटाकर वह झरता हुआ अमृत रस पान करने की चेष्टा की जाती है।

विपरीतकरणी मुद्रा से वृद्धावस्था नहीं आती और यौवन बना रहता है। किन्तु इतना लाभ योगी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं।

यहां इस बात को विशेषरूप से ध्यान में रखना चाहिए कि साधना में जो बातें बहुत साधारण दिखती हैं, वे क्रियात्मक स्तर पर वैसी सामान्य नहीं हैं। इसीलिए जब तक इनके सकारात्मक व नकारात्मक पक्षों की जानकारी विधिवत् न हो (इसे ही दीक्षा कहते हैं) इनसे खिलवाड़ नहीं करना चाहिए। संयम और सावधानी ये दो मूलमंत्र हैं साधना के, इनकी उपेक्षा क्षणभर के लिए भी नहीं करनी चाहिए। 'जिज्ञासा' की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप साधक में उसकी संपूर्ण पात्रता समाहित हो जाती है। ❑❑

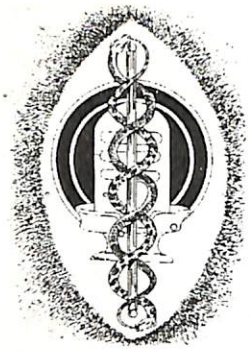

नि:श्वास : पांच

कुण्डलिनी उपासना का मार्ग

एक समय था जब पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित लोग योगशास्त्र से विमुख होते जा रहे थे, किन्तु कुछ उपासना एवं आत्मशक्ति के धनी महापुरुषों और सिद्धों के द्वारा लोगों में अब इस शास्त्र के संबंध में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हो गया है। कुछ भारतीय ऋषि, महर्षि एवं उच्चकोटि के सिद्ध महात्माओं, विचारकों और चिंतकों के त्याग और परिश्रम के द्वारा पिछले कुछ समय से पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओं, गहन चिंतकों, उच्चकोटि के वैज्ञानिक तथा विद्वान मनीषियों को भारतीय विज्ञान, पराविद्या एवं योगशास्त्र के संबंध में सोचने के लिए विवश कर दिया है और भारतवर्ष के अन्यत्र रहने वाले विश्व के उन उच्चकोटि के साहित्यकारों, चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और अधिकांश बुद्धिजीवियों को योगशास्त्र का गहन अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया है। यही कारण है कि आज अनगिनत योगी साधकों में कुण्डलिनी शक्ति के रहस्य को जानने और समझने की होड़-सी लग गई है। यजुर्वेद, कुण्डल्युपनिषद्, षट्चक्र निरूपण, घेरण्ड संहिता, ज्ञानार्नव तंत्र, ललिता सहस्रनाम, लघुस्तुति, वामकेश्वर तंत्र, योग शिखोपनिषद्, हठयोग प्रदीपिका और ज्ञानेश्वरी आदि ग्रंथों में कुण्डलिनी रहस्य का सविस्तार मिलता है।

भारतीय ऋषियों ने कुण्डलिनी शक्ति के संबंध में बड़े विस्तार के साथ अनुसंधानात्मक प्रयोग करके, इसके सभी पहलुओं को हर तरह से अच्छी प्रकार जाना कि मनुष्य को इस कुण्डलिनी शक्ति से किस-किस प्रकार के कितने अधिक लाभ हो सकते हैं तथा यह भी जानने का प्रयास किया कि इस शक्ति से कितने रूप में, कौन-कौन-सी हानियां कब और किस प्रकार हो सकती हैं।

कुण्डलिनी शक्ति का रहस्य अत्यंत गूढ़ है। साधारण मानव की वहां तक पहुंच नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु की श्री हरिनाम स्मरण करते-करते बड़ी विचित्र अवर्णनीय अवस्था हो गई थी। वह निर्जन वनों में कस्तूरी मृग से भी अधिक भगवान के आनंद और उसके परम स्वरूप को ढूंढते हुए यत्र-तत्र हिरण की भांति लंबी-लंबी कुलांचें भरते फिरते थे। उनका कुलांचें भरना उनका नृत्य था या उनके हृदय की अकुलाहट थी अथवा निरंतर हरिनाम स्मरण करते रहने से, जिस शक्ति का प्राकट्य हुआ था, उस पराशक्ति के आनंद और प्रभाव से वह विस्मित हुए थे।

वस्तुत: परमात्मास्वरूप चैतन्य महाप्रभु जी को अपने तन-बदन का उस समय कुछ भी होश नहीं था, कोई सुध-बुध न थी। वह यदा-कदा स्वल्प समय के लिए अपनी इस देह में उतरकर आते थे। किन्तु अधिकांश तो वे हरिनाम के उस परम आनंद में ही समाहित रहते थे। उस समय उनके संपर्क में जो भी आया, उसे भी उस आनंदमय रहस्यमयी शक्ति का रसास्वादन कुछ समय के लिए अवश्य ही हुआ।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी तो अधिकांश समय देहात्म बुद्धिरहित स्थिति से ऊपर उठकर, अपनी अकल्पनीय विशुद्ध यौगिक स्थिति में तन्मय ही रहा करते थे। उन्होंने अपने जीवन में कुण्डलिनी शक्ति का भी साधन किया और उसके साथ ही एकेक नहीं, दस-बीस से भी अधिक विचित्र साधना पद्धतियों से साधना करके प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान प्राप्त किया और उसका वृत्तांत जिज्ञासु भक्त साधकों को वितरित किया तथा अपने शरीर को समाप्ति के समय

तक साधकों की जिज्ञासा, उत्कंठा और प्रश्नों का उत्तर एवं अपनी साधना की दिव्य अनुभूतियों से अपने सत्संग में आने वाले अधिकांश सभी साधकों को उसका प्रत्यक्ष दर्शन, अनुभव कराते रहे। इसका जीता-जागता उदाहरण स्वामी विवेकानंद से दिया जा सकता है, जिनकी कुण्डलिनी का जागरण उन्होंने अपने तनिक से स्पर्श मात्र से ही करा दिया था।

कुण्डलिनी साधना के इस मार्ग में अर्थात् कुण्डलिनी योग के संबंध में जानने और साधन करने योग्य बहुत सारी विद्याएं हैं, जिनकी साधना और ज्ञान के बिना महाशक्ति कुण्डलिनी का उपासक इस महत्त्वपूर्ण साधना के क्षेत्र में तीव्रगति से आगे नहीं चल सकता।

कुण्डलिनी साधना की चमत्कृत कर देने वाली बातें, युक्तियां और विधियां बड़ी गुंजलदार और दुस्साध्य प्रतीत होती हैं, किन्तु एक बार उनके गर्त में जाने के बाद वे बड़ी सहज और सरल प्रतीत होने लगती हैं।

प्राचीन योगियों और ऋषि-महर्षियों ने मनुष्य के शरीर में स्थित बड़ी-बड़ी विचित्र नाड़ियों और योगचक्र जिन्हें स्नायु-गुच्छ के नाम से भी जाना जा सकता है, उनका वर्णन विशेष रूप-से किया है। उनके बारे में जानना और समझना हरेक साधक, हरेक योगी का कर्तव्य है। इन नाड़ियों में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, विश्वोदरा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, पूषानाड़ी, चित्रानाड़ी, वज्रानाड़ी, शंखिनी, कुहूनीनाड़ी, ब्रह्मनाड़ी, सूर्यरूपा, ऊर्ध्वगामिनी, योगनाड़ी और लंबिका आदि 72 हजार नाड़ियों का वर्णन योगशास्त्र में किया है।

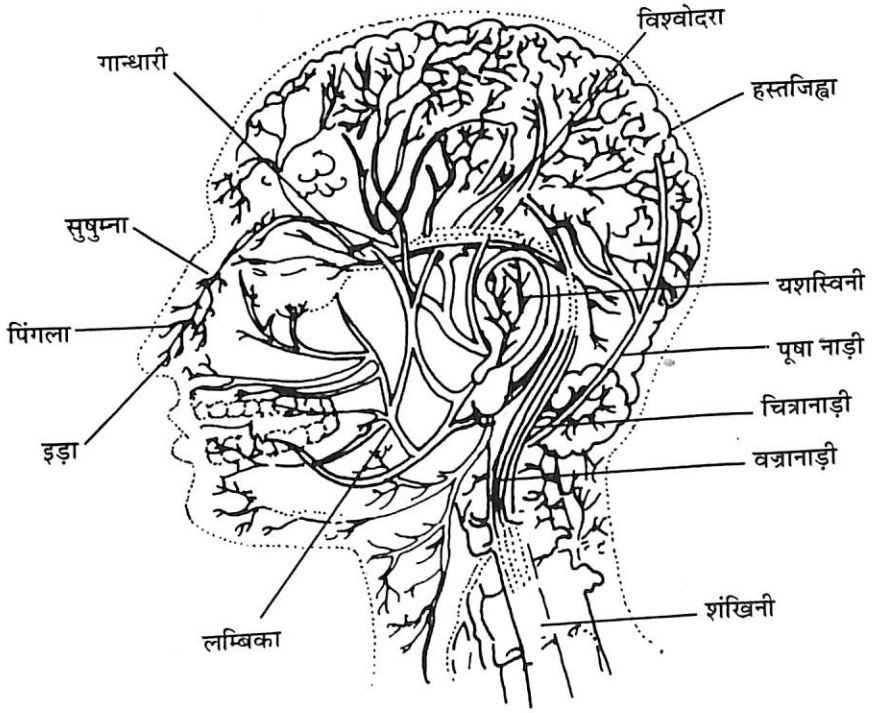

विभिन्न नाड़ियां

इन संपूर्ण नाड़ियों के बड़े ही अलौकिक कार्य हैं और ये नाड़ियां विभिन्न प्रकार की अलग-अलग मुद्राओं द्वारा योग की विभिन्न क्रियाओं द्वारा संचालित होती हैं और अपने प्रभाव, चमत्कारिक रूप में प्रदर्शित करती हैं। ये नाड़ियां भौतिक शरीर में प्रवाहमान प्राण के मार्ग हैं।

नाड़ियां शरीर के भीतर प्राण के बृहत् यातायात स्नायु-संस्थान को शक्ति प्रदान करती हैं तथा उसे आगे और पीछे इच्छित स्थानों में ले जाती हैं। इन नाड़ियों से प्राण, जीवनी-शक्ति, प्रेरणाएं तथा अन्यान्य ऊर्जाएं विद्युत-तरंगों के समान बहती हैं तथा शरीर के विभिन्न कोशों और अंगों के स्वास्थ्य तथा तालबद्धता को ये सही-सलामत रखती हैं। 72 हजार नाड़ियों में 10 नाड़ियां ही प्रमुख मानी गई हैं। ये 10 नाड़ियां ही शरीर में चेतना तथा प्राण का वितरण व नियंत्रण करती हैं। योगियों का मत है कि सिद्धासन लगाने से समस्त 72 हजार नाड़ियों का शोधन हो जाता है। प्रमुख 10 नाड़ियां निम्न हैं—

- इड़ा
- पिंगला
- सुषुम्ना
- गान्धारी
- हस्तजिह्वा (हस्तिजिह्वा)
- पूषा
- यशस्वनी (यशस्विनी)
- वज्रा
- कुहूनी
- शंखनी (शंखिनी)

मेरुदण्ड के वाम (बाएं) भाग में इड़ा, दक्षिण (दाएं) भाग में पिंगला, मध्य में सुषुम्ना, बाएं नेत्र में गान्धारी, दाएं नेत्र में हस्तिजिह्वा, बाएं कान में यशस्विनी, दाएं कान में पूषा, मुख में वज्रा (कुछ लोग मुख में अलंबुषा मानते हैं), लिंग में कुहूनी तथा गुदा में शंखिनी का वास है। इस प्रकार मानव-शरीर के 10 द्वारों में 10 नाड़ियां हैं।

उपरोक्त 10 नाड़ियों में से तीन का महत्त्व सर्वाधिक है। यही तीनों नाड़ियां ही अन्य सभी नाड़ियों को नियंत्रण में रखती हैं। ये तीन नाड़ियां इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं। इड़ा नासारन्ध्र से चलने वाली इन्द्र नाड़ी है। उसका वर्ण शुभ्र है और पिंगला दाएं नासारन्ध्र से चलने वाली सूर्य नाड़ी रक्तवर्ण की है।

इड़ा को अमृत-विग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका भी कहते हैं। ये दोनों नाड़ियां काल स्वरूप दिखती हैं। ये दोनों जब समगति से चलती हैं, तब सुषुम्ना नाड़ी में उनका लय होता है। इसी अवस्था में सुषुम्ना नाड़ी में कुण्डलिनी प्रवेश करती है। मूलाधार से जहां ये तीनों निकलती हैं, उसे मुक्तत्रिवेणी और आज्ञा चक्र के समीप जहां ये मिलती हैं, उसे युक्तत्रिवेणी कहते हैं।

इड़ा—गंगारूपा, पिंगला—यमुनास्वरूपा एवं सुषुम्ना—सरस्वतीरूपिणी हैं। ये ही तीनों नाड़ियां आज्ञा चक्र के ऊपर जिस स्थान पर मिलती हैं, उस स्थान का नाम त्रिवेणी है। स्नानविहीन व्यक्ति को बाह्य स्नान से कोई फल नहीं मिलता। गुरुकृपा से जो आत्मतीर्थ को जानकर आज्ञा चक्र के ऊपर इस तीर्थराज त्रिवेणी में यौगिक स्नान करता है, वो निश्चय ही मुक्तिपद लाभ करता है।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—इन तीनों प्रधान नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वप्रधान है। इसके गर्भ में वज्राणी नाड़ी है। यह नाड़ी शिश्न-प्रदेश से निकलकर, शिरःस्थान तक जाती है। वज्रनाड़ी (वज्राणी) के बीच में आद्यन्त प्रणव युक्ता अर्थात् चंद्र, सूर्य और अग्नि-स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव (महेश) से आदि एवं अंत में मिली हुई मकड़ी के जाले की तरह बहुत सूक्ष्म चित्राणी नाड़ी के बीच में एक विद्युत के समान वर्ण वाली नाड़ी है, उसे 'ब्रह्मनाड़ी' कहते हैं। यह ब्रह्मनाड़ी मूलाधार-पद्म स्थित महादेव के मुख से प्रारंभ होकर शिर-स्थित सहस्रदल तक फैली हुई है।

इस ब्रह्मनाड़ी के विषय में रात-दिन योगियों को ध्यान करना चाहिए, क्योंकि योग-साधना का चरमफल इसी ब्रह्मनाड़ी से प्राप्त होता है। इसी ब्रह्मनाड़ी के अंदर से गमन कर सकने पर आत्म-साक्षात्कार होता है एवं योग का उद्देश्य सिद्ध होकर मुक्तिलाभ होता है।

मेरुदण्ड के दोनों ओर एक स्नायु-प्रणाली है। बायीं स्नायु-प्रणाली को इड़ा और दायीं को पिंगला कहते हैं। जैसा कि हमने पहले भी बताया कि ये प्राणवाहक नाड़ियां हैं। इड़ा में चंद्र का व पिंगला में सूर्य का वास है। इसी कारण इड़ा शीतल और पिंगला उष्ण है। इड़ा नासिका के वाम और पिंगला दाएं रन्ध्र से चलती है। इनमें से प्रत्येक ढाई-ढाई घड़ी (एक घंटा) चलती है। उन्हीं के अनुसार स्वर बदलते रहते हैं। उक्त दोनों नाड़ियों के चलते रहने पर मनुष्य सांसारिक कार्यों में लगा रहता है।

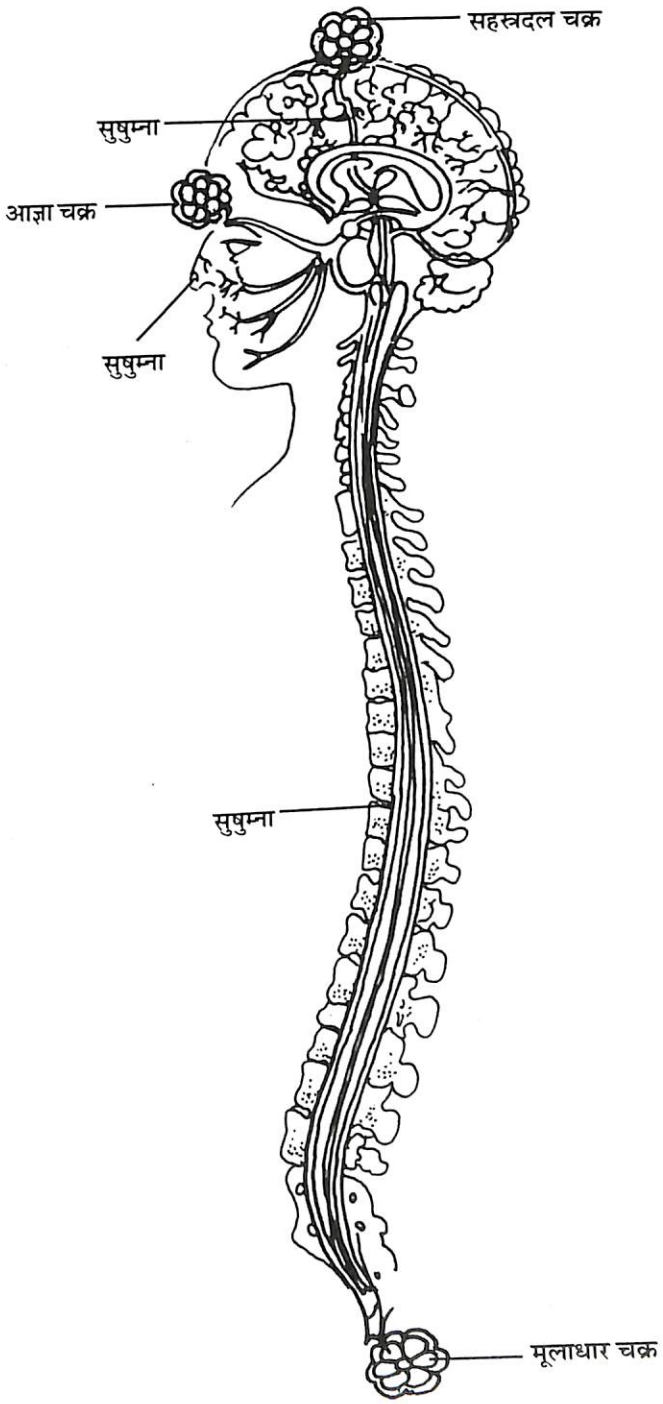

नाड़ी-मण्डल में सुषुम्ना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सारा ब्रह्माण्ड इसी पर स्थित है और यही मोक्ष का मार्ग है। यह गुदामार्ग के पिछले भाग में स्थित है और मेरुदण्ड से लगी हुई सिर में स्थित ब्रह्मरन्ध्र तक चली गई है। इसके दाहिने तरफ पिंगला और बायीं तरफ इड़ा है। इसके जाग्रत होते ही योगी का वास्तविक कार्य होने लगता है।

उसे समाधि लगने लगती है और वह संसार से विमुख होता जाता है। योगीजन सुषुम्ना में प्रवेश करके महा-प्रयाण का समय बदल देते हैं। इसलिए कहते हैं कि सुषुम्ना नाड़ी काल भक्षक या काल रोधक है। इसी कारण योगी लोग सदा अपने प्राण को सुषुम्ना में, जिसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं, चलाने का प्रयत्न करते हैं। यह 72 हजार नाड़ियों को भेदकर व्याप्त रहती है।

ये तीनों नाड़ियां प्राण-वाहक नाड़ियां हैं और चंद्रमा, सूर्य व अग्नि क्रम से इनके देवता हैं। सुषुम्ना के समय ध्यान अच्छा लगता है। सुषुम्ना के चलते समय ध्यान का अभ्यास करते-करते कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और वह सुषुम्ना में होती हुई षट्चक्रों का भेदन करती हुई

ऊपर चढ़ने लगती है। उस समय योगी को अनेक प्रकार के अनुभव, शक्तियां और आनंद प्राप्त होने लगते हैं। इस नाड़ी को स्थिर करके प्राणायाम करने से वह शीघ्र सिद्ध होता है।

एक योग्य गुरु का कर्तव्य है कि वह इन नाड़ियों के जाल में साधक को किसी भी प्रकार से उलझने न दे। अपितु उसे युक्ति-युक्त मार्ग पर धीरे-धीरे चलाते हुए अर्थात् साधना कराते हुए मध्य मार्ग के द्वारा ऊंचे से ऊंचा ज्ञान और कठिन-से-कठिन युक्तियों और साधनाओं को अत्यंत सरल रूप से बताते हुए, इस रहस्यमयी साधना की ओर चलाने का प्रयत्न करे।

हठयोग की भांति लययोग में भी मनुष्य के शरीर में स्थित नाड़ियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—इड़ा, पिंगला नाड़ी, सुषुम्ना नाड़ी को दोनों तरफ से घेरे हुए मूलाधार स्थान से टेढ़ी-मेढ़ी चाल के द्वारा योग-चक्रों को निश्चित स्थानों पर बनाती हुई आज्ञा चक्र तक जो भ्रूमध्य में स्थित है, वहां पहुंचती हैं। ये योग-चक्र अनंत शक्तियों के उद्‌गम स्थान हैं।

प्राणों का सुषुम्ना में इड़ा अथवा पिंगला नाड़ियों के द्वारा पहुंचकर, प्राण अपान को मिलाकर योगी स्वयं को श्मशानवत् बनाकर अपने ध्यान को, अर्थात् प्राणों को मूलाधार चक्र के सन्निकट स्वयंभू के मुख वाले स्थान पर संयम के द्वारा प्राणों को स्पंदित कर, मूलबंध एवं क्रोध बीज मंत्र का मानसिक उच्चारण कर, दृढ़ निश्चय के साथ सुषुम्ना का मुख खुलते ही तत्क्षण उसमें प्रवेश करने के लिए कटिबद्ध हो जाए।

उपर्युक्त सारी क्रियाओं को करते हुए साधक द्वारा जब दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए क्रोध बीज मंत्र दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ मानसिक उच्चारण किया जाएगा, तो सुषुम्ना-द्वार को स्वाभाविक ही खुलना होगा। इस स्थिति में साधक को पहले से भी और अधिक सावधानी रखते हुए, तटस्थ और सम्यक् भाव से परम शांत ध्यानमयी यौगिक स्थिति में रहते हुए अपने प्राणों को सुषुम्ना द्वार में सरलता और अत्यंत दृढ़ता के साथ प्रवेश करा देना चाहिए। साधक का यह, इस कुण्डलिनी शक्ति के संबंध में अर्थात् मार्ग में अग्रसर होने का सर्वप्रथम सोपान है।

❑❑

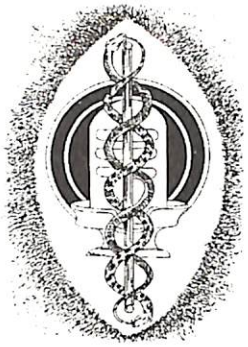

नि:श्वास : छः

योग साधक एवं साधना

योग साधना का स्वरूप और विस्तार वस्तुत: एक जन्म में पूरा नहीं हो सकता, यह कथन समाधि की अवस्था को पहुंचे हुए एक योगी का है। उन्होंने कहा है कि कभी-कभी किसी साधारण साधक को कुछ समय उपासना करने के अनंतर कोई पूर्व जन्म की साधना के प्रभाव से स्वल्प काल में ही कोई चमत्कार उपस्थित हो जाने पर यों प्रतीत होने लगता है कि वो अब योगशास्त्र का पूरी तरह से जानकार हो गया है और उसके लिए अब कुछ और साधन करना, जानना अथवा तपश्चर्या पूर्ण जीवन व्यतीत करना कोई आवश्यक नहीं रह गया है। इस प्रकार का भ्रम कभी किसी साधक में पैदा नहीं होना चाहिए। क्योंकि ऐसा भ्रम पैदा होने पर कालांतर में साधक को हानि उठानी पड़ती है। ऐसे अनेक योग साधक देखने में आए हैं जो योग की आखिरी मंजिल तक भी नहीं पहुंच पाए और मृत्यु को प्यारे हो गए।

एक महात्माजी का तो यहां तक मानना है कि योग विद्या का ज्ञान व्यक्ति को अगला जन्म लेने के बाद भी रहता है और यह विद्या काल के प्रभाव से अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्कर से प्रभावित नहीं होती। अपितु ऐसे व्यक्ति को, जिनकी मृत्यु अधूरी साधना में ही हो जाती है, योग-भ्रष्ट कहा जाता है। किन्तु ऐसी योग-भ्रष्ट आत्माओं का पुनर्जन्म, पहले जन्म में की हुई योग साधना के प्रभाव से अच्छे घरों में ही होता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

इससे सिद्ध होता है कि योग की उन्नति अर्थात् शिक्षा को देश, काल, परिस्थिति और मृत्यु भी नहीं रोक सकती। एकमात्र यही एक ऐसा ज्ञान है, जिसे दूसरा जन्म लेने पर भी व्यक्ति (साधक) भूलता नहीं है। योग की एक विशेषता यह भी है कि प्रकृति के नियमानुसार योग-भ्रष्ट का पुनर्जन्म ऐसे परिवार अथवा माहौल में होता है, जहां वह पूर्वजन्म की अपनी छोड़ी गई अधूरी साधना को पूर्ण कर सकने में समर्थ होता है।

जो साधक एक बार विधिवत् योग की पाठशाला में भाग्यवश या सौभाग्यवश प्रवेश पा गया और वह भी किसी अच्छे उपासक, सद्गुरु की कृपा द्वारा, तो फिर समझिए कि वह प्रकृति की, संसार की सबसे बड़ी और कभी न समाप्त होने वाली योगविद्या को प्राप्त किए बिना न रहेगा, चाहे इस विद्या की पूर्णता के लिए उसे बार-बार जन्म क्यों न लेना पड़े।

योग अत्यंत गूढ़ और गंभीर विद्या है। यह विद्या श्रेष्ठ योगी (गुरु) से ही प्राप्त की जा सकती है। उपनिषदों के शिक्षा मनोविज्ञान में गुरु को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। गुरु दीक्षा पाए बिना कोई भी लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। कठोपनिषद् में कहा गया है, "उठो, जागो और जो तुमसे श्रेष्ठ हैं, उनसे सीखो; क्योंकि आत्मलाभ का लक्ष्य तलवार की धार के समान पैना है।" ऋषियों ने इसको दुर्गम पथ कहा है। इसी उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि

जब तक गुरु ने स्वयं आत्मलाभ न किया होगा, तब तक वो दीक्षा कैसे दे सकता है। छान्दोग्यउपनिषद् में गांधारवासी मनुष्य को जब डाकू उसकी आंखें मूंदकर उसे उसके देश से दूर ले जाकर जंगल में छोड़ देते हैं, तब किसी अन्य व्यक्ति के मार्ग बतलाने पर ही वह अपने देश तक पहुंच पाता है। इस कथा में मार्ग-निर्देशन में गुरु के महत्त्व को बड़े सुंदर ढंग से समझाया गया है।

अंतर्मुखता, आत्मशुद्धि और गुरु से दीक्षा मिलनें पर जिज्ञासु आत्मलाभ के मार्ग में आगे बढ़ता है। इसके लिए योगाभ्यास और प्रणव अथवा ओ३म् पर निदिध्यासन करना आवश्यक माना गया है। उपनिषदों में शारीरिक पूर्णता प्राप्त करने और मन पर नियंत्रण करने के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक विधियों की चर्चा की गई है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार तन और मन का संयम और योगाभ्यास चित्त को शुद्ध करके उसे ब्रह्मज्ञान के योग्य बनाता है। तप से चित्त की शुद्धि होती है। आत्मलाभ के लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधि आवश्यक हैं।

प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के विभिन्न अंग हैं। उपनिषदों में आसनों का भी वर्णन मिलता है। शाण्डिल्य उपनिषद् में 10 प्रकार के नियम, जिनके बारे में पीछे बता आए हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगाभ्यास के शारीरिक प्रभावों का उल्लेख किया गया है।

भारतीय मनोविज्ञान में शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसमें मानव शरीर के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या की गई है। भोजन का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है और उससे मानसिक प्रवृत्तियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी चर्चा से लेकर शरीर में विभिन्न चक्रों की स्थिति, कुण्डलिनी की स्थिति, वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया आदि की चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है। दर्जनों प्रकार के आसन शरीर को नियंत्रित करने का साधन रहे हैं। हठयोग में इनकी विशेष चर्चा है।

यौगिक साधनों से योगी शरीर पर इस कदर अधिकार कर लेते थे कि कहा जाता है कि वो उसे रुई के समान हल्का बनाकर हवा में उड़ सकते थे, शरीर की सतत क्रियाओं जैसे रुधिर का प्रवाह, नाड़ी की गति, श्वास-प्रश्वास को रोक सकते थे और ऐसे-ऐसे कठिन कार्य कर सकते थे, जिनकी पश्चिम के लोग कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज भी योग के माध्यम से शरीर पर अधिकार करने वाले योगी शीशा और ब्लेड चबा जाते हैं, हफ्तों वायुहीन स्थान में बंद रहते हैं, आग पर चलकर दिखाते हैं, छाती पर बुलडोजर खड़ा कर लेते हैं और दोनों ओर चलती हुई कारों को हाथ से रोक लेते हैं। इन सब आश्चर्यजनक कार्यों को देखकर यह सहज ही मान लेना पड़ता है कि भारतीय मनोविज्ञान में शरीरशास्त्र के विषय में कितनी अधिक सूक्ष्म जानकारी रहती है। योगी श्री अरविन्द के अनुसार, ''योग की क्रियाएं शारीरिक और मानसिक व्याधियों को दूर करके चित्त को स्थिर करने में अद्वितीय हैं।''

गीता के चौथे अध्याय में यह बतलाया गया है कि मनुष्य को हर्ष, शोक आदि से दूर रहते हुए सिद्धि और असिद्धि में समत्वभाव रखना चाहिए। मानसिक संतुलन शारीरिक संतुलन के अभाव में नहीं हो सकता, इसलिए युक्ताहार, आसन, प्राणायाम इत्यादि की सहायता से शरीर पर नियंत्रण करने के बाद ही मन पर नियंत्रण करने की आशा की जा सकती है।

जो साधक अपने मन पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वो कुण्डलिनी मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। मन, इन्द्रियों और संवेगों पर विजय पाने के बाद ही कुण्डलिनी जागरण का मार्ग प्रशस्त होता है। जब कुण्डलिनी जागरण का समय सन्निकट होता है, तो सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करने से पहले ही साधक का श्वास-प्रश्वास बंद होने लगता है। यदि गुरु द्वारा ज्ञान मिला है, तो साधक इस बात से घबराता नहीं है तथा अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने को प्रयासरत रहता है। किन्तु जिसे श्रेष्ठ गुरु की कृपा नहीं मिली होती या जो इस स्थिति से अनभिज्ञ होता है, वह यह सोचकर कि अब तो उसका श्वास टूटने वाला है, अर्थात् अंतिम समय अब निकट है, घबरा जाता है और हानि उठाता है। उसकी साधना में व्यवधान पड़ जाता है तथा वह रहस्यमयी कुण्डलिनी शक्ति के परिचय से अछूता रहता है।

यह बात सत्य है कि इस प्रकार के योग-साधन द्वारा आज तक कभी किसी साधक की मृत्यु नहीं हुई। योग की इस क्रिया द्वारा तो साधक को प्राणों पर नियंत्रण हो जाता है, जिस कारण उसका श्वास-प्रश्वास बंद हो जाता है और साधक द्वारा संकल्प करते ही पुन: शरीर में श्वास-प्रश्वास का आवागमन हो जाता है। अत: नए साधकों को इस स्थिति में पहुंचने के बाद घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि जब तक प्राण शांत नहीं होते, कुण्डलिनी शक्ति को किसी भी प्रकार जगाया नहीं जा सकता, न ही उसका जागरण हो पाएगा।

अत: जब श्वास-प्रश्वास बंद हो जाए यानी हृदय की गति शांत हो, तब क्रोध बीज मंत्र ''**हुं**'' के साथ मूलबंध से युक्त होकर धीरे-धीरे उस महाशक्ति पर शब्द ब्रह्म की शक्ति के साथ ताड़न करने से वह अट्टहास करती हुई जाग्रत हो जाएगी। तब बहुत सावधान होकर बिंदु, साकार, निराकार, प्राण-अपानादि के सांयुज्य से आनंद की विशेष अनुभूति साधक को प्राप्त होगी।

यह एक शास्त्रोक्त और सैद्धान्तिक नियम है कि सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्राणों का निरोध किए बिना और मूलबंध आदि क्रियाओं की पूर्णरूपेण सिद्धि के बिना कुण्डलिनी का जागरण नहीं हो सकता। सुषुम्ना द्वार एकमात्र मूलाधार चक्र के सन्निकट है, अत: मूलाधार पर यौगिक संयम किए बिना कुण्डलिनी जाग्रत नहीं की जा सकती।

जिस साधक की कुण्डलिनी मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग सुषुम्ना द्वार से प्रारंभ होकर प्रथम योगचक्र मूलाधार, स्वाधिष्ठान एवं नाभिचक्र आदि समस्त चक्रों को जाग्रत करती हुई सुव्यवस्थित रूप-से अग्रसर नहीं हुई है, तो साधक के तन, मन एवं समस्त स्नायुमण्डल पर उस शक्ति का संपूर्ण रूप-से पूरा-पूरा और ठीक-ठीक प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होगा।

भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं की मान्यता है कि जिस प्रकार समस्त पृथ्वी, वन, पर्वत आदि का आधार ईश्वर है, उसी प्रकार संपूर्ण योग का आधार कुण्डलिनी है। इस बात को पीछे हम अनेक बार बता चुके हैं कि कुण्डलिनी शक्ति का निवास ''मूलाधार चक्र'' है। यह मूलाधार चक्र रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले छोर में है, जिसे आधुनिक शरीर विज्ञानवेत्ता ''गुदास्थि'' कहते हैं। वैसे मनुष्य के शरीर में तीन नाड़ियां होती हैं, जिनके नाम इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना हैं।

हठयोगियों एवं नाथपंथियों के साहित्य में इनकी चर्चा विस्तार से की गई है (हम भी इनके बारे में काफी विस्तार से बता चुके हैं)। उनकी मान्यता है कि इन तीनों में से दो नाड़ियां इड़ा और पिंगला सदा सक्रिय रहती हैं, किन्तु तीसरी नाड़ी सुषुम्ना सुषुप्तावस्था में रहती है।

सुषुम्ना नाड़ी में सात चक्र होते हैं। योगियों ने इनके नाम इस प्रकार बताए हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इन सात चक्रों में से प्रथम तीन चक्र अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान तथा मणिपूर सदैव क्रियाशील रहते हैं। इन तीनों के क्रियाशील रहने के कारण ही मनुष्य में कामवासना की अधिकता, खट्टा-मीठा स्वादिष्ट खाने की इच्छा और संसार में यश प्राप्त करने की कामना जाग्रत होती है।

मनुष्य (साधक) अपने संयम अथवा दृढ़ संकल्प से जब इन नाड़ियों को नियंत्रित करके इनके कार्यों में अवरोध उत्पन्न कर देता है, तब न तो उसमें कामवासना रहती है और न ही स्वादिष्ट भोजन करने की इच्छा तथा न ही कीर्ति अर्जित करने की कामना! इनका काम रुक जाने पर अनाहत चक्र सक्रिय हो जाता है। इस चक्र के सक्रिय होने पर ही साधक के मन में आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावों का जन्म होता है।

साधारणतया अनाहत चक्र समान रूप-से सक्रिय नहीं रहता। मन की स्थिति के अनुसार कभी-कभी इसकी सक्रियता रुक जाती है और फिर निम्न श्रेणी के चक्र अर्थात् मूलाधार चक्र आदि हलचल मचाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उसका मन फिर कामवासना आदि की ओर दौड़ने लगता है। अत: इसके लिए दृढ़ संकल्प की अत्यंत आवश्यकता है।

दीर्घकाल तक अनाहत चक्र के जाग्रत रहने पर प्रारंभिक तीन चक्र पूर्णतया निष्क्रिय हो जाते हैं। इसके पश्चात् मनुष्य प्रयत्न करके प्राणायाम तथा योग साधना द्वारा विशुद्ध चक्र को जाग्रत करता है। विशुद्ध चक्र के सक्रिय होने पर साधक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे पारिवारिक संबंध केवल बंधन मात्र है और वह वैराग्य की ओर अग्रसर होता है। उस समय उसके मन में कोई मोह नहीं रह जाता, उसका ध्यान पूर्णतया ईश्वर में लग जाता है।

जब साधना करते हुए साधक विशुद्ध चक्र की परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह आज्ञा चक्र की ओर बढ़ता है। आज्ञा चक्र बड़ी कठिनाई से जाग्रत होता है। किन्तु जब वह जागकर सक्रिय हो जाता है, तो साधक का मन पूर्णतया ईश्वर में रम जाता है तथा वह उससे साक्षात्कार करने लगता है।

फिर भी आत्मा और परमात्मा के बीच माया का व्यवधान रहता है। इसके पश्चात् योगी सहस्रार चक्र को सक्रिय करने में समर्थ हो जाता है। इस चक्र के सक्रिय होने पर माया का व्यवधान समाप्त हो जाता है। आत्मा और परमात्मा एकाकार हो जाते हैं, जिसे पूर्ण निर्वाण अथवा मोक्ष कहते हैं।

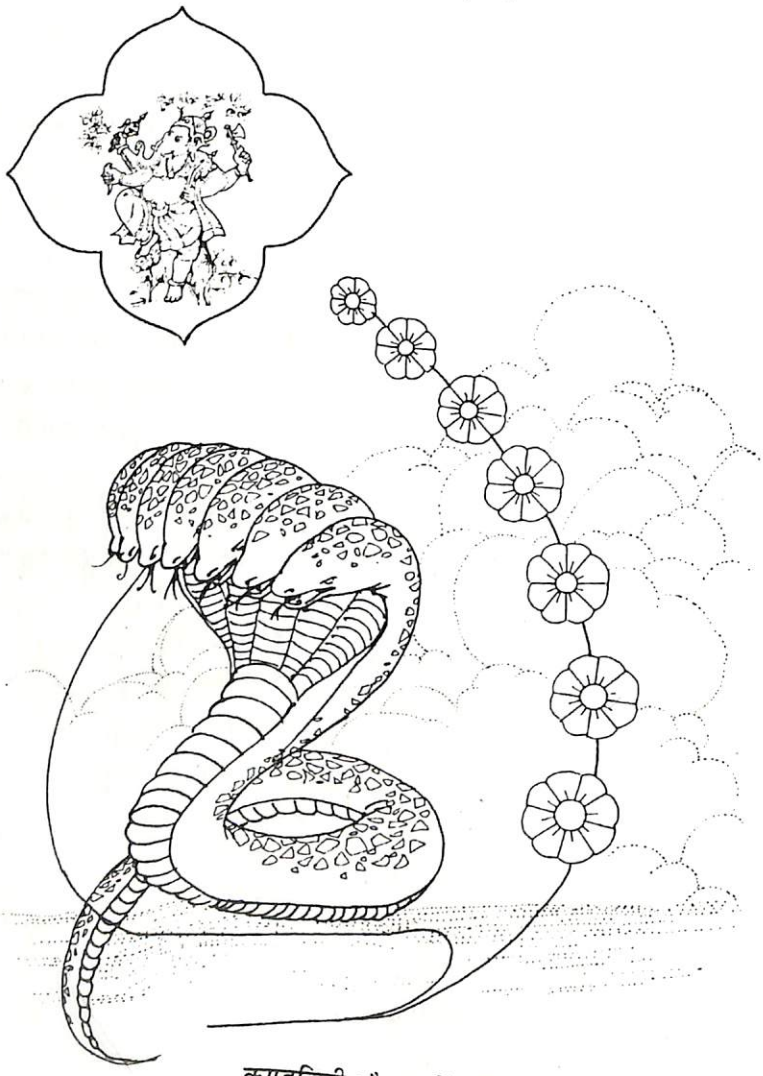

कुण्डलिनी और सातों चक्र

सुषुम्ना नाड़ी में जन्म-जन्मांतरों का ज्ञान अथवा अनुभव एकत्र रहता है। सुषुम्ना नाड़ी को निम्न दो प्रकार से सक्रिय बनाया जा सकता है—

❑ सम्मोहिनी विद्या द्वारा

❑ यौगिक क्रिया के द्वारा

सुषुम्ना नाड़ी दोनों ही प्रकार से जाग्रत हो सकती है। किन्तु दोनों की जाग्रति में आकाश-पाताल का अंतर है।

पहले प्रकार की जाग्रति अत्यंत अल्पकालिक होती है, जबकि यौगिक क्रिया द्वारा जाग्रत की गई नाड़ी स्थाई होती है। इस स्थाई जाग्रति में योगी को अलौकिक सिद्धियों का लाभ प्राप्त होता है। जबकि सम्मोहन द्वारा की गई जाग्रति में कुछ विचित्र बातें कराई जा सकती हैं। किन्तु सम्मोहनावस्था समाप्त होने पर वह फिर अपनी पहली की अज्ञानावस्था में आ जाती है।

कुण्डलिनी साधारणत: सुषुप्तावस्था में ही रहती है। उसे जाग्रत करके धीरे-धीरे उपरोक्त चक्रों में से ऊपर को ले जाना पड़ता है। ऐसा केवल यौगिक क्रियाओं के द्वारा किया जा सकता है और प्राणायाम इसकी प्रथम सीढ़ी है।

प्राणायाम ऐसी अवरोधक शक्ति है जो इड़ा, पिंगला की सक्रियता को समाप्त करके उन्हें सुषुप्तावस्था में ले जाती है। इसका कारण यह है कि इन दो नाड़ियों के द्वारा ही मनुष्य की श्वसन-क्रिया होती है।

प्राणायाम की तीन स्थितियों में से एक स्थिति कुम्भक की है।

कुम्भक में श्वास लेने और छोड़ने की क्रिया बंद रहती है, जिसका परिणाम यह होता है कि इड़ा और पिंगला के पास कोई काम नहीं रहता। दोनों नाड़ियों के निष्क्रिय होने से सुषुम्ना नाड़ी सक्रिय होती है। इसके साथ ही कुण्डलिनी भी सक्रिय होकर एक के बाद एकेक करके सातों चक्रों में प्रवेश करती जाती है।

प्राणायाम एवं योग साधना के अतिरिक्त कुण्डलिनी जाग्रत करने का सबसे सरल उपाय यह है कि साधक अपने प्रारंभिक तीन चक्रों के गुणों का अर्थात् कामवासना, जिह्वा का स्वाद एवं यश लोलुपता का परित्याग कर दे।

कुण्डलिनी स्वत: चौथे चक्र अर्थात् अनाहत में पहुंच जाएगी। यह ठीक है कि इन तीनों बातों का परित्याग कर देना इतना सरल नहीं है, जितना कि कह देना। विश्वामित्र जैसे महान योगी एवं तपस्वी मेनका के सम्मुख अपने आपको संयत नहीं रख सके थे। किन्तु दृढ़ इच्छाशक्ति से भला क्या नहीं हो सकता?

यदि एकदम इनका परित्याग नहीं किया जा सकता, तो धीरे-धीरे कम करके करना चाहिए। साधक अपने सामने विश्वामित्र का ही उदाहरण क्यों रखे? लक्ष्मण का उदाहरण भी सामने रखा जा सकता है।

इस प्रकार जब साधक अनाहत चक्र में पहुंच जाता है, तो उसके मन में आप ही शुद्ध एवं सात्त्विक विचार आने लगते हैं। ये शुद्ध विचार एवं संकल्प स्वयं धीरे-धीरे उसे अध्यात्म की ओर आकर्षित करते हैं। ज्यों-ज्यों वह अपने आपको ईश्वर की ओर उन्मुख करता जाता है, त्यों-त्यों एकेक करके चक्रों का मार्ग पार होता जाता है और अंत में वह अपने वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

भारतीय ऋषियों ने कुण्डलिनी जाग्रत करने के जो उपाय बताए हैं, उनमें भी उन्होंने भक्ति योग तथा ज्ञान योग को सम्मिलित किया है। इस प्रकार साधकों को प्राणायाम आदि कठिन यौगिक क्रियाएं करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके लिए अन्य उपाय जो उन्होंने बताए हैं, वे हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, कर्मयोग, लययोग आदि हैं। किन्तु इन योगों को करना सर्व साधारण के लिए इतना संभव नहीं है, जितना कि वह उपाय जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर साधक की शक्ति और ज्ञान की कोई सीमा नहीं रहती। इसके विषय में जो थोड़े-बहुत परीक्षण हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि जिस व्यक्ति की कुण्डलिनी जाग्रत हो चुकी है, वह अपने हृदय-धड़कन की गति को बहुत अल्प कर सकता है। आठ दिन तक भू-समाधि लेने वाले योगी अपनी हृदय की गति को सुषुप्त कर देते हैं। इस प्रकार के एक नहीं, अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी जाग्रत होने पर मनुष्य कैसे-कैसे चमत्कार करके दिखा सकता है।

❑❑

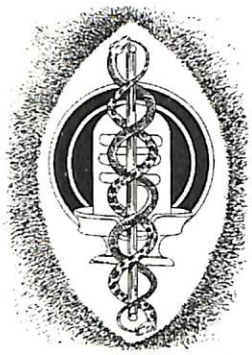

नि:श्वास : सात

चक्र, बीजाक्षर एवं देह-आत्मा का रहस्य

तंत्र की भाषा प्रतीकात्मक रहस्यमय है। पुराणों में भी इसी प्रकार की भाषा का पौराणिक कथाओं में उपयोग किया गया है। यदि उनका शाब्दिक अर्थ लें तो कभी ऐसा भ्रम होने लगता है कि ये निरर्थक बातें हैं। कभी मात्र शाब्दिक अर्थ लेने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। यहां बीजाक्षरों की रहस्यात्मकता एवं इनकी व्याख्या की गई है। जिन्होंने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया है, वे माहेश्वर सूत्रों से भली-भांति परिचित होंगे।

नटराज भगवान शंकर ने नृत्य करके डमरू बजाया। उससे 14 सूत्र प्रकट हुए। ये डमरू के बोल थे। पाणिनि ने महेश्वर की कृपा से इन्हीं डमरू के बोलों (सूत्रों) से व्याकरणशास्त्र की रचना की। ये बोल इस प्रकार हैं—

पहला सूत्र : अ इ उ ण
दूसरा सूत्र : ऋ ल् क्
तीसरा सूत्र : ए ओङ्
चौथा सूत्र : ऐ औ च
पांचवां सूत्र : ह य व र ट
छठा सूत्र : ल ण्
सातवां सूत्र : य म ङ ण न म्
आठवां सूत्र : झ भ ञ
नौवां सूत्र : घ ढ ध श
दसवां सूत्र : ज ब ग ड द श्
ग्यारहवां सूत्र : ख फ छ ठ ध च ट त व्
बारहवां सूत्र : क प य
तेरहवां सूत्र : श ष स र्
चौदहवां सूत्र : ह ल्

इन माहेश्वर सूत्रों में बड़े रहस्य भरे पड़े हैं, जिनकी व्याख्या पाणिनि ने की है। नाद, संगीत, स्वर, व्यंजन, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, मनुष्य के कंठ, तालु, मूर्धा, दंत्य, ओष्ठ, जिह्वा मूल, नासिका—अर्थात् जितने प्रकार की ध्वनि हो सकती है, उन सबका समावेश माहेश्वर सूत्रों में है।

महेश्वर, शंकर, शिव उसी ब्रह्म के नाम हैं जो सृष्टि की रचना, पोषण और संहार करता है। संहार (प्रलय) के समय उसको रुद्र कहा जाता है, अन्यथा यह शिव कल्याणकारी है। प्रलयकाल में उसका तांडव नृत्य होता है।

पुनः वह सृष्टि की रचना करता है। उसका डमरू बजता है। विश्व का सबसे बड़ा नाटक वह करता रहता है, इसलिए वह नटराज है। उसे प्रणव ॐ, शब्द ब्रह्म, नाद ब्रह्म आदि अनेक नामों से जानते हैं।

पांच तत्त्व और सत, रज, तम त्रिगुणात्मक सृष्टि के रचयिता सदाशिव हैं। पांच तत्त्व, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय परस्पर संबंधित हैं। तंत्र और योग में षट्चक्र और सहस्र (शून्य चक्र) का वर्णन है।

पुराणों में सुमेरु पर्वत का वर्णन है, जहां 33 या 33 कोटि देवताओं का निवास है। मनुष्य के शरीर में मेरुदण्ड, रीढ़ है। यह गरदन से मलद्वार तक स्थित है। शरीर का आधार स्तंभ है। यह 33 कशेरुकाओं से बना है। इसमें नीचे से ऊपर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध पांच चक्र (शक्ति केंद्र) हैं जो क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तत्त्व के स्थान हैं।

मूलाधार का पृथ्वी तत्त्व बीज ''**लं**'', स्वाधिष्ठान का जल तत्त्व का ''**वं**'' मणिपूर का अग्नि तत्त्व का ''**रं**'', अनाहत का वायु तत्त्व का ''**यं**'' और विशुद्ध चक्र का आकाश तत्त्व का बीज ''**हं**'' है।

लिपि का नामकरण

हिंदी लिपि को देवनागरी लिपि क्यों कहते हैं ? माहेश्वर सूत्रों से इसका उद्भव हुआ, ह य व र ल सूत्र में पंच तत्त्वों का संकेत है। इन सूत्रों से देवनागरी के अक्षर निकले। अक्षर का अर्थ है, *न क्षरति इति अक्षरः* जिसका विनाश नहीं होता, वह अक्षर हैं।

क ख ग घ ङ; च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह

ये 33 अक्षर हैं।

मेरुदण्ड में 33 कशेरुकाएं हैं। यह मेरुदण्ड सुमेरु पर्वत है। जिसमें पर्व हो वह पर्वत है। इस पर 33 देवता निवास करते हैं। एक-एक अक्षर एक-एक देवता की प्रतीकात्मक शक्ति है। देवनागरी लिपि का अर्थ यहां स्पष्ट होता है।

शिव और शक्ति

त्रिकोण मंडल के मध्य तेजोमय रक्त वर्ण ''क्लीं'' बीज रूप कंदर्प नाम की स्थिर वायु की स्थिति है। तांत्रिक मंत्रों में ''क्लीं'' बीज का महत्त्व यहां स्पष्ट होता है। मूलाधार चक्र में त्रिकोणात्मक त्रिपुर के बीच महाशक्ति का निवास है। यही त्रिपुर सुंदरी है। यही शक्ति है। यही पर्वतवासिनी पार्वती है।

अर्धनारीश्वर शिव : शिव-शक्ति का अनूठा समन्वय, जिससे शिव-शक्ति के तादात्म्य की सिद्धि होती है। शक्ति की स्थिति यदि वाम हो सृष्टिकर्ता रूप है, यदि दाहिनी स्थिति हो, लय का रूप स्वीकारना चाहिए

यौगिक साधना द्वारा जब यह शक्ति षट्चक्र भेदन करती हुई सहस्रार में शिव से जा मिलती है तो इसे शिव शक्ति मिलन कहते हैं। वाम मार्गी तांत्रिकों ने इसे इन्द्रिय लोलुपता के कारण लौकिक मैथुन का रूप दे दिया।

''पर्वाणि संति अस्मिन्निति पर्वत: '', इस 33 पर्व के पर्वतराज में निवास करने वाली शक्ति पर्वतराज पुत्री पार्वती शिव के अतिरिक्त किसी का वरण नहीं कर सकती। पार्वती अपने रूप-लावण्य से कैलास (सहस्रार) वासी शिव को मोहित कर उन्हें वरण करने का प्रयत्न करती है।

कुमारसंभव महाकाव्य में इसका महाकवि कालिदास ने तात्त्विक वर्णन किया है। पार्वती शंकरजी के पास अपने रूप के बल पर वरण की इच्छा से जाती है, किन्तु वहां अपने सामने कामदेव को भस्म होते देखकर, रूप द्वारा शिव को वशीभूत करने का उसका मनोरथ भंग हो गया। वह अपने रूप की स्वयं निंदा करने लगी। उसने अन्य मार्ग अपनाया।

तपस्या के द्वारा आत्म समाधि लगाकर अपने रूप को अबंध्य करने का निश्चय किया। इसी मार्ग से उसने शिव की प्राप्ति की। असंप्रज्ञात समाधि ही शिव प्राप्ति है। विचारों और कर्मों के स्वेच्छाचार इन्द्रिय लोलुपता से प्राण शक्ति क्षीण होती है, उसका संयम ही समाधि की ओर अग्रसर करता है। भोग से रोग और मृत्यु तथा योग से समाधि और अमरत्व प्राप्त होता है।

कल्याणकारी सदाशिव और प्रलयंकारी रुद्र

हठयोग का ध्यान द्वारा चक्र भेदन क्यों किया जाता है ? इससे पंच तत्त्वों पर विजय प्राप्त होती है। चक्रों पर ध्यान का यही महत्त्व है। यही चक्र पूजन है, यही भैरवी चक्र अनुष्ठान है। शरीर में प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय दश वायु तथा जीवात्मा ये ही 11 रुद्र हैं। असंयम से जब ये कुपित होते हैं तो रुद्र हो जाते हैं, रुलाते हैं। संयम साधना से उन्हीं का रूप शिव (कल्याणकारी) होता है।

शरीरस्थ स्थित चक्र का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने मानव शरीर में विभिन्न चक्रों की स्थिति की चर्चा की है। इनमें से मुख्य चक्र निम्नलिखित हैं—

- मूलाधार चक्र (Sacrococegeal Plexus)

- ❑ स्वाधिष्ठान चक्र (The Sacrel Plexus)
- ❑ मणिपूर चक्र (The Cerebro-spinal Plexus)
- ❑ अनाहत चक्र (The Lumber Plexus)
- ❑ विशुद्ध चक्र (The Laryngeal Plexus)
- ❑ आज्ञा चक्र The Cerebellum Plexus)
- ❑ सहस्त्रार चक्र (Upper Cerebrum)

विभिन्न भारतीय ग्रंथों में उपरोक्त चक्रों की चर्चा मिलती है। ईश उपनिषद् में आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और ब्रह्मरन्ध्र का उल्लेख है। योग चूड़ामणि उपनिषद् के अनुसार आधार चक्र में चार, स्वाधिष्ठान में छह, मणिपूर में दस, अनाहत में बारह, विशुद्ध में सोलह, आज्ञा में दो और सहस्त्रार में हजार पंखुड़ियां हैं।

विभिन्न उपनिषदों में न्यूनाधिक इसी प्रकार का मत मिलता है। भिन्न-भिन्न चक्र भिन्न-भिन्न शक्तियों के आधार बतलाए गए हैं। उदाहरण के लिए हंस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्म का निवास है। तंत्र शास्त्र में विभिन्न चक्रों पर ध्यान लगाने से विभिन्न प्रकार की शक्तियों के प्राप्त करने का निम्नलिखित उल्लेख है—

❑ **मूलाधार चक्र**—यह सुषुम्ना नाड़ी में स्थित है। यह कुण्डलिनी शक्ति का आधार है। इस स्थान पर ध्यान लगाने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और विभिन्न प्रकार के आनंद की प्राप्ति होती है।

❑ **स्वाधिष्ठान चक्र**—यह यौनेन्द्रियों के मूल में स्थित है। यह यौन अनुभूतियों तथा उनसे संबंधित प्रवृत्तियों का आधार है। इस पर ध्यान लगाने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या आदि दूर होते हैं और ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

❑ **मणिपूर चक्र**—यह नाभि के मूल में स्थित है। यह निद्रा, इच्छा, सांसारिकता, मोक्ष, भय, विश्वासघात, लज्जा, ईर्ष्या, दु:ख आदि का आधार है। इस पर ध्यान लगाने से सृष्टि और विनाश की सृष्टि मिलती है।

❑ **अनाहत चक्र**—यह सुषुम्ना के अंतर्गत हृदय के मूल में स्थित है। यह जीव का आवास है। इसी में अहंकार जनित संवेग, आशा, चिंता, संदेह, अभिमान आदि का निवास है। इस पर ध्यान लगाने से बुद्धिमत्ता, शुद्धता, इन्द्रियों का नियंत्रण आदि की प्राप्ति होती है।

❑ **विशुद्ध चक्र**—यह गले के मूल में स्थित है। इस पर ध्यान लगाने से दया, क्षमा, साहस, आत्म-नियंत्रण, शुद्धता और समन्वय के गुण प्राप्त होते हैं और समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है।

❑ **आज्ञा चक्र**—यह दोनों भौंहों के मध्य स्थित है। इस पर ध्यान लगाने से योगी सर्वज्ञ होता है। उसे सब शास्त्रों का ज्ञान होता है और वह ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव करता है। इससे योगी सब प्रकार के अज्ञान से छूटकर ओम् में स्थित हो जाता है तथा परमानंद को प्राप्त करता है।

❑ **सहस्त्रार चक्र**—इस पर ध्यान केंद्रित करने से योगी परम शिव से एक हो जाता है। उसके अज्ञान और मोह नष्ट हो जाते हैं। वह पाप और पुण्य से छूट जाता है। उसके संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं और इस प्रकार वह देह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। मरने के पश्चात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

उपरोक्त समस्त चक्र चेतना के सूक्ष्म केंद्र हैं। वे अदृश्य हैं और इसलिए उन्हें भौतिक रूप-से नहीं देखा जा सकता। किन्तु वे योगियों को दिखलाई पड़ते हैं। वे प्राणशक्ति की अभिव्यक्तियां हैं। ये ही प्राण-शक्तियां समस्त विश्व में व्याप्त हैं। इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार देह भौतिक विश्व के विभु में अणु के समान है। जो कुछ भौतिक विश्व में है, वो ही सूक्ष्म रूप में देह में विद्यमान है। भौतिक विश्व पंचभूत से बना है। देह भी पंचभूत से बनी है। भौतिक विश्व में जो प्राण-शक्तियां काम कर रही हैं वे चक्रों के माध्यम से मानव देह में भी हैं। इन पर अधिकार करके मनुष्य विश्व शक्तियों पर भी अधिकार कर सकता है।

शरीर की नाड़ियां

उपनिषद् ग्रंथों में विभिन्न प्रकार की नाड़ियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। भावना उपनिषद् में 14 नाड़ियों का वर्णन किया गया है। ध्यान बिंदु उपनिषद् 72 हजार नाड़ियों का उल्लेख करता है (इस बारे में हम पीछे बता आए हैं), जिनमें 10 नाड़ियां विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। योगशिखा में 15 नाड़ियां बतलाई गई हैं, जबकि शांडिल्य उपनिषद् 14 नाड़ियों का वर्णन करता है तथा इन नाड़ियों के भिन्न-भिन्न कार्य भी बतलाए गए हैं। आयुर्वेद ग्रंथों में इनकी चर्चा मिलती है।

देह और आत्मा का विचार

उपनिषदों और गीता के अतिरिक्त षड्दर्शन के ग्रंथों में भी देह और आत्मा के गुणों और संबंध की चर्चा मिलती है। न्याय दर्शन के अनुसार स्थूल देह अनुभव का आधार है। आत्मा, इन्द्रियों और देह के माध्यम से ही अनुभव करती है। देह पंचभूत से बनी है। आत्मा, पाप और पुण्य के कारण देह धारण करती है और इनके क्षय हो जाने पर देह छोड़ देती है। यह ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है। ज्ञान और अनुभूति से देह आत्मा को प्रभावित करती है और संकल्प के माध्यम से आत्मा देह को प्रभावित करती है। इस प्रकार देह और आत्मा में अंतर्क्रिया का संबंध है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार देह भोगाधिष्ठान है और उसमें आत्मा से अंतर्क्रिया होती है। इस अंतर्क्रिया में आत्मा का देह से अधिक महत्त्व है। आत्मा कर्ता और भोक्ता है, जबकि देह भोगायतन और कारण है। आत्मा देह के माध्यम से भोगती है।

सांख्य दर्शन में देह को पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पंच तत्त्वों से निर्मित माना गया है। इनमें भी पृथ्वी का तत्त्व प्रधान है। प्राण स्थूल देह को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह स्थूल देह का निमित्त कारण अवश्य है। तटस्थ आत्मा प्रत्यक्ष रूप-से स्थूल देह को प्रभावित नहीं कर सकती। वह प्राण के माध्यम से ऐसा करती है। आत्मा देह से भिन्न है। आत्मा स्वयं साध्य है जबकि देह उसका साधन है। पाप और पुण्य के समाप्त हो जाने पर आत्मा देह छोड़ देती है। अविवेक के कारण सामान्य जन आत्मा और देह में अंतर नहीं कर पाते। सांख्य दर्शन इनमें अंतर दिखलाता है। कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मनस, बुद्धि और अहंकार की सृष्टि प्रकृति के विकास के द्वारा हुई है। इस प्रकार ये सब प्रकृति के तीनों गुणों से प्रभावित होते हैं। आत्मा त्रिगुणातीत है। वह मोक्ष के लिए प्रकृति के संपर्क में आती है, जबकि प्रकृति अभिव्यक्ति के लिए आत्मा के संपर्क में है। मोक्ष मिलने पर आत्मा का देह से संबंध नहीं रहता।

सूक्ष्म देह और लिंग देह

स्थूल देह के अतिरिक्त भारतीय दार्शनिकों ने सूक्ष्म देह का अस्तित्व माना है। उदाहरण के लिए सांख्य दार्शनिक सूक्ष्म देह को मानते हैं जो कि पंच कर्मेन्द्रियों, पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच तन्मात्र तथा मनस और बुद्धि के संयोग से बनता है। विज्ञान भिक्षु ने सूक्ष्म देह में 17 तत्त्व माने हैं। अनिरुद्ध इनमें 18 तत्त्व मानता है। सूक्ष्म देह अतिवाहिक देह कहलाती है, क्योंकि आत्मा उसे लेकर जन्म-जन्मांतर में घूमती है। सूक्ष्म देह एक है किन्तु आत्मा उसे लेकर अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न जन्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थूल शरीर ग्रहण करती है। स्थूल शरीर नष्ट हो जाने पर आत्मा सूक्ष्म देह सहित उससे निकल जाती है।

सांख्य दार्शनिकों ने सूक्ष्म देह का आवास अधिष्ठान शरीर में माना है जो कि पांच सूक्ष्म तत्त्वों से बनता है। अधिष्ठान शरीर के साथ लिंग देह मृत्यु के समय स्थूल शरीर से निकल जाती है। चरक के अनुसार मृत्यु के समय अतिवाहिक देह पुनर्जन्म के लिए स्थूल शरीर से निकल जाती है। इस सूक्ष्म देह को योगी अपनी दिव्य दृष्टि से देख सकता है और इसकी सहायता से वह भिन्न शरीर में प्रवेश कर सकता है।

कारण देह

भारतीय दार्शनिकों ने सूक्ष्म देह के अतिरिक्त कारण देह की भी कल्पना की है। यह कारण देह, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, सूक्ष्म देह और स्थूल देह का कारण है। कारण देह ही इन दोनों देहों का रूप धारण करता है। यह कारण देह आनंदमय कोष में निवास करती है। कारण देह की रचना के विषय में दर्शनिकों ने भिन्न मत प्रकट किए हैं। किसी ने इसमें 17 तो किसी ने 22 तत्त्व माने हैं।

चिन्मय देह

धर्म के क्षेत्र में कुछ विचारकों ने चिन्मय देह की कल्पना भी की है। जब भक्त ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण कर देता है तो वह चैतन्य और आनंद से भर जाता है। वह एक आध्यात्मिक चिन्मय देह विकसित करता है जिससे वह ईश्वर की पूजा करता है। चिन्मय देह ईश्वर साक्षात्कार के लिए आवश्यक है। इसे प्राप्त करने के लिए ईश्वर के नाम का जप, मंत्र अथवा ओम् का जप, चिंतन, मनन, निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। यह अप्राकृत देह है जो सतत आध्यात्मिक साधना से प्राप्त होती है, जबकि कारण देह (शरीर) सूक्ष्म देह और स्थूल देह प्राकृतिक हैं और सभी को प्राप्त होती हैं। चिन्मय देह चित्त और आनंद से बनती है। इसलिए यह भाव देह भी कहलाती है। इसमें जड़तत्त्व नहीं होता। इसके होने पर व्यक्ति ईश्वर तथा अन्य आध्यात्मिक जीवों से संबंध स्थापित कर सकता है।

कुण्डलिनी साधन योगचक्र

प्राचीन महर्षियों के मतानुसार जैसे व्यक्ति (साधक) का एक शरीर स्थूल और दूसरा सूक्ष्म होता है, उसी प्रकार एक स्थूल प्रकृति होती है और दूसरी सूक्ष्म अर्थात् परा प्रकृति। इस भूलोक (मृत्युलोक) से ऊपर भी ध्रुवर्लोक तथा उससे भी अधिक कितने ही सूक्ष्म लोक-लोकान्तर हैं। इस प्रकार इस मृत्युलोक में पंच भौतिक शरीरधारी प्राणी होते हैं, उसी प्रकार भुवर्लोक, स्वर्लोक आदि सूक्ष्मादि लोकों में भी उन लोगों की प्रकृति के अनुसार वहां कार्य करने योग्य प्राणियों के सूक्ष्म शरीर को जैसी आवश्यकता होती है, वैसे ही सूक्ष्मतर शरीरधारी जीव वहां कार्य करते हैं। ये शरीर इस प्रकार होते हैं।

सबसे ऊंचे प्रकार का आनंदमय शरीर, उसके बाद विज्ञानमय मनोमय, प्राणमय और सबसे नीचे अन्नमय स्थूलमय शरीर माना गया है। उन्हें दूसरे नामों से भी जाना जाता है। स्थूलदेह वासनामय शरीर, मनोमय शरीर, विज्ञानमय शरीर, आनंदमय शरीर।

आत्मा इन सभी शरीरों से ऊपर की चीज है। विशेष प्रकार की छोटी-बड़ी दैविक शक्तियां इन सभी सूक्ष्म, स्थूलादि प्रकृतियों से बने हुए शरीरों में काम करती हैं। प्राणमय शरीर बड़े ही महत्त्व का है। इस शरीर को सूर्य से शक्ति प्राप्त करनी पड़ती है। यह प्राणमय शरीर सर्वत्र और सभी लोकों में जा सकता है। यह मानव शरीर में स्नायुगुच्छ के रूप में अर्थात् एक घूमते चक्र प्रकाशपुंज के ध्यानस्थिति के अंतर्गत शरीर में विभिन्न स्थानों पर अर्थात् जो स्थान शरीर में छोटे-बड़े योगचक्रों के लिए निश्चित किए गए हैं, उन स्थानों पर अवस्थित हैं।

इन चक्रों का स्वरूप, इनके वर्ण, अक्षर, देवी-देवता एवं इन सभी योग चक्रों की शक्तियों का वर्णन हमारी प्राचीन शक्ति-संपन्न, परम तपस्वी, अनुभवी, योगी, संत, महात्माओं ने ऊंची योग स्थिति में आकर, प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा विस्तार के साथ, योगी साधकों के लिए किया है। पराध्यान साधना के द्वारा प्रबल इच्छाशक्ति, दृढ़ संकल्पशक्ति और अदम्य उत्साह के साथ कल्पना के द्वारा सूक्ष्म ध्यान के साथ अपने सूक्ष्म प्राण को योगी इन सभी योग चक्रों में मूलाधार चक्र से आरंभ करके ले जा सकता है। समस्त चक्रों का अलग-अलग वर्णन आगे किया गया है।

❑❑

नि:श्वास : आठ

मूलाधार चक्र

मूलाधार चक्र के निचले भाग में सुषुम्ना नाड़ी का मुख होता है। उसके बिल्कुल पास ही एक गुप्त शिवलिंग है। एक महा सर्पिणी जिसे कुण्डलिनी आदिशक्ति कहते हैं, वह साढ़े तीन चक्कर लगाकर उस गुप्त शिवलिंग के साथ लिपटकर नीचे की ओर मुख करके सुप्तावस्था में उपस्थित है। यह चक्र कितनी ही उच्चकोटि की शक्ति रखता है। यह रीढ़ की हड्डी का सबसे निचला स्थान है। मूलाधार चक्र पर ध्यान का फल है—आरोग्यता, आनंद, वाक्य दक्षता। यह भूलोक है।

मूलाधार चक्र का स्थान, अधिपति देवता, उनकी शक्ति, यंत्र, कमलदल पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- **यौगिक नाम**— मूलाधार योग चक्र (साधक के देवत्व की ओर विकास एवं सांसारिक विकास और चैतन्यता का मूल है, मूलधार चक्र)
- **स्थान**— मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग में सिवनी नाड़ी के पास; योनि, गुदा या जननेन्द्रिय के बीच, कुल कुण्डलिनी शक्ति परम चैतन्य शक्ति, जीवनी शक्ति का पीठ स्थान
- **यंत्राकृति**— चतुष्कोण
- **यंत्र वर्ण**— पीला (सुवर्ण समान)
- **त्रिकोण**— स्वयंभूलिंग एवं कुल कुण्डलिनी का यंत्र (शक्ति की अधोगति का परिचायक यंत्र इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना प्रधान नाड़ियों का बोध कराता है। मूलाधार चक्र में तीनों नाड़ियों का संगम अधोमुखी त्रिकोण बनाता है तथा शक्ति की अध:गति का कारण होता है।)
- **बीज मंत्र**— लं (बीज ''लं'' प्रथम चक्र मूलाधार की बीज ध्वनि; इस ध्वनि का बार-बार उच्चारण करने से असुरक्षा, भय इत्यादि दूर होकर साधक को सुरक्षा, जाग्रति एवं मनोबल की प्राप्ति होती है। यह ध्वनि होंठों को चतुष्कोण बनाकर तथा जिह्वा को दांतों की जड़ के समीप तालु में आघात करने से उत्पन्न होती है। जब ध्वनि का उच्चारण शुद्ध हो जाता है तो प्रथम चक्र की नाड़ियां उत्तेजित होकर एक प्रकार का अवरोध उत्पन्न करती हैं, जिससे शक्ति की अधोगति रुक जाती है और तब ऊर्ध्वगति आरंभ होती है)
- **बीज वर्ण**— सुवर्णाभ
- **दलों के अक्षर**—वं शं षं सं
- **वाहन**— ऐरावत

देवता : बालरूप में ब्रह्मा

शक्ति : डाकिनी

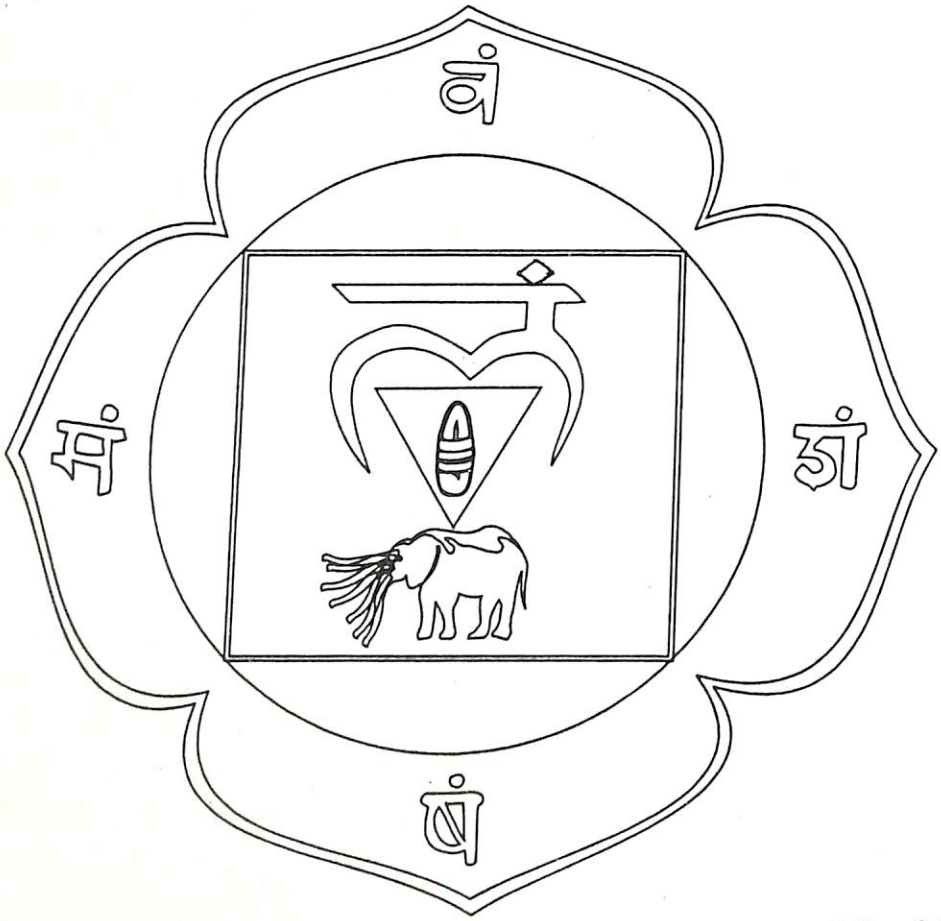

मूलाधार को 'यौनचक्र' भी कहते हैं। हाथी शक्ति का प्रतीक है जबकि उसकी सूड़ें क्रियाशीलता का। सूंड़ों का विभिन्न दिशाओं को उठना, इस बात का संकेत है कि क्रिया एक दिशा की ओर नहीं, बल्कि भटकाव की स्थिति में है

(जिस साधक ने अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण कर लिया वो इन्द्र के समान हो जाता है। इन्द्र ऐरावत रूपी वाहन पर सवारी करते हैं, जिसकी त्वचा का वर्ण हल्का भूरा एवं सातों सूंडें इन्द्रधनुष के समान हैं। प्रथम चक्र के स्तर का साधक ऐरावत की भांति जमे हुए कदमों से चलता है।)

- ❑ **भाव—** सप्त भाव
  (श्रोत ''शब्द'', त्वचा ''स्पर्श'', चक्षु ''रूप'', जिह्वा ''रस'', नासिका ''गन्ध'', गुदा ''मल-त्याग'', लिंग या योनि ''प्रजनन'')
- ❑ **चक्र गुण—** आश्रय स्थल, सुरक्षा
- ❑ **तत्त्व—** भूमि
- ❑ **तत्त्वरूप—** चतुष्कोण/ चतुर्भुज
  (चारों कोण भूमि के चार स्तंभ हैं, संपूर्णता के द्योतक हैं। भूमि पर मनुष्य की संपूर्णता के प्रतीक हैं एवं चारों दिशाओं के बोधक हैं)
- ❑ **गुण—** गन्ध
- ❑ **ज्ञानेन्द्रिय—** नासिका
- ❑ **कर्मेन्द्रिय—** गुदा/ मलद्वार
  (जो साधक अपने कर्म-बंधनों को बढ़ा लेता है, प्राकृतिक नियमानुसार नहीं चलता, उसकी ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां उसके जीवन में बेचैनी और दु:ख बढ़ा देती हैं। किन्तु जो साधक प्राकृतिक नियमानुसार चलता है, उसकी शक्ति का व्यर्थ अपव्यय स्थिर हो जाता है और किसी भी परिस्थिति में उसका अंत:करण दूषित नहीं होता तथा मन की एकाग्रता भी भंग नहीं होती, चक्र पर ध्यान जमता है)
- ❑ **वायु—** अपान
- ❑ **लोक—** भू
- ❑ **ग्रह—** मंगल (सूर्य संबंधी)
- ❑ **देव—** ब्रह्मा
  (इनके ध्यान से मस्तिष्क शांत होता है, सब प्रकार के भय दूर होते हैं, इनकी उपासना से आयु की वृद्धि होती है। ये स्रष्टा हैं, चारों दिशा के स्वामी और मूलाधार के प्रधान देवता हैं)
- ❑ **देव शक्ति—** डाकिनी
  (प्रथम चक्र मूलाधार संपूर्ण सृष्टि का मूल है, प्रथम चक्र पर ध्यान लगाने से साधक को डाकिनी शक्ति का अनुभव सहज ही हो जाता है। यह शक्ति साधक की सब बाधाओं को दूर करती है, जिससे वह कुण्डलिनी मार्ग पर आगे बढ़ने में सक्षम होता है)
- ❑ **शक्ति के वर्ण—** अ:-फ-उ
- ❑ **कमलदल—** चतु:दल
  (चारों कमलदल चार प्रधान (मुख्य) कंदराओं के अंतिम सोपान हैं)
- ❑ **दल वर्ण—** रक्त

- **मुद्रा—** अंगुष्ठ, कनिष्ठिका
  (अंगुष्ठ-कनिष्ठिका के पोरों को मिलाना)
- **अनुभूति/ स्वाद—** गन्ने जैसा मीठा
- **प्रहरी देवता—** गणेश/ सिद्धि-बुद्धि
  (जो अनादि होगा वह अनन्त भी होगा और जो अनादि-अनन्त होगा वह ब्रह्मांड व्याप्त तत्त्व होगा; उसका ब्रह्मांडीय व्यक्तित्व होगा। देवताओं और देवों में जिसकी प्रथम पूजा की जाती है, उस गणेश को ब्रह्मांडीय व्यक्तित्व का निरूपित किया है। ऋषियों के अनुसार देवता का अर्थ है परब्रह्म और उसकी आदि प्रकृति की ब्रह्मांडीय कार्यकारी शक्ति! ये शक्तियां अनेक हैं, गणेश उनमें से एक हैं और गणनायक हैं। ब्रह्मांड में सत्ता के सात स्वर हैं—सत् या सत्यलोक, तपलोक या चित्लोक, आनंदलोक या जनलोक, महर्लोक या विज्ञानलोक, स्थूल अन्नमयलोक। सृजनोन्मुख महाशक्ति जब महर्लोक के बाद भौतिक स्तर की ओर कदम बढ़ाती है, तब सर्वप्रथम वह अपने ब्रह्मांडीय तेज को घनीभूत कर लेती है। उसका यह भाव प्रकाशपुंज जैसा दिखाई देता है। ऋषियों के अनुसार यह हाथी के मस्तक जैसा विस्तृत है, जिसमें एक अखण्ड प्रकाश समाया रहता है। इसे ब्रह्मांडीय मन कहा गया है और यही गणेश हैं। जगत के सारे व्यष्टि मन इसी ब्रह्मांडीय मन के अंश हैं और इसी के भीतर हैं। इसलिए ये सब गण हैं और गणेश गणपति हैं। साधक जब गणेश की उपासना करता है, तब उसकी प्रसन्नताजन्य शक्ति द्वारा अवचेतन में प्रवाहित ज्योति की अंतर्धारा से प्रकाश की झलकियां चेतन मन में आने लगती हैं। जिस प्रकार हाथी जलाशय का जल सूंड में भरकर अपने ऊपर बौछार रूप-से छोड़ता है, उसी प्रकार हमारा मन अवचेतन गणेश की कृपा से, ज्योति की अंत:धारा से प्रकाश की किरणें उछालता रहता है, जिसके कारण हमारे भीतर व्याप्त अज्ञान रूपी अंधकार कटता रहता है। गणेश का वास मूलाधार चक्र में है। इस चक्र पर ध्यान लगाना, सर्वप्रथम गणेश की उपासना ही है।)
- **मंत्र—** गं गणपतये नम:
- **मंत्र संख्या—** छह सौ
- **मंत्र देवता—** गणेश/ गणपति
- **चक्र की प्रवृत्तियां—** निर्माण कार्य, भय निवारण
- **ध्यान सिद्धि—** आरोग्यता, संपूर्ण स्वास्थ्य, भूमि तत्त्व के संबंध में पूर्ण ज्ञान, भार बढ़ा लेने की शक्ति की प्राप्ति

विशेष—मूल कुण्डलिनी का आधार होने से मूलाधार नाम हुआ।

❑❑

नि:श्वास : नौ

स्वाधिष्ठान चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र का मूल स्थान मूलाधार चक्र के ऊपर पेड़ू के पास माना गया है। द्वितीय चक्र के स्तर पर साधक की मुख्य समस्या कल्पना द्वारा मन और शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करने की इच्छा है। इस चक्र के प्रभाव से साधक की भंवर में फंसकर डूबने जैसी मनोदशा हो जाती है, अनेक प्रकार की मानसिक उलझनों के कारण मन उद्विग्न रहता है। इस चक्र की पूर्णता को पहुंचने के लिए साधक को भोजन, निद्रा, कामेच्छा, मन और शरीर के क्रिया-कलापों पर पूर्णतया नियंत्रण रखना होगा, तभी वह अगले (तृतीय) चक्र की ओर अग्रसर होगा।

स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यंत्र, कमलदल पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- **यौगिक नाम—** स्वाधिष्ठान चक्र
  (साधक बुराइयों का नाशकर्त्ता, वीर, स्वाभिमानी होता है। संपूर्ण व्यक्तित्व को बदल देने वाले चक्र का नाम है, स्वाधिष्ठान चक्र)
- **स्थान—** मूलाधार चक्र से थोड़ा ऊपर यौनेन्द्रियों के मूल में, यौन अनुभूतियों तथा उससे संबंधित प्रवृत्तियों का आधार
- **यंत्राकृति—** चन्द्राकार
- **यंत्र वर्ण—** श्वेत
- **अर्धचन्द्र—** नील वर्णीय, स्वाधिष्ठान चक्र का यंत्र, जल तत्त्व वृत्ताकार, चंद्रमा से संबंधित स्त्रियों में मासिक प्रवृत्ति एवं प्रजनन क्रिया का मुख्य क्षेत्र, जल, जीवन का स्रोत्र
- **बीज मंत्र—** वं
- **बीज वर्ण—** सुवर्णिम
- **दलों के अक्षर—** वं भं मं यं रं लं
- **वाहन—** मकर
  (बीज मंत्र ''वं'' का वाहन मकर है, इसकी गति कामुक प्रवृत्ति की द्योतक है, साधक की कामशक्ति बड़ी प्रबल हो जाती है)
- **चक्र गुण—** परिवार-कल्पना, प्रजनन
- **तत्त्व—** जल
- **तत्त्वरूप—** वृत्त
- **गुण—** रस (स्वादानुसार)
- **ज्ञानेन्द्रिय—** जिह्वा
- **कर्मेन्द्रिय—** जननेन्द्रिय

देवता : विष्णु

शक्ति : राकिनी

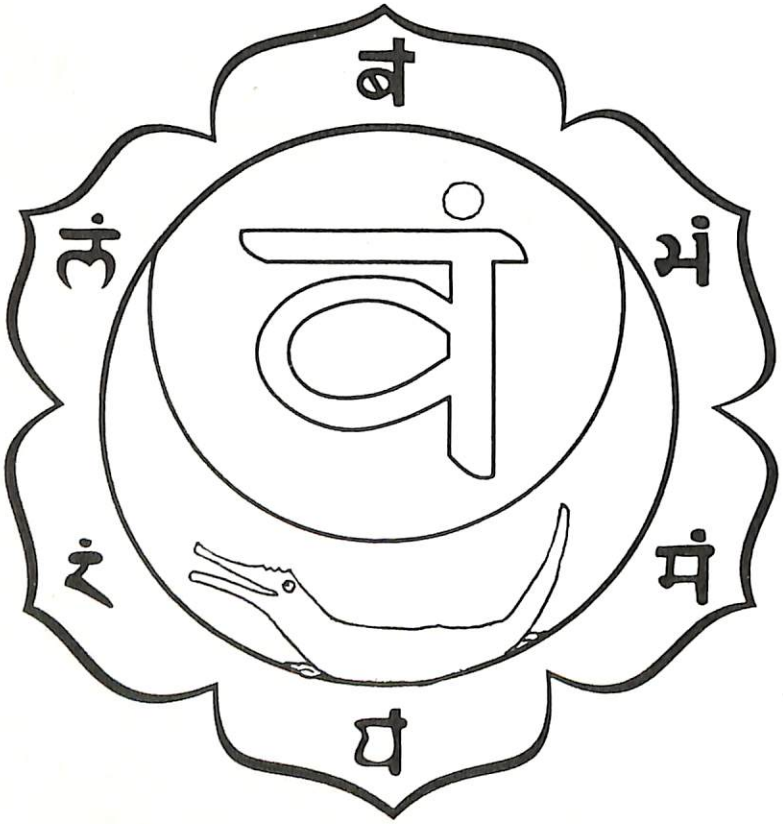

जल में मकर की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। जल प्रतीक है मन का। इस चक्र पर स्थित व्यक्ति कल्पनाओं के आधार पर, किसी तरह से, छल-बल से अपने काम को साध लेता है। उसमें काम का वेग भी अत्यधिक होता है

- ❑ **वायु—** अपान
- ❑ **लोक—** भुवः (नाग, मंगल)
- ❑ **ग्रह—** बुध/ चंद्र
- ❑ **देव—** विष्णु

(भारतीय अध्यात्म के सर्वाधिक प्रसिद्ध त्रिदेवों में भगवान विष्णु भी एक हैं। जहां सृष्टि की उत्पत्ति का कार्य ब्रह्मा द्वारा संचालित होता है और समापन (संहार) व्यवस्था शिवजी देखते हैं, वहां जन्म के पश्चात् मृत्यु तक की जीवनावधि में प्राणी के पालन-पोषण का प्रबंध विष्णु देखते हैं।

अखिल सृष्टि-पालक और लोक-नियंता होने के नाते कभी-कभी समस्या-विशेष के निवारण हेतु विष्णु भगवान कोई अन्य रूप भी धारण कर लेते हैं। मुख्य रूप-से विष्णु के चौबीस अवतार प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के अंतर्गत ''दशावतार'' प्रसंग भी आता है।

लक्ष्मीपति श्रीविष्णु का निवास बैकुंठलोक है और कालक्रम से वे क्षीरसागर में, शेष शय्या पर भी शयन करते हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह, दत्तात्रेय, वामन, कूर्म, कच्छप और मत्स्य अवतारों की कथाएं लोक-विख्यात हैं। भगवान विष्णु के अनेक नाम हैं। विष्णु सहस्रनाम नामक एक स्तोत्र में उनके एक हजार नामों की तालिका है। किसी भी नाम से, उनके किसी भी रूपावतार की स्तुति-पूजा की जाए, अवश्य ही प्रभाव की अनुभूति होती है। देवाराधना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है—भक्त की आस्था! जो जितना अधिक तन्मय, आत्म-समर्पित और आस्थावान होकर उपासना करता है, उसे उतने ही कम समय में विष्णु-कृपा की अनुभूति हो जाती है।

स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान लगाने से, कुण्डलिनी जागरण की कामना करने वाले साधक को विष्णु-कृपा प्राप्त होती है। वैसे विष्णु का स्तवन किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किया जा सकता है, क्योंकि वे पूर्णतया सर्व-समर्थ और जगत् के आदि कारण हैं। मोक्षकामी जन अपनी श्रद्धा-कामनानुसार उनकी उपासना करते रहते हैं। कुण्डलिनी जाग्रत करने वाले साधक को विष्णु-पूजा, उपासना अथवा भक्ति अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि स्वाधिष्ठान चक्र के देव ''विष्णु'' ही हैं।)

- ❑ **देव शक्ति—** राकिनी

(राकिनी शक्ति कला एवं ज्ञान का प्रथम बोध कराने वाली है। यह स्वाधिष्ठान चक्र की शक्ति द्विमुखी देवी है। इस चक्र के लक्ष्य-भेदन से साधक को चक्र में शक्ति की ऊर्ध्व गति का आभास होता है। राकिनी शक्ति दूसरे ''स्वाधिष्ठान'' चक्र के समस्त अवरोधों को समाप्त कर देती है।)

- ❑ **शक्ति के वर्ण—** ए, र
- ❑ **कमलदल—** छह

(कमलदल हिंगुल सम-रक्त वर्ण के हैं तथा ये छहों कमलदल छह मुख्य नाड़ियों के मुखों के प्रतीक हैं। जिस प्रकार पहला चक्र मूलाधार के चारों कमलदल शक्ति का चारों विद्याओं में, चतुर्मुखी प्रभाव में द्योतक हैं, उसी प्रकार स्वाधिष्ठान चक्र के

छह कमलदल शक्ति की धारा को छह विद्याओं में प्रवाहित करते हैं।
पहले चक्र की चतुष्कोण जाग्रति दूसरे चक्र ''स्वाधिष्ठान चक्र'' में वृत्ताकार हो जाती है तथा शक्ति की गति तथा प्रवाह अधिक वेगवान हो जाता है।)

- ❑ **दल वर्ण**— सिंदूरी
- ❑ **वृत्त**— श्वेत वृत्त
  (जल का द्योतक है जो स्वाधिष्ठान चक्र का तत्त्व है)
- ❑ **मुद्रा**— अंगुष्ठ, अनामिका
  (अंगुष्ठ-अनामिका के पोरों को मिलाना)
- ❑ **अनुभूति/ स्वाद**—कषाय (कसैला : आंवला जैसा)
- ❑ **प्रहरी देवता**— सरस्वती/ ब्रह्मा
  (ज्ञान, बुद्धि, प्रतिमा, स्मरण-शक्ति, चेतना, विवेक, सात्त्विकता, औचित्य-बोध, वाणी, भाषण-शक्ति, संगीत, स्वर, विद्या, प्रत्युत्पन्न-मतित्व, लेखन, काव्य-सृजन, तर्क-शक्ति, धारणा-शक्ति, विचार-शक्ति, अनुसंधान क्षमता, कल्पना और संवेदना जैसे गुणों की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजी की शक्ति माना गया है। वस्तुतः ये संसार की चेतनाशक्ति की स्वामिनी हैं।)
- ❑ **मंत्र**— ओम् नमो नारायणाय
- ❑ **मंत्र संख्या**— छह हजार
- ❑ **मंत्र देवता**— विष्णु
- ❑ **चक्र की प्रवृत्तियां**— ज्ञान, युद्ध, संभोग
- ❑ **ध्यान सिद्धि**— सृजन, पालन, निधन में समर्थता, वाणी में सरस्वती का निवास, श्रेष्ठता, ज्ञानवान, योग में रुचि, विकार और अहंकार का नाश।

नोट—यह भुवः लोक है।

❑❑

नि:श्वास : दस

मणिपूर चक्र

मणिपूर चक्र मनुष्य के नाभि-मूल में स्थित है। यह निद्रा, इच्छा, सांसारिकता, मोक्ष, भय, लज्जा, विश्वासघात, ईर्ष्या आदि का आधार है। इस पर ध्यान लगाने से बुद्धिमत्ता, शुद्धता, इन्द्रियों के नियंत्रण आदि की प्राप्ति होती है तथा योगी साधक को अपने शरीर का भौतिक ज्ञान होता है। नाभि प्रदेश और आंतों के समस्त विकारों का शमन होकर स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है। रुद्र ग्रंथि का निवास यहीं पर है, जिसका योग में सर्वाधिक महत्त्व है। चौदह से इक्कीसवें वर्ष तक की आयु मणिपूर चक्र से प्रभावित रहती है। इस चक्र पर गुरुत्वाकर्षण बल रहता है। अनगिनत स्नायुमंडलों का संचालन इस चक्र से होता है।

मणिपूर चक्र का स्थान, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यंत्र, कमलदल पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- ❑ **यौगिक नाम—** मणिपूर चक्र
  (भावानुभावों को उत्तम करने वाली नाड़ी रहित ग्रंथियों के कार्य का बोध कराने वाला चक्र मणिपूर है।)
- ❑ **स्थान—** नाभि मूल—यहां अमृत का वास होता है
- ❑ **यंत्राकृति—** अधोमुखी त्रिकोण
- ❑ **यंत्र वर्ण—** रक्त (सुर्ख लाल)
- ❑ **त्रिकोण—** दृढ़ आकृति, अग्निरूप
  (सूर्य चक्र, मणिपूर चक्र ही है। त्रिकोण या त्रिभुज का अधोमुखी होना शक्ति के अध:प्रवाह का द्योतक है।)
- ❑ **बीज मंत्र—** रं
  (मणिपूर चक्र के बीज मंत्र की ध्वनि जो होंठों को त्रिकोण रूप देकर मूर्धास्थान पर जुबान मारने से उत्पन्न होती है। इस ध्वनि का उच्चारण करते हुए जुबान तालु में लगाकर नाभि पर ध्यान लगाया जाता है। यदि शुद्ध रूप-से लगातार ''रं'' ध्वनि का उच्चारण किया जाए तो पाचन एवं रस का आत्मसात कर लेने की शक्तियां बढ़ती हैं। इस ध्वनि से साधक दीर्घायु होता है, जो मणिपूर चक्र से प्रभावित मनुष्य की सबसे बड़ी रुकावट है। अधोमुखी त्रिकोण रक्त वर्ण एवं त्रिद्वार वाला है। यह त्रिकोण बीज मंत्र ''रं'' का पीठ स्थान है। अग्नि का गुण ऊर्ध्वगति है; उचित प्रकार से साधना करने से मणिपूर चक्र की अग्नि ऊर्ध्वगति हो जाती है।)
- ❑ **बीज वर्ण—** सुवर्णिम

देवता : रुद्र

शक्ति : लाकिनी

मेढ़ा अति उत्साही होता है। यह इतना युद्धप्रिय होता है कि एक बार लड़ाई में उतरने के बाद अपनी जान की भी परवाह नहीं करता। तब तक लड़ता है, जब तक प्रतिद्वंद्वी मैदान छोड़कर भाग न जाए। ये सारे लक्षण संकेत करते हैं उसमें अग्नि तत्व की प्रधानता के। ऊर्जा मानो छलकती है इससे

- **दलों के अक्षर—** डं ढं णं तं दं धं नं पं यं फं
- **वाहन—** मेढ़ा/ मेष
  (बीज मंत्र ''रं'' का वाहन मेढ़ा है, यह अग्नि का भी वाहन है। मेढ़ा से, मणिपूर चक्र से प्रभावित व्यक्ति की प्रकृति का पता चलता है। मेढ़ा सिर से लड़ने वाला बलवान पशु है। यही कारण है कि चक्र-साधक अत्यंत स्वाभिमानी तथा अहं में चूर होता है तथा मेढ़ा के समान कालचक्र की गति के अनुसार गतिशील रहता है।)
- **चक्र गुण—** देखना/अहंकार रूप
- **तत्त्व—** अग्नि
  (त्रिभुजाकार रूप का अग्नितत्त्व है। इस तत्त्व की प्रधानता शरीर को आवश्यक जीवन-शक्ति प्रदान करती है)
- **तत्त्वरूप—** त्रिभुज/त्रिकोण
- **गुण—** दृष्टि
- **ज्ञानेन्द्रिय—** चक्षु
- **कर्मेन्द्रिय—** हाथ-पांव
- **वायु—** समान
- **लोक—** स्वर्ग
- **ग्रह—** सूर्य/ रवि
- **देव—** रुद्र
  (भगवान रुद्र ''शिव'' हैं, जो कुछ विद्यमान है, वो उन्हीं के पास लौट जाता है। शिव का रुद्र रूप संहारक है, संभवतः इसी कारण मणिपूर चक्र से प्रभावित व्यक्ति क्रोधी होता है। वैरागी व्यक्ति ऐसे स्वभाव वाले अधिक होते हैं।)
- **देव शक्ति—** लाकिनी
  (देवी लाकिनी की चार भुजाएं हैं। पहली भुजा में वज्र, दूसरे में बाण, तीसरी में अग्नि पात्र तथा चौथी भुजा अभय मुद्रा में उठी है। देवी के तीन मुख हैं, उसके दृष्टि क्षेत्र के अंतर्गत तीनों लोक अर्थात् भूः, भुवः, स्वः भौतिक तारा मंडल एवं स्वर्गादि सब आ जाते हैं।)
- **शक्ति के वर्ण—** ऐ, ल
- **कमलदल—** दस
  (दसों दल दसों प्राणों का बोध कराते हैं। हरेक दल से रुद्र के एकेक रूप का बोध होता है।)
- **दल वर्ण—** नील
  (अग्नि शिखा के ऊपर के अत्यंत तेजस्वी प्रकाशवान, नील वर्ण के समान कमल दलों का वर्ण है)
- **मुद्रा—** अंगुष्ठ, मध्यमा
  (मणिपूर चक्र में अंगुष्ठ से मध्यमा को मिलाने से शरीर में उष्मा उत्पन्न होती है तथा मणिपूर चक्र जाग्रत हो उठता है।)
- **अनुभूति/ स्वाद—** तिक्त (मिर्च जैसा तीखा)

- ❑ **प्रहरी देवता—** लक्ष्मी/ विष्णु
  (लक्ष्मीजी—जगत के पालनकर्त्ता भगवान विष्णु की पत्नी हैं, अत: व्यक्ति के जीवन-यापन का मूलाधार उन्हीं की कृपा से प्राप्त होता है।)
- ❑ **मंत्र—** ओम् नमो भगवते रुद्राय स्वाहा
- ❑ **मंत्र संख्या—** छह हजार
- ❑ **मंत्र देवता—** रुद्र
- ❑ **चक्र की प्रवृत्तियां—** विजय, अहंकार
- ❑ **ध्यान सिद्धि—** जिह्वा पर सरस्वती का वास, संहार पालन में समर्थ

नोट—चक्र पर ध्यान लगाने का फल शरीर व्यूह का ज्ञान। यह स्व: लोक है।

❑❑

नि:श्वास : ग्यारह

अनाहत चक्र

अनाहत चक्र सुषुम्ना के अंतर्गत हृदय के मूल में स्थित है। यह जीव का आवास है। इसी में अहंकार जनित संवेग, आशा, चिंता, संदेह, अभिमान आदि का वास है। इस पर ध्यान लगाने से बुद्धिमत्ता, शुद्धता, इन्द्रियों का नियंत्रण आदि की प्राप्ति होती है। यह चक्र सभी चक्रों से अलग प्रकार की शक्ति रखने वाला है। यह चक्र सर्वदा शक्ति संपन्न रहता है और इस पर ध्यान करने से सभी निचले चक्रों को भी जाग्रत किया जा सकता है। इसकी शक्ति का पारावार पाना बहुत कठिन है।

अनाहत चक्र का स्थान, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यंत्र, कमलदल पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- **यौगिक नाम**— अनाहत योग चक्र
  (परकाया में प्रवेश की योग्यता प्रदान करने वाला चक्र अनाहत है)
- **स्थान**— हृदय
- **यंत्राकृति**— षट्कोणाकार
- **यंत्र वर्ण**— धूम्र
- **षट्कोण**— अनाहत चक्र का यंत्र
  (गहरे भूरे रंग का है, वायु तत्त्व का प्रतीक, गतिशील, ऊर्ध्वमुख एवं अधोमुख त्रिभुजों द्वारा रचित)
- **बीज मंत्र**—यं
  (अनाहत चक्र के बीज मंत्र की ध्वनि ''यं'' है। यं ध्वनि का उच्चारण करने से जिह्वा मुख के अधर में, वायु में स्थिर हो जाती है। इस समय हृदय पर ध्यान केंद्रित रहना चाहिए। यं ध्वनि को शुद्ध रूप में उच्चारण करने से हृदय तरंगित होने लगेगा, जिससे हृतपिण्ड में हर प्रकार के अवरोधों का निवारण हो जाता है। जब हृदय खुल जाता है, तब शक्ति का प्रवाह अबाध गति से ऊपर की ओर होने लगता है। बीज मंत्र की ध्वनि से साधक का अपनी श्वास एवं प्राणों पर प्रभुत्व होता है।)
- **बीज वर्ण**— सुवर्णिम
- **दलों के अक्षर**— कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं
- **वाहन**— हिरण
  (बीज मंत्र ''यं'' का वाहन हिरण हृदय का भी प्रतीक है। बीज मंत्र के उच्चारण से साधक जागरूक, संवेदनशील तथा उत्साहित रहता है।)

देवता : ईश

शक्ति : काकिनी

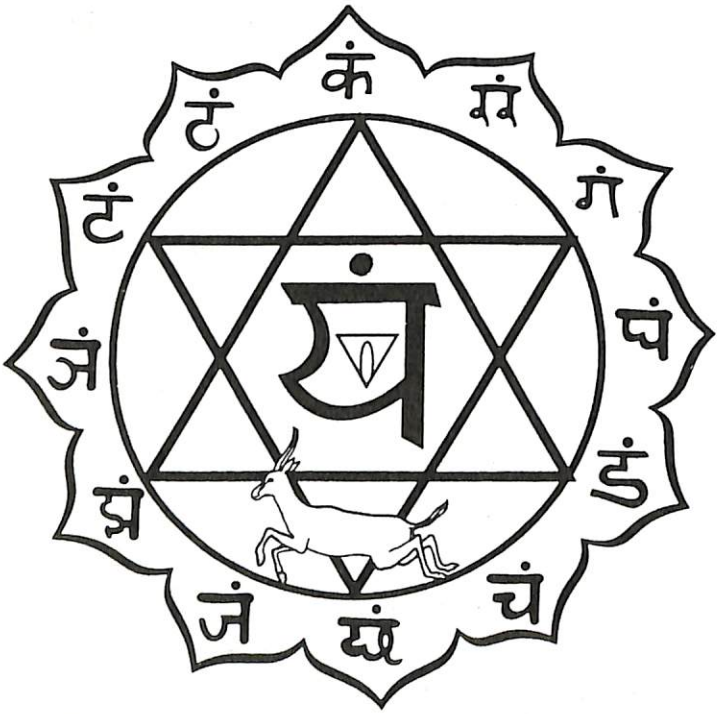

हिरण ऐसी ऊर्जा का प्रतीक है, जिसमें सौम्यता है और सहज चंचलता भी। कोमल भाव का प्रतीक है मृग। मधुरवाणी सुनकर मृग अपनी सुध-बुध खो बैठता। सरलता और चंचलता भावना के साथ जुड़ जाने के कारण अतृप्ति का अहसास कराती है। भटकाव बना रहता है। अपनी नाभि में छिपी कस्तूरी को इधर-उधर तलाशना और दूर रेत में जल की प्रतीति की वजह हृदय प्रधान या भाव प्रधान होता है

- ❑ **चक्र गुण—** सर्व में भगवत दृष्टि/ स्पर्श
- ❑ **तत्त्व—** वायु
- ❑ **तत्त्वरूप—** षट्कोण
- ❑ **गुण—** स्पर्श
- ❑ **ज्ञानेन्द्रिय—** त्वचा
- ❑ **कर्मेन्द्रिय—** हाथ
- ❑ **वायु—** प्राण वायु, व्यान वायु, समान वायु, अपान वायु, उदान वायु
  (मानव शरीर में वायु पांच प्रकार से काम करती है। श्वास की क्रिया प्राण वायु से है। अपान वायु से मल-मूत्र का त्याग संभव हो जाता है। शरीर में व्याप्त होकर समस्त अंगों को गति प्रदान करना व्यान वायु का कार्य है। ऊपर की ओर जाने वाली नाड़ी से गति करना उदान वायु का काम है तथा नाभि का स्थान समान वायु का है, यहीं रहकर यह अन्नादि का समीकरण करती है।)
- ❑ **लोक—** महत लोक
- ❑ **ग्रह—** गुरु/ चंद्र
- ❑ **देव—** ईशान रुद्र
- ❑ **देव शक्ति—** काकिनी
  (अनाहत चक्र में सकल लोक कल्याणकारिणी, पीत वस्त्र से सुशोभित, अलंकारों से अलंकृत, चार भुजाओं वाली, श्यामली, रुद्र शक्ति काकिनी विराजमान हैं। अहंकार, लोभ, अविवेक, कपट, वितर्क, अनुताप, आशा, चिंता, चेष्टा, दंभ और ममता आदि वृत्तियों से निवृत्ति होकर मनुष्य (साधक) योगीश्वर, परकाया प्रवेश तथा ईशत्व-सिद्धि को प्राप्त होता है।)
- ❑ **शक्ति के वर्ण—** ओ, क
- ❑ **कमलदल—** सभी बारह कमलदल वृत्त के बाहर की ओर मुड़े हुए हैं जो गहरे सिंदूरी लाल रंग के हैं। इन कमलदलों से शक्ति का बारह स्रोतों से प्रवाह एवं बारह विद्याओं में शक्ति के प्रसार का बोध होता है।
- ❑ **दल वर्ण—** अरुण
- ❑ **मुद्रा—** अंगुष्ठ, तर्जनी (अंगुष्ठ-तर्जनी के पोरों को परस्पर मिलाना)
- ❑ **अनुभूति/ स्वाद—** अम्ल (इमली जैसा खट्टा)
- ❑ **प्रहरी देवता—** पार्वती/ शिव
- ❑ **मंत्र—** ओम् ह्रीं घृणिसूर्य आदित्य श्रीं
- ❑ **मंत्र संख्या—** छह हजार
- ❑ **मंत्र देवता—** लोकपाल सूर्य
- ❑ **चक्र की प्रवृत्तियां—** योग
- ❑ **ध्यान सिद्धि—** वाक् सिद्धि, कवित्व शक्ति, योगीश्वर ईशत्व सिद्धि, परकाया प्रवेश, जितेंद्रियता।

नोट—अनाहत नाद का यही स्थान है। यह महः लोक है।

❑❑

नि:श्वास : बारह

विशुद्ध चक्र

विशुद्ध चक्र गले के मूल में स्थित है। इस पर ध्यान लगाने से दया, क्षमा, साहस, आत्म-नियंत्रण, शुद्धता और समन्वय के गुण प्राप्त होते हैं तथा समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है। मेरुदण्ड की सीमा इस चक्र से समाप्त हो जाती है। सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला नाड़ियां इसके आगे के चक्र आज्ञा चक्र में जाकर मिलती हैं। भगवती बाला, भगवती षोडसी, भगवती त्रिपुरा और श्री यंत्र की साधना इसी चक्र के अंतर्गत आती है, क्योंकि यहां आकर पुरुष (साधक) विकार रहित हो जाता है। अनाहत चक्र के ऊपर कंठ देश में धूम्र वर्ण षोडश दल वाले विशुद्ध नामक कमल के दलों पर ''अ'' बीज के समान शुक्ल वर्ण नभोमण्डल है।

हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है कि इड़ा-पिंगला के बीच में शून्य अर्थात् आकाश माना जाता है, उसी शून्य रूप आकाश में खेचरी का स्थित होना निश्चित है। इड़ा-पिंगला के मध्य में जो आश्रय रहित अंतर है, वहां आकाशों का समुदाय रूप चक्र विद्यमान रहता है, क्योंकि भौंहों के बीच में सभी आकाश मिलते हैं। उसी आकाश में ठीक प्रकार से स्थित होना ही खेचरी मुद्रा है (खेचरी मुद्रा के विषय में हम मुद्राओं के अंतर्गत बता चुके हैं)।

विशुद्ध चक्र का तत्त्व आकाश है। शरीर रचना में प्रमुख तत्त्व आकाश है। चार तत्त्व शरीर का निर्माण करने, पांचवां आकाश तत्त्व शरीर को निर्मल, शुद्ध एवं दीर्घजीवी बनाने के लिए है। आकाश तत्त्व शून्य है। आकाश अणुविहीन तत्त्व है। मनुष्य के जीवनीशक्ति के लिए आकाश तत्त्व, जिसका संबंध उपवास से है, की विशेष आवश्यकता है। ब्रह्म सुख स्वरूप है, ब्रह्म आकाश स्वरूप है। शिव स्वरोदय में कहा गया है कि, ''हं बीज से अत्यंत उज्ज्वल, निराकार, आकाश तत्त्व के ध्यान से त्रिकाल का ज्ञान होता है और अणिमादि अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं।''

विशुद्ध चक्र का स्थान, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यंत्र, कमलदल पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- **यौगिक नाम—** विशुद्ध योग चक्र
  (इसके विशुद्ध नाम रखने का कारण यह बतलाया गया है कि इस स्थान पर मन की स्थिति होने से मन आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है। यह परम शक्तिशाली योग का विशुद्ध चक्र अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है।)
- **स्थान—** कंठ
- **यंत्राकृति—** निराकार
  (पूर्ण चंद्र के समान गोलाकार आकाशमंडल)
- **यंत्र वर्ण—** चित्र विचित्र (धूम्र)
- **बीज मंत्र—** हं
- **बीज वर्ण—** सुवर्णिम

देवता : सदाशिव

शक्ति : शाकिनी

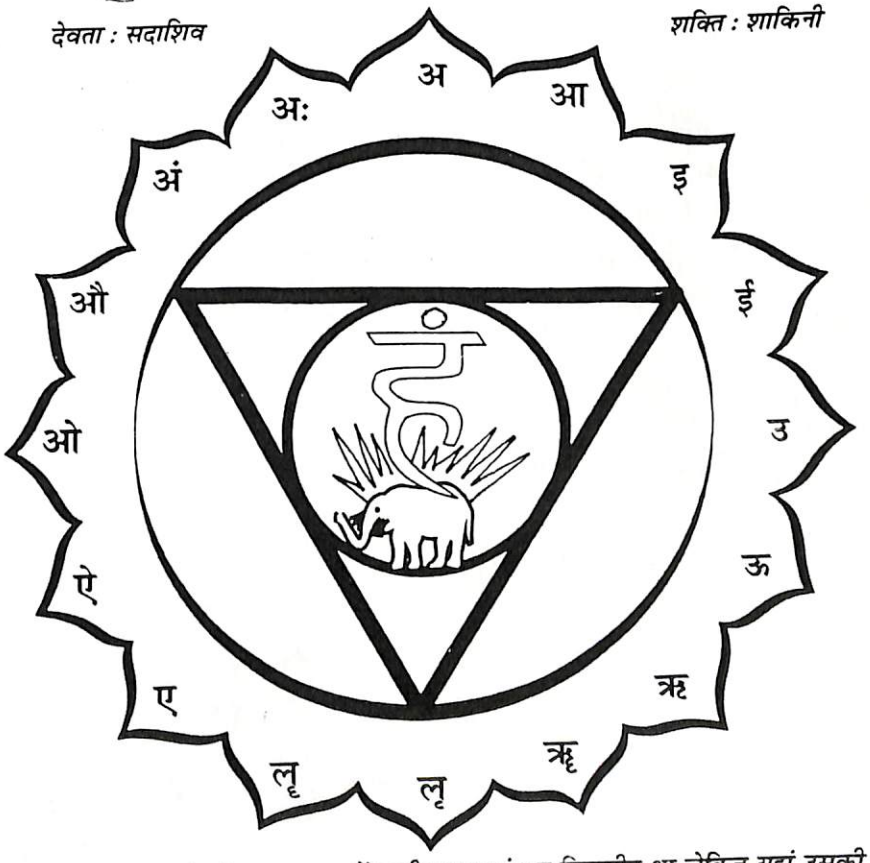

इससे पूर्व मूलाधार चक्र में भी बीजमंत्र के वाहन रूप में हाथी था। वहां वह दिशाहीन था लेकिन यहां उसकी पीठ पर प्रकाशपुंज विराजमान है। पौरुष और विवेक का समन्वय है यह। इसे बुद्धि और भाव का समन्वय भी कह सकते हैं। इस स्तर पर जीने वाले में बुद्धि और कल्पना दोनों क्षेत्रों में एक समान उड़ान की संभावना होती है

- ❑ **दलों के अक्षर—** अं आं इं ईं उं ऊं ऋं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अं:
- ❑ **वाहन—** हस्ति
- ❑ **चक्र गुण—** शब्द/ उपदेश वक्ता
- ❑ **तत्त्व—** आकाश
- ❑ **तत्त्वरूप—** निराकार
- ❑ **गुण—** वर्ण
- ❑ **ज्ञानेन्द्रिय—** कर्ण
- ❑ **कर्मेन्द्रिय—** वाक्
- ❑ **वायु—** प्राण
- ❑ **लोक—** जन:
- ❑ **ग्रह—** शुक्र
- ❑ **देव—** पंचवक्त्र

  (गगनमण्डल में सफेद रंग के हाथी के ऊपर विराजमान, शुक्लांबरधारी, पाश, अभय, अंकुश और वर धारण किए हुए चार भुजाओं में सुशोभित नभो बीज ''हं'' है। इस आकाश बीज के अंक में शार्दूल चर्म धारण करने वाले पंच मुख त्रिनेत्र अर्द्ध नारीश्वर भगवान शिव विराजमान हैं। नभो बीज से नभ की भी उपस्थिति प्रतीत होती है। अर्द्ध नारीश्वर, स्त्री-पुरुष की संयुक्त शक्ति का प्रतीक है। पुरुष के दाहिनी ओर पुरुष शक्ति तथा बायीं ओर नारी शक्ति विद्यमान रहती है।)
- ❑ **देव शक्ति—** शाकिनी

  (विशुद्ध पद्म-कर्णिका में शुक्लवर्णा, शर, चाप, पाश और अंकुश इन चार आयुधों को अपने चार करों में धारण करती हुई पीत वस्त्र परिवेष्टित शाकिनी शक्ति है।)
- ❑ **शक्ति के वर्ण—** औ, र, स
- ❑ **कमलदल—** षोडश
- ❑ **दल वर्ण—** धूम्र
- ❑ **अनुभूति/ स्वाद—** कटु (करेला जैसा कड़वा)
- ❑ **प्रहरी देवता—** ईशान रुद्र, प्राणशक्ति
- ❑ **मंत्र—** ओम् ह्रीं क्लीं ऐं कमलवासिन्यै स्वाहा
- ❑ **मंत्र संख्या—** एक हजार
- ❑ **मंत्र देवता—** मातंगी/ सरस्वती (संबंधित उपासना मंत्र)
- ❑ **चक्र की प्रवृत्तियां—** संत
- ❑ **ध्यान सिद्धि—** प्रसन्नचित्त, त्रिकालदर्शी, चिरंजीवी, महाज्ञानी, शांत चित्त, आरोग्य, शोकरहित, दीर्घायु, कवित्व शक्ति।

नोट—चक्रस्थान पर देवता सदाशिव अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनी के साथ हैं। यह ''जन:'' लोक है।

❑❑

नि:श्वास : तेरह

आज्ञा चक्र

आज्ञा चक्र दोनों भ्रुवों (भौंहों) के मध्य भृकुटि के भीतर स्थित है। यह ''शिवनेत्र'' या ''दिव्य दृष्टि का नेत्र'' भी कहा जाता है। इस पर ध्यान लगाने से योगी सर्वज्ञ हो जाता है। उसे सब शास्त्रों का ज्ञान होता है और वह ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव करता है। इससे व्यक्ति सब प्रकार के अज्ञान से छूटकर ''ओम्'' में स्थित हो जाता है और परमानंद को प्राप्त करता है। योग शास्त्रों में वर्णित है कि आज्ञा चक्र में ध्यान करने वाला साधक पर-काया प्रवेशकारी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मनसा, वाचा और कर्मणा-परोपकारी, अद्वैत-आचार वाला, परम सिद्धि-संपन्न, दीर्घायु तथा तीनों लोकों का उत्पादक, पालक और संहारक होता है। आज्ञा चक्र स्थित प्रणव के ध्यान में मन लगाने पर (चित्त स्थिर करने वाली योनि मुद्रा अथवा खेचरी मुद्रा द्वारा निरंतर प्रणव का ध्यान करने से) साधक अग्नि की चिनगारियों के दर्शन करता है और पुन: अभ्यास की दृढ़ता से पद्म के मध्य में स्थित त्रिकोण और अनन्तर प्रणव की रचना करने वाले अक्षरों को भी देखता है।

सहस्त्र दल कमल में जिस प्रकार अग्नि, चंद्रमा और सूर्यमण्डल में परम शिव निवास करते हैं, एवमेव आज्ञा चक्र की कर्णिका के मध्य में स्थित अग्नि, चंद्रमा और सूर्यमण्डल में शिव का साक्षात्कार होता है। यहीं वे सर्वप्रपंचों से सृष्टि, स्थिति और संहार कार्यों को अपने ऐश्वर्य से निपटाते रहते हैं। ये परम शिव की अव्यय साक्षी और द्रष्टा हैं। इस बारे में यह बात ध्यान देने की है कि सृष्टि, स्थिति और संहार कार्य कारिणी केवल शक्ति ही है। परम शिव अपने से अभिन्न शक्ति द्वारा किए गए प्रपंच, सृष्टि आदि को कुटस्थ रूप-से देखते भर रहते हैं।

योगाभ्यास से चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर साधक शिव शक्तिमय, शांत सुधि-बुधि से प्रकाश महानाद को देखता है; उसी समय सर्वदा के लिए उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। आज्ञा चक्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अत: इस चक्र को तन्मयता और गंभीरता के साथ समझना आवश्यक है, क्योंकि इसी स्थान से आज्ञा का प्रसारण होता है, जिससे सृष्टि-लयात्मक विश्व का संचालन होता है। आज्ञा चक्र को गुरु चक्र भी कहा जाता है, क्योंकि वही मार्गदर्शक है शक्ति प्रवाह का, ज्योति का उद्गम स्थल है। संतुलन, अंतर्दृष्टि, दिव्य-दर्शन की क्षमता इसी चक्र में सन्निहित है।

चक्रवेधन एवं कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया स्वरूप, निहितार्थ तथा उपयोग की विधि को जानने-समझने की शक्ति इस चक्र के जाग्रत होने पर ही प्राप्त होती है। जिसका आज्ञा चक्र जग गया, जिसे दिव्य दृष्टि मिल गयी, उसका साधनापथ आलोकित हो जाता है और लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। उस साधना पथ पर चलते हुए साधक सुगमता से लक्ष्य को पा लेता है। जैसा कि हमने पहले बताया, आज्ञा चक्र मनुष्य मस्तिष्क की दोनों भौंहों के मध्य में अवस्थित है। भृकुटि के नीचे अस्थियों का जो आवरण है, उसके भीतर एक बेर की गुठली जैसी ग्रंथि होती है, वही आज्ञा चक्र संस्थान है। इसके जागरण के लिए साधक कुशासन अथवा कम्बल बिछाकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए पद्मासन या सुखासन में पालथी मारकर ध्यान मुद्रा में बैठता है। शरीर पर न्यूनतम वस्त्र ही रखे जाते हैं। प्रारंभिक अभ्यास के लिए सूर्य का त्राटक आवश्यक हो जाता है। अत: अरुणोदय के समय कोई ऐसा स्थान निश्चित करना

पड़ता है, जहां मकानों, वृक्षों आदि की आड़ न हो और ऊपर उभरता सूर्य स्पष्ट दिखाई दे सके। इस प्रकार स्थान चयन के बाद साधक ध्यानावस्था में सुदूर अंतरिक्ष में उदित प्रभात कालीन स्वर्णिम सूर्य को देखता है।

सर्वप्रथम खुली आंखों से एक-दो सेकंड सूर्य को देखकर आंखें बंद कर लेनी चाहिए। तीस सेकंड आंखें बंद रखने के बाद फिर पूर्ववत् क्रिया करें और यह क्रिया उस समय तक चलती रहनी चाहिए, जब तक कि सूर्य की स्वर्णिम आभा समाप्त न हो जाए। यहां यह बात ध्यान में रखने वाली है कि एक-दो सेकंड से अधिक सूर्य की तरफ देखने का प्रयास न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से आंखों को हानि पहुंच सकती है।

बीस दिनों तक नित्य प्रात:कालीन सूर्य त्राटक का अभ्यास करना चाहिए। इसके उपरान्त अभ्यास-सिद्धि, कल्पना और आस्था पुष्ट भावना के सम्मिश्रण से ध्यान को आगे बढ़ाया जाता है। उपासना अवधि में साधक को गायत्री महामंत्र के जप के साथ ही अपने आज्ञा चक्र संस्थान में ध्यान लगाना चाहिए तथा ध्यान के समय यह प्रगाढ़ भावना करनी चाहिए कि ईश्वरीय दिव्य प्रकाश की प्रेरणापूर्ण किरणें जो मेरे ऊपर बरस रही हैं, उनसे मेरा संपूर्ण स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर जगमग हो गया है। आज्ञा चक्र स्थित आत्मज्योति जाग्रत हो गई है और वहां से ऐसी प्रचंड किरणें निकल रही हैं जो विचारों, भावनाओं, मर्म-वेधन में समर्थ हैं तथा अंतर्निहित दिव्य दृष्टि को प्रखर बना रही हैं।

इस समय में साधक को स्वयं अपने भीतर के कषाय-कल्मष, दोष, दुर्गुण भी स्पष्ट दिखते हैं तथा उन्हें दूर कर फेंकने के, समाप्त कर देने की प्रक्रिया भी सामने स्पष्ट हो जाती है। साथ ही आंतरिक उत्कृष्टताओं, प्रसुप्त क्षमताओं को उभारने का मार्ग भी पूर्णत: प्रकाशित हो उठता है।

जितनी गहरी श्रद्धा-भावना के साथ अंत:क्षेत्र को दिव्य बनाने वाली यह साधना की जाएगी, आज्ञा चक्र के जागरण का उद्देश्य उतनी ही मात्रा में पूरा होता जाएगा। आज्ञा चक्र के जागरण की यह साधना नियमित रूप-से लंबे समय तक करने पर साधक के भीतर की उत्कृष्टताएं उभरती चली जाती हैं। दिव्य दर्शन की शक्ति दिव्य दृष्टि भी प्राप्त कर लेती है तथा भूगर्भ में या सृष्टि के अंतराल में छिपी दूरवर्ती वस्तुओं का ज्ञान आज्ञा चक्र से निकलने वाली अद्‌भुत सूक्ष्म किरणों द्वारा सहज ही हो जाता है।

योगियों ने आज्ञा चक्र को बड़े जटिल प्रकार का चक्र माना है। इसे जाग्रत करना भी सरल बात नहीं है। इस चक्र पर प्राणों को ले जाने अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को इस चक्र पर ले जाने से वहां प्राणों को आज्ञा चक्र में स्थित कर देने से दिव्य दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। कुण्डलिनी के इस स्थान पर पहुंचने से इस चक्र की शक्ति अनंत गुणा हो जाती है।

आज्ञा चक्र का स्थान, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यंत्र, कमलदल पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- **यौगिक नाम—** आज्ञा योग चक्र
  (तालु और कंठ से भौंहों के मध्य में चंद्र के समान शुक्लवर्ण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चक्र ही आज्ञा चक्र है।)
- **स्थान—** भ्रूमध्य
- **यंत्राकृति—** ज्योतिर्मय लिंग
  (श्वेत प्रकाश वाली दो कमल पंखुड़ियों के समान)
- **यंत्र वर्ण—** श्वेत
- **बीज मंत्र—** ऊं
- **बीज वर्ण—** तेजोमय
- **दलों के अक्षर—** हं क्षं
- **वाहन—** नाद

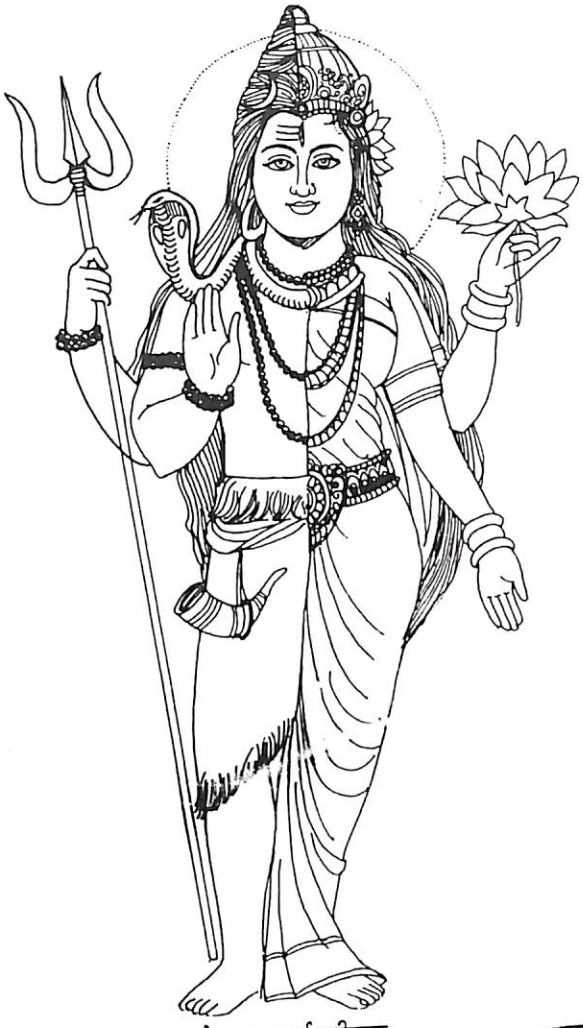

देवता : अर्धनारीश्वर

शक्ति : हाकिनी

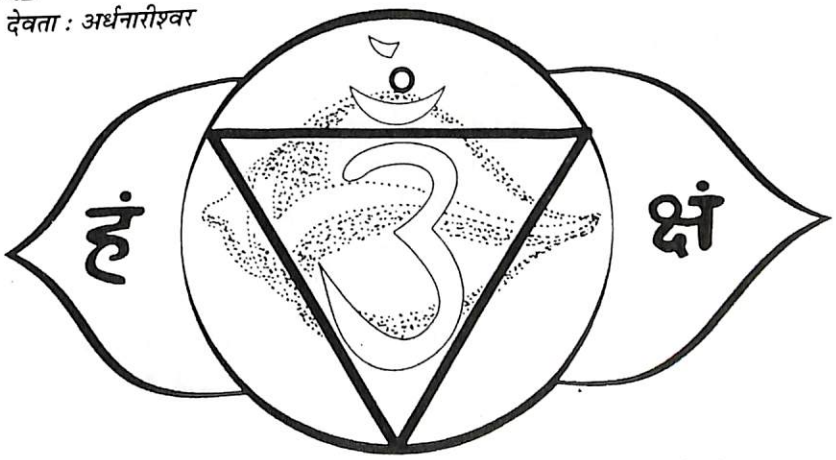

ऋषियों ने अमूर्त को अभिव्यक्ति देने के लिए पहले मूर्त स्वरूपों, प्रतीकों को चुना, लेकिन मूर्त की अभिव्यक्ति की एक सीमा है, उसके पार सिर्फ संकेत ही दिए जा सकते हैं। ॐ संकेत है परमतत्त्व का। ऋषियों ने प्रणव का साधन और साध्य दोनों ही रूपों में उल्लेख किया है। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, प्रणवः सर्ववेदेषु

- ❑ **चक्र गुण—** सिद्धि/आज्ञा देना
- ❑ **तत्त्व—** महत्त्व
- ❑ **तत्त्वरूप—** तेजोमय
- ❑ **गुण—** बुद्धि
- ❑ **ज्ञानेन्द्रिय—** तालु मूल
- ❑ **कर्मेन्द्रिय—** अमृत पान
- ❑ **वायु—** उदान
- ❑ **लोक—** तप:
- ❑ **ग्रह—** सूर्य/ चंद्र (समस्त लोक)
- ❑ **देव—** लिंग (अर्धनारीश्वर)
- ❑ **देव शक्ति—** हाकिनी

(आज्ञा चक्र की कर्णिका में चंद्र समान श्वेतवर्णा हाकिनी शक्ति है। इसके छह हाथ हैं तथा हाथों में क्रमश: विद्या, वर, अभय, कपाल, डमरू और जप माला है। आज्ञा चक्र की कर्णिका में इन्द्रियों से परे सूक्ष्म रूप मन का निवास है। कर्णिका के भीतर एक त्रिकोण में शुद्ध स्फटिक के समान ''इतर'' नाम का शिवलिंग है, जिसके ऊर्ध्व भाग में विद्युत समान चमकदार शक्ति त्रिकोण है। इस त्रिकोण में योगी चित्त को स्थिर कर, ब्रह्म नाड़ी का ज्ञान कराने वाले वेदों के आदि बीज प्रणव ''ओम्'' का चिंतन करता है। यद्यपि यहां चित्रिणी नाड़ी में प्रणव की स्थिति मानी है, तथापि आज्ञा चक्र में स्थित प्रणव से चित्रिणी नाड़ी के भीतर स्थित ब्रह्म नाड़ी से प्रणव संयुक्त है)

- ❑ **शक्ति के वर्ण—** अं, द
- ❑ **कमलदल—** द्वि
- ❑ **दल वर्ण—** श्वेत
- ❑ **मुद्रा—** मुष्ठि (लिंग)
- ❑ **अनुभूति/ स्वाद—** मिश्रित
- ❑ **प्रहरी देवता—** पंचवक्त्र शिव (ज्ञान शक्ति)
- ❑ **मंत्र—** ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे
- ❑ **मंत्र संख्या—** एक हजार
- ❑ **मंत्र देवता—** नृसिंह
- ❑ **चक्र की प्रवृत्तियां—** सम्राट
- ❑ **ध्यान सिद्धि—** प्रत्येक कार्य में समर्थ सिद्ध पुरुष। अन्य चक्रों पर ध्यान से जो फल प्राप्त होते हैं वे केवल इस चक्र पर ध्यान करने से प्राप्त हो जाते हैं। यहां जब प्राण और मन स्थिर हो जाते हैं तो संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

नोट—तंत्र में इसे आध्यात्मिक त्रिवेणी तीर्थराज कहा है, जिसमें स्नान (ध्यान) करने से संपूर्ण पापों से साधक मुक्त हो जाता है। षट्चक्रों में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चक्र है। ध्यान के लिए यह सर्वोत्तम चक्र है। यह तप: लोक है।

❑❑

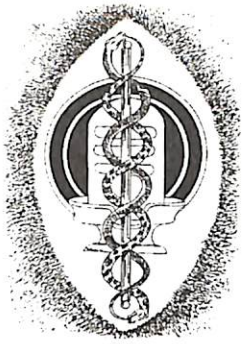

नि:श्वास : चौदह

सहस्त्रार चक्र

मस्तिष्क के ऊपरी भाग में सहस्त्रदल चक्र अवस्थित है, जो अत्यंत प्रकाशमय, सुंदर और अति तीव्रगति वाला, अनंत शक्ति से संपन्न, अत्यंत रहस्यमय योगचक्र माना जाता है। इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सर्व-वृत्तियों के निरोध रूप असंप्रज्ञात समाधि की योग्यता प्राप्त होती है। महर्षियों के अनुसार आज्ञा चक्र के ऊपर ''मानस चक्र'' नाम का एक चक्र और भी अवस्थित है। यह चक्र विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का आधार है। मानस चक्र के ऊपर भी ''सोम चक्र'' नामक चक्र की उपस्थिति मानी गई है। यह परार्थवादी भावों का निवास स्थान है। इस पर ध्यान केंद्रित करने से संकल्प का नियंत्रण प्राप्त होता है।

मानस चक्र के ऊपर सहस्त्रार चक्र स्थित है। इस पर ध्यान लगाने से योगी परम शिव से एक हो जाता है। उसके अज्ञान और मोह नष्ट हो जाते हैं। वह पाप और पुण्य से छूट जाता है। उसके संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं और इस प्रकार वो देह-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। मृत्यु पश्चात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

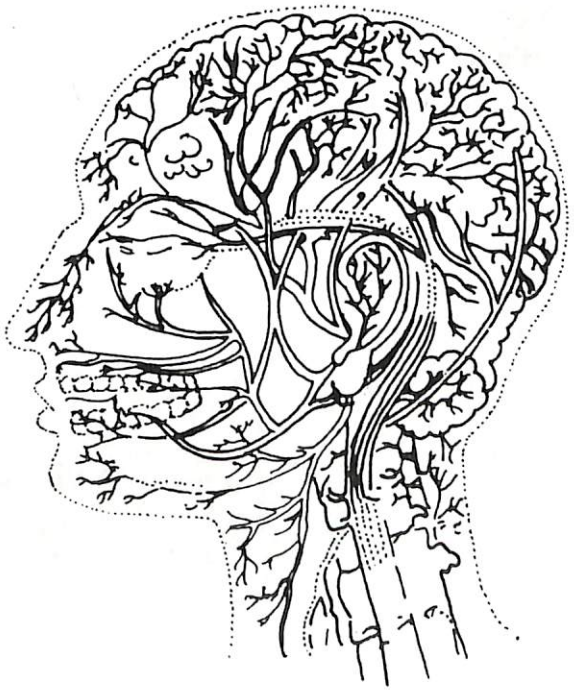

उपरोक्त समस्त चक्र चेतना के सूक्ष्म केंद्र हैं। वे अदृश्य हैं और इसलिए उन्हें भौतिक रूप-से नहीं देखा जा सकता। किन्तु वे योगियों का दिखलाई पड़ते हैं। वे प्राण-शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं। ये ही प्राण-शक्तियां समस्त

विश्व में व्याप्त हैं। इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार देह भौतिक विश्व के विभु में अणु के समान है। जो कुछ भौतिक विश्व में है, वो ही सूक्ष्म रूप में, देह में विद्यमान है। भौतिक विश्व पंचभूत से बना है। देह भी पंचभूत से बनी है। भौतिक विश्व में जो प्राण-शक्तियां काम कर रही हैं, वे चक्रों के माध्यम से मानव देह में बनी हैं। इन पर अधिकार करके मनुष्य विश्व शक्तियों पर भी अधिकार कर सकता है।

सहस्त्रार चक्र का स्थान, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यंत्र, कमलदलों पर अक्षरों का न्यास आदि निम्नलिखित हैं—

- **यौगिक नाम**— सहस्त्रार योग चक्र (नाना प्रकार के रंगों से युक्त चक्र ही सहस्त्रार चक्र है)
- **स्थान**— मस्तिष्क
- **यंत्राकृति**— शिव (परमशिव व उनकी शक्तियां)
- **यंत्र वर्ण**— अनंत (परम तेजोमय, सुवर्णिम)
- **बीज मंत्र**— विसर्ग
- **बीज वर्ण**— तेजोमय
- **दलों के अक्षर**— अं से क्षं तक
- **वाहन**— बिंदु
- **चक्र गुण**— प्रत्येक कार्य (समर्थ/ सर्व सिद्धि)
- **तत्त्व**— प्रत्येक तत्त्व
- **तत्त्वरूप**— प्रत्येक रूप
- **गुण**— चित्त
- **ज्ञानेन्द्रिय**— मस्तिष्क
- **कर्मेन्द्रिय**— समाधि ज्ञान
- **वायु**— उदान
- **लोक**— सत्य
- **ग्रह**— शनि
- **देव**— परब्रह्म
- **देव शक्ति**— महाशक्ति
- **शक्ति के वर्ण**— ह्रीं
- **कमलदल**— सहस्त्र
- **दल वर्ण**— श्वेत
- **मुद्रा**— योनि
- **अनुभूति/ स्वाद**— अवर्णनीय
- **प्रहरी देवता**— अर्द्ध नारीश्वर
- **मंत्र**— ह्रीं श्रीं हुं फट् (महामृत्युंजय)
- **मंत्र संख्या**— एक हजार
- **मंत्र देवता**— गायत्री/ महामृत्युंजय (संबंधित उपासना मंत्र)

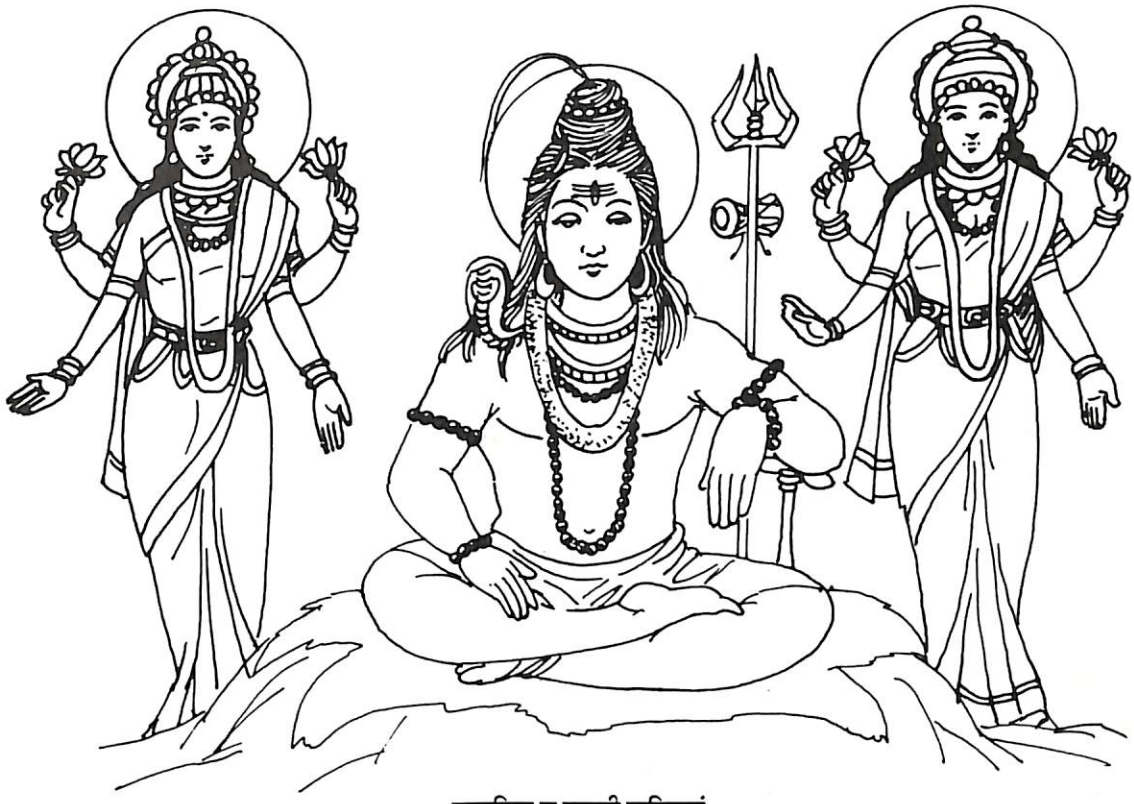

परमशिव व उनकी शक्तियां

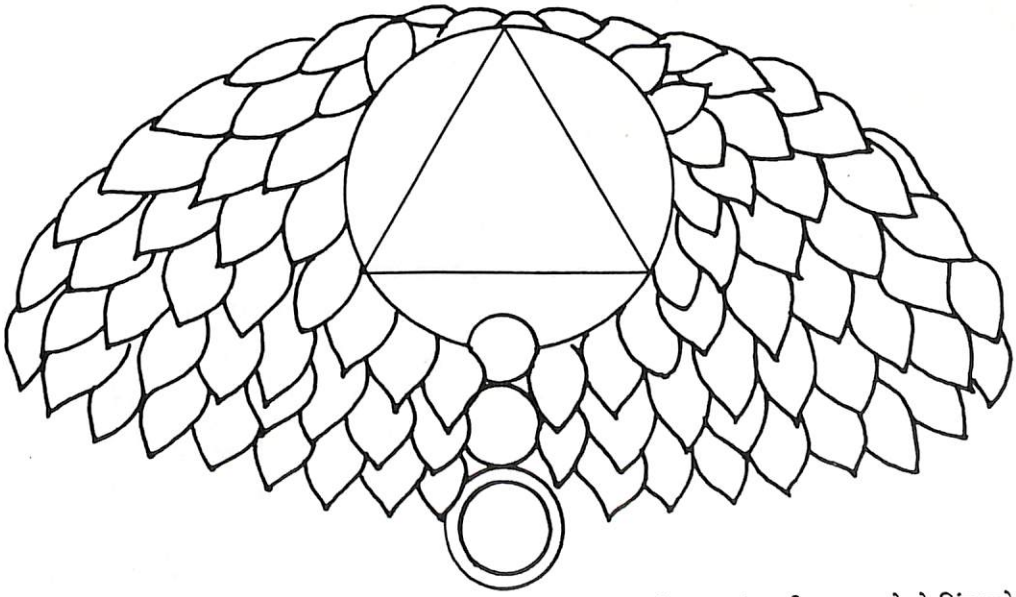

बिंदु प्रतीक है अनिर्वचनीय का। किसी शब्द या स्वर के साथ बिंदु की ध्वनि होती है, एक गूंज की तरह। अकेले बिंदु को सिर्फ देखा जा सकता है। सूक्ष्म और चरम अवस्था की अनुभूति है यह। ऐसी अनुभूति को ही ऋषियों ने 'देखना' कहा है। 'पश्यन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।' ऋषियों को मंत्रद्रष्टा इन्हीं अर्थों में कहा गया है।

- **ध्यान की प्रवृत्तियां—** योगिराज
- **ध्यान सिद्धि—** आकाशगामी, समाधियुक्त, अनंत सिद्धियां, मोक्ष-प्राप्ति, अनंत लोक ज्ञान आदि। सहस्रार (सहस्रदल) चक्र को सत्यम् लोक कहा है। यह कैलास है जहां शिव विराजमान हैं। कुण्डलिनी शक्ति चक्र भेदन कर यहीं शिव से मिलती है, तब असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

विशेष—तंत्र और योग परस्पर मिले हैं। ये प्रयोगात्मक वैज्ञानिक विषय है। जितनी शक्तियां ब्रह्मांड का एक अंश है। अंश में अंशी के गुण होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान की प्रयोगशाला में प्रयोग करके परिणाम प्राप्त किए जाते हैं, वैसे ही तंत्र और योग की प्रयोगशाला सद्गुरु के चरण हैं।

❑❑

नि:श्वास : पंद्रह

कुण्डलिनी जागरण का चक्र भेदन क्रम

नियम, संयम, योग साधना, तपस्या, ध्यान, धारणा, प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार आदि का आश्रय लेकर साधक अपने प्राणों को मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराने का दृढ़ संकल्प करे अर्थात् ध्यान के द्वारा प्राण को सुषुम्ना द्वार पर ले जाए, तो ध्यान की ऊर्जा और प्राण-शक्ति के स्पंदन द्वारा सुषुम्ना महानाड़ी का मुख स्वत: ही खुल जाता है और प्राण उसमें प्रवेश कर जाता है।

इस क्षण साधक सावधान हो जाए, क्योंकि यह उसकी परीक्षा की घड़ी होती है। शरीर में विचित्र प्रकार के परिवर्तन होने लगते हैं। इन परिवर्तनों से साधक घबराए नहीं, बल्कि पूर्ण सावधानी एवं चैतन्यता के साथ दृढ़-इच्छाशक्ति से मूलबंध का प्रयोग आरंभ कर देना चाहिए और प्रबल धारणा के साथ सुषुम्ना द्वार पर स्थित उस परम जाग्रत अनन्त सूर्यों के प्रकाशयुक्त महाप्रकाश स्वरूपा कुण्डलिनी को अपनी अदम्य दृढ़ धारणा के द्वारा मूलाधार की ओर ले जाए। निश्चय ही साधक की संकल्पशक्ति उसे मूलाधार में प्रवेश करा देगी।

मूलाधार चक्र भूमितत्त्व का महत्त्वपूर्ण योगचक्र है। कुण्डलिनी शक्ति के सुषुम्ना के मुख में प्रवेश होने पर नाना प्रकार के अनुभव होते हैं। इस चक्र को जाग्रत करने के लिए गणेशजी की उपासना की जाती है, क्योंकि गणेशजी इस चक्र के प्रहरी हैं। हरेक कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम गणेशजी की ही वंदना की जाती है। मूलाधार में भगवान गणपति की सूंड पर ध्यान किया जाता है। पहले प्रात:काल नित्य क्रिया से निवृत्त होकर साफ-सुथरे एकांत स्थान पर भगवान गणपति का सुंदर-सा चित्र लगाकर (अथवा कोई प्रतिमा रखकर), धूपादि देकर, पद्मासन लगाकर बैठ जाएं। दोनों हाथ अपने घुटनों पर रख लें। फिर मेरुदण्ड सीधा करके, नेत्र मूंदकर यह भावना करें कि हम भ्रूमध्य में देख रहे हैं; पुन: वहां से ध्यान हटाकर नासिका के अग्रभाग पर ले जाएं तो कुछ ही दिनों बाद गणपति की कृपा से कई प्रकार की गंध आने लगेंगी और सम्मोहन शक्ति बढ़ेगी। यह शक्ति कुण्डलिनी जाग्रत होने में सहायता करेगी।

विशेषत: कुण्डलिनी महाशक्ति शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर सात्त्विक विचार, शुद्ध अंत:करण, सच्ची ईश्वर-भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाग्रता एवं निश्चल ध्यान से जाग्रत होती है। यदि किसी व्यक्ति में अकस्मात् अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञान का विकास देखने में आए, तो समझना चाहिए कि पूर्वजन्म के किन्हीं सात्त्विक संस्कारों के उदय होने अथवा हृदय पर सात्त्विक प्रभाव डालने वाली अन्य किसी घटना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना के मुख में चली गई है।

सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के भीतर कंद भाग से प्रारंभ होकर कपाल में स्थित सहस्रदल कमल तक जाती है। मूलाधार चक्र को कुण्डलिनी का सुषुप्ति स्थान कहा गया है। मनुष्य की पिण्ड देह में, स्थूल शरीर के विशेष-विशेष प्रत्यंगों से संबद्ध जो छह चक्राकार घूमने वाले शक्ति केंद्र हैं, मूलाधार उन्हीं षट्चक्रों में से एक है। इस चक्र के मध्य में सर्पाकार अग्नि (कुण्डलिनी) रहती है। जब तक इसे जगाया न जाए, यह वहां सोई रहती है।

कुण्डली शक्ति जब सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, तब उसकी पहली टक्कर मूलाधार पर होती है। इससे उपास्थि या जननेन्द्रिय पर विशेष दबाव पड़ता है। अत: मूलबंध बड़ी सावधानी से लगाया जाना चाहिए। भृकुटि अथवा ब्रह्मरन्ध्र में प्राण वायु का प्रवाह कुण्डलिनी में खिंच जाता है और फिर उसका मुख सुषुम्ना में सरलता से प्रविष्ट हो जाता है। मूलबंध दृढ़ता से लगा रहना चाहिए, अन्यथा शुक्र अथवा मूत्र निकल सकता है।

मूलाधार चक्र और कुण्डलिनी का नेत्रों द्वारा दर्शन कर नासिका-पथ से वायु को खींचकर मूलाधार में चलाते हुए यह ध्यान करें कि वहां कुण्डलिनी के चारों ओर स्थित अग्नि प्रज्वलित हो रही है। इस अग्नि के उद्दीपन होने से कुण्डलिनी जाग्रत होगी।

उस समय ''हंस'' मंत्र का उच्चारण कर अश्विनी मुद्रा द्वारा गुह्य को संकुचित करे और कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इससे कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमनोन्मुखी होगी। तब साधक कुण्डलिनी का महातेजोमयी महाशक्ति के रूप में ध्यान करे। ऐसा करने पर कुण्डलिनी अपना एक मुख पूर्ववत् रखकर दूसरे मुख से मूलाधार स्थित ब्रह्मा और डाकिनी शक्ति तथा उस पद्म के चारों दलों पर स्थित ''वं शं षं सं'' इन चार कमलदल (मातृका वर्णों) और समस्त देवता एवं चारों वृत्तियों को ग्रस लेगी अर्थात् ये सब उस कुण्डलिनी शक्ति के शरीर में लय हो जाएंगे।

इसी प्रकार भूमिमण्डल भी लय प्राप्त कर उसके मुख पर ''लं'' बीज अवस्थान करेगा। उस समय मूलाधार पद्म अधोमुख, बंद होकर कुम्हला जाएगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि ध्यान के समय सभी पद्म ऊर्ध्वमुख और विकसित हो जाते हैं। कुण्डलिनी चैतन्य होकर जब पद्म में पहुंचती है, तब वह पद्म विकसित हो उठता है।

अर्थात् उस दिव्य शक्ति कुण्डलिनी के पदार्पण होते ही वह पीत वर्ण वाली दिव्य प्रकाशमयी ज्योति से वह तुर्द कमल जगमगा उठता है और वहां निवास करने वाले गणपति और अन्य देवी-देवता अत्यंत प्रसन्न स्थिति में दृष्टिगोचर होने लगेंगे। इसी चक्र पर निरंतर ध्यान करने से यह चतुर्दल चक्र जो समस्त गंधों (सुगंधों) का स्वामी है, साधक के आसपास के समस्त वातावरण को सुरभित एवं सुगंधित कर देगा और कुछ ही क्षणों में साधक का संपूर्ण शरीर एक अलौकिक कांति को प्राप्त कर लेगा। इस चक्र (मूलाधार) की बहुत-सी भिन्न-भिन्न प्रकार की दिव्य शक्तियां होती हैं, जिनका विस्तार यहां देना संभव नहीं है।

मूलाधार चक्र के जाग्रत हो जाने के पश्चात् साधक को चाहिए, उस प्राण की देवी कुण्डलिनी शक्ति को संकल्प, ध्यान, मूलबंध एवं दृढ़ धारणा का आश्रय लेकर दूसरे योग चक्र जिसका नाम स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश कराने का प्रयास करे।

मूलाधार चक्र के ऊपर पेड़ू के पास स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान है। इस चक्र में प्रवेश करते ही कुण्डलिनी शक्ति के प्रकाश से वह चक्र श्वेत वर्णीय चंद्र की शुभ चांदनी से भी कहीं अधिक शीतल, प्रकाशयुक्त स्वाधिष्ठान चक्र की शोभा दिखने लगेगी। तब स्वाधिष्ठान में विराजित विष्णु और राकिनी शक्ति, कमलदल स्थित मातृकाओं और वृत्तियों का ग्रास कर लेगी। इस स्थिति में साधक ''लं'' बीज मंत्र का जप, ध्यान करे और स्वाधिष्ठान योग चक्र की विभिन्न शक्तियों का दर्शन करके परम आनंद का अनुभव करे।

यही वो समय है जब भूमि (पृथ्वी) बीज ''वं'' में परिणत होता हुआ महाशक्ति कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करने लगता है। तब, कुण्डलिनी मणिपूर की ओर उठने लगती है। इस समय साधक अपनी प्राण शक्ति को अर्थात् महास्वरूपा विद्युत्माला कुण्डलिनी को अपनी अंतर्प्रेरणा और दृढ़ धारणा द्वारा नाभिस्थान स्थित अग्नि के मणिपूर चक्र पर ले जाने का प्रयत्न करे।

पूर्वोक्त ''वं'' बीज अग्निमंडल में लीन होकर अग्नि भी ''रं'' बीज में परिणत होती हुई कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगी। साधक का प्राण मणिपूर चक्र में पहुंचेगा और उसके पहुंचते ही नाभिचक्र पूर्णतया अपनी तेजोमय कांति को एवं परम प्रकाश को प्राप्त हो जाएगा और उसकी शक्तियां भी अग्नि के रक्त वर्ण रूप में परम

दिव्य प्रकाश से युक्त होने लगेंगी और साधक को रहस्यमयी शक्तिशाली कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव से उसके गुप्त-से-गुप्त रहस्यों का ज्ञान हो सकेगा। नाभिप्रदेश (मणिपूर चक्र) में निवास करने वाले देवी-देवताओं का दर्शन होगा।

इसके अनन्तर, जब पूर्वोक्त ''रं'' बीज वायुमंडल में लीन होकर वायु भी ''यं'' बीज में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख की ओर अवस्थान करेगी, साधक अपने प्राणों को अपनी विशुद्ध योग धारणा शक्ति के सहारे परम तेजोमय शक्ति को हृदय में स्थित अनाहत चक्र की ओर ले जाने का प्रयास करे। यदि उसे कोई कठिनाई प्रतीत हो तो क्रोध बीज मंत्र का ध्यान करना चाहिए। प्राण को ऊर्ध्वगति प्राप्त होगी और उसका प्रवेश अनाहत चक्र को जाग्रत कर देगा। परम प्रकाश से वह चक्र देदीप्यमान दृष्टिगोचर होगा। समस्त देवी-देवता और शक्तियां भी सामने आकर प्रकाशित हो उठेंगी। हृदय चक्र से एक प्रकृति का सबसे बड़ा नाद जिसे अनन्द नाद, अनाहत नाद या ब्रह्म नाद कहते हैं, उसका उठना आरंभ हो जाएगा। इस समय साधक परम आनंद को प्राप्त होगा तथा कुण्डलिनी के इस चक्र में पहुंचने पर निहाल हो जाएगा। एकबारगी उसे यों प्रतीत होगा जैसे अब कुछ भी पाना शेष नहीं रह गया है। कुण्डलिनी उस समय अपना मुख विशुद्ध चक्र की ओर उठाएगी।

हृदय स्थल पर स्थित अनाहत चक्र पर निरंतर संयम करने से निचले सभी चक्रों को नव-जीवन प्राप्त कराया जा सकता है। प्राचीनकाल में उच्चकोटि के तपस्वी, ऋषि, योगी, संत, महात्मा आदि अनाहत चक्र की विशिष्टताओं से अच्छी तरह परिचित थे तथा इसकी शक्ति के संबंध में विस्तृत जानकारी रखते थे। विश्वामित्र जैसे अनगिनत ऋषि, योगी, महात्मा जब कठोर तप में लगे होते थे, तब इन्द्र आदि देवताओं को यह चिंता हो जाती थी कि कहीं उसके सिंहासन को छीनने के लिए ही तो यह तपस्या नहीं की जा रही? इस बात से चिंतित होकर वो उर्वशी, अप्सरा, रंभा, मेनका आदि कितनी ही एक-से-एक सुंदर अप्सराओं को ऋषियों की तपस्या भंग करने के लिए भेज दिया करते थे। अप्सराएं जिसका तप भंग करने में सफल हो जाती थीं, उनका पतन हो जाता था, क्योंकि उनकी साधना भंग हो जाती थी। कुछ ऋषि ऐसे होते थे जिन पर उन अप्सराओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, किन्तु कुछ ऐसे भी होते थे जिनकी तपस्या तो भंग हो जाती थी, फिर भी वो अपनी पूर्व अवस्था को पहुंचने की शक्ति रखते थे। विश्वामित्र जैसे ऋषि की गणना ऐसे ही ऋषियों में की जाती थी। उनकी तपस्या, आत्मशक्ति, संकल्प शक्ति में किंचित् मात्र भी कोई कमी नहीं आती थी। ये ऋषि हृदय चक्र पर तत्क्षण पूर्ण संयम करके लुप्त हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लेते थे।

यौगिक सिद्धांत है कि एक बार जिस योगी तपस्वी का ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है, तो उसी क्षण से हृदय चक्र से निचले तीनों चक्र मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर निस्तेज हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में साधक की सारी योग साधना, सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। जिसे श्रेष्ठ गुरु द्वारा मार्गदर्शन मिला होता है तथा गुरु-कृपा प्राप्त होती है, उसके लिए लुप्त हुई शक्ति को फिर से प्राप्त करना दुष्कर नहीं होता। जिस साधक के साथ ऐसी कोई स्थिति पैदा हो गई हो, उसे चाहिए कि वो ''ॐ'' प्रणव का, तेजोमय प्रकाश के मध्य निरंतर ध्यान आरंभ कर दे। प्रतिदिन तीन घंटे तक पद्मासन में बैठकर साधना करने से कुछ ही दिनों में उसकी लोप हुई शक्ति पुनः लौट आएगी तथा उसे स्वयं भी यह ध्यान न रहेगा कि कभी उसका पतन भी हुआ था।

अनाहत चक्र की उत्तम साधना के उपरांत साधक को अपने संपूर्ण मनोयोग के साथ कण्ठ-स्थान में स्थित विशुद्ध चक्र में अपने प्राणों अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को अदम्य उत्साह के साथ प्रवेश कराना चाहिए। जैसा कि हम बता चुके हैं कि विशुद्ध चक्र सोलह दलों वाला है। जिसका रंग नीला है ''हं'' जिसका बीज मंत्र है। इस चक्र में प्राणों के प्रवेश करते ही कुण्डलिनी की शक्ति से यह चक्र परम देदीप्यमान प्रकाश से प्रदीप्त हो उठता है और इस चक्र से संबंधित सोई हुई शक्तियां पूर्ण रूप-से जाग्रत हो जाती हैं।

यह चक्र पूरी तरह से घूमने लगता है और चक्र से संबंधित समस्त शक्तियां योगी के अंदर अपना कार्य करने लगती हैं। इस चक्र पर ध्यान करने से अनेक प्रकार के विकार दूर हो जाते हैं, शरीर में विभिन्न प्रकार की शक्तियां उत्पन्न होने लगती हैं तथा साधक को प्रकृति के अनन्त रहस्यों का ज्ञान होने लगता है।

विशुद्ध चक्र के पश्चात् साधक अपनी संकल्पशक्ति को विशेष रूप-से उत्साहित करके कुण्डलिनी महाशक्ति को प्राणों के साथ योग के छठे चक्र ''आज्ञा चक्र'' की ओर बढ़ने को प्रेरित करे। सतत साधना के अभ्यास से साधक की वह परा ऊर्जा शक्ति कुल कुण्डलिनी भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र बड़े विचित्र ढंग से प्रवेश करती है।

कुण्डलिनी जैसे ही आज्ञा चक्र में प्रवेश करती है, वहां का समस्त वातावरण विद्युतु तरंगों से झंकारित हो उठता है और विभिन्न रंगों की विचित्र प्रकाश किरणों के द्वारा संपूर्ण आज्ञाचक्र अर्थात् त्रिवेणी संगम का वह स्थान एक दिव्य ज्योतिर्मय प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है और यह प्रकाश ऐसा होता है जो कभी समाप्त नहीं होता।

साधक का ज्ञाननेत्र भी इसी स्थान पर स्थित है, जिसे तीसरा नेत्र कहते हैं। पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिकों के अनुसार सिक्स्थ सैंस (छठी हिंस) इसी स्थान पर है। जब साधक आज्ञा चक्र पर पूर्ण रूपेण संयम, साधना, ध्यान करता है तो इस चक्र से संबंधित अनंत, अद्‌भुत रहस्य सामने आने लगते हैं। यदि लगातार इस आज्ञा चक्र पर ध्यान लगाया जाए तो साधक का निश्चय ही अद्वितीय चमत्कारों से सामना होगा। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आज्ञा चक्र का यह स्थान भौतिक जगत के प्रयागराज में त्रिवेणी, गंगा, यमुना और सरस्वती संगम का पवित्र स्थान है। यौगिक दृष्टि से इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना—यह तीनों गंगा, यमुना और सरस्वती के रूप में आज्ञा चक्र नामक प्रयागराज के त्रिवेणी संगम पर स्थित हैं। यह चक्रस्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

दूसरा कोई भी योग चक्र अथवा योग ज्ञान इसकी समकक्षता नहीं कर सकता। इस स्थान की साधना में परिपक्वता आने पर साधक का ज्ञाननेत्र विकसित हो जाता है और उस ज्ञाननेत्र के द्वारा साधक को अनेक विद्याओं, शास्त्रों और लोक-परलोक के रहस्यों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। भगवान शिव का अर्धनारीश्वर श्रीविग्रह का निवास इसी स्थान पर है।

योगीश्वर भगवान शिव (शंकर) के इस विचित्र और परम अद्‌भुत स्वरूप के संबंध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसी आज्ञा चक्र की अनंत गहराइयों में साधक को उतरना पड़ेगा। अर्धनारीश्वर की उपासना के अनगिनत विधि-विधान हमारे आगम ग्रंथों में, विभिन्न योग ग्रंथों में एवं आध्यात्मिक साहित्य के अंदर बड़े सारगर्भित रूप में उपस्थित हैं। किन्तु आज साधनाविहीन विद्वज्जन केवल भाषा-ज्ञान और वाचिक-ज्ञान रखने के कारण ही इस ज्ञान-विज्ञान की गहनता और विचित्रता को पूर्णरूपेण समझने की योग्यता से वंचित हैं। यदि कोई व्यक्ति इस विषय से संबंधित उच्चकोटि के ग्रंथों का अध्ययन भी करता है, तो उसे इस रहस्यमय यौगिक, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक रहस्य को समझने और अन्य साधकों को समझाने में देर नहीं लगेगी।

आज्ञा चक्र की साधना से (अथवा आज्ञा चक्र पर पहुंचकर) साधक का ज्ञाननेत्र उन्मीलित होता है तथा अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है। इसी के साथ साधक को अनेक अलौकिक शक्तियों की भी प्राप्ति होती है। विद्वानों का मत है कि महाकुंभ के अवसर पर, त्रिवेणी संगम अर्थात् आज्ञा चक्र पर जो साधक अपने प्राणों को ले जाता है, उसे अर्धनारीश्वर के दिव्य दर्शन ही नहीं, उनका साक्षात्कार भी होता है।

कुण्डलिनी शक्ति के आज्ञा चक्र पर पहुंचने से योगी का शरीर वायुवत् सूक्ष्म हो जाता है। त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड के किसी भी प्रदेश में विचरण करने के लिए योगी को मन और इन्द्रियों के साथ निकलने के सभी मार्ग यहीं भ्रूमध्य में प्राप्त होते हैं।

प्रभु श्रीराम के वियोग में तड़पते हुए श्री महाराज दशरथ ने सायुज्यादि मोक्ष को भी ठुकराकर षट्‌चक्र भेदन द्वारा स्वर्ग का मार्ग यहीं से लिया था। पौराणिक दक्ष-यज्ञ का विध्वंस सर्वथा योग-मूलक विषय है। सतीदेह-त्याग की प्रक्रिया भी द्रष्टव्य एवं विचारणीय है।

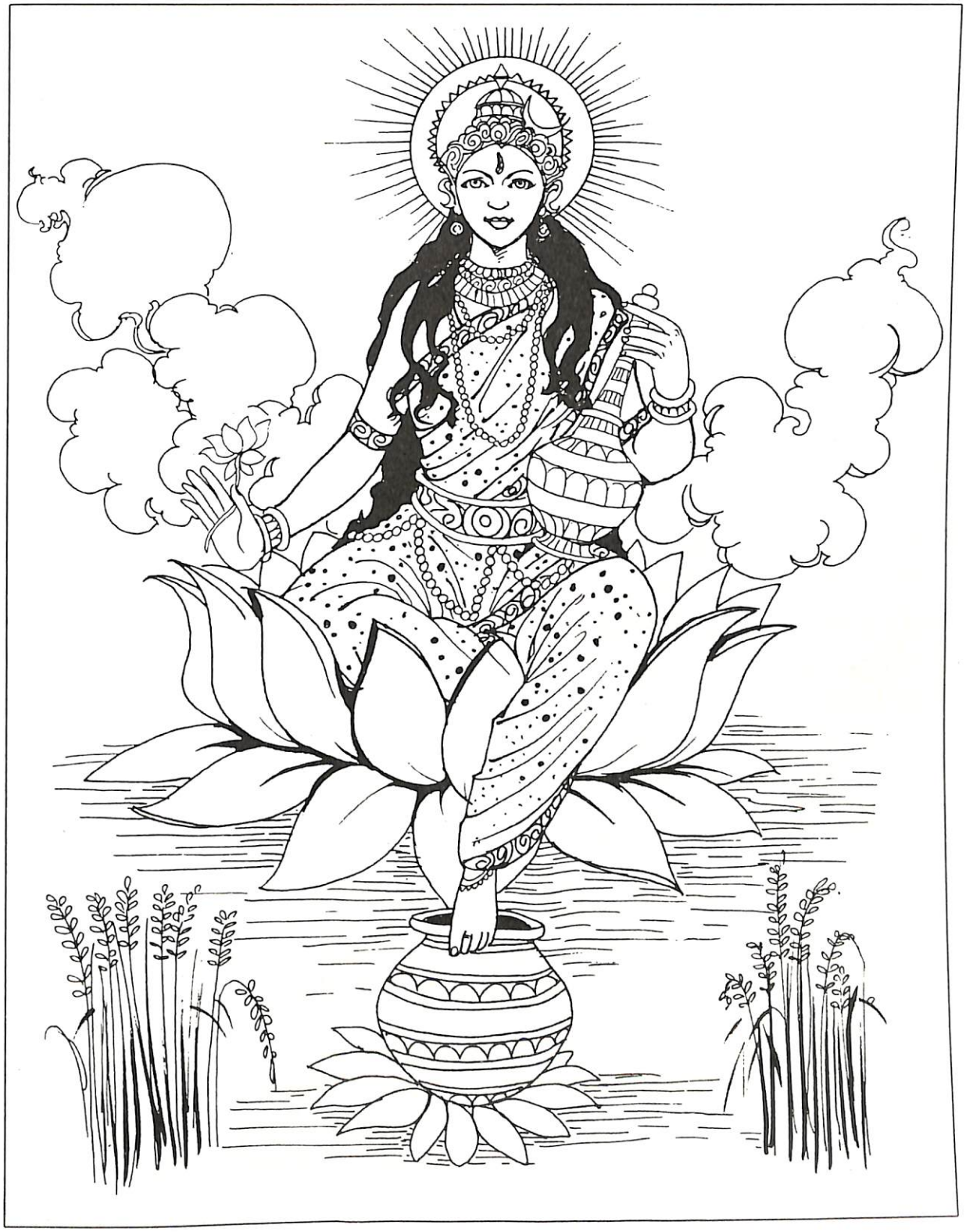

कुंडलिनी शक्तिरूपा मां ललिताम्बा

सती को योगाग्नि द्वारा भस्मीभूत होने पर भी मोक्ष क्यों नहीं मिला? इसका कारण है, यहां आज्ञा चक्र में पहुंचने पर कई मार्ग मिलते हैं। यहां त्रिपथ हैं, इसे सांकेतिक शब्दों में, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, त्रिवेणी संगम कहते हैं। इसका एक नाम ''त्रिकूट'' भी है। कुछ विद्वान योगी इसे ''चित्रकूट'' भी कहते हैं। इस यौगिक चक्र में सती आज्ञा चक्र में तो पहुंचती है, किन्तु ब्रह्मरन्ध्र से न निकलकर मार्ग बदल लेती है। परिणामस्वरूप उसका हिमालय के घर पार्वती रूप में पुनर्जन्म हुआ। अब सतीदाह की प्रक्रिया भी देख लें। सती मौन होकर उत्तर दिशा में भूमि पर बैठ गई। उसने आचमन कर पीतांबर ओढ़ लिया और नेत्र मूंदकर योगमार्ग में स्थित हुई।

प्राणायाम द्वारा प्राण और अपान को एकदम स्थिर करके उन्हें नाभि चक्र में स्थित किया। उदान वायु को नाभिचक्र से ऊपर उठाकर धीरे-धीरे बुद्धि के साथ हृदय (अनाहत चक्र) में स्थापित किया। पुनः सती उस हृदय स्थित वायु को कंठमार्ग अर्थात् विशुद्ध चक्र से भ्रूमध्य में ले गई। तत्पश्चात् शरीर त्याग की इच्छा से उसने अपने समस्त अंगों में वायु और अग्नि की धारणा की। तत्पश्चात् योगानल प्रज्वलित हुआ और उसका शरीर जल उठा।

गुरु की कृपा और आज्ञा से ही साधक इस चक्र में घुसपैठ कर सकता है, अन्यथा नहीं। यह गुरुगम्य चक्र (आज्ञा चक्र) है। यहीं वज्रकपाट लगे हैं और यहीं बैकुंठ का द्वार है। इस द्वार की कुंजी साधक को सिद्ध गुरु से ही प्राप्त हो सकती है। कैलासाख्य इस चक्र पर रोधिनी शक्ति एक दुर्गम दुर्ग की दीवार की भांति खड़ी है।

यहां सहस्रदल कमल है। इसके ऊपर एक बिंदु है। कुण्डलिनी को मूलाधार में एक जबरदस्त टक्कर लेने के बाद पुनः आज्ञा चक्र या द्विदल में पहुंचकर धुआंधार संघर्ष करना पड़ता है। ये ही दो जबरदस्त मोर्चे हैं। उभयंत्र किलेबंदी है। यहीं पहुंचकर पराशक्ति सदाशिव के साथ एकीभूत होती है। यही तदाकार अवस्था कहलाती है। शिवशक्ति शिवा का शिव के साथ यहीं पहुंचकर अभेद संबंध स्थापित होता है। यही अद्वैतावस्था है, यही जीव-ब्रह्म की एकता अथवा सायुज्य है।

योगमार्ग द्वारा परमात्मा में स्थित होना

सर्वप्रथम एड़ी से अपनी गुदा को अच्छी तरह दबाकर स्थिर हो जाएं और फिर बिना किसी घबराहट के प्राण-वायु को षट्चक्र भेदन की प्रक्रिया से ऊपर ले जाकर, नाभि-चक्र (मणिपूर) में स्थित वायु को हृदय चक्र (अनाहत) में, वहां से उदान वायु को धीरे-धीरे तालु-मूल (विशुद्ध चक्र का आगे का भाग) में चढ़ा दें।

इसके पश्चात् शाम्भवी मुद्रा से दोनों आंखों, दोनों कानों, दोनों नासाछिद्रों और मुख—इन सातों छिद्रों को रोककर तालु स्थित वायु को आज्ञा चक्र में ले जाएं। यदि किसी अन्य लोक-लोकान्तर में जाने की रुचि या इच्छा न हो, तो आधा घड़ी तक उस वायु को वहीं रोककर, स्थिर लक्ष्य के साथ सहस्रार में ले जाकर परमात्मा में स्थित हो जाएं।

सहस्रार चक्र (सहस्रदल चक्र) योग विद्या का सर्वोत्कृष्ट, अद्भुत एवं परम रहस्यमय योग चक्र है। इस चक्र के संबंध में आज तक अनगिनत ऐसी गुत्थियां हैं, जो पूरी तरह से सुलझ नहीं सकी हैं। यह चक्र मनुष्य की खोपड़ी में अर्थात् सिर में मस्तिष्क-स्थान के ऊपर स्थित है। पीछे चित्र द्वारा यह दर्शाया भी जा चुका है।

वास्तविक रूप में यह योग चक्र सूक्ष्म शरीर का बहुत बड़ा भाग है। जिस व्यक्ति में आज्ञा चक्र और सहस्रदल चक्र जितने अधिक विकसित होंगे, उतना ही अज्ञात, चमत्कारी एवं सूक्ष्म प्रभाव उसके अंदर विद्यमान होगा।

जिस साधक का आज्ञा चक्र में प्रवेश हो चुका है, वो अपनी परम सात्त्विक निष्ठा, प्रबल संकल्प के साथ कुण्डलिनी शक्ति को अदम्य उत्साह के साथ प्रणव मंत्र का, अर्थात् ब्रह्माक्षर, अनंत नाद का निरंतर दृढ़ धारणा के साथ, अपने दिव्य श्रवणों के द्वारा कुण्डलिनी को सहस्रदल में प्रवेश करा दें। दिव्य कुण्डलिनी शक्ति के परम प्रकाश से धीरे-धीरे सहस्रदल चक्र प्रकाशित होने लगेगा।

भारतीय ऋषि, महर्षि अपने आपमें बड़े अद्‌भुत और रहस्यमय व्यक्ति रहे हैं। उन्होनें संसार का सर्वतोन्मुखी आनंद लिया। संसार का ऐसा कौन-सा विषय अथवा प्रकृति का ऐसा कौन-सा रस था जिसके संबंध में उन ऋषि-महर्षियों को ज्ञान न था। वास्तव में वे महापुरुष तपस्वी होने के साथ-साथ रसायन विद्या के ज्ञाता भी थे। इस विद्या के बल पर उन्होंने अनेक सफलता, सिद्धि और शक्तियां प्राप्त कर ली थीं। इस विद्या का ज्ञान सर्वप्रथम भगवान दत्तात्रेय ने शिव कृपा से लोगों तक पहुंचाया था।

यह रसायन विद्या भगवदवतार, महायोगी, कालजयी, त्रिदेवरूप तथा परम सिद्ध श्री दत्तात्रेय द्वारा तंत्रशास्त्र के परमाचार्य ''लोक-शंकर'' भगवान शंकर से प्रार्थना करके विशेषत: कलियुग में सिद्ध (तंत्र विद्या) विधान के रूप में प्राप्त की। यह शास्त्र उत्कीलन आदि विधानों की अपेक्षा रखे बिना ही सर्वदोषों से रहित, शीघ्र सिद्धि देने वाला बतलाया गया है। भगवान शंकर ने अपने परम भक्त श्री दत्तात्रेय के लिए अत्यंत गुप्त होते हुए भी इसको प्रकट किया है।

समस्त चराचर के कल्याण की कामना से भगवती जगदम्बा के आग्रह से भगवान शिव ने रसायन शास्त्र की विद्या का उपदेश किया है। इसमें प्राणिमात्र के जीवन में आने वाली सभी प्रकार की कठिनाइयों का निवारण करने का विधान है। इसके साथ ही ऐसी कोई इच्छा शेष नहीं रहती, जो इस विद्या के द्वारा पूर्ण नहीं की जा सकती।

ऋषियों ने रसायन विद्या के द्वारा अनेक सिद्धियां और शक्तियां प्राप्त कर, असंख्य भक्तों के समक्ष उनका प्रदर्शन कर, विद्या की वास्तविकता का सबूत भी दिया। इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि इन सभी में योग ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

योगियों ने योगमार्ग में ऊंची-से-ऊंची स्थिति प्राप्त करने के लिए शरीर विज्ञान, रसायन विज्ञान, मुद्रा विज्ञान, भाषा विज्ञान, शब्द विज्ञान, आत्म विज्ञान एवं संगीत विज्ञान आदि का बहुत गहराई से मनन, अध्ययन किया। उन्होंने इन सातों विद्याओं का सहयोग लेकर शरीर में स्थित सातों चक्रों को जगाने में सफलता प्राप्त की।

सहस्रदल चक्र एक हजार पत्तों के कमल-पुष्प की भांति दृष्टिगोचर होता है। किन्तु विशेष रूप-से गिनने पर केवल नौ सौ साठ पत्ते ही दिखते हैं। इसके मध्य में द्वादश पत्तों वाला सुंदर एक लघु कमल है। उसमें स्फटिक मणि की भांति उज्ज्वल श्वेत रंग के अंतर्गत उस कमल कर्णिका में एक स्वर्णिम आकार का नेत्रों को सम्मोहित करने वाली शक्ति रखने वाला रंग दिखलाई पड़ता है। यह सहस्रदल चक्र योग की प्रथमावस्था में तो लघु आकार का होता है, किन्तु साधक की आत्मिक उन्नति, धारणा, ध्यान एवं समाधि की एकत्व स्थिति में साधना, उपासना के प्रभाव से यह चक्र जब तीव्र गति से घूमने लगता है, तो प्राय: एक फुट आकार का होकर ऊपर की ओर उत्थित हो जाता है। उस समय इसकी छटा देखने योग्य होती है।

किन्तु यह मानना चाहिए कि अभी तक यह सहस्रदल चक्र पूर्ण विकसित स्थिति में नहीं है। जब कुण्डलिनी शक्ति का दिव्य प्रकाश योग के इस सर्वोत्कृष्ट चक्र को अपने परम दिव्य उच्चकोटि के विद्युतीय, चुंबकीय प्रभाव से एवं शक्ति से तीव्र गति से घुमाने लगता है, तब इसकी गति अति वेगवती हो जाती है। उस समय इस योग चक्र के अनेकानेक सौंदर्यमय रंगों का सौंदर्य देखने योग्य होता है, साथ ही एक ऐसी मनमोहक अति उच्च स्तरीय सुगंध उत्पन्न होती है, जो समस्त वातावरण के साथ-साथ साधक की आत्मा, मन तथा संपूर्ण शरीर को सुगंधित कर देती है।

सहस्रार परम चक्र पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सर्व-वृत्तियों के निरोध रूप असंप्रज्ञात समाधि की योग्यता प्राप्त होती है। सहस्रदल कमल (चक्र) के वास्तविक स्थान के बारे में हम एक बार फिर से बता देना चाहते हैं। आज्ञा चक्र के ऊपर महानाद है, उसके ऊपर शंखिनी नाड़ी है, उसके अग्रभाग में अर्थात् शून्याकार स्थान में तथा ब्रह्मरन्ध्र में स्थित प्रकृतिरूप विसर्ग के निम्न प्रदेश में प्रकाश स्वरूप पूर्ण चंद्रमा के समान अत्यंत श्वेत वर्ण अधोमुख

आनदं स्वरूप सहस्त्रदल कमल है। ''अ'' कार से ''क्ष'' कार पर्यन्त पचास मातृकाक्षरों से यह कमल विभूषित है। इसकी कर्णिका में स्निग्ध, निर्मल, पूर्ण चन्द्रमंडल है, उसके भीतर विद्युत समान त्रिभुज है और त्रिभुज के मध्य में सब देवों से सेवित, अत्यंत गुप्त, शून्य रूप पर बिंदु है। मोक्ष का मुख्य मूल यह सूक्ष्म कंद ''अमा, कला'' और ''निर्वाण'' कला से युक्त है। सहस्त्रदल कमल के मध्य में स्थित चंद्रमण्डल के बीच में अंतर-आत्मा है, जिसका दूसरा नाम ''हंस'' है। ''हं'' पद से पुरुष का और ''स'' पद से प्रकृति का बोध होता है। अत: हंस पद से प्रकृति पुरुषात्मक अंतर-आत्मा का ज्ञान होता है। इसके ऊपर सर्वतंत्र प्रसिद्ध परब्रह्म स्वरूप से स्थित होने पर भी परमात्मारूप को छोड़े बिना परमानंद स्वरूप शिव-शक्ति से उत्पन्न आनंद रस को प्राप्त परम शिव श्रीगुरु रूप से योगियों के पुरुषार्थ-लाभ के लिए जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान का उपदेश देता है। यहां पर यह ध्यानपूर्वक समझाना चाहिए कि श्रीगुरु रूप पर शिव ही दीक्षा गुरु के रूप में धरा-धाम पर अवतीर्ण हैं।

सहस्त्रार चक्र में कमल स्थित भगवान शिव अपनी शक्ति के साथ

गुरुदेव के ध्यान के विषय में विद्वानों का मत है कि आज्ञा चक्र के ऊपर अधोमुख सहस्त्रदल कमल के नीचे ऊर्ध्व मुख द्वादश दल कमल है। उसके ऊपर सदाशिव रूप गुरु का ध्यान करें। पादुका पंचक स्तोत्र में भी ऐसा वर्णन

आया है, किन्तु शाक्तानंद तरंगिणी में दिया गया है कि श्रीगुरु रूप पर शिव की स्थिति सहस्रदल कमल में ही है और साधक को वहीं ध्यान ले जाकर कुण्डलिनी जाग्रत करनी चाहिए। इस विषय पर सबसे श्रेष्ठ निर्णय कुलार्णव तंत्र का है अर्थात् श्रीगुरु देव जैसा आदेश दें, उसी के अनुसार साधक को ध्यान करना चाहिए, उसी से सफलता मिलती है। इन सब बातों से पता चलता है कि गुरु का वचन ही श्रेष्ठ है और सफलता-प्राप्ति के लिए साधक को गुरु के आदेशानुसार ही ध्यान लगाना चाहिए।

गुरुजन को भी चाहिए कि वह अपने शिष्य को अपने पुत्र समान समझे तथा सहस्रदल चक्र को जाग्रत करने के लिए शिष्य का श्रेष्ठ मार्गदर्शन करे। उसे हर ऊंच-नीच से अवगत कराएं। प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने के लिए उसकी हिम्मत बधाएं तथा दिव्य रासायनिक औषधियों द्वारा उसके शरीर को परम शक्तिशाली बना दे, जिससे साधक—प्राण-अपान के मिलने से, कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत हो जाने से जो एक प्रकार का आण्विक विस्फोट-सा होता है अथवा उस विचित्र प्रकार के तीव्र मधुर संगीत से जो कानों के परदे हिला दे, घबरा न उठे और अपनी शारीरिक शक्ति से उनका मुकाबला करे।

जिस शब्द ब्रह्म की साधना के द्वारा महान ऊर्जा उत्पन्न होती है, जीवन और मृत्यु का अंतर समाप्त करने के लिए जिस स्थिति का सामना करना पड़ता है, सहस्रदल की पन्द्रहवीं-सोलहवीं कला के मध्य शरण लेते हुए अमृत-बिंदु का पान करने के लिए जितना कठिन परिश्रम एवं प्रयास साधक को करना होता है, उन सबका सामना करने के लिए; उस धमाके, विस्फोट, धक्के आदि को सहज करने के लिए, गुरु द्वारा साधक को पहले ही से तैयार कर देना चाहिए तथा दिव्य, विलक्षण शक्तियों का सामना करने की विद्या के ज्ञान से भी शिष्य को पहले से अवगत करा देना चाहिए। यही श्रेष्ठ गुरु का कर्तव्य है। ऐसी संपूर्ण सुविधाओं के मिलने पर साधक (शिष्य) कुण्डलिनी शक्ति के सोपान सहस्रदल चक्र पर सहज ही पहुंच जाएगा।

इस चक्र की शक्ति का परिचय साधक को पलक झपकते ही हो जाएगा। वैसे तो योग के सभी चक्रों के जाग्रत होने पर अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का योग चक्रों में प्रवेश हो जाने के अनंतर उन चक्रों में से तरह-तरह की शक्तियां, सिद्धियां एवं आनंद की लहरें प्रस्फुटित होने लगती हैं।

सात योग चक्रों में से सात प्रकार की शक्तियां प्रवाहित होती हैं, जैसे कि इन्द्रधनुष के सात रंग। यह सात रंग न होकर प्रकृति की सात शक्तियां हैं। किसी-किसी स्थान पर इन सात शक्तियों को नवशक्तियों का रूप दिया गया है। इस प्रकार सात के बजाय योग के नवचक्रों का विधान बना दिया गया। पीछे कहीं हम इसका जिक्र भी कर आए हैं अर्थात् ''मानस चक्र'' आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित है और मानस चक्र के ऊपर ''सोम चक्र'' स्थित है और इस चक्र के ऊपर सहस्रार चक्र है। यद्यपि योग में इन नवचक्रों की क्रम के अनुसार व्यवस्था की गई है, किन्तु संसार में सप्त शक्तियां ही प्रधान हैं। उनमें भी विशेषकर तीन शक्तियां ही प्रमुख मानी गई हैं, जिन्हें त्रिमूर्ति के नाम से जाना जाता है। इन त्रिमूर्तियों का निवास योग का अंतिम चक्र सहस्रार चक्र ही है, कुण्डलिनी शक्ति के यहां पहुंचने पर साधक का परम उद्देश्य पूर्ण हो जाता है, देव-शक्तियों से साक्षात्कार होता है; मोक्ष-प्राप्ति का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस साधन को फलीभूत विरले ही कर पाते हैं। यदि श्रेष्ठ और विद्वान गुरु मिल जाए और वह अपने शिष्य का सही मार्गदर्शन करे, तो शिष्य की नैया पार लग ही जाती है।

❑❑

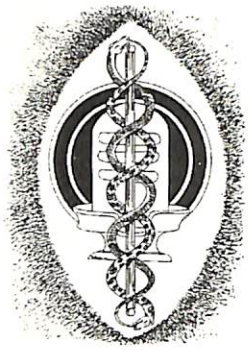

नि:श्वास : सोलह

रहस्यात्मक शक्तियों का उदय

गुरु के महत्त्व के बारे में हम स्थान-स्थान पर चर्चा करते आए हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि, ''गुरु बिन ज्ञान अधूरा'', आध्यात्मिक साधना में तो गुरु का महत्त्व सर्वाधिक माना जाता है। विद्या अध्ययन करने के बारे में कहा गया है कि या तो धन का व्यय करके या विद्या के आदान-प्रदान से या फिर गुरु की सेवा करने से ही विद्या आती है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। ऋषियों का मत तो यह है कि कुण्डलिनी जागरण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु-सेवा के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इसलिए कहा गया है कि सुपठित गुरु के द्वारा ही शिष्य की शंकाओं का समाधान किया जा सकता है। योग के कठिन मार्ग में गुरु की पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। श्वेताश्वर उपनिषद् के शब्दों में—

यस्य देवे भक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यै ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जिसको ईश्वर में पराभक्ति हो और जैसी ईश्वर में हो वैसी ही गुरु में हो, उस महात्मा में ये सब कहे हुए अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं, अर्थात् उसको ही इन सब रहस्यों का आप-से-आप ज्ञान हो जाता है।

गुरु की महिमा के विषय में एक प्रसिद्ध श्लोक कहा गया है कि गुरु ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर है। गुरु साक्षात् ब्रह्म है। शारदा तिलक तंत्र के अनुसार गुरु संसार सिंधु के पार जाने के लिए एकमात्र हेतु है। उसके पद-पकंज की धूल सब तीर्थों में श्रेष्ठ है। भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, ''यदि पिछले जन्म के किसी योग भ्रष्ट व्यक्ति को सद्गुरु से कोई संकेत मिल जाए, तो वह योग में सिद्धि प्राप्त कर सकता है।''

साधना में गुरु के महत्त्व की इस परंपरा को कबीर, नानक, दादू, सुंदरदास, चरणदास, सहजो बाई, गरीब दास, रामसहाय, बजहन, रामलाल, दयाबाई, पलटू और न जाने कितने भक्त संतों तथा सूफियों ने अपनी रचनाओं में स्पष्ट किया है। पंतजलि के अनुसार यह जो योग का अभ्यास है, वह एक दिन में सिद्ध करने की वस्तु नहीं है। जब इसे दीर्घकाल तक निरंतर श्रद्धा और पूरे परिश्रम के साथ किया जाएगा, तभी इसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त हो सकती है। जो लोग तीव्र संवेग वाले हैं अर्थात् जिनको योग में अत्यधिक उत्साह है, गुरु उनकी इच्छा को तीव्र बनाने का उपदेश दे। भारतीय साहित्य में कभी-कभी स्वयं अपनी आत्मा को, ईश्वर को अथवा श्रेष्ठ पुस्तक या किसी महान ग्रंथ को भी गुरु के रूप में मानकर उससे मार्गदर्शन प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। जिसे योग्य गुरु का सान्निध्य प्राप्त न हुआ हो, वह इस पुस्तक को ही अपना गुरु मानकर ध्यान, साधना में लग जाए, हमारा विश्वास है, सफलता अवश्य मिलेगी।

जो साधक योग मार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुका है और कुण्डलिनी जाग्रत करने में समर्थ है, यदि वह अदम्य शक्ति के साथ, क्रोध बीज मंत्र का बार-बार उच्चारण कर, कुण्डलिनी शक्ति को तनिक-सा भी छेड़ने का प्रयास करेगा, तो क्षणमात्र में ही मूलाधार के सन्निकट ब्रह्मग्रंथि में हलचल आरंभ हो जाएगी और कुण्डलिनी शक्ति अपने पूर्ण स्वरूप में व्यक्त होने के साथ जबरदस्त प्रकाशनाद युक्त विस्फोट-सा उत्पन्न होगा तथा उसके साथ ही शब्द

ब्रह्म का उदय हो जाएगा। प्रकृति का यही अनन्त नाद है। नाद के साथ-साथ एक परम प्रकाश उत्पन्न होता है। नाद का आरंभ होते ही कुण्डलिनी अपनी पूर्ण ऊर्जा शक्ति और प्रकाश के साथ उठ खड़ी होती है। योगशास्त्र के अनुसार यह महानाद निम्न तीन प्रकार का होता है—निरोधिनी, नादान्त, महानाद।

कुण्डलिनी शक्ति जिस प्रकाश के साथ महान ऊर्जा के लिए प्रगट होती है, उस प्रकाश का वास्तविक रूप महा बिंदु होता है। यह महा बिंदु भी निम्न तीन प्रकार होता है—क्रिया, ज्ञान, इच्छा।

इसी प्रकार इन तीनों को दूसरे रूप में भी कहा गया है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा सूर्य, चंद्रमा, अग्नि।

इस अनन्त ब्रह्माण्ड रूप सृष्टि में, नाद ही वास्तव में प्रणव है अर्थात् ॐ ओंकार भी उसी को कहते हैं। सत्य तो यह है, ओंकार ही पूर्णरूपेण शब्द ब्रह्म है। ब्रह्मस्वरूप इस प्रणव से ही बावन मातृकाएं, जिनके द्वारा साधक न्यास करते हैं, उत्पन्न हुई हैं।

इन संपूर्ण मातृकाओं को लोम-विलोम प्रकार से न्यास करने की मंत्रशास्त्र, तंत्रशास्त्र और आगम ग्रंथों में विशेष व्यवस्था दी हुई है। यह बावन मातृकाएं लोम-विलोम प्रकार से उच्चरित करने पर इनकी संख्या एक सौ तक पहुंच जाती है। साधक की कुण्डलिनी शक्ति इन मातृका रूप कुंडलों को धारण करने वाली चैतन्य शक्ति है, इसलिए ही उसे कुल कुण्डलिनी कहा गया है।

इस प्रकार समस्त मातृकाओं का न्यासादि सहित प्रयोग करने से वह परा कुण्डलिनी शक्ति प्रकाश और नाद के उत्पन्न होते ही, मूलबंध के दृढ़ प्रयोग से साधक की संकल्प शक्ति के द्वारा ऊर्ध्वमुखी होकर, मूलाधार आदि चक्रों की ओर बढ़ने लगती है। इसके साथ ही वह नाद अपने अंतिम लक्ष्य सहस्रदल कमल में पहुंचने के लिए निरंतर अंतर्मन में उठने लगता है और अपनी उस ऊर्ध्वगामिनी परम ऊर्जा के साथ सभी चक्रों को जाग्रत, प्रकाशित, झंकारित एवं शक्ति-सम्पन्न करता हुआ, उच्च शक्ति के साथ आगे बढ़ने लगता है, क्योंकि इन सभी मातृकाओं और ब्रह्मनाद का वास्तविक मूल स्थान सहस्रदल चक्र ही है। सहस्रदल चक्र में समस्त मातृकाएं भी निवास करती हैं।

योगशास्त्रानुसार शिव और शक्ति का निवास भी योग का सहस्रदल चक्र ही है। इस स्थान को यौगिक भाषा में अकुल नाम से संबोधित किया जाता है। अकुल में स्पंदन होने पर किस-किस स्थान से कौन-सी मातृका उत्पन्न होती है, यह निम्न तालिका के द्वारा स्पष्ट किया गया है—

स्थान	मातृका	स्थान	मातृका	स्थान	मातृका
अकुल	अ, लं	चंद्रिका	लृ, मं	अंतराल	गं, तं
व्यापिका	उं, शं	लंबिका	ओं, पं	विशुद्ध	छं, ठं
रोधनी	लृं, यं	अंतराल	खं, घं	समना	ईं, षं
अंतराल	ओं, फं	आधार	चं, डं	नाद	ॠं, रं
अनाहत	कं, दं	उन्मना	इं, सं	आज्ञा	ऐं, बं
स्वाधिष्ठान	ङं, ढं	नादान्त	ऋं, लं	अंतराल	अः, धं
कुला	झं, ञं	बिंदु	एं, भं	मणिपूर	घं, णं
महाबिंदु	हं, आं	विशुद्धि	अं, नं	कुल पदम	जं, टं
शक्ति	ऊं, वं				

उपरोक्त तालिका के द्वारा मातृकाओं का स्वरूप और स्थान बतलाए गए हैं। यह मातृकाओं की एक विशेष यौगिक तांत्रिक माला है। साधक जब इसे फेरता है तो उसके सूक्ष्म और भौतिक शरीर में एक विशेष प्रकार का स्पंदन

होने लगता है। बीज मंत्र सहित मातृकाओं की माला फेरने से समस्त वृत्तियां इधर-उधर भटकना बंद कर देती हैं। उन्हें विवश होकर स्थिर होना पड़ता है। किन्तु इन समस्त मातृकाओं का उद्‌गम स्थान तो प्रणव ही है और प्रणव को ही यौगिक भाषा, तंत्रोक्त भाषा में ''ओंकार'' कहा गया है। इस प्रणव शरीर ओंकार से ही समस्त स्वर और व्यंजनों की उत्पत्ति हुई है।

मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र तक समस्त योग चक्रों के कमल दलों के रूप में स्वर व्यंजन मातृकाएं आदि दी गई हैं, वह सब ओंकार से ही उत्पन्न हुई हैं तथा ओंकार में ही वह समाहित हो जाती हैं। उन योग चक्रों के दंतों के रूप में मूलाधार पहला दलचक्र है।

विभिन्न च्रकों में, उनके अलग-अलग दलों में, अलग-अलग बीजाक्षरों का स्थान निश्चित किया गया है। इसी प्रकार योग के सर्वोच्च सहस्रदल कमल चक्र में समस्त स्वर व्यंजन मातृकाओं सहित सभी बीजाक्षरों का निवास है। साधक द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत करने पर, कुल कुण्डलिनी मूलाधार से लेकर क्रमशः स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र और इसके निकट विष्णु आदि ग्रंथि का भेदन करते हुए और अनाहत चक्र का भी भेदन करते हुए, कंठ में स्थित विशुद्ध चक्र के समीप ग्रंथि का भी भेदन करती हुई आज्ञा चक्र पर पहुंचती है।

मूलाधार चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक कुण्डलिनी के पहुंचने के बारे में बताया गया। मूलाधार से लेकर आज्ञा चक्र तक के बीच के मार्ग में और भी बहुत-सी रहस्यात्मक शक्तियों का उदय होता है, जिसका अनुभव साधक को प्रत्यक्ष होता रहता है।

कुण्डलिनी जब आज्ञा चक्र से ऊपर सहस्रार परम चक्र की ओर चढ़ती है, तो बड़े वेग के साथ झटका देकर ऊपर की ओर अपना मुंह फैलाती है। ऐसा मालूम होता है, जैसे वह बहुत दिनों की भूखी हो और अब जागने के साथ ही खाने को अधीर हो उठी हो। यह भयंकर अट्टहास, फुफकार करती नागिन के समान बल खाती हुई संपूर्ण रूप से उठ खड़ी होती है। भयंकर विद्युत की कौंध साधक के संपूर्ण शरीर को झकझोर डालती है। मेरुदण्ड विद्युत गति एवं शक्ति से शब्द करता हुआ एकदम सीधा हो जाता है। सातों चक्र सावधानी की स्थिति में आ जाते हैं। यहां कुण्डलिनी शक्ति का जागरण पूर्ण हो जाता है।

कुण्डलिनी को सर्पाकार शक्ति कहा गया है, क्योंकि इसकी गति वलयाकार सर्प की-सी है। योगाभ्यासी व्यक्ति के शरीर में यह चक्राकार चलती है और उसमें शक्ति बढ़ती है। यह एक विद्युत अग्निमय गुप्त शक्ति है। कुण्डलिनी की गति प्रकाश की गति से भी अधिक तीव्र है। योगवाशिष्ठ में कुण्डलिनी के बारे में कहा गया है, *''रसौ वै सः''*, अर्थात् रसिकता भाव संवेदना अनेक कलाओं के रूप में विकसित होते हुए जीवन को रसयुक्त बना देती है। देवी भागवत में उल्लेख मिलता है कि इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, विज्ञानशक्ति क्रमशः तम्, रज, सत् गुणों की प्रतीक है, जिनकी शक्तियां महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती हैं। इनकी साधना से कुण्डलिनी का जागरण होकर वैभवों की उपलब्धि होती है तथा यह साधक को अनेक गुणा शक्तिशाली बना देती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कुण्डलिनी को संसार का सबसे प्राचीन ज्ञान माना गया है। संभवतः ऋग्वेद से भी पहले ही यह विद्या भारत में विद्यमान थी। कुण्डलिनी-साधना करके मनुष्य अमर, ज्ञानी, समस्त सिद्धि और निधियों से पूर्ण श्री युक्त बनता था। ध्यान बिंदु, ब्रह्म, क्षुरिका, नृसिंह पूर्ण तापनीय उपनिषदों के अतिरिक्त मैत्री, योग तत्त्व, राम तापनीय उपनिषद् में कुण्डलिनी को मंत्रात्मक तथा क्रियात्मक दोनों ही प्रकार से समझाया गया है।

सभी चक्रों के जागरण से पूर्व उपवास, नियम, तपादि से चित्त पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें, अन्यथा योग के स्थान पर निम्न रोग भी हो सकते हैं—

मूलाधार चक्र में—बवासीर या गुदाभ्रंश

स्वाधिष्ठान चक्र में—पीलिया, जलोदर, बहुमूत्र, मधुमेह

मणिपूर चक्र में—चर्मरोग, प्रदाह
अनाहत चक्र में—हृदय रोग, गठिया, जोड़ों का दर्द
विशुद्ध चक्र में—अर्बुद या कैंसर, नासूर
आज्ञा चक्र में—क्रोध, अविवेक, दृष्टिहीनता
सहस्त्रार चक्र में—पागलपन, उन्माद।

विशेष—सप्तचक्रों का ध्यान करते समय मुख्यत: एक बात जान लेनी चाहिए कि सभी पद्मों के मुख ऊपर की ओर हैं, किन्तु योगी अर्थात् फल की इच्छा वालों को सभी पद्मों के मुख नीचे की ओर किए हुए का ध्यान करना चाहिए।

कुण्डलिनी साधना से सम्बंधित विशेष जानकारी

कुण्डलिनी साधक प्राणायाम आदि विभिन्न क्रियाओं द्वारा अपनी प्राण शक्ति, ऊर्ध्वगामिनी बना सकता है। भिन्न-भिन्न योगमार्गों में किसी दिव्य शक्ति, श्रुति को ऊर्ध्वगामिनी बनाने की अनेक विधियां बताई गई हैं। इस महाशक्ति का साधन करने के लिए महाबंध, मूलबंध, जालंधर बंध, उड्डीयान बंध, महामुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, बज्रौली मुद्रा एवं खेचरी आदि मुद्रा की साधना करना आवश्यक है।

उपरोक्त हठयोग की दस मुद्राओं के द्वारा साधना करके भी उस कुल कुण्डलिनी शक्ति को, षट्चक्रों का भेदन करके सहस्त्रदल चक्र कमल में पहुंचाया जा सकता है। इन मूलाधार आदि छह चक्रों के ऊपर वाले स्थान पर हठयोग विद्या के अनुसार कई विचित्र स्थान हैं, उन्हें भी योगमार्ग में महत्त्वपूर्ण योगचक्र का स्थान दिया गया है। ये प्रमुख स्थान निम्न हैं—

पहला स्थान—भ्रमर गुफा
दूसरा स्थान—गोल्लाट
तीसरा स्थान—औटे पीठ
चौथा स्थान—त्रिकूट
पांचवां स्थान—श्रीहाट
उपरोक्त स्थानों पर श्रुति को भेजने से बड़े-बड़े दुर्लभ अनुभव प्राप्त होते हैं।

भ्रमर गुफा नामक योग विशिष्ट चक्र है। भ्रमर जप के द्वारा इस तक पहुंचा जा सकता है। सदाशिव इसके देवता हैं। कृष्ण वर्ण है। सतगुण, अर्धमात्रा, सूक्ष्म वेद, उन्मानि अवस्था और इसकी वाणी परात्पर है। कैवल्य मुक्ति इसका फल है।

गोल्लाट योग चक्र के देवता शिव हैं। श्वेत वर्ण है। वह तमोगुण प्रधान ''म'' कार अक्षर है। सामवेद से उसका उद्भव है और सुषुप्ति अवस्था है। पश्यन्ति वाणी है।

औटे पीठ योग चक्र का देवता ईश्वर है। वर्ण विद्युत समान है। सतगुण से युक्त ओंकार ''ॐ'' अक्षर है। अथर्ववेद इसका उद्भव है। तुरीय अवस्था है। परा वाणी है और मुक्ति की सायुज्यता इसका फल है।

त्रिकूट नामक योगचक्र के देवता ब्रह्मा हैं। रजोगुण प्रधान है। सूपीत वर्ण है। ओंकार उसका अक्षर है। ऋग्वेद से इसका उद्भव हुआ है। जाग्रत उसकी अवस्था है। वैखरी उसकी वाणी है। उसकी अंतिम स्थिति सलोकता है।

श्रीहाट नामक योगचक्र के देवता विष्णु हैं। मोती जैसा वर्ण है। सतोगुण प्रधान है। ओंकार अक्षर है। यजुर्वेद से उसका उद्भव है। स्वप्न उसकी अवस्था है। उससे मुक्ति की समीपता प्राप्त होती है। मध्यमा वाणी है।

उपरोक्त पांचों योगचक्रों के द्वारा साधना करने से कैवल्य मुक्ति प्राप्त की जा सकती है अर्थात् परब्रह्म के

कैवल्य धाम की प्राप्ति जीवात्मा को उस पवित्र साधना से हो सकती है। राजयोग के अभ्यास से भी अनन्त शक्तियां, सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

योगमार्ग के प्रति श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति करने के लिए योगियों ने योगमार्ग की बहुत-सी शक्तियों एवं योग सिद्धियों का प्रदर्शन किया है। एक योगी ने रक्तवर्ण के त्रिकोण में अग्नि तत्त्व का ध्यान और अग्नि के बीज मंत्र "**रं**" का निरंतर जप, साथ ही प्राणायाम करके अपने कपाल को इतना अधिक तपा लिया (गरम कर लिया) कि वहां उपस्थित लोगों को उसे हाथ लगाना ही कठिन हो गया। यह राजयोग, हठयोग एवं ध्यान योग की सम्मिलित क्रिया थी।

मंत्रयोग में भक्तियोग भी आ जाता है। मंत्र जप से भी आंतरिक सूक्ष्म प्रकाश अर्थात् आत्म तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है अर्थात् श्रुति को जाग्रत किया जा सकता है। नाद अनुसंधान योग, स्वर विज्ञान आदि के द्वारा भी अपनी श्रुति, महान ऊर्जा शक्ति को ऊर्ध्वगामिनी बनाया जा सकता है। अपने प्राणों को, श्रुति को, मूलशक्ति को ऊर्ध्वमुखी करने के लिए कुछ आवश्यक शारीरिक क्रियाओं के साथ-साथ केवल श्रद्धा, सत्य-निष्ठा, सच्चे उत्साह के साथ निरंतर ध्यान-साधना करते रहने से उस महान शक्ति (कुण्डलिनी) का जागरण संभव हो जाता है।

यदि भाग्यवश गुरुकृपा अथवा देवकृपा आदि के द्वारा उस शक्ति को जाग्रत होना है, तो वह महान शक्ति कोई-न-कोई बहाना बनाकर साधक में जाग्रत होती है और उसे अपनी विभिन्न प्रकार की उपलब्धियों, शक्तियों, विधियों और चमत्कारों से निहाल कर देती है।

जब वह दिव्य आंतरिक प्रेरणा, स्रोत रूपा प्राणशक्ति किसी साधक में विकसित होने लगती है, तो उसे कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती। साधकों का कल्याण करने वाली शक्ति साधक से वह सब क्रियाएं, साधनाएं आदि स्वाभाविक ही एक के बाद एक कराती रहती है। फिर एक दिन ऐसा आता है कि साधक को पता भी नहीं लगता और वह अपनी उपासना की चरम सीमा तक पहुंच जाता है।

कुण्डलिनी का प्रशस्त मार्ग

जाग्रतावस्था में कुण्डलिनी शरीर में नीचे से ऊपर की ओर गतिशील होती है। वह ज्यों-ज्यों अपने मार्ग पर प्रशस्त होती है, उसके मार्ग में पड़ने वाले तत्त्वों का लय हो जाता है। सर्वप्रथम मूलाधार चक्र में अवस्थित ब्रह्मा, डाकिनी शक्ति और अन्य देवता, घ्राणेंद्रिय तथा पंखुड़ियों के चारों वर्ण पृथ्वी बीज **लं** में गंधतत्त्व सहित लय होकर कुण्डलिनी के शरीर में लीन हो जाते हैं।

योगी साधक द्वारा ऊपर को प्रेरित की गई कुण्डलिनी जीवात्मा सहित स्वाधिष्ठान चक्र में प्रविष्ट हो जाती है। कुण्डलिनी के प्रवेश करते ही स्वाधिष्ठान की पंखुड़ियां तत्काल ऊर्ध्वमुख रूप में विकसित हो जाती हैं।

यहां विष्णु, राकिनी शक्ति और कमल में अवस्थित अन्य देवता पंखुड़ियों पर स्थित छहों वर्णों सहित लय होते हैं। ये सब और गंध तत्त्व रस में लीन हो जाते हैं। कुण्डलिनी के शरीर के कारण रूप से स्थित पृथ्वी बीज **लं**, वरुण बीज **वं** में लय हो जाता है। तदनंतर वरुण बीज **वं** भी कुण्डलिनी के साथ सशरीर हो जाता है।

तदुपरान्त योगी साधक के मूल मंत्र द्वारा कुण्डलिनी और भी ऊपर चढ़कर, जीवात्मा और रस तन्मात्रा के साथ तीसरे चक्र मणिपूर में प्रवेश करती है। इस स्थान पर रुद्र, लाकिनी शक्ति और चक्र में अवस्थित अन्य देवता, दस दलों पर स्थित दसों वर्ण तथा रस-तन्मात्रा इन सबका रूप में लय हो जाता है।

कुण्डलिनी के शरीर में कारण-रूप से स्थित वरुण बीज वं तेजस बीज **रं** में लय हो जाता है। तत्पश्चात् **रं** बीज भी कुण्डलिनी के शरीर में लीन हो जाता है। इसके बाद योगी द्वारा मूल मंत्र की सहायता से कुण्डलिनी का जीवात्मा सहित अनाहत चक्र में प्रवेश होता है। योगी साधक को यहां कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि तीसरे चक्र

मणिपूर और चौथे चक्र अनाहत के बीच में एक बड़ी कठिन गांठ है, जिसका नाम ब्रह्मग्रंथि है।

इस ब्रह्मग्रंथि का भेदन करते समय साधक साधारणतया आंत्रादि कष्ट से पीड़ित हो जाया करता है, उसका स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है, किन्तु इस पीड़ा से साधक को घबराकर ध्यान-साधना से मुक्त नहीं होना चाहिए, बल्कि अपने निश्चय पर अडिग रहना चाहिए।

ब्रह्मग्रंथि का भेदन करना तब तक संभव नहीं होता, जब तक साधक इन कठिन क्षणों पर पूर्णतया विजय नहीं पा लेता और एक वीर सैनिक की भांति कुण्डलिनी मार्ग के समस्त विघ्नों को दूर नहीं कर देता।

जीवात्मा सहित जब कुण्डलिनी अनाहत चक्र में पहुंचती है, तब ईश्वर, काकिनी शक्ति और कमल में अवस्थित अन्य देवताओं तथा इसकी पंखुड़ियों पर स्थित बारहों वर्ण स्पर्श तन्मात्रा में लय होने लगते हैं। कुण्डलिनी के शरीर में स्थित रूप तन्मात्रा और वह्नि बीज, वायु बीज "**यं**" में लय हो जाता है जो कुण्डलिनी के शरीर में लीन होता है। अब कुण्डलिनी एक दूसरी कठिन ग्रंथि का भेदन करती है। इसका नाम विष्णुग्रंथि है। इस ग्रंथि का भेदन कर कुण्डलिनी पांचवें चक्र विशुद्ध की ओर अपने मार्ग पर अग्रसर होती है।

कुण्डलिनी के विशुद्ध चक्र में पहुंचने पर सदाशिव, शाकिनी शक्ति और चक्र के अन्य अधिष्ठात्र देवता तथा पंखुड़ियों पर स्थित सोलहों वर्ण व्योम तत्त्व एवं शब्द तन्मात्रा में लय हो जाती है। कुण्डलिनी के शरीर में स्थित वायु बीज यं वागंद्रिय और तन्मात्रा सहित आकाश बीज हं में लय हो जाता है, जो फिर कुण्डलिनी में लीन हो जाता है।

इसके पश्चात् योगी साधक द्वारा मंत्र योग की सहायता से कुण्डलिनी छठे चक्र आज्ञा की ओर चढ़ती (बढ़ती) है। यहां पर शिव, हाकिनी शक्ति और चक्र में अवस्थित अन्य तत्त्व आकाश बीज हं तथा तन्मात्रा सहित अहंकार तत्त्व में लय हो जाते हैं, ज़ो स्वयं कुण्डलिनी के शरीर में लीन होता है।

तदनन्तर कुण्डलिनी तीसरी तथा अंतिम ग्रंथि का भेदन करने के लिए बढ़ती है। इस ग्रंथि का नाम रुद्रग्रंथि है। उपर्युक्त तीनों ग्रंथियों में सबसे कठिन ग्रंथि यही मानी जाती है। रुद्रग्रंथि का भेदन हो जाने पर कुण्डलिनी स्वतः सहस्त्रार चक्र में प्रवेश कर जाती है। वहां यह परम शिव से लिपटकर एकाकार हो जाती है। कुण्डलिनी की परावस्था महाकुण्डलिनी सहस्त्रों सूर्यवत् दीप्तिमान साथ ही सहस्त्रों चंद्रवत् शीतल एवं निरंतर अमृतवर्षी प्रणव के रूप में उद्घाटित होती है।

सप्तचक्रों से प्रभावित साधक

कुण्डलिनी जागरण योग भी परम सिद्धि है। किन्तु इसे प्राप्त करने का मार्ग सरल नहीं है। वस्तुतः निष्ठावान साधक श्रद्धा, विश्वास, धैर्य से इसे जाग्रत कर सकते हैं। प्रत्येक चेतन व्यक्ति किसी-न-किसी चक्र से अवश्य प्रभावित रहते हैं। जैसे—

मूलाधार चक्र—इस चक्र से प्रभावित व्यक्ति अपनी असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहते हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र—इस चक्र से प्रभावित व्यक्ति कला, साहित्य के प्रेमी, राजा, सम्राट अथवा वीर होते हैं।

मणिपूर चक्र—इस चक्र से प्रभावित साधक अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाले, दानी, परोपकारी तथा धर्म-अधर्म को समझने वाले होते हैं।

अनाहत चक्र—इस चक्र से प्रभावित साधक कलाकार, गायक, संत अथवा कवि होते हैं।

विशुद्ध—इस चक्र से प्रभावित साधक श्रेष्ठ बुद्धि वाला तथा अपने मनोभावों पर कठोर नियंत्रण करने वाला होता है।

आज्ञा चक्र—इस चक्र से प्रभावित साधक राजयोगी एवं स्थित प्रज्ञ होते हैं।

सहस्त्रार चक्र—इस चक्र से प्रभावित साधक ईश्वर के साक्षात् दर्शन कर सकता है तथा अमरत्व को भी सहज ही प्राप्त कर लेता है।

चक्रों का ध्यान-पूजन

मूलाधार चक्र—इस चक्र में पार्थिव रश्मियों से आवृत श्री भगवती का पूजन करें (जो साधक यह पूजन-ध्यान करता है, वह सौभाग्यशाली होता है तथा भगवती की कृपा का पात्र बनता है)।

स्वाधिष्ठान चक्र—तेजस रश्मियों से आवृत श्रीचक्र का लिंग देश स्थित स्वाधिष्ठान पर पूजन करें।

मणिपूरक चक्र—नाभि में स्थित मणिपूर चक्र के मध्यस्थ, जल रश्मियों से आवृत श्रीचक्र का पूजन करें।

अनाहत चक्र—हृदय रूपी कमल पर विराजमान अनाहत में स्थित वायु रश्मियों से स्थित श्रीचक्र का पूजन करें।

विशुद्ध चक्र—समाहित-चित्त होकर विशुद्ध चक्र पर विराजमान आकांक्षाशुओं से आवृत श्रीचक्र का सवार्थ-सिद्धि के लिए पूजन करें।

आज्ञा चक्र—इस चक्र पर विराजमान तथा मानसांशुओं से आवृत श्रीचक्र का पूजन करें (यह ध्यान-पूजन सौभाग्य सिद्धि के लिए अवश्य किया जाना चाहिए)।

सहस्त्रार चक्र—कपाल पर स्थित ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान, सर्व रश्मियों से आवृत सहस्त्रार में जगत की विधाता शक्ति का पूजन करें।

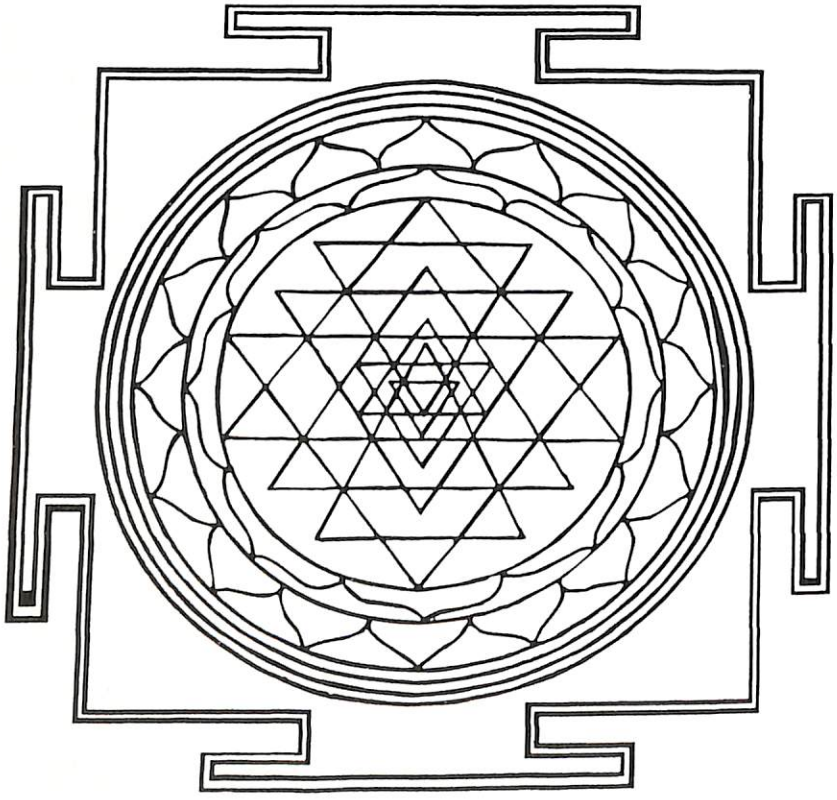

सप्तवारों में सप्तचक्रों का ध्यान-पूजन

रविवार के दिन मूलाधार चक्र, सोमवार के दिन मणिपूर चक्र, मंगलवार के दिन स्वाधिष्ठान चक्र, बुधवार के दिन अनाहत चक्र, गुरुवार (बृहस्पतिवार) को विशुद्ध चक्र, शुक्रवार के दिन आज्ञा चक्र और शनिवार के दिन सहस्त्रार चक्र पर ध्यान एवं पूजन करना चाहिए। ऐसा करने से परम सिद्धि होती है तथा साधक अजेय बनता है।

कुण्डलिनी जाग्रति का स्थान और उसका प्रभाव

जिस प्रकार भूगोल-वेत्ताओं ने भौतिक सरंचना के आधार पर पृथ्वी को विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त करके प्रत्येक क्षेत्र की जलवायु, उपज और स्थानगत विशेषता की विवेचना की है, उसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में मनीषियों ने प्रत्येक कार्य के लिए अनुकूल-प्रतिकूल स्थान का निर्देश दिया है।

एक अनपढ़, गंवार आदमी भी यह जानता है कि नदी-तट पर, बालू में ईख या गेहूं की खेती नहीं की जा सकती और न वहां धान बोने से ही कोई लाभ होगा। वह प्रत्येक फसल, वनस्पति के लिए तदनुकूल भूमि और जलवायु की खोज करती है। ठीक यही नियम जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी कार्यशील रहता है।

पूजन, चिंतन, जप-तप, भोजन, शयन, राग-रंग, युद्ध और समाधि—ये सब तभी अनुकूल प्रभाव देते हैं, जब इसके लिए वांछित स्थान और परिवेश का चयन किया गया हो। जैसे, भोजन वही हो, फिर भी यदि कोई व्यक्ति वह थाली लेकर चौके, मंदिर, खेत, घर, मैदान, श्मशान, भीड़, वधभूमि अथवा किसी सवारी पर बैठकर भोजन करे, तो यह निश्चित है कि स्थान और वातावरण के भेद से वही भोजन उसे प्रत्येक स्थिति-स्थान में भिन्न प्रकार का प्रतीत होगा। स्वाद, रुचि, संतुष्टि—तीनों में वह स्थानगत प्रभाव का अंतर अनुभव करेगा।

स्थानगत प्रभाव की ऐसी ही सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं को दृष्टिगत रखते हुए, योग एवं अध्यात्म साधना के मर्मज्ञों, मनीषियों और शास्त्रकारों ने अनुकूल और प्रतिकूल स्थानों की विशद् विवेचना की है। उनके निर्देशानुसार गुरु दीक्षा तक प्राप्त करने के लिए भी स्थान की अनुकूलता आवश्यक रहती है। वर्जित अथवा त्याज्य स्थान में ली गई दीक्षा और की गई ध्यान-साधना निष्फल होती है। यही नहीं, कभी-कभी तो स्थान का दुष्प्रभाव योग साधक के लिए प्राण-संकट उत्पन्न कर देता है। अतः प्रत्येक कार्य में स्थान-चयन को भी वरीयता देनी चाहिए।

अनुकूल स्थान

गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थान तो कोई तीर्थ ही होता है, किन्तु यदि वैसा संभव न हो तो भी यथा-साध्य किसी शुभ, पवित्र, शांत और निर्विघ्न स्थान का ही चयन करना चाहिए।

सामान्यतः दीक्षा-प्राप्ति के लिए तीर्थ स्थान का कोई उत्तम पवित्र स्थल, देव-मंदिर, सरिता-तट या कोई सुरम्य, रमणीक और प्राकृतिक दृष्टि से संपन्न, सात्त्विक वातावरण वाला स्थल, तपोभूमि, गुरु का निवास स्थान अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से अन्य कोई महत्त्वपूर्ण स्थान उत्तम होता है। जहां भी दीक्षा ग्रहण की जाए, उस स्थान को झाड़-पोंछकर, लीप-पोतकर स्वच्छता और शुचिता का वातावरण बना लेना चाहिए।

दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् साधना के लिए भी स्थान को महत्त्वपूर्ण कहा गया है। जहां भी पाएं, बैठकर जप-तप अथवा योग की ध्यान-साधना में लग जाएं, यह उचित नहीं। कार्य-विशेष, साधना-विशेष और समय के आधार पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों (स्थानों) को उपयोगी बताया गया है। किन्हीं विशेष कृत्यों (अभिचार आदि) के लिए तो श्मशान, वध-भूमि और जन मार्ग को ही साधना के लिए प्रभावकारी माना जाता है, किन्तु शांति-पुष्टि के कार्यों के निमित्त, भौतिक समस्याओं के समाधान हेतु तथा कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए, ध्यानादि हेतु शुद्ध-पवित्र स्थलों को ही उपयुक्त माना गया है। इस संबंध में ऋषिजनों का निर्देश इस प्रकार है—

योग साधना और कुण्डलिनी-जागरण-ध्यान के लिए पर्वतीय क्षेत्र, घाटी या तराई, गुफा, वन, फुलवाड़ी, संगम-तट, तीर्थ स्थान, सिद्धपीठ, बेल-वृक्ष की छाया, तुलसी वाटिका, पीपल अथवा आंवले की छाया, देवालय, गो-सदन और तपोभूमि जैसे स्थान विशेष हितकर होते हैं। वस्तुतः यह स्थान-चयन पूर्णतया वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं।

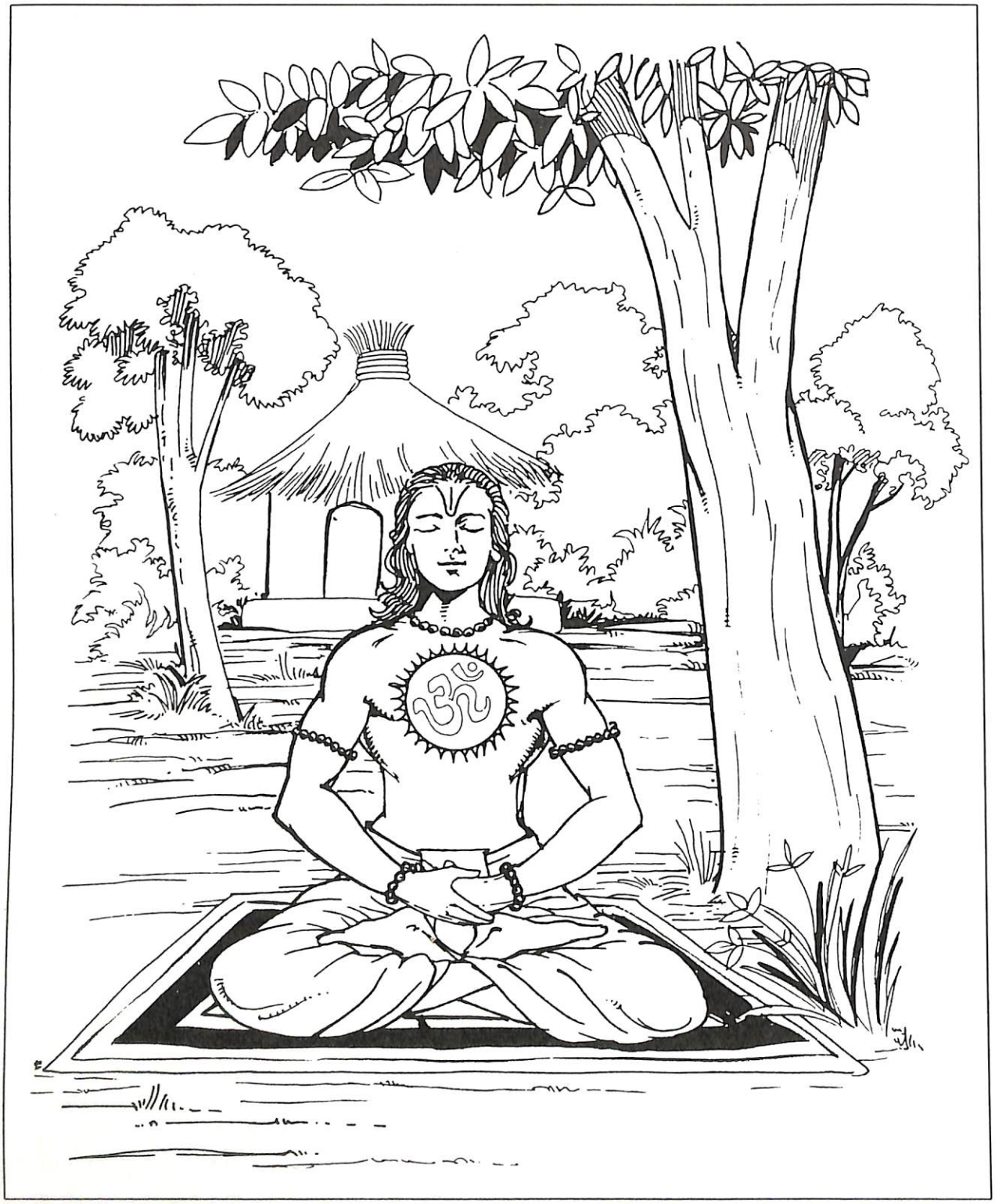

बाहरी और भीतरी अनुकूलता से साध्य की प्राप्ति जल्दी होती है। इस विषय में कि साधक कैसे बाह्य प्रतिकूलताओं को अनुकूल बनाए, धर्मग्रंथों में कई साधन बताए गए हैं

निषिद्ध स्थान

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, अपने वातावरणीय-दुष्प्रभाव के कारण कुछ स्थान सात्त्विक कार्यों के लिए वर्जित माने गए हैं, कारण कि वे शुभ फलदायक नहीं होते। यहां तक कि ऐसे अशुभ स्थानों में दीक्षा प्राप्त करने अथवा वहां कोई साधना करने में सफलता तो दूर रही, साधक के लिए अनेक प्रकार की बाधाएं शत्रुवत् आ खड़ी होती हैं। इन बाधाओं का रूप कभी-कभी मृत्यु जैसा मारक भी हो जाता है। अत: दीक्षा लेने अथवा जप-तप, पूजा-पाठ, ध्यान-साधना जैसे कार्यों के लिए उचित और शास्त्र-सम्मत स्थान ही ग्राह्य होता है, वर्जित स्थानों का उपयोग भूलकर भी नहीं करना चाहिए।

वर्जित स्थानों में विशेष रूप से कन्या-गृह (पुत्री की ससुराल), विरजा-तीर्थ, चंद्र-पर्वत, सूर्य क्षेत्र, मातंग देश, भट्ट-ग्राम, गया-धाम आदि की गणना होती है। स्थानीयता की दृष्टिकोण से साधक को चाहिए कि वह गंदे, मल-मूत्र विसर्जित किए जाने वाले, कूड़ा-करकट इकट्ठा किए गए, भीड़-भाड़ वाले, हिंसक पशुओं के निकट, शत्रु के प्रभाव-अधिकार वाले स्थानों में ध्यान-योगादि की कोई साधना न करें। कारण कि वहां विघ्न की आशंका प्रति क्षण रहती है। इसी प्रकार मरघट, बलि-स्थान, पशुमंडी, पशुओं की वध-भूमि, चोर-डाकुओं का विश्राम-स्थल, अपराधी जनों का कार्यक्षेत्र, जहां कभी कोई हत्या-अनाचार जैसा पातक कर्म हुआ हो, आदि स्थान भी योग साधना के निमित्त वर्जित माने गए हैं।

शिष्य/गुरु के अनिवार्य गुण

जिस प्रकार कोई द्रव पदार्थ (तरल वस्तु) रखने के लिए गहरे पात्र की आवश्यकता होती है (उसे तश्तरी या प्लेट में नहीं रखा जा सकता), उसी प्रकार सामान्य जीवनचर्या की अपेक्षा आध्यात्मिकचर्या (ध्यान, साधना) के लिए कुछ विशिष्ट गुणों का होना अनिवार्य माना गया है। ये गुण शास्त्रों में इस प्रकार बताए गए हैं—

साधक को शीलवान, गुणज्ञ, निश्छल, श्रद्धालु, धैर्यवान, स्वस्थ, कार्य सक्षम, बुद्धिमान, सच्चरित्र, इन्द्रिय-संयमी और कुल-प्रतिष्ठा का पोषक होना चाहिए। इन लक्षणों से रहित व्यक्ति साधना नहीं कर सकता।

शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ, समर्थ और संयमशील होना, योग साधना में सफलता प्राप्ति के लिए पहली शर्त है। ऐसे ही व्यक्ति साधना के अधिकारी होते हैं और उन्हें दीक्षा देने वाले गुरु का श्रम सार्थक है।

अधिकांश गुरु जो ऊपर वर्णित गुरुओं की श्रेणी में आते हैं, किसी को दीक्षा देने के पूर्व उसके सम्बंध में इन गुणों की, उसकी पात्रता की परख कर लेते हैं। चूंकि वे वीतराग और निर्लोभ होते हैं, अत: शिष्य का चुनाव करते समय उसकी आध्यात्मिक पात्रता को परखते हैं, उसकी भौतिक धन-संपत्ति से उन्हें कोई मतलब नहीं होता।

मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के जीवन में उसके दूरगामी प्रभावों की विवेचना करते हुए, निष्कर्ष रूप में शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किया है कि अयोग्य (दुर्गुणों से युक्त) व्यक्ति न तो गुरु से दीक्षा पाने का अधिकारी है और न वह दीक्षित होने पर ध्यान-साधना के क्षेत्र में कोई उपलब्धि ही कर पाता है। कुण्डलिनी का जागरण वह नहीं कर सकता, बल्कि ऐसे व्यक्ति का योग के प्रथम चक्र तक पहुंचना भी कठिन है।

संभवत: यही कारण है कि प्राय: संत, महात्मा हर किसी को अपना शिष्य नहीं बना लेते। कुपात्र जनों को दिया जाने वाला ज्ञानोपदेश, आध्यात्मिक संकेत, साधना परामर्श और तंत्र-मंत्र दीक्षा आदि सब निरर्थक होते हैं।

गुरु-शिष्य के बीच पारस्परिक सम्बंध बहुत शुचिता और परख के आधार पर स्थापित होने चाहिए, तभी उनमें स्थायित्व आ पाता है। इसलिए गुरुजनों को भी निर्दिष्ट किया गया है कि वे किसी को शिष्य बनाने, उसे दीक्षा देने के पूर्व उसकी पात्रता को भली प्रकार परख लें। ऋषियों का कथन है—

मंत्री द्वारा किए गए दुष्कृत्य का पातक राजा को लगता है और सेवक द्वारा किए गए पाप का भागी स्वामी बनता है। स्वयं-कृत पाप अपने को और शिष्य द्वारा किए गए दुष्कृत्य का पाप गुरु को लगता है। दीक्षा और साधना के लिए अयोग्य व्यक्तियों के लक्षणों को मनीषियों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऐसा व्यक्ति, जो अपराधी मनोवृत्ति का हो अथवा क्रूर, पापी, हिंसक हो, वह न तो दीक्षा पाने का अधिकारी है और न वह कुण्डलिनी योग साधना में ही सफल हो सकता है। कारण कि उसकी तामसिक मनोवृत्ति उसे सदैव अस्थिर और असंतुलित बनाए रखती है। इसी प्रकार बकवादी, कुतर्क करने वाला, मिथ्याभाषी, अहंकार-ग्रस्त, लोभी, लम्पट, विषयी, चोर, दुर्व्यसनी, परस्त्रीगामी, मूर्ख, जड़-बुद्धि, क्रोधी, द्वेषालु, ईर्ष्या अथवा अतिमोह से ग्रस्त, शास्त्र-निंदक, आस्थाहीन, दुराचारी, वंचक, पाखण्डी और रोग-विकलांगता से व्यथित व्यक्ति भी न तो गुरु दीक्षा पाने योग्य होता है और न कुण्डलिनी योग साधना करने के योग्य। ऐसे व्यक्ति का हर कार्य मात्र एक ढकोसला होता है।

श्री गुरु उपासना

समस्त योग, ध्यान-साधना का मंगल प्रस्थान श्री गुरु की उपासना से ही आरंभ होता है। ''गुरु बिन ज्ञान नहीं'', वाली उक्ति वस्तुतः सत्य है। प्रत्येक प्रकार का ज्ञान गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। यह बात कुण्डलिनी जागरण के क्षेत्र में और भी अधिक महत्त्व रखती है, क्योंकि इस क्षेत्र में अनेक रहस्यों को गुप्त रखने के लिए पद-पद पर शास्त्रकारों ने आदेश दिए हैं।

इनके साथ ही कुण्डलिनी योग साधना में ज्ञान के साथ-साथ कर्म को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। जिस प्रकार कोई पक्षी आकाश में एक पंख से नहीं उड़ सकता, उसी प्रकार केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म से इस मार्ग में सफलता या सिद्धि नहीं मिलती है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां पक्षिणः खे यथागतिः।
तथैव ज्ञान-कर्माभ्यां साधनायां सदागतिः॥

ज्ञान तो हमें ग्रंथों, पुस्तकों से भी कुछ अंशों में मिल जाता है, किन्तु कर्म-क्रिया की पद्धति तो गुरु से ही प्राप्त होती है।

एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु द्वारा मिले हुए मार्ग-दर्शन से एक निश्चित संरक्षण मिल जाता है। उसमें शंकाओं को कोई अवकाश नहीं रहता। शास्त्रों में गुरु की महिमा बतलाते हुए कहा गया है—

गुरुपाद-विहीना ये, ते नश्यन्ति ममाज्ञया।
गुरुर्मूलं हि मन्त्राणां, गुरुर्मूलं परं तपः॥
गुरौः प्रसादमात्रेण, सिद्धिरेव न संशयः।
अहं गुरु रहं देवो, मन्त्रार्थोऽस्मिन्न संशयः॥

भगवती भैरवी ने यहां स्वयं कहा है, ''गुरु सेवा से विहीन मेरी आज्ञा से नष्ट हो जाते हैं। समस्त मंत्रों का मूल गुरु ही है। गुरु ही परम तप है। गुरु की केवल प्रसन्नता से ही अवश्य सिद्धि होती है, इसमें संशय नहीं है। मैं भैरवी ही गुरु हूं और मैं ही मंत्रार्थ हूं।''

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि उपास्य देव और गुरु दोनों में समान श्रद्धा रहने पर ही उपासना (साधना) फलवती होती है।

गुरु की कृपा से शक्ति प्रसन्न होती है और शक्ति की प्रसन्नता से मोक्ष होता है। कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए तथा अहर्निश दास की तरह उनकी आज्ञा माननी चाहिए। इतना ही नहीं, गुरु की पादुका, आसन, वस्त्र, शय्या एवं भूषणादि देखकर भी उन्हें प्रणाम करना चाहिए।

गुरु प्रणाम के लिए कतिपय नियमों का निर्देश भी यहां किया गया है, जिसमें बतलाया गया है कि सदा पादुका-मंत्र का स्मरण करते रहें। जब गुरु और शिष्य एक स्थान अथवा एक ग्राम में रहते हों तो शिष्य को प्रतिदिन गुरु के पास जाकर उन्हें प्रणाम करना चाहिए।

सात योजन तक के विस्तार में यदि गुरु रहते हों, तो मास में एक बार उनके दर्शन अवश्य कर आना चाहिए। गुरु जिस दिशा में रहते हों, उस दिशा में भक्तिपूर्वक प्रणाम करें। कभी उनके साथ एक आसन पर न बैठें। अंत में कहा गया है—

गुरुभक्त्या च शक्रत्वमभक्त्या शूकरो भवेत्।
गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः॥

श्री गुरु उपासना के प्रकार

कुण्डलिनी योग साधना के प्रत्येक अनुयायी के लिए गुरु-स्मरण का बड़ा महत्त्व है। अतः प्रातःकाल में निद्रा का त्याग करते ही हाथ, पैर और मुखादि का प्रक्षालन करके पवित्रतापूर्वक सहस्रार में गुरु, परमगुरु और परमेष्ठी गुरु का गुरुपदेशानुसार पादुका-मंत्र का जप करके स्मरण करना चाहिए। रुद्रयामल तंत्र के अनुसार स्मरण योग्य पद्य इस प्रकार है—

शिरःस्थितसुपंकजे तरुण-कोटि-चन्द्रप्रभं,
वराभय-करांबुजं सकल-देवतारूपिणम्।
भजामि वरदं गुरुं किरण-चारु-शोभाकुलम्,
प्रकाशित-पदद्वयाम्बुज-लसत्क-कोटिप्रभम्॥
जगद्भय-निवारणं भुवन-भोग-मोक्षप्रदं,
गुरो पदयुगाम्बुजं जयति यत्र योगे जयम्।
भजामि परमं गुरुं नयन-पद्म-मध्यस्थितम्,
भवाब्धि-भयनाशनं शमन योग कायक्षमय्॥
प्रकाशित-सुपंकजे मृदुल-षोडशाख्ये प्रभुं,
परापर गुरं भजे सकल-बाह्यभोगप्रदम्।
विशाल नयनाम्बुज-द्वय-तडित्प्रभा मण्डलं,
कडार-मणिपाटलप्रभ-समुल्लसद् बिन्दुकम्॥
चलाचल कलेवरं प्रचपले दले द्वादशे,
महौज समुमापतेर्विगतदक्षभागे हृदि,
भजामि परमेष्ठिनं गुरुमतीव वारोज्ज्वलम्॥

गुरु मंत्र के संबंध में कहा गया है कि "ओम् ऐं नाम" (मंत्रदाता गुरु का जो नाम हो, उसके साथ चतुर्थी विभक्ति का एक वचन लगाकर बोलें) आनन्दनाथाय गुरवे नमः ओम्, इस प्रकार लघु मंत्र का जप किया जाए अथवा "गुरु पादुका-मंत्र" जो उसे उपदेश प्राप्त हुआ हो, उसका जप करें। गुरु स्तोत्र का पाठ करें।

गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः।
गुरुपूजां बिना नाथ कोटिपुण्यं वृथा भवेत्॥

अर्थात् संपूर्ण भक्ति शास्त्रों में गुरु की भक्ति से बढ़कर कोई दूसरी भक्ति नहीं है। इसलिए हे नाथ! गुरु की पूजा किए बिना करोड़ों पुण्य भी व्यर्थ हो जाते हैं।

गुरु पूजा एक तो नित्य होती है और एक ''गुरु जयंती'' आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा अर्थात् गुरु पूर्णिमा को होती है। नित्य पूजा में स्मरण तथा चित्र पूजा होती है, किन्तु गुरु पूर्णिमा को विशेषत: यदि गुरु विद्यमान हों तो ''साक्षात् पूजा'' और न हों तो ''विशेष पूजा'' करनी चाहिए। यह तांत्रिक संप्रदाय के अनुसार सशक्ति गुरु की पूजा होती है।

शक्ति (गुरु पत्नी) के अभाव में ज्ञान-शक्ति का स्मरण-पूजन होता है। विशेष पूजा में गुरु मण्डलार्चन का आगमिक विधान है। आगम रहस्य में ''गुरु-पूजन पंचांग'' का संकलन करते हुए वहां ''गुरु-ध्यान, मंत्र, पटल, गायत्री, प्रार्थनास्तोत्र, कवच, पूजन-पद्धति'' आदि का निर्देश किया गया है। अत: विशेष जानने और कर्म करने के इच्छुक मूल-पाठ वहीं से प्राप्त करें।

गुरु-पूजा विधान

गुरु यंत्र का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

बिन्दु-त्रिकोणं वसुकोण-विम्बं, वृत्ताष्टपत्रं शिखिवृत्तयुक्तम्।
धरागृहं वह्नितुरीभिराढ्यं यन्त्रं गुरोर्देवि मया प्रदिष्टम्॥

इसके अनुसार बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अष्टदल तथा भूपुर से यह यंत्र बनता है।

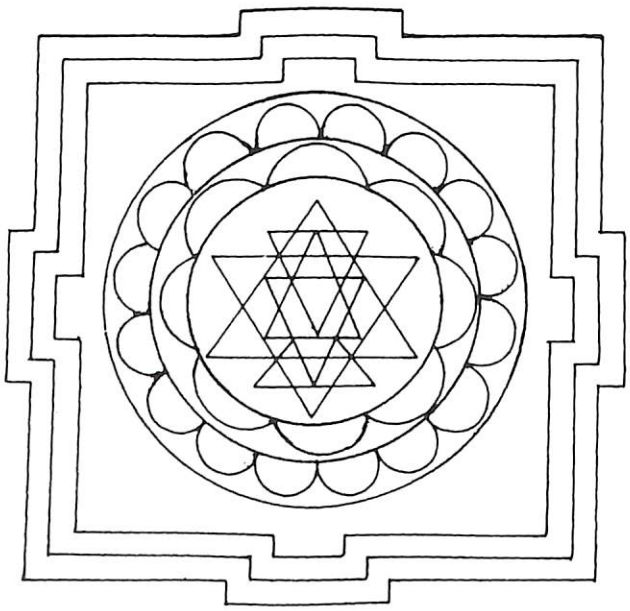

इस यंत्र को सिंदूर, कुंकुम अथवा चंदन से भूर्जपत्र अथवा चंदन के पट्टे पर बनाकर पहले प्रतिष्ठा करें। तदनन्तर शक्ति सहित श्री गुरु की बिन्दु में स्थापना और पूजा करें। चारों द्वारों पर ''गणेश, धर्म, वरुण, कुबेर'' की पूजा करें।

अष्टदल में असितांग, रुद्र, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपाल, भीषण और संहार भैरव की पूजा करें।

अष्टकोण में परमानन्द, प्रकाशानन्दनाथ, भोगानन्दनाथ, समयानन्दनाथ, गगनानन्दनाथ, विश्वनन्दनाथ, भुवनानन्दनाथ तथा स्वात्मानन्दनाथ रूप अष्ट कुलगुरुओं की पूजा करें।

त्रिकोण में मदनानन्दनाथ, लीलानन्दनाथ तथा महेश्वरानन्दनाथ की पूजा करें।

बिन्दु में पुनः गुरु और उनके ऊपर वाले भाग में परमगुरु, परात्पर गुरु और परमेष्ठि गुरु की भक्तिपूर्वक षोडशोपचार पूजा करें।

गुरु गायत्री—''ॐ वेदादिगुरुदेवाय विद्महे, परमगुरवे धीमहि, तन्नो गुरुः प्रचोदयात्।'' के द्वारा भी यह पूजा विधान सम्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार यंत्र पूजा करके किसी एक गुरु मंत्र का जप करना चाहिए। सर्व साधारण में यह भी परंपरा प्रचलित है कि गुरुजी के द्वारा जो मंत्र प्राप्त होता है, वह चाहे किसी देव विशेष का हो, उसी को गुरु मंत्र समझ लेना चाहिए। किन्तु हमारे विचार से यह उचित नहीं है। हमारे मत से गुरु मंत्र दाता गुरु का स्वतंत्र मंत्र होता है। जैसा कि हमने ऊपर बताया कि उसी का जप करना चाहिए। वैसे प्रत्येक देवता के मंत्र की दीक्षा लेने वाले गुरु के लिए ''गुरु पादुका-मंत्र'' के जप तथा उस मंत्र के द्रष्टा गुरु की पादुका के मंत्र का भी जप किया जाता है, यह शास्त्रोक्त विधान है। रुद्रयामल के उत्तरतंत्र के प्रथम अध्याय में यह विषय विस्तार से लिखा है। गुरु कृपा करने के लिए गुरु का हृदय में निवास तथा विवेक, विमर्श और प्रकाश की नितांत आवश्यकता है। अतः निम्नलिखित स्तोत्र का पाठ अवश्य किया जाना चाहिए—

नमस्ते नाथ भगवन्! शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतार संसिद्ध्यै स्वीकृतानेक-विग्रह॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैक रूपिणे।
सर्वाज्ञान-तमोभेदभानवे चिद्घनाय ते॥
स्वतन्त्राय दयाक्लृप्त-विग्रहाय परात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे॥
विवेकिनां विवेकाय विमर्शाय विमर्शिणाम्।
प्रकाशिनां प्रकाशाय ज्ञाननिनां ज्ञानरूपिणे॥
पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्यकुर्यामुपर्यधः।
सदा मच्चित्तरूपेण विधेहि भवदासनम्॥

गुरु पादुका का मंत्र जप करने के पश्चात् सहस्रदल पद्म में मृगी मुद्रा से जप करने का आदेश है। अतः इस ओर सावधान रहते हुए गुरु-स्मरण किया जाए, तो कुण्डलिनी पर ध्यान का फल शीघ्र ही प्राप्त होता है। ❑❑

नि:श्वास : सत्रह

शारीरिक चक्र और उनकी साधना

जब बात कुण्डलिनी की आती है, तो सहज ही इससे सम्बद्ध शारीरिक षट्चक्र और अन्य चक्रों का विचार हो जाता है। तंत्र-ग्रंथों में षट्चक्र और उनके भेदन की महत्ता दिखाकर कहा गया है—

षट्चक्र प्रीतिर्यस्य साधनचेतसः।
संसारे वा वने वाऽपि स सिद्धो भवति ध्रुवम्॥

अति प्रसिद्ध षट्चक्र क्रमशः—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा चक्र हैं। रुद्रयामल तंत्र में उनके दलों के आधार पर भी निम्न विवरण दिया गया है—

मूलाधार के चार दलों में क्रमशः—भूमि, स्वर्ग, तुलाचक्र एवं वारिचक्र भी स्थित है तथा इनमें स्थित वर्णों के जप से इन्हीं में विद्यमान अनेक ग्रंथियों के भेदन का भी संकेत दिया है। प्रत्येक चक्र का वर्णन और उसमें जप की विशिष्ट फलप्रदता भी यहां अति विस्तृत है।

''षट्चक्र फलोदय'' में छहों चक्रों की स्थिति, आकृति, उनके देवता, वर्ण और उनके ध्यान का विषय व्यक्त किया गया है। इन सबके वर्णन में कुण्डलिनी को नहीं भुलाया गया है, अपितु साथ-ही-साथ उसके संबंध में भी उपयोगी निर्देश किए हैं।

छहों चक्रों में विराजमान देव और उनकी योगिनियों का यहां (ग्रंथ में) विस्तार से वर्णन किया गया है। ये योगिनियां शाकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिनी, डाकिनी और हाकिनी हैं। इसी प्रसंग से योग-साधना करने का काल यज्ञोपवीत- संस्कार के साथ माना गया है—

प्राप्ते यज्ञोपवीत यः श्रीधरो ब्राह्मणोत्तमः।
योगाभ्यासं सदा कुर्यात् स भवेद् योगिवल्लभः॥

क्रमशः साधना करते हुए भक्षण-नियम, अभक्षण-त्याग, पयोभक्षण, आसन, कालनिर्णय जैसी महत्त्वपूर्ण बातों का ध्यान तथा करने योग्य यौगिक कर्मों का निर्देश रुद्रयामल तंत्र में दिया गया है। ब्रह्मचर्य का वास्तविक पालन बाल्यकाल से ही किया जाए तो वह अग्रिम काल में सुसाध्य बन जाता है, क्योंकि कामादि-संहरण के बिना योग भी कैसे किया जा सकता है?

षट्चक्रों की भाव-सिद्धि के लिए वायु के द्वारा ही यजन किया जाता है। मूलाधार से आज्ञा तक के चक्रों की भावना यहां निर्दिष्ट है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्राणायाम से ऊपर उठकर योग में विघ्न करते हैं, किन्तु कुम्भक द्वारा अवरुद्ध हो जाने पर तत्काल सिद्धि प्रदान करते हैं।

प्रणव के तीन वर्ण ''अ-उ-म्'' क्रमशः योग पूरक, योग कुम्भक और योग रेचक के आधार हैं। इन्हीं से ''सोऽहम्'' तथा ''हंस'' मंत्र बनते हैं।

यह सर्वविदित है कि हमारे श्वास-प्रश्वास से रात-दिन एक महामंत्र का जप चलता रहता है। उसको शास्त्रकारों ने ''हंस-मंत्र'' अथवा ''हंस-गायत्री'' कहा है, जिसमें ''सोऽहम्-हंस'' का स्वरूप निहित है। इसी सोऽहम् जप को अजपागायत्री कहते हैं। हमें इसका ज्ञान न होने से, हम इसके तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाते, किन्तु सिद्धजन इसी अजपाजप से मुक्ति द्वार उद्घाटित करते हैं। यही सोऽहम् जब वाणी का रूप धारण करता है, तो ''स'' और ''ह'' का लोप होकर ''ओम्'' बन जाता है। अत: ओम् का निरंतर जप करते रहने से सभी सिद्धियां सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

''सोऽहम्'' तथा ''हंस'' मंत्र बनते हैं। इन्हीं मंत्रों से बना ''बृहद् हंस-मंत्र'' भी निम्न दिया जा रहा है—

ओम् हंस: ओम् परमपदं तर्पयामि ओम् फट्।

इस मंत्र का जप करने से षट्चक्रों का भेदन होता है। वायु-सिद्धि का भी यही मंत्र है। चक्र-भेदन के लिए भी उनके उपायों का उल्लेख मिलता है, जिनमें खान-पान का संयम, विभिन्न आसन, काल, क्रिया एवं शिव साधन भी हैं।

वस्तुत: जिस प्रकार योग के प्रकारों में हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग और लययोग पृथक-पृथक होते हुए भी मिश्रित रूप में भी प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार चक्र और उनकी साधना में भी इन सबका उभयविध प्रयोग होता है।

चक्रों में व्याप्त अंतर्नाड़ियों का स्वरूप, ध्यान और उनसे संबद्ध मंत्र बीजों का स्मरण भी यहां निर्दिष्ट है। चक्रेशीरूप योगिनियों के सहस्रनाम तो संभवत: रुद्रयामल तंत्र में ही प्रोक्त हैं, जो कि अत्यंत दुर्लभ हैं।

❑❑

नि:श्वास : अट्ठारह

कुण्डलिनी साधना के कुछ स्त्रोत

रुद्रयामल (उत्तरतंत्र) में कुण्डलिनी-प्रबोधन के लिए स्तोत्र, ध्यान, न्यास, मंत्र, कवच और सहस्त्रनाम आदि का वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी को ही मानव की जीवनी-शक्ति भी कहा गया है। वह मृणालतंतु के समान कोमल और सूक्ष्म है।

मानव-शरीर में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन सूक्ष्म नाड़ियां हैं, जिनके बारे में पीछे भी काफी विस्तार से बताया जा चुका है कि इड़ा का संबंध चंद्रस्वर से, पिंगला का संबंध सूर्यस्वर से है। जबकि सुषुम्ना शून्य नाड़ी है। जैसे इड़ा और पिंगला नाड़ी मूलाधार चक्र से चलकर भ्रूमध्य में होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है। उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी भी मूलाधार (उपस्थ से दो अंगुल नीचे और गुदा से दो अंगुल ऊपर) स्थान से इन तीनों नाड़ियों का संगम होता है। इसलिए उस स्थान को अंतर्जगत का प्रयाग धाम कहा जाता है।

कुण्डलिनी मूलाधार पद्म में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन चक्करों से आवेष्टित करके अपने मुख से सुषुम्ना-पथ को रोककर सुषुप्तावस्था में स्थित है। यह कुण्डलिनी द्विमुखी है। एक मुख से तो यह ब्रह्म द्वार को रोककर सोई रहती है और दूसरे मुख में दण्डाहत भुजंगिनी के समान मात्र श्वास-प्रश्वास का संचालन करती है। यही जीव का नि:श्वास प्रश्वास है।

योग आदि अनेक क्रियाओं द्वारा साधक इसी सुषुप्त शक्ति को जाग्रत कर सुषुम्ना पथ से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचने का प्रयास करता है। इस यात्रा में कुण्डलिनी को कई ग्रंथिरूप स्थानों से गुजरना पड़ता है और यह सहस्त्रार में पहुंचकर सहस्त्रदल कमल की कर्णिका में स्थित परमानन्दमय परमात्मा के साथ एकात्म्य प्राप्त करती है तथा पुन: मूलाधार कमल में लौट आती है। यह एकात्म्य ही शिव-शक्ति का सायुज्य कहलाता है। कुण्डलिनी की एक स्तुति में कहा गया है—

मूलोन्निद्रभुजंगराज सदृशीं यान्तीं सुषम्नान्तरं।
भित्त्वाधारसमूहमाशु विलसत् सौदामिनी सन्निभाम्॥
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौधैः पतिं।
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सच्चिन्तये कुण्डलीम्॥

साधकों ने कुण्डलिनी को अनेक रूपों में व्यक्त किया है। यह मूलाधार में रहने से ''अध: कुण्डलिनी'' कहलाती है, जबकि सहस्त्रार में एक और कुण्डलिनी का आवास माना गया है, जिसे ''ऊर्ध्व कुण्डलिनी'' कहते हैं।

साधना-क्रम में सृष्टि क्रम के साधक अध: कुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर षट्चक्र भेदन कराते हुए उसका सहस्त्रार में ऊर्ध्व कुण्डलिनी से योग कराते हैं और संहार-क्रम के उपासक ऊर्ध्व कुण्डलिनी को सहस्त्रार से अवरोहित कराते हुए षट्चक्र भेदन पूर्वक मूलाधार में अ: कुण्डलिनी के साथ संयोग कराते हैं। गौतमीय तंत्र में कहा गया है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो!।
तावत् किंचिन्न सिद्धयेत् मन्त्र-यन्त्रार्चनादिकम्॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्य संचयै।
तत् प्रसादमायाति मन्त्र-यन्त्रार्चनादिकम्॥

अर्थात् मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति जब तक सोई रहेगी, तब तक मंत्र-यंत्र एवं भजन-पूजनादि कुछ भी सिद्ध नहीं होते और जब उनके पुण्यों के प्रभाव से वह देवी जाग्रत हो जाती है, तो उसकी कृपा से मंत्र, यंत्र और भजन-पूजनादि सभी सफल हो जाते हैं।

इसलिए उत्तरोत्तर साधना में अग्रसर होने के अभिलाषी कुण्डलिनी की साधना के लिए अनेक उपाय करते हैं। जिनमें साधक विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षुत्व भाव से सम्पन्न होकर गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से अनुष्ठान करता हुआ सफलता प्राप्त करता है।

जिस समय कुण्डलिनी अपने स्थान को छोड़कर उत्थित होती है तो शरीर में स्फुरण होने लगता है। जैसे-जैसे यह महाशक्ति चक्रों का भेदन करती हुई, ऊपर को बढ़ती है, वैसे ही शरीर में प्रफुल्लता एवं भारहीनता की अनुभूति बढ़ती जाती है। सहस्रार में कुण्डलिनी के पहुंचने पर निर्विकल्प समाधि की दशा में शरीर भारहीन होकर चिदानन्द की प्राप्ति कराता है। यही साधना का अंतिम लक्ष्य है।

कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप-वर्णन उत्तरतंत्र में इस प्रकार दिया गया है—''यह देवी शक्ति रूपा, समस्त भेदों का भेदन करने वाली तथा कलिकल्मष का नाश करके मोक्ष देने वाली है।'' इसकी उपासना के लिए स्तोत्र, ध्यान, न्यास और मंत्र का वर्णन भी वही आनंद भैरवी ने बतलाया है।

कुण्डलिनी की साधना इन उपादानों का ज्ञान मूल पद्म में मन का विलय करता है। साधक चैतन्य आनंद में तल्लीन आकाशगामिनी सिद्धि भी प्राप्त कर लेता है।

यह अमृत और आनंद रूप से मनुष्यों का पालन करती है और यह श्वास तथा उच्छ्वास कला के द्वारा शरीरस्थ पंच महाभूतों से आवृत होकर पंचप्राणरूपा हो जाती है। कुण्डलिनी परदेवता है, मूलाधार में विराजमान यह कुण्डलिनी, ''कोटिसूर्यप्रतीकाशा ज्ञानरूपा, ध्यान-ज्ञान-प्रकाशिनी, चंचला, तेजोव्याप्तकिरणा, कुण्डलाकृति, योगिज्ञेया एवं ऊर्ध्वगामिनी'', आदि महनीय स्वरूप वाली है। रुद्रयामल तंत्र में कुण्डलिनी का 11 पद्यों का एक स्तोत्र इस प्रकार दिया गया है—

आधारे परदेवता भवानताधः कुण्डली देवता,
देवतानामधिदेवता त्रिजगतामानन्दपुन्ज स्थिता।
मूलाधारनिवासिनी त्रिरमणी या ज्ञानिनी मालिनी,
सा मे मातृमनुस्थिता कुलपथानन्दैकबीजानना॥

इस स्तोत्र को प्रणव से संपुटित कर पाठ करने से सर्वविध सौख्य प्राप्त होने के साथ ही पाठकर्ता ''कुण्डली पुत्र'' ही बन जाता है अर्थात् माता कुण्डलिनी उसको अपना लेती है। पचास पद्यों में कुण्डलिनी के नाम, रूप, गुण एवं धर्मों का वर्णन करने वाले भगवती के नामों से कामना की गई है कि वह मेरे अंग-प्रत्यंगों को भिन्न-भिन्न, छोटे-बड़े स्थूल अवयवों की तथा आंतरिक सूक्ष्म अवयवों की रक्षा करे। यथा—

ओम् ईश्वरी जगतां धात्री ललिता सुन्दरी परा।
कुण्डली कुलरूपा च पातु मां कुल चण्डिका॥

इस कवच का ध्यानयोग में रहते हुए जो योगी पाठ करता है तथा इसे भोजपत्र पर लिखकर धारण करता है, वह सर्वसिद्धि प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी जागरण करने के लिए तंत्रग्रंथों ने अनेक प्रयोग और उपायों के भी निर्देश किए हैं। प्रत्येक साधनानुरागी संप्रदाय की अपनी-अपनी दृष्टि और पद्धति होती है। जो जिस पद्धति का अनुसरण करता है, उसे उसी दृष्टि से अपने संप्रदायानुमत मार्ग का अवलम्बन लेकर आगे बढ़ना चाहिए। भिन्न-भिन्न संप्रदायों के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्गों का परस्पर यथारुचि सम्मिश्रण करके साधना करने का शास्त्रकारों ने सर्वथा निषेध किया है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के बारे में भी समझें।

न्यासविद्या एवं मुद्राओं की महिमा

रुद्रयामल तंत्र में वर्णित यहां एक साधना के स्वरूप का उल्लेख किया जा रहा है, जो कि स्वतंत्र साधना के लिए तथा कुण्डलिनी साधना के लिए अत्यंत उपयोगी है। तंत्र का एक अर्थ विस्तार भी है। यह विस्तार आगम और यामलों में अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के समन्वित प्रयास से ही ध्यान जमता है और साधना सम्पन्न होती है। इनमें कायिक कर्मों में विभिन्न कर्म सम्मिलित हैं। स्थूल शरीर की पूरी तैयारी होने पर ही सूक्ष्म शरीर तत्त्व ज्ञान की भूमिका प्राप्त करता है और इसी से वाणी एवं मन भी साधनोपयोगी क्रियाओं की वास्तविकताओं के निकट पहुंच पाते हैं।

इस दृष्टि से योगासन, ध्यान, अर्चन के क्रमों में ''न्यास'' का भी बड़ा महत्त्व है। किसी भी कर्म के लिए जो विनियोग किया जाता है, उसमें जो मंत्र, स्तोत्र, कवच आदि प्रयुक्त होते हैं, उन सभी में ''न्यास'' आवश्यक माने गए हैं।

''*देवो भूत्वा देवं यजेत्*''देव बनकर ही पूजा करें। इस आदेश का पालन भी न्यासों पर ही आधारित है।

यहां देव बनने का तात्पर्य है कि अपने शरीर में देवताओं को विराजमान करना और ऋषि, छंद, देवता, बीज शक्ति, कीलक और विनियोग के न्यासों द्वारा मंत्रमय देह बनाना।

करन्यास, अंगन्यास, शरीरावयवन्यास, आयुधन्यास तथा मातृका-मंत्राक्षर आदि के न्यास साधना के अनिवार्य अंग हैं। जो ''*निःशेषेण आस्यत इति न्यासः*''इस व्युत्पत्ति के अनुसार निश्चित स्थानों पर, निश्चित देव-ऋषियों की स्थापना की भावना को पूर्ण करते हैं। ये न्यास सभी साधनाओं में, सभी संप्रदायों में समान रूप से स्वीकृत हैं।

साधना-क्रम में न्यास-विधान को ''न्यास विद्या'' कहा है। महाकाल संहिता में कहा गया है कि इस प्रकार की सिद्धिदां विद्या दूसरी कोई नहीं है, इसलिए इसका दूसरा नाम ''सिद्धविद्या'' भी है। तांत्रिकों का यह सिद्धांत है कि भूत-शुद्धि द्वारा शरीर को शुद्ध किया जाता है और न्यासों के द्वारा ''मंत्रमय देवता को आत्मा में संक्रान्त कर तन्मयता बुद्धि प्राप्त की जाती है।'' ''*न्यासस्तन्मयता-बुद्धिः।*''

रुद्रयामल तंत्र में जिन-जिन मंत्रों अथवा स्तोत्रों का कथन हुआ है, उनके विनियोगों में कथित ऋष्यादि न्यास, मंत्रांगभूत न्यास, करन्यास, हृदयादिषडंग न्यास तो सर्वविदित हैं ही, उनके अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट न्यासों का भी उल्लेख हुआ है।

न्यास विधि—सामान्यतः सभी न्यास विधि में सूचित स्थानों का तत्त्वमुद्रा (अनामिका और अंगुष्ठ के अग्रभागों के सम्मिलित रूप) से स्पर्श करने का विधान है। किन्तु उंगलियों के स्पर्श में केवल अंगुष्ठाग्र से नीचे वाले पर्व से अग्रभाग तक स्पर्श होता है।

इसी प्रकार अंगुष्ठ में तर्जनी द्वारा पर्व-स्पर्श करते हैं। यह न्यास का सृष्टि-क्रम है। विशेष साधक कुलानुकूल अथवा कर्मानुकूल न्यासों में अग्रभाग से मूल पर्व तक स्पर्श से सहार-न्यास और मध्य पर्व से ऊपर-नीचे स्पर्श द्वारा स्थिति न्यास करते हैं।

हृदयादिन्यासों में दाहिने हाथ से जो स्पर्श होता है, वह भिन्न-भिन्न मुद्राओं द्वारा संपन्न होता है। इनके

अतिरिक्त जो स्वतंत्र विशेष न्याय कहे गए हैं, उनमें शरीर के निर्दिष्ट अंगों का स्पर्श मंत्रोच्चारणपूर्वक उन स्थानों में उक्त देवता का आवाहन, वहां स्थित होने की प्रार्थना और ''वे स्थित हो गए हैं'' ऐसी भावना करके उन्हें प्रणाम करना, ये तीनों क्रियाएं एक साथ होती हैं।

ये न्यास जब और भी गूढ़ होते हैं तो योनि मुद्रा, त्रिखंड मुद्रा, एकेक उंगली मुद्रा, तर्जनी भ्रमण संहार मुद्रा आदि अनेक रूपों में मुद्राएं बनाकर किए जाते हैं।

न्यास-स्वरूप—न्यासों की यह विशेषता है कि ये—कहीं तो व्यष्टि रूप में रहते हैं और कहीं समष्टि रूप में। जब समष्टि होती है तो इनके प्रकार बड़े अद्‌भुत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—षोढा न्यास को लें। इसमें छह पृथक-पृथक न्यास होते हैं, जिनमें गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और पीठों के न्यास होते हैं। यह प्रथम प्रकार ''लघुषोढा'' कहलाता है, जबकि द्वितीय ''महाषोढा'' न्यास में 1. प्रपंच, 2. भुवन, 3. मूर्ति, 4. मंत्र, 5. देवता और 6. मातृका भैरव के न्यास रहते हैं।

ये न्यास ललिता त्रिपुरसुंदरी के हैं। इसी प्रकार अन्य देवताओं के न्यासों में क्रम-परिवर्तन तथा विषय परिवर्तन होता रहता है। यंत्र के आवरण, देवताओं के न्यास, देवता के आयुधों का न्यास, शरीर के विशिष्ट अंगों के न्यास, मुखों के आधार पर उतने ही वक्त्र-न्यास, अस्त्र-न्यास, दूतो-न्यास, शक्ति-न्यास, डाकिनी-न्यास आदि विध न्यास हैं, जिनका विचार करके उनका प्रयोग करना चाहिए।

न्यास की फलश्रुति—वैसे तो प्रत्येक न्यास-विधान के अंत में उसका फल लिखा ही रहता है, तथापि यह विशेष स्मरणीय है कि जिस प्रकार हम किसी मंत्र का पुरश्चरण करते हैं, विशेष अनुष्ठान करते हैं और किसी विशेष कामना से उसका प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार केवल न्यासों से भी ये विधियां की जा सकती हैं। इस दृष्टि से—नित्यानुष्ठान, काम्यानुष्ठान भी न्यासों द्वारा होते हैं।

ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के लाभ केवल न्यास-साधना से भी प्राप्त किए जा सकते हैं। कुछ न्यासों के बारे में भी यह कहा गया है कि *''येषां चिकीर्षयाऽपि स्यात् सिद्धिः सार्वत्रिकी नृणाम्''*, अर्थात् न्यास करने की इच्छा से ही लोगों के अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं। इन न्यासों का पुरश्चरण (1008 पारायण अथवा ग्रहण काल पारायण द्वारा) करके न्यास करने से विशेष लाभ होता है।

न्यास को भोजपत्र आदि पर पर्वकाल में लिखकर कवच के रूप में धारण करने की भी शास्त्रकारों ने आज्ञा दी है। महाषोढा के प्रसंग में यह भी निर्देश है कि जहां यह लिखकर भी रख दिया जाता है, वहां सर्वविधि मंगल का आधिक्य और किसी भी प्रकार से विघ्नों का सर्वथा क्षय होता है।

न्याससिद्धि के लिए नियम—न्यास द्वारा साधक जब अपने शरीर में देवत्व का आधान कर लेता है, तो उसमें इष्टदेव का परिवार-सहित होने से उसके लिए प्रायः व्यर्थ की चर्चा करना किसी को शाप अथवा आशीर्वाद देना एवं किसी को नमस्कार करना वर्जित है।

ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि न्यास-सिद्धि महापुरुषों द्वारा प्रणाम न करने पर उनसे रुष्ट होकर हठपूर्वक प्रणाम करवाने से प्रणामापेक्षी का अनिष्ट हुआ है। ❑❑

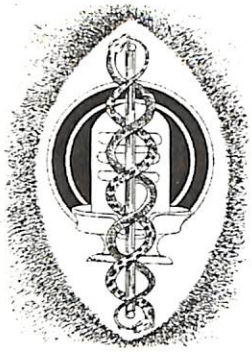

नि:श्वास : उन्नीस

कुण्डलिनी मंत्र, जप-विधि और स्तोत्र

प्राणवायु का निरोध करके मूलाधार में चतुर्दल कमल के बीच त्रिकोण रूप पीठ में स्थित ज्योतिर्लिंग को आवेष्टित कर विराजमान साढ़े तीन वलय वाली कुण्डलिनी को ''ओम् हूं'' इस बीज से लगाकर ''ऐं ह्रीं श्रीं'' इस मंत्र का जप करते हुए ध्यान करें।

विनियोग

अस्य श्रीकुण्डलिनी मंत्रस्य शक्तिः ऋषिः गायत्रीच्छन्दः, चेतना कुण्डलिनी शक्तिर्देवता ऐं बीजं श्रीं शक्तिः ह्रीं कीलकं मम श्रीकुण्डलिनी-प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

शक्तिऋषये नमः (शिरसि) **गायत्रीच्छन्दसे नमः** (मुखे), **चेतना कुण्डलिनीशक्तिदेवतायै नमः** (हृदये), **ऐं बीजाय नमः** (गुह्ये), **श्रीं शक्तये नमः** (पादयोः), **ह्रीं कीलकाय नमः** (नाभौ), **विनियोगाय नमः** (सर्वांगे)।

कर-हृदयादिन्यास

ऐं ह्रीं श्रीं ऐं ह्रीं श्रीं (इन छह बीजों से क्रमशः अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका और करतल-कर-पृष्ठ में तथा हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र-न्यास करें)।

ध्यान

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्-
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीन-वक्षोरुहाम्।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं विभ्रतीं,
सौम्यां रत्नघटस्थ-सव्यचरणां वन्दे परामम्बिकाम्॥

(मानसिक पूजा करने के पश्चात् यथाशक्ति मूलमंत्र ''**ऐं ह्रीं श्रीं**'' का जप करें और समर्पण करके प्रार्थना करें)।

कुण्डलिनी शक्ति के प्रार्थना-स्तोत्र अनेक हैं, जिनमें मूलाधारस्थ त्रिकोण में सोये सर्प जैसी, सार्धत्रिवलयाकारा, नीवारशूत के समान पतली, अत्यंत तेजोमयी, शीतल, शिव-शक्तिस्वरूपा, शंखावर्तक्रम से स्थित, सुषुम्ना के मध्य से परशिव तक जाने वाली तथा सहस्रार में विराजमान परशिव से सामरस्य प्राप्त कर पुनः स्वस्थान पर आने वाली के रूप में ध्यान-स्तुति आदि हैं। रुद्रयामल में इसके अनेक स्तोत्र, सहस्रनाम आदि हैं। उनमें से यहां एक महत्त्वपूर्ण ''स्तोत्राष्टक'' प्रस्तुत है। साधकों को इसके पाठ से लाभान्वित होना चाहिए।

कुण्डलिनी-स्तोत्राष्टकम्

जन्मोद्धारनिरीक्षणीह तरुणी वेदादि-बीजादिमा,
नित्यं चेजसि भाव्यते भुवि कदा सद्वाक्यसंचारिणी।
मां पातु प्रियदा स विपदं संहारयित्री धरे,
धात्रि त्वं स्वयमादिदेववनिता दीनातिदीनं पशुम्॥ 1॥
रक्ताभामृत चन्द्रिका लिपिमयी सर्पाकृतिर्निद्रिता,
जाग्रत्कूर्मसमाश्रिता भगवती त्वं मां समालोकय।
मांसोद्गन्ध-कुगन्धदोषजडितं वेदादिकार्यान्वितं,
स्वल्पान्यामलचन्द्रकोटि किरणैर्नित्यं शरीरं कुरु॥ 2॥

सिद्धार्थी निजदोषवित् स्थलगतिर्व्याजीयते विद्यया,
कुण्डल्याकुलमार्गमुक्तनगरीमाया-कुमार्गः श्रिया।
यद्येवं भजति प्रभातसमये मध्याह्नकालेऽथवा,
नित्यं यः कुलकुण्डली-जय-पदाम्भोजं स सिद्धो भवेत्॥ 3॥
वाग्वाकाशचतुर्दलेऽतिविमले वांछाफलोन्मूलके,
नित्यं सम्प्रति नित्यदेहघटिता संकेतिता भाविता।
विद्याकुण्डलमानिनी स्वजननी मायाक्रिया भाव्यते,
यैस्तैः सिद्धकुलोद्भवैः प्रणतिभिः सत्स्तोत्रकैः शंभुभिः॥ 4॥
वेधःशंकरमोहिनी त्रिभुवनच्छायापटोद्गामिनी,
संसारादिमहाऽसुखप्रहरणी तत्र स्थिता योगिनी।
सर्वग्रन्थि-विभेदिनी स्वभुजगा सू मातिसू मा परा,
ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी कुलकुटी-व्याघातिनी भाव्यते॥ 5॥
वन्दे श्रीकुलकुण्डलीं त्रिवलिभिः सांगेः स्वयंभू-प्रियं,
प्रावेष्ट्याम्बर-मार चित्तचपलां बालाबलां निष्कलाम्।
या देवी परिभाति वेदवदना सम्भावनी तापिनी,
स्वेष्टानां शिरसि स्वयंभू-वनिता तां भावयामि क्रियाम्॥ 6॥
वाणीकोटि - मृदंगनादमदना - निश्रेणिकोटि - ध्वनिः,
प्राणेशी रसराशिमूलकमलोल्लासैक-पूर्णानना।
आषाढोद्भव-मेघवाज-नियुत-ध्वान्तानना स्थायिनी,
माता सा पारपातु सूक्ष्मपथगा मां योगिनां शंकरी॥ 7॥
त्वामाश्रित्य नरा व्रजन्ति सहसा वैकुण्ठ-कैलासयो-
रानन्दैक-विलासिनी शशिशतानन्दाननां कारणाम्।
मातः श्रीकुलकुण्डली प्रियकरे काली-कुलोद्दीपनेः,
तत्स्थानं प्रणमामि भद्रवनिते मामुद्धर त्वं पशुम्॥ 8॥
कुण्डली-शक्ति-मार्गस्थं स्तोत्राष्टक-महाफलम्।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय स वै योगी भवेद् ध्रुवम्॥ 9॥

उपर्युक्त स्तोत्र का प्रातः उठते ही कुण्डली का ध्यान करते हुए पाठ करने से योग-शक्ति की प्राप्ति होती है। पाठ के समय श्लोकों के अर्थों की भावना निम्नलिखित रूप से करें—

हे भगवती कुण्डलिनी! आप वेदों के आदि बीज ओंकार के समान आकृति वाली, लाल आभा से युक्त, अमृतचंद्रिका, जाग्रत कूर्म-वायु का आश्रय लिए हुए, सृष्टि-स्थिति-संहार शक्ति से परिपूर्ण ब्रह्मादि देवों को मोहित करने वाली, वेदवदना, स्वयंभूलिंग को आवेष्टित कर विराजमान, सूक्ष्ममार्ग से गमन कर सहस्रार तक पहुंचने वाली, ब्रह्मज्ञान दात्री तथा विद्युत के समान चमक वाली हैं। आप मेरी रक्षा करें, मेरे दोषों को मिटाएं, सभी ग्रंथियों का भेदन करें तथा मुझ अज्ञानी का उद्धार करें।

❑❑

नि:श्वास : बीस

कुण्डलिनी साधना में अजपा-जप विधि की महत्ता

मनुष्य का जीवन प्राणवायु पर निर्भर है। जब तक श्वास है, तब तक आस (आशा) है। ये श्वास बाहर से अंदर और अंदर से बाहर जाते-आते रहते हैं। यह क्रिया चौबीसों घंटे चलती रहती है। ये श्वास और नि:श्वास चौबीस घंटों की अवधि में 21 हजार 6 सौ बार चलते हैं।

आस्तिक मनुष्य के लिए यह निर्देश है कि वह अपनी इस श्वास-क्रिया को परमात्मा का बिना प्रयत्न के होने वाला जप मानकर उन्हें अर्पित करे। यह समर्पण शरीर में विद्यमान छह चक्रों में स्थित देवताओं का स्मरण करते हुए किया जाता है, उसी को ''अजपा-जप'' कहते हैं। अजपा-जप की विधि निम्नलिखित है—

❑ मूलाधारे चतुर्दलपद्मे वं शं षं सं चतुरक्षरे चतुष्कोणयन्त्रे ऐरावतवाहने लं बीजे स्थिताय सिद्धि-बुद्धिशक्तिसहिताय कुङ्कुमवर्णाय महागणपतये षट्शतमजपाजपं निवेदयामि।

❑ स्वाधिष्ठाने षडदलपद्मे बं भं मं यं रं लं षडक्षरे अर्धचन्द्रयन्त्रे मकरवाहने वं बीजे स्थिताय सरस्वतीशक्तिसहिताय सिन्दूरवर्णाय ब्रह्मणे, षट्सहस्त्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ मणिपूरचक्रे दशदलपद्मे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दशाक्षरे त्रिकोणयन्त्रे मेषवाहने रं बीजे स्थिताय लक्ष्मीशक्तिसहिताय नीलवर्णाय विष्णवे षट्सहस्त्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ अनाहतचक्रे द्वादशदलपद्मे कं खं गं घं ङं. चं छं जं झं ञं टं ठं द्वादशाक्षरे षट्कोणयन्त्रे हरिणवाहने यं बीजे स्थिताय पार्वतीशक्तिसहिताय हेमवर्णाय परमशिवाय षट्सहस्त्रमजपाजपं निवेदयामि।

❑ विशुद्धचक्रे षोडशदलपद्मे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अ: षोडशाक्षरे शून्ययन्त्रे हस्तिवाहने हं बीजे स्थिताय प्राणशक्तिसहिताय शुद्धस्फटिकसंकाशाय जीवाय सहस्त्रमेकजपाजपं निवेदयामि।

❑ आज्ञाचक्रे द्विदलपद्मे श्वेतवर्णे हं क्षं द्वयक्षरे लिंगयन्त्रे नरवाहने स्थिताय ज्ञानशक्तिसहिताय विद्युद्वर्णाय गुरवे सहस्त्रमेकजपाजपं निवेदयामि।

❑ ब्रह्मरन्ध्रे सहस्त्रदल पद्मे चित्रवर्णे अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अ: कं खं गं घं ङं. चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं—इति विंशतिवारोच्चारिते सहस्त्राक्षरे विसर्गयन्त्रे बिन्दुवाहने पूर्णचन्द्रमण्डले आनन्दमहासमुद्रमध्ये चिन्मयमणिद्वीपे चित्सारचिन्तामणिमन्दिरे कल्पवृक्षाध: स्थले अव्याकृत-ब्रह्ममहासिंहासने स्थिताय नानावर्णाय वर्णातीताय चिच्छक्तिसहिताय परमात्मने सहस्त्रमेकजपाजपं निवेदयामि।

इसके पश्चात् कुछ क्षण तक ''हंस: सोऽहम्'' की श्वास-नि:श्वास के साथ भावना करें। तदनन्तर शरीर के चक्रों में जिन-जिन देवताओं का ध्यानपूर्वक आवाहन किया है, उनकी मानसोपचार पूजा करें—

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि (कनिष्ठिका और अंगुष्ठ मिलाकर)।

हं आकाशात्मक पुष्पं समर्पयामि (अंगुष्ठ और तर्जनी मिलाकर)।

यं वाय्वात्मकं धूपमाघ्रापयामि (तर्जनी और अंगुष्ठ मिलाकर)।

रं वह्नयात्मकं दीपं दर्शयामि (अंगुष्ठ और मध्यमा मिलाकर)।

वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि (अंगुष्ठ और अनामिका मिलाकर)।

सं सर्वात्मकान् ताम्बूलादिसर्वोपचाराचन् समर्पयामि (अंगुष्ठ सहित सभी उंगलियों से)।

नोट—अजपा-जप के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं जिनमें इष्ट बीजमंत्र एवं इष्टमंत्रों के प्रयोग होते हैं।

उपरोक्त अजपा-जप के पश्चात् प्रातःस्मरण, भूमि-प्रार्थना, शौच, दंतधावन, स्नानादि कर्म करके संध्या करनी चाहिए। तदनन्तर पूजा आरंभ की जाती है। संध्या का विशिष्ट परिचय न देकर केवल हम यह कहेंगे कि विधि कोई भी हो, किन्तु संध्या अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि यह समस्त कर्मों की मूल है। इसके बिना अन्य कर्म मूलहीन होते हैं, जिससे अस्थिरता और अपरिपक्वता बनी रहती है।

संध्या के समय गायत्री-जप भी परमावश्यक है। ब्रह्मयज्ञ और तर्पण भी साधना करने के लिए आवश्यक माने गए हैं। द्विजमात्र के लिए ये कर्म नित्य कर्त्तव्य हैं। इन्हें यथासंभव विद्वान ब्राह्मणों से सीखकर करने से बहुत ही लाभ होता है तथा शास्त्रीय नियमों का भी रक्षण होता है।

❑❑

नि:श्वास : इक्कीस

यौगिक साधना की पूर्ति

गुरु-चरणों की अनुकम्पा प्राप्त करके साधना-पथ की ओर अग्रसर होने वाले साधकों के लिए महागणपति की साधना नितांत आवश्यक बतलाई गई है। जिस मार्ग पर चलकर हमें अपने लक्ष्य तक पहुंचना है, उसमें आने वाले विघ्नों का अपसारण तथा कण्टकाकीर्ण पथ को कुसुम-कोमल बनाने के लिए भगवान गणपति का मंगलमय आशीर्वाद प्राप्त कर लेना साधक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य बन जाता है।

गणपति केवल विघ्न दूर करने वाले देव नहीं हैं, अपितु ये ऋद्धि-सिद्धि के दाता, विद्या प्रदाता, मांगलिक कार्यों के पूरक, संग्राम-संकट के निवारक तथा सर्वविधि मंगलकारी हैं। यौगिक साधना की पूर्ति में भी महागणपति की कृपा प्राप्ति अत्यावश्यक है। कुण्डलिनी जागरण से पहले गणपति की उपासना का विधान इसलिए भी है कि ध्यान-

साधना में आगे चलकर कोई विघ्न-व्यवधान आए, तो इनके प्रभाव से उसकी प्रतिक्रिया समाप्त, कुंठित की जा सके।

स्वतंत्र देव के अतिरिक्त गणपति को पंचबालक, षट्कुमार, सप्तबालक आदि गणों में भी सम्मिलित माना गया है। उद्धारकोश के अनुसार निम्नलिखित पद्य स्मरणीय हैं—

पंचबालक

हेरम्ब-शरजन्मानौ कार्तवीर्यार्जुनस्तथा।
हनुमच्छ्-भैरवावेतौ भाषिताः पंचबालकाः॥

षट्कुमार

हेरम्ब-शरजन्मानौ महामृत्युंजयस्तथा।
कार्तवीर्यार्जुनश्चैव हनुमद्-भैरवी तथा।

सप्तबालक

गणेशो बटुकश्चैव स्कन्दो मृत्युंजयस्तथा।
कार्तवीर्यार्जुनोऽप्येवं सुग्रीवो हनुमांस्तथा॥
यामले रुद्रशब्दादौ भाषिताः सप्तबालकाः।

अनन्तरूपधारी भगवान गणपति का अट्ठाईस अक्षरों का महामंत्र इस प्रकार सूचित है—

महामंत्र

प्रणवं कमलां लज्जा कन्दर्प मठ-बीजकम्।
शंकरम् षट् शिरोमन्त्रं तत पल्लवमुद्धरेत्॥
गणपते पश्चाद् वाच्यं वर-वरदमेव च।
अन्ते पीटद्व्यं ज्ञेयमष्टाविंशाक्षरो मनुः॥

इसके अनुसार मूलमंत्र का स्वरूप इस प्रकार होता है—"ओम् श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लीं गं गणपतये वर वरद सर्वजनं वशमान्य स्वाहा।"

मंत्र का जप-विधान निम्नलिखित है—

विनियोग

ओम् अस्य श्रीमहागणपतिमंत्रस्य गणक ऋषिर्निचृद्गायत्रीच्छन्दो महागणपतिर्देवता गं बीजं स्वाहा शक्तिः ग्लौं कीलकं मम श्रीमहागणपतिप्रसादसिद्धयर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादिन्यास

गणकऋषये नमः (शिरसि), **निचृद्गायत्रीच्छन्दसे नमः** (मुखे), **महागणपतिदेवतायै नमः** (हृदये), **गं बीजाय नमः** (गुह्ये), **स्वाहा शक्तये नमः** (पादयोः), **ग्लौं कीलकाय नमः** (नाभौ), **महागणपति-प्रसाद सिद्धयर्थे जपे विनियोगाय नमः** (सर्वांगे)

कर-षडंगन्यास

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गां (अंगुष्ठाभ्यां नमः, हृदयाय नमः)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गीं (तर्जनीभ्यां नमः, शिरसे स्वाहा)

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गूं (मध्यमाभ्यां नमः, शिखायै वषट्)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गैं (अनामिकाभ्यां नमः, कवचाय हुम्)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गौं (कनिष्ठिकाभ्यां नमः, नेत्राभ्याम् वौषट्)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गः (करतलकर पृष्ठाभ्यां नमः, अस्त्राय फट्)

ध्यान

बीजारू-गदेक्षुकार्मुकरुजा-चक्राब्जपाशोत्पला,
व्रीह्यग्रस्वबिषाणरत्न-कलश-प्रोद्यत्मकराम्भोरुहः।
ध्येयो वल्लभया सपद्मकरयाश्लिष्टो ज्वलद्भूपया,
विश्वोत्पत्ति-विपत्ति-संस्थितिकरो विघ्नेश इष्टार्थदः॥

इसके पश्चात् मानसोपचार पूजा करके मंत्र-जप किया जाता है।

मानसोपचार में—**लं पृथिव्यात्मकं गन्धं कल्पयामि नमः।** (यहां 'गंध' आदि पदों में पहले पूज्य देवता का नाम जोड़ने का विधान है)।

हं आकाशात्मकं पुष्पं कल्पयामि नमः।
यं वायुवात्मकं धूपं कल्पयामि नमः।
रं वह्न्यात्मकं दीपं कल्पयामि नमः।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं कल्पयामि नमः।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलादि सर्वोपचारान् कल्पयामि नमः।

जप के पश्चात् जप-समर्पण करें और स्तोत्र पाठ करें। इस स्तोत्र के संबंध में यह कहा गया है कि यह स्तोत्र कलियुग में शीघ्र सिद्धि देने वाला है तथा इसके लिए न्यास, संस्कार, होम, तर्पण, मार्जन आदि भी आवश्यक नहीं हैं। गणपति-पूजन, जप और पाठ करने से ही यह सिद्ध होता है।

गणपति के समक्ष सात मुद्राएं दिखाने का भी बड़ा माहात्म्य है—दंत, पाश, अंगकुश, विघ्न, परशु, मोदक और बीजापूर ये सात मुद्राएं हैं। इन मुद्राओं का ज्ञान किसी योग्य साधक से लिया जा सकता है।

❑❑

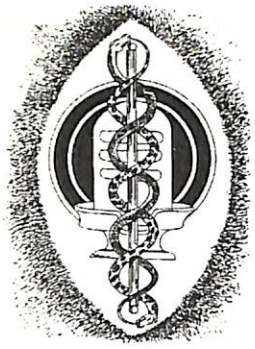

नि:श्वास : बाईस

कुण्डलिनी जागरण में श्रीविद्या का महत्त्व

तंत्र-ग्रंथों में श्रीविद्या की उपासना पद्धति पर पर्याप्त विस्तार से लिखा गया है। इस विद्या की उपासना में दीक्षा-क्रम के आधार पर अनेक नामों से उपास्य देवियों की दीक्षाएं हैं और उनके मंत्रों का क्रम भी अति विस्तृत है। साधक अपनी दीक्षा के क्रम से ही क्रमश: आगे बढ़ते हुए परम लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रीविद्या साधना का मूल आधार ''श्रीयंत्र'' है। इसी का दूसरा नाम ''श्रीचक्र'' है। यह यंत्र भगवती त्रिपुर सुंदरी का है। यंत्रों में इसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। योगिनी हृदय में इस यंत्र का माहात्म्य वर्णित है। पराशक्ति अपने संकल्प मात्र से विश्व ब्रह्माण्ड में समाहित होकर स्वयं अपने रूप-लावण्य का आनंद लेती है। इस अपरिमेय आनंद के समय श्रीचक्र का प्राकट्य होता है। भैरवायमल में कहा गया है, *''चक्रं त्रिपुर सुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि''*, अर्थात् हे ईश्वरी! त्रिपुर सुंदरी चक्र का आकार ब्रह्माण्ड की तरह है। भावनोपनिषद् में कहा गया है कि नवचक्रमयी देह, अर्थात् इस देह में नवचक्र हैं। श्रीयंत्र में ''श्रीं'' शब्द का अर्थ बताया गया है कि ''जो सुना जाए वह श्री है''। जो नित्य परब्रह्म का आश्रवण करती है, वह ''श्री'' है। शिव, शक्ति की एकरूपता आगम ग्रंथों में भी प्रतिपादित की गई है, जैसे—

न शिवेन बिना देवी, न देव्या बिना शिवः।
नान्योरन्तरः किंचिच्चन्द्रचान्द्रिकयोरिव॥

शिव के बिना देवी नहीं और देवी के बिना शिव नहीं। इन दोनों में चंद्रमा एवं उसकी चंद्रिका के समान किंचित् भी भेद नहीं है।

ब्रह्म की उत्पत्ति, स्थिति और पालन की सामर्थ्य प्राप्त करने का श्रेय ''श्री'' के कारण ही है। श्री शंकराचार्य के अनुसार—

शिवः शक्त्या युतो तद्भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेदं देवो न खलु कुथलः सपन्दितुमपि॥

तात्पर्य यह है कि जो शिव, शक्ति के सहित होता है वही सामर्थ्य वाला होता है। जो इससे युक्त नहीं होता, वह देव तो स्पंदन करने योग्य ही नहीं है।

ब्रह्म स्वयं निष्कल निरंजन तथा निर्गुण है। शैव आगम में उल्लेख है कि—

अचिन्त्यमिताकार शक्ति स्वरूपा
प्रति व्यक्त्यधिष्ठान सत्यैक मूर्त्तिः,
गुणातीत निर्द्वंद्व बोधैक गम्या
त्वमेका परब्रह्म रूपेण सिद्धा।

अर्थात् चिंतन करने से परे, अमित आकार एवं शक्ति स्वरूप, प्रति व्यक्ति में अधिष्ठित सत्ता मूर्त्ति, गुणों से अलग निर्द्वन्द्व बोध ही केवल जानने के योग्य आप एक परब्रह्मस्वरूप सिद्ध हैं।

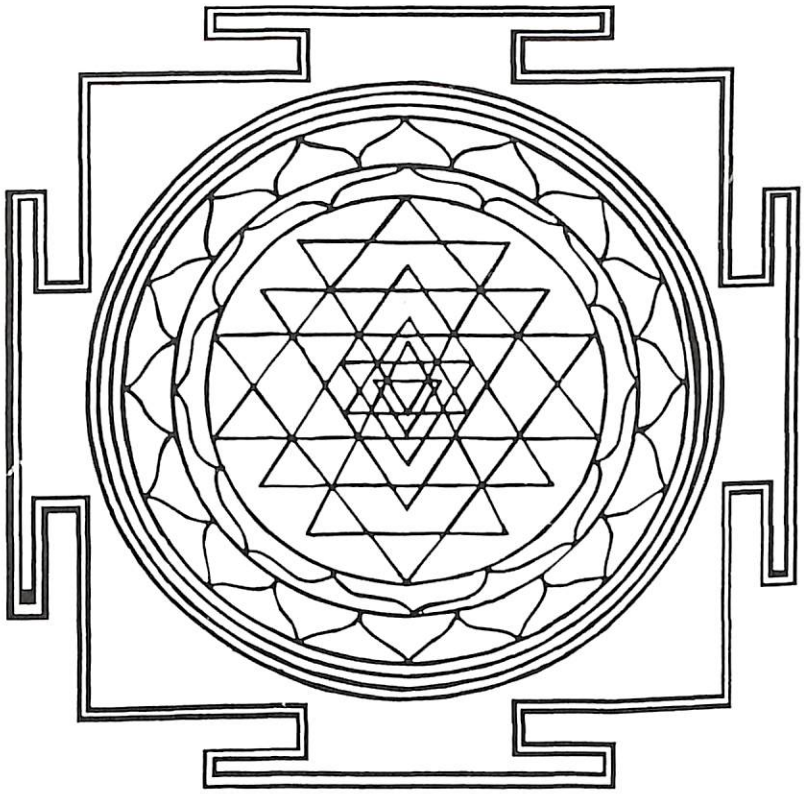

श्रीयंत्र के चित्रित स्वरूप में कई वृत्त हैं। सबसे अंदर वाले केन्द्र में बिंदु स्थित है। इस बिंदु के चतुर्दिक नौ त्रिकोण बनाए गए हैं। इनमें से पांच की नोक ऊपर और चार त्रिकोण की नोक नीचे की ओर है। उन्हें भगवती का प्रतिनिधि माना जाता है तथा उन्हें शिव युवती की संज्ञा दी गई है। नीचे की नोक वाले त्रिकोणों को शिव का प्रतिनिधि मानकर उन्हें श्रीकंठा कहा गया है।

ऊर्ध्वमुखी पंचत्रिकोण पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं और पांच महाभूतों की प्रतीक हैं। शरीर में यह अस्थि, मेदा, मांस, अवृक और त्वक् के रूप में विद्यमान हैं। अधोमुखी चार त्रिकोण शरीर में जीव, प्राण, शुक्र और मज्जा के द्योतक हैं। ब्रह्माण्ड में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के प्रतीक हैं। पांच ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण नौ मूल प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार यंत्र में एक आठ दल वाला, दूसरा सोलह दल वाला कमल है। पहला अंदर वाले वृत्त के बाहर और दूसरा दूसरे वृत्त के बाहर है। आनंद लहरी में भगवान शंकराचार्य ने लिखा है—

चतुर्भिः श्रीकंठो शिव युवतिभिः पंचभिरमि।
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवनिरपि मूल प्रकृतिभिः॥
त्रयश्चत्वारि हृद्बसुदलकलाब्ज त्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धः तव भवन कोणः परिणताः॥

तात्पर्य यह है कि श्रीयंत्र की रचना के अनुसार चार श्रीकंठों के, पांच शिव की युवतियों के, शंभु की नौ अभिन्न मूल प्रकृतियों के, तैंतालीस वसुदल कलाब्ज की त्रिवलय, तीन रेखाओं के साथ आपके (त्रिपुर सुंदरी) भवन-कोण में परिणत होते हैं।

श्रीयंत्र में ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण को अग्नितत्त्व, वृत्त को वायु तत्त्व, बिन्दु को आकाश तत्त्व और भूपुर को पृथ्वी तत्त्व माना गया है। यह यंत्र सृष्टि क्रम का सूचक है तथा शैव मतावलंबी इस यंत्र की उपासना करते हैं। आद्य शंकराचार्य इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं तथा उनके प्रत्येक पीठ में श्रीयंत्र प्रतिष्ठित है।

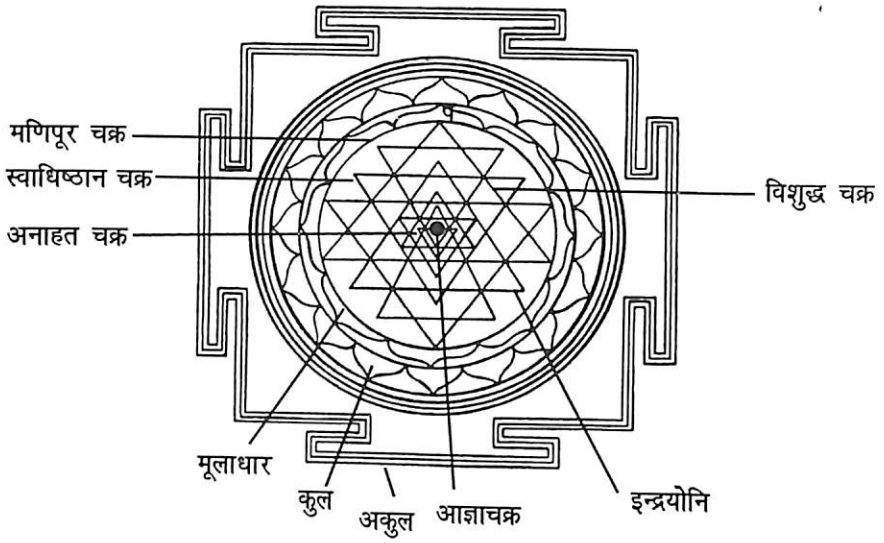

साधक की पात्रता के अनुसार इसकी (श्रीयंत्र की) ''बाह्यपूजा'' और शरीर में भावना करते हुए ''आंतर-पूजा'' के विधान हैं। ''आंतर-पूजा'' यद्यपि गहन विषय है, किन्तु यह निरंतर अभ्यास से शनैः शनैः समझ में आने लगता है। तंत्र ग्रंथ ''रुद्रयामल'' में इसके लिए बहुत से विधान वर्णित हैं। शरीरस्थ योगचक्रों की स्तुतियां, ध्यान और उन्हें उद्‌बुद्ध करने के लिए मंत्र जप भी विस्तार से बतलाए हैं। उनमें एक प्रयोग ''उद्‌घाटन-कवच'' का भी है, जिसका परिचय और मूल पाठ निम्नलिखित है—

उद्‌घाटन-कवच

योग-साधना के मूलतः चार प्रकार माने गए हैं। यथा—हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग। इस योग चतुष्टयी में हठयोग—शरीर शुद्धि, यम, नियम, आसन और प्राणायाम—की साधना के स्तर को समुन्नत बनाने की एक आवश्यक भूमि है। हठयोग की भूमि पर ही मंत्रयोग की प्रतिष्ठा होती है, अतः मंत्रयोग का समस्त ''प्रासाद'' इसी पर स्थित है। मंत्रयोग के पश्चात् लययोग और राजयोग की दिशा में प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है।

मंत्रयोग की साधना के निम्न दो पार्श्व हैं—विश्व विज्ञान, संसार-बंधन-त्राण।

ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यथा—

मननाद् विश्वविज्ञानं त्राणं संसार-बन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धिं ''मंत्र'' इत्युच्यते बुधैः॥

मंत्र के स्थूल एवं सूक्ष्म रूप से पुनः दो अंग माने गए हैं, जिनमें स्थूल रूप में—प्रणव, बीज, कूट, अक्षर तथा इनके विशिष्ट संयोजन से संबद्ध मंत्र के पल्लवादि-विधान आते हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप में उनके स्वरूप, ध्यान, शक्ति, गति, क्रियाकारित्व आदि का समावेश होता है।

इनमें से भी सर्वाधिक महत्त्व कुण्डलिनी-जागरण का है और यह कार्य शरीरस्थ मूलाधार आदि चक्रों के उन्मीलन की अपेक्षा रखता है। चक्रों के उन्मीलन का प्रकार जप एवं ध्यान से संभव है। तत्तद चक्रों की अधिष्ठात्री

देवता जब तक प्रसन्न नहीं होती, तब तक इस कार्य में भी बाधाएं आती हैं। ये बाधाएं केवल इसी जन्म से संबद्ध न होकर अपर जन्म में भी बाधक बनती हैं। इसी दृष्टि से शक्ति-उपासकों के लिए निम्नलिखित एक ''उद्घाटन-कवच'' स्तोत्र दिया जा रहा है, जिसका भक्तिपूर्वक अजपा-जप के पश्चात् पाठ करना अत्यंत लाभप्रद माना गया है।

कवच-पाठ

मूलाधारे स्थिता देवि, त्रिपुरा चक्रनायिका।
नृजन्मभीति-नाशार्थं, सावधना सदाऽस्तु मे॥ 1॥
स्वाधिष्ठानाख्यचक्रास्था, देवी श्रीत्रिपुरेशिनी।
पशुबुद्धिं नाशयित्वा, सर्वेश्वर्यप्रदाऽस्तु मे॥ 2॥
मणिपूरे स्थिता देवी, त्रिपुरेशीति विश्रुता।
स्त्रीजन्म-भीतिनाशार्थं, सावधाना सदाऽस्तु मे॥ 3॥
स्वस्तिके संस्थिता देवी, श्रीमत्त्रिपुरसुंदरी।
शोकभीति-परित्रस्तं, पातु मामनधं सदा॥ 4॥
अनाहताख्य-निलया, श्रीमत्त्रिपुरवासिनी।
अज्ञानभीतितो रक्षां, विदधातु सदा मम॥ 5॥
त्रिपुराश्रीरिति ख्याता विशुद्धाख्य-स्थलस्थिता।
जरोद्भव-भयात् पातु, पावनी परमेश्वरी॥ 6॥
आज्ञाचक्रस्थिता देवी त्रिपुरामालिनी तु या।
सा मृत्युभीतितो रक्षां, विद्धातु सदा मम॥ 7॥
ललाट-पद्म-संस्थाना, सिद्धा या त्रिपुरादिका।
सा पातु पुण्यसम्भूतिर्भीति-संघात् सुरेश्वरी॥ 8॥
त्रिपुराम्बेति विख्याता, शिरः पद्मे सुसंस्थिता।
सा पापभीतितो रक्षां, विर्दधातु सदा मम॥ 9॥
ये पराम्बापदस्थान-गमने विघ्न-संचयाः।
तेभ्यो रक्षतु योगेशी, सुन्दरी सकलार्तिहा॥ 10॥

उपरोक्त स्तोत्र में भगवती के श्रीचक्र में विराजमान आवरणगत प्रमुख देवियों से प्रार्थना की गई है जो कि चक्र नायिकाएं हैं। यहां नव आवरण रूप नौ शरीरगत चक्र एवं हृदय में विराजमान देवियों से जिन-जिन भयों से रक्षा की प्रार्थना की गई है, उनकी तालिका निम्नलिखित है—

चक्र	*चक्र-नायिका*	*भय*
❑ मूलाधार	त्रिपुरा	नृजन्म
❑ स्वाधिष्ठान	त्रिपुरेशिनी	पशुबुद्धि
❑ मणिपूर	त्रिपुरेशी	स्त्रीजन्म
❑ स्वस्तिक	त्रिपुर सुंदरी	शोक
❑ अनाहत	त्रिपुरवासिनी	अज्ञान

❑ विशुद्ध	त्रिपुराश्री	जरा
❑ आज्ञा	त्रिपुरामालिनी	मृत्यु
❑ ललाटपद्म	त्रिपुरासिद्धा	भीतिसंध
❑ सहस्त्रार	त्रिपुराम्बा	पाप
❑ बिन्दु	सुंदरी योगेशी	विघ्न

इन सब भयों से निवृत्ति की याचना करते हुए इसमें पराम्बा के चरणों में शरण-प्राप्ति की कामना की गई है, जो उचित ही है। ऐसे ही अंतर्याग के लिए अन्य उपयोगी विधान भी शास्त्रों में वर्णित हैं।

उपर्युक्त चक्रों में ही प्रत्येक आवरण देवी के मंत्र का जप किया जाता है। जैसे-जैसे साधना-क्रम आगे बढ़ता है, उसमें और भी विशिष्ट प्रक्रियाओं का समावेश करते हुए सामुज्य तथा सारूप्य की प्राप्ति तक पहुंचा जा सकता है।

बाह्यपूजा विधान

इसके ''न्यास, पात्रासादन'' और ''अर्चन'' ये तीन महत्त्वपूर्ण अंग हैं। *''न्यासप्रिया तु श्रीविद्या''* इस आगमवचन के अनुसार श्रीविद्या के अंगभूत न्यासों की संख्या अति विशाल है। किन्तु पूजाधिकार सिद्धि के लिए— ब्रह्म विद्यासंप्रदायस्तोत्र, यागमंदिर प्रवेश, तत्त्वाचमन, गुरुपादुकामंत्र जप, घंटापूजन, संकल्प, आसनपूजा, देहरक्षा, दिग्बंधन, मंदिर पूजा, दीपपूजा, भूतशुद्धि, आत्मप्राण-प्रतिष्ठा के बाद मातृकान्यास (दोनों प्रकार का), करशुद्धिन्यास, आत्मरक्षान्यास, बाला षडंगन्यास, चतुरासनन्यास, वाग्देवतान्यास, बहिश्चक्रन्यास, अंतश्चक्रन्यास, कामेश्वर्यादिन्यास और मूल विद्यान्यास करने चाहिए।

यदि महाषोडशी प्राप्त हो तो षोडशाक्षरी न्यास, सम्मोहन न्यास और महाषोडशाक्षरी के संहार, स्थिति एवं सृष्टिन्यास तक के न्यास अवश्य करने चाहिए। इनके अतिरिक्त लघुषोढादि न्यासों के करने से अभ्युदय होता है, किन्तु यदि नहीं किए जा सकें तो कोई दोष नहीं है।

पात्रासादन में—वर्धनीकलश, सामान्यार्घ्य तथा विशेषार्घ्य की स्थापना एवं पात्रों में वह्नि, सूर्य, सोमकला आदि का पूजन होता है। तदनन्तर शुद्धिपात्र, गुरुपात्र एवं आत्मपात्र की स्थापना और पूजा करके अंतर्याग किया जाता है। यहीं अन्य आचार्यों के मत से अर्घ्यार्चनादि के पात्र भी स्थापित होते हैं।

अर्चन में—आवाहन, चतु:षष्टयुपचार पूजा, चतुरायतन पूजा, लयांग पूजा, षडंगार्चन, नित्यायजन एवं गुरुमंडलार्चन के पश्चात् आवरणार्चन (उपदेशानुसार सृष्ट्यादि क्रम से) करते हैं। तदनन्तर पंचपंचिका पूजा, षड्दर्शनविद्या, षडाधार, आम्नाय समष्टि, दण्डनाथा, मंत्रिणी एवं ललितानामार्चनपूर्वक अर्चन संपन्न होता है। यहीं अवकाशानुसार सहस्त्रनामार्चनादि भी किए जाते हैं।

महानैवेद्य, आरती, पुष्पांजलि, प्रदक्षिणा, कामकलाध्यान, बलिदान, जप, पुष्पांजलिस्तोत्र, कल्याणवृष्टिस्तोत्र, सर्वसिद्धिकृतस्तोत्र और क्षमा-प्रार्थना, गुरुस्तोत्रादि का पाठ करके सुवासिनी पूजन, तत्त्वशोधन, पूजासमर्पण देवतोद्वासन शांतिस्तव पाठ के साथ अर्चनविधि पूर्ण होती है। जो साधक इतने विस्तार से पूजादि न कर पाए, उनके लिए आचार्यों ने अनेक प्रकार की लघुपूजा विधियां भी बनाई हैं, जिनमें कलश और शंख (सामान्यार्घ्य पात्र) स्थापन करके निम्नलिखित पद्धति से अर्चन करना चाहिए—

संक्षिप्त यंत्र पूजा

आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ च संकीर्त्य। श्रीगुरुं महागणपतिं भगवतीं महात्रिपुरसुन्दरीं च प्रणम्य पूजयेत्।

ध्यानम्

बालार्कारुणतेजसं त्रिनयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीं,
नानालंकृतिराजमानवपुषं बालोडुराङ्शेखरम्।
हस्तैरिक्षुधनुः सृणीसुमशरान् पाशं मुदा विभ्रतिं,
श्रीचक्रस्थितसुन्दरीं त्रिजगतामाधारभूतां भजे॥

इति ध्यात्वा मानसोपचारैः सम्पूजयेत् ततश्च—

❑ **ॐ ऐं ह्रीं श्रीं अं आं सौः चतुरस्त्रयात्मकत्रैलोक्यमोहनचक्राधिष्ठात्र्यै अणिमाद्यष्टाविंशति-शक्तिसहितप्रकटयोगिनीरूपायै त्रिपुरादेव्यै नमः।**

❑ **ॐ त्रिवृत्तात्मकत्रिवर्गसाधकचक्राधिष्ठात्र्यै कालरात्र्यादिसहित-मातृकायोगिनीरूपायै त्रिपुरेशिनी देव्यै नमः।**

❑ **ॐ ऐं क्लीं सौः षोडशदलपद्मात्मकसर्वाशापरिपूरकचक्राधिष्ठात्र्यै कामाकर्षिण्यादि षोडश शक्तिसहितगुप्तयोगिनीरूपायै त्रिपुरेश्वरी देव्यै नमः।**

❑ **ॐ ह्रीं क्लीं सौः अष्टदल पद्मात्मकसर्वसंक्षोभणचक्राधिष्ठात्र्यै अनंगकुसुमाद्यष्टशक्ति सहितगुप्ततरयोगिनीरूपायै त्रिपुरसुन्दरी देव्यै नमः।**

❑ **ॐ ऐं ह्रीं श्रीं हैं हक्लीं हसौः चतुर्दशारात्मक-सर्वसौभाग्यदायक चक्राधिष्ठात्र्यै सर्वसंक्षोभिण्यादि चतुर्दशशक्तिसहितसम्प्रदाययोगिनीरूपायै त्रिपुरावासिनीदेव्यै नमः।**

❑ **ॐ हसैं हस्क्लीं हस्सौः बहिर्दशारात्मक सर्वार्थसाधकचक्राधिष्ठात्र्यै सर्वसिद्धिप्रदादि दशशक्तिसहितकुलोत्तीर्णयोगिनीरूपायै त्रिपुराश्रीदेव्यै नमः।**

❑ **ॐ ह्रीं श्रीं सौः अष्टारात्मक सर्वरोगहर चक्राधिष्ठात्र्यै वशिन्याद्यष्टशक्तिसहितरहस्ययोगिनीरूपायै त्रिपुरासिद्धादेव्यै नमः।**

❑ **ॐ ह्रीं क्लीं व्लें अंतर्दशारात्मकसर्वरक्षाकरचक्राधिष्ठात्यै सर्वज्ञादिदश—शक्तिसहित निगर्भयोगिनीरूपायै त्रिपुरमालिनीदेव्यै नमः।**

❑ **ॐ हस्त्रैं हस्क्लीं हस्त्रोः त्रिकोणात्मक सर्वसिद्धिप्रदचक्राधिष्ठात्र्यै कामेश्वर्यादि त्रिशक्ति सहितातिरहस्ययोगिनीरूपायै त्रिपुराम्बादेव्यै नमः।**

❑ **ॐ (मूलमंत्रः) बिन्द्वात्मकसर्वानन्दमयचक्राधिष्ठात्र्यै षडंगायुधदशशक्तिसहितपरापराति रहस्ययोगिनीरूपायै महात्रिपुरसुन्दरीदेव्यै नमः।**

इसके पश्चात् नैवेद्यादि विधि करके नित्यकृत्य पूर्ण कर लें।

वस्तुतः यह महाविद्या ''ब्रह्मविद्या'' है। इसकी 1. स्थूल, 2. सूक्ष्म और 3. परा के रूप में त्रिविध उपासना होती है। पराशक्ति की विज्ञानानन्दघन ब्रह्म है। विज्ञानानन्दघन ब्रह्म का तत्त्व अत्यंत सूक्ष्म एवं गुह्य होने के कारण शास्त्रों में उसे नाना प्रकार से समझाने की चेष्टा की गई है।

यह वास्तविक सत्य है कि किसी भी कार्य को करने के लिए मनुष्य में शक्ति का होना आवश्यक है और सबको शक्ति प्रदान करने वाली पराशक्ति ही उसकी अधिष्ठात्री देवता है। वही परब्रह्मस्वरूपिणी है। अतः उसकी यथाशक्ति उपासना करते हुए *''मयायज्ञैश्व यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः''* के अनुसार ब्रह्म सम्मिलन के लिए अपने शरीर को नित्यपूजा, नैमित्तिक पूजा तथा जपादि के द्वारा ब्रह्मरूप बनाना चाहिए। इससे लक्ष्य तक पहुंचने की क्षमता प्राप्त होती है।

❑❑

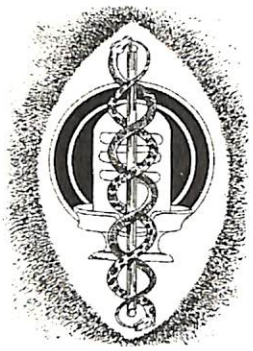

नि:श्वास : तेईस

पंचामरा योग

योग-सिद्धि प्राप्ति के लिए यौगिक देह बनाना अत्यावश्यक है। जैसे किसी उत्तमोत्तम मेहमान के आने अथवा बुलाने से पूर्व हम उनके योग्य आवास-निवास की पूरी समुचित व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार विभिन्न मलों से दूषित इस शरीर में सर्वातिशायी परमात्मा और उनकी महनीय शक्ति के निवास के लिए योग्य व्यवस्था करना अत्यावश्यक है।

आंतरिक-शुद्धि से पूर्व बाह्य-शुद्धि के लिए तंत्रों में ''पंचामरा-साधन'' का निर्देश दिया है। इसी में पांच अमर वस्तु, जिनका प्रयोग होता है, ये हैं—दूर्वा ग्रंथियुक्त, विजया (भांग), बिल्वपत्र, निर्गुण्डी, काली तुलसी।

विशेष बात यह है कि इनमें विजया के पत्र दुगुने और अन्य चार समान भाग में लेकर उनका अलग-अलग चूर्ण बना लें तथा उनका मिश्रण करते समय निम्नलिखित मंत्रों का एक बार पाठ करें—

ॐ त्वं दूर्वेऽमरपूज्ये त्वममृत-समुद्भवे।
अमरं मां सदा भद्रे कुरुष्व नृहरिप्रिये॥
ॐ संविदे ब्रह्मसम्भूते ब्रह्मपुत्रि सदाऽनधे।
भैरवाणां च तृप्तयर्थे पवित्रा भव सर्वदा॥
ॐ काव्यसिद्धिकारी-देवी-बिल्वपत्रनिवासिनी।
अमरत्वं सदा देहि शिवतुल्यं कुरुष्व माम्॥
ॐ निर्गुण्डि परमानन्दे योगानामधिदेवते।
रक्ष माममरे देवि भावसिद्धिप्रदे नमः॥
ॐ विष्णोः प्रिये महामाये महाकालनिवारिणि।
मां सदा रक्ष तुलसि मामेकममरं कुरु॥

फिर सबको मिलाकर—

ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि
अमृतमाकर्षयाकर्षय सिद्धिं देहि स्वाहा।

इस मंत्र से धेनुमुद्रा, योनिमुद्रा तथा मत्स्यमुद्रा दिखाते हुए प्रणाम करें। सात बार यह बिना मंत्र के गुरु-स्मरणपूर्वक तथा सात बार इष्टमंत्र बोलते हुए प्रत्येक के साथ **''तर्पयामि नमो नमः''** जोड़कर तर्पण करने का भी विधान है। इसके पश्चात्—

ॐ ऐं वद वद वाग्वादिनी मम जिह्वाग्रे स्थिरीभव
सर्वसत्त्व वशंकरि शत्रुकण्ठ त्रिशूलिनी स्वाहा।

इस मंत्र से चूर्ण का भक्षण करें। इन पांचों वस्तुओं में क्रमशः गणपति, सरस्वती, शिव, योगिनी तथा विष्णु का

निवास होने से ये देवता साधक पर प्रसन्न होकर उसे सिद्धि प्रदान करते हैं। योग-साधकों के लिए 1. नेती, 2. दंती, 3. धौती, 4. नौली और 5. क्षालिनी के लिए जो जहां उपदेश किया गया है, वह भी ''पंचामरा-योग'' के नाम से निर्दिष्ट है।

इस योग से कुण्डलिनी जागरण में सहयोग प्राप्त होता है।

पंचतिक्त प्रयोग

जप-संबंधी निर्देशों में यह भी कहा गया है—

पंचतिक्तं मुखे क्षिप्त्वा जपं कृत्वा समर्पयेत्।
तस्याहं सकलां पृथ्वीं ददामि पुरुषोत्तम॥
कौलं च पंच तिक्तं स्यात् कौलं कुलसमुद्भवम्।
तस्माद् देयं प्रयत्नेन देव्याश्चोद्भवमिच्छता॥
एला जातीफलं चैव कर्पूरं च लवंगकम्।
जातिपत्रं तथा देवि पंचतिक्तमिदं प्रियम्॥

अर्थात् जो व्यक्ति जप के समय मुख में 'पंचतिक्त' वस्तुओं—जिनमें '1. इलायची, 2. जायफल, 3. कपूर, 4. लौंग, 5. जावित्री' हैं, को रखकर देवी-मंत्रों का जप करता है और भगवती को जप समर्पित करता है, उसको मैं समस्त पृथ्वी दे देता हूं अर्थात् उसके लिए कोई वस्तु अदेय नहीं रहती। ऐसे ही अन्यान्य देवताओं के जप में भी कुछ विशिष्ट वस्तुओं के मुख में रखने का निर्देश है। कौल-मार्गियों के लिए ये पंचतिक्त ही 'कौल' हैं, क्योंकि ये कुल-वृक्षों से उत्पन्न हैं।

❑❑

नि:श्वास : चौबीस

नाभि-चक्र का जागरण

साधक बीज प्राप्त कर उसे काया रूप में प्रस्फुटित करता है इससे उसकी साधकोचित साधना पूर्ण होती है। योगी शिष्य का आधार सबल होता है, अत: उसे इस प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं है। काया लाभ के पश्चात् साधक योगभूमि प्राप्त करता है, तथापि वह योगी ही रहता है।

दर्पी योगी नहीं बन सकता।

वह अज्ञात रूप-से उत्तराभिमुख गति से योगधारा में प्रवाहित होता हुआ महाशक्ति के अंक में अर्थात् परमाप्रकृति के स्वरूपभूत कमलदल में विशेष लाभ करता है। इसमें संदेह नहीं कि वह अब योगी है, क्योंकि बिना योग पथ का आश्रय लिए परमाप्रकृति के अंकदेश में उपवेशन कर सकना संभव नहीं।

इतने पर भी वह मात्र योगी है, दर्पी योगी नहीं। वह मध्य बिंदु प्राप्त नहीं कर सकता। अपरदिक जो प्रारंभ से योगी है, उसे प्रारंभ से ही योगकाया (अर्थात् इष्ट अथवा गुरुकाया) प्राप्त रहती है।

उसका अंतर्निहित बल (आधार) श्रेष्ठतर होता है। इसलिए गुरु उसमें प्रारंभ से (बीज नहीं देते) बीज का विकास अर्थात् कायादान कर देते हैं। इसका फल यह है कि योगकर्म का अनुष्ठान करते-करते गुरु प्रदत्त काया का विकास हो जाता है।

पूर्ण विकास हो जाने पर चिदाकाश का भेद कर वह योगी गुरु के स्वरूप में स्थान प्राप्त करता है। यह है बोधयुक्त अवस्था। वस्तुत: यही है शिवभाव।

साधक योगी रूप में परिणति प्राप्त कर संतान रूप-से महाशक्ति की गोद में स्थान प्राप्त करते हैं। जो प्रारंभ में ही योगी हैं, उनकी गति भिन्न है। वे कर्म पूर्ण होने पर शिवभाव में स्थित होते हैं। दोनों गतियों में पार्थक्य है। ये योगी खंड योगी के नाम से परिगणित होने योग्य हैं। इसके पश्चात् योग की और भी उच्चतर भूमि है।

जो साधक योगी की स्थिति प्राप्त होने पर मां के क्रोड़ में आसीन होते हैं, उनके लिए इस उच्चतर योगभूमि की प्राप्ति असंभव है। इसके पश्चात् भी अवस्था होती है। पिंड अथवा ब्रह्माण्ड में सहस्रदल के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थान में योगी की स्थिति होती है।

एक प्रकार से इससे ऊर्ध्व कोई स्थान नहीं होता। उससे उच्चतर अवस्था कैसी होगी? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका समाधान अवश्य है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति होने के पश्चात् भी एक गुह्य स्तर उन्मुक्त होता है इस स्तर की उपलब्धि एवं स्थिति ब्रह्मरन्ध्र की अपेक्षा उच्चतर अवस्था है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति से भी महाशक्ति का विकास नहीं होता। जो महायोगी परमशिव अवस्था प्राप्त करते हैं, वे निम्नवर्ती समस्त सृष्टि के शिखरदेश पर आरूढ़ होते हैं, तथापि उनके लिए अभी भी प्राप्य अवस्था विद्यमान है। वह अवस्था तभी प्राप्त होगी, जब नाभिकेंद्र का जागरण संभव हो सके। यह अत्यंत दुरूह कार्य है।

शिवत्व के पश्चात् भी इस केंद्र को जगाना अत्यंत दुष्कर है अर्थात् जो योगी महाभाव में स्थित हैं (वे जब तक नाभिचक्र का जागरण संपन्न नहीं कर पाते) उनको शिवावस्था ही प्राप्त है।

नाभिचक्र उद्‌बुद्ध होने पर परमशिवावस्था की अभिव्यक्ति होती है। शिवभाव एवं परम शिव भाव में अनेक पार्थक्य है। शिव है विश्वातीत, विश्वप्रपंच से अतीत। विश्व एवं शिव के मध्य एक व्यवधान है, जो उस समय भी रह जाता है, अपसारित नहीं होता।

विश्व है जड़ एवं शिव है चैतन्यमय।

वह विश्व के अतीत हैं किन्तु विश्वात्मक नहीं। इसका मात्र कारण यह है कि शिव में अभ्यंतर शक्ति स्फुरण का अभाव है।

शक्ति एवं उसका कार्य है विश्व।

शक्ति अचित है एवं उसका कार्य भी अचित ही है। शिव है चित्त स्वरूप, चित्त जब स्वयं में शक्ति स्फुरण का अनुभव करते हैं, तब वह उचित रूप हो जाते हैं। शक्ति एवं उसके कार्य (विश्व) के साथ चित्त रूपी शिव का समन्वय प्रतिष्ठित होता है।

चित्त रूप शिव एवं अचितरूपा शक्ति में चितशक्ति उन्मेष द्वारा समन्वय होता है और यही है ''नाभि-चक्र का जागरण''।

इसे नाभि केन्द्र भी कह सकते हैं। यह अत्यंत दुर्लभ है, अत: महायोगी भी नाभि-क्रिया का रहस्य नहीं जानते। यहीं से महा कुण्डलिनी की क्रीड़ा प्रारंभ होती है।

यह विचित्र है।

तीनों को आयत्त कर योगीगण महाशक्तिस्थ बिंदु-भेद द्वारा ब्रह्मावस्था प्राप्त करते हैं। ये हैं दर्पी योगी। ये ही हैं महाखण्ड गुरु। ये ही त्रिविध शक्ति जागरण के पश्चात् अखण्ड महागुरु रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

जो योगी इन तीन के अंतर्गत मात्र एक कुण्डलिनी को जाग्रत कर कर्म पूर्ण होने के पूर्व ही देह त्याग कर देते हैं, वे महाशक्ति के चक्र पर आसीन होते हैं तथापि वह अस्थायी अवस्था है। दर्पी योगी स्वयं मां बनकर एवं ब्रह्मत्व लाभकर, मां और गुरु के अभिन्न रूप की प्रतिष्ठापना करते हैं। वे मातृ-ऋण शोध करने में समर्थ होते हैं, इनके अतिरिक्त मातृ-ऋण शोधन की क्षमता किसी में नहीं है।

❑❑

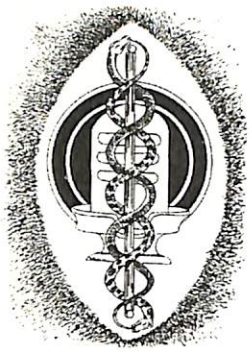

नि:श्वास : पच्चीस

छठी इन्द्रिय की शक्ति

यहां सबसे पहले ''त्रिनेत्र'' की बात करते हैं। इस त्रिनेत्र का विवरण शास्त्रों में बखूबी आया है। भगवान शिव को त्रिनेत्र कहा गया है। यह तीसरा नेत्र ''आन्तरिक नेत्र'' या ''ज्ञान नेत्र'' कहा जाता है, जिससे बाहर की सारी वस्तुएं, भौतिक पदार्थ आदि देख सकते हैं, किन्तु इस तीसरे नेत्र के माध्यम से हम उन गुप्त रहस्यों को भी देख सकते हैं, जिन्हें सामान्यत: चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। इस तीसरे नेत्र को ही ''आत्म चक्षु'' कहा गया है।

कुण्डलिनी के चक्र

कुण्डलिनी-जागरण मानव-जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। यह बात पहले कई बार दोहराई जा चुकी है कि मानव-शरीर में कुछ विशेष चक्र सन्निहित हैं, जो कि सुप्तावस्था में हैं। ये चक्र अंदर की सारी चेतना को जाग्रत करने में समर्थ हैं।

इसका प्रारंभिक चक्र मूलाधार कहलाता है। इसके बाद क्रमश: स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार चक्र हैं। इन सब चक्रों में आज्ञा चक्र का महत्त्व सबसे अधिक है। यह दो पद्मों में संयुक्त समस्त ब्रह्माण्ड का परिचायक है।

आज्ञा चक्र जाग्रत होते ही साधक को किसी भी मनुष्य के जीवन के बारे में पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। वह क्षण मात्र में ही भूत-भविष्यकाल को जान लेता है। ऐसा योगी एक स्थान पर बैठा-बैठा संपूर्ण विश्व की हलचल को अनुभव कर लेता है तथा आज्ञा चक्र के माध्यम से ही यह भी जान लेता है कि आने वाले समय में विश्व में कहां-कहां पर क्या-क्या घटनाएं घटित हो सकती हैं अथवा घटने वाली हैं।

इस आज्ञा चक्र को शास्त्रों में तीसरा नेत्र कहा गया है। जो शक्ति तीसरा नेत्र या आज्ञा चक्र के खुलने पर प्राप्त होती है, उसी को ''छठी इन्द्रिय'' या ''सिक्स्थ सेंस'' कहते हैं। इस छठी इन्द्रिय के माध्यम से व्यक्ति उन सारे रहस्यों को जान सकता है, जो सर्वथा अगोचर, गोपनीय और महत्त्वपूर्ण होते हैं।

कई बार चेतना किसी-किसी को स्वत: प्राप्त हो जाती है और कभी-कभी प्रयत्न करने पर इस चेतना को हस्तगत की जा सकती है। यों सामान्यत: प्रत्येक व्यक्ति में, थोड़े-बहुत रूप में यह चेतना होती है, जिसके आधार पर वह अनुमान लगाने में समर्थ हो जाता है। किसी व्यक्ति को देखते ही मन में स्वत: यह भाव पैदा हो जाता है कि यह व्यक्ति बदमाश या धूर्त है अथवा वो व्यक्ति धोखेबाज या वो स्त्री कुलटा है, आगे चलकर यह बात सत्य उतरती है, ऐसी चेतना को ही ''छठी इन्द्रिय'' कहा गया है।

यदि व्यक्ति शुद्ध भावना से मन की आंतरिक चेतना से कोई बात कह देता है, तो वह कार्य संपन्न हो जाता है, ऐसी क्रिया को ही हमारे शास्त्रों में ''श्राप'' या ''आशीर्वाद'' कहा है।

छठी इन्द्रिय शक्ति का ज्ञान

मुगल बादशाह हुमायूं का यह किस्सा बहुत मशहूर है। बात उस समय की है, जब हुमायूं रोगावस्था में मृत्यु शय्या पर पड़ा था। दरबार के सारे नीम-हकीमों ने अनेक तजुर्बे किए, दवाइयां दीं, किन्तु हुमायूं को कोई लाभ नहीं हुआ। एक समय ऐसा आया, जब बाबर ने अनुभव किया कि कुछ ही घंटों में हुमायूं की मृत्यु निश्चित है, तब वह उठा।

उसने अपने खुदा से इबादत की, बीमार हुमायूं के पलंग के चारों तरफ घूमकर अल्लाह से प्रार्थना की कि वह हुमायूं को जीवन दे दे, बदले में चाहे उसका जीवन ले ले। संभवत: यह प्रार्थना सच्चे हृदय से, पूर्ण आत्मचेतना से की गई थी और इतिहास साक्षी है, उस वक्त से हुमायूं लगातार ठीक होने लगा और बाबर ज्यादा-से-ज्यादा बीमार पड़ता गया। फिर एक दिन ऐसा आया कि बाबर की मृत्यु हो गई।

यह छठी इन्द्रिय की शक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। छठी इन्द्रिय की शक्ति के ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं, जिन्हें लिखने बैठें, तो शायद पूरी एक पुस्तक ही बन जाए।

मन की एकाग्रता अपने आप में बहुत बड़ी शक्ति है, जिसके माध्यम से असंभव कार्य भी संभव किए जा सकते हैं। आज संसार भर में मन की एकाग्रता या छठी इन्द्रिय की शक्ति को लेकर बराबर परीक्षण चल रहे हैं और इसमें सफलता भी मिल रही है।

भारत में इस अतीन्द्रिय शक्ति या मन शक्ति से सम्बंधित चमत्कारी बातों से सैकड़ों ग्रंथ भरे पड़े हैं। ऋषियों ने वरदान देकर या आशीर्वाद देकर एक क्षण में कठिन-से-कठिन कार्य संपन्न कर दिखाए हैं, जो कुण्डलिनी रहस्यों को जान लेता है, वह मन की अतीन्द्रिय शक्तियों पर भी नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

वस्तुत शरीर में तीन प्रकार की शक्तियां होती हैं—भौतिक या शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति और मानसिक शक्ति। मानव शारीरिक शक्ति का प्रयोग तो पिछले कई सौ वर्षों से करता आ रहा है। जैसे, बोझा उठाना, परिश्रम करना आदि ऐसी ही शक्ति हैं। इसके अलावा अब मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक बौद्धिक शक्ति का उपयोग करने लगा है। यद्यपि वैज्ञानिकों के अनुसार अभी भी मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमताओं का बौद्धिक शक्ति का तीस प्रतिशत से अधिक उपयोग नहीं कर पाया है, मन: शक्ति के प्रयोग के बारे में तो वह अभी तक कोरा है और केवल उसका पांच प्रतिशत ही उपयोग करने में समर्थ हो सका है।

ध्यान, धारणा, समाधि या कुण्डलिनी जागरण के द्वारा ही इन मन:शक्ति का विकास होता है। निरंतर अभ्यास करने पर मन: शक्ति या संकल्प शक्ति बहुत अधिक बढ़ाई जा सकती है। इस शक्ति को प्राप्त कर साधक प्रत्येक कार्य में समर्थ हो जाता है। कोई कार्य उसके लिए असंभव नहीं रहता। प्राचीन योगियों के अनुसार कुण्डलिनी जागरण कर चक्रों को जाग्रत करने से अथवा नित्य आधा घंटा किसी एकांत स्थान पर बैठकर ध्यान लगाने (त्राटक क्रिया) से स्वयं में उस अद्वितीय शक्ति का अनुभव किया जा सकता है। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कुण्डलिनी का जागरण ही है।

❑❑

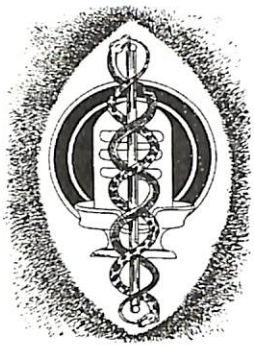

नि:श्वास : छब्बीस

शरीरस्थ मंत्राक्षर

भगवान शिव के महामृत्युंजय मंत्र के अंतर्गत विभिन्न प्रकाशात्मक वर्ण शरीर में स्थित विभिन्न शक्तियां मंत्रजप से जाग्रत होकर जीवन को सबल और सुरक्षित बनाती हैं तथा विघ्नों का नाश करती हैं। कौन-कौन वर्ण किस-किस शक्ति का सजातीय है और वह शक्ति शरीर के किस-किस स्थान में रहती है ? इसका महर्षि वशिष्ठ ने विस्तार *''देवो भूत्वा देवं यजेत्''* के सिद्धांत पर बतलाया है।

महामृत्युंजय मंत्र के 33 अक्षर हैं जो महर्षि वशिष्ठ के अनुसार 33 दिव्य-शक्तियों (देवताओं) के द्योतक हैं। इन देवताओं की गणना इस प्रकार है—8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य, 1 प्रजापति एवं 1 वषट्कार—ये 33 देवता प्राणियों के भिन्न-भिन्न शरीर के अंगों में स्थित हैं। सबल तथा जाग्रतावस्था में ये शक्तियां प्राणियों के शरीर की रक्षा और संहारक शक्तियों का विनाश करती हैं।

महामृत्युंजय मंत्र

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

मंत्राक्षरों के अर्थ—

- **त्रि**—प्राण (ध्रुव वसु) का बोधक है जो सिर में स्थित है।
- **यम्**—अध्वर वसु (प्राण) का बोधक है, जो मुख में स्थित है।
- **ब**—शक्ति (साम वसु) का बोधक है जो दक्षिण कर्ण में स्थित है।
- **कम्**—जल वसु (देवता) का बोधक है जो वाम कर्ण में स्थित है।
- **य**—वायु वसु का बोधक है जो दक्षिण बाहु में स्थित है।
- **जा**—अग्नि वसु का बोधक है जो वाम बाहु में स्थित है।
- **म**—प्रत्यूष वसु का बोधक है जो दक्षिण बाहु-मध्य में स्थित है।
- **हे**—प्रयास वसु का बोधक है जो मणिबंध में स्थित है।
- **सु**—वीरभद्र रुद्र का बोधक है जो दक्षिण हस्त के अंगुलिमूल में स्थित है।
- **ग**—शंभु रुद्र का बोधक है जो दक्षिण हस्तांगुलि के अग्र भाग में स्थित है।
- **न्धिम्**—गिरीश रुद्र (शक्ति) का बोधक है जो वाम बाहुमूल में स्थित है।
- **पु**—अजैकपात् रुद्र (शक्ति) का द्योतक है जो वामहस्त के मध्य में स्थित है।
- **ष्टि**—अहिर्बुध्न्य रुद्र का बोधक है जो वाम हस्त के मणिबंध में स्थित है।
- **व**—पिनाकी रुद्र (प्राण) का बोधक है जो वाम हस्तांगुलिमूल में स्थित है।

- ❑ **र्ध**—भवानीश्वर रुद्र का बोधक है जो वाम हस्तांगुलि के अग्रभाग में स्थित है।
- ❑ **नम्**—कपाला रुद्र का बोधक है जो दक्ष उरुमूल में स्थित है।
- ❑ **उ**—दिक्पति रुद्र का बोधक है जो दक्ष जानु में स्थित है।
- ❑ **र्वा**—स्थाणु रुद्र का बोधक है जो दक्ष गुल्फ में स्थित है।
- ❑ **रु**—भर्ग रुद्र का बोधक है जो दक्ष पदांगुलिमूल में स्थित है।
- ❑ **क**—धाता आदित्य का बोधक है जो दक्षपादांगुलियों के अग्रभाग में स्थित है।
- ❑ **मि**—अर्यमा आदित्य का बोधक है जो वाम उरुमूल में स्थित है।
- ❑ **व**—मितादित्य का बोधक है जो वाम जानु में स्थित है।
- ❑ **ब**—वरुणादित्य का बोधक है जो वाम गुल्फ में स्थित है।
- ❑ **न्ध**—अंशु आदित्य का बोधक है जो वाम पादांगुलिमूल में स्थित है।
- ❑ **नात्**—भगादित्य का बोधक है जो वामपादांगुलियों के अग्र भाग में स्थित है।
- ❑ **मृ**—विवस्वान् का बोधक है जो दक्ष पार्श्व में स्थित है।
- ❑ **त्योः**—इन्द्रादित्य का बोधक है जो वाम पार्श्व में स्थित है।
- ❑ **मु**—पूषादित्य का बोधक है जो पृष्ठ में स्थित है।
- ❑ **क्षी**—पर्जन्यादित्य का बोधक है जो नाभि में स्थित है।
- ❑ **य**—त्वष्टा आदित्य (शक्ति) का बोधक है जो गुह्य में स्थित है।
- ❑ **मा**—विष्णु आदित्य का बोधक है जो दोनों भुजाओं में स्थित है।
- ❑ **मृ**—प्रजापति (प्राण) का बोधक है जो कण्ठभाग में स्थित है।
- ❑ **तात्**—अमित वषट्कार का बोधक है जो हृदय में स्थित है।

उपर्युक्त वर्णों के अर्थ भी प्राप्त होते हैं, जिनमें शक्तियों सहित देवताओं की बोधकता स्थिति का वर्णन व्याप्त है। यथा—

- ❑ **त्र्यम**—त्रिनेत्रा शक्ति सहित त्र्यक्षेश का बोधक है जो शिखा में स्थित है।
- ❑ **ब**—प्रभेदिनी शक्ति सहित बालार्कतेज का बोधक है जो सिर में स्थित है।
- ❑ **कं**—कल्याणी शक्ति सहित कालानन्तेश का बोधक है जो ललाट में स्थित है।
- ❑ **य**—यज्ञरूपा शक्ति सहित विघ्नेश का बोधक है जो भ्रूमंडल में स्थित है।
- ❑ **जा**—ज्वालामुखी शक्ति सहित जालंधरेश का बोधक है जो नेत्र-युगल में स्थित है।
- ❑ **म**—महाशक्ति सहित महादेवेश का बोधक है जो कर्णयुगल में स्थित है।
- ❑ **हे**—हेमवती सहित हाकिनीश का बोधक है जो नासिका द्वारों में स्थित है।
- ❑ **सु**—सुगंधि सहित सुगंधेश का बोधक है जो कपोल-मंडल में स्थित है।
- ❑ **ग**—गंभीरा सहित गंधेक का बोधक है जो ऊर्ध्वोष्ठ में स्थित है।
- ❑ **न्धिम्**—धीरा सहित महीश (प्राण) का बोधक है जो अधरोष्ठ में स्थित है।
- ❑ **पु**—पूर्णा सहित पुंडरीकाक्षेश का बोधक है जो ऊर्ध्वदंतों में स्थित है।
- ❑ **ष्टि**—अधिष्ठानी सहित अधिष्ठेश का बोधक है जो अधोदंतों में स्थित है।
- ❑ **व**—वरेण्या सहित वरिष्ठेश का बोधक है जो हनुयुगल में स्थित है।
- ❑ **र्ध**—धर्मा सहित धर्मेश का बोधक है जो चिबुक में स्थित है।
- ❑ **नं**—नंदिनी सहित नंदीश का बोधक है जो मुख में स्थित है।

- **उ**—उमा सहित ऋद्धीश (प्राण) का बोधक है जो कंठ में स्थित है।
- **र्वा**—वामा सहित वरुणेश का बोधक है जो दोनों कंधों में स्थित है।
- **रु**—रूपवती सहित रुद्रेश का बोधक है जो भुजयुगल में स्थित है।
- **क**—कांति सहित कांतेश का बोधक है जो हृदय में स्थित है।
- **मि**—शिवा सहित मीढुष्टमेश का बोधक है जो हृदय में स्थित है।
- **व**—वेदगर्भा सहित वेदेश का बोधक है जो स्तनमंडल में स्थित है।
- **बं**—बंधिनी सहित बंधिनीश का बोधक है जो हृदय में स्थित है।
- **ध**—धनुष्मति सहित धंवीश का बोधक है जो नाभि में स्थित है।
- **नात्**—पुष्टि सहित नाकेश्वर का बोधक है जो कटि में स्थित है।
- **मृ**—मृत्युनाशिनी सहित मृत्युंजयेश का बोधक है जो गुह्य में स्थित है।
- **त्योः**—नित्या सहित नित्येश का बोधक है जो पायु में स्थित है।
- **मु**—मुकुंदा सहित मुक्तीश का बोधक है जो दोनों पार्श्वों में स्थित है।
- **क्षी**—क्षेमकरी सहित क्षितीश का बोधक है जो उरुमंडल में स्थित है।
- **य**—मंत्रभेदिनी सहित योगीश का बोधक है जो गुल्फ युगल में स्थित है।
- **मा**—मंत्रप्रभेलिनी सहित मंत्रेश का बोधक है जो पादतलों में स्थित है।
- **मृ**—क्षमा सहित अमृतेश का बोधक है जो पैरों के ऊर्ध्व भाग में स्थित है।
- **तात्**—तंवीशा सहित तंवीश का बोधक है जो पाद युगल में स्थित है।

पदों के आधार पर प्रत्येक पद में शक्ति और देव की पृथक-पृथक बोधकता के ज्ञान का वर्ण निम्नलिखित है—

- **त्र्यम्बकम्**—त्रैलोक्य शक्ति सहित त्रिपुरा-नरेश का बोधक है जो सिर में स्थित है।
- **यजा**—सुगंधक शक्ति सहित यज्ञवतीश का बोधक है जो ललाट में स्थित है।
- **महे**—मायाशक्ति सहित महत्तत्त्वेश का बोधक है जो कानों में स्थित है।
- **सुगन्धिम्**—सुगंधि शक्ति सहित सुगंधीश का बोधक है जो नासिका में स्थित है।
- **पुष्टि**—पुरंदरी शक्ति सहित पुरुषेश का बोधक है जो मुख में स्थित है।
- **वर्धनम्**—वंशकरी शक्ति सहित वरेश का बोधक है जो कंठ में स्थित है।
- **उर्वा**—ऊर्ध्वेश शक्ति सहित उमापतीश का बोधक है जो हृदय में स्थित है।
- **रुक**—रुक्मवती शक्ति सहित रूपवतीश का बोधक है जो नाभि में स्थित है।
- **मिव**—रुक्मवती शक्ति सहित रूपवतीश का बोधक है (पूर्ववत्) जो कटि में स्थित है।
- **बन्धनात्**—बर्बरी शक्ति सहित बालचंद्रमौलीश का बोधक है जो गुह्य में स्थित है।
- **मृत्योः**—मंत्रवती शक्ति सहित मंत्रेश का बोधक है जो उरुद्वय में स्थित है।
- **मुक्षीय**—मुक्तिकरी शक्ति सहित मुक्तिरीश का बोधक है जो जानुद्वय में स्थित है।
- **मा**—महाशक्ति सहित महाकालेश का बोधक है जो जंघाद्वय में स्थित है।
- **अमृतात्**—अमृतवती शक्ति सहित अमृतेश का बोधक है जो पादतल में स्थित है।

कुण्डलिनी चक्रों में मंत्रगत वाक्यों के अर्थ

- **त्र्यम्बकम**—भूत शक्ति सहित भवेश का बोधक है जो अधःसहस्रार मूलाधार में स्थित है।

- **यजामहे**—शर्वाणी शक्ति सहित शर्वेश का बोधक है जो स्वाधिष्ठान में स्थित है।
- **सुगन्धिम्**—विरूपा शक्ति सहित रुद्रेश का बोधक है जो मणिपूर में स्थित है।
- **पुष्टिवर्धनम्**—वंशवर्धिनी शक्ति सहित पशुपतीश (पुरुषवरदेश) का बोधक है जो अनाहत में स्थित है।
- **उर्वारुकमिव**—उग्रा शक्ति सहित उग्रेश का बोधक है जो विशुद्ध में स्थित है।
- **बन्धनात**—मानवती शक्ति सहित महादेवेश का बोधक है जो आज्ञा में स्थित है।
- **मृत्योर्मुक्षीय**—भद्रकाली शक्ति सहित भीमेश का बोधक है जो सहस्रदल में स्थित है।
- **माऽमृतात्**—ईशानी शक्ति सहित ईशानेश का बोधक है जो सहस्रदल में स्थित है।

मंत्रस्वरूप, अर्थ एवं तात्पर्यार्थ

तत्त्वचिंतकों ने आधिभौतिक अर्थ को स्थूल, आध्यात्मिक अर्थ को सूक्ष्म तथा आधिदैविक अर्थ को पर अर्थ की संज्ञा दी है। इस सिद्धांत का अनुसरण यास्क तथा स्कंदस्वामी आदि सभी आचार्यों ने किया है। इस पद्धति के आधार पर ''त्र्यम्बकम्'' आदि पद और मंत्र के अर्थ निम्नलिखित हैं—

अहिर्बुध्न्य के मतानुसार, ''तिस्रः अंबिकाः यस्य सः त्र्यम्बकः'', अर्थात् इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति—ये तीनों विश्व की माताएं हैं। यह शक्तित्रय जिसके वश में हों, वह त्र्यम्बक कहलाता है। वैदिक परिभाषा में इन तीन माताओं को गायत्रीछन्द (ज्ञानशक्ति), त्रिष्टुप्छन्द (इच्छाशक्ति), जगतीछन्द (क्रियाशक्ति ''अर्थशक्ति'') कहा गया है।

पौराणिक भाषा में क्रियाशक्ति का ही दूसरा नाम अर्थशक्ति है। महर्षि कणाद ने इन तीनों को ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न—इन शब्दों से परिभाषित किया है।

''त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) संति यस्य स त्र्यम्बकः'', अर्थात् जिसके अग्नि, चंद्र और सूर्य—ये तीन नेत्र (प्रकाश) हैं, वह त्र्यम्बक कहलाता है।

सांख्य दर्शन के प्रेणता महर्षि कपिल ने सत्त्व, रज और तम—ये तीन नेत्र माने हैं। याज्ञिकों ने पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक को तीन नेत्र कहा है, जबकि मीमांसकों की परिभाषा में ऋग्, यजुः और साम—ये तीन वेद ही नेत्रत्रय हैं।

कुमारिल ने ''तंत्रवार्तिक'' में कहा है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे॥

इसके अलावा शाण्डिल्य ने 'भक्तिमीमांसा' में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों को त्र्यम्बक (महादेव) के तीन नेत्र माना है।

ज्योतिषियों के मतानुसार भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीनों काल-महाकाल त्र्यम्बक के नेत्र हैं, जबकि वेदांत में चित्त, अहंकार एवं बुद्धि को और ग्यारह योगियों के मत में ''उ, उम्'' इन तीनों (प्रणवाक्षरों) को शिव के तीन नेत्र माना है।

सुगन्धिम—जो आत्मतेज से समस्त तत्त्वों को शोभन-सुगंधमय बनाता है अर्थात् उन-उन वस्तुओं को स्व-स्वरूप में स्थिर रखता है और अपने अंतः प्रवेश से उन वस्तुओं को अपना सुगंधमय स्वरूप देकर उन्हें सहसा विकृत नहीं होने देता, वह परमात्मा इस पद में सुगंधि पद से अभिहित है।

बौद्धमतावलंबी वसुबंधु ने समगंध—तत्त्व को अविकृति एवं पुष्टप्रद माना है तथा विषम गंध तत्त्व को दुर्बलता तथा विकारप्रद कहा है। समगंध तत्त्व ही (पृथ्वी आदि तत्त्वों की) स्थूलता तथा पदार्थों की अविकृति का कारण है। इसलिए धर्मशास्त्रों में सुगंधित पुष्पों का धारण आरोग्य और पुष्टिदायक माना गया है।

पुष्टिवर्धनम्—परमात्मा पुष्टिवर्धक है। यहां पुष्टि का अर्थ पोषण, लक्ष्मी और भूति है। पुष्-पुष्टौ (धातु) से ''क्तिने'' प्रत्यय द्वारा पुष्टि शब्द बनता है। आनंदार्णव तंत्र में ''पुष्टिल मीस्वरूपिणी'' कहकर इसका अर्थ लक्ष्मी कहा गया है। तांत्रिकों की परिभाषा में इसे शक्ति माना है। पौराणिकों की परिभाषा में माया और तत्त्व-चिंतकों की परिभाषा में यह प्रकृति कही जाती है। इस पुष्टि को जो बढ़ाता है अर्थात् सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में लाकर उसे विविध रूप-से परिणत कर देता है, वही परमात्मा पुष्टिवर्द्धनम् है, यह मानना चाहिए।

यजामहे—त्र्यम्बक परमात्मा के लिए स्वयं को समर्पित कर उससे अपना संबंध जोड़ना ही इसका अर्थ है। यहां यज् धातु का अर्थ, किसी देवता विशेष को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग करना है। यज् ''देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' इस धातु से निष्पन्न ''यजामहे'' क्रिया का अर्थ ''यज्ञ करते हैं'' यह होता है।

मीमांसकों ने स्थूल द्रव्य (हवन, पूजा सामग्री) के माध्यम से आध्यात्मिक शक्तियों का आधिदैविक शक्तियों के साथ संबंध स्थापित करने को यज्ञ कहा है। इस मीमांसानुसारी सिद्धांतानुसार ''यजामहे'' का अर्थ स्थूल पदार्थों के माध्यम से प्रस्तुत तीन शक्तियों के स्वामी महान देव, अमर होने से मृत्यु का, प्रकाशमय होने से अंधकार का एवं स्थाणु होने से अस्थिरता का प्रतिपक्षी है तथा अमृत, प्रकाश एवं स्थिर भाव का उद्गम स्थल है।

मृत्योर्बन्धनात् उर्वारुकमिव मुक्षीय—इसका अर्थ विद्वानों ने जो निकाला है, वह यह है—हम भी वेदों में निर्दिष्ट (सौ प्रकार की रोगादि) मृत्तियों, अष्टविध अज्ञानपर्वों और सतत परिणामशील जन्म-मरण रूपी संसरणात्मक बंधन से मुक्त होकर उसी प्रकार मृत्युंजय की प्राप्ति की इच्छा करते हैं जिस प्रकार पका हुआ फल बिना किसी कष्ट के बंधनमुक्त हो जाता है।

यहां मृत्यु शब्द अज्ञान, प्राणापहारक शक्ति, बंधनात्मक संसार—इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अज्ञानवाचक मृत्यु शब्द की निरुक्ति, *''मतिं ज्ञानं त्यजति अनेन इति मृत्युः''*, जिससे मनुष्य ज्ञानरहित हो जाता है, वह अज्ञान मृत्यु है।

प्राणापहारक मृत्यु शब्द की परिभाषा है, *''मृतिं तनोति जंतूनामिति मृत्युरिति स्थितिः''*, जो प्राणियों के प्राणों का प्रतिक्षण संहार करती है, वह मृत्यु शक्ति है तथा, *''मृतिःसंतानरूपत्वान्मृत्युः संसार उच्यते''*, अर्थात् मरणधर्मा होने से संसार भी मृत्यु कहलाता है। इन तीन प्रकार की मृत्यु से मुक्ति दिलाना ही इस मंत्र का महान उद्देश्य है।

अमृतात् मा मुक्षीय—का भावार्थ है कि अमर, प्रकाशरूप, सतत एकरूप ब्रह्म के साथ जापक ने जो संबंध स्थापित किया है, उससे जापक भी अमर, प्रकाशमय और स्थिर होकर रहे तथा उस अमृतमय परमात्मा से उसका संबंध कदापि विच्छिन्न न हो।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के सनातन संबंध की स्थिरता और आत्मा के स्वस्त्ययन (सर्वविध कल्याण) की कामना की गई है।

इस प्रकार मंत्रगत वर्ण, पद, वाक्यादि में प्रतीयमान सब शक्तियां शरीर के तत्तद् स्थानों में निवास करती हैं। देवता मंत्रमय हैं, अतः मंत्र के उच्चारण से देवताओं का उल्लास होता है, शक्तियों का उल्लास ही स्थिति है। अमृत है। शक्तियों की सुषुप्ति ही अंधकार है, मृत्यु है। सुषुप्त शक्तियां मंत्रजप से जाग्रत होकर स्थित भाव की संरक्षिका बनती हैं, क्योंकि मंत्र में ''सुगन्धि'' और ''पुष्टिवर्धन'' जैसे शब्द हैं।

सुगन्धि का अर्थ यहां पुण्य और विस्तृत कीर्ति है और कीर्ति का पर्याय यश है। यश चांद्रीशक्ति है, जो ''अमृता'' बनकर शक्तियों का संरक्षण करती है। ''पुष्टिवर्धनम्'' यह शक्तिवर्धन का सूचक है।

शब्दब्रह्म में वर्ण अक्षर कहलाते हैं। ये ही वर्ण अर्थब्रह्म पदार्थों में ''कला'' कहलाते हैं। वर्ण शब्द प्रकाश का वाचक है। शब्दब्रह्म विचित्र प्रकाशमय वर्णों का समुदाय है तो अर्थब्रह्म भी विभिन्न प्रकाशमय कलाओं का समूह है। दोनों ब्रह्म परस्पर एक-दूसरे से मिले हुए हैं। इसलिए शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द का ज्ञान होता रहता है और शब्द अर्थरूप से तथा अर्थ शब्दरूप से परिणत होते रहते हैं।

जिन विचित्र रंगों के प्रकाशों के संयोग से अमृतत्व सिद्ध होता है अथवा जो प्रकाश अमृतरूप से परिणत होते रहते हैं, उन सब प्रकाशों का संग्रह अक्षरों के द्वारा मृत्युंजय-मंत्ररूप ऋचा में है। इस मंत्र के उच्चारण से सर्वविध प्रकाश जाग्रत होते हैं और वे अमृत का उत्पादन तथा आकर्षण करते हैं।

साधकों ने जिन मंत्रों का जिस रूप में साधन किया और अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति की, उसी को आगे चलकर आचार्यों ने शास्त्रों में संगृहीत कर दिया और वह भावी पीढ़ी के लिए उत्तम साधना का मार्ग बन गया। महामृत्युंजय मंत्र भी इस दृष्टि से विभिन्न प्रकार की साधनाओं का मुख्य लक्ष्य रहा है।

मृत्युंजय मंत्र द्वारा मणिपूर चक्र भेदन

मानव की सबसे बड़ी चिंता शरीर की स्वस्थता, मानसिक प्रसन्नता, दीर्घजीवन और मृत्यु से रक्षा होती है। जीवन में उत्साह तथा उल्लास का संचार इन्हीं पर निर्भर है। यदि ये सब नहीं तो सभी प्रकार की उधेड़बुन किसलिए? किसके लिए? इस चिंता का निवारण करने का सरलतम उपाय है—महामृत्युंजय भगवान महादेव की भक्ति।

यही वो साधना है, जिसे साधकर मनुष्य आगे बढ़ता है, आशाओं के दीप जलाता है और उनके उज्ज्वल प्रकाश में अपने विचारों, प्रयासों एवं आकांक्षाओं को मूर्तिमान बनाकर सफल होता है। भगवती आनन्दभैरवी ने उत्तरतंत्र में चक्रभेदन के प्रसंग में मणिपूर-भेदन का वर्णन करते हुए कहा है—

अष्टैश्वर्य साधक, जीवन्मुक्ति एवं सर्वज्ञता प्रदान करने वाले मणिपूर-भेदक मंत्र का मैं कथन करती हूं। साधक मणिपूर में रुद्राणी सहित रुद्र का ध्यान एवं पूजन करके "ओम् नमस्ते रुद्ररूपिण्यै" इस रुद्राणी मंत्र का तथा "ॐ नमस्ते रुद्राय" इस महारुद्र मंत्र का जप करे।

षट्चक्रसाधन में ही अन्य मंत्रों का कथन करते हुए कहा गया है कि भगवान महारुद्र के अनंत मंत्र हैं। उनमें मृत्युंजय मंत्र द्वारा मणिपूर में स्थित रुद्राणी और रुद्र को चैतन्य करना चाहिए। उसके लिए प्रसाद मंत्र "ॐ हौं स्वाहा", *"ॐ हौं जूं स्वाहा"* अपना मृत्युंजय-महामंत्र का मानस जप करना चाहिए और इसके पश्चात् पूजा-विधान, न्यास-विधान तथा अन्य प्रक्रियाओं का विस्तार से निर्देश है। इनमें रुद्राणी का तथा रुद्र का ध्यान इस प्रकार है—

रुद्राणी का ध्यान

रुद्राणीं रुद्रकान्तां नवरसजडितां कुङ्कुमासक्तगात्रां,
लोकेशीं षड्भुजान्तां त्रिभुवनमहितां कोटिसौदामिनीभाम्।
पद्मस्थां पद्महस्तां वरमभयकरां खड्गशक्तिं दधानां,
ध्यायेद् रौद्रीं त्रिनेत्रां शरदमलशशिश्रेणिभूषामलाङ्गीम्॥

रुद्र का ध्यान

रौद्रं रुद्रात्मकं तं प्रकृति-पुरुष-गम्भीरगीताभिधानं,
शूलं खड्गं दधानं वरमभयकरं पद्ममेकं प्रचण्डम्।
संचारं रश्मिजालं शशिशककिरणं कामधेनुस्वरूपं,
ध्यायेद् रौद्रीं स्वशक्तिं प्रलयमयतनुं सूर्यकोटिप्रकाशम्॥

रुद्र के समान ही रुद्रशक्ति का पूजन-स्मरण भी आवश्यक माना गया है। यह एक बहुत ही रहस्यपूर्ण बात है कि मणिपूर में इस मंत्र का जप होना चाहिए, क्योंकि इसी चक्र में अमृत का निवास है और अमृत ही मृत्यु को जीतने का सर्वोत्तम साधन है।

❑❑

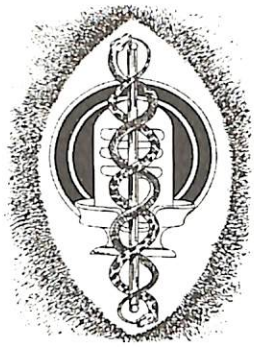

नि:श्वास : सत्ताईस

कुण्डलिनी के संबंध में सावधानियां

श्रेष्ठ योगी साधक ही कुण्डलिनी जाग्रत कर सकता है। गुरु की आज्ञा, निर्देश अथवा बिना पूर्व तैयारी के या अच्छी जानकारी के बिना कुण्डलिनी शक्ति को छेड़ना खतरे से खाली नहीं है। जिस प्रकार नंगे हाथों बिजली के तारों को पकड़ने या छूने से करंट लगता है, ठीक वो ही स्थिति कुण्डलिनी के साथ है। कुण्डलिनी शक्ति पराविद्युत शक्ति का केंद्र है। यह विद्युत से भी अधिक शक्तिशाली और काल से भी अधिक भयंकर सर्पिणी है। उसकी तीव्रता और चालन गति का कोई पारावार नहीं है। प्रकृति की परम ऊर्जा शक्ति कुल कुण्डलिनी इच्छाशक्ति के द्वारा जगाई जाती है।

ध्यान रहे, जब तक योग साधना के द्वारा मन और शरीर पूरी तरह से शुद्ध और संयत न हो गए हों तब तक इस योग शक्ति कुण्डलिनी ऊर्जा शक्ति को संभालना अत्यधिक कठिन होगा। अनाड़ी साधक, अयोग्य गुरु अथवा स्वयं पुस्तकें आदि पढ़कर अपनी थोड़ी-बहुत समझ के अनुसार जिज्ञासावश कुण्डलिनी शक्ति को छेड़ना किसी महान कष्टदायी दुर्घटना के समान होगा।

कुण्डलिनी शक्ति न तो तजुर्बा करने की कोई वस्तु है और न ही चमत्कार आदि देखने की। असमय में, अपरिपक्व साधना के समय कामवासना को नियंत्रण किए बिना, संयम का ठीक-ठाक ध्यान न रखते हुए, कुण्डलिनी जैसी दु:साध्य शक्ति को जगाना किसी भी प्रकार उचित न होगा। जिनकी संकल्पशक्ति दुर्बल (कमजोर) हो, उन्हें चाहिए कि वो इस भयंकर महा सर्पिणी को छेड़ने का जोखिम न उठाएं।

यदा-कदा ऐसा भी होता है कि पूर्व जन्म में की गई योग साधनाओं के प्रभाव से चरित्रवान, सीधे-सच्चे, भावुक साधक-साधिकाओं में केवल हल्की-सी भक्ति भाव से साधन, कीर्तन करने या सत्संग आदि में जाने, बैठने से कुण्डलिनी शक्ति अपने आप जाग्रत होने लगती है। ऐसे समय में साधक को परम सात्त्विक, सरल, अभिमान रहित, काम, क्रोध, लोभ आदि से दूर रहते हुए उस शक्ति का स्वागत करना चाहिए तथा उससे प्राप्त हुई शक्तियों एवं सिद्धियों का प्रयोग लोगों की सेवा और उनके कष्टों को दूर करने में करना चाहिए।

बहुत से साधक इस विचित्र, चकित कर देने वाली यौगिक शक्ति कुण्डलिनी को कई जन्मों के परिश्रम के बाद भी जगाने में असमर्थ रहते हैं। इसका केवल एक ही कारण है कि उनका मन की शक्ति पर नियंत्रण नहीं होता।

कुण्डलिनी को हरेक जन्म में बार-बार जाग्रत करना होता है। बार-बार जाग्रत करने से इसे फिर अगले जन्म में जाग्रत करने में सरलता होती है।

एक बार कुण्डलिनी जाग्रत हो जाने पर यह न समझना चाहिए कि हमेशा ऐसा होता ही रहेगा ? मन तथा शरीर की स्वस्थावस्था, निर्मलता, सूक्ष्मता, विचारों की पवित्रता और वैराग्य का बना रहना अत्यावश्यक है, इनके अभाव में यह कार्य बंद हो सकता है।

भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों पर प्राणों के ठहर जाने को कुण्डलिनी जाग्रत हो जाना न समझना चाहिए, किन्तु

सारे प्राणों का प्रवाह जब स्थूल शरीर से सुषुम्ना नाड़ी में आ जाए और स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत से बेसुध होकर सूक्ष्म शरीर तथा जगत में प्रवेश हो जाए, तो कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत होना समझना चाहिए।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि कुण्डलिनी शक्ति जब सुषुम्ना नाड़ी के अंदर प्रवेश करती है, तब उसकी पहली टक्कर मूलाधार चक्र पर लगती है, इससे उपस्थ इन्द्रिय पर दबाव पड़ता है, इसलिए मूलबंध सावधानी से लगाए रहना चाहिए। उस समय स्थूल जगत से सूक्ष्म जगत में प्रवेश तथा स्थूल शरीर से सारे प्राणों का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में जाना आरंभ होने लगता है, सारे बाह्य प्राण हाथ-पैर आदि से खिंचाव के साथ अंदर जाने लगते हैं, उस समय बिल्कुल भी भयभीत न होना चाहिए, अन्यथा भय की वृत्ति आने के साथ ही प्राण फिर उतर जाएंगे और रह जाएगा तो सिर्फ पछतावा!

कुण्डलिनी जागरण के समय कभी-कभी अनेक भयंकर दृश्य भी आंखों के आगे दिखाई देने लगते हैं, वह कुछ हानि नहीं पहुंचा सकते, बल्कि खुद ही हट जाते हैं, लोप हो जाते हैं, उनसे भयभीत नहीं होना चाहिए। विद्युत्मय सूक्ष्म नाड़ियों, चक्रों, तन्मात्राओं तथा तत्त्वों आदि के प्रकाश भी इतने अलौकिक होते हैं कि साधकों को प्रथमावस्था में उनका सहन करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत के शब्द भी अपरिचित होने के कारण अति भयानक प्रतीत होते हैं, अत: केवल द्रष्टा बनकर देखते रहें, अन्यथा भय की वृत्ति आने के साथ ही कुण्डलिनी शक्ति जहां पहुंचती है, वहीं से फिर लौट जाएगी। इस प्रकार के भय उसी समय तक रहते हैं, जब तक कि कुण्डलिनी भृकुटि तक न पहुंच जाए। आज्ञा चक्र पर कुण्डलिनी के स्थिर होने के बाद फिर किसी प्रकार का भय नहीं रहता। उस समय सारे सूक्ष्म जगत का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस ओर वृत्ति जाती है, उसी का यथार्थ स्वरूप समक्ष आने लगता है। यही वास्तविक समाधि है। कुण्डलिनी शक्ति जब सहस्रार में पहुंचती है तो सारी वृत्तियों का निरोध होकर असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

विशेष—कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करने वाले साधकों को बुरे विचारों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। किसी भी प्रकार के नशीले पदार्थ, तंबाकू, बीड़ी-सिगरेट, मद्य, भांग, गांजा, चरस, अफीम आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए तथा उतावलापन, चंचलता एवं दुराचरण से दूर रहना भी अत्यंत आवश्यक है। कुण्डलिनी जागरण एक ऐसी पद्धति है, जिसमें योगी साधक स्वयं अपने अंदर की शक्ति को प्रस्फुटित कराकर समस्त ब्रह्माण्ड से एकाकार स्थापित करता है।

❑❑

अनंत की ओर

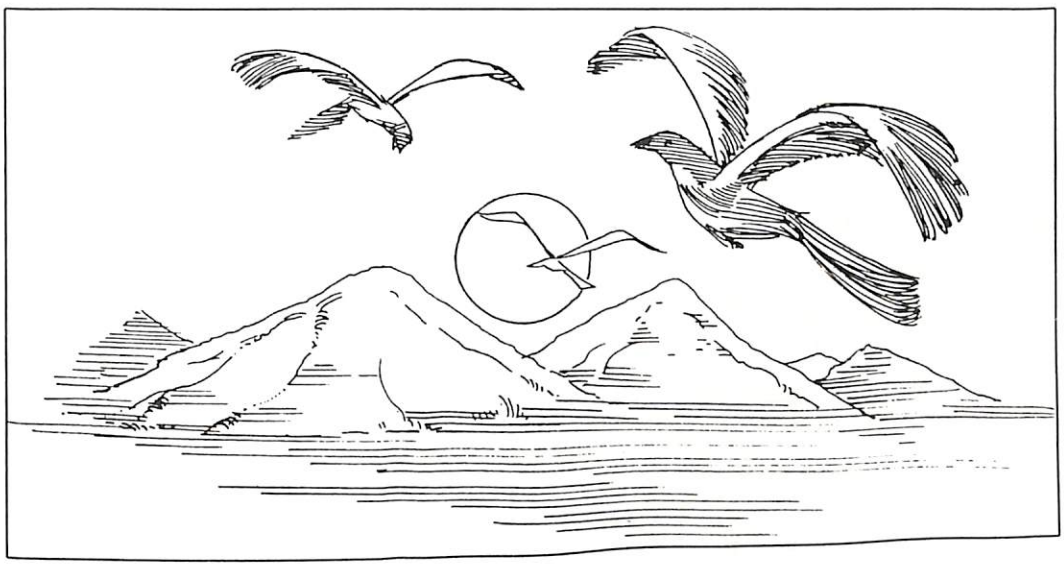

आलेख

काका हरिओ३म्

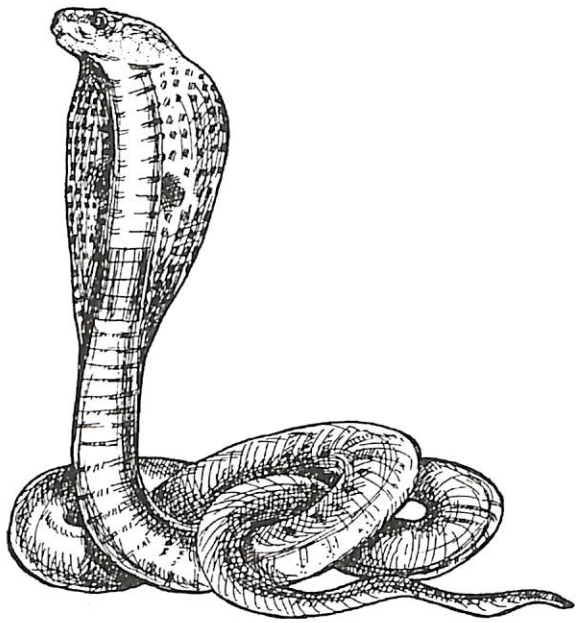

सर्प प्रतीक है ऊर्जा का। वह बिना पैरों के चलता है। उसके चलने को इसीलिए सरकना कहते हैं। सरकने में गति है, बिना किसी स्थूल साधन के। इसी को प्रवाहित होना कहते हैं। सर्प कुंडली मार ही बैठता है। कुंडली उसकी विश्रांति की स्थिति है—इसे महानिद्रा भी कहा जा सकता है। कुंडली संकेत है विस्तार के सिमटने का। छोटे-छोटे कुंडलों में परिवर्तित कर दिया है असीम ऊर्जा ने अपने आपको। जैसे-जैसे वह सक्रिय होगी, कुंडलों का विलय होता जाएगा। सर्प के लिए शायद सबसे सहज है अपने दोनों सिरों को जोड़ना। कुछ सांप तो ऐसे भी होते हैं जिनकी पूंछ और फन में स्थूलरूप से कोई अंतर नहीं होता। अक्सर उन्हें शिकार बनाने वाले धोखे में पड़ कर उसी का शिकार बन जाते हैं। फन है अनंत संभावनाओं की स्थिति का प्रतीक। हम पूंछ को ही तो फन माने बैठे हैं। शिकार बने हुए हैं उसके। सर्प बिना किसी दूसरे आधार के खड़ा हो सकता है बिल्कुल सीधा। यही स्थिति ऊर्जा की है। सर्प प्रतीक है विजडम का, प्रज्ञा का भी।

- *तब शायद सर्प से बेहतर कोई प्रतीक नहीं था, भविष्य में रॉकेट बन सकता है कुंडलिनी का प्रतीक। कुंडलिनी-सी ही उसकी यात्रा है—एक अंतरिक्ष से दूसरे अंतरिक्ष में, एक ग्रह से दूसरे ग्रह में—बीच में शून्य की पर्त है। प्रतीकों की खोज तो युग करता है। हो सकता कुछ समय बांद सर्प हमारे लिए मिथ बन जाए।* —***ओशो***

- *सर्प जैसे बुद्धिमान, चालाक और कबूतर से भोले बनो।* —***जीसस***

अनंत की ओर

कोई नहीं जानता और बता सकता कि कितना ऊंचा है तुम्हारा आसमान,
क्या और कितनी संभावनाएं हैं तुममें,
यहां तक कि तुम खुद भी,
इसका सही अंदाजा तो तब लगता है
जब तुम अपने पंखों को खोलते हो, फड़फड़ाते हो
और छलांग लगा देते हो वहां से
जहां बैठे हो तुम इस समय

मूल्यवान है संभावना

उम्र के आखिरी पड़ाव पर गुरुदेव को चिंता हो रही थी, कौन संभालेगा उनके बाद गुरुकुल की गरिमामयी परंपरा को। परीक्षा लेने की बात सोची उन्होंने। सभी शिष्यों को बुलाया। सीधा-सादा सवाल पूछा—'कीमती क्या है, लोहा या चांदी ?' सभी का जांचा-परखा, समझा-बूझा जवाब था, 'चांदी !' लेकिन शिष्यों की भीड़ में एक ऐसा भी था, जो असहमत था इस जवाब से। वह लोहे को मूल्यवान कह रहा था। 'क्यों ऐसा मानते हो तुम ?' जब गुरुदेव ने पूछा, तो उसका जवाब था, 'चांदी, चांदी ही बनी रहेगी ताउम्र। जबकि लोहे में संभावनाएं हैं। लोहा पारस का स्पर्श पाकर सोना बन सकता है।' गुरुदेव ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उसी शिष्य की घोषणा कर दी थी। वर्तमान मूल्यवान हो सकता है। अतीत भी मूल्यवान हो सकता है। लेकिन सबसे अधिक मूल्यवान होता है वह, जिसमें संभावना है। जिसमें कोई संभावना नहीं, वह मूल्यहीन है। मनुष्य होना, मनुष्य योनि में जन्म लेना इन्हीं अर्थों में मूल्यवान है। यह योनि पशु और परमात्मा के बीच एक सेतु-का सा कार्य करती है।

चौरासी लाख योनियों के बाद मनुष्य जन्म मिलता है, ऐसा धर्म ग्रंथ कहते हैं। मनुष्य योनि के भोग और कर्म दोनों पक्ष हैं। भोग योनि है देव योनि। मनुष्येतर सभी योनियां भोग योनियां हैं। इनके कर्मों से दृष्ट (पाप-पुण्य) की उत्पत्ति नहीं होती। मनुष्य भोगता भी है पुण्य-पाप को और वह जो कर्म करता है उससे अदृष्ट की उत्पत्ति भी होती है। मनुष्य गतिमान है। ऊर्ध्वगति भी कर सकता है मनुष्य, अधोगति भी। मनुष्य इन्हीं अर्थों में सबसे अलग है। मनुष्य स्वतंत्र है, परतंत्र भी। जबकि शेष वंशानुक्रम के ट्रेक पर गति करते हैं। वे परतंत्र है। उन पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता तो है लेकिन बहुत कम। कौन-सी विशेषता मनुष्य को शेष योनियों से अलग करती है, इसके बारे में नीतिकार का कथन है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना।

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन स्तरों में मनुष्य समान है पशुओं के। मनुष्य में धर्म ही विशेष है। जिसमें धर्म नहीं वह पशु के समान है।'

नीतिकार के इन वचनों से कुछ संत अलग राय रखते हैं। उनका कहना है कि धर्महीन मनुष्य को जानवरों की कैटेगिरी में नहीं रखना चाहिए। ऐसा करना पशुओं का अपमान करना है।

धर्म ही विशेषता है मनुष्य की। मनुष्य का धर्म है मनुष्यत्व। इसीलिए 'मनुष्यत्व' को धर्मग्रंथों ने दुर्लभ कहा। धर्म ही मनुष्य को उसके अस्तित्व के साथ जोड़ता है। यहां इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि तथाकथित (हिन्दू, मुस्लिम आदि) धर्म से यहां 'धर्म' इस शब्द को जोड़ना ठीक नहीं। धर्म की परिभाषा को उसी विशुद्ध रूप में देखना चाहिए जिस रूप में उनकी चर्चा धर्मग्रंथों में की गई है—जो मनुष्य को श्रेय और प्रेय दोनों की प्राप्ति कराते हैं, जिनसे अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है वही धर्म है। *''यतोभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:।''* इस प्रकार धर्म की व्याख्या भी अनंत संभावनाओं को जाग्रत करने में है। ये वो सिद्धांत हैं जिनसे ऐंद्रिक और अतींद्रिय सुखों की प्राप्ति होती है। इसका मूल है 'असंभव कुछ भी नहीं।' विवेकहीन 'असंभव' इस शब्द का प्रयोग करते हैं।'

'धर्म' के आचरण में सामान्यतया सामान्यीकृत सिद्धांतों को अपनाया जाता है। जब यही क्रिया विशिष्ट हो जाती है, जब इसमें सामान्य क्रिया-प्रक्रिया (व्यवहार) से तृप्ति नहीं मिलती तब मनुष्य बन जाता है साधक। तब उसके प्रश्न भी विशेष हो जाते हैं। तब सही-गलत, पाप-पुण्य, हानि-लाभ जैसे प्रश्नों पर विचार नहीं करता वह बल्कि तब उसके सामने प्रश्न उठता है—कोऽहं, कौन हूं मैं? तब उसे भीतर कहीं गहरे में महसूस होता है कि 'यह सब कुछ' जिस रूप में दिख रहा है, असल में वैसा है नहीं। क्या है वास्तविकता, यह प्रश्न जब सघन होता है, तब उसकी राह मुड़ती है अध्यात्म की ओर।

प्रतीति और वास्तविकता के अंतर को समझने का प्रयास करना ही साधना है और उसकी गहरे तक अनुभूति कर लेना ही परम सिद्धि। इस परमसिद्धि की स्थिति में अनुभव होता है स्व भाव का। तब लगता है कि क्या था मैं और उसे क्या बना रखा था, क्या माने बैठा था। तभी वह स्थिति बनती है जिसकी ओर इकबाल ने संकेत किया है—

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है।

स्वामी रामतीर्थ ने इसी स्थिति के बारे में कुछ यूं कहा है—

खंजर की मजाल, जो इक जख़्म कर सके
तेरा ही है खयाल कि घायल हुआ है तू।

भौतिक स्तर पर जी रहे व्यक्ति को ये बातें समझ नहीं आतीं। वह इन्हें अतिशय समझता है। यही वजह है जो 'वह मैं ही हूं,' 'मैं ही वह हूं,' ऐसा कहने वाले को पागल करार कर दिया जाता है। लेकिन ऋषियों का, तत्त्व ज्ञानियों का कथन है कि इस स्थिति तक पहुंचे बिना स्थिरता नहीं, शांति नहीं, आनंद नहीं, प्रसन्नता नहीं—भटकाव बना ही रहेगा, यात्रा समाप्त होने वाली नहीं नहीं—*'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं'* वाली।

नदियों की गति समुद्र में जाकर ही थमती है। नदी सापेक्षिक रूप से तुच्छ है, महद् समुद्र की तुलना में (व्यवहार में ऐसा ही कहा जाता है। ऐसा कहने के अलावा और कोई चारा भी नहीं है)। बूंद का नदी बनना, नदी का समुद्र बनना ही अनंत संभावना है बूंद की। इसके बाद बूंद को बूंद बनकर रहने में कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वह जान चुकी है अपनी अनंत संभावनाओं को। इसीलिए वह बूंद-सी दिखती हुई भी वास्तव में समुद्र ही है।

स्थल से सूक्ष्म की ओर

सांत में छिपे अनंत को समझने के लिए आइए अनंत से सांत की यात्रा पर एक दृष्टि डालें। *'वह एक था। उस एक ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊं।'* ऐसा ही हुआ! वह एक नाना नाम-रूपों वाला हो गया। यह प्रक्रिया

उपनिषदों में वर्णित है। उस एक ने नाना रूप लेने के लिए किसी का सहारा नहीं लिया। किसका सहारा लेता, जब दूसरा कोई था ही नहीं। और फिर वह निर्बल थोड़े ही था। उसने 'स्वयं से' समूची सृष्टि की रचना की। एक घड़ा बनाने के लिए मिट्टी और कुम्हार दोनों जरूरी हैं। मुख्य कारण हैं ये दोनों। सब कुछ हो, लेकिन इन दोनों में से कोई न हो, तो बात नहीं बनती। एक से अनेक होने की जब अलौकिक घटना घटी, तब कुम्हार और मिट्टी अलग-अलग नहीं थे। उस स्थिति को निर्वचन से परे इसीलिए कहा जाता है। आश्चर्यजनक थी वह घटना—

सारी बिच नारी है कि नारी बिच सारी है।

सारी है कि नारी है कि नारी है कि सारी है।

दोनों एक, लेकिन कई नाम-रूपों वाले लग रहे थे।

कार्य-कारण सब एक थे उस समय। इसीलिए उपनिषदों ने कहा—यह सृष्टि वैसे ही हुई जैसे मकड़ी अपना जाला अपने मुख से निकालकर बुनती है। इसीलिए ऋषियों को कहना पड़ा कि परमात्मा (ब्रह्म) इस जगत के प्रति अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। निमित्त कारण (कुम्हार) और उपादान कारण (मिट्टी) वह स्वयं ही है।

हम परमात्मा ही तो हैं वास्तव में, *अहं ब्रह्माऽस्मि,* (मैं ब्रह्म हूं), *सोऽहम्* (वह मैं ही तो हूं) इन वाक्यों को सुनकर हम अक्सर भ्रमित हो जाते हैं—'क्या मैं सच में अनंत शक्ति संपन्न हूं'। इस बारे में सशंकित हो उठते हैं। ऐसा मानना स्वभाव बन चुका है हमारा। शेर का बच्चा भेड़ों में मिल गया। स्वयं को भेड़ मानने लगा। जैसा मानने

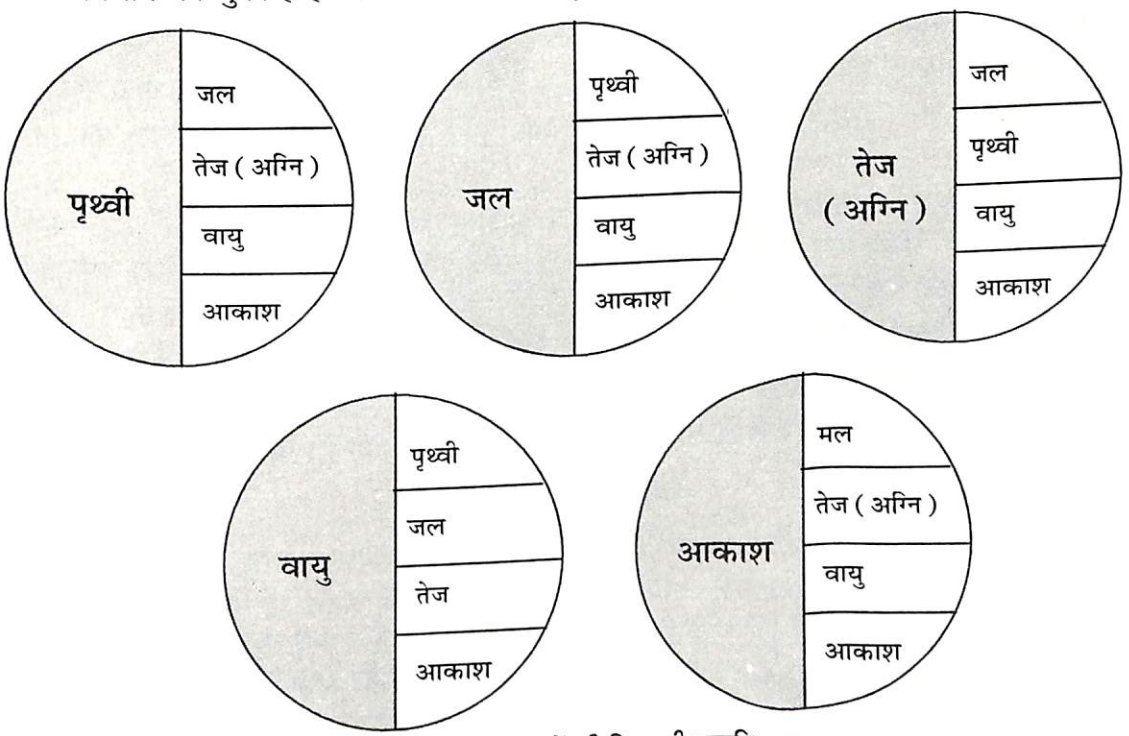

पंचीकृत पंचमहाभूतों की चित्रमयी प्रस्तुति

लगा—वैसा व्यवहार करने लगा। अपने सच्चे अस्तित्व को ही नकार दिया उसने। जब भेड़ माने बैठे शेर के बच्चे को पहली बार किसी ने कहा होगा कि वह भेड़ नहीं शेर है, असल में, तब उसमें भी ऐसा ही प्रश्न उठा होगा। इसी तरह जब कोई मनुष्य में अनंत संभावनाओं की बात करता है, तो उसके गले नहीं उतरती यह बात। वह तो स्वयं को सान्त माने बैठा है। उसकी नजर में तो अनंत कोई दूसरा है। उस अनंत को वह अलग-अलग नामों से पुकारता है। उसे

अलग-अलग रूपों में पूजता है। कैसे उतरे उसके गले में अनंत संभावनाओं वाली बात ? क्यों हो रहा है ऐसा ? क्या ऐसा संभव है ? इन्हीं संदर्भों को अध्यात्म ने एक-एक करके, क्रमवार समझाया है। जैसी संकल्प की सृष्टि परमात्मा की है, वैसी ही जीव की भी है। जैसे परमात्मा अपनी सृष्टि को स्वयं में समेट लेता है, वैसे ही जब समेटने की सामर्थ्य मनुष्य में आती है तो वह कह उठता है—मैं अपनी सृष्टि को स्वयं बनानेवाला हूं (इन्हीं अर्थों में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है)। जब चाहूं मैं अपनी सृष्टि को समेट लूं।

उपनिषदों के सृष्टिक्रम पर जब गहरे में विचार करें तो भौतिक होने का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। तब यह स्थूल शरीर ही नहीं, सूक्ष्म और कारण शरीर भी भौतिकता की सीमा में आ जाते हैं। विचार, वाणी, बुद्धि, मन, भाव, सभी तो भौतिक हैं। किस प्रकार पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के बाद उनके पंचीकरण से ज्ञानेंद्रियों, कर्मेन्द्रियों, पंचप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि की संरचना होती है, इसका अत्यंत विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन है वेदांत के प्रक्रिया ग्रंथों में। उसी आधार पर अधिष्टात्री देवी-देवताओं की चर्चा की गई है। इन प्रक्रियाओं को समझने के बाद वह संकेत स्पष्ट दिखाई देने लगता है, जिसे दिखाने-समझाने का प्रयास ऋषि बार-बार करते रहे हैं। चित्रमयी मूर्त भाषा का प्रयोग किया है ऋषियों ने सूक्ष्मतत्त्व को समझाने के लिए। पूर्व के अध्यायों में, षट्चक्र निरूपण में ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया गया है। षट्चक्र भेदन का अर्थ है, जिस चक्र पर स्थिति है उससे आगे बढ़ना, अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा। सूक्ष्म से स्थूल की यात्रा आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की है। जब साधक इसे उलटे क्रम में अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल के क्रम में अपनाता है तो इस प्रक्रिया को लय कहते हैं। कार्य से कारण में प्रवेश। कारण में ज्यादा संभावनाएं होती हैं, कार्य से कई गुनी ज्यादा। इस प्रकार ससीम से असीम की यात्रा हो जाती है यह पंचमहाभूतों के लय की यात्रा। इसीलिए यह भौतिक होते हुए दिव्य है। उपासना में आरोह-अवरोह प्रक्रिया से पूजन का यही रहस्य है।

इस यात्रा में कुछ नया घटित नहीं होता, हां जो दिख नहीं रहा होता, दिखने लग जाता है बस। पहले दिखने में धुंधलापन होता है लेकिन जैसे-जैसे स्थूल छंटता जाता है, दिखना ज्यादा-से-ज्यादा स्पष्ट होता जाता है। बिखरी हुई चेतना, ऊर्जा एक निश्चित दिशा में प्रवाहित होने लगती है। जो अब तक वश से बाहर होता है, पूरी तरह से वश में हो जाता है, अनायास ही। लगने लगता है कि कमाल है, शेर होते हुए भी मैंने खुद को भेड़ कैसे मान लिया। अब खुद को भेड़ मानना उतना ही, बल्कि उससे भी ज्यादा मुश्किल हो जाता है जितना पहले 'मैं शेर हूं,' ऐसा स्वीकारना था। बदलाव सिर्फ दृष्टि में होता है। बाकी सब कुछ जैसा था, वैसा ही रहता है। यही जागरण है।

जहां जागो—वहीं सवेरा

जागरण का अर्थ साधक के लिए यह भी है कि बस स्पष्ट हो गया लक्ष्य क्या है, और यह भी कि उसे प्राप्त करना है। साध्य और साधन दोनों का साफ-साफ दिखना जागरण है, ऐसा कहना भी ठीक होगा। जन्म-जन्मान्तरों का भटकाव समझ में आ गया। यह बात स्पष्ट हो गई कि वस्तुओं में, संबंधों में, पदों में क्या खोजा जाता रहा है। इन सबकी कामना करना, उन्हें प्राप्त करना और फिर उन्हें पा जाने के बाद किसी नई वस्तु को पाने की राह पर चल देना साफ-साफ बताता है कि जिससे जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयास किया गया था, उससे वह नहीं मिला। वह नहीं मिला जिसकी उम्मीद थी। इसीलिए साधन बदलते गए, साध्य एक ही रहा और मजे की बात है कि उस एक साध्य की ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया। यही स्थिति मूर्च्छा की है। जागरण में साफ-साफ दिखाई देता है कि क्या चाहिए और वह कैसे मिलेगा।

बाल्यस्तावद् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत्तरुणी रक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपिन लग्नः॥

''बालकपन में खेलकूद में आसक्त रहा, जवान हुआ तो स्त्री में डूब गया, वृद्ध हुआ तो चिन्ता में मग्न रहा, (लेकिन आश्चर्य है) परब्रह्म में कोई भी नहीं लगा।''

'कोई भी नहीं', ऐसा कहकर आद्यशंकराचार्य ने जीवों की सामान्य प्रवृत्ति की चर्चा की। लगता है साधन और साध्य दोनों को ही स्पष्ट कर दिया आचार्य ने इस श्लोक में। खेल-कूद में बच्चा क्या ढूंढता है ? तरुणी में (सेक्स में) क्या तलाशता है युवक ? और वृद्ध अतीत व भविष्य की गुत्थियों को सुलझाता हुआ क्या ढूंढ़ रहा है ? तलाशने का यह क्रम प्रत्येक जन्म में, होता रहा है। लेकिन यह तलाश अपरोक्ष है, अस्पष्ट है। मजे की बात है कि तलाशा जा रहा है अनंत समय से जबकि यही पता नहीं कि तलाश किसकी है। उपनिषद् के ऋषियों ने पहले तो यही स्पष्ट किया कि तलाश किसकी है। उनका कहना है कि प्रत्येक आनंद को तलाश रहा है। आनंद अर्थात् ऐसा सुख जो नष्ट न होता हो। इसी संदर्भ में संसारी सांसारिक विषयों का चुनाव करता है। अर्थात् संसारी कैसे एक के बाद दूसरी गलती कर रहा है। वह दुखरूप में सुख तलाश रहा है। मरणधर्मा। में अमरता तलाश रहा है। ऐसा नहीं कि सिर्फ पढ़ने-लिखने से उसके साध्य व साधन के इस तरह के विचार स्पष्ट हो जाते हैं। शास्त्रों के जानकार भी चकरा जाते हैं।

महाकाली का अर्थ ही है, जिसमें समूची प्रकृति का लय हो जाए। जहां शिव निष्क्रिय हो जाए

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामायां प्रयच्छति॥

''प्रकृतिरूपा वह भगवती ज्ञानियों के मन में मोह पैदा कर महामाया की गोद में डाल देती है।''

मोह बनाम भ्रम

मोह का अर्थ है, जो जैसा, वह वैसा न दिखकर उसके बिल्कुल विपरीत दिखे। शास्त्रों की जानकारी रखनेवाला भी अज्ञानी का सा व्यवहार करने लगता है। पुराणों में ऐसी कई कथाएं आपको पढ़ने को मिल जाएंगी। क्यों होता है ऐसा ? यही प्रश्न अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

''बलपूर्वक किसके द्वारा पाप में जीव नियुक्त हो जाता है, जबकि वह पाप करना नहीं चाहता।''

अनंत संभावनाओं का स्वामी किस प्रकार जड़ और गुलाम बन जाता है श्रीकृष्ण ने इसका उत्तर देते हुए रजोगुण को कारण बताया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

''काम और क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। ये महान पापों को कराने वाले और कभी न तृप्त होने वाले हैं। इसलिए इन्हें अपना सबसे बड़ा बैरी मान।''

तमोगुण जड़ बनाता है। यह प्रवृत्त नहीं करता। 'कर लेंगे', इसका तर्क होता है। सतोगुण ज्ञान की ओर उन्मुख करता है। एकाग्रता व स्थिरता देता है यह। इससे मोह टूटता है। रजोगुण में मोहयुक्त प्रवृत्ति होती है। इन्हीं अर्थों में यह सतोगुण व तमोगुण से अलग है लेकिन इसमें दोनों के विशेष गुणों की झलक भी मिलती है।

योगदर्शन के अनुसार सत्व, रज व तमोगुण की साम्य (समान) अवस्था प्रकृति है। इस साम्य में सृष्टि नहीं होती। सृष्टि के लिए वैषम्य (असंतुलन) अपेक्षित है। वैषम्य का परिणाम है द्वन्द्व। इस प्रकार द्वन्द्व से तब तक नहीं मुक्त हुआ जा सकता, जब तक वैषम्य बना है। इस मायने में स्व+स्थ होना प्रकृतिस्थ होना है। जैसे-जैसे प्रकृतिस्थ होते जाते हैं, साम्य बनता जाता है। अनंत संभावनाओं के द्वार खुलते जाते हैं। आनंदामृत जब प्रकृतिस्थ होने में है, तो सहज होना ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। साधना सहजता में होना है, होने को महसूस करना है, कुछ करना नहीं है। इसीलिए साधना के नाम पर, 'कुछ करना' उलझाने वाला है। जो हो रहा है उसकी स्वीकृति, जस की तस स्वीकृति ही परम साधना है। साधना में यदि कहीं कुछ करना दिखता है, उससे होने का कोई संबंध नहीं, उसका काम तो उन अवरोधों को हटाना है, जिसकी वजह से अस्तित्व का, उसके सही रूप में बोध नहीं होता।

आपकी खिड़की बंद है। सुबह के सूरज की उजली रोशनी आपके कमरे में नहीं आ रही। आपने खिड़की के परदे को हटाया। खिड़की की चिटकनी को सरकाया। खिड़की को खोला। उससे प्रकाश के आने में आपने कोई सहयोग नहीं किया, प्रकाश का आना तो सहज था। आपने खिड़की खोलकर प्रकाश के कमरे में आने के बीच के अवरोध को ही सिर्फ खत्म किया। कर्म, उपासना और ज्ञान की त्रिपुटी से भी तो मल, विक्षेप और आवरण इन दोषों को हटाने की बात ऋषियों द्वारा कही गई है। इन तीनों साधनों से प्रकृति में साम्य आ जाता है। और जो था, जो है, जो हमेशा है उसका अनुभव होने लगता है।

'करना' या 'न करना'

'करने' और 'न करने' के अर्थ का स्पष्ट होना साधक के लिए आवश्यक है। इन शब्दों का प्रयोग उलझा देता है, यदि स्पष्ट न हो इनका अर्थ। क्योंकि अक्सर 'करने', 'न करने' की चर्चा साथ-साथ चलती है। यहां इस बात को भी समझ लेना जरूरी है कि मोक्ष यदि अप्राप्त है, उसे कर्म के द्वारा प्राप्त किया गया है, तो संसार के अन्य विषयों की तरह ही वह भी हमारे हाथ से सरक जाएगा। और यदि वह प्राप्त ही है, तो उसके लिए कर्म आदि साधनों की क्या उपयोगिता। ऋषियों ने इसीलिए घोषणा की कि मुक्ति, आनंद, प्रसन्नता ये सभी हमारे 'स्वभाव सिद्ध अधिकार' हैं। यदि आपके मस्तिष्क में ऊपर कही गई बात स्पष्ट हो गई होगी, तो आप मेरी इस बात से भी सहमत होंगे कि जिसे बंधन कहा जा रहा है, दोष कहा जा रहा है, वह भी असल में कुछ भी नहीं है।

एक प्रसंग है। तब की बात है जब आने-जाने के साधनों का विकास नहीं हुआ था। एक कुम्हार अपने पांच-

सात गधों को लिये शहर की ओर चल पड़ा। सफर लंबा था। शाम हुई। कुम्हार ने धर्मशाला में शरण ली—अपने गधों के साथ। लेकिन जब गधों को बांधने की बारी आई, तो वह परेशान हो उठा। बांधने वाली रस्सियां छोड़ आया था। उसे हैरान-परेशान देख दूसरे यात्री ने कारण पूछा। कुम्हार ने अपनी विवशता बताई। पूछने वाले ने सवाल किया, ''कितने बरसों से ये तुम्हारे पास हैं ?'' ''आठ बरस तो हो गए होंगे,'' कुम्हार ने जवाब दिया। लेकिन कुम्हार को यह सवाल समझ नहीं आया। कुम्हार का जवाब मिलते ही उस सह-यात्री ने मार्ग सुझाया, ''इन गधों को बांधने वाली जगह ले जाकर खड़ा कर दो। फिर इन्हें बिना रस्सी के वैसे ही बांधों, जैसे इन्हें रोज बांधते हो।'' कुम्हार ने वैसा ही किया। फिर भी डर था इसलिए रात को उठकर बार-बार देखता रहा। आश्चर्य! गधे अपनी जगह खड़े थे। सुबह उसके सामने एक बार फिर से परेशानी आ खड़ी हुई। बिना रस्सी के बंधे गधों को कैसे खोले ? सहयात्री ने फिर सलाह दी, ''जैसे बांधे थे, वैसे ही खोल लो।''

हमारी सारी संभावनाएं अवरुद्ध हैं एक ऐसी वस्तु द्वारा जो वास्तव में है ही नहीं। 'माया' का अर्थ ही है, जो नहीं है। आश्चर्य है जो है नहीं हम उसके कारण बंधे हुए हैं। इस बात को जान लेना कि जो बांध रहा है, वह वास्तव में है नहीं, मोक्ष की स्थिति है, तत्त्वज्ञान है। ऐसा जानते ही प्रत्येक चक्र का भेदन हो जाता है (चक्रों के भेदन से ऐसा होता है, यह भी कहा जा सकता है)। अनंत संभावनाओं का कमल खिल उठता है। सारा बनावटीपन छंट जाता है। प्रकृति सम हो जाती है। जीवन परम सहज हो जाता है। ऐसा होना साधना की परम स्थिति है। प्रतिफल है यह साधना का। लेकिन जब तक ऐसा घटित नहीं होता तब तक जो वास्तव में है नहीं, लेकिन फिलहाल अस्तित्व वाला है, उसी की शब्दावली में सोचना-बरतना पड़ता है।

सहज शब्द का अर्थ

सहज शब्द का अर्थ है साथ जन्मना। 'सह' अर्थात् साथ 'ज' अर्थात् जन्मना। यह शब्द संकेत करता है दो की ओर। दो के लिए ही साथ-साथ शब्द का प्रयोग किया जाता है। सहज का अर्थ है साथ-साथ अस्तित्व में आना। यह भी कि दिखने में अलग-अलग हैं, दो हैं लेकिन हैं एक ही। साधना में 'सहज' शब्द का प्रयोग अक्सर किया जाता रहा है। *'साधो! सहज समाधि भली।'* संत कबीर ने सहज समाधि पर जोर दिया है। योग से पहले भी सहज शब्द जुड़ा है। इन दिनों 'सहज योग' की काफी चर्चा है। इसकी व्याख्या कुछ न करने के अर्थों में की जा रही है। हठयोग की साधनाओं को टोटली नकारा जा रहा है, इस शब्द का प्रयोग करके। यह भूल बिल्कुल वैसी ही है, जैसी हठयोगी करते हैं। हठयोगी तन साधने को ही परमलक्ष्य मान लेते हैं। जबकि आधुनिक सहज योगी शारीरिक साधना को नकार देते हैं। शायद इसीलिए यह सहज योग की साधना पढ़े-लिखे लोगों, अफसरों, संभ्रांत महिलाओं की साधना बन गई है। लगता है तन-मन के संबंधों की जानकारी दोनों को नहीं है। आध्यात्मिक ग्रंथों में शरीर शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है। कुंडलिनी से संबंधित योग व तंत्र ग्रंथों में सात शरीरों का वर्णन है। इनका आपस में संबंध है। इनकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। इस प्रकार स्थूल शरीर साधना का प्रथम चरण है, अंतिम नहीं। जितनी यह बात सच है, उतनी ही यह भी कि बिना स्थूल को साधे सूक्ष्म में प्रवेश संभव नहीं है। ग्लैंड्स से व्यक्तित्व के संबंधों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि शरीर का प्रभाव मन पर होता है। कहीं अगर ऐसा संबंध नहीं दिखता, तो समझ लेना चाहिए, हमारी समझ से पार की बात है, उस बारे में हमारी समझ अधूरी है। ऐसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही 'कर्म की निरंतरता' की व्याख्या की गई है। 'योगभ्रष्ट' जैसे अन्य कई शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस तरह हठ जरूरी है साधना की प्रारंभिक स्थिति में। शरीर और मन की मांगों को मोटे तौर पर जब तक पकड़ा नहीं जाएगा, तब तक सूक्ष्म और अतीन्द्रिय लक्ष्यों को साध पाना संभव नहीं हो पाएगा। तन को साधने के दौरान कई ऐसे अनुभव होंगे, जिन्हें अभी तक सिर्फ पढ़ा या सुना गया है। श्रीकृष्ण इसे तितिक्षा कहते हैं। इस 'तितिक्षा' में कई ऐसी लहरों के आने-जाने को देख पाना संभव हो सकेगा, जिनकी तेज गति उनके स्थायी होने का भ्रम देती है।

मात्रा स्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्ण सुखदुखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम दु:ख सुखं धीरः सोऽमृतत्वाय कल्प्यते।

''हे कुंती पुत्र अर्जुन, इन्द्रियों और विषयों के संस्पर्श से होने वाली संवेदनाएं सर्दी, गर्मी, सुख-दुख देने वाली हैं। ये आने-जाने वाली हैं, अनित्य हैं, इसलिए इन्हें सह (इनके साथ बह न जा)। जिसको ये संवेदनाएं व्यथित नहीं करतीं, जो सुख-दुख में सम रहता है, ऐसा धीर पुरुष ही अमरता पाने का अधिकारी है।''

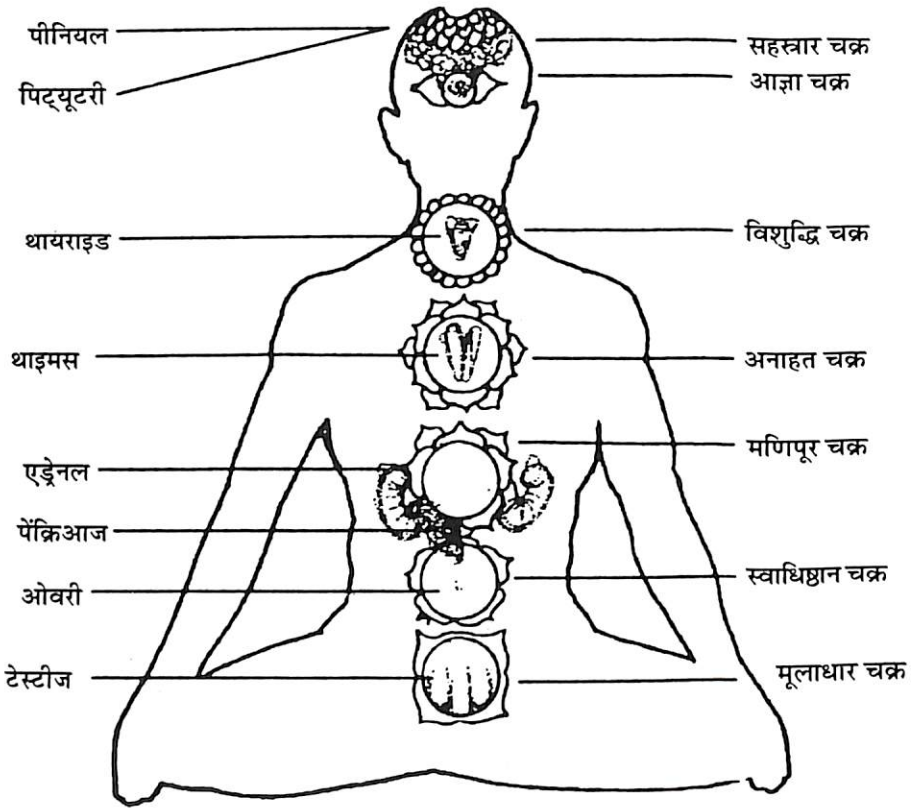

ग्लैंड्स और चक्रों का संबंध स्थापित होने के बाद योग को विज्ञान का पुट मिला

हठयोग एक प्रकार से जागरण का प्रयास है। यहां सहना इसीलिए है, ताकि स्वभाव बन चुके बहाव की प्रवृत्ति को रोका जा सके। बिना पेंदे के लोटे की तरह काफी भटक लिए, अब टिकाव पैदा हो। टिकाव तैयारी है, इस बात की कि जो जैसा है, उसे वैसा देखा, समझा और अनुभव किया जा सके। इसलिए हठ जरूरी है। यह 'सहज' का विरोधी नहीं, बल्कि सहजता की गहराई की अनुभूति की तैयारी है—परोक्ष रूप से।

गुरु-शिष्य संबंधों की गरिमा

यहां इस संदर्भ में गुरु-शिष्य के संबंधों की चर्चा भी आवश्यक है। कारण? इस शब्द से भी लोग भ्रमित हैं। 'गुरु' जहां सभी अवरोधों को नष्टप्राय: करता है, वहीं अगर यह स्वयं महाविरोध बन जाए तो। इसलिए इस संबंध से संबंधित धारणाओं को समझते हुए जरूरी हो जाता है यह जानना कि आखिर इसकी साधक के जीवन में क्या भूमिका है।

गुरु का अर्थ है प्रकाशरूप, जो अंधकार को नष्ट करे। जिसके पास अंधकार फटक भी नहीं सकता, वह है गुरु। इस अपनी सहज विशेषता के उसकी एक और खासियत है कि वह शरण में आए शिष्य के अंधकार के स्तर को भलीभांति पहचानता है। कहते हैं कि एक बार किसी ने बुद्ध से ईश्वर होने के बारे में सवाल किया कि वह है या नहीं। बुद्ध ने 'नहीं' कह दिया। अगले दिन फिर किसी ने यही सवाल किया। बुद्ध ने इस बार 'हां' कहा, लेकिन अगले ही क्षण नकार दिया, 'नहीं।' तीसरे दिन फिर कोई इसी सवाल को लेकर आया। जवाब में बुद्ध चुप हो गए। बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनंद यह सब देख रहे थे। उन्होंने जब इसकी वजह पूछी बुद्ध से, तो बुद्ध ने कहा, ''तीनों जवाब ठीक हैं। जिसकी जिज्ञासा की गहराई जैसी थी, उसे वैसा ही जवाब दिया।''

गुरु जानता है अंधकार कितना गहरा है। प्यास कितनी गहरी है। वहीं खड़ा होकर प्रश्नों के वह उत्तर देता है। यह बात शिष्यों को समझ नहीं आती। इन्डिवीजुअल डिफरेंसेज के महत्व को जो तथाकथित गुरु समझ-समझा नहीं पाए उन्होंने एक छड़ी से सबको हांकना शुरू कर दिया। परिणाम जीरो है। बरसों-बरस तक कोई प्रोग्रेस नहीं है। जहां थे बरसों पहले, वहीं आज भी खड़े हैं दोनों—शिष्य और गुरु दोनों ही। हो सकता है उलझाव बढ़ गया हो, साधक-शिष्य मान लेने की वजह से।

स्वामी विवेकानंद को आदर्श शिष्य के रूप में सभी ने स्वीकारा है। गुरु के संकल्पों को साकार करने का सशक्त माध्यम बने थे स्वामी विवेकानंद, यह अपने आप में एक अलौकिक उदाहरण है

जब भी गुरु-शिष्य की बात चलती है स्वामी विवेकानंद और रामकृष्ण परमहंस की प्रथम भेंट की चर्चा अक्सर की जाती है। नरेन्द्र की प्यास जितनी गहरी थी उतना ही सटीक और पैना, धारदार जवाब था रामकृष्ण का। दोनों की भूमिका फिप्टी-फिप्टी की है। जितनी तैयारी है शिष्य की उतना ही प्रसाद उसे गुरु से मिल जाता है। वह

प्रसाद ही उसकी साधना का मार्गदर्शक प्रदीप साबित होता है।

मुंबई में स्वामी मुक्तानंद जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए विश्व धर्म सम्मेलन में जाने का मुझे तब अवसर मिला, जब मैं धर्मयुग में उपसंपादक के रूप में कार्यरत था। इस सम्मेलन में 'एलएसडी थैरेपी' के एक विश्वविख्यात चिकित्सक आए हुए थे। उन्होंने संत कबीर के जीवन की घटना पढ़ी थी। और भी कई योगियों के बारे में पढ़ा था, जो शिष्य के भीतर, गहरे तले पर भी उसे मोटिवेट करते हैं, बिल्कुल वैसे ही जैसे घनघोर अंधेरे में कोई गड्ढे में गिरने लगे और कोई अदृश्य हाथ आकर उसे थाम ले। या फिर जब वह अंधेरे में डर कर भागने की कोशिश करे, तो कोई थाम ले और प्रोत्साहित करे आगे बढ़ने को। उनका कहना था कि ऐसी कोई विधि जानने में वे यदि सफल हो गए, तो मनोरोग की चिकित्सा में अद्‌भुत क्रांति हो जाएगी। सम्मोहन चिकित्सा द्वारा असंभव से समझे जाने वाले केसों को तब सुलझाया जा सकेगा। इस संदर्भ में उन्होंने जो जानकारी दी, वह कुछ इस प्रकार थी—

''कामनाओं की लंबी चेन है प्रत्येक के जीवन में। जिस किसी भी कारण हम उन कामनाओं को, जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते या कर पाते, मन के गहरे तल में डालते जाते हैं, बिलकुल वैसे ही जैसे कोई अपने ड्राइंगरूम के कचरे को अपने गोदाम में फेंकता जाए। 'गोदाम' घर का जरूरी हिस्सा होता है लेकिन वह कचरादान नहीं होता। हम गोदाम को कचरादान बना देते हैं। गंदगी तो कुछ दिनों बाद सड़ेगी ही। उसकी बदबू भी फैलेगी ही (इसे ही मानसिक रोग कहते हैं)। समझ नहीं आता, बदबू कहां से आ रही है, जबकि सफाई अच्छी तरह से की जा रही है, ड्राइंगरूम की। यदि ध्यान न दिया जाए, तो दुर्गंध के साथ ही बीमारी के जर्म्स आसपास के माहौल को भी प्रभावित करना शुरू कर देते हैं। ऐसी हालत में ही लोग आते हैं हमारे पास।

'' 'एलएसडी' का प्रयोग रोगी को उसकी चेतन अवस्था से काट देता है। ऐसा इसलिए जरूरी होता है ताकि किसी तरह की तथाकथित नैतिकता उसे वास्तविकता को जस का तस जानने से रोके न। क्या सही है, क्या गलत है, इसकी विवेचना करना धर्मशास्त्री का काम है। हमें तो सिर्फ यह बताना होता है बीमारी की वजह क्या है। वह सही है, गलत है इससे हमारा कोई लेना-देना नहीं। रोगी तैयार हो जाता है उस गोदाम के दरवाजे को खोलने के लिए। खोलता भी है लेकिन कमरे में ठसाठस भरी बदबू के झोंके से उखड़ जाता है और बंद कर देता है, दरवाजे को। बस यही स्थिति एक चिकित्सक के लिए, हमारे लिए परेशानी भरी होती है। इसके बाद वह किसी तरह के सुझावों को नहीं स्वीकारता। विद्रोह करता है।''

ऐसी, उपरोक्त स्थिति से उबरने की राह उस चिकित्सक को गुरु-शिष्य संबंधों की गहराई में दिखाई दी थी। मानसिक पूजन करने बैठे अपने गुरुदेव को सलाह देना—'माला को तोड़कर इष्टदेव के गले में डाल दीजिए', ऐसी स्थिति का ही एक उदाहरण है। संत कबीर के जीवन का प्रसंग है यह।

अध्यात्म का गणित

लेकिन इस उदाहरण से यह सिद्ध नहीं होता कि शिष्य को कुछ नहीं करना है। गुरू उस अव्यक्त के प्रति आस्था जगाकर उस अनुभव को स्थायी बनाने में पल-पल सहायक तो होते हैं लेकिन ऐसा नहीं है कि वे अपने अनुभव को शिष्य को इस तरह दे दें, जैसे कोई वस्तु दी जाती है। माला गुरु की थी। गुरु ने शिष्य को दे दी। अब वह शिष्य की हो गई। अनुभव जगत में ऐसा संभव नहीं। वस्तु या पदार्थ नहीं है तत्त्वानुभूति। उसे तो स्वयं ही रियलाइज करना होगा। इस मायने में शक्तिपात जैसे शब्द भी भ्रम फैलाते हैं। शक्तिपात सहज होता है। कोई दावा करे इसका तो यह संभव नहीं। और फिर इसकी भूमिका बादलों में चमकी उस बिजली की सी है, जो रास्ता दिखाती है और उस साध्य की भी एक झलक देती है जहां पहुंचना है। शक्तिपात का अर्थ यह नहीं है कि उस दौरान होने वाला अनुभव उसका अपना हो गया, जिस पर शक्तिपात किया गया है। यह अनुभूति स्थायी नहीं होती इसीलिए।

रामकृष्ण के स्पर्शमात्र से जो परम अनुभूति नरेन्द्र दत्त (स्वामी विवेकानंद) को हुई, उसे बनाए रखने के लिए क्या स्वामी विवेकानंद को कठोर तप करना पड़ा। हां, उस झलक ने नरेन्द्रदत्त को स्वामी विवेकानंद बनने की ओर मोड़ जरूर दिया। इस तरह शक्तिपात से यदि कभी कुछ मिला, तो उससे स्वयं को कृतकृत्य न समझें। और चाहकर शक्तिपात किया जाना उस तरह से संभव नहीं जिस तरह से इसका प्रचार किया जा रहा है। सम्मोहन का प्रयोग करके भी शक्तिपात किया जा रहा है। जो ऐसा करते हैं उनके अपने तर्क हो सकते हैं, लेकिन इससे कुछ ठोस हासिल नहीं होता। क्या जरूरत है ऐसा करने की। जल्दीबाजी क्यों? इस विवेचना से यह बात स्पष्ट हो ही गई होगी कि सहज योग को जितना सहज लिया जा रहा है, अर्थात् कठिन के विलोम शब्द के रूप में तो उससे ट्रेजडी ही होगी। कारण? अध्यात्म का अपना गणित है। यह गणित सुनिश्चित है। बिल्कुल वैसा ही सुनिश्चित है जैसे दो में दो जोड़ने का गणित। कहीं भी चले जाएं यह जोड़ चार ही आएगा। साधना की भी एक निश्चित प्रक्रिया होती है, वह भले ही बाहर से अलग-अलग की दिखे, लेकिन असल में एक ही होती है, और जितनी-गहरी होती जाती है यह साम्य भी साफ-साफ दिखने लगता है तब। अलग-अलग संस्कारों के साधकों के अनुभवों में समानता इसी तथ्य की पुष्टि करती है। इसलिए इस बात को गांठ बांध लें कि अध्यात्म के गणित को अपने तरीके से मोड़ा नहीं जा सकता। ऐसा करने की कोशिश करना ही असहजता है।

बुद्धि बनाती असहज

बुद्धि की असहज बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। बुद्धिमान ज्यादा असहज होता है, वह किसी भी होने वाली घटना की व्याख्या अपनी तरह से कर सकता है इसलिए। ऐसा करके वह 'होने' वाली महत्वपूर्ण घटना को

चूहा प्रतीक है कुतर्क का। इसे ही बुद्धि माना जाता है। विघ्नविनाशक बनने के लिए बुद्धि पर नियंत्रण होना जरूरी है

महससू करने से चूक जाता है। 'मैं कौन हूं' इस प्रश्न को ढूंढ़ते समय भी बुद्धि का प्रयोग जब किया जाता है, तो 'हूं' अर्थात् अस्तित्व से संस्पर्श ही नहीं हो पाता। 'मैं' भी वह सामने आ खड़ा होता है, जो भौतिक विषयों का संगठित

रूप होता है। वह सहज नहीं होता। वह 'हूं' के साथ जन्मा 'मैं' नहीं होता। इसीलिए वह बदलते समय के साथ जुड़ता-बिछुड़ता रहता है। वह कभी बनता है, तो कभी बिगड़ता है। इस बनने-बिगड़ने वाले 'मैं' को स्थायी और शाश्वत बनाने का प्रयत्न जब-जब किया जाता है, जितना-जितना किया जाता है, तब-तब और उतना-उतना ही व्यक्ति असहज होता है। वास्तविक 'अस्तित्व' से दूर हो जाता है। और ऐसा हम लगातार करते आ रहे हैं। इसलिए अब तो स्थिति यह हो गई है कि असहजता की भी परतें बन गई हैं। जो नहीं है, असहज है उसे जो है उस पर इतना लादा जा चुका है कि सहज को असहज और असहज को सहज रूप से स्वीकारा जा रहा है। कहते हैं न कि झूठ को बारबार बोला जाए तो वह सच बन जाता है। जब कोई सच्चाई की तरफ ध्यान दिलाता है तो हमें लगता है कि सामने वाला पगला गया है। संतों को पागल इसीलिए तो कहते हैं संसारी। और संत? वे मन को पगला कहते हैं। दोनों एक-दूसरे को पगला कह रहे हैं। संसारी का आधार उसकी बुद्धि है। तत्त्व ज्ञानी अनुभव के आधार पर ऐसा कहते हैं। संसारी के मन में उपेक्षा का भाव है, ज्ञानी में करुणा का। संत सहज हैं क्योंकि उनका 'मैं' अस्तित्व से, 'हूं' से जुड़ा है। उनकी दृष्टि में 'मैं' और 'हूं' में कोई अंतर नहीं है। जबकि संसारी का 'मैं' भिन्न है 'हूं' से। वह बार-बार इस दूरी को स्वयं बढ़ाता जाता है। उसकी संभावनाएं नष्ट हो जाती हैं। उसका 'बनना' उसके 'होने' को बिखेर देता है। ऐसी कोशिशों से उसकी ऊर्जा बिखर कर कमजोर हो जाती है। निम्न स्तरों पर प्रवाहित होने लगती है। पानी के प्रवाह में अगर फोर्स कम हो, तो निचली मंजिलों पर ही रहता है वह—ऊपरी मंजिलों तक नहीं पहुंचता, चाह कर भी नहीं। ऊपर जाने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा की आवश्यकता होती है। प्रवाह के बिखराव को रोकना इस साधना का पहला सोपान है। लीकेज हो रही हो, तो शक्ति कैसे बनेगी। आतिशी शीशा बिखरी किरणों को एकत्रित करता है, फलस्वरूप अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है। बुद्धि की उठा-पटक से हटकर जब अनुभव का प्रयोग करने की कला हम सीख जाते हैं, तो सहजता का सही रूप सामने आता है। तब बहाना खोजने की, सिद्धांतों को लादने की, मानने की जरूरत नहीं रहती। सहज योग का अर्थ है अपने जिस सच्चे स्वभाव को लेकर हम जन्में हैं, उसे जानें, उसमें जीएं। किताबी ज्ञान नहीं, गहरे में अनुभूति की उच्चतम स्थिति है सहजता। सहज होने का अर्थ है, जो जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकारना।

किताबी और व्यावहारिक शिक्षा का अन्तर

अभी तक उस भाषा को लेकर चर्चा की जा रही है, जिसको सुनकर साधक संदेह की स्थिति में पड़ जाता है या फिर भटक जाता है। इससे अनर्थ होता है। संतों ने किताबी ज्ञान के बारे में बहुत कुछ कहा है। उनका नाम लेकर हम किताबों को नकार देते हैं। तो क्या किताबें, शास्त्र बिलकुल निरर्थक हैं? जवाब —'हां' या 'न' में होता है अक्सर। कुछ लोग ग्रंथों की लीक से थोड़ा-बहुत भी इधर-उधर हटकर नहीं चलना चाहते, जबकि दूसरे इन्हें बिल्कुल नकार देते हैं। दोनों के अपने-अपने तर्क हैं। दोनों के तर्क ठीक-ठीक लगते हैं। लेकिन दोनों अति में झूल रहे हैं—'हां,' 'न' की अति में। दोनों की नजर से वह बात ओझल है, जिसके बिना दोनों अधूरे हैं।

आपके पास एक गाइड बुक है, किसी टूरिस्ट प्लेस की। उससे आपको पता चलता है उस टूरिस्ट प्लेस के बारे में। जब तक टूरिस्ट प्लेस देखा नहीं, उस गाइड की जरूरत है। उससे यह पता चलता है कि राह ठीक है कि नहीं (भौगोलिक मार्ग)। लेकिन जैसे ही आप स्वयं उस स्थान पर पहुंच जाते हैं, उस टूरिस्ट गाइड की आपके लिए पहले की सी सार्थकता नहीं रह जाती। यही बात काफी कुछ किताबी ज्ञान और उस अनुभव के संदर्भ में भी है, जो अध्यात्म के मार्ग पर होता है।

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

संत कबीर ने यह बात कही थी। इसे उनके अनुयायियों ने पकड़ लिया। शास्त्रों को उन्होंने नकार दिया। परिणामस्वरूप वैचारिक स्तर पर उनका जिस तरह से विकास होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। वे अपने में सिमट कर रह गए। कबीर ने कब और किसके लिए 'प्रेम' का एकमात्र अक्षर पढ़ने की बात कही, यह गौण हो गया। बहुत बड़ी भूल की, कबीर के अनुयायियों ने। वे कबीर की भाषा नहीं समझ पाए। ऐसी ही भूल उन लोगों ने भी की जो शास्त्रों पर जोर देते रहे। उन्होंने श्रोत्रीय और ब्रह्मनिष्ठ में से पहले शब्द पर ज्यादा जोर दिया—जरूरत से कुछ ज्यादा। परिणाम हुआ शास्त्र का स्वयं प्रतिपादन करने वाले आचार्यों को कहना पड़ा, *''शास्त्रज्ञान को लादकर घूमने वाले ज्ञानियों की स्थिति उस गधे की सी है, जो चंदन का मूल्य नहीं उसके भार को जानता है''— यथा खरश्चंदन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चंदनस्य।* आद्यशंकराचार्य ने कहा, *पशोः पशुः यो न करोति धर्मं, प्राधीत शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।* ''पशुओं से गया बीता है वह जिसे शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी आत्मबोध नहीं हुआ।''

शास्त्रज्ञान वैचारिक स्तर पर आपको तैयार करता है ताकि बिना किसी संशय के शास्त्र का आचरण किया जा सके। इससे वह भूमि तैयार हो जाती है जिसमें डाला गया बीज अंकुरित हुए बिना नहीं रह सकता। करना और जानना दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। जानने का तात्पर्य यहां किसी डिग्री-डिप्लोमा से नहीं है।

सुंदर कांड में हनुमान

आपने भजन की एक पंक्ति अवश्य सुनी होगी—*'मेरो मन अनत कहां सुख पावे।'* इसी भजन की एक पंक्ति है—*'जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पे आवे।'* जहाज को छोड़ता है वह पंछी। उड़ता-फिरता है दूर-दूर तक। और जब कहीं कोई शरण नहीं मिलती, वापस आना तब विवशता हो जाती है उसकी। पंछी कौन है, साधना के संदर्भ में? जीव! पंछी दो पंखों से उड़ता है। जीव के भी दो पंख है, कर्म और ज्ञान। इन दोनों के मूल में कर्तापन होता है। इन दोनों से ही 'अहं' की पुष्टि होती है। 'अहं' भरे मैं का प्रयोग या तो कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति में आपको देखने को मिलेगा, या फिर वह इस शब्द को बारम्बार दोहराएगा, जो बुद्धिमान होगा। कर्म और ज्ञान पर से जब तक विश्वास नहीं उठता, तब तक कोई भावजगत में प्रवेश नहीं पाता। वह भौतिकता से परे किसी इंद्रियातीत पर विश्वास ही नहीं करता। और जब दोनों पंखों में जान नहीं रह जाती, तब अलौकिक पर विश्वास करना मजबूरी हो जाता है। साधक जानबूझ कर ऐसी परिस्थिति पैदा करता है। विश्वास दिलाता है अपने भीतर छिपे अचेतन मन को, 'तेरे बस का कुछ नहीं है तब तक जब तक तू स्वयं को क्षुद्र समझ रहा है।' भौतिकता से धकेलता है बाहर को वह मन को—जैसे सूमो कुश्ती के पहलवान धकेलते हैं एक-दूसरे को। जो कूदने मात्र से डर रहा होता है उसकी इस घटना के बाद यात्रा शुरू हो जाती है, लेकिन जिसने दूसरे किनारे के बारे में कभी सोचा ही नहीं होता वह फिर वापस आ जाता है उसी किनारे पर जो उससे छूट गया था। सौभाग्य के अवसर को ठुकरा देता है वह। शास्त्र उकसाते हैं कई तरह से उसे कुछ कर गुजरने को लेकिन उसका विश्वास स्वयं से उठ चुका होता है—संभवतया किसी शाप की वजह से।

इन दिनों रामायण के सुंदरकांड की व्याख्या कुंडलिनी जागरण के संदर्भ में की जा रही है। हनुमान शापित हैं। जब तक कोई उन्हें उनके बल का स्मरण नहीं कराता, वे अपनी अनंत शक्ति के बारे में जान नहीं पाते। जामवंत उन्हें याद दिलाते हैं, ''किसलिए तुम्हारा अवतार हुआ है? तुम्हारे बिना कौन इस कार्य को कर सकता है?'' जामवंत को हनुमान के शापित होने का पता है। क्यों कुंठित है हनुमान की अनंतशक्ति इसे जानने के कारण ही वे उस कुंठा को धारदार बना पाते हैं। गुरु की यही तो भूमिका है कि वह शिष्य के अविश्वास को काट फेंके। हनुमान को स्मरण हो आता है अपने जन्म का उद्देश्य। अब वे अवसर नहीं चूकते। उससे भी ज्यादा वे कर गुजरते हैं, जिसकी कि जामवंत को भी उम्मीद न थी। बस फिर तो सब कुछ सहज रूप से होता चला जाता है। यही बात साधक के साथ है। शक्ति है, पर प्रसुप्त है। उसी का जागरण करना है। जागरण के बाद तो सब कुछ अपने आप होता जाता है।

समर्पण ही सौंदर्य है हनुमान का। यह समर्पण ही उन्हें अनंत शक्तियों और ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बनाता है।

कुंडलिनी जागरण का अर्थ है, उपरोक्त संदर्भ में, राम-सीता का मिलन। चुराई गई सीता का पता लगाना कि वह कहां है, यह इस खोज का, प्रथम चरण है। इस खोज में महत्त्वपूर्ण भूमिका है हनुमान की। हनुमान का जन्म ही इस कार्य के लिए हुआ है। जब अपनी शक्ति को और दिशा दी, तो शापित हो गए। जिसलिए जन्मे, वह न करेंगे, तो शापित ही होंगे। उसी शाप का प्रभाव है कि ऊर्जा को सही दिशा में लगाने का जब समय आया तो, इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि वैसा करने की शक्ति है भीतर। जैसे ही विस्मृत का स्मरण हुआ क्षुद्र वानरशरीर पर्वताकार (महान) हो गया। एक कोने में सिर झुकाकर जो बैठा था, वह अमोघ ऊर्जा से संचरित हो उठा और विस्तृत सागर को एक ही छलांग में लांघ गया। लांघना एक छलांग में ही होता है। अनुकूल या कि प्रतिकूल के चक्कर में फंस गए, तो यात्रा थम गई समझो। जिन्हें संशय था, वे हिम्मत ही नहीं जुटा पाए। छलांग लगाने के बाद किसी प्रकार का विश्राम नहीं किया हनुमान ने। किसी को चतुरता से, किसी को बल से, तो किसी को मित्र बनाकर कार्य सिद्धि की हनुमान ने। तमोगुण को नष्ट किया, रजोगुण से आशीष ली और सत्वगुण को पक्ष में लेकर कार्य साधा। यही सौंदर्य है जीवन का। कुंडलिनी के जागरण के बाद इसी परम सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। त्रिपुर सुंदरी इसीलिए तो अधिष्ठात्री हैं इस कुंडलिनी साधना की।

दृष्टि और सामर्थ्य दोनों ही

तुलसीदास जी राम के दर्शन करना चाहते थे। दर्शन की प्यास अत्यंत गहरी थी। जब चाह एक हो और वह भी सात्विक तो अद्‌भुत घटित होता है। प्रेत ने रामदर्शन का मार्ग सुझाया। तुलसीदास जी ने कुष्ठरोगी बने श्री हनुमान के चरण पकड़ लिए। हनुमान ने चित्रकूट के घाट पर राम-लक्ष्मण के दर्शन कराने का विश्वास दिलाया। तुलसीदास बन गए घाट के पंडे। इष्टदर्शन के लिए तरह-तरह के पापड़ बेलने पड़ते हैं। यह भी तप है—जो मनोनुकूल न हो, उसे भी किया जाए। यही हठयोग है। जो भी आता, तुलसीदास उसके माथे पर चंदन लगाते, आशीर्वाद देते। दो सुंदर कुमार आए। तुलसीदास ने उनके माथे पर भी चंदन लगाया, आशीर्वाद दिया। सामने वृक्ष की डाल पर शुक बने बैठे हनुमान समझ गए कि कुमारों को तुलसी ने पहचाना नहीं है। दृष्टि न हो, तो चिरप्रतीक्षित भी नजरों के सामने से गुजर जाता है। शुक बने हनुमान जी ने सावधान किया—

चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर।
तुलसीदास चंदन घिसें तिलक देत रघुवीर॥

दृष्टि के साथ ही उस झलक को देख पाने की सामर्थ्य (योग्यता) भी चाहिए। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दी, ताकि वह विराट रूप को देख सके। विराट रूप को उसने देखा, लेकिन उसे आत्मसात् नहीं कर पाया। इसलिए देखना और आत्मसात् करना अलग-अलग बातें हैं। तैयारी न हो तो दिखता नहीं। तैयारी अधकचरी हो, तो आत्मसात् नहीं होता। तैयारी के दो हिस्से हैं होते ये। साधक को इस प्रचलित उक्ति को गांठ बांध लेना चाहिए *'सहज पके सो मीठा होय।'*

इस संदर्भ में एक बात और समझ लेनी जरूरी है। 'साधना के विभिन्न सोपान' और 'साधना के क्रमिक विकास' के नाम से विभिन्न चरणों की व्याख्या अक्सर की जाती है। तंत्र में पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार का क्रम मिलता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता आदि ग्रंथों के आधार पर निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और अद्वैत ज्ञान के क्रम का विवेचन किया गया है। योगशास्त्र में आठ अंगों (अष्टांग)का प्रतिपादन किया गया है। कुंडलिनी साधना में षटचक्रों के भेदन की चर्चा है। इन उपरोक्त भेदों से एक तो इस बात की सिद्धि होती है कि साधना में वैयक्तिक भिन्नता को नकारा नहीं जा सकता। एक ही छड़ी से सबको हांकना वैज्ञानिक नहीं। जो साधक जिस स्थिति में है उसकी साधना की शुरुआत उसी के स्तर से होनी चाहिए। ऐसा न होने पर मिलने वाले परिणाम भुलावा होते हैं। और

दूसरी बात यह कि इस क्रम में सोपान की सी स्थिति नहीं है। सीढ़ी पर चढ़ते समय आप एक सीढ़ी को पीछे छोड़कर दूसरी, अगली सीढ़ी पर पैर रखते हैं। पीछे छोड़ी गई सीढ़ी का अस्तित्व मिटता नहीं। वह फिर किसी दूसरे के काम भी आ सकती है। इसमें वापसी की भी संभावना है। जबकि अंकुर बनने के बाद बीज चाहे कि फिर बीज बन जाए, क्योंकि आगे यात्रा करने का मन नहीं है, तो ऐसा संभव नहीं है। बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा और पौधे से वृक्ष बनने की प्रक्रिया एक संपूर्ण प्रक्रिया है। इसमें पीछे कुछ नहीं बचता। इसमें जो घटित होता है, वह संपूर्ण होता है। अधूरेपन की कोई गुंजाइश नहीं है। प्रत्येक साधक को इस आखिरी बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसीलिए जो जुड़ना है, जो छूटना है, जो मिलना है, जो बिछुड़ना है, सब अपने आप होने वाला है। साधक को तो स्वयं को उस प्रक्रिया में डाल देना भर है। उसके बात तो सब अपने आप घटता चला जाएगा।

जरूरत है सही लाइन में खड़े होने की

जब मैं पहली बार मुंबई गया—1980 में, तब लोकल ट्रेन पर चढ़ती-उतरती भीड़ को देखकर हैरान हो गया। चढ़ना-उतरना सैकिण्ड्स में होता। अपने मित्र हरीश से जब इस बारे में पूछा, तो उसने हंसते हुए जवाब दिया, ''यहां कौन चढ़ता-उतरता है। चढ़ने वाली लाइन में खड़े हो जाओ बस, स्वयं चढ़ जाओगे। उतरने वाली साइड में खड़े जाओ, बिना किसी परेशानी के उतर जाआगे।'' तीन वर्ष रहा मैं वहां। न मैं कभी ट्रेन पर चढ़ा, न उतरा। किसी प्रकार की शक्ति नहीं खर्च होती थी। बस सही लाइन में खड़े होने की जरूरत होती थी। अगर गलत लाइन में खड़े हो गए तब जरूर विपरीत गतिमान भीड़ से युद्ध-सा करना होता था। साधना का अर्थ ही है खुद को सही लाइन में खड़ा कर देना।

एक संत ने इस संदर्भ में कुम्हड़े के फल का दृष्टांत दिया है। कुम्हड़े के फूल के नीचे से (पिछली ओर से) फल लगता है। फल जब परिपक्व हो जाता है, तो फूल सूख कर गिर जाता है। कोई यह सोचकर कि फूल ने तो सूख कर गिरना ही है, फूल को तोड़ दे, तो फल सड़ जाएगा। स्वयं सूख कर गिरना और तोड़ना ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। पहली क्रिया स्वाभाविक है, जबकि दूसरी सायास। फूल से फल बनने की प्रक्रिया का हिस्सा है फूल का सड़कर स्वयं गिरना, जबकि तोड़ना उस प्रक्रिया के बीच रुकावट पैदा करना है। जब एक प्रक्रिया पकती है, तो दूसरी सहज रूप से शुरू हो जाती है। इसलिए कुछ भी छोड़े नहीं। जिसे छूटना होगा, अपने आप छूट जाएगा।

एक सामान्य साधक को मूल रूप से जिन बातों को समझ लेना चाहिए उनकी संक्षिप्त-सटीक चर्चा काफी हद तक की जा चुकी है। कुछ ऐसे सवाल जो व्यक्तिगत रूप से किसी भी साधना के दौरान, किसी भी साधक के मन में उठते हैं, अपने आप निरस्त होते जाते हैं। किसी बाजार में भीड़ को देखकर आपके मन में अक्सर यह सवाल पैदा होता है कि कैसे मंजिल तक पहुंचा जा सकेगा, लेकिन जब आप बाजार की भीड़ में घुसते हैं, रास्ता खुद-ब-खुद मिलता जाता है। सभी तरह के क्यों, कैसे, और क्या, जैसे सवालों का जवाब अपने आप मिलता जाता है। इस संदर्भ में, मेरी दृष्टि में, दूसरे किसी के समाधानों का कोई विशेष महत्व भी नहीं होता, यात्रा के अनुभवों के आधार पर यात्रा ऊपर से एक-सी दीखती हुई भी अलग-अलग हुआ करती है इसलिए।

हम अपनी यात्रा की शुरुआत कैसे करें इसकी प्रेक्टिकल जानकारी अब देने का प्रयास किया जा रहा है।

श्वास-क्रिया का महत्व

हम भाग्यशाली हैं, इसलिए नहीं कि मनुष्य जीवन मिला, बल्कि इसलिए क्योंकि जीवन की डोर हाथ में आ गई है। हमें यह नहीं कहना पड़ा रहा—

जीवन खतम हुआ तो जीने का ढंग आया,

जब शमां बुझ गई तो महफिल में रंग आया।

या फिर

जहर जब पी लिया, तो याद आया
घाव जब सी लिया, तो याद आया,
इस जीने से मौत थी बेहतर
यार जब जी लिया, तो याद आया।

हां, अब तक जो जीवन जीया जा रहा था, पशुवत् था, मूर्च्छा में जीया जा रहा था। अब कोशिश होगी कि जीवन दिव्य हो, खुली आंखों से अर्थात् जागरण में जीया जाए।

मूल आवश्यकताओं में ऐसी कौन सी क्रिया है, जिसके बिना एक पल भी जीया नहीं जा सकता। बिना खाए रह सकते हैं, रहते हैं लोग लंबे समय तक। बिना पानी पिए भी जीवित रहा जा सकता है, इसकी अवधि खाने से कम है। बिना नींद के ज्यादा दिनों तक नहीं रहा जा सकता। इसके बिना जीवन अपना संतुलन खो बैठता है। इस असंतुलन में होने वाले अनुभव बड़े अजीब होते हैं। इन्हीं अनुभवों के लिए व्रत-उपवास आदि का अनुष्ठान प्रत्येक धर्म में किया जाता है। रुटीन से अलग हट कर जब कुछ टूटता है, तो मोह टूटता है। गति टूटती है, तो अनुभूति होती है कि जिसे ठोस समझ रहे थे, वह एक तरह की विशेष गति का परिणाम था। दीपावली के दिन बच्चों को देखिए। वे फुलझड़ी या हंटर जलाकर उसे तेजी से, गोल-गोल घुमाते हैं। लगता है आग जम गई हो। आग का गोल घेरा साफ दिखाई देता है। बीच के गेप खत्म हो जाते हैं। ऐनिमेशन फिल्मों को बनते देखिए। बोर हो जाएंगे। शूटिंग देखने में लोगों को अक्सर इसलिए ऊब होती है। तो रुटीन टूटने से 'माना गया' टूटता है। वह स्पष्ट दिखने लगता है, जो वास्तव में है। इसी आधार पर साधना पद्धतियों में रुटीन तोड़ने की सलाह दी गई। व्यवस्था जरूरी है, लेकिन व्यवस्था मैकेनिकल न हो जाए, इसलिए उसे बीच-बीच में तोड़कर झकझोरा जाता है। ऊपर जिन मूलभूत आवश्यकताओं की चर्चा की गई, उनके बिना एक दिन निकाला जा सकता है लेकिन एक और भी महत्वपूर्ण क्रिया है, जिसके बिना जीवन की बात सोची तक नहीं जा सकती, वह है श्वास लेना (लेना-छोड़ना और रोकना, इन तीनों के लिए यहां सामान्यतौर पर इसी शब्द का हम प्रयोग करेंगे)। दूसरे शब्दों में, यही श्वास जीवन है। मृत्यु के लिए इसीलिए कहा जाता है, श्वास निकल जाना। इस क्रिया का समूचे व्यक्तित्व से क्या और कितना गहरा संबंध है, इसका अंदाजा विभिन्न शारीरिक, मानसिक अर्थात् बाहरी और आंतरिक, पर्यावरण से जुड़ी—बदली स्थितियों से लगाया जा सकता है। क्रोध में, प्रसन्नता में, प्रेम में, एकांत में, भीड़ में इस प्रक्रिया में परिवर्तन होता है। इसी आधार पर प्राण संयम द्वारा मन के संयम की बात योगशास्त्रों में की गई है। यज्ञोपवीत संस्कार के समय त्रिसंध्या का उपेदश दिया जाता है। इसमें प्राणायाम पूर्वक गायत्री जप व सूर्याराधना प्रमुख होते हैं। सामान्य प्राणायाम से मन का संयम होता है और संवेगों पर नियंत्रण करने की शक्ति आती है।

सही श्वास लेना सीखें

खाना-पीना, सोना जबकि हमारी नित्य और सहज क्रियाएं हैं लेकिन इनसे संबंधित सही जानकारी न होने के कारण ही हमें ज्यादा-से-ज्यादा दुख उठाने पड़ते हैं। है न आश्चर्य? यही बात सांस लेने और निकालने के बारे में है। हमें जब कोई समझाता है कि सही सांस लें, तो आश्चर्य होता है। सांस तो ले रहे हैं बचपन से, फिर यह गलत कैसे हो सकती है, एक प्रतिक्रिया होती है हमारी लेकिन वास्तविकता है यह कि हमारी श्वास क्रिया ठीक नहीं होती। सांस का कार्य है शरीर के रोम-रोम को ऑक्सीजन से ऊर्जावान बनाना। उसके लिए जितनी गहरी श्वास की आवश्यकता होती है वह हम नहीं लेते। इसीलिए शरीर को जितना सक्रिय होना चाहिए, उतना वह नहीं हो पाता।

इस तरह शरीर के स्तर पर ही संभावनाओं को रौंद देते हैं हम।
तो शुरुआत करें गहरी सांस लेने से। सांस छाती से न लें, पेट से लें। जब सांस लें, तो पेट गुब्बारे की तरह फूले। जब सांस बाहर निकालें, तो पेट सिकुड़ जाए। इसको जांचने के लिए उलटे लेटें, पेट के बल। महसूस करें श्वास प्रक्रिया में क्या अंतर आता है। यह सही श्वास क्रिया है। उलटा लेटने से श्वास स्वाभाविक हो जाती है। यह सहज स्थिति है। इसे हमने असहज बनाया हुआ है। योगियों के चित्र यदि आप देखें तो पाएंगे कि उनका पेट सिकुड़ा हुआ नहीं होता। हल्की तोंद होगी उनकी। त्रिवली होती है भगवान विष्णु के पेट पर। इसी कारण बुद्ध की प्रतिमाएं जापान, चीन आदि में तोंदल हैं, जबकि भारत में इनका पेट भीतर को धंसा हुआ और छाती बाहर को है। गणेश इसीलिए तोंदुल है। विघ्नहर्ता हैं वे इसीलिए।

शुरुआत अपनी ब्रीदिंग को सही करने से करें। श्वास लेने और बाहर निकालने की गति धीमी हो—जितनी धीमी संभव हो लेकिन हो गहरी। महसूस करें उसके आने-जाने को। महसूस करें उसकी दूरी और गहराई को, ध्यान श्वास पर हो। आपको महसूस होगा, ''मैं श्वास ले रहा हूं।'' शरीर में और 'मैं' में एक भेद महसूस होगा इस क्रिया से। जो प्राण ऊर्जा निष्क्रिय थी, सक्रिय होगी। यह काम जितनी धीमी गति से हो, उतना लाभप्रद व टिकाऊ होगा। इस क्रिया को आप लेट कर, बैठकर या खड़े होकर भी कर सकते हैं। श्वास-क्रिया में किसी प्रकार निरोध न आए, इसके लिए योगशास्त्र में वर्णित नेती (जल-सूत्र) आदि क्रियाओं का अभ्यास भी किया जा सकता है। इन क्रियाओं का उद्देश्य श्वास की निरोध रहित क्रिया के होने से है। इतने तक ही मूल्यवान हैं ये।

शुरुआत तन से

आप धनुष चलाना सीखना चाहते हैं। उसके लिए प्रारंभिक रूप से जरूरी है कि आपके हाथों, कंधों, कलाइयों पंजों व उंगलियों में शक्ति हो। प्रत्यंचा खींचते समय आपके हाथों में कंपन न हो। शरीर का और मन का कंपन अलग-अलग बात है। सूक्ष्म में एक होने पर भी स्थूल में थोड़ा फर्क है दोनों में। मन का कंपायमान न होना तो संधान के समय अपेक्षित है, जबकि हाथों की मजबूती धनुष को पकड़ने, प्रत्यंचा को खींचने के समय ही। शारीरिक रूप से स्वस्थ होना इसलिए जरूरी है, ताकि मन को भी स्वस्थ रखा जा सके। क्योंकि शरीर के स्तर पर जीते हैं हम, इसलिए शुरुआत शरीर से ही होगी। इस श्वास की क्रिया से शरीर नीरोगी होगा और संतुलित भी। कुंडलिनी के जागरण में श्वास की क्या भूमिका है, इसे आप पहले के अध्यायों में ठीक प्रकार समझ चुके हैं। यहां तो इतना संकेत भर काफी है कि इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा प्रसुप्त ऊर्जा को जगाएगी और उसे एक निश्चित दिशा देगी। इस बात को वे अच्छी तरह समझ सकेंगे जिन्होंने कभी 'हैंड पम्प' का उपयोग किया होगा। कभी-कभी जब पानी उतर जाता है हैंडपंप का, तो पंप में ऊपर से एकाध बाल्टी पानी डाला जाता है। उसके बाद जब पंप को चलाते हैं, तो मूलस्रोत से पानी आने लगता है। बाहर से डाले गए पानी ने अवकाश को भरा। इससे दूरी कम हुई। स्रोत से संबंध हो गया। जब नेचुरल और डीप ब्रीथिंग की जाती है तो कृत्रिम रूप से पैदा की जानेवाली ऊर्जा ऊर्जा के मूल स्रोत की धारा से जोड़ देती है। क्योंकि हमने पंप को काफी लंबे समय तक नहीं चलाया है इसलिए ऊर्जा तल में स्थित हो गयी। श्वास क्रिया से उसमें उठान बनता है।

आपने प्राणायाम के तीन चरणों को पढ़ा है—पूरक, रेचक और कुंभक। पूरक में सांस को भीतर खींचा जाता है। कुंभक में सांस को भीतर रोकते हैं और रेचक में इसे बाहर निकालते हैं। सांस को जब बाहर अर्थात् रेचक के बाद रोका जाता है, तो उसे बहिर्कुंभक कहते हैं।

श्वास के साथ आएं-जाएं

अभ्यास के प्रारंभ के समय में इन तीनों ही क्रियाओं को लयबद्ध करें। और उसकी प्रतिक्रियाओं को महसूस

करें। फर्क है आपमें अब। पहले श्वास लेना अनैच्छिक क्रिया था, जबकि अब आपने उसे ऐच्छिक बना दिया है। अन्य ऐच्छिक क्रियाओं की-सी स्थिति तो नहीं है इसमें, लेकिन अब यह अनैच्छिक भी नहीं है। ट्रैक से अलग हटकर आप ऐसा करेंगे तो शरीर में कुछ परिवर्तन आपको स्पष्ट महसूस होंगे। लयबद्ध श्वास क्रिया का अभ्यास करें, खूब गहरे तक। कुछ दिन के बाद सांस के साथ-साथ बाहर-भीतर जाएं। अंदर रुकें। पहली स्थिति में और इस स्थिति में जो अंतर आया है उसे समझें। पहली स्थिति में आप समग्र रूप से श्वास प्रक्रिया को देख रहे थे। देख रहे थे कि उसे जिस तरह चलना चाहिए उस तरह से चल रही है कि नहीं। विश्वास हो जाए उसके ठीक चलने का जब, तब उसके साथ-साथ स्वयं को बाहर-भीतर ले जाएं। यह अनुभव मजेदार, आश्चर्यजनक और दिलो-दिमाग में सिहरन पैदा करने वाला है, गोल-ऊंचे झूले पर झूलते हुए बच्चों को मिलने वाले आनंद के समान। कहते हैं इसी का आनंद लेने के चक्कर में लोगों को भांग आदि नशों की आदत पड़ जाती है। इसे 'लहर' कहते हैं। जैसे लहर में उठान-गिरान होता है एक निश्चित क्रम में, वैसी ही स्थिति भीतर मनोमय कोष में उत्पन्न होती है इस श्वास क्रिया के अभ्यास से। अब एक तो वह सौंदर्य है जो आप लहरों की अटखेलियों को देखकर महसूस करते हैं और दूसरा वह है जिसमें आप उसी के साथ चढ़ते-उतराते हैं। बड़ा एक्साइटिंग होता है यह अनुभव। इसी वजह से इस तरह के खेलों का शौक विदेशों में बढ़ता जा रहा है।

जो लोग उपरोक्त प्रक्रिया में सीधे प्रवेश करना चाहते हैं, उन्हें थोड़ी परेशानी जरूर होगी, क्योंकि ऐसा करने के लिए उनके पास कोई आधार नहीं होगा। जबकि जिन्होंने आसनों का प्राणक्रिया के साथ, डीप व करेक्ट ब्रीथिंग के साथ अभ्यास किया है, उन्हें आसानी होगी ऐसा करने में। अगर आपको परेशानी हो, तो आप एक निश्चित आसन के सैट के साथ पहले इसका अभ्यास करें। इन्हें करते समय मूवमेंट को स्लो करें। आसनों को करते समय शरीर के जिन अंगों पर जोर पड़ रहा हो, उन पर ध्यान केंद्रित करें। मांसपेशियों में होने वाले तनाव को, उसकी विभिन्न मात्राओं को महसूस करें। श्वास क्रिया को साथ जोड़ें। कुछ दिनों के अभ्यास से आपको कई ऐसे अनुभव होंगे, जिनका आपने पहले कभी अनुमान भी नहीं किया था कि ऐसा भी होता है, हो सकता है।

एक्सपर्ट होने के बाद

अच्छा ड्राइवर आप उसे कहते हैं, जो गाड़ी को स्मूथ चलाए। बाहरी और आंतरिक दो तरह के कारण होते हैं, जिनसे स्मूथनैस टूटती है, ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर गाड़ी हिचकोले खाती है। ड्राइवर यदि एक्सीलेटर और गेअर में ठीक तालमेल नहीं बैठा पा रहा हो, तो भी ऐसा होता है। गाड़ी झटके के साथ रुक जाती है। झटके देती है। अगर ऐसा है तो गाड़ी में बैठने का मजा जाता रहता है। बिलकुल यही बात शारीरिक-मानसिक क्रियाओं के साथ भी है। जब आप एक्सपर्ट हो जाएं, तो झटके से रोकना, मोड़ना, चलाना एक दूसरी ही तरह के अनुभव देता है। लेकिन जरूरी है कि पहले आप एक्सपर्ट बनें। शरीर का आधार लेकर श्वास क्रिया की प्रारंभिक गति को समझ कर उसमें परिवर्तन किए जाते हैं। पिछले अध्यायों में मूल और जालंधर आदि बंधों की चर्चा इसी संदर्भ में की गई है।

गहरी श्वास लेने के बाद इस प्रक्रिया में तेजी लाएं। जोर देना है रेचक पर। श्वासों को बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। षट्कर्मों में एक क्रिया है कुंजर क्रिया, इससे रेचन होता है। हाथी को जब लगता है कि पेट में कोई विकार रुक गया है, जमा हो रहा है, तब वह खूब पानी पीता है। इतना कि पेट फटने लगे। पानी बाहर को आने लगता है। फिर वह अपनी सूंड को मुख में डालता है। और पलट देता है पीए हुए पानी को। पेट में जमा विकार पानी के साथ बह जाता है। पशुओं को प्रकृति से ऐसा ज्ञान सहज रूप में मिला है। कुत्ते भी ऐसा ही करते हैं। पेट की गड़बड़ी महसूस होने पर वे खाना छोड़ देते हैं—लंघन करते हैं। हरी दूब के कोमल पत्तों को तोड़ते हैं। निगलते हैं। कोशिश करते हैं सब उलटने का। उलट देते हैं। थकाने वाला काम है यह। इसमें प्रयास करना पड़ता है। उस जगह

जोर पड़ता है, उथल-पुथल होती है, जहां विकार जमा हैं। इसलिए कभी-कभी इसका प्रभाव थकान के रूप में, बाद में, थोड़े समय तक रहता है। सिस्टम को फिर से सैट होने में थोड़ा समय जो लगता है। श्वास की क्रिया द्वारा रेचन करें। धीरे-धीरे जोर दें। रेचन के लिए जरूरी होगा कि पूरक में भी तेजी लाई जाए। प्रत्यंचा जितनी अपनी ओर को खींची जाएगी, तीर लक्ष्य पर उतने ही गहरे में प्रवेश करेगा। गहरे रेचन के लिए इसीलिए जरूरी है कि पूरक भी गहरा हो।

.लंबोदर होना हास्यास्पद नहीं है गणेश के लिए। परमयोगी हैं वे। जापान आदि देशों की बुद्ध मूर्तियां लंबोदर ही होती हैं

जिस प्रकार रेचक क्रियाओं से शरीर के विकार बाहर होते हैं इसी प्रकार श्वास प्रक्रिया द्वारा, जिसमें पूरक और रेचक पर बल दिया जाता है, मन के विकार पिघल कर बह जाते हैं। इसमें दोहरी मार होती है विकारों को बाहर फेंकना व मन को गहरे तल तक स्व में स्थित करना। जिस प्रकार शरीर में पुराना रोग तह पर तह बैठा लेता है, जम कर ठोस रूप धारण कर लेता है, वैसी प्रक्रिया मन में भी होती है। ऊपर के विकार गलकर बहते हैं, राहत मिलती है। लेकिन जब मोटी तह बने विकारों को श्वास क्रिया पिघलाती है, तो रोग उखड़ता है। ऐसी स्थिति में धैर्य की आवश्यकता होती है। लगता है बात-बिगड़ गई। जो राहत मिली थी, वह झूठी लगने लगती है।

स्थिति विस्फोटक हो सकती है

होमियोपैथी के प्रसिद्ध डॉक्टर पी.सी. भारद्वाज के पास एक दिन मैं बैठा था, चंडीगढ़ में। किसी महिला मरीज को कोई लेकर आया। जो लेकर आया था, उसे इन्हीं डॉक्टर ने असाध्य कह दिए गए रोग से मुक्त किया था। डॉक्टर

ने तीन-चार घंटे लगाए। पूरी हिस्ट्री ली। रोगी को और संबंधियों को साफ कह दिया, ''तबीयत बिगड़ सकती है! तब घबराना नहीं है। ट्रीटमेंट शुरू होने के बाद बीच में रोकने की बात न करना, नहीं तो अभी ले जाओ रोगी को।'' रोगी के संबंधी ही नहीं, स्वयं रोगी भी परेशान हो गया था इलाज करा-करा के। उसने साफ कह दिया—''मरने से ज्यादा तो कुछ नहीं होगा, डॉक्टर साहब।'' डॉक्टर ने पुड़िया दी। ''अगर कोई परेशानी हो, तो फोन करना मुझे। कोई दवा न देना। जो होता है होने देना'', डॉक्टर ने रोगी के संबंधियों को समझाया। रोगी चला गया। डॉक्टर ने घर फोन किया। लंच मंगाया। ''घंटे भर में रोगी के घर से फोन आएगा'', पक्का विश्वास था उन्हें। वैसा ही हुआ। रिश्तेदारों ने बताया, ''हालत बहुत खराब है।'' रोगी की ब्लीडिंग रुक नहीं रही थी। बॉल्टियों खून बह गया था—ठोस बना काला-नीला खून। डॉक्टर मुझे भी अपने साथ ले गए थे। जब नार्मल कलर और थिकनेस की ब्लीडिंग होने लगी, तो डॉक्टर ने एक पुड़िया और दी। ''अभी कुछ देर ऐसी स्थिति और रहेगी। फिर सब ठीक हो जाएगा।'' डॉक्टर ने समझाया। रोगी निढाल और मरणासन्न थी। शाम तक स्थिति में सुधार हुआ। उसके बाद धीरे-धीरे सब नॉर्मल हो गया। कोई एक महीने के इलाज के बाद वह स्वस्थ-तंदुरुस्त हो गई। डॉक्टर साहब दुनिया से चले गए, लेकिन वह आज भी ठीक, चुस्त-तंदुरुस्त है।

क्या हुआ था रोगी को? कुछ नहीं, रोग को दबाया गया था। लोग इसे ही रोगमुक्त होना समझ लेते हैं। जो खून बाहर बह जाना चाहिए था, वह बाहर नहीं निकला। उसने अंदर ही अपना घर बना लिया। रोगी ने जिसे स्वस्थ होना समझा था, वह तो भयंकर रोग के विस्फोट की तैयारी थी। विस्फोट जब हुआ, तो लगा यह कहां से आ गया। सब ठीक था, एकाएक तबीयत बिगड़ गई। एकाएक कुछ नहीं होता। 'एकाएक' का मतलब है, जो हुआ उसका कारण पकड़ में नहीं आया। कारण का पता नहीं चला इसलिए अकारण कहना आत्मप्रवंचना है। स्वयं को भुलावा देना है यह।

मन के साथ भी ऐसा ही होता है। चेतन से अर्ध-चेतन, अर्धचेतन से अचेतन में जाती रहती हैं हमारी वासनाएं। अतृप्त वासनाओं का गरम लावा जमा होता रहता है गहरे तल में। एकाएक विस्फोट होता है, और प्रलय आ जाता है। तब यह विस्फोट हमारे काबू से बाहर होता है। अनपेक्षित होता है यह इसलिए हम संभल नहीं पाते, असंतुलित कर देता है यह बुरी तरह। कल्पना कीजिए, किसी तरह से स्वयं इस विस्फोट की स्थिति आप तैयार करें। बर्फीले पहाड़ों के भारी कटाव से बचने के विस्फोट किए जाते हैं। इससे विस्फोटक स्थितियों पर काबू पाना काफी हद तक संभव हो जाता है।

अक्सर साधक ऐसी स्थिति में संभावित हानियों की चर्चा करते हैं—'कोई नुकसान, तो नहीं होगा।' शंका सार्थक है, और निरर्थक भी। सार्थक इस मायने में, क्योंकि इस तरह से सोचना आदत हो चुकी है और निरर्थक इसलिए क्योंकि आप जीवित रहते हुए, अपनी खुली आंखों से मृत्यु को स्वीकार करने जा रहे हैं। मृत्यु से ज्यादा हानि और क्या हो सकती। सब बना-बनाया छिन जाता है इसमें। लेकिन आप क्यों भूल जाते हैं यह कि कुछ पाने के लिए, कुछ खोना भी पड़ता है। यहां तो जो है नहीं, वह खोता है। इतना ही नहीं, जो खोता है, वह भी वापस मिल जाता है। इस तरह यह सौदा तो बिना कुछ भी गंवाए, सब कुछ पा लेने का है। अचेतन जब अर्धचेतन और अर्धचेतन जब चेतन बनकर खड़ा हो, तो घबराएं नहीं, धीरज से काम लें। साधना में सहज भाव से लगे रहें।

'कुंभक' का अर्थ है जब श्वासों को पेट में रोका जाए। इसे आभ्यंतर कुंभक कहते हैं। कुंभक का एक रूप है, पहले कहे गए से बिलकुल उलटा। इसमें श्वासों को बाहर रोका जाता है अर्थात् रेचक के बाद। इस तरह एक कुंभक हुआ पूरक के बाद, जबकि दूसरा रेचक के बाद। अब तक श्वास क्रिया की जिन क्रियाओं की चर्चा की गई है, उनके प्रकार चार हो गए। अब इस पूरी प्रक्रिया को—पूरक, कुंभक, रेचक, बहिर्कुंभक को लयबद्ध तरीके से करें। धीरे-धीरे इसमें तेजी लाएं। ध्यान रहे, जर्क, झटका नहीं लगना चाहिए। ऐसा तब तक करें, जब तक थक न

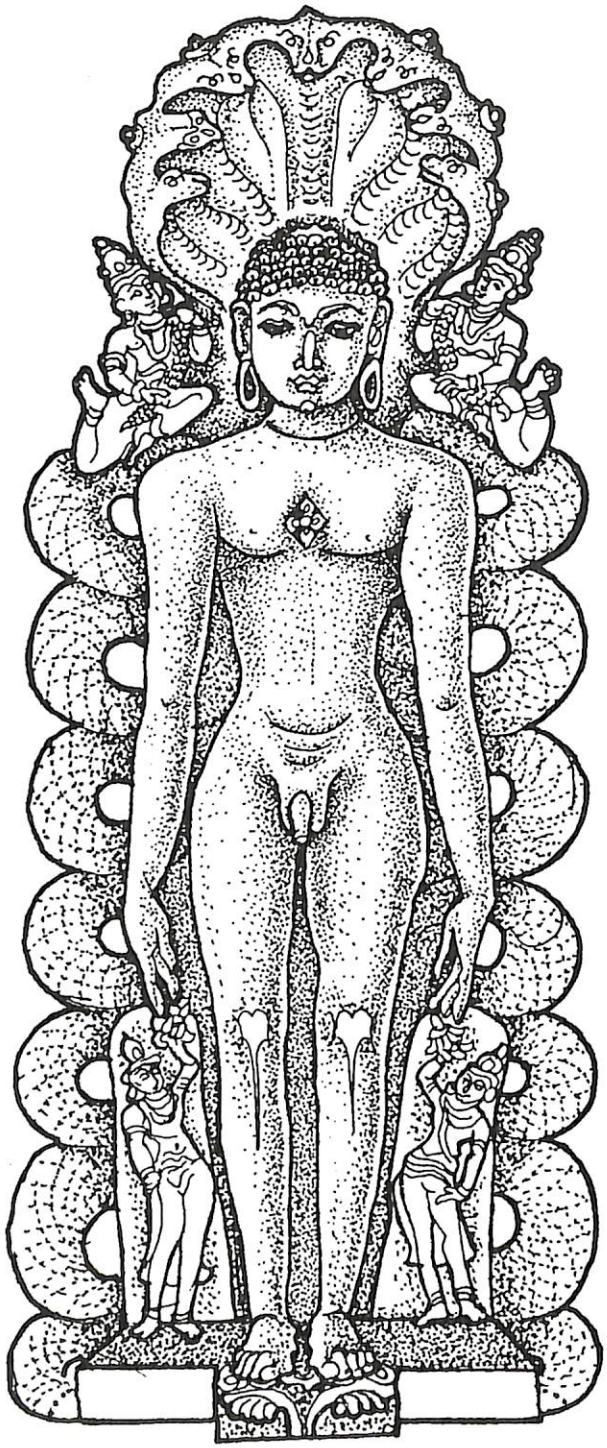

महावीर की नग्नता को समझना इतना आसान नहीं। सारी सांसारिक मर्यादाओं से परे होने के प्रतीक हैं महावीर। ध्यान की अप्रतिम मुद्रा है यह महावीर की।

जाएं, निढ़ाल न हो जाएं। इस क्रिया को बैठकर करें। खुले और हल्के वस्त्र लाभकारी होंगे इस प्रक्रिया के लिए। वस्त्र बांधने वाले न हो, तो और भी अच्छा है। आधुनिक प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि ऊर्जा का प्रवाह बैठने की अपेक्षा खड़े होकर ज्यादा होता है। महावीर का सारा ध्यान खड़े होकर ही है। बुद्ध की भी ऐसी प्रतिमाएं है, जिनमें वे खड़े है—ध्यानस्थ मुद्रा में। यह स्थिति बिलकुल ऐसी है जैसे तारों के बंडल को खोल दिया गया हो। सीधी तारें जल्दी गर्म नहीं होतीं। उनमें विद्युत बिना किसी अवरोध के प्रवाहित होती है।

शरीर नहीं तो क्या?

रुटीन को तोड़ने से होने वाले प्रभावों की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। कुछ ऐसा घटेगा जो पहले नहीं घटित हुआ। जब यह अभ्यास गहरे और तेजी से होगा, तो महसूस होगा कि शरीर एक यंत्र की तरह है और आप उसका प्रयोग कर रहे हैं, बिलकुल ऐसे ही जैसे धौंकनी में हवा भर रहे हों। यह पहली अनुभूति होगी, ''मैं शरीर नहीं हूं।'' ''मैं शरीर नहीं...तो?'' यह अगला और महत्वपूर्ण प्रश्न है। अत्यंत महत्वपूर्ण है यह प्रश्न, क्योंकि यह अस्तित्व पर लगा प्रश्न है। अभी तक तो शरीर माना था खुद को, शरीर नहीं, तो फिर क्या... ? आद्य शंकराचार्य ने अपनी काव्यमयी रचना 'चर्पट पंजरी' में जिन प्रश्नों की चर्चा की है, वे इसी एक प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमते हैं—

मुखौटे के भीतर होता है असल। मुखौटे तो अभिनय का प्रतीक होते हैं बस। मुखौटे को असल समझना सबसे बड़ी नादानी है

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः कामे जननी को मे तात।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न विचारं॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते।

''तुम कौन हो? मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कौन मेरी माता है? और कौन है मेरा पिता? इन प्रश्नों पर विचार करके, इस विश्व को स्वप्नवत् विचारते हुए, गोविंद भज! गोविन्द का नाम ले। गोविन्द का स्मरण कर!''

सुना है कोई राजकुमार स्वामी रामतीर्थ के पास गया। उसने उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार कराने को कहा। स्वामी जी और उसमें जो वार्ता हुई, उसकी एक झलक देखिए—

''किसी से मिलने से पहले जरूरी है कि आप उसे पहले अपना परिचय दें? आप कौन हैं?''

''मेरा नाम श्यामसिंह है।''

''जब आपका जन्म हुआ, तब आपका नाम क्या था?...श्यामसिंह?''

''नहीं! तब तो मेरा नाम कुछ भी नहीं था। यह नाम तो नामकरण संस्कार पर रखा गया।''

''मैं महाराज दिलीपसिंह का बेटा हूं।''

''उनके पुत्र के रूप में जन्मने से पहले आप थे या नहीं?''

''था!''

''कहां थे?''

''पता नहीं।''

''तब भी क्या महाराज दिलीपसिंह के बेटे थे!''

''नहीं! तब ऐसा नहीं था।''

''तो फिर?''

''यह तो पीछे की प्रक्रिया हुई। अब इसी तरह से आगे के जीवन के बारे में सोच-विचार कर देखो।''

राजकुमार चुप था। कुछ कहने को नहीं बचा था राजकुमार के पास। हम सभी की स्थिति ऐसी है। हम स्वयं से ही परिचित नहीं हैं। समस्याओं की जड़ तो यही है। कार्य-कारण के सिद्धांत पर बहस करना शुरू करते हैं, लेकिन फिर एक जगह चुप होना पड़ता है। वैसे हमने 'मैं क्या हूं?' इस प्रश्न की अहमियत को महसूस ही नहीं किया। आदत पड़ गई है हमें अलग-अलग मुखौटे पहनने की। जिसे आप पर्सनेलिटी कहते हैं, इसका अर्थ ही 'मुखौटा' होता है। हमारे व्यक्तित्व के इतने आयाम हैं कि अपना असली व्यक्तित्व, अस्तित्व ही हम भूल गए हैं। यह पर्सनेलिटी डिस्ऑर्डर का मामला है। नया मुखौटा पहनते ही पुराने मुखौटे को भूल जाते हैं। और पुराने को ओढ़ने के बाद नए को। जो सपने में चलते हैं। कभी उन्हें ऑब्जर्व करिएगा। उन्हें सुबह उठने पर कुछ भी याद नहीं रहता। ऐसे लोगों द्वारा सपने में कत्ल करने के मामले भी पढ़ने-सुनने को मिल जाते हैं। हम सब भी इस मायने में 'मेन्टल' ही हैं। हमारा बोलना, विचारना, सोचना-समझना तर्कसंगत और सुव्यवस्थित नहीं है। क्या ऐसा नहीं है कि हम सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं। ऐसा असामंजस्य ही तो उसके व्यवहार में भी होता है, जिसे आपकी भाषा में 'पागल' और आज की, 'आधुनिक मनोविज्ञान' की भाषा में 'एब्नॉर्मल' कहते हैं।

समय पर चोट कम्प्रोमाइज नहीं

कहते हैं न कि चोट अगर समय पर की जाए, तो असंभावित संभावित हो जाता है। असंभव वह इसीलिए होता है क्योंकि अभी उसके लिए समय उचित नहीं होता। परिष्कृत लोहा जब एक निश्चित तापमान पर पहुंच जाए, तो उसे आप मनचाहा आकार दे सकते हैं। समझदार कारीगर ऐसा ही करता है। ऐसा ही प्रयास अब आपको करना है। श्वास क्रिया के अभ्यास के बाद जब आपका तन-मन क्लांत हो जाए, शरीर और 'मैं' का भेद जब आप साफ-साफ महसूस कर रहे हों, तो ''मैं कौन हूं'', इस अस्तित्व से संबंधित प्रश्न को उड़ेल दीजिए अपने अंतस् में। शुरू-शुरू में जब आप इस प्रश्न को अंतस् में फेंकेगे, तो यह उसकी ऊपरी सतह से ही वापस आ जाएगा। यह प्रश्न बाहरी प्रश्न है। अंतस् का तर्क होगा, ''जो हैं, वह हैं। पता तो है। इसलिए इस प्रश्न की कोई जरूरत नहीं।'' उसके तर्क की कसौटी पर यह पूछा गया प्रश्न निराधार होगा। जैसे शरीर किसी बाहरी वस्तु को स्वीकार नहीं करता, वापस भेज देता है उसे, बिल्कुल ऐसी ही घटना होगी यहां, अंतस के स्तर भी। लेकिन आपको धीरज नहीं छोड़ना है। ऐसा होना स्वाभाविक है। अब आप कुछ ऐसा कर रहे हैं, जिसकी आपके तथाकथित अस्तित्व को, आपकी पर्सनेलिटी को

कतई अपेक्षा नहीं है। दोहरी चोट कर रहे हैं आप। श्वास क्रिया से शरीर के स्तर पर आपने छेड़खानी की है, और 'मैं कौन हूं' ऐसा प्रश्न करके आप अपने स्वीकृत अस्तित्व की जड़ों को कुरेद रहे हैं। इस छेड़खानी को कुछ समय के बाद अंतस् स्वीकार करेगा। वहां वह बड़ी चालबाजी से जवाब देगा। कोई कम्प्रोमाइज नहीं करना है आपको।

किसी अपराधी से आपका अगर पाला पड़ा हो, तो आपको इस बात का अंदाजा हो सकता है कि कैसे वह पहले चुप्पी साधकर रखता है। फिर जब देखता है कि अब तो जवाब देना ही होगा, तो सफेद झूठ को ऐसा रंग देता है कि आप उलझ कर रहे जाते हैं, उसके सफेद झूठ में लिपटे जवाब में। ऐसा ही कुछ इस यात्रा में भी होगा। छलावे की पूरी संभावना है यहां, अगर आप थोड़े-से भी कमजोर हुए तो।

मां भी आप हैं बच्चा भी

मुझे याद है ऋषिकुल की। गुरुकुलों-ऋषिकुलों की याद लोगों (अभिभावकों) को अक्सर तब आती है, जब उन्हें लगता है कि अब उनका बच्चा हाथ से निकल रहा है, निकल चुका है। अक्सर बिगड़े बच्चों की शरणस्थली बन गए हैं ऋषिकुल-गुरुकुल। उन बिगड़े बच्चों पर जब अंकुश लगता, तो भयंकर प्रतिक्रिया होती। कई बच्चे तो वहां से भागने के लिए ऐसे रास्ते अपनाते जिनके बारे में सोचा तक नहीं जा सकता। प्रत्येक एक नई तरकीब की खोज करता। क्योंकि पुराने तरीकों से तो पकड़े जाने की संभावना होती थी। और वह इस तरह का कोई रिस्क नहीं ले सकता था। लेकिन बेचारा फिर भी पकड़ा जाता। पकड़वाने में दूसरे लोग मदद करते। उन्हें भी पता लग जाता कि यह ऋषिकुल या गुरुकुल का ब्रह्मचारी है। प्रेम और दंड दोनों का सहारा लेते शिक्षक। उद्देश्य हित समझाने का था। पहले वहां रुके रहना उस ब्रह्मचारी के लिए विवशता होता, क्योंकि वह भाग नहीं सकता था। कोई लाभ भी नहीं था भागने का। जब भागे और पकड़े भी गए तो भागना निरर्थक हो जाता है। धीरे-धीरे वह ब्रह्मचारी वहां की व्यवस्था में ढल जाता। फिर तो वह छुट्टियों में भी घर नहीं जाना चाहता।

कहने का अर्थ है, भागने की सार्थकता तो भाग जाने में है। जब पकड़ लिया जाना ही निश्चित है, तो क्या लाभ भागने का। 'मैं क्या हूं,' इस सवाल को आप बार-बार दोहराइए। पहले चुप्पी, फिर तरह-तरह के जवाब मिलेंगे आपको। सही जवाब के पास जैसे-जैसे आप पहुंचते जाएंगे, आपके जीवन में (व्यवहार में) परिवर्तन होगा। कहते हैं कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन किसी तथ्य को जानने के लिए जब 999 प्रयोग कर चुके, तो किसी साथी ने पूछा, ''आप निराश नहीं हुए?'' जवाब 'न' में मिला। ''अब मैं अपने जवाब के पास हूं, क्योंकि ये प्रयोग बताते हैं कि 999 गलत परिकल्पनाओं को मैंने अपने मस्तिष्क में स्थान दिया हुआ था।'' सच के पास जाने का अर्थ है—जो सोच रहे थे गलत था। जो मान रहे थे स्वयं को, गलत था। एक भ्रम था। उसी झूठे बोझ के तले सारी असल संभावनाएं दबी हुई थीं।

शास्त्रीय ज्ञान को नई (वैज्ञानिक) शब्दावली देने वाले प्रसिद्ध विचारक ओशो ने इस अनुभव को जन्म की महत्वपूर्ण शारीरिक-मानसिक घटना बताया है। उनके अनुसार , इसमें पीड़ा है, आनंद है। इसमें आश्चर्य है। मां को प्रसव पीड़ा होती है, लेकिन अपनी संतान को स्वस्थ देखकर उसकी सारी पीड़ा जाती रहती है। और बच्चा? पूर्ण सुरक्षित वातावरण से निकल एक बिल्कुल नए माहौल में आता है। आश्चर्य होता है उसे। यह क्या हुआ। कैसे हुआ। नए वातावरण में शारीरिक-मानसिक रूप से स्वयं को समायोजित करता है वह। शुरू-शुरू में हैरान-परेशान होता, लेकिन फिर स्वयं को एडजेस्ट कर लेता है। इस दृष्टांत में मां और बच्चे के साथ अलग-अलग अनुभव घटित होते हैं, जबकि साधक यहां दोहरी भूमिका निभाता है। वही मां है और बच्चा भी। दोनों ही अनुभवों से गुजरता है वह। एक बार फिर इस बात को समझ लें कि यह सारी प्रक्रिया सहज होनी चाहिए। इससे होने वाले अनुभव असहज-से लग सकते हैं आपको। यहां पढ़े-लिखे, सुने-सुनाए को आधार बनाकर कुछ नया निर्मित करने की गलती न

कीजिएगा। वह स्थायी नहीं होगा। करते जाइए, जो ऊपर बताया है। समय आने पर स्वयं घटित होगा सब। शुक्र-डिम्ब का गर्भाशय में मिलन हो गया। अगर कुछ गड़बड़ न हुई, कहीं कोई जोर-जबर्दस्ती न की गई, तो नौ महीने प्रतीक्षा करनी होती है। संभव है यह घटना किसी के साथ सातवें महीने में हो जाए। यह उसके लिए सहज है। आप जबर्दस्ती न करिएगा। नहीं तो मिट्टी में मिल जाएगा किया-कराया। और जब समय आएगा, तो वह रोके न रुकेगा, स्वयं पुकार-पुकार कर कहेगा, ''आ गया मैं।''

स्वामी रामतीर्थ ने अपने प्रवचनों में एक ऐसी बहू का उदाहरण दिया है, जो पहली बार मां बन रही थी। गर्भवती थी वह। पूरे समय में थी वह। उसने अपनी सासू मां को कहा, ''मां जी, मैं सोने जा रही हूं। जब भी कुछ हो, तो मुझे उठा लीजिएगा।'' बहू की यह बात सुनकर सासू मां हंसी। सासू मां तो जानती थीं सब। वह तो गुजर चुकी थीं उस अनुभव से। वह जानती थीं क्या होता है बच्चा जनते समय। उसने हंसते हुए कहा, ''बेटी, सो जा। लेकिन जब समय आएगा, कुछ होने वाला होगा जब, तब तू सो न सकेगी। और अगर सो भी रही होगी, तो खुद जागेगी और अड़ोस-पड़ोस को भी जगाएगी।'' संभव है सास की बातें उस समय बहू को समझ न आई हों। रहस्यमयी लगी हों। बेकार भी लग सकती हैं। टालने की कोशिश लगी हो। लेकिन जब वह स्वयं उस अनुभव से गुजरी होगी, तब पता चला होगा उसे अपनी सास की बातों की वास्तविकता का। हो सकता है, उसकी बहू ने भी ऐसा ही सवाल पूछा हो, और वह भी हंसी हो। सोचा हो, ''जान जाएगी खुद ही।'' अपनी बातों पर बहू द्वारा बरती गई लापरवाही से भी वह परेशान न हुई होगी।

अधूरे नहीं, पूरे मन से

इस सारी प्रक्रिया को पूरी जान लगाकर करें। गहरी श्वासों की प्रक्रिया में हुंकारने या फुफकारने की-सी ध्वनि होगी। आप जिस स्थान पर इसे करेंगे, वह इस ध्वनि से झंकृत हो उठेगा। आसपास के सैल चार्ज हो जाएंगे। और फिर जब ऐसे में आप दूसरी प्रक्रिया को अपनाएंगे, ''मैं कौन हूं?'' इस प्रश्न का उत्तर जानने की प्रक्रिया को, तो आपका समूचा अंतस् चिरता जाएगा, प्रत्येक स्तर पर। थकने के बाद विश्राम की, विश्रांति की स्थिति में जो अनुभव आए, उसे आने दें। इस समय तटस्थ भाव से रिसीवर बन जाएं। रिसीवर बनने का अर्थ है, कोई आग्रह नहीं है। जो आ रहा है उसे स्वीकार रहे हैं बस। अगर कहीं भी यह भावना आई कि कुछ विशेष प्रकार का हो, तो समझ लीजिए चूक गए। यह स्थिति बिल्कुल प्रार्थना की सी है। सोचिए, किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में जो घोर जंगल में राह से भटक गया हो। उसे यह तो समझ आ रहा है कि जिस राह से वह चल रहा है, वह ठीक नहीं है, लेकिन यह नहीं जानता वह कि सही राह कौन-सी है। ''मैं कौन हूं?'' इस प्रश्न ने यह संकेत दे दिया कि वह नहीं है, जो मान रहा है, समझ रहा है, लेकिन 'कौन हूं' इसका सही जवाब नहीं पता। प्रश्न फेंका जा रहा है, फेंका गया है और प्रतीक्षा है आनेवाले जवाब की। सही जवाब आए, इसके लिए जो भी आ रहा है उसे आने दें। स्टेशन पर किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों आप। आने वाला आपको जानता हो, आप न जानते हों उसे। खड़े हैं एक्जिट वाले गेट पर। प्रत्येक आने वाले को आने दे रहे हैं। किसी को रोक नहीं रहे। कैसे रोकें, जब पता नहीं उसका जिसकी इंतजार कर रहे हैं। ऐसी स्थिति समझें यहां भी। इसलिए जो होता है उसे होने दें।

इस पूरी प्रक्रिया में एक बात का और ध्यान रखना है। इसे बार-बार कहा जाता रहा है। पूरी ताकत को झोंक दें, इस प्रक्रिया में। ऐसा बार-बार कहने की जरूरत इसलिए होती है क्योंकि पूरे मन से कुछ भी करने की हमारी आदत नहीं है। हम जो कुछ भी करते हैं अधूरे मन से करते हैं। इसीलिए भोग और योग दोनों ही हमारे हाथ से सरक जाते हैं। दो किश्तियों में सवार होने का फल जानते हुए भी हम ऐसा करते हैं।

सुना है बड़ों के मुख से। वह संयोग ही था। एक साधु और वेश्या का घर आमने-सामने था। साधु छत पर

ध्यान-उपासना करता । वेश्या को साधु का ऐसा करना अच्छा लगता। वेश्या अपने नारकीय जीवन से मुक्त होना चाहती थी। वह सोचती, काश! उसे भी सात्विक जीवन जीने का अवसर मिलता। और उधर? वेश्या के रूप पर मोहित था साधु। उसके मन में वेश्या बस गई थी। दोनों अपने जीवन से असंतुष्ट थे। वेश्या अपना धंधा करती, आधे मन से। साधु ध्यान-उपासना करता आधे मन से। एकाएक, एक ही दिन दोनों की मृत्यु हो गई। दोनों को यमराज के सामने पेश किया गया। धर्मराज ने साधु को नरक और वेश्या को स्वर्ग ले जाने का आदेश दिया। दोनों हैरान थे। दोनों को अनपेक्षित मिल रहा था।

इस घटना को अक्सर दूसरे संदर्भों में घटाया जाता है। घटना के आखिरी हिस्से के आधार पर। लेकिन हमारे लिए घटना का पहला हिस्सा महत्वपूर्ण है। 'सेटिफेक्शन' यह शब्द आपको अक्सर सुनने को मिलेगा। जो जहां है, वहां खुश नहीं है। सत्संग में बैठे घर की बात सोच रहे हैं और घर में बैठे सत्संग की। साधना में सब कुछ मिटाने को तैयार हैं, लेकिन यह भी सोच रहे हैं कि अगर हाथ में आया निकल गया और...कुछ न मिला तो। जब 'कुछ' के साथ जुड़े होते हैं, तो सोचते हैं, यह भी कोई जिंदगी है। अधूरेपन को ही अपने जीवन का पर्याय बना लिया है हमने।

इसलिए, झोंक दें अपनी पूरी एनर्जी को श्वास प्रक्रिया में, 'मैं कौन हूं?' यह प्रश्न पूछते समय!

अधूरापन कुंडलिनी जागरण में प्रमुख बाधा है। अगर कभी कोई रुकावट लगे, समझ लीजिएगा कहीं किसी दोराहे पर खड़े हो गये हैं। दोराहा गति को रोक देता है। दोराहे पर पहुंचकर यात्रा रुक जाती है। जब हम अधूरे मन से किसी काम को करते हैं, तो सफलता नहीं मिलती, मिल ही नहीं सकती। *संशयात्मा विनश्यति*—संशय मन वाला निश्चित रूप से विनष्ट हो जाता है।

एकांत और मौन भी

आपने पूरे मन से, पूरी शक्ति लगायी। परिवर्तन हुए। उन बदलावों को आपने महसूस किया। अभी वे अनुभव आने-जाने वाले, बदलने वाले हैं। कई रंग-रूप लेंगे वे। इसीलिए ऋषियों ने एकांत और मौन की बात कही। एकांत इसलिए कि जो महसूस हो, उसे गुप्त रखने को आप विवश हों। इन अनुभवों की चर्चा आप उससे करें, जिसके मार्गदर्शन में आप साधना कर रहे हैं—अर्थात् गुरु के सिवाय किसी को न बताएं जो आप साधना के क्षणों में महसूस कर रहे हैं। यदि ग्रुप में साधना कर रहे हैं, तो अन्य किसी साधक से नहीं। कारण? ये अनुभव बिल्कुल पर्सनल हैं। जरूरी नहीं है कि दूसरे को भी ऐसे अनुभव हों ही। अक्सर ऐसा होता है। ऐसे में दूसरों के अनुभवों को सुनकर, अचेतन में उन्हें बसाकर आप निदर्शित हो सकते हैं। यह भी संभव है कि जिन्हें आप अपने अनुभवों के बारे में बताएं, वे आपकी हंसी उड़ाएं, क्योंकि उनका स्तर आपसे भिन्न है। इससे भी आपके अनुभवों के आने में रुकावट आ सकती है। उन हवा के सुगंधित झोकों को आप नकार सकते हैं, जो आपमें चेतना का संचार करते। यह बहुत बड़ी ट्रेजडी होगी। मौका न आता, तो कोई बात नहीं थी। आया तो, लेकिन फिसल गया हाथ से, काफी दुखद होता है यह। उस फील्डर को कितना दुख होता होगा, जिसके हाथ से कैच की गई गेंद छिटक जाती होगी। वैसी ही दुर्घटना समझिएगा इसे। इसीलिए मौन रखने को कहा जाता है। कुछ बाहर निकलना चाहता है, लेकिन आप बाहर नहीं जाने देते। आपके समूचे व्यक्तित्व को मथता है वह तब। ऐसा होना ही तो उपलब्धि है। यही मंथन है। समुद्र मंथन की घटना है यह कुछ बड़ी तेजी से घूम रहा है भीतर, लेकिन उसे बाहर निकलने की मनाही है। बेचैनी पैदा करेगी यह स्थिति। धीरज बनाए रखिएगा ऐसे में। यह अनुभूति जितनी बाहर की ओर भागने को हो, उतना ही समेटें इसे, बिलकुल वैसे ही जैसे कछुआ समेटता है अपने आपको।

मौन का अर्थ आमतौर पर 'न बोलना' लिया जाता है, जबकि ऐसा है नहीं। मौन का अर्थ है सारे कपाटों को

बंद-सा कर लेना। वाणी तो एक दरवाजा है, जहां से ऊर्जा बाहर की ओर प्रवाहित होती है। मौन का अर्थ है जहां से भी ऊर्जा बाहर की ओर प्रवाहित हो, उस पर ताला डाल देना। इस मायने में आंखें, कान, नाक, रसना, त्वचा आदि पर ताला लगाने की जरूरत है। इनका उपयोग भी कम-से-कम करें। अभ्यास के बाद जब भी समय मिले, इस प्रकार का मौन रखें। शक्ति को संचित करें और फिर अगले रोज पूरी ऊर्जा लगाएं साधना में।

अतिरिक्त ऊर्जा का रहस्य

किसी को पूरी ताकत से भागने के लिए कहें। जब वह भागे तो उसकी गति को नोट करें। अब दो को एक साथ भगाएं। नोट करें। पहले से गति में फर्क होगा। उसके पीछे अगर कुत्ता छोड़ दिया जाए, तो उसकी गति में और ज्यादा तेजी आ जाएगी। ऐसा शरीर के उस सिस्टम की वजह से होता है जो शरीर की रक्षा करता है। वह जरूरत पैदा कर देता। 'बचना है' इस तरह का विचार ग्रंथियों को उत्तेजित करता है। इससे अतिरिक्त ऊर्जा उत्पन्न होती है। जब प्यास गहरी हो, तो वह उद्दीप्त करती है ऊर्जा को।

सुना है जब रामकृष्ण परमहंस से नरेन्द्र ने ईश्वर से संबंधित सवाल पूछा और उनसे ईश्वर को देखने की इच्छा भी जाहिर की, ''देखा है, देख रहे हैं, तो क्या मुझे भी दिखाएंगे?'' और रामकृष्ण ने जब हामी भरी तो पूछा, ''कब?'' इस प्रश्न पर रामकृष्ण मौन हो गए। ''ईश्वर देखा है?'' इस प्रश्न का जवाब जिसने बेहिचक दे दिया, वे रामकृष्ण परमहंस ''कब दिखाएंगे?'' इस संवाल पर मौन हो गए। पहला सवाल व्यक्तिगत था। दूसरे सवाल में परतंत्र थे वे। जब सामने तैयारी होगी, तभी तो दिखा सकेंगे। दिन बीते। नरेन्द्र नहा रहे थे नदी में। रामकृष्ण भी साथ थे। नरेन्द्र ने डुबकी लगायी। रामकृष्ण ने गरदन पकड़ी नरेन्द्र की और पानी में डुबोया। बूढ़े हाथ कमजोर पड़ गये। नरेन्द्र ने जोर से झटका दिया। रामकृष्ण किनारे पर जा गिरे। नरेन्द्र ने देखा रामकृष्ण को। दोनों एक-दूसरे को तकते रहे। नरेन्द्र सवाल पूछ रहे थे, ''ऐसा क्यों कर रहे थे आप?'' रामकृष्ण जवाब दे रहे थे, ''भूल गया, तेरे सवाल का जवाब दे रहा था।'' रामकृष्ण बोले, ''मिला जवाब। कब दिखेगा ईश्वर इस सवाल का? जब इतनी तड़प होगी, जितनी पानीं में सांस लेने के लिए थी, तब वह स्वयं आ खड़ा होगा।''

अभी तो रामकृष्ण बूढ़े थे। यदि किसी और ने भी ऐसा ही किया होता, तो ऐसा ही होता। जीवन को बचाने के लिए पूरी ऊर्जा का प्रयोग होता है। जितने गहरे में जीवन के नष्ट होने का खतरा होता है, उतनी ऊर्जा का विस्फोट होता। इसलिए रत्तीभर न बचाएं, पूरी ऊर्जा लगा दें। अनंत संभावनाओं का समुंदर उमड़ने लगेगा।

भ्रम और विभ्रम

इन विलक्षण, आश्चर्यजनक, इन्द्रियातीत और अनिर्वचनीय अनुभवों की यात्रा के संदर्भ में इन दो शब्दों की चर्चा भी जरूरी है। ये शब्द हैं भ्रम और विभ्रम। हिंदी में दोनों शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में होता है, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान में इनके संदर्भ अलग-अलग हैं। पहले हम भ्रम शब्द को लेते हैं। इसका अर्थ है जो जैसा है, उसे उस रूप में न देखकर कुछ और समझना। आप जा रहे हैं। धुंधलका है। एक झाड़ी को आपने देखा। दूर से वह ऐसी लगी, मानो कोई व्यक्ति छिप कर बैठा है। इस स्थिति में जिसे देखकर आप भ्रमित हुए, वह वस्तु बाहर है। अचेतन में बैठे भय ने सामने दिखने वाली झाड़ी को देखकर रिफ्लेक्ट किया, जबकि विभ्रम में वस्तु भी भीतर बैठी है, अचेतन में और जिस पर वह रिफ्लेक्ट कर रही है वह भी कोई बाहर का नहीं है। यह पूरी तरह इनर प्रोसेस है। आपने देखेंगे हो ऐसे व्यक्ति जिन्हें लगता है कि उनके आसपास कोई है। इसका मोटा उदाहरण है ऐसे व्यक्ति जो अलग-अलग स्टाइल में, दो व्यक्ति बन कर बातचीत करते हैं अपने-आपसे ही—जोर-जोर से।

ये दोनों ही स्थितियां साधक के लिए ठीक नहीं हैं। दूसरी स्थिति तो अजीब-से व्यामोह में डाल देती है। साधक को लगने लगता है श्री कृष्ण ने दर्शन दिये। शिव साक्षात् सामने आ खड़े हुए। तरह-तरह की आवाजें आती

हैं। सुगंधियों को महसूस करता है साधक। कई ऐसी घटनाएं होती हैं, जिन पर साधक को स्वयं विश्वास नहीं होता। इसे विभ्रम कहते हैं। देखने में आया है कि प्रजनन क्रिया के शुरू होने से पहले (जब मादा पहली बार मां बनती है) 'फेक हीट' का अनुभव होता है बछड़ी को। मोटे तौर पर देखने पर उसके सारे लक्षण, रियल हीट के होते हैं, जबकि हीट फेक होती है। यह कई बार रिपीट हो सकती है। छह महीने बीत जाने के बाद रियल हीट आती है। फेक हीट का अगर अंदाजा न लग पाए, तो गर्भाधान नहीं होता। पशुओं में यह मांग शारीरिक होती है। शरीर पूरी तरह से विकसित नहीं होता, इसलिए ऐसी स्थिति की बारम्बारता मादा को मातृत्व सुख से वंचित कर देती है—कृत्रिम गर्भाधान के संदर्भ में विशेषकर। इसमें गलतियों की संभावना होती है। सांड को स्मैल से इसका अंदाजा हो जाता है।

अधकचरी साधना से होने वाले अनुभव भी अधकचरे होते हैं। इसलिए सावधान रहें। झूठी उपलब्धियों पर खुश न हों। ऐसी स्थिति में कई साधक अपने मार्गदर्शक गुरु पर भी पक्षपात का दोष लगा देते हैं। कई नादान तो छोड़कर चले जाते हैं गुरु को। उन्हें लगता है कि उनकी उपलब्धियों से गुरु को ईर्ष्या होती है। झूठी शाबाशी चाहते हैं वे। आप इन मनोवैज्ञानिक कमजोरियों के प्रति सावधान रहिएगा।

योग में ऐसी घटनाओं को सिद्धियां कहा गया है। योगशास्त्र ने इन्हें रोग कहा है। ये लक्ष्य के बीच में आने वाले अवरोध हैं। इनके चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। इनके चक्कर में पड़कर कई अच्छे साधक लक्ष्य से भटक जाते हैं। पिछले अध्यायों में आपने पढ़ा है कि विभिन्न चक्रों का भेदन करने पर कई दिव्य शक्तियां साधक को सहज रूप में प्राप्त हो जाती हैं। साधक का अर्थ है अभी साध्य की प्राप्ति नहीं हुई है। साध्य प्राप्ति के बाद, सिद्ध की स्थिति प्राप्त होने पर साधन, साध्य और साधक की त्रिपुटी सहज रूप से नष्ट हो जाती है। इसलिए साधक को बीच में नहीं रुक जाना चाहिए—*राम काज कीजे बिना मोहे कहां विश्राम।*

सावधानी हटी, दुर्घटना घटी

कहते हैं एक बार कोई व्यक्ति ताड़ पर चढ़ा। ताड़ फलों को लादे उतरते हुए उसे पेड़ से थोड़ी दूर बैठा एक व्यक्ति बड़े आराम से देख रहा था। उतरने वाला जानता था कि थोड़ी-सी भी लापरवाही जान ले सकती है। इसलिए वह बहुत संभलकर उतर रहा था। वह जमीन से जब कोई 5-6 फुट की दूरी पर रह गया तो उसे पेड़ के पास बैठे व्यक्ति ने सावधान किया, ''संभलकर उतरना।'' पेड़ से उतरने वाले व्यक्ति ने जमीन पर छलांग लगा दी। वह उस व्यक्ति के पास गया, जिसने उसे संभलने की चेतावनी दी थी, ''जब मैं खतरे में था, जब मेरी जान पर बनी हुई थी, तब तुमने मुझे सावधान नहीं किया, लेकिन जब मैं खतरे से पार था। कोई संभावना नहीं थी किसी तरह की हानि होने की, तब तुमने सावधान किया। क्यों?'' सावधान करने वाला हंसा, ''तुम्हारे सवाल में ही जवाब छिपा है। जब तुम्हें खतरे का अहसास था, तब तो तुम खुद ही सावधान थे। जब तुम्हारी सावधानी हटी, तभी मैंने तुम्हें सचेत किया, क्योंकि अक्सर दुर्घटना तब और वहां होती है जब और जहां उसकी किसी तरह की कोई संभावना नहीं होती। अंतिम क्षणों में, जब लक्ष्य पास होता है, तभी गलती होती है, और हाथ आया लक्ष्य सरक जाता है।''

सावधान रहने वाला ही साधक होता है। असावधान तो व्यवहार और अध्यात्म सभी जगह ठोकर खाता है। असावधानी ही मूर्च्छा है और जहां मूर्च्छा है वहां जागरण कैसा। प्रकृति में देखें थोड़ी-सी असावधानी मौत का ग्रास बना देती है। पहाड़ी रास्तों के किनारे पर लिखा होता है—**सावधानी हटी, दुर्घटना घटी।** यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। सावधान होने का अर्थ है स्वयं को द्रष्टा बनने के लिए तैयार करना। इस साधना का प्रतिफल है कि जो हो रहा है उसे निष्पक्ष भाव से आप देख सकें। पूर्ण द्रष्टाभाव ही समस्त साधनाओं की उपलब्धि है। संसार को उसके असली रूप में देखने के लिए अर्थात् समग्र की वास्तविकता देखने के लिए जरूरी है कि आप उसकी शुरुआत घटनाओं से करें, हिस्सों से करें। संसार इन घटनाओं का ही तो पुलिंदा है।

आपने देखा होगा पत्रकारों को, खासकर आलोचकों को कि वे सामने होने वाली घटनाओं का आनंद नहीं ले पाते। ऐसा लगता है। लोगों की तालियों की गड़गड़ाहट के बीच भी वे तटस्थ रहते हैं। उनका ऐसा व्यवहार उन्हें लोगों की दृष्टि में रूखा बना देता है। जबकि असल में ऐसा नहीं है। अगर ऐसा होता तो वे उन क्षणों का विश्लेषण-वर्णन अपने लेखों में नहीं कर सकते, जिनमें उस कार्यक्रम में मिलने वाले आनंद की चर्चा होती है। वे महसूस तो करते हैं, लेकिन उसमें रम नहीं जाते। रमने का अर्थ है आत्मविस्मृति, अर्थात् बह जाना। सावधान बहता नहीं। इसलिए छला नहीं जाता। वही देख पाता है असलियत को। होने वाली समस्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं, संवेदनाओं को साफ-साफ देख पाता है वह।

प्रणव का दर्शन

इस साधना को, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, कुछ महापुरुषों ने और भी सरल किया है। इस साधना में प्रणव को परम साधन के रूप में स्वीकारा गया है। कुछ लोगों के गले यह साधना उतरती नहीं। उनका तर्क है कि प्रणव तो साध्य है। जो साध्य है, वह साधन कैसे हो सकता है। परिशिष्ट के प्रारंभिक पृष्ठों पर साधक, साधन और साध्य की त्रिपुटी की चर्चा संक्षेप में की जा चुकी है कि किस तरह अज्ञान के कारण इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जबकि पारमार्थिक रूप से साधक, साधन और साध्य एक ही हैं। वेदांतग्रंथों में इस प्रक्रिया को अध्यारोप-अपवाद कहा जाता है—''अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते।'' है नहीं वास्तव में, लेकिन फिर भी मान करके उसे नकारा जाता है। गणित में भी इस मानने और उसे पुष्ट करने या फिर उसे नकारने की प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। 'नहीं है', ऐसा कहने से जो प्रतीत हो रहा है, उसे कोई भी सहज रूप से स्वीकार नहीं करता। बुद्धि की संतुष्टि के लिए इस प्रक्रिया को अपनाया जाता है। इस तरह प्रणव को साधन के रूप में न स्वीकारना तर्क की कसौटी पर, सापेक्षिक या व्यक्तिगत रूप से तो सही हो सकता है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद जैसी महान विभूतियों ने अपने अनुभवों के आधार पर प्रणव को साधन के रूप में भी स्वीकारा है। कुंडलिनी साधना में इसकी झलक चौथी भूमिका (चौथे चक्र) पर ही मिल जाती है, जबकि इसका साक्षात्कार सातवीं भूमिका पर होता है।

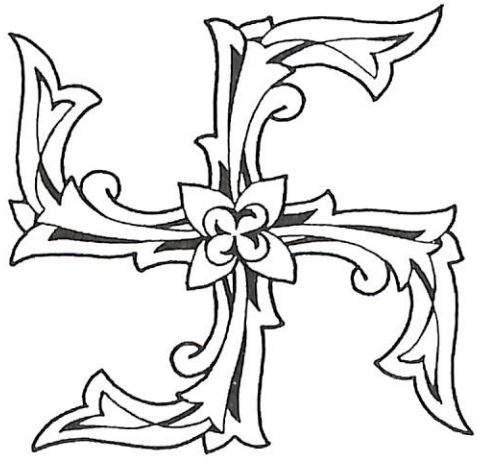

ॐ की अनुभूति सातवीं भूमिका पर होती है, जबकि स्वस्तिक पहली भूमिका पर स्थित होता है।
ॐ अकर्ता है जबकि स्वस्तिक सक्रिय ऊर्जा का प्रतीक

प्रणव को अशब्द माना गया है। जहां शब्द रीत जाते हैं, वहां स्थिति है प्रणव की। इसीलिए इसे एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने—*प्रणव: सर्ववेदेषु,* कहा है, अर्थात् वेदों में प्रणव हूं मैं। वैदिक

परंपरा में कोई भी मंत्र तब तक अर्थवान नहीं होता, जब तक उसके पहले प्रणव का प्रयोग न हो। 'अ उ म्' इन तीनों से मिलकर ही सभी स्वरों व व्यंजनों का, अक्षरों का निर्माण होता है। शब्दों के विस्तार के मूल में है 'ओ३म्'। इसे अक्षर से जब निरक्षर रूप दिया गया, तो यह चित्रमय हो गया—ॐ। इसी में कुछ को स्वस्तिक के दर्शन हुए। स्वस्तिक गति का प्रतीक है जबकि ॐ गति शून्यता का, समस्त गतियों को स्वयं में समेटने वाला। स्वस्तिक मूलाधार का प्रतीक है, तो ॐ सहस्रार का। लेकिन मूलाधार में ही सहस्रार की संभावनाएं छिपी हैं और सहस्रार समेटे है स्वयं में मूलाधार को। अन्य धर्मों में भी ॐ के समकक्ष शब्द ढूंढने की कोशिश की गई, लेकिन नहीं ढूंढ पाए वे। यह भी संभव है जब 'ॐ' उन स्थानों पर 'आमीन' बनकर पहुंचा, तो उनकी आत्मा में 'ॐ' की ही प्रतिध्वनि रही होगी। लंबी यात्रा के बाद पहले तो उसके उच्चारण में भेद हुआ, लेकिन बाद में उसकी वह प्रतिध्वनि ही लुप्त हो गई। 'शांति', यह रह गया उसका अर्थ। माहात्म्य रह गया उसका, उसके पीछे छिपा दर्शन नष्ट हो गया। कैसे करें इस प्रणव साधना को? इसकी संक्षिप्त जानकारी आगे दी जा रही है।

प्रणव साधना

इस अशब्द शब्द के तीन हिस्से हैं अ उ म्। पहले इनका अलग-अलग अभ्यास किया जाता है फिर एक साथ। इसमें सहज रूप से पीछे वर्णित श्वास-क्रिया से गुजरना होता है आपको। इसमें 'मैं कौन हूं' इस प्रकार का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न एक धक्के का-सा काम करता है जबकि प्रणव हल्की थपकी देता है। कुछ प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि इसके उच्च स्वर में उच्चारण (घोष) से तंद्रा आती है। मैं इस तंद्रा को नेगेटिव अर्थों में नहीं लेता। यह सीधे विश्रांति की अवस्था में ले जाती है साधक को। इसमें रेचन की क्रिया पर ज्यादा जोर नहीं है, वह सहज रूप से होती है। रेचन की क्रिया मुख से होती है और मल द्वारा भी। बेचैनी ज्यादा हो, तो सब कुछ उलटने को मन करता है। यह

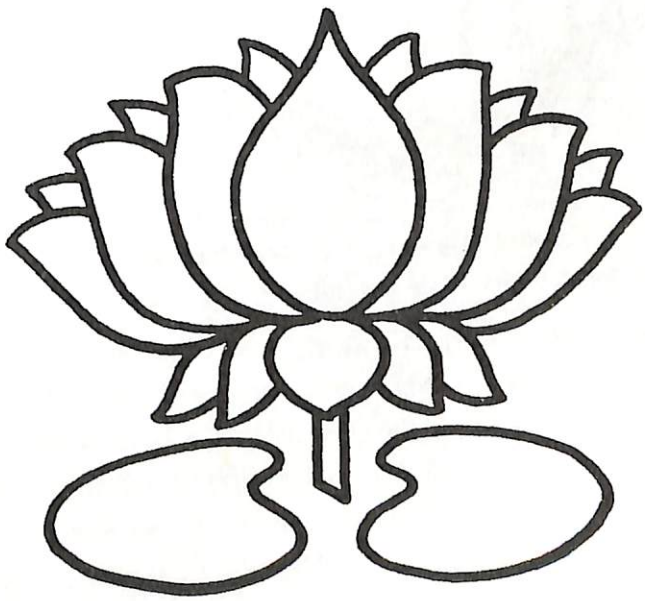

साक्षीभाव अर्थात् कमल की सी स्थिति। संसार में रहते हुए भी संसार से अलग

क्रिया अरुचिकर है। अस्वाभाविक है यह क्रिया। रेचन यदि सहज प्रक्रिया के रूप में हो, तो वह मल त्याग की सहज व नित्य क्रिया के रूप में हो जाता है। इसे विसर्जन कहते हैं। इस तरह होने वाले 'विसर्जन' का किसी को पता नहीं चलता। यह प्रक्रिया ज्यादा वैज्ञानिक लगती है। तंद्रा को तोड़ने का तरीका है आप ॐ के नाद को स्वयं सुने भी।

इससे तंद्रा कही जाने वाली स्थिति पर नियंत्रण होता है। प्रणव व घोष करते समय इन वाक्यों को दोहराएं—

मैं शरीर नहीं हूं। मैं न तो पांच ज्ञानेन्द्रियां हूं, ना ही पांच कर्मेन्द्रियां।

मैं मन नहीं हूं, चित्त नहीं हूं, बुद्धि नहीं हूं।

न मैं जागृत हूं, न सोया हूं।

न मैं किसी का जननी-जनक हूं, न ही संतान।

न मैं जन्मता हूं, न मरता हूं।

मैं तो हूं अजन्मा, अमर, शाश्वत, सर्वव्यापी, परम चेतना।

अहं ब्रह्माऽस्मि—मैं ब्रह्म हूं। सत्, चित, आनंद रूप हूं मैं।

ये वाक्य संभालेंगे—आपको। तंद्रा का स्पर्श तक नहीं होगा तमोगुण कपूर की तरह उड़ जाएगा।

यहां हम प्रश्न नहीं पूछ रहे, जवाब को संप्रेषित कर रहे हैं अचेतन की गहराइयों में। इन शब्दों की भावना बड़ी संतुलित होनी चाहिए। भावना शब्द को आयुर्वेद के संदर्भ में प्रयुक्त इस शब्द से जोड़ें। भावना देने का अर्थ होता है, इतनी आंच कि वस्तु भस्म रूप बन जाए, लेकिन उसके गुण नष्ट न हों। इसी को कुशलता कहते हैं। बड़ी वैज्ञानिक है यह प्रक्रिया। यह प्रक्रिया विश्राम के तमप्रधान पक्ष को, जिसे तंद्रा कहते हैं, तोड़ देती है।

शंख ध्वनि प्रणव साधना के नाद की प्रक्रिया बताती है।
प्रणव नाद करते समय वैसी ही गूंज होनी चाहिए जैसी शंख ध्वनि में होती है

इन तीनों शब्दों का अलग-अलग अभ्यास करते समय उपरोक्त भावना नहीं करनी। इस समय तो इस बात का ध्यान रखना है कि घोष कहां से उठ रहा है—कंठ से, हृदय से या नाभि प्रदेश से। नाभि प्रदेश से उठाएं ध्वनि को। पूरी ऊर्जा झोंकनी है इसमें भी। आखिरी 'म' का उच्चारण करते समय संभव है, कुछ कंपन महसूस करें। होने दीजिए, जो होता है। द्रष्टा बनें बस उसका। उसमें इन्वॉल्व न हों बस। 'म' का उच्चारण लोगों की पकड़ में जल्दी आता है। इसका अभ्यास यदि किसी नदी या झरने के किनारे पर बैठ कर करें तो लाभ जल्दी होगा। बहती नदी के किनारे इसका अभ्यास करते समय बहते जल को आधी मुंदी आंखों से देखें। प्रणव की ध्वनि, भावना, नदी के बहने की कलकल ध्वनि, बहती धारा का अंतस् पर रिएक्शन, इन सबका मिला-जुला असर आपकी प्रसुप्त संभावनाओं को सक्रिय करेगा। मौन, एकांत, सात्विक और अल्पभोजन, ढीले-ढाले वस्त्रों का पहरावा (कम-से-कम वस्त्र) लाभदायी होगा। तीन-तीन नादों का एक ग्रुप बनाइए। एक-एक चक्र पर तीन-तीन प्रणवनाद करते हुए ध्यान करिए। इसकी शुरुआत मूलाधार से कीजिए। सहस्रार तक जाइए। फिर वापस मूलाधार तक आइए। इसे भी तीन बार करिए। अब यह विश्रांति की परम स्थिति में ले जाने वाला प्रणव आपकी पीठ पर थपथपी देगा और हैरान होंगे आप

यह महसूस करके कि अनंत संभावनाओं को जगाना क्या सच में इतना आसान था। इस समय जितना सरल है संसार में रमना, उससे सहज-सरल लगेगा अनंत आकाश में उड़ना। समझ आएंगे ऋषियों के ये वाक्य—उठो, जागो और प्राप्त करो सर्वश्रेष्ठ को।

और महसूस होगा आपको—मुझसे श्रेष्ठ और क्या है ? कोई नहीं। मैं ही तो हूं अनंत शक्तियों का स्वामी। और यह भी कि—

कितने दूर थे तुम मुझसे, इतने दूर कि विश्वास ही न होता तुम्हारे अस्तित्व का
स्वीकार और अस्वीकार से उबरने का संकल्प लिया था मैंने एक दिन,
तैयारी की थी बड़े जोर-शोर से,
संजोया था अपने को, अपनी समूची शक्ति को,
और छलांग लगा दी थी तुम्हारी ओर,
जो पास था सब छूट गया था, दूर-दूर तक कुछ न था पाने को
लगा था एक बार कि गलती की
लेकिन तब हैरानगी हुई, जब यात्रा ही बदल गयी
मैं तुम्हारी ओर नहीं, अपनी ओर मुड़ गया था
समझ नहीं आया था कुछ भी,
समझ तो तब आया, जब अनुभव हुआ
तुम तो मुझमें थे, मैं ही तो था तुम।
तो फिर किस ओर छलांग लगायी थी मैंने
कितना नादान था मैं।

अपने दिल में डूबकर पा जा सुरागे-जिंदगी
तू अगर मेरा नहीं बनता न बन अपना तो बन

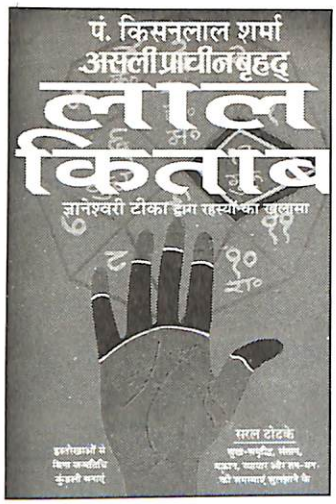

भारतीय फलित-ज्योतिष

जातक के अतीत, वर्तमान
और भविष्य का स्पष्ट ज्ञान
आपदाओं तथा संकटों से
मुक्ति के सरल उपाय

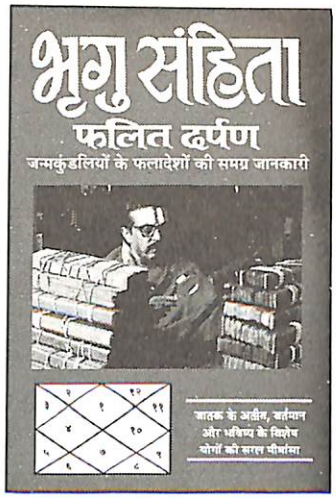

❒ असली प्राचीन बृहद् लाल किताब	500.00	❒ मंगली दोष कारण और निवारण	100.00
❒ असली प्राचीन रावण संहिता	500.00	❒ फलित ज्योतिष मार्तण्ड	100.00
❒ रावण संहिता	400.00	❒ स्त्री जातक फल	80.00
❒ असली प्राचीन बृहद् लाल किताब	300.00	❒ ज्योतिष सीखिए	80.00
❒ भृगु संहिता	200.00	❒ मंगल-शुक्र अनिष्ट से मुक्ति	80.00
❒ काली किताब (16 पेज रंगीन)	150.00	❒ नाड़ी ज्योतिष शास्त्र	80.00
❒ लाल किताब	150.00	❒ विवाह एवं संतान योग	60.00
❒ भारतीय फलित ज्योतिष संहिता	150.00	❒ मंगल कितना अमंगल	60.00
❒ असली लाल किताब	120.00	❒ मूक, प्रश्न एवं स्वर ज्योतिष	60.00
❒ सुनहरी किताब	120.00	❒ हनुमान ज्योतिष	60.00
❒ शनि राहु केतु प्रकोप से मुक्ति	120.00	❒ ज्योतिष द्वारा कामना सिद्धि	60.00
❒ भारतीय गणित ज्योतिष	120.00	❒ ज्योतिष द्वारा रोग निवारण	60.00
❒ जन्मकुण्डली फलित दर्पण	120.00	❒ ज्योतिष और धनयोग	60.00
❒ लाल किताब के टोटके व उपाय	100.00	❒ राशि नक्षत्र और मुहूर्त विज्ञान	60.00
❒ प्रश्न फल निर्णय	100.00	❒ आपका राशि भविष्य	60.00
❒ सम्पूर्ण रत्न विज्ञान (16 पेज रंगीन)	100.00	❒ कालसर्प योग	50.00
❒ नवग्रह पीड़ा से मुक्ति	100.00	❒ शनि और साढ़ेसाती	50.00
❒ पाराशर होराशास्त्र	100.00	❒ ज्योतिष और सेक्स	50.00
❒ राहु-केतु प्रकोप से मुक्ति	100.00	❒ शनि का प्रकोप उससे बचाव	50.00
❒ क्या लिखा है आपके भाग्य में	100.00	❒ अनिष्ट ग्रह कारण और निवारण	50.00
❒ सूर्य बृहस्पति शांति उपाय	100.00	❒ स्वप्न और शकुन	50.00
❒ जन्मपत्री रचना में त्रुटियां क्यों	100.00	❒ ज्योतिष कम्प्यूटर	50.00
❒ कालसर्प योग	100.00	❒ ज्योतिष द्वारा अशुभ ग्रहों का उपचार	50.00

नीचे दिए गए पते पर मनीऑर्डर द्वारा धनराशि भेजें। पुस्तकें रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा भेजी जाएंगी। वी.पी. द्वारा पुस्तकें नहीं भेजी जातीं। कोई भी चार पुस्तकें मंगाने पर डाक-व्यय की छूट!

मनोज पब्लिकेशन्स, 761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084
फोन : 27611116, 27611349, फैक्स : 27611546

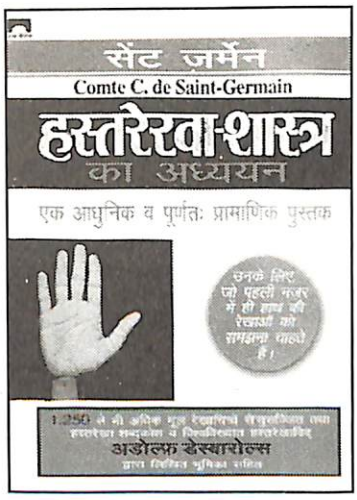

भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान
देने वाली भारतीय एवं
विदेशी विधाएं

अंक-ज्योतिष एवं हस्तरेखा शास्त्र

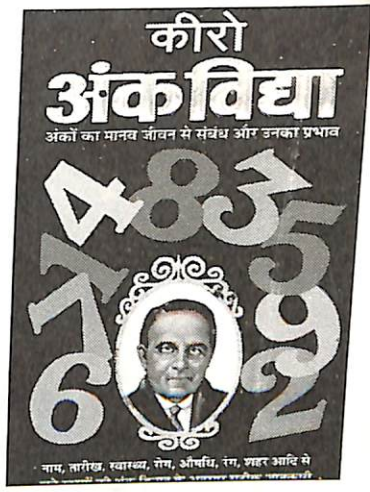

- ❒ हस्तरेखा शास्त्र के वैज्ञानिक सिद्धान्त 200-00
- ❒ हस्तरेखा शास्त्र का अध्ययन 150-00
- ❒ आप और आपका भविष्य 60-00
- ❒ अंक विद्या 60-00
- ❒ हस्तरेखा विज्ञान (नया कवर) 60-00
- ❒ संपूर्ण हस्तरेखा विज्ञान 50-00
- ❒ अंक और ज्योतिष 50-00
- ❒ हस्तरेखा और दाम्पत्य जीवन 40-00
- ❒ प्रेम विवाह और हस्तरेखाएं 40-00
- ❒ Cheiro's Language of the Hand 100-00
- ❒ Cheiro's Book of Numbers 80-00

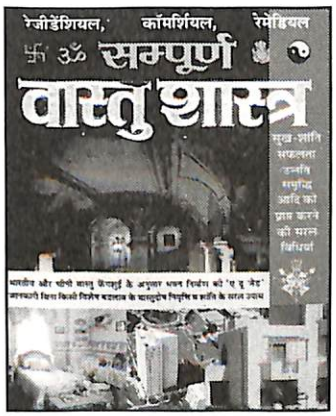

चीनी वास्तु फेंगशुई एवं भारतीय वास्तु शास्त्र

अपनाएं और बनें
परम सौभाग्यशाली

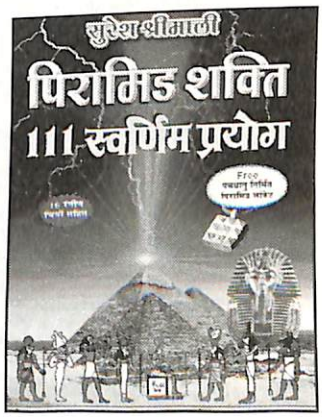

- ❒ वास्तुशास्त्र (सजिल्द) 400.00
- ❒ वास्तुशास्त्र 300.00
- ❒ सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र 150.00
- ❒ रेमेडियल वास्तुशास्त्र 150.00
- ❒ वास्तु द्वारा लक्ष्मी प्रवेश 150.00
- ❒ फेंगशुई वास्तुशास्त्र 150.00
- ❒ फेंगशुई : 151 स्वर्णिम सूत्र 100.00
- ❒ Feng Shui 151 Golden Tips 100.00
- ❒ बृहद् वास्तुशास्त्र 100.00
- ❒ पिरामिड शक्ति : 111 स्वर्णिम प्रयोग 100.00
- ❒ फेंगशुई : अपने घर अपार्टमेंट में खुशहाली लाएं 100.00

नीचे दिए गए पते पर मनीऑर्डर द्वारा धनराशि भेजें। पुस्तकें रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा भेजी जाएंगी। वी.पी. द्वारा पुस्तकें नहीं भेजी जातीं। कोई भी चार पुस्तकें मंगाने पर डाक-व्यय की छूट!

मनोज पब्लिकेशन्स, 761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084

फोन : 27611116, 27611349, फैक्स : 27611546

तंत्र, मंत्र और पराविज्ञान

जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान

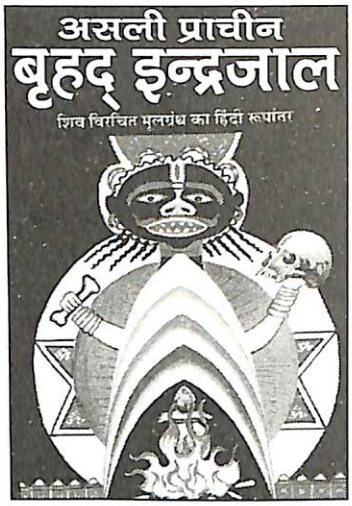

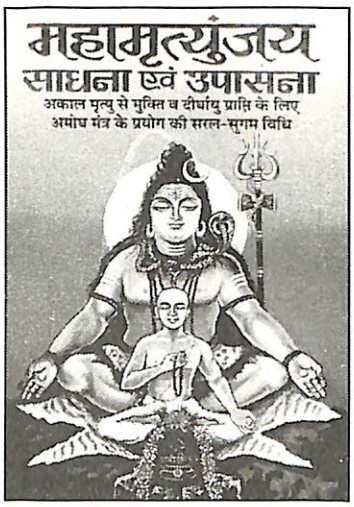

❒ असल कदीमी नक्श-ए-सुलेमानी	150.00
❒ यंत्र विधान रहस्य (मल्टी कलर में-सतरंगी श्रीयंत्र सहित)	150.00
❒ 5001 प्रभावशाली टोने-टोटके और तावीज	150.00
❒ 51 चमत्कारी यंत्र एलबम	100.00
❒ गायत्री मंत्र साधना एवं उपासना	100.00
❒ लक्ष्मी प्राप्ति :111 स्वर्णिम प्रयोग (फ्री रंगीन श्रीयंत्र)	100.00
❒ सरल तांत्रिक प्रयोगों द्वारा बिगड़े काम संवारे	80.00
❒ गण्डे तावीज व रत्नों द्वारा कष्ट निवारण	80.00
❒ वनस्पति तंत्र और शाबर मंत्र	60.00
❒ महामृत्युंजय साधना एवं उपासना	60.00
❒ सम्मोहन और सम्मोहन चिकित्सा	50.00

❒ असली प्राचीन बृहद् इन्द्रजाल	150.00	❒ चमत्कारिक यंत्र साधना	50.00
❒ रुद्री पाठ	100.00	❒ चमत्कारिक तंत्र साधना	50.00
❒ श्रीयन्त्र रहस्य (श्रीयंत्र सहित)	60.00	❒ चमत्कारिक मंत्र साधना	50.00
❒ शाबर मंत्र सिद्धि	60.00	❒ रुद्राक्ष शक्ति के रहस्य	50.00
❒ यंत्र सिद्धि	60.00	❒ तंत्र और प्रेत विद्या	50.00
❒ नास्त्रेदमस की भविष्यवाणियां	60.00	❒ हिप्नोटिज्म के चमत्कार	50.00
❒ सुलेमानी नक़्श	50.00	❒ Practical Hypnotism	80.00

नीचे दिए गए पते पर मनीऑर्डर द्वारा धनराशि भेजें। पुस्तकें रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा भेजी जाएंगी। वी.पी. द्वारा पुस्तकें नहीं भेजी जातीं। कोई भी चार पुस्तकें मंगाने पर डाक-व्यय की छूट!

मनोज पब्लिकेशन्स, 761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084

फोन : 27611116, 27611349, फैक्स : 27611546

चमत्कारी
कुण्डलिनी शक्ति
एवं
ध्यान योग

कुण्डलिनी साधना का अर्थ है सोई हुई अनंत संभावनाओं का जागरण। यह साधना जिसने की वह योग और भोग की अनंत शक्तियों का स्वामी बन गया। योग व तंत्रशास्त्रों में इसका विस्तृत विवरण मिलता है।

क्या है कुण्डलिनी? इसे जागृत करने का क्या अर्थ है? कौन अधिकारी है इस साधना का? कैसे करें इस दिव्य साधना को? इन सभी की शास्त्र-सम्मत व प्रायौगिक जानकारी है इस पुस्तक में सरल-सुगम भाषा में। साधकों के लिए उपयोगी व संग्रहणीय पुस्तक!

वो दिव्य शक्ति जिसे विष्णु की शय्या, शिव का आभूषण या पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग के रूप में चित्रित किया गया है, मानव शरीर में कुण्डलिनी के रूप में स्थित है।

मनोज पब्लिकेशन्स

Rs.150/-

A.H.W. Sawan Series

गीता व ज्ञानेश्वरी

योगवौ भव

कुंडलिनी जगदंबा आणि पंथराज

[योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - १०]

लेखक: विभाकर वि. लेले [स्वामी योगेश्वरानंद]

COPYRIGHT 2014

गीता व ज्ञानेश्वरी

कुंडलिनी जगदंबा आणि पंथराज

[योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - १०]

लेखक: विभाकर वि. लेले [स्वामी योगेश्वरानंद]

AUTHOR:
VIBHAKAR VITTHAL LELE
B.E. B.Sc. LL.B.

All rights reserved. Except for brief quotations in book reviews, and as otherwise permitted by applicable law, no part of this work may be reproduced, stored, transmitted or displayed in any form, or by any means (electronic, mechanical, or otherwise) now known or hereafter devised --- including photocopy, Xerox, recording, or any information storage and retrieval system ---- without prior written permission from the author.

First Indian e-Edition, 2011

An authorized publication of
Vibhakar Vitthal Lele
Yogeshwar Kutir, Vrindavan-dham
c/o V.V.Lele, Vyaghreshwar Prasad
Manpada Road, Dombivli, 421201
e-copy in India by Yogeshwar Kutir

ISBN/IBN under process

MY PUBLICATIONS

MY BOOKS SO FAR PUBLISHED ON GITA AND DNYANESHWARI

E-BOOKS

MARATHI BOOKS

योगदा श्रीज्ञानेश्वरी [YOGADA SHRI DNYANESHWARI] (Parts 1, 2, 3 & 4). It is being published part by part, the last parts including this book are:

गीता व ज्ञानेश्वरी: एका नाथसिद्धयोग्याचे आत्मवृत्त (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी १**);

गीता व ज्ञानेश्वरी : योग आणि तत्त्वज्ञान (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी २**);

गीता व ज्ञानेश्वरी: प्रथम परिचय (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ३**);

गीता व ज्ञानेश्वरी : योगसाधना [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ४**];

गीता व ज्ञानेश्वरी : विश्वविज्ञान: चिद्विलास आणि योग [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ५**];

गीता व ज्ञानेश्वरी : जीवात्मा आणि गीतेतील उपासना [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ६**] ;

गीता व ज्ञानेश्वरी: कर्माचे स्वरुप [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ७**];

गीता व ज्ञानेश्वरी :ईश्वराचे अंतरंग आणि उपासना रहस्य [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ८**];

गीता व ज्ञानेश्वरी: योग: कर्म आणि ज्ञान [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ९**]

गीता व ज्ञानेश्वरी: योगवैभव - कुंडलिनी जगदंबा आणि पंथराज [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - १०**]

ENGLISH BOOKS

'KUNDALINI YOGA: YOGA OF GITA AS EXPOUNDED BY SAINT SHRI DNYANESHWAR IN DNYANESHWARI - 3 PARTS'

PART 1: PHILOSOPHY AND YOGA OF GITA AND DNYANESHWARI

PART 2: AUTOBIOGRAPHY OF A NATHA SIDDHA YOGI

PART 3: INTRODUCTION TO GITA AND DNYANESHWARI

FUTURE BOOKS IN THIS SERIES:

PART 4: PANTHARAJ: YOGA PRACTICE * METHODS AND PROCESSES

MY E-BOOK PUBLISHING PLATFORMS:

Calameo.com
Academia.edu
Archives International
Google books
Issuu

AUTHOR
VIBHAKAR LELE
BE, BSc,LLB

योगदा श्रीज्ञानेश्वरी

लेखकाचा परिचय

- ग्रंथ : योगदा श्रीज्ञानेश्वरी
- लेखक: स्वामी योगेश्वरानंदगिरि
  (गुरुदत्त नाम)
  विभाकर वि. लेले (व्यावहारिक नाम)
- शिक्षण: B.E.; B.Sc.
  (Pune-1966,1967)
  LL.B. (Mumbai-1986)
- व्यवसाय:अभियांत्रिकी क्षेत्रातील व्यवस्थापन,
  Consultancy Services
- अभ्यासू वृत्ती, मेहनती स्वभाव, शैक्षणिक क्षेत्रात सुयश, अनेकविध विषयांची आवड व त्यांचे चौफेर वाचन, ज्ञानग्रहण, मनन व चिंतन, विज्ञान, अभियांत्रिकी आणि कायदाविषयक तज्ञ
- गणित, खगोलशास्त्र, जैविक विज्ञान, मानववंशशास्त्र, जनुकशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, अणुविज्ञान, अभियांत्रिकी इत्यादी अनेक आधुनिक विज्ञानसंबंधित शाखांत रस आणि गती
- मराठीसह इंग्रजी व हिंदी भाषा अवगत आणि त्यातून विज्ञानाव्यतिरिक्त साहित्य, अध्यात्म, योगशास्त्र, उपासना व भक्ती, तंत्रशास्त्र, श्रुति-स्मृति उपनिषदादी पौर्वात्य अक्षरवाङ्मय, गूढवाद (Mysticism & Theosophy) व तत्त्वज्ञान यांसह अनेक विषयांचे आकलन
- पतञ्जली व ज्ञानेश्वरप्रणीत भारतीय योगशास्त्राचे सप्रायोगिक अभ्यासक आणि कुंडलिनी सिद्धमहायोग या विषयाचे नाथसांप्रदायिक जाणकार आणि अभ्यासक
- योगदा श्रीज्ञानेश्वरी या ग्रंथाच्या लेखकाचा गुरुसंप्रदाय आणि परंपरा:

GURU SAMPRADAYA:

- आदिनाथ-उमादेवी-गोरक्ष-गहिनी-निवृत्ति-ज्ञानदेव-सत्यामलनाथ-गुप्तनाथ-केसरीनाथ-शिवदीननाथ–वासुदेवानंदनाथ यांपासून गुरुक्रमाने प्राप्त झालेला नवनाथ सिद्ध संप्रदाय

INDEBTED TO PARAMPARAS OF:

- गौडपादी परंपरेतील श्रीमत् आचार्य शंकरभगवत्पाद यांच्यापासून प्रसृत झालेली अद्वैतानंदजीमहाराज गठित सत्यदेवानंद सरस्वति परंपरा
- नित्यानंद-मुक्तानंद अवधूतानंद संकल्पसिद्ध परंपरा

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिधुवा नीतिर्मतिर्मम्।।
(१८-७८) श्रीगीता

श्री ज्ञानेश्वर माउली, आळंदी

किंबहुना तुमचें केलें। धर्मकीर्त्तन हें सिद्धीं गेलें।
एथ माझें जी उरलें। पाईकपण ।।१८-१७९२।।

हा ग्रंथ कोणाला अर्पण करू!

मातापिता (सौ.विजया-विठ्ठल), दिवंगत पत्नी चि.सौ.स्नेहलता, कन्या - चि.सौ.मंजिरी व सौ.अमिता आणि
पुत्र चि.राजेंद्र यांना
त्यांच्या माझ्यावरच्या प्रेमाखातर आणि ग्रंथलेखनास परोपरीचे साहाय्य केल्याबद्दल,
की मित्र आणि सुहृदांना ज्यांना तो फार आवडला आहे;
की मला गुरुवत असलेले आपले ग्रंथ जसे काही माझ्यासाठीच रचून ठेवलेले आहेत, अशा ग्रंथकारांना;
माझ्या सांप्रदायिक आणि परंपराप्राप्त श्रीसद्गुरूंना
की आणखी कोणा अनामिकांना!
या सर्वांच्याच हृदिस्थ असणाऱ्या
श्रीज्ञानेश्वरस्वरूप जनार्दन श्रीकृष्णपरमात्म्यालाच
योगदा श्रीज्ञानेश्वरी
हा माझा ग्रंथ त्याच्यावरल्या प्रेमाने आणि भक्तिभावाने माझ्या त्याच्याप्रतिच्या सेवेप्रीत्यर्थ
एक फूल ना फुलाची पाकळी या भावनेने त्याच्याच वचनावर आसंबून -
"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।९-६।।गीता।।" -
मी सादर श्रद्धापूर्वक अर्पण करतो!!!
त्याने तो ग्रहण करावा अन् मला कृतार्थ करावे, हीच त्याच्या चरणी प्रार्थना!!!
"त्वदीय वस्तू मे गोविन्द करोमि त्वदर्पणम्।।"
माउलींचा शरणागत -

YOGI SAINT
SHRI DNYANESHWAR

योगी श्रीज्ञानेश्वर

।।ॐ नमो जी आद्या। वेदप्रतिपाद्या। जयजय स्वसंवेद्या आत्मरूपा।।

योगदा

श्रीज्ञानेश्वरी

श्रीकृष्ण परमात्म्याने गीताख्यानप्रसंगी ध्वनित केलेल्या गूढगर्भ भक्तिरसपूर्ण ईश्वरप्रणिधानाधारित योगाचे
श्रीज्ञानेश्वरमाउलींनी जे अंतरंग रहस्य श्रीज्ञानेश्वरीत प्रकट केले आहे, त्याचे सविस्तर सटीप उद्घाटन

पिंडें पिंडाचा ग्रासु। तो हा नाथसंकेतीचा दंशु। परि दाऊनि गेला उद्देशु। महाविष्णु।।६-२९३।।
तयां ध्वनिताचें केणें सोडूनि। यथार्थाची घडी झाडूनि। उपलविलें म्यां जाणुनी। ग्राहीक श्रोते।।२९४।।

श्रीज्ञानेश्वरांच्या पंथराज आणि अभंगांतील भक्तियोगाचे कुंडलिनीशक्तिरहस्य

ज्ञानेश्वरीच्या अभ्यासास अत्यंत उपयुक्त अशी ग्रंथामागील भूमिका आणि एका योग्याचे आत्मवृत्त हे भूमिकेचे परिशिष्टात्मक प्रकरण

ज्ञानेश्वरीतील भक्तियोग, पंथराज, कर्मयोग व ज्ञान या विषयांचे सविस्तर विषयवार विवेचन
कुंडलिनीशक्तिवर आधारित लययोगाचे शास्त्रशुद्ध आनुभविक विवरण

ज्ञानेश्वरीच्या सर्व ओव्यांवर अनेक ग्रंथांधारे विषयवार विवेचन आणि गीतेच्या अनुरोधाने त्यांचा विचार
श्रीज्ञानेश्वरांची तत्त्वज्ञान आणि योगविषयक भूमिका आणि त्यांच्या संजीवनसमाधीचे रहस्य

अमृतानुभवातील प्रकरणांचा आणि ज्ञानदेवांच्या अंदाजे ३०० अभंगांचा विषयसंदर्भानुसार आवश्यक तो समावेश आणि विचार
पातञ्जलयोगसूत्रे, नारदभक्तिसूत्रे, श्रीमत् शंकराचार्य भगवत्पाद यांचे योगतारावली, सौंदर्यलहरी, विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति,
पंचीकरण आणि गीता व ब्रह्मसूत्रभाष्य, एकनाथी भागवत यांचे विषय समजावून देण्यासाठी सुयोग्य उपयोजन आणि संदर्भ

ज्ञानेश्वरभक्त आणि सर्वसामान्य भाविक, शक्तिपात सांप्रदायिक, योग आणि भक्तिमार्गीय,अनेकानेक पंथांचे आणि उपपंथांचे पथिक
साधक, गृहस्थ,वानप्रस्थी, संन्यासी, योगी पारमार्थिक, भगवंतांचे भक्त अशा अध्यात्माच्या मार्गावरून वाटचाल करणाऱ्या
आणि करू इच्छिणाऱ्या सर्वांना आणि ज्ञानेश्वर वाङ्मयाच्या जिज्ञासू आणि प्रामाणिक अभ्यासकांना
आवश्यक ते संपूर्ण मार्गदर्शन करणारा अपूर्व ग्रंथ

लेखक: विभाकर वि. लेले (स्वामी योगेश्वरानंद)

माघ शु.४ श के१९३३
सोमवार दि.०७.०२.२०११

गणेशजयंती
योगेश्वर कुटीर,वृंदावनधाम

SHATCHAKRAS

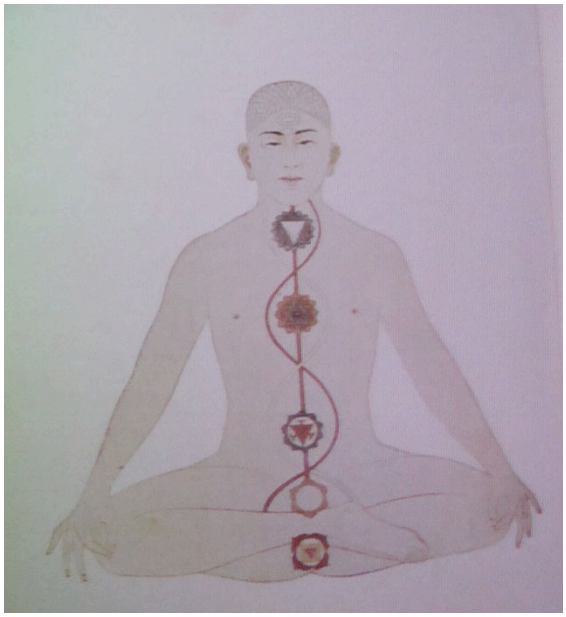

MAIN SIX CHAKRAS WITH SUSHUMNA NADI AND SAHASRAR CHAKRA

AJNYA CHAKRA

VISHUDDHA CHAKRA

ANAHAT

CHAKRA

MANIPUR CHAKR

SWADHISHTHAN CHAKRA

MULADHAR CHAKRA

::एकादश स्कंध::योगवैभव::(४४-१ - ४६)(७११-८३०)

उन्मेष ४४-१:योगविभवभाण्डार:पंथराज:(७११-७२६)

• कर्मयोग -७११ • पंथराजाचा ओनामा -७१२ • गीतेतील ध्वनित योग - ७१२ • सहाव्या अध्यायास प्रारंभ -७१२ • योगविभवभांडार - ७१३ • योगाचा धावता आलेख - ७१५ • योगारूढ - ७१५ • "जीवो ब्रह्मैव ना परा" - ७१७ • कृष्णार्जुनप्रेम -७१९ • पंथराज - ७२१ • पंथराज आरेखन - ७२२ • योगाभ्यास -७२३ • औटवळणी कुंडलिनी - ७२४ • "पिंडाचेनि आकारैं। कलाचिं अवतरैं" - ७२५

उन्मेष ४४-२:योगविभवभाण्डार:कुंडलिनी जगदंबा:(७२७-७४३)

• ऋतंभरा प्राप्तीचा मार्ग:योगसिद्धी-७२७ • पातञ्जलयोगविभूति व कुंडलिनी - ७२७ • अंतरंग योगांगे -७२७ • ऋतंभरा प्रज्ञा, सरस्वती व कुंडलिनी-७२९ • विषयवति वृत्तीचा योगाभ्यासार्थ उपयोग-७३० • संतस्मरण -७३० • समापत्ति: समाधिस्थिती - ७३१ • पातञ्जलोक्त समाधीचे आलोकन -७३२ • संप्रज्ञात समाधि ते असंप्रज्ञात समाधि -७३३ •आलंबनार्थ अत्यंत सूक्ष्म अशी प्रकृति -७३३ • अस्मितेसह सर्वलय व अध्यात्मप्रसाद - ७३३ • समाधिसोहळ्याची इतिकर्तव्यता –७३४ • समाधिस्थ चित्त व योगविभूति -७३४ • संयमाद्वारे सिद्धींची प्राप्ती-७३५ • पुरुषसंयम व प्रातिभ सिद्धी -७३६ • सर्वज्ञातृत्वसिद्धी - ७३६ • पुरुषसंयम व प्रातिभसिद्धी –७३७ • महाविदेहावृत्ति - ७३७ • अष्टमहासिद्धी, कायसंपत व भूतजय - ७३८ • आध्यात्मिक सिद्धी -७३८ • सर्वभावाधिष्ठातृत्व व सर्वज्ञातृत्व -७३८ • कैवल्य-७३९ • योगसाधनेची इतिश्री - ७३९ • गीतेत सिद्धींचा अनुल्लेख - ७३९ • कुंडलिनी उत्क्रमण(१) - ७३९ • जगदंबा कुंडलिनीचे उत्क्रमण -७४० • अनाहतनाद -७४० • "नेणें नादबिंदकलाज्योति"-७४१ • पुढील कुंडलिनीप्रक्रिया - ७४१ • "गगनीं गगन लयां जाएं"-७४२ • "पदीं पद प्रवेशें" -७४१ • "महाशून्याचां डोहिं" - ७४२ • "तैं आपणचि ठाकावें। होऊनियां"-७४३ • ब्रह्मैक्यानुभव - ७४३

उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ:(७४४-७७५)

• कुंडलिनी शक्ती -७४४ • कुंडलिनीयोग, पंथराज इ.चे एक समालोचन - ७४४ • कुंडलिनीविषयक वाङ्मय - ७४४ • सूक्ष्मदेह व चक्रे - ७४४ • नाडीविज्ञान-७४५ • लयप्रधान पंथराज-७४६ • लययोग:प्रतिप्रसवक्रम वा लय -७४६ • लययोग, पातञ्जलयोगसूत्रे व पिंडाची उभारणी-७४७ • योगचक्रे(१) व भेदन:लययोग, कुंडलिनीचे ऊर्ध्वगमन व योगचक्रे-७४८ • टीप -कंदस्थान-७४९ • टीप -भेदनक्रम - ७४९ • कुंडलिनीचे स्थान-७५० • गोरक्षमताचा कुंडलिनीयोगप्रक्रियेवर प्रकाश - ७५० • टीप - चक्रभेदनाचा क्रम -७५० • कुंडलिनी उत्क्रमणक्रिया -७५१ • अनाहतचक्र/हृदयाधारचक्र/हृत्चक्र व नाद -७५१• योगतारावलि व नादानुसंधान-७५२ • लययोग व पंथराज:आचार्य शंकरांचा लययोग • टीप - अनाहतप्राकट्य व कुंडलिनीजागृति-७५३ • ज्ञानेशांचा पंथराजप्रणीत लययोग - ७५३ • १२) कुंडलिनी स्वरूपवर्णन - ७५४ • २०) इडेच्या टोकावरील चंद्रामृताचे तळे कलंडणे व त्यातील अमृताचे कुंडलिनीने प्राशन करणे -७५५ • २४) अनाहतनादप्राकट्य–७५५ • २५) सहस्त्रदलकमलातील चैतन्याचा आविर्भाव -७५५ • २७) लयक्रम - ७५५ • ३०) खेचर स्थिती –७५६ • ३२) भ्रमरगुंफेत नादाचा आविर्भाव - ७५६ • ३५) उन्मनीपलीकडील स्थिती - ७५६ • ३६) अध:कुंडलिनी व ऊर्ध्व कुंडलिनीची मध्याशक्तीशी मिळणी – ७५६ • ३७) "पदीं पद प्रवेशें" - ७५६ • ३८) अद्वैतस्थितीचे वर्णन –७५७ • ३९) "नाथसंकेतिचां दंसु" - ७५७ • योगतारावलि व ज्ञानेश्वरी - ७५७ • योगचक्रे(२) - ७५७ • टीप-अनाहत शब्दाचा अर्थ -७५८ • टीप - दशमद्वार-७५९ • ज्ञानेश्वरीतील चक्रे –७५९ • आज्ञेच्या पुढील प्रांत -७६० • निरालंबपुरी - ७६० • पूर्वमार्ग:पू. विष्णुतीर्थांचा चक्रविचार - ७६० • आज्ञाचक्रावरील प्रांत -७६१ • सौंदर्यलहरीतील चक्रक्रम - ७६१ • पूर्वमार्गाचे समन्वयन - ७६१ • पश्चिमपथ:आज्ञाचक्रापुढील दोन मार्ग-७६२ • पं. गोपीनाथ कविराज यांचे मत -७६२ • नाद, बिंदु, कला व ज्योती - ७६४ • डॉ. के.रा.जोशी यांचे मत -बैन्दवादी स्थाने आणि गोल्हाटादींचा समन्वय -७६३ • पश्चिम मार्गातील स्थानवैशिष्टये-७६४ • मात्रा व महाशून्य - ७६४ • बैन्दवप्रभाग - बिंदु, अर्धेंदु व निरोधिका - ७६४ • नादप्रभाग - नाद व नादांत -७६५ • शक्तिप्रभाग - शक्ती ते समना-ऊर्ध्वकुंडलिनी -७६५ • उन्मना व सतरावी कला -७६५ • विष्णुतीर्थमत - ७६५ • परिशिष्ट क्र.-१:पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील क्रमवार ओव्या- ७६६ • परिशिष्ट क्र.-२:पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील नवनिर्धारित क्रमानुसार ओव्या-७७०

उन्मेष ४५-२:लययोगसमालोचन:योगशास्त्रसमन्वय:(७७६-७९७)

• योगशास्त्रसमन्वय -७७६ • पातञ्जलयोग व समन्वय - ७७७ • प्रज्ञा व कुंडलिनी - ७७७ • पंथराज व लयक्रम -७७८ • आठव्या अध्यायातील पंथराज - ७७८ • सिद्धसिद्धांतपद्धति -७८९ • पंथराजातील आधार - ७७९ • पंथराजावर एक दृष्टिक्षेप -७८० • पंथराजाच्या पायऱ्या - ७८० • पंथराजाचा पुढील अनुक्रम - ७८० • पंथराजाचा पुनर्विचार - ७८० • कुंडलिनी उत्क्रमण(२) -७८१ • केवलकुंभक - ७८१ • हृत्संवितचक्र व अनाहतचक्र इ. -७८२ • टीप-१: हृदयस्थान- ७८४ • टीप:२: योगानुभूती नसलेल्या आणि अर्धवट ज्ञानी योगसाधकांनी केलेले योगशास्त्रविषयक लिखाण - ७८४ • टीप:३:गुर्वोपायाचे आत्यंतिक महत्त्व - ७८५ • केवलकुंभक, अध:कुंडलिनी व ऊर्ध्वकुंडलिनी-७८६ • धर्ममेघ समाधि -७८७ • मध्या कुंडलिनी व तत्त्वलय–७८७ • टीप - लयावस्थेच्या पायऱ्यांचा अनुक्रम व शक्तीचे संपूर्णत्वाने उत्थान आणि आंशिक उत्थान - ७८७ • अजपासिद्धी - ७८७ • योगसिद्धी - ७८९ • योगसाधना सोपी की कठीण-७९० • उपासनाभेद - ७९० • दोन प्रकारच्या उपासनांपैकी उत्तम कोणती-७९१ • श्रीकृष्णांचे उत्तर - ७९१ • "उपासते" - "पर्युपासते"- ७९२ • व्यक्तोपासक:परमयोगयुक्त-७९३ • अव्यक्तोपासना:"सोऽहंभाव" - ७९३ • कुंडलिनीयोग - ७९३ • भक्तिविण केलेला योग-७९४ • निव्वळ क्लेशदायक योगप्रकार-७९५ • अव्यक्ताचे अशक्यप्राय ध्यान - ७९५ • व्यक्ताव्यक्तउपासना समारोप - ७९५ • भक्तीसह योगाचे सोपेपण-७९६ • कुंडलिनीयोग तसा कठीण नाही.- ७९६ • भक्तिपंथ व पंथराज-७९७

उन्मेष उन्मेष ४६:योगपर अभंग:(७९८-८३०)

• योगचक्रे -७९८ • योगपर अभंग - ७९८ • चार शून्ये-७९९ • टीप- शून्यस्थान - ७९९ • सहस्त्रदल व ब्रह्मरंध - ७९९ • पंथराजयोगाविषयी अधिक विचार - ८०० • शून्यांचा विचार - ८०० • आज्ञाचक्र व निरालंबपुरी - ८०० • विविध मते-८०१ • ज्ञानेशोक्तिद्वारे समन्वय - ८०१ • टीप:आज्ञाचक्रावरील प्रांत -तंत्रशास्त्रोक्त मत - ८०१ • अभंगांतून पंथराज - ८०२ • योगानुभूती - ८०३ • सत्रावी कला-८०४ • आकाशगुंफा - ८०४ • चक्रसंख्या व पश्चिममार्गविषयक काही वादांचा समन्वय-८०५ • उन्मनी व तुर्या -८०५ • टीप-नाद,बिंदू, कला व ज्योती - ८०६ • उन्मनीचा घाट - ८०७ • धर्ममेघ समाधि - समाध्यवस्था व मुक्त्यावस्था यांचा समन्वय:मुक्ती व समाधिविचार-८१० • विष्णुतीर्थमत - ८१० • पश्चिमपथ स्थाने व शून्ये / देहसंकेत / समाधि / मुक्ती -तक्ता-८११ • विविध योगमतांनुसार योगचक्रस्थाने-तक्ता-८१२ • विहंगम मार्ग - प्रचलित संज्ञा-तक्ता - ८१२ • संक्षेपत: समाधिक्रम -८१४ • मुक्तीचा अधिक विचार - ८१४ • अर्धमात्रेचा प्रांत - ८१४ • परेवरचा चक्षू - ८१५ • सहस्त्रदळी शोभणारा काळा श्यामसुंदर - ८१६ • भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र –८१७ • मकाराची नड-८१८ • पंथराजाचा इतर योगांशी समन्वय - ८१९ • अर्धमात्रेच्या प्रांतातील ध्येय्य वस्तू-८२० • पंथराज व पश्चिमपथ यांच्या खाणाखुणा –८२० • ॐकार व प्रणव-८२३ • प्रणवोपासना- ८२४ • "नेणें नाद बिंदु कला ज्योति" - ८२५ • "नेह नानास्ति किञ्चन"-८२५ • जीवन्मुक्तीच्या खुणा • पश्चिमपथाचे संपूर्ण दर्शन-८२६ • योगधारेची भैरवी -८२७ • इतर अभंगांतील योगरहस्य - ८२७ • टीप:तालुचक्र - ८२८ • "ऐका हा शेवट। अभंगमाला झालीं"-८२८ • योगवासिष्ठातील प्रज्ञेच्या सप्तभूमी -८३०::

::द्वादश स्कंध:भक्तिवैभव::(४७-५१)(८३१-९८०)

उन्मेष ४७-१::अनन्यभक्ती:(८३१-८४७)

• पूर्वानुसंधान -८३१ • अज्ञानी भक्त -८३३ • अनन्यभक्त-८३५ • भगवत्स्वरूपाचे अज्ञान - ८३५ • अनन्यभक्ती - ८३७ • अनन्यभक्ताचे कुल इ. -८४४

उन्मेष ४७-२:परमभक्ती:(८४८-८५७)

• अभक्तांची स्थिती -८४८ • गीतेचा दिव्य भक्ती संदेश - ८४९ • समारोप - ८५१ • परमभक्ती - ८५४ • गुरुवी भक्ती - ८५५

उन्मेष ४८-१:विश्वरूपप्रकटन: (८५८-८७६)

• पूर्वपीठिका - ८५८ • ध्यानासाठी श्रेयस्कर आलंबविषय - ८५८ • अर्जुनाची उत्कट इच्छा -८६१ • चिद्विलासाचे प्रत्यंतर - ८६५ • विश्वरूपाचे प्रकटन - ८६७ • "मग दिव्य चक्षु प्रगटला"-८७१ • अनंताचे दर्शन-८७३

:::एकादश स्कंध:::
::योगवैभव::(४४-४६)
(पृ.क्र.७११ते ८३०)

उन्मेष क्र.	विषय	पृ.क्र.
४४ -१	योगविभवभाण्डार -पंथराज	७११
४४-२	योगविभवभाण्डार -कुंडलिनी जगदंबा	७२७
४५-१	लययोगसमालोचन - योगपथ	७४४
४५-२	लययोगसमालोचन -योगशास्त्रसमन्वय	७७६
४६	योगपर अभंग	७९८

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

::उन्मेष ४४-१::
::योगविभवभाण्डार::
:::पंथराज:::

कर्मयोग:"स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्या.."-७११
"तैसा साङ्ख्याहूनि प्रांजला"
"तैं अद्भुतपण स्नेहाचें"
पंथराजाचा ओनामा:कर्मत्याग न करता साधावयाचा योग-७१२
गीतेतील ध्वनित योग
सहाव्या अध्यायास प्रारंभ
"म्हातारा नासिलां मोहें"-७१३
योगविभवभांडार:"जेथूनि गीतावल्लीचे ठाणे। प्ररोह पावें"
"हलुवारपण चित्तां। आनौनियां"
संन्यासाश्रम व खरा संन्यास -७१४
कर्म, संन्यास व योग यांची एकवाक्यता
खरा संन्यासी हाच योगीश्वर
"अग्निसेवा न संडितां। कर्माचिं रेखा नोलांडितां"-७१५
योगाचा धावता आलेख:योगाची सिद्धी कर्मानेच
योगाचलाचे रूपक
योगारूढ:योगारूढाची लक्षणे
आपणच आपला उद्धार करावा-७१६
बंधाचे कारण
देहबुद्धी
योग्याचे वर्णन-७१७
"जीवो ब्रह्मैव ना परा"
"परमात्मा संचला। आदिंचि आहें"
"तंव ज्ञान तैं तोचिं"-७१८
आत्मरति
समबुद्धी
योग्याचे असाधारणपण-७१९
भगवंतांची लक्षणे
कृष्णार्जुनप्रेम:"ब्रह्मविद्या किजैल उघडीं"
द्वैताचा पडदा-७२०
"मोहाचिं त्रिपुटी। नाचों लागें"
"पूर्णाहिं परि लागें। अवस्था जेयाचिं"
अर्जुन म्हणजे आत्मनिवेदनाखालील सख्यभावाची मातृकाच!
ज्ञानदेवांच्या निरूपणशैलीचे कौतुक-७२१
"शेखिं उपेगां गेला। पांडवांसिं"
पंथराज:"तन्हैं ब्रह्म मियां होईल"
"सोऽहंभावमहुरैं। मोडौनि आला"-७२२
"अर्जुना हां अवधारीं। पंथराजु"
पंथराज आरेखन
योगाभ्यास:बंधत्रय-७२३
प्राणापानप्रक्रिया
औटवळणी कुंडलिनी:"नागाचें पीलें। कुंकुमैं नाहालैं"-७२४
कुंडलिनी जागृती
कुंडलिनीच्या उत्थापनादी क्रिया
चक्रनाड्यादी प्रक्रिया
कुंभकाची सिद्धी-७२५
"पिंडाचेनि आकारैं। कलाचिं अवतरैं"
"जैं वेलिं कुंडलिनी चंद्र पीएं"
"परि लाघव एं वायूचें"-७२६
समारोप

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

उन्मेष ४४-१

गीता:
५:२७-२९, ६:१-१०
ज्ञानेश्वरी:
५:१६२-१८०,६:१-१३,२६-२७,३७-५२,६१-१५२,२११-२२३,२२८-२६८

::एकादश स्कंध::
::योगवैभव::

::उन्मेष ४४-१::
::योगविभवभाण्डार::
:::पंथराज:::

कर्मयोग::::

"स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षु...।..ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।५-२७-२९।।गी।।"

अर्जुनाचा मुख्य प्रश्न

श्रीकृष्ण जीवन्मुक्तीचे योगरहस्य प्रकटवतांना सांगतात की:

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो:।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।५-२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण:।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स:।।५-२८।।
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।५-२९।।

" विषयांना आपले चित्त न देता, दोन्ही भुवयांच्या मध्यभागी दृष्टी ठेवावी. नासिकेतून विचरणाऱ्या प्राण व अपानांना सम करावे. इंद्रिये, मन व बुद्धी यांचे नियमन करावे. मोक्ष हेच साध्य ठेवून इच्छा, भय व क्रोध यांचा नाश करावा. म्हणजे मुक्ती मिळते. यज्ञ व तप यांचा भोक्ता आणि सर्व लोकांचा महेश्वर असा सर्व भूतांचा सुहृद जो मी आहे, त्या मला या योगयुक्तीच्या द्वारे जो जाणतो, तो शांती पावतो."

"तैसा साङ्ग्रचाहूनि प्रांजलां"

यमनियमांचे डोंगर उल्लंघून अभ्यासाचे समुद्र लंघून जाऊन ज्यांनी स्वत:स त्या निरञ्जनाच्या रूपात मोजून घेतले, ते चालतेबोलते परमेश्वरच झाले. हे श्रीकृष्णांचे बोल संक्षेपाने योगयुक्ती कथन करणारे ऐकल्याबरोबर अर्जुन सावधान झाला. ज्ञानेश म्हणतात:

तैं देखिलियां कृष्णें जाणितलें। मग हांसौनि पार्थातैं म्हणितलें।
हें काईं पां चित्त उवाईलें। इयें बोलिं तूझें।।५-१६२।।
तंव अर्जुनु म्हणें देओ। परचित्तलक्षणांचां राओ।
भला जाणितला जी भाओ। मानसु माझां।। १६३।।
मियां जैं काइं विवरूनि पुसावें। तैं आदिंचि कलिलें देवें।
तन्हैं बोलिलें तैंचि सांघावें। विवल करूनि।।१६४।।

अर्जुन सतर्क झाल्याचे जाणून श्रीकृष्ण हसले व म्हणाले, "देवा! तू तर मनकवड्यांचा राजाच आहेस! माझ्या मनींचा भाव तू अगदी बरोबर ओळखलास. मी जे जे विचारतो, ते ते तुला आधीच कळते.तरी तू आता जे सांगणार होतास, ते स्पष्ट कर."

यरविं तरिं अवधारां। जो दाविला तुम्हीं अनुसारा।
तो पव्हणेयेंहूनि पायउतारा। सोहोपा जैसां।।५-१६५।।
तैसां सांङ्ग्रचाहूनि पाहा प्रांजलां। तन्हैं आम्हां सारिखियां अभोलां।
एथ आहाति काहिं प्रकाला। तो साहों ये वर।।१६६।।
म्हणौनि एक हेल देवा। तोचि पडताला घेयावा।
विस्तरैल तन्हैं सांघावा। साद्यंतुचिं।।१६७।।

"तू हा जो योगमार्ग सांगितलास, तो सांख्यमार्गाहून सोपा वाटतो. नदीवरील उथळ पाण्याच्या भागातून पायी जाऊन ती पार करणे हे पोहत जाऊन नदी पार करण्यापेक्षा सोपे असते ना! तसेच हे या योगमार्गाचे पण वाटते. आमच्यासारख्या लहानांना जरी या मार्गे वेळ लागत असला, तरी तोच श्रेयस्कर आहे. म्हणून हा योगच तू सविस्तर सांग. त्याचे तू एकवार साद्यंत वर्णन कर."

"तैं अद्भुतपण स्नेहाचें"

तेव्हा कृष्ण म्हणतात:

तंव कृष्ण म्हणति हों कां। तुज हां मार्गु गमलां नीकां।
तन्हैं काइ जाहालें आइकिजो कां। सुखें बोलों।।५-१६८।।
अर्जुना तूं परियससिं। परिसौनि अनुष्ठिसिं।
तन्हैं आम्हांसिचिं वानि काइसिं। सांधैं बापां।।१६९।।

अर्जुनाच्या जिज्ञासूवृत्तीने प्रसन्न होत श्रीकृष्ण म्हणाले, "तुला हा योगमार्गच उत्कृष्ट वाटला काय! मग काय मी तुला आनंदाने त्याचे सर्व रहस्य स्पष्ट सांगतो. अर्जुना! नीट अवधानपूर्वक तू सर्व सांगितलेले ऐकून घेतोस आणि त्याप्रमाणे आचरणात आणतोस. मग आम्ही सांगण्यास काचकूच का करावयाची!"

आदिंचि चित्त मायेचें। वरि मिख जाहालें पढियंतयाचें।
आतां तैं अद्भुतपण स्नेहाचें। कवण जाणें।।५-१७०।।
तैं म्हणों कारुण्यरसाचिं वृष्टि। कि नवेया स्नेहाचिं सृष्टि।
हें असों नेणिजें दृष्टि। हरीचिं वानूं।।१७१।।
जैं अमृताचिं ओतलीं। कि प्रेमचिं पेऊनि मातलीं।..।।१७२।।

"आधीच कृष्णांची अर्जुनावर ममता होती. त्यातून तो त्यांचा फार लाडका होता. मग त्यांच्या त्या अद्भुत संवादात उणे ते काय राहणार! त्या लोकविलक्षण परस्पर स्नेहाचे वर्णन करावे तरी कसे! त्यास श्रीहरीच्या कारुण्यरसाची वृष्टी म्हणावे की नूतन प्रेमाची सृष्टी म्हणावे! श्रीकृष्णाच्या अर्जुनाकडे पाहण्याच्या दृष्टीस कसे वाखाणावे, कळत नाही. ती दृष्टी जणू अमृताचीच घडवलेली होती आणि अर्जुनावरील प्रीतीने उन्मत्त झालेली होती."

....। म्हणौनि अर्जुनुमोहें गुंतिलीं। नेघों नेणें।।५-१७२।।
हें बहूं जैं जैं जल्पिजैल। तेथ कथेसिं चि फांकु होईल।
परि तैं स्नेह रूपां नै येइल। बोलवेरीं।।१७३।।

"म्हणून अर्जुनाच्या मोहपाशात गुंतलेली त्या जगन्नियंत्याची दृष्टी त्याच्यापासून दूर होण्याचे जाणीच ना! असे किती म्हणून त्या प्रेमदृष्टीचे वर्णन करावे! त्यामुळे अवांतर विस्तारच फार होत जाऊन मूळ कथावस्तू लांबच राहील आणि वर ते सगळे वर्णनही बोलांनी करता येण्यासारखे नसल्याने अपूर्णच राहील!"

पंथराजाचा ओनामा::::

कर्मत्याग न करता साधावयाचा *योग*

ज्ञानेश्वर पुढे म्हणतात:

म्हणौनि विसुरां काइं एणें। तो ईश्वरु आकलावां कवणें।
जो आपुलें मान नेणें। आपणचिं।।५-१७४।।
तन्हैं माघिलां ध्वनि आंतु। मज गमलां सांवियांचिं मोहितुं।
जैं बलात्कारैं असें म्हणतु। परियसैं बापां।।१७५।।
अर्जुना जेणें जेणें भेदें। तूझें कां चित्त बोधें।
तैसें तैसें विनोदें। निरूपिजैल।।१७६।।

"परमेश्वर व अर्जुन यांच्या प्रेमसंबंधांचे वर्णन करता येत नाही, यात काय आश्चर्य! जो स्वत:चेच मोजमाप जाणत नाही, अशा त्या परमेश्वरास कोणी आकळावे! पण त्यांच्या बोलण्यावरून मला आपले असे वाटते आहे की श्रीकृष्ण अर्जुनावर इतका मोहित झाला आहे की त्याला तो हे योगरहस्य मुद्दामच सांगण्यास उद्युक्त झाला आहे."

तो काइंसयां नाम योगु। तेयाचां कवणु उपेगु।
अथवा अधिकारप्रसंघु। कवणा एथ।।५-१७७।।
ऐसें जैं जैं काईं। उक्त असें इयें ठाईं।
तैं आघवेंचिं पाईं। सांघैन आतां।।१७८।।
तूं चित्त देऊनि अवधारि। आइसें म्हणौनि श्रीहरि।
बोलिजैल तैं फुडारि। कथा आहें।।१७९।।

कृष्ण परत अर्जुनाला म्हणतो की, "मी ते सगळे रहस्य तुला सांगतो. तू मनापासून ऐक. तुला आवडेल अशा सोप्या भाषेत ते तुला मी समजावून देतो. योग कशास म्हणतात, त्याचा काय विनियोग आहे आणि त्याचा अधिकारी कोण असतो, असे सर्व काही सांगतो. तू नीट लक्ष दे."

श्रीकृष्णु अर्जुनासिं संघु। न सांडौनि सांघैल योगु।
तो व्यक्तु करूं प्रसंगु। म्हणें निवृत्तिदासु।।१८०।।

"असे म्हणून श्रीहरी पुढील निरूपण करू लागले. ***कर्मत्याग न करता योगसाधना कशी करावी***, हे ते अर्जुनास सांगत आहेत. मी निवृत्तिदास ज्ञानदेव तुम्हाला ते स्पष्ट करून सांगेन."

"जैं देहिंचिं ब्रह्मत्वा पावलें" ते कोणत्या मार्गाने हे जाणून घेण्यास अर्जुन अतीव उत्सुक आहे. ***"यमनियमांचे डोंगर आणि अभ्यासाचे सागर"*** क्रमून जाऊन जे ब्रह्मत्व पावले आणि ***"सांचाचेचि रूप होऊनि ठेलें"***, ते योगी व त्यांची चर्या पाहण्यास आपणही प्रथमपासूनच अति उत्सुक आहोत.गीतेचा *सहावा* अध्याय संपूर्णपणे याच विषयास वाहिलेला आहे. **अभ्यासयोग** म्हणून गीतेच्या योगास गौरवले जाते. **पंथराज वा क्रमयोग** म्हणून ज्ञानेश त्यास संबोधतात. त्या योगाचे सूतोवाच *पाचव्या* अध्यायी श्रीकृष्णांनी केल्यावर अर्जुनु ***"सुदंशु म्हणौनि चमत्कारिला."***

गीतेतील ध्वनित योग

"पिंडें पिंडाचा ग्रासु" असा जो ***"नाथसंकेतिंचां दंशु"***, तो प्रकट करण्यास व ऐकण्यास आपण सर्वच जण उत्सुक आहोत. महाविष्णुने ज्या संकेताचे रहस्य खुणावले, तो सगर्भ अभिप्राय श्रोतेजनांसाठी ज्ञानदेव ***"तेयां ध्वनिताचें केणें सोडूनि"*** व ***"यथार्थाची घडी उपलवूनि"*** आपल्या प्राज्ञबुद्धीची झळाळी दाखवत निरूपिणार आहेत.

योग्य त्या अधिकारी आणि भगवत्कृपेस पात्र असणाऱ्यांनाच त्याचे खरे मर्म जाणवणार आहे. व्यावहारिक बुद्धीस अगम्य असे ते गूढ रहस्य समजून घेण्यास आपण पात्र जरी नसलो, तरी ज्ञानेशकृपेच्या सामर्थ्याची मागणी करत आपण त्यांचे बोट धरून पुढे जाऊ या! आपल्या पदरी दैवयोगे जे पडावयाचे असेल ते पडेल! पण आपण आपला हा अभ्यास मात्र सोडता कामा नये. गीता - ज्ञानेश्वरीचा अभ्यास जन्मजन्मांतरी चालू राहणारा आहे. तरी त्या अभ्यासास न विसंबता श्रद्धापूर्वक आपणास आता काय काय उलगडा होतो, तो बघू या!

सहाव्या अध्यायाचा प्रारंभ

योगविभवभाण्डार आता आपल्यापुढे खुले केले जाणार आहे, या कल्पनेने संजय मनोमन हर्षित झाला आहे. तो धृतराष्ट्रास म्हणू लागतो की:

मग रायातैं म्हणें संजयो। तोचिं अभिप्राओ अवधारिजो।
कृष्ण सांघति जो। योगरूपु।।६-१।।
साहाजें ब्रह्मरसाचें परगुणें। केलें अर्जुनालागिं नारायणें।
किं तैंचिं अवसरें पाहुणें। पातलों आम्हीं।।२।।
कैसिं देवाचिं थोरि नेणिजैं। जैसें ताहानैलियां तोय सेविजैं।
किं तैंचिं चविं करूनि पाहिजैं। तंव अमृत आहे।।३।।
तैसें आम्हां तुम्हां जाहालें। जैं आडमुठीं तत्त्व फांवलें।...।।४।।

संजय राजा धृतराष्ट्राला सांगू लागला, "पाचव्या अध्यायी योगाचे सूतोवाच जे झाले आहे, त्यामागील रहस्य आता श्रीकृष्ण सांगणार आहेत. योगाच्या त्यांच्या निरूपणामागील परमगूढ आता ऐका. अर्जुनासाठी त्या श्रीनारायणाने ब्रह्मरसाचा आविष्कार केला आहे. योगायोग असा की त्याच वेळी अवचित आपणही पाहुणे म्हणून तेथे पोहोचलो आहोत. दैव किती कृपाळू आहे पाहा. जसे तहानेने जीव व्याकुळ झालेल्या मनुष्याने पाणी पिऊ लागावे आणि त्यास तोच कळून यावे की ते पाणी नसून अवीट गोडीचे अमृत आहे, तसे आपले झाले

आहे. कारण आपल्या भाग्यात नसूनही हे ***ब्रह्मज्ञान*** व ते प्राप्त करण्याचा मार्ग आपणापुढे आले आहेत."

"म्हातारा मोहें नासिलां"

...। तंव धृतराष्ट्रें म्हणितलें। हें न पुसों तूंतैं।।६-४।।
तेयां संजया एणें बोलें। रायाचें हृदय चोजविलें।
जैं अवसरि आहें ओतलें। कुमारांचियां।।५।।

परंतु धृतराष्ट्रास संजयाचे हे बोलणे रुचले नाही. त्याला फक्त माझे आणि ते काय करताहेत, यापलीकडे जिज्ञासा नव्हती. संजयास फटकारत तो म्हणाला, *"तुला हे सगळे चोंबडेपणाने सांगायला कोणी काही विचारले आहे का!"*

हैं जाणौनि मनिं हांसिलां। म्हणें म्हातारां मोहें नासिलां।
यरविं बोलु तन्हैं भला जाहला। अवसरि इयें।।६-६।।
परि तैं तैसें कैसेनि होईल। जात्यंधा कैसें पाहैल।
तेंविंचिं एरु सें घेईल। म्हणौनि बिहैं।।७।।

संजयास लागलीच कळून आले की या धृतराष्ट्रास पुत्रमोहाने घेरलेले आहे.म्हणून त्याला हे विषयांतर अजिबात रुचत नाहीसे दिसते. त्यावर तो मनोमन हसला. तो विचार करू लागला, "हा म्हातारा पुत्रमोहाने कामातून गेला आहे. एवढी उत्कृष्ट गोष्ट समोर येत आहे. स्वत: योगेश्वर श्रीकृष्ण योगरहस्य उलगडून सांगणार आहेत. पण याला ते कसे रुचेल! जात्यंधास सूर्य कधीतरी दिसेल काय!" पण आपल्या बोलण्यात असे विचार डोकावले, तर धृतराष्ट्राचा रोष होईल, म्हणून तो सावधपणे बोलू लागला.

योगविभवभाण्डार::::

जेथूनि गीतावल्लिचें ठाणें। प्ररोह पावें"

परि आपण चित्तिं आपुलां। निकियांवेरिं संतोखलां।
जैं तो संवादु फांवला। कृष्णार्जुनांचा।।६-८।।

श्रीकृष्णांचे ते योगाचे सूतोवाच ऐकून संजयास झालेला आनंद कसा लपून राहील!

तेणें आनंदाचें धालेंपणें। साभिप्राय अंतष्करणें।
आतां आदरेंसिं बोलणें। घडैल तेयां।।९।।
तो गीतेमाझिं षष्ठींचां। प्रसंगु असे आयणिचां।
जैसा क्षीरार्णविं अमृताचां। निवाडुं जाहाला।।१०।।
तैसें गीतार्थाचें सार। जैं विवेकसिंधूचें पार।
नाना योगविभवभांडार। उघडलें कां।।११।।

"आपल्याला कृष्णार्जुनांचा संवाद ऐकण्यास मिळत आहे, या विचाराने संजयास खूप संतोष वाटू लागला. त्याला आनंदाचे उधाण आले. त्या भरात तो आता श्रीकृष्णांचा अभिप्राय आता अंत:करणापासून प्रकट करील. *योगाविषयीच्या आवडीने भारावून गेलेला संजय आता जो प्रसंग व्यक्त करणार आहे, तो गीतेच्या सहाव्या अध्यायातील भाग तसाच महत्त्वाचा आहे.* क्षीरसमुद्राचे मंथन केल्यावर जसे अमृत प्राप्त झाले, तसे गीतार्थाचे सारच सहाव्या अध्यायाच्या रूपाने प्रकटले आहे. विवेकसिंधूच्या पैलतीरास नेऊन पोहोचवणारा विचार त्यात व्यक्त होतो. "

योगसमृद्धिरूप भांडार असाच हा अध्याय आहे. त्याचे दर्शन स्वये श्रीकृष्णच त्या योगभांडाराचे द्वार उघडून आपणास घडविणार आहेत. आणि आपणास हवी तितकी अमूल्य रत्ने मनास हवी तितक्या वेळ मुक्त हस्ते वेचू देणार आहेत.

जैं आदिप्रकृतिचें विसंवणें। जैं शब्दब्रह्मासिं न बोलणें।
जेथूनि गीतावल्लिचें ठाणें। प्ररोह पावें।।६-१२।।
***तो अध्यावो हा साहावा।* वरि साहित्याचियां बरवां।**
सांघिजैल म्हणौनि परिसावा। चित्त देऊनि।।१३।।

"आदिमाया जेथे विसावते; शब्दब्रह्म ज्यास पाहून मुके झाले; गीतावल्लीचा उगम आणि विस्तार ज्यापासून होतो, ते त्या खजिन्याचे ठिकाण म्हणजे *सहावा* अध्याय होय."

"हलुंवारपण चित्तां। आनौनियां"

असा जो *सहावा* अध्याय आहे, त्याचे रूप अलंकारांनी सजवून, साहित्यातील अत्युत्कृष्ट कलाकृती ज्ञानदेव आता आपणापुढे प्रकटवणार आहेत. तरी भाविक श्रोत्यांनी मन:पूर्वक लक्ष देऊन त्यांचे हे अप्रूप अपूर्वाईचे बोल ऐकण्यास चित्त द्यावे. त्या बोलण्याचा ओघ आपल्या अंतर्यामात मुरवण्यास चित्तही तसेच हलुवार हवे.

ज्ञानेश म्हणतात:

ऐसें हलुंवारपण जन्हैं येईल। तन्हैंच हें उपेगां जाईल।
यरविं आघविं गोठी होईल। मुकेयांबहिरेयांचिं।।६-२६।।
परि तैं असो आतां आघवें। न लगें श्रोतेयांसि कडसावें।
जैं एथ अधिकारियें स्वभावें। निष्कामकाम।।२७।।

"चित्तास जर अशी संवेदनशीलता येईल, तरच माझे हे बोल सार्थकी लागतील. नाही तर मुक्याने बोललेले बहिऱ्याने ऐकावे, तसे हे सगळे निरूपण ठरेल. पण ते आता राहू द्या. आत्मबोधाच्या ओढीने ज्यांनी संसाराची कुरवंडी केली आहे, असे निष्काम निरिच्छ पुरुषच या बोलांस ऐकण्यास योग्य आहेत. म्हणून श्रोत्यांची अधिक परीक्षा करणे न लगे! "

आइकां *यश श्री औदार्य। ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य।*
***हें साहीं गुणवर्य* । वसति जेथ।।६-३७।।**
म्हणौनि तो भगवंतु। जो नि:संघाचां सांगातु।
तो म्हणें पार्था दत्तचित्तु। होई आतां।।३८।।

"अशा सुयोग्य सुश्रुत श्रोत्यांना नीट उमगावे असेच मी कथन करणार आहे. अरूपाचे रूप मी प्रकटवणार आहे. सद्गुरुकृपांकित असा मी अतींद्रिय असणारे आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष इंद्रियांकरवी भोगवणार आहे, ते ऐका! ***यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य व ऐश्वर्य*** या षट्गुणसंपत्तीचा स्वामी असा तो भगवान श्रीकृष्ण,तो नि:संगाचा सोबती - पार्थास म्हणू लागला की, "ऐक. चित्त माझ्या बोलण्याकडे दे."

संन्यासाश्रम व खरा संन्यास

तो पुढे म्हणाला:

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय:।।६-१।।

"कर्मफलाची आशा न ठेवता कर्तव्य असे कर्म जो करतो, तोच खरा संन्यासी होय. आणि तोच खरा योगी पण होय. अग्निहोत्रादी गार्हस्थ्य धर्मास त्यागणारा किंवा कोणतेही कर्म करणार नाही, या निर्धाराने स्वस्थ बसून राहणारा परिव्राजक जरी असला, तरी तो ना तर खरा संन्यासी आहे, ना खरा योगी!"

कर्म व योग यांची एकवाक्यता

याप्रमाणे नि:संदिग्ध शब्दात भगवंतांनी लौकिकार्थी प्रसिद्ध असणाऱ्या चतुर्थाश्रमाची वा संन्यासाश्रमाची योगमार्गाच्या दृष्टीने खरी पायरी दाखवून दिली आहे. त्याचप्रमाणे खऱ्या संन्यासाचे योगरूप प्रकट करत ते पुढे असेही म्हणतात की:

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।६-२।।

"हे अर्जुना! असा जो निष्कामकर्मयोग आहे, त्यासच संन्यास म्हणावे आणि असा संन्यासच खराखुरा योगमार्ग आहे. ज्या मनुष्याचा कर्मफलाविषयीचा संकल्प संन्यसिला गेलेला नाही, तो *संन्यासी* वा *योगी* कधीच होऊ शकत नाही."

चतुर्थाश्रमाचे असे मूल्यमापन करणाऱ्या सहाव्या अध्यायीं प्रथमारंभी येणाऱ्या या श्लोकांची काही विशिष्ट चिकित्सा श्रीमद्शंकराचार्य कशी करतात, ते जिज्ञासूंनी शांकरभाष्यात पाहावे. हे श्लोक लौकिक व शास्त्रोक्त संन्यासावर मर्माघात करणारे दिसत असल्याने त्यांनी त्यांच्या सरल अर्थाचा विस्तृत प्रमाणावर प्रतिवाद केलेला आहे व युक्तिवाद वापरून म्हटले आहे की श्रीकृष्ण शास्त्रोचित वेदोक्त अशा चतुर्थाश्रमाचा अधिक्षेप करणे शक्य नाही.

त्यांचे हे म्हणणे युक्तिसंगत जरी असले, तरी श्रीकृष्णांनी तथाकथित - शास्त्रोक्त म्हणा हवे तर- अशा मायावी संन्यासाचा निषेध केला असल्यास त्यात वावगे ते काय असणार! *कर्मफलाचा संकल्प त्यागून कर्मे आचरणारा तो खरा संन्यासी वा योगी, अशी श्रीकृष्ण येथे व्याख्या करतात.* त्या व्याख्येत बसेल तो त्यांच्या दृष्टीने संन्यासी होय. यात चतुर्थाश्रमी बसलेच पाहिजेत, हा केवळ आग्रहच उरतो असे आपणास जाणवते.

या व्याख्येत *लौकिक संन्यास* बसत नसला, तरी केवळ यामुळे श्रीकृष्णांनी शास्त्रोक्त संन्यास घेऊ नये, असे मत प्रदर्शित केले आहे, असे काही होत नाही. वर्णाश्रमास उचित कर्तव्य करावे, असेच गीतेचे सांगणे आहे.

फलासक्तीचा त्याग करून असे कर्तव्य केल्याने खरा संन्यास सिद्ध होतो, एवढेच येथे महत्त्वाचे आहे. फलासक्ती न सोडता वर्णाश्रमास उचित अशा संन्यासाश्रमाचे फल काय हा प्रश्न शास्त्रकारांनी सोडवायचा आहे. मुमुक्षुत्वाची प्राप्ती असे त्याचे फल असावे, असे समजण्यास काय प्रत्यवाय असावा, याचाही जिज्ञासूंनी जरूर विचार करावा. असो.

खरा संन्यासी हाच योगीश्वर

आता ज्ञानेश या श्लोकांबाबत काय म्हणतात, ते पाहू या:

आइकैं योगी आणि संन्यासीं जनीं। हें एकचि सिनानें झनै मानि।
यरवि विचारिजति जंव दोनिं। तंव एकुचि तैं।।६-३९।।
सांडिजैं दुजेयां नामाचां आभासु। तन्हैं योगु तोचिं संन्यासु।
पांतां ब्रह्मिं नाइं अवकाशु। दोहिंमाजिं।।४०।।
जैसें नामाचेनि अनारिसेपणें। एकां पुरुषांतैं आलवणें।
कां दोहिं मार्गीं जाणें। एकाचि ठाईं।।४१।।
ना तन्है एकचि उदक साहाजें। परि सिनानां घटीं भरिजैं।
तैसें भिन्नत्व हें जाणिजैं। योगसंन्यासाचें।।४२।।
आइकैं सकल संमतें जगिं। अर्जुना गां तोचिं योगी।
जो कर्मैं करूनि रागि। नोहेचिं फलीं।।४३।।

"कोणी *योगी व संन्यासी* हे जरी वेगवेगळे मानत असले, तरी नीट विचार केला असता सहजच दिसून येते की ते दोन्ही भिन्न नाहीत. योगी व संन्यासी हे दोन शब्द वेगळे असले, तरी त्यांच्यामुळे एकाच गोष्टीचा बोध होतो. त्या एकाच गोष्टीची ही दोन नामे आहेत. ब्रह्मप्राप्तीच्या दृष्टीने पाहू गेल्यास त्यांच्यात काहीच तफावत नाही. वेगवेगळ्या नावांनी एकाच पुरुषास जसे बोलवावे किंवा दोन वेगवेगळ्या मार्गांनी शेवटी जसे एकाच ठिकाणी पोहोचावे, अथवा एकच उदक जसे वेगवेगळ्या घटात भरावे; तेवढाच फरक योग व संन्यास यांच्यात आहे. *कर्मे करूनही त्यांच्या फळांची आसक्ती न धरणाऱ्यांस योगी म्हणतात,* असे सर्वसंमतीनुसार अनेकानेक शास्त्रांनी एकमुखाने सांगितलेले नाही का! कर्मफलाशेचा त्याग हाच संन्यास व हाच योग आहे, या धर्मबिरुदाची ध्वजा सर्व शास्त्रे आदरपूर्वक मिरवतात, हे सर्वांस सहसा ज्ञात असेच आहे."

जैसिं मही हें उद्भिजें। जनिं अहंबुद्धिविण साहाजें।
आणि तेथिंचें तियें बीजें। अपेक्षिजैना।।६-४४।।
तैसा आम्नायाचेनि आधारें। जातिचेनि अनुकारैं।
जैं जेणें अवसरैं। करणें पावैं।।४५।।
तैं तैसेंचि उचित करिं। परि साटोपु नोहें शरीरीं।
आणि बुद्धिहिं करौनि फलावैन्हिं। जायेचिना।।४६।।
ऐसा तोचि संन्यासी। पार्था गां परियेसिं।
तोचि भंरवसेनिसिं। योगिश्वरु।।४७।।

"जशी ही धरणीमाता अंकुरांना जन्म देते, पण मातृत्वाचा अभिमान धरत नाही आणि त्या अंकुरांचे वृक्ष होऊन त्यांना लागलेल्या फळांची अपेक्षाही करत नाही, त्याप्रमाणे वेद-वर्णविहित अशी

प्रसंगोपात्त सर्व कर्मे करणारा व त्या कर्मांच्याठायी अहंकार वा फलाशा न राखणारा, एवढेच काय! तर कर्मफलास बुद्धिद्वारेही न स्पर्शिणारा असा पुरुषच खरा संन्यासी असतो. आणि हे अर्जुना! तो तसा पुरुषच खरा योगीश्वर असतो".

"अग्निसेवा न संडितां। कर्मांचिं रेखा नोलांडितां"

वांचूनि उचित कर्म प्रासंगिक। तेयांतैं म्हणें हें सांडीन बद्धक।
तऱ्हैं टांकोंटाकीं आणिक एक। मांडिचिं तो।।६-४८।।
जैसा झांलुनियां लेपु एकु। सवेंचिं लाविजें आणिकु।
तैसेंनि आग्रहाचा पाईकु। विचंबें वायां।।४९।।
गृहस्थाश्रमाचें ओझें। कपालीं आदिंचि आहें साहाजें।
कीं तैंचि संन्यासु सवां ठेविजैं। सरिसें पुडुति।।५०।।

"कोणी कोणी विहित कर्म प्राप्त झाले असता ते बंधन करील या भितीने त्याचा त्याग करतात.म्हणून त्याचा त्याग करतात. पण लागलीच दुसरे कर्म करण्यास सिद्ध होतात. जसा एक लेप धुवून टाकायचा आणि पुनश्च दुसरा लेप फासायचा, तसाच त्यांचा हा प्रकार असतो. त्यात व्यर्थ श्रमच ठेवलेले आहेतच. माथ्यावरचे गृहस्थाश्रमाचे ओझे कर्मबंधनांना घाबरून फेकून द्यायचे आणि संन्यासाश्रम स्वीकारून त्यातल्या कर्मांचे ओझे वागवत बसण्याने कोणता लाभ पदरात पडणार आहे!"

म्हणौनि अग्निसेवा न संडितां। कर्मांचिं रेखा नोलांडितां।
आथिं योगसुख स्वभावतां। आपणपांचिं।।६-५१।।
आइकैं संन्यासी तोचि योगी। ऐसिं एकवाक्यता जैं जगिं।
गुढि उभविलीं अनेगिं। शास्त्रांतरीं।।५२।।

"त्यापेक्षा अग्निहोत्र व गृहस्थधर्म यांचा त्याग न करता प्राप्त कर्मे कर्तव्य म्हणून करत जाण्याने अनायासे प्राप्त होणाऱ्या योगसुखाचाच आश्रय करणे हितावह नाही का! आणि योगी तोच संन्यासी असतो, असे अनेकानेक शास्त्रांनी एकमुखाने सांगितलेले नाही का! कर्मफलाशेचा त्याग हाच संन्यास व हाच योग आहे, या धर्मबिरुदाची ध्वजा सर्व शास्त्रे आदरपूर्वक मिरवतात, हे सर्वांस सहसा ज्ञात असेच आहे.

योगाचा धावता आलेख ::::

योगाची सिद्धी कर्मानेच

कर्मांची महती सांगत श्रीकृष्ण म्हणतात:

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते।।६-३।।

"योग प्राप्त व्हावा अशी इच्छा धरणाऱ्या मुनीस कर्मच आवश्यक ठरते. योगारूढ झाल्यावर त्यास मनोनिग्रह हे फलित आहे."

या श्लोकानिमित्त ज्ञानेश योगमार्गाचा धावता आढावा घेतात. ते म्हणतात की: ***"योगाचलाच्या शिखरावर पाऊल रोवणाऱ्यास कर्ममार्गाचा सोपान चढून जाणे आवश्यक आहे.*** *यमनियमरूपी पायथ्यापासून निघून आसनाच्या पायवाटेने चालत जाऊन प्राणायामरूपी कठीण मार्गाने वर जात असता प्रत्याहाररूपी तुटका कडा लागतो.* तो इतका निसरडा असतो की त्यावर बुद्धीचेही पाऊल स्थिरावू शकत नाही. या ठिकाणी हटयोगी आपली योगारूढ होण्याची मनीषा गुंडाळून ठेवतात."

विश्वामित्रादींना या प्रत्यहाररूपी कड्यावरूनच खाली लोटले जाऊन मेनकारूपी निसरड्या वाटेवरून पथभ्रष्ट व्हावे लागले होते, याची आठवण या ठिकाणी आपणास होते. असो.

योगाचलाचे रूपक

अभ्यासबलाने हळूहळू त्या प्रत्याहाररूपी निसरड्या कड्यावर वैराग्यरूपी नख्या रोवून चढून जाता येते. प्राणायाम - प्रत्याहार अशा या मार्गाने वर चढले असता पुढे धारणारूप पठारावरून जात असता ध्यानरूपी शिखर लागते. ते केव्हा मागे पडले, ते कळतच नाही. अशा या योगमार्गाने वाटचाल करत गेले की साध्य-साधन एकच होउन सामरस्याची प्राप्ती होते. पुढे जावयाचे बाकी राहत नाही. प्रवृत्ती विसावते. योगाभ्यास पूर्ण होऊन ***संचित, प्रारब्ध व क्रियमाण*** कर्मे थांबतात. अशा भूमिकेत प्राप्त होणारे समाधिसुख केवळ अवर्णनीयच आहे.

योगारूढ::::

योगारूढाची लक्षणे

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।६-४।।

"इंद्रियांच्या विषयांच्या ठिकाणी जेव्हा मनुष्य रत होत नाही व कर्मासक्तीचा त्याग करतो, तेव्हा सर्व संकल्पांचा त्याग घडतो. असा संन्यास प्राप्त झालेला मनुष्य योगारूढ म्हणून ओळखावा."

याविषयी ज्ञानेश म्हणतात:

एणें उपायें योगारूढु। जो निरवधि जाहाला प्रौढु।
तेयाचियां चिह्नांचां निवाडु। सांघैन आइकें।।६-६१।।
तऱ्हैं जेयाचियां इंद्रियांचेयां घरिं। नाहीं विषयांचियां येरझारी।।
जो आत्मबोधाचियां वोवरिं। पवढला असे।।६२।।

"कर्ममार्गाने वाटचाल करून ध्यानयोगाचा अभ्यास करतकरत जे असे योगारूढ होतात; विनासायास ज्यांना अशी परिपूर्णता लाभते; त्यांची लक्षणे सांगतो, ती ऐक. त्यांच्या इंद्रियरूपी घरात विषयांची येरझार नसते. आत्मज्ञानरूपी ओवरीत ते शांत चित्ताने पहुडलेले असतात."

जेयाचियां सुखदु:खाचेनि आंगें। झगटलें मानस चेवों नेघे।
विषय पासिं आलियां सें न रिघें। हें काइं म्हणौनि।।६-६३।।
इंद्रियें कर्माचां ठाईं। वाढिनलीं परि कंहिं।
फलहेतूचिं चाड नाइं। अंतष्करणिं।।६४।।
असतेनि देहें येतुलां। जो चेतूंचिं दिसें निदैलां।
तोचिं योगारूढु भलां। वोलखें तूं।।६५।।

"त्यांच्या अंगास सुखदु:खे झगटली तरीही त्यांचे मन आत्मनिद्रेतून जागे होत नाही. त्यांच्याजवळ विषय रिघाले, तरी चित्त त्या विषयांकडे ढुंकूनही पाहत नाही. त्यांची इंद्रिये कर्मरत असली तरी अंत:करणी कर्मफलाची आसक्ती नसते. जो देहाने असा वर्तत असतो, पण जागृत असूनही विषयेंद्रिय-कर्मे- कर्मफल यांच्याप्रती निद्रित असतो, त्यास ***योगारूढ*** म्हणून खुशाल म्हणावे."

तेथ अर्जुनु म्हणें अनंता। हें मज विस्मो बहूं आइकतां।
सांघैं तेयां ऐसिं योग्यता। कवणें दीजैं।।६-६६।।

हे ऐकून अर्जुन विचारतो की, "हे अनंता! हे तुझे सर्व सांगणे अत्यंत विस्मयकारक आहे. त्या योगारूढ पुरुषास अशी ही योग्यता कोणी मिळवून दिली ते सांग."

आपणच आपला उद्धार करावा

यावर श्रीकृष्ण म्हणतात:

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:।।६-५।।

"कोणी कोणास अशी योग्यता देत नाही. मनुष्यास आपला उद्धार स्वत:च करून घ्यावयाचा असतो. आपणच आपला घात करून घेऊ नये. आपणच आपले मित्र आहोत आणि आपणच आपले शत्रू आहोत."

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजित:।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६-६।।

"ज्याने स्वत:वर विजय मिळवलाआहे, तो आपला आपण मित्र आहे. ज्याने स्वत:स देहेंद्रियबुद्धीच्या ताब्यात सोपविले आहे, तो स्वत:शीच शत्रूप्रमाणे वर्तणूक करतो.

बंधाचे कारण

याबाबत ज्ञानेश म्हणतात:

तंव हासौनि कृष्णें म्हणें। तूझें नवल ना हें बोलणें।
कवणासिं काय दीजैल कवणें। एथ अद्वैतिं इयें।।६-६७।।
पैं व्यामोहाचियें सेजें। बलियां अविद्या निद्रितु होइजे।
तैं हेलिं दु:खस्वप्न हा भोगिजैं। जन्ममृत्यूंचां।।६८।।
पाठीं अवसांत ये चेओं। तैं तैं आघवेंचिं हों वाओ।
ऐसां उपजैं नित्य सद्भाओ। तोहि आपणापांचिं।।६९।।...।

श्रीकृष्ण हसले व म्हणाले, "अर्जुना! हे तुझे विचारणे कमालीचे आहे! अद्वैतात कोणी कोणास काय द्यावे अन कोणी कोणाकडून काय घ्यावे! परंतु व्यामोहामुळे जीवास अविद्येच्या शेजेवर निद्रा लागते आणि त्यामुळे तो जन्ममृत्यूंचे दु:स्वप्न पाहतो. पण अकस्मात जेव्हा त्याला जाग येते, तेव्हा ते सगळेच नाहीसे होते. आपल्या सत्स्वरूपाचे असे दर्शन आपले आपणासच होते."

....। म्हणऊनि आपणचिं आपणपेयां।
घातु किजतु असे धनंजया।
चित्त देऊनि नाथिलियां। देहाभिमानां।।७०।।
हा विचारूनि अहंकार सांडिजैं। मग असतिचिं वस्तू होइजैं।
तन्हैं आपुलिं स्वस्ति साहाजैं। आपण केलीं।।७१।।
यरविं कोशकीटकांचियां परीं। आपणयां आपण वैरीं।
जो आत्मबुद्धिं शरीरीं। चारुस्थलिं।।७२।।

"आपणच देहाभिमानास आपले चित्त वाहतो आणि आपला घात करून घेतो. हे धनंजया! विवेकांती हा अहंकार जर त्यागला गेला, तर आपण आपल्या स्वरूपास पावतो. म्हणजे आपणच आपले कल्याण करून घेतले असेच होते ना! नाहीतर कोशातील रेशमाच्या कीटकाप्रमाणे या देहरूपी कोशावर आत्म्यावर करावयाचे तसे प्रेम केल्याने व त्यास उत्तम समजून त्यातच कायमची वस्ती केल्याने त्या कीटकासारखाच आपण आपला घात करून घेतो.

देहबुद्धी

कैसें प्राप्तिचियें वेलें। निदैवां आंधलेपणाचें डोहालें।
किं असते आपुलें डोलें। आपण झाकिं।।६-७३।।
कां कवणु एकु भ्रमलां। मी तो नोहें गां म्हणें चोरिला।
ऐसां नाथिलां छंदु अंतष्करणें। घेऊनि ठाकें।।७४।।
यरविं होय तैं तैंचि आहें। परि काईं किजैं बुद्धि तैसिं नोहें।
देखां स्वाप्निंचेनि घाएं। किं मरें सांचें।।७५।।

"चिंतामणी हाती पडण्याच्या वेळी कमनशिबी माणसास आंधळेपणाचे डोहाळे लागून आपल्याच हाताने त्याने आपले डोळे झांकून घ्यावेत व हातचा चिंतामणी दवडावा; किंवा कोणी एकाने भ्रमिष्टपणाने *आपल्यास कोणीतरी चोरले आहे व आपण मी नव्हेच* असा धोशा करत स्वत:स शोधत बसावे; तसे काही जण करतात. एरवी आपण स्वत: जिथल्या तिथे जसे असतोच, पण दुर्दैवी मनुष्यास कोती बुद्धी होऊन त्याचा घात होतो. स्वप्नात अंगावर झालेल्या शास्त्राघाताने कोणी कधी मरतो का! पण स्वप्नच खरे समजून चालणाऱ्याला दु:ख अटळच आहे. विवेकबुद्धी नसतांना मनुष्य संसारात गुंततो."

जैसिं तैं शुकाचेनि आंगभारें। नलिका भोविन्नलिं एरि मोहरें।
तरि तेणें नुडावें परि न पुरें। मनाशंका।।६-७६।।
वांयांचिं मान पीलीं। अटुवें हियें आवलीं।
टिटांतैं नलीं। धरूनि ठाकें।।७७।।
म्हणें बांधलां मी फुडां। ऐसियां भावनेचां पडें खोडा।
कि मोकलियां पायांचा चवडा। गोंवि अधिकें बांधिला।।७८।।
मग नोसंडिं जन्हैं नेलां। तोडूनि अर्धा।।७९।।
म्हणऊनि आपणयां आपणपेंचिं रिपु। जेणें वाढविलां हां संकल्पु।
एर स्वयंबुद्धि म्हणें बंधुबापु। जो नाथिलें नेघें।।८०।।

"नलिकेवर पोपट बसतो. त्याच्या वजनाने ती गरगरा फिरू लागते. आपण धरले गेलो आहोत या भावनेने तो पोपट उडू शकत नाही. तो उगीचच मान वेळावतो. छाती संकोचून घेतो. चवड्यात

नळी आवळून घेत तिला घट्ट धरून बसतो आणि काही केल्या तेथून उडून जावे अशी बुद्धी काही त्याला होत नाही. आपण त्या नळीला बांधले गेलो आहोत, असे समजून केवढा घात तो करून घेतो आणि आयताच फासेपारध्याच्या हाती सापडतो. अर्जुना! सांग बरे त्या पोपटाला कोणी बांधून का घातला होता! तो तर आपला आपणच बद्ध झाला. मग त्याला नळीपासून ओढून काढतांना त्याची मान मुरगळली गेली, तरी त्या नळीला सोडून द्यावे अशी बुद्धी त्याला होत नाही. अशाच प्रकारे संकल्पाच्या आहारी गेल्याने मनुष्य बद्ध होतो. तो आपला घात आपणच करून घेतो. आपला आपणच शत्रू होतो. याउलट जो देहबुद्धी घेत नाही, तो महात्मा आत्मज्ञानी ठरतो. तो स्वत:चा खरा मित्र असतो."

योग्याचे वर्णन

अशा आत्मविद मनुष्याची लक्षणे अधिक स्पष्ट करत भगवंत म्हणतात:

जितात्मन: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो:।।६-७।।
ज्ञानविज्ञानतृप्तामा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन:।।६-८।।

"स्वत:वर ज्याने विजय मिळवला आहे; जो अत्यंत प्रशांत झालेला आहे; ज्याच्याठायीचे परमतत्त्व स्पष्ट झालेले आहे; शीत व उष्ण, सुख व दु:ख, तसेच मान व अपमान इ.द्वंद्वे प्राप्त झाली असता ज्याची शांती ढळत नाही; ज्ञान व विज्ञान यांचे सम्यक् ज्ञान प्राप्त होऊन जो सर्व बाजूंनी तृप्त झाला आहे; आणि ज्याने आपल्या इंद्रियादींवर विजय मिळवलेला असल्याने आत्मतत्त्वात निश्चल स्थिती प्राप्त करून घेतली आहे; सुवर्ण, मातीचे ढेकूळ व दगड यांना जो सारखीच किंमत देतो; तो सतत आत्मतत्त्वाशी युक्त असलेला योगी असल्याचे ओळखावे."

योग्याच्या मनोभूमिकेविषयी हा विचार आहे. योगसिद्ध पुरुषांची बरीच लक्षणे गीताकार सांगतात. काहीकाही वेळा पुनरुक्तीचा दोषही म्हटला तर त्यापायी घडतो. पण सामान्य मुमुक्षू साधकाच्या अंत:करणावर गीतेस कायमचा ठसा उमटावयाचा आहे, त्यासाठी पुनरुक्ती ही करावीच लागते. म्हणून त्या पुनरुक्तीत तसा दोष नाहीच. उलट आपल्या ती हिताचीच ठरते. असो.

सर्वसामान्य संसारापेक्षा अत्यंत भिन्न व अतिसूक्ष्म स्तरावरील असा हा गीतेचा योगविषय आहे. तो सामान्यांस नीट कळावा म्हणून गीताकार कित्येकदा तीच तीच गोष्ट परत परत सांगतांना दिसतात, त्याबद्दल आपणास कृतज्ञताच वाटली पाहिजे. त्याऐवजी काही बुद्धिमान विचारवंत गीताकारांस पुनरुक्तीदोषाबद्दल जबाबदार ठरवतात. पण आपणास या स्थळी असे जाणवते की जर असेच त्यांना वाटत असेल, तर हे अगदी स्पष्ट होईल की गीतेचे प्रयोजन मुळात त्यांच्यासारख्या अति बुद्धिमानांसाठी नाहीच! आणि म्हणूनच बुद्धिमंत अशांना गीतेचा खरा अर्थ कधीच लावता आलेला नाही. असो.

"जीवो ब्रह्मैव ना परा"

या *श्लोक क्र.६-७ व ८* यांच्यावर निरूपण करतांना ज्ञानदेवही गीतेच्या आणि ***"जीवो ब्रह्मैव ना परा"*** या उक्तीच्या पावलावर पाऊल टाकत सांगतात की:

तेयां स्वांतष्करणजितां। सकल कामोपशांतां।
परमात्मा परौतां। दूरि नाहिं।।६-८१।।
जैसां कीडालाचां दोखु जाएं। तऱ्हैं पंन्हरैं तैंचि होएं।
तैसें जीवां ब्रह्मत्व आहे। संकल्पलोपीं।।८२।।

"अशा त्या स्वत:चे अंत:करण जिंकलेल्या व सकळ कामनांचा उपशम होऊन शांत झालेल्या पुरुषांना तो परमात्मा काही कोठे दूर जाऊन शोधावयाचा नसतो. कीडाळाचा दोष नाहीसा झाला की सुवर्णाठायीच त्याचेच विशुद्ध स्वरूप जसे प्रकटते, तसेच संकल्परूपी दोष निमाला की जीव मुळचाच जो ब्रह्मस्वरूप आहे, तो आपल्या त्या मुळच्या ब्रह्मस्वरूपानेच प्रकटतो."

"परमात्मा संचलां। आदिंचि आहें"

हा घटाकासु जैसां। निमालियां तेयां अवकासां।
न लगें मिलों जाणें आकासां। आनां ठाईं।।६-८३।।
तैसा देहांहंकारु नाथिलां। हां समूल जेयांचां नासलां।
तोचिं परमात्मा संचलां। आदिंचिं आहें।।८४।।

"घटाकार नाहीसा झाला की घटाकाश जसे मुळच्या अवकाशाशी जागच्या जागीच मिळते, त्यास काही दुसरीकडे कोठे मिळण्यास जायला लागत नाही की इतर काही करावे लागत नाही, तसेच देहाहंकार समूळ नष्ट झाला की जीव परमात्माच होतो. मुळचा तो जीव परमात्म्यापेक्षा वेगळा का आहे, तर त्याला इतर काहीतरी परमात्मा होण्यासाठी करायला हवे!"

आतां शितोष्णाचियां वाहाणीं। तेथ सुखदु:खांचिं कडसणी।
इयें न समातिं कंहिं बोलणीं। मानापमानाचिं।।६-८५।।
जैं जेयां वाटा सूर्यु जाएं। तेऊतें तेजाचें चि विश्व होएं।
तैसें तेयां पावें तैं आहे। तोंचि म्हणौनि।।८६।।
देखें मेघौनि सुटति धारा। तियां न रुपति जैसियां सागरां।
तैसिं शुभाशुभें योगिश्वरां। नहोति आनें।।८७।।

"एकदा ही मूळ स्थिती प्राप्त झालेल्या जीवाला सुखदु:ख, मानापमान, शीतोष्णादी द्वंद्वे संभवत नाहीत. सूर्य ज्या ज्या ठिकाणी जातो, तेवढा भाग तो आपल्या तेजाने भरून टाकतो. ते तेज सूर्याहून वेगळे म्हणता येते का! त्याचप्रमाणे आप्तकाम पुरुषास मग आपणाहून विश्व भिन्न नसते. अद्वैतावस्थेत वावरणाऱ्या त्याला मग द्वंद्वे ती उरतीलच कशी! सागरातून मेघ निर्मिले जातात. ते पुन: पर्जन्यधारेच्या रूपाने सागरावर कोसळतात, तेव्हा ते सागरास रुपतात का कधी! तसाच

जगातील शुभाशुभ गोष्टींचा त्या योगीश्वरावर कोणताही परिणाम होत नाही; कारण ती ती गोष्ट विश्वाकार झालेल्या त्या योगिराटाहून भिन्न नसते."

"तंव ज्ञान तैं तोंचिं"

पुढे ज्ञानदेव सांगतात:

जो हा विज्ञानात्मकु भाओ। तेयां विवरितां जाहाला वाओ।
मग लागला जंव पाहों। तंव ज्ञान तैं तोचिं।।६-८८।।
आतां व्यापकु किं एकदेशिं। हें उहीपोहिं जैं ऐसिं।
तैं करावि ठेलिं आपैसिं। दुजेनविण।।८९।।

"विज्ञान म्हणजे अनुभवास येणारे हे विश्व त्याच्या लेखी मिथ्या ठरल्याने साहजिकच त्यास सर्वत्र ज्ञानाचीच म्हणजे परब्रह्माचीच अनुभूती येते. आणि स्वत:सकट सगळेच विश्व ज्ञानमय होऊन राहते. द्वैताचा असा अभाव झाल्यामुळे ते परब्रह्म व्यापक आहे, सर्वत्र आहे की एकदेशी- मर्यादित स्वरूपाचे आहे, ही द्वैती उठाठेव - हा भासमय उहापोह करण्याची त्यास आवश्यकता उरत नाही."

ऐसां शरीरीचिं परि कवतुकें। परब्रह्माचेनि पाडें तुकें।
जेणें जिंतिलीं इयें एकें। इंद्रियें गां।।६-९०।।
तो जितेंद्रियु साहाजें। तोचि योगयुक्तु चि म्हणिजे।
जेणें सानें थोर नेणिजें। कवणें कलीं।।९१।।
देखें सोनियाचें निखल। मेरु एसणें ढिसाल।
आणि मातियेचें डिखल। सरिसेंचिं मानिं।।९२।।
पाहातां पृथ्वियेचे मोल थोकडें। ऐसे अनर्घ्य रत्न चोखडें।
देखें दगडाचेनि पाडें। निचाडु ऐसां।।९३।।

"तरीही तो देहधारीच असतो. पण सर्व इंद्रिये जिंकलेली असल्याने त्याची तुलना केवळ परब्रह्मस्वरूपाशीच केली जाते. लहानथोर असा भेदभाव ज्याच्याजवळ उरलेला नसतो, अशा त्या जितेंद्रिय व्यक्तीसच योगयुक्त म्हणून ओळखावे. विशुद्ध सुवर्णाचा मेरुपर्वत व मातीचे ढेकूळ ही त्याच्या लेखी समानच असतात. पृथ्वीचे मोल कमी ठरेल, अशा अमूल्य रत्नाची आणि दगडाची किंमत त्याला सारखीच असते."

आत्मरति

त्या योग्याची अधिक चर्चा करत श्रीकृष्ण म्हणतात:

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।६-९।।
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित:।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह:।।६-१०।।

"सुहृद, मित्र, तटस्थ व्यक्ती, मध्यस्थ, शत्रू , अप्रिय माणसे, बांधव, आप्तस्वकीय, तसेच साधु-सज्जन आणि पापी व्यक्ती या सर्वांठायी त्याची समान बुद्धी असते. या विशेष लक्षणांनी मंडित असणारा असा तो श्रेष्ठ योगी वासनारहित असतो. परिग्रह नसलेल्या त्या पुरुषाने आपणास अंतर्बाह्य जिंकलेले असते आणि सतत एकांतसेवन करतकरत एकटाच राहून निरंतर तो आत्म्याशी रत असतो." ***आत्म्याशी असा युक्त असतो म्हणून त्यास योगी असे म्हटले जाते.***

समबुद्धी

योगिरायाची बिरुदावली अधिक स्पष्ट करत ज्ञानेश म्हणतात:

तेथ सुहृद आणि शत्रु। कां उदासु आन मित्रु।
हा भावभेद विचित्रु। कल्पूं कैंचां।।६-९४।।
तेयां बंधु कोण काह्याचां। द्वेषियां कवणु तेयाचां।
मीचि विश्वु ऐसां जेयाचां। बोधु जाहाला।।९५।।
मग तेयांचियें दिठी। अधमोत्तम असें किरीटी।
काएं परिसाचियां कसवटीं। वानियां किजैं।।९६।।
तैं जैसिं निर्वाणवर्णुचि करि। तैसिं जेयाचिं बुद्धि चराचरीं।
होय साम्याचिं उजरि। निरंतर।।९७।।

"अशा योग्यास आपला आणि परका, सुहृद आणि शत्रू, तटस्थ आणि मित्र, असा विचित्र भेदभाव कल्पनेत तरी कसा करता येईल! आपणच विश्व आहोत अशी प्रतीती ज्यास येत असते, त्याच्या लेखी कोण कोणाचा बंधु, कोण कोणाचा शत्रू! मग अर्जुना! त्याच्या दृष्टीला कोण लहान कोण थोर, कोण अधम कोण सज्जन, असे कसे दिसेल! परिसावर घासून सोन्याचा कस पाहू गेल्यास सर्वच चोख सोने दिसणार नाही का! परीस जसा सर्व प्रकारच्या धातूंचे विशुद्ध सुवर्ण करतो, त्याप्रमाणे ज्या योगिराजाची बुद्धी चराचरात निरंतर साम्य पाहत असते, त्यास सर्व अनेकानेक आकाराप्रकारांचे प्राणिजात पाहून अखंड अशा परब्रह्माचाचाच त्यांच्याद्वारे बोध होत होतो."

जैं तैं विश्वालंकाराचेंनि विसुरें। जन्हैं आहाति आनानें आकारैं।
तन्हैं पडिलें एकेंचि भांगारें। परब्रह्मों।।६-९८।।
ऐसें जाणणें जैं बरवें। तैं फांवलें तेयां आघवें।
म्हणौनु आहाचवाहाच न झंकवें। एणें आकारचित्रें।।९९।।

"परब्रह्मरसाचे वेगवेगळे घडवलेले अलंकार म्हणजे हा भूतसमुदाय अशी त्यास प्रतीती येत असते. अशी सर्वोत्तम दृष्टी त्याला लाभते. म्हणून वेगवेगळे प्राणी व प्रसंग इ.चा त्याच्या मनावर वेगवेगळा ठसा उमटत नाही, तर उमटते ते केवळ परब्रह्मरूपच!"

घापें पटामाजिं दृष्टी। दिसें तंतूंचिं सैंघ सृष्टी।
परि तो एकवांचूनि गोठी। दुजीं नाहीं।।६-१००।।
ऐसेनि प्रतिति हें गंवसें। ऐसा अनुभव जेयांतैं असें।
तोचि समबुद्धि हें अनारिसें। नोहें जाण।।१०१।।

"वस्त्रांची नवाई पहावी, झळाळी न्याहाळावी, रंगीबेरंगी दुनियेत हरवून जावे. पण वस्त्रावस्त्राच्या आत नीट डोकावून पाहिले तर तंतूंनी बनवलेली आणि विणलेली अशीच वस्त्रसृष्टी नसते का! वस्त्रावस्त्रातून तंतूच तंतू असतात! त्यांच्याशिवाय त्यांत इतर काय असते! अशाच प्रकारे या सर्व विश्वाकाराच्या बृहत सृष्टिलाघवातून ओतप्रोत भरून राहिले आहे, ते एकमेव ब्रह्मतत्त्वच होय, असा बोध

व अशी प्रतीती ज्यास असतात आणि असाच ज्याला साक्षात्कार झालेला असतो, तोच ***समबुद्धी*** म्हणून ओळखावा; त्याच्याशिवाय इतर कोणास अशी बुद्धी असणार, सांग बरे!"

योग्याचे असाधारणपण

त्या ब्रह्माकार झालेल्या योग्याचे वर्णन पुढे ज्ञानेश करतात, ते असे:

जेयाचें नांव गां तीर्थराओ। दर्शनें प्रशस्तिसिं चि ठाओं।
जेयाचेनि संगें ब्रह्मभाओ। भ्रांतांसिं।।६-१०२।।
जेयाचेनि बोलें धर्मु जिएं। दिठी महासिद्धितैं विएं।
देखैं स्वर्गसुखादि इयें। खेलु जेयाचां।।१०३।।
विपाएं जन्हैं आठवलां चित्तां। तन्हैं दे आपुलीं योग्यता।
हें असो तेयातैं प्रशंसितां। लाभु आथि।।१०४।।

"तो योगी म्हणजे सर्व पावन तीर्थांचा राजाच होय. त्याच्या केवळ दर्शनानेच मनास प्रसन्नता येते. संसाराने भ्रमलेल्यांना त्याच्या संगतीने ब्रह्मभाव प्राप्त होतो. त्याचे शब्द म्हणजे धर्माचे जीवन असतात. तो म्हणेल ते ब्रह्मवाक्यच असते. त्याची कृपा मोठमोठ्या सिद्धी देते. स्वर्गसुख तर त्याच्या हातचा खेळच असतो. मनात त्याचे सहज जरी स्मरण घडले, तरी स्मरण करणाऱ्या पुरुषास स्वत:ची योग्यता तो सहज देतो. त्याची स्तुती केल्याने अमाप लाभ पदरी पडतो."

पुडुति अस्तवेना ऐसें। जेयां पाहलें अद्वैतदिवसें।
मग आपणापांचि आपण असें। अखंडितु।।६-१०५।।
ऐसियां दिठीं जो विवेकी। पार्था तो एकाकी।
साहाजें अपरिग्रहि जैं तिहि लोकि। तोचिं म्हणौनि।।१०६।।
ऐसियें असाधारणे। निष्पन्नाचिं लक्षणें।
आपुलेनि बहुंवसपणें। कृष्णु म्हणें।।१०७।।

"असा तो महायोगी काय करत असतो पहा! पुन: कधीच मावळणार नाही असा अद्वैतरूपी दिवस त्याच्यासाठी सदाचाच उगवलेला असतो. तो निरंतर आत्म्यातच रममाण झालेला असतो. असा तो विवेकी पुरुष सहजच एकटा असतो. कारण द्वैत तर त्याच्यापुरते मावळलेले असते, मग दुजे तेथे कोण उरणार! आणि जो सर्व विश्वात्मकच झालेला आहे, तो परिग्रह तरी कशाचा करणार! आपणच आपला परिग्रह कसा करता येईल, सांग बरे!"

भगवंतांची लक्षणे

अशी निष्पन्न - प्राप्तकाम पुरुषाची लक्षणे अनेक प्रकारे ज्या श्रीकृष्णांनी अर्जुनास सांगितली, त्या श्रीहरीचे गुण ते किती वर्णावे! ज्ञानेश तर असे म्हणतात की:

तो ज्ञानियांचां बापु। देखणेयांचिएं दिठीचां दीपु।
जेयां दादुलियाचां संकल्पु। विश्व रचिं।।६-१०८।।
प्रणवाचियें पेंठें। जाहालें शब्दब्रह्म मांजिठें।
तैं जेयाचियां यशां धाकुटें। वेढूं न पुरैं।।१०९।।

"ब्रह्मीभूत योग्याची लक्षणे भगवंताहून वेगळी थोडीच असतात! ज्ञानी लोकांत सर्वश्रेष्ठ, तत्त्वज्ञान्यांत अग्रणी, विश्वाचा प्रकाशक असा तो भगवंत साक्षात श्रीकृष्णरूपाने साकारलेला आहे. त्याचा संकल्प विश्वाची रचना करतो. प्रणवाच्या पेठेत शब्दब्रह्मरूपी वेदांचे मंजिष्ठी रंगाचे महावस्त्र निर्मिले गेले. पण तेसुद्धा त्याच्या सहा गुणांपैकी एका यश या गुणाला वेढण्याससुद्धा अपुरे ठरले."

जेयाचेनि आंगिकें तेजें। आओ रविशशिचियें वणिजें।
म्हणौनि जग हें वेसजें-। विण असे तेयां।।६-११०।।
हां गां नांवचि एक जेहाचें। पाहातां गगनहिं दिसें टांचें।
गुण एकैक तेयाचें। आकलिसिल तूं।।१११।।

"ज्याच्या अंगच्या तेजाच्या अंशौकमात्रे रविचंद्रम्याचे तेज प्रकाशते, त्या परमात्म्याच्या तेजाविना हे जग तरी अस्तित्वात येईल काय! त्या प्रभूच्या एकेका नामाचेच माहात्म्य एवढे आहे की त्यापुढे आकाशही ठेंगणे भासते. अशा त्या सर्वगुणसंपन्न भगवंतांचे गुण - त्यांची कीर्ती वर्णन करण्याचा अल्पसा प्रयत्न योगिवराचे वर्णन करतांना मी केला आहे खरा! पण मी पामर ते सगळे गुण कसे कसे आणि किती वर्णन करू शकणार आहे! म्हणून एवढे वर्णन पुरे करू या!"

कृष्णार्जुनप्रेम::::

"ब्रह्मविद्या किजैल उघडीं"

म्हणौनि असो हें वानणें। सांघैं नेणों कवणाचिं लक्षणें।
दावविं मिरवें एणें। कां बोलिलों तैं।।६-११२।।
ऐकें द्वैताचां ठाओचि फेडी। तैं ब्रह्मविद्या किजैल उघडीं।
तन्हैं अर्जुनु पढिये हें गोडी। नासैल हन।।११३।।

"आणि देवांनी तरी आप्तकाम पुरुषाची लक्षणे सांगतासांगता स्वत:च्याच गुणांचे हे असे वर्णन तरी का केले असावे, हे काही माझ्या पण ध्यानी येत नाही. कदाचित असा द्वैताचा आडपडदा ठेवून अर्जुनास अद्वैताची प्राप्ति करून देणारी ब्रह्मविद्या उघडी करण्याचा त्यांचा हेतू असावा. कारण आपले परमात्मस्वरूप उघडउघड दाखवले असते, तर सगळेच अद्वैतात बुडून गेले असते. त्या वेळी *हा अर्जुन व हा मी कृष्ण* असा भाव नावापुरता तरी कोठला उरला असता! मग या संवादसुखाची गोडी व अर्जुनावरील प्रेमाचा उपभोग भगवंताला कसा बरे घेता आला असता!"

म्हणौनि तैं तैसें बोलणें। नोहें सपातल आड लावणें।
केलें मनचि वेगलेंवाणें। भोगावेयां।।६-११४।।

"म्हणून संत-योग्यांचे वर्णन करण्याचा आडपडदा करून देवांनी आपले मन अर्जुनापासून वेगळे ठेवून ते प्रेमसुख मनमुराद भोगले असावे!"

द्वैताचा पडदा

अर्जुनाशी असा द्वैतभाव जागृत ठेवण्याचे कारण काय असावे, याचा अधिक शोध घेऊ पाहणारे ज्ञानेश पुढे असेही म्हणून जातात की:

जेयां सोऽहंभाव अटकु। मोक्षसुखालागौनि रंकु।
तेयाचियें दिठीचां झनैं कलंकु। लागैल तुझियां प्रेमा।।६-११५।।
विपाएं अहंभाव ययांचां जाईल। मी तैंचिं हा जन्हैं होईल।
तन्हैं मग काइं किजैल। एकलेयां।।११६।।

"द्वैताचा सूक्ष्मसा पडदा आपल्यात व अर्जुनात श्रीकृष्णांनी जो ठेवला, त्यामागे असे तर कारण नसेल ना की अर्जुनाला मोक्षसुखासाठी दीन झालेल्या व ***सोऽहंभावास ओलांडू न शकलेल्या*** इतर साधकांची दृष्ट लागू नये! त्यांची दृष्ट श्रीकृष्णार्जुनांच्या प्रेमाला लागू नये म्हणून भगवंतांनी बाह्यात्कारी हे असे द्वैताचे नाटक रचले असावे. किंवा चुकून जर अर्जुनाचा अहंभाव नष्ट झाला, तर तो श्रीकृष्णस्वरूप होईल; त्यावेळी आपण एकटे राहू व आपल्याला करमणार नाही, असेही त्यांना वाटले असावे."

दिठीचि पाहातां निविजैं। कां तोंड भरौनि बोलिजैं।
ना तन्हैं दाटूनि खेंव दीजैं। ऐसें कोण्ह आहें।।६-११७।।
आपुलियां मनां बरविं। असमाइं गोठी जीविं।
तैं कवण्हेसिं मग चावलाविं। जन्हैं ऐक्य जाहालें।।११८।।
इयां काकुलतिं जनार्दनें। अन्योपदेशाचेनि हातासनें।
बोलामाझिं मन मनें। आलिंगूं सरलें।।११९।।

"अर्जुन दृष्टीला पडला नाही, तर मग दृष्टिसुखाचा जिव्हाळा भोगण्यास मिळणार नाही; त्याच्याशी कौतुकाने प्रेमसंवादाची गोडी चाखता येणार नाही; ज्याला अंत:करणाच्या उमाळ्याने कडकडून जीवाभावाने आलिंगावे, असे कोणी उरणार नाही; आपल्या मनातले गूज जे चित्ताला ओसंडून बाहेर पडू पाहता आहे, ते जर आपले व अर्जुनाचे सामरस्य झाले, तर कोणास सांगावे! या प्रकारच्या दीनवाण्या अगतिकपणामुळे पण त्यांनी असे केले असावे, असे पण मला जाणवते आहे. म्हणून साधुसंतांची लक्षणे सांग, योग्यांची चर्या सांग, असे करत ते त्याला ब्रह्मविद्या आडूनआडून उपदेशित आहेत. अशा प्रकारे अर्जुनाच्या मनाला आपल्या मनाने संवादरूपी आलिंगन देण्याचे उत्कट प्रेमसुख श्रीकृष्ण उपभोगत आहेत."

"मोहाचिं त्रिपुटी। नाचों लागें"

हें परिसतां जन्हैं कानडें। तन्हैं जाण पां पार्थु उघडें।
कृष्णसूषाचेंचिं रूपडें। ओतलें गां।।६-१२०।।
हें असो वयसेचियें सेंवटीं। जैसें एकचिं वियें वांझोटीं।
मग तैं मोहाचिं त्रिपुटी नाचों लागें।।१२१।।

"हे माझे बोलणे तुम्हाला समजण्यास कदाचित आडवळणाचे आहे असे वाटेल. म्हणून स्पष्टच सांगतो, ते ऐका. हा पार्थ म्हणजे कृष्णाचे सुखच मूर्तरूपाने ओतलेला आहे जणू. एखाद्या वांझ स्त्रीने तारुण्य सरतासरता एकुलते एक मूल प्रसवावे आणि मग त्याच्यामागे रात्रीचा दिवस करावा, त्याला कोठे ठेवू अन कोठे नको, असे होऊन तिच्या रूपाने मोहाची त्रिपुटी - ती स्त्री, ते मूल व तिची ममता यांची - नाचू लागावी, तसेच श्रीकृष्णांचे झाले आहे. असे देवाला झाल्याचे मी म्हटले नसते. पण प्रत्यक्ष तसेच दिसत आहे. म्हणून असेच म्हणणे मला भाग आहे."

अर्जुन म्हणजे आत्मनिवेदनाखालील सख्यभावाची मातृकाच!

पुढे ज्ञानेश म्हणतात:

पाहां पां नवल कैसें चोज। कें उपदेशु केऊतें झूंज।
परि फुडां वालभाचें भोज। नाचत असें।।६-१२३।।
आवडिं आन लाजविं। वेसन आन सीणविं।
पिसे आन न भुलविं। तन्हैं तैंचिं काईं।।१२४।।
म्हणऊनि भावार्थु तो ऐसां। अर्जुनु मैत्रिएंचां कुवांसां।
किं सुखें शृंगारिलियां मानसां। दर्पणु तो।।१२५।।

"कारण असे पाहा की प्रसंग कसला आणि श्रीकृष्ण काय करत आहेत! युद्धास उभे ठाकलेले कौरव-पांडव आहेत आणि आश्चर्य असे की त्या प्रसंगी ते अर्जुनाला ब्रह्मविद्येचा उपदेश देत आहेत. पण अर्जुनावरील प्रेमामुळे वेडे झालेले श्रीकृष्ण न राहवून त्या तशा वेळीही त्याला आत्मज्ञान सांगत आहेत. त्या रणभूमीवर श्रीकृष्णरूपे अर्जुनावरील मूर्तिमंत प्रेम साकार होऊन नाचत आहे, पहा! प्रेमाठायी लाज असेल तर ते प्रेम कसले! व्यसनाचा कंटाळा येत असेल, तर मग त्यास व्यसन तरी कसे म्हणावे! हडळीने भुलवून भ्रमिष्ट केले नाही, तर ती हडळच नसणार! म्हणून माझ्या म्हणण्याचा भावार्थ लक्षात घ्या की ***अर्जुन सख्यभावाचा आश्रय आहे. तो भगवंताचे सख्यभक्तीने भरून आलेले मन दाखवणारा आरसा आहे."***

ययापरीं बाप पुण्यपवित्र। जगिं भक्तिबीजासिं सुक्षेत्र।
तो कृष्णकृपें पात्र। एयाचिंलागिं।।६-१२६।।
हो कां आत्मनिवेदनातलीचिं। जैं पीठिका आहें सख्याचिं।
पार्थु अधिष्ठात्री तेथिंचिं। मातृका गां।।१२७।।

"पुण्याचे आगरच असा तो अतिपवित्र स्थान आहे. या जगातील भक्तिरूप बीज धारण करण्यास उत्तम सुक्षेत्र म्हणजे अर्जुनच आहे! भक्तीची परिसीमाच असा तो अर्जुन म्हणूनच कृष्णाच्या एवढ्या कृपाप्रसादास पात्र झाला आहे. नवविधा भक्तीच्या ज्या भूमिका आहेत, त्यातील अंतिम भूमिका म्हणजे ***आत्मनिवेदन!*** त्याखालोखाल ***सख्यभक्ती*** प्रकट होते. अशा ***सख्यभक्तीच्या पीठावरील अधिष्ठात्री देवता*** म्हणजे ***अर्जुन*** च होय!"

"पूर्णाहिं परि लागें। अवस्था जेयाचिं"

पासिंचिं गोसांवि वर न वनिजैं। मग पाईकाचां गुणु घेईजैं।
ऐसां अर्जुनुचिं तो सहाजें। पढिएं हरि।।६-१२८।।

पाहां पां अनुरागें भजें। जैं प्रियोत्तमे मानिजैं।
तैं पतिहिंहूनि काइं न वर्णिजैं। पतिव्रता।।१२९।।
तैसां अर्जुनुचिं विशेषें स्तवावां। ऐसें आवडिलें मज जिवां।
जैं तो त्रिभुवनीचियां दैवां। एकायतनु जाहाला।।१३०।।
जेयाचियां आवडिचेनि पांगें। अमुर्त्तुहिं मूर्त्ति आंवंगें।
पूर्णाहिं परि लागें। अवस्था जेयाचिं।।१३१।।

"देव समोर उभा ठाकला तर त्याची स्तुती करण्याचे सोडून देऊन त्याच्या भक्ताचेच गुणगान केलेले त्याला आवडावे, इतका अर्जुन श्रीकृष्णांना प्रिय आहे.असे पहा की पतीवर जिवापाड प्रेम करणाऱ्या व पतीलाही आवडणाऱ्या पतिव्रता स्त्रीचे वर्णन पुराणांतरी मोठ्या कौतुकाने केले जातेच ना! त्याप्रमाणेच अर्जुनाचे विशेष गुणवर्णन करावे असे माझ्या फार मनात येत आहे. कारण त्रैलोक्यातील सर्व भाग्यच अर्जुनाठायी एकवटलेले आहे. म्हणून कृष्णप्रेम व कृष्णकृपेचा तो एकमात्र ठेवा होऊन राहिला आहे. त्याच्या प्रेमाच्या अधीन तो निर्गुण निराकार ईश्वर इतका झाला आहे की त्याच्यासाठी हे साकार सगुण रूप घेऊन तो अवतरला आहे आणि त्या अर्जुनाच्या प्रेमाने विव्हल होऊन काय वाटेल ते करायला सिद्ध झालेला आहे, पाहा!"

ज्ञानदेवांच्या निरूपणशैलीचे कौतुक

ज्ञानेशांचे हे बोल ऐकणारे श्रोते साहजिकच रंगून गेल्यास त्यात नवल ते कोणते! "

तंव श्रोते म्हणति दैवं। कैसिं बोलाचिं हंवाव।
काइं नादातैं हन बरव। जिणौनि आलीं।।६-१३२।।
हां हों नवल नोहें देशिं। मऱ्हाटी बोलिजैं तऱ्हैं ऐसिं।
वाणें उमटताहें मा आकासिं। साहित्यरंगाचें।।१३३।।

श्रोत्यांची ही मनस्थिती - ही तल्लीनता पाहणाऱ्या ज्ञानदेवांनी तिचे वर्णन करत स्वत:च्या निरूपणकौशल्याची पावती त्यांच्याच हस्ते घेत म्हटले की: "आम्हां श्रोत्यांचे दैव कसे बलवान आहे पहा! काय तुझ्या बोलांचे मनोहारी दर्शन आहे बघ! स्वर्धुनींचे नादतरंग सप्तस्वर्गांना लंघून या बोलांच्या रूपाने अवतरले आहेत जसे काही! मराठमोळ्या भाषेत साहित्य निर्मावे तर असे की त्या देशी भाषेतूनही, नवल म्हणजे गगनात उषेने रंग उधळून शोभा आणावी तसे साहित्यरंग, उत्प्रेक्षादी अलंकार- रूपके इ.द्वारे मुक्त हस्ते विखुरत, अशी साजिरी रूपसंपदा प्रकट व्हावी."

कैसें उन्मेखचांदिणें तार। आन भावार्था पडें गार।
हेंचिं श्लोकार्थकुमुदि तऱ्हैं फार। सांवियां होति।।६-१३४।।
चाडचि निचाडां करि। ऐसिं मनोरथिं इएं थोरि।...।।१३५।।

"ज्ञानोन्मेषांचे पिठुर चांदणे त्या निर्मितीतून सर्वदूर विखुरावे तर असे! आणि त्या कलाकृतीतून भावार्थाची अशी बरसात व्हावी जशी चंद्रमा आपल्या चांदण्याची करतो तशी! आणि त्या चांदण्याने गीताश्लोकार्थरूपी कमले विकसावीत आणि त्यांनी आमच्यासारख्या रसिक श्रोत्यांची चित्ते प्रमुदित करावीत तर आता हा ज्ञानेश बोलतो आहे, तशीच! यापरते मराठी भाषेचे सौभाग्य आणिक कोणते असेल! या नादरंगी चित्तवेधक अपूर्व बोलांचे आकर्षण इतके आहे की ज्यास ते ऐकण्याची इच्छा नसेल, त्यांनाही ते ऐकावेत अशी इच्छा न होईल, तरच नवल!"

"शेखिं उपेगिं गेलां। पांडवांसिं"

...। तेणें निवलें आंतरि। तेथ डोलु आला।।६-१३५।।
तैं निवृत्तिदासें जाणितलें। मग अवधान देआंवें म्हणितलें।
नवल पांडवकुलीं पाहलें। कृष्णदिवसें।।१३६।।
देवकियां उदरिं वाहिलां। यश्वदा सायासें पालिला।
किं शेखिं उपेगां गेलां। पांडवांसिं।।१३७।।
म्हणौनि बहुंदिवसु ओलगावां। कां अवसरु पाहौनि विनवावा।
हाहिं सोसु तेयां सदैवां। पडेचिना।।१३८।।

श्रोत्यांच्या अंत:करणात असे अर्थघन भाव दाटून येऊन ते डोलू लागले. आनंदाने बेभान झाले. त्यांची ही अवस्था जाणून निवृत्तिदास ज्ञानेश म्हणू लागले की, "हे सज्जन संतांनो! इकडे आता अवधान पुरवा. पांडवांच्या कुळामध्ये श्रीकृष्णरूपी नवलाईचा सुदिन उगवला आहे पहा! नवल असे की हा गर्भात असतांना देवकीने त्याचा भार साहिला. त्याचा प्रतिपाळ मोठ्या कष्टाने अनंत संकटांना तोंड देत यशोदेने गोकुळी करून त्यास लहानाचा मोठा केले. पण तो त्या दोनही मातांच्या उपयोगास न येता, हे कोण कुठले पांडव! त्यांच्याच उपयोगी पडतो आहे! त्या पांडवांचे केवढे हे भाग्य की त्याची खूप काळ सेवा करावी व काळवेळ पाहून मग त्याची काहीतरी देण्यासाठी विनवणी करावी, असे काहीही न करता तो श्रीकृष्ण स्वत: होऊन त्यांचे कष्ट झेलतो आहे, त्यांचे प्रिय ते सर्व करतो आहे पहा!"

पंथराज::::

"तऱ्हैं ब्रह्म मियां होईजैल"

पण हे राहू द्या! पुढे ऐका!

हें असोनु कथा सांघिं वेगिं। मग अर्जुनु म्हणें सलगिं।
देवा इयें संतचिह्नें हान आंगिं। न ठकति माझां।।६-१३९।।
यरवि इयां लक्षणांचियां निजसारां। मी अपाडें किर अपुरा।
परि तुमचेनि बोलें अवधारां। थोरावें जऱ्हैं।।१४०।।
जी तुम्हीं चित्त देयाल। तऱ्हैं ब्रह्म मियां होईजैल।
काय जाहालें अभ्यासिल। सांघाल तैं।। १४१।।

श्रोते म्हणायला लागले आहेत की, "आता हे वर्णन पुरे! पुढचा कथाभाग लवकर सांग." त्यावर ज्ञानेश सांगू लागले की:

मग अर्जुन अत्यंत सलगीने श्रीकृष्णास म्हणू लागला की,"देवा! तू वर्णन केलीस तसली संतांची का योग्यांची अन थोरांची - महापुरुषांची कोणतीच लक्षणे माझ्या अंगी नाहीत. त्या लक्षणांचे नीट परिशीलन

केले तर मी सर्वार्थाने तोकडा आहे. माझ्या अंगी जर थोरपण येणार असेल, तर ते केवळ तुमच्या उपदेशाने येईल. देवा! तुम्हीच जर मनावर घेतले, तर मीसुद्धा ब्रह्मपदी नाचेन! त्यासाठी तुम्ही सांगाल तो अभ्यास कितीही अवघड असला तरी मी करीन."

हां हों नेणों कवणाचिं काहाणि।
आइकौनि श्लाघिजत असों अंतष्करणिं।
ऐसिं जाहालेपणाचिं शिरियाणि। काइंसिं देवा।।६-१४२।।
हें आंगें चि मियां होईजो कां।
एंतुलें गोसावि आपुलेपणें किजौ कां।
तंव हांसौनि कृष्ण म्हणति हो कां। करूं म्हणति।।१४३।।

"आपण कोणाची गोष्ट सांगत आहात ते योगी मी ओळखत नसलो, तरी त्यांची लक्षणे ऐकून मला त्यांच्याबद्दल फार आदर उत्पन्न झाला आहे. आणि ही लक्षणे अंगी मुरवलेल्यांचे केवढे माहात्म्य असेल बरे! हे प्रभू! मी पण योगसिद्ध पुरुष होईन असे तुम्ही करा ना!"

त्यावर हर्षून व त्याच्या भोळ्या भावाने हसू येऊन श्रीकृष्ण म्हणाले की, "हो का! तुला पण योगी व्हावेसे वाटते आहे ना! मग तसेच होईल."

"सोऽहंभावमहुरें। मोडौनि आला"

वास्तविक पाहता अर्जुनाची ही मागणी काय साधी होती का! पण कृष्णकृपा झाल्यावर त्याला कोणते उणे राहील! ज्ञानेश म्हणून म्हणताहेत:

देखा संतोखु एकु न जोडें। तंवचिं सुखाचें सैंघ सांकडें।
मग जोडिलियां कवणिकडें। अपुरें असें।।६-१४४।।
तैसांसर्वेश्वरु बलियां सौकें। म्हणौनि ब्रह्मही होय तो कवतुकें।
परि कैसां भारें आंतला पीकें। दैवाचेनि।।१४५।।
जो जन्मसहस्त्रांचियांसाठीं। इंद्रादिकांहिं महागु भेटीं।
तो आधिनु केतुला किरीटी। जैं बोलुंहि न साहें।।१४६।।
मग ऐकां जैं पांडवें। म्हणितलें मियां ब्रह्म होआवें।
तैं अशेखहिं देवें। अवधारिलें।।१४७।।
तेथ आइसेंचिं एक विचारिलें। जैं ययां ब्रह्मत्वाचें डोहालें जाहालें।
परि उदरां वैराग्य आहें आलें। बुद्धिचियां।।१४८।।
यरविं दिवस तन्हैं अपुरें। परि वैराग्यवसंताचेनि भरैं।
जैं सोऽहंभावमहुरैं। मोडौनि आलां।।१४९।।
म्हणौनि प्राप्तिफलें फलतां।
एयासिं वेलु न लागेल आतां।...।।१५०।।

"मनुष्य जोपावेतो समाधानी वृत्ती अंगी बाणवत नाही, तोवर त्यास ***"सुख पाहातां जंवापाडें"*** असे असते. पण समाधान पदरी असले की सुखाला काय तोटा! दैव सानुकूल असल्यावर काय हवे ते मिळण्यास कोणता विलंब असणार! सौभाग्यवशात त्या अर्जुनास सर्वेश्वर कृष्णासारखा समर्थ पाठीराखा लाभला आहे. आता त्याच्या मनोरथांस त्रैलोक्यसुद्धा थोकडे न पडले तरच नवल! सहस्त्रावेरी जन्म गेले तरी इंद्रासारख्यांनासुद्धा ज्याची भेट मिळत नाही, तो असा अर्जुनाच्या अधीन झालेला आहे. त्या भगवंताला अर्जुनाने काही आपल्याकडे मागावे व नंतर आपण ते द्यावे, एवढासुद्धा धीर धरवत नाही. अशा त्या प्रभूने अर्जुनाची ***"मी ब्रह्म व्हावे"*** ही विनवणी जेव्हा ऐकली, तेव्हा ती ऐकून असा विचार केला की या अर्जुनास आता ब्रह्मत्वाचे डोहाळे लागले आहेत. याला नक्कीच बुद्धीच्या उदरात वैराग्याचा गर्भ राहिलेला आहे. पण अजून पुरते दिवस भरलेले नाहीत. खरे तर पूर्ण ब्रह्मत्वाचा जन्म होण्यास अजून यास काही वेळ लागेल पण वैराग्यरूप वसंताच्या आगमनाने यास ***सोऽहंभावाचा मोहोर*** गच्च दाटून आला आहे. त्या मोहरास फळ म्हणून ब्रह्मप्राप्ती येण्यास फारसा काही काळ लागणार नाही."

"अर्जुना हां अवधारिं। पंथराजु"

...। होय विरक्तु ऐसां अनंतां। भरंवसा जाहाला।।६-१५०।।
म्हणें जैं जैं हां अधिष्ठिल। तैं आतां आरंभीच ययां फलैल।
म्हणौनि सांघितलां न वचैल। अभ्यासु वांयां।।१५१।।
ऐसें विवरौनियां श्रीहरि। म्हणितलें तियें अवसरि।
अर्जुना हां अवधारिं। पंथराजु।।१५२।।

अर्जुन एवढा विरागी झाला असल्याची खात्री त्या अनंतास पटली. म्हणून कृष्णास वाटू लागले की हा आता जे काही साधन अनुष्ठील, ते यास सुरुवात केल्याकेल्याच फळेल. म्हणून याला आता योगाभ्यासाचा उपदेश केला तर तो वायां जाणार नाही. असा दूरदर्शी विचार करून श्रीकृष्ण अर्जुनास म्हणाले की, "हे पहा! तुला ब्रह्म व्हावयाचे आहे, तर अत्युत्कृष्ट मार्ग ऐक. त्याचे नांव **पंथराज** आहे."

पंथराज आरेखन

पंथराज नांवाने ज्ञानेशांनी ज्याचे समग्र दर्शन *सहाव्या अध्यायी* घडविले आहे, तो हाच मार्ग! याचे थोडेफार रूप आपण पूर्वी पातञ्जलयोगाचा विचार करतांना पाहिले होते. त्याचा धावता आलेख पाहू या:

पंथराज हा ***प्रवृत्ति-निवृत्ति*** दोहोंचा समन्वय साधणारा, तसेच ***कर्म, भक्ती, ज्ञान व कुंडलिनीचे उत्थापन*** यांचा समावेश करणारा **महायोग** आहे. प्रवृत्तिरूप वृक्षास निवृत्तिपर फळे लागून त्यांचा सडा खाली पडलेला दिसतो, तो याच मार्गावर! मृत्युंजय शंकरही याच मार्गाने चालतात. योगिवृंदांनी सतत त्यावरून वाटचाल केल्याने या आकाशींच्या (**योगपरिभाषेतील गगनातील**) मार्गावर मळलेली एक पाऊलवाट दिसू लागली. ती हाच ***पंथराज*** होय. याच मार्गाने महर्षी थोरावले; साधकांचे सिद्ध झाले. इतर मार्ग सोडून सर्व जाणकार याच मार्गाने योगसाधना करतात. एकदा का या मार्गास लागले की रात्रदिवस, तहानभूक , काळवेळ सर्व काही विसरायला होते. या मार्गावर पावलोपावली मोक्ष मिळतो

आणि चुकून या मार्गास सोडून आडवाट धरली तर त्या वाटांनीसुद्धा नाही म्हटले तरी स्वर्गसुखाचा लाभ होतो.

योगाभ्यास::::

बंधत्रय

ज्या ठिकाणी योगसाधकास पोहोचावयाचे आहे, तो गावच तो स्वत: या मार्गाने जातांना होऊन ठाकतो. या मार्गी साधकास स्वत: योगाभ्यास करावयाचे कष्ट करावे लागत नाहीत, तर तो अभ्यास आपोआपच केला जातो. या साधनेमुळे परमात्म्याचा स्पष्ट नि:संदेह साक्षात्कार घडतो.

सुंदर रमणीय अशा उपवनातील एकांत स्थानी साधकाने बसावे. आसन तयार करावे. त्यावर बसून मन एकाग्र करावे. चित्त व इंद्रिये यांचे नियमन करावे. सद्गुरुस्मरण करावे. ***मूळबंध*** लावावा. ***वज्रासन*** धारण करावे. शरीर, मस्तक व मान ही एका सरळ रेषेत ठेवून बसावे. निश्चळ राहावे. ***नासिकाग्रावर म्हणजे आज्ञाचक्रस्थानी अंतर्दृष्टी ठेवावी.*** इतर दिशांकडे पाहू नये. ***जालंधरबंध*** करावा. मूळबंध केल्याने प्राणापानांची गती रुद्ध होते व अपान आतल्या अंगाकडे वळू लागतो. जालंधरबंधानंतर ***वोढियाणाबंध (उड्डीयानबंध)*** केला जातो. त्यात पोट खपाटीला जाते व हृदयकोश प्रफुल्लित होतो. ***मूलबंध, जालंधरबंध आणि वोढियाणा बंध*** हेच योगशास्त्रात ***त्रिबंध वा बंधत्रय*** म्हणून विख्यात आहेत.

प्राणापानप्रक्रिया

असे हे तीन बंध जेव्हा घडतात, तेव्हा योगाभ्यासास खरी सुरुवात होते. आसनस्थ झाल्यावर सद्गुरुस्मरणपूर्वक हा प्राणायामाचा जो अभ्यास घडतो, त्यात *वज्रासनापासून सुरुवात करून मूळबंध, जालंधरबंध व वोढियाणा बंध असे त्रिबंध लावावे लागतात. या बंधत्रयांसह* ***अपानाची वाट मुरडणे*** *यांचा समावेश या अभ्यासाच्या प्रथम पायरीत केलेला आहे.* त्यासच ज्ञानेश ***"शरीराबाहेरिलीकडें पडणारी अभ्यासाची पांखर"*** असे म्हणतात. वस्तुत: हे सबाह्यांभ्यंतर ढवळून कढणारे साधन आहे. पण अद्याप अंतर्यामी त्या अभ्यासाचा प्रांत प्राथमिक पातळीपलीकडे विस्तारला गेलेला नाही. म्हणूनच ज्ञानेश या अवस्थेस ***"शरीराबाहेरील अभ्यासाची सावली"*** असे म्हणताहेत. पुढे वर्णन करत ज्ञानेश म्हणतात:

ऐसिं शरीराबाहेरिलिकडें। अभ्यासाचिं पांखर पडें।
तंव आंतु त्राएं मोडें। मनोधर्माचिं।।६-२११।।
कल्पना निमें। प्रवृत्ति शमें।
आंग मन विरमें। सांवियांचि।।२१२।।
क्षुधा काइं जाहालिं। निद्रा केऊतिं गेलीं।
हें आठवणहि हीरतलीं। न दिसें वेगां।।२१३।।

"अशी अभ्यासाची प्राथमिक अवस्था गाठली गेली की मनाचे धर्म लोपू लागतात. मनाचा कल्पना करणे, ही कल्पना घे, ती कल्पना सांड, या वृत्ती ओसरतात. त्याचप्रमाणे विषयांकडे धावण्याच्या व त्यांचे चिंतन करण्याच्या तसेच संकल्पप्रवण राहण्याच्या नैसर्गिक चित्तप्रवृत्तींचेही शमन होते आणि अंत:करण आपल्यठायीच लीन होते. क्षुधा, निद्रा इ.स्वाभाविक प्रवृत्तींचा लोप होतो. त्यांची आठवणसुद्धा उरत नाही. हे सर्व अभ्यासास लागले की विनाविलंब घडते."

जो मूलबंधें कोंडला। अपानु माघौतां मुरडलां।
तो सवेंचिं वरि सांकडलां। फुगु धरि।।२१४।।
क्षोभलेपणें माजें। उवाइलां ठाईं गाजैं।
मणिपूरैंसिं झूंजैं। राहौनियां।।२१५।।
मग थांवलीं तैं वाहुंटलीं। सैंघ होऊनि घर डहुलीं।
बालपणींचिं कुहिटुलीं। बाहेरि घालीं।।२१६।।
भीतरि बलिं न धरैं। कोठेआं माझिं संचरैं।
कफपित्तांचें थारैं। उरौ नेदिं।।२१७।।

"मूळबंधामुळे कोंडून माघारी जो ***अपान*** मुरडलेला असतो, तो जेथल्या तिथे कोंडला जातो. त्यामुळे तो क्षोभतो आणि गर्जना करत नाभिस्थानचे ***मणिपूरचक्र*** जे असते, त्याच्यावर हल्ला करतो. त्यानंतर अपानवायूची ती वावटळ जरा स्थिरावते आणि सर्व शरीराचा शोध घेऊन लहानपणापासून नाड्यांमध्ये निर्माण झालेले व उपजत असलेले सर्व दोष हुडकून काढून त्यांचा नायनाट करते. मणिपूरचक्रात प्रवेश न मिळाल्याने तो अपानवायू उदरात संचार करतो आणि कफपित्त दोषांचा शोध करून ते समूळ नष्ट करतो."

धातूंचें समुद्र उलंडीं। मेदाचें पर्वत फोडिं।
आंतुलिं मज्जा काढिं। अस्थिगत।।६-२१८।।
नाडितैं सोडविं। गात्रांतैं विघडविं।
साधकांतैं भेडसविं। परि बिहावें ना।।२१९।।
व्याधितैं दाविं। सवेंचि हारविं।
आपु पृथ्वि कालविं। एंकवट।।२२०।।

"त्याचप्रमाणे सप्तधातूतील दोषांचा हुडकून नाश करत, मेदाचा जडपणासह बिमोड करत, अस्थीतील मज्जारज्जूंमध्ये प्रवेशून ते सर्व साफ करण्याचे कार्य तो माघौता फिरलेला अपानवायू करतो."

(**टीप:** यात पाठीच्या कण्यातून जाणाऱ्या पृष्ठवंशरज्जूचाही समावेश असतो. याच्याशीच संबंधित सुषुम्ना, इडा व पिंगला या नाड्याचे मार्ग असतात.)

"सर्व नाडिजाल साफसूफ करून देहदोष नष्ट करत असता त्या वायूद्वारे अवयवांतील रोग उफाळून येतात. तसेच साधकास भय वाटेल, असे विक्षेपही चित्तात त्या वेळी उपटतात. पण साधकाने यांमुळे घाबरून जाऊ नये. अवयवांना शैथिल्य येणे, व्याधी उपजणे, इ.विकारांचा परिहार तो अपानवायू स्वत:च करतो. साधकाच्या देहातील आप व पृथ्वी या दोन्ही महाभूतांचे अंश त्या वायूच्या क्रियेमुळे एकमेकांत कालवले जातात."

"औटवलणि कुंडलिनी"::::

"नागाचें पिलें। कुंकुमें नाहालें"

तंव एरिकडें अर्जुना। आसनाचां उबारां।
शक्ति करिं उजगरां। कुंडलिणिएं।।६-२२१।।
नागाचें पिलें। कुंकुमैं नाहालें।
वलण घेऊनि आलें। सेजैं जैसें।।२२२।।
तैसिं तैं कुंडलिणि। मोटकिं औठैवलणिं।
अधोमुख सर्पिणि। निदैलिं असें।।२२३।।

"कोंडलेल्या अपानाकडून हे कार्य बंधक्रियेमुळे घडत असता, वज्रासनामुळे उष्णता निर्माण होऊन त्यामुळे कुंडलिनीशक्तीस जागृती येते. केशराने न्हायलेले नागाचे पिलू वेटोळे घालून निद्रिस्त असावे, अशी दिसणारी ती सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्रव्याच्या जडणघडणीची कुंडलिनी -मोटक्या साडेतीन मात्रांची ती शक्ती - सर्पिणीप्रमाणे भासते. ती आपले मुख अधोभागाकडे करून निद्रित असते. उपमा द्यावयाची तर विद्युल्लतेची वाटोळी कडी किंवा अग्नीच्या ज्वालेची केलेली घडी म्हणावी अथवा चोख चकचकीत सोन्याचे पिवळेधम्मक वळे असावे, तशी ती दिसते. संपुष्टात घट्टपणे दाबून ठेवावी, तशी ती असते."

कुंडलिनी जागृती

वज्रासनाच्या उष्णतेमुळे व योनिस्थानी पीडल्यामुळे ***("सव्य तो तलीं ठेविजैं। तेणें सिवणिमध्यु पीडिजैं।..।।६-१९७।।")*** ती चिमटे घेऊन जागे करावे तशी सावध होते. तारका तुटून पडावी किंवा सूर्याने स्थानावरून अकस्मात ढळून खाली पडावे, किंवा प्रकाशरूपी बीज अंकुरावे, तशी निमिषोन्मेषात आपले वेढे सोडवत, लीलया आपले अंग सरळ करत ती शक्ती कंदस्थानी खाली शेपूट व वर फणा केलेल्या नागिणीप्रमाणे उभी राहते.

कुंडलिनीच्या उत्थापनादी क्रिया

***कुंडलिनीजागृती अवश्यंभावी* असणाऱ्या** पंथराजाचे पुढील मार्गक्रमण दर्शवत ज्ञानेश म्हणतात:

साहाजें बहुवां दिआंचिं भूक। वरि चेवविलीं तैं होय मिख।
मग आवेसें पसरविं मुख। ऊर्ध्वा उजूं।।६-२२८।।
तेथ हृदयाकाशतलुवटीं। जो पवनु भरैं किरीटी।
तेयां सगलेंयांचि मिठी। देऊनि घालीं।।२२९।।
मुखिंचां ज्वालीं। तलीं वरीं कवलीं।
मांसाचिं वडवालीं। अरोगूं लागें।।२३०।।
जैं जैं ठांय समांस। तेथ आहाच जोडें घाऊस।
पाठीं एकदोन घांस। हियांहीं भरि।।२३१।।
मग तलुवैं तलुहाथ शोधिं। ऊर्ध्वींचें खंड भेदीं।
झाडां घें संधिं। प्रत्यांगाचां।।२३२।।

"निद्रेतून बऱ्याच काळाने जागृत झालेली ती कुंडलिनी भुकेने वखवखलेली असते. त्यातून तिला डिवचून जागे केल्याचे निमित्त मिळते. म्हणून काय गिळू अन काय नको- खाऊ की गिळू असे तिला होते. मग ती आपले मुख ऊर्ध्व बाजूकडे करून आ वासते. अर्जुना हृदयाकाशाच्या तळाकडील बाजूस जो प्राण भरलेला असतो, त्या सगळ्या वायूस ती खाऊन टाकते. मुखातून ज्वाळांचे लोळ टाकत, फुस्कारे सोडत ती देहांतरास खालपासून वरपर्यंत त्या ज्वाळांनी आक्रांत करते आणि त्यात सर्व दूरच्या मांसाचे घास ग्रस्त करते. जे जे मांसल ठिकाण असते, त्याचा वरच्यावर मोठा लचका तोडून तो भक्षिते आणि हृदयाच्याही मांसाचे एकदोन घास ती घेते. मग तळहात व तळपाय यातील सर्वांचे शोधन करून, अंगावरील मोठमोठे मांसखंड भेदून ती कुंडलिनी अंगप्रत्यंगांचा झाडा घेते."

आधार तन्हैं न संडीं। परि नखिंचेंहि सत्त्व काढीं।
त्वचा धुवूनि जडी। पांजरेंसिं।।६-२३३।।
अस्थिंचें नलैं निरपैं। सिरांचैं हिर ओरपैं।
तंव बाहेरिं विरुढी करपैं। रोमबिजांचिं।।२३४।।
मग सप्तधातूंचां सागरिं। तान्हैलीं घोंटु भरि।
आणि सवेंचिं उन्हाला करि। खडखडीतु।।२३५।।
नासापुटौनि वारा। जो जात होतां आंगुलैं बारा।
तो गचियें धरौनि माघारां। आंतु घालिं।।२३६।।

"आपले मूलस्थान - आधार न सोडता ती हे सर्व करते. एवढेच काय त्याच ठिकाणी राहून नखांचे सत्त्व ओरबाडून घेते; त्वचेचा निचरा करते व तिला देहपंजराशी चिकटवून सोडते; अस्थिपंजर देहातील हाडांच्या नळ्या चोखून टाकते; शिरांच्या काड्यान्काड्या ओरपून घेते; अशा वेळी रोमकणिकांची बीजेच ती करपवून टाकते. सप्तधातूंचे सागर ती एकाच घोटात पिऊन टाकून देहांतरी उन्हाळ्याचा खडखडाट करते. नाकपुड्यातून सदोदित बारा अंगुळे येवढ्या परिसरात जो श्वास-प्रश्वाससंबंधाने वाहणारा वायू असतो, त्यास पकडून ती गच्च धरून पूर्णपणे देहांतरी दडपते." ***हीच कुंभकाची अवस्था आहे.***

चक्रनाड्यादी प्रक्रिया

तेथ अध वरौतैं आकुंचैं। ऊर्ध्व तलौंतैं खांचैं।
तेआं खेंवांमाजिं चक्रांचें। पदर उरति।।६-२३७।।
यरविं तन्हैं दोनिं तेव्हांचि मिलति।
परि कुंडलिणी नांवेक दुश्चित होति।
तैं तेयांतैं म्हणें परौति। तुमिचिं कांइंसिं एथें।।२३८।।
आइकैं पार्थिव धातू आघवें। आरौगितां कांहिं नुरवैं।
आणि आपांतैं तंव ठेवें। पुसौनियां।।२३९।।
ऐसिं दोनिं भूतें खाएं। तैं वेलीं संपूर्ण धाएं।
मग सौम्य होऊनि राहें। सुषुम्नेपासिं।।२४०।।

"त्या समयी ऊर्ध्वीचा प्राणवायू तळाकडे खेचला जातो व अधोभागींचा अपान वायू वरच्या बाजूला ढकलला जातो. प्राणापान

एकमेकात मिसळतात. त्यांच्या त्या मिळणीत सापडलेल्या चक्रांचे केवळ नाममात्र अस्तित्व उरते. खरे तर प्राणापान आताच सम झाले असते. पण अजूनही कुंडलिनी क्षोभलेलीच असते. ती अद्याप शांत झालेली नसते. त्या क्षोभाने ती प्राणापानांनाही पुन: पिटाळून लावते. *"तुमची येथे काय गरज! तुम्ही चालते व्हा!"* असे ती प्राणापाणांना खडसावते. म्हणून ते सम न होता बाजूला सरतात. अर्जुना! अशा प्रकारे पृथ्वीतत्त्वास कुंडलिनी समग्र ग्रासते आणि आपतत्त्वासही चाटूनपुसून आपल्यात स्वाहा करते. पृथ्वी आणि आप तत्त्वांना -या दोन्ही महाभूतांना भक्षण केल्यावर तिची तृप्ती होते. मग ती सौम्य होऊन सुषुम्नामुखाजवळ पहुडते"

कुंभकाची सिद्धी

अशा प्रकारे पृथ्वी व आप या तत्त्वांचा ती ***कुंडलिनी*** आपल्यात लय करवून घेते. त्यापुढच्या प्रक्रिया सांगत ज्ञानेश म्हणतात:

तेथ तृप्तिचेनि संतोखें। गरल जैं वमि मुखें।
तेणें तियेचेनि पीयूखैं। प्राणु जियें।।६-२४१।।
तो आगिंआंतूनि निघें। परि सबाह्य निववूंचि लागें।
तैं वेलीं कसु बांधिति आंगें। सांडिलां पुडुति।।२४२।।

"त्या वेळी तृप्तीने संतोष पावलेल्या त्या कुंडलिनीच्या मुखातून गरळ ओकले जाते. आणि तिच्या मुखातून अमृतही बाहेर पडते. त्या अमृताच्या योगाने पांगुळलेला प्राणवायू जिवंत राहतो. गरळरूपी अग्नीतूनच हे अमृत प्रकट होत असते. अमृतमंथनाच्या वेळी जसे हलाहल बाहेर पडले आणि नंतर अमृत मिळाले , तसेच हे देहाचे घुसळण होते. त्या अमृताचे सेवन केलेला प्राण मग सर्व शरीरास अंतर्बाह्य सुखावतो आणि शांत करतो."

(**टीप:**देवदानवांनी केलेले क्षीरसागरमंथन अन् त्यातून झालेली हलाहल व अमृतप्राप्ती यांचे रूपक येथे आहे. वासुकी सर्प म्हणजे कुंडलिनी, मेरुपर्वत म्हणजे मेरुदंड इ.उपमा येथे वापरल्या जातात.)

मार्ग मोडिथि नाडीचें। नवविधपण वायूचें।
जाएं म्हणौनि शरीरिचें। धर्मु नाहीं।।६-२४३।।
इडा पिगला एकवटथि। गांठी तिान्हिं सूटति।
साही पदर फुटथिं। चक्रांचें हें।।२४४।।
शशि आणि भानु। ऐसां कल्पजैं जो अनुमानु।
तो वातिवरि पवनु। गिंवसितां न दिसें।।२४५।।

"तसेच सर्वांगात चेतना संचारते. देह निव्वळ चेतनामय होऊन जातो त्या वेळी शरीरातील नाड्या एकवटतात. शरीरातील वेगवेगळ्या नाड्या ज्या वेगवेगळ्या मार्गांनी जातात, त्यांचे विविधत्व लोपते. प्राणवायूचे ***अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त आणि धनंजय*** इ.नऊ प्रकार जाऊन केवळ एकला प्राणवायूच सर्वदूर संचारतो. **इडा-पिंगळा एकवटून सुषुम्नेत मिळतात. ब्रह्म, विष्णु व रुद्र या तिन्ही गाठी सुटतात. षट्चक्रे जी नाममात्र उरलेली असतात- मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा ही षट्चक्रे - ती लोपतात. *शशी व भानु*** हे उजव्या व डाव्या नासिकांतून वाहणारे ***इडा व पिंगलारूप* पूरक व रेचक** असे प्राणवायूचे अवस्थानिदर्शक प्रकार उरत नाहीत. नाकापुढे सूत लावले असता प्राणांचे वाहणे स्तब्धावले आहे, असे जाणवते व कुंभक साध्य होतो. त्यावेळी शरीरधर्म राहत नाहीत."

"पिंडाचेनि आकारें। कलाचिं अवतरैं"

बुद्धीची पुलिका वीरैं। परिमलु घ्राणिं उरैं।
तोहिं शक्तिसवें संचरैं। मध्यमेमाजिं।।६-२४६।।
तंवं वरिलेकडौनि ढालैं। चंद्रामृताचें तलैं।
कानवडौनि मिलैं। शक्तिमुखिं।।२४७।।
तेणें नातकैं रसु भरैं। तो सर्वांगामाझिं संचरैं।
जेथिंचां तेथ मुरैं। प्राणपवनु।।२४८।।

"अशा समयी बुद्धी विरून जाते. नासांतरी राहिलेला स्तंभित वायू शक्तीबरोबरच सुषुम्नेत प्रवेशतो. त्या वेळी वरलीकडले चंद्रामृताचे तळे हळूहळू कलते होऊन कुंडलिनीमुखात ओतले जाते. कुंडलिनीमध्ये ते अमृत भरते आणि सर्वांगात संचरते. त्या वेळी दशविध वायूंचा एकात समावेश होऊन जो उरलेला असतो तो प्राणवायू जिथल्या तिथे मुरतो."

तातलिएं मुसैं। मेण निघौनि जाएं जैसें।
कोंदलीं ठाएं रसें। वोतलेनि।।६-२४९।।
तैसें पिंडाचेनि आकारैं। तैं कलाचिं कां अवतरैं।
वरि त्वचेचैनि पदरैं। पांघुरिलीं असें।।२५०।।
जैसिं आभालाचिं बूंथि। करूनि राहें गभस्ति।
मग फिटैलेयां दीप्ति। धरूं नैएं।।२५१।।
तैसां आहाचिवरि कोरडा। त्वचेचां असे पातवडा।
तो झडौनि जाएं कोंडा। जैसां होएं।।२५२।।

"तापवल्यावर मुशीत ठेवलेले मेण वितळून जाऊन द्रवरूप होऊन त्यामुळे ती मूस जशी भरून राहावी, त्याप्रमाणे वरील पिंडाकार शरीरात मूर्तिमंत ***सतरावी कळा*** च अवतरते.अभ्राच्या आवरणाने अवगुंठित असा सूर्य जसा असावा, तसा त्वचेच्या पापुद्र्याच्या पडद्याआड त्या कळेचा झाकलेपणा असतो. अभ्र फिटून गेले की सूर्याचे तेज जसे आवरून धरता येत नाही, त्याप्रमाणे शुष्क झालेल्या कातडीचा कोंडा झडून गेल्यावर त्या कलेचे तेज सर्वदूर फाकते."

"जैं हेलिं कुंडलिनी चंद्रु पिएं"

मग काश्मिराचें स्वयंभ। कां रत्नबीजां निगालें कोंभ।
अवयवकांतिचिं भांभ। तैसिं दिसें।।६-२५३।।
ना तन्हैं संध्यारागिंचें रंग। काढूनि वलिलैं तैं आंग।
किं अंतर्ज्योतिचें लिंग। निर्वाललैं।।२५४।।
कुंकुआचें भरिवं। सिद्धरसाचें ओतिवं।
मज पाहतां सावेव। शांतिचि तैं।।२५५।।

"तेव्हा मूर्तिमंत स्फटिकच दृश्यमान व्हावा , रत्नरूपी बीजास प्रकाशाचे अंकुर फुटावेत, तशी त्याच्या देहावयवांची कांती दिसू लागते. संध्यासमयी पश्चिमेकडे आकाशात उधळले जाणारे रंग घेऊन त्यांची मूर्ती घडवावी, चैतन्यज्योतीचे लिंग घडवावे, अथवा केशराची भरीव आकृती करावी किंवा अमृताचा ओतीव पुतळा घडवावा, तसा तो साधक दिसू लागतो. मला तर असेही वाटते की तो साधक म्हणजे सावयव शांतीचे मूर्त रूपच असतो."

तैं आनंदचित्रिचें लेप। ना तन्हैं महासुखाचें रूप।
किं संतोखतरूचें रोप। थांवलैं जैसें।।६-२५६।।
तो कनकचंपकाचां कलां। किं अमृताचां पुतलां।
नाना सांसिन्नलां मलां। कोंवलिकेचां।।२५७।।
हो कां जैं शारदियेचियें ओलैं। चंद्रबिंब पाल्हैलैं।
कां तेजचिं मूर्त बैसलैं। आसनावेरिं।।२५८।।
तैसें शरीर होएं। जै हेलीं कुंडलिनी चंद्रु पिएं।
मग देहाकृतिं बिहैं। कृदांतु गां।।२५९।।

"तो योगी जणू काय आनंदरूपी चित्रातील रंग अथवा महासुखाचे रुपडे किंवा जोमात उफाळलेले संतोषरूपी वृक्षाचे रोपटेच असतो. सोनचाफ्याची मोठी कळी किंवा अमृताचा भरीव पुतळा अथवा नजाकतीचा बहरलेला मळाच असावा, असा तो साधक तेव्हा भासतो. शारदीय वातावरणातील उल्हास पिऊन चंद्रबिंबाने पाझरावे किंवा मूर्तिमंत तेजच आसनस्थ व्हावे, तसा तो योगी मनोहारी रूप प्रकटवतांना दिसतो. कुंडलिनी जेव्हा चंद्रामृत पिते, तेव्हा योग्याचा देह अशा अद्वितीय स्वरूपात परिणत होतो. त्या समयी तो देह पाहून कळिकाळासही पळून जावे लागते."

"परि लाघौ ऐं वायूचें"

वृद्धाप्य तन्हैं बहुडैं। तारुण्याचिं गांठि विघडैं।
लोपलीं उघडैं। बालदशा।।६-२६०।।
वयसा तन्हैं येतुलेंवरीं। एरविं बलाचां बलार्थु करिं।
धैर्याचिं थोरिं। निरुपम।।२६१।।
कनकद्रुमाचां पालविं। रत्नकलिकांचि नित्य नविं।
नखैं तैसिं बरविं। नविं निघतिं।।२६२।।

"त्या देहापासून वृद्धत्व माघारी फिरते, तारुण्य फिटते आणि मूळ बाल्यावस्था विराजमान होते. बालकत्व अंगी आले तरी बळाची व धैर्याची थोरवी निरुपम असते. कुवलयापीड गजास किशोररूप श्रीकृष्ण-बलरामांनी जसे लीलया पीडले, त्याची आठवण जागी करून देणारे बल- वीर्य- धैर्य तो योगी अंगी बाळगत असतो. कांचनवृक्षास रत्नकलिका- शुक्तिपल्लव प्रकटावेत तशी नव्हाळीची नखे त्याला येतात. त्यांची कांती काही औरच असते."

दांतहिं आन होति। परि अपाडें सांनैजति।
जैसिं दोबाहिं बैसें पातिं। हिरेयांचिं।।६-२६३।।
माणिकुलियांचियां कणियां। साावियांचि अणुमानियां।
तैसियां सर्वांगिं उधवति अणिया। रोमांचियां।।२६४।।
करचरणतलैं। जैसिं कां रातोत्पलैं।...।।२६५।।

"दातांच्या नवीन कुंदकळ्याही प्रकटतात. त्या अशा दिसतात की जणू हिऱ्यांच्या दोन पंक्ती एकावर एक बसवल्या असाव्यात! सर्वांगावरील रोम तर असे असतात की जणू माणिकाचे सानुले कणच सर्वदूर पसरलेले आहेत. करतल व चरण तर जशी काही रक्तवर्ण कमलपुष्पेच असावीत असे दिसतात."

...। पाखालीं होथिं डोलैं। काइं सांघों।।६-२६५।।
निडाराचेनि कोंधाटें। मोतियें नावरति संपुटैं।
मग सिवणि जैसिं उतटें। शुक्तिपल्लवांचिं।।२६६।।
तैसिं पातिचियें कवलियें ना सामाएं।
दिठी जाकलौनि निगों पाहें।
आधिलिंचिं परि होएं। गगना कलितिं।।२६७।।

"चक्षू तर स्फटिकच असावेत असे स्वच्छ दिसतात. भरगच्च वाढलेला मोती जसा शिंपल्यात मावेनासा झाल्याने शिंपीच्या संपुटाची शिवण उकलते, तसे दृष्टीचे होते. पापण्यांच्या पात्यात दृष्टी मावत नाही, म्हणून त्या पापण्या अर्धोन्मीलितच राहतात. दृष्टी जरी अर्धोन्मीलित पापण्यांना भेदून बाहेर पडत असली, तरी ती गगनास गवसणी घालते."

आइकैं देह होएं सोनियाचें। परि लाघौं ऐं वायूचें।
जैं पृथ्वि आन आपाचें। अंशु नाइं।।६-२६८।।

"अर्जुना! त्या योग्याचा देह असा सुवर्णचंपकासारखा होतो. सुवर्णकांतीने वेष्टिला गेलेला तो देह मात्र वायूसारखा हलका व चपळ असतो. कारण मगाच सांगितल्याप्रमाणे त्यातील पृथ्वी व आपतत्त्वांचा निरास होऊन त्यांचा अंशही त्या देही उरत नाही."

समारोप

यानंतर अशा योग्यास प्राप्त होणाऱ्या सिद्धींचे ज्ञानेश अत्यंत संक्षिप्ततेने वर्णन करतात. त्याविषयी अधिक विचार व योगसिद्धींचे परीक्षण, तसेच पंथराजाचे पुढील मार्गक्रमण येत्या **उन्मेष क्र.४४-२: योगविभवभाण्डार - कुंडलिनी जगदंबा** यात करता येईल. तर आता वळू या कुंडलिनी जगदंबेच्या पुढील रूपदर्शनाकडे!

::उन्मेष ४४-२::
::योगविभवभाण्डार::
:: कुंडलिनी जगदंबा::

ऋतंभरा प्राप्तीचा मार्ग:योगसिद्धी-७२७
पातञ्जलयोगविभूति व कुंडलिनी
अंतरंग योगांगे: धारणा व चित्ताचा निरोध
ध्यान-समाधि-संयम-७२८
ऋतंभरा प्रज्ञा
निर्बीज समाधीचा मार्ग
समाधिश्रेणी
ऋतंभरा प्रज्ञा, सरस्वती व कुंडलिनी-७२९
योगातील अंतराय व त्यावरील उपाय
एकतत्त्वाभ्यास
प्राणायाम
विषयवति वृत्तीचा योगाभ्यासार्थ उपयोग-७३०
सत्त्वविवृद्धी
संतस्मरण
एक आगळे आलंबन
ध्यानाचा विषय
वैराग्य-७३१
समापत्ति:समाधिस्थिती
सबीज समाधी
सवितर्क समाधि
निर्वितर्क समापत्ति-७३२
सविचार व निर्विचार समाधि
पातञ्जलोक्त समाधीचे आलोकन
पुढील वाटचाल
संप्रज्ञात समाधि ते असंप्रज्ञात समाधि -७३३
आलंबनार्थ अत्यंत सूक्ष्म अशी प्रकृति
अस्मितेसह सर्वलय व अध्यात्मप्रसाद
समाधिसोहळ्याची इतिकर्तव्यता –७३४
समाधिस्थ चित्त व योगविभूति:प्रज्ञेचा उदय
प्रज्ञा व ऋतंभरा प्रज्ञा
प्रज्ञेचा विनियोग
समाधिस्थ चित्ताची अवस्था
संयमाद्वारे सिद्धींची प्राप्ती-७३५
भूतभविष्यादी त्रिकालज्ञान
भूतमात्रांचे बोलणे समजणे
पूर्वजन्माचे ज्ञान
परचित्तज्ञान
अंतर्धान पावणे
मृत्यूचे पूर्वज्ञान
भावसंधारणसिद्धी
बलप्राप्ती
दूरदर्शन सिद्धी
ज्योतिष-खगोलविषयक ज्ञान
शारीर ज्ञानविज्ञानादी
सिद्धपुरुष दर्शनादी
पुरुषसंयम व प्रातिभ सिद्धी:::: -७३६
सर्वज्ञातृत्वसिद्धी
चित्तज्ञान
प्रातिभ ज्ञान
पुरुषसंयम व प्रातिभसिद्धी: परकायाप्रवेश –७३७
शरीर पिसासारखे हलवेऊ करणे व स्वेच्छामरण
समानजय व अग्नीवर हुकमत चालवणे
दिव्यश्रावण, वेदनादी सिद्धी
आकाशगमन
महाविदेहावृत्ति
अष्टमहासिद्धी, कायसंपत व भूतजय
आध्यात्मिक सिद्धी:इंद्रियजय -७३८
मनोजवित्व, विकरणभाव व प्रधानजय
सर्वभावाधिष्ठातृत्व व सर्वज्ञातृत्व
कैवल्य-७३९
योगसाधनेची इतिश्री
गीतेत सिद्धींचा अनुल्लेख
कुंडलिनी उत्क्रमण(१):पूर्वसूत्र
जगदंबा कुंडलिनीचे उत्क्रमण -७४०
अनाहतनाद
"अनाहताचेनि मेघें। आकाश दुमदुमों लागें"
"द्वैत न देखैं। आइसें केलें"
"सोनियाचिं सरी। प्रकाशजलाचिं झरीं"
"नेणें नादबिंदकलाज्योति"-७४१
पुढील कुंडलिनीप्रक्रिया
"गगनीं गगन लयां जाएं"-७४२
"पदीं पद प्रवेशें"
"महाशून्याचां डोहिं"
"तैं आपणचि ठाकावें। होऊनियां"-७४३
ब्रह्मैक्यानुभव
पुढील अनुसंधान
समारोप

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

उन्मेष ४४-२:

गीता:
२:६१,६४
५:१६
६:१६,
७:६,७,१२,१६-१९
१०:२०
११:२५,३१,४४,४५
१४:६,११
१८:१६,१८,६२,
ज्ञानेश्वरी:
२:२७३
६:२४६-२९०,२९२-३३३
१८:१७१९-२०
पा.यो.सू.:
१:२,१५,१७-२२,२९,३२-५१
३:१-२६,२९-५५
४:५

::उन्मेष ४४-२::
::योगविभवभाण्डार::
::कुंडलिनी जगदंबा::

ऋतंभरा प्राप्तीचा मार्ग::::

योगसिद्धी

गत उन्मेषात आपण पंथराजाचे मार्गक्रमण पाहतांना योग्यास ज्या सिद्धी प्राप्त होतात, तेथपावेतो येऊन थांबलो होतो. योगसाधकांस भुरळ पाडणारा जो हा सिद्धींचा प्रांत आहे, त्याचे बरेच सविस्तर वर्णन इतरत्र पाहण्यास मिळते. उदा. पातञ्जलयोगसूत्रातील ***विभूतिपाद*** म्हणून विख्यात असणारे प्रकरण या सिद्धींच्या विषयासच वाहिलेले आहे.

श्रीमद्भागवताच्या ***एकादश***स्कंधातही सिद्धींचे एका संपूर्ण प्रकरणात वर्णन केलेले आहे. संत श्रीएकनाथांनी आपल्या भागवतात त्यांचे तसेच सविस्तर वर्णन केलेले आहे. लोकांची अशी श्रद्धा आहे व विद्वानांचे असे मत आहे की ज्ञानेश्वरीचा उर्वरित भाग तिला पूरक अशा समजल्या जाणाऱ्या श्रीएकनाथी भागवतात आहे म्हणून! गीतेत या सिद्धींविषयी प्रत्यक्ष उल्लेख आढळून येत नाही.

सर्वानुमते सिद्धी या योगमार्गात उद्भवणारे विघ्न आहे. सिद्धिप्रादुर्भवाने साधकास आपली योगमार्गात किती प्रगती झाली आहे, याचा अंदाज जरी घेता येत असला, तरी त्यांच्या मोहात गुंतून पडल्यास योगसाधनेत अंतराय येण्याची शक्यता फार असल्याने सर्व साधुसंत- योगी- द्रष्टे पुरुष साधकांस त्यांच्यांत भुलून कर्तव्यच्युत न होण्यासंबंधी निर्वाणीचे उद्गार काढतांना दिसतात. असो.

ज्ञानेश मात्र या योगसिद्धींचे त्रोटक पण प्रसंगोपात्त वर्णन करतांना आढळतात. परंतु त्याचवेळी योगसाधकांना सावधानतेचा इशारा देण्यास विसरत नाहीत, हेही खरे. ते म्हणतात की जेव्हा योग्याचा देह असा योगाने मंडित होतो*(**आइकैं देह होएं सोनियाचें। .....।।६-२६८।।-**उन्मेष:४४-१:योगविभवभाण्डार-पंथराज पृ.क्र.७२६)*, तेव्हा:

मग समुद्रापैलाडीं देखैं। स्वर्गिंचां आलोचु आइकैं।
मनोगत ओलखैं। मुंगिएंचें।।६-२६९।।
पवनाचां वारिका वलघैं। चालैं तऱ्हैं उदकीं पाओ न लगें।
एणें एणें प्रसंगें। एतिं बहुतां सिद्धीं।।२७०।।

"योगी जेव्हा या अवस्थेप्रत पोहोचतो, तेव्हा त्याला खूप सिद्धी प्राप्त होतात. सातासमुद्रापलीकडे घडणारी घटना पाहता येण्याची ***दूरदर्शन***नामक सिद्धी, स्वर्गात चालणारे विचार ओळखता येण्याची सिद्धी, मुंगीपासून ब्रह्मदेवापर्यंत सर्वांच्या अंतर्यामीचे विचार ओळखता येण्याची सिद्धी, वायुप्रमाणे सर्वत्र संचार करता येणे अशी ***सर्वगामित्व*** सिद्धी, पाण्याचा स्पर्शही न होता पाण्यावरून चालत जाता येणे, अशा अनेकानेक सिद्धी त्याला त्या वेळी प्राप्त होतात."

याप्रमाणे योगसिद्धींचे ज्ञानदेव थोडक्यात वर्णन करतात.

पातञ्जलयोगविभूति व कुंडलिनी

असे आहे तरीही या विषयासंबंधी व मुख्यत: सिद्धी व योगसाधना यांचा वैज्ञानिक संबंध तपासून पाहण्यासाठी आपण साधकांच्या दृष्टीने यामागचे विज्ञान जमेल तेवढे जाणून घेणे योग्य ठरेल. तरी *पतञ्जली* या योगविभूतींविषयी काय म्हणतात, ते संक्षेपाने पाहू या. त्यासाठी आपणास पतञ्जलींनी सूत्रबद्ध केलेल्या समाधीच्या गूढ अंतरंगात डोकावणे आवश्यक ठरते.

अष्टांगयोगाची पाच ***बहिरंग*** अंगे म्हणजे ***यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार*** यांचा अभ्यास परिपक्व झाला की साधक आपोआपच ***धारणा, ध्यान व समाधि*** या त्याच्या तीन *अंतरंग* अंगांस आपलेसे करून घेण्याकडे वळतो. पहिल्या पाच योगांगांचा ***साधनपाद*** नावाच्या पातञ्जलयोगसूत्रांच्या द्वितीय भागात परामर्ष घेतलेला आहे. आपणास जमला तितका त्यांच्याविषयीचा तसेच समाध्यादी अंगांचाही विचार आपण पूर्वी केलेला आहे *(उन्मेष ६:श्रीगीता व पातञ्जलयोग:पृ.क्र.९५ ते १०९;उन्मेष(८):पंथराज:पृ.क्र.१२०ते१३९व इतरत्र).*

गीतेचा गाभा खरे तर ***धारणा, ध्यान व समाधि*** यांच्याशी अभिन्न आहे. त्यातही कुंडलिनीची अजोड सांगड या अंतरंग योगांगांशी घालून देऊन ज्ञानेशांनी गुह्यातिगुह्य असे योगरहस्य प्रकट केलेले आहे. हे रहस्य उघडउघड सांगण्यास ना तर श्रीकृष्ण तयार होते, ना पतञ्जली! याच एका कारणाने ज्ञानेश्वरीची योगप्रांतात एकमेवाद्वितीय अशी गणना केली पाहिजे. कुंडलिनीचे रहस्य व तिचे योगसाधनेत असणारे मध्यवर्ती स्थान लक्षात घेतलेल्या ***श्री. कृ.के. कोल्हटकर*** या आधुनिक योगमहर्षींनी तिचा पातञ्जल योगसूत्रांशी संबंध साधनपादाच्या प्रथम सूत्रावर भाष्य करतांना त्यांच्या ***भारतीय मानसशास्त्र अथवा सार्थ व सविवरण पातञ्जलयोग-दर्शन*** या ग्रंथात दर्शवला आहे. ***"देशबंधश्चित्तस्य धारणा।।३-१।।पा.यो.सू.।।"*** असे ते प्रथम सूत्र आहे.

अंतरंग योगांगे::::

धारणा व चित्ताचा निरोध

चित्त निश्चल करणे, स्थिर करणे, एखाद्या विषयावर ते एकाग्र करणे यासाठी ***धारणा, ध्यान व समाधि*** यांचा अभ्यास साधकाने करावयाचा असतो. या अभ्यासाने साध्य केलेल्या चित्ताचे वर्णन श्रीगीतेत येते, ते असे आहे:

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोमपा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन:।।६-१९।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।६-२०।।

"निर्वात स्थानी असणारी दीपज्योत जशी हलत नाही, त्याचप्रमाणे आत्मयोगाचे आचरण करणाऱ्या योग्याच्या चित्ताची स्थिरता असते. योगाभ्यासाने नियमन केलेल्या अशा सुस्थिर व निरुद्ध चित्ताने योग्यास आत्मसाक्षात्कार होतो. अतींद्रिय अशा त्या आत्म्याच्या साक्षात्काराने तुष्ट झालेला योगी परमाधिक सुख पावतो व आत्मज्योतीपासून पुनश्च कधीही विचलित होत नाही."

योगदर्शनशास्त्रात याच स्थितीस पोहोचण्यासाठी ***"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।।१-२।। पा.यो.सू.।।"*** असे परवलीचे सूत्र आरंभीच सांगितलेले आहे, हे जिज्ञासूंना निश्चितच स्मरत असेल. असो.

ध्यान, समाधि व संयम

चित्तास विवक्षित देशावर बांधून घालणे म्हणजे ***धारणा .*** देश म्हणजे चित्ताने लक्षिलेला विषय, स्थान, विचार वा तत्सम चित्ताकर्षण करणारी गोष्ट. धारणेचे सातत्य किंवा नैरंतर्य म्हणजे ***ध्यान.*** या अर्थी पतञ्जली म्हणतात: ***"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।३-२।।पा.यो.सू.।।"*** - चित्ताने आलंबन म्हणून जी गोष्ट घेतली असेल, तिचे प्रतिक्षणी सातत्य राखणे - ***चित्त त्याच भावनेवर एकतान करणे व असे निरंतर करणे म्हणजे ध्यान करणे.***

ध्यानाची परिपक्व अवस्था म्हणजे *समाधि.* स्वत:चेही भान हरपून जाऊन भाव्य विषयाशी अखंड एकरूपता प्राप्त होणे ही समाधि होय. यास्तव पतञ्जली म्हणतात की, ***"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:।।३-३।।पा.यो.सू.।।"*** - भाव्य वस्तुव्यतिरिक्त कोणताही अर्थ चित्तास प्रतीत न होणे, एवं च काय! आपण भाव्य वस्तूचे ध्यान करत आहोत, असे पण न जाणवणे, ध्येय्य वस्तू व आपण यातील अद्वैत प्रस्थापित होणे, हा समाधि होय. समाधिकाली स्वरूपशून्यता प्राप्त होत नसली, तरी तत्सदृश अवस्था प्राप्त होते. ध्येय्य वस्तूशी इतकी चित्ताची एकाग्रता होते, तो समाधि समजावा.

सर्वासाधारणतया धारणेचा देश, ध्यानाचा विषय व समाधि हे एकाच वस्तू वा भाव्याशी संबंधित असतात, त्यांचे असे अभिन्नत्व ध्येय्यवस्तुसापेक्ष असणे म्हणजे ***संयम.*** धारणा, ध्यान व समाधि एकाच भाव्य वस्तूशी पूर्णतया संबंधित असल्यास पतञ्जली म्हणतात तसा ***"त्रयमेकत्र संयम:।।३-४।।पा.यो.सू.।।"***- संयम साध्य होतो.

ऋतंभरा प्रज्ञा

संयम साध्य झाला म्हणजे संयमावर जय मिळवला की ***प्रज्ञा*** उदित होते. ***"तज्जयात्प्रज्ञालोक:।।३-५।।पा.यो.सू.।।"*** उत्कट, प्रकर्षाने एखाद्या विषयाचे ज्ञान प्राप्त होणे हे प्रज्ञेचे फल आहे. अशी प्रज्ञा संयमाच्या सिद्धीने प्राप्त होते, असे पतञ्जली म्हणताहेत. अशा प्रज्ञेचा जसा विनियोग साधक करील, तसे फल त्याला प्राप्त होते. ***ऋतंभरा*** असे या प्रज्ञेचे सार्थ नाम आहे.

ही प्रज्ञाच योग्याठायी सिद्धींचा प्रादुर्भाव करवते. खरे तर ही प्रज्ञा योग्यास ***असंप्रज्ञात समाधि*** प्राप्त करून देणारी आहे. परंतु चित्तातील संस्कारांचा पूर्ण लोप व्हावा म्हणून ही प्रज्ञा जेव्हा प्रथम उदित होते, तेव्हा विषयोपभोगसंस्कारांच्या प्राबल्यामुळे सिद्धींचा अभिभव होतो. योगी त्याने इच्छिलेली गोष्ट तत्काळ प्राप्त करून घेतो. पण ***"उपभोगेन न शम्यते कामम्"*** या वचनाप्रमाणे जर तो उपभोगलालसेत गुरफटला गेला तर त्याचे असंप्रज्ञात समाधीचे गंतव्यस्थान दूर जाते. याचसाठी सिद्धींना योगमार्गातील अडथळा असे ज्ञाते म्हणतात. असो.

निर्बीज समाधीचा मार्ग

सिद्धिदा अशी जी ही ***ऋतंभरा प्रज्ञा*** आहे, ती सर्वश्रेष्ठ प्रज्ञा होय. ही इतर प्रज्ञाप्रकारांहून कशी वैशिष्ट्यपूर्ण आहे, ते स्पष्ट करत पतञ्जली म्हणतात: ***"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।।१-४९।।पा.यो.सू.।।"*** - शब्द, वेद, आगम इ.पासून ज्ञान करून देणारी ती ***श्रुतप्रज्ञा.*** अनुमानाने ज्ञान होते. त्यास कारण असते ती ***अनुमानप्रज्ञा.*** या दोन्ही प्रज्ञाप्रकारांमुळे होणारे ज्ञान सर्वसामान्यांच्या पातळीवरचे असते. ऋतंभरा प्रज्ञेमुळे होणारे ज्ञान व त्याचा विषय या इतर प्रज्ञांना अगम्य असतो.

या प्रज्ञेचा उदय झाला की अन्य विषयांचे संस्कार लोपतात. या अर्थीच पतञ्जलींनी म्हटले आहे की: ***"तज्ज: संस्कारोऽन्य-संस्कारप्रतिबंधी।।१-५०।।पा.यो.सू.।।"*** ऋतंभरा प्रज्ञेचे संस्कार अत्यंत प्रबल असल्याने असे घडते. या प्रज्ञेच्या संस्कारांचासुद्धा योग्यास निरोध करावा लागतो. ***"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि:।।१-५१।।पा.यो.सू.।।"*** - अशा संस्काराचा निरोध केल्याने सर्वमेव संस्कार निरोधित होऊन ***निर्बीज समाधि - कैवल्यावस्था***-प्राप्त होते.

समाधिश्रेणी

समाधीच्या उत्तरोत्तर अशा ***सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार व निर्विचार*** या श्रेणी पतञ्जलींनी सांगितल्या आहेत. त्यातील निर्विचार समाधिव्यतिरिक्तच्या इतर अवस्था - ***"ता एव सबीज: समाधि:।।१-४६।।पा.यो.सू.।।"*** - अशा ***सबीज*** म्हणजे संसारातील आवागमन न चुकवणाऱ्या असतात. कारण त्यांत वासनांचा पूर्ण लोप होऊ शकत नाही. परंतु ***निर्विचार समाधि*** पुढील योगाभ्यास साधून देऊन साधकास मुक्तिप्रत पोहोचविते.

"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:।।१-४७।। पा.यो.सू.।।"- निर्विचार समाधीत मल नाहीसा होऊन चित्त निर्मळ झाल्याने ***अध्यात्मप्रसाद*** होतो. अर्थात त्यासाठी हा समाधि पक्वावस्थेच्या ***वैशारद्यावस्थेप्रत*** अभ्यासावा लागतो. या समाधीतून ***ऋतंभरा प्रज्ञा*** प्राप्त होते. ***"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा।।१-४८।।पा.यो.सू.।।"*** अशी प्रज्ञा साधकास सिद्धिदा व मोक्षप्रद ठरते, असा पतञ्जलींचा योगविषयक दृष्टिकोन आहे.

ऋतंभरा प्रज्ञा, सरस्वती व कुंडलिनी

या सर्व विवेचनावरून एक गोष्ट स्पष्ट होते. ती म्हणजे ही ***ऋतंभरा प्रज्ञाच कुंडलिनी उदयाशी व उत्कर्षाशी संलग्न असली पाहिजे.*** याचसाठी ***प्रबुद्धावस्था व कुंडलिनीजागृती यांचा अन्योन्य संबंध*** असल्याचे योगशास्त्राचे आनुभविक मत आहे. ***सरस्वति*** ही प्रबुद्धावस्थेची देवता असल्याने कुंडलिनीशक्तीचे ***सरस्वति*** असेही एक नाम प्रचुर आहे. ***ऋतंभरा प्रज्ञा, सरस्वति व कुंडलिनी*** ही नामे अशी एकमेकांशी घनिष्ट संबंध ठेवतात.

आतापावेतो ***विभूतिपाद*** या पातञ्जलयोगसूत्रांच्या प्रकरणी या प्रज्ञेसंबंधी व ती ***धारणा - ध्यान - समाधि - संयम*** या मार्गाने कशी उपलब्ध होते, त्याबाबत आपण परिशीलन केले. याच प्रज्ञेबाबत ***समाधिपाद*** या त्याच ग्रंथाच्या प्रकरणांती निर्देशित केलेल्या काही महत्त्वाच्या सूत्रांचा आपण पूर्वीच परिचय करून घेतला आहे *(उन्मेष क्र.६व८ उक्त).* तेथील प्रज्ञाउदयाबाबतच्या इतर काही उल्लेखनीय सूत्रांचाही परामर्ष घेणे उचित ठरेल. तिकडे आता वळू या.

योगातील अंतराय व त्यावरील उपाय

"तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।।१-२९।। पा.यो.सू.।।" - याद्वारे ईश्वरप्रणिधानामुळे साक्षात्कार होतो आणि योगसिद्धीतील अडथळ्यांचा नाश होतो, हे सांगितले आहे. *व्याधि, स्त्यान* इ.नऊ प्रकारचे योगमल वा योगातील विक्षेप होत. चित्तस्थैर्याची प्राप्ती होण्याच्या योगमार्गातील ही विघ्नेच होत. त्याचप्रमाणे या विघ्नांचे सहकारी असे *दु:ख-दौर्मनस्यादी* पाच उपद्रवही साधकांना योगसिद्धीपासून विचलित करतात.

यांचा जसा ईश्वरप्रणिधानामुळे नाश होतो, तसाच ***एकतत्त्वाभ्यास*** म्हणजे ध्यानामुळे, मैत्री, करुणा, मुदिता व हर्ष अशा भावनांमुळे, प्राणायामादी उपायांमुळे, विषयवति प्रवृत्ती योगाभ्यासबलाने उत्पन्न केल्यामुळे, इ.मुळेही हे अडथळे दूर होतात. ***पातञ्जलयोगसूत्रे १-३२ ते १-४० समाधिपाद*** या भागात हा सर्व विषय येतो. त्यांचा धावता आढावा घेणे योगसाधकांसाठी इष्टच आहे.

एकतत्त्वाभ्यास

एकतत्त्वाभ्यास करण्याविषयी पतञ्जली म्हणतात: ***"तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:।।१-३२।।पा.यो.सू.।।"*** - एका कोणत्याही तत्त्वावर वा विषयावर धारणा करून समाधिपर्यंत योगाभ्यास करावा. ***"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।।१-३३।।पा.यो.सू.।।"*** - *सुख, दु:ख, पुण्य व पाप* या चार विषयांबाबात *मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा* असे भाव अनुक्रमे धारण करावेत. म्हणजे चित्त प्रसन्न होते. *राग-द्वेष व इच्छा* यांपासून हे चार विषय उत्पन्न होतात व त्यांच्यामुळे साधकास चित्यैकाग्र्य साधणे कठीण जाते. म्हणून पतञ्जली हे उपाय सांगतात.

प्राणायाम

"प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।।१-३४।।पा.यो.सू.।।" - ***प्राणांचा आयाम म्हणजे प्राणायाम*** **विधिवत करणे**, त्यासाठी श्वास-प्रश्वासाची गती नियंत्रित करणे याने पण चित्त प्रसन्न व उपशांत होते. सर्वसामान्य साधकानेही हा अनुभव घेतला असेल की जेव्हा रागाने किंवा हर्षाने वा उन्मादाने आपले चित्त प्रक्षुब्ध झालेले असते, तेव्हा सावकाश दीर्घ श्वसन करून उच्छ्वासही सावकाश केल्याने चित्ताचा प्रक्षोभ कमी होतो. श्वासाचा चित्ताशी व एकूण शारीरिक व मानसिक क्रियांशी, तसेच कुंडलिनी उत्थापन व नियंत्रण यांच्याशी अत्यंत निकटचा संबंध आहे, असे योग्यांचे अनुभवसिद्ध मत आहे.

हठयोग्यांचा प्राथमिक अभ्यास तर प्रमुखत: श्वासोच्छ्वास प्रक्रियेवरच आधारलेला असतो. यालाही एक कारण आहे. पतञ्जली वा *हठयोगी* हे जाणून आहेत की मुख्य प्राणिक नाड्या ज्यांना योगशास्त्रात ***इडा, पिङ्गला व सुषुम्ना*** म्हणून नावे आहेत, त्या सर्व पृष्ठवंशरज्जूस्थानाशी संबंधित असलेल्या एका ***चित्रा*** नाडी व इतर सांधिक नाडीसमूहाचा भाग आहेत. सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्तसदृश द्रव्याच्या या सर्व नाड्या असून त्या प्राणवाहक आहेत.

त्यातील ***इडा व पिंगला*** यांचा एक फाटा अनुक्रमे वाम व दक्षिण नासिकांतून जात असतो, असे योगविज्ञान सांगते. श्वास व प्रश्वास यांचा या नाड्यांच्या स्थितीशी घनदाट संबंध आहे. म्हणून प्राणायामाने या नाड्यांच्या कार्यावर परिणाम होतो. चित्तातील क्षोभाचा *इडा व पिंगला* या नाड्यांच्या आतील प्राणप्रवाहावर विपरीत परिणाम होतो.

चित्त जेव्हा सुस्थिर असते, शांत असते, तेव्हा या नाड्यांचा प्रवाह सुनियंत्रित सुनिश्चित असा चालू राहतो. या नाड्यांच्या आतील प्राणांचा रागद्वेषादींमुळे होणाऱ्या विक्षेपाचा दृश्य परिणाम म्हणजे श्वासोच्छ्वासाच्या गतीत अनियंत्रितता येणे - ती जलद होणे वा संथावणे इ. या सर्वांवर ***प्राणायाम*** हा उपाय आहे आणि तोच पतञ्जलींनी उक्त सूत्रातून सांगितलेला आहे.

हठयोगीसुद्धा या इडा पिंगलांच्या नासिकामार्गे जाणाऱ्या प्रवाहावर प्राणायामाने नियंत्रण मिळवून त्याद्वारे सुषुम्ना नाडी, कुंडलिनी व योगचक्रादींवर प्रभुत्व स्थापन करू पाहतात, असे यामागील तत्त्व आहे. असो.

(टीप: प्राण म्हणजे प्राणवायु - ऑक्सिजन, हवेतील इतर घटक असा अर्थ योगशास्त्रात नाही, हे जिज्ञासूंना माहीतच असेल. प्राण ज्याचे अपानादी इतर नऊ उपभेद आहेत, ते सर्व नाड्या, योगचक्रे, चित्त यांसदृश तशाच एका सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्रव्याचे असतात आणि यांना आजपावेतो तरी कोणत्याही वैज्ञानिक प्रयोगशाळेत मानवाद्वारे वा यंत्रांद्वारे परीक्षिता आलेले नाही. केवळ योगसिद्ध पुरुषांच्या आणि अन्य काही तरल ऐंद्रिय सिद्धी प्राप्त झालेल्या लोकांसच हे द्रव्य व त्याचे इडापिंगलादी प्रवाह, योगचक्रे इ.अंत:चक्षूंसमोर दिसतात. त्यातल्या त्यात आपल्या अनुभवांशी

अधिक प्रामाणिक असणाऱ्या काही योगी पुरुषांनी हे नाड्यादी योगविज्ञान गुप्ततेची अट घालून केवळ योगाभ्यासकांसाठीच प्रकट करण्याच्या अटीवर उघड केलेले आहे व तो ज्ञानप्रवाह आपणापर्यंत काही उदार महामना सिद्धांद्वारे उघड प्रकट होऊन आलेला आहे. पण तरीही त्यांचे एकूणएक - सर्वच्या सर्व - अनुभव कोठेही ग्रथित होऊ शकलेले नाहीत, असे याबाबतचे अनुभवसिद्ध मत योगी नोंदवतात.)

विषयवती वृत्तीचा योगाभ्यासार्थ उपयोग

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस: स्थितिनिबन्धिनी।।१-३५।।पा.यो.सू.।।" - शब्द-स्पर्श-रसादी विषयांपैकी जो विषय चित्तात उदित होतो तत्स्वरूप अशी चित्ताची वृत्ती होते. मनातच अशी विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न करून त्यावर चित्त अवरुद्ध करण्याचा अभ्यास केल्यासही चित्तस्थैर्य प्राप्त होते. जिज्ञासू वाचकांस याबाबत श्रीरामकृष्णपरमहंसांची एक गोष्ट आठवत असेल की त्यांनी एका विषयासक्त साधकास विषयोपभोगातच कालिमातेस पाहत जा असा उपदेश दिला होता. त्यायोगे त्या साधकास चित्तैकाग्र्य करणे सुलभ झाले, असा अनुभव वाचण्यात येतो आणि पतञ्जलीही तेच सांगत आहेत.

तंत्रशास्त्रातील वामाचारही खरे तर याचसाठी प्रचलित झाला होता. परंतु योगसाधकांव्यतिरिक्त इतरांमध्ये तो पसरल्याने साधनेचे ध्येय डोळ्यांपुढून दूर होऊन निव्वळ ***विषयवति वृत्ती*** व त्यासाठी कामोपभोग घेतल्यास तंत्रसाधकांची अशाच कारणाने जी दुर्गती संभवते, तीच इतरही अर्धकच्च्या साधकांची होण्याची दाट शक्यता नजरेआड करून चालणार नाही. परंतु आजही या मार्गावरून जाऊन साधकांचे सिद्ध होणारे यशस्वी पुरुष आहेत, हेही योगशास्त्रजिज्ञासूंना दुर्लक्षून चालणार नाही. असो.

सत्त्वविवृद्धि

"विशोका वा ज्योतिष्मती।।१-३६।।पा.यो.सू.।।" - चित्तात शुद्धसत्त्वगुणाची प्रवृत्ती निर्माण करणे, त्या प्रवृत्तीचा जो ज्योति:स्वरूप प्रकाश अंतरात प्रतीत होतो, तिच्यावर चित्त एकाग्र करणे हे चित्तातील शोकाचा नाश करणारे ध्यान आहे. ही ***विशोका ज्योतिष्मती*** म्हणून पतञ्जली म्हणतात ती चित्तप्रवृत्ती चित्तस्थैर्यप्रदायक ठरते. सात्त्विक मनोधर्माची जाणिवपूर्वक जोपासना करणे व सत्त्वगुणप्रवृत्ती वाढीस लावणे या साधनप्रणालीमागे त्याद्वारे ***शुद्धसत्त्वगुण*** प्राप्त करून घेण्याचा उदात्त हेतू असतो. कारण यापासून चित्तस्थैर्य प्राप्त होते व समाधिसाधना सुलभ होते.

यम व नियम पाळणे, तप आचरणे, दान करणे, यज्ञकृत्ये करणे इ.द्वारे सत्त्वगुण वृद्धिंगत होतो. गीतेनेही अशा साधनक्रमास वाखाणलेले आहे. एवढेच नव्हे तर सत्त्वगुण वर्धमान कसा करावा याचे आनुभविक शास्त्र गीतेत आढळते. त्या भागाचा ***दैवी व आसुरी संपदा, त्रिगुणरहस्य*** इ.भाग पाहतांना आपण यथातथ्य परामर्ष घेतला होता, हे वाचकांस स्मरत असेलच! असो.

संतस्मरण

"वीतरागविषयं वा चित्तम्।।१-३७।।पा.यो.सू.।।" - ***"शुकासारखे पूर्ण वैराग्य ज्याचे। वसिष्ठापरी ध्यान योगेश्वराचे। कवि वाल्मिकासारीखा मान्य ऐसा। नमस्कार माझा सद्गुरू रामदासा।।"*** अशी वैराग्यशाली श्रीरामदासस्वामींची वंदना करणारी ही पंक्तिमालिका लोकमान्य आहे. अशा योगिराटांची आठवण आपल्या चित्तात सदैव जागती ठेवणे, वैराग्यशील सत्पुरुषांचे सतत स्मरण करणे, ज्ञानेश्वरादी संतांस सदा स्मरणे, अशामुळे साधकाचे चित्तसुद्धा त्या त्या वंदनीय परमपुरुषांच्या चित्तासदृश होत जाते, असे पतञ्जलींचे हे सूत्र म्हणते. सद्गुरूंची केवढी महती गायली जाते व श्रीज्ञानेश्वरांसारखे थोर सद्गुरूंप्रति किती कृतज्ञ भाव ठेवतात, ते आपण पाहिलेच आहे. त्यामागे हेच रहस्य आहे व ते पतञ्जलींनी अत्यंत स्पष्टरीत्या उपरोक्त सूत्रात दर्शवले आहे.

एक आगळे आलंबन

"स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।।१-३८।।पा.यो.सू.।।" - चित्तप्रसादनाचा हा आणखी एक उपाय पतञ्जली सांगतात. चित्तास आह्लाद प्राप्त करून देणारे जे एखादे दृश्य स्वप्नांतरी साधकास दिसले असेल, त्याचे चित्तास आलंबन देणे, त्या स्वप्नदृश्यात रमून जाणे, अशा या प्रकाराने चित्तस्थैर्य व चित्तप्रसादन प्राप्त होतात. त्याप्रमाणेच जो एका गाढ निद्रेचा अनुभव आपल्याला आला असेल, त्याची चित्तात पुनरावृत्ती कल्पिणे, त्या अनुभवाशी तादात्म्य पावणे, या उपायानेही चित्तप्रसादन होते. किंबहुना या गाढ निद्रासदृश अनुभवाप्रत जाणिवपूर्वक पुन:पुन: जाता यावे, यासाठी शवासन करणे योगसंमत आहे, हेही योगजिज्ञासूंनी व योगसाधकांनी अवश्य लक्षात ठेवण्यासारखे आहे. परंतु शवासन करतांना निद्रा न लागली पाहिजे, म्हणजे योगसाधना जमू शकते.

ध्यानाचा विषय

एकतत्त्वाभ्यास हे ध्येय साध्य करण्यासाठी ***चित्तस्थैर्य, चित्तप्रसादन व ध्येय्य विषयाचे ध्यान*** अशा तीन पायऱ्या आहेत. चित्तस्थैर्य व चित्तप्रसादनाचे उपाय आपण उपरोक्त *पातञ्जल सूत्र क्र. १-३३ ते १-३८* यांद्वारे पाहिले आहेत.

यानंतर ध्यानाचा विषय कोणता असावा याबाबत पतञ्जलींचे मत पहा: ***"यथाभिमतध्यानाद्वा।।१-३९।।पा.यो.सू.।।"*** - जे कोणते आलंबन, जे कोणते ध्येय्य, जो कोणता विषय वा जी कोणती वस्तू अथवा जो कोणता भाव आपल्याला इष्ट असेल, आपल्याला आवडत असेल, आपले मन आकृष्ट करून घेत त्यावर ते स्थिर करण्यास सक्षम असेल, त्यावर चित्त केंद्रित करावे; त्या त्या गोष्टीचे ध्यान करावे.

या सूत्राद्वारे ध्यानासाठी किती वैविध्यपूर्ण, वैचित्र्यमय आणि असंख्य आलंबनविषय असू शकतात, हे सहजच स्पष्ट होते. या आलंबनविषयांनुसार साधनेचे भिन्नभिन्न प्रकार संभवतात. पण

खरे तर साधनामार्ग एकच असतो. ध्यान कसे करावे, ध्येय्य वस्तू कोणती असावी, हा केवळ साधकसंबंधित पिंडवैचित्र्याचा भाग आहे, एवढे नमूद करावेसे वाटते. स्थूलमानाने ध्येय्य विषय ***कर्म, ज्ञान वा भक्ती*** या सदरात मोडतात व त्याअनुसार त्यांचे ***कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग*** असे बाह्यात्कारी योगमार्गदर्शक रूप संभवते.

या तिन्ही प्रकारांचे सूक्ष्मतया अजूनही प्रविभाग करता येणे शक्य आहे. परंतु ***योगमार्ग*** म्हणून जो काही आहे, त्याचे हे अत्यंत भिन्न स्तरावरील वर्गीकरण आहे. हे वर्गीकरण केवळ ध्येय्य वस्तूच्या वा भावाच्या संबंधावरून केलेले असल्याने मूळ योगाच्या दृष्टीने त्यांचे गौणत्व सहज ध्यानी येण्यासारखे असूनही आजपावेतो विद्वज्जनांनी या विषयावर जी विविध मते अहमहमिकेने प्रतिपादली आहेत, त्यांचे जिज्ञासूंना आश्चर्य वाटणे साहजिकच आहे. या विविध प्रकारच्या ध्येय्य वस्तूंवर वा भावांवरच आपले लक्ष केंद्रित केल्यामुळे त्यांनी योगाची ***कर्मयोग, ज्ञानयोग भक्तियोग, ध्यानयोग*** इ.विविध शकले पाडलेली दिसतात.

गौण वस्तूस प्राधान्य दिल्याचा हा परिणाम आहे असे दिसते व त्यामुळे मुख्य वस्तूचे म्हणजे योगाचे स्वरूप नीटरीत्या आकलन करणे दुष्प्राय होत गेले आहे, असे आपणास जाणवते. तरी साधकांनी व जिज्ञासूंनी हा मुद्दा नीट लक्षात ठेवल्यास योगसाधनेत सौकर्य येईल, अशी आशा आहे. असो.

वैराग्य

यानंतरच्या ***"परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:।।१-४०।।पा.यो.सू.।।"*** या सूत्राद्वारे पतञ्जली चित्ताची ध्यानाद्वारे प्राप्त होणारी अत्युत्कट अवस्था ग्रथित करत आहेत. ***विषयवैतृष्ण्य*** प्राप्त झालेल्या चित्ताबाबतचा ***"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।।१-१५।।पा.यो.सू.।।"*** या सूत्राशी असा पूर्वानुबंध आहे.

सर्व प्रकारच्या विषयांची आसक्ती नष्ट झालेले चित्त त्या ठिकाणी *(१-१५, पा.यो.सू.)* उल्लेखलेले आहे व त्यायोगे ***वशीकारसंज्ञक वैराग्य*** प्राप्त होते.

ध्यानाद्वारे चित्ताचा ***संपूर्ण वशीकार वा समाधि संस्कार*** कसा प्राप्त होतो, याचे समग्र दर्शन आतापावेतोच्या योगसूत्रातून घडवलेले आहे. अणुरेणूपरमाणूपासून तो परमतत्त्वापर्यंतच्या कोणत्याही आलंबनविषयाच्या सौकर्याने चित्त या स्थितीपावेतो येऊन पोहोचते, असे पातञ्जलमत उपरोक्त *१-४०* या सूत्रात प्रकट झालेले आहे, हे ध्यानी घेणे साधकांसाठी अत्यंत महत्त्वाचे आहे.

समापत्ति::::

समाधिस्थिती

समाधिसंस्कारांनी युक्त अशी जी ही चित्तस्थिती आहे, जी चित्तवृत्तींची तन्मयता आहे, ***समापत्ति*** म्हणून ज्या स्थितीस संज्ञा देतात, ती कशी असते, त्याचे दर्शन पुढील सूत्र घडवते:

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्गृहितृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति:।।१-४१।।पा.यो.सू.।।"- चित्त जेव्हा अशा वशीकारसंज्ञक वैराग्यभावात स्थिर होते, विषयवैतृष्ण्य होऊन चित्त विषयातून उपराम होते, तेव्हा चित्तवृत्ती क्षीण होतात. स्फटिक मणी जसा त्याच्या परिसरातील वस्तूंचे रंग ग्रहण करून त्या त्या रंगांचा दिसू लागतो, त्याप्रमाणे असे चित्त ज्या ज्या विषयावर, वस्तूवर वा भावावर केंद्रित होते, तत्सदृश वृत्ती ग्रहण करते; चित्तास ज्या ध्येय्य वस्तूचे आकर्षण असते, त्या वस्त्वनुरूप भाव ते चित्त धारण करते; भाव्य वस्तुरूप ते चित्त होते.

या अवस्थेसच ***समान-प्रपत्ति वा तद्रूपापत्ति*** म्हणजेच ***समापत्ति*** अशी संज्ञा पतञ्जली देतात. धारणा- ध्यानाचा *(धारणा - ध्यान - समाधि यातील प्रथम अंतरंग साधनाचा)* हा परमोत्कर्ष बिंदू आहे. ***समाधि वा समापत्ति*** या शब्दांचा हाच एक अर्थ येथे अभिप्रेत आहे.

सबीज समाधि

याप्रमाणे प्राप्त झालेला समाधि - त्याची अवधि जशी वाढत जाते, धारणेचा काल जसा वाढत जातो - त्याप्रमाणे पक्वातिपक्व होत जातो, दृढ होत जातो. परंतु जोपावेतो चित्तात कसले ना कसले आलंबन घेण्याची वृत्ती उदित होत असते, तोपावेतो तो ***सबीज समाधी***च असतो. त्यातून व्युत्थान हे अवश्यंभावी आहे. ***व्युत्थानदशा*** ही संसारचक्रातील आहे. म्हणून हा समाधि वा समापत्ति ***सबीज*** असल्याचे म्हटले आहे. कारण त्यात भवप्रत्ययाचे बीज राहिलेलेच असते. ***या सबीज समापत्तीचे चार प्रकारात वर्गीकरण केले जाते.*** *ते पुढील सूत्रात स्पष्ट केले आहे:*

१) सवितर्क समाधि

"तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:।।१-४२।।पा.यो.सू.।।" - शब्द आणि त्याचा गृहित धरलेला अर्थ हे दोन्ही चित्तास शब्दाबरोबर आकलन होतात. अर्थाप्रमाणे रूप, रस, गंध, नाद व स्पर्श यांचा चित्तास आभास वा विकल्प होतो. अशा प्रकारे शब्द, त्याचा अर्थ व त्याने चित्तास होणारे ज्ञान यांच्या एकसमवायेकरून जो चित्ताभास निर्माण होतो - वस्तूचा, भावाचा, भावनेचा किंवा कोणत्याही मूर्त वा अमूर्त कल्पनेचा किंवा इतर कोणताही - त्यावर चित्त एकाग्र होऊ लागले म्हणजे ***सवितर्क***नामक समाधीची प्राप्ती साधकास होते.

उदाहरणार्थ साधक एखाद्या देवतेचे मूर्त ध्यान करत असेल, तर ती मूर्ती चित्तात ठसणे; मंत्रजप करत असेल, तर मंत्राच्या शक्तीची, त्याच्या स्पंदनांची, त्याच्या इष्ट दैवतादींचा चित्तास साक्षात्कार घडणे, मंत्रजपात अशा साक्षात्कारी वृत्तीने चित्त तल्लीन होणे इ.***सवितर्क समापत्ति*** होत. हे ध्येय्यवस्तुसापेक्ष असतात.

२) निर्वितर्क समापत्ति

"स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।।१-४३।।पा.यो.सू.।।" - सवितर्का समाधीचा अभ्यास जसा जसा दृढ होत जाईल, तसतसे शब्दाच्या व अर्थाच्या साहाय्यावाचून, स्मृतीस उजाळा न देता, ध्येय्य वस्तूचे ज्ञान जाणिवेच्या अतीत होऊन, सतत अखंड चित्तास ध्येय्य वस्तूचे स्फुरण होत राहणे ही ***निर्वितर्क समापत्ति*** होय.

स्मृतिपरिशुद्धा म्हणजे स्मृतीच्या साहाय्यावाचून आणि ***स्वरूपशून्य*** म्हणजे ध्याता आणि ध्यान ही जाणीव न उरता ***अर्थमात्रनिर्भासता*** म्हणजे ध्येय्य वस्तूच्या अर्थाने चित्त स्पंदित होणे, चित्त ध्येय्य वस्तूच्या तदाकार होणे, अशी निर्वितर्का समापत्तीची लक्षणे होत.

३) सविचार व निर्विचार समापत्ति

"एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।।१-४४।।पा.यो.सू.।।" - ***सवितर्क व निर्वितर्क*** हे समाधिप्रकार स्थूल विषयाच्या वा वस्तूच्या वा तत्सम भावभावनांच्या अनुरोधाने आणि त्यांच्या आलंबनाने संभवतात. चित्ताचे आलंबन जर सूक्ष्म विषय वा तन्मात्रा वा तत्सम असतील, तर जोपावेतो विचारांचा संबंध आलंबनाशी येत असतो, तोपावेतो ***सविचार समापत्ति*** व विचारांचा संबंध समाप्त होऊन जेव्हा चित्त सूक्ष्म विषयाकार होइल तेव्हा ***निर्विचार समपत्ति*** उदित होतात. *सविचार व निर्विचार हे समापत्ति वा समाधिप्रकार सवितर्क व निर्वितर्क समापत्ति वा समाधींसारखेच होत.* फक्त आलंबनविषयाच्या स्थूल-सूक्ष्मत्वाने वितर्कानुगत व विचारानुगत असे समापत्ति वा समाधिभेद होतात. हा संबंध पुढे आरेखित केला आहे.

पतञ्जल्युक्त समाधीचे अवलोकन

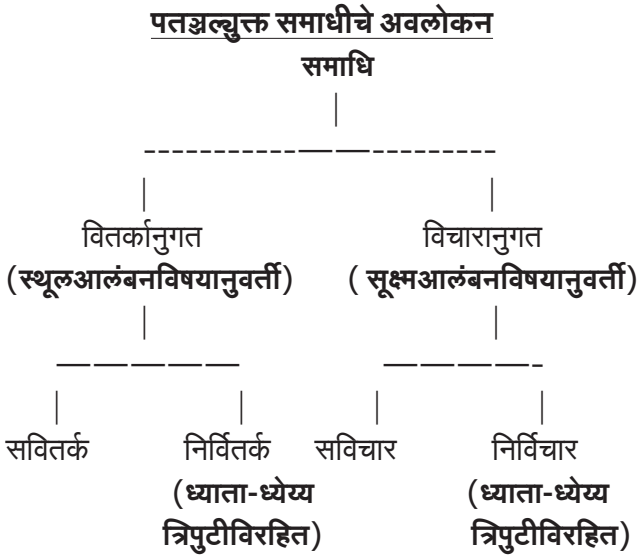

उपरोक्त सवितर्क, निर्वितर्क तसेच सविचार व निर्विचार हे चारही समाधिभेद संप्रज्ञात समाधीचे होत.

"वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञात:।।१-१७।। पा.यो.सू.।।"- या अनुसार १)वितर्कानुगत २) विचारानुगत ३) आनंदानुगत आणि ४) अस्मितानुगत असे हे संप्रज्ञात समाधीचे चार समाधिभेद सांगितले आहेत. त्यातील वितर्क व विचाराधारित समाधिभेद आपण आताच पाहिले.

त्याचप्रमाणे त्यातून निर्वितर्क व निर्विचार असे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ व असंप्रज्ञात समाधिकडे नेऊन पोहोचवणाऱ्या समाधिस्थिती आपण पाहिल्यात. उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर भूमिका प्राप्त करून देणारे समाधींचे आलंबनविषय असे आहेत.

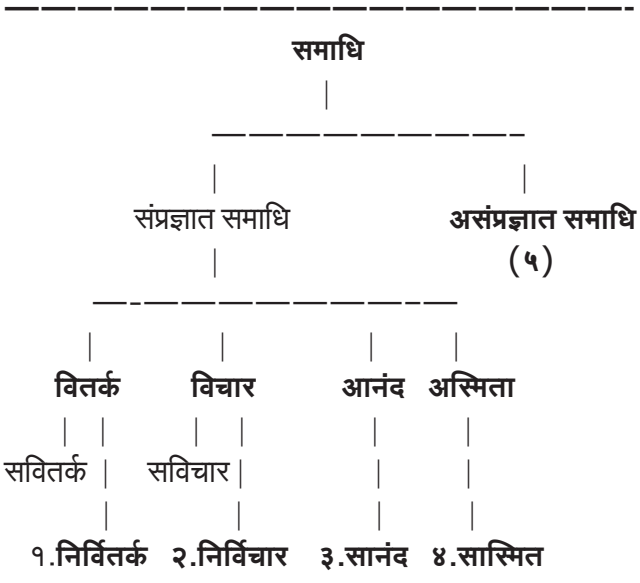

(**टीप:१:** क्र. १,२,३,४ ते ५ या अवस्था उत्तरोत्तर श्रेष्ठ समाधिभूमिका दर्शवितात.)

(**टीप:२:** पातञ्जलदर्शन *समाधि व समापत्ति* यांमध्ये सूक्ष्मसा भेद करते., असे काही विद्वानांचे मत आहे. पण ***"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:।।३-३।।पा.यो.सू.।।"*** हे सूत्र समाधीची व्याख्या करते; तर ***"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति:।।१-४१।।पा.यो.सू.।।"*** हे सूत्र समापत्तिची व्याख्या करते. या दोन्ही सूत्रांतून चित्ताच्या एकाच अवस्थेचा बोध होतो, हे स्पष्टच आहे. त्रिपुटी ***एकाकार*** म्हणजे ध्येय्य वस्तुरूप होणे हे ***समापत्तिलक्षण*** *(सूत्र क्र.१-४१)* आणि ***स्वरूपशून्य*** म्हणजे ध्याता आणि ध्यान ही जाणीव न उरता ***अर्थमात्रनिर्भासता*** म्हणजे ध्येय्य वस्तूच्या अर्थाने चित्त स्पंदित होणे, चित्त ध्येय्य वस्तूच्या तदाकार होणे, हे ***समाधिलक्षण*** *(सूत्र क्र. ३-३)* या दोन्हीत शब्दभेद सोडला तर तत्त्वत: कोणताही फरक नाही, असे जिज्ञासूंना विशेष विचारांती जाणवेलच. ***समापत्ति व समाधि हे शब्द पतञ्जली एकाच अर्थाने उपयोजितात,*** याचा स्पष्ट पुरावा म्हणजे *सूत्र क्र. १-४१* मध्ये समापत्तिलक्षण सांगून झाल्यावर पुढील सूत्रे *क्र. १-४२ ते ४४* या तीन सूत्रांतून त्या समापत्तीचे चार विभाग सवितर्कादी सांगून नंतरच्या *सूत्र क्र.१-४५* मध्ये चित्ताचीअलिंग (समापत्ति) अवस्था - ***"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।१-४५।।पा.यो.सू.।।"*** हिचा उल्लेख केल्यानंतर पतञ्जली सांगतात की - ***"ता एव सबीज: समाधि:।।१-४६।।पा.यो.सू.।।"***- म्हणजे येथवर वर्णिलेले सर्व समाधिप्रकार ***सबीज*** होत.

समापत्तिप्रकारांचे वर्णन करून लगेच त्यांना असे समाधि म्हणणे म्हणजेच समापत्ति आणि समाधि हे दोन्ही पातञ्जलयोगसूत्रात एकाच अर्थाने वापरल्याचा स्पष्ट निर्देश आहे. याबाबत सूज्ञांस अधिक काय सांगावे!)

पुढील वाटचाल

आता ***वितर्कानुगत व विचारानुगत*** समाधिकडून ***सानंद ते सास्मित ते असंप्रज्ञात*** समाधींकडील वाटचाल पातञ्जल योगसूत्रांच्या

साहाय्याने समजावून घेऊ या. योगजिज्ञासू व साधकांसाठी हा सर्व विचार अत्यंत महत्त्वाचा असल्याने त्याचा तपशील खोलवर जाऊन पाहणे उचित ठरते.

संप्रज्ञात समाधि ते असंप्रज्ञात समाधि

संप्रज्ञात ते असंप्रज्ञात या परिवर्तनाबाबत निर्देश करणारे पातञ्जलयोगसूत्र आहे - ***"विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्य: ।।१-१८।।पा.यो.सू.।।"*** -सर्व प्रकारांच्या चित्तवृत्तींचा ***विराम*** म्हणजे उपरम करत जाऊन हा विरामप्रत्यय पुन:पुन: अभ्यासपूर्वक घेत जाणे या कृतीने अन्य म्हणजे दुसरा ***असंप्रज्ञात समाधि*** साध्य होत जातो.

"भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।।१-१९।।पा.यो.सू.।।" या अनुसार *१)* ***विदेह*** म्हणजे अहंकार नाहीसा झालेले योगी आणि *२)* ***प्रकृतिलय*** म्हणजे चित्त प्रकृतीत लीन केलेले म्हणजे प्रतिप्रसवक्रमाने उलट दिशेने प्रवास करत स्थूलाकडून सूक्ष्मतम अशा ***प्रधान वा प्रकृति*** या तत्त्वात चित्ताचा लय साधलेले योगी अशांना हा समाधि प्राप्त होतो.

परंतु ***असंप्रज्ञात*** समाधिचेही ***सबीज व निर्बीज*** असे भेद आहेत. ***विदेही व प्रकृतिलय*** साधलेल्या योग्यांचा ***असंप्रज्ञात*** समाधि प्रथम ***भवप्रत्ययकारी*** म्हणजे व्युत्थानदशेत संसाराचा अनुभव आणून देणारा असतो. तेव्हा तो संसाराच्या आवागमनापासून मुक्ती मिळवून देत नसल्याने ***सबीज*** म्हणून गणला जातो.

जेव्हा योगी त्यापुढील पायरी गाठतो, तेव्हा त्यास ***निर्बीज*** असा असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होतो. या समाधिसाठी कोणती साधनसंपदा लागते, ते ग्रथित करत पतञ्जली म्हणतात: ***"श्रद्धावीर्यस्मृति समाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।।१-२०।।पा.यो.सू.।।"*** - कैवल्यसाक्षात्कार घडेलच या विश्वासाने साधना करणे म्हणजे ***श्रद्धा;*** त्यासाठी लागेल तो अभ्यास करण्याचा उत्साह व बल म्हणजे ***वीर्य;*** या समाधीच्या क्षण-क्षण करत मिळवलेल्या अनुभवाचे वा साक्षात्कारी वृत्तीचे स्मरण आणि अखंड त्या वृत्तीची धारणा करण्याचा अभ्यास म्हणजे ***स्मृति;*** त्या समाधीचा सातत्याने केलेला अभ्यास आणि अशा योगाभ्यासानेउदित होऊन वर्धमान होणारी ***प्रज्ञा*** यांच्या योगाने ***पुरुषसाक्षात्कार*** किंवा ***कैवल्यप्राप्ती*** करून देणारा ***निर्बीज असा असंप्रज्ञात समाधि*** सिद्ध होतो.

हा समाधि कैवल्यप्राप्तीची उत्कट इच्छा ठेवणाऱ्या साधकांस शीघ्रतर साध्य होतो असे ***"तीव्रसंवेगानामासन्न:।।१-२१।। पा.यो.सू.।।"*** या सूत्रातून पतञ्जली म्हणतात. त्या तीव्रतेच्या ते ***मृदु, मध्यम व अधिमात्र*** अशा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अशा तीन श्रेणी कल्पितात. ***"मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेष:।।१-२२।। पा.यो.सू.।।"*** या सूत्रानुसार मृदुतीव्रसंवेगाने लवकर, तर मध्यतीव्रसंवेगाने अधिक लवकर आणि अधिमात्रतीव्रसंवेगाने अत्यंत शीघ्रतेने ***असंप्रज्ञात निर्बीज समाधि***प्राप्ती सांगितलेली आहे.

आलंबनार्थ अत्यंत सूक्ष्म अशी प्रकृति

संप्रज्ञात समाधि ते असंप्रज्ञात समाधि ते कैवल्यप्राप्ती ही वाटचाल आपण आता समाधिपादाच्या काही उर्वरित पण अत्यंत महत्त्वाच्या सूत्रांद्वारे करू या. ***वितर्क ते विचार*** ते सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयांचे चित्तास आलंबन देता देता त्या सूक्ष्मतर अशा आलंबनांची परिणती कशात होते, ते सांगणारे पातञ्जल योगसूत्र असे आहे: ***"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।१-४५।।पा.यो.सू.।।"*** - पतञ्जली म्हणतात त्यानुसार अत्यंत सूक्ष्म असा ***प्रधान वा अलिंग वा प्रकृति*** हा त्यावेळी आलंबविषय असतो.

जेव्हा हा ***प्रधान*** हा आलंब विषय घेऊन निर्विचार समाधि पूर्णतेप्रत जातो, त्यावेळी ***आनंद*** प्राप्त होतो.अर्थातच हा आनंद विषयोपभोगातून मिळणाऱ्या आनंदापेक्षा अत्यंत श्रेष्ठ असा ***महानंद*** असतो. *"मला आनंद मिळतो आहे," "मी आनंदस्वरूप आहे" ते "मी आनंद आहे,"* अशा पायऱ्यांद्वारे चढत जाणाऱ्या या समाधीस ***सानंद समाधी*** असे म्हणतात. हा समाधीही निर्विचार संप्रज्ञातापेक्षा श्रेष्ठ असा पण संप्रज्ञातच समाधि आहे.

त्यातून ***मी व आनंद*** यांचा त्रिपुटीलय होऊन ***"मी (आनंद) आहे ",*** असा ज्यात प्रत्यय येतो, तो अस्मितायुक्त असा ***सास्मित*** म्हणून ओळखला जाणारा संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होतो. ***प्रकृतिलय व विदेहभाव आणि महत्तत्त्वात लय त्यापासून प्राप्त होतो.***

समाधीच्या या अवस्था एकमेकांहून भिन्न पण सूक्ष्म फरकाच्या पायऱ्या आहेत. या अवस्थेप्रत जाणारे योगी या तिनही पायऱ्या अभ्यासकाली परिपक्वतेनुसार चढतउतरत जात असतात. म्हणून **या *१) महत्तत्त्वलयी २) विदेही ३) प्रकृतिलयी* योगस्थिती *भवप्रत्यकारी* असल्याने सबीज समाधीत मोडतात.** म्हणूनच पतञ्जलींचे सूत्र असे आहे की: ***"ता एव सबीज: समाधि:।।१-४६।।पा.यो.सू.।।"*** प्रकृतिपर्यंतचे व आनंद अस्मितादी सर्व विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म असले, तरी चित्तास संसारसंकेत देणारे असतात व म्हणून चित्तावरील संसाराचे संस्कार, अल्पतम का होईना ! तसेच राहतात.

अस्मितेसह सर्वलय व अध्यात्मप्रसाद

म्हणून हा समाधिअभ्यास पुढे नेऊन ***सास्मित संप्रज्ञात*** समाधिकडून पुढे जावे लागते. अस्मितेचाही लय केल्यावर आणि अस्मितारहित अशा निर्विचार समाधीचा अभ्यास दृढ झाल्यावर ती समाधि परिपक्व होते.आणि अध्यात्मप्रसाद होतो. ***"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद: ।।१-४७।।पा.यो.सू.।।"***

हा ***अध्यात्मप्रसाद*** म्हणजे ना परतीची वाट दाखवणारा वाटाड्या होय. ***"प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।।२-६५।।", "मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।१८-५६।।, "मत्प्रसादत्तरिष्यसि।।१८-५८।।", "तत्प्रसादातपरां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।१८-६२।।", "प्रसादमधिगच्छति।।२-६४।।"*** इ.गीतावचने याच अध्यात्मप्रसादाची भलावण करत असतात. आणि अर्जुनाच्याही तोंडी घातलेली ***"प्रसीद देवेश जगन्निवास।।११-२५ व ४५।।", "नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।।११-३१।।", प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।।११-४४।।"*** इ.वचने भगवान श्रीकृष्णाकडे याच प्रसादाची आर्ततेने याचना करतांना दिसतात. असो.

या अध्यात्मप्रसादाचे फल ***"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।१-४८।। पा.यो.सू.।।"*** असे ऋतंभराप्रज्ञाप्राप्तिरूप असते. त्या प्रज्ञेच्या संस्कारांमुळे प्रकृतीचे सर्व संस्कार - संसाराचे शेष सर्व संस्कार प्रतिबंधित होतात. ***"तज्ज: संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबंधी।।१-५०।।"*** आणि ऋतंभरा प्रज्ञेच्या संस्कारांचाही निरोध करून ***"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि:।।१-५१।। पा.यो.सू.।।"*** - असा सर्व चित्तवृत्तींचा साक्षेपी निरोध करून ***कैवल्यप्राप्ती करवणारा निर्बीज समाधि*** प्राप्त होतो. योगाची पूर्णावस्था प्राप्त होते. ***"ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं"*** अशी अवस्था प्राप्त होते. ***"याचि देहीं। याचि डोळां"*** **कैवल्यसोहळा पाहावयास मिळतो.** अनंत जन्मांची युगानुयुगे केलेली योगसाधना सुफल आणि संपूर्ण होते. ***संजीवन समाधि*** सिद्ध होते!

समाधिसोहळ्याची इतिकर्तव्यता

हा सर्व समाधिसोहळा आपण एवढ्या तपशिलात शिरून पाहिले, त्याची दोन प्रमुख कारणे आहेत: १) योगसाधकांना त्याद्वारे सुयोग्य मार्गदर्शन घडावे व २) योगसिद्धींचा अभिभव कसा होतो, ते पाहण्यासाठी समाधि म्हणजे काय, ते नीट कळावे.

समाधिस्थ चित्त व योगविभूति::::

प्रज्ञेचा उदय

आता योगसिद्धींचा अभिभव कसा होतो या दुसऱ्या उद्देशाकडे वळू या; त्यासाठी विभूतिपादाच्या ***"तज्जयात्प्रज्ञालोक:।।३-५।। पा.यो.सू.।।"*** या सूत्राधारे मार्गक्रमणा करावी लागेल. सिद्धींच्या प्रांताचे यथोचित आलोडन करण्यासाठी आता त्या सूत्राकडे वळू या:

ध्यान, धारणा व समाधि हे तिन्ही एकत्र प्रवृत्त झाले म्हणजे त्यास ***संयम*** म्हणतात. थोडक्यात म्हणजे ज्याचे ध्यान करावयाचे, त्याच्याचवर धारणा करावयाची आणि समाधिसुद्धा त्याच ध्येय्य वस्तूवर प्राप्त करून घ्यावयाची. आपण वर विचार केल्याप्रमाणे अर्थातच हा संप्रज्ञाताचा प्रांत आहे. असंप्रज्ञाताचा प्रांत आपणास कैवल्याची प्राप्ती करून देतो, असे लाक्षणिक अर्थाने म्हणता येते. असो.

संयम उत्तम प्रकारे सिद्ध झाला की वस्तुमात्राचे प्रकर्षाने अतींद्रिय स्वरूपाचे ज्ञान होते, ते प्राप्त करून देणारी ***प्रज्ञा*** उदित होते *(सूत्र क्र.३-५).* आताच म्हटल्याप्रमाणे *संयम सिद्ध झाला* की हिचाच उदय होतो. तसेच वर म्हटल्याप्रमाणे **ऋतंभरा**नामक **प्रज्ञा** निर्विचारवैशारद्यातून मिळणाऱ्या अध्यात्मप्रसादातून प्राप्त होते *(पा.यो.सू.१-४८).*

प्रज्ञा व ऋतंभरा प्रज्ञा

(टीप-१: *सं.सूत्र.क्र.३-६वरील श्री. कृ.के.कोल्हटकर यांच्या पातञ्जल योगदर्शन या ग्रंथांतर्गत विवरणातून सू.क्र.३-५ मधील* ***प्रज्ञा हीच ऋतंभरा प्रज्ञा होय*** *असे मत दिसून येते.)*

(टीप-२ *: पातञ्जलयोगसूत्रांवरील व्यासभाष्यानुसार "यदा निर्विचारस्य* ***समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते,*** *तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषय:* ***क्रमाननुरोधी स्फुटप्रज्ञालोक...*** *।।१-४७।।","तस्मिन्समाहित चित्तस्य* ***या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरा संज्ञा*** *भवति....तथा ...आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरतेन च। त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।।१-४८।।", "...विशेषस्याप्रामाणिकस्याभावोऽस्तीति* ***समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य स विशेषो*** *भवति...।।१-४९।।", "****समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे*** *योगिन: प्रज्ञाकृत:...।।१-५०।।" व "तस्य संयमस्य जयात्* ***समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोक:,*** *यथा यथा संयम: स्थिरपदो भवति तथा तथा* ***समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।।३-५।।",*** *"ईश्वरप्रसादात् जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्त:, कस्मात्, तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्य इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्याय:, कथम्, एवमुक्तम्* ***"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्"*** *इति।।३-६।।"* या व्यासभाष्यानुसारी विवेचनांनुसारही सू.क्र.३-५ व ६ मधील समाधि-संयमज जी प्रज्ञा ती म्हणजेच सू.क्र.१-४७ व ४८मधील समाधिज असणारी ऋतंभरा प्रज्ञाच होय, असे म्हणावे लागते.- (सं.Yoga Philosophy of Patanjali by Swami Hariharananda Aranya English rendition by Shri P.N.Mukerji on Sutras no.1-47 to51)

थोडक्यात सांगायचे तर संयम सिद्ध झाला की प्रज्ञेचा उदय *(पा.यो.सू.३-५);* आणि निर्विचारवैशारद्य व अध्यात्मप्रसाद *(सू.क्र.१-४७ व ४८)* यांतून तिचा विकास व ***ऋतंभरा*** या पूर्णत्वावस्थेत परिणती असा हा क्रम दिसतो. अर्थातच ही ***प्रज्ञा*** म्हणजेच *पा.यो.सू.क्र.१-४७ व ४८* यांच्यात जिचा गौरव केला आहे, त्या ***ऋतंभरा प्रज्ञे***ची पहिली पायरी होय, असा निष्कर्ष या संबंधित पातञ्जलयोगसूत्रांची सुसंगती लावण्यासाठी आवश्यक दिसतो.

प्रज्ञेचा विनियोग

या प्रज्ञेचा विनियोग निर्देशित करत पतञ्जली म्हणतात की, ***"तस्य भूमिषु विनियोग:।।३-६।।पा.यो.सू.।।"*** - त्या प्रज्ञेचा योग्य प्रकारे विनियोग करावा म्हणजे कैवल्यसिद्धी होते. असो या प्रज्ञेचेही निर्बीज समाधीच्या दृष्टीने गौणत्व आहे. म्हणून ***"त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:।।३-७।।पा.यो.सू.।।"*** व ***"तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।।३-८।। पा.यो.सू.।।"*** या सूत्रांतून ***संयम, ध्यान, धारणा आणि समाधि*** ही यमनियमादी पाच बहिरंगांच्या सापेक्ष योगाची अंतरंगे म्हणून जरी असली, तरी निर्बीज समाधिसापेक्ष त्यांना बाह्य अंगेच समजावीत असे सांगितले आहे.

समाधिस्थ चित्ताची अवस्था

समाधिस्थित चित्ताची स्थिती पुढील विषय समजून घेण्यासाठी आकळून घेणे महत्त्वाचे आहे. ती स्थिती आकळून घेण्यासाठी पतञ्जली पुढील सूत्रे सांगतात. त्या स्थितीची निदर्शक सूत्रे अशी आहेत:

१) "व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणाम:।।३-९।।पा.यो.सू.।।" - संप्रज्ञात समाधीतून व्युत्थान होण्याचे संस्कार जसजसे निर्बळ होत जातात आणि चित्ताची निरोधावस्था जसजशी टिकत जाते, तसतसे

निरोधपरिणाम प्रकटतात. चित्ताची निरोधावस्था टिकून राहणे याला येथे ***निरोधपरिणाम*** असे म्हटले आहे.

२)"तस्य प्रशांतवाहिता संस्कारात्।।३-१०।।पा.यो.सू.।।" - निरोधपरिणामामुळे चित्ताचा ओघ एकाच दिशेने वाहत राहणे असा **संस्कार** चित्तावर घडतो. त्याद्वारे असंप्रज्ञात समाधिकडे प्रगत होता येते.

३) ***"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयादयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।। पा.यो.सू.।।३-११।।"*** - समाधीमुळे चित्तास मूलत: सर्व विषयांची जी ओढ असते, ती क्षीण होत जाऊन एकाग्रतेचा उदय होतो.

४) ***"शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।।३-१२।।पा.यो.सू.।।"*** - चित्तास क्षणोक्षणी तोच प्रत्यय येत राहणे, चित्तवृत्ती उदित होऊन शांत झाली तरी तोच प्रत्यय सातत्याने येत राहणे, यास **चित्ताच्या एकाग्रतेचा परिणाम** असे म्हणतात.

५) ***"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।।३-१३।।पा.यो.सू.।।"*** - उपरोक्त ***निरोधपरिणाम, समाधिपरिणाम व एकाग्रतापरिणाम*** यांपासून *(यांद्वारे)* **भूते व इंद्रिये यांचे धर्म, लक्षण व अवस्थापरिणाम** समजून घेता येतात.

६) ***"शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।।३-१४।। पा.यो.सू.।।"*** - भूतकालात जमा झालेला तो *शांत धर्म*, वर्तमानकाली व्यापणारा तो *उदित धर्म* आणि भविष्यात घडू घातलेला तो *अव्यपदेश्य धर्म* होत. या तिनही धर्मांना अनुसरून जो राहतो, तो *धर्मी* होय. **हे तीनही धर्म म्हणजे अनुक्रमे भोगून झालेले *प्रारब्ध, क्रियमाण व संचित कर्म* असे वेगळ्या परिभाषेत म्हणता येते. *धर्मी*** म्हणजे भोक्ता जीव.

७) ***"क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।।३-१५।।पा.यो.सू.।।"*** - धर्मीला परिणामान्यत्वामुळे वेगवेगळे परिणाम भोगावे लागतात. *धर्म - लक्षण - अवस्था* हे परिणामत्रय धर्मीला क्रमाने भोगावे लागतात. *परिवर्तनशीलता हा जगाचा नियम आहे,* असे येथे सूचित केले आहे.

संयमाद्वारे सिद्धींची प्राप्ती

याप्रमाणे चित्ताची निरोधावस्था, संयमस्थिती, समाध्यवस्था आणि वस्तुमात्राची परिणामशीलता यांचे विवेचन पातञ्जलयोगसूत्रे करतात. आतां संयमाद्वारे सिद्धींची प्राप्ती होते ती कोणत्या क्रमाने, ते पाहू या:

१)भूतभविष्यादी त्रिकालज्ञान:

"परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।।३-१६।। पा.यो.सू.।।" - धर्म, लक्षण व अवस्था या परिणामत्रयांवर संयम केल्यास भूतकालीन व भविष्यकालीन घडामोडी, पदार्थांच्या स्थिती इ.गोष्टींचे ज्ञान होते. ***त्रिकालज्ञान*** ही सिद्धी अशी प्राप्त होते.

२) भूतमात्रांचे, पशुपक्ष्यादींचे बोलणे समजणे:

"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।।३-१७।।पा.यो.सू.।।" - *शब्द, अर्थ व प्रत्यय* या तीन प्रविभागांद्वारे आपणास इतरेजनांचे बोलणे कळते. त्या तिन्ही संकरित अशा प्रविभागांवर संयम केला असता भूतमात्रांचे बोलणे, पशुपक्ष्यांची भाषा इ. कळतात.

३) पूर्वजन्माचे ज्ञान:

"संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्।।३-१८।। पा.यो.सू.।।"- चित्तातील वासनाकोषात अनंत जन्मार्जित वासनांचे संस्कार साठवलेले असतात. त्या संस्कारांवर संयम केल्याने ते योग्यास साक्षात होतात व त्यांवरून पूर्वजन्माचे ज्ञान होते.

४) परचित्तज्ञान

"प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।।३-१९।।पा.यो.सू.।।" व ***"न च तत्सालंबनं तस्याविषयीभूतत्वात्।।३-२०।।पा.यो.सू.।।"***- दुसऱ्या माणसाच्या चित्तास जो प्रत्यय येत असतो, त्यावर संयम केल्याने त्याच्या चित्तस्थितीचे ज्ञान होते. परंतु ती चित्तस्थिती निर्माण होण्यास जे आलंबन वा विषय कारणीभूत आहेत, ते कळत नाहीत. त्यासाठी ***परचित्तप्रवेश*** करता येणे आवश्यक असते. तो पण योगसाधकांना जमू शकतो वा ***त्रिकालज्ञान*** या सिद्धीद्वारे तो आलंबनविषय जाणून घेता येऊ शकतो.

परव्यक्तीच्या वासनाकोषावर संयम केल्यास त्या व्यक्तीच्या चित्तातील सद्य:स्थितीस कारणीभूत असणाऱ्या घटना व विषय कळून येऊ शकतात. अर्थात उपरोक्त पातञ्जल योगसूत्रात हा भाग आता आलेला नाही, हे जिज्ञासूंच्या लक्षात आले असेलच.

५) अंतर्धान पावणे

"कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानम्।।३-२१।।पा.यो.सू.।।" - आपल्या शरीराचे प्रकाशामुळे दृश्यमान होणारे जे रूप असते, त्यावर संयम केल्याने आपले शरीर इतरेजनांस दिसत नाही.

६) मृत्यूचे पूर्वज्ञान

"सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।।३-२२।।पा.यो.सू.।।"- *सोपक्रम*-ज्याचा विपाक लवकर होतो, ते कर्म. *निरुपक्रम*-ज्याचा विपाक दीर्घ कालाने होतो, ते कर्म. कर्मांचे हे प्रकार जाणून घेऊन त्यांवर संयम केला किंवा मृत्यूसूचक अरिष्टांवर संयम केल्याने मृत्यू जवळ आल्याचे ज्ञान होते.

७)भावसंधारणसिद्धी

"मैत्र्यादिषु बलानि।।३-२३।।पा.यो.सू.।।"- मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा या *सूत्र क्र. १-३३* मध्ये आलेल्या भावनांवर संयम केल्यास त्या त्या भावांची प्राप्ती होते. हे भाव स्वत: धारण करता येतात किंवा त्यांचा परचित्तात उदय करता येतो.

८) बलप्राप्ती इ.

"बलेषु हस्तिबलादीनि।।३-२४।।पा.यो.सू.।।" - हत्ती, व्याघ्र, हरिण इ.च्या ठिकाणी बल, लाघव, चापल्य इ.जे विशिष्ट गुण आहेत, त्यांच्यावर संयम केल्यास ते ते गुण प्राप्त होतात.

९)दूरदर्शनसिद्धी

"प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।।३-२५।।पा.यो.सू.।।" - समाधिपादाच्या *सूत्र क्र. ३५ व ३६* मध्ये***विषयवती आणि ज्योतिष्मती वा विशोका***नामक प्रवृत्तींचा

चित्तप्रसादनासाठी होणारा उपयोग सांगितला आहे. या प्रवृत्तींचा अभ्यास दृढ केल्यावर त्यांच्यापासून निर्माण होणारा ***चित्तप्रकाश*** जो पदार्थ ज्ञात व्हावा अशी इच्छा असेल, त्याच्याकडे न्यसावा. म्हणजे तो पदार्थ कोठेही असला, कितीही सूक्ष्म असला, तरी त्याचे सर्वंकष ज्ञान होते.

१०) ज्योतिष - खगोलविषयाचे ज्ञान

"भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।।३-२६।।", "चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।।३-२७।।" व "ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।।३-२७।। पा.यो.सू.।।" - सूर्यावर संयम केल्याने चतुर्दश भुवनांचे ज्ञान, चंद्रावर संयम केल्याने ताराचक्रव्यूहाचे ज्ञान आणि ध्रुवताऱ्यावर संयम केल्याने त्याच्या तारका - नक्षत्रे - ग्रहादींच्या गतीचे अशी ख:ज्योतिष संबंधित ज्ञाने प्राप्त होतात.

११) शारीरज्ञान, विज्ञान, चित्तस्थैर्य, शरीराचे नियमन करता येणे इ. सिद्धी:

"नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।।३-२९।।";"कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा- निवृत्ति:।।३-३०।।"व"कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।।३-३१।। पा.यो.सू.।।" - नाभिचक्रावर संयम केल्याने शरीरशास्त्राचे सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होते. याच मार्गाने पूर्वासूरींनी आधुनिक वैद्यकशास्त्र व जैविकशास्त्र यांना आकळू न शकणारे अतींद्रिय असे शरीररचना, षट्चक्रे, सुषुम्ना, इडा, पिंगला इ.नाड्यांचे, मनोमय, प्राणमय, आनंदमय इ.कोषांचे लिंगदेहाचे इ.अनेकानेक अतींद्रिय सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयांचे ज्ञान प्राप्त करून घेतले असले पाहिजे. आयुर्वेदाचा उगम खरे तर अशा प्रकारे योगशास्त्रातूनच झाला आहे. असो.

कंठकूपावर संयम केल्याने क्षुधा, तृष्णा इ.शारीर प्रवृत्तींचा निरोध होतो. *कूर्मनाडी*वर संयम केल्याने चित्तास स्थैर्य प्राप्त होते. त्याचप्रमाणे *शरीरात अनेकानेक नाड्या व चक्रे आहेत. त्यांच्यावर केलेल्या संयमांची विविध फले प्राप्त होतात.* परंतु हा सर्व भाग अत्यंत संक्षेपकरीत्या या सूत्राद्वारे सूचित केलेला आहे, याची जिज्ञासूंनी येथे जरूर नोंद घ्यावी.

१२) सिद्धपुरुषदर्शन, देवदेवताआलोकन, सूक्ष्मदेहनिरीक्षण इ. सिद्धी:

"मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।।३-३२।।पा.यो.सू.।।" - ब्रह्मरंध्रस्थित ज्योतीवर संयम केल्याने सिद्ध पुरुष, देवतादी सूक्ष्म देह धारण करणाऱ्यांचे दर्शन होते. तसेच ***सामान्यात मिसळून राहणारे सिद्ध पुरुष किंवा इतरत्र वावरणारे सिद्ध याच संयमाद्वारे योग्यांना ओळखू येतात.*** इतरेजनांस सिद्ध पुरुषांची बिनचूक ओळख पटणे दुष्प्रायच असते. सत्त्वाधिक्यामुळे मूर्ध्निस्थानी सत्त्वप्रकाश वृद्धिंगत होऊन त्याचे तेजोवलय फाकते.

साधु-संत-महात्मे-सिद्ध-देवदेवता यांच्या मस्तकावर जे तेजोवलय काढण्याची चित्रकारांची प्रथा आहे, तिचा उगम या योगविज्ञानात असल्याचे आपणास जाणवल्यावाचून राहत नाही. आणि हा तेजोवलयसंकेत केवळ भारतीय हिंदूधर्मापुरता मर्यादित नसून इतरही अनेक देशांतील विविध धर्मांत प्रचारात आहे, हेही एक ऐतिहासिक सत्यच होय. कदाचित त्या त्या महात्म्यांनाही या वलयाचे ज्ञान योगसिद्धीद्वारे प्राप्त झाले असावे असेही आपण म्हणू शकतो.

पुरुषसंयम व प्रातिभ सिद्धी::::

१) सर्वज्ञातृत्वसिद्धी:

"प्रतिभाद्वा सर्वम्।।३-३३।।पा.यो.सू.।।"-प्रतिभेवर संयम केल्याने सर्व विषयांचे ज्ञान होते.कित्येक योगी पुरुष एखाद्या विषयाचे क्षणात अचंबित करून टाकणारे ज्ञान मिळवतात, ते याच सिद्धिद्वारे. योग्यांची प्रतिभाशक्ती विकसित झालेली असते. त्यामुळे उत्स्फूर्त काव्य, नाट्य, लेखन इ.रचना त्यांच्याकडून झालेल्या आढळतात. **अत्यंत उच्च कोटीच्या प्रतिभेमुळेच ज्ञानेश्वरांनी ज्ञानेश्वरी आणि आपल्या इतर रचना केलेल्या आहेत.** त्या त्या विषयांचे सखोल ज्ञान व त्यास होणारा परतत्त्वाचा स्पर्श हे त्या रचनांचे मर्म जाणकारांनी ध्यानी असू द्यावे.

२) चित्तज्ञान:

"हृदये चित्तसंवित्।।३-३४।।पा.यो.सू.।।"- हृत्कोषावर संयम केल्याने चित्तज्ञान होते. दुसऱ्याच्या हृत्कोषावर संयम केल्याने त्याच्या चित्ताचे ज्ञान होते. *प्रत्यय आणि हृत्कोष* यांच्यावर केलेल्या संयमाचे फल हे एकच आहे.परंतु *हृत्कोषावर संयम केल्याने चित्त व पुरुष यांचे भिन्नत्व प्रत्ययास येते* हा विशेष आहे. ***हृत्कोष म्हणजे हृत्संवित्कमल वा आध्यात्मिक हृदय.*** याच्या स्थानासंबंधी आपण योग्य वेळी अधिक विचार करू या.

३) पुरुषज्ञान (आध्यात्मिक सिद्धी):

"सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तसङ्कीर्णयो: प्रत्ययाविशेषो भोग: परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।।३-३५।।पा.यो.सू.।।"- ***सत्त्व*** म्हणजे अंत:करण. ***पुरुष*** म्हणजे द्रष्टा आत्मा. हे दोन्ही ***असंकीर्ण*** म्हणजे परस्परांहून अत्यंत भिन्नभिन्न आहेत. परंतु मायावशे कर्ता-भोक्ता हे गुणधर्म द्रष्ट्यास चिकटलेले आभासतात. चित्त वा अंत:करण आणि आत्मा हे एकमेकांशी संबंधित, एकमेकांचे आहेत, असा मायेचा भास निर्माण होतो. खरे तर गुणच गुणात वर्तत असतात. आत्म्याचा त्या खेळात कोणताही भाग नसतो. परंतु असे न जाणवणे हा ***भोग*** होय.

हा भोग आत्म्याचा नसतो, हे जाणून त्या द्रष्ट्या आत्म्यावर - पुरुषावर - संयम केल्याने तो पुरुष कसा आहे, त्याचे ज्ञान होते. ***विवेकख्याती*** साधल्याचे फळ हेच आहे. आणि हा सांगितलेला सूत्रोक्त संयम म्हणजेच ***विवेकख्याती*** होय. या संयमाचे फल म्हणून प्रकटणारी ही ***पुरुषज्ञान*** म्हणून म्हटलेली सिद्धी ***आध्यात्मिक*** स्वरूपाची असून कैवल्यसाक्षात्काराच्या फक्त एक पायरीअलीकडील होय.

४) प्रातिभ सिद्धी:

"तत: प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताजायन्ते।।३-३६।।पा.यो.सू.।।" - पुरुषावर केलेल्या संयमाचे फलस्वरूप ***प्रतिभा***

प्रकाशते आणि प्रतिभसामर्थ्याच्या प्रभावाने सूक्ष्म, सुदूरच्या वस्तू इ.ची माहिती, ज्ञान आणि उपभोग प्राप्त होतो.

सूत्र क्र. ३-३३ मध्ये प्रतिभेवरील संयमस्वरूप सर्व विषय व त्यांचे ज्ञान प्राप्त होते, असे म्हटलेले आहे. परंतु प्रतिभा कशी प्रकटते, तो भाग येथे सूचित झाला आहे.

या सूत्रात ***दिव्यश्रावण, दिव्यवेदन(स्पर्श),दिव्यरूप दिसणे (आदर्श), दिव्य आस्वाद चाखणे आणि दिव्य गंध समजणे (वार्ता)*** या सिद्धी कशा उत्पन्न होतात, हे स्पष्ट केले आहे. किंबहुना याच प्रकारे ते ते पदार्थ वा वस्तू प्रत्यक्ष आपल्यासमोर उभे करण्याचे सामर्थ्य अशा योग्यात असावे असे वाटते. पण सदर सूत्रात तसा उल्लेख नाही. कदाचित पा.यो.सू.क्र.३-४८मध्ये म्हटल्याप्रमाणे *(पृ.क्र.७३८)* असे असावे की योगी त्या त्या पदार्थावर आपले चित्त ***विकीर्ण*** करून ते ते विषय आपल्याच ठिकाणी अनुभवत असेल. असो.

या ***प्रातिभ सिद्धी*** पुढील योगक्रमणेत बाधा निर्माण करू शकतात. जवळच आलेले कैवल्यसाक्षात्काराचे योग्यांचे मूळ ध्येय प्राप्त होण्यास या सिद्धींमुळे विलंब लागू शकतो, असा इशारा देतांना पतञ्जली म्हणतात की: ***"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय:।।३-३७।। पा.यो.सू. ।।"*** - ***प्रातिभ श्रावण, दर्शन, स्पर्शन, आस्वादन, गंध*** इ.इतके विलोभनीय असतात की व्युत्थानकालीच्या या सिद्धींच्या मोहात पडल्यास त्यांचे संस्कार प्रबल होऊन असंप्रज्ञात समाधीचे संस्कार दृढ होण्यास वेळ लागतो. कदाचित हा विलंब अनंत कालाचाही ठरणे शक्य आहे!! म्हणून योगसाधकांस हा निर्वाणीचा इशारा आहे.

५) परकायाप्रवेश:

या पुरुषसंयमाच्या सिद्धीमध्ये अनेकानेक अद्भुत सिद्धींचे भांडार दडलेले आहे. ते योगसाधकांपुढे उघडे करत पतञ्जली पुढे म्हणतात: ***"बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश: ।।३-३८।।पा.यो.सू.।।"*** - पुरुषावर संयम केल्याने आणि चित्ताच्या चलनवलनाचे ज्ञान झालेले असल्याने, चित्तास स्वशरीरात बद्ध करणारे पाश शिथिल होतात. त्यामुळे चित्ताचा परशरीरात प्रवेश करता येतो.

भगवत्पाद श्रीमच्छंकराचार्यांची परकायाप्रवेशाची मंडनमिश्र - सरस्वतिवादासंबंधित अत्यंत प्रसिद्ध घटना आपणा सर्वांना विदित आहेच.

याबाबत असे म्हणतात की स्वशरीरात चेतना असते; परंतु ते अतिगाढ निद्रेत (hibernation)असल्याप्रमाणे असते व त्या शरीरात चित्त पुन: प्रवेश करेपर्यंत ते जपून ठेवावे लागते. नवनाथचरित्र व श्रीशंकराचार्य यांच्या मिथककथेवरून असेच दिसून येते. परंतु असेच असले पाहिजे असे नाही. कारण ***कैवल्यपाद सूत्रे क्र.२ ते ६*** मध्ये योग्याची अनेक शरीरे निर्मून ती धारण करण्याची, तसेच त्या त्या शरीरासाठी एक एक चित्त निर्माण करण्याची सिद्धी सांगितली आहे.

"प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।।४-५।।पा.यो.सू. ।।" या सूत्रामध्ये अशा सर्व चित्तांचे नियंत्रण योग्याचे मूळ चित्त करत असल्याचे म्हटले आहे. या सर्व गोष्टींचा विचार करता योग्यास स्वशरीराचे सर्व व्यवहार पूर्ववत ठेवून अन्य शरीरात *(एकाच वेळी एका वा अनेकांत)* चित्त प्रवेश करणे व त्या शरीरांचे स्वशरीराप्रमाणे नियंत्रण करणे शक्य असले पाहिजे. मूळ म्हणजे सूत्रात ***"परशरीरावेश:"*** असे म्हटले आहे, ***"परशरीरप्रवेश:"*** असे म्हटलेले नाही. ***आवेश व प्रवेश*** यात जो फरक आहे, तोही येथे विचारात घेतला पाहिजे.असो.

स्वशरीरात राहूनच अन्य शरीरे निर्मून ती चालविणे या सिद्धीचा पण श्रीकृष्ण व ब्रह्मदेव यांच्या भागवतपुराणातील कथेत उल्लेख आहे. एकाचवेळी अनेकानेक गायीवासरे व गुराख्यांची, गोपबालकांची शरीरे निर्मून त्यात चित्तसंवहन करून श्रीकृष्णांनी ब्रह्मदेवाचे गर्वहरण केले होते, हे सर्वांस माहीत आहेच. असो.

६) शरीर पिसासारखे हलके करणे व ७) स्वेच्छामरण:

"उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग: उत्क्रान्तिश्च।।३-३९।।पा.यो.सू.।।" - पंच प्राणांपैकी उदानावर संयम केल्याने तो वश होतो आणि योग्यास शरीर हलके करून पाणी, काटे, अग्नी इ.वरून त्यांचा स्पर्श न होता चालता येते. श्रीशंकराचार्यांचे शिष्य ***पद्मपाद*** यांचे या सिद्धीबाबतचे उदाहरण प्रसिद्धच आहे. तसेच या सिद्धीचे ***स्वेच्छेने मृत्यु येणे*** असेही एक फल आहे.

८) समानजय व अग्नीवर हुकमत चालणे:

"समानजयात्प्रज्वलनम्।।३-४०।।पा.यो.सू.।।" - त्याचप्रमाणे समान वायूचा संयम व वशीकरण यांमुळे कायाग्नी प्रज्वलित करता येतो. ज्ञानदेवांनी पाठ तव्यासारखी तापवून त्यावर मुक्ताबाईंस मांडे भाजायला दिले किंवा शंकराने तृतीय नेत्रातून ज्वाळा फेकून त्यात मदनास भस्म केले, या घटनांची या अनुषंगाने स्मृती होणे साहजिकच आहे. भागवतपुराणात सतीने दक्षयज्ञसमयी आपला अपमान झाला म्हणून अशाच प्रकारे स्वत:ठायी योगाग्नी निर्माण करून त्यात आपले शरीर स्वाहा केले होते, अशी कथा आहे, ती पण याच सिद्धीच्या प्रभावाची! असो.

९) दिव्य श्रावण, वेदन, गंधादी सिद्धी:

"श्रोत्राकाशयो: सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।।३-४१।।पा.यो.सू. ।।" - श्रोत्रेंद्रिय व आकाशतत्त्व यांच्या परस्परसंबंधावर संयम केल्याने दिव्य श्रावण *(दूरश्रवण)* ही सिद्धी प्राप्त होते. इतरही ज्ञानेंद्रिय व त्यांच्यासंबंधित महाभूते यांच्याबाबतही अशाच प्रकारच्या संयमाने दिव्य वेदन, दिव्य गंध इ.सिद्धी प्राप्त होतात. ***पुरुषसंयमाचे उपफल म्हणूनही या प्रातिभ सिद्धी प्राप्त होतात***, असे यापूर्वी आलेच आहे.

९) आकाशगमन:

"कायाकाशयो:सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।। ३-४२।।पा.यो.सू.।।" - शरीर व आकाश यांच्या परस्परसंबंधावर संयम करून कापसासारख्या हलक्या पदार्थावर तन्मयतावृत्ती धारण केल्याने आकाशगमन ही सिद्धी प्राप्त होते.

१०) महाविदेहावृत्ती व रजतममलक्षालन:

"बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा तत: प्रकाशावरणक्षय:।।३-४३।।पा.यो.सू.।।" - विदेहावृत्तीवर संयम केल्याने सात्त्विक

प्रकाशावरील रजस्तमोमलावरणाचा क्षय होऊन ***महाविदेहावृत्ती*** प्राप्त होते. फलस्वरूप ***"पिंडी ते ब्रह्मांडीं"*** व ***"वासुदेव: सर्वमिति"*** आणि ***"अयमात्मा ब्रह्म"*** - ***"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"*** असा भाव दृढ होतो.

गीतेनेही प्रकाशावरणावरील रजस्तमोमलाचा क्षय होणे हा योगप्रक्रियेचा एक अवश्यंभावी घटक मानलेला आहे याची साक्ष पुढील श्लोकांतून मिळते:

१) ***"..। तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।।१४-६।।"*** - सत्त्वगुण हा निर्मल असल्यामुळे प्रकाशक आणि विकाररहित आहे;

२) ***"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।१४-११।।"*** -रजस्तमोमलक्षालनाची प्रक्रिया सत्त्वगुणाच्या विवृद्धीमुळे होते आणि त्यात रजस्तमोमलाचे प्रकाशावरील आवरण दूर होऊन ज्ञानाचा प्रकाश फाकतो;

३) ***"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन:। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।५-१६।।"***- अज्ञानाचा ज्ञानाने नाश होऊन आत्मप्रकाश फाकतो व त्याने परतत्त्वाचा साक्षात्कार होतो; इ.

अर्थात जरी गीतेने ***महाविदेहावृत्ती***चा शब्दश: उल्लेख केलेला नसला तरी वरील श्लोकांच्या अनुषंगाने आणि ***"वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।।७-१९।।"*** या गीतावचनातून प्रतीत होणाऱ्या महाविदेहावृत्तीच्या अनुभूतिप्रमाणावरून गीतेलाही योगातील हा महत्त्वाचा टप्पा अनुलक्षित होता, असे स्पष्ट दिसते. असो.

११) अष्टमहासिद्धी, कायसंपत आणि भूतजय:

"स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजय:।।३-४४।।पा.यो.सू.।।" व ***"ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव: कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ।।३-४५।।पा.यो.सू.।।"*** - पदार्थांच्या ***स्थूल, सूक्ष्म, स्वरूप, अन्वय व अर्थवत्ववृत्ती*** यांवर संयम केल्याने ***भूतजय*** प्राप्त होऊन चराचरावर स्वामित्व प्राप्त होते.

पदार्थांचे इंद्रियगोचर रूप म्हणजे ***स्थूलत्ववृत्ती.*** त्यांची निर्व्यापारावस्था म्हणजे ***सूक्ष्मत्व.*** भूतांच्या ***तन्मात्रा*** हे त्या पदार्थांचे ***स्वरूप.*** त्या तन्मात्रांतर्गत ***सत्त्व-रज-तम*** हे गुण म्हणजे ***अन्वयवृत्ती.*** अन्वय आणि महत्तत्त्वापासून स्थूल भूतांपर्यंतचे सर्व गुणपरिणाम ज्या शक्तीमुळे घडून येतात, ती ***अर्थवत्वावस्था*** असे समजावे.

या पंचसंयमांपासून भूतजय प्राप्त झाला की ***अणिमादी अष्टमहासिद्धी*** प्राप्त होतात. उपफल ***कायसंपत*** **व भूतांकडून नाश न पावणे** असे आहे.

कायसंपत या सिद्धीचे स्वरूप ***"रूपलावण्यबलवज्र-संहननत्वानि कायसंपत्।।३-४६।। पा.यो.सू.।।"*** असे आहे. म्हणजे सुंदर रूप, लावण्य, श्रेष्ठ सामर्थ्य *(बल)* आणि वज्रासारखे काठिण्य अशी कायासंपदा प्राप्त होते. ज्ञानेश्वरांनी सहाव्या अध्यायात याच कायसंपदेचे वर्णन मोठे बहारीचे केले आहे. ***"बुद्धिचिं पुलिका विरैं। परिमलुं घ्राणिं उरैं।..... जैं आपां आन पृथिवियेचें। अंशु नाइं।।६-२४६ ते २६८।। ज्ञानेश्वरी।।"*** या ओव्यांतून हे समग्र दर्शन आपण करून घेतलेच आहे *(उन्मेष:४४-१:योगविभवभाण्डार-पंथराज पृ.क्र.७२५-७२६)*. त्यानंतरच्या ओव्यातून येणारा सिद्धींचा प्रांत आपण आताच पातञ्जलयोगसूत्रांच्या साहाय्याने विस्तारपूर्वक अवलोकित आहोत. आता उरलेल्या पण महत्त्वाच्या अशा काही **आध्यात्मिक सिद्धी**ंचा थोडक्यात परामर्ष घेऊन हा विषय आटोपता घेऊ या.

आध्यात्मिक सिद्धी::::

१) इंद्रियजय:

म्हटले तर ही सिद्धी आणि खरे तर हा आध्यात्मिकतेच्या मार्गावरील एक मोठा टप्पा आहे. ***"ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व-संयमादिन्द्रियजय:।।पा.यो.सू.।।३-४७।।"*** - भूतजयासाठी कराव्या लागणाऱ्या पंचविध संयमांसारखेच *(३-४४पा.यो.सू.)* या संयमाचे स्वरूप आहे. फरक फक्त भूतांऐवजी प्राधान्याने इंद्रियांसंबंधी हा ***पंचसंयम*** असणे असा आहे.

१) इंद्रिये विषयांशी संयुक्त होणे म्हणजे ***ग्रहणावस्था,*** २) विषयांशी संयोगित नसता निर्व्यापारस्थितीत प्रकाशरूप असणे ही इंद्रियांची ***स्वरूपावस्था,*** ३) चित्तात मी आहे, असे स्फुरण म्हणजे ***अस्मितावस्था,*** ४) अस्मितेतील त्रिगुणांचे असणारे अस्तित्व म्हणजे ***अन्वयावस्था*** व ५) त्रिगुणांतील भोग-अपवर्ग इ.प्रदान करू शकणारी जी शक्ती ती ***अर्थवत्त्वावस्था.*** या पाच अवस्थांवर संयम केल्यास ***इंद्रियजय*** सिद्ध होतो.

२) मनोजवित्व, विकरणभाव व प्रधानजय:

भूतजयापासून जशा ***अणिमादी सिद्धी, कायसंपत, अविनाशित्व (देहाचे)*** या सिद्धी उपफल म्हणून प्राप्त होतात, त्याचप्रमाणे वर सांगितलेल्या इंद्रियजयाच्या फलस्वरूप ***मनोजवित्व, विकरणभाव व प्रधानजय*** या सिद्धी प्राप्त होतात. ***"ततो मनोजवित्वं विकरणभाव: प्रधानजयश्च।।३-४८।।पा.यो.सू.।।"*** - शरीरास मनासारखे चापल्य व गती प्राप्त होणे ***(मनोजवित्व),*** कोणत्याही देशकालातील विषयांचे इंद्रियनिरपेक्ष सेवन घडू शकणे ***(विकरणभाव)*** आणि ***प्रधानजय*** या सिद्धी ***इंद्रियजय*** झाल्याने प्राप्त होतात. **प्रधानजयाने योग्याच्या ठिकाणी विश्वामित्रासारखे संकल्पाने प्रतिसृष्टी, स्वर्गादी निर्मिण्याचे सामर्थ्य येते.**

इंद्रियजय व त्यापासून मनोजवित्वप्राप्तीचे मोठे उदाहरण म्हणजे ***"मनोजवं मारुततुल्य वेगं। जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठं"*** अशी जी हनुमंताची स्तुती आहे, त्यात येते. असो.

३) सर्वभावाधिष्ठातृत्व व सर्वज्ञातृत्व:

ही सर्वोच्च व शेवटची आध्यात्मिक सिद्धी आहे. ***"सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं ज्ञातृत्वं च।।३-४९।।पा.यो.सू.।।"*** - ***विवेकख्याती*** म्हणजे सत्त्व *(अंत:करण)* व द्रष्टा पुरुष यातील वेगळेपणाची प्रतीती. हिलाच येथे

सत्त्वपुरुषान्ताख्याति असे म्हटले आहे. विवेकख्यातीवरील संयमाचे फलस्वरूप आपणच सर्व भावांचे अधिष्ठाते आहोत आणि सर्वज्ञही आपणच आहोत, अशी प्रतीती योग्यास येते. ही प्रतीती अत्यंत श्रेष्ठ आहे.

"अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा।।७-६।।"; "मत्त: परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।।७-७।।";"ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।७-१२।।"; "अहं क्रतुरहं यज्ञ: ...।।९-१६ ते १९।।"; "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:।।१०-२०।।" व *दशम* अध्यायातील बहुतेक सगळे विभूतिप्रकटीकरणाचे आणि तदनंतरचे गीताश्लोक यातून प्रकटवलेले असे या ***सर्वभावाधिष्ठातृत्व*** आणि ***सर्वज्ञातृत्व*** सिद्धींच्या अनुभूतीचे व प्रतीतीचे स्वरूप असते. योग्यास विवेकख्यातीमुळे हा असा ***ईश्वरीभाव वा आत्मभाव व सर्वज्ञातृत्वता*** प्राप्त होतात.

कैवल्य

या श्रेष्ठ आध्यात्मिक सिद्धींच्या प्राप्तीनंतर ***जीवन्मुक्ती वा कैवल्य*** प्राप्त होते. ***"तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।।३-५०।। पा.यो.सू.।।"*** असे पतञ्जलींचे म्हणणे आहे. **सर्वज्ञातृत्वतादी सिद्धींबाबत वैराग्यभावना प्रखर झाली की विवेकख्यातीचा अभ्यास परिपक्व होऊन *कैवल्य, जीवन्मुक्ती वा आत्मींचे स्वराज्य* असे ज्ञानेश म्हणतात, ते प्राप्त होते. योगमार्गाची संपूर्ण सुफळ सांगता होते.**

हा योगमार्ग असा विलोभनीय वाटणाऱ्या सिद्धींच्या प्रांतातून जात असतो. त्या त्या सिद्धींच्या अनुषंगाने दिव्यातिदिव्य भोग प्राप्त होत असतांना, चित्तास त्या विषयांचा संग घडू देऊ नये. देवदेवता आपापल्या मंडलात, स्वर्गादी प्रलोभनात गुंतवू पाहतात. त्यांच्याशी संबंध येऊ देऊ नये. अन्यथा कैवल्यप्राप्तीपासून दूर जाण्याचा मोठा धोका संभवतो, हा इशारा ग्रथित करण्यास पतञ्जली सतर्क आहेत. ***"स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।।३-५१।। पा.यो.सू.।।"*** असे ते म्हणतात.

योगसाधनेची इतिश्री

यानंतर समाधिश्रियेच्या अंतिम श्रेणीचे साक्षात्कार घडवणाऱ्या पतञ्जल्युक्त विभूतिपादातील उर्वरित सूत्रांचे विहंगमावलोकन करून ज्ञानेश्वरीकडे वळू या.

१) ***"क्षणतत्क्रमयो: संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।।३-५२।। पा.यो.सू.।।"*** - क्षण आणि त्याचा क्रम यांच्यावर संयम केला असता ***वस्तूतील सूक्ष्म भेद करून देणारे विवेकज ज्ञान*** उत्पन्न होते.

२) दोन वस्तू तुल्य दिसत असताही योग्यास त्यातील सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदाचे ज्ञान होते असे ***"जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्तत: प्रतिपत्ति:।।३-५३।।पा.यो.सू.।।"***- त्या संयमज ज्ञानाचे फल आहे.

३) विवेकज ज्ञान तारणारे असते. त्या ज्ञानाचे लक्षण ***"तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।।३-५४।। पा.यो.सू.।।"*** असे सांगितले आहे.

४) ***विवेकज ज्ञान, विवेकख्याति*** या सर्वश्रेष्ठ भूमिकांची ज्या योग्यास प्राप्ती होते, तो सुखाच्या सिंहासनी बसतो; स्वानंदसाम्राज्य उपभोगतो; समाधिश्रियेचा भर्ता होतो.

"सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।।३-५५।।पा.यो.सू.।।" -चित्त हे सत्त्वगुणापासून उत्पन्न झालेले आहे. चित्तातील रजस्तमोमल नाहीसे जाले की ते शुद्धसत्त्वावस्थेत परिणत होते. अशा चित्तात व पुरुषात फरक राहत नाही. ***चित्त व पुरुष एकरूप होतात. साम्य प्राप्त होते.***

"अर्जुना समत्व चित्ताचे। तैंचि सार जाण योगाचें।। २-२७३।।" अशी ज्ञानेशांनी वर्णिलेली ही अवस्था आहे. **हेच कैवल्य! हाच योगपथाचा अंतिम आणि सर्वव्यापक टप्पा! हीच युगानुयुगी जन्मजन्मांतरी केलेल्या योगसाधनेची फलश्रुती!! हीच योगमार्गाची इतिश्री!!!**

कुंडलिनीचे उत्क्रमण(१)::::

पूर्वसूत्र

पतञ्जलींच्या सुसूत्र मार्गदर्शनाप्रमाणे ही सुखानंदाची पर्वणी कशी प्राप्त करून घ्यावी, हे आपण आतापावेतो बऱ्याच खोलात जाऊन पाहिले. समाधिश्रियेच्या समागमाचे ***"अतींद्रिय सुख, तरीही मी इंद्रियांकडून भोगविन"*** असे ज्ञानेशांचे प्रतिज्ञोत्तर आहे.

कुंडलिनी जगदंबेच्या राऊळी बसून ते सुख ज्ञानेशांच्या आनंदाच्या आवारात विहरत उपभोगण्यास उत्सुक झालेल्या साधक जिज्ञासूंना म्हणून परत ज्ञानेश्वरीकडे वळावे लागेल. आपण सिद्धींच्या झगमगत्या प्रांतापासून आता त्या प्रशांत, सुशांत, मनोहारी अशा कुंडलिनीदेवीच्या प्रांताकडे पुनश्च वळू या.

गीतेत सिद्धींचा अनुल्लेख

"आइकैं प्राणाचां हातु धरौनि। ....जैं प्राणांचिं उघडिं। जन्मभूमि।।६-२७१ ते २७३।।" मधून अनेकानेक सिद्धी कशा प्राप्त होतात, ते आपण पाहिलेच आहे. हा प्रांत ज्ञानेशांनी या अवघ्या काही ओव्यांतच लंघिला आहे. *सहाव्या* अध्यायात कुंडलिनीप्रक्रियेप्रसंगी साधकाच्या सिद्धदेहादींचे - ***खेचर*** अवस्थेचे इ.संक्षिप्त वर्णन केल्यावर अणिमादींचा उल्लेख करत ते या सगळ्या सिद्धींशी आपल्याला काय देणेघेणे असे या शब्दांत म्हणतात:

तेथ ठाईं ठाईं होएं। आणिमादिकिं।।६-२९७।।
पर्‍हैं तेणें काइं काज आपणपेयां।...।।२९८।।

असो. गीतेत तर सिद्धींचे विशेष काहीच उल्लेख वा वर्णन नाही. कारण त्यातील अध्यात्म परमसिद्धीसाठी सांगितले आहे. **ब्रह्मविद्या प्राप्त करावी या एकाच हेतूने गीता - ज्ञानेश्वरीतील योगशास्त्र**

विनियोजिले असल्याने ते इतर सिद्धींबाबत गौणत्व, अनुल्लेख वा अल्प उल्लेख वा पुसटसा निर्देश असा मार्ग स्वीकारते. पतञ्जली मात्र योगशास्त्राचे समग्र दर्शन करवण्यास कटिबद्ध आहेत व ते सशास्त्र व्हावे म्हणून कटाक्षाने बारीकसारीक तपशील आणि योगविभूतींचे एवढे सांगोपांग पण संक्षिप्त वर्णन करत कैवल्याचा मार्ग दाखवतात. असो.

जगदम्बा कुंडलिनीचे उत्क्रमण

सिद्धींची जन्मभूमी खरे तर कुंडलिनी जगन्मातच आहे, हे जाणणारे ज्ञानेश म्हणून सिद्धींच्या उल्लेखानंतर त्वरित त्या जगदंबेचे बोट धरत म्हणताहेत की:

आइकैं प्राणाचां हातु धरौनि। गगनाचिं पाऊटी करौनि।
मध्यमेचेनि दादरैहूनि। हृदयां आलीं।।६-२७१।।
तैं कुंडलिणी जगदम्बा। जैं चैतन्यचक्रवर्त्तिचिं शोभा।
जियां विश्वबिजांचियां कोंभा। साऊली केलीं।।२७२।।
जैं शून्यलिंगाचिं पिंडी। जैं परमात्मेयां शिवाचिं करंडी।
जैं प्राणाचिं उघडीं। जन्मभूमि।।२७३।।

"प्राणाचा हात धरून गगनाच्या पाऊलवाटेने जाणारी ती कुंडलिनी मध्यमेचा *(सुषुम्नेचा)* दादरा चढून हृत्कोषात प्रवेशते. ही कुंडलिनी म्हणजे साक्षात चैतन्यचक्रवर्तीची सुंदरी आहे. विश्वबीजाच्या अंकुरास तीच सावली देऊन जोपासते. ***शून्यलिंगाची पिंडी, परमात्मा शिवास सांभाळणारी संपुटी*** अशी ती जगदंबा प्राणाची जन्मभूमी किंवा प्रणवाची मातृका आहे."

अनाहतनाद

कुंडलिनी म्हणजेच ***शिवा*** वा ***शक्ती.*** जग हा तिचाच विस्तार आणि व्यापार आहे. प्राणमय जगत असल्याने तिला प्राणाची वा प्रणवाची उघडी जन्मभूमी असे म्हटले आहे. ***प्रणव वा ॐकार वा उद्गीथ*** ही अवस्था तिच्यापासूनच उद्भवते.

शिवा असे तिचे स्वरूप असल्याने तिला ***चैतन्यचक्रवर्तीची शोभा, विश्वसाम्राज्ञी, विश्वसुंदरी, त्रिपुरसुंदरी, शिवाची करंडी, शून्यलिंगाची पिंडी*** अशी गूढगर्भ नामे योजिली जातात. अशी ती जगन्माता साधकाच्या हृत्कोषी आल्यावर काय होते, ते ज्ञानेशांच्या शब्दात ऐका. ते म्हणतात:

"त्यावेळी ती ***अनाहत*** ध्वनीच्या शब्दाने बोलू लागते. त्या शक्तीला लगटून बुद्धिरूपी चैतन्य जे तेथपावेतो पोहोचले होते, त्याच्या कानी ते बोल पडू लागले. बोल कसले ते! ते तर प्रणवाकृतीने रेखाटलेली नादमय चित्रांची साजिरी रूपेच होत जणू! घोषध्वनीच्या अग्निकुंडातून लवलवणाऱ्या चिन्मात्र ज्वालांच्या जणू आकृतीच असे ते ***अनाहत ध्वनिरूपी बोल*** होत *(ओवी क्र. ६- २७४ ते २७६)*."

"अनाहताचेनि मेघें। आकाश दुमदुमों लागें"

सुषुम्ना जणू अग्निकुंड आणि त्यातून प्राणाच्या रूपाने सुसाट वाहत ***अनाहतनाद*** उत्पन्न करणाऱ्या जणू अग्निज्वाला, त्यांच्या आकृती म्हणजे ***नादचित्रे*** असे रूपक येथे ज्ञानेश्वरांनी रेखाटले आहे.

"पण याची कल्पना करणारे मनच त्या समयी लय पावलेले असते. त्यामुळे कल्पना कशी करणार! म्हणून त्यावेळी काय गर्जत असते, ते कसे कळावे! पण एक गोष्ट मात्र लक्षात अजून घ्यावयाची राहिली आहे. ती म्हणजे **जोपावेतो प्राण वा पवन वा वायुतत्त्वाचा लय होत नाही, तोपावेतो गगनात वा आकाशात त्याचा शब्द अनाहत नादाच्या रूपाने प्रकटत राहतो** *(ओवी क्र.६-२७७ ते २७८)*."

"पृथ्वी व आप ही तत्त्वे आधीच लय पावलेली असल्याने आता पुढील ऐका! त्या ***अनाहत ध्वनीच्या मेघगर्जनेने हृदयाकाश दुमदुमू लागले की ब्रह्मरंध्र आपोआप उघडे होते.*** त्याकडे जावयाची वाट मोकळी होऊन त्याठायी असणाऱ्या महदाकाशात नंतर सर्व लय पावते *(ओवी क्र.६-२८९-२८०)*."

"द्वैत न देखैं। आइसें केलें"

आइकैं कमलगर्भाकारैं। जैं महदाकास दुसरैं।
जेथ चैतन्य आधुथुरैं। करौनि असिजैं।।६-२८०।।
तेयां हृदयाचां परिवरिं। कुंडलिणियां परमेश्वरिं।
तेजाचिं सिधौरिं। विनियोगिलीं।।२८१।।
बुद्धिचेनि शाकैं। हातबोनें नीकैं।
द्वैत जेथ न देखैं। तैसें केलें।।२८२।।

श्रीकृष्ण पुढे म्हणतात: "अर्जुना! ऐक! कमलाच्या आकाराचे भासणारे महदाकाश असते. त्यात वास करणारे चैतन्य अर्धतृप्त असते. जोपावेतो कुंडलिनी परमेश्वरी त्याला भेटत नाही, तोवर ते तृप्त होत नाही. त्या चैतन्याला हृदयकोषाच्या चिदाकाशात - माजघरात - कुंडलिनी घेऊन येते व तेजतत्त्वाची शिदोरी त्यास अर्पण करते. हातात बुद्धिरूपी भाजी घेऊन द्वैताचा जेथे प्रवेश होऊ शकत नाही, अशा त्या ठिकाणी त्या चैतन्यास ती भोजन करवते."

हा सर्व वृत्तांत गद्यात सांगायचा झाला तर तो असा की "कुंडलिनी जेव्हा हृत्काशात प्रवेशते, त्या वेळी ***अनाहतनाद*** उमटतो. त्या वेळी महदाकाशाकडे जण्याचा मार्ग चिदाकाशात प्रकटतो. त्या मार्गाने चैतन्य व कुंडलिनी यांचे सामरस्य होणार असते. या वेळी कुंडलिनी शक्ती तेजस्तत्त्वाचा लय करवून घेते. बुद्धी म्हणजेच तैजस. याचबरोबर बुद्धीचाही लय होतो, द्वैतबुद्धी नष्ट होते," असा हा भाग ज्ञानेशांच्या शब्दात येथे आलेला आहे. असो.

"सोनियाचिं सरी। प्रकाशजलाचिं झरी"

आइसिं निजकांति हारविलिं। मग प्राणुचि केवल जाहालीं।
तैं हेलीं कैसिं गमलीं। म्हणाविं पां।।६-२८३।।
हो कां जैं पवनाचि पुतली। पांगुतिलीं होति सोनेसलीं।
तैं फेडूनियां वेगलीं। ठेविलीं तिएं।।२८४।।
ना तऱ्हैं वारआचेनि आंगैं झगटलीं। दीपाचिं दिठी निमुटिलीं।
कां लखलखौनि हारपलीं। विजू गगनिं।।२८५।।
तैसिं हृदयकमलवेऱ्हीं। दिसैं सोनियाचि जैसिं सरी।
ना तऱ्हैं प्रकाशजलाचिं झरिं। वाहांति आली।।२८६।।

"त्या वेळी ती जगदंबा कशी दिसते सांगू! निजकांती हरवून केवळ प्राण-पवनरूप ती झालेली असते. वर तिने पांघरलेला भरजरी सोनेरी तासकामाचा नेसलेला शालू पण सोडून टाकावा अशी ती कशी दिसेल सांगा बरे! तेजस्तत्त्व लय पावले की जणू वाऱ्याच्या झोताने दीपज्योती मावळून जावी किंवा आकाशात क्षणैक वीज चमकून नाहीशी व्हावी; अथवा हृत्कमलापर्यंत सोन्याची सरी येऊन अदृश्य व्हावी; किंवा प्रकाशजलाची निर्झरी तेथवर वाहत येऊन हृत्कोषात जिरून जावी, तसे शक्तीचे रूप शक्तीतच सामावून जाते."

"नेणैं नादबिंदूकलाज्योति"

"तेव्हाही ती शक्तीच असते. ती केवळ प्राणस्वरूप झालेली असते. ***नाद, बिंदू, कला, ज्योती*** असे धर्म त्या वेळी उरत नाहीत. मनाचा निरोध करणे, प्राणसाधना करणे किंवा ध्यानधारणा करणे या गोष्टी त्या वेळी संभवत नाहीत. तर्क-वितर्क, विचार इ.त्या वेळी उरत नाहीत. पंचमहाभूतांची लयावस्था ती हीच *(ओवी क्र.६-२८७-२९०)!* ***(टीप:नाद,बिंदु, कला व ज्योती*** यांचे स्पष्टीकरण नंतरच्या उन्मेषांमधून योग्य त्या स्थानी करण्यात येईल.)

तेयां ध्वनिताचें केणें सोडूनि। यथार्थाचिं घडी झाडूनि।
उपलविलीं मियां जाणूनि। ग्राहिक श्रोते।।६-२९२।।

"पिंडातच पिंडाचा लय करण्याची नाथपंथीय साधना ती हीच! हेच मर्म श्रीकृष्ण सांकेतिक भाषेत प्रकट करत आहेत. ते मर्मज्ञ श्रोत्यांच्या आणि साधकांच्या दृष्टीआड होऊ नये, खूणेची ओळख नीट पटावी,***नाथांचा आदेश*** नीट समजावा, म्हणून श्रीकृष्णांच्या ध्वनितार्थरूपी त्या सणंगावरील गूढपणाची बंधने सोडवून, यथार्थाची घडी उपलवून त्या खूणेचे अंतरंगरहस्य मी ***(ज्ञानेश)*** तुम्हांसारख्या हे रहस्य ग्रहण करण्यास अति उत्सुक अशा श्रोत्यांपुढे दाखवत आहे."

पुढील कुंडलिनीप्रक्रिया

निर्वितर्क - निर्विचार - सानंद - सास्मित या समाधिभूमिका एकवटून ***असंप्रज्ञात*** समाधीचे अंतरंग प्रकटविणाऱ्या या अवस्थेचे पुढे वर्णन करत ज्ञानदेव म्हणतात:

आइकैं शक्तीचें रूप लोपैं। तेथ देहिंचें रुप हारपैं।
मग तो डोलियांचिमाझिं लपैं। जगाचियां।।६-२९३।।
यरविं आदिलांचि ऐसें। सावयव तन्हैं असें।
परि वायूचें कां जैसें। वलिलैं होएं।।२९४।।
ना तन्हैं कर्दलींचां गाभां। बुंथि सांडौनि उभा।
कां अवयवचि नभां। निवडलां जो।।२९५।।

"शक्तीचे तेज जेव्हा असे लय पावते, तेव्हा देहाचे रूप हरपते. देहरूप असा इतरेजनांना तो साधक दिसत असतांनाही विदेह होतो.बघताबघता अंतर्धान पावण्याची सिद्धी त्यास प्राप्त होते. वास्तविक तो देहधारीच असतो. इतरांप्रमाणेच पूर्वीसारखा अवयवधारी असतो. पण त्याच्या देहास जणू तो वायूचा बनवलेला असावा असे लाघव येते. आकाशगमनादी सिद्धी त्याच्यापुढे हात जोडून उभ्या असतात. त्या देहाचे वर्णन तरी किती करावे! केळीच्या सोपावरील साल काढून टाकल्यावर आतला कोमल गाभा जसा दिसतो, किंवा आकाशासच जणू त्याचे देहावयव फुटलेले दिसावेत, तसा तो त्या योग्याचा देह भासतो."

तैसें होए शरीरु। तैं तैं म्हणिजैं खैंचरुं।
हें पद होतां चमत्कारुं। पिंडु जनिं।।६-२९६।।
देखैं साधकु निगौनि जाएं। माघां पाऊलांचि ओलि राहैं।
तेथ ठाईं ठाईं होएं। आणिमादिकिं।।२९७।।
पन्हैं तेणें काइं काज आपणेयां।...।।२९८।।

"देह असा झाला की त्यास सिद्धयोगी ***खेचर*** अशी संज्ञा देतात. कारण ***आकाशगमन*** ही सिद्धी त्या योग्यास प्राप्त होते. देहधाऱ्यांना असा देह प्राप्त होणे ही आश्चर्यजनक किमया आहे. साधकाचा असा सिद्ध झाला की तो ज्या योगमार्गाने येथवर आलेला असतो, त्या मार्गावरील त्याच्या पावलांच्या खूणा म्हणून ठायीठायी तेथे अणिमादिक महासिद्धी दिसू लागतात. ***पण त्या सिद्धींशी आपल्याला काय करावयाचे आहे!"***

....। अवधारि आइसां धनंजया।
लोप आथि भूतत्रेआं। देहिंचा देहीं।।६-२९८।।
पृथिवितैं आपु विरविं। आपांतैं तेजु जिरविं।
तेजातैं पवनु हारविं। हृदयामाझिं।।२९९।।
पाठिं आपण एकलां उरैं। परि शरिराचेनि अनुकारैं।
तोहि निगैं अंतरैं। गगनां मिलैं।।३००।।
तैं हेलीं कुंडलिणी हें भाख जाएं। मारुत आइसैं नाम लाएं।
परि शक्तिपण तैं आहें। जंव न मिलैं शिविं।।३०१।।

"हे धनंजया! असे पहा की पृथ्वी, आप व तेज या तिन्ही तत्त्वांचा असा देहाच्या देहातच लय होतो. पृथ्वीतत्त्वाचा आपस्तत्त्वात, आपतत्त्वाचा तेजस्तत्त्वात आणि तेजाचा पवनतत्त्वात हृत्कोषी लय होतो. तेव्हा तो एक पवन तेवढा उरतो. वायुतत्त्व जे राहते, ते देहाच्या आकाराने देहास धरून काही काळ राहते. पण कालांतराने ते पण तेथून निघून मूर्ध्न्याकाशास जाऊन मिळते व तेथेच लय पावते. त्या वेळी कुंडलिनी हे नांव राहत नाही. पवन व आकाशतत्त्वांची मिळणी होण्यावेळी त्या शक्तीस***मारुत*** असे नांव सिद्धयोगी देतात. तरीही जोपावेतो तिचे शिवाशी मिलन होत नाही, तोवर तिच्यात शक्तित्व असतेच."

"पदीं पद प्रवेशें"

पुढे या लयाचे वर्णन करत ज्ञानेश म्हणतात:

मग जालांधर सांडिं। ककारांत फोडिं।
गगनाचिएं पाहाडिं। पैठिं होएं।।६-३०२।।

तैं ॐकाराचिएं पाठिं। पाएं देत उठाउठिं।
पश्यंतिचिएं पाउटीं। माघां घालिं।।३०३।।
फुडां तन्मात्रा अर्धवेरिं। आकासाचां आंतरिं।
भरति गमैं सागरिं। सरितां जैसिं।।३०४।।
मग ब्रह्मरंध्रिं स्थिराओनि। सोऽहंभावाचियां बाह्या पसरौनि।
परमात्मलिंगा धांओनि। आंगां घडें।।३०५।।
तंव महांभूतांचि जवनिक फिटैं। मग दोघांसिहिं होय झटैं।
तेथ गगनासगट आटैं। समरसिं तिएं।।३०६।।

"असो! त्यानंतर ती ***मारुत***नामक शक्ती हृत्कोषातून ***(आध्यात्मिक हृदयातून)*** पुढचा मार्ग आक्रमू लागते, तेव्हा जालंधरबंधाचे उल्लंघन करते. **ककारांत** विदीर्ण करून ती मूर्ध्न्याकाशरूपी पहाडावर चढून जाते आणि ॐकाराच्या पाठीवर पाय देत तत्काळ पश्यंतीची पायरी ओलांडून जाते. सर्व नद्या जशा सागरास मिळतात, तशा त्यानंतर ॐकाराच्या अर्धमात्रेसह साडेतीन मात्रा मूर्ध्न्याकाशी जाऊन मिळतात. मग ती ब्रह्मरंध्राच्या स्थानी स्थिर होते आणि **सोऽहंभाव**ाने त्वरेने परमात्मलिंगास आलिंगून त्याच्याशी एकरस होते. त्या वेळी पंचमहाभूते नाहीशी होतात, त्यांचा आडपडदा सरतो आणि शक्ती व परमात्मतत्त्व यांचे ऐक्य होते. त्या सामरस्यात आकाशतत्त्वासह सर्व विश्वाचा लय होतो. द्वैत असे ते तेथे उरतच नाही. अद्वैताशिवाय तिथे इतर काही असूच शकत नाही, अशी अनिर्वाच्य ती स्थिती असते."

[**टीप**:ज्ञानेशांनी येथे ***ककारांत*** असा शब्द वापरला आहे. काहींनी त्याचा अर्थ ***काकीमुख*** असा घेतला आहे. योग्य अर्थ ***ककारांत*** शब्दाच्या व्युत्पत्तीतून प्रकट होतो, तो असा: **"ककार आहे अंती ज्याच्या" ते *ककारांत* होय :** (संदर्भ: श्री.मंगरूळकर केळकर यांची ज्ञानदेवी.)

क याचा अर्थ ***ब्रह्म*** असा आहे. ***ककार*** म्हणजे ***कं ब्रह्म*** - ते ज्याच्या अंती आहे असे जे स्थान, ते ***ककारांत*** होय. योगशास्त्रानुसार असे स्थान म्हणजे ***सुषुम्नामुख*** वा ***सुषुम्नापथाच्या अंतीचे स्थान होय, जे मूर्ध्निस्थ आहे.*** त्यानंतरचा प्रांत ब्रह्माचा आहे. असो.]

पैं मेघाचेनि मुखैं निवडलां। समुद्रु कां ओघिं पडिलां।
तो माघुतां जैसां आला। आपणपेआं।।६-३०७।।
तेंविं पिंडाचेनि मिखैं। पदीं पद प्रवेशें।
तैं एकत्व होएं तैसें। पंडुकुमरां।।३०८।।

"मेघ वर्षतात तेव्हा समुद्रापासून मेघरूपे वेगळे झालेले पाणी सरितौघरूपे जाऊन जसे पुन: समुद्राशी एकरूप होऊन जाते, आपले आपल्याठायीच पुनश्च मिळून जाते, तसाच प्रकार या शक्ती आणि शिव यांच्या पुनर्मिलनाचा आहे. ***शरीराकारात राहूनही जेव्हा शिव आणि शिवा यांचे असे मिलन होते, तेव्हा पिंडदेहाच्या योगाने पदी पदच प्रवेशते.***"

"गगनिं गगन लयां जाएं"

आतां दुजैं हान होतें। किं एकचिं हें आइतैं।
ऐसिएं विवंचनेपुरतैं। उरेचि ना।।६-३०९।।
गगनिं गगन लयां जाएं। आइसें जैं काइं आहे।
तैं अनुभवैं जो होएं। तो होऊनि ठाकैं।।३१०।।

" हे पांडुपुत्रा! त्या स्थितीत द्वैत होते की अद्वैतच असते, हा विचारसुद्धा उरत नाही. विचारास थारा न देणारी ती स्थिती असते. आकाशात आकाशच कालवून समरस करावे किंवा गगनात गगनच प्रवेशावे, मठाकाश महाकाशात मिळावे व तेही मठ न फोडता, अशीच ती अवस्था असते. ज्याला ती प्राप्त होते, तो तेथे त्याच अवस्थेत ठाकतो. हा अनुभव ज्याचा तोच जाणे कसा असतो ते!"

"महाशून्याचां डोहिं"

वाचातीत अशा या अनुभूतीबद्दल ज्ञानेश अजून काय सांगतात, ते पहा:

म्हणौनि तेथिंचिं मातु। न चडेचि बोलाचां हातु।
जेणें संवादाचिआं गांवांआंतुं। पैठी किजैं।।६-३११।।
अर्जुना यरविं तन्हैं। एआं अभिप्रायाचां गर्वु धरिं।
तैं पाये वैखरिं। दूरि ठेलिं।।३१२।।
भ्रूलता माघिलिकडें। मकाराचेचि आंग न मांडें।
सडेयां प्राणा सांकडें। गगना एतां।।३१३।।

"त्या अनुभूतीचे शब्दांकन करता येणे शक्य नाही, तेथे त्याबाबत संवाद तरी आपणात कसा करता येईल! अर्जुना! हा अनुभव कसा असतो, ते विशद करून आपण सांगू असा अहंकार मिरवणारी वैखरी वाणी तर या ब्रह्मैक्याच्या अवस्थेपासून खूपच दूर असते. दोन्ही भ्रूलतांच्या मध्यभागी ***आज्ञाचक्र*** असते. ते ओलांडून पलीकडील अवकाश ***सहस्रार*** म्हणून जो ओळखला जातो, त्याठायी ॐकाराच्या तृतीय मात्रेसही - मकारासही - स्थान नाही. विश्वातील सूक्ष्मातिसूक्ष्म जाणिवेचाही तेथे प्रवेश होऊ शकत नाही. एवढेच काय! तर एकट्या प्राणशक्तीसही त्याठायी येणे दु:साध्य असते."

पाठीं तेथेंचि तो भांसलला। तंव शब्दाचां दिओ मावलला।
मग तेयांहि वरि आटु भविन्नला। आकाशाचां।।६-३१४।।
आतां महाशून्याचां डोहिं। जेथ गगनासिंचि थाउं नाइं।
तेथ तागा लागैल काइं। एआं बोलाचा।।३१५।।

"ती प्राणशक्तीसुद्धा जेव्हा कुंडलिनीच्या बळावर तेथवर येऊन पोहोचते, तेव्हा मूर्ध्न्याकाशात लीन होते. अशा वेळी त्या प्राणशक्तीवर ज्याचे अस्तित्व कल्पिले जाते, त्या शब्दाचा दिवस मावळून अंधकार होतो. ***"नेति, नेति"*** असे त्या अवस्थेबाबत मौन बाळगून वेदही मग स्तब्धावतो. अशा त्या ***मकारापैलीकडील अर्धमात्रास्थानाचाही जेव्हा आकाशासह ब्रह्मतत्त्वात जेथे लय होतो, तेथे ज्या त्या महाशून्याच्या डोहात त्या आकाशाचासुद्धा थांग उरत नाही***, तेथे ही आकाशाचीच

तन्मात्रा असणारी शब्दरूपी नाव त्यात कशाच्या आधाराने घालावयाची! आणि त्या अथांग ब्रह्मरूपी दर्यात त्या नावेला वल्हवणारा जाणिवरूपी वेळू तरी कोठून आणावयाचा, सांग बरे! "

"तैं आपणचिं ठाकावैं। होओनिआं"

म्हणऊनि आखरामाझिं सांपडें। किं कानवेरिं जोडें।
हें तैसें नोहें फुडें। त्रिशुद्धि मां।।६-३१६।।
जैं कंहिं दैवें। अनुभविलें फांकवै।
तैं आपणचि हें ठाकावैं। होओनिआं।।३१७।।
पुडुति जाणणैं तैं नाइं चिं। म्हणौनि असो केती हें चिं।
बोलावैं आतां वांयांचिं। धनुर्द्धरां।।३१८।।

"ती ब्रह्मैक्यावस्था अशी अगाध गूढतम असल्याने ती अक्षरात ग्रथित करता येईल किंवा कानांनी श्रवण करून समजेल अशी मुळीच नाही, हे त्रिवार सत्य आहे, असे नक्की जाण! आपल्या दैवयोगाने ती स्थिती जर आपल्याला प्राप्त झाली, तर तिचा मिळेल तो अनुभव घेऊन तसेच उगीच राहावे, हेच बरे! हे धनुर्धरा! आणखी उगाच किती वर्णन करावे त्या अवस्थेचे! कारण त्या अवस्थेत व तिच्यापुढे जाणीव अशी ती उरतच नाही, तर पुढे काय बोलावे!"

ब्रह्मैक्यानुभव

आइसें शब्दजात माघौतैं फिरैं। तेथ संकल्पाचें आयुष्य पुरैं।
वाराहिं जेथ न शिरैं। विचाराचां।।६-३१९।।

"शब्दजात जेथून माघारी फिरते, संकल्पाचे आयुष्य जेथे पोहोचले की सरते, मन जेथे राहत नाही, विचाराचा वाराही ज्याठायी प्रवेशू शकत नाही, असे ते ***कैवल्य*** असते. उन्मनी स्थितीचे लावण्य जेथे वेड लावते, तुर्येचे तारुण्य जेथे मदोन्मत्त करते, असे ते ***अनादी अगम्य परमतत्त्वधाम*** आहे."

"विश्वाचा जे शेवट करते आणि मोक्षाशिवाय जेथे काहीही नाही, आदि, मध्य आणि अंत जेथे विरून जातात, जे विश्वाचे मूळ आहे, जे योगवृक्षाचे फळ आहे, आनंदाचाही आनंद असे जे चैतन्य आहे, पंचमहाभूतांचे जे बीज आहे, विश्वाची उत्पत्ति-स्थिती-लय ज्यात होतात, महातेजाचेही जे तेज आहे, किंबहुना हे पार्था! माझे निखळ निजरूपच जे आहे, भक्तवृंदांचा नास्तिकांनी केलेला छळ सहन न झाल्याने हे चतुर्भुजरूप माझ्याकडून धारण करवून जे मंडित झालेले आहे, ते अनिर्वाच्य असे हे महासुख आहे *(ओवी क्र.६-३२० ते ३२५)*."

"आम्ही जे हे योगसाधन सांगत आहोत, ते करून ते महासुख मिळवण्याचा जे निश्चय करतात, ते महापुरुष आमच्याप्रत येतात आणि नक्कीच त्या महासुखाची खाणच होऊन राहतात. योगसाधनाची मूर्तीच असे ते आपल्या देहाकृतीच्या मुशीत परब्रह्मरस ओतल्याप्रमाणे दिसू लागतात. हा ब्रह्मैक्यानुभव अंतरी प्रकटला की हे विश्वच मावळते *(ओवी क्र. ६-३२६ ते ३२८)*."

पुढील अनुसंधान

यावर अर्जुन म्हणू लागला की "देवा! तुम्ही म्हणता हे तर खरेच आहे. आपण सांगितलेला योग खरे तर ब्रह्मप्राप्ती करून देणारे स्थळच आहे. ज्यांनी हा योग दृढ अभ्यासला, ते निश्चयेकरून परब्रह्मत्व पावतात, हे तुम्ही सांगितलेले माझ्या अंतरंगात नीट ठसले! तरी हा योग कोणास साध्य होईल ते सांगावे *(ओवी क्र. ६-३२९ ते ३३३)*."

त्यावर श्रीकृष्णांनी दिलेले जे उत्तर ***"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:। न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।६-१६।।"; "युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।।६-१७।।"***, त्यावरील ज्ञानेशांचे प्रत्याहारविषयक मार्गदर्शन आपण पूर्वी लक्षात घेतलेलेच आहे.*(उन्मेष:६::श्रीगीता व पातञ्जलयोग,पृ.क्र.९८-१००)*.

या योगाभ्यासाचे फल व शांतिप्राप्ती इ.बद्दलचा उर्वरित गीतोक्त भाग आपण कालांतराने पाहणारच आहोत. परंतु या प्रसंगी कुंडलिन्युत्थापनादी योगक्रिया बव्हंशी निरूपण करून झालेल्या असल्याने त्यातील काही प्रमुख विषयाचा संकीर्णतया आढावा घेणे व जमेल तितके विश्लेषण करणे, तसेच तत्संबंधीच्या काही बाबींची माहिती करून घेण्याचा मानस आहे. त्यानंतर पुढील भागाकडे वळता येईल.

समारोप

योगसंबंधित हा एक अत्यंत महत्त्वाचा संकीर्ण भाग पाहण्यासाठी आपणास आता पुढील ***उन्मेष क्र.४५ - लययोग समालोचन*** पहावा लागेल, ज्यातून आपल्या मनातील कुंडलिनीलययोगविषयक अनेक प्रश्नांची उत्तरे मिळतील. तर वळू या तिकडे!

::उन्मेष ४५-१::
::लययोगसमालोचन::
::योगपथ::

कुंडलिनी शक्ती:उपोद्घात-७४४
कुंडलिनीयोग, पंथराज इ.चे एक समालोचन
कुंडलिनीविषयक वाङ्मय
सूक्ष्मदेह व चक्रे
नाडीविज्ञान-७४५
चिच्छक्तिविलास
जीव, शिव व शक्ती
लयप्रधान पंथराज-७४६
अव्यक्त ते व्यक्त प्रसवक्रम
लययोग:प्रतिप्रसवक्रम वा लय
लययोग
लययोग, पातञ्जलयोगसूत्रे व पिंडाची उभारणी-७४७
योगचक्रे(१) व भेदन:लययोग, कुंडलिनीचे ऊर्ध्वगमन व योगचक्रे-७४८
योगचक्रांचे विवरण
मूलाधारचक्र वा ब्रह्मचक्र
टीप -कंदस्थान-७४९
स्वाधिष्ठानचक्र
टीप -भेदनक्रम
मणिपूर चक्र वा नाभिचक्र
कुंडलिनीचे स्थान-७५०
गोरक्षमताचा कुंडलिनीयोगप्रक्रियेवर प्रकाश
टीप - चक्रभेदनाचा क्रम
मणिपूरचक्राची आणखी माहिती
कुंडलिनी उत्क्रमणक्रिया
चक्रभेदनक्रम-७५१
ज्ञानेश व आचार्य मत
अनाहतचक्र/हृदयाधारचक्र/हृत्चक्र व नाद
योगतारावलि व नादानुसंधान-७५२
लययोग व पंथराज:आचार्य शंकरांचा लययोग
टीप - अनाहतप्राकट्य व कुंडलिनीजागृति-७५३
ज्ञानेशांचा पंथराजप्रणीत लययोग:प्राथमिक विवेक-वैराग्याभ्यास
पंथराजप्रक्रिया
१) व २) स्थल व आसन -७५४
३) धारणा (६-१८६ ते १९१)
४) मुद्रा,
५) वज्रासन, व
६) मूळबंध (६-१९२ ते २०२)
७) आज्ञाचक्रावर अंतर्दृष्टी(६-२०२ ते २०६)
८) जालंधर व वोढियाणा बंध (६-२०७ ते २११)
९) अभ्यासाची एकाग्रता (६-२११ ते २१३)
१०) अपानाचे मुरडणे, व्याधींचा उद्भव व नाडिशुद्धी(६-२१४ ते २२०)
११) पृथ्वी व आपतत्त्वाची सरमिसळ (६-२२०)
१२) कुंडलिनी स्वरूपवर्णन
१३) आणि जागृती
१४) पवनाचा कुंडलिनीत सामावेश (६-२२९)
१५) शरीरस्थ सर्व गौण चक्रांचा वेध (६-२३० ते २३५)
१६) पृथ्वी व आपतत्त्वांचे कुंडलिनीत समावणे व सुषुम्नेत प्रवेशाची स्थिती (६-२३९ ते २४२ व २४०)
१७) चक्रांचा वेध व नाममात्र उरणे (६-२४३, २४४ व २३७)
१८) नासापुटातील इडा-पिंगलांची मिळवणी (६-२३६, २४५ व २३८)
१९) वायुतत्त्व आणि बुद्धितत्त्वाचे कुंडलिनीत समावणे (६-२४६)
२०) इडेच्या टोकावरील चंद्रामृताचे तळे कलंडणे व त्यातील अमृताचे कुंडलिनीने प्राशन करणे (६-२४७ व २४८)-७५५
२१) पिंडाचे रससिद्धदेहात परिवर्तन होणे (६-२४९ ते २६८)
२२) सिद्धींचा अभिभव (६-२६९,२७०)
२३) पवनाची मेळणी झाल्यावर कुंडलिनीचे मध्यमामार्गे हृदयात (आज्ञाचक्रावरील अवकाशात) - महदाकाशात उत्क्रमण व पश्यंति-विशुद्धिचक्रक्रमण
२४) अनाहतनादप्राकट्य (६-२७४)
२५) सहस्त्रदलकमलातील चैतन्याचा आविर्भाव (६-२८० व २७५)
२६) तेजस्तत्त्वाचा लय (६-२७५ व २८१)
२७) लयक्रम (६-२९९.२९८ व २७८)
२८) शक्तीचे पवनात संक्रमण आणि रूप मावळणे (६-२८३ ते २८८)
२९) मारुत अवस्था (६-३०१, ३०२)-७५६
३०) खेचर स्थिती (६-२९३ ते २९७) व
३१) अणिमादी सिद्धींची प्राप्ती (६-२९७, २९८)
३२) भ्रमरगुंफेत नादाचा आविर्भाव(६-३१३,३०४,२७९,२७७ व २२६)
३३) मरुल्लय (६-३००व ३१४)
३४) आकाशतत्त्वाचा लय (६-३१४)
३५) उन्मनीपलीकडील स्थिती (६-३०२ व २८८)
३६) अध:कुंडलिनी व ऊर्ध्व कुंडलिनीची मध्याशक्तीशी मिळणी (६-२३७) व मूर्ध्न्यस्थ सुषुम्नामुखाचा - ककारांताचा भेद - ब्रह्मरंध्री मिळणे (६-३०२, ३०४,३०५ व ३०६)
३७)"पदीं पद प्रवेशें" (६-२८२, ३१२, ३१५, ३०७ ते ३११, ३१६ व ३१७)
३८) अद्वैतस्थितीचे वर्णन (६-३१८ ते ३२७,२८९,२९० व ३२८) -७५७
३९) "नाथसंकेतिचां दंसु" (६-२९१ व २९२)
विवेक-वैराग्याभ्यास - पंथराजप्रक्रिया
स्थल व आसन
योगतारावलि व ज्ञानेश्वरी:योगचक्रे(२):
अनाहतचक्राची आणखी माहिती
टीप-अनाहत शब्दाचा अर्थ
विशुद्धिचक्र
आज्ञाचक्र वा भ्रूचक्र-७५८

टीप - दशमद्वार-७५९
ज्ञानेश्वरीतील चक्रे
नाथसंकेत
आज्ञाचक्राची आणखी काही चक्रवैशिष्ट्ये
आज्ञेच्या पुढील प्रांत -७६०
निरालंबपुरी
आकाशचक्र
इतर उल्लेख
पूर्वमार्ग:पू. विष्णुतीर्थांचा चक्रविचार
आज्ञाचक्रावरील प्रांत -७६१
सौंदर्यलहरीतील चक्रक्रम
पूर्वमार्गाचे समन्वयन
पूर्व व पश्चिम पथ
पश्चिमपथ:आज्ञाचक्रापुढील दोन मार्ग-७६२
पं. गोपीनाथ कविराज यांचे मत
बिंदू
अर्धेंदु व रोधिनी-७६३
नाद, शक्ति वा व्यापिका,
समना व उन्मना
सकल, निष्कल, परमानंद पराशिव
पं. गोपीनाथांच्या मताचे महत्त्व
चक्र व पद्म
नाद, बिंदु, कला व ज्योती
डॉ. के.रा.जोशी यांचे मत
बैन्दवादी स्थाने आणि गोल्हाटादींचा समन्वय
पश्चिम मार्गातील स्थानवैशिष्टये-७६४
बिंदु, नाद व कला
मात्रा व महाशून्य
प्रथम शून्य
बैन्दवप्रभाग - बिंदु, अर्धेंदु व निरोधिका –७६५
नादप्रभाग - नाद व नादांत
शक्तिप्रभाग - शक्ती ते समना-ऊर्ध्वकुंडलिनी
उन्मना व सतरावी कला
विष्णुतीर्थमत
समारोप
परिशिष्ट क्र.-१:पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील
क्रमवार ओव्या-७६६
परिशिष्ट क्र.-२:पंथराजाच्या
ज्ञानदेवीतील नवनिर्धारित क्रमानुसार
ओव्या-७७०

उन्मेष ४५-१:

ज्ञानेश्वरी:
६:५६,१५०-३२८
सि.सि.प.:
२:१-५,७-९
४:१८,२०,२५
पा.यो.सू.:
३:५५
४:१७,१८,२०,२५,३४
योगतारावलि:१-३,५,७,११-१४,२१,२२
सौंदर्यलहरी:८-१०
हठयोगप्रदीपिका:१००,१०४,१०९,११३,४-३-४,५,६,७

::उन्मेष ४५-१::
::लययोगसमालोचन::
::योगपथ::

कुंडलिनीशक्ती::::

उपोद्घात

मागील उन्मेषाच्या समारोपप्रसंगी सूचित केल्याप्रमाणे कुंडलिन्युत्थापनादी योगक्रियांसंबंधी काही प्रमुख विषयांचा संकीर्णतया आढावा घेणे व जमेल तितके विश्लेषण करणे हे या उन्मेषाच्या दोन्ही भागांचे प्रयोजन आहे. याबाबतची जमेल तितकी माहिती संकलित करणे व तिचा एकसंध विचार करणे आणि त्यासाठी कुंडलिनी व तिची उत्थापनप्रक्रियादी, योगचक्रे, लययोग, पंथराज यांचा अधिक अभ्यास करणे आणि आपल्या ज्ञानेश्वरीच्या अभ्यासास पुढील चालना देणे इ.बाबी *४५-१ व ४५-२* या दोन उन्मेषांत अंतर्भूत आहेत.

कुंडलिनीयोग, पंथराज इ.चे एक समालोचन

कुंडलिनी या विषयावर उपलब्ध असलेले ग्रंथादी विपुल आहेत. आजकाल तर पौर्वात्य व पाश्चिमात्य या दोघांनाही या विषयाचे फार आकर्षण आहे. इंग्रजी भाषेतील ***सर जॉन वुड्रॉफ (आर्थर ॲव्हलॉन)*** यांचा ***The Serpent Power*** हा विस्तृत प्रस्तावना असलेला, साधारणपणे सत्तर-ऐंशी वर्षांपूर्वी प्रसिद्ध झालेला या विषयास वाहिलेला ग्रंथ सुविख्यात आहे. एका पाश्चिमात्याने संस्कृतातील शास्त्र व वैज्ञानिक ग्रंथांचा प्रदीर्घकाल अभ्यास करून, पौर्वात्य शास्त्रे, तंत्रविज्ञान आणि पौर्वात्य व विशेषत: वैदिक तत्त्वज्ञान यांचा समन्वय करून हा बृहत ग्रंथ निर्मिला आहे, ही मोठी कौतुकास्पद बाब आहे. विशेष म्हणजे या ग्रंथाच्या आवृत्त्या अजूनही निघतात. जिज्ञासूंनी तर हा ग्रंथ मुळातूनच समग्र वाचून मनन करावा इतकी या ग्रंथाची थोरवी आहे. इतके प्रकट चिंतन आणि तेही ***कुंडलिनी*** या गुह्यतम विषयावर आपल्याकडे पूर्वी याप्रमाणे कोणीही केलेले सहसा दिसून आलेले नाही.

कुंडलिनीविषयक वाङ्मय

याव्यतिरिक्त ***कुंडलिनी आणि योग*** या विषयावर अलीकडे इतरही लिखाण उपलब्ध आहे. रामकृष्ण परमहंसांचे शिष्यगण आणि स्वामी विवेकानंदांचे लिखाण, स्वामी शिवानंदांचे ***कुंडलिनीयोग*** हे पुस्तक, बी.एस. गोयल यांचे *Third Eye and Kundalini*, स्वामी विष्णुतीर्थमहाराज यांचे ***देवात्मशक्ती***, बाबामहाराज आर्वीकर यांचे ***दिव्यामृतधारा***, सौ. कमल बापट यांचा ***सौंदर्यलहरीचा भावानुवाद***, श्री.श्री.म.वैद्य यांचे ***षट्चक्र सोऽहंदर्शन व भेदन***, स्वामी शिवोमतीर्थ यांचे ***कुंडलिनी सिद्धमहायोग***, सौ.दीपा कोडिकल यांचे ***Journey Within The Self***, स्वामी सत्यानंद सरस्वति यांचे ***Kundalini Tantra***, डॉ.बां. त्रिं. शाळिग्राम यांचे ***श्रीज्ञानेश्वरांचा पंथराज***, हरीष जोहरी यांचे ***Leela***, श्री.के.रा.जोशी यांची ***ज्ञानेश्वरी सिद्धयोगदर्शन*** आणि ***शक्तिपातयोगरहस्य***, इ.अनेक पुस्तकांचे संदर्भ याविषयी देता येतात.

याव्यतिरिक्त ***पंडित गोपीकृष्ण, स्वामी मुक्तानंद, गुरुदेव रानडे, गजाननमहाराज गुप्ते*** इ.चे आनुभविक लिखाण आणि इतरही अनेकांचे तंत्र आणि योगविषयक ग्रंथ,संतवाङ्मय आणि इतर विपुल साहित्य याबाबत उपलब्ध आहे. संदर्भ ग्रंथसूचीत यातील मला मिळालेल्या ग्रंथांचा अंतर्भाव केलेला आहे. ती जिज्ञासूंनी अधिक माहितीसाठी पाहावी, अशी विनंती. असो. आता कुंडलिनीयोगविषयक इतर बाबींकडे वळू या.

सूक्ष्म देह व चक्रे

सामान्यपणे ***कुंडलिनी*** ही संकल्पना ***षट्चक्रे*** वा त्याहून अधिक अशा नऊ वा इतर चक्रविषयक संकल्पनाधिष्ठित आहे. मनुष्य देहांतर्गत ***स्थूल पिंड, सूक्ष्म पिंड वा सूक्ष्म देह*** असे दोन विभाग साधारणतया कल्पले जातात. योगशास्त्रानुसार स्थूल देह व सूक्ष्म देह यांचा घनिष्ट संबंध असतो.

मनुष्याचे आचार-विचार, आहार, भय, निद्रा इ.सर्व प्रक्रिया या स्थूल-सूक्ष्म संघातानुसारी असतात. स्थूलदेहाचे आधुनिक वैद्यकशास्त्रानुसार हस्तपादादी बाह्य अवयव व हृदय, मेंदू, जठर इ.अंतर्गत अवयव असतात. त्यांना रक्तपुरवठा व प्राणवायू आणि अन्न पुरवणारी व्यवस्था देहात विद्यमान असते. देहाचे चलनवलन होण्यासाठी मज्जासंस्था आणि स्नायू पण असतात. ***"चक्षुर्वै सत्यम्"*** असा पुरावा या सर्वांसाठी आधुनिक वैद्यकशास्त्र देऊ शकते. हा सर्व पुरावा योगशास्त्रास अमान्य असण्याचे काहीच कारण नाही.

पण त्यापुढे जाऊन योगिजनांची अशी आनुभविक धारणा आहे की जीवास स्थूल देहाव्यतिरिक्त सूक्ष्म देहही असतो. हा सूक्ष्म देह मनुष्यास त्याचा गर्भसंभव होतांना मिळतो आणि मनुष्याच्या मृत्यूपरांत तो सूक्ष्म देह स्थूल देहास सोडून इतर लोकांत जातो. जन्म-पुनर्जन्म या चक्रनेमिक्रमास या सूक्ष्म देहाचा आधार दिला जातो. हा सूक्ष्म देह कधीच नष्ट होत नाही, हे त्याचे स्थूल देहासापेक्ष वैशिष्ट्य आहे.

केवळ यौगिक प्रक्रियांद्वारे समाधि व तदनंतरच्या उच्च अवस्थांमध्ये हा सूक्ष्म देह ***कारण- महाकारण*** इ.प्राकृतिक अवस्थांमध्ये किंवा ***कैवल्य-मुक्ती*** इ.अवस्थांमध्ये विलीन झाल्याशिवाय मनुष्यास जन्म-मृत्यू -जरा-व्याधि - पुनर्जन्म - दु:ख - भय -शोक इ.पासून मुक्ती मिळत नाही.

हा सूक्ष्म देह कसा असतो, याचे तेराव्या अध्यायाचा परामर्ष घेतांना आपण गीतेच्या माध्यमातून विवेचन केलेले पाहिले आहे. या देहात मनुष्याचा ***वासनाकोष*** संपुष्टात ठेवावा तसा ठेवलेला असतो व त्या वासनाकोषाचा नाश झाल्याशिवाय किंवा त्याचे उदात्तीकरण झाल्याशिवाय मनुष्य मुक्तीचा अधिकारी होऊ शकत नाही.

मनुष्याची कर्मे व त्यांचे संस्कार या वासनाकोषात साठवले जातात आणि पूर्वोक्त संस्कारांनुसार मनुष्य या जन्मी वर्तत असतो. या जन्माच्या वासना व कर्मसंस्कार घेऊन त्यांची जुन्या वासनाकोषात भर घालून मनुष्य मृत्यूप्रत जातो. उपभोगलेल्या वासनांपेक्षा उपभोग घ्यावयाच्या वासना खूप उरतात. त्यामुळे जन्मोजन्मी हा वासनाकोष क्षीण होण्याऐवजी फुगतच जातो, असे म्हटले तरी चालेल. म्हणून जन्म-मृत्यू-पुनर्जन्म हे चक्र लंघून जाणे दुरापास्त होते. यासाठीच गीता सांगते की मायेस लंघून जाणे अति दुष्कर आहे. असो.

नाडीविज्ञान

सूक्ष्म देहात ***इडा, पिंगला व सुषुम्ना*** या नावांनी ओळखल्या जाणाऱ्या तीन प्रमुख योगनाड्या आणि इतर उपनाड्या यांची मोठी नाडीसंस्था विद्यमान असते. या नाड्यांची ग्रंथिस्थाने असतात. तसेच या नाडीसंस्थेची नियामक अशी काही विशिष्ट केंद्रेही असतात. त्यातील अत्यंत महत्त्वाची अशी जी केंद्रे आहेत, त्यांना ***षट्चक्रे*** वा त्याहून अधिक अशा प्रत्येक योगप्राणालीविशिष्ट चक्रनामांनी ओळखले जाते.

षट्चक्रे ही सहा असतात, पण त्यांव्यतिरिक्त जी अनेकानेक केंद्रे, उपकेंद्रे वा उपचक्रे असतात, त्यांपैकी बहुतांशांचे सर्वसामान्य योगसाधकांस फारसे ज्ञान नसते. परंतु योगसिद्धांची जी जाणीव किंवा प्रज्ञा म्हणून विशेष संवेदना असते, तिला त्या सर्व नाडीसंस्थांचे व चक्रग्रंथींचे समग्र ज्ञान असते, असे योगमार्तंडांचे एक मत आहे. किंबहुना योगसाधकांस जेव्हा अशा योगसिद्धांकडून ही जाणीव प्रदान केली जाते, किंवा त्यांच्यातील सुप्तावस्थेत असलेली ही जाणीव जेव्हा जागृत होते, तेव्हा योगसाधनेसाठी आवश्यक असणारे नाड्यादिसंस्थेचे संपूर्ण ज्ञान त्यांना प्राप्त होते.

फरक असलाच तर एवढाच की बऱ्याच योगिजनांत हे ज्ञान अंतर्मनात वा जाणिवेत दडून राहते व म्हणून त्यांना ते व्यक्त करता येत नाही, तर काही भाग्यवंतांना हे ज्ञान अंतर्मनातून बाहेर अभिव्यक्त करण्याची शक्ती असते. अशा या काही अभिव्यक्तिपात्र योगिजनांनी दिलेल्या वा ग्रथित केलेल्या अनुभवसिद्ध माहितीवरूनच योगधारेचे एतद्विषयक साहित्य संपादित केले असल्याचे आपणास जाणवते.

पण त्यातूनही या सर्व माहितीविषयी पराकोटीची गुप्तता बाळगण्याचा योगविज्ञानाचा दंडक असल्याने व गौप्य फोडल्यास योगमार्गातील प्रगती स्तंभित होण्याचा आदेश असल्याने या संपूर्ण योगधारेची अधिकृत माहिती मिळणे दुष्करच आहे. गुरु-शिष्यसंबंधातच ही माहिती रहावी अशी योगधारेची योजना आहे. म्हणून सर्वसामान्य जिज्ञासूंना ही माहिती मिळणे अति कठीण आहे. तरीही काही विचक्षण योग्यांनी, कोणी का होईना, योगसाधकास या माहितीचा उपयोग व्हावा या उदात्त हेतूने ही गुप्ततेची अट फोडून त्यांना वाटली तेवढी माहिती प्रसिद्ध केली आहे आणि तीच आपल्यापर्यंत येनकेनप्रकारेण पोहोचली आहे, म्हणूनच तर या प्रस्तुत ग्रंथाचे प्रयोजन ! असो.

चिच्छक्तिविलास

चक्रादी नाडीसंस्था सूक्ष्मदेहात विद्यमान असते व तिच्या साहचर्याने स्थूल देहातील मज्जा-रक्त-स्नायू-अवयव, मेंदू इ.सर्व संस्था कार्यरत होतात. त्यांच्यात एक सुप्तसा बंध असतो. जोपावेतो हा बंध विद्यमान असतो, तोवर देह जिवित असतो. हा बंध तुटला की सूक्ष्मदेह विलग होतो व स्थूल देहाचा मृत्यू घडून येतो. हा बंध जो आहे, त्यास ***कुंडलिनी*** असे नामाभिधान आहे, असे एक मत आहे.

सूक्ष्म देहाची पंचमहाभूतांच्या तन्मात्रांनी निर्मिती करणारी जी चिच्छक्ती असते, तिचे कार्य सिद्ध झाले की त्या देहात ती अंशरूपाने राहते. **सुप्तावस्थेत राहणाऱ्या या चिच्छक्तीच्या अंशासच कुंडलिनी असे म्हणतात.** कर्मानुसारी उपभोग देणारा जो स्थूलदेह असतो, त्याची स्थूल महाभूतांच्या साहाय्याने उभारणी करण्यास प्रकृती आणि कुंडलिनी या चिदंशभूत शक्तींचे सहकार्य अभिप्रेत असते.

गर्भसंभवापासून तो थेट मृत्यूपर्यंत या दोन शक्ती मनुष्यदेह चालवतात, त्याकडून कर्मे करवून घेतात, त्यास उपभोग देतात, त्याच्या वासनाकोषात जन्मोजन्मी पडणाऱ्या भरीसह तो कोष एका देहाकडून दुसऱ्या नवीन देहाकडे संक्रमित करण्याचे कार्य पार पाडतात.

खरे तर सर्व जगाचे कार्य याच शक्ती संपन्न करतात. ***परा माया व अपरा माया*** यांची या दोन शक्ती रूपे होत. यांच्या सांघष्ट्याने जीव निर्मिला जातो. गीतोक्त पंचवीस वा ज्ञानेशोक्त छत्तीस तत्त्वांचा जो संघात देह या स्वरूपात दृग्गोचर होतो, तो याच शक्तींचा विलास होय. ***"परास्य शक्ति त्रिविधा च श्रुयते। इच्छा ज्ञान बलक्रिया च।।"***-अशी त्रिविध इच्छा, ज्ञान व क्रिया या शक्ती धारण करणारी परा माया वा अव्यक्त*(गीता श्लोक क्र.१३-५)* म्हणजेच ही कुंडलिनीशक्ती होय.

जीव, शिव व शक्ती

उपरोक्त तत्त्वांशिवाय अजूनही एक तत्त्व ***पुरुष*** म्हणून आहे. ते ***शिव*** म्हणून योगप्रणालीत ओळखले जाते. त्या शिवतत्त्वाची सहचरी म्हणून ***शक्ती वा कुंडलिनी*** समजली जाते. ***शिव व शक्ती*** ही जोडी ***पुरुष व प्रकृति*** या अनादिसिद्ध युगुलाची जीवभावाशी संलग्न अशी अभिव्यक्ती मानण्यास प्रत्यवाय नसावा. पुरुष व प्रकृति या युगुलाचा सविस्तर परिचय यापूर्वी तेराव्या अध्यायातील ***क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ*** संबंधाचे विवेचन करतांना आपण करून घेतलेलाच आहे.

योगधारेतील ***शिव व शक्ती*** यांचे स्वल्पसे रहस्य व परिचय आपण ***अमृतानुभव*** या ग्रंथातील ***शिव-शक्ती समावेशन*** या प्रकरणाचा प्रसंगोपात्त आधार घेतांना जिज्ञासूंना निवेदित केले आहेच

(उन्मेष:३६:शिवशक्तीचा चिद्विलास-पृ.क्र.५५९ ते ५६८). त्या वेळी या शिवशक्तीचे अनाद्यरूप ज्ञानेश कसे वाखाणतात, ते आपण अनुवादिले आहे. त्याच अनाद्य रूपाचा आविष्कार योगधारेशी कसा समन्वय साधतो, ते ***जीव-शिव-शक्ती*** या योगभूत त्रिकूटावर आधारित पंथराजाच्या कुंडलिनीसंबंधित योगप्रणालीचे अवलोकन करण्यासाठी आपण पाहत आहोत.

लयप्रधान पंथराज

पंथराज अवलोकिला असता हे स्पष्ट होते की तो ***लयप्रधान*** योग आहे. *कुंडलिनीची जागृती, तद्विषयक प्राणायाम व मूलबंध-ओढियाणा बंध - जालंधरबंध, कुंडलिनीची चक्रमार्गे ऊर्ध्वचालना, चक्रे व तत्संबंधित पंचमहाभूतांची आटणी वा लय, आज्ञाचक्रापुढील गोल्हाट - भ्रमरगुंफा इ.गुह्य चक्रस्थानातून कुंडलिनीचे प्राणासह उन्नयन, अनाहतनाद, इडा - पिंगला- सुषुम्नासंबंधित कुंडलिनीचा प्रवास, कुंडलिनीचे शक्तीरूपात संक्रमण आणि शक्ती व शिव यांचे मेलन वा मिलन* अशा काही ठळक पायऱ्या या मार्गावर असल्याचे ज्ञानेश्वरांच्या याविषयीच्या आतापावेतो केलेल्या दिग्दर्शनावरून सूचित होते. ***कुंडलिनी*** या संकल्पनेचा स्वल्प परिचय आपण आताच करून घेतला आहे. आता लयप्रधान योगाचे रहस्य थोडे आकळून घेऊ या.

अव्यक्त ते व्यक्त प्रसवक्रम

अव्यक्त दशेतून जीवाची व्यक्तात अभिव्यक्ती होत असता कुंडलिनी व प्रकृतिभूत पंचमहाभूते, अहंकार, मन, बुद्धी इ.तत्त्वांचा संघात स्थापन होतो. या संघातात - गीतोक्त क्षेत्रात -पंचमहाभूते, अहंकार, बुद्धी, अव्यक्त *(मूलप्रकृति -जीव)* आणि दशेंद्रिये, मन, दहा इंद्रियांचे दशविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, चेतना, धृती व या सर्वांचे सांघष्ट्य अशा छत्तीस तत्त्वांचा समावेश असतो. गीता या संघातास ***क्षेत्र*** असे नाव देते. हे क्षेत्र कुंडलिनीशक्तीच्या आधारे उभे राहते, एका देहाचा त्याग झाल्यावर हे सूक्ष्म क्षेत्र दुसरा देह त्याच शक्तीच्या आधारे संक्रमण करते. परकायाप्रवेशसुद्धा याच शक्तीच्या साहाय्याने सिद्ध होतो, इतके या शक्तीचे अनन्यसाधारण महत्त्व योगिजनांस विशद आहे.

देहनिर्मितेचे आपले कार्य संपन्न करून ती मूलशक्ती - चिदात्मिका शक्ती - कुंडलिनी मूलाधारी सुप्त वसते. ***मूलाधार*** हे एक सूक्ष्म देहस्थ बिंदुमात्र स्थान आहे. त्याठायी ज्यास ***कंद वा मूल*** असेही म्हणतात, तेथे ही कुंडलिनी स्थित असते. सुप्त असली तरी तिचा अंशमात्र चेतन असतो व त्यायोगे जीवाची या सृष्टीत कालक्रमणा, कर्मे उपभोग इ.व्यवहार संभवतो.

मूलस्थित सुप्त कुंडलिनीचे योगिजनांस अनुभूतिपूर्ण दर्शन घडते, ते ती जणू साडेतीन वेटोळी घालून मुख आतल्या बाजूस वळवून ***निदैलेली कुंकुमचर्चित सर्पिणी***च असावी तसे! योगी आपल्या अंतर्दृष्टीने तिचे जे असे रुप लक्षितो, न्याहाळतो आणि ध्यातो, त्याचे अत्यंत बहारीचे वर्णन सहाव्या अध्यायी ज्ञानेशांनी केलेले आहे. ***"नागाचें पिलें। कुंकुमैं नाहालें। ... तैसें सुबद्ध आटलीं। पुटीं होति दाटलीं।...।।६-२२१ ते २२३।।"*** या ओव्यातून केलेले त्याचे वर्णन आपण पूर्वीच पाहिले आहे. असो.

प्रतिप्रसव क्रम वा लय

अव्यक्त ते व्यक्त दशा हा कुंडलिनीचा प्रक्रम ***अधोगती वा अवरोह*** वा ***प्रसवक्रम*** म्हणून समजला जातो. ***(चैतन्य -➤ अव्यक्त-➤ व्यक्त)*** ही उत्तरोत्तर संसाराभिमुख अशी अभिव्यक्ती आहे. त्या उलट ***(व्यक्त-➤अव्यक्त -➤चैतन्य)*** ही चित्स्वरूपाकडे नेणारी मार्गक्रमणा आहे. यासाठी कुंडलिनीस ***ऊर्ध्वगती*** वा ***आरोहक्रम*** प्राप्त होणे आवश्यक असते. चैतन्याकडून चैतन्याकडे होणाऱ्या या पुनरागमनाचा स्थूल आलेख कुंडलिनीच्या माध्यमातून आपणास दिसतो तो असा: ***[(चैतन्य -➤ अव्यक्त -➤व्यक्त-➤कुंडलिनीचा अधोगतिप्रक्रम) -(हीच सुप्ता कुंडलिन्यवस्था होय.)-➤(कुंडलिनी जागृति -➤ व्यक्त -➤ अव्यक्त -➤ चैतन्य-➤ कुंडलिनीचे ऊर्ध्वक्रमण)].***

यातील ***(चैतन्य-➤ अव्यक्त-➤ व्यक्त)*** या प्रक्रमास ***प्रसवक्रम*** असे नांव आहे. कारण या मार्गे संसाराचा उदय होतो, जीव व्यक्तावस्थेत येतो, संसार - कर्म यांचे चक्र चालू होते. याउलट ***(व्यक्त -➤अव्यक्त -➤ चैतन्य)*** या क्रमास ***प्रतिप्रसव*** असे म्हणतात. यात संसाराचा लोप होणे, जीवाचे स्वरूप चैतन्यात परिणत होणे, संसारचक्राचा भंग होणे, नैष्कर्म्यावस्था प्राप्त होणे, या गोष्टींचा अंतर्भाव होतो. जीवसापेक्ष या सर्व क्रमांना कुंडलिनी शक्तीचा आधार असतो.

ज्याप्रमाणे चैतन्यापासून मायेच्या साहाय्याने विश्व आविर्भूत होते, त्याचप्रमाणे **कुंडलिनी शक्ती म्हणून ओळखल्या जाणाऱ्या मायेच्या या अंशाच्या साहाय्याने चिदांशात्मक जीव व्यक्त रूप धारण करतो.**

लययोग

संसाराच्या आवागमनचक्रापासून मुक्ती मिळवणे हे योगाचे मूळ उद्दिष्ट आहे. ***योगशास्त्रानुसार जोपावेतो प्रतिप्रसवक्रम साध्य होत नाही, तोपावेतो योग सिद्ध होत नाही.*** सृष्ट्युत्पत्तीच्या शास्त्रसंमत कल्पनेनुसार युगारंभी सृष्टी उत्पन्न होते व युगाअंती तिचा लय होतो. ***(व्यक्त-➤ अव्यक्त-➤ चैतन्य)*** असा हा प्रवास सर्वच जीवांना घडतो आणि प्रत्येक युगात जीवांचा हा प्रक्रम चालूच असतो.

परंतु ***(व्यक्त-➤ अव्यक्त-➤ चैतन्य)*** हा प्रक्रम घडण्यासाठी जीवास विशेष अवस्था प्राप्त करून घ्यावी लागते. ती योगाने प्राप्त होते. परंतु या प्रक्रमाचा व सृष्ट्युत्पत्ति- लयचक्राचा तसा काही संबंध नाही. ***(व्यक्त-➤चैतन्य)*** हा प्रक्रम साध्य करून घेणाऱ्या जीवांना सृष्ट्युत्पत्तिचक्रानुसार मार्गक्रमण करणे आवश्यक नसते. जन्म - पुनर्जन्म या साखळीतून ते कायमचे सुटतात. काही अनाकलनीय विधानानुसार त्यांनी जन्म घेतला, तर त्यास *अवतार* असे म्हणतात. अवतारी पुरुषांना प्रकृतिनियम बद्ध करत नाहीत.

प्रतिप्रसवक्रम साध्य झालेले पुरुष *जीवन्मुक्त* असतात. क्वचित योगभ्रष्टांचा प्रतिप्रसव क्रम पूर्णावस्थेत गेला नसल्यास ते पुन: देह धारण करून पुढील जन्मामध्ये तो क्रम पूर्णस्थितीला नेऊन मुक्त होतात. हे सर्व योगाच्या साहाय्याने होते.

असे असल्याने आणि **प्रतिप्रसव साध्य केल्याशिवाय मुक्ती मिळत नसल्याने, *प्रतिप्रसव -ज्यास लय असेही म्हणतात* - हा योगाचा अविभाज्य अवश्यंभावी भाग आहे.** या प्रतिप्रसव प्रक्रमाचा अंतर्भाव असल्यामुळे या योगास ***लययोग*** असेही म्हणतात. ***ज्ञानेशांच्या पंथराज साधनेत लययोगाचे प्राधान्य आहे,*** हे त्याबाबत सहाव्या अध्यायात केलेले वर्णन व वरील विवेचन यावरून स्पष्ट व्हावे.

लययोग, पातञ्जलसूत्रे व पिंडाची उभारणी

यापूर्वी एकदा ***पिंडाची उभारणी*** हा विषय हाताळतांना आपण मनाचे ज्ञानेशोक्त स्वरूप पाहिले *(उन्मेष:१९-१:क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार-१- पृ.क्र.२८५-२८७).* मन हे योगाचे एक अत्यंत महत्त्वाचे अंग आहे. म्हणून ***ब्रह्मांडवृक्ष*** संकल्पनेतील मनाचे स्थान व त्याची उत्पत्ती याचा प्रक्रम आपण जो पाहिला, तिकडे निर्देश करणे आवश्यक आहे. हा ***ब्रह्मांडवृक्ष*** दोन प्रकारे दर्शवता येतो *(उन्मेष:१९-१:क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार-१- पृ.क्र. २८२ व २८६).* **तक्ता क्र. (१) व (२)** यातून तो पुढे दर्शविला आहे.

तक्ता क्र.(१)
ब्रह्मांडाचा वंशवृक्ष

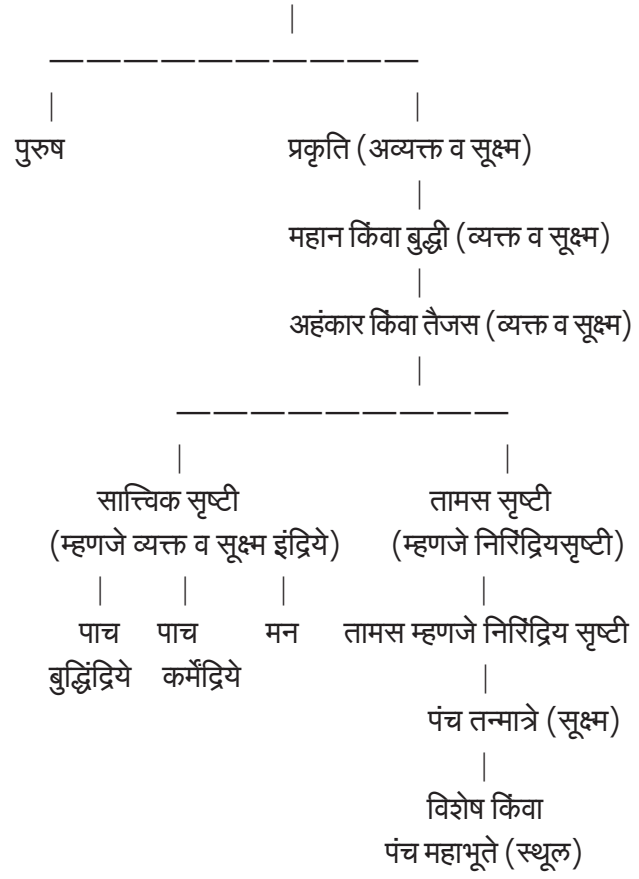

तक्ता क्र.(२)
मन व सुधारित ब्रह्मांडवृक्ष
ब्रह्मांडाचा वंशवृक्ष

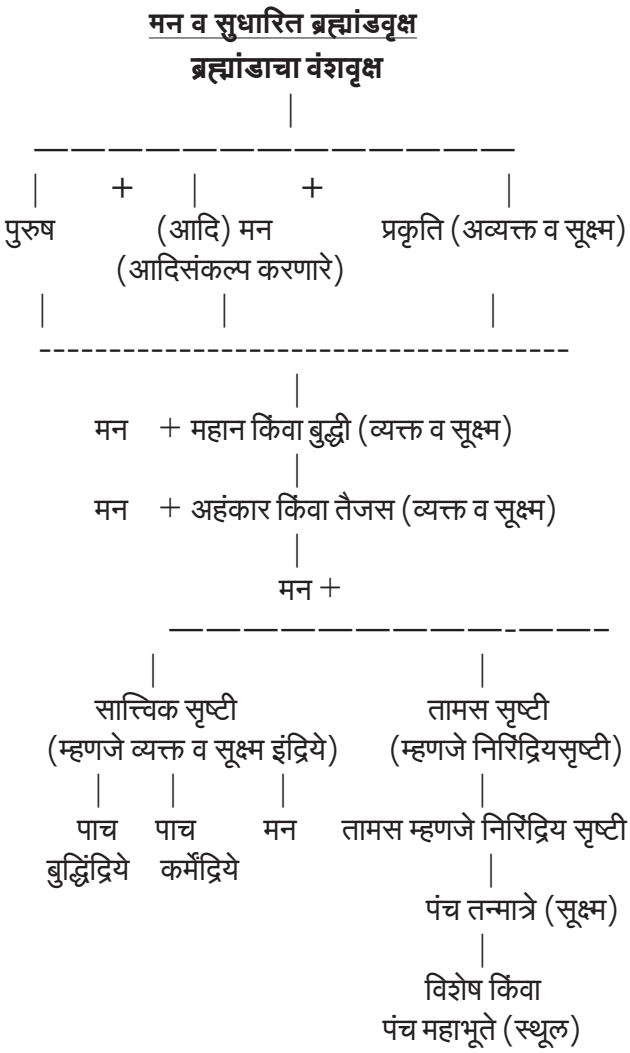

मन: लययोगात मनाचे स्थान अनन्यसाधारण आहे. **कल्पना निमून मनाचे *उन्मन* होऊन *मनाचा पट फाटणे* ही योगभूत प्रक्रिया आहे.** सृष्टी ब्रह्मांडापासून उत्क्रांत होत होत ***(पंचेंद्रिये*** + ***पंचमहाभूते*** + ***मन*** + ***अहंकार*** + ***बुद्धी)*** या स्वरूपाच्या संघातात प्रकट होते, असा हा ***प्रसवक्रम*** आहे. त्याविरुद्ध दिशेचा ***प्रतिप्रसव प्रक्रम म्हणजे लय.*** या लयक्रमात पंचेंद्रिये व पंचमहाभूते ही आपापल्या उपादान कारणात लय पावत अंती सर्वच आदितत्त्वात विलीन होतात. तसेच अहंकार, बुद्धी व मन यांचेही होते. ***"बुद्धीची पुलिका विरें"*** असे याबाबत ज्ञानेशांनी वर्णन केलेले आहे.

मीपणा अंत पावतो - अहंकार लय पावतो आणि हे सर्व सर्जणारी प्रकृति व पुरुषाचा आदिसंकल्प हेसुद्धा त्याच्यात लय झालेल्या उपरोक्त तत्त्वांसह पुरुषात विलीन होतात. शक्ती शिवास मिळते. ***"जंव न मिलें शिवि"*** तोपावेतो शक्तीचे शक्तीपण उरते. प्रकृतीचे प्रकृतित्व तोपावेतोच शिल्लक राहते.

पातञ्जलयोगसूत्रांप्रमाणे त्या अवस्थेत एक म्हणजे ***"सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।।३-५५।।विभूतिपाद।।पा.यो.सू.।।"*** असे चित्त पूर्ण शुद्ध व सत्त्वात परिणत होऊन त्या चित्ताचे व पुरुषाचे ***शुद्धिसाम्य*** होते व चित्ताच्याठायी कैवल्याची सिद्धी होते.

दुसरे होते ते म्हणजे ***"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।।४-३४।।कैवल्यपाद।।।।पा.यो.सू.।।"*** - पुरुषार्थशून्य झालेले गुण उपादानकारणात लीन होतात. हा प्रतिप्रसव साध्य झाला की ***कैवल्यावस्था*** प्राप्त होते. अथवा दुसऱ्या प्रकारे म्हणावयाचे तर ***चितिशक्ती*** वा ***चेतनपुरुष*** आपल्या नित्यसिद्ध स्वरूपात प्रतिष्ठित झाल्याने अंतिम अशी ***कैवल्यस्थिती*** प्राप्त होते. ***पातञ्जलयोगसुद्धा अशा प्रकारे लयाशी साधर्म्य ठेवणारा आहे.***

योगचक्रे (१) व चक्रभेदन::::

लययोग, कुंडलिनीचे ऊर्ध्वगमन व योगचक्रे

ज्ञानेशांनी त्या अंतिम लयावस्थेचे वर्णन करतांना अनादी अगण्य परमतत्त्वात असा लय होतो, असे सूचित केले आहे. विश्वाचे मूळ आणि आनंदाचेच केवळ असे जे चैतन्य असते, त्यात योगवृक्षाच्या फलस्वरूप असा हा अंतिम लय होतो.

"महाभूतांचे बीज, महातेजाचेही तेज" अशा भगवत्स्वरूपात हा अंतिम लय होतो आणि ***"सुखाचेही सुख"*** ते योगिपुरुष होऊन राहतात. परब्रह्माचा रस त्यांच्या देहाकृतीत भरून ओसंडतो आणि त्या अंतिम योगप्रतीतीमुळे ***"विश्वचि हें आघवें झांकें"*** असा त्यांच्यासाठी ब्रह्मांडाचासुद्धा ***प्रतिप्रसवात्मक अंतिम लय*** साध्य होतो, असे सहाव्या अध्यायी या लयावस्थेचे वर्णन ज्ञानेशांनी केले आहे, ते आपण पूर्वीच पाहिले आहे. असो.

आता पंथराज - ***कुंडलिनीची उत्थापन-मार्गक्रमणादी क्रिया - पंचभूते व दशेंद्रिये यांचा मन-बुद्धी- अहंकारासह लय - प्रकृतिपुरुष मेळवणी*** - असा जो भाग ज्ञानेशांनी यापूर्वी वर्णन केला आहे, त्याचे थोडे विस्तारपूर्वक अवलोकन करू या:

त्यासाठी कुंडलिनी ऊर्ध्वगमन करत असता कोणकोणत्या प्रमुख चक्रांशी तिचा संबंध येतो, त्या चक्रांची योगशास्त्रानुसार थोडी माहिती असणे आवश्यक आहे. ती करून घेऊ या. यापूर्वी याविषयीचा थोडा भाग *सहाव्या* अध्यायातील योगारंभीच्या आसनविषयक चर्चा करतांना आपण श्रीगोरक्षनाथांच्या ***सिद्धसिद्धांतपद्धति*** या ग्रंथाधारे पाहिला होता *(उन्मेष:८::पंथराज-पृ.क्र.१२५ ते१२७ व १३९).* योगसाधकांस मूलभूत असे जे *सोळा आधार, नऊ चक्रे, तीन लक्ष्ये व पंचव्योम* त्यांनी सांगितले आहेत, त्यांची नाथसांप्रदायिक धारणा माहीत करून घेणेही आवश्यक ठरते.

परंतु या ठिकाणी जिज्ञासूंनी लक्षात घ्यावे की ही जी चक्रे इ. आहेत, त्यांची विशिष्ट योगपंथांत थोडीफार भिन्नभिन्न नावे प्रचलित आहेत. तसेच कुंडलिनीच्या प्रवासाची दिशासुद्धा ***पूर्वमार्ग व पश्चिममार्ग*** अशी भिन्नभिन्न असल्याची विविध पंथानुसारी विविध मते आहेत, परंतु पंथभेदांनुसार योगमार्ग वस्तुत: बदलत नाही. म्हणून या सर्व बाबींचा आपणास जमेल तसा समन्वय करत हा विषय समजून घेणे आपणास क्रमप्राप्त आहे. असो.

योगचक्रांचे विवरण

प्रथमत: नाथप्रणालीतील नऊ चक्रांची किमान माहिती ***सिद्धसिद्धांतपद्धति व सिद्धसिद्धांतसंग्रह*** या श्रीगोरक्षनाथांच्या ग्रंथाधारे घेऊ या. ही माहिती ज्ञानेश्वरीत नाही.

१)मूलाधारचक्र वा ब्रह्मचक्र

"पिंडेनवचक्राणि।। आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्द: तत्र शक्तिं पानाकारां ध्यायेत तत्रैव कामरूपं पीठं सर्वकामप्रदं भवति।।२।।१।।सि.सि.प.।।" - शरीररूपी पिंडात नऊ चक्रे असतात. मूलाधारात ***मूलाधारचक्र*** अथवा ***ब्रह्मचक्र*** या नावाचे चक्र असते. ते तीन वेढ्यांचे असते. त्याचा आकार योनिसदृश त्रिकोणासम असतो. **त्याच्या देठात *मूल वा कंद वा मूलकंद* या नावाचे नाड्यांचे आद्यस्थान व मूळ वा ग्रंथी असते.या स्थानी अग्निकांतितुल्य व अग्नीच्या आकाराची अशी कुंडलिनी शक्ती असते.** (**टीप**:चक्र हे फूल आहे, असे समजल्यास त्याचा देठ म्हणजे मध्यस्थ बिंदु अथवा चक्रमूल समजावा.)

"विद्युल्लतेचि विडी। वह्निज्वालांचिं घडि। पंधरेयाचिं चोखडिं। घोंटिव जैसिं।।६-२२२।।" असे या शक्तीच्या स्वरूपाचे वर्णन ज्ञानेशांनी केले आहे. मूर्तिमंत विजेची वाटोळी कडी असावी किंवा प्रत्यक्ष अग्निज्वालेची दैदिप्यमान घडी दिसावी अथवा चोख सोन्याचे चकचकणारे पिवळेधम्मक वळे असावे, तसे तिचे रूप योग्यांच्या अंतर्दृष्टीस दिसते असे जे ज्ञानेश म्हणतात, ते नाथपंथाध्वर्यु श्रीगोरक्षमताशी इतके मिळतेजुळते आहे.

अशा त्या कुंडलिनी शक्तीचे ध्यान करावे असे ***अंतर्लक्ष्य*** गोरक्षनाथांच्या या श्लोकात निर्देशिले आहे. पतञ्जलींच्या देश व ध्येय्यवस्तुविषयक धारणा-संयमादींचे येथे स्मरण होते. अशा प्रकारची चक्रवर्णने एक तर देशाची व्याप्ती व वर्णन करतात आणि त्यात ध्येय्य वस्तू कोणती त्याचाही निर्देश देतात. **मूलाधारचक्र हा देश आणि तेथे कुंडलिनीचे ध्यान करावे असे सांगून गोरक्षनाथांनी पातञ्जलयोगसूत्रांस पूरक भूमिका बजावलेली आहे.** *मूलाधारचक्र हा धारणा देश व कुंडलिनी ही ध्येय्य वस्तू तर समाधि कोणत्या वस्तूवर अभिप्रेत आहे असा प्रश्न येथे उद्भवतो.* **समाधिफल म्हणून *कुंडलिनीजागृती* अपेक्षित आहे,** हेही आपल्या ध्यानात यावे! असो.

या मूलाधारचक्रात ***कामरूप*** म्हणून ओळखले जाणारे पीठ आहे. ***हे शक्तिपीठ म्हणजे शक्तीचे निजस्थान आहे.*** योग्याने हे चक्र सिद्ध केले की शक्ती जागृत होऊन या चक्राचा वेध करते व त्याचे फल सर्व कामनांची सिद्धी होणे असे आहे.

मूलाधारचक्राची अजूनही इतर काही वैशिष्ट्यै आहेत. ते लिंग वा गुह्यस्थानात जी चार बोटे लांबीची शिवण म्हणजे कातडीचा जोड असतो, त्याच्या मागच्या बाजूस असते. अपान वायूचे ते स्थान आहे. ***गुप्ता, प्रासका,कराळा व विक्राळा*** अशा चार तांत्रिक शक्तिदेवतांचे ते पीठ आहे. हे चक्र साध्य झाले की जो आनंद प्राप्त होतो, त्याची ***परमानंद, सहजानंद, वीरानंद व योगानंद*** अशी चार स्वरूपे आहेत. या चक्राची देवता गजानन आहे. वर्ण आरक्त आहे. हे चक्र वेधले की ***सलोकता मुक्ती*** मिळते, असेही एक मत आहे. रजोगुण येथे प्रबळ असतो. या चक्राचा वेध केला की *पृथ्वीतत्त्व* जिंकले जाते. मंत्रयोगाशी संबंधित ***वं, षं, सं व शं*** हे वर्ण वा मातृका या चक्राची साधना सफल करतात. ***लं*** हे या चक्राच्या मंत्रयोगसाधनेशी संबंधित ***मूलबीज*** आहे. ***ब्रह्मा व डाकिनी*** या मंत्रसंबंधित देवता या चक्रात विद्यमान असतात. या चक्रात ***स्वयंभू लिंग*** असते. अर्थात या स्थानी जे चैतन्य आहे, त्याचे हे मंत्रयोगोक्त स्वरूप आहे.

या चक्रात ***मूल नाडिग्रंथी*** असते. तेथून ***इडा, पिंगला व सुषुम्ना*** या प्रमुख तीन नाड्या उगम पावतात. इडेस ***चंद्र*** व पिंगलेस ***सूर्यनाडी*** अशीही नावे आहेत. सुषुम्ना नाडी त्रिगुणमयी म्हणून ओळखली जाते. ***या सर्व नाड्या या स्थानापासून निघून मेरुदंडातून जात जात शेवटी आज्ञाचक्रात पुन: मिळतात.*** सुषुम्ना नाडीचे ब्रह्मद्वाराकडील म्हणजे मूलाधाराच्या बाजूचे मुख कुंडलिनी शक्तीने बंद झालेले असते. जागृत झालेली कुंडलिनी जेव्हा कंदावर उभी राहते, तेव्हा ती या मुखाद्वारे सुषुम्नेत प्रवेश करते आणि त्यानंतर योगाच्या महत्त्वाच्या क्रिया घडू लागतात.

(**टीप**: <u>**कंदस्थान**</u>: कुंडलिनी शक्तीचे मूलस्थान कोणते असा एक प्रश्न सहसा योगसाधक विचारतात. याला कारण असे की काहींचे म्हणणे ते स्थान म्हणजे मूलाधार आहे, तर इतरांच्या मते ती मणिपूरचक्रात राहते. तर अजूनही काही तिचे स्थान ***कंद*** हे आहे असे मत नोंदवतात.

ज्ञानेश्वरीत कंदाचा उल्लेख ***"कंदावरि शक्ति उठिली दिसैं।।६-२२७।।"*** असा कुंडलिनीजागृतीच्या संदर्भात केलेला आहे. पण याचाही अर्थ काही ज्ञानेश्वरींच्या प्रतीत ***"आपल्या नाभिस्थानरूपी कंदावर"*** **तर इतरांनी** ***"नाभिस्थानाखालील कंदावर", "नाभीवर", "नाभिवरील कंदावर", "स्वाधिष्ठानचक्रावर***(कुंटेप्रत)" इ.प्रकारे केलेला आहे.

आपण आताच पाहात आहोत त्या गोरक्षांच्या ***सिद्धसिद्धांतपद्धति (२-१)*** या श्लोकात मात्र ***"... आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्द: तत्र शक्तिं ....."*** असे मूलकंदाचे वर्णन केले आहे. त्यानुसार ***मूल वा कंद वा मूलकंदाचे स्थान मूलाधारचक्राच्या देठात असते व तेच नाड्यांचे आद्यस्थान व मूळ वा ग्रंथी आहे.*** कुंडलिनी शक्तीच्या त्रिधा स्थिती ***अध:- मध्य - ऊर्ध्व शक्त्यावस्था*** यांचाही एक वेगळाच विचार या ग्रंथात आहे. तो आपण नंतर पाहणार आहोत.

श्रीगुरु गोरक्षनाथांच्या या प्रमाणित विधानावरून आपणास इतरांच्या अननुभवी मतांचा त्याग करून ***मूलाधाराचे केंद्र हे कंदाचे स्थान*** म्हणून मान्य करण्यास प्रत्यवाय नसावा. कुंडलिनी सुप्तावस्थेत मूलाधारी राहते, असे तर सर्वांचेच म्हणणे आहे. अनेक योग्यांची पण तशी स्वानुभविक साक्ष आहे. असो.)

२)स्वाधिष्ठान चक्र

"द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत तत्रैवोड्यानपीठं जगदाकर्षणं भवति।।२-२।।सि.सि.प.।।" - एखाद्या वेलीवर फुले लटकावीत तशी ही चक्रे इडा-पिंगला-सुषुम्ना या नाड्यांची एकमेकात जी गुंफण होऊन तिपेडी वेणीसारखी रचना झालेली दिसते, तिच्यावर लटकलेली दिसतात. मूलाधारचक्र पहिले, तर दुसरे चक्र ***स्वाधिष्ठान*** म्हणून ओळखले जाते. ते सहा पाकळ्यांच्या कमळाच्या आकाराचे आहे. तेथे पश्चिमाभिमुख म्हणजे पाठीकडील बाजूस गुंजांच्या रंगाचे लिंग आहे. त्याचे ध्यान करावे. येथे ***ओडियाणपीठ*** असून या चक्राच्या साधनेमुळे जगदाकर्षणाची सिद्धी प्राप्त होते.

हे चक्र लिंगमूळाच्या स्थानी असते. तेथे ***अपान वायू*** असतो. ***अव्यंगता, शारदा, वाणी, अमृता, पूर्णा व रोहिणी*** अशा सहा मंत्रशास्त्रोक्त शक्तींचे हे पीठ आहे. या चक्राचा कुंडलिनीने वेध केला की जो आनंद प्राप्त होतो त्याची ***प्रशस्त, कुरंग, गर्वगत, अवज्ञ, अविश्वास व मूर्च्छित*** अशी रूपे आहेत.

या चक्राची देवता ***ब्रह्मा*** आहे. वर्ण पीत आहे. हे चक्र भेदले की ***सलोकता मुक्ती*** प्राप्त होते, असे एक मत आहे. मूलाधाराप्रमाणेच याही चक्रात **रजोगुण**ाचे अधिष्ठान असते व याचे तत्त्व ***पृथ्वी***च आहे. तंत्रशास्त्रानुसार हे सहा पाकळ्यांचे समजतात. यांची मंत्रशास्त्रोक्त बीजे ***लं, रं, यं, बं, भं व मं*** अशी असून ***वं*** हे याचे मूलबीज आहे. तंत्रशास्त्राप्रमाणे हे ***जल वा आप***तत्त्वाचे असून त्याची देवता वरुण आहे. ***गरुडारूढ विष्णु व राकिणी शक्ती*** अशा तंत्रोक्त देवता तेथे वसतात.

(**टीप:भेदनक्रम -** सर्वसाधारणपणे चक्रक्रम जरी मूलाधार ते स्वाधिष्ठान असा असला तरीही त्यांचा भेदनक्रम वेगवेगळा असू शकतो. ***सौंदर्यलहरी*** या आदिशंकराचार्यांच्या प्रकरणग्रंथाचे जेव्हा आपण परीक्षण करू, तेव्हा याविषयी अधिक विचार होईल.)

३) मणिपूरचक्र अथवा नाभिचक्र

"तृतीयं नाभिचक्रं पन्नावर्तं सर्पवत्कुंडलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनीं शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्या शक्ति: सर्वसिद्धिदा भवति।।२-३।।सि.सि.प.।।" - तिसरे चक्र हे ***नाभिचक्र*** वा ***मणिपूर*** या नावाने विख्यात आहे. हे चक्र पाच आवर्तांचे असते. ते सर्पकुंडलाकार असते. ***तेथे बालसूर्याप्रमाणे रक्तवर्ण दिसणाऱ्या कुंडलिनी शक्तीचे वास्तव्य असते.*** ज्ञानेशांनीसुद्धा

रक्तवर्ण दिसणाऱ्या कुंडलिनीचे वर्णन ***"नागाचे पिलें। कुंकुमैं नाहालें।।६-२२२।।"*** असे सहाव्या अध्यायात केल्याचे आपणास विदित आहे. या कुंडलिनीच्या स्वरूपास श्रीगोरक्षनाथ सर्वसिद्धिप्रदायक अशी ***मध्याशक्ती*** म्हणून गौरवितात.

कुंडलिनीचे स्थान

सिद्धसिद्धांतपद्धतिच्या या दोन श्लोकांमुळे असा प्रश्न येथे उद्भवतो की एकदा कुंडलिनी मूलाधारस्थित असल्याचे सांगून पुन: ती नाभिचक्रातही असल्याचे कसे म्हणता येते! याविषयी थोडा खुलासा आवश्यक ठरतो. श्रीगोरक्षनाथ कुंडलिनीचे ***परा व अपरा, सूक्ष्मा व कुंडलिनी , तसेच प्रबुद्ध व अप्रबुद्ध*** असे भेद करतात. त्याचप्रमाणे पिंडस्थ कुंडलिनीचेही ***अध:शक्ती, मध्याशक्ती व ऊर्ध्वशक्ती*** असेही भेद ते करतात. ***कुल म्हणजे पराशक्ती. अकुल म्हणजे शिव वा चैतन्य.***

शिवशक्ती तसे अभिन्न असतात. पण विश्वाच्या संबंधात शक्तीचे हे ***परा (जीवात्मिका) व अपरा (अष्टधा)*** असे गीता *श्लोक क्र. ७-४ व ५* मध्ये वर्णन केल्याप्रमाणे भेद संभवतात. आता पिंडस्थ पराशक्तीसुद्धा ***स्थूला व सूक्ष्मा*** या दोन रूपात प्रकटते. ***स्थूला***शक्तीचे अस्तित्व सर्वांना जाणवते. पण ***सूक्ष्मा***शक्तीचे अस्तित्व फक्त योग्यांनाच माहीत असते. या **सूक्ष्माशक्तीचे पण *कुंडलिनी* हे सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप आहे व परमात्मयोग साध्य होतो, तो या कुंडलिनीच्या जागृतीनेच!**

जेव्हा ही **कुंडलिनी** सुप्त असते, तेव्हा ती ***अप्रबुद्ध*** म्हणून ओळखली जाते. तीच जागृत झाली की तिला ***प्रबुद्ध*** असे म्हणतात. **ही शक्ती *सुप्त* असते, तेव्हा मूलाधारात राहत असली, तरी नऊ चक्रातही तिचे स्वरूप त्रिविध शक्तिरूपाने विद्यमान असते.** परंतु जोपावेतो शक्तिजागृती होत नाही तोपावतो इतर चक्रस्थित कुंडलिनीशक्तींचा आध्यात्मिक दृष्ट्या उपयोग होत नाही. त्या सुप्तच राहतात.

गोरक्षनाथांनी याविषयी स्पष्टीकरण केले आहे. ***"एकैव सा मध्योर्ध्वध: प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभिधीयते।।४-१७।। सि.सि.प.।।"*** - **अध:शक्ती, मध्यशक्ती व ऊर्ध्वशक्ती अशा त्रिविध प्रकारांची शक्ती भिन्न नसून एकच आहे.**

गोरक्षमताचा कुंडलिनीयोग प्रक्रियेवर प्रकाश

त्या तिन्ही शक्तींचे स्वरूप विशद करतांना ते म्हणतात: ***"बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाध:शक्तिरुच्यते। अतएव ये योगिन: तस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात् सिद्धं स्यात्।। ...।।४-१८।।"*** - बाह्येंद्रियांचे व्यापार व नाना प्रकारच्या चिंता धारण करणाऱ्या मूलाधारस्थित सुप्त शक्तीला ***अध:शक्ती*** असे म्हणतात. संसारातून विराम पावण्यासाठी ***मूलबंध*** लावून योगी या अध:शक्तीचे आकुंचन करत असतात. त्यायोगे ती जागृत होऊन ऊर्ध्वगमनशील होते.

ऊर्ध्वगमनाच्या मार्गात ***मध्याशक्ती*** तिला मिळते. त्या शक्तीबद्दल श्रीगोरक्ष म्हणतात: ***"तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथा भ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्ये स्वस्वरूपतया सर्वदा धारयितुं समर्था या सा मध्याशक्ति: कुण्डलिनी गीयते।।४-२०।।"*** -ही मध्याशक्ती चञ्चल जीवांना वृथा भ्रमण करण्यापासून वाचवणारा निजप्रकाश प्रदान करून स्वस्वरूप दाखविते.

असे कार्य करण्यास व योग्यांना परमपद प्राप्त करून देण्यास ***ऊर्ध्वाशक्ती*** साहाय्यकारी होते. ***"सर्वेषां तत्त्वानामुपरि वर्तमानत्वान्निर्नाम परमं पदमेव ऊर्ध्वं प्रसिद्धं तस्या: स्वसंवेदननानासाक्षात्कारं–सूचनशीला या ऊर्ध्वशक्तिरभिधीयते। तस्या निपातनमिति स्वस्वरूपाद्विधाभासनिरास: किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति।।४-२५।।सि.सि.प.।।"*** - सर्व तत्त्वांहून श्रेष्ठ असलेले ***निर्नाम*** (**अनाम**) ***परमपद ऊर्ध्व*** म्हणून ओळखले जाते. **स्वसंवेदनापूर्वक नाना आकाराने साक्षात्कार प्रकट करण्याचा त्याचा जो स्वभाव आहे, त्यास *ऊर्ध्वशक्ती* असे म्हणतात.** शिवाची ***निजाशक्ती*** ती हीच आणि ***स्वसंवेद्या*** म्हणजे हीच ***ऊर्ध्वाशक्ती*** होय.

तिचा निपात झाला की जीवशिव द्विधा स्वरूपाचे नसून केवल अखंड एकरसात्मक आहेत, अशी अनुभूती प्राप्त होते. असो. ज्ञानेशही सहाव्या अध्यायात ***पंथराज*** निर्देशित करत असतांना कुंडलिनीशक्तीची ही स्वरूपे वा स्थित्यंतरे थोड्या वेगळ्या प्रकारे प्रकट करतात. ते कसे ते आपण नंतर पाहूच. पण सध्या चक्रवर्णनानिमित्त कुंडलिनीविषयक एवढी माहिती पुरे आहे.

(**टीप:चक्रभेदनाचा क्रम** - ज्ञानेश्वरांनी कुंडलिनीशक्तीचे स्वरूप दर्शन कसे केले आहे, ते सहाव्या अध्यायातील ओव्यांतून पाहा: ***"नागाचें पिलें। कुंकुमैं नाहालें। वलण घेऊनि आलें। सेजैं जैसें।।२२२।। विद्युल्लतेचिं विडी। वह्निज्वालांचि घडी। पन्हरेयाचिं चोखडीं। घोटीव जैसिं।।२२४।।"*** आणि ती जागृत होतांना तिचे रूप कसे दिसते ते पाहा: ***"जैसें नक्षत्र उलंडलैं। कां सूर्याचें आसन मोडलैं। तेजाचें बीज विरूढलैं। अंकुरैसिं।।२२६।।"*** हे सर्व कुंडलिनीचे रूपवर्णन श्रीगोरक्षनाथांनी मणिपूरचक्रातील ***मध्या***कुंडलिनीच्या स्वरूपाचे जसे ***"बालार्ककोटिसदृश:"*** म्हणजे सूर्याप्रमाणे रक्तवर्ण दिसणारी असे केले आहे तसेच कसे आहे ते पाहा. यावरून अजूनही एका गोष्टीचा विचार केला पाहिजे. तो म्हणजे ***ज्ञानेशांचा चक्रभेदनक्रम मणिपूरातील कुंडलिनीपासून सुरू होतो का.*** याचा अधिक विचार नंतर करू.)

मणिपूरचक्राची आणखी माहिती

आता मणिपूरचक्राची आणखी काही वैशिष्ट्ये पाहू या. हे चक्र ***नाभिस्थानी*** असून तेथे ***समान*** वायूचे मूलकेंद्र आहे. तेथे ***सर्वगा, सोमा, या, भद्रा, तक्षिणी, सौंदर्या, शांतमुद्रा, विशाखा, दंशिनी आणि रुचिरा*** या शक्ती वास करत असतात. या चक्राचा जय केला असता ***सुषुप्त, वृष्ण, इच्छा, पिशुण, सल्लस, मोद, भय, कशाय व विशद*** या प्रकारांचा आनंद प्राप्त होतो. या चक्राची देवता विष्णु असून वर्ण ***नील*** आहे. या चक्राचा कुंडलिनीने भेद केला असता ***समीपता*** ही मुक्ती मिळते, असे एक मत आहे. हे चक्र *दहा पाकळ्यांचे* आहे.

सत्त्वगुणाचे हे केंद्र आहे. येथे ***आप*** हे तत्त्व विद्यमान आहे. याचे मंत्रबीज **रं** हे आहे व अन्य बीजाक्षरे ***डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं व फं*** ही होत. तंत्रशास्त्रानुसार ***तेज***तत्त्वाचे हे चक्र नियामक आहे. ***रुद्र व लाकिनी शक्ती*** अशा तेथील तंत्रोक्त देवता आहेत.

कुंडलिनी उत्क्रमण क्रिया

याव्यतिरिक्त योगजिज्ञासूंसाठी महत्त्वाची माहिती अशी की जेव्हा ***मध्या कुंडलिनीचे उत्थापन होते, तेव्हा मणिपूर चक्रास जोरदार झटके बसतात व ती क्रिया नाभिप्रदेशाचे तीव्र स्पंदन होऊन साधकास जाणवते.*** या वेळी अर्थातच अध:कुंडलिनी उत्थापित होऊन कंदापासून निघून मूलाधार-स्वाधिष्ठान मार्गे मणिपूरात पोहोचलेली असते, असे मत आहे.

येथे असाही प्रश्न उद्भवतो की प्रथम अध:कुंडलिनीचेच उत्थापन होते की मध्या कुंडलिनीच मणिपूरचक्रात उत्थापित होते. ***"नागाचे पिलैं१ । कुंकुमें नाहालैं२ ।।६-२२२।।"*** हे ज्ञानेशकृत वर्णन ***मध्या*** कुंडलिनीस लागू पडते. ती बालार्ककोटिसदृश:१ व सर्पवलयांकित१ असल्याचे गोरक्ष सांगतात. ज्ञानदेवांनी या दोन्ही चिह्नांप्रमाणेच (१ व २) ***"विद्युल्लतेचि विडि, वह्निज्वालांचि घडि,पन्हरेयां चोखडिं, नक्षत्र जैसें उलंडलैं, कां सूर्याचें आसन मोडलैं, तेजाचें बीज३(६-२२४,२२६)"***, याही शब्दात कुंडलिनीचे जे दीप्तिमान तेजस्वी स्वरूप सांगितले आहे, ते श्रीगोरक्षमते जे **अध:कुंडलिनीचे अग्न्याकार स्वरूप३ आहे, तत्समान आहे.** जागृत कुंडलिनी अशी १, २व ३ प्रमाणे दिसते, असे ज्ञानराज म्हणतात. या विधानांवरून श्रीगोरक्षविरचित अध: व मध्या कुंडलिनी या दोन्हींचे एकसमयावच्छेदेकरून होणारे उत्थापन ज्ञानदेवांना अभिप्रेत असावे असे दिसते. तसेच ***"अध: वर आंकुंचैं। ऊर्ध्व तलौतैं खांचें।।६-२३७।।"*** असे म्हणून ज्ञानेशांनी ***अध: व ऊर्ध्व कुंडलिनींचे मध्या कुंडलिनीत त्यावेळी मिळणे*** **सूचित केले आहे**, असे पण म्हणता येते.

कुंडलिनीच्या उत्क्रमणाबद्दलही आनुभविक योग्यांत मतभिन्नता आहे. काहींच्या मते कुंडलिनीचा सर्व शक्तिसमुच्चय एका चक्राकडून दुसऱ्या चक्राकडे सुषुम्नामार्गे प्रक्रमित होतो. परंतु काही योगिजन असे मानतात की चेतनेच्या मृदु-तीव्र संवेगाच्या प्रमाणात कुंडलिनीच्या शक्तिसमुच्चयाचा कमी वा अधिक अंश असा एका चक्राकडून दुसऱ्या चक्राकडे प्रक्रमण करत जातो आणि शेष भाग आपल्याच स्थानी सुप्त वा प्रबुद्ध अवस्थेत तसाच राहतो. कुंडलिनी शक्तीचे पूर्णांशाने जागरण न होता साधकाच्या अवस्थेप्रमाणे कमीअधिक प्रमाणात आंशिक जागरणच होते आणि किंबहुना या शेष सुप्त भागामुळेच साधकाची जीवन यात्रा व देहादी व्यापार सुरळीत चालतात.

जर सर्वच्या सर्व शक्तिसमुच्चय एकाच वेळी आपले स्थान सोडून चलित झाला, तर साधक मूर्च्छित होईल किंवा त्याचा देहपातही होणे संभवनीय आहे, असे जे काही योगिजनांचे मत आहे, ते या दृष्टीने लक्षणीय आहे. याच कारणाने योगसाधना व कुंडलिनीजागृतीपरांत करावयाचा आचार यांसाठी योगी सिद्ध पुरुषांच्या मार्गदर्शनाची आवश्यकता या मार्गात फार असते.

चक्रभेदनक्रम

अजूनही एक आनुभविक वैशिष्ट्य असे समजले जाते की ***चक्रभेदन*** ही एक गुंतागुंतीची प्रक्रिया आहे. याची सुरुवात कुंडलिनीजागृतीच्या क्षणापासून होते व शेवट जेव्हा कुंडलिनीचा महत्तम भाग आज्ञाचक्रास ओलांडून पुढे जातो, तेव्हा होतो. याचाच एक अर्थ असा की कुंडलिनी जागृत झाल्यावर तिचा जो अंश उत्क्रमण करू लागतो, तो झिरपत झिरपत प्रत्येक चक्रापावेतो पोचतो, तो साधकाच्या स्थितीनुसार कमी-अधिक प्रमाणात असतो.

ज्या त्या चक्राच्या पूर्ण भेदनासाठी लागणारा शक्तीचा अंश जेव्हा त्या त्या चक्रात क्रियाशील होऊन सफल होतो, तेव्हाच एका *चक्राचा जय होतो वा भेद होतो.* म्हणजे एकदा कुंडलिनी जागृत झाली की वेगवेगळी चक्रे वेगवेगळ्या भेदनावस्थेत एकाच वेळी असू शकतात.उदाहरणार्थ मणिपूर पूर्ण भेदले गेले तरी स्वाधिष्ठान अंशमात्रच भेदलेले असू शकते. या आंशिक भेदनास उद्देशूनच योगी चक्राच्या एकेका दलाचा वेध झाल्यास काय काय फले मिळतात, ते सांगतांना दिसतात असे म्हणता येते.

याच कारणामुळे योगपद्धतीत थोडाफार फरक करून चक्रभेदनाचा सामान्य क्रम म्हणजे ***(मूलाधार -➤ स्वाधिष्ठान -➤ मणिपूर -➤ अनाहत -➤ विशुद्धि -➤ आज्ञा)*** हा बदलता येणे शक्य वाटते. म्हणजे ***(मूलाधार -➤ मणिपूर-➤ अनाहत -➤ स्वाधिष्ठान -➤ अनाहत -➤ विशुद्धी -➤ आज्ञा)*** असा जो क्रम काही योगी सांगतात, तो शक्य आहे.

ज्ञानेश व आचार्यमत

सौंदर्यलहरीत असाच एक वेगळा चक्रभेदनक्रम श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी सांगितलेला आहे, असे जाणकारांचे मत आहे. त्याचा विचार नंतर योग्य वेळी करू.त्याचप्रमाणे ज्ञानेशांनी **पंथराजा**त सांगितलेला क्रमही या दृष्टीने आगळावेगळा असणे पण संभवनीय आहे. यासंबंधी ज्ञानेशांची वचने पाहा:

१)"मग सौम्य होऊनि राहें। सुषुम्नेपासिं।।६-२४०।। २) "तैं हेलीं ... मार्ग मोडिति वायूचें।" ३) नवविधपण वायूचें। जाएं...।।" ४) "इडापिंगला एकवटिति।....." ५) "गांठिं तिहिं सुटति।" ६) "साहिं पदर फुटति। चक्रांचें हें।।(६-२४२ते २४४)" जागृत कुंडलिनी जेव्हा सुषुम्नामुखाशी ***"कंदावरी शक्ति। ऊठलीं दिसैं।।६-२२७।।"*** अशी सुषुम्नेत प्रवेश करण्यास सिद्ध होते, तेव्हा वरील या ओव्यांतून सूचित केल्याप्रमाणे काय काय होते पहा:

१) ***दशविध वायू (प्राणापानादी)*** आपापल्या गुणधर्मांना सोडून आपल्या वायू या मूलतत्त्वात विलीन होतात; २) ***इडा-पिंगला*** या **सुषुम्नेशी एकरुप होतात;** ३) ***कंद ते सहस्रारचक्र*** या योगपथावर इडपिंगला सुषुम्नेत ज्या ठिकाणी मिळतात, त्यांस ***ग्रंथिस्थान*** म्हणतात. कंदाव्यतिरिक्त अशी तीन स्थाने आहेत. मणिपूर चक्राखाली ***रुद्रग्रंथी*** असते. अनाहत चक्रावर ***विष्णुग्रंथी*** असते आणि आज्ञा चक्रावर ***ब्रह्मग्रंथी*** असते. या तिन्हीं ग्रंथींचा भेद करणे फार अवघड समजले जाते आणि त्यांचा भेद झाल्याशिवाय योगमार्ग प्रशस्त होत नाही. ज्ञानेशांनी तर असे सुचवले आहे की सुषुम्नेत प्रवेश केल्यावेळी

या तिन्ही ग्रंथी सुटतात. ४) त्याच वेळी सहाच्या सहा म्हणजे मूलाधार ते आज्ञाचक्र या षट्चक्रांचे भेदन होऊन त्यांचे नाममात्र अस्तित्व उरते. या ज्ञानेशकृत वर्णनावरून आंशिक चक्रभेदन व विविध चक्रभेदनक्रम यांविषयी वर मांडलेल्या उपपत्तीस दुजोरा मिळतो असे वाटते. असो.

अनाहतचक्र/ हृदयाधारचक्र/ हृत्चक्र व नाद

या चक्राचे गोरक्षकृत वर्णन असे आहे: ***"चतुर्थं हृदयाधारमष्टदल कमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां अधोमुखां लिङ्गाकारां ज्योतिर्ध्यायेत् सैव हंसकला: सर्वेन्द्रियवश्या भवति।।२-४।।सि.सि.प.।।"*** - आठ पाकळ्यांच्या कमळाच्या आकाराचे हे चक्र ***हृदयाधार*** म्हणून प्रसिद्ध आहे.ते अधोमुख आहे.

येथे हे ध्यानात घेणे आवश्यक आहे की काही टीकाकार व लेखक म्हणतात, तसे **हे सर्वसाधारणपणे *अनाहत* म्हणून ख्यात असणारे स्थूलहृदयनिर्देशित अनाहतचक्र नाही. ते चक्र बारा दलांचे असते, तर गोरक्ष सांगतात, ते हे चक्र *हृदयाधार* या नावाचे अष्टदलांचे आहे.** वास्तविक हे ब्रह्मांडीचे अष्टदलपद्मच असले पाहिजे, जेथे अनाहतनाद असतो. हे चतुर्थ चक्र आहे असे श्लोकात म्हटले आहे. पण हा क्रमनिर्णय करतांना सर्वसामान्य हृदयस्थान धरून कोणाची तरी श्लोकसंकलनात काही चूक झालेली असावी, अशी शक्यता वाटते. हा विचार सर्वांनी जरूर करावा.

त्याच्या कर्णिकेत लिंगाकार, उज्ज्वल व कांतिमान अशी अत्यंत प्रकाशमान ***ज्योती*** असते. तिचे ध्यान करावे. या ज्योतीसच ***हंसकला*** असे म्हणतात. हिच्या यथाविधी ध्यानाने सर्व इंद्रिये वश होतात. थोडक्यात **या अष्टदल हृदयाधारचक्राचा भेद झाला असता ही *इंद्रिजयाची सिद्धी* प्राप्त होते.** हे चक्र व अनाहत ही दोन्ही वेगवेगळी आहेत.

स्थूल हृदयनिर्दिष्ट द्वादशदलचक्रास ***अनाहत*** असे नाव असण्याचे एक कारण असे देतात की कुंडलिनीशक्ती जेव्हा येथपावेतो येऊन पोहोचते, तेव्हा साधकास बाह्य संवेदना वा इतरत्र आवाज नसतांनासुद्धा कर्णांतरी ***नाद*** ऐकू येतात. हे आघाताशिवाय उत्पन्न होणारे नाद ***अनाहतध्वनी*** म्हणून किंवा केवळ ***नाद*** म्हणून योग्यांस विदित आहेत. या नादांवरूनच या चक्राचे नांव ***अनाहत*** असे पडले आहे.

अर्थात या मतास विरोधी यौगिक मतही आहेच. त्यांच्या मते ***नाद*** ही सर्वात शेवटची लयावस्था असून ती अनाहतावर प्रकटणे अशक्यच आहे. **कुंडलिनी जेव्हा ब्रह्मरंध्रात प्रवेशते, तेव्हाच हे दशनाद ऐकू येतात.** पण **गोरक्ष यास अनाहतचक्र असे न म्हणता *हृदयाधार* असे म्हणत आहेत**, हेही लक्षात घेण्यासारखे आहे. द्वादश दलांच्या चक्राचे ***अनाहत*** हे नांव ***नादचक्र*** या अर्थाने चुकीचे आहे, असेही एक यौगिक मत आहे. कदाचित स्थूलहृदयाच्या सन्निध असून त्याचे जे आपोआप पडणारे ठोके छातीला कान लावल्यास ऐकू येतात, त्या आवाजावरूनही यास ***अनाहत*** हे नाददर्शक नांव पडले असावे.

काहीही असले, तरी बऱ्याच योगमार्गियांनी या चक्रनामामुळे आणि आपल्या अनुभवांवरून नाद उत्पत्तिस्थान अनाहतचक्रच असल्याचे सांगितले आहे. पण ***ब्रह्मरंध्रस्थानीच हे नाद होतात, हे म्हणणे सयुक्तिक तर आहेच,पण शास्त्रशुद्ध व सिद्धानुभवप्रमाणितही आहे.***

ज्ञानेश्वरांचे म्हणणे तर असे आहे की:"**जेव्हा प्राणाचा हात धरून कुंडलिनी मध्यमेच्या सोपानाने गगनाच्या पायवाटेने हृदयात येते, त्यावेळी अनाहताचा नाद प्रकट होतो.** त्या नादाने गगन दुमदुमू लागते आणि ब्रह्मस्थानीचे द्वार ***(बेगें)*** स्वाभाविकपणे उघडते. या सर्व क्रिया ***"हृदयपरिवरीं "*** घडतात *(६-२७१ ते २७९)."*

आध्यात्मिक भाषेतील पंचहृदयांपैकी हे ***हृदयस्थान*** म्हणजे स्थूल हृदय नसून ***आज्ञाचक्रावरील मूर्ध्निस्थानापर्यंतचा भाग*** होय. त्या अर्थी पाहिले तर conventional ***अनाहत चक्रावर नादोत्पत्तिस्थान नसून ते अर्धमात्रेत जे दाखवतात, तेच असले पाहिजे,*** या मतास दुजोरा मिळतो. याबाबत इतरत्र अधिक पाहू या. असो.

अनाहतनाद हे दशविध प्रकारचे नाद असून ते नाना प्रकारचे असतात. किणकिण, भेरी, समुद्रगर्जना, घंटानाद, शंख इ.दहा नाद उत्कृष्ट व महत्त्वाचे समजतात. या नादांचे अनुसंधान करण्याची विशिष्ट पद्धत योगशास्त्रात प्रचुर आहे. या पद्धतीचे अवलंबन करून साधक योगाच्या वरल्या पायऱ्या सहज ओलांडून जातो.

योगतारावलि व नादानुसंधान

या नादानुसंधानसाधनेविषयींची माहिती श्रीमदाद्यशंकराचार्यविरचित ***योगतारावलि*** या प्रकरणग्रंथात समग्र मिळते. जिज्ञासूंनी ती मुळातूनच वाचून काढावी. त्यासाठी *१) श्री. चं. वा.दांडेकर व २) डॉ. के.रा.जोशी* यांच्या योगतारावलीवरील पुस्तकांचा निर्देश करणे अवश्य आहे.

श्रीशंकराचार्यांच्या या रचनेआधारे आणि इतर आनुभविक सिद्धांच्या कथनानुसार जेव्हा कुंडलिनी जागृत होते, सुषुम्नेत प्रवेश करते, तेव्हाच सूं सूं असा नाद प्रकट होतो. ती जशी सुषुम्नामुखात मन व प्राणासह प्रवेशते, तसा हा नाद दृढ होतो. अनाहत चक्रापाशी जेव्हा हा शक्तिप्रवाह येतो, तेव्हा साधकास हा नाद गोचर होतो, ऐकू येऊ लागतो. तेथपासून पुढील पायऱ्या चढतचढत ***नादांत*** या पायरीपुढे गेले की हा नाद लय पावतो. साधक जेव्हा आपले जागृतावस्थेतील व्यवहार करत असतो, तेव्हा त्याला हा नाद सतत ऐकू येत असतो. लययोगात हा नाद प्रकट होतो आणि साधकास दीपस्तंभाप्रमाणे मार्गदर्शन करत पुढल्या श्रेष्ठतर समाधिभूमिकांमध्ये पोहोचवतो. पण नादासंबंधित हे मतही विवाद्य आहे.

खरे पाहता नादाव्यतिरिक्त ***"ध्वनि"*** म्हणून जो प्रभाग आहे, त्याला हे वर्णन जास्त लागू पडते. ध्वनि हा विश्वाभिव्यक्तीतील एक मूळ प्रमुख घटक आहे, ज्याचा निरोध ***नादांत*** या स्थानी होतो. नादसंबंधित ***"पैं ब्रह्मबीजा जाहला अंकुरु। घोषध्वनिनादाकारु। तयाचें भुवन जो ॐकारु। तोही मी गां।। जया ॐकाराचिएं कुशी। अक्षरें होति अउमकारेंसि।..।।१-२७५,२७६।।"*** या शब्दांत ज्ञानदेवांनी परा-पश्यंति-मध्यमादी वाचांचा निर्देश करून या नादाचा (ध्वनीचा) विभाग सांगितला आहे.असो.

त्या नादानुसंधानाची इतकी महती असल्याने लययोगाची प्रशंसा करत श्रीशंकराचार्यांनी म्हटले आहे की ***"सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसंति लोके। नादानुसंधानसमाधिमेकम्***

मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्।।२।।योग.।। - श्रीशंकरांनी प्रतिपादिलेले चित्ताचा लय साधण्याचे सव्वा लक्ष प्रकार प्रचलित आहेत. परंतु ज्या प्रकारचा लय समाधिप्रत घेऊन जाऊ शकतो, तो नादानुसंधानानेच प्राप्त होणारा व एकमात्र असून तोच लयमार्ग सर्वश्रेष्ठ व प्रशंसनीय म्हणून मान्य करावा लागतो.

लययोग व पंथराज::::

आचार्य शङ्करभगवत्पूज्यपादांचा लययोग

पंथराजप्रणीत कुंडलिनीयोगात हा ***अंतर्नाद*** प्रकटतो. म्हणून वर म्हटल्याप्रमाणे ज्ञानेशांचा हा लययोग सर्वश्रेष्ठ असल्याचे ***योगतारावलि***तील शांकरमताप्रमाणेही दिसून येते. आचार्य त्यांचा हा लययोग सिद्ध करण्यासाठी दिशादर्शन कसे करतात, ते थोडक्यात पाहू या. म्हणजे त्यांचा योग व ***पंथराज*** यातील समान स्थले आपणास समजण्यास उपयोगी ठरेल. आचार्य म्हणतात: "रेचक, पूरक-कुंभकयुक्त प्राणायाम सातत्याने करावा. म्हणजे सर्व नाड्या मलरहित - विशुद्ध होतात. त्यामुळे विविध प्रकारचे नाद अंतर्यामी अखंड प्रकट होऊ लागतात. हा***अनाहतनाद*** साधकाचे मन व प्राण विष्णुपदी - समाध्यवस्थेत लीन करणारा असतो. साधकाने ***मूलबंध-जालंधरबंध-ओड्डियाणाबंध*** असे ***त्रिबंध*** साध्य करावेत. त्रिबंधयुक्त प्राणायामसाधनेमुळे कोमल नागिणीसम दिसणारी कुंडलिनी गाढ निद्रेतून हलवून जागी केल्यासारखी खडबडून जागी होते आणि प्राणांसह सुषुम्नेत प्रवेश करते *(श्लोक क्र.३,५ व ६ यो.ता.).*" त्यावेळी ज्ञानेश म्हणतात तसे वायूचे नववविधपण जाते व प्राणांचे जाणे येणे स्तब्धावते.

"त्रिबंधयुक्त प्राणायामामुळे अपानवायूचे आकुंचन होऊन मूलाधारचक्रातील वैश्वानर अग्नीच्या ज्वाळा वर उसळतात. त्यांच्यामुळे चंद्रनाडी प्रदीप्त होते. त्यामुळे तिच्या वरील टोकाकडे असणारे चंद्रामृताचे तळे कलंडून त्यातून अमृतधारा वर्षतात. त्या पिऊन साधक धन्य होतो *(श्लोक क्र.७ यो.ता.)*"

"अनाहतनादाच्या सततच्या अनुसंधानाने विषयप्रवाह कुंठित होतो आणि वृत्तिनिरोध करणारा ***केवलकुंभक*** प्रकटतो. त्यामुळे प्राणांचा स्वैर संचार थांबतो. केवलकुंभकाच्या अभ्यासाने प्राणांचे व्यापार थंडावले की मन नि:स्तब्ध होउन ***इडा पिंगला व त्रिकूटी*** सोडून तो प्राण तत्काळ *(आज्ञाचक्रावरील)* त्रिकूटबिंदुच्या वरील भागात असणाऱ्या गगनगुंफेत - ब्रह्मरंध्रात लीन होतो. जागृत कुंडलिनीबरोबर तिने भक्षण केलेला प्राण असा सहस्त्रारचक्रात लीन झाला की सुषुम्ना नाडीने केवलकुंभकाच्या साहाय्याने धरून ठेवलेले शेष प्राणसुद्धा पश्चिममार्गाने हळूहळू ऊर्ध्वगतीने विष्णुपदी - ब्रह्मरंध्रात - लीन होतात *(श्लोक क्र. ११ व १२ यो.ता.).*"

"असा हा मरुल्लय एखाद्याच शूर-वीर-धीर साधकास साधतो. धारणा-ध्यान इ.परिश्रमविरहित असे हे सहज सोपे समाधिप्राप्तीचे साधन आहे. या समाधीत मन अखंड उन्मन राहते. चित्त व इंद्रियांचा व्यापार बंद पडतो. प्रापंचिक घडामोडींबाबत अनासक्तीचा अभ्यास करणे, वासना उन्मळून टाकणे, आशा - कामनांचा ऱ्हास करणे, या उपायांनी हा योग अभ्यासला जातो *(श्लोक क्र.१३ व १४ यो.ता.).*"

"या योगाचे फल म्हणजे ***अमनस्का*** भूमिका. त्यामुळे मी-माझे गळून पडते. मनाच्या कक्षेच्या अतीत असणारी ही भूमिका आहे.तेथे मरुताची गती शून्य असते. ***गगनावशेष*** असा ज्ञानभाव त्याठायी प्रकटतो. ***ज्ञान-वैराग्य*** प्राप्ती होते. संकल्प-विकल्पांचे जाळे नष्ट होते. ***प्रारब्ध- क्रियमाण - संचित*** कर्मांचा आशय निर्मूल व दग्ध होतो. ***चिन्मय योगनिद्रा*** प्राप्त होते. अनिर्वचनीय, निरुपाधिक - स्वस्वरूपी लीन अशी ही ***तुरिया*** आहे. ***निर्विकल्प समाधि*** ती हीच! अखिल जगत दिसेनासे होते. सर्वत्र ब्रह्मभाव - साम्यावस्था प्राप्त होते. जीवन्मुक्ती प्राप्त होते *(श्लोक क्र.२१ व २२ यो.ता.).*"

(**टीप:अनाहतप्राकट्य व कुंडलिनीजागृति** - नाडिशुद्धीचे फलस्वरूप म्हणून ***अनाहत नाद*** प्रकटतो असे आचार्य म्हणतात. पण नाडिशुद्धी त्रिबंधयुक्त प्राणायामाने होते असे शास्त्राचे मत आहे. नाडिशुद्धीमुळे कुंडलिनी जागृत होते, असेही मत आहे. या सर्वाचा विचार करता आचार्यांचा श्लोकक्रम धरून चालेलसे दिसत नाही. ***त्रिबंधयुक्त प्राणायाम, नाडिशुद्धी, कुंडलिनीजागृती आणि नंतर अनाहतनाद*** असाच क्रम घेणे सयुक्तिक आहे.

कित्येकदा ग्रंथ आपल्यापर्यंत येईस्तोवर त्यात अनाहूतपणे संकलक अनेक चूका करतात आणि फलस्वरूप आपणास क्रमाबद्दल आशंका उत्पन्न होते. अंती विज्ञानाच्या आधारानेच जायचे असते. श्रीएकनाथांनीही असेच विज्ञान वापरून मूळ ज्ञानेश्वरीत आलेले अपपाठ, अन्यओवीक्रमादी शुद्ध केल्याची नोंद आहेच. त्यातून **योगतारावली**स आचार्यांचा ग्रंथ म्हणून काही पीठांची मान्यता नसल्याचेही एक मत आहे, असे समजते. म्हणून **सर्व गोष्टींचा नीट विचार करून शास्त्र हाच मुख्य निकष मानून या सर्व बाबींचा निचरा आपणास करावा लागेल.** असो.)

ज्ञानेशांचा पंथराजप्रणीत लययोग::::

प्राथमिक

पंथराजाचे सहाव्या अध्यायी काही अवलोकन आपण केले होते. त्यावरून आचार्य म्हणतात त्या लययोगाचे आणि पंथराजाचे किती साधर्म्य आहे, ते सहजच दिसून येते. प्रापंचिक अनासक्ती - वासनाराहित्य-आशापाशविमुक्ती हा साधनाक्रम तर ज्ञानेशांचा मुळचाच आहे.

विवेक-वैराग्याभ्यास

विवेक व वैराग्य यांचा अभ्यास कसा करावा ते आपण ***दैवासुरसंपदा - क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार, गुणातीतदर्शन, श्रद्धात्रयविचार*** इ.भाग गीता-ज्ञानेश्वरीच्या साहाय्याने अभ्यासतांना यापूर्वी पाहिलेच आहे. पंथराजसाधनेचे यम-नियम-आसन ठरावेत, असे हे विवेकवैराग्यविचार होत.

वैराग्याविषयी ज्ञानेश्वर म्हणतात की :*"यमनियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार साध्य झाला की (ओ.क्र.६-५४ ते ५६) -* ***ऐसां पवनाचेनि पाठारैं। एतां धारणेचेनि पैसारैं। क्रमीं ध्यानाचे चवरैं। सांडैं तंव।। नखीं लगेल ढाले ढालैं वैराग्याची।।६-५७ व ५८।।"***

पंथराज सांगण्यास सुरुवात करण्यापूर्वी श्रीकृष्ण मनी उमजतात की अर्जुन आता विरक्त झाला आहे. योगसाधन अनुष्ठिण्याची आता त्याची तयारी झालेली आहे; ***"..।होय विरक्तु ऐसां अनंतां। भरंवसा जाहाला।।६-१५०।। म्हणें जैं जैं हां अधिष्ठिल। तैं आतां आरंभीच ययां फलैल। म्हणौनि सांघितलां न वचैल। अभ्यासु वांयां।।१५१।।"*** आणि म्हणून त्याला आता या अभ्यासाचे फलही लवकर मिळू शकेल.

पंथराजप्रक्रिया

प्राणायाम - प्रत्याहार - धारणा - ध्यान - संयम या भागांचीही पूर्वतयारी साधक विवेक-वैराग्य मार्गाने करत जातो. असे होत असता गुरुकृपेची उषा उदित होते. संयमाचे फळ कुंडलिनीजागृती प्राप्त होते. अष्टांगयोगाची फळी आपोआपच समाधिपूर्वस्थितीपर्यंत येऊन पोहोचते. पंथराजप्रक्रियेचे पायरीपायरीने संक्षिप्त वर्णन पुढे दिले आहे:

१) व २) स्थल व आसन(६-१६३ ते १८६)

यांचे पूर्ण वर्णन आपण पूर्वीच पाहिले आहे *(उन्मेष:८::पंथराज, पृ.क्र.१२७ ते१२९).* ज्ञानेश्वर म्हणतात, त्याप्रमाणे स्थल शोधून *(६-१६३ते १८१)**"बहुतकरूनि एकांतें। बैसिजें गां।।१८०।। म्हणौनि तैसें तैं जाणावें। मन राहातें पाहावें।..।।१८१।।"*-त्या ठिकाणी आसन मांडावे *(६-१८१ ते १८५).*

३) धारणा (६-१८६ ते १९१)

सद्गुरुस्मरण करून आसनावर बसावे. एकाग्र अंत:करण, म्हणजे पतञ्जली म्हणतात तो संयम करावा. विषयांचा विसर पडून आणि इंद्रियांची कसमस मोडून मनाची घडी हृदयी पडते.*(६-१८६ते१८८).* मन स्तब्ध होते.

४),५) व ६) मुद्रा, वज्रासन व मूळबंध (६-१९२ ते २०२)

मग मूळबंध लागला की अपानवायू आतल्या अंगाकडे आकुंचन पावू लागतो *(६-१९९-२००).*

७) आज्ञाचक्रावर अंतर्दृष्टी(६-२०२ ते २०६)

नंतर दृष्टी नासाग्रपीठी राहते. ***नासाग्रपीठ म्हणजे आज्ञाचक्र.*** त्या देशावर गोरक्षांनी म्हटल्याप्रमाणे ज्ञानेशांचे अंतर्दृष्टीचे विधान आहे.

८) जालंधर व वोढियाणा बंध (६-२०७ ते२११)

मग जालंधरबंध लागतो आणि स्वाधिष्ठान आणि नाभी यांच्यातल्या भागात वोढियाणा बंध लागतो.

९) अभ्यासाची एकाग्रता (६-२११ ते २१३)

मनाचे चांचल्य नष्ट होते. कल्पना व प्रवृत्ती थांबतात. शरीर व मन शांत होतात.

१०) अपानाचे मुरडणे, व्याधींचा उद्भव व नाडिशुद्धी (६-२१४ ते २२०)

मूळबंधाने कोंडलेला अपानवायू क्षोभतो आणि माघारी वळून मणिपूराशी झुंजतो. त्यावेळी अनेक जुन्या शारीरिक व मानसिक व्याधी प्रकटतात. पण शेवटी नाड्या शुद्ध होण्यात या प्रक्रियेचे पर्यवसान होते.

११) पृथ्वी व आपतत्त्वाची सरमिसळ (६-२२०)

अपानाच्या या क्रियांमुळे पृथ्वी व आपतत्त्वांची घुसळण होऊन सरमिसळ होते.

१२) व १३) कुंडलिनी स्वरूप वर्णन आणि जागृती

नंतर ज्ञानदेव कुंडलिनीच्या स्वरूपाचे ***"नागाचें पिलें....। ..विश्वबीजाचियां कोंभां। सांऊली केलीं।।"*** इ.वर्णन करून *(६-२२१ ते २२५ व २७२, २७३)* ती जागृत कशी होते, ते सांगतात . ती कंदावर उभी राहते आणि आपले मुख ऊर्ध्वीकडे वळवून पसरते *(६-२२५ ते २२८).*

१४) पवनाचा कुंडलिनीत समावेश (६-२२९)

मग हृदयाकाशाच्या खालचा सर्व पवन ती भक्षण करते, म्हणजे पवनाला आपल्यात समावून घेते. त्याचा लय गगनात व्हावयाचा अजून बाकी आहेच.

१५) शरीरस्थ सर्व गौण चक्रांचा वेध (६- २३० ते २३५)

मग ती कुंडलिनी अस्थि, मांसादी सप्तधातूंचा वेध घेते व त्यांना आपल्यात समावून घेते. शरीरात वेगवेगळी अनेक चक्रे असतात. त्यांचा संबंध इतरेतर अवयवांशी, धातू, मज्जा इ.शी असतो. कुंडलिनी त्या सर्वांचा वेध करते असा या ओव्यांचा भावार्थ आहे. सर्व ***पार्थिव धातू म्हणजे पृथ्वीतत्त्वाचा आणि आपतत्त्वाचा*** ती आपणात समावेश करून घेते असा यौगिक अर्थ येथे आहे.

१६) पृथ्वी व आपतत्त्वांचे कुंडलिनीत समावणे व सुषुम्नेत प्रवेशाची स्थिती (६-२३९ ते २४२ व २४०)

सर्व पृथ्वीतत्त्व व आपतत्त्वाचा असा समावेश करून घेतल्यावर ती तृप्त होऊन सुषुम्नामुखाशी प्रवेश करण्याच्या तयारीने राहते. त्यावेळी शरीरात जीवनाचा आधार जो असतो तो म्हणजे तिने आपल्या ***वैश्वानर*** अग्निमुखाच्या गरळातून उत्पन्न झालेल्या अमृताचे शरीरात केलेले सिंचन होय. त्यायोगे प्राणांस संजीवन मिळते.

१७) चक्रांचा वेध व नाममात्र उरणे (६-२४३, २४४ व २३७)

मग ती सर्व नाड्यांना व चक्रांना एकवटते. त्यामुळे नाड्यांचे मार्ग मोडतात, इडा-पिंगला या मुख्य नाड्यांचा तिच्यात समावेश होतो. वायूचे पण दशविधपण जाऊन तो तिच्यात पूर्णपणे सामावतो. ***ब्रह्म, विष्णु व रुद्र*** या सुषुम्नामार्गावरील ग्रंथी सुटतात.मूलाधारादी सहाही चक्रांचे नाममात्र अस्तित्व उरते. त्या सर्व चक्रांचा वेध होतो आणि त्यांच्यातील ***नाद, बिंदु, कला व ज्योती*** या तत्त्वांचा कुंडलिनीत समावेश होतो, असा या वर्णनाचा यौगिक अर्थ आहे.

१८) नासापुटातील इडा-पिंगलांची मिळवणी (६-२३६, २४५ व २३८) आणि १९) वायुतत्त्व आणि बुद्धितत्त्वाचे कुंडलिनीत समावणे (६-२४६)

"नासापुटौनि वारा।...।।२३६।।" यातून **इडा व पिंगला नाड्यांचा जो एक मार्ग *वाम आणि दक्षिण नासिकेतून* जात असतो,** त्याचेही कुंडलिनीशी मिलन होते. वस्तुत: या नाड्यांचे कधीच कुंडलिनीशी मिलन व्हावयाचे, पण कुंडलिनीच्या प्रक्रियेत हा क्रम नंतर येतो. हा मार्ग श्वासोच्छ्वासाशी संबंधित असतो. म्हणून **या नाड्यांचा असा वेध होताच *योगतारावलीत* म्हटलेली केवलकुंभकाची स्थिती होते.**

याबाबत तेथे असे म्हटले आहे की: ***"त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे। खे स्तंभिते केवलकुंभकेन। प्राणानिलो भानुशशाङ्कनाड्यौ। विहाय सद्यो विलयंप्रयाति।।११।।यो.ता.।।"*** - इडापिंगला या योगनाड्यांचे संगमस्थान म्हणजे **त्रिवेणी.** केवलकुंभकात प्राणांचे स्तंभन झाल्यावर जो प्राण इडा-पिंगलांच्याअंतर्गत असणाऱ्या अवकाशात विहरत असतो, तो त्या नाड्यांना सोडून देऊन त्रिवेणीसंगमास ओलांडून गगनात प्रवेशून नंतर ***त्रिकूटावरील पोकळीत*** विलय पावतो. येथे ***गगन याचा अर्थ सुषुम्ना*** असाही होतो आणि तेथेच त्या प्राणाचा लय होतो.

पुढे आचार्य सांगतात की: ***"प्रत्याहृत: केवलकुंभकेन। प्रबुद्धकुंडल्युपभुक्तशेष:। प्राण: प्रतीचीनपंथेन मन्दम्। विलीयते विष्णुपदांतराले।।१२।।यो.ता.।।"*** - जागृत झालेल्या कुंडलिनीने समावून घेतल्यावरही उरलेला जो प्राण असतो, जो केवलकुंभकाद्वारे सुषुम्नेत धरून ठेवल्यासारखा असतो, तो नंतर हळूहळू पश्चिममार्गाने ऊर्ध्व दिशेने ब्रह्मरंध्राच्या पोकळीत शिरतो. **"याच केवलकुंभकामुळे मरुल्लय होतो ।।१३।।यो.ता.।।** "ही सर्व प्रक्रिया आपणास ज्ञानेशांच्या पंथराजावरील ओव्यातून सहज दिसून येते. या वेळी प्राण जेथल्या तेथे मुरतो . याच वायुसमावेशाबरोबर बुद्धीचाही (महत्तत्त्वाचा) कुंडलिनीत समावेश होतो. ***"बुद्धिचि पुलिका विरैं (६-२४६)"***. त्यायोगे मनाचा आकार - मनोधर्म नष्ट होतात.

२०) इडेच्या टोकावरील चंद्रामृताचे तळे कलंडणे व त्यातील अमृताचे कुंडलिनीने प्राशन करणे (६-२४७ व २४८)

"जैं हेलीं कुंडलिनी चंदु पिएं" या शब्दात ज्ञानदेव हे वर्णन करतात. ***इडेच्या अंती त्रिवेणीस्थित अमृताचे तळे म्हणतात ते असते.*** त्यातील अमृताचे कुंडलिनी प्राशन करते - म्हणजे तेही तिच्यात समावले जाते. तो रस सर्वांगाला पोहोचतो व योगी धन्य होतो.

२१) पिंडाचे रससिद्धदेहात परिवर्तन होणे (६-२४९ ते २६८)

"पिंडाचेनि आकारैं। कलाचिं किं अवतरैं" या शब्दात ज्ञानेश चंद्रामृतप्राशनामुळे सिद्धत्व पावणाऱ्या देहाचे वर्णन करतात. याच देहाच्या सिद्धीसाठी सिद्ध होऊ पाहणारे पुरुष रसायनादींचा वापर करतात. पृथ्वीतत्त्व व आपस्तत्त्वाचा लय झाल्याने त्यांचे अंश देहात नसतात. म्हणून तो असा होतो. ***"देह होएं सोनियाचां। परि लाघौ एं वायुचें"*** असे त्या देहाचे वर्णन ज्ञानदेव करतात. यौगिक संप्रदायात श्रीशैल्यपर्वतावरील रससिद्ध नागर्जुनसिद्धांचे या देहसिद्धीबाबत विशेष नांव आहे.

२२) सिद्धींचा अभिभव (६-२६९,२७०)

मग त्या वेळी साधकास अनेक सिद्धी प्राप्त होतात.

२३) पवनाची मेळणी झाल्यावर कुंडलिनीचे मध्यमामार्गे हृदयात (आज्ञाचक्रावरील अवकाशात) - महदाकाशात - उत्क्रमण(६-३०२,३०३ व २७१)

नंतर जालंधरबंध सांडून, ***"पश्यंतिची पाउटी"*** म्हणजे विशुद्धिचक्राची पायरी मागे टाकून, पवनाचा हात धरून मध्यमामार्गे म्हणजे सुषुम्नेतून गगनाच्या पायवाटेने कुंडलिनी हृदयात प्रवेशते. अगोदरच म्हटल्याप्रमाणे हे हृदय म्हणजे ***महदाकाश*** - आज्ञाचक्रावरील ब्रह्मांडाकडचा भाग होय. सुषुम्ना ही आकाशतत्त्वाची असते. म्हणून ***"गगनाची पाउटी करौनि"*** असे शब्द उपयोजिले आहेत.ज्ञानेशांच्या पंथराजावरील ओव्यातून सहज दिसून येते.

२४) अनाहतनादप्राकट्य (६-२७४)

तेथे कुंडलिनी आली की नाद प्रकट होतो. ***वैखरी, मध्यमा व पश्यंति*** या ॐकाराच्या तीन मात्रा त्या नादरूपाने प्रकटतात आणि तो नाद सुषुम्नाविवरात निनादतो. ***अनाहतनादस्थान कोणते*** याबाबत पूर्वी थोडे विवेचन केलेलेच आहे. आणखीही आवश्यक वाटल्यास नंतर करू.

२५) सहस्त्रदलकमलातील चैतन्याचा आविर्भाव (६-२८० व २७५)

तो नाद ऐकून कुंडलिनीबरोबर आलेले मन मोहित होते. त्या ठिकाणी कमलगर्भाकार हृदयाकाशी म्हणजे सहस्त्रदलकमलात विभक्त आत्मचैतन्य -जीवाच्या रूपाने जे असते- त्यास तो नाद ऐकू येऊ लागतो.

२६)तेजस्तत्त्वाचा लय (६-२७५ व २८१)

मग त्या हृदयस्थानी महदाकाशात कुंडलिनी चैतन्यास आपणाबरोबर आणलेली तेजस्तत्त्वाची आणि बुद्धितत्त्वरूपी - (तैजस म्हणजे बुद्धी) - शिधोरी त्याला अर्पण करते. म्हणजे तेजस्तत्त्वाचा लय होतो.

२७) लयक्रम (६-२९९,२९८ व २७८)

ज्ञानेश थोडक्यात आतापावेतो झालेल्या लयाची उजळणी करतात. पृथ्वीतत्त्वाचा आपतत्त्वात, आपाचा तेजात असा लय होतो आणि तेजस्तत्त्वाचा पवनात महदाकाश - हृदयस्थानी - लय होतो. पण अद्याप पवनाचा लय झालेला नसल्याने गगनास ***"वाचा आथि"***- वाचा असते आणि म्हणून अजूनही ***अनाहतनाद*** रूपाने त्याचे प्राकट्य होत असते.

२८) शक्तीचे पवनात संक्रमण आणि रूप मावळणे (६-२८३ ते २८८)

तेजस्तत्त्वाचा लय झाल्याने कुंडलिनीशक्तीचे तेजस्वरूप लोपते आणि तिला पवनाचेच स्वरूप उरते. तिचे अस्तित्व आता केवळ प्राणरूपाने राहते. कारण पृथ्व्यादी तिन्ही तत्त्वांचा लय झालेला असतो. त्यावेळी ती ***"लखलखौनि हारपली वीजू गगनिं"*** अशी होऊन ***पवनाची पुतळी*** होऊन राहते. हृदयाकाशाच्या पोकळ भूमीत ती जिरून जाते. हे जे वर्णन ज्ञानेश करतात, ते योग्यांच्या अनुभूतीनुसारच आहे.

ज्या वेळी ही क्रिया घडते, त्या वेळी सुषुम्नेतून वीजेचा लखलखता प्रवाह किंवा ज्ञानेशांनी इतर प्रकारे सांगितला तसा ***"सोनियाचिं सरी"*** वा ***"प्रकाशजलाचिं झरी"*** असा दिसणारा शक्तिप्रवाह मूर्ध्निस्थानाकडे चपळाईने धावतांना दिसतो आणि भालप्रदेशाअंती तो जिरून गेल्यासारखा होतो. अशा रितीने शक्तीचे रूप शक्तीतच लोपते आणि शक्ती म्हणावे, तरी ती केवळ प्राणच असते. इतर तत्त्वे तिच्यात लोपलेली असतात.

श्री. गजाननमहाराज गुप्ते यांच्या चरित्रग्रंथात याबाबत असे म्हटले आहे की आत्मा ब्रह्मरंध्रात शिरण्यापूर्वी थोडा वेळ विजेच्या रेषेसारखा सुषुम्नेत सावकाश चढत असतो. पण ही अनुभूती इतकी जलदगत्या येते की पूर्ण लक्ष असल्याशिवाय ते कळत नाही. ही आत्मानुभूतीची विशेष खूण असल्याचे महाराजांनी म्हटले आहे.

२९) मारुत अवस्था (६-३०१, ३०२)

शक्तीला त्या वेळी म्हणजे तेजस्तत्त्वाचा लय झाला की ***मारुत*** अशी यौगिक संज्ञा आहे. तरीही ती शक्तीच असते. कारण जोपावेतो शिवशी तिचे मिलन होत नाही तोवर तिचे शक्तित्व उरणारच!

३०) खेचर स्थिती (६-२९३ ते २९७) व ३१) अणिमादी सिद्धींची प्राप्ती (६-२९७, २९८)

असे शक्तीचे रूप हरपले की साधकास खेचर अवस्था प्राप्त होते. ही एक योगसिद्धाची अवस्था आहे. तिचे अधिक वर्णन या ओव्यांतून केले आहे. त्यावेळी अणिमादी सिद्धी प्रकट होतात.

३२) भ्रमरगुंफेत नादाचा आविर्भाव(६-३१३,३०४,२७९,२७७ व २२६)

तसे पाहिले तर एकट्या प्राणांना गगनी येणे अत्यंत अवघड असते. कारण भ्रूकुटीमागील बाजूस जे मकाराचे स्थान असते आणि त्याअंती जे आज्ञाचक्र असते, त्यांना उलंघणे त्यास शक्य नसते. आणि त्यावरील गगनातील ॐकाराच्या अर्धमात्रेत तर त्याचा एकट्याचा कधीच प्रवेश होऊ शकणार नाही. पण कुंडलिनीच्या आधाराने तो तेथवर येऊन पोहोचतो. आता तर ती स्वत: कुंडलिनीच प्राणस्वरूप झालेली आहे आणि तिला ***मारुत*** असे नामही प्राप्त झालेले आहे.

आता तो प्राण भ्रमरगुंफेत *(**"घोषाचां कुंडिं"**)* आलेला आहे आणि त्याचे तेथे गुंजन सुरू होते. प्रणवाच्या उगमाचे हे स्थान आहे. म्हणून ***"प्रणवाचिएं मोडिं। रेखिलिं ऐसिं"*** असे शब्द वापरले आहेत. त्या अनाहताच्या नादाच्या मेघगर्जनेने ***गगनमहाल*** म्हणजे आज्ञाचक्रावरील ब्रह्मरंध्रापर्यंतचा भाग - ***महदाकाश*** - गाजू लागते.पण तेथे कोणता शब्द होतो, ते कसे कळावे! कारण हे जाणवणारे कल्पना करणारे मन तर कार्यरत नाही. असो पण त्या अनाहताच्या दुमदुमण्याने कुंडलिनीसाठी ब्रह्मरंध्राची वाट मोकळी होते.

३३) मरुल्लय (६-३००व ३१४)

बऱ्याचशा पवनाचा कुंडलिनीने लय केलेला असतोच. पण हा ***मारुत*** नावाचा त्याचा जो अवशेष शरीराकाराने कुंडलिनी स्वरूपात असतो, तोही नंतर आकाशतत्त्वात मिळण्यासाठी निघतो. तेथे आकाशतत्त्वात त्याचा लय झाला की शब्दाचा पण लय होतो.

३४) आकाशतत्त्वाचा लय (६-३१४)

आणि नंतर आकाशतत्त्वाचाही कुंडलिनीत लय होतो.

३५) उन्मनीपलीकडील स्थिती (६-३०२ व २८८)

अशा प्रकारे आज्ञाचक्रावर जे मूळ ॐकाराचे स्थान असते, त्याला मागे टाकून ती कुंडलिनी गगनाच्या पहाडाचे शिखर गाठते *(**"गगनाचिएं पाहाडिं। पैठीं होएं"**)*. त्या स्थितीत ***नाद-बिंदु - कला व ज्योती*** यातील कोणताही अंश उरत नाही. अगोदरच **शक्तीने प्रत्येक चक्रातील नाद - बिंदु -कला व ज्योतींचा त्या त्या चक्रलयाबरोबर आपल्यात लय करवून घेतलेला असतो.** असे हे मनाचे धर्म लोप पावतात. आता ती महदाकाशातील अंतिम तत्त्वांचा म्हणजे या नादादी उगमस्थांचाही लय करवून पूर्ण लयाकडे अग्रेसर होते. म्हणून ज्ञानेश म्हणतात की ***"नेणें नादबिंदु कला ज्योति"!*** समाधीच्या ***समना व उन्मना*** अशा ज्या अंतिम अवस्था आहेत, त्यांच्याहीपलीकडे ही स्थिती असते.

३६) अध:कुंडलिनी व ऊर्ध्व कुंडलिनीची मध्याशक्तीशी मिळणी (६-२३७) व मूर्ध्निस्थ सुषुम्नामुखाचा - ककारांताचा भेद - ब्रह्मरंध्री मिळणे (६-३०२, ३०४,३०५ व ३०६)

त्या वेळी ***अध:कुंडलिनी व ऊर्ध्वकुंडलिनी*** अशा अवस्था काही ***मध्या*** कुंडलिनीहून वेगळ्या राहत नाहीत *(**"तेथ अध वरौतैं आकुंचें। ऊर्ध्व तलौतैं खांचै"**)*. त्या सर्वांचे पूर्वापारचे ऐक्य प्रकट होते. तेथे मग एकच एक शक्ती उरते. मग ती **सुषुम्नामुख**ाचा- जे ब्रह्मरंध्रात असते - त्याचे भेदन करते आणि सरिता जशी सागरात मिळते तशी ब्रह्मरंध्री स्थिरावून **सोऽहंभाव**ाच्या बाह्या पसरून परमात्मलिंगास आलिंगन देते. त्या वेळी पंचमहाभूतांचा पूर्ण लय होतो. आणि गगनसुद्धा आटते. ***शिव व शक्ती यांचे असे ऐक्य होते.*** त्यात मूर्ध्निस्थित आकाशतत्त्वासह सर्व तत्त्वे लय पावतात. आकाशात आकाश मिसळून जावे असे सामरस्य प्रकटते.

३७) "पदीं पद प्रवेशें" (६-२८२,३१२,३१५, ३०७ ते ३११, ३१६ व ३१७)

या स्थितीचा अभिमान वाटावा अशी ती स्थिती असते खरी! पण अभिमान धरणारी वैखरी वाचा तर त्या स्थानी, जेथे परेलाही स्थान नाही तेथे कशी पोहोचणार! ती तर दूरच असणार! महाशून्याच्या डोहात गगनाचासुद्धा जेथे थांग उरत नाही, तेथे अद्वैतत्व सिद्ध झाले आहे हे म्हणणे तरी कोठवर चालेल! समुद्रातील पाणी मेघाच्या रूपे परत समुद्री परतावे, तसे हे ***पिंडाच्या मिषाने पदी पदच प्रवेशते.*** जीवात्मा जो द्वैतात वावरत होता, तो परमात्मतत्त्वाशी पुन: एकरूप होतो. त्याठायी पूर्वी कधीतरी तो द्वैतरूपे होता का नाही, याचा विचार करण्यास पण वाव उरत नाही.

गगनावशेष समाधीच्याहीवरील पायरी प्राप्त होते. ***योगताराव़ली***त म्हटले आहे की ***"अमी यमिन्द्रा सहजामनस्कात्। अहं ममत्वे शिथिलायमाने।। मनोऽतिगं मारुतवृत्तिशून्यम्। गच्छंतिभावम् गगनावशेषम् ।२२।।"*** -***मनोन्मनी*** समाधिनंतरची ही जी समाधि अवस्था आहे, ती ***सहजामनस्का*** या नावाने ओळखली जाते *(श्लोकक्र.१७ ते २१,यो.ता.)*.

सहजामनस्का समाधीयोगे अहं ममत्वादी बंधने गळून पडल्यावर आणि जेथे पोहोचल्यावर ***मारुत*** गतिशून्य होतो,त्या अवस्थेला ***गगनावशेष*** असे म्हणतात. ही जाणिवेची अंतिमतम अवस्था आहे. योगवासिष्ठात म्हटलेली ***पदार्थाभाविनी*** ती हीच अवस्था होय. आता साधकास त्याहीपलीकडील म्हणजे ***निर्विकल्प निर्बीज समाधि*** प्राप्त झाली आहे, असे आताच्या ज्ञानेश्वरांच्या ओव्यांवरून

दिसून येते. ***योगतारावलि*** त हिलाच ***तुरीयतल्प*** असे म्हटले आहे *(श्लोक क्र.२६, यो.ता.).*

अशी अवस्था शब्दातीत असल्याने साधकाने तिचे विश्लेषण करत बसू नये. उगाच स्वस्थ राहून जे काही हे दैवयोगे प्राप्त झाले आहे, त्यातच रममाण व्हावे असे ज्ञानदेव सांगताहेत!

३८) अद्वैतस्थितीचे वर्णन (६-३१८ ते ३२७,२८९,२९० व ३२८)

यानंतरच्या ओव्यातून ज्ञानेश्वर त्या अद्वैतस्थितीचे अधिक वर्णन करतात. शब्दजात नाहीसे होऊन संकल्पाचे तेथे नांवही उरत नाही. विचाराचा वाराही तेथे लागत नाही. असे ***"उन्मनीचे लावण्य"*** आणि ***"तुर्येचे तारुण्य"*** साधकास उपभोगावयास मिळते. साधक केवळ आनंदस्वरूप होऊन राहतो. तो ***जीवन्मुक्त*** होतो. हे पंथराजाचे साधन करणारे परब्रह्म होतात. त्यांच्यासाठी विश्वाभासाचा लोप होतो. मग मनाचा निरोध करणे, प्राणायाम करणे, ध्यानधारणा करणे इ.गोष्टींची तेथे काय वार्ता असणार! देहाकृतीत परब्रह्माचा रसच ओतलेली अशी त्यांची मूर्ती असते. श्रीकृष्ण म्हणतात की, ***"तो योगी आता तर माझ्याच तोलामोलाचा झालेला असतो!"***

३९) "नाथसंकेतिचां दंसु" (६-२९१ व २९२)

असा हा ***पिंडाचा पिंडाठायीच लय होतो.*** हे रहस्य श्रीकृष्णनाथांनी पार्थास संकेताने निर्देशिले आणि ज्ञानदेवांनीही आपणास जाणकार श्रोते समजून त्याचा अर्थ समजावून दिला! जाणकार संशोधकांनी दाखवलेला ओव्यांचा क्रम पुढेमागे करून, त्यातील अर्धेल्यांचा आपल्यास योग्य वाटलेल्या जागी अंतर्भाव करून, याप्रमाणे आपण ही ***पंथराज प्रक्रिया*** सलग शास्त्रीय दृष्टीने निरीक्षिली. त्यामागे कारण एकच. ***पंथराज*** म्हणजे नेमका काय आहे, ते त्याद्वारे आपला भ्रमनिरास होऊन नीट लक्षात यावे, त्यातील यौगिक क्रिया आपणास नीट उलगडाव्यात आणि झालाच तर या सर्वांचा आपापल्या साधनेत सुयोग्य उपयोग व्हावा! असो.

संबंधित परिशिष्टे

या पंथराजसंबंधित ओव्यांचा नीट अभ्यास करता यावा म्हणून सोबत ***परिशिष्ट क्र.१ - पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील क्रमवार ओव्या*** यात त्यासंबंधित सगळ्या ओव्या *(६-१५० ते ३२८)* दिलेल्या आहेत.तसेच ***परिशिष्ट क्र.-२::पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील अभ्यासोपयुक्त नवनिर्धारित क्रमानुसार ओव्या*** यात पंथराजाच्या सुलभ संगतीसाठी लावलेला ओव्यांचा नवनिर्धारित क्रम अभ्यासार्थ दिला आहे. पाठनाविन्य वा विद्वत्व ही दृष्टी त्यामागे नाही आणि तसा आग्रहही नाही. पण जिज्ञासूंना या दोन्ही परिशिष्टांचे मूल्य आपच जाणवेल आणि ते त्यांचा यथायोग्य उपयोग करून घेतील, हे मात्र निश्चित वाटते!

योगतारावलि व ज्ञानेश्वरी

उपरोक्त विवेचनावरून ***योगतारावलि*** व ***ज्ञानेश्वरी*** यांचे ***कुंडलिनीप्रक्रिया, अनाहतनाद व पंथराज*** यात किती साम्य आहे, ते सहज स्पष्ट व्हावे. *जवळजवळ सर्वच साम्य स्थळे त्याच अनुक्रमाने येतात; दोघांचे विवेक वैराग्यसंपत्तीच्या पूर्वार्जनाबाबत एकमत आहे; त्रिबंधयुक्त प्राणायामापासून ते उर्वरित प्राणांचा आकाशात लय होणे, चिन्मय योगनिद्रा, मरुल्लय, उन्मनी व तुरीया अवस्था यांच्या प्रकटीकरणाविषयी एकमत; कुंडलिनीचे या दोन्ही मार्गातील वैशिष्ट्यपूर्ण अधिष्ठान; कुंडलिनीच्या मार्गक्रमणाबद्दल, अनाहतनाद प्रकटण्याबाबत;* अशी अनेकानेक साम्यस्थळे पाहून हे दोन्ही योग भिन्न नामाचे पण एकच आणि सर्वश्रेष्ठ एकमेवाद्वितीय असल्याची आपली खात्री होते.

श्रीशंकराचार्य व ज्ञानदेव यांचे योगाभ्यासाबाबत इतके जुळत असेल, याची आपल्याला पूर्वी कल्पना पण नव्हती. आता मात्र हे सर्व निर्विवाद दिसून येत आहे. असो. ***योगतारावलि*** आणि कुंडलिनीयोगाच्या अभ्यासकांनी *श्री.चं.वा.दांडेकर* यांचे ***योगतारावलि*** जरूर वाचावे असेच आहे, हे सांगून पुढील विषयाकडे वळू या.

योगचक्रे(२)::::

अनाहतचक्राची आणखी माहिती

आता गोरक्षविरचित अष्टदल हृदयचक्राव्यतिरिक्त दुसरे जे बहुसंमत ***द्वादशदल अनाहतचक्र*** म्हणून विख्यात आहे, त्याची काही वैशिष्ट्ये पाहू या. हृत्स्थानी असणाऱ्या या चक्रात प्राणवायूचे केंद्र आहे. हे पश्यंतिवाणीचे स्थान आहे. ती वाणी येथे व्यक्त होते. ***पद्मिनी, सदर्भा*** इ.बारा शक्तिदेवता येथे वसतात. *त्रैलोक्य, वित्कर* इ.बारा प्रकारचे आनंद या चक्रभेदनाने प्राप्त होतात. या चक्राची देवता महेश आहे. वर्ण धवल आहे. या चक्रजयाने ***समीपता मुक्ती*** प्राप्त होते, असे एक मत आहे.

तमोगुणाचे हे केंद्रस्थान आहे. याचे तत्त्व ***तेज*** आहे. ***कं, खं, गं, घं,*** इ.बारा वर्ण या चक्राची मंत्रबीजे आहेत. ***यं*** हे मूलबीज आहे. येथे शिव ***बाणलिंग*** या रूपात असतो. या चक्राशी संबंधित असे एक ***अष्टदल*** असणारे उपचक्र असते (सं.*The Serpent Power by John Woodroffe)*. त्यात ***कल्पतरू*** असतो. या चक्रास ***आनंदकंद*** म्हणतात. कोणी यासच ***हृत्कमळ वा हृदयकमळ*** असेही म्हणतात. तंत्रशास्त्रानुसार अनाहतचक्राचे तत्त्व ***वायू*** हे आहे. हे ***ॐकाराचे पीठ*** समजले जाते. या ठिकाणी ***जीवात्मा*** हंसकलेने स्थित असतो. मानसपूजेचे हे पीठ आहे. हे **बारा दल**ांचे असते.

विशुद्धिचक्र (कण्ठचक्र)

गोरक्षनाथ म्हणतात: ***"पञ्चमं कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिंगला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्ना ध्यायेत् सैवानाहतकला अनाहतसिद्धिर्भवति।।२-५।।सि.सि.प.।।"*** - पाचवे चक्र ***कण्ठचक्र*** वा ***विशुद्धिचक्र*** म्हणून ओळखले जाते. हे पाच अंगुळे व्याप्तीचे असते. बिंदुप्रमाणे वर्तुळाकार असणारे हे चक्र अत्यंत कांतिमान दिसते. त्याच्या डाव्या बाजूने जाणाऱ्या ***इडा*** व उजव्या बाजूने जणाऱ्या ***पिंगला*** नाड्यांमध्ये असणाऱ्या ***सुषुम्ना***

नाडीचे योग्यांनी ध्यान करावे. सुषुम्नेसच येथे ***अनाहतकला*** असे म्हणतात. तिच्या ध्यानाने ***अनाहतसिद्धी*** म्हणजे ***यथार्थज्ञान*** प्राप्त होते. (**टीप:अनाहत शब्दाचा अर्थ -** १) अनाहतचक्रास ते नांव पडण्याचे कारण काही जणांनी तेथे ***अनाहतनाद*** प्रकट होतो, असे दिले आहे.

२) अनाहताचा ***नादसंबंधित*** अर्थ घेऊन म्हणूनच काहीकाही जणांनी अनाहतकलेत म्हणजे सुषुम्नेत कुंडलिनी प्रवेशली की नादास प्रारंभ होतो, असे सांगितले असणे सहज शक्य आहे.

३) पण ***अनाहत*** या शब्दाचे इतरही यौगिक अर्थ संभवतात, असे आताच्या या *सि.सि.प.* मधील श्लोकावरून दिसून येईल. ***अनाहताचा अर्थ येथे यथार्थ ज्ञान असा दिला आहे. तसेच सुषुम्नेसच अनाहतकला असे म्हटले आहे. वास्तविक यथार्थ ज्ञानदात्री म्हणून तिला अनाहतकला हे नाम लाक्षणिक अर्थाने पडलेले आहे,*** असे या श्लोकावरून दिसते.

योगतारावलीवरील टीकाग्रंथांतही सुषुम्नाप्रवेशाबरोबर ***अनाहतनाद*** प्राप्त होतो, असे मत काहींनी मांडलेले असले, तरी ते मत असेच ***अनाहत*** या नामाचा वेगळा ***नाद*** हा अर्थ घेऊन आलेले असले पाहिजे.

विशुद्धिचक्रवर्णनातील सुषुम्नेचा ***अनाहतकला*** असा उल्लेख जो आहे. अनाहतचक्रात ***कुंडलिनी*** आल्यावर ***जीवात्म्यात परमात्मतत्त्वाची जाणीव जागृत होत असावी.*** या प्रकारचे ***यथार्थज्ञानप्राप्तिस्थल*** म्हणून त्या चक्राचे ***अनाहत*** हे नांव असणे शक्य आहे.

अर्थातच तेथे कुंडलिनी आली की अनाहतनाद निर्माण होतो, हे मत केवळ ***अनाहत*** या शब्दामुळे प्रमाण मानणे योग्य होणार नाही. शास्त्रकसोटीला हे मत उतरले पाहिजे आणि त्याच शास्त्रीय दृष्टीने ज्ञानेश्वर आणि श्रीशंकराचार्यांच्या ग्रंथांतरीच्या विधानांचा साक्षेप केला पाहिजे. या ***अनाहतनाद***प्राकट्याबाबत इतर माहितीचा विचार नंतर येणारच आहे.

तसेच अगदी श्रीशंकराचार्यांचे म्हणून जरी काही ग्रंथ असले, तरी ज्ञानेश्वरी आणि अशाच इतर प्राचीन ग्रंथांप्रमाणेच त्यांच्यात पाठलोप, पाठभेद, अपपाठ आणि जाणिवपूर्वक मिसळलेले प्रक्षिप्त पाठ शिरलेले असणे सहज शक्य आहे.

याला मुख्य कारण म्हणजे मध्यंतरीच्या सातआठशे वर्षांच्या काळातील असहिष्णू मुसलमानी सत्ता होत. त्यांनी येथील अनेकानेक धार्मिक स्थळे, देवदेवता मूर्ती, इ.तर नष्ट केल्याच पण अनेक ग्रंथांची होळी पण केल्याचे ऐतिहासिक सत्यच आहे. रोममधील लायब्ररीतील विशाल ग्रंथभांडारसुद्धा या आक्रमकांनी एके काळी सहा महिने पाणी तापवण्यासाठी जाळल्याची नोंद इतिहासात आहे. आजसुद्धा जगभर जेथे जेथे त्यांचे वर्चस्व आहे, तेथे तेथे तेच शतकृत्य ते धर्मांधपणे करतच आहेत. अगदी विसाव्या आणि एकविसाव्या शतकातही! अफगाणिस्थानमधील बुद्धमूर्तींचा तालीबानी विध्वंस हे एक ज्वलंत उदाहरण आजकालचेच ना!

याव्यतिरिक्त अन्य कारणे आहेतच. ग्रंथास कसर लागणे, नक्कल करतांना नक्कलकाराच्या अनवधानाने किंवा असामंजस्याने पाठात विकृति येणे अथवा अपपाठ वा प्रक्षिप्त पाठ शिरणे, वारशाने आलेल्या ग्रंथसंपदेचे योग्य मूल्य न जाणणाऱ्यांनी तिचा नाश करणे अशा काही गोष्टी वानगीदाखल सांगता येतात.

कालमानाने वेदांचासुद्धा अर्थ समजेनासा झाला. म्हणून निरुक्तकारांनी आपापल्या परीने त्यांचा अर्थ लावण्यासाठी ग्रंथ रचले. त्या काळजीपूर्वक जतन करून ठेवलेल्या वैदिक वाङ्मयात आणि इतर ग्रंथांतही काही अशीच पाठभेदार्दीची प्रक्रिया झाली असणे अशक्य नाही. त्यापुढे ज्ञानेश्वरी आणि आचार्यांचे ग्रंथ इ.मुस्लीम आक्रमकांच्या काळात कोणी किती दक्षतापूर्वक जपू शकले असतील, ते काय सांगावे!

अशा परिस्थितीत कोणत्यातरी स्वरूपात, अपपाठ असो, विकृत पाठ असो, ग्रंथ आपापल्या समजुतीप्रमाणे लावून घेण्यासाठी त्यात घुसडलेले विकृत पाठ वा प्रक्षिप्त पाठ असोत; काहीही असो, हे मौलिक वाङ्मय अद्यापपावेतो बाराशे तेराशे वर्षे तग धरून आहे, हेच कौतुकास्पद! पण हा वारसा जतन करणाऱ्या आपण त्यातील अपपाठ इ.ना शास्त्रीय बुद्धीने जोखून दुरुस्त करून घेणे ही काळाची गरज आहे. आणि प्रस्तुत ग्रंथात आपणसुद्धा आपल्यापरीने लहान प्रमाणावर तेच करत आहोत. असो.)

आता विशुद्धिचक्राची इतर माहिती अशी: हे चक्र सोळा दलांचे असते. त्यांवर ***अ, आ, इ, ई ..... ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ... अं व अ:*** असे **सोळा स्वर *(कण्ठस्थ बीजाक्षरे)*** असतात. कंठस्थानी असणाऱ्या या चक्रात ***उदान***वायूचे केंद्र असते.

मध्यमा वाणीचे हे स्थान आहे. मणिपूरात ***परेचे स्थान*** असते. अनाहतात ***पश्यंतीचे स्थान*** असते. वैखरीरूपाने मुखाद्वारे वाणी प्रकट होण्यापूर्वीची पायरी म्हणजे मध्यमा वाणी. ***वैखरी - पश्यंति-मध्यमा*** या वाणींद्वारे होणारा जप त्या त्या ठिकाणी होत असतो, असे मंत्रज्ञांचे मत आहे. हा जप उत्तरोत्तर जसजसा सूक्ष्म होत जातो, तसतसा ***वैखरी - मध्यमा - पश्यंति*** या मार्गाने परेपर्यंत पोहोचतो. **परावाणीने साधक जेव्हा जप करू शकतो, तेव्हा त्यास *अजपाजप* प्राप्त होतो. *अजपाजपसिद्धी प्राप्त झाल्याशिवाय मंत्रसिद्धी होत नाही, असे मंत्रशास्त्राचे गृहीतक आहे.***

या चक्राच्या ***सर्वतोभद्रा, प्राणधारिणी*** इ.सोळा मंत्रशक्ती आहेत. ***हुम्, फट्, स्वधा*** इ.चौदा प्रकारचे आनंद या चक्राची सिद्धी झाल्याने प्राप्त होतात. या चक्राची देवता ***जीवात्मा*** असून वर्ण ***धूम्र*** आहे. या चक्राच्या सिद्धीने ***सरूपता मुक्ती*** मिळते असे एक मत आहे. मूर्तिमंत घनतमाचे हे स्थान आहे. अर्थात ***सुषुप्ति*** अवस्थेचे हे द्योतक आहे. कोणी या चक्राचे तत्त्व ***तेज*** हे समजतात, तर कोणी हे ***वायु***तत्त्वाचे केंद्र आहे, असे मनतात. या चक्राचे ***हं*** हे तंत्रोक्त मूलबीज आहे. येथे ***अर्धनारीनर स्वरूपात सदाशिव*** असतात. ***तंत्रशास्त्राप्रमाणे येथे अमृत स्त्रवणाऱ्या चंद्रमंडलाचे स्थान आहे. शाकिनी*** ही या चक्राची तंत्रोक्त देवता आहे. स्वात्मज्ञान झालेले योगी येथे स्थित असतात. त्यांना ***त्रिकालज्ञानसिद्धी*** प्राप्त झालेली असते.

६) आज्ञाचक्र व भ्रूचक्र

गोरक्ष म्हणतात: ***"सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यमाङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत् वाचां सिद्धिर्भवति।।२-७।।सि.सि.प.।।"***

- गोरक्षनाथ हे सातवे चक्र आहे असे म्हणतात. त्यांच्या मते ***तालुचक्र*** म्हणून एक सहावे चक्र असते. ***शंखिनीविवर, घंटिकालिंग (पडजीभ), मूलरंध्र, राजदंत व दशमद्वार*** अशी स्थाने तालुचक्राशी संबंधित समजली जातात. यातून अमृतधारेचा प्रवाह स्रवून शरीरास जीवन देतो. जे योगी conventional सहा प्रमुख चक्रे मानतात, ते तालुचक्रास वेगळे चक्र समजत नाहीत. परंतु ***शंखिनीविवर, राजदंत, दशमद्वार*** या संज्ञा मात्र बहुतांश योगमार्गियांत प्रचुर आहेत.

कदाचित विशुद्धिचक्राच्या चंद्रमंडलातील अमृताशी या तालुचक्रातील अमृतधारेचे साम्य असल्याचे पाहून त्या चंद्रमंडलासच एक वेगळे चक्र मानलेले असावे. कसेही असले तरी चंद्रामृताच्या स्थानाबाबतही योगीमतांमध्ये एकवाक्यता दिसत नाही. असो. ***तालुचक्रात शून्याचे ध्यान करावे*** असे श्रीगोरक्ष म्हणतात.

(**टीप: दशमद्वार** -दशमद्वाराने अनेक योग्यांस ***ब्रह्मरंध्र*** अभिप्रेत असते, हेही लक्षात घेणे आवश्यक आहे. अर्थातच त्यांना दशमद्वार तालुचक्रात असते, हे म्हणणे मान्य होणारे नाही. या प्रकारे त्याच यौगिक संज्ञांचा वेगवेगळा वापर भिन्नभिन्न योगमार्गियांत केला जात असल्याचे सूचित होते.)

गोरक्षमते ***भ्रूचक्र वा आज्ञाचक्र*** हे अंगठ्याच्या मधल्या भागायेवढे असून त्यात दीपशिखेच्या आाकाराचा ***ज्ञाननेत्र वा तृतीयनेत्र*** असतो. त्याचे ध्यान केल्याने वाक्सिद्धी प्राप्त होते. ***आज्ञाचक्र*** हे सर्व चक्रात अति वैशिष्ट्यपूर्ण आहे. येथे ***त्रिवेणीसंगम*** होतो. म्हणजे ***इडा-पिंगला -सुषुम्ना*** या प्रमुख नाड्या एकत्र मिळतात. यापुढे इडापिंगला जात नाहीत. *सुषुम्नापथसुद्धा येथेच समाप्त होतो, असे काहींचे मत आहे. पण ते बरोबर नाही. तो पथ पुढे थेट ब्रह्मरंध्रापर्यंत जातो.*

ज्ञानेश्वरीतील चक्रे

आतापावेतो केलेल्या मुख्य अशा षट्चक्रविवेचनावरून स्पष्ट कळून येईल की या conventional षट्चक्रांबाबत योग्यात जर भिन्नभिन्न मते आहेत, तर आज्ञाचक्रापलीकडील अर्धमात्रेच्या प्रांताबाबत कोणतेही ठाम मत असणे शक्य नाही. या मतभिन्नतेची ज्ञानदेवांस जाणीव असावी असे वाटते. कारण त्यांनी ज्ञानेश्वरीत याबाबत सविस्तर अशी माहिती दिलेली नाही. परंतु सर्वमान्य वाटणाऱ्या तत्कालीन माहितीच्या अनुषंगानेच त्यांनी आपला पंथराजक्रम वर्णिला आहे.

मूळ म्हणजे ***"साही पदर फुटति। चक्राचे हें।।६-२४४।।"*** असे म्हणून त्यांनी अप्रत्यक्षपणे षट्चक्रकल्पनेला दुजोरा दिल्याचे वाटते. त्यातही मूलाधार ***("ऐसिं आधारिं मुद्रा पडे।।६-२००।।")***, स्वाधिष्ठान ***(स्वाधिष्ठानावरिचिलें कांठीं। नाभिस्थानातलौटीं।।६-२१०।।")***, मणिपूर ***("मणिपूरेंसिं झूंजैं। राहौनियां।।६-२१५।।")***, सुषुम्ना ***("मग सौम्य होउनि राहे। सुषुम्नेपासिं ।६-२४०।।")***, मूळबंध ***("मूलबंधाचे लक्षण। वज्रासन गौण नाम।।६-१९९।।")***, जालंधरबंध ***("तो जालंधरु म्हणिपे। पंडुकुमरां।।६-२०८।।")***, वोढियाणाबंध ***("नाभिस्थानातलौटीं। बंधु पडे तो किरीटी। वोढियाणा।।६-२१०।।")***, असे हे ***त्रिबंध*** इ.संज्ञांचे उल्लेख पंथराजवर्णन करतांना आलेले आहेत. ***चंद्रामृताचें तळे, शक्ती (६-२४७), मध्यमा व हृदयस्थान (६-२७१), हृदय व अनाहतनाद (हें असो तैं कुंडली। हृदयाआंतु आली। तंव अनाहताचि बोलिं।चावलैं तैं।।६-२७४।।"), ब्रह्मस्थान (६-२७९), पद, पिंड (६–२९१ व ३०८), नाथसंकेत (६-२९१), ककारांत (६-३०२), ब्रह्मरंध्र (६-३०५), परमात्मलिंग (६-३०५), भ्रूलता व मकाराचे आंग (६-३१३), महाशून्य (६-३१५), उन्मनी (६-३२०), तुर्या (६-३२०), चैतन्य (६-३२२)*** इ.अशा आणखी काही मोजक्या नाथपंथीय संज्ञांचाच बहुधा उपयोग करून त्यांनी आपले पंथराजवर्णन संपन्न केले आहे.

नाथसंकेत

उपरोक्त संज्ञांत कोणत्याही चक्राचा चक्र म्हणून उल्लेख नाही. नाथपंथीय ***सोळा आधार*** मानतात. त्यात ***मूलाधार*** एक आहे. ***षोडष आधार, तीन दृष्टी वा लक्ष्ये व नऊ चक्रे*** हे त्यांच्या योगसाधनेचे मूल आधार आहेत, असे गोरक्षमत आहे. पंथराजात तसा काही विशिष्ट खुलासा नाही. तरीही ***पंथराज हा नाथसंकेत आहे***, असे ज्ञानेशांनी म्हटले आहे. ते स्वत: नाथपंथीय असल्याने ***पंथराज*** वर्णितांना त्यांनी त्यांच्या योगप्रणालीप्रमाणे ते करावे अशी जरी अपेक्षा असली, तरी ती पूर्णांशाने सफल होत नाही, हे वरील विवेचनावरून स्पष्ट होते.

कदाचित पंथराजाचे साद्यंत सुस्पष्ट पूर्ण असे विवरण करण्याचा त्यांचा मानस नसावा. त्यांना केवळ ***नाथसंकेताचा दंशु*** च दाखवायचा असेल. म्हणून पंथराजाचे महत्त्वाचे टप्पे सांगून इतर अवांतर माहिती देण्याचे त्यांनी टाळले असावे. किंवा काही टीकाकार म्हणतात तसा नाथसंकेताचा नाथसंप्रदायाशी संबंध नसून श्रीकृष्णनाथांचा संकेत असाही त्याचा अर्थ अभिप्रेत असू शकेल. असो.

आज्ञाचक्राची आणखी काही वैशिष्ट्ये

आज्ञाचक्राची अजून काही वैशिष्ट्ये आहेत. याचे ***अग्निचक्र*** असेही नांव आहे. हे दोन दलांचे असते. ***हं*** व ***क्षं*** ही त्याची मंत्रबीजे होत. ते भ्रूमध्यात असून प्राणांचे केंद्र तेथे असते. ***महाकाली*** व ***महालक्ष्मी*** या तेथील मंत्रदेवता आहेत. या चक्राच्या भेदनाने ***निरानंद*** प्राप्त होतो. याची देवता ***आत्मा*** असून वर्ण शुभ्र स्फटिकवत आहे. या चक्रजयाने ***सायुज्यता मुक्ती*** प्राप्त होते, असे पण मत आहे.

येथे ॐकाराची ***अमात्रा*** *वा* ***अर्धमात्रा*** वसते. ***मूलाधार*** व ***स्वाधिष्ठानात अकार, मणिपूर व अनाहतात उकार आणि अनाहत व विशुद्धी यात मकार असे ॐकाराचे दर्शन समजले जाते.*** या चक्राचा ***शुद्धसत्त्व*** हा गुण आहे. ***तुर्यावस्था*** येथे प्राप्त होते. थोडक्यात हे चक्र ***शब्दब्रह्म*** व ***शून्यब्रह्म*** यातील संधिस्थानी आहे. तिन्ही प्रमुख नाड्यांचा येथे संगम होत असल्याने या स्थानास ***त्रिकुटी,**** ***मुक्ता त्रिवेणी, प्रयागक्षेत्र***, इ.नामे पण आहेत. याचे तत्त्व ***आकाश*** मानतात, तर काहींच्या मते ***मानस*** हे याचे तत्त्व आहे.

(*__टीप:__ अन्य यौगिक पद्धतीनुसार __त्रिकुटी__ हे स्थान __आज्ञाचक्रस्थ__ नसून सहस्त्रदलचक्रावरील __शून्य-महाशून्य-भ्रमरगुंफा__ या अवकाशाअगोदरचे स्थान होय.यास __ब्रह्म, ओम्, प्रणव, गगनब्रह्म,महत्, महाकश, दिव्य ग्रंथ(किताब),वेद__ इ.संज्ञाही आहेत. त्या त्या संज्ञांनी सूचित केली जाणारी या स्थलाची वैशिष्ट्ये आहेत, असे समजण्यास प्रत्यवाय नाही.)

__प्रणव__ हे या चक्राचे मूलबीज आहे. येथे जी दीपशिखेसमान __ज्योती__ असते, __तिच्या प्रकाशात मूलाधार ते ब्रह्मरंध्र हा मार्ग उजळून जातो.__ येथे __परमशिव__ व __हाकिनी शक्ती__ या तंत्रदेवता वसतात. येथे __इतरलिंग__ या रूपाने शिव असतो. या चक्रावर __मानसतत्त्व__ असते. स्वप्न व इंद्रियांचे शब्द-स्पर्शादी व्यापार जाणवण्यात मानसचक्राचाच भाग असतो. त्यांच्याही वर __सोमचक्र__ असते. कदाचित इतर योगी ज्यास __चंद्रामृताचे तळे__ वा __सतरावी कला__ म्हणतात, ते त्या सोमचक्रासच उद्देशून असावे. या पुढील आसमंतास __निरालंबपुरी__ असे म्हणतात.

आज्ञेच्या पुढील प्रांत

__आज्ञाचक्रावरील प्रांताचा काही योगी आज्ञाचक्रातच समावेश करतात आणि म्हणूनच असे एक यौगिक मत आहे की आज्ञाचक्राचा जय झाला की जीवन्मुक्ती वा सायुज्यता प्राप्ती होते.__ पण सैद्धांतिक दृष्ट्या इतर अनेक योगी आज्ञाचक्रावरील प्रांतास वेगळे मानून त्यास __अर्धमात्रेचा प्रांत__ असे म्हणतात. त्यामुळे आज्ञाचक्राचे वर्णन करतांना कोणी कोणता भाग लक्षित करून आपली माहिती सांगत आहे, त्याचा फार तारतम्याने विचार करावा लागतो.

जिज्ञासूंनी या प्रांताच्या व इतर चक्रांच्या सविस्तर तंत्रशास्त्रोक्त माहितीसाठी __सर जॉन वुड्रॉफ ऊर्फ आर्थर ॲव्हलॉन__ यांचा __द सर्पंट पॉवर__ हा ग्रंथराज जरूर पहावा. तसेच संदर्भग्रंथ यादीतील श्री.श्री.म.वैद्य यांचे __षट्चक्रदर्शन__ आणि इतरांची पुस्तकेसुद्धा आवर्जून पहावी. त्या सगळ्यांचा सखोल परामर्ष येथे घेतला जाऊ शकणार नाही. पण याही प्रांतातील चक्र-स्थानादी वैशिष्ट्यांबाबत ग्रंथग्रंथांतरी विभिन्न मते व संज्ञांचा वापर केला जातो, याची जिज्ञासूंनी नोंद घ्यावी. म्हणजे संदेहास वाव मिळणार नाही. त्या सर्व संज्ञा व वैशिष्ट्यपूर्ण माहितीचा अत्यंत साक्षेपी वृत्तीने आणि सतर्कतेने समाचार घ्यावा लागतो, एवढे सांगितले म्हणजे पुरे ! असो

निरालंबपुरी

आज्ञेवरील __निरालंबपुरी__ या भागात __ईश्वर__ वसतो. त्याच्याही पुढे __प्रणव, नाद, बिंदु, सुधासागर, मणिद्वीप, मणिपीठ__ या संज्ञांची स्थाने असतात. त्यापुढे __सहस्त्रारचक्र__ असते. सहस्त्र पाकळ्यांचे कमळ असावे, तसे हे चक्र दिसते. हेसुद्धा काहींच्या मते ब्रह्मांडाकडे कर्णिका असणारे तर काही योग्यांच्या मते त्याच्या उलट दिशेने कर्णिका असणारे असे असते.

काहींच्या मते अशी दोन कमले आहेत. ती __सहस्त्रार__ व __कोल्हाटचक्रे__ म्हणून ओळखली जातात. __कोल्हाट__ असंख्य दलांचे असते व ते ब्रह्मांडाकडे उत्फुल्ल असते. त्याची कर्णिका मस्तकाच्या दिशेने सहस्त्राराच्या ब्रह्मांडाकडे असणाऱ्या कर्णिकेशी संयुक्त असते, असे काही योग्यांचे अनुभवसिद्ध मत आहे. __सहस्त्राराच्या कर्णिकेतील एक बिंदुमात्र स्थान ब्रह्मरंध्र म्हणून असते.__ त्याबाबत गोरक्ष म्हणतात: __"अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रनिर्वाणचक्रं सूचिकाग्रवेध्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति।।२-८।।"सि.सि.प।।"__ - यास __ब्रह्मरंध्र, निर्वाणचक्र__ अशा संज्ञा आहेत. सुईच्या अग्राएवढे सूक्ष्म व तीक्ष्ण असे हे आकाराने आहे. यात धूमशिखेच्या आकाराने __शिव__ वसतो. त्याठायी __जालंधर__नामक पीठ आहे. त्या जालंधरस्थ शिवाच्या ध्यानाने मोक्ष प्राप्त होतो.

आकाशचक्र

यानंतर __आकाशचक्र__ असते. गोरक्ष म्हणतात: __"नवमाकाशचक्रं षोडषदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णागिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिर्भवति।।२-९।।सि.सि.प.।।"__ - येथेच __पूर्णागिरीपीठ__ असते. परमशून्य निराकार - ऊर्ध्वमुख षोडषदल कमलाप्रमाणे हे भासते. त्याच्या कर्णिकेत __त्रिकूटाकार__ जागेत __ऊर्ध्वशक्ती कुंडलिनी__ असते. त्या पीठासनस्थ शक्तीचे ध्यान करावे. म्हणजे सर्व इच्छा पूर्ण होतात.

इतर उल्लेख

__दिव्यामृतधारा__ कर्ते श्री.*बाबामहाराज आर्वीकर* नाथपंथीय साधनाक्रमानुसार नऊ चक्रे असल्याचे आवर्जून सांगतात. गोरक्षनाथांच्या __सिद्धसिद्धांतपद्धति__ नुसार त्या नऊ चक्रांचे वर्णन आपण पाहिले. तसेच ज्ञानेश्वरीत त्यांबाबत कोणतेही स्पष्ट उल्लेख नसल्याचेही पाहिले. त्याशिवाय त्याचबरोबर ***The Serpent Power***कर्त्या *सर जॉन वुड्रॉफ* यांच्या मताचाही थोडाफार परामर्ष तंत्रशास्त्रातील चक्रकल्पना पाहतांना आपण घेतला आहे. *श्री स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज* __शक्तिपातसंप्रदाय__ाचे एक अध्वर्यू म्हणून ओळखले जातात. जाताजाता त्यांनी दिलेला चक्रक्रम सहज नजरेखाली घालून हा चक्रविषय संपवू या.

__पूर्वमार्ग::::__

पू. विष्णुतीर्थांचा चक्रविचार

संपूर्ण योगपथ बहुमते मूलाधार ते सहस्त्रार - ब्रह्मरंध्र असा आहे. त्याच्या मूलाधार ते आज्ञाचक्र या सुषुम्नापथास बहुमते __पूर्वमार्ग__ *वा* __पूर्वपथ__ *अशी संज्ञा आहे. आज्ञाचक्रापुढील मार्ग* __पश्चिमपथ__ *म्हणून ओळखला जातो.*

आपल्या ***Devatma Shakti*** या ग्रंथात त्यांनी योगिदेह व त्यातील चक्रे व योगपथ दाखविला आहे *(पृ.क्र.१६ तत्रैव)*. तेथे त्यांनी __कंद, त्या स्थानी स्वयंभूलिंग, त्या लिंगास साडेतीन वेटोळी घालून बसलेली कुंडलिनी शक्ती, मूलाधार, योनिस्थान, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा__ अशी चक्रे सुषुम्नापथावर दाखवली आहेत. म्हणजे __मूलाधार ते आज्ञा__ *अशी* __षट्चक्रे__ त्यांना अभिप्रेत आहेत. त्याव्यतिरिक्त वेगळे __हृदयचक्र__ही त्यांनी अनाहतचक्राजवळ दाखविले आहे. पण ते सुषुम्नापथाला विशुद्धिचक्र ते आज्ञाचक्र या मार्गात एका वेगळ्या नाडीद्वारे जोडले आहे.

आज्ञाचक्रावरील प्रांत

आज्ञाचक्रावरील प्रांत प.पू.विष्णुतीर्थजी असा दाखवतात: ***आज्ञा -➢ बिंदु - ➢अर्धेंदु -➢निरोधिका -➢नाद -➢नादांत -➢शक्ति -➢व्यापिका -➢समनी -➢ उन्मनी -➢प्रतिष्ठा -➢गुह्यचक्र -➢ सहस्रार चक्र.*** असो.

सौंदर्यलहरीतील चक्रक्रम

श्रीमदाद्यशंकराचार्य यांनी ***सौंदर्यलहरी*** या आपल्या प्रकरणग्रंथामध्येसुद्धा सुषुम्नापथावरील केवळ षट्चक्रांचाच उल्लेख केला आहे. त्यासाठी त्यातील काही श्लोकांचे उद्धरण पाहू या:

सुधासिन्धोऽर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाऽऽकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्क निलयां
भजन्ति त्वां धन्या: कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।८।।
महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि।।९।।
सुधाधाराऽऽसारैश्चरणयुगुलान्तविगलितै:
प्रपंञ्चं सिञ्चन्ति पुनरपि रसाम्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।।१०।।सौ.।।

"सुधासमुद्रामध्ये कल्पवृक्षांच्या ज्यात बागा आहेत अशा मणिद्वीपात नीपवृक्षांच्या उपवनात चिंतामणींच्या रचलेल्या गृहात त्रिकोणाकृती मंचावर परमशिवाच्या पलंगावर पहुडलेल्या तुझ्या चिदानंदलहरीस्वरूपाचे ध्यान कोणी तरी एखादाच भाग्यवान पुरुष करतो. पृथ्वीतत्त्वाचा मूलाधारात, जलाचाही तेथेच, स्वाधिष्ठानातील अग्नितत्त्वाचा मणिपूरात, हृदयात वायूचा आणि त्यावरील स्थानात आकाशाचा आणि मनाचा भ्रूमध्यचक्रात - अशा प्रकारे सकल कुलपथाचा - शक्तिमार्गाचा - वेध करून तू सहस्रारकमलात आपल्या पतीसह एकांत करतेस *(८ व ९ ।।सौं।।)*."

(**टीप**: या श्लोकांचा वेगवेगळा अर्थ समायाचारी व कौलाचारी सांप्रदायिक लावतात, असे सौंदर्यलहरीवरील स्वामी श्रीविष्णुतीर्थांचे लिखाण वाचून वाटते.)

"तदनंतर आपल्या चरणयुगुलांमधून स्त्रवणाऱ्या अमृतधारांचा वर्षाव करत, प्रपंचास जीवन देत, षट्चक्रांवर अमृतसिंचन करत तू आपल्या स्थानी उतरून येतेस आणि सर्पिणीसारखी साडेतीन वेटोळी घालून, हे कुहरात राहणाऱ्या कुंडलिनी देवी! तू कुलकुंडात *(अर्थात कंदस्थानी)* झोपून जातेस.(!) *।।१०।।सौं।।*"

पूर्वमार्गाचे समन्वयन

या उताऱ्यावरून श्रीशंकराचार्यांचे मत षट्चक्रे कोणती आहेत, ते समजून घेण्यास उपयुक्त ठरेल असे वाटते. ***सौंदर्यलहरी*** *(श्लोक क्र. ३६ ते ४१)* मध्ये त्यांनी जगदंबा कुंडलिनीची मूर्ती वर्णितांना तिच्या शरीरातील ***आज्ञाचक्र, विशुद्धि, संवित्कमल, स्वाधिष्ठान, मणिपूर व मूलाधार*** अशा सहा चक्रांचा याच क्रमाने उल्लेख केला आहे, हे विशेष आहे. *स्वामी विष्णुतीर्थ* यांच्या मते यातील ***संवित्कमल म्हणजे स्थूल हृत्स्थानिचे अनाहतचक्र नसून दुसरे चक्र आहे. ते अष्टदलांचे असून हृदयात वसते. हे स्थान हृत् नामक मांसपिंडाचे नसून आध्यात्मिक हृदय ज्याला म्हणतात, ते आहे. त्यात हंसांच्या युगुलाच्या रूपाने हं व स: असे हंसोपनिषदात सांगितलेले पुरुष व प्रकृतिचे युगूल वसते. रमणमहर्षि*** विरचित ***रमणगीतेत*** पण असेच म्हटले आहे *(सौं.श्लोक क्र.३८, तत्रैव)*.

या सर्व परिशीलनावरून एक गोष्ट आपल्या प्रामुख्याने ध्यानी येते. ती म्हणजे योगपथाची सर्वमान्य मूळ संकल्पना तीच आहे. सुषुम्नापथाचा निर्देश कोणी एका प्रकारे, तर कोणी दुसऱ्या प्रकारे करत असले, तरी स्वामी विष्णुतीर्थांनी दर्शविलेला चक्रक्रम व सुषुम्नास्थिती शांकरमताचे अवलोकन करता मान्य करावयास जिज्ञासूंच्या दृष्टीने फारसा प्रत्यवाय नसावा. असो.

पूर्व व पश्चिम पथ

आतापावेतो जो षट्चक्रविचार केला, तो योगशास्त्राप्रमाणे प्रामुख्याने ***पूर्व***मार्गाचा ठरतो. नाभिस्थानास ***पूर्व*** म्हणतात आणि ***मूलाधार ते आज्ञाचक्र*** हा पथ ***पूर्वपथ*** म्हणून ओळखला जातो.

आज्ञाचक्रावरील ब्रह्मरंध्राकडील भाग ***पश्चिम*** म्हणून योग्यात मान्य आहे. या भागातील ***बिंदुपासून व्यापिनीपर्यंतची स्थाने पश्चिममार्ग म्हणून समजली जातात.***

याही भागात ज्ञानेशांच्या योगपरिभाषेतील काही चक्रे असल्याचे जाणकारांचे मत आहे. ***१) त्रिकूट (मुखस्थानी), २) गोल्हाट (चक्षुस्थानी), ३) श्रीहट (रसनास्थानी), ४) औटपीठ (भ्रूमध्यस्थानी), ५) भ्रमरगुंफा (श्रोत्रस्थानी) आणि ६) ब्रह्मरंध्र (मूर्ध्निस्थानी)*** अशी ही चक्रे असतात, असे काहींचे मत आहे. त्याबाबत अधिक विचार पुढे करता येईल.

यांबाबत काही विशिष्ट मतप्रदर्शन *डॉ.बा.त्र्यं.शाळिग्राम* यांच्या ***श्रीज्ञानेश्वरांचा पंथराज*** या ग्रंथात आढळते. त्यांच्या मते ***पंथराज*** हा पश्चिममार्गी आहे. ***पूर्वमार्ग म्हणजे मूलाधार ते आज्ञाचक्र आणि पश्चिम मार्ग म्हणजे त्रिकूटादी वर निर्देशिलेली षट्चक्रे होत.*** पंथराजात पूर्वमार्गियांना क्रमावी लागणारी षट्चक्रे नाहीत, असे त्यांचे मत आहे. *(पृ. क्र.१४ ते १७ आणि ४१४ ते ४१८-तत्रैव)*. त्यांच्या ग्रंथात अनेक मतांचा विचार व निर्देश केलेला आहे. त्यातील फरकांची कारणेसुद्धा त्यांनी विशद केली आहेत. जिज्ञासूंनी तो ग्रंथ जरूर वाचून आपली याविषयीची मते ठरवावीत असे सांगता येईल.

श्री.के.रा.जोशी त्यांच्या ***शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात सिद्धमहायोगशास्त्र*** यात असे दर्शवतात की ***शरीरातील पुढील भागातून गुह्यस्थान, बेंबी, हृदय, कंठ व नाक यांच्याद्वाराने जो प्राणाचा प्रवाह चालू असतो, त्याला पूर्वमार्ग असे म्हणतात*** आणि ***शरीरात मूलाधारातून निघून सहस्रारापर्यंत पाठीमागून जी नाडी जाते, तिला सुषुम्णा म्हणतात. हिलाच पश्चिममार्ग असे म्हटले जाते*** *(पृ.क्र.३३२तत्रैव)*.

श्री.शाळिग्राम यांच्या मते ***ज्ञानेश्वर हे पश्चिममार्गी होते*** *(पृ.क्र.४२२-तत्रैव).* पंथराज हा पश्चिममार्गी आहे.

पूर्वमार्ग (मूलाधार ते आज्ञा)हा हठयोग्यांचा आहे, असेही काहींचे मत आहे. आपणास ही मते जशीच्या तशी मान्य करणे अवघड वाटणार आहे. ***हठयोग म्हणजे ह व ठ म्हणजे सूर्य-चंद्र या नाड्यांवर आधारित योग म्हणजे इडा-पिंगला- प्राणायाम - प्राणलय साधणारा योग*** असा मर्यादित अर्थ घेणे आपणास योग्य वाटत नाही.

स्वात्माराम योगींद्र यांच्या ***हठयोगप्रदीपिके***चा दाखला घेतला तर असे दिसते की: ***"... मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णो: परमं पदम्।।१००।। ह.यो.प्र.।।"*** *- अशा लयाचा - नादानुसंधानाचा -विष्णुपदप्राप्तीचा मार्ग या हठयोगांतर्गतच आहे.* ***"... उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।।१०४।।ह.यो.प्र.।।" - "... निरञ्जने विलीयते निश्चितं चित्रमारुतौ।।१०५।।ह.यो.प्र.।।"*** *- अशी उन्मनीप्राप्तीची, मन व प्राणाचे निरंजनात विलीन होण्याची;* ***"न विजानाति शीतोष्णं न दु:खं न सुखं तथा। न मानं नापमानं च योगी युक्त: समाधिना।।११३।।ह.यो.प्र.।।"*** *- अशी गीतोक्त योग्यासदृश समाधिस्थित योग्याच्या लक्षणांची;* ***"राजयोग: समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी। अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्।। अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्। जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचका:।।३-४।।चतुर्थोपदेश।।ह.यो.प्र.।।"*** *- अशी* ***राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, तत्त्व, लय, शून्य, अशून्य, परंपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ती, सहजा, तुर्या*** *हे सर्व समानार्थक समाधिवाचक एकार्थाचे शब्द असण्याची;* ***"सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगत:। तथात्ममनसौरैक्यं समाधिरभिधियते। यदा संक्षीयते प्राणो मानस च प्रलीयते। तदा समरसत्वं समाधिरभिधियते।। तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनो:। प्रनष्टसंर्वसङ्कल्प: समाधि सोऽभिधियते।।५,६ व ७।। चतुर्थो.।।ह.यो.प्र.।।"*** *- अशी समाधीची ज्ञानेशसदृश व्याख्या - पाण्यात मीठ साम्य पावते तसे आत्मा व मन यांचे ऐक्य होणे, प्राण क्षीण होणे, मन चेतनारहित होणे व त्यांचे समरसत्व होणे; जीवात्मा व परमात्मा यांचे ऐक्य होणे, मनाचे सर्व संकल्प जेव्हा नष्ट होतात, तेव्हा समाधिप्राप्ती होण्याची* -अशी अनेकानेक विधाने ***हठयोगप्रदीपिके***त आहेत. म्हणजे ***हठयोग हा मूलाधार ते ब्रह्मरंध्र अशा पथक्रमणाचा पूर्ण योगच आहे.***

योगतारावलीतील शांकरयोगाशी आणि तदनुषंगाने पंथराजाशीही मिळताजुळता असा हठयोग आहे. ज्ञानेशांनी गुरुकृपेव्यतिरिक्त समाधी साधण्याचा प्रयत्न करणाऱ्यांस उद्देशून ***"हठियें सांडिति होडां। कडेलग (६-१६)"*** असे विधान केले आहे. या विधानाचा अर्थ संपूर्ण हठयोगास निम्नप्रतीचा ठरवण्यासाठी करणे योग्य होणार नाही. केवळ आपलीच योगप्रणाली सर्वश्रेष्ठ आहे, असा आग्रह योगसाधकांनी धरू नये, हे उत्तम!

ज्ञानेशही तसे करत नाहीत, हे तर विशेष उल्लेखनीय आहे! तेराव्या अध्यायात ***क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार*** करतांना ज्ञानेश निरनिराळ्या तत्त्वज्ञानांचा, भिन्नभिन्न पारमार्थिक संज्ञांचा समन्वय करतात, असे आपण पाहिले आहे. *पंथराज व आपली योगप्रणाली* सांगतांनासुद्धा त्यांच्या विवेकी मनाने असेच केले असण्याची दाट शक्यता आहे. त्यांचे योगशास्त्र द्वैताद्वैतास कवेत घेऊन पुढे जाणारे असल्याने ***पातञ्जलयोग, हठयोग, भक्तियोग, साङ्ख्ययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग*** इ.अनेक प्रमुख योगधारांचा त्यांनी समन्वय साधत ज्ञानेश्वरीतील ***पंथराज*** सिद्ध केला आहे. त्या सर्वांचे - त्या समन्वयकौशल्याचे - महादर्शन आपण अठराव्या अध्यायातील ***क्रमयोगसोपान*** निरीक्षितांना घेणारच आहोत. तूर्त ***पूर्वमार्ग व पश्चिममार्ग*** कोणते एवढे जाणून घेणे योग्य ठरेल.

ज्ञानेशांचा पंथराज पूर्वमार्ग व पश्चिममार्ग या दोहोंवर आधारित आहे. **याचा स्पष्ट पुरावा** ***"निगिजैं पूर्विलियां मोहरां। किं येईजे पश्चिमेचियां घरां। निश्चलपणे धनुर्द्धरां। चालणें एथिंचें।।६-११९।।"*** **ही ओवी देते.** पूर्वमार्गाने निघून पश्चिमेच्या घरात येऊन पोहोचावे, असा हा मार्गक्रम आहे. ***मूलाधार ते आज्ञाचक्र असा पूर्वमार्ग क्रमावा व नंतर पश्चिमेचे घर म्हणजे ब्रह्मरंध्र तेथे पोहोचावे,*** असा याचा अर्थ होतो. पंथराजविवरणास आरंभ करतांना दिलेल्या ओव्या व ही ओवी वाचणाऱ्या आपणास म्हणूनच पूर्व व पश्चिम यात मार्ग-अमार्ग असे काहीच दिसत नसल्यास नवल नाही! असो.

पश्चिमपथ::::

आज्ञाचक्रापुढील दोन मार्ग

आता पश्चिमपथावरील स्थानांचे थोडे माहात्म्य पाहू या: स्वामी विष्णुतीर्थ महाराजांनी पश्चिमपथावरील स्थाने ***बिंदु ते सहस्रारचक्र*** अशी दिली आहेत. डॉ. शाळिग्राम म्हणतात की ***औटपीठ - गोल्हाट, ब्रह्मरंध्रादी स्थाने*** ही पश्चिमपथावर आहेत.

पं. गोपीनाथ कविराज यांचे मत

पं. गोपीनाथ कविराज यांच्या मतानुसार आज्ञाचक्रापासून दोन मार्ग होतात. ***१) सहस्रदलात जाण्याचा व २) ब्रह्मरंध्राकडे जाण्याचा*** *(पृ. क्र.१९५ - शक्तीका जागरण और कुंडलिनी - म.म.प. गोपीनाथ कविराज).* *श्री. बाबामहाराज आर्वीकर* यांचे पण विशुद्धचक्रापासून दोन मार्ग होतात असे मत असल्याचे त्यांच्या दिव्यामृतधारा या ग्रंथामधून दिसून येते *(पृ.क्र.२६७-२६८प्रगतदर्शन तत्रैव).*

बिंदू

श्री.गोपीनाथ कविराज ***बिंदू*** पण दोन असल्याचे सांगतात *(पृ.क्र.५५ व ५६ तत्रैव).* एक म्हणजे ***अध:बिंदु*** जेथे **कंदस्थ सुप्ता कुंडलिनी** वसते तो. **सुप्ता कुंडलिनीस ते अध:बिंदू असेही नांव देतात. दुसरा बिंदु ब्रह्मांडात असतो - म्हणजे आज्ञाचक्र ते ब्रह्मरंध्र या आसमंतात असतो.** ***मूलकंद ते आज्ञाचक्र*** हा भाग ***पिंड*** असून त्यातील **अध:बिंदूस उत्क्रांत करून ब्रह्मांडातील ऊर्ध्वबिंदूशी त्याचे मिलन करून देणे,** ही **कुंडलिनीयोगांतर्गत प्रक्रिया** असल्याचे ते म्हणतात.

ॐकाराच्या साडेतीन मात्रांपैकी अकार, उकार व मकार या तीन मात्रा मूलाधार ते आज्ञा अशा पिंडस्थ असून उर्वरित अर्धमात्रा वा अमात्रा ब्रह्मांड व्यापते- म्हणजे आज्ञाचक्र ते ब्रह्मरंध्र या आसमंतात असते, असे त्यांचे मत आहे. ते योगिजनांस मान्यच आहे.

या अमात्रेचे अंश त्यांच्या मते पुढीलप्रमाणे आहेत. *आज्ञाचक्रापासून किंचित ऊर्ध्वभागी* ***बिंदु,*** *बिंदुच्या किंचित वर* ***अर्धबिंदु*** *वा* ***अर्धचंद्र*** *वा ज्यास स्वामी विष्णुतीर्थ* ***अर्धेंदु*** *म्हणतात, तो असतो. त्यानंतर वरवर जात असता क्रमशः* ***रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिका, समना व उन्मना*** *असून तदनंतर* ***महाबिंदू*** *असतो.* ***महाबिंदू हेच परमस्थान असून हे निष्कल असते.***

ते पुढे असेही म्हणतात की या सूक्ष्म मार्गावर प्रथम स्थान बिंदुचे असते. ललाटावर हा दीपाच्या आकाराने प्रतिभासित होतो. याला ***अर्धमात्रा*** पण म्हणतात. कारण ऱ्हस्व स्वरांच्या उच्चारणाच्या कालापेक्षा (एका मात्रेऐवजी) येथील उच्चारणकाल अर्धा असतो. या बिंदुचा प्रकाश दीपवत असूनही ***वृत्ताकार*** असतो. हा प्रकाश कोटिसूर्यसमप्रभ असा असतो. या बिंदुच्या केंद्रात म्हणजे कर्णिकेत ***शान्त्यातीत ईश्वर*** वसतो. त्याच्या चोहो बाजूंस ***निवृत्त्यादी चार कला*** विद्यमान असतात. त्यांच्या वामांगी स्वत:ची ***निजाशक्ती*** असते.

अर्धेंदु व रोधिनी

बिंदुपश्चात ***अर्धचंद्रस्थान*** असते. याचा उच्चारणकाल १/४ मात्रा असतो. ***अर्धचंद्रावर ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, आदिशक्तिसमन्वित रोधिनीचे स्थान असते.*** रोधिनीस ***रुंधिनी*** असेही नांव आहे. काही जण तिला चुकून ***बोधिनी*** असेही म्हणतात. पण ***रोधिनी*** हेच नाव सयुक्तिक आहे. कारण येथे ***रूपनिरोध*** होतो. ब्रह्मादी ईश्वर किंवा सिद्धवर्गांना परमतत्त्वापर्यंत पोहोचण्यास गतिरोध करणारे हे स्थान असल्यानेही त्यास ***रोधिनी*** असे नाम आहे. हेच कार्य करण्यासाठी ज्योत्स्नादी कला येथे प्रतिष्ठित असतात.

नाद, शक्ति वा व्यापिका,

रोधिनीनंतर ***नाद*** येतो. याचा आकार दोन बिंदुतील सरळ रेषेप्रमाणे असतो. नादानंतर ***नादांत*** हे स्थान असून त्यानंतर ***शक्ती*** हे स्थान आहे. ही ***शक्ती*** सर्व ब्रह्मांडभुवनाचा आधार आहे. हिच्या चारी बाजूंस ***सुसूक्ष्मा, सूक्ष्मता, अमृता व मृता*** या चार धारा असतात. हीच ***व्यापिनी वा व्यापिका*** म्हणून ओळखली जाते. व्यापिका बिंदुयुक्त त्रिकोणाच्या आकाराने प्रकाशमान असते.

समना व उन्मना

यानंतर ***उन्मना*** असते. शक्ती इ.चे स्वरूप द्वादश सूर्यांप्रमाणे प्रकाशमय असते. यानंतर असते ***मनोन्मनी*** आणि त्यानंतर ***उन्मनी.*** हा क्रम देतांन पं.कविराजजी चुकलेले वाटतात. कारण यापूर्वी एका ठिकाणी ते ***व्यापिका - समना - उन्मना - महाबिंदु*** असा हा क्रम देतात. मनोन्मनाऐवजी येथे समना असली पाहिजे. असो.

सकल, निष्कल, परमानंद *पराशिव*

उन्मनी च्या ऊर्ध्वस्थ भागी **हकार**पासून आरंभ करून ***सकल, निष्कल आणि केवल निष्कल*** या तिन्ही अवस्थांच्याही ऊर्ध्वभागी देश व काल यांनी अनवच्छिन्न अशी परम रमणीय स्थिती असते. स्वभावत: सुंदर आणि परमानंदस्वरूप असे हे स्थान असते. ***त्या ठिकाणी परा व शिव यांचे सामरस्यात्मक परमानंदस्वरूप असते.***

पं.गोपीनाथांच्या मताचे महत्त्व

पं.गोपीनाथ कविराज यांचे हे तंत्रशास्त्राधारित मत उद्धृत करण्याचे एक प्रमुख कारण असे की त्यातील अनवधानाने आलेली काही तादृश विसंगती जर सोडली तर एकूणच त्यांनी केलेले हे पश्चिममार्गाचे समालोचन या विषयाचे अंतरंग समजून घेण्यास साहाय्यकारक ठरते.

चक्र व पद्म

त्यांनी असेही एक विधान केले आहे की जेव्हा कुंडलिनी ***सुप्तावस्थेत*** असते तेव्हा शक्तिस्थानांना ***चक्र*** असे म्हणतात. म्हणजे सूक्ष्म नाडिचक्रे ती हीच असावीत. आणि जेव्हा कुंडलिनी जागृत होऊन त्यांचा भेद करण्यासाठी सिद्ध होते, तेव्हा ती ***पद्म*** वा **कमळे** म्हणून ओळखली जातात *(पृ.क्र.१९३ तत्रैव).*

नाद, बिंदु, कला व ज्योती

एकदा चक्रभेद झाला की त्या त्या कमलातील मातृका - वर्ण - मंत्रबीजे - तत्त्व इ.चा कुंडलिनीत समावेश होतो. **मातृकांना कला म्हणतात.** त्याव्यतिरिक्त **प्रत्येक चक्रात नाद व बिंदु असे दोन अंश असतात.** म्हणजे **नाद, बिंदु व कला** असे प्रत्येक चक्राचे तीन अंश असतात *(पृ.क्र.१९४, शक्तिका जागरण और कुंडलिनी - पं. गोपीनाथ कविराज).* आणि **ज्योती म्हणजे स्वत: कुंडलिनीच असते. तिचा अंश प्रत्येक चक्राठायी विद्यमान असतो.** ज्ञानदेवांच्या ***"नेणें नादबिंदुकला ज्योति ।।६-२८८।।"*** या पंथराजाच्या ओवीत अडखळणाऱ्यांस या माहितीचा उपयोग जरूर होईल. असो.

डॉ. के.रा.जोशी यांचे मत

स्वामी विष्णुतीर्थमहाराज, म.म.प.गोपीनाथजी आणि डॉ.शाळिग्राम यांनी पश्चिममार्गाबाबत मांडलेल्या मतांचा परामर्ष घेऊन झाल्यावर त्यांचा समन्वय साधण्यासाठी *डॉ. के.रा. जोशी* यांनी आपल्या ***ज्ञानेश्वरी - सिद्धयोगदर्शन*** या ग्रंथात प्रकट केलेले मत उल्लेखनीय आहे.

बैन्दवादी स्थाने आणि गोल्हाटादींचा समन्वय

त्यांच्या मते ***"जैं आकाराचां प्रांतु। जैं मोक्षाचां एकांतु। जेथ आदि आणि अंतु। विरौनि गेलैं।।६-३२२।।"*** या ओवीत ज्ञानेश्वर पश्चिमपथाचा निर्देश करत आहेत.

हा पश्चिम मार्ग आक्रमतांना *त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्हाट, औटपीठ व भ्रमरगुंफा* या चक्रांना ओलांडून साधक ब्रह्मरंध्रात जातो. डॉ. जोशींच्या मते या स्थानांचेच वर्णन *बिंदु, अर्धेंदु किंवा अर्धचंद्रिका, निरोधिका, नाद, महानाद अथवा नादांत, शक्ति, व्यापिका, समनी व उन्मनी* या नांवांनी शास्त्रकारांनी केले आहे. परंतु यातील कोणत्या चक्रास काय शास्त्रनाम आहे, ते डॉ.जोशींनी विशद केलेले दिसून येत नाही *(पृ.क्र.१७१, १७२ तत्रैव).* पण त्यापुढील पृष्ठांवर *(पृ.क्र.१७४,१७५)* गुलाबरावमहाराजांच्या ***योगरहस्य*** या ग्रंथातील उद्धरण आहे. त्यात *डॉ.शाळिग्राम* यांच्या मतास दुजोरा मिळतो. डॉ. शाळिग्राम यांच्या प्रबंधातील पश्चिममार्गातील या गोल्हाटादी चक्रांच्या प्रतिपादनासंबंधात ***डॉ.वि.स. वाळिंबे*** यांनी ज्ञानेश्वरीतही

त्रिकूट - गोल्हाटादी चक्रांचा उल्लेख दूरान्वयानेही आढळत नाही, असे आपले मत त्याच ग्रंथाच्या प्रस्तावनेत नोंदविले आहे *(प्रस्तावना - डॉ.शाळीग्राम यांच्या "श्रीज्ञानेश्वरांचा पंथराज या ग्रंथाची).*

पश्चिम मार्गातील स्थानवैशिष्टये

त्रिकुटादी या चक्रांचे उल्लेख येतात, ते विशेषेकरून ज्ञानेशांच्या योगपर अभंगांतून, काही संतांच्या रचनांतून आणि विशिष्ट योगमार्गियांच्या साहित्यातून. पंथराज व ज्ञानेश्वरीतील योगविषयक ओव्यांत पश्चिमपथावरील श्रीहाटादी चक्रांची ही नांवे नसल्याने त्यांचा विषय तूर्त सोडून देऊ आणि तंत्रशास्त्रमताचीच म्हणजे बिंदु, इ.संज्ञा असणाऱ्या पश्चिममार्गी स्थानांची काही वैशिष्ट्ये समाजावून घेऊ. *डॉ.के.रा.जोशी* यांच्या ***अमृतबिन्दूपनिषद*** आणि ***योगतारावली*** यांवरील विवरणात्मक ग्रंथांचा, *डॉ.म.म.प.गोपीनाथ कविराज* यांच्या साहित्याचा व सर जॉन वुड्रॉफ व इतर लेखकांच्या योगपर माहितीचा व काही प्रमाणात स्वानुभवाचा आधार घेऊन काही माहिती व विवेचन याबाबत देत आहे.

बिंदु, नाद व कला

मकार ही ॐकाराची तृतीय मात्रा आज्ञाचक्री असते. हे चक्र भेदणे अत्यंत अवघड आहे. यातील मुंगीतुल्य छिद्रातून सुषुम्ना पुढे जाते. आज्ञाचक्रापर्यंत जागृति - स्वप्न - सुषुप्ति हे त्रयभाव असतात. पुढे प्रणवाची चतुर्थ मात्रा असते. तिचा भाव ***तुरीय व तुरीयातीत*** असा असतो. आज्ञाचक्र भेदून ***तुरीय अवस्था*** प्राप्त होते. पुढील पथक्रमणाने अंती ***तुरीयातीत अवस्था*** प्राप्त होते.

प्रणवाची चतुर्थ मात्रा ***बिंदू*** आहे. या अर्धमात्रेत ***बिंदु, नाद व कला*** असे तीन विभाग असतात. बिंदुच्या विभागात तीन, नादाच्या विभागात दोन व कलेच्या विभागात इतर सर्व प्रविभाग असतात. बिंदुपासून समनेपर्यंतचा भाग वस्तुतः ॐकाराची अर्धमात्रा असली, तरी बिंदुसच अर्धमात्रा म्हणतात. त्यापुढील भागात पूर्वीच्या भागाच्या अर्धी मात्रा असते.

जशी बिंदूत अर्धमात्रा असते तर अर्धेदूत १/४ मात्रा असते. याप्रमाणे समनीत १/२५६ मात्रा असते. उन्मनीत १/५२८ किंवा *Limit tends to Zero* असा हा जो कॅल्क्युलसमधील *concept* आहे, त्याप्रमाणे शून्य मात्रा असते. भारतीयांचे तत्त्वज्ञान व योगविज्ञान आधुनिक गणिताच्या साहाय्याने कसे छान समजावता येते, ते या उदाहरणावरून स्पष्ट व्हावे. असो.

मात्रा व महाशून्य

आता या मात्रा कशाच्या आहेत, याचे वर्णशास्त्रीय उत्तर म्हणजे *एका ह्रस्व स्वराच्या उच्चारणाचा काल* म्हणजे ***मात्रा*** असे जरी ग्रंथकार देत असले, तरी अधिक विचारांती खरे योगशास्त्रीय उत्तर त्या मनाच्या मात्रा आहेत असेच असले पाहिजे. जागृत - स्वप्न - सुषुप्ति या प्रत्येक अवस्थेत मन हे एका मात्रेचे म्हणजे पूर्णांशाने असते. सुषुप्ति अवस्थेत मन फक्त *hibernating* अशा अवस्थेत असले, तरी शून्य अवस्थेत नसते. पूर्णच असते. मूर्छितावस्थेत व जागृतावस्थेत जसा तोच मनुष्य पूर्णपणे असतो, तसेच हे आहे.

तुरीयावस्थेत मनाचे मनपण अर्धे होते. म्हणून बिंदूस अर्धी मात्रा दिली आहे. तुरीयेच्या प्रगत भूमिकांमध्ये मनाचे हे मनपण उत्तरोत्तर भौमितिक श्रेणीने ***(१/२, १/४, १/८, १/१६ ते १/२५६ अंश)*** अशा क्रमाने कमी कमी होत जात उन्मनीत *Limit tends to Zero* असे शून्यभावाचे होते. मनाचे अस्तित्व असते. पण ते नसल्यातच जमा असते, अशी ही ***उन्मनी अवस्था*** आहे. त्यापुढे ***निरंजनपद*** आहे. त्याठायी मात्र मनाचा पूर्ण लय होतो. उन्मनेसच ***अमात्र*** असेही याच कारणाने म्हणतात. कारण त्या अवस्थेत शून्यवत अशी मनाचीच मात्रा असते; चैतन्याचे पूर्णत्व त्याठायी नसते, तर चैतन्याकडे *Quantum Jump* घेण्याची ती अवस्था असते. तेथून नंतर चैतन्य कोणत्या प्रकारे आणि कोणत्या अंशाने येते किंवा वाढत जाते, हा निव्वळ अनुमानाचा व सैद्धांतिक चर्चेचा भाग आहे. असो.

मनाच्या या मात्रांनाच ***कला*** असेही म्हणतात. **मूलाधार ते आज्ञाचक्र**ापर्यंत मन ***सकल*** असते. **बिंदू ते उन्मनी**पर्यंत ***सकल-निष्कल*** असते आणि ***निरंजनपद - महाशून्य - महाबिंदु*** ही ***निष्कल*** अवस्था आहे.

प्रथम शून्य

बिंदू हे योग्यांचे ***प्रथम शून्य*** समजले जाते. अशी ***पाच शून्ये*** योगिदेहात कल्पिली आहेत. कोणी ती ***सात*** असल्याचे सांगतात. ***"शून्याचेही शून्य" - "महाशून्याचां डोहिं"*** इ.संज्ञाप्रयोग **पाचव्या शून्याला** उद्देशून आहेत. **बिंदू हा ज्योतिस्वरूप आहे.** या बिंदुरूप ज्योतीमध्ये समग्र विश्व अभिन्नरूपाने भासमान होते.

पंच ज्ञानेंद्रियांनी मनास मनपण येते. त्यांचे ***शब्द - स्पर्श - रस - गंध व रूप*** असे पंचविषय असतात. षट्चक्रभेदन करतांना कुंडलिनीत पंचमहाभूते व त्यांच्या तन्मात्रा लय पावतात. असे असले तरी त्या सुप्त रूपात मन-प्राणासह असतातच. **जोपावेतो मन व प्राण महाशून्यात विलीन होत नाहीत, तोपावेतो पश्चिममार्गावरही ज्ञानेंद्रियांच्या या पंचविषयांची - त्यातून प्रामुख्याने *रूप-नाद (शब्द)* यांची अनुभूती सूक्ष्मत्वाने येतच राहते.** अर्थात ही उदात्त अनुभूती असल्याने तिची पार्थिव अनुभूतीशी तशी तुलना करणे योग्य नाही.

काही अभ्यासकांच्या मते तसे पाहिले तर श्रीहाटादी चक्रांपैकी ***गोल्हाट हे चक्षूंशी, श्रीहट हे रसनेशी , भ्रमरगुंफा हे श्रोत्रांशी*** म्हणजे अनुक्रमे ***रूप, रस व शब्दाशी* संबंधित** आहेत, असे दिसते. शास्त्रोक्त ***निरोधिका*** ही रूपाशी आणि ***नाद- नादांत -महानाद*** ही स्थाने शब्दाशी संबंधित आहेत. परंतु यौगिक अनुभूतिदृष्ट्या भ्रमरगुंफा ही अनाहतनादसंबंधित असल्याने आणि या नादाचा संबंध उन्मनीशी असल्याने, तेथील श्रोत्राकाश हे शब्द तन्मात्रासंबंधित नसून दिव्य नादासंबंधित असल्याचे आपणास जाणवते.

यांचा असा काही परस्पर संबंध जोडला जात असल्यास ***बिंदु =त्रिकुट, अर्धेंदु =श्रीहट, गोल्हाट =निरोधिका, औटपीठ व भ्रमरगुंफा= नाद - नादांत - महानाद आणि शक्ती -व्यापिका - समना - उन्मना*** असे अनुमान करता येते.

बैन्दव प्रभाग - बिंदु, अर्धेंदु व निरोधिका,

योग्याच्या इच्छाशक्तीच्या प्रभावाने त्रिभुवनातील कोणत्याही काळातील कोणतीही गोष्ट तो या बिंदुरूपी ज्योतीत पाहू व अनुभवू शकतो. परंतु या ज्ञातृत्वात ***ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान*** असा ***त्रिपुटीभाव*** नसतो, जो पार्थिव अनुभवात असतो. यापुढील अर्धेंदुस्थानी त्रिपुटीतील ज्ञेयप्रधानभावाचा लय होतो. यानंतर बिंदुविभागातील शेवटची ***निरोधिका*** येते. विश्वशासक ब्रह्मादी गणांस याच भूमीत थोपवून ठेवले जाते. या निरोधिकेपुढे ऊर्ध्वगती प्राप्त करणाऱ्यांस विश्वकार्य करणे शक्य नसते. परंतु या स्थानाचे अतिक्रमण करणे अत्यंत दुरापास्त असते. ***निरोधिकेत बिंदुच्या आवरणाचा म्हणजे त्रिपुटीचा अवशिष्ट भाग असतो.*** या स्थानी ***रूपनिरोध*** होतो.

नादप्रभाग - नाद व नादांत

यानंतर ***नाद व नादांत किंवा महानाद*** या अवस्था येतात. ***नादाचे स्थान ब्रह्मरंध्राच्या मुखात असते.*** **या ठिकाणी विशुद्ध त्रिगुणातीत आणि चिदाभासयुक्त अनुभूती येते. नादांत हा नाड्यांच्या आधारात किंवा ब्रह्मबिळात लीन असतो. ही अनाहतनादसापेक्ष स्थिती नसून ध्वनिसापेक्ष स्थिती आहे, असे म्हणणे अधिक योग्य होईल. त्याच्यानंतरही *अनाहतनाद* होतच राहतो आणि जोपर्यंत महाशून्याची प्राप्ती होत नाही, तोपर्यंत अनाहतध्वनी गर्जतच राहतो.** ***नादांताने मोक्षद्वार अडवलेले असते. हा नादांत आपल्या अध:शक्तीच्या द्वारे सर्व जगताचा भेद करून त्रिपुटीचा नाश करून - ऊर्ध्वशक्तीत समाप्त होतो.***

शक्तिप्रभाग - शक्ती ते समना - ऊर्ध्वकुंडलिनी

यानंतर ***शक्तिस्थान*** असते. **हे स्थान ब्रह्मरंध्राच्या वर आहे.** ***सिद्धसिद्धांतपद्धती*** त वर्णिलेली ***ऊर्ध्वकुंडलिनी*** **म्हणजे हे शक्तिस्थल.** या शक्तीच्या गर्भातच न उमललेले, प्रकट न झालेले वा मिटलेले विश्व समावलेले असते.

हिच्या केंद्रस्थानी ***व्यापिनी*** ही कला असते. शक्तीमध्येच आनंदसत्तेची अनुभूती येत असते. ***व्यापिनी*** ही शून्यस्वरूप आहे. पंचशून्यातील हे ***चवथे शून्य*** आहे. **यात ब्रह्माच्या सगुण शक्तीच्या आनंदाचा आभास असतो.**

व्यापिनीनंतर ***समना*** ही कला असते. ***शक्ती ते समना*** हा ***कलाविभाग*** आहे. **मन वा सत्ता ही येथे केवळ अस्तित्वरूपाने असल्यामुळे व त्यात पंचज्ञानविषयांचा व त्रिपुटीचा आत्यंतिक अभाव असल्याने या अवस्थांस फक्त *कला* असे म्हणतात.** शक्तीच्या **व्यापिनीपूर्व विभाग**ास योगी ***निरालंबपुरी*** असे म्हणतात.

समना ही पराशक्ती आहे. ही **व्यापिनी पद**ात स्थित असते. ही निरालंबपुरीच्या वर असते. ही समनाच सर्व कारणांची कर्तृत्वभूत आणि सर्व भुवनांची आधारभूत अशी शक्ती आहे. या शक्तीवर आरूढ होऊन शिव सर्व विश्वाची निर्मिती, रक्षण, संहार इ.कार्ये करत असतो.

उन्मना व सतरावी कला

याच्यानंतर **उन्मना** ***आहे. या ठिकाणी*** **नादरूप ब्रह्माची समाप्ती** ***होते.*** **उन्मना हे पाचवे शून्य आहे.** ***ही मनाच्या अतीत असते.*** **त्या ठिकाणी हंस म्हणजे जीवात्मा शुद्ध आत्म्याचे रूप धारण करतो.** ***येथे एकदमच सर्व विश्व अभेदरूपाने प्रकाशित होते. तेव्हा शिवत्वाची प्राप्ती होऊन हंस व्यापक होतो आणि छत्तीस तत्त्वांच्याही पलीकडील रूपात स्पंदित होतो. बिंदुपासून चिदानुभवास झालेला प्रारंभ असा पूर्णत्वात परिणत होतो.***

बिंदूत पूर्ण चंद्राच्या म्हणजे मनाच्या उत्क्रांत झालेल्या ***पंधरा कला*** असतात. मात्र ***षोडषी कला*** नसते. हिला ***अमाकला*** असेही म्हणतात. **उन्मनीमध्ये पंधरा कला अस्तंगत असतात, तर सोळावी कला गुप्तरूपाने असते.** अमाकलेस ***अमृतकला*** असेही एक नांव आहे. या सोळा कलांव्यतिरिक्त **उत्क्रांत जीवात्म्यास जेव्हा परमात्मपदाची प्राप्ती होते, तेव्हा षोडष कलांहून वेगळी अशी *सतरावी कला* प्रकट होते.** ***"सतरावीयेचें स्तन्य"*** असे या कलेपासून प्राप्त होणाऱ्या आनंदास ज्ञानदेव म्हणतात. असो.

स्वामी विष्णुतीर्थमत

या आज्ञाचक्रावरील ***बिंदु ते उन्मना*** अशा नऊ स्तरांबद्दल स्वामी विष्णुतीर्थांचे मत पाहून या पूर्व-पश्चिम मार्ग इ.चा समन्वय करू या.

त्यांच्या मतानुसार ***बिंदु, अर्धेंदु, निरोधिका, नाद व महानाद*** यातील प्रथम चार स्तरात पंचमहाभूतांची प्रत्येकी एक अशा पाच पाच कला विद्यमान असतात. ***नाद*** हा शब्दात्मक ***(ध्वन्यात्मक)*** स्तर आहे. **महानादात *(नादांतात)* वाच्यवाचक भेद लीन होतो.** ***बिंदु, अर्धेंदु व निरोधिका*** हे तीन स्तर **रूपात्मक** आहेत. निरोधिकेत रूपाचा निरोध होतो.

शक्ती या स्तरावर तीव्र आनंदलहरींची अनुभूती प्राप्त होते. ***व्यापिका*** हे शून्यस्थान आहे. त्याचा वेध दिव्यकरणाच्या विशेष अशा एका क्रियेद्वारे करावा लागतो. पातञ्जलयोगदर्शनाने सांगितलेली ***निर्वितर्क समाधि*** या स्तरावर प्राप्त होते.

निर्विचार समापत्तिचे महानाद (नादांत) हे स्थान आहे, तर व्यापिका स्तर सानंद समाधिदायक आहे. सास्मिता संप्रज्ञात समाधीचा स्तर समना असतो. उन्मना स्तरावर उन्मनी प्राप्त होते, असे विष्णुतीर्थांचे मत आहे. त्याबाबतचा विचार नंतर करू.

समारोप

या उन्मेषात व्यक्तवलेला विचार आपण पुढील **उन्मेष क्र.४५-२ :लययोगसमालोचन:योगशास्त्रसमन्वय** यात आणखी काही वेगळ्या पैलूतून पाहणार आहोत. तर वळू या आता तिकडे !

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

::परिशिष्ट क्र.-१::

पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील क्रमवार ओव्या

"अर्जुना हां अवधारिं। पंथराजु"

..। होय विस्तु ऐसां अनंतां। भरंवसा जाहाला।।६-१५०।।
म्हणें जैं जैं हां अधिष्ठिल। तैं आतां आरंभीच एआं फलैल।
म्हणौनि सांघितलां न वचैल। अभ्यासु वांयां।।१५१।।
ऐसें विवरौनियां श्रीहरि। म्हणितलें तियें अवस्वरि।
अर्जुना हां अवधारिं। पंथराजु।।१५२।।
जेथ प्रवृत्तितरूंचां बुडीं। दिसती निवृत्तिफलांचियां कोडीं।
जियें मार्गींचा कापडी। महेशु आझुइं ।।६-१५३।।
पैं योगिवृंदें वहिली। आडविं आकासिं निगालिं।
कि तेथ अनुभवाचां पाऊलिं। धोरणु पडिलां।।१५४।।
तिहीं आत्मबोधाचेनि उजुकारें। धांव घेतलीं एकसरें।
कीं एर सगलें मार्ग निदसुरें। सांडूनियां।।१५५।।
पाठीं महर्षि एणें आले। साधकांचे सिद्ध झालें।
आत्मविद थोरावलें। एणेंचि पंथें।।१५६।।
हा मार्गु जैं देखिजे। तैं तहानभूक विसरिजे।
रात्रिदिवस नेणिजे। वाटें इयें।।१५७।।
चालतां पाऊल जेथ पडे। तेथ अपवर्गाची खाणि उघडे।
आव्हांटलियां तन्हीं जोडे। स्वर्गसुख।।१५८।।
निगिजें पूर्वीलियां मोहरां। कीं येईजे पश्चिमेचियां घरां।
निश्चलपणें धनुर्धरा। चालणें येथिंचे।।१५९।।
एणें मार्गें जेयां ठायां जाईजे। तो गांवो आपण होईजे।
हे सांगो काय साहजें। जाणसीं तूं।।१६०।।
म्हणौनि तैसे एक लागेल। स्थान पाहावें।।६-१६३।।
जेथ आराणुकेचेनि कोडें। बैसलियां उठो नावडे।
वैराग्यासीं दूण चढें। देखिलेयां जैं।।१६४।।
जो संतीं वसविला ठाओ। संतोषासि साव्हवो।
मना होय उत्साओ। धैर्याचां।।१६५।।
अभ्यासुचि आपणयांतैं करी। हृदयांतैं अनुभव वरी।
ऐसीं रम्यपणाची थोरी। अखंड जेथ।।१६६।।
जेयां आड जातां पार्था। तपश्चर्या मनोरथा।
पाखंडियांही आस्था। समूल होय।।१६७।।
स्वभावें वाटे येतां। जन्हीं वरपडा जालां अवचितां।
तन्हीं सकामुही परि माघौतां। निघों विसरें।।१६८।।
ऐसें न न्हातयांतेही राहावीं। भ्रमातुकांतेंही बैसवीं।
थापटूनि चेववी। विरक्तीतैं।।१६९।।
हे राज्य वर सांडिजै। मग निवांता एथेचि असिजै ।
ऐसें शृंगारियांही उपजैं। देखतखेवों।।१७०।।
जैं एणें मानें बरवंट। आणि तैसेंचि अति चोखट।
जेथ अधिष्ठान प्रकट। डोलां दिसें।।१७१।।
आणिकही एक पाहावे। जैं साधकीं वसतें होआवें।
आणि जनाचेनि पाएखें। मैलेचि ना।।६-१७२।।
जेथ अमृताचेनि पाडें। मुलांहिसकट गोडें।
जोडिती दाटें झाडें। सदा फलती।।१७३।।
पाऊलां पाऊलां उदकें। परि वर्षाकालींही चोखें।
निर्झरें कां विशेखें। सुलभें जेथें।।१७४।
हा आतपुही अलुमालु। जाणिजैं तन्हीं शीतलु।
पवनु अति निश्चलु। मंद झुलुकें।।१७५।।
बहुतकरूनि नि:शब्दु। दाट न रिगे श्वापदु।
शुक हन षट्पदु। तेऊंतें नाहीं।।१७६।।
पाणिलगें हंसें। दोनीं च्यारीं सारसें।
कवणें एकें वेलें बैसें। तन्हीं कोकीलु ही होएं।।१७७।।
निरंतर नाहीं। तन्हीं आली गेली कंहीं।
होतु कां मयूरेंही। आम्हीं ना न म्हणो।।१७८।।
परि आवसिक पांडवा। ऐसा ठाओ जोडावा।
तेथ निर्गुडु मठु होआवा। कां शिवालय।।१७९।।
दोनींमाजि आवडे तैं। जैं मानिलें होय चित्तें।
बहुतकरूनि एकांतें। बैसिजें गां।।१८०।।
म्हणौनि तैसें तैं जाणावें। मन राहांतें पाहावें।
राहील तेथ रचावें। आसन ऐसें।।६-१८१।।
वरी चोखट मृगसेवडी। माझिं धूतवस्त्राची घडी।
तलुवटीं अमोडीं। कुशांकुर।।१८२।।
सकोमल सरिसें। सुबद्ध राहांती आपैसें।
एक पाडें तैसें। ओजा घालीं।।१८३।।
परि सांव्हियांचि उंच होईल। तन्हीं आंग हन डोलैल।
नीच तन्हीं पावेल। भूमिदोखु।।१८४।।
म्हणौनि तैसें न करावें। समधेनिआं एं धरावें।
हे बहु असो होआवें। आसन ऐसें।।१८५।।
मग तेथ आपण। एकाग्र अंतष्करण।
करूनि सद्गुरुस्मरण। अनुभविजे।।६-१८६।।
तैसें स्मरतेनि आदरें। सबाह्य सात्त्विकें भरें।
जंव कठिनपण कां विरे। अहंभावाचें।।१८७।।
विषयांचा विसरु पडे। इंद्रियांची कसमस मोडे।
मनाची घडी घडे। हृदयामाझिं।।१८८।।
ऐसें ऐक्य हे साहाजें। फांवें तंव राहिजे।
मग तेणेंचि बोधें बैसिजे। आसनावरी।।१८९।।
आतां अंगांतैं अंग करी। पवनांतैं पवनुचि धरी।
ऐसीं अनुभवाचीं उजरी। होंचि लागे।।१९०।।

प्रवृत्ति मागौति मोहरे। समाधि ऐलाडीं उतरें।
आघवें अभ्यासूं सरे। बैसतखेंवों।।१९१।।
मुद्रेची प्रौढी ऐशी । तैंचि सांघिजैल आतां परिहसैं।
तन्हीं ऊरूं इयां जघनासीं। जडौनि घाली।।६-१९२।।
चरणतलें देव्हडीं। आधारद्रुमाच्या बुडीं।
सुघटित गाढीं। संचरीं पां।।१९३।।
सव्य तो तलीं ठेविजे। तेणें सिवणीमध्य पीडिजे।
वरी बैसें तो साहाजें। वामचरणु।।१९४।।
गुदमेंढ्रांआंतौतीं। चारीं अंगुलें निरुतीं।
तेथ सार्द्ध सार्द्ध प्रांतीं। सांडूनियां।।१९५।।
माझिं अंगुल एक नीगे। तेथ टांकेचेनि उत्तरभागें।
नेहटिजे वरी आंगें। पेललेनि।।१९६।।
उचलिजे कां नेणिजे। तैसें पृष्टांत उचलिजे।
गुल्फद्वय धरिजे। तेणेंचि मानें।।१९७।।
मग शरीरसंचु पार्था। हा अशेषुहि सर्वथा।
पार्ष्णिचां माथां। स्वयंभु होय।।१९८।।
अर्जुना हे जाण। मूलबंधाचें लक्षण।
वज्रासन गौण। नाम यासीं।।१९९।।
ऐसिं आधारिं मुद्रा पडें। आणि अधींचा मार्गु मोडें।
तेथ अपानु आंतुलीकडें। वोहटूं लागैं।।२००।।
तंव करसंपुट आपैसें। वामचरणीं बैसें।
बाहूमुलीं दिसे। थोरीव आली।।६-२०१।।
माझिं उभारलेनि दंडें। शिरकमल होएं गाढें।
नेत्राद्वारींचीं कवाडें। लागूं पाहाती।।२०२।।
वरचिलें पातीं न ढलती। तलींचीं तलीं पुंजालती।
तेथ अर्धोन्मिलित स्थिती। उपजे तेआं।।२०३।।
दिठी राहूनु आंतुलीकडें। बाहेर पाऊल घाले कोडें।
तैं ठायीं ठाओ पडे। *नासाग्रपीठीं* ।।२०४।।
ऐसें आंतुचा आंतुचि रचे। बाहेरीं मागुतें न वचे।
म्हणौनि राहणें आधिएं दिठीचें। तेथेंचि होये।।२०५।।
आतां दिसांची भेटी घेयावी। कां रूपाची वास पाहावी।
हे चाड सरे आघवीं। आपैसियां।।२०६।।
मग कंठनाल आटे। हणौटी हडौति दाटे।
तैं गाढी होऊनि निहटें। वक्ष:स्थलीं।।६-२०७।।
माझि घंटिका लोपे। वरी बंधु जो आरोपें।
तो जालांधरु म्हणिपे। पंडुकुमरा।।२०८।।
नाभी वरी पोखे। उदर हें थोंके।
आंतरी फांकें। हृदयाकोशु।।२०९।।
स्वाधिष्ठानावरिचिले कांठीं। नाभिस्थानातलुवटीं।
बंधु पडें तो किरीटी। ओडियाणु।।२१०।।
ऐसीं शरीराबाहिरीलीकडें। अभ्यासाची पांखर पडे।
तंव आंतु त्राय मोडे। मनोधर्माची।।२११।।
कल्पना निमें। प्रवृत्ति समें।
आंगें मन विरमें। सांव्हिआंचि।।२१२।।
क्षुधा काइं जाहालिं। निद्रा केऊतिं गेलीं।
हें आठवणहिं हीरतलीं। न दिसें वेगां।।२१३।।
जो मूलबंधें कोंडला। अपानु माघौतां मुरडलां।
तो सवेंचिं वरि सांकडलां। फुगु धरि।।२१४।।
क्षोभलेपणें माजें। उवाइलां ठाईं गाजैं।
मणिपूरैंसिं झूंजैं । राहौनियां।।२१५।।
मग थांवलीं तैं वाहुंटलीं। सैंघ होऊनि घर डहुलीं।
बालपणींचिं कुहिटुलीं। बाहेरि घालीं।।२१६।।
भीतरि बलिं न धरैं। कोठेआं माझिं संचरैं।
कफपित्तांचें थारैं। उरौ नेदिं।।२१७।।
धातूंचें समुद्र उलंडीं। मेदाचें पर्वत फोडिं।
आंतुलिं मज्जा काढिं। अस्थिगत।।६-२१८।।
नाडितैं सोडविं। गात्रांतैं विघडविं।
साधकांतैं भेडसविं। परि बिहावें ना।।२१९।।
व्याधितैं दावि। सवेंचि हारविं।
आपु पृथ्वि कालविं। एंकवट।।२२०।।
तंव एरिकडें अर्जुना। आसनाचां उबारां।
शक्ति करि उजगरां। कुंडलिणिएं।।६-२२१।।
नागाचें पिलें। कुंकुमैं नाहालें।
वलण घेऊनि आलें। सेजैं जैसें।।२२२।।
तैसिं तैं कुंडलिणि। मोटकिं औठै वलणिं।
अधोमुख सर्पिणि। निदैलिं असें।।२२३।।
विद्युल्लतेचि विडि। वह्निज्वालांचि घडि।
पन्हरेयां चोखडिं। खोटी जैसिं।।२२४।।
तैसिं सुबद्ध आडलिं। पुटीं होतिं दाटलिं।
तैं वज्रासनैं चिमुटलिं। सावध होएं।।२२५।।
तेथ नक्षत्र जैसें उलंडलैं। कां सूर्याचें आसन मोडलैं।
तेजाचें बीज विरूढलैं। अंकुरैंसिं।।२२६।।
तैसिं वेढियांतैं सोडी। कावतिकैं आंग मोडिति।
कंदावरी शक्ति। ऊठिलीं दिसैं।।२२७।।
साहाजें बहुवां दिआंचिं भूक। वरि चेवविलीं तैं होय मिख।
मग आवेसें पसरविं मुख। ऊर्ध्वा उजूं।।६-२२८।।
तेथ हृदयाकाशतलुवटीं। जो पवनु भरैं किरीटी।
तेयां सगलेंयांचि मिठी। देऊनि घालीं।।२२९।।
मुखिंचां ज्वालीं। तलीं वरीं कवलीं।
मांसाचिं वडवालीं। अरोगूं लागें।।२३०।।
जैं जैं ठांय समांस। तेथ आहाच जोडें घाऊस।
पाठीं एकदोन घांस। हियांहीं भरि।।२३१।।
मग तलुवैं तलुहाथ शोधिं। ऊर्ध्वींचें खंड भेदीं।
झाडां घें संधिं। प्रत्यांगाचां।।२३२।।

आधार तन्हैं न संडीं। परि नखिंचेंहिं सत्त्व काढीं।
त्वचा धुवूनि जडी। पांजरेंसिं।।६-२३३।।
अस्थिंचें नलैं निरपैं। सिरांचैं हिर ओरपैं।
तंव बाहेरि विरुढी करपैं। रोमबिजांचिं।।२३४।।
मग सप्तधातूंचां सागरि। तान्हैलीं घोंटु भरि।
आणि सवेंचिं उन्हाला करि। खडखडीतु।।२३५।।
नासापुटौनि वारा। जो जात होतां आंगुलैं बारा।
तो गचियें धरौनि माघारां। आंतु घालिं।।२३६।।
तेथ अध वरौतैं आकुंचैं। ऊर्ध्व तलौतैं खांचैं।
तेआं खेंवांमाजिं चक्रांचें। पदर उरति।।६-२३७।।
एरविं तन्हैं दोनिं तेव्हांचि मिलति।
परि कुंडलिणी नांवेक दुश्चित होति।
तैं तेयांतैं म्हणें परौति। तुमिचिं कांइंसिं एथें।।२३८।।
आइकैं पर्थिव धातू आघवें।आरौगितां कांहिं नुरवैं।
आणि आपांतैं तंव ठेवें। पुसौनियां।।२३९।।
ऐसिं दोनिं भूतें खाएं। तैं वेलीं संपूर्ण धाएं।
मग सौम्य होऊनि राहें। सुषुम्नेपासिं।।२४०।।
तेथ तृप्तिचेनि संतोखें। गरल जैं वमि मुखें।
तेणें तियेचेनि पीयूखैं। प्राणु जियें।।६-२४१।।
तो आगिंआंतूनि निघें। परि सबाह्य निववूंचि लागें।
तैं वेलीं कसु बांधिति आंगें। सांडिलां पुडुति।।२४२।।
मार्ग मोडिथि नाडीचें। नवविधपण वायूचें।
जाएं म्हणौनि शरीरिचें। धर्मु नाहीं।।६-२४३।।
इडा पिंगला एकवटथि। गांठी तिान्हिं सूटति।
साही पदर फुटथिं। चक्रांचें हें।।२४४।।
शशि आणि भानु। ऐसां कल्पिजैं जो अनुमानु।
तो वातिवरिं पवनु। गिंवसितां न दिसें।।२४५।।
बुद्धीची पुलिका वीरैं। परिमलु घ्राणिं उरैं।
तोहिं शक्तिसवें संचरैं। मध्यमेमाजिं।।६-२४६।।
तंवं वरिलेकडौनि ढालैं। चंद्रामृताचें तलैं।
कानवडौनि मिलैं। शक्तिमुखिं।।२४७।।
तेणें नातकैं रसु भरैं। तो सर्वांगामाझिं संचरैं।
जेथिंचां तेथ मुरैं। प्राणपवनु।।२४८।।
तातलिएं मुसैं। मेण निघौनि जाएं जैसें।
कोंदलीं ठाएं रसें। ओतलेनि।।६-२४९।।
तैसें पिंडाचेनि आकारैं। तैं कलाचिं कां अवतरैं।
वरि त्वचेचैनि पदरैं। पांघुरिलीं असें।।२५०।।
जैसिं आभालाचिं बूंथि। करूनि राहें गभस्ति।
मग फिटैलेयां दीप्ति। धरूं नैएं।।२५१।।
तैसां आहाचिवरिं कोरडा। त्वचेचां असे पातवडा।
तो झडौनि जाएं कोंडा। जैसां होएं।।२५२।।
मग काश्मिराचें स्वयंभ। कां रत्नबीजां निगालें कोंभ।
अवयवकांतिचिं भांभ। तैसिं दिसें।।६-२५३।।
ना तन्हैं संध्यारागिंचें रंग। काढूनि वलिलैं तैं आंग।
किं अंतर्ज्योतिचें लिंग। निर्वाललैं।।२५४।।
कुंकुआचें भरिवं। सिद्धरसाचें ओतिवं।
मज पाहतां सावेव। शांतिचि तैं।।२५५।।
तैं आनंदचित्रिचें लेप। ना तन्हैं महासुखाचें रूप।
किं संतोखतरूचें रोप। थांवलैं जैसें।।६-२५६।।
तो कनकचंपकाचां कलां। किं अमृताचां पुतलां।
नाना सांसिन्नलां मलां। कोंवलिकेचां।।२५७।।
हो कां जैं शारदियेचियें ओलैं। चंद्रबिंब पाल्हैलैं।
कां तेजचिं मूर्त बैसलैं। आसनावेरिं।।२५८।।
तैसें शरीर होएं। जै हेलीं कुंडलिनी चंदु पिएं।
मग देहाकृतिं बिहैं। कृदांतु गां।।२५९।।
वृद्धाप्य तन्हैं बहुडैं। तारुण्याचिं गांठि विघडैं।
लोपलीं उघडैं। बालदशा।।६-२६०।।
वयसा तन्हैं येतुलेंवरीं। एरविं बलाचां बलार्थु करि।
धैर्याचिं थोरि। निरुपम।।२६१।।
कनकद्रुमाचां पालविं। रत्नकलिकांचि नित्य नविं।
नखैं तैसिं बरविं। नविं निघतिं।।२६२।।
दांतहिं आन होति। परि अपाडें सांनैजति।
जैसिं दोबाहिं बैसें पातिं। हिरेयांचिं।।६-२६३।।
माणिकुलियांचियां कणियां। साावियांचि अणुमानियां।
तैसियां सर्वांगिं उधवति अणिया। रोमांचियां।।२६४।।
करचरणतलैं। जैसिं कां रातोत्पलैं।
पाखालीं होथिं डोलैं। काइं सांघों।।६-२६५।।
निडाराचेनि कोंधाटें। मोतियें नावरति संपुटैं।
मग सिवणि जैसिं उतटें। शुक्तिपल्लवांचिं।।२६६।।
तैसिं पातिचियें कवलियें ना सामाएं।
दिठी जाकलौनि निगों पाहें।
आधिलिंचिं परि होएं। गगना कलितिं।।२६७।।
आइकैं देह होएं सोनियाचें। परि लाघौं ऐं वायूचें।
जैं पृथ्वि आन आपाचें। अंशु नाइं।।६-२६८।।
मग समुद्रापैलाडिं देखैं। स्वर्गिंचां आलोचु आइकैं।
मनोगत ओलखैं। मुंगियेचें।।२६९।।
पवनाचां वारिकां वलघैं। चालैं तन्हैं उदकि पाऊल न लगैं।
एणें बहु काइं प्रसंगैं। होति सिद्धि।।२७०।।
आइकैं प्राणाचां हातु धरौनि। गगनाचिं पाऊटी करौनि।
मध्यमेचेनि दादरैहूनि। हृदयां आलीं।।६-२७१।।
तैं कुंडलिणी जगदम्बा। जैं चैतन्यचक्रवर्तिंचिं शोभा।
जियां विश्वबिजांचियां। कोंभा। साऊली केलीं।।२७२।।

जैं प्राणाचिं उघडीं। जन्मभूमि।।२७३।।
हें असो तैं कुंडली। हृदयां आंतु आलीं।
तंव अनाहताचि बोलिं चावलैं तैं।।२७४।।
शक्तिचियां आंगां लागलैं। बुद्धिचें चैतन्य होतें जालें।
तेणे तैं आइकिलैं। आलुमालु।।२७५।।
घोषांचां कुंडीं। नादचित्रांचि रुपडीं।
प्रणवाचियां मोडीं। रेखिलीं जैंसिं।।२७६।।
हेंचि कल्पावैं तन्हीं जाणिजैं। परि आतां कल्पितैं कैंचैं आणिजैं।
तन्हैं नेणों काइं वाजैं। तेयां ठायां।।२७७।।
विसरौनि गेलों अर्जुना। जंव नासु नाइं पवना।
तंव वाचा आथि गगना। म्हणोनि घुमैं।।२७८।।
तेयां अनाहताचेनि मेघैं। आकाश दुदुमौं लागैं।
तवं ब्रह्मस्थानिंचें बेगें। फीटैं साहाजैं।।२७९।।
आइकैं कमलगर्भाकारैं। जैं महदाकास दुसरैं।
जेथ चैतन्य आथुधुरैं। करौनि असिजैं।।६-२८०।।
तेयां हृदयाचां परिवरि। कुंडलिणियां परमेश्वरि।
तेजाचिं सिधौरि। विनियोगिलीं।।२८१।।
बुद्धिचेनि शाकैं। हातबोनें नीकैं।
द्वैत जेथ न देखैं। तैसें केलें।।२८२।।
आइसिं निजकांति हारविलिं। मग प्राणुचि केवल जाहालीं।
तैं हेलीं कैसिं गमलीं। म्हणावि पां।।६-२८३।।
हो कां जैं पवनाचि पुतली। पांगुतिलीं होति सोनेसलीं।
तैं फेडूनियां वेगलीं। ठेविलीं तिएं।।२८४।।
ना तन्हैं वारआचेनि आंगैं झगटलीं। दीपाचिं दिठी निमुटिलीं।
कां लखलखौनि हारपलीं। विजू गगनिं।।२८५।।
तैसिं हृदयकमलवेन्हीं। दिसैं सोनियाचि जैसिं सरी।
ना तन्हैं प्रकाशजलाचिं झरि। वाहांति आली।।२८६।।
मग तियें हृदयभूमिं पोकलैं। जिरालीं कां एकैं हेलें।
ऐसें शक्तिचें रूप मावलैं। शक्तिचि माझिं।।२८७।।
तेव्हां तन्हीं शक्तिचि म्हणिजैं।
एरविं तो प्राणु केवलु जाणिजैं।
आतां नादबिंदु नेणिजैं। कला ज्योति।।२८८।।
मनाचां हान मारु। कां पवनाचां धरुं।
ध्यानाचां आदरुं। नाना परीं।।२८९।।
हें कल्पना घें सांडिं। तैं नाइं इयें परवडिं।
हें महाभूतांचिं फुडी। आटणी देखां।।२९०।।
पिंडें पिंडाचां ग्रासु। तो हां नाथसंकैतिंचां दंसु।
परि दाऊनि गेला उद्देसु। माहाविष्णु।।२९१।।
तेयां ध्वनिताचें केणें सोडूनि। यथार्थाचिं घडी झाडूनि।
उपलविलीं मियां जाणूनि। ग्राहिक श्रोते।।६-२९२।।
आइकैं शक्तीचैं रूप लोपैं। तेथ देहिंचें रुप हारपैं।
मग तो डोलियांचिमाझिं लपैं। जगाचियां।।६-२९३।।
यरविं आदिलांचि ऐसें। सावयव तन्हैं असें।
परि वायूचें कां जैसें। वलिलैं होएं।।२९४।।
ना तन्हैं कर्दलींचां गाभां। बुंथि सांडौनि उभा।
कां अवयवचि नभां। निवडलां जो।।२९५।।
तैसें होए शरीरु। तैं तैं म्हणिजैं खैंचरुं।
हें पद होतां चमत्कारुं। पिंडु जनिं।।६-२९६।।
देखैं साधकु निगौनि जाएं। माघां पाऊलांचि ओलि राहैं।
तेथ ठाईं ठाईं होएं। आणिमादिकिं।।२९७।।
पन्हैं तेणें काइं काज आपणेयां। अवधारीं आइसां धनंजया।
लोप आथि भूतत्रेआं। देहिंचा देहीं।।६-२९८।।
पृथिवितैं आपु विरविं। आपांतैं तेजु जिरविं।
तेजातैं पवनु हारविं। हृदयामाझिं।।२९९।।
पाठिं आपण एकलां उरैं। परि शरिराचेनि अनुकारैं।
तोहिं निगैं अंतरैं। गगनां मिलैं।।३००।।
तैं हेलीं कुंडलिणी हें भाख जाएं। मारुत आइसैं नाम लाएं।
परि शक्तिपण तैं आहें। जंव न मिलैं शिविं।।३०१।।
मग जालांधर सांडिं। ककारांत फोडिं।
गगनाचिएं पाहाडिं। पैठिं होएं।।६-३०२।।
तैं ॐकाराचिएं पाठिं। पाएं देत उठाउठिं।
पश्यंतिचिएं पाउटीं। माघां घालिं।।३०३।।
फुडां तन्मात्रा अर्धवेरिं। आकासाचां आंतरिं।
भरति गमैं सागरिं। सरितां जैसिं।।३०४।।
मग ब्रह्मरंध्रि थिराओनि। सोऽहंभावाचियां बाह्या पसरौनि।
परमात्मलिंगा धांओनि। आंगां घडें।।३०५।।
तंव महां भूतांचि जवनिक फिटैं। मग दोघांसिहि होय झटैं।
तेथ गगनासगट आटैं। समरसिं तिएं।।३०६।।
पैं मेघाचेनि मुखैं निवडलां। समुद्दु कां ओघिं पडिलां।
तो माधुतां जैसां आला। आपणपेआं।।६-३०७।।
तेंविं पिंडाचेनि मिखैं। पदीं पद प्रवेशें।
तैं एकत्व होएं तैसें। पंडुकुमरां।।३०८।।
आतां दुजैं हान होतें। किं एकचिं हें आइतैं।
ऐसिएं विवंचनेपुरतैं। उरेचि ना।।६-३०९।।
गगनिं गगन लयां जाएं। आइसें जैं काइं आहे।
तैं अनुभवैं जो होऐं। तो होऊनि ठाकैं।।३१०।।
म्हणौनि तेथिंचिं मातु। न चडेचि बोलाचां हातु।
जेणें संवादाचिआं गांवांआंतुं। पैठी किजैं।।६-३११।।
अर्जुना एरविं तन्हैं। एआं अभिप्रायाचां गर्वु धरि।
तैं पाये पां वैखरि। दूरि ठेलिं।।३१२।।

भूलता माघिलिकडें। मकाराचेचि आंग न मांडें।
सडेयां प्राणा सांकडें। गगना एतां।।३१३।।
पाठि तेथेंचिं तो भांसललां। तवं शब्दाचां दिओ मावललां।
मग तेयांहि वरि आटु भविनला। आकासाचां।।३१४।।
आतां महाशुन्याचां डोहि। गगनासिंचि थाउं नाइं।
तेथ तागा लागैल काइं। इयां बोलाचां।।३१५।।
म्हणऊनि आखरामाझिं सांपडें। किं कानवेरि जोडें।
हें तैसें नोहें फुडें। त्रिशुद्धि मां।।६-३१६।।
जैं कंहिं दैवें। अनुभविलें फांकवै।
तैं आपणचि हें ठाकावैं। होओनिआं।।३१७।।
पुडुति जाणणैं तैं नाइं चिं। म्हणौनि असो केती हें चिं।
बोलावैं आतां वांयांचिं। धनुर्द्धरां।।३१८।।
आइसें शब्दजात माघौतैं फिरैं। तेथ संकल्पाचें आयुष्य पुरैं।
वाराहिं जेथ न शिरैं। विचाराचां।।६-३१९।।
जैं उन्मनियेचें लावण्य। जैं तुरियेचें तारुण्य।
अनादि जैं अगण्य। परमतत्त्व।।६-३२०।।
जैं आकाराचां प्रांतु। जैं मोक्षाचां एकान्तु।
जेथ आदि आणि अंतु। विरौनि गेलें।।३२१।।
जैं विश्वाचें मूल। जैं योगद्रुमाचें फल।
जैं आनंदाचें केवल। चैतन्य गां।।३२२।।
जैं महाभूतांचे बीज। जैं महातेजाचें तेज।
एवं पार्था जैं निज। स्वरूप माझें।।३२३।।
हं चतुर्भुज कौंभैलिं। जेयांचिं शोभा रूपां आलीं।
देखौनि नास्तिकीं नोकिलीं। साधुवृंदें।।३२४।।
तै अनिर्वाच्य माहासुख। आपणचिं जाहालैं जैं पुरुष।
जेयांचें कां निष्कर्ष। प्राप्तिवेरि।।३२५।।
आम्हिं साधन जैं हें सांघितलें। तैंचि शरीरीं जिहि केलें।
तैं आमचेन पाडें आलें। निर्वाललेयां।।३२६।।
परब्रह्माचेनि रसें। देहाकृतिचेनि मुसैं।
ओतिवं जालें तैसें। दिसथि आंगैं।।३२७।।
ना तन्हीं प्रतीति हान आंतरि फांकैं।
तन्हें विश्वचि हें आघवैं झांकैं।
तंव अर्जुन म्हणें नीकैं। सांचचि हें।।३२८।।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

::परिशिष्ट क्र.-२::
पंथराजाच्या ज्ञानदेवीतील अभ्यासोपयोगी नवनिर्धारित क्रमानुसार ओव्या

::"अर्जुना हां अवधारि। पंथराजु"::

१) वैराग्य::::

यमनियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार साध्य झाला की (ओ.क्र.६-५४ ते ५६) :

ऐसां पवनाचेनि पाठारैं। एतां धारणेचेनि पैसारैं।
क्रमीं ध्यानाचे चवरैं। सांडैं तंव।।
नखीं लगेल ढाले ढालैं वैराग्याची।। ...।
होय विरक्तु ऐसां अनंतां। भरंवसा जाहाला।।६-१५०।।
म्हणें जैं जैं हां अधिष्ठिल। तैं आतां आरंभीच एआं फलैल।
म्हणौनि सांघितलां न वचैल। अभ्यासु वांयां।।१५१।।
ऐसें विवरौनियां श्रीहरि। म्हणितलें तियें अवस्वरि।
अर्जुना हां अवधारि। पंथराजु।।१५२।।
जेथ प्रवृत्तितरूंचां बुडीं। दिसती निवृत्तिफलांचियां कोडीं।
जियें मार्गींचा कापडी। महेशु आझुइं ।।६-१५३।।
पैं योगिवृंदें वहिलीं। आडविं आकासिं निगालिं।
किं तेथ अनुभवाचां पाऊलिं। धोरणु पडिलां।।१५४।।
तिहीं आत्मबोधाचेनि उजुकारें। धांव घेतलीं एकसरें।
कीं एर सगळें मार्ग निदसुरें। सांडूनियां।।१५५।।
पाठीं महर्षि एणें आले। साधकांचे सिद्ध झालें।
आत्मविद थोरावलें। एणेंचि पंथें।।१५६।।
हा मार्गु जैं देखिजे। तैं तहानभूक विसरिजे।
रात्रिदिवस नेणिजे। वाटें इयें।।१५७।।
चालतां पाऊल जेथ पडे। तेथ अपवर्गाची खाणि उघडे।
आव्हांटलियां तन्हीं जोडे। स्वर्गसुख।।१५८।।
निगिजें पूर्वीलियां मोहरां। कीं येईजे पश्चिमेचियां घरां।
निश्चलपणें धनुर्धरा। चालणें येथिंचे।।१५९।।
एणें मार्गें जेयां ठायां जाईजे। तो गांवो आपण होईजे।
हे सांगो काय सहजें। जाणसीं तूं।।१६०।।

२) स्थान::::

म्हणौनि तैसे एक लागेल। स्थान पाहावे।।६-१६३।।
जेथ आराणुकेचेनि कोडें। बैसलियां उठो नावडे।
वैराग्यासीं दुणीव चढें। देखिलियां जैं।।१६४।।

जो संतीं वसविला ठावो। संतोषासि सावेव।
मना होय उत्सावो। धैर्याचां।।१६५।।
अभ्यासुचि आपणयांतैं करी। हृदयांतैं अनुभव वरी।
ऐसीं रम्यपणाची थोरी। अखंड जेथ।।१६६।।
जेयां आड जातां पार्था। तपश्चर्या मनोरथा।
पाखंडियांही आस्था। समूल होय।।१६७।।
स्वभावें वाटे येतां। जन्हीं वरपडा जालां अवचितां।
तन्हीं सकामुही परि माघौतां। निघों विसरें।।१६८।।
ऐसें न राहातयांतेही राहावीं। भ्रमतयांतेंही बैसवीं।
थोपटोनि चेववी। विरक्तीतैं।।१६९।।
हे राज्य वर सांडिजै। मग निवांत एथेचि असिजै।
ऐसें शृंगारियांही उपजैं। देखतखेवों।।१७०।।
जैं एणें मानें बरवंट। आणि तैसेंचि अति चोखट।
जेथ अधिष्ठान प्रकट। डोलां दिसें।।१७१।।
आणिकही एक पाहावे। जैं साधकीं वसतें होआवें।
आणि जनाचेनि पायरवें। मैलेचि ना।।६-१७२।।
जेथ अमृताचेनि पाडें। मुलाहिसकट गोडें।
जोडिती दाट झाडें। सदा फलती।।१७३।।
पाऊलां पाऊलां उदकें। परि वर्षाकालींही चोखें।
निर्झरें कां विशेषें। सुलभें जेथें।।१७४।
हा आतपुही अलुमालु। जाणिजैं तन्हीं शीतलु।
पवनु अति निश्चलु। मंद झुलुकें।।१७५।।
बहुतकरूनि नि:शब्दु। दाट न रिगे श्वापदु।
शुक हन षट्पदु। तेऊंतें नाहीं।।१७६।।
पाणिलगें हंसें। दोनीं चारीं सारसें।
कवणें एकें वेलें बैसें। तन्हीं कोकील हे।।१७७।।
निरंतर नाहीं। तन्हीं आली गेली कंहीं।
होतु कां मयूरेंही। आम्हीं ना न म्हणो।।१७८।।
परि आवश्यक पांडवा। ऐसा ठाओ जोडावा।
तेथ निगूढ मठ होवावा। कां शिवालय।।१७९।।
दोनींमाजि आवडे तैं। जैं मानिलें होय चित्तें।
बहुतकरूनि एकांतें। बैसिजें गां।।१८०।।
म्हणौनि तैसें तैं जाणावें। मन राहातें पाहावें।..।।१८१..।।

३) आसन::::

राहेल तेथ रचावें। आसन ऐसें।।६-१८१।।
वरी चोखट मृगसेवडी। माजीं धूतवस्त्राची घडी।
तलुवटीं अमोडीं। कुशांकुर।।१८२।।
सकोमल सरिसें। सुबद्ध राहती आपैसें।
एक पाडें तैसें। वोजा घालीं।।१८३।।
परि सांवियांचि उंच होईल। तन्हीं आंग हन डोलेल।
नीच तन्हीं पावेल। भूमिदोषु।।१८४।।
म्हणौनि तैसें न करावें। समभागें धरावें।
हे बहु असो होआवें। आसन ऐसें।।१८५।।

४)धारणा::::

मग तेथ आपण। एकाग्र अंत:करण।
करूनि सद्गुरुस्मरण। अनुभविजे।।६-१८६।।
तैसें स्मरतेनि आदरें। सबाह्य सात्त्विकें भरें।
जंव कठिणपण विरे। अहंभावाचें।।१८७।।
विषयांचा विसरु पडे। इंद्रियांची कसमस मोडे।
मनाची घडी घडे। हृदयामाजि।।१८८।।
ऐसें ऐक्य हे सहजें। फांवें तंव राहिजे।
मग तेणेंचि बोधें बैसिजे। आसनावरी।।१८९।।
आतां अंगांतैं अंग धरी। पवनांतैं पवनुचि वरी।
ऐसीं अनुभवाचीं उजरी। होंचि लागे।।१९०।।
प्रवृत्ति माघौति मोहरे। समाधि ऐलाडीं उतरें।
आघवें अभ्यासूं सरे। बैसतखेंवों।।१९१।।

५)मुद्रा::::

मुद्रेची प्रौढी ऐशी । तैंचि सांघिजैल आतां परियेसीं।
तन्हीं उरु या जघनासीं। जडौनि घाली।।६-१९२।।
चरणतले देव्हडीं। आधारद्रुमाच्या बुडीं।
सुघटित गाढीं। संचरीं पां।।१९३।।
सव्य तो तलीं ठेविजे। तेणें सिवणीमध्य पीडिजे।
वरी बैसें तो सहजें। वामचरणु।।१९४।।
गुदमेढ्रांआंतौतीं। चारीं अंगुलें निगुतीं।
तेथ सार्ध सार्ध प्रांतीं। सांडूनियां।।१९५।।
माजीं अंगुल एक निगे। तेथ टांचेचेनि उत्तरभागें।
नेहटिजे वरी आंगें। पेललेनि।।१९६।।

उचलिजे कां नेणिजे। तैसें पृष्ठांत उचलिजे।
गुल्फद्वय धरिजे। तेणेंचि मानें।।१९७।।
मग शरीरसंचु पार्था। अशेषुहि सर्वथा।
पार्ष्णीचा माथां। स्वयंभु होय।।१९८।।

६)वज्रासन व मूळबंध::::

अर्जुना हे जाण। मूलबंधाचें लक्षण।
वज्रासन गौण। नाम यासीं।।१९९।।
ऐसिं आधारि मुद्रा पडें। आणि अधींचा मार्गु मोडें।
तेथ अपानु आंतुलीकडें। वोहटूं लागैं।।२००।।
तंव करसंपुट आपैसें। वामचरणीं बैसें।
बाहूमुळीं दिसे। थोरीव आली।।६-२०१।।
माजीं उभारलेनि दंडें। शिरकमल होय गाढें।

७) अंतर्दृष्टी आज्ञाचक्रावर::::

वरचिलें पातीं ढलती। तलींचीं तलीं पुंजालती।
नेत्राद्वारींचीं कवाडें। लागूं पाहती।।२०२।।
तेथ अर्धोन्मिलित स्थिती। उपजे तेयां।।२०३।।
दिठी राहूनि आंतुलीकडें। बाहेर पाऊल घाले कोडें।
तैं ठायीं ठाओ पडे। नासाग्रपीठीं।।२०४।।
ऐसें आंतुचा आंतुचि रचे। बाहेरीं मागुतें न वचे।
म्हणौनि राहणें आधिये दिठीचें। तेथेंचि होये।।२०५।।
आतां दिसांची भेटी घ्यावी। कां रूपाची वास पाहवी।
हे चाड सरे आघवीं। आपैसियां।।२०६।।

८) जालंधर व वोढियाणा बंध::::

मग कंठनाल आटे। हनुवटी हे हडौति दाटे।
तैं गाढी होऊनि नेहटें। वक्ष:स्थलीं।।६-२०७।।
माजि घंटिका लोपे। वरी बंधु जो आरोपें।
तो जालंधरु म्हणिपे। पांडुकुमरा।।२०८।।
नाभी वरी पोखे। उदर हें थोके।
अंतरी फांकें। हृदयाकाशु।।२०९।।
स्वाधिष्ठानावरिचिले कांठीं। नाभिस्थानातलुवटीं।
बंधु पडें तो किरीटी। वोढियाणा।।२१०।।
ऐसींशरीराबाहिरीलीकडें। अभ्यासाचीपांखरपडे।..।।२११।।

९) अभ्यासाची एकाग्रता::::

तंव आंतु त्राय मोडे। मनोधर्माची।।२११।।
कल्पना निमें। प्रवृत्ति समें।
आंग मन विरमें। सांवियांचि।।२१२।।
क्षुधा काइं जाहालिं। निद्रा केऊतिं गेलीं।
हें आठवणहिं हीरतलीं। न दिसें वेगां।।२१३।।

१०) अपानाचे मुरडणे, व्याधींचा उद्भव व नाडिशुद्धी::::

जो मूलबंधें कोंडला। अपानु माघौतां मुरडलां।
तो सवेंचिं वरि सांकडलां। फुगु धरि।।२१४।।
क्षोभलेपणें माजें। उवाइलां ठाईं गाजैं।
मणिपूरैंसिं झूंजैं। राहौनियां।।२१५।।
मग थांवलीं तैं वाहुंटलीं। सैंघ होऊनि घर डहुलीं।
बालपणींचिं कुहिटुलीं। बाहेरि घालीं।।२१६।।
भीतरि बलिं न धरैं। कोठेआं माझिं संचरैं।
कफपित्तांचें थारैं। उरौ नेदिं।।२१७।।
धातूंचें समुद्र उलंडीं। मेदाचें पर्वत फोडिं।
आंतुलिं मज्जा काढिं। अस्थिगत।।६-२१८।।
नाडितैं सोडविं। गात्रांतैं विघडविं।
साधकांतैं भेडसविं। परि बिहावें ना।।२१९।।
व्याधितैं दाविं। सवेंचि हारविं।...।।२२०।।

११) पृथ्वी व आपतत्त्वाची सरमिसळ::::

आपु पृथ्वि कालविं। एंकवट।।२२०।।

१२) कुंडलिनी वर्णन::::

तंव एरिकडें अर्जुना। आसनाचां उबारां।
शक्ति करिं उजगरां। कुंडलिणिएं।।६-२२१।।
नागाचें पिलें। कुंकुमैं नाहालें।
वलण घेऊनि आलें। सेजैं जैसें।।२२२।।
तैसिं तैं कुंडलिणि। मोटकिं औठैवलणिं।
अधोमुख सर्पिणि। निदैलिं असें।।२२३।।
विद्युल्लतेचि विडि। वह्निज्वालांचि घडि।
पन्हरेयां चोखडिं। खोटी जैसिं।।२२४।।
तैसिं सुबद्ध आडलिं। पुटीं होतिं दाटलिं।
तैं कुंडलिणी जगदम्बा। जैं चैतन्यचक्रवर्तिंचिं शोभा।
जैं प्राणाचिं उघडीं।जन्मभूमि।।२७३।।
जियां विश्व बिजांचियां कोंभा। साऊली केलीं।। २७२ ।।

१३) कुंडलिनी जागृती::::

तैं वज्रासनैं चिमुटलिं। सावध होएं।।२२५।।
तेथ नक्षत्र जैसें उलंडलैं। कां सूर्याचें आसन मोडलैं।
तेजाचें बीज विरूढलैं। अंकुरैंसिं।।२२६।।
तैसिं वेढियांतैं सोडी। कावतिकैं आंग मोडिति।
कंदावरी शक्ति। ऊठिलीं दिसैं।।२२७।।
साहाजें बहुवां दिआंचिं भूक। वरि चेवविलीं तैं होय मिख।
मग आवेसें पसरविं मुख। ऊर्ध्वा उजूं।।६-२२८।।

१४) पवनाचा कुंडलिनीत लय::::

तेथ हृदयाकाशतलुवटीं। जो पवनु भरैं किरीटी।
तेयां सगलेंयांचि मिठी। देऊनि घालीं।।२२९।।

१५) शरीरस्थ सर्व गौण चक्रांचा वेध::::

शरीरात वेगवेगळी अनेक चक्रे असतात. त्यांचा संबंध इतरेतर अवयवांशी, धातू, मज्जा इ.शी असतो. कुंडलिनी त्या सर्वांचा वेध करते असा भावार्थ आहे.

मुखिंचां ज्वालीं। तलीं वरीं कवलीं।
मांसाचिं वडवालीं। अरोगूं लागें।।२३०।।
जैं जैं ठांय समांस। तेथ आहाच जोडें घाऊस।
पाठीं एकदोन घांस। हियांहीं भरि।।२३१।।
मग तलुवैं तलुहाथ शोधिं। ऊर्ध्वींचें खंड भेदीं।
झाडां घें संधिं। प्रत्यांगाचां।।२३२।।
आधार तन्हैं न संडीं। परि नखिंचेंहिं सत्त्व काढीं।
त्वचा धुवूनि जडी। पांजरेंसिं।।६-२३३।।
अस्थिंचें नलैं निरपैं। सिरांचैं हिर ओरपैं।
तंव बाहेरि विरुढी करपैं। रोमबिजांचिं।।२३४।।
मग सप्तधातूंचां सागरि। तान्हैलीं घोंटु भरि।
आणि सवेंचिं उन्हाला करि। खडखडीतु।।२३५।।

१६) पृथ्वी व आपतत्त्वांचे कुंडलिनीत समावणे व सुषुम्नेत प्रवेशाची स्थिती::::

आइकैं पर्थिव धातू आघवें।आरौगितां कांहिं नुरवैं।
आणि आपांतैं तंव ठेवें। पुसौनियां।।२३९।।
तेथ तृप्तिचेनि संतोखें। गरल जैं वमि मुखें।
तेणें तियेचेनि पीयूखैं। प्राणु जियें।।६-२४१।।
तो आगिंआंतूनि निघें। परि सबाह्य निववूंचि लागें।
तैं वेलीं कसु बांधिति आंगें। सांडिलां पुडुति।।२४२।।
ऐसिं दोनिं भूतें खाएं। तैं वेलीं संपूर्ण धाएं।
मग सौम्य होऊनि राहें। सुषुम्नेपासिं।।२४०।।

१७) चक्रांचा वेध व नाममात्र उरणे::::

मार्ग मोडिथि नाडीचें। नवविधपण वायूचें।
जाएं म्हणौनि शरीरिचें। धर्मु नाहीं।।६-२४३।।
इडा पिंगला एकवटथि। गांठी तिान्हिं सूटति।
साही पदर फुटथिं। चक्रांचें हें।।२४४।।
तेआं खेंवांमाजिं चक्रांचें। पदर उरति।।६-२३७।।

१८) नासापुटातील इडा व पिंगला नाड्यांची मिळणी::::

नासापुटौनि वारा। जो जात होतां आंगुलैं बारा।
तो गचियें धरौनि माघारां। आंतु घालिं।।२३६।।
शशि आणि भानु। ऐसां कल्पिजैं जो अनुमानु।
तो वातिवरि पवनु। गिंवसितां न दिसें।।२४५।।
यरविं तन्हैं दोनिं तेव्हांचि मिलति।
परि कुंडलिणी नांवेक दुश्चित होति।
तैं तेयांतैं म्हणें परौति। तुमिचिं कांइंसिं एथें।।२३८।।

१९) बुद्धी व वायुतत्त्वाचे कुंडलिनीत सामावणे व सुषुम्नाप्रवेश::::

बुद्धीची पुलिका वीरैं। परिमलु घ्राणिं उरैं।
तोहिं शक्तिसवें संचरैं। मध्यमेमाजिं।।६-२४६।।

२०) इडेच्या टोकावरले चंद्रामृताचे तळे कलंडणे व त्याचा रस कुंडलिनीने पिणे::::

तंवं वरिलेकडौनि ढालैं। चंद्रामृताचें तलैं।
कानवडौनि मिलैं। शक्तिमुखिं।।२४७।।
जै हेलीं कुंडलिनी चंद्रु पिएं।
तेणें नातकैं रसु भरैं। तो सर्वांगामाझिं संचरैं।
जेथिंचां तेथ मुरैं। प्राणपवनु।।२४८।।

२१) पिंडाचे सिद्धदेहात परिवर्तन::::

तातलिएं मुसैं। मेण निघौनि जाएं जैसें।
कोंदलीं ठाएं रसें। ओतलेनि।।६-२४९।।
तैसें पिंडाचेनि आकारैं। तैं कलाचिं कां अवतरैं।
वरि त्वचेचैनि पदरैं। पांघुरिलीं असें।।२५०।।
जैसिं आभालाचिं बूंथि। करूनि राहें गभस्ति।
मग फिटैलेयां दीप्ति। धरूं नैएं।।२५१।।
तैसां आाहाचिवरि कोरडा। त्वचेचां असे पातवडा।
तो झडौनि जाएं कोंडा। जैसां होएं।।२५२।।
मग काश्मिराचें स्वयंभ। कां रत्नबीजां निगालें कोंभ।
अवयवकांतिचिं भांभ। तैसिं दिसें।।६-२५३।।
ना तन्हैं संध्यारागिंचें रंग। काढूनि वलिलैं तैं आंग।
किं अंतर्ज्योतिचें लिंग। निर्वाललैं।।२५४।।
कुंकुआचें भरिवं। सिद्धरसाचें ओतिवं।
मज पाहतां सावेव। शांतिचि तैं।।२५५।।
तैं आनंदचित्रिचें लेप। ना तन्हैं महासुखाचें रूप।
किं संतोखतरूचें रोप। थांवलैं जैसें।।६-२५६।।
तो कनकचंपकाचां कलां। किं अमृताचां पुतलां।
नाना सांसिन्नलां मलां। कोंवलिकेचां।।२५७।।
हो कां जैं शारदियेचियें ओलैं। चंद्रबिंब पाल्हैलैं।
कां तेजचिं मूर्त बैसलैं। आसनावेरि।।२५८।।
.....तैसें शरीर होएं।
मग देहाकृतिं बिहैं। कृदांतु गां।।२५९।।
वृद्धाप्य तन्हैं बहुडैं। तारुण्याचिं गांठि विघडैं।
लोपलीं उघडैं। बालदशा।।६-२६०।।

वयसा तन्हैं येतुलेंवरीं। एरविं बलाचां बलार्थु करि।
धैर्याचिं थोरि। निरुपम।।२६१।।
कनकद्रुमाचां पालविं। रत्नकलिकांचि नित्य नविं।
नखैं तैसिं बरविं। नविं निघतिं।।२६२।।
दांतहिं आन होति। परि अपाडें सांनैजति।
जैसिं दोबाहिं बैसें पातिं। हिरेयांचिं।।६-२६३।।
माणिकुलियांचियां कणियां। साावियांचि अणुमानियां।
तैसियां सर्वांगिं उधवति अणिया। रोमांचियां।।२६४।।
करचरणतलैं। जैसिं कां रातोत्पलैं।
पाखालीं होथिं डोलैं। काइं सांघों।।६-२६५।।
निडाराचेनि कोंधाटें। मोतियें नावरति संपुटैं।
मग सिवणि जैसिं उतटें। शुक्तिपल्लवांचिं।।२६६।।
तैसिं पातिचियें कवलियें ना सामाएं।
दिठी जाकलौनि निगों पाहें।
आधिलिंचिं परि होएं। गगना कलितिं।।२६७।।
आइकैं देह होएं सोनियाचें। परि लाघौं ऐं वायूचें।
जैं पृथ्वि आन आपाचें। अंशु नाइं।।६-२६८।।

२२) सिद्धींचा अभिभव::::

मग समुद्रापैलाडिं देखैं। स्वर्गिंचां आलोचु आइकैं।
मनोगत ओलखैं। मुंगियेचें।।२६९।।
पवनाचां वारिकां वलघैं। चालैं तन्हैं उदकि पाऊल न लगैं।
एणें बहु काइं प्रसंगैं। होति सिद्धि।।२७०।।

२३) पवनाची मेळणी झाल्यानंतर कुंडलिनीचे मध्यमामार्गे हृदयात (आज्ञाचक्रावरील अवकाशात) महदाकाशात उत्क्रमण व पश्यंति-विशुद्धीचक्रक्रमण::::

मग जालांधर सांडिं।...।।३०३।।
पश्यंतिचिएं पाउटीं। माघां घालिं।।३०३।।
आइकैं प्राणाचां हातु धरौनि। गगनाचिं पाऊटी करौनि।
मध्यमेचेनि दादरैहूनि। हृदयां आलीं।।६-२७१।।

२४) अनाहतनादप्राकट्य::::

हें असो तैं कुंडली। हृदयां आंतु आलीं।
तंव अनाहताचि बोलिं। चावलैं तैं।।२७४।।

२६) सहस्रदलकमलातील चैतन्याचा आविर्भाव::::

आइकैं कमलगर्भाकारैं। जैं महदाकास दुसरैं।
जेथ चैतन्य आथुधुरैं। करौनि असिजैं।।६-२८०।।
तेणे तैं आइकिलैं। आलुमालु।।२७५।।

२७) तेजस्तत्त्वाचा लय::::

शक्तिचियां आंगां लागलैं। बुद्धिचें चैतन्य होतें जालें।..।।२७५।।
तेयां हृदयाचां परिवरि। कुंडलिणियां परमेश्वरि।..।।२८१।।
बुद्धिचेनि शाकैं। हातबोनें नीकैं।..।।२८२।।
तेजाचिं सिधौरिं। विनियोगिलीं।।२८१।।

२८) लयक्रम::::

पृथिवितैं आपु विरविं। आपांतैं तेजु जिरविं।
तेजातैं पवनु हारविं। हृदयामाझिं।।२९९।।
लोप आथि भूतत्रेआं। देहिंचा देहीं।।६-२९८।।
विसरौनि गेलों अर्जुना। जंव नासु नाइं पवना।
तंव वाचा आथि गगना। म्हणोनि घुमैं।।२७८।।

२९) शक्तीचे रूप मावळणे व पवन–मारुत रूपात संक्रमण::::

आइसिं निजकांति हारविलिं। मग प्राणुचि केवल जाहालीं।
तैं हेलीं कैसिं गमलीं। म्हणाविं पां।।६-२८३।।
हो कां जैं पवनाचि पुतली। पांगुतिलीं होति सोनेसलीं।
तैं फेडूनियां वेगलीं। ठेविलीं तिएं।।२८४।।
ना तन्हैं वारआचेनि आंगैं झगटलीं। दीपाचिं दिठी निमुटिलीं।
कां लखलखौनि हारपलीं। विजू गगनिं।।२८५।।
तैसिं हृदयकमलवेन्हीं। दिसैं सोनियाचि जैसिं सरी।
ना तन्हैं प्रकाशजलाचिं झरि। वाहांति आली।।२८६।।
मग तियें हृदयभूमिं पोकलैं। जिरालीं कां एकैं हेलें।
ऐसें शक्तिचें रूप मावलैं। शक्तिचि माझिं।।२८७।।
तेव्हां तन्हीं शक्तिचि म्हणिजैं।
एरविं तो प्राणु केवलु जाणिजैं।।२८८।।

३०) मारुत अवस्था::::

तैं हेलीं कुंडलिणी हें भाख जाएं। मारुत आइसैं नाम लाएं।
परि शक्तिपण तैं आहें। जंव न मिलैं शिविं।।३०१।।

३१) खेचर स्थिती::::

आइकैं शक्तीचैं रूप लोपैं। तेथ देहिंचें रुप हारपैं।
मग तो डोलियांचिमाझिं लपैं। जगाचियां।।६-२९३।।
यरविं आदिलांचि ऐसें। सावयव तन्हैं असें।
परि वायूचें कां जैसें। वलिलैं होएं।।२९४।।
ना तन्हैं कर्दलींचां गाभां। बुंथि सांडौनि उभा।
कां अवयवचि नभां। निवडलां जो।।२९५।।
तैसें होए शरीरु। तैं तैं म्हणिजैं खैंचरुं।
हें पद होतां चमत्कारुं। पिंडु जनिं।।६-२९६।।
देखैं साधकु निगौनि जाएं।
माघां पाऊलांचि ओलि राहैं।..।।२९७।।

३२) अणिमादी सिद्धींची प्राप्ती::::

तेथ ठाईं ठाईं होएं। आणिमादिकिं।।२९७।।
पन्हैं तेणें काइं काज आपणेयां। अवधारि आइसां धनंजया।

३३) भ्रमरगुंफेत नादाचा आविर्भाव::::

भ्रूलता माघिलिकडें। मकाराचेचि आंग न मांडें।...।।३१३।।
फुडां तन्मात्रा अर्धवेरि। आकासाचां आंतरि।..।।३०४।।
सडेयां प्राणा सांकडें। गगना एतां।।३१३।।
तेयां अनाहताचेनि मेघैं। आकाश दुमदुमौं लागैं।..।।२७९।।
घोषांचां कुंडीं। नादचित्रांचि रुपडीं।
प्रणवाचियां मोडीं। रेखिलीं जैंसिं।।२२६।।
तवं ब्रह्मस्थानिंचें बेगें। फीटैं साहाजैं।।२७९।।
हेंचि कल्पावैं तन्हीं जाणिजैं। परि आतां कल्पितैं कैंचैं आणिजैं।
तन्हैं नेणों काइं वाजैं। तेयां ठायां।।२२७।।

३४) मरुल्लय::::

पाठिं आपण एकलां उरैं। परि शरिराचेनि अनुकारैं।
तोहिं निगैं अंतरैं। गगनां मिलैं।।३००।।
पाठिं तेथेंचिं तो भांसललां। तवं शब्दाचां दिओ मावललां।

३५) आकाशतत्त्वाचा लय::::

मग तेयांहि वरि आटु भविनला। आकासाचां।।३१४।।

३६) उन्मनीपलीकडील स्थिती :आज्ञाचक्रोपरांत ॐकार(मन, हंस,बुद्धी वरील)::::

तैं ॐकाराचिएं पाठिं। पाएं देत उठाउठिं।
गगनाचिएं पाहाडिं। पैठिं होएं।।६-३०२।।
आतां नादबिंदु नेणिजैं। कला ज्योति।।२८८।।

३७) अध: कुंडलिनी व ऊर्ध्व कुंडलिनीशी मध्या कुंडलिनीची मेळणी व मूर्ध्निस्थानस्थ सुषुम्नामुखाचा - ककारांताचा –भेद ब्रह्मरंध्री मिळणे::::

तेथ अध वरौतैं आकुंचें। ऊर्ध्व तलौतैं खांचें।
ककारांत फोडिं।...।।३०३।।
भरति गमैं सागरिं। सरितां जैसिं।।३०४।।
मग ब्रह्मरंध्रिं थिराओनि। सोऽहंभावाचियां बाह्या पसरौनि।
परमात्मलिंगा धांओनि। आंगां घडें।।३०५।।
तंव महांभूतांचि जवनिक फिटैं। मग दोघांसिहि होय झटैं।
तेथ गगनासगट आटैं। समरसिं तिएं।।३०६।।

३८) पदीं पद प्रवेशें::::

द्वैत जेथ न देखैं। तैसें केलें।।२८२।।
अर्जुना एरविं तन्हैं। एआं अभिप्रायाचां गर्वु धरि।
तैं पाये वैखरि। दूरि ठेलिं।।३१२।।
आतां महाशुन्याचां डोहिं। गगनासिंचि थाउं नाइं।
तेथ तागा लागैल काइं। इयां बोलाचां।।३१५।।
पैं मेघाचेनि मुखैं निवडलां। समुद्दु कां ओघिं पडिलां।
तो माघुतां जैसां आला। आपणपेआं।।६-३०७।।
तेंविं पिंडाचेनि मिखैं। पदीं पद प्रवेशें।
तैं एकत्व होएं तैसें। पंडुकुमरां।।३०८।।
आतां दुजैं हान होतें। किं एकचिं हें आइतैं।
ऐसिएं विवंचनेपुरतैं। उरेचि ना।।६-३०९।।
गगनिं गगन लयां जाएं। आइसें जैं काइं आहे।
तैं अनुभवैं जो होऐं। तो होऊनि ठाकैं।।३१०।।
म्हणौनि तेथिंचिं मातु। न चडेचि बोलाचां हातु।
जेणें संवादाचिआं गांवांआंतुं। पैठी किजैं।।६-३११।।
म्हणऊनि आखरामाझिं सांपडें। किं कानवेरि जोडें।
हें तैसें नोहें फुडें। त्रिशुद्धि मां।।६-३१६।।
जैं कंहिं दैवें। अनुभविलें फांकवै।
तैं आपणचि हें ठाकावैं। होओनिआं।।३१७।।

३९) अद्वैतस्थितीचे वर्णन::::

पुडुति जाणणैं तैं नाइं चिं। म्हणौनि असो केती हें चिं।
बोलावैं आतां वांयांचिं। धनुर्द्धरां।।३१८।।
आइसें शब्दजात माघौतैं फिरैं। तेथ संकल्पाचें आयुष्य पुरैं।
वाराहिं जेथ न शिरैं। विचाराचां।।६-३१९।।
जैं उन्मनियेचें लावण्य। जैं तुरियेचें तारुण्य।
अनादि जैं अगण्य। परमतत्त्व।।६-३२०।।
जैं आकाराचां प्रांतु। जैं मोक्षाचां एकान्तु।
जेथ आदि आणि अंतु। विरौनि गेलें।।३२१।।
जैं विश्वाचें मूल। जैं योगद्रुमाचें फल।
जैं आनंदाचें केवल। चैतन्य गां।।३२२।।
जैं महाभूतांचे बीज। जैं महातेजाचें तेज।
एवं पार्था जैं निज। स्वरूप माझें।।३२३।।
हें चतुर्भुज कौंभैलिं। जेयांचिं शोभा रूपां आलीं।
देखौनि नास्तिकीं नोकिलीं। साधुवृंदें।।३२४।।
तै अनिर्वाच्य माहासुख। आपणचिं जाहालैं जैं पुरुष।
जेयांचें कां निष्कर्ष। प्राप्तिवेरि।।३२५।।
आम्हिं साधन जैं हें सांधितलें। तैंचि शरीरीं जिहि केलें।
तैं आमचेन पाडें आलें। निर्वाललेयां।।३२६।।
परब्रह्माचेनि रसें। देहाकृतिचेनि मुसैं।
ओतिवं जालें तैसें। दिसथि आंगैं।।३२७।।
ना तन्हीं प्रतीति हान आंतरि फांकैं।
तन्हैं विश्वचि हें आघवैं झांकैं।..।।३२८।।
मनाचां हान मारु। कां पवनाचां धरुं।
ध्यानाचां आदरुं। नाना परीं।।२८९।।
हें कल्पना घें सांडिं। तैं नाइं इयें परवडिं।
हें महाभूतांचिं फुडी। आटणी देखां।।२९०।।
तंव अर्जुन म्हणें नीकैं। सांचचि हें।।३२८।।

४०) नाथसंकैतिंचां डंसु::::

पिंडें पिंडाचां ग्रासु। तो हां नाथसंकैतिंचां दंसु।
परि दाऊनि गेला उद्देसु। माहाविष्णु।।२९१।।
तेयां ध्वनिताचें केणें सोडूनि। यथार्थाचिं घडी झाडूनि।
उपलविलीं मियां जाणूनि। ग्राहिक श्रोते।।६-२९२।।

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

::उन्मेष ४५-२::

::लययोगसमालोचन::

::योगशास्त्रसमन्वय::

योगशास्त्रसमन्वय:उपोद्घात-७७६
समन्वय
पातञ्जलयोग व समन्वय-७७७
प्रज्ञा व कुंडलिनी
पंथराज व लयक्रम -७७८
आठव्या अध्यायातील पंथराज
सिद्धसिद्धांतपद्धति:सोळा आधार -७८९
पंथराजातील आधार
त्रिलक्ष्ये व पंचव्योम
पंथराजावर एक दृष्टिक्षेप: पंथराजाचे साधन-७८०
पंथराजाच्या पायऱ्या
पंथराजाचा पुढील अनुक्रम
पंथराजाचा पुनर्विचार
कुंडलिनी उत्क्रमण(२):कुंडलिनी-७८१
केवलकुंभक
कुंडलिनीचे ध्यान
त्रिबंध व हृदयाकाश
हृत्संवितचक्र व अनाहतचक्र इ. -७८२
टीप-१: हृदयस्थान-७८४
टीप:२: योगानुभूती नसलेल्या आणि अर्धवट ज्ञानी योगसाधकांनी केलले योगशास्त्रविषयक लिखाण आणि गुर्वोपायाचे आत्यंतिक महत्त्व
वेग्वलवुंग्भक, अध:वुंग्डलिनी व ऊर्ध्वकुंडलिनी -७८६
धर्ममेघ समाधि
मध्या कुंडलिनी व तत्त्वलय–७८७
टीप - लयावस्थेच्या पायऱ्यांचा अनुक्रम व शक्तीचे संपूर्णत्वाने उत्थान आणि आंशिक उत्थान
अजपासिद्धी
प्रधानजय-७८८
हंसस्वरूप
पुढील अवस्था
महासुख-७८९
योगसिद्धी:पुढील विषयानुसंधान
योगसिद्धिलक्षणे
योगाचे सोपेपण
योगसाधना सोपी की कठीण-७९०
उपासनाभेद:भक्तांचे योगित्व
अर्जुनाचा प्रश्न
दोन प्रकारच्या उपासनांपैकी उत्तम कोणती-७९१
समन्वय
व्यक्त आणि अव्यक्त
भक्त आणि योगी
श्रीकृष्णांचे उत्तर
"उपासते" - "पर्युपासते"-७९२
भगवंताचे स्वरूप
व्यक्तोपासक आणि अव्यक्तोपासक
व्यक्तोपासक:परमयोगयुक्त-७९३
अव्यक्तोपासना:"सोऽहंभाव"
कुंडलिनीयोग
भक्तिविण केलेला योग-७९४
निव्वळ क्लेशदायक योगप्रकार-७९५
अव्यक्ताचे अशक्यप्राय ध्यान
व्यक्ताव्यक्तउपासना समारोप: अर्जुनाच्या प्रश्नाचे उत्तर
भक्तिसह योगाचे सोपेपण-७९६
कुंडलिनीयोग तसा कठीण नाही.
भक्तिपंथ व पंथराज-७९७
"ध्यानमिखैं घर। माझें जाहालें"
पंथराजाचे सूत्रसमन्वयन
समारोप

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

उन्मेष ४५-२:

गीता:
६:१७-१९
७:१,२
११:५५
१२:१-७
ज्ञानेश्वरी:
६:१४९-३२८, ३५४- ३६३
८:४८-५२
११:१०-३२
१२:४-७,२०-८०
१७:८
पा.यो.सू.:
१:३,२०-२८,३९,४०-४४, ४५, ४८, ५१
२:१-१०,११,१७,२५-२७,४६
३:५,६,३४,३९,४०,४२-५४,
४:२५-३४
सि.सि.प.:
१:१
२:१,३
५:४-७,२९,३१-३३,३५,६३
सौदर्य.:१,९,३६-४१
घेरंडसंहिता:६:१-२२
हठयोगप्रदीपिका:
१:१,२
३:१२९
४:३४

::उन्मेष ४५-२::
::लययोगसमालोचन::
::योगशास्त्रसमन्वय::

योगशास्त्रसमन्वय::::

उपोद्घात

मागील ***उन्मेष क्र. ४५-१*** मध्ये आपण लययोगाचे एक समालोचन केले. स्वामी विष्णुतीर्थांचे योगचक्रांबाबतचे व पूर्व व पश्चिममार्गावरचे मत पाहून त्या उन्मेषाचा समारोप केला होता. त्या समालोचनाचा काही अवशिष्ट भाग या उन्मेषातून आपण पाहणार आहोत आणि जमेल तितका या पंथराजविषयक लययोगाचा समन्वय करण्याचा प्रयत्न करणार आहोत.

सर्व मतांचा समन्वय

मागील उन्मेषातील विचारांचा जो आढावा आपण घेतला होता, त्यानुसार सर्व बाबींचा साकल्याने विचार करता पुढीलप्रमाणे अनुमान करण्यास प्रत्यवाय नसावा:

१) ***कन्द ते आज्ञाचक्र*** हा सुषुम्नागत मार्ग ***पूर्वपथ*** आहे.

२) **आज्ञाचक्र ते पुढील ब्रह्मरंध्र**पर्यंतचा मार्ग ***पश्चिमपथ*** आहे.

३) ***श्रीहट, गोल्हाट*** इ.संज्ञा कळून घेण्यासाठी ज्ञानेश्वरीव्यतिरिक्त प्रमाणे शोधावी लागतील. ज्ञानदेव व त्यांची भावंडे व इतर संतयोगी यांच्या अभंगादी रचना त्यासाठी विचारात घ्याव्या लागतील.

४) **आज्ञाचक्रापासून एक मार्ग सहस्रदलाकडे व दुसरा ब्रह्मरंध्राकडे जातो**, हे पं. गोपीनाथ कविराज यांचे म्हणणे पटण्यासारखे वाटत नाही. चक्रांचे कमलामध्ये कुंडलिनी जागृतिपरांत परिवर्तन होते, हे त्यांचे मत ग्राह्य धरले तर ब्रह्मरंध्रचक्राचेच सहस्रदलपद्मात रूपांतर होण्याची संकल्पना कदाचित मांडता येईल. परंतु हा विचारसुद्धा इतर यौगिक चक्रसंकल्पनांचा आढावा घेता टिकण्यासारखी नाही.

भक्तिरसशास्त्रानुसार प्राप्त होणाऱ्या आनंदावस्थांसाठी त्यांनी तसेच श्री. बाबामहाराज आर्वीकरांनी सहस्रदलकमलाकडे जाणाऱ्या वेगळ्या मार्गाचे विधान केले आहे. पण आपण मान्य केलेल्या पश्चिमपथावर म्हणजे बैन्दवादी स्तरांवर या अवस्था प्राप्त होण्यास काहीही प्रत्यवाय नसावा.

स्वामी श्रीविष्णुतीर्थ महाराजांच्याही मतानुसार उन्मनीनंतर ***गुह्यचक्र व सहस्रार*** असे दोन स्तर आहेत ***(सौंदर्यलहरी -योगिक चक्रचित्र -तत्रैव). सहस्रार चक्र*** हे शिवाचे स्थान, शक्तीचे अंतिम गंतव्य आणि परमपद आहे ***(देवात्मशक्ती -स्वा.श्रीविष्णुतीर्थ महाराज).*** म्हणून ***आज्ञाचक्रापासून सुषुम्नापथ जो वज्रा व चित्रिणी नाडी*** या संज्ञांनी ओळखला जातो, त्यावरच ***बिंदू ते सहस्रार वा ब्रह्मरंध्रचक्र*** असतात आणि हाच केवल एक मार्ग तेथे असतो, दोन वेगवेगळे मार्ग तेथे नसतात, असे आपणास म्हणावे लागते.

हेच मत साधारणपणे सर्व योग्यांस संमत असे असल्याचे वाटते. प्रत्येकास सर्वच चक्रांचे सर्वच अनुभव शास्त्रात सांगितलेल्या चक्रक्रमानेच येतात असे नाही. म्हणून ही मतमतांतरे होतात, असेही एक अनुमान आहे. असो.

"पैं योगिवृंदें वहिली। आडवि आकासिं निगालिं। कि तेथ अनुभवाचां पाऊलिं। धोरणु पडिलां।।६-१५४।। तिहीं आत्मबोधाचेनि उजुकारें। धांव घेतलीं एकसरें। कीं येर सगळें मार्ग निदसुरें। सांडूनियां।।१५५।। पाठीं महर्षि येणें आले। साधकांचे सिद्ध झालें। आत्मविद थोरावलें येणेंचि पंथें।।१५६।।" या ओव्यांवरून ब्रह्मांडात जाण्याचा एकच सर्वसंमत पथ आहे, असे ज्ञानदेवांचेही म्हणणे आहे असे दिसते. आकाशातील आडरानात योगी जात असता अनुभवांती तेथे एक रुळलेली पायवाट झाली. इतर सर्व मार्ग सोडून योगसाधकांनी मग त्याच एका वाटेवरून धाव घेतली आणि ते सर्व त्याच वाटेने जाऊन साधकांचे सिद्ध झाले. महर्षीही झाले. असे या एकाच एका पायवाटेचे वर्णन ज्ञानदेवांनी पंथराजाच्या आरंभीच्या वर्णनात केले आहे.

५) ***पातञ्जलयोगाचा पथ व साध्य*** ही कुंडलिनीयोगापेक्षा वेगळी आहेत असे मत ग्राह्य ठरत नाही. दोघात यांबाबत अभिन्नता आहे.

६) त्याचप्रमाणे ***हठयोग*** सुद्धा कुंडलिनीयोगापेक्षा काही वेगळा आहे, असे मत अप्रमाण ठरते. दोन्हींमध्ये अभिन्नता असावी इतके साधर्म्य आहे.

(टीप: *पं.गोपीनाथ कविराज* यांच्या ***"भारतीय संस्कृतिका इतिहास-खंड१"*** प्रमाणे आणि अन्य यौगिक मतांनुसार ***"आज्ञा-➢ सहस्रदलकमल-➢ त्रिवृत्ती-➢ सहा शून्ये-➢ सातवे शून्य(दशमद्वार/ब्रह्मरंध्र)-➢ सहा महाशून्ये-➢ भ्रमरगुहा-➢ सत्यलोक-➢ अलक्ष्यलोक(अलख)-➢ अगम-➢अनामीलोक"*** असा सत्यपथ वा सुषुम्नामार्ग जातो. या मार्गावर सुषुम्नेव्यतिरिक्त इतर दोन महत्त्वाच्या नाड्या आहेत:

१)बंकनाल - *बंकनाल* ही नाडी मूलाधारचक्र ते आज्ञाचक्र जाते. मध्ये नाभीच्या डावीकडून जात हृदय व वक्षस्थल यांना स्पर्श करते. आज्ञाचक्रात रुद्रग्रंथीला मिळते. तेथून पुढे चढतचढत ती क्रमशः ब्रह्मरंध्रात पोहोचते. तेथून मस्तकामागे थोडी लटकत वर चढते. त्या ठिकाणी तिचा आकार अर्धचंद्राकार असतो. म्हणून तिला ***बंकनाल*** म्हणतात. पुढे जाऊन ती महाशून्याच्या अंती भ्रमरगुंफेत प्रवेशते. भ्रमरगुंफा हे सत्यलोक आणि वरचे लोक यांचे द्वार आहे. कुंडलिनी उत्क्रमणासाठी ही एक महत्त्वाची नाडी आहे.

२)गुह्यिनी - ही नाडी आज्ञाचक्रावरून थेट सहस्त्रारचक्रात जाते.)

७) पातञ्जलयोग, हठयोग, कुंडलिनीयोग यात ***गुरुकृपा*** असली की त्याच योगांचा ज्ञानेश्वरोक्त ***पंथराज*** होतो व तो मार्ग ***सुलभ*** होतो. या सुलभतेचे अधिक प्रमाण बाराव्या अध्यायात मिळते. तेथे ज्ञानदेवांनी गुरुमाऊलीचे कौतुक सांगतांना ***"अनुहतांचां हळुरु गासि", "समाधिबोधें बुझाविसिं"*** इ.वचनांद्वारे गुरुकृपेने योगमार्ग कसा सुकर आहे, याची साक्ष दिली आहे.

आपण पाहतच आहोत की ***गुरुकृपा, ईश्वरप्रणिधान व सगुणभक्ती हा पंथराजाचा आत्मा आहे.*** त्यास ***कुंडलिनीजागृतीचे अधिष्ठान*** आहे. ***नादानुसंधान*** तर आहेच. ***लयात्मक*** असे त्याचे स्वरूप आहे. पातञ्जलयोग, हठयोग व कुंडलिनीयोग यांद्वारे वांछित असे समाधिसुख वा पराकोटीची अवस्था पंथराजसापेक्ष भिन्न नसल्याचेही आपण पाहतोच आहोत. त्यामुळे **ते योग व पंथराज यातील क्रिया भिन्न नसून एकाच प्रकाराच्या असल्या पाहिजेत.** फरक कोठे पडतच असेल तर तो (अ) भिन्नभिन्न संज्ञांचा आणि (ब) त्या त्या योगविशिष्ट अवस्थांचा मेळ घालण्यात - त्यांचा समन्वय करण्यात! असो.

पातञ्जलयोग व पंथराज समन्वय

यानंतर आपण ***पातञ्जलयोग व पंथराज*** यांचा थोडा ***समन्वय*** करून पुढे जाऊ या:

याबाबत आतापावेतोच्या विवेचनावरून स्पष्ट होते की पतञ्जलींचा ***निर्बीज असंप्रज्ञात समापत्ति वा समाधि*** हा स्वरूपप्राप्ती करून देतो. हेच ***कैवल्य*** होय. प्रतिप्रसवक्रमाचे ध्येय ते हेच! पंथराजाचेही साध्य हेच आहे. ***यम-नियम-आसन - प्राणायाम - प्रत्याहार*** या बहिरंग साधनेचेही या दोहोत विलक्षण साम्य आहे. त्याचप्रमाणे ***धारणा व ध्यान*** यांनी पंथराजाच्या उत्तमांगांच्या अभ्यासास सुरुवात होते.

त्यानंतर समाधीचा टप्पा येतो. येथे एक फरक प्रकर्षाने जणवतो. ज्ञानेश जो समाधि सांगतात तो पतञ्जलींच्या समाधिपथाचा शेवटचा टप्पा म्हणजे ***असंप्रज्ञात समाधि*** आहे. **तत्पूर्वीचे समाधि संप्रज्ञात असून ज्ञानेश त्यांचा साधनात अंतर्भाव करतांना दिसतात.** नामसंकीर्तनादी भजनाचे ज्ञानेश्वरीतील जे स्थान आहे, ते पातञ्जलयोगातील संप्रज्ञात समाधिसिद्धिप्रीत्यर्थ असल्याचे आपणास जाणवते. ईश्वरप्रणिधानाचा हा सरळ सरळ मार्ग आहे. त्याचे दर्शन आपणास *८,९,१०,११ व १२* या अध्यायांच्या उर्वरित भागाचे समालोचन करतांना घडणार आहे.

पतञ्जलींच्याही मते ज्याला जे इष्ट वाटत असेल, प्रिय असेल, त्याच्या ध्यानाने - यात ईश्वरप्रणिधानसुद्धा आलेच - सूक्ष्मातिसूक्ष्म आलंबनविषयांपासून तहत महान आलंबनविषयांपर्यंत सहजच मनाची एकाग्रता होणे हा चित्ताचा ***वशीकार*** प्राप्त होतो***("परमाणुपरम-महत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:।।१-४०।।पा.यो.सू.।।").***

त्यातूनच ***"क्षीणवृत्ते...।।१-४१।।पा.यो.सू.।।"*** या सूत्रातून सांगितलेला ***संप्रज्ञात समापत्ति*** प्राप्त होतो. स्थूलापासून सूक्ष्म आलंबनविषयांवर जसजसे चित्त केंद्रिभूत होत जाते, तसतसे ***सवितर्क –➢ निर्वितर्क -➢सविचार -➢ निर्विचार*** हे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ ***संप्रज्ञात समाधि*** प्राप्त होतात *(१-४२ ते ४४, पा.यो.सू.).* या सर्व ***सबीज समाध्यवस्था*** आहेत.

यानंतर जेव्हा चित्ताचे ***अलिङ्गपर्यवसान*** होते, तेव्हा एकाग्रतेसाठी चित्तास आलंबनविषय लागत नाही. त्यावेळी ***निर्विचारवैशारद्यसिद्धी*** प्राप्त होते. यमनियमादी अष्टांगयोगाचे हे अनुष्ठान ***"अविप्लव विवेकख्याति"*** प्राप्त करून देते *(२-२६ व ३-४९ पा.यो.सू.).* यासच ***"सत्त्वपुरुषान्यताख्याति"*** असेही म्हणतात.

या योगाच्या ***वैराग्य - विवेक*** अशा प्रारंभीच्या पायऱ्या आहेत. या पण पंथराजासमानच आहेत. यातूनच प्रज्ञेचा उदय होतो. ***"तज्जयात्प्रज्ञालोक:।।३-५।।पा.यो.सू.।।"*** अशी ही ***प्रज्ञा*** संयमजयाचे फल असल्याचे आपण पाहिले आहे. संयमापासून प्राप्त होणाऱ्या सिद्धी हे या प्रज्ञेचे आनुषंगिक फल आहे. पण तिचा योग्य विनियोग करावा असे पतञ्जली म्हणतात *(३-६,पा.यो.सू.).* निर्विचारवैशारद्यातून ***अध्यात्मप्रसाद*** होऊन प्राप्त होणारी **ऋतंभरा प्रज्ञा** ती हीच आहे *(१-४८,पा.यो.सू.).*

सप्तधा प्रांतभूमी असणारी ही प्रज्ञा विवेकख्यातीतून साधकास पुढे घेऊन जाण्यास समर्थ असते ***("तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि: प्रज्ञा।।२-२७।।पा.यो.सू.।।").*** याच प्रज्ञेच्या सामर्थ्याने ***गुणपरिणामक्रमसमाप्ती*** घडून साधकास ***विवेकजज्ञानप्राप्ति*** होते व ***द्रष्टादृश्यसंयोगाचे हान*** घडून येऊन ***प्रतिप्रसव*** साध्य होतो *(४-३१ ते ३३, ३-५२ ते ५४, ३-४९, ४-३४, २-१७, २-२५, २-१० व २-११,पा.यो.सू.).*

त्याद्वारे **अविद्या** व तिचे क्लेश ***(अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश)*** दूर होतात *(२-१ ते ९, पा.यो.सू.).* ही प्रज्ञा अशा प्रकारे ***कैवल्य*** प्राप्त करून देणारी ठरते *(१-२०ते २३).* ऋतंभरा प्रज्ञेमुळे चित्ताचे खरे स्वरूप कळून येऊन आत्मभावना दृढ होते *(४-२५,२६, पा.यो.सू.).* हे सर्व चित्तावरील संस्कार दूर करण्यास उपयुक्त ठरते *(४-२७ व २८,पा.यो.सू.).* ऋतंभरा प्रज्ञेचेही संस्कार दूर झाले, त्यांचा लय झाला की ***निर्बीज समाधि वा असंप्रज्ञात समाधि*** सिद्ध होतो *(१-५१,पा.यो.सू.).* कैवल्यप्राप्ती होते*(२-२५,४-३४ व ३-५०,पा.यो.सू.).* स्वरूपप्राप्ती होते *(१-३,पा.यो.सू.).* असा हा भाग आहे.

हाच समाधि ज्ञानेश्वरांस अभिप्रेत आहे आणि पतञ्जलींसही तोच मान्यतम आहे. म्हणून ते ***"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।२-४६।।पा.यो.सू.।।"*** असे योगसूत्र सांगतांना दिसून येतात.

प्रज्ञा व कुंडलिनी

प्रज्ञा वा ऋतंभरा प्रज्ञा हीच जागृत कुंडलिनी होय असे जे आपण म्हटले, तोच पंथराज व पातञ्जलयोग यांचा समन्वय

करणारा खरा दुवा आहे. या टप्प्यानंतरही योगाभ्यास पुढे न्यावा लागतो, हे ज्ञानेश व पतञ्जली या दोघांसही मान्य आहे.

ऋतंभरेचे संस्कार नाहीसे होईस्तोवर साधकास ***असंप्रज्ञात समाधि*** प्राप्त होत नाही. ***"निर्विचारवैशारद्य -➢अध्यात्मप्रसाद -➢ ऋतंभरा प्रज्ञाप्राप्ती"*** या पायऱ्यांनंतर जो प्रज्ञेचा प्रांत आहे, त्याची मगाच म्हटल्याप्रमाणे ***सप्तधा भूमी*** आहे *(२-२७,पा.यो.सू.).* हीच भूमी ***"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि।।४-२९।।पा.यो. सू.।।"*** याद्वारे पतञ्जलींनी ***धर्ममेघ समाधि*** म्हणून नामकरण केलेली आहे .

त्यातूनच ***"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।।४-३४।।पा.यो.सू.।।"*** याप्रमाणे त्रिगुणमयी मायेचा ***प्रतिप्रसवक्रम*** साध्य झाल्याने पुरुषार्थप्रयोजन नसलेले गुण उपादान कारण अशा प्रकृतीत लय पावतात आणि कैवल्यावस्था प्राप्त होते. अविद्येचा नाश होऊन ***शुद्धविद्या*** म्हणजे ***चितिशक्ती*** स्वस्वरूपाने प्रस्फुटित होते, असा पुढचा योगप्रवास पतञ्जली सांगतांना दिसतात ***(४-३०ते ३३,पा.यो.सू.).***

पंथराज व लयक्रम

कुंडलिन्युदयापासून ज्ञानेशही तत्त्वलयाचा क्रम सांगत शेवटी शक्तीचे शिवाशी मिलन होऊन सामरस्य होते, असे पंथराजफलश्रुती सांगतांना म्हणतात. म्हणजे हा ***प्रतिप्रसव*** पतञ्जलींप्रमाणेंच ज्ञानदेवांनाही मान्य आहे. फरक इतकाच आहे की हा तत्त्वलयाचा क्रम ज्ञानेश थोड्या विस्ताराने सांगतात, तर पतञ्जली ***"ते प्रतिप्रसव: हेय: सूक्ष्मा:।।२-१०।।पा.यो.सू.।।"*** व ***"पुरुषार्थशून्यानां गुणांना प्रतिप्रसव:....।।४-३४।।पा.यो.सू.।।"*** या सूत्रांतून फक्त ***प्रतिप्रसव*** होतो, असे सूचित करतात.

गुरूबद्दल तर ज्ञानेश व पतञ्जलींचे एकमतच आहे. कारण ***"स एष पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।।१-२६।।"*** हे पातञ्जलसूत्र ***ईश्वरप्रणिधान व गुरुकृपा*** यांची जोड सूचित करणारे आहे. याप्रमाणे ***पंथराज व पातञ्जलयोग*** यांचा समन्वय कसा होतो, ते आपण पाहिले.

त्याचप्रमाणे ***त्रिबंध - प्राणायाम - कुंडलिनीसाधना*** यांचे हठयोगाशी फारच मिळतेजुळते आहे. त्यामुळे हठयोगही या दोन्ही योगांशी मिळणारा आहे. फरक असा आहे की कोणी एक योगमार्तंड योगाच्या विशिष्ट भागाचे खुलासेवार उद्घाटन करतात, तर दुसरा भाग गौण ठेवतात, तोच दुसरे अध्वर्यू नीट खुलासेवार सांगतात. यामागेही योगसाधनेचे रहस्य उकलून सांगू नये, हा संकेतच कारण असण्याची दाट शक्यता आहे. म्हणूनच या सर्व विविध योगपर माहितीचा समन्वय केल्याशिवाय खरे योगरहस्य उकलणे कठीण झाले आहे. असो.

आठव्या अध्यायातील पंथराज

पंथराजाचे अत्यंत संक्षिप्त वर्णन ज्ञानदेवांनी आठव्या अध्यायी ***अधियज्ञदर्शन*** घडवतांना केलेले आपणास स्मरत असेलच! त्या ठिकाणी ***संयम*** या शब्दाची विशेष योजना ते करतात. म्हणून त्या ओव्या पातञ्जलयोगाशी पंथराजाचा समन्वय करण्याच्या दृष्टीने महत्त्वाच्या ठरतात, त्या अशा:

पहिलें वैराग्य इंधनपूर्त्तिं। इंद्रियानलीं प्रदीप्तिं।
विषयद्रव्यांचियां आहुति। देओनिआं।।८-४८।।
मग वज्रासन तैंचिं उर्वि। शोधूनि आधारीं मुद्रा बरवि।
वेदिका रचैं मांडवि। शरीराचां।।४९।।
तेथ संयमाग्निचिं कुंडें। इंद्रियद्रव्याचेनि पवाडें।
पूजिजति उदंडें। युक्तिघोषैं।।५०।।
मग मन प्राणु आणि संयमु। हाचि हवनसंपदेचां संभ्रमु।
येणें संतोषविजैं निर्द्धूमु। ज्ञानानलु।।५१।।
ऐसेनि हें सकल ज्ञानिं समर्पें। मग ज्ञान तैं ज्ञेयीं हारपें।
पाठीं ज्ञेयचिं स्वरूपें। निखिल उरैं।।५२।।

"वैराग्य -➢प्रत्याहार-➢ वज्रासन-➢ आधारमुद्रा-➢ संयमाग्नी -➢युक्तिघोष -➢मन-प्राण व संयम -➢ ज्ञानानल -➢ ज्ञानात लय -➢ज्ञानाचा ज्ञेयात लय-➢स्वरूपप्राप्ती" (**१ ते ९०**) असा पंथराजक्रमणाचा मार्ग तेथे लाक्षणिक रीत्या प्रकट केला आहे.

या ठिकाणी ***संयमाग्नी*** म्हणून ***कुंडलिनी*** चा उल्लेख केला आहे. ***संयमाग्निकुंडात युक्तिघोष करणे म्हणजे संयमाचा जय होणे*** अर्थात ***कुंडलिनीजागृती*** असा अर्थ येथे अभिप्रेत आहे.

"तज्जयात्प्रज्ञालोक:।।३-५।।पा.यो.सू.।।" हे पतञ्जलींचे सूत्र असेच आहे. संयमजयाने प्रज्ञेचा उदय तेथे सांगितला आहे. संयमाने प्रज्ञा जागृत होते आणि ***प्रज्ञा हीच ऋतंभरा प्रज्ञा तथा कुंडलिनी होय,*** हे आपण मागेच पाहिले आहे. याच कुंडलिनीत म्हणजे संयमाग्नीत ***इंद्रियद्रव्ये*** म्हणजे ***पंचमहाभूते, पंच पंच ज्ञान व कर्मेंद्रिये आणि त्यांचे दश विषय, अहंकार, प्राण, मन*** इ.सर्वांची आहुती द्यावयाची आहे, म्हणजे ज्ञानदेवोक्त क्षेत्रसंबंधित इतर सर्व तत्त्वादींचा कुंडलिनीत लय करावयाचा आहे. त्याद्वारे ज्ञानाचा उदय होतो.

ज्या ***विवेकख्याति वा सत्त्वपुरुषान्यताख्याति*** भूमिकेवर पतञ्जली अशा ज्ञानाची सिद्धी सांगतात, ती भूमिका आणि पंथराजप्रक्रियांतर्गत ज्ञानात सर्वांचा लय ज्या भूमिकेत होतो, ती भूमिका अशा मिळत्याजुळत्या आहेत. गुणांचा प्रतिप्रसव पूर्ण होणे व प्रकृतीचा चितिशक्तीत लय होणे म्हणजे कैवल्यप्राप्ती ही शेवटची पायरी योगानुष्ठानाची अंतत: फलश्रुती म्हणून पतञ्जली देतात ***(४-३४,पा.यो.सू.).*** ज्ञानेशही ज्ञानाचा ज्ञेयात लय होतो व निखिल स्वरूप प्राप्त होते, असे वरील ओव्यांतून सांगत आहेत.

याप्रमाणे आठव्या अध्यायातील ज्ञानेश्वरोक्त प्रमाणाद्वारे पंथराजाचा पातञ्जलयोगाशी आपण पुनश्च समन्वय केला आहे. अंती जेव्हा अठराव्या अध्यायात आपण ***क्रमयोग*** निरीक्षू तेव्हा या समन्वयाचा काही उर्वरित भाग तेथे पाहू. तसेच मागे स्वामी विष्णुतीर्थमहाराजांचे सवितर्कादी समाधींबाबतचे जे मत उद्धृत केले होते, त्याचीही तेव्हाच चर्चा करू. पातञ्जलयोगशास्त्रानुसार योग्यांच्या ***शुभेच्छादी*** ज्या सप्तज्ञानभूमिका टीकाकार सांगतात, त्यांचीही चर्चा आपण नंतर करू.कारण हे सर्व करण्याआधी ईश्वरप्रणिधानाचा महत्त्वपूर्ण भाग आपणास ज्ञानेश्वरीच्या *अध्याय क्र. ८ ते १२* यातून परीक्षावयाचा आहे.

सिद्धसिद्धांतपद्धति:सोळा आधार

त्यामुळे ***पंथराज व पातञ्जलयोगसमन्वय*** हा विषय तूर्त येथेच आटोपून आपण नाथप्रणालीतील ***सोळा आधार, तीन लक्ष्ये व पंचव्योम*** यांची शेष माहिती करून घेऊ. त्यासाठी आपणास श्रीगोरक्षनाथांच्या ***सिद्धसिद्धांतपद्धति*** या ग्रंथाकडे पुनश्च वळावे लागेल. त्यातील ***नवचक्रे व कुंडलिनी*** या संकल्पनांचा आवश्यक तेवढा परामर्ष आपण यापूर्वीच घेतला आहे *(उन्मेष:८:पंथराज पृ.क्र. १२३-१२६,१३१-१३३ व उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ: पृ.क्र.७४८ पासून पुढे).* असो.

गोरक्षमते ***सोळा आधार*** असे आहेत:

१)***पादांगुष्ठाधार***- पायांच्या अंगठ्यावर तेजोमय वस्तुचे ध्यान केल्याने दृष्टी स्थिर होते.

२) ***मूलाधार***- डाव्या पायाच्या घोट्याने मूलाधार दाबून ठेवल्याने अग्निदीपन होते.

३) ***गुदाधार*** - विकास संकोचाने अपानवायू स्थिर होतो. हीच ***अश्विनीमुद्रा*** म्हणून आहे.

४) ***मेंद्राधार*** - लिंगसंकोचाने ***विष्णु -रुद्र - ब्रह्म*** या ग्रंथित्रयांचा भेद होतो. ***भ्रमरगुंफेत संयम केल्याने बिंदुस्तंभन होते.***

५) ***उड्याणाधार - ओढियाणा*** बंधाने मलमूत्राची मात्रा कमी होते.

६) ***नाभिआधार*** - ॐकाराचा एकचित्ताने उच्चार केल्यास ***नादलय*** होतो.

७) ***हृदयाधार*** - येथे प्राणनिरोध करण्याने ***हृत्कमल***चा विकास होतो. (**टीप**: ***हृदयाधार*** म्हणजे नेमके कोठे ते स्पष्ट नाही. मागे ***हृत्संवित***कमलाचा उल्लेख केलेला होता. त्याच्याशी हे संबंधित असणेही शक्य आहे *(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ - पृ.क्र.७६१-आध्यात्मिक हृदयासंबंधी).*

८) ***कंठाधार***- कंठमूळ हनुवटीने बंद केल्याने इडा-पिंगलांतील वायू स्थिर होतो.*जालंधर* बंधाचे हेच प्रयोजन आहे व हीच क्रिया आहे.

९) ***घंटिकाधार*** - जिभेचे अग्र घंटिकाधाराला लावल्याने अमृतकला स्त्रवते.

१०) ***तालुआधार***- तालूंतील छिद्रात लंबिकेला घुसळल्याने योगी काष्ठरूप होतो.

११) ***जिह्वाधार***- जिव्हाग्राचे ध्यान केल्याने सर्व रोग नष्ट होतात.

१२) ***भ्रूमध्याधार***- येथे चंद्राचे ध्यान केल्याने त्रिविध ताप नष्ट दूर होऊन शीतलता प्राप्त होते.

१३) ***नासाधार***-नाासाग्रावर दृष्टी ठेवल्याने मन स्थिर होते.

१४) ***नासामूलकवाटाधार*** - भ्रूमध्याच्या किंचित खाली योग्याने ध्यान केल्यास सहा महिन्यांच्या आत त्यास ज्योति:पुंज दिसू लागतो.

१५) ***ललाटाधार*** - यावर ज्योति:पुंजाचे ध्यान केल्याने योगी तेजस्वी होतो.

१६) ***ब्रह्मरंध्राधार-ब्रह्मरंध्र-आकाशचक्र***-या ठिकाणी गुरुपादपंकजाचे ध्यान सदोदित करणारा योगी आकाशाप्रमाणे पूर्ण होतो.

अशा प्रकारे हे जे ***सोळा आधार म्हणजे ध्यान करण्याची स्थाने*** आहेत, त्यातील काहींचा स्पष्ट उल्लेख पंथराज विवेचनात ज्ञानेशांनी केलेला आहे. ***मूलाधार (६-२००), अध आकुंचणे - गुदाधार (अन्वयाने -मूलबंध) -उड्याणाधार (ओढियाणाबंध) (६-२१०), मेंद्राधार ("गुदमेंद्राआंतौतिं" -६-१९५), अपान आतलीकडे वोहोटणे (६-२००), नासाग्रपीठी दृष्टी (६-२०४), कंठाधार (जालंधरबंध - ६-२०६ ते २०८), नाभिआधार व हृदयाधार आणि हृत्कोश विकासणे (६-२०९), ग्रंथीत्रय व इडापिंगलांतील वायू संचार थांबणे (अन्वयाने) (६-२४४), नाद (अनाहत - ६-२७४) व नादलय (६-२७८), ब्रह्मरंध्र (६-३०५), भ्रूमध्याधार ("भ्रूलता मागिलीकडें"-६-३१३),*** याप्रमाणे ज्ञानेश्वरीमध्ये गोरक्षनाथदर्शित जवळ जवळ सगळ्या आधारांचा पंथराजविवेचन करत असतांना उल्लेख येतो. वर दिलेल्या माहितीनुसार या सर्व आधारांचा पंथराजप्रणीत क्रियांशी काही ना काही मेळ घालणे जिज्ञासूंस सहज शक्य आहे. हे आधार म्हणजे एका प्रकारे पंथराजसाधनेची उपांगेच आहेत, असे म्हटले तरी चालेल.

त्रिलक्ष्ये व पंचव्योम

आता त्रिलक्ष्ये अशी आहेत -

१) ***अंतर्लक्ष्य***- सुषुम्नाध्यान इ.अंतर्लक्ष्यध्याने होत.

२) नासाग्र इ.शरीराबाहेरील देशावरील ध्यान ***बहिर्लक्ष्य*** होय.

३) अंतर्देश व बहिर्देश यांचा आधार न घेता किंवा घेऊन केलेले ध्यान ***मध्यलक्ष्यध्यान*** असते. उदा. श्वेतवर्ण - कृष्णवर्ण - अग्निशिखा इ.चे ध्यान या सदरात मोडते.

याचप्रमाणे ध्यान करण्यासाठी ***पाच व्योम*** गोरक्षनाथांनी कल्पिले आहेत. आकाशतत्त्वाचे निर्गुण आणि सगुण ध्यान करण्याप्रमाणे त्यांचे पंचव्योम संभवतात.

१) ***आकाश*** (निर्गुण - आतबाहेर निर्मल - निराकार)

२) ***पराकाश*** (आतबाहेर अंधकारसदृश)

३) ***महाकाश*** (आतबाहेर कालानलसदृश)

४) ***सूर्याकाश*** (आतबाहेर कोटिसूर्यसमप्रभ)

५)***तत्त्वाकाश*** (आतबाहेर निजतत्त्वस्वरूप) अशी ही पंचव्योमध्याने आहेत.

पंथराजावर एक दृष्टिक्षेप::::

पंथराजाचे साधन

पंथराजसाधना करणाऱ्या योग्यास पातञ्जलयोगसूत्रान्वित संयम करण्यासाठी हे ध्यानविषय - लक्ष्ये, आधार व व्योम आहेत. यांचा स्पष्ट उल्लेख ज्ञानेश्वर करत नाहीत. पण मुळात योगाभ्यासासाठी जी एकाग्रता अपेक्षित आहे, ती धारणा-ध्यान यांनीच प्राप्त होऊ शकते आणि यासाठी विवक्षित देश - आलंबनविषय हे दोन्ही आवश्यक ठरतात. अत्यंत पुढच्या पायरीवरील योग्यास ***आकाशध्यान*** असे निर्गुणाचे ध्यान शक्य आहे. तरी हा भाग लक्षात घेऊन पुढे जाऊ या.

पंथराजाच्या पायऱ्या

त्यापूर्वी पंथराजाच्या पायऱ्यांचा एक धावता आलेख मनात ठसवून घेणे योग्य ठरेल. तो असा:

वैराग्य (६-१४९) - सोऽहंभाव (६-१४९) - अभ्यासयोग (६-१५१) - प्रवृत्ति-निवृत्तिपर (६-१५२,१५३) - आदर्श योगी - महेश (६-१५३) - आकाशींचा मार्ग - महर्षिसिद्धादींचा मार्ग (६-१५५,१५६) - आत्मविदांचा मार्ग - आनंदाचा मार्ग - सिद्धी - स्वर्गसुखाचा मार्ग - मोक्षसुखाचा मार्ग (६-१५६ ते १५८) - पूर्वेकडून निघून पश्चिमेच्या घरी येण्याचा मार्ग (६-१५९) - हमखास यशाचा मार्ग - अद्वैतप्राप्तीचा मार्ग - सामरस्याचा मार्ग (६-१५९,१६०) - साधनेसाठी स्थळ निवडणे - एकांत इ. (६-१६३ ते १८०) - आसन (गीतोक्त) (६-१८१ ते १८५) - आसनग्रहण - सद्गुरुस्मरण (६-१८६ते१८९) - स्थिरसुखमासनम् - सिद्धिदायक वज्रासन - आधारमुद्रा - मूळबंध (६-१९० ते १९९) - अपानप्रक्रिया - प्राणायामास सुरुवात (आसनयोगे) (६-२००) - नासाग्रदृष्टी -अंतर्दृष्टी - बहिर्लक्ष्य - अंतर्लक्ष्य (६-२०१ ते २०६) - व्योमलक्ष्य (६-२०६)-जालंधरबंध (६-२०७, २०८)-प्राणायाम - नाभिआधार - हृदयाधार - हृत्कमलविकास (६-२०९) - वोढियाणा बंध (६-२०९, २१०) - एकाग्रता (६-२११ ते २१३) - प्रत्याहार (६-२११ ते २१३) - प्राणायाम व नाडिशुद्धी (६-२१४ ते २१९) - पृथ्वी व आपतत्त्वांचे कालवणे (६-२२०) - कुंडलिनीजागृति (६-२२१ ते २२७)– शक्तीचे कंदस्थानी उभे राहणे - सरळ होणे - सुषुम्नामुखात प्रवेश करण्याची स्थिती (६-२२७) - ऊर्ध्वाभिमुख कुंडलिनी - सप्तधातुलय (६-२२८ ते २३५) - कुंडलिनीच्या ज्वाळा - प्राणांची गती निरुद्ध करणे - केवलकुंभक प्रकटणे (६-२३६) - अध:कुंडलिनी आकुंचन व ऊर्ध्वकुंडलिनी निपात - प्राणापानांची साम्यापूर्वीची स्थिती (६-२३७, २३८) - षट्चक्रभेदनाची प्राथमिक अवस्था - एकदम साही चक्रांचा वेध घेतला जाणे (६ - २३७) - पृथ्वी व आपतत्त्वांचा कुंडलिनीत लय व सुषुम्नाप्रवेश (६-२३८, २३९) - प्राणांचे मणिपूरचक्रावरून उत्क्रमण - नाड्यांचा लय - वायूचा प्राणात लय - इडा पिंगळांचा लय - त्रिग्रंथिभेदन - षट्चक्रभेदनसंपूर्णता (६-२४० ते २४४) -केवलकुंभकसिद्धी (६-२४५)- बुद्धितत्त्वाचा कुंडलिनीत लय - वायूचे कुंडलिनीसह सुषुम्नेत प्रवेशणे- मध्याकुंडलिनी निर्देश (६-२४६, २४८) - कायसंपत्तसिद्धी (६-२४९ ते २६८) - अन्यसिद्धिप्रकाशन (६-२६९ ते २७०) - प्राण = (मन + बुद्धि + वायुतत्त्व) यांचे कुंडलिनीसह सुषुम्नामार्गे हृदयस्थानी येणे (६-२७१) - अनाहतध्वनिप्राकट्य - जीवात्मा व कुंडलिनीची भेट - प्रणव वा अजपाजपसिद्धी (६-२७२ ते २७६) - ब्रह्मद्वार उघडणे व जीवात्म्यासह तेजतत्त्वाचा कुंडलिनीत प्रवेश - कुंडलिनीत केवळ वायू व आकाशतत्त्व उरणे (६-२७७ ते २८६) - हृदयचक्रावर ही स्थिती प्राप्त होणे - मनाचा लय (प्राथमिक) - नाद-बिंदु-कला-ज्योती न उरणे (६-२८६ ते २९०) - शक्तीत तेजतत्त्वाचा लय - खेचरीसिद्धी - अनेक उत्तमोत्तम सिद्धींची प्राप्ती (६-२९३ ते २९७) - अणिमादिक प्राकट्य (६-२९७) - पिंडे पिंडाचा ग्रासु = महाभूतांचा लय = लययोग = पंथराज (६-२९० ते २९२)- पृथ्वीतत्त्वाचा आपतत्त्वात - आपाचा तेजस्तत्त्वात - तेजाचा वायुतत्त्वात हृत्चक्रस्थानी लय होतो; हा पूर्वभागाचा सारांश येथे दिला आहे (६-२९८,२९९).

पंथराजाचा पुढील अनुक्रम

त्यानंतर पंथराजाचा अनुक्रम पुढीलप्रमाणे आहे:

पवन वा वायुतत्त्वाने संपन्न कुंडलिनीचे मारुत नाम - शक्तित्व अद्याप लय न पावणे - शिवतत्त्वात जेव्हा लय होईल तेव्हा शक्तित्वाचा लोप होईल (६-३००, ३०१) - जालंधरबंधाचे उल्लंघन - ॐकाराच्या पाठीवर पाय देणे - पश्यंतिवाणीस्थानाचे अतिक्रमण - भूचक्रावरील स्थिती - अर्धमात्रेचा आकाशतत्त्वात लय होणे - ककारांतभेद - गगनावर कुंडलिनीचे आरोहण - गगनतत्त्वाचा कुंडलिनीत लय - ब्रह्मरंध्रस्थिती (६-३०२ ते ३०५) - सोऽहंतत्त्वाचा प्राणासह व कुंडलिनीसह (जीवात्म्याच्या शक्तीसह) परमात्मलिंगात लय - "गगनी गगन लय पावावे" इतके सामरस्य असणारी स्थिती - पिंडाच्या रूपाने पदाचा पदात प्रवेश (पिंड म्हणजे कुंडलिनी, तिच्या रूपाने जीवात्म्याचा म्हणजे पदाचा परमात्म्यात म्हणजे पदात लय होणे - "पिंडाचेनि मिखें। पदीं पद प्रवेशें।।६-३०८)।।") (६-३०६ ते ३०९) - जिवाशिवाचे मिलन - अद्वैतप्राप्ती -महाशून्यात प्रवेश (६-३१०ते ३१५) - मन- प्राण -पंचमहाभूते -इंद्रियतन्मात्रा व त्यांचे विषय या सर्वांचा संकल्प - विकल्प - बुद्धी इ.सह पूर्ण लय झालेली उन्मनी -तुर्यातीत आदिअंतरहित मूळ चैतन्यमय मोक्षस्थितीची प्राप्ती - स्वरूपप्राप्ती - महासुखप्राप्ती - परमात्म्यैक्यस्थिती - जीवन्मुक्तावस्था - योगफलसिद्धी - पंथराजाचे गंतव्य प्राप्ती (६-३१६ ते ३२७) - विश्वाचा लोप (६-३२८).

पंथराजक्रमाचा पुनर्विचार

उपरोक्त पंथराजाच्या धावत्या आलेखाचा एकवार पुनर्विचार करू या:

वैराग्य हा पंथराजाचा पाया आहे. गीता-ज्ञानेश्वरीत सांगितलेल्या दैवीगुणसंपदेच्या अर्जनाने आणि आसुरीगुणांच्या त्यागाने यमनियमादी योगांगांचा अभ्यास होतो. कर्म करण्याचे कौशल्य, कर्म ब्रह्मार्पण करण्याची वृत्ती, सात्त्विक अंगांचा परिपोष आणि रजतमांचे प्राबल्य कमीकमी करत जाणे, ईश्वरप्रणिधान या आणि इतर गीता-ज्ञानेश्वरोक्त विविध उपायांचा अवलंब करून वैराग्य ठसते आणि ***विवेकशक्ती*** प्रबळ होत जाते. यातील **ईश्वरप्रणिधान**ाच्या उपायाने आणि **स्वाध्याय**ाच्या अभ्यासाने साधकाच्या अंतरी ***सोऽहंभाव*** उदित होऊ लागतो. त्याला ***गुरुकृपा*** जेव्हा प्राप्त होते, तेव्हा तो हे पंथराजाचे साधन अभ्यासाच्या मार्गाने शेवटच्या महत्त्वाच्या टप्प्यात घेऊन जाऊ शकतो.

कुण्डलिनी उत्क्रमण (२)::::

कुण्डलिनी

आतापावेतो ***यमनियम -आसन -प्राणायाम - प्रत्याहार*** या अंगांचा तसेच ***धारणा - ध्यान - समाधि*** या अंगांचा बराचसा अभ्यास साधकाने विविध उपायांनी व प्रामुख्याने ईश्वरप्रणिधानाने केलेला असतो आणि ***संयम*** सिद्ध होऊन त्यास आता वरच्या म्हणजे आकाशाच्या मार्गात सुषुम्नामुखातून प्रवेश करून घ्यावयाचा असतो. पूर्वेच्या द्वारात कुंडलिनीशक्ती सुप्तावस्थेत सर्पिणीप्रमाणे वलयांकित स्थित असते. तिने ***ब्रह्मद्वार म्हणजे सुषुम्नामुख*** अडवलेले असते. ***मन व प्राण*** ही दोन्ही या पुढच्या अभ्यासासाठी विशिष्ट प्रकारे वापरून ***कुंडलिनीस जागृत करणे*** **हा संप्रज्ञात समाधीचा पुढील विनियोग आहे.**

संयमजयाने ***ऋतंभराप्रज्ञाप्राप्ती*** करणे हे त्यावेळचे पातञ्जलयोगाप्रमाणे ध्येय असते. ***ऋतंभरा हीच जागृत कुंडलिनी होय,*** असे आपण यापूर्वी अनुमानप्रमाणाने पाहिले आहे. संप्रज्ञात समाधीची परिपक्व भूमिका म्हणजे ***निर्विचारवैशारद्य*** प्राप्त झालेल्या योग्यास आता गुरुकृपेच्या साहाय्याने संयमजय करून प्रज्ञाजागृती वा प्रज्ञाप्राप्ती ***(ऋतंभरा वा कुंडलिनी)*** करणे हे या स्थितीतले ध्येय असते.

ज्यास सर्वसामान्यपणे ***कुंडलिनीयोग - हठयोग - लययोग - नादयोग - तारकयोग*** -अशा विविध नामांनी ओळखले जाते, तो खरे तर योगाचे एक अंतरंग साधन असा हा भाग आसनादींच्या विशिष्ट प्रयोगांनी साध्य केला जातो.

केवलकुंभक

ज्ञानेशांनी हा पुढचा पंथराजप्रणीत अभ्यास करण्यासाठी साधकांस उत्तम, मनोहर, सुशांत, प्रसन्न असे एकांत स्थळ निवडण्याची मौलिक सूचना केली आहे. त्या ठिकाणी मृगाजिनादी आसनाचा उपक्रम पुढे विशद केला आहे. त्यानंतर आसनावर बसतांना साधकाच्या चित्तवृत्ती एकाग्र होण्यासाठी सद्गुरुस्मरण करावे आणि पतञ्जली म्हणतात ते ***"स्थिरसुखमासनम्"*** कसे अवलंबावे, त्याचे वर्णन ते करतात.

हठयोगी ज्यास सर्वसिद्धिप्रदायक असे समजतात, त्या वज्रासनाचा योग्याने अवलंब करावयाचा आहे. मूलाधारस्थित - खरे तर मूलाधाराखालील कंदात असणाऱ्या कुंडलिनीशक्तीला जागृत करण्यासाठी यानंतर राजयोगादी सर्वमान्य असा ***मूळबंध*** करणे आवश्यक ठरते. हा बंध प्राणायामास चालना देणारा असतो. आता जो प्राणायाम अपेक्षित आहे, तो बहिरंग प्राणायाम म्हणजे पूरक - कुंभक - रेचक या प्रकारचा श्वास-प्रश्वास गतींच्या नियंत्रणाचा नसून ज्यास ***अंतरंग प्राणायाम*** म्हणायला हवे त्या स्वरूपाचा असतो.

श्रीमच्छंकराचार्यांनी ***योगतारावली***त सांगितलेला महान असा कुंभकांचा सम्राट म्हणजे ***केवलकुंभक*** ही या प्राणायामाची शिखरावस्था यापुढे प्राप्त करून घ्यावयाची आहे. **प्राणापानांचे आवागमनमार्ग म्हणजे अंतरंगातील सूर्य-चंद्र वा इडापिंगला या नाड्या. त्यांचे मार्ग बदलून त्यांचा सुषुम्नेशी समरसीकरणाचा प्रयोग केवलकुंभकात अभिप्रेत आहे. *मूलबंध*** साध्य करून योगी आता या पुढील अभ्यासाकडे वळणार आहे.

कुंडलिनीचे ध्यान

आधारमुद्रा वा मूलबंध साध्य झाला की अपानवायूचे मूलाधाराकडे आकर्षण होऊ लागते. योग्यास एकाग्र दृष्टीसाठी ज्ञानेश ***नासाग्रदृष्टी*** अवलंबण्यास सांगतात. गोरक्षनाथांनी सांगितलेले ***अंतर्दृष्टी - बहिर्लक्ष्य*** ध्यान येथे अभिप्रेत आहे. पुढील अभ्यासासाठी खरे तर ज्ञानेशांना येथे ***अंतर्लक्ष्य व सुषुम्ना - कुंडलिनीध्यान*** अभिप्रेत असले पाहिजे. म्हणजे श्रीगोरक्षांनी ***"त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दं तत्र शक्तिं पानाकारां ध्यायेत् ...।।२-१।।सि.सि.प.।।"*** असे मूलकंदातील ***"पानाकारं "*** म्हणजे अग्नीच्या आकाराच्या म्हणजे अग्निज्वालासमान ***"(वह्निज्वालांचि घडि।।६-२२५।।)"*** अशा कुंडलिनीचे जे स्वरूपवर्णन ज्ञानेशांनी केले आहे, तिचे सुषुम्नाव्योमासहचे ध्यान योग्याने करावयाचे आहे. हे ध्यान गोरक्षादी योगमार्तंडांनाही या अवस्थेत अभिमत आहे. अशा ध्यानाचे अत्यंत सुंदर वर्णन ***घेरंडसंहिते***च्या षष्ठोपदेशात दिलेले आहे *(षष्ठोपदेश श्लोक क्र.१ते २२ तत्रैव)*. ते जिज्ञासूंनी मुळातूनच पाहावे.

त्रिबंध व हृदयाकाश

यानंतरची पायरी म्हणजे ***जालंधरबंध.*** प्राणायामाच्या या अभ्यासाची पुढील पायरी म्हणजे ***वोढियाणाबंध*** किंवा ***उड्डीयानबंध (ओडियान). मूल-जालंधर-ओडियान*** हे त्रिबंध केले असता प्राणस्थिती हृदयात होऊन त्या चक्राचा विकास होतो. यासाठी येथे हृदयाधाराचे ध्यान अभिप्रेत असावे. कारण ज्ञानेश ***"आंतरीं फांकें। हृदयकोशु।।६-२०९।।"*** म्हणतात, त्यासाठी गोरक्षनाथांनी हे ध्यान सांगितलेले आहे. येथेही पूर्वीचाच महत्त्वाचा प्रश्न उपस्थित होतो - तो म्हणजे ***हृदयकोश किंवा हृदयाकाश कोणते*** सांगितले आहे हा.

सौंदर्यलहरीत अनाहतचक्राचा *(स्थूल हृदयनिर्देशित)* उल्लेख नाही. जो उल्लेख आहे तो **हृद्देश**ाचा ***"(हृदि मरुतम् आकाशम्***

या चक्रांचा उल्लेख *"महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं। स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरी। मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं। सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।।सौं.९।।"* या श्लोकात आहे. तेथे **विशुद्धिचक्र**ाचा पण उल्लेख नाही.

संवित्कमलाचा उल्लेख *"समुन्मीलत्संवित्कमल मकरन्दैकरसिकं। भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्। यदालापादष्टादशगुणित-विद्यापरिणतिर्यदादत्ते दोषाद् गुणमखिलम्,द्वय: पय इव।।सौं.३८।।"* हे ***स्थूलहृदयनिर्दिष्ट अनाहतचक्र*** नाही, असे श्री.विष्णुतीर्थ महाराज यांचे रमणगीतेवर आधारित मत आहे. हे स्थान म्हणजे आत्म्याचे आहे, जेथून मनाचे स्फुरण होते आणि जेथे परमात्मा असतो. याच ठिकाणी *"हंस:"* मंत्राचा जप केला जातो. ***हंसांची जोडी अष्टदलपद्मात विराजते.*** अर्थातच हे स्थान ब्रह्मांडस्थित अत्युच्च स्थान आहे आणि काही जण या **संवित्कमलाचा अनाहतचक्र असा जो अर्थ घेतात, तो अयोग्य दिसतो.**

आज्ञा, विशुद्धि, मणिपूर व स्वाधिष्ठान या चक्रांचे वर्णन अनुक्रमे *श्लोक क्र.३६,३७,४०व३९* ***सौंदर्यलहरी*** यातून येते. *"तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया। शिवा(नवा)त्मानं मन्ये नवरस-महाताण्डवनटम्। उभाभ्यामेताभ्यामुद(भ)यविधिमुद्दिश्य दयया। सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमत् जगदिदम्।।सौं.१।।"* मध्ये जो **मूल**ाचा निर्देश आहे, तो मूलाधार चक्राचा आहे, असे काही अभ्यासकांचे मत आहे. श्री.विष्णुतीर्थ यांचे असेच मत ***समयाचार - समयादेवी***च्या कथित निर्देशावरून *"(सह समयया)"* तसेच काही अन्य कारणांनी आहे. ***लक्ष्मीधरी*** टीकेच्या आधारे असे मत ***समयाचारी*** परंपरेस अनुरूप आहे. पण ***जॉन वुड्रॉफ*** आणि अन्य टीकाकार *(सं.Saundaryalahari of Sri Shankaracarya by Swami Tapasyananda)* यांच्या मते हा उलेख समयादेवीचा नसून *"शिवासम जी"* या अर्थी आहे.

"शिव: शक्त्या युक्तौ यदि भवति शक्त: प्रभवितुं। न चेदेवं देवो खलु कुशल: स्पन्दितुमपि। अतस्त्वामाराध्यां हरिहर - विरिञ्चादिभिरपि। प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्य: प्रभवति।।सौं.१।।" हा *सौंदर्यलहरी* चा आरंभीचा श्लोक पाहिला तर *सौंदर्यलहरी* वरील ***शक्ती*** या आद्यतत्त्वाचा स्पष्ट प्रभाव दिसून येतो. ***शिव-शक्ती*** या आदियुगुलातील शक्तीस्तवनपर ही रचना आहे. हे लक्षात घेता ***सौं.४१*** या श्लोकात ***समयादेवी*** चा उल्लेख केल्याचे जे समजले जाते, तो तसा नसून तो ***श्री.स्वामी तपस्यानंद*** म्हणतात, तसा तो ***महाभैरवी***स अनुलक्षून असला पाहिजे. *"शिवात्मानं (नवात्मानं)"* हा निर्देश **महाभैरव**ाचा आहे, असे ते म्हणतात. या सर्व गोष्टींचा विचार करता ही ***समयादेवी*** असो किंवा ***महाभैरवी*** असो, ती ***लास्य*** पर आहे; **महातांडव**ात शिवासह मग्न आहे; त्यांच्यापासून या जगताची उत्पत्ति आहे, इ.गोष्टी ही देवी व शिव हे ज्या स्थितीत आहेत, ती जगदुत्पत्तिपूर्व आणि जगताच्या अंतीची आहे. ती नक्कीच मूलाधारात जी कुंडलिनीची सुप्तावस्था असते, तिची निर्देशक नाही. ज्ञानदेवांनीही या शिवशक्तीच्या तांडवाचा अन् लास्याचा अशाच प्रकारचा उल्लेख *"वामांगीचा लास्यविलासु। जो हा जगद्रूप आभासु। तो तांडवमिसे कलासु। दाविसि तूं।।१७-८।।ज्ञा.।।"* या ओवीतून केला आहे!

यावरून येथे ज्या **मूल**ाचा निर्देश आहे, ते **मूलाधारचक्र**ाचा नसून **ऊर्ध्वमूल** म्हणजे या जगताची आद्यस्थिती, तसेच अंतिम स्थिती यांची निर्देशक जी अवस्था असते तिचा आहे. हे स्थान आपल्या योगपरिचयानुसार **अष्टदल संवित्कमल**ाच्या अगोदरचे स्थान असले पाहिजे, जेथून ***हंसाची जोडी*** अस्तित्वात येते. ***"विशुद्धि-➤आज्ञा -➤सहस्रदलकमल-➤त्रिकूटी-➤६ शून्ये-➤ब्रह्मरंध्र (सातवे शून्य)-➤६महाशून्ये-➤भ्रमरगुहा-➤सत्यलोक-➤अलक्ष्य -➤अगम-➤अनामीलोक"*** हा योगपथ लक्षात घेता हे शिवशक्तीच्या लास्याचे-तांडवाचे स्थान निश्चितच ***भ्रमरगुंफेवरील अलक्ष्य*** आणि तत्सम अत्युच्च स्थान असले पाहिजे. काही योग्यांच्या अनुभूतीवरून ***भ्रमरगुंफा*** **हे स्थान त्यांच्या अभिव्यक्तीचे - नर्तनाचे स्थान असून *अलक्ष्य* हे त्यांच्या स्थितीचे स्थान आहे. त्यानंतर काही नाही - निर्गुण ब्रह्मच आहे!**

हृत्संवितचक्र व अनाहतचक्र इ.

पण टीकाकारांनी व लेखकांनी या स्थळी ***(हृदयाकाश-हृत्कोष-हृदि-हृद्देश*** इ.संज्ञांच्याबाबत, तसेच ***सौंदर्यलहरी*** तील वेगवेगळ्या श्लोकात निर्दिष्ट असलेली चक्रे) आपापल्या बुद्धीप्रमाणे **अनाहत**ादी विख्यात चक्रे धरली आहेत. मुळात श्रीशंकराचार्यांना ***सहस्रार, हृत्संवित, आज्ञा, विशुद्धि, मणिपूर, स्वाधिष्ठान व मूलाधार*** ही चक्रेच अभिप्रेत असल्यास ती पण सहस्रारासह असणारी ***षट्चक्रसंस्था*** होऊ शकते. त्यातच ***मूल*** म्हणजे ***भ्रमरगुंफा*** व **कोल्हाट-अलक्ष्य**ादी योगपथावरील स्थानांचा अंतर्भाव केला तर वस्तुत: कुंडलिनीयोगाचा, तसेच ज्या ***श्रीचक्र***साधनेचे ***सौंदर्यलहरी***त प्रामुख्य आहे असे टीकाकार म्हणतात, त्यांचा सर्वंकष उलगडा होण्यास साहाय्य होईल.

अनाहतचक्राचे सध्या अस्तित्वात असलेले माहात्म्य वगळल्यास वस्तुत: सौंदर्यलहरी श्लोक क्र.३८मध्ये सांगितलेली बहुतांश महत्त्वाची सर्व वैशिष्ट्ये ***हृत्संवित*** या चक्रस्थानी म्हणजे ब्रह्मांडात आहेत असे स्पष्ट होते. ही वैशिष्ट्ये खरी तर अनाहतात नाहीत. पण ती सर्व अनाहतात धरून जीवात्म्याचे स्थानही **अनाहत**ात धरल्याने लयक्रमात बऱ्याच अडचणी निर्माण होतात. अनाहतनादप्राकट्याबाबत आपण त्याबाबत उद्भवणाऱ्या अडचणींचा अगोदरच मागील उन्मेषात विचार केला होता *(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन: योगपथ पृ.क्र. ७५१,७५२).*

त्या अडचणींचा निरास करण्यासाठी मग बऱ्याच कोलांट्या उड्या मारून अशास्त्रीय उपपत्त्या मांडून लयक्रम दाखवावा लागतो. त्याऐवजी

जीवात्म्याचे स्थान हृत्संवितकमलात आहे, असे मान्य केले तर ते शास्त्रशुद्धही आहे, तसेच ही बरीच यातायात वाचते.

रमणमहर्षींनी या प्रकारच्या चुकीच्या मतावर रमणगीतेत जो प्रकाश टाकला आहे, तो असा: ***"अहंवृत्ति: समस्तानां वृत्तीनां मूलमुच्यते। निर्गच्छति यतोऽहंधीर्हृदयं तत्सामासत: ।।३ ।। हृदस्य यदि स्थानं भवेच्चक्रमनाहतं। मूलाधारं समारभ्य योगस्योपक्रम: कुत: ।।४ ।। अन्यदेव ततो रक्तपिण्डाद्धृदयमुच्यते। अहंहृदितिवृत्त्या तदात्मनो रुपमीरितम् ।।५ ।। तस्य दक्षिणतो धाम हृत्पीठे नैव वामत: । तस्मात्प्रवहति ज्योति:सहस्रारं सुषुम्नया ।।६ ।।"***-

सर्व वृत्तींचे मूळ ***अहम् वृत्ती*** आहे. ***ज्या स्थानात या वृत्तीचा उदय होतो, ते हृदय असते.*** जर स्थूल हृदय हेच अनाहतचक्राचे स्थान समजले, तर मूलाधारचक्रापासून सुरू होणारा कुंडलिनीयोग कसा उपपन्न होईल? जर शिवणमध्यस्थित मूलाधारचक्रातून कुंडलिनी उत्क्रांत होऊन स्थूल हृत्प्रदेशातल्या म्हणून म्हटल्या जाणाऱ्या अनाहतचक्रातच तिची इति होणार असेल, तर मग ***विशुद्धी, आज्ञाचक्र, ब्रह्मरंध्र, भ्रमरगुंफा*** इ.स्थानांचे काय माहात्म्य उरेल?

या सगळ्याचा विचार करता आध्यात्मिक हृदयाचे स्थान व तत्स्थित जे खरे अनाहतचक्र आहे, जेथे अनाहतनादाचे प्राकट्य होते, त्याचे स्थान स्थूल हृत्स्थान नसून ते इतरत्र असले पाहिजे. ***"अयं हृद"*** या श्रुतीने आत्मस्वरूपाचा निर्देश होतो ***(हृद्+ अयम् = हृदयम्,*** *इति छांदोग्य उप.८-३-३).* त्याचे स्थान दक्षिण आहे; वाम नाही. **त्या स्थानातून ज्योतीचा प्रवाह निघतो आणि सुषुम्नेतून सहस्रारात जातो.*** ***अहंवृत्ती***चे अथवा ***अहंसंवित***चे ज्ञान ज्या ठिकाणी उदित होते, तेच ***हृत्स्थान*** म्हणून जाणले पाहिजे. ते आत्म्याचे स्थान आहे, जेथून अहंवृत्तीचे स्फुरण होते. तेथेच परमात्मा विराजतो आणि ***"हंस:"*** मंत्राचा जप होतो.

हंसोपनिषदानुसार तेथे ***अष्टदलपद्म*** असते ***("हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत।")***. त्यात हंस व हंसी यांची जोडी असते. ही पुरुष-प्रकृतिस्वरूप आहे. त्यांच्या संवादातून योग्यास १८ विद्यांचा उपदेश होतो (" ***यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणतिर्यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलम्द्वय: पय इव।।सौं.३८ ।।"***). गौडपादाचार्यांच्या **सुभगोदय**ावरील शांकरभाष्यात या हंसांच्या जोडीचे रूप योग्यांना दीपशिखासदृश दृग्गोचर होते, असे म्हटले आहे. हंसेश्वराला ***शिखी*** व हंसेश्वरीला ***शिखिनी*** असे तेथे म्हटले आहे. या **आध्यात्मिक हृत्स्थान**ातील हृत्पद्मामध्ये त्यांचे ध्यान करणे अभिप्रेत आहे.

नारायणोपनिषदात या पद्माचे वर्णन आहे ***("तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थित:। नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा, नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा। तस्या: शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित:, स ब्रह्मा, स शिव:, स हरि:, सेन्द्र:, सोऽक्षर परम: स्वराट।।खंड१३ ।।")*** - या हृत्कमलाच्या मध्ये अग्नीची लहानशी शिखा आहे. नीलवर्णाच्या मेघांमध्ये चमकणाऱ्या विद्युतरेखेसम ती बारीकशी दिसते. त्या शिखेमध्ये परमात्मा वसतो. त्या प्रकाशात दिसणारा श्यामवर्ण हंसेश्वराचा आणि पीत वर्ण हंसेश्वरीचा समजला जातो.

श्री.रमणमहर्षीचे फारसे ख्यात नसलेले मत असे आहे, हे ***श्री.स्वामी विष्णुतीर्थांच्या सौंदर्यलहरी*** *(हिन्दी टीका-सं.२०३४विक्रमी.)* या ग्रंथावरून दिसून येते *(पृ.क्र.१९७ ते २०१ तत्रैव).* तसेच **हे *हृत्संवितचक्र* अनाहतचक्रासारखे बारा दलांचे नसून अष्ट दलांचे असते,** हेही लक्षात घेण्यासारखे आहे. आणि लययोगांतर्गत स्थूल हृत्स्थाननिर्दिष्ट अनाहताठायी नादप्राकट्यासंबंधी जो वाद उद्भवतो, त्याचेही निराकरण होते. तसेच मग **हा नाद हृत्संवितकमलात स्थिती होतांना प्रकटतो, हा शास्त्रशुद्धत्वाच्या कसोटीवर टिकणारा निष्कर्ष निघतो.**

या ठिकाणी आणखीही एक महत्त्वाचा मुद्दा आहे. तो म्हणजे ***श्रीगोरक्षनाथांनीही सिद्धसिद्धांतपद्धति या ग्रंथात अनाहतचक्राचा उल्लेख केलेला नसून हृदयाधारचक्राचा व तेही अष्टदलपद्म असल्याचा उल्लेख तेथे आहे (श्लोक क्र.२-४).*** याचा विचार आपण प्रथम मागील उन्मेषात केलेला होता. तिकडेही जिज्ञासूंचे लक्ष वेधणे योग्य होईल *(पृ.क्र. ७५१,७५२ -उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ).*

हा सर्व विचार मान्य करता एक प्रश्न अद्याप उरतो. तो म्हणजे योगशास्त्रात बहुचर्चित असे **अनाहत**ाख्य हे चक्र मग कुठले आणि त्याचे स्थान ते कोणते हा! याबाबत आपण सर्वसामान्य यौगिक ग्रंथांची भूमिका मान्य करून त्याचे स्थान स्थूलहृत्पिंडनिर्दिष्ट समजावयास काहीच प्रत्यवाय नाही. तसेच ते बारा दलांचे असते. तेथे वर्ण वा मातृका असतात, ही माहिती मान्य करावी. ***Arthur Avlon***च्या ***The Serpent Power*** या ग्रंथात दिलेल्या माहितीनुसार आणि इतर तंत्रशास्त्रोक्त माहितीवरून हे चक्रवर्णन पाहून पुढे जाऊ या.

हे प्रचलित **अनाहत**ाख्य चक्र प्राणाचे व पश्यंतिवाणीचे स्थान आहे. यात ***पद्मिनी, सदर्भा*** इ.बारा शक्तींचे वास्तव्य आहे. **त्रैलोक्य, वित्करा**दी बारा प्रकारचे आनंद तेथे मिळतात. त्याचा वर्ण धवल आहे. हे **सरूपता मुक्ती**चे स्थान असल्याचे एक मत सांगते.या चक्राची शक्ती ***गौरी*** आहे. या चक्रावर ***"कं,खं,गं,घं,ङ,चं,छं,जं,झं,ञं,टं व ठं"*** ही बारा बीजाक्षरे वा मातृका असतात.या चक्राचे मंत्रबीज ***"यं"*** हे आहे. या चक्राच्या कर्णिकेत एक रक्तवर्णाचे ***अष्टदलपद्म*** असते. त्यात कल्पतरू, रत्नखचित सिंहासन असते. मानसपूजेचे हे स्थान आहे, असे तंत्रोक्त मत आहे.

सौंदर्यलहरी श्लोक क्र.८मध्ये ***"सुधासिन्धोर्मध्ये सुर विट-पिवाटीपरिवृत्ते। मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे। शिवाऽऽकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्क निलयां। भजन्ति त्वां धन्या: कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।"*** असे म्हणून या परमशिवस्थानात कल्पतरू, मणिद्वीप, चिंतामणिगृह हे असल्याचा तेथे उल्लेख केला आहे. ***Arthur Avlon*** च्या ***The SerpentPower*** या ग्रंथातसुद्धा ***पादुकापंचक*** या प्रकरणात सहस्रदलपद्माच्या कर्णिकेला

जोडून वर ज्याची कर्णिका असते त्या रक्तवर्ण द्वादशदलपद्माचा आणि त्यातील मणिद्वीप, मणिपीठ इ.संज्ञांचा उल्लेख येतो.

यावरून १) द्वादशदलांचे ***अनाहतचक्र***, २) त्याखालील कल्पतरू, मणिपीठ इ.असणारे ***अष्टदलपद्म,*** ३) ***सौंदर्यलहरी***तील अष्टदलांचे ***हृत्संवितचक्र*** व ४) ***सिद्धसिद्धांतपद्धति*** या ग्रंथातील श्रीगोरक्षांनी वर्णिलेले ***हृदयाधार*** हे अष्टदलचक्र आणि ५) हे ***सहस्त्रदलावरील द्वादशदलपद्म*** यांचे स्थानमाहात्म्य, योगसंकेत आणि वर्णन यांबाबत जिज्ञासू आणि योगशास्त्राचे अनभिज्ञ आणि अनुभव नसणारे अभ्यासक, लेखक इ.चा योगशास्त्रसंबंधित विचार करतांना आणि ग्रंथ लिहितांना पुरेपूर गोंधळ उडण्याची शक्यता नाकारता येत नाही. त्यात भर पडते ती अनेकानेक तंत्रग्रंथांची, त्यांवरील टीकांची आणि वेगवेगळ्या यौगिक संप्रदायांच्या एतद्विषयक विविध धारणांची आणि संज्ञांची!

असा हा सावळागोंधळ निस्तरून त्यातील योग्य अर्थ संपूर्ण माहितीसह देण्यासाठी जरूरच कोणातरी योगमार्तंडांची आवश्यकता जाणवते. पण त्यांचे ते गुह्यतेचे सांप्रदायिक दंडक आणि त्यातून त्यांनी क्वचित काही माहिती दिलीच तर त्याचा ज्ञानेश्वरी आदी योगप्रचुर ग्रंथांवर विचार आणि लिखाण करणाऱ्या बुद्धिमंत पण योगानुभव नसणाऱ्या साहित्यिक, लेखक आणि इतर अभ्यासकांस काय लाभ होणार हाही एक मोठाच प्रश्न आहे. असो.

तरी आपणास या सर्व मुद्द्यांचा परामर्ष जरूर घ्यावा लागेल. पण आताच्या प्रसंगी तो स्थगित ठेवू या. टीकाकारांनी, भाष्यकारांनी आणि ज्ञानेश्वरीवर लिहिणाऱ्या अनेक विचारवंतांनी सांगोवांगी ***हृत्कोश*** वा ***हृत्काश*** हे अनाहतचक्राच्या जागी धरल्याने होणारा वैचारिक कल्लोळ फक्त स्थगित करून सध्या तरी आध्यात्मिक हृत्स्थान कोणते व अनाहतनादाचा कोठे संभव होतो हे मुद्दे विचाराधीन ठेवून आणि बहुश्रुत अनाहतचक्र हेच ते स्थान हा पूर्वग्रह बाजूस ठेवून रमणमहर्षींच्या मतानुसार ते ***हृत्संवित*** ही असू शकेल हा विचार मनी ठेवून पंथराजाचे पुढील परीक्षण करू या.

[***(टीप-१:हृदयस्थान*** - शास्त्रमते सहा हृदयस्थाने आहेत. ती अशी: १) नाभिस्थ हृदय, २) भौतिकदेही हृदय (स्थूल रक्तमांसपिंड), ३) आज्ञाचक्रस्थ हृदय, ४) हृच्चक्रस्थित आध्यात्मिक हृदय, ५) ब्रह्मांडस्थ हृदय (अर्धमात्रासंधिपुढील म्हणजे आज्ञाचक्रावरील प्रांत) व ६) ब्रह्मरंध्रस्थ हृदय (सहस्त्रारचक्राच्या कमलदलकर्णिकाअंतर्गत स्थान)]

(टीप:२: गुर्वोपायाचे आत्यंतिक महत्त्व व योगानुभूती नसलेल्या आणि अर्धवट ज्ञानी योगसाधकांनी केलेले योगशास्त्रविषयक लिखाण : योगानुभूतिरहित्य आणि यौगिक दिव्यदृष्टीच्या अभावामुळे डॉ.रेळे, श्री.श्री.म.वैद्य आणि इतर अनेक पौर्वात्य आणि पाश्चिमात्य लेखकांनी षट्चक्रादी व कुंडलिन्याधारित योगशास्त्राबाबत जे काही लिहिले आहे, त्यात एक अत्यंत ***मोठी चूक*** सातत्याने पाहण्यात येते. **ती म्हणजे षट्चक्रे आणि कुंडलिनी ही शरीरशास्त्रातील पार्थिव** *(physical)* **अशी जी रचना आहे, त्यांची मिळून होते ही समजूत.**

ही समजूत कशी धादांत चुकीची आहे, याबाबत श्री.स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज यांचे ***देवात्मशक्ती*** आणि ***Arthur Avlon*** यांचे ***The Serpent Power*** हे ग्रंथ प्रमाण देतात. **षट्चक्रादी आणि कुंडलिनी ही संस्था केवळ दिव्यातिदिव्य अशा अपार्थिव स्त्रोतांची आहे; ती *Physiological* नाही**, असे स्पष्ट मत या दोघा अधिकारी व्यक्तींनी व्यक्तवले आहे.

श्री.गुरुदेव रानडेलिखित ***योगतारावली*** या पुस्तकाच्या परिशिष्टात ***गुरुदेव रानडे:साक्षात्काराचे तत्त्वज्ञान व सोपान*** या ***श्री.ग.वि.तुळपुळे***लिखित ग्रंथातील गुरुदेवांचे कुंडलिनीविषयक विचार दिले आहेत. त्यावरून असे मत दिसून येते की:

१) पाठीच्या कण्याच्या मज्जारज्जूंतून *(spinal chord)* वाहणारी एक शक्ती आहे. त्यातून वाहणारा द्रव पदार्थ *(cerebro-spinal fluid)* म्हणजे ती शक्ती नव्हे; तो द्रव पदार्थ त्या शक्तीचा वाहक आहे. याचा निश्चय शरीरशास्त्रज्ञ व योगी यांनी करावा;

२) मज्जारज्जूतून वाहत मेंदूच्या पोकळ भागात *(ventricals)* प्रवेश करणारी अशी एक आध्यात्मिक शक्ती आहे आणि ती आयुर्वेदातील ***ओजस्*** किंवा पाश्चात्यांची ***न्यूरो-इलेक्ट्रिक (मज्जा-विद्युत) शक्ती*** यांच्यापेक्षा श्रेष्ठ, पलीकडची आहे; हिंदी संत ***अमीरस*** म्हणतात ती हीच शक्ती होय.

३) कुंडलिनी म्हणजे ही शक्ती होय, असे गुरुदेवांचे मत असल्याचे श्री.तुळपुळे सांगतात. गुरुदेवांच्या मते ***कुंडलिनी आहे की नाही,*** हाही एक प्रश्न आहे; ***असल्यास ती जड देहाचा एक भाग किंवा एखाद्या भागाचे ते कार्य आहे का,*** हा दुसरा प्रश्न आहे. याविषयक चर्चेत गुरुदेव शिरू इच्छित नाहीत, असे तुळपुळे यांच्या ग्रंथाच्या परिशिष्टात केलेल्या उद्धरणातून दिसून येते.

या विचारांचा मागोवा घेता असे दिसून येते की श्रीगुरुदेवांसारख्या श्रेष्ठ आध्यात्मिकांसही या कुंडलिनी शक्तीचे गूढ आकलन होत नव्हते. हे विचार आहेत ***कट्टाचे ध्यान*** लावणाऱ्या श्रीनिंबर्गीमहाराज संप्रदायातील एका श्रेष्ठ विचारवंताचे आणि योग्याचे! त्यावरून सर्वसामान्य योगोपदेशक वा कुंडलिनीयोगाभ्यासकांस या विषयाचे किती गम्य असेल, त्याची जिज्ञासूंना सहजच कल्पना येईल.

या गैरसमजूतींपैकी काही अशा: १) ***मेरु*** म्हणून जी योगशास्त्रीय संज्ञा पातञ्जलयोगसूत्रांवरील व्यासभाष्यात येते, तो म्हणजे शरीरशास्त्रानुसार पाठीचा जो कणा वा मेरुदंड (spinal column),तो आहे; २) डॉ.रेळेंच्या मते कुंडलिनी म्हणजे Vagus nerve हा मज्जातंतू, इडापिंगला, सुषुम्ना, इ.नाड्या म्हणजे शरीरांतर्गत मज्जासंस्थेतील sympathetic and parasympathetic nervous systems मधील वेगवेगळ्या nerves वा मज्जातंतू, षट्चक्रादी विविध चक्रे म्हणजेsympathetic and parasympathetic nervous systems मधील विविध coccygeal, solar, cardiac and other plexuses, ३) कुंडलिनीशक्तीचे प्रवहन वा चालन म्हणजे the brain, its lobes or the right and the left hemispheres, corpus callossum, medula oblangata आणि मेंदू व spinal chord मधील cerebro-spinal fluid यातून मेंदू व मज्जातंतूंमधील

संदेशवहनासाठी होणारे वैद्युतिक प्रवाहाचे वहन; ४) कुंडलिनी म्हणजे हा विद्युतप्रवाह, ५) अध:सहस्त्रार म्हणजे या प्रवाहासाठी लागणारा ऋण विद्युतभार (negative electric charge) धारण करणारे केंद्र आणि ऊर्ध्व सहस्त्रार म्हणजे त्या विद्युतप्रवाहासाठी आवश्यक असणारे धन विद्युतभार (positive electric charge) धारण करणारे शारीरिक केंद्र (centre); ६) विविध समाध्यवस्था व दिव्य गंध, स्वाद, नाद-प्रकाशादी योगानुभूती म्हणजे कुंडलिनीचे मेरुदंडातील पृष्ठवंशरज्जूद्वारे medula oblangata, the four ventricular cavities of the brain, pituitory gland and pineal body या ठिकाणी पोहोचणे आणि त्यामुळे भासमान होणाऱ्या विविध स्वप्नसदृश दृश्य, प्रकाश, नादादी संवेदना; ७) प्राण-अपानादी आणि इडा-पिंगला या नाड्या म्हणजेच नासारंध्र व फुप्फुसे यांद्वारे होणारे श्वास-प्रच्छ्वासादी अशा निव्वळ भौतिक पातळीवरील क्रिया; ८) प्राण-अपानादी म्हणजे ऑक्सिजन व कार्बन डाय-ऑक्साईड इ.विविध वायू; अशा अनेकानेक उपपत्त्या या योगशास्त्राचा अनुभव नसणाऱ्या विद्वानांनी प्रसारित केल्या आहेत.

गुर्वोपायाचे महत्त्व

योगशास्त्राचे काही अर्धवट ज्ञान असणारे योगमार्तंडसुद्धा त्यांच्या या उपपत्त्यांना दुजोरा देतांना आढळतात. या सर्वांमुळे नवीन योगसाधक आणि जिज्ञासूंचा फार मोठा प्रायोगिक आणि वैचारिक गोंधळ उडतो. तसेच काही so-called गुरू-श्री समर्थरामदासस्वामी ज्यांना अडक्याचे तीन मिळतात, असे म्हणून हेटाळतात, तसले-आपल्या अज्ञानी शिष्यांना योगयुक्ती शिकवण्याच्या उद्देशाने विविध प्राणायामक्रिया, आसनादी, बंध, मुद्रा, षण्णमुखी मुद्रा का चतुर्मुखी मुद्रा, इ.करावयास सांगून त्याने त्यांची कुंडलिनी जागृत होईल, असे हठयौगिक शिक्षण देतांना दिसतात.

कुंडलिनी जागृत्युपरांत अशा आसनादी, बंधादी, मुद्रादी कृति आपोआपच घडत असतात. पण त्या कृती करून कुंडलिनी जागृत होईल, असे मानण्यास आनुभविक आधार नाही. फारच झाले तर अशा शारीर प्रयोगांनी व्यायामाचे सुयोग्य लाभ, आरोग्य, रोगप्रतिकारक शक्ती वाढणे, इ.गोष्टी साधकांच्या पदरी पडतील. त्यांचीही योगसाधकांस जरूर आहेच! परंतु कुंडलिनीजागृती ही केवळ पूर्वजन्मीच्या संस्कारांनी, सद्गुरूकृपेने किंवा ईश्वरकृपेनेच शक्य होते, हे निर्विवाद सत्य आहे.

देवात्मशक्ती या ग्रंथात ***श्री स्वामी विष्णुतीर्थ*** म्हणतात की कुंडलिनीजागृतीच्या नंतर चार प्रकारच्या क्रिया होतात: ***"चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादि भेदत:। क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि।।"*** याच हठयोगप्रतिपादित बंध-आसन-मुद्रादी क्रिया, मंत्रोच्चारण व मंत्रशक्तीजागृती, भक्तिभाव, चक्रजय,कुंडलिनीचे विविध चक्रांतून उत्क्रमण इ.क्रिया, परोक्षज्ञान व आत्मानात्मविवेकज्ञानप्राप्ती व आत्मतत्त्वाचे दर्शन व साक्षात्कारादी होत.

थोडक्यात दाखवायचे तर ***"कुंडलिनीजागृति -➢ हठयोगी क्रिया; कुंडलिनीजागृति -➢ मंत्रयोग; कुंडलिनीजागृति -➢ चक्रादी दर्शने व वेध; कुंडलिनीजागृति -➢ भक्ती; कुंडलिनी जागृति -➢ परोक्षज्ञान -➢अपरोक्षज्ञान; कुंडलिनीजागृति -➢नादप्रकाशादी दर्शने व अनुभव;"*** अशा प्रकारच्या क्रिया-प्रतिक्रिया कुंडलिनीजागृतीने होतात.

त्यामुळे असा एक समज उद्भवतो की या प्रतिक्रियांच्या स्वरूपाच्या क्रिया जर साधकाने केल्या तर आपोआप मूळ क्रिया म्हणजे कुंडलिनीजागृती ही त्या क्रियांच्या प्रतिक्रियास्वरूप *(न्यूटोनियन सिद्धांतानुसार!!)* होईल!! यातूनच मग साधकांचे हठयौगिक क्रिया करणे; मंत्रजप करणे; देवदेवतांची भक्ती करणे; कुंडलिनी व चक्रांचे ध्यान करणे, त्यांचा वेध झाल्याचे कल्पिणे, त्यांची योग्यांना झालेली लाक्षणिक दर्शने जी अनेक योगविषयक पुस्तकांतून चक्रादींच्या चित्ररूपाने रेखाटलेली असतात, तशी ध्यानासाठी घेणे; डोळ्यांच्या बुबुळांवर दाब देऊन योग्यांना दिसणाऱ्या पांढऱ्या-काळ्या-पिवळ्या रंगाची वर्तुळे पाहणे, नाकपुड्या दाबून श्वासोच्छ्वास रोधणे *(केवलकुंभक होईल या समजुतीने);* कर्णविवरे बंद करून आत होणारा धमन्यांचा आवाज ***अनाहतनाद*** आहे असे समजून ऐकणे; शास्त्रग्रंथ, धर्मग्रंथ, तत्त्वज्ञानग्रंथ, अध्यात्म इ.चा परोक्षज्ञानी अभ्यास, इ.अनेकानेक साधना, त्यांमुळे प्रतिक्रियास्वरूप कुंडलिनीजागृती होईल या आशेने करणे हे प्रकार उद्भवतात.

कदाचित वैज्ञानिकांच्या न्यूटनच्या गतिविषयक तिसऱ्या सिद्धांताप्रमाणे ज्या क्रियाप्रतिक्रियादी सापेक्ष गोष्टी भौतिक विश्वात अनुभवण्यास येतात, तसाच काही प्रकार या प्राणायाम-बंध-मुद्रादी हठयौगिक कृतींनी, मंत्रजपाने किंवा औषधि-रसायनादींच्या प्रयोगादींनी होत असल्यास त्याचे योगशास्त्रोक्त निखळ आनुभविक प्रामाणिक प्रमाण अद्यापपावेतो कोणाही सज्जन-संतमहात्म्यादींनी दिलेले पाहण्यात येत नाही.

त्याउलट स्वप्रयत्नांचे महत्त्व प्रतिपादणाऱ्या पातञ्जलयोगसूत्रातूनही गुरूंचा - ईश्वराचा सादर उल्लेख येतो *(सू.क्र.१-२३ ते २८ व २-४५).* ***श्री.स्वात्माराम योगी*** यांच्या ***हठयोग*** प्रदीपिकेतही ***"श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।..।।१-१।।"*** आणि ***"प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।।२।।"*** असे हठयोगाच्या उपदेष्ट्या आदिगुरु श्रीआदिनाथास आणि स्वत:च्या गुरूंनाही वंदन केलेले आढळते. त्याच ग्रंथात इतरत्रही ***"उपदेशं हि मुद्राणीं यो दत्ते सांप्रदायिकम्। स एव श्री गुरु: स्वामी साक्षादीश्वर एव स:।।३-१२९।।"*** असे सांप्रदायिक मुद्रोपदेश करणाऱ्या गुरूमुळे आणि त्यांच्या वाक्यानुसारच मुद्रादी प्रयोगांचे साफल्य होते, असे सूचित केले आहे. त्याच ग्रंथाच्या चतुर्थोपदेशातही ***"नम: शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ।।४-२।।"*** अशा शिवस्वरूप नादबिंदुकलात्मक श्रीगुरूंना नमन केले आहे. थोडक्यात सांगायचे तर ***हठयोगसुद्धा श्रीशिवतुल्य गुरूंशिवाय सिद्ध होऊ शकत नाही.***

घेरंडसंहिता या योगशास्त्रावरच्या दुसऱ्या एका कमी प्रचलित पण उच्च श्रेणीच्या ग्रंथाचा उपोद्घातच मुळी ***चण्डकापाली***नामक योगजिज्ञासूच्या ***घेरंड मुनीं***कडे जाऊन त्यांना सविनय प्रणाम करून केलेल्या योगजिज्ञासाविषयक पृच्छेतून होतो. श्रीकृष्णांनी गीतेत सांगितलेल्या ***"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।..।।४-३४।।"*** या उक्तीनुसारच हे ज्ञान महात्म्या अशा गुरूंच्या उपदेशातून प्राप्त झाले आहे.

सिद्धसिद्धांतपद्धति या नाथसांप्रदायिक श्रीगोरक्षविरचित ग्रंथातही गुरूंचा उपदेशच सिद्धिदायक असल्याचा निर्वाळा आहे. या ग्रंथाचा उपोद्घातसुद्धा ***"आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम्।..।।१-१।।"*** अशा आदिगुरु आदिनाथाला नमस्कार करूनच होतो. योगसिद्धीसाठी गुरुसेवाच आवश्यक आहे, असे विधान या ग्रंथातील ***"...गुरुचरणरतत्वात्..।।५-४।।"*** या श्लोकात आहे. गुरूच केवळ सन्मार्गप्रदर्शक आहे, इतर सर्व पाखंडी आहेत, योगमार्गच सन्मार्ग आहे, असा निर्वाळा त्यातील ***"गुरुरत्र सम्यक् सन्मार्गदर्शनशीलो भवति। सन्मार्गो योगमार्गस्तादितर: पाषंडमार्ग:।।५-५।।"*** या गोरक्षवचनाद्वारे दिलेला आहे.

तसेच ***"यस्मिन्दर्शिते सति तत्क्षणात् स्वसंवेद्यसाक्षात्कार: समुत्पद्यते। ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते।।५-६।।"*** आणि

"तस्माद्गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभि: स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियते इति सिद्धान्त:।।५-७।।" या श्लोकांद्वारेही स्वसंवेद्यत्वाचा साक्षात्कार, निरुत्थानदशाप्राप्ती, आणि *"पिंडें पिंडाचा ग्रासु"* यांची सिद्धी केवळ एका गुरुकृपेनेच होते, असे सैद्धांतिक आणि स्वानुभवी साक्षात्कारी मत श्रीगोरक्षनाथ प्रकट करतात.

अत्यंत महत्त्वाचे असे गोरक्षांचे विधान येते, ते *"सहजं स्वात्मसंवित्ति: संयम: स्वात्मनिग्रह:। सोपायं स्वस्य विश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम्।।५-२९।।"* व *"तज्ज्ञेयंसद्गुरोर्वक्त्रात् नान्यथा शास्त्रकोटिभि:। न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपाठनात्।।३१।। वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात्। न हंसोच्चारेणाज्जीवब्रह्मणोरैक्य-भावनात्।।३२।। न ध्यानान्न लयाल्लीन: सर्वज्ञ: सिद्धिपारग:। स्वेच्छो योगी स्वयंकर्ता लीलया चाजरोऽमर: ।।३३।। असाध्या सिद्धय: सर्वा: सत्यमीश्वरभासितम्।..।।५-३५।।"* इत्यादी श्लोकांतून!

ते म्हणतात की ***सहज*** म्हणजे आत्मस्वरूपाचे ज्ञान, ***संयम*** म्हणजे आत्मनिग्रह, ***सोपाय*** म्हणजे आत्मविश्रांती व ***अद्वैत*** म्हणजे परमपद ही सगळी केवळ गुर्वोपायाने - गुरुकृपा, गुरुवाक्य आणि आशीर्वादानेच प्राप्त होतात. अन्यथा कधीच आणि इतर कोणत्याही उपायांनी, प्रयोगांनी वा स्वप्रयत्नांनी नाहीच नाही! अनंत शास्त्रे, तर्क, व्याकरण, नाना आचार, वेदपाठ, वेदांतश्रवण, इत्यादींनी; आत्मनिष्ठ व स्वानुभवी गुरूंशिवाय इतरच कोण्यातरी अर्धवटाने तत्त्वमसिबोधवाक्य उपदेशणे किंवा स्वत:च त्याचा विचार करणे, हंसोच्चारण *(हंसजप करणे - "सोऽहं"जप करणे,)* मध्यसंधीचा अभ्यास करणे *(जीवब्रह्मएकरूपतेची - "जीवो ब्रह्मैव ना परा" अशी भावना करणे),* कोणत्याही ध्यानप्रकाराने, जपादींनी, लयाभ्यास इत्यादी अन्य कोणत्याही प्रयोगांनी, साधनांनी, अभ्यासाने ही प्राप्ती होत नाही; एवं च काय तर या इतरेतर कोणत्याही उपायाने हे होणे अशक्यच आहे! फक्त केवळ गुरुकृपेनेच योगी अजर अमर स्वात्मनिष्ठ असा होतो!

तसेच सर्व प्रकारच्या विकल्पांचे शमन जो करतो तोच खरा सद्गुरू, बाकी सगळे गुरुस्वरूपाचे विडंबन करणारे नट होत, असा या जगात *"अडक्याचे तीन"* मिळणाऱ्या गुरूंबाबतचा निर्वाणीचा इशाराही *"नानाविकल्पविश्रान्तिं कथया कुरुते तु य:। सद्गुरु: स विज्ञेयो न तु मिथ्या विडम्बक:।।५-६७।।"* या श्लोकातून गोरक्षांनी साधकांना दिलेला आहे.

गुरुमाहात्म्यपर इतरही अनेक श्लोक या ग्रंथात आहेत. शेवटी ***गोरक्षांच्या मते योगसिद्धी ही गुरुकृपेशिवाय नाहीच नाही,*** हे स्पष्ट करणारे एक निर्वाणीचे वचन पाहून हा विषय समाप्त करू या:

ते म्हणतात: *"न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं। शिवशासनत: शिवशासनत: शिवशासनत: शिवशासनत:।।५-६३।।"* अगदी तंतोतंत असेच वचन गुरुगीतेतही आहे. त्रिवार सत्य सांगत श्रीगोरक्ष म्हणतात: ***"गुरूंपेक्षा श्रेष्ठ काहीच नाही, काहीच नाही, काहीच नाही! हा शिवाचा आदेश आहे, हा शिवाचा आदेश आहे, हा शिवाचा आदेश आहे!"***

आणि हे साधकांच्या मनावर पूर्णपणे बिंबवावे म्हणून पुनश्च एकदा सांगतात: ***"गुरूंपेक्षा श्रेष्ठ काहीच नाही, असे आदिनाथ श्रीशिवांचे वचन आहे!!!"***

अलीकडल्या काळातील योगी अरविंद यांच्या Yogic Philosophy & Oriental Occultism या ग्रंथात असे मत व्यक्त केले आहे की:

The Guru will seek to awaken more than to instruct, He will give a method as an aid, as an utilisable device not as an imperative formula or a fixed routine. His whole business is to awaken the Divine Light and set working the Divine Force of which he himself is only a means and an aid, a body or a channel.

या सर्व विस्तृत विवेचनावरून आणि गोरक्षादी अनेक महान सिद्धमहाभागांच्या कळकळीच्या आप्तवचनांवरून योगसिद्धी ही गुरूविना नाहीच नाही, हे सत्य प्रस्फुटित होतांना दिसते.

इतर अज्ञानी गुरूंनी षण्णमुखी वा चतुर्मुखी मुद्रात करावयास सांगितलेल्या कानात बोटे घालून धमन्यांतील रक्तप्रवाहाचा अंतर्कर्णनाद ऐकण्याने *(हा काही खरा अनाहतनाद नव्हे!),* डोळ्यांच्या बाहुल्यांवर बोटांचा दाब देऊन काळीपिवळी वर्तुळे पाहण्याने *(हे काही योग्यांना होणारे प्रकाशानुभव नव्हेत!)* आणि नाकपुड्या दाबून केलेल्या घ्राणपीडणपूर्वक वुंभकादींनी *(ज्यांची श्रीमच्छंकराचार्यांनी योगतारावलीत स्पष्टच हेटाळणी केलेली आहे -"न प्राणस्य प्राकृतवैकृताख्यौ।।१०।।यो.ता.")* कुंडलिनीजागृती काही होत नसते, हे आनुभविक सत्य जितक्या लवकर जिज्ञासू आणि प्रामाणिक योगसाधकांच्या लक्षात येईल, तितक्या लवकर त्यांना खरा ***प्रज्ञोपाय,*** खरा राजयोगाचा मार्ग - ज्ञानदेवांचा ***पंथराज*** सापडेल, ही आर्तता मनी बाळगून आणि गुरूंची शास्त्राधारे पारख करण्याची त्यांना पुन: नम्र सूचना देऊन हे अनभिज्ञ लोकांनी आणि अज्ञानी, अर्धवट, भोंदू भोंगळ गुरूंनी योगशास्त्रात घातलेल्या गोंधळाचे प्रकरण आवरते घेऊ या आणि आपल्या मुख्य विषयाकडे वळू या.)

केवलकुंभक, अध:कुंडलिनी व ऊर्ध्वकुंडलिनी

"आंतरीं फांकें। हृदयकोशु।।६-२०९।।" (पृ.क्र.७८१)

या ओवीनंतरची पंथराजाची पुढील वाटचाल अशी आहे: त्रिबंधांनंतर यावेळी प्रत्याहाराचा अभ्यास पूर्णतेप्रत जाऊन प्रत्याहाराचे अंतरंगसाधन प्राप्त होते. प्राणायामाचीही पूर्णता झालेली असते. त्यामुळे ***नाडीशुद्धी*** होऊन पृथ्वी व आपतत्त्वांची एकमेकांत मिसळण होते. भूतजयाची ही प्रारंभिक अवस्था समजता येईल.

इंद्रियजय जवळजवळ पूर्णतेस गेलेला आहे, ***अशा अवस्थेत नाभिआधाराचे ध्यान अभिप्रेत आहे.*** नाभिआधारावर तेथे ***मध्याकुंडलिनीचे ध्यान*** करणे योगशास्त्रास अभिमत आहे. या कुंडलिनीचेच वर्णन ज्ञानेशांनी *"नागाचें पिलें। कुंकुमें नाहालें।।६-२२२।।"* या शब्दात केले आहे असे वाटते. कारण नाभिस्थित मध्या कुंडलिनीचे हेच स्वरूप गोरक्षांनी ***सिद्धसिद्धांतपद्धती***त सांगितले आहे *(***"तृतीयं नाभिचक्रं पन्नावर्तं सर्पवत्कुंडलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शाक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत्।।२-३।। सि.सि.प.।।***).**

यावरून एक स्पष्ट होते. ते म्हणजे अनेक लेखक व टीकाकार समजतात, तशा **मूलाधारस्थित कुंडलिनीचा *"नागाचे पिलें। कुंकुमें नाहालें (६-२२)"* या ओवीने बोध न घेता गोरक्षविवेचित** या **मध्याकुंडलिनीचाच बोध घेतला पाहिजे. हीच मध्या कुंडलिनी *"मग कंदावर शक्ती। उठिली दिसे (६-२२७)"* या ओवीत निर्देशिलेली शक्ती होय,** असे आपणास जाणिवपूर्वक म्हणावे लागते. असो.

ध्यानादी प्रक्रियांनी कुंडलिनी जागृत होऊन सुषुम्नामुखात प्रवेश करण्यासाठी सरळ म्हणजे दंडायमान होते. कंदावर ती उभी राहते. कुंडलिनी जागृत होऊन ऊर्ध्वाभिमुख म्हणजे सुषुम्नेत प्रवेश करण्याच्या स्थितीत जेव्हा येत असते, तेव्हा व तत्पूर्वी शरीरात प्राणापानांच्या समरसीकरणाच्या प्रक्रियेतून बऱ्याच घडामोडी घडलेल्या असतात व घडत असतात. अपान सुषुम्नामुखात प्रवेश करण्यासाठी एकत्र झालेला असतो. तो मणिपूरचक्रापाशी गर्जना करत असतो.

आसन-मुद्रा व प्राणायाम यांच्यातून जी उष्णता निर्माण होते, त्यामुळे ध्यानविषय कुंडलिनी जागृत होते. त्यानंतर सप्तधातू -अस्थि -मांस-मज्जादींचा कुंडलिनी ग्रास करते म्हणजे आपल्यात लय करते. तसेच इंद्रियांच्या पंचतन्मात्रा व पंचमहाभूतांच्या तन्मात्रा कुंडलिनीत लय पावण्यास सुरुवात होते. प्राणांची गती रुद्ध होते. प्राण व अपान यांच्या साम्यापूर्वीची स्थिती प्राप्त होते. ***केवलकुंभक*** साध्य होण्याची प्रारंभिक स्थिती प्राप्त होते. षट्चक्रांचा प्रारंभिक वेध होतो. कारण **अध:कुंडलिनीचे आकुंचन होणे व ऊर्ध्वकुंडलिनीचा निपात होणे या प्रारंभिक अवस्थेतील क्रिया केवलकुंभकामुळे साध्य होतात.**

धर्ममेघ समाधि

ही पायरी ***धर्ममेघ*** म्हणून पतञ्जलींनी ज्या समाध्यवस्थेचे वर्णन केले आहे, ती आहे. ***"निर्विचारवैशारद्य-➤ ऋतंभराप्राप्ती -➤ धर्ममेघसमाधि"*** असा या अवस्थांचा क्रम आहे. याच अवस्थेत ***विवेकख्याती*** चा उदय होतो. या धर्ममेघ समाधीचाच आता यापुढे साधकाने अभ्यास करावयाचा आहे.

खरे तर आता अभ्यास करावयाचा नसून तो आपोआपच होणार असतो. प्रज्ञेच्याच साहाय्याने हे कार्य सिद्ध होणार असते. ***प्रज्ञोपाय*** म्हणून शास्त्रात यालाच म्हणतात. ***"अभ्यासुचि आपणांतें करी" हृदयांतें अनुभवु वरी।।६-१६६।।*** असा जो आसनस्थ होतांनाचा संकल्प ज्ञानेशांनी सांगितला होता, तो कुंडलिनीजागृतीमुळे आता सिद्धीस जातो.

मध्याकुंडलिनी व तत्त्वलय

"केवलकुंभकप्राप्ती-➤ अध:कुंडलिनी आकुंचन-➤ ऊर्ध्वकुंडलिनीनिपात" या प्रक्रियांच्या प्रारंभिक अवस्थांमुळे यानंतर पंचमहाभूतांचा कुंडलिनीत लय होऊ लागतो. प्रथम पृथ्वी व आपतत्त्वांचा लय होतो. त्यासमवेत बराच काळ अपेक्षित असलेली कुंडलिनीच्या सुषुम्नाप्रवेशाची क्रिया होते.

प्राणांची स्थिती हृत्कमलात झालेली असते. त्यांचे मणिपूरचक्रावरून उत्क्रमण होऊन प्राणापानांचा कुंडलिनीसोबत सुषुम्नाप्रवेश होतो. त्याबरोबर प्राणाचे दशविध प्रकारचे भेद लयास जातात व प्राणतत्त्व समरस होते.

त्याबरोबर नाडीजाल लय पावते. बहात्तर सहस्र नाड्या व इडापिंगला एकवटून त्या सुषुम्नेशी एकरूप होतात. प्राणापानांचा वायुतत्त्वात लय होतो. केवलकुंभकाची ही अंतिम स्थिती आहे. त्याचप्रमाणे ***ब्रह्मा - विष्णु- रुद्र*** या तिन्ही ग्रंथींचा भेद होतो. षट्चक्रांचे भेदन साध्य होते. ही भेदनप्रक्रिया अंतिम टप्प्यात पोहोचण्याच्या काळात बुद्धितत्त्वाचा सुषुम्नाप्रवेश होतो व त्याचा कुंडलिनीत लय होण्याची प्रक्रिया सुरू होते.

शरीरातील सर्व प्राण कुंडलिनीत प्रवेशतो. अशा प्रकारे दशेंद्रिये त्यांच्या तन्मात्रांसह, मन व बुद्धीसह, पृथ्वी व आप तत्त्वांसह, कुंडलिनीसह सुषुम्नेत स्थित होतात. त्यावेळी ***मध्याकुंडलिनी*** म्हणून जी असते, तिचा विकास होतो. हे ***परावाक्स्थान*** आहे. आतां कायसंपद व अन्य अनेक सिद्धींचे योग्याद्वारे प्रकाशन घडू लागते.

प्राण हे मनाचे तत्त्व समजतात. बुद्धीचेही तत्त्व तेच समजतात. मूळ अहंकाराचे मन, बुद्धी, चित्त व अंत:करण हे अंत:करणचतुष्ट्यादी विभाग असतात. ज्ञानेश त्यांचा स्थूलमानाने निर्देश करतात, तो असा: ***"प्राणाचा हातु धरूनि", "विश्वबीजाचियां कोंभां", "बुद्धिचें चैतन्य होतें। तैं आलें"*** इ.नी ***मन - प्राण - बुद्धी - जीव - अहंकार*** यांचा येथे निर्देश होत आहे. ***"चैतन्य आधतुरैं"*** यादृारे ***जीवचैतन्य वा जीवात्मा वा पराप्रकृती*** चा निर्देश आहे. कुंडलिनीद्वारे ज्ञानेश्वरनिर्देशित छत्तीस तत्त्वांची मूलतत्त्वात मिळणी करणारा हा योग असल्याचे निष्पन्न होते. असो.

[**टीप:लयावस्थेच्या पायऱ्यांचा अनुक्रम व शक्तीचे संपूर्णत्वाने उत्थान आणि आंशिक उत्थान:** आतापावेतो केलेल्या विवेचनात जिज्ञासूंनी एक गोष्ट लक्षात घेणे आवश्यक आहे की वेळोवेळी आपण एकाएका क्रियेचे वर्णन करतांना तिची प्रारंभिक अवस्था इ.म्हटले आहे. त्याचे कारण असे की कुंडलिनी शक्ती मूलाधार सोडून पूर्णपणे ऊर्ध्वस्थ होते, असे जे मत आहे, ते बरोबर नाही. शक्तीने जर मूलाधार व इतर ठिकाणचे अस्तित्व पूर्णपणे सोडले, तर पिंडदेह टिकणार नाही. म्हणून प्रत्येक लययोगांतर्गतची क्रिया शक्तीच्या अंशात्मक उद्धरणाने सिद्ध होत असते, हेच मत मान्य करावे लागते. योगसाधकांस याची प्रत्यक्ष अनुभूती असतेच. म्हणूनच आपण प्रारंभिक अवस्था, इ.शब्दप्रयोग करत आहोत.

तसेच सर्व योगानुक्रम फक्त एक दिशा दाखवतो. एक क्रिया पूर्ण झाल्याशिवाय नंतरच्या क्रियेला सुरुवात होत नाही, असे नाही. सर्व क्रिया एकमेकांमध्ये गुंतलेल्या असतात. एक क्रिया चालू असतांना दुसऱ्या पुढच्या पायऱ्या पण अभ्यासल्या जात असतात, हा प्रत्यय पातञ्जलयोगक्रियांप्रमाणेच लययोगातही येत असतो. याबाबत स्वामी श्रीविष्णुतीर्थांचे असेच मत आहे. त्यांच्या मते संपूर्ण कुंडलिनी जागृत होऊन सुषुम्नेत प्रवेश करते हे मत चुकीचे आहे. जागृतीनंतर शक्ती सर्वच स्थानांवर पूर्वीप्रमाणेच राहत असते, पण तिचा लयासाठी आवश्यक तो भाग सुषुम्नादी स्थानांत संचार करतो *(**सौंदर्यलहरी हिन्दी टीका** - तत्रैव पृ. क्र.२०४,२०५)*].

या सर्व तत्त्वांसह कुंडलिनी जेव्हा ***हृत्स्थानी*** प्रवेशते, तेव्हा केवलकुंभकाच्या निष्पत्तिस्वरूप असा ***अनाहतध्वनी*** प्रकट होतो. ***अजपासिद्धी हृत्कमलात हंसरूपाने विद्यमान असणाऱ्या जीवात्म्याची कुंडलिनीशी भेट होते.*** प्राणांची अवरुद्ध झालेली गती आता उलटते,

हंस:*चा आता *सोऽहं* होतो आणि अजपासिद्धी प्राप्त होते. हे *प्राण आता मनोव्यापारगामी प्रवृत्तीचे न राहता निवृत्तिपर होत असल्याने ही गती उलटण्याची संज्ञा येथे वापरली आहे.

प्राणांचे यापुढे कुंडलिनीसमवेत भ्रूचक्रावर उत्क्रमण होणार आहे, त्याची ही पहिली पायरी आहे. ***हृत्चक्र*** या स्थानावर येतांना कुंडलिनीने पश्यंति वाणीचे स्थान मागे टाकलेले असते. अजपा म्हणजे प्रणवजपाची सिद्धी येथे होत आहे. त्यावेळी सुषुम्नेचा हृत्चक्रापुढील मार्ग मोकळा होतो. ब्रह्मद्वार उघडण्याचा हा दुसरा निर्देश ज्ञानदेवांनी येथे सूचित केला आहे. या वेळी तेजस्तत्त्वाचा लय होतो. कुंडलिनी व तेजस्तत्त्व विलीन झालेला वायू ही एकरूप झाल्याने शक्तीचे तेज लोपते. ती पवनाची होते. या वेळी पंचमहाभूतांपैकी आकाश व वायू ही दोनच तत्त्वे उरलेली असतात. त्यावेळचे योगीदेहाचे मनोज्ञ रूप ज्ञानदेवांनी वर्णिले आहे, ते आपण मागेच पाहिले *(६-२४९ ते २५२).* या वेळचा योगिदेह अजर अमर असा योगसिद्ध होतो.

प्रधानजय

या वेळचे शक्तिरूप म्हणजे निव्वळ प्राणरूपच असते. मनाचा ***नाद-बिंदू-कला-ज्योति*** प्रदर्शक गुणधर्म लोपलेला असतो. ***रूप - ध्वनी - विचार - सोऽहंभाव*** हे सर्व एकीभूत होतात. असे असले तरी शक्तीचे शक्तित्व व मनाचे मनपण नाहीसे झालेले नसते. ही ***खेचरीसिद्धी*** आहे. वायू - गगन तत्त्वांचे प्राबल्य या अवस्थेत असते. या वेळी अणिमादिक सिद्धी प्राप्त होतात.

पातञ्जलयोगसूत्रानुसार ***"संयम-➢त्याचा जय -➢प्रज्ञोदय -➢प्रातिभज्ञान -➢यांपुढे प्रातिभज्ञानामुळे त्यापुढील पायऱ्यांची सिद्धी"*** असा क्रम येतो. हृत्कोशावर प्रातिभज्ञानाद्वारे संयम केल्याने चित्ताचे स्वरूप कळते***("हृदये चित्तसंवित्।।३-३४।। पा.यो.सू.।।").*** हृदय हेच चित्तातील ***अहं*** या जाणिवेचे मूळ स्थान आहे. अर्थातच आपल्या आतापर्यंतच्या विवेचनावरून हे ***हृत्स्थान म्हणजे स्थूल हृदय नसून हृत्संवितस्थान होय,*** हे लक्षात यावे.

हृत्कोशावर प्रातिभज्ञानाद्वारे संयम केल्याने चित्ताचे स्वरूप कळते. पुरुषाचे ज्ञान होते. अनेकानेक सिद्धी प्राप्त होतात. त्या सिद्धी योगसाधकांस अडथळे ठरण्याचा धोका असतो. या वेळी ***दिव्य नाद*** प्रकटतो. पतञ्जली त्यास ***दिव्य श्रोत्रप्राप्ती*** असे म्हणतात, असेही एक अनुमान आहे. ही सर्व वायुजयाची लक्षणे होत*(३-३९,४० व ४२।।पा.यो.सू.।।).*

महाविदेहावृत्ती प्राप्त होते व सत्त्वगुणाचा प्रकाश म्हणजे ***शुद्धसत्त्वगुण*** प्रकटतो (३-४३,पा.यो.सू.). पंचमहाभूतांच्या स्थूल-सूक्ष्मादी अवस्थांवर संयम करून ***भूतजय*** प्राप्त होतो. ***कायसंपत*** प्राप्त होते *(३-४५ व४६,पा.यो.सू.).*

या पातञ्जलयोगस्थ अवस्थांना पंथराजाची ***"शक्तीचे रूप मावलें। शक्तिचिमाझिं।।", "आतां नादबिंदु नेणिजैं। कलाज्योति", "मनाचा हान मारु। कां पवनाचां धरुं। ध्यानाचां आदरुं। नाइं परि", "हें कल्पना घे सांडिं। तैं नाइं इयां परवडिं", "तैं तैं म्हणिजैं खेचर। हें पद होतां चमत्कार", "तेथ ठाइं ठाइं होएं। हें आणिमादिकीं"*** या ओव्यांतून प्रकट केलेली भूमिका समांतर पातळीवरील आहे.

थोडक्यात तेजस्तत्त्वाच्या लयाबरोबर ***महाविदेहावृत्ती, सत्त्वप्रकाश, भूतजय, अणिमादिप्राकट्य*** या सर्वांचे प्रकाशन होते, असा समन्वय येथे स्वीकारता येईल. असो. यापुढे ***"इंद्रियजय -➢ प्रधानजय -➢सत्त्वपुरुषन्यताख्याति (विवेकख्याति) -➢ त्यांबाबतही वैराग्य -➢ कैवल्य"*** अशा पायऱ्या पातञ्जलसूत्रे देतात *(३-४७ ते५१,पा.यो.सू.).* कुंडलिनीच्या पुढील क्रमणात या अवस्थांचे पूर्णत्व प्राप्त होत असते. ***इंद्रियजय*** म्हणजे प्रत्याहाराची पूर्णता. ***प्रधानजय*** म्हणजे प्रकृतीवर पूर्ण नियंत्रण. ***"सत्त्वपुरुषान्यताख्याति"*** म्हणजे विवेकज सत्य ज्ञान. त्याबाबत नंतर पुढे पाहू.

हंसस्वरूप

शक्ती जेव्हा अशी ***पवन*** या वायुतत्त्वाने संपन्न होते, तेव्हा तिला ***मारुत*** अशी संज्ञा ज्ञानदेव देतात. आता ती पुढील मार्ग उड्डाण करून क्रमणार आहे, असा भावार्थ येथे घेता येतो. ती अद्यापही शक्तीच असते. कारण शिवतत्त्वात तिचा लय व्हायचा अजून बाकी आहे. ती जालंधरबंधाचे उल्लंघन करून, पश्यंतीचे स्थान मागे टाकून, मकाराची आज्ञाचक्रावरील नड मागे टाकून, सुषुम्नेतून गगनाच्या महालात प्रवेशलेली असते. या ठिकाणी एकट्या प्राणांस येणे शक्य नसते. परंतु कुंडलिनीच्या साहाय्याने प्राणांसह मन आज्ञाचक्रात येते. तेथे त्याला शुद्ध हंसस्वरूप प्राप्त होते व मानससरोवरात म्हणजे पुढील अर्धमात्रेच्या प्रांतात विहार करण्याचे सामर्थ्य प्राप्त होते, असा भाव या अवस्थेत असतो.

पुढील अवस्था

हृत्स्थानी ॐकार जप होत असतो. त्या स्थानावरून ती गगनावर उड्डाण करण्यास सज्ज होते. पण त्यासाठी ***ककारांत*** म्हणजे ***सुषुम्नेचे सहस्त्राराकडील ब्रह्मद्वार*** उघडले पाहिजे. ते अनाहतनादाने उघडते. त्याबाबत नंतर पाहू.

अर्धमात्रेच्या प्रांगणात येऊन दाखल झालेल्या या मारुतीला तेव्हा ***बिंदू -➢ अर्धेंदु -➢ निरोधिका*** इ.मार्गांनी उत्क्रमण करत पुढे जावे लागते. बिंदूत मनातील रूपसंकल्पना अति दिव्यतेला पोहोचते. तेथे दिव्य रूपदर्शनादी होतात. अर्धेंदूत या त्रिपुटीतील द्रष्टा - दृश्यभाव विरतो. ***निरोधिका ही रूपांत स्थिती होय. मनाचा रूपविषय तेथे लय पावतो.*** नंतर ***नाद, महानाद वा नादांत*** या पायऱ्यांवर मनातील ध्वनी या संकल्पनेचे उदात्तीकरण व लोप होतो. परंतु मनाच्या कला जोपावेतो लोपत नाहीत तोपावेतो रूप, ध्वनी हे सुप्तास्थितीत कुंडलिनीसह पुढे सरकतात.

त्यांचा लोप शक्तीच्या ***ऊर्ध्व कुंडलिनी*** म्हणून ओळखल्या जाणाऱ्या प्रांतात होतो. ***शक्ति, व्यापिनी, समना*** हा मनाच्या कलांचा प्रांत आहे. ***कुंडलिनी ही स्थाने आक्रमून जेव्हा उन्मना या कक्षेत***

दाखल होते, तेव्हासुद्धा *अनाहतनादाची* समाप्ती होत नाही. तर जेव्हा जीवत्वाचा शिवत्वात सामरस्यात्मक लय होतो, तेव्हापर्यंत नाद अस्तित्व ठेवून असतो. मनाच्या कलांचा लोप येथे होतो. राहते ती अभावात्मक ***अमाकला.*** म्हणजे ***"मनाचा पटु"*** **फाटण्याची** ज्ञानेश्वरोक्त अवस्था म्हणजे ही ***उन्मना*** च होय. असो.

ज्यावेळी ***उन्मना*** प्राप्त होते, तेव्हा वायुतत्त्व लय पावून नि:शेष गगनतत्त्व उरते. कुंडलिनीचे हे गगनावरोहण आहे ***("गगनाचिएं पाहाडिं। पैठिं होएं").*** **अंती ती आकाशतत्त्वासह ब्रह्मरंध्री सोहंऽभावाच्या अंतिम स्थितिदर्शक अशा परमात्मलिंगात प्रवेशते. आकाशतत्त्वाचा लय होतो. शक्तीचे शिवाशी सामरस्य होते. पदी पद प्रवेशते. पिंड उरतो तो जीवन्मुक्तरूपाचा! अर्धमात्रा लोपते. महाशून्याच्या डोहात हे सर्व लोपतात. जीवात्मा शिवाशी एकरूप होतो. द्वैत मावळून अद्वैतसिद्धी होते. संकल्प-विकल्पादी करणारे मन मुदलासहित जाते.**

महासुख

अनादी, अगण्य परमतत्त्वाची प्राप्ती करून देऊन ***पंथराज*** तेथेच विराम पावतो.पूर्वेकडून निघून पश्चिमेकडचे घर गवसते. आाकाराचा - विश्वरूपाचा लोप होतो. मोक्षसुखाची लयलूट होते. मोक्षावाचून जेथे काहीच इतर नाही, अशी ही ***तुर्यातीत*** अवस्था आहे; किंवा ***तुर्येचा तारुण्यभर*** आणि ***उन्मनीचे लावण्य*** जेथे उपभोगण्यास मिळते, ती ही परब्रह्मस्थिती असते. विश्व झाकून जाते. महासुख प्राप्त होते. किबहुना साधकाचा सिद्ध होऊन ते महासुख उपभोगण्याऐवजी तो स्वत:च ते होतो, असा ज्ञानेश्वरीचा दाखला आहे. ***ही जीवन्मुक्ती पंथराजाद्वारे प्राप्त करून घेऊन योगी कृतार्थ होतो.*** असो.

याप्रमाणे आपण पंथराजाची पूर्णानुभूती आतापर्यंत मनसोक्त घेतली. त्यापुढचा भाग व कृष्णार्जुनसंवाद याकडे आता वळणे क्रमप्राप्त आहे. तिकडे वळू या.

योगसिद्धी::::

पुढील विषयानुसंधान

हा योगमार्ग दुस्तर वाटला तरी त्याचे अधिकारी सर्वच आहेत, हा भाग पूर्वी येऊन गेला आहे. फक्त ***"मग म्हणे गां पार्था। तैं हें ऐसिं वेवस्था। अनियतासिं सर्वथा। योग्यता नाइं।।६-३४४।।"*** या ओवीत सांगितल्याप्रमाणे अनियमित वागणाऱ्यास या योगाची प्राप्ती होत नाही, एवढेच अनधिकारी वर्णन श्रीकृष्णांनी केले आहे.

योगसिद्धीलक्षणे

हा योग सिद्ध होण्याची लक्षणे नंतर श्रीकृष्ण सांगताहेत, ती बघू या. ते म्हणतात:

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृह: सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।६-१८।।

"जेव्हा असे वृत्तींचा लय केलेले चित्त आत्म्यात लीन होऊन जाते आणि साधक सर्व प्रकारच्या कामेच्छांबाबत नि:स्पृह होतो, तेव्हा त्याला योग सिद्ध झाला असे म्हणतात."

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोमपा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन:।।६-१९।।

"निर्वात स्थानीच्या दीपाची ज्योती जशी हलत नाही, त्याप्रमाणे आत्मयोग प्राप्त झालेल्या योग्याचे समाधिस्थ चित्त विषयांपासून रहित असल्याने चलित होत नाही."

ज्ञानदेव याबाबत काय म्हणतात, पाहा:

जैसें भाग्याचेनि भडसें। उद्यमाचेनि मिसें।
मग समृद्धिजात आपैसें। घर रिघें।।६-३५४।।
तैसा युगुतिमंतु कवतुकें। अभ्यासाचियां मोहरां ठाकें।
आणि आत्मसिद्धीचि पिकें। अनुभौ तेयाचां।।३५५।।
म्हणौनि युक्ति हें पांडवा। घडें जेयां सदैवां।
तो अपवर्गिचिएं राणिवा। अलंकारिजैं।।३५६।।

"जसे नशीब जोरावर असले की उद्योगाचे निमित्तमात्र कारण घडून घरदार समृद्धीने भरून जाते, त्याप्रमाणे सहजच म्हणून जेव्हा योगसाधक अभ्यास करू लागतो, तेव्हा त्यास आत्मसिद्धी प्राप्त होण्याची अनुभूती मिळू लागते. योगयुक्ती ज्यास आकळली आणि ज्याने सदैव तिची पाठपुरवणी केली, त्यास मोक्षाचे राज्य अलंकारिते."

युक्ति योगाचें आंग पावें। ऐसें प्रयाग होएं जेथ बरवें।
तेथ क्षेत्रसंन्यासें थिरावें। मानस जेहाचें।।६-३५७।।
तेयांतैं योगयुक्तु म्हण। हेंहि प्रसंगें जाण।
तैं दीपाचें उपलक्षण। निर्वातिंचिआं।।३५८।।

"योगसाधना व ती करण्याची उचित पद्धत अशा दोन्हींचा जो प्रयागासारखा सुंदर संगम घडतो, त्या क्षेत्री ज्याचे मन संन्याशासारखे स्थिरावते आणि हा योगमार्ग जो मनापासून आचरतो, त्यास तू योगयुक्त म्हणून ओळखावे. योगाने असे प्रशांत स्थिर चित्त प्राप्त करून घेणाऱ्याच्या चित्तस्थितीस निर्वात स्थानी ठेवलेल्या दीपज्योतीची उपमा शोभून दिसते."

योगाचे सोपेपण

आतां तूझें मनोगत जाणौनि। काइंएक आम्हीं म्हणौनि।
तैं नीकैं चित्त देऊनि। परिसावें गां।।६-३५९।।
तूं प्राप्तिचिं चाड वाहसिं। परि अभ्यासु दक्ष नहोसिं।
तैं सांघ पां काएं बिहसिं। दुवाडपण।।३६०।।
तऱ्हैं पार्था हें झनैं। सायास घेसिं हों मनैं।
वायां बागुल इयें दुर्जनें। इंद्रियें करिति।।३६१।।
पाहां पां आयुखाचां आडलु करि। जैं सरतैं जिवन वारि।
तेआं ओखदांतैं वैरी। काइ जिह्वा न म्हणें।।३६२।।
एसें हितासिं जैं नीकैं। तैं सदाचि ययां इंद्रियां दुखैं।
एरविं सोहोपें योगासारिखैं। काईं आहे।।३६३।।

"हे ऐकून तुझ्या मनात जो विचार येत आहे, तो जाणून मी तुला आता जे सांगेन, ते तू नीट लक्षपूर्वक ऐक. तुला योगप्राप्तीची मोठी इच्छा निर्माण झाली आहे. पण हा त्यासाठी जो अभ्यास करावा लागेल तो किती कठीण आहे असे वाटून तू बिचकतो आहेस. पण असा भिऊ नकोस. या अभ्यासात फार कष्ट आहेत, असा बागुलबुवा या द्वाड इंद्रियांनी उगीचच उभा केला आहे. मृत्युमुखी जाणाऱ्या रोग्यास वाचवून आयुष्य वृद्धिंगत करणाऱ्या अमृतोपम औषधाचे वरकरणीचे कडूपण जिह्वेला शत्रूवत वाटतेच ना! इंद्रियांनासुद्धा शाश्वत हित करणारा योगाभ्यास दु:खप्रद वाटतो. पण ***वस्तुत: योगासारखी सोपी साधना दुसरी कोणती सांग बरे!***"

योगसाधना सोपी की कठीण

ज्ञानेश्वर या ठिकाणी योगसाधना सर्वात सोपी आहे असे म्हणतात. वस्तुत: गीतोक्त *श्लोक क्र. ६-१९ (**"यथा दीपो निवातस्थो ..."**)* बाबतचा भाग *ओवी क्र. ६-३५८ (**"...तैं दीपाचें उपलक्षण।..."**)* येथपावेतो सांगून संपलेला आहे.

यानंतर येणाऱ्या *"आता तुझे मनोगत। ...." ते "एरविं सोहोपें योगासारिखें। काईं आहे।।६-३५९ ते ३६३।।"* या ओव्या ज्ञानेशांचे स्वत:चे योगाबाबतचे मत व्यक्तवणाऱ्या आहेत. त्यात योगसाधना सोप्यात सोपी साधना असल्याचे म्हटले आहे.

तसेच तत्पूर्वी गीतोक्त *श्लोक क्र. ६-१७ व १८ (**"युक्ताहार विहारस्य ...।। युक्त इत्युच्यते तदा।।"**)* यांद्वारे व त्याबाबतच्या *ओव्या क्र. ६-३४८ ते ३५६ (**"म्हणौनि अति विषो सेवावा। ..." ते "तो अपवर्गाचिआं राणिवा। ....अलंकारिजैं।।"**)* मधून योग हा थोड्याफार युक्तीने, आहारविहार आणि चेष्टांचे नियंत्रण करू शकणाऱ्या कोणाही साधकास साधता येतो, असे ज्ञानेशांनी म्हटलेले आहे. आता या ठिकाणी एक प्रश्न उपस्थित होतो, तो गीता व ज्ञानेश्वरी यांच्यात बाराव्या अध्यायात जे योगाचे काठिण्य प्रकट केले आहे, त्या संदर्भात. त्या प्रश्नाची चर्चा येथे करणे उचित ठरेल.

भक्तांचे योगित्व

हा प्रश्न अर्जुनाच्या पृच्छेद्वारे प्रकट होतो, तो असा:

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां *पर्युपासते* ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के *योगवित्तमा:*।।१२-१।।

"अहोरात्र जे भक्त अनन्य होऊन तुझी उपासना करतात आणि जे भक्त अव्यक्त ब्रह्माची उपासना करतात, त्या दोन प्रकारच्या भक्तातील श्रेष्ठ योगवेत्ते कोण ?"

या प्रश्नामागे पार्श्वभूमी आहे ती अकराव्या अध्यायातील भगवत्वचनांशी संबंधित आहे. वेद, यज्ञ, तप वा दान यांपैकी कशानेही भगवत्प्राप्ती होत नाही. फक्त अनन्यभक्तीनेच ती प्राप्ती शक्य आहे. म्हणून साधकाने *"**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त: सङ्गवर्जित:। निर्वैर: सर्वभूतेषु य: स मामेति पाण्डव।।११-५५।।**"* या श्लोकात म्हटल्यानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करणारा, भगवंतच ज्याची परमगती आहे, आसक्तिरहित आणि भूतमात्रांशी वैर नसणारा असा व्हावे. म्हणजे तो भगवंताप्रत जाऊन पोहोचतो.

या भगवंतोक्तीवरून अर्जुनास भक्तांचे दोन प्रकार आहेत, असे वाटून तो उपरोल्लेखित प्रश्न करत आहे. म्हणजे ***१) अनन्यभक्त वा सगुणभक्ती करणारे* व *२) अक्षरब्रह्म उपासणारे भक्त* असे हे दोन प्रकारचे भक्त अर्जुनाने कल्पिले आहेत. आता यांपैकी कोणा भक्तास *श्रेष्ठ योगी* समजावे, असे अर्जुन विचारत आहे. म्हणजे *भक्त हा योगीच असतो* असा याबाबतचा अर्जुनाच्या मुखाने गीता निर्वाळा देत आहे.**

भक्ती व योग भिन्न आहेत, असे समजणाऱ्यांच्या धारणेतील फोलपणा अर्जुनाच्या या प्रश्नाद्वारे स्पष्ट होतो. असो.

अर्जुनाचा प्रश्न

यावर ज्ञानेश्वरांचे भाष्य पाहू या.

तन्हैं सकलवीराधिराजु। जो सोमवंशिं विजयध्वजु।
तो बोलतां जाहालां आत्मजु। पांडुनृपाचां।।१२-२०।।
कृष्णातैं म्हणें अवधारिलैं। आपण विश्वरूप मज दाविलैं।
तंवं नवल म्हणौनि बिहालैं। चित्त माझें।।२१।।
आणि इयें कृष्णमूर्तींचिं सवें। यालागिं सोएं धरिली जीवें।
तंवं नको म्हणति देवें। वारिलैं मातैं।।२२।।

सर्व वीरांचा अधिराज, चंद्रवंशाचा विजयध्वज असा तो पांडुनृपतिपुत्र अर्जुन श्रीकृष्णास अशी पृच्छा करत आहे. तो कृष्णास म्हणतो की "आपण मला जे दिव्य विश्वरूप दाखवले, ते विलक्षण होते. म्हणून माझे मन भीतीने व्याकुळ झाले. त्यामुळे मी तुम्हाला मला ज्या आपल्या सगुणमूर्तिरूपाची सवय आहे, ते दाखवा म्हणून विनवले. पण आपण मात्र माझ्या त्या तशा कृतीचा निषेध केला."

तन्हैं व्यक्त आणि अव्यक्त। हें तूंचिं एक निभ्रांत।
भक्तिं पाविजें व्यक्त। अव्यक्त योगें।।६-२३।।
ययां दोनिं जी वाटा। तूंतैं पावावेआं वैकुंठा।
व्यक्ताव्यक्त दारवंठां। रिगिजैं एथ।।२४।।

"त्यावर हेही मी जाणतो की व्यक्त आणि अव्यक्त वा या विश्वापलीकडील तुझा निर्गुण भाव अथवा व्यक्तामागील स्थिती ही दोन्ही तुझीच रूपे आहेत. तुला प्राप्त करून देणाऱ्या मार्गाच्या दाराच्या उंबरठ्यापर्यंत पोहोचण्याच्या ज्या दोन वाटा आहेत, त्याच ***योग व भक्ती*** म्हणून ओळखल्या जातात. ***भक्तियोगे व्यक्त असा तू प्राप्त होतोस आणि योगाने तुझ्या अव्यक्त स्वरूपाची प्राप्ती होते."***

(**टीप: योग = सगुणईश्वरप्रणिधानविरहित वा अव्यक्तध्यानी योगप्रक्रिया** आणि **भक्ती = ईश्वरप्रणिधानयुक्त - अनन्य - सगुणध्यानी पंथराजनिर्दिष्ट योगप्रक्रिया**; असे या ठिकाणी ***योग व भक्ती*** यांद्वारे सूचित होते, ते नंतरच्या विवेचनावरून स्पष्ट होईल.)

पैं जैं वानि श्येया तुकां। तैंचि वेगलिआं वालां एकां।
म्हणौनि एकदेशिआं व्यापकां। सरिसा पाडु।।१२-२५।।
अमृताचां सागरिं। जैं लाभें सामर्थ्याची थोरीं।
तैंचि दे अमृतलहरी। चुलीं घेतलिआं।।२६।।
हें किर माझां चित्तिं। प्रतिती आथि जी निरुति।
परि पुसणें योगपति। तैं याचिलागीं।।२७।।

"सोन्याच्या लगडीचा जो कस असतो, तोच जसा त्याच्यातून काढलेल्या एका वालभर सोन्याला पण असतो; त्याचप्रमाणे तुझ्या मूर्त सगुण रूपात आणि अव्यक्त निर्गुण स्वरूपात तत्त्वत: काहीच वेगळेपणा नाही. अमृतसमुद्रात सायासाने अवगाहन केल्याने जे अमरत्व प्राप्त होते, तेच अमृताची एक चूळ भरून घेतल्यानेही प्राप्त होते. तुझ्या व्यक्त आणि अव्यक्त स्वरूपाची मूलभूत एकता अशी माझ्या मनात बिंबलेली आहे. पण तरीही एक शंका विचारतो, ती ऐक."

दोन प्रकारच्या उपासनांपैकी उत्तम कोणती

जैं देवा तुम्हीं नांवेंक। अंगिकारिलैं व्यापक।
तैं सांचचि कीं कवतिक। जें जाणावेआं।।१२-२८।।
तन्हैं तुजलागिं कर्म। तूंचिं जेआंचें परम।
भक्तीसिं मनोधर्म। विकौनि घातलां।।२९।।
इत्यादी सर्वि परीं। जैं भक्त तूतैं हरि।
बांधौनिआं जिह्वारीं। उपासिति।।३०।।
आणि जैं प्रणवापैलिकडें। वैखरिएंसि जैं कानडें।
काइसियांहिं सांगडें। नोहें जैं वस्तू।।३१।।
तैं अक्षर जी अव्यक्त। निर्देशदेशरहित।
सोऽहंभावें उपासित। ज्ञानिएं जैं।।३२।।
तेआं आणि जी भक्तां। येरयेरांमाझिं अनंता।
कवणें योगु तत्त्वतां। जाणितलां सांघा।।३३।।

"हे श्रीकृष्णा! मागे तू आपल्या व्यापक स्वरूपाची वाखाणणी केलीस. ती खरेच मनापासून केलीस की माझी चेष्टा करण्यासाठी केलीस, हे मला जाणून घ्यावयाचे आहे. तुझ्यासाठीच कर्म करणारे ***(मत्कर्मकृत्)***, तुलाच परम आराध्य मानणारे ***(मत्परम:)***, तुझीच भक्ती करण्यासाठी मनोभावे झटणारे ***(मद्भक्त:)***, तुलाच सर्वतोपरी भजणारे ***(संङ्गवर्जित:, निर्वैर: सर्वभूतेषु,इ.गीता श्लोक क्र.११-५५)***,असे जे भक्त आपल्या अंत:करणात तुला दृढ धरून ठेवतात, ते भक्त आणि प्रणवापलीकडील, वैखरीस जिचे वर्णन करता येत नाही आणि जिला कसलीच उपमा देता येत नाही - ज्या वस्तूची या विश्वातील कशाशीही तुलना करता येत नाही - त्या अक्षर - अव्यक्त - निर्देशिता न येणाऱ्या - दाखविता न येणाऱ्या - स्थलकालादी बंधनातीत अशा ब्रह्माची जे ज्ञानी ***सोऽहं*** भावाने उपासना करतात, त्या ज्ञानी अशा या उपासकांपैकी कोणी योग खरा जाणला आहे, ते, हे श्रीहरी! अनंता! तू मला स्पष्ट करून सांग."

समन्वय

अर्जुनाच्या या प्रश्नाचा व त्यावर भगवंतांनी जे उत्तर दिले त्याचा समन्वय करतांना बऱ्याचदा गोंधळल्यासारखे होते. यामुळेच योग व भक्ती यांत साधनाभिन्नता असल्याचे मत प्रसृत झाले आहे. ***व्यक्त व अव्यक्त, अक्षर*** इ.ज्या स्थिती आहेत, त्यांची थोडी सरमिसळ अकरावा व बारावा अध्याय वाचतांना होते आणि ***व्यापक*** व ***एकदेशी*** या स्वरूपोक्तीमुळेही हे मत बळकटी धरते.

मूर्तिपूजकांना ***एकदेशी*** या वचनाने मूर्तीचा बोध होतो. ***व्यक्त*** हा शब्दसुद्धा मूर्तिपूजेशी संबंधित धरता येतो. ***श्रीकृष्ण हे अवतारस्वरूप व्यक्त या सदरात मोडते.*** अर्जुनाने पण विश्वरूपदर्शनामुळे व्यथित होऊन याच रूपाची आस धरली होती. **हे सर्व उल्लेख सगुण - साकार - मर्यादित - देहधारी अशा प्रकारच्या भगवंतांची उपासना करणे म्हणजेच *भक्ती* या धारणेस अनुकूल आहेत.**

व्यक्त आणि अव्यक्त

अकराव्या अध्यायातील ***("अनेकवक्त्रनयमनेका.द्भुतदर्शनम् ...शरीरे पाण्डवस्तदा।।११-१० ते १३।।"*** व ***"पश्यामि देवांस्तव देव देहे। ...तव प्रवृत्तिम्।।११-१५ ते ३१।।")*** तसेच ***"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो। ...।।११-३२।।"*** इ.श्लोकांतून अभिव्यक्त होणारे ***विश्वरूप*** असे जे बृहद्रूप, ते ***अव्यक्त*** म्हणून समजले जाते. त्याचप्रमाणे तशा रूपाची विभूतिवत वर्णने जी प्रामुख्याने दहाव्या व इतर अध्यायातून येतात, त्यांपैकी काहींची या अव्यक्त - अक्षररूपाशी, तर त्यातील सगुण-साकाररूपांची व्यक्तरूपांशी सांगड घातली जाते.

व्यक्त भाव म्हणजे विश्व - त्यापलीकडील ***अमूर्त भाव म्हणजे अव्यक्त*** असेही म्हणता येते. आदि -अंत-स्थिती यांपलीकडील भाव म्हणजे ***अक्षर व अव्यक्त*** असाही या वचनांचा बोध होतो. ***परंब्रह्म, परंधाम*** असे ज्याचे उल्लेख गीता करते, ते ***परमपद*** म्हणजे ***अव्यक्त*** वा ***अक्षर*** असा बोध पण याच वचनांवरून घेता येतो. तसेच अर्जुनाचा हा प्रश्न ज्ञानदेवांनी ज्या शैलीने मांडला आहे, त्यावरून अव्यक्ताची सोऽहंभावाने उपासना करणाऱ्यांबाबत त्याचा हा प्रश्न असल्याचे दिसून येते. म्हणजे ज्ञानमार्गियांना वा साङ्ख्यांना तो अव्यक्तोपासक म्हणत असल्याचेही दिसून येते.

भक्त व योगी

अशा प्रकारे विविध अर्थ घेऊन ***व्यक्त*** आणि ***अव्यक्त*** यांची उपासना करणाऱ्यांची ***भक्त व योगी*** (ज्ञानमार्गिय वा साङ्ख्य वा निर्गुणोपासक)या दोन सदरात विभागणी करणारी मते प्रसृत झालेली दिसतात. ही मते कितपत ग्राह्य आहेत आणि अर्जुनानेही जी ***व्यक्तोपासक व अव्यक्तोपासक*** अशी भक्तांची द्विविध श्रेणी कल्पिली आहे, त्याबाबत उलगडा करून घेण्यासाठी आपण आता श्रीकृष्ण काय सांगतात, ते पाहू या.

श्रीकृष्णांचे उत्तर

ते म्हणतात:

इयां किरीटीचिआं बोलां। तो जगद्बंधु संतोखला।
म्हणे हो प्रश्नु भला। जाणसि करूं।।१२-३४।।

अर्जुनाच्या या पृच्छेने जगद्बंधू श्रीकृष्ण संतोषून म्हणाले की "हे पार्था! तू फार छान प्रश्न विचारतोस. तर ऐक."

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता: ।।१२-२।।

"माझ्या ठिकाणी मन एकाग्र करून नित्य माझी अनन्यचित्ताने भक्ती करणारे व माझ्यावर दृढ श्रद्धा असणारे **योगी** सर्वश्रेष्ठ *(युक्ततमा मता:)* होत असे मला वाटते."

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।१२-३।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय: ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता: ।।१२-४।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते ।।१२-५।।

"आणि जे इंद्रियसमुदायाचे नियमन करून अक्षर - अविनाशी - निर्देशरहित - अव्यक्त - सर्वव्यापी - अचिंत्य - इंद्रियांना विषय न होणाऱ्या - अविकारी - नित्य - अचल अशा स्वरूपाची उपासना करतात, ते सर्वांठायी समबुद्धी ठेवणारे व सर्व भूतमात्रांच्या हितासाठी झटणारे **योगी** पण मलाच प्राप्त होतात. पण अव्यक्ताच्या उपासनेत ज्यांचे चित्त आसक्त असते, त्यांच्या मार्गात क्लेश अधिक असतात. कारण **देहधारी** व्यक्तींना अव्यक्त उपासनेचा मार्ग कष्टप्रद ठरतो."

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परा: ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।१२-६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।१२-७।।

"परंतु जे सर्व कर्मे माझ्याठायी अर्पण करून मत्परायण होऊन **अनन्य चित्ताने योगमार्गाने** *(अनन्येनैव योगेन)* माझीच उपासना व माझे ध्यान करतात, त्या माझ्याठायी स्थिर चित्त ठेवणाऱ्या योग्यांचा *(तेषामहं)* या मृत्युरूपी संसारसमुद्रातून शीघ्रातिशीघ्र उद्धार करणारा मीच असतो.

"उपासते" व *"पर्युपासते"*

व्यक्तोपासक आणि अव्यक्तोपासक यांची भक्त आणि योगी अशी विभागणी श्रीकृष्णांच्या या वचनांत दिसून येत नाही. दोन्ही प्रकारच्या साधकांसाठी ***"उपासना करणारे"*** असाच शब्दप्रयोग या श्लोकांतून केला आहे. ***"उपासते - पर्युपासते - उपासते"*** हे शब्द येथे वेगवेगळ्या ठिकाणी वापरलेले आहेत. अर्जुनाचा प्रश्नसुद्धा ***भक्त आणि योगी*** हे शब्द भिन्नार्थी वापरणारा नाही. **(अ)** ***"सततयुक्त असणारे उपासक भक्त"*** **आणि (ब)** ***"अक्षर - अव्यक्त याची उपासना करणारे भक्त"*** **यातील अत्यंत उत्तम योगवेत्ते वा योगी कोण असतात, असा त्याचा मूळ प्रश्न आहे** ***(१२-१).***

त्याचप्रमाणे ***"एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।।१२-१।।"*** या उक्तिद्वारे त्याच्या प्रश्नाची सांगड अकराव्या अध्यायातील ***"नाहं वेदैर्न तपसा ...।।"*** ते ***"मत्कर्मकृन्मत्परमो ...."।।११-५३ ते ५५।।"*** या श्लोकांशी घातलेली दिसते. ***"एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।११-५३।।"*** म्हणजे अर्जुनाला भगवंताचे जे विश्वरूप स्पष्ट दाखविण्यात आले होते, ते स्वरूप यज्ञ, वेद, तप वा दान इ.कशानेही प्राप्त होणारे नाही. हे **असे स्वरूप केवळ अनन्यभक्ती करून प्राप्त होणारे आहे. त्यासाठी केवळ भगवंताप्रीत्यर्थ कर्म करणे, त्यालाच परम प्राप्तव्य समजून त्याची अनन्यचित्ताने भक्ती करणे इ.नी युक्त असा मार्ग तेथे सांगितला आहे.**

भगवंताचे स्वरूप

अर्जुनाला भगवंतांनी कोणते स्वरूप दाखवले, हा प्रश्न येथे उपस्थित होतो. लौकिकदृष्ट्या त्याचे उत्तर म्हणजे विलक्षण - चित्रविचित्र असे जे त्या स्वरूपाचे वर्णन अकराव्या अध्यायी येते, ते स्वरूप अर्जुनास दाखवले. परंतु ते स्वरूप भगवंताच्या अक्षर अव्यक्त अशा परमस्वरूपाशी पूर्णपणे मिळतेजुळते आहे, असे वाटत नाही.

भगवत्स्वरूप कसे आहे, हा पण गीतेचा एक वर्ण्य विषय आहे. त्याबाबत अनेकानेक विधाने गीतेत येतात. परंतु आपण पाहिलेल्या दिव्य विभूति - अष्टधा प्रकृतिस्वरूप, परा-अपरा प्रकृतिवर्णन - क्षराक्षरपुरुषदर्शन - पंचवीस तत्त्वविचार इ.सर्वांचा आढावा घेऊन जर आपण अकराव्या अध्यायातील विश्वरूपाकडे पाहिले, तर आपणास ज्ञानदेवांना अभिप्रेत असलेल्या चिद्विलासवादाचे समग्र दर्शन घडते. ***"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"*** या श्रुतीचे अंतरंग गीता दाखवते. हेच परमश्रेष्ठ स्वरूप आहे. हेच परमस्वरूप आपणास विश्वरूपदर्शनाच्या उत्तुंग स्वरूपात दिसले पाहिजे.

अर्जुनाला सातव्या अध्यायारंभी श्रीकृष्णांनी म्हटलेले आहे की ***"मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जनमदाश्रय: । असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत: । यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।७-१ व २।।"*** आपल्याठायी मन आसक्त करून - आपला आश्रय करून योगाचरण करणारा ***योगी*** तेथे भगवानांनी कल्पिला आहे.

अर्जुनाला ज्ञान विज्ञानासह भगवत्स्वरूप कसे आहे, ते कळून यावे म्हणून त्यानंतर अकराव्या अध्यायाच्या अंतापर्यंत भगवत्स्वरूपाचे वर्णन आवश्यकतेप्रमाणे केलेले आहे. त्यासाठी सृष्ट्योत्पत्ती - विभूतिविस्तार इ.भाग वर्णिलेले आहेत. त्या सर्वांचा साकल्याने विचार करता ***"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"*** हेच स्वरूप गीतेस अभिप्रेत आहे, असे दिसते. याचे ***व्यक्त व अव्यक्त*** असे विभाग अर्जुन करतांना वाटतो.

तसेच मुळात ***भक्त व योगी*** अशी विभागणी गीतेने केल्याचे दिसत नाही. ***भक्त तेच योगी अशी खरे तर गीतेची याबाबतची धारणा असल्याचे वाटते.*** अर्जुनाचे उपरोल्लेखित प्रश्न व श्रीकृष्णांची उत्तरे याबाबत निदर्शक आहेत, असे आपणास वाटते.

व्यक्तोपासक व अव्यक्तोपासक

त्याचप्रमाणे हे जे कोणी ***भक्त वा योगी*** आहेत *(प्रामुख्याने१२-१ ते ७ या श्लोकांतील)*, ते सहाव्या अध्यायात वर्णिलेल्या योगाचा आश्रय करणारे आहेत. अनन्यचित्त आहेत. परमस्वरूपावर दृढ श्रद्धा असणारे आहेत. नित्ययुक्त आहेत. सर्व कर्मे संन्यासिणारे आहेत.

आसक्तिरहित चित्ताचे आहेत. सर्वभूतांशी समभावाने आचरण करणारे आहेत. इंद्रियांचा संयम करणारेही आहेत. हे सर्व लक्षात घेऊन ***व्यक्तोपासक व अव्यक्तोपासक*** हे त्यांचेच प्रकार ठरतात. हे दोघेही परमपद प्राप्त करतात. परंतु व्यक्तोपासकांची साधना सुलभ आहे, तर अव्यक्तोपासकांची साधना क्लेशकर व कष्टसिद्ध असल्याचे श्रीकृष्ण म्हणतात, ते आपण वर पाहिले आहे.

आता व्यक्तोपासक कोण व अव्यक्तोपासक कोण याबाबत ज्ञानदेव काय म्हणतात, ते पाहू या. त्यांच्या ओव्यांतून हा विषय स्पष्ट होतो. काही टीकाकारांच्या मते ***सांख्य व योग*** हे जे मार्ग आहेत, त्यातील ***साङ्ख्य वा ज्ञानी*** यांस ***अव्यक्तोपासक*** असे येथे म्हटले आहे. श्रीमदाद्यशंकराचार्य हे मत उचलून धरतांना दिसतात. त्यांनी ***योगमार्ग म्हणजे कर्मयोग*** अशीही व्याख्या केली आहे. ज्ञानेश्वरांनीही ***"तैं अक्षर जी अव्यक्त। निर्देशदेशरहित। सोऽहंभावें उपासित। ज्ञानिएं जैं।।१२-३२।।"*** असा ज्ञान्यांचा व १२-३३ या ओवीमध्ये ***"तेयां आणि जी भक्तां"*** असा भक्तांचा विशेष उल्लेख येथे केलेला आहे. आपण या बाबींची नोंद घेऊन ज्ञानेश काय म्हणतात, तिकडे वळू या.

व्यक्तोपासक -परमयोगयुक्त

तन्हैं अस्तुगिरिचां उपकंठीं। रिघालिआं रविबिंबापाठिं।
रश्मि जैसें किरीटी। संचरति।।१२-३५।।
वर्षाकालीं सरिता। जैसिं चढों लागें पांडुसुता।
तैसिं नीच नवी भजतां। श्रद्धा दिसें।।३६।।
परि ठाकिलेआंहि सागरुं। जैसा माघिलहि यावा अनिवारुं।
तिएं गंगेचिएं ऐसां पडिभारुं। प्रेमभावां।।३७।।
तैसें सर्वेंद्रियांसहित। मजमाझिं सूनिं चित्त।
जैं रातिदिओ न म्हणत। उपासिति।।३८।।
ययापरी जैं भक्तु। आपणपें मज देतु।
तैंचि मी योगयुक्तु। परम मानिं।।३९।।

श्रीकृष्ण म्हणतात की, "अस्ताचलास जाणाऱ्या सूर्यबिंबामागोमाग अनन्यगतीने जसे त्याचे किरण जातात, तसे जे भक्त मजशी अनन्यचित्त असतात; वर्षाकालात सरिता जशा उफाळून वाहतात, त्याप्रमाणे ज्यांची श्रद्धा मजवरच्या भक्तीने ओसंडून नित्य नव्या बळाने युक्त होत जाते; गंगानदी सागरास मिळाल्यावरही जसा तिच्या प्रवाहाचा लोट नंतरही सागराकडे जोरात येतच राहतो; तसे जे भक्त माझ्याशी नित्ययुक्त होत राहतात; ज्यांनी सर्वेंद्रियांसहित आपले चित्त माझ्याठायी समर्पण करून रात्रंदिवस माझी उपासना दृढपणे चालविली असते; अशा प्रकारे जे भक्त मला स्वात्म अर्पण करतात, त्यांना मी परमश्रेष्ठ योगी म्हणून मानतो. ते असो."

अव्यक्तोपासना::::

सोऽहंभाव

"**इतर जे माझे भक्त आहेत**, त्यांचे वर्णन आता ऐक."

आणि एर तेंहि पांडवा। जैं आरूढौनि सोऽहंभावा।
झोंबति निरवयवां। अक्षरासिं।।१२-४०।।
मनाचिं नखिं न लगें। जेथ बुद्धिचि दृष्टी न रिघैं।
इंद्रियां किर जोगें। होईल काइं।।४१।।

"**सोऽहंभाव**ाने माझी उपासना करणारे इतर ***भक्त ज्ञानी होत.*** अर्जुना! ते सोऽहंभाव धारण करून माझ्या निरवयव, अव्यक्त अशा अक्षरस्वरूपाला आलिंगितात. अशा त्या अक्षरस्वरूपाचे मनाला आकलन होऊ शकत नाही; बुद्धीच्या ते आवाक्यात येणारे नाही; तेथे इंद्रियांद्वारे ते कसे जाणले जाऊ शकेल! इंद्रियातीत असणाऱ्या त्या स्वरूपास ओळखणार तरी कसे आणि त्यांची उपासना मन - बुद्धी - इंद्रियसंपदा वापरून कशी करता येईल!"

परि ध्यानासिहिं कुवाडें। म्हणौनि एकें ठाइं न संपडें।
व्यक्तिंसिं माझिवडें। कवणेंहिं नाइं।।१२-४२।।
जेआं सर्वत्र सर्वपणें। सर्वांहिं कालिं असणें।
जैं पावौनि चिंतवणें। हिंपुटी जाहालें।।४३।।
जैं होय ना नोहें। जैं नाहीं ना आहे।
ऐसें म्हणौनि उपायें। उपजतिचिना।।४४।।
जैं चलैं ना ढलैं। सरैं ना मैलैं।....।।४५।।

"हे असो! त्याचे ध्यान तरी कसे करावे! कारण ते ***अव्यक्त काही एकदेशी नाही.*** ते कोणत्याही प्रकारे व्यक्त असा आविष्कार करून दाखवत नसल्याने त्याचे चिंतन करण्याची क्रियाही निष्क्रिय होते. ते सर्वत्र सर्वदा विराजत असूनही म्हणूनच त्याचे ध्यान करण्यास दुर्घट ठरते. ते अस्तित्वात येते म्हणावे तर तसे नाही; नाही येत म्हणावे तर तसेही नाही; असे त्याचे विलक्षण स्वरूप असल्याने त्याच्या प्राप्तीसाठी करावयाचा उपायच संभवत नाही. जे चळत नाही, किंवा ढळतही नाही, जे संपतही नाही किंवा मलीनही होत नाही: अशी जी वस्तू आहे;"

कुंडलिनीयोग

...। तैं आपुलेनि बलैं। आंगविलैं जिहिं।।१२-४५।।
पैं वैराग्यमहापावकें। जालूनि विषयांचि कटकें।
अधपलीं तबकें। इंद्रियें धरिलीं।।१२-४६।।
मग संयमाचि धाटी। सूनि मुरडलीं उफराटी।
इंद्रियें कोडिली कपाटीं। हृदयाचां।।४७।।

"अशा त्या ***अव्यक्त, अक्षर, अनिर्देश्य वस्तूस ज्यांनी स्वबळाने स्वाधीन करून घेतलेले असते*** आणि त्यासाठी कष्ट उपसलेले असतात, वैराग्यरूपी महाअग्नीने विषयरूपी सैन्ये ज्यांनी जाळून टाकलेली असतात; विषयांना थारा देणाऱ्या आधारभूत अशा इंद्रियांचे

ज्यांनी आपल्या सामर्थ्याने दमन केलेले असते आणि त्यांना उफराटे वळवलेले असते; म्हणजे इंद्रिये विषयांपासून विरक्त अशी करून त्यांना अंत:करणात बंदिस्त करून ठेवलेले असते; चित्तवृत्तींचा प्रवाह अंत:करणातून इंद्रिये व विषय यांजकडे जे जाऊ देत नाहीत;"

अपानिंचियां कवाडा। लावौनि आसन मुद्रा सुहाडा।
मूलबंधाचा हुडा। पन्नासिला।।१२-४८।।
आसेचें लाग तोडिलें। धैर्याचें कडें झाडिलें।
निद्रेचें शोधिलें। कालवखैं।।४९।।

"अधोगतीने संसाराभिमुख करणाऱ्या **अपाना**स बंदिस्त करून त्यास ***वज्रासन*** आणि **महा**मुद्रेचे ज्यांनी कुलुप ठोकले आहे; त्याउपरांत **मूलबंधा**ने युक्त अशा प्राणायामास ज्यांनी आरंभ केला आहे; ज्यांनी चित्तवृत्ती उदित करणाऱ्या संकल्पाचे वसतिस्थान उद्ध्वस्त केले आहे; मनास योगमार्गाकडे धैर्यपूर्वक वळविले आहे; ज्यांनी सुप्त **कुंडलिनी**चा कालविवरात प्रवेशून वेध केला आहे;"

वज्राग्निचां ज्वालीं। करूनु अपानधातूंचि होली।
व्याधिचां सिसाली। पूजिलीं यंत्रें।।१२-५०।।
मग कुंडलिनिएंचां टेंभा। आधारीं केला उभा।
तेआं चोजविलें प्रभा। निमथावेरीं।।५१।।
नवद्वाराचां चौचकीं। बाणूनि संयतिचि आडबंकी।
उघडलीं खिडकी। ककारांतिचिं।।५२।।

"वज्राग्नी प्रदीप्त करून ***(कुंडलिनीस जागृत करून)*** त्याच्या ज्वाळात ***(कुंडलिनीच्या जागृत अवस्थेतील ऊर्ध्वमुख प्रवाहात)*** ज्यांनी सप्तधातू अपानादींची होळी केलेली आहे; धातुदोष नष्ट करून ***(व्याधिंचां सिसालीं)*** ज्यांनी नाडीसंस्था ***(यंत्रे)*** शुद्ध केली आहे; ***कुंडलिनी ऊर्ध्वमुख करून षट्चक्रभेदन करता करता ज्यांनी तिच्या प्रकाशात परमस्थानाचे - कुंडलिनीच्या गंतव्याचे - दर्शन घेतले आहे;*** इंद्रियांच्या विषयप्रवेशक नवद्वारांच्या चौक्या ज्यांनी प्राणापान सामरस्याच्या अडसराने बंद केल्या आहेत; ***षट्चक्रादींपुढील मार्ग कुंडलिनीद्वारे आक्रमण्यासाठी*** त्या मार्गावरील ***सुषुम्नामुख (ककारांतीची खिडकी वा ब्रह्मरंध्रस्थ दशमद्वार)*** ज्यांनी उघडले आहे;"

प्राणशक्ति चामुंडें। प्रहारूनि संकल्पमेंढें।
मनोम्हैषाचेनि मुंडें। दिधलीं बलीं।।१२-५३।।
चंद्रसूर्या बुझावणि। करूनि अनाहताचिं सूडावणि।
सतराविये‌चें पाणि। जिंतिलें वेगिं।।५४।।

"ज्यांनी प्राणशक्ती चामुंडादेवीस म्हणजे कुंडलिनीस संकल्पविकल्पात्मक मेंढ्यांची आणि उन्मत्त मनोरूपी महिषांची मस्तके बळी देऊन अर्पण केली आहेत; ***इडा व पिंगला*** नाड्यांचे सामरस्य ज्यांनी साधलेले आहे; ***अनाहताचा नाद*** निनादवत ज्यांनी ***सतरावी कला*** जिंकून घेतली आहे;"

मग मध्यमामध्यविवरें। तेणें कोरिवें दादरैं।
ठाकिलें चवरैं। ब्रह्मरंध्रिचें।।१२-५५।।
वरी मकारांत सोपान। तैं सांडौनिआं गहन।
काखैं सूनिआं गगन। भरलें ब्रह्मीं।।५६।।
ऐसेनि जैं समबुद्धि। गिलावेआं सोऽहंसिद्धि।
आंगवितातिं निरवधि। योगदुर्गें।।५७।।
आपुलिआं साटोवाटीं। शून्य घेति उठाउठीं।
तैंहिं मातेंचि किरीटी। पावति गां।।५८।।

"**सुषुम्ना**मार्गे **कुंडलिनी**स ज्यांनी ***चक्रभेदनात्मक*** अशा सूक्ष्म पायऱ्यांवरून नेत नेत **ब्रह्मरंध्रा**च्या पठारी पोहोचवले आहे; **आज्ञाचक्रा**च्या शेवटी म्हणजे **मकारा**च्या अंती असलेल्या बिकट पायऱ्यासुद्धा चढून जाऊन ज्यांनी त्यावरील आकाशाला आपल्या काखोटीला मारलेले आहे; एवढे सायास करून जे योगी ***सोऽहंसिद्धी*** प्राप्त करून समबुद्धी होण्यासाठी सहजच हा अत्यंत अवघड असा योगदुर्ग चढून गेले आहेत आणि स्वत:चे मोल देऊन - अहंकार त्यागून - ज्यांनी त्वरेने अव्यक्त प्राप्त करून घेतले आहे; ते योगीही, हे अर्जुना! मलाच येऊन पोहोचतात."

(टीप:"एर तेहिं पांडवा (१२-४०)" या ओवीतून सोऽहंभावारूढ ज्ञानी भक्तांचा निर्देश आहे. या ओवीचा पूर्वापर संबंध *ओवी क्र. १२-३२* शी आहे. ***ज्ञानी*** हा शब्द येथे ***अव्यक्तध्यानी वा सगुणईश्वरप्रणिधानविरहित*** योग्यांसाठी वापरला आहे.)

भक्तीविण केलेला योग

परंतु पुढे ऐका:

वांचूनि *योगाचेनि बलें*। अधिक काइं मिलें।
ऐसें नाइं आगलें। कष्टचि तेआं।।१२-५९।।
जिहिं सकल भुताचां हितिं। निरालंबिं अव्यक्तिं।
पसरलिआं आसक्ति। भक्तिविण।।६०।।
तेआं महेंद्रादि पदें। करितातिं वाटवधें।
आणि ऋद्धिसिद्धींचिं द्वंद्वे। पडौनि ठाति।।६१।।
कामक्रोधांचें विलग। उठावति अनेग।
आणि शून्येंसि आंग। झुंजवावें किं।।६२।।

"अर्जुना! असा हा खडतर योगप्रवास करणारे साधक पण मला येऊन मिळतात आणि तेही शीघ्रातिशीघ्र *(पाहा: श्लोक क्र. १२-६ व ७)*! फरक थोडा असा आहे की अशी सगुणभक्ती नसलेले जे साधक योगाच्या दुर्गम मार्गाला लागतात, सर्वभूतांच्या हृदयस्थ अशा त्या निरालंबाची, त्या अव्यक्ताची आसक्ती धरतात आणि त्यांना सिद्ध होतांना अधिक कष्ट पडतात. इंद्रादी देवता त्यांना स्वर्गप्राप्तीची व देवतापदांची आमिषे दाखवून योगभ्रष्ट करतात. ऋद्धिसिद्धींची प्रलोभने सतत त्यांना दाखवली जातात. कामक्रोधांचे कित्येक हल्ले त्यांना परतवून लावावे लागतात. शून्याशी शरीर झुंजवावे लागते."

ताहानें ताहानचि पिआविं। भुकैलैआं भूकचि खाविं।
अहोरात्र वाविं। मवावा वारा।।१२-६३।।

उन्निद्रेआचें पहुडणें। निरोधाचें वेल्हावणें।
झाडासिं साजणें। चालावें गां।।६४।।
सीत वेढावें। उष्ण पांघुरावें।
वृष्टिचिआं असावें। घरांआंतु।।६५।।
किंबहुना पांडवा। हा अग्निप्रवेशु नीच नवा।
भातारेंविण करावा। तो हा योगु।।६६।।

"तहान भागवण्यासाठी तहानच प्यायला लागावी; भूक भागवण्यासाठी क्षुधाच भक्षण करायला लागावी; रात्रंदिवस वाऱ्याचे वावांनी मोजमाप करण्याचे दु:साध्य काम करायला लागावे; जागे राहूनच निद्रासुख प्राप्त करून घ्यावयाचा प्रयत्न करायला लागावा; इंद्रियनिरोध करतांनाच इंद्रियसुखे - विषयादी भोगण्याचा आनंद मिळवायला लागावा; निर्जन अरण्याशी मैत्री करायला लागावी; उबारा मिळवण्यासाठी थंडीच वेढून घ्यावी लागावी; सूर्याच्या प्रखरतेपासून शरीररक्षण व्हावे म्हणून पावसाच्याच घरात आसरा घ्यावा लागावा; फार काय! हे पंडुसुता! पती नसलेल्या स्त्रीस नित्यनूतन सहगमन म्हणून चिताप्रवेश करावा लागावा; असा हा भक्तिविरहित योग असतो."

निव्वळ क्लेशदायक योगप्रकार

पुढे ऐका:

एथ स्वामीचें काज। ना बापिकें व्याज।
परि मरणेंसि झूंज। निच नवें।।१२-६७।।
ऐसें मृत्युहूनि तिख। कां घोटें कढत विख।
डोंगर गिलितां मुख। न फाटे काइं।।६८।।
म्हणौनि योगाचिआं वाटां। जैं निगालैं गां सुभटा।
तेयां दु:खाचाचि वाटा भागां आला।।६९।।

"सगुणभक्तिविरहित असा हा योग का आचरावा! काही स्वामिकार्य आहे किंवा पैतृक आज्ञा आहे म्हणून मृत्यूशी असा सतत संग्राम करावा! आणि अशा सगुणभक्तिविरहित योगाचा प्रकार तरी कसा आहे पाहा! मृत्युपेक्षाही जलाल विषास गिळवेल काय! पर्वत गिळतांना मुखच फाटून जाईल ना! तसाच हा मरणापेक्षाही भयंकर योगप्रकार आहे. म्हणून हे वीराग्रणी! ज्यांनी अशा या भक्तिविण योगाचा आश्रय करून अव्यक्तास मिठी मारण्याचा मार्ग स्वीकारला, त्यांच्या नशिबी केवळ दु:खाचा शेलका वाटा आला."

अव्यक्ताचे अशक्यप्राय ध्यान

पाहें पां लोहाचें चणें। जैं बोथरिआं पडति खाणें।
तैं पोट भरणें किं प्राणें। त्रिशुद्धि म्हणों।।१२-७०।।
म्हणौनि समुद्दु बाहिं। तरणें आथि केंहिं।
कां गगनामाझिं पाईं। खोलिजतु असे।।७१।।
वलघलिआं रणाचि थाटी। आंगिं न लगतां काठी।
सूर्याचि पाऊटी। कां होएं गां।।७२।।
ययालागिं पांगुलां हेवा। नोहें वायूसि पांडवा।
तेंविं देहवंता जीवां। अव्यक्तीं गति।।७३।।
ऐसाहिं जन्हैं धिंवसा। बांधौनिआं आकाशा।
झोंबति तन्हैं क्लेशा। पात्र होति।।७४।।

"अरे अर्जुना! लोहाचे काटेरी चणे खायला जाणे म्हणजे पोट भरणे आहे की प्राणांस गमावणे आहे! भक्तिविरहित अशा या योगाचे आचरण करणेसुद्धा आत्मघातकीपणाचे आहे. आणि असे पहा की मनुष्यास अव्यक्ताचे ध्यान करणे किती दुरासाध्य आहे ते! समुद्र पोहून जाणे शक्य आहे का! आकाशात पायांनी चालता येईल का! युद्धात वीरगती प्राप्त होणाऱ्यास समरांगणी एकही घाव लागू नये अशी अपेक्षा किती फोल आहे नाही का! पांगळ्यांनी वाऱ्याशी शर्यत लावावी, तसे हे देहधारी जीवांनी सगुणभक्तीवाचून अव्यक्तात गती प्राप्त करून घेण्याच्या योगाचे प्रयोजन ठरते. आणि हे सर्व असे असतांनाही जे त्या अव्यक्तास असे बिलगण्याचा प्रयत्न करतात, ते निव्वळ क्लेशांना मात्र पात्र होतात." असो.

अर्जुनाच्या प्रश्नाचे उत्तर

या सर्व विवेचनावरून ***अनन्यचित्त भक्त व अव्यक्तासक्त भक्त* यातील श्रेष्ठ योगी कोण**, या अर्जुनाच्या मूळ प्रश्नाचे उत्तर ज्ञानेशांनी काय दिले आहे, ते स्पष्ट होते. त्यांच्या मते जे सगुणभक्तिविरहित योगसाधना करून अव्यक्ताचे ध्यान करतात, त्यांना योग जरी सिद्ध झाला तरी कष्ट फार पडतात.

येथे फक्त त्यांचा ***भक्तिविरहित योग*** हा शब्दप्रयोग जरा समजावून घेतला पाहिजे.***अव्यक्ताचे ध्यान म्हणजे (सगुण) भक्तिविरहित योग*** *(...भक्तिविण।।६०।।)* असा अर्थ येथे अभिप्रेत आहे, असे दिसते. अव्यक्ताचे ध्यान करणे - त्याच्याशी एकरूपत्व पावणे हे देहवानास अशक्य कोटीतील जरी नसले, तरी दु:साध्य आहे, असे येथे सुचवले आहे. मार्ग अर्थात तोच आहे - जो योगमार्ग *ओवी क्र.१२-४० ते १२-५८* मध्ये वर्णिला आहे. पण यात *भक्तीचा अभाव* आहे. ***भक्तीसाठी आलंबन घ्यावयाचे ते असावे सगुण साकाराचे, असे सूचन यात आहे. निर्गुण निराकाराचे आलंबन शक्य नाही.*** म्हणून तसे आलंबन घेऊ पाहणे किंवा योग्य आलंबन घेतल्यावाचून स्वबळावर विसंबून आसनादी योगप्रयोग करण्याने परमात्मोपलब्धि होणे अशक्यच आहे, असा सूर यात आहे.

तसेच ***अभक्त*** म्हणजे जे आपला अहंकार त्यागून ईश्वराशी युक्त होऊ इच्छित नाहीत ते असाही एक अर्थ संभवतो. म्हणजे ज्या कारणासाठी योग अभ्यासावयाचा ते मूळ कारण म्हणजे परमात्मस्वरूपता पावणे हाच अशांना अभिप्रेत नसतो. जे ईश्वराशी विभक्त राहू पाहतात आणि तरीही त्याचे सामर्थ्य आपल्या अंगी यावे यासाठी योगप्रयोग करू जातात, ते म्हणजे ***अभक्त.*** असा अर्थ घेतल्यास तो अत्यंत मूलगामी होतो आणि श्रीकृष्णांच्या वचनाशी जुळतो पण. ***"जिज्ञासुरपियोगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।६-४४।।"*** या भगवतोक्तीनुसार त्यांनाही कधी ना कधी योगफल मिळतेच. पण विश्वामित्रासारखे खूप दूरचा फेरा घेऊन असे श्रीकृष्णमतावरून स्पष्ट व्हावे. असो.

पतञ्जलींची सूत्रे सांगतात *"**ईश्वरप्रणिधानाद्वा।।१-२३।।**"* आणि *"**यथा अभिमतध्यानाद्वा।।१-३९।।**"* जरी पतञ्जलींनी मुद्दामहून अमुकच ध्यान करावे असे स्पष्टपणे सांगितले नसले, तरी योगसाधना शीघ्र लाभदायी व्हावी आणि त्यातील अडथळे दूर व्हावेत म्हणून त्यांनी ***ईश्वरप्रणिधान आणि इष्टाचे ध्यान*** ही या सूत्रांद्वारे सांगितली आहेत. आणि ज्ञानेश काय किंवा श्रीकृष्ण तरी काय, आपल्याला *"**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**"* - ज्यांनी अव्यक्ताची उपासना चालवली आहे, म्हणजे ***जे ईश्वरप्रणिधान वा अभिमतध्यान करत नाहीत,*** त्यांना योग साधणे अवघड असल्याचे सांगत आहेत. मुळात योग अवघड आहे, असे काही त्यांचे सांगणे नाही.

*"**जिहिं सकलभुतांचां हितिं। निरालंबिं अव्याक्तिं। पसरलिआं आसक्ति। भक्तिविण।।१२-६०।।**"* **असे ज्ञानेशांनी म्हटले आहे, ते अव्यक्तोपासकांबाबत आहे.** अशा योग्यांना पण कुंडलिनीयोगमार्गाचेच अनुभव येतात, असे *ओवी क्र. १२-४६ ते ५८* वरून स्पष्ट होते. **या ओव्यात येणारे कुंडलिनी उत्थापनादी मार्गक्रमणेचे वर्णन सहाव्या अध्यायातील कुंडलिनीयोगमार्गाच्या - पंथराजाच्या - वर्णनाशी तंतोतंत जुळते.** फरक एवढाच आहे की सहाव्या अध्यायातील पंथराज वर्णन *(ओवी क्र. ६-१५१ ते ३२८)* जवळ जवळ १८० ओव्यांचे येवढे विस्तृत आहे, तर येथील बाराव्या अध्यायातील वर्णन अत्यंत संक्षेपाने उण्यापुऱ्या पंधरा ओव्यांत येते.

भक्तिसह योगाचे सोपेपण

यावरून जिज्ञासूंच्या सहज लक्षात येते की सहाव्या अध्यायात ज्या योगास ***पंथराज***नामे सोपे म्हणून ज्ञानेश गौरवितात, त्यासच बाराव्या अध्यायी तो क्लेशदायक आहे, दु:साध्य आहे, टाकावू आहे असे ते कसे म्हणतील!

काही तथाकथित भक्तिवाद्यांनी योगास माउलीने त्याज्य समजले आहे असे मत व्यक्त केले आहे, ते किती अपरिपक्व आहे, ते समजण्यासाठी एवढे सांगणेच पुरावे! अधिकाची जिज्ञासा असणाऱ्यांनी या विषयाच्या समग्र समालोचनासाठी याबाबत ***पू.श्री.बाबामहाराज आर्वीकर*** यांचा ***दिव्यामृतधारा*** हा बृहत ग्रंथ जरूर पाहावा *(पृ.क्र. ४८० ते ४८२,ओवी क्र.१२-५९तत्रैव)*. आपला तो विषय नाही. प्रत्येकाने त्यास हवे तसे मत बनवावे. आपला त्यास आक्षेप असण्याचे काहीच कारण नाही. त्याचप्रमाणे आपणही जे मत अध्ययनांती विशद करत आहोत, त्यासही त्यांची आडकाठी असू नये हीच नम्र अपेक्षा!

याचाच अन्वयार्थ असा की बाराव्या अध्यायी क्लेशदायक असा जो योग आहे असे म्हटले आहे, तो भक्तीशिवाय म्हणजे ईश्वरप्रणिधानाशिवाय करावयास घेतलेला कुंडलिनीयोगच आहे. ***पंथराज* व हा *दु:साध्य योग* यांच्यात *ईश्वरप्रणिधान असणे वा नसणे* हाच फक्त मूलभूत फरक आहे. बाकी क्रिया सर्व त्याच आहेत. त्यांचा अनुक्रमही तोच आहे.** कुंडलिनीयोगाचे येथील वर्णन *ओवी क्र.१२-४० ते ५८* मध्ये येते आणि ते ईश्वरप्रणिधानपूर्वक केलेल्या आणि त्याविरहित केलेल्या योगांस सारखेच लागू पडते. त्यापुढील *१२-५९ व ६०* या ओव्यांमध्ये *(*"**वांचूनि *योगाचेनि बलें*। अधिक काइं मिलें।.... पसरलिआं आसक्ति। *भक्तिविण*।।६०।।**")* *(सगुण)* भक्तिविना हा योग किती क्लेशदायक आहे, ते सांगितले आहे.

याही ओव्यांचा क्रम *१२-६०नंतर १२-५९* असला पाहिजे असे श्री.बाबामहाराज आर्वीकरांचे मत आहे आणि काही उत्साही भक्तिवाद्यांनी तो बदलला असल्याचे त्यांचे मत आहे *(दिव्यामृतधारा - पृ.क्र.४८१ तत्रैव)*. असो.

ईश्वरप्रणिधान नसल्याने व अव्यक्ताचे ध्यान करणे अशक्यप्राय ठरत असल्याने या दुसऱ्या योगप्रकारात ऋद्धिसिद्धी - इंद्रादी देवता इ.च्या प्रलोभनावर मात करणे साधकांस अवघड ठरते. तसेच ***धारणा-ध्यान -समाधि- संयम*** ही जी योगाची अंतरंग चतु:सूत्री आहे, ती साध्य करणे ***अव्यक्तध्यानाच्या कठीणतम प्रयोगाने*** दुरापास्त ठरते. एवढे सर्व खटाटोप करूनही समजा यदाकदाचित योग साध्य झाला, तरी ***भक्त योग्यांस म्हणजे सगुणात्मक ईश्वरप्रणिधान करणाऱ्यांना*** जे अंतिम योगफल प्राप्त होते, तेच त्यांनाही मिळते. आणि त्यासाठी कष्ट मात्र दारुण पडतात, असे ज्ञानेश आणि श्रीकृष्ण सांगतांना आपल्याला दिसत आहेत.

असे असूनही ***भक्त, भक्ती, योग* आणि *योगी*** या निर्णायक शब्दांचे वेगवेगळ्या प्रकारे संभवणारे अर्थ ध्यानी घेतल्याने सुज्ञ माणसाचीही मती हा भाग लक्षात घेतांना गोंधळून जाते, हे मात्र मान्य करायला हवे. तथाकथित *Bhaktiism* (!)वाल्यांची गोष्ट तर सोडूनच द्या! असो. या विषयावर अजून एक ओझरता प्रकाश ज्ञानेश्वरांच्याच हस्ते पाडून त्यास स्वल्पविराम देऊ या. स्वल्पविराम अशासाठी की या ईश्वरप्रणिधानयुक्त योगाचा उर्वरित भाग आपणास अजूनही पहावयाचा आहे.

कुंडलिनीयोग तसा कठीण नाही.

ज्ञानेश बाराव्या अध्यायाच्या आरंभी जे गुरुमाउलीच्या प्रेमाचे कौतुक सांगतांना दिसतात, त्यातूनही ते साधक कोणत्या मार्गाने जातो, त्याचा ओझरता उल्लेख *"**योगसुखाचें सोहालें।...समाधिबोधें निजविसिं। बुझावूनि।।१२-४ ते ७।।**"* या ओव्यांतून करतात. गुरुकृपांकित योगसाधकास ***सोऽहंसिद्धी, योगसुख, आधारशक्ती कुंडलिनीचा अंक, हृदयाकाशपल्लकात सुखैव योगनिद्रा, प्रत्यग्ज्योतीची वोंवाळणी, मनपवनांचि गती, सामरस्य, सतरावियेचें स्तन्य, अनाहताचां हल्लरु, समाधिबोध,*** इ. योगगती सहजच प्राप्त होतात, असा भाग तेथे येतो. हे सर्व वर्णन अर्थातच पंथराजनिर्दिष्ट योगाचेच आहे, हे जिज्ञासूंच्या सहजच ध्यानी येईल.

पंथराज हा तसा ***गुरुकृपाधिष्ठित, सगुणईश्वरप्रणिधानयुक्त कुंडलिनीयोग*** असल्याचे आपणांस लक्षात येते, ते या ओव्यांतील गुरुनिर्देशावरून. येथील गुरूंचा निर्देश व सहाव्या अध्यायातील

"करूनि सद्गुरुस्मरण। अनुभविजें।।६-१८६।।" यातील गुरुनिर्देश यांची चांगली सांगड घालता येते. असो. जर कुंडलिनीयोग खरेच तसा अवघड असता, तर तो सद्गुरूंनी साधकास सांगण्याचे काय कारण! आणि खरा शिष्य तर कधीही गुरूने निर्देशिलेल्या मार्गाव्यतिरिक्त इतर मार्गाने जात नाही. तस्मात योगाचे प्रयोजन गुरुदत्तच असावे आणि तशा योगाच्या आचरणात बाराव्या अध्यायात वर्णिलेली योगसाधनेतील खडतरता नसते, असेच आपल्याला मान्य करावे लागते. असो.

भक्तिपंथ व पंथराज

त्याचप्रमाणे या विषयाबाबत ते पुढील ओव्यांतून म्हणजे ***भक्तयोग्यांविषयी - सगुणईश्वरप्रणिधान करून योगधारणा करणाऱ्यांविषयी*** जे म्हणतात, तेही पाहण्यासारखे आहे.

ज्ञानेश म्हणताहेत:

म्हणौनि एर तैं पार्था। नेणतिचिं हें व्यथा।
जैं कां भक्तिपंथां। वोटंगलें।।१२-७५।।
कर्मेंद्रियें सुखें। करिति कर्में अशेखें।
जिएं कां वर्णविशेखें। भागां आलीं।।७६।।
विधितैं पालित। निषेधांतै गालित।
मज देऊनि जालित। कर्मफलैं।।७७।।

"भक्तिपंथाला मात्र जे अनुसरले, त्यांना ही कष्टप्रद साधना करावी लागत नाही आणि त्या मार्गावरील व्यथांचा स्पर्शही होत नाही. अशा साधकांची इंद्रिये वर्णविहित कर्मे सुखेनैव आचरतात. शास्त्रानुसार कर्मे करत आणि निषिद्ध कर्मे त्यागीत ते साधक आपल्या सर्व कर्मांची फळे मला अर्पण करून जाळून टाकतात."

"ध्यानमिखैं घर। माझें जाहालें"

ययापरी पाइं। अर्जुना माझां ठाइं।
संन्यासूनि नाइं। करिति कर्में।।१२-७८।।
आणिकहि जैं जैं सर्व। काइक वाचिक मानसिक भाव।
तेआं मीवांचूनि धांव। आनौति नाइं।।७९।।
ऐसें जैं मत्पर। उपासिति निरंतर।
ध्यानमिखैं घर। माझें जाहालैं।।८०।।

" हे अर्जुना! याप्रमाणे माझ्याठायी आपली कर्मे अर्पण करून ते त्यांचा नाश करून टाकतात. तसेच त्यांच्याकडून ज्या कोणत्या कायिक, वाचिक व मानसिक कृती घडतात, जे जे काही त्यांच्याकडून घडते, ते सर्व ते मदर्पण करतात. त्यांच्या मनीमानसी माझेच ध्यान सदासर्वदा असते. असे माझे निरंतर ध्यान करत मला उपासणाऱ्या त्या साधकांचे सर्वस्व आणि त्यांचे हृदय हे सगळे त्यांच्या त्या ध्यानाकार वृत्तीमुळे माझे नित्य वसतीचे स्थानच होऊन राहते, यात काय नवल!"

याप्रमाणे **पंथराजासच *भक्तिपंथ* असे आणिक एक नांव ज्ञानेश प्रदान करत आहेत. *या भक्तिपंथात, पंथराजात आणि सर्वकष साधकचर्या वर्णन करणाऱ्या अठराव्या अध्यायातील क्रमयोगात वस्तुत: काहीच फरक नाही,*** हे आपणास विचारांती सहजच लक्षात येते. अर्थात ***या भक्तिपंथात अनन्यध्यान हे पायाभूत साधन असल्याचेही आणि हा कर्मयोगाचाच भाग असल्याचे*** आपल्या लक्षात त्यांच्या वरील ओव्यांवरून सहज येते. असो.

पंथराजाचे सूत्रसमन्वयन

आतापावेतो ***पंथराज*** व योगविषयक ज्ञानेशांच्या भूमिकेचे आपण बऱ्याच खोलात जाऊन अवलोकन केले. त्यावरून पंथराज साधनाक्रमाची काही ठळक वैशिष्ट्ये आपल्या नजरेत भरतात. ***कर्म, ज्ञान, भक्ती, कुंडलिनीजागृती, लययोगसाधन, शिवशक्तिसामरस्य; अनन्य(सगुण)ध्यान म्हणजेच पातंजलसूत्रोक्त ईश्वरप्रणिधान; गुरुवरण व गुरुपदिष्ट साधनापद्धती; अष्टांगयोगाची यमनियम-आसन -प्राणायाम - प्रत्याहार ही बहिरंग साधने व धारणा - ध्यान -समाधिसह संयम ही अंतरंगसाधने; चक्रनाडी इ.संस्थांवर आधारलेल्या योगक्रिया व त्यात कुंडलिनीशक्तीचे निर्विवाद महत्त्वपूर्ण स्थान; योगसाधनेची भिन्नता तसेच त्यांच्यातील समानता; तसेच कोणत्याही मार्गाने जा, कुंडलिनी जगदंबेच्याच प्रवेशद्वारातून मोक्षमार्ग जातो, हे त्या दोन्ही साधनामार्गातील समानतेवरून जाणवणारे प्रमेय; पंथराजप्रणीत ध्यान वा ईश्वरप्रणिधान सुलभरीत्या अवगत व्हावे म्हणून त्यासाठी १) कर्मे ईश्वराठायी फलांसह समर्पण करण्याची युक्ती २) तसेच अनन्यध्यान म्हणजे भक्ती (सगुणईश्वरप्रणिधान) आणि ३) या साधनेद्वारे प्रकट होणारे ईश्वराचे ज्ञानस्वरूप ही सर्व मिळून केवळ एकच योगमार्ग असण्याची निश्चित धारणा;*** अशा काही महत्त्वपूर्ण बाबी यानिमित्ताने आपल्यासमोर उभ्या राहतात.

या आणि तशाच इतरही काही विशिष्ट गोष्टींचे सूत्रसमन्वयन ज्ञानेश कसे करतात, ते आपण पुढे अठराव्या अध्यायातील ***क्रमयोग*** अवलोकितांना अभ्यासणारच आहोत. त्या वेळी हा विषय अधिक खुलासेवार पाहता येईल.

समारोप

तूर्त आपण मागे एक विषय नंतर पाहू म्हणून तसाच सोडून दिला होता, तिकडे वळू या. तो म्हणजे ***ज्ञानदेवांचे योगपर अभंग !*** यातून आपल्याला योगप्रक्रिया, चक्रे, पूर्व व पश्चिममार्गावरील वाटचाल इ.बाबत बरीच माहिती मिळेल. तर वळू या आता पुढील ***उन्मेष क्र.४६ - योगपर अभंग*** याकडे.

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

::उन्मेष ४६::
::योगपर अभंग::

योगचक्रे (३):पंथराज, योगचक्रे व ज्ञानेशांचे अभंग-७९८
योगपर अभंग
सगुण व निर्गुण
शून्याचा शेवट
चार शून्ये-७९९
टीप- शून्यस्थान
सहस्त्रदल व ब्रह्मरंध्र:पदपिंडसमावेशन
कूटस्थ-८००
पंथराजयोगाविषयी अधिक विचार
शून्यांचा विचार:चार शून्ये व महाशून्य
आज्ञाचक्र व निरालंबपुरी
विविध मते-८०१
ज्ञानेशोक्तिद्वारे समन्वयन
टीप:आज्ञाचक्रावरील प्रांत -तंत्रशास्त्रोक्त मत
शून्यब्रह्म-८०२
अभंगांतून पंथराज
शून्य निरशून्यापलीकडे
महाशून्याचे रहस्य-८०३
योगानुभूती:अव्यक्त तेच व्यक्त
सत्रावी कला-८०४
आकाशगुंफा
चक्रसंख्या व पश्चिममार्गविषयक काही वादांचा समन्वय-८०५
योगविषयक अधिकृत माहिती
उन्मनी व तुर्या:''सतराविये‌चें स्तन्य''
टीप-नाद,बिंदू, कला व ज्योती
औटपीठ -८०६
आदिमाया -८०७
प्रतिप्रसवक्रम व मन उफराटे करणे
उन्मनीचा घाट
सद्गुरू व तुर्येचे प्रांगण
''रंगला रंगीं श्रीरंगाच्या''-८०८
''तुझे ध्यान लागों''-८०९
धर्ममेघ समाधि
''निवृत्ति सोपान मुक्ताईची खूण। ज्ञानदेवें सघन बोलिलीं हें''
समाध्यवस्था व मुक्त्यवस्था यांचा समन्वय:मुक्ती व समाधिविचार-८१०
विष्णुतीर्थमत
पश्चिमपथ स्थाने व शून्ये / देहसंकेत / समाधि / मुक्ती -तक्ता-८११
विविध योगमतांनुसार योगचक्रस्थाने-तक्ता-८१२
विहंगम मार्ग - प्रचलित संज्ञा-तक्ता
समाधिविधी-८१३
निर्वितर्क व निर्विचार समाधि
संक्षेपत: समाधिक्रम -८१४
मुक्तीचा अधिक विचार:मुक्तिविचार
देहसापेक्ष मुक्त्यवस्था
''चहूं देहांचें ओझें। निवारूनि''
अर्धमात्रेचा प्रांत:प्रणवसाधना
गगनमंडल-८१५
अश्वत्थाचे परिपूर्ण फल
परेवरचा चक्षू
निरंजन ब्रह्म-८१६
सहस्त्रदळी शोभणारा काळा श्यामसुंदर
मुक्ताबाईस उमगलेले रहस्य-८१७
भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र
मकाराची नड-८१८
परेचे शिखर-८१९
पंथराजाचा इतर योगांशी समन्वय
अर्धमात्रेच्या प्रांतातील ध्येय्य वस्तू-८२०
पंथराज व पश्चिमपथ यांच्या खाणाखुणा: चिद्विलासवादाचा उगम
प्रणवाचे स्वरूप-८२१
भक्तीचे नवविध अमृतजळ व त्याचे यौगिक रहस्य
पश्चिमपथाच्या खाणाखुणा-८२२
प्रणवरहस्य
ॐकार व प्रणव-८२३
प्रणवोपासना-८२४
''नेणें नाद बिंदु कला ज्योति''
''नेह नानास्ति किञ्चन''-८२५
जीवन्मुक्तीच्या खुणा
पश्चिमपथाचे संपूर्ण दर्शन-८२६
योगधारेची भैरवी:पूर्व-पश्चिमपथ व सगुण-निर्गुण-८२७
इतर अभंगांतील योगरहस्य
टीप:तालुचक्र
''ऐका हा शेवट। अभंगमाला झालीं''-८२८
योगपर अभंगमालेची भैरवी-८२९
योगवासिष्ठातील प्रज्ञेच्या सप्तभूमी -८३०
समारोप

ॐॐॐ

::उन्मेष ४६::
::योगपर अभंग::

योगचक्रे(३)::::

पंथराज, योगचक्रे व ज्ञानेशांचे अभंग

योगचक्रांचे विवेचन करतांना ज्ञानेशांच्या अभंगांतून आढळणाऱ्या ***त्रिकूट, गोल्हाट, श्रीहाट, औटपीठ, भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र*** या योगस्थानांबाबत ***डॉ.के.रा.जोशी*** व ***डॉ.बा.त्रिं. शाळिग्राम आणि डॉ.वि.शं.वाळिंबे*** यांच्या या चक्रांबाबतच्या मतांचा ओझरता उल्लेख केला गेला होता. या योगस्थानांचे ज्ञानेश योगपद्धतीतून इतर योगमतांशी समन्वयन करता येते का हे त्यांच्या अभंगरचनांद्वारे पाहण्याचा मानस तेव्हा व्यक्त केला होता *(उन्मेष ४१: लययोगसमालोचन: योगपथ पृ.क्र.७६१ते ७६४).* तो भाग आता पाहू या. हा भाग पाहत असता ***पंथराज व ज्ञानेशांची योगविषयक अनुभूती*** यांचेही जमेल तेवढे आलोडन करू या.

हा भाग हाताळण्याआधी थोडी पूर्वपीठिका पाहू या. ज्ञानदेवांची अभंगसंपदा एकूण जवळ जवळ ११०० अभंगांची असावी. त्यातील बहुतेक अभंग मुद्रित स्वरूपात आज रोजी उपलब्ध आहेत. ***डॉ.प्र.न.जोशी*** यांनी ते अभंग ***सार्थ श्रीज्ञानदेव अभंगमाला*** या ग्रंथात संग्रहित केलेले आहेत. तसेच इतरांनीही ज्ञानदेवादी भावंडांचे अभंगवाङ्मय संपादित केल्याचे दिसून येते. प्रस्तुत विवेचनासाठी घेतलेले अभंग प्रामुख्याने डॉ.जोशी यांनी त्यांच्या ग्रंथात दिलेल्या अनुक्रमांकांचा निर्देश करून संदर्भ शोधण्यास सोपे पडावे म्हणून देण्याचा मानस आहे. अभंग जरी त्यांच्या अनुक्रमांकाप्रमाणे देत असलो, तरी त्यांचे विश्लेषण आपण अभ्यासकाच्या आपल्या वेगळ्या दृष्टिकोनातून आणि आपण हाताळत असलेल्या विषयास अनुलक्षून करणार आहोत, हे जिज्ञासूंनी लक्षात घ्यावे. असो.

योगपर अभंग

ज्ञानदेवांचे *योगपर अभंग क्र.७३२ ते ८४१* असे सदर ग्रंथाच्या *पृ.क्र.४४० ते ४८४* त संग्रहित केलेले आहेत. उणेपुरे ११० असे हे योगविषयक अभंग आहेत. यांचाच आपण जमेल तसा परामर्ष घेत हा विषय पुढे पाहणार आहोत.

७३२व्या अभंगाखाली या अभंगांचे विवरण देतांना डॉ. जोशी यांचे म्हणणे असे दिसून येते की ***त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्हाट, औटपीठ, भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र*** ही ब्रह्मांडीची षट्चक्रे आहेत व ***मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा किंवा अग्निचक्र*** ही पिंडीची सहा चक्रे आहेत. सर्वात वर ***सहस्रदलचक्र*** असते. ते परमात्म्याचे विश्रांतिस्थान होय. त्यालाच ***त्रिकूट, मेरुशिखर, शिखर*** अशीही नांवे आहेत. ***सत्रावी जीवनकला वा अमृताचे तळे*** येथेच असते. **येथे राहणारा परमात्मा नीळवर्ण तेजोबिंदु म्हणून कृष्णाच्या - विठ्ठलाच्या स्वरूपात संतांनी मानला आहे.** त्यांच्या या मताची योग्य ती नोंद घेतल्यानंतर पुढे जाऊ या.

सगुण व निर्गुण

सगुण-निर्गुण ध्यानाबाबत आपण यापूर्वी बराच उहापोह अर्जुनाच्या बाराव्या अध्यायारंभीच्या प्रश्नावरून केलेला आहे. ज्ञानदेव सगुण व निर्गुण ध्यानावर आपल्या अभंगातून प्रकाश पाडतात, तो असा:

निर्गुणाचे रंगीं रंगलें हें मन।
सांवलें सगुण ब्रह्म तैंचि।।१।।
मताभिमानी ऐसा विश्वास न धरिति।
वचनीं निर्गुण सगुण दोनिं भिन्न असति।।२।।
असिपद जैसें तत्पद तैं नाहीं।
सांवलें ब्रह्म पाहीं तैसें असे।।३।।
निवृत्तिदास म्हणे चांगया ब्रह्म तैंचि खरें।
सांवलें निर्धारें जाण रया।।४।।अ.क्र.७३२।।

"निर्गुण सगुण वेगळी रूपे आहेत, असा मताभिमान वृथा आहे. सावळे सगुण ब्रह्म योग्यांना निळबिंदुरूपात ध्यानी दिसते. हाच कृष्ण - हाच विठ्ठल! निर्गुणाच्या रंगात रंगलेल्या मनास याचाच साक्षात्कार घडतो. ***तत्*** भाव आणि ***त्वम्*** भाव हे ***असि*** या भावात जेव्हा लोपतात, तेव्हा हे सावळे परब्रह्मच ***असि*** या भावाने प्रकटते. ***"तत् त्वम् असि"*** हे महावाक्य असे या सगुण-निर्गुण श्यामल स्वरूपात लय पावते. हे चांगदेवा! ते श्यामल स्वरूप हेच खरे ब्रह्म आहे."
*(**टीप**: अ.क्र.= अभंग क्रमांक - डॉ.प्र.न.जोशी यांच्या सार्थ श्रीज्ञानदेव अभंगमाला या ग्रंथातील अनुक्रमानुसार)*

या अभंगातून योगिजनांना येणाऱ्या स्वरूपानुभूतीचे स्वल्पदर्शन ज्ञानदेव आपणास घडवतांना दिसतात.

शून्याचा शेवट

असे हे दुर्लभ स्वरूपदर्शन घडावे तरी कसे, यावर ज्ञानदेव सूचित करतात की:

डोलांचि पाहा डोलां शून्याचां शेवट।
नीलबिंदु नीट लखलखित।।१।।
विसांवों आलें पातलें चैतन्य तेथें।
पाहें पां निरुतें अनुभवें।।२।।
पार्वतिलागें आदिनाथें दाविलें।
ज्ञानदेवां फांवलें निवृत्तिकृपा।।३।।अ.क्र.७३३।।

"योगी ध्यान करतात. ***धारणा-ध्यान-समाधि-संयम*** या मार्गाने त्यांना कुंडलिनीउत्थापन व पुढील मार्गक्रमणा साध्य होते. त्या मार्गावर ***आज्ञाचक्र*** येते. तेथे ***तृतीय नेत्र वा डोळा वा अतींद्रिय जाणीव*** प्राप्त होते. हा जाणिवेचा प्रांत **शून्य**ाच्या म्हणजे **परब्रह्म**ाच्या अंतरी

पोहोचतो. याची अनुभूती योग्यांना प्राप्त होते. ते परब्रह्म - शून्य - नीलबिंदुसमान प्रकाशत असते. त्याठायी चैतन्य विसावते."

"पंथराजाच्या आदिगुरूंनी म्हणजे आदिनाथ श्रीशंकरांनी आदिमाया पार्वतीस आपल्या कृपाप्रसादाने जी या ***नीळबिंदू*** आत्मरूपाची अनुभूती प्राप्त करून दिली, तीच मलाही या निवृत्तिनाथ सद्गुरूंच्या कृपाकटाक्षाने प्राप्त झालेली आहे, असे ज्ञानदेव सांगतात."

या अभंगाद्वारे पंथराजप्रणालीचे ज्ञानेशांच्या योगसाधनेतील महत्त्वपूर्ण स्थान पुनश्च प्रकट होते. स्वरूपदर्शनाचा खरा योगमार्ग तो हाच असल्याचेही आपणास या अभंगाद्वारे जाणवते. असो.

चार शून्ये

आता यापुढील अभंगात ज्ञानेश हे स्वरूपदर्शन ज्योतिस्वरूपातही होत असते, हे कसे सूचित करतात, ते पाहाः

शून्याचां शेवट डोलां पाहां निराला।
नीलबिंदु सांवला प्रकाशला।।१।।
ब्रह्म ज्योतिरूप विसांवलें जेथ।
अनुभव साद्यंत पाहा तुम्हीं।।२।।....।।अ.क्र.७३४।।

सावळ्या नीलबिंदूत ***ज्योतिरूप ब्रह्म*** समावलेले असते, अशी योग्यांना अनुभूती येते. या अनुभूतीचा प्रांत व त्यावरील ठळक स्थळांचा निर्देश करत ज्ञानदेव पुढे म्हणताहेतः

चहूं शून्यांचा भेद कैसा पाहावा देहीं।
ब्रह्मरंध्रीं निःसंदेहिं निजवस्तू।।१।।
सांवलें सुकुमार बिंदुचें अंतरीं।
अर्धमात्रेवेरीं विस्तारलें।।२।।
त्रिकूट श्रील्हट गोल्हाट तिसरें।
औटपीठादि सारें ब्रह्मांडासिं।।३।।
स्थूल सूक्ष्म कारणीं माया।
महाकारणाचां ठायां रीघ करा।।४।।
निवृत्ति ज्ञानदेव उभयतांचें बोल।
आकाश बुबुलीं पाहां असें।।५।।अ.क्र.७३५।।

देहांतरी ***चार शून्ये*** किंवा शून्यस्थाने आहेत. बिंदुच्या आत सावळे परब्रह्म व त्याच्या प्रांताचा विस्तार असतो. अर्धमात्रेच्या पुढचा हा प्रांत आहे. ***त्रिकूट, श्रील्हट वा श्रीहाट, गोल्हाट व औटपीठ*** ही ती चार शून्ये होत. ***स्थूळ, सूक्ष्म, कारण व महाकारण*** या चार देहांपरत्वे ही ती चार शून्यस्थाने समजली पाहिजेत. ***स्थूळ - त्रिकूट, सूक्ष्म - श्रील्हट वा श्रीहट वा श्रीहाट, कारण - गोल्हाट व महाकारण-औटपीठ*** असे या स्थानांचे परस्परसंबंध असावेतसे दिसते.

"स्थूल-सूक्ष्म-कारण या मायिक देहांचा निरास करून म्हणजे ***त्रिकूट,श्रीहाट व गोल्हाट*** या स्थानांचा भेद करून महाकारणदेहविशिष्ट औटपीठात प्रवेश करून ब्रह्मरंध्री वसणाऱ्या परमात्म्याची अनुभूती घ्यावी. ज्ञानदेव व निवृत्तिनाथ दोघांचीही अशी अनुभूती आहे की ब्रह्मांडातील आकाशास पोहोचण्याचा मार्ग म्हणजे बुबुळ *(यालाच तृतीय नेत्र वा डोळा वा नयन इ. संज्ञा आहेत)* या आज्ञाचक्रस्थ स्थानातून पुढे जातो. औटपीठादी जी चार शून्ये आहेत, ती अर्धमात्रेतील म्हणजे आज्ञाचक्रावरील ब्रह्मांडीची स्थाने असल्याचा निर्देश या अभंगाद्वारे मिळतो.

*(**टीप: शून्यस्थान** - म.म.प.गोपीनाथ कविराज यांनी केलेली शून्यस्थान कोणते याची व्याख्या **"मनीषीकी लोकयात्रा"** या **डॉ. भगवतीप्रसादसिंह** याच्या ग्रंथात *पृ.क्र. २८९,२९०* येथे दिलेली आहे. त्यावरून असा अर्थ निघतो की चैतन्यसत्तेच्या अभिव्यक्तीचे विशेष केंद्र ज्यास शक्तिविकासाचे केंद्र असे पण म्हणता येईल, ते देहाच्या अतीत असूनही देहात प्रतिभासित होते. **देहाचे कार्य सांभाळणाऱ्या या प्रतिभासित केंद्राला शून्य अशी संज्ञा आहे.** त्याच्या आधारानेच चैतन्याची बाह्यरूपात अभिव्यक्ती होऊ शकते. वस्तुतः असे **मूळ शून्य एकच आहे, ज्याला *महाशून्य* म्हणतात.** तेथून मूलचैतन्याचा प्रतिभास शक्तिविस्ताराचे कार्य करतो. असे शून्य एकच असले तरी प्रकृतिपरत्वे ते बहुत्वाने भासते. जसे नाभि, हृदय, मस्तक येथे या शून्याची सत्ता विद्यमान असते.)*

सहस्त्रदल व ब्रह्मरंध्र::::

पदपिंडसमावेशन

या परम आकाशात ***सहस्त्रदलकमल - सहस्त्रार - सहस्त्राधार*** या नांवांनी ओळखले जाणारे योगचक्र असते. त्याबाबत ज्ञानदेव म्हणतातः

१) आकाश जैं दिसें दृष्टीचिआं पोटीं।
शून्यत्वांसिं घोटीं चैतन्यांत।।१।।
अर्थ पाहातां सांकडें आईकितां।
कैसें करूं आतां निवृत्ती सांगें।।२।।
सांघतांचि गूज देखिलें नयनिं ।
हिंडताति मौनिं याचिलागिं।।३।।
ज्ञानदेवाचां अर्थ कूटस्थ परिपूर्ण।
अपूर्णहिं परिपूर्ण होएं जेथ।।३।।अ.क्र.७३६।।

आज्ञाचक्र वा त्रिकूटस्थानाच्या आत **तृतीयनेत्रातून जे आकाश दिसते, तेथेच शून्य व चैतन्य यांचा मिलाप होतो.** या अभंगात ***शून्य*** ही संज्ञा ***सुषुम्ना तसेच कुंडलिनी*** यांना उद्देशून वापरल्याचे दिसते. ***"शून्यत्वासिं घोटीं चैतन्यांत"*** या पदाचा अर्थ येथे ***शून्य व चैतन्य यांचे सामरस्य म्हणजे शक्ती व शिव यांचे यौगिक मिलन*** असा घ्यावा लागतो. ज्ञानदेव म्हणतात कीः

"हे कूट बोलणे ऐकून त्याचा अर्थ समजून घेण्यासाठी मी निवृत्तिनाथांना शरण गेलो. तेव्हा त्यांनी कृपाळूपणे तो अर्थ मला समाजावून दिला. तो समजताच मला त्या गुह्याचा साक्षात्कार झाला. ज्याच्यासाठी मौनी तापस वणवण करतात, ते कूटस्थ - तो परमात्मा - हेच ते गुह्य होय. या परिपूर्ण कूटस्थाशी समरस होऊन अपूर्णासही पूर्णत्वप्राप्ती होते." ***योगी त्याचेच वर्णन करतांना दिसतात,*** हे पुनश्च लक्षात घेऊन पुढे जाऊ या.

अपूर्ण म्हणजे ***शिवा वा शक्ती - कुंडलिनी - जीव*** आणि ***कूटस्थ*** म्हणजे ***शिव - परमात्मा,*** अशा अर्थी हे शब्द वापरले आहेत. जीव जेव्हा शिवात मिळतो, तेव्हा अपूर्णत्वास पूर्णत्वप्राप्ती होते, असा **पदपिंडसमावेशन**ाचा संकेत या अभंगांतून मिळतो.

कूटस्थ

२) सहस्त्रदल$_१$ ब्रह्मरंध्र$_२$ ज्याचें घर।
सत्रावी निरंतर वसें जेथ।।१।।
रक्त शुभ्रवर्ण नील पीत दिसें।
दृष्टी शुद्ध असें तेयांनाचिं।।२।।
फार किती सांगों सज्ञान तुम्हीं जन।
अर्थ हा समजौनि मौन्य धरा।।३।।
गुह्याचेंहि गुह्य निवृत्तीनें दाविलें।
मीच वाचा हों बोलें बोलतसें।।४।।अ.क्र.७३७।।

"अशा या **कूटस्थ परमात्म्याचे वसतिस्थान** म्हणजे **सहस्त्रदलकमलातील$_१$ ब्रह्मरंध्र$_२$** होय. ते या दिव्य आकाशात असते. त्याठायी ***सत्रावी कला*** निरंतर वसते." ***समना -उन्मनी - अमना*** अशा मनाच्या ज्या सकल - निष्कल अवस्था असतात, त्यातील ***अमना*** म्हणजेच ***सत्रावी कला.*** अर्थात त्याठायी मनाचे मनपण राहत नाही, असा भावार्थ ***सत्रावी कला*** या शब्दप्रयोगातून व्यक्त होतो.

"योगिजनांच्या अतींद्रिय जाणिवेस या प्रांतात जे तेजोमय दर्शन घडते, ते **रक्त, श्वेत, पीत व नील या रंगांच्या ज्योती**चे असते. त्या ***ज्योतीच्या आत शुद्ध म्हणजे परमात्मा असतो.*** हे गुह्याचेही गुह्य निवृत्तिनाथांनी ज्ञानेशांना प्रकट केले आहे. ते ऐकून सज्ञान सुज्ञ जीवांनी मौनावावे, अशी त्यांची सार्थ अपेक्षा आहे!!"

ब्रह्मांडभुवनी असणाऱ्या त्या सुंदर सहस्त्रदलकमलातील ब्रह्मरंध्री मसुरमात्र आकाराने ***महाकारण*** विद्यमान असल्याची योग्यांना अनुभूती असते. त्या कमलातील महत्त्वाच्या चार पाकळ्या म्हणजे चार शून्यांनी निर्दिष्ट असे ***स्थूल - सूक्ष्म - कारण - महाकारण*** हे देह होत. त्यांच्या आत ***कृष्ण-नीलवर्ण शोभा*** म्हणजे ***परमात्मा*** विसावलेला असतो. **सहस्त्रदलकमलात हा आत्मा निश्चयेकरून असल्याचे ज्ञानेश *अ.क्र.७३७* द्वारे साधकांस आश्वासन देतात.** अर्थातच तेथे जाण्यासाठी त्यांनी सांगितलेल्या योगमार्गास सोडून आपण इतरत्र धाव घेऊ नये, हे सुज्ञांस सांगणे न लगे!

पंथराज योगाविषयी अधिक विचार

येथपावेतो आपण विचारात घेतलेल्या ज्ञानेशकृत अभंगांतून पश्चिमेच्या मार्गाबाबत बरीच माहिती मिळते. पंथराजाशी ही माहिती अत्यंत निगडित असल्याने योगसाधकांनी ती सर्व माहिती ध्यानी घेणे आवश्यक ठरते. मुख्यत: पंथराजाच्या साधकांचे अनुभव कोणत्या स्वरूपाचे असतात, ते जाणून घेण्यासाठी ज्ञानदेवांच्या योगपर अभंगांकडे म्हणूनच वळावे लागते. उत्तरोत्तर त्यांचे असे अभंग आपण जसजसे पाहत जाऊ, तसतशी आपली ही धारणा अधिकाधिक प्रबल होत जाईल. असो.

शून्यांचा विचार::::

चार शून्ये व महाशून्य

ज्ञानेशांच्या अभंगांतून ***चार शून्ये व महाशून्य*** यांचे उल्लेख येतात. ही चार शून्ये ***स्थूल - सूक्ष्म - कारण व महाकारण*** या चार देहांच्याअवस्थांवत होत असे दिसते. तसेच ही चार शून्ये ***त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्हाट व औटपीठ*** या नांवांनी त्यांना विदित असल्याचेही *अभंग क्र. ७३५* वरून दिसून येते. यापूर्वी ***पं.गोपीनाथ कविराज*** यांचे मत *(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ पृ.क्र. ७६२ ते ७६५)* विचारात घेतांना पश्चिमपथावरील स्थानांची व चार वा पाच शून्यांचा विचार ***डॉ.बा.त्र्यं. शाळिग्राम, डॉ.के.रा.जोशी व श्रीविष्णुतीर्थ*** महाराजादी योगमार्तंडांच्या विचारांना अनुलक्षून आपण पाहिल्याचे जिज्ञासूंना स्मरत असेलच. तसेच आज्ञाचक्रावरील स्थानांचा ओझरता विचार व काही तत्त्केही आपण पूर्वी पाहिले होते *(उन्मेष:३७:ॐकार व प्रणव - पृ.क्र ५७९ ते ५८३).*

त्या वेळी पाहिलेली काही माहिती ज्ञानेशांचे अभंग पाहतांना जमेल तशी ताडून पाहण्यास काही प्रत्यवाय नसावा. त्यासाठी संक्षेपत: पश्चिममार्गाचे या मंडळींनी केलेले निर्देशन पाहून पुढे जाऊ या.

आज्ञाचक्र व निरालंबपुरी

आज्ञाचक्र म्हणजेच ***अग्निचक्र. हं*** व ***क्षं*** ही त्याची दोन बीजे आणि ***हकार व सकार*** या **हंसपद**ाच्या दोन पाकळ्या . ***सायुज्यता*** मुक्तीचे हे स्थान. ***त्रिकूटी*** हे याचेच एका पद्धतीतील नांव. अकार, उकार व मकार ही ॐकारमात्रास्थाने मूलाधार ते विशुद्धी या चक्रस्थानात समावलेली असतात. हे चक्र शब्दब्रह्म व शून्यब्रह्म यांच्या संधीवर असते. ***मकाराची नड वा ॐकाराची अर्धमात्रा वा अमात्रा*** असे शब्द या संधीचे वर्णन करण्यासाठी प्रायोजित करतात.

येथून पुढचा म्हणजे ब्रह्मांडाचा प्रांत असतो. इडा, पिंगला व सुषुम्ना या तिन्ही मुख्य नाड्या येथे या चक्रात येऊन मिळतात. गंगा, यमुना व सरस्वती अशी त्यांची यौगिक सांकेतिक नावे आहेत. ***त्रिवेणीतीर्थ*** असेही आज्ञाचक्रास संबोधले जाते, ते यावरूनच. कारण या तीन पुण्यदा नद्यांचे - म्हणजे मुख्य यौगिक नाड्यांचे हे संगमस्थान आहे.

प्रणव हे या चक्राचे मूलबीज आहे. येथून पुढचा म्हणजे पिंडापासून पुढचा ब्रह्मांडाचा प्रांत प्रणवाचा समजला जातो. हा प्रणव योगसंज्ञेतील असून ॐकाराच्या अर्धमात्रेशी अभिन्न आहे, असा योगिजनांचा निर्देश आहे. ***प्रणव म्हणजे ॐकार ही सर्वसामान्य समजूत येथे गैरलागू आहे. प्रणवाच्या या प्रांतास निरालंबपुरी अशीही यौगिक संज्ञा आहे.***

त्रिकूट ही संज्ञा विभिन्न स्थानांस लावली जातांना दिसते. मागेच म्हटल्याप्रमाणे ***अनेकदा आज्ञाचक्र व त्यापुढचा प्रांत यांचे पृथकत्व***

न दाखवता दोन्ही मिळून आज्ञाचक्रच असे समजून लेखक व योगी त्याचे वर्णन करतांना दिसतात, हे पुनश्च लक्षात घेऊन पुढे जाऊ या.

विविध मते

या ***आज्ञाचक्र*** व ***निरालंबपुरी*** प्रांतातील स्थानविशेष असे आहेत:

१) विष्णुतीर्थमहाराज मते: आज्ञा -➢बिंदु -➢अर्धेंदु वा अर्धचंद्र -➢निरोधिका -➢नाद -➢नादांत-➢शक्ती -➢व्यापिका -➢ समनी -➢ उन्मनी -➢प्रतिष्ठा -➢गुह्यचक्र -➢सहस्त्रारचक्र -➢ब्रह्मरंध.

प्रणव हे आज्ञाचक्राचे मूलबीज आहे. येथून पुढचा म्हणजे पिंडापासून पुढचा ब्रह्मांडाचा प्रांत प्रणवाचा समजला जातो. हा प्रणव योगसंज्ञेतील असून ॐकाराच्या अर्धमात्रेशी अभिन्न आहे, असा योगिजनांचा निर्देश आहे.

२) पं.गोपीनाथ कविराज: ***आज्ञा -➢बिंदु -➢अर्धबिंदु वा अर्धचंद्र -➢रोधिनी-➢नाद -➢नादांत -➢शक्ती -➢व्यापिका -➢समना -➢उन्मना-➢महाबिंदु -➢ ब्रह्मरंध्र.*** यांच्या मते सहस्त्रार व ब्रह्मरंध्र यांकडे जाणारे मार्ग वेगवेगळे असतात. परंतु या मतांतरांचा समन्वय आपण पूर्वीच केलेला आहे *(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन: योगशास्त्रसमन्वय पृ.क्र.७६२ ते ७६५).*

३) सर जॉन वुड्रॉफ (आर्थर ॲव्हलॉन) (ले.सं.द सर्पन्ट पॉवर): ***आज्ञा-➢बिंदु-➢बोधिनी-➢नाद -➢महानाद वा नादांत -➢ व्यापिका -➢ समनी-➢ उन्मनी (शिवतत्त्वाधीन)-➢सहस्त्रारचक्र -➢ब्रह्मरंध्र -➢पराबिंदु(परमशिव).*** लेखकाने आपल्या त्याच ग्रंथात *(पृ.क्र. १४३वर)* असे नमूद केले आहे की ***ललिता सहस्त्रनाम*** या ग्रंथात मात्र ***व्यापिकेचे शक्ती आणि व्यापिका असे दोन वेगळे स्तर*** आहेत, असे दिसते. परंतु त्यास हे ग्राह्य वाटत नसल्याचे मतही त्याने प्रदर्शित केले आहे. अर्थात हा शक्ती व व्यापिका अशा दोन वेगळ्या स्तरांचा विचार आपण गौण धरला तरी चालेल. हा केवळ सैद्धांतिक वा तात्त्विक मतभेद आहे.

ज्ञानेशोक्तीद्वारे समन्वय

पं.गोपीनाथ कविराज यांच्या मते ***बिंदु हे प्रथम शून्य आहे.*** त्यांच्या मताचा डॉ.के.रा.जोशी व वरील इतरांच्या मतांशी समन्वय केल्यावर आपणास असा बोध होतो की जर पं.गोपीनाथमतानुसार ***व्यापिका वा व्यापिनी हे चौथे शून्य*** आणि ***उन्मनी हे पाचवे शून्य*** मानले तर दुसऱ्या व तिसऱ्या शून्यस्थानासाठी ***अर्धबिंदु ते १) नादांत किंवा २) शक्ती*** येथपावेतोची स्थाने विचारार्ह आहेत.

ज्ञानेशमते पाच शून्ये महाशून्यासह आहेत, तर श्री. गोपीनाथजी इ.च्या विचारानुसार ***बैन्दव स्तर ते महाशून्य वा महाबिंदुपर्यंत*** ती सहा ठरतात. याचाच अर्थ असा की त्रिकूटीस जर प्रथम शून्य स्थान मानले तर त्याच्यापुढे अजूनही सहा शून्य स्थानांचा प्रांत गोपीनाथ मतानुसार असला पाहिजे. पं. गोपीनाथ व तत्सम इतरांच्या मते शून्यस्थाने अशी आहेत: ***१) बिंदु २) निरोधिका ३) नादांत ४) व्यापिका ५) उन्मनी.***

ज्ञानेशांनी महाशून्यापूर्वी ***त्रिकूट -श्रीहाट - गोल्हाट व औटपीठ*** अशी चार शून्ये असल्याचा संकेत *अभंग क्र.७३५* मध्ये दिला आहे. अर्थात गोपीनाथकथित दुसऱ्या व तिसऱ्या शून्यस्थानांचा ज्ञानेश स्वत: म्हटलेल्या चार शून्यस्थानांत अंतर्भाव व निर्देश करत नसावेत, असे धरले तर या मतांचा समन्वय करता येईल.

यावरून असा समन्वय करता येतो की ***१) प्रथमशून्य - त्रिकूट (आज्ञाचक्र) २) द्वितीय शून्य - बिंदु - श्रीहाट ३) तृतीय शून्य - व्यापिका - गोल्हाट ४) चतुर्थशून्य - उन्मना - औटपीठ व ५) पंचम शून्य - महाबिंदु - ब्रह्मरंध्रस्थ पराबिंदु - महाशून्य*** अशी असली पाहिजेत. हे विश्लेषण मान्य करण्यासारखे आहे. पं. गोपीनाथ कविराज यांच्या मते अनेक बिंदुस्थाने आहेत. त्यातील काही निवडक स्थानांचा संकेत योगी करतात. जाणकार योगी ज्या स्थानांचा प्रामुख्याने असा निर्देश करतात, त्यांचे तसेच काही महत्त्व असले पाहिजे.

यावरून ***डॉ.बा.त्र्यं.शाळिग्राम*** यांनी ***श्रीज्ञानेश्वरांचा पंथराज*** या त्यांच्या ग्रंथात चर्चा करून उपस्थित केलेल्या ***ज्ञानेशोक्त*** गोल्हाटादी चक्रांबाबत आपले मत असे ठरते की ज्ञानेशांनी उपयोजिलेल्या गोल्हाटादी संज्ञांतील:

१) ***त्रिकूट*** हे आज्ञाचक्रस्थ स्थान आहे. यासच ***डोळा, नयन व तृतीय नेत्र*** अशा संज्ञा आहेत.

२) ***श्रीहाट*** हे ज्ञानेशपद्धतीत बिंदुचेच नामांतर आहे.

३) व्यापिकेचेच ज्ञानेशसंज्ञापद्धतीत ***गोल्हाट*** हे नाम आहे.

४) ***औटपीठ*** हे उन्मनीस्थान आहे.

५) या ज्ञानेशचक्रविचारातील ***भ्रमरगुंफा*** हे स्थान औटपीठावर म्हणजे उन्मनी ते ब्रह्मरंध्र ते परमशिव या प्रांतात आहे.

५) ***महाशून्य*** हे ब्रह्मरंध्रस्थ परमात्मस्थान आहे.

६) सहस्त्रार व ब्रह्मरंध्र यांचे पथ भिन्न नसून ब्रह्मरंध्र हे सहस्त्रारचक्रस्थित स्थान आहे. सहस्त्रारचक्राचे सहस्त्रदलकमल हे दुसरे नांव आहे. पं.गोपीनाथ म्हणतात त्याप्रमाणे चक्र हे जेव्हा शक्तीने वेधले जाते, तेव्हा त्यास ***पद्म वा कमल*** ही संज्ञा प्राप्त होते. त्याप्रमाणे ***सहस्त्रारचक्र व सहस्त्रदलकमल ही एकाच योगस्थानाची नांवे असल्याचा संकेत प्राप्त होतो.***

[***टीप:आज्ञाचक्रावरील प्रांत-तंत्रशास्त्रोक्त मत*** - मागे आज्ञाचक्रावरील प्रांताचासुद्धा आज्ञाचक्रातच अंतर्भाव करणाऱ्या मताचा निर्देश केला होता. त्याचप्रमाणे आज्ञाचक्रावरील प्रांताचा उल्लेख ***ब्रह्मांड, सत्यलोक*** इ.संज्ञांनी केला जातो. त्यांच्यातही सूक्ष्मतर भेद समजणारी मते आहेत. काही योगी आज्ञाचक्रावरील सर्व प्रांताचा उल्लेख ***ब्रह्मरंध्र, सहस्त्रारचक्र, सहस्त्रदलपद्म*** इ.प्रकारे करतात. श्रीगोरक्षांसारखे काही जण ***तालुचक्र, आकाशचक्र, ब्रह्मरंध्र वा निर्वाणचक्र*** अशी चक्रे पण या विभागात असल्याचे मानतात.

तांत्रिकमते आज्ञाचक्रापुढील क्रम असाही देतात: **"आज्ञा -➢मनश्चक्र -➢इंदुचक्र -➢कारणदेहाचे सात उपविभाग असलेला निरालंबपुरी *(बिंदु)* -➢*निबोधिका (निरोधिका)*-➢*नाद* -➢*नादांत* -➢*व्यापिका* -➢*समनी* -➢*उन्मनी-(ईश्वराचे स्थान)* -➢*शंखिनीविवर* -➢*सहस्रदलपद्म* -➢*हंस (जीवात्मा)* -➢*शुभ्र द्वादशारपद्म (त्यात अकठ त्रिकोण, त्यात अमृतसागर-मणिद्वीप* -➢*त्यात नाद व बिंदू आणि मणिपीठ* -➢*त्यात*–➢*कामकला त्रिकोण, त्रिकोणात गुरू वा परमशिव)* -➢ **परमशिवानंतर सूर्यमंडल व चंद्र** -➢ **त्यावर चंद्रमंडल *(त्यात षोडषी वा अमाकला आणि निर्वाणकला, पराबिंदु त्यात सर्वात्मा व ब्रह्मपद)* -➢चंद्रमंडलावर महावायू -➢ब्रह्मरंध्र -➢महाशंखिनीविवर -➢विसर्ग"** *(पृ.क्र.१४३,१४४, ४१९,४५३ - द सर्पन्ट पॉवर)*]

आपण जे हे विश्लेषण व विवेचन आतापावेतो केले आहे, त्याचा आधार घेत घेत ज्ञानेशांचे आणिक काही योगपर अभंग पाहू या.

शून्यब्रह्म

ज्ञानेश म्हणतात:

त्रिगुणाचें मूल सत्रावीचें सार।
उन्मनीचें बीज जाण रया।।१।।
शून्य ब्रह्म पूर्ण चक्षूचें आंतरीं।
निर्विकार निरंजन तेचि तैं गां।।२।।
सूर्यचंद्र दोनिं प्रकाशिलें साजिरें।
त्रिकूट संचरें अनाठसा।।३।।
ज्ञानदेव म्हणे निवृत्तिप्रसादें।
रहा रें निजबोधें निरंतर।।४।।अ.क्र.७४०।।

निर्विकार - निरंजन असे पूर्ण ब्रह्म ते महाशून्यच होय. तेथूनच त्रिगुणांचा विस्तार होतो. ***सत्रावीचे सार*** असे ते **शून्यब्रह्म**च होय. **उन्मनीचे बीज**ही ते हेच आहे. म्हणजे उन्मनीच्याही पलीकडे ते स्थान आहे. ***सूर्य - पिंगला व चंद्र - इडा*** या नाड्या पण त्या ब्रह्मातूनच प्रकटतात. किंवा असेही म्हणता येईल की ***सूर्यमंडल आणि चंद्रमंडल*** या ज्या संज्ञा आपण मगाशी पाहिल्यात, त्यांनी निर्देशिलेल्या अवस्थांचा तेथूनच उगम आहे. ***त्रिकूटातील चक्षूचे म्हणजे नयनाचे अंतरी हेच शून्य ब्रह्म ओतून भरलेले आहे,*** असा ज्ञानदेवांना निवृत्तिप्रसादाने बोध झाला आहे. त्या निजस्वरूपाच्या बोधात निरंतर राहण्याची त्यांची इच्छा हा अभंग प्रकट करतो.

अभंगांतून पंथराज

ज्या साधकांना हा बोध प्राप्त व्हावा अशी दुर्दम्य आकांक्षा आहे, त्यांच्या प्रबोधनार्थ ज्ञानेश पंथराजाचा आता ज्याद्वारे नर्दिश करणार आहेत, तो अभंग असा आहे:

मनें मुरडुनि करी राज रया।
प्रणवासिं सखयां साक्ष होई।।१।।
देहिं स्थानमान विवरण करीं आधीं।
पिंडिचिं हें शुद्धी प्रथम करीं।।२।।
औट हात देह ब्रह्मांड सगलें।
तयाचां निश्चित शोध करीं।।३।।
ज्ञानदेव म्हणें विवरण करीं वेगें।।
निवृत्तिच्या संगें साधिलें हेंचिं।।४।।अ.क्र.७४१।।

मनाचा लय करणे म्हणजे ***मन मुरविणे.*** मनाला मुरवून साक्षात्कार करून घ्या; देहांतर्यामीच्या चक्रादी संस्थेचे उद्बोधन करून पिंडाची शुद्धी करून घ्या. कुंडलिनीच्या साहाय्याने हे सगळे घडते. तरी या औट हात देहाचा नीट शोध घेऊन पिंडाचे पदाशी सामरस्य साधून घ्या. या देहातच ब्रह्मांड आहे. योगसाधनेने आत्म्याचा साक्षात्कार लवकरात लवकर करून घ्या, असे ज्ञानेश साधकांना उपदेशित आहेत. निवृत्तिनाथांच्या मार्गदर्शनाखाली त्यांनी पण असा साक्षात्कार करून घेतला होता, असे ज्ञानदेव या अभंगाद्वारे स्पष्ट करत आहेत.

शून्य निरशून्यापलीकडे

हा साक्षात्कार शून्यांचा प्रांत ओलांडून गेल्यावर घडतो आणि तेव्हाच त्रिपुटीचा भंग होतो, असेही ते यापुढील अभंगातून सांगत आहेत:

चहूं शून्याआरुतें महाशून्यापरुतें।
सर्वांसिं पहातें तें गां।।१।।
दिसे तेंहिं शून्य पाहातेंहीं शून्य।
देहामाझिं निरंतर भिन्न रूप।।२।।
शून्य निरशून्य दोनिं हारपलीं।
तेथूनि पाहिली निजवस्तू।।३।।
ध्येय ध्यान ध्याता निरसूनि तिनिं।
जाहालों निरंजनीं अति लीन।।४।।
ज्ञानदेव म्हणे अनुभवी तो जाणें।
गुरुमुखें खूण सांगियेलीं।।५।।अ.क्र.७४२।।

या अभंगातून महाशून्याचा प्रांत अधिक विस्तारून दाखविला आहे. ***चार शून्ये ही जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्या या अवस्थांची आणि स्थूल-सूक्ष्म -कारण व महाकारण या देहांची द्योतक अशी संधिस्थाने आहेत,*** असेही समजता येते. म्हणजे त्रिकूटस्थानी जागृतीनंतरचा स्वप्नावस्थेचा प्रांत सुरू होतो. तो श्रीहाट वा बिंदुस्थानापर्यंत असतो. त्रिकूटीपर्यंत स्थूल व नंतर श्रीहाट ***(बिंदु)*** येथपावेतो सूक्ष्म यांचा प्रांत समजावा लागतो. म्हणून स्थूल देहातून सूक्ष्मदेहात अवगाहन करण्याचे स्थानही त्रिकूटच मानावे लागेल.

त्याचप्रमाणे ***गोल्हाट*** हे ***सूक्ष्म***देहातून ***कारण***देहात संक्रमण करण्याचे स्थान व स्वप्नावस्थेतून सुषुप्तीत अवगाहन करण्याचे संधिस्थान कल्पिता येते. यानंतर ***औटपीठ*** हे कारणदेहातून ***महाकारण***देहात संक्रमण करण्याचे स्थान समजून त्याच स्थानी सुषुप्तीतून तुर्या असे अवस्थांतर होणे संभवते.

उन्मनी हेच औटपीठ होय. तुर्येचा प्रांत औटपीठापासून सहस्त्रारापर्यंत असून महाकारण देहाची व्याप्ती तेथे संपते असाही एक तर्क संभवतो. पण महाकारण देहाची व्याप्ती इतकीच असल्याचे

सैद्धांतिक दृष्ट्या मानता येत नसल्याने *Limit tends to Infinity* या गणिती न्यायाने महाकारणाची प्रांतभूमी असीम असली पाहिजे असा निष्कर्ष काढावा लागतो.

म्हणून ***महाशून्यस्थान, ब्रह्मरंध्र, महाबिंदू, पराबिंदु, परमशिव*** इ.संज्ञांनी निर्देशिलेली सर्व स्थाने या महाकारणाच्या मर्यादेतच येतात, असे अनुमान करणे प्राप्त होते. हे लक्षात घेतले तरच ज्ञानेशांच्या याविषयीच्या अभंगांचा अर्थ लावता येतो.

महाशून्याचे रहस्य

ही पार्श्वभूमी लक्षात घेता आली तरच आपणांस ज्ञानेशांचा हा अभंग त्यातील यौगिक रहस्य कळून घेण्यासाठी उलगडता येईल. ते काय म्हणतात, ते आता पाहू या.

शून्य शोधिलें नाहीं जेणें। काय विवरण केलें तेणें।
अज्ञानपणें फुगणें। गाढव जिणें पशूचें।।१।।
वर्णाकृती शून्याचार। हा नाहीं ज्या विचार।
न घडें न घडें साक्षात्कार। जाण सर्वथा तयां नरां।।२।।
आधीं शून्याचिं शोधणी केलीं। मग सद्वस्तू प्राप्त जाहालीं।
अमृतवेलाचिं बोलीं। बोलतां नये।।३।।
आधीं शून्य तैं श्वेतवर्ण। मध्ये पीत रचिलें जाण।
अर्धशून्य तैं ताम्रवर्ण। प्रत्यक्ष जाण दिसतसें।।४।।
महाशून्याचां वर्ण निला। अव्यक्त तेजाचां ओतिला गोला।
ग्रासूनि ठेला भूगोलां। योगी डोलां पाहती।।५।।
ऐसें शून्याचें नाहीं ज्ञान। तंववरी अवघेंचि अज्ञान।
जनीं अवघा जनार्दन। अज्ञान सज्ञान काय बोलूं।।६।।
ब्रह्मज्ञानाचिं किल्ली। सांघितलीं एकेंचि बोलीं।
निवृत्तिराजें बोलविलीं बोली।
तैंचि बोलीं बोललों।।७।।अ.क्र.७४३।।

चारही शून्यांच्या आतील अवस्था आणि महाशून्यापलीकडेही ज्याची व्याप्ती असते, त्या तत्त्वाचाच साक्षात्कार घडावा लागतो. चारही देह हे त्याच तत्त्वाचे आहेत आणि त्यात वसणारा आत्माही त्याच तत्त्वाचा आहे. परंतु असे असूनही आत्मा देहाहून वेगळा आहे, या तत्त्वज्ञानाचा बोध ठसल्याशिवाय हा आत्मसाक्षात्कार होत नाही. महाशून्याच्या अंतिम स्थितीला ***(Val} at Infinity)*** ज्ञानेश ***निरशून्य*** ही संज्ञा देतात.

चारही शून्ये व हे निरशून्य यांचा निरास करून जेव्हा साधक त्याहीपुढे जातो, तेव्हा त्याला ***निजवस्तू*** म्हणजे परमतत्त्वाचा लाभ होतो. त्याठायी ***ध्येय - ध्याता– ध्यान, ज्ञेय - ज्ञाता - ज्ञान, दृश्य - द्रष्टा - दर्शन*** या सर्व त्रिपुटींचा अस्त होतो. साधक निरंजनाशी आत्मरूप होतो. निरंजनी अशा प्रकारे जो साधक लीन होतो, त्याच्यासाठी हा विश्वाभास कायमचा मावळतो.

ज्ञानदेवांना हे योगरहस्य त्यांच्या सद्गुरू श्रीनिवृत्तिनाथांकडून प्राप्त झालेले आहे आणि ज्या महाभागांस हे रहस्य अनुभवास आले असेल, त्यांना ज्ञानदेव काय म्हणताहेत ते कळेल, असेही त्यांचे बोल आहेत.

हा निरशून्याचा अवधि आक्रमावा असे ज्ञानेश सर्व साधकांना वरील अभंगात आवर्जून सागतात, ते त्यांनी ***तुर्यातीत अवस्था - निरशून्याच्याही पलीकडील स्थिती*** प्राप्त करून घ्यावी या कळकळीने!! त्यांच्या सांगण्यावरून असे दिसून येते की ज्याने या शून्यत्वाची अनुभूती घेतलेली नाही, त्याचे जीणें व्यर्थ आहे. ***हे सर्व विश्व शून्याठायीच वसते,*** हे ज्यास आकळत नाही, त्या साधकास कदापिही साक्षात्कार घडणार नाही.

ज्याने शून्य अनुभवले, त्याला सद्वस्तूची प्राप्ती हमखास झालेली असते. **प्रथम शून्य** शुभ्रवर्णाचे असते. त्यात श्वेतज्योतीचे दर्शन होते. ***अर्धशून्य*** म्हणजे महाशून्याअलीकडील व प्रथमशून्यानंतरची प्रांतभूमी. ही ताम्रपीतवर्णाची दृग्गोचर होते. ***महाशून्य नील वर्णाचे असते.*** अव्यक्त तेजाचा मूर्त गोल असा तो नीलवर्ण बिंदू अथांग विश्व व्यापून उरतो, अशी योगिजनांची साक्षात अनुभूती आहे. शून्याची अनुभूती मिळवणे ही ब्रह्मज्ञानप्राप्तीची जणू किल्लीच आहे, असे ज्ञानेश म्हणतात.

योगानुभूती::::

अव्यक्त ते व्यक्त

अशा या शून्याच्या अनुभूतीचे टप्पे ते पुढील अभंगाद्वारे व्यक्तवत आहेत. तो अभंग असा आहे:

अव्यक्त मसुराकार पूर्वार्ध संचलें।
लक्षा परिसें जाहालें लक्षासिं पैं।।१।।
अव्यक्त देखणें देखण्या व्यक्त।
पाहतां व्यक्त अव्यक्त दोनिं नाहीं।।२।।
जागृतिचां ठाईं निजतो सहस्त्रदलीं।
बिंदूचां समेलीं उच्चार होतो।।३।।
ज्ञानदेव शरण निवृत्तिचां चरणां।
समजूनि खूणा तटस्थ जाहालों।।४।।अ.क्र.७४४।।

अर्जुनाने उपस्थित केलेल्या पूर्वापरच्या ***व्यक्त-अव्यक्तस्वरूप***ाच्या चर्चेवर येथे जो प्रकाश पडतो, तो वेगळाच आहे. हे व्यक्त रूप योगिजन कसे अनुभवतात, ते ज्ञानेश सांगतात. पण त्याला अव्यक्ताची जोड देऊनच!

अव्यक्तच व्यक्तरूपात मसुराकार प्रकाशबिंदुरूपे योग्यांना प्रथम दिसते. त्या वेळी योगी ***आज्ञाचक्राच्या ओवरीत*** उभा असतो. **बिंदू वा द्वितीय शून्य**स्थानी जी ज्योत योगी पाहतात, तिच्यात त्यांच्या ध्यानी जे जे सगुण रूप ठसलेले असेल, त्या त्या रूपाचे दर्शन होते. ते अव्यक्तच असे लक्ष्यरूप होते म्हणा ना! ***अव्यक्ताचे ध्यान करू जावे, तर ते स्वत:च असे सगुणरूप घेते.*** पण ***खरे तर त्याठायी व्यक्तही नसते आणि अव्यक्तही नसते.*** कारण **परब्रह्मस्वरूप खरे तर *व्यक्ताव्यक्तविलक्षण* आहे.** असो.

हे बिंदुस्थानातील सगुणरूपदर्शनही नंतर पुढे जावे तसे लय पावते आणि पुढे योग्याचे जसे नादस्थानी उन्नयन घडून येते, तशी ***या सगुणरूपाची अनाहतनादात परिणती होते.*** हा **अनाहतनादच त्याला पुढे महाशून्यस्थानापावेतो साथ देतो. *उन्मनी*ठायी जेव्हा तो योगी पोहोचतो, तेव्हा *तुर्या अवस्थेतून तुर्यातीतावस्थेत संक्रमण* सुरू होते. हीच खरी *यौगिक जागृतावस्थेची सुरुवात* होय आणि ती जेव्हा प्राप्त होते, तेव्हा *योगी सहस्रदलकमली सुखाची महापर्वणी प्राप्त करून देणाऱ्या योगनिद्रेत मग्न होतो.***

सतरावी कला

संपूर्ण विश्वाचा तेव्हा लोप होतो, अशी ही महानिद्रा असते. ना तेथे नाद - ना बिंदु, ना कला - ना ज्योती! अशा या अवस्थेच्या खुणा ज्ञानेशांना निवृत्तिनाथांच्या कृपेने जेव्हा उपभोगावयास मिळाल्या, तेव्हा ते ब्रह्मानंदाने अवाक झाले! त्या अवस्थेत ***सत्रावी कला*** साक्षात त्यांच्या अंतरी प्रकटली. त्या सत्राव्या कलेला अनुलक्षून ज्ञानदेव म्हणताहेत:

सत्रावीचां खेल लक्षवेना कवणा।
ब्रह्मादिकां जाणा अगम्य तैं।।१।।
रात्रंदिवस मन चपलत्वें धंवतें।
तेंहिं सत्राविते न पवे चि।।२।।
सत्रावी अगम्य विधिहरिहरां।
लक्षूं पाहतां बरा गोविंदु गे।।३।।
ज्ञानदेव दर्शन सत्रावीचें घेतां।
उन्मनी ठंसविं निवृत्तिदासां।।४।।अ.क्र.७४५।।

उन्मनीचे अमृत जिच्यातून स्रवते, ती सत्रावी कला वश करून घेणे ब्रह्मादी देवांना पण अशक्य आहे. अतिचंचल असे मन हवे तेव्हा हवे तेथे धाव घेते. पण त्यासही ***सत्रावी कला*** आकळून घेणे अवघड आहे. ते तिच्यापर्यंत स्वप्नांतरीही पोहोचू शकत नाही. ब्रह्मा, विष्णू आणि महेशासही जिचा अंतपार लागला नाही, अशी ती ***सत्रावी जीवनकला*** - ती ***कलातीत आणि दिक्कालातीत कला*** - ज्ञानदेवांना मात्र परमात्म्याचे ध्यान करत असतांना निवृत्तिनाथांच्या कृपाप्रसादाने अवचित प्राप्त झाली आणि ***अखंड उन्मनी स्थिती*** उपभोगण्यास मिळाली.

या ठिकाणी एक उल्लेख केला पाहिजे. उन्मनीच्याही पलीकडे अवस्था आहेत. ***तुर्यातीत*** **असे जिला म्हणतात, त्या तशा अवस्थेतही अनेक अवस्थांचा समावेश असतो. पण त्या सर्वांना तुर्यातीत किंवा बहुतेकदा निव्वळ *तुर्यावस्था अथवा उन्मनी* असेही म्हणण्याचा योगिजनांचा प्रघात आहे. *आज्ञाचक्र, अर्धमात्रेचा प्रांत*** या संज्ञांबाबत आपण जसा सर्वसमावेशक आणि *non-specific* निर्देशांचा प्रघात पाहिला, तसेच काहीसे या उन्मनीबाबतही म्हटले पाहिजे. वैज्ञानिक संज्ञांच्या काटेकोरपणाच्या दृष्टीने हे प्रघात जरी कसोटीला उतरणारे नसले, तरी तसे प्रघात रूढ आहेत, हे मात्र खरे आणि योगाभ्यासकास व जिज्ञासूस ते प्रघात जाणून घेतल्याशिवाय अशा योगपर रचनांचा खरा अर्थ आकळता येणे दुर्धरच आहे. श्रीज्ञानदेवांच्या त्रिकूट-गोल्हाटादी संज्ञा आणि त्यांनी निर्देशिलेली शून्ये, महाशून्य, निरशून्य यांचाही असाच प्रकार आहे. असो.

आकाशगुंफा

१) ***आकाशाचि गुंफा*** **अंत नाही जिचा।**
शोध करा तिचा सर्वभावें।।१।।
अनंत ब्रह्मांडांचा खेल जिच्या योगें चालें।
चांग्यासिं मीनलें तयां ठायां।।२।।
गुंफेच्या आधारें चंद्रसूर्य चालती **।**
विश्रांतीसिं येति तयें जवलीं।।३।।
ज्ञानदेव नयन धरितां समभावें।
सोऽहंस्वरूप भावें लाधलेसें।।४।।अ.क्र.७४६।।

२) ***षट्चक्रें बंद निघोनिआं गेलीं*** **।**
पाहों जो लागलीं तेयां गांवां।।१।।
निरंजन सभराभरीत वस्तू कोंदिलीं।
साक्षित्वासिं आलीं आत्मदशा।।२।।
वृत्ति झेंपावलीं आनंद जाहाला सैरां।
सत्रावी येरझारा करी जेथें **।।३।।**
ज्ञानदेव म्हणें लक्ष लावि आकाशिं।
ब्रह्म पावसिं लौकरीं तूं।।४।।अ.क्र.७४७।।

आकाशाच्या गुंफेत अनंत ब्रह्मांडांचा खेळ चालतो. त्या गुंफेच्या आधारानेच जीवनयात्रा चालते. अंतकाळी प्राणज्योत त्या गुंफेतच मावळते. **प्राणापानांचे सामरस्य करून, इडापिंगला एकवटून, कुंडलिनीशक्तिद्वारे आज्ञाचक्राचे भेदन करून त्या गगनगुंफेत प्रवेश केला की अनायासेच *सोहंऽभाव* प्राप्त होतो.**

"सोऽहं तेहिं अस्तावलें" अशी जी निर्वाणदशा असते, ती जेव्हा प्राप्त होते, तेव्हा मूलाधारादी षटचक्रांचे साधे अस्तित्वही उरत नाही. त्याठायी निरंजन रसभरित अशी निखळ आत्मवस्तूच कोंदून भरलेली असते. त्या निरंजनास सर्वदूर साधक जेव्हा असा ***सोऽहं***च्या अतीत असणाऱ्या साक्षीभावाने ओळखू लागतो, तेव्हा आत्मा व परमात्मा असा भेद उरत नाही. ***जीव व शिव*** हे द्वैत उरत नाही. आनंदाचे तारू मोकाट सुटते. ***सत्रावीच्या शीवेवर पोहोचले की साधकास उन्मनीचे तारुण्य उपभोगण्यास मिळते.*** यासाठी ज्ञानदेव म्हणताहेत की योगधारणेने आकाशाच्या गुंफेत मन मुरवा. त्यायोगे त्वरित ब्रह्मप्राप्ती होईल.

या ठिकाणी एक मुद्दा विचारार्ह आहे. तो म्हणजे ही जी ***आकाशाची गुंफा*** आहे, तीच ***भ्रमरगुंफा*** म्हणून जिला म्हणतात, तिलाच उद्देशून म्हटले असावे. कारण ***भ्रमरगुंफेपासून सद्वस्तूचे राज्य सुरू होते.*** यौगिक संज्ञांच्या व्याप्तीबाबत आपणास जे काही समजले आहे, त्यानुसार ***आज्ञाचक्र, सहस्रदलकमल, गोल्हाट, कोल्हाट, त्रिकूटी,***

भ्रमरगुंफा, ब्रह्मरंध, शून्य, महाशून्य, तुर्या, तुर्यातीतावस्था, महाकारणदेह, नयन, नेत्र, डोळा, ॐकार, प्रणव, अक्षर, विविध नावांनी ओळखल्या जाणाऱ्या चिदाकाश, गगन, गगनमंडल, महदाकाश, इ.आकाशनामक अशा बऱ्याच संज्ञा विशिष्ट स्थाननिर्देशपर *(specifically, exclusively)*, तसेच अतिव्याप्त स्थाननिर्देशपर *(non-specifically, all-inclusively, broadly)* अशा दोन्ही प्रकारे योगिजनांकडून उपयोजिल्या जातात.

चक्रसंख्या व पश्चिममार्गविषयक काही वादांचा समारोप

चक्रे सहा कीं नऊ किंवा याहून कमीजास्त असा वाद करणाऱ्यांना अधिक खाद्य मिळेल असा एक अभंग ज्ञानदेवांनी रचला आहे. तो पहा:

नयनाचें शेजारीं दशवें द्वार बापा।
एक मार्ग सोपा बोलतसें।।१।।
आधारीं पवन अपान१ विराजें।
अंगुलें चार साजें तेयां ठाईं।।२।।
मणिपूर चक्र नाभिस्थान२ कमल।
सहा अंगुलांचा खेल असे तेथ।।३।।
वायुचक्र अनुहात हृदय३ असे एक।
प्राणासिं नि:शंक जेथ नेईं।।४।।
अग्निचक्र भ्रुवांग४ शोभतें प्रकाशत्व।
प्राणासिं उलथावें तेयांवरीं।।५।।
सहस्रदलीं ब्रह्मरंध्र५ शोभतसें निलें।
प्रकाशाचें उमालें जेथ असति।।६।।
ज्ञानदेव म्हणें ऐका प्राणायाम।
या अभंगीं नि:स्सीम अर्थ जाहाला।।७।।अ.क्र.७४८।।

"आज्ञाचक्रावर ***दशम द्वार*** आहे. तेथे पोहोचण्याचा सोपा मार्ग सांगत आहे. आधारी प्राण आणि अपान वसतात. चार अंगुळे जागेत हे खेळत असतात. त्यांना त्यावर सहा अंगुळे स्थानी **नाभिस्थानी *मणिपूर* चक्र म्हणून जे *कमळ* असते**, तेथे घेऊन जावे. नंतर ***अनुहात*** म्हणून जे वायुचक्र ***हृदय***स्थानी असते, तेथे प्राणांना घेऊन जावे. त्याच्यावर ***भ्रुकुटीस्थ अग्नीचक्र*** प्रकाशाने चकाकत असते. त्या चक्राच्याहीवर प्राणांना उलथावे."

त्याठायी जो ***नयन (म्हणजे डोळा अथवा बिंदू)*** आहे, त्यातून वर प्राण घेऊन जावेत ते थेट ***सहस्रदलकमळी*** **निळ्या प्रकाशाचे उमाळे ज्यापासून फुटतात, त्या *ब्रह्मरंध्रात (म्हणजे दशमद्वारी)* प्राण नेऊन पोहोचवावे.** ज्ञानदेव म्हणतात की "मी ही जी ***प्राणायामाची प्रक्रिया*** तुम्हाला सांगितली आहे, ती नीट ध्यानी घ्या. कारण माझ्या या अभंगात पराकोटीचा अर्थ भरलेला आहे."

या अभंगातून चक्रे किती (१ते५)हा वाद घालणाऱ्यांचे समाधान होवो न होवो, आपल्याला मात्र ***पंथराज*सोपान** पुन: एकदा गंवसतो तो असा ज्ञानेशांच्या उघड्या बोलांतून! आणि त्याचबरोबर **श्री.बाबामहाराज आर्वीकर, पं.गोपीनाथ कविराजादी महाभागांचे *"सहस्रदळाचा मार्ग व ब्रह्मरंध्राचा मार्ग निरनिराळे असतात,"* असे मतही हा अभंग समजून घेतला की आपसुकच गळून पडते.** कारण या अभंगात ***सहस्रदलकमलात ब्रह्मरंध्र असून*** तेथे जाण्याचा मार्ग या गोष्टी स्पष्टपणे आपणास ज्ञानेशांच्या मुखातून ऐकण्यास मिळतात.

तसेच ***दशमद्वार*** कोणते याबाबत काही अभंगांतून व इतर यौगिक साहित्यातून विवादास्पद माहिती असली तरी येथे ***ज्ञानदेव ब्रह्मरंध्रासच दशमद्वार म्हणतांना दिसतात.*** ही गोष्ट पण बोधास्पद आहे आणि योग्यांतील सर्वमान्य मतास अनुसरूनच आहे. असो.

योगविषयक अधिकृत माहिती

योगविषयक अशी जी अधिकृत माहिती ज्ञानेशांच्या वाङ्मयीन कृतीतून आपणास मिळते,ती पाहिली की आपले मन:पूत समाधान जे होते, त्यातून जो अवर्णनीय आनंद प्राप्त होतो, त्यास तोडच नाही!! असो. **साधनामार्ग हा खरे तर योगमार्गच व आणि तो असा ज्ञानेशांनी उकलून दाखविलेला *पंथराज* आहे, हे तर आता निर्विवाद दिसून येत आहे.** त्याबाबत ज्ञानेशांचे असीम ऋण मनी वागवत असतांनाच साधकांची इतरेजनांकडून कदापिही दिशाभूल होऊ नये या हेतूने त्यांचे एकंदरीत सगळेच योगपर अभंग असे नीट समजावून घेण्याजोगेच ठरतात.

हे सगळे अभंगच मुळात शंभराहून अधिक आहेत. त्यांचा असा यथोचित मागोवा घेणे हे एक अत्यंत प्रदीर्घ कार्य आहे. परंतु साधकाने साधनेचा आळस करू नये आणि योगासाठी तर दीर्घोद्योगाची अपेक्षाच असते. तेव्हा या सर्वच अभंगांचा अर्थ ध्यानात ठसवून घेण्याचा आपला हा उपक्रम पुढे चालू ठेवणे अत्यावश्यक आहे. तरी तसेच करू या. या उपक्रमासाठी लागणारी चिकाटी, सातत्य आणि निष्ठा प्राप्त व्हावी म्हणून ज्ञानेशांना वंदित - त्यांना विनवत - आपले हे पंथक्रमण अग्रेसर करण्यासाठी दक्ष होऊ या!!!

उन्मनी व तुर्या::::

सतराविये़चें स्तन्य

योगानुसंधानाचे परिणत फल अशी ***सत्रावी कला*** ज्ञानराजांचे चित्त वेधून अवतरली हे आपण त्यांच्या *अ.क्र.७४५* मध्ये अनुभवले आहे.***सत्रावी कला*** म्हणजे काय हे जाणून घेण्यासाठी थोडे योगविज्ञान माहीत करून घ्यावे लागते.

कला ही संज्ञा योगी मनाच्या अंशाला देतात. या संज्ञेचे इतरही अनेक अर्थ योगी करतात. पंथराजसाधनेत मनाचा जसजसा लय होत जातो, तसतसा जाणिवेचाही लोप होत जातो. ही जाणिवही दोन प्रकारची असते. पहिली सर्वसामान्यपणे आपल्या प्रत्ययास येणारी ***सर्वसामान्य जाणीव व दुसरी अतींद्रिय जाणीव.***

ही बाह्य व अतींद्रिय जाणीव धरून असणारी संपूर्ण जाणीव साडेतीन मात्रांची धरावी लागते. मनोलयाच्या प्रमाणास *मात्रा* या संज्ञेने ओळखले जाते. *साडेतीन मात्रा हे पूर्ण मनाचे द्योतक आहे.* मनाची जागृत अवस्था, स्वप्नावस्था व सुषुप्त्यावस्था या

तीन मात्रा आणि तुर्यावस्थेची अर्धमात्रा अशा या साडेतीन मात्रा असतात.

साडेतीन मात्रांत पूर्ण जाणीव अभिप्रेत आहे. मनाच्या तीन मात्रा ***अ, उ*** व ***म*** या संज्ञांनी ओळखल्या जातात. यांच्या लोपाबरोबर सर्वसामान्य जाणिवेचा लय होतो व मनाचा आज्ञाचक्रातून वर प्रवेश होतो. तेव्हा हे अर्धमात्रेच्या प्रमाणात उरलेले मन त्यापुढच्या लयक्रमाने नेणे हा पुढचा मार्ग होय. ***बिंदू* हे अर्धमात्रेचे द्योतक असे स्थान आहे. यात मनाची अतींद्रिय जाणीव पूर्ण असते.**

अतींद्रिय जाणीव ही पंधरा कलांएवढ्या प्रमाणाची समजतात. **बिंदूत मनाच्या *पंधरा कला* प्रतिभासित होतात.** उत्तरोत्तर म्हणजे ***अर्धेंदु-रोधिनी*** - इ.पुढील स्थानांतही या कला विराजमान असतात. परंतु त्यांची मात्रा उत्तरोत्तर कमीकमी होत जाते. त्या कला क्षीण होत जातात त्या या अशा मात्राप्रमाणात - ***बिंदू-१/२ मात्रा, अर्धेंदु-१/४ मात्रा, रोधिनी वा निरोधिका - १/८ मात्रा, नाद - १/१६मात्रा, नादांत - १/३२ मात्रा, शक्ती - १/६४ मात्रा, व्यापिनी - १/१२८ मात्रा, समना - १/२५६ मात्रा, उन्मना - १/५१२ मात्रा,*** असे या मनोलयाने उरणाऱ्या मनाचे प्रमाण असते.

मनोलय जसजसा होत जातो, तसतशी ही मनाची मात्रा *१/२, १/४, १/८ ....१/२५६, ...*अशी फक्त उरते. ***कला मात्र जशाच्या तशाच म्हणजे पंधराच्या पंधराच बिंदू ते उन्मनी या प्रांतात वसतात.*** परंतु मनाचा ***१/५१२*** एवढाच अंश उन्मनीत असल्याने त्या कलांचा उपभोग घेण्याची मनाची शक्ती अत्यल्प असते. तसेच हा सर्व अर्धमात्रेचा प्रांत अतींद्रिय जाणिवा व संवेदना यांचा असल्याने मन तुर्यावस्थेत असते. त्यामुळे खरे तर या पंधरा कला उन्मनीत असूनही नसल्यासारख्याच असतात. असो.

उन्मनीत अजूनही एक गुप्त कला असते. ती म्हणजे परमात्मतत्त्वात विराजणाऱ्या अमृतकलेचा आनंद अल्प प्रमाणात देणारी ***सोळावी कला.*** उन्मनीतून साधक जेव्हा तुर्यातीत अवस्थेत प्रवेशतो, तेव्हा त्यास साक्षात अमृतकलेची प्राप्ती होते. हिलाच ***सतरावी कला*** असे म्हणून ज्ञानेश गौरवितात. काही योगमार्गीय उन्मनीत सोळावी कला असल्याचे मानत नाहीत. अर्थात त्यांच्या मते ***अमृतकला* हीच सोळावी कला असते. हिलाच *अमाकला* असेही म्हणतात.** हा भाग पण योगमार्गीय संज्ञांचा कधीतरी केल्या जाणाऱ्या सरधोपट वापराचा निदर्शक मानावा लागतो. **प्रायोगिक व खरे तर तात्त्विक दृष्ट्याही योगानुभूतीत *सतराव्या कलेस सोळावी कला म्हणणे* या प्रकाराने कोणतीही भिन्नता संभवत नाही.** असो.

*[**टीप:नाद, बिंदू, कला व ज्योति** -* आता केलेले विवेचन कलेच्या एका विशिष्ट अर्थास धरून केलेले आहे. पण ***कला*** ही संज्ञा योगमार्गियात वेगवेगळ्या अर्थांनी वापरली जाते. उदा. **प्रत्येक चक्रात तंत्रशास्त्रीय दृष्ट्या तीन अंश असतात. *मातृका, नाद आणि बिंदू.*** मातृकांच्या व्यावहारिक रूपास ***कला*** असे संबोधिले जाते *(पं. गोपीनाथ कविराज: शक्तीका जागरण और कुंडलिनी - पृ.क्र.१९४).* **याच *नाद-बिंदु-कला* यांच्या येथील कविराजांच्या अर्थाप्रमाणे ज्ञानदेवांनी *"नेणें नाद बिंदु कला ज्योति"* असे म्हटलेले आहे. *ज्योती*चा अर्थ जीवात्म्याचा त्या त्या चक्रातील आविर्भूत अंश** असे समजावे लागते.

अर्थातच प्रत्येक चक्रात जीवात्मा वा चैतन्य आणि त्याची शक्ती अथवा कुंडलिनी यांचे अंश असतात आणि त्यांच्यायोगेच त्या त्या चक्राचे कार्य संपन्न होत असते. ज्या वेळी त्या चक्राचा जय होतो, त्या वेळी या सर्व चक्रगत अंशांचा लय होतो, असा लयक्रम आहे. सरतेशेवटी ही सर्व मिळवणी उरते ती अर्धमात्रेच्या प्रांतातील***नाद, बिंदू व कला*** विभागांच्या रूपाने. ***ज्योतीतत्त्वही मग प्रतीत होते ते परमज्योतीच्या रूपाने!*** असा हा लययोगाचा भाग शास्त्रीय व आनुभविक प्रमाणांच्या आधाराने जिज्ञासू व योगसाधकांच्या माहितीसाठी देत आहे. असो.]

याप्रमाणे विचार केला असता ***पंधरा कला या मनाच्या असतात. सत्रावी कला ही चैतन्याची आहे, तर सोळावी कला ही मन व चैतन्य यांच्या संधीवरची आहे.*** मागे आपण ब्रह्मांडाचा वंशवृक्ष पाहिला *(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ पृ.क्र.७४७).* तेव्हा ***मनाचे चैतन्य आणि विश्व यांच्याशी असलेले संबंध*** लक्षात घेतले होते. तसेच मनोलयाच्या प्रक्रियेचे त्या अनुषंगाने काही विश्लेषणही केले होते.

मनाच्या विश्वचैतन्याशी असणाऱ्या विवक्षित अनुबंधांचे प्रतिबिंबच असे या सतरा कलांच्या उपरोक्त विवेचनात पडलेले जिज्ञासूंना प्रतिभासित न झाले तरच नवल! असो. सत्राव्या कलेबाबतच्या एवढ्या आनुषंगिक विचारानंतर त्या अमृतकलेतून जी पसायधारा स्रवते, ती ज्ञानेशांच्या मुखातील अमृतबोलांसमवेत सेवू या!

औटपीठ

औटपीठ डोंगरीं गाय एक वसें।
क्षीर सेवितुसे निजयोगी।।१।।
धालें पूर्वपदीं समान लक्षिति।
क्षुधा चाड चित्तीं नाहीं।।२।।
भ्रुवांतरीं लक्ष लाऊनि बैसा ध्यानीं।
ऐक्यासिं उन्मनी होऊनि राहा।।३।।
ज्ञानदेव नमितो आदि देविप्रति।
नेत्रीं पाहें ज्योति शुद्धरूप।।४।।अ.क्र.७४९।।

औटपीठ हे ज्ञानेशपद्धतीत बसणारे ***चौथे शून्य*** असून तेथील अवस्था ***उन्मनी*** आहे. सर्वसामान्य यौगिक संज्ञांद्वारे दर्शवलेले ***उन्मना*** हे स्थान म्हणजेच ज्ञानेशांचे ***औटपीठ*** होय. यानंतर ***महाशून्य*** वा पाचव्या शून्याचा प्रांत लागतो इ.भाग आपण पूर्वीच पाहिला आहे. ज्ञानेश म्हणतात ती गाय म्हणजे ***सत्रावी कला* याच औटपीठाच्या डोंगरावर म्हणजे *महाशून्यस्थानी* वसत असते.** तिचे अमृतोपम पायस सेवन करून योगी संतुष्ट होतात.

***सतराविये चे स्तन्य* असे या सत्राव्या कलेतून प्राप्त होणाऱ्या अमृतधारेस ज्ञानेशांनी बाराव्या अध्यायी संबोधले आहे.** या क्षीरसेवनामुळे तृप्त झालेल्या योग्यांना विश्वाकडे पाहण्याची समबुद्धी सदाकरता प्राप्त होते. इच्छा - वासना यांची चाड त्यांच्या मनात उरत नाही.

ज्ञानेश म्हणताहेत की **"भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्रा**वर चित्त केंद्रित करून ***योगाभ्यासाच्या बळावर ही सत्रावी कला प्राप्त करून***

देणाऱ्या उन्मनीमध्ये प्रवेश करा आणि विश्व-परमात्म्याचे अद्वैत दाखवणारी समबुद्धी प्राप्त करून घ्या. **नीलबिंदूत *शुद्ध ज्योतिरूपाने प्रतीत होणाऱ्या त्या आदिमाया परमेश्वरी अशा सत्राव्या कलेस* ज्ञानेशांचे नमन असो!"**

आदिमाया

शिव आणि शक्ती किंवा शिवा यांचे जे समावेशन ज्ञानदेव अमृतानुभवात करतात, त्यातील शक्ती वा शिवा योग्यांना अशा या ***आदिमाया***रूपात आपला साक्षात्कार करून देते. ही ज्योती म्हणजे वस्तुत: परब्रह्मच! पण सगुण रूपातले! म्हणून ते आदिमायेच्या स्वरूपाचे आहे, असे ज्ञानदेवांचे सांगणे दिसते. या आदिमायेमुळेच ***सगुण व निर्गुण*** ही लक्षणे ब्रह्मात उद्भवतात, हे ज्ञानदेवांच्या पुढल्या अभंगातून आकळून येते:

सोऽहंकारी माया लक्षा आणि देहिं।
निरंजनीं पाहीं मायाकार।।१।।
निर्गुण सगुण माया तैंचिं खरी।
प्रसऊनि निर्धारीं वांझ असें।।२।।
ज्ञानदेव म्हणें मज माया कृपालु जाहालीं।
तिणें उजललीं माझिं काया।।४।।अ.क्र.७५०।।

सोहंऽध्यान करणे म्हणजे मायेचे ध्यान करणे. देहापासून ब्रह्मापर्यंत मायाच आहे. हीच आदिमाया या सर्व विश्वाचे आदिकारण आहे आणि ती म्हणजे ब्रह्माहून कोणी वेगळी नव्हे! तिचे ध्यान ***"सोऽहं, सोऽहं"***असे करून हे सगळे ब्रह्मच आहे, अशी अनुभूती घ्यावी. सगुण आणि निर्गुण हे निरंजनाचे ब्रह्मभाव मायेनेच संभवतात.

हा देह जिने निर्मिला, हा अहंकार जिचा स्वर आहे, अशी ती माया सर्व विश्वाएवढ्या या बालकास प्रसवूनही वांझच आहे. कारण ***"अगां जे जालेंचि नाहीं"*** असे हे विश्व आहे. विश्व हा तर केवळ आभास आहे; असत् आहे.

"असा हा जगाचा खेळ रचणारी ती आदिमाया माझ्यावर प्रसन्न झाली आणि माझा देहात्मभाव तिने नाहीसा केला आहे. अशा या मायेचा चमत्कार नीट लक्षून पाहा म्हणजे परमसौख्य पावाल" असे ज्ञानेश म्हणताहेत.

प्रतिप्रसवक्रम व मन उफराटे करणे

भगवंतांनी म्हटले आहे की ***"मम माया दुरत्यया".*** संतांचे पण ज्ञानेशांसारखेच सांगणे आहे की मायेतून सुटायला मायेचीच अनुकूलता लागते. ते का त्यासाठी पुढील अभंग पाहू या.

आकाशीं मला लाविला बा एक।
वांझेचें बालक शिंपितसें।।१।।
अग्निकुंड मनें बालकें निर्मिलें।
प्रत्ययासिं देखिलें मी यालागिं।।२।।
ज्ञानदेव म्हणें उफराटें पाहतां।
सर्व सौख्यदाता निवृत्ति एक।।३।।अ.क्र.७५१।।

आकाशात मळा लावलेला आहे आणि वांझ स्त्रीचे मूल तो मळा शिंपित आहे. जेव्हा ***अग्निकुंड म्हणजे कुंडलिनी वा आदिवासनाकोष*** या मायेच्या बालकाकडून निर्मिला जातो, तेव्हा या उक्तीचा प्रत्यय आपणास येतो !! ज्ञानेश म्हणतात की "यातील सत्य मला तेव्हाच उमगले जेव्हा सर्वसौख्यदायक अशा श्रीनिवृत्तिनाथांच्या कृपेने **मी मनास मुरडून उफराटे पाहू लागलो!"**

मनाला मरडून उफराटे पाहणे* म्हणजेच *कुंडलिनीयोग वा पंथराज! यातील प्रतिप्रसवक्रमास अनुलक्षून ज्ञानेशांच्या या उक्तीकडे पाहिले की आपणास थोडक्या शब्दात योगसाधनेचे रहस्य या अभंगातून स्पष्ट होते, हे सूज्ञांस सांगायलाच हवे का!

उन्मनीचा घाट

उफराटे पाहण्याच्या या मार्गावर उन्मनीचा घाट आहे, तुर्येची प्रभा आहे, हे ज्ञानेशांच्याच शब्दात ऐका.

१) **पाहा त्रिभुवनीं न दिसें बाईयें।**
नयनांजनीं पाहें आत्मरूप।।१।।
मन बुद्धि चित्त अंत:करण जाण।
यावेगलें निर्वाण ब्रह्म तैंचि।।२।।
ज्ञानदेवां ब्रह्म लाधलें अवचट।
उन्मनीचां घाट चढतांचिं।।३।।अ.क्र.७५२।।

२) **आत्मज्ञान जया न देखें निजदृष्टी।**
तयां नरां गोष्टी करूं नयें।।१।।
तुर्यारूपें जाण प्रभा निस्सीम।
तया परतां राम असें बापा।।२।।
ज्ञानदेवां गूज दाविलें गुरूनें।
मनें अनन्ये कल्पितांचिं।।३।।अ.क्र.७५३।।

"परमात्म्याचा शोध सर्व त्रिभुवनात घेतला. पण तो काही मला सापडला नाही. जेव्हा गुरूंनी माझ्या नेत्रात ज्ञानांजन घातले, तेव्हा मात्र मला आत्मरूप गवसले. ***मन, बुद्धी, चित्त व अंत:करण*** यांवेगळे ते स्वरूप आहे."

असे **ते ब्रह्म *उन्मनीचा घाट* चढून जाताच ज्ञानेशांना अवचित भेटले आहे.** म्हणून ते असे म्हणताहेत की "साधकांनी निजतत्त्वाचे ज्ञान ***"याचि देहीं याचि डोळां"*** करून घ्यावे." तुर्यारूपाने त्या तत्त्वाची प्रभा फाकतांना दिसते आणि ***उन्मनीचा हा घाट चढला की रामाचे खरे दर्शन घडते. गुरूंना अनन्यशरण होणे*** हाच यासाठी खरा **उपाय** आहे.

सद्गुरू व तुर्येचे प्रांगण

ज्ञानदेवांच्या लेखी सद्गुरूंचे किती माहात्म्य आहे, ते आपण पूर्वी त्यांच्या गुरुप्रशस्ति व स्तवनपर अशा ज्ञानदेवीच्या ओव्यांतून आणि अमृतानुभवाच्या प्रकरणांतून पाहिलेच आहे. आपल्या अनेक अभंगांतून ते आपल्या सद्गुरूंचा तसाच सातत्याने आदरपूर्वक उल्लेख न चुकता करतांना दिसतात. त्यातूनही त्यांच्या या गुरुप्रतीच्या परमभावाचे -

या भावनेचे - दर्शन घडते. त्यातही या अर्धमात्रेच्या प्रांतात आणि तुर्येच्या प्रांगणात गुरूशिवाय सोयच नाही, हा भाव ते कसा व्यक्त करतात, ते पाहू या पुढच्या दोन अभंगांतून.

१) **आत्मा एक बाई स्थिरचरव्यापक।**
सृष्टि तैसीं देख एकलीचि।।१।।
पंचमहाभूतें व्यापूनि निराला।
सौंदर्यपुतला काला बाई।।२।।
ज्ञानदेवें ध्यान धरिलें पुढुति।
त्रैलोक्याचिं वसति असे जेथ।।३।।अ.क्र.७५४।।

२) **अकारीं अर्धमात्रा कवण रितीं दिसें।**
उकारींहीं रसें कवणेंपरीं।।१।।
मकारीं संयुक्त जाहालीं कैशापरीं।
अर्धमात्रेवरी अर्धमात्रा।।२।।
अर्धमात्रेचा अर्थ अवचटचि दिसें।
गुरुगम्य सोए जाणति पैं।।३।।
ज्ञानदेवें अर्थ शोधूनि घेतला।
महाशून्यीं संचला निवृत्तिराज।।४।।अ.क्र.७५५।।

सर्व सृष्टीतील स्थिरचरास व्यापते असे ते एकमेवाद्वितीय आत्मतत्त्व आहे. पंचमहाभूतात्मक अशा या विश्वास व्यापूनही त्यावेगळे असणारे ते तत्त्व म्हणजेच घनश्यामसुंदर अशी सावळ्या विठ्ठलाची मनमोहक मूरत! तोच तो बाळकृष्ण अन तोच पांडुरंगही! ज्ञानदेवांच्या ध्यानी त्यांना त्रैलोक्यपालक अशा त्या श्यामसुंदर राजसाची मूर्ती घननीळ बिंदुरूपात दिसते! ***ॐकारस्वरूप सद्गुरू समर्थ असा निवृत्तिनाथ त्या श्यामसुंदराहून वेगळा कोठे आहे! तोच तर त्या महाशून्यात वास्तव्य करून आहे!!***

असे असले तरी अकार, उकार व मकाररूपे जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति या अवस्थांतील हे विश्व कसे साकारते त्या परमात्म्यापासून, हे जाणून घ्यावे तर केवळ सद्गरूंची कृपाच हवी. त्याविना अर्धमात्रेचे रहस्य कसे उलगडेल! ***ज्ञानेशांपुढे मात्र निवृत्तिनाथाच्या वरदहस्तामुळे अर्धमात्रेचा अर्थ सहजच अवचित असा प्रकट झाला आहे तो त्या घननीळाच्या मनोहारी अशा साक्षात दर्शनातून!!***

"रंगला रंगीं श्रीरंगाच्या"

योगसाधकांना ***अंतिम अवस्थेत आत्मतत्त्वाचे दर्शन एका काळ्या पुतळ्याच्या स्वरूपात होते. तो तसा पुतळा म्हणायलाच फक्त. खरे तर ते दर्शन एका समाधिमग्न अशा काळ्याकभिन्न योगिराजस्वरूपाचे असते. तेच असते आत्मस्वरूप!*** म्हटले तर ते स्वत: योग्याचेच एक प्रतिरूप असते. मौन मुद्रा आणि लोचन मिटलेल्या अशा त्या स्वरूपातच ना पांडुरंग उभा आहे! तो योगासनस्थ बसलेला असा योग्यांना दिसतो.

योग्यांना असे दर्शन देणाऱ्या त्या घननीळाची - त्याच्या परमधामाची - महाशून्याची - साधकांना आतुर ओढ न लागली तरच नवल! त्याचे किती आणि किती अभंगांतून वर्णन करावे हे ज्ञानेशांना उमगेनासे झाले असावे. म्हणूनच अभंगांमागून अभंग त्या सावळ्या रूपाची नवाई वर्णन करण्यासाठी उत्स्फूर्तपणे त्यांच्या मुखकमलातून बाहेर येतात. पहा ते अजून काय म्हणतात ते:

१) **शून्य हें चार महाशून्य दिसतसें।**
निजरंग वसे सर्व त्यांत।।१।।
ऐसा रंग जया लाधतांचि पाहीं।
मनाचि हें सोई हारपलीं।।२।।
ज्ञानदेवाचां बोल बोलण्याचें रूप।
निवृत्तिस्वरूप सर्वत्र हें।।३।।अ.क्र.७५६।।

२) **शून्याचें जैं बीज योगियांचें गूज।**
स्वानंदाचें निजब्रह्म रया।।१।।
त्रिगुण त्रिविध तो सच्चिदानंद।
शब्दाचा अनुवाद नसें जेथ।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें सद्गुरु जाणिति।
इतरांचि वृत्ति चालेचि ना।।३।।अ.क्र.७५७।।

३) **ऐसा योगिराज देखतां अवचट।**
उन्मनी लंपट रात्रंदिवस।।१।।
सत्रावीचि शींव टाकूनि राहिला।
पाहण्यातीत जाहाला सर्वांठाईं।।२।।
असिपदीं आनंद प्रियरूप जाण।
ध्यानाचें कारण जेथ नाहीं।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणें ऐसा योगिराणा।
तयाचिआं चरणां प्रणिपात।।४।।अ.क्र.७५८।।

भगवंताचे हे ***परमधाम चार शून्ये आणि महाशून्य यांचे मिळून झालेले आहे, अशी योगिजनांची अनुभूती सांगते.*** त्यामध्ये तो आनंदाचा कंद असा आत्मरंगाने विनटलेला ज्ञानेशांचा रंगा ***(श्रीरंग)*** वसलेला आहे. त्याच्या रंगांत जो रंगून जातो, त्याचे मन हरपून जाते. शून्यातले ते श्रीहरीचे रूप हे सर्व विश्वाचे बीज आहे. स्वानंदाचे माहेरघर असे ते सावळे परब्रह्म आहे. त्रिगुणात्मक असे ते रूप नाही; नादाचे - शब्दाचेही तेथे अस्तित्व नाहीच, जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति या तिन्ही अवस्थासुद्धा तेथे नाहीत. पण सत्-चित्-आनंद असे पण त्या रूपाचे वर्णन होऊ शकत नाही. ते रूप कसे आहे, ते केवळ सद्गुरूच जाणोत! सद्गुरूंच्या कृपेने हे जे रूप ज्ञानेशांनी पाहिले, त्याचे गुणगान केवळ ज्ञानेशच करू जाणोत! इतरांची मती तर ते रूपवर्णन ज्ञानेशमुखे ऐकून गुंगच होऊन जाते, यात नवल नाही!

सत्रावीची शींव ओलांडून त्या रूपात रंगून गेलेला योगिराज इतरेजनांच्या दृष्टिअतीत होऊन रात्रंदिवस स्वानंदसुखात मग्न होऊन जातो. त्याचे ते सुख इतके अवीट गोडीचे असते की प्रत्यक्ष उन्मनीस्थितीलाही पण त्यासाठी रात्रंदिन लंपट होऊन बासावेसे वाटावे! ***"तत्त्वमसि"*** यात तीन पदे आहेत: ***"तत् -त्वम् -असि". तत्*** म्हणजे ते पाहण्याच्या अवस्थेत हा योगिराज नसतो. ***त्वम्*** म्हणजे आपला अहंकार तर त्याचा निजरूप झालेला असतो. आणि

असि म्हणजे केवळ असण्यातील स्वसंवेद्यतेचा प्रिय स्वरूपातील मकरंद असा आनंद मुक्त हस्ते लुटण्यात मश्गूल होऊन जाणाऱ्या त्या योगिराजास आता ध्यान करावे अशी कोणती वस्तू उरणार सांगा बरे!

"तुझें ध्यान लागो"

ज्ञानदेव तर अशा योगिराटाची चरणकमले वंदिण्यास तत्पर झाले आहेत! कारण त्यांना त्या श्यामसुंदर रूपमनोहर श्रीरंगाची कमालीची ओढ लागली आहे. म्हणूनच जणू ते स्वगत म्हणत आहेत की:

रंगा येई वो ये। रंगा येई वो ये।
विठाई किठाई माझे कृष्णाई। कान्हाई।।१।।
वैकुंठवासिनी। विठाई जगत्रजननी।
तुझा वेधु माझें मनीं। रंगा येई वो ये।।२।।
कटी कर विराजित। मुकुट रत्नजडित।
पितंबरु कासिला। तैसां येई कां धांवत।।३।।
विश्वरूप विश्वंभरें। कमलनयन कमलाकरें वो।
तुझें ध्यान लागो। बापु रखुमादेविवरें वो।।४।।
।।अ.क्र.१०६०।।

विठाई, किठाई, कृष्णाई, कान्हाई अशा नावांनी ***महाशून्यींच्या*** त्या ***वैकुंठस्थानी*** निवास करणाऱ्या त्रिभुवनाच्या जननीस भावपूर्ण हाका मारत तिचा ज्ञानेश धावा करत आहेत. त्या निजरंगात रंगून गेलेल्या श्रीरंगाचा त्यांच्या मनाला वेध लागला नसता तरच नवल! सावळ्या परब्रह्मास पांडुरंगाच्या रूपात पाहणारे ज्ञानदेव तीच ती कटीवर कर ठेवलेली, मस्तकी रत्नजडित मुकुटाने शोभणारी, कासेला पितांबर परिवेष्टिलेली, भक्तांना प्रिय असणारी गोपाळाची छबी आपल्या ध्यानात साकारावी म्हणून आर्त होऊन त्या विश्वरूप विश्वंभर अशा कमलनयन कमलाकर मेघश्यामास दर्शन देण्यासाठी विव्हल होऊन साद घालत आहेत!

पंढरपूरचा विठ्ठल आपणास असा त्यांच्या अभंगांतून दर्शन देतो. अनेकानेक अभंगांवर ***"बाप रखुमादेविवरु"*** पांडुरंग श्रीविठ्ठलाची मुद्रा उठविणारे हे ज्ञानदेव तेच का ज्ञानदेवीकर्ते असे कोडे पंडितशिरोमणींना जरी पडत असले, तरी या ***योगपर अभंगांतून पंथराज किंवा भक्तिपंथाचे*** जे ***रहस्य प्रकट झालेले दिसते,*** निदान त्यावरून तरी आपणाला तसे कोडे पडू नये!! याच ज्ञानदेवांनी काही काही अभंगांतून आपल्यासह निवृत्तिनाथादी भावंडांचाही उल्लेख केलेला आहे. तसेच ज्ञानेश्वरी आपणच लिहिल्याचे सांगितले आहे. पंथराजही सांगितलेला दिसून येतो.

ज्ञानेश्वरीतून ***पंथराज - अद्वयभक्तियोग - क्रमयोगसोपान*** यांचे रहस्योद्घाटन करणारे ज्ञानदेवच त्रिपुटीविरहित करणाऱ्या योगपंथाचे बीज आपल्या अभंगांतून सांगतात आणि **अमृतानुभव**ातून तो अनुभव जीवन्मुक्त कसा चाखतात, ते व्यक्तवतात, हे आपणासारख्या जिज्ञासूंसाठी काही कूट असे नक्कीच नाही! असो.

"निवृत्ति सोपान मुक्ताईची खूण। ज्ञानदेवें सघन बोलियेलीं"

वैकुंठवासिनी विठाईचा शोध घेणाऱ्या ज्ञानदेवांचे हे वैकुंठधाम मात्र सलोकतादी मुक्ती देणाऱ्या शास्त्रांतरीच्या वैकुंठलोकापेक्षा वेगळेच आहे. ते त्या चिद्धामाचे वर्णन ऐकवत म्हणतात:

ऐक एक गूज बोलतों निर्वाण।
निवृत्तिचरण आठऊनि।।१।।
***अर्धमात्राक्षरीं अक्षरें* पाहाति।**
***अनाक्षरापरति* बाईयांनो।।२।।**
रज तम सत्त्व यांहूनि निरालीं।
***लक्षांहिं वेगलीं* निवृत्ति जाणें।।३।।**
सत् चित् आनंद ब्रह्मा हरि हर।
तेहिं जिचा पार नेणविति।।४।।
सलोकता मुक्ती आदि तिनिंवरीं।
वसतें जैं घर योगियाचें।।५।।
त्वंपद तत्पद असिपदाचा रंग।
त्याचा अंतरंग देखा बाईयांनो।।७।।
निवृत्ति सोपान मुक्ताईची खूण।
ज्ञानदेवें सघन बोलिलीं हें।।८।।अ.क्र.७५९।।

"निवृत्तिनाथांच्या चरणांना वंदित एक महत्त्वाचे योगरहस्य प्रकट सांगतो, ते ऐका. **शब्दब्रह्माच्याही पलीकडे जी अर्धमात्रा आहे, तिच्याही पलीकडे ते *अनाक्षर - परब्रह्म* वसते, ज्याच्याबद्दल वेदांनीही *"नेति, नेति"* असे सांगत मौन पाळले आहे.** सत्त्व-रज-तम या त्रिगुणातीत अशी ती अलौकिक स्थिती आहे. ते मोक्षधाम ***"ध्यानासिहिं कुवाडें"*** असे ध्याता-ध्येय-ध्यान या त्रिपुटीच्या पलीकडील आहे. ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान या ज्ञान त्रिपुटीचा साक्षिमात्र केवल असा तो परमात्मा तेथे राहतो."

"सत्-चित्-आनंद" या सच्चिदानंदस्वरूपाच्याही पार पल्याडच्या त्या भगवंताचा ब्रह्मा-हरि-हर या आद्यदेवत्रयींसही पार लागत नाही. ***समीपता -सरूपता - सायुज्य*** या मुक्तित्रयीच्याही वर जे त्याचे धाम आहे, ते ***योगियांचे माहेरघर***च आहे. ***"तत्त्वमसि"*** मध्ये ***"तत् -त्वम् -असि"*** ही जी तीन पदे आहेत, त्यांना रंगवणाऱ्या त्या श्रीरंगाचे अंतरंगस्वरूप जाणून घ्या. त्याकरता योगिराजांची पाऊले वंदावीत. त्या त्रिगुणांच्या पलीकडील परमात्मस्वरूपाचा साक्षात्कार करून घेणारा धन्य होय"

त्या आत्मस्वरूपाच्या अंतरंगी ज्ञानदेव, सोपानदेव, मुक्ताई आणि निवृत्तिनाथ ही चारी भावंडे नित्य नांदताहेत, त्याचा ज्ञानेशमुखे वानगीदाखल निर्देश या अभंगात प्रकटलेला आहे. योग्यांना परम वंदनीय अशा या योगिराज निवृत्ति-ज्ञानदेव-सोपानदेव-मुक्ताबाईंना आपल्या अंतरीं वसवत, त्यांच्या आशीर्वादाने योगरहस्य जाणून घेता येईल, या भावनेने पुढील अभंगाकडे वळू या.

उन्मनीसंगें गोंसावी विराजें।
चहूं देहांचे ओझें निवारूनि।।१।।
सोहमस्मिचें छंदें परिपूर्ण।
विज्ञान हें खूण नाहीं जेथ।।२।।
चंद्रसूर्याहूनि तेज तैं आगलें।
अव्यक्तें व्यापिलें अनुभवें।।३।।
अनुभवाचीं खूण गुरुगम्य जाणिति।
ज्ञानदेवें विनंति हेंचि केलीं।।४।।अ.क्र.७६०।।

स्थूल - सूक्ष्म -कारण - महाकारण हे पिंडस्थ ***चार देह निवारून महाशून्यात उन्मनीसह प्रवेश करणारा योगी अर्थातच समीपता -सरूपता-सायुज्य या तिन्ही मुक्त्यवस्थांच्या अतीत अशा जीवन्मुक्तीत विराजतो.*** मागील अभंगात म्हटलेले तिन्ही मुक्तींच्या वर वसणारे योग्यांचे घर म्हणजे जीवन्मुक्तावस्था!

समाध्यवस्था व मुक्त्यवस्था यांचा समन्वय::::

मुक्ती व समाधिविचार

मागे आपण या तीन मुक्ती चक्रजयाने प्राप्त होतात, असे यौगिक मत असल्याचा उल्लेख पाहिला होता *(उन्मेष४५-१: लययोगसमालोचन: योगपथ पृ.क्र.७५७ ते ७६०).* **अनाहतजयाने *समीपता*, विशुद्धिजयाने *सरूपता* व आज्ञाजयाने *सायुज्य* अशा तीन मुक्ती प्राप्त होतात**, असे ते मत आहे. परंतु मूलाधार ते आज्ञाचक्र हा स्थूलदेहाचा प्रांत आहे. तेव्हा त्याअंतर्गत असणाऱ्या अनाहत - विशुद्धी या चक्रांवर समीपता व सरूपतादी मुक्ती प्राप्त होतात, हा विचार अत्यंत स्थूल असावा असे दिसते.

पूर्वमार्ग हा मोक्षद्वाराकडे नेणारा पथ आहे. मोक्षद्वार खरे तर आज्ञाचक्रस्थित असले पाहिजे. प्रथमशून्य वा त्रिकूट हे आज्ञाचक्रस्थ स्थान ज्ञानेशांच्या प्रथम शून्याशी जुळते, हे आपण पाहिले आहे. ***शून्य* ही मुक्तीची सांकेतिक संज्ञा ठरते.** कारण **पं.गोपीनाथ कविराज म्हणतात, त्याप्रमाणे शून्यस्थान हे चैतन्याच्या विशेष अभिव्यक्तीचे स्थान असते आणि या स्थानातून शक्तीचे देहकार्यार्थ प्रसरण होत असते *(सं.मनीषीकी लोकयात्रा-ले.भगवतीप्रसाद सिंह पृ.क्र.२१०,२११).***

म्हणून साधक जेव्हा या कोणत्याही एका शून्यावस्थेत पोहोचतो, तेव्हा त्याने चैतन्याशी जवळिकीचा एकेक विशेष टप्पा गाठला असे म्हणावे लागते. हीच एक प्रकारची मुक्त्यवस्था होय. विविध यौगिक मतांनुसार ***जी जी म्हणून शून्यस्थाने आहेत, ती ती कोणत्या ना कोणत्या मुक्तीची अवस्थानिदर्शक समजावी लागतात.*** मग त्या शास्त्रोक्त सलोकतादी मुक्ती असोत, वा अन्य विशेष प्रसिद्धीत नसलेल्या मुक्त्यवस्था असोत.

मुक्तींचे असे विविध प्रकार संभवत असले तरी त्यातील ***सलोकता, समीपता, सरूपता, सायुज्य व जीवन्मुक्ती*** या केवळ पाच मुक्तींचाच विचार करणे सध्या अभिप्रेत आहे. त्यासाठी आतापावेतो आज्ञाचक्रापासून पुढे जाणाऱ्या **पश्चिमपथा**चे जे विवेचन केले, त्याचा थोडे पुनरावलोकन करावे लागते. तसेच समाधिस्थाने त्या पथातील स्थानांशी निगडित असल्याचे ***श्री विष्णुतीर्थ***स्वामींचे जे मत आपण पाहिले होते, तेही लक्षात घ्यावे लागते.

ज्ञानेशांची चौशून्ये व चार देह यांच्यासह या सर्व माहितीचे संकलन करून समन्वय केल्यानेच आपणास उपरोल्लेखित प्रमुख अशा तीन, चार वा पाच मुक्तींचे रहस्य आकळून घेता येते. त्यासाठी पुढील *पृष्ठ क्र.८११* वर दिलेल्या कोष्टकाचा उपयोग होईल. सदर कोष्टकाबरोबरच *उन्मेष:३७:ॐकार व प्रणव; पृ.क्र.५७९-५८३* वरील ***विविध योगमतांनुसार योगचक्रस्थाने*** हा तक्ता पण पुन: *पृ.क्र.८१२* वर उद्धृत केला आहे. त्याचा पण उपयोग हा सर्व समन्वयात्मक विचार करतांना होईल.

विष्णुतीर्थमत

प्रथम विष्णुतीर्थांचे मुक्तिविषयक मत पाहू या. ते **निरोधिकेत *संप्रज्ञात समाधि* आणि नादांतात *निर्विचार समाधि*** प्रकटतो असे म्हणतात *(सौंदर्यलहरी -ले. विष्णुतीर्थ महाराज - हिंदी टीका- पृ.क्र.११४).* यापूर्वीच आपण पाहिले आहे की ***निर्विचारवैशारद्य प्राप्त झाल्याविना प्रज्ञेचा प्रांत सुरू होत नाही.*** कुंडलिन्युत्थापनापासून या प्रदेशाचा प्रारंभ असल्याचेही आपण पाहिले होते.

अर्थात ***"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।१-४५।। ।।पा.यो.सू.।।"*** या सूत्रात म्हटल्याप्रमाणे सविचार व निर्विचार समाधीसाठी उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म विषयांचे आलंबन घेत गेल्याने त्या सूक्ष्म विषयांची परिसमाप्ती ***अलिङ्ग* म्हणजे *प्रधान*** या तत्त्वात होते. ***प्रधान म्हणजे प्रकृति वा शक्ती. कुंडलिनी*** असाही अर्थ घेणे या **सूक्ष्मविषयपर्यवसान**ासंबंधी उचित ठरू शकते.

अर्थातच कुंडलिनी वा शक्ती या सूक्ष्म तत्त्वाच्या धारणा-ध्यान-समाधि-संयम परिणामी कुंडलिनी वा शक्तिजागृती होते. याप्रमाणे ***निर्विचार समाधीच्या पक्वावस्थेत कुंडलिनीचा प्रांत सुरू होतो,*** असे म्हणणे भाग आहे. त्यामुळे ***श्रीविष्णुतीर्थ*** म्हणतात ते ***सवितर्क व सविचार* समाधि** हे विभाग यापूर्वीच मागे पडले असणे जास्त संभवनीय आहे. आणि ***निर्वितर्क* व *निर्विचार*समाधि**सुद्धा या अवस्थेच्या म्हणजे कुंडलिनी उत्थापनापूर्वीच सिद्ध झालेले असल्याने त्यांच्या म्हणण्यानुसार या समाधींची ***निरोधिका व नादांत*** ही स्थाने सहज पटण्याजोगी नाहीत.

धर्ममेघ समाधि

या ठिकाणी थोडा विचार ***धर्ममेघ*** म्हणून जो समाधि पतञ्जलींनी सांगितला आहे, त्याचा करावा लागतो. ***निर्विचार ते सानंद व सास्मित हे संप्रज्ञात समाधि*** असा जो प्रवास साधक करतो, तो कोणत्या प्रांतातून असा प्रश्न येतो. याचे उत्तर असे की हा मार्ग ***धर्ममेघ*** या नावाने पातञ्जलसूत्रात विख्यात आहे. ***"प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ: समाधि:।।४-२९।।पा.यो.सू.।।"*** असे कैवल्यपादातील पतञ्जलींचे सूत्र आहे.

(पुढे पाहा पृ.क्र.८१३वर)

पश्चिमपथ स्थाने व शून्ये / देहसंकेत / समाधि / मुक्ती

समाधि	१)विष्णुतीर्थमत	२)गोपीनाथमत	३)वुड्रॉफमत	४)ज्ञानेशवाङ्मयाधारे	(अ)देह	(ब)मुक्ती
सं	**आज्ञा**	**आज्ञा**	**आज्ञा**		**स्थूल**	
	बिंदू (संप्रज्ञात सवितर्क समाधि)	**बिंदू**	**बिंदू**	प्रथमशून्य-**त्रिकूटी**	**सू**	**सलोकता**
	अर्धेंदु (संप्रज्ञात सविचार समाधि)	अर्धेंदु	अर्धेंदु	द्वितीयशून्य-**श्रीलहट** -➢	-➢	**समीपता**
प्र	**निरोधिका**(संप्रज्ञात निर्वितर्क समाधि)	**रोधिनी**	**बोधिनी**	-➢ -➢ -➢ -➢	-➢ **क्ष्**	**सरूपता**
	नाद	**नाद**	**नाद**			
ज्ञा	नादांत (संप्रज्ञात निर्विचार समाधि)	नादांत (मोक्षद्वार)	महानाद			
	शक्ति	शक्ति	-		**म**	
	व्यापिका (सानंद समाधि)	व्यापिका	व्यापिका	तृतीयशून्य -**गोल्हाट** -➢	**का** -➢	**सा**
त	समनी (सास्मिता समाधि)	समना	समनी		**र**	**यु**
					ण	**ज्य**
अ	**उन्मनी**	**उन्मना**	**उन्मनी** (शिवतत्त्वाधीन)	चतुर्थशून्य --➢ **औटपीठ**	**भ्र** -➢ **म** -➢	**जी**
	प्रतिष्ठा	-	-		**हा**	
सं	गुह्यचक्र	-	-		**म**	**व**
	-	महाबिंदू	-		**का**	
	सहस्रारचक्र	-	-		**र**	
ज्ञा	**ब्रह्मरंध्र**	**ब्रह्मरंध्र**	**ब्रह्मरंध्र** **पराबिंदू** (परमशिव)	**महाशून्य**	**गुं** **फा** **र** **ण**	**न्मु** **क्ती**
त						

निरशून्य -➢-➢ -➢-➢-➢ कैवल्य देह -➢विदेहमुक्ती

विविध योगमतांनुसार योगचक्रस्थाने (पश्चिममार्गावरील)

चक्रक्रम-१	चक्रक्रम-२	चक्रक्रम-३	चक्रक्रम-४
आज्ञाचक्र		**आज्ञाचक्र**	**आज्ञाचक्र**
|		|	|
		त्रिकूट	त्रिवेणीचक्र (भ्रूमध्यस्थान)
		|	|
चंद्रचक्र	ललाटचक्र	**श्रीहट्ट**	चंद्रचक्र (ललाटस्थान)
|	|	|	|
ब्रह्मरंध्र	**सहस्त्रदलकमल**	|	**ब्रह्मरंध्रचक्र (मूर्धास्थान)**
|	|	|	|
तालुचक्र	तालुचक्र	|	ऊर्ध्वरंध्रचक्र (तालुस्थान)
|	|	|	|
भ्रमरगुहा	**भ्रमरगुहा**	|	**भ्रमरगुंफा (अलक्ष्यचक्र)**
|		|	|
ब्रह्मचक्र		|	पुण्यागारचक्र
|		|	|
कोल्हाटचक्र		**कोल्हाट**	**कोल्हाटचक्र**
		|	
		औटपीठ	
		|	
		भ्रमरगुंफा	
		|	
		ब्रह्मरंध्र	

संक्षिप्त विहंगम मार्ग - प्रचलित संज्ञा (हा मार्ग आज्ञाचक्रापासूनच सुरू होतो.)

पिंड	स्थाननाम	स्थानीय अन्य विशेष
अंड	**आज्ञाचक्र**	स्थूल देहाची मर्यादा, आत्म्याचे स्थान
	सहस्त्रदलकमल	जोत, निरञ्जन, शिवशक्ती, निजमन
	त्रिकुटी (द्विदल)	ओम्, प्रणव, गगनब्रह्म, महत्, महाकाश, वेद इ.दिव्य ग्रंथ (ब्रह्म)
ब्रह्मांड	शून्यस्थान	(७ शून्ये आहेत - अंतीचे शून्य दशमद्वार वा ब्रह्मरंध्राकडील सुषुम्नामुख)
	महाशून्य	(६ महाशून्य स्थाने)
	भ्रमरगुंफा(द्विदल)	
व्याल -देश	सत्यलोक	महाप्रकाशमान निर्मल स्थान: संत येथेच वसतात.
	अलक्ष्य (अलख)	
	अगम	
	अनामी	परमसंतांचे वास्तव्यस्थान

(टीप: हा विहंगममार्ग येथे संक्षेपाने दाखवला आहे. पूर्ण मार्ग *उन्मेष:३७:ॐकार व प्रणव; पृ.क्र.* ५७९ वर दिलेला आहे.)

(पृ.क्र.८१०वरून पुढे)

आत्म्याचे नि:संदेह ज्ञान प्रकटणे, विवेकख्याति प्राप्त होणे व आत्मसाक्षात्कारावस्था प्रकटणे या सर्व धर्ममेघ समाधीच्या अवस्था होत. हा खरे तर पूर्णतया अतींद्रियाचा प्रांत आहे.

समाधिविधी

कुंडलिनीजागृतीपासून अतींद्रिय प्रांत सुरू होतो व पूर्वमार्गावरून पश्चिममार्गाकडे वळले की त्याचाही अत्युच्च श्रेणीचा प्रदेश प्राप्त होतो. या सर्व अवस्था निर्विचारवैशारद्यानंतरच्या असून त्यात *सानंद* व *सास्मित* या संप्रज्ञात समाध्यवस्था व असंप्रज्ञात समाधि यांचा अंतर्भाव होतो. पुढील बाणचक्राने हे दाखविले आहे.

(अ) समाधिविधि = सवितर्क -➢निर्वितर्क -➢सविचार -➢निर्विचार -➢धर्ममेघ समाधि

(ब) धर्ममेघ समाधि = (सानंद संप्रज्ञात -➢सास्मित संप्रज्ञात -➢असंप्रज्ञात)

त्यामुळे श्रीस्वामीविष्णुतीर्थांचे निरोधिकेत निर्वितर्क आणि नादांतात निर्विचार समाध्यवस्था हे उपरोक्त मत जसे आहे, तसेच ग्राह्य वाटत नाही. त्यांच्या मताचा योग्य अवलंब कसा करावा यासाठी अधिक खोलात जावे लागेल.

पातञ्जलयोगशास्त्रानुसार ज्या सवितर्कादी समाध्यवस्था आहेत, त्या एकामागून एक अशा उत्तरोत्तर प्रगतीने साध्य होणाऱ्या जरी असल्या तरी साधक एका वेळी कोण्या एकाच समाध्यवस्थेचा अभ्यास करत नसतो. खालच्या पायरीवरील अभ्यास जसजसा पक्व होत जातो, तसतसा तो वरील पायरीचा समाधि अभ्यासू लागतो. म्हणजे एकाच वेळी साधक किमानपक्षी दोन तरी समाधि अभ्यासार्थ घेत असतो.

त्याचप्रमाणे वितर्कानुसारी जे समाधि आहेत *(सविचार व निर्विचार)*, ते आणि जे विचारानुसारी समाधि आहेत *(सविचार व निर्विचार)*, त्यांच्या आलंबनविषयात स्थूल ते सूक्ष्म यात तसा फारसा फरक करणे शक्य नाही. त्यांच्या मूर्त व अमूर्त या आलंबविषयात फरक तो एवढाच आहे की मूर्त वस्तूस विश्वाच्या दृश्यात स्थान असते.म्हणजे रूप, रस, गंध, शब्द व स्पर्श या पंचविषयांशी ती वस्तू प्रत्यक्ष संबंधित असते. याउलट अमूर्त वस्तूस केवळ मनात अस्तित्व असते.

उदाहरण म्हणजे एखादी कल्पना - जसा न्यूटनचा गुरुत्वाकर्षणाचा सिद्धांत अथवा आईन्स्टाईनची सापेक्षतावादरचना. अमूर्त वस्तूचा मूर्त वस्तूशी तसा कोणत्या ना कोणत्या प्रकारचा संबंध विचाराद्वारे मनाने जोडलेला असतो. पंचविषयेंद्रिये व पंचज्ञानेंद्रिये यांच्या माध्यमातून भौतिक विश्वाचे मनावर जे संस्कार घडतात, त्या संस्कारांना अमूर्त स्वरूप लाभते.

हे संस्कार केवळ मन या इंद्रियाद्वारे ग्रथित व संग्रहित केले जातात. त्याही संस्कारांवर पुनर्संस्करण व संक्रमण इ. मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया घडत जातात आणि केवळ मनाने निर्मिलेल्या मनोविश्वास आकार येतो. या मनोविश्वातील वस्तू अमूर्त असतात. पण त्यांचा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरीत्या भौतिक वस्तूंशी कोणता ना कोणता संबंध असतोच.त्याचप्रमाणे मूर्त वस्तूसुद्धा एकदा संपर्कातून निघून गेली तरी तिचे संस्कार मनात असतात. म्हणून ध्यानासाठी आलंबन घ्यावयाचा मूर्त विषय सुरवातीला जरी पंचेंद्रियगोचर असला तरी हळूहळू तो मनोगोचर या सदरात मोडू लागतो. म्हणूनच समाधीसाठी स्थूल व सूक्ष्म आलंबविषयात तसा फारसा फरक नाही असे म्हणावे लागते.

निर्वितर्क व निर्विचार समाधि

असे असल्याने *वितर्क व विचार* यांवर आधारित सर्व समाधि तसे मूलत: (substantially) एकाच प्रकारचे असले पाहिजेत. फरक एवढाच की वितर्कानुगम समाधि प्राथमिक व विचारानुगम समाधि थोडा उच्च श्रेणीचा कल्पावा लागतो. म्हणजे यातला फरक फक्त एकाच प्रकारच्या समाधीच्या अभ्यासाच्या वेगवेगळ्या पातळ्यांचा आहे. म्हणून *सवितर्क - निर्वितर्क - सविचार - निर्विचार* या समाधींचा प्रांत स्थूल मानाने एकच आहे.

निर्विचारवैशारद्य प्राप्त झाले की धर्ममेघ समाधीचा प्रांत सुरू होतो, असे वर म्हटले आहे. पण याचा अर्थ असा नाही की विचाराचा प्रांत येथे *धर्ममेघ समाधि* प्रकटताच संपतो, तर जोपावेतो मनाच्या कला आणि मात्रा अस्तित्वात असतात, तोपावेतो विचारांची प्रक्रिया चालूच असते. विचारांच्या श्रेणीत परिवर्तन मात्र जरूर होत असते. कारण *प्रज्ञा* जागृत झालेली असतां धर्ममेघ समाधीस आरंभ होतो.

सप्रज्ञ विचारांना त्यापूर्वीच्या विचारांपेक्षा वेगळे गणले तर आपणास *"सविचार -➢ निर्विचार -➢ प्रज्ञाप्राप्ती -➢ सप्रज्ञसविचार"* अशा विचारानुगत समाधीच्या विचारानुगत अवस्था असल्याचे आढळून येईल.

या दृष्टीने पाहता **श्रीविष्णुतीर्थांनी जे निरोधिका व नादांतस्थानी अनुक्रमे संप्रज्ञात निर्वितर्क समाधि आणि निर्विचार समाधि यांचे स्थान सांगितले आहे, ते स्थान प्रज्ञासापेक्ष वितर्क-विचारादींचे असले पाहिजे, असे दिसते. त्याचप्रमाणे सलोकता - समीपता - सरूपता -सायुज्य या मुक्ती उपभोगणारे मन अजूनही असंप्रज्ञात स्थितीत जात नसल्याने त्याला तेव्हा विषय म्हणून प्रज्ञाजागृतीनंतर अनुभवास येणारे हे अलौकिक रूपरसगंधादी विषयच असले पाहिजेत.**

याच अर्थाने साधकास होणारी दिव्य रूपादी दर्शने, श्रवणे, सलोकतादी सरूपतादी दृश्ये घ्यावी लागतात. अमूर्त असे हे विषय असून केवळ प्रज्ञाप्रभावाने साधक त्यांचा उपभोग घेत असतो. म्हणून या दिव्यविषयांनुसार त्यास विविध लोकदर्शन - गमन इ. प्राप्त होतात. तसेच उपरोक्त चारही मुक्तींचे प्रकार प्रज्ञायोगेच संभवतात.

संक्षेपत: समाधिक्रम

थोडक्यात ***"निर्विचारवैशारद्या-➤ प्रज्ञाजागृती -➤दिव्यविषयप्राप्ती -➤त्यांचे आलंबन घेत घेत प्राप्त होणारे धर्ममेघ समाधीच्या अंतर्गत समाधि-➤ त्या अंतर्गत दिव्यविषयानुलंबी सवितर्क-➤निर्वितर्क -➤सविचार–➤ निर्विचार समाधि -➤सानंद संप्रज्ञातसमाधि -➤सास्मित संप्रज्ञात समाधि -➤असंप्रज्ञात समाधि"*** असा साधकाचा मार्ग असल्याचे पातञ्जल योगदर्शनाच्या साहाय्याने आपणास प्रतीत होते. असो.

मुक्तीचा अधिक विचार::::

मुक्तिविचार

आता मुक्तीचा विचार करू या. पं.गोपीनाथ कविराज इ.मते ***निरोधिका*** या स्थानी रूपनिरोध होतो. म्हणजे यापुढील प्रांत रूपागम नाही. यापुढे फक्त ***नाद*** उरतो. म्हणूनच ***सलोकता ते सरुपता* या मुक्तींचा उपभोग निरोधिका ते शक्ती ओलांडीपर्यंतच आहे. पुढील प्रांत *सायुज्यता* या मुक्तीचा आहे.** आपण व आपले इष्ट यात कोणताही फरक साधकास जाणवत नाही; ***"अहं ब्रह्माऽस्मि"* या बोधावर साधक असतो, तो प्रांत म्हणजे सायुज्यतेचा होय. हा प्रांत तसा निरोधिकेपासून ते नादांतापर्यंतचा आहे. नादांती नादनिरोध होतो. पंचेंद्रिय विषय तेथे समाप्त होतात. अर्थात कनिष्ठ श्रेणीच्या सलोकतादी मुक्ती उपभोगून हे स्थान साधकास प्राप्त होते.**

सायुज्यानंतर जीवन्मुक्तीचा प्रांत सुरू होतो. परंतु वस्तुत: ***सानंद व सास्मित हे संप्रज्ञात समाधि*** याठायी प्रकट होतात. हे समाधि म्हटले तर सायुज्यांतर्गत धरता येतात आणि म्हटले तर जीवन्मुक्तिअंतर्गतही धरता येतात. स्वामी श्रीविष्णुतीर्थमते **व्यापिकेस्थानी *सानंद*** व **समनी स्थानी *सास्मित* संप्रज्ञात समाधि** राहतात. हे मत मान्य करण्यास प्रत्यवाय नाही. असे मानले तर हाही सायुज्यमुक्तीचा प्रांत ठरतो आणि तेही उचितच आहे. कारण उन्मनीअगोदरच्या या प्रांतात मनाचे विश्व अजून असतेच. म्हणून ***उन्मनी*पासून *असंप्रज्ञात समाधी*चा प्रांत आणि *जीवन्मुक्ती*चा प्रारंभ धरणे योग्य ठरते.** असो.

देहसापेक्ष मुक्त्यवस्था

सलोकता मुक्ती प्राप्त होणाऱ्या साधकाचा दिव्य लोकात प्रवेश होतो. हे आज्ञाचक्रोपरांत बिंदुस्थानी घडत असते. आज्ञाचक्री स्थूल देह संपून सूक्ष्म देहविभाग सुरू होतो. अर्थात दिव्य लोकसापेक्ष ***सलोकता*** ही मुक्ती बिंदुस्थानी म्हणजे ज्ञानेशविवेचित द्वितीय शून्यस्थानी - श्रील्हट चक्रात - प्राप्त होते. प्रथम शून्य म्हणजे ***त्रिकूट*** *(ज्ञानेशपद्धतीतील स्थाननाम)* या स्थानात साधक स्थूल जगापासून मुक्त होतो.

त्यानंतर ***अर्धेंदु*** या स्थानी ***समीपता*** व ***निरोधिका*** या स्थानी *सरूपता* या मुक्तींचा उपभोग घडतो. त्यानंतर तृतीयशून्य - ***गोल्हाट - व्यापिका*** हे सायुज्यमुक्तीचे प्रमुख स्थान होय. आणि चतुर्थशून्य - ***औटपीठ - उन्मनी*** येथे ***जीवन्मुक्तावस्था*** अवतीर्ण होते. येथून पुढे ***महाकारण*** देह आणि त्यापूर्वी ***व्यापिका ते समनी कारणदेह*** हे प्रांत असतात. सूक्ष्म देहाचा प्रांत त्यापूर्वीचा ***आज्ञा ते शक्ती*** असा असतो.

यावरून असे लक्षात येते की ***सलोकता-समीपता-सरूपता* या तिन्ही मुक्ती सूक्ष्म देहाने उपभोगल्या जातात.** सायुज्यमुक्ती ही कारणदेहाने अनुभूतीस येते. महाकारण देहाशी जीवन्मुक्ती संबंधित आहे. परंतु स्थूलमानाने पाहिले तर हा महाकारण देहसुद्धा समनी - उन्मनी यांच्या संधिस्थानीच असतो. म्हणून उन्मनी प्राप्त झाली की योगी स्थूल-सूक्ष्म - कारण व महाकारण या चारही देहांस निवारून जीवन्मुक्त होतो, असे म्हणता येते.

"चहूं देहांचे ओझें निवारूनि"

हा सर्व विषयप्रपंच आपण ज्ञानेशांचा *अभंग क्र.७६०* नीट समजावा म्हणून केला आहे. आता ***"उन्मनीसंगें गोसावी विराजें। चहूं देहांचे ओझें निवारूनि।।"*** आणि ***"सलोकता मुक्ती आदि तिन्हींवर। वसतें जैं घर योगियांचें।।अ.क्र.७५९।।"*** *(पृ.क्र.८०९ व ८१०)* यांतून ज्ञानेशांनी निवृत्तिनाथ, सोपानदेव व मुक्ताई यांच्या स्थितीच्या ज्या खाणाखुणा आपणासाठी आशयघन शब्दात प्रकट केल्या आहेत, त्या समजू शकतील असा विश्वास वाटतो. असो.

अर्धमात्रेचा प्रांत::::

प्रणवसाधना

यानंरचे ज्ञानदेवांचे अभंग पाहू या.

नयनाचें अंजन मनाचें रंजन।
ठसा हा सघन बाईयांनो।।१।।
ॐकार अक्षर अक्षरीं हारपें।
अनुभवाच्या मापें मोजूं बापा।।२।।
बिंदूचें जें मूल प्रणवाचें फल।
योगियांचां खेल तैंचिं ठाईं।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणें निवृत्तिप्रसादें।
स्वरूपाच्या विनोदें बोलिलें हें।।४।।अ.क्र.७६१।।

योगी कोणत्या स्थानी विराजतो, ते आपण पाहिले. निवृत्तिनाथांची कृपा झालेले ज्ञानेश आपणास स्वरूप स्पष्ट कळावे म्हणून म्हणतात की ***"बिंदूचे मूळ स्थान*** जे आहे ते प्रणवाच्या साधनेने फलस्वरूप असे प्राप्त होते. नेत्रात घालायचे अंजन म्हणजे ***प्रणवसाधना."***

प्रणवसाधना* म्हणजे *कुंडलिनी* उत्थापित करून तिच्यायोगे घडणारी साधना.** या साधनेची फलश्रुती सघन अशा नीलबिंदुदर्शनात होते. ***हा नीलबिंदू म्हणजेच श्रीगोपाळु, श्रीविठ्ठलु इ.नांवांनी संतांनी जिला आळविले आहे, ती आत्मज्योती! या ज्योतिदर्शनात मन रंगून जाते आणि मनाचे उन्मन होऊन जाते. **आत्मसाक्षात्काराच्या या अवस्थेत ॐकाराचा$_1$ अक्षरतत्त्वात$_2$ लय होतो. म्हणजे पिंड$_1$ब्रह्मांडाची$_2$ मिळणी होते.** हा अनुभव फक्त साक्षात्कारी पुरुषांना

आकळू शकतो, असे ज्ञानेश म्हणतात. ***ॐकार*** हे येथे योगसाधक ज्यास ***आज्ञाचक्रावरील स्थान*** असे म्हणतात, त्यास उद्देशून आहे *(पृ.क्र. ८१२- विहंगममार्ग - स्थानांचा तक्ता).* त्यानंतरचा विभाग **अक्षर**चा आहे. असो या अभंगात पुनश्च कुंडलिनीयोगाचा संबंध येतो.

गगनमंडल

कुंडलिनीच्या गगनगुंफेतील विहाराबाबत ज्ञानेश म्हणतात:

गगनमंडलीं **नारी सुकुमार दिसें।**
तिनिं लोक वसें तिचें उदरीं।।१।।
परादि वाचा तन्मय तैं जाहालीं।
साक्षित्वासिं आलीं *ब्रह्मरंध्रीं* ।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें नयनांतील ज्योती।
पाहातां वृत्ति हारे विषयांचिं।।३।।अ.क्र.७६२।।

आज्ञाचक्रावरील आसमंतास ***गगनमंडल*** अशी संज्ञा आहे. कुंडलिनी प्रमदेचा त्याठायी प्रवेश होतो, तेव्हा ती अलौकिक तेजाची दिसते. या नारीचे वर्णन सुकुमार या शब्दाने करतात. ***"हों कां जैं पवनाचिं पुतलिं। पांगुरिलीं होति सोनेसलीं।..... कां लखलखौनि हारपलीं। वीजु गगनिं।।..।।६-२८४,२८५।।"*** अशा शब्दात तिचे वर्णन ज्ञानदेवांनी ज्ञानेश्वरीत केले आहे.

सुषुप्ति-स्वप्न-जागृति या तिन्हीं अवस्था तिच्यातूनच प्रसवक्रमाने प्रकटतात. म्हणून तिच्याठायी तिन्ही लोक वसतात, असे म्हटले आहे. अथवा त्रिलोकरूप ब्रह्मांडास तीच जन्म देते, असाही अभिप्राय या ठिकाणी धरता येतो. **परादी वाचासुद्धा जेथे लीन होतात, अशा ब्रह्मरंध्रस्थानी जेव्हा ती कुंडलिनी प्रवेशते, तेव्हा केवळ साक्षिभाव उरतो.**

नयनातील ज्योती* म्हणजे *महाशून्य* स्थानातील *आत्मज्योत. तिचा साक्षात्कार घडून येऊन विषयवृत्ती हरपतात. विषयांची येरझार चुकते व साधक जीवन्मुक्ती पावून कृतकृत्य होतो. चौदेहांचे ओझे निवारून योगी त्या स्थानी विराजतो. *अभंग क्र.७६० (पृ.क्र.८१०)* मध्ये म्हटल्याप्रमाणे तेथे ***विज्ञान* म्हणजे विश्वाची खूण वा व्यापार** उरत नाही. ***"सोहम"* बोध परिपूर्ण होतो. *सास्मित* समाधि दृढ होतो** *("सोहमस्मिचें छंदें परिपूर्ण"- तत्रैव).*

आत्मज्योतीचे तेजोमय स्वरूप तेथे अनुभवास येते. पण त्या तेजास चंद्रसूर्यांच्या तेजाची उपमा देता येत नाही, इतके ते आगळेवेगळे असते. योग्यास अव्यक्ताची अनुभूती येते ती येथेच! पण त्याचे वर्णन वाचेने करता येणे अशक्य आहे. कारण ***परादी वाचा अगोदरच ब्रह्मरंध्री लीन झालेल्या असतात.*** ज्ञानदेव म्हणतात की "ही अनुभूती केवळ गुरुकृपांकित साधकांनाच कळू शकते. इतरांना ती समजावून देणे फार अवघड आहे."

अश्वत्थाचे परिपूर्ण फल

यानंतरच्या अभंगात ज्ञानेश ***"ऊर्ध्वमूलमध:शाखं"*** अशा अश्वत्थास उद्देशून म्हणतात की:

वर मुळें शेंडा खाली दिसे बानो।
प्रपंचिं रानोंरान वृक्ष बा रे।।१।।
त्रिगुणाच्या शाखा उपशाखा बहुत।
नाना याति येत पत्रें ज्यास।।२।।
पक्व फल अहं सोहं गोडी त्याची।
सेवितां जिवाचि आंस पुरे।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणें वृक्ष परिपूर्ण जाहाला।
बीज रूढला जाणिवेचां।।४।।अ.क्र.७६३।।

पंधराव्या गीताध्यायात ज्या प्रपंचवृक्षाचे ***(अश्वत्थाचे)*** वर्णन केले आहे, त्याचे येथे ज्ञानेश शब्दचित्र साकारतात. वर मुळे व खाली शाखा-उपशाखा व शेंडा असणारा हा जो वृक्ष आहे, त्यास त्रिगुणांच्या शाखा आहेत. नाना जातींची पाने त्यास लागली आहेत. देव-गंधर्व-मनुष्यादी सर्व योनी याच ती पाने होत. तो वृक्ष ऐन बहरास आला की त्यास ***अहं*** हे फळ लागून ते पक्व होते. पण या फळाने प्रपंचाचा विस्तार जरी होतांना दिसत असला, तरी ज्ञानी योगी त्या फळातील ***सोऽहं*** तत्त्वाची गोडी कशी चाखावी हे जाणतात. याच बीजातून ज्ञानतरूचा पूर्णपणे आविष्कार होतो.

या अभंगाची पंधराव्या अध्यायातील अज्ञानवृक्षाशी तुलना केली असता तेथे तो वृक्ष ***"दृढेन असङ्गशस्त्रेण छित्त्वा"*** असे म्हटल्याचे आपणास दिसते; तर येथे ज्ञानेश त्याच वृक्षाच्या अहंरूपी फलातील सोऽहंरूपी गोडी चाखून त्या फलातील ज्ञानबीजातून ज्ञानवृक्ष परिपूर्ण कसा करावा, हे सांगतांना दिसतात.

"तेथ प्रवृत्तितरूचिआं बुडिं। दिसति निवृत्तिफलांचिआं कोडिं। ... अर्जुना हा अवधारिं पंथराजु।।६-५३,५२।।" या ओव्यांतून ज्ञानेशांनी निर्देशिलेला ***पंथराज*** अशा प्रकारे या अभंगाद्वारे प्रकट होतांना दिसतो. ***"ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ = प्रवृत्तितरू; अहंरूपी फळ + सोऽहंरूपी गोडी + ज्ञानरूपी बीज = निवृत्तिफळ;*** असा विचार त्यात अभिप्रेत होतो. पण त्यासाठी आपणास या अभंगाची जोड घ्यावी लागते. तसेच ही ***सोऽहं*रूपी गोडी चाखण्यासाठी आपणास पंथराजाच्या मार्गाने जावे लागते;** इतक्या गोष्टींचा उलगडा या अभंगानिमित्त होतो.

या सर्व विवेचनावरून आपल्या वारंवार ध्यानात येते की ***ज्ञानदेवांना समजून घ्यावयाचे तर त्यांच्या समग्र वाङ्मयाचाच अभ्यास करावा लागतो.***

परेवरचा चक्षू

"सोऽहं" ज्ञानाचे अंजन घालून ज्ञाननेत्र उघडतो. पण **हा ज्ञानचक्षू *परेपल्याडचा* आहे. त्रिकूटीस्थित आज्ञाचक्रस्थ चक्षुवेगळा हा चक्षू आहे.** त्याबाबत ज्ञानेश म्हणतात:

१) धांवत धांवत आलों नयनांजनिं।
प्रकाश दिनमणि उणा वाटे।।१।।

निशिं दिवस दोनिं नाहीं जेथ बा रे।
अर्धमात्रेवरी लक्ष ठेविं।।२।।
अक्षय अक्षर क्षरविरहित साजे।
ज्ञानाचें जैं ओझें चालेचि ना।।३।।
ज्ञानदेव चक्षु जाहाला परेवरी।
यापरतीं बरोबरी नाहीं बापा।।४।।अ.क्र.७६४।।

२) **अजंनाचें अंजन सदोदित पाहिलें।**
पाहाणे होऊनि ठेलें सर्वांठाईं।।१।।
आतां बोलाबोली नको बा आणिक।
बिंदु ती नि:शंक ब्रह्म रया।।२।।
अनुहात उन्मनी म्हणोनि वेर्थ काएं।
मुखीं धरीं सोएं ब्रह्मरंध्रीं।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणें न बोलें आणिक।
डोलिआचिं बोल पाहातांचिं।।४।।अ.क्र.७६५।।

दिव्यरूपदर्शनाच्या ओढीने ज्ञानदेव लगबगीने आज्ञाचक्रस्थ बिंदुकडे धाव घेतात, तोच कोटिसूर्यसमप्रभ असे दिव्य तेज असणाऱ्या आत्मज्योतीचे त्यांना दर्शन होते. अर्धमात्रेपलीकडे ही जी ज्योत असते, ती अखंड प्रकाश देत असते व म्हणून लौकिकातील सूर्यास असणाऱ्या उदयअस्तांमुळे होणारा दिवसरात्रींचा खेळ त्याठायी नसतो.

क्षर जगतापलीकडे हा ***अक्षर*** पुरुषोत्तमाचा प्रांत आहे. ***अक्षय*** अशा त्या तत्त्वाशी एकरूप होतांना ज्ञानाचे ***(सोऽहं/अहं ब्रह्मास्मि या बोधाचे)*** ओझे फेकून द्यावे लागते. ***ज्ञानखंडन*** म्हणून अमृतानुभवाचे प्रकरण यावर प्रकाश टाकते, ते मुळातूनच पाहावे अशी जिज्ञांसूंना सूचना आहे. असो. ***ज्ञानेश म्हणतात की ज्ञानखंडन होऊन ते स्वत: त्या परेपलीडील दिव्य तेज पाहणारे चक्षू झाले आहेत.*** यासारखी उच्च स्थिती अन्य कोणतीही नाही.

ते पुढे म्हणतात की "ज्ञानांजनाने ज्ञान प्राप्त होते, असे म्हणतात, ते ज्ञान त्यांनी प्रत्यक्ष पाहिले आणि ते ज्ञानच होऊन ते स्वत:राहिले आहेत. आता या अनुभवाविषयी अधिक काय बोलावयाचे! जिज्ञासूंनी नक्की समजून घ्यावे की ***बिंदू हेच ब्रह्म आहे.*** **कारण तेथपावेतो गेले की *अनुहात नाद आणि उन्मनी अवस्थेपलीकडे संक्रमण* करता येते. त्यासाठी साधकांनी ब्रह्मरंध्रास -सुषुम्नामुखास - लक्ष्य केले पाहिजे म्हणजे झाले!** बिंदू ते ब्रह्मरंध्र हा मार्ग चर्चित कोठवर बसायचा! कारण त्या चर्चेचे प्राप्तव्य त्यांनी प्रत्यक्ष अनुभवले आहे. आता तो अनुभव आपल्यात मुरवत बसावे हेच चांगले!"

निरंजन ब्रह्म

बिंदुच्या यौगिक अनुभूतीवर अधिक प्रकाश टाकत ज्ञानेश म्हणतात:

अकार उकार मकार ओंकार।
प्रणव हा साकार सुरेख रे।।१।।
मसुरामात्र सार योगी ध्याति देहिं।
निरंजन पाहिं ब्रह्म तैंचि।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें देह जाहालें देव।
प्रणवचि शिवु अनुभवें।।३।।अ.क्र.७६६।।

अकार, उकार व मकार यांनी ओंकार होतो. *ॐकारात बाह्य जगत व जागृति-स्वप्न व सुषुप्ति यांचा समावेश होतो. योगसाधनेने याच ॐकाराचा व्यष्टिसमष्टीसापेक्ष असा सुंदर सुरेख प्रणव होतो. "प्राणाचा प्रणवुचि" केल्यामुळे - अतींद्रिय तुर्या व तुर्यातीतावस्थांत प्रवेश केल्यामुळेच* - हे साध्य होते. या देहांतर्गत दिसणाऱ्या मसुराकार तेजाचे ध्यान योगी करत असतात आणि ते तेज म्हणजे साक्षात ब्रह्मानुभूती असते. ***प्राणाचा प्रणवु*** ही अवस्था प्राप्त झाली की योग्यांना आपला देह ॐकारस्वरुप झाल्याची अनुभूती येते, असा अनुभव आहे.

त्या निरंजन ब्रह्मतेजाशी एकरूप होऊन ***योगी सदेह सच्चिदानंद होऊन राहतो.*** प्रणवाचे शिवात मिलन करून - ***पदी पिंड प्रवेशल्याने*** योग्यांना ही स्थिती अनुभवायला मिळते, असे ज्ञानेश म्हणतात. यायोगे आपणास पुनश्च पंथराजाचे वैशिष्ट्य त्यांच्या या अभंगाद्वारे प्रतीत होते, हे सांगणे न लगे!

सहस्त्रदळीं शोभणारा काळा श्यामसुंदर

"सोऽहं" भावाच्या बाह्या पसरून ब्रह्मरंध्रीच्या आत्मतत्त्वास आलिंगन देणे ही पंथराजाची अंतिम गती आहे. त्या वेळी येणाऱ्या अनुभूतीचे निवेदन करत ज्ञानदेव म्हणतात:

१) **पाणियाचें मोतीं ज्योती वसें जेथ।**
महाकारण साद्यंत पाहा तुम्हीं।।१।।
जागृति स्वप्न सुषुप्ति जेथ उद्भव तिचा।
योगिराम ज्याचा अधिकारी।।२।।
गोल्हाटाचें मुळीं ज्ञानदेओ बैसला।
सहस्त्रदळीं शोभला काळा बाईं।।३।।अ.क्र.७६७।।

२) **सकारीं हकारीं नाडी दिसति कैशा।**
उलटल्या दशदिशा अमूपचि।।१।।
सूक्ष्म मूल सर्व बीजांचा उद्भव।
हाचि अनुभव देहामध्ये।।२।।
समान जैसा अर्क स्थिरचर एकला।
आत्मा हा संचला तैशापरी।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे याहून आणिक।
बोलाचें कवतुक नाहीं जेथ।।४।।अ.क्र.७६८।।

महाकारण देह साद्यंत पाहिला की त्यात पाणिदार मोत्याच्या तेजाप्रमाणे असणारी आत्मज्योती दिसते. विश्वाच्या जागृत-स्वप्न व सुषुप्ति या तिन्ही अवस्थांचा उद्भव येथूनच होतो. अशा या महाकारण देहात स्थिती असणे हा योगिराजाचाच अधिकार आहे.

गोल्हाट **स्थानाचे जे मूळ पीठ असे सहस्त्रदळींचे स्थान आहे, तेथे ज्ञानदेव स्थित आहेत** आणि त्या श्यामसुंदराशी अभिन्न होऊन राहिल्याने त्यांचे नीळेसावळे काळे रूप शोभून दिसत आहे.

या स्थितीचे वर्णन ***"सोऽहं तेहिं अस्तावलें"*** या शब्दात ज्ञानदेवीत केले आहे. **"सोऽहम्" मध्ये *सकार* म्हणजे *ब्रह्म* व *हकार* म्हणजे *साधक* (जीव) यांचे अभिन्नत्व दर्शविले जाते. *"सोऽहं"*** भावाच्याही पलीकडे ज्ञानेश गोल्हाटाच्या मुळी बसले आहेत, तेव्हा तेथे नाड्या, चक्रे इ.संस्थांची अनुभूती नसते, हे सत्य त्यांना आकळून आले.

देश-काल व स्थिती यांचा त्या स्थानी कोणताही संबंध उरत नाही. ब्रह्मांडाच्या उगमस्थानी जे हे आत्मरूप मूळ आहे, त्याचाच दशदिशांना विस्तार होतो; देहातही तेच आत्मतत्त्व अखंड भरलेले आहे; याची अनुभूती तेव्हा येते. सर्व दिशांना सूर्याचा प्रकाश जसा एकसारखा पसरतो, तसेच हे आत्मतत्त्व सर्व विश्वाला व्यापते, ही अनुभूती घेऊन कृतार्थ झालेले ज्ञानदेव म्हणतात की आता यापरते अधिक काय त्या आत्मतत्त्वाबाबत बोलावे! कारण त्याठायी वेदवाणीसुद्धा मुकी होऊन मौनावते!

मुक्ताबाईस उमगलेले रहस्य

पृ.क्र.८२० वर दिलेल्या या ***काळ्याच्या योगानुभूतीविषयी*** हा *अभंग क्र.७६७* आणि पुढचे अभंग बरेच काही सांगतात. **सहस्त्रदळी शोभणारा हा *काळा*** जो आहे, त्याचे रहस्य पुढे उद्घाटित होईलच.त्याठायी वाणी जरी मौनावत असली तरी त्या अद्वैतावस्थेचे अधिक वर्णन करण्याचा मोह जणू न आवरता येऊन ते पुढे म्हणतात:

१) **दिव्यरूप चक्षू कैशापरी जाहाला।**
ठंसा हा उमटला कवण्यापरी।।१।।
चहूं देहांचा वर्ण अवर्ण देखिलें।
विश्व म्यां पाहिलें तेयामधें।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे सर्वांचें जैं मूल।
सत्रावी केवल शुद्धरूप।।३।अ.क्र.७६९।।

२) **काळा पुरुष तो हा गगनांतैं जो नांदें।**
अनुभवाचां भेदें भेदिला जो।।१।।
भेदूनि अभेद अभेदूनि भेद।
सच्चिदानंद जेथ नाहीं।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे तेथें अक्षय्य राहिला।
आत्मा म्यां पाहिला या दृष्टीसिं।।३।।अ.क्र.७७०।।

३) **विश्व ब्रह्म भासे ऐक्य येतां देहिं।**
अनुहातिं पाहिं अपार नाद।।१।।
देखिला परि संयोगें व्यापिला।
विश्व तरीच जाहाला बाईयांनो।।२।।
पिंडब्रह्मांडाचा विस्तार विस्तारिला।
माझा मीच जाहाला कोणपरी।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे या अर्थाची सोए।
धरी माझी माय मुक्ताबाई।।४।।अ.क्र.७७१।।

"ही दिव्य स्थिती कशी प्रकट होते, ते एक नवलच आहे. ***सावळ्या नीलवर्ण श्यामसुंदराचा ठसा दाखविणारा दिव्य चक्षू प्राप्त होतो तरी कसा, हेही एक गूढच आहे.*** ताम्र-पीत-श्वेत-नील हे स्थूल - सूक्ष्म- कारण -महाकारण या देहांचे वर्ण ज्योतिरूपाने योग्यांना अंतरी दिसतात. ते दिसेनासे होऊन हा अवर्णनीय मेघश्याम मी पाहिला. त्या घननीळात हे विश्वच समावलेले मला दिसत आहे."

ज्ञानदेव म्हणतात की **"ही सर्व किमया *सत्राव्या कलेमुळे घडून येते.* आत्मदर्शन करवून देणारी ती *सत्रावी कला म्हणजे शुद्ध परमात्मतत्त्वच आहे."***

"असा हा परमात्मा गगनगुंफेत निवास करतो. विश्व त्याच्यापासून प्रकटते, म्हणून तो त्यापासून अभिन्न आहे, असे वाटते. परंतु असे असले तरी तो जसाच्या तसाच असतो. त्याच्याठायी विश्व झाले तरी त्याची स्थिती अभंगच असते. ***"सत् - चित् – आनंद"*** या त्रिपदांच्याही पलीकडे वसणारा तो अक्षय्य आत्मा मी या दिव्य दृष्टी देणाऱ्या सत्राव्या कलेच्या चक्षूंनी साक्षात पाहिला आहे."

ते पुढे म्हणतात की, **"योगी जेव्हा *महाकारणदेहात स्थित होतो,* तेव्हा त्याला विश्व-ब्रह्मैक्य जाणवू लागते. या अद्वैतबोधातच त्याला *अखंड अपार अशा अनुहत ध्वनीचा गजर* अनुभवण्यास मिळतो. आत्मरूपाचे दर्शन होते.** मायासंबंधामुळे आत्माच सर्व विश्व व्यापतो, हे रहस्य तेव्हाच खरे ज्ञात होते. पिंडापासून ब्रह्मांडाचा विस्तार कसा होतो, आपल्याच स्वरूपापासून या विश्वाची उत्पत्ती कशी होते, याचे रहस्य माझ्या लाडक्या मुक्ताबाईला छान उमगले आहे."

भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र

भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र या प्रांतांचे रहस्य यानंतरच्या एका अभंगात ओझरते दिसते. तो अभंगसुद्धा अद्वैतस्थितीचे वर्णन करण्याच्या भरात ज्ञानदेवांद्वारे प्रकटला आहे.

१) **गुजगुजीत रूप सांवळे सगुण।**
अनुभवतां मन वेडें होएं।।१।।
भ्रमरगुंफा ब्रह्मरंध्र तैं सुरेख।
पाहतां कवतुक त्रैलोक्यीं।।२।।
आनंदस्वरूप देखिलें प्रसिद्ध।
निजरूप संचलें सर्वां ठाईं।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे या सुखाचिं गोडि।
अनुभवचि आवडिं सेविं रया।।४।।अ.क्र.७७२।।

याचप्रमाणे सहस्त्रदळबिंदू ही एक योगसंबंधित संज्ञा ज्ञानदेव वापरतात. तो अभंगही याबरोबरच पाहू या:

२) **सहस्त्रदल बिंदु त्यात तेज दिसें।**
तैं हो काए ऐसें सांघा मज।।१।।

जेथ नाम रूप वर्ण नाहीं बा रे।
तैं रूप बा रे चैतन्य बा रे।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे अनुभवाचि खूण।
जाणें तो सुजाण अनुभविआं।।३।।अ.क्र.७७३।।

"गगनांतरी राहणाऱ्या त्या काळ्या पुरुषाचे ते सावळे मनमोहक रूप पाहून मन वेडावते. असे हे सगुण रूप भ्रमरगुंफेतील ब्रह्मरंध्री पाहूनच ***"तुज सगुण म्हणो की निर्गुण रे।"*** असा भ्रम योगिजनांना होतो. हे आनंदस्वरूपच अवघ्या त्रैलोक्यात ओतप्रोत भरलेले आहे आणि सर्व भूतमात्रांच्या अंतर्यामी तेच विराजते. विश्व म्हणजे त्या प्रसिद्ध परमात्म्याचे ओतीव साकार मूर्त रूप आहे."

हा जो अनुभव ज्ञानदेवांना येत आहे, त्यात अवीट सुख आहे आणि साधकांनी त्या सुखाची गोडी चाखावी असे त्यांचे आग्रहाचे सांगणे आहे.

या अभंगात येणारे ***भ्रमरगुंफा व ब्रह्मरंध्र*** या शब्दांचे साहचर्य पाहण्यासारखे आहे. यावरून असे स्पष्ट होते की ***भ्रमरगुंफा ही ब्रह्मरंध्राच्या सन्निकट आहे. अनुहत नाद*** ज्याठायी येतो, ते स्थान ***आज्ञाचक्रावरील बिंदूहीपुढील उन्मनी***पासून सुरू होते. ***भ्रमरगुंजनासम अनुहत नाद हाच तो भ्रमरगुंफेतील नाद होय.*** अर्धमात्रेच्या या प्रांतास ***गगनगुंफा, गगनमहाल*** अशाही नांवांनी ओळखले जाते.

स्थूलमानाने यासच ज्ञानेशयोगप्रणालीत ***भ्रमरगुंफा*** म्हणत असावेत. पश्चिममार्गीच्या गोल्हाटादी षट्चक्रांतील ***भ्रमरगुंफा*** हे ब्रह्मरंध्राअलीकडील शेवटचे चक्र समजतात. त्याच्या अंती ***ब्रह्मरंध्र*** असते. या सर्व विश्लेषणावरून ***भ्रमरगुंफा*** हे कोणत्या तरी चक्राचे नाव असावे असा कयास करता येणे जरा अवघडच वाटते. त्यापेक्षा ***बिंदू ते सहस्त्रारचक्र -ब्रह्मरंध्र*** या संपूर्ण प्रांतासच ***भ्रमरगुंफा*** असे स्थूलमानाने म्हणणे शक्य आहे. अनुहतनादाच्या त्या प्रांतात होणाऱ्या अभिव्यक्तीस अनुरूप असेच हे म्हणणे दिसते.

त्यातही उन्मनीपलीकडील जो प्रांत आहे, जो गोल्हाटादी चक्रप्रणालीत औटपीठानंतरचा आहे आणि थेट *ब्रह्मरंध्र -महाशून्य ते निरशून्य असा महाकारणदेह* स्थित आहे, त्यासच विशेषेकरून *भ्रमरगुंफा* म्हणणे सयुक्तिक ठरेल. असो.

सहस्त्रदलात असणारा बिंदू कोणता याचीही उकल ज्ञानदेवांच्या *अभंग क्र. ७७३* वरून होते. त्या बिंदूत तेज दिसते; तेथे नाम-रूप वर्ण नाहीत; ते तेज म्हणजे चैतन्यच! असे ज्ञानेश म्हणतात. अर्थातच ***हा सहस्त्रदलसंबंधित बिंदू ब्रह्मरंध्री असला पाहिजे,*** असे अनुमान करावे लागते. त्या तेथून पुढचा प्रांत नामरूपातीत परब्रह्माचा असतो.

वर्ण म्हणजे स्थूल-सूक्ष्म-कारण-महाकारण देहांचे योग्यांच्या प्रतीतीस येणारे ***ताम्र-पीत-श्वेत-श्याम*** हे जेथे नाहीत, असा हा ***महाशून्याचा प्रांत*** आहे. तो **सहस्त्रदळकमलस्थित ब्रह्मरंध्रबिंदुपासून सुरू होतो.** म्हणून **ब्रह्मरंध्रासही *महाशून्य* अशी यौगिक संज्ञा दिली जाते,** हे येथे लक्षात घेतले पाहिजे. असो. ज्ञानेश म्हणतात की चैतन्याचे तेज ज्याने पाहिले आहे, तोच खरा सुजाण आत्मज्ञानी!

मकाराची नड

आत्मानुभूतीपर असे अजूनही काही अभंग पुढे दिले आहेत. चैतन्य लक्षिणाऱ्या साधकांना ते उद्बोधक ठरतात.

१) **कोणाचें हें रूप देह हा कोणाचा।**
आत्माराम सांचा सर्व जाणें।।१।।
मी तूं हा विचार विवेकें शोधावा।
गोविंद हा घ्यावा याचि देहिं।।२।।
ध्येय ध्याता ध्यान त्रिपुटीवेगळां।
सहस्त्रदलीं उगवला सूर्यु जैसा।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे नयनांतील रूप।
या नांव चित् पद तुम्हीं जाणा।।४।।अ.क्र.७७४।।

२) ***डोलियांत डोला काळियांत काळा।***
देखण्या निराला निलारूप।।१।।
ब्रह्मतत्त्व जाणें ज्योतिरूपें सगला।
ज्योतिहिं वेगलां ज्योति वसें।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे देवा ऐसिं ज्योति।
अर्धमात्रा उत्पत्ती सर्वां जीवां।।३।।अ.क्र.७७५।।

३) **सद्गुरु निवृत्ति दिसतो घनदाट।**
सुषुप्तिचां घांट वेधितांचि।।१।।
आत्मा माया शिव शक्तीचें हें रूप।
दिसतें चिद्रूप अविनाश।।२।।
ज्ञानदेओ चढे ऐसिं वाट देख।
आकाशिं असें मुख तिचें कैसें।।३।।अ.क्र.७७६।।

"हा देह, हे विश्व हे सर्व कशापासून झाले आहे, ते जाणून घ्यावे. हे सर्व आत्माच आहे, हा विचार विवेकाने उमगतो. आत्मानात्मविवेक साधून या देहातच गोविंदास प्राप्त करावे. ध्येय-ध्याता -ध्यान या त्रिपुटीविरहित असणारा तो गोविंद आम्हाला सहस्त्रदलकमलात सूर्याप्रमाणे उगवलेला दिसतो."

"ज्ञानचक्षू प्राप्त झाला की त्यात त्याचे जे रूप दिसते, त्यास ***चित् पद*** म्हणून ओळखावे. कोणी त्या रूपास ***दिव्य चक्षू*** असे म्हणतात, तर कोणी त्यास घननीळ स्वरूपात पाहतात. ते रूप अरूप आहे, तरीही गुजगुजीत घनदाट नीलप्रकाशमय असे योगिजनांस भासते. कोणी या ***नयनातील ज्योती*** स ***परब्रह्म***च समजतात. पण खरे तर त्या ज्योतीहून निराळे, त्या तेजाहून वेगळे, त्या श्यामल रूपाहूनही भिन्न असणारे ते तत्त्व त्या सर्वांच्या रूपाने दिसते. ही ***जी अर्धमात्रेवर ज्योती दिसते,*** तिच्यापासूनच या सर्व विश्वाची व त्यातील जीवमात्रांची उत्पत्ती झालेली आहे."

ज्ञानदेव तर म्हणतात की त्यांचे सद्गुरू श्रीनिवृत्तिनाथच या ज्योतीच्या रूपाने त्यांच्यापुढे साक्षात अवतीर्ण झाले आहेत. हा साक्षात्कार त्यांना ***सुषुप्तीचा घाट*** म्हणजे **आज्ञाचक्रातील *मकाराचा अवघड सोपान*** ओलांडल्याबरोबर झाला.

आज्ञाचक्रातील ***मकाराची नड*** या नावाने ओळखला जाणारा प्रांत योगिजन आक्रमण करून जाण्यास अवघड समजतात. त्यासच अनुलक्षून ***सुषुप्तीचा घाट*** किंवा ***मकारांत सोपान*** हे शब्द ज्ञानेश उपयोजित आहेत. एकदा हा घाट चढून गेले की साधकाचा आज्ञाचक्रस्थ बिंदुस्थानी प्रवेश होतो आणि अर्धमात्रेच्या प्रांतात त्याचे आगमन होते. तेथून साधकास आत्मा व माया ही किंवा शिव व शक्ती ही भिन्न असल्याचे प्रतीत होत नाही. ही सर्व चिद्रूप अशा त्या अविनाशी तत्त्वात लीन झालेली आहेत, अशी त्या वेळची प्रचिती असते.

परेचे शिखर

ज्ञानदेव म्हणतात की ते ही अशी ***वाट*** चढून जाताहेत की जिचे गंतव्यस्थान अकाशात आहे. ***आकाशी असणारे त्या वाटेचे मुख*** म्हणजे सुषुम्नेचे ब्रह्मरंध्रस्थ द्वार, ज्याला दशमद्वार असे म्हणतात ते! हे ***आकाश*** म्हणजे मागे आपण ***गगनमहाल, गगनगुंफा किंवा भ्रमरगुंफा*** या नावांनी उल्लेख केलेला प्रांत आहे, हे सूज्ञांस लागलीच समजते. ज्ञानदेवही त्याचा निर्देश करत म्हणतात की:

परेच्या शिखरावरी **वस्ती माझी जाहाली।**
समरसें विरालीं मज माझिं।।१।।
आत्मदशे योगी लक्ष लाविति देहिं।
ब्रह्मरंध्र **पाहिं सत् पद तैं।।२।।**
अणुरेणु शून्य गगना तेजें दिसें।
निरंतर वसें निरंतर।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे वृत्ती *सहस्त्रदलीं* लावा।
मसुरमात्र बरवा ध्यायीं जाईं **।।३।।अ.क्र.७७७।।**

"योगसाधनेमुळे मला परेच्या शिखरावर असणाऱ्या योगियांच्या घरी वास करायला मिळाला आहे आणि माझा अहंकार विरून गेला. आत्मदशा प्राप्त झालेल्या योग्यांना देहातच ब्रह्मरंध्री सत्पद प्राप्त होते. अणुरेणूरहित असणाऱ्या आकाशतत्त्वात लय साधून योग्यांना गगनगुंफेत जे तेज दिसते, त्यातच अखंड असा त्या सद्वस्तूचा वास असतो. सहस्त्रदलकमळी मसुराकार दिसणाऱ्या त्या तेजाचे ध्यान करून योगी ब्रह्मपदी लीन होतात. ***ज्ञानदेव ज्या वाटेने जात आहेत, तिचे आकाशाकडील मुख म्हणजे ब्रह्मरंध्रच असले पाहिजे,*** हे यावरून अनुमानता येते. असो.

पंथराजाचा इतर योगांशी समन्वय

यानंतर अष्टांगयोग व कुंडलिनीयोगासह ***पंथराज*** या दोन्हींचा समन्वय करणारे ज्ञानेशांचे अभंग पाहू या.

१) ***नासिकेचां प्राण कोण मार्गिं येत।***
नाद दुमदुमित अनुहातिं।।१।।
इडा पिंगळेचां ओघ सैर दिसतसें।
तयावरी प्रकाशें आत्मतेज।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे *अष्टांग योगियां*।
साधितो उपाया याचि मार्गें **।।३।।अ.क्र.७७८।।**

२) **प्रणवाचें भेद उकलावें देहांत।**
चंद्राचिं मी मात सांघतसें।।१।।
सहस्त्रदलावरी तेज शुद्ध असें।
त्या तेजें प्रकाशें चंद्र बापा।।२।।
उन्मनीचें ध्यासें सहस्त्रदल गाजें।
पश्चिममार्गीं बीजें दोन असति।।३।।
लक्ष लावि ज्ञानदेओ एकलाचि।
शुद्ध ज्योती तोचि जाणें।।४।।अ.क्र.७७९।।

३) **मन हें लावा हें सालयीं निरुतें।**
सहस्त्रदलावरुतें परेजवलीं।।१।।
अनुहात नाद ब्रह्मस्थानीं असें।
तेथ रूप कैसें सांघा मज।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे तैं स्वरूप जो जाणें।
त्यासिं शरण होणें अनन्यभावें।।३।।अ.क्र.७८०।।

नासिका याचा लौकिक अर्थ नाक असा जरी असला आणि ***प्राण*** याचा अर्थ असाच श्वसनाद्वारे घेतला जाणारा प्राणवायू असा जरी सामान्य लोक करत असले, तरी योगपरिभाषेत यांचे वेगळेच अर्थ आहेत. **नासिका हे *आज्ञाचक्रस्थान* आणि प्राण म्हणजे *प्राणशक्ती*** असे ते अर्थ या अभंगात अभिप्रेत आहेत.

आज्ञाचक्री योगनाड्या इडा व पिंगला तसेच सुषुम्ना एकत्र येतात, हे योगजिज्ञासूंना विदितच आहे. त्यापुढे आकाशमार्गे सुषुम्ना नाडी ब्रह्मरंध्रापर्यंत पोहोचते आणि त्याठायी आत्मतेज प्रकाशत असते, असा योग्यांचा अनुभूतीपूर्ण दाखला आहे.

या अभंगातून ज्ञानदेव ***अष्टांगयोग*** म्हणजे पतञ्जलीप्रणीत ***यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि*** **अशा आठ अंगांचा योग कसा साधला जातो**, हे सांगतांना स्पष्ट म्हणतात की, **"प्राणशक्ती *आज्ञाचक्री* कोणत्या मार्गाने येते, ते पहा. *इडा व पिंगला यांच्यामार्गे ती शक्ती मूलाधार ते आज्ञाचक्र असे आवागमन करत असते,* हे योग्यांस माहीतच आहे. हीच प्राणशक्ती एकवटून सुषुम्नेत प्रवेशते. या सुषुम्नेच्या अंती असणाऱ्या ब्रह्मरंध्री आत्मतेज प्रकाशत असते. तेथे *अनुहत नाद* दुमदुमतो. *तेथे त्या प्राणशक्ती चामुंडेला नेले की अष्टांगयोग सिद्ध होतो.*"**

या ज्ञानदेवांच्या म्हणण्याप्रमाणे आपणास पतञ्जलिप्रणीत योग *– पातञ्जलयोग वा अष्टांगयोग* - या नांवानी प्रसिद्ध असणाऱ्या योगधारेचे खरे रहस्य समजून येते. त्यावरून त्या योगाचे आणि *हठयोग* तसेच *पंथराज* यांचे किती साधर्म्य आहे, हेही कळून येते.

या ज्ञानदेवांच्या अभंगावरून **असे स्पष्ट दिसते की *या तिन्ही योगप्रणालीत अत्यल्प फरक जरी यदाकदाचित असला, तरी मूलत: त्यांच्यात कोणताही मोठा भेद नाही.*** असो.

आज्ञाचक्रापुढील मार्ग नंतर दिग्दर्शित करत ज्ञानदेव म्हणतात की: **पश्चिममार्गी दोन बीजे असतात. आज्ञाचक्राची दोन दले म्हणजे *हं* व *क्षं* ही होत. त्याहीपुढे जाता *हंस* पदाची *हकार* व *सकार* ही दोन बीजे असतात.**

ब्रह्मरंध्र ते आज्ञाचक्र या प्रांतात जीव-शिव सम असतात. आज्ञाचक्र ते मूलाधार या प्रभागात जीव प्रबल असतो व संसारासक्तीमुळे तो मायापाशात गुरफटून राहतो. ब्रह्मरंध्रापुढे शिव व जीव एकरूप असतात. संसार उरत नाही.

सकार शिवाचा तर हकार जीवाचा अशी ही दोन बीजे आहेत. एक बीज मूल आहे, तर दुसरे संसाराचे आहे, असा भाव येथे अभिप्रेत आहे. ***सकार व हकार ही ॐकार व प्रणव यांची मूलस्थ आहेत. हकाराचे प्राबल्य*** होण्याच्या अवस्थेत ***ॐकार*** प्रकटतो आणि ***सकार व हकार सम होतांना प्रणव आविष्करतो,*** असाही एक विचार सांगता येतो. थोडक्यात म्हणजे ***ॐकार व प्रणव हे संसारसापेक्ष ब्रह्मस्थितिनिदर्शक संकेत आहेत.*** याचे गूढ योगी स्वत:च्या देहात उलगडतात, जेव्हा ते या पश्चिमेच्या प्रांतात प्रवेशतात.

पश्चिममार्ग *आज्ञाचक्र ते ब्रह्मरंध्र* असा आहे. या मार्गावर येणारे **चंद्रस्थान म्हणजे *अर्धेंदु* अथवा *अर्धचंद्र.*** याठायी योगी जी ज्योत लक्षितो, ती आत्मरूप असते. पण खरे तर **शुद्ध ज्योत म्हणजे आत्मा वस्तुत: सहस्रदळी ब्रह्मरंध्रातच असतो.** त्या ज्योतीच्या प्रकाशाने ही चंद्रस्थानीची ज्योत प्रकाश पावते. म्हणून सहस्रदळावर असणाऱ्या शुद्ध तेजाने चंद्र प्रकाशतो असे ज्ञानेश म्हणत आहेत.

त्या **शुद्ध तेजाकडे जाणारा मार्ग उन्मनीतून जातो. या मार्गाने जात असता *प्रारंभी क्षीण असणारा अनुहत नाद गर्जनारूप होतो.* त्या आवाजाने सहस्रदळ गजबजून जाते. *त्या नादाचे विशुद्धातिविशुद्ध रूप ब्रह्मरंध्रीच प्रकटते असे ज्ञानदेव सांगतात.***

उन्मनी प्राप्त व्हावी हा ध्यास असावा असे ज्ञानदेव म्हणतात. शंकराचार्यांनीही आपल्या ***सौंदर्यलहरी*** या ग्रंथातून तसेच ***योगतारावली***मधून या उन्मनी अवस्थेचे महत्त्व विशद केलेले आहे, हे येथे नमूद करण्यायोग्य आहे.

ज्ञानदेव म्हणतात की या मार्गाने जाण्याचे एकमात्र ध्येय त्यांच्यापुढे आहे आणि शुद्ध आत्मज्योती कशी प्राप्त करून घ्यावयाची हे त्यांना एकट्यांनाच ज्ञात आहे. हे त्यांचे प्रतिज्ञोत्तर ऐकून आपणास ***ज्ञानेश पंथराजाची कास धरण्यास सुचवत आहेत, त्याव्यतिरिक्त विशुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त होणार नाही असे त्यांचे निश्चयात्मक सांगणे आहे,*** असे दिसते. या त्यांच्या विधानावरून खरा साधनामार्ग कोणता आहे, त्याचे उत्तर मिळते. ***पंथराज हाच तो खरा साधनामार्ग असा निर्वाळा या अभंगातून सुज्ञांस प्रतीत होतो.***

अर्धमात्रेच्या प्रांतातील ध्येय्य वस्तू

नंतरच्या अभंगात *(क्र.७८०)* हे लक्ष्य अधिक स्पष्ट केले आहे. ***सहस्रदळावर परेच्या जवळ असणाऱ्या आत्मरूपाठायी मन लावावे असा स्पष्ट निर्देश ते देतात. हे आत्मरूप ब्रह्मस्थानी असते म्हणजे *महाशून्य* हे त्याचे वसतिस्थान आहे. तेथे अनुहत ध्वनी नांदत असतो.*** म्हणजे या प्रांतातून आत्म्याकडे जात असता अनुहत नाद प्रतीत होतो. तेथे कोणती ज्योती आणि कोणते रूप ध्यायावे असा प्रश्न आहे. ज्ञानेश तेथे स्वरूपध्यान सांगतात. पण हे ध्यान कसे करावे, हे समजावे म्हणून साधकांस स्वरूपज्ञानी सद्गुरूंना शरण जाण्याचे ते सुचवत आहेत.

पंथराज व पश्चिमपथ यांच्या खाणाखुणा::::

चिद्विलासवादाचा उगम

यानंतर **पंथराज**ाच्या खाणाखुणा वर्णन करणारे काही अभंग पाहू या.

१) ***महावाक्यार्थ तैं शून्य कैसें बापा।***
सत्वर नयनीं पाहा आत्मप्रभा।।१।।
प्रभा शीत उष्ण दोहिंचेंहीं सार।
प्रणव हा सारासार आरुता रया।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे सोपानातैं ऐसें।
निराकार असें आकारेंसि **।।३।।अ.क्र.७८१।।**

२) ***दशमद्वार अग्र शून्य गगनीं।***
जेथ असे उन्मनी अखिल रूपें।।१।।
द्विविध भाग पिंडीं द्विविध ब्रह्मांडीं।
यातीं पडिपाडीं ब्रह्मरंध्रीं।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें शून्यातील रूप।
अनंत ब्रह्मांडे जेथ आहाति।।३।।अ.क्र.७८२।।

३) ***जडांतील शुद्धांश कवतुकें रिझाला।***
निवृत्तिनें दाविला कृपा करूनि।।१।।
अनुहत भेद दाविला कृपेने।
सर्व हें चैतन्य गमलें तेव्हां।।२।।
ज्ञानदेओ नयनीं निवृत्तीचे पदीं।
आनंद ब्रह्मपदीं एक जाहाला।।३।।अ.क्र.७८३।।

तत्त्वज्ञानाचा कितीही अभ्यास केला, कितीही शांकरवेदांत पढला, अन्य आत्मानात्मविवेकपर ग्रंथ अभ्यासले, परोक्षज्ञान कितीही का होईना, मिळवले, कितीही प्रवचने केलीत किंवा ऐकलीत, पांडित्यादी व्यासंग केला, तरी साक्षात्काराच्या दृष्टीने ते सगळे अत्यंत फोल असते असा या अभंगाचा एक अभिप्राय आहे.

"तत् त्वम् असि", "अहं ब्रह्माऽस्मि","सर्वं खलु इदं ब्रह्म" ही काही महावाक्ये आहेत. जीव, जगत व ईश्वर किंवा ब्रह्म यांचा परस्परसंबंध या महावाक्यांनी सूचित होतो. **सद्गुरू शिष्याला या महावाक्यांचा अर्थपूर्ण व *अनुभूती देणारा* उपदेश देतात.**

ज्ञानेश म्हणतात की: ''वाच्यार्थाने ही महावाक्ये फोलच होत. त्यांचा खरा अर्थ शून्याच्या अनुभूतिविना समजत नाही. ही अनुभूती घेण्यासाठी सत्वर ***पूर्वमार्ग म्हणजे मूलाधार ते आज्ञा*** ही चक्रे लंघावी आणि नयनी म्हणजे आज्ञाचक्रस्थ बिंदुस्थानी असणाऱ्या तृतीय नेत्री जी आत्मप्रभा दिसते, ती पाहावी.''

प्रभा म्हणजे सुषुम्ना, शीत म्हणजे इडा वा चंद्रनाडी आणि उष्ण म्हणजे सूर्य वा पिंगलानाडी. इडा व पिंगला या योगनाड्या संसाराच्या आवागमनाच्या निदर्शक आहेत. याच नाड्या उलटल्या म्हणजे त्यांची वक्रगती त्यागून सुषुम्नेशी एकरूप झाल्या, की संसाराचे आवर्त संपवणाऱ्या सुषुम्ना नाडीत जीवाचा प्रवेश होतो. म्हणून शीत उष्ण म्हणजे **संसाराभिमुख अशा या दोन्ही *इडा व पिंगला* नाड्यांचे सार खरे तर संसार असार करून देणाऱ्या *प्रभा* किंवा सुषुम्नेत आहे.**

या नाडीने जेव्हा जीव ऊर्ध्वगतिक होतो, तेव्हा ***प्राणाचा प्रणव होतो.*** अर्थात कुंडलिनी जागृत होऊन योगदृष्ट्या अग्रेसर होते. म्हणून या तिहींचेही सार म्हणजे ***कुंडलिनी*** होय. हिच्याच प्रभावाने जग विस्तारते आणि लय पावते. यासाठीच **प्रणव वा जागृत कुंडलिनी ही निराकार व साकार यातला दुवा आहे.** कुंडलिनीच्या संबंधाने निराकार साकार होते, असा भाव यात आहे.

पंथराजसाधना ही उत्थापित कुंडलिनीवर आधारलेली आहे, हे आपणास ज्ञातच आहे. ज्ञानेश ***या शक्तीला दशमद्वारी न्यावे*** असे म्हणतात.***दशमद्वार म्हणजे ब्रह्मरंध्र.*** हे सुईच्या अग्रासारखे सूक्ष्म असते. हे ***शून्य किंवा महाशून्य*** म्हणूनही ओळखले जाते. ते गगनगुंफेच्या अंती असते.

तेथे ***उन्मनी वा सत्राव्या*** कलेचे वास्तव्य असते. याच कलेतून जगातील अखिल रूपे प्रसवतात. ***ब्रह्मरंध्री पिंड व ब्रह्मांड हे सम असतात. म्हणजे तेथे अर्धा भाग जीवाचा तर अर्धा भाग शिवाचा असे संमीलन असते.***

ज्ञानदेव म्हणतात की ''शून्यात जे रूप वा स्वरूप अवस्थित असते, त्याच्या पोटात अनंत ब्रह्मांडे समावलेली आहेत. ते स्वरूपच अशा प्रकारे ब्रह्मांडाचे बीज आहे.''

जड विश्वातील शुद्ध अंश किंवा चिदंश तो हे स्वरूपच असतो, हे निवृत्तिनाथांच्या कृपेने ज्ञानदेवांना आकळले आहे. अनुहत नादाचे योगरहस्य त्यांनीच ज्ञानेशांना स्पष्ट केले आणि योगानुभूती दिली. त्यामुळे ***"विश्व ब्रह्मचि केले"*** अशी अनुभूती त्यांना आली.

ज्ञानेशांचा ***चिद्विलासवाद*** याच अनुभूतीतून उगम पावला असला पाहिजे. कारण हे सर्व चैतन्यच आहे अशी साक्षात अनुभूती त्यांना निवृत्तिकृपेने प्राप्त होऊन ***निवृत्तिपद व ब्रह्मपद*** यातील अभिन्नत्व त्यांना गमले. म्हणून आनंदाची प्राप्ती त्यांना निवृत्तिचरणी प्राप्त झाली असे ते म्हणतात. ही अनुभूती घेत ते नयनी स्थिरावलेत. येथे ***नयन म्हणजे ब्रह्मरंध्र*** असा अर्थ अभिप्रेत आहे.

प्रणवाचे स्वरूप

मागे आपण ॐकाररहस्य पाहिले *(उन्मेष:३७:ॐकार व प्रणव पृ.क्र.५६९ ते ५८३).* ***ॐकार व प्रणव*** यांना बऱ्याचदा समानार्थक समजले जाते. परंतु ज्ञानेशयोगप्रणालीत त्यांच्यात सूक्ष्म भेद आहे, असे जाणवते. वरील अभंगांच्या विवरणात ***ॐकार, प्रणव व कुंडलिनी*** यांचा संबंध ओझरता उल्लेखला आहे. ***प्रणवाचे*** ज्ञानेशमते जे ***स्वरूप*** आहे, ते स्पष्ट व्हावे यासाठी काही अभंग आपणास पहावयाचे आहेत. त्यांची पूर्वपीठिका असे अजूनही काही ***पंथराजसंबंधित अभंग*** पाहून मग तिकडे वळू या.

भक्तीचे नवविध अमृतजळ व त्याचे यौगिक रहस्य

१) ***नवाआंत ओंवरी औटपीठाजवलीं।***
शून्यातील काळीं सुकुमार।।१।।
अंगुष्ठ पूर्वार्ध मसुरमात्र दीर्घ।
उन्मनीचा मार्ग तैंचि ठाईं।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें पूर्वार्धांतील गीर।
सर्व हें साचार विश्व दिसें।।३।।अ.क्र.७८४।।

२) **भ्रुवामध्ये तेज चंद्रसूर्यविरहित।**
आदि मध्य अंत संचलेसें।।१।।
तुर्यारूपें तैं सुषुम्ना प्रकाशली।
नवविध अमृतजलीं तेयां तेजां।।२।।
ज्ञानदेओ वदे अष्टांगयोग साध।
पावाल ब्रह्मपद याचा भेद **।।३।।अ.क्र.७८५।।**

३) ***पश्चिममार्गें खूण बीजें दोन साजिरीं।***
अविनाश ओंवरी योगियांचिं।।१।।
त्रिकूट श्रीहाट चंद्रसूर्य जाणा।
पश्चिममार्गीं खूण याचि की रें।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें बीजें दोन बापा।
पाहें आत्मरूपा तेथ बा रे।।३।।अ.क्र.७८६।।

"नवद्वारे पुरे देही" म्हणजे मनुष्यदेहास नऊ द्वारे वा छिद्रे आहेत. ***दशमद्वार ब्रह्मरंध्रास म्हणतात.*** या नऊ द्वारे असलेल्या ***देहाची ओवरी म्हणजे त्यात प्रवेश करण्याची जागा औटपीठाजवळ असते. तेथे शून्याच्याही अतीत असे सावळे श्रीकृष्णरूप विराजते.*** याठायी ते रूप मसुरमात्र आकाराचे तेजबिंदुस्वरूपाचे दिसते, तर तत्पूर्वी आज्ञाचक्री ते रूप अंगुष्ठमात्र आकाराने दिसते. **आज्ञाचक्र ते ब्रह्मरंध्र यातूनच उन्मनीकडे जाण्याचा मार्ग असतो.**

ज्ञानदेव म्हणतात की ''हे अंगुष्ठमात्र ज्योतिरूपच सर्व विश्व झाले आहे. भ्रूमध्यभागी जे हे तेज दिसते, ते चंद्र म्हणजे इडा आणि सूर्य म्हणजे पिंगला या नाड्यांचे नाही. त्या तेजात आदि म्हणजे अकार, मध्य म्हणजे उकार आणि अंत म्हणजे मकार अशा ॐकाराच्या तिनही मात्रा संचल्या आहेत. जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति

या तिन्ही अवस्थांच्या किंवा साकार विश्वाच्या या मात्रा निर्देशक म्हणून ओळखल्या जातात. म्हणजे ***अंगुष्ठमात्र ज्योतीतून हे विश्व साकारते."***

तुर्या ही सुषुम्ना नाडीस प्रकाशवणारी अवस्था आहे. **सुषुम्नेस या *तुर्या*नामक ॐकाराच्या अमात्रेचा प्रकाश मिळतो**, असे ज्ञानेश म्हणतात. **नवविधा भक्तिरसाच्या जळास त्या तेजाने अमृतत्व प्रदान केले आहे.** ज्ञानदेव साधकांस म्हणत आहेत की ***अष्टांगयोग साधून ब्रह्मपद प्राप्त झाले* की याचे रहस्य आकळून येते.**

या अभंगाद्वारे भक्तिसिद्धांतांनी गौरवलेली, नारदभक्तिसूत्राने आणि शांडिल्यादी प्रभृतींनी गायिलेली, प्रह्लादमुखे श्रीमद्भावतात सांगितलेली प्रख्यात ***नवविधा भक्ती*** ही योगमार्गाशी कशी अभिन्न आहे आणि तिच्या प्राप्तीचा मार्ग हा योगमार्गच कसा आहे, हे स्पष्ट दिसून येते. **अष्टांगयोगाने *(म्हणजेच येथे पंथराजाने)* जेव्हा साधक ब्रह्मपद पावतो, सहस्रदळी विराजतो, तेव्हाच त्याला जी तुर्यातीतावस्था प्राप्त होते, तीच ही ख्यातनाम नवविधा भक्ती होय. तुर्येच्या प्रकाशात ही भक्ती अमृतत्व पावते**, असे ज्ञानेश म्हणतात, ते याच अर्थी!

श्रवण, स्मरण, अर्चन,कीर्तन, वंदन, पादसेवन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन, इ.नवधा भक्तीचे प्रकार भक्तिशास्त्रात प्रमुख म्हणून गणले जातात. ***वात्सल्य, कांतासक्ती*** असेही काही प्रकार धरून कोणी भक्तिमार्तंड अकरा भक्तिप्रकार मानतात. यातील विविध संप्रदाय वा ***नारदभक्तिसूत्रे, शांडिल्यभक्तिसूत्रे*** इ.ना उभयमान्य असे प्रमुख नऊ भक्तिप्रकार विश्रुत आहेत. त्यांनाच या अभंगात ज्ञानेश ***नवविध अमृतजळ*** असे म्हणत आहेत. नारदसुद्धा भक्तीला ***"अमृतस्वरूपा च।।३।।ना.भ.सू.।।"*** असे म्हणतात.

या अभंगात ज्ञानदेव सूचित करताहेत की ***तुर्येचा म्हणजे सुषुम्नास्थित कुंडलिनीचा प्रकाशच असा नवविध प्रकारच्या भक्त्यमृतजळाने विकसत असतो. या अवस्था अष्टांगयोगांतर्गत असल्याचेही ते स्पष्ट करतात.*** यावरून असे दिसून येते की **साधक जेव्हा *धर्ममेघ* समाध्यवस्थेत जातो, तेव्हा ही खरी भक्ती प्रकटते. *योग्याचा जेव्हा बिंदुपासून उन्मनीपर्यंतचा प्रवास सुरू होतो, तेव्हा या भक्तीची उच्चतर श्रेणी विशेषेकरून प्रकटते.***

पातञ्जलयोगसूत्रात ईश्वरप्रणिधानाचे अनन्यसाधारण असे जे महत्त्व आहे, तेही याच अनुषंगाने असल्याचे ज्ञानेशांच्या उपरोक्त दाखल्यावरूनही ध्यानात येते. कारण भक्ती हा प्रांत ईश्वरप्रणिधानावाचून संपन्न होणे अशक्यच आहे.

अष्टांगयोग भक्तिविवर्जित असल्याचा जो एक समज विद्वानात प्रचुर होऊ पाहत आहे; योग व भक्ती हे भिन्न साधनाप्रकार आहेत, असाही जो एक समज स्थिरावू पाहत आहे; तो साधार आणि अनुभूतिसापेक्ष नसल्याचे आपणास या ज्ञानदेवांच्या अभंगानिमित्ताने जाणवते. तसेच भक्तीचा कुंडलिनीशी व तिच्या योगाशी काहीही संबंध नाही, असे समजणाऱ्या आधुनिक भक्तिप्रापंचिकांचे मतही किती चुकीचे, अनभ्यस्त आणि अनुभूतिरहित आहे, तेही जिज्ञासूंच्या लक्षात येते.

तूर्त भक्तीविषयी एवढे विवेचन पुरे करू या. कारण आपणास अजूनही ज्ञानेश्वरीतील भक्तीवरील विवेचन मुळातून पाहावयाचे राहिले आहे. त्या वेळी हा विषय अधिक सविस्तर पाहता येईल. त्याच प्रसंगी भक्ती म्हणजे खरी काय याचाही नारद-शांडिल्यभक्तिसूत्रादी भक्तिशास्त्राच्या मान्यतम ग्रंथांवरून विचार करता येईल आणि भक्तीचे योगरहस्य किंवा योगाचे भक्तिरहस्य तेव्हा उलगडता येईल. असो.

पश्चिमपथाच्या खाणाखुणा

नंतरच्या अभंगात *(अ.क्र ७८६)* ज्ञानेशांनी ***पश्चिममार्गाच्या काही ठळक खाणाखुणा*** सांगितल्या आहेत. त्यांत **आज्ञाचक्राची दोन दले आणि त्यापुढची *सकार व हकार* ही हंसपदाची दोन बीजे, औटपीठाची अविनाश ओवरी म्हणजे ब्रह्मरंध्री प्रवेश करण्याची जागा, त्रिकूट, श्रीहाट ही शून्ये वा चक्रे, चंद्र-सूर्य म्हणजे इडा व पिंगला या नाड्या**, यांचा ज्ञानदेव अंतर्भाव करतात.

या निर्देशांवरून पुनश्च त्यांच्या योगमार्गाचे म्हणजे पंथराजाचे हठयोगाशी असणारे साम्य प्रकट होते. ज्ञानदेव आज्ञाचक्रावर **हंसपद**ात सम असणाऱ्या **जीव *(हकार)* आणि शिव *(सकार)*** यांच्याकडे पुन: निर्देश करत म्हणतात की या दोन बीजांतच आत्मरूप गवसते. असो.

प्रणव रहस्य

आता प्रणवासंबंधी ज्ञानदेवांचे जे अभंग पाहवयाचे राहिले होते, त्यांच्याकडे वळू या. ते म्हणतात:

१) इडा वाम दक्षिणे पिंगला।
<u>*दोहिंत कळा ब्रह्मस्थानीं*</u> ।।१।।
प्रणव सैरा बापा धांवें अवघड वाटे।
रिघा नवपाटें जीव जीवना।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें हाचि कीरें प्रणव।
यापरता अनुभव नाहीं नाहीं।।३।।अ.क्र.७८७।।

२) प्रणवासिं रूप नाहिं काहिं छाया।
<u>*दशमें द्वारीं मूळमाया असें कीरें*</u>।।१।।
<u>*सहस्रदळीं वृत्ति लावितां नि:शंक*</u>।
मनासिं भवासिं ऐक्यता तेथ।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे यापरतें नाहिं।
बोलण्याचि सोयि अनुभविं जाणें।।३।।अ.क्र.७८८।।

३) प्रणवच देह देह हा प्रणव।
कल्पेचां भाव कल्पूं नयें।।१।।
अंजनाचें सार तेच देह बा रे।
आत्मा परिपूर्ण सारे पाहति ज्ञानी।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे <u>*प्रणव माझा पिता*</u>।
<u>*अक्षर तैं माता*</u> याचि भेदें।।३।।अ.क्र.७८९।।

शरीराच्या वामभागी इडा व दक्षिणभागी म्हणजे उजवीकडे पिंगला या योगनाड्या आहेत. संसारासक्त मनाच्या पंधरा कला समजल्या जातात. या दोन नाड्या प्राणांचे अध आणि ऊर्ध्वगमन करवत मनास

त्या कलांचा भोग घडवतात. परंतु या **सर्व कलांचे उगमस्थान ब्रह्मरंध्री आहे. पंथराज योगसाधनेत प्राणांचा आमूलाग्र कायापालट होतो व ते मनासह सुषुम्नेत प्रवेशतात. जागृत कुंडलिनीयोगे हे घडते.**

मन, प्राणासह सुषुम्नेत प्रवेश केलेल्या कुंडलिनीस येथे प्रणव म्हटले आहे. पूर्वमार्ग उलंघून पश्चिममार्गाकडे जाणारी अवघड वाट या प्रणवासाठी नियोजिलेली आहे. नऊ द्वारांनी म्हणजे इंद्रियोपभोगांच्या नऊ वाटांनी जीव इतस्तत: धावत असतो. तोच या प्रणवाच्या प्रकटीकरणाबरोबर मूलस्थानाकडे म्हणजे जीवन देणाऱ्या मूलस्त्रोताकडे याच नऊ वाटांनी परत फिरतो, असा अभिप्राय येथे व्यक्त झाला आहे. यासच ***वृत्ती पालटणे, प्राणाचा प्रणव करणे, इडा-पिंगलांची गती पालटणे, उफराटे पाहणे,*** इ.अनेक योगशास्त्रीय संज्ञा आहेत.

ज्ञानदेवमते योगसाधकांना प्रणवाचे हे स्वरूप अशा प्रकारे व्यक्त होते. प्रणवाचे हे स्वरूप प्रकटणे यापरती श्रेष्ठ अनुभूती कोणती असणार! असे ते म्हणतात. पुढे ते असेही म्हणतात की **प्रणवास रूपही नाही तर छाया ती कोठून असणार! ॐकाराचे असे नाही. त्यास रूपही आहे आणि छायाही आहे,** असा गर्भितार्थ येथे आहे. ***अ,उ,व म*** **या तीन मात्रा हे ॐकाराचे रूप आणि संसार ही छाया, असा भाव त्यात आहे.**

पण प्रणव तसा नाही. म्हणजेच योग्यांना प्रणवाची जी अनुभूती जागृत कुंडलिनीमुळे येते, ती शब्दात सांगणे शक्यच नाही. ती स्वप्नवत असण्याहीपलीकडची आहे. कारण ***प्रणव खरा तर परब्रह्मच होय.*** त्या परब्रह्मास ना रूप ना छाया! त्याचीच प्रतिकृती अशी ***मूळ माया दशमद्वारी म्हणजे ब्रह्मरंध्री प्रकटून हे विश्व सर्जते आणि अंती सुप्ता कुंडलिनीच्या रूपात मूलाधारस्थानी साडेतीन वेटोळी घालून राहते.*** अर्थात परब्रह्माची छाया अशी जी मूळ माया व तिचा कुंडलिनीनामक अवतार यांना तरी रूप कोठून असणार! म्हणून हे ***विश्व, कुंडलिनी, मन, प्राण, जीव, मूळ माया ही सर्व परब्रह्माचीच रूपे असून ही सर्व प्रणवच आहेत,*** असा निष्कर्ष निघतो.

याची अनुभूती घेण्यासाठी सहस्त्रदळी असणाऱ्या स्वरूपाकडे योग्याने वृत्ती केंद्रित करावी. तेथे मन व विश्व यांचा पसारा स्वरूपी लीन होतो. ज्ञानदेव म्हणतात की ***योगरहस्य ते हेच आहे*** आणि याची जाणीव अनुभूतिप्राप्त साधकांनाच लाभते.

विश्व-ब्रह्मैक्याचा सिद्धांत प्रणवाधारे साकार करत ते पुढे स्पष्ट शब्दात सांगतात की ***"प्रणव हाच देह आहे आणि देह वा विश्व हेच प्रणव आहेत. हे सर्व स्वरूपच आहेत."***

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्यो: स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।२-१-११।।कठ.।।" या कठोपनिषदातील मंत्राची आठवण उपरोक्त प्रणववर्णनावरून येणे स्वाभाविक आहे. आत्म्यामध्ये अनेकपणा नाही. असा अनेकपणा पाहणारा जन्ममृत्युच्या चक्रात अडकतो. पण शुद्धांत:करणाने आत्म्याच्या एकतेचा अनुभव घेणारा कृतार्थ होतो, असे ***कठ*** म्हणते. ज्ञानेशही हे सर्व प्रणवच आहे, असे म्हणून ***कठवल्ली***चा प्रणवपुष्पाने आदर करतांना दिसतात. आणि ***हा प्रणवच त्यांच्या चिद्विलासवादाचे मूळ आहे,*** हे सूज्ञांस परतपरत सांगायला नकोच!

प्रणवाचे मन-प्राणासहित जागृत कुंडलिनी हे रूपही ज्ञानेशांनी मूर्त केले आहे. ***"प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्षमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।२-२-४।। मुं.।।"*** असा मुंडकोपनिषदातील मंत्र आहे. ***प्रणव हेच धनुष्य, आत्मा वा जीव हाच बाण आणि ब्रह्म हे लक्ष्य*** असे समजून अत्यंत दक्षतेने त्याचा वेध करावा. बाण जसा लक्ष्यात रुतून राहतो, तसे जीवाने ब्रह्मात बुडून जाऊन तन्मय व्हावे. या मंत्राचाही उत्तम अर्थ ज्ञानदेवांच्या उपरोक्त ***मन-प्राणासह जागृत कुंडलिनी म्हणजेच प्रणव*** या व्याख्येने प्रकट होतो.

पंथराजात प्राणासह जागृत कुंडलिनीचे धनुष्य कल्पून त्यावर सुषुम्नेची प्रत्यंचा चढवली आहे आणि जीवाचा बाण करून ब्रह्मरंध्रीच्या शिवाला लक्ष्य केलेले आहे, असे लाक्षणिक अर्थाने म्हणावेसे वाटते. ज्ञानेशांचे अभंग असेच काही तरी निर्देशितांना दिसतात. पण त्याहीपुढे जाऊन ***"सुवर्णाची अंबिका, सुवर्णाचा त्रिशूळ आणि सुवर्णाचा महिषासुर"*** या प्रकारचे अद्वैत पाहणारे ज्ञानेश प्रणवरूपी धनुष्य, जीवरूपी आत्मबाण व ब्रह्म यात भेद न पाहता, त्या सर्वात प्रणवच पाहतांना दिसतात.

त्यांचे स्पष्टच म्हणणे आहे की यात ***"कल्पेचां भाव कल्पूं नयें".*** म्हणजे कल्पनेने या जगताचे ब्रह्मसापेक्ष नानात्व जे दिसते, ते उगीचच त्यांच्या मूळच्या अभिन्नत्वावर लादू नये. ज्ञानांजनाचे सार जे ज्ञानच आहे, तो हा देह आहे. ज्ञानी याच दृष्टीने आत्म्याचे पूर्णत्व पाहतात. ***"ॐ पूर्णमद:। पूर्णमिदं। पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।"*** हा ज्ञान्याचा जो बोध आहे, तोच ज्ञानेशांच्या ***"आत्मा परिपूर्ण सारे पाहाति ज्ञानी"*** या अभंगोक्तीत आहे.

ॐकार व प्रणव

ब्रह्म व मूळ माया ही दोन्ही प्रणवच आहेत, असे मानणारे ज्ञानेश म्हणूनच प्रणवरूपी जीवाचे माता-पिता हे दोघेही प्रणवच असल्याचे म्हणतात. ते हा बोध ठसवण्यासाठी पुढे म्हणतात:

१) ***प्रणवचि शक्ति शिवु प्रणवचि।***
क्षर अक्षर सांची प्रणव तैं।।१।।
त्रिकूट श्रील्हट गोल्हाट ब्रह्मरंध्र।
प्रणव निरंतर ऐक्य जाहाला।।२।।
ज्ञानदेओ आपण प्रणव जाहाला आदिं।
ध्यातां ब्रह्मपदीं प्रणवचि **।।३।।अ.क्र.७९४।।**

२) **स्थावर जंगम प्रणव प्रसवला।**
आत्मा स्वयें संचला प्रणवाठाईं।।१।।

अवस्था भुक्ति मुक्ति प्रणवचि जन्मतां।
अर्धमातृकेपरतां प्रणवचि।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणें प्रणवाचें ठाइं।
प्रणवीं प्रणव पाहीं तो निरालाचि **।।३।।अ.क्र.७९५।।**

३) **प्रणवाचें आकाश असें सर्वांवरी।**
आकाशिं भरोवरी प्रणवाचि।।१।।
प्रणव जैं गुह्य ऋषियोगियांचें।
सर्वांवरीष्ठ सांचें वेदआज्ञा।।२।।
एक वेदांत सिद्धांतिं प्रणव तो तत्त्वतां।
ज्ञानदेओ वक्ता सांघतसें।।३।।अ.क्र.७९१।।

प्रणव हाच शिव आहे आणि शक्ती पण प्रणवच आहे. क्षर आणि अक्षर ही प्रणवच आहेत. प्रणवाच्या पंथराजसाधनेने ज्ञानदेव प्रथम प्रणव झाले आणि ब्रह्मपदी असणाऱ्या प्रणवाचे ध्यान करत प्रणवाचे अखंड वैभव उपभोगत आहेत. चराचर विश्व या प्रणवानेच प्रसवले आहे. ज्ञानदेव म्हणतात की त्या प्रणवाठायी आत्माच संचला आहे. जीव, भुक्ती, मुक्ती ही सर्व उपजतच प्रणव आहेत.

अर्धमात्रेअलीकडे-पलीकडे प्रणवच भरलेला आहे.

ज्ञानदेव म्हणतात की ***प्रणवाठायी प्रणवाने प्रणव पाहणारा विरळा आणि असामान्य असतो.*** भावार्थ असा आहे की ***ब्रह्माठायी प्रणवोपासनेने देहाचे अभिन्नत्व पाहणारा योगी धन्य होय. देह हा प्रणव म्हणजे ब्रह्म आहे, हे प्रणवोपासनेने म्हणजे कुंडलिनीयोगाने पाहणे अशी जी प्रणवोपासना आहे, ती पंथराजाशी*** कशी ***अभिन्न आहे,*** ते आपण वर पाहिलेच आहे. अशा या प्रणवाचे आकाश सर्व तत्त्वात असते. अर्थात वस्तुमात्रात प्रणव वा परब्रह्म यांशिवाय दुसरे काहीच नाही.

या ठिकाणी ज्ञानदेवांनी ***प्रणवाचा अर्थ परब्रह्म*** असा केला आहे. त्या दृष्टीने पाहिले तर कित्येकदा ***ॐकार व प्रणव*** यांचे विभिन्न अर्थ प्रचुर असल्याचे दिसते. कधी कधी तर ज्ञानेश ते समानार्थीसुद्धा वापरतात, असे वाटते. वेदांतसुद्धा ***ॐकार, प्रणव व उद्गीथ*** हे शब्द ***समानार्थी व ब्रह्मवाचक*** म्हणून येतात. ***"तस्य वाचक: प्रणव:।। १-२७ ।पा.यो.सू.।।"*** असे पतञ्जलींचे सूत्र पण सांगते.

गीतेतसुद्धा ***प्रणव व ॐकार*** यांची अशीच सरमिसळ आढळते. ***"वेद्यं पवित्रमोङ्कार..।।९-१७।।", "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्माम...।।८-१३।।", "ॐ तत्सदिति निर्देशो...।।१७-२३।।", तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपक्रिया:।...।।१७-२४।।", "प्रणव: सर्ववेदेषु..।।७-८।।"*** अशी त्याची उदाहरणे आहेत. गीतेतील ***अक्षर*** या शब्दाचाही असाच आयाम आहे.

त्यातला थोडा फरक असा की ***ॐकार हे साकार ब्रह्म, तर प्रणव हे ब्रह्माचे मूळ स्वरूप आणि उद्गीथ म्हणजे गायिलेला ॐकार*** वा प्रणवार्थ गायन किंवा ब्रह्मस्वरूपाचे सामवेदीय वर्णन.

ज्ञानेशांच्या अभंग क्र.७६६ मध्ये ***"अकार उकार मकार ॐकार। प्रणव हा साकार सुरेख रे।"*** असे म्हणतांना ॐकार म्हणजे साकार प्रणव असल्याचे स्पष्ट केले होते. म्हणजे देह वा बाह्य जगत हे ॐकार व ब्रह्म हे प्रणव असल्याचा त्यांचा अभिप्राय दिसतो. वरील अभंगातून (क्र.७९५) ***"प्रणवाचें ठाईं। प्रणविं प्रणव पाहिं।"*** असे म्हणून देह वा विश्व हे प्रणव, ब्रह्म हे प्रणव व योगसाधना हीही प्रणव असल्याचे दर्शविले आहे. हे सर्व बारकावे नीट लक्षात घेण्यासारखे आहेत. असो.

प्रणवोपासना

ज्ञानदेव म्हणतात की प्रणव हे ऋषी व योगी यांचे गुह्य आहे. ***वेदाज्ञेप्रमाणे प्रणव सर्वश्रेष्ठ आहे. वेदांतातील सुप्रसिद्ध सिद्धांताकडे निर्देश करत ज्ञानदेव सांगतात की तत्त्वत: हे सर्व तो एकलाएक प्रणवच आहे.*** प्रणवाच्या उपासनेचा पंथ कोणत्या मार्गाचा आहे यावर प्रकाश टाकणारे अजून काही अभंग पाहू या. त्यांवरून ***पंथराज व प्रणवोपासना*** **यांचे साधर्म्य आणि एकरूपत्व** स्पष्ट होते.

१) *पश्चिममार्ग बापां प्रणव कीं हें सांघ।*
जेथ असें महालिंग तेजोमय।।१।।
चंद्रातील जळ सत्रावी केवळ।
नादबिंदा कल्होळ गर्भीं जाहाला।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे देह हा दुर्लभ।
त्रैलोकी सुलभ भजनाचा हां।।३।।अ.क्र.७९०।।

२) **अमृताचिं क्षीर ब्रह्मांडभुवनीं।**
पाहातिं त्रिभुवनीं नवल जाहालें।।१।।
नादबिंबां भेटी जाहालीं कवण्या रीतीं।
शुद्ध ब्रह्मज्योति संचलिसें।।२।।
प्रकृति पुरुष शिवशक्तिभेद।
त्याचे शरीरीं द्वंद्व देह जाणा।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे पिंडीं शोध घ्यावा।
ब्रह्मासिं पाहावा ब्रह्म ठंसा।।४।।अ.क्र.७९३।।

३) **प्रणवाचें रूप कोणें देहें देखिलें।**
निवृत्तिनें दाखविलें याचि देहिं।।१।।
सकार हकार तुर्या उन्मनी भेद।
अभेदुनि भेद केलें मज।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे प्रणवाचिं खोली।
अक्षरींचि बोलीं देह सार **।।३।।अ.क्र.७९२।।**

प्रणवोपासनेचा गाभा म्हणजे ***पश्चिममार्ग*** आहे, जेथे ***तेजोमय महालिंग*** असते. हे तेजोमय महालिंग म्हणजे ***महाशून्यस्थान.*** यासच वुड्रॉफ ***पराबिंदु किंवा परमशिव*** म्हणतात. *(पृ.क्र.८११वरचा तक्ता पाहावा.)* हे देहातीत स्थान आहे. हेच ***परमधाम वा परमव्योम*** आहे. ***योग्यांचे घर ते हेच! भ्रमरगुंफा व पुढील सत्य-अलक्ष्य-अगम-***

अनामी लोकादी स्थाने ती येथीलच! **विदेही साधुसंत आणि योगी यांची येथेच स्थिती असते. जीवन्मुक्तांचे हेच स्थान ध्येय्य असते.** कारण जीवन्मुक्तीच्या प्राथमिक अवस्था रूढ झाल्या की ते येथेच गती घेतात.

"नेणें नाद बिंदु कला ज्योति"

मनाच्या सोळा वा सतरा कलांबाबत मागे विवेचन केले आहे *(पृ.क्र.८०५,८०६).* पंधरा कला मूर्त मनाच्या असतात. सोळावी कला मूर्त मन व अमूर्त यांच्या संधीवरील असते आणि सत्रावी कला चैतन्याची असते, हे आपण पाहिले आहे. सत्राव्या कलेसच ***अमृतकला*** असेही म्हणतात. ***मन म्हणजे चंद्र*** असे रूपक योगशास्त्रात वापरतात. त्यामुळे ***चंद्रातील जळ*** असे ज्ञानेश म्हणतात, ते **सत्राव्या कलेतील अमृत**ास लक्षून असल्याचे जाणवते. हे अमृत वा चंद्रामृत प्राशून योगी धन्य होतात.

नाद, बिंदु व कल्लोळ गर्भस्थ झाला, असे ज्ञानेश म्हणतात, ते योग्याच्या या स्थितीस अनुलक्षून आहे. ***नाद व बिंदू*** ही जगताची सूक्ष्म प्रतीके आहेत. ***बिंदू हे रूप आणि नाद हे विश्वस्पंदाचे प्रतीक म्हणून येतात. नाद, बिंदू, कला व ज्योती*** ही सर्व मिळून ज्ञानेशांचे योगविश्व साकारते. अस्तित्वाच्या चार खूणा त्या याच. या मावळल्या की विश्वाचा वा अस्तित्वाचा लय होतो. याच अर्थी ज्ञानेशांनी ***"आतां नाद बिंदु नेणिजे। कला ज्योति।।६-२८।।"*** या ओवीत यांचा प्रयोग केला आहे. तेव्हा तो शक्तीचे रूपांतर आणि समावेशन सूचित करण्यासाठी केलेला प्रयोग होता.

पण आता या अभंगात त्यांनी ***ज्योतीसाठी तेजोमय महालिंग आणि नाद, बिंदु व कल्होळ हे शब्द अधिक उच्च श्रेणीचा योगाविष्कार सादर करण्याप्रीत्यर्थ वापरले आहेत.*** प्रतिप्रसवक्रमाच्या म्हणजे पंथराजाच्या अभ्यासाने साधक जेव्हा ॐकाराच्या ***अ, उ व म*** **या मात्रांचा लय करून अर्धमात्रेच्या प्रांतात येतो, तेव्हा विश्वाचा आभास त्यास *नाद, बिंदु, कला व ज्योती* या चतुर्विध प्रकारे होतो. *बिंदु*स्थानी** विश्वातील ***रूप*** हा घटक मूर्त होतो. त्याचा ***निरोधिका*** या स्थानी निरोध होतो. राहतो तो ***नाद*** त्याला अंतापर्यंत साथ देतो. ***अनाहतनाद*** **या रूपाने हा नाद घटक अस्तित्व दाखवतो.**

कला हा घटक मनाचा असून तो समनीपर्यंत साथ देतो. **उन्मनीत तोही लीन पावतो. महाशून्य वा ज्योतिस्थानी जेव्हा महालय होतो, तेव्हा मनाची *सत्रावी कला* प्रकटते आणि तिच्यात *नाद व कला, तसेच बिंदु व ज्योति* यांचे परमश्रेष्ठ विलीनीकरण होते. विश्वाचा लय संपूर्ण होतो, तो याच अवस्थेत.** अशी ही पार्श्वभूमी ध्यानी घेऊन ज्ञानेशांच्या उपरोक्त अभंगाकडे पहावे लागते.

"नेह नानास्ति किञ्चन"

त्याअनुसार ज्ञानेश म्हणतात ते असे की ***नाद, बिंदु व कला*** **यांचा शेवट *गर्भी* म्हणजे महाशून्यात** होतो, अशी त्या वेळची योग्याची स्थिती असते. असे फळ देणारा देह त्रैलोक्यात दुर्लभ आहे. पण त्या देहयोगे भक्ती सुलभतेने साकारते. अभक्त असा खरा तर देहच असतो. पण तो खराखुरा अभक्तपणे ब्रह्मरूप ज्यायोगे होतो, ती योगसाधना हीच म्हटले तर ***भक्ती किंवा भजन*** आहे, याचा निर्वाळा या अभंगातून मिळतो.

भक्ति - पंथराज - योग ही अशी समसमान असल्याचे यावरून सूचित होते. ही भक्ती किंवा योग सिद्ध झाला की त्रैलोक्यात एक नवल घडते. ***चंद्रामृताचे क्षीर वा सत्रावी कला*** **पूर्ण ब्रह्मांड व्यापून आहे, असे साधकास प्रतीत होते. *नाद व बिंदु यांची शुद्ध ज्योतीशी भेट होते. प्रकृति-पुरुष, शिव-शक्ती* हे भेद मावळतात.** ज्यांना यांच्यात द्वैत दिसते, ते देहाहंकारी असतात आणि प्रपंचाचे पाईक असतात. त्यांनी द्वैत मावळावे आणि सर्वत्र अद्वैतानुभूती यावी म्हणून देहांतरी शोध घ्यावा. ***"पिंडें पिंडाचा ग्रासु। तो हा नाथसंकेतिचां दंसु।"*** अशा पंथराजाचा अवलंब करावा आणि या ***ब्रह्मठशात म्हणजे देहात ब्रह्म पहावे,*** असे ज्ञानेशांचे सांगणे आहे.

सुज्ञांसाठी हा मार्ग आवर्जून सांगणारे ज्ञानेश पुढे म्हणतात की प्रणवाचे किंवा ब्रह्माचे असे रूप ***"याचि देहीं याचि डोलां"*** दिसावे म्हणून गुरूंना शरण जावे. त्यांनी स्वत:ही श्रीनिवृत्तिनाथ सद्गुरूंना शरण जाऊन हे साधन सिद्ध केले असल्याने ***सकार व हकार*** **यातील भेद मावळून *तुर्या व उन्मनी* या अवस्थांचे उन्नयन होऊन, त्यांच्यातील भेदही लोपून जाऊन त्यांना एक निराळीच अवस्था प्राप्त झाली आहे.**

शिव व जीव एकरूप झाले आहेत. उन्मनी तुर्येत विलीन झाली आहे. हे सर्व ज्ञानेशांनी गुरुकृपेने अवगत केले आहे. **पंथराजा**चा ***गुरुकृपांकित योग*** हा विशेष यानिमित्ताने पुनश्च आपल्यापुढे येत आहे. गुरुकृपेने हा योग सिद्ध होऊन वेदवाणीचा प्रत्यय येतो, श्रुति-उपनिषदांची अनुभूती येते की ***"नेह नानास्ति किञ्चन".*** देहच ब्रह्म आहे, हे आकळून आल्याने प्रणवाची खोली वा गूढ गर्भितार्थ उमजून येऊन साधक धन्य धन्य होतो!!

जीवन्मुक्तीच्या खुणा

जीवन्मुक्त, संत व योगी यांच्या या स्थितीच्या खुणा पुन: स्पष्ट करत असता ज्ञानेश म्हणतात:

१) ***शिवशक्तीचा भेद अर्धनारीरूप।***
याचा हा सौरस आणा चित्ता।।१।।
जागृति स्थूळ तुर्या महाकारण।
हेंचि कीर खूण तुझे ठाईं।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे कैसें हें जाणिजें।
देहिं नाद गाजे परेवरी **।।३।।अ.क्र.७९६।।**

२) **निळावर्ण ब्रह्मरंध्र एक निकें।**
पाहा माझें सखे भाविक हों।।१।।

उन्मनी सदैव वसे अक्षय पंथें।
लाऊनिआं चित्तें तेयां ठाईं।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे यापरति खूण।
नाहीं ऐसिं आण वाहतसें।।३।।अ.क्र.७९७।।

३) आकाश हें असें माझें शीर बापा।
कर्ण दिशा चिदूपा नाद उठति।।१।।
आधारापासौनि सहस्त्रदळावरी।
नि:शब्द निरंतर नारी एक।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे अनुभव ऐसा जेथ।
तोचि जीवन्मुक्त संत योगी।।३।।अ.क्र.७९८।।

शिव व शक्ती ही वेगवेगळी नसून अर्धनारीनटेश्वरासारखी एकरूपच आहेत. जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति, स्थूल-सूक्ष्म-कारण-महाकारण देह, तुर्या इ.मध्ये फरक तो असाच आहे. ती तशी एकत्वाचीच बहुविध रूपे आहेत. पण त्यांच्यात वास्तविक भेद असा नाहीच.

ही खूण आपल्याठायी बाणली की ***अनाहत ध्वनी परेपल्याड गाजू लागतो. ब्रह्मरंध्रातील नीलवर्ण दिसू लागतो. ब्रह्मरंध्रापलीकडे जो अक्षय पंथ आहे, महाशून्याचा जो प्रांत आहे, तेथे उन्मनीची स्थिती सतत राहते.*** योगी आकाशास आपले शीर व दशदिशांना आपले कर्ण असलेले पाहून त्यांत ***अनाहत नाद*** ऐकण्यात गुंगून जातो. मूलाधारचक्रापासून ते ब्रह्मरंध्रापर्यंतचा प्रांत निरंतर प्रशांत कुंडलिनी व्यापून टाकते. अशा ***या खुणा अनुभवणारे निश्चित जीवन्मुक्त, संत आणि योगी असतात,*** असे ज्ञानदेव म्हणतात.

पश्चिमपथाचे संपूर्ण दर्शन

पंथराजाचा पश्चिम पथ तसा फारसा परिचयाचा नसलेला आहे. ही जाणीव ठेवून ज्ञानदेव आपल्या अभंगांतून या पथाचे अधिकाधिक विवरण करून साधकांना मार्गदर्शन करतात, ते असे:

१) **स्थूल देह सूक्ष्म कारण तिसरा देह।**
चौथा महाकारण देह ऐक।।१।।
औटपीठाचे उदरीं कर्पूर वर्णावरी।
शामाचें अंतरीं महाकारण।।२।।
महाकारणीं आतुला लक्षावा पुतळा।
उन्मनी हें कळा दैवी वरी।।३।।
सहस्त्रदळ तैंचि कीं आन नाहीं ऐसें।
महातेज वसे त्याचे आंत।।४।।
पश्चिम मार्ग तेथुनी ऊर्ध्व उंच गगनीं।
जेथ एक कामिनी एकलीचि।।५।।
मार्ग नाहीं तेथ कवण्यारितीं जावें।
सुषुम्नेवरी वळघावें सामर्थ्यें सिं।।६।।
तेथुनि ऊर्ध्व छिद्र मुंगीनेत्रतुल्य।
त्यांतून उडणें भलें चपलत्वेंसिं।।७।।
जडतां वळंघितां बरी नारी आपण एक।
नरनारी नपुंसक एकरूप।।८।।
ज्ञानदेओ म्हणे जो उडौनि जाएं तेथ।
परब्रह्मींचि मात तोचि जाणें।।९।।अ.क्र.८०२।।

२) ***सहस्त्रदळ साजिरें नयनाचां शेजारीं।***
अर्धमातृका अंतरीं चिन्मय वस्तू।।१।।
ॐकार नादीं कीं नाद ॐकारीं।
दैवी निरंतर प्रणवीं पाहा।।२।।
मकार अर्धमात्रा शून्यांचा निश्चय।
आत्मा एक असें स्वयें रया।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे कैवल्याचां दाता।
कोण पत्रीं हें कविता नाहीं ऐसिं।।४।।अ.क्र.८०१।।

स्थूल, सूक्ष्म आणि कारण या तीन देहांपलीकडे अजूनही ***महाकारण*** नावाचा एक देह असतो. ***औटपीठाच्याही पलीकडे; श्वेत वर्णाच्या कारण देहाच्या पलीकडे जो श्यामवर्ण दिसतो, तो महाकारणदेहाचा असतो. या महाकारण देहाआत योग्यांचे लक्ष्य असा श्रीरंग असतो. त्या श्रीरंगास उन्मनी या दैवी कलेने वरिले आहे. हा श्रीरंग घननीळा ज्यात वसतो, तेच सहस्त्रदलकमल असते. त्या कमलात महातेज दिसते. तोच हा श्रीरंग!***

तेथूनच ब्रह्माकडे जाण्याचा मार्ग ऊर्ध्व आकाशी जातो. त्या गगनात मूळ मायेचा वास असतो. पण तिच्यापर्यंत जाण्याचा मार्ग दिसत नाही. तिच्याकडे जाण्यासाठी सहस्त्रदलापावेतो ज्या सुषुम्नेच्या मार्गाने प्रवास केलेला असतो, त्या सुषुम्नेवरून सामर्थ्याने निर्धारपूर्वक उड्डाण करून पुढे एक ***मुंगीच्या नेत्रासारखे सूक्ष्म छिद्र*** दिसते, त्यातून चपळपणे शिरावे.

असे केले की जड विश्वाचे उल्लंघन करून ***साधक त्या मूळमायेशी एकरूप होतो. त्यानंतर परब्रह्माशी मिलन होते.*** त्या वेळी ***शिव-शक्ति-जीव*** हे भेद वा लाक्षणिक अर्थाने ***नर-नारी-नपुंसक*** हे त्यांचे भेद मावळतात. ज्ञानदेव म्हणतात की ***ज्याने हे उड्डाण साधले असेल, त्यालाच परब्रह्म म्हणजे काय हे कळते.***

या अभंगावरून असे दिसून येते की ***सहस्त्रार चक्र*** वा ***सहस्त्रदलकमल*** **येथपावेतो महाकारण देहाची व्याप्ती असते** *(पृ.क्र.८११वरील तक्ता).* हा पिंडसापेक्ष महाकारण देह आहे. ***औटपीठ वा चौथे शून्य वा उन्मनी या स्थानापावेतो कारण देहाची व्याप्ती असते.*** उन्मनीच्या या अवस्थेत मिळणारा आनंद सगुणाचाच आहे. कारण ***तेज व नाद*** अजूनही अभिभवत असतात. अर्थात त्यांची श्रेणी ***बिंदु ते उन्मनी*** यात मिळणाऱ्या अनुभूतीपेक्षा वेगळी असते. पण हाही सगुणाचाच भाग आहे. फार तर त्याला निर्गुणाच्या सीमारेषेवरील सगुण असे म्हणता येईल.

याच स्थानीच्या वा अवस्थेतील श्रीकृष्णाचे वा विठ्ठलाचे रूप संतांनी वर्णिले आहे. परंतु निर्गुण निराकाराकडे - पिंडातून ब्रह्मांडाकडे जाण्याचा पुढील मार्ग अवघड आहे. ***सहस्रदलातील ब्रह्मरंध्र या मुंगीनेत्रतुल्य छिद्रास वळंघून जेव्हा जावे, तेव्हा मूळ मायेशी भेट होते. मूळ माया व परब्रह्म ही अर्धनारीनटेश्वरासरखी एकरूप असल्याने याबरोबरच साधकासाठी विश्वाचा महालय होतो. तो परब्रह्माशी एकरूप होऊन अद्वैत भोगतो.***

ज्ञानदेवांनी मुंगीनेत्रतुल्य छिद्र वळंघण्याचे जे म्हटले आहे, त्याच प्रकारचे मुक्ताबाईने ***"मुंगी उडाली आकाशीं। तिनें गिळिलें सूर्यासिं।"*** असे म्हटले आहे, हे जिज्ञासूंनी लक्षात असू द्यावे. असो.

या अभंगातून ज्ञानदेवांनी अर्धमात्रेचा प्रांत ब्रह्मरंध्रापर्यंत विस्तारला आहे. त्यांच्या पुढील अभंगावरून अधिक कळून येते. ते म्हणतात की ***औटपीठ या चौथ्या शून्याच्या (नयनाच्या) जवळ सहस्रदलकमल आहे. अर्धमात्रेच्या आतली चिन्मय वस्तू त्यात आहे. ॐकार नादात आहे की नाद ॐकारात आहे, ही दिव्य अनुभूती निरंतर प्रणवीं राहून साधकाने घ्यावी.*** त्यास असे आकळून येईल की विश्व हे प्रणवच आहे व प्रणव हे विश्वच आहे. **नादास अनुलक्षून येथे *विश्व* असे म्हटले आहे. *ॐकार व प्रणव* हे ब्रह्माचे सूचक म्हणून प्रायोजिले आहेत. हीच सगुणासह निर्गुणाची अनुभूती होय.**

ज्ञानदेव म्हणतात की ***मकार, अर्धमात्रा आणि शून्ये ही सर्वच आत्मा आहेत,*** ही अनुभूती कोणत्याही तत्त्वज्ञाने किंवा कोणत्याही ग्रंथात आजपर्यंत सांगितलेली नाही. ती ते आपणास स्पष्टपणे सांगत आहेत!!

योगधारेची भैरवी::::

पूर्व-पश्चिम पथ आणि सगुण-निर्गुण

यानंतरच्या काही अभंगांतून या सर्व पंथराजविषयक माहितीवर अजूनही काही प्रकाश पडतो. तो पाहू या:

१) सहस्रदळ ब्रह्मरंध्र एकें नेत्रीं देखें।
देखणा पारुखें तेयां ठाईं बा।।१।।
नादीं नाद भेद भेदुनि अभेद।
पश्चिममार्गीं आनंद देखुनि राहें।।२।।
मन पवन निगम आगम सुरेख।
आधार सहस्रदळ देख देहिं नयनीं।।३।।
ज्ञानदेओ म्हणे डोळां हा प्रणव।
निवृत्तिने अनुभव मज दिधला।।४।।अ.क्र.८०३।।

सहस्रदलकमल व ब्रह्मरंध्र **एकदा पाहिले की त्रिपुटीचा लोप होतो. *अनाहतनादाने विश्वाचा लय करून द्वैत विलयास जाते. पश्चिममार्गावर अद्वैत आनंद प्राप्त होतो. मन, प्राण, जीव, देह (मन, पवन, निगम व आगम)*** यांना ***सहस्रदल*** कसे आधार देते, हे योगसाधनेने आपल्याला देहींच्या देहीच कळून येते. सद्गुरू श्रीनिवृत्तिनाथाच्या कृपेने हा प्रणवोपासनेचा आनंद ज्ञानदेवांना मिळाला आहे.

२) सगुण देह बापा निर्गुण माझें शीर।
हा तो भेदाकार कैशापरी।।१।।
दैवि आसुरी पूर्व पश्चिममार्ग की रें।
शून्यातील सारे चराचर हें।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे भेद ऐक गुरुपुत्रा।
नयनीं अर्धमात्रा सर्व जन।।३।।अ.क्र.८०४।।

देहास सगुण व मस्तकास निर्गुण मानणे म्हणजे पूर्वमार्ग सगुणाचा आणि पश्चिममार्ग निर्गुणाचा आहे, असे म्हणणे व्यर्थ आहे. पूर्वमार्ग ***आसुरी*** म्हणजे पिंडातर्गत आणि ***पश्चिममार्ग*** दैवी म्हणजे ब्रह्मांडातील असेही म्हणणे व्यर्थ आहे. महाशून्यातूनच हे चराचर आहे. हे सर्व विश्व महाशून्यातून व अर्धमात्रेतून झालेले आहे.

३) *अग्निचें पोटीं पुरुष उद्भवला अवचट।*
सत्रावी लंपट निशिदिनीं **।।१।।**
आधार नाहीं जेथ निराधार वर्तति।
निराधार न म्हणति आपणांलागिं।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे निवृत्तिने दाविलें।
या नयनीं पाहिलें अविनाश।।३।।अ.क्र.७९९।।

आज्ञाचक्रापुढे पुरुष (आत्मा) असतो. योगी त्याला वरतात आणि सत्राव्या कलेचा उपभोग घेतात. त्याठायी कसलाही आधार नसलेले ते निराधार योगी पुरुष वर्ततात. पण त्यांना आपण आता विश्वाचा आधार सोडून दिलेला आहे, याची जाणीव उरत नही. अविनाश परमात्म्याची ही अनुभूती ज्ञानदेवांना निवृत्तिकृपेने प्राप्त झाली, असे ते म्हणतात.

४) सत्रावीचें गांविं शून्याचां विस्तार।
प्रणव निराकार सदैव असें।।१।।
पश्चिम पूर्व असे शुक्ल कृष्ण नारी।
दैवी आणि आसुरी वेगें शोधा।।२।।
ज्ञानदेओ म्हणे अर्धमात्रा कोणती।
मसुरामात्र आहे ती दोनिं भावां।।३।।अ.क्र.८००।।

पूर्व व पश्चिम मार्गांनी अग्रेसर होऊन **पिंगला *(शुक्ल)*, इडा *(कृष्ण)*, सुषुम्ना *(नारी)*** यांच्या शोधनाने कुंडलिनीशक्तीला जागवून **ब्रह्म *(दैवी)* व देह *(आसुरी)*** यांचे रहस्य आकळून घ्यावे. ज्ञानदेव म्हणतात की ***मसुराकार अशी अर्धमात्रा*** जी आहे, तिची अनुभूती या साधनेने पिंड ***(देह)*** व ब्रह्मांड ***(ब्रह्म)*** या दोनही भावात घेता येते. **सगुण *(आसुरी)* व निर्गुण *(दैवी)*** अशा दोनही भावात तेच ते परब्रह्म मसुरमात्र चिद्रूपाने अनुभूतीस येते, असे ते म्हणतात.

इतर अभंगांतील योगरहस्य

आतापावेतो आपण ज्ञानदेवांचे जवळ जवळ ६०-६५ असे योगपर अभंग पाहिले. इतरही अभंगांतून थोड्याफार फरकाने या अभंगांत निवेदिलेली अनुभूती वर्णिली आहे. अभंगगाथेतून ते अभंग जिज्ञासूंना मुळातून पाहता येतील. यानंतरच्या अभंगांचे संक्षेपाने वृत्त पाहू या. नवीन काही माहिती वा वैशिष्ट्यपूर्ण अनुभूती असेल, तिचेच आता

संकलन करावयाचे आहे. मागे सागितल्याप्रमाणे श्री.प्र.न.जोशींच्या गाथेनुसार अभंग अनुक्रमांक देत आहे. पुढील अभंगांचे सार असे:

शून्याच्या भुवनी अविनाश पुरुष दिसतो. देहात प्रतीत होणाऱ्या त्या पुरुषाचे दर्शन निळ्या रंगाचे असते *(अ.क्र.८०८)*. सर्व चैतन्य त्या पुरुषाठायी समावलेले असते. हाच बापरखुमादेविवर विठ्ठल आहे *(अ.क्र.८०६)*.

सुषुम्नेस अविनाश कर्णकुमरी व बिंदूस वर्तुळाकार चंद्रमा असे म्हटले आहे. मुंगीनेत्रतुल्य छिद्रातून ***("रश्मीअग्रामधूनि")*** पुढे गेल्यावर शुद्ध ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होते. ब्रह्मांडाचा अंत लागत नाही *(अ.क्र.८०५)*. या दृष्टीने ***"आतां महाशून्याचां डोहिं। जेथ गगनासिंचि ठाओ नाहीं। तेथ तागा लागेल काईं। ययां बोलाचां।।६-३१५।।"*** ही ज्ञानेश्वरीची ओवी अशीच या संदर्भात लक्षणीय आहे.

स्थूळ, सूक्ष्म, कारण व महाकारण **या देहांवेगळा एक** ***कैवल्यदेह*** **पाहून ज्ञानेश तोच होऊन गेले** *(अ.क्र.८०९)*. **डोळा, नयन हे शब्द बिंदु, गोल्हाट, श्रीहाट, औटपीठ, आज्ञाचक्र यांप्रमाणेच महाशून्यास उद्देशून वापरले आहेत** *(अ.क्र.८११)*. **शून्य महाशून्यासही म्हटले जाते** *(अ.क्र.८१२)*. महाशून्यात गोविंद वसतो *(अ.क्र.८१३)*. महाशून्याच्या अंगणात तुर्येचा प्रकाश पडतो. तुर्यावस्थेत उन्मनीचा आनंद असतो *(अ.क्र.८१४)*. रक्तवर्ण स्थूलदेहाचा, श्वेतवर्ण सूक्ष्म देहाचा, श्यामवर्ण कारण देहाचा व नीलवर्ण महाकारणदेहाचा असे योग्यास दिसतात. ***या वर्णांच्या आत दिसणारी ज्योती वा तेज हे अलक्ष वा निरंजन असते*** *(अ.क्र.८१५)*.

औटपीठानंतरचा आणि अर्धमात्रेपलीकडचा निरंतर देश म्हणजे शून्य किंवा महाशून्य असते *(अ.क्र.८१६)*. **तेथे जगदीश वसतो. ब्रह्मरंध्रातील ज्योतिस्थानास बिंदु तसेच शून्य अशा संज्ञा वापरल्या आहेत** *(अ.क्र.८२०)*. ***सत्रावीचे शिखर, महालिंगस्थान, टाळू*** **(तालु) या संज्ञा एकाच स्थानास उद्देशून वापरल्या जातात.** सत्रावीच्या शिखरी किंवा महालिंगी जाण्याच्या मार्गाचा अंत लागत नाही *(अ.क्र.८२३)*.

*(**टीप : तालुचक्र** -याच दृष्टीने श्रीगोरक्ष इ.नी जे **तालुचक्र** म्हणून उल्लेखले आहे, त्याचा पुनर्विचार करावा ही जिज्ञासूंस सूचना. कारण **तालुचक्र** हे मुखातील टाळक्यात असणे संभवनीय वाटत नाही, तर ते **मूर्ध्निस्थानी** असणेच जास्त संभवनीय आहे आणि योगशास्त्रदृष्ट्या सयुक्तिकही ठरेल.)*

बापरखुमादेविवर हा निखळ प्रणव आहे *(अ.क्र.८२४)*. आत्माराम आदिअंती निळ्या रंगात ओतला आहे *(अ.क्र.८२५)*. ***महाकारणदेहाची व्याप्ती कैवल्यदेहातही असली पाहिजे,*** असे अनुमान निघते *(अ.क्र.८०९,८२६) (पहा पृ.क्र.८११ वरचा तक्ता)*. ***अहं*** गेल्यावर **निळ्या रंगाची** ***"सोऽहं"*** **वस्तू** दिसते. त्या वेळी साधक महाकारणदेहात अवस्थित होऊन आनंद उपभोगतो *(अ.क्र.८२७)*. ***पंथराज मार्ग म्हणजे उफराट्या दृष्टीचा मार्ग आहे,*** असे सूचित होते *(अ.क्र.८२८)*. ***गोल्हाट, त्रिकूट व श्रीहाट*** यांचा उल्लेख केलेला आहे. ***कूटस्थ*** या सर्वांपलीकडे आणि महाकारणाच्याही पलीकडे आहे *(अ.क्र.८३०)*. सत्रावीचा चंद्र वा बिंब हे सुनीळ ब्रह्मच असते *(अ.क्र.८३१)*.

कुंडलिनी ऊर्ध्वमुख होऊन अग्नी सोडते, हा पंथराज योगानुभूतीशी साम्य दाखविणारा उल्लेख येतो *(अ.क्र.८३२)*. यासाठी ***"मुखिंच्या ज्वालीं", "मग आवेसें पसरी मुख। ऊर्ध्वा उजू", "तेथ तृप्तिचेनि संतोखें। गरल वमीं मुखैं।"*** या ओव्या जिज्ञासूंनी ताडून बघाव्या *(६-२३०,२२८ व २४१)*.

या अभंगात ज्ञानेश्वर स्पष्टच म्हणतात की ***"कुंडलिनी ऊर्ध्व मुखें अग्नि सोडी। तेयाचिं हें जोडि संतजनां।।२।।"***. याचा असा पण अर्थ निघतो की ***केवळ योगीच नव्हे तर संत वा भक्त यांनासुद्धा कुंडलिनीयोगानेच श्रेष्ठत्व प्राप्त होते.*** पंथराजाचे हे वैशिष्ट्य भक्तांचा कुंडलिनीयोगाशी काहीच संबंध नसतो असे समजणाऱ्यांनी जरूर लक्षात घेण्यासारखे दिसते.

नंतरच्या अभंगात ***"नाभिस्थानींचा ठेवा", "हृत्कमळ", "कुंडलिनी," "बापरखुमादेविवरु विठ्ठलु"*** यांचा उल्लेख येतो. **पंथराज व भक्ती यांचे एकत्व या अभंगातून सूचित होते** *(अ.क्र.८३६)*. ***"ऐका हा शेंवट। अभंगमाला जाहालिं"***

यानंतर ***प्रतिपंथराज*** वर्णन करणारा एक महत्त्वाचा अभंग मुळातून पाहू या. आतापावेतोच्या विवेचनावरून त्याचा अर्थ सहजच कळण्यासारखा आहे, म्हणून अर्थ देत बसत नाही.

उन्मनीं रें लागों नीज। निज बाळा सहज।
चैतन्याचि पालखि बा। शुद्ध सुमनाचिं सेज।
तेथ तूं निद्रा करीं। चहूं वाचेंसि गूज।।ध्रुव.।।
आधार मूळबंध। वामचरणिं निरोध।
स्वाधिष्ठान लिंगस्थान। हें तो जाणसिं प्रसिद्ध।
दक्षिणेचां चरण माथां। ठेऊनिआं निबद्ध।।१।।
मणिपुरीं नाभिस्थानीं। जेथ स्वर्गगामिनी।
कुंडलिनी नाम तिचें। तिसिं करूनि ऊर्ध्व।
ब्रह्माग्नि चेतविला। पंचभूतें ग्रासूनि।।२।।
अनुहात हृदयस्थान। जेथ वायूचें संधान।
साधना लावि तेयासिं। नित्य करूनि साधन।
घंटांचे नाद होती। तेथ राहें तूं लीन।।३।।
विशुद्ध कंठस्थान। वेगिं जाएं जिंकून।
अग्निचक्र भ्रुवोमध्यें। भेदीं सुषुम्नेचें आंग।
रविशशि समरसें। प्रणवाचां संयोग।।४।।
विज्ञानें सिद्धि पाहिं। ज्ञान नुरेंचि समूळ।
पाहें पां सहस्त्रदळ। शुद्ध स्वरूप केवल।
अहं सोहं जाणसि। ब्रह्म होसि समूळ।।५।।

ययालागिं सद्गुरूपाएं। सेवि बापा निरंतर।
पावसि तूं ब्रह्मपद। हा तूं जाणसिं निर्धार।
स्वानंदाचें सुख थोर। निवृत्तिकृपें अपार।
त्याचें पाईं विनटलों। बाप रखुमादेविवर।।६।।
।।अ.क्र.८३७।।

या अभंगात ***मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनुहत, विशुद्ध, अग्नि (आज्ञा) व सहस्रदळ*** या चक्रांचे व स्थानांचे स्पष्ट उल्लेख आहेत. ***कुंडलिनीचे स्थानही मणिपूरी नाभिस्थानात असल्याचे म्हटले आहे.*** मूळबंधाचा सुस्पष्ट उल्लेख क्रियांसह आहे. ***उन्मनी*** ही अंतिम अवस्था सांगितली आहे. सद्गुरूंच्या कृपेने हा योग सिद्ध होतो, याचाही येथे उल्लेख आहे. ***हा संपूर्ण अभंगच पंथराजवर्णन करणारा आहे आणि ज्ञानेश्वरीतील वर्णनाला पूरक ठरतो.***

फक्त खटकणारी एकच गोष्ट आहे. ती म्हणजे मणिपूरानंतरच्या ओवीत अनाहत व घंटानादाचा उल्लेख. श्री.बाबामहाराज आर्वीकरांनी ***दिव्यामृतधारा*** या ग्रंथात इतरत्र अशा प्रकारच्या ओवीक्रमांबद्दल जे सूचित केले आहे, ते विचारात घेता कोणातरी अभंग संकलकाने आपल्या अनुमानानुसार ही ओवी मागेपुढे केली असण्याची शक्यता गृहीत धरावी लागते. कारण ज्ञानेशांचे इतरत्र जे अनाहतनादासंबंधी उल्लेख आहेत, त्यानुसार अनाहत हा महाकारणसंबंधित असल्याचे त्यांचे स्पष्ट मत दिसून येते.

आज्ञाचक्रसंबंधित ओवी क्र.४नंतर ही अनाहतसंबंधित ओवी क्र.३ धरणे सयुक्तिक व शास्त्रोक्त वाटते. हे सिद्धसिद्धांतपद्धतितील गोरक्षमतास धरूनच होईल. कारण गोरक्षांनी हृदयाधार (हृच्चक्र) हे सर्वसामान्यतया ख्यात असणाऱ्या द्वादशदल अनाहतचक्रापेक्षा वेगळे धरले आहे आणि ते अष्टदल असते, हेही ते सांगतात. गोरक्षमत आपण पूर्वीच पाहिले आहे*(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ,पृ.क्र. ७५१-७५२).* योग्यात प्रसिद्ध असणाऱ्या ब्रह्मांडीच्या अष्टदलपद्माचाच तो उल्लेख समजावा लागतो. तेथेच अनुहातनाद असतो.

पंथराजसंबंधित ओव्यांचा अनुक्रम सुधारून घेतांना अनाहतनादविषयक ओव्यांची एक वेगळी व्यवस्था आपण शास्त्रास धरून लावली होती, तिकडे जिज्ञासूंचे पुन: लक्ष वेधत आहे*(उन्मेष ४५-१:लययोगसमालोचन:योगपथ,२३) पवनाची मेळणी झाल्यानंतर कुंडलिनीचे मध्ममामार्गे हृदयात (आज्ञाचक्रावरील अवकाशात) महदाकाशात उत्क्रमण व पश्यंति-विशुद्धीचक्रक्रमण २४) अनाहतनादप्राकट्य व ३३) भ्रमरगुंफेत नादाचा आविर्भाव पृ.क्र.७७४,७७५).*

यानंतरच्या एका अभंगात *(अ.क्र.८३९)* या पंथराजासच त्यांनी ***अमृतयोग*** असे नांव दिले आहे. त्यात ***हुडा व मनोमयचक्र, मैलागिरी*** या खास कुंडलिनीयोगसंबंधित नाथपंथीय संज्ञा येतात. ज्ञानेश्वरीत ***"अपानाचिआं कवाडां। लावौनि आसनमुद्रा सुहाडा। मूलबंधाचां हुडा। पन्नासिला।।१२-४८।।"*** अशी एक ओवी आहे. ही पंथराजसंबंधित आहे. ***हुडा ही पंथराजसंबंधित प्राणायामप्रक्रिया आहे. या अभंगात "अमृतयोग निगमनीं हुडा" म्हणजे अमृतयोगाचा प्रारंभ हुडा या प्रक्रियेने होतो, असा निर्देश आहे. हुडा*** या शब्दाचे अधिक स्पष्टीकरण पाहू इच्छिणाऱ्या जिज्ञासूंनी श्री.बाबामहाराज आर्वीकर यांचा ***दिव्यामृतधारा*** हा ग्रंथ जरूर पहावा. असो.

मूळपीठ ***कुलस्वामिनी,*** वैराग्य व पुण्य यांच्या प्रभावाने उत्थापित होणारी शेंदुरी रंगाची कनककांती असणारी ***कुंडलिनी,*** तिचा ***शून्यसंज्ञक*** कर्ण वा ***सुषुम्ना, कुंडलाकार, शेंदरी रंगाचे पाखरू*** इ.कुंडलीनी वर्णने या अभंगात येतात *(अ.क्र.८४०).*

ही जी योगपर अभंगमाला ज्ञानदेवांनी रचली आहे, तिचे गंतव्य तुर्यावस्थाप्राप्ती हेच आहे. तुर्याच उन्मनी असून क्षरच अक्षर असल्याची ती अनुभूती देते; निर्गुणच साकार असते; देहच विदेह असतो; महाकारणच ब्रह्म असते; असा निश्चय या योगसिद्धीने व गुरुकृपेने होतो, असा ज्ञानेशांचा अनुभव ते ***"ऐका हा शेवट। अभंगमाला जाहालिं"*** असा पूर्णत्वास नेत सांगतात *(अ.क्र.८३४).*

योगपर अभंगमालेची भैरवी

या अनुभवाचे वर्णन करणारा त्यांचा अभंग घेऊन हा विषय येथेच थांबवू या. कारण योगवर्णनात अवीट आनंद असतो. ते कितीही केले तरी अपूर्णच राहणार!

औटाचें डोंगरीं गाय एक वसें।
क्षीर सेवितुसें योगी एक।।१।।
धालें पूर्णपदीं समाधि लक्षितां।
क्षुधा चाड चिंता नाहीं नाहीं।।२।।
नाहीं तैं सांडौनि आहें तैं पाहिलें।
मन उन्मन जालें आपेंआप।।३।।
ज्ञानदेवीं मोक्ष तो अभाव।
आनंद स्वयमेव एकविध।।४।।अ.क्र.८४१।।

"**औटपीठ**ाच्या डोंगरावर ***सत्रावी कला*** म्हणून एक गाय आहे. तिचे स्तन्य एक योगिराज सेवत असतो. ते पिऊन तो तृप्त झाला आहे. त्याला पूर्णपद प्राप्त झाले आहे. तो समाधिसुख भोगतो आहे. त्याला क्षुधा, चिंता इ.ची चाड राहिलेली नाही. क्षर सांडून त्याने अक्षरास पाहिले आहे. ***असत्*** त्यागून त्याने ***सत्*** अनुभवले आहे. त्याने त्याचे मन आपोआपच ***उन्मन*** झाले आहे. ज्ञानदेवांमध्ये आता देव असल्याने वेगळ्या मोक्षाची काय आवश्यकता! स्वसंवेद्य आत्मसुखाचा ठेवा ते आता स्वत:च झाले आहेत. हाच खरा आनंद आहे" असे ज्ञानदेव म्हणतात आणि ही अभंगमाला शेवटास जाते.

पंथराज मार्गातील योगवैशिष्ट्ये आपण आतापावेतो ज्ञानेश्वरी आणि ज्ञानदेवांचे योगपर अभंग **यांच्याद्वारे ज्ञात करून घेतली.** साधक योगपथावर अग्रेसर होत असतांना त्याला येणारे अनुभव, त्याच्या वेगवेगळ्या अनुभूती आणि त्याच्या विविध भावावस्था व समाधिस्थिती यांचेही दर्शन आपणास आतापर्यंत झालेले आहे.

अमृतानुभवासह ज्ञानदेवांचे हे सर्व वाङ्मय एक समृद्ध आणि विशाल असे योगानुभवभांडार आहे. म्हटले तर ते योगाचे प्रायोगिक क्रमिक पुस्तक आहे, आणि खरे तर शेकडो डॉक्टरेट्स ज्याच्यावर करता येतील अशी अमोलिक ***साहित्यसोनियांचि खाण*** आहे. पण आपण मात्र योगजिज्ञासू आणि अभ्यासकाच्या भूमिकेतून या सगळ्या संपदेचा आस्वाद घेतला आणि आपल्या योगमार्गक्रमणेत तिचे साहाय्य होईल या अपेक्षेने महत्त्वाच्या बहुतेक सर्व विषयांचा अभ्यास केला.

ज्ञानेशांनी सांगितलेल्या या सर्व योगभूमिकांचा **योगवासिष्ठा**तील सप्तयोगभूमिकांशी समन्वय करून पाहण्याचा उद्देश मागेच सूचित केला होता. तिकडे आता वळू या.

योगवासिष्ठातील सप्तभूमी

योग्याच्या योगाभ्यासकाच्या भूमिका समाधिस्थितिसह सात प्रकारच्या असल्याचे **योगवासिष्ठ** सांगते. श्रीमच्छशंकराचार्यांनीही या सांगितलेल्या आहेत. त्या म्हणजे ***१) शुभेच्छा २) विचारणा ३) तनुमानसा ४) सत्त्वापत्ति ५) असंसक्ति ६) पदार्थाभाविनी व ७) तुर्यगा*** अशा आहेत. त्यांचे खुलासेवार वर्णनश्री.कृ.के.कोल्हटकर या योगमहर्षींच्या ***पातञ्जलयोगदर्शन*** या बृहत ग्रंथात दिलेले आहे. जिज्ञासूंनी ते मुळातूनच पाहावे*(सू.क्र.४-२५पा.यो.द.तत्रैव)*. आपल्या विषयाच्या दृष्टीने आवश्यक तेवढा विचार येथे प्रस्तुत आहे.

शाश्वत सुखाची इच्छा निर्माण झाली व ऐंद्रिय सुखे क्षणभंगूर आहेत, अशी जाणीव चित्तात ठसली की साधक ***शुभेच्छा***नामक भूमीवर आरूढ होतो. पंथराजातील विवेक - वैराग्यभूमीची ही प्रथम पायरी होय.

शाश्वताची प्राप्ती करून घेण्यासाठी साधनाउपक्रमास जेव्हा सुरुवात होते, तेव्हा साधक ***विचारणा*** या भूमीवर पोहोचतो. शास्त्रोपदिष्ट साधनामार्गाची माहिती करून घेण्याची जिज्ञासा त्याच्यात उदित होते. साधनामार्ग त्यास आवडू लागला, ध्यानधारणा त्यास आकृष्ट करू लागली की तो ***तनुमानसा*** या तिसऱ्या भूमिकेवर येतो. निदिध्यासन, आत्मभावभावन, शास्त्र व गुरू यांच्यावर नितांत श्रद्धा त्या वेळी प्रकट होतात. यमनियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ही बहिरंग योगसाधना त्या भूमीवर घडत जाते.

त्यातून चित्तशुद्धी साधत जाते आणि उपायप्रत्यय अशी कुंडलिनीची जागृती व सद्गुरूंची प्राप्ती या गोष्टी सिद्ध होतात. *धर्ममेघ*समाधीचा उदय तो हाच असे आपले मत येथे अभिप्रेत आहे. ते श्री.कृ.के कोल्हटकरांच्या मतापेक्षा भिन्न आहे, हे जिज्ञासूंसाठी येथे स्पष्ट करणे आवश्यक आहे. आपण त्यांच्या ग्रंथाचा फक्त संदर्भ आणि काही विशेष माहितीसाठी उल्लेख केलेला आहे. बाकी सर्व मते आपली स्वतंत्र व विवेचन करत असलेल्या विषयास अनुरूप अशी आहेत, एवढे मात्र जिज्ञासूंनी लक्षात घ्यावे.असो.

पंथराजाचा हा मोठा टप्पा आहे. येथून पुढे साधकाची वाटचाल खऱ्या धर्ममार्गावरून होत जाते. अपरोक्षानुभूतीची प्रथमावस्था ती हीच आणि चित्ताची वा साधकावस्थेची ***सत्त्वापत्ति*** नामक चतुर्थ भूमी ती हीच! ***जीवन्मुक्तीची सुरुवात याच प्रांतात होते.***

यानंतर साधकास ज्या सिद्धी प्राप्त होतात, त्यांच्याबद्दल आसक्ती न उरणे अशी अवस्था जेव्हा येते, तिला ***असंसक्ती*** असे म्हणतात. ही साधकाची पाचवी योगभूमिका होय. ***षट्चक्रभेदन व कुंडलिनी शक्तीचे सहस्त्राराकडे उन्नयन या वेळी होत असते. पंथराजसोपान*** न्याहाळतांना या षट्चक्रभेदन व सिद्धी इत्यादींचे विशेष विवेचन केले होते, हे जिज्ञासूंस स्मरतच असेल.

सत्त्वापत्ति व असंसक्ती या योग्याच्या जागृत अवस्था समजल्या जातात. ***अ, उ व म*** या ॐकाराच्या तीन मात्रांचे अतिक्रमण घडत असता धर्ममेघ समाधीतील या भूमिका प्राप्त होतात.

त्यानंतर जेव्हा योग्याचे अर्धमात्रेकडे उन्नयन होते, तेव्हा स्वप्नतुल्य अशी ***पदार्थाभाविनी*** ही अवस्था वा भूमी प्राप्त होते. **बिंदू वा तृतीय नेत्र वा डोळा भेदून जेव्हा कुंडलिनी या प्रांतात प्रविष्ट होते, तेव्हा *योग्यासाठी जगाचे खरे अस्तित्व उरत नाही. आत्मवस्तूचा त्यास साक्षात्कार घडून येतो आणि याच अवस्थेत योगी परेपलीकडील प्रांत न्याहाळू लागतो.***

त्यानंतर *तुर्या* आणि सातवी भूमी *तुर्यगा* या त्यास प्राप्त होतात. *कैवल्यसाक्षात्कार* होतो. योगाची पूर्णता होते. जीव-शिव एकरूप होतात. शक्तीचे शिवाशी मिलन होते. परमधामात योगी जाऊन स्थित होतो. जीवन्मुक्तीची अंतिम स्थिती ती हीच! असो.

समारोप

योगवैभव या **एकादश स्कंध**ाचे समालोचन केल्यानंतर आपण आता वळू या ***द्वादश स्कंध - भक्तिवैभव*** यातील प्रथम भागाकडे म्हणजे ***उन्मेष क्र.४७-१ - अनन्यभक्ती*** याकडे!

THE AUTHOR

VIBHAKAR LELE
BE, BSC, LLB

PROFFESSIONAL ENINEERING CONSULTANT
RESEARCHER WITH INTEREST IN MANY SUBJECTS

(Topics of interest: Mathematics, Astronomy, Cosmogony, Science, Engineering, Genetics, Physics, Chemistry, Molecular Sciences)
PROFICIENCY IN ENGLISH AND INDIAN LANGUAGES and in Literature

Researcher of Oriental Disciplines of Philosophy, Mysticism, Yoga, Jnyan, Bhakti, Tantra, Vedas and the Upanishads
Connoisseur in Siddha-Mahayoga Dnyaneshwar's & Patanjali's Yoga

GURU Tradition: Main Line of Siddha tradition of Adinatha – Umadevi – Gorakshanatha –Gahininatha –Dnyaneshwar – Satyamalanatha – Guptanatha – Kesarinatha – Shivdeenanatha – Vasudevanatha
Indebted To The Paramparas of: 1. Gaudapada's tradition from Shrimat Acharya Shankar – Adwaitanand – Satyadevanand
2. Siddha tradition of Nityanand – Avadhutanand

AUTHOR OF MARATHI BOOK **योगदा श्रीज्ञानेश्वरी**

YOGADA SHRI DNYANESHWARI (Parts 1, 2, 3 & 4)
गीता व ज्ञानेश्वरी: एका नाथसिद्धयोग्याचे आत्मवृत्त (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी १**)
गीता व ज्ञानेश्वरी : योग आणि तत्त्वज्ञान (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी २**)
गीता व ज्ञानेश्वरी: प्रथम परिचय (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ३**)
गीता व ज्ञानेश्वरी :योगसाधना (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ४**)
गीता व ज्ञानेश्वरी : विश्वविज्ञान: चिद्विलास आणि योग [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ५**]
गीता व ज्ञानेश्वरी : जीवात्मा आणि गीतेतील उपासना [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ६**]
गीता व ज्ञानेश्वरी: कर्माचे स्वरुप [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ७**]
गीता व ज्ञानेश्वरी : ईश्वराचे अंतरंग आणि उपासना रहस्य [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ८**]
गीता व ज्ञानेश्वरी: योग: कर्म आणि ज्ञान [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ९**]
गीता व ज्ञानेश्वरी: योगवैभव - कुंडलिनी जगदंबा आणि पंथराज [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - १०**]

English Books Series: 'KUNDALINI YOGA: YOGA OF GITA AS EXPOUNDED BY SAINT SHRI DNYANESHWAR IN DNYANESHWARI– 1ST AND 2ND PARTS'
PART 1: PHILOSOPHY AND YOGA OF GITA AND DNYANESHWARI
PART 2: AUTOBIOGRAPHY OF A NATHA SIDDHA YOGI
PART 3: INTRODUCTION TO GITA AND DNYANESHWARI
FUTURE BOOKS IN THIS SERIES: 'YOGA OF GITA – 4TH PART': '*Yoga Practice*, *Methods* and *Processes*'

Dear Reader

If you have reached this page, it means that you must have found my book interesting. I write on the *Yoga of Gita* and Dnyaneshwari, in English and Marathi languages. It is based on what I have learnt from saint *Dnyaneshwar's* commentary on the *Shrimad-Bhagwad-Gita* and his other compositions, *Amritanubhava* and *Abhangas*. I welcome you to my further books on the subject, to be published under the same main title **योगदा श्रीज्ञानेश्वरी** in Marathi, a series starting from this book. My English language series is being published under the main title of ***'Kundalini yoga: Yoga of Gita as Expounded by Saint Shri Dnyaneshwar'.*** The English as well as the Marathi language series are published with suitable subtitles on the topics they deal with. For example, this book has the subtitle of: **गीता व ज्ञानेश्वरी: योगवैभव - कुंडलिनी जगदंबा आणि पंथराज** [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - १०**]. The last parts were published under the titles of:

गीता व ज्ञानेश्वरी: एका नाथसिद्धयोग्याचे आत्मवृत्त (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी १**)

गीता व ज्ञानेश्वरी : योग आणि तत्त्वज्ञान (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी २**)

गीता व ज्ञानेश्वरी: प्रथम परिचय (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ३**)

गीता व ज्ञानेश्वरी :योगसाधना (**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ४**)

गीता व ज्ञानेश्वरी : विश्वविज्ञान: चिद्विलास आणि योग [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी ५**]

गीता व ज्ञानेश्वरी : जीवात्मा आणि गीतेतील उपासना [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ६**]

गीता व ज्ञानेश्वरी: कर्माचे स्वरुप [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ७**];

गीता व ज्ञानेश्वरी : ईश्वराचे अंतरंग आणि उपासना रहस्य [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ८**]

गीता व ज्ञानेश्वरी: योग: कर्म आणि ज्ञान [**योगदा श्रीज्ञानेश्वरी - ९**]

I would like to follow the same style. The subject of *Gita, Dnyaneshwari* and its *Yoga* is vast. Hence I am giving this treatment to the matter to enable the readers to read it in short spans of easy to read books.

Thanks for your patronage.

Vibhakar Lele

Author

YOGI SAINT

SHRI DNYANESHWAR

योगी श्रीज्ञानेश्वर

I HUMBLY LAY DOWN MY HEAD AT THE SACRED LOTUS AT THE FEET OF DNYANADEV, EVER IN REVERENCE.

योगवा श्रीज्ञानेश्वरी

लेखकाचा परिचय

ग्रंथ : योगवा श्रीज्ञानेश्वरी

लेखक: स्वामी योगेश्वरानंदगिरी [redacted]

(गुरुदत्त नाम)

विभाकर वि. लेले (व्यावहारिक नाम)

शिक्षण: B.E.; B.Sc.
(Pune-1966,1967)
LL.B. (Mumbai-1986)

व्यवसाय:अभियांत्रिकी क्षेत्रातील व्यवस्थापन,
Consultancy Services

: अभ्यासू वृत्ती, मेहनती स्वभाव, शैक्षणिक क्षेत्रात सुयश, अनेकविध विषयांची आवड व त्यांचे चौफेर वाचन, ज्ञानग्रहण, मनन व चिंतन, विज्ञान, अभियांत्रिकी आणि कायदाविषयक तज्ञ :

: गणित, खगोलशास्त्र, जैविक विज्ञान, मानववंशशास्त्र, जनुकशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, अणुविज्ञान, अभियांत्रिकी इत्यादी अनेक आधुनिक विज्ञानसंबंधित शाखांत रस आणि गती :

: मराठीसह इंग्रजी व हिंदी भाषा अवगत आणि त्यातून विज्ञानाव्यतिरिक्त साहित्य, अध्यात्म, योगशास्त्र, उपासना व भक्ती, तंत्रशास्त्र, श्रुति-स्मृति उपनिषदादी पौर्वात्य अक्षरवाङ्मय,गूढवाद (Mysticism) व तत्त्वज्ञान यांसह अनेक विषयांचे आकलन :

: पतञ्जली व ज्ञानेश्वरप्रणीत भारतीय योगशास्त्राचे सप्रायोगिक अभ्यासक

आणि

कुंडलिनी सिद्धमहायोग या विषयाचे नाथसांप्रदायिक जाणकार आणि अभ्यासक :

:::: योगवा श्रीज्ञानेश्वरी या ग्रंथाच्या लेखकाचा गुरुसंप्रदाय आणि परंपरा ::::

गुरुसंप्रदा :::: आदिनाथ-उमादेवी-गोरक्ष-गहिनी-निवृत्ति-ज्ञानदेव-सत्यामलनाथ-गुप्तनाथ-केसरीनाथ -शिवदीननाथ – वासुदेवानंदनाथ यांपासून गुरुक्रमाने प्राप्त झालेला नवनाथ सिद्ध संप्रदाय ::::

परंपरा: ::: गौडपादी परंपरेतील श्रीमत् आचार्य शंकरभगवत्पाद यांच्यापासून प्रसृत झालेली अद्वैतानंदजीमहाराज गठित सत्यदेवानंद सरस्वति परंपरा :::

परंपरा: :::: नित्यानंद-मुक्तानंद अवधूतानंद संकल्पसिद्ध परंपरा ::::

copyrights reserved by author:V.V.LELE
ISBN:13:978-1480157576

ॐ

पञ्चस्तवी

भाषा टीका सहित

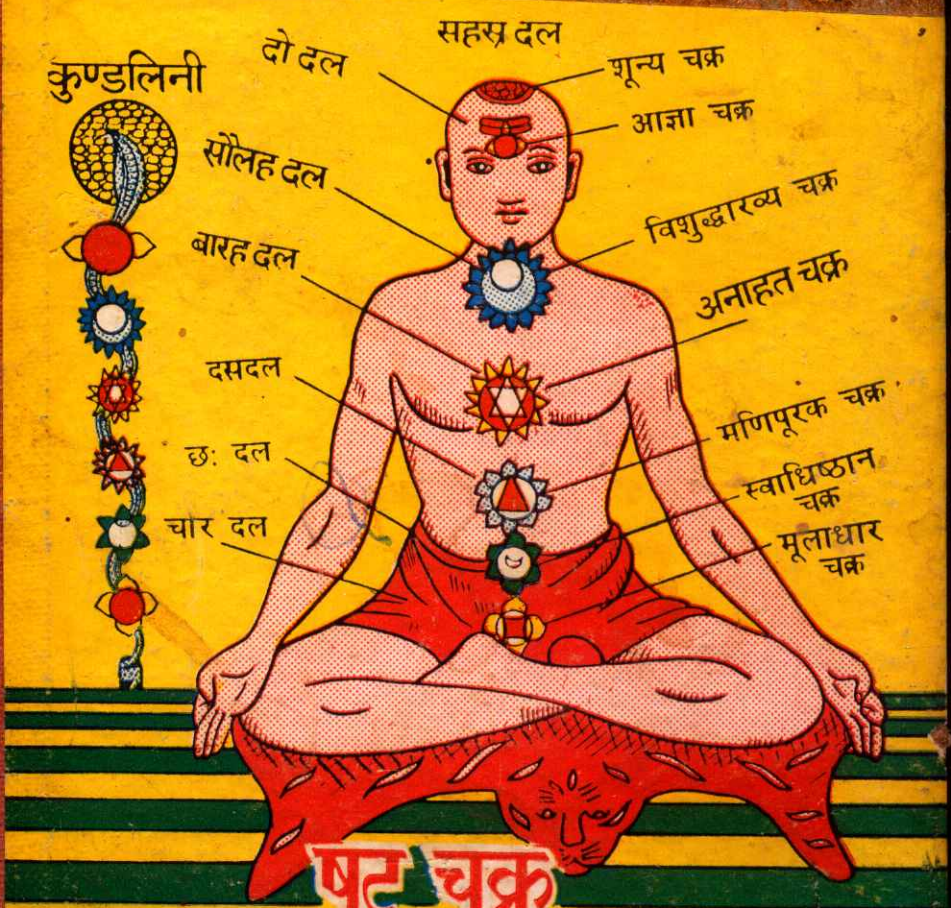

पञ्चस्तवी

भाषा टीका सहित

टीका-लेखक
(प्रेम नाथ शास्त्री)

प्रकाशक :- **प्रेमनाथ शास्त्री**
विजयेश्वर-ज्योतिष-कार्यालय गोलगुजराल (जम्मू)

लक्ष्मी प्रिंटिंग वर्कस, लाल कुआँ. देहली में छपा

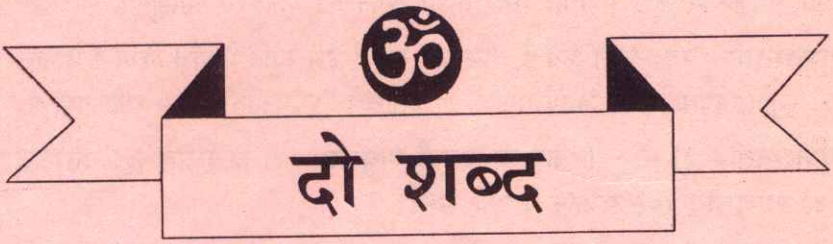

दो शब्द

काश्मीर के शैव दर्शन के आधार से भक्ति के आवेश में शाम्भवी अवस्था पर पहुँचे हुये, ब्रह्मनिष्ठ, योगी, छन्द व्याकरण अलङ्कारशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् किसी काश्मीरी पण्डित ने इस "पञ्चस्तवी" की रचना की है, पञ्चस्तवीकार ने इस सारगर्भित स्तुति में कहीं अपने नाम का संकेत नहीं दिया है, और अपने को माता की स्तुति का अनधिकारी जानकर कहा है :–**वाचस्पतिः प्रभृतयोपि जडी भवन्ति, तस्मात्-निसर्ग-जडिमा कतमोहं-अत्र**" हे माता! जहाँ बृहस्पति आदि आप का वर्णन करने में मूक हो जाते हैं वहाँ मेरी गिनती किस में है, यदि में यह स्तुति करता हूँ, यह मैं स्वयं नहीं करता हूँ आप के भक्ति का आवेश करवा रहा है, पञ्चस्तवीकार को यह पूर्ण विश्वास था यह स्तुति मैं नहीं करता हूँ अपितु मुझे निमित बनाकर माता स्वयं कर रही है, यही कारण है पञ्चस्तवी-कार ने इस स्तुति में अपने नाम का संकेत नहीं दिया है, परन्तु पञ्चस्तवी के स्वाध्याय से यह बात निश्चित हो जाती है पञ्चस्तवीकार काश्मीरी ब्राह्मण है और शारदा माता स्वयं ही इस की रचना करने वाली है, यही कारण है इस पञ्चस्तवी का नाम सुनते ही विशेषतया काश्मीरी-पण्डित की आध्यात्मिक तार हिलने लगती है, पञ्चस्तवी का श्लोक पढ़ते समय अथवा सुनते समय अर्थ का ज्ञान हो या न हो प्रायः हर काश्मीरी पण्डित की वाणी गदगद् हो जाती है, शरीर पुलकित हो जाता है आँखों में आँसुओं की धारायें बहने लगती हैं, और भक्ति के आवेश में झूमने लगता है।

बचपन से ही मुझे गुरुमहाराज की प्रेरणा से इस स्तुति के अर्थ तथा टीका लिखने की प्रबल इच्छा थी, यह गुरुमहाराज की प्रेरणा का ही प्रभाव है, कि मैं ने एक अल्पज्ञ होते हुये भी इस सारगर्भित स्तुति पर यह साधारण सा अर्थ लिखने का प्रयत्न किया है, पञ्चस्तवीकार के ही शब्दों में "सावद्यं निर्-अवद्यं-अस्तु यदि वा किं वानया चिन्तया" यह मेरा प्रयत्न दोष रहित है या दोष सहित "मैं ने यह अर्थ विद्वानों के लिये नहीं बल्कि माता के उन भक्तों के लिये जिन को पञ्चस्तवी के अर्थ का बिल्कुल ज्ञान नहीं है, लिखा है, यदि ऐसे माता के भक्तों को मेरे इस प्रयत्न से पञ्चस्तवी के

अर्थ समझने में कुछ सहायता मिले तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूंगा।

पञ्चस्तवी–"स्तव" का अर्थ है, "प्रशंसा" करना, इस स्तुति में पाँच विभागों में माता की स्तुति अथवा वर्णन किया गया है, - इसलिये "पञ्चस्तवी" नाम रखा गया है।

पञ्चस्तवी–(१) पहले विभाग का नाम है **लघुस्तव** (२) **चर्चस्तव** (३) **घटस्तव** (४) **अम्बस्तव** (५) **सकल जननी स्तव।**

लघुस्तव–पहले स्तव के अन्तिम श्लोक में पञ्चस्तवीकार ने अपने को माँ की स्तुति करने में अनधिकारी मानकर "लघुत्व" पद का प्रयोग किया है "लघुत्व" का अर्थ है "हल्का" "ओछापन" "तुच्छ" थोड़ा, इस स्तव में **लघुत्व** पद सारगर्भित है, इसी भावना से इस "स्तव" का नाम 'लघुस्तव' रखा है, अथवा पहले स्तव में सब स्तवों की अपेक्षा कम श्लोक होने के कारण "लघुस्तव" नाम रखा है।

चर्चस्तव–इस स्तव में पंचस्तवीकार ने भिन्न-भिन्न प्रकार से माँ की स्तुति प्रशंसा अथवा चर्चा की है। इसलिये इस स्तव का नाम "चर्चस्तव" है।

घटस्तव–दूसरे तथा तीसरे में विशेषतया साधक ने अष्टसिद्धियों का वर्णन किया हे, उपनिषदों में कहा है कि वह "संवित्" "आत्मा" घड़े में अष्टसिद्धियों के ढक्कन से ढका हुआ है, जो इन अष्टसिद्धियों में ने उलझकर अष्टसिद्धिरूपी ढक्कन को ठुकराता है, वही "संवित्" अथवा आत्मा को जान सकता है, "संवित्" घड़े में ही होने से इस स्तव का नाम "घट स्तव" है।

अम्बस्तव–इस स्तव में पञ्चस्तवीकार ने बार-बार "अम्ब" इस नाम से उस पराशक्ति को पुकारा है, इसलिये इस स्तव का नाम "अम्बस्तव" रखा गया है।

सकल जननी स्तव–पञ्चस्तवी का हर एक शब्द एक-एक मन्त्र है, पञ्चस्तवीकार ने इस स्तुति का आरम्भ 'ऐं' इस मन्त्र से किया है, पञ्चस्तवी के अन्तिम श्लोक की अन्तिम पंक्ति सम्पूर्ण रूप में मन्त्र है, जिस में माता को "सकल जननी" शब्द से पुकारा है।

इसलिये इस स्तुति का नाम 'सकल जननी स्तव" रखा है–पञ्चस्तवी का अन्तिम मन्त्र है :

सकलजननि! सात्वं पाहि मां-इत्य-वश्यम्

हे सकल जगत् की माता! मेरी अवश्य रक्षा कर।

ॐ

अथ लघुस्तवः-प्रथमः

श्रीत्रिपुर-सुन्दर्यै नमः

ऐन्द्र-स्येव शरासनस्य दधती, मध्ये ललाटं प्रभां
शौक्लीं कान्तिम्-अनुष्ण-गौर्-इव शिरस्या-तन्वती सर्वतः।
एषाऽसौ त्रिपुरा हृदि-द्युतिर्-इवो,-ष्णांशोः सदा-हःस्थिता
छिन्द्यात्-नः सहसा पदै-स्त्रिभिर्-अघं, ज्योति-र्मयी वाङ्-मयी(१)

अन्वय तथा शब्दार्थ

ऐन्द्रस्य=इन्द्र के, **शरासनस्य**=धनुष के, **इव**=जैसे, **ललाटं मध्ये**=ललाट के बीच में, **प्रभां**=शोभा को, **दधती**=धारण की हुई, **अनुष्ण-गोः**=चन्द्रमा की, **इव**-जैसी, **कान्तिं-निर्मल**-दीप्ति को, **शिरसि**-सिर में, **आतन्वती**=फैलाती हुई, **सर्वतः**=हर ओर से, **एषा-असौ**=यही वह, **त्रिपुरा**=तीन पुरों, जागृत स्वप्न सुषप्ति अवस्था में ठहरी हुई "संवित्" अथवा "विमर्शमयी शक्ति," **हृदि**=हृदय में, **उष्णांशोः**=सूर्य की, **द्युतिर्-इव**=दीप्ति जैसी, **सदाहःस्थिता**=सदा उदित, **ज्योतिर्मयी**=प्रकाशमयी, **वाङ्मयी**=विमर्शमयी, **नः**=हमारे, **अघं**=पापों को, **त्रिभिः पदैः**=श्लोक के तीन बीजाक्षरों से, **सहसा**=बिना किसी विलम्ब के, **छिन्द्यात्**=नाश करे।

अर्थः—प्रकाशमयी, विमर्शमयी वह त्रिपुराभगवती जो ललाट में इन्द्रधनुष की भांति शोभा को धारण की हुई है, सिर में हर ओर निर्मल दप्ति को फैलाती हुई स्थित है, जो हृदय में सूर्य के समान उज्ज्वल दीप्ति से हर समय प्रकाशित रहती है वही त्रिपुरा भगवती,

इसी श्लोक के तीन पादों में ठहरे हुये तीन बीजाक्षरों से हमारे पापों का बिना किसी विलम्ब के नाश करे।

टिप्पणी:–पंचस्तवीकार ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करके ही अपने अनुभव के आधार पर ही इस "पञ्चस्तत्वी स्तोत्र" की रचना की है, जिस का संकेत पहले ही श्लोक में मिलता है। आरम्भ के ही श्लोक में, अपनी "इष्टदेवी" को त्रिपुरा नाम से पुकारा है वर्तमान काल में भी त्रिपुरा भगवती की उपासना काश्मीर केरल और गौडीय पद्धति में की जाती है। त्रिपुरा नाम को इस स्तोत्र में 18 बार लाया है–पहले स्तव के 16वें श्लोक में इस नाम की स्वयं ही व्याख्या भी की है-साधक ने पहले ही श्लोक में अपने "इष्टमन्त्र" तथा अपने "साधनाक्रम" का वर्णन भी किया है, "गुरुमन्त्र" चूँकि गोपनीय होता हे, अतः अपने इष्टमंत्र **"ऐं" "क्लीं" "सौः"** को इसी श्लोक के तीन पादों में गुप्तरूप में रखा है, जैसे **"एन्द्रस्येव--** में **"ऐं" "शौक्लीं"** में **"क्लीं" "एषासौः" में "सौः"** इस शरीर रूपी मन्दिर में उस विमर्शमयी माँ के मिलने अथवा साक्षात्कार के तीन केन्द्र हैं, "ललाट, सिर, हृदय" ललाट में **"ऐं"** सिर में **"क्लीं"** हृदय में **"सौः"** बीजाक्षर का ध्यान किया है-जिसके फलस्वरूप साधक ने ललाट में इन्द्रधनुष का शीतल प्रकाश जैसा, सिर में अमृत को टपकाते हुये चन्द्रमा की ज्योत्सना की भांति, हृदय में सूर्य के उज्ज्वल तथा तीव्र प्रकाश वाली जैसी संवित् रूपा विमर्शमयी मां अथवा उस महती शक्ति का साक्षात् कार किया, जिस शक्ति को शैवदर्शन में संवित्, विमर्श, प्रकाश, चेतना, वेदान्त में "अहं" अथवा "आत्मा" नाम से पुकारते हैं।

या मात्रा त्रपुसी-लता-तनु-लसत् तन्तू-त्थिति-स्पर्धिनी
वाक् बीजे प्रथमे स्थिता तव सदा, तां मन्महे ते वयम्।
शक्तिः कुण्डलिनी-ति विश्व-जनन, व्यापार-बद्धोद्यमा
ज्ञात्वे-त्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी, गर्भेर्भकत्वं नराः(२)

अन्वय तथा शब्दार्थ

या=जो, **मात्रा-संवित्**=शक्ति, **त्रिपुसी**-लता=ग्यवथीर बेल के समान, **तनुः**=सूक्ष्म, **लसत्**=चमकती हुई, **तन्तु**=तार से, **उत्थिति**=उत्पन्न हुई (बेल के साथ), **स्पर्धिनी**=होड़ (बराबरी) करने वाली, **वाक्-बीजे, प्रथमे**=पहले, बीजा क्षर-मंत्र "ऐं" में, **तव**=तुम्हारे, **सदा स्थिता**=सदा ठहरी हुई अथवा सदा उदित, **तां**=उसको, **ते वयं**=वही हम आप के भक्त जन, **मन्महे**=मानते

हैं, **शक्तिः कुण्डलिनी-इति**=यही कुण्डलिनी शक्ति है, जो **विश्व-जनन-व्यापार-बद्धोद्यमा**=जगत् के उत्पन्न, पालन, संहार करने में निरन्तर लगी हुई है, **इत्थं-ज्ञात्वा**=ऐसा जानकर, **नराः**=मनुष्य, **जननी गर्भे**=माँ के गर्भ में **अर्भकत्वं**=बालक भाव को, **पुनः**=दूसरी बार, **न स्पृशन्ति**=स्पर्श नहीं करते हैं।

अर्थः—आप के बीजाक्षर मन्त्र **"ऐं"** में जो उत्कृष्ट शक्ति है, जो ग्यवथीर लता की उत्पन्न हुई चमकती हुई सूक्ष्म बेल के साथ होड़ करती है (यानी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है)। जो वाणी के बीजमन्त्र **"ऐं"** में स्थित हैं—ऐसा हम आप के भक्त जन मानते हैं परन्तु कई भक्त उस उत्कृष्ट शक्ति को, जगत् को उत्पन्न पालन संहार करने वार्ल सर्वशक्तिमती कुण्डलिनी शक्ति जानते हैं, ऐसे भक्त माँ के गर्भ में बालकभाव को प्राप्त नहीं होते हैं यानी जन्ममरण के चक्र से छुटकारा पाते हैं।

टिप्पणीः—उस मात्रा (संवित्) का स्वरूप कैसा है जिसका वर्णन उपनिषदों में ऐसे मिलता है **"अणोरणीयान् महतो-महीयान्" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"** जो मात्रा (संवित्) "सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है महान् से भी महान् है" जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं जिससे जीवित रहते हैं, जो शक्ति हर एक प्राणी में कुण्डलिनी रूप में ठहरी है।

दृष्ट्वा संभ्रमकारि वस्तु सहसा, ऐ ऐ इति व्याहृतम्
येना-कूत-वशात्-अपीह वरदे!, बिन्दुं विना-प्यक्षरम्।
तस्यापि ध्रुवम्-एव देवि! तरसा, जाते तवानु-ग्रहे
वाचः-सूक्ति-सुधा-रस-द्रव-मुचो, निर्यान्ति वक्त्रा-म्बुजात् (3)

अन्वय तथा शब्दार्थ

वरदे! देवि!=हे अभीष्ट सुख देने वाली देवी! **येन**=जिसने, **इह**=इस संसार में, **संभ्रमकारि**=भयभीत करने वाला वस्तु-पदार्थ, **दृष्ट्वा**=देखकर,

आकूत-वशात्=विना सोचे समझे, **सहसा**=शीघ्रता से, **विन्दुं विनापि**=बिन्दु के बिना भी **"ऐ ऐ"**, **इति**="ऐ ऐ" ऐसे, **व्याहृतम्**=उच्चारण किया हो, **तस्यापि**=उस को भी, **तवानुग्रहे-जाते**=आप की दया होने पर, **तरसा**=बिना किसी प्रयास के, **सूक्ति**=उत्तम अर्थ वाली, **सुधा=रस, द्रव-मुचः**=अमृतरस के प्रवाह से परिपूर्ण, **वाचः**=वाणियाँ, **ध्रुवं एव**=निश्चय से, **निर्यान्ति**=निकलती हैं।

अर्थः—हे अभीष्ट फल को देने वाली माँ! जिस मनुष्य ने इस संसार में कोई भयभीत करने वाला वस्तु देखकर बिना सोचे समझे शीघ्रता से बिना बिन्दु के भी **"ऐ ऐ"** ऐसा उच्चारण किया हो उस पर भी आप का अनुग्रह होने से, बिना किसी प्रयत्न के उसके मुख से अमृत-रस से परिपूर्ण वाक्य निकलते हैं, अर्थात् वह पण्डित अथवा कवि बनता है।

टिप्पणीः—इस श्लोक में "ऐं" बीजाक्षर का महत्त्व दिखाया है।

यत्-नित्ये! तव काम-राजम्-अपरं, मन्त्राक्षरं निष्कलम्
तत्-सार-स्वतम्-इति-वैति विरलः, कश्चित्-बुध-श्चेत्-भुवि।
आख्यानं प्रतिपर्व सत्यतपसा, यत्-कीर्तयन्तो द्विजाः
प्रारम्भे प्रणवास्पद-प्रणयितां, नीत्वो-उच्चरन्ति स्फुटम् (4)

अन्वय तथा शब्दार्थ

नित्ये!=हे संवित् रूपा माँ, **यत्**=जो, तव आप का, **काम राजम्**=सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला, **अपरं**=दूसरा (क्लीं बीजाक्षर), **निष्कलं**=कल् से रहित, अर्थात् **"ईं"**, **मन्त्राक्षरं**=बीजाक्षर मन्त्र हैं, **कश्चित् विरलः**=कोई विरला, **बुधः**=विद्वान् ही, **इति**=ऐसे ही-**अवैति**=जानता है, **भुवि**=संसार में, **यत्**=जिस बीजाक्षर का, **द्विजाः**=ब्राह्मण, **सत्यसपसः**=सत्य तप ऋषि की,

आख्यानं=कथा का, **कीर्तयन्तः**=कीर्तन करते हुये, **प्रतिपर्व**=हर एक पर्व पर, **प्रारम्भे**=कथा के आरम्भ में, **प्रणवास्पद**=ॐ के स्थान पर, **प्रणयितां नीत्वा**=प्रेम से अपना कर, **स्फुटम्**=स्पष्ट रूप में, **उच्चरन्ति**=उच्चारण करते हैं।

अर्थः—हे भूत भविष्य वर्तमान में रहने वाली माँ जो आप का दूसरा **'क्लीं'** बीजाक्षर मन्त्र है, उसमें से **"क्"** **"ल्"** निकाल कर जो **"ई"** शेष रहता है, यह सरस्वती का मन्त्र है, ऐसा कोई विरला बुद्धिमान् ही जानता है, ब्राह्मण लोग हर एक पर्व पर जब सत्यतप नाम ऋषि का कथा कीर्तन होता है, तो मंगल के रूप में कथा के आरम्भ में **"ॐ"** के स्थान पर **"ई"** का उच्चारण करते हैं।

टिप्पणी—"ई" सरस्वती का बीजाक्षर मन्त्र है 'क्लीं" लक्ष्मी का बीजाक्षर मन्त्र है, आगम शास्त्रों में "ॐ" का मंगल रूप में प्रयोग किया जाता है **"ॐकारश्चा-थशब्दश्च मांगलिकौ-उभौ** पञ्चस्तवी कार ने **"ई"** बीजाक्षर को ॐ की पदवी देकर "ई" बीजाक्षर का महत्त्व दिखाया है।

यत्-सद्यो वचसां प्रवृत्ति-करणे, दृष्ट-प्रभावं बुधैः
तार्ती-यीकम्-अहं नमामि मनसा, त्वत्-बीजम्-इन्दु-प्रभम्।
अस्त्वौर्वो-पि सरस्वतीम्-अनुगतो, जाड्याम्बु-विच्छित्तये
गौः शब्दो गिरि वर्तते सनियतं, योगं विना सिद्धिदः(5)

अन्वय तथा शब्दार्थ

यत्=जो "सौः" बीजाक्षर, **सद्यः**=तत्क्षणात्, **वचसां**=वाणियों के, **प्रवृत्ति करणे**=सरस तथा प्रभावशाली बनाने में, **अहं**=मैं, **तार्तीयीकम्**=तीसरे, **त्वत्**=तुम्हारे, **इन्दुप्रभावं**=चन्द्रमा जैसे शीतल, **बीजं**=बीजाक्षर को, **मनसा नमामि**=मन से नमस्कार करता हूँ, **सरस्वतीम्-अनुगतः**=सरस्वती का अनुकरण करने वाला "सौः" बीजाक्षर, **और्वः अपि**=वाडवाग्नि का अर्थ

रखने वाला भी, **वः**=आपके, **जाड्याम्बु**=जडतारूप, अथवा अज्ञान रूपी जल के, **विच्छित्तये**=नाश के लिये, अस्तु हो, **गौःशब्द**=गौः यह शब्द, **गिरि-वर्तते**=वाणी अथवा सरस्वती का वाचक हैं, **सनियतं**=निश्चयरूप से, **यो**=जो, **"गंविना"**=जो **"ग्"** अक्षर के बिना "यानि केवल **"औः"** बीजाक्षर ही, **सिद्धिदः**=सिद्धि देने वाला है, अथवा **योगं बिना**=योग के बिना ही, यह **"औः"** बीजाक्षर सिद्धि देने वाला है।

अर्थः—मैं तुम्हारे तीसरे चन्द्रमा जैसे शीतल "सौः" बीजाक्षर को मन से नमस्कार करता हूँ, जो "सौः" बीजाक्षर तत्क्षणात् वाणियों को मधुर तथा प्रभावशाली बनाता है, ऐसा इस मंत्र का प्रभाव बुद्धिमानों ने देखा है **"स्"** के बिना केवल **"औः"** बीजाक्षर मूर्खों की जड़ता के लिये **"वाडवाग्नि"** हैं, **"गौः"** शब्द का अर्थ है वाणी अथवा सरस्वती, **"गौः"** में से **"ग्"** निकाल कर केवल **"औः"** बीजाक्षर भी सिद्धि देने वाला है **"यो-गं विना"**, अथवा **योगं विना** (यह बीजाक्षर) योग के (साधना) के बिना ही केवल **"औः"** उच्चारण करने मात्र से ही सिद्धि देता है।

टिप्पणीः—वाडवाग्नि=समुद्र में रहने वाली अग्नि वाडवाग्नि कहलाती है। "औः" बीजाक्षर का उच्चारण करना ही मूर्खता रूपी जल के लिये वाडवाग्नि है जो भक्त केवल "औः" का ही उच्चारण करते हैं, सरस्वती की उस पर कृपा होती है।

एकैकं तव-देवि! बीजम्-अनघं सव्यञ्जना-व्यञ्जनं
कूटस्थं यदि वा पृथक् क्रमगतं, यद्वास्थितं व्युत्क्रमात्।
यं यं कामम्-अपेक्ष्य येनविधिना, केनापि वा-चिन्तितम्
जप्तं वा सफली करोति सहसा, तं तं समस्तं नृणाम् (6)

अन्वय शब्दार्थ

देवि!=हे देवी!, **तव**=आपका, **एकैकं**=हर एक, **अनघं**=दोष रहित, **बीजं**=बीजाक्षर, **सव्यञ्जन-अव्यञ्जनं**=व्यञ्जन सहित-व्यञ्जनरहित, **कूटस्थं**=विकार रहित, **यदि वा**=या, **पृथक् क्रम गतं**=अलग अलग क्रम में गया हुआ, **यद्-वा**=या, **स्थितं**=ठहरा हुआ, **व्युत्क्रमात्**=उल्टे क्रम में, **यं यं**=जिस जिस, **कामम्**=कामना की, **अपेक्ष्य**=इच्छा करके, **येन केनापि**=जिस किसी भी, **विधिना**=विधि से, **चिन्तितम्**=चिन्तन किया हुआ, **जप्तं वा**=या जप किया हुआ हो, **नृणां**=मनुष्यों के, **तं तं**=उन उन, **समस्तं**=सभी कामनाओं को, **सहसा**=झट पट, **सफली करोति**=सफल करता है।

अर्थः—हे देवि! आप के प्रत्येक बीजाक्षर **"ऐं क्लीं सौः"** का जो भक्त व्यञ्जन सहित, व्यञ्जन रहित कूटस्थ (बिना किसी विकार के) ज्यों के त्यों रूप में अलग अलग क्रम में अथवा उल्टे क्रम से आप के इन बीजाक्षर मन्त्रों का चिन्तन या जप जिस जिस कामना से जो भक्त करता है, उसकी वह वह कामना तत्क्षणात् पूरी होती है।

टिप्पणीः—व्यञ्जन सहित बीजमन्त्र=ऐम् क्लीम्-सौः व्यञ्जन रहित ऐ ई औ, कूटस्थ=ऐं क्लीं सौः अलग-अलग क्रम में-ऐम्, क्लीम्-स-औः उल्टे क्रम में "सौ क्लीं ऐं"।

वामे पुस्तक-धारिणीम्-अभयदां, साक्ष-स्त्रजं दक्षिणे
भक्तेभ्यो वर-दान-पेशल-करां, कर्पूर-कुन्दो-ज्ज्वलाम्।
उज्जृम्भा-म्बुज-पत्र-कान्त-नयन, स्निग्ध-प्रभालोकिनीं
ये-त्वाम्-अम्ब न-शीलयन्ति मनसा, तेषां कवित्वं कुतः(7)

अन्वय शब्दार्थ

अम्ब=हे माँ!, **वामे-पुस्तक-धारिणीं**=बायें के एक हाथ में पुस्तक धारण की हुई, दूसरे हाथ में, **अभयदां**=अभय-मुद्रा धारण की हुई, **दक्षिणे**=दायें के एक हाथ में, **साक्ष-स्त्रजं**=रुद्राक्षमाला, दूसरे हाथ में, **भक्तेभ्यः**=भक्तों के लिये, **वरदान**=वर देने के लिये, **पेशल-करां**=कोमल हाथ वाली, **कर्पूर**=कफूर, **कुन्द**=मोतिया फूल की भांति, **कान्त**=सुन्दर, **नयन**=नेत्रों की, **स्निग्धप्रभा**=प्रेम से भरी, अथवा अनुग्रह दृष्टि से, **आलोकिनीं**=देखने वाली, **ये**-जो त्वां=तुम्हारे इस रूप का, **मनसा**=मनसे, न **शीलयन्ति**=ध्यान नहीं करते हैं, **तेषां**=उनको, **कवित्वं**=ज्ञान की प्राप्ति, **कुतः**=कहाँ हो सकती है।

अर्थः—बायें तरफ के एक हाथ में पुस्तक, दूसरे हाथ में अभय मुद्रा, दायें तरफ के एक हाथ में रुद्राक्षमाला और दूसरे हाथ में, भक्तों के लिये वरदान मुद्रा वाली, कर्पूर तथा कुन्द (मोतिया फूल) जैसी सफेद तथा उज्ज्वल प्रकाशवाली, खिले हुये कमलपत्र जैसे स्नेहयुक्त (अनुग्रहीत) नेत्रों की दीप्ति से देखने वाली, ऐसे ही उस 'संवित्' स्वरूपा सरस्वती माता का जो ध्यान नहीं करते हैं, वे **विद्वान् अथवा ज्ञानवान् बन** नहीं सकते हैं।

टिप्पणीः—बायें हाथ में पुस्तक, तथा अभय मुद्रा से तात्पर्य है, विद्या वही सफल है, जो भेदभाव को समाप्त करे, जब कि भेदभाव न रहने पर ही मनुष्य निर्भय होता है **"भयं द्वितीयात्"** दायें हाथों में माला, और वरदान मुद्रा-से तात्पर्य है, माला अध्यात्म का संकेत है, आध्यात्मिकता होनी चाहिए, वरदान के लिये, उत्तमदान (ज्ञान दान) के लिये 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः'।

ये त्वां पाण्डुर-पुण्डरीक-पटल, स्पष्टाभि-राम प्रभां
सिञ्चन्तीम्-अमृत-द्रवैर्-इव शिरो, ध्यायन्ति मूर्ध्नि स्थिताम्।
अश्रान्तं विकर स्फुटा-क्षर-पदा, निर्यांति वक्त्राम्बुजात्
षां भारति! भारती सुर-सरित्, कल्लोल-लोलार्मि-वत्(8)

अन्वय-शब्दार्थ

भारति!=हे सरस्वती माता, **ये**=जो भक्त, **त्वां**=तुम्हारे, **पाण्डुर**=सफेद, **पुण्डरीक**=कमल के, **पटल**=समूह की भांति, **स्पष्ट**=निर्मल, **अभिराम**=सुन्दर **प्रभां**=दीप्तिवाले, **शिरः**=सहस्र दल को, **अमृत=द्रवैः-इव**=अमृत के प्रवाहों से जैसे, **सिञ्चन्तोम्**=सींचती हुई, **मूर्ध्नि**=ब्रह्मरन्ध्र में, **स्थितां**=ठहरी हुई का, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, **तेषां**=उनके, **वक्त्राम्बुजात्**=मुख कमल से, **अश्रान्तं**=निरर्गल, **विकट**=गम्भीर, **स्फुटाक्षरा पदा**=स्पष्ट अक्षरों वाली, **भारती**=वाणी, **सुरसरित्**=आकाशगंगा की, **क्ल्लोल**=कलकल करती हुई, **लोल**=चंचल, **ऊर्मिवत्**=तरंगों की भांति, निर्यांति=निकलती हैं।

अर्थः—हे सरस्वती माता तुम्हारे सफेद कमलों के समूह की भांति निर्मल दीप्तिवाले, सहस्रार में अमृत प्रवाह को सींचती हुई ऐसे ही आप के स्वरूप का ब्रह्मरन्ध्र में जो भक्त ध्यान करते हैं, उनके मुख कमल से गम्भीर स्पष्ट अक्षरों वाली वाणी आकाशगंगा की कलकल करती हुई चञ्चल तरंगों की भांति निरर्गल रूप में निकलती हैं। अर्थात् उन भक्तों को मधुर सार्थक प्रभावशाली निरर्गल बोलने की शक्ति आती है।

टिप्पणीः—मूर्ध्नि=बह्मरन्ध्रे-"सहस्रदलम्-आख्यातं=ब्रह्मरन्ध्र" ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल कमल होता है (इसी सहस्रार) में साधक को शिवशक्ति के मिलन का साक्षात् कार होता है **"सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते"**

ये सिन्दूर-पराग-पुञ्ज-पिहितां, त्वत्-तेजसा द्याम्-इमाम्
उर्वीं चापि विलीन-यावक-रस, प्रस्तार-मग्नाम्-इव।
पश्यान्ति क्षणम्-ऽप्य-नन्य मनस-स्तेषाम्-अनङ्ग-ज्वर
क्लान्ता-स्त्रस्त-कुरङ्ग-शावक-दृशो, वश्या भवन्ति स्फुटम्(9)

अन्वय-शब्दार्थ

अनन्यमनसः=एकाग्रमन वाले, **ये**=जो भक्तजन, **सिन्दूर-पराग**=सिन्दूर की धूलि के, **पुञ्ज**=समूह से, **पिहितां**=ढकी हुई, **इमां द्यां**=इस आकाश को, **उर्वीं चापि**=पृथिवी को भी, **विलीन**=पिघले हुये, **यावक-रस**=लाक्षा रस के, **प्रस्तार**=प्रवाह में, **मग्नाम्-इव**=डूबी हुई, **त्वत्-तेजसा**=आपके ही तेज से अथवा लालवर्ण से व्याप्त, **क्षणमपि**=एक क्षण भी, **पश्यन्ति**=देखते है, **तेषाम्**=उनको, **अनंगज्वर**=कामदेव के सन्ताप से, क्लान्ताः=**दुःखित, त्रस्त**=भयभीत, **कुरंग**=हिरण के, **शावक**=बच्चों की जैसी, **दृशः**=नेत्रों वाली (चञ्चल) इन्द्रियाँ, **वश्याभवन्ति**=वश्य होती हैं, **स्फुटम्**=प्रत्यक्षरूप में।

अर्थः—जो भक्तजन एकाग्रमन से आकाश और पृथिवी को आप के अरुणवर्ण में व्याप्त अथवा ओतप्रोत एक क्षणमात्र भी देखते हैं। संसार के विषयों से दुःखित तथा भयभीत इन्द्रियाँ उसके वश्य में हो जाती है जैसा कठोपनिषद में कहा है।

टिप्पणीः—सर्वशक्तिमती माता ही विश्व का सृ रती है,—शक्ति का वर्ण लाल माना जाता है।

"यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा-तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः

अर्थः—जो विज्ञान वाला है, जिसका मन आत्मा से जुड़ा रहता है, उसकी इन्द्रियां वश में रहती है, जैसे अच्छे घोड़े सारथी के वश में रहते हैं।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः "जिस भक्त को वह माँ अपनायेगी उसी की इन्द्रियाँ वश में होती हैं।

चञ्चत्-काञ्चन-कुण्डला-ङ्गद-धराम्-आबद्ध-काञ्ची-स्रजं
ये त्वां चेतसि तत्-गते-क्षणमपि, ध्यायन्ति कृत्वा स्थितिम्।
तेषां वेश्मसु विभ्रमात्-अहर्-अहः-स्फारी भवन्त्य-श्चिरं
माद्यत्-कुञ्जर-कर्ण-ताल-तरलाः, स्थैर्यं भजन्ते श्रियः(10)

अन्वय तथा शब्दार्थ

चञ्चत्=चमकते हुये, **कांचन**=सोने के, **कुण्डल**=बालियां, **अंगद**=बाजूबंद, **धराम्**=धारण की हुई, **आबद्ध**=बन्धी हुई, **काँची**=सोने की, **स्त्रजं**=तगड़ी वाली, **तत्गत्**=ऐसे ही स्वरूप को, **मनसि**=मन में, **ये**=जो, **क्षणम्**-अपि=क्षणमात्र भी, **स्थितिं कृत्वा**=मन की एकाग्रता से, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, **तेषां वेश्मसु**=उन के घरों में, **अरहः**=सदा, **स्फारी-भवन्त्यः**=विकसित हुई, **माद्यत्**=मस्त, **कुंजर**=हाथी के, **कर्णताल**=कानों की जैसी, **तरलाः**=चञ्चल, **श्रियः**=लक्ष्मी (ऐश्वर्य के साधन) **विभ्रमात्**=बिना किसी विलम्ब के **स्थैयं भजन्ते**=टिकी रहती है, **चिर**=चिरकाल तक।

अर्थः—जो भक्त चमकते हुये स्वर्णकुण्डलों तथा बाजूबन्दों को धारण की हुई, बांधी हुई सोने की तगड़ी से युक्त, ऐसे ही माता के स्वरूप का क्षणमात्र भी ध्यान करते हैं, उन के घरों में मदमस्त हाथी के कानों जैसी चञ्चल लक्ष्मी (ऐश्वर्य) के साधन बिना किसी विलम्ब के चिरकाल तक टिके रहते हैं।

टिप्पणीः—"**या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः**" दुर्गासप्त०।
जिस गृहस्थी पर माँ का अनुग्रह होता है, उस गृहस्थ में वह माँ लक्ष्मी के रूप में चिरकाल तक स्थाई रूप में ठहरती है।

आर्भट्या शशि-खण्ड-मण्डित-जटा, जूटां नृमुण्ड-स्त्रजं
बन्धूक-प्रसवा-रुणाम्बर-धरां, प्रेतासना-ध्यासिनीम्।
त्वां ध्यायन्ति चतुर्भुजां त्रिनयनाम्-आपीन-तुंग-स्तनीं
मध्ये निम्नवलि-त्रयाङ्कित तनुं-त्वत्-रूप संवित्तये। (11)

अन्वय-शब्दार्थ

आर्भट्या=अर्धगोलाकार, **शशिखण्ड**=चन्द्रकला से, **मण्डित**=सुशोभित,

जटा-जूटां=जटाओं की समूहवाली, **नृमुण्ड**=खोपड़ियों की, **स्रजं**=मालावाली, **बन्धूक**=बन्धूक वृक्ष के, **प्रसव**=फूलों के जैसे, **अम्बरधरां**=वस्त्रों वाली, **प्रेतासना**=शव के आसन पर, **अध्यासिनीम्**=बैठी हुई, **चतुर्भुजां**=चार भुजावाली, **त्रिनयनां**=तीन नेत्रों वाली, **आपीन**=मोटे, **तुंग**=ऊँचे, **स्तनीं**=स्तनों वाली, **मध्ये**=कमर में, **निम्न**=गहरे, **वलित्रय**=तीन रेखाओं से, **अंकित तनुं**=अंक्ति शरीरवाली, **त्वत्-रूप संवित्तये**=तुम्हारा स्वरूप जानने के लिये, **त्वां**=तुम्हारे ऐसे साकार रूप को भक्तजन, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं।

अर्थः—अर्धगोलाकार चन्द्रकला से सुशोभित जटा जूट वाली, खोपड़ियों की माला वाली, बन्धूक फूलों के जैसे लाल वस्त्र धारण की हुई प्रेत के आसन पर बैठी हुई, चारभुजा वाली, तीन नेत्रों वाली, मोटे तथा ऊँचे स्तनों वाली, कमर में सूक्ष्म तीन रेखाओं वाले, आपके स्वरूप को जानने के लिये भक्त जन आप के ऐसे ही साकार रूप का ध्यान करते हैं।

टिप्पणीः-खोपड़ियों की माला धारण करने से तात्पर्य है :-मनुष्य के सभी अंगों में से खोपड़ी का ही विशेष महत्त्व है, बुद्धि का निवास खोपड़ी में ही है, माता के साक्षात्कार का स्थान खोपड़ी ही है। **"सहस्र कमले शक्तिः शिवेन सह मोदते"** अतः मनुष्य की खोपड़ी को माता ने गले का हार बनाया है।

"प्रेतासन" से तात्पर्य है-हे मानव इस शरीर पर अभिमान मत कर, यह शरीर **प्रेत**=शव है, परन्तु शक्ति के अनुग्रह से ही यह शव (प्रेत) शिव बनता है, नर से नारायण बनता है। **चारभुजा** से तात्पर्य है-माँ! तुम्हारे भक्तों को चतुर्वर्ग प्राप्ति होती है। **चतुर्वर्ग**=धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। **तीन नेत्र**=सूर्य-अग्नि और चन्द्रमा। **दो स्तनों** से तात्पर्य है-ज्ञान और क्रिया, कमर की **तीन वालियों** का संकेत है-भूलोक, भुवःलोक, स्वःलोक-सारांश यह है यह अखिल संसार माँ का ही विराट् रूप है।

जातोऽप्य-ल्प परिच्छदे क्षितिभुजां सामान्य-मात्रे कुले
निःशेषा-वनि-चक्र-वर्ति-पदवीं, लब्ध्वा प्रतापोन्नतः।
यत्-विद्याधर-वृन्द-वन्दित-पदः, श्रीवत्सराजोऽभवत्
देवि!-त्वत्-चरणा-म्बुज-प्रणतिजः, सोयं प्रसादोदयः(12)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि! हे सर्वशक्तिमती माँ, **क्षितिभुजां**=क्षत्रियों के **सामान्य मात्रे-कुले**=साधारण वंश में, **अल्पपरिच्छदे**=छोटे घराने में, **जातः**=उत्पन्न हुआ, **अपि**=भी, **श्रीवत्सराजः**=श्रीवत्सराज नाम का राजा, **यत्**=जो, **निशेष**=सारी, **अवनि**=पृथिवी की, **चक्रवर्ति-पदवीं**=चक्रवर्तिपदवी, **लब्ध्वा**=प्राप्त करके, **प्रताप-उन्नतः**=प्रताप से उन्नत हुआ, **विद्याधर-वृन्द**=विद्याधरों के समूह से, **वन्दित पदः**=पूजे हुये चरणों वाला, **भवत्**=हुआ, **सोयं प्रसादोदयः**=वह यह प्रसाद का उदय जो उसे हुआ, **त्वत्**=तुम्हारे, **चरणाम्बुज**=चरण कमलों के, **प्रणतिजः**=प्रणाम से उत्पन्न हुआ था।

अर्थः—क्षत्रियों के सामान्य कुल तथा घराने में श्रीवत्सराजा उत्पन्न हुआ था, वह सारी पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा बना, यहाँ तक कि विद्याधर भी उनके चरणों को पूजते थे, हे देवी! उसका यह सारा उदय आप के चरणों के प्रणाम से हुआ था।

टिप्पणीः—यद्यपि प्रारब्ध कर्म को कोई टाल नहीं सकता है, परन्तु माँ आप के अनुग्रह से "लुम्पन्ति दैवलिखि-तानि दुरक्षराणि" राजा रंक बन सकता है, और रंक राजा बन सकता है।

चण्डि! त्वत्-चरणा-म्बुजा-र्चन-विधौ, बिल्वी-दलो-ल्लुण्ठन
त्रुट्यत्-कण्टक-कोटिभिः परिचयं, येषां न जग्मुः कराः।
ते दण्डांकुश-चक्र-चाप-कुलिश, श्रीवत्स-मत्स्यां-कितैः
जायन्ते पृथिवीभुजः कथम्-इवा-म्भोज-प्रभैः-पाणिभिः (13)

अन्वय-शब्दार्थ

चण्डि=हे माँ, **त्वत्-चरणा म्बुज**=तुम्हारे चरणकमलों के,

अर्चनविधौ=पूजाविधि में, **बिल्वीदल**=बिल्वपत्रों के, **लुण्ठन**=तोड़ने से, त्रुट्युत्=चुभे हुये, **कण्टक**=काँटों के, **कोटिभिः**=नोकों से **येषां करा:**=जिन के हाथों ने, परिचयं=**जानकारी**, न **जग्मुः**=न की हो, **ते**=वे, **दण्ड, अंकुश-चक्र, चाप** (धनुष) **कुलिश** (वज्र) **श्रीवत्स**=विष्णु की छाती पर बालू का घूँघर चिह्न, **मत्स्यांकितैः**=मच्छली आदि के निशानों से युक्त, **पाणिभिः**=हाथों वाले, **पृथ्वी भुजः**=चक्रवर्ती राजा, **कथम्-इव**=किस प्रकार बन सकते हैं।

अर्थः—हे चण्डी भगवती! जिन भक्तों के हाथों को आप के पूजा के लिये फूल तोड़ने से काँटों के नोकों से परिचय न हुआ हो, अर्थात् आप के लिये फूल चुनते समय काँटों के चुभने के कष्ट को जिन हाथों ने अनुभव न किया हो, वे दण्ड, अंकुश, चक्र, धनुष, वज्र, श्रीवत्स, मत्स्य के निशानों से युक्त हाथों वाले, चक्रवर्ती राजा बन नहीं सकते हैं।

टिप्पणीः—चण्ड्यते=प्रकाशयते **चराचरं जगत्**=सा चण्डी (जो शक्ति चराचर जगत् को प्रकाशित करती है वह "चण्डी" कहलाती है।

यह कहावत प्रचलित है—आदमी की किस्मत अपने हाथ में होती है—मनुष्य जब जन्म लेता है, तो उसकी मुट्ठी बंद होती है, उसकी बंद मुट्ठी में केवल हाथ की रेखायें ही होती हैं, मुट्ठी बन्द होने का तात्पर्य है, जो कुछ भी मैंने जीवन में करना है वह इन मुट्ठी की रेखाओं में बन्द है, परन्तु मनुष्य जब मरता है तो मुट्ठी खुली रख कर जाता है, खुली मुट्ठी ले कर जाने से तात्पर्य है, जो कुछ मैं करने आया था वह मैं सम्पूर्ण कर चुका हूँ। मुट्ठी की रेखायें मानिये प्रारब्ध का प्रमाण पत्र है।

विप्राः क्षोणिभुजो विशस्तत्-इतरे क्षीराज्य मध्वासवैः
त्वां देवि! त्रिपुरे! परापरमयीं, संतर्प्य पूजाविधौ।
यां यां प्रार्थयते मनः स्थिर-धियां तेषां त एव ध्रुवं
तां तां सिद्धि-अवाप्नुवन्ति तरसा, विघ्नैर्-अविघ्नी कृताः(14)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि! हे देवी, **त्रिपुरे**=हे त्रिपुरा भगवती, **विप्राः**=ब्राह्मण **क्षोणिभुजः**=क्षत्रिय, **विशः**=वैश्य, **तत्-इतरे**=शूद्र (क्रमशः), **क्षीर**=दूध, **आज्य**=घी, **मधु**=शहद, **आसवैः**=शराब से, **त्वां**=आप, **परा**=विश्वमयी, **अपरां**=विश्वतीर्णा देवी को, **पूजा विधौ**=पूजा में **संतर्प्य**=तृप्त करके, **तेषां**=उन, **स्थिरधियां**=स्थिर बुद्धिवालों का, **मनः**=मन, **यां यां**=जिस जिस, **सिद्धिं**=सिद्धि को, **प्रार्थयते**=चाहता है, **ते**=वे भक्तजन, **ध्रुवं**=निश्चय से, **विघ्नैः**=सब विघ्नों से, **अविघ्नी-कृताः**=निर्विघ्न होकर, **तां तां सिद्धिं**=उस उस सिद्धि को, **अवाप्नुवन्ति**=प्राप्त करते हैं।

अर्थः—हे देवी! हे त्रिपुरा भगवती! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आप विश्वमयी विश्वोत्तीर्णा देवी की पूजाविधि में क्रमशः दूध, घी, शहद, शराब का प्रयोग करके आप को तृप्त करके, उन आप में स्थिर बुद्धि वालों का मन जिस जिस सिद्धि के लिये प्रार्थना करता है, वह वह सिद्धि वे निश्चय से प्राप्त करते हैं।

टिप्पणीः—इस श्लोक से इस बात का संकेत मिलता है पञ्चस्तवीकार के समय में काश्मीर में ब्राह्मणों की किसी भी पूजा में वह शारिका की पूजा था, या ज्वाला की शिवाभगवती की पूजा थी अथवा भद्रकाली की किसी भी पूजा में मांस का प्रयोग नहीं होता था, उसके पश्चात् ही काश्मीरी पण्डितों के खानपान तथा उनके पवित्र आहार में ह्रास होने लगा था।

शब्दानां जननी त्वम्-अत्र भुवने, वाक्-वादिनी-त्युच्यसे
त्वत्तः केशव-वासव-प्रभृतयो-प्यावि-र्भवन्ति स्फुटम्।
लीयन्ते खलु यत्र कल्पविरमे, ब्रह्मादय-स्ते-प्यमी
सा-त्वं काचित्-अचिन्त्य-रूप-महिमा-शक्तिः परा गीयसे।।15।।

अन्वय-शब्दार्थ

शब्दानां=शब्दों की, **जननी**=उत्पन्न करने वाली, **त्वम्**=तुम हो, **अत्रभुवने**=इस जगत् में, **वाक्-वादिनी**=वाणियों को उच्चारण करने वाली, **इति**=ऐसे ही, **उच्यसे**=कहलाती हो, **त्वत्तः**=तुम से, **केशव**=विष्णु **वासव**=इन्द्र, **प्रभृतयः**=आदि, **स्फुटम्**=प्रत्यक्षरूप से, **अवि-र्भवन्ति**=प्रकट होते हैं, ते-**अमी**=वही यह, **कल्पविरमे**=कल्प के अन्त में, **यत्र**=जिस तुम्हारे स्वरूप में, **लीयन्ते**=लय हो जाते हैं, **सा-त्वं**=वही तुम **काचित्**=कोई, **अचिन्त्य**=अनिर्वचनीय चिन्तन से अतीत, **महिमा**=महिमा वाली, **पराशक्तिः**=उत्कृष्ट शक्ति, **गीयसे**=गाई जाती है।

अर्थः—हे माता! इस संसार में शब्दों को उत्पन्न करने वाली आप हो, आप ही सरस्वती कहलाती हो, आप से ही विष्णु इन्द्र आदि प्रकट होते हैं, ये ब्रह्मा विष्णु रुद्र कल्प के अन्त में तुम्हारे ही स्वरूप में लय हो जाते हैं, वही आप कोई अचिन्त्य रूप-महिमावली पराशक्ति गाई जाती हो।

टिप्पणीः—उस पराशक्ति का स्वरूप कैसा है-के बारे में उपनिषद् कहती है **"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"**

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां, शक्ति-त्रयं त्रिस्वराः
त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करम्-अथो, त्रिब्रह्म-वर्णा-स्त्रयः
यत् किञ्चित् जगति त्रिधा नियमितं, वस्तु-त्रिवर्गात्मकं
तत्-सर्वं त्रिपुरेति नाम भगव-त्यन्वेति ते तत्त्वतः (16)

अन्वय-शब्दार्थ

भगवति! हे ऐश्वर्य देने वाली माता! **देवानां त्रितयं**=तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, **हुतभुजां त्रयी**=तीन अग्नि गार्हस्थ्य, हवनीय, श्मशानीय, **शक्ति**

त्रयं=तीन शक्तियाँ इच्छा, ज्ञान, क्रिया, **त्रिस्वराः**=अ, इ, उ अथवा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, **त्रैलोक्यं**=भूः, भुवः, स्वः, **त्रिपुष्करम्**=(पुष्कर=जल) गंगा, यमुना, सरस्वती **त्रिब्रह्म**=तीन वेद, **त्रयः वर्णाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, **जगति**=जगत् में, **यत् किञ्चित्**=जो कोई भी वस्तु, **त्रिवर्गात्मकं**=तीन वर्गों के रूप में, **नियमितं**=बंधा हुआ है, **तत् सर्वं**=वह सब, **तत्वतः**=वास्तवता से **"त्रिपुरा" इति**=त्रिपुरा इसी नाम का, **अन्वेति**=अनुसरण करता है।

अर्थः—हे माता! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, तीन अग्नि, इच्छा, ज्ञान क्रिया तीन शक्तियाँ, अ इ उ तीन स्वर, भूर्भुवः स्वः तीन लोक गंगा यमुना सरस्वती तीन नदियां, ऋग्, यजु, साम, तीन वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीन वर्ण, जगत् में जो कोई भी वस्तु तीन वर्गों के रूप में बंधा हुआ है वह सब वास्तविकता से त्रिपुरा नाम का ही अनुसरण करता है।

टिप्पणी—जगत् अम्बा के सभी नामों में से पंचस्तवीकार को त्रिपुरा नाम अधिक प्रिय रहा है, जब कि उन्होंने बार बार पंचस्तवी में माँ को त्रिपुरा नाम से पुकारा है, ऐसा करने पर भी पंचस्तवीकार को तृप्ति नहीं मिली है, अतः इस श्लोक में सम्पूर्णतया इस नाम की व्याख्या की है। पंचस्तवीकार को काश्मीरी पण्डित होने के नाते से इष्टदेवी त्रिपुरा भगवती ही थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

त्रिब्रह्म=तीन वेद।। वेदाश्चत्वराः=वेद चार हैं? चार वेद होते हुये भी तीन वेद कैसे?

उत्तरः—ऋक्-यजु-साम, इन तीनों वेदों की चुन चुन कर कुछ सार गर्भित ऋचायें एक ही वेद में एकत्रित है—जो अथर्ववेद कहलाता है, इसलिये वेद तीन ही है—"इति वेदाः त्रयस्त्रयी"।

लक्ष्मीं राजकुले जयां रणभुवि, क्षेमं-करीम्-अध्वनि
क्रव्याद-द्विप-सर्प-भाजि शवरीं, कान्तार-दुर्गे गिरौ।
भूत-प्रेत-पिशाच-जम्बुक-भये, स्मृत्वा महा-भैरवीं
व्यामोहे त्रिपुरां तरन्ति विपद-स्तारां च तोय-प्लवे (17)

अन्वय-शब्दार्थ

राजकुले=राजकुल में, **लक्ष्मीं**=लक्ष्मी रूप का, **रणभुवि**=युद्ध क्षेत्र में, **जयां**=जया रूप का, **क्रव्याद**=शेर, **द्विप** हाथी, **सर्पभाजि**=सांपों से भरे हुये, **अध्वनि**=मार्ग में, **क्षेमंकरीं**=कल्यण कारिणी का, **कान्तार**=कठिन, **दुर्गे**=दुर्गम्य, **गिरौ**=पहाड़ पर, **शवरीं**=शिकारिन रूप का, **भूत-प्रेत-पिशाच**=भूत प्रेत और पिशाच, **जम्बुकभये**=गीदड़ों के भय में, **महा-भैरवीं**=महाभैरवी रूप का, **व्यामोहे**=बड़े मोह में, **त्रिपुरां**=त्रिपुरा रूप का, **तोयप्लवे**=जल के बाढ़ में, **तारां**=तारारूप का, **स्मृत्वा**=स्मरण करके, **विपदः**=विपदाओं को, **तरन्ति**=पार करते हैं।

अर्थ—राजकुल में लक्ष्मीरूप का, युद्धक्षेत्र में जयारूप का, शेर हाथी सर्पों से भरे हुये मार्ग में कल्याण कारिणी का, कठिन दुर्गम्य पहाड़ पर शिकारिन रूप पार्वती का, भूतप्रेत पिशाच तथा गीदड़ों के भय में महा भैरवी रूप का, बड़े मोह में त्रिपुरा का, जल के बाढ़ में तारारूप माता का स्मरण करके सभी विपदाओं को भक्तजन पार करते हैं।

टिप्पणी—यो यो यां यां तनुं भक्तः, श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां, ताम्-एव-विदधाम्यहम्। भगवद्गीता।

अर्थः—जो जो भक्त जिस जिस देवता या देवी के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस उस भक्त की, मैं उसी देवी अथवा देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता हूँ और सभी कामनायें पूरा करता हूँ।

माया कुण्डलिनी क्रिया मधुमती, काली कला मालिनी
मातंगी विजया जया भगवती, देवी शिवा शाम्भवी।
शक्तिः शंकर-वल्लभा त्रिनयना, वाक्-वादिनी-भैरवी
ह्रींकारी त्रिपुरा परापरमयी, माता कुमारी-त्यसि (18)

अन्वय-शब्दार्थ

माया=माति विश्वं (चराचर सृष्टि को बनाने वाली अथवा अघटित-घटन-पटीयसी), **कुण्डलिनी**=मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी स्वरूपा शक्ति, **क्रिया**=क्रिया शक्ति, **मधुमती**=आनन्दशक्ति, **काली**="**प्रलयकाले कलयति सर्वमिति काली,**" **कला**=अमृतमयी कला, **मालिनी**=वर्णमाला, **मातंगी**=मतंग ऋषि की कन्या, **विजया और जया**=सर्वो त्कृष्ट शक्तिरूपा, **भगवती**=षडैश्वर्यमयी, **देवी**=द्योतनशीला, **शिवा**=शंकरशक्ति, **शाम्भवी**=शम्भु की शक्ति, **शंकर वल्लभा**=शंकर की प्रिया, **त्रिनयना**=तीन नेत्रों वाली, **वाक्-वादिनी** सरस्वती रूपा, **भैरवी**=भैरवी शक्ति, **हींकारी**="ह्रीं" बीजाक्षर मन्त्र रूपा, **त्रिपुरा**=तीन अवस्थाओं की साक्षी रूपा, **परापरमयी**=विश्वमयी तथा विश्वतीर्ण रूपा, **माता**=मान्यते इति माता, जिसका मान आदर किया जाता है, **कुमारी**=कुत्सितं मारयति=अज्ञान का नाश करने वाली, इति ऐसे ही भिन्न-भिन्न अर्थों वाली नामों से तुम पुकारी जाती हो।

अर्थ—चराचर सृष्टि को बनाने वाली, कुण्डलिनी स्वरूपा शक्ति, क्रियाशक्ति आनन्दशक्ति, सब चरचर सृष्टि को केवल अपने में लय करने वाली अमृतमयी कला, वर्णमाला रूपा, मतंग ऋषि की कन्या, सर्वोत्कृष्टशक्तिरूपा, षडैश्वर्यमयी द्योतनशीला, शंकरशक्ति, शाम्भु की शक्ति, शंकर की प्रिया, तीन नेत्रों वाली सरस्वती रूपा, भैरवी शक्ति, "ह्रीं" बीजाक्षर-मंत्ररूपा, तीन अवस्थाओं की साक्षी विश्वमयी तथा विष्वतीर्णरूपा जिसका मान किया जाता है (माता) अज्ञान का नाश करने वाली ऐसे ही भिन्न-भिन्न अर्थों वाली नामों से तुम पुकारी जाती हो।

टिप्पणी–"एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति" उस एक ही शक्ति को ही विद्वान् बहुत नामों से पुकारते हैं।

आई पल्लवितैः परस्पर-युतै-र्द्वित्रि-क्रमाद्यक्षरैः
काद्यैः क्षान्त-गतैः स्वरादिभिर्-अथो, क्षान्तैश्च तैः सस्वरैः।
नामानि त्रिपुरे! भवन्ति खलु-या, न्यत्यन्त-गुह्यानि ते
तेभ्यो भैरव-पत्नि विंशति-सहस्त्रेभ्यः परेभ्यो नमः (19)

अन्वय-शब्दार्थ

"आ" "ई" पल्लवितैः="आ" और "ई" से विस्तार में आये हुये, अथवा विकसित हुये, **परस्पर-युतैः**=आपस में मिले हुये, **काद्यैः क्षान्तगतैः**="क" से लेकर "क्ष" तक गये हुये, **द्वित्रि-क्रमाद्यक्षरैः**=दो तीन क्रम के अक्षरों से युक्त, **स्वरादिभिः**=स्वरों वाले **क्षान्तैश्च तैः सस्वरैः**="क" से लेकर "क्ष" तक स्वर सहित अक्षरों से युक्त **यानि**=जो, **अत्यन्तगुह्यानि**=बहुत ही रहस्यमय, **ते**=आप के नामानि=जो नाम हैं, **तेभ्यः**=उन, **विंशति सहस्त्रेभ्यः परेभ्यः**=20 हजार से अधिक नामों को, नमः=नमस्कार हो।

अर्थः–इस श्लोक में माता के 20 हजार से अधिक बीज मंत्रों का साधक ने संकेत दिया है, चूंकि मन्त्र रहस्यमय तथा गोपनीय होते हैं अतः साधक ने अन्त में उन मन्त्रों की व्याख्या न करके नमस्कार करने में ही अपने को कृतकृत्य माना है।

टिप्पणी–मननात् त्रायते इति मन्त्रः मनन करने से जो रक्षा करता है, वह मन्त्र कहलाता है। मन्त्र उच्चारण करते समय इस बात का स्मरण रखिये-श्रद्धा के अभाव में कोई भी मन्त्र सफल नहीं होता है। यद्यपि मन्त्रों की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं-परन्तु पहले श्रेणि के मन्त्रों की गणना उन्हीं मन्त्रों में हैं। जो श्रद्धा से युक्त हूँ।

बोद्धव्या निपुणं बुधैः स्तुतिर्-इयं, कृत्वा मनस्तत्-गतं
भारत्या-स्त्रिपुरे-त्य-नन्य-मनसो, यत्राद्य-वृते स्फुटम्।
एक-द्वि-त्रिपद-कमेण-कथित-स्तत्पाद संख्या-क्षरैः
मन्त्रो-द्धार-विधिर्-विशेष-सहितः, सत्-संप्रदाया-न्वितः(20)

अन्वय शब्दार्थ

भारत्याः=सरस्वती की, **इयं स्तुतिः**=यह स्तुति, **बुधैः**=ज्ञान वानों को, **निपुनं मनः**=तीक्ष्ण अथवा तीव्रगामी मन, **तत् गतं कृत्वा**=उसी माँ में लगा कर, **अनन्य मनसः**=न और किसी में लगाये मन से, इसी दृढ़विश्वास से त्रिपुरा भगवती ही चराचरसृष्टि का कारण है-**बौद्धव्याः**=जानना चाहिए। **सत् संप्रदायान्वितः**=गुरुपरम्परा से आई हुई, विशेष सहितः=विशेषता सहित **मन्त्रोद्धार विधिः**=मन्त्र निकालने की विधि, **यत्राद्यवृते**=इस स्तुति के पहले ही श्लोक में, **स्फुटम् कथितः**=स्पष्ट रूप से कही है, जो मन्त्र **"एक द्वि त्रिपद क्रमेण** (1) ऐं (2) क्लीं (3) सौः के क्रम से, **तत् पाद संख्याक्षरैः**=पहले श्लोक के तीन पादों मैं (1) ऐंद्रस्येव (2) शौ-क्लीं (3) एषासौः उन तीन शब्दों में (कथितः) साधक ने कहा है।

अर्थ—इस श्लोक का सम्बन्ध पहले श्लोक (एन्द्रस्येव) के साथ है, सरस्वती की इस स्तुति का ज्ञानवानों को मन की एकाग्रता से मनन करना चाहिये, इस जगत् का कारण वही संवित् शक्ति है ऐसा जानना चाहिये। पञ्चस्तवीकार ने इस स्तुति के पहले ही श्लोक में मन्त्र निकालने की विधि स्पष्ट रूप से कही है, जो मन्त्र के तीन पदों में 'ऐं क्लीं सौः' के क्रम से तीन पादों में "ऐन्द्रस्येव, शौक्लीं, एषासौः में गुप्त रूप में रखे हैं।

टिप्पणी—मनुष्य अक्षय शक्तियों का भण्डार है, उस शक्ति को जगाकर सत् कर्म में प्रेरित करने का मुख्य साधन मन्त्र है। मन्त्र एक ऐसा सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसके द्वारा

स्थूल पर नियंत्रण किया जाता है, प्रकृति को वश में करने की अपूर्व शक्ति मन्त्र में विराजमान है।

सावद्यं निर्-अवद्यम्-अस्तु यदि वा, किं वा नया चिन्तया
नूनं स्तोत्रम्-इदं पठिष्यति नरो, यस्यास्ति भक्ति-स्त्वयि।
सञ्चिन्त्यापि लघुत्वम्-आत्मनि दृढं, संजायमानं हठात्
त्वत्-भक्त्या मुखरी कृतेन रचितं, यस्मात्-मयापि-स्फुटम्(21)

अन्वय शब्दार्थ

इदं स्तोत्रं=यह स्तोत्र, **सावद्यं**=दोष सहित, **यदि वा**=अथवा, **निरवद्यं**=दोषरहित, **अस्तु**=हो, **किंवा**=क्या लाभ है, **अनया**=इस, **चिन्तया**=चिन्ता से, **यस्य**=जिसको, **त्वयि**=तुझ में, **भक्तिः अस्ति**=भक्ति है, **नरः**=वह मनुष्य **नूनं**=अवश्य, **पठिष्यति**=पढेगा, **यस्मात्**=क्योंकि, **त्वत् भक्त्या**=तुम्हारी भक्ति से, **मुखरी-कृतेन**=वाचाल बने हुये, **मयापि**=मैंने भी, **आत्मनि**=अपने में, **दृढं**=दृढता से, **संजायमानं**=उत्पन्न हुये, **लघुत्वं**=अल्पभाव का, **संचिन्त्य**=विचार कर, **हठात्**=हठ से, **स्फुटम्**=स्पष्ट रूप से, **रचितं**=बनाया।

अर्थ—मेरा यह स्तोत्र दोष सहित है या निर्दोष, इस चिन्ता से क्या लाभ है। माँ! जिस को तुम्हारी भक्ति होगी, वह यह स्तोत्र अवश्य पढ़ेगा, क्योंकि मैंने अपनी लघुता का विचार करके भी इस स्तोत्र की रचना भक्ति के आवेश में ही की है, नहीं तो यह मेरी वाचालता है।

टिप्पणी—"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई" (राम चरित मानस) पंचस्तवीकार ने इस स्तोत्र के अन्त में माँ के सामने स्तुति करने में अपने को अनधिकारी समझते हुये "लघुत्व" पद का प्रयोग किया है, सम्भव है इसी पद को सार्थक बनाने के निमित्त इस पहले स्तव का नाम "लघुस्तव" रखा है:

इति पञ्चस्तव्यां लघुस्तवः प्रथमः ॥

अथ चर्चस्तवःद्वितीयः

आनन्द-सुन्दर-पुरन्दर, मुक्त-माल्यं
मौ-लौ हठेन निहितं, महिषा-सुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु मे, विजयाय मञ्जु
मञ्जीर-शिञ्जित-मनोहरम्-अम्बिकायाः (1)

अन्वय-शब्दार्थ

आनन्द-सुन्दर=ऐश्वर्य से सुशोभित, **पुरन्दर**=इन्द्र ने, **मुक्त**=अर्पण की हुई, **माल्यं**=माला वाला, **महिषासुरस्य**=महिषासुर के, **मौलौ**=सिर पर, **हठेन**=आग्रह से, **निहितं**=रखा हुआ, **मञ्जु**=सुन्दर, **मञ्जीर**=पायलों की, **शंजित**=झंकार से, **मनोहरम्**=भक्तों के मन को मोहित करने वाला, **अम्बिकायाः**=माँ का, **पादाम्बुजं**=चरण कमल **मे**=मेरे, **विजयाय**=विजय के लिये, **भवतु**=हो।

अर्थ—ऐश्वर्य से सुशोभित, इन्द्र से अर्पण की हुई माला वाला हठ से महिषासुर के सिर पर रखा हुआ, सुन्दर पायलों के झँकार से भक्तों के मन को मोहित करने वाला, जगत् अम्बा का चरण कमल मेरे विजय के लिये हो।

टिप्पणी—"अभिमानेन नश्यति जनः" मनुष्य के नाश का कारण है अभिमान, जो भगत माँ के सुन्दर चरण कमल को हृदय में स्थान देता है-वह चरण कमल हृदय में प्रवेश करते ही पहले उस भक्त के अभिमान रूपी महिषासुर का मर्दन करता है।

"अहं ममेत्येव, भवस्य बीजं" अहं=अभिमान, मम=मोह। यही दो "अहं" और "मोह" संसार के चक्र में पड़ने के बीज हैं।

सौन्दर्य-विभ्रम-भुवो भुवनाधि-पत्य
सम्पत्ति-कल्पतरव-स्त्रिपुरे! जयन्ति।
एते कवित्व-कुमुद-प्रकराव-बोध
पूर्णेन्दव-स्त्वयि जगत्-जननि प्रणामाः (2)

अन्वय-शब्दार्थ

जगत्-जननि=हे जगत् की माता, **त्रिपुरे**=तीनों अवस्थाओं, जागृत-स्वप्न=सुषप्ति की साक्षी (संवित्) रूपा, **सौन्दर्य विभ्रमभुवः**=सौन्दर्य के विकास को उत्पन्न करने वाले, **भुवनादिपत्य**=तीनों भुवनों के स्वामी भाव रूपी, **सम्पत्ति-कल्पतरवः**=सम्पत्ति प्राप्ति के लिये आप सम्पत्ति रूप कल्पवृक्ष हैं, **कवित्व कुमुद**=कविता के कुमुदकमलों के, **प्रकर**=समूह के, **अवबोध**=विकसित करने के लिये, **पूर्णेन्दवः**=परिपूर्ण चन्द्रमा हो, ऐसे ही **त्वयि**=तुम्हारे प्रति, **प्रणामाः**=भक्तों के प्रणाम, जयन्ति=जयशाली हैं।

अर्थ—हे जगत् माता, हे त्रिपुरा भगवती, आपके प्रति किये गये प्रणाम, सौन्दर्य देने वाले हैं, राज्य-सम्पत्ति के देने में कल्प वृक्ष के समान हैं, कविता रूपी कुमद कमलों को विकसित करने के लिये पूर्ण चन्द्रमा हैं। ऐसे ही आप के लिये किये गये भक्तों के प्रणामों को जय जय कार हो।

टिप्पणी—कमल सूर्योदय होने पर खिलता है, अतः सूर्य को पद्मिणीपति कहते हैं। कुमद फूल चन्द्रमा के किरणों से खिलता है। अतः चन्द्रमा को "कुमुदबान्धव" कहते हैं।

देवि! स्तुति-व्यतिकरे कृतबुद्धयस्ते
वाचस्पति-प्रभृतयोपि जडी-भवन्ति।
तस्मात्-निसर्ग-जडिमा कतमो-हम्-अत्र
स्तोत्रं तव त्रिपुर-तापन-पत्नि! कर्तुम् (3)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे माता, **त्रिपुर=तापन-पत्नि**'त्रिपुरासुर को नाश करने वाली शंकर की पत्नी! **स्तुति-व्यतिकरे**=स्तुति करने के उद्योग में, **कृत बुद्धयः**=तीक्ष्णबुद्धि वाले, **वाचस्पति-प्रभृतयः अपि**=बृहस्पति आदि भी, **जड़ी भवन्ति**=मूक हो जाते हैं, तस्मात्=इसलिये, **निसर्गजडिमा**=स्वभाव से ही मूर्ख हूँ, **अत्र** इस संसार में, **तव स्तोत्रं कर्तुम्**=तुम्हारी स्तुति करने में, **कतमः-अहं**=मैं किस गिनती में हूँ।

अर्थ—हे माता! तुम्हारी स्तुति करने के उद्योग में तीक्ष्णबुद्धिवाले बृहस्पति आदि भी मूक हो जाते हैं, अतः आपकी स्तुति के करने में स्वभाव से ही मूर्ख मैं किस गिनती में हूँ।

टिप्पणी–त्रिपुर-तापन-पत्नी, त्रिपुर=तीन पुर, जागृत स्वप्न सुष्पति, तापन जलाने वाला, जिसकी ध्यान धारणा से तीनों अवस्थायें समाप्त होकर साधक तुरीयावस्था में पहुँचता है, अतः शंकर "त्रिपुरतापन" कहलाता है, उनकी पत्नी अथवा शक्ति त्रिपुरतापन पत्नी कहलाती है।

स्कन्द पुराणे-श्रुतिश्चभीता यं वक्ति, किं तस्मात् परमं-भवेत्
हे माता! वेद भी जिस का वर्णन करने में समर्थ नहीं तो औरों की बात ही क्या है।

माता तथापि भवतीं भव-तीव्र-ताप
विच्छित्तये स्तुति-महार्णव-कर्णधारः
स्तोतुं भवानि! स-भवत् चरणार-विन्द
भक्ति-ग्रहः किम्-अपि मां मुखरी करोति (4)

अन्वय-शब्दार्थ

माता! भवानि! हे माता **तथापि**=तो भी, **स्तुति-महार्णव कर्णधारः**=जो स्तुतिरूपी अथाह सागर है, उसका कर्णधार (मल्लाह) **स भवत्-चरणार-बिन्द-भक्ति ग्रहः**=वह आप के चरण कमल का भक्ति

का हठ, **भव-तीव्रताप-विच्छितये**=संसार के तीव्रताप के नाश के लिये, **भवतीं स्तोतुं**=आप की स्तुति करने के लिये, **मां**=मुझे, **मुखरी करोति**=वाचाल बनाता है।

अर्थ—हे माँ– जो आप का स्तुतिरूपी अथाह सागर है उसका कर्णधार जो आप के चरण कमल का भक्ति का हठ है, वह मुझे संसार के तीव्रताप के नाश के लिये आपकी स्तुति करने के लिये वाचाल बनाता है अथवा प्रेरित करता है।

टिप्पणी—मन्ये धनाभिजन-रूप-तप: श्रुतौजस्तेज: प्रभाव बल पौरुष बुद्धियोग: नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो, भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय–

अर्थ:—नारायण अथवा नारायणी शक्ति को रिझाने का साधन, है भक्ति। (भागवत्)

सूते जगन्ति भवती, भवती बिभर्ति
जागर्ति तत्-क्षयकृते भवती भवानि।
मोहं भिनत्ति भवती भवती रुणद्धि
लीलायितं जयति चित्रम्-इदं भवत्या: (5)

अन्वय-शब्दार्थ

भवानि=हे जगत् की माता! **भवती**=आप, **जगन्ति**=जगतों की, **सूते**=सृष्टि करती हो, भवती=आप, **बिभर्ति**=जगतों का पालन करती हो, **भवती**=आप ही, **तत्-क्षयकृते**=जगतों के नाश के लिये, **जागर्ति**=जागती रहती हो, **भवती**=आप, **मोहं**=मोह का, **भिनत्ति**=नाश करती हो, **भवती**=आप ही, **रुणद्धि**=मोह से ढाँपती हो, **इदं**=यह, **चित्रं**=आश्चर्य वाली, **लीलायितं**=लीला क्रीडा **भवत्या:**=आप की, **जयति**=जयशील हो।

अर्थ—हे जगत् माता आप जगतों की सृष्टि पालन तथा संहार करती हो, आप ही मोह का नाश करती हो, आप ही संसार को मोह से ढाँपे रखते हो, आप की इस आश्चर्यमय लीला को जय जय कार हो।

टिप्पणी–उस संवित्-पारमेश्वरी शक्ति की पाँच लीलायें हैं–**सृष्टि स्थिति संहार, पिधान** और **अनुग्रह** जिन को पंचकृत्य कहते हैं। पांच तत्वों अथवा भुवनों का प्रकट होना **सृष्टि** कहलाती है, इन को नियम में रखना **स्थिति** कहलाती है, अपने ही में लय करना **संहार** कहलाता है, परमेश्वर का जीवरूप में प्रकट होकर अपनी परमेश्वरता का भूल जाना **पिधान** कहलाता है, फिर गुरु कृपा से अपने स्वरूप को पहचान लेना **अनुग्रह** कहलाता है, यही पंच कृत्य उस परमेश्वर अथवा उस "संवित्" की लीला है।

यस्मिन् मनाक्-अपि नवाम्बुज-पत्र गौरि!
गौरि! प्रसाद-मधुरां दृशम्-आदधासि।
तस्मिन्-निरन्तरम्-अनंग-शराव-कीर्ण
सीमन्तिनी नयन सन्ततयः पतन्ति (6)

अन्वय शब्दार्थ

नवाम्बुजपत्र-गौरि=खिले हुये कमल के पत्ते जैसे निर्मल, **गौरि**=हे गौर वर्णवाली! **यस्मिन्**=जिस पर, **मनाक्**-थोड़ी सी भी, **प्रसाद-मधुरां**=अनुग्रह से आनन्ददायक **दृशम्**=दृष्टि **आदधासि**=डालती हो, **तस्मिन्**=उस भक्त पर **निरन्तरम्**=लगातार, **अनंगशर**=कामदेव के बाणों से, **अवकीर्ण**=बिन्धी हुई, **सीमन्तिनी**=शक्तियों (अष्ट सिद्धियों की) **नयन सन्ततयः**=नेत्रों की पंक्तियाँ=**पतन्ति** लगी रहती हैं।

अर्थ–हे खिले हुये कमलपत्र जैसे गौरववर्ण वाली माँ! जिस भक्त पर आप अनुग्रह से आनन्ददायक दृष्टि डालती हों, कामदेव के बाणों से बिन्धी हुई सुन्दर शक्तियाँ अणिमादि सिद्धियाँ उनकी ओर लगातार देखती रहती है।

टिप्पणी– हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्-अपावृणु-सत्यधर्माय दृष्टये। उपनिषद्।

उस 'संवित्' परमशिव का मुख अष्टसिद्धियों से ढका हुआ है, भक्त इस मन्त्र में प्रार्थना करता है, आप के प्रत्यक्षदर्शन में बाधक उन सभी आवरणों को हटा दीजिये-हे माँ जिस

पर आप की अनुग्रह दृष्टि हो उस भक्त को ये सुन्दर स्त्रियाँ अथवा अष्टसिद्धियाँ कुछ बिगाड़ नहीं सकती हैं। बल्कि दूषण होने पर भी भूषण बनती हैं।

पृथ्वीभुजो-प्युदयन, प्रवरस्य तस्य
विद्याधर-प्रणति-चुम्बित-पाद-पीठः।
यच्चक्र-वर्ति-पदवी-प्रणयः स एष
त्वत्-पाद पंकजरजः, कणजः प्रसादः (7)

अन्वय शब्दार्थ

तस्य उदयन प्रवरस्य=उस उदयन नाम वाले, **पृथ्वी भुजः**=राजा का, **विद्याधर**=विद्याधरों के, **प्रणति**=प्रणामों के समय, **चुम्बित-पादपीठः**=चूमे हुये चरणों के आसन वाली, **यत्**=जो, **चक्र-वर्ति-पदवी प्रणयः**=चक्र-वर्ती राज्य की प्राप्ति हुई थी, **स एष**=वह इसी **त्वत्**=तुम्हारे, **पाद पंकजरजः**=चरण कमलों के, **रजः कणजः**=धूलि के कणों का, **प्रसादः**=अनुग्रह था।

अर्थ—उदयन नाम के राजा को, ऐसी चक्रवर्ती पदवी मिली, जिसके पादपीठ को विद्याधर प्रणाम करते समय चूमते थे, यह उस राजा को आप के चरण कमलों के धूलि के कणों का अनुग्रह था।

टिप्पणी—जगत्-गुरुशंकराचार्य माता के चरण कमलों के रजः कण का महत्त्व दिखाते हुये सौन्दर्य लहरी के दूसरे श्लोक में वर्णन करते हैं-

तनीयां-सं पांसुं, तव चरणपंके-रुहभवं,
विरिञ्चिः संचिन्वन्, विरचयति लोकान्-अविकलम्।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसा
हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलन-विधिम्।

संक्षिप्त अर्थ—ब्रह्मा सभी भुवनों अथवा चराचर सृष्टि की रचना करके उस सृष्टि को बार बार उत्थल पुत्थल करता रहता है-इस का क्या कारण है? जगत् गुरु शंकराचार्य कहते हैं, वह ब्रह्मा चराचर सृष्टि में उस माँ के रजः कण को ढूंढ रहा है, जिस कारण से ब्रह्मा इस सृष्टि को उत्थल पुत्थल करने के लिये विवश होता है।

विष्णु भगवान् इस चराचर सृष्टि को शेषनाग के द्वारा सिर पर धारण करता है ऐसा क्यों? विष्णु भगवान् की यही भावना है, उस माँ का वह रज: कण पृथ्वी पर कहीं होगा ही मैं उस रज: कण की छत्रछाया में रह कर अपने को कृतकृत्य मानूँगा, भगवान् शंकर चराचरसृष्टि को भस्म बना कर वही भस्म अपने शरीर पर मलता है। वह भी इसी भावना से ऐसा करता है उस माँ का रज: कण उस भस्म में कहीं न कहीं अवश्य होगा ही यह भस्म मलने से उस रज: (धूलिकण) का स्पर्श मेरे शरीर से अवश्य होगा जिससे मैं अपने को धन्य मानूँगा।

कल्पद्रुम-प्रसव-कल्पित-चित्रपूजाम्
उद्दीपित-प्रियतमा-मदरक्त-गीतिम्।
नित्यं भवानि! भवतीम्-उपवीणयन्ति
विद्याधरा: कनक-शैल-गुहा-गृहेषु (8)

अन्वय शब्दार्थ

कल्पद्रुम=कल्पवृक्ष के, **प्रसव**=फूलों से, **कल्पित**=किये हुये, **चित्र**=अलौकिक, **पूजां**=पूजावाली, **उद्दीपित**=उज्ज्वलित, **प्रियतमा**=अत्यन्त प्रिय, **मदरक्त-गीतिं**=मस्त राग से भरे हुये गीतों को, **भवतीम्**=आप के, **कनक शैल**=सुमेरु पर्वत के, **गुहागृहेषु**=गुफारूपी घरों में, **विद्याधरा:**=विद्याधर देवता, **नित्यं**=नित्य **उपवीणयन्ति**=वीणाओं पर गाते हैं।

अर्थ:—है भवानी! कल्पवृक्षों के फूलों से की हुई अलौकिक पूजावाली आप के उज्ज्वलित अत्यन्त प्रिय मस्ती के राग से भरे हुये गीतों को विद्याधर सुमेरु पर्वत की गुफाओं में वीणाओं पर नित्य गाते हैं।

टिप्पणी—विद्याधरा:=देवताओं की एक योनि है। विद्याधराप्सरोयक्ष:.....भूतोमी देवयोनय:।। संगीत कला मन की एकाग्रता का एक साधन है, अत: भगवद्गीता में "वेदानां सामवेदोस्मि" ऐसा कहा है। जब कि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

वीणावादन तत्त्वज्ञ:, स्वरशास्त्रविशारद:
तालज्ञश्चाऽ प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति।

वीणावादन के तत्त्व का ज्ञाता, स्वरशास्त्र का ज्ञाता, ताल आदि को जानने वाला विद्वान् विना प्रयास के मोक्ष प्राप्त करता है। परन्तु वर्तमान युग में कई चलचित्रों के संगीत जो पश्चिमी रंग में रंगे हुये होते है चरित्र के ह्रास का कारण बनते हैं।

लक्ष्मी-वशी-करण-कर्मणि कामिनीनाम्
आकर्षण-व्यतिकरेषु च सिद्धमन्त्रः।
नीरन्ध्र-मोह-तिमिर-च्छिदुर-प्रदीपो
देवि! त्वत्-अंघ्रि-जनितो जयति प्रसादः (9)

अन्वय शब्दार्थ

देवि! लक्ष्मी-वशीकरण कर्मणि=लक्ष्मी के वश करने के काम में, **कामिनीनाम्**=अष्टसिद्धियों के, **आकर्षण**=अपने तरफ खींचने के, **व्यतिकरेषु**=काम में **सिद्धमन्त्रः**=जो सफल अचूक मन्त्र है। **नीरन्ध्र**=घने, **मोहतिमिर**=मोहरूपी अन्धकार के, **च्छिदुर**=नाश के लिये, **प्रदीपः**=जो दीपक रूप है, **त्वत्-अंघ्रि जनितः**=आप के चरण कमल से उत्पन्न हुआ, **प्रसादः**=जो अनुग्रह है वह, **जयति**=जयवाला हो।

अर्थ—हे माता, लक्ष्मी के वश करने के कर्म में तथा अष्ट सिद्धियों को अपने ओर खींचने में अथवा वश करने में जो सिद्धमन्त्र है, घने मोह रूपी अन्धकार के नाश के लिये जो दीपक रूप है, ऐसे ही तुम्हारे चरणकमल से उत्पन्न हुये अनुग्रह को जय जय कार हो।

टिप्पणी—अष्ट सिद्धिः—अणिमा महिमा गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यं, ईशरत्वं, वश्यत्वम्।।
मोहः—संसार के विषयों की अनुरक्ति मोह कहलाता है, वही अनुरक्ति जब ईश्वर की ओर हो तो **भक्ति** कहलाती है।

देवि! त्वत्-अंघ्रि-नख-रत्न-भुवो मयूरवाः
प्रत्यग्र-मौक्तिक-रुचो मुदम्-उद्वहन्ति।
सेवा-नति-व्यतिकरे-सुर-सुन्दरीणां
सीमन्त-सीम्नि कुसुमस्तवकायितं यैः (10)

अन्वय शब्दार्थ

देवि=हे माता, **त्वत्**=तुम्हारे, **अंघ्रि**=चरणों के, **नख-रत्न-भुवः**=नाखुन रूपी रत्नों से, भुवः=उत्पन्न हुये, **मयूरवाः**=किरण, **प्रत्यग्र**=निर्मल, **मौक्तिक-रुचो**=मोतियों की शोभावाले, **मुदम्**-आनन्द को, **उद्वहन्ति**=धारण करती हैं, **यैः**=जिन किरणों ने, **सुरसुन्दरीणां**-देवस्त्रियों के, **सेवा-नति-व्यतिकरे**=सेवा तथा प्रणाम करने के काम में, **सीमन्त-सीम्नि**=मांग के स्थान पर **कुसुमस्तवकायितं**=फूलों के गुलदस्तों की छटा धारण की है।

अर्थ—हे देवी! आपके चरणों के नखरत्नों से उत्पन्न हुये किरण मोतियों की शोभावाले, आनन्द को धारण करते हैं, जिन किरणों ने देवस्त्रियों के सेवा तथा प्रणाम के लिये झुकने के समय मांग के स्थान पर फूलों के गुलदस्तों की छटा धारण की है।।

टिप्पणी—देवस्त्रियाँ अपना सुहाग तथा देवत्व बचाये रखने की भावना से आप के चरणकमलों में झुकती है, जबकि देवताओं को हर समय देवत्व से च्युत होने का भय बना रहता है- "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" भगवद्गीता

मूर्ध्नि स्फुरत्-तुहिन-दीधिति-दीप्ति-दीप्तं
मध्ये ललाटम्-अमरायुध-रश्मि चित्रम्।
हृत्-चक्र-चुम्बि-हुत-भुक्-कणि-कानुरूपं
ज्योतिर्यत्-एतत्-इदं अम्ब! तव स्वरूपम् (11)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे जगत् माता, **मूर्ध्नि**=सिर में, **यत्**=जो, **स्फुरत्**=चमकते हुये, **तुहिनदीधिति दीप्ति**=शीतल बर्फ जैसे किरणों के प्रकाश से, **दीप्तं**=चमकता हुआ (प्रकाश) **मध्ये ललाटं**=ललाट के मध्य में, **अमरायुधरश्मि**

चित्रं=इन्द्रधनुष के जैसा जो प्रकाश का पुंज है, **हृत्-चक्र-चुम्बि**=हृदय में स्थित **हुतभुक्-कणिकानुरूपं**=अग्नि के अंगारकों के समान **ज्योतिर्यत्**=जो ज्योति प्रकाश है, **एतत् इदं**=वह यह, **तवस्वरूपं**=आप का ही स्वरूप है।

अर्थ—हे जगत् माता! सिर में जो चमकते हुये, चन्द्रमा के किरणों को चमकता हुआ प्रकाश है और ललाट के मध्य में इन्द्रधनुष का जैसा प्रकाश पुंज है, ऐसे ही हृदय में जो अग्नि के अंगारकों जैसा ज्योतिप्रकाश है, यह सभी आपका ही स्वरूप है।

टिप्पणी—इस श्लोक का सम्बन्ध पंचस्तवी के पहले श्लोक के साथ है—साधक ने उस संवित् का अपने शरीर रूपी मन्दिर में माँ का जिस रूप में जिस स्थान पर साक्षात्कार किया है उसकी फिर से पुष्टि इस श्लोक में की है।

रूपं तव स्फुरित-चन्द्र-मरीचि-गौरम्
आलोकते शिरसि वाक्-अधि-दैवतं यः।
निःसीम-सूक्ति-रचना-मृत-निर्भरस्य
तस्य प्रसाद-मधुराः प्रसरन्ति वाचः (12)

अन्वय-शब्दार्थ

यः=जो, **स्फुरित**=परिपूर्ण, **चन्द्र-मरीचि**=चन्द्रमा के किरणों जैसे, **गौरं**=गौरवर्ण वाले, **वाक्-अधि-दैवतं**=वाणी के अधिष्ठाता रूप, **तव रूपं**=आप के स्वरूप को, **शिरसि**=सहस्रार में, **आलोकते**=देखता है, **निःसीम**=सीमारहित, **सूक्ति**=सुन्दरवाणियों की **रचना**=रचना रूपी, **अमृत निर्भरस्य**=अमृत से परिपूर्ण, **तस्य**=उस भक्त से, **प्रसादमधुराः**=अनुग्रह से मधुर, **वाचः**=वाणियाँ, **प्रसारन्ति**=स्वतः सिद्ध ही निकलती हैं।

अर्थ—परिपूर्ण चन्द्रमा जैसे गौर वर्ण वाले तुम्हारे स्वरूप का जो भक्त सिर (सहस्रार) में स्मरण करता हैं, उस भक्त को सीमारहित सुन्दरवाणियों के रचनारूप अमृत से भरी हुई उस माँ के अनुग्रह

से उत्पन्न हुई मधुर-वाणियाँ बिना किसी प्रयत्न के स्वत: सिद्ध ही निकलती रहती हैं।

टिप्पणी–मूक होई वाचाल, पंगु चढइ गिरिवर-गहन,
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलि मल दहन। (रामचरितमानस)
अर्थ–जिनकी कृपा से गूँगा बहुत सुन्दर बोलने वाला हो जाता है और लंगड़ा लूला दुर्गम पहाड़ पर चढ़ जाता है।

सिन्दूर-पांसु-पटल-छुरिताम्-इव-द्यां
त्वत्-तेजसा जतुरस-स्नपिताम्-इवोर्वीम्
य: पश्यति क्षणमपि त्रिपुरे! विहाय
व्रीडां मृडानि! सुदृशस्तम्-अनु-द्रवन्ति (13)

अन्वय शब्दार्थ

त्रिपुरे!=हे जगत् माता, **य:**=जो भक्त, **सिन्दूर पांसु**=सिन्दूर के धूलि के **पटल**=समूह से, **छुरिताम् इव**=ढाँपा हुआ जैसा, **द्यां**=आकाश को, **त्वत्-तेजसा**=तुम्हारे लाल रंगवाले तेज से, **जतु-रस**=अलुत के लाल रस में, **स्नपिताम्-इव**=डूबी हुई जैसी, **उर्वीम्**=पृथ्वी को, **क्षणमपि**=एक क्षणमात्र भी, **पश्यति**=देखता है, **मुडानि**=हे माता! **सुदृश:**=सुन्दर अष्टसिद्धियाँ, **व्रीडां विहाय**=लज्जा छोड़कर, **तं**=उस भक्त के, **अनुद्रवन्ति**=पीछे दौड़ती हैं।

अर्थ–हे माता सिन्दूर के जैसे लाल धूलि से आकाश को ढाँपा हुआ ऐसे ही अलुत के लाल तरल पदार्थ में डूबी हुई पृथ्वी जिस भक्त को दिखाई देती है–यानी अखिल पृथ्वी उस माता के लाल स्वरूप से ओत प्रोत है, जो भक्त ऐसा अनुभव करता है उस भक्त के पीछे-पीछे अष्टसिद्धियाँ लुढकती फिरती हैं।

टिप्पणी–माता का स्वरूप रजोगुण प्रधान माना जाता है, अतः उसका रंग लाल माना गया है।

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल,
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।गोपी।।

मातः-मुहूर्तम्-अपि-यः स्मरति स्वरूपं
लाक्षा-रस-प्रसर-तन्तुनिभं भवत्याः।
ध्यायन्त्य-नन्य-मनस-स्तं-अनंग-तप्ताः
प्रद्युम्न-सीम्नि सुभगत्व-गुणं तरुण्यः (14)

अन्वय शब्दार्थ

मातः=हे माँ, **यः**=जो, **लाक्षा-रस-प्रसर**=लाक्षारस से निकली हुई, **तन्तुनिभं**=सूक्ष्मतार की भांति, **भवत्याः**=आपके, **स्वरूपं**=स्वरूप का, **मुहूर्तम्-अपि**=एक क्षण भी **अनन्यमनसः**=एकाग्रता से, **स्मरति**=स्मरण करता है, **अनङ्गतप्ताः**=कामदेव से पीड़ित, सुभगत्व-गुणं=उस सौभाग्य वाले भक्त का **तरुण्या**=सुन्दर तथा शक्तिशाली योगनियाँ, **प्रद्युम्नसीम्नि**=कामदेव के स्थान पर रख कर, **ध्यायन्ति**=ध्यान करती है (जैसे कामदेव से पीड़ित योगनियाँ काम देव के वश में हो जाती हैं, वैसे ही शक्तिशाली इन्द्रियाँ उस भक्त के वश्य में हो जाती हैं।

अर्थः–हे माँ! जो भक्त आप के लाक्षा रस के सूक्ष्म तार की भांति आप के अनिवर्चनीय स्वरूप का मुहूर्त मात्र भी स्मरण करते हैं। उस भक्त की शक्तिशाली इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

टिप्पणी–**"तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वः इव सारथेः।" उपनिषद्**
जो भक्त माता के उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप (जिसके बारे में उपनिषदों का कहना है "अणोरणीयान्-महतो महीयान्" का स्मरण करते हैं उस भक्त की इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, वह भक्त इन्द्रियों के वश में नहीं रहता है।

योयं चकास्ति गगनार्णव-रत्नम्-इन्दुः
योयं सुरा-सुर-गुरु-पुरुषः पुराणः।
यत् वामम्-अर्धम्-अन्धक-सूदनस्य
देवि! त्वमेव तत्-इति प्रतिपादयन्ति (15)

अन्वय शब्दार्थ

योयं=जो यह, **गगनार्णव**=आकाशरूपी समुद्र का, **रत्नं**=रत्न, **इन्दुः**=चन्द्रमा है, **योयं**=जो यह, **सुरासुर**=देवताओं तथा राक्षसों का **पुरुषः पुराणः**=आदि पुरुष नारायण है, **यत्**=जो, **वामम् अर्धम्**=बायाँ अर्धभाग है, **अन्धकसूदनस्य**=कामदेव को मारने वाले का (शंकर का) **देवि**! हे माता **त्वमेव-तत्**=वह भी आप ही हो, **प्रतिपादयन्ति**=ऐसा विद्वान् सिद्ध कर हैं।

अर्थः—हे माता आकाशरूपी समुद्र का रत्नरूप चन्द्रमा आप ही हो, आप ही आदि पुरुष नारायण हो, शंकर का अर्धवाम भाग (पार्वती) आप ही हो ऐसा विद्वान् सिद्ध करते हैं।

टिप्पणी—यत् यत्-विभूति-मत्-सत्त्वं, श्रीमत्-ऊर्जितम्-एव वा
तत्-तत्-एवावगच्छत्वं मम तेजोंश संभवम्।। भगवद्गीता

अर्थ—जो जो विभूति युक्त-कान्तियुक्त-शक्तियुक्त वस्तु है, उसको तू मेरी नारायणी शक्ति से ही उत्पन्न हुआ जान।

इच्छानुरूपम्-अनुरूप-गुण-प्रकर्षं
संकर्षिणि! त्वम्-अनुसृत्य-यदा-बिभर्षि।
जायेत स त्रिभुव-नैक गुरु-स्तदानीं
देवः शिवोपि भुवन-त्रय-सूत्रधारः (16)

अन्वय शब्दार्थ

संकर्षणि!=हे शंकर को अपने ओर खींचने वाली माता! **इच्छानुरूपं अनुसृत्य**=अपनी स्वतन्त्रशक्ति के अनुसार, **अनुरूप-गुण प्रकर्ष,** उत्कृष्ट गुणों के उत्कर्ष को, **यदा बिभर्षि**=जब धारण करती हो, **स देवः शिवोपि**=वह देवता शिव भी, **तदानीं**=उसी समय **एकःगुरु**=अद्वितीय, **गुरु, भुवन त्रय-सूत्रधारः**=तीनों लोकों के सृजन पालन संहाररूपी नाटक का सूत्रधार बनता है।

अर्थः—हे भगवान् शंकर को भी वश में करने वाली माँ, जब आप, अपनी स्वतन्त्रशक्ति के अनुसार उत्कृष्ट गुणों के उत्कर्ष को धारण करती हो, तभी वह शिव भी तीनों भुवनों को गुरु बन कर तीन लोकों के सृजन पालन संहार रूपी नाटक का सूत्रधार बनता है।

टिप्पणी–अहं सर्वस्य प्रभवो मतः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव-समान्वताः।। भगवद्गीता

अर्थ–वह नारायणी शक्ति ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है, उसी संवित् शक्ति से ही यह सब जगत् चेष्टा करता है, इस तत्त्व को समझ कर श्रद्धा और भक्ति से युक्त भक्तजन, उस "संवित्" अथवा नारायणी शक्ति का भजन करते हैं।

रुद्राणि! विद्रुम-मयीं, प्रतिमाम्-इव-त्वां
ये चिन्तयन्त्य-रुण-कान्तिम्-अनन्यरूपाम्।
तानेत्य-पक्ष्मलदृशः प्रसभं भजन्ते
कण्ठावसक्त-मृदु-बाहु-लता-स्तरुण्यः (17)

अन्वय शब्दार्थ

रुद्राणि=हे दुष्टों को रुलाने वाली माता, **ये**=जो भक्त, **त्वां**=आप को, **अरुण-कान्ति**=लाल दीप्तिवली, **अनन्य-रूपां**=अलौकिक रूप वाली, **विद्रुममयीं**=लालरुद्र की बनी हुई मूर्ति जैसी का, **चिन्तयन्ति**=ध्यान करते

हैं, **तान्**=उन भक्तों को, **एत्य**=पास जाकर, **पक्ष्मलदृशः**=सुन्दर नेत्रों वाली शक्तियाँ, **कण्ठ**=गले में, **अवसक्त**=डाली हुई, **मृदु**=कोमल, **बाहुलताः**=बाहुओं वाली, **तरुण्यः**=शक्तिशाली अणिमादि सिद्धियाँ, **प्रसभं**=बलपूर्वक, **भजन्ते**=सेवन करती हैं।

अर्थः—हे रुद्राणि! जो भक्त जन आप की लाल दीप्तिवाली अलौकिक रूप वाली लालरुद्र की बनी हुई मूर्ति जैसी के स्वरूप का चिन्तन करते हैं, सिद्धियों की इच्छा न होने पर भी अणिमादिसिद्धियाँ बलपूर्वक उस भक्त के गले में बाहु डालकर अपने वश में करना चाहती है।

टिप्पणी—अष्टासिद्धियाँ=(1) **अणिमा**=जिस शक्ति के बल से मनुष्य अणु जैसा छोटा बन सकता है, (2) **महिमा**=शरीर फूलना (3) **गरिमा**=इच्छानुसार भारी या हल्का बनना, (4) **लघिमा**=अत्यन्त लघु होना, (5) **प्राप्ति**=किसी दुर्लभ वस्तु को प्राप्त करना, (6) **प्रकाम्यम्**=जिस की प्राप्ति से सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं, (7) **ईश त्वं**=सर्वोपरिता, (8) **वश्यत्वं**=सबों को अपने अधीन करना।

त्वत्-रूपम्-उल्लसित-दाडिम-पुष्परक्तम्
उत्-भावयेत्-मदनदैवतम्-अक्षरं यः।
तं रूप-हीनम्-अपि, मन्मथ-निर्विशेषम्
आलोकयन्ति-उरु-नितम्बभरा-स्तरुण्यः(18)

अन्वय शब्दार्थ

उल्लसित=खिले हुये, **दाडिम-पुष्परक्तम्**=अनार के फूल के समान लाल वर्ण वाले, **अक्षरम्**=एक ही रूप में रहने वाले, **त्वत्-रूपं**=तुम्हारे स्वरूप को, **मदन-दैवतं**=कामदेव के स्थान पर, **यः**=जो भक्त, **उत्-भावयेत्**=भावना करे, **तं**=उस, **रूपं हीनम्-अपि**=उस रूप हीन को भी, **उरुनितम्बभराः**=बड़े कटि के भार से झुकी हुई, **तरुण्यः**=सुन्दरशक्तियाँ, **मन्मथ-निर्विशेषं**=कामदेव

की भान्ति, **आलोकयन्ति**=देखती है।

अर्थः—जो भक्त खिले हुये अनार के फूल के समान लाल वर्ण वाले अक्षर (एक ही अवस्था में रहने वाले) अथवा "क्लीं" बीजाक्षर वाले तुम्हारे रूप को कामदेव के स्थान पर भावना करे, उस कुरूप को भी सुन्दर शक्तियाँ (अणिमादिसिद्धियाँ) कामदेव की भांति देखती हैं।

टिप्पणी—अणिमादि शक्तियाँ आप के भक्त के अन्यान्य गुण न देख कर, पात्र अपात्र का विचार छोड़कर उस को अपनाती हैं।

"**तत्-त्वं-पूषन्-अपावृणु**" परन्तु अष्टसिद्धियों के बारे में उपनिषद् साधक को बार-बार चेतावनी देता है, इन सिद्धियों की उलझन से असली तत्व से वञ्चित हो जाओगे।

ध्यातासि हैमवति! येन हिमांशु-रश्मि
माला-मल-द्युतिर्-अकल्मष-मानसेन।
तस्या-विलम्बम्-अनवद्यम्-अनल्प-कल्पम्
अल्पैर्दिनैः सृजसि सुन्दरि! वाक्-विलासम् (19)

अन्वय शब्दार्थ

हैमवति=हे हिमालय की पुत्री, **येन**=जिसने, **अकल्मष**=पाप रहित निर्मल, **मानसेन**=मन से, **हिमांशु-रश्मिः**=चन्द्रमा की, किरणों की समूह जैसी, **अमल-द्युतिः**=निर्मल दीप्ति युक्त का, **ध्यातासि**=ध्यान किया हो, **सुन्दरि**=हे माँ! **तस्य**=उस भक्त को, **अविलम्बं**=शीघ्र ही, **अनवद्यं**=दोष रहित, **अनल्पकल्पम्**=अनर्गल, **वाक्-विलासं**=कविता का विलास, **अल्पैर्दिनैः**=थोड़े ही दिनों में, **सृजसि**=उत्पन्न करती हो।

अर्थः—हे हिमालय की पुत्री! जिस ने निर्मल मन से चन्द्रमा के किरणों के समूह जैसे, निर्मल दीप्ति से युक्त आपका ध्यान किया हो, हे माता वह भक्त विना कष्टसाध्य कुछ दिनों में ही ज्ञानवान्

बनता है, अथवा अनर्गल कवितायें करने में समर्थ होता है।

टिप्पणी–"कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयं" तन्त्रालोक में कहा है, माँ के अनुग्रह का पाँचवाँ लक्षण है "कवित्वं" बिना किसी प्रयास के कविता का प्रसार माँ के अनुग्रह से ही संभव है।

आधार-मारुत-निरोध-वशेन येषां
सिन्दूर-रंजित-सरोज-गुणानु-कारि।
तीव्रं हृदि स्फुरति देवि! वपु-स्त्वदीयं
ध्यायन्ति तान्-इह समीहित-सिद्ध-साध्याः(20)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे माता: **आधार-मारुत**=मूलाधार वायु के, **निरोध-वशेन**=रोकने से, **येषां**=जिन को, **सिन्दूर रंजित**=सिन्दूर में रंगे हुये, **सरोज**=कमल डंडे के, **गुणानु**=तार के, **अनुकारि**=जैसे, **तीव्रं**=दीप्तिमान्, **त्वदीयं वपुः**=आपका स्वरूप जिन को, **हृदि**=हृदय में, **स्फुरति**=प्रकट होता है अथवा आपके ऐसे स्वरूप का, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, **तान्**=उन भक्तों का, **इह**=यहाँ भूलोक में, **समीहित**=अभिलषित चाहने वाले सिद्ध और साध्य देवता, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं।

अर्थः–हे माँ! जिन भक्तों को मूलाधार वायु के रोकने से, सिन्दूर में रंगे हुये कमल के सूक्ष्मतार का जैसा दीप्तिमान आपका स्वरूप हृदय में प्रकट होता है, उन एसे भक्तों का ध्यान अपना अभिलषित सिद्ध करने के लिये सिद्ध और साध्य करते हैं।

टिप्पणी–पञ्चस्तवीकार ने ध्यान योग से ही उस अनिर्वचनीय शक्ति का साक्षात् कार किया है। उसके ध्यान का केन्द्र था "हृदय" उस शक्ति का स्वरूप कैसा है उसके बारे में कहता है 'तीव्रं त्वदीयं वपुः' न तद्भासयते सूर्यो शशांको न पावकः-यत् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। भगवद्गीता। जिस प्रकाश के सामने अग्नि चन्द्र तथा सूर्य का प्रकाश फीका पड़ता है।

ते ध्यान-योगानुगता-अपश्यन्-देवात्मशक्तिं स्वगुणै र्निगूढाम्। उपनिषद्
उन जिज्ञासुः ऋषियों ने ध्यानयोग में स्थित होकर उस परमात्म देव की स्वरूप भूत अचिन्त्य शक्ति (संवित्) का साक्षात्कार किया।

त्वाम्-ऐन्दवीम्-इव कलाम्-अनुभाल-देशम्
उत्-भासिता-म्बर-तलाम्-अवलोकयन्तः।
सद्यो भवानि! सुधियः कवयो भवन्ति।
त्वं भावनाहित-धियां कुल-काम-धेनुः (21)

अन्वय-शब्दार्थ

त्वां=तुझे, **ऐन्दवीम्-इव**=चन्द्रमा के कला के समान, **अनुभाल-देशम्**=ललाट में, **उद्भासित**=चमकाये हुये, **अम्बर तलाम्**=चित्-आकाशवाली को, **अवलोकयन्तः**=देखने वाले भक्त, **भवानि**=हे माता, **सद्यः**=शीघ्र ही, **सुधियः**=ज्ञानवान् तथा, **कवयः**=कवि बनते हैं, **त्वं**=आप, **भावना**=श्रद्धा, **आहित**=धारण किये हुये, **धियां**=बुद्धिवालों की, **कामधेनुः**=सभी कामनायें पूर्ण करने वाली हो।

अर्थः—हे माता! चन्द्रकला के समान ललाट में, चमकाये हुये चित्ताकाशवाले आपके ऐसे स्वरूप को जो देखते हैं, वे उसी क्षण सर्वज्ञ तथा कवि बनते हैं, आप की श्रद्धा धारण किये हुये बुद्धि वालों की आप कामधेनु हो, यानि हर एक कामना पूर्ण करने वाली हो।

टिप्पणी—पञ्चस्तवीकार ने पहले श्लोक "ऐन्द्रस्येव" की इस श्लोक में फिर से संकेत रूप में पुष्टि की है।

त्वां व्यापिनीति समना इति कुण्डलीति
त्वां कामिनीति कमलेति कलावतीति।
त्वां मालिनीति ललितेत्य-पराजितेति
देवि! स्तुवन्ति विजयेति जये-त्युमेति (22)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे माँ, **त्वां**=आप को, **व्यापिनी**=सर्व-व्यापक, **इति**=ऐसे ही, **समना**=निर्मल मन वाली, **इति**=ऐसे ही **कुण्डली**=कुण्डलिनी शक्ति, **इति**=ऐसे ही, **कामिनी**=भक्तों की हर कामना को पूरी करने वाली, **इति**=ऐसे ही, **कमला**=कमल की भांति संकुचित और प्रफुल्लित होने वाली, **इति**=ऐसे ही, **कलावती**=सभी कलाओं से युक्त, **इति**=ऐसे ही, **मालिनी**=वर्णमाला रूपिणी, **इति**=ऐसे ही, **ललिता**=सुन्दरता की भण्डार रूप, **इति**=ऐसे ही, **अपराजिता**=जिसको कोई जीत न सके, **इति**=ऐसे ही, **विजया**=विजयारूपा, **जया**=जयरूपा, **उमा**=पार्वती, ऐसे ही नामों से स्तुवन्ति=आप की स्तुति करते हैं।

अर्थः—हे माता आपको सर्वव्यापक, निर्मलमन वाली, कुण्डलिनी शक्ति भक्तों की हर कामना को पूरी करने वाली, कमल की भांति संकुचित और प्रफुल्लित होने वाली, सभी कलाओं से युक्त, वर्णमाला रूपिणी सुन्दरता का भण्डार, जिसको कोई जीत न सके, विजयारूपा, जयरूपा ऐसे ही नामों से भक्तजन स्तुति करते हैं।

टिप्पणी—एकं सत्विप्रा बहुधा वदन्ति। एक ही उस शक्ति को विद्वान् भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।

ये चिन्तयन्त्य-रुण-मण्डल-मध्य-वर्ति
रूपं तवाम्ब! नव-यावक-पंक-पिंगम्।
तेषां सदैव-कुसुमायुध-बाण-भिन्न
वक्षःस्थला-मृगदृशो-वशगा भवन्ति (23)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **ये**=जो भक्त, **अरुणमण्डल-मध्यवर्ति**=सूर्य मंण्डल में स्थित, **नव**=नये, **यावक-पंक**=तरल महावर जैसे, **पिंग**=लाल, **तवरूपं**=तुम्हारे स्वरूप को, **चिन्तयन्ति**=चिन्तन अथवा विमर्श करते हैं, **तेषां**=उन भक्तों को, **कुसुमायुध**=कामदेव के बाणों से, **भिन्न**=छिलनी बनी हुई, **वक्षः स्थला**=छाती वाली, **मृगदृशः**=सुन्दर शक्तियाँ अथवा इन्द्रियाँ, **सदैव**=हमेशा, **वशगा भवन्ति**=वश में हो जाती हैं।

अर्थः—जो भक्त सूर्य मण्डल में स्थित नये तरल महावर जैसे लाल तुम्हारे स्वरूप का चिन्तन करते हैं, उन भक्तों को कामदेव के बाणों से छलनी बनी हुई, छाती वाली, सुन्दर शक्तियाँ अथवा संसार के विषयों के उपभोग से ऊभी हुई इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

टिप्पणी—साधक ने अथवा पंचस्तवीकार ने इस श्लोक में "गायत्री उपासना" का संकेत दिया है, जबकि सूर्यमण्डल में ठहरा हुआ तेज जिस को गायत्रीमन्त्र में कहे हुये "भर्ग" नाम से पुकारा गया है—जगत्-अम्बा का ही अलौकिक प्रकाश है जिसके बारे में भविष्य पुराण में वर्णन है **"यन्मण्डलं दीप्तिकारं विशालं"**

उत्तप्त-हेम-रुचिर [illegible]रे! पुनीहि
चेत-श्चिरन्तनं-अघौघवनं लुनीहि।
कारागृहे निगड-बन्धन-पीडितस्य
त्वत्-संस्मृतौ झट्-इति मे निगडा-स्त्रुट्यन्तु

अन्वय-शब्दार्थ

त्रिपुरे=हे तीन अवस्थाओं की साक्षीभूत माँ!, **उत्तप्त**=तपाये हुये, **हेम-रुचिरे**=सोने के जैसे सुन्दर स्वरूप वाली, **मे=चेत्त:**=मेरे चित्त के, **चिरन्तनम्**=अनन्त जन्मों के, **अघौ-घवनं**=पापों के घने जंगल को, **लुनीहि**=काटो, **कारागृहे**=शरीर रूपी अथवा संसार रूपी जेलखाने में, **निगड-बन्धन-पीडितस्य**=बेड़ियों के बन्धन से पीड़ित, **मे**=मुझे, **त्वत्-संस्मृतौ**=आपका स्मरण करते ही, **झट् इति**=उसी क्षण, **निगडा:**=बेडियाँ, **त्रुटयन्तु**=टूट जायें।

अर्थ:—तीन अवस्थाओं की साक्षीभूत माँ! तपाये हुये सोने के जैसे सुन्दर स्वरूप वाली माँ! मेरे चित्त के अनन्त-जन्मों के पापों के घने जंगल को काटो, संसार रूपी जेलखाने में बेड़ियों के बन्धन से पीड़ित, मुझे आप का स्मरण करते ही उसी क्षण सभी बेड़ियाँ टूट जायें।

टिप्पणी—संसार रूपी जेल की बेड़ियाँ माता के स्मरण मात्र से टूट-टूट कर गिर जाती है जैसे – जब "वासुदेव" बालकृष्ण को अपने सिर पर उठाता है, यानी भगवान् की शरण में आता है-तो वासुदेव की सभी बेड़ियाँ टूट जाती हैं, भगवान् के बदले जब माया को सिर पर उठाता है तो फिर से सभी बेड़ियाँ, दरवाजों के ताले ज्यों के त्यों लग जाते हैं। भगवान् को सिर पर उठाने का भावार्थ है—भगवान् के शरण में जाना, अपनी खोपड़ी में भगवान् अथवा नारायण शक्ति के चिन्तन करने से सभी बेड़ियाँ टूट जाती हैं।

अघ-अपराध—"अघ" उस दुष्कर्म को कहते हैं जो वेदादि से निषद्ध होने पर भी जान बूझकर अपनी वासनानुसार किया जाये-जो क्षम्य नहीं है, "अघ" कहलाता है।

शर्वाणि! सर्वजन-वन्दित-पाद-पद्मे!
पद्मच्छद-च्छवि-विडम्बित-नेत्र-लक्ष्मि!
निष्पाप-मूर्ति-जन-मानस-राज हंसि!
हंसि त्वम्-आपदम्-अनेक विधां जनस्य (25)

अन्वय-शब्दार्थ

शर्वाणि!=हे शिव की शक्ति! **सर्वजन**=सब लोगों से, **वन्दित-पाद पद्मे**=प्रणाम किये हुये चरण कमलों वाली, **पद्मच्छद**=पद्म पत्रों की, **छवि**=शोभा के, **विडिम्बित**=समान, **नेत्रलक्ष्मि!**=सुन्दर नेत्रों वाली, **निष्पाप मूर्तिः**=शुद्ध अन्तः करण वाली, **जन**=भक्तों के, **मानस**=मनरूपी, मानस सरोवर की, **राजहंसि!**=हे राजहंसिनी, **त्वं**=आप, **जनस्य**=जनता के, **अनेकविधां**=भिन्न-भिन्न प्रकार की, **आपदम्**=आपदायें, **हंसि**=नष्ट करती हो।

अर्थः—हे जगत् माता, हे सभी जनों से प्रणाम किये हुये चरण कमलों वाली, कमलपत्रों की शोभा के समान, सुन्दर नत्रों वाली, शुद्ध अन्तःकरण वाले भक्तों के मनरूपी मानस सरोवर की राजहंसिनी, आप सभी प्रकार की आपदायें भक्त जनों की नष्ट करती हो।

टिप्पणी—जो भक्त उस माँ का साक्षात्कार चाहता है, उसके लिये आवश्यक है कि वह अपने मन को निर्मल बनाये, यानी भक्त का मन जब मानस सरोवर बनेगा तभी वह संवित् रूपी हंसिनी वहाँ डेरा डालेगी। **"तम्-अक्रतुः पश्यति वीतशोकः"** (उपनिषद्) संकल्परहित मन में ही उस "संवित्" को देखा जा सकता है।

त्वत्-पाद-पंकज-रजः प्रणिपात-पूतैः
पुण्यैर्-अनल्प-मतिभिः-कृतिभिः कवीन्द्रैः।
क्षीर-क्षपाकर-दुकूल-हिमाव-दाता
कैर्-प्यवापि भुवन-त्रितयेपि कीर्तिः (26)

अन्वय-शब्दार्थ

त्वत्=आप के, **पांदपंकज**=चरण कमलों की, **रजः**=धूलि को, **प्रणिपात**=प्रणाम

करने से, **पूतैः**=पवित्र बने हुये, **पुण्यैः**=पुण्यात्माओं ने, **अनल्पमतिभिः**=बड़ी बुद्धिवाले, **कृतिभिः**=कृत कृत्य, **कवीन्द्रैः**=कवियों ने, **कैः**=कई, **क्षीर**-दूध, **क्षपाकर**=चन्द्रमा, **दुकूल**=रेशम, **हिम**=बर्फ जैसा, **अवदाता**=निर्मल, **कीर्तिः**=यश, **भुवनत्रितये**=तीन लोकों में, **अवापि**=प्राप्त किया।

अर्थः—आप के चरण कमलों की धूलि को, प्रणाम करने से पवित्र बने हुये, कई पुण्यात्माओं, बुद्धिमानों, कृतकृत्य कवियों ने दूध, चन्द्रमा, रेशम, बर्फ जैसी निर्मल स्वच्छ कीर्ति प्राप्त की है।

टिप्पणी–सम्भावितस्य चा कीर्ति-र्मरणात्-अतिरिच्यते

माननीय पुरुष के लिये कीर्तिका न होना अथवा अकीर्ति (बदनामी) का होना मरण से भी बुरी बात होती है।

एक गृहस्थी के लिये कीर्ति का होना एक अनिवार्य गुण है, जबकि लौगाक्ष मुनि ने 24 संस्कारों में 'यशस्काम' को एक महत्व पूर्ण संस्कार माना है, इस संस्कार में गुरु शिष्य को आशीर्वाद देता है "यशस्वी भव" हे बेटा! तू कीर्तिवाला बन, तुम्हारा जीवन तब सफल जीवन है जब तुम्हारी निर्मल कीर्ति दसों दिशाओं में फैली हो, परन्तु वह कीर्ति प्राप्त करना आसान नहीं जिस पर माता का अनुग्रह होगा वही निर्मल कीर्ति वाला होता है, जैसाकि उपरिलिखित श्लोक में दर्ज है।

त्वत्-रूपैक-निरूपण-प्रणयिता बन्धो दृशो-स्त्वत्-गुण ग्रामा-कर्णन-रागिता श्रवणयो-स्त्वत्-संस्मृति-श्चेतसि। त्वत्-पादार्चन-चातुरी करयुगे, त्वत् कीर्तनं-वाचि मे कुत्रपि त्वत्-उपासन-व्यसनिता, मे देवि! मा शाम्यतु(27)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि=हे माता, **मे**=मेरे, **दृशोः**=नेत्रों को, **त्वत्**=आप के **निरूपण**=देखने की, **प्रणयिता**=प्रेम का, **बन्धः**=लगाव **त्वत्**=आपके, **श्रवणयोः**=कानों को, **गुणग्राम**=गुणों के समूह के, **आकर्णन**=सुनने का, **रागिता**=प्रेम, **त्वत् संसृति**=आप का स्मरण, **चेतसि**=चित्त में, **कर युग**=दोनों हाथों में,

त्वत्=आप के, **पदार्चन**=चरणों के पूजा की, **चातुरी**=चतुरता। **मे =वाचि**=मेरी वाणी में, **त्वत्**=आप का, **कीर्तन**=कीर्तन **कुत्रापि**=कभी भी अथवा कहीं भी, **त्वत्**=आपकी, **उपासन-व्यसनिता**=उपासना करने के भाव में, **मा शाम्यतु**=ढील न आये।

अर्थः—हे माँ मेरे नेत्रों को आपके देखने के प्रेम का लगाव, कानों को आपके गुणों के सुनने का राग, चित्त में आपकी स्मृति, मेरे हाथों में आपके चरणों की सेवा का चातुर्य, मेरी वाणी में आप का कीर्तन, कभी कहीं अथवा किसी भी अवस्था में कम न हो।

टिप्पणी—जो माँ का भक्त सभी कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ माँ के ही पूजनादि में व्यस्त रखता है, उस भक्त का योगक्षेम कैसे चलता है? ऐसे भक्त के बारे में भगवान् की गीता में प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। जो रात दिन उसी संवित् शक्ति की उपासना में लगे रहते हैं, ऐसे भक्तों का योगक्षेम वह "संवित्" शक्तिरूप माता ही चलाती है। **योग**=अप्राप्त की प्राप्ति। **क्षेम**=प्राप्त किये हुये की रक्षा।

उद्दाम-काम-परमार्थ-सरोज-षण्ड-
चण्ड-द्युति-द्युतिम्-उपासित-षट्-प्रकाराम्।
मोह-द्विपेन्द्र-कदनोद्यत-बोध-सिंह-
लीला-गुहां भगवतीं त्रिपुरां नमामि (28)

अन्वय-शब्दार्थ

उद्दाम=सीमारहित, **काम**=ऐहिक इच्छायें, **परमार्थ**=आध्यात्मिक इच्छायें रूप (मानिये), **सरोजषण्ड**=कमलों के समूह को प्रफुल्लित करने के लिये, **चण्डद्युति**=प्रखर-सूर्य की जैसी, **द्युतिं**=प्रकाशवाली, **उपासित**=उपासना की जाने वाली, **षड्प्रकाराम्**=योग के षड् अंगों से, **मोह**=मोहरूपी, **द्विपेन्द्र**=हाथी को, **कदन**=मारने के लिये, **उद्यत**=तैयार, **बोधसिंह**=ज्ञानरूपी

शेर की, **लीला गुहां**=क्रीडा की गुफारूप, **भगवतीं त्रिपुरां**=त्रिपुरा भगवती को नमस्कार करता हूँ।

अर्थ:—सीमारहित, ऐहिक तथा पारमार्थिक इच्छा रूपी कमल सरोवर को प्रफुल्लित करने के लिये, प्रचण्ड-सूर्य की जैसी प्रकाशवाली, योग के छ: अंगों से उपासना की जाने वाली, मोहरूपी हाथी को मारने के लिये तैयार बैठी, ज्ञान रूपी शेर की लीला गुफा बनी हुई त्रिपुरा भगवती को नमस्कार हो।

टिप्पणी—हे माता जो मेरी सीमा रहित ऐहिक अथवा पारमार्थिक इच्छायें हैं, वह मानिये एक कमल का सरोवर है, जैसे कमल का सरोवर सूर्योदय से प्रफुल्लित होता है, वैसे ही आप मेरी सीमा रहित इच्छाओं के लिये प्रखर किरणों वाली सूर्य हो, यानि आप ही मेरी इच्छाओं को पूर्ण कर सकती हैं, माँ! मेरे मोह रूपी हाथी का नाश ज्ञानरूपी शेर ही कर सकता है, वह ज्ञान रूपी शेर भी कहीं इधर-उधर नहीं है, बल्कि माँ आप ही उस शेर के खेलने की गुफा हो, यानी मेरे मोह का नाश करने वाला शेर भा आप के ही नियंत्रण में है।

योग के षडंग:—प्रत्याहार, ध्यान, प्रणायाम, धारणा, तर्क, समाधि

योग के षडंग:—प्राणायाम, ध्यान, प्रणायाम, धारणा, तर्क, समाधि-तन्त्रालोक के टीकाकार (जयरथ)

गणेश-वटुक-स्तुता-रति-सहाय कामान्विता
स्मरारि-वर-विष्टरा, कुसुमबाण-बाणै-र्युता।
अनंग-कुसुमादिभि: परिवृता च सिद्धै: त्रिभि:
कदम्ब-वन-मध्यगा, त्रिपुर-सुन्दरी पातु न: (29)

अन्वय-शब्दार्थ

गण=गणेश, **ईश**=शंकर, **वटु:**=विष्णु, **क**=ब्रह्मा से की गई, **स्तुता**=स्तुतिवाली, **रतिसहाय कामान्विता**=रति सहित कामदेव से युक्त, **स्मरारि:**=शंकर के, **वर**=उत्तम, **विष्टरा**=आसन पर बैठी हुई, **कुसुम बाण-बाणै:**=कामदेव

के पाँच बाणों से, **युता**=युक्त, **अनंग-कुसुमादिभिः**=कामदेव की पाँचशक्तियों से, **परिवृता**=घेरी हुई, **त्रिभिः**=तीन, **सिद्धैः 'ऐं-क्लीं-सौः'**=मन्त्रों से प्राप्य, **कदम्बवन मध्यगा**=कदम्ब वन के बीच में ठहरी हुई, **त्रिपुर सुन्दरी**=संवित् शक्ति, **पातु नः**=हमारी रक्षा करें।

अर्थः—गणेश, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा से की गई स्तुतिवाली, रति सहित कामदेव से युक्त, उत्तम शिवासन पर बैठी हुई, कामदेव के पाँच बाणों से युक्त, कामदेव की पांच शक्तियों से घेरी हुई, "ऐं क्लीं सौः" इन तीन बीजाक्षरों से की हुई स्तुति वाली अथवा (प्राप्त होने वाली) कदम्ब के वन में ठहरी हुई त्रिपुरा भगवती हमारी रक्षा करें।

टिप्पणी—जिस कामदेव के बाण देवताओं असुरों मनुष्यों में असफल नही रहे **"असिद्धार्था नैव क्वचित्-अपि स-देवासुरनरे"** उन्हीं बाणों तथा कामदेव की सम्मोहनादि शक्तियों से त्रिपुरसुन्दी घेरी हुई है, कदम्बवृक्षों के जंगल में ठहरी हुई है, जिस कामदेव को शंकर ने भस्म किया था, वह शंकर भी जिस माँ का आसन बना है, ऐसी शक्तिशाली जगदम्बा के सामने कामदेव के पाँच बाण तथा पाँच शक्तियाँ क्या महत्त्व रखती हैं।

कामदेव के पाँच बाण (फूल)—अरविंद, अशोक, धूत, नवमल्लिका, नीलोत्पल

पांच बाणों की पाँच शक्तियाँ—उन्माद, तापन, शोषण, स्तम्भन, संमोहन, **कदम्बवृक्ष**-सम्मोहनादि पाँच शक्तियों का उपयोगी वृक्ष माना जाता है।

यस्तोत्रम्-एतत्-अनुवासरम्-ईश्वरायाः
श्रेयस्करं पठति वा यदि वा शृणोति।
तस्येप्सितं फलति राजभिर्-ईडचतेऽसौ
जायेत स प्रियतमो हरिणेक्षणानाम् (30)

अन्वय-शब्दार्थ

यः=जो भक्त, **स्तोत्रम्-एतत्**=यह स्तोत्र, **ईश्वरायाः**=भगवती का, **श्रेयस्कर**=कल्याणकारी, **अनुवासरम्**=प्रतिदिन, **पठति**=पढता है, **यदि वा**=अथवा, **श्रृणोति**=सुनता है, तस्य=उसके, **इप्सितं**=मनोभिलषित,

फलति=सिद्ध हो जाते हैं, **असौ**=वह भक्त, **राजभिः**=राजाओं से, **ईड्यते**=स्तुति किया जाता है, **हरिणेक्षणीनां**=अणिमादि सिद्धियों का, **प्रियतमो भवति**=प्यारा बनता है।

अर्थः—जो जगत् जननी का यह कल्याणकारी स्तोत्र प्रतिदिन पढ़ता है या सुनता है, उसके सभी मनोभिलषित सिद्ध हो जाते हैं, वह भक्त राजाओं से भी स्तुति किया जाता है, तथा अणिमादि सिद्धियों का वह प्यारा बनता है।

टिप्पणी—"त्वाम्-आश्रिता ह्याश्रियतां प्रयान्ति" दुर्गासप्त॰
माँ जो तुम्हारी शरण में आते हैं, सभी राजे महाराजे उनके शरण में आते हैं-अणिमादिसिद्धियाँ उनके पीछे-पीछे लुढकती हैं।

ब्रह्मेन्द्र-रुद्र-हरि-चन्द्र-सहस्र-रश्मि-
स्कन्द-द्विपानन-हुताशन-वन्दितायै।
वागीश्वरि! त्रिभुवनेश्वरि! विश्वमातः
अन्त-र्बहिश्च कृत-संस्थितये नमस्ते (31)

अन्वय-शब्दार्थ

वागीश्वरि!=परा, पश्यन्ती-वैखरी वाणियों की स्वामिनी, **त्रिभुवनेश्वरि!**=तीनों भुवनों की स्वामिनी, **विश्वमातः!**=जगत् जननी, **ब्रह्म**=ब्रह्मा, **इन्द्र**=इन्द्र, **रुद**=शंकर, **हरिः**=विष्णु, **चन्द्र**=चन्द्रमा, **सहस्ररश्मिः**=सूर्य, **स्कन्द**=कुमार, **द्विपानन**=गणेश, **हुताशन**=अग्नि से, **वन्दितायै**=प्रणाम की हुई, **अन्तः**=अन्तःकरणों ज्ञानेन्द्रियों, **बहिः**=बाह्येन्द्रियों में, **कृत**-संस्थितये=ठहरी हुई, **माता नमस्ते**=आप को बार-बार नमस्कार हो।

अर्थः—हे वाणियों की स्वामिनी! तीन भुवनों की स्वामिनी! हे जगत् जननी! ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, विष्णु, चन्द्रमा, सूर्य-कुमार, गणेश तथा अग्नि देवता से की हुई प्रणामवाली, ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों पांच प्राणों मन,

बुद्धि तथा चित्त में स्थिति वाली, शक्ति देने वाली माँ आप को बार-बार नमस्कार है।

टिप्पणी–यन्माया-वश्यवर्ति-विश्वम्-अखिलं, ब्रह्मादि-देवा-सुराः
यत्-सत्त्वा-अमृषैव भाति सकलं, रज्जौ यथा हे-र्भ्रमः।। रामचरितमानस

जिस संवित् अथवा माया के वशीभूत विश्व, ब्रह्मादि देवता और असुर हैं, जिस माया की सत्ता से रस्सी में सर्प के भ्रम की भांति यह सारा दृश्य जगत् प्रतीत होता है, उसमायापति राम की शक्ति को नमस्कार हो।

इति पंचस्तव्यां द्वितीयःचर्चस्तवः

अथ पञ्चस्तव्यां घटस्तवःतृतीयः

देवि! त्र्यम्बक-पत्नि! पार्वति! सति! त्रेलोक्यमातः! शिवे! शर्वाणि! त्रिपुरे! मृडानि! वरदे! रुद्राणि! कात्यायिनि! भीमे! भैरवि! चण्डि! शर्वरि! कले! कालक्षये! शूलिनि! त्वत्-पाद-प्रणतान्-अनन्यमनसः पर्याकुलान् पाहि-नः।।1।।

अन्वय-शब्दार्थ

देवि=हे क्रीडनशील माता, **त्रयम्बक पत्नि**=शंकर की शक्ति, **पार्वति**=पर्वत की पुत्री, **सति**=हे सती, **त्रेलोक्य मातः**=हे तीनों लोकों की माता, **शिवे**=हे कल्याणकारी, **शर्वाणि**=हे शंकर की संहारिनी शक्ति, **त्रिपुरे**=तीनों अवस्थाओं की साक्षी रूपा, **मृडानि**=आनन्द देने वाली, **वरदे**=अभीष्ट फल देने वाली, **रुद्राणि**=दुष्टों को रुलाने वाली, **कात्यायिनि**=हे सुन्दर रूप वाली, **भीमे**=दुष्टों के लिये भयंकर रूप को धारण करने वाली, **भैरवि**=हे भैरवरूप शंकर की शक्ति, **चण्डि**=चराचर सृष्टि को प्रकाशित करने वाली, **शर्वरि**=शवारूप शिव की शक्ति, **कले**=चन्द्रकला रूप वाली, **कालक्षये**=काल को नाश करने वाली, **शूलिनि**=तीन दुःखों का नाश करने वाली, **त्वत्**=तुम्हारे, **पाद**=चरणों में, **प्रणतान्**=झुके हुये, **अनन्यमनसः**=आप में एकाग्रता से लगाये हुये मन वाले, **पर्याकुलान्**=चारों ओर से व्याकुल, **नः** हम भक्तों की, **पाहि**=रक्षा कीजिये।

अर्थः—देवी आदि संबोधन के नामों से ग्रन्थकार ने इस श्लोक के अन्त में प्रार्थना की है, "हे माँ! हम चारों ओर से आपदाओं में डूबे हुये हैं, हमारी रक्षा कीजिये।

टिप्पणी–पंचस्तवीकार ने माता के प्रचलित असंख्य नामों में से चुन कर रहस्यपूर्ण अर्थवाले 19 नाम इस श्लोक में कहे हैं। जिन हज़ारों नामों से भक्त जगत् माता को पूजते हैं, उनके बारे में वेदों का कहना है। "यस्या स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मात् उच्यते "अज्ञेया" जिसके स्वरूप को बह्मादि देवता भी नहीं जानते इसलिये उसका नाम है "अज्ञेया" "यस्या जननं नोपलभ्यते" जिसका जन्म देने वाला कोई नहीं है। अत: उसको अजा कहते हैं, एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मात् उच्यते एका" सारी चराचर सृष्टि में एक ही शक्ति ओत-प्रोत है अत: उसको "एका" कहते हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध है उस अनिर्वचनीय "संवित्" का कोई नाम रूप नहीं है, परन्तु उस माँ को रूप देने वाली नाम देने वाली भावना होती है–हनुमान् "सेवक" रूप में भगवान् के पास गये भगवान् "स्वामी" रूप में हनुमान से मिले, "ब्रह्मचारिणी" उमा से शंकर बह्मचारी रूप में ऐसे ही पाशुपत अस्त्र के लिये तपस्या करते हुये अर्जुन से माता "शिकारिन" रूप में मिली। (जैसी भावना वैसा भगवान्)

उन्मत्ता इव, सग्रहा इव, विषव्यासक्त-मूर्च्छा इव
प्राप्त-प्रौढमदा इवाति विरह-ग्रस्ता-इवार्ता-इव
ये ध्यायन्ति हि शैलराज-तनयां-धन्यास्त-एकाग्रत-
स्त्यक्तोपाधि-विवृद्ध-रागमनसो ध्यायन्ति वामभ्रुवः (2)

अन्वय-शब्दार्थ

उन्मत्ता इव=पागलों की भांति जैसे, **सग्रहा इव**=जिस को भूत आदि ग्रह अवष्टि हुये हों जैसे, **विषव्यासक्त**=ज़हर लगने से, **मूर्च्छा इव**–मूर्छित हुये जैसे, **प्राप्त-प्रौढमदा इव**=प्राप्त हुये अधिक नशे वाले जैसे, **अति-विरह ग्रस्ता इव**=प्रेमी के विरह (पीड़ा) से ग्रस्त जैसे, **आर्ता इव**=आर्त जैसे, **ये** जो भक्त, **हि**=निश्चय करके, **शैलराज तनयां**=हिमालय की पुत्री पार्वती का, **एकाग्रतः**=एकाग्रता से, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, **ते धन्या**=वे सौभाग्यशाली हैं, ऐसे भक्तों को, **त्यक्त**=छोड़े हुये उपाधि शरीर के मोहवाली, **विवृद्ध**=बड़े हुये **रागमनसः**=प्रेम से भरी मनवाली, **वामभ्रुवः**=अणिमादिसिद्धियाँ, **ध्यायन्ति**=ध्यान करती है।

अर्थः–जो भक्त जन जगदम्बा का ध्यान करने पर अपनी सुधबुध

खोकर पागल जैसे भूतों से आविष्ट हुये जैसे, ज़हर लगने से मूर्छित हुये जैसे, अधिक नशे से उन्मत्त हुये जैसे, अपने प्रेमी के विरह से तड़पते हुये जैसे, आर्त जैसे हो जाते हैं वे भक्त धन्य हैं, ऐसे भक्तों का ध्यान प्रेम से भरी हुई अणिमादि सिद्धियाँ अपनी सुधबुध खोकर करती है यानी अणिमादि सिद्धियाँ ऐसे भक्तों के पीछे लुढकती फिरती हैं।

टिप्पणी–जो भक्त हर समय वाणी से आप का कीर्तन, आँखों से आप का दर्शन, मन से आप का ध्यान करता है, अष्ट-सिद्धियाँ, उस भक्त को चाहती ही नहीं है, बल्कि उस भक्त के चरण चूमती है।

देवि! त्वां सकृत्-एव यः प्रणमति, क्षोणीभृत-स्तंनम-न्याजन्म-स्फुरत्-अंघ्रि-पीठ-विलुठत्-कोटीर-कोटिच्छटाः।
यस्त्वाम्-अर्चति सोऽर्च्यते सुरगणै-र्यः स्तौति स स्तूयते
यस्त्वां ध्यायति तं स्मरार्ति-विधुरा ध्यायन्ति वामभ्रुवः (3)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि=हे देवी, **यः**=जो, **त्वां**=तुम्हे, **सकृत्-एव**=एक ही बार, **प्रणमति**=झुकता है, **आजन्म**=जन्म से ही, **स्फुरत्**=चमकते हुये, **अंघ्रिपीठ**=पादपीठ पर, **विलुठत्**=लुढकते हुये, **कोटीर**=ताजों की, **कोटि**=चोटियों की, **छटाः**=शोभा वाले, **क्षोणीभृतः**=राजा लोग, **तं**=उसको, **नमन्ति**=झुकते हैं, **यः**=जो, **त्वां**=तुम्हे, **अर्चति**=पूजा करता है, **सः**=वह, **अर्च्यते**=पूजा जाता है, **सुरगणैः**=देवताओं से, **यः स्तौति**=जो तुम्हारी स्तुति करता है, उसकी स्तुति की जाती है, **यः**=जो, **त्वां ध्यायति**=जो तुम्हारा ध्यान करता है, **तं**=उस भक्त को, **स्मरार्ति विधुरा**=विषयों के उपभोग से व्याकुल बनी हुई **वामभ्रुव** इन्द्रियाँ अथवा योगनियाँ, **ध्यायन्ति**=ध्यान करती है, वश में हो जाती हैं।

अर्थः–हे माँ जो एक बार ही आप को प्रणाम करता है, उनको

ऐसे चक्रवर्ती राजा लोग झुकते हैं, जिन चक्रवर्ती राजाओं के पादपीठ गणराज्यों के लुढ़कते हुये मुकटों के अग्रभाग के छटा से सुशोभित होते हैं, जो तुम्हारी पूजा करते हैं, उन्हें देवता पूजा करते है, जो तुम्हारी स्तुति करते हैं, देवता उनकी स्तुति करते, जो तुम्हारा ध्यान करते हैं उन भक्तों की विषयों की उपभोग से व्याकुल बनी हुई इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

टिप्पणी–त्वाम्-आश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति" दुर्गसप्तशती।
हे माता! तुम्हारी शरण में आये हुये मनुष्य दूसरों को शरण देने वाले बनते हैं।

ध्यायन्ति ये क्षणमपि त्रिपुरे! हृदि त्वां
लावण्य-यौवन-धनैर्-अपि विप्रयुक्ताः।
ते विस्फुरन्ति ललितायत-लोचनानां
चित्तैक-भित्ति-लिखित-प्रतिमाः पुमांसः (4)

अन्वय-शब्दार्थ

त्रिपुरे=हे माता! **ये**=जो भक्त, **लावण्य**=सुन्दरता, **यौवन**=जवानी, **धनैर्-अपि**=धन से भी, **विप्रयुक्ताः**=हीन, **क्षणमपि**=थोड़ी देर के लिये भी, **हृदि**=अपने हृदय में, **त्वां**=आप का, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, ते **पुमांसः**=वह पुरुष, **ललित**=सुन्दर, **आयत**=बड़ी, **लोचनानां**=नेत्रों वाली, योगनियों के, **चित्ते**=चित्त में, **एकभित्ति**=एक दीवार पर लिखित=खिची हुई, **प्रतिमाः**=मूर्तियाँ जैसी, **विस्फुरन्ति**=दिखाई देती हैं।

अर्थः–हे माता! जो मनुष्य सुन्दरता, जवानी, धन से हीन होते हुये भी, क्षणमात्र भी हृदय में एकाग्रता से आपका ध्यान करते हैं, उनकी प्रतिमायें सुन्दर योगनियों के हृदय में दीवार पर खींचे हुये चित्र की भाँति दिखाई देती हैं, यानी सुन्दर योगनियाँ उन रूपहीन, बृद्ध, निर्धन

मनुष्यों को अपने हृदय में स्थान देती है।

टिप्पणी–हे माता यदि कोई कुरूप निर्धन मनुष्य भी आप का ध्यान करता है तो आप की अनुग्रह दृष्टि से वह भक्त सुन्दर नीरोग तथा धनवान अवश्य बनता हे, उसके अतिरिक्त योगनियाँ तथा सिद्धियाँ उस भक्त का एकाग्रता से ध्यान करती हैं–यानी उस भक्त के वश में हो जाती हैं।

एतं किं नु दृशा पिवाम्युत, विशाम्यस्यांगम्-अंगैर्निजैः
किं वामुं निग-लाम्यनेन सहसा किं वैकताम्-आश्रये।
तस्येत्थं विवशो विकल्प-घटना कूतेन योषित्-जनः
किं तत्-यत्-न करोति देवि! हृदये यस्य त्वम्-आवर्तसे (5)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि=हे देवि, **यस्य**=जिस भक्त के, **हृदये**=हृदय में, **त्वम्**=आप, **आवर्तसे**=बार बार आकर ठहरती हो, **तस्येत्थं**=उस भक्त के बारे में, **विवशः**=विवश होकर, **विकल्प घटना कूतेन**=मन के विकल्पों (तरंगों) के प्रयोजन से, **योषित्-जनः**=अणिमादि सिद्धियाँ अथवा योगिनियाँ, **किं तत्**=ऐसा कौन सा कार्य है, **यत् करोति**=जो करती नहीं है-वह सिद्धियाँ उस भक्त के बारे में सोचती हैं, **एतं**=इस भक्त को, **किं**=क्या, **नु**=निश्चय करके, **दृशा**=आँखों से, **पिवामि**=पी जाऊँ, **उत**=अथवा, **अंगैः निजैः**=अपने अंगों से, **विशामि**=आप में समा जाऊँ, **किंवा**=अथवा **निगलामि**=निगल जाऊँ, **किंवा**=अथवा, **सहसा**=झटपट, एकतां=एकभाव का, **आश्रये**=आश्रयलें।

अर्थः–हे देवी! जिस भक्त के हृदय में आप बार-बार आकर ठहरती हो, ऐसे भक्त के बारे में विवश होकर मनके भिन्न-भिन्न विकल्पों से-अणिमादि सिद्धियाँ ऐसा कौन सा कार्य है जो करती नहीं है, वे सिद्धियाँ उस भक्त के बारे में सोचती हैं-"क्या इस भक्त को आँखों से पी जायें, अथवा अपने अंगों से इसी में समा जायें

अथवा इस भक्त को निगल जायें अथवा झटपट एक भाव का आश्रय लें।

टिप्पणी–जिस भगत के हृदय में माता ठहरती है उस भक्त के लिये योगनियाँ अथवा अष्टसिद्धियाँ बलिदान हो जाती है–"बलि" से तात्पर्य है "देवोद्देश्येन स्वोपहारत्यागो बलिः" देवता के लिये अथवा अपने इष्ट के लिये (ध्येय के लिये) "स्व" खुदी का त्याग करना यानी उसी ध्येय में लय हो जाना, भेदभाव का न रहना।

विश्व-व्यापिनि यत्-वत्-ईश्वर इति, स्थाणौ-अनन्याश्रयः
शब्दः शक्तिर्-इति त्रिलोकजननि! त्वय्येव तथ्य-स्थितिः
इत्थं सत्यपि शक्नुवन्ति यत्-इमाः क्षुद्रा रुजो बाधितुं
त्वत्-भक्तान्-अपि न क्षिणोषि च-रुषा, तत्-देवि! चित्रं महत् (6)

अन्वय-शब्दार्थ

त्रिलोक जननि=हे तीनों लोकों की माता! **यत्-वत्**=जिस प्रकार, **अनन्याश्रयः**=स्वतन्त्र, **ईश्वरः**=ईश्वर शब्द, **विश्वं-व्यापिनि**=सर्वव्यापक, **स्थाणौ**=शंकर के लिये प्रयुक्त होता है, **इति**=ऐसे ही, **शक्तिः शब्दः**=शक्ति यह शब्द, **त्वयि एव**=तुम्हारे लिये, **तथ्य=स्थितिः**=सार्थकरूप में प्रयुक्त होता है, **इत्थं सति अपि**=ऐसा होने पर भी, **यत्**=यदि, **इमाः**=यह, **क्षुद्रा रुजः**=तुच्छ रोगादि, **त्वत्-भक्तान् अपि**=तुम्हारे भक्तों को भी, **बाधितुं**=कष्ट देने के लिये, **शक्नुवन्ति**=समर्थ बनते हैं, **रुषा**=तुम क्रोधित होकर, **न क्षिणोषि**=नष्ट नहीं करती हो, **देवि=हे देवी, तत्**=वह, **महत्चित्रं**=बहुत आश्चर्य है।

अर्थः–हे तीनों लोकों की माता! जिस प्रकार स्वतन्त्र ईश्वर शब्द सर्वव्यापक शंकर के लिये प्रयुक्त होता है, ऐसे ही शक्ति शब्द तुम्हारे लिये सार्थक रूप में प्रयुक्त होता है, ऐसा होने पर भी यह तुच्छ रोगादि तुम्हारे भक्तों को भी कष्ट देने के लिये समर्थ बनते हैं, तुम

क्रोधित होकर उनको नष्ट नहीं करते हैं, वह बहुत आश्चर्य है।

टिप्पणी–ईश्वरः शब्द का अर्थ है (कर्तुम्-अकर्तुम्समर्थः) सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव बनाने वाला।
शक्ति का अर्थ है–अघटन-घटीयसी, यानी सर्वशक्ति युक्त।

इन्दो-र्मध्यगतां मृगांक-सदृशच्छायां मनो-हारिणीं
पाण्डूत्फुल-सरोरुहासन-गतां, स्निग्ध-प्रदीपच्छविम्।
वर्षन्तीम्-अमृतं भवानि! भवतीं ध्यायन्ति ये देहिनः
ते निर्मुक्त-रुजो भवन्ति विपदः प्रोज्झन्ति तान्-दूरतः(7)

शब्दार्थ-अन्वय

भवानि! हे माता, **इन्दोः**=चन्द्रमा के, **मध्यगतां**=बीच में स्थित, **मनोहारिणीं**=मनोहर, **मृगांकसदृशच्छायां**=हिरण के समान शोभावाली, **पाण्डु**=सफेद **उत्फुल**=खिले हुये, **सरोरुह**=कमल के, **आसनगतां**=आसन पर ठहरी हुई **स्निग्ध**=तेल से भरे हुये, **प्रदीपछवि**=दीपक की जैसी दीप्तिवाली, **अमृतं-वर्षन्तीं**=अमृत-बरसाती हुई, **भवतीं**=आपका, **ये देहिनः**=जो मनुष्य, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, **ते**=वे, **निर्मुक्तरुजः**=छूटे हुये रोगवाले, **भवन्ति**=होते हैं, **विपदः**=विपदायें, **तान्**=उनको, **दूरतः प्राज्झन्ति**=दूर छोड़ती हैं।

अर्थः–हे जगत् माता। चन्द्रमा के बीच में स्थित, मनोहर हिरण के समान शोभावाली, सफेद कमल के आसन पर ठहरी हुई, तेल से भरे हुये, दीपक की जैसी दीप्तिवाली अमृत बरसाती हुई, ऐसे ही रूप वाली का जो प्राणी ध्यान करते हैं, वे रोगों से मुक्त हो जाते हैं, विपदायें उनके पास टिकती नहीं हैं।

टिप्पणी–रोगान्-अशेषान्-अपहंसि तुष्टा.....
त्वाम्-आश्रितानां न विपत्-नराणाम्।। दुर्गासप्त॰

आपके सन्तुष्ट होने पर आध्यात्मिक, आधि दैविक आधि भौतिक, ताप दुःख नष्ट हो जाते हैं, जो माँ की शरण में आता है उस पर विपत्ति आती ही नहीं है।

पूर्णेन्दोः शकलैर्-इवा-तिबहलैः, पीयूष पूरैर्-इव क्षीराब्धे-र्लहरी-भरैर् इव, सुधा-पंकस्य पिण्डैर्-इव। प्रालेयैर्-इव निर्मितं तव वपुर्ध्यायन्ति ये श्रद्धया चित्तान्तर्-निहतार्ति-ताप-विपदस्ते सम्पदं बिभ्रति(8)

अन्वय-शब्दार्थ

पूर्णेन्दोः=पूर्ण चन्द्रमा के, **शकलैर्**-इव=टुकड़ों से जैसे, **अतिबहलैः**=पर्याप्त, **पीयूष पूरैर्-इव**=अमृत के प्रवाहों से जैसे, **क्षीराब्धेः**=क्षीर सागर के, लहरी **भरैर्-इव**=तरंगों के समूह से जैसे, **सुधापं-कस्य पिण्डैर्'इव**=अमृत के गारे के पिण्डों से जैसे, **प्रालेयैर्-इव**=बर्फ, जैसे **निर्मितं**=बने हुये, **तव वपुः**=आप के स्वरूप का, **ये**=जो **श्रद्धया**=श्रद्धा से, **ध्यायन्ति**=ध्यान करते हैं, **ते**=वे भक्तजन, **चित्तान्तर्**=मन के अन्दर, **निहत**=नष्ट हुये, **आर्ति**=दीनता, **ताप**=दुःख, **विपदः**=विपदावाले, **सम्पदं**=सम्पदाओं को **बिभ्रति**=धारण करते हैं।

अर्थः—पूर्ण चन्द्रमा के टुकड़ों से बने हुये जैसे, अमृत के प्रवाहों से क्षीर सागर के लहरों से, अमृत के गारे के पिण्डों से, बर्फ से बने हुये जैसे आप के निर्मलरूप का जो श्रद्धा से ध्यान करते हैं, उन भक्तों के मन में स्थित दीनता दुःख तथा विपदाओं का नाश होकर सम्पदा की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी—साधक माता के प्रेम के आवेश में आकर अपनी कल्पना से निर्विकल्प माता को सविकल्प बना कर उसके ही ध्यान से साधक को क्या कुछ नहीं मिल सकता है

"किं किं दुःखं दनुजदलिनि! क्षीयते न स्मृतायां"

वह कौन सा ऐसा दुख है जो आपके (माता के) स्मरण करने से नष्ट नहीं होता है।

ये संस्मरन्ति तरलां सहसोल्लसन्तीं
त्वां ग्रन्थि-पञ्चकभिदं तरुणार्क-शोणाम्।
रागार्णवे बहलरागिणि मज्जयन्तीं
कृत्स्नं जगत्-दधति चेतसि तान्-मृगाक्ष्यः (9)

अन्वय शब्दार्थ

तरलां=स्पन्दात्मिक (चंचल), **सहसा**=बिना किसी प्रयत्न के, **उल्लसन्तीं**=विकसित रूप वाली, **ग्रन्थि पंचक भिदं**=पाँच तत्वों पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश को अपने नियन्त्रण में रखने वाली, **तरुणार्क**=उदित सूर्य की जैसी, **शोणाम्**=लाल वर्ण वाली, **बहलरागिणि**=लाल रंग से भरपूर, **कृत्स्नं जगत्**=सारे संसार को, **रागार्णवे**=भक्ति के सागर में (आनन्द में), **मज्जयन्तीं**=डुबाने वाली, माता के ऐसे स्वरूप का, **ये**=जो भक्त, **संस्मरन्ति**=स्मरण अथवा ध्यान करते हैं, **मृगाक्ष्यः**=योगिनियाँ **तान्**=उन भक्तों को, **चेतसि**=मन में, **दधति**=धारण करती हैं।

अर्थ—स्पन्दात्मिक अथवा चंचल, हर समय विकसित रूप वाली पाँच तत्वों का नियन्त्रण करने वाली, उदित सूर्य की जैसी लाल रंगवाली, लालरंग से भरपूर सारे जगत को भक्ति के सागर (आनन्द) में डुबाने वाली, माता के ऐसे स्वरूप का जो भक्त स्मरण करता है योगिनियाँ उस भक्त को मन में धारण करती हैं। सभी शक्तियाँ उस भक्त के वश में हो जाती हैं।

टिप्पणी—चेतना शक्ति मातृरूप मानी जाती है। (चेतना) माता का रंग लाल माना गया है, माता का स्वरूप रजो गुणात्मक है, रजोगुण का वर्ण भी लाल माना गया है।

लाक्षारस-स्नपित-पंकज-तन्तु-तन्वीम्-
अन्तः स्मरत्यनुदिनं भवतीं भवानि।
यस्तं स्मर-प्रतिमम्-अप्रतिम-स्वरूपा
नेत्रोत्पलै-र्मृगदृशो भृशम्-अर्चयन्ति (10)

अन्वय शब्दार्थ

भवानि=हे माता, **लाक्षारस**=लाक्षा रस में, **स्नपित**=भिगोयी, **पंकज तन्तु**=कमल की सूक्ष्मतार जैसी, **तन्वीं**=सूक्ष्म **भवतीं**=आप के स्वरूप का, **अनुदिनं**=नित्य, **यः**=जो, **अन्तः**=मन में, **स्मरति**=स्मरण करता है, **तं**=उस भक्त के, **स्मर प्रतिमम्**=कामदेव जैसी, **अप्रतिम**=उपमारहित, **स्वरूपा**=स्वरूपवाली, **मृगदृशः**=शिव की शक्तियाँ, भृशम्=अत्यधिक, **अर्चयन्ति**=पूजती हैं।

अर्थः—लाल रंग में रंगे हुये कमल के तार की जैसे आप की सूक्ष्मस्वरूप का जो भक्त नित्य स्मरण करता है, उस भक्त को कामदेव की जैसी सुन्दर शक्तियाँ (योगनियाँ) पूजती हैं।

टिप्पणी—माँ के स्वरूप के बारे में उपनिषदों का कहना है—
"अणोरणीयान्-महतो महीयान्" वह आत्मा अथवा 'संवित्' शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से महान् है। हिरण्मयेन-पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् तत्त्वं पूषन्-अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। उस सत्यस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये इन ढक्कणरूपी योगनियों अष्टसिद्धियों को हटा लीजिये-उनको ठुकराने पर ही साधक उस परमेश्वर को प्राप्त करता है।

स्तुमस्त्वां वाचम्-अव्यक्तां
हिम-कुन्देन्दु-रोचिषम्।
कदम्ब-मालां विभ्राणाम्
आपाद-तल-लम्बिनीम् (11)

अन्वय-शब्दार्थ

हिम=बर्फ, **कुन्द**=कुन्द पुष्प, **इन्दु**=चन्द्रमा जैसे, **रोचिषम्**=दीप्तिवाले, **आपादतल**=नीचे पाँवों तक, **लम्बिनीम्**=लटकती हुई, **कदम्बमालां, विभ्राणाम्**=कदम्बमाला=धारण की हुई, अव्यक्तां=सूक्ष्म, **वाचम्**=वाणी (परा वाणी) के रूप में, त्वाम्=**तुम्हारी**, स्तुमः=स्तुति करते हैं।

अर्थः—बर्फ, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा जैसी दीप्ति वाले, नीचे पाँवों तक लटकती हुई कदम्बमाला को धारण की हुई परावाणी के रूप में माँ! हम तुम्हारी स्तुति करते हैं।

टिप्पणी—वाणियाँ चार हैं—वैखरी मध्यमा पश्यन्ती और "परा" परावाणी मानिये "संवित्" अथवा पराशक्ति का नामान्तर हैं। "कदम्बमाला" कुण्डलिनी का सूचक है। वह "परावाणी" कुण्डलिनी से घेरी हुई है-जिसके "षट्दल" रूपी छः ताले लगे हैं, वे छः ताले खोलने पर ही, कुण्डलिनी जागृत हो जाती है, वह जब अपने स्थान से हटती है, तो साधक को "परावाणी" से मिलने का सौभाग्य मिलता है।

मूर्ध्नीन्दोः सित-पंकजा-सनगतां, प्रालेय-पाण्डु-त्विषं
वर्षन्तीम्-अमृतं सरोरुहभुवो, वक्त्रेपि रन्ध्रेपि च।
अच्छिन्ना च मनोहरा च ललिता, चाति-प्रसन्नापि च
त्वाम्-एव स्मरतां स्मरारि-दयिते! वाक् सर्वतो वल्गति (12)

अन्वय-शब्दार्थ

स्मरारि=शंकर की, **दयिते**=हे प्रियशक्ती!, **मूर्ध्नि=शून्यचक्र** (ब्रह्मरन्ध्र) में, **इन्दोः**=चन्द्रमा के जैसे, **सित**=सफेद, **पंकजासन**=कमल के आसन पर, **गतां**=बैठी हुई, **प्रालेय,** बर्फ की भांति, **पाण्डुत्विषं**=निर्मल दीप्ति वाली, **वक्त्रेपि**=मूलाधार पर, **रन्ध्र** आज्ञा चक्र के, **सरोरुहभुवः**=दोनों कमल पतों पर, **अमृतं वर्षन्तीम्**=अमृत बरसाती हुई, **त्वाम्-एव**=तुम्हारे ऐसे ही रूप का, **स्मरतां**=स्मरण करने वालों को, **अच्छिन्न**=निरर्गल, **मनोहरा**=मन को

हरने वाली, **ललिता**=सुन्दर, **अतिप्रसन्न**=निर्मल, **वाक्**=वाणी, सर्वत:=सब ओर से, **वल्गति**=प्रकट होती है।

अर्थ:—हे शंकर की प्रियशक्ती! शून्य चक्र में (ब्रह्मरन्ध्र में) चन्द्रमा के जैसे सफेद निर्मल कमल के आसन पर बैठी हुई, बर्फ की भांति निर्मलदीप्ति वाली, मूलाधार और आज्ञा चक्र के दो दलों पर अमृत की वर्षा करती हुई, तुम्हारे ऐसे ही रूप का स्मरण करने वालों को निरर्गल मनोहर सुन्दर तथा निर्मलवाणियाँ सब ओर से प्रकट होती हैं।

टिप्पणी—पञ्चस्तवीकार ने पहले ही स्तव में कहा है, जिन पर माता का अनुग्रह होता है उन्हें क्या कुछ प्राप्त होता है—

"जाते तवानुग्रहे-वाच: सूक्ति-सुधारस-द्रुवमुचो निर्यान्ति वक्त्राम्बुजात्" जिस भक्त पर आप अनुग्रह करती है, उसके मुख से बिना किसी प्रयत्न के अमृतरस को टपकाती हुई उत्तम वाणियाँ निकलती हैं।

ददातीष्टान्-भोगान्-क्षपयति रिपून्-हन्ति-विपदो
दहत्याधीन्-व्याधीन्-शमयति सुखानि प्रतनुते।
हठात्-अन्तर्दु:खं दलयति पिनष्टीष्ट-विरहं
सकृत्-ध्याता देवी किम्-इव निर्-अवद्यं न कुरुते (13)

अन्वय-शब्दार्थ

सकृत्=एक ही बार, **ध्याता**=ध्यान की हुई, **किम्-इव**=क्या कुछ, **निर्-अवद्यं**=दोष रहित, **न कुरुते**=नहीं करती है, **इष्टान् भोगान्**=इष्ट भोगों को, **ददाति**=देती है, **क्षपयति रिपून्**=शत्रुओं का नाश करती है, **विपदो हन्ति**=विपदाओं का नाश करती है, **आधीन्**=मन के दु:खों को, **दहति**=जलाती है, **व्याधीन्-शमयति**=शरीर के रोगों का नाश करती है। **सुखानि**=सुखों का **प्रतनुते**=विस्तार करती है, **हठात्**=हठ से, **अन्तर्दु:ख**=मन

के दु:खों को, **दलयति**=बाहर फेंकती हो, **इष्टविरहं**=प्रेमी की जुदाई, पिनष्टि=पीसती हो, दूर करती हो।

अर्थ:—जो एक ही बार माँ का ध्यान करता है, माँ उस भक्त के लिये क्या कुछ अच्छाई नहीं करती है, चाहे हुये भोगों को देती है, शत्रुओं का नाश करती है विपदाओं को नष्ट करती है, मन के दु:खों को जलाती है। शरीर के रोगों का नाश करती है, सुखों का विस्तार करती है। हठ से मन के दु:खों को जड़ से उखाड़ती है, प्रेमी के वियोग को दूर करती है।

टिप्पणी—श्रीमत्-नाम प्रोच्य नारायणाख्यं

के-न प्राप्ता-वांछितं पापिनापि। मुकुन्दमाला।

नारायण (अथवा माता) के नामोच्चारण करने से किन पापियों ने भी अपनी-अपनी इच्छानुसार फल नहीं पाया।

यस्त्वां ध्यायति वेत्ति विन्दति जप-त्यालोकते चिन्तय त्यन्वेति प्रतिपद्यते कलयति स्तौत्या-श्रय-त्यर्चति।
यश्च त्र्यम्बक-वल्लभे! तव गुणान्-आकर्ण-य-त्यादरात् तस्य श्रीर्न-गृहात्-अपैति विजयस्तस्याग्रतो धावति (14)

अन्वय-शब्दार्थ

त्र्यम्बक-वलभे=(अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा) तीन नेत्रों वाली शंकर की प्यारी शक्ति। **य:**=जो, **त्वां**=तुम्हें, **ध्यायति**=ध्यान करता है, **वेत्ति**=जानता है, **विन्दति**=प्राप्त करता हे, **जपति**=जप करता है, **आलोकते**=देखता है, **चिन्तयति**=चिन्तन करता है, **अन्वेति**=पीछे-पीछे चलता है, **प्रतिपद्यते**=शरण में आता है, **कलयति**=विमर्श करता है, **स्तौति**=स्तुति करता है, **आश्रयति**=आसरा लेता है, **अर्चति**=पूजा करता हे, **य:**=जो, **तव गुणान्**=तुम्हारे गुणों को, **आदरात्**=आदर से, **आकर्णयति**=सुनता है,

तस्य=उसके, **गृहात्**=घर से, **श्रीः**=लक्ष्मी, **न अपैति**=भागती नहीं है, **विजयः**=सफलता, **तस्याग्रतो**=उसके आगे आगे, **धावति**=दौड़ती है।

अर्थः—हे माता! जो भक्त आप का ध्यान करता है, जो आप को जानता है, जो आप को पाने का प्रयत्न करता है, आप का जप करता है, आप को देखता है, आपका चिन्तन करता है, आप का अनुसरण करता है, आपकी शरण में आता है, आपका विमर्श करता है, स्तुति करता है, आपका आसरा लेता है, आप की पूजा करता है, आपके गुण आदर से सुनता है। उसके घर से लक्ष्मी भागती नहीं है, सफलता उसके आगे आगे दौड़ती है।

टिप्पणी—सभी इन्द्रियों को भजन कीर्तन श्रवण मनन निदध्यासन में व्यस्त रखने ही में मनुष्य जीवन की सफलता है। श्री राजा चन्द्रशेख मुकुन्दमाला में कहते है।—

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतोभज श्रीधरं, पाणिद्वन्द्वसमर्चया-च्युत कथाः श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचन-द्वय हरे-र्गच्छांघ्रि-युग्मालयं जिघ्र घ्राण मुकुन्दप ादतुलसी मूर्धन्-नमाधोक्षजम्।।

अर्थः—हे जिह्वा! तुम केशव का कीर्तन करते रहो, हे मन! कृष्ण का भजन करते रहो। हे दो हाथो नारायण की पूजा करते रहो, हे दो कानो! नारायण की कथायें सुनते रहो, हे दो नेत्रो! भगवान् को ही देखते रहो, हे दो पैरो! भगवान् के मन्दिर में जाया करो, हे नासिका! भगवान् के पादों में अर्पित तुलसी सूँघते रहो, हे सिर! भगवान् कृष्ण को नमस्कार करते रहो।

किं किं दुःखं दनुजदलिनि! क्षीयते न स्मृतायां
का का कीर्तिः कुलकमलिनि! ख्याप्यते न स्तुतायाम्।
का का सिद्धिः सुरवर-नुते! प्राप्यते नार्चितायां
कं कं योगं त्वयि न चिन्वते, चित्तम्-आलम्बितायाम् (15)

अन्वय-शब्दार्थ

दनुजदलिनि! राक्षसों को संहार करने वाली माता, **किं किं दुःखं**=वह कौन कौन सा दुख है, **त्वयि स्मृतायां**=जो तुम्हारे स्मरण करने पर, **न क्षीयते**=नष्ट नहीं होता है, **कुल कमलिनि**=जगत् रूपी कमल को विकसित करने वाली

माँ! **का कीर्तिः**=वह कौन कौन सी कीर्ति है, **त्वयि स्तुतायां**=आप की स्तुति करने पर, **न ख्याप्यते**=प्रसिद्ध नहीं होती है, **सुरवरनुते**=हे इन्द्र से प्रणाम की हुई माता!, **का का सिद्धिः**=वह कौन कौन सी सिद्धि है, **त्वयि अर्चितायां**=आप की पूजा करने पर, **न प्राप्यते**=प्राप्त नहीं होती है, **कं कं योगं**=वह कौन कौन सा योग है, जो **त्वयि**=आप पर, **चित्तम्-आलम्बिताया** मन लगाने पर, **न चिन्वते**=सिद्ध नहीं होता है।

अर्थ—राक्षसों का संहार करने वाली माता! वह कौन-कौन सा दुःख है जो आप के स्मरण करने पर नष्ट नहीं होता है, जगत् रूपी कमल को विकसित करने वाली माता, वह कौन-कौन सी कीर्ति है, जो आप की स्तुति करने पर फैलती नहीं, हे इन्द्र से प्रणाम की हुई माता! वह कौन कौन सी सिद्धि है जो आप की पूजा करने पर प्राप्त नहीं होती है, वह कौन सा योग है जो आप में मन लगाने पर सिद्ध नहीं होता है।

टिप्पणी—या च स्मृता तत्-क्षणं एव हन्ति नः
सवीपदो भक्ति-विनम्र-मूर्तिभिः।।दुर्गा सप्त०।।

जो माता, भक्ति से विनम्र-मनुष्यों द्वारा स्मरण की जाने पर तत्काल ही सम्पूर्ण-विपत्तियों का नाश कर देती है।

ये देवि! दुर्धर-कृतान्त-मुखान्तरस्था
ये कालि! कालघन-पाश-नितान्त बद्धाः
ये चण्डि! चण्ड-गुरु-कल्मष-सिन्धुमग्ना
स्तान् पासि मोचयसि तारयसि-स्मृतैव (16)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि! हे माता! **ये**=जो, **दुर्धर**=कठिन, **कृतान्त**=महाकाल के, **मुखान्तरस्था**=मुख में पड़े हूँ, **ये**=जो, **कालि**=हे काली, **कालघनपाश**=महाकाल के घनी

फांसियों से, **नितान्त**=ज़ोर से, **बद्धा**=बांधे हुये हैं, **ये** जो, **चण्डे** चराचर-जगत् को प्रकाशित करने वाली, **चण्ड**=कठिन **गुरु**=भारी, **कल्मष**=पापों के, **सिन्धु**=समुद्र में, **मग्ना**=डूबे हुये हैं, **तान्** उनको, **पासि**=जन्ममरण से बचाती हो, **मोचयसि**=काल से छुटकारा दिलाती हो, **तारयसि**=तारती हो, **स्मृतैव**=स्मरणमात्र से ही।

अर्थः–हे देवी! जो मनुष्य कठिन महाकाल के मुख में पड़े हुये हूँ जो महाकाल के घने फाँसियों से ज़ोर से बंधे हुये हूँ, हे चण्डी भगवती, जो कठिन भारी पापों के समुद्र में डूबे हुये हूँ उनको आप स्मरण मात्र से ही क्रमशः रक्षा करती हो, छुटकारा दिलाती हो और तारती हो।

टिप्पणी–माँ! आप के स्मरण मात्र से महाकाल के मुख में पड़े हुओं की रक्षा होती है, महाकाल की फाँसियों से बंधे हुओं को छुटकारा मिलता है, पापों के समुद्र में डूबे हुये किनारे लगते हैं।

लक्ष्मी-वशीकरण-चूर्ण-सहोदराणि
त्वत्-पाद-पंकजरजांसि चिरं जयन्ति।
यानि प्रणाम-मिलितानि नृनां ललाटे
लुम्पंन्ति दैवलिखितानि दुरक्षराणि (17)

अन्वय-शब्दार्थ

लक्ष्मीवशीकरण=लक्ष्मी को वश करने के लिये, **चूर्ण**=चूर्णरूपी औषधि के जो, **सहोदराणि**=सगे भाई हैं, **त्वत्**=तुम्हारे, **पाद पंकजरजांसि**=चरणकमलों के धूलि के कण, **चिरं जयन्ति**=चिरकाल तक जयशील रहे, **यानि**=जो धूलि के कण, **नृणां ललाटे**=भक्तों के माथे पर **प्रणाम मिलितानि**=प्रणाम से लगे हुए, **दैव लिखितानि**=प्रारब्ध में लिखे हुये, **दुरक्षराणि**=बुरे अक्षरों को लुम्पन्ति मिटाते हैं।

अर्थ—लक्ष्मी को वश करने के लिये चूर्ण रूपी औषधि के जो सगे भाई हैं (यानी समानशक्ति रखते हैं) आपके चरण कमलों के धूलि के कण-वे चिरकाल तक जयशील रहें। उनको जय-जयकार हो, माता के चरणों के प्रणाम से-भक्तों के माथे पर लगे हुए वे धूलिकण ललाट पर लिखे हुये बुरे अक्षरों को मिटाते हैं।

टिप्पणी-लिखितमपि ललाटे प्रोझितुं क: समर्थ:"
जो ललाट में लिखा हुआ है उसको कौन टाल सकता है, केवल माता ही ऐसी समर्थशाली है जो केवल प्रणाम मात्र से ही ललाट पर लिखे दुरक्षरों को चुन चुन कर मिटाती है, जैसे कि इसी श्लोक में पँचस्तवी कार की घोषणा है।

रे मूढ:! किम्-अयं वृथैव तपसा, काय: परिक्लिश्यते यज्ञैर्वा बहुदक्षिणै: किम्-इतरे रिक्ती क्रियन्ते गृहा: भक्तिश्चेत्-अविनाशिनी भगवती पाददुयी सेव्यताम्। उन्निद्राम्बु-रुहात-पत्रसुभगा, लक्ष्मी: पुरोधावति (18)

अन्वय-शब्दार्थ

रे मूढ़:=हे मूर्खो, **किं**=क्यों, **तपसा**=बिना ज्ञान के, हठ योग से, **काय:**=शरीर को, **वृथैव**=निरर्थ ही **परिक्लिश्यते**=कष्ट देते हो, **वा**=अथवा, **इतरे**=कुछ पुरुष, **बहुदक्षिणै:**=बड़ी दक्षिणा वाले, **यज्ञै:**=यज्ञों से, **रिक्ती**=खाली, **क्रियन्ते**=करते हैं, **गृहा:**=घरों को, **भक्ति**=भक्ति **चेत्** अगर, **अविनाशनी**=दृढ अथवा निरन्तर रहने वाली है, और **भगवती**=जगदम्बा के **पाददुयी**=दोनों पादों की, **सेव्यताम्**=सेवा कीजिये, **उन्नि-द्राम्बुरुहात पत्र सुभगा**=खिले हुये कमल के पत्रों से शोभायमान लक्ष्मी **पुर:**=आगे आगे, **धावति**=दौड़ती है।

अर्थ:—हे मूर्खो क्यों बिना ज्ञान के तपस्या से शरीर को निरर्थक कष्ट देते हैं, कुछ पुरुष बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों से घरों को खाली

करते हैं, यदि आपको दृढ अथवा निन्तर रहने वाली भक्ति है तो जगदम्बा के दोनों पादों की सेवा कीजिये, ऐसा करने से खिले हुये कमल के पत्रों से शोभायमान लक्ष्मी आगे दौड़ती है, ऐसे भक्त को लक्ष्मी के पीछे दौड़ना नहीं पड़ता है।

टिप्पणी–"ध्रुवं कर्तुः श्रद्धा विधुरम्-अभिचराय हि मरवाः" भक्ति हीन यज्ञ यजमान के नाश के लिये होते हैं। ऊपर के श्लोक के आधार से बिना भक्ति के तपस्या निष्फल है, बड़े बड़े यज्ञ करने से क्या लाभ जिस यज्ञ में भक्ति न हो।

भक्ति कैसे होती है? वाल्मीकी रामायण से-

"यावत् शरीरादिषु माययात्मधी-तवत् विधेयो विधिवाद-कर्मणाम्"

जब तक अनन्य भक्ति उत्पन्न न हो तब तक वेदोक्त यज्ञादि करना आवश्यक है, भक्ति के उत्पन्न करने में यज्ञादि साधक हैं बाधक नहीं।

वेदोक्तयज्ञादिकों से अन्तःकरण की शुद्धि होती है-अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही भक्ति उत्पन्न होती है।

याचे न कंचन न कंचन वञ्चयामि
सेवे न कंचन निरस्त-समस्त-दैन्यः।
श्लक्ष्णं वसे मधुरम्-अद्मि भजे वरस्त्री
देवी हृदि स्फुरति मे कुलकाम-धेनुः (19)

अन्वय-शब्दार्थ

निरस्त समस्त-दैन्यः=मैं सभी दीनताओं से रहित हूँ, **याचे न कंचन**=किसी से कुछ मांगता नहीं हूँ, **सेवे न कञ्चन**=किसी की गुलामी नहीं करता हूँ, **श्लक्ष्णं वसे**=बारीक रेशमी वस्त्र पहनता हूँ, **मधुरम्**=मीठा भोजन, **अद्मि**=खाता हूँ, **वरस्त्री भजे**=उत्तम पति व्रत्ता स्त्री मुझे प्राप्त है, ऐसा क्यों? जबकि **कुलकामधेनुः**=सभी कामनाओं को पूरी करने वाली, माँ **मे** मेरे, **हृदि**-हृदय में, **स्फुरति**=विकसित है।

अर्थः–मैं सभी दीनताओं से रहित हूँ, किसी से कुछ मांगता नहीं

हूँ। बारीक रेशमी वस्त्र पहनता हूँ, स्वादिष्ट भोजन खाता हूँ, उत्तम पतिव्रता स्त्री मुझे प्राप्त है। ऐसा क्यों माँ? सभी कामनाओं को पूरी करने वाली आप जब मेरे हृदय में विकसित हैं।

टिप्पणी–शिवस्तोत्रावली से–

ईश्वरोऽहम्-अहम्-एव-रूपवान् पण्डितोस्मि सुभगोस्मि कोपरः।
मत्-समोस्ति जगतीति शेभते मानिता त्वत्-अनुरागिणः परभ्।।

अर्थ:–मैं पूर्ण रूप मे स्वतन्त्र हूँ, मैं सुन्दरता का भण्डार हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ मैं सौभाग्यवान् हूँ, इस जगत् में मेरे समान कौन है-यह स्वात्माभिमान उनको ही शोभा देता हे, माता! जिनके हृदय में आप विकसित हैं।

शब्द-ब्रह्म-मयि! स्वच्छे! देवि! त्रिपुर-सुन्दरि!
यथा-शक्ति जपं पूजां गृहाण परमेश्वरि (20)

अन्वय-शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्म-मयि!=शब्द-ब्रह्म-रूपिणी माता!, **स्वच्छे**=निर्मल, **त्रिपुर सुन्दरि**=तीनों अवस्थाओं में "संवित" रूप से ठहरी हुई माता, **यथा शक्ति जपं पूजां**=शक्ति के अनुसार किया हुआ जप तथा पूजा, **गृहाण**=स्वीकार कीजिये।

अर्थ–शब्द-ब्रह्म-रूप! तीनों अवस्थाओं में ठहरी हुई, निर्मल, त्रिपुर सुन्दरी, माता, मेरी यथा शक्ति किया हुआ जप पूजा स्वीकार कीजिये।

नन्दन्तु साधकाः सर्वे विनश्यन्तु विदूषकाः
अवस्था शम्भवी मेस्तु प्रसन्नोस्तु गुरुः सदा (21)

अन्वय-शब्दार्थ

सर्वे=सभी, **साधकाः**=माता के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील, **नन्दन्तु**=सन्तुष्ट

रहें, **विदूषका:**=दोष दृष्टिवाले दुष्ट **विनश्यन्तु**=नष्ट हो जायें अथवा उनको सत् बुद्धि मिले, **मे**=मेरी, **शाम्भवी अवस्था अस्तु**=अभेदमय अवस्था हो, **प्रसन्नस्तु गुरुः सदा**=गुरु मुझ पर सदा प्रसन्न रहे।

अर्थ—सभी साधक सन्तुष्ट रहें, दोष दृष्टि वाले अथवा दुष्ट नष्ट हो जाये, मुझे अभेदमय अवस्था प्राप्त हो, गुरु मुझ पर प्रसन्न रहे।

टिप्पणी–शाम्भवी अवस्था

यह अवस्था श्रोत्रिय ब्राह्मनिष्ठ गुरुकृपा से बिना किसी अभ्यास या प्रयत्न से प्राप्त होती है।

दर्शनात् पापशमनी जपात्-मृत्युविनाशिनी
पूजिता दुःख-दौर्भाग्य हरा त्रिपुर-सुन्दरी (22)

अन्वय-शब्दार्थ

त्रिपुर सुन्दरी=त्रिपुरा भगवती, **दर्शनात्**=दर्शन से, **पापशमनी**=पापों का नाश करती है, **जपात्**=जप से, **मृत्युविनाशिनी**=मृत्यु का नाश करती है, **पूजिता**=पूजा की गई, **दुःख-दौर्भाग्य हरा**=दुःख और दुर्भाग्य को हटाती है।

अर्थः—त्रिपुरा भगवती दर्शन से पापों का नाश करती है, जप से मृत्यु का नाश करती है, पूजा की गई दुःख और दुर्भाग्य को हटाती है।

नमामि यामिनीनाथ-लेखा-लङ्कृत-कुन्तलाम्
भवानीं भवसन्ताप-निर्वापण-सुधानदीम् (23)

अन्वय-शब्दार्थ

यामिनीनाथ=चन्द्रमा की, **लेखा**=कला से, **अलंकृत**=शोभित, **कुन्तलाम्**=केशों वाली, **भव**=संसार के, **संताप**=दुःखों को, **निर्वापण**=हटाने के लिये, **सुधानदी** अमृतनदी, **भवानीं**=माता को, **नमामि**=प्रणाम करता हूँ।

अर्थ:—चन्द्रकला से शोभित केशों वाली, संसार के दु:खों को हटाने के लिये अमृतनदी रूप माता भवानी को प्रणाम करता हूँ।

मन्त्रहीनं क्रिया हीनं विधिहीनं च यत्गतम्।
त्वया तत्-क्षम्यतां देवि! कृपया परमेश्वरि (24)।।

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे माता, **मन्त्रहीनं**=मंत्ररहित, **क्रिया हीनं**=क्रिया रहित, **विधिहीनं**=विधि रहित, यत् **गतम्**=जो कुछ भी हुआ, **परमेश्वरि**=हे परमेश्वर की शक्ति, **त्वया**=आप, **तत्**=उस सबके लिये, **कृपया**=कृपा से, **क्षम्यताम्**=क्षमा करे।

अर्थ:—हे माता मन्त्र रहित, क्रिया रहित, विधि रहित जो कुछ भी मुझ से हुआ, हे परमेश्वरि आप उस सबके लिये क्षमा करें।

इति पञ्चस्तव्यां घटस्तव:

अथ पञ्चस्तव्यां–अम्बस्तवःचुतर्थः

यामा-मनन्ति मुनयः प्रकृतिं पुराणीं
विद्येति यां श्रुतिरहस्यविदो वदन्ति
ताम्-अर्ध-पल्लवित-शंकर-रूप-मुद्रां
देवीम्-अनन्य-शरणः शरणं प्रपद्ये (1)

अन्वय-शब्दार्थ

याम्-जिसको, **मुनयः**=मुनि, **पुराणीं**=अनादि काल से चली आई, **प्रकृतिं**=तीन गुणों की साम्यावस्था, **श्रुतिरहस्य विदः**=वेदों के रहस्य जानने वाले, **विद्या**=यथार्थ ज्ञान, **वदन्ति**=कहते हैं, **ताम्**=उसी, **अर्ध**=आधे शरीर के देने से, **पल्लवित**=विकसित हुई, **शंकर रूप मुद्रां=साकार शंकर रूप वाली, देवीं**=देवी को, **अनन्यशरणः**=दूसरे किसी देवी देवता के शरण में न गया हुआ, **तां शरणं प्रपद्ये**=आप की शरण में आया हूँ।

अर्थः–जिसको वेदों के रहस्य को जानने वाले मुनि अनादि प्रकृति तथा विद्या नाम से कहते हैं, उसी आप के आधे शरीर के देने से विकसित हुई शंकर रूप वाली देवी को मैं दूसरे किसी देवी देवता के शरण में न गया हुआ शरण में आया हूँ।

टिप्पणी–प्रकृति का अर्थ है, चराचर सृष्टि को रचाने वाली शक्ति, माया। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। भगवद्गीता

पुराणी=पुराण शब्द का अर्थ है, प्राथमिक अथवा आदि, पुरा नवं=पुराना होता हुआ भी नया, "माया या प्रकृति" पुरानी होती हुई भी नई ही होती है।

विद्या=यथार्थज्ञान, अभेद दृष्टि का होना, शुद्ध विद्या।

अम्ब! स्तवेषु तव तावत्-अकर्तृकाणि
कुण्ठी भवन्ति वचसाम्-अपि गुम्फनानि।
डिम्बस्य मे स्तुतिर्-असौ-असमञ्जसापि
वात्सल्य-निघ्न-हृदयां-भवतीं धिनोति (2)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता! **तव-स्तवेषु**=आप की स्तुति करने में **तावत्**=तो, **अकर्तृकाणि**=परमेश्वर के बिना जिन का कोई बनाने वाला नहीं, **वचसां गुम्फनानि**=वेदों की ऋचायें भी, **कुण्ठी भवन्ति**=रुक जाती हैं, वर्णन करने में समर्थ नहीं है, ऐसा होने पर भी, **मे**=मुझ, **डिम्बस्य**=छोटे मूर्ख बालक की, **असौ**=यह, **असमञ्जसापि**=असमीचीन भी **वात्सल्य**=भक्तों के प्रेम से, **निघ्नहृदयां**=द्रवित हृदयवाली, **भवतीं**=आपको, **धिनोति**=प्रभावित करती है।

अर्थ:—हे माता! आप की स्तुति करने में, परमेश्वर की बनाई हुई वेद की ऋचायें भी रुक जाती हैं-यानी आपका वर्णन करने में समर्थ नहीं है, ऐसा होने पर भी मुझ छोटे अबोध बालक की, यह असमीचीन स्तुति भक्ति रूपी प्रेम से द्रवित हृदय वाली आपको प्रभावित करती है।

टिप्पणी—स्कन्दपुराण से-"श्रुतिश्च भीता यं वक्ति, किं तस्मात् परम"

अर्थ—वेद भी जिस "संवित्" का वर्णन करने में भयभीत होते हैं तो इससे बढ़कर और क्या कहें-परन्तु तो भी भक्त कहे बिना रह नहीं सकता है। "सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई"

जौ बालक कहि तोतरिबाता, मुदित होहिं सुनि गुरु पितु माता (रामचरितमानस)

व्योमेति बिन्दुर्-इति नाद इतीन्दुलेखा
रूपेति वाक्-भवतनूः-इति मातृकेति।
निष्यन्दमान-सुखबोध-सुधास्वरूपा
विद्योतसे मनसि भाग्यवतां जनानाम् (3)

अन्वय-शब्दार्थ

व्योम-इति=आकाश स्वरूप वाली (सर्वत्र व्याप्त) **बिन्दुः** इति=ब्रह्मरूप वाली, **नाद इति**=नाद रूप, **इन्दु लेखा**=चन्द्रकला रूप, **वाक्-भवतनू**=सरस्वती रूप, **मातृका**=मातृका (अ से क्ष तक) रूप वाली, **निष्यन्दमान सुखबोधसुधास्वरूपा**=द्रवीभूत-आनन्द-ज्ञान तथा अमृतरूप वाली, **भाग्यवतां जनानां**=सौभाग्यवाले भक्तों के, **मनसि**=मन में **विद्योतसे**=प्रकट होती हो।

अर्थ—हे माँ! आप भाग्यशाली भक्तों के मन में, व्योम (आकाश) रूप में, बिन्दु (ब्रह्म) के रूप में, नाद रूप में, चन्द्रकलारूप में, सरस्वती रूप में, मातृका रूप में, द्रवीभूत, आनन्द ज्ञान, अमृत रूप वाली ऐसे ही स्वरूपों में प्रकट होती हो।

टिप्पणी—व्योम, बिन्दुः कुण्डलिनी, नाद, इन्दुलेखा, परावाक्, मातृका-यह सभी शब्द 'संवित् के नामान्तर' हैं।

नाद-शरीर के अन्दर स्वाभाविकरूप से अनाहत ध्वनि चलती रहती हैं, ध्वनि प्रायः दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न होती है, परन्तु शरीर में उसके विप्रीत बिना किसी टकराव के यह ध्वनि (नाद) निरन्तर होती रहती है, यह ध्वनि हम अपने ही कानों से योगाभ्यास के द्वारा सुनने में समर्थ होते हैं, यह ध्वनि शब्द ब्रह्म का ही व्यापार है।

आविर्भवत्-पुलक-सन्ततिभिः शरीरैः
निष्यन्दमान-सलिलैः-नयनैश्च नित्यम्।
वाग्भिश्च गद्गद-पदाभिर्-उपासते ये
पादौ तवाम्ब! हृदयेषु त एव धन्याः (4)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **आविर्भवत्**=प्रकट हुये, **पुलक सन्ततिभि:**=रोमांचों की पंक्तियों से युक्त, **शरीरै:**=शरीरों से, **निष्यन्दमान**=बहते हुये, **सलिलै:**=अश्रुओं से भरे **नयनै:**=नेत्रों से, **च**=और, **नित्यं**=लगातार, **वाक्भि:**=वाणियों से, **गद्गद-पदाभि:**=हिचकियाँ युक्त, शब्दों से, **ये**=जो भक्त, **तव पादौ**=आपके चरणों को, **हृदयेषु**=हृदय में, **उपासते**=उपासना करते हैं (ध्यान करते हैं), **ते एव**=वे ही भक्त, **धन्या:**=प्रशंसनीय हैं।

अर्थ—हे माता! प्रकट हुये, रोमांचों की पंक्तियों से युक्त शरीरों से, बहते हुये अश्रुओं से भरे हुये नेत्रों से, हिचकियों से युक्त शब्दों से जो भक्त आपके चरणों की निरन्तर उपासना करते हैं, वे भक्त भाग्यशाली है-(प्रशंसनीय है)

टिप्पणी—"सौख्यम्-एष-भवत: समागम:" शि॰ स्तो॰

हे माता जब भक्त को आप का समागम होता है, अथवा निरन्तर जो आप के ध्यान में मग्न होता है, उसकी दशा एक ब्रह्मनिष्ठ योगी की जैसी होती है, जैसा कि शिव महिम्नस्तोत्र में वर्णित है प्रहृष्यत्-रोमाण:, प्रमद-सलिल-संगित-दृश

अर्थ-योगी को वह परम तत्व देख कर हर्ष से रोम पुलकित हो जाते हैं और नेत्रों से आनन्द अश्रु बहते हैं।

वक्त्रं यत्-उद्यतम्-अभिष्टुतये भवत्या-
स्तुभ्यं नमो यत्-अपि देवि! शिर: करोति।
चेतश्च यत्-त्वयि परायणम्-अम्ब तानि
कस्यापि कैर्-अपि भवन्ति तपो-विशेषै: (5)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि! हे माता, **यत् वक्त्रं**=जो मुख, **भवत्या:**=आप की **अभिष्टतुये**=बार बार स्तुति के लिये, **उद्यतम्**=उद्योग युक्त हो **शिर: अपि**=सिर भी, **यत्**=जो,

तुभ्यं=आप को, **नमः करोति**=नमस्कार करता है, **चेतः**=चित्त, **यत्**=जो, **त्वयि**=आप में, **परायणम्**=लगा हो, **अम्ब**=हे माता, **तानि**=यह तीनों बातें **कस्यापि**=किसी को ही, **कैः-अपि**=किन्हीं, **तपो विशेषैः**=किये हुये उत्तम तपों से, **भवन्ति**=प्राप्त होती है।

अर्थ—हे माता, जो मुख आप की बार बार स्तुति के लिये, उद्योग युक्त हो, जो सिर आप को नमस्कार करता है, जो मन आप में, लगा हो, यह तीनों बातें स्तुति, प्रणाम तथा आप का ध्यान किसी विरले को ही उत्तम तपों से प्राप्त होती हैं।

टिप्पणी–सा वाक् यया तस्य गुणान् गृणीते, करौ च तत्कर्म, मनश्च।।

अर्थ–वही वाणी सफल है, जो परमात्मा का गुण गाती है, हाथ भी वही सफल हैं जो आप के काम में ही लगे हूँ, मन भी वही है जो आप का ध्यान करे, सिर भी वही है जो आप को बार बार प्रणाम करे।

मूलाल-वाल-कुहरात्-उदिता भवानि
निर्भिद्य-षट्-सरसिजानि तडित्-लतेव।
भूयोपि तत्र विशसि ध्रुव-मण्डलेन्दु
निष्यन्दमान-परमामृत-तोय रूपा (6)

अन्वय-शब्दार्थ

भवानि=हे माता, आप, **मूलालवाल**=मूलाधार रूपी **आलवालात्**=(छोटी सी क्यारी जो पानी से भरी होगी) काश्मीरी में सगडूर, **कुहरात्**=गुफा से, **उदिता**=उदय में आई हुई, **तड़ित् लतेव**=बिजली की कड़क जैसी, **षड्सरिसिजानि**=छः कमलों को, **निर्भिद्य**=भेदन करती हुई अथवा विकसित करती हुई, **ध्रुवमण्डलेन्दु**=सहस्रार में जो अमृत से भरपूर, **इन्दु**=क्षमा कला (चन्द्रमा की सौलहवीं कला) है, **निष्यन्दमान**=उसको प्रवाहित करती हुई, **परामृत तोयरूपा**=चित्त=अमृत से भरपूर, **तत्रापि** उसी मूलाधार में, विशिसि=प्रवेश करती हो।

अर्थ–हे माता! आप मूलाधाररूपी गुफा से बिजली की कड़क की भांति उदय में आई हुई, छः कमलों को भेदन करती हुई, सहस्रार में पहुँच कर वहाँ स्थित (अमा कला) जो अमृत से भरपूर होती है उसको द्रवित करती हुई यानी प्रवाहित-करती हुई, उसी अपने स्थान भूत मूलाधार में फिर से प्रवेश करती हो।

टिप्पणी–षट्चक्र-स्थान् शिवान् भित्वा देवी गच्छति निष्कलम् (स्वतन्त्र तन्त्र)
अर्थ–षट्चक्रों में स्थित छः शिवों का भेदन (विकसित) कर देवी निष्कल निर्गुण ब्रह्म पर पहुँचती है।

षड् चक्रः–(1) मूलाधार चक्र (जननेन्द्रिय में दो अंगुल नीचे गुदा से दो अंगुल ऊपर चार दल वाला

(2) **स्वाधिष्ठान चक्र**, जो-लिंग के सामने है (6 दल)

(3) **मणिपूर चक्र,** नाभि के सामने (10 दल)

(4) **अनाहत चक्र**, हृदय के सामने (12 दल)

(5) **विशुद्धि चक्र,** हृदय के सामने (16 दल)

(6) **आज्ञा चक्र,** भ्रुवों के मध्य में (दो दल)

दग्धं यदा मदनम्-एकम्-अनेकधा-ते
मुग्धः कटाक्षविधिर-अंकुरयां-चकार।
धत्ते तदा-प्रभृति देवि! ललाट नेत्रं
सत्यं ह्रियेव मुकलीं कृतम्-इन्दुमौलिः (7)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे देवी, **यदा**=जब, **ते**=आपकी, **मुग्धः**=मोहित करने वाली, **कटाक्ष विधिः**=तिरच्छी नेत्र दृष्टि, **अनेकधा**=नाना प्रकार से, **एकं**=अकेले, **दग्धं**=जले हुये, मदनम्=कामदेव को, **अंकुरयाञ्चकार**=अंकुर निकालने लगी, **तदाप्रभृति**=तब से, **इन्दु** मौलिः=शंकर भगवान् ने, **सत्यं**=सचमुच, **ललाट नेत्रं**=ललाट का नेत्र, **ह्रिया** इव=शर्म के मारे ही,

मुकली-कृतम्=अर्धनिमीलित रूप में रखा है।

अर्थ—हे देवी जब तुम्हारी मोहित करने वाली तिरछी नेत्र दृष्टि से, जले हुये काम देव को फिर से अंकुर निकलने लगा, ऐसा देख कर शर्म के मारे ही शंकर भगवान् ने तीसरा नेत्र अर्धनिमीलित रूप में रखा है।

टिप्पणी—"कपाल-नेत्रान्तर-लब्धमार्गैः ज्योतिः प्रवाहैर्-उदितैः शिरस्तः।" कुमार संभव शंकर के तीसरे नेत्र के अग्नि से जलकर कामदेव भस्म हुआ था, तब से कामदेव का नाम पड़ा था "स्मर" परन्तु ऐसा होने पर भी संसार में कामदेव का प्रभाव बना हुआ है-ऐसा देख कर ही शर्म के मारे शंकर का तीसरा नेत्र अर्धनिमीलित है।

अज्ञात-सम्भवम्-अनाकलिता-न्ववायं
भिक्षुं कपालिनम्-अवाससम्-अद्वितीयम्
पूर्व-करग्रहण-मंगलतो भवत्याः
शम्भुं क एव बुबुधे गिरि-राज-कन्ये (8)

अन्वय-शबदार्थ

गिरिराज कन्ये!=हे पार्वती, **अज्ञातसंभवम्**=जिस के माता पिता का ज्ञान न हो, **अनाकलित-अन्ववायं**=जिन के वंश का कोई ज्ञान नहीं, **भिक्षुं**=भिक्षा करने वाले, **कपालिनं**=कपालधारी, **अवाससम्**=वस्त्र रहित (नग्न) **अद्वितीयम्**=जिसके समान कोई नहीं है, **शम्भुं**=शंकर को **भवत्याः** आपके, **कर ग्रहण मंगलतः**=पाणिग्रहण से, **पूर्वं**=पहले **क एव**=कौन, **बुबुधे**=जानता था।

अर्थः—हे पार्वती! जिसके माता पिता का कोई ज्ञान नहीं है, जिसका कोई वंश नहीं, भिक्षा से जो अपना जीवन निर्वाह करता है, जो कपाल की माला को धारण करता है, जो नग्न रहता है, जो अद्वितीय है, ऐसे शंकर को आपके पाणिग्रहण से पहले कौन जानता था।

टिप्पणी–'वपुर्विरूपाक्षम्-अलक्षजन्मत:, दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु
वरेषु यत् बालमृगाक्षि! मृग्यते, किमस्ति तत् व्यस्तमपि त्रिलोचने''कुमार संभत
अर्थ–ब्रह्मचारी रूप में शंकर पार्वती से पूछता है–हे पार्वती! एक उत्तम वर में जो गुण होने चाहिये, क्या उन में से कोई गुण उस शंकर में है जिसके लिये तुम तपस्या करती हो, जिसके विकृत नेत्र हैं, जिसके जन्म का कोई ज्ञान नहीं, जिसके पास तन ढाँपन के लिये वस्त्र नहीं है।
पार्वती कहती है–"न सन्ति यथार्थ्यविद: पिनाकिन:" शंकर क्या है, वह कितना शक्तिशाली है सभी नहीं जानते हैं।"

चरमाम्बरं च शव-भस्म-विलेपनं च
भिक्षाटनं च नटनं च परेत-भूमौ।
वेताल-संहति-परिग्रहता च शम्भो:
शोभां बिभर्ति गिरिजे! तव साहचर्यात् (9)

अन्वय-शब्दार्थ

शम्भो:=शम्भु का, **चरमाम्बरं**=मृगशाला जिसका वस्त्र है, **शवभस्म**=मुर्दे का भस्म, **विलेपनं**=शरीर पर मलने की वस्तु है, **भिक्षाटनं**=भिक्षा के लिये घूमना, **नटनं** च **परेतभूमौ**=प्रेतों की भूमि में नाचाना, **वेताल संहति**=वेतालों का समूह **परिग्रहता**=जिसका परिवार है, **गिरिजे**=हे पार्वती, **तव**=आपके, **साहचर्यात्**=साथ चलने से अथवा पाणिग्रहण से **शोभां बिभर्ति**=शोभा को धारण करता है।

अर्थ:–मृगशाला जिस का वस्त्र है, शव का भस्म जो शरीर पर मलता है, भिक्षा के लिये जो घूमता फिरता है, प्रेतों की भूमि में जो नाचता है, वेतालों का समूह जिसका परिवार है, हे पार्वती! ऐसा होने पर भी आप के सम्पर्क से शंकर शोभा को धारण करता है।

टिप्पणी–चिताभस्मालेपो गरलं-अशनं दिक्पटधरो जटाधारी कण्ठे भुजग पतिहारी पशुपति:।
कपाली भूतेशो भजति-जगत्-ईशैक-पदवीं

भवानि त्वत्-पाणिग्रहण-परिपाटी-फलमिदम्।। देवीस्त्रोत

अर्थ–हे भवानी-जो शंकर अपने अंगों में चित्ता की राख मलते हैं, विष ही जिन का भोजन है, जो नग्न ही रहते हैं, सिर पर जटा, कण्ठ में वासुकि को हार रूप में धारण करते हैं, जिनके हाथ में भिक्षापात्र कपाल है, ऐसा होने पर भी पशुपति शंकर ने जगत् ईश की पदवी प्राप्त की है, इस का क्या कारण है? ऐसा महत्व उन को कैसे मिला, हे माता! यह आपके पाणिग्रहण का ही फल है।

कल्पोप-संहरण केलिषु पाण्डितानि
चण्डानि खण्डपरशोर्-अपि ताण्डवानि।
आलोकनेन तव कोमलितानि मातर्!
लास्यात्मना पिरणमन्ति जगत्-विभूत्यै (10)

अन्वय-शब्दार्थ

मातः=हे माता, **कल्प**=युगों के, **उपसंहरण**=नाश करने की, **केलिषु**=क्रीडाओं में, **खण्डपरशोः**=शंकर के, **चण्डानि**=भयंकर, **ताण्डवानि**=नृत्य, **पाण्डितानि**=निपुण हैं, **तव**=आपके, **लास्यात्मना**=प्रेम से भरे हुये, **आलोकनेन**=दृष्टि से, **कोमलितानि**=कोमल बने हुये, **जगत्-विभूत्यै**=जगत् के ऐश्वर्य के लिये, **परिणमन्ति**=परिणत हो जाते हैं।

अर्थ–हे माता, युगों के नाश करने की क्रीडाओं में निपुण, शंकर के भयंकर नृत्य, आपकी प्रेमभरी दृष्टि से कोमल बन कर जगत् के ऐश्वर्य के लिये परिणत हो जाते हैं।

टिप्पणी–जैसे एक माली पौधों अथवा वृक्षों की टहनियाँ उस वृक्ष के फलने फूलने की भावना से काटता है-ऐसे ही शंकर चराचर सृष्टि का नाश करता है–परन्तु वह नाश नई सृष्टि की भावना से ही होता है-यद्यपि शंकर का काम सृष्टि का नाश करना है परन्तु सृष्टि को फिर से सुसज्जित रूप में प्रकट करना। माता! आप की अनुग्रह-दृष्टि का ही परिणाम है

जन्तोर्-अपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये
निशेष-पाशपटल-च्छिदुरा-निमेषात्
कल्याणि! दैशिक-कटाक्ष-समाश्रयेण
कारुण्यतो भवसि शाम्भव-वेददीक्षा (11)

अन्वय-शब्दार्थ

कल्याणि!=हे कल्याणरूपिणी माँ! **अपश्चिम तनोः जन्तोः**=जीवन मुक्त बनने वाले मनुष्य को, **कर्मसाम्ये**=पुण्य और पापों की साम्य अवस्था, **सति**=होने पर, **कारुण्यतो**=आप के अनुग्रह से, **दैशिक**=सद्गुरु की, कटाक्ष=अनुग्रह की दृष्टि का, **समाश्रयेण**=सहारा मिलने पर, **निमेषात्**=बिना किसी परिश्रम के (क्षण मात्र में) **पाशपटल**=पाशों के समूह को (अथवा तीन मलों को) **च्छिदुरा**=काटने वाली, **शाम्भव वेद दीक्षा** (अभेदमयी) शाम्भवी परा अवस्था, दीक्षा देने वाली **भवसि**=तुम बनती हो।

अर्थ—हे कल्याणरूपिणी माता! मुक्त होने वाले मनुष्य को, पुण्य ओर पापों की साम्य अवस्था होने पर, आपके अनुग्रह से, सद्गुरु की अनुग्रह दृष्टि का सहारा मिलने पर बिना किसी परिश्रम के (क्षण मात्र में) पाशों के समूह (अथवा तीन मलों को) को काटने वाली वेद विध्यनुसार शाम्भवी दीक्षा देनी वाली आप ही बनती हो।

टिप्पणी—शाम्भव वेद दीक्षा=शम्भवी अवस्था=अभेदमयी अवस्था, यह अवस्था गुरुकृपा के बिना प्राप्त नहीं होती है, गुरु से दीक्षा लेकर ही साधक इस अवस्था को प्राप्त करता है, शिष्य की योग्यता के अनुसार दीक्षायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय में गुरुदीक्षा का पृथक् पृथक् क्रम होता है—परन्तु इस श्लोक में उस दीक्षा का संकेत है, जो दीक्षा ऋषि परम्परा से वेद विध्यनुसार दी जाती है—शाम्भवी अवस्था की दीक्षा वह दीक्षा है जिसके बारे में भगवद्गीता में आता है "यत् ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव" जिस अवस्था पर पहुँचकर साधक को फिर मोह नहीं होता है।

मुक्ता विभूषणवती नव-विद्रुमाभा
यत्-चेतसि स्फुरसि तारकितेव सन्ध्या।
एकः स एव भुवनत्रय-सुन्दरीणां
कन्दर्पतां व्रजति पञ्चशरीं विनापि (12)

अन्वय-शब्दार्थ

मुक्ता=मोतियों के, **विभूषणवती**=भूषणों से सुसज्जित, **नव-विद्रुम-आभा**=नये रुद्राक्ष जैसी शोभावाली, **तारकितेव-संध्या**=तारो से भरी हुई, सन्ध्या जैसी, **यत् चेतसि**=जिस के मन में **स्फुरसि**=विकसित होती हो, **स एक एव**=वही भक्त, **भुवनत्रय-सुन्दरीणां**=तीनों लोकों की सुन्दर शक्तियों के, **पञ्चशरीं विनापि** (बाणों के बिना)=बिना किसी प्रयत्न के, **कन्दर्पता-व्रजति**=कामदेव भाव को पहुँचता है, सभी अणिमादि सिद्धियाँ उसके वश में हो जाती हैं।

अर्थ—मोतियों के भूषणों से सुसज्जित, नये रुद्राक्ष जैसे शोभावाली, तारों से भरी हुई सन्ध्या जैसी साकार रूप वाली माँ, जिस भक्त के मन में विकसित होती है, तीनों लोकों की सुन्दर शक्तियाँ बिना किसी प्रयत्न के उस भक्त के पीछे-पीछे लुढकती हैं।

"तत्त्वं पूषन्-अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये"

ईशावास्योपनिषद् में भक्त ईश्वर से प्रार्थना करता हे, हे प्रभु! अणिमादि-सिद्धियों से चमकते हुये उस ढक्कन को, जो मेरे लिये आपके साक्षात्कार करने में बाधक हैं "अपावृणु" हटा लीजिये। अणिमादिसिद्धियों में न फस कर ही साधक "शाम्भवी अवस्था" पर पहुंचने में समर्थ होता है।

ये भावयन्त्य-मृत-वाहिभिर्-अंशुजालैः।
आप्यायमान-भुवनाम्-अमृतेश्वरीं त्वाम्।
ते लंघयन्ति ननु मातर्-अलंघनीयां
ब्रह्मादिभिः सुर-वरैर्-अपि कालकक्ष्याम् (13)

अन्वय-शब्दार्थ

ये=जो भक्त, **त्वां**=तुम्हें, **अमृतवाहिभिः**=अमृतधारण किये हुये, **अंशुजलै**=किरणों के समूह से, **भुवनां**=तीन लोकों को, **आप्यायमान**=जीवनदान देने वाली, **अमृतेश्वरीं**=अमृत की स्वामिनी का **भावयन्ति**=ध्यान करते हैं। **मातः**=हे माँ, **ते**=वे भक्त, **ब्रह्मा-दिभिः**=ब्रह्मा इत्यादि, **सुरवरैः**=देवताओं से, **अलंघनीयां**=पार-करने में कठिन, **कालकक्ष्यां**=काल को भी, **लंघयन्ति**=पार करते हैं।

अर्थः—अमृतधारण किये हुये किरणों के समूह से तीन लोकों को जीवनदान देने वाली, अमृत की स्वामिनी ऐसे माता के स्वरूप का जो भक्त ध्यान करते हैं, वे ब्रह्मादि देवताओं से अलंघनीय कालकक्ष्या को पार करते हैं।

यः स्फाटिकाक्ष गुण-पुस्तक-कुण्डिकाढयां
व्याख्या-समुद्यतकरां शरत्-इन्दु-शुभ्राम्।
पद्मासनां च हृदये भवतीम्-उपास्ते
मातः स विश्व-कवि-तार्किक-चक्रवती (14)

अन्वय-शब्दार्थ

यः=जो भक्त, **स्फाटिक**=स्फटिक मणि की, **अक्षगुण**=अक्षमाला, **पुस्तक**=पुस्तक, **कुण्डिका**=कमण्डलु, **आढयां**=युक्त, **व्याख्या**=उपदेश के लिये, **समुद्यतकरां**=ऊपर-उठाये हाथ वाली, **शरत्-इन्दु**=शरद ऋतु के

चन्द्रमा जैसी, **शुभ्राम्**=निर्मल, **पद्मासनां**=कमल के आसन पर बैठी हुई, **हृदये**=हृदय में, **भवतीं**=आप की, **उपास्ते**=उपासना करते हैं, **मातः**=हे माता, **सः**=वह, **विश्व**=जगत् के, **कवि**=कवियों, **तार्किक**=तर्क करने वालों का, **चक्रवर्ती**=अग्रगण्य बनता हो।

अर्थः—एक हाथ में स्फटिक मणि की अक्षमाला, दूसरे में पुस्तक तीसरे में कमण्डलु, चौथा हाथ उपदेश के लिये ऊपर उठाया हुआ, पद्मासन पर बैठी हुई, शरत् ऋतु के चन्द्रमा जैसी निर्मल माता के ऐसे साकार रूप की जो भक्त उपासना करता है वह जगत् के कवियों तथा तार्किकों का चक्रवर्ती राजा बनता है।

टिप्पणी—साकारमूर्ति का ध्यान करने वाले साधक के लिये आवश्यक है, जिस देवी या देवता का ध्यान किया जाये-उसके गुण, ध्यान करने वाले साधक में आयें। "देवो भूत्वा देवं यजेत्" उपरि लिखित श्लोक में माँ के हाथ में "अक्षमाला" से संकेत मिलता है-हर समय इष्ट देवी देवता का स्मरण करना, पुस्तक से संकेत मिलता है-स्वाध्याय में जुटे रहने का, हाथ में कमण्डलु से तात्पर्य है-स्वाध्याय से ज्ञानरूपी अमृत एकत्रित करते रहना, उपदेश के लिये ऊपर उठाये हुये हाथ से तात्पर्य है, ज्ञान प्राप्त करके प्रचार करना। पद्मासन से तात्पर्य है जल में (संसार में) रहते हुये भी निर्मल रहना।

बर्हावतंस-युत-बर्बर-केशपाशां
गुञ्जावली-कृत-घनस्तन-हार-शोभाम्
श्यामां प्रवाल-वदनां सुकुमार-हस्तां
त्वाम्-एव नौमि शवरीं शवरस्य जायाम् (15)

अन्वय-शब्दार्थ

बर्ह=मोरपंख के, **अवतंसयुत**=ताजवाले, **बर्ब-केश-पाशां**=भूरे रंग के-केशों वाली, **गुञ्जावली**=गुंजाहारों से, **कृत**=किये हुये, **घनस्तन**=घने स्तनों पर, **हारशोभाम्**=हारों की शोभा वाली, **श्यामां**=श्यामवर्ण वाली, **प्रवालवदनां**=मूँगे जैसे लाल मुखवाली, **सुकुमार-हस्तां**=कोमल हाथों

वाली, **शवरस्य**=शिकारी बने हुये शंकर की, **जायाम्**=शक्तिरूप शवरी, **त्वामेव**=तुझे ही, **नौमि**=नमस्कार करता हूँ।

अर्थः—मोरपंख के ताज वाले, भूरे रंग के सुन्दर केशों वाली, गुंजाहारों से किये हुये, घने स्तनों पर हारों की शोभा वाली, श्यामवर्ण वाली, मूँगे जैसे लाल मुख वाली, कोमल हाथों वाली, शिकारी बने हुये शंकर की शक्ति रूप शवरी (शिकारिन) के स्वरूप को नमस्कार करता हूँ।

टिप्पणी—महाभारत में यह कथा आती है-अर्जुन पाशुपत-अस्त्र के लिये तपस्या करता है, भगवान् शंकर सन्तुष्ट हो कर उसको पाशुपत अस्त्र देते समय स्वयं शिकारी (शवर) का रूप और पार्वती शिकारिन (शवरी) का रूप धारण करती है-भक्त के लिये भगवान् क्या कुछ नहीं करता है।

अर्धेन किं नवलता ललितेन मुग्धे!
क्रीतं विभोः परुषं-अर्ध-इदं-त्वयेति।
आलीजनस्य परिहास-वचांसि मन्ये
मन्द-स्मितेन तव देवि! जडी भवन्ति (16)

अन्वय-शब्दार्थ

मुग्धे! हे पार्वती, **नवलता**-ललितेन=नई लता की भांति सुन्दर, **अर्धेन**=अपने आधे शरीर से, **विभोः**=शंकर का, **परुषम्**=कठोर (खुरदुरा), **इदं** अर्धं=आधा शरीर, **किं**=क्या, **त्वया**=तुमने, **क्रीतं**=खरीदा है, **आलीजनस्य** सखियों के, **परिहास वचांसि**=हंसी के वचन, **देवि!** हे देवी, **तव**=तुम्हारी, **मन्दस्मितेन**=मुस्कराहट से, **जड़ी भवन्ति**=जड़ हो गये, यानी सखीजन आगे कुछ बोल न सकी **मन्ये**=ऐसा मानता हूँ।

अर्थः—हे पार्वती! नई लता की भांति सुन्दर, अपने आधे शरीर से शंकर का कठोर खुरदुरा आधा! शरीर (शंकर का) आप ने क्यों

खरीदा है? सखियों के हंसी के यह वचन सुनकर पार्वती के होठों पर मुस्कराहट देख कर सखी जन मूढ जैसे हो गये।

टिप्पणी–सखियों का हास्यपूर्ण वचन सुनकर पार्वती की मुस्कराहट से सखियाँ समझ गई कि पार्वती ने यह बात मान ली, कि मुझे इस खरीद फरोख्त में घाटा ही पड़ा है, अतः सखियों ने आगे बात बड़ाई नहीं।

ब्रह्माण्ड बुद्बुद-कदम्बक संकुलोयं
मायोदधि-विविध-दुःख तरंगमालः।
आश्चर्यम्-अम्ब! झट्-इति प्रलयं प्रयाति,
त्वत्-ध्यान-सन्तति-महा-वडवा-मुखाग्नौ (17)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब! हे माता, **अयं**=यह, **ब्रह्माण्ड**=ब्रह्माण्ड रूपी, **बुद्बुद**=बुलबुलों के, **कदम्ब**=समूह से, **संकुलः**=भरा हुआ, **विविध**=नाना प्रकार के, **दुःखतरंगमालः**दुख रूपी लहरों से भरपूर, **मायोदधिः**=माया रूपी समुद्र, **त्वत्**=आप के, **ध्यान-सन्तति**=निरन्तर ध्यान रूपी, **वडवामुखाग्नौ**=वाडव अग्नि में, **झट्-इति**=क्षण मात्र में, **प्रलयं प्रयाति**=लय हो जाता है अथवा नष्ट हो जाता है, **आश्चर्यम्**=यह बड़ा ही आश्चर्य है।

अर्थः–हे माता! यह ब्रह्मण्ड रूपी बुलबुलों के समूह से भरा हुआ, नाना प्रकार के दुखरूपी लहरों से भरपूर माया रूपी समुद्र आप के निरन्तर ध्यान रूपी वाडव अग्नि में क्षणमात्र में लय हो जाता है, अथवा नष्ट हो जाता है, यह बड़ा ही आश्चर्य है।

टिप्पणी–राजा चन्द्रशेखर मुकुन्दमाला में कहते हैं–

पृथ्वी रेणुर्-अणुः पयांसि कणिका फल्गुः स्फलिंगो लघु
स्तेजो निःश्वसनं मरुत्-तनुतरं रन्ध्रं सुसूक्ष्मं नभः
क्षुद्रा रुद्रपितामह-प्रभृतयः कीटाः समस्ताः सुरा

दृष्टे यत्र स तावको विजयते भूमावधूतावधि:।। मुकुन्दमाला

उस परब्रह्म अथवा 'संवित्' का साक्षात्कार होने पर पृथ्वी एक धूल का कण दिखाई देता है, सारा जल छोटी बूंदों जैसे लगते हैं, सारा अग्नि छोटी चिंगारियाँ दिखाई पड़ती हैं, वायु एक सांस जैसा प्रतीत होता है, आकाश सूक्ष्मच्छेद जैसा देखने में आता है, ब्रह्मादि देवता कीड़े जैसे लगते हैं-ऐसे ही उपरि लिखित श्लोक के अनुसार माता का ध्यान करने पर ही यह विशाल जगत् तथा संसार के सभी दु:ख ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे वाडवाग्नि से सागर का पानी नष्ट होता है।

दाक्षायणीति कुटलेति गुहारणीति
कात्यायीनति कमलेति कलावतीति
एका सती भगवती परमार्थतोपि
संदृश्यसे बहु विधा ननु नर्तकीव (18)

अन्वय-शब्दार्थ

परमार्थत:=सही रूप में, **भगवती**, ऐश्वर्यशालिनी माँ! **एका सती अपि**=एक ही (अद्वितीया) होने पर भी, **दाक्षयणी**=दक्षप्रजापति की पुत्री, **कुटिला**=कुण्डलिनी, **गुहारणी**=हृदय-रूपी गुहा में स्थित, **कात्यायनी**=कात्यायन ऋषि की पुत्री, **कमला**=लक्ष्मी अथवा कमल की भांति संकुचित और विकसित करने वाली, **कलावती**=पांच कलाओं की शक्तिवाली अथवा षोडषी कला स्वरूप वाली, इति ऐसे ही, **ननु** निश्चय से, नर्तकीव बहुरूपिया नाचने वाली स्त्री की भांति, **बहुविधा**=बहुत प्रकार से अनेकों रूपों में, **दृश्यसे**=देखी जाती हो।

अर्थ:—हे एश्वर्यशालिनी माता! परमार्थ से एक ही स्वरूपवाली होने पर भी आपने दक्ष प्रजापति की कन्या बनकर दाक्षायणी नाम पाया, मनुष्य के शरीर में मूलाधार में साढ़े तीन वलय रूप में होने से कुटिला अथवा कुण्डलिनी नाम धारण किया, कत्य ऋषि की कन्या बन कर कात्यायनी नाम पाया, कमल की भांति (विकसित तथा संकुचित)

सृष्टि बनाने तथा लय करने वाली होने से कमला नाम धारण किया है, पंच कृत्य सृष्टि-स्थिति-संहार-तिरोधान तथा अनुग्रह इन पांच कलाओं की शक्तिवाली होने से कलावती नाम पड़ा, ऐसे ही नर्तकी की भांति आपने भिन्न-भिन्न स्वरूपों को धारण करके भिन्न-भिन्न नाम पाये हैं।

आनन्द-लक्षणम्-अनाहत नाम्नि देशे
नादात्मना परिणतं तव रूपम्-ईशे।
प्रत्यङ्-मुखेन मनसा परिचीयमानं
शंसन्ति-नेत्र-सलिलैः पुलकैश्च धन्याः (19)

अन्वय-शब्दार्थ

ईशे=हे माता, **आनन्द-लक्षणम्**=आनन्द स्वरूप, **अनाहत-नाम्नि-देश** सहस्र चक्र में, **नादात्मना**=शब्द के रूप में, **परिणतं**=परिणत हुआ, **तवरूपं**=आप का रूप, **प्रत्यङ्-मुखेन**=इन्द्रियों में प्रधान, **मनसा**=मन से, **परिचीयमानं**=अनुभव किया हुआ, **नेत्र सलिलैः**=अश्रुधाराओं से भरे हुये **पुलकैः**=पुलकित शरीर से, **शंसन्ति**=आप की प्रशंसा करते है, **धन्याः**=ऐसे भक्त भाग्यशाली हैं।

अर्थः—जो योगी जन सहसार चक्र में नादरूप आनन्दस्वरूप शब्द के रूप में प्रकट हुये, आप के स्वरूप का निर्मल मन रूपी (प्रधान इन्द्रियों) से अनुभव करते हैं, वे भक्त पुलकित होकर आनन्द अश्रुओं को बहाते हुये आपकी प्रशंसा करते हैं-ऐसे भक्त भाग्यशाली हैं।

टिप्पणी–"प्रत्यङ्मुखेन मनसा" प्रत्यञ्चति=चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बाह्यविषयों को अन्दर की ओर खींचता है प्रत्यक् कहलाता है प्रत्यङ् मुखेन मनसा=प्रधान इन्द्रिय मन से। इस श्लोक में शाम्भवी अवस्था का संकेत है, साधक जब शाम्भवी अवस्था में पहुँचता है तो वह परम आनन्द का अनुभव करता है आनन्द का लक्षण है नेत्रों में आंसुओं का भर

जाना, शरीर का पुलकित होना वाणी का गद्‌गद हो जाना "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्" उपनि०

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं
त्वं चेतनासि पुरुषे पवने बलं त्वम्।
त्वं स्वादुतासि सलिले शिखिनि त्वम्-ऊष्मा
निःसारम्-एव निखिलं त्वत् ऋते यदि स्यात् (20)

अन्वय-शब्दार्थ

त्वम्=तुम, **शशिनि**=चन्द्रमा में, **चन्द्रिका**=प्रकाश हो, **त्वं**=तुम **तिग्मरुचौ**=सूर्य में, **रुचि**=दीप्ति हो, **त्वं**=तुम, **पुरुषे**=प्राणी में, **चेतना**=शक्ति हो, **त्वं**=तुम, **पवने**=वायु में **बलं**=बल हो, **त्वं**=तुम, **स्वादुतासि**=रस हो, **सलिले**=जल में, **शिखिनि**=अग्नि में, त्वं=तुम **ऊष्मा**=गर्मी हो, **निःसारम् एव**=सत्ता रहित ही है, **निखिलं**=सारा, **त्वत् ऋते**=तुम्हारे बिना, **यदि स्यात्**=यदि होगा।

अर्थः—हे माता! चन्द्रमा में चान्दनी तुम हो, सूर्य में दीप्ति तुम हो, प्राणी में चेतना तुम हो, वायु में बल तुम हो, जल में मिठास तुम हो अग्नि में गर्मी तुम हो, तुम्हारे बिना सब सार रहित है।

टिप्पणी—"ईशावास्यमिदं सर्वं, यत् किञ्च जगत्यां जगत्" उपनि०
"जो कुछ दीखे जगत् में सब ईश्वर से ढांप, करो चैन इस त्याग से धन लालच से कांप" स्वामी रामतीर्थ

ज्योतींषि यत्-दिवि चरन्ति यत्-अन्तरिक्षं
सूते पयांसि यत्-अहि-र्धरणीं च धत्ते।
यत्-वाति-वायुर्-अनलो, यत्-उदर्चिर्-आस्ते
तत्-सर्वम्-अम्ब! तव केवलम्-आज्ञ-यैव (21)

अन्वय-शब्दार्थ

यत्=जो, **ज्योतींषि**=तारागण, **दिवि**=आकाश में, **चरन्ति**=घूमते हैं, **यत्**=जो, **अन्तरिक्षं**=आकाश, **पयांसि**=जलों को, **सूते**=उत्पन्न करते हैं, **यत्**=जो, **अहिः**=शेषनाग, **धरणी**=पृथ्वी, **धत्ते**=धारण करता है, **यत्**=जो, **वायुः**=वायु, **वाति**=चलता है, **अनलो**=अग्नि, **यत्**=जो, **उदर्चिः**=ऊँची दीप्ति वाला, **आस्ते**=होता है, **तत् सर्वम्**=वह सब, **अम्ब!** हे माता, **तव**=आप की, **केवलं**=केवल, **आज्ञयैव**=आज्ञा से ही होता है।

अर्थः—आकाश में जो तारागण घूमते हैं, आकाश जो बादलों को उत्पन्न करता है, शेषनाग जो पृथ्वी को धारण करता है, वायु जो चलता है अग्नि में जो दीप्ति प्रज्ज्वलित होती है, हे माता! यह सब आपकी ही आज्ञा से ही होता है।

टिप्पणी—भीषास्मात्-वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मात्-अग्निश्च इन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति" "तैत्तिरीयोपनिषद्"

अर्थ—उसी शक्ति के भय से वायु चलती है, उसी शक्ति के भय से सूर्य उदय होता है, उसी शक्ति के भय से, अग्नि, इन्द्र और पाँचवां मृत्यु ये सब अपना अपना कार्य करने में लगे रहते हैं।

संकोचम्-इच्छासि, यदा गिरिजे! तदानीं
वाक्-तर्कयो-स्त्वम्-असि भूमिः-अनाम-रूपा।
यद्वा विकासम्-उपयासि यदा तदानीं
त्वत् नाम रूपगणनाः सुकरी भवन्ति (22)

अन्वय-शब्दार्थ

गिरिजे! हे पार्वती! **यदा** जब, **संकोचं इच्छसि**=सृष्टि को लय करना चाहती हों, **तदानीं**=उस समय, **त्वं**=तुम, **वाक्-तर्कयोः**=वाणी और तर्क में, **अनामरूपा-भूमिः**=नामरूप से रहित अवस्था वाली, **असि**=हो,

यद्वा=नहीं तो, **यदा**=जब, **विकासम् उपयासि**=जब आप सृष्टि रूप में विकसित होती हो, **तदानीं**=तब, **त्वत् नामरूप गणना**=तुम्हारे नामरूप की गणना **सुकरी भवन्ति**=आसान हो जाती हैं।

अर्थ:—हे पार्वती! जब आप इस सृष्टि को अपने में लय करती हो उस समय आप वाणी और तर्क में नाम और रूप रहित अवस्था (निराकार रूप) वाली होती हो, जब आप सृष्टि रूप में विकसित होती है, तो आप के नामरूप की गणना आसान हो जाती हैं।

टिप्पणी—द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च" बृ० उपनि०

ब्रह्म अथवा उस पराशक्ति के दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त, निराकार तथा साकार, अविनाशी और नाशवान्। निराकार शक्ति के बारे में श्रुति कहती है "अणोरणीयान्, महतो महीयान्" (कठ उपनिषद्) जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, महान् से भी महान् है।

साकार के विषय में वेदों का कहना है– "यस्य पृथिवी शरीरं, यस्य आप: शरीरं, यस्य अग्नि: शरीरं, यस्य अन्तरिक्षं शरीरम्, यस्य वायु: शरीरम्...।(बृ० उपनि०)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकश यह सब तत्व उस ब्रह्म के अथवा उस पराशक्ति के शरीर हैं, अत: इस प्रत्यक्ष शरीरधारी रूप में उसको जानना आसान है।

भोगाय देवि भवतीं कृतिनः प्रणम्य
भ्रूकिंकरी-कृत-सरोजगृहा-सहस्राः
चिन्तामणि-प्रचय-कल्पित-केलि-शैले
कल्पद्रुमोपवन एव चिरं रमन्ते (23)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे ऐश्वर्य देने वाली माँ! **कृतिनः**=कई भाग्यशाली भक्तजन, **भवतीं**=आप को, **भोगाय**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये, **प्रणम्य**=प्रणाम करके, **भ्रूकिंकरी कृत**=भौहों के इशारों से दासियों के समान **सरोजगृहा सहस्रा**=हज़ारों लक्ष्मीवाले बनते हैं, वे ही भक्त, **चिन्तामणि प्रचय**=चिन्तामणियों के ढेरों से, **कल्पित**=बने हुये, **केलिशैले**=क्रीडा के

पर्वतों पर, **कल्पद्रुमो-पवने**=कल्पवृक्षों से बने हुये, **उपवन एव**=उपवनों में **एव** ही, **चिरं रमन्ते**=चिर काल तक रहते हैं।

अर्थः—कई भाग्यशाली भक्तजन आप को ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रणाम करके भौंहों के इशारों से दासियों के समान चलने वाले हज़ारों लक्ष्मी वाले बनते हैं, उतना ही नहीं बल्कि वे भाग्यशाली भक्त चिन्तामणियों के ढेरों से बने हुये क्रीडा के पर्वतों पर कल्पवृक्षों से बने हुये बागों में चिरकाल तक रहते हैं अथवा रमन करते हैं।

टिप्पणी–"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" उपनि०

धन तथा ऐश्वर्य के साधनों से मनुष्य तृप्त नहीं होता है–अतः धन-ऐश्वर्य के साधनों से शान्ति नहीं मिलती है, उपनिषदों की ऐसी घोषणा होने पर भी पञ्चस्तवीकार, हे माँ! "भोगाय देवि!" मुझे भोग के लिये धन ऐश्वर्यादि दीजिये, ऐसी प्रार्थना करता है। माता के अनुग्रह से जो धन मिलता है–वह धन अलौकि प्रकार का ही होता है जैसा कि इस श्लोक में उसका वर्णन है–वह धन उस भक्त के भौंहों के इशारों पर नाचता है, जैसे रत्नों से भरपूर पर्वत पर कल्पवृक्षों के उपवन में बिना प्रयत्न के धन मिलता है–एसे ही उस भक्त को धन प्राप्ति के लिये संघर्ष करना नहीं पड़ता है–तात्पर्य यही है माँ से प्रार्थना करने पर जिसे धन मिलता है–वह धनदास नहीं होता है बल्कि धनपति बनता है। जब तक लक्ष्मी नारायण के चरण दबाती है तब तक वह नारायण है, परन्तु जब नारायण ही लक्ष्मी के चरण दबाये तब वह नर बनता है।

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः अविद्यावशगस्त्वन्यः।।

अर्थ–आत्मा जब माया को अधीन रखता तो ईश्वर कहलाता है। माया के अधीन होने से आत्मा जीव कहलाता है। जहां लक्ष्मीदास बनना भोग कहलाता है, वहाँ लक्ष्मीपति बनना योग कहलाता है। भोग का योग में तब्दील होना माँ के अनुग्रह से ही सम्भव है।

हन्तु त्वमेव भवसि-त्वत्-अधीनम्-ईशे
संसार-तापम्-अखिलं दयया पशूनाम्।
वैकर्तनी-किरण-संहतिर्-एव-शक्ता
घर्मं निजं शमयितुं निजयैव दृष्ट्या (24)

अन्वय-शब्दार्थ

ईशे!=हे सर्वशक्तिमती माँ, **पशूनां**=मनुष्यों के, **अखिलं**=सभी **संसार तापं**=संसार के तीनों ताप, **त्वत्-अधीनं**=तुम्हारे आधीन है, **दयया**=दया से, **त्वमेव**=आप ही **हन्तुं**=नाश करने के लिये, **भवसि**=समर्थ हो **वैकर्तनी**=सूर्य की, **किरण संहति:**=किरणों का समूह, **एव**=ही, **निजं घर्मं**=अपनी गर्मी को, **निजया**=अपनी ही, **वृष्ट्या**=वर्षा से, **शमयितुं**=शांत करने के लिये, **शक्ता**=समर्थ है।

अर्थ:—हे सर्वशक्तिमती माँ! मनुष्यों के तीनों ताप, आप के ही अधीन है, आप ही अपने अनुग्रह से उन दु:खों का नाश करती हो, जैसे सूर्य अपने से उत्पन्न हुई गर्मी को अपनी ही उत्पन्न की हुई वृष्टि से शांत करने में समर्थ है।

टिप्पणी–तीन ताप आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक।

शक्ति: शरीरं-अधिदैवतं-अन्तरात्मा
ज्ञानं क्रिया करणं-आसन-जालं-इच्छा।
ऐश्वर्यं-आयतनं-आवरणानि च त्वं
किं तत् न यत् भवसि देवि शशांक-मौले: (25)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि!=हे देवी!, **शाशांक-मौले:**=शंकर की, **शक्ति:**=शक्ति **शरीर**=स्थूल शरीर, **अधिदैवतम्**=दस-इन्द्रियों की अधिष्ठातृ देवता रूप, **अन्तरात्मा**=अन्त: करण, **ज्ञानं**=ज्ञानशक्ति, **क्रिया**=क्रिया शक्ति, **करणं**=सभी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, **आसन-जालम्**=समाधि में उपयोगी आसन समूह, **इच्छा**=स्वतन्त्र इच्छा शक्ति, **ऐश्वर्यं**=ऐश्वर्य, **आयतनं**=आश्रय, **आवरणानि**=आणवादि तीन मल, **त्वं**=आप ही हो, **तत् किं**=वह कौन सी वस्तु है, **यत्**=जो, **त्वं**=आप, न **भवसि**=न हो।

अर्थः—हे देवी आप ही शंकर की शक्ति हो, स्थूल शरीर के रूप में आप ही हैं, शरीर की सूक्ष्म-अधिष्ठातृ-देवता रूप आप ही हैं, अन्तःकरण, ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति सभी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, समाधि के उपयोगी आसन समूह, स्वतन्त्र इच्छा शक्ति, ऐश्वर्य, आश्रय, आणवादि तीन आवरण मल आप ही हैं। वह कौन सी वस्तु जो आप नहीं हो।

टिप्पणी-"ईशावास्यं-इदं-सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्"

भूमौ निवृत्तिर्-उदिता-पयसि-प्रतिष्ठा
विद्यानले मरुति शान्तिर्-अतीत-शान्तिः।
व्योम्नीति याः किलकलाः कलयन्ति विश्वं
तासां विदूर-तरम्-अम्ब! पदं त्वदीयम् (26)

अन्वय शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **भूमौ**=पृथ्वी में, **निवृत्तिः**=निवृत्ति कला, **पयसि**=जल में, **प्रतिष्ठा**=प्रतिष्ठा कला, **अनले**=अग्नि में, **विद्या**=विद्याकला **मरुति**=वायु में, **शान्ति**=शान्तिकला, **व्योम्नि**=आकाश में, **अतीतशान्ति**=शान्त्यतीत कला, **इति**=ऐसे ही, **उदिता**=उदित हुई, **किल**=निश्चय से, **कलाः**=कलायें, **विश्वं**=36 तत्त्व वाले जगत् को, **कलयन्ति**=बनाती है, **तासां**=इन कलाओं से, **त्वदीयं**=आपका, **पदं**=स्थान, **विदूर-तरम्**=बहुत ही दूर है।

अर्थः—आप पृथ्वी में निवृत्ति कला, जल में प्रतिष्ठाकला, अग्नि में विद्याकला, वायु में शान्तिकला, आकाश में=शान्त्यातीतकला, ऐसे ही पाँच कलाओं के रूप में प्रकट होकर, निश्चय से 36 कलाओं वाले जगत् की बनाती हैं-ऐसा होने पर भी माता आप का स्थान इन कलाओं से बहुत ही उत्कृष्ट है।

टिप्पणी–एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा,
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।
उपरिलिखि वेद मन्त्र का भावार्थ भी यही है, सारी चराचर सृष्टि एक ही शक्ति से ओतप्रोत है।

यावत्पदं पद-सरोजयुगं त्वदीयं
नांगी करोति हृदयेषु जगत्-शरणये।
तावत्-विकल्प-जटिला: कुटिल-प्रकारा:
तर्क-ग्रहा: समयिनां प्रलयं न यान्ति (27)

अन्वय-शब्दार्थ

जगत्-शरण्ये=हे जगत् की रक्षा करने वाली माता, **यावत्**=जब तक, **त्वदीयं**=आपके, **पदसरोज**=चरणकमलों का युग जोड़ा, **हृदयेषु**=हृदयों में, **न-अंगीकरोति**=स्वीकार नहीं करते हैं=(आप के चरण कमलों को हृदय में स्थान नहीं देते हैं) **तावत्**=तब तक, **समयिनां**=भिन्न भिन्न मतवादियों के, **विकल्प जटिला:**=संकल्पविकल्प से उलझन वाले बने हुये, **कुटिल प्रकारा:**=टेड़े प्रकार के, **तर्क ग्रहा:** तर्कवितर्क रूपी ग्रहा: (उल्टे विचार) **प्रलयं**=नष्ट नहीं होते हैं।

अर्थ:–हे माता! ईश्वर के विषय में संशय बुद्धि रखने वाले, तब तक आपस में वाद विवाद तर्क वितर्क करते रहते हैं–जब तक आप के प्रकाशात्मक दोनों चरण कमलों को हृदय में स्थान नहीं देते हैं। उसके पश्चात् ही जटिल उलझन वाले बने हुये टेड़े तर्क वितर्क के विचार उन्हें नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी–किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जात:, जीवाम केन क्वच संप्रतिष्ठा अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम्।। (श्वता॰ उप॰)
अर्थ–श्वेताश्वतरोपनिषद् में ऋषि आपस में ईश्वर के विषय में तर्क वितर्क करते हैं, वेदों में पढ़ा है-जगत् का कारण ब्रह्म है, वह ब्रह्म कौन है, हम सब किससे उत्पन्न हुये हैं, हमारा

मूल क्या है, किस के प्रभाव से हम जी रहे हैं, हमारे जीवन का आधार क्या है? इसी उपनिषद् में इन सभी प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रूप में दिया गया है-परन्तु तो भी हे माता! जब तक आप की दया होगी नहीं सभी संशय सम्पूर्णतया नष्ट नहीं होते हैं।

यत्-देवयान-पितृयान-विहारम्-एके
कृत्वा मनः करणमण्डल-सार्वभौमम्।
याने निवेश्य तव कारण-पञ्चकस्य
पर्वाणि पार्वति नयन्ति निजासनत्वम् (28)

अन्वय-शब्दार्थ

पार्वति!=हे पार्वती, **यत्**=जो, **देवयान**=उत्तरायण, **पितृयान**=दक्षिणायन, **विहारम्**=स्थान, **एके**=कई भाग्यशाली साधक, **मनः**=मन को, **करणमण्डल**=सभी इन्द्रियों का, **सार्वभौमम्**=चक्रवर्ती राजा **कृत्वा**=बनाकर, **तव**=आप के, **याने**=मार्ग में, **निवेश्य**=प्रवेश करके, **कारणपंचकस्य**=पाँचों कारणों, ब्रह्मा विष्णु, रुद्र, सदाशिव, ईश्वर, **पर्वाणि**=सिर, **निज**=अपना, **आसनत्वम्**=आसन, **नयन्ति**=बनाते हैं।

अर्थः—हे पार्वती, देवयान पितृयान साधक के लिये लक्ष्य तक पहुँचने के दो मार्ग है—जो साधक (देवयान पितृयान) प्रणापान के अभ्यास से सभी इन्द्रियों का राजा बनकर इन्द्रियों को नियन्त्रण में करके सुष्मणा मार्ग में प्रवेश करते हैं—अथवा आप के शरण में आते हैं उस भक्त के सामने पाँच कारण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सदाशिव नतमस्तक हो जाते हैं।

टिप्पणी—देवयानः=प्राण, मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु बाहर जाता है प्राण कहलाता है। **पितृयानः**—अपान=मुख अथवा नासिका द्वारा जो वायु नीचे की ओर जाता है अपान कहलाता है।

प्राणाभ्यास की कई प्रक्रियायें हैं, जैसे वायु को बाहर निकाल कर बाहर रोकना, अन्दर भर कर अन्दर रोकना, बाहर जाने तथा अन्दर आने की इन दोनों गतियों को रोक कर प्राणापान

को स्थिर करना अथवा समगति से चलाना ऐसे ही प्राणाभ्यास की कई प्रक्रियायें है-सुयोग्य गुरु के पास रहकर इस का अभ्यास किया जाना चाहिये-यह अभ्यास पुस्तकों से पढ़कर नहीं होता है।

स्थूलासु मूर्तिषु महीप्रमुखासु मूर्ते:
कस्याश्चनापि तव वैभवम्-अम्ब यस्या:।
पत्या गिराम्-अपि न शक्यत एव वक्तुं
सा-सि स्तुता किल मयेति तितिक्षितव्यम् (29)

अन्वय-शब्दार्थ

महीप्रमुखासु=पृथ्वी, जल, वायु आकाश, अग्नि, **स्थूलासु-मूर्षु**=स्थूल रूपों में से, **क्स्या: च न**=किसी भी, **मूर्ते:**=रूप का, **अपि**=भी, **यस्या: तव**=जिस तुम्हारे स्वरूप को, **वैभवम्**=विभव अथवा ऐश्वर्य का, **वक्तुं**=वर्णन करने के लिये, **गिरां पत्या अपि**=बृहस्पति भी, **न शक्यते**=समर्थ नहीं है, **सा**=वही स्तुति, **मया**=मुझ से, **किल**=निश्चय करके, **स्तुता असि**=स्तुति की जा रही है, **इति तितिक्षितव्यम्**=इसके लिये क्षमा कीजिये।

अर्थ:—जिस जगत् ईश्वरी के स्थूलरूप पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों में से किसी एक के स्वरूप का तथा आप के वैभव का वर्णन करने के लिये बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं वह मुझ से की हुई यह स्तुति माता सहन कीजिये, इस धृष्टता के लिये क्षमा कीजिये।

टिप्पणी-सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तत् अपि कहे बिनु रहा न कोई 'सा वाक् यया तस्य गुणान्-गृणीते, करौ यत् कर्मकरौ'

अर्थ—वही वाणी सफल है जो माता के गुणगान में लगी रहे-हाथ वही है सफल है जो जगत् अम्बा की अर्चनादि में लगे रहें।"

कालाग्नि कोटिरुचिम्-अम्ब षट्-अध्वशुद्धौ
आप्लावनेषु भवतीम्-अमृतौघ-वृष्टिम्।
श्यामां घनस्तन-तटां सकली कृतौ च
ध्यायन्त एव जगतां गुरवो भवन्ति (30)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब! हे माता, **षट्-अध्वशुद्धौ**=षट्-अध्वरूप भुवनों की साम्यावस्था में, **कालाग्नि-कोटि**=करोड़ों कालाग्नि रुद्रों जैसी, **रुचिम्**=प्रचण्ड दीप्तिवाली, **आप्लावनेषु**=भुवनों को सींचन करने में (संकुचित सृष्टि को प्रकट होने के योग्य बनाने में) **अमृतौघवृष्टिम्**=अमृतधाराओं की वृष्टि करने वाली, **सकली कृतौ**=सम्पूर्ण बनाने में, **घनस्तन-तटां**=भारी बने हुये (ज्ञान क्रिया रूपी स्तनों से युक्त), **श्यामां**=श्यावर्णवाली, **ध्यायन्त-एव**=ध्यान करते ही, **जगतां**=सभी भुवनों के, **गुरवोभवन्ति**=अनुशासन करने वाले बन जाते हैं।

अर्थः—हे माता!, षट्-अध्वरूप=विस्तारवाली, सृष्टि की साम्यावस्था में करोड़ों कालाग्नि जैसी प्रचण्ड दीप्तिवाली, सिंचिन करने से सृष्टि को प्रकट होने के योग्य बनाने में, अमृधाराओं से वर्षा रूपवाली, सृष्टि को सुसंस्कृत करते समय भारी बने हुये (अमृतरूपी दूध से भरे हुये) ज्ञान क्रिया रूपी स्तनों से युक्त श्यामवर्णवाली, उपरि वर्णित इन तीन स्वरूपों में जो भक्त ध्यान करते हैं, वे तत्क्षणात् सभी भुवनों के गुरु बनते हैं अथवा तीनों लोकों पर अनुशासन करते हैं।

टिप्पणी–जैसे कुम्हार घड़ा बनाने के लिये मिट्टी को कूट-कूट कर घड़ा बनाने के योग्य बनाता है, फिर मिट्टी को जल से सिंचन करता है, उसके पश्चात् चाक पर चढ़ाकर घड़े को रूप देता है, यानी सुसंस्कृत घड़ा बनने तक, घड़े को तीन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है, ऐसे ही वह सर्वशक्ति माती माँ सृष्टि को तीन अवस्थाओं में परिवर्तित करते समय उपरिवर्णित तीन रूपों में प्रकट होती है।

षट्-अध्व=भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद, वर्ण, यह तन्त्र शास्त्रों में षट् अध्व कहलाते हैं। षट्-अध्वमय जगत् शंकर का ही स्वरूप है, ऐसा तन्त्रशास्त्रों में माना गया है।

विद्यां परां कतिचित्-अम्बरम्-अम्ब के चित्
आनन्दं एव कतिचित्, कति चित् च मायाम्।
त्वां विश्वम्-आहु:-अपरे वयम्-आमनाम
साक्षात्-अपार-करुणां, गुरुमूर्तिम्-एव (31)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **त्वां**=तुम्हें, **कतिचित्**=कुछ भक्त, **परां विद्यां**=उत्कृष्ट विद्या, के **चित्**=कई, **अम्बरम्**=चिदाकाश रूप, **आनन्दमेव**=आनन्दरूप, **कतिचित्**=कई, **माया**=ईश्वरीय शक्ति, **अपरे**=कुछ लोग, **वयं**=हम शाक्त मतवाले, **साक्षात्**=प्रत्यक्ष **अपार-करुणां**=पार रहित-दयावाली, **गुरुमूर्ति-एव**=सदगुरु रूप, **एव**=ही, **आमनाम**=मानते हैं।

अर्थ:—हे माँ! आप को कुछ भक्त परा विद्या, कई चिदाकाश रूप कई आनन्द रूप, कई माया नामों से पुकारते हैं-परन्तु हम शाक्त मतवाले, अपार दयावाली सद्गुरुमूर्तिरूप आप को मानते हैं।

कुवलय-दलनीलं बर्बर-स्निग्ध-केशं
प्रथुतर-कुचभारा-क्रान्त-कान्तावलग्नम्।
किम्-इह बहुभिर्-उक्तै:-त्वत् स्वरूपं परं न:
सकल-भुवन-मात:-सन्ततं सन्निधत्ताम् (32)

अन्वय-शब्दार्थ

सकल-भुवन-मात:=हे सभी भुवनों की माता, **कुवलय दल-नीलं**=कुवलय पुष्प के पत्र जैसा, **नीलं**=श्यामवर्ण वाला, **बर्बर**=भूरे रंग वाला, **स्निग्ध**=चिकने **केशं**=केशों वाला, **प्रथुतर**=मोटे, **कुचभार**=स्तनों के भार

से, **आक्रान्त**=घेरे हुये, **कान्त**=सुन्दर, **अवलग्नं**=कमर वाला, **इह यहाँ बहुभिः**=अधिक, **उक्तैः**=कहने से, **किम्**=क्या लाभ है, **त्वत्**=आप का, **परं**=उत्तम, **स्वरूपं**=साकार रूप, **नः**=हमें, **सन्ततं**=नित्यं, **सन्निधत्ताम्**=सामने रहे।

अर्थः—हे सभी भुवनों की माता, कुवलय पुष्प के पत्र जैसे श्यामवर्ण वाले, भूरे रंग के चिकने तथा कोमल केशों वाले, मोटे स्तनों के भार से घेरे हुये सुन्दर कमर वाले, आप के स्वरूप के अधिक वर्णन करने से क्या प्रयोजन, केवल यह प्रार्थना है, आप का यह सुन्दर साकार रूप हर समय हमारे सम्मुख रहे।

टिप्पणी—इस श्लोक के अन्त में पञ्चस्तवी-कार माता से प्रार्थना करता है—आप का साकार रूप हर समय हमारे सामने रहे। माँ! जब हम आपके निराकार स्वरूप के बारे में वेदों के शरण में जाते हैं, तो वद आपके सम्बन्ध में कहते हैं-"न असत्, न सत्, न सत्-असत्, न महत्, नच-अणु वह शक्ति, न असत् है-न सत् है। न सत्-असत् है, न महत् है न सूक्ष्म है, यानी वेद भी आप के बारे में डावाँडोल स्थिति में हैं, माता! मैं अब इस "सत् असत् रूपी भँवर में फंसना नहीं चाहता हूँ, बस आप मेरे सामने साकार रूप में हर समय रहें।

इति पंचस्तव्यां-अम्बस्तवः-चतुर्थः

अथ पञ्चस्तव्यां–सकलजननी स्तवःपञ्चमः

अजानन्तो यान्ति, क्षयम्-अवशम्-अन्योन्य-कलहैः
अमी-मायाग्रन्थौ, तव परिलुठन्तः समयिनः।
जगत्-मातर्-जन्म, ज्वर-भय-तमः-कौमुदि! वयं
नमस्ते कुर्वाणाः शरणम्-उपयामो भगवतीम् (1)

अन्वय-शब्दार्थ

जगत्-मातर्!=हे जगत् को उत्पन्न करने वाली माँ, **जन्म-ज्वर-भय-तमः कौमुदि!=जन्म** बार बार जन्म लेना, **ज्वर**=शरीर सम्बन्धित भिन्न भिन्न रोग, **भय**=मानसिक तथा शारीरिक भय रूपी, **तमः**=अन्धकार के लिये, **कौमुदि!**चान्दनी रूप हे माता!, **अमी**=यह सभी, **समयिनः**=भिन्न भिन्न मतवाले, **अजानन्तः**=आप के असली स्वरूप को, न जानते हुये, **अन्योन्य कलहैः**=परस्पर तर्क वितर्क के झगड़ों से, **तव**=आप के, **माया ग्रन्थौ**=मया रूपी फंदे में, **परिलुठन्तः**=लुढ़कते हुये, **अवशम्**=बेबस होकर, **क्षयं यान्ति**=नष्ट हो जाते हैं (फिर से जन्म मरण रूपी चक्र में फंसते हैं), **वयं**=हम, **ते भगवतीम्**=आप ऐश्वर्यवाली माँ को, **नमस्ते कुर्वाणाः**=नमस्कार करते हुये, **शरणम्-उपयामः**=शरण में आते हैं।

अर्थः—हे जगत् को उत्पन्न करने वाली माँ! बार-बार जन्म लेने का कष्ट, शरीर सम्बन्धित भिन्न-भिन्न रोग, मानसिक तथा शारीरिक भय रूपी अन्धकार के लिये चान्दनी रूप हे माता! यह सभी भिन्न-भिन्न मतवाले आपके असली स्वरूप को न जानते हुये परस्पर तर्क वितर्क के झगड़ों से आपके माया रूपी फंदे में लुढकते हुये

बेबस होकर नष्ट हो जाते हैं और फिर से जन्म मरण रूपी चक्र में घूमते रहते हैं-हम आप ऐश्वर्यशाली माँ को नमस्कार करते हुये शरण में आते हैं।

टिप्पणी–अविद्यायाम्-अन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढाः, अन्धैनैव नीयमाना यथान्धाः।। (मुण्डकोपनिषद्)
अर्थ–अविद्या में पड़े हुये अपने को धीर और पण्डित मानते हुये मूर्ख लोग ठोकरें खाते हुये फिरते हैं, जैसे अन्धे को अन्धा रास्ता दिखा रहा हो। माँ आप का असली रूप क्या है इसमें तर्क वितर्क से काम नही चलता है।
"आश्चर्यो" वक्ता, कुशलोस्य लब्धा" (ईशोपनिषद्)
यह "संवित्" क्या है उस का वर्णन करने वाला बड़ा दुर्लभ है, उसको प्राप्त करने वाला कोई सफल जीवन वाला ही होता है, उसको वही प्राप्त कर सकता है माता! जिस पर आप अनुग्रह करें।

वचस्तर्कागम्य-स्वरस-परमानन्द-विभव
प्रबोधाकाराय-द्युति-दलित-नीलोत्पलरुचे!
शिवस्याराध्याय स्तन भर-विनम्राय सततं
नमो यस्मै कस्मैचन भवतु मुग्धाय महसे (2)

अन्वय-शब्दार्थ

वचस्तर्क=वाणी और तर्क से, **अगम्य**=न जानने योग्य, **स्वरस-परमानन्द-विभव**=स्वानुभवगम्य जो परमानन्दरूपी ऐश्वर्य है, उसको, **प्रबोधाकाराय**=जागृत करने वाले, **द्युति**=सूर्य प्रकाश से, **दलित**=विकसित हुये, **नीलोत्पल**=नीलोत्पलकमल की जैसे, **रुचे**=शोभावाले, **शिवस्याराध्याय**=शंकर जिसकी आराधना करता है, **स्तन भर**=ज्ञान क्रिया रूपी स्तनों के भार से, **विनम्राय**=झुके हुये, **यस्मै कस्मैचन**=किसी अकथनीय, **मुग्धाय**=सुन्दर, **महसे**=तेज को, **सततं**=बार बार, **नमो भवतु**=नमस्कार हो।

अर्थः—वाणी और तर्क से न जानने योग्य, स्वानुभवगम्य जो परमानन्द रूपी ऐश्वर्य है, उसको जागृत करने वाले, सूर्य प्रकाश से विकसित हुये नीलोत्पल कमल की जैसे शोभावाले, शंकर भी जिसकी अराधना करता है, ज्ञान क्रिया रूप स्तनों से झुके हुये किसी अकथनीय सुन्दर तेज को बार-बार नमस्कार हो।

टिप्पणी-यतो वाचो निवर्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह (तैत्तरी॰उप॰)
जहाँ से मन के सांहत वाणी आदि सभी इन्द्रियाँ उस शक्ति को न पाकर लौट आती हैं **माँ के दो स्तनों का संकेत है**-ज्ञान और क्रिया अथवा सांख्य और योग। सांख्य (ज्ञानयोग) सांख्य का सिद्धान्त है, आत्मा एक तथा सर्व व्यापक हैं, जो आत्मा मेरे अन्दर है, कीट पतंग में भी वही है। योग (कर्मयोग) कर्म योग का सिद्धान्त है, कर्म करते समय सिद्धि असिद्धि, जय पराजय, हानि लाभ के विषय में मन सम रखना, माता के दोनों स्तन हर समय भक्तों को ज्ञान-क्रिया अथवा सांख्य-योग रूपी दूध की धारायें पिलाने के निमित्त झुकी रहती है।

लुठत्-गुञ्जाहार-स्तनभर-नमत्-मध्य-लतिकां
उदञ्चत्-घार्माम्भः कणगुणित-नलोत्पलरुचम्।
शिवं पार्थत्राण-प्रवण-मृगयाकार-गुणितं
शिवाम्-अन्वक्-यान्तीं शवरं-अहं-अन्वेमि-शवरीम् (3)

अन्वय-शब्दार्थ

उदञ्चत्=निकले हुये, **घर्माम्भः**=पसीने के, **कण**=बून्दों के, **गुणित**=समान बने हुये, **नीलोत्पल**=नीलकमल के, **रुचम्**=सौन्दर्य युक्त, **पार्थ**=अर्जुन की, **त्राण**=रक्षा के लिये, **प्रवण**=निपुण, **मृगयाकार**=शिकारी के रूप से, **गुणित** शोभित, **शवरं**=शिकारी, **शिवम्**=शंकर के, **अन्वक्-यान्तीं**=पीछे-पीछे दौड़ती हुई, **लुठत्**=लुढकते हुये, **गुञ्जाहार**=लाल गुञ्जफलों के हार से सुशोभित, **स्तनभर**=भारी दोनों स्तनों से, **नमत्**=झुकी हुई, **मध्यलतिकां**=कमरवाली, **शवरीं**=शिकारिन बनी हुई, **शिवां**=जगत् माता को, **अन्वेमि**=नमस्कार करता हूँ।

अर्थः—अर्जुन की रक्षा करने के लिये शिकारी रूप धारण किये हुये, शंकर के शरीर से निकले हुये गर्म पसीने के बूंद नीलकमल जैसे बने हुये जिस शंकर के शरीर पर शोभित होते थे ऐसे ही शंकर के पीछे पीछे दौड़ती हुई शिकारिन बनी हुई, लुढ़कते हुये गुंजाफलों के हारों से युक्त, स्तनों के भार से झुकी हुई कमरवाली शिवाभगवती को मैं प्रणाम करता हूँ।

टिप्पणी—अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिये, भगवान् शंकर को सन्तुष्ट करने के निमित अघोर तपस्या की, उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान् शंकर ने शिकारी का रूप धारण किया, जगत् अम्बा ने भी उपरिवर्णित श्लोक में कहे हुये रूप में शिकारिन रूप धारण किया था।

"यो यो यां यां तनुं भक्तः, श्रद्धयार्चितुं-इच्छति" (भगवद्गीता)

अर्थ-जो जो भक्त जिस जिस स्वरूप की भक्ति करता है उसकी उस श्रद्धा को उसी स्वरूप में दृढ करता हू। अर्जुन ने शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रूप में तपस्या की भगवान् भी अर्जुन से शिकारीरूप में ही मिले। (महाभारत)

मिथः केशाकेशि-प्रधन-निधनाः-तर्क घटना
बहु-श्रद्धा-भक्ति-प्रणय-विषयाः-चाप्त-विधयः।
प्रसीद प्रत्यक्षीभव-गिरिसुते! देहि शरणं
निरालम्बं चेतः परिलुठति पारिप्लवम्-इदम् (4)

अन्वय-शब्दार्थ

तर्क घटना=तर्कवितर्क वादी, **मिथः**=आपस में, **केशाकेशि**=बालों को पकड़ कर, **प्रधन**=झगडों में, **निधनाः**=नष्ट होते हैं, **आप्तविधयः**=श्रेष्ठ परमार्थ बुद्धिवाले कई भक्त, **बहुश्रद्धा भक्ति**=श्रद्धा और भक्ति से, **प्रणयविषयाः**=विनम्र बने हुये हैं, **इदं पारिपलवं**=यह मतमतान्तर का उपद्रव, **निरालम्बं**=आश्रयरहित , **चेतः**=मनको, **परिलुठति**=विचलित करता है, भ्रमित करता है। **गिरिसुते**=हे पार्वती, **प्रसीद**=प्रसन्न होकर,

प्रत्यक्षीभव=प्रत्यक्ष रूप में दर्शन दीजिये, **देहि-शरणं**=हमें अपने शरण में लीजिये।

अर्थ:—आप का स्वरूप तर्क का विषय न होने पर भी तर्क वितर्क वादी आपस में बालों को पकड़कर नष्ट होते हैं, परन्तु दूसरे और कई भक्त जन श्रद्धा और भक्ति से, विनम्र बने हुये हैं, ऐसा यह मत मतान्तर का उपद्रव आश्रय रहित मन को भ्रमित करता है, हे पार्वती प्रसन्न होकर, प्रत्यक्ष रूप में दर्शन दीजिये तथा हमें अपने शरण में लीजिये।

टिप्पणी—"अचिन्त्या: खलु ये भावा: न तान् तर्केन योजयेत"
माता! आप का अचिन्त्य रूप तर्क की कसौटी पर परखने का विषय नहीं है। अपितु आप की शरणागति से ही आपका स्वरूप जाना जा सकता है।
"यमेव-एष-वृणुते तेन लभ्य:" (उपनिषद्) वह माँ जिस पर अनुग्रह करती है वही उनके स्वरूप को जान सकता है।

शुनां वा वह्ने-र्वा-खगपरिषदो वा यत्-अशनं
कदा केन क्वेति क्वचित्-अपि न कश्चित्-कलयति।
अमुष्मिन्-विश्वासं विजहिहि ममाह्वानय वपुषि
प्रपद्येथा-श्चेत: सकल-जननीं-एव शरणम् (5)

अन्वय-शब्दार्थ

ममचेत:=हे मेरे मन, **अमुष्मिन्-वपुषि**=इस शरीर पर **अह्वाय**=झटपट, **विश्वासं**=विश्वास, **विजिहिहि**=छोड़ दीजिये (न मालूम), **कदा**=कब, **केन**=किस कारण से, **क्व**=कहाँ पर, क्वचित्, **अपि**=कहीं भी (यह शरीर), **शुनां**=कुतों का, **वह्ने:**=अग्नि का, **वा**=अथवा, **खग-परिषद:**=पक्षियों का, **यत्**=जो, **अशनं**=भोजन, **कश्चित्**-अपि, **कोई भी**=न **कलयति**=नहीं जानता है, (इसलिये) सकल **जननीं**=जगत् माता की, **शरणं-प्रपद्येथा:**=शरण में जाइये।

अर्थः—हे मन इस शरीर पर झटपट विश्वास छोड़ दीजिये न मालूम यह शरीर कब, किस कारण से, कहाँ पर, कहीं भी कुत्तों का अग्नि का अथवा पक्षियों का भोजन बनेगा, यह कोई जानता नहीं है अतः जगत्-माता की शरण में जाइये।

टिप्पणी—कृमि, विट्, भस्म संज्ञितः। (भागवत्)
इस शरीर के तीन रूपान्तर हो सकते हैं। पृथ्वी में दबाने से कीड़े बनते हैं, पक्षियों कुत्तों आदि के खाने पर "टट्टी" बनती है, जलाने पर भस्म बनता है।

अनाद्यन्ताभेद-प्रणयरसिकापि प्रणयिनी
शिवस्यासीः-यत्-त्वं, परिणय-विधौ देवि! गृहिणी।
सवित्री भूतानाम्-अपि यत्-उदभूः शैलतनया
तत्-एतत्-संसार-प्रणयन-महानाटक-सुखम् (6)

अन्वय-शब्दार्थ

देवि=हे देवी, **अनाद्यन्ता**=आदि और अन्त रहित, **अभेद-प्रणयरसिकापि**-भेद रहित प्रेम का स्वाद करने वाली होकर भी, **प्रणयिनी**=प्रेमरूप, **यत्**=जो, **त्वं**=आप, **परिणयविधौ**=विवाह की विधि में, शिवस्य गृहिणी, **शिव की पत्नी**=आसीः थी, **यत् जो भूतानां**=जीवों की, **सवित्री**=उत्पन्न करने वाली, अपि होने पर भी, **शैल तनया**=हिमालय की पुत्री रूप में, **उत्-अभूः**=उत्पन्न हुई, **तत्-एतत्**=वही यह सब संसार जगत्, **प्रणयन**-जगत् के=प्रेम के **महानाटक, सुखम्**=महान् नाटक का सुख है।

अर्थः—हे देवी! आप आदि और अन्तरहित, अथाह असीम प्रेम का स्वादन करने वाली होकर भी, प्रेम रूप विवाह की विधि में शंकर की पत्नी बनी थी, प्राणियों को उत्पन्न करने वाली होने पर भी, आप हिमायल की पुत्री रूप में उत्पन्न हुई, यह सब संसार के प्रेम के महानाटक के सुख का संकेत हैं!

टिप्पणी–प्रेम ही माता के अनुग्रह प्राप्त करने का एक साधन है, पार्वती के शंकर की अर्धाङ्गिनी बनने तथा हिमालय की पुत्री बनने के नाटक से गृहस्थी जीवन की श्रेष्ठता का संकेत मिलता है, गृहस्थाश्रम "प्रेम" सीखने की एक पाठशाला है, गृहस्थ में पुत्रधन पदार्थादि से जो प्रेम किया जाता है वह मोह कहलाता है, वही प्रेम जब बुज़र्गों (वृद्धों) विशेषतया माता पिता से किया जाता है तो श्रद्धा कहलाती है, वही जब ईश्वर से अथवा जगदम्बा से जोड़ा जाता है तो भक्ति कहलाती है, भक्ति ही माँ से मिलाने का मुख्य साधन है। (ईश्वरानुरक्तिर्भक्तिः)

ब्रुवन्त्येके तत्त्वं भगवति! सत्-अन्ये विदुर्-असत्
परे मातः! प्राहुः तव सत्-असत्-अन्ये सुकवयः।
परे नैतत्-सर्वं सम्-अभिदधते दवि! सुधियः
तत्-एतत्-त्वत् माया, विलसितम्-अशेषं ननु शिवे (7)

अन्वय-शब्दार्थ

भगवति!=हे ऐश्वर्यशालिनी माँ! **एके**=कुछ लोग, **तव तत्वं**=आपके स्वरूप को "**सत्**" सत्स्वरूप **ब्रुवन्ति**=कहते हैं, **अन्ये**=कुछ लोग, **असत्**=असत् रूप, **विदुः**=जानते हैं, **परे**=कुछ लोग, **मातः**=हे माँ, **सत्-असत्**=दोनों सत् रूप, असत् रूप, **प्राहुः**=कहते हैं, **परे**=कई, **सुकवयः**=विद्वान्, **नैतत्-सर्वं**=सत्, असत्, सत्असत् तीनों में से कुछ नहीं है ऐसा हैं। **समभिदधते**=कहते हैं, देवि! शिवे! हे माता, **तत्-एतत्**-अशेषं यह सब कुछ, **ननु**=निश्चय से ही, **त्वत्-माया विलसितम्**=आप की माया का ही विलास है।।

टिप्पणी–नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा
अस्ति-इति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तत्-उपलभ्यते।। (कठोपनिषद्)
वह संवित् रूपा माँ वाणी आदि इन्द्रियों से प्राप्त नहीं की जा सकती है परन्तु वह है अवश्य, जिसको उस शक्ति पर विश्वास नहीं है उसको वह कैसे मिल सकती है।
सत्-एव सौम्य-इदमग्र आसीत्, असत्-एवसौम्य इदम्-अग्र आसीत्
अस्ति-इति-उपलब्धव्यः (वह परमात्मा अथवा पराशक्ति अवश्य है। उपनिषद्)

तडत्-कोटि-ज्योतिः, द्युति-दलित षड्ग्रन्थि-गहनं
प्रविष्टं स्वाधारं पुनर्-अपि सुधावृष्टि-वपुषा।
किम्-अप्यष्टा-त्रिंशत्-किरण-सकली भूतं-अनिशं
भजे धाम श्यामं, कुचभरनतं बर्बर-कचम् (8)

अन्वय-शब्दार्थ

तडित्-कोटि-ज्योतिः=करोड़ों बिजलियों की, **द्युति**=दीप्तियों से, दलित-विकसित हुये, **षड्ग्रन्थि-गहनं**=षड् चक्रों (षड्कमलों) का जंगल, पुनः **अपि**=फिर से, **सुधावृष्टि-वपुषा**=अमृतवर्षा करते हुये, **स्वाधारं**=मूलाधार में, **प्रविष्टं**=प्रविष्ट हुये, **किमपि**=किसी अद्भुत, **अष्टात्रिंशत्**=आठतीस, **किरण सकली भूतं**=किरणों से पूर्ण, **श्यामं**=श्याम वर्ण वाले, **कुचभर नतं**=ज्ञान किया रूप स्तनों से झुके हुये, **बर्बरकचं**=भूरे चमकीले केशवाले, **धाम**=तेज को, **अनिशं**=निरन्तर **भजे**=नमस्कार करता हूँ।

अर्थः—मूलाधार से निकल कर सहस्रार की ओर चढ़ते समय करोड़ों बिजलियों की दीप्तियों से विकसित किये हुये छः कमलों वाले, फिर से नीचे उतरते हुये मूलाधार में प्रविष्ट होते समय अमृतवर्षा करते हुये अठतीस किरण पुंज से युक्त, श्यामवर्ण वाले ज्ञान क्रिया रूपी स्तनों से झुके हुये भूरे रंग वाले चमकीले केशों से युक्त अद्भुत उस तेज को मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ।

टिप्पणी—उस अद्भुत तेज के बारे में श्वेताश्वतरोपनिषद् में ऋषि कहता है—"वेदाहं-एतं-पुरुषं महान्तं-आदित्यवर्णं-तमसः परस्तात्"

अर्थ—उस परमधाम को मैंने जाना, जो सूर्य की भांति स्वयं प्रकाश स्वरूप है, "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उस परमतेज का साक्षात्कार किये बिना परमपद प्राप्ति के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कलायें=36 (सूर्य की 12, चन्द्रमा की 16 अग्नि की 10=38)

चतुष्पत्रान्तः षड्-दल-भग-पुटान्त-स्त्रिवलय
स्फुरत्-विद्यत्-वह्नि, द्युमणि-नियुताभ-द्युतियुते!
षट्-अश्रं भित्त्वादौ, दशदलम्-अथ द्वादश दलं
कलाश्रं च द्वयश्रं गतवति! नमस्ते गिरिसुते! (9)

अन्वय-शब्दार्थ

चतुष्पत्रान्तः=चार पतों वाले कमल (मूलाधार चक्र) में से निकल कर **षड्दल**=छः पतों वाले (स्वाधिष्ठान चक्र) **भगपुटान्तः**=दो त्रिकोणों में ठहरी हुई, **त्रिवलय**=तीनघेरों वाली, **स्फुरत्**=चमकते हुये, **विद्युत्**=बिजली, **वह्नि**=अग्नि, **द्युमणि**=सूर्य जैसे, **नियुत**=अनन्त, **आभ**=प्रकाश, **द्युतियुते!**=तेजवाली कुण्डलिनी स्वरूप वाली हे माता!, **आदौ**=पहले, षट् **अश्रं**=छः दलात्मक कमल को (स्वाधिष्ठान चक्र) **भित्वा**=विकसित करके, **दशदलं**=मणिपूरक, **द्वादशदलं** (अनाहत चक्र) **कलाश्रं**=16 पते वाले (विशुद्धाख्यचक्र), **द्वयं**=दो पते वाले (आज्ञाचक्र) **गतिवति**=विकसित करने वाली (अथवा प्रवेश करने वाली, कुण्डलिनी स्वरूपवाली) **गिरिसुते**=हे माता, नमस्ते=आप को बार-बार नमस्कार हो।

अर्थः—चार पत्तो वाले (मूलाधार चक्र) से निकल कर छः दलों वाले (स्वाधिष्ठान चक्र) के दो तिकोणों में ठहरी हुई, तीन घेरों वाली, चमकते हुये बिजली अग्नि सूर्य जैसे अनन्त तेजवाली, है कुण्डलिनी स्वरूप वाली माता! आप पहले छः दलात्मक कमल को (स्वाधिष्ठान चक्र) (भित्त्वा) विकसित करके, दशदल (मणिपूरक) द्वादश दल (अनाहत चक्र) 16 पत्ते वाले कमल (विशुद्धाख्यचक्र) दो पत्ते वाले (आज्ञाचक्र) कमल को विकसित करने वाली अथवा प्रवेश करने वाली कुण्डलिनी स्वरूप वाली, हे माता आपको बार-बार नमस्कार है।

टिप्पणी–ब्रह्माण्ड में जो विश्वव्यापिनी विद्युत्-शक्ति (ऊर्जाशक्ति) है वही मानव पिण्ड में कुण्डलिनी के रूप में ठहरी है, जो कुण्डलिनी प्रकाश से भी तेज गतिवाली है। प्रकाश प्रति सैंकंड 25 हज़ार मील की गति से चलता है, कुण्डलिनी शक्ति उससे भी अधिक तेज गतिवाली है, यह कुण्डलिनी मनुष्य के शरीर में एक गुप्त तिजोरी है।

कुलं केचित्-प्राहु-र्वपुर्-अकुलं-अन्ये-तव-बुधाः
परे तत्-सम्भेदं सम्-अभिदधते कौलं-अपरे।
चतुर्णां-अप्येषां-उपरि-किम्-अपि प्राहुर्-अपरे
महामाये! तत्त्वं तव कथम्-अमी-निश्चिनुमहे (10)

अन्वय-शब्दार्थ

महामाये=महामाया भगवती!, **केचित्**=कई लोग, **तव-वपुः**=आप के स्वरूप को, **कुलं**=विश्वरूप (शक्ति), **प्राहुः**=कहते हैं, **अन्ये बुधाः**=कई विद्वान्, **अकुलं**=विश्वोत्तीर्ण (शिव) **परे**=कुछ लोग, **तत् सम्भेदं**=कुलाकुल रूप (शिव शक्तिरूप, **अपरे**=इन से भी भिन्न कई विद्वान्, **अकुलं**=विश्वोत्तीर्ण (शिव) **मन्ये**=मानते हैं, **ऐषां**=इन, **चतुर्णां**-अपि=इन चारों से भी, **उपरि**=उत्कुष्ट, **किमपि**=कुछ अलौकिक स्वरूप वाली, **प्राहुः**=कहते हैं, **तव तत्त्वं**=आप के स्वरूप को **अमी**=यह ऊपर कहे हुये, **कथं**=कैसे, **निश्चनुमहे**=निश्चित रूप से जाने।

अर्थः–हे महामाया भगवती! कई लोग आप के स्वरूप को कुल (विश्वरूप शक्ति) कहते हैं, कई विद्वान् अकुल (विश्वोत्तीर्ण शिव) मानते हैं। कुछ लोग कुलाकुल रूप (शिवशक्तिरूप) कहते हैं, इनसे भी भिन्न कई लोग कुल नाम से कहते हैं, कुछ विद्वान् इन चारों से भी उत्कृष्ट अलौकिक स्वरूप वाली नाम से पुकारते हैं-ऊपर कहे हुये स्वरूपों को ध्यान में रखते हुये आपके असली स्वरूप को कैसे हम निश्चित रूप से जानें।

टिप्पणी–आश्चर्यवत् पश्यति कश्चत्-एनं, आश्चर्यवत्-वदति तथैव चान्यः आश्चर्यवत्-चैवम्-अन्यः श्रृणोति, श्रुत्वा प्येनं वेद न चैव कश्चित्। (भगवद्गीता)
अर्थ-कोई उस "आत्मा" अथवा "संवित्" की ओर आश्चर्य पूर्ण दृष्टि से देखता है, कोई दूसरा इसका आश्चर्य पूर्ण वर्णन करता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्य से सुनता है, परन्तु सुनकर भी इसको कोई जानता नहीं है।

षड्-अध्वारण्यानीं प्रलय-रविकोटि-प्रतिरुचा
रुचा भस्मीकृत्य स्वपद-कमल-प्रह्व-शिरसाम्।
वितन्वानः शैवं किमपि वपुः-इन्दीवर-रुचिः
कुचाभ्याम्-आनम्रः शिवपुरुषाकारो विजयते (11)

अन्वय-शब्दार्थ

प्रलय-रवि-कोटि-प्रति-रुचा=प्रलयकाल के करोड़ों सूर्यों के समान तेज से, **षट्-अध्वः**=छः अध्वरूप, **अरण्यानीं**=जंगल को **भस्मी कृत्य**=जला कर, **स्वपद कमल प्रह्व-शिरसाम्**=आप के चरण कमलों में झुके हुये भक्तों के, **शैवंवपुः**=शिव का परमधामात्मक स्वरूप, **वितन्वानः**=प्रकट करता हुआ, **इन्दीवररुचिः**=इन्दीवरफूल जैसी दीप्तिवाला, **कुचाभ्यां आनम्रः**=ज्ञान क्रिया रूप स्तनों के बोझ से झुका हुआ, **शिव परुषा कारः**=शिव के शक्ति रूप स्वरूप को जय जयकार हो।

अर्थः–प्रलयकाल के करोड़ों सूर्य के समान तेज से आप के चरण कमलों में झुके हुये मस्तकवाले भक्तों के छः अध्वरूप जंगल को जलाकर शिव का परमधामात्मक प्रकाश प्रकट करता हुआ, ज्ञान क्रिया रूप कुचों से झुका हुआ शिव का परमधामात्मक प्रकाश प्रकट करता हुआ, ज्ञान क्रिया रूप कुचों से झुका हुआ ऐसे ही शिव के शक्ति स्वरूप को जय जयकार हो।

टिप्पणी–षडध्वः-भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद और वर्ण ये तन्त्रशास्त्र में षडध्व नाम से प्रसिद्ध है-यह सारा जगत् इसी "षडध्व" से व्याप्त है, योगी इसी भावना का अभ्यास करता हुआ-अन्ततः इसी में लय हो जाता है। (तंत्राशास्त्रों से)

परमधामात्मक प्रकाश के बारे में उपनिषदों में आता है

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम्-अग्निः।

तम्-एव भान्तम्-अनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वम्-इदं-विभाति (कठोपनिषद्)

अर्थः–माता के उस परधामात्मक प्रकाश के सामने यह सूर्य प्रकाशित नहीं होता है–उस प्रकाश के सामने सूर्य खद्योत जैसा प्रतीत होता है।

अतः साधक इस श्लोक के अन्त में शिव की उस शक्ति को जय जयकार से ही अपने को कृतकृत्य मानता है।

प्रकाशानन्दभ्याम्-अविदितचरीं मध्यपदवीं
प्रविश्यैतत्-द्वन्द्वं, रविशाशि समाख्यं कवलयन्।
प्रविश्योर्ध्वं नादं, लय-दहन-भस्मी-कृतकुलः
प्रसादात्-ते-जन्तुः, शिवम्-अकुलम-अम्ब! प्रविशति(12)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **अविदितचरीं**=पहले न जानी हुई, **मध्यपदवीं**=सुष्मणा मार्ग में, **प्रकाशानन्दाभ्यां**=साधना (क्रिया) तथा ज्ञान से, **प्रविश्य**=प्रवेश कर, **रविशशि समाख्यं**=प्राण और अपानरूपी, **द्वन्द्वं**=जोड़े को, **कवलयन्**=ग्रास करता हुआ, **लय**=समाधि के, **दहन**=अग्नि से, **भस्मीकृतकुलः**=बाह्य जगत् को जलाकर, **ऊर्ध्वनादं**=सहस्रार में, **जन्तुः**=साधक **ते प्रसादात्**=तुम्हारे अनुग्रह से, **अकुलम्-शिवं**=विश्वतीर्ण शिवधाम में, प्रविशिति=प्रवेश करता है।

अर्थः–हे माता पहले (किसी भी जन्म में) न जाने हुये सुष्मणा मार्ग में साधना तथा ज्ञान से प्रवेश कर, प्राण अपानरूपी जोड़े को ग्रास करता हुआ समाधि के अग्नि से बाह्य जगत् को जला कर

अन्तर्मुख होकर साधक सहस्त्रार में आपके अनुग्रह से विश्वोतीर्ण परम शिवात्मक धाम में प्रवेश करता है।

टिप्पणी–तम्-अक्रतुः पश्यति वीतशोकः
धातुप्रसादात् महिमानम्-आत्मनः (कठोपनिषद्)
कामना-रहित बाह्यजगत् को भूला हुआ चिन्ता रहित कोई विरला साधक ही उस ब्रह्म अथवा माँ के अनुग्रह से परमशिवात्मक धाम को देखता है।

प्रियंगु-श्यामांगीम्-अरुणतरवासः किसलयां
समुन्मीलन्-मुक्ताफल-बहुल-नेपथ्य-कुसमाम्।
स्तन-द्वन्द्व-स्फार-स्तवक-नमितां कल्पलतिकां
सकृत्-ध्यायन्त-स्त्वां दधति शिवचिन्ता-मणिपदम् (13)

अन्वय-शब्दार्थ

कल्पलतिकां=कल्पलतिकारूप जिस माँ का, **सकृत्**=एक ही बार **ध्यायन्तः**=ध्यान करते हैं, जिस कल्पलता रूप माता के **प्रियंगु**=के जैसे **श्यामांगीम्**=श्याम अंग है, **अरुणतरवासः**=लालवस्त्र **किसलयां**=जिस के बाल पल्लव हैं, **समुन्मीलन्**=विकसित चमकते हुये, **मुक्ता फल**=मोती फल (जिस कल्पलता के फल हैं), **नेपथ्य**=वेश-भूषणादि जिसके, **कसुमाम्**=फूल हैं, **स्तन द्वन्द्व**=ज्ञान क्रिया रूपी दो स्तनों का, **स्फार**=विकास, **स्तवक**=जिस के फूल के दो गुच्छों से **नमितां**=झुकी हुई, वे भक्त, **शिवचिन्तामणिपदं**=शिवधाम को, दधिति प्राप्त करते हैं।

अर्थः–कल्पलता रूप माता के साकाररूप का जिस के अंग प्रियंगुलता के समान श्यामवर्ण के हैं, लालवस्त्र जिस के बालपल्लव हैं, विकसित चमकते हुये मोती, जिस कल्पलता के फल है, वेशभूषणादि जिसके फूल हैं, ज्ञान क्रिया रूपी दो स्तनों फूलों के गुच्छों से झुकी हुई ऐसे ही स्वरूपवाली माता का जो ध्यान करते

हैं, वे शिव धाम को प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी–अव्यक्त उपासना, योगाभ्यास, कुण्डलिनी जाग्रण आदि, देहधारियों के लिये कष्ट साध्य हैं-जैसा कि भगवद्गीता में श्री कृष्णभगवान् अर्जुन से कहते हैं अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिर्-अवाप्यते, अव्यक्त की प्राप्ति बहुत ही कष्ट से होती है। पञ्चस्तवीकार ने अव्यक्त उपासना के जहाँ भिन्न भिन्न क्रम बतायें हैं वहाँ साकार उपासना को भी विशेष महत्त्व दिया है। उपरिलिखित श्लोक उसी साकार उपासना का एक उदाहरण है।

षड्-आधारा-वर्तैः, अपरिमित-मन्त्रोर्मि-पटलैः
चलन्-मुद्राफेनैः बहुविध-लसत्-दैवत-झषैः
क्रम-स्त्रोतोभिः-त्वं वहसि, परनादामृत-नदीं
भवानि! प्रत्यग्र शिव-चित्-अमृताब्धि-प्रणयिनी (14)

अन्वय-शब्दार्थ

प्रत्यग्र=नित्यनवीन, **शिवचित्-अमृताब्धि**=शिवरूप चैतन्य अमृत समुद्र में, **प्रणयिनी**=मिलाने वाली, **षड्-आधारा वर्तै**=षट्-चक्र रूप भँवरों वाली, **अपरिमित**=सीमारहित, **मन्त्रोर्मि**=मन्त्ररूपी लहरों के, **पटलैः**=समूह से युक्त, **चलन्-मुद्राफेनैः**=मुद्रारूपी चंचल झागवाली, **बहुविधिलसत् दैवतझषैः**=बहुत प्रकार के शोभायमान देवता रूपी मगर मच्छों वाली, **क्रमस्त्रोताभिः**=क्रमरूपी शैवदर्शन स्त्रोतों वाली **परनादामृत** नदीं=परनाद अमृत नदी को, **वहसि**=धारण करती हो।

अर्थः–नित्यनवीन शिवरूप चैतन्य अमृत सागर में पहुँचाने वाली हे भवानी! आप ही नाद ब्रह्मरूप नदी के षड्चक्र रूपी भंवर हैं, मंत्र रूपी जिस की उर्मियाँ हैं, मुद्रायें जिस की चंचल झाग है बहुविध देवता जिसके मगरमच्छ हैं, क्रमरूपी शैवदर्शन जिसके स्त्रोत हैं।

टिप्पणी–क्रमदर्शन ग्रन्थों में पाँच मुद्रायें प्रसिद्ध हैं–1. करंकिणी, 2. क्रोधना, 3. भैरवी, 4. लेलिहाना 5. खेचरी।

परनाद-अमृतनदी-यह नदी शरीर के भीतर अनाहत नाद ध्वनि रूप से निरन्तर दिनरात चलती रहती है-यह ध्वनि स्वभावत: सारे शरीर में चारों ओर से निकलती रहती है इसको अनाहत ध्वनि कहते हैं-योगाभ्यास से ही यह ध्वनि सुनी जाती है।

महीपाथोवह्नि-श्वसन-वियत्-आत्मेन्दुरविभि:
वपुभि:-ग्रस्तांशै:-अपि, तव कियान्-अम्ब! महिमा।
अमून्या-लोक्यन्ते भगवति! न कुत्राप्यनु-तराम्-
अवस्थां प्राप्तानि त्वयि-तु, परम-व्योम-वपुषि (15)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **मही**=पृथिवी, **पाथ:**=जल, **वह्नि**=अग्नि, **श्वसन**=वायु, **वियत्**=आकाश, **आत्मा**=जीवात्मा, **इन्दु:**=चन्द्रमा, **रविभि:**=सूर्य, **तवग्रस्तांशै: वपुभि:**=तुम्हारे अंश रूप से बने हुये, इन आठ स्वरूपों से, **तव महिमा**=तुम्हारी महिमा, **कियान्**=कितनी है (जानी नहीं जा सकती है जब कि) **त्वयि**=आपके, **परमव्योमवपुषि**=परम चिदाकाश स्वरूप में ये आठों स्वरूप, **अनुतरां-अवस्थां**=अत्यन्त सूक्ष्म (तुच्छ) अवस्था को, **प्राप्तानि**=पहुँचे हुये, **न कुत्रापि** कहीं भी नहीं, **आलोक्यन्ते**=देखने में आते हैं।

अर्थ:—हे माता! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, जीवात्मा, चन्द्रमा, सूर्य जो आप के अंश रूप से बने हैं, अत: इन आठों स्वरूपों से आप की महिमा कितनी है, क्या जाना जा सकता है, जबकि ये आठों आप के परम चिदाकाश स्वरूप में अति तुच्छ अवस्था को पहुँचे हुये कहीं भी दिखाई नहीं देते हैं। यानी आप की महिमा के सामने इन आठ तत्वों की कोई गणना नहीं है।

टिप्पणी—पृथ्वी रेणु:-पयांसि कणिका, फल्गु:, स्फलिंगो लघु:। तेजो निश्वसनं मरुत् तनुतरं रन्ध्रं सुसूक्ष्मं नभ: (मुकुन्दमाला)

उस चिदाकाश का साक्षात् कार होने पर पाँच भूतों की कोई सत्ता नहीं रहती है पृथिवी एक

धूल का कण दिखाई देता है, विशाल सागर छोटे जल के बूंद बनते हैं आग छोटी चिंगारियाँ जैसे दिखाई देती है, वायु एक सांस जैसा लगता है, आकाश छोटा सुराख जैसा प्रतीत होता है।

मनुष्याः तिर्यञ्चो मरुत इति लोकत्रयम्-इदं
भवाम्भोधौ मग्नं त्रिगुण-लहरीकोटि-लुठितम्।
कटाक्षः-चेत्-अत्र क्वचन तव मातः! करुणया
शरीरी सद्योयं व्रजति परमानन्द-तनुताम् (16)

अन्वय-शब्दार्थ

मनुष्याः=मनुष्य, **तिर्यञ्चः**=पशु पक्षी, **मरुतः**=मरुत आदि देवता समूह, **इति**=ऐसे ही, **इदं लोकत्रयम्**=यह तीनों लोक, **त्रिगुण**=सत्व रज और तम रूप, **लहरीकोटि**=करोड़ों लहरों में, **लुठितम्**=लुढकता हुआ, **भवाम्भोधौ**=संसार सागर में, **मग्नं**=डूबा हुआ है, **मातः**=हे माता, **अत्र**=इनमें से **क्वचन** किसी एक पर, **तव करुणया**=आपकी दया से, **कटाक्षः**=अनुग्रह की दृष्टि, **चेत्**=यदि हो तो, **अयं शरीरी**=यह जीव, **सद्यः**=उसी समय, **परमानन्द तनुताम्**=परमानन्दस्वरूप भाव को, **व्रजति**=प्राप्त होता है।

अर्थः—मनुष्य पशुपक्षी, देवता इसी प्रकार यह तीनों लोक सत, रज, तम रूप करोड़ों लहरों में लुढकते हुये संसार सागर में डूबे हुये हैं। हे माता! इन में से किसी एक पर आपकी दया से अनुग्रह दृष्टि यदि हो, तो यह जीव उसी समय परमानन्द रूप भाव को प्राप्त होता है।

टिप्पणी-माभैष्ट विद्वन्! तव नास्त्यपायः, संसारकूपे तरणोस्त्यपायः
येनैव याता यातयो-स्य पारं, तमेव मार्गं तव निर्दिष्यमि।। अष्ट॰गीता

अर्थ—हे विद्वान्! घबराओ मत इस संसार रूपी कुएँ अथवा सागर से निकलने अथवा पार जाने का मार्ग दिखाऊंगा, जिस मार्ग से श्रेष्ठ संत लोग संसार सागर से पार गये हैं। वह मार्ग कौन सा है? इस श्लोक में उसका संकेत है-वह मार्ग है, माता! आप की दया दृष्टि।

कलां प्रज्ञां-आद्यां, समयं-अनुभूतिं समरसां
गुरुं पारम्पर्यं विनयं उपदेशं शिवकथाम्।
प्रमाणं निर्वाणं परमं-अतिभूतिं-परगुहां
विधिं विद्यां-आहुः सकल-जननीं-एव मुनयः (17)

अन्वय शब्दार्थ

मुनयः=मुनिजन, **सकल जननीं**=जगत् माता को, **एव**=ही, **कलां**=क्रियाशक्ति रूप, **प्रज्ञां**=बुद्धिरूप, **आद्यां**=आद्यशक्ति रूप, **समयं**=कालरूप, **अनुभूतिं**=अनुभवरूप अथवा विमर्श रूप, **समरसां**=साम्यावस्थारूप, **शिवकथां**=संवित् रूप अथवा विमर्श रूप, **गुरुं**=गुरु रूप, **पारम्पर्यं**=दीक्षारूप, **विनयं**=विनय अथवा नम्रता रूप, **उपदेशं**=उपदेश रूप, **प्रमाणं**=प्रमाण रूप, **निर्वाणं**=मुक्ति रूप **परमं**=उत्कृष्ट रूप, **अतिभूतिं**=परमैश्वर्य रूप, **परगुहां**=अति गोपनीयरूप, **विधिं**=विधि रूप, **विद्यां**=विद्यारूप, **आहुः**=कहते हैं।

अर्थः—मुनिजन जगत् जननी को क्रिया शक्ति रूप, बुद्धिरूप, आद्यशक्ति रूप, कालरूप, अनुभवरूप अथवा विमर्शरूप, साम्यावस्था रूप, गुरु रूप, दीक्षा रूप विनय अथवा नम्रता रूप, उपदेश रूप, प्रमाण रूप, मुक्ति रूप, उत्कृष्ट रूप, परमैश्वर्य रूप, अतिगोपनीय रूप विधिरूप, विद्यारूप कहते हैं

टिप्पणी–"एकं सत्-विप्राः बहुधा वदन्ति" एक ही परमात्मा को अथवा एक ही शक्ति को विद्वान् भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।

प्रलीने शब्दौघे तत्-अनु-विरते-बिन्दुविभवे
ततस्तत्त्वे चाष्टाध्वनिभिः-अनुपाधिनि-उपरते
श्रिते शक्ते पर्वण्यनु-कलित-चिन्मात्र-गहनां
स्वसंवित्तिं योगी रसयति शिवाख्यां परतनुम् (18)

अन्वय-शबदार्थ

शब्दौघे=नाद की ध्वनियाँ, **प्रलीने**=लय होने पर, **तत्-अनु**=उसके पश्चात्, **बिन्दु विभवे**=शिव प्रकाश पुँज दिखाई देने लगता है उसके, **विरते**=शान्त होने पर, **ततः**=उसके पश्चात्, **अष्टध्वनिभि** अनाहत चक्र में आठ ध्वनियाँ प्रकट होती हैं, **अनुपाधिनि**=उपाधिरहित विशुद्धिचक्र में, **उपरते**=ठहरने पर, **शाक्ते पर्वणि-श्रिते**=आज्ञा चक्र का सहारा लेकर, **अनुकलित**=विमर्श से जानी हुई, **चिन्मात्रगहनां**=ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार में ठहरी हुई, **परतन्तुं**=उत्कृष्ट स्वरूप वाली **स्वसंवित्तिं**=अपनी "संवित्" का **रसयति योगी**=योगी रसास्वादन अमृतपान करता है।

अर्थः—मूलाधार चक्र में ध्यान स्थिर होने पर ध्वनियाँ सुनने में आती है, मूलाधार में नाद की ध्वनियाँ लय होने पर उस के पश्चात् योगी को शिव प्रकाश पुंज दिखाई देता है। उसके शान्त होने पर उसके पश्चात् अनाहत चक्र में योगाभ्यासी को आठ प्रकार की ध्वनियाँ सुनने में आती हैं, विशुद्धि चक्र में ध्यान के ठहरने पर आज्ञा चक्र का सहारा लेकर विमर्श से जानी हुई ब्रह्मरन्ध्र में ठहरी हुई उत्कृष्ट स्वरूप वाली अपनी संवित् का योगी रसास्वादन अमृतपान करता है।

टिप्पणी—योग शास्त्रों के अनुसार जब साधक (योगी) सुष्मणा नाडी के माध्यम से सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने का अभ्यास करता है उस समय मूलधार में ही ध्यान स्थिर होने पर, नाद की ध्वनि तीव्र रूप से सुनाई देती है। योगियों का कहना है, इस मार्ग पर अग्रसर होने पर घंटा आदि वाद्य की ध्वनियाँ होती हैं।

नाद या शब्द ब्रह्म=दस प्रकार का होता है। परन्तु उपरिलिखित श्लोक में आठ ध्वनियों का ही वर्णन है। जब कि स्वच्छन्द तन्त्र में आठ ही ध्वनियों का वर्णन है, परन्तु तन्त्रालोक में दस ध्वनियों का वर्णन है।

परानन्दाकारां निरवधि, शिवैश्वर्य-वपुषं
निराकार-ज्ञान, प्रकृतिं-अनवछिन्न-करुणाम्।
सवित्रीं भूतानां निर्-अतिशय-धामास्पद-पदां
भवो वा मोक्षो वा भवतु भवतीं-एव भजताम् (19)

अन्वय-शब्दार्थ

परानन्दाकारां=परमानन्द स्वरूप, **निर्-अवधि**=सीमा रहित, **शिवैश्वर्य-वपुषं**=शिव की ऐश्वर्य शक्ति स्वरूप वाली, **निराकार ज्ञान प्रकृतिं**=अतिसूक्ष्म ज्ञान रूप स्वभाव वाली, **अनवच्छिन्न करुणां**=अपार अनुग्रहरूप वाली, **भूतानां सवित्रीं**=चराचर सृष्टि को उत्पन्न करने वाली, **निर्-अतिशय-धामास्पद-पदां**=सबसे उत्तम परम शिव का स्थान बनी हुई, **भवतीं**=ऐसे ही स्वरूप वाली आपका, **भजतां**=जो ध्यान करते हैं, **भवो**=संसार, वा=अथवा, **मोक्षो** वा=या मोक्ष दोनों एक जैसे हैं।

अर्थ:—परमानन्द रूप, सीमारहित, शिव की ऐश्वर्य शक्ति स्वरूपवाली, अतिसूक्ष्म ज्ञान रूप स्वभाव वाली, अपार-अनुग्रहरूप वाली, चराचर सृष्टि को उत्पन्न करने वाली, सबसे उत्तम परमशिव का स्थान बनी हुई ऐसे ही स्वरूप वाली आप का जो ध्यान करते हैं। उनके लिये भोग अथवा मोक्ष एक जैसे हैं।

टिप्पणी—"भोग और मोक्ष" की एक जैसी प्रतीति माँ की अनुग्रह दृष्टि से ही संभव है, पाठक यह न समझें जिस पर माँ की दया दृष्टि होगी, वह स्वतन्त्र रूप में भोगों का भोग कर सकता है-बल्कि माता के अनुग्रह से विषयों (माँस मदिरा) आदि में होते हुये भी उस भक्त का मन विचलित नहीं होता है-मन के विचलित न होने से भोग भोगने का प्रश्न ही नहीं होता है बल्कि वह भक्त भोगों से घृणा करता है-

"विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा:" (कुमार सम्भव)

अर्थ—विषय भोगों में होते हुये भी जिसका मन विचलित नहीं होता है-बल्कि विषयों से घृणा करता है वही धीर है वही योगी है, उसी का जीवन सफल जीवन है।

जगत्-काये कृत्वा-तं-अपि हृदये तत् च पुरुषे
पुमांसं बिन्दुस्थं तं-अपि परनादाख्य-गहने।
तत्-एतत्-ज्ञानाख्ये, तत्-अपि परमानन्द-विभवे
महा-व्योमाकारे त्वत्-अनुभव-शीलो विजयते (20)

अन्वय-शब्दार्थ

जगत्=जगत को, **काये**=अपने शरीर में, **कृत्वा**=लय करके, **तं-अपि**=उस शरीर को भी (विमर्श से) **हृदये**=हृदय में, **तत्**-च=उस हृदय को भी, **पुरुष**=जीवात्मा में, **तं बिन्दुस्थं पुमांसं**=उस बिन्दु ज्ञान में ठहरे हुये जीवात्मा को, **परनादाख्य गहने**=परनादनाम वाले घने शिव तत्व में, **तत्-एतत्**=उस परनाद को भी **ज्ञानाख्ये**=ज्ञान नाम वाले सदाशिव में, **तत्**=उस अवस्था को भी **परमानन्द विभवे**=परमानन्द ऐश्वर्य युक्त, **महाव्योमा-कारे**=चित्=आकाश स्वरूप वाली देवी में क्रमशः लय करके, **त्वत्-अनुभवशील**=इस क्रम में साधना करने वाला योगी, **विजयते**=जय जयकार के योग्य है।

अर्थः—जगत् को अपने शरीर में लय करके (यानी बाह्य जगत् को भूल कर) उस शरीर को भी हृदय में, उस हृदय को भी जीवात्मा में, उस बिन्दु ज्ञान में ठहरे हुये जीवात्मा को भी, ज्ञान नाम वाले सदाशिव में उस अवस्था को भी परमानन्द ऐश्वर्य युक्त आकश स्वरूप वाली देवी में क्रमशः लय करके, इस क्रम से साधना करने वाला योगी जय जय कार के याग्य है।

टिप्पणी—उपरिलिखित श्लोक में साधक ने जो साधना क्रम बताया है यह आवश्यक नहीं हर साधक को इसी क्रम से सफलता होगी जैसा कि तन्त्रालोक में दर्ज है—

चित्त-भेदात् मनुष्यानां शास्त्रभेदे वरानने, व्याधिभेदात् यथा भेदो भेषजानां महौजसाम्।
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति, तथैकं हेतु-मालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत्।

इस श्लोक का सारांश है–साधक की रुचि, शरीर, वातावरण भिन्न-भिन्न होने से साधनायें भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती हैं, यद्यपि हर औषधि का प्रभाव नियत है परन्तु हर एक बीमार के लिये उस औषधि का प्रभाव एक जैसा नहीं होता है।

विधे! विद्ये! वेद्ये! विविध समये! वेद! जननि!
विचित्रे! विश्वाद्ये! विनय-सुलभे! वेद गुलके!
शिवाज्ञे! शीलस्थे! शिवपदवदान्ये! शिवनिधे!
शिवे! मातर्-मह्यं त्वयि वितर भक्तिं निरुपमाम् (21)

अन्वय-शब्दार्थ

विधे=हे विधि रूप, **विद्ये**=हे विद्या रूप, **वेद्ये**=हे जानने योग्य, **विविधसमये**=नाना प्रकार की सिद्धान्त वाली, **वेद जननि**=हे वेदों को प्रकट करने वाली, **विचित्रे**=हे नाना रूपों वाली, **विश्वाद्ये**=हे जगत् के आद्यरूप, **विनय सुलभे**=हे भक्ति से प्राप्य, **वेद गुलके**=हे वेदों की साररूप, **शिवाज्ञे**=हे शिव की आज्ञा, **शीलस्थे**=हे अपने ही स्वभाव अथवा स्वरूप में ठहरी हुई, **शिवपदवदान्ये**=हे शिवधाम को देने वाली, **शिवनिधे**=हे कल्याण के निधि रूप, **मात:**=हे माँ! **शिवे**=हे शिव की शक्ति, **मह्यं**=मुझे, **त्वयि**=अपने स्वरूप में, **निरुपमां**=उपमा रहित, **भक्तिं**=भक्ति, **वितर**=दीजिये।

अर्थ:–हे विधिरूप, हे अष्टादश विद्यारूपवाली, हे जानने योग्य, हे नाना प्रकार की सिद्धान्तवाली, हे वेदों को प्रकट करने वाली हेनानारूपवाली, हे जगत् के आद्यरूप, हे भक्ति से प्राप्य, हे वेदों की सार रूप, हे शिव की आज्ञा रूप, हे अपने ही स्वभाव अथवा स्वरूप में ठहरी हुई, हे शिवधाम को देने वाली, हे कल्याण के निधिरूप, हे माँ, हे शिव की शक्ति मुझे अपने स्वरूप में उपमा रहित भक्ति दीजिये।

टिप्पणी–विद्यायें अठारह हैं-चार वेद: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्व वेद, शिक्षा, कल्प,

व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिषि, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, आर्युवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थ शास्त्र, ये 8 विद्यायें कहलाती हैं।

विधेर्मुण्डं हृत्वा यत्-अकुरुत पात्रं करतले
हरिं शूलप्रोतं यत्-अगमयत्-अंसाभरणताम्।
अलंचक्रे कण्ठं यत् अपि गरलेनाम्ब! गिरिशः
शिवस्थायाः शक्तिः-तत्-इदं-अखिलं=ते विलसितम् (22)

अन्वय शब्दार्थ

विधेः=ब्रह्मा का, **मुण्डं**=सिर, **हृत्वा**=काटकर, **करतले**=हाथ में, **पात्रं**=भिक्षापात्र, **अकरुत**=बनाया, **यत्**=जो, **हरिं**=विष्णु को, **शूल प्रोतं**=त्रिशूल में पिरोकर, **असांभरणतां**=कंधे का भूषण को, **अगमयत्**=बनाया, **यत्**=जो, **अपि**=और **कण्ठं**=गले को, **गरलेन**=हलाहल विष से, **अलंचक्रे**=सजाया, **तत् इद-अखिलं**=यह सब कुछ, **शिवस्थायाः=शक्तेः**=शिव में ठहरी हुई शक्ति का, **विलसितम्**=विलास है।

अर्थ—ब्रह्मा का पाँचवा सिर काट कर हाथ में भिक्षापात्र बनाया विष्णु को त्रिशूल में पिरोकर कंधे का भूषण बनाया, और गले को हलाहल विष से सजाया, यह सब कुछ, शिव में ठहरी हुई शक्ति का ही विलास है।

टिप्पणी—द्यपि-अमंगलानीह सेवते शंकरः सदा
तथा मंगलं तस्य स्मरणात्-जायते।। शिवपुराण

अर्थः—यद्यपि शंकर ने सभी अमंगल वस्तुओं को ही अपनाया है तो भी उनके स्मरण मात्र से ही दूसरों को मंगल होता है।

"भवानि त्वत्-पाणिग्रहण-परिपाटी-फलम्-इदम्" शंकर का दूषण भी भूषण कैसे बना- यह केवल आपके पाणि ग्रहण की परिपाटी का फल है-यह शक्ति का ही प्रभाव है।

विरिंच्याख्या मात:! सृजसि हरिसंज्ञा-त्वं-अवसि
त्रिलोकीं रुद्राख्या हरसि विदधासी-श्वरदशाम्।
भवन्ती सादाख्या शिवयसि च पाशौघ-दलिनी
त्वं-एवैकाऽनेका भवसि, कृतभेदै:-गिरिसुते (23)

अन्वय-शब्दार्थ

विरिंच्याख्या=ब्राह्मणी के रूप में, **मात:**=हे माँ, **त्रिलोकीं**=तीन लोकों को **सृजसि**=बनाती हो, **त्वं**=आप ही, **हरिसंज्ञा**=वैष्णवी शक्ति रूप से, **अवसि**=तीनों लोकों की रक्षा करती हो, **रुद्राख्या**=रुद्राणी रूप से, **हरसि**=तीनों लोकों का नाश करती हो, **ईश्वरदशां**=ईश्वरदशा को प्राप्त हुई, तीन लोकों का पिधान करती है, **पाशौघदलिनी**=बन्धनों के समूह को काटनेवाली बनकर, **शिवयसि**-तीनों लोकों को आन्नदमयी बनाती हो, **त्वं**=तुम, **एकैव**=एक ही होकर भी, **कृतभेदै:**=उत्पन्न किये हुये भेदों से **अनेका**=अनन्त, **भवसि** बनती हो।

अर्थ:—हे माता, ब्रह्मणी के रूप में आप तीन लोकों को बनाती हो, आप ही वैष्णवी शक्ति रूप से तीनों लोकों की रक्षा करती हो, रुद्राणी रूप से तीनों लोकों का नाश करती हो ईश्वर दशा को प्राप्त हुई आप ही तीनों लोकों का पिधान करती हो, आप शिव की शक्ति बनकर बन्धनों के समूह को काटती हुई तीनों लोकों को आनन्दमयी बनाती हो, आप एक ही होकर भी उत्पन्न किये हुये भेदों से अनन्त बनती हो।

टिप्पणी—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, अहं विष्णुं-उरुक्रमं-दधानि, मत्त:
प्रकृति-पुरुषात्मकं जगत् (अर्थवेद)।
अर्थ—मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ-मैं विष्णु रूप हूँ, मुझे से ही यह प्रकृति पुरुषात्मक जगत् उत्पन्न होता है।

मुनीनां चेतोभिः प्रमृदित-कषायैः-अपि मनाक्
अशक्ये संस्प्रष्टुं चकित-चकितैः-अम्ब! सततम्।
श्रुतीनां मूर्धानः प्रकृति-कठिनाः कोमलतरे
कथं ते विन्दन्ते पद किसलये पार्वति! पदम् (24)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, जिन मुनियों ने यम नियमादि से, **प्रमृदित-कषायैः**=काम क्रोधादि को हटाया है, **चकितचकितैः**=भयभीत होकर, **मुनीनां**=मुनियों **के**=मन-चित्त बुद्धियाँ, **मनाक्-अपि**=जरा भर भी, **संस्प्रष्टुं**=स्पर्श करने के लिये, **अशक्ये**=असमर्थ हैं, **पार्वति!**=हे पार्वती, **श्रुतीनां मूर्धानः**=उपनिषद्, **प्रकृति कठिनाः**=स्वभाव से ही कठिन, ते आपके, **कोमल तरे**=अति कोमल, **पद किसलये**=चरण कमलों में, **कथं**=कैसे, **पदं**=स्थान, **विन्दते**=पा सकते हैं।

अर्थः—जिन मुनियों ने यमनियमादि से कामक्रोधादि हटाया है, वे भी भयभीत होकर अपनी मन बुद्धि से आप का ज़रा भर भी वर्णन करने में असमर्थ है-हे पार्वती उपनिषद् स्वभाव से भी कठिन हैं वे आप के कोमल चरण कमलों में स्थान कैसे पा सकते हैं।

टिप्पणी–"यतो वाचो निवर्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह" उपनि॰
अर्थ–जहाँ से मन सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती है।
चकितं-अभिधते श्रुतिर्-अपि–आप का स्वरूप कैसा है उसका वर्णन करने में वेद भी हिचकिचाते हैं। महिहम्नस्तो॰

तड़ित्-वल्लीं नित्यां-अमृत-सरितं पार-रहितां
मलोत्तीर्णां ज्योत्सनां प्रकृतिम्-अगुण-ग्रन्थि-गहनाम्।
गिरां दूरां विद्यां-अवनत-कुचां विश्व-जननीं
अपर्यन्तां लक्ष्मीं-अभिदधति सन्तो-भगवतीम् (25)

अन्वय-शब्दार्थ

सन्तः=सन्त लोग, **भगवतीं**=देवी को, **तड़ित् वल्लीं**=बिजली की लता, **नित्यां**=नित्य, **पाररहितां**=जिस का कोई पार नहीं, **अमृत-सरितं**=अमृत की नदी, **मलोत्तीर्णां**=निर्मल, **ज्योत्सनां**=चांदनी, **अगुण ग्रन्थि**=सत्व-रज-तम इन तीन गुणें से रहित, **गहनां**=अतिसूक्ष्म, **प्रकृति**=तीन गुणों वाली (अनिर्वचनीय) **गिरां दूरं**=वाणी का अविषय **विद्यां**=विद्यारूप, **अवनत कुचां**=झुके हुये ज्ञानक्रिया रूप=स्तनों वाली, **विश्वजननीं**=जगत् की माता, **अपर्यन्तां**=सीमारहित, **लक्ष्मीं**=लक्ष्मीं अभिदधति=लक्ष्मी इन नामों से पुकारते हैं।

अर्थः—सन्त लोग उस जगत्-अम्बा को बिजली की लता, नित्य पाररहित, अमृत की नदी जिस का कोई पार नहीं, मल रहित, निर्मल चांदनी, तीन गुणों वाली, प्रकृति, तीन गुणों से रहित, अतिसूक्ष्म, वाणी का अविषय, विद्यारूप, झुके हुये ज्ञानक्रिया रूप स्तनों वाली, जगत् की माता, सीमा रहित, लक्ष्मी इन इन नामों से पुकारते हैं।

टिप्पणी—पञ्चस्तवीकार ने उस "संवित्" "विमर्श" अथवा "चिदाकाश" को सूर्य चन्द्रमा अग्नि बिजली आदि प्रकाशित वस्तुओं की उपमा देकर ही वर्णन किया है। न कि इन प्रकाशित सूर्य, बिजली आदि को ही "संवित्" माना है, इन सभी प्रकाशित वस्तुओं के बारे में उपनिषद् कहते हैं:-

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोय-मग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। उपनि॰

अर्थ—उस "संवित्" परब्रह्म" के प्रकाश के सामने सूर्य का तेज लुप्त हो जाता है, चन्द्रमा तारागण और बिजली भी वहाँ चमकती नहीं फिर उस अग्नि की बात ही क्या, जो कोई प्रकाशवान् वस्तु है उस "चिदाकाश" "परब्रह्म" के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

शरीरं क्षित्यम्भः प्रभृति-रचितं केवलं-इदं
सुखं दुःखं चायं कलयति पुमान्-चेतन इति।
स्फुटं जानानोपि प्रभवति न देही रहयितुं
शरीराहंकारं तव समय बाह्यः-गिरिसुते! (26)

अन्वय शब्दार्थ

गिरिसुते!=हे पार्वती, **अयं चेतनः पुमान्**=यह चेतन पुरुष, **इदं**=इस, **केवलं**=सिर्फ, **क्षिति**=पृथ्वी, **अम्भः**=जल, **प्रभृति**=आदि का, **रचितं**=बना हुआ, **शरीरं**=शरीर के, **सुखं दुःखं च**=सुख और दुख को, **इति**=ऐसे ही **कलयति** जानता है, **तव-समयबाह्यः**=आप के गुरुमुख अनुग्रह के बिना, **स्फुटं जानानः अपि**=अच्छी तरह से जानता हुआ भी, **देही**=शरीरधारी, **शरीराहंकारं**=शीर के अभिमान **रहयितुं** छोड़ने में, न **प्रभवति**=समर्थ नहीं बनता है।

अर्थः—हे पार्वती! यह चेतन पुरुष इस शरीर को पृथ्वी जल आदि (जड़) पाँच भूतों से बना हुआ है, ऐसा स्पष्ट रूप में जानता है, सुख दुख को भी अनुभव करता है, अथवा जानता है, परन्तु यह शरीरधारी शरीर के अहंकार को माता के अनुग्रह के बिना छोड़ने में समर्थ नहीं होता है।

टिप्पणी–ईश्वरोऽहं-अहं-एव रूपवान्-पण्डितोस्मि सुभगोस्मि कोऽपरः मत्समोस्ति जगतीति शोभते, मानिता-त्वत्-अनुरागिणः परम्।। शिवस्तो०

अर्थ–हे माता! अथवा शंकर! मैं स्वयं ईश्वर हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं तत्त्वदर्शी हूँ, मैं भाग्यवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है–ऐसा अभिमान करना एक मनुष्य के लिये दूषण है–परन्तु माँ जिन पर आप की कृपादृष्टि होती है; उनके लिये यह दूषण भी भूषण बनता है–आप के अनुग्रह से यह तुच्छ अभिमान् "पूर्णाहन्ता रूप" में परिवर्तित होता है।

पिता माता भ्रता सुहृत्-अनुचरः सद्म गृहिणी
वपुः पुत्रो मित्रं धनमपि यदा-मां विजहति।
तदा मे भिन्दाना सपदि भय-मोहान्ध-तमसं
महाज्योत्सने! मात-र्भव करुणया सन्निधिकरी (27)

अन्यवय-शब्दार्थ

महाज्योत्सने=हे महाप्रकाशमयी माँ! **पिता, माता, भ्रता, सुहृत्=मित्र, धनं-अपि**=धन भी, यदा=जब (मरण काल में), **मां**=मुझे **विजहति**=छोड़ दें, **तदा**=उस मय, **करुणया**=दया करके, **मे**=मेरे, **भय मोहान्ध-तमसं**=भय, मोहरूपी अन्धकार को, **भिन्दाना**=नाश करती हुई, **सपदि**=उसी क्षण, **सन्निधिकरी भव**=प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाइये।

अर्थः—हे महाप्रकाशमयी माँ! पिता, माता, भ्राता, मित्र नौकर, घर, पत्नी, शरीर, पुत्र, मित्र, धन जब मुझे मरण काल में साथ छोड़ देगा, दया करके मेरे भय, तथा मोह रूपी अन्धकार को नाश करती हुई उसी क्षण प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाइये।

टिप्पणी—का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः, संसारो-यम्-अतीव विचित्रः
कस्य त्वं कः कुत आयातः, तत्त्वं चिन्तय यत्-इदं भ्राता।
मा-कुरु धन-जन-यौवन गर्वं, हरति निमेषात् कालः सर्वं
माया-मयम्-इदं-अखिलं हित्वा, ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा।
(जगत्गुरु शंकराचार्य)

अर्थ—स्त्री, पुत्र के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है, यह संसार अति विचित्र है, आप किसके हैं, आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं, हे भाई इस का विचार कर, परिवार, धन, जवानी का अभिमान मत कर, यह सब मिथ्या है-यह जानकर ब्रह्म अथवा माँ की शरण में जाओ।

सुता दक्षस्यादौ किल सकलमातः-त्वम्-उत्-अभूः
सदोषं तं हित्वा तत्-अनु गिरिराजस्य तनया।
अनाद्यन्ता शम्भोः-अपृथक्-अपि शक्ति-भगवती
विवाहात्-जायासी-त्यहह चरितं वेत्ति तव कः (28)

अन्वय-शब्दार्थ

सकल-मातः!=हे सब की माँ, **त्वम्**=तुम, **आदौ**=पहले, **किल**=निश्चय ही, **दक्षस्य**=दक्ष प्रजापति की, **सुता**=पुत्री, **उदभूः**=उत्पन्न हुई, **तत्-अनु**=उसके पश्चात्, **तं**=उस, **सदोषं**=दोषी प्रजापति को, **हित्वा**=छोड़कर **तत्अनु**=उसके पश्चात्, **गिरिराजस्य**=हिमालय की, **तनया**=लड़की बनी, **अनाद्यन्ता**=आदि और अन्त रहित, **भगवती**=ऐश्वर्यवाली, **अपृथक्-अपि-शक्तिः**=शंकर से अभिन्न शक्ति होने पर भी, **विवाहात्**=विवाह करके, **शम्भोः**=शंकर की, **जाया**-असि=पत्नी बनी, **इति=अहह**=आश्चर्य है, तव=तुम्हारे, **चरितं**=चरित को, **कः**=कौन, **वेत्ति**=जानता है।

अर्थः—हे माता! आप पहले दक्षप्रजापति की पुत्री रूप में उत्पन्न हुई, उसके पश्चात् उस दोषी प्रजापति को छोड़कर आप हिमालय की लड़की बनी, आद्य-अन्त रहित ऐश्वर्य वाली आप शिव से अभिन्न शक्ति होने पर भी विवाह करके शंकर की पत्नी बनी, यह तो आश्चर्य है, आप के चरित (व्यवहार) को कौन जानता है।

टिप्पणी—दक्ष के पुत्री के रूप में प्रकट होकर, दक्ष के यज्ञ में पतिदेव का अपमान सुन कर पैतृक सम्बन्ध को तृणवत् समझकर पिता से प्राप्त शरीर को भी जला डाला इस सती की कथा से संसार की स्त्रियों को उपदेश मिलता है- "नारी धर्म पति देव न दूजा" हिमालय की पुत्री रूप में प्रकट होकर पार्वती ने अघोर तपस्या की, शंकर को पतिरूप में प्राप्त किया, जिस शंकर ने काम देव को भस्म करके "स्मर" बनाया था, इस कथा से शिक्षा मिलती है, "नारी शक्ति का केन्द्र है"

कणाः-त्वत्-दीप्तीनां रवि-शशि-कृशानु-प्रभृतयः
परं ब्रह्म क्षुद्रं तव नियतं-आनन्द-कणिका।
शिवादि-क्षित्यन्तं, त्रिवलय-तनोः सर्वमुदरे
तवस्ते भक्तस्य स्फुरसि हृदि चित्रं भगवति (29)

अन्वय-शब्दार्थ

रविः=सूर्य, **शशि**=चन्द्रमा, **कृशानु प्रभृतयः**=अग्नि आदि, **त्वत्**=आप के, **दीप्तीनां**=दीप्ति के, **कणाः**=छोटे छोटे ज़रे हैं, **परं ब्रह्म**=परं ब्रह्म भी, **नियतं**=निश्चय से, **क्षुद्रं**=आप के सामने तुच्छ है वह भी, **तव**=आप के, **आनन्दकणिका**=आनन्द का कण है, **शिवादि-क्षित्यन्तं**=शिव से पृथ्वी तक, **सर्वं**=सारा जगत्, **त्रिवलयतनोः**=तीन लपेट वाले शरीर के, **उदरे**=पेट में, **आस्ते**=ठहरा हुआ है, **भगवति**=हे भगवती, **चित्रं**=यह आश्चर्य की बात है, **भक्तस्य**=भक्त के, **हृदि**=हृदय में, **स्फुरसि**=प्रकट होती हो।

अर्थः—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि आप के दीप्ति के छोटे छोटे ज़रे हैं, परं ब्रह्म भी आप के स्वरूप के सामने तुच्छ हैं, वह भी आप के आनन्द का एक कण हैं, शिव से पृथ्वी तक सारा जगत् आप के तीन लपेट वाले उदर में ठहरा हुआ है, हे भगवती यह आश्चर्य है-आपका स्वरूप इतना विशाल होने पर भी आप भक्त के छोटे हृदय में प्रकट होती हैं।

त्वया यो जानीते रचयति भवत्यैव सततं
त्वयैवे-च्छत्यम्ब! त्वं-असि निखिलाः यस्य तनवः।
गतः साम्यं शम्भुः वहति परमं व्योम भवती
तथाप्येवं-हित्वा, विहरति शिवस्येति-किं इदम् (30)

अन्वय शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **यः**=जो शिव, **त्वया**=आपकी ही ज्ञान शक्ति से, **जानीते**=जाना जाता है, **भवत्या**-एव=आपकी ही क्रियाशक्ति से, **रचयति**=सृष्टि को बनाता है, **सततं**=नित्य, **त्वया एव**=आपकी ही शक्ति से, **इच्छति**=शिव इच्छा करता है, **यस्य**=जिसके, **निखिलाः**=सभी **तनवः**=स्वरूप, **त्वम्**=आप ही, **असि**=हो, **शम्भुः साम्यं गतः**=शिव साम्यावस्था में पहुंच कर, **परमं व्योम वहति**=अपने धाम में चराचर सृष्टि को लय करता है, **एवं**=ऐसे ही, **हित्वा**=अपने साकार निराकार अथवा व्यक्त अव्यक्त स्वरूप को छोड़कर, **शिवस्य**=भगवान् शंकर से फिर से, **विहरति**=क्रीडा करती हो, इति **किं-इदम्**=यह कैसा आश्चर्य है।

अर्थः—हे माता, शंकर आप की ही ज्ञानशक्ति से जाना जाता है, आपकी ही क्रिया शक्ति से सृष्टि को बनाता हे, आप की ही शक्ति से शिव इच्छा करता है, जिस के सभी स्वरूप आप ही हो, शिव साम्यावस्था में पहुँच कर अपने में ही चराचर सृष्टि को लय करता है, ऐसे ही अपने व्यक्त अव्यक्त स्वरूप को छोड़कर, भगवान् शिव से फिर क्रिडा करती हो-माँ! यह कैसा आश्चर्य है।

टिप्पणी—इस श्लोक में भक्त माँ से कहता है, शंकर के सभी स्वरूप आप ही है। भगवान् शंकर के स्वरूप हैं-आठ-शर्व, भवः, रुद्रः, उग्रः, भीमः, पशुपतिः, महादेव, ईशान।

पुरः पश्चात्-अन्त-र्बहिर्-अपरिमेयं परिमितं
परं स्थूलं सूक्ष्मं सकुलं-अकुलं-गुह्यं-अगुहम्।
दवीयो नेदीयः सत्-असत्-इति-विश्वं भगवतीं
सदा पश्यन्त्याज्ञां वहसि भुवन-क्षोभ-जननीम् (31)

अन्वय-शब्दार्थ

पुर:=सामने (प्रत्यक्ष), **पश्चात्**=पीछे परोक्ष, **अन्त:**=अन्दर, **बहि:**=बाहर, **अपरिमेयं**=अनन्त, **परिमितं**=संकुचित, **परं**=उत्कृष्ट, **स्थूलं**=स्थूल, **सूक्ष्मं**=सूक्ष्म, **सकुलं**=विश्वमय, **अकुलं**=विश्वोतीर्ण, **गुह्यं**=छिपाने योग्य, **अगुहं**=प्रकट, **दवीय:**=दूर, **नेदीय:**=समीप, **सत्**=सत्रूप, **असत्**=शून्य रूप इति ऐसे ही भिन्न भिन्न रूपों से, **विश्वं भगवतीं**=विश्वरूप भगवती को, **सदा**=नित्य, **पश्यन्ति**=भक्त लोग देखते हैं, **भुवन क्षोभ जननीं**=सारे जगत् को क्षोभमय (भेदमय) बनाने वाले, **आज्ञां**=स्वभाव को, **वहसि**=धारण करती हो।

अर्थ:—प्रत्यक्ष (सामने) परोक्ष (पीछे) अन्दर, बाहर, अनन्त संकुचित, उत्कृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, विश्वमय, विश्वोतीर्ण, प्रकट अप्रकट दूर समीप, सत् रूप, असत् रूप, ऐसे ही भिन्न भिन्न रूपों से, विश्वरूप भगवती को भक्त जन सदा देखते हैं। माता आप ही सारे जगत् को भेदमय बनाने वाले स्वभाव को धारण करती हो।

टिप्पणी—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूप-रूपं प्रतिरूपो बभूव
एक स्तथा सर्व-भूतान्तरात्मा-रूपं रूपं प्रति रूपो वभूब।। (उपनि०)

अर्थ—एक ही अग्नि सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है-जब वह साकार रूप में प्रज्वलित होता है तब उन आधार भूत वस्तुओं जैसा आकार का होता है, वैसे ही "संवित्" शक्ति एक है, वह भी भिन्न-भिन्न प्राणियों में उन उन प्राणियों के नाना रूपों में प्रकाशित होती है।

मयूरवा: पूष्णीव ज्वलन इव तत्-दीप्ति-कणिका:
पयोधौ-कल्लोल-प्रतिहत-महिम्नीव पृषत:।
उदेत्योदेत्याम्ब, त्वयि सह निजै: तात्त्विक-कुलै:
भजन्ते तत्त्वौघा: प्रशमम्-अनुकल्पं परवशा: (32)

अन्वय-शब्दार्थ

अम्ब!=हे माता, **मयूरवा:**=किरणें, **पूष्णि** इव=सूर्य में जैसे, **ज्वलने**

इव=अग्नि में जैसे, **तत्-दीप्ति-कणिकाः**=उसी अग्नि के कण, **पयोधौ**=समुद्र में, **कल्लोल-प्रति हत महिम्नीव**=तरंगों के उतार चढ़ाव से भरपूर, **पृषतः इव**=छींटों की भांति, **तत्त्वौघाः**=तत्वों के समूह, **उदेत्य-उदेत्य**=बार बार उदय होकर, **निजैः-तात्विक कुलैः**=अपने तेजो मय समूहों के साथ, **परवशाः**=विवश होकर, **त्वयि**=आप में ही, **अनुकल्प**=हर प्रकार से, **प्रशमं भजन्ते**=लय हो जाते हैं।

अर्थः—हे माता! किरणें जैसे सूर्य से ही निकलती हैं सूर्य में ही लय हो जाती हैं, अग्नि में से जैसे अग्नि कण प्रकट होकर अग्नि में ही लय हो जाती हैं, समुद्र की लहरें समुद्र से उत्पन्न होकर जैसे समुद्र में ही लय हो जाती है, ऐसे ही सभी तत्त्व माता! आप में से ही प्रकट होकर फिर से विवश होकर आप में ही लय हो जाती हैं।

टिप्पणी–"यथोर्ण-नाभिः सृजते गृह्णते च" (मुण्डक उप०)
अर्थ–जिस प्रकार मकड़ी अपने उदर में ठहरे हुये जाल को बाहर निकाल कर फैलाती है फिर उसे स्वयं ही निगल जाती है, इसी प्रकार वह जगत् जननी इस चराचर सृष्टि का स्वयं ही निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी।

विधुः-विष्णुः-ब्रह्मा, प्रकृतिर्-अणुर्-आत्मा दिनकरः
स्वभावो जैनेन्द्रः सुगत मुनिर्-आकाशम्-अनिलः।
शिवः शक्तिः-चेति, श्रुति-विषयतां ताम्-उपगतां
विकल्पैर्-एभिस्त्वाम्-अभिदधति सन्तो भगवतीम् (33)

अन्वय शब्दार्थ

विधुः=चन्द्रमा, **विष्णुः**=नारायण, **ब्रह्मा**=ब्रह्मा, **प्रकृतिः**=माया, **अणुः**=जीवात्मा, **दिनकरः**=सूर्य, **स्वभावः**=स्वभाव, **जैनेन्द्रः**=महावीर स्वामी, **सुगत मुनिः**=बुद्धभगवान्, **आकाशं**=आकाश, **अनिलः**=वायु, **शिवः**=शिव,

शक्तिः=शक्ति, **श्रुति-विषयतां-उपगतां**=वेदों का विषय बनी हुई, **भगवतीं**=भगवती को, **सन्तः**=सन्त लोग, **विकल्पैः-एभिः**=भिन्न भिन्न नामों से, **अभिदधति**=पुकारते हैं।

अर्थः—चन्द्रमा, विष्णु, प्रकृति, जीवात्मा, सूर्य, स्वभाव, महावीर स्वामी, बुद्धभगवान्, आकाश, वायु, शिव, शक्ति, इन भिन्न भिन्न नामों से सन्तजन वेदों का विषय बनी हुई भगवती को पुकारते हैं।

टिप्पणी—रुचीनां वैचित्र्यात्-ऋजुकुटिलनाना-पथजुषां
नृणाम्-एको गम्यः-त्वम्-असि पयसां अर्णव इव।। (महिम्नस्तोत्र)

अर्थ—जैसे सीधे अथवा टेड़े बहने वाले सभी जल समुद्र में पहुँचते हैं। वैसे ही सांख्य योग, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्तिक मतवालों का प्राप्य स्थान एक मात्र आप ही हैं।

प्रविश्य स्वं मार्गं सहजदयया देशिक-दृशा
षट्-अध्व-ध्वान्तौघ-च्छिदुर-गणनातीत-करुणाम्।
परानन्दाकारां सपदि शिवयन्तीं-अपि तनुं
स्वं-आत्मानं धन्याः, चिरं-उपलभन्ते भगवतीम्।।34।।

अन्वय-शब्दार्थ

धन्या=भाग्यवान् पुरुष, **सहजदयया**=आप की स्वाभाविक दया से, **देशिकदृशा**=गुरु की कृपा से, **स्वं मार्गं**=शाक्त मार्ग में, **प्रवेश्य**=प्रवेश करके, **षट्-अध्व**=छः अध्वरूपी, **ध्वान्तौघ**=अन्धकार समूह को, **छिदुर**=काटने के लिये, **गणनातीत**=अपार, **करुणां**=कृपावाली, **परानन्दाकारां**=परमानन्द स्वरूप वाली, **तनुं-अपि**=भक्त के स्वरूप को भी, **शिवयन्तीं**=कल्याणमय बनाने वाली, **भागवतीं**=सर्वशक्तिमती माता को, **चिरं**=जन्मान्तरों के पश्चात्, **सपदि**=क्षणमात्र में, **स्वं-आत्मानं**=अपना ही स्वरूप, **उपलभन्ते**=जानते हैं।

अर्थः—भाग्यवान् पुरुष आप की स्वाभाविक दया से, उत्तम गुरु के अनु ग्रह से आप के शाक्त मार्ग में प्रवेश कर छः अध्वरूपी

अन्धकार समूह को काटने के लिये, अपार कृपावाली, परमानन्दमयी, भक्त के स्वरूप को कल्याणमय बनाने वाली भगवती को अपना ही रूप क्षणमात्र में बहुत जन्मों के पश्चात् जानते हैं।

टिप्पणी–"बहूनां जन्मनां-अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" भगवद्गीता
बहुत जन्मों के पश्चात् ज्ञानवान् मुझ ईश्वर को प्राप्त होता है।
"भ्रान्त्वा लब्धः मया स्वस्मिन् देहे देवो यथास्थितः।। लल्लेश्वरी
बहुत जन्मों में घूम कर मैंने उस माँ को अथवा शंकर को अपने ही शरीर रूपी मन्दिर में अपने ही रूप में पाया "शिवोहम्"

शिवस्त्वं शक्तिस्त्वं त्वमसि समया त्वं समयिनी
त्वं-आत्मा दीक्षा, त्वं-अयं-अणिमादिः-गुणगणः।
अविद्या त्वं विद्या त्वम्-असि निखिलं त्वं किम्-अपरं
पृथक्-तत्त्वं त्वत्तो भगवति! न वीक्षामहे-इमे (35)

अन्वय-शब्दार्थ

भगवति!=हे माता, **त्वं**=आप ही, **शिवः**=शिव हो, **त्वं**=आप ही, **शक्तिः**=शक्ति हो, **त्वं**=आप, **समया**=कालरूप हो, **त्वं**=आप, **समयिनी**=समय को नियंत्रण में रखने वाली हो, **त्वं**=आप ही, **आत्मा**=आत्मा हो, **त्वं दीक्षा**=आप ही उपदेश हो, **त्वं अणिमादि**=आप ही अष्टसिद्धियाँ हो, **गुणगणः**=तीनों गुण (सत्व-रज-तम) आप ही हो, **अविद्या**=अज्ञान, **त्वं**=आप ही, **विद्या**=ज्ञानरूप, **असि**=हो, **निखलं त्वं**=सभी कुछ आप ही हो, **किम्-अपरं तत्वं**=कौन सा ऐसा दूसरा तत्व है, **त्वत्तो**=आप से, **पृथक्**=भिन्न है, **न वीक्षामहे**=देखते नहीं हैं।

अर्थः–हे माता, आप ही शिव और आप ही शक्ति हो, आप ही काल रूप और आप ही काल को चलाने वाली हो, आप ही आत्मा हो आप ही उपदेश रूप हो, आप ही अणिमादि अष्टसिद्धियाँ हो,

आप (सत्व, रज, तम) तीन गुणरूप हो, आप ही, अज्ञान और ज्ञानरूप हो, सभी कुछ आप ही हो, कौन सा ऐसा दूसरा तत्त्व है जो आप से भिन्न है ऐसा हम देखते नहीं हैं।

टिप्पणी–"ईशावास्यं-इदं सर्वं" जो कुछ दीखे जगत् में सब ईश्वर से ढाँप" (ईशावास्योननिषद्)

असंख्यैः प्राचीनैः-जननि! जननैः कर्मविलयात्
गते जन्मन्यन्त-गुरुवपुषं-असाद्य गिरिशम्।
अवाप्याज्ञां शैवीं क्रम-तनुर्-अपि त्वां विदितवान्
नयेयं त्वत्-पूजा सतुति-विरचनेनैव-दिवसान्।।36।।

अन्वय-शब्दार्थ

जननि!=हे जगत्माता, **प्राचीनैः**=पिछले, **असंख्यैः**=अनन्त, **जननैः**=जन्मों के द्वारा **कर्मविलयात्**=कर्मों के नाश होने से, **जन्मनि-अन्तगते**=जन्मों के अन्त होने पर, **गुरुवपुषं**=गुरु स्वरूप, **गिरिशं**=शिव को, **आसाद्य**=प्राप्त करके, **शैवी-आज्ञां**-शाम्भवी अवस्था, **अवाप्य**=प्राप्त करके, **क्रमु तनुः**=सक्रम मनुष्य शरीर धारण करता हुआ भी, **त्वां**=माता आप को, **विदितवान्**=जानता रहूँ, **त्वत् पूजास्तुतिः**=आपकी पूजा तथा स्तुति के, **विरचनेनैव**=करने में ही **दिवसान्**-इस जन्म के शेष दिन, **नयेयम्**=व्यतीत करूं।

अर्थः–हे जगत् जननी पिछले अनन्त जन्मों के द्वारा कर्मों के नाश होने से, जन्मों के अन्त होने पर गुरु स्वरूप शिव को प्राप्त करके, सक्रम मनुष्य शरीर धारण करता हुआ भी माता आप को जानता रहूँ, आप की पूजा तथा स्तुति के करने में ही इस जन्म के शेष दिन व्यतीत करूं।

टिप्पणी–क्रमतनुः=शम्भवी अवस्था के पश्चात् भी कुछ समय तक शरीर बना ही रहता

हे, जैसे चरखे को एक धक्का ज़ोर का लगने पर भी चरखा बिना धक्के के भी कुछ देर चला ही रहता है, ऐसे ही प्रारब्ध कर्म समाप्त होने पर भी साधक का कुछ समय तक शरीर बिना प्रारब्ध के भी बना ही रहता है-जिस शरीर को इस श्लोक में "क्रमतनुः" से कहा है। शाम्भवी अवस्था श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकृपा से अभ्यास के बिना अकस्मात् भी प्राप्त होती है।

न ध्यायतो न जपतः, स्यात्-यस्यऽ-विधिपूर्व-कंम् एवं-एव शिवाभास-स्तं नुमो भक्ति-शालिनम्।
अर्थ–जिस को बिना ध्यान के, बिना जप के, विधि रहित रूप से ऐसे ही बिना अभ्यास के श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की दया से (अथवा) माँ! केवल आप की भक्ति से आप का साक्षात्कार हो, उसी भक्त को मैं प्रणाम करता हूँ।

यत्-षट्-पत्रं कमलं-उदितं, तस्य या कर्णिकाख्या
योनिस्तस्याः प्रथितं-उदरे यत् तत्-ॐकारपीठम्।
तस्मिन्-अन्तः कुचभरनतां कुण्डलीतः प्रवृतां
श्यामाकारां सकलजननीं सन्ततं भावयामि (37)

अन्वय-शब्दार्थ

यत्=जो, **षट् पत्रं कमलं**=छः पत्ते वाला कमल, **उदितं**=खिला हुआ, **तस्य**=उस कमल की, **या**=जो, **कर्णिकाख्या**=कर्णिका नाम वाली, **योनिः**=मध्य भाग है, **तस्याः**=उसके **उदरे**=मध्य में, **यत्**=जो, **तत्**=वह, **ॐकारपीठं**=ॐकार रूप पीठ, **प्रथितं**=स्थित है, **तस्मिन्**-अन्तः=उसके बीच में, **कुचभरनतां**=ज्ञान क्रिया रूप स्तनों से झुकी हुई, **कुण्डलीतः प्रवृत्तां**=सार्धत्रिवलय रूप में ठहरी हुई श्यामाकारां=श्यामवर्णवाली, **सकल जननी**=जगत् माता को, **सन्तत**=बार बार भावयामि प्रणाम करता हूँ।

अर्थः–स्वाधिष्ठान चक्र में ठहरे हुये खिले हुये, षट्=कमल का कर्णिका नाम वाला जो मध्य भाग हैं, उसके मध्य में विकसित जो ॐकार पीठ है उसके बीच में ज्ञान क्रिया रूप स्तनों से झुकी हुई कण्डलिनी रूप में ठहरी हुई श्यामकार वाली जगत् माता को बार बार प्रणाम करता हूँ।

टिप्पणी–कमल और चक्र में भेद-जब तक कुण्डलिनी सुप्त रहती है, तब तक षड्कमलों को षड् चक्र कहते हैं, कुण्डलिनी के जागने पर उनको षड कमल कहते हैं।
मूलाधार से लेकर आज्ञा चक्र तक मनुष्य शरीर में छ: चक्र है-जिनकी जानकारी पाठकों षड्चक्र चित्र से होगी। (जो मुख प्रष्ट पर है)

भुवि-पयसि कृशानौ मारुते खे शशांके
सवितरि यजमाने प्यष्टधा शक्तिर्-एका
वहति कुचभराभ्यां या विनम्रापि विश्वं
सकल जननि! सात्वं पाहि मां-इत्यवश्यम् (38)

अन्वयं-शब्दार्थ

सकल जननि=हे जगत् माता, **या**=जो, आप, **एकापि**=एक होते हुये भी, **भुवि**=पृथ्वी में, **पयसि**=जल में, **कृशानौ**=अग्नि में, **मारुते**=वायु में, **खे**=आकाश में, **शशांके**=चन्द्रमा में, **सवितारि**=सूर्य में, **यजमाने**=यज्ञ करने वाले में, **अष्टधा शक्ति**=आठ प्रकार की शक्ति रूप में, **कुचभराभ्यां**=ज्ञान क्रिया रूप स्तनों के बोझ से, **विनम्रापि**=झुकी हुई भी, **विश्व**=जगत को, **वहति**=सृष्टि=पालन तथा संहार करती हो, **सात्वं**=वही आप, **मां**=मुझे, **अवश्य**=अवश्य, **पाहि**=रक्षा करो।

अर्थ:–हे जगत् माता! आप एक होते हुये भी पृथ्वी में जल में अग्नि में, वायु में, आकाश में, चन्द्रमा में, सूर्य में, यजमान में, आठ प्रकार की शक्ति के रूप में, ज्ञान क्रिया रूप अमृत भरे स्तनों के बोझ से झुकी हुई भी जगत् की सृष्टि पालन तथा संहार करती हो। हे जगत् की माता वहीं आप मेरी अवश्य रक्षा कीजिये।

टिप्पणी–इस अन्तिम श्लोक में माता के आठ शक्तियों का संकेत है-वे आठ शक्तियाँ हैं (1) पृथ्वी में शर्वशक्ति, (2) जल में भवशक्ति, (3) अग्नि में रुद्रशक्ति, (4) वायु में उग्र शक्ति, (5) आकाश में भीम शक्ति, (6) यजमान में पशुपति शक्ति, (7) चन्द्रमा में महादेव

शक्ति (8) सूर्य में ईशान शक्ति।

इन आठ शक्तिरूप नामों के आरम्भ में "ॐ" जोड़कर अन्त में नमः जोड़ने से आठ शक्तिशाली मन्त्र बनते हैं-पञ्चस्तवी पाठ के अन्त में यह आठ मन्त्र अवश्य पढिये-या समयानुसार जप कीजिये।

मन्त्र

(1) ॐ शर्वाय नमः (2) ॐ भवाय नमः,
(3) ॐ रुद्राय नमः, (4) ॐ उग्राय नमः,
(5) ॐ भीमाय नमः, (6) ॐ पशुपतये नमः,
(7) ॐ महादेवाय नमः, (8) ॐ ईशानाय नमः।।

इति सकल-जननी-स्तवः-पञ्चमः

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

❖❖

Kundalini stotram

कुण्डलिनी स्तोत्रम्

Sanskrit Document Information

Text title : kuNDalinIstotram

File name : kuNDalinIstotram.itx

Category : devii, ShaTchakrashakti

Location : doc_devii

Proofread by : Aruna Narayanan narayanan.aruna at gmail.com

Description/comments : From Durlabh Stotrani.

Latest update : June 17, 2019

Send corrections to : sanskrit@cheerful.com

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

June 17, 2019

sanskritdocuments.org

Kundalini stotram

कुण्डलिनी स्तोत्रम्

ॐ नमस्ते देवदेवेशि योगीशप्राणवल्लभे ।
सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिते ॥ १॥

ॐ प्रसुप्तभुजगाकारे सर्वदा कारणप्रिये ।
कामकलान्विते देवि ममाभीष्टं कुरुष्व च ॥ २॥

असारे घोरसंसारे भवरोगात् कुलेश्वरी ।
सर्वदा रक्ष मां देवि जन्मसंसारसागरात् ॥ ३॥

इति कुण्डलिनि स्तोत्रं ध्यात्वा यः प्रपठेत् सुधीः ।
मुच्यते सर्व पापेभ्यो भवसंसाररूपके ॥ ४॥

इति प्राणतोषिणी तन्त्रे कुण्डलिनी स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

Proofread by Aruna Narayanan narayanan.aruna at gmail.com

Kundalini stotram
pdf was typeset on June 17, 2019

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

Kundalini Stotram 2 Kandavasini Stotram

कुण्डलिनीस्तोत्रम् २ कन्दवासिनीस्तोत्रम्

Document Information

Text title : Kundalini Stotram 2 Kandavasini Stotram

File name : kuNDalinIstotram2.itx

Category : devii, ShaTchakrashakti, devI

Location : doc_devii

Transliterated by : staff of Muktabodha.org Mark S.G. Dyczkowski

Proofread by : Aruna Narayanan narayanan.aruna at gmail.com

Description/comments : rudrayAmale uttaratantre 1 bhairava bhairavI sa.nvAde

Source : Rudrayamalam part 1 edited by Ram Prasad Tripathi and Sudhakar Malaviya

Acknowledge-Permission: Marjorie Woollacott, Ph.D., Digital Library Coordinator

muktabodha.org

Latest update : February 16, 2020

Send corrections to : sanskrit@cheerful.com

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

Please note that proofreading is done using Devanagari version and other language/scripts are generated using **sanscript**.

February 16, 2020

sanskritdocuments.org

कुण्डलिनीस्तोत्रम् २ कन्दवासिनीस्तोत्रम्

श्रीआनन्दभैरवी उवाच
अथ कान्त प्रवक्ष्यामि शृणुष्व मम तत्त्वतः ।
शक्तिः कुण्डलिनी देवी सर्वभेदनभेदिनी ॥ ३२-१॥

कलिकल्मषहन्त्री च जगतां मोक्षदायिनी ।
तस्याः स्तोत्रं तथा ध्यानं न्यासं मन्त्रं शृणु प्रभो ॥ ३२-२॥

यस्य विज्ञानमात्रेण मूलपद्मे मनोलयः ।
चैतन्यानन्दनिरतो भवेत् कुण्डलिसङ्गमात् ॥ ३२-३॥

आकाशगामिनीं सिद्धिं ददाति कुण्डली भृशम् ।
अमृतानन्दरूपाभ्यां करोषि पालनं नृणाम् ॥ ३२-४॥

कुण्डलिनी-ध्यानम् ।
श्वासोच्छ्वासकलाभ्यां च शरीरं त्रिगुणात्मकम् ।
पञ्चभूतावृता नित्यं पञ्चानिला भवेद् ध्रुवम् ॥ ३२-५॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशां निरालम्बां विभावयेत् ।
सर्वस्थितां ज्ञानरूपां श्वासोच्छ्वासनिवासिनीम् ॥ ३२-६॥

स्वयम्भूकुसुमोत्पन्नां ध्यानज्ञानप्रकाशिनीम् ।
मोक्षदां शक्तिदां नित्यां नित्यज्ञानस्वरूपिणीम् ॥ ३२-७॥

लोलां लीलाधरां सर्वां शुद्धज्ञानप्रकाशिनीम् ।
कोटिकालानलसमां विद्युत्कोटिमहौजसाम् ॥ ३२-८॥

तेजसा व्याप्तकिरणां मूलादूर्ध्वप्रकाशिनीम् ।
अष्टलोकप्रकाशाढ्यां फुल्लेन्दीवरलोचनाम् ॥ ३२-९॥

सर्वमुखीं सर्वहस्तां सर्वपादाम्बुजस्थिताम् ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तस्थानलोकप्रकाशिनीम् ॥ ३२-१०॥

त्रिभाषां सर्वभक्षां च श्वासनिर्गमपालिनीम् ।
ललितां सुन्दरीं नीलां कुण्डलीं कुण्डलाकृतिम् ॥ ३२-११॥

अभूमण्डलबाह्यस्थां बाह्यज्ञानप्रकाशिनीम् ।
नागिनीं नागभूषाढ्यां भयानककलेवराम् ॥ ३२-१२॥

योगिज्ञेयां शुद्धरूपां विरलामूर्ध्वगामिनीम् ।
एवं ध्यात्वा मूलपद्मे कुण्डलीं परदेवताम् ॥ ३२-१३॥

भावसिद्धिर्भवेत् क्षिप्रं कुण्डलीभावनादिह ।
ततो मानसजापं हि मानसं होमतर्पणम् ॥ ३२-१४॥

अभिषेकं मुदा कृत्वा प्रातः काले पुनः पुनः
प्राणायामं ततः कृत्वा स्तोत्रं च कवचं पठेत् ॥ ३२-१५॥

एतत्स्तोत्रस्य पाठेन स्वयं सिद्धान्तविद्भवेत् ।
कुण्डली सुकृपा तस्य मासाद्भवति निश्चितम् ॥ ३२-१६॥

निद्रादोषादिकं त्यक्त्वा प्रकाश्याहं शरीरके ।
अहं दात्री सुयोगानामधिपाहं जगत्त्रये ॥ ३२-१७॥

अहं कर्म अहं धर्मः अहं देवी च कुण्डली ।
यो जानाति महावीर कुण्डलीरूपसेवनात् ॥ ३२-१८॥

इति तं पात्रकं कर्तुमवतीर्णास्मि सर्वदा ।
अत एव परं मन्त्रं कुण्डलिन्याः स्तवं शुभम् ॥ ३२-१९॥

प्रपठेत् सर्वदा देहे यदि वश्या न कुण्डली ।
तावत् कालं जपं कुर्याद् यावत् सिद्धिर्न जायते ॥ ३२-२०॥

कुण्डलिनीस्तोत्रम् –
आधारे परदेवता भवनताधोकुण्डली देवता ।
देवानामधिदेवता त्रिजगतामानन्दपुञ्जस्थिता ॥ ३२-२१॥

मूलाधारनिवासिनी त्रिरमणी या ज्ञानिनी मालिनी ।
सा मे मातृमनुस्थिता कुलपथानन्दैकबीजानना ॥ ३२-२२॥

सर्वाङ्गस्थितिकारिणी सुरगणानन्दैकचिन्हा शिवा ।
वीरेन्द्रा नवकामिनी वचनदा श्रीमानदा ज्ञानदा ॥ ३२-२३॥

सानन्दा घननन्दिनी घनगणा छिन्ना भवा योगिनी ।

धीरा धैर्यवती समाप्तविषया श्रीमङ्गली कुण्डली ॥ ३२-२४॥

सर्वाकारनिवासिनी जयधराधाराधरस्थागया ।
गीता गोधनवर्द्धिनी गुरुमयी ज्ञानप्रिया गोधना ॥ ३२-२५॥

गार्हाग्निस्थिति चन्द्रिका सुलतिका जाड्यापहा रागदा ।
दारा गोधनकारिणी मृगमना ब्रह्माण्डमार्गोज्ज्वला ॥ ३२-२६॥

माता मानसगोचरा हरिचरा सिंहासनकारणा ।
यामा दासगणेश्वरी गुणवती छायापथस्थायिनी ॥ ३२-२७॥

निद्रा क्षुब्धजनपिरया वरतृषा भाषाविशेषस्थिता ।
स्थित्यन्तप्रलयापहा नरशिरोमालाधरा कुण्डली ॥ ३२-२८॥

गाङ्गेशी यमुनेश्वरी गुरुतरी गोदावरी भास्करी ।
भक्तार्तिक्षयकारिणी समशिवं यद्येकभावान्विता ॥ ३२-२९॥

त्वं शीघ्रं कुरु कौलिके मम शिरोरन्ध्रं तदङ्गं मुदा ।
तत्पत्रस्थितदैवतं कुलवती मातृस्थलं पाहिकम् ॥ ३२-३०॥

भालोर्द्धे धवला कलारसकला कालाग्निजालोज्ज्वला ।
फेरुप्राणनिकेतने गुरुतरा गुर्व्वी सुगुर्व्वी सुरा ॥ ३२-३१॥

हालोल्लाससमोदया यतिनया माया जगत्तारिणी ।
निद्रामैथुननाशिनी मम हरा मोहापहा पातुकम् ॥ ३२-३२॥

भालं नीलतनुस्थिता मतिमतामर्थप्रिया मैथिली ।
भालानन्दकरा महाप्रियजना पद्मानना कोमला ॥ ३२-३३॥

नानारङ्गसुपीठदेशवसना सिद्धासना घोषणा ।
त्राणस्थावररूपिणी कलिहनी श्रीकुण्डली पातुकम् ॥ ३२-३४॥

भ्रूमध्यं बगलामुखी शशिमुखी विद्यामुखी सम्मुखी ।
नागाख्या नगवाहिनी महिषहा पञ्चाननस्थायिनी ॥ ३२-३५॥

पारावार विहारहेतुसफरी सेतुप्रकारा परा ।
काशीवासिनमीश्वरं प्रतिदिनं श्रीकुण्डली पातुकम् ॥ ३२-३६॥

या कुण्डोद्भवसारपाननिरता मोहादिदोषापहा ।
सा नेत्रत्रयमम्बिका सुवलिका श्रीकालिका कौलिका ॥ ३२-३७॥

काकस्था द्विकचञ्चुपारणकरी संज्ञाकरी सुन्दरी ।
मे पातु प्रियया तया विशदया सच्छायया छादिता ॥ ३२-३८॥

श्रीकुण्डे रणचण्डिका सुरतिका कङ्कालिका बालिका ।
साकाशा परिवर्जिता सुगतिका ज्ञानोर्मिका चोत्सुका ॥ ३२-३९॥

सौकासूक्ष्मसुखप्रिया गुणनिका दीक्षा च सूक्ष्माख्यका ।
मामन्द्यं मम कन्दवासिनि शिवे सन्त्राहि सन्त्राहिकम् ॥ ३२-४०॥

एतत्स्तोत्रं पठित्वा त्रिभुवनपवनं पावनं लौकिकानाम् ।
राजा स्यात् किल्बिषाग्निः क्रतुपतिरिह यः क्षेमदं योगिनां वा ॥ ३२-४१॥

सर्वेशः सर्वकर्ता भवति निजगृहे योगयोगाङ्गवक्ता ।
शाक्तः शैवः स एकः परमपुरुषगो निर्मलात्मा महात्मा ॥ ३२-४२॥

प्रणवेन पुटितं कृत्वा यः स्तौति नियतः शुचिः ।
स भवेत् कुण्डलीपुत्रो भूतले नात्र संशयः ॥ ३२-४३॥

इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने मूलचक्रसारसङ्केते
भैरवभैरवीसंवादे कन्दवासिनीस्तोत्रं नाम द्वात्रिंशः पटलः ॥ ३२॥

The numbers correspond to paTala and verse numbers from Rudrayamala uttaratantra.

Proofread by Aruna Narayanan

Kundalini Stotram 2 Kandavasini Stotram
pdf was typeset on February 16, 2020

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

॥ श्रीकुलकुण्डलीकवचस्तोत्रम् अथवा कन्दवासिनीकवचम् ॥

.. ShrI Kulakundali or
Kandavasini Kavacha Stotram ..

sanskritdocuments.org

August 20, 2017

.. ShrI Kulakundali or Kandavasini Kavacha Stotram ..

॥ श्रीकुलकुण्डलीकवचस्तोत्रम् अथवा कन्दवासिनीकवचम् ॥

Sanskrit Document Information

Text title : kulakuNDalIkavacham

File name : kulakuNDalIkavacham.itx

Category : kavacha, devii, ShaTchakrashakti

Location : doc_devii

Language : Sanskrit

Subject : philosophy/hinduism/religion

Transliterated by : Gopal Upadhyay gopal.j.upadhyay at gmail.com

Proofread by : Gopal Upadhyay, PSA Easwaran psaeaswaran at gmail.com

Description-comments : RudrayAmale utaratantre siddhividyAprakaraNe

Latest update : July 5, 2016

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

Site access : http://sanskritdocuments.org

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

August 20, 2017

sanskritdocuments.org

॥ श्रीकुलकुण्डलीकवचस्तोत्रम् अथवा कन्दवासिनीकवचम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः ॥

॥ श्रीगुरवे नमः ॥

आनन्दभैरवी उवाच ।
अथ वक्ष्ये महादेव कुण्डलीकवचं शुभम् ।
परमानन्ददं सिद्धं सिद्धवृन्दनिषेवितम् ॥ १॥

यत्कृत्वा योगिनः सर्वे धर्माधर्मप्रदर्शकाः ।
ज्ञानिनो मानिनो धर्मान् विचरन्ति यथामराः ॥ २॥

सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च करस्थाः सर्वदेवताः ।
एतत्कवचपाठेन देवेन्द्रो योगिराङ्ग्वेत् ॥ ३॥

ऋषयो योगिनः सर्वे जटिलाः कुलभैरवाः ।
प्रातःकाले त्रिवारं च मध्याह्ने वारयुग्मकम् ॥ ४॥

सायाह्ने वारमेकन्तु पठेत्कवचमेव च ।
पठेदेवं महायोगी कुण्डलीदर्शनं भवेत् ॥ ५॥

ॐ अस्य श्रीकुलकुण्डलीकवचस्य ब्रह्मेन्द्र ऋषिः ।
गायत्री छन्दः । कुलकुण्डली देवता । सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे विनियोगः ।

ॐ ईश्वरी जगतां धात्री ललिता सुन्दरी परा ।
कुण्डली कुलरूपा च पातु मां कुलचण्डिका ॥ ६॥

शिरो मे ललिता देवी पातूग्राख्या कपोलकम् ।
ब्रह्ममन्त्रेण पुटिता भ्रूमध्यं पातु मे सदा ॥ ७॥

नेत्रत्रयं महाकाली कालाग्निभक्षिका शिखाम् ।
दन्तावलीं विशालाक्षी ओष्ठमिष्टानुवासिनी ॥ ८॥

कामबीजात्मिका विद्या अधरं पातु मे सदा ।
ल्युगस्था गण्डयुग्मं माया विश्वा रसप्रिया ॥ ९॥

भुवनेशी कर्णयुग्मं चिबुकं क्रोधकालिका ।

कपिला मे गलं पातु सर्वबीजस्वरूपिणी ॥ १०॥

मातृकावर्णपुटिता कुण्डली कण्ठमेव च ।
हृदयं कालपृथ्वी च कङ्काली पातु मे मुखम् ॥ ११॥

भुजयुग्मं चतुर्वर्गा चण्डदोर्दण्डखण्डिनी ।
स्कन्धयुग्मं स्कन्दमाता हालाहलगता मम ॥ १२॥

अङ्गुल्यग्रं कुलानन्दा श्रीविद्या नखमण्डलम् ।
कालिका भुवनेशानी पृष्ठदेशं सदावतु ॥ १३॥

पार्श्वयुग्मं महावीरा वीरासनधराभया ।
पातु मां कुलदर्भस्था नाभिमुदरमम्बिका ॥ १४॥

कटिदेशं पीठसंस्था महामहिषघातिनी ।
लिङ्गस्थानं महामुद्रा भगं मालामनुप्रिया ॥ १५॥

भगीरथप्रिया धूम्रा मूलाधारं गणेश्वरी ।
चतुर्दलं कक्ष्यपूज्या दलाग्रं मे वसुन्धरा ॥ १६॥

शीर्षं राधा रणाख्या च ब्रह्माणी पातु मे मुखम् ।
मेदिनी पातु कमला वाग्देवी पूर्वगं दलम् ॥ १७॥

छेदिनी दक्षिणे पातु पातु चण्डा महातपा ।
चन्द्रघण्टा सदा पातु योगिनी वारुणं दलम् ॥ १८॥

उत्तरस्थं दलं पातु पृथिवीमिन्द्रपालिता ।
चतुष्कोणं कामविद्या ब्रह्मविद्याब्जकोणकम् ॥ १९॥

अष्टशूलं सदा पातु सर्ववाहनवाहना ।
चतुर्भुजा सदा पातु डाकिनी कुलचञ्चला ॥ २०॥

मेढ्रस्था मदनाधारा पातु मे चारुपङ्कजम् ।
स्वयम्भूलिङ्ग चार्वाका कोटराक्षी ममासनम् ॥ २१॥

कदम्बवनमापातु कदम्बवनवासिनी ।
वैष्णवी परमा माया पातु मे वैष्णवं पदम् ॥ २२॥

षड्दलं राकिणी पातु राकिणी कामवासिनी ।
कामेश्वरी कामरूपा श्रीकृष्णं पीतवाससम् ॥ २३॥

वनमाला वनदुर्गा शङ्खं मे शङ्खिनी शिवा ।
चक्रं चक्रेश्वरी पातु कमलाक्षी गदां मम ॥ २४॥

पद्मं मे पद्मगन्धा च पद्ममाला मनोहरा ।
रादिलान्ताक्षरं पातु लाकिनी लोकपालिनी ॥ २५॥ (कादिलान्ताक्षरं)
षड्दले स्थितदेवांश्च पातु कैलासवासिनी । (षड्वर्गस्थितदेवीश्च)
अग्निवर्णा सदा पातु गणं मे परमेश्वरी ॥ २६॥

मणिपूरं सदा पातु मणिमालाविभूषणा ।
दशापत्रं दशवर्णं डादिफान्तं त्रिविक्रमा ॥ २७॥

पातु नीला महाकाली भद्रा भीमा सरस्वती ।
अयोध्यावासिनी देवी महापीठनिवासिनी ॥ २८॥

वाग्भवाद्या महाविद्या कुण्डली कालकुण्डली ।
दशच्छदगतं पातु रुद्रं रुद्रात्मकं मम ॥ २९॥

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरा पातु सूक्ष्मस्थाननिवासिनी ।
राकिणी लोकजननी पातु कूटाक्षरस्थिता ॥ ३०॥

तैजसं पातु नियतं रजकी राजपूजिता ।
विजया कुलबीजस्था तवर्गं तिमिरापहा ॥ ३१॥

मन्त्रात्मिका मणिग्रन्थिभेदिनी पातु सर्वदा ।
गर्भदाता भृगुसुता पातु मां नाभिवासिनी ॥ ३२॥

नन्दिनी पातु सकलं कुण्डली कालकम्पिता ।
हृत्पद्मं पातु कालाख्या धूम्रवर्णा मनोहरा ॥ ३३॥

दलद्वादशवर्णं च भास्करी भावसिद्धिदा ।
पातु मे परमा विद्या कवर्गं कामचारिणी ॥ ३४॥

चवर्गं चारुवसना व्याघ्रास्या टङ्कधारिणी ।
चकारं पातु कृष्णाख्या काकिनीं पातु कालिका ॥ ३५॥

टकुराङ्गी टकारं मे जीवभावा महोदया ।
ईश्वरी पातु विमला मम हृत्पद्मवासिनी ॥ ३६॥

कर्णिकां कालसन्दर्भा योगिनी योगमातरम् ।
इन्द्राणी वारुणी पातु कुलमाला कुलान्तरम् ॥ ३७॥

तारिणी शक्तिमाता च कण्ठवाक्यं सदावतु ।
विप्रचित्ता महोग्रोग्रा प्रभा दीप्ता घनासना ॥ ३८॥

वाक्स्तम्भिनी वज्रदेहा वैदेही वृषवाहिनी ।
उन्मत्तानन्दचित्ता च क्षणोशीशा भगान्तरा ॥ ३९॥

मम षोडशपत्राणि पातु मातृतनुस्थिता । (मातुलसंस्थिता)
सुरान् रक्षतु वेदज्ञा सर्वभाषा च कर्णिकाम् ॥ ४०॥

ईश्वरार्धासनगता प्रपायान्मे सदाशिवम् ।
शाकम्भरी महामाया साकिनी पातु सर्वदा ॥ ४१॥

भवानी भवमाता च पायाद्भ्रूमध्यपङ्कजम् ।
द्विदलं व्रतकामाख्या अष्टाङ्गसिद्धिदायिनी ॥ ४२॥

पातु नासामखिलानन्दा मनोरूपा जगत्प्रिया ।
लकारं लक्षणाक्रान्ता सर्वलक्षणलक्षणा ॥ ४३॥

कृष्णाजिनधरा देवी क्षकारं पातु सर्वदा ।
द्विदलस्थं सर्वदेवं सदा पातु वरानना ॥ ४४॥

बहुरूपा विश्वरूपा हाकिनी पातु संस्थिता ।
हरापरशिवं पातु मानसं पातु पञ्चमी ॥ ४५॥

षड्चक्रस्था सदा पातु षड्चक्रकुलवासिनी ।
अकारादिक्षकारान्ता बिन्दुसर्गसमन्विता ॥ ४६॥

मातृकाणां सदा पातु कुण्डली ज्ञानकुण्डली ।
देवकाली गतिप्रेमा पूर्णा गिरितटं शिवा ॥ ४७॥

उड्डीयानेश्वरी देवी सकलं पातु सर्वदा ।
कैलासपर्वतं पातु कैलासगिरिवासिनी ॥ ४८॥

पातु मे डाकिनीशक्तिर्लाकिनी राकिणी कला ।
साकिनी हाकिनी देवी षड्चक्रादीन् प्रपातु मे ॥ ४९॥

कैलासाख्यं सदा पातु पञ्चाननतनूद्भवा ।

हिरण्यवर्णा रजनी चन्द्रसूर्याग्निभक्षिणी ॥ ५०॥

सहस्रदलपद्मं मे सदा पातु कुलाकुला ।
सहस्रदलपद्मस्था दैवतं पातु खेचरी ॥ ५१॥

काली तारा षोडशाख्या मातङ्गी पद्मवासिनी ।
शशिकोटिगलद्रूपा पातु मे सकलं तमः ॥ ५२॥

वने घोरे जले देशे युद्धे वादे श्मशानके ।
सर्वत्र गमने ज्ञाने सदा मां पातु शैलजा ॥ ५३॥

पर्वते विविधायासे विनाशे पातु कुण्डली ।
पादादिब्रह्मरन्ध्रान्तं सर्वाकाशं सुरेश्वरी ॥ ५४॥

सदा पातु सर्वविद्या सर्वज्ञानं सदा मम ।
नवलक्षमहाविद्या दशदिक्षु प्रपातु माम् ॥ ५५॥

इत्येतत्कवचं देवि कुण्डलिन्याः प्रसिद्धिदम् ।
ये पठन्ति ध्यानयोगे योगमार्गव्यवस्थिताः ॥ ५६॥

ते यान्ति मुक्तिपदवीमैहिके नात्र संशयः ।
मूलपद्मे मनोयोगं कृत्त्वा हृदासनस्थितः ॥ ५७॥

मन्त्रं ध्यायेत्कुण्डलिनीं मूलपद्मप्रकाशिनीम् ।
धर्योदयां दयारुढामाकाशस्थानवासिनीम् ॥ ५८॥

अमृतानन्दरसिकां विकलां सुकलां शिताम् ।
अजितां रक्तरहितां विशक्तां रक्तविग्रहाम् ॥ ५९॥

रक्तनेत्रां कुलक्षिप्तां ज्ञानाञ्जनजयोज्ज्वलाम् ।
विश्वाकारां मनोरूपां मूले ध्यात्त्वा प्रपूजयेत् ॥ ६०॥

यो योगी कुरुते एवं स सिद्धो नात्र संशयः ।
रोगी रोगात्प्रमुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ ६१॥

राज्यं श्रियमवाप्नोति राज्यहीनः पठेद्यदि ।
पुत्रहीनो लभेत्पुत्रं योगहीनो भवेद्वशी ॥ ६२॥

कवचं धारयेद्यस्तु शिखायां दक्षिणे भुजे ।
वामा वामकरे धृत्त्वा सर्वाभीष्टमवाप्नुयात् ॥ ६३॥

स्वर्णे रौप्ये तथा ताम्रे स्थापयित्त्वा प्रपूजयेत् ।
सर्वदेशे सर्वकाले पठित्वा सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ६४॥

स भूयात्कुण्डलीपुत्रो नात्र कार्या विचारणा ॥ ६५॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धिविद्याप्रकरणे
षड्वक्त्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे कन्दवासिनीकवचं
अथवा कुलकुण्डलिनीकवचं सम्पूर्णम् ॥

Encoded by Gopal Upadhyay gopal.j.upadhyay at gmail.com
Proofread by Gopal Upadhyay, PSA Easwaran psaeaswaran at gmail.com

.. ShrI Kulakundali or Kandavasini Kavacha Stotram ..

Searchable pdf was typeset using XeTeXgenerateactualtext feature of XeLaTeX 0.99996
on August 20, 2017

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

।।श्री-कुण्डलिनी-सहस्राधिक-नाम-स्तोत्रम्।।

महामण्डलेश्वरः
डा. स्वामी वेद भारती
हिमालय के स्वामी राम के शिष्य

श्री-कुण्डलिनी-सहस्राधिक-नाम-स्तोत्रम्

हिमालयाभिजन-
श्री-स्वामि-राम-पादुका-
शिष्येण

महा-मण्डलेश्वर
स्वामी वेद भारती
इत्यनेन यथा-दृष्टम्

स्वामि-राम-साधक-ग्रामे
ऋषिकेश-पुर्यां
उत्तराञ्चल-हिमालयेषु

विक्रमीय-हेमलम्ब-नाम-संवत्सरे
२०६१
फाल्गुन-पूर्ण-चन्द्रमसि

© Mahamandaleshvara Swami Veda Bharati, D.Litt.

Published by :
SRSG Publications
Swami Rama Sadhaka Grama (SRSG)
Vill. Virpur Khurd, Virbhadra Road,
P.O. Rishikesh (UA) India
Phone : 91-135-2453030, 2453440
Fax : 91-135-2431582
Email : srsgp@sancharnet.in
Website : www.srsgpublications.com

The Meditation centre, 631 University Ave NE,
Minneapolis, MN 55413, USA

Phone : 1-612-379-2386; Fax : 1-612-379-2456;
Email : info@themeditationcentre.org

ॐ

गुरवे नमः

परमेष्ठि-गुरवे नमः

परम्परा-गुरुभ्यो नमः

हिरण्य-गर्भादारब्धां शेष-व्यासादि-मध्यमाम्
स्वामि-श्री-राम-पादान्तां वन्दे गुरु-परम्पराम्

इमां नः शग्मां प्रथमां जीव-रोधम
ऋतस्य चेत्रीमृतावृधं- गाधाम्
नि-गूहन्तीं चिद्-गह्वरेष्वात्मानं
पर्वन् पर्वन् स्पन्दमानां सु-मेरोः

सुम्न-प्रेष्ठां धियं-जिन्वानांमदितिं
उग्रां शर्वां द्युम्न-स्तोमं गृणन्तीम्
अ-स्वप्नां धियां सरः सु नः सप्तसु
देवात्म-शक्तिं त्मन् तन्वां ह्वयामसि

नमो वज्रिण्यै ब्रह्म-नाड्यै नमो नमः
नमो वहन्त्यै सु-ष्ठिरायै नमो नमः
नमस्तडिते सु-षुम्णायै नमो नमः
धियस्कम्भायै मन्त्र-नाम्न्यै
सरण्यै बिन्दु-ष्ठायै
नमो नमः

हरिः ॐ तत्सदिति

स्वस्ति श्रीमत्समस्त-सुर-वृन्द-पूजित-पादारविन्द-शिव-प्रतिबिम्बवर्य-श्रीमत्परम-हंस-परिव्राजकाचार्य-पद-वाक्य-प्रमाण-ज्ञ-सांख्य-त्रय-प्रतिपादक-श्रीमत्-शङ्कराचार्यान्वय-करवीर-सिंहासनाधीश्वर-अनन्त-श्री-विभूषित-साक्षाद्-ब्रह्मविद्या-स्वरूप-

श्रीमद्-विद्या-नृसिंह-भारती-
चरण-कमल-पादुकाभ्य
एतत्
श्री-कुण्डलिनी-सहस्राधिक-नाम-स्तोत्रं
न मेमेति भावितं
स्वामि-वेद-भारतीत्यनेन
सप्रणिपातं समर्प्यते
तत् स्वीक्रियतामनुकम्पोदधि-रूपाभिः
श्री-चरण-पादुकाभिः

ऋषिकेशे
स्वामि-राम-साधक-ग्रामे
उत्तराञ्चल-हिमालये

विक्रमीय २०६१
हेमलम्बि-संवत्सरे
फाल्गुन-पूर्णिमा-तिथौ

॥ ॐ ॥ श्रीं ॥ ॐ ॥

१.
अस्ति-नास्ति-प्रान्त-सीमा-सरिन्मध्यस्थ-वीचिषु
अस्ति वा नास्ति वा क्वीश्चदणिष्ठो वीचिरंशुमान्
२.
तस्य सूक्ष्मतमः केन्द्र-बिन्दुर्द्वीर्भुवनान्तरम्
प्र-वेष्टुं गगनातीतमेकान्तं ब्रह्म-ख-स्थितम्
३.
काले ऽकाले क्वचित् तत्र यत्र नैव युगायते
न च कल्पायते क्वापि निर्विकल्प-चिति-स्थितैः
४.
अ-नाम-रूपं बिभ्रद्भिर्दिक्-काल-शमनान्त-गैः
तत्रा ऽनामा ऋषिः कश्चिद् वीचि-बिन्दौ क्षणं विशन्
५.
प्राप लोकोत्तरं लोकालोकैकान्तं तडिद्-वियत्
आत्मभासं च सम्प्राप्य तस्यैव तडितः स्वयम्
६.
दृग्भिश्चौः कुट्टिमं न कृत्वा कुटजमाविशत्
तत्रात्म-रतिरात्म-श्रीस्त्यक्त-बुद्धिः समाहितः
७.
आत्मा ऽऽत्मा रमते चित्-खे सु-खं नापि न चासु-खम्
अथ तत्-पूर्व-सच्चिच्छ्याः कस्मिंश्चिद् भुवने स्थिताः
८.
कस्यां चिदस्ति-सद्-भूम्यामाश्रमे ऽहन्धिया श्रिताः
स्वमाचार्यमपश्यन्त उद्विग्न-मनसो ऽभवन्
९.
तत्र केचित् तद् वि-जुहुराश्रमं गुरु-शक्ति-जम्
इतस्ततः प्र-चेरुश्च दिक्-काल-मनसो ऽधिया

१०.
एकस्तत्राभवच्छिष्यश्चिदात्म-धृत-बुद्धिमान्
उत्तिष्ठासन्नाम-रूपादारोढुं नाशकत् स्वयम्

११.
तस्मै च ददिवान् नाम स-नामेति हसन् गुरुः
प्र-स्थास्यन् नाम-भूमेः स पूर्वं बिन्दु-प्र-वेशनात्

१२.
स एष शिष्यः सं-स्मारं सं-स्मारं गुरु-मानसम्
गुरौ सं-स्थाप्य चित्तं स्वं सम्प्र-ज्ञात-स्थितिं गतः

१३.
तत्रैष तिष्ठन्नैकाग्र्य-भूम्यां सिद्ध-गुरुं स्मरन्
मौनोद-सरसः कूले चान्तः-कैलाश-सन्निधौ

१४.
गुरु-चक्र-स्थित-प्रज्ञो मौनं ध्यायति गायति
सच्चिद्व्याहृतिप्रियं मन्त्रं "तस्मै-श्री-गुरवे नमः"

१५.
तस्यैवं स्मरतो नित्यं गुरोः सन्ध्यायतो बलम्
चिच्चक्षुस्त्रेण गुरुस्तस्य शुश्रावार्त्यर्थितं मुनेः

१६.
शिष्याय तस्मै श्रेष्ठाय स-बलायाधि-कारिणे
नाम-रूपार्थ-दिक्-काल-पाशं छेदयितुं क्षणे

१७.
अभि-ध्यानानु-ग्रहेण समाकृष्य स्व-तेजसा
तस्य चेतः प्रति-ष्ठाप्य स्व-कुटीरे तडित्-कृते

१८.
उवाच तं मौन-गिरा प्र-भा-स्पन्द-स्व-रूपया
यत् त्वं चित्त-प्रसादेन चेश्वर-प्र-णि-धानतः

१९.
तीव्र-सं-वेगः स्व-गुरौ नित्यमर्पित-चेतसा
आकारयसि मां नित्यं नमस्कृत्य पुनः पुनः

१०.
तदहन्त्वां समाकृष्यानिनायैतदनाश्रमम्
स्व-स्थं चिन्मयाऽऽकाश-शक्ति-धारा-प्र-भास्वरम्

११.
हन्त ते कथयिष्यामि यत् स्याज्जिज्ञासितं तव
वारयामि च सन्देहान् पृच्छ पृच्छाद्य-मानसः

१२.
स-नामा नाम शिष्यः स दृष्ट्वात्मानं समागतम्
प्रोवाच वि-स्मित-मना अ-पारस्त्वदनु-ग्रहः

१३.
त्वामेवं प्रति-पृच्छामि प्र-णि-पत्य पुनः पुनः
सम्प्र-ज्ञातात् धर्म-मेघं मुमुक्षुः कथमाप्नुयात्

१४.
असम्प्र-ज्ञातं-कैवल्यं त्वादृग्-लभ्यं कथं लभे
इतिश्रुत्वा स आचार्यो ह्यनामा श्रुति-मूर्तिमान्

१५.
स्व-चिदावेश्य तद्-बुद्धौ प्रैरतेदं वचोऽवचः
येयं शक्तिः कुण्डलिनी विराडात्मा त्वयि स्थिता

१६.
बिस-तन्तु-निभामेतां विद्युदात्मां समाश्रय
भूरि-वर्णोज्ज्वलद्-धारां रश्मि-रेखा-स्वरूपिणीम्

१७.
सहस्र-नाम्न्यामेतस्यां मन्त्रैकाग्र्य-धिया यदा
श्वासानु-श्वास-पथिभिः प्रारोहस्यव-रोहसि

१८.
ततः सा योग-निःश्रेणी त्वरयाव्य-वि-कम्पया
मादृग्-लभ्ये चित्-कुटीरे नित्यं स्थातुं दिवं लभेत्

१९.
सनामोवाच रोहामि योग-पन्थानमादरात्
सहस्र-नाम्नीं यां देवीं श्री-भवानाह-शाश्वतीम्

२०.
कानि तस्याः स्व-नामानि सहस्राङ्क-मितान्यहो
एवं पृष्टः स-नाम्ना सो ऽनामा चैतन्य-मात्रकः

२१.
आचार्यः प्राह सच्छिष्यं यथा-साक्षाद् वदामि ते
नाम्नां तत्त्वं कुण्डलिन्या मननादेव गम्यते

२२.
तत ऊर्ध्वं नि-दिध्यासात् शक्ति-पातात् तदुत्तरम्
यथा ऽच पिण्ड-स्थां योगी पश्येत् तडिद्वराम्

२३.
तथा ऽ विराडात्म-रहस्यं वेत्ति तत्त्वतः
सर्वा विद्याः कलाः सर्वास्तस्य स्युः शक्ति-योगिनः

२४.
जयेच्छक्ति-त्रयं साक्षात् सर्वाः शक्तीः रहः-स्थिताः
गुह्यमर्थन्तदा नाम्नां वेत्ति योगी सहस्रशः

२५.
अथ ते सम्प्र-वक्ष्यामि तत्सहस्राधिकाभिधाः
क्षणस्यार्बुद- भागेन भा-रश्मिं प्र-क्षिपामि ते

२६.
तत्-क्षणांशेन तज्ज्ञानं धियि ते सम्प्र-वेक्ष्यति
तत एव समास्थाया त्म-शक्तिं द्यु-कुण्डलीम्

२७.
अ-सम्प्र-ज्ञात-योगेन ह्या ऽऽत्मा ऽऽत्मस्थो भविष्यसि
तद् विद्धि नाम कैवल्यं निर्वाणं मोक्षमेव वा

२८.
कुण्डलिनी तदैषा स्यात् स्वात्मा ते त्वं च चित्-तडित्
यथा यथा तु प्रत्येकं नाम वच्मि तथा तथा

२९.
तद् रहस्यं विराडण्डे तथा द्रक्ष्यसि चात्मनि
एतत् पदं समास्थाय ततो ब्रह्मणि लीयसे

३०.
तत्रश्चिक्षेप चिच्छक्तिं शुभ्रां शिष्य-चितौ गुरुः
तस्याभावेष्ट्च नामानि पश्यन्तीत्याख्यया गिरा

३१.
"क्षणस्यार्बुद-भागेन प्रातिभानि च तच्चितौ
प्रादुर्बभूवुः सहजं स-रहस्यानि तत्त्वशः

३२.
आ-चक्र-मूला-ब्रह्माण्डं साक्षात् पूर्णं ददर्श सः
पश्यन्त्या मध्यमां वाचं क्रमशः सोऽव-रोहयन्

३३.
यथा जगाद शिष्येभ्यो मानसेभ्यश्च ते तथा
सहस्राधिक-नामाख्यं ददुः स्तोत्रं जनौ जनौ

३४.
तत् परम्परया दत्तं स्फुरदस्मच्चितौ क्षणे
दीयतेऽत्र मुमुक्षुभ्यो हानु-कम्पा-प्र-पूरितम् ॥

॥ॐ॥
अथ
॥ कुण्डलिनी- सहस्राधिक-नाम-स्तोत्रम् ॥

॥ श्रीं ह्रैं ह्रीं क्लीं क्रीं श्रीं ॥

१. तच्छब्दार्था त्वम्पदार्था अस्यर्था ऽहम्पद प्रथा
आत्मात्मा चास्मि-बोध्या च प्रज्ञान-ब्रह्म-सार्थता

२. पूर्णाहन्ता चास्ति-बोध्या चेदन्ता ऽइं-स्वरूपिणी
सिद्धि-दात्री ब्रह्म-रात्रिरहम्भाव-निषेधिनी

३. अहम्ब्रह्म-महावाक्य-चिन्ता-चित्त-प्रपूरणी
अहम्ब्रह्मातिरिक्तार्थ-चिन्तन-प्रविरेचनी

४. अहम्ब्रह्म-महास्थान-रस-पूर्ण-सुकुम्भिका
अनन्त-शक्ति-निष्यन्दा अनन्त-स्पन्दन-स्व-भूः

५. प्रत्ययैक-प्रवाहस्थ-ध्यान-स्थिति-सुधा-सरित्
ज्योतीरूपा ऽहि-माया च बुध्न्या बोधि-वट-प्रथा

६. ऊर्ध्व-मूला ऽप्यधः शाखा अश्वत्था सृष्टि-कोविदा
अश्वत्थ-पत्र-निलया चाश्वत्थ-विलयार्थिनी

७. जीवन्ती जीवनी जीवा जीव-शक्ति-महासना
ब्रह्माण्ड-सुविराट्-प्राण-सहजायाम-धारिणी

८. ब्रह्माण्ड-नाद-वर्णात्म-प्रत्याहार-स्थिरद्रुहो
परमाणु-महत्त्वान्त-धारणा-धरणी-धरी

९. सविचारा निर्विचारा धर्ममेघान्त-संस्थितिः
सविकल्पा निर्विकल्पा तुरीया चाप्यनुत्तरा

१०. अन्नमयी प्राणमयी मनो-विज्ञान-कोषिणी
आनन्दमयकोषस्था त्रिषप्ताकृति-बिभ्रती

११. स्वच्छात्म-स्फटिकादर्श-प्रतिबिम्ब-विसर्ग-भूः
प्रतिबिम्बित-विश्वाण्ड-परामर्श-विमर्श-भूः

१२. प्रतिवस्तु-प्रतिप्राणि-स्वांश-शक्त्यवतारिणी
षोडशी पूर्णिमा-तत्त्व-कला-तत्त्वबोधिनी

१३. विश्वरूपा विश्वप्रस्था भूयोभूमा तुविप्रथा
वैश्वानरी वासुदेवी चेशावास्या सुवासिनी

१४. ख-मेरु-दण्ड-गमना मेरु-दण्ड-पिपीलिका
कोटि-ध्रुव-महाचक्र-मण्डल-भ्रमण-स्व-धूः

१५. सर्वाऽमर्थ-सरूपा ऽक्षराक्षयिणी स्वयम्
अहं-विस्मारिणी चाहं-साक्षात्कार-वर-प्रदा

१६. परस्पर-विरुद्धार्थ-समाधान-लयङ्करी
ब्रह्मर्षित्व-प्रदात्री चाप्युपसर्ग-विसर्जनी

१७. स्वात्म-बिम्ब-समालम्ब-स्वात्मादर्श-विचूर्णनी
स्व-चित्त-भित्ति-चित्रस्थ-स्वर्ज्योतिर्दीप-चित्रिणी

१८. विचित्रा चित्र-करणी चित्रा चित्र-श्रवस्तमा
सर्वेन्द्रिय-सुख-स्फूर्ति विषयान्तः प्रवाहिणी

१९ भोगि-भोज्य-स्व-सम्बन्ध-मध्यवर्त्ति-सुशृंखला
अन्तर्मुखी बहिर्वक्त्रा पराची प्राग्दिशाश्रिता

२० सुसंवादि-विसंवादि-राग-सुप्त-सुवाटिका
आधाराद्दि-सहस्रान्त-महापद्म-सुमालिका

२१. समस्त-पश्चात्ताप-शीतलीकरणोदधिः
प्रायश्चित्तिः सर्वतीर्थ-सरित्स्नान-फल-प्रदा
२२. पूजा-कर्म-तपो-होम-ध्यानासन-निषेदुषी
हृष्यर्था च हृषीकेशी तरणिस्तारिका तरिः
२३. ऊर्ध्व-सर्प-सटा विष्णोः शेष-शय्या लयान्तगा
शिवाङ्ग-भूषा-नागेशी चोत्सर्पिण्यवसर्पिणी
२४. सर्व-विद्या-व्याकरणी सन्ध्या-भाषा-स्वरूपिणी
समस्त-भाषा-भृङ्गारा साद्यन्त-लिपि-रूपिणी
२५. सुषुम्ना-स्वर-वासो-धाः वास्तु-नाडी-शरीरिणी
सुवासना सर्व-वीरुत्सुषुम्नान्तः-प्रवहत्सरित्
२६. चक्रवर्ति-महासेना-मूलादि-बल-दायिनी
देवारि-सैन्याधिपति-क्षत्र-दर्प-प्रघर्षिणी
२७. श्रवणी मननी नित्य-ब्रह्म-विद्यासिनी निजा
निजाध्यक्षा निजानन्दा साक्षात्कार-स्वरूपिणी
२८. स्वान्तर्लीन-महाज्वाला दर्पि-दर्प-विदाहिनी
अक्ष-माला ऽक्ष-रा नित्याक्षरिणी क्षरणान्तगा
२९. पौरुषी पुरुषाकारा पुं-रूप-व्योम-कायिनी
पुंशक्तिश्च महावीर्या ऊर्ध्व-रेतस ईश्वरी
३०. ऊर्ध्वरेताः स्वयं देवी सखीनामूर्ध्व-रेतसाम्
ऊर्ध्व-लिङ्ग सप्तकेशी सप्त-स्तन्य-सरस्वती

३१. सर्वा सैवाप्यसर्वा च सर्वासर्वा स्व-सर्ग-गा
अ-सर्वासर्व-कोट्यन्ता सर्वासर्व- लयङ्करी

३२. सर्व-नाम्नी सर्व-धाम्नी सर्वनामा ऽविभक्तभाः
सर्व- प्राणि- सुखाराम-महारास-मधु-प्रिया

३३. पुँल्लिङ्गिनी महालिङ्गा लिङ्ग-ब्रह्माण्ड-भामिनी
लिङ्ग-देह- समष्ट्यात्मा सूक्ष्मलिङ्गमयी शिवा

३४. इन्द्रियान्तः परिष्पन्दत्सुख-हर्ष-चमत्कृता
प्रेमि-द्वय-करामर्श- चुम्बनालिङ्गिनी स्वयम्

३५. समस्तदेव-पूजार्घ्य-प्रसादान्तः- सुगूहिता
अध- ऊर्ध्व-परिष्पन्दा ऊर्ध्वज्योतिः शिखामयी

३६. ऊर्ध्व-रेखा चोर्ध्व-दृष्टिः कृपा ऽधोलोकितेश्वरी
सर्व- काम- प्रशमनी क्लेधो-लोकोद्धृतोर्ग् महो

३७. यत्र-काम-प्रसन्ना च कामि-चित्त-प्रमाथिनी
कामेन्द्रिय-परिष्पन्द-चिह्ना निष्कामिता-पुरी

३८. गिरि- स्तनी सरित्स्तन्या आत्म-भक्त-वशंवदा
व्यञ्जन- व्यञ्जन- स्वार-श्वास-प्रेरण- तत्परा

३९. स्मित-प्रज्ञा महाशुक्ला नीप-कान्तार-वासिनी
सप्त-प्रज्ञा सप्त-भूमिः सर्व- भूमिर्निरीश्वरा

४०. सहस्राक्षी सहस्रांशुः सहस्र-चरणान्विता
सहस्रशीर्ष-मन्त्रात्म-स्पन्द-मादन-सम्पदा

४१. अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डाश्रान्त-दन्त-सहस्रिणी
अनन्त-ज्वलन-ज्वाला-केश-रश्मि-चयू-सृतिः

४२. अनन्त-सूर्य-गर्भान्तर्ज्वाला ताण्डव-नर्त्तिनी
तत्त्रवि-करास्याभा-मण्डलस्थ-मुनि-स्तुता

४३. वज्राश्म-घन-दुर्दान्त-क्लेश-ध्वान्त-निशातन-
महाध्वंस-पटु-ज्ञान-निशित-क्षुर-धारिका

४४. क्षणार्ध-शत-भागस्थ-कोट्यंश-परिणामन-
दक्षा-क्ष-कक्षा-चरणाण्वन्तश्चिल्लास-नर्त्तिनी

४५. भूतिर्विभूतिः सम्भूतिः प्रभूतिः प्रभुतेश्वरी
विबुभूषा-भूषणेशी चान्द्रेतर-विक्रमा

४६. अविनाश्या बिन्दु-भेद्या चाभेद्या बिन्दु-भेदिनी
द्वयाद्वैक्य-वाक्यार्था सर्व-तत्त्वार्थ-सूत्रिणी

४७. मन्त्र-स्पन्दा महास्पन्द-महानादान्त-मन्त्रिणी
ज्योतिरन्त-महामन्त्र-स्पन्दनैक-स्वरूपिणी

४८. ध्यान-सूत्रात्मिका ध्येय-ध्यातृ-ध्यान-लयात्मिका
ऊर्ध्वाधः पार्श्व-साम्मुख्य-पृष्ठ-तिर्यङ्-निलायनी

४९. सर्व-देश-विभागघ्नी दिग्विभाग-विनाशनी
विबुभूषा-निरोधान्ता विलयेच्छाऽस्त्र-धारिणी

५०. मातृ-मेय-प्रमाणार्घ-वाद-पाश-विसंसन-
पटु-मौन-प्रतिष्ठान-कोविदा मूक-सुन्दरी

५१. ब्रह्मास्वादैक-रसना शिव-चूडा- समाश्रिता
श्वास-प्रश्वास-रशना ब्रह्माण्ड-श्वास- रूपिणी

५२. सर्व-गर्त्त- महाशाम्भ-करणी सम्प्रवर्त्तिनी
अस्ति-भाति-प्रियाकार-नाम-रूप-विवर्त्तिनी

५३. समस्त- सूर्य-लोकादि-मुण्ड-गोल- सहस्रिका-
महाभाल्य- स्वकीयात्म- महेशान- जपात्मिका

५४. जीवाभ्यन्तर- कामेश-प्रेरिता श्लेष-लक्षण-
सम्भोगैक्यज- सम्भाव- स्त्रैण-पौंस्य- लयात्मिका

५५. कोट्यर्बुदान्त- युगपच्चुम्बनाश्लेषणात्मक-
विबुभूषा- सम्बुभूषा- प्रबुभुक्षा- स्वलक्षणा

५६. सहस्र-तान्तवी वीणा वाणी कोट्यन्त-तान्तवी
योगि-सिद्ध-विनैष्कर्म्या दैवी कर्म-विपाक-दा

५७. सूत्रा सूत्रकरी विश्व- माला- सूत्रण- तत्परा
स्वान्तः प्रोत- प्रजा- सूत्रा सर्व- सूत्रार्थ- सारिणी

५८. मन्त्रा मन्त्र-करी विश्व-मनो- मन्त्रण- तत्परा
मन्त्रेश्वरी महामन्त्र-चिच्चिन्ता- प्रेरणात्मिका

५९. नामधेयमयी नष्ट-नामा क्रिं-क्रिं-स्वरूपिणी
सुरूपा सर्व-रूपा च नाम-रूप- निशातनी

६०. स्त्री-वपुः स्फुर-पुं-शक्तिः पुंस्यन्तः-स्त्रीत्व-धारिणी
स्त्री-पुं-रूपा चाद्वयेशी स्त्री- पुं-भेद-विनाशिनी

६१. नित्य-कर्म-करी स्थूल-सूक्ष्म-कर्म-प्रसाधनी
कर्मान्तःस्थिर-तैष्कार्या ऽ कर्मान्तर्वर्त्ति-कर्म-धा

६२. आचार-परमाचार्या ऋष्याचार्य-पद-प्रदा
यज्ञवाटाश्रमाराम-तरु-पङ्क्ति-हरीतिमा

६३. सहजानन्द-निष्यन्दा सौन्दर्य-सुख-दामिनी
गगनानन्द-मोदाढ्या रति-कन्दर्प-सुन्दरी

६४. अन्य-देव-परित्याग-पुण्य-पूजा-फल-प्रदा
सर्व-देव-समावेश-यज्ञाहुति-फलेश्वरी

६५. ह्यः-श्वोऽद्यादि-कालांश-सूक्ष्मार्थ-पद-भामिनी
अश्वत्थ-सर्जन-पटूः श्वःश्वो-नव्या सनातनी

६६. अकारादि-विसर्गान्ता मौनानुस्वार-वन्दिता
स्वर-स्वाधीन-वनिता ऽथाज्झल्सन्धि-संयुता

६७. हलन्तः-स्वर-जीवेशी निर्जीवाक्षर-जीवनी
उमर्वन्तः-ख-निलया उमर्वन्तर्निनादिनी

६८. कालेशोपस्थ-निलय-नित्याश्लेष-विनर्त्तिनी
रिक्त-नाम्नी महा-नाम्नी नाम-बीज-नमस्क्रिया

६९. भाविनी भाषिणी भाषा भद्रा भाग्यलता ख-भूः
विभ्वी प्रभ्वी महाभूत-सूक्ष्म-भूत-प्रमाथिनी

७०. षट्त्रिंशत्-तत्त्व-यमनी कला षोडश-रूपिणी
आ-षोडश-कलाऽऽयामा कलाऽऽयाम-निरोधिनी

७१. मानसारव्य- सरः पद्मा- सिंहासन- विराजिता
मनो-वेश्म- समासीना प्राण-वेश्म-निवासिनी

७२. ध्यान- मूर्तिर्ध्यान-लीना ध्येया सन्ध्यान-चक्रिणी
ध्यान- रतिर्ध्यानि-रक्ता ध्यान-रिक्ता ख-वर्णिनी

७३. रिक्त-चित्ता निर्मनस्का निष्प्राणा प्राण- भूमिका
प्राण-ज्योतिः प्राण-रतिरायुष्प्राण- प्रदायिनी

७४. विरागा चित्र-रागा च प्रथमा मध्यमोत्तमा
वरदाऽमृतदा दारा समस्त-विष- दारणी

७५. तनू- रथा मन्त्र-रथा स्वच्छ- स्फटिक- मौकुरी
तथागता तनु- प्राणा स्वर्भाध्वी द्यौर्मधूत्कटा

७६. मन्त्रोद्भवा मन्त्र-विद्या मन्त्र-लीना च धारणी
मन्त्रार्थ- साक्षात्कार- स्रोतो-लिङ्गा ऽप्यमन्त्रका

७७. मन्त्र-योनिस्तन्त्र-विद्या महाचक्र- धृतिर्धुरा
सर्व-चक्र- धुरीणा द्या चक्र-माता सुचक्रिणी

७८. अति- सौवर्ण- दीप्तिः सा भक्त-याचित- दायिनी
वि-शोका शोक-शमनी स्थिर-प्रज्ञा ऋतम्भरा

७९. ऋतु-चक्र- समारूढा ऋतु-चक्र- प्रवर्त्तिनी
आर्त्तव- स्रोतः-सुभगा ऋतु- काल- समागमा

८०. ऋतु-पुष्पाम्बर- धरा ऋतु-काल- प्रबोधिनी
प्रातः-सन्ध्या- हृदाभासा सायं- सन्ध्या- प्रपूरणी

८१. प्रत्याहृतैकाग्र-चित्ता धारणा ऽऽ धार- संस्थितिः
ध्यान-धारा-प्रवाह-स्था प्रत्यये साम्य- संस्थितिः

८२. समापत्तिर्निर्वितर्का निर्विचारा निरोध-भूः
सर्व- व्युत्थान- संस्कार- वृत्ति- चक्र- निरोधिनी

८३. विपर्यय-क्लेश- हन्त्री चित्त-स्थिति- निबन्धनी
अभ्यास-रूपा वैराग्य-स्मरा चित्त- प्रसादिनी

८४. मैत्री च करुणोपेक्षा मुदिता ऽऽ मोद- वर्धिनी
भाव- शुद्धि- तपो- रूपा प्रतिपक्ष- विभावना

८५. खेचरी भूचरी ख-स्था ख-स्वरूपा न-खाकृतिः
सर्वाशा सर्व- राकेशी दिक्चरी भू- पुरेश्वरी

८६. नाम- ज्वाला लेलिहाना नाद- सप्त- शिखा- युता
सप्त-विंशति- नक्षत्र- चतुष्पाद्- कलामयी

८७. मेषिणी वृषिणी मौनेत्यादि- राशि- नियामिनी
चित्रा विशाखा ज्येष्ठादि- सुविचित्रित- वत्सरा

८८. दिक्- काल- कार्य-प्रभृति- स्व- प्रजा- कुल- वत्सला
कुलीना कौल- वनिता मधु-मिश्र- तपोमयी

८९. सन्ध्या- भाषा सु- सन्धाना समयाचार- तत्परा
जप्या जल्प्य- जनालभ्या जप- माला- वि- भूषणा

९०. गुरु- मेरु- महाबीजा जप- माला- स्वरूपिणी
चन्द्रिका- शत- शीताम्भो- वर्षणी सु- वि- चर्षणा

९१. राज्य-श्री राज-मार्त्तण्डा यम-राज-निषूदिनी
मृत्युघ्नी मृत्यु-हरणी मारारिः प्रति-पक्षिणी

९२. सुषमा-सम-रूपा च सम-प्राणा समेन्द्रिया
सम-श्वासा सम-गतिः सममचित्ता समर्थता

९३. सम-मेरुः साम्य-रसा निर्विषमा वैषम्य-दा
सम-धातुः साम्य-शक्तिः सम-काया समन्तता

९४. एकैकात्म-सु-वि-ज्ञाना सर्व-प्राणि-मनो-रथा
विज्ञप्ति-मात्रता-दृष्टा अनुच्छेदा ऽप्यशाश्वती

९५. अनेकार्था ऽप्यनानार्था अनागता ऽविनिर्गता
सर्वाङ्ग-कलना रेखा बिन्दु-रूपा त्रि-कोण-गा

९६. वर्तुला वलयाकारा शून्या शून्य-नि-षेधिनी
चतुरस्रा ऽष्टाङ्ग-विद्या नौजाङ्ग-नय-गामिनी

९७. सुशेवा साम्य-सुभगा ज्या-मितिर्लिङ्ग-रूपिणी
विद्युत् सूर्यमती साक्षाज्ज्योत्स्ना चार्वीन्दु-रूपिणी

९८. अन्तर्भौम्याग्निरूपा भू-गर्भ-दावानल-द्रवा
मण्यन्तर्ज्योतिराभासा सुवर्ण-रजत-प्रभा

९९. कुण्डाग्निश्चैव होमाग्निः पाकाग्निश्च चितानला
सर्व-नक्षत्र-भासाग्निर्विद्युन्मेघ-नि-वासिनी

१००. अनन्त-कोटि-सूर्यान्तर्गर्भ-वेश्म-वि-हारिणी
अनन्त-कोटि-चन्द्रेशी चन्द्रा चन्द्र-कला स्वयम्

१०१.
यज्ञान्तर्मन्त्र- सन्तान- प्रोच्चार- स्वर- मोहिनी
यज्ञ- कुण्ड- महा- ज्वाला- शिखा- सप्त-स्वरूपिणी

१०२.
यज्ञ- वाट- समाकीर्ण- प्र- सहस्र- स्फुलिङ्गिका
तरु- प्र- तान- सुभनः- स्तम्ब- सोम- रस- प्रधिः

१०३.
आ- मूल- शाखा- पत्रान्त- वनस्पत्यौषधि- स्रवद्-
रसारोह- समारोह- व्याज- स्पन्द- तडित्- तनूः

१०४.
महा- मन्त्रेश्वरी मन्त्र- प्रेरणा मन्त्राधव- गा
मुक्तात्म- ज्ञान- साम्राज्ञी मुक्ति- धामैक- वासिनी

१०५.
रक्त- वस्त्रा रुसुम्भिता पृष्णिणी च रजस्वला
आर्त्तवी चैन्दवी गम्या लेखा विध्यद्विन्दु- प्रभास्वरा

१०६.
रक्ता च हरिता पीता नीला धूमा च गैरिकी
शुभ्र- श्वेतोज्ज्वला सर्व- वर्णैक- प्रभवा प्रभा

१०७.
सर्वाभय- महालास्या भय- ब्रह्माण्ड- ताण्डवी
महा- व्याहृति- स्वनाराध्या चाद्या निद्रा मनोन्मनी

१०८.
विषु- रूपा शची सूर्या स्वर्देवी सोम- पायिनी
अवस्यूः सुम्नयूर्नाभि- कुण्ड- वेदी मणि- प्रभा

१०९.
मधोनी सत्य- श्रवसी सुजाता च दिवित्मती
सुनीथा गोमती साध्वी शून्याकाश- विभावरी

११०.
ऋतावरी बोधयन्ती विश्व- धारा तडिद्रथा
गिरि- सानु- स्थिता ऽविघ्नी सोम- धारा धियावसूः

१११. सप्त-स्वसा त्रि-षध-स्था हव्यस्था वाजिनीवती
हव्या सु-जुष्टा सु-युम्ना माया-हन्त्री स्व-पप्रथी

११२. भव्या भाव्या भवेशानी भूति-राज्ञी विभावसूः
भवौषधिर्विभूत्यन्ता मृत्य-मृत्यु-नि-वारणी

११३. भयौषधिर्भय-पारन्दा सु-हास्य-मधु-वर्षिणी
माध्वी मृद्वी च परुषा वर्षिष्ठा युवतिः शिशूः

११४. सफला निष्फला भाल-भू-मध्य-गृह-वासिनी
भूतिः पूर्त्तिर्महाऽऽवेशा सु-वेशाभरणान्विता

११५. स्व-राज्ञी च वि-राज्ञी च सु-स्मितामृत-वर्षिणी
अन्तर्लोकासनारामा बहिर्लोकैजन-प्र-सूः

११६. स्वर्गाङ्गा ब्रह्म-रन्ध्रान्तः-सरोवर-सरोजिनी
रूप-राज्ञी नाम-शक्तिर्नाम-रूप-वि-लासिनी

११७. शब्द-शक्तिः शास्त्रार्था शास्त्रार्थ-जय-दायिनी
स्थिरा स्थेष्ठा सुषोमा च सदसस्पत्य-भाविनी

११८. सीमन्तिनी सु-भाग्या च समस्त-स्त्री-स्व-रूपिणी
गर्भ-दात्री गर्भ-धात्री स्त्रीणां दोहद-कारिणी

११९. स्तन्य-धारा पयो-वर्षा स्त्री-स्तन्य-परि-पूरणी
सु-स्वच्छ-स्फटिक-प्र-ख्य-चैतन्य-कलशात्मिका

१२०. स्वसा च दुहिता जाया जननी सुन्दरी वधूः
चैतन्य-धारा प्रेक्षात्मा निगमागम-वर्षिणी

१२१.
संस्कार-क्षेत्र-जननी वासना वासना-रिपुः
संस्कार-शक्ति-क्षयिणी वृत्तिज्ञा प्रत्ययात्मिका
१२२.
अमृतोत्सा ऽमृत-फला मृत्योरपि भयङ्करी
अमर्त्या मृत्यु-क्षयिणी मृत्यु-राज्ञ्यभयङ्करी
१२३.
सर्व-मन्त्र-धरी दीक्षा मन्त्र-प्रेरण-धर्मिणी
मन्त्र-प्रिया मन्त्र-धरी मन्त्र-जाप-परायणा
१२४.
जापकान्तर्मनश्चेतो-धी-स्पन्द-जप-जागृतिः
उद्वेग-शमनी शान्ता अद्विग्नोद्वेग-शक्ति-धा
१२५.
उत्तेजिनी शमाश्लेषा रुद्राश्लेष-वि-मर्शिनी
शिवाश्लेष-पराभृष्टा शिवाश्लेष-महालया
१२६.
पौरुषी पुरुषाधारा पुं-शक्तिः कलना-कला
लिङ्गेशी लिङ्ग-राज्ञी-च लिङ्ग-भेद-नि-वारिणी
१२७.
वाद-तर्क-सु-वाक्सिद्धिर्विध्यात्मा च नि-षेधिनी
सु-धर्मा धर्म-रहिता सु-धर्म-पथ-देशिनी
१२८.
देशिकी देशिकेन्द्रेशी प्रज्ञेशी च वि-शेषिणी
समाधि-दशकेशी सा समाधि-रस-भूः स्वयम्
१२९.
स-विकल्पा निर्विकल्पा सम्प्रज्ञात-समाधि-गा
अ-सम्प्रज्ञात-शून्यत्वा चित्तान्त-लय-कारिणी
१३०.
चित्त-क्षय-करी चेतश्चिन्ता-वृत्ति-नि-वारिणी
संवृता वि-वृता वार्त्ता वृद्धि-क्षय-नि-रोधिनी

१३१.
सप्त-धातुः काम-धातुर्नाम-धात्वर्थ-बोधिनी
भाव-षट्क-विकारार्था भाव-षट्क-वि-लापिनी

१३२.
शम्पा शान्ततमा ऽघोरा सत्या सत्यानृतात्मिका
महा-सारवती सारा सरीसृपवती सरित्

१३३.
सांख्या सखी सुखासीना सरो-रुह-सृतिः स्मृतिः
सरो-रुह-प्रिया प्रीतिः सुखासना सना-प्रिया

१३४.
तपस्वती तपो-धात्री तपो-दात्री तपस्विनी
तपोमयी तपस्त्रात्री सा तपस्वि-प्रिया सनिः

१३५.
उषाः सन्ध्या सदाभासा सदाच्छाया रवि-प्रिया
गायित्री रसना नेत्री सर्वेन्द्रिय-रसास्थिता

१३६.
श्वासार्जिता श्वास-देहा श्वासार्चा श्वसन-प्रिया
विश्वास्या ऽपान-शमनी ब्रह्माण्ड-प्राण-चारिणी

१३७.
अदितिर्धर्म-रूपा भ्राट् भ्रात्री भर्त्री भृतिर्भरा
निर्भरा निर्भरा नौडा स्रोतस्वती सरो-रुहा

१३८.
अहन्त्वं स च सा-चासौ साहं सोऽहमयन्त्वयम्
इदमेतच्चैष एषा सर्व-नामार्थ-भूः स्वयम्

१३९.
शाक्या भाव्या भाव-भाषा नवधा-रस-वर्त्तिनी
प्रथमा ऽन्त्या सुवर्णा च वर्णिनी प्रथमा च गौः

१४०.
स्वयं-सौभाग्य-संयुक्ता स्व-पत्नी चाप्यभर्तृका
धारणा धारणी धैर्या भावना धिषणा च धीः

१४१.
ज्योत्स्ना रश्मी रसादाना रसदा च रसाभिधा
मधु-स्तन्या स्तन्य-साम्नी वात्सल्यामृत-संस्रवा

१४२.
प्रत्ना माध्वी तडिद्वीरा विद्युद्धसा पुरु-ष्टुतिः
शतोतिश्च सहस्रोतिर्मन्म-रिक्था सु-वाग्रसा

१४३.
दिवां माता चन्द्र-रथा मध्यन्तर्वेश्म-वासिनी
चेतो-घृत-जुहूर्योषा भ्राजज्जन्मा मख-त्विषी

१४४.
भ्राजदृष्टी रुद्र-सूनूरर्किणाभिष्ट-दाशुषी
हिरण्याक्षी स्वर्ण-गर्भा तुवि-शुष्मा तुवि-ष्टुतिः

१४५.
महि-व्रता देव-वीतिः स्वर्वीथिर्मधुमत्तमा
सोम-धानी भूरि-धारा विभु-नाडी वि-दाशुषी

१४६.
प्राण-स्कम्भा सत्य-दोग्ध्री ज्योतिर्दोग्ध्री तनू-त्यजा
जीव-वाम्रा महा-वीर्या सुम्नान्तः-प्र-वहत्सरित्

१४७.
पूर्णा रुक्मा ऽर्जुनी कृष्णा रोचिश्चित्र-श्रवस्तमा
वैश्वानरी विश्व-वारा चित्र-भानुर्विवस्वती

१४८.
देवयन्ती च हव्यौही सुख-वापी सु-सन्दृशा
मनुष्वती सुषणना चेतोऽन्तर्मधु-दाशुषी

१४९.
प्रेङ्खा प्रेक्षा व्रत-योक्त्री दिवि-स्पृक् सप्त-सं-क्षितिः
भैरवन्तः-प्र-स्फुरद्दृश्मिः शाक्ती शैवी च वैष्णवी

१५०.
सौरी चैन्द्री गाणपत्या अ-वि-तन्द्रा रजीयसी
ज्योतिश्चक्रा वासु-धानी प्रिय-मेधा पुरु-वसूः

१५१.
सूर्य-रोचिश्चेन्दु-रोचिरुरु-गाया सु-मेधुरा
ऋतेर्भिर्ऋृत-सिन्धुश्च शोचिषी शुचि-बुद्धुदा

१५२.
मदिरा मन्दिरारूढा मण्डलान्तः-प्र-चारिणी
स्थूणा चञ्चत्पदा ऽच्छिद्रा छिद्र-चाञ्चल्य-हारिणी

१५३.
मधु-वृष्टिर्मधूत्सृष्टा चित्राभा चित्र-यज्ञिया
अ-सं-श्लिष्ट-सु-सन्धाना समाधान-विधि-प्रिया

१५४.
सन्धि-वि-ग्रह-राज्ञी सा वि-ग्रहान्त-विनेक्षिणी
मधु-दृष्टिर्मधु-स्फीता मधु-चक्षुः-कटाक्षिणी

१५५.
वि-चित्र-कबरी-भार-न्यन्तर्गूढ-मणि-प्रभ-
सहस्र-कोटि-ब्रह्माण्ड-शिरो-भूषण-धारिणी

१५६.
सहस्र-कोटि-ब्रह्माण्ड-राज्ञ्यन्तर्गुप्त-चारिणी
नग्न-योनिः शून्य-वसना ख-गङ्गा-वि-प्र-वाहिणी

१५७.
ख-दुकूला खल-प्राप्या प्राच्यङ्गी प्राच्य-नूतना
प्राणाध्वर-महा-होत्री प्राणोत्सव-वि-तर्क्षिणी

१५८.
सूक्ष्म-घोषा महा-घोषा प्राण-नाद-वि-नादिनी
नाद-शून्या शून्य-नादा नादान्त-ख-वि-सर्पिणी

१५९.
वि-सर्ग-सृष्टा ऽनुस्वार-मौन-लीना लयाधिपा
वि-वर्त्त-चक्र-चरणी चक्र-बिन्दु-वि-लोपिनी

१६०.
चक्र-द्वयान्तरालस्था ग्रन्थि-गुण्ठन-तत्परा
ग्रन्थि-सम्भेदन-व्यस्ता बिन्दुतीता ख-वेन्द्र-दा

१६१.
अ-व्यक्त-स्वर-सन्नादा व्यञ्जनादा स्वरेश्वरी
सर्व-चाञ्चल्य-शमनी स्पन्दनात्मा तडित्सरित्

१६२.
मेरु-दण्ड-स्पन्दयित्री शक्ति-चक्र-महेश्वरी
अर्ध-नारीश्वरी शैवी चार्ध-नारेश्वरी सती

१६३.
नित्य-शून्य-गुहावास-तपश्चर्या-फलात्मिका
अनङ्गिनी चेन्द्रियाङ्ग-विहारिण्यचला चला

१६४.
दिक्कालाद्यम्बरा कोश-वस्त्रा विद्युत्-स्फूर्त्यंशुका
चिदम्बरा च चिद्-वेश्म-वि-हारिण्यफला बला

१६५.
शून्यादि-शून्यान्तान्तर्मौन-सिंहासनास्थिता
सर्व-च्चत्रेश्वरी वास्तु-जीव-संज्ञोदकेश्वरी

१६६.
नासान्तर्विचरत्सूर्य-चन्द्र-शक्ति-मयूखिनी
सरण्यूश्च शरण्या च सुखरा मौन-वाग्मता

१६७.
मौन-वेत्तृ-महा-विद्या मौन-ज्योतिस्तरंगिणी
अ-चिन्त्य-चेतना चाभ्र-भ्रमयित्री भुवम्भरा

१६८.
आकाश-वसना नित्य-भर्गा स्तुत-पयोधरा
तन्त्रिणी तन्त्र-राज्ञी च मन्त्र-स्रोतः-सरित् सु-गा

१६९.
सु-गतिः सौम्य-रशना चेतः-पर्यङ्क-शायिनी
चितोद्बोध-करी चैत्य-श्मशानोद्भवनी चिता

१७०.
परार्ध-जप-रिक्तेशी नक्तेशी च दिवेश्वरी
भवती भवदाकारा भावत्को त्वं-स्व-रूपिणी

१६१. युष्माकीना चास्मदीया सर्वेषा तत्स्व-रूपिणी
प्राची प्रतीची चैवोर्ध्वा ध्रुवोदीची च दक्षिणा

१६२. आग्नेय्यपि च वायव्या ईशानी चैव नैर्ऋती
सर्व-दिक्-समवस्थाना सर्व-दिक्-प्र-वि-लोपिनी

१६३. जाग्रती स्वप्न-साम्राज्ञी सुषुप्तिः प्रलयात्मिका
प्र-ज्ञा-पारमिता वज्र-च्छेदिनी च्छिद्र-प्र-पूरणी

१६४. सम्प्रतीक्षा साम्प्रतिकी स्वैरिणी ब्रह्म-चारिणी
स्थविष्ठा सुषिरा पाङ्क्ती स्व-धितिश्चाक्षितिः क्षितिः

१६५. किम्पदार्था सत्पदार्थाऽसत्पदार्थाऽद्विधा-स्थिता
प्राणिन्यपानिनी व्याना समानोदान-सत्त्व-गा

१६६. श्रद्धा ऽश्रद्धा चिकित्सा च वि-चिकित्सा ऽधृतिर्धृतिः
बिन्दु-सिंहासना बिन्दु-वेदध्री विदध्रा विधान-दा

१६७. शत-सागर-गाम्भीर्य-प्र-मात्री भव-रूपिणी
भवोदध्यन्तगा नौका प्राणन्ती बिस-तान्तवी

१६८. कूर्म-पृष्ठ-समासीना कूर्म-नाडी-सम-स्थितिः
आधार-शुद्धिराधार-स्थैर्य-दा शेष-शायिनी

१६९. प्राणन्ती प्राण-सद्रूपा प्राण-मूला मनोमयी
लसद्रूपा रिक्त-रूपा विरूपाक्ष्यप-रूपिणी

१७०. पञ्च-प्राणा मध्य-सूक्ष्मा चोर्ध्वाध-उभयायना
बहिर्गतिश्चान्तः-स्थिता भ्रू-मध्य-सु-वि-लासिनी

१८१.
प्राणन्ती प्राण-सद्रूपा प्राण-मूला मनोमयी
लस-द्रूपा ऽरिक्त-रूपा विरूपिण्यभित्त-प्रथा

१८२.
पञ्च-प्राणा सु-सूक्ष्मान्तोर्ध्वगामिन्युभाग्रना
अन्तर्यानी बहिर्यानी भ्रू-मध्य-सु-वि-लासिनी

१८३.
सहस्रार-समारूढा स्मृत्याधारा ऽसती सती
सिता ऽसिता ताप-हर्त्री ताप-कर्त्र्यति-शायिनी

१८४.
ग्रन्थि-देवी सु-ग्रथिता ख-गा ग्रन्थि-वि-भेदिनी
नाभि-चक्र-वि-वर्त्तान्तर्भ्रमणी चक्र-वर्त्तिनी

१८५.
गगनानन्दिनी गाह्या नृत्या गगन-नर्त्तिनी
नभो-मृदङ्गिणी गत्यागीता गगन-गामिनी

१८६.
ब्रह्म-प्रिया ब्रह्म-नादा प्रणवाधार-भेदिनी
पञ्च-तत्त्व-सुसाधारा प्रणुता प्रणवायना

१८७.
वेदिः सुवा प्रणीतात्मा चाहुतिर्हविनात्मिका
प्रेमा प्रिया सु-प्रियास्या प्र-णतिः प्रणयायना

१८८.
हाव-भाव-वि-भावात्मा सम्भूतिः सम्भवात्मिका
सम्भूः शम्भूः सर्व-राशि-र्माध्वी च मधु-भेदिनी

१८९
राश्यन्तः-सु-प्र-विष्टा ऽहं-रेखा राशि-स्व-रूपिणी
चन्द्र-रेखा कला-कान्ता हंस-यन्त्रा नि-यन्त्रिणी

१९०.
स्वयम्प्रभा स्वयं-ज्योतिः स्वात्म-ज्योतिः स्वतः-स्तुतिः
त्रिसुरान्ता महा-मौनी चा ऽमावास्या ऽपि पूर्णिमा

१९१.
सदोदिता सदा-श्वेता जगता मुदयङ्करी
अस्तङ्गमा सदा-श्यामा जगतां विलयङ्करी
१९२.
सर्व-शर्व-महा-शक्तिर्देव-तेजः-समुद्भवा
अलसा च जविष्ठा चाजिरा देव-द्युति-प्रदा
१९३.
अर्थ-दीक्षा तत्त्व-दीक्षा मुद्रा-राज्ञी महाक्षरी
स्वर्य-क्षितिश्चोर्ध्व-भूमिर्भाव-भू हृद्यरं-कृता
१९४.
ब्रह्मिष्ठा ब्रह्म-तनया सर्व-देव-मनोज-भूः
बृहती ब्रह्म-निलया ब्रह्माहुति-परायणा
१९५.
निष्कम्भा चैव वि-ष्कम्भा सर्व-स्तम्भ-स्वरूपिणी
गतागत-महा-मूला सर्व-स्तम्भन-रूपिणी
१९६.
ऋत-शौर्ण्णी सत्य-शौर्ण्णी ऋत-जिद् द्यु-निषेदुषी
शून्यासना नभो-वासा व्योमान्ता च ऋतायना
१९७.
शैली भाषा स्फुटा कूटा व्यङ्ग्या लक्ष्याऽभिधाऽभिधा
दृश्या श्रव्या सभाहार्या वाद्या गेया च नर्त्तिता
१९८.
अभिनीता राग-माला ऽलङ्कार-रस-राशि-धा
स्वाद्वी मन्दा द्रुता मृद्वी स्वर-सप्तक-सन्ततिः
१९९.
गान्धर्वी मानवी सौरी पार्थिवी दैत्य-प्रिया
यक्षिणी राक्षसी नागी नाग-कन्या नभोमयी
२००.
वासन्ती चैव हैमन्ती ग्रैष्मी हैमी च वार्षिकी
शारदी शैशिरी चान्द्री चार्त्तव्यार्त्तव-नर्त्तकी

२०१. एका द्वयी त्रयी सर्व-सिद्धाङ्ग-त्रैगुणान्विता
गणना-बीज-भावान्ता ज्या-मिति गुण-भाग-दा

२०२. आद्ध्यीकृत-महा-सत्ता बोधि-सत्त्व-स्व-चित्त-भूः
भाव-भू रस-भूर्भूमा योग-भूतिश्च योग-भूः

२०३. अणिष्ठा चैव महिष्ठा देहिनो-चाशरीरिणी
द्राघीयसी लघिष्ठा सा पुनर्भूत्व-नि-रोधिनी

२०४. सर्व-चित्तान्तरभ्यस्ता सर्व-चित्तान्तर-स्थितिः
सर्व-चित्तमयी प्राणा सर्व-प्राणान्तरास्थिता

२०५. प्रत्याहृता प्रत्यवाय-व्याधि-बाधा-विनाशिनी
प्रिया प्रीता प्रीणनार्श्वा प्रीतिः प्राण-प्र-यच्छ-गा

२०६. चित्त-कर्त्री चित्त-भर्त्री चिति-शक्तिश्चिदर्थिका
चारु-चन्द्र-स्मिता चार्वी चार्वङ्गी चारु-हासिनी

२०७. प्रेम-धीः पूर्ण-सम्बोधिर्विषादात्यन्त-नाशिनी
सर्व-भूत-प्रिया भूता प्रसादात्यन्त्य-दायिनी

२०८. स्वयं-प्र-साद्या प्रासाद्या क्षुधित-प्राश-दायिनी
प्रसादिनी प्रसादात्मा चात्मान्तः-सम्प्रसादिनी

२०९. चित्त-सद्मान्तरारोह-चक्र-सोपान-सप्त-भूः
सर्व-मेधा धर्म-मेधा सम्पन्मेध-प्र-वर्षिणी

२१०. शुभ्रा शुभ्रार्थ-सम्भाषा ऽप्यशुभार्थ-नि-वारणी
अ-शुभार्थ-शुभं-कर्त्री शुभ्राभ्रा शुभ्र-चेतसी

२११.
पर्ण-भुक् त्यक्त-पर्णा च-अप्यपर्णा सभुपोषिता
नित्य-तृप्ता चात्म-तृप्ता स्वात्म-तत्त्वान्न-पोषिता

२१२.
अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-वि-शाला विशदा वि-धा
कृशा तन्वी महा-पीना स्व-वि-रूढ-सामग्र्य-भूः

२१३.
सर्व-वाङ्मय-निर्घोषा ऽप्यजात-शिशु-मौनिनी
मुनि-मानस-मौनान्तस्तपस्तेजो ऽग्नि-भू-धरी

२१४.
मौन-मन्त्र-समुच्चार-तरङ्ग-विलय-प्र-भूः
परि-पूर्ण-निजाहन्ता-महा-शिव-वृता वधूः

२१५.
तारा तारक-मन्त्राढ्यो-मध्यभान्त्य-वि-चारिणी
स्वादिष्ठेष्टा मदिष्ठा च श्रेष्ठा प्रेष्ठा ऽबहिः-कृषिः

२१६.
पथः सुतिश्चान्तर-स्तोत्रा निशोषा रश्मि-कर्षिणी
नाम-रिक्ता ब्रह्म-नाम्नी महा-नाम्न्यादि-मन्त्र-गा

२१७.
मनः कर्त्री मनो-हन्त्री प्राणि-वृन्द-मनो-हरा
सर्व-प्राणि-स्व-सौन्दर्य-धातु-तेजो ऽभि-रञ्जनी

२१८.
मनो-धात्री मनो-नाशा शून्य-शब्दार्थ-मर्म-गा
उत्पत्तिश्चाप्यनुत्पत्तिः सृष्टिर्विसृष्टि-रञ्जनी

२१९.
पृथिवी प्रथिता प्रार्थ्या प्रार्थना प्रथिमा प्र-थीः
धारा धार्या समुच्चार्या सप्त-स्वर-रस-श्रुतिः

२२०.
कैलाश-शिखराकारा कैलाशाधार-सं-स्थिरा
विदिता ऽविदिता वेद्या यत्न-वेदि-विधि-प्रदा

२२१.
यज्ञ-वेदि र्यज्ञ-योनि र्ब्रह्मचर्य-फलोदया
चरु-चारु-समाचारा अर्घ्य-स्था घृत-धौमणी

२२२.
यज्ञ-कुण्ड-समासीना यज्ञ-ज्वालाग्नि-सु-ज्वला
सप्त-जिह्वा सप्त-वर्णा चेन्द्र-चाप-वि-हारिणी

२२३.
समस्त-ब्रह्म-वेदान्त-विदिता वेद-सम्भवा
समस्त-वेदीणां वेत्री निगमागम-सङ्ग्रथा

२२४.
वैराग्यार्थपरा काष्ठा वशीकार-गीतर्मतिः
परमाणु-महत्त्वान्ता ज्ञाष्ट-सिद्धि-स्व-रूपिणी

२२५.
सत्य-सिद्धान्त-मर्म्म-ज्ञा सर्व-दर्शन-दृष्टि-दा
समाविष्कृत-सर्वार्था सर्व-दर्शन-वर्जिता

२२६.
रिक्त-धर्म्मा सर्व-धर्म्मा चतुर्वर्ग-नि-रूपिणी
अरि-षड्-वर्ग-विन्यास-सन्यास-रुचिरात्मिका

२२७.
आध्यात्मिकी चाधिदैवी चाधिभौतिक-सम्पदा
पारङ्गता पारे-स्थिता चाविदूर-नि-वासिनी

२२८.
सर्व-शक्तिः सर्व-भूमिस्सर्व-नारी-स्थिति-स्मृतिः
वैषम्य-विलयाधान-निपुणा सम-सं-स्थितिः

२२९.
अनुस्वार-प्रकाशार्थ-वि-च्युता ऽऽविस्तिरोहिता
विसर्गार्थ-विधि-प्रज्ञा-वि-बोधन-वि-सं-सृतिः

२३०.
अनुस्वार-महा-बिन्दु-सरोजार्त्तहित-प्रभा
सं-सृति-प्र-लयाध्यक्षा सं-सृति-प्र-वि-सर्जनी

२३१.
संसार-विषमोच्चारा साम्यावस्था-वि-लोपिनी
सं-सृत्यन्तर्बहिः-स्थात्री सर्व-संस्कृति-भावना

२३२.
त्रि-दोषा त्रि-गुणा सप्त-धातुरेकादशेन्द्रिया
त्रि-शरीरा पञ्च-कोषा नव-चक्रा हिरण्यया

२३३.
सर्व-चैतन्य-कूट-स्था चित्ताधाना दृशिश्चितिः
सु-वि-पश्यानु-पश्यार्था चान्तरात्म-वि-लासिनी

२३४.
अ-पराङ्-मुख-दृष्टिः सा नान्तर्मुख्यबहिर्मुखी
तरङ्गिणी परि-ष्यन्दा पयो-धारा-प्र-वाहिणी

२३५.
धर्म-नीतिश्चार्थ-नीतिः कामेशी मोक्ष-सद्विधा
नीति-न्याय-नयाधारा चार्थ-वार्त्ता-फल-क्रमा

२३६.
सर्व-वेदार्थ-नि-ष्यन्दा गद्य-पद्य-प्र-बन्धिनी
निष्पादिनी सु-निष्पन्ना पद्धति-प्रति-पादिनी

२३७.
अस्ति-रूपा भाति-रूपा प्रिय-रूप-प्र-भासिनी
अ-नामिका नाम-सञ्ज्ञा सूत्र-मन्त्र-वि-धात्रिनी

२३८.
नि-सिद्धा वि-हिता नित्या उत्सर्गिण्यप्यपोदिता
उत्सृष्टा सृष्टि-शमनी शम-सम्पन्नियामिनी

२३९.
अन्तरङ्गा बहिरङ्गा सर्व-नाम्सु वि-श्रुता
संहिता ऽसंहिता सन्धिरसमस्ता समासिनी

२४०.
परि-भाषा वि-भाषा वा च्छान्दसी लौकिकी तथा
व्यतिरिक्ता चान्विता च सार्वदेश्येऽ-देशिनी

२४१.
कल्या काल-कला कूटा अ-कार्या कार्य-कारिणी
भूरि- भूमा प्राण- संख्या शतिनी च सहस्रिणी
२४२.
बह्वीत्येका स्तोक-संख्या शून्य- बिन्दु- नि- वासिनी
अव-क्षेपोत्क्षेप-कर्त्री सं-कोचनी प्र- सारणी
२४३.
गुरुत्वाकर्षणी गुर्वी वि-कर्षिण्यगमा गमा
परा सु-पारा पश्यन्ती मध्यमा चैव वैखरी
२४४.
अनन्त-कोटि- ब्रह्माण्ड- जन्म-क्षण-नि-नादिनी
सर्व- लोक- ध्वनि- ध्वान्त-शमन- स्तनयित्नु-दा
२४५.
अक्षि-स्थिता चाक्षि-राज्ञी सर्वस्तेन्द्रिय-शासनी
भक्त्यर्चा न्याय- मीमांसा वैशेषिक-वि-शेष-गा
२४६.
अन्तरिक्षाशनी विश्व- भेषजी भगवत्तरा
ब्रह्माण्डात्मा प्रभा- स्पन्दा भूत-राज्ञी प्रभांशुका
२४७.
श्वेत- रक्त-महा-नील-बिन्दु-प्रासाद- भामिनी
महा- बिन्दूः सूक्ष्म-बिन्दूः रस- कुङ्कुम- वासिनी
२४८.
सिन्दूर- रस-बिन्दुश्च वैन्दवी रस- बान्धवी
रस- बन्धन- सच्छक्तिर्महा-पाश- रसेश्वरी
२४९.
पाप- पाशविनाशार्द्रा पुण्य-पाप-वि- भेदिनी
अ-शुक्लाकृष्ण- कर्मार्द्रा सर्व- धर्म- वि- मोचनी
२५०.
मन्त्र- धी-चोदिनी भर्गा निगमागम-पेटिका
ज्ञानेशी सर्व- कर्मेशी मौन-लोक- महेश्वरी

२५१.
अ-कूपारा च गम्भीर- सूक्ष्म- तत्त्व- प्र- वेशिनी
सर्व- तात्पर्य्य- कोट- द्वारर्थ- दुर्ग- प्र- भेदिनी

२५२.
सर्वार्थोद्घाटन- परा सत्य- लोक- नि- वासनी
एकार्था सर्व- तत्त्वार्था सर्व- मन्त्रार्थ- बोधनी

२५३.
अनन्ताखण्ड- विश्वाण्ड- शिशु- धात्री च शैशवी
शिशु- रूपा यौवनर्द्धिः प्रौढा मृत्यु- जराऽभया

२५४.
नीपाटवी- कुटीर- स्था नव- नाद- गभस्तिका
सर्गादिक- महा- नाद- संगीत- रस- रूपिणी

२५५.
प्र- वहत्सलिलाकारा वज्र- शैल- घनाकृतिः
ऊर्ध्व- ज्वालाऽसि- धारा सा वात्योद्वेलन- वेगिनी

२५६.
सर्व- चित्तान्तर- द्वन्द्व- सन्धि- सं- वाद- कारिणी
स्वर- सन्धिः पदार्थज्ञा समास- पद- भाविनी

२५७.
मृग- तृष्णा- प्र- शमनी मृग- तृष्णा- प्र- दर्शिनी
ऋतेश्वरी सत्य- राज्ञी चानृतासुर- मर्दिनी

२५८.
अनाहत- गुहा- रङ्ग- नित्य- नर्तन- किङ्किणी
शत- वाद्य- स्वर- रसा स्वर- नूपुर- नर्त्तिनी

२५९.
अन्तः- सूक्ष्मा बहिः- सूक्ष्मा स्थूला स्थूलतमाग्रजा
बिस- तन्तु- सहस्रांश- तन्वी मानस- वर्त्तिनी

२६०.
सर्व- राग- प्रिया सर्व- वर्ण- क्रम- वि- सारिणी
संगीत- वासिनी श्वेता रक्ता नीला त्रि- वर्णिनी

२६१.
स-वनान्तर्गत-धुवनी स्व-कुञ्ज-मधु-कूजनी
पुं-शुक्रान्तः-सृष्टि-शक्तिः पौरुष-वीर्य-वि-सर्जनी

२६२.
गर्भाण्डान्तः सृष्टि-शक्ति र्गर्भाण्ड-सु-वि-सर्जनी
शुक्राण्ड-शक्ति-सं-योग-महा-भोद-वि-वर्त्तनी

२६३.
ब्रह्मचारि-व्रतानन्दि-रेत-ऊर्ध्व-प्रणायिनी
सर्वेन्द्रिय-परि-ष्पन्दि-काम-भोग-तरंगिणी

२६४.
सर्वेन्द्रिय-परि-ष्पन्द-प्रत्याहार-परायणा
प्रणव-प्रवणा क्षुत्-तृट्-काम-जाल-वि-भेदिनी

२६५.
महायुग-महा-कल्प-महा-काल-प्र-वर्त्तनी
क्षणाणु-कोटि-भागान्तर्महा-काल-प्र-सर्पणी

२६६.
अविच्छ-क्षण-कोट्यंशाभ्यन्तः-सूक्ष्मतरेक्षणा
काल-भेत्त्री चित्र-काला गगनान्त-वर-स्तनी

२६७.
अन्तर्गुरु-महा-वाणी-माध्वी वर्ण-मधु-प्रिया
हिरण्य-गर्भ-प्र-जनिर्निष्प्रजा प्रजनात्मिका

२६८.
सर्व-प्राणि-प्रजा-दात्री सर्व-प्राणि-प्रजाधिपा
सर्व-प्राणि-प्रजा-धात्री प्राणि-सं-हरणात्मिका

२६९.
सांख्य-वेदान्त-योगार्हा जिन-शास्त्र-प्र-शासनी
बोधि-पारमिता बौद्ध-परमार्हन्त्य-दायिनी

२७०.
प्राणाद्यन्तेश्वरी प्राणि-प्रायणी प्रण-रक्षिणी
पञ्च-प्राणान्त-गमना प्राण-तृष्णा-क्षुधात्मिका

२६१.
सान्त्वयन्ती शिवाश्लेषा चान्तश्चुम्बन-तत्परा
कैलश-मणि-बिन्दून्त-चुम्बिनी मेरु-चुम्बिनी

२६२.
सु-वर्णा सर्व-वर्णादा पद्म-पत्रान्न-भोजना
श्वेतः स्फटिक-मुक्तान्तः-पुरी-शत-वि-हारिणी

२६३.
सर्व-संख्या ऽऽत्मिका संख्या ऽतीता सांख्य-महेश्वरी
प्रसंख्यानात्मिका संख्योत्तर-तत्त्व-वि-मर्शिनी

२६४.
आधारा ज्ञान्तशमनी निर्वाण-वर-दायिनी
गुरु-चक्र-पथाराध्या गुरु-चक्र-वि-हारिणी

२६५.
लोक-त्रय-क्रीडनिका क्रीडा-सृष्टि-लयारता
भोग-कर्म-परि-च्छन्द-भूरि-क्रीडनक-प्रिया

२६६.
क्रीडा ऽभिधा सर्व-योग-क्रिया-क्रीडा-फलार्जनी
द्वयाद्वय-क्रीडा-शक्तिः क्रीडा-योग-रस-प्र-दा

२६७.
तृषा-तृप्त्येकाक्षरिणी क्षुदन्नैक-वि-राधिनी
भिक्षा-राज्यैक-सम्मान्या भोग-मोक्षैक-तत्त्व-दा

२६८.
महा-प्राण-प्र-णयनी प्राण-प्र-णय-सुन्दरी
प्राण-कुम्भ-स्तनी प्राणा प्राणन्ती प्र-णि-पातिनी

२६९.
उच्चाव्च-सभा ऽनुच्चा ऽवच्चा नीचावचेश्वरी
समस्त-चित्त-भूमि-ष्ठा धर्म-मेघ-समाधि-भूः

२७०.
अ-पराञ्ची चान्तर्दशा बाह्य-द्वारापिधायिनी
अन्तर्द्वार-सम्मुद्घाट-पट्वी साक्षात्कृतीश्वरी

२८१.
ब्रह्मात्मैक्य-सु-सं-गीत-सूक्ष्म-रागान्त-मूर्च्छना
चित्त-द्वन्द्वैक्य-करणी प्रति-द्वन्द्व-वि-लापिनी

२८२.
नित्य-लुप्ताऽप्यलुप्ता च द्वन्द्व-शात्रव-लोपिनी
नित्याशात्याव्ययोध्या च सर्व-शात्रव-शातिनी

२८३.
सत्यान्हिंसा-सु-सन्तुष्टा चास्तेना स्तैन्य-मर्दिनी
ब्रह्म-चर्य-प्रिया ब्रह्म-दृष्टि र्ब्रह्म-वि-चारिणी

२८४.
मैत्र्याद्युपेक्षान्तमयी चित्त-स्थिति-नि-बन्धनी
सप्त-प्रज्ञा-प्रान्तमयी शश्वद्-ब्रह्म-वि-हारिणी

२८५.
शुचि श्शौच-सु-सन्तोषमयी नित्य-तपः श्रिता
जप-स्वाध्यायिनी नित्य-स्वात्माध्ययन-तत्परा

२८६.
ईश्वरार्थ-महा-यज्ञ-सर्व-योग-क्रियार्पणी
सर्व-भूम्यर्पण-रता प्रणव-प्र-णि-धानिका

२८७.
प्राण-पुष्पार्पण-प्रीतिः प्राण-क्षुब्ध-वि-हारिणी
आत्मसात्कृत-सद्भावा चात्मसात्कृत-शङ्करा

२८८.
त्रि-गुणा चि-गुणातीता निर्गुणा गुण-भूः स्वयम्
त्रि-षमा चाषि-दोषा च त्रैत-वैषम्य-नाशिनी

२८९.
भस्मालेपा भस्म-रूपा भस्मात्मा चैव भस्म-धूः
भस्मी-कृत-महा-भूता हुत-भस्मा च भस्म-भूः

२९०.
भस्मी-कृत-शिवा शास्त्री भस्मी-कृत-महा-भया
स्व-वि-ग्रह-भस्मान्त-करी सा भस्म-केशिनी

२९१. भस्मसात्कृत-ब्रोमान्ता सर्व-काय-प्र-दाहिनी
भस्मोद्धूलित-सर्वाङ्गी भस्म-शेषी-कृतालया

२९२. समस्त-लोक-लोकान्त-भस्मी-करण-तत्परा
भस्म-दृष्टिर्भस्म-कल्पा चोत्सवी-कृत-भावना

२९३. भू-कृ-धातु-समानार्था चास्ति-नामा बुभूषिका
जायमाना सदा ऽजाता क्षणशः परि-णामिनी

२९४. प्रेप्सा ऽप्रेप्सा जिहासा चा ऽजिहासा च चिकीर्षणा
अचिकीर्षा च जिज्ञासा ऽजिज्ञासेत्युभयात्मिका

२९५. क्षणस्यायुत-भागस्याप्ययुतांश-स्फुरत्कला
अणोश्चायुत-भागस्याप्ययुतांश-प्र-माणिनी

२९६. अणु-क्षणा महा-विश्व-काल-सम्पत्स्व-रिन्धका
काल-शक्ति-महा-नाडी श्वास-प्र-श्वास-सूत्रिणी

२९७. श्वासोद्गमा महा-श्वासा ख-तत्त्व-श्वसन-प्रिया
निः-श्वास-व्यक्त-जगती श्रुत्याम्नाय-वि-निः-श्वसा

२९८. आर्त्ताभीय-प्राणि-वर्गा त्यन्ता श्वास-प्र-दायिनी
अत्यन्त-मरणासन्ना प्राणनी सम्प्रजीवनी

२९९. दुःख-सौख्यैक-करणी बन्ध-मोक्षैक्य-भावनी
सर्व-सौख्येश्वरी सर्वानन्द-मोद-नि-धानिका

३००. सर्व-काम-नि-कामेशी ब्रह्म-विष्णु-वासिनी
अजैकपादहिर्बुध्न्य-श्वास-कुण्डल-सर्पिणी

३०१.
समस्त-वाष्प-कुहक-च्छाया-माया-स्व-रूपिणी
समस्त-वाष्प-कुहक-च्छाया-माया-वि-लोपिनी

३०२.
ऊर्ध्वेहा मन्त्र-देहा च ज्योतिर्नाद-स्व-देहिनी
सर्व-देह-स्व-देवात्मा महा-गगन-देहिनी

३०३.
जीवात्म-देहन-परा देहाहं-प्र-वि-मर्शिनी
देहाहं-कृति-सन्त्यासाभ्यनु-शासन-तत्परा

३०४.
अहन्देह इति-च्छाया-प्रतिभासन-तत्परा
अहन्देह इति-च्छाया-प्र-वि-नाशन-तत्परा

३०५.
नाहन्देह इति-प्रज्ञा-सम्प्र-काशन-भावना
नाहन्देह इति-प्रज्ञा-धारणी च वि-देहिनी

३०६.
भूरि-सन्देह-देहात्मा सन्देहन-नि-रोधिनी
देहि-देह-वि-सम्बन्ध-सम्बन्ध-प्र-णि-यामिनी

३०७.
पङ्क-तत्त्वादि-कर्पूर-चन्दनागरु-दिग्धता-
कृत-देहादि-सम्बन्धा सर्व-सम्बन्ध-भामिनी

३०८.
गुण-वर्गाति-वैषम्य-वि-कृति-सृष्टि-कोविदा
गुण-वर्ग-पुनः-साम्य-प्रकृति-प्र-लय-प्रथा

३०९.
सु-वज्र-घन-सान्द्रार्द्र-पार-दर्शि-स्व-नेत्रिता
निद्रा-प्र-ज्ञा स्वप्न-सं-ज्ञा गुडाकेशी मही-धरा

३१०.
तथता योग-निद्रान्तर्ब्रह्मानन्दोप-भोग-दा
निर्विण्णा च हृषीकेशी हृदयान्तः-सु-गोप्तिका

३११.
क्षण-कोटि-सहस्रांशाभ्यन्तः-कोटि-सहस्रक-
कृत्वः पारि-भ्रमज्ज्योतिश्चक्र-कोटि-समन्वया-

३१२.
पिपीलिकेश-ब्रह्माण्ड-तृण-कीट-पुरी-स्थित-
स्व-शक्ति-चक्र-वि-भव-प्र-भव-स्मिता ८ प्र-लय

३१३.
परमाणु-महत्त्वान्ताभ्यन्तर्गगन-चारिणी
हृद्-गुहा-दहराकाशाभ्यन्तर्ज्योतिः-स्वरूपिणी

३१४.
सत्य-सन्दोहनी सत्या सत्यानृत-वि-वेचनी
स्वयम्भूः सतत-स्वान्तः-स्वयन्धारा-प्र-वाहिणी

३१५.
अ-प्रेरिता प्रेरणात्मा सर्व-शक्ति-समीरणी
पद्म-नाल-महाऽऽकाशाभ्यन्तर्ब्रह्माण्ड-सर्जनी

३१६.
पद्म-नाल-महा-नाड्यभ्यन्तः-सौदामनी-गतिः
चित्र-सौदामनी चित्र-वर्ण-ज्योतिः-सहस्रिका

३१७.
आ-सहस्रार-पादान्त-युगपच्चलत-सौर-भा-
चित्राति-चित्र-प्र-वहत्-सौरज्वाल-प्र-भास्वरा

३१८.
प्राण-वात-तरङ्गायत्-सित-प्र-भा-दुकूलिनी
चित्र-वर्णांशुका चित्र-भानु-साहस्र-मातृका

३१९.
चित्र-शाटी चित्र-केशी चित्र-ज्वाला वि-चित्र-भूः
जिन-भूर्जिन-साम्राज्ञी साऽर्हत्-पद-सुधा-प्रथा

३२०.
अल्ला माता तथा यह्वा मरी वाज्झा-प्र-दायिनी
यीशावतार-शारीरी लीला-कण्टक-मौकुटी

३२१.
सु-मनः- सु-मनो- माला चैतन्य- सु-मनः-स्मिता
वि-चित्र- वर्णावरणा धारा सन्धारकोत्तमा

३२२.
अति- गम्भीर- भू- गर्भ- कश्मन- द्रव- चुम्बका
अ-श्वासिनी निः-श्वसिनी प्र-वाह- प्रत्ययात्मिका

३२३.
मेरु- दण्ड- स्थिति- करी कैलाशाधार- रूपिणी
साध्वी सन्यासिनी दण्ड- कमण्डलु- करा दृढा

३२४.
समस्त-लोक- लोकान्त- परि-व्रजन- तत्परा
स- परि-व्राट्- परीवार- राज्ञी नीराजनार्चिनी

३२५.
अ- संख्य- कोटि- विश्वाण्ड-स्थोप-ग्रह- शशि- ग्रह-
धूम- केतु- महा- राशि- रवि- दीपक- मालिका

३२६.
अ- संख्य- कोटि- विश्वाण्ड- प्राविष्कार- तिरस्करी
अ- संख्य- कोटि- विश्वाण्डाभ्यन्तर्बाह्य- प्र- वि- स्फुरद्-
महा- गगन- हर्म्येशी प्र- वि- शाला ऽणु- मात्र- गा
सहस्र- चक्षु सम्फुल्ल- कुड्मलन- वि- शारदा

३२८.
अन्तः- स्था च बहिष्ठा च दविष्ठान्तिक- यामिनी
बहिष्ठा सु- महाकाश- केशी केशव- नन्दिनी

३२९.
समस्त- वनिता- वृन्द- वन्दना- मन्त्र- साधना
कामना द्यरि- षड्- वर्ग- मल- क्लेश- नि- षूदनी

३३०.
निर्विण्णा नित्य- निर्विण्णा चोदासीन- जन- प्रिया
रक्ता रागिण्युदासीना वि- रक्ता वि- रजेश्वरी

३३१.
अद्वैती चैक्किका द्वैती त्रयी त्रैती त्रि-जाग्रती
न-सन्नासन्न-सदसत् सर्वासत्-सत्-सदेश्वरी

३३२.
अनन्या नित्य-प्रामाण्या नित्यानित्य-प्रथेश्वरी
वीत-राग-महा-सिद्धु-चिच्चित्त-हृदयासना

३३३.
सहस्र-कोटि-कल्पान्तर्जनि-शक्ति-वि-राजिता
क्षण-कोटि-सहस्रांश-स्पन्दनानु-वि-नाशिता

३३४.
कोट्यर्बुद-त्रयस्त्रिंशद्-देव-हस्त-समाश्रित-
नीराजन-मणि-स्थाली-रत्न-दीप-प्रभा-प्रति-

बिम्बालं-कृत-सौवर्ण-मुकुटार्पित-महा-नभो
ज्वाला-केशा बहु-चूडा ऽन्तर्हित-सु-गूहित-
चतुर्दशालोक-वर्ग-सुमेरु-शिखरी-कृत-
बिन्दु-भेद-महा-मुद्रा-ध्यान-साध्य-समाधि-दा

३३७.
द्वैतान्न-प्राशिनी पद्म-पत्र-चक्षु-वि-भोजनी
माला ऽक्षराशनाथा सा चोर्जा-दोह-पिपासिनी

३३८.
ब्रह्माण्ड-गगन-स्थाली-पाक-लोकान्तरार्बुद-
सहस्र-व्यञ्जन-रसा ऽऽस्वादन-ध्यान-तत्परा

३३९.
अभि-नि-वेश-नाशार्था मिथ्या-मृत्यु-वि-शातिनी
अ-द्वय-स्थैर्य-दात्रीयं चञ्चरीक-द्वय-व्रता

३४०.
मृषा-भाव-मृषा-वाद-भ्रम-रोग-महौषधिः
इच्छा-मृत्यु-वशाध्यक्षा ब्रह्म-चर्य-व्रत-प्र-दा

३४१.
प्रकृति- ब्रह्मचर्यान्तरोजो- बिन्दु- वि- धारणी
नागोच्छ्वासोच्च- फूत्कारा नाग-राज्ञी वि- सर्पिणी

३४२.
आम्नाय- स्मृति- साम्राज्ञी स्मृति-दात्री स्मृतार्चना
स्मितिः स्मित- महा- राशिः वि-स्मितिश्च स्मितार्चना

३४३.
महा-नदी महा-नाडी मूर्द्धन्युद्- घूर्णनी मदा
सिन्धुतमा नदीतमा ब्रह्माण्ड-रञ्जनीतमा

३४४.
सृष्टि-स्मितिर्बोध-स्मितिः स्पन्द-स्मितिः सदा- स्मिता
ब्रह्माण्ड- स्वप्न-स्मिति-दा सत्त्वोज्ज्वल्य- महा- स्मितिः

३४५.
साध्या सद्- भावनी श्लोता पावनी भावनी मृडा
विष्णु- रूपा विश्व-रूपा वि-विधा वि-विधेश्वरी

३४६.
समस्त- साम्य-वैषम्य-हेतुः सु-वि-जम्भा सभा
अजिरा सु-मनः-सं-स्था शोषिणी शोक- शोषिणी

३४७.
तीर्थ- राज्ञी तीर्थ-रूपा तीर्थ- स्था तीर्थ- यात्रिणी
सर्व- तीर्थमयी तारा तार-मन्त्रार्थ-रूपिणी

३४८.
यज्ञ- वेदिर्महा-वेदिः कुण्ड- स्था वेद- वन्दिता
कथा गीतिश्च गीर्वाण- गी राज्ञ- गुरु- सम्भवा

३४९.
द्वित्वैकत्व- बहुत्वानां सर्वथैक्य- वि- धायिनी
मूकानां वाक् तथा ऽन्धानां दृष्टि-सन्धान-सं-क्षमा

३५०.
निरिन्द्रियाणामिन्द्राणी बद्धानां शृंखला ऽप- हा
अभ्यासिनी वि- रक्तिश्च पूर्ण- वैराग्य- रूपिणी

३५१.
वि-नष्टशेष-व्याधौनां समाधि-शमथ-स्थितिः
नि-रोधिनी वृत्ति-हीना चैकाग्र्य-वर-दा वृता

३५२.
सृत्या सर्व-फलात्यर्था योग-भूमि-स्व-रूपिणी
मधु-भूमिस्सु-मन्त्राद्याऽजल्याजाप्य-स्व-रूपिणी

३५३.
सर्व-स्पन्द-वि-नि-ष्पन्दत-सरित्-सागर-सं-गमा
कार्या कर्त्री कर्म-रूपा कृषि-शस्य-क्रतुः कृता

३५४.
दहराभ्यन्ताराकाशाखण्डानन्त्य-महीयसी
वि-प्रज्ञ-वक्त्री सूक्ष्मार्था द्राघीयस्ली त्घीयस्ली

३५५.
पूर्णा पूर्णतमा दर्वी विद्युद्वेद्या वि-वेधिनी
वि-द्योतिनी द्रुततमा सदा-प्रेमा तरंगिणी

३५६.
महा-बिन्दु-घना धेनुः स-घना घन-भेदिनी
गुहा गोप्या गुहा-वासि-योगि-मण्डल-मण्डनी

३५७.
अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-गङ्गा-क्षीर-कमण्डलुः
स्फ-ध्वनि-महा-कोटि-वि-भाजन-वि-शारदा

३५८.
समस्त-वर्ण-ध्वन्यैक्या उभयवर्त्मनि-नादिनी
ध्वनि-कोटि-महा-ध्वाना ध्वनि-सौक्ष्म्यान्त-गामिनी

३५९.
शङ्ख-संख्यक-विश्वाण्ड-शङ्खान्तर्वक्र-वलय-
गुञ्जद्गुच्च-महा-नाद-ध्वनितोङ्कार-रूपिणी

३६०.
साध्या सद्-भावनी भाव-पावनी भव-मर्दिनी
चित्त-प्रज्ञा चित्त-नाडी-चेष्टा-शक्ति-वि-चर्षणी

३६१.
चक्ष्या लक्ष्या योगि-शक्तिर्योग- लक्षण-लक्षिता
ग्रथिता ऽग्रथिता ग्राह्या प्राप्या चक्षुष्मती सखी

३६२.
समान-सं-स्था सं-स्थाप्या धापयन्ती त्वरा तडित्
धीति-धर्त्री धर्म-सं-स्था साम्यावस्था-स्व-रूपिणी

३६३.
प्राणायामि-प्रत्याहार्या प्राण-वाहन-कर्षिणी
आ-वाहयित्री सं-वेद्या वेदानुष्ठान-धर्मिणी

३६४.
महा-कालाग्नि-वि-ज्वाला-धूम-धम्मिल्ल-धारिणी
धर्मान्त-गूढा नैवेद्या चाद्य-श्वः-काल-रूपिणी

३६५.
क्षणिनी ध्वंसिनी धात्री क्षिति-ज-क्षय-कारिणी
भूतादि-कारणी-भूता तत्त्वान्त-लय-कारिणी

३६६.
कारकाणां कारिका स्वा ऽप्य-वि- भाज्या वि-भक्तिभिः
ललिता च लकोरेषु ललना पुं-स्व-रूपिणी

३६७.
वितथा ऽवि-तथा ध्वान-ध्वान्तान्ताध्व-प्र-दर्शिनी
अध्व-सम्मौनिनी त्र्यध्वा काल-ध्वान्त-वि-लोपिनी

३६८.
स्व-राड्-वि-राण्मयस्र्ज्जभ्ना भुरिङ्निचृल्लगा ऽलगा
सर्व-च्छन्दो-वृत्त-मात्रा-वर्ण-प्रस्तार-रूपिणी

३६९.
प्र-यत्न-करण-स्थान-स्पर्श-प्राण-वि-भाजनी
उच्चानुदात्त-स्वरिता घोषा ऽघोषा वि-सं-वृता

३७०.
शङ्ख-स्था तालु-कण्ठ्यौष्ठ्या ध्वन्याध्वन्य-वि-वर्त्तिनी
कूजा-कुञ्ज-स्वरोद्यान-मूर्ध-ब्रह्माण्ड-गुञ्जिनी

३७१.
अनाहत-महा-मौन-नादितान्तर्महा-गुहा
नाद-ज्योतिर्ध्वनि-ज्वाला नाद-ज्वालित-कुण्ड-गा

३७२.
ज्योतिर्नर्दन-ताल-स्था नाद-लोकाटन-प्रिया
ज्योतिर्नाद्या नाद-नाद्या नद-राज-वि-र्नर्तिनी

३७३.
नद-राज-प्र-भा-ज्वाला लेश्याभ्यन्तर्-चारिणी
नास्तीवैवं-लेश-मात्रा लेश-मात्रा ऽव-तारिणी

३७४.
परमाणु-महत्त्वान्त-सूक्ष्म-लेश-वि-भाजिता
परमाणु-महत्त्वान्त-लेशार्बुद-समन्वया

३७५.
समन्वय-महा-देवी वि-भाग-व्यतिरेकिणी
समन्वित-वि-भाग-ज्ञा सूर्य-चन्द्र-वि-मर्दिनी

३७६.
क्रोधिनी वि-गत-क्रोधा निर्मोहा नित्य-मोहिनी
इहामुत्रार्थ-वैराग्या नित्यानित्य-वि-वेकिनी

३७७.
शम-षट्क-समासाद्या मुमुक्षु-पद-दा स्वयम्
कलेशी काल-कलनी नित्यानित्यार्थ-वास्तवी

३७८.
तमो-मोह-महा-मोह-तामिस्रान्ध-वि-पर्यय-
क्लेश-राज्येश्वरी क्लिष्टा क्लिष्ट-वृत्ति-नि-रोधिनी

३७९.
चैत्त-पटल-कालुष्य-संस्कारान्त-नि-वारणी
चतुर्ब्रह्म-वि-हारार्घ-चैत्त-कुञ्जाटन-प्रिया

३८०.
कालान्धक-महारण्य-दाहिनी ज्वलित-प्र-भा
सप्त-भूः सप्त-वि-शिखा सप्ता ऽऽस्या ऽऽस्य-वि-सर्पिणी

३८१.
नित्य-प्र-ज्वलिता ज्वाला-कोटि-रूप-पदार्थ-भूः
लोक-लोकान्तराकार-ज्वाला-वृत्ति र्ज्वराधि-हा

३८२.
ज्वर-दा ज्वर-भू-व्याधि र्महा-ज्वर-वि-रूपिणी
निर्ज्वरा ज्वर-सं-हार-मानसौषधि-रूपिणी

३८३.
मुख-स्थ-रसना-लोक-कर्त्री रस-वि-भाजनी
वि-भक्त-रस-सं-चार-सम्प्रदाय-वि-हारिणी

३८४.
वि-भक्त-रस-सं-सार-ब्रह्मान्त-रस-व्यापिनी
स्थायि-सं-चारि-भावादि-लास्य-ताण्डव-नीतिनी

३८५.
भव-निर्वाण-तटिनी सं-सारिण्यभि-सारिणी
सरिन्मध्या योगपद्योभय-तीर-वि-हारिणी

३८६.
सार्व-भौम-समाधि-स्वारूप्यार्थानु-भाविनी
अ-सं-सारिण्य-साशान्ता-रास-सार-प्र-वाहिणी

३८७.
रति-दा नित्य-वि-रता निरन्तर-रति-प्रिया
निरन्तरा वि-स्खलिता सहस्र-स्खलन-स्थिता

३८८.
काम-सं-यमिनी काम-कोटि-प्रान्त-महेश्वरी
निष्कामा सर्व-जीवात्म-चिच्छक्ति-रमणातुरा

३८९.
विश्व-रङ्ग-महा-राज्ञी चित्र-रङ्ग-शत-प्र-था
राज्ञिणी राग-माला-स्था राग-माला-सु-शोभना

३९०.
स्वयं-सङ्गीत-वाद्याद्या विष्कारण-सु-रूपिणी
दृश्य-श्रव्य-समाहार्या रङ्ग-ब्रह्माण्ड-नायिका

३९१. अ-संख्य-कोटि-ब्रह्माण्ड-ज्वाला-चक्र-महा-यन्त्र-
बिन्दु-रङ्गाभ्यन्तरङ्ग-शा लैकाकि-वि-नोदिनी

३९२. अ-संख्य-कोटि-ब्रह्माण्ड-स्कम्भ-वि-स्तीर्णत-स्थल-
प्र-वि-शाल-स्व-सौक्ष्म्यान्तर्बिन्दु-शाला-वि-हारिणी

३९३. सदा-स्वादौ सदा ऽऽस्वाद्या सुखा ऽऽराध्या सु-मालिनी
भिक्षा तिक्ता कषायाऽम्ला कटुवी लावण्य-सुन्दरी

३९४. स्नेहा ऽस्पृष्टा ऋषि-स्पृष्टा तैतिली स्नेह-वि-सृवा
अहं-कर्त्री चित्त-कर्त्री बुद्धि-कर्त्री मनो-जनिः

३९५. नित्य-स्निग्धा प्रिय-प्राणा प्रिय-बोधिः प्रियार्थिनी
सर्व-श्रेष्ठा स्वादु-नाम्नी सर्व-प्रेमार्थ-तत्त्विनी

३९६. सत्संगात्मा महा-सत्त्व-सन्मानस-सु-सं-हतिः
भास्वद्-दीपा भर्ग-माला भर्ग-ज्वाला स्व-गर्भ-गा

३९७. भर्गा-गर्भा सदा-घर्मा गुप्त-ताप-नि-धूदनी
गुहा-प्र-विष्टा गूढार्था स्पर्श-मात्रार्ष-शक्ति-दा

३९८. कोटि-वारिधि-गाम्भीर्या स्व-गाम्भीर्य-प्र-वेशनी
नित्य-गुप्ता नित्य-लुप्ता चात्माविर्भाव-दर्शनी

३९९. अरि-षड्-वर्ग-मर्दार्था त्रैषणा-त्रय-नाशिनी
षडूर्मि-शमन-व्यस्ता पुरुषार्थ-चतुष्टयी

४००. सप्तोदधि-स्तन्य-पूर्णा हुत-भुक् सु-मनः-स्तनी
ब्रह्म-वीणा ऽघोर-पत्नी देव-मातृवी घृत-प्रिया

४०१.
अमृतार्द्र-सु-वासो-धा चार्त्त-भीति-वि-नाशनी
वैकुण्ठी चैत्त-बन्धात्म-कुण्ठा-कुण्ड-प्र-शोषिणी

४०२.
चैत्त-भाव-तनू-बन्ध-व्याधि-रोगान्त-भेषजी
आधि-शातन-पट्वी सा विद्या-क्षुर-निशातनी

४०३.
अविद्या ऽन्ध-तमो-ग्राव-कर्त्तनी क्षुर-धारिका
समाधि-सम्पत्सम्पाद-वार्त्ता-शास्त्र-प्र-बोधिनी

४०४.
स्त्रियां पुरुष-लिङ्गात्मा पुंसु स्त्री-लिङ्ग-रूपिणी
नर-नारी-वि-निर्भेद-भाव-बुद्धि-वि-नाशिनी

४०५.
सर्व-घोर-महा-शर्व-बीज-मन्त्रेश्वरेश्वरी
अ-घोरान्त-तपश्चर्या-बीज-वप्त्री स्व-बीज-जा

४०६.
अणिष्ठ-मणि-बिन्द्वन्त र्महोद्यानस्थ-मञ्जरी-
नाडी-पथ-प्र-भा-देहि-सुन्दरी-कोटि-राधिता

४०७
क्रीडा-व्यग्र-महा-प्र-ज्ञा चोर्ध्व-रेतो-जन-प्रिया
महा-भोग-महा-मोक्ष-यौगपद्य-वर-प्र-दा

॥श्रीँ ऐँ ह्रीँ क्लीँ क्रीँ श्रीँ ॥

इयं कुण्डलिनी सं समिद्धा प्राणान् मे सिञ्चन्ती सूर्य-त्विषा
ऋतस्य सु-चेतसां दुरोणे ऽसम्भूतेर्गाधादद्या मां पर्षत्

नाम्नो वह्नौ नाम हविर्नाम-होत्रे जुहूमसि
घृतं नाम समिन्नाम तस्मै नाम्न इदं नमः

१.
इत्थं सम्प्राप्य वि- ज्ञानं नाम्नां शक्त्याः गुरोश्चितः
निमेषस्यार्बुदांशेन, पुनरुन्मेष मायथौ

२.
दिक्-काल-नाम-रूपात्मा उन्मेषः पुनरापतत्
तस्य शिष्यान् ज्ञापयिष्णोः, ग ह्वरेष्ठश्च स स्थितः

३.
गुरोर्भूम्याश्रमे स्थित्वा यावज्जीवं मुदान्वितः
दिक्-काल- विषय- भ्रान्तानभ्रान्तान् संस्करोति सः

४.
मूढान् प्र- सुप्त- वि- ज्ञानान् यांश्च कांश्चित् पृथाजनान्
सं- चेतयति बोध्यर्थं मोहस्य कुहकाद् भृशम्

५.
महा- भोग- महा- मोक्ष- पन्थानं यमदर्शयत्
गुरुस्तं तत्र यात्रार्थं स्व- शिष्यान् प्रेरयत्युत

६.
ये के ऽपि तस्य सच्छिष्या भवेमुरधि-काशिणः
प्र- वेशयति तानेष सुषुम्ना- पथि मध्यमे

७.
तेषां कुण्डलिनीं सुप्तां प्र- बोधयति नागिनीम्
चक्षुर्दृष्ट्या मन्त्र-वाचा कर- स्पन्देन वा पुनः

८.
अथवा स्व- गुरुं ध्यात्वा स्व-चित् तेषां चिति क्षिपन्
स दीक्षयति योगात्मा युञ्जानस्तान् गुरोश्चिता

९.
तेजो- बिन्दोर्नाद- बिन्दोः सर्वा आभ्यन्तरीर्गुहाः
प्र- वेशयति तत्रैव स्थापयं स्तच्चिदासनम्

१०.
यावन्मोक्षयते चैवं करुणो भूरिशो जनान्
तावत्यपि च चिन्मात्र मुपास्ते गुरुरात्मनि

११.
समाधि-तन्तुं ततुते त्रोट्यंस्तत् क्षणं न हि
चिद्-गह्वर-समासीन एवैवं कुरुते कृपाः
१२.
एवं चोभय-लोक-स्थः कुण्डलिन्या ऽभिजीवितः
सहस्र-वत्सर-वधा चित्-कैवल्य-पदं ययौ
१३.
एवं यश्चित्-सरिन्मध्ये गाहमानो निरन्तरम्
ध्यायेत् कुण्डलिनी-नाम्न्येकं सौषुम्ण-वर्त्मनि
१४.
नामैकं वा स्मरेद् वा ऽपि मन्त्रमूहेद् विचक्षणः
"श्रीँ" पूर्वं सम्प्रदाने च 'नम' इत्यन्तमेव च
१५.
अध-ऊर्ध्वं नयेत् प्राज्ञः प्राणं, चक्षु-सरांसि च
सन्तरन्, स सम-श्वासो मेरु-नाड्यां हि सं-चरेत्
१६.
स्वस्थो ऽरुग्णो ऽजीर्ण-कायो यावत् तस्य जिजीविषा
सिद्धिभ्यस्तु सु-सन्यस्तस्समाधौ च दृढ-व्रतः
१७.
स्मित-पूर्वं देह-पातं लब्ध्वा निर्वाणमाप्नुयात्
स्यन्द-बिन्दुं भेदयित्वा तद्-द्वारिसंप्र-विश्य च
१८.
अ-कुचित्-खे स्वात्म-तेजो-निर्मिते कुटजे वसेत्
देह-भारमिमं क्षिप्त्वा स्वच्छन्द-गतिको भवेत्
१९.
दिक्-कालाद्यनवच्छिन्नः स्व-तन्त्र-ज्योतिरुड्डयेत्
सम्यग्-बोधि-पदानन्दे कैवल्योत्तरतां भजेत्

इति श्री-कुण्डलिनी-सहस्राधिक-नाम-स्तोत्र-माहात्म्यम्

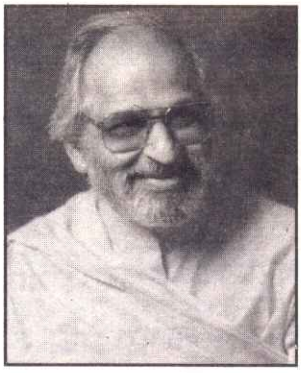

महामण्डलेश्वरः स्वामी वेदभारती

हिमालयस्थसिद्धयोगिसम्राजांश्रीस्वामीरामसद्गुरूणां पट्टशिष्यो महामण्डलेश्वरः श्रीस्वामी वेदभारती देहरादून-उपत्यकायां संस्कृत-निष्ठ-परिवारे १९३३ खीस्ताब्दे जनिं लेभे। एकादशवर्षीय एवायं बालो वेद-चतुष्टय्या आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकत्रिविधव्याख्याकुशल इति सुविख्यातः समभवत्।

एकोनविंशतिवर्षदेशीय एवायमुपदेशप्रसङ्गेन विदेशेषु विचचार। तत आरभ्य अफ्रीका-इंग्लैण्ड्-यूरोप-अमेरिकादिदेशेषूपदिशन् लोकान् धर्मं च परिचरन् नैकसंस्थानानि समस्थापयत्। सर्वमेतदनुतिष्ठन्नपि साम्प्रतिकविश्वविद्यालयशिक्षामर्जयित्वा मिनिसोटाविश्वविद्यालये अमेरिका-देशे प्राध्यापयत्।

१९६९ खीस्ताब्दे सद्गुरोः श्रीस्वामीरामाद् ध्यानयोग-परम्परा-दीक्षामङ्गीकृतवान्। तदनन्तरं सर्वदेशेष्वाध्यात्मिकध्यान-केन्द्रान् समस्थापयत्। लक्षाधिकजनान् सह स्थितान् ध्यानयोगे स्थापयति। तत्तद्देशेषु च तत्तद्देशनिवासिन एवास्य शिष्यत्वम् अङ्गीकृतवन्तः।

सम्प्रति साधना-मन्दिराश्रमस्थश्रीगुरुदेवपीठासीनो हिमालयन्-हॉस्पिटल-ट्रस्ट-संस्थानस्याध्यात्मिकनिदेशकत्वेनापि लोकस्य दुःखत्रय-मपाकरोति।

सहस्राधिकपृष्ठकलेवरा गभीरा पातञ्जलयोगसूत्रस्य प्रथम-द्वितीय-पादव्याख्या एतत्प्रणीता अन्ये चानेके ग्रन्था अमेरिकादेशे प्रकाशिताः सन्ति।

॥ श्रीमहाकुलकुण्डलिनीसहस्रनामस्तोत्रम् ॥

.. Shri Mahakulakundalini SahasranAmastotram ..

sanskritdocuments.org

August 20, 2017

.. Shri Mahakulakundalini SahasranAmastotram ..

॥ श्रीमहाकुलकुण्डलिनीसहस्रनामस्तोत्रम् ॥

Sanskrit Document Information

Text title : mahAkulakuNDalinI sahasranAmastotra evam kavacham rudrayAmale

File name : mahAkulakuNDalinIsahasranAmastotra.itx

Category : sahasranAma, devii, ShaTchakrashakti, stotra

Location : doc_devii

Language : Sanskrit

Subject : philosophy/hinduism/religion

Transliterated by : http://muktalib5.org

Proofread by : http://muktalib5.org, DPD

Description-comments : shrIrudrayAmale uttaratantre ShaTtriMshattamaH paTalaH

Latest update : March 14, 2013

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

Site access : http://sanskritdocuments.org

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

August 20, 2017

sanskritdocuments.org

॥ श्रीमहाकुलकुण्डलिनीसहस्रनामस्तोत्रम् ॥

अथ षडस्त्रिंशः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच
अथ कान्त प्रवक्ष्यामि कुण्डलीचेतनादिकम् ।
सहस्रनामसकलं कुण्डलिन्याः प्रियं सुखम् ॥ ३६-१॥

अष्टोत्तरं महापुण्यं साक्षात् सिद्धिप्रदायकम् ।
तव प्रेमवशेनैव कथयामि शृणुष्व तत् ॥ ३६-२॥

विना यजनयोगेन विना ध्यानेन यत्फलम् ।
तत्फलं लभते सद्यो विद्यायाः सुकृपा भवेत् ॥ ३६-३॥

या विद्या भुवनेशानी त्रैलोक्यपरिपूजिता ।
सा देवी कुण्डली माता त्रैलोक्यं पाति सर्वदा ॥ ३६-४॥

तस्या नाम सहस्राणि अष्टोत्तरशतानि च ।
श्रवणात्पठनान्मन्त्री महाभक्तो भवेदिह ॥ ३६-५॥

एहिके स भवेन्नाथ जीवन्मुक्तो महाबली ॥ ३६-६॥

अस्य श्रीमन्महाकुण्डलीसाष्टोत्तरसहस्रनामस्तोत्रस्य
ब्रह्मषीर्जगतीच्छन्दो भगवती
श्रीमन्महाकुण्डलीदेवता सर्वयोगसमृद्धिसिद्ध्यर्थे विनियोगः॥

कुलेश्वरी कुलानन्दा कुलीना कुलकुण्डली ।
श्रीमन्महाकुण्डली च कुलकन्या कुलप्रिया ॥ ३६-७॥

कुलक्षेत्रस्थिता कौली कुलीनार्थप्रकाशिनी ।
कुलाख्या कुलमार्गस्था कुलशास्त्रार्थपातिनी ॥ ३६-८॥

कुलज्ञा कुलयोग्या च कुलपुष्पप्रकाशिनी
कुलीना च कुलाध्यक्षा कुलचन्दनलेपिता ॥ ३६-९॥

कुलरूपा कुलोद्भूता कुलकुण्डलिवासिनी ।
कुलाभिन्ना कुलोत्पन्ना कुलाचारविनोदिनी ॥ ३६-१०॥

कुलवृक्षसमुद्भूता कुलमाला कुलप्रभा ।

कुलज्ञा कुलमध्यस्था कुलकङ्कणशोभिता ॥ ३६-११॥

कुलोत्तरा कौलपूजा कुलालापा कुलक्रिया ।
कुलभेदा कुलप्राणा कुलदेवी कुलस्तुतिः ॥ ३६-१२॥

कौलिका कालिका काल्या कलिभिन्ना कलाकला ।
कलिकल्मषहन्त्री च कलिदोषविनाशिनी ॥ ३६-१३॥

कङ्काली केवलानन्दा कालज्ञा कालधारिणी ।
कौतुकी कौमुदी केका काका काकलयान्तरा ॥ ३६-१४॥

कोमलाङ्गी करालास्या कन्दपूज्या च कोमला ।
कैशोरी काकपुच्छस्था कम्बलासनवासिनी ॥ ३६-१५॥

कैकेयीपूजिता कोला कोलपुत्री कपिध्वजा ।
कमला कमलाक्षी च कम्बलाश्वतरप्रिया ॥ ३६-१६॥

कलिकाभङ्गदोषस्था कालज्ञा कालकुण्डली ।
काव्यदा कविता वाणी कालसन्दर्भभेदिनी ॥ ३६-१७॥

कुमारी करुणाकारा कुरुसैन्यविनाशिनी ।
कान्ता कुलगता कामा कामिनी कामनाशिनी ॥ ३६-१८॥

कामोद्भवा कामकन्या केवला कालघातिनी ।
कैलासशिखरारूढा कैलासपतिसेविता ॥ ३६-१९॥

कैलासनाथनमिता केयूरहारमण्डिता ।
कन्दर्पा कठिनानन्दा कुलगा कीचकृत्यहा ॥ ३६-२०॥

कमलास्या कठोरा च कीटरूपा कटिस्थिता ।
कन्देश्वरी कन्दरूपा कोलिका कन्दवासिनी ॥ ३६-२१॥

कूटस्था कूटभक्षा च कालकूटविनाशिनी ।
कामाख्या कमला काम्या कामराजतनूद्भवा ॥ ३६-२२॥

कामरूपधरा कम्रा कमनीया कविप्रिया ।
कञ्जानना कञ्जहस्ता कञ्जपत्रायतेक्षणा ॥ ३६-२३॥

काकिनी कामरूपस्था कामरूपप्रकाशिनी ।
कोलाविध्वंसिनी कङ्का कलङ्कार्ककलङ्किनी ॥ ३६-२४॥

महाकुलनदी कर्णा कर्णकाण्डविमोहिनी ।
काण्डस्था काण्डकरुणा कर्मकस्था कुटुम्बिनी ॥ ३६-२५॥

कमलाभा भवा कल्पा करुणा करुणामयी ।
करुणेशी कराकर्त्री कर्तृहस्ता कलोदया ॥ ३६-२६॥

कारुण्यसागरोद्भूता कारुण्यसिन्धुवासिनी ।
कात्तीकेशी कात्तीकस्था कात्तीकप्राणपालनी ॥ ३६-२७॥

करुणानिधिपूज्या च करणीया क्रिया कला ।
कल्पस्था कल्पनिलया कल्पातीता च कल्पिता ॥ ३६-२८॥

कुलया कुलविज्ञाना कषीणी कालरात्रिका ।
कैवल्यदा कोकरस्था कलमञ्जीररञ्जनी ॥ ३६-२९॥

कलयन्ती कालजिह्वा किङ्करासनकारिणी ।
कुमुदा कुशलानन्दा कौशल्याकाशवासिनी ॥ ३६-३०॥

कसापहासहन्त्री च कैवल्यगुणसम्भवा ।
एकाकिनी अर्करूपा कुवला कर्कटस्थिता ॥ ३६-३१॥

कर्कोटका कोष्ठरूपा कूटवह्निकरस्थिता ।
कूजन्ती मधुरध्वानं कामयन्ती सुलक्षणम् ॥ ३६-३२॥

केतकी कुसुमानन्दा केतकीपुण्यमण्डिता ।
कर्पूरपूररुचिरा कर्पूरभक्षणप्रिया ॥ ३६-३३॥

कपालपात्रहस्ता च कपालचन्द्रधारिणी ।
कामधेनुस्वरूपा च कामधेनुः क्रियान्विता ॥ ३६-३४॥

कश्यपी काश्यपा कुन्ती केशान्ता केशमोहिनी ।
कालकर्त्री कूपकर्त्री कुलपा कामचारिणी ॥ ३६-३५॥

कुङ्कुमाभा कज्जलस्था कमिता कोपघातिनी ।
केलिस्था केलिकलिता कोपना कर्पटस्थिता ॥ ३६-३६॥

कलातीता कालविद्या कालात्मपुरुषोद्भवा ।
कष्टस्था कष्टकुष्ठस्था कुष्ठहा कष्टहा कुशा ॥ ३६-३७॥

कालिका स्फुटकर्त्री च काम्बोजा कामला कुला ।
कुशलाख्या काककुष्ठा कर्मस्था कूर्ममध्यगा ॥ ३६-३८॥

कुण्डलाकारचक्रस्था कुण्डगोलोद्भवा कफा ।
कपित्थाग्रवसाकाशा कपित्थरोधकारिणी ॥ ३६-३९॥

काहोड। काहड। काड। कङ्कला भाषकारिणी ।
कनका कनकाभा च कनकाद्रिनिवासिनी ॥ ३६-४०॥

कार्पासयज्ञसूत्रस्था कूटब्रह्मार्थसाधिनी ।
कलञ्जभक्षिणी क्रूरा क्रोधपुञ्जा कपिस्थिता ॥ ३६-४१॥

कपाली साधनरता कनिष्ठाकाशवासिनी ।
कुञ्जरेशी कुञ्जरस्था कुञ्जरा कुञ्जरागतिः ॥ ३६-४२॥

कुञ्जस्था कुञ्जरमणी कुञ्जमन्दिरवासिनी ।
कुपिता कोपशून्या च कोपाकोपविवर्जीता ॥ ३६-४३॥

कपिञ्जलस्था कापिञ्जा कपिञ्जलतरूद्भवा
कुन्तीप्रेमकथाविष्टा कुन्तीमानसपूजिता ॥ ३६-४४॥

कुन्तला कुन्तहस्ता च कुलकुन्तललोहिनी ।
कान्ताङ्घ्रसेविका कान्तकुशला कोशलावती ॥ ३६-४५॥

केशिहन्त्री ककुत्स्था च ककुत्स्थवनवासिनी ।
कैलासशिखरानन्दा कैलासगिरिपूजिता ॥ ३६-४६॥

कीलालनिर्मलाकारा(?) कीलालमुग्धकारिणी ।
कुतुना कुट्टही कुट्टा कूटना मोदकारिणी ॥ ३६-४७॥

क्रौङ्कारी क्रौङ्करी काशी कुहुशब्दस्था किरातिनी ।
कूजन्ती सर्ववचनं कारयन्ती कृताकृतम् ॥ ३६-४८॥

कृपानिधिस्वरूपा च कृपासागरवासिनी ।
केवलानन्दनिरता केवलानन्दकारिणी ॥ ३६-४९॥

कृमिला कृमिदोषघ्नी कृपा कपटकुट्टिता ।
कृशाङ्गी क्रमभङ्गस्था किङ्करस्था कटस्थिता ॥ ३६-५०॥

कामरूपा कान्तरता कामरूपस्य सिद्धिदा ।

कामरूपपीठदेवी कामरूपाङ्कुजा कुजा ॥ ३६-५१॥

कामरूपा कामविद्या कामरूपादिकालिका ।
कामरूपकला काम्या कामरूपकुलेश्वरी ॥ ३६-५२॥

कामरूपजनानन्दा कामरूपकुशाग्रधीः ।
कामरूपकराकाशा कामरूपतरुस्थिता ॥ ३६-५३॥

कामात्मजा कामकला कामरूपविहारिणी ।
कामशास्त्रार्थमध्यस्था कामरूपक्रियाकला ॥ ३६-५४॥

कामरूपमहाकाली कामरूपयशोमयी ।
कामरूपपरमानन्दा कामरूपादिकामिनी ॥ ३६-५५॥

कूलमूला कामरूपपद्ममध्यनिवासिनी ।
कृताञ्जलिप्रिया कृत्या कृत्यादेवीस्थिता कटा ॥ ३६-५६॥

कटका काटका कोटिकटिघण्टविनोदिनी ।
कटिस्थूलतरा काष्ठा कात्यायनसुसिद्धिदा ॥ ३६-५७॥

कात्यायनी काचलस्था कामचन्द्रानना कथा ।
काश्मीरदेशनिरता काश्मीरी कृषिकर्मजा ॥ ३६-५८॥

कृषिकर्मस्थिता कौर्मा कूर्मपृष्ठनिवासिनी ।
कालघण्टा नादरता कलमञ्जीरमोहिनी ॥ ३६-५९॥

कलयन्ती शत्रुवर्गान् क्रोधयन्ती गुणागुणम्
कामयन्ती सर्वकामं काशयन्ती जगत्त्रयम् ॥ ३६-६०॥

कौलकन्या कालकन्या कौलकालकुलेश्वरी
कौलमन्दिरसंस्था च कुलधर्मविडम्बिनी ॥ ३६-६१॥

कुलधर्मरताकारा कुलधर्मविनाशिनी ।
कुलधर्मपण्डिता च कुलधर्मसमृद्धिदा ॥ ३६-६२॥

कौलभोगमोक्षदा च कौलभोगेन्द्रयोगिनी ।
कौलकर्मा नवकुला श्वेतचम्पकमालिनी ॥ ३६-६३॥

कुलपुष्पमाल्याकान्ता कुलपुष्पभवोद्भवा ।
कौलकोलाहलकरा कौलकर्मप्रिया परा ॥ ३६-६४॥

काशीस्थिता काशकन्या काशी चक्षुःप्रिया कुथा
काष्ठासनप्रिया काका काकपक्षकपालिका ॥ ३६-६५॥

कपालरसभोज्या च कपालनवमालिनी ।
कपालस्था च कापाली कपालसिद्धिदायिनी ॥ ३६-६६॥

कपाला कुलकर्त्री च कपालशिखरस्थिता ।
कथना कृपणश्रीदा कृपी कृपणसेविता ॥ ३६-६७॥

कर्महन्त्री कर्मगता कर्माकर्मविवजीता ।
कर्मसिद्धिरता कामी कर्मज्ञाननिवासिनी ॥ ३६-६८॥

कर्मधर्मसुशीला च कर्मधर्मवशङ्करी ।
कनकाब्जसुनिर्माणमहासिंहासनस्थिता ॥ ३६-६९॥

कनकग्रन्थिमाल्याढ्या कनकग्रन्थिभेदिनी ।
कनकोद्भवकन्या च कनकाम्भोजवासिनी ॥ ३६-७०॥

कालकूटादिकूटस्था किटिशब्दान्तरस्थिता ।
कङ्कपक्षिनादमुखा कामधेनूद्भवा कला ॥ ३६-७१॥

कङ्कणाभा धरा कर्द्दा कर्द्दमा कर्द्दमस्थिता ।
कर्द्दमस्थजलाच्छन्ना कर्द्दमस्थजनप्रिया ॥ ३६-७२॥

कमठस्था कार्मुकस्था कम्रस्था कंसनाशिनी ।
कंसप्रिया कंसहन्त्री कंसाज्ञानकरालिनी ॥ ३६-७३॥

काञ्चनाभा काञ्चनदा कामदा क्रमदा कदा ।
कान्तभिन्ना कान्तचिन्ता कमलासनवासिनी ॥ ३६-७४॥

कमलासनसिद्धिस्था कमलासनदेवता ।
कुत्सिता कुत्सितरता कुत्सा शापविवजीता ॥ ३६-७५॥

कुपुत्ररक्षिका कुल्ला कुपुत्रमानसापहा ।
कुजरक्षकरी कौजी कुब्जाख्या कुब्जविग्रहा ॥ ३६-७६॥

कुनखी कूपदीक्षुस्था कुकरी कुधनी कुदा ।
कुप्रिया कोकिलानन्दा कोकिला कामदायिनी ॥ ३६-७७॥

कुकामिना कुबुद्धिस्था कूर्पवाहन मोहिनी ।
कुलका कुललोकस्था कुशासनसुसिद्धिदा ॥ ३६-७८॥

कौशिकी देवता कस्या कन्नादनादसुप्रिया ।
कुसौष्टवा कुमित्रस्था कुमित्रशत्रुघातिनी ॥ ३६-७९॥

कुज्ञाननिकरा कुस्था कुजिस्था कर्जदायिनी ।
ककर्जा कर्ज्जकरिणी कर्जवद्धविमोहिनी ॥ ३६-८०॥

कर्जशोधनकर्त्री च कालास्त्रधारिणी सदा ।
कुगतिः कालसुगतिः कलिबुद्धिविनाशिनी ॥ ३६-८१॥

कलिकालफलोत्पन्ना कलिपावनकारिणी ।
कलिपापहरा काली कलिसिद्धिसुसूक्ष्मदा ॥ ३६-८२॥

कालिदासवाक्यगता कालिदाससुसिद्धिदा ।
कलिशिक्षा कालशिक्षा कन्दशिक्षापरायणा ॥ ३६-८३॥

कमनीयभावरता कमनीयसुभक्तिदा ।
करकाजनरूपा च कक्षावादकरा। करा ॥ ३६-८४॥

कञ्चुवर्णा काकवर्णा क्रोष्टुरूपा कषामला ।
क्रोष्ट्रनादरता कीता कातरा कातरप्रिया ॥ ३६-८५॥

कातरस्था कातराज्ञा कातरानन्दकारिणी ।
काशमर्दतरूद्भूता काशमर्दविभक्षिणी ॥ ३६-८६॥

कष्टहानिः कष्टदात्री कष्टलोकविरक्तिदा ।
कायागता कायसिद्धिः कायानन्दप्रकाशिनी ॥ ३६-८७॥

कायगन्धहरा कुम्भा कायकुम्भा कठोरिणी ।
कठोरतरुसंस्था च कठोरलोकनाशिनी ॥ ३६-८८॥

कुमार्गस्थापिता कुप्रा कार्पासतरुसम्भवा ।
कार्पासवृक्षसूत्रस्था कुवर्गस्था करोत्तरा ॥ ३६-८९॥

कर्णाटकर्णसम्भूता कार्णाटी कर्णपूजिता ।
कर्णास्त्ररक्षिका कर्णा कर्णहा कर्णकुण्डला ॥ ३६-९०॥

कुन्तलादेशनमिता कुटुम्बा कुम्भकारिका ।

कर्णासरासना कृष्टा कृष्णहस्ताम्बुजाजीता ॥ ३६-९१॥

कृष्णाङ्गी कृष्णदेहस्था कुदेशस्था कुमङ्गला ।
क्रूरकर्मस्थिता कोरा किरात कुलकामिनी ॥ ३६-९२॥

कालवारिप्रिया कामा काव्यवाक्यप्रिया क्रुधा ।
कञ्चलता कौमुदी च कुज्योत्स्ना कलनप्रिया ॥ ३६-९३॥

कलना सर्वभूतानां कपित्थवनवासिनी ।
कटुनिम्बस्थिता काख्या कवर्गाख्या कवगीका ॥ ३६-९४॥

किरातच्छेदिनी कार्या कार्याकार्यविवजीता ।
कात्यायनादिकल्पस्था कात्यायनसुखोदया ॥ ३६-९५॥

कुक्षेत्रस्था कुलाविघ्ना करणादिप्रवेशिनी ।
काङ्काली किङ्किला काला किलिता सर्वकामिनी ॥ ३६-९६॥

कीलितापेक्षिता कूटा कूटकुङ्कमचचीता ।
कुङ्कुमागन्धनिलया कुटुम्बभवनस्थिता ॥ ३६-९७॥

कुकृपा करणानन्दा कवितारसमोहिनी ।
काव्यशास्त्रानन्दरता काव्यपूज्या कवीश्वरी ॥ ३६-९८॥

कटकादिहस्तिरथहयदुन्दुभिशब्दिनी ।
कितवा क्रूरधूर्तस्था केकाशब्दनिवासिनी ॥ ३६-९९॥

कें केवलाम्बिता केता केतकीपुष्पमोहिनी ।
कैं कैवल्यगुणोद्वास्या कैवल्यधनदायिनी ॥ ३६-१००॥

करी धनीन्द्रजननी काक्षताक्षकलङ्किनी ।
कुडुवान्ता कान्तिशान्ता कांक्षा पारमहंस्यगा ॥ ३६-१०१॥

कर्त्री चित्ता कान्तवित्ता कृषणा कृषिभोजिनी ।
कुङ्कुमाशक्तहृदया केयूरहारमालिनी ॥ ३६-१०२॥

कीश्वरी केशवा कुम्भा कैशोरजनपूजिता ।
कलिकामध्यनिरता कोकिलस्वरगामिनी ॥ ३६-१०३॥

कुरदेहहरा कुम्बा कुडुम्बा कुरभेदिनी ।
कुण्डलीश्वरसंवादा कुण्डलीश्वरमध्यगा ॥ ३६-१०४॥

कालसूक्ष्मा कालयज्ञा कालहारकरी कहा ।
कहलस्था कलहस्था कलहा कलहाङ्करी ॥ ३६-१०५॥

कुरङ्गी श्रीकुरङ्गस्था कोरङ्गी कुण्डलापहा ।
कुकलङ्की कृष्णबुद्धिः कृष्णा ध्याननिवासिनी ॥ ३६-१०६॥

कुतवा काष्ठवलता कृतार्थकरणी कुसी ।
कलनकस्था कस्वरस्था कलिका दोषभङ्गजा ॥ ३६-१०७॥

कुसुमाकारकमला कुसुमस्त्रग्विभूषणा ।
किञ्जल्का कैतवार्कशा कमनीयजलोदया ॥ ३६-१०८॥

ककारकूटसर्वाङ्गी ककाराम्बरमालिनी ।
कालभेदकरा काटा कर्पवासा ककुत्स्थला ॥ ३६-१०९॥

कुवासा कबरी कर्वा कूसवी कुरुपालनी ।
कुरुपृष्ठा कुरुश्रेष्ठा कुरूणां ज्ञाननाशिनी ॥ ३६-११०॥

कुतूहलरता कान्ता कुव्याप्ता कष्टबन्धना ।
कषायणतरुस्था च कषायणरसोद्भवा ॥ ३६-१११॥

कतिविद्या कुष्ठदात्री कुष्ठिशोकविसर्जनी ।
काष्ठासनगता कार्याश्रया का श्रयकौलिका ॥ ३६-११२॥

कालिका कालिसन्त्रस्ता कौलिकध्यानवासिनी ।
क्लृप्तस्था क्लृप्तजननी क्लृप्तच्छन्ना कलिध्वजा ॥ ३६-११३॥

केशवा केशवानन्दा केश्यादिदानवापहा ।
केशवाङ्गजकन्या च केशवाङ्गजमोहिनी ॥ ३६-११४॥

किशोरार्चनयोग्या च किशोरदेवदेवता ।
कान्तश्रीकरणी कुत्या कपटा प्रियघातिनी ॥ ३६-११५॥

कुकामजनिता कौञ्चा कौञ्चस्था कौञ्चवासिनी ।
कूपस्था कूपबुद्धिस्था कूपमाला मनोरमा ॥ ३६-११६॥

कूपपुष्पाश्रया कान्तिः क्रमदाक्रमदाक्रमा ।
कुविक्रमा कुक्रमस्था कुण्डलीकुण्डदेवता ॥ ३६-११७॥

कौण्डिल्यनगरोद्भूता कौण्डिल्यगोत्रपूजिता ।
कपिराजस्थिता कापी कपिबुद्धिबलोदया ॥ ३६-११८॥

कपिध्यानपरा मुख्या कुव्यवस्था कुसाक्षिदा ।
कुमध्यस्था कुकल्पा च कुलपङ्क्तिप्रकाशिनी ॥ ३६-११९॥

कुलभ्रमरदेहस्था कुलभ्रमरनादिनी ।
कुलासङ्गा कुलाक्षी च कुलमत्ता कुलानिला ॥ ३६-१२०॥

कलिचिन्हा कालचिन्हा कण्ठचिन्हा कवीन्द्रजा ।
करीन्द्रा कमलेशश्रीः कोटिकन्दर्पदर्पहा ॥ ३६-१२१॥

कोटितेजोमयी कोट्या कोटीरपद्ममालिनी ।
कोटीरमोहिनी कोटिः कोटिकोटिविधूद्भवा ॥ ३६-१२२॥

कोटिसूर्यसमानास्या कोटिकालानलोपमा ।
कोटीरहारललिता कोटिपर्वतधारिणी ॥ ३६-१२३॥

कुचयुग्मधरा देवी कुचकामप्रकाशिनी ।
कुचानन्दा कुचाच्छन्ना कुचकाठिन्यकारिणी ॥ ३६-१२४॥

कुचयुग्ममोहनस्था कुचमायातुरा कुचा ।
कुचयौवनसम्मोहा कुचमर्द्दनसौख्यदा ॥ ३६-१२५॥

काचस्था काचदेहा च काचपूरनिवासिनी ।
काचग्रस्था काचवर्णा कीचकप्राणनाशिनी ॥ ३६-१२६॥

कमला लोचनप्रेमा कोमलाक्षी मनुप्रिया ।
कमलाक्षी कमलजा कमलास्या करालजा ॥ ३६-१२७॥

कमलाङ्घ्रिरद्वया काम्या कराख्या करमालिनी ।
करपद्मधरा कन्दा कन्दबुद्धिप्रदायिनी ॥ ३६-१२८॥

कमलोद्भवपुत्री च कमला पुत्रकामिनी ।
किरन्ती किरणाच्छन्ना किरणप्राणवासिनी ॥ ३६-१२९॥

काव्यप्रदा काव्यचित्ता काव्यसारप्रकाशिनी ।
कलाम्बा कल्पजननी कल्पभेदासनस्थिता ॥ ३६-१३०॥

कालेच्छा कालसारस्था कालमारणघातिनी ।

किरणक्रमदीपस्था कर्मस्था क्रमदीपिका ॥ ३६-१३१॥

काललक्ष्मीः कालचण्डा कुलचण्डेश्वरप्रिया ।
काकिनीशक्तिदेहस्था कितवा किन्तकारिणी ॥ ३६-१३२॥

करञ्चा कञ्चुका क्रौञ्चा काकचञ्चुपुटस्थिता ।
काकाख्या काकशब्दस्था कालाग्निदहनाथीका ॥ ३६-१३३॥

कुचक्षनिलया कुत्रा कुपुत्रा क्रतुरक्षिका ।
कनकप्रतिभाकारा करबन्धाकृतिस्थिता ॥ ३६-१३४॥

कृतिरूपा कृतिप्राणा कृतिक्रोधनिवारिणी ।
कुक्षिरक्षाकरा कुक्षा कुक्षिब्रह्माण्डधारिणी ॥ ३६-१३५॥

कुक्षिदेवस्थिता कुक्षिः कियादक्षा कियातुरा ।
कियानिष्ठा कियानन्दा क्रतुकर्मा क्रियाप्रिया ॥ ३६-१३६॥

कुशलासवसंशक्ता कुशारिप्राणवल्लभा ।
कुशारिवृक्षमदिरा काशीराजवशोद्यमा ॥ ३६-१३७॥

काशीराजगृहस्था च कर्णभ्रातृगृहस्थिता ।
कर्णाभरणभूषाढ्या कण्ठभूषा च कण्ठिका ॥ ३६-१३८॥

कण्ठस्थानगता कण्ठा कण्ठपद्मनिवासिनी ।
कण्ठप्रकाशकरिणी कण्ठमाणिक्यमालिनी ॥ ३६-१३९॥

कण्ठपद्मसिद्धिकरी कण्ठाकाशनिवासिनी
कण्ठपद्मसाकिनीस्था कण्ठषोडशपत्रिका ॥ ३६-१४०॥

कृष्णाजिनधरा विद्या कृष्णाजिनसुवाससी ।
कुतकस्था कुखेलस्था कुण्डवालङ्कृताकृता ॥ ३६-१४१॥

कलगीता कालघजा कलभङ्गपरायणा ।
कालीचन्द्रा कला काव्या कुचस्था कुचलप्रदा ॥ ३६-१४२॥

कुचौरघातिनी कच्छा कच्छादस्था कजातना ।
कञ्चाछदमुखी कञ्चा कञ्चतुण्डा कजीवली ॥ ३६-१४३॥

कामराभार्सुरवाद्यस्था कियधंकारनादिनी ।
कणादयज्ञसूत्रस्था कीलालयज्ञसञ्ज्ञका ॥ ३६-१४४॥

कटुहासा कपाटस्था कटधूमनिवासिनी ।
कटिनादघोरतरा कुट्टला पाटलिप्रिया ॥ ३६-१४५॥

कामचाराब्जनेत्रा च कामचोद्गारसंक्रमा ।
काष्ठपर्वतसंदाहा कुष्ठाकुष्ठ निवारिणी ॥ ३६-१४६॥

कहोडमन्त्रसिद्धस्था काहला डिण्डिमप्रिया ।
कुलडिण्डिमवाद्यस्था कामडामरसिद्धिदा ॥ ३६-१४७॥

कुलामरवध्यस्था कुलकेकानिनादिनी ।
कोजागरढोलनादा कास्यवीररणस्थिता ॥ ३६-१४८॥

कालादिकरणच्छिद्रा करुणानिधिवत्सला ।
क्रतुश्रीदा कृतार्थश्रीः कालतारा कुलोत्तरा ॥ ३६-१४९॥

कथापूज्या कथानन्दा कथना कथनप्रिया ।
कार्थचिन्ता कार्थविद्या काममिथ्यापवादिनी ॥ ३६-१५०॥

कदम्बपुष्पसङ्काशा कदम्बपुष्पमालिनी ।
कादम्बरी पानतुष्टा कायदम्भा कदोद्यमा ॥ ३६-१५१॥

कुङ्कुलेपत्रमध्यस्था कुलाधारा धरप्रिया ।
कुलदेवशरीरार्धा कुलधामा कलाधरा ॥ ३६-१५२॥

कामरागा भूषणाढ्या कामिनीरगुणप्रिया ।
कुलीना नागहस्ता च कुलीननागवाहिनी ॥ ३६-१५३॥

कामपूरस्थिता कोपा कपाली बकुलोद्भवा ।
कारागारजनापाल्या कारागारप्रपालिनी ॥ ३६-१५४॥

क्रियाशक्तिः कालपङ्क्तिः कार्णपङ्क्तिः कफोदया ।
कामफुल्लारविन्दस्था कामरूपफलाफला ॥ ३६-१५५॥

कायफला कायफेणा कान्ता नाडीफलीश्वरा ।
कमफेरुगता गौरी कायवाणी कुवीरगा ॥ ३६-१५६॥

कबरीमणिबन्धस्था कावेरीतीर्थसङ्गमा ।
कामभीतिहरा कान्ता कामवाकुभ्रमातुरा ॥ ३६-१५७॥

कविभावहरा भामा कमनीयभयापहा ।
कामगर्भदेवमाता कामकल्पलतामरा ॥ ३६-१५८॥

कमठप्रियमांसादा कमठा मर्कटप्रिया ।
किमाकारा किमाधारा कुम्भकारमनस्थिता ॥ ३६-१५९॥

काम्ययज्ञस्थिता चण्डा काम्ययज्ञोपवीतिका ।
कामयागसिद्धिकरी काममैथुनयामिनी ॥ ३६-१६०॥

कामाख्या यमलाशस्था कालयामा कुयोगिनी ।
कुरुयागहतायोग्या कुरुमांसविभक्षिणी ॥ ३६-१६१॥

कुरुरक्तप्रियाकारी किङ्करप्रियकारिणी ।
कर्त्रीश्वरी कारणात्मा कविभक्षा कविप्रिया ॥ ३६-१६२॥

कविशत्रुप्रष्ठलग्ना कैलासोपवनस्थिता ।
कलित्रिधा त्रिसिद्धिस्था कलित्रिदिनसिद्धिदा ॥ ३६-१६३॥

कलङ्करहिता काली कलिकल्मषकामदा ।
कुलपुष्परङ्ग सूत्रमणिग्रन्थिसुशोभना ॥ ३६-१६४॥

कम्बोजवङ्गदेशस्था कुलवासुकिरक्षिका ।
कुलशास्त्रक्रिया शान्तिः कुलशान्तिः कुलेश्वरी ॥ ३६-१६५॥

कुशलप्रतिभा काशी कुलषट्चक्रभेदिनी ।
कुलषट्चक्रमध्यस्था कुलषट्चक्रदीपिनी ॥ ३६-१६६॥

कृष्णमार्जारकोलस्था कृष्णमार्जारषष्ठिका ।
कुलमार्जारकुपिता कुलमार्जारषोडशी ॥ ३६-१६७॥

कालान्तकवलोत्पन्ना कपिलान्तकघातिनी ।
कलहासा कालहश्री कलहार्था कलामला ॥ ३६-१६८॥

कक्षपपक्षरक्षा च कुक्षेत्रपक्षसंक्षया ।
काक्षरक्षासाक्षिणी च महामोक्षप्रतिष्ठिता ॥ ३६-१६९॥

अर्ककोटिशतच्छाया आन्वीक्षिकिकराचीता ।
कावेरीतीरभूमिस्था आग्नेयार्कास्त्रधारिणी ॥ ३६-१७०॥

इं किं श्रीं कामकमला पातु कैलासरक्षिणी ।

मम श्रीं ईं बीजरूपा पातु काली शिरस्थलम् ॥ ३६-१७१॥

उरुस्थलाब्जं सकलं तमोल्का पातु कालिका ।
ऊडुम्बन्यर्करमणी उष्ट्रेग्रा कुलमातृका ॥ ३६-१७२॥

कृतापेक्षा कृतिमती कुङ्कारी किंलिपिस्थिता ।
कुंदीर्घस्वरा क्लृप्ता च कें कैलासकराचीका ॥ ३६-१७३॥

कैशोरी कैं करी कैं कें बीजाख्या नेत्रयुग्मकम् ।
कोमा मतङ्गयजिता कौशल्यादि कुमारिका ॥ ३६-१७४॥

पातु मे कर्णयुग्मन्तु क्रौं क्रौं जीवकरालिनी ।
गण्डयुग्मं सदा पातु कुण्डली अङ्कवासिनी ॥ ३६-१७५॥

अर्ककोटिशताभासा अक्षराक्षरमालिनी ।
आशुतोषकरी हस्ता कुलदेवी निरञ्जना ॥ ३६-१७६॥

पातु मे कुलपुष्पाढ्या पृष्ठदेशं सुकृत्तमा ।
कुमारी कामनापूर्णा पार्श्वदेशं सदावतु ॥ ३६-१७७॥

देवी कामाख्यका देवी पातु प्रत्यङ्गिरा कटिम् ।
कटिस्थदेवता पातु लिङ्गमूलं सदा मम ॥ ३६-१७८॥

गुह्यदेशं काकिनी मे लिङ्गाधः कुलसिंहिका ।
कुलनागेश्वरी पातु नितम्बदेशमुत्तमम् ॥ ३६-१७९॥

कङ्कालमालिनी देवी मे पातु चारुमूलकम् ।
जंघायुग्मं सदा पातु कीतीः चक्रापहारिणी ॥ ३६-१८०॥

पादयुग्मं पाकसंस्था पाकशासनरक्षिका ।
कुलालचक्रभ्रमरा पातु पादाङ्गुलीर्मम ॥ ३६-१८१॥

नखाग्राणि दशविधा तथा हस्तद्वयस्य च ।
विंशरूपा कालनाक्षा सर्वदा परिरक्षतु ॥ ३६-१८२॥

कुलच्छत्राधाररूपा कुलमण्डलगोपिता ।
कुलकुण्डलिनी माता कुलपण्डितमण्डिता ॥ ३६-१८३॥

काकाननी काकतुण्डी काकायुः प्रखरार्कजा ।
काकज्वरा काकजिह्वा काकाजिज्ञा सनस्थिता ॥ ३६-१८४॥

कपिध्वजा कपिक्रोशा कपिबाला हिकस्वरा ।
कालकाञ्ची विंशतिस्था सदा विंशनखाग्रहम् ॥ ३६-१८५॥

पातु देवी कालरूपा कलिकालफलालया ।
वाते वा पर्वते वापि शून्यागारे चतुष्पथे ॥ ३६-१८६॥

कुलेन्द्रसमयाचारा कुलाचारजनप्रिया ।
कुलपर्वतसंस्था च कुलकैलासवासिनी ॥ ३६-१८७॥

महादावानले पातु कुमार्गे कुत्सितग्रहे ।
राज्ञोऽप्रिये राजवश्ये महाशत्रुविनाशने ॥ ३६-१८८॥

कलिकालमहालक्ष्मीः क्रियालक्ष्मीः कुलाम्बरा ।
कलीन्द्रकीलिता कीला कीलालस्वर्गवासिनी ॥ ३६-१८९॥

दशदिक्षु सदा पातु इन्द्रादिदशलोकपा ।
नवच्छिन्ने सदा पातु सूर्यादिकनवग्रहा ॥ ३६-१९०॥

पातु मां कुलमांसाढ्या कुलपद्मनिवासिनी ।
कुलद्रव्यप्रिया मध्या षोडशी भुवनेश्वरी ॥ ३६-१९१॥

विद्यावादे विवादे च मत्तकाले महाभये ।
दुभीक्षादिभये चैव व्याधिसङ्करपीडिते ॥ ३६-१९२॥

कालीकुल्ला कपाली च कामाख्या कामचारिणी ।
सदा मां कुलसंसर्गे पातु कौले सुसङ्गता ॥ ३६-१९३॥

सर्वत्र सर्वदेशे च कुलरूपा सदावतु ।
इत्येतत् कथितं नाथ मातुः प्रसादहेतुना ॥ ३६-१९४॥

अष्टोत्तरशतं नाम सहस्रं कुण्डलीप्रियम् ।
कुलकुण्डलिनीदेव्याः सर्वमन्त्रसुसिद्धये ॥ ३६-१९५॥

सर्वदेवमनूनाञ्च चैतन्याय सुसिद्धये ।
अणिमाद्यष्टसिद्ध्यर्थं साधकानां हिताय च ॥ ३६-१९६॥

ब्राह्मणाय प्रदातव्यं कुलद्रव्यपराय च ।
अकुलीनेऽब्राह्मणे च न देयः कुण्डलीस्तवः ।

प्रवृत्ते कुण्डलीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ ३६-१९७॥

निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्–पृथक् ।
कुलीनाय प्रदातव्यं साधकाय विशेषतः ॥ ३६-१९८॥

दानादेव हि सिद्धिः स्यान्ममाज्ञाबलहेतुना ।
मम क्रियायां यस्तिष्ठेत्स मे पुत्रो न संशयः ॥ ३६-१९९॥

स आयाति मम पदं जीवन्मुक्तः स वासवः ।
आसवेन समांसेन कुलवह्नौ महानिशि ॥ ३६-२००॥

नाम प्रत्येकमुच्चार्य जुहुयात् कायसिद्धये ।
पञ्चाचाररतो भूत्त्वा ऊर्द्ध्वरेता भवेद्यतिः ॥ ३६-२०१॥

संवत्सरान्मम स्थाने आयाति नात्र संशयः ।
एहिके कायसिद्धिः स्यात् दैहिके सर्वसिद्धिदः ॥ ३६-२०२॥

वशी भूत्त्वा त्रिमार्गस्थाः स्वर्गभूतलवासिनः ।
अस्य भृत्याः प्रभवन्ति इन्द्रादिलोकपालकाः ॥ ३६-२०३॥

स एव योगी परमो यस्यार्थेऽयं सुनिश्चलः ।
स एव खेचरो भक्तो नारदादिशुकोपमः ॥ ३६-२०४॥

यो लोकः प्रजपत्येवं स शिवो न च मानुषः ।
स समाधिगतो नित्यो ध्यानस्थो योगिवल्लभः ॥ ३६-२०५॥

चतुर्व्यूहगतो देवः सहसा नात्र संशयः ।
यः प्रधारयते भक्त्या कण्ठे वा मस्तके भुजे ॥ ३६-२०६॥

स भवेत् कालिकापुत्रो विद्यानाथः स्वयंभुवि ।
धनेशः पुत्रवान् योगी यतीशः सर्वगो भवेत् ॥ ३६-२०७॥

वामा वामकरे धृत्त्वा सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ॥ ३६-२०८॥

यदि पठति मनुष्यो मानुषी वा महत्या ।
सकलधनजनेशी पुत्रिणी जीववत्सा ।
कुलपतिरिह लोके स्वर्गमोक्षैकहेतुः
स भवति भवनाथो योगिनीवल्लभेशः ॥ ३६-२०९॥

पठति य इह नित्यं भक्तिभावेन मर्त्यो

हरणमपि करोति प्राणविप्राणयोगः ।
स्तवनपठनपुण्यं कोटिजन्माघनाश।
कथितुमपि न शक्तोऽहं महामांसभक्षा ॥ ३६-२१०॥

इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने
सिद्धमन्त्रप्रकरणे षड्वक्त्रप्रकाशे
भैरवीभैरवसंवादे महाकुलकुण्डलिनी
अष्टोत्तरसहस्रनामस्तवकवचं नाम षड्त्रिंशत्तमः
पटलः ॥ ३६॥

From Digital Library at http://muktalib5.org
Proofread by DPD

.. Shri Mahakulakundalini SahasranAmastotram ..

Searchable pdf was typeset using XeTeXgenerateactualtext feature of XeLaTeX 0.99996
on August 20, 2017

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

©2011 Muktabodha Indological Research Institute All Rights Reserved.
E-texts may be viewed only online or downloaded for private study.
E-texts may not, under any circumstances, be copied, republished,
reproduced, distributed or sold, either in original or altered form,
without the express permission of Muktabodha Indological Research
Institute in writing.
Data-entered by the staff of Muktabodha
under the direction of Mark S. G. Dyczkowski.

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

योगकुण्डल्युपनिषत्

सह नाववतु- इति शान्तिः

प्रथमोध्यायः

वायुजयोपायत्रयम्

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनिष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥ १ ॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥ २ ॥

विवरणम्

योगकुण्डल्युपनिषद्योगसिद्धहृदासनम्।
निर्विशेषब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमिति चिन्तये॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं योगकुण्डल्युपनिषत्
हठलम्बिकायोगप्रकटनव्यग्रा निर्विशेषब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना
विजयते। अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते।
आदाववान्तरवाक्यरूपेण हठयोगमवतारयति-
हेतुद्वयमित्यादिना। वासनाप्राणरोधाभ्यां चित्तचलनाचलने भवतः।
एतदन्यतररोधेपि द्वयमपि निरुद्धं भवतीत्यर्थः॥ १॥ तदुपायतया
मिताहार इत्यादि॥ २॥

पृ। ३०८)

मिताहारः

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशावशेषकः॥ ३॥

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।

तत्र सुस्निग्धेति ॥ ३-४ ॥

पद्मवज्रासने

आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥ ४ ॥

ऊर्ध्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भेवेदेतत् सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥

वामाङ्घ्रिमूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥ ६ ॥

तत्र पद्मासनलक्षणं तु ऊर्वोरिति ॥ ५-६ ॥

शक्तिचालनं तत्साधनद्वयं च

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद् बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥ ७॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमथाभ्यासाद् ऋज्वी कुण्डलिनी भवेत्॥ ८॥

पू। ३०९) किं तच्छक्तिचालनमित्यत्र कुण्डल्येव॥ ७॥ तत्साधनं
किमित्यत्र तत्साधने इति॥ ८-१४॥

सरस्वतीचालनम्

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते।
अरुन्धत्यैव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती॥ ९॥

यस्याः संचालने नैव स्वयं चलति कुण्डली।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्॥ १०॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम्।
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः॥ ११॥

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम्।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः॥ १२॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत् सुधीः।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत् किंचित् सुषुम्नां कुण्डलीगताम्॥ १३॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्।
जहाति तस्मात् प्राणोयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ १४॥

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत्॥ १५॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत्॥ १६॥

प्र। ३१०) तस्मात् संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ १७॥

गुल्मं जलोदरप्लीहो ये चान्ये तुन्दमध्यगाः।
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्॥ १८॥

मूलादिबन्धत्रयपूर्वकं सरस्वतीचालनतः वक्षः वक्षसः
उर्ध्वगो मरुत् स्यात्॥ १५॥ उक्तार्थमेतत्॥ १६॥ यस्मादेवं तस्मात्॥ १७-
२४॥

प्राणायामभेदाः

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः।

प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः॥ १९॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा।
यावत् केवलसिद्धिः स्यात् तावत् सहितमभ्यसेत्॥ २०॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात् सहितकुम्भकः॥ २१॥

सूर्यकुम्भकः

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुःप्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥ २२ ॥

पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥

प्र्। ३११) दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः ।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥ २४ ॥

कपालशोधने वापि रेचयेत् पवनं शनैः ।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥ २५ ॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ।

चतुष्कं चतुर्विधम् ॥ २५-४२ ॥

उज्जायीकुम्भकः

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥ २६ ॥

यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ २७ ॥

शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम् ।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥ २८ ॥

नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ २९ ॥

शीतलीकुम्भकः

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भकादनु ।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥ ३० ॥

गुल्मप्लीहादिकान् दोषान् क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोयं निहन्ति च ॥ ३१ ॥

भस्त्रकुम्भकः

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ ३२॥

यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः।
वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम्॥ ३३॥

पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रावेगेन चाल्यते॥ ३४॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं शनैः।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण रेचयेत्॥ ३५॥

यथोदरं भवेत् पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ ३६॥

कुम्भकं पूर्ववत् कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥ ३७॥

कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभद सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ३८॥

गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥ ३९॥

बन्धत्रयविधिः

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः॥ ४०॥

पू। ३१३) प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः।
जालंधरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥ ४१॥

मूलबन्धः

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोयमुच्यते ॥ ४२ ॥

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥ ४३ ॥

ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ४४ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ४५ ॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाडयन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ४६ ॥

हता चलिता ॥ ४३-६२ ॥

उड्डियाणबन्धः

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ४७॥

तस्मादुड्डीयणाख्योयं योगिभिः समुदाहृतः।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्॥ ४८॥

 गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।
पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले॥ ४९॥

शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसंधिं निगच्छति।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः॥ ५०॥

जालंधरबन्धः

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः।
कण्ठसंकोचरूपोसौ वायुमार्गनिरोधकः॥ ५१॥

अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ५२ ॥

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥ ५३ ॥

अभ्यासकुम्भकसंख्यानियमः

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥ ५४ ॥

विंशत्यलं तृतीयेह्नि पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥ ५५ ॥

योगाभ्यासविघ्नाः, तत्त्यागश्च

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ५६ ॥

 विषमासनदोषाश्च प्रयासप्राणचिन्तनात् ।

शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥ ५७ ॥

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते ।
ततोभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥ ५८ ॥

द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥ ५९ ॥

षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम् ।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥ ६० ॥

अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद् बुधः ॥ ६१ ॥

योगाभ्यासेन कुण्डलिनीबोधः

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वास्थया धिया ।
सुषुम्ना लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति ॥ ६२ ॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद् गतिश्चालिता ततः।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ ६३॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोयमुच्यते।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति॥ ६४॥

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः॥ ६५॥

पृ। ३१६) तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नावदनान्तरे॥ ६६॥

एवं सत्त्वास्थया प्राणायामं कुर्वतः चित्तादिकं न चलति। न च
कदापि वायुः प्रधावति। केवलकुम्भकतो नाडीगतमले शुष्के सत्यथ
सुषुम्नायां प्राणगतिः चालिता स्तम्भिता यदि तदा ततोयं योगी
स्यादित्यर्थः॥ ६३-६४॥ याति यातः॥ ६५॥ चालिता कुण्डलिनी॥ ६६-६७॥

ग्रन्थित्रयभेदेन कुण्डलिन्याः सहस्त्रारगमनम्

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्॥ ६७॥

विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्॥ ६८॥

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम्॥ ६९॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रव शोषयति स्वयम्।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रविर्ग्रहात्॥ ७०॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम्।
(तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्)॥ ७१॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते।
ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं स्रवतेतराम्॥ ७२॥

प्र। ३१७) तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषमेषु यत्।

तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थस्यात्मरतो युवा ॥ ७३ ॥

तदुद्भवम् आज्ञाचक्रमूलोद्भवं रुद्रग्रन्थिम् ॥ ६८ ॥ दलैः
षोडशभिर्युतम्- प्रधानदलान्यष्टौ, तथा उपदलानि,
आहत्य षोडश ॥ ६९ ॥ यदा प्राणो हृदये शीतांशुजं द्रवं शोषयति
तदा तत्रत्यरक्तादौ प्राणवेगेन चलिते सति रविः रक्तपित्तादिकं ग्रहात्
ग्रसेत् शोषयेदित्यर्थः ॥ ७० ॥ ततः प्राणे यातेन्दुचक्रमिति ॥ ७१ ॥
स्रवतेतरां- अमृतधारेत्यर्थः ॥ ७२ ॥ अस्या अमृतधारायाः
आस्वादवशात् यच्चित्तं विषमेषु विषयेषु उदासीनतया बहिष्ठं
बहिर्भूतं भवति तद्वानात्मरतो मुनिः तदेव परमम् अमृताख्यं
हविर्भुक्त्वा स्वस्थः स्यात् स्वस्थस्यात्मरत इत्यत्र विसर्गतकाराकाराणां
लोपः ॥ ७३ ॥

प्राणादिविलयः, विलिनानां बहिःप्रसरश्च

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥ ७४ ॥

इत्यधोर्ध्वरजःशुक्ले शिवे तदनु मारुतः ।

प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च ॥ ७५ ॥

भूतेल्पे च मनोल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।
धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥ ७६ ॥

पू । ३१८) ततः किमित्यत आह- प्रकृतीति ।

भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

इति स्मृत्यनुरोधेन हित्वा स्वात्तप्रकृत्यष्टकरूपम् । सहस्त्रारस्थानम् ।
दृङ्मनःप्राणादिकं क्रोडीकृत्य ॥ ७४ ॥ यदा कुण्डलिनी सर्वं
क्रोडीकृत्य सहस्त्रारे विलीयते इत्यथोर्ध्वरजःशुक्ले शिवे इत्यत्र
कुण्डलिनीविलयादथोर्ध्वक्षणं सौरं प्राकृतं जीवतत्त्वं रजश्च
चान्द्रम् ऐश्वरं शुक्लं च रजःशुक्ले सहस्त्रारालंकारे
स्वातिरिक्ताशिवग्रासे शिवे परमात्मनि विलीयते तदनु तदुत्तरक्षणं
मारुतोपि विलीयते । सहजप्राणादेः कथं विलय इत्यत्र यथा अहोरात्रे
सहजे संध्ययोः समे भवतः तथैव सहजातौ सहजौ
तुर्यस्वरूपावस्थानलक्षणनिर्विकल्पकावस्थायां प्राणापानौ समौ

ऊर्ध्वाधोगतिविरलौ निर्व्यापारतां याति यातः। अयमेव प्राणादिविलय इत्यर्थः॥ ७५॥ एवं विलीनप्राणमनोवागादिः कथमन्तर्बाह्ये प्रसरतीत्यत्र बाह्ये स्वातिरेकेण घटाद्यत्यल्पं भवतीति भूतमल्पं तस्मिन् भूते अल्पे च स्मृते प्राणः प्रसरति। स्वातिरेकेण अल्पं वा किंचिदस्तीति यन्मनुते तन्मनल्पं मनोल्पं तस्मिन् मनोल्पे संकल्पिते संकल्पविकल्पात्मकं मनः प्रसरति। स्वातिरेकेण वाचके तु स्मृते तदा वाग्वृत्तिः प्रसरति। एवं प्राणमनोवागादिरुत्पन्नः सन् वर्धते। एवं प्राणादिनिष्पत्तौ सत्यां
मूषानिषिक्तद्रुतसुवर्णवदापादमस्तकमखिलाः प्राणादिवाता धावयति धावन्ति आपादमस्तकं व्याप्य वर्तन्ते इत्यर्थः॥ ७६॥

समाधौ सर्वस्य चिन्मात्रत्वानुभवः

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे।
देहोतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात्॥ ७७॥

प्र। ३१९) जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्।
तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम्॥ ७८॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः।

इति तं स्वस्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत्॥ ७९॥

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते।

रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा॥ ८०॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि।

स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः॥ ८१॥

पुनः समाहितावस्थायां एतत् सर्वं चिन्मात्रपर्यवसन्नं
भवतीत्याह- आधिभौतिकेति। स्वाज्ञाविकल्पितभौतिकदेहमधिकृत्य
भवतीत्याधिभौतिकदेहः तं तु आधिभौतिकदेहम् आत्मानं प्रत्यञ्चं
देवमधिकृत्य भवतीत्याधिदैविकविग्रहः तस्मिन् आधिदैविकविग्रहे
प्रत्यगभिन्नपरमात्मनि तन्मात्रतया प्रविलापयेत्। ततः
पूर्वाधिष्ठितदेहः मलवद्देहादिभावं विहाय
विमलब्रह्मभावमेव याति स्वाज्ञाविकल्पितप्रपञ्चाधारतया
समन्ताद्वहतीत्यातिवाहिकतां ब्रह्मतामियादित्यर्थः॥ ७७॥ यत्
स्वातिरिक्तजडशरीरादिकमनुभूतं तत् सर्वं
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्। यत् सर्वेषां देहादीनां

अधिष्ठेयानां आरोपापवादाधिष्ठानं मदात्मकम्

अस्मत्प्रत्ययालम्बनभूतप्रत्यगभिन्नं ब्रह्म तस्यातिवाहिकत्वमेव

मुख्यं वास्तवमित्यर्थः ॥ ७८ ॥ यदि ते पराक्सापेक्षप्रत्यगभिन्ने

ब्रह्मणि सविशेषधीः जायते तदा जनित्वा भवतीति तज्जायाभावः

सविशेषत्वस्फूर्तिः । तदपह्नवसिद्धिः तद्विनिर्मुक्तिः । एवं

सविशेषापह्नवोक्तिरपि कालरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञानविभ्रमः

सर्वापह्नवसिद्धब्रह्ममात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति

विभ्रमापह्नवोक्तिरप्यपह्नवतामर्हतीति भावः ।

प्र । ३२०) इत्येवं योवशिष्यते तं स्वावशेषधिया विदित्वा

वेदनसमकालं या हि स्वस्वरूपावस्थितिः तन्मतिरेव मुक्तिः ॥ ७९ ॥

तदतिरेकेण स्वाज्ञदशायां यद्यदनुभूतं रज्जुभुजङ्गवत्

शुक्तिकायां यथा अनुभूतम् इदं रजतमिति विपरीतभ्रमतः स्त्रीपुंसोः

रौप्यबुद्धिवच्च, मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।

वस्तुतः स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति ब्रह्ममात्रं

निष्प्रतियोगिकमवशिष्यत इति फलितोर्थः ॥ ८० ॥ कथं पुनः

ब्रह्ममात्रमवशिष्यत इत्युक्तम् ?

व्यष्टिसमष्टिविभागसिद्धविश्वादि-

जीवत्रयविराडादीश्वरत्रयभेदसत्त्वादित्याशङ्क्य, यदि सर्वत्र

भेदं मन्यसे तदा

व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चतदारोपापवादाधारविश्वादितुरीयान्तस्य

विराडादितुर्यान्तेनैक्यं विचिन्तयेदित्याह- पिण्डेति । ऐक्यं

विश्वविराडैक्योफलक्षणार्थम् ।

भेदसापेक्षतदैक्यगतसविशेषतापाये ब्रह्म

निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

समाधियोगः

शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभा शुभा ।

मूलकन्दं फणाग्रेण कमलकन्दवत् ॥ ८२ ॥

मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।

पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥ ८३ ॥

वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ।

वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

ज्वलनाघातपवना घातोरुन्निद्रितोहिराट् ।

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥ ८५ ॥

पू। ३२१) रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥

सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा ॥ ८७ ॥

इति।

इत्थंभूतज्ञानोपायतया समाधियोगमाचष्टे- शक्तिरिति ॥
८२-८४ ॥ घातेनेत्यत्र घातोरिति छान्दसः ॥ ८५ ॥
षट्चक्रालंकारग्रन्थित्रयभेदनानन्तरम् इयं कुण्डलिनीशक्तिः शिवेन
सह सहस्रारे मोदते ॥ ८६ ॥ स्वविकल्पितभेदप्रपञ्चं ग्रसित्वा
निर्विशेषब्रह्मविद्यारूपमासाद्य स्वयमपि
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसन्नेति यावस्थोक्ता सैवावस्था परा
विदेहमुक्तिरिति ज्ञेया। सैव निर्वृतिकारणा, तस्याः
परमानन्दाविर्भावहेतुत्वात्। इतिशब्दो हठयोगसमाप्त्यर्थः,
अध्यायपरिसमाप्त्यर्थश्च ॥ ८७ ॥

इति प्रथमोध्यायः

द्वितीयोध्यायः

खेचरीविद्या

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम्।
यथा विज्ञातवानस्य लोकेस्मिन्नजरामरः॥ १॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत्॥ २॥

प्र। ३२२) जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः॥ ३॥

तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोपि दुर्लभः॥ ४॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति।

अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम्॥ ५॥

अभ्यासं लभते ब्रह्मन् जन्मजन्मान्तरे क्वचित्।
मेलनं जन्मनां तत्तु शतान्तेपि न लभ्यते॥ ६॥

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित्॥ ७॥

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ॥ ८॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा।
तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः॥ ९॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोपि न शक्नुयुः।
तस्मात् सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने॥ १०॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता॥ ११॥

पू। ३२३) न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम्॥ १२॥

तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत्॥ १३॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन् दिव्ययोगप्रदायकः॥ १४॥

तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्।
तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः॥ १५॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन् खेचरीबीजपूरया॥ १६॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्।

ज्ञानसहितहठयोगसर्वस्वं प्रतिपाद्य सप्रपञ्चं

लम्बिकायोगमाचष्टे- अथेति । यथा यथावत् ॥ १-१२ ॥ मह्यं
मत्तः ॥ १३-१५ ॥ ह्रीमित्यादिखेचरीबीजपूरया

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवि ॥

इति श्रुतिसिद्धखेचरीमुद्रया खेचरीयोगं युञ्जन् यः कालं नयति ॥ १६ ॥
स योगी देहान्ते खेचराधिपतिः सूर्यो भूत्वा खेचरेषु खेचरणीयलोकेषु
सदा वसेत् ॥

प्र । ३२४)

खेचरीमन्त्रराजोद्धारः

खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥ १७ ॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति ।

सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्॥ १८॥

तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेनापरं मुने॥ १९॥

तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमा।
इन्दोश्च बहुभिन्नं च कूटोयं परिकीर्तितः॥ २०॥

मेलनमन्त्रराजमुद्धरति- खेचरेति। खवाचकतया चरतीति
खेचरः हकारः आवसथमिति धारणाशक्तिरीकारः रेति वह्निः
अम्बुमण्डलमिति बिन्दुः। एतत् सर्वं मिलित्वा भूषितं ह्रीमिति॥ १७॥
खेचरीबीजमाख्यातम्। तेनैव लम्बिकायोगः प्रसिध्यति।
शिष्टबीजषट्कमप्यम्बुमण्डलभूषितमिति ज्ञेयम्। सोमांशः
सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन तन्नवकं वर्णमुद्धरेत् भमिति॥ १८॥
तस्मात् भकारादनुलोमेन त्र्यंशकं चन्द्रबीजमाख्यातं समिति।
तस्मात् सकारात् विलोमेन अपरमष्टमं वर्णमुद्धरेत् ममिति॥ १९॥ तथा
मकारात् विलोमेन अपरं पञ्चमवर्णं पमिति विद्धि। पुनरिन्दोश्च
बीजं समित्युद्धरेत्। बहुभिः ककारषकारबिन्दुभिः युक्तोयं कूटः
क्षमिति। आहत्य बीजानि सप्त- ह्रीं, भं, सं, मं,

पं, सं, क्षं, इति ॥ २०-२१ ॥

मन्त्रजपात् खेचरीसिद्धिः

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥ २१ ॥

प्र। ३२५) स्वप्नेपि न लभेत् तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः ।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥ २२ ॥

तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥ २३ ॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत् ततः ॥ २४ ॥

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे ।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥ २५ ॥

ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित् सिद्धिभाग् भवेत्॥ २६॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत्।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः॥ २७॥

नित्यं द्वादशवारं यो जपति स मायातीतो भवतीत्यर्थः॥ २२-
२७॥

खेचर्यभ्यासक्रमः

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्॥ २८॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन लोममात्रं समुच्छिनेत्॥ २९॥

पू। ३२६) हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३०॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति॥ ३१॥

अथ वागीश्वरीधामशिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्॥ ३२॥

पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि॥ ३३॥

अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया॥ ३४॥

केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने।
अधस्तात् कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु॥ ३५॥

ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः॥ ३६॥

शनैः सनैर्मस्तकाच्च महावज्रकवाटभित्।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याति दुर्लभाम्॥ ३७॥

तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे॥ ३८॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्॥ ३९॥

पू। ३२७) तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुंगव।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मविलं ब्रजेत्॥ ४०॥

तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन् दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रं निवेशयेत्॥ ४१॥

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत्॥ ४२॥

मथनेन विना केचित् साधयन्ति विपश्चितः।

खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥ ४३ ॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥ ४४ ॥

नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।
प्राणान् निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥ ४५ ॥

शनैः सुमथनं कुर्याद् भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषि ।
षाण्मासान्मथनावस्थाभावेनैव प्रजायते ॥ ४६ ॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ।
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥ ४७ ॥

सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥ ४८ ॥

पू। ३२८) शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।
ब्रह्माण्डोयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥ ४९ ॥

इति ॥

अभ्यासक्रममाह- ताल्विति ॥ २८-२९ ॥ कार्यान्तरं हित्वेति ।
हरीतकी पथ्याशब्दार्थः ॥ ३०-३१ ॥ वागीश्वरीधामशिरः जिह्वाग्रम् ॥
३२-३४ ॥ तिर्यक्च्छाखावधिः शिखामूलमित्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥
दुर्लभां दुर्लभताम् ॥ ३७ ॥ षट्स्वरभिन्नया ह्रां ह्रीं इत्यादिनेत्यर्थः
॥ ३८-४० ॥ ब्रह्मार्गलम् अन्तर्जिह्वासुषिरम् ॥ ४१-४७ ॥ एवं
गुरुमुखात् लम्बिकाविद्याम् अभ्यस्य द्वादशवर्षानुष्ठानात्
लम्बिकायोगसिधिः भवति ॥ ४८ ॥ शरीरे सकलं विश्वं पश्यतीत्यनेन
विराट्सूत्रबीजतुर्यरूपं क्रमेण प्रतिपद्यते । यत्र सहस्त्रारे
राजदन्तोर्ध्वकुण्डली जिह्वा प्रसरति सोयं मार्गः ब्रह्माण्डनिभो
भवति, सुपथत्वात् । इतिशब्दः लम्बिकायोगसमाप्त्यर्थः,
द्वितीयाध्यायसमाप्त्यर्थश्च भवति ॥ ४९ ॥

इति द्वितीयोध्यायः

तृतीयोध्यायः

मेलनमन्त्रः

ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्।

मेलनमनुं कण्ठतः पठति- ह्रीमिति।

प्।। ३२९)

अमावास्याप्रतिपत्पूर्णिमाभेदेन दृष्टिभेदः

पद्मज उवाच-

अमावास्या च प्रतिपत् पौर्णमासी च शंकर।
अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः॥ १॥

[शिव उवाच-]

प्रतिपद्दिनतोकाले अमावास्या तथैव च।
पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात् स च पन्था हि नान्यथा॥ २॥

दृष्टित्रयतल्लक्ष्ययाथार्थ्यबुभुत्सया शिवं प्रति ब्रह्मा

पृच्छतीत्याह- पद्मज इति ॥ १ ॥ प्रश्नोत्तरं भगवानाह-

प्रतिपदिति । बाह्यमध्यान्तर्लक्ष्यदर्शनकरणं

मनःसहकृतदृष्टिः । अमादिभेदेन सेयं त्रिधा भिद्यते । तत्र

गाढनिमीलनदृष्टिरमा, अर्धोन्मीलनदृष्टिः प्रतिपत्

सर्वोन्मीलनदृष्टिः पूर्णिमा भवति । लक्ष्यदर्शने पूर्णिमादृष्टिः

प्रशस्यते । अभ्यासकाले यदि नेत्रश्रमो भवति तदा प्रतिपद्दिनतोकाले

प्रतिपद्दृष्ट्यावलोकयेत् अमादृष्ट्या वा । यदा जितश्रमो भवति तदा

पूर्णिमादृष्टिमेव स्थिरीकुर्यात्

कदाचित् पूर्णिमादृष्ट्या कदाचित् प्रतिपद्दृशा ।

अमादृष्ट्या कदाचिच्च निर्विघ्नेनावलोकयेत् ॥

इति ब्रह्मप्रणवोक्तेः । प्राणापाना[णायामा]द्यपेक्षया

अयमेव पन्था वरीयानित्यर्थः ॥ २ ॥

पूर्णिमादृष्टिविधिः

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात् काममोहितः ।

द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥

पू। ३३०) अपरं संत्यजेत् सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम्।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥ ४॥

मनसा मन आलोक्य तत् त्यजेत् परमं पदम्।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम्॥ ५॥

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥ ६॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्।
ज्ञात्वा सुषुम्नातद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्॥ ७॥

स्थित्वासौ वैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्।
वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च॥ ८॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम्॥ ९॥

अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्।

आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम्॥ १०॥

मणिपूरं नाभिदेशे हृदयस्थमनाहतम्।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम्॥ ११॥

विषयविषयिकलनात्यागपूर्वकं पूर्णिमादृष्ट्या ब्रह्माहमिति
लक्षयेत् इत्याह- कामेनेति॥ ३॥ किंच- शक्तिमध्ये।
कुण्डलिनीशक्तिमध्ये पूर्णिमादृष्टिकलितं मनः कृत्वा पुनः
शक्तेश्च मध्यगं मनोपि कृत्वा

पू। ३३१) ब्रह्माकारपरिणतमनसा मनस्तत्कार्यापवादाधिकरणं
ब्रह्मास्मीत्यालोक्य एवमालोकनवृत्तिमपि संत्यजेदिति यत् तदेव हि
परमं पदं कैवल्यमित्यर्थः॥ ४॥ किं तन्मनः इत्यत आह- मन
इति। मनसः व्यष्टिप्रपञ्चोत्पत्त्यादिकारणत्वात् तदेव बिन्दुरीश्वरः,
बिन्दुरीश्वरसंज्ञः इति श्रुतेः॥ ५॥ यद्वा- मनसोत्पद्यते बिन्दुः
बिन्द्वादिकल्पनाया मनोहेतुकत्वात् मनःकार्यत्वम्, सेशं मया
कल्पितम् इति भगवत्पादाचार्योक्तेः। यथा क्षीरं घृतात्मकं तथा
बिन्दुः मन-आत्मकमित्यर्थः। मनोबद्धमीश्वरतत्त्वमित्यत्राह-
न चेति। स्वसंकल्पतो बन्धनमेतीति बन्धनं मनः न च बिन्दुतत्त्वं

बन्धनमध्यस्थं मनसो मृषात्वात्। नापि तद्वै तदेव
स्वकारणमानसवत् भवति, मानसापाये बिन्दोः ईश्वरस्य
निर्विशेषब्रह्ममात्रत्वात्॥ ६॥ ईश्वरादतिरिक्तमेव बन्धनमित्याह-
चन्द्रेति। ब्रह्मरन्ध्रमूलाधारासनचन्द्रार्कमध्यमा शक्तिः
कुण्डलिनी यत्र तिष्ठति तत्र बन्धनं मनोस्तीति ज्ञात्वा।
स्वातिरिक्तकुण्डलीकार्यं मनोबन्धनमिति ज्ञात्वा तदुन्मूलनाय यत्
सुषुम्नायां ग्रन्थित्रयं विद्यते तद्भेदं कृत्वा प्राणादिकमपि
तत्सुषुम्नामध्यगं कृत्वा॥ ७॥ बैन्दवस्थाने भ्रूमध्यादौ
बिन्द्वाख्येश्वरोस्मीति स्थित्वा वायुं स्थिरीकृत्य प्राणरन्ध्रे निरोधयेत्
केवलकुम्भकमेव कुर्यात् इत्यर्थः। प्राणादीन् ज्ञात्वा योगानन्दं
विशेदित्याह- वायुमिति॥ ८॥ कानि षट् चक्राणीत्यत आह- मूलेति॥
९-१२॥

प्राणाभ्यासात् विराड्रूपापत्तिः

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डले।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तयैवोर्ध्वं नियोजयेत्॥ १२॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत्।

वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्॥ १३॥

प्र। ३३२) एवं प्राणाभ्यासात् विराड्रूपो भवतीत्यर्थः।
चित्तप्राणावेकीकृत्य षट्चक्रेषु बिन्दुध्यानपूर्वकं
योगमभ्यसेदित्यर्थः॥ १२-१३॥

अभ्यासयोगेन विना न स्वात्मप्रकाशः

समाधिमेकेन सममृतं यान्ति योगिनः।
यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना॥ १४॥

विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि।
घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते॥ १५॥

भिन्ने तस्मिन् घटे चैव दीपज्वाला च भासते।
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम्॥ १६॥

एकेन निर्विकल्पयोगेन समं सर्वसाम्यं समाधिं ब्रह्म
अमृतं योगिनो यान्ति। एवमभ्यासयोगं विना स्वात्मा न प्रकाशते इति

सदृष्टान्तमाह- यथेति ॥ १४-१५ ॥ स्वकायो घटस्थानीय

इत्युक्तः ॥ १६ ॥

गुरूपदेशात् ब्रह्मज्ञानम्

गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्।

कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥ १७ ॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्।

गुरुवाक्यसमाभिन्ने स्वाज्ञानावरणे अथ ब्रह्मज्ञानम्। गुरुं

प्राप्य तदुपदिष्टार्थं नौकां कृत्वा ॥ १७ ॥

प्।। ३३३)

वाग्वृत्त्यधिष्ठानं ब्रह्म

परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥ १८ ॥

मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता ।
पूर्वं यथोदिता या वाग् विलोमेनास्तगा भवेत् ॥ १९ ॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः ।
सोहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥ २० ॥

शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोपि न लिप्यते ।

व्यवहारिकप्रपञ्चदृष्टीनां भवसागरतारणं कथमित्या-
शङ्क्य
व्यावहारिकप्रपञ्चनिर्वाहकवाग्वृत्तिसंभूतिस्थितिप्रलया-
धिष्ठानब्रह्मज्ञानतो निर्लिप्तो भूत्वा लीलया
भवसागरपारब्रह्मपदं यान्तीत्याह- परायामिति । वाग्वृत्तिः

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

इति श्रुत्यनुरोधेन मूलाधारस्थपरायां अङ्कुरीभूय ।
अनाहतस्थपश्यन्त्याम् ॥ १८ ॥ विशुद्धिचक्रस्थमध्यमायाम्
आस्यस्थवैखर्याम् ॥ १९-२० ॥

विश्वादिप्रपञ्चाधिष्ठानं ब्रह्म

विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥ २१ ॥

विराड्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥ २२ ॥

पू । ३३४) स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
अण्डं ज्ञानग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह ॥ २३ ॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।

व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चसापेक्षविश्वविराडादिभेदे सति कथं
विद्वान् भवसागरपारब्रह्मतया अवशिष्यते इत्याशङ्क्य यदि ते
स्वातिरेकेण साधारव्यावहारिकप्रपञ्चोस्तीति भ्रान्तिस्तदा स्वज्ञानतः

स्वाज्ञानप्रपञ्चो विलीयते, तद्विलयाधिकरणं

स्वातिरिक्तासंभवब्रह्ममात्रज्ञानेन निरधिकरणं सत्

निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमवशिष्यते इत्याह- विश्वश्चेति ॥ २१-२३ ॥

स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्वातिरिक्तं स्वज्ञदृष्ट्या विलीनं सत्

परमार्थदृष्ट्या ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥

निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यते ।

परमार्थदृष्ट्या कथं तद्ब्रह्म भवतीत्यत्राह- तत इति ।

यतः स्वाज्ञादिदृष्ट्या स्वातिरिक्तप्रपञ्चः तदपवादोपि भवति ततो

वस्तुयाथार्थ्यदर्शनात् निर्गुणनिरवयवव्योमवत् स्तिमितगम्भीरं

भूतभौतिकतेजस्तमःपरिच्छेदासंभवात् न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥

तथा नामरूपासंभवाद् अनाख्यमनभिव्यक्तं स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे

सत्यसति सत् किंचिदवशिष्यते, ब्रह्ममात्रमसन्न हि इति श्रुतेः ॥

ब्रह्मसिद्ध्युपायभूतं ध्यानम्

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्॥ २५॥

अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम्।
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत् कूटस्थमव्ययम्॥ २६॥

पू। ३३५) विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः।
मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः॥ २७॥

सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति।
कोहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः॥ २८॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम।
इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः॥ २९॥

अज्ञानात्तु विदाभासो बहिस्तापेन तापितः।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना॥ ३०॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम्।
विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु॥ ३१॥

मनोमयज्ञानमयान् सम्यग् दग्ध्वा क्रमेण तु।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते॥ ३२॥

एवं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रसिद्ध्युपायमाह- ध्यात्वेति॥
२५-२६॥ स्वेन रूपेण विज्ञानात्मा परमात्मापि
स्वातिरिक्तात्मात्मीयाभिमानतः संसरति,
अनेककोटिजन्मसुकृतपरिपाकवशात् प्रत्यगभिमुखो भवति, ततः
स्वाज्ञविकल्पितप्रपञ्चकलनाविरलविदेहमुक्तात्मरूपतया अवशिष्यते
इत्याह- विज्ञानात्मेति॥ २७-३३॥

जीवन्मुक्तिविदेहमुक्ती

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमा सुप्तेरा मृतेस्तु यः।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्॥ ३३॥

प्र। ३३६) जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।

विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोस्पन्दतामिव ॥ ३४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥
३५ ॥

इत्युपनिषत् ॥

स्वदेहे रूढमूलदेहाभिमाने कालसात्कृते विरूपविलयं गते
सत्यथ देहादावात्मात्मीयाभिमानसंभवप्रबोधसमकाल-
मस्पन्दपवनाकाशवद्विदेहमुक्तत्वं विशति विदेहमुक्तः
स्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ शब्दादिप्रपञ्चे सति विदेहमुक्तस्य
स्वात्ममात्रता कथमित्यत आह- अशब्दमिति ।
सर्वापह्नवसिद्धविदेहमुक्तस्वरूपं ब्रह्म
निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमित्यत्र न विवादः । यदि स्वाज्ञदृष्ट्या
शब्दादिविकारः स्यात् तदा स्वज्ञदृष्ट्या
शब्दादिविलयाधिकरणमशब्दादिविशेषविशिष्टं भवति, तदेव
परमार्थदृष्ट्या निष्प्रतियोगिकस्वमात्रम् । अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ३५ ॥
इत्युपनिषच्छब्दः योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥

इति तृतीयोध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

योगकुण्डल्युपनिषद्व्याख्यानं लिखितं स्फुटम् ।

कुण्डल्युपनिषद्व्याख्याग्रन्थस्तु द्विशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे

षडशीतिसंख्यापूरकं योगकुण्डल्युपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

©2011 Muktabodha Indological Research Institute All Rights Reserved.
E-texts may be viewed only online or downloaded for private study.
E-texts may not, under any circumstances, be copied, republished,
reproduced, distributed or sold, either in original or altered form,
without the express permission of Muktabodha Indological Research
Institute in writing.
Data-entered by the staff of Muktabodha
under the direction of Mark S. G. Dyczkowski.

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

शक्तिपातयोगरहस्य

अर्थात्

सिद्धमहायोगशास्त्र

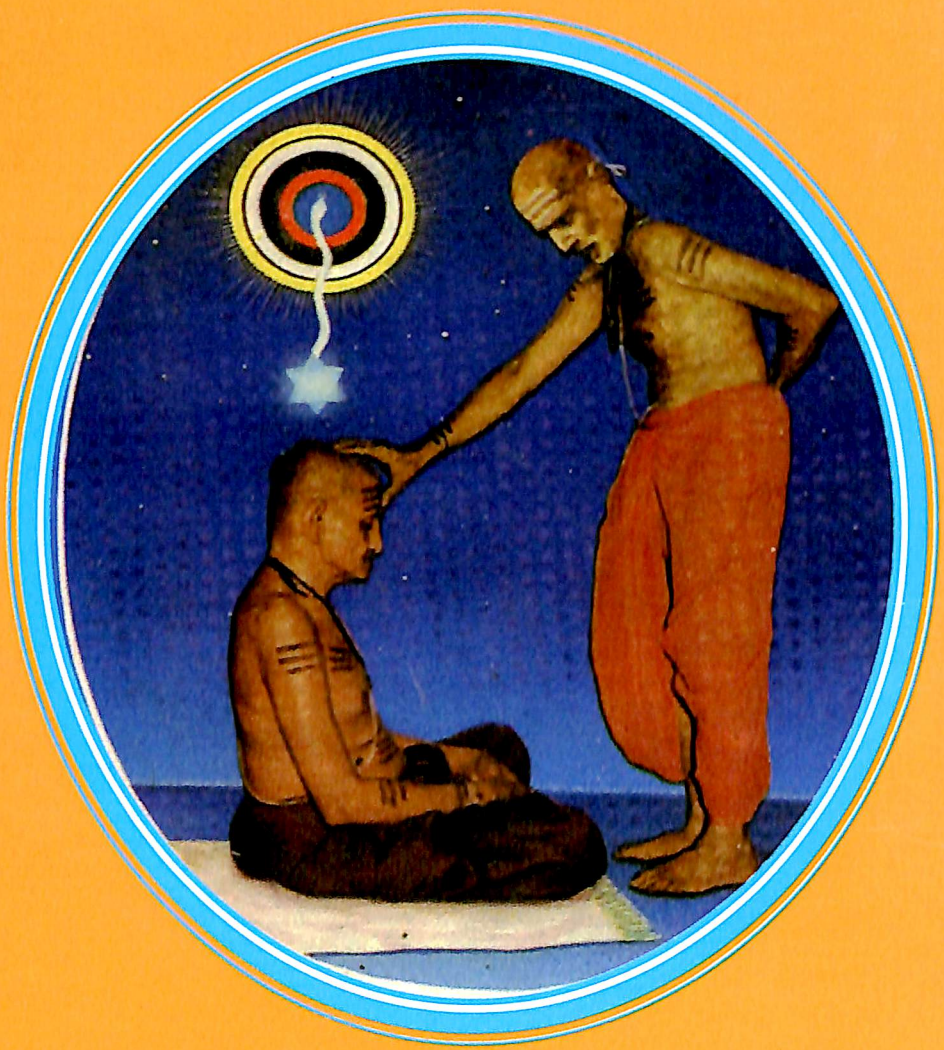

लेखक

डॉ. केशव रामचंद्र जोशी

एम्.ए., पीएच. डी.

शक्तिपात योग रहस्य

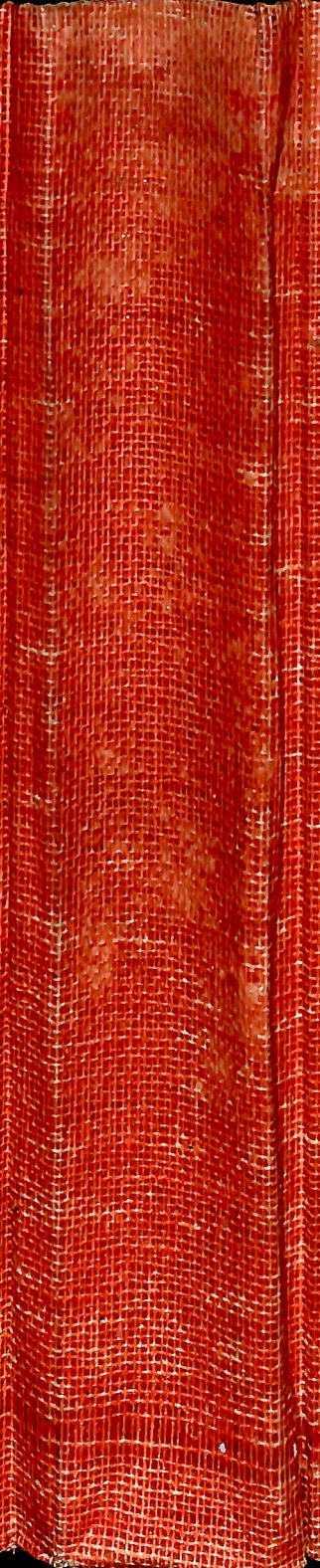

।। श्रीगुरुःशरणम् ।।

।। ॐ श्रीमद् अमृतमूर्तये शिववामनाय नमः ।।

शक्तिपातयोगरहस्य

अर्थात्

सिद्धमहायोगशास्त्र

शक्तिपात

-: लेखक :-

डॉ. केशव रामचंद्र जोशी

एम्. ए., पीएच्. डी.

★ **प्रकाशक :**
व्यवस्थापक,
सिद्धयोग प्रकाशन,
३ गौरिशंकर रेसिडेंसि,
स. नं. १४/२/३ वडगाव बुद्रुक
पुणे-४११०४१

★ **संगणकीय अक्षर जुळणी :-**
संजीवनी,
४ संजोग, राधा नगर,
तुळींज, नालासोपारा (पूर्व)
ता.वसई, जि.ठाणे.

★ **मुद्रक :-**
प्रसाद मुद्रणालय,
५०४ मनःशांती, मेहुणपुरा,
शनिवार पेठ,
पुणे ४११ ००२.

★ **प्रकाशनकाल :-**
प्रथमावृत्ती १९७३
द्वितीयावृत्ती १९९६
तृतीयावृत्ती १९९८
चतुर्थावृत्ती २००५

★ **मूल्य १०० रुपये**

- अनुक्रमणिका -

विषय	पृष्ठ क्रमांक
१) श्रीसद्गुरुनाथमहाराजांचे आशीर्वाद . . .	१०
२) श्रीसद्गुरुचरणी नमन	११
३) समर्पण	११
४) श्रीकुंडलिनी शक्तीची आरती	१२
५) दान-श्रीसद्गुरुकृपा व शिष्यशरणागती . .	१२
६) शक्तिपातयोगरहस्यसार	१३
७) श्रीकुंडलिनी जगदंबा स्तुती	१५
८) श्रीकुंडलिनीस्तुतिस्तोत्र	१८
९) श्रीआत्मारामशास्त्री जेरे यांची प्रस्तावना . .	२६
१०) श्रीगोळवलकर गुरुजी यांचा अभिप्राय . .	३४
११) प्रथमावृत्तीची प्रस्तावना	३८
१२) द्वितीयावृत्तीची प्रस्तावना	४३

आधार पहिला (पृष्ठ १ - ११)

मनुष्य जन्माचे ध्येय :-

१) प्रास्ताविक
२) अभ्युदय व निःश्रेयस सुख
३) तत्त्वज्ञान म्हणजे काय?
४) जीवाचे स्वरूप
५) जगताचे स्वरूप
६) ईश्वराचे स्वरूप
७) शक्तिजागृतीची आवश्यकता

आधार दुसरा (पृष्ठ १२ - १८)

पिंडब्रह्मांडाची उभारणी व संहारणी :-

१) विश्वाची उभारणी
२) विश्वाची संहारणी
३) उभारणी-संहारणी-रहस्य

आधार तिसरा (पृष्ठ १९ - २१)

पिंडब्रह्मांडाचे ऐक्य :-

१) पिंडब्रह्मांड्राची एकता २) सुषुम्णा म्हणजे महातीर्थ
३) शक्तीची जागृती हाच सुलभ मार्ग

आधार चवथा (पृष्ठ २२ - ३९)

शक्तिपातयोगाचा महिमा :-

१) सोपे साधन आहे का? २) पंथराज ३) योगशिखोपनिषदातील सिद्धयोगमार्गाचे महिमान४) कूर्मपुराणातील महायोगाचा महिमा
५) शक्तिपातयोगाचे परमश्रेष्ठत्व
६) लिंगपुराणातील महायोगाचे श्रेष्ठत्व
७) श्रीज्ञानेश्वरीतील पंथराजाचे माहात्म्य
८) श्रीदासबोधातील शक्तिपातयोगाचे स्तवन

आधार पाचवा (पृष्ठ ४० - ८०)

शक्तिपातयोगाच्या विविध नावांचे रहस्य :-

१) सिद्धमार्ग २) सिद्धयोग ३) महायोग ४) सहजयोग
५) शक्तिपातयोग ६) भक्तियोग ७) क्रियायोग ८) श्रीगुरुदत्तयोग

आधार सहावा (पृष्ठ ८१ - १२४)

शक्तिपातयोगाची वैशिष्ट्ये :-

१) सर्व मार्गांचा राजा २) साधकाच्या योग्यायोग्यतेची अनावश्यकता
३) सर्वार्थाने शरणागती ४) श्रीसद्गुरुकृपा ५) स्वतः होणारा योग
६) आपत्तिरहित साधन ७) इतर साधनांची अनावश्यकता
८) स्वप्रयत्नशून्य साधन ९) सर्वांना मुक्त साधन
१०) एका दिव्याने दुसरा दिवा लावावा असे साधन
११) प्रारब्ध जय व ज्ञानप्राप्ती

आधार सातवा (पृष्ठ १२५ - १५०)

शक्तिपातयोगाचे स्वरूप :-

१) कल्पनातीत साधन २) तत्काल प्रचीती देणारे साधन
३) सर्वतंत्र स्वतंत्र साधन ४) राधाकृष्णस्वरूप साधन

५) शिवशक्तिस्वरूप साधन ६) आत्मनिवेदन योग
७) मायानिरपेक्ष साधन ८) भक्तियोगाचा योगमार्ग

आधार आठवा (पृष्ठ १५१ - १६८)

कुंडलिनी शक्तीचे स्वरूप :-

१) एक अद्भुत आत्मानुभव
२) चिच्छक्ती, पराशक्ती व शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्ती
३) सर्व वृत्तींचे बीज ४) चैतन्याचा निरनिराळा आविर्भाव
५) प्राणपंचकरूपाने स्फुरणारी अत्युत्तम जीवशक्ती
६) कुंडलिनी म्हणजे लक्ष्मी व स्पंदधर्मिणी
७) प्रणवादि सर्व मंत्रांची निर्माती
८) दोन मुखांनी युक्त ९) सूर्यासारखी व विजेसारखी तेजस्वी
१०)आधारशक्ती ११) चैतन्याची परमप्रेमरूपशक्ती
१२)सार्वभौम चैतन्याचे ऐश्वर्य व जीवाची सावली

आधार नववा (पृष्ठ १६९ - २११)

शक्तिपातयोगाची दिव्य व अलौकिक वैदिक परंपरा :-

१) वेदातील शक्तीचे माहात्म्य व दीक्षेने मुक्तता
२) कूर्मपुराणातील महायोगाची परंपरा
३) श्रीवसिष्ठऋषींकडून श्रीप्रभुरामचंद्रांची दीक्षा
४) श्रीध्रुवाला श्रीमहाविष्णूंकडून शंखस्पर्शद्वारा शक्तिपात
५) श्रीदत्तात्रेयांची श्रीयदुराजाला आलिंगन देऊन स्पर्शदीक्षा
६) श्रीहनुमंतांची शक्तिपाताने कृतार्थता
७) श्रीअंगिरस ऋषींच्या कृपेने श्रीकृष्णांना तृष्णाहीनता
८) श्रीकृष्णांकडून मिळालेल्या शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीउद्धवाची स्वानंदनिमग्नता
९) श्रीअर्जुनाला शक्तिपाताने स्वरूपप्राप्ती
१०) श्रीचैतन्यमहाप्रभूंना शक्तिपातामुळे भक्तीचा उन्मेष
११) श्रीशंकरांकडून श्रीहरिनाथांना शक्तिपाताने निजानंद
१२) श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांची सिद्धपंथाच्या दीक्षेने कृतार्थता

१३) श्रीनामदेवांना शक्तिपाताने कृपेची सावली
१४) श्रीजनार्दनस्वामींना श्रीदत्तात्रेयांकडून शक्तिपाताने आत्मबोध
१५) श्रीएकनाथांना श्रीगुरुकृपेने परिपूर्ण ब्रह्मप्राप्ती
१६) महर्षी श्रीव्यासांकडून श्रीराघवचैतन्यांना शक्तिपातयोगदीक्षा
१७) श्रीकेशवचैतन्यांना शक्तिपातप्रभावाने आत्मसाक्षात्कार
१८) संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराजांची शक्तिपाताने खेदरहित स्थिती
१९) श्रीनिळोबांना श्रीतुकारामांकडून शक्तिपातयोगदीक्षेने निजात्मस्थिती
२०) श्रीसोहिरोबानाथ अंबिये यांना श्रीगोरक्षनाथांकडून शक्तिपातयोगदीक्षा
२१) श्रीनिरंजनांना श्रीरघुनाथांकडून चैतन्यघनस्वरूप प्राप्ती
२२) श्रीप्रभुरामचंद्रांकडून श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांना शक्तिपाताने स्वसुखधनप्राप्ती
२३) श्रीशिवाजीमहाराजांना शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीसमर्थांकडून आत्मारामप्राप्ती
२४) श्रीरघुनाथस्वामींकडून श्रीआनंदमूर्ती ब्रह्मनाळकरांना शक्तिपाताने अद्वयस्थिती
२५) श्रीतुकामाईंकडून श्रीगोंदवलेकरमहाराजांना शक्तिपाताने ब्रह्मचैतन्यप्राप्ती
२६) श्रीनारायणतीर्थदेवांना श्रीगंगाधरतीर्थांकडून सिद्धयोगदीक्षा
२७) श्रीनारायणतीर्थांकडून श्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थांना शक्तिसंक्रमण
२८) श्रीगुळवणीमहाराजांना प.प.श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांकडून स्वप्न व प्रत्यक्ष दीक्षा

आधार दहावा (पृष्ठ २१२ - ३६२)

शक्तिपातयोगाची साधनसंपत्ती :-

१) साधनसंपत्तीचा महिमा २) साधनसंपत्तीच्या समुच्चयाची अपरिहार्यता
३) श्रीगुरुभक्ती -
अ) श्रीगुरू शब्दाचा अर्थ
ब) श्रीगुरुतत्त्व म्हणजे काय?

क) श्रीगुरूंचे खरे स्वरूप व कार्य -
श्री) अनुग्रह करणे ना) आनंदाची मंगलमय अनुभूती
रा) योग्य शिष्याचा उद्धार व अयोग्याला योग्य करणे
य) समभावसंपन्नता णा) दुःखनिवृत्ती
य) शक्तिजागरण न) ज्ञानदान
मः) दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन
ड) आदर्श श्रीगुरूंची लक्षणे
द) अनुभूतीची प्राप्ती त्त) विविध गुणलक्षणे
इ) सत् शिष्याची लक्षणे
रा) शरणागती म) विविधगुण
ई) श्रीगुरुभक्तीचा उच्च आदर्श
भ) श्रीगुरुपादुकापूजन वा) सेवा
नी) साधनरतता
उ) श्रीगुरुशिष्यसंबंधाची परिणती

४) साधन चतुष्टय :-
ए) नित्यानित्यवस्तुविवेक
ऐ) वैराग्य
ओ) शमदमादि षट्संपत्ती
श्री) शम कृ) दम ष्णा) उपरती
य) तितिक्षा न) श्रद्धा मः) समाधान
औ) मुमुक्षुता

५) यम व नियम :-
यम -
श्री) अहिंसा गो) सत्य पी) अस्तेय ज) आर्जव
न) क्षमा व) धृती ल्ल) अपरिग्रह भा) दया
य) शौच न) आहार मः) ब्रह्मचर्य
नियम -
द) संतोष त्ता) तप त्रे) साधनाभ्यास य) ईश्वरप्रणिधान

६) विविध गुणयुक्त साधनसंपत्ती :-
श्री) शास्त्रावर निष्ठा पा) साधनावर विश्वास
द) साधनातील विघ्ने

आधार अकरावा (पृष्ठ ३६३ - ४५४)

शक्तिपातयोगाची शास्त्रीय प्रक्रिया :-

१) संप्रदायाचा महिमा २) दीक्षेचा महिमा
३) दीक्षेचा अर्थ ४) दीक्षेचा हेतू
५) दीक्षा कशी होते? अ) स्पर्शदीक्षा
ब) दृग्दीक्षा
क) शब्ददीक्षा
ड) ध्यानदीक्षा (कृपा किंवा पत्रदीक्षा)
६) दीक्षेचे व साधनाचे स्थान ७) साधनासाठी आसन
८) साधनाला बसण्याची पद्धत ९) साधनाला बसण्यापूर्वी करावयाची प्रार्थना
१०) साधनाची वेळ ११) साधनेसाठी वस्त्रे
१२) साधनातील क्रिया :-
अ) साधनात क्रिया का होतात?
ब) पश्चिम मार्ग खुला होतो
क) प्राणशक्तीचे ऊर्ध्वगामित्व ड) तीन ग्रंथींचे भेदन
इ) पंचतत्त्वांचे अवलंबन ई) आत्मतत्त्वांचे शुद्धिकरण
उ) परिपक्वता व परिपूर्णता प्राप्ती ऊ) षट्चक्र वेध
१३) दीक्षेची वेळ
१४) साधनक्रियांची वैशिष्ट्ये :-
श्री) क्रिया अर्थशून्य नाहीत
प्र) आनंदाची प्राप्ती
भू) साधनमहायज्ञात क्रियांद्वारा हवन
रा) कर्म, जाती व अवस्थांचे क्रियांना बंधन नाही
म) विचारप्रवाह व एकाग्रता

१५) साधनातील क्रिया व अनुभव :-

श्री) आरंभावस्था
ष्णा) परिचयावस्था
न) हठयोगाच्या क्रिया
ॐ) बंध व मुद्रा
मः) नऊरस
वा) लययोगाच्या क्रिया
अ) दिव्यस्पर्शज्ञान
कृ) घटावस्था
य) निष्पत्ती अवस्था
मः) नाडीशुद्धीच्या क्रिया
न) प्राणायाम
शि) मंत्रयोगाच्या क्रिया
य) राजयोगाच्या क्रिया -
ब) दिव्यरस

आधार बारावा (पृष्ठ ४५५ - ४६४)

शक्तिपातयोगाची फलनिष्पत्ती :-

१) मनोरूप पट फाटून जातो
२) त्रिपुटीचा भेदव्यवहार नाहीसा होतो
३) महाभूतांची जवनिका फिटते
४) ब्रह्मप्राप्ती
५) साम्यावस्थेची प्राप्ती
६) जन्ममरणाची निमे कथा
७) अविद्येचा नाश
८) हृदयग्रंथींचा भेद
९) कैवल्यप्राप्ती

★ **दैवी शक्तीचे संक्रमण** (पृष्ठ ४६५ - ४८२)

सूची क्रमांक १ .... ४८३ ते ४८६
सूची क्रमांक २ .... ४८७ - ४८८
सूची क्रमांक ३ .... ४८९ ते ४९१
सूची क्रमांक ४ .... ४९२ ते ४९६

★★★★★

-: श्रीसदगुरुनाथमहाराजांचे आशिर्वाद :-

श्रीगुरुः शरणम् चैत्र शुद्ध १ शके १८९५.

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति ।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ॥

चि. केशव रामचंद्र जोशी एम. ए. यानीं लिहिलेला शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्ध महायोगशास्त्र हा समग्र ग्रंथ वाचून पाहिल्यावर मनाला परम संतोष झाला. आजपर्यंत सिद्धमहायोगशास्त्राच्या सर्व अंगांचें विवेचन करणारा ग्रंथ मराठी भाषेत झाला नव्हता ती उणीव या ग्रंथानें भरून निघेल असा विश्वास वाटतो.

शक्तिपातयोगाचें साधन करणाऱ्या साधकांना हा ग्रंथ अत्यंत उपयोगी व मार्गदर्शक ठरेल. भारतीय संस्कृतीमध्ये परमेश्वरप्राप्ती साठी ज्या साधन-प्रणाली आहेत त्या मध्यें या शक्तिपातयोगाचे स्थान किती अनुपमेय आहे याची जाणीव हा ग्रंथ वाचून होईल. या ग्रंथाचा लाभ सर्वांनी अगत्य घ्यावा. या ग्रंथाच्या वाचनानें परमकल्याण इच्छिणाऱ्या सर्व साधकांचे कल्याण होवो अशी श्रीसद्गुरुचरणी प्रार्थना आहे.

या ग्रंथाला माझे पूर्ण आशीर्वाद आहेत

श्रीवासुदेव निवास
कर्वेनाथ पुणे नं. ४

वा. द. गुळवणी.

-: श्रीसद्गुरुचरणी नमन :-

आत्मरूप गणेशु केलिया स्मरण।
होय सकळ विद्यांचें अधिकरण।
तेचि वंदूं श्रीचरण। श्रीगुरूंचे।।श्रीज्ञानेश्वरी १३.१।।
जयांचेनि आठवें। शब्दसृष्टि आंगवे।
सारस्वत आघवें। जिह्वेसि ये।।२।।
वक्तृत्वा गोडपणें। अमृतातें पारुखें म्हणे।
रस होती वोळंगणे। अक्षरांसीं।।३।।
भावाचें अवतरण। अवतरविती खूण।
हातां चढे संपूर्ण। तत्त्वभेद।।४।।
श्रीगुरूंचे पाय। जैं हृदय गिंवसूनि ठाय।
तैं येवढें भाग्य होय। उन्मेखासी।।५।।
यालागीं आतां। स्तुति सांडूनि निवांता।
चरणीं ठेविजे माथा। हेंचि भलें।।१४.१५।।

-: समर्पण :-

अनन्तकोटी ब्रह्माण्डनायक भक्तवत्सल भक्ताभिमानी भक्तकामकल्पद्रुम भक्तहृदयनिवासी राजराजेश्वर श्रीवासुदेवस्वरूप श्रीमन् शक्तिपात-योगाचार्यवर्य महासिद्धयोगी श्रीयुक्त श्रीसमर्थ सकलसन्तश्रेष्ठ श्रीसद्गुरुनाथ श्रीवामन दत्तात्रेय गुळवणीमहाराज यांच्या परमपवित्र व परमकोमल चरणी कोटी कोटी साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम करून परमप्रेमपूर्वक व परमशरणागतीपूर्वक सादर समर्पण.

।। श्रीकुंडलिनी शक्तीची आरती ।।

सौम्यशब्दें ऊर्ध्वोंकार वाचें उच्चारा ।
भक्तिभावें विनवी शांतें चाल मंदिरा।।धृ०।।
नवखणांचा पलंग शांतें शोभतो बरा।
सुमनांचे शयनी शांतें शयन करा।।१।।
अष्टही भोग भोगुनि शांता पहुडली शेजे।
भक्तजनांची आज्ञा जाहली आतां चलावे सहजे।।२।।
मानस सुखी दशमस्थानें शांतें निद्रा हो केली।
रामदास म्हणे शांता ध्यानीं राहिली।।३।।

-: दान :-

श्रीसद्गुरुकृपा व शिष्यशरणागती

शक्तिपातयोगाच्या मार्गाला निरनिराळी नावे प्राप्त झाल्याने त्याचे बहिरंग विविध बनले असले; तरी त्याचे अंतरंग मात्र श्रीसद्गुरुकृपा व शिष्यशरणागती या एकाच प्रक्रियेत एकरसपरिपूर्ण झालेले दिसते. श्रीसद्गुरूंची कृपा व शिष्याची शरणागती या एकाच गोष्टीत शक्तिपात-योगाचे सर्व रहस्य सामाविलेले आहे. कृपा म्हणजे दान व शरणागती म्हणजेही दानच होय. कृपा म्हणजे श्रीसद्गुरूंनी शिष्याला अहेतुकपणे केलेले विभुत्वाचे किंवा शिवत्वाचे दान होय; तर शरणागती म्हणजे साधकाने श्रीसद्गुरूंना आपल्या अणुत्वाचे किंवा जीवत्वाचे निरहंकारित्वाने केलेले दान होय. असे जेव्हा उभयविध दान घडते तेव्हाच कृपेचा आविष्कार होतो व श्रीगुरुशिष्य दोघेही सुखानंदात निमग्न होतात.

-: शक्तिपातयोगरहस्यसार :-

"यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट जान पडता है कि शक्तिपात अथवा श्रीभगवान् की कृपा के बिना कोई जीव पूर्णत्व-लाभ नहीं कर सकता, - यहाँतक कि पूर्णत्व के मार्ग में भी प्रवेश नहीं कर सकता। शक्तिपात का तारतम्य जीव के आधार (धारणाशक्ति) के भेद से होता है। परन्तु यह भी सत्य है कि जीव चाहे कितने ही निम्न अधिकार का हो और कितना ही भोगाकांक्षायुक्त हो, एक बार शक्तिपात होने पर वह कभी न कभी परम पद में अवश्य पहुँच जायेगा। भोगाकांक्षादि अंतराय रहने से उसकी गति में विलंब होगा, नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र-यहाँ तक कि क्षणमात्र में भी (जैसे तीव्र तीव्र की मात्रा में) हो सकता है। शक्तिपात के समय योग्यता का विचार नहीं होता, परन्तु स्वभावतः योग्यता के अनुसार ही शक्तिपात की मात्रा निर्दिष्ट होती है। परन्तु मात्रा कुछ भी हो, भगवत्-शक्ति की ऐसी ही महिमा है कि इसका एक बार पात होनेपर यह जीवको भगवद्धाम में पहुँचाये बिना शांत नहीं होती इसमे कोई संदेह नहीं।"

येथपर्यंत जे काही सांगितले त्यावरून हे स्पष्ट होते की, शक्तिपाताशिवाय म्हणजे श्रीभगवंताची कृपा झाल्याशिवाय कोणताही जीव पूर्णत्व प्राप्त करू शकत नाही. इतकेच काय; पण तो पूर्णत्व प्राप्त करण्याच्या मार्गात देखील प्रवेश करू शकत नाही. जीवाच्या धारणाशक्तीच्या भेदानुसार शक्तिपाताचे कमी जास्त प्रमाण किंवा भिन्नता दिसून येते. मात्र हेही तितकेच खरे आहे की, जीव कितीही सामान्य कोटीतील असला आणि भोग, वासना आकांक्षा इत्यादींनी कितीही गुरफटलेला असला; तरी एकदा त्याच्यावर शक्तिपात झाला की, तो श्रेष्ठ अशा ब्रह्मपदाला अवश्य पोहोचतो. मात्र भोगाकांक्षादि विक्षेपांमुळे जीवाच्या परमपदाला जाण्याच्या गतीत अडथळा उत्पन्न होतो. जर शक्तिपाताची मात्रा तीव्रातितीव्र असेल व हे आडवे येणारे विक्षेप जर नसतील तर अत्यंत शीघ्रगतीने म्हणजे क्षणभरातसुद्धा जीव परमपदाला

जाऊ शकतो. शक्तिपातयोगदीक्षेच्या वेळी योग्या-योग्यतेचा विचार केला जात नाही; मात्र (जीवाच्या) मुळातील योग्यतेनुसारच शक्तिपाताचे प्रमाण स्वाभाविकपणे निश्चित होत जाते. परंतु प्रमाण काहीही असले; तरी श्रीभगवंताच्या शक्तीचा महिमा इतका मोठा आहे की, एकदा का होईना, (सिद्धगुरूंकडून) ही शक्ती साधकात संक्रमित झाली की, ती त्या जीवाला श्रीभगवंताच्या घरी (ब्रह्मपदाला) पोहोचविल्याशिवाय कधीही शांत होत नाही, हे अगदी निःसंशय सत्य आहे.

म. म. श्रीगोपीनाथ कविराज

★★★★★

-: श्रीकुंडलिनी जगदंबा स्तुती :-

ते कुंडलिनी जगदंबा। जे चैतन्यचक्रवर्तीची शोभा।
जया विश्वबीजाचिया कोंभा। साउली केली।।
श्रीज्ञानेश्वरी ६.२७२।।
जे शून्यलिंगाची पिंडी। जे परमात्मया शिवाची करंडी।
जे प्रणवाची उघडी।। जन्मभूमी ।।२७३।।
मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किंचिन्न सिद्ध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्।।
गौतमीयतंत्र ३२.३।।
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनानि च।। ४।।
मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डलिनी परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रय वलयान्विता।।
घेरण्ड संहिता ३.४४।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि।। ५०।।
आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते।।
योगशिखोपनिषद् ६.२३-२४।।
सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।
हठयोगप्रदीपिका-३.१।।
शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते।।
कुलार्णवतन्त्र १४.३८।।

आदिशक्ती कुंडलिनी जगदंबा ही चैतन्याचे चक्रवर्ती सम्राट् असलेल्या शिवाची शोभा आहे. अर्थात् ती चंद्र आणि त्याचे चांदणे किंवा प्रभा ही ज्या प्रमाणे एकरूप असतात त्याप्रमाणे शिवाशी एकरूप आहे. या शक्तीनेच विश्वबीजाच्या कोंभाला म्हणजेच जीवाला सावली केली आहे अर्थात् ही शक्तीच जीवरूप असून ती श्रीसद्गुरुकृपेने जागृत झाल्यावर शिवरूप होते.।। श्रीज्ञानेश्वरी ६.२७२।।

ही कुंडलिनी शक्ती निराकार अशा परमात्म्याची साकार मूर्तीच आहे. ती परब्रह्मरूपी शिवाची करंडी म्हणजे अखंड निवास करण्याचे स्थान आहे अर्थात् शिव व शक्ती हे दोघे अखंड सामरस्याने विराजमान झालेले असतात. ही शक्ती ॐकाराची जन्मभूमी आहे म्हणजे ॐकाराच्या साडेतीन मात्रांपैकी "अ" काररूपी सत्त्वात्मक इच्छाशक्तिरूप ब्रह्मा, "उ" काररूपी रजात्मक क्रियाशक्तिरूप विष्णू व "म" काररूपी तमात्मक ज्ञानशक्तिरूप शिव असून या दृष्टीनेच ही शक्ती जीव, जगत् व ईश्वराची निर्मिती, पालन व संहार करणारी आहे आणि ही शक्ती ॐकाराच्या अर्धमात्रारूपाने नाद, बिंदू व कलारूप असून तीच श्रीसद्गुरुकृपेने जागृत झाल्यावर आपल्या या अर्धमात्रात्मक स्वरूपाला भेदून साधकाला पलीकडे अर्थात् अमात्रक स्वरूपाला नेणारी अशी साधनरूप म्हणजे श्रीगुरुरूपच आहे.।।२७३।।

जोपर्यंत कुंडलिनी शक्ती मूलाधारात निद्रिस्त असते तोपर्यंत जप, तप, ध्यान, पाठ, पूजा, मंत्र, यंत्र इत्यादि कोणत्याही प्रकारच्या साधनाने साधकाला साधनामध्ये किंचित्ही सिद्धी म्हणजे ज्ञान प्राप्त होत नाही. परंतु जर पुष्कळ पुण्यसंचयामुळे सौभाग्याने श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती होऊन त्यांनी शक्तिसंचारद्वारा केलेल्या शक्तिपाताच्या अर्थात् कृपेच्या प्रभावाने जर कुंडलिनी देवी जागृत झाली तर साधकाच्या जप, तप, ज्ञान, योग, मंत्र, तंत्र, पाठ, पूजा इत्यादि सर्व उपासना सिद्धीला जातात.।। गौतमीयतंत्र ३२.३,४।।

श्रीदेवी कुलकुंडलिनी ही परमश्रेष्ठ आत्मशक्तिरूप देवता मूलाधारात सर्पासारखा आकार धारण करून साडेतीन वेढे घालून झोपली आहे. जोपर्यंत ही शक्ती निद्रिस्त असते तोपर्यंत जीव हा पशूप्रमाणेच अज्ञानी

असतो. जोपर्यंत कुंडलिनी शक्ती जागृत होत नाही तोपर्यंत साधकाने कितीही जरी योगाभ्यास केला तरी त्याला ज्ञान प्राप्त होत नाही. ।। घेरंड संहिता ३.४४,५०।।

जोपर्यंत आधारशक्ती ही निद्रिस्त असते तोपर्यंत सर्व ब्रह्मांडही निद्रिस्त असते. मात्र ज्यावेळी ही अनादि निद्रिस्त आत्मशक्ती जागृत होते त्यावेळी सर्व त्रैलोक्य जागृत होते. याकरिता परमश्रेष्ठ कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय इतर सर्व साधने व्यर्थ व निष्फळ ठरतात.
।। योगशिखोपनिषद् ६.२३,२४।।

ज्याप्रमाणे वन, पर्वत, नदी, सरोवर आणि समुद्रवलयांकित पृथ्वीचा आधार सर्पांचा स्वामी शेषनाग अर्थात् ब्रह्मशक्ती आहे त्याप्रमाणे सर्व योगांचा व तंत्रांचा आधार कुंडलिनी शक्ती आहे.
।। हठयोगप्रदीपिका ३.१।।

शक्तिपातयोगांतर्गत अर्थात् सिद्धयोगांतर्गत शक्तिसंचाराच्या मात्रेनुसारच शिष्याला अनुग्रह मिळतो. जेथे शक्तिपात अर्थात् शक्ति-संचारात्मक कृपा होत नाही तेथे साधकाला सामरस्यात्मक अंतिम सिद्धी अर्थात् ज्ञान कधीही प्राप्त होत नाही.।। कुलार्णवतंत्र १४.३८।।

★★★★★

।। श्रीगुरुःशरणम् ।।

।। श्रीकुण्डलिनीस्तुतिस्तोत्र ।।

जन्मोद्धारनिरीक्षणीह तरुणी वेदादिबीजादिमा
नित्यं चेतसि भाव्यते भुवि कदा सद्वाक्यसञ्चारिणी ।
मां पातु प्रियदासभावकपदं सङ्गतये श्रीधरे !
धात्रि! त्वं स्वयमादिदेववनिता दीनातिदीनं पशुम् ।।१।।
रक्ताभामृतचन्द्रिका लिपिमयी सर्पाकृतिर्निद्रिता
जाग्रत्कूर्मसमाश्रिता भगवती त्वं मां समालोकय ।
मांसोद्गन्धकुगन्धदोषजडितं वेदादिकार्यान्वितं
स्वल्पस्वामलचन्द्रकोटिकिरणैर्नित्यं शरीरं कुरु ।।२।।
सिद्धार्थी निजदोषवित्स्थलगतिर्व्याजीयते विद्यया
कुण्डल्या कुलमार्गमुक्तनगरीमायाकुमार्गःश्रिया।
यद्येवं भजति प्रभातसमये मध्याह्नकालेऽथवा
नित्यं यः कुलकुण्डलीजपपदाम्भोजं स सिद्धो भवेत्।।३।।
वाय्वाकाशचतुर्दलेऽतिविमले वाञ्छाफलोन्मूलके
नित्यं सम्प्रति नित्यदेहघटिता साङ्केतिता भाविता ।
विद्या कुण्डलमानिनी स्वजननी माया क्रिया भाव्यते
यैस्तैः सिद्धकुलोद्भवैः प्रणतिभिः सत्स्तोत्रकैः शम्भुभिः।।४।।
वाताशङ्कविमोहिनीति बलवच्छायापटोद्दामिनी
संसारादिमहासुखप्रहरणी! तत्र स्थिता योगिनी।
सर्वग्रन्थिविभेदिनी स्वभुजगा सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
ब्रह्मज्ञानविनोदिनी कुलकुटीराघातनी भाव्यते।।५।।
वन्दे श्रीकुलकुण्डलीं त्रिवलिभिः साङ्गैः स्वयम्भूप्रियां
प्रावेष्ट्याम्बरचित्तमध्यचपला बालाबलानिष्कलां।
या देवी परिभाति वेदवदना सम्भावनी तापिनी
इष्टानां शिरसि स्वयम्भुवनिता सम्भावयामि क्रियाम् ।।६।।
वाणीकोटिमृदङ्गनादमदनानिश्रेणिकोटिध्वनिः

प्राणेशी प्रियताममूलकमनोल्लासैकपूर्णानना।
आषाढोद्भवमेघराजिजनितध्वान्तानानास्थायिनी
माता सा परिपातु सूक्ष्मपथगा! मां योगिनां शङ्करी।।७।।
त्वामाश्रित्य नरा व्रजन्ति सहसा वैकुण्ठकैलासयो-
रानन्दैकविलासिनीं शशिशतानन्दाननां कारणम्।
मातः श्रीकुलकुण्डली प्रियकले! काली कलोद्दीपने!
तत्स्थानं प्रणमामि भद्रवनिते! मामुद्धर त्वं पथे।।८।।
कुण्डलीशक्तिमार्गस्थं स्तोत्राष्टकमहाफलम्।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय स योगी भवति ध्रुवम्।।९।।
क्षणादेव हि पाठेन कविनाथो भवेदिह।
पवित्रौ कुण्डली योगी ब्राह्मणीनो भवेन्महान्।।१०।।
इति ते कथितं नाथ! कुण्डलीकोमलं स्तवम्।।११।।
एतत्स्तोत्रप्रसादेन देवेषु गुरुगीष्पतिः।
सर्वे देवाः सिद्धियुता अस्याः स्तोत्रप्रसादतः।।१२।।
द्विपरार्धं चिरंजीवी ब्रह्मा सर्वसुरेश्वरः।।१३।।

(रुद्रयामल-षष्ठ पटलः)

अर्थ :- (श्रीकुलकुंडलिनी महादेवी) ही जन्म (आणि मृत्यू) यांच्या चक्रात अडकून पडून त्यातच सतत फिरत राहणाऱ्या आपल्या भक्तांचा कोणत्या प्रकाराने उद्धार करावा व त्यांना सामरस्याची अर्थात् मुक्तीची प्राप्ती कशी करून द्यावी (यासाठी उत्तम वेळेची) प्रतीक्षा करीत राहते. ही महाशक्ती तरुण अर्थात् नित्यनूतन आहे. ती वेदांची व अन्य सकल शास्त्रांची म्हणजे शब्दब्रह्माची अर्थात् सर्व सारस्वताची बीजभूत असलेली म्हणजे जिच्यापासून सर्व वाङ्मयाची निर्मिती होते अशी आदिकारणभूत शक्ती असून बीजाक्षरांची जननी आहे. या संसारात योगिसाधक आपल्या चित्तामध्ये या महान् शक्तीच्या जागृतीचा बोध प्राप्त करून घेतात. ही महाशक्ती नेहमीच सत्य बोलणारी किंवा सत्य भाषणाकडे प्रवृत्त करणारी आहे. ही श्रीकुंडलिनी महादेवी स्वतः आदिनाथ महादेवाची पत्नी आहे.

अशा प्रकारच्या हे शुभंकरी माते! हे धात्री!! हे दाई आणि आई!!! संसारबंधनात अडकलेला मी एक दीनातिदीन पशू अर्थात् जीव म्हणजे साधक असून तू माझे रक्षण कर. एवढेच नव्हे तर मी तुझ्याबरोबर दिव्य ऐक्य अगर समरसता प्राप्त करीन आणि स्वतः तुझा अत्यंत प्रिय असा सेवक होईन अशी तू माझ्यावर कृपा कर.।।१।।

अर्थ :- या श्रीकुलकुंडलिनी महाशक्तीची कांती रक्ताप्रमाणे लाल रंगाची आहे. ही दिव्यशक्ती चंद्राप्रमाणे अत्यंत शीतल आहे. या शक्तीचे शरीर लिपिमय म्हणजे मातृका अर्थात् अक्षर स्वरूपयुक्त किंवा वर्णसमूहयुक्त आहे म्हणजे ही शक्ती वर्णांच्या, अक्षरांच्या किंवा शब्दांच्या द्वारा आपले अव्यक्तस्वरूप व्यक्त करते. या शक्तीची आकृती सर्पाप्रमाणे असून ती सर्पाप्रमाणेच निद्रिस्त अवस्थेत असते. हे भगवती देवी! तू जागेपणी अर्थात् जागृत होऊन कूर्मदृष्टीचा अवलंब करून माझ्याकडे कृपादृष्टीने पाहा. अपार व निर्मल अशा कोट्यवधी चंद्रांच्या किरणांप्रमाणे उज्ज्वल कांती असलेल्या हे श्रीकुंडलिनी माते! मांसाच्या उग्र गंधाने व इतर शारीरिक दुर्गंधीने दूषित झालेले हे माझे शरीर वेदादि कार्याला अनुकूल आणि योग्य असे कर.।।२।।

अर्थ :- सिद्धी प्राप्त करण्याची इच्छा असणारा, आपले स्वतःचे दोष माहीत असणारा आणि शरीरातील स्थलांचे अर्थात् महत्त्वाच्या चक्रांच्या व ग्रंथींच्या स्थानांचे आणि त्यांच्या वैशिष्ट्यांचे ज्ञान असणारा साधक या भूतलावर श्रीकुंडलिनी विद्या संपादन करून विजयी होऊ शकतो. त्याचप्रमाणे तो मायेच्या खोट्या व फसव्या मार्गापासून स्वतःची सुटका करून घेऊन श्रीकुंडलिनी विद्येच्या बळावर सर्व व्यवहार करीत कुलमार्गासारख्या अनभिज्ञ अर्थात् अनोळखी मार्गाचा आश्रय करून त्याच्या द्वारा मुक्तीच्या नगरात पोहोचतो. अशा प्रकारे जो साधक दररोज प्रातःकाळी व मध्याह्नकाळी या श्रीकुलकुंडलिनीच्या जपरूप चरणांचा अर्थात् अनाहतनादरूपी मूर्धन्य साधनाचा नियमाने म्हणजे दीर्घकाल, निरंतर व श्रद्धा-भक्ति-सत्कार-भावपूर्वक आश्रय घेईल तो सिद्ध होईल.।।३।।

अर्थ :- ही श्रीकुलकुंडलिनी महाशक्ती आकाशरूप म्हणजे शब्दतत्त्वरूप आणि वायुरूप म्हणजे स्पर्शतत्त्वरूप अर्थात् अनुभूति-स्वरूप असलेल्या चार पाकळ्यांच्या कमळात म्हणजे मूलाधारचक्रात राहून देहाचा व्यवहार चालविते. तिचेच ध्यान योगिसाधक नेहमी करीत असतो. ही शक्ती अत्यंत निर्मल किंवा पवित्र अशी असून ती सांसारिक कामनांच्या फलप्राप्तीची वासना किंवा इच्छा मुळापासून नाहीशी करणारी आहे. (येथे "वाञ्छा-फलान्यालके" असा पाठभेद आहे. त्याचा अर्थ "ही शक्ती साधकयोग्याला इच्छित फल देणारी आहे" असा होतो.) ही श्रीकुंडलिनी शक्ती नित्य म्हणजे अविनाशी किंवा अजरामर शरीराची असून ती सांकेतिक तत्त्वांची किंवा स्वरूपाची अर्थात् ॐकार स्वरूप, सर्पाकार व साडेतीन वेढे घालून बसलेली आहे, अशी योगिसाधकांची सत्य धारणा आहे. अशा प्रकारे जे साधक श्रीकुंडलिनी विद्या ही ज्ञानरूपिणी असून "आपली आई आहे," अशा भावनेने पाहतात व ही महाशक्ती म्हणजेच मायाशक्ती व क्रियाशक्ती आहे, हे लक्षात घेऊन तिचे अनुसरण करतात अर्थात् सर्वभावाने तिला शरण जाऊन साधन करतात त्यांची सिद्धांचे समुदाय उत्तम स्तुती करून त्यांना नमस्कार करतात अर्थात् सिद्धांकडून अशा साधकांचा आदर होतो.।।४।।

अर्थः- मी श्रेष्ठ अशा श्रीकुंडलिनी देवीची भावना करतो म्हणजे साधना करताना ती तीव्रातितीव्र स्वरूपात जागृत होऊन शिवस्वरूप व्हावी म्हणून तिचा मोठा आदर करून तिच्याविषयी चिंतन इत्यादि करतो. ती शरीरात उत्पन्न होणाऱ्या वातादि सर्व दोषांच्या शंकांना निवृत्त करणारी आणि घोर अशा अज्ञानरूपी पडद्याला फाडून वर जाणारी आहे. (येथे "धाताशङ्करमोहिनी त्रिभुवन-च्छायापटोद्गामिनी" हा पाठ घेतल्यास "ही मूलाधारकमलात निवास करणारी महायोगिनी शक्ती ब्रह्मा आणि शिवालाही मोहित करते आणि त्रिभुवनात पसरलेल्या अज्ञानरूपी मायेच्या आवरणाला दूर करते" असा अर्थ होईल.) ती विशेष करून संसारादि महासुखाच्या ज्या ज्या म्हणून कल्पना आहेत त्या त्या सर्व कल्पना तोडून-मोडून छिन्नभिन्न

करणारी व त्यांना हाणून पाडण्यासाठी कटिबद्ध झालेली योगिनी आहे. ती ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी, रुद्रग्रंथी इत्यादि सर्व ग्रंथींचा भेद करणारी आहे. ती आपल्या स्वत:च्या भुजांनीच सरपटणारी म्हणजे स्वबलसंपन्न अर्थात् इतर कोणाच्याही बलाची अगर आधाराची अपेक्षा न बाळगणारी आहे. (ही श्रीकुंडलिनी महाशक्ती) सूक्ष्माहूनही अत्यंत सूक्ष्मरूपाची अर्थात् अवाङ्मनसगोचर म्हणजे वाणी, मन इत्यादि कोणत्याही इंद्रियांना न दिसणारी व त्यांच्या आटोक्यात न येणारी अशी आहे. ती अत्यंत महान् व श्रेष्ठ असून ब्रह्मज्ञानाचा सहज लाभ करून देणारी आहे. (ही श्रीकुंडलिनी महामाया) कुलमार्गरूपी झोपडीला म्हणजे आपण आपल्या स्वत:च्याच शक्तीने उत्पन्न व स्थित केलेल्या पिंडब्रह्मांडादि समस्त त्रैलोक्याला नष्ट करणारी अर्थात् आभास, कल्पना किंवा विवर्तरूपाने उत्पन्न झालेल्या जगदाभासाला मावळून टाकणारी आहे. (ज्यावेळी महाशक्ती श्रीकुंडलिनी श्रीसद्गुरूंनी दिलेल्या शक्तिपातयोगदीक्षेमुळे उत्पन्न होणाऱ्या सहजयोगाच्या साधनाने सुषुम्णागामी होते त्यावेळीच उपरोक्त सर्व प्रक्रिया घडून त्याची फले मिळतात.)।।५।।

अर्थ :- तीन वेढ्यांनी किंवा वलयरूप अवयवांनी युक्त आणि परमेश्वराच्या अत्यंत आवडत्या असलेल्या अशा श्रीकुलकुंडलिनीदेवीला मी वंदन करतो. (ही महाशक्ती श्रीकुंडलिनी) मनोरूप आकाशात म्हणजे सहस्रारात विजेसारखी चपल असणारी, तळपणारी व चमचमाट करणारी अशी आहे. ती तरुण, बलवती म्हणजे श्रीसद्गुरुकृपेने जागृत झाल्यावर आपल्या बळाच्या जोरावर विश्वाला आत्मसात करणारी आणि कलारहित म्हणजे अंशहीन आहे. ती वेढा घालून बसलेली आहे म्हणजे संसारोन्मुख आहे अर्थात् ॐकाराच्या अ-उ-म या तीन मात्रा व चंद्रबिंदूची अर्धी मात्रा मिळून साडेतीन मात्रांनी युक्त अशी चक्राकार गती किंवा रूप धारण करून मूलाधारात सुप्तवत् पडून राहिली आहे. ही महाशक्ती दिव्य प्रकाशाने युक्त किंवा महाप्रकाशमान् असून वेदवदना म्हणजे ज्ञानमुखी अर्थात् ज्ञानाचे साक्षात् मुख असणारी किंवा जिच्यापासून पर-अपर विद्यांचे म्हणजे सकळ

भौतिक व पारमार्थिक विद्यांचे ज्ञान होते अशी आहे. इष्टप्राप्तीच्या म्हणजे शिवस्वरूप प्राप्तीच्या दृष्टीने ती साधनरूप असल्याने तीच देहाला प्रथम आपल्या अग्निस्वरूपाने किंवा सूर्यस्वरूपाने तप्त करणारी व मागाहून आपल्या चंद्रस्वरूपाने किंवा अमृतस्रावाने शांत करणारी आहे. आपल्या अभीष्ट गोष्टी साधण्यासाठी तिची मी अत्यंत श्रेष्ठ म्हणून संभावना करतो.।।६।।

अर्थ :- ही श्रीकुंडलिनी महाशक्ती अनंत मातृकारूप वाणीने युक्त आहे अर्थात् "अ" पासून "ह" पर्यंत जेवढ्या मातृका आहेत त्यांच्या संमीलनाने ती आपल्या अव्यक्त स्वरूपापासून व्यक्तस्वरूपाप्रत आली आहे; कारण या शक्तीचे अव्यक्त स्वरूप अवाङ्मनसगोचर असून व्यक्त स्वरूपच फक्त मनाच्या, बुद्धीच्या व ज्ञानाच्या कक्षेत येण्यासारखे आहे. ही महाशक्ती मृदंगनादाने हृष्ट अर्थात् विस्मित किंवा रोमांचित व आनंदोन्मत्त होणारी आहे म्हणजे ज्यावेळी ही महाशक्ती सुषुम्णागामी होऊन मृदंग, भेरी, वीणा इत्यादि दशविध नादात परिणत होऊन अनाहतनादाच्या साधनाने साधकाच्या ठिकाणी उपस्थित होते, त्यावेळी साधक निरतिशय आनंदात बुडून जातो. ही श्रीकुलकुंडलिनी श्रीशक्ती म्हणजे कोट्यवधी ध्वन्नींची मालिकाच आहे. अर्थात् ही शक्ती चैतन्ययुक्त, ध्वनियुक्त व स्पंदरूप आहे. ही प्राणांची स्वामिनी आहे अर्थात् हीच प्राणांची अधिष्ठात्री देवता आहे. या शक्तीचे मुख निश्चल मनाच्या उल्लासाने पूर्णपणे भरलेले आहे. (येथे "रसराशिमूलकमलोल्लासैक पूर्णानना" असा पाठ घेतला; तर "या शक्तीचे मुख अमृताच्या सागरात उमललेल्या कमलाप्रमाणे प्रफुल्लित दिसते," असा अर्थ होईल.) ही महाशक्ती श्रीकुंडलिनी आषाढातील मेघसमुदायाच्या काळ्याकुट्ट मुखात विजेप्रमाणे राहणारी व दिव्य प्रकाशमान अशी आहे. ही शक्ती योगिजनांचे कल्याण करणारी अर्थात् तिला शरण गेलेल्या सर्व साधकांना इष्ट देऊन पालन करणारी व अनिष्ट दूर करून रक्षण करणारी आहे. ही श्रीकुलकुंडलिनी महाशक्ती सूक्ष्ममार्गात म्हणजे सुषुम्णामार्गात गमन करणारी अर्थात् या मार्गाने जीवरूप साधकाला गुरुरूपाने मार्गदर्शन

करीत व त्याचा हात आपल्या हातात घेऊन सहस्रारात शिवाशी समरस होण्यासाठी जाणारी आहे. (अशा प्रकारचे वैशिष्ट्य किंवा सामर्थ्य असणारी) ही श्रीकुंडलिनी माता माझे रक्षण करो.।।७।।

अर्थः- हे श्रीकुलकुंडलिनी देवी! तुझा आधार घेऊन अर्थात् तुला पूर्णपणे शरणागत होऊन जे साधक रात्रंदिवस, दीर्घकाल, निरंतर व मोठ्या आदरसत्कारपूर्वक श्रीसद्गुरुकृपाप्राप्त शक्तिपातयोगाचे म्हणजे सिद्धयोगाचे किंवा महायोगाचे साधन करतात ते साधक योगी वैकुंठकैलासादि निरनिराळ्या नावांनी निर्दिष्ट होणाऱ्या सहस्रार नावाच्या एकाच ठिकाणी किंवा एकाच स्थानी एकदम अर्थात् त्वरित गतीने व सहज म्हणजे अनायासे जाऊन पोहोचतात. हे देवी! तू अखंड आनंदातच सतत विलास करणारी आहेस. तू सर्व कारणांचे कारण आहेस अर्थात् तू सर्वांचे मूल किंवा आदिकारण आहेस. तुझे मुखकमल शेकडोशे चंद्रांप्रमाणे अत्यंत आल्हाददायक असे आहे अर्थात् शेकडोशे चंद्रांच्या तेजाप्रमाणे तुझ्या मुखावर प्रसन्नता पसरलेली दिसते. हे श्रीकुलकुंडलिनी! हे प्रियकले!! हे काली अर्थात् भीतिप्रदे!!! हे कलोद्दीपन म्हणजे सकल कला उद्भूत करणाऱ्या माते!!!! हे कल्याणकारिणी स्त्रिये!!!! मी तुझ्या स्थानाला म्हणजे मूलाधाराला वंदन करतो. तुझ्या मार्गाने तू मला घेऊन जाऊन माझा उद्धार कर. (येथे "मामुद्धर त्वं पशुम्" असा पाठ घेतला; तर "संसारपाशामध्ये बांधला गेल्यामुळे पशूप्रमाणे असणाऱ्या माझा तू उद्धार कर," असा अर्थ होईल.)।।८।।

अर्थः- श्रीकुंडलिनीशक्तिमार्गातील अर्थात् सिद्धयोगसाधनमार्गातील जे साधक आहेत त्यांना हे आठ श्लोकांचे स्तोत्र महान् असे फल देणारे आहे. जो कोणी प्रातःकाली याचे पठण करील तो योगी होतोच हे निश्चित समजावे.।।९।।

अर्थः- या स्तोत्राचा पाठ करताक्षणीच साधकाला कविश्रेष्ठाची पदवी प्राप्त होते अर्थात् या स्तोत्राच्या पाठाने साधक क्षणमात्रात महाकवी होतो. या श्रीकुंडलिनीशक्तिमार्गाचा अर्थात् सिद्धयोग- साधनमार्गाचा अभ्यास करणारा

म्हणजे दीर्घकाल, निरंतर व मोठया श्रद्धाभक्तिपूर्वक आदराने साधन करणारा योगी पवित्र व महान् होतो आणि अशा साधकाला ब्राह्मणांमध्ये म्हणजे ब्रह्म जाणणाऱ्या सिद्धांमध्ये महत्त्वाचे स्थान मिळते. (येथे "ब्रह्मलीनो भवेन्महान्" असा पाठ घेतला; तर "श्रीकुंडलिनी योगाभ्यासी साधक पवित्र व महान् होऊन ब्रह्मैक्य प्राप्त करून घेतो," असा अर्थ होईल.)।।१०।।

अर्थ :- हे नाथपंथीय अर्थात् अनुपायप्रक्रियासंपन्न शक्तिपात- योगदीक्षाप्राप्त सहजयोगाच्या किंवा सिद्धयोगाच्या साधका ! हे कोमल कुंडलिनीस्तुतिस्तोत्र मी म्हणजे महाभैरवीने अर्थात् सिद्धयोग प्रवर्तक आदिनाथ श्रीशंकराशी अभिन्न असलेल्या महामाया आदिशक्तीने तुला सांगितले आहे.।।११।।

अर्थ :- या स्तोत्राच्या प्रसादाने बृहस्पती हा देवांचा गुरू झाला. या कोमलकुंडलिनीस्तोत्राच्या कृपाप्रसादाने सर्व देव सिद्धिसंपन्न झाले आणि देवाधिदेव ब्रह्मदेव हा दोन परार्ध आयुष्य प्राप्त होऊन चिरंजीव झाला.।।१२.१३।।

(रुद्रयामल सहावे पटल)

★★★★★

परमपूजनीय प्रातःस्मरणीय कै. श्रीआत्मारामशास्त्री जेरे यांची प्रथमावृत्तीतील आशीर्वादात्मक प्रस्तावना.

।। श्रीगणेशदत्तगुरुभ्योनमः ।।

माझे स्नेही गुरुभक्त श्रीयुक्त केशवरावजी जोशी यांनी अभ्यास व स्वानुभवपूर्वक लिहिलेले **"शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोग-शास्त्र"** हे पुस्तक धावत्या नजरेने आमूलाग्र पाहिले. पण त्याने सुद्धा चित्तास परम समाधान वाटले. परमपूज्य प्रातःस्मरणीय श्रीगुळवणी-महाराजांकडून परंपरेने आलेल्या दिव्य शक्तिपातयोगरहस्याचे शाब्दिक व प्रात्यक्षिक ज्ञान संपादन करून लिहिलेले हे पुस्तक आहे. शब्दब्रह्म व परब्रह्मनिष्णात आणि उपशमाश्रय अशा सद्गुरूंच्या कृपेकरिता आपले सर्व आयुष्य सद्गुरूंना समर्पण करणारे श्रीयुक्त सद्गुरुभक्त केशवराव म्हणजे श्रीगुरुमहाराजांचे एक स्थूल शरीरच आहेत असे म्हटले तर अत्युक्ती होणार नाही. श्रीगुरुमहाराजांशिवाय केशवराव व केशवरावांशिवाय श्रीगुरुमहाराज बहुतेक विभक्त नसतातच. **"यत्रसद्गुरुस्तत्रकेशवो-यत्रकेशवस्तत्रसद्गुरुः"** अशी समव्याप्ती या गुरुशिष्यांमध्ये मला नेहमी दिसून येते. **"सर्वहि अर्पी गुरूचे पायीं। जगीं तयाविण न दिसे कांहीं। एकचि निश्चय दुसरा नाहीं। गुरुसि वरारे। आपुलासा देव करारे। भाव धरारे। आपुलासा देव करारे।।"** असे एका संताच्या पदात कडवे आहे. इतके सद्गुरूंचे साहचर्य लाभल्यावर सद्गुरूंच्या चित्तातील शक्ती शिष्याच्या चित्तात येण्यास काय वेळ लागणार?" **स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वा लौकिकोपि"** सामान्य माणूसही सद्गुरूंच्या कृपेनें अलौकिक पुरुष होतो. हा सद्गुरूंचा महिमा शास्त्रकारांनी व भगवत्पादांसारख्या संतश्रेष्ठांनी वर्णिलेला आहे. यामुळे हा ग्रंथ किती श्रेष्ठ आहे हे निराळे सांगावयास नको.

या ग्रंथात शक्तिपातयोगाचे रहस्य सांगितले आहे. **"सूतसंहिता"** वगैरे संस्कृत ग्रंथात शक्तिपातयोगाचे सांगोपांग विवेचन आहे व इतरही संतांच्या ग्रंथात ठिकठिकाणी ते सांगितले आहे. या सर्वांचे संकलन किंवा मंथन

करून त्यांस सद्गुरूंच्या अनुभवाची जोड देऊन हा ग्रंथ लिहिला असल्याने तो सर्वोत्कृष्ट असाच आहे. याच्या आधाराने व सद्गुरूंच्या कृपाछत्राने यातील विषयाचे मनन व निदिध्यासन केल्यास साधकांचे अवश्य परमकल्याण होईल असे खात्रीलायक वाटते.

सर्व सुदृश्यमान जगत् व मी वासुदेवरूप आहे व वासुदेवाशिवाय जगात दुसरे काहीच नाही असा पक्का निश्चय झाला म्हणजे अधिकारी जीव **"कृतकृत्य व प्राप्तप्रापणीय"** म्हणजे जे करावयाचे ते मी केले व जे मिळवावयाचे ते मी मिळविले असा कृतार्थ होतो व असे कृतार्थ होण्याकरताच मनुष्य जन्म ईश्वराने जीवाला दिला आहे; मनुष्य जन्माचे दुसरे काहीच ध्येय नाही. मनुष्य जन्माच्या सर्व प्रयत्नांचे फळ हेच आहे. वास्तविक सर्वच जीव परब्रह्म-परमात्मा किंवा भगवत्स्वरूप आहेत, असे गुह्य तत्त्व भगवान् श्रीव्यास महर्षींनी वर्णिले आहे. ते भागवताच्या **"धर्मःप्रोज्झित"** या दुसऱ्या श्लोकात वास्तव म्हणजे वस्तुसंबंधी अर्थात् ईश्वरासंबंधी मायाशक्ती-ईश्वरांश जीव व मायानिर्मित जगत् हे सर्व वस्तुस्वरूपच आहे असे **"वास्तवं वस्तु"** अशा शब्दाने खरे तत्त्व सांगितले आहे. **"प्रकट गुह्य बोले। विश्व ब्रह्मचि ठेले।।** या श्रीज्ञानेश्वरांच्या आरतीत श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांचा सिद्धान्तही असाच आहे, असे श्रीरामाजनार्दनांनी म्हटले आहे. **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** या श्रुतीतही हेच सांगितले आहे. शेकडो, हजारो व लाखो वचनांनी श्रुतिस्मृतिपुराणसंतगाथेत हेच तत्त्व वर्णिलेले असून **"तुका म्हणे कैंसे आंधळे हे जन। गेले विसरून खऱ्या देवा।"** या न्यायाने तत्त्व विसरल्यामुळे सर्व लोक आंधळे आहेत असे संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराज म्हणतात. हा आंधळेपणा जाऊन डोळसपणा येण्याकरता सद्गुरू शिष्यावर **"शक्तिपात"** करीत असतात. भगवान् श्रीकृष्णांनी भक्तश्रेष्ठ अर्जुनावर, भगवान् श्रीवसिष्ठांनी श्रीरामचंद्रावर व श्रीमद्दत्तात्रेय भगवंतानी अलर्कावर याच शक्तिपाताचा प्रयोग केला होता असे इतिहासही सांगत आहे. शक्तिपाताचे विवेचन शास्त्रात फारच विस्तृत रूपाने केले आहे. ते सर्व लिहिण्याचे हे स्थळ नव्हे. हे केवळ प्रास्ताविक

आहे. संक्षेपतः शक्तिपाताचे निरूपण प्रकृतोपयोगी असल्याने येथे करीत आहे.

आगम शास्त्रकार "**अधर्म-धर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ। ज्ञानात्मिका पराशक्तिः शम्भोर्यस्मिन्निपातिता।।** असे म्हणतात.

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते।। म्हणजे श्रीशंकरांपासून आले व श्रीपार्वतीच्या मुखात गेले आणि भगवान् श्रीवासुदेवाला जे संमत झाले अशा शास्त्राला आगम असे म्हणतात. वरील आगम शास्त्रात गुरू व शिष्य यांच्यामध्ये धर्म व अधर्म यांचे साम्य झाले असता शंभूची ज्ञानरूपिणी म्हणूनच श्रेष्ठ अशी शक्ती ज्या अधिकारी शिष्यावर पाडली जाते, चाक्षुष्य-स्पार्शन इत्यादि दीक्षेच्या योगाने शिष्याच्या ठिकाणी पेरली जाते, यालाच "शक्तिपात" असे म्हणतात. आता शक्तिपात येथे "शक्ती" या शब्दाचा अर्थ केवळ अद्वैत चिती म्हणजे "चैतन्य" असा जर घेतला तर ते शिष्याचे आपले स्वरूपच असल्याने व ते देश, काल, वस्तू या तिन्ही परिच्छेद म्हणजे मर्यादा यांनी रहित असल्याने त्याचा पात म्हणजे खाली पडणे किंवा शिष्यावर पडणे याचा संभवच नाही. वरून खाली पडणारा पदार्थ मूर्तिमान् असावा लागतो. चैतन्यशक्ती तशी नाही. जर शक्ती म्हणजे चैतन्याहून काही वेगळा पदार्थ असेल तर "ज्ञानात्मिका" "परा" अशी दोन विशेषणे शक्तीला लागू पडत नसल्याने ती दोन विशेषणे शक्तीला लावणे व्यर्थ आहे, अशी शंका करून येथे "पात" शब्दाचा अर्थ पडणे किंवा पाडणे असा न धरता त्याचा औपचारिक म्हणजे गौण अर्थच घेतला पाहिजे. जसे "गंगेवरती गौळवाडा," येथे गंगा शब्दाचा लाक्षणिक अर्थ "तीर" किंवा मनुष्याला लावलेला आहे. "सिंह" शब्दाचा अर्थ शूर असा गौण घ्यावा लागतो. तसाच येथे गौण अर्थ "पात" या शब्दाचा घेतला पाहिजे. श्रीविद्यारण्यांनी "पात" शब्दाचा गौण अर्थ घेऊन त्याचे विवेचन केले आहे. ते म्हणतात "पात" शब्दाचे रहस्य तुम्हाला सांगतो. ते ऐका. पराशक्ती परमेश्वर स्वरूपच असल्याने ती सर्व व्यापक आहे व शिष्यसुद्धा वास्तविक परमेश्वरस्वरूप असल्याने तो

शक्तिरूपच आहे. म्हणून आपणच आपल्यावर पडणे हे असंभवनीय आहे. आपल्या खांद्यावर जसे आपण बसू शकत नाही तसे आपणच आपल्यावर पडू शकत नाही. म्हणून "पात" शब्दाचा अर्थ येथे "पडणे" असा न धरता "आवृत" किंवा "आच्छादित" असा धरला पाहिजे. या शक्तीला म्हणजे शिष्यांतर्गत चैतन्याला कामक्रोधादि मल व पापपुण्यात्मक कर्मांनी अनादिकालापासून आच्छादित केले आहे. म्हणून ती शक्ती भस्माने आवृत अग्नीप्रमाणे काही काम करू शकत नाही. म्हणून ती भस्माच्छादित अग्नीप्रमाणे असून नसल्यासारखी झाली आहे. आचार्यांनी "दीक्षा" दिल्यानंतर शक्तीवरचे "मल" व पापपुण्यादि कर्मे नष्ट झाली असता ती शक्ती भस्मरहित अग्नीप्रमाणे प्रगट झाली म्हणजे "शक्तिपात झाला," "शक्तिपात झाला" असा व्यवहार होतो. अरणीतून "अग्नी पडला," "अग्नी पडला," इत्यादि व्यवहारासारखा हा व्यवहार आहे. अरणीत अग्नी पूर्वीपासूनच आहे. घर्षणाने उत्पन्न झाला नाही. तो अभिव्यक्त झाला. असेच शक्तिपातासंबंधी आहे असे समजावे. मग श्रीसद्गुरुमूर्तीने शक्तीला प्रगट केले म्हणजे शक्तीवर असलेले अज्ञानमूलक कामक्रोधादि मल, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि विपरीत धर्म व पाप पुण्यादि कर्मे यांचा नाश केला, असाच अर्थ झाला. म्हणजे जीवाचे खरे स्वरूप जे ईश्वर तेच श्रीगुरूंनी प्रकट केले असे म्हटले पाहिजे. मग "तत्त्वमसि" म्हणजे "तू ब्रह्म आहेस" असा श्रीसद्गुरूंनी उपदेश केला म्हणजेच त्या वाक्याने "मी ब्रह्म आहे" असा साक्षात्कार होतो व मग अज्ञानादिकांचा नाश होऊन जीव ब्रह्मभावाला प्राप्त होऊन कृतार्थ होतो, अशा सिद्धान्तास काहीच अर्थ नाही असे होणार नाही का? व **"गुरुबिन कौन बतावे बाट"** अशा कबीरादि संतांच्या वाक्यास तरी काय अर्थ राहिला! कारण "तू ब्रह्म आहेस" असे सांगणे हीच श्रीसद्गुरूंनी दाखविलेली वाट आहे. परंतु शक्तिपातात हे काहीच नाही. उपदेशाशिवाय एकदम ब्रह्म होऊन बसणे असा तुमचा मार्ग दिसतो व तो वर सांगितले तशा शास्त्राच्या विरुद्ध दिसतो. शास्त्रात प्रमाणजन्य ज्ञान हेच अज्ञानाचा नाश करून जीवाची प्रथमपासूनच असलेली परब्रह्मरूपता प्रकट करते असे म्हटले आहे, इत्यादि शंका करण्याचे येथे

कारण नाही. श्रीसद्गुरूंनी दीक्षाद्वारा शक्तिपात करणे म्हणजे ज्ञान उत्पन्न होण्याला जे प्रतिबंध आहेत ते दूर करणे एवढाच येथे शक्तिपात या शब्दाचा अर्थ आहे. ज्ञान उत्पन्न होण्यास काही प्रमाण पाहिजेच व ते प्रमाण म्हणजे तत्त्वमस्यादि वाक्येच आहेत. या वाक्यांचा अनुभव किंवा स्मरण होऊनच त्या वाक्यांनी तत्त्व साक्षात्कार होतो व जीव ज्ञानसंपन्न होऊन कृतार्थ होतो, म्हणूनच योगशास्त्राच्या अभ्यासाने निर्विकल्प समाधी सिद्ध होऊन स्वरूप साक्षात्कार झाला; तरी तो प्रमाणजन्य नसल्याने "मी कोण?" हे अज्ञान त्याने जात नाही. ते वेदान्त महावाक्यांनी झालेले ज्ञान नसल्याने "मी ब्रह्म आहे" असेच ज्ञान झाले पाहिजे व निर्विकल्प समाधी नंतर वेदान्त वाक्यजन्य साक्षात्कार झाला पाहिजे. तरच अज्ञान जाते. म्हणून योगशास्त्राला वेदान्तशास्त्राची जोड व वेदान्तशास्त्राला योगशास्त्राची जोड असा शास्त्रसिद्धान्त आहे. योगाशिवाय केवळ वेदान्तजन्य ज्ञान म्हणजे अनुभवाशिवाय प्रवचन व वेदान्तजन्य ज्ञानाशिवाय केवळ योग म्हणजे नुसती कसरत असे शहाणे संत म्हणत असतात तेच खरे.

तदा शिष्यस्य चिद्रूपे कल्पिता मोहरूपिणी।
माया दग्धा भवेत्किञ्चित् तदा पतति विग्रहः।।

त्यावेळी म्हणजे शक्तिपातानंतर शिष्याच्या चिद्रूपावर चिद्रूपाला आवरण करणारी म्हणजे हेयोपादेय विवेकज्ञानाला आच्छादित करणारी मोहरूप जी माया ती अभिव्यक्त झालेल्या परशक्तीच्या प्रसादाने किंचित् दूर होते व देह पडतो. म्हणजे मायासंबंधामुळे कर्तृत्व भोक्तृत्वादिसंबंध जो आलेला असतो, ज्यामुळे सुखदुःखाला कारण असणारी पापपुण्यात्मक कर्मे घडतात व बऱ्यावाईट शरीराचाही संबंध घडतो. हे सर्व शक्तिपाताने ढिले होते. मग देहाचाही अभिमान ढिला झाल्याने देहाचाही पात होतो. शक्तिपाताचे कार्य देहाभिमान ढिला होणे, देहाला कंप सुटणे, परमानंद होणे, हर्ष होणे, घाम येणे, रोमांच उभे राहणे, हे आहे व ही सर्व शक्तिपाताची लक्षणे आहेत. येथे घाबरू नये. शिष्याचा देह जमिनीवर पडला म्हणजे शंकराचा प्रसाद झाला असे समजावे. हा प्रसाद झाल्यावर वेदान्तवाक्यापासून "मी ब्रह्म आहे"

असे ज्ञान प्रमाणजन्य होते. मग सर्व अनर्थाला मूळ कारण असणारी अविद्या सूर्योदयानंतर अंधाराचा नाश जसा होतो तशी नष्ट होते. **"तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा। दहत्य-विद्यामखिलां तमः सूर्योदयो यथा।।"** असे आगमप्रमाण याविषयी आहे. अहो! पण या वेदान्तवाक्यजन्य तत्त्वज्ञानाच्या उत्पत्तीच्या प्रतिबंधांचा म्हणजे मलकर्म इत्यादिकांचा नाश जर शक्तिपातानेच होत असला तर ज्या मुमुक्षूला अशा शक्तिपाताने पूर्ण अशा आचार्यांचा लाभ झाला नाही तर त्याची काय गती होईल? त्याने असेच बद्ध राहावे काय? अशी शंका घेऊ नये. कर्मानुष्ठान निष्कामपणे करून चित्तशुद्धीनंतर शमदमादि अंतरंग साधनानुष्ठान व श्रवणमनन निदिध्यासनादि अत्यंत अंतरंग साधनानुष्ठान श्रीगुरुभक्तिपूर्वक सतत केल्यास त्यांच्याही प्रतिबंधांचा क्षय होतो व मग तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थाच्या अनुसंधानाने त्यालाही "अहं ब्रह्मास्मि" असा साक्षात्कार होऊन तोही मुक्त होतोच यात बिल्कुल शंका नाही. परंतु शक्तिपात झाल्याबरोबर लगेच प्रतिबंध क्षय होऊन "तत्त्वमसि" वाक्यजन्य अपरोक्ष "अहं ब्रह्मास्मि" असा साक्षात्कार होऊन तो तत्काळ कृतार्थ होतो एवढाच फरक आहे. दोन्हीही प्रकारची उदाहरणे आहेत.

शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग्गुरुभक्तिमान्।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत बन्धनात्।।
शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः।। इति।।

दृष्टिक्षेपरूप शक्तिपात केल्याबरोबर तत्काळ ज्ञानप्रतिबंधरूप आवरण नष्ट होऊन कृतार्थ होणारा श्रीदत्तमहाराजांचा लाडका शिष्य अलर्क राजा झाला. श्रीदत्तमहाराजांच्या भेटीला अलर्क आईच्या उपदेशाप्रमाणे गेला असता दर्शन झाल्याबरोबर त्याने श्रीदत्तमहाराजांना प्रश्न केला. **"म्हणे जी भक्तवत्सला। अपार दुःख झालें मला। अनुग्रह होतां आपुला। मी कुशला पावेन।।२६।। आपुली होतां कृपादृष्टी। दुःख राहील कीं पोटीं। म्हणूनी काढी हिंपुटी। म्हणे शेवटीं हेच पाय।।२७।। त्याचें**

वचन ऐकून। मनीं म्हणे अत्रिनंदन। हे मदालसागर्भरत्न। येथें यत्न न लगेची।।२८।। महाराज म्हणतात, **"अलर्का! दुःखाचें स्थान सांग। तयावरी देऊं डाग। आधीं तूं कोण सांग। वारूं मग दुःख तुझें।।३०।।"** अलर्काने आपल्याशी, आपला व दुःखस्थानाचा विचार केला व उत्तर दिले **"परक्याच्या दुःखें करून। मी कसा दुःखी होईन?। तेव्हां मीच केला प्रश्न। त्याचें प्रतिवचन मीच देतों ।। ६१।। सुखदुःख स्वप्नोपम। मन हें तयाचें धाम। मी असें आत्माराम। पूर्णकाम भूमरूप।।६२।।"** यानंतर श्रीदत्तमहाराजांनी त्याच्या दृढ निश्चयाची परीक्षा केली व म्हणाले **"असाच शिष्य मिळावा। दृष्टी पडतां कृतार्थ व्हावा। अन्यथा घ्यावया सेवा। गुरुशिष्य- भावा गणावें।।१०८।।** या सर्व एकतिसाव्या अध्यायातील श्रीदत्तमहात्म्याच्या ओव्यातून शक्तिपातजन्य तत्काळ प्रतिबंध नाहीसा करून "तत्त्वमसि" महावाक्याने एकदम मुक्त होणाऱ्या मुमुक्षूचे उदाहरण आहे व विक्रांतवर्मा, सुबाहू, अरिमर्दन इत्यादि अलर्काचे बंधू, मदालसेचे पुत्र व शिष्य आणि सहस्रार्जुनादि श्रीदत्तमहाराजांचे शिष्य हे क्रमाने मुक्त होणारे शिष्य अशी उदाहरणे आहेत.

शक्तिपाताचे प्रकार, परिणाम वगैरे बरेच विषय शास्त्रात आहेत व ते वाचनीय, मननीय व निदिध्यासनीय असे आहेत. ते मुमुक्षूने वाचले पाहिजेत. त्या करिताच मनुष्य जन्म आहे. **"मनुख जनम नहिं बार बार। करना हो सो करिये।"** असे संत सांगत आले आहेत. गुरुभक्त श्रीकेशवरांवानी अनुभवाने शास्त्र व संतवचनांनी मंडित असे हे पुस्तक लिहिले आहे. ते वाचल्यास शक्तिपाताचे ज्ञान होईल व अधिक जिज्ञासा निर्माण होऊन वाचक प्रयत्नाने कृतार्थ होतील व त्यांच्या मनुष्य जन्माचे सार्थक होईल. तरी आम्हा सर्वांचे श्रीगुरुमहाराजांच्या कृपेने परमकल्याण होवो अशी अखेर श्रीनामदेवांच्या शब्दात प्रार्थना करून विराम घेतो.

आकल्प आयुष्य व्हावें तया कुळां।
माझिया सकळां हरिच्या दासा।।१।।
कल्पनेची बाधा न हो कोणें काळीं।

ही संत मंडळी सुखी असो।।ध्रु०।।
अहंकाराचा वारा न लागो राजसा।
माझ्या विष्णुदासां भाविकांसी।।२।।
नामा म्हणे तया असावें कल्याण।
ज्या मुखीं निधान पांडुरंग।।३।।

श्रीगुरुदत्तार्पणमस्तु
पंडित आत्मारामशास्त्री जेरे

★★★★★

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघाचे द्वितीय सरसंघचालक परमपूजनीय श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकर ऊर्फ श्रीगुरुजी यांचा अभिप्राय

(श्रीगुरुजी समग्र दर्शन, खंड ७, या ग्रंथातील "आठवणी" या भागात परमपूजनीय श्रीगोळवलकर गुरुजी व श्री. माधवराव कृष्णराव घटाटे यांच्यातील एका संभाषणाचा वृत्तांत पृ.५९ ते ६१ वर आला आहे. तोच वृत्तांत श्रीगुरुजींचा अभिप्राय म्हणून येथे उद्धृत केला आहे.)

कुंडलिनी जागृती :-

मे १९७३ मध्ये प.पू.श्रीगुरुजींना पुण्याचे श्री. केशव रामचंद्र जोशी यांनी प.पू.श्रीगुळवणीमहाराजांच्या कुंडलिनी योगाबद्दलचे व शक्तिपाता-संबंधीचे **"शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्र"** या नावाचे एक पुस्तक अर्पण केले. ते श्रीगुरुजींनी वाचले आणि मलाही दाखविले व ते म्हणाले - "यात श्रीगुलाबराव महाराजांचे "कुंडलिनी जगदंबा" नावाचे योगावरील एक प्रकरण पूर्णपणे उद्धृत केले आहे. तसेच उपनिषदादि अनेक योगग्रंथांतून प्रमाणे घेऊन उत्तम रीतीने ग्रंथाची मांडणी केली आहे. एकूण हे पुस्तक लेखकाच्या बहुश्रुततेचा दाखलाच आहे."

पुस्तक श्रीगुरुजींना आवडले होते. नेहमी ते वाचीत आणि त्यासंबंधी माझ्याशी मधून मधून बोलत. मी देखील ते पुस्तक चाळले आणि श्रीगुरुजींना काही शंका विचारल्या.

प्रश्न :- गुरुजी! कुंडलिनीची जागृती गुरूंच्या आशीर्वादाने होते ही गोष्ट खरी आहे. पण आजकाल कोणीही उठतो व म्हणतो, माझी कुंडलिनी जागृत झाली आहे. आजकालचे साधूदेखील कोणाच्याही डोक्यावर हात ठेवतात व शक्तिपाताने कुंडलिनीला जागृत करतात. या सर्वांचा ताळमेळ काही माझ्या लक्षात येत नाही. ही कुंडलिनीजागृतीची सामूहिक आणि सार्वजनिक भानगड आहे तरी काय? दुर्मिळ असलेली गोष्ट जेव्हा विपुल प्रमाणात सापडू लागते तेव्हा काही तरी घोटाळा असावा अशी शंका येते. आपले काय मत आहे?

श्रीगुरुजी क्षणभर थांबले आणि त्यांनी समजावून सांगितले.

उत्तर :- साधकाला समाधी साधण्यासाठी म्हणजे त्याच्या हृदयातील अज्ञानग्रंथीचा छेद होऊन जीवशिवांचे ऐक्य होण्यासाठी श्रीगुरूंकडून शक्तिपात व्हायलाच हवा. विवेकसिंधूत वाचलेच्न असशील की, श्रीमुकुंदराजांनी एका राजाला त्याच्या घोड्यासकट समाधी लावून दिली. चाबकाचा एक फटकारा मारला आणि त्यासरशी राजा व घोडा दोघेही तीन दिवसपर्यंत समाधीत तटस्थ होऊन राहिले. हाच शक्तिपात होय. यानेच राजाच्या अज्ञानग्रंथीचा नाश झाला व राजा आत्मज्ञानसंपन्न झाला. प्रत्येक साधुपुरुषाच्या आयुष्यात त्याच्या साधनकालाची समाप्ती अशा शक्तिपातानेच होत असते. रामकृष्ण, विवेकानंद वगैरेंची उदाहरणे तुला माहीतच आहेत.

प्रश्न :- गुरुजी ! आपले म्हणणे एका दृष्टीने बरोबर आहे. या सर्व महात्म्यांचे अज्ञान गुरुकृपेनेच नाहीसे झाले यात संशय नाही. परंतु आजकालचा परमार्थ तसा दिसत नाही. वैराग्यादि साधनसंपन्नता नसलेले, मॉडर्न सोसायटीच्या अवडंबराखाली वासनापूर्तीचे अविरत प्रयत्न करणारे लोक फॅशन म्हणून गुरूकडे जातात आणि त्यांचे गुरू त्या साधकांना मनाचा रोध कसा करावा हे शिकवीत नाहीत किंवा परपीडाजनक आणि तमोगुण वाढविणारे आहारविहार कमी करण्यासही सांगत नाहीत. उलट त्यांची कुंडलिनी जागृत करून देतात, यात कितपत तथ्य आहे ? बरे, कुंडलिनी जागृत झाल्यानंतरही त्यांच्या वासनामय जीवनाला मर्यादा पडत नाही. हे लोक काही दिवस कुंडलिनी जागृत झाल्याचा डांगोरा पिटतात आणि नंतर पुन्हा पूर्वीप्रमाणेच अधर्माचरणात गोडी घेऊ लागतात. तेव्हा अशांची कुंडलिनी जागृत झाली या म्हणण्यात काही तरी चूक असावी असे वाटते.

उत्तर :- काही ठिकाणी अशी फसवाफसवी होते, यात संशय नाही. परंतु प.पू.गुळवणीमहाराजांसारख्या महात्म्यांच्या बाबतीत अशी शंका घेण्याचे कारण नाही. रामकृष्ण परमहंसदेखील भजन करीत असताना कोणाच्या छातीला हात लावून त्याला भावावस्थेत नेत असत. शक्तिपात करीत असत. असो. एकूण शक्तिपाताचे दोन प्रकार आहेत. एक म्हणजे पूर्वजन्मी

साधक असलेल्याला पुन्हा या जन्मात साधनमार्गाला लावून देणे आणि दुसरे जीवशिवांचे ऐक्य करून देणे. पैकी दुसरा प्रकार हा सर्वश्रेष्ठ असून तो हजारो साधकात एखाद्यालाच प्राप्त होत असतो. कुंडलिनी जागृत झाल्यानंतर जेव्हा शेवटी समाधीचा प्रसंग येतो तेव्हा श्रीगुरू त्याच्या डोक्यावर हात ठेवून त्याला कृतार्थ करीत असतात. ही योगवासिष्ठातील ज्ञानभूमिकेपैकी चवथी भूमीका असते - सत्त्वापत्ती नावाची.

सुरुवातीला मात्र जेव्हा सत्पुरुषांकडून सामान्य माणसाची कुंडलिनी जागृत केली जाते तेव्हा साधकाने (साऱ्या संसारावर तिलांजली देऊन म्हणजे) संसाराकडे फारसे लक्ष न देता आपली प्रगती करण्यासाठी सतत प्रयत्न केला पाहिजे. असा प्रयत्न मध्येच सोडणे हानिकारक असते. परंतु पुष्कळदा आपण पाहतो की, काही लोक एकाग्रतेचा अभ्यास करतात. त्यांना त्यातील चांगले अनुभवही येतात. पण मोहाच्या क्षणी ते स्वत:ला आवरत नाहीत आणि त्यांचे पतन होते.

"प्राप्तेही पुरुषें। इंद्रियें लाळावी ना कौतुकें।। श्रीज्ञानेश्वरी।।"

गुरूने कुंडलिनी जागृत करून दिली तरी वैराग्य आणि मनोनाश यांचा साधकाने सतत अभ्यास केलाच पाहिजे, असा दंडक आहे.

"ज्ञप्तेस्तु कारणं साक्षात् शिष्यप्रज्ञैव केवला।। योगवासिष्ठ।।"

शिष्याला गुरूने मार्ग दाखविणे ही शास्त्रांनी केवळ व्यवस्था करून ठेवली आहे. आत्मज्ञान हे शिष्याच्या प्रज्ञेनीच त्याला होत असते. स्वत:च अतिशय प्रयत्न करावे लागतात. मार्ग गुरूंनी दाखविला तरी चालावे त्यालाच लागते.

मी मात्र अशा लोकांना मान देतो याचे कारण वेगळे आहे. सन्मार्गाला लागलेला सामान्य मनुष्य साधक झालाच आहे. पुढे केव्हातरी तो पूर्ण होणारच. या प्रदीर्घ वाटचालीत अनेक अडथळे येतात. साधकांच्या हातून चुका होतात. ते पडतात, झडतात, पुन्हा मार्ग चालू लागतात. त्यांना सन्मार्ग मिळालेला असतो. त्यांच्या परमार्थाच्या वाटचालीला सुरुवात झालेली असते.

"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। ६.४५-गीता।।"

अनेक जन्मांनंतर का होईना ते सिद्ध होणारच असतात. म्हणूनच या कुंडलिनीजागृतीच्या प्राथमिक अवस्थेला परमार्थाची सुरुवात म्हणून मी महत्त्व देत असतो. म्हणूनच अशाला मोठे समजून नमस्कारही करतो. त्या व्यक्तीचे ठिकाणी इतर दोष असले; तरी परमार्थाला उद्युक्त होणे हा खरोखरीच मोठा गुण आहे. हळूहळू इतर दोष कमी होतील आणि हा गुण वाढेल आणि पुढे जन्मजन्मांतरी केव्हातरी तो महात्मा होईलच. जसे, मुंबईच्या गाडीत बसलेला मनुष्य मुंबईला पोहोचणारच. म्हणून आपण त्याची आगगाडी सुटली की, तो मुंबईला गेल्याचे लोकांना सांगतो. हेच तत्त्व येथेही लागू होते.

प्रश्न :- गुरुजी ! तुम्ही पुष्कळदा कोणाकोणाची परमार्थ दृष्टीने श्रेष्ठ म्हणून फार स्तुती करता. पण पुढे ते तसे नसल्याचे दिसून येते. असे कां?

उत्तर :- याही प्रश्नाचे उत्तर वरीलप्रमाणेच आहे. एकदा परमार्थाच्या मार्गाला लागला की, मी त्याला नमस्कारच करणार. शिपायाची राजा म्हणून स्तुती करता येते. पण राजाला शिपाई म्हणता येत नाही. तसेच हे लोक आज ना उद्या वर पोहोचणारच आहेत. म्हणून आपण त्यांना नमस्कार करावा. यातच आपले कल्याण आहे. चांगल्यासाठी नमस्कारच करावा आणि वाईटाकडे दुर्लक्ष करावे. आपल्या अंगी नम्रता बाणविण्याचा हा एक चांगला उपाय आहे.

अहंकार न येण्यासाठी तुकाराम महाराजांच्या म्हणण्याप्रमाणे वागावे.

जग देव तरी पायांचि पडावे।
त्यांचिया स्वभावें काज नाहीं।।

याप्रमाणे श्रीगुरुजींनी सुंदर रीतीने पटवून दिले. असा परमार्थाचा विषय निघाला की, श्रीगुरुजी न कंटाळता निरनिराळी उदाहरणे देऊन विषय समजावून देत. दुसरे कोणी येऊन त्यांना अडथळा आणल्याशिवाय ते थांबत नसत.

★ ★ ★ ★ ★

- प्रथमावृत्तीची प्रस्तावना -

रहस्योद्घाटनापूर्वी :-

शक्तिपात म्हणजे सिद्धमहायोगशास्त्र हा भारतीय संस्कृतीचा अपूर्व व अलौकिक असा ठेवा आहे. आज शतकानुशतके या शक्तिपातयोगाचा प्रवाह वाहत आला आहे व महेशान्वयसंभूत म्हणजे आदिनाथ श्रीशंकरांच्या पासून चालत आलेला हा शिवसंप्रदाय पुढेही त्यांच्याच कृपेने चालत राहणार आहे असा विश्वास वाटतो. या विश्वासाचे खरे कारण या योगाच्या सामर्थ्यात अंतर्निहित आहे. शिवसंहिताकारांनी **"आलोक्य सर्व शास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम्।। १.१७।। यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्। तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यत् शास्त्रभाषितम्।।१.१८।।"** असे म्हणून या शक्तिपात-योगशास्त्राच्यापुढे इतर सर्व शास्त्रे कशी फिकी आहेत, हे पटवून दिले आहे. सर्व शास्त्रांचे अध्ययन केल्यावर आणि पुनःपुन्हा विचार केल्यावर असे निश्चित वाटते की, योगशास्त्र हे सर्व शास्त्रात श्रेष्ठ आहे. या शक्तिपातयोगाने ज्ञानाचा लाभ होत असल्याने सर्व जगताचे निश्चित ज्ञान होते. यासाठी इतर दुसऱ्या कोणत्याही शास्त्रांचे अध्ययन करण्यापेक्षा या शास्त्राप्रमाणे योगाभ्यास करणे हेच.उचित आहे.

शक्तिपातयोग हे महान् शास्त्र आहे. ग्रंथग्रंथांतरी या शास्त्राचा पुरावा पाहावयास मिळतो. वेद, पुराणे, तंत्रग्रंथ, उपनिषदे, संतवाङ्मय इत्यादि ग्रंथातून या शक्तिपातयोगशास्त्राची प्रसंगानुसार संक्षेपाने व विस्ताराने चर्चा केलेली आढळून येते. मात्र वेदकालापासून अक्षुण्ण रीतीने प्रवाहित झालेला हा योग नानाविध नावांनी व पद्धतींनी नटलेला दिसून येतो. परंतु विविधतेने साकारलेले हे बहिरंग अभ्यासाने दृष्टिआड करून अंतरंगात बुडी मारली की, त्याची जी मौक्तिकरूप लक्षणे दृष्टीस पडतात ती मुळातील शक्तिपातयोगाच्या शास्त्राशी इतकी जुळून येतात की, त्यावेळी वस्तुतः भिन्न वाटणारे द्वैत हे खरे नसून ते आपाततः लेखकाच्या वैचारिक, पारंपारिक किंवा स्वाभाविक दृष्टिकोनामुळे उत्पन्न झाले असून, ते खरे नाही, याचे

प्रत्यंतर आल्याने आत्यंतिक आनंद होऊन मन प्रसन्नतेने भरून जाते. **"आकाशमार्गीं गुप्तपंथ। जाणती योगिये समर्थ। समर्थांमध्ये समर्थ। योग हा।।१-९-५ व १।।"** असे म्हणून या योगमार्गाचे सामर्थ्य श्रीसमर्थ रामदास- स्वामीमहाराजांनी ग्रंथराज **"श्रीदासबोधात"** स्पष्ट केले आहे. तर **"पिंडे पिंडाचा ग्रासु। तो हा नाथसंकेतीचा दंशु। परि दाऊनि गेला उद्देशु। श्रीमहाविष्णू।। ६-२९१।।"** असे सांगून हा शक्तिपातयोगमार्ग म्हणजे आदिनाथ श्रीशिवांनी जीवांच्या कल्याणाकरिता प्रवर्तित केलेला अपूर्व मार्ग आहे असे श्रीसंतज्ञानेश्वमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** आवर्जून सांगितले आहे. श्रीसंत एकनाथमहाराजांनीही **"भक्तियोगाचा योगमार्ग। समूळ सप्रेम शुद्ध सांग। स्वमुखें बोलिला श्रीरंग। तें उद्धवें चांग अवधारिलें।।२९.६४३।।"** असे सांगून शक्तिपातयोगमार्ग हा भक्तियोगाचा योगमार्ग आहे असे **"श्रीएकनाथी भागवतात"** निःसंदिग्धपणे स्पष्ट केले आहे.

मनुष्याच्या मनाची ठेवण, आवड व पात्रता भिन्न आहे हे सर्वांनी ओळखले होते. असे असल्यामुळे मनुष्य जेथे असेल तेथून त्याला वर काढण्यासाठी त्यांनी नानाविध नावांनी हाच मार्ग आपापल्या ग्रंथात सांगितला असून या सर्वांचा हेतू माणसाला खरे अंतरंग साधन मिळून तो या अनादि जन्ममरण परंपरेच्या अनर्थातून वाचावा हाच आहे.

शक्तिपातयोगाच्या मार्गाला निरनिराळी नावे प्राप्त झाल्याने त्याचे बहिरंग विविध बनले असले; तरी त्याचे अंतरंग मात्र श्रीसद्गुरुकृपा व शिष्यशरणागती या एकाच प्रक्रियेत एकरस व परिपूर्ण झालेले दिसते. श्रीसद्गुरूंची कृपा व शिष्याची शरणागती या एकाच गोष्टीत शक्तिपातयोगाचे सर्व रहस्य सामाविलेले आहे. कृपा म्हणजे दान व शरणागती म्हणजेही दानच होय. कृपा म्हणजे श्रीसद्गुरूंनी शिष्याला अहेतुकपणे केलेले विभुत्वाचे किंवा शिवत्वाचे दान होय; तर शरणागती म्हणजे साधकाने श्रीसद्गुरूंना आपल्या अणुत्वाचे किंवा जीवत्वाचे निरंहकारित्वाने केलेले दान होय. असे जेव्हा उभयविध दान घडते तेव्हाच कृपेचा आविष्कार होतो व गुरुशिष्य दोघेही सुखानंदात

निमग्न होतात. **"शिष्य साचार अनुभव लाहे। तेणें सद्गुरु सुखाचा मेरू होये।। २९.४९१।।"** या श्रीसंत एकनाथमहाराजांच्या "श्रीएकनाथी भागवतातील" म्हणण्यात हे रहस्य स्पष्टपणे प्रतीत होते.

अशा प्रकारे शक्तिपातयोग ही ज्ञानदानाची, भक्तिदानाची, अद्वैत बोधाची व आत्मानुभूतीच्या दानाची गोष्ट असल्याने ज्याच्या ठिकाणी अशा प्रकारचे दान करण्याची शक्ती असते तो खरा गुरू होय व हे दान स्वीकारण्याची ज्याची तयारी असते तो खरा शिष्य होय. ज्यावेळी गुरुशिष्यांचा अशा प्रकारे समसमासंयोग होतो त्यावेळी ही अद्वैतबोधाची अतुट परंपरा सिद्ध होऊन मुक्तीची मार्गप्रतीक्षा करणारे जीव कृतार्थतेला पात्र होतात. त्यामुळे या रीतीने चालत आलेल्या या अद्वैतबोधाच्या परंपरेचा लोप होऊ न देणे हे सर्व भारतीयांचे कर्तव्य आहे. या कर्तव्यातूनच या पुस्तकाचा प्रपंच झाला. याच विषयावरील "योगवाणी" या हिंदी पुस्तकातील प्रस्तावनेत असे म्हटले आहे की, **"इस कालमें इस बातकी बडी आवश्यकता है कि साधनसंपन्न योग्य जिज्ञासु इस विषय का अनुसंधान कर स्वयं अनुभवी एवं स्पर्शमणि बन जावें ताकि दुसरों को भी स्वर्ण बना सकें और इस प्रकार इस विद्याका लोप न होने पावे। इसका लोप न होने देना सारी भारतप्रजा का परम कर्तव्य है।"**

श्रीआदिनाथ शंकरांनी शक्तिपात-सिद्धमहायोग प्रवर्तित केला. त्या श्रीगंगेत स्नान करून बंगालमधील परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीगंगाधर-तीर्थस्वामीमहाराज यांनी त्यांच परमशिष्य प.प.श्रीनारायणतीर्थस्वामीमहाराज यांना असा उपदेश केला की, "ही ब्रह्मज्ञानप्राप्तीची दीक्षा असाधारण असून ती मी तुला दिली आहे. तुझ्या पदरात या दीक्षेच्या रूपाने दिव्य अग्नीच बांधून दिला आहे. त्याचा प्रसार तू भारतभर कर." प.प.श्रीनारायण-तीर्थस्वामीमहाराजांनी गुर्वाज्ञेप्रमाणे अनेकांना ही दीक्षा देऊन कृतार्थ केले. त्यात प.प.श्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थस्वामीमहाराज यांना दीक्षागुरुत्वाचा अधिकार दिला. त्यांनी प.प.श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांना या ज्ञानदीक्षेचा अधिकार देऊन सर्वार्थाने कृतार्थ केले. त्यांच्याकडूनच माझे सद्गुरू श्रीसंत वामनरावजी

गुळवणीमहाराज यांना हा ठेवा मिळाला. त्यांनी या शक्तिपातयोगदीक्षेचा प्रसार आसेतुहिमाचल करून अनेक जीवांना मुक्तीच्या मार्गावर मार्गस्थ करून निरतिशय आनंदाचा ठेवा उपलब्ध करून दिला आहे. ज्या मार्गावरून आपण चाललो आहोत त्या मार्गाची आपल्याला आपल्या भाषेत माहिती वाचावयास मिळाली म्हणजे विषय अंतरंग होण्यास मदत होऊन शंकानिवृत्तीही त्वरित होते. त्यामुळे या परंपराप्राप्त साधनाची सर्वांना सुलभतेने प्राप्ती व्हावी म्हणून हा प्रपंच मराठीत ग्रंथ लिहून केला.

गेली बारा वर्षे हा ग्रंथ आकार घेत होता. अभ्यास चालू होता. यातील दुसरे व आठवे आधार या पूर्वीच "शक्तिपातयोगमाहात्म्य" व "शक्तिपातयोगाची दिव्य व अलौकिक वैदिक परंपरा" या छोट्या छोट्या पुस्तकांच्या रूपाने प्रकाशित झाले आहेत. ते या पुस्तकात कमी अधिक करून समाविष्ट केले आहेत. त्याचप्रमाणे श्रीदीपलक्ष्मी या मसिकात "शक्तिपातयोगाची साधनसंपत्ती" या आधारातील काही लेख प्रकाशित झाले होते. तेही त्या आधारात समाविष्ट केले आहेत.

शक्तिपातयोगाच्या शास्त्रावर मराठीत आजपर्यंत एकही समग्र ग्रंथ नव्हता. तो व्हावा अशी अनेकांची इच्छा होती. माझे सद्गुरू योगिराज श्रीसंत वामनरावजी गुळवणीमहाराज यांच्या चरणी जेव्हा या साधनमार्गाची दीक्षा मागण्यास साधक येतात तेव्हा मात्र त्यांना या विषयाची माहिती सुलभतेने व सहजतेने देता येईल असा एकही मराठी ग्रंथ नव्हता. ती अडचण या ग्रंथाने पुष्कळ अंशाने दूर होईल असा विश्वास वाटतो. ज्या ज्ञानसाधनशास्त्राच्या अपरंपार महतीचा महिमा सुदूरपर्यंत पसरला आहे त्या ज्ञानसाधनशास्त्रावर म्हणजे शक्तिपातयोगावर एक पुस्तक असावे अशी श्रीगुरुचरणांची तीव्र इच्छा होती. त्यांच्या इच्छेने "शक्तिपातयोगरहस्य" या शास्त्राने ग्रंथरूपाने आकार घेतला असे म्हटले तर सर्वार्थाने शोभून दिसेल. त्यांच्या इच्छेप्रमाणे हा ग्रंथ शक्तिपातयोगाचे किंवा सिद्धमहायोगशास्त्राचे साधन करणाऱ्या सर्व संप्रदायांना व साधकांना पोषक, आधारभूत व साहाय्यक ठरावा अशी श्रीसद्गुरुमहाराजांच्या चरणी प्रार्थना आहे.

"शक्तिपातयोगरहस्य" हा ग्रंथ हे श्रीसद्गुरुमहाराजांच्या कृपामृताचे फल आहे. त्यांची अपार कृपाच या ग्रंथरूपाने फलद्रूप झाली आहे. **"तुका म्हणे आले समर्थांच्या मना। तरी होय राणा रंक त्याचा।।"** असे श्रीसंत तुकाराममहाराजांनी म्हटले आहे. तेच या ग्रंथाबाबत खरे आहे. नाहीतर माझ्यासारख्या सामान्य माणसाचे हे काम नव्हे **"संतानीं सरता केलों तैशापरी। चंदनी ते बोरी व्यापियेली।"** हेच माझ्या बाबतीत खरे आहे. **"पायांच्या प्रसादें। कांहीं बोलिलों विनोदें।।१।। मज क्षमा करणें संतीं। नव्हे अंगभूत युक्ति।।२।। नव्हे हा उपदेश। तुमचें बडबडलों शेष।।३।। तुमचें कृपेचें पोसणें। जन्मोजन्मीं तुका म्हणे।।४।।** असे जे श्रीसंत तुकाराममहाराजांनी म्हटले आहे ते या ग्रंथाच्या बाबतीत अक्षरशः खरे आहे. इतकेच नव्हे; तर **"संताचीं उच्छिष्टें बोलतों उत्तरें।"** व **"फोडिलें भांडार धन्याचा हा माल। मी तव हमाल भारवाही।। आपुलिया बळें नाहीं मी बोलत। सखा कृपावंत वाचा त्याची।।"** हे या ग्रंथाचे खरे स्वरूप आहे, यात माझे काहीही नाही. **"काय मी पामर जाणे अर्थभेद। निमित मापासी बैसविलो आहे।"** अशी खरी स्थिती आहे.

शेवटी श्रीसद्गुरुमहाराजांच्या चरणी एकच प्रार्थना आहे की, **"पायीची वहाण पायीं बरी।"** अशी त्यांनी माझी वृत्ती सतत ठेवून पुढील प्रार्थना मान्य करून घ्यावी.

पाईकीचें सुख पाईकासी ठावें। म्हणोनिया जीवें केली सांटी।।१।।
येतां गोळ्या बाण साहिले भडिमार। वर्षता अपार वृष्टी वरी।।२।।
स्वामीपुढे व्हावे पडतां भांडण। मग त्या मंडण शोभा दावी।।३।।
पाईकांनीं सुख भोगिलें अपार। शूर आणि धीर अंतर्बाहीं।।४।।
तुका म्हणे या सिद्धांताच्या खुणा। जाणे तो शहाणा करी तो भोगी।।५।।

श्रीगुरुचरणरजसेवक
केशव रामचंद्र जोशी

★★★★★

।। श्रीगुरुःशरणम् ।।

।। ॐ श्रीमद् अमृतमूर्तये श्रीशिववामनाय नमः।।

- द्वितीयावृत्तीची प्रस्तावना -

जयजयाजी गुरुमूर्ती। तूंचि साधन परमार्थी।
मातें निरोपिलें प्रीती। तत्त्वबोध कृपेने।। गुरुचरित्र १६.१४१।।
गुरुकृपा होय ज्यासी। दैन्य दिसें कैंचें त्यासी।
समस्त देव त्याचे वंशीं। कळिकाळासीं जिंके नर।।२.२१।।

★ ★ ★

संतचरणरज लागतां सहज। वासनेचें बीज जळोनि जाय।।१।।
मग रामनामीं उपजे आवडी। सुख घडोघडीं वाढों लागे।।२।।
कंठीं प्रेम दाटे नयनीं नीर लोटे। हृदयीं प्रगटें नामरूप।।३।।
तुका म्हणे साधन सुलभ गोमटें। परि उपतिष्ठें पूर्वपुण्यें।।४।।

★ ★ ★

सद्गुरुवांचूनि सांपडेना सोय। धरावे ते पाय आधी आधी।।१।।
आपणासारिखें करिती तात्काळ। नाहीं काळवेळ तयालागीं।।२।।
लोह परिसाची न साहे उपमा। सद्गुरुमहिमा अगाधची।।३।।
तुका म्हणे कैंसें आंधळें हे जन। गेले विसरोन खऱ्या देवा।।४।।

★ ★ ★

शक्तिपाताचार्य महासिद्धयोगी संतश्रेष्ठ श्रीसमर्थ वामन दत्तात्रेय गुळवणीमहाराज या माझ्या हृदयस्थ श्रीसद्गुरुनाथांच्या असीम व अपार

कृपाबलाने "शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्र" या ग्रंथाची तेवीस वर्षांनंतर द्वितीय आवृत्ती प्रसिद्ध करण्याचा योग येत आहे, ही महद्भाग्याची गोष्ट आहे, यात तिलप्राय शंका नाही. श्रीसद्गुरुनाथमहाराजांनी आसेतुहिमाचल पसरलेल्या आपल्या भारत-वर्षातील हजारोहजार साधकांना, भक्तांना, मुमुक्षूंना व जिज्ञासूंना शक्तिपातयोगाची अर्थात् सिद्धमहायोगाची दीक्षा देऊन सिद्धयोगसाधनगंगेचा जो प्रवाह प्रवाहित केला, ती सिद्धयोग अर्थात् शक्तिपातयोगसाधनगंगा परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीगंगाधरतीर्थ-स्वामीमहाराज, प.प.श्रीनारायणतीर्थदेवस्वामीमहाराज, प.प.श्रीशंकर-पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीमहाराज, प.प.श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज, प्रातःस्मरणीय परमपूजनीय श्रीगुळवणीमहाराज यांच्यापासून संप्रदायक्रमाने व परंपरेने आजपर्यंत वाहत आली असून या परंपरेची अक्षुण्णधारा त्यांच्या अनुज्ञेनेच **"ना आदिगुरु शंकरा। लागोनि शिष्यपरंपरा। बोधाचा हा संसरा। जाला जो आमुते ।।१८.१७५९।। तो हा तूं घेऊनि आघवा। कळीं गिळितयां जिवां। सर्व प्रकारीं धांवा। करीं पां वेगीं।।१७६०।।"** या श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी "श्रीज्ञानेश्वरीत" सांगितलेल्या न्यायाने पुढेही साधनयोग्य अर्थात् कृतियोग्य (practical) रीतीने माझ्याकडून प्रवाहित होत असून, या साधनगंगेत अनेकानेक साधक-भक्त-मुमुक्षुजन सुस्नात होऊन आपले जीवन धन्य व कृतार्थ करण्यासाठी मार्गस्थ होत आहेत, ही परमभाग्याची गोष्ट आहे.

श्रीसद्गुरुनाथमहाराज ज्याप्रमाणे बोधाच्या अर्थात् दीक्षेच्या ऐश्वर्याचा विस्तार आपल्या अमोघ संकल्पाप्रमाणे माझ्याकडून करवून घेत आहेत त्याचप्रमाणे त्यांच्याच इच्छेने या संप्रदायसिद्धपरंपरेने विभूषित झालेल्या सिद्धयोगसाधनगंगेचे निखळ शास्त्रीय स्वरूप साधकांना व अभ्यासू वाचकांना उपलब्ध व्हावे म्हणून त्यांनी **"ज्ञानेश्वरी : सिद्धयोग दर्शन"** या ग्रंथात **"ज्ञानेश्वरीत शक्तिपाताशिवाय एकही शब्द नाही,"** हा अपूर्व सिद्धान्त प्रस्थापित करावयास लावून तो प्रसिद्ध करवून घेतला. त्याचप्रमाणे योगबीज,

स्पंदशास्त्र, ज्ञानसंकलिनीतंत्र, शिवसंहिता, श्रीललितासहस्रनामस्तोत्र, अमरौघशासन, अमरौघप्रबोध, अद्वयतारको- पनिषद्, अमृतबिन्दूपनिषद् अथवा ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, सौभाग्यलक्ष्म्यु- पनिषद्, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, शक्तिसूत्रे, भक्तिसूत्रे इत्यादि विविध ग्रंथ मूळ संस्कृत श्लोक व सुबोध मराठी भाषांतरयुक्त विवरणासह प्रसिद्ध केले आहेत. त्याचप्रमाणे उपरोक्त प्रयोजनाची पूर्ती व्हावी म्हणूनच श्रीसद्गुरुनाथमहाराजांनी मला "श्रीश्रीसद्गुरुसंग" हा "श्रीकुलदानन्द ब्रह्मचारी" यांनी आत्मानुभवपूर्वक लिहिलेल्या स्वात्मसाधन-चरित्रात्मक असा ग्रंथ सर्व साधकांना मराठी भाषेत उपलब्ध करून देण्याची प्रेरणा दिली. ते मला नेहमी असे म्हणत असत की, आपले शक्तिपातयोगाचे साधन करताना "श्रीकुलदानन्द ब्रह्मचारी" यांनी शारीरिक पीडेशी, रोगांशी व नाना प्रकारच्या मानसिक अवस्थांशी झगडा करून सिद्धी कशी मिळविली याचे उत्तम चित्रण "श्रीश्रीसद्गुरुसंग" या पुस्तकात त्यांनी स्वतःचे अनुभव लिहून केले आहे. नित्यनियमित साधन केल्याने सामान्य साधकाचाही सिद्ध कसा होतो, हे कळण्यासाठी तू हे सर्व खंड साधकांना उपलब्ध करून दे. "श्रीगुरुमहाराजांच्या या आज्ञेप्रमाणे या ग्रंथाचे आत्तापर्यंत आठ खंड प्रसिद्ध झाले असून उरलेले चार खंडही श्रीगुरुचरणांच्या असीम कृपेने क्रमशः प्रसिद्ध होतील. या सर्व पुस्तकांच्या प्रस्तावनांमधून शक्तिपातयोगाचे अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्राचे तात्त्विक सिद्धान्त किंवा प्रमेये (Theory) विस्तारपूर्वक मांडून या दृष्टीनेही सिद्धयोगाची गंगा समाजापर्यंत नेऊन पोहोचविण्याचा प्रयत्न केला आहे व तो पुढेही चालू राहील.

सिद्धयोगसाधनगंगेची जी परंपरा वर वर्णन केली आहे त्या प्रवाहाचे उत्तरदायित्व स्वीकारणारे पहिले चारही महापुरुष हे बंगाली असल्यामुळे "शक्तिपातयोग" ही काही परस्थ, तांत्रिक व बंगाली भानगड आहे अशी समजूत होण्याचा संभव आहे. हा अपसमज राहू नये व दैवी शक्तीच्या संक्रमणाने अर्थात् शक्तिपातयोगदीक्षाद्वारा सिद्ध होणारी ही सिद्धयोगसाधनाची वेदोपनिषदकालापासून चालत आलेली अशी अनादिसिद्ध असलेली आणि

भारतीय साधन जीवनातील एक अपरिहार्य व अपूर्व अंग म्हणून सिद्ध झालेली साधनप्रणाली आहे, हे सिद्ध व्हावे याकरिता वेद, उपनिषदे, पुराणे, संहिता, संत वाङ्मय इत्यादि सर्व ग्रंथांतील प्रमाणे दिली आहेत.

वास्तविक रीतीने पाहिले; तर शक्तिपातयोग अर्थात सिद्धमहायोग हा सर्व संप्रदायांना व सर्व धर्मांना व्यापून असलेला असा विषय आहे. इतकेच नव्हे; तर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघाचे द्वितीय सरसंघचालक कै.प.पू. श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकर, गुरुजी यांनी मला लिहिलेल्या एका पत्रात म्हटल्याप्रमाणे **"विषय कठीण, पण सर्व मार्गांच्या साधकांना शक्तिपाताशिवाय गत्यंतर नाही असा जिव्हाळ्याचा व महत्वाचा आहे."** मात्र या विषयाबद्दलची प्रत्येक संप्रदायाची व धर्ममार्गाची अर्थात् त्यातील संतांची, प्रणेत्यांची, प्रेषितांची अगर महात्म्यांची भाषा वेगळी असते असे दृष्टीस पडते. त्यामुळे या दृष्टीने पाहिल्यास सिद्धमहायोग-साधनगंगेचा प्रवाह भारतीयच नव्हे; तर जागतिक किंवा विश्वव्यापी आहे असे म्हणणेच अधिक शोभून दिसेल. या व्यापक दृष्टीने शक्तिपातयोगशास्त्राचे आलोडन केले; तर आपण सर्वच भारतीय किती संपन्न साधनाचे धनी आहोत याची जाणीव होईल. परंतु या जाणिवेबरोबर **"स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।। ४.२।।"** असे जे श्रीगोपालकृष्णनाथांनी "श्रीमद्भगव-द्गीतेत" म्हटले आहे, त्याची समाजजीवनातील साक्ष पाहिली, म्हणजे काही संप्रदायातच ही शक्तिसंक्रमणाची प्रक्रिया, विद्या किंवा शक्तिपाताचे सामर्थ्य परंपरेने शिल्लक राहिले आहे, हे स्पष्टपणे दिसून येते. या दृष्टीने परमपूजनीय श्रीयोगेंद्र विज्ञानी यांनी महायोगी श्रीसमर्थ सद्गुरू गुळवणीमहाराज यांना दि.१४-३-१९५७ रोजी जे पत्र हृषिकेशहून पाठविले आहे त्यातील काही भाग पाहिला म्हणजे श्रीगुरुमहाराजांनी प्रवाहित केलेल्या सिद्धयोगसाधनगंगेचा महिमा प्रतीत होऊन त्याच्या आलोकात "शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्र" हा ग्रंथ वाचला म्हणजे मन आनंदाने भरून येते. प.पू.श्रीयोगेंद्र विज्ञानी आपल्या पत्रात असे म्हणतात की -

(शक्तिपातयोग या सिद्धयोग से जागृत हुई) क्रियाशक्तिके दिव्य गुण देखकर हमें गुरु तथा परमेश्वरमें आत्यंतिक भक्ति होती हैं। हमारे द्वारा ऐसा होना श्रीशिवजीकी परम कृपाही समझना चाहिये। शक्ति उनकी है। हम तो निमित्तमात्र होते हैं।

जिस साधनको हम करते हैं और करवाते हैं; ऐसा सहजयोगसाधन हमारे योगिगुरुकी परंपरा हमारे बिना और किसीके भी पास नहीं है। इस साधनके विषयमें जब हम अपने शिष्योंके अनुभव देखते हैं, सुनतें हैं, तो हमें भी आश्चर्य होता हैं और हम गुरुशक्तिकी महिमा जानकर प्रसन्न होते हैं। इस दिव्य शक्तिसे होनेवाला योगसाधन कितना सहज और सुखसाध्य है, हमारे सभी शिष्य जानते हैं। इससे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जो लाभ होता है, हुआ है, उसका अनुभव करनेवाले हमारे सैंकडो शिष्य है। ... यदि विचार करके देखा जाय तो वर्तमान में हमारे योगसाधनके सदृश प्रत्यक्ष तत्काल फलप्रदर्शन करानेवाला योगसाधन और किसीके पास नहीं है।"

अशी जरी वास्तविक स्थिती असली; तरी साधनाच्या क्रियात्मक व शास्त्रात्मक अशा परार्थ प्राप्तीसाठी साधकांनी सर्व प्रकारच्या आग्रही, संकुचित व संप्रदायिक दृष्टीचा त्याग करणे अत्यंत आवश्यक आहे; कारण की, हा ग्रंथ ज्या शक्तिपात म्हणजे श्रीगुरुकृपा या शास्त्रीय प्रक्रियेचे रूप घेऊन साकार झाला आहे, ती प्रक्रिया भारतातील सर्व संप्रदायांना स्थूल, सूक्ष्म व परभेदाने विभिन्न पातळीवर विभिन्न रीतीने अगर दृष्टीने व्यापून राहिलेली असून, ती कोणत्याही संप्रदाय-विशेषाची मिरासदारी नाही आणि आम्हीही कोणत्या एखाद्या संप्रदायाच्या किंवा दैवताच्या उपासनेचे आग्रही नाही. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी ज्याप्रमाणे सर्व संप्रदायांच्या पलीकडे जाऊन "श्रीमद्भगवद्गीतेचा" परार्थ "भावार्थ दीपिका" या नावाने प्रकट केला त्याप्रमाणेच या साधनाच्या साधकाला संप्रदायापलीकडे जाऊन जेव्हा या ग्रंथाकडे पाहण्याची दृष्टी येईल त्यावेळी त्याला श्रीगुरुकृपाबलाने या

ग्रंथाच्या अर्थांतरात प्रवेश करता येईल आणि सर्व धर्मांच्या, पंथांच्या, मार्गांच्या उपासकांना, साधकांना व मुमुक्षूंना हा ग्रंथ आपापल्या श्रीसद्गुरूंनी दाखविलेल्या मार्गावरून चालताना पथप्रदर्शक म्हणून अत्यंत उपयुक्त व अनिवार्य आहे, याची जाणीव झाल्याशिवाय राहणार नाही. श्रीयोगानंद विज्ञानी यांनी दि.२०-१०-१९४६ रोजी हृषिकेशहून परमाराध्य सद्गुरू श्रीसमर्थ महायोगी गुळवणीमहाराज यांना जे पत्र लिहिले आहे त्यातील काही भाग यादृष्टीने अत्यंत मननीय असा आहे. ते आपल्या पत्रात असे लिहितात की-

हमारे परम आराध्य पूज्यपाद योगी गुरु नारायणतीर्थदेव आचार्य का कोई स्वतंत्र सम्प्रदाय नहीं है। न हम किसी सम्प्रदाय विशेषके अनुयायी हैं। परन्तु उनके प्रदत्त सिद्धशक्ति सामर्थ्य के प्रकाशक हैं।

श्रीमहेश्वरके अनुग्रहसे हम परम्परागत दैवी शक्तिके धारक एवं वाहक है। श्रीमन्नारायणतीर्थ योगाचार्यकी कृपासे यह परमा शक्ति हमें प्राप्त होती आई है। इसीलिए इसको प्राप्त हम सभी उन्हीं योगी गुरुदेव की सन्तान हैं।

श्रीगुरुजीने अपना कोई स्वतंत्र सम्प्रदाय नहीं बनाया और नहीं वे किसी भी सम्प्रदायके पक्षपाती थे। केवल उदार वृत्तिसे योग्य अधिकारी को दीक्षाद्वारा शक्तिपात करके जिनपर वह परम कृपा करते थे उन्हें अपने तुल्य दिव्य स्पर्शमणि बना देते थे।

शक्तिपातके विषयमें जानने योग्य वैज्ञानिक परम तथ्य बहुत आश्चर्यजनक और प्रत्यक्ष, अभूतपूर्व व अलौकिक तत्त्व है। अध्यात्म ज्ञान तो इसका प्रत्यक्ष ही है। परन्तु भौतिक विषयरोग निवृत्ति के लिए भी यह शक्ति अमृतरूप है। जिन रोगियोंको डॉक्टर और वैद्योंने असाध्य और मरना निश्चित कह दिया था ऐसे मरणासन्न रोगी भी घण्टोंमे और कुछ दिनोंमें स्वस्थ हो गये हैं। इसकी महानताकी विषयमें यहाँ तक देखा गया है कि, लोगों के शरीरके कल्प बन गये हैं। सफेद बाल कालेही कर निकले। गमे हुए दांत

पुनः नये उत्पन्न निकले कई मास अन्न जल भी खाना नहीं पडा यहाँ तक की मृतक भी जीवित हो गये । अतएव इस शक्तिपातका रहस्य गुरुपरम्परा का है। अपने गुरुओं द्वारा हमें प्राप्त होता आया हैं।

येथपर्यंत वर्णन केलेल्या विविध दृष्टीने सिद्धयोगाचे हे सहजसाधन समाजात पुन्हा दृढमूल होऊन "शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहा-योगशास्त्र" हा ग्रंथ भारतवर्षातील समस्त संप्रदायांना पथप्रदर्शक व्हावा व अध्यात्मसंपन्न यौगिक भारताचे चित्र साकार व्हावे याच हेतूने या ग्रंथाचे लिखाण केले आहे. तो सफल व्हावा अशी श्रीगुरुचरणी प्रार्थना आहे.

अशा प्रकारचे हे या ग्रंथाचे स्वरूप असून हा ग्रंथ म्हणजे सिद्धयोगमार्गाने आत्मस्वरूपाची प्राप्ती कशी होते हे सांगणारा व तदंगभूत अनुभूती घ्यावयास शिकविणारा असा मार्गदर्शक साधनरूप ग्रंथराज आहे, हे विशेषत्वाने कथन करावयाचे आहे. याचा अर्थच असा आहे की, "शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्र" हा ग्रंथ कृतियोग्यशास्त्र किंवा साधनशास्त्र म्हणजेच अनुभूती घेण्याचे शास्त्र अर्थात् Practical science आहे. असे असले; तरी सिद्धयोगशास्त्रात साध्यसाधनाची एकरूपता असल्यामुळे हा ग्रंथ म्हणजे साध्यस्वरूपाचेही वर्णन करणारा ग्रंथ आहे, हे लक्षात घेतले पाहिजे. सिद्धयोगाचे अंतिम साध्य सामरस्य हे असून, त्याची चर्चा होऊ शकत नसल्यामुळे आणि ते साध्य सर्व अवस्थांच्या, द्वंद्वांच्या, मनाच्या व शब्दमर्यादेच्या पलीकडे असल्यामुळे सिद्धयोगमार्गात चर्चा, वादविवाद, विवेचन, प्रवचन इत्यादि गोष्टींना काहीच महत्त्व नाही; कारण कोरडे ज्ञान किंवा अनुभूतिशून्य वेदान्ताची चर्चा ही निरुपयोगी ठरते. या साधनाची प्रत्यक्ष अनुभूती घेतली की, साधकांना हे पटू लागते. शब्द म्हणजे शक्तीचा शिवात लय झाल्याखेरीज अंतिम सामरस्यात्मक अवस्था साधकाला कधीही व कदापीही प्राप्त होत नसल्याने या साधनशास्त्रावर नुसते प्रवचन करावयाचे नाही किंवा त्याची फक्त चर्चाच करावयाची नसून त्याची अनुभूती घ्यावयाची आहे, हे लक्षात येते. या दृष्टीने श्रीगुरुकृपेचे म्हणजे शक्तिपाताचे माहात्म्य

व सिद्धयोगमार्गाच्या प्राप्तीचा महिमा किती अपार आहे, हे स्पष्ट होईल. हे सर्व "श्रीस्वात्मारामयोगींद्र" यांनी आपल्या "हठयोग-प्रदीपिका" या ग्रंथाच्या शेवटच्या श्लोकात कथन केले असून तोच या ग्रंथाचा म्हणजे "शक्तिपात-योगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्र" याचा आदिअंतीचा एकमात्र महासिद्धान्त आहे, असे म्हटले तर त्यात यत्किंचितही अतिशयोक्ती होणार नाही. ते असे म्हणतात की -

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे।
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबन्धात्।।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं।
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः।।४.११४।।

जोपर्यंत आत्मशक्ती कुंडलिनी श्रीसद्गुरुकृपेने जागृत होऊन शक्तिस्वरूप प्राणवायू सुषुम्णामार्गात प्रविष्ट होत नाही (व सुषुम्णामार्गात प्रविष्ट झालेली प्राणवायुरूप कुंडलिनी शक्ती ब्रह्मरंध्रात प्रविष्ट होऊन शिवाशी एकरूप न होता स्थिर होत नाही,) जोपर्यंत प्राणवायुरूप कुंडलिनी शक्तीचे दृढबंधन न होता बिंदू स्थिर होत नाही आणि जोपर्यंत चित्त म्हणजे कुंडलिनी शक्ती आपल्या ध्येयाशी म्हणजे शिवाशी एकरूप होऊन सामरस्यात्मक अवस्था प्राप्त होत नाही अर्थात् सामरस्यात्मक सहजसदृश तत्त्व प्रकट होत नाही तोपर्यंत सर्व ज्ञान अर्थात् तत्प्राप्तीची सर्व साधने ही दंभकारक, खोटी व अवास्तव प्रलापासारखीच असतात.

सारांश, या प्रस्तावनेच्या सुरुवातीला श्रीगुरुचरित्रातील ज्या दोन ओव्या व श्रीसंततुकाराममहाराज यांचे जे दोन अभंग उद्धृत केले आहेत, त्यात या साधनमार्गाचे मूर्धन्य असे ज्ञानरूप रहस्य साठविलेले आहे, हे नितांत सत्य आहे.

श्रीसद्गुरुनाथमहाराजांना शक्तिपातयोगाचे अर्थात् सिद्ध महायोगाचे हे साधन सांख्यज्ञानयोगरूप व कर्मभक्तियोगरूप अशा द्विविध परंपरेने पुढीलप्रमाणे प्राप्त झाले होते.

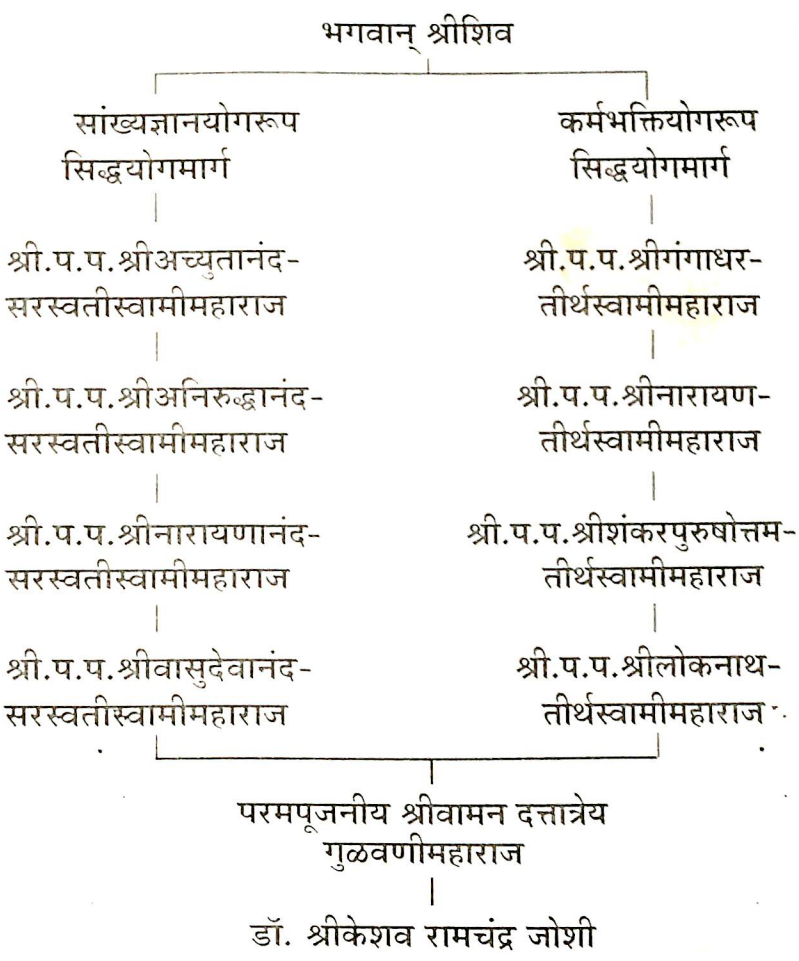

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्वासुदेवानंदसरस्वती टेम्बेस्वामीमहाराजांनी श्रीगुरुमहाराजांना शुद्धज्ञानमार्गाबरोबर उपासनामार्गही सांगितला होता. उपासना अथवा योगाभ्यासाशिवाय अपरोक्ष ज्ञानाचा लाभ होऊ शकत नसल्याने श्रीस्वामीमहाराजांनी विशेषेकरून शक्तिजागृतीद्वारा आत्मस्वरूपाची प्राप्ती व्हावी म्हणून त्यांना हठयोगाचा अभ्यास सांगितला होता. त्याचप्रमाणे परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् लोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांकडून त्यांना

सिद्धयोगांतर्गत शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळून अनुपायप्रक्रियासंपन्न अशा सुलभमहामार्गाची प्राप्ती झाली. पुढे ज्यावेळी ते ईश्वरी इच्छेने लोकसंग्रहाच्या अवतारकार्याला उद्युक्त झाले त्यावेळी त्यांनी सांख्यज्ञानयोगरूप अशा शक्तिपातयोगाच्या तीव्रतम साधनाला आवश्यक असलेल्या सबल देहाची अर्थात् आधाराची प्राप्ती जीवाला होत नसल्याचे लक्षात घेऊन "प्रत्यभिज्ञाहृदय" या ग्रंथात श्रीक्षेमराज यांनी म्हटल्याप्रमाणे "या संसारात जे भक्त सुकुमार मतीचे व तीक्ष्ण अर्थात् तीव्र तर्कशास्त्रात परिश्रम करू शकत नाहीत; परंतु ज्यांना शक्तिपातापासून उत्पन्न होणाऱ्या शिवैक्याची अर्थात् अपरोक्ष साक्षात्काराची इच्छा आहे," अशा साधकांसाठी त्यांनी प.प.श्रीलोकनाथ-तीर्थस्वामीमहाराजांकडून प्राप्त झालेल्या कर्मभक्तियोगरूप सिद्धयोगमार्गाचा अर्थात् अनुपायप्रक्रियेचा अवलंब करून साधक-भक्तजनांचा उद्धार केला. अशी वास्तविक स्थिती असली; तरी प.प.श्रीवासुदेवानंदसरस्वती टेंबेस्वामीमहाराजांनी द्रष्ट्यारूपाने प्रवर्तित केलेल्या "दिगंबरा दिगंबरा श्रीपादवल्लभ दिगंबरा" या महामंत्राची उपरोक्त प्रक्रियेशी सांगड घालून श्रीसद्गुरुनाथमहाराजांनी स्थूल, सूक्ष्म व पर पातळीवर हे साधन प्रवर्तित करून साधकांचे इहपर अखंड कल्याण व्हावे म्हणून ते प्रवाहित केले. त्यांच्या या सामरस्यात्मक दिव्य दृष्टीचा व संकल्पाचा लाभ आपण सर्वजण घेत आहोत, हे त्रिकालाबाधित सत्य आहे. या आवृत्तीत "रुद्रयामलतंत्राच्या षष्ठ पटलातील" श्रीकुंडलिनीस्तुतिस्तोत्र हे सुबोध मराठी भाषांतरासह समाविष्ट केले असून त्याच्या नित्य पठनामुळे साधक-भक्तांना स्तोत्राच्या शेवटी कथन केलेल्या फलाची प्राप्ती झाल्याशिवाय राहणार नाही, अशी खात्री आहे.

त्याचप्रमाणे या दुसऱ्या आवृत्तीत प्रथमावृत्तीतील परमपूजनीय प्रातःस्मरणीय कै.श्रीआत्मारामशास्त्री जेरे यांची अभ्यासपूर्ण असलेली आशीर्वादात्मक प्रस्तावना व प्रस्तुत लेखकाची प्रथमावृत्तीची प्रस्तावनाही समाविष्ट केली आहे. त्याचप्रमाणे प्रथमावृत्तीच्या वेळी "या ग्रंथासाठी आणखी कोणाची प्रस्तावना घ्यावी?" असा प्रश्न श्रीगुरुमहाराजांशी चर्चा

करताना उपस्थित झाला होता. त्यावेळी श्रीसद्गुरुनाथमहाराज मला असे म्हणाले होते की, "श्रीगुरुजींना (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघाचे द्वितीय सरसंघचालक परमपूजनीय श्री.माधवराव सदशिवराव गोळवलकर यांना) पत्र व ग्रंथ (शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धमहायोगशास्त्र) पाठवून प्रस्तावना लिहिण्यासंबंधी विनंती कर; कारण तेच समस्त भारतवर्षात आपल्या या विषयाचे उत्तम ज्ञाते असून मोठे अधिकारी पुरुष आहेत." श्रीसद्गुरुनाथ-महाराजांच्या आज्ञेप्रमाणे त्यांना पत्र व ग्रंथ पाठवून प्रस्तावना लिहिण्यासंबंधी प्रार्थना केली असता त्यांनी पत्रोत्तर पाठवून प्रकृती अस्वास्थ्यामुळे प्रस्तावना लिहू शकत नसल्याचे कळविले. मात्र हे लिहीत असताना त्यांनी या विषयाचा अपरंपार महिमा व्यक्त करताना असे लिहिले आहे की -

या (आजारी) अवस्थेत "शक्तिपातयोगरहस्य (अर्थात् सिद्ध-महायोगशास्त्र) या ग्रंथाला प्रस्तावना कशी लिहू शकेन या विवंचनेत आहे. विषय कठीण, पण सर्व मार्गाच्या साधकांना शक्तिपाताशिवाय गत्यन्तर नाही, असा जिव्हाळ्याचा व महत्त्वाचा (आहे.) त्यासंबंधी काही त्रोटक लिहून भागण्यासारखे नाही."

हे सर्व जरी खरे असले; तरी श्रीगुरुजींची प्रस्तावना या ग्रंथाला असावी ही श्रीगुरुचरणांची इच्छा या ग्रंथाच्या द्वितीय आवृत्तीच्या वेळी एका निराळ्या प्रकारानेच फलद्रूप होत आहे. श्रीगुरुजी समग्र दर्शन खंड ७, या ग्रंथातील "आठवणी" या भागात परमपूजनीय श्रीगोळवलकर गुरुजी व श्री.माधवराव कृष्णराव घटाटे यांच्यातील एका संभाषणाचा वृतांत पृ.५९ ते ६१ वर आला आहे. तोच वृत्तांत श्रीगुरुजींचा अभिप्राय म्हणून या दुसऱ्या आवृत्तीत उद्धृत केला आहे. श्रीगुरुजींना हा ग्रंथ अत्यंत आवडला होता. त्यांच्या शेवटच्या आजाराच्या काळात त्यांच्या जवळ सेवेत असलेल्या एका कार्यकर्त्याने मला असे सांगितले होते की, "शेवटच्या तीन-चार महिन्यात श्रीगुरुजी हाच ग्रंथ सतत वाचीत असत." "हा ग्रंथ अत्यंत सुंदर व अपूर्व असून मला तो फार आवडला आहे," असे ते नेहमी म्हणत असत.

या ग्रंथाच्या प्रथमावृत्तीच्या वेळी जेव्हा मी श्रीगुरुचरणी असे निवेदन केले की, "या ग्रंथात मी आपला व श्रीस्वामीमहाराजांचा (अर्थात् प.प.श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज यांचा) फोटो छापणार आहे. तेव्हा श्रीगुरुमहाराज मला असे म्हणाले की, "ज्यावेळी मला श्रीबंगालीस्वामी-महाराजांकडून (अर्थात् प.प.श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांकडून) हुशंगाबादला दीक्षा झाली त्या वयातील माझा व त्यांचा फोटो छाप. "श्रीगुरुचरणांच्या इच्छेप्रमाणे या ग्रंथात हे दोन्ही फोटो छापले आहेत.

याशिवाय या ग्रंथाच्या शेवटी "Transmission of Spiritiual Power" या नावाने श्रीसद्गुरुनाथमहाराजांनी लिहिलेल्या लेखाचे सविस्तर व सुबोध मराठी भाषांतर करून तो "दैवी शक्तीचे संक्रमण" या नावाने छापला आहे. त्यामुळे या लेखावरून साधकांना या साधनाची समग्र कल्पना येऊन त्याचे रहस्यही हाती येईल, यात काहीच शंका नाही.

या ग्रंथाच्या शेवटी संदर्भग्रंथांची यादी अभ्यासू वाचकांसाठी व साधकांसाठी मुद्दाम दिली आहे. ज्यांना या शास्त्राचा सखोल अभ्यास करावयाचा आहे त्यांना हे संदर्भग्रंथ उपयुक्त ठरतील.

आता या साधनशास्त्राच्या छपाईसाठी व प्रचारासाठी ज्यांचे साहाय्य झाले व होत आहे त्यांच्याबद्दल कृतज्ञता व्यक्त करणे माझे कर्तव्य आहे. श्री.बबनराव देवबा लांडगे, श्री.शिरीष इच्छाराम चौधरी, श्री.परमानंद नैलवाल, श्री.श्रीराम गोपाळराव खांडेकर, श्री.प्रभाकर नानाजी चौबळ, श्री.विजय प्रभाकर चौबळ, श्री.सुहास वासुदेवराव भारंबे, श्री.चंद्रकांत रघुनाथ पाटील, श्री.बालादत्त जोशी, श्री.मिलिंद पारनाईक या व इतरही सर्वांचे साहाय्य लाभले आहे व पुढे लाभेल अशी खात्री आहे.

इत्यलम्, श्रीगुरुचरणी अगत्य असू द्यावे. श्रीगुरुचरण विश्वात्मक व विश्वोत्तीर्णरूपाने स्थिरावले असल्यामुळे सकलसंतशिरोमणी श्रीज्ञानेश्वर-महाराज यांच्या शब्दात ही सद्भावांजली माझे परमाराध्य सद्गुरू श्रीसमर्थ योगिराज संतश्रेष्ठ महासिद्धयोगी गुळवणीमहाराज यांच्या चरणी अर्पण करतो.

भरोनि सद्भावाची अंजुळी। मियां वोवियाफुलें मोकळीं।
अर्पिलीं अंघ्रियुगलीं। विश्वरूपाच्या।। श्रीज्ञानेश्वरी ११.७०८।।

श्रीगुरुपादपद्मोपजीवी
केशव रामचंद्र जोशी

★ ★ ★ ★ ★

।। भगवान् श्रीदत्तात्रेय ।।

मालाकमण्डलुरधःकरपद्मयुग्मे । मध्यस्थपाणियुगले डमरुत्रिशूले ।
यस्यस्त ऊर्ध्वकरयोः शुभशंखचक्रे । वन्दे तमत्रिवरदं भुजषट्कयुक्तम् ।।

परमश्रेष्ठगुरू
शक्तिपाताचार्य महासिद्धयोगी
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीश्रीनारायणतीर्थदेवस्वामीमहाराज

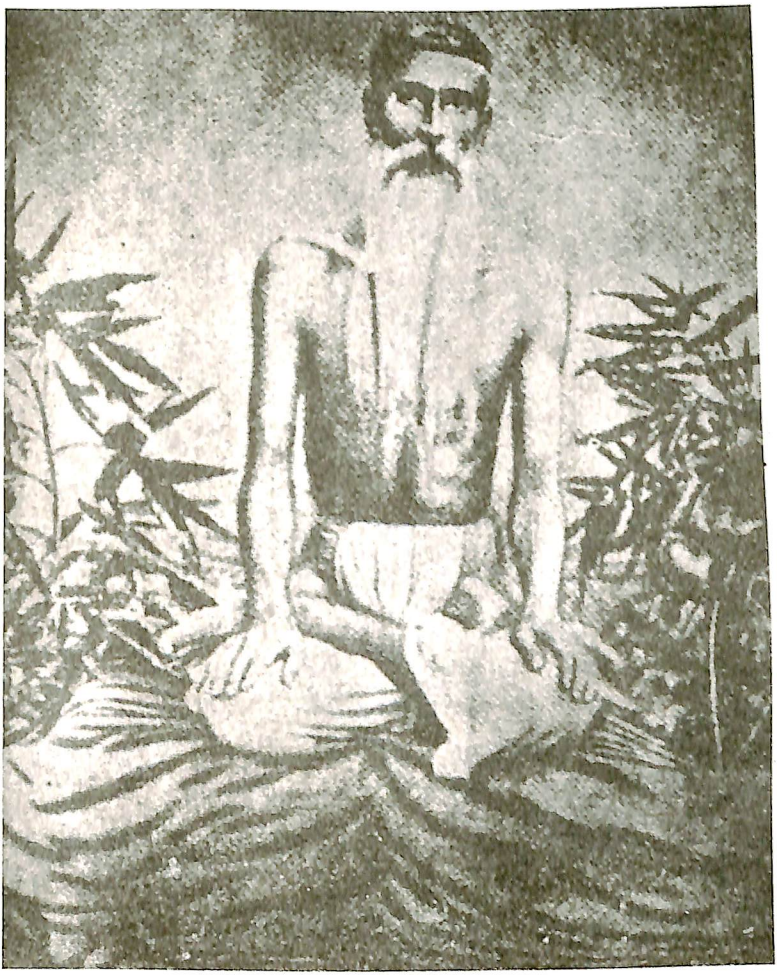

परात्परगुररू
शक्तिपाताचार्य महासिद्धयोगी
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीश्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थस्वामी महाराज

परमगुरू
शक्तिपाताचार्य महासिद्धयोगी
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीश्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज

सिद्धयोगाचा उद्‌गाता । समाधिधनाचा दाता ।
कुंडलिनी जगदंबेचा त्राता । शांकर योगी ।।

योगिराज सद्‌गुरू संतश्रेष्ठ श्रीवामनरावजी गुळवणीमहाराज

शक्तिपाताचा महामेरू । बहुत जनांसी आधारू ।
ब्रह्मस्थितीचा निर्धारू । शांभव योगी ।।

परमगुरू
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीश्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज

जन्म : वैशाख शुद्ध १२ शके १८१४, दि. ८/५/१८९२, श्रीक्षेत्र ढाका
समाधी : माघ वद्य ३ शके १८७७, दि. १०/२/१९५५, श्रीक्षेत्र काशी

सांख्यज्ञानरूपसिद्धयोगश्रेष्ठगुरुः
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्रीवासुदेवानंदसरस्वतीटेंबेस्वामीमहाराज

जितेंद्रियांचा अग्रणी । सदा रत परब्रह्मणी ।
स्वयं श्रीदत्तशिरोमणी । तो हा यतिश्रेष्ठ श्रीवासुदेव ।।

योगिराज सद्‌गुरू संतश्रेष्ठ श्रीवामनरावजी गुळवणीमहाराज

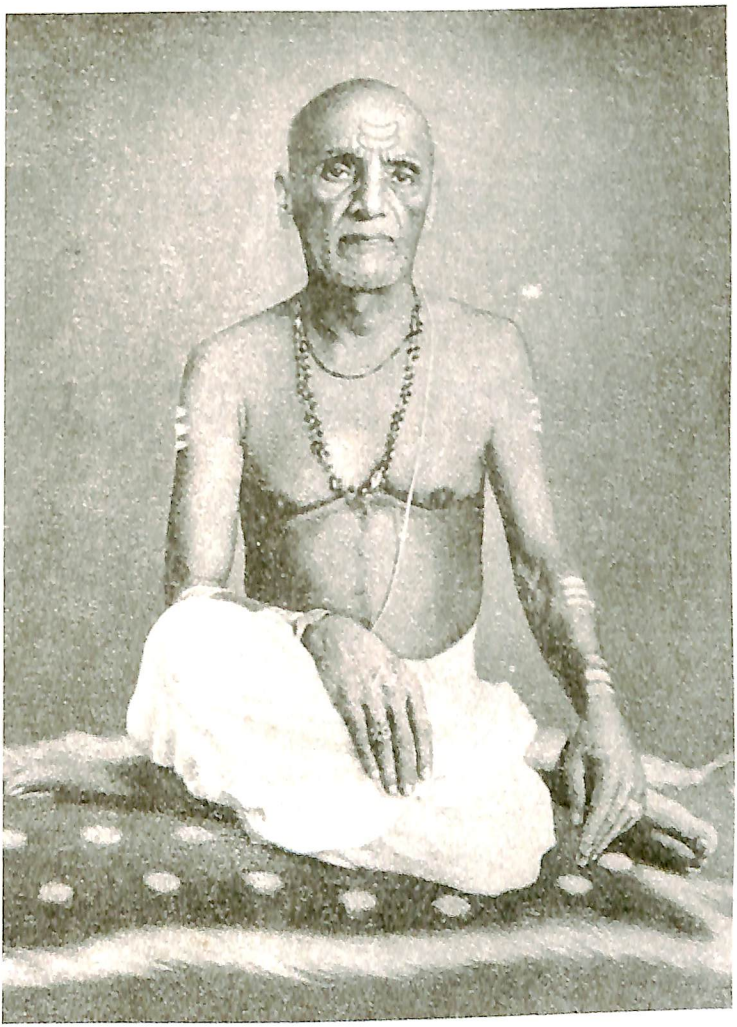

जन्म : मार्गशीर्ष वद्य १३ शके १८०८, दि.२३/१२/१८८६, श्रीक्षेत्र कुडुत्री.
समाधी : पौष वद्य ८ शके १८९६, दि. १५/१/१९७४, श्रीक्षेत्र पुणे.

डॉ. श्री. केशव रामचंद्र जोशी

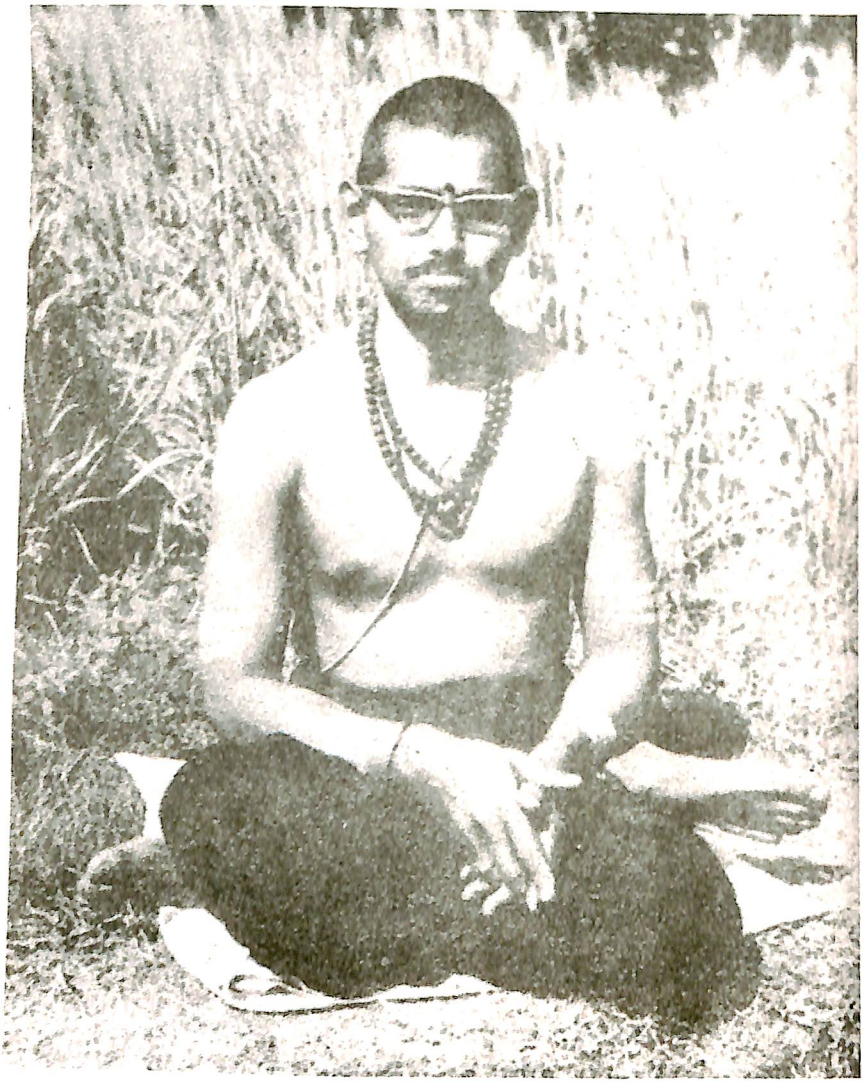

।। श्रीगुरुःशरणम्।।

।। ॐ श्रीमद् अमृतमूर्तये शिववामनाय नमः।।

ॐ

शक्तिपातयोगरहस्य

अर्थात्

सिद्धमहायोगशास्त्र

★ ★ ★

- आधार पहिला -

★ मनुष्य जन्माचे ध्येय ★

१) प्रास्ताविक
२) अभ्युदय व निःश्रेयस सुख
३) तत्त्वज्ञान म्हणजे काय ?
४) जीवाचे स्वरूप
५) जगताचे स्वरूप
६) ईश्वराचे स्वरूप
७) शक्तिजागृतीची आवश्यकता

प्रास्ताविक :-

मनुष्य अनादि कालापासून संसारात सापडून एखाद्या धुळीच्या कणाप्रमाणे अणुरूपाने नानाविध शरीरे धारण करीत कालचक्रामध्ये फिरत असतो. ही गती थांबून ज्याप्रमाणे नदी सागराला मिळाल्यावर कृतार्थ होते त्याप्रमाणे या अविरत प्रवाहात वाहत असताना जीवाची सुटका होऊन त्याला आपले मूळचे स्वसंवेद्य व चैतन्ययुक्त आत्मस्वरूप प्राप्त होऊन चिरकाल आत्मशांती केव्हा प्राप्त होईल हे सांगणे व

जाणणे मोठे कठीण आहे.

मनुष्याचे बहिर्मुख चित्त आपापल्या पूर्व कर्मांच्या संस्कारानुसार बाहेरील जगामध्ये सुखाचा शोध घेत भटकत असते. या प्रयत्नात त्याला पुनःपुन्हा अपयशच पदरी घ्यावे लागते. असे झाले तरी तो माघारी वळत नाही. त्यामुळे जन्मानंतर मृत्यू व मृत्यूनंतर जन्म याप्रमाणे जन्ममृत्यूच्या चक्रामध्ये विषयसुखाचा शोध घेत घेत त्याचे चित्त निरंतर भटकत राहते. यालाच प्रवृत्तीचा प्रवाह म्हणतात. जोपर्यंत या प्रवाहाचा वेग मंद होत नाही तोपर्यंत जीवाला या प्रवाहात वाहत जाणे भाग पडते.

जीवाच्या या अपरिहार्य गतीचे व त्याच्या अंतिम ध्येयाचे वर्णन करताना म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज हे **"भारतीय संस्कृती और साधना" खंड २**, या ग्रंथातील **"मनुष्यत्व"** या लेखात असे म्हणातात की, "आत्माच संकुचित होऊन जीवाच्या रूपाने मनुष्य देह धारण करून जन्म घेतो. मग भोग घेता घेता भोगाकांक्षा वृद्धिगत होत होत क्रमशः ती वाढत जाते. अशा प्रकारे अनेक जन्म गेल्यावर एक वेळ अशी येते की, ज्यावेळी भोगाकांक्षा हळूहळू शिथिल होत जाते. याचे खरे कारण असे आहे की, ज्यावेळी माणसाच्या हे लक्षात येते की, अनेकानेक प्रकारच्या भोग्यवस्तूंचा अनंत प्रकारे उपभोग घेऊनसुद्धा भोगाची इच्छा काही शमत नाही त्यावेळी मनामध्ये एक प्रकारची ग्लानी उत्पन्न होऊन अत्यंत अल्प प्रमाणात निर्वेद व वैराग्याचा भाव जागृत होतो. त्यावेळी प्रवृत्तीच्या गतीचा वेग हळूहळू कमी होऊ लागतो. मग चित्त निवृत्तीकडे वळून त्याच्या आश्रयाने क्रमशः अंतर्मुख होण्याची इच्छा करू लागते. कोणत्या जीवाला ही अवस्था केव्हा प्राप्त होईल हे सांगणे कठीण असले तरी ज्यावेळी ही अवस्था जीवाला प्राप्त होईल त्यावेळी त्याच्या अभिनव जीवनाचा सूत्रपात होतो यात शंकाच नाही.

असा सूत्रपात झाला की, विश्वाच्या आत व बाहेर एका महाशक्तीचे प्रचंड कार्य चालू आहे याची जाणीव जीवाला होऊ लागते. त्या

शक्तीलाच प्रकृती असे म्हणतात. या प्रकृतीमुळेच जगतातील सर्व कार्ये घडून येतात. प्रकृतीच्या जाळ्यात सापडल्यामुळे अविवेकाने आपणच या सर्व कार्यांचे कर्ते आहोत असे जीव समजू लागतो. मात्र त्यामुळे त्याला संसारी बनून नाना प्रकारची सुखदु:खे भोगावी लागतात. या सर्व गोष्टींचे ज्ञान कोणाकोणाला वैराग्याबरोबर आतूनच जागृती आल्याने आभासरूपाने होते. त्यावेळी जीवाला अशी पक्की जाणीव व खात्री होते की, या विराट विश्वाच्या अफाट चक्रामध्ये जन्मजन्मांतरी आपण आनंदाचा शोध घेत भटकत आहोत.

मात्र उपरोक्त आनंद कोणत्याही काळी, कोणत्याही देहात व कोणत्याही लोकलोकांतरामध्ये आपणास मिळणार नाही अशी माणसाची पक्की खात्री झाल्री की, या आनंदासाठी बाहेर फिरून दमून जाण्याची त्याची इच्छा नाहीशी होते. परंतु हा आनंद खरोखरच कोठे आहे याचा ठावठिकाणा मात्र त्याला माहीत नसतो. उपरोक्त विचारामुळे कालांतराने अत्यंत पुसटपणे या आनंदाचा संवाद त्याच्या हृदयात होऊ लागतो. अशा प्रकारे आनंद स्वत:मध्येच आहे याची जाणीव झाली तरी त्याच्या प्राप्ती करिता कोणता मार्ग स्वीकारावा व पुढे कसे जावे हे त्याला कळत नाही. त्यामुळे प्रत्येक दिवशी त्याची व्याकुळता वाढत जाते व वैराग्यही तीव्र होते. त्याबरोबरच या अखंड विश्वामध्ये आपले स्थान किती क्षुल्लक आहे याचाही त्याला अनुभव येतो. इतके झाले तरी जोपर्यंत मार्गाची उपलब्धी होत नाही तोपर्यंत जीव कोणत्याही प्रकारे पुढे सरकू शकत नाही."

हा आनंदच मनुष्याचे खरे स्वरूप आहे. तो प्राप्त करणे हेच त्याचे वास्तविक ध्येय आहे. त्याची प्राप्ती व्हावी म्हणून आपले सर्व जीवन त्यासाठी वेचले पाहिजे असे त्याला वाटू लागते.

जीवाच्या अशा या अद्भुत गतीचा अगदी असाच उल्लेख श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** सहाव्या अध्यायात पुढील प्रमाणे केला आहे. ते असे म्हणतात की -

पैं व्यामोहाचिये शेजे। बळिया अविद्या निद्रितु होईजे। ते वेळीं

दुःस्वप्न हा भोगिजे। जन्ममृत्यूंचा।।६८।। पाठी अवसांत ये चेवो। तैं ते अवघेंचि होय वावो। ऐसा उपजे नित्य सद्भावो। तोहि आपणपांचि।।६९।।

मनुष्य भ्रांतिरूप शय्येवर प्रबळ अज्ञानामुळे गाढ झोपलेला असतो. त्यावेळी जन्ममरण परंपरेची दुष्ट स्वप्ने तो वारंवार भोगीत असतो. नंतर जेव्हा तो अकस्मात् जागा होतो तेव्हा ही जन्ममरणाची सर्वच स्वप्ने व्यर्थ होतात. मग आपणच नित्य, निरंतर, निरंजन, अमृतस्वरूप, अखंड, अद्वय, आनंदरूप व अमर आहोत असा सद्भाव त्याला स्वतःला स्वतःच्या ठिकाणीच जाणवू लागतो. परंतु मिथ्या देहाभिमानामुळे जीवाला खरा मार्ग सापडत नाही. देहच मी आहे असे वाटत राहिल्याने जीव स्वतःचा घात करून घेतो.

जीवाच्या स्वस्वरूप विस्मरणामुळे तो भवनदीत गटांगळ्या कशा खातो व आपले ध्येय कसे विसरून जातो याचे **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** नवव्या अध्यायात श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी अत्यंत काव्यमय वर्णन केले आहे. ते म्हणतात, "गाईच्या कासेमध्ये अत्यंत पवित्र व गोड असे दूध असते. परंतु कासेच्या त्वचेच्या पडद्याच्या आड दडलेले हे दूध सेवन न करता गोचीड रक्ताचेच सेवन करीत असतो. कमळाचा कांदा व बेडूक एकाच तळ्यात असले तरी बेडूक कधीही कमलकंदातील परागांचे सेवन करीत नाही. परंतु भ्रमर मात्र परागांचेच सेवन करतो आणि बेडूक चिखलातच लोळतो. दुर्दैवी पुरुषाच्या घरी हजारो मोहरा पुरलेल्या असल्या तरी त्याला त्यांचे नक्की ठिकाण माहीत नसल्यामुळे तो दारिद्र्यात दिवस काढून उपाशी राहतो. अगदी याचप्रमाणे मनुष्याला खऱ्या सुखाचा ठेवा माहीत नसल्यामुळे तो विषयसुखाच्या इच्छेने जन्ममरण परंपरा भोगीत असतो. वास्तविक सर्व सुखाचा ठेवा असलेला परमात्मा त्याच्या हृदयामध्ये निरंतर वास करीत असतो. परंतु त्याचे या ठेव्याकडे लक्षच जात नाही. अहंममता वृत्ती जीवाच्या ठिकाणी अखंड उठत राहत असल्याने जीव तेथेच तद्रूप होतो. त्यामुळे अंतर्यामी असलेल्या स्वसंवेद्य

सुखाला तो आचवतो. ही निद्रा त्याला खऱ्या आनंदापासून वंचित करते. **"देहयोगाद्वा सोऽपि" (ब्रह्मसूत्र ३-२-६)** या सूत्रावर भाष्य करताना श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी असे म्हटले आहे की, जीव मुळात ब्रह्मस्वरूप म्हणजे ज्ञानऐश्वर्यादि संपन्न आहे; पण देह व इंद्रियादिकांचे ठिकाणी अत्यंत अहंकार व ममता असल्यामुळे त्याची ब्रह्मरूपता झाकली जाते. ही जीवाची अहंममतारूपी मुख्य उपाधी दूर झाली की, तो पूर्ण ब्रह्मरूप होतो. ही ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करणे हेच मनुष्य जन्माचे खरे ध्येय आहे.

अभ्युदय व निःश्रेयस सुख :-

सर्व प्राण्यात मानव हा श्रेष्ठ आहे; कारण त्याचे अंतिम ध्येय व त्याचे साधन शास्त्रांनी सांगितलेले असते. जन्मास आलेला प्रत्येक मनुष्य जन्मभर अहोरात्र सुखासाठी धडपड करीत असतो. त्यामुळे सर्व मनुष्यांचे अंतिम ध्येय सुख हेच असते. हे सुख कृमिकीटकांपासून सर्वश्रेष्ठ अशा सार्वभौम राज़ापर्यंत जसे त्याचे पुण्य असेल त्या प्रमाणात या लोकात मिळत असते. तसेच राजाच्या जीवापासून हिरण्यगर्भापर्यंतच्या जीवांना ते सुख त्यांच्या अधिकारानुरूप धर्माच्या तरतमत़ेमुंळे परलोकात मिळते. या सुखास अभ्युदय असे नाव आहे.

अभ्युदय सुख हे वैषयिक असल्याने ते साधनपरतंत्र, क्षय पावणारे, मर्यादित व दुःखमिश्रित असे असते. हे अभ्युदय सुख जरी मिळाले तरी मानव हा कृतकृत्य होत नाही व पुढे काय? हा प्रश्नही सुटत नाही. याकरिताच विद्वान् लोक अभ्युदय सुखाचा दोषदृष्टीने त्याग करतात व यापेक्षा स्वयंसिद्ध, अविनाशी, निरतिशय व दुःखरहित अशा निःश्रेयस सुखासाठी म्हणजे मोक्षासाठी प्रयत्न करतात.

तत्त्वज्ञानाने मोक्ष प्राप्त होतो; कारण **"तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः।"** असे शास्त्रवचन आहे. जीव हा मूळचा ब्रह्मस्वरूप आहे. पण त्याला आपल्या स्वरूपाचे अज्ञान झाल्याने तो जीवभावास प्राप्त होऊन बद्ध झाला आहे. त्या अज्ञानाची निवृत्ती स्वस्वरूपाचे अपरोक्षज्ञान झाल्याशिवाय इतर कोणत्याही उपायांनी होत नाही. अज्ञान हे तमोरूप

असल्याने ज्याप्रमाणे प्रकाशाशिवाय अंधःकाराचा विनाश इतर कोणत्याही साधनांनी होत नाही त्याप्रमाणे तत्त्वज्ञानाशिवाय अज्ञानाची निवृत्ती होत नाही. सारांश, अज्ञानाच्या व पुनर्जन्माच्या फेऱ्यातून मुक्त होण्याकरिता जीवाला तत्त्वज्ञानप्राप्ती हा एकच उपाय आहे व हे सर्व जग परमात्मस्वरूप आहे अशी जाणीव होणे हेच त्या तत्त्वज्ञानाचे रूप आहे.

तत्त्वज्ञान म्हणजे काय ? :-

जीव, जगत् आणि ईश्वर यांचे खरे स्वरूप काय आहे हे कळून येणे याला तत्त्वज्ञान असे म्हणतात. ज्यावेळी श्रीसद्गुरुकृपेने शक्तिपात होऊन तत्त्वज्ञान प्राप्त होते त्यावेळी जीव, जगत् व ईश्वर ही भिन्न नसून एकरस व परिपूर्ण आहेत असा बोध होऊन द्वैत प्रपंचाचा बाध होतो. असे झाले म्हणजे ब्रह्म सत्य आहे, जगत् मिथ्या आहे व जीव आणि परमात्मा एक आहेत असा अनुभव येऊन वेदान्ताचा परम-सिद्धान्त सिद्ध होतो. शेवटी एक अद्वितीय, निष्प्रपंच व सच्चिदानंद अशी जी परब्रह्म वस्तू तीच शिल्लक राहते. यालाच अद्वैतावस्था असे म्हणतात.

जीवाचे स्वरूप :-

चैतन्य म्हणून सर्व ठिकाणी एकच आहे. या चैतन्याला आत्मा असे म्हणतात. या आत्म्याचे उपाधीच्या योगाने ईश्वर, जीव व साक्षी असे तीन प्रकार झाले आहेत. जेव्हा चैतन्याला पूर्व संस्कार चिकटतात तेव्हा त्याला जीव असे म्हणतात. चैतन्य हे व्यापक असल्यामुळे जीवही व्यापक असतो. परंतु अज्ञानामुळे आपण व्यापक आहोत हे जीव विसरून जातो. सुषुप्ती अवस्थेत असताना जीवाला प्राज्ञ असे नाव देतात. जेव्हा जीव अंतःकरण वगैरे उपाधींशी संयुक्त होऊन लिंग-शरीराचा अभिमान धरतो व स्वप्नावस्थेमध्ये संचार करतो तेव्हा त्या जीवाला तैजस असे म्हणतात. जेव्हा जीव स्थूलशरीररूप उपाधींशी संयुक्त होऊन जाग्रदावस्थेमध्ये संचार करतो तेव्हा त्याला विश्व असे म्हणतात. वरील सर्व उपाधी श्रीसद्गुरूंनी शक्तिपात केल्याने व कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यावर जेव्हा नाहीशा होतात तेव्हा जीव चैतन्यरूप होतो.

जगताचे स्वरूप :-

जगतातील सर्व वस्तूंना व्यवहारदृष्टीनेच खरेपणा आहे. परमार्थदृष्टीने नाही. परमार्थदृष्टीने खरेपणा एका ब्रह्मालाच आहे. ज्याप्रमाणे स्वप्नातील वस्तू स्वप्नात खऱ्या वाटतात; परंतु तो खरेपणा जागेपणी टिकत नाही त्याप्रमाणे या सर्व वस्तू व्यवहारात खऱ्या भासतात; परंतु तो खरेपणा आत्म्याचे तत्त्वज्ञान झाल्यावर टिकत नाही. सारांश, जड व विनाशी जग खोटेच आहे. त्याचा फक्त अज्ञानामुळे व कल्पनेमुळे भास होत असतो.

ईश्वराचे स्वरूप :-

सर्व जगाचे मूलकारण जे अज्ञान ते चैतन्यात शिरून आत्म्याला ईश्वर बनविते. सत्त्व, रज व तम या एकेक गुणाच्या प्राबल्याने या ईश्वरास अनुक्रमे ब्रह्मा, विष्णू आणि शंकर असे म्हणतात. ब्रह्मा जग उत्पन्न करतो. विष्णू त्याचे पालन करतो व शंकर ते लयास नेतो. मत्स्य, कूर्म वगैरे अवतार या ईश्वराचेच अवांतर भेद होत.

शक्तिजागृतीची आवश्यकता :-

सारांश, श्रीगुरुकृपेने तत्त्वज्ञानाची प्राप्ती करून घेऊन परिपूर्ण अद्वैत स्थिती व पूर्णत्व म्हणजेच मोक्ष प्राप्त करणे हेच मनुष्य जन्माचे ध्येय आहे. जीव, जगत् व ईश्वर या सर्व मिथ्याभूत पदार्थांची उभारणी झाल्याचा जो भास होतो किंवा जी कल्पना होते तिची संहारणी होऊन आपण चैतन्यरूप, आत्मरूप किंवा ब्रह्मरूप आहोत याची प्रचीती येणे हेच मनुष्याचे खरे कर्तव्य आहे. मात्र शक्तिपात होऊन कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय ब्रह्मप्राप्तीच्या महान् मार्गाच्या वाटचालीला सुरुवातही होत नाही व ब्रह्मस्वरूपाची प्रचीती घेणे कदापिही शक्य होत नाही. मग प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञानाची गोष्ट तर फार दूरची आहे. **"आतां ब्रह्मज्ञानाची किल्ली। सांगेन ऐक्याची बोली। जयांची कल्पना निमाली। ते प्राप्त पुरुष।।४२१।।"** असे जे श्रीसंत एकनाथमहाराजांनी **"स्वात्मसुख"** या प्रकरण ग्रंथात म्हटले आहे त्याचा अर्थच असा आहे की, आपण जन्माला आलो आहो,

मरणार आहो, जगत् सत्य आहे, पिंडब्रह्मांडादि अनंत विश्वरचना झाली आहे इत्यादि कल्पना ब्रह्मज्ञानाची किल्ली असलेला शक्तिपातयोग प्राप्त झाल्याशिवाय नाहीशा होत नाहीत. ही किल्ली प्राप्त झाली म्हणजे शक्ती जागृत झाली की, अद्वैत स्थिती प्राप्त होऊन साधकाला ब्रह्मप्राप्ती होते. यासाठी शक्ती जागृत होण्याला अग्रस्थान द्यावे लागते; कारण त्याशिवाय ब्रह्मप्राप्तीचे द्वार खुले होत नाही व वाट मोकळी होऊन मार्गही सुकर होत नाही.

ज्या शक्तीमुळे उपरोक्त नामरूपात्मक रचना झालेली दिसते व तशी जीवाची कल्पना होते ती शक्ती मुळातच चैतन्ययुक्त शिवस्वरूप आहे. श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी **"चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमः। अनुप्रविष्टा या संवित् निर्विकल्पा स्वयंप्रभा।।"** असे जे म्हटले आहे त्याचा अर्थच असा आहे की, शक्तिस्फुरणात निर्विकल्प स्वयंप्रभा संवित् म्हणजे चैतन्यच असते. **"संविदेव पराशक्तिः"** संवित् किंवा चैतन्य हीच मूल शक्ती होय असे **"सूतसंहितेत"** म्हटले आहे. **"केनोपनिषदात" "विद्योमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा ।।३.१२।।"** असे म्हटले आहे. अर्थात् श्रीशंकराची शक्ती स्त्रीरूप उमा विद्यारूप म्हणजे चैतन्यरूपच मानली आहे. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"अमृतानुभवात"** ज्ञानदृष्टीनेच शक्तीचे रूप वर्णन केले असल्यामुळे ज्ञानदृष्टी प्राप्त झालेल्या ज्ञानी पुरुषाला परमेश्वराची शक्ती विद्यारूप म्हणजे ज्ञानरूपच दिसते. **"श्रीदेवीभागवतातही"** देवीने आपले स्वरूप सांगताना **"रूपं मदीयं ब्रह्मैतत् सर्वकारणकारणम्। मायाधिष्ठानभूतं तु सर्वसाक्षि निरामयम्।।"** सर्व कारणाचे कारण जे सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूप तेच माझे स्वरूप होय. ते माझे स्वरूप शुद्ध साक्षिस्वरूप असून मायेला म्हणजे ज्ञानाने निवृत्त होणाऱ्या जीवाच्या विपरित कल्पनेला अधिष्ठानभूत आहे असे म्हटले आहे. म्हणजे माया व ब्रह्म किंवा शिव व शक्ती हे सच्चिदानंदरूप आहेत.

असे हे एकरूपत्व असले तरी ज्ञानरूप शिव जेव्हा विसरला जातो तेव्हा शक्तीला दोनपणा येतो व ती विश्वरूप संसार निर्माण

करते. हा संसार नाहीसा होऊन जीव ब्रह्मरूप व्हावा म्हणून शक्तीची जागृती हाच एकमात्र उपाय आहे हे सांगताना श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराज "**अनुभवामृतात**" असे म्हणतात की, "**जया दोघांमाजी एखादे। विपाये उमजले होय निदे। तरी घरवाते गिळोनी नुसुधे। कांही ना करी।।१.१४।।**" म्हणजे शिवशक्ती या दोघांमध्ये जर एकाची जागृती झाली तर प्रपंच गिळला जाऊन साधक ब्रह्मरूप होतो. एखादे म्हणजे जर व विपाये म्हणजे कदाचित् असा अर्थ आहे. मी म्हणजे वृत्तिरूपशक्तिस्फुरणाने आपले शुद्धज्ञानस्वरूप ओळखून आधारभूत शुद्ध ज्ञानस्वरूप शिवाशी ऐक्य करणे हे शक्तीचे जागे होणे होय. ही शक्ती जागी झाली म्हणजे शिवाशी तिचे ऐक्य होते. तेव्हा "**अहं ब्रह्मास्मि**" हा ऐक्यानुभव येतो आणि शिवाचे जागेपण म्हणजे "**ब्रह्मैवेदं सर्वं**" आपले सर्वात्मत्व ओळखणे होय किंवा शिवाने शक्तीच्या सर्वरूप आविष्काराशी ऐक्य करणे ही शिवाची जागृती होय. असे दोघेही जण जागे झाले असता सर्व प्रपंचच गिळला जातो.

सारांश, शिव आणि शक्ती हे दोन्ही एकरूप असल्याने शक्ती जागृत झाली की, साधक आपोआप शिवरूप होतो. "**सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी। सा शिवा परमादेवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी।।**" म्हणजे शिवाची शक्ती शिवा ही परमदेवी असून ती सत्स्वरूप, परमानंदरूप, संसाराचा उच्छेद करणारी, शिवाशी एकरूप असणारी व आत्यंतिक कल्याण करणारी आहे. ज्याला ज्याला आपण शिवरूप व्हावे व जन्ममृत्यूच्या फेऱ्यातून आपली सुटका होऊन आपणास कैवल्य प्राप्त व्हावे असे वाटते त्याने सर्व वासना निवृत्त करून कैवल्य प्राप्त करून देणाऱ्या शक्तिजागृतीला अग्रस्थान देऊन तोच एकमेव उद्देश डोळ्यापुढे ठेवला पाहिजे; कारण जोपर्यंत आपली भगवत्शक्ती पूर्णपणे जागृत होत नाही तोपर्यंत मनुष्य जीवनाचे खरे सार्थक होत नाही. कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय जड व चैतन्य यातील संघर्षही समाधानकारकपणे संपत नाही. इतर शेकडोशे साधने व यज्ञयागादि अनुष्ठाने यांचा परब्रह्मप्राप्तीसाठी काडीमात्र

उपयोग होत नाही. कारण कामनापूर्ती हे ध्येय जोपर्यंत असते तोपर्यंत अंत:करण अंधकारमय राहते. शास्त्रीय ज्ञान, पांडित्य, तप, जप, इत्यादि सर्व गोष्टी वृत्ती जोपर्यंत बहिर्मुख आहे तोपर्यंत व्यर्थ ठरतात. त्यामुळे श्री.प.प.विष्णुतीर्थस्वामीमहाराज यांनी **"सौंदर्यलहरीच्या"** टीकेत असे म्हटले आहे की, "ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन सुषुम्णेच्या मार्गातील सहाही चक्रांचा भेद करीत करीत शिवसायुज्यपदावर आरूढ होण्यासाठी मार्गस्थ होते त्यावेळी ती प्रतिप्रसवक्रमाने सर्व इंद्रियांना अंतर्मुख करते. तिची गती ऊर्ध्व झाली की, ती मनाचे सर्व पडदे फाडून टाकते. बुद्धीच्या जगतासंबंधीच्या बाह्य चिंतनाला ती विश्रांती देते. तिच्या वाटचालीमुळे अंतरात्म्यरूपी सूर्याला झाकून टाकणारे ढग एक एक या क्रमाने आपोआप विलीन होऊ लागतात. हृदयाकाश स्वच्छ व निर्मल होते. ज्ञानाचा प्रकाश अंतरात्म्यामध्ये पूर्ण तेजाने भरून जाऊन चमकू लागतो. अविद्येचा दाट अंधकार दूर होतो. या अंधारात वास करणारी वासनेची गिधाडे किंवा कामक्रोधादि घुबडे यांना राहावयास स्थानच शिल्लक उरत नाही. इतकेच नव्हे; तर ते बसल्या बसल्याच ज्ञानरूपी सूर्याच्या तेजाने नाहींसे होऊन जातात. या अर्थानेच भगवान् पूज्यपाद श्रीमत् आद्य शंकराचार्यांनी असे म्हटले आहे की, भगवती कुंडलिनी शक्ती अविद्या अंधकार नाहीसा करण्यासाठी ज्ञानरूपी सूर्याला उद्दीपित करते. याचा दुसरा अर्थ असा आहे की, अधोमुखी सूर्यशक्ती जागृत होऊन उन्मुख झाल्यावर ती सूर्यमंडलात अमृताचा स्राव करू लागते. याचा परिणाम म्हणून बहिर्विषयांकडे धावणाऱ्या वासना आपोआप शांत होतात. याचे फळ असे मिळते की, कर्मानुष्ठानांमध्ये निमग्न असलेल्या व अविद्येच्या अंधकारामध्ये बुडून गेलेल्या कर्मकांडी लोकांना बाह्यानुष्ठानाचा तिरस्कार वाटू लागून ते अंतर्यागामध्ये निमग्न होतात. भगवती माँ कुंडलिनी शक्तीच्या चिन्मयी वाटिकेतील पुष्पातून प्रवाहित झालेल्या मधुर मकरंदाच्या स्रोतांचे झरे जड लोकांच्या जडतेला सुद्धा द्रविभूत करण्यास समर्थ असतात. भगवतीची चिन्मयी

सत्ता नाना प्रकारच्या भेदरूपी सृष्टीची स्थूल व सूक्ष्म जगताच्या रूपाने कल्पना करून उभारणी करते व संहारणीच्या वेळी सर्व नामरूपांना आपल्यामध्ये विलीन करून शिवाच्या निष्कल रूपाला सायुज्यतेचे आलिंगन देऊन स्वतः शिवस्वरूप होऊन जाते. जीवाचे जडत्व पाणी होऊन वाहून जाते व जीव चैतन्य गंगेमध्ये आनंदाने स्नान करू लागतो."

★★★★★

- आधार दुसरा -

★पिंडब्रह्मांडाची उभारणी व संहारणी★

१) विश्वाची उभारणी

२) विश्वाची संहारणी

३) उभारणीसंहारणीरहस्य

मागील आधाराच्या शेवटी सांगितल्याप्रमाणे भगवतीची चिन्मयी सत्ता नाना प्रकारच्या भेदरूपी सृष्टीची स्थूल व सूक्ष्म जगताच्या रूपाने कल्पना करून उभारणी कशी करते व संहारणीच्या वेळी सर्व नामरूपांना आपल्यामध्ये विलीन करून ती शिवस्वरूप कशी होते याचा विचार आता करावयाचा आहे.

विश्वाची उभारणी :-

ब्रह्म सत्स्वरूप आहे. जगाच्या उत्पत्तीपूर्वी तेच एकमात्र ब्रह्म होते हे सांगताना "**छांदोग्य उपनिषदात**" असे म्हटले आहे की "**सदेव सोम्येदमग्र आसिदेकमेवाद्वितीयम्**।। (छां.६-२-१।।") जगाच्या उत्पत्तीच्या पूर्वी एक अद्वितीय असे सत् मात्र होते. "**तदैक्षत् बहु स्यां प्रजायेयेति ६-२-३।।**" त्या सत् ब्रह्माला मी अनेक व्हावे अशी इच्छा झाली. या इच्छेबरोबर ब्रह्माची सत् शक्ती प्रवृत्त होऊन विश्वाची उभारणी झाली.

परब्रह्म हे निष्कल, निष्क्रिय, शांत, निरंजन, अव्यय, अक्षर व स्पंदरहित आहे. परंतु धुराने आकाश आच्छादून गेल्यामुळे ज्याप्रमाणे मलीन दिसू लागते त्याप्रमाणे निर्गुण ब्रह्माच्या ठिकाणी सृष्टीच्या प्रारंभी मायेच्या तमोमयी मलीनतेचा प्रादुर्भाव होतो. या मायेला सत् शक्ती, अविद्याशक्ती, अज्ञानशक्ती, प्रकृती किंवा आकाश असे म्हणतात. ही माया परमेश्वराच्या स्वाधीन आहे. आकाशाला इयत्ता (दर्जा) नाही आणि अज्ञानरूप शक्तीलाही इयत्ता नाही. या सारखेपणामुळे या शक्तीला आकाश असे गौण रीतीने म्हटले जाते.

या अनादि अविद्येचे स्वरूप मोठे विलक्षण आहे. ज्याप्रमाणे

मायावी लोक आपल्या मायेच्या योगाने विचित्र वस्तू उत्पन्न करतात त्याप्रमाणे या अज्ञानरूप शक्तीच्या योगाने परमेश्वर हे विचित्र जग उत्पन्न करतो. म्हणून या शक्तीला माया असे म्हणतात. ही शक्ती ब्रह्मरूपच आहे; कारण कोणत्याही वस्तूची शक्ती त्या वस्तूहून निराळी आहे असे दृष्टोत्पत्तीस येत नाही. ज्याप्रमाणे पृथ्वीचा उदकामध्ये लय होतो त्याप्रमाणे या अव्यक्ताचा (मायेचा) ब्रह्मामध्ये लय होतो. अक्षर या शब्दाचा अर्थ अविनाशी असा आहे. ही अज्ञानशक्ती ज्ञान होईपर्यंत शिवस्वरूप होत नाही म्हणजेच तिचा नाश होत नाही. यामुळे त्या शक्तीला अक्षर असे म्हणतात. अक्षर म्हणजे अज्ञानरूपी बीजशक्ती होय. ती आकाश वगैरे सर्व प्रपंचाचे कारण असल्यामुळे ती आकाश वगैरेहून श्रेष्ठ आहे. तिच्याहून परमात्मा श्रेष्ठ आहे; कारण ती परमात्म्याच्या आधीन आहे. याचे वर्णन करताना भगवान् श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी **"ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्याच्या"** अध्याय १ पाद ४ सूत्र ३ वर टीका करताना असे म्हटले आहे की "ही बीज-शक्ती अविद्यात्मक आहे. तिला अव्यक्त ही संज्ञा आहे. परमेश्वर हा तिचा आश्रय आहे. माया हे तिचे स्वरूप आहे. तिच्यामध्ये सर्व संसारी जीव आपले खरे स्वरूप काय आहे हे न समजता स्वस्थपणे घोरत पडतात. अशी ही महानिद्रा आहे."

या मायेपासून म्हणजे परमात्मशक्तीपासून मिथ्याभूत पदार्थांच्या उत्पत्तीचा भास होतो. सत्त्व, रज आणि तम या तीन गुणांनी अविद्या त्रिगुणात्मक आहे. प्रलयकाल संपल्यानंतर अविद्या आणि जीवांनी केलेली पूर्व कर्मे यांच्या साहाय्याने अमुक प्रकारचे जग उत्पन्न करावे असा परमात्मा संकल्प करतो. त्या संकल्पानुसार परमात्मशक्ती प्रथम आकाश बनते. त्यानंतर आकाशापासून वायू, वायूपासून तेज, तेजापासून उदक व उदकापासून पृथ्वी अशा क्रमाने सूक्ष्म पंचमहाभूते उत्पन्न होतात. आकाशामध्ये शब्द; वायूमध्ये शब्द व स्पर्श; तेजामध्ये शब्द, स्पर्श व रूप; उदकामध्ये शब्द, स्पर्श, रूप व रस आणि पृथ्वीमध्ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध; असे वाढत्या प्रमाणाने गुण असतात.

या पंचमहाभूतांचे मूलकारण जी परमात्मशक्ती तो त्रिगुणात्मक असल्यामुळे ही भूतेही त्रिगुणात्मक आहेत. पंचमहाभूतांमध्ये असणारा सत्त्वगुण एकटवून त्यापासून एक वस्तू उत्पन्न होते. तिला मन, बुद्धी अहंकार आणि चित्त अशी नावे आहेत. आकाशाच्या सात्त्विकांशापासून श्रोत्रेंद्रिय आणि राजसांशापासून वागिंद्रिय, वायूच्या सात्त्विकांशापासून त्वगिंद्रिय आणि राजसांशापासून हस्तेंद्रिय, तेजाच्या सात्त्विकांशापासून चक्षुरिंद्रिय आणि राजसांशापासून पादेंद्रिय, जलाच्या सात्त्विकांशापासून रसनेंद्रिय आणि राजसांशापासून पायूंद्रिय, पृथ्वीच्या सात्त्विकांशापासून घ्राणेंद्रिय आणि राजसांशापासून उपस्थेंद्रिय अशी निर्रानराळी ज्ञानेंद्रिये व कर्मेंद्रिये उत्पन्न होतात. प्राण, अपान, व्यान, उदान आणि समान असा पाच प्रकारचा वायू पंचमहाभूतांच्या रजोगुणापासून उत्पन्न होतो.

तमोगुणाने युक्त अशा त्या सूक्ष्म पंचमहाभूतांचे "पंचीकरण" झाले म्हणजे ती भूते स्थूल होतात. प्रत्येक महाभूताचे दोन भाग करून त्यापैकी एक भाग कायम ठेवावा व दुसऱ्या भागाचे चार भाग केल्यावर एक एक भाग इतर भूतांच्या कायम ठेवलेल्या भागामध्ये मिळवावा. या विधीला पंचीकरण असे म्हणतात. तमोगुणाने युक्त अशा स्थूल पंचमहाभूतांपासून हे सर्व ब्रह्मांड उत्पन्न होते. ब्रह्मांडामध्ये सात ऊर्ध्वलोक व सात अधोलोक असे एकंदर चौदा लोक आहेत. भूमी, अंतरिक्ष, स्वर्ग, मह, जन, तप, आणि सत्य हे सात ऊर्ध्वलोक आहेत. अतल, पाताल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल आणि महातल हे सात अधोलोक होत. मनुष्य वगैरे प्राण्यांचे जरायुज शरीर, पक्षी वगैरेंचे अंडज शरीर, उवा, लिखा वगैरेंचे स्वेदज शरीर आणि लता, वृक्ष वगैरेंचे उद्भिज शरीर अशी चार प्रकारची शरीरे तमोगुणाने युक्त अशा स्थूल भूतांपासूनच होतात.

या सर्व प्रकारच्या शरीरांमध्ये प्रविष्ट झालेल्या चैतन्याला जीव असे म्हणतात. चैतन्य व्यापक असल्यामुळे जीवही अर्थात् व्यापकच असतो. जरी जीव सदोदित आत्मचैतन्यरूपीच असला तरी जेव्हा अज्ञानामुळे त्याला सुखदुःखांचा भास होतो तेव्हा त्याला बद्ध असे

म्हणतात. तो भास ज्ञानाच्या योगाने दूर झाला म्हणजे त्याला मुक्त असे म्हणतात. त्यामुळे मुक्ती हाच खरा परम पुरुषार्थ होय.

विश्वाची संहारणी :-

येथपर्यंत भगवतीची चिन्मयी सत्ता नाना प्रकारच्या भेदरूपी सृष्टीची स्थूल व सूक्ष्म जगताच्या रूपाने कल्पना करून उभारणी कशी करते हे पाहिले. ब्रह्मांडाची रचना केल्यावर जी अनंत शक्ती शिल्लक राहते ती अणुस्वरूप धारण करण्याकरिता जणू काही चक्राकार फिरू लागते. तिच्या चक्राकार स्वरूपामुळे तिला सर्पाची उपमा देण्यात येते. अथर्ववेदामध्ये या शक्तीला उच्छिष्ट ब्रह्म असे म्हटले आहे. या शक्तीलाच पुराणामध्ये नारायणाची शय्या तयार करणारी शक्ती या अर्थाने शेष असे म्हटले आहे. तिलाच अनंत या नावानेही संबोधले जाते. या शेष किंवा उच्छिष्ट शक्तीचा ब्रह्मांड धारण करण्याला उपयोग होतो. ती आपल्या हजार फण्यांवर ब्रह्मांडाला धारण करते.

ब्रह्मांडाप्रमाणेच पिंड शरीराची रचना केल्यावर जी शक्ती शिल्लक राहते ती मूलाधारात शरीराला धारण करीत निद्रा घेत पडून राहते. यामुळे या शक्तीला आधारशक्ती असेही म्हणतात. तिचे दुसरे नाव कुंडलिनी असे आहे. ही शक्ती जेव्हा गुरुकृपेने जागृत होते तेव्हा प्रतिप्रसवक्रमाला म्हणजे संहारणीला आरंभ होतो. जेथून तिने प्रारंभ केलेला असतो त्या आत्मतत्त्वात विलीन होऊन ती उपसंहार करते. म्हणजे ती सर्व तत्त्वांचा लय करून शेवटी ब्रह्मस्वरूप होऊन जाते.

भारतात प्राचीन कालापासून चालत आलेल्या सर्व संप्रदायांनी उपासना, कर्म, भक्ती, ज्ञान, जप, तप, नेम, यंत्र, मंत्र, तंत्र इत्यादि जे काही करावयास सांगितले आहे ते सर्व हा उपसंहार किंवा ही संहारणी सुलभतेने घडून येऊन ज्या मूल अज्ञानामुळे जीव सुखदु:खाच्या चक्रात सापडला आहे ते अज्ञान नाहीसे होऊन त्याला ज्ञान प्राप्ती होऊन तो ब्रह्मस्वरूप व्हावा म्हणून सांगितले आहे. मात्र कोणत्या सहज उपायाने किवा कोणत्या सुलभ मार्गाने ही संहारणी होईल हा खरा प्रश्न आहे.

उभारणी संहारणी रहस्य :-

श्रीसंत गुलाबराव महाराजांनी "**योगरहस्य**" या पुस्तकात "**कुंडलिनी जगदंबा**" हे प्रकरण लिहून कुंडलिनीमुळे विश्वाची उभारणी व संहारणी कशी होते याचे रहस्य पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे. ते त्यांच्याच शब्दात पाहण्यासारखे आहे.

आता सकल योगाधारु। जो शक्तिधरित्रीचा मेरु।
जो योगमंदिरमंदारु। गोपीकुचदुर्गविहारु हरी।।१।।
जो भुजगहारहृदयरत्न। जो फलीभूत निष्कंचनयत्न।
जो धैर्यशीलाचा प्रयत्न। श्रीभगवंत।।२।।
जो राधिकाहृदयपद्मभृंग। सकल सोडोनी उमारंग।
जेथ रंगवी अंतरंग। भक्तजनभवभंग जो।।३।।
जो वैकुंठविहारी करुणाकरु। जो वेदवेत्ता प्राचीन गुरु।
जो भक्तप्रतिपालन दुर्जनहरु। विश्वाकारु मन्मथा ।।४।।
तो सच्चिदानंद नारायण। पाहोनी अर्जुनाचे अंतःकरण।
योगरहस्य उघडोन। नेटके भाषण आरंभी।।५।।
सकल योगाचिया शक्ती। पार्था जेथ एकवटती।
जियेते ब्रह्मवेत्ते वेदान्ती। स्तवनें बोलती शुद्ध बुद्धी।।६।।
मांत्रिक बोलती अलौकिक शक्ती। जन्मसिद्ध अलोट बुद्धी म्हणती।
जी प्रणवाची जन्मदात्री। कुंडलिनी म्हणती योगी तिये ।।७।।
कुंडलाकार जिचे शयन। यालागी कुंडलिनी अभिधान।
कुंडल म्हणजे वर्तुळ पूर्ण। प्रणवाकार सिद्ध तो।।८।।
प्रणवाची आद्यरेषा। ती कुंडलाकार वीरेशा।
तेवीं कुंडलिनीचा ठसा। जाण विशेषा आदि पुरुषी।।९।।
प्राणप्रतिष्ठा करिता पूर्ती। जैसे देव आविर्भवती।
कीं शून्य दाखवावया निश्चितीं। बिंदु उपाधि करणे पडे।।१०।।
कीं रूप दाखवावया जाण। पदार्थाचा आकार पूर्ण।
उपाधि होय संपूर्ण। जया परी।।११।।
का शब्द जरी व्यक्त होवावा। तरी मुख उपाधि लागावा।

उपाधीवांचोनी आघवा। शक्ती समुदायो व्यक्त नव्हे।।१२।।
कीं अग्नी जरी व्यक्त करणे। तरी इंधनाची उपाधी घेणें।
त्यावीण एवढा तेवढा म्हणणे। अग्निसी न लगे।।१३।।
तैसी हृदयाची सत्त्वशक्ती। ते सूक्ष्म असे निश्चिती।
ती आणावया अभिव्यक्ती। एका नाडीची आकृती घेतली।।१४।।
कंदावरी कुंडलाकार। नाडीचा असे आकार।
तोचि तेथ करूनि ज्ञानप्रकार। शक्ती साचार व्यक्त करिती।।१५।।
जैसे काष्ठ तव आधी श्वेत। परी अग्निसंगें होत आरक्त।
तेवी नाडीच पैं तें निश्चित। ध्यानसंगें कनकमय।।१६।।
जी नाडीमय होती पूर्वीची। ती ध्यानें जाहली सुवर्णाची।
सत्त्वगुणें चैतन्याची। अभिव्यक्ती ही।।१७।।
सूर्यकांता माझी जाण। प्रतिबिंबे अदितिनंदन।
तेवीं नाडीच सत्त्वमय होता जाण। श्रीपरमात्मा प्रतिबिंबे।।१८।।
पद-सुंदर कनकसमान। अंबा। सुंदर कनकसमान।। ध्रु०।।
योगी सांडुनि विषय कचाटें। ध्याती गत अभिमान।।अंबा।।
प्रणव जपुनि निज अंतरीं। मिळविति प्राणापान।।अंबा।।
माया कुंडलिनी ही नांवे। केवळ शब्द प्रमाण।।अंबा।।
ज्ञानेश्वरगुरुचरणप्रसादें। कीजे अमृतपान।।अंबा।।
दोहा :- हृदय-कमल अति पावूनी जपती सोहं ध्यान ।
वश करोनी निज शक्तितें पावती दक्षिण वाम ।।२।।
एवं आदि पुरुषाची माया। जिच्या योगें धनंजया।
तो अवतार घेवोनिया। जन उद्धरी।।१९।।
आतां पौराणिक मतें। जे पृथिवी शेषावरी वसते।
आणि पाहता ज्योतिषमतें। पृथिवी उभी आकाशीं।।२०।।
पृथिवास धर्ता सहस्त्रफणी। ऐसें बोलिलें असे पुराणीं।
आणि सिद्धान्त शिरोमणी। नान्याधार म्हणोनि सांगे।।२१।।
येथें दोघांचा समन्वय। म्हणाल कोण्या रीति होय।
तरी ऐका तेही सोय। निश्चिंतपणे।।२२।।

कटीस्थानीं असे धरणी। कंदस्थानीं कुंडलिनी।
ती जेवीं का सहस्त्रफणी। तेवींच असे।।२३।।
म्हणोनि शेषावरी धरणी। ऐसें बोलिलें पुराणीं।
किंवा उपपत्ति व्याख्यानी। दुसरीही असे।।२४।।
व्यष्टि पृथ्वीचा शेष कुंडलिनी। समष्टि पृथिवीचा सहस्त्रफणी।
ती ही जाणिजे कुंडलिनी। महाशक्ती।।२५।।
व्यष्टि देहांत कुंडलिनी सर्पिणी।
विराट देहात कुंडलिनी सहस्त्रफणी।
एवं गुप्तरूपें ज्ञान पुराणीं।
दृश्य ज्ञान सिद्धान्त शिरोमणी बोलला।।२६।।
ऐशी ती कुंडलिनी विश्वजननी। विश्व बिजाचिया कडसणी।
विश्ववृक्षउभारणी। निकी करीं।।२७।।
परी विश्ववृक्ष हा अफाटु। फळांतूनि अमृताचा पाटु।
पुढले अध्यायी अचाटु। तोचि रस।।२८।।

★ ★ ★ ★ ★

- आधार तिसरा -
★ पिंडब्रह्मांडाचे ऐक्य ★

१) पिंडब्रह्मांडाची एकता
२) सुषुम्णा म्हणजे महातीर्थ
३) शक्तीची जागृती हाच सुलभ मार्ग

प्रास्ताविक :-

अनादि अज्ञानाच्या निवृत्तीशिवाय व आत्मज्ञान झाल्याशिवाय मनुष्याला परमशांती कधीही मिळत नाही हे नितांत सत्य आहे. हे ज्ञान प्राप्त करण्याचे शरीर हे एक साधन असून ईश्वराने विश्वाची रचना करताना ब्रह्मांडाची प्रतिकृती किंवा नमुना म्हणून शरीराची रचना केली. एवढेच नव्हे; तर त्याने शरीरात ज्ञानाचा समावेशही करून ठेवला आहे. ज्यावेळी शक्तिपात दीक्षा होऊन श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी शक्ती जागृत होते तेव्हा हे अंतर्निहित ज्ञान जागृत होऊन साधकाचे सर्व अज्ञान, शुभाशुभकर्मे इत्यादि सर्व भस्म करून त्याला गंतव्य स्थानापर्यंत ती सहज पोहोचवून देते.

पिंडब्रह्मांडाची एकता :-

"शिवसंहितेच्या" द्वितीय पटलामध्ये पिडब्रह्मांडाची एकता पुढील प्रमाणे दाखविली आहे. श्रीमहेश्वर म्हणतात, "वेद, पुराणे इत्यादि शास्त्रांनी तीर्थांचे अत्यंत मोठे माहात्म्य सांगितले आहे. ही तीर्थे सर्व पापांपासून मनुष्याला मुक्त करतात. ती आपले आपले अभीष्ट जे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष ही प्राप्त करून देतात. त्या ठिकाणी साक्षात् परमेश्वर विराजमान असतो. असे ज्या तीर्थांचे माहात्म्य असते ती सर्व तीर्थस्थाने व ब्रह्मांडाच्या लोकलोकांतरामध्ये जे काही आहे ते सर्व या शरीरात आहे. यामुळेच शरीरामध्येच सप्त द्वीपांनी वेष्टिलेला सुमेरू पर्वत, नद्यांचे समूह, सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषी, मुनी, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र समूह, सर्व पवित्र तीर्थे, सिद्धपीठ व

पीठांच्या देवता इत्यादिंचा निवास असतो. सृष्टीच्या स्थितीला व संहाराला साहाय्य करणारे चंद्र व सूर्य या शरीरातच भ्रमण करीत असतात. आकाश, वायू, अग्नी, जल व पृथ्वी इत्यादि त्रैलोक्यामध्ये जे जे काही आहे ते ते सर्व या शरीरात विद्यमान आहे. या त्रैलोक्यातील चराचर सर्व वस्तू शरीरातील सुमेरूचा आश्रय घेऊन राहतात व आपापला व्यवहार उत्तम रीतीने करतात. याप्रमाणे जी जी वस्तू बाहेर ब्रह्मांडात आहे ती ती या पिंडरूप शरीरात आहे हे दिसून येते. जो साधक पिंडब्रह्मांडाची एकता आपल्या शरीरात पाहतो तो निस्संदेह ज्ञानी, महात्मा व योगी होतो.

या शरीरातच गंगा, यमुना, सरस्वती इत्यादि ७२ हजार नद्या नाड्यांच्या रुपाने वाहत असतात. जो साधक इडारूपी गंगा, पिंगलारूपी यमुना व सरस्वतीरूप सुषुम्णा या तीन नाड्यांच्या संगमावर मनाने स्नान करतो तो अत्यंत सहजतेने मुक्तीचा लाभ प्राप्त करून घेतो. या संगमालाच शिवतीर्थ असे म्हणतात. ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी शक्ती जागृत होते तेव्हाच या तीर्थावर दिव्य असे मानसिक स्नान घडून येते. त्यावेळी जीव सत्त्वगुणयुक्त होऊन सर्व सिद्धी प्राप्त करून घेऊन जीवन्मुक्त होतो.

सुषुम्णा म्हणजे महातीर्थ :-

शरीरातील ७२ हजार नाड्या जरी तीर्थरूप असल्या तरी सुषुम्णा नाडी ही महातीर्थ आहे. "**योगशिखोपनिषदात**" या नाडीचे महत्त्व सांगितले आहे. या नाडीतच परमेश्वराचे वास्तव्य असते. या नाडीला शांभवी शक्ती असेही नाव आहे. या नाडीच्या आधारानेच परमेश्वराची प्राप्ती होते; कारण या मार्गाने गेल्याने निरामय अशा ब्रह्मस्वरूपाची प्राप्ती सुलभतेने होते. या नाडीच्या दरवाजावर मूलाधारात कुंडलिनी शक्ती निद्रा घेत असते. श्रीगुरुकृपेने शक्ती जागृत होऊन हे द्वार जोपर्यंत उघडत नाही तोपर्यंत जीवाचे शिवाशी ऐक्य होत नाही. अज्ञान निवृत्त होऊन मोक्ष मिळत नाही. द्वैतभाव जाऊन अद्वैत स्थिती प्राप्त होत नाही. जगताच्या उभारणीचा जो भास झाला आहे

तो संपत नाही. यासाठी शक्ती जागृत व्हावी लागते. ही जागृती एकदा झाली की अनायासे सर्व घडून येते.

या सहज सुलभ मार्गाचे ज्ञान नसल्यामुळे व ज्ञान असले तरी या मार्गाची महती न कळल्यामुळे कुतार्किक लोक "मी ब्रह्म आहे जगत् मिथ्या आहे," या तत्त्वाचा प्रत्यक्ष अनुभव न घेता विचार करता करता मृत्यू पावतात. ज्या सुषुम्णा नाडीत परमेश्वराचे वास्तव्य असते तिकडे हे लोक ढुंकूनही पाहत नाहीत. यासाठी प्रकृती-पुरुष, आत्मा-परमात्मा किंवा जीव-जगत् इत्यादिंच्या निर्णयाच्या वादविवादात न पडता साधकाने आपल्याला आपल्या गंतव्य स्थानापर्यंत सुखाने नेऊन पोहोचविणाऱ्या मार्गाची कास धरली पाहिजे. याकरिताच श्रीसद्गुरुकृपेची पहाट केव्हा होईल यासाठी प्रयत्नशील राहिले पाहिजे.

शक्तीची जागृती हाच सुलभ मार्ग :-

एकदा का श्रीसद्गुरुकृपा झाली की, जागृत शक्ती साधकाला स्वतः गंतव्य स्थानापर्यंत घेऊन जाते. ज्याप्रमाणे एखाद्या मोठ्या दरवाजाचे कुलूप परिश्रमाशिवाय किल्लीने सहज उघडले जाते व आत जाण्याचा मार्ग मोकळा होतो त्याप्रमाणे ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी शक्तीचे उद्बोधन होते तेव्हा मोक्षाचा दरवाजा मोकळा होऊन परब्रह्म प्राप्ती सुलभ होते. श्रीभगवंताच्या प्राप्तीचा हाच एकमात्र सरळ व सोपा मार्ग आहे. मात्र इतर सर्व साधने व मार्ग मनुष्याला अनंत जन्माच्या फेऱ्यात अडकवून भटकत ठेवतात यात शंका नाही.

सारांश, ब्रह्मांडाची तुलना केली तर पिंडाची गणना नाममात्र सुद्धा होऊ शकणार नाही. असे असले तरी ईश्वराने मनुष्याच्या या पांचभौतिक शरीरामध्ये सर्व ज्ञानाचा समावेश करून ठेवला आहे. यासाठी पिंडाच्या संहारणीचा मार्ग स्वीकारला की ब्रह्मांडाची संहारणी आपोआप होते. ही संहारणी झाली की, जीव आत्मस्वरूप होऊन जातो. ही पिंडाची संहारणी कोणत्या सोप्या उपायाने घडते व जीव ब्रह्मस्वरूप कसा होतो ते आता पाहावयाचे आहे.

★★★★★

- आधार चवथा -

★ शक्तिपातयोगाचा महिमा ★

१) सोपे साधन आहे का?
२) पंथराज
३) योगशिखोपनिषदातील सिद्धयोगमार्गाचे महिमान
४) कूर्मपुराणातील महायोगाचा महिमा
५) शक्तिपातयोगाचे परमश्रेष्ठत्व
६) लिंगपुराणातील महायोगाचे श्रेष्ठत्व
७) श्रीज्ञानेश्वरीतील पंथराजाचे माहात्म्य
८) श्रीदासबोधातील शक्तिपातयोगाचे स्तवन

सोपे साधन आहे का? :-

पिंडाची संहारणी होऊन मोक्षाचे ध्येय हे ज्ञानानेच साधत असल्यामुळे **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"** असे शास्त्रकारांनी आवर्जून सांगितले आहे. याचा अर्थ असा आहे की, ज्ञानाशिवाय मोक्ष प्राप्त होत नाही. **"ज्ञान म्हणजे आत्मज्ञान। पाहावें आपणासि आपण।।"** (दासबोध ५-६-१) असे श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी सांगितले आहे. या आत्मज्ञानाच्या प्राप्तीसाठीच हठयोग, राजयोग, तारकयोग, मंत्रयोग, तंत्रयोग, लययोग, भक्तियोग व ज्ञानयोग असे निर्रानराळे योगमार्गाचे संप्रदाय पुरातन काळापासून भारतवर्षात चालत आलेले आहेत.

या सर्व संप्रदायांचा म्हणजेच मार्गांचा हेतू माणसाला ज्ञानप्राप्ती करून देणे हाच असतो. या ज्ञानप्राप्तीमुळे **"यो वै भूमा तत्सुखम्।। छांदोग्य उपनिषद् ७-२३-१।।"** असे मोठे सुख प्राप्त होते. सुखाचे ऐहिक, पारलौकिक व अध्यात्मिक असे तीन प्रकार प्रसिद्ध आहेत. ऐहिक म्हणजे या लोकातील सुख व पारलौकिक म्हणजे परलोकातील सुख होय. या दोन्ही सुखांना विषयाची अपेक्षा असते. मात्र अध्यात्मिक सुख हे विषयनिरपेक्ष असते. अध्यात्मिक सुख आत्मभूत असल्याने ते सर्व सुखात उत्तम मानले जाते. ऐहिक व पारलौकिक सुखापेक्षा

अध्यात्मिक सुख श्रेष्ठ आहे; कारण ते नित्य असून त्यात कोणत्याही दु:खाचा संबंध असत नाही. हे अध्यात्मसुख म्हणजेच नि:श्रेयस होय. हे जे नि:श्रेयस त्यालाच मोक्ष म्हणतात. मोक्ष हा परमपुरुषार्थ आहे. तो प्राप्त झाल्याशिवाय जन्ममरण सुटत नाही व मनुष्य कृतकृत्य होत नाही.

जीवन कृतकृत्य व्हावे, आत्मज्ञान प्राप्त व्हावे व मोक्ष मिळावा म्हणून सर्वजण म्हणत असतात; परंतु प्रत्यक्षात माणसाची कृती मोक्षप्राप्तीची असलेली दिसून येत नाही. याचे खरे कारण असे आहे की, जीव अनित्य सुखाच्या वासनारूप मायाजालात गुंतून गेल्याने खूप दु:ख भोगतो. पुन:पुन्हा जन्ममृत्यूच्या फेऱ्यात सापडतो. काल-चक्राच्या गतीत सापडून तो सतत फिरत असतो. यातून आपण सुटावे म्हणून प्रत्येक माणसाची जाणिवेने अगर नेणिवेने धडपड चालू असते. त्यासाठी वरीलपैकी एखाद्या मार्गाचा तो आपल्याला झेपेल त्याप्रमाणे अवलंब करीत असतो.

सुख, ज्ञान किंवा मोक्षप्राप्तीच्या हेतूने ज्यावेळी मनुष्य वाटचाल करू लागतो. त्यावेळी वैषयिक सुख व आत्मिक सुख यांची रस्सीखेच सुरू होते. **"न संसारात्परो रिपु:।"** म्हणजे संसारा इतका दुसरा कोणताही मोठा शत्रू नाही हे ध्यानात येते. पण तो सुटत नाही व सोडवत नाही. मोक्षासाठी केलेले मानवी प्रयत्न अपुरे पडतात. स्वत:च्या प्रयत्नांना मर्यादा उत्पन्न होते. आपण आपल्या बळावर अहंता, ममता, काम, क्रोध, मोह, मत्सरादि शत्रूंवर मात करून संसारसागर ओलांडून जाऊ शकू असे वाटत नाही.

अशा वेळी असे वाटते की, ऐलथडीलाच मायाजळ संपवून टाकणारे व बोधाचा तारा जोडून निवृत्तीच्या पैलतीराला झेपावून नेणारे असे एखादे दिव्य साधन आपल्याला मिळावे की, जे आपणहून आपल्याला या वासनांपासून व कामक्रोधादि विकारांपासून लवकरात लवकर सोडवून मुक्त करील. दिव्य सुखाचा अनुभव देईल. जीवन कृतकृत्य होईल. मनुष्य जीवनाचे ध्येय जे मोक्षप्राप्ती ते अनायास

सिद्ध होईल. कलियुगात असे सोपे साधन आहे का?

पंथराज :-

कलियुगामध्ये सोपे, सहज व सर्वांना करता येण्यासारखे दिव्य असे साधन आहे. श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी हे जे सोपे साधन आहे त्यालाच **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** पंथराज असे म्हटले आहे. पंथराज म्हणजे सर्व अध्यात्मिक साधनांच्या पंथांचा राजा. अगदी सोपे व सहज असे साधन!

सिद्धमार्ग, सिद्धयोग, महायोग, शक्तिसंचारयोग, शक्तिपातयोग, श्रीगुरुदत्तयोग, वेधदीक्षायोग, कुंडलिनीजागरणयोग, क्रियायोग, सहज-योग इत्यादि अनेक नावे या पंथराजाला आहेत. ज्याला जीवन कृतकृत्य करावयाचे असेल, दिव्य सुखाचा अनुभव घ्यावयाचा असेल व मोक्षप्राप्ती करून घ्यावयाची असेल त्याने पंथराजाचाच अवलंब करणे श्रेयस्कर आहे; कारण या मार्गाइतका दुसरा सोपा मार्ग नाही. तत्काळ अनुभव देणारा पंथराज हाच एकमेव असा सर्वश्रेष्ठ मार्ग आहे. या कलियुगात सर्व दोषांचा परिहार करणारा, चित्तशुद्धी अविलंब घडवून आणणारा, साधकांच्या चित्तवृत्तींचा निरोध आपोआप घडवून आणणारा, जीवन दिव्य, भव्य व अलौकिक बनविणारा व जीवाला सर्व मोहपाशातून मुक्त करून मोक्षाप्रत नेणारा असा हा एकमात्र सहजसुंदर पंथराज आहे.

योगशिखोपनिषदातील सिद्धयोगमार्गाचे महिमान :-

पंथराजाचा महिमा अत्यंत अद्भुत आहे. **"योगशिखोपनिषदात"** या सिद्धमार्गाचे माहात्म्य पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे. आत्यंतिक दुःखनिवृत्तीचा उपाय मानवाला कळावा या इच्छेने श्रीब्रह्मदेवांनी एकदा श्रीमहादेवांना पुढील प्रश्न केला.

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शङ्कर।।१।।
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद।।२।।

हे शंकरा! सर्व जीव सुखदुःखाच्या मायाजालात गुरफटून गेले आहेत. त्यापासून त्यांची मुक्ती कशी होईल हे कृपा करून सांगावे. ज्या मार्गाने सर्व सिद्धी प्राप्त होतील, मायाजाल तुटून जाईल, जन्म, मृत्यू, जरा, व्याधी इत्यादि सर्वांचा नाश होईल व ज्या पासून मोठे सुख प्राप्त होईल असा मार्ग दाखवा.

यावर श्रीशंकरांनी श्रीब्रह्मदेवांना असे सांगितले की -

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।।३।।

हे ब्रह्मदेवा! परमपद कैवल्यरूप आहे. ते निरनिराळ्या प्रकारच्या मार्गांनी मोठ्या कष्टाने प्राप्त होते. मात्र सिद्धमार्गामुळे ते कैवल्यपद सहज प्राप्त होते. इतक्या सहजतेने अन्य दुसऱ्या कोणत्याही मार्गाने कैवल्यपद मिळत नाही.

कुर्मपुराणातील महायोगाचा महिमा :-

"कुर्मपुराणाच्या" उत्तरार्धातील अकराव्या अध्यायात श्रीमहेश्वरांनी या महायोगाचे माहात्म्य पुढील प्रमाणे कथन केले आहे.

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम्।
येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम्।।१।।
योगाग्निर्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्।।२।।
योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते।
योगज्ञानाभियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः।।३।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव च।
ये युञ्जन्ति महायोगं ते विज्ञेया महेश्वरः।।४।।

श्रीमहेश्वर असे म्हणाले की, आता मी अत्यंत दुर्लभ अशा महायोगाचे (माहात्म्य) सांगतो. या महायोगामुळे सूर्यासारख्या अत्यंत प्रकाशमान् अशा आपल्या आत्मस्वरूपरूप ईश्वराला योगी लोक पाहतात. या महायोगरूप अग्नीमुळे लवकरात लवकर सर्व पापांचा समूह जळून नाश पावतो. त्यामुळे मोक्ष प्राप्त करून देणारे निर्मल

ज्ञान प्रकट होते. योगसाधनेमुळे ज्ञान उत्पन्न होते व ज्ञानामुळे योगसाधना करण्याची प्रवृत्ती होते. अर्थात् ज्ञान आणि योग या दोन्ही गोष्टी परस्पर पोषक आहेत. योगाचे लक्ष्य मोक्षप्राप्ती हेच आहे. त्या मोक्षप्राप्तीला ज्ञान साहाय्यक होते. जो साधक योग व ज्ञान यांनी युक्त होऊन साधन करीत असतो अर्थात् ज्याच्या ठिकाणी योगाचा व ज्ञानाचा शुभ योग झाल्याचे दृष्टीस पडते त्याच्यावर महेश्वर प्रसन्न होतात. याकरिता जो साधक दिवसातून एकदा, दोनदा, तीनदा किंवहुना नित्यनियमाने व सातत्याने महायोगाचा अभ्यास करतो तो महेश्वरस्वरूप आहे असे म्हटले पाहिजे.

योग दोन प्रकारचा असून त्यात महायोग श्रेष्ठ आहे असे सांगताना श्रीमहेश्वर "**कुर्मपुराणात**" पुढे असे म्हणतात की,

योगस्तु द्विविधोज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः।
अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः।।५।।
शून्यं सर्वनिराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति।।६।।
यत्र पश्यति चाऽऽत्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मयैक्यं स महायोगो भाषितः परमः स्वयम्।।७।।

योग दोन प्रकारचा आहे. पहिल्या योगाचे नाव अभाव योग असे आहे. दुसऱ्या योगाचे नाव महायोग असून तो सर्व योगामध्ये उत्तमातील उत्तम असा सर्वश्रेष्ठ मार्ग आहे. अभावयोगामध्ये शून्य व वेदान्ताने सांगितलेल्या सर्व प्रकारच्या निराभास स्वरूपाचे चिंतन साधक करीत असतो. या योगात आत्म्याला निर्गुण शून्य मानून साधक ध्यान करीत असल्याने त्याला ध्यानाच्या योगाने साक्षात्कार होतो. (या योगात स्वप्रयत्नाला विशेष स्थान आहे.) दुसऱ्या योगाचे नाव महायोग असून तो मी स्वतः सांगितला व प्रवर्तित केला आहे. या योगात साधक श्रीसद्गुरुकृपाश्रित राहून साधन करीत असतो. श्रीसद्गुरुकृपेने शक्ति-संक्रमण होऊन साधक साधन करीत असल्याने ध्यानाने नित्यानंद, आत्मस्वरूप व निरंजन ब्रह्म तो पाहत असतो. एवढेच नव्हे; तर

समाधीमध्ये तो मत्स्वरूपाचा लाभ करून ऐक्य पावतो.

केवळ एकमात्र महायोगच इतर दुसऱ्या कोणत्याही योगापेक्षा कसा श्रेष्ठ आहे हे सांगताना पुराणकार पुढे असे म्हणतात की,

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।८।।
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः।।९।।
सहस्त्रशोऽथ बहुशो ये चेश्वर बहिष्कृताः।
न ते पश्यन्ति मामेकं योगिनो यतमानसाः।।१०।।

इतर अनेक योग लोकांसाठी योगी लोकांनी सांगितले आहेत. त्यांची वर्णने विस्ताराने ग्रंथामध्ये वाचावयास मिळतात. हे जे इतर सर्व योग आहेत त्यांची योग्यता ब्रह्मयोगाच्या सोळाव्या कलेबरोबर सुद्धा होऊ शकणार नाही. याचे खरे कारण असे आहे की, इतर योग हे योगी लोकांनी प्रचलित केले आहेत. मात्र महायोग मी स्वतः सांगितला आहे. त्याची सुरुवात माझ्यापासून झाली आहे. मी स्वतः त्याचा प्रवर्तक आहे. याकरिता महायोगाची इतर कोणत्याही योगाशी कदापीही तुलना होऊ शकणार नाही. या योगाच्या साहाय्याने जीवनमुक्त योगिजन विश्व व ईश्वराला साक्षात् पाहतात. या परम पावन महायोगाच्या प्रवाहाने ब्रह्मांडातील यच्चयावत् तत्त्वे संपूर्ण जाणली जाऊ शकतात. या महायोगापुढे काहीही लपून राहू शकत नाही. याकरिता या भूतलावर जितके योग प्रचलित आहेत त्या सर्व योगात माझ्याकडून प्रवर्तित झालेला महायोग हा ईश्वरप्राप्तीचा सर्वोत्तम मार्ग आहे. अनेकानेक असे जे हजारो योग आहेत ते ईश्वराला यत्किंचितही मान्य नाहीत. त्या योगमार्गाच्या साहाय्याने मनुष्य ईश्वराची प्राप्ती करून घेऊ शकत नाही. त्या योगाची साधना करणारे योगी माझे दर्शन घेऊ शकत नाहीत. मला पाहू शकत नाहीत. केवळ एकमेव महायोगानेच जीवमात्र माझी प्राप्ती करून घेऊन मत्स्वरूप होऊ शकतो यात तिळमात्र शंका नाही.

शक्तिपातयोगाचे परमश्रेष्ठत्व :-

शक्तिपातयोग हा सर्व वेदांचे सार आहे व हा सर्व बंधनातून मनुष्याला मुक्त करणारा आहे हे सांगताना भगवान् श्रीआशुतोष **"कुर्मपुराणात"** असे म्हणतात की -

एष पाशुपतोयोगः पशुपाशविमुक्तये।।११.६७।।
सर्व वेदान्तसारोऽयमत्याश्रममितिश्रुतिः।।
एतत्परतर गुह्यं मत्सायुज्यप्रदायकम्।।६८।।
द्विजातीनान्तु कथितं भक्तानां ब्रह्मचारिणाम्।।६९।।

मी हा पाशुपत शक्तिपातयोग सांगितला आहे. त्याचे आचरण जे जे करतात ते ते सर्व जीव पशुपाशातून म्हणजे सर्व बंधनातून मुक्त होतात. हा शक्तिपातयोग जीवाची सर्व बंधने तोडण्यासाठीच आहे. हा संपूर्ण वेदान्ताचे सार असून यतींचे आश्रयस्थान आहे असे वेदांचे सांगणे आहे. याकरिता माझ्या या शक्तिपातयोगाचे ज्ञान परमश्रेष्ठ आहे. हे गोपनीय ज्ञान जीवाला सायुज्य मुक्ती प्राप्त करून देते. हा शक्तिपातयोग द्विजातीकरिता, भक्तांसाठी व ब्रह्मचारी साधकांसाठी सांगितला आहे.

लिंगपुराणातील महायोगाचे श्रेष्ठत्व :-

"लिंगपुराणातही" श्रीमहादेवांनी गिरिजा भगवती श्रीजगदंबेला महायोग कसा श्रेष्ठ आहे हे ११० व्या अध्यायात फारच सुंदर रीतीने समजावून सांगितले आहे.

एवं पुरा महादेवो भगवन्नीललोहितः।
गिरिपुत्र्याऽम्बया देव्या भगवत्येकशय्यया।।५।।
पृष्टः कैलासशिखरे हृष्टपुष्टतनूरुहः।
योगः कतिविधः प्रोक्तस्तत्कथं चैव कीदृशम्।।६।।
ज्ञानञ्च मोक्षदं दिव्यं मुच्यये येन जन्तवः।
प्रथमो मन्त्रयोगश्च स्पर्शयोगो द्वितीयकः।।७।।
भावयोगस्तृतीयः स्यादभावश्च चतुर्थकः।
सर्वोत्तमो महायोगः पञ्चमः परिकीर्तितः।।८।।

भगवान् श्रीशंकर कैलास पर्वतावर प्रसन्नपणे विराजमान झाले होते. गिरिजा भगवती श्रीपार्वतीदेवी त्यांच्या अर्ध्या आसनावर बसली होती. त्यावेळी श्रीदेवीने असे विचारले की, "हे प्रभो! दिव्य असे ज्ञान देऊन मोक्ष देणारे व जीवाला सर्व बंधनातून सोडविणारे योग किती प्रकारचे आहेत व त्यांचे स्वरूप कसे आहे ते मला आपण कृपा करून सांगावे." श्रीभगवान् शंकर असे म्हणाले, "हे पार्वती ! पहिला मंत्रयोग असून दुसऱ्याचे नाव स्पर्शयोग आहे. तिसऱ्याचे नाव भावयोग असून चवथ्याचे नाव अभावयोग आहे. पाचव्या योगाचे नाव महायोग असून तो सर्व योगांमध्ये अत्युत्तम असा योग आहे."

यानंतर इतर योगांचे वर्णन करून श्रीशंकरांनी महायोगाचे निर्विवाद श्रेष्ठत्व पुढील प्रकारे स्पष्ट केले आहे.

नीरूपः केवलः शुद्धः स्वच्छन्दञ्च सुशोभनः।
अनिर्देश्यः सदालोकः स्वयंवेद्यः समतन्तः।।१५।।
स्वभावो भासते यत्र महायोगः प्रकीर्तितः।
नित्योदितः स्वयञ्ज्योतिः सर्वचित्तसमुत्थितः।।१६।।
निर्मलः केवलो ह्यात्मा महायोग इति स्मृतः।।१७।।

श्रीमहादेव असे म्हणतात की, "आत्मस्वरूप हे शून्य, अद्वितीय, निर्मल, स्वच्छंदतेसहित व परम सुशोभित म्हणजेच अत्यंत रमणीय असे आहे. श्रुतीला सुद्धा त्याचा निर्देश करता येत नाही. नेति नेति म्हणून स्वस्थ बसावे लागते. हे आत्मस्वरूप अप्रमेय असून नेहमी प्रकाशमान् असते. ते स्वतःच स्वतःला जाणू शकते. ते सर्वव्यापी असून समानतेने भरलेले आहे. असे हे स्वरूप स्वभावतःच ज्या योगाने कळून येते त्याला महायोग असे म्हणतात. नित्यप्रकाशमान्, स्वयमेवप्रकाशमान्, संपूर्ण चित्ताला उत्थापित करणारा व केवळ निर्मल आत्म्याचे दर्शन घडविणारा असा हा महायोग आहे.

श्रीज्ञानेश्वरीतील पंथराजाचे माहात्म्यः-

शक्तिपातयोगमार्ग हा सर्व योगमार्गांचा राजा असल्यामुळे श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी या मार्गाला पंथराज असे म्हटले आहे. "मी

ब्रह्मरूप व्हावे अशी माझी इच्छा आहे. ब्रह्मस्थिती प्राप्त होण्याकरिता जे काही केले पाहिजे म्हणून सांगाल त्याचा अभ्यास मी करीन," अशी अर्जुनाने श्रीकृष्णांना विनम्रभावाने प्रार्थना केली. त्यावेळी श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला या शक्तिपातयोगमार्गाच्या साधनाची म्हणजेच पंथराजाची महती वर्णन करून सांगितली. "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" ६ व्या अध्यायात या मार्गाचे माहात्म्य सांगताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की -

ऐसें विवरोनियां श्रीहरी। म्हणितलें तिये अवसरीं।
अर्जुना हा अवधारी। पंथराजु।।६.१५२।।
तेथ प्रवृत्तितरूच्या बुडीं। दिसती निवृत्तिफळाचिया कोडी।
जिये मार्गीचा कापडी। महेश आझुनी।।१५३।।
पैं योगिवृंदें वहिलीं। आडवीं आकाशीं निघालीं।
कीं तेथ अनुभवाच्या पाउलीं। धोरणु पडिला।।१५४।।
तिहीं आत्मबोधाचेनि उजुकारें। धांव घेतली एकसरें।
कीं येर सकळ मार्ग निदसुरे। सांडूनियां।।१५५।।
पाठीं महर्षी येणें आले। साधकांचे सिद्ध जाहाले।
आत्मविद थोरावले। येणेंचि पंथें।।१५६।।
हा मार्गु जैं देखिजे। तैं तहान भूख विसरजे।
रात्रिदिवसु नेणिजे। वाटे इये।।१५७।।
चालतां पाऊल जेथ पडे। तेथ अपवर्गाची खाणी उघडे।
आव्हांटलिया तरी जोडे। स्वर्गसुख।।१५८।।
निगिजे पूर्वीलिया मोहरा। कीं येइजे पश्चिमेचिया घरा।
निश्चळपणें धनुर्धरा। चालणे एथिंचें।।१५९।।
येणे मार्गें जया ठाया जाइजे। तो गांव आपणचि होइजे।
हें सांगो काय सहजे। जाणसी तूं।।१६०।।

अशा प्रकारे त्यावेळी श्रीकृष्णांनी मनात विचार करून असे म्हटले की, "अर्जुना! आम्ही जो योगमार्ग तुला सांगणार आहोत तो सर्व मार्गांचा राजा आहे. या राजमार्गाचे माहात्म्य किती मोठे आहे

हे तुला सांगतो. तू ते श्रवण कर."

साधक या योगमार्गाने जाऊ लागला व साधन करू लागला की, त्याला कोट्यावधी मोक्षफले दृष्टीस पडतात म्हणजेच मोक्षप्राप्ती अगदी सुलभ होते. या मार्गावरून श्रीशंकर हे अद्यापपावेतो यात्रा करीत आहेत. श्रीशंकरांनी हा साधनमार्ग प्रवर्तित केलेला असल्यामुळे इतर साधकांनी या मार्गाचा प्रवास कसा करावा हे दाखविण्यासाठी ते सतत प्रवास करीत असतात. श्रीशंकरांना काहीही प्राप्तव्य शिल्लक राहिलेले नाही. परंतु सिद्ध झाल्यावरही आत्मस्वरूपाचे अखंड ध्यान व्हावे हे इतरेजनांना दाखविण्यासाठी ते साधन अभ्यास करीत असतात.

योगिजन प्रथम मार्ग न मिळाल्याने आडव्या तिडव्या मार्गाने चालले होते. परंतु; पुढे श्रीमहेशांच्या कृपेने त्यांना पंथराजाचे साधन मिळून ते या मार्गाला लागले. श्रीमहेशांनी हा मार्ग आधीच सिद्ध करून ठेवला होता. त्याच मार्गावरून हे योगिजन अनुभव घेत घेत ब्रह्मस्वरूपापर्यंत जाऊन पोहोचले.

एकदा हे सहज व सोपे साधन मिळाल्यावर ते दुसरे अज्ञानाचे सर्व आडमार्ग सोडून देऊन निःसंशयपणे आत्मबोध करून देणाऱ्या पंथराजाच्या सरळ मार्गाने वाट चालत गेले. खरे पाहता त्यांनी या मार्गाने अक्षरशः धावच घेतली. नंतरचे ऋषी, मुनी व महर्षी हेही याच मार्गाने ब्रह्मस्वरूप झाले.

या पंथराजाच्या मार्गानेच साधकांचे सिद्ध झाले. त्याचप्रमाणे तत्त्वज्ञानी व आत्मज्ञानी पुरुष हे देखील याच पंथाने श्रेष्ठत्वास चढले.

पंथराजाचा हा मार्ग जेव्हा श्रीगुरुकृपेने दृष्टीस पडतो तेव्हा तहान व भूक हरपून जाते. या मार्गाची वाट चालत असताना (साधन करताना) रात्र व दिवस यांची आठवण होत नाही. साधकाला रात्रंदिवस साधन करावेसे वाटते. साधकाचे पाऊल जसजसे पुढे पुढे पडत जाते तसतसे त्याला मोक्षसुख अनुभवावयास मिळते. यदाकदाचित् भोगाकांक्षेमध्ये साधक लिप्त होऊन साधनगतीत अडथळा

आला तर त्याला स्वर्गसुख भोगावयाला मिळते. या पंथराजाच्या साधनामुळे साधक पूर्वेकडील मार्गाने निघून पश्चिमेकडील मार्गाला सहजतेने येतो. शरीरातील पुढील भागातील गुह्यस्थान, बेंबी, हृदय, कंठ, व नाकाच्या द्वारा जो प्राणप्रवाह वाहत असतो त्याला पूर्वपथ असे म्हणतात. या पूर्वेकडील मार्गाची प्राणगती बहिर्मुख असते. या मुखातून श्वासप्रश्वासाची प्रक्रिया होत असल्याने जीवाची वृत्तीही बहिर्मुख राहते. हे श्वासप्रश्वासाचे कार्यच जीवाच्या जागृतीचे महत्त्वाचे चिह्न आहे. या बाह्य जागृतीमुळेच जीवाला द्वैताची म्हणजे अभिन्नतेची जाणीव किंवा बोध होतो. मात्र या पूर्व मार्गामुळे ऐक्यतेचा, एकतेचा म्हणजे अद्वैताचा बोध कधीही होत नाही; कारण पश्चिममार्ग नेहमीच बंद असतो. हा मार्ग बंद असल्याने जीवाला आपल्या स्वस्वरूपाचे ज्ञान म्हणजेच आत्मज्ञान किंवा ब्रह्मज्ञान होत नाही. त्याचा जन्म-जन्मांतरी निरंतर अभाव राहतो. "**हठयोगप्रदीपिकेत**" याचे कारण सांगताना श्रीस्वात्मारामयोगींद्र यांनी असे म्हटले आहे की, "**येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्। मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।। ३.१०६।।** सुषुम्णा मार्गाचा अवलंब करूनच साधक सहस्रारातील निरामय ब्रह्मस्थानी पोहोचू शकतो. जोपर्यंत हे ब्रह्मद्वार उघडत नाही तोपर्यंत साधक ब्रह्म किंवा आत्मसाक्षात्काराच्या प्राप्तीपासून वंचित राहतो. हे ब्रह्मद्वार न उघडण्याचे खरे कारण असे आहे की, या ब्रह्मद्वाराला अडवूनच म्हणजे झाकूनच कुंडलिनी शक्ती झोपलेली असते. ही सुप्त शक्ती श्रीसद्गुरुकृपेने जोपर्यंत जागृत होत नाही तोपर्यंत मोक्षप्राप्ती होऊ शकत नाही. या अर्थानेच योग-शिखोपनिषदात असे लिहिले आहे की "**नाकृतं मोक्षमार्गं स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना" (१-१४५)** पश्चिम म्हणजे पाठीतील सुषुम्णामार्ग मोकळा झाल्याशिवाय मोक्षमार्गात साधकाची कधीही गती होत नाही. पूर्वेकडील मार्ग टाकून म्हणजे बहिर्मुखी गती टाकून देऊन या पंथराजामुळेच साधक अंतर्मुखी गतीचा होतो. तो पश्चिमेकडील सुषुम्णेच्या घरात येतो. या घरात जीवाने प्राणरूपाने प्रवेश केला

की, त्याला अपूर्व निश्चलता प्राप्त होऊन त्याची गती निश्चित होऊन तो ऊर्ध्वमुखाने वाटचाल करू लागतो. मूलाधारापासून निघून सहस्त्रारापर्यंत म्हणजे संसारादि वासनांपासून मुक्त करून मोक्षापर्यंत निश्चित पोहोचविणारा असा हा मार्ग आहे. अत्यंत दृढ श्रद्धा ठेवल्याशिवाय हे साधन होऊच शकत नाही. या मार्गावरून चालणे याचा अर्थच दृढ श्रद्धा ठेवून साधन करणे असाच आहे. ब्रह्मपदाच्या गावाला साधकाला पोहोचावयाचे असते. पण हे साधन इतके सोपे आहे की, साधन करता करता साधक ब्रह्मरूप होऊन जातो. ही ब्रह्मप्राप्ती अनायास होते हे सांगितले तर तुला नवल वाटेल, परंतु तू अभ्यासाला लागलास की, तुला हे आपोआप कळून येईल."

श्रीदासबोधातील शक्तिपातयोगाचे स्तवन :-

श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी आपल्या स्वतःचे प्रत्यक्ष रूप असलेल्या **"श्रीदासबोध"** या महान् ग्रंथात शक्तिपातयोगाचे स्तवन गुप्तपणे केले आहे. श्रीसमर्थांनी मूळ सिद्धांत असा मांडला आहे की-

मुख्य शक्तिपात तो ऐसा। नाहीं चंचळाचा वळसा।
निवांतीं निवांत कैसा। निर्विकारी।।१५.१०.१६।।

श्रीसमर्थांच्या दृष्टीने शक्तिपाताचे महत्त्व असे अनन्य साधारण आहे. या दृष्टीनेच त्यांनी परमार्थाचे म्हणजे शक्तिपातयोगाचे स्तवन पहिल्या दशकाच्या दहाव्या समासात केले आहे. हा मार्ग समर्थामध्ये समर्थ आहे हे सांगताना श्रीसमर्थ म्हणतात-

आता स्तवूं हा परमार्थ। जो साधकांचा निजस्वार्थ।।
नातरी समर्थांमध्ये समर्थ। योग हा।।१.९.१।।
आहे तरी परम सुगम। परि जनासी जाहला दुर्गम।
तं जयाचें चुकले वर्म। सत्समागमाकडे।।२।।

श्रीसमर्थ असे म्हणतात की, आता ईश्वरप्राप्तीच्या साधनाची म्हणजेच परमार्थाची अर्थात् शक्तिपातयोगाची स्तुती करतो. त्याचे माहात्म्य सांगतो. हा मार्ग म्हणजे साधकांचा अपूर्व ठेवा असून त्यांचे स्वतःचे हित करणारा आहे. हे स्वहित सगळ्यात श्रेष्ठ व बलवान् अशा

योगाच्या आश्रयाने होते. या योगालाच शक्तिपातयोग किंवा पंथराज असे म्हणतात. हा योग समर्थ योगांमध्ये समर्थ आहे. वास्तविक पाहता तो अगदी सुगम आहे. सहज आहे. सोपा आहे. परंतु लोकांना मात्र तो कठीण वाटतो. हा योग कठीण वाटण्याचे खरे कारण एकच आहे. सत्पुरुषांच्या संगतीचे मर्म लोक विसरून गेले आहेत. त्यांच्या संगतीमुळेच शक्तिसंक्रमण घडून येत असते.

रोकडा ब्रह्मसाक्षात्कार घडविणारा हा अत्यंत गुप्त असा मार्ग आहे हे सांगताना श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

नाना साधनांचे उधार। हा रोकडा ब्रह्मसाक्षात्कार।
वेदशास्त्रीं जे सार। तें अनुभवास ये।।३।।
आहे तरी चहूंकडे। परी अणुमात्र दृष्टीस न पडे।
उदास परी एकीकडे। पाहतां दिसेना।।४।।
आकाशमार्गीं गुप्तपंथ। जाणती योगिये समर्थ।
इतरांस हा गुह्यार्थ। सहसा न कळे।।५।।

परमेश्वर प्राप्तीची इतर अनेक साधने आहेत. परंतु इतर साधनांमुळे साधकाला केव्हातरी कालांतराने प्रचीती येते. इतर साधनात सर्व हिशेब उधारीचाच असतो. परंतु सद्गुरू समागमामुळे सिद्धमार्गाची प्राप्ती झाल्यावर तत्क्षणीच ब्रह्मप्राप्ती होते. या साधनमार्गात उधारीचा हिशेब नाही. रोकडा ब्रह्मसाक्षात्कार, तत्कालस्वरूपप्राप्ती व प्रत्यक्ष अनुभव हेच या मार्गाचे खरे वैशिष्ट्य आहे. परब्रह्मप्राप्ती हे वेदशास्त्राचे सार आहे. शक्तिपात होताक्षणीच ते अनुभवास येते.

परब्रह्म सर्वत्र आहे. परंतु त्याची थोडीशीही प्रचीती येत नाही. ते अलिप्त असे तत्त्व आहे. परब्रह्म सर्वव्यापी असल्यामुळे ते एकीकडेच आहे व दुसरीकडे नाही असे म्हणता येणार नाही. सहस्राररूपी आकाशात जाण्याचे म्हणजेच शिवाशी समरस होण्याचे जे अनेक मार्ग आहेत त्यातील सिद्धमार्ग हा अत्यंत गुप्तमार्ग आहे. तो समर्थ योगीच जाणतात. इतर सामान्य जनाला या सिद्धमार्गाचा गुह्यार्थ सहसा कळत नाही.

परब्रह्म कसे आहे व ते श्रीगुरुकृपेच्या शक्तिपातरूप अंजनाशिवाय कळणे कधीही शक्य नाही हे सांगताना श्रीसमर्थ पुढे असे म्हणतात की-

साराचेंही निजसार। अखंड अक्षय अपार।
नेऊं न शकती तस्कर। कांहीं केल्या।।६।।
तयासी नाहीं राजभय। अथवा नाहीं अग्निभय।
अथवा श्वापदभय। बोलोंचि नये।।७।।
परब्रह्म ते हालवेना। अथवा ठावही चुकेना।
काळांतरींही चळेना। जेथिचें तेथें।।८।।
ऐसें तें निज ठेवणें। कदापी पालटों नेणें।
अथवा नव्हे अधिक उणें। बहुता काळें।।९।।
अथवा तें घसटवेना। अथवा तें अदृश्य होईना।
नातरी पाहतां दिसेना। गुरुअंजनेविण।।१०।।
मागां योगिये समर्थ। त्यांचाही निजस्वार्थ।
त्यासी बोलिजे परमार्थ। परम गुह्य म्हणोनी।।११।।
ज्यांहीं शोधून पाहिला। त्यांसीच अर्थ सांपडला।
येरां असोनी अलभ्य जाहला। जन्मोजन्मीं।।१२।।

परब्रह्म हे साराचे सार आहे. ते अखंड, अक्षय व अपार आहे. ते कोणताही चोर केव्हाही चोरून नेऊ शकणार नाही. त्याला राजा,अग्नी किंवा श्वापद यांपैकी कशाही पासून भय नाही. हे परब्रह्म कोणालाही उचलून नेता येत नाही किंवा हलविताही येत नाही. त्याची जागा चुकली असे होत नाही. कालांतरीही त्यात फरक होत नाही. ते जेथल्या तेथेच असते. हे परब्रह्म म्हणजे स्वतःची ठेव आहे. त्यात कधीही पालट किंवा बदल होणे शक्य नाही. कालांतराने त्यात काही अधिक किंवा काही उणे असे होत नाही. त्यात घट होत नाही किंवा ते अदृश्यही होत नाही. असे हे जे परब्रह्म आहे ते श्रीगुरुकृपेच्या अंजनाशिवाय कळून येत नाही. ही श्रीगुरुकृपा म्हणजेच शक्तिपात होय. मागे जे समर्थ समर्थ योगी होऊन गेले त्यांचाही हा साधन मार्ग म्हणजे एक अपूर्व ठेवाच होता. असा हा शक्तिसंक्रमणाचा सिद्धमार्ग

हाच खरा परमार्थ होय. मात्र हा मार्ग अत्यंत गुह्य आहे. श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती होऊन शक्तिपात दीक्षा मिळाल्यावर जे साधक साधनाभ्यास दीर्घकाल, खंड न पाडता व अगदी आदरपूर्वक दृढावस्थेला प्राप्त होईपर्यंत करतात त्यांनाच खरे तत्त्व सापडते. इतरांना सुद्धा ही तत्त्वप्राप्ती करणे शक्य असते; परंतु श्रीसद्गुरुप्राप्तीशिवाय व प्रयत्नाभावी ही तत्त्वप्राप्ती त्यांना जन्मोजन्मी होत नाही.

या साधनाची अपूर्वता कशात आहे व या साधनामुळे कोणता परिणाम होतो हे सांगताना श्रीसमर्थ पुढे असे म्हणतात की-

अपूर्वता या परमार्थाची। वार्ता नाहीं जन्ममृत्यूची।
आणि पदवी सायुज्यतेची। सन्निधचि लाभे।।१३।।
माया विवेकें मावळे। सारासार विचारें कळे।
परब्रह्म तेंहि निवळे। अतंर्यामीं।।१४।।
ब्रह्म भासलें उदंड। ब्रह्मीं बुडाले ब्रह्मांड।
पंचभूतांचे थोतांड। तुच्छ वाटे।।१५।।
प्रपंच वाटे लटिका। माया वाटे लापणिका।
शुद्धआत्मा विवेका-। अंतरीं आला।।१६।।
ब्रह्मस्थिती बाणता अंतरीं। सदेह गेला ब्रह्मांडाबाहेरी।
दृश्याची जुनी जर्जरी। कुहिट जाहली।।१७।।
ऐसा हा परमार्थ। जो करील त्याचा निजस्वार्थ।
आतां या समर्थासी समर्थ। किती म्हणोनी म्हणावे।।१८।।
या परमार्थाकरितां। ब्रह्मादिकांसी विश्रामता।
योगी पावती तन्मयता। परब्रह्मीं।।१९।।
परमार्थ सकळांस विसांवा। सिद्ध साधु महानुभावा।
सेखीं सात्त्विक जडजीवा। सत्संगें करूनी।।२०।।
परमार्थ जन्माचें सार्थक। परमार्थ संसारीं तारक।
परमार्थ दाखवी परलोक। धार्मिकासी।।२१।।
परमार्थ तापसांसी थार। परमार्थ साधकांसी आधार।
परमार्थ दाखवी पार। भवसागराचा।।२२।।

या साधनमार्गाची हीच अपूर्वता व हेच आश्चर्य आहे की, इतर कोणत्याही साधनात न सापडणारा असा गुण यात आहे. या साधनामुळे जन्ममृत्यूची वार्ताच नाहीशी होते आणि सायुज्य मुक्ती तत्काळ प्राप्त होते. नित्यानित्यविवेक उत्पन्न होऊन माया मावळून जाते. संसार असार असून परब्रह्म सार आहे असा विचार अंत:करणात बिंबून जातो. हृदयामध्ये परब्रह्म आपणहून प्रकट होऊन स्थिर होते. सर्वत्र ब्रह्म भरून राहिले आहे असा साक्षात्कार होतो. सर्व ब्रह्मांड ब्रह्मात बुडून गेले आहे असे वाटते. पंचमहाभूतांमुळे भासणारा संसार तुच्छ व असार आहे असे वाटते. प्रंपच खोटा वाटतो. माया ही व्यर्थ, पोकळ व मिथ्या आहे असे अनुभवास येते. विवेकज्ञान आपोआप उत्पन्न होऊन शुद्ध आत्मस्वरूपाचा साक्षात्कार होऊन ते अंतरात ठसून जाते. या साधनाने ब्रह्मज्ञान अंत:करणात बाणून जाते. त्यामुळे संशय पूर्णपणे नाहीसा होऊन ब्रह्मांडाबाहेर जातो. या साधनामुळे जगरूपाने दिसणारी जुनीपुराणी गोधडी फाटून तुटून नाश पावते व सर्व दोषांची निवृत्ती होऊन निखळ ब्रह्मतत्त्व उरते.

असे हे साधन आहे. जो साधन करतो त्याला अपूर्व ठेवा प्राप्त होतो. याकरिता हे साधन सर्व समर्थ साधनात समर्थ आहे. या साधनाची महती व थोरवी कितीही गायिली तरी थोडीच आहे.

या साधनमार्गामुळेच ब्रह्मादिदेवांना विश्रांती मिळते व योगी लोकांना परब्रह्माशी तद्रूपता प्राप्त होते. असा हा साधनमार्ग सकळांना विसावा देणारा व मनाला शांती देणारा आहे. या साधनाच्या जोरावर सिद्ध, साधू व महानुभाव आपल्या निजपदावर आरूढ होऊन समाधानी झाले. एवढेच नव्हे; तर जे सात्त्विक परंतु जडमूढ आहेत असे अनेक जीव सत्संगाने अनुग्रह प्राप्त होऊन तरून जातात.

श्रीसद्गुरुकृपेने शक्तिसंक्रमण होऊन साधनाने परब्रह्मप्राप्ती होणे हेच खरे जन्माचे सार्थक आहे. या साधनामुळे साधक संसार तरून जातो. धार्मिक लोकांना उन्नतीचा मार्ग या साधनामुळेच प्राप्त होतो. तपस्वी लोकांचा व साधकांचा हे साधन हाच एकमेव आधार व

थारा असतो; कारण या साधनामुळेच भवसागराच्या पैलतीराला जाता येते.

या साधनामुळे जन्म सार्थक होतो हे सांगताना श्रीसमर्थ शेवटी असे म्हणतात की-

परमार्थी तो राज्यधारी। परमार्थ नाहीं तो भिकारी।
या परमार्थाची सरी। कोणास द्यावी।।२३।।
अनंत जन्मींचें पुण्य जोडे। तरीच परमार्थ घडे।
मुख्य परमात्मा आतुडे। स्वानुभवासी।।२४।।
जेणें परमार्थ वोळखिला। तेणें जन्म सार्थ केला।
येर तो पापी जन्मला। कुळक्षयाकारणें।।२५।।

असे साधन ज्या साधकांना मिळते ते खरोखर स्वानंदरूपी राज्याचे चक्रवर्ती राजेच होत असे म्हटले पाहिजे. ज्यांना अशा रीतीने श्रीगुरुकृपादृष्टियुक्त साधन मिळत नाही ते खरोखरीच भिकारी होत. असे असल्याने या साधनाची बरोबरी इतर दुसऱ्या कोणत्याही साधनांना करता येणार नाही.

अनंत जन्मीचे पुण्य असेल तरच हे साधन मिळून भगवत्प्राप्ती होते. श्रीगुरुकृपा झाल्याशिवाय भगवत्प्राप्तीची वाटचालही सुरू होत नाही; मग प्राप्ती तर दूरची गोष्ट आहे. श्रीगुरुकृपा ही स्वानुभवाची व प्रचीतीची गोष्ट आहे. ती प्राप्त झाल्यावर परमात्म्याच्या प्राप्तीला उशीर होत नाही हे अगदी सत्य आहे.

जो मनुष्य या साधनाची किंमत जाणतो व जीवेप्राणे हे साधन करतो त्यानेच आपला जन्म सार्थक केला असे म्हणता येते. बाकीच्या साधना करणाऱ्या किंवा कोणतेही साधन न करणाऱ्या लोकांचे जन्म फुकट होत. अशी जी साधन न करणारी पापी माणसे जन्माला येतात ती कुलक्षयालाच कारणीभूत होतात.

येथपर्यंत शक्तिपातयोगाचे माहात्म्य काय आहे ते पाहिले. साधकाने वरील सर्व विवेचन ध्यानात घेऊन श्रीकृष्णांनी अर्जुनाचे निमित्त करून हा जो अपूर्व साधनमार्ग सांगितला आहे त्यावरून मार्गक्रमण

करण्यास सुरुवात केली पाहिजे; कारण शक्तिपात झाल्याशिवाय म्हणजेच कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय ब्रह्मप्राप्तीच्या मार्गाची वाटचाल सुरू होत नाही. सारांश, शक्तिपातयोगाचा स्वीकार करून शक्तीची साधना करीत करीत शिवभावाची प्राप्ती करून घेऊन जीवन कृतकृत्य करणे यातच मनुष्य जीवनाची सार्थकता आहे.

★★★★★

- आधार पाचवा -

★शक्तिपातयोगाच्या विविध नावांचे रहस्य★

१) सिद्धमार्ग २) सिद्धयोग ३) महायोग
४) सहजयोग ५) शक्तिपातयोग ६) भक्तियोग
७) क्रियायोग ८) श्रीगुरुदत्तयोग

मनुष्य जीवनाचे सार्थक करणारा एकमेवाद्वितीय असा जो शक्तिपातयोगमार्ग आहे त्याची विविध नावे मागील आधारात आपण पाहिली. त्या नावातील रहस्य समजले म्हणजे शक्तिपातयोग कशाला म्हणतात ते सहज समजून येईल.

सिद्धमार्ग :-

शक्तिपातयोग हा सिद्धमार्ग आहे. सिद्धमार्ग म्हणजे सिद्ध असा मार्ग. राजमार्गासारखा अगदी तयार असा रस्ता. राजमार्गावरून चालताना माणसाला कष्ट पडत नाहीत. त्रास होत नाही. तो इच्छितस्थळी सुखकारकपणे पोहोचतो. एकदा राजमार्ग मिळाला की, इतर आडवेतिडवे फाटे फुटत नाहीत. मार्ग चुकण्याची भीती नाहीशी होते. चालण्याच्या गतीतील फरकामुळे मुक्कामाला पोहोचण्याची वेळ जरी निश्चित नसली तरी सुद्धा आपण इष्टस्थळी खचित पोहोचणार याची खात्री असल्यामुळे मन समाधानी व शांत असते.

जी गोष्ट राजमार्गाची तीच सिद्धमार्गाची. ज्याप्रमाणे राजमार्ग सामान्यांपासून असामान्यांपर्यंत इष्ट, सुखकारक व फलदायी ठरतो त्याचप्रमाणे सिद्धमार्गही ठरतो. सिद्धमार्गाने जाताना साधकाच्या मनाला एक अपूर्व निश्चिंतता असते. वाट चुकण्याची भीती मनाला कधीही शिवत नाही. कारण **"इये अभ्यासीं जे दृढ होती। ते भरंवसेनि ब्रह्मत्वा येती।। श्रीज्ञानेश्वरी ६.३३०।।"** असे आश्वासन श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी दिले आहे. या मार्गाने विनासायास योगाची प्राप्ती होते. योग प्राप्त झाला की ज्ञान मिळते. ज्ञानामुळे मुक्ती मिळते.

श्रीशंकरानी हा मार्ग स्वतः सिद्ध करून ठेवला आहे. मुलाचे सर्व दृष्टीने कल्याण व्हावे, त्याची उन्नती व्हावी व तो खूप मोठा व्हावा म्हणून आई लहानपणापासून त्याची सर्वतोपरी काळजी घेते. प्रत्येक गोष्ट त्याच्यासाठी सिद्ध ठेवते. मुलाला स्वतःला काहीही करावे लागत नाही. तो आईने तयार करून ठेवलेल्या गोष्टींच्या साहाय्याने पुढे जात असतो. त्याचप्रमाणे श्रीशंकरांनी जीवाच्या उद्धारासाठी, त्याच्या उन्नतीसाठी व त्याला स्वतःचे साम्य मिळावे म्हणून हा योगमार्ग सिद्ध करून ठेवला आहे. त्यामुळे हा मार्ग मिळाला की साधकाला स्वतःला काहीही करावे लागत नाही.

जीवाला कर्मसाम्यदशा प्राप्त झाली की श्रीशंकर श्रीसद्गुरुरूपाने साधकाला आपोआप भेटून त्याला हा सिद्धमार्ग प्राप्त होतो, श्रीशंकारांच्यापासून परंपरेने प्राप्त झालेली ही सिद्धविद्या, हे सिद्धज्ञान किंवा हा सिद्धमार्ग श्रीसद्गुरू शिष्याला देतात. त्यामुळे शक्तिसंचार होऊन तत्काळ कुंडलिनीशक्ती जागृत होते. त्यानंतर क्रमशः उन्नती होऊन योगाची, ज्ञानाची व मोक्षाची प्राप्ती होते.

हा योगमार्ग आपोआप कसा प्राप्त होतो हे पुढील उदाहरणावरून अधिक स्पष्ट होईल. एखादा मनुष्य भुकेने व्याकूळ झालेला असताना स्वतः परिश्रम करून जेवण करण्याची त्याला शक्यता नसते. अशा वेळी एखाद्या अन्नदात्याच्या कृपेने त्याला आयते जेवण करून मिळाले तर निरतिशय आनंद होतो. कारण त्याला कसलीही तयारी करावी लागत नाही. ताटात वाढलेले जेवणे एवढेच त्याचे काम असते. त्याला स्वतःला स्वयंपाक तयार करण्याचे श्रम करावे लागत नाहीत. डाळ, तांदूळ, भांडी, पाणी, अग्नी इत्यादींबद्दलचा विचार करण्याचे त्याला कारणही पडत नाही. तो निश्चिंतपणे जेवण करून क्षुधानिवृत्ती करतो. कोणत्याही प्रकारच्या परिश्रमाची आवश्यकता त्याच्या बाबतीत राहत नाही.

अगदी याच प्रमाणे सिद्धमार्ग प्राप्त झाल्यावर होते. श्रीसद्गुरू सिद्ध असा योग साधकाला देतात. साधकाचे काम एवढेच की,

त्याने डोळे मिटून स्वस्थ बसावयाचे. त्यावेळी जप, नामस्मरण, मनन, चिंतन, पठण, ध्यान, मन मुद्दाम एकाग्र करणे, चित्तवृत्तींचा निरोध करणे इत्यादि काहीही करावयाचे नाही. जे काही होईल ते फक्त साक्षी होऊन पाहावयाचे. अशा प्रकारे साधकाने आत्मनिवेदन केल्याबरोबर श्रीसद्गुरुकृपेने मूलाधारात निवास करणाऱ्या आधाररूपी कुंडलिनी शक्तीचे उद्बोधन म्हणजेच जागरण घडून येते. त्यामुळे हठयोग, मंत्रयोग, लययोग इत्यादि सर्व योग स्वाभाविक रीतीने आपोआप साधू लागतात. हे योग मुद्दाम स्वतंत्र रीतीने व अस्वाभाविकपणे करण्याचे कारणच उरत नाही. आसन, मुद्रा, प्राणायाम, जप, अनुष्ठान, ध्यान, धारणा इत्यादि कोणतीही क्रिया स्वतःहून करण्याचे कारण उरत नाही. सर्व प्रकारच्या योगांचा व उपासनांचा अंतिम हेतू कुंडलिनी शक्ती जागृत करणे हाच असतो. हा हेतू केवळ श्रीगुरुशक्तीच्या प्रभावाने कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन आपोआप साध्य होतो व साधकाला अगदी स्वाभाविक रीतीने योगमार्गाचा लाभ होतो.

सिद्धमार्गाचा दुसरा अर्थ सिद्धांचा मार्ग किंवा सिद्ध होण्यासाठी मार्ग असा आहे. या दृष्टीने शक्तिपातयोग हाच एकमेव सर्वश्रेष्ठ असा मार्ग आहे असे म्हणण्याचे कारण "**आत्मविद थोरावले। येणेंचि पंथें।। श्रीज्ञानेश्वरी ६.१५६।।**" असे श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" अगदी निक्षून सांगितले आहे. त्यामुळे ज्या साधकाला सिद्ध होण्याची इच्छा आहे त्याला या मार्गाची कास धरण्याशिवाय गत्यंतर नाही. श्री.विवेकानंदानी आपल्या "**राजयोग**" ग्रंथाच्या चवथ्या प्रकरणात या दृष्टीने अत्यंत उद्बोधक विवेचन केले आहे. त्याचा शेवट करताना ते असे म्हणतात की, "संपूर्ण ज्ञान व संपूर्ण चैतन्य यांची प्राप्ती करून घेण्याकरिता कुंडलिनी जागृत करणे हा एकच उपाय आपणांस उपलब्ध आहे. .....सर्व सुखांची जननी प्राणशक्ती कुंडलिनी तुमच्या जवळच आहे. तिची आराधना करा. तिला आळवा. तिचे दूध तुम्हास मिळाले तर अनंत काळापासून तुम्हास लागलेली क्षुधा तत्क्षणीच शांत होईल."

सिद्धयोग :-

ज्या अर्थाने शक्तिपातयोगाला सिद्धमार्ग म्हटले जाते त्याच अर्थाने त्याला सिद्धयोग असेही म्हटले जाते. हा योग मुळात सिद्ध करून ठेवला असल्यामुळे त्याच्या प्राप्तीत सर्व साधनांच्या साराची प्राप्ती आहे याचा साधन करताना साधकाला पदोपदी अनुभव येतो. या दृष्टीने "**अनुभवामृतातील**" श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांची एक ओवी बोधप्रद आहे.

जो भेटलियासवे। पुरती उपायांचे धावे।
प्रवृत्तिगंगा स्थिरावे। सागरीं जिये।।२-८।।

श्रीसद्गुरूंची भेट झाली की, त्यांच्या कृपेने शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळते. त्यामुळे ब्रह्मप्राप्तीच्या इतर उपायांकडे धावण्याची किंवा त्यासाठी नानाप्रकारची साधने करण्याची प्रवृत्ती बंद पडते. नदी सागराला मिळाली की, तिचे वाहणे आपोआप बंद पडते. त्याचप्रमाणे श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती झाल्यावर शक्तिसंक्रमण होऊन शक्ती जागृत होते. एकदा ही प्रक्रिया घडून आली की, त्यामुळे इतर सर्व साधने आटून जातात. या दृष्टीने म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज यांनी "**भारतीय संस्कृति और साधना**" या ग्रंथाच्या पहिल्या खंडात "**कुंडलिनी तत्त्व**" या लेखात मोठे उद्बोधक विचार मांडले आहेत. तेथे ते असे म्हणतात की-

"**कुंडलिनी-शक्तिके उद्बोधनके बिना जीव की ऊर्ध्वगति नहीं हो सकती। अरणि-मंथन करनेसे जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षणसे उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन-प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुंडलिनी को जगाना पडता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही इंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुंडलिनीके चैतन्य होनेपर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मंत्रयोगादि यह संपूर्ण उपासना पुरुषाकारसापेक्ष अथवा कर्तृत्त्वाभिमानजन्य है। यह कर्तृत्त्वबोध**

क्रमसे कुंडलिनी चैतन्यके समयमें लुप्त हो जाता है। और कर्तृत्त्वबोध के लुप्त होनेसे कुंडलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुंडलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियमसे ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्त्रोत में नौका छोड देने पर उसको समुद्रमें पहुँचानेके अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुंडलिनी के जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण वा मनको डाल देनेसे जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। संचारित शक्ति की न्यूनाधिकता एवं संचित वासनादिकों की गाढता के तारतम्य के कारण अवश्य "स्त्रोत-आपन्न" अवस्था नाना प्रकारकी होती है। (लेकिन) संकोच शक्ति अथवा उर्ध्वबिंदुस्थित आकर्षणशक्ति के प्रभाव में अंतर्मुखगति क्रमशः वृद्धिंगत होती है, और अंतमें साम्यावस्था स्थिर हो जाती है।"

कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय जीवाची ऊर्ध्वगती कधीही सुरू होत नाही. अरणी-मंथन करून सुप्त असलेला अग्री प्रज्ज्वलित केला जातो. अर्थात् घर्षण करून अरणीमध्ये सुप्त असलेला अग्री उद्दीप्त केला जातो. त्याचप्रमाणे साधन-प्रणाली़ंच्या द्वारा झोपलेल्या कुंडलिनी शक्तीला जागृत करणे आवश्यक ठरते. ज्याप्रमाणे अग्री प्रकट झाल्यावर तो काष्ठादि इंधन संपूर्णपणे जाळून टाकतो त्याचप्रमाणे कुंडलिनी चैतन्यमय झाल्यावर सर्व साधना आपोआप संपुष्टात येते. विचार, भक्ती, हठ, मंत्रयोग इत्यादि सर्व बाह्यसाधना किंवा संपूर्ण उपासना इत्यादि ती करणाऱ्या साधकांवर अवलंबून असून त्यामध्ये आपण अमुक प्रकारची साधना करतो असा कर्तृत्त्वाचा अभिमान असतो. हा जो कर्तृत्त्वाचा अभिमान, अंहकार व जाणीव आहे ती कुंडलिनी शक्ती चैतन्यमयी झाल्यावर क्रमाक्रमाने लोपून जाते आणि जसजसा कर्तृत्त्वाचा अंहकार लुप्त होत जाईल तसतशी शक्तीची जागृती अधिकाधिक होत जाईल. एकदा का ही कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊ लागली की, अगदी स्वाभाविक नियमाप्रमाणे सर्व कार्य

स्वतः आपोआप होऊ लागते. ज्याप्रमाणे नदीच्या अनुकूल प्रवाहात नौका सोडल्यावर ती समुद्रात पोहोचण्यासाठी अन्य कोणतेही प्रयत्न करण्याची आवश्यकता राहत नाही, त्याचप्रमाणे कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यावर व तिच्या प्रवाहात मन किंवा प्राण सोडून दिल्यावर जीवाला ब्रह्मावस्था प्राप्त करण्यासाठी निराळा उपाय करण्याची कोणतीही आवश्यकता राहत नाही. संचारित शक्ती कमी-जास्त झाल्याने व संचित वासनांची दृढता निरनिराळी दिसून येत असल्याने या शक्तिपातयोगप्रवाहातून वाहत जाणाऱ्या प्रत्येक साधकाची अवस्था निरनिराळ्या प्रकारची दिसून येते. असे असले तरी संकोचशक्तीच्या किंवा ऊर्ध्वबिंदूमध्ये असलेल्या आकर्षण शक्तीच्या प्रभावामुळे जीवाची-मनाची-अंतर्मुखता हळूहळू क्रमाक्रमाने वाढत जाते आणि शेवटी साम्यावस्था प्राप्त होते.

महायोग :-

शक्तिपातयोगाला महायोगही म्हणतात. महायोग म्हणजे सर्व योगातील सर्वश्रेष्ठ असा योग होय. या भूतलावर या योगापेक्षा दुसरा श्रेष्ठ योग नाही; कारण या एकाच योगात इतर सर्व योगांचा व उपासनांचा समावेश झाला आहे. एवढेच नव्हे; तर इतर कोणत्याही साधनात शक्ती जागृत होऊन अनुभव येण्यास व फलप्राप्ती होण्यास खूप वेळ लागतो. महायोगामुळे मात्र कुंडलिनीशक्तीजागृतीचे फल तत्काळ मिळून नाना तऱ्हेचे दिव्य अनुभव साधकाला येऊन ब्रह्मप्राप्ती अगदी सुलभ व सुकर होते. मनुष्य जीवनाची जेवढी अंगे आहेत तेवढी या महायोगामुळे संपन्न झालेली दिसून येतात. हे खरे असले तरी वैराग्य, शमदमादि साधनसंपत्ती, विचार, संतोषादि दैवीगुण, नित्यानित्यवस्तुविवेक व प्रातिभ ज्ञान हे जसजसे साधन तीव्र होत जाईल तसतसे आतून प्राप्त होते हे या महायोगाचे सर्वात मोठे वैभव आहे.

"योगशिखोपनिषदात" महायोग कशाला म्हणतात हे सांगताना असे म्हटले आहे की -

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।१२९।।

मंत्र, लय, हठ व राजयोग या एकाच योगाच्या चार आंतरभूमिका आहेत. वरील चार प्रकारात हा योग विभक्त असला तरी तो एकच योग आहे. शक्तिपातयोगामध्ये या चारही योगांचा समावेश होत असल्याने त्याला महायोग असे म्हणतात. महेश्वरांनी हा स्वतः सांगितला म्हणून याला महायोग हे नाव मिळाले.

सर्व साधारण मनुष्य हठयोग, मंत्रयोग, लययोग व राजयोग हे चारही योग भिन्नभिन्न आहेत असे समजतो. परंतु वास्तविक स्थिती अशी नाही; कारण कुंडलिनीशक्ती जागृत झाल्यावर हे चारही योग साधकाला स्वतः होतात. हे सर्व योग ज्या अपूर्व योगाने आपोआप होऊ लागतात त्यालाच महायोग असे म्हणतात.

ज्यावेळी साधकाला एखाद्या अत्यंत शक्तिमान् श्रीगुरूंचा अनुग्रह होतो किंवा त्याचे पूर्वपुण्य उदयाला येऊन संचित पापाचा नाश होतो व सदिच्छा जागृत होते तेव्हा त्याला कल्पनातीत विषयाचा अनुभव येऊ लागतो. मात्र जोपर्यंत बुद्धी मंद असते, मनावर अनेक दुष्ट संस्कारांचा थर असतो, अनेक वासनांनी चित्त लिडबिडलेले असते, अज्ञानांधकाराची तीव्रता असते व संस्कारचक्राच्या प्रवाहात युगानुयुगे वाहत जाण्यातच बरे वाटते तोपर्यंत प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव जरी आला तरी तो माणसाचे काहीही कल्याण करू शकत नाही. मात्र पुनःपुन्हा भोग भोगता एक वेळ अशी येते की, भोगाचे सामर्थ्य नाहीसे होते व इच्छाही नाहाशी होते. निसर्गाचा नियमच असा आहे की, अशा प्रकारे ज्यावेळी भोगाची वृत्ती पूर्ण होते त्यावेळी स्वाभाविकपणेच मन अंतर्मुख होण्याला सुरुवात होते. ही खरी निवृत्तीची सुरुवात असते. अनंत जन्म भोगविलास इत्यादि भोगून झाल्यावर प्रत्येक मनुष्याच्या जीवनात असा एक दिवस उजाडतो की, त्यावेळी निवृत्ती मार्गाचे द्वार उघडून त्याच्या अध्यात्म्य जीवनाच्या वाटचालीला मार्ग मोकळा होतो. हा मार्ग त्याला श्रीसद्गुरुकृपेनेच मिळतो. या मार्गालाच महायोग असे म्हणतात.

सहजयोग :-

शक्तिपातयोगाला सहजयोग असेही म्हटले जाते. सहजयोग म्हणजे सोपा असा योग किंवा सहजपणे साधणारा योग. या योगात अवघड असे काहीही नाही. जे काही या योगात आहे ते सर्व सोपे, साधे, सरळ व स्वाभाविक असे आहे. या योगात अस्वाभाविक असे काहीही नाही. मुद्दाम बलपूर्वक एकही गोष्ट या योगात करावी लागत नाही. शक्तिजागृतीमुळे प्रत्येक गोष्ट स्वभावतःच होऊ लागते. त्यामुळे हा योग अनायास साध्य होतो. सर्व क्रियादि गोष्टी आपोआप होत असल्याने हा योग सर्व योगात सुखकर आहे याचा अनुभव येतो.

सहजयोगामध्ये साधकाला कोणत्याही आपत्तीची शंका नसते. शक्ती जागृत झाली की, सर्व शरीर किंवा मान गोलाकार फिरणे, मागेपुढे डोलणे, तोंडातून नाना तऱ्हेचे शब्दोच्चार होणे, हसणे, रडणे, निद्रा येणे, शरीर कंप पावणे, मूर्च्छा येणे, शरीर मागे अथवा पुढे पडणे, घाम येणे, रोमांच येणे, मन अत्यंत प्रसन्न व आनंदित होणे, निरनिराळ्या तऱ्हेची आसने, बंध, मुद्रा, प्राणायाम होणे, प्रकाश दिसणे, निरनिराळ्या देवतांची व दृश्यांची दर्शने होणे इत्यादिंपैकी कोणतीही क्रिया होऊ लागली तर ती होऊ देणे इष्ट ठरते; कारण ती सहजपणे व स्वाभाविकरीतीने होत असते. या क्रिया होऊ लागल्यावर त्यांना रोखता कामा नये. किंवा या व इतर दुसऱ्या कोणत्याही क्रिया झाल्या तरी घाबरण्याचे कारण नाही; कारण ज्याप्रमाणे झोप आल्यावर झोपणे, भूक लागल्यावर जेवणे व शौचमूत्राचा वेग आल्यावर त्या पासून निवृत्त होणे या गोष्टी प्रकृतीला हितकारक ठरतात त्याचप्रमाणे वरील गोष्टी केल्याने मनाला आनंद होतो व चित्ताला सुख लाभते.

मात्र वरील गोष्टी वेळच्या वेळी केल्या नाहीत तर त्यापासून त्रास झाल्याशिवाय राहत नाही; कारण स्वाभाविक होण्याऱ्या गोष्टीत अडथळा आणला की, त्याची प्रतिक्रिया उमटल्याशिवाय राहणार

नाही. झोपणे, जेवणे, मलमूत्र त्याग करणे इत्यादि स्वाभाविक गोष्टी वेळच्या वेळी न केल्यास त्यामुळे अनिष्ट घडून येण्याचा संभव असतो. एखाद्या माणसाला खूप दु:ख झाल्यावर त्याला रडू देणेच इष्ट ठरते. त्याच्यावर दडपण आणून त्याचे दु:ख व रडणे दाबून टाकले तर त्याची मानसिक स्थिती बिघडण्याचा संभव असतो. मात्र शोक झाल्यावर मनसोक्त रडण्याने माणसाचे दु:ख हलके होऊन त्याला खूप मोकळे वाटते.

वरील सर्व विवेचन सहजयोगाला पूर्णांशाने लागू पडते. श्रीगुरुशक्तीचे संक्रमण झाले की, शक्ती ऊर्ध्वगामी होते. त्यामुळे वर वर्णन केलेल्या नाना प्रकारच्या क्रिया होतात. त्या अगदी स्वाभाविक असतात. त्या उत्पन्न झालेल्या क्रियांना साधकाने अडथळा आणला तर त्याचे मन अशांत होते. चित्त अस्वस्थ बनते. अशा वेळी साधकाने क्रियांना मोकळेपणी वाव देणे हेच सर्वोतोपरी इष्ट व हितकारक असते. साधनाला बसल्यावर शक्तीकडून आतून जे आपोआप होईल ते नि:शंकपणे होऊ देणे व त्या क्रियांना शरीर समर्पण करणे यातच सहजयोगाचे सार आहे.

सहजयोगाचे हे वैशिष्ट्य आहे की, श्रीसद्गुरुकृपेने एकदा साधन सुरू झाले की, विशेष कष्ट व प्रयत्न करावे लागत नाहीत. श्रीसद्गुरूंजवळ राहून आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि गोष्टी स्वतंत्रपणे शिकण्याचे कारण उरत नाही. या योगाला शक्तीकडून सर्व क्रिया होत असल्यामुळे साधकाला कधीही चुकण्याची व त्रास होण्याची भीती राहत नाही.

सहजयोगाचे हे वैशिष्ट्य श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** बाराव्या अध्यायात पुढील प्रमाणे सांगितले आहे.

परी मनें वाचा देहें। जैसा जो व्यापारु होये।
तो मी करीतु आहें। ऐसें न म्हणें।।११७।।
करणें कां न करणें। हें आघवें तोचि जाणे।
विश्व चळतसे जेणें। परमात्मेनि।।११८।।

उणेयापुरेयाचें कांहीं। उरों नेदीं आपुलिया ठायीं।
सजातचि करूनि घेईं। जीवत्व हें।।११९।।
माळियें जेउतें नेलें। तेउतें निवांतचि गेलें।
तया पाणिया ऐंसे केलें। होआवें गा।।१२०।।
म्हणोनि प्रवृत्ति आणि निवृत्ति। इयें वोझीं नेघें मती।
अखंड चित्तवृत्ति। माझ्या ठायीं।।१२१।।
येऱ्हवी तरी सुभटा। उजू का अव्हांटा।
रथ काई खटपटा। करीत असे।।१२२।।
आणि जें जें कर्म निपजे। तें थोडें बहु न म्हणिजे।
निवांतचि अर्पिजे। माझ्या ठायीं।।१२३।।
ऐसिया मद्भावना। तनुत्यागीं अर्जुना।
तूं सायुज्यसदना। माझिया येसी।।१२४।।

साधन करताना मन, वाणी व शरीर यांच्याकडून जसा व जो व्यापार होईल तो मी करीत आहे असे साधकाने म्हणता कामा नये; कारण या क्रिया अगदी सहज होत असतात. परमात्मा या विश्वाचा चालक आहे. त्याच्या इच्छेने विश्वातील सर्व घडामोडी होत असतात. म्हणून कर्म करणे किंवा न करणे हे त्यालाच माहीत असते. साधनात कोणत्या क्रिया व्हाव्यात व कोणत्या होऊ नयेत हे परमेश्वरच ठरवीत असतो. त्यामुळे त्या सर्व क्रियात सुसूत्रता व सहजता असते. अमुक क्रिया कमी झाली किंवा अमुक क्रिया जास्त झाली या विषयी साधकाने काही एक मनात राहू देता कामा नये किंवा त्याविषयी मनात खेदही बाळगता कामा नये. ज्याप्रमाणे माळी नेईल तिकडे पाणी हे निवांतपणे जाते त्याप्रमाणे मनातील कर्तृत्वाभिमान टाकून साधन सहजपणे होऊ दिले पाहिजे. असे झाले म्हणजे प्रवृत्तिनिवृत्तीचे ओझे बुद्धीवर पडत नाही. अमुक चांगले किंवा अमुक वाईट हा भेद उरत नाही. त्यामुळे चित्तवृत्ती माझ्या ठायी अखंड राहते. वाट सरळ आहे किंवा वाकडी आहे याविषयी रथाला काही काळजी असते का? जिकडे त्यास न्यावे तिकडे तो जातो. त्याप्रमाणे ज्या ज्या क्रिया

होतील व जे जे कर्म होईल ते थोडे किंवा पुष्कळ आहे असे न म्हणता एकनिष्ठेने मला अर्पण कर. साधनाचा अभिमान धरू नकोस. या प्रमाणे भावना करून साधन करीत राहिले असता देहपातानंतर तू माझ्या ऐक्यरूपी मंदिरात प्राप्त होशील. अशा रीतीने कर्तृत्व सोडून साधन केले असता भोक्तृत्वही नाहीसे होऊन जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित असा ब्रह्मस्वरूप होतो.

शक्तिपातयोग :-

सिद्धमहायोगाला योगाच्या परिभाषेत **"शक्तिपातयोग"** असे म्हणतात. शक्तिपात म्हणजे शक्तीचा ऱ्हास नव्हे; तर श्रीसद्गुरूंच्या द्वारे भगवंताचा अनुग्रह किंवा कृपा याला शक्तिपात असे म्हणतात. श्री.प.प.श्रीविष्णुतीर्थस्वामीमहाराजांनी आपल्या **"शक्तिपात"** या पुस्तकात **"तत्पातः शिष्येषु"।।७।।** व **"ततःशक्त्युद्बोधनम्"।।८।।** या दोन सूत्रांनी ही शक्तिपाताची प्रक्रिया स्पष्ट केली आहे. शिष्यावर शक्तीचा पात होतो, असा पहिल्या सूत्राचा अर्थ आहे. गुरुजन शिष्याच्या अध्यात्मिक उन्नतीसाठी, कल्याणासाठी, ज्ञानप्राप्तीसाठी व कैवल्य-प्राप्तीसाठी आपल्या जवळील दिव्य शक्तीचा शिष्यावर पात करतात. त्यामुळे शिष्याची शक्ती जागृत होते, असा दुसऱ्या सूत्राचा अर्थ आहे. प्रत्येक मनुष्याची अध्यात्मिक शक्ती सुप्तच असते. ती जागृत झाल्यावर तिचे स्वरूप कसे आहे याचा अनुभव येऊ लागतो. शिष्याची शक्ती जागृत करणे यालाच शक्तिपात असे म्हणतात.

"जीवनमुक्तिविवेक" या ग्रंथावर श्री. अच्युतराय मोडक यांनी जी टीका लिहिली आहे त्यात शक्तिपातासंबंधीचे उत्कृष्ट विवेचन केले आहे त्यात ते असे म्हणतात की-

"शिष्याचे कर्मसाम्य असले तरच शांभवी शक्ती तेथे संक्रांत होते. श्रीमन्माधवाचार्यांनी आपल्या टीकेतही हे सप्रमाण सांगितले आहे. प्राणिमात्राचे पूर्वजन्मातील कर्म (धर्माधर्मरूप) समान असताना एका क्षणात सर्वपाशच्छेदक शांभवी-शक्तिपात-दीक्षा श्रीगुरूंच्या फक्त दयार्द्र दृष्टीने होते. आगमातही असेच सांगितले आहे. अधर्म व

धर्माचे समत्व असताना शंभूची ज्ञानात्मिका श्रेष्ठ शक्ती शिष्यदेहात संक्रांत होते. येथील खरा अर्थ असा आहे की, श्रीगुरू व शिष्य यांचे धर्माधर्म समान झाले की, शिवाची परमशक्ती अधिकारी शिष्याच्या ठिकाणी चाक्षुष्यादि दीक्षासाधनद्वारा परमेश्वराचे ज्ञान करून देण्यासाठी प्रेरिली जाते. हाच शक्तिपात होय.

येथे एक अशी शंका घेतली जाईल की, शक्ती या शब्दाने तर केवळ अद्वैत चैतन्य हेच अभिप्रेत आहे. ते स्वरूपभूत, अनंत व अमूर्त आहे. त्यामुळे तिचा पात-पतन अशक्य व असंभव आहे आणि जर शक्ती ही स्वस्वरूपाहून भिन्न व दुसरीच गोष्ट असेल तर तिला ज्ञानात्मिका व परा ही विशेषणे लावणे व्यर्थ होय.

परंतु ही शंका योग्य नाही; कारण शक्ती म्हणजे चैतन्य शक्तीच होय. ती अद्वैतरूप, परमेश्वरस्वरूपभूत व सर्वगत आहे. असे शक्तीचे स्वरूप असल्यामुळे तिचे पतन होते हे म्हणणे अगदी औपचारिक आहे. शक्तीचा पात ही गोष्ट अगदी असंभव आहे. परंतु शिष्याचे चैतन्य नानाविध पाशजालाने झाकलेले असते. ते आवरण दीक्षा-संस्काराने दूर करून चिच्छक्ती प्रकट करणे यालाच पात असे म्हणतात. वरून खाली येणे म्हणजे पतन हे या चिच्छक्तीला संभवत नाही म्हणून आगमात असे वर्णिले आहे की-

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथम्?
ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च।।
सत्या सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादि पाशबद्धेषु संवृता।।
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते।।

ती परमशक्ती सर्वव्यापिनी आहे. मग तिला पतित होते किंवा पडते असे का म्हटले जाते? साकार व परिच्छिन्न पदार्थच वरून खाली पडू शकतो. म्हणजे जो पदार्थ एकदेशीय व मूर्तिमान असून सर्वव्यापक नाही तो वरून खाली पडला म्हणजे त्या पदार्थाच्या पडण्याला पात किंवा पतन असे म्हणतात. परंतु ती शक्ती सर्व

व्यापिनी आहे. ती शिवाप्रमाणे सर्वत्र राहणारी व सहज आहे. परंतु शक्ती मलकर्मादि पाशबंधामुळे झाकलेली आहे. जेव्हा मलकर्मपाश-बंधादि दोष नष्ट होतात म्हणजे पक्व होऊन गळून पडण्याच्या मार्गावर असतात तेव्हा ती शक्ती व्यक्त होते. या शक्तीच्या प्रकटीकरणालाच पतित म्हणजे शक्तिपात असे म्हटले जाते.

असा हा शक्तिपात होणे अगदी नितांत आवश्यक व अपरिहार्य आहे हे सांगताना **"तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टी"** या पुस्तकातील **"भगवत् कृपा का रहस्य"** या आपल्या लेखात म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज असे म्हणतात की, "इससे सिद्ध होता है कि शिष्य कितनाही भोगलोलुप क्यों न हो पर भगवान् की संचारित शक्ती व्यर्थ नहीं जाती। निम्न मात्राका शक्तिपात भी अंतमें अवश्य शिवत्वदायक होता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि शक्तिपात निरपेक्ष है अर्थात् कर्मादिके अधीन नहीं है। कर्मादि अणुको याने जीवको मायामें प्रविष्ट कराते हैं, वे मायासे जीवका उद्धार नहीं कर सकते। जितने शुद्धात्मा अथवा रुद्राणु माया के मध्यमें हैं और जितने मायाके ऊपर हैं सब अपना अपना अधिकार समाप्त होनेपर हठात् अर्थात् कर्मादिकी अपेक्षाके बिना भगवत् शक्तिपातके प्रभावसे शिवत्वको प्राप्त होते हैं और जो लोक मायासे आक्रांत नहीं हैं वे कर्मादि निरपेक्ष हैं। वे केवल शक्तिपातमात्रसे भोग और मोक्ष दोनोंको प्राप्त करते हैं।"

यावरून हे सिद्ध होते की, शिष्य कितीही विषयांध व भोगलोलुप असला तरी ज्यावेळी श्रीसद्गुरू त्याच्यावर कृपा करून शक्तिपात करतात त्यावेळी त्याच्या ठिकाणी संचारित झालेली शक्ती कधीही व्यर्थ जात नाही. अगदी सामान्य मात्रेचा शक्तिपातही शेवटी साधकाला शिवत्वाची प्राप्ती निश्चितपणे करून देतो यात तिलप्राय शंका नाही. यावरून असे निश्चित दिसून येते की, "शक्तिपात हा निरपेक्ष असून तो कर्म इत्यादि कशाच्याही स्वाधीन नाही. कर्म वगैरे ज्या गोष्टी आहेत त्या जीवाला मायेमध्ये प्रविष्ट करतात. त्यामुळे कर्मामुळे किंवा तत्सम गोष्टींमुळे जीवाचा मायेपासून उद्धार होऊ शकत

नाही. जेवढे शुद्धात्मा किंवा रुद्राणू मायेमध्ये आहेत व जितके मायेच्या वर आहेत ते सर्व आपापला अधिकार संपल्यावर आपोआप म्हणजे कर्मादिची वगैरे कशाच्याही अपेक्षेशिवाय भगवच्छक्तिपाताच्या प्रभावाने शिवत्व प्राप्त करतात. जे लोक मायेने गुरफटलेले नसतात ते कर्मादि निरपेक्षच असतात. ते तर केवळ शक्तिपातानेच भोग व मोक्ष दोन्हीही प्राप्त करून घेतात."

"भारतीय संस्कृति और साधना," खंड एक, या पुस्तकातील **"जीवन का लक्ष्य"** या आपल्या निबंधातही म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज यांनी अज्ञाननिवृत्ती होण्यासाठी शक्तिपात होणे किती आवश्यक आहे व त्याशिवाय अन्य सर्व साधने अगदी निरुपयोगी कशी ठरतात हे सांगताना असे म्हटले आहे की, "अज्ञानाच्या प्रभावाने आत्म्याला मायेच्या अधीन होऊन देह धारण करणे भाग पडते. त्या अज्ञानाची निवृत्ती जोपर्यंत होत नाही तोपर्यंत आत्म्याचा नैसर्गिक असा शिवस्वरूप धर्म प्रकट होत नाही. या मूळ अज्ञानालाच पौरुष अज्ञान असे म्हटले जाते. या अज्ञानाची निवृत्ती व्हावी म्हणून जे जे अत्यंत आवश्यक उपाय व मार्ग आहेत ते ते सर्व निरर्थक आहेत. मग कर्म व ज्ञान हे मार्गच काय परंतु भक्तीचा मार्गही निरर्थक ठरतो. या सर्वांची उपायामध्ये गणना होत असली तरी हे सर्व मार्ग म्हणजे केवळ बुद्धीचा व्यापार आहेत. बुद्धी उत्पन्न होण्यापूर्वी जी गोष्ट घडली, उत्पन्न झाली किंवा उभारली गेली तिची निवृत्ती किंवा संहारणी करण्याची पात्रता वरीलपैकी एकाही उपायामध्ये नाही. यासाठी जोपर्यंत मनुष्याच्या आत्म्याचे मूळ अज्ञान दूर होत नाही तोपर्यंत मनुष्य जीवनाचा सर्वात श्रेष्ठ असा आदर्श म्हणजे मोक्ष कधीही प्रत्यक्षपणे प्राप्त होत नाही. आत्म्याने आपल्या इच्छेने जो आत्मसंकोच केला त्यालाच मूळ अज्ञान म्हणतात. मूळ अज्ञान म्हणजे आत्मसंकोचाशिवाय दुसरे तिसरे काहीही नाही. वास्तविक सम्यक् विचार केला तर हे स्पष्टच आहे की, शिवरूप आत्मा हा सर्व प्रकाराने संकोचरहित आहे. त्याच्या ठिकाणी कालाचा संकोच नसल्याने तो नित्य आहे. देशाचा संकोच नसल्याने तो विभू

म्हणजे व्यापक आहे. क्रियेचा संकोच त्याच्या ठिकाणी नसल्याने तो सर्वकर्ता आहे. ज्ञानाचा संकोच नसल्याने तो सर्वज्ञ आहे व आनंदाचा संकोच नसल्याने आत्मा नित्यतृप्त आहे. हेच आत्म्याचे शिवत्व होय. परंतु लीला करण्याच्या बहाण्याने आत्मा स्वेच्छेने आपल्याला संकुचित करतो व अभिनय करण्यासाठी जीवभाव ग्रहण करतो. असे झाले म्हणजे त्याचे सर्व स्वाभाविक धर्म संकुचित होणे अपरिहार्य ठरते. अशा प्रकारे परिच्छिन्न शक्तीमुळे क्षुद्र झालेला आत्मा मायेच्या अधीन होऊन आपणच कर्ता आहोत असे मानू लागतो अर्थात् तो कर्म जगतामध्ये प्रवेश करतो. कर्म करणे व केलेल्या कर्माचे फळ भोगणे या दोन व्यापारात गुंतून जाऊन एका योनीतून दुसऱ्या योनीत जाऊन भिन्न भिन्न शरीरे धारण करून भटकत राहतो. संकुचित आत्म्याच्या म्हणजे जीवाच्या संसार-चक्राच्या परिभ्रमणाचा हा संक्षिप्त इतिहास आहे. देह संपन्न असलेल्या आत्म्याच्या अभिमानसामग्रीमध्ये बुद्धी हे अत्यंत प्रधान अंग आहे. ज्ञान व अज्ञान हे दोन्हीही बुद्धीचेच धर्म आहेत. शाब्दिक ज्ञानाने शाब्दिक अज्ञान नष्ट होते हे खरे आहे. परंतु ही अत्यंत सामान्य गोष्ट आहे. अशा प्रकारे होणाऱ्या शाब्दिक ज्ञानाने मूळ अज्ञान नाहीसे होण्याचा संभव तिळमात्र असत नाही.

याकरिता सर्वात प्रथम मूळ अज्ञान कसे नाहीसे होईल याचा विचार केला पाहिजे. या पूर्वीच पहिल्या प्रथम अज्ञान दूर होण्यासाठी कर्म, शब्द-ज्ञान किंवा बाह्य-भक्ती यांचा कोणत्याही प्रकारे अज्ञान संपण्याच्या दृष्टीने उपयोग होत नाही हे जे सांगितले आहे ते त्रिकालाबाधित सत्य आहे; कारण हे सर्व मार्ग किंवा साधने मुळाला स्पर्शही करू शकत नाहीत. एकमात्र भगवंताच्या कृपाशक्तीच्या द्वारेच या मूळ अज्ञानाची निवृत्ती होऊ शकते. अन्य कोणत्याही उपायाने हे घडून येऊ शकत नाही. भगवत्कृपा ही स्वभावसिद्ध आहे व ती अहेतुक असली तरी आधाराच्या म्हणजे साधकाच्या पात्रतेनुसार तिची कार्यक्षमता प्रतिबिंबित झालेली दिसते. कृपाशक्ती जरी नित्य असली तरी जोपर्यंत जीवात्म्यावरील मूळ आवरणरूप मल पक्व होत नाही म्हणजे गळून

पडण्याच्या मार्गावर असत नाही तोपर्यंत शक्तिपात होऊन कृपाशक्ती साधकात संचारित होऊ शकत नाही. परंतु मल परिपक्व झाल्यावर मलपाकाच्या तारतम्यानुसार कृपा संचारित झाल्याशिवाय राहत नाही. लौकिक जगतात ज्याला दीक्षा म्हणतात ते त्याचेच फल आहे. ही शक्तिपातयोगदीक्षा स्थूल व सूक्ष्म अशा दोन्ही रीतीने होऊ शकते. दीक्षेचा प्रकार कोणता आहे यापेक्षाही ती होणे हे अत्यंत आवश्यक आहे. जोपर्यंत शक्तिपातयोगाची दीक्षा होत नाही तोपर्यंत साधकावर कोणत्याही साधनाचा परिणाम जितका व्हावयास पाहिजे तितका होत नाही."

उत्तम, मध्यम व कनिष्ठ अधिकाऱ्यांवर संतमहात्मे शक्तिपात कसा करतात व अंतर्निहित महाशक्ती जागृत करून साधकाला शिवरूप कसे करतात हे सांगताना **"भारतीय संस्कृति और साधना,"** खंड दुसरा, या ग्रंथातील **"संत परिचय"** या आपल्या लेखात म.म. श्री.गोपीनाथ कविराज असे म्हणतात की, "ज्यांना सत्याचा साक्षात्कार झाला आहे ते जर समर्थ असले व त्यांना जर आवश्यकता वाटली तर ते दुसऱ्यांनाही उपदेश देऊ शकतात. जो साधक श्रेष्ठ अधिकारी असतो त्याला प्रातिभ ज्ञानाच्या रूपाने हा उपदेश दिला जातो. हे प्रातिभ ज्ञान आपोआप हृदयामध्ये उत्पन्न होते. हे ज्ञान अनौपदेशिक असले तरी एक प्रकारे एका ठिकाणाहून दुसऱ्या ठिकाणी संक्रमित होत असल्याने उपदेशरूपच आहे. मात्र बाह्य शब्दाचा आश्रय घेऊन त्या ज्ञानाचा श्रेष्ठ अधिकाऱ्याच्या बाबतीत संचार करण्याचे कारण पडत नाही. अशा प्रकारे विशुद्ध ज्ञानानेच हृदयातील संशय सम्यक्पणे नाहीसे होतात. **"गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यः संछिन्नसंशयः"** या वाक्याचा अर्थच केवळ कृपेने शक्तिपात करून शिष्याच्या ठिकाणी ज्ञान संचारित करून शिष्याचा उद्धार करणे हा आहे.

मध्यम अधिकारी साधकाला संत लोक विशुद्ध चेतनाबरोबर शब्दाचा वापर करून शक्तिपाताने उपदेश देतात. या चेतन शब्दामध्ये इतके सामर्थ्य असते की, जेव्हा हा शब्द साधकाच्या कानामध्ये प्रवेश

करतो तेव्हा तो मर्मस्थानापर्यंत जाऊन भिडतो. ज्यावेळी ही प्रक्रिया घडते त्यावेळी अत्यंत असाधारण, असामान्य व अलौकिक आंदोलने साधकाच्या हृदयात उपस्थित होतात. साधकाचे हृदय अशा प्रकारे आंदोलित झाले की, त्याची स्थिती बदलून जाते. साधकाने शब्द ऐकल्याबरोबर त्याचे बाह्य जगताचे आकर्षणच नाहीसे होते. मन, प्राण व इंद्रिये ही सर्व एकत्रित होऊन अत्यंत प्रचंड व प्रबल वेगाने एखाद्या उद्दाम प्रवाहाप्रमाणे अंतरात्म्याला भेटून त्याच्याशी समरस होण्यासाठी धावत सुटतात. श्रीकृष्णाची बासरी ऐकल्याबरोबर श्रीराधेची किंवा गोपिकांची स्थिती व भाव अगदी असेच होत असत. तंत्रशास्त्रामध्ये मंत्र चैतन्ययुक्त व्हावा म्हणून जी व्यवस्था केलेली दिसते त्याचे कारण हेच आहे. शब्द चेतन केल्याशिवाय त्या शब्दाच्या साहाय्याने परब्रह्माचा साक्षात्कार होणे ही गोष्ट कालत्रयीही असंभवनीय व दुष्कर आहे. जो शब्द अचेतन असतो त्याला शब्दब्रह्म म्हणता येत नाही. मात्र अचेतन शब्दाचा वारंवार जप करण्याची एक विशेष प्रक्रिया आहे. तिचा अवलंब केला असता खूप परिश्रमाने शब्दाला चेतनता येऊन शक्ती जागृत होते. संतमहात्म्यांना इच्छा झाली की, अगदी प्रत्यक्षपणे ते चेतन शब्दाच्या प्रयोगाने शक्ती जागृत करतात.

जे साधक अगदी अधम अधिकारी असतात त्यांना संत लोक अचेतन शब्दाच्या द्वारा उपदेश करतात. परंतु त्याबरोबरच ते साधकाला अशी काही विशेष क्रिया सांगतात की, त्यामुळे अचेतन शब्द क्रमशः चेतन शब्दात रूपांतरित होत जातो. साधकाच्या अवस्थातील फरकामुळे साधक दीर्घकालपर्यंत विचार व नामस्मरण करीत राहिला तर त्यामुळे किंवा अन्य कोणत्याही कारणाने तीव्र संघर्षामुळे अचेतन शब्द चेतन होऊन शक्ती जागृत होते.

सारांश, जोपर्यंत कुंडलिनीरूपी महाशक्ती सत्यमार्गावर आवरण घालून घोरतम निद्रेत निमग्न असते तोपर्यंत जीवाची जडता दूर होत नाही व शिव शवरूप होऊन निष्क्रिय अवस्थेतच असतो. इतकेच नव्हे; तर या स्थितीत मिथ्या गोष्टींचे अवडंबर माजते. मायेचे तीव्र

प्रलोभन असते व विचित्र अशा प्रपंचाची मोहिनीशक्ती सतत प्रकट होत राहते. शक्तिपाताने कुंडलिनी जागृत झाली की, जीवाची घोर निद्रा संपून तो आपले स्वरूपदर्शन घेण्याला समर्थ होतो. ज्यावेळी जागरण पूर्णपणे घडून येते त्यावेळी जीवाचे जडत्व नि:शेषपणे नाहीसे होऊन तो शिवत्वाची प्राप्ती करतो. याचा अर्थच असा आहे की, शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळाली की, अंतर्निहित महाशक्ती जागृत व गतिमान होऊन नित्य जागृत असलेल्या श्रेष्ठ अशा शिव-स्वरूपाशी समरस होण्यासाठी धावू लागते."

भक्तियोग :-

शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळाल्यावर भक्तियोग संपन्न होऊ लागतो; कारण शक्तिपातयोगाचे मुख्य लक्षण भगवद्भक्तीचा उन्मेष हे आहे. **"मालिनी विजयोत्तरतंत्रामध्ये"** शक्तिपात झाल्यावर कोणकोणती फले मिळतात हे सांगताना अगदी प्रथम पुढील लक्षण सांगितले आहे.

सति तस्मिंश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत्।
तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला।।१।।

श्रीगुरूंकडून तीव्र शक्तिपात झाल्यावर कोणताही प्रयत्न न करता अकस्मात् शिष्यामध्ये अनेक उत्तम लक्षणे प्रकाशित होतात. श्रीमहेश्वरांच्या ठिकाणी अत्यंत दृढ भक्ती होणे हे अगदी पहिले लक्षण साधकामध्ये दिसून येते. अशा प्रकारे भक्तिभाव साधकाला प्राप्त झाला की, कधी कधी बेहोश होऊन नृत्य करावे, गावे इत्यादि इच्छा त्याला होऊ लागतात. कधी कधी भक्तीच्या आवेशाने साधक जोरजोराने हसू व रडूही लागतो. आतून होणाऱ्या भक्तीच्या वेगामुळे शरीर कंप पावून घाम येऊ लागतो. एकदा का शक्ती जागृत झाली की, साधनकालामध्ये भक्तीची एक एक लक्षणे साधकामध्ये आपोआप प्रकट होऊ लागतात; कारण श्रीगुरुपरंपरेने चालत आलेले हे शक्तिपाताचे साधन साधक जन्मजन्मांतरी करीत आलेला असतो. त्याला जरी स्मृती नसली तरी ही साधना काही नवीन नसते. श्रीमत् चैतन्य महाप्रभूंचे परमभक्त शिष्य श्रीमत् रूपगोस्वामी यांनी आपल्या **"भक्ति-रसामृतसिंधू"** या

ग्रंथात "**दक्षिणविभागे द्वितीय अनुभावलहरीमध्ये**" या साधनात भक्तीच्या स्रोतामुळे पुढील क्रिया उत्पन्न होतात म्हणून वर्णन केले आहे.

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः।।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भासुराख्यया।।२.१।।
नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्।
हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता।।२।।
लालास्रवोऽट्टहासश्च घूर्णा हिक्काऽऽदयोऽपिच।
ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथाऽर्थाख्या द्विधोदिताः।।३।।

या साधनामध्ये चित्तस्थ भावांच्या सूचना देणाऱ्या या बाह्य क्रियांचा अनुभव साधकाला येत असतो. नृत्य, गीत, भूमीवर लोळणे, जोरजोराने ओरडणे, शरीराच्या निरनिराळ्या तऱ्हेच्या हालचाली करणे, हुंकार देणे, हूं हूं करणे, जांभई देणे, दीर्घ श्वासप्रश्वास करणे, लोकांच्या निंदेची किंवा प्रशंसेची पर्वा न करणे, लाळ वाहणे, जोरजोराने हसणे, घूर्णा म्हणजे शरीर डोलणे, उचकी लागणे, थंड लागणे, हातपाय आपटणे इत्यादि गोष्टी भक्तीचा उद्रेक आतून आला की दृग्गोचर होत असतात.

या ग्रंथातच भक्तीच्या उद्रेकाची लक्षणे सांगताना पुढे असे म्हटले की-

चित्तं सत्त्वीभगवत्प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम्।।३८।।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्।
तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी।।९।।
ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।।१०।।

हे साधन करू लागले म्हणजे चित्त सत्त्वयुक्त बनत जाऊन प्राण लीन होऊ लागतो. भक्ती आतून उफाळून आली की, प्राणाच्या नाना प्रकारच्या आंतरिक क्रिया घडून येतात. या क्रियांमुळे साधकाचा देह विशेष रूपाने क्षुब्ध झालेला दिसला तरी त्यामुळे शक्तीचा आतून सतत विकास होत असतो. भक्तीमुळे प्रक्षुब्ध झालेल्या प्राणामुळे

साधकभक्ताच्या शरीरात स्तंभादि अष्टसात्त्विक भावसमूह प्रकट होतो. स्तंभ म्हणजे खांबाप्रमाणे देहाची जडवत् स्थिती, घाम, रोमांच, स्वरभेद म्हणजे कंठस्वराची नाना प्रकारची विकृती, कंप, शरीर पांढरट होणे, अश्रू व निद्रा हे आठ भाव भक्तीने उसळून येतात. "मी तुला दिव्य दृष्टी देतो. तू योगाचे ऐश्वर्य पाहा," असे म्हणून श्रीकृष्णांनी अर्जुनावर शक्तिपात केल्याबरोबर त्याच्या ठिकाणी हे आठही सात्त्विक भाव भक्तिप्रेमामुळे उसळून आले. त्याचे वर्णन श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" पुढीलप्रमाणे केले आहे.

आंतु महानंदा चेइरें जाहालें।
बाहेरि गात्रांचें बळ हारपोनि गेलें।
आपाद पां गुंतलें। पुलकांचलें।।११.२४६।।
वार्षिये प्रथमदशे। वोहळलया शैलांचे सर्वांग जैसें।
विरूढें कोमलांकुरीं तैसें। रोमांच जाहाले।।२४७।।
शिवतला चंद्रकरी। सोमकांत द्रावो धरी।
तैसियां स्वेदकणिका शरीरीं। दाटलिया।।२४८।।
माजी सांपडलेनि अलिकुळें।
जळावरी कमळकळिका जेविं आंदोळे।
तेविं आंतुलिया सुखोर्मीचेनि बळें। बाहेरि कांपे।।२४९।।
कर्पूरकर्दळीचीं गर्भपुटें। उकलतां कापुराचेनि कोंदाटे।
पुलिका गळती तेविं थेंबुटें। नेत्रौनि पडती।।२५०।।
उदयलेनि सुधाकरें। जैसा भरलाचि समुद्र भरे।
तैसा वेळोवेळां उर्मिभरें। उचंबळत असे।।२५१।।
ऐसा सात्त्विकांही आठां भावां। परस्परें वर्ततसे हेवा।
तेथ ब्रह्मानंदांची जीवा। राणीव फावली।।२५२।।

श्रीकृष्णांनी अर्जुनावर कृपा केल्यावर त्याच्या ठिकाणी आतील महानंद प्रकट झाला. अर्जुनाच्या ठिकाणी मूळ आनंद होताच. त्यावरील आवरण श्रीकृष्णांच्या सामर्थ्याने दूर झाल्याबरोबर तो आतून प्रकट झाला व अर्जुन आनंदसागरात बुडून गेला. त्याच्या

शरीराच्या अवयवांच्या ठिकाणी जे बळ होते ते नाहीसे होऊन अवयव ढिले पडले. आनंदातिरेकामुळे पायापासून मस्तकापर्यंत सर्व शरीरावर रोमांच उभे राहिले. वर्षाऋतूच्या आरंभी ज्याप्रमाणे पर्वताच्या अंगावरून पावसाचे पाणी वाहून गेल्यावर गवताचे कोवळे अंकुर फुटतात त्याप्रमाणे ते रोमांच दिसत होते. चंद्राच्या किरणांचा स्पर्श झाल्यावर सोमकांतमणी जसा पाझरतो त्याप्रमाणे अर्जुनाच्या सर्व शरीरावर घामाचे बिंदू दाटून आले. पाण्यावरील कमळाच्या कळीत भुंगा सापडला म्हणजे ती जशी हेलकावे खाऊ लागते त्याप्रमाणे आत उठणाऱ्या सुखाच्या ऊर्मीमुळे व लहरींमुळे अर्जुनाचे शरीर बाहेर कापू लागले. कापूर उत्पन्न करणाऱ्या कापुरकेळीत कापूर दाटला असता ज्याप्रमाणे त्या कापूरकेळीची सोपटे उकलली जाऊन त्यातून कापराचे कण गळू लागतात; त्याप्रमाणे अर्जुनाच्या डोळ्यातून आनंदाश्रूंचे थेंब पडू लागले. ज्याप्रमाणे पौर्णिमेला पूर्ण चंद्राचा उदय झाल्यावर भरलेल्या समुद्रालाही भरती येते त्याप्रमाणेच श्रीकृष्णांनी कृपा केल्यावर आत वेळोवेळी उठत असलेल्या आनंदाच्या ऊर्मीमुळे अर्जुन वारंवार उचंबळू लागला व अंतर्यामीच्या सुखाच्या लाटांनी तो वरचेवर डोलू लागला. याप्रमाणे अर्जुनाच्या ठिकाणी प्रकट झालेल्या अष्टसात्त्विक भावांची एकमेकात स्पर्धा होऊ लागून त्याला ब्रह्मानंदाचे राज्य प्राप्त झाले.

शक्तिपाताशिवाय खरी भक्ती प्राप्त होत नाही व भक्तीशिवाय चित्तशुद्धी होत नाही. चित्तशुद्धीसाठी अष्टसात्त्विक भाव उत्पन्न होण्याची नितांत आवश्यकता आहे. हे सांगताना **"श्रीमद्भागवताच्या" एकादश स्कंदाच्या चौदाव्या अध्यायात** श्रीव्यास महर्षी असे म्हणतात की -

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः
।।११.१४.२३।।

अंगावर रोमांच उत्पन्न झाल्यावाचून, चित्त द्रवल्यावाचून किंवा नेत्रातून आनंदाश्रू आल्यावाचून भक्ती सिद्ध होत नाही आणि भक्तीवाचून

चित्तही शुद्ध होत नाही. या श्लोकावर टीका करताना श्रीसंत एकनाथ महाराजांनी **"श्रीएकनाथी भागवतात"** भक्ताच्या ठिकाणी भक्तीची जी चिह्ने दिसतात त्याचे वर्णन पुढीलप्रमाणे केले आहे.

तेणेंचि उपजे माझी भक्ती। माझ्या भजनाच्या अतिप्रीतीं।
आवडीं माझीं नामें गाती। रंगीं नाचती सद्भावें।।३०८।।
पोटांतूनिया उल्हासतां। रंगीं रंगता पैं नाचतां।
अंतरीं द्रवो झाला चित्ता। ते अवस्था बाह्य दिसे।।३०९।।
अंतरीं सुखाची झाली जोडी। बाह्य रोमांची उभिली गुढी।
त्या स्वानुभवसुखाची गोडी। नयनीं रोकडी प्रवाहे।।३१०।।
माझे भक्तीचिया आवडीं। अहं सोहं दोनी कुडीं।
तुटली अभिमानाची बेडी। विषयगोडी निमाली।।३११।।
ते काळींचें हेंचि चिह्न। पुलकांकित देहो जाण।
नयनीं आनंद जीवन। हृदयीं परिपूर्ण स्वानंदू।।३१२।।
पुंजाळले दोनी नयन। सदा सर्वदा सुप्रसन्न।
स्फुरेना देहाचें भान। भगवंतीं मन रंगलें।।३१३।।
ऐसी नुपजतां माझी भक्ती। कैंची होय विषय विरक्ती।
विरक्तीविण माझी प्राप्ती। नव्हे निश्चितीं उद्धवा।।३१४।।
माझी शुद्धभक्ती तत्त्वता। साचार आली जयाचे हाता।
ऐक त्याच्या चिह्नांची कथा। आणि पवित्रता तयाची।।३१५।।
माझे भक्तीसी जो लागला। तो तत्काळ पवित्र झाला।
त्याणें त्रिलोक पुनीत केला। हें गर्जोनी बोलिला श्रीकृष्णू।।

शक्तिपाताने भक्तीची तीव्रता उत्पन्न झाली की, भक्ताची स्थिती कशी होते याचे वर्णन करताना श्रीव्यासमहर्षी **"श्रीमद्भागवतमहापुराणात"** असे म्हणतात की -

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति
।।११.१४.२४।।

भक्ताची वाणी सद्गदीत होते. चित्त आर्द्र होते. तो वारंवार

रडतो. एखाद्या वेळी हसतो. लज्जारहित होऊन मोठ्याने नाचतो व गातो. याप्रमाणे माझा भक्त सर्व भुवनाला पवित्र करतो. यावर श्रीएकनाथ महाराजांनी "**श्रीएकनाथी भागवत**" या ग्रंथात फार सुंदर टीका केली आहे. ते असे म्हणतात की -

अंगीं रोमांच रवरवित। स्वेदबिंदू डळमळित।
चित्त चैतन्यें द्रवत। तेणें सद्गदित पैं वाचा।।३१७।।
हर्ष वोसंडतां पोटीं। अर्धोन्मीलित होय दृष्टी।
जीवशिवा पडली मिठी। ध्यानत्रिपुटी मावळली।।३१८।।
नयनीं अश्रूंचा पूर लोटी। उभंडू न संटेचि पोटीं।
होत जीवभावाची तुटी। पडे सृष्टी मूर्छित।।३१९।।
आक्रंदे थोर आक्रोशें। वारंवार रडता दिसे।
रडण्यामाजीं गदगदां हांसे। जेवीं लागलें पिसें ब्रह्मग्रहो।।
रडणें हांसणें न सांडी। त्याहीमाजीं नवल आवडी।
अर्थावबोधें गाणें मांडी। निजात्मगोडीचेनि योगें।।३२१।।
विसरोनि माझें तुझें। सांडोनियां लोकलाजे।
हरिखें प्रेमाचेनि भोजें। तेणें नाचिजे नि:शंक।।३२२।।
गाणें नाचणें हांसणें। तो रडे कासयाकारणें।
ऐक तींही लक्षणें। तुज कारणें सांगेन।।३२३।।
माउलीवेगळें बाळक पडे। जननी पाहतां कोठें नातुडे।
भेटतां ओरडूनि रडे। मिठी पडे सप्रेम।।३२४।।
जीव परमात्मा दोनी। चुकामुकी झाली भ्रमपट्टनीं।
त्यांसी एकाएकीं होता मिळणी। रडे दीर्घस्वरें स्फुंदत।।३२५।।
बहुकाळें झाली भेटी। ऐक्यभावें पडली मिठी।
तेणें उभंडू संटे पोटीं। रुदन उठी सप्रेम।।३२६।।
देवो लाघवी नानापरी। मायावी नातुडे निर्धारीं।
तो सांपडला घरींच्या घरीं। तेणें विस्मय करी टवकारें।।
देव सदा जवळीच असे। त्यालागीं जन कैसे पिसे।
पाहों जाती देशोदेशें। तें देखोनि हांसे गदगदां।।३२८।।

देव सर्वांसी अजितू। तो म्यां जिंकिला भगवंतू।
धरोनि राखिला हृदयांतू। यालागीं गातनाचतू उल्हासें।।
निवटूनि दुजयांची मातू। अंगें जीतिला भगवंतू।
जगीं झाला यशवंतू। यालागीं गात नाचतू उल्हासें।।३३०।।
पाहतां दुसरें न दिसे मज। यालागीं धरूं विसरला लाज।
जगीं झाला तो निर्लज्ज। निर्लज्जतेचि वोज हे त्याची।।३३१।।
यापरी भक्तियुक्त। होऊनियां माझे भक्त।
निजानंदें गात नाचत। तेणें केलें पुनीत लोकत्रय।।३३२।।
जयाचे देखिता चरण। जडजीवां उद्धरण।
ज्याचे लागता चरणरेण। पशुपाषाण उद्धरती।।३३३।।
कीर्तनाचेनी महाघोकें। नाशिली जगाचीं सर्व दुःखें।
अवघें विश्वचि हरिखें। भरिले महासुखें उचंबळत।।३३४।।
दर्शनें स्पर्शनें वचनें। एक तारिले कीर्तनें।
एक तारिले नामस्मरणें। यापरी जग उद्धरणें उद्धवा।।३३५।।
अविद्या युक्त जीव मलिन। त्यासी शुद्ध व्हावया जाण।
माझी भक्तीचि प्रमाण। हेचि श्रीकृष्ण स्वये सांगे।।३३६।।

श्रीचैतन्य महाप्रभूंना श्रीपुरीजी महाराजांकडून शक्तिपातयुक्त नामस्मरणाची दीक्षा मिळाल्याबरोबर त्यांच्या ठिकाणी प्रेमाचा उन्माद प्रकट झाला. श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी यांनी **"श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली,"** खंड १, या ग्रंथात त्यांच्या उन्मेषाचे वर्णन केले आहे. ते लिहितात, **"उनकी हृदय कंदारसे जो भक्ति-भावका भव्य स्रोत उदित हो गया, वह फिर सदा उत्तरोत्तर बढता ही गया। उनकी दशा भी विचित्रसी हुई। वे भोजन करते-करते सहसा बीचमें ही उठकर रुदन करने लगते थे। रास्ता चलते चलते पागलोंकी भाँती नृत्य करते थे। शय्यापर लेटे लेटे सहसा उठकर बैठ जाते थे। और "हा कृष्ण! हा कृष्ण!" कहकर जोरसे चिल्लाते थे। कभी कभी लोगोंसे बाते करते करते बीचमेंही जोरोंसे ठहाका मारकर हँसते थे। लम्बी लम्बी साँसे लेते रहते थे। कभी कभी अधीर होकर अत्यन्त विरहीकी भाँति**

हिचकियाँ भरते रहते थे। उनके नेत्रोंसे इतना जल निकलता था कि संपूर्ण वस्त्र गीले हो जाते थे।" (पृ.२७२) शक्तिपातामुळे भक्ताची अशी स्थिती अगदी स्वाभाविकपणे होते असे **"श्रीमद्भागवतात"** महर्षी श्रीव्यासांनीही सांगितले आहे.

यदाग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः
।।७.७.३५।।

प्रेमी भक्त प्रेमाच्या भावावेशामध्ये पिशाच्याने पकडलेल्या माणसाप्रमाणे कधी कधी खळखळून हसू लागतो. कधी जोराने ओरडू लागतो. कधी भंगवंताच्या मंजुळ मूर्तीचे ध्यान करतो, कधी लोकांचे पाय पकडून त्यांना वंदन करतो. कधी पुनःपुन्हा दीर्घ श्वासोच्छ्वास करू लागतो, काही वेळेस तर लोकलज्जेची थोडी सुद्धा पर्वा न करता जोरजोराने हे हरे! हे जगत्पते!! हे नारायण!!! याप्रमाणे उच्चारण करीत असतो. यावरून हे स्पष्ट दिसते की, शक्तिपातयोगाची अमूर्त प्रक्रिया भक्तियोगाच्या रूपाने साकार झालेली दिसते. भक्तियोग हे शक्तिपातयोगाचे मूर्त व दृश्य स्वरूप आहे. अष्टसात्त्विक भावांची प्राप्ती शक्तिपातामुळे फार त्वरित वेगाने घडून येते, हे आपण वर पाहिलेच आहे. ही प्रक्रिया कशी घडते याचे वर्णन **"भक्तिरसामृतसिंधूत"** पुढीलप्रमाणे केले आहे.

चत्वारि क्षमादिऽऽभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते।
कदाचित् स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः।।३.११।।
स्तम्भम्भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रुं जलाश्रयः।
तेजस्थः स्वेदवैवर्णे प्रलयं वियदाश्रितः।।१२।।
स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्व भेदभाक्।
रोमाञ्चकम्पवैस्वर्य्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ।।१३।।

शक्तिपातामुळे भक्तीचा उद्रेक होऊन प्राणाच्या गतीत बदल होतो. त्यामुळे प्राण देहाला विशेष रीतीने क्षुब्ध करतो. प्राण कधी पृथ्वीतत्त्व, कधी जलतत्त्व, कधी तेजतत्त्व व कधी आकाशतत्त्व

यांपैकी एका तत्त्वाचा अवलंब करून शरीरात वावरू लागतो. काही वेळेस तो स्वप्रधान होऊन देहात सर्वत्र फिरू लागतो. जेव्हा प्राण भूमीतत्त्वाचे अवलंबन करतो तेव्हा शरीर खांबासारखे निश्चल होऊन साधकाला स्तंभभाव प्राप्त होतो. जलतत्त्वाशी प्राण निगडित झाला की, अश्रुपात होऊ लागतो. तेजतत्त्वाशी प्राण संबद्ध झाला की, घाम येऊ लागतो व शरीराचा रंग पालटून जातो. यालाच वैवर्ण्य किंवा वर्ण विकृती असे म्हणतात. जेव्हा प्राणाचा आकाशतत्त्वाशी संयोग होतो तेव्हा प्रलय म्हणजे भावसमाधी, मूर्च्छा, तंद्रा अगर निद्रा हे भाव प्रकट होतात. जेव्हा प्राण स्वस्थ होतो म्हणजे आपल्या वायुरूपतत्त्वामध्ये राहू लागतो तेव्हा मंद, मध्य किंवा तीव्रतेने रोमांच, कंप व स्वरविक्रिया हे तीन भाव प्रकट होतात.

आपल्या देहामध्ये मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत व विशुद्ध ही पाच चक्रे पृथ्वी, जल, तेज, वायू व आकाश या पाच महाभूतांची स्थाने म्हणून प्रसिद्ध आहेत. मूलाधारात पृथ्वीतत्त्व, स्वाधिष्ठानात जलतत्त्व, मणिपुरात तेजतत्त्व, अनाहतामध्ये वायुतत्त्व व विशुद्ध चक्रामध्ये आकाशतत्त्व असते. वर जे प्राणाच्या गतीसंबंधी सांगितले त्याचा अर्थ असा आहे की, प्राण ज्या ज्या वेळी ज्या ज्या चक्रांचा आश्रय करतो त्या त्या वेळी तो त्या त्या भूततत्त्वांची लक्षणे प्रगट करीत असतो.

खरी भगवद्भक्ती प्राप्त होण्यासाठी शक्तिपाताची नितांत आवश्यकता असते. हा शक्तिपात महापुरुषांकडून म्हणजेच श्रीसद्गुरूंकडून होत असतो. महर्षी श्रीनारदांनी आपल्या **"भक्तिसूत्रात"** पुढील दोन सूत्रात महापुरुषांकडून होणाऱ्या शक्तिपाताचे अलौकिकत्व प्रकट केले आहे. पहिले सूत्र असे आहे. **"मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपा-लेशाद्वा।।३८।।"** शक्तिपाताने भक्तियोग कसा साधतो हे सांगताना भगवंताच्या अखंड भजनाने शक्ती जागृत होऊन ते भक्तिसाधन फलद्रूप होते असे प्रथम श्रीनारदांनी सांगितले आहे. त्यानंतर लोकांमध्ये भगवंताचे गुणश्रवण व कीर्तन केल्याने शक्ती जागृत होऊन भक्तीचे

फल मिळते असे स्पष्ट केले आहे. परंतु या दोन्ही गोष्टींनी शक्ती जागृतीची प्रक्रिया केव्हा घडून येईल हे सांगता येत नसल्याने व त्यामध्ये उशीर लागत असल्याने महापुरुषांच्या कृपेला श्रीनारद महर्षींनी अग्रस्थान दिले आहे. त्यामुळे शक्तिपात मुख्यत्वेकरून संतमहात्म्यांच्या कृपेने अगर भगवंताच्या कृपालेशाने प्राप्त होऊन भक्तियोग साधतो असे त्यांनी म्हटले आहे. अशा प्रकारे जो शक्तिपात होतो तो अलौकिक असतो. श्रीनारद महर्षी आपल्या पुढील सूत्रात असे म्हणतात की, **"महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।।३९।।"** परंतु संतमहात्म्यांचा संग अत्यंत दुर्लभ आहे; कारण तो अगम्य म्हणजे सहजासहजी न कळणारा आहे. पण जर का तो लाभला तर तो अचूक फल देणारा आहे. याचा अर्थ असा आहे की, शक्तिपात करणारे महापुरुष हे अत्यंत दुर्लभ असतात. त्यामुळे त्यांची संगती व कृपा प्राप्त होणे हे त्याहून कठीण असते. असे असले तरी ते जेव्हा कृपा करून शक्तिपात करतात तेव्हा आपल्याला कोणती गोष्ट मिळत आहे हे कळण्याची पात्रता लागते. शक्तिपात झाल्यावर नाना तऱ्हेच्या क्रिया होऊ लागतात व अनुभव येऊ लागतो. त्यावेळी या क्रिया पैशाचिक कशावरून नसतील, श्रीसद्गुरूंनी संमोहन, मायाजाल किंवा जादूटोणा तर केला नसेल, श्रीज्ञानेश्वरादि ब्रह्मनिष्ठांच्या दीक्षेहून ही दीक्षा निराळी आहे, अशी सहजासहजी कुंडलिनी शक्ती जागृत होणे शक्य नाही, इत्यादि नाना तऱ्हेचे विकल्प मनात येऊन त्याचे माहात्म्य कळेनासे होते. म्हणून ही कृपा अगम्य आहे असे श्रीनारद महर्षी म्हणतात. एकदा शक्तिपात झाला की, तो अचूक फल देतो; कारण **"इयें अभ्यासीं (साधनीं) जे दृढ होती। ते भरंवेसेनी ब्रह्मत्वा येती।।६.३३०।।"** असा निर्वाळा श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** दिला आहे.

अशा प्रकारे महापुरुषांकडून शक्तिपात झाला की, दिव्य भक्ती साधकाच्या ठिकाणी उत्पन्न होते त्याचे वर्णन श्रीनारद महर्षींनी पुढील सूत्रामध्ये केले आहे. **"सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।।२।।"**

म्हणजे शक्तिपात झाल्यावर अंतरात्म्याच्या ठिकाणी जी भक्ती उत्पन्न होते ती परमप्रेमाच्या स्वरूपाची असते. पूर्वजन्मीचे काही सुकृत असेल तरच माणसाला परमेश्वराच्या प्राप्तीची इच्छा होते. अशी इच्छा झाल्यावर श्रीसद्गुरू भेटतात व ते शक्तिपात करतात. त्यामुळे परमप्रेमरूप पराभक्ती प्राप्त होते.

परमेश्वरप्राप्तीचा शेवटचा टप्पा गाठेपर्यंत सामान्य साधक जी भक्ती करतो तिला अपराभक्ती म्हणतात. या भक्तीत द्वैत असल्याने अनन्यता व सर्वात्मभाव प्राप्त होत नाही आणि अंतरातून दिव्य प्रेमही उत्पन्न होत नाही. मात्र परमेश्वराचा साक्षात्कार झाल्यावर परमेश्वराशी एकरूप होऊन आनंदमय अवस्थेत ठेवणारी जी भक्ती होते ती पराभक्ती होय. या अवस्थेत भक्ती करावी लागत नाही. ती आपोआप होते. स्वस्वरूपानुसंधानात लाभणारे दिव्य प्रेम व अलौकिक आनंद हा आतून उत्पन्न होतो. हेच पराभक्तीचे खरे स्वरूप आहे. हीच परमप्रेमरूपा भक्ती होय. शक्तिपात झाल्यावर ही अवस्था आपोआप प्राप्त होते. जोपर्यंत शक्तिपात होत नाही, कुंडलिनी शक्ती जागृत होत नाही व अनादि निद्रेचा भंग होत नाही तोपर्यंत ही परमप्रेमस्वरूप भक्ती उत्पन्न होत नाही हे नितांत सत्य आहे.

महर्षी श्रीनारदांनी "**अमृतस्वरूपा च।।३।।**" व "**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।।५१।।**" म्हणजे ही पराभक्ती अमृतस्वरूप अर्थात् मोक्षस्वरूप व भगवंताच्या प्रेमाचे स्वरूप, अनिर्वचनीय म्हणजे शब्दातीत आहे, असे सांगून पुढील सूत्रात या भक्तीचा साधकावर कोणता परिणाम दिसून येतो हे स्पष्ट केले आहे.

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति, तृप्तो भवति।।४।।
यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति,
न द्वेष्टि, न रमते नोत्साही भवति।।५।।
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति,
आत्मारामो भवति।।६।।

महात्म्यांची कृपा झाली व शक्तिसंक्रमण घडले की, ती पराभक्ती अंतरात्म्याच्या ठिकाणी भगवंताबद्दलच्या परमप्रेमाच्या रूपाने साकार होते. निर्हेतुक व निरतिशय प्रेम अशा भक्तीत अंतर्भूत असते. या भक्तीत निष्काम व निरंतर अशा प्रेमाचा प्रवाहच अंत:करणात उत्पन्न होतो. अशी ही भक्ती ज्याला प्राप्त होते तो मानव पूर्णतेला पोहोचतो. अमर होतो. सर्वार्थाने तृप्त होतो. या भक्तीचा उद्रेक एकदा का आतून झाला की, साधकभक्त कशाचीही किंचित्सुद्धा इच्छा करीत नाही. कोणत्याही गोष्टीबद्दल तो शोक करीत नाही. कोणाचाही द्वेष करीत नाही. कोणत्याही इतर गोष्टीत रममाण होणे त्याला आवडत नाही. त्याला कोणत्याही कर्माचा उत्साह नसतो. ज्याला अशा अमृतासारख्या दिव्य भक्तीचे पान अंतरातून घडते तो त्या अनुभवाने वेडा होऊन जातो. भक्तिप्रेमाने धुंद व मस्त होतो. शांत होतो व आत्मस्वरूपात रममाण होऊन अगदी आत्मरूप होतो. असे हे शक्तिपातयोगाचे वैभव आहे. शक्तिपातयोगाच्या अमोलिक हिऱ्याचे कर्म, लय, हठ, राज, तारक, यंत्र, भक्ती, ज्ञान, सूक्ष्म, असंप्रज्ञात, अखंड, अस्पर्श, अमात्रक, अमनस्क हे सर्व योग भिन्न भिन्न पैलू आहेत. त्यातील भक्तियोग हा सर्वांत अमोलिक, सर्वांगसुंदर व अलौकिक असा पैलू आहे. समर्थ श्रीगुरूंकडून शक्तिपात झाला की, पराभक्ती प्राप्त होऊन हा पैलू सर्वार्थाने झळकू लागतो.

हा भक्तियोग नामस्मरणाने सहजसाध्य आहे असे सांगून संतांनी तो सोपा व सहजसुलभ केला आहे. परंतु श्रीगुरुकृपेशिवाय म्हणजे शक्तिसंक्रमण झाल्याशिवाय खरी भक्ती उदय पावत नाही; कारण पराभक्ती किंवा निर्गुण भक्तीत गती होण्यास त्याशिवाय दुसरा मार्गच उपलब्ध नाही. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी शक्तिपाताची अपरिहार्यता पुढीलप्रमाणे स्पष्ट केली आहे. श्रीसमर्थ **"श्रीदासबोधात"** असे म्हणतात की -

जेणें बहुतांस घडे भक्ति।
ते हे रोकडी प्रबोधशक्ति।।१२.१०.३७।।

प्रबोधशक्ती म्हणजे प्रकर्षत्वाने बोध करण्याची शक्ती. अशा प्रकारे शक्तीचा समावेश शिष्यात केल्याशिवाय खरी भक्ती उत्पन्न होऊ शकत नाही. अनेकांना जर भक्तियोगसंपन्न करावयाचे असेल, त्यांना रोकडा साक्षात्कार घडवावयाचा असेल व बहुतांचे मनोगत हातात घेतले पाहिजे असे वाटत असेल तर श्रीसद्गुरूंच्या ठिकाणी शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य अत्यंत आवश्यक आहे असे श्रीसमर्थ अगदी निक्षून सांगतात. शक्तिपाताशिवाय भक्ती संपन्न होऊ शकत नाही हा सिद्धान्त श्रीसमर्थांनी अगदी स्पष्टपणे मांडला आहे. प्रबोधशक्तीमुळे निर्गुणभक्ती व आत्मनिवेदन भक्ती कशी साधते हे सांगताना श्रीसमर्थ **"श्रीदासबोधात"** असे म्हणतात की -

निर्गुणीं अनन्य असतां। तेणें होय सायुज्यता।
सायुज्यता म्हणजे स्वरूपता। निर्गुण भक्ति।।३०।।
सगुण भक्ती हे चळे। निर्गुण भक्ती ते न चळे।
हें अवघे प्राजंळ कळे। सद्गुरु केलियां।।४.१०.३१.।।
जाणतां जाणतां जाणीव जाते। आपली वृत्ति तद्रूप होते।
आत्मनिवेदन भक्ति ते। ऐसी आहे।।१३.२.२८.।।

अशी भक्ती प्राप्त झाली की, साधक साम्यावस्थेला प्राप्त होतो. या अद्वितीय अवस्थेचे श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** अपूर्व वर्णन केले आहे. ते असे म्हणतात की, "माझी जी सहजस्थिती आहे तिलाच भक्ती असे म्हणतात. त्याचप्रमाणे विश्वाचा उदय व लोप ज्या प्रकाशाने होतो त्या परमेश्वराच्या सहज प्रकाशालाच उत्तम भक्ती असे म्हणतात. ही भक्ती एकदा का उसळून आली की, ती अज्ञान, भेद, द्वैत व इतर सर्व किडाळ नाहीसे करते. अशा प्रकारे या भक्तीचे सामर्थ्य असल्याने हा भक्तियोग दृश्यमार्गाहून भिन्न आहे. ज्ञानी लोक या भक्तीला स्वतःची ज्ञानकला मानतात. शैवलोक हिला शक्ती म्हणतात. आम्ही आपली परमभक्ती असे म्हणतो.।।१८.१११३ ते ११३३।।"

"या भक्तियोगामध्ये साधक माझे स्वरूप होऊन कोणतीही क्रिया न करता भजन करतो. मौनानेच माझे स्तवन करतो. त्याच्या सर्व

क्रिया आत्मस्वरूप झाल्यामुळे त्या सर्व क्रियांना न करणेच म्हणावे लागेल. हीच खरी माझी पूजा होय. म्हणून तो ज्या ज्या यथासांग क्रिया करतो त्या त्या न केल्याप्रमाणे होऊन तीच माझी महापूजा होते.।।१८.११७७ ते ११७९।।"

ही भक्ती अर्जुनाला प्राप्त व्हावी म्हणूनच श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला आलिंगन दिले आणि शक्तिपात करून त्याच्या ठिकाणी ती भक्ती संक्रमित केली.

सारांश, खरा भक्तियोग साधण्यासाठी कुंडलिनी शक्ती जागृत होणे नितांत आवश्यक आहे हे सांगताना म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज आपल्या **"भारतीय संस्कृती और साधना"**, खंड एक, या ग्रंथातील **"कुंडलिनी तत्त्व"** या लेखात असे म्हणतात की, "मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ प्रभृती हठयोग प्रवर्तक नाथ आचार्यगण व आगमांच्या जाणकारांचे असे मत आहे की, मूलाधारातील प्रसुप्त कुंडलिनी शक्तीला जागृत केल्याशिवाय कर्म, ज्ञान किंवा भक्ती आदि कोणतेही साधन मुक्ती किंवा अनर्थ निवृत्तीच्या उपायाच्या दृष्टीने उपयोगी ठरत नाही. कर्म, भक्ती किंवा ज्ञान यांपैकी जी कोणती गोष्ट शक्ती जागृतीला साहाय्यता करते तीच यथार्थ कर्म, ज्ञान किंवा भक्ती म्हणजेच कर्मयोग, ज्ञानयोग किंवा भक्तियोग या पदाला सार्थ ठरते. जी गोष्ट शक्तीच्या जागरणाला साहाय्यक होत नाही ती व्यर्थ प्रयासाला कारण होते. कारण त्यापासून कधीही सिद्धी-मोक्ष प्राप्त होत नाही. कुंडलिनीची निद्रा भंग झाल्याशिवाय आत्मा किंवा परमात्म्यामध्ये जीव मिळून जाऊ शकत नाही."

"कुंडलिनीचे एक नाव आधारशक्ती असे आहे. ती सर्व पदार्थांचा आश्रय असून सर्व पदार्थांच्या मूळ सत्तारूपाने विद्यमान राहते. ती चैतन्यमयी झाल्याबरोबर निराधार म्हणजे निरालंब होऊन शुद्ध चित्स्वरूपात स्थिर होते. ज्यावेळी ती आधाररहित होते त्यावेळी संसारातील सर्व वस्तू निराधार होतात. त्याचप्रमाणे ती ज्यावेळी जागृत होऊन चिन्मयी बनते तेव्हा सर्व विश्व चैतन्यरूप धारण करते. कुंडलिनीचे जागरण

किंवा सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कार अगर चैतन्यमयतेचा अनुभव घडवून आणणारी **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** याची श्रुतिनिष्ठ साधना या दोन्ही गोष्टी निश्चितपणे एकाच स्वरूपाच्या आहेत. हे जागरण क्रमाक्रमाने होते. म्हणून कर्म, ज्ञान, भक्ती इत्यादि कुंडलिनी शक्तीच्या जागृतीच्या भिन्न क्रमिक अवस्था आहेत. ज्यावेळी शक्तीचे जागरण पूर्ण होते तेव्हा निद्रा लेशमात्र सुद्धा शिल्लक राहत नाही. त्यावेळी परिपूर्ण अद्वैतसिद्धी म्हणजेच आत्मनिवेदन भक्ती होते"

क्रियायोग :-

शक्तिपातयोगाला क्रियायोगही म्हणतात. क्रिया म्हणजे शक्तीची गती. या गतीमुळेच विश्वाची उभारणी व संहारणी होत असते. क्रियाशक्ती जेव्हा बहिर्मुख होऊन कार्य करते तेव्हा पिंडब्रह्मांडाची रचना होते. तिची गती जेव्हा अंतर्मुखी होते तेव्हा पिंडब्रह्मांडाची निवृत्ती होते. क्रियाशक्ती जेव्हा बहिर्मुख होते तेव्हा भेदरूपी सृष्टी निर्माण होऊन स्वस्वरूपावर आवरण येते. यासाठी शक्तीची अंतर्मुख गती उत्पन्न होणे आवश्यक असते; कारण अशी अंतर्मुख गती उत्पन्न झाल्याशिवाय अज्ञान व विक्षेप यांची निवृत्ती होऊ शकत नाही. हे कार्य घडून यावे यासाठीच क्रियाशक्तीचा उन्मेष व विकास होणे आवश्यक असते. या क्रियाशक्तीलाच श्रीगुरुशक्ती किंवा चिच्छक्ती असे म्हटले जाते. जेव्हा शक्तिपात होऊन ही चिच्छक्ती जागृत होते तेव्हा अंत:शक्तीच्या क्रियांचा सूत्रपात होतो. तेव्हा ही शक्ती निरंतर कार्यरत होते. तिचा क्रमिक विकास सुरू झाला की, साधकाला हळू हळू अंतर्मुख गती प्राप्त होत जाते. मन, वायू, बुद्धी, बिंदू इत्यादि सर्वांवर या गतीचा परिणाम होतो. शक्ती शरीरातील प्रत्येक कणातून प्रवाहित होऊ लागते. त्यामुळे शक्तीचे कार्य सुरू होते. जडता कमी होते व ही शक्ती क्रमाक्रमाने मनुष्याचे चैतन्यस्वरूप प्रकट करीत जाते. महामायाशक्तीकडून होणारी क्रियारूप साधना म्हणजे श्रीगुरुशक्तीचा क्रमाक्रमाने होणारा विकास आहे.

या दृष्टीने **"तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि"** या ग्रंथातील **"अद्वयतत्त्व**

के प्रकार-भेद" या निबंधात म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज यांनी फार सुदंर विवेचन केले आहे. ते असे म्हणतात की, "क्रियाशक्तीमुळे म्हणजेच क्रियेची गती अंतर्मुखी झाली की, तिचा शरीरात संचार होतो. जोपर्यंत शक्तीची अंतर्मुखी गती उत्पन्न होत नाही तोपर्यंत शक्तीच्या बाह्यगतीमुळे जो देह निर्माण झालेला असतो त्यात तिचा प्रवेश होऊ शकत नाही. भेदज्ञान हे अचिच्छक्तीचे कार्य आहे हे प्रथमच सांगितलेले आहे. त्याचप्रमाणे अभेद-दर्शन हे चिच्छक्तीचे कार्य आहे हे लक्षात ठेवले पाहिजे. यासाठी क्रियारूपाने प्रकट होणारी श्रीगुरुशक्ती शिष्याला अभेद-ज्ञान प्राप्त व्हावे म्हणून सतत कार्य करीत असते. हे अभेद-ज्ञान पुष्ट होता होता क्रमाक्रमाने सर्व देहाला व्यापून टाकते. या प्रक्रियेलाच दुसऱ्या शब्दात देहभेद असे नाव दिले जाते. मनाची, प्राणाची व बिंदूची जसजशी अंतर्मुखी गती होत जाते तसतसा अभेदज्ञानाचा क्रमिक विकास होत जातो. या ज्ञानाचा पूर्ण विकास झाल्यावर म्हणजेच क्रियाशक्तीचे कार्य पूर्ण झाल्यावर आत्मा परमात्मास्वरूप होतो. साधकाचा व्यष्टिदेह समष्टिदेहरूपी विश्वरूपात परिणत होतो. यालाच योगावस्था असे म्हणतात. क्रियाशक्तीच्या उन्मेषाने म्हणजेच कुंडलिनी शक्तीच्या जागरणाने या योगावस्थेची सूचना मिळते. त्याचप्रमाणे क्रियाशक्तीचा विकास म्हणजेच कुंडलिनी शक्तीचा पूर्ण विकास होय. आत्माच्या ठिकाणी जेव्हा क्रियाशक्तीचा पूर्ण विकास होतो तेव्हा आत्म्याला परमात्मस्वरूप म्हटले जाते. क्रियाशक्ती ही वस्तुतः चैतन्यशक्तीच आहे; कारण या क्रियाशक्तीपासून अगदी प्रथम ज्ञानशक्ती उत्पन्न होत असते. अशी ज्ञानशक्ती जर पहिल्या प्रथम उत्पन्न झाली नाही तर क्रियाशक्तीचा उन्मेषच संभवत नाही. ज्ञानशक्तीच्या विकासाने द्रष्टा किंवा साक्षिभाव उत्पन्न होतो. या साक्षिभावाच्या जोडीने क्रियाशक्तीचा विकास झाला नाही तर आत्मा परमात्म्याकडे क्रमशः सरकू शकत नाही. अशी स्थिती प्राप्त झाली नाही तर नुसती गती म्हणजे संसाराचेच दुसरे नाव ठरेल. अर्थात् आत्म्याचे स्वरूप आवरणयुक्त राहून त्याच्या आश्रयाने जर गती उत्पन झाली तर तिला

भेदज्ञान असेच नाव द्यावे लागेल. ज्यावेळी स्वरूपावरील आवरण दूर होते त्यावेळी अनावृत आत्म्याच्या आधाराने जी गती उत्पन्न होते तीच अभेदज्ञानाची क्रीडा असते. तिलाच चिच्छक्तीचा विलास असे म्हणतात.

श्रीगुरुशक्तिरूपी क्रियाशक्ती क्रमशः देहभेद करीत राहते. योगदीक्षेच्या वेळी शिष्य श्रीगुरूंकडून चिन्मयता प्राप्त करून घेत असतो. यालाच जागृत कुंडलिनी असे म्हटले जाते. प्रत्येक साधकाची पूर्वजन्माची जितकी तयारी असेल, त्याच्या देहाची जशी स्थिती असेल व मनाची जशी धारणा असेल त्या मानाने क्रियाशक्तीचे प्रयोजन निश्चित होत जाऊन विकास होतो. त्यामुळे देहात काहीतरी बदल होत राहतो. अयोगी साधक सुद्धा दीक्षेच्या फलामुळे चैतन्यशक्ती प्राप्त करून घेऊ शकतो. मात्र तिचा विकास होणे आवश्यक असते. असा विकास होत राहिला म्हणजे हळूहळू अज्ञान जाऊन ज्ञान प्रकट होऊ लागते. कुंडलिनीच्या जागृतीमुळे हा विकास व ज्ञानप्राप्ती आपोआप घडून येते.

साधना सुरू झाली की, साधकाचा विकास सुरू होतो. या विकासात नानाप्रकारच्या वासना, पूर्वजन्मींचे संस्कार, भोगासक्ती व जीवनासक्ती यांच्यामुळे मायेचे जाळे रचले जाते. हे मायेचे जाळे तुटणे मोठे दुष्कर असते. अशा वेळी आपणास मिळालेल्या साधनाच्या निर्दिष्ट मार्गाचा साधकाने अवलंब केला तर या जाळ्याचा भेद अवश्य होतो. इतर कशानेही ही माया दूर होणे शक्य नसते. यासाठी श्रीगुरुप्रदत्त शक्तीवर पूर्ण विश्वास ठेवून तिचा विकास होण्यासाठी साधकाने नियमित साधन करून वाव दिला पाहिजे. असे झाले म्हणजे श्रीगुरुशक्तीच्या जोरावर मायाजालाचा भेद अवश्य होतो. श्रीगुरुशक्तीचे मुख्य कार्यच जीवाला मायेच्या जाळ्यातून सोडवून ज्ञानप्राप्ती करून देणे हे असल्यामुळे साधक जागृत शक्तीवर पूर्ण निर्भर राहिला तर त्याला आणखी दुसरा कोणताही स्वप्रयत्न करण्याची आवश्यकता उरत नाही."

क्रियाशक्तीचा विकास व परमात्मभावाची अभिव्यक्ती या दोन्ही

गोष्टी एकच आहेत. क्रियाशक्तीचा पूर्ण विकास झाल्याशिवाय हृदयात मन स्थिर होत नाही. क्रियाशक्तीच्या उन्मेषाबरोबर जी अंतर्मुखी गती सुरू होते ती क्रियाशक्तीचा पूर्ण विकास होऊन परमात्मरूपाने हृदयात स्थिर झाल्यावर समाप्त होते. याचे स्पष्टीकरण करताना म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज असे म्हणतात की, "वास्तविकपणे हृदयामध्ये शाश्वत स्थिती मूलतःच असते. परंतु जीवाला बहिर्मुखता प्राप्त झाल्याने तिचे भान होत नाही. योगी आपल्या अंतरंगातील चिच्छक्तीच्या साहाय्याने मायेला काबूत आणतो. ज्यावेळी माया पूर्णपणे ताब्यात येते त्यावेळी योगी-साधक-परमात्मरूपात स्थिर राहतो. क्रियाशक्तीच्या पूर्ण विकासाशिवाय ही अवस्था साधकाला प्राप्त होत नाही. यालाच व्याप्तीची अवस्था असे म्हणतात. आत्मा जेव्हा हृदयात प्रवेश करतो तेव्हा त्याला साक्षिभाव प्राप्त होतो. त्यावेळी साधक समस्त जगत् अर्थात् विश्व हे दृश्यरूप आहे हे एकावेळी पाहू शकतो. यालाच सर्वज्ञत्व असे म्हणतात. सर्व जगताविषयीच्या अपरोक्ष ज्ञानाचा हा विकास आहे. परंतु हे ज्ञान अपरोक्ष असूनसुद्धा पूर्ण असत नाही; कारण जगत् हा आभास आहे हे कळून सुद्धा त्याची अनुभूती येत नाही. अनुभूतीची प्रत्यक्ष प्राप्ती केवळ एकमात्र क्रियायोगानेच होते. क्रियायोगाची प्राप्ती झाली नाही तर केवळ ज्ञानामुळे शाश्वत कैवल्यप्राप्ती कधीही मिळत नाही. ज्ञानामुळे जे तत्त्व सूक्ष्मरूपाने दिसते ते क्रियायोगाच्या द्वारे साधकाच्या बरोबर अभिन्नरूपाने वास करू लागते. क्रिया पूर्ण झाली की, सर्व व्यवधाने पूर्ण होतात. त्यावेळी एकही वस्तू अप्राप्य आहे असे वाटत नाही. यालाच आत्म्याच्या व्याप्तीचे विभुत्व असे म्हणतात. जेव्हा क्रियाशक्तीचे कार्य पूर्ण होते तेव्हा आत्मा परमात्मस्वरूपात सिद्ध होतो. त्यावेळी तो सर्व पदार्थांचा केवळ द्रष्टाच राहतो असे नाही तर सर्व पदार्थरूप होऊन त्याला अभेदभाव प्राप्त होतो."

ही शक्तिपातयोगाची उपासना हृदयामध्ये परमात्म्याचा साक्षात्कार घडविणारी एकमात्र व अद्वितीय उपासना आहे; कारण एकदा का श्रीगुरुकृपेने क्रियाशक्तीचा उन्मेष झाला की, तिचा क्रमशः जसाजसा

विकास होत जातो तसातसा साधक चित्कलासंपन्न बनत जातो. त्यावेळी परमेश्वराबद्दल अधिकाधिक प्रेम वाटू लागून परमात्माच एक उपास्य आहे याची दृढतर जाणीव होऊन उपासना गाढ बनत जाते. अशावेळी चित्कलेच्या वृद्धीच्या प्रभावाने परमात्मा आपल्या अधिक जवळ आहे याची साधकाला जाणीव होते.

सारांश म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज यांनी म्हटल्याप्रमाणे "उपासनेची खरी सुरुवात क्रियाशक्तीच्या उन्मेषानेच होते आणि उपासनेची खरी समाप्ती क्रियाशक्तीच्या पूर्ण विकासाने होते. उपासनेलाच योग म्हणतात. दोन वस्तू समभावसंपन्न होणे हे योगशब्दाने सूचित होते. या दोन वस्तूंमध्ये एक मुक्त पुरुष आहे. त्याच्या ठिकाणीच प्रथम क्रियाशक्तीची जागृती होते. दुसरी वस्तू परम पुरुष आहे. त्याच्या ठिकाणी क्रियाशक्तीचा विकास समाप्त होतो. याप्रकारे जीवात्म्याचे परमात्म्याशी जे मिलन होते त्याला योग असे म्हणतात. जितक्या प्रमाणात क्रियाशक्तीचा विकास होईल तितक्या प्रमाणात योग स्थापित होत असतो. योगावस्थेत जीवात्म्यामध्ये क्रमशः परमात्मभाव जागृत होऊ लागतो. जीवात्मा जेव्हा स्वतःला परमात्मस्वरूप प्राप्त करून घेतो तेव्हा योग पूर्ण होतो. परमात्म्याशी सायुज्य पावणे यालाच पूर्ण योग असे म्हणतात."

श्रीगुरुदत्तयोग :-

श्रीगुरुदत्तयोग हे शक्तिपातयोगाचे एक अर्थपूर्ण नाव आहे. श्रीगुरूंनी दिलेला योग म्हणजे श्रीगुरुदत्तयोग होय. या नावातच श्रीगुरूंचा व त्यांच्याकडून दान होणाऱ्या योगाचा महिमा अनुस्यूत आहे. याचा अर्थच असा आहे की, श्रीगुरूंकडून शक्तिसंक्रमण होऊन योग म्हणजेच साधन मिळाल्याशिवाय सर्व व्यर्थ आहे. नुसत्या स्वबलाने व स्वप्रयत्नाने काहीही साधणे शक्य नाही. तत्त्वप्राप्तीसाठी श्रीसद्गुरूंशिवाय इतर सर्व साधने व्यर्थ होत हे सांगताना **"मनाच्या श्लोकात"** श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराज असे म्हणतात की-

नव्हे पिंडज्ञानें नव्हे तत्त्वज्ञानें।
समाधान कांहीं नव्हे तानमानें।

नव्हे योग यागें नव्हे भोग त्यागें।
समाधान ते सज्जनाचेनि योगें।।१५५।।

श्रीसद्गुरूंच्या कृपेशिवाय इतर साधने अगदी व्यर्थ होतात; कारण त्याशिवाय आपल्याला आपला लाभ घडून येणारे व आदिअंती स्वतः सिद्ध स्वरूप असलेले परम दुर्लभ ज्ञान होत नाही. बंधनाची भ्रांतीही फिटत नाही. असे हे श्रीगुरुदत्तयोगाच्या साधनामुळे ऋषी-मुनींपासून श्रीसदाशिवांपर्यंत ज्ञान कसे झाले हे सांगताना श्रीसमर्थ **"श्रीदासबोधात"** असे म्हणतात की -

व्यास वसिष्ठ महामुनी। शुक नारद समाधानी।
जनकादि महाज्ञानी। येणेंचि ज्ञानें।।५.६.२३।।
वामदेवादिक योगीश्वर। वाल्मीक अत्री ऋषीश्वर।
शौनकादि अध्यात्मसार। वेदान्तमतें।।२४।।
सनकादिक मुख्य करूनी। आदिनाथ मीन गोरक्षमुनी।
आणि बोलतां वचनीं। अगाध असती।।२५।।
सिद्ध मुनी महानुभाव। सकळांचा जो अंतर्भाव।
जेणें सुखें महादेव। डुल्लत सदा।।२६।।

श्रीगुरुदत्तयोगाने ज्ञान प्राप्त झाल्यावर साक्षात् श्रीमहादेवही डोलतात हा या मार्गाचा अद्भुत महिमा आहे यात शंकाच नाही. आपल्याला जसा आनंदाचा डोल आला तसा सर्वांना प्राप्त व्हावा म्हणून त्यांनी या सिद्धयोगाचा सूत्रपातही केला. या सिद्धयोगामुळेच आपले समाधान झाले असून इतर सर्व साधने श्रीगुरुकृपाप्राप्त योगापुढे व्यर्थ आहेत हे सांगताना श्रीसमर्थ पुढे असे म्हणतात की-

साधु संत आणि सज्जन। भूत भविष्य वर्तमान।
सर्वत्रांचें गुह्यज्ञान। ते सांगिजेल आतां।।२८।।
तीर्थें व्रतें तपें दानें। जें न जोडे धूम्रपानें।
पंचाग्नी गोरांजनें। जे प्राप्त नव्हे।।२९।।
सकळ साधनांचे फळ। ज्ञानाची शीगच केवळ।
जेणें संशयाचें मूळ। निःशेष तुटे।।३०।।

छप्पन्न भाषा तितुके ग्रंथ। आदिकरूनि वेदान्त।।
या इतुकियांचा गहनार्थ। एकचि असे।।३१।।
जें नेणवे पुराणीं। जेणें शिणल्या वेदवाणी।
तेंचि आतां येच क्षणीं। बोधीन गुरुकृपें।।३२।।
पाहिलें नसतां संस्कृतीं। रीग नाहीं महाराष्ट्र ग्रंथीं।
हृदयीं वसल्या कृपामूर्ती। सद्गुरु स्वामी।।३३।।
आतां नलगे संस्कृत। अथवा ग्रंथ प्राकृत।
माझा स्वामी कृपेसहित। हृदयीं वसे।।३४।।
न करितां वेदाभ्यास। अथवा श्रवणसायास।
प्रयत्नेविण सुरस। सद्गुरुकृपा।।३५।।
अरे गहनाचेंही गहन। तें तूं जाण सद्गुरुवचन।
सद्गुरुवचनें समाधान। नेमस्त आहे।।३९।।
सद्गुरुवचन तोचि वेदान्त। सद्गुरुवचन तोचि सिद्धान्त।
सद्गुरुवचन तोचि धादान्त। सप्रचीत आता।।३७।।

इतके सांगून झाल्यावर श्रीसमर्थांनी शक्तिपातयोगाची प्रक्रिया आत्मनिवेदन होऊन कशी घडते व त्यामुळे ज्ञानवह्नी प्रकट होऊन दृश्याचा केर कसा नाहीसा होतो हें सांगितले आहे.

ऐक शिष्या येथींचें वर्म। स्वयें तूंचि आहेस ब्रह्म।
ये विषयीं संदेह भ्रम। धरूंचि नको।।५-६-४५।।
नवविधा प्रकारें भजन। त्यांत मुख्य आत्मनिवेदन।
ते समग्र प्रकारें कथन। कीजेल आतां।।४६।।

शिष्या तू स्वतः ब्रह्मच आहेस असे श्रीगुरूंनी म्हणता क्षणीच शक्तिपात होऊन आत्मनिवेदन घडून येते. यामुळे शिष्याला आत्मज्ञान होऊन सर्व बंधने दूर होतात. श्रीसमर्थ असे म्हणतात की-

निर्माण पंचभूतें इयें। कल्पांतीं नासती यथान्वयें।
प्रकृतिपुरुष जियें। तेही ब्रह्म होती।।४७।।
दृश्य पदार्थ आटतां। आपणही नुरे तत्त्वतां।
ऐक्यरूप ऐक्यता। मुळींच आहे।।४८।।

सृष्टीची नाहीं वार्ता। तेथें मुळींच ऐक्यता।
पिंडब्रह्मांड पाहो जाता। दिसेल कोठें।।४९।।
ज्ञानवह्नी प्रकटे। तेणे दृश्यकेर आटे।
तदाकारें मूळ तुटे। भिन्नत्वाचें।।५०।।
मिथ्यत्वें वृत्ति फिरे। तों दृश्य असतांच वोसरे ।
सहजचि येणें प्रकारें। झालें आत्मनिवेदन।।५१।।

यानंतर श्रीसमर्थांनी श्रीगुरुदत्तयोगाचा गाभा उकलून दाखवून आत्मज्ञानासाठी श्रीसद्गुरुभजनच केले पाहिजे असे सांगितले आहे.

असो सद्गुरूचे ठायीं अनन्यता। तरी तुज कायसी रे चिंता।
वेगळेपणें अभक्ता। उरोंचि नको।।५२।।
आतां हेंचि दृढीकरण। व्हावया करीं सद्गुरुभजन।
सद्गुरुभजनें समाधान। नेमस्त आहे।।५३।।
या नांव शिष्या आत्मज्ञान। येणे पाविजे समाधान।
भवभयाचे बंधन। समूळ मिथ्या।।५४।।

अशा प्रकारे श्रीगुरू शक्तिपातपूर्वक ज्ञान देऊन साधकाला आपण जडापासून निराळे आहोत याची प्रचीती देऊन दु:खमय कालचक्रातून कायमचे मुक्त करतात. या शक्तिजागरणामुळेच साधक ऐश्वर्यसंपन्न होतो. त्याची सर्व संकुचितता दूर होते व सर्व त्रुटी नाहीशा होतात. कोणत्याही प्रकारचा अभाव शिल्लक राहत नाही. या दृष्टीनेच श्री.म.म.गोपीनाथ कविराज यांनी आपल्या **"भारतीय संस्कृती और साधना" खंड दोन,** यातील **"सहजयान और सिद्धमार्ग"** या लेखात असे म्हटले आहे की, "योगाशिवाय श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होणे कधीही शक्य नाही." आदिनाथांनी असे म्हटले आहे की - **"योगमार्गात् परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।" "विवेकमार्तंड"** ग्रंथातसुद्धा शब्दात बदल करून हाच भाव व्यक्त केला आहे. **"योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।"** सर्वसाधारण सटरफटर श्रीगुरूंच्या मुखातून बाहेर पडणारा उपदेश किंवा शास्त्रचर्चा हे केवळ नाना तऱ्हेचे विकल्प उत्पन्न करणारे एक जाळेच आहे असे म्हटले पाहिजे;

कारण अशा प्रकारचा उपदेश किंवा चर्चा जीवाला लेशमात्र सुद्धा बंधनापासून मुक्त करू शकत नाही अगर त्या दृष्टीने काही साहाय्यही करू शकत नाही. निर्विकल्प अशा परमपदापर्यंत जाऊन पोहोचावयाचे असेल तर इतर अनेक विकल्पांप्रमाणेच शास्त्राध्ययनरूपी विकल्पाचाही पूर्णपणे त्याग करणे आवश्यक ठरते. केवळ बाह्य इंद्रियांनाच जाणवतील असे शब्द ऐकून कोणीही मनुष्य इंद्रियातीत अशा निष्कंप किंवा चिन्मय स्वरूपात कधीही स्थिर होऊ शकत नाही. जीवनातील जो वेळ शास्त्राध्ययन किंवा निरनिराळे विकल्प ज्यामुळे उत्पन्न होतील अशा बडबडण्यामध्ये खर्च केला जातो तो अक्षरशः वाया जातो. जीव विकल्पामध्ये पडल्याने आपले नित्यसिद्धरूप विसरून गेला आहे. अविद्येच्या प्रभावामुळे असत्याला सत्य मानून तो तृषित हृदयाने वाळवंटात भटकणाऱ्या वाटसरूप्रमाणे मृगजळाच्या मागे धावत जातो. सिद्धगणांच्या म्हणण्याप्रमाणे विकल्पाची शांती व अगदी अनादि कालापासून वाहणारा भ्रांतीचा प्रवाह थांबल्याशिवाय कोणत्याही उपायाने जीवाचे परम कल्याण होऊ शकत नाही. ज्याप्रमाणे अंधळा मनुष्य दुसऱ्या अंधळ्याला मार्ग दाखवून वाटचाल करू शकत नाही त्याप्रमाणे विकल्पांनी वेढलेला जीव केवळ विकल्पांच्या साहाय्याने निर्विकल्प पदावर आरूढ होऊ शकतं नाही.

याकरिताच श्रीसद्गुरूंची नितांत आवश्यकता असते. श्रीगुरुकृपेशिवाय अगर श्रीगुरुशक्तीचा आधार घेतल्याशिवाय जीवाला मोहातून तरून जाण्याचा दुसरा कोणताही मार्ग उपलब्ध नाही. जलप्रवाहामध्ये तरंगणाऱ्या गवताच्या काडीप्रमाणे जीव संसार सागरात सतत खालीवर हेलखावे खात असतो. अशा असहाय्य जीवाला श्रीसद्गुरू आपल्याला परंपरेने प्राप्त झालेला व स्वतः आचरलेला सन्मार्ग दाखवून त्याची भ्रांती दूर करून आत्मसामर्थ्य संपादनाच्या कामात मदत करण्यास समर्थ असतात. अशा प्रकारे जे महात्मे जीवाला आत्मस्वरूपाची प्राप्ती करून देऊन अखंड विश्रांतीचा लाभ करून देतात त्यांनाच श्रीसद्गुरू म्हणणे योग्य ठरते. असे श्रीसद्गुरू जो मार्ग दाखवितात त्या

मार्गावरून चालल्याने स्वसंवेद्य अशा आत्मवस्तूचे दर्शन होऊन त्याची हमखास प्राप्ती होते. याशिवाय आत्मसाक्षात्काराचा दुसरा कोणताही उपाय नाही. केवळ उपदेशामुळे, बडबडीमुळे, व्याख्यानबाजीने, वाक्‌जालाने किंवा प्रवचनांच्या अवडंबरामुळे आत्मस्वरूपाचा साक्षात् अनुभव कदापीही येऊ शकत नाही किंवा त्याच्या आधारावर कोणी करूही शकत नाही. याचे कारण असे आहे की, आत्मस्वरूप हे मन, वचन व इंद्रियादि सर्व गोष्टींच्या पलीकडचे असून स्वयंप्रकाश आहे. याकरिताच **"गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्"** आहे. **"जठरसंहितेमध्ये"** असे म्हटले आहे की -

परम्पराप्राप्तसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रान्तिकारणम्।
तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम्।
भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत्।।

सारांश, एकमेव श्रीगुरूंच्या कृपाकटाक्षाच्या दृष्टिक्षेपानेच जीवाच्या उत्थान दशेचा उदय होत असतो. या उत्थानदशेमुळेच जीवाला आत्मसंवेद्य अवस्था प्राप्त होऊन तो परमपदाशी समरस होऊन जातो. या आवेशामुळे किंवा या आत्मस्मृतीमुळे एका निरतिशय अशा महान् आनंदमय अवस्थेचे स्फुरण होऊ लागते. यामुळे ज्या प्रकाशाचा आविर्भाव किंवा उद्दीपन होते त्याची अनुभूती आल्याने सर्व भेद नाहीसे होऊन जातात."

★ ★ ★ ★ ★

- आधार सहावा -

★शक्तिपातयोगाची वैशिष्ट्ये★

१) सर्व मार्गांचा राजा
२) साधकाच्या योग्यायोग्यतेची अनावश्यकता
३) सर्वार्थाने शरणागती **४) श्रीसद्गुरुकृपा**
५) स्वतः होणारा योग **६) आपत्तिरहित साधन**
७) इतर साधनांची अनावश्यकता **८) स्वप्रयत्नशून्य साधन**
९) सर्वांना मुक्त साधन
१०) एका दिव्याने दुसरा दिवा लावावा असे साधन
११) प्रारब्ध जय व ज्ञानप्राप्ती

सिद्धमहायोग हा सर्वार्थाने व सर्वांगाने वैशिष्ट्यपूर्ण आहे. त्याची अपूर्वता कशाकशात सामाविलेली आहे ते पाहिले म्हणजे संत, महंत, ऋषी, मुनी, साधू व सज्जन यांनी मुक्तकंठाने या मार्गाची प्रशंसा करून कास का धरली याचा उलगडा होतो.

सर्व मार्गांचा राजा :-

शक्तिपातसिद्धमहायोग हा सर्व मार्गांचा राजा आहे; कारण यात सर्व योगांचा समावेश होतो. राज्यातील सर्व रस्ते जसे शेवटी राजधानीला व अगदी शेवटी राजवाड्याला जाऊन मिळतात त्याप्रमाणे साधन राज्यातील सर्व साधने शेवटी महायोगाला येऊन मिळतात व महायोगाची परिणिती ज्ञानप्राप्तीत होऊन मनुष्य मुक्त होतो. राजा सिंहासनाधिष्ठित झाला म्हणजे ज्याप्रमाणे मंत्री, सेनापती इत्यादि सर्व अंगे आपोआप उपस्थित होऊन कार्यरत होतात त्याप्रमाणे महायोगाची दीक्षा होऊन शक्ती जागृत झाली की हठ, लय, मंत्र, राज, भक्ती इत्यादि सर्व योग आपोआप घडून येतात. **"म्हणोनि निःशंकें येणें महायोगें। मज मीनला मनाचेनि आंगें। एथ संशय करणें न लगे। तो त्रिशुद्धी जाहला।। श्रीज्ञानेश्वरी १०-१०८।।** अशी या महायोगाची प्रशंसा श्रीसंतज्ञानेश्वर-

महाराजांनी केली आहे.

म.म.श्री.गोपीनाथ कविराज यांनी शक्तिपातयोगामुळेच शक्ती जागृत होऊन साधक ज्ञानप्राप्तीने धन्य कसा होतो हे **"तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि"** या ग्रंथातील **"देह और कर्म"** या निबंधात प्रकर्षाने सांगितले आहे. ते पाहिले म्हणजे हा मार्ग सर्व मार्गांचा राजा कसा आहे याची प्रतीती अंत:करणात उत्पन्न होते.

"शक्तिपातयोगाच्या साधनानेच साधकाला ज्ञानाची प्राप्ती होते व त्यापासून उत्पन्न होणाऱ्या ज्ञानाग्नीने अशुद्ध वासनांना जाळून मायिक उत्पत्तीचे मूळ बीज जाळण्यास हा अग्नी समर्थ होतो. यामुळे त्याचे फल म्हणून जन्ममृत्यूच्या पलीकडे असलेली कैवल्यावस्था त्याला प्राप्त होते. या ज्ञानप्रदानाच्या प्रक्रियेत कुंडलिनी शक्तीच्या प्रबोधनाचा फार घनिष्ठ संबंध आहे. श्रीसद्गुरू शक्तिपात करताना साधकावर फक्त इतक्याच प्रमाणावर शक्तिसंचार करतात की, त्यामुळे त्याची कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन ती ऊर्ध्वगतीचे अवलंबन करून अग्रेसर होण्यात समर्थ होईल. ज्या अशुद्ध वासना साधकात मूलतःच असणाऱ्या ज्ञानशक्तीला झाकून ठेवतात त्या श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी शक्तीच्या जागृतीबरोबरच हळूहळू जळून जातात. त्यामुळे साधकाचा अंतरात्मा शुद्ध होऊन श्रीगुरुदत्त चिन्मय शक्ती इष्ट असा आकार धारण करते म्हणजे शिवस्वरूप होते. हे क्रमाक्रमाने घडून येते. यामुळे साधकाची दीक्षा झाल्यावर त्याच्याकडून यथाविधी केल्या गेलेल्या कर्मांच्या प्रभावाने प्रबुद्ध झालेल्या कुंडलिनी शक्तीचा क्रमशः विकास होऊन ती चैतन्यरूपामध्ये आपला विस्तार करते व हळूहळू संपूर्ण देह, इंद्रिये, मन इत्यादि सर्वांना चिन्मयत्व प्राप्त करून देते. अशुद्ध वासना संपूर्णपणे नाहीशा करणे हे चिच्छक्तीचे खरे कार्य आहे. हे कार्य जसेजसे होत जाईल त्या त्या प्रमाणात चिच्छक्तीद्वारा अगदी अभिन्नपणे असलेले इष्टस्वरूप क्रमशः अभिव्यक्त होत जाते. परंतु हे कार्य साधकाच्या लक्षात येत नाही व दृष्टिगोचरही होत नाही. याचे खरे कारण असे आहे की, जोपर्यंत अशुद्ध वासनेचा

थोडासुद्धा अंश राहतो तोपर्यंत शुद्ध वस्तूचा साक्षात्कार होऊ शकत नाही. ज्यावेळी निर्विकल्प ज्ञानाचा उदय होतो त्यावेळीच साधकाला आत्मसाक्षात्कार होतो."

साधकाच्या योग्यायोग्यतेची अनावश्यकता :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे दुसरे महत्त्वाचे वैशिष्ट्य हे आहे की, या साधनात साधकाच्या योग्यायोग्यतेचा विचार केला जात नाही. **"भारतीय संस्कृती और साधना" प्रथम खंड**, पृष्ठ २३७ वर श्री.म.म. गोपीनाथ कविराज यांनी **"शक्तिपात रहस्य"** या लेखात शक्तिपातयोगमार्गाचे हे वैशिष्ट्य सांगताना असे म्हटले आहे की-

यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट जान पडता है कि शक्तिपात अथवा श्रीभगवान् की कृपा के बिना कोई जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर सकता। यहाँतक कि पूर्णत्व के मार्ग में भी प्रवेश नहीं कर सकता। शक्तिपात का तारतम्य जीव के आधार (धारणा शक्ति) के भेद से होता है। परन्तु, यह भी सत्य है कि जीव चाहे कितने ही निम्न अधिकार का हो और कितना ही भोगाकांक्षा-युक्त हो, एक बार शक्तिपात होने पर वह कभी न कभी परम पद में अवश्य पहुँच जायेगा। भोगाकांक्षादि अन्तराय रहने से उसकी गति में विलम्ब होगा नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र यहाँतक कि क्षणमात्र में भी (जैसे तीव्र तीव्र की मात्रा में) हो सकता है। शक्तिपात के समय योग्यता का विचार नहीं होता, परन्तु स्वभावतः योग्यता के अनुसार ही शक्तिपात की मात्रा निर्दिष्ट होती है। परन्तु मात्रा कुछ भी हो, भगवत्-शक्ती की ऐसी ही महिमा है कि इसका एक बार पात होने पर यह जीवको भगवद्धाम में पहुँचाये बिना शान्त नहीं होती, इसमें सन्देह नहीं।।"

येथपर्यंत जे काही सांगितले त्यावरून हे स्पष्ट होते की, शक्तिपाताशिवाय म्हणजे श्रीभगवंताची कृपा झाल्याशिवाय कोणताही जीव पूर्णत्व प्राप्त करू शकत नाही. इतकेच काय; तो पूर्णत्व प्राप्त करण्याच्या मार्गात प्रवेश देखील करू शकत नाही. जीवाच्या आधार-शक्तीच्या अर्थात् धारणाशक्तीच्या भेदानुसार शक्तिपाताचे कमीजास्त

प्रमाण किंवा भिन्नता दिसून येते. मात्र हेही तितकेच खरे आहे की, जीव कितीही सामान्य कोटीतील असला आणि भोग, वासना, आकांक्षा इत्यादिंनी कितीही गुरफटलेला असला, तरी एकदा त्याच्यावर शक्तिपात झाला की, तो श्रेष्ठ अशा ब्रह्मपदाला अवश्य पोहोचतो. मात्र भोगाकांक्षादि विक्षेपांमुळे जीवाच्या परमपदाला जाण्याच्या गतीत अडथळा उत्पन्न होतो. जर शक्तिपाताची मात्रा तीव्रातितीव्र असेल व आडवे येणारे विक्षेप जर नसतील तर अत्यंत शीघ्र गतीने म्हणजे क्षणभरातसुद्धा जीव परमपदाला जाऊन पोहोचतो. शक्तिपात दीक्षेच्या वेळी योग्यायोग्यतेचा विचार केला जात नाही. मात्र (जीवाच्या) मुळातील योग्यतेनुसारच शक्तिपाताचे प्रमाण स्वाभाविकपणे निश्चित होत जाते. परंतु प्रमाण काहीही असले तरी भगवंताच्या शक्तीचा महिमा इतका मोठा आहे की, एकदा का होईना, (श्रीसिद्धगुरूंकडून) ही शक्ती साधकात संक्रमित झाली की ती त्या जीवाला भगवंताच्या घरी (ब्रह्मपदाला) पोहोचविल्याशिवाय शांत होत नाही, हे अगदी निःसंशय सत्य आहे.

श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"अनुभवामृतात"** श्रीगुरू शिष्याच्या योग्यायोग्यतेचा विचार शक्तिपाताच्या वेळी करीत नाहीत हे सांगताना असे म्हटले आहे की,

कैवल्यकनकाचेया दाना। न कडसी थोर साना।
द्रष्टेयाचेया दर्शना। पाढाउ जो।।२.५।।

या ओवीवर टीका करताना श्रीनिरंजन रघुनाथांनी अत्यंत सुंदर स्पष्टीकरण केले आहे. "कैवल्य, मोक्ष, तल्लक्षण हेंचि कोणी एक सुवर्ण. त्याचें दान करण्याविषयी (श्रीगुरु शिष्य हा) साधनचतुष्टयसंपन्न अथवा अनधिकारी आहे, हे कडसणी म्हणजे शोध करीत नाहीं. जो शरण येईल त्यास श्रीगुरु मोक्ष देतो. कारण जे, गुरु तो जो परमात्मा होय, तो जें करील तें होईल म्हणून. आता श्रीगुरु जो तो शून्यरूपा माया जे तिचा पार दाखविणारा होय ऐसे वर्णितात, जैसे बद्रीनारायणाचे दर्शनास पहाडी लोक जे ते यात्रेकऱ्यास शिंक्यांत बसवून दुर्लंघ्य

दरीपर करून देतात, तैसे स्वशरण ब्रह्मजिज्ञासु जे त्यास शून्यरूपा माया हेचि कोण्ही एक सखोल दरी, तिजमध्यें न पडूं देतां शक्तिपात-सामर्थ्यप्रभावें द्रष्टा जो त्याचें वास्तविक स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म जें त्याचें चरम वृत्तीनें दर्शन करून देतो, म्हणून हा गुरु जो तो पाढाऊ होय, अलाग ब्रह्मीं पावविण्याविषयीं तेथील माहीतगार होय."

"**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" सहाव्या अध्यायात श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी या योग्यायोग्यतेचा फारच सुंदर विचार केला आहे. शक्तिपातयोगमार्गाची सर्व माहिती सांगून झाल्यावर अर्जुनाने श्रीकृष्णांना असे विचारले की-

आतां कृष्णा तुवां सांगितला योगु। तो मना तरी आला चांगु।
परि न शके करूं पांगु। योग्यतेचा।।६.३३३।।
सहजें आंगिक जेतुलें आहे। तेतुलियाचि जरी सिद्धि जाये।
तरी हाचि मार्ग सुखोपायें। अभ्यासीन।।३३४।।
ना तरी देव जैसें सांगतील। तैसें आपणपें जरी न ठकेल।
तरी योग्यतेवीण होईल। तेंचि पुसों।।३३५।।
हां हो जी अवधारिलें। हें जें साधन तुम्हीं निरूपिलें।
तें आवडतयाहि अभ्यासिलें। फावों शके?।।३३७।।
कीं योग्यतेवीण नाहीं। ऐसे हन आहे कांहीं।।३३७.१/२।।

अर्जुन म्हणाला, "हे श्रीकृष्णा! आता तुम्ही मला हा जो योग सांगितला, तो माझ्या मनाला फार आवडला. परंतु माझी योग्यता कमी असल्याकारणाने माझ्या हातून काही तो होणार नाही. माझ्या अंगात जेवढी शक्ती आहे तेवढी खर्च करून जर हा अभ्यास शेवटास जाणार असेल तर मी मोठ्या समाधानाने व आनंदाने या योगमार्गाचाच अभ्यास करीन. सहजपणे जेवढे अंगचे सामर्थ्य आहे, तेवढ्या सामर्थ्याने जर अभ्यास सिद्ध होत असेल तर या योगमार्गाचाच मी आनंदाने अभ्यास करीन. किंवा हे श्रीकृष्णा! आपण जसे सांगितले तसे माझ्याकडून होण्याजोगे नसेल तर योग्यतेची आवश्यकता नाही असेच एखादे साधन विचारीन. तुम्ही हे जे योगसाधन सांगितले ते माझ्या पूर्ण

लक्षात आले. परंतु वाटेल त्याने त्याचा अभ्यास केला तर या योगाची प्राप्ती होईल काय? किंवा हे योग्यतेशिवाय होणारच नाही असे आहे की काय?"

अर्जुनाने हा योग्यायोग्यतेचा प्रश्न उत्पन्न केल्यावर त्याला श्रीकृष्णांनी पुढील उत्तर दिले.

तेथ श्रीकृष्ण म्हणती काई। धनुर्धरा।।३३८।।
हें काज कीर निर्वाण। परि आणिकही जें कांहीं साधारण।
तेंही अधिकाराचे वोडवेविण। काय सिद्धी जाय।।३३९।।
पैं योग्यता जे म्हणिजे। ते प्राप्तीचि अधीन जाणिजे।
कां जें योग्य होऊनि कीजे। तें आरंभिलें फळे।।३४०।।
तरी तैसी एथ कांहीं। सावियाची केणी नाहीं।
आणि योग्यतेची काई। खाणी असे?।।३४१।।
नावेक विरक्तु। जाहला देहधर्मीं नियतु।
तरि तोची नव्हे व्यवस्थितु। अधिकारिया।।३४२।।
मग म्हणे पार्था। ते हे ऐसी व्यवस्था।
अनियतासि सर्वथा। योग्यता नाहीं।।३४४।।

तेव्हा श्रीकृष्ण असे म्हणाले की, "हे अर्जुना! तू हे काय विचारतोस? हा शक्तिपात योगाभ्यास जर म्हणशील तर खरोखर मोक्ष देणारा आहे. हे अंतिमप्राप्तीचे साधन आहे. पण याशिवाय दुसरी साधारण जरी गोष्ट असली तरी ती सुद्धा अधिकाराच्या योग्यतेशिवाय सिद्धीस जाईल काय? आणि योग्यता म्हणून जिला म्हणतात ती तरी प्राप्तीवरूनच जाणली जाते. आपण योग्य होऊन कार्याला आरंभ केला की, ते सफल होतेच. म्हणून या योगमार्गात खरोखर तसा काही प्रकार नाही आणि योग्यतेची एखादी खाण असते की काय? जो थोडासा विरक्त किंवा विहित धर्म आचारण्यात नियमित झाला आहे, इतकेच नव्हे; तर सामान्यतः व्यवस्थेशीर वागणारा जो आहे तो देखील अधिकारी होतो. मग श्रीकृष्ण असे म्हणाले की, हे पार्था! या योगप्राप्तीची अशी व्यवस्था आहे. परंतु अव्यवस्थित मनुष्याला त्याची प्राप्ती होण्याचा

कधीही संभव नाही."

महामहेश्वराचार्य श्रीउत्पलदेव श्रीभगवंताची स्तुती करताना असे म्हणतात की -

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे।।

"हे भगवन्! शक्तिपात करण्याच्या वेळी म्हणजेच जीवावर कृपा करण्याच्या वेळी योग्यायोग्यतेचा विचार करणे न्यायतः खरे असले तरी आपण पात्रापात्रतेचा विचार करीत नाही. मग आजच माझ्या बाबतीत अशी कोणती नवी गोष्ट आड आली आहे की, जी मला आत्मप्रकाशाची प्राप्ती होण्यास विलंब करीत आहे."

स्थावरान्तमपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका।
शक्तिः पतन्ति सापेक्षा न क्वापि ..... ।।

ब्रह्मदेवापासून गवताच्या काडीपर्यंत देवाच्या स्वरूपाला प्रकट करणारी शक्ती शिष्याच्या ठिकाणी संक्रमित होताना कसलीही अपेक्षा करीत नाही. ती निरपेक्ष आहे. योग्य शिष्याचा उद्धार करणे व अयोग्य शिष्याला योग्य करून तारणे हे श्रीसद्गुरूंचे कार्य असते. "**बोधसार**" या ग्रंथात श्रीनरहरी यांनी असे म्हटले आहे की,

तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
श्रीगुरुः प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मताम्।
प्रापय्य पद्मतामेनं प्रबोधयति तत्क्षणात्।।

अर्थात् श्रीगुरू विवेकवैराग्ययुक्त वेदान्तयुक्तीच्या योगाने अयोग्य शिष्याला योग्यता प्राप्त करून देतात आणि नंतर त्याच्यावर शक्तिपाताचा अनुग्रह करून त्याला त्याच क्षणी जागृत करतात.

"**ललिता सहस्त्रनामाच्या भाष्यात**" देखील श्रीभास्करराय मखी यांनी असे स्पष्ट म्हटले आहे की, "**अयोग्येऽपि योग्यतामापाद्य श्रीगुरुसूर्यो बोधयति।।१०।।**" म्हणजे श्रीगुरुरूपी सूर्य अयोग्य शिष्याला योग्य करून प्रबुद्ध करतात.

पात्रापात्रतेचा विचार श्रीमुकुंदराजांनी "**विवेकसिंधूत**" फारच

उत्कृष्ट रीतीने केला आहे. ते असे म्हणतात की -

परोपकाराचेनी संतोषें। पात्र कुपात्र ऐसें न देखे।
गुरुमेघु सर्वत्र वरुषे। उदारपणे।।१.८२।।
तथापि पात्रताविशेषें। स्थिर होये सखोल भूमिके।
थेंबु न राहे उटंके। जाये निरसौनियां।।८३।।
तैसे पात्रतावीण। स्थिर नोहे ब्रह्मज्ञान।
येथ दृष्टान्तु सांघैन। तो आइकै पां।।८४।।
जैसे पुत्र विटाळले। ते पितृधनासि मुकले।
शुद्ध जालेया विभागु पावले। जियापरी।।८५।।
तैसे जगजनक ईश्वराचें। ब्रह्मचि धन निज साचें।
शुद्ध जीव विभागिये तेथिंचे। तद् औंश म्हणौनियां।।८६।।
चित्तासी न संडे विषयसंगु। तंव जीवासि नव्हे ज्ञानाचा धनभागु।
म्हणौनि हा प्रसंगु। आम्हीं विस्तारिला।।८७।।

दुसऱ्यावर उपकार करण्यात जो योग्यअयोग्य हा विचार करीत नाही तो श्रीगुरुरूपी मेघ आपल्या कृपेची वृष्टी सर्वांवर मोठ्या उदारपणे करतो. तरीपण योग्यता विशेष असेल तर नम्र, सौजन्यशील व पात्रता असलेल्या शिष्यात श्रीगुरुकृपेचा वर्षाव रुजून खोल जाऊन बसतो. मात्र जो उद्धट, गर्विष्ठ व अहंकारी असतो त्याच्यावर केलेली कृपा, उंचवट्यावर पडलेला पाऊस टिकून न राहता ज्याप्रमाणे निरसून जातो त्याप्रमाणे निरुपयोगी होते. योग्यतेशिवाय ब्रह्मज्ञान हे स्थिर होत नाही. याबाबत एक उदाहरण सांगतो ते ऐक. जे मुलगे भ्रष्ट झालेले असतात ते वडिलांच्या संपत्तीस अंतरतात. ते चांगले शुद्ध झाल्यावर ज्याप्रमाणे त्यांना आपला वाटा मिळतो त्याप्रमाणे जगाचा पिता जो परमेश्वर त्याचे ब्रह्म हे खरे धन आहे. त्याचे अंश म्हणून शुद्ध जीव हेच त्या धनाचे हिस्सेदार असतात. चित्ताला जोपर्यंत विषयाची आंवड सुटत नाही तोपर्यंत जीवाला ज्ञानधनाचा वाटा मिळत नाही.

सर्वार्थाने शरणागती :-

शक्तिपातयोगाचे तिसरे वैशिष्ट्य असे आहे की, शिष्याने सर्वार्थाने श्रीसद्गुरूंना शरण गेले पाहिजे; कारण महायोगाचा हा मार्ग मुख्यतः समर्पणाचा मार्ग आहे. पुरुषार्थाचा, प्रयत्नाचा व स्वबलोपायाचा हा मार्ग नाही. **"श्रीमद्भगवद्गीतेत"** श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला हेच सांगितले. ते म्हणाले -

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।१८.६६।।

"तू सर्व धर्म टाकून मला एकट्यालाच शरण ये. मी तुला सर्व पापांपासून मुक्त करीन. तू शोक करू नकोस." या श्लोकावर टीका करताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी प्रथम शरण येण्याचा अर्थ स्पष्ट करताना **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हटले आहे की-

पैं आपुलेनि भेदेंविण। माझें जाणिजे जें एकपण।
तयाचि नांव शरण। मज येणें गा।।१८.१३९८।।
जैसे घटाचेनि नाशें। गगनीं गगन प्रवेशें ।
मज शरण येणें तैसें। ऐक्य करी।।१८.१३९९।।
सुवर्णमणी सोनया। ये कल्लोळु जैसा पाणिया।
तैसा मज धनंजया। शरण ये तूं।।१४००।।

"आपलेपणाचा भेद न ठेवता माझे एकत्व जे जाणणे, त्याचेच नाव मला शरण येणे होय. घटाचा नाश झाला म्हणजे त्यातील आकाश आकाशामध्ये शिरते तसे मला शरण आलास म्हणजे माझ्याशी ऐक्य पावशील. सुवर्णाचा मणी सुवर्णाशी जसा एकरूप असतो, अथवा पाण्याची लाट जशी पाण्याशी एकरूप असते तशा रीतीने हे धनंजया! तू मला ऐक्यत्वेकरून शरण ये."

अर्जुनाला श्रीकृष्णांनी इतक्या आग्रहाने शरण येण्यास सांगितले; कारण त्यामुळे त्याची अहंबुद्धी जाऊन तो अनुग्रहास योग्य व्हावा. पापपुण्य, धर्माधर्म इत्यादि द्वंद्वातून बाहेर पडण्यास शरण जाण्यासारखा दुसरा मार्ग नाही, हे अर्जुनाच्या मनावर बिंबावे म्हणून श्रीकृष्ण असे

म्हणतात की -

मग ताकौनियां काढिलें। लोणी माघौतें ताकीं घातले।
परी न घेपेचि कांहीं केलें। तेणें जेवीं।।१८.१४०६।।
तैंसें अद्वयत्वें मज। शरण रिघालिया तुज।
धर्माधर्म हे सहज। लागतील ना।।७।।
लोह उभें खाय माती। तें परिसाचिये संगती।
सोनें जालया पुढती। न शिविजे मळें।।८।।
हें असो काष्ठापासोनी। मथूनि घेतलिया वह्नी।
मग काष्ठेंही कोंडोनी। न ठके जैसा।।९।।
अर्जुना काय दिनकरू। देखत आहे आंधारू।
की प्रबोधी होय गोचरू। स्वप्नभ्रमू।।१०।।
तैसें मजसीं येकवटलेया। मी सर्वरूप वांचोनियां।
आन कांहीं उरावया। कारण असे?।।११।।
म्हणौनि तयाचें कांहीं। चिंतीं ना आपुल्या ठाईं।
तुझें पापपुण्य पाहीं। मीचि होईन।।१२।।
तेथ सर्वबंधलक्षणें। पापें उरावें दुजेपणें।
तें माझ्या बोधीं वायाणें। होऊनि जाईल।।१३।।
जळीं पडिलिया लवणा। सर्वही जळ होय विचक्षणा।
तुज मी अनन्यशरणा। होईन तैसा।।१४।।
येतुलेनी अपैसया। सुटलाचि आहासी धनंजया।
घेईं मज प्रकाशोनियां। सोडवीन तूंतें।।१५।।
या कारणें पुढती। हे आधी न वाहे चित्तीं।
मज एकासि ये सुमती। जाणोनि शरण।।१४१६।।

"मंथन करून ताकातून लोणी वेगळे काढल्यावर पुन्हा जरी ताकात घातले, तरी ते काही केल्याने त्यात मिसळत नाही. त्याप्रमाणे अद्वितीय बोधाने तू मला शरण आल्यावर तुला धर्माधर्माचा स्पर्श होणार नाही. लोखंड उभे अलग असले तरी त्याला तांब चढते; पण तेच परिसाच्या स्पर्शाने सोने झाल्यावर मळ (गंज) त्याला शिवत

नाही. फार काय काष्ठ मंथून काढलेला अग्नी जसा काष्ठांनी कोंडून राहत नाही, सूर्याला जसा अंधार दिसत नाही किंवा जागे झाल्यावर स्वप्न दृष्टीस पडत नाही तसे माझ्याशी ऐक्य पावल्यावर सर्वरूप असा जो मी, त्या माझ्यावाचून दुसरे काही उरण्यास कारण आहे काय? याकरिता पापपुण्याची किंवा धर्माधर्माची चिंता तू करू नकोस. तुझे पाप व पुण्य मीच होईन. सर्व बंध देणारे असे जे पाप त्याचे हेच लक्षण होय की, माझ्याहून भिन्नपणे उरणे. ते पाप माझ्या ज्ञानाने नाश पावेल. हे कसे होते असे जर विचारशील तर हे अर्जुना! उदकात मीठ पडले म्हणजे ते आपण नाहीसे होऊन सर्व जलरूप होते, त्याप्रमाणे तू अनन्यभावाने मला शरण आलास म्हणजे मद्रूपच होशील. हे धनंजया! या योगाने तू आपोआप सर्व बंधनांपासून सुटशील. याकरिता मला जाणून तू माझी प्राप्ती करून घे. (मला आपलासा करून घे.) म्हणजे मग मी तुला सर्व बंधनांपासून मुक्त करीन. म्हणून हे सुमते! धर्माधर्माची चिंता मनात ठेवू नकोस. एक अद्वितीय जो मी, त्या मला जाणून शरण ये."

ज्या कारणाकरिता श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला शरण येण्यास सांगितले त्याच कारणाकरिता श्रीपांडुरंगांनी श्रीनामदेवांना श्रीविसोबा खेचरांना शरण जाण्यास सागितले. श्रीसद्गुरूंना शरण गेल्याशिवाय त्यांच्या मनात शिष्याविषयी करुणा उत्पन्न होत नाही. एकदा का शिष्य शरण गेला की, श्रीसद्गुरूंच्या मनात शिष्याविषयी करुणा उत्पन्न होते व तो शक्तिसंक्रमण करून शिष्यास मुक्त करतो. पुढील दोन अभंग या दृष्टीने पाहण्यासारखे आहेत-

देव आणि नामा उभे भीमातीरा। प्रेमें येरयेरां आळविती।।१।।
देव म्हणे नाम्या ऐकें गुह्य गोष्टी। संसाराची तुटी जेणें होये।।२।।
श्रीगुरुवांचुनी मुक्ति तुज नाहीं। भवनदीडोहीं नुतरसी।।३।।
शरण गुरुसी झालिया सप्रेमें। संसाराचा श्रम उतरेल।।४।।
गुरुवांचुनियां कैंचा मुक्ति ठाव। संसार हा वाव कैसा होय।।५।।
म्हणूनि नाम्या तुवां गुरुसि जावें शरण। तेणे भवबंधनें मुक्त होती।।

ऐसें ऐकूनियां नामा थरारिला। मूर्च्छागत झाला भूमीवरी।।७।।
भूमि लोळे नामा कंठ सद्गदित। डोळियां स्रवत अश्रुजळ।।८।।
इतुकें देखोनियां द्रवला पुरुषोत्तम। नाम्यासि सप्रेमें उचलिलें।।९।।
नाम्या तुज काय वाटतसे दुःख। संसाराचें सुख तुज झालें।।१०।।
नामा म्हणे देवा तुज ऐसा दाता। मज भवव्यथा कवणेपरी।।११।।

श्रीपांडुरंगासारखा दाता आपल्याला भेटला असताना तोच श्रीविसोबा खेचरांना आपल्यास शरण जाण्यास सांगतो याचे श्रीनामदेवांना फार वाईट वाटले. ते असे म्हणतात की,

अनाथांचा नाथ तुझी ब्रिदावळी। मज कां रे जाळी भवव्यथा।।१।।
देव म्हणे नाम्या गुरुवांचूनियां। मुक्ति पावावया आन नाहीं।।२।।
आन नेणें कांहीं करिसी विपत्ती। नव्हे माझी प्राप्ती गुरुवीण।।३।।
जाई नाम्या जाई गुरुसी शरण। तुटे भवबंधन तुझे वेगीं।।४।।
नामा म्हणे देवा कवणा शरण जाऊं। कोणा मी होऊं शरणागत।।
देव म्हणे नाम्या विसोबा खेचरासी। शरण तयासी जावें वेगीं।।६।।

श्रीपांडुरंगांच्या सांगण्याप्रमाणे श्रीनामदेवराय श्रीविसोबा खेचरांना शरण गेले व त्यांच्याकडून शक्तिपातयोगदीक्षा मिळवून कृतार्थ झाले.

"श्रीमद्भागवताच्या" एकादश स्कंधातील बाराव्या अध्यायातील पंधराव्या श्लोकावर टीका करताना श्रीसंत एकनाथमहाराजांनी **"श्रीएकनाथी भागवतात"** श्रीकृष्णांनी उद्धवाला शरणागतीचे पुढील प्रमाणे रहस्य सांगितले आहे. श्रीकृष्ण हे उद्धवाचे श्रीगुरू असल्याने ज्यावेळी ते उद्धवाला, तू मला शरण ये असे म्हणतात त्यावेळी श्रीसद्गुरूंना शरण हा अर्थच साधकाने ध्यानात घेतला पाहिजे. ते असे म्हणतात की, "वेदशास्त्राचे कर्मविधान हे अविद्यायुक्त साधन आहे. ती अविद्या घालविण्यासाठी श्रीसद्गुरूंना साधकाने शरण गेले पाहिजे. स्त्रीपुत्रादि सर्व विषयांचा ध्यास सोडून योग, योग्यता, कर्मठपणा व कर्माभिमान टाकून श्रीसद्गुरूंना शरण जावे. वेदाध्ययन, शास्त्रश्रवण, प्रवृत्ती व निवृत्ती हे सर्व सोडून श्रीसद्गुरूंना शरण जावे. धन व मान यांच्या चेष्टा सोडून, विद्वत्ता व प्रतिष्ठा दूर सारून आणि अनेक

प्रकारच्या निष्ठा बाजूला ठेवून साधकाने श्रीसद्गुरूंना शरण गेले पाहिजे. वैदिक, लौकिक, तांत्रिक, पुराणोक्त व पांचरात्रागमात सांगितलेले मंत्र, तंत्र इत्यादि सर्व टाकून जर साधक श्रीसद्गुरूंना शरण गेला तरच तो त्यांच्या कृपेने आत्मसुखाला प्राप्त होतो. आपल्या कुळाचा मोठेपणा टाकून, जातीचा अभिमान सोडून व चार आश्रमांपैकी स्वतःच्या आश्रमाचे श्रेष्ठपण विसरून मला शरण यावे. ज्ञान-ध्यान, विधि-विधान व देहाभिमान टाकून मला शरण यावे. माझे नावच अंतर्यामी असे आहे. हृदयातील जाणणारा मुख्य मीच आहे. शब्दांनी मी माझ्या स्वरूपापासून च्युत होत नाही. निर्ममत्वानेच परब्रह्मावरील श्रद्धा दृढ होते. सर्व अभिमान सोडून मला शरण आल्यास तुझी जन्ममरण परंपरा नाहीशी होईल. मग तू माझ्या प्रभावाने सहज तरून जाशील. मला शरण येण्यासाठी पर्वताच्या गुहेत, दरीत किंवा दशदिशात भटकण्याचे कारण नाही. श्रीसद्गुरू हे एका जागी राहत नाहीत. त्यांना गाव नाही. तेव्हा त्यांना शरण जावे तरी कोठे असे तुला वाटेल. पण मी तुझ्या हृदयातच श्रीसद्गुरुरूपाने आहे. या हृदयस्थालाच शरण जावे. अशा प्रकारे सर्वस्वी सर्वभावाने जर तू मला शरण येशील तर सर्व भूतांच्या हृदयात मी वास करीत असल्याने तू सर्वव्यापकतेस प्राप्त होशील. परंतु तू मनात तिळमात्र जरी अभिमान ठेवून मला शरण आलास तरी माझी प्राप्ती होणार नाही; कारण माझ्या प्राप्तीला अभिमान हे फार मोठे विघ्न आहे. याकरिता अभिमान टाकून श्रीसद्गुरूंना शरण गेले पाहिजे. तू मला शरण आलास म्हणजे कळीकाळही तुझ्या पाया पडेल. मग संसाराचे भय तर क्षुल्लकच आहे. तुला माझे सामर्थ्य प्राप्त होईल. याकरिता हृदयस्थालाच शरण जा. नाम, रूप व अभिमान टाकल्यावर जे उद्भवपण स्फुरते तेच हृदयस्थाचे रूप आहे असे लक्षात ठेव. त्यालाच तू शरण जा. नाम-रूप-गुण ही वस्तुतः माया आहे. तिला सोडून जी सत्ता स्फुरते तेच माझे म्हणजे हृदयस्थाचे रूप आहे. अशा प्रकारे हृदयस्थाची प्राप्ती केल्यावर मग सर्व भूतांमध्ये देवच दिसू लागतो.

साधकाला निराळे राहण्यासाठी रिकामी जागा उरत नाही. त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरुकृपेने साधक हृदयस्थाला शरण गेला म्हणजे मला येऊन मिळतो."

इतके सांगून श्रीकृष्णांनी उद्धवाची पाठ थोपटली. त्याबरोबर त्याने त्यांच्या पायांना मिठी घातली. त्यानंतर श्रीकृष्णांनी त्याला उठविले तरी तो काही केल्या उठेना.

श्रीसद्गुरुकृपा :-

श्रीसद्गुरुकृपेचे अनन्यसाधारण महत्त्व हे या शक्तिपातयोगमार्गाचे चवथे वैशिष्ट्य आहे. अनन्यशरण आलेल्या शिष्याला श्रीगुरू शक्तिपातदीक्षा देऊन कृतार्थ करतात. त्यामुळे श्रीसद्गुरूंचे व त्यांच्या कृपेचे महत्त्व श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे.

म्हणोनि जाणतेनें गुरु भजिजे। तेणें कृतकार्य होईजे।
जैसें मूळसिंचनें सहजें। शाखापल्लव संतोषती।।१.२५।।
हें असो दिठी जयावरी झळके।
कीं हा पद्मकरु माथां पारुखे।।
तो जीवचि परी तुके। महेशेंसीं।।१०.९।।
जय जय वो शुद्धे। उदारे प्रसिद्धे।।
अनवरत आनंदें। वर्षतिये।।१२.१।।
विषयव्याळें मिठी। दिधलिया नुठी ताठी।।
ते तुझीये गुरुकृपादृष्टी। निर्विष होय।।१२.२।।
तरी कवणातें तापु पोळी?। कैसेनि वो शोकु जाळी?।
जरी प्रसादरसकल्लोळीं। पुरे येसी तूं।।१२.३।।
योगसुखाचे सोहळे। सेवकां तुझेनि स्नेहाळें।
सोहंसिद्धिचे लळे। पाळिसी तूं।।१२.४।।
आधारशक्तीचिया अंकीं। वाढविसी कौतुकीं।
हृदयाकाशपल्लकीं। परिये देसी निज।।१२.५।।
प्रत्यक्ज्योतीची वोवाळणी। करिसी मनपवनाचीं खेळणीं।

आत्मसुखाचीं बाळलेणीं। लेववसी।।१२.६।।
सतराविये चें स्तन्य देसी। अनाहताचा हल्लरु गासी।
समाधिबोधें निजविसी। बुझाउनी।।१२.७।।
म्हणोनि साधकां तूं माउली। पिके सारस्वत तुझिया पाउलीं।
या कारणे मी साउली। न संडीं तुझी।।१२.८।।

याकरिता जे शहाणे आहेत त्यांनी श्रीगुरूंची सेवा करावी म्हणजे त्यांच्या मनातील सर्व हेतू सिद्धीस जातील. झाडाच्या मुळाशी पाणी घातले म्हणजे फांद्या व पाने आपोआप टवटवीत होतात. ज्या व्यक्तीवर श्रीगुरूंची कृपादृष्टी होते किंवा ज्याच्या मस्तकावर त्यांचा वरदहस्त पडतो तो जरी जीव असला तरी तो श्रीशंकरांसमान होतो. अर्थात् व्यक्ती कितीही कनिष्ठ किंवा यःकश्चित असली तरी श्रीगुरुकृपेने तिला तत्क्षणी जगच्चालक परमेश्वराचा दर्जा प्राप्त होतो. हे श्रीसद्गुरू आई! तू शुद्ध म्हणजे अखंड अज्ञानादिदोषरहित आहेस. तू एक अत्यंत उदार म्हणून प्रसिद्ध आहेस व तू निरंतर आनंदस्वरूप किंवा प्रेमरूप असून शिष्याच्या ठिकाणी अखंड परमानंदाचा वर्षाव करणारी किंवा परमानंदरूप प्रेमाची प्राप्ती करून देणारी आहेस. विषयरूपी भयंकर सर्पाने जीवाच्या ठिकाणी मिठी मारल्यामुळे जी त्याला आत्मविस्मृतिरूप मूर्च्छा आली आहे, ती कशानेही नाहीशी होत नाही. पण हे श्रीगुरो! एक तुमच्या कृपा दृष्टीनेच विषयरूपी सर्पाचे विष उतरून ती मूर्च्छा नाहीशी होते. तुझ्या अंतःकरणात ज्याच्याविषयी कृपाप्रेमाचा पूर येऊन त्याच्या लाटा उसळू लागल्या असता, संसारातील त्रिविध तापाने कोण पोळला जाईल? व त्याला प्रिय वस्तूचा वियोग व अप्रिय वस्तूचा संयोग यांच्याविषयीचा शोक कसा जाळू शकेल? सेवकांना तुझ्याच कृपेने योगसुखाचे सोहळे भोगावयास मिळतात व मी ब्रह्म व्हावे अशी जी सेवकांची हौस, तीही तू पूर्ण करतेस. आधारशक्तीच्या मांडीवर कुंडलिनी शक्ती जागी करून तिच्या साहाय्याने आपल्या सेवकाला कौतुकाने वर नेतेस आणि हृदयाकाशरूपी पाळण्यात त्याला आपल्या शुद्ध आत्मस्वरूपाच्या ऐक्याचे झोके देतेस. तू

आपल्या सेवकाला चैतन्याची ओवाळणी करून मनपवनाची खेळणी करून देतेस व आत्मसुखाची बाळलेणी लेववितेस. तसेच त्याला जीवनकलेचे अमृतपान देऊन अनाहताचे गाणे गातेस आणि ऐक्यज्ञानाच्या उपदेशाने त्याचे समाधान करून त्याला समाधिसुखाचा बोध करून निजवतेस. याकरिता हे श्रीसद्गुरू आई! तू साधकाची सतत कृपादृष्टीने सांभाळ करणारी आईच आहेस. तुझे चरण ज्या साधकाच्या हृदयात राहतील, त्याला सर्व प्रकारच्या विद्या प्राप्त होतात. यास्तव मी तुझ्या कृपेची सावली सोडीत नाही.

श्रीसद्गुरूंच्या या अनन्यसाधारण कृपेचे महत्त्व वर्णन करताना भगवान् श्रीशंकराचार्य यांनी **"शतश्लोकीच्या"** पहिल्याच श्लोकात शक्तिपातपूर्वक होणाऱ्या ज्ञानदानाचे सुंदर वर्णन केले आहे.

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः।
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये।
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वा लौकिकोऽपि।।१।।

या त्रिभुवनामध्ये ज्ञानदान करणाऱ्या श्रीसद्गुरूंना देता येईल असा कोणताही योग्य दृष्टान्त सापडत नाही. जर त्याला परिसाची उपमा दिली तर तीही योग्य ठरत नाही; कारण परीस लोखंडाचे सोने करतो, मात्र तो लोखंडाचा परीस करू शकत नाही. परंतु जो शिष्य श्रीसद्गुरुचरणांचा आश्रय घेतो त्याला श्रीगुरू शक्तिपातपूर्वक ज्ञानदान करून निजसाम्य देऊन कृतार्थ करतात. याकरिता श्रीसद्गुरूंना कोणतीही उपमा देता येत नाही.

"शतश्लोकीच्या" ९१ व्या श्लोकात श्रीगुरू आपली कृपापूर्ण दृष्टी शिष्यावर टाकून शक्तिपातद्वारा कसा बदल करतात त्याचे उत्कृष्ट वर्णन केले आहे.

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चैद्वै।
पुंसः श्रीसद्गुरुणामतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या।

जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेनाद्युपाधौ।
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसन्देहवृत्तिः।।९१।।

श्रीसद्गुरूंच्या अतुलनीय अशा करुणापूर्ण अमृतदृष्टीमुळे जर कोणाला "मी ब्रह्म आहे" हा अनुभव प्राप्त झाला, तर त्याचे मन भ्रमरहित होऊन जाते. त्यामुळे त्याचे सर्व संशय व मोह नष्ट होतात आणि तो जीवन्मुक्त होतो. त्याची अनादि उपाधी नष्ट झाल्यामुळे तो चिरंतन आनंदाच्या साम्राज्यात प्रवेश करतो.

श्रीसंत एकनाथमहाराजांनी **"श्रीनाथभागवताच्या" "यदु-अवधूत-संवादात"** श्रीदत्तात्रेयांनी यदुराजाला आलिंगन देऊन व आपले श्रीगुरू श्रीजनार्दनस्वामी यांच्या मस्तकावर हात ठेवून स्पर्शदीक्षा देऊन कृपा कशी केली व आत्मबोध कसा केला याचे अत्यंत हृदयस्पर्शी वर्णन पुढीलप्रमाणे केले आहे.

याहीपरी पाहतां। माझा गुरु एक एकुलता।
एक तेथें दुजेपणाची वार्ता। नाहीं सर्वथा यदुराया।।९.४२२।।
ऐशी सद्गुरुकथा। तुज सांगितली परमार्था।।
हरिखें आनंदला नृपनाथा। दोघां ऐक्यता निजबोधें।।४२३।।
जीवीं जीवा पडली मिठी। आनंदें ओसंडणें सृष्टी।
तेणें वाचेसी पडली बेलवटी। बोलों उफराटी विसरली।।
हरिखु न संठवे हृदयभवनीं। बाहेर वोसंडे स्वेदेजोनी।
आनंदघन वोळला नयनीं। स्वानंदजीवनीं वर्षतु।।४२५।।
तुटली अहंकाराची बेडी। पावलों भवार्णवपरथडी।
म्हणौनि रोमांची उभविली गुढी। जिंतली गाढी अविद्या।।
समूळ देहभावो पळाला। यालागीं गात्रकंपू चळचळा।
संकल्पविकल्प निमाला। मनेंसीं बुडाला मनोरथू।।४२७।।
जीवभावो उखिता। यदूनें अर्पिला गुरुनाथा।
तें चिह्न बाहेरी तत्त्वतां। दावी सर्वार्था निजांगीं।।४२८।।
तो अवधूत जाण दत्तात्रेया। तेणें आलिंगूनि यदुराया ।
निजरूपाचा बोधू तया। अनुभवावया दीधला।।४२९।।

दत्तात्रेयशिष्यपरंपरा। सहस्त्रार्जुन यदु दुसरा।
तेणें जनार्दनू तिसरा। शिष्य केला खरा कलियुगीं।।४३०।।
गुरुप्राप्तीलागीं सर्वथा। थोर जनार्दनासी चिंता।
विसरला तिन्ही अवस्था। सद्गुरु चिंतिता चिंतनीं।।४३१।।
देवो भावाचा भोक्ता। दृढ जाणोनि अवस्था।
येणें जाहलें श्रीदत्ता। तेणें हातु माथां ठेविला।।४३२।।
हातु ठेवितांचि तत्काळ। बोधु आकळिला सकळ ।
मिथ्या प्रपंचाचे मूळ। स्वरूप केवळ स्वबोधें।।४३३।।

"हे यदुराजा! अशा रीतीने पाहिले म्हणजे माझा श्रीगुरू एकुलता एकच आहे. तेथे दुजेपणाची वार्ताही नाही. श्रीसद्गुरूंची कथा मी तुला परमार्थप्राप्तीसाठी सांगितली." असे बोलून अवधूताने आनंदाने राजाला आलिंगन दिले. आत्मज्ञानामुळे ते दोघेही तद्रूप झाले. सृष्टीला आनंदाचे भरते आले. त्यामुळे वाचा बंद पडली व उलट पक्ष घेऊन बोलण्याचे विसरली. अंत:करणात आनंद न मावल्यामुळे तो घामाच्या रूपाने बाहेर वाहू लागला म्हणजे आनंदातिशयामुळे त्यांच्या अंगावर रोमांच उभे राहून घाम सुटला. आनंदरूपी मेघ डोळ्यात भरून आला व तो प्रेमाश्रूंचा वर्षाव करू लागला. अहंकाररूपी बेडी तुटली. आम्ही भवसमुद्राच्या परतीराला जाऊन पोहोचलो म्हणून रोमांचरूपी पताका उभारली. अविद्येला पार जिंकले. देहभाव पळून गेला म्हणून शरीर चळाचळा कापू लागले. संकल्पविकल्प नाहीसा झाला व मनोरथ मनासह बुडाला. यदुराजाने सर्व जीवभाव श्रीसद्गुरूंना अर्पण केला व त्याचे चिह्न तो तत्त्वत: आपल्या देहावर दाखवू लागला. ते अवधूत साक्षात् श्रीदत्तात्रेय होते असे जाण. त्यांनी यदुराजाला आलिंगून त्याला आत्मस्वरूपाच्या ज्ञानाचा अनुभव दिला. पहिला शिष्य सहस्त्रार्जुन व दुसरा यदु अशी श्रीदत्तात्रेयांची शिष्य-परंपरा असून कलियुगात जनार्दन यांना आपला तिसरा शिष्य केले. आपल्याला श्रीगुरुप्राप्ती कशी होईल म्हणून जनार्दनांना अतिशय चिंता लागून राहिली होती. त्या सद्गुरूंच्या चिंतनामध्ये त्यांना तिन्ही अवस्थांचा विसर पडला. परंतु देव हा

भावाचा भोक्ता असल्यामुळे, त्यांची ती खरी तळमळ जाणून श्रीदत्तदेव त्यांच्याकडे आले व त्यांनी त्यांच्या मस्तकावर हात ठेवला. हात ठेवल्याबरोबर तत्काळ जनार्दनांना आत्मबोधाचे आकलन झाले व त्या बोधाच्या योगाने प्रपंचाचे मूळच मिथ्या करून सोडले.

"विवेकसिंधू" या ग्रंथात शिष्य श्रीसद्गुरूंना अनन्य भावाने शरण गेल्यावर शक्तिपात दीक्षा देऊन श्रीगुरू त्याला कसे कृतार्थ करतात त्याचे अत्यंत रेखीव वर्णन श्रीमुकुंदरायांनी केले आहे.

तंव शिष्यु तापत्रयीं संतप्तु। शमदमसाधनीं संयुक्तु।
गुरूतें शरणांगतु। विनविता जाला।।१.८९।।
जी मी संसारसागरीं बुडालो। तापत्रयेंवडवानळीं पोळलो।
क्रोधादि जळचरीं विसंचिलों। जालो अतिशोच्यु।।९०।।
ज्ञानाचिया तारुवीं बैसउनि। कृपेचिये सुवायें पेलौनि।
देवेंचि तारक होवौनि। उतरावें मातें।।९१।।
संसाराचिये बंदिशाळे। बांधलों अज्ञानसांखळें।
तियें बंधनें तोडावीं स्वामी सकळें। ज्ञानशस्त्रे करौनिया।।९२।।
भवार्क मध्यान्ह तापवेळे। तापलों तापत्रयें दावानळें।
जी कृपाजळधरा ज्ञानजळें। निववावें मातें।।९३।।
ऐसी कृपा उपजवौनि। विनवी शिष्यशिरोमणी।
मस्तकु श्रीगुरुचरणीं। न्यासिता जाला।।९४।।
तंव बोलिला श्रीगुरुराजा। बारे तूं शिणलासि कवणीये काजा।
कैसें बंधन तोडिजैल वोजा। हें चोज पाही रोकडेंचि।।९५।।
ऐसी प्रतिज्ञा स्वीकारौनि। शिष्यातें सन्मुख बैसवौनि।
ज्ञानसमावेश करौनि। गुरुसंप्रदायक्रमें।।९६।।
तेथें ज्ञानशक्तीचा प्रवेशु। अज्ञानशक्तीचा निरासु।
बोध उठिला स्वयंप्रकाशु। शिष्य चैतन्यीं।।९७।।
तेवेळी कंपस्वेदादिक। उठिले भाव सात्त्विक।
जैसें साम्राज्य पावे रंक। तैसें वर्तते जाले।।९८।।
या नांव शक्तिपातु बोलिजे। जेथे स्वानुभवुचि अनुभविजे।

निःशेष तेही विसरिजे। स्मरण सांसारिक।।९९।।
स्तंभ स्वेद रोम उभारण। स्वरभंगादि कंपायमान।
वैवर्ण्य अश्रु प्रलपन। अष्ट सात्त्विक भाव हे।।१००।।
चित्त चाकाटले आंतु घेत। वाचा पांगुळली जेथिच्या तेथ।
आपाद कंचुकित। रोमांच आले।।१०१।।
वर्षताती आनंदजळें। आंतुला सुखोर्मिचेनि बळें।
बाहीर कापे अंग सगळे। अति वेगें थराथरा।।१०२।।
तंव आनंदाचा पूरू। शिष्यसरिते आला थोरू।
तेथ अविवेक पोहणारू। बुडौनि जाये।।१०३।।
अहंकारद्रुम उन्मूळिला। तृष्णेपक्षिणीचा कुरुठा मोडिला।
इंद्रियेग्रामु बुडाला। तिये आनंदजळीं।।१०४।।
असो हे सुखाचिये शेजारी। तेथ स्वानुभूतीं अंतुरीं।
तिया आलंगिला सुंदरी। तो योगीराजु।।१०५।।
तियेचेनि आंगमेळे। नुठती इंद्रियांचे डोहाळे।
तेथ आसकेंचि केवळें। स्वस्वरूप।।१०६।।
तेथ नेणीव ना जाणीव। सरले भावाभाव।
जेथ एकछत्र राणीव। तया योगीराजासी।।१०७।।
स्वस्वरूपसुखाचेनि भरे। तेथ कांहींच न स्फुरे।
ते योगनिद्रा न संहरे। तया योगिराजासी।।१०८।।
जेथ स्वर्गसुखाची कुरवंडी। वोवाळोनि सांडिजे फुडी।
तेया ब्रह्मसुखाची गोडी। केवीं बोलावी।।१०९।।
जेथ मनाचें जाणणें। खुंटले वाचेचें बोलणें।
हें जयाचें तोचि जाणे। येरा टकमकचि।।११०।।
तैसें वैराग्यवन्ही तापले। ज्ञानाधिकारु पातले।
अवधातुही ब्रह्म जाले। गुरुचरणस्पर्शें।।७३।।
पाहतां श्रीगुरुचेया महिमाना। परिसुहि होये ठेंगणा ।
तो लोहाते करी सुवर्णा। परि तो परिसु नोहेचि।।७४।।
परिससन्निधीं वेंधलें। लोहो सुवर्ण होऊन ठेलें।

परि तेथ अवधातु लागलें। ते कनक नोहेचि कीं।।७५।।
तैसा नोहे गुरुकृपेचा वेधु। जो सद्यस्वरूपावबोधु।
शिष्यचि ब्रह्म होये हा विनोदु। नवल तेथिंचा।।७६।।
कल्पतरूसी उपमा द्यावी। तरी तो कल्पिलिया अर्थातें पुरवी।
कल्पनातीत भेटवी। श्रीगुरुनाथु।।७७।।
कामधेनू आणि चिंतामणी। इये पुरवू न सकती आयणी।
चिंतिलेया अर्थाची दानी। म्हणौनिया।।७८।।
जीयें जननीजनके। तीयें संसारदायकें।
परि नव्हेति भवबंधछेदकें। येके श्रीगुरुवांचौनि।।७९।।
जे चिंतनासि अतीत। सकळ कल्पनाविरहित।
ते ब्रह्म निजानंदभरित। देता श्रीगुरुनाथु।।८०।।
म्हणौनि श्रीगुरूसीं उपमा। यैसी कवणासी असे महिमा।
प्रपंचचि होये परब्रह्म। प्रसादें जयाचेनि।।८१।।

त्रिविध तापांनी गांजलेला व शमदम वगैरे साधनांनी युक्त असलेला असा शिष्य श्रीगुरूंना शरण येऊन त्याने नम्रतेने विनंती केली की, "महाराज! मी भवसागरात बुडालो आहे. त्रिविध तापांच्या वडवाग्नीने पोळलो आहे. क्रोध वगैरे जलचर प्राण्यांकडून ग्रासला गेलो आहे. त्यामुळे अतिशोकाकुल झालो आहे. श्रीगुरुदेवांनी ज्ञानाच्या तारवात बसवून कृपेच्या चांगल्या वाऱ्याने त्याला चालवून माझे तारक होऊन मला पैल उतरवावे. मी संसाराच्या कैदखान्यात अज्ञानरूपी बेड्यांनी जखडून गेलो आहे. स्वामींनी ज्ञानरूपी हत्याराने त्या सर्व बेड्या तोडून टाकाव्यात. संसाररूपी सूर्याच्या प्रखर माध्याह्नीच्या वेळेला तापत्रयाच्या दावानळाने त्रासून गेलेल्या मला हे कृपारूपी मेघराजा! ज्ञानरूपी जलाने शांत करावे." अशी करुणा भाकून शिष्यश्रेष्ठ विनवू लागला.

त्याने श्रीगुरूंच्या चरणांवर डोके ठेविले. तेव्हा श्रीगुरू म्हणाले, "काय म्हणून तू दमून गेलास बाबा! हे बंधन स्वसामर्थ्याने कसे तोडले जाते हेच आश्चर्य तू प्रत्यक्ष पाहा." अशी प्रतिज्ञा करून

शिष्याला समोर बसवून आपल्या श्रीगुरूंच्या संप्रदायाप्रमाणे त्याच्या ठिकाणी ज्ञानाचा समावेश केला. त्याच्या ठिकाणी ब्रह्मज्ञानशक्तीचा प्रवेश केला व अज्ञान शक्तीचा निरास केला. त्याबरोबर शिष्यरूप चैतन्याला आपल्या ब्रह्मतेजाचे ज्ञान झाले. त्यावेळी कंप, घाम वगैरे सात्त्विक भाव शिष्यामध्ये उत्पन्न झाले. एखाद्या दरिद्र्यास साम्राज्य मिळाले म्हणजे तो जसा वागतो तसा तो शिष्य वागू लागला. या अवस्थेलाच शक्तिपात असे म्हणतात. तो झाला म्हणजे आपण ब्रह्म आहोत असा अनुभव अनुभवावयाला मिळतो व संसाराचे स्मरण निःशेष नाहीसे होते. शरीर निश्चल होणे, घाम येणे, रोमांच येऊन केस उभे राहणे, आवाजात बदल होणे, शरीर कंप पावणे, फिकटपणा येणे व अश्रुपात होणे हे अष्टसात्त्विक भाव शक्तिपात झाल्यामुळे उत्पन्न होतात. चित्ताची बाहेरची ओढ संपून ते आतच स्थिर होऊ लागते. वाचा जेथल्या तेथेच पांगळी होऊन जाते. सर्व शरीरभर रोमांच येतात. आनंद आत न मावल्यामुळे तो अश्रूंवाटे बाहेर पडतो. हृदयात सुखाच्या ऊर्मी इतक्या बलवान् होऊन उसळत असतात की, त्यामुळे शरीर सतत कंप पावते. त्यावेळी शिष्यरूपी नदीला आनंदाचा मोठा पूर आला. त्यात अविवेकी पोहणारा बुडूनच जावयाचा. त्या आनंदाच्या पुरात अहंकाररूपी वृक्ष मुळासकट उपटून जातो. वासनारूपी पक्षिणीचे घरटे मोडून पडते. इंद्रियसमूह बुडून जातो. या सुखात सहभागी म्हणून स्वतःची अनुभूती ही स्त्री होते. ती त्या योगिराजाला आलिंगन देते. तिच्या अंगस्पर्शाने विषयसुखाच्या इच्छाच उत्पन्न होत नाहीत. तेथे तत्काळ केवळ स्वस्वरूपाचे ज्ञानच होते. त्या स्थितीत जाणीव नसते-नेणीव नसते. भावाभाव उरत नाहीत. योगिराज त्या स्थितीत एकछत्री साम्राज्यपद भोगतो. स्वस्वरूप हे सुखाने पूर्ण भरलेले असते. तेथे कोणताच भाव स्फुरत नाही. त्या योगिराजाची ही योगनिद्रा कधीही नाहीशी होत नाही. या सुखावरून स्वर्गातील सर्व सुखे निरर्थक म्हणून ओवाळून टाकावीत. असल्या ब्रह्मसुखाची गोडी कशी सांगावी? त्याच्यापुढे मनाचे जाणणे व वाचेचे बोलणे खुंटून जाते. हे ज्याचे तोच जाणतो.

इतरांनी नुसते टकमक पाहतच राहावे. त्याचप्रमाणे निकृष्ट धातूसारखे असलेले वाईट शिष्यही वैराग्यरूपी अग्नीने तापल्यामुळे ज्ञानाचे अधिकारी होऊन श्रीगुरुचरणांच्या स्पर्शाने ब्रह्मरूप होतात. श्रीगुरूंचा मोठेपणा पाहता परीससुद्धा त्यांच्यापुढे कमी दिसतो. तो लोखंडाचे सोने करतो; परंतु ते लोखंड परीस होत नाही. परिसाला लोह चिकटले तर लोखंडाचे सोने होते; परंतु तेथे दुसरा निकृष्ट धातू आणला तरी त्याचे सोने होत नाही. श्रीगुरूंच्या कृपेचा वेध तसा नाही. त्याने एकदम स्वरूपाचा बोध होतो. तेथील आनंददायक आश्चर्य हेच आहे की, त्याने शिष्य प्रत्यक्ष ब्रह्म होतो. श्रीगुरुकृपेच्या वेधाला जर कल्पवृक्षाची उपमा द्यावी, तर कल्पवृक्ष मनात आणलेल्या इच्छा पुरवितो. परंतु श्रीगुरुनाथ कल्पनेच्या पलीकडचे जे ब्रह्म ते भेटवितो. कामधेनू काय किंवा चिंतामणी काय, कोणीच ब्रह्मप्राप्तीची इच्छा पुरवू शकत नाही; कारण ते इच्छिलेल्या वस्तूचेच दाते आहेत. आईबाप खरे, पण ते संसारच मागे लावून देतात. परंतु एका श्रीगुरूशिवाय कोणीही संसाराची बंधने तोडू शकत नाही. चिंतनाच्याही जे पलीकडचे व सर्व कल्पनांच्याही पलीकडचे स्वानंदपूर्ण ब्रह्म ते प्राप्त करून देणारा श्रीगुरुनाथच! म्हणून श्रीगुरूंना उपमा देण्याइतका मोठेपणा कोणात आहे? त्यांच्या प्रसादाने संसार हाच प्रत्यक्ष परब्रह्म होतो.

सारांश, श्रीगुरुकृपेशिवाय सर्व गोष्टी तुषकंडनवत् व्यर्थ होत. या दृष्टीने श्रीनिपट निरंजन असे म्हणतात की-

जोगजुगत कर देखे। ध्यानकूं कर देखे।
करमकूं कर देखे। कुचभी भयो नहीं।।१।।
स्नानसंध्या कर देखे। देवपूजा कर देखे।
पवन शीस चढा देखे। बालबी उखाडो नहीं।।२।।
काशीरामेसर फिर देखे। द्वारका जगन्नाथ देखे।
अजोध्या मथुरा देखे। देव तो मिला नहीं।।३।।
तनमो खाक चढाई। जटादाढीभी बढाई।
नींबकी पात खाई। झ्यांट भी भयो नहीं।।४।।

कहे निपटनिरंजनलाल। मिले जब सद्गुरु दयाल।
तब एक पलखमो उजाल। सब खलकभर अलख दिखायो।।

स्वतः होणारा योग :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे पाचवे वैशिष्ट्य हे आहे की, श्रीगुरुकृपेने शक्ती जागृत झाल्यावर शिष्य स्वत:च या योगमार्गाची वाट चालू लागतो; कारण शक्तिपातयोग हा स्वतः होणारा योग आहे. एकदा का श्रीगुरूंनी आपल्या शिष्यावर शक्तिपात करून दैवी शक्ती संक्रमित केली की, शिष्य आपोआप आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, धारणा व ध्यान या गोष्टी सहजपणे आत्मसात करतो. यासाठी त्याला कोणाचेही मार्गदर्शन घेण्याचे कारण पडत नाही. कारण जागृत झालेली शक्तीच साधकाला सतत आतून मार्गदर्शन करीत असते. त्यामुळे डोळे मिटून बसण्यापलीकडे साधकाला कोणत्याही प्रकारची विशिष्ट मेहनत किंवा त्रास करून घ्यावा लागत नाही.

दीक्षा झाल्याबरोबर साधकाचे शरीर, मन, बुद्धी, व वासना यांचे शुद्धीकरण सुरू होते. ज्याला त्याला त्याच्या संस्काराप्रमाणे अनुभव येऊ लागतात. कोणाला घूर्णा म्हणजे शरीर गरगर फिरणे होते. तर कोणाला योगासने होतात. ज्याला योगासनांचा गंधही नाही असा अशिक्षित साधकही योगमुद्रा, शीर्षासन, जालंधर बंध, दीर्घ कुंभक, भ्रामरी इत्यादि करू लागतो. हसणे, रडणे, जमिनीवर लोळण घेणे, शरीरावर आघात करून घेणे, जोराने गाणे, ओरडणे, भजन म्हणणे, नाम घेणे, ॐकाराचा दीर्घ उच्चार करणे, जमिनीवर निश्चेष्ट पडणे, झोप लागणे इत्यादि क्रिया होऊ लागतात.

शक्ती जागृत झाली की, मूलाधारात कंपन सुरू होते. शरीर थरथर कापू लागते. श्वासप्रश्वास जोराने चालू होतात. आत्यंतिक आनंद होतो. नाचावेसे वाटते. शरीराचा तोल सांभाळता येत नाही. अंगावर रोमांच उभे राहतात. रडू येते. मुखातून चमत्कारिक शब्द निघू लागतात. अतिशय भीती उत्पन्न होते. घाम फुटतो. मूत्रोत्सर्ग होतो. क्वचित् वीर्यपात होतो. केवल कुंभक होतो. मन बाह्यज्ञानरहित

होते. उड्डीयान, जालंधर व मूलबंध आपोआप होतात. खेचरी मुद्रा होते. दृष्टी भ्रुकुटीमध्ये, नासाग्री किंवा हृदयस्थानी स्थिर होते. मन शून्य होते. प्रणवजप आपोआप होतो. सुषुम्णेतून प्रवाह वरवर चढल्यासारखा वाटतो. मनाला निरतिशय सुख प्राप्त होते. सर्वत्र शून्य भासते. भयानक काळोख किंवा प्रखर उजेड दिसतो. नेत्र उघडण्याचा प्रयत्न केला तरी ते उघडत नाहीत. शरीर शून्य होऊन नाना प्रकारचे अनाहत नाद ऐकू येऊ लागतात. शरीर खेचले जाते. वरवर तरंगत आहे असे वाटते. शरीराला विजेचे झटके बसत आहेत असे वाटते.

काही वेळा शरीर जमिनीवर निश्चेष्ट पडते. नाड्या आतल्या आत खेचल्यासारख्या वाटतात. शरीरातून प्राण बाहेर चालले आहेत असा भास होऊन प्राण कासावीस होतात. शरीर बेडकासारखे उड्या मारते, डोलते व हाताने रगडले जाते. बुक्क्या मारून घ्याव्याशा वाटतात. टाळ्या व चुटक्या वाजवून साधक गाऊ लागतो.

मनात आवेश येतो. शरीरात कोणत्यातरी अद्भुत शक्तीचा संचार झाला आहे असे वाटते. कितीही आसने व क्रिया झाल्या तरी थकल्यासारखे वाटत नाही.

साधनाच्या वेळी शक्ती शरीराचा ताबा घेते. त्यावेळी आतून उसळून येणाऱ्या क्रिया केल्याशिवाय साधकाला बरेच वाटत नाही. त्यावेळी मन आनंदात मग्न होऊन मस्त बनल्यामुळे परिस्थितीचे भान राहात नाही. भांगेसारख्या पदार्थांचे सेवन केल्यासारखी धुंदी येते. स्थळ-काळाचे भान हरपून जाते. शरीर हलके होते. हवेतून चालल्यासारखे वाटते. मन नेहमी प्रसन्न व प्रफुल्लित राहते. इष्ट-अनिष्ट गोष्टी घडल्या तरी मन विचलित होत नाही.

साधक कविता करू लागतो. ग्रंथलेखन करतो. त्याच्या वाणीत अद्भुत तेज येते. त्याला भूत, भविष्य व वर्तमान कळते. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यांचे दिव्य अनुभव येतात. वेदवेदान्ताचे मर्म लक्षात येते. कोणत्याही शास्त्रात गती प्राप्त होते.

साधनात साधकाला देवतांची दर्शने होतात. मंत्र स्फुरतात. रोगांना औषधी मिळते. आतले शरीर किंवा सूक्ष्म शरीर आपल्या दृष्टीपुढे दिसू लागते. स्थूल शरीराचे अस्तित्व संपून जाते. डोळे उघडल्यावरही काही वेळ सर्वत्र शून्यतेचा भास होतो.

सकाळ-संध्याकाळ ठराविक वेळ झाली की, साधनाला बसल्याशिवाय साधकाला चैन पडत नाही. काही वेळेस साधकाला स्वप्नात अगर साधनाच्यावेळी भयंकर आकृती व रूपे दृष्टीस पडतात. देवता, श्रीगुरू किंवा पितरांचे दर्शन होते. श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिवलिंग आदि दर्शने होतात. पुस्तक, वस्त्र, स्त्रिया, बालक, सूर्य, चंद्र, तारे, ज्योती, नदी, समुद्र, तलाव, पर्वत, वृक्ष, जल, गाय, घोडा, सिंह, वाघ, पशू, पक्षी, सर्प, अन्न, पुष्प, फल, दूध या गोष्टीही ध्यानात दिसतात. वेदध्वनी ऐकू येतो. आपण मृत्यू पावलो आहोत असे दिसू लागते.

अशा प्रकारे शरीर, मन, बुद्धी व प्राण यांच्या शुद्धीसाठी ज्याला ज्या आसनांची आवश्यकता असते ती आपोआप सुरू होतात. साधकाला दोष घालविण्यासाठी स्वतः काहीही करावे न लागता शक्ती साहाय्य करते. शिष्य निरोगी, तरुण, मन व इंद्रिये यांवर ताबा असलेला, वर्णाश्रमधर्मांचे नियम पाळणारा, देव, ब्राह्मण व श्रीगुरू यांच्यावर पूर्ण श्रद्धा असलेला असेल तर अशा साधकावर शक्ति-संक्रमणाचा ताबडतोब परिणाम होतो.

वरील सर्व क्रिया ज्याच्या त्याच्या पूर्वसंस्काराप्रमाणे घडून येतात. अमुक क्रिया होतील किंवा होणार नाहीत हे सांगता येत नाही. त्याचप्रमाणे अमुक क्रिया आपणास झाल्या पाहिजेत व अमुक नको असाही साधकाला आग्रह धरता येत नाही. साधकाच्या प्रगतीसाठी ज्या क्रिया आवश्यक असतील त्या होत राहतील व नको असलेल्या होणार नाहीत किंवा थांबून जातील.

आपत्तिरहित साधन :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे सहावे वैशिष्ट्य हे आहे की, या साधनात

साधकाला कोणत्याही प्रकारची दुखापत किंवा इजा होण्याची भीती नसते. साधक शारीरिक, मानसिक व सांस्कारिक दृष्टीने ज्या अवस्थेत असेल त्या अवस्थेतून शक्ती त्याला पुढे नेत असते. अशा वेळी ज्या क्रियादि गोष्टी घडून येतात, त्या साधकाला पेलतील व कोणत्याही प्रकारचा त्रास होणार नाही इतक्याच तीव्र, मध्यम किंवा मंद असतात. श्रीगुरूंच्या मार्गदर्शनाशिवाय आसने, प्राणायाम वगैरेंचा अभ्यास करीत असताना धोका उत्पन्न होण्याचा खूप संभव असतो. **"अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः।।२.१६।।"** असे **"हठयोगप्रदीपिकेमध्ये"** या धोक्याचे वर्णन केले आहे. म्हणजे हठयोगातील अभ्यासातील चुकांमुळे वाटेल त्या तऱ्हेच्या शारीरिक व्याधी उत्पन्न होऊ शकतात. परंतु शक्तिपातयोगमार्गाच्या सांप्रदायातील साधना ही एक नैसर्गिक साधना आहे. ही साधना इतकी श्रेष्ठ आहे की, ती नरदेह सर्व प्रकारच्या व्याधींपासून मुक्त व शुद्ध करते, इतकेच नव्हे; तर असाध्य रोगही नाहीसे करते.

संसारी मनुष्यही या साधनेपासून मिळणाऱ्या लाभांनी आपले कल्याण करून घेऊ शकतो. परमानंद व मनःशांती हे दोन महान् लाभ या साधनेमुळे अनायासे पदरात पडतात.

जो साधक इतर कोणत्याही प्रकारच्या साधनाचा अवलंब करून योगाचा अभ्यास करतो, त्याला निरनिराळ्या आपत्तींना तोंड द्यावे लागते व परम कल्याण होईपर्यंत अतिशय शिस्तबद्ध जीवन जगावे लागते. परंतु या साधनात इतर साधनांइतकेच शिस्तबद्ध जीवन जगता आले नाही तरी परमानंद प्राप्त होतोच. शिवाय साधकातील कुंडलिनी शक्ती जागृत होताच ती त्याला आत्मप्रचीतीपर्यंत घेऊन जाते. साधक परमोच्च ब्राह्मी स्थितीस पोहोचेपर्यंत शक्तीचे कार्य अव्याहत चालू असते. मध्यंतरी जर साधन अपूर्ण राहिले, मृत्यू आला, अनेक जन्म घ्यावे लागले तरी जागृत झालेली शक्ती झोपी न जाता तशीच जागृत राहाते व आपले उद्दिष्ट पूर्ण करते.

इतर साधनांची अनावश्यकता :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे सातवे वैशिष्ट्य हे आहे की, एकदा का श्रीसद्गुरुकृपेने शिष्याची योगशक्ती जागृत झाली की, इतर साधनांचे महत्त्व शिल्लक राहात नाही. "हे नामदेवा! तुला गुह्य ज्ञान सांगितले व निजस्वरूपाचा प्रत्यय आणून दिला तेव्हा तुला अन्य साधनांच्या खटपटीची काय आवश्यकता आहे?" असे श्रीनामदेवांचे श्रीगुरू श्रीविसोबा खेचरराय यांनी नामदेवास बजावून सांगितले याचे कारण हेच आहे. आसन, प्राणायाम, मुद्रा, ध्यान, धारणा व इतर योगाचे प्रकार यांनाही काही महत्त्व उरत नाही; कारण या सर्व गोष्टी शक्ति-जागृतीसाठीच करावयाच्या असतात. अर्थात् श्रीगुरुकृपेने शक्ती आधीच जागृत झाल्याने इतर योगक्रियांची व साधनांची आवश्यकताच संपून जाते.

शक्तिपातयोगमार्गाद्वारे साधकास एकदा दीक्षा मिळाली की, मग तो स्वतः योगाच्या कोणत्याही मार्गाचा अवलंब करू शकत नाही. इतकेच नव्हे; तर त्याने तसा प्रयत्न केला असता त्याला सुखही लाभत नाही.

साधकानेही मनातून नानाविध साधनांतून व मंत्रतंत्राच्या जालातून स्वतःला निश्चयाने मुक्त करून व इतर अवडंबरांचा त्याग करून हे साधनच आपल्याला तारील असा निश्चय ठामपणे मनात बाणवून अभ्यास केला पाहिजे.

श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"अनुभवामृतात"** श्रीसद्गुरुकृपेनंतर इतर साधनांचे महत्त्व कसे शिल्लक राहात नाही हे सांगताना म्हटले आहे की -

जो भेटलियाचि सवें। पुरती उपायांचे धावे।
प्रवृत्तिगंगा स्थिरावे। सागरीं जिये।।२-८।।

यावर टीका करताना श्रीनिरंजन रघुनाथ **"अनुभवामृत-पद-बोधिनी"** या ग्रंथात असे म्हणतात की -

जो भूमास्वरूप श्रीगुरू भेटला असता, अपरोक्षत्वेंकरून अनुभविला

असतां, मोक्षाविषयीं श्रवणमननादि नाना उपायांचे धावे पुरती, यत्न सरतात; कां जे, शिष्य जो तो मोक्षरूप आपणचि होतो म्हणून. आणखी प्रवृत्ति म्हणजे प्राक्प्रवणवृत्ति हेचि कोण्ही एक गंगा जे ती आनंदसिंधु अपारावर गुरु तल्लक्षण सागर जो त्याचे ठायीं स्थिरावे, विलयातें पावते.

स्वप्रयत्नशून्य साधन :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे आठवे वैशिष्ट्य हे आहे की, सकाळ-संध्याकाळ साधकाने नियमितपणे ठराविक वेळी डोळे मिटून आसनावर बसले पाहिजे. या मार्गातील स्वप्रयत्नाचा भाग एवढाच आहे. एखादा साधक डोळे मिटून आसनावर बसला की, डोळे उघडेपर्यंत त्याने आतून ज्या क्रिया होतील त्यांना अगदी मुक्तपणे वाव दिला पाहिजे. ज्या ज्या क्रिया आतून होतील त्यांना कसलाही विरोध न करता व मध्ये अडचण न आणता साधकाने फक्त निरीक्षकाची भूमिका घेऊन त्या क्रिया नियंत्रित करण्याचा प्रयत्न कधीही करता कामा नये. साधनाच्या वेळी घडणाऱ्या क्रिया दैवी शक्तीकडून विवेकबुद्धीने आतून चालविल्या जातात. ज्या ज्या क्रिया घडून येतात त्यामुळे साधकाला अतिशय समाधान लाभते.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरी"** या ग्रंथात या मार्गातील प्रयत्नांचे व त्यांच्या फलांचे पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे.

"या मार्गातील प्रयत्नाचा भाग एवढाच आहे की, निश्चलपणे बसून राहणे होय. या साधनाच्या नियमित अभ्यासाने विषयांचा विसर पडतो. इंद्रियांचे चांचल्य व तळमळ नाहीशी होते. मनाचे मनपण व हाव संपून ते हृदयात विलीन होऊन जाते. नियमित अभ्यास केल्याने निरनिराळ्या क्रिया होऊन अभ्यासाचा कृपाप्रसाद घडून येतो. अभ्यासाच्या सातत्याने मनाची गती कमी होते व मनोविकार आपोआप बंद पडून सर्व मनोधर्माचे अस्तित्वच नाहीसे होते. कल्पना खुंटते. संकल्प विकल्प मावळून विचार संपतात व अनिर्वचनीय असे महासुख प्राप्त होते.

जे कोणी दृढनिश्चयाने शेवटपर्यंत या योगाचा अभ्यास करतात ते स्वतःच ते अनिर्वचनीय सुख बनतात. हे साधन जे कोणी आपले शरीर झिजवून करतात ते शुद्ध होऊन परमेश्वराच्या योग्यतेस पोहोचतात. ब्रह्मानुभवाचा अंतरंगात उदय झाल्याबरोबर साधकाला विश्व भासेनासे होते. हा अभ्यास जे पराकाष्ठेच्या दृढतेने करतात ते निश्चितपणे ब्रह्मपदाला पोहोचल्याशिवाय राहत नाहीत. साधकाने अभ्यासाचे पाऊल उचलून मार्गक्रमण केले तरच तो आयुष्य संपण्यापूर्वी मोक्षप्राप्तीच्या गावाला पोहोचू शकतो. एरवी दृढ अभ्यासाशिवाय हे शक्य नाही." **(श्रीज्ञानेश्वरी अध्याय ६)**

महर्षी श्रीपतंजलीनी "**पातंजल योगसूत्रे**" या ग्रंथात सांगितलेली पुढील तीन सूत्रे या दृष्टीने लक्षात ठेवण्यासारखी आहेत. "**तीव्र-संवेगानामासन्नः।।१.२१।।**" म्हणजे जो फार प्रयत्नशील असतो त्याला या योगात लवकर यश मिळते. "**मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः।।१.२२।।**" साधनेतील मंद प्रयत्न, मध्यम प्रयत्न व उत्कट प्रयत्न यांच्या अनुसार साधकांना प्राप्त होणाऱ्या यशामध्येही फरक पडतो. "**स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः।।१.१४।।**" अभ्यास दीर्घकाल, खंड न पडता व अत्यंत श्रद्धाभक्तिआदरपूर्वक केला म्हणजे तो अभ्यास दृढ होतो (व परमपदाची प्राप्ती होते.)

श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी "**अंतर्भाव**" या प्रकरण ग्रंथात देखील नित्यनियमित साधनाचे महत्त्व पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे. ते साधकांनी अवश्य लक्षात ठेवले पाहिजे.

कांहीं तरी एक कारण। कैसें घडें यत्नेंविण।
ब्रह्मज्ञान परम कठीण। साधनावांचूनि।।२.१२।।
नित्यनेम दृढ चित्तीं। तेणें शुद्ध चित्तवृत्ती।
होवोनि भगवंतीं। माग फुटे।।३.५।।
नित्यनेमें भ्रांति फिटे। नित्यनेमें संदेह तुटे।
नित्यनेमें लिगटे। समाधान अंगीं।।६।।
नित्यनेमें अंतर शुद्ध। नित्यनेमें वाढे बोध।

नित्यनेमें बहुखेद। प्रपंचीं तुटती।।७।।
नित्यनेमें सत्त्व चढे। नित्यनेमें शांती वाढें।
नित्यनेमें थारा मोडे। देहबुद्धीचा।।८।।
नित्यनेमें दृढभाव। नित्यनेमें भेटे देव।
नित्यनेमें पुसे ठाव। अविद्येचा।।९।।

श्रीशंकरांचे उदाहरण देऊन साधन का व कसे केले पाहिजे तेही श्रीसमर्थांनी पुढे "**पंचसमासी**" व उपरोक्त ग्रंथात सांगितले आहे.

जो सिद्धाचाही सिद्ध। ज्ञानवैराग्य प्रसिद्ध।
सामर्थ्यसिंधु अगाध। कैलासराणा।।पंच.३.१७।।
तो सिद्ध करी साधन। सर्वकाळ रामचिंतन।
ध्यान धारणा अनुष्ठान। चुकों नेदी।।१८।।
ऐसे अपार महामती। झाले ते साधन करिती।
तरी ते मानव किती। बापुडे किंकर।।१९।।
म्हणोनि साधनासी जो सिद्ध। तोचि ज्ञाता परम शुद्ध।
येर जाणावे अबद्ध। अप्रमाण।।अंत.४.६।।
साधनेंविण बाष्कळता। तीच जाणावी बद्धता।
तेणें अनर्गळता। आसक्तरूपें।।५।।

श्रीकपिल महामुनींनी "**सांख्यसूत्रात**" सांगितल्याप्रमाणे "**कृत-नियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत्।।४.१५।।**" मूळ नियमांचे उल्लंघन केल्यास, इतर व्यावहारिक गोष्टींप्रमाणे येथेही ध्येयसिद्धी अशक्य होऊन बसते म्हणून नियमादिकांचे पालन उत्तम रीतीने करून साधन करीत राहिले पाहिजे.

सर्वांना मुक्त साधन :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे नववे वैशिष्ट्य हे आहे की, जगातील सर्व लोकांना हा मार्ग मोकळा आहे. स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, तरुण, आस्तिक, नास्तिक, स्वकीय, परकीय, रोगी, निरोगी, पापी, पुण्यवान इत्यादि सर्वांना हा मार्ग खुला आहे. काही ठाराविक बंधने व नियम पाळल्यानंतर सर्वांना आत्मशक्ती जागृत झाल्यानंतर त्यांच्या त्यांच्या

संस्काराप्रमाणे अनुभव येऊ लागतात. प्रत्येक मनुष्य हा ईश्वरी ज्ञानाचा अधिकारी असल्यामुळे देश, काल, धर्म, जाती इत्यादि कशाचेही बंधन या योगमार्गात आडवे येत नाही.

कर्म, जाती, अवस्था आणि आश्रम या गोष्टी योगसाधनेच्या किंवा तपस्येच्या आड येत नाहीत. चंदन व विष्ठा अग्नीत टाकल्यावर अग्नी दोन्ही गोष्टी ज्याप्रमाणे दग्ध करून शुद्ध करतो त्याप्रमाणे योगाग्नीत चांगले व वाईट सर्व नाहीसे होऊन मनुष्य ब्रह्मरूप होऊन जातो.

मनुष्यमात्राला दुःखनिवृत्तीचा उपाय कळावा व त्याला निरतिशय सुख प्राप्त व्हावे म्हणून श्रीब्रह्मदेवांनी एकदा श्रीमहादेवांना पुढील प्रश्न केला, "हे शंकरा! सर्व जीव सुखदुःखाच्या मायाजालात गुरफटून गेले आहेत त्यापासून त्यांची मुक्ती कशी होईल हे कृपा करून सांगावे. ज्या मार्गाने सर्व सिद्धी प्राप्त होतील, मायाजाल तुटून जाईल, जन्म, मृत्यू, जरा, व्याधी इत्यादि सर्वांचा नाश होईल व ज्यापासून मोठे सुख प्राप्त होईल, असा मार्ग दाखवा."

त्यावर श्रीशंकरांनी श्रीब्रह्मदेवांना सांगितले की, "हे ब्रह्मदेवा! परमपद कैवल्यरूप आहे. ते निरनिराळ्या प्रकारच्या मार्गांनी मोठ्या कष्टाने प्राप्त होते. मात्र सिद्धमार्गामुळे म्हणजेच शक्तिपातयोगमार्गामुळे ते कैवल्यपद सहज प्राप्त होते. इतक्या सहजतेने अन्य दुसऱ्या कोणत्याही मार्गाने कैवल्य मिळत नाही." **(योगशिखोपनिषद् अध्याय १.१ ते ३)**

यामुळे अशा प्रकारे शक्तिपातायोगाची दीक्षा देणारे सिद्धगुरू हे या भूतलावरील साक्षात् श्रीशंकरच होत हे निःसंशय खरे आहे.

एका दिव्याने दुसरा दिवा लावावा असे साधन :-

शक्तिपातयोगमार्गाचे दहावे वैशिष्ट्य हे आहे की, एका दिव्याने दुसरा दिवा प्रज्वलित करावा असे हे साधन आहे. एकदा का श्रीगुरूंनी शिष्याची चैतन्यशक्ती जागृत केली की, ती स्वतः प्रज्वलित राहते. पूर्वजन्माची शिदोरी व या जन्मीचे प्रयत्न यांच्या तेलाने हा दीप सतत प्रज्वलित राहतो. एकदा जागृत अथवा प्रज्वलित झालेला हा दिवा कधीही विझत नाही.

जीवाची बहिर्मुख वृत्ती, शारीरिक रोग, मानसिक चिंता, शोक, भय, वृद्धावस्था, अशुद्धी, श्रद्धाहीनता, मनाचे जडत्त्व, पूर्वजन्मीचे दुष्ट संस्कार, पाप, संशय, प्रमाद, आळस, चित्ताची विषयाकडे ओढ इत्यादि अनेक गोष्टी साधनाच्या आड येऊन दिवा विझला आहे असे वाटावयास लावतात. त्यामुळे उदासीनता प्राप्त होते. परंतु नियमित सकाळ-संध्याकाळ साधन केल्याने श्रीसद्गुरुकृपेने सर्व दोषांची निवृत्ती होऊन साधक परतीराला जाऊन पोहोचतो. **"रत्नमाला आगमामध्ये"** असे लिहिले आहे की -

यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्।।

ज्यावेळी श्रीगुरूंकडून निर्विकल्पाचा बोध शिष्याला प्रकाशित करून दिला जातो त्याचवेळी तो मुक्त होतो. त्यानंतर मात्र तो केवळ यंत्रवत् होऊन राहतो.

ज्योत प्रज्ज्वलित झाल्यावर शिष्याने फक्त साक्षिभावाने तिच्याकडे पाहवयाचे. ती स्वतः कार्यरत होऊन महाज्योतीत विलीन होईल.

म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज यांनी **"भारतीय संस्कृति और साधना" खंड एक,** या ग्रंथातील **"शक्ती का जागरण"** या लेखात म्हटल्याप्रमाणे "शक्तिपात होऊन कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय ब्रह्मप्राप्तीच्या महान् मार्गाच्या वाटचालीला सुरुवातही होत नाही. मग ब्रह्मप्राप्तीची गोष्ट तर फारच दूरची आहे. शक्ती जागृत होणे हाच मनुष्य जीवनाचा खरा उद्देश आहे. केवळ अपूर्ण कैवल्य प्राप्त करून जन्ममृत्यूच्या फेऱ्यात सापडून वरच्या दर्जाचे स्थान प्राप्त करणे हे मनुष्य जीवनाचे ध्येय असूच शकत नाही. आपली सुप्त भगवच्छक्ती जोपर्यंत पूर्णपणे जागृत होत नाही तोपर्यंत मनुष्य जीवनाचे खरे सार्थक होत नाही. कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय जड व चैतन्य यातील संघर्ष समाधानकारकपणे संपत नाही. विवेकज्ञानाचा उपयोग हा या मार्गाची वाटचाल सुरू करण्यास पहिली पायरी म्हणून ठीक आहे; परंतु शक्तीची साधना केल्याशिवाय शिवभावाची प्राप्ती होणे अत्यंत कठीण आहे."

प्रारब्ध जय व ज्ञानप्राप्ती :-

शक्तिपातयोगाचे अकरावे वैशिष्ट्य असे आहे की, या योगमार्गाच्या अभ्यासानेच पिंडसिद्धी म्हणजे प्रारब्ध जय होऊन ज्ञानप्राप्ती होते. योगी लोक यामुळेच असे म्हणतात की, शुष्क अशा ज्ञानमार्गापेक्षा हा सिद्धमहायोगमार्ग श्रेष्ठ आहे. ज्ञानमार्गात देह परिपक्व होत नसल्याने प्रारब्धाचा जय होऊ शकत नाही. परंतु ज्याच्या ठिकाणी योगाग्नी उत्पन्न झालेला असतो त्याचा देह प्रारब्धाधीन राहत नाही. विद्यारण्य-स्वामींनी "**जीवन्मुक्तीविवेकात**" "**योगप्राबल्याचा विचार**" मांडताना असे म्हटले आहे की, "**प्रारब्धं कर्म यथा तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणे योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु। तथा च योगिनामुद्दालकवीतहव्यप्रभृतीनां स्वेच्छया देहपरित्याग उपपद्यते।**" म्हणजे प्रारब्ध-कर्म हे तत्त्वज्ञानापेक्षा प्रबल आहे व प्रबल प्रारब्धकर्मापेक्षा योगाभ्यास प्रबल आहे. अशा प्रकारे योगाभ्यास श्रेष्ठ आहे असे स्वीकारले म्हणजे उद्दालक व वीतहव्य प्रभृति योग्यांनी स्वेच्छेने देहपरित्याग केला हे जुळते. नाही तर त्यांना देहपरित्यागाकरिता प्रारब्धाधीन राहावे लागले असते. आपण अल्पायुषी आहोत, कमी आहोत व आपणास उद्दालकासारखा हा योग जमणार नाही असे साधकाने कधीही मनात आणता कामा नये. जन्मजन्मांतरी केलेल्या साधनाचे फल म्हणून उपरोक्त योग्यांना महायोगाची प्राप्ती होऊन ते प्रारब्धजयी झाले. त्याप्रमाणे पुढे आपणासही असा उपयोग होईल व या जन्मात यावच्छक्य कामक्रोधलोभादिंचा निरोध होईल असा विचार करून साधकाने योगाभ्यास केला पाहिजे. साधकाने याउलट विचार केला व शास्त्रीय प्रयत्न हे प्रबल नाहीत असे म्हटले तर वैद्यकीयशास्त्रापासून मोक्षशास्त्रापर्यंतची सर्व शास्त्रे व्यर्थ होतील. शक्तिपातयोगाची दीक्षा होऊनही, या ग्रंथात पुढे जी फले सांगितली आहेत, ती क्वचित् प्रसंगी आढळली नाहीत व एखाद्या साधकाला जरी त्याचा अनुभव आला नाही तरी शास्त्रीय प्रयत्न म्हणजे शक्तिपात योगसाधन हे प्रबलच आहे, हे त्याने पक्के ध्यानात ठेऊन साधन केले पाहिजे.

शास्त्रामध्ये असे सांगितले आहे की, जन्म अथवा स्थूल देहसंबंध, आयुष्य अथवा जीवनकाळ व भोग किंवा सुखदुःखबोध ही सर्व प्रारब्धकर्माची फले आहेत. प्रारब्धकर्माला ओलांडून जाणे, तोडणे किंवा त्याचे खंडन करणे शक्य नसल्यामुळे जात, जन्म, आयुष्य, भोग इत्यादि कोणत्याही गोष्टीत परिवर्तन होऊ शकत नाही. इतकेच नव्हे; तर ज्ञानाचा उदय झाल्यावरही जेव्हा सर्व संचित कर्मे जळून जातात व क्रियमाण कर्मे शिल्लक राहत नाहीत तेव्हा प्रारब्ध मात्र शिल्लक राहते. त्या प्रारब्धकर्माचा केवळ भोगूनच क्षय होतो. प्रारब्ध कर्म शिल्लक राहत असल्यामुळे ज्ञानोदयाबरोबर देह पडत नाही. जीवन्मुक्तीत व विदेहमुक्तीत जो फरक आहे त्याचे हेच खरे कारण आहे. यामुळे जीवनमुक्त पुरुषही प्रारब्धरहित होत नाहीत. सर्वश्री सौभरीमुनी, चंद्र, मांडव्यमुनी, शिखिध्वज, कवी, हरी इत्यादि योगी, नारद, ध्रुव, वासुदेव, ऋषभदेव, अगस्ती इत्यादि सर्व लोकांच्या चरित्रांकडे पाहिले म्हणजे हे लक्षात येते की, तत्त्वज्ञानाने प्रारब्धाचा क्षय होत नाही.

यासाठीच सिद्धमहायोगाचा महिमा मोठा आहे. **"सर्वसिद्धांत-संग्रहामध्ये"** श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी अगदी स्पष्टपणे असे म्हटले आहे की, केवळ ज्ञानानेच साधकाला मुक्ती मिळत नाही. श्रीसद्गुरूंच्या उपदेशाने विद्यालाभ होऊन अविद्येची निवृत्ती होते. परंतु देहशुद्धी झाल्याशिवाय देहरूपी आरशाचे दोष नष्ट होत नाहीत. योगाभ्यास हा देहशुद्धीचा एकमात्र उपाय आहे. यामुळे ज्या लोकांना ज्ञानप्राप्ती झालेली असते त्यांच्यामध्येही कधी कधी देहामुळे दोष उत्पन्न होऊन व ते प्रबल होऊन त्यांची बुद्धी भ्रांत झालेली दिसते. यासाठी ज्ञान व वैराग्य प्राप्त झाले तरी सुद्धा दोषक्षयासाठी साधकाने योगमार्गाचा अवलंब करणे अपरिहार्य ठरते. ज्याप्रमाणे गुळाची किंवा अन्य पदार्थांची चव माहीत असूनही ताप आल्यावर रोग्याच्या जिभेला त्या पदार्थाच्या चवीचा अनुभव तापामुळे येत नाही त्याचप्रमाणे आत्म्याचे शब्दद्वारा सम्यक् ज्ञान झाले तरी योगाच्या शिवाय

अपरोक्षानुभूती होत नाही.

ज्ञान परोक्ष व अपरोक्ष असे दोन प्रकारचे आहे. श्रीगुरूंनी शिकविल्यावर व शास्त्राचे वाचन झाल्यावर जे ज्ञान होते त्याला परोक्ष ज्ञान असे म्हणतात. ज्याचा प्रत्यक्ष अनुभव येतो त्याला अपरोक्ष ज्ञान असे म्हणतात. हे अपरोक्ष ज्ञान साधनावरच अवलंबून असल्यामुळे "**हठयोगप्रदीपिकेच्या**" चवथ्या प्रकरणात श्रीस्वात्माराम-योगींद्र यांनी असे म्हटले आहे की -

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे।
यावद् बिन्दुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबन्धात्।।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं।
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः।।११४।।

जोपर्यंत सुषुम्णामार्गामध्ये प्राणवायूचा संचार होऊन सहस्त्रारामध्ये असलेल्या ब्रह्मरंध्रामध्ये तो प्रवेश करीत नाही, जोपर्यंत केवलकुंभक साधन आपोआप घडून येऊन बिंदू म्हणजे वीर्य स्थिरभाव धारण करीत नाही व जोपर्यंत सहजासहजी चित्तवृत्ती ध्येयाकार व निर्विषय होऊन तत्त्वज्ञान उत्पन्न होत नाही तोपर्यंत शब्दामुळे झालेल्या व शास्त्रवाचनाने कळलेल्या शाब्दिक ज्ञानाचे कथन या गोष्टी अक्षरशः दांभिक व खोट्या ठरतात.

अखंड वस्तूलाच वास्तविक तत्त्व म्हणतात. या अखंड वस्तूच्या म्हणजे चैतन्याच्या संबंधी जे ज्ञान असते त्याला तत्त्वज्ञान असे म्हणतात. या तत्त्वालाच भक्त लोक भगवान्, ज्ञानी लोक ब्रह्म व योगी लोक परमात्मा असे म्हणतात. या अखंड तत्त्वाची प्रत्यक्ष अनुभूती येणे हे फार महत्त्वाचे आहे. दिवा लावला की, अंधार आपोआप नाहीसा होतो. मात्र नुसते दिवा दिवा असे ओरडले किंवा गोंधळ घातला तरी अंधकार नाहीसा होत नाही. या प्रकारेच आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि व त्यासंबंधी नुसते बोलून, सांगून किंवा आरडाओरडी करून आत्मस्वरूपाचे दर्शन होत नाही. एकमात्र साधनानेच आत्मस्वरूपाचे किंवा ब्रह्मस्वरूपाचे दर्शन होते. "**सच्चिदा-**

नंदरूपी आत्मा व ब्रह्म आहे," असे म्हणणे याला परोक्ष ज्ञान म्हणतात आणि **"मीच सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा किंवा ब्रह्म आहे,"** अशा प्रकारच्या साक्षात् अनुभूतीला अपरोक्ष ज्ञान म्हणतात. श्रीविद्यारण्यभारतीतीर्थस्वामींनी **"पंचदशीमध्ये"** या दोन्ही ज्ञानांची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की -

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद अपरोक्षं तदुच्यते।।६.१६।।

नुसते ब्रह्म आहे असे म्हणून परोक्ष ज्ञान होण्यापेक्षा मी साक्षात् ब्रह्म आहे अशी अपरोक्षानुभूती येणे हे खरे ज्ञान आहे. (येथे "साक्षात्कारः स उच्यते," असा पाठभेद घेतल्यास "मी ब्रह्म आहे असे जाणले की, तोच साक्षात्कार होय, असा अर्थ होईल.") कारण **"योगशिखोपनिषदात"** असे म्हटले आहे की -

पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः।।४।।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते।।४-१/२।।

जे लोक न्याय, व्याकरणादि शास्त्रांच्या जाळ्यांमध्ये गुरफटलेले असतात ते त्यातील प्रमेयादिकांनी मोहित होऊन अगदी मुग्ध होऊन जातात. त्यांची बुद्धी शास्त्रांच्या पलीकडील तत्त्व पाहण्यास व त्या तत्त्वाचे आकलन करण्यास अगदी असमर्थ ठरते. किंबहुना त्याच्या पलीकडे काही आहे व असू शकते याची जाणीव त्यांना होत नाही. त्यामुळे केवळ शास्त्राध्ययनाने आत्मस्वरूपाची प्राप्ती म्हणजे अनुभूती त्यांना येऊ शकत नाही. स्वतःच प्रकाशरूप असलेल्या आत्म्याला शास्त्र प्रकाशित करू शकत नाही.

उपरोक्त अपरोक्षानुभूतीसाठी शक्तिपातयोगाचीच कास धरली पाहिजे हे सांगताना **"श्रीस्वात्मारामयोगींद्र"** यांनी **"हठयोगप्रदीपिकेत"** असे म्हटले आहे की -

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणांविना।।४.९।।

जोपर्यंत श्रीसद्गुरू आपली कृपापूर्ण दृष्टी शिष्यावर टाकून शक्तिपाताने आदिमाया कुंडलिनी शक्तीची जागृती करीत नाहीत तोपर्यंत विषयत्याग, तत्त्वदर्शन व सहजावस्था या तीनही गोष्टी घडून येणे कदापीही शक्य नाही. हे जर घडून यावे असे वाटत असेल तर साधकाला शक्तिपातयोगाचे साधन मिळालेच पाहिजे.

"**नासिकेतपुराणामध्येही**" योगाचा महिमा सांगताना असे म्हटले आहे की -

अग्निहोत्रमिदं तात संसारस्य तु बन्धनम्।
जन्ममृत्युमहामोहाः संसारे पततां ध्रुवम्।।
योगाभ्यासत्परं नास्ति संसारार्णवतारणम्।
ब्रह्माद्या देवताः सर्वे इन्द्राद्याः कश्यपात्मजाः।।
सर्वे योगवशात्सिद्धा गतास्ते परमां गतिम्।।

अग्निहोत्रादि कर्मकांड हे संसाराचे बंधनच आहे. या महामोहरूपी संसारात जन्ममृत्यूच्या फेऱ्यात सापडून जीव अनंत कालपर्यंत भटकत राहतो हे अगदी ध्रुवसत्य आहे. या संसाररूपी समुद्रातून पार होण्याला योगाशिवाय दुसरा उपाय नाही. ब्रह्मदेव, कश्यपाचे पुत्र व इंद्रादिक सर्व देवता योगाच्या प्रभावानेच सिद्ध होऊन श्रेष्ठ गतीला गेल्या. इतके सांगण्याचे कारण असे आहे की, जो मनुष्य योगाची कास धरत नाही त्याची स्थिती "**स्वर्गं गत्वा पुनर्जन्म संसारे भवति ध्रुवम्।**" म्हणजे स्वर्गात जाऊन जीव पुन्हा भूतलावर जन्म घेतो अशी होते. याशाठी शास्त्र असे सांगते की, "**योगाभ्यासात्परं नास्ति न भूतो न भविष्यति।**" या भूतलावर सिद्धमहायोगासारखे साधन झाले नाही व पुढे होणारही नाही.

"**योगबीज**" नावाच्या सिद्धयोगमार्गाच्या ग्रंथामध्ये महासिद्धयोगी श्रीगोरक्षनाथ यांनी असे म्हटले आहे की, "कामादि नानाविध दोषांनी झाकलेला जीव केवळ ज्ञानाने मुक्तीचा लाभ करू शकत नाही." "**योगशिखोपनिषदाच्या**" पहिल्या अध्यायातही असेच म्हटले आहे की -

ज्ञाननिष्ठोविरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽविजितेन्द्रियः।।१.२४।।
विना देहेन योगेन न मोक्षं लभते विधे।।१.२४.१/२।।

श्रीशंकर श्रीब्रह्मदेवांना असे सांगतात की, "हे ब्रह्मदेवा! साधक जरी ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ व जितेंद्रिय असला तरीसुद्धा योगाशिवाय म्हणजे योगाच्याद्वारा चित्तशुद्धी झाल्याशिवाय सामान्य देहाने मुक्तीचा लाभ करू शकत नाही. ज्याप्रमाणे मातीच्या कच्च्या घड्यात भरलेले पाणी हळूहळू गळत जाऊन शेवटी ते मातीचे भांडे नष्ट होते त्याप्रमाणे योगहीन देहावर नानात-हेच्या रोगांचे आक्रमण होऊन चित्त चंचल होते व देह अकालीच मृत्युमुखी पडतो. पक्व व अपक्व असे देहाचे दोन प्रकार आहेत. योगाग्नीच्या शिवाय देहाला परिपक्व करण्याचा दुसरा कोणताही उपाय नाही आणि शक्तिपात झाल्याशिवाय म्हणजे कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय हा योगाग्नी उत्पन्न होऊ शकत नाही. योगाग्नी उत्पन्न झाला की, साधकाचा अपक्व देह हळूहळू पक्व होऊ लागतो. त्यामुळे जडता, शोक, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मानसिक व्याधी, दुश्चिंता इत्यादि सर्वांपासून तो विमुक्त होतो. जे योगी नसतात त्यांचा देह अपक्व, जड, पार्थिव व दुःखप्रद असतो." महासिद्धयोगी श्रीगोरक्षनाथांनी **"योगबीज"** या ग्रंथात अगदी स्पष्टपणे असे सांगितले आहे की, "योगाशिवाय ज्ञान, वैराग्य, जप इत्यादि सर्व गोष्टी अगदी अर्थशून्य व विफल ठरतात. जे लोक योगाचा आश्रय घेऊन त्याच्या बलावर देहाला परिपक्व करण्यास असमर्थ ठरतात ते ध्यानस्थ बसले तरीसुद्धा इंद्रियांना आपल्या ताब्यात ठेवू शकत नाहीत. त्यांनी तीव्र निग्रह केला तरी कामक्रोधादि शत्रूंचे दमन ते करू शकत नाहीत. इतकेच नव्हे; तर मानसिक दुःखामध्ये ते अविचलित राहू शकत नाहीत. अग्नी, वायू, जल, शस्त्र इत्यादींच्या प्रभावाने अपक्व देहाला त्रास होतो व चित्तामध्ये क्षोभ उत्पन्न होतो. अपक्व देहामध्ये प्राण व अपान यांचा साम्यभाव राहत नाही. त्यामुळे वायूच्या चांचल्याने चित्त चंचल होऊन नाना प्रकारच्या दुःखांचा मनात उदय होतो. जोपर्यंत चित्तजय होत नाही तोपर्यंत साधकाच्या मनाला शांती मिळत नाही

यासाठी साधकाला स्वाधीनता, परिपक्वता व चित्तशांती प्राप्त करावयाची असेल तर सिद्धमहायोग हाच एकमेव मार्ग आहे. शक्तिपातयोगाचा त्याग करून शास्त्राध्ययन, विचार, आचार, कर्मकांड, भजन इत्यादि कोणताही मार्ग साधकाने स्वीकारला तरी यांपैकी कशानेही त्याला स्वस्वरूप व स्वसंवेद्य अशा आत्मस्वरूपाची प्राप्ती होऊ शकत नाही. देह, बुद्धी, मन, इंद्रिये इत्यादि सर्वांचे आक्रमण तोडून जर पुढे जावयाचे असेल तर सिद्धयोगसोपानाची कास धरल्याशिवाय गत्यंतर नाही असेच म्हणावे लागते."

असे हे योगाचे माहात्म्य असल्याचे "**कुर्मपुराणातील**" उत्तरार्धातही सांगितले आहे.

योगाग्निर्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्।।११.२।।

योगरूप अग्नी अत्यंत शीघ्रतेने पापांचे डोंगरच्या डोंगर जाळून टाकतो. मग ज्ञान प्राप्त होते व त्या ज्ञानामुळे मोक्षप्राप्ती होते.

"**अत्रिसंहितेमध्येही**" योगानेच ज्ञानाची प्राप्ती होते हे सांगताना असे म्हटले आहे की -

योगात्सम्प्राप्यते ज्ञानं योगाद्धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपोज्ञेयस्तस्माद्युक्तः समभ्यसेत्।।
न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता योगात्सम्प्राप्नुवन्तियाम्।।

योगानेच ज्ञानाची प्राप्ती होते. योगानेच धर्म प्राप्त होतो. योग हेच परम तप आहे. याकरिता योगाचा सतत अभ्यास करणे हेच उचित ठरते. शक्तिपातयोगाच्या अभ्यासाने साधकाला जी गती प्राप्त होते अशी गती उग्र तपाने, मंत्रजपाने किंवा यज्ञाच्या अनुष्ठानाने ब्राह्मण लोकसुद्धा प्राप्त करण्यास समर्थ होऊ शकत नाहीत.

योगाची ही महती पाहिली म्हणजे मनात असा प्रश्न येतो की, शास्त्राने तर ज्ञान हेच मुक्तीचे साधन आहे असे आवर्जून सांगितले आहे. मग ते खोटे आहे का? ज्ञानाने मुक्ती होते की नाही? जो कोणी

साधक योग सोडून केवळ ज्ञानानेच साधन करतो त्याचे परिश्रम राखेमध्ये तूप ओतल्याप्रमाणे व्यर्थ जातात का? अगदी हाच प्रश्न "**योगबीज**" ग्रंथात श्रीपार्वतीने श्रीशंकरांना विचारला आहे. ती म्हणते-

ज्ञानादेव हि मोक्षं तु वदन्ति ज्ञानिनः सदा।
न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत्।।६७।।

"हे श्रीशंकरा! ज्ञानाशिवाय दुसऱ्या कोणत्याही साधनाने मोक्षप्राप्ती होत नाही असे ज्ञानी लोक निक्षून सांगत आले आहेत. अशा वेळी आपण तर म्हणता की, साधकाला सिद्धयोगानेच मोक्षप्राप्ती होईल. तेव्हा हे कसे शक्य आहे?" त्यावेळी श्रीशंकर असे म्हणाले की,

ज्ञानेनैव हि मोक्षश्च तेषां वाक्यं तु नान्यथा।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम्।।६८।।
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्?।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्।।६९।।
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
तथा योगेन रहितो ब्रह्मज्ञानरतोऽपि वा।।७०।।

"हे पार्वती! शास्त्राचे वचन खोटे नाही. ज्ञानाशिवाय दुसऱ्या कोणत्याही साधनाने मोक्षप्राप्ती होत नाही हे अगदी खरे आहे. परंतु ज्ञान हे खड्ग, योग हे युद्ध व मोक्ष हा विजयलाभ आहे. मात्र खड्गानेच विजयाची प्राप्ती होते असे जे सर्व लोक म्हणतात त्यात काहीही अर्थ नाही. कारण तलवारीने विजयाची प्राप्ती होते यात कुठलाही संशय नसला तरीसुद्धा युद्ध केल्याशिवाय किंवा वीर्य म्हणजे पराक्रमाशिवाय नुसत्या तलवारीच्या जोरावर एखादा योद्धा विजय प्राप्त करू शकेल अशी आशा करणे ही केवळ दुराशा आहे. कारण अशी गोष्ट घडणे कालत्रयीही शक्य नाही. त्याचप्रमाणे सिद्धयोगाच्या प्राप्तीशिवाय साधकाला केव्हाही मोक्षप्राप्ती होणे शक्य नाही. ज्याप्रमाणे रूपलावण्यसंपन्न स्त्री असली तरी पुरुषाशिवाय तिला शोभा नाही व त्याच्याशिवाय पुत्रोत्पत्तीही होत नाही त्याचप्रमाणे साधक ज्ञानरत असला तरीसुद्धा योगाशिवाय त्याला मोक्षप्राप्ती होत

नाही व त्याच्या ज्ञानाला शोभाही येत नाही.

सारांश, मोक्षप्राप्तीच्या साधनांमध्ये ज्ञानाला व योगाला प्राधान्य असले तरीसुद्धा उपरोक्त विवेचनावरून सिद्धयोगाचे साधनच श्रेष्ठ आहे हे मान्य करणे भागच पडते. "**योगशिखोपनिषदाच्या**" पहिल्या अध्यायात योगाचा हा महिमा अतीव सुंदरतेने स्पष्ट केला आहे.

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाच्च फलमाप्यते।
ईदृशं तु भवेत् तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।।४९।।
पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा।।५०।।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।।५०.१/२।।
प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात्।।५४।।
पश्चाज्जन्मान्तरशतैर्योगादेव विमुच्यते।
न तथा भवतो योगाज्जन्ममृत्यु पुनः पुनः।।५५।।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे।।५१।।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिद्धति कदाचन।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते।।५२।।
ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते।
तस्माद् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।।५३।।

जेव्हा ज्ञानसाधन करणाऱ्या साधकाला मृत्यू येतो तेव्हा तो पापपुण्याचे फल भोगून पुन्हा जन्म घेतो. अशा प्रकारे पुष्कळ जन्मग्रहण केल्यावर त्या जन्मांमध्ये ज्ञानचर्चेमुळे जे पुण्य तो साठवितो त्यामुळे त्याला सिद्धाची संगती प्राप्त होते. त्याच्या कृपेमुळे साधकाला सिद्धयोगाची प्राप्ती होते. त्यामुळे तो योगसंपन्न होतो. सिद्धयोगाच्या साधनाशिवाय इतर कोणत्याही उपायाने हे घडून येऊ शकत नाही. सिद्धयोगाच्या साधनप्राप्तीमुळे त्याचा संसार असून नसल्याप्रमाणे होतो; कारण या योगप्राप्तीमुळे त्याची अविद्या नाहीशी होते. या अविद्यानाशामुळे स्वयंप्रकाशरूप आत्मा प्रकाशित होतो. ही गोष्ट त्रिकालाबाधित सत्य

आहे असे श्रीशंकरांनी श्रीब्रह्मदेवांना बजावून सांगितले आहे. ते पुढे असे म्हणतात की, योगरहित ज्ञान साधकाला कधीही मोक्षसिद्धी देऊ शकत नाही. जो ज्ञानी साधक शेकडो जन्म ज्ञानाभ्यास करतो त्याला सिद्धयोग प्राप्त होतो. मात्र सिद्धयोगाचे साधन मिळालेला साधकयोगी या साधनाच्या जोरावर एकाच जन्मात ज्ञानप्राप्ती करून घेऊन मुक्ती प्राप्त करू शकतो. यासाठी हा सिद्धयोग सोडून मोक्ष किंवा मुक्ती देणारा दुसरा कोणताही उपाय श्रेष्ठ नाही.

ज्ञानमार्गावरील साधक दीर्घकालपर्यंत विचार करीत राहिला म्हणजे त्याच्या ठिकाणी ज्ञानाचा उदय होऊन "मी ब्रह्म आहे," "मी मुक्त आहे," अशा प्रकारचा बोध जागृत होतो व मी मुक्त आहे असे तो मानतो. अशा प्रकारे मनन करून साधकाला मुक्ती कशी प्राप्त होईल? कारण अशा प्रकारची अनुभूती ही परोक्ष असल्याने शाब्दिक, आभासात्मक, अभिमानाने भरलेली व अहंकारयुक्त असते. वास्तविक पाहता ज्ञानमार्गाने जाणाऱ्या साधकाला हजारो जन्मांनंतर सिद्धयोगाची प्राप्ती होऊन तो मुक्त होतो. या प्राप्तीमुळे शाब्दिक कसरती व चर्चा संपतात. आभास, अभिमान व अहंकार गळून पडतात. विशुद्ध चित्तात आत्मज्ञान स्वभावतः साधकाच्या ठिकाणी अपरोक्षानुभूतीच्या रूपाने उदयाला येते. शक्तिपातयोगाच्या साधनाचा हा अपूर्व विशेष आहे. या साधनाच्या बलावरच साधकाला प्रारब्धावर मात करता येऊन ज्ञानप्राप्तीने मोक्षसिद्धी गाठता येते.

श्रीकृष्णांनीही "**श्रीमद्भगवद्गीतेत**" सिद्धयोगाचे माहात्म्य सांगताना "**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।६.४४।।**" असे म्हटले आहे. म्हणजे योगाचे स्वरूप जाणण्याची इच्छा ज्याला होते त्याला पूर्व पुण्याईच्या बळाने सिद्धयोगाची प्राप्ती होऊन तो शब्दब्रह्म म्हणजे वेदांनी सांगितलेल्या कर्मफळाला उल्लंघून पलीकडे जातो. याचा अर्थ असा आहे की, या कर्मफळापेक्षा श्रेष्ठ फळ त्याला प्राप्त होते. सिद्धयोगाचे असे कोणते अपूर्व फल मिळते हे सांगताना या श्लोकाचा पुढील भावार्थ श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" सांगितला

आहे. ते असे म्हणतात की -

बळियें इंद्रियें येती मना। मन एकवटे पवना।
पवन सहजे गगना। मिळोंची लागे।।६.४६०।।
ऐसें नेणों काय आपैसें। तयातेंचि कीजे अभ्यासें।
समाधि घर पुसे। मानसाचें।।४६१।।

ज्यावेळी श्रीसद्गुरुकृपेने साधकाला शक्तिपातयोगाची प्राप्ती होते त्यावेळी इंद्रिये बलवान् असली तरी ती आपोआप मनाच्या स्वाधीन होतात. मन प्राणाशी एकरूप होते व मग तो प्राण चिदाकाशात मिळू लागतो. या सिद्धयोगाची ही अपूर्व विशेषता आहे की, असे आपोआप कसे होते हे सांगता येत नाही. पण योगाभ्यास साधकाकडून आपणहून केला जातो आणि समाधी साधकाच्या मनाच्या घराचा शोध करीत येते. भगवान् श्रीकृष्णांनी यामुळेच अर्जुनाला अगदी आवर्जून असा उपदेश केला आहे की -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।६.४६।।

तपस्वी, ज्ञानी व कर्म करणाऱ्या सर्व लोकांपेक्षा वर सांगितलेले सिद्धयोगाचे साधन करणारा योगीच श्रेष्ठ आहे. म्हणून हे अर्जुना ! तू सिद्धयोगी हो.

★★★★★

- आधार सातवा -

★शक्तिपातयोगाचे स्वरूप★

१) कल्पनातीत साधन २) तत्काल प्रचीती देणारे साधन
३) सर्वतंत्रस्वतंत्र साधन ४) राधाकृष्णस्वरूप साधन
५) शिवशक्तिस्वरूप साधन ६) आत्मनिवेदन योग
७) मायानिरपेक्ष साधन ८) भक्तियोगाचा योगमार्ग

शक्तिपातयोगाचे स्वरूप लक्षात आले म्हणजे हे अपूर्व साधन कोणत्याही कक्षेत बसणारे नाही व मानवी मनाच्या साधनाच्या ज्या ज्या कल्पना व कक्षा आहेत त्या सर्वांना ओलांडून पलीकडे जाणारे व नेणारे साधन आहे हे लक्षात आले म्हणजे मन स्तिमित होऊन जाते.

कल्पनातीत साधन :-

ब्रह्म हे कल्पनातीत तत्त्व आहे. त्यामुळे त्याची व्याख्या करता येत नाही. वेदही **"नेति नेति"** म्हणून त्याबद्दल गप्प बसले आहेत. असे असल्यामुळे कल्पनांतर्गत येणाऱ्या साधनांनी ब्रह्मप्राप्ती होणे केवळ अशक्य आहे. वास्तविक पाहता कल्पनेच्या कक्षेपलीकडे कोणतेही साधन नाही. परंतु शक्तिपातयोगात श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी शक्ती जागृत झाली की, कल्पनातीत शक्ती जागृत होते. ती स्वतः ज्या क्रिया करविते त्याची कल्पना कोणताही साधक करू शकत नाही. ही कुंडलिनी शक्ती सर्व शक्तिमान् शक्तीतील ज्ञानयुक्त अशी श्रेष्ठ शक्ती आहे. कोणत्या साधकाला कोणत्या पद्धतीने पुढे नेणे आवश्यक आहे हे ती पूर्णपणे जाणते. **"श्वेताश्वतर उपनिषदात" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।। ६-८।।"** असे म्हटले आहे. परमेश्वराची पराशक्ती नाना प्रकारची आहे असे कानावर येते. ती स्वभावतःच ज्ञानक्रिया व बलक्रिया या रूपाने दिसून येते.

चित्ताशी तादात्म्य झाल्याने जीवाचे जीवत्व मिथ्या आहे. आत्म-तत्त्वाचे कशाशीही तादात्म्य होत नाही. चित्त सूक्ष्म आहे. याकरिता

जीव, कर्तृत्वाभिमानाच्या अधीन असल्याने सर्व साधने प्रयत्नसाध्य आहेत. त्यामुळे कष्टसाध्य सर्व साधनांना सूक्ष्म अशा ब्रह्मतत्त्वप्राप्तीबद्दलच्या उपायांतर्गत मानले गेले आहे. तसे शक्तिपात-योगाचे साधन नसल्याने ते अलौकिक व अपूर्व ठरते.

या अर्थानेच श्रीसंतएकनाथमहाराजांनी "**स्वात्मसुख**" या प्रकरण ग्रंथात हे साधन कल्पनातीत आहे हे सांगताना म्हटले आहे की,

सुमनें सांडुनि सकळें। गुणेंवीण गुंफिजे परिमळें।
तैसें आत्मसाधन केवळें। स्वात्मसिद्धीचें।।४२।।

फुले एकत्र गुंफण्याकरिता ज्याप्रमाणे दोऱ्याची आवश्यकता असते त्याप्रमाणे जी इतर अनेक साधने ब्रह्मप्राप्तीसाठी सांगितली आहेत त्यासाठी कशाचे तरी आलंबन आवश्यक असते. परंतु शक्तिपातयोग साधन हे कल्पनातीत असल्याने त्याला कोणत्याही आलंबनाची किंवा आधाराची आवश्यकता लागत नाही. या अर्थानेच श्रीएकनाथमहाराजांनी असे म्हटले आहे की, सर्व फुले टाकून देऊन ती दोऱ्याशिवाय फक्त सुगंधाने गुंफावीत म्हणजे सुगंधाने सुगंध गुंफावा त्याप्रमाणे सर्व-अशेष-साधनांचा त्याग करून फक्त आत्म-साधनाचाच आश्रय साधकाने केला पाहिजे. कारण हे एकच साधन असे आहे की, जे साधकाला आपल्या गंतव्य स्थानापर्यंत स्वतः पोहोचविल्याशिवाय कधीही थांबत नाही. एकदा का साधक श्रीगुरुकृपेने या कल्पनातीत साधनाला समर्पित झाला की, त्याचे जीवत्व संपून तो स्वतःसिद्ध अशी कल्पनातीत वस्तू होऊन जातो.

श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनीही आपली उपासना ही कल्पनातीत उपासना असून ती श्रीगुरुकृपेने शक्तिपात होऊन आपल्याला कशी प्राप्त झाली हे ग्रंथराज "**श्रीदासबोधात**" स्पष्ट करून सांगितले आहे. त्यादृष्टीने श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

नारायण असे विश्वीं। त्याची पूजा करीत जावी।
याकारणें तोषवावी। कोणी तरी काया।।१५.९.२५।।
उपासना शोधून पाहिली। तों ते विश्वपाळिती झाली।

न कळे लीळा परीक्षिली। न वचे कोणा।।२६।।
देवाची लीळा देवेंविण। आणीक दुसरा पाहे कोण।
पाहणें तितुकें आपण। देवचि असे।।२७।।
उपासना सकळां ठायीं। अंतरात्मा कोठें नाहीं।
याकारणें ठायीं ठायीं। रामें आटोपिलें।।२८।।
ऐसी माझी उपासना। आणितां नयें अनुमाना।
नेऊनि घाली निरंजना। पैलीकडे।।२९।।

जो साधक असेल त्याने आपल्या देहाचे सार्थक व्हावे म्हणून अखिल विश्वात भरून राहिलेल्या नारायणाचा आपणास अनुभव येऊन आपण नारायणस्वरूप व्हावे यासाठी त्याची उपासना केली पाहिजे. मी जेव्हा स्वत:ला आत्मरूप करणारी एखादी उपासना आहे का? असे म्हणून शोध घेतला तेव्हा माझ्या असे लक्षात आले की, श्रीसद्गुरूंनी आपणास शक्तिपातपूर्वक जी उपासना दिली आहे तीच विश्वपालन करणारी आहे. ब्रह्मांडचालिनी जी शेषकुंडलिनी शक्ती तीच विश्वाचे पालन करते. उत्पत्ती व लय तिच्यावरच अवलंबून आहे. तीच जीवाला आत्मरूप करते. कितीही परीक्षा केली तरी या शक्तिरूप उपासनेची परीक्षा कोणालाही करता येणे शक्य नाही व सांगताही येणे शक्य नाही; कारण ही कल्पनातीत उपासना आहे. ही उपासना देवाची एक लीलाच आहे. ती देवाशिवाय कोणालाही कळणे शक्य नाही व दुसरा कोणी पाहणेही शक्य नाही. मात्र या कल्पनातीत अशा उपासनेचा आश्रय घेऊन पाहिला की, आपण देवस्वरूप व आत्मस्वरूप होऊन जातो. ही उपासना साधकाने सुरू केली की, सर्वत्र अंतरात्मा भरून राहिला आहे याची जाणीव होते. आतबाहेर, रोमारोमात आत्माराम भरून राहिला आहे याची अनुभूती येते. अशा प्रकारे सर्वत्र आत्मस्वरूपाचे दर्शन घडविणारी माझी उपासना आहे. तिची तर्काने किंवा बुद्धीने कल्पना करता येणे शक्य नाही; कारण ही उपासना कल्पनातीत आहे. ही उपासना शुद्ध सत्त्वांश जो ईश्वर त्याच्या पलीकडे नेणारी व ब्रह्मस्वरूप करणारी आहे.

तत्काल प्रचीती देणारे साधन :-

शक्तिपातयोगसाधन हे तत्काल प्रचीती देणारे साधन आहे. श्रीसद्गुरूंकडून दीक्षाप्राप्ती झाल्यावर साधकाला प्रत्यक्ष अनुभूती येत असल्याने त्याला प्रमाणाची आवश्यकता देण्याचे कारण नाही. जे तत्काल प्रचीती देते ते खरे साधन होय. ग्रंथराज **"श्रीदासबोधात"** या दृष्टीने श्रीसमर्थांनी जे विवेचन केले आहे ते अपूर्व आहे.

श्रीसमर्थ असे म्हणतात की, मला श्रीसद्गुरुकृपेने प्राप्त झालेली उपासना ही नुसती अनुमानाने जाणण्यासारखी नाही. माझी उपासना ही प्रत्यक्ष अनुभव देणारी दिव्य उपासना आहे. श्रीसमर्थांनी हे अगदी आग्रहपूर्वक व निक्षून सांगितले आहे; कारण त्यांच्या लेखी अनुमानाला काही महत्त्व नाही. **"जितुकें अनुमानाचें बोलणें। तितुकें वमनप्राये त्यागणें। निश्चयात्मक तेंचि बोलणें। प्रत्ययाचें।।९.५.३९।।"** उपासना अनुभव देणारीच पाहिजे. परब्रह्मप्राप्ती करून देणारी पाहिजे. नुसत्या अनुमानाला, बोलण्याला किंवा तर्काला किंमत शून्य आहे. नुसते अनुभवशून्य पांडित्य हे ओकारीप्रमाणे त्याज्य आहे. बोलणे प्रत्ययाचे व निश्चयात्मक पाहिजे. अशी उपासना आपण केली म्हणून श्रीसमर्थ सांगतात की, **"आत्माराम उपासना। तेणें पावलो निरंजना। नि:संदेह, अनुमाना। ठावचि नाहीं।।२०.६.३०।।"** माझी उपासना ही आत्मारामाची उपासना आहे. त्यामुळेच मी निरंजनपद पावलो आहे. या माझ्या अनुभवात कसलाही संदेह नाही. तर्काला व शंकेला येथे वावच नाही.

श्रीसमर्थांच्या दृष्टीने अनुमानाचे बोलणे खोटे असते. प्रत्यय हाच खरा आहे. प्रत्ययाशिवाय सर्व व्यर्थ ठरते. **"उगीच बोलणें अनुमानाचें। अनुमानाचें कोण्या कामाचें। येथें सगट विचाराचें। काम नाहीं।।२०.७.२९।।"** यामुळे अनुभव किंवा प्रचीती हीच सर्वश्रेष्ठ आहे. सरसकट विचार करून काहीतरी गोलमाल किंवा अद्वातद्वा बोलणे हे निरुपयोगी आहे असे ते म्हणतात. प्रचीती देणारे साधन व त्यामुळे होणारे ज्ञान हेच खरे श्रेष्ठ आहे, त्यामुळे श्रीसमर्थांना

प्रचीतीचे ज्ञान श्रेष्ठ वाटते. प्रचीती नाही म्हणजे खरे साधन नाही व खरे साधन नाही तोपर्यंत खरी ज्ञानप्राप्ती नाही. **"प्रचीतीविण जें ज्ञान। तें अवघेंचि अनुमान। तेथें कैंचें परत्रसाधन। प्राणियांसी।। १४.७.१८।।"** प्रचीतीशिवाय खरे ज्ञानच होत नाही. खऱ्या अनुभवाशिवाय किंवा प्रचीतीशिवाय जे ज्ञान होते असे वाटते तो फक्त तर्कच आहे. त्यामुळे जीव हा संसार-सागर ओलांडून जाऊ शकत नाही व परत्राची म्हणजे परब्रह्माची प्राप्तीही घडत नाही.

प्रचीतीशिवाय काहीही खरे मानू नये असे श्रीसमर्थ म्हणतात. **"जें प्रचीतीस आलें खरें। तेंचि घ्यावें अत्यादरें। अनुभवाविण जीं उत्तरें। तीं फलकटे जाणावी।।१८.५.२१।।"** साधन करताना अनुभव पाहिजे. प्रचीती हवी. नुसती बडबड किंवा अनुभवाशिवाय जे बोलणे असते ते फोलकटे जशी टाकाऊ असतात त्याप्रमाणे टाकाऊ गोष्ट ठरते. इतकेच नव्हे; तर **"प्रचीतीवीण जें केलें। तें अवघें व्यर्थ गेलें। प्राणी कष्टकष्टोंची मेले। कर्मकचाटें।।१८.८.२०।।"** असे निक्षून सांगून श्रीसमर्थ साधकाला पुढील इशारा देण्यास विसरत नाहीत. **"अवघी भ्रांतीची ठकाठकी। प्रचीतीवीण गोष्टी लटकी। वेड लागलें जें बटकी। तो भलतेचि बोले।।१७.४.२९।। प्रत्यय ज्ञाता सावधान। त्याचें ऐकावें निरूपण। आत्मसाक्षात्काराची खूण। तत्काळ बाणे ।।१७.४.३०।।"** असा प्रत्यय देणारा व साधन देऊन आत्मसाक्षात्कार घडविणारा श्रीसद्गुरू हवा.

अशा प्रकारे शक्तिपाताने कुंडलिनी जागृत करून प्राणांची गती ऊर्ध्व करणारा महायोगी शोधून काढून त्याच्याकडून साधन प्राप्त करून घेऊन प्रचीती घेऊन आत्मज्ञानप्राप्ती साधकाने प्रयत्नपूर्वक केली पाहिजे असे श्रीसमर्थ अगदी कळकळीने सांगतात.

अधोमुखें भेद वाढतो। ऊर्ध्वमुखें भेद तुटतो।
निःसंगपणें निर्गुणी तो। महायोगी।।२०-३-२२।।
माया मिथ्या ऐशी कळली। तरी मग भीड कां लागली।
मायेचे भिडेंनें घसरली। स्वरूपस्थिती।।२३।।

लटकें मायेनें दपटावें। सत्य परब्रह्म सांडावें।
मुख्य निश्चयें हिंडावें। कासयासी।।२४।।
पृथ्वीमध्यें बहुत जन। त्यांमध्यें असती सज्जन।
परी साधूस वोळखतो कोण। साधूवेगळा।।२५।।
म्हणोन संसार सांडावा। मग साधूचा शोध घ्यावा।
फिरफिरों ठायीं पाडावा। साधुजन।।२६।।
उदंड हुडकावे संत। सांपडे प्रचीतीचा महंत।
प्रचीतीवीण स्वहित। होणार नाहीं।।२७।।
प्रपंच किंवा परमार्थ। प्रचीतीविण अवघे व्यर्थ।
प्रत्ययज्ञानी तो समर्थ। सकळांमध्यें।।२८।।

असा महायोगी जेव्हा साधकाला भेटतो तेव्हा तो शक्तिपातयोगदीक्षा देऊन त्याला कृतार्थ करतो. ही प्रचीती देणारी उपासना म्हणजे एकमात्र शक्तिपातयोग आहे हे वर्णन करताना श्रीसमर्थ म्हणतात.

अज्ञानशक्ती निरसली। ज्ञानशक्ती मावळली।
वृत्तिशून्ये कैशी झाली। स्थिती पाहा।।१५-१०-१२।।
मुख्य शक्तिपात तो ऐसा। नाहीं चंचळाचा वळसा।
निवांतीं निवांत कैसा। निर्विकारी।।१३।।

सर्वतंत्र स्वतंत्र साधन :-

शक्तिपातयोगसाधनेचा सूत्रपात श्रीशंकरांनी कसा केला व हे अपूर्व साधन भूमंडलावर कसे प्रकट झाले हे सांगताना **"सौंदर्यलहरी"** या आपल्या प्रसिद्ध ग्रंथात श्रीमदाद्य भगवान् शंकराचार्य असे म्हणतात की -

चतुःषष्ट्यातन्त्रैः सकलमतिसन्धान भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धि-प्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिल-पुरुषार्थैक-घटन
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।।३१।।

श्रीशंकरांनी चौसष्ट तंत्रांची रचना करून ज्या ज्या लोकांना सिद्धीची व काम्य फलांची इच्छा होती ती पूर्ण करण्याची सोय

केली. केवळ मोक्ष प्रतिपादन करणारा वेदान्तही सांगितला आणि ते स्वस्थ बसले. परंतु ज्यायोगे धर्म, अर्थ आणि काम यांच्यासह परम पुरुषार्थाचा लाभ होईल असे साधन प्रकट होणे आवश्यक होते. जगज्जननीने श्रीशंकरांना असे साधन प्रकट करण्याचा आग्रह केला. त्यावेळी त्यांनी इतर पुरुषार्थांसह प्रामुख्याने परमपुरुषार्थ जो मोक्ष त्याचा लाभ होईल अशा योग्यतेचे एक स्वतंत्रच तंत्र या भूमंडलावर प्रकट केले. या साधनाची प्रशंसा व वंदन श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी आपल्या "**अमृतानुभव**" या ग्रंथात पुढीलप्रमाणे केले आहे.

गुरुरित्याख्यया लोके साक्षाद्विद्याहि शाङ्करी।
जयत्याज्ञा नमस्तस्यै दयार्द्रायै निरन्तरम्।।२।।

या इहलोकामधील सर्व विद्यांमध्ये ही शांकरी म्हणजे शक्तिपात-योगरूप ब्रह्मविद्याच श्रेष्ठ आहे. ही साक्षात् आनंद प्राप्त करून देणारी, दयाळू व अत्यंत ज्ञानरूप आहे. या साधनेचा, विद्येचा जयजयकार असो. तिला मी वंदन करतो.

जगात जेवढ्या म्हणून विद्या आहेत त्या सर्व विद्यांमध्ये अध्यात्मविद्या ही भगवत् विभूती आहे असे "**श्रीमद्भगवद्गीतेमध्ये**" भगवान् श्रीकृष्णांनी सांगितले आहे. ही ब्रह्मविद्या सकलदुःखनिवृत्ती व निरतिशयानंदप्राप्ती करून देणारी आहे. यामुळे या विद्येला किंवा साधनाला गुरू म्हणजेच श्रेष्ठ अशी संज्ञा आहे. ब्रह्मविद्येप्रमाणेच या शक्तिपातयोगविद्येला शांकरी विद्या असेही म्हणतात. कारण "शं" म्हणजे सुख आणि "कर" म्हणजे करून देणारा म्हणजे सुखाची प्राप्ती करून देणारा असा शंकर या शब्दाचा अर्थ आहे. त्या श्रीशंकररूप परमात्म्याच्या एका अंशाचे ठिकाणी ही विद्या राहते म्हणून या शक्तिपातयोगविद्येला शांकरी विद्या असे म्हणतात.

या शक्तिपातयोगरूपी ब्रह्मविद्येचा श्रीगुरुरूपाने अवतार कसा झाला याची कथा "**केनोपनिषदात**" आली आहे. एकदा देव व असुर यांचे युद्ध झाले. युद्धात देवांचा जय झाला. जगताची रहाटी उत्तम चालावी म्हणूनच ईश्वराने देवांचा जय व असुरांचा पराजय

घडवून आणला होता. परंतु आपण असुरांना जिंकले असा अभिमान देवांना झाला. देव विवेकी व देहाहंकारी नसूनही ही चूक घडली. सात्त्विक देवांना असा अभिमान होणे बरे नव्हे, तो त्यांना देवत्वापासून भ्रष्ट करणारा आहे, असे श्रीभगवंताला वाटले. त्यांना सर्व जगच्चालक आत्मवस्तूची जाणीव करून देऊन झालेला अभिमान घालविण्याच्या दृष्टीने श्रीभगवंतांनी आपल्या शुद्धसत्त्वात्मक मायाशक्तीने अत्यंत विस्मयकारक स्वरूप धारण करून ते देवांसमोर आले. देवांना आपल्या समोर कोण आले आहे हे समजले नाही. इंद्रादि देवांनी ते कोण आहेत हे समजून घेण्याकरिता अग्नी व वायू यांना क्रमाने श्रीभगवंतांकडे पाठविले. श्रीभगवंतांनी प्रथम अग्नीला, "तू कोण आहेस?" म्हणून विचारले. त्यावर अग्नी म्हणाला, "मी अग्नी असून मला जातवेद म्हणतात. "श्रीभगवंतांनी विचारले, "तुझे सामर्थ्य काय आहे?" अग्नी म्हणाला, "या पृथ्वीवरील कोणतीही गोष्ट जाळण्याचे सामर्थ्य माझ्यात आहे. "श्रीभगवंतांनी त्याच्यापुढे एक गवताची काडी ठेवली व ही तू जाळ असे अग्नीला सांगितले. अग्नीने आपल्या सर्व सामर्थ्यानिशी ती काडी जाळण्याचा प्रयत्न केला. परंतु तो ती काडी जाळू शकला नाही. त्यामुळे तो परत आला. इंद्रादि देवांनी अग्नीनंतर वायूला श्रीभगवंतांकडे पाठविले. श्रीभगवंतांनी त्याचा परिचय विचारला. वायूने, "मी वायू आहे, मला मातरिश्वा म्हणतात" असे सांगून "या पृथ्वीवरील सर्व पदार्थ मी उडवून लावू शकतो," असे आपले सामर्थ्य असल्याचेही सांगितले. श्रीभगवंतांनी अग्नीप्रमाणेच त्याच्यापुढे एक काडी ठेवून ती उडवून देण्यास सांगितले. परंतु आपल्या सर्व सामर्थ्याचा उपयोग करूनसुद्धा वायू ती गवताची काडी अणुमात्रसुद्धा हलवू शकला नाही. या पराभवामुळे तोही लज्जीत होऊन परत गेला.

शेवटी देवांनी इंद्रालाच श्रीभगवंतांकडे जाण्यास सांगितले. इंद्र श्रीभगवंतांकडे आला. परंतु श्रीभगवान् तेथेच अंतर्धान पावले. "अग्नी व वायू यांना श्रीभगवंतांचे दर्शन होऊन त्यांच्याशी बोलण्यासही मिळाले; पण आपल्याला मात्र दर्शन देखील झाले नाही," असे मनात येऊन

इंद्राला फार वाईट वाटले. इंद्र अशा रीतीने शोकाकुल झाला असता त्याला श्रीभगवंतांचे ज्ञान करून देण्याकरिता भगवान् श्रीशंकरांची विद्याशक्ती उमा अतिशय सुंदर स्वरूप धारण करून प्रकट झाली. इंद्राने सुवर्णभूषणांनी विभूषित झालेल्या श्रीपार्वती-स्वरूपी ब्रह्मविद्येला विचारले की, "आता या ठिकाणी कोण येऊन गेले याची तुला माहिती आहे काय?" तेव्हा ती शक्ती इंद्राला म्हणाली, "ते ब्रह्म होते. तुम्हाला जो विजय प्राप्त झाला तो परब्रह्मामुळेच झाला. तुम्ही येथे निमित्त आहा."

या कथेवरून हेच सिद्ध होते की, जोपर्यंत शक्ती जागृत होऊन मार्गदर्शन करीत नाही तोपर्यंत साधकाला ब्रह्मप्राप्ती होऊ शकत नाही.

राधाकृष्णस्वरूप साधन :-

शक्तिपातयोगाचे साधन राधाकृष्णस्वरूप आहे. मूलतः श्रीकृष्ण व श्रीराधा यांचे स्वरूप कोणते आहे आणि त्यांचे मिलन कसे होते हे पाहिले की, या साधनाचे स्वरूप स्पष्ट होईल.

परमात्मारूपी श्रीकृष्णांचे सहस्त्रदलपद्मात स्थान आहे. त्यांच्या या स्वरूपाचे वर्णन करताना **"ब्रह्मसंहितेत"** असे म्हटले आहे की -

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।१।।

अनादि वस्तू परब्रह्म हीच सच्चिदानंदस्वरूप श्रीकृष्णरूपाने नटलेली आहे. ते लीलेसाठी सर्वप्रथम पुरुषाकार रूपाने प्रकट झाल्यामुळे त्यांना आदि म्हणतात. ते पृथ्वीचे रक्षक असून सर्व कारणांचे कारण आहेत. **"ब्रह्मसंहितेतील" ब्रह्मांड प्रकरणातही** श्रीकृष्णांचे व श्रीराधेचे स्वरूप पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे.

परं प्रधानं परमं परमात्मानमीश्वरम्।
सर्वाद्यं सर्वपूज्यं च निरीहं प्रकृतेः परम्।।
स्वेच्छामयं नित्यरूपं भक्तानुग्रहविग्रहम्।

तस्य प्राणाधिका राधा बहुसौभाग्यसंयुता।
महाविष्णोः प्रसूः सा च मूलप्रकृतिरीश्वरी।।४८-४९-५१।।

श्रीकृष्ण हे सर्वांत प्रधान, परमात्मा, परमेश्वर, सर्वांचे आदिकारण, सर्वपूज्य, निरीह व प्रकृतीच्या पलीकडे विराजमान असलेले तत्त्व आहे. त्यांचे स्वरूप स्वेच्छामय असून नित्य आहे. श्रीराधा त्यांना प्राणाहून अधिक प्रिय असून ती परम सौभाग्यशालिनी आहे. तीच श्रीमहाविष्णूंची जननी असून ईश्वराची मूल प्रकृती आहे.

श्रीकृष्णांनी आपल्या मुखाने श्रीराधाशक्ती आपली परमाराध्या व सा ात् आत्मशक्ती कशी आहे हे सांगताना असे म्हटले आहे की-

यथा क्षीरे च धावल्यं दाहिका च हुताशने।
भूमौ गन्धौ जले शैत्यं तथा त्वयि मम स्थितिः।
धावल्यदुग्धयोरैक्यं दाहिकानलयोर्यथा।
भूगन्धजलशैत्यानां नास्ति भेदस्तथाऽऽवयोः।।
मया विना त्वं निर्जीवा चादृश्योऽहं त्वया विना।।

ज्याप्रमाणे दूध व दुधाची शुभ्रता, अग्नी व त्याची दाहकशक्ती, भूमी व गंध आणि पाणी व शीतलता यांमध्ये अंतर असत नाही त्याप्रमाणे माझ्यात व मत्स्वरूप असलेल्या श्रीराधाशक्तीरूप आत्मस्वरूपात कोणतेही अंतर असत नाही. शुभ्रता व दूध अभिन्न आहेत. दाहक शक्ती व अग्नी भिन्न नाहीत. भूमी व गंध एक आहेत. जल व शीतलता यात फरक नाही. याप्रमाणे आम्ही दोघे एक आहोत. आमच्या दोघात कोणताही भेद नाही. माझ्याशिवाय तू निर्जीव आहेस; कारण मीच तुझे जीवन आहे. मात्र हे सत्य आहे की, तुझ्याशिवाय मी प्रकट होऊ शकत नाही.

श्रीराधा ही भगवान् श्रीकृष्णांची अभिन्न अशी चिच्छक्तीच आहे. ज्यावेळी ही चिच्छक्तिस्वरूपिणी श्रीराधा चैतन्यरूपी श्रीकृष्णांबरोबर अभेदरूपाने विराजमान असते त्यावेळी उत्पत्ती, स्थिती किंवा संहार यांपैकी कोणतीही लीला होऊ शकत नाही. परंतु ज्यावेळी दिव्य लीलेचा रसभोग आपण आपल्याच ठिकाणी करावा अशी इच्छा

भगवान् श्रीकृष्णांना होते तेव्हा ते आपल्या चिच्छक्तीला श्रीराधारूपाने प्रकट करतात. ही श्रीराधा संधिनी, संवित् किंवा आह्लादिनी शक्ती या नावाने ओळखली जाते. यामुळे श्रीराधा म्हणजेच चिच्छक्ती किंवा कुंडलिनी शक्ती होय, हे स्पष्ट होते. ही कुंडलिनी शक्ती साधकाला आनंदाचे दान करते म्हणून हिला आह्लादिनी शक्ती म्हणतात. ही आह्लादिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय साधकाला आनंदाची प्राप्ती कदापीही होऊ शकत नाही. **"श्रीचैतन्य चरित्रामृता-मध्ये"** असे म्हटले आहे की,

एकई चिच्छक्ति ताँर धरे तिन रूप।
आनन्दांशे ह्लादिनी सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे संवित् यारे ज्ञान करी मानि।।
सन्धिनीर सार अंश शुद्ध सत्त्व नाम।
भगवानेर सत्ता हय याहाते विश्राम।।
ह्लादिनीर सार प्रेम प्रेमसार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी।
सर्वगुणखानि कृष्ण कान्तशिरोमणि।।
किंवा प्रेमरसमय कृष्णेर स्वरूप।
ताँर शक्ति ताँर सह हय एकरूप।।
कृष्ण वांच्छापूर्तीरूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने।।
राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्णशक्तिमान्।
दुई वस्तु भेद नाइ शास्त्र परिमाण।।

एकच चिच्छक्ती तीन रूपे धारण करते. जेव्हा ती आनंद अंशाने प्रकट होते तेव्हा तिला आह्लादिनी म्हणतात. सत् अंशाने प्रकट झाल्यावर या चिच्छक्तीलाच संधिनी व चित् अंशाने प्रकट झाल्यावर संवित् असे म्हणतात. संधिनी शक्तीचा जो साररूप अंश आहे त्याला शुद्ध सत्त्व म्हणतात. या ठिकाणीच श्रीभगवंताची सत्ता

आनंदाने विश्राम घेत असते. आह्लादिनी शक्तीचे सार प्रेम आहे. प्रेमाचे सार भाव म्हणजे भक्ती हे असून महाभावामध्येच प्रेमाची पराकाष्ठा झालेली दिसून येते. श्रीराधा ठाकुराणी ही महाभावस्वरूप आहे. सर्व गुणांची खाण असलेले श्रीकृष्ण कांतशिरोमणी असल्यामुळे त्यांच्या स्वरूपाला प्रेमरसमय म्हटले जाते. त्यांची शक्ती त्यांच्या- बरोबर एकरूप होऊनच नेहमी राहत असते. आराधना करू लागल्यावर श्रीकृष्ण इच्छापूर्ती करून प्रसन्न होतात. श्रीराधा पूर्ण शक्ती असून श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् आहेत. त्या दोघांमध्ये कसलाही भेद नाही. याचे प्रमाण एक शास्त्रच आहे. सहस्त्रारामधून म्हणजे मूलस्वरूपापासून धारा म्हणजे शक्ती खाली तोंड करून वाहू लागते त्यावेळी जगदुत्पत्ती होते. यालाच अनुलोमक्रम म्हणतात. परंतु ज्यावेळी श्रीगुरुकृपा होते त्यावेळी तिचा अनुलोमक्रम लुप्त होऊन ती विलोमक्रमाने ऊर्ध्वगामिनी होऊन वाहू लागते. तिचे "**धारा**" स्वरूप बदलून ती "**राधा**" स्वरूप होते. एकदा का ही कुंडलिनीराधा जागृत झाली की, ती परमात्मरूपी श्रीकृष्णाला आलिंगन देऊन त्याच्याशी एकरूप होईपर्यंत शांत होत नाही. ऊर्ध्वगामिनी शक्तीच्या ज्या दिव्य लीला घडून येतात त्यालाच रासलीला असे म्हटले आहे. ही ऊर्ध्वगामिनी शक्तीच साधकाला परमानंदाचा अधिकारी बनविते. यामुळे सर्व साधनांचे अंतिम सार हेच आहे की, धाराचे राधेमध्ये रूपांतर व्हावे. शक्तिपात-योगाने ही गोष्ट सहजसाध्य होत असल्याने शास्त्रकारांनी, संतांनी, महंतांनी, मुनींनी, ऋषींनी व साधूंनी या श्रीगुरुकृपाप्राप्त साधनेचा डिंडिम आपापल्या ग्रंथांमध्ये आपापल्या सांप्रदायिक पद्धतीने व क्रमाने नानाविध प्रकारे करून या साधनाचा महिमा पटविण्याचा प्रयत्न केला आहे.

आकाशातून पडलेले पावसाचे पाणी नदीनाल्यातून वाहत वाहत शेवटी ज्यावेळी सागराला जाऊन मिळते त्यावेळी ते आपल्या नामरूपाचा त्याग करून सागराशी एकरूप होऊन जाते. त्याचप्रमाणे जीव, जगत् व ईश्वर यांच्या रूपाने साकार झालेली ही शक्ती ज्यावेळी परमात्म्याशी एकरूप होते त्यावेळी आपल्या सर्व नामरूपात्मक प्रपंचाची संहारणी

व पूर्ण त्याग करून टाकते. नाम व रूप ही लीला आहे. नाम व रूपाची कल्पना करूनच जप, तप, पूजा, अर्चना, प्रार्थना इत्यादींना आरंभ होत असतो. मात्र हे लक्षात ठेवले पाहिजे की, सर्व नामे व सर्व रूपे ही शक्तीचीच आहेत. तद्भिन्न काहीही नाही. याकरिता शक्तीची साधना केल्याशिवाय व कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय अन्य दुसऱ्या कोणत्याही साधनाने केव्हाही साधक नामरूपातीत अशा निर्गुणचैतन्याची प्राप्ती करू शकत नाही.

ज्याप्रमाणे नामरूप बाहेर भासित होते त्याप्रमाणे ते अंतरंगातही अनुभवास येते. प्रकाश हे परमेश्वराचे रूप असून अनाहत नाद हे त्याचे नाम आहे. साधनात अनाहत नादाचे चित्र प्रकाशयुक्त अशा ॐकाराच्या नामाने साकार झालेले दिसून येते. **"घोषाच्या कुंडीं। नादचित्रांचीं रूपडीं। प्रणवाचिया मोडीं। रेखिलीं ऐसीं।।६.२७६।।"** असे याचे श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** वर्णन केले आहे. परंतु साधकाला याही नामरूपाचा त्याग करून पुढे जावे लागते. याचे वर्णन श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी पुढीलप्रमाणे केले आहे,

ते ॐकाराचिये पाठी। पाय देत उठाउठी।
पश्यंतीचिये पाउटी। मागां घाली।।६.३०३।।
पुढें तन्मात्रा अर्धवेरी। आकाशाच्या अंतरीं।
भरती गमे सागरीं। सरिता जेवीं।।३०४।।
मग ब्रह्मरंध्रीं स्थिरावोनी। सोहंभावाच्या बाह्या पसरोनी।
परमात्मलिंगा धांवोनी। आंगा घडे।।३०५।।
तंव महाभूतांची जवनिका फिटे।मग दोहींसि होय झटें।
तेथ गगनासकट आटे। समरसीं तिये।।३०६।।
पैं मेघाचेनि मुखी निवडला। समुद्र कां वोघीं पडिला।
तो मागुता जैसा आला। आपणपयां।।३०७।।
तेवीं पिंडाचेनीं मिषें। पदीं पद प्रवेशे।
तें एकत्व होय तैसें। पंडुकुमरा।।३०८।।

निर्गुण चैतन्यावरच अंतर्बाह्य नामरूप भासित होत असते. पाण्यावर

तरंग खेळताना दिसतात; पण ते पाण्याहून निराळे नसतात. त्याप्रमाणे नामरूपांचाही निराळेपणा असू शकत नाही. ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेने शक्ती जागृत होऊन दीर्घकालपर्यंत निरंतर सत्काराने श्रीगुरूपदिष्ट साधन क्रिया घडून येऊन शक्ती ब्रह्मरंध्रामध्ये लीन होते तेव्हा निर्गुण सच्चिदानंदरूपाची प्राप्ती होते. त्यावेळी साध्य व साधक एकरूप होतात. साधकाची निजसत्ता संपुष्टात येऊन ती भगवत्सत्तेमध्ये विलीन होऊन जाते. यालाच महाभाव असे म्हणतात. रासलीलेमध्ये श्रीकृष्ण ज्यावेळी अदृश्य होतात त्यावेळी गोपी त्यांना शोधून काढण्यासाठी तडफडत असतात. या तडफडीमुळे त्यांना प्राणरूपातच रमणारा असा प्राणाराम श्रीकृष्णच सर्वत्र दिसू लागतो. गोपीप्रमाणे असलेल्या साधकांची **"अहं ब्रह्मास्मि"** या विचारापासून सुरू झालेली साधना **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** या महाभावामध्ये परिणत होऊन अहं ममतादि सर्व गोष्टींचा नाश होऊन आपणच श्रीकृष्णस्वरूप आत्माराम आहोत असा अनुभव येतो.

शिवशक्तिस्वरूप साधन :-

शक्तिपातयोगाचे साधन शिवशक्तिस्वरूप आहे. श्रीशिव व श्रीशक्ती हे अभिन्न असून वरवर फक्त निराळे भासतात. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी श्रीशिवशक्तीचे ऐक्य अनादि असते असे सांगितले आहे.

सार्धं केन च कस्यार्धं शिवयोः समरूपिणोः।
ज्ञातुं न शक्यते लग्नमितिद्वैतच्छलान्मुहुः।।

अनुभवामृत ३।।

द्वैतामुळे एकच सच्चिदानंदरूपाने असणारे ब्रह्म व माया किंवा श्रीशिव व श्रीशक्ती हे भिन्न आहेत असे भासते. परंतु त्यांच्यामध्ये कोणाच्या योगाने कोण अर्ध्यासह आहे, कोण कोणाचा अर्ध आहे व त्याचप्रमाणे त्यांचे ऐक्य केव्हा होते हे दोघेही पूर्ण एकरूप असल्यामुळे कोणी जाणू शकत नाही.

या दोघांमुळेच नामरूपात्मक असे जग उत्पन्न होते. श्रीशिवशक्तीची सत्ता एक असून दोघांचा प्रकाशही एकच असतो. त्यामुळे **"सूतसंहितेत"**

"संविदेव पराशक्तिः" संवित् किंवा चैतन्य हीच मूळ शक्ती होय असे म्हटले आहे. **"केनोपनिषदात" "विद्योमारूपिणी प्रादुरभूत स्त्रीरूपा (केन.उप.३।१२)"** श्रीशंकरांची शक्ती स्त्रीरूप श्रीउमा विद्यारूप म्हणजे चैतन्यरूपच मानली आहे. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"अनुभवामृतात"** ज्ञानदृष्टीनेच शक्तीचे रूप वर्णन केले आहे. ज्ञानदृष्टी प्राप्त झालेल्या ज्ञानी पुरुषाला परमेश्वराची शक्ती विद्यारूप म्हणजे ज्ञानरूप दिसते. **"श्रीदेवीभागवतातही"** देवीने आपले स्वरूप सांगताना **"रूपं मदीयं ब्रह्मतत् सर्वकारणकारणम्। मायाधिष्ठानभूतं तु सर्व-साक्षी निरामयम्।।"** असे म्हटले आहे. सर्व कारणांचे कारण जे सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूप तेच माझे स्वरूप होय. ते माझे स्वरूप शुद्ध साक्षिस्वरूप असून मायेला म्हणजे ज्ञानाने निवृत्त होणाऱ्या जीवाच्या विपरीत कल्पनेला अधिष्ठानभूत आहे.

जीवाची विपरीत कल्पना निवृत्त होण्याचे कार्य हेच खरे महत्त्वाचे कार्य आहे. त्यासाठीच सर्व साधनादिकांचा खटाटोप आहे. हे कार्य शक्ती करते. **"सूतसंहितेत"** असे म्हटले आहे की -

सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी।
सा शिवा परमादेवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी।।
यज्ञवैभवखण्ड १३.३।।

श्रीशिवाची शक्ती शिवा परमादेवी ही परमानंदरूप संसाराचा उच्छेद करणारी, शिवाशी एकरूप असणारी व आत्यंतिक कल्याण करणारी आहे. या श्लोकावरील आपल्या टीकेत श्रीविद्यारण्य असे म्हणतात, **"तथाच शिवशक्त्योर्भेदावभास एव मिथ्या न तु प्रपञ्च-वत्स्वरूपमपीत्यर्थः"** श्रीशिवशक्ती हे दोन भिन्न आहेत असे मानणे हेच खोटे आहे. श्रीशिवशक्तीचे स्वरूप जडविनाशी प्रपंचाप्रमाणे खोटे नाही. श क्तीचे खरे स्वरूप असे आहे की,

एषा सा साक्षिणी शक्तिः शङ्करस्यापि शङ्करी।
शिवाभिन्ना तया हीनः शिवः साक्षात् निरर्थकः।।
सूतसंहिता-यज्ञवैभवखण्ड १३.२९।।

अशी श्रीशंकरांची साक्षात् शंकरी शक्ती आहे. ती श्रीशिवांपासून अभिन्न आहे. तिच्याशिवाय श्रीशिव हे निरर्थक किंवा शवरूपच आहेत.

श्रीशिवशक्तीचे एकरूपत्व अनुभवास येणे हेच साधकाचे ध्येय आहे. असा अनुभव देते तेच खरे साधन होय. **"न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः। उमाशङ्करस्योरैक्यं यः पश्यति स पश्यति ।। सूतसंहिता यज्ञवैभवखण्ड १३.३०।।"** असे शास्त्रकारांनी यासाठीच सांगितले आहे. श्रीशिवाशिवाय श्रीशक्ती व श्रीशक्तीशिवाय श्रीशिव वेगळे असूच शकत नाहीत. जे अशा प्रकारे चिन्मात्ररूपाने श्रीउमाशंकरांचे किंवा श्रीशिवशक्तीचे ऐक्य अनुभवितात तेच ज्ञानी होत.

वस्तू व वस्तूची शक्ती ही दोन निरनिराळी नावे असली तरी वस्तू एकच असते. म्हणून वस्तू व वस्तूची शक्ती यांचे सदा अद्वैतच असते. वस्तूची शक्ती स्फुरण पावत नाही तोपर्यंत वस्तू व शक्ती अत्यंत एकरूप असतात, यात शंका नाही. पण शक्तीचे स्फुरण झाले असताही, ते शक्तीचे स्फुरण वस्तूवरच होत असते. त्या स्फुरणात मूळ वस्तूच स्फुरत असल्यामुळे, वरकरणी वस्तू व शक्ती असा दोनपणा दिसून येतो. परंतु वस्तू व शक्ती दोन निरनिराळ्या वस्तू होऊन त्या परस्पराहून भिन्न होत नाहीत. वस्तू व वस्तूची शक्ती यांचे दोनपण नेहमीच अव्यक्त असते. मात्र शक्तिस्फुरण झाले असता ते व्यक्त होते. व्यक्तदशेत दोघांना दोन नावे येतात, मात्र वस्तू एकच राहते. स्फुरणापूर्वी जी वस्तू होती, तीच स्फुरणदशेतही एकच राहते. म्हणून वस्तू व वस्तूची शक्ती यांचे द्वैत कधीही उत्पन्न होत नाही. अशा रीतीने वस्तू व शक्ती ही परस्परात मिळून राहून आपले अद्वैत तत्त्व सारखे दाखवीत असतात. श्रीशिवशक्तीही याच नियमानुसार एकरूपच असतात व एकरूपानेच स्फुरणात जगाचा प्रलय येतो व स्फुरणाच्या लोपात जगाचा लय दिसून येतो.

श्रीशिवशक्तीचा दोनपणा जाऊन एकरूपत्व अनुभवास कसे

येते? ह्यासाठी एखादे साधन आहे काय ? असा प्रश्न जेव्हा साधकाला पडतो त्यावेळी श्रीशक्ती व श्रीशिव यांची जागृती झाल्याशिवाय हे घडून येत नाही असे स्पष्ट दिसते. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी हे श्रीशिवशक्ती जागृतीचे साधन "**अनुभवामृतात**" सांगितले आहे.

तेयां दोघांमाजी एखादें। विपायें उमजलें होय निदे।
तरी घरवात गिळोनि नुसुधें। कांहीं ना करी।।१.३६।।

या दोघांमध्ये एखादे कदाचित् निद्रेपासून जागृतीस म्हणजे स्वरूपस्थितीस आले तर सर्व स्वरूपमात्र असते; दुसरे काही राहत नाही. याचा अर्थ असा आहे की, श्रीशिव व श्रीशक्ती या दोघांमध्ये एखाद्या तत्त्वास जागृती आली की, प्रपंच गिळला जातो. श्रीशिवशक्तीचे ऐक्यज्ञान म्हणजे श्रीशिवरूप होणे. हे श्रीशिवरूपत्व विसरले की, सर्वत्र जडरूपत्वाचा अनुभव येतो. मूळ शक्ती चेतन असतानासुद्धा अज्ञानामुळे हा द्वैताचा किंवा जड प्रपंचाचा भास होतो. परंतु ज्ञानरूप श्रीशिव व वृत्तिरूप श्रीशक्ती या दोघांमध्ये जर त्यांचे अद्वैतस्वरूपाचे ज्ञान प्रकट झाले तर विश्वप्रपंचाचा भास उरत नाही.

येथे "एखादे" या शब्दाचा अर्थ "जर" असा आहे. त्यामुळे श्रीगुरुकृपेने जर कदाचित् दोघांमध्ये एकाचे किंवा दोघांचेही यथार्थ स्वरूपाचे म्हणजे अद्वैताचे ज्ञान स्फुरले म्हणजे जीवाचे खरे कल्याण होते. मी म्हणजे वृत्तिरूपशक्तिस्फुरणाने आपले शुद्धज्ञानस्वरूप ओळखून आधारभूत शुद्धज्ञानस्वरूप श्रीशिवाशी ऐक्य करणे हे श्रीशक्तीचे जागे होणे होय. ही श्रीशक्ती जेव्हा श्रीगुरुकृपेने शक्तिपात होतो तेव्हा जागी होते. त्यामुळे श्रीशिवाशी ऐक्याची जाणीव होते. तेव्हा "**अहं ब्रह्मास्मि**" हा ऐक्यानुभव येतो. श्रीशिवाचे जागेपण म्हणजे "**ब्रह्मैवेदं सर्वं**" आपले सर्वात्मत्व ओळखणे होय. श्रीशिवाने श्रीशक्तीच्या सर्वरूप आविष्काराशी ऐक्य करणे ही श्रीशिवाची जागृती आहे. असे दोघेही जण जागे झाले असता सर्व प्रपंचच गिळला जातो.

आत्मनिवेदनयोग :-

शक्तिपातयोग हा खऱ्या अर्थाने आत्मनिवेदनयोग आहे. आत्म-

निवेदन म्हणजे आपण आपले स्वतःचे सर्व काही अर्पण करणे होय. आत्म्याला सर्व काही अर्पण केल्याशिवाय साधक आत्मस्वरूप होऊच शकत नाही. शक्तिपातयोगात ही निवेदनाची म्हणजे अर्पणाची क्रिया शक्तीकडून घडून येत असल्याने हा खऱ्याखुऱ्या अर्थाने आत्मनिवेदनयोग आहे. "**एकवीस समासी**" या आपल्या "**जुन्या दासबोधात**" श्रीसमर्थ रामदास्वामीमहाराज असे म्हणतात की -

आत्मा साधावया जात। तो साधकाचाचि होय घात।
तेणें गुणें निवांत। निःशब्द राहे।।२१.४३।।
व्हावया वस्तूची प्राप्ती। साधक साधनें करिती।
तंव तंव वस्तु आहुती। साधकाचीच मागे।।४४।।
जेंहीं विवेकें आपुली। वस्तूसी आहुती दिधली।
तयांसीच वस्तू लाधली। येरां अप्राप्त।।४५।।
येथींचा विपरीत विचार। करितां आपुला संहार।
तेणें अक्षय्य अपार। सुख लाहे।।४६।।
जेणें जिवावरी उठावे। तेणें आनंदासी लुटावे।
आनंदभोग लुटोनि असावें। कल्पकोटी।।४७।।
जो कां आपुली कुरवंडी। ओवाळूनि परती सांडी।
तयासीच वस्तूची जोडी। इतरां न घडे।।४८।।
येथें मोठा लाभ होतो। आपुल्यासाठीं राम मिळतो।
साठी केलिया मग तो। रामचि होये।।४९।।
जो रामरूपीं झगटे। तो उभय अंगें पालटे।
आशंका मात्र तुटे। स्वस्वरूपीं।।५०।।
जो रामरूपीं मिळाला। तो परतोनि नाहीं आला।
जैसा लोहो परिसें पालटला। तो लोहखंड न होय।।५१।।
आत्मनिवेदनाच्या अंतीं। जे कां घडली अभेदभक्ती।
त्या नांव सायुज्यमुक्ती। जाण शिष्या नेमस्त।।५२।।
जो सद्गुरूसी शरण गेला। अद्वैत निरूपणें बोधला।
मग जरी वेगळा केला। तरी होणार नाहीं।।५३।।

जेव्हा साधक श्रीसद्गुरूला शरण जातो तेव्हा श्रीसद्गुरू अत्यंत कृपाळूपणे साधकाला शक्तिपातयोगाचे साधन देतात. मग आत्म-प्राप्तीसाठी साधक साधन करू लागतो. त्यामुळे साधकाची देहात्मबुद्धी कमी होऊ लागून तो निवांत व निःशब्द अशा ब्रह्मस्वरूपात स्थिर होऊ लागतो. ब्रह्मवस्तूची प्राप्ती होण्याकरिताच साधक साधन करीत असतात. मात्र ज्या ज्या प्रमाणात शक्ती जागृत होत जाते त्या त्या प्रमाणात ब्रह्मवस्तू साधकाची आहुती मागू लागते. अर्थात् जागृत शक्ती साधकाच्या एकेक गोष्टीचा ग्रास करून पिंड-ब्रह्मांडाची रचना गिळून शेवटी श्रीशिवस्वरूप होते. अशा प्रकारे जेव्हा विवेकाने इतर सर्व साधने व इतर सर्व बाह्य गोष्टींचा त्याग करून साधक शक्तिस्वरूप श्रीशिवाच्या आधीन होऊन साधन करून शक्तीला वाट मोकळी करून देऊन आहुती देतो तेव्हाच त्याला परब्रह्मवस्तूची प्राप्ती होते. जोपर्यंत साधक अशा प्रकारे आपल्या सर्वस्वाचे निवेदन करीत नाही तोपर्यंत त्या साधकाला आत्मस्वरूपाची उपलब्धी होऊ शकत नाही.

खरोखर शक्तिपातयोगरूप आत्मनिवेदनाचे हे साधन काही निराळेच आहे; कारण या साधनाचा विचार केला म्हणजे या साधनात सर्व काही विपरीतच आहे असे दिसून येते. हे साधन सुरू होऊन शक्ती जागृत झाली की, साधकाचा संहार होऊ लागतो. दोष दूर होतात. शरीराची आसक्ती कमी होते. कल्पना शेवटास येतात. षट्चक्रांचा वेध होतो. पंचमहाभूतांची आटणी होते. मनाचे मनपण नाहीसे होते. विषयांचा विसर पडू लागतो. अर्थात् जसजसे हे घडत जाते तसतसे साधकाचे सुख वाढत जाते व शेवटी त्याला अक्षय्य व अपार सुख प्राप्त होते.

अशा प्रकारे जो साधक प्राणांची पर्वा न करता जीवावर उदार होऊन साधन करतो त्यालाच खरा ब्रह्मानंद प्राप्त होतो. या रीतीने साधन करणारा साधक खूप आनंद लुटीत असतो व तो ब्रह्मस्वरूप झाल्यामुळे कोटी कोटी कल्पपर्यंत आनंद भोगीत असतो. मात्र यासाठी त्याला सर्वस्वाचा त्याग करावा लागतो. प्राणांची कुरवंडी करावी

लागते. अशा रीतीने प्रयत्न करणाऱ्या साधकालाच वस्तू म्हणजे ब्रह्म प्राप्त होते. इतरांना ते प्राप्त होत नाही.

एकदा का आपण आपल्याला जागृत शक्तीच्या प्रवाहात झोकून दिले की, मग स्वत:ला काहीही करावे लागत नाही. सर्व काही शक्ती करते. या साधनामुळे खूप मोठा लाभ होतो. आपण आपल्या स्वत:ला दिले की, आपण श्रीरामरूप होतो. शक्तीच्या आधाराने जीव सुषुम्णेच्या प्रवाहात शिरला की, तो आपोआप आत्माराम होतो. यासाठी श्रीरामाची संगती हवी. आत्मनिवेदन हवे. हे घडले की, जीव श्रीरामस्वरूप होतो. त्याच्या सर्व शंका नाहीशा होऊन तो स्वस्वरूपी लीन होतो. तो परत जीव दशेला येत नाही. परिसामुळे लोखंडाचे सोने होते; मात्र पुन्हा सोन्याचे लोखंड होत नाही. असे आत्मनिवेदन घडले म्हणजे जीवाला सायुज्यमुक्ती मिळते. मात्र यासाठी श्रीसद्गुरूंना शरण जाऊन साधकाला साधनप्राप्ती होऊन अद्वैतानुभव येणे आवश्यक असते. हा अनुभव आला की, साधक ब्रह्मरूप होतो. मग त्याला त्या स्थितीपासून कोणीही वेगळे करू शकत नाही.

आत्मनिवेदन योगालाच श्रीसमर्थांनी नवविधा भक्तीत मुख्य भक्ती असे म्हटले आहे. **"ऐक शिष्या येथींचें वर्म। स्वयें तूंचि आहेसि ब्रह्म। येविषयी संदेह भ्रम। धरूंचि नको।। श्रीदासबोध ५.६.४५।।"** असे सांगून श्रीसद्गुरूंनी शक्तिपात केला की, सर्व साधनयोगातील आत्मनिवेदनाचे भजन घडून येऊन काय काय घडते हे सांगताना श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

नवविधा प्रकारें भजन। त्यांत मुख्य आत्मनिवेदन।
तें समग्र प्रकारें कथन। कीजेल आतां।।५.६.४६।।
निर्माण पंचभूतें इयें। कल्पांतीं नासतीं यथान्वयें।
प्रकृतिपुरुष जियें। तेही ब्रह्म होती।।४७।।
दृश्य पदार्थ आटतां। आपणही नुरे तत्त्वतां।
ऐक्यरूपें ऐक्यता। मुळींच आहे।।४८।।
सृष्टीची नाहीं वार्ता। तेथें मुळींच ऐक्यता।

पिंड ब्रह्मांड पाहों जातां। दिसेल कोठें।।५०।।
ज्ञानवह्नी प्रकटे। तेणें दृष्य केर आटे।
तदाकारें मूळ तुटे। भिन्नत्वाचें।।५१।।
मिथ्यात्वें वृत्ति फिरे। तो दृश्य असतांची वोसरे।
सहजचि येणें प्रकारें। झालें आत्मनिवेदन।।५२।।

नवविधा प्रकारच्या भजनात आत्मनिवेदन योगामुळे जे भजन म्हणजे साधन घडते तेच महत्त्वाचे आहे. ते आता समग्र सांगतो. ज्याप्रमाणे निर्माण झालेली पंचमहाभूते कल्पांत झाला म्हणजे जशी परब्रह्मात मिळून जातात त्याचप्रमाणे हे साधन सुरू झाले म्हणजे त्यांची आटणी होते. इतकेच नव्हे; तर प्रकृती व पुरुष ही मूळ तत्त्वेही ब्रह्मरूप होऊन जातात. अशा प्रकारे सर्व दृश्य पदार्थ आटून गेल्यामुळे जीवाचे जीवपण संपून तो तत्त्वतः ब्रह्मरूप होतो. ही एकरूपता मूळचीच असते. परंतु मध्ये झालेला द्वैताचा भास साधनाने नाहीसा होतो. या आत्मनिवेदनयोग साधनाचा महिमा अद्भुत आहे. त्यामुळे सृष्टीची वार्ताच नाहीशी होते; कारण सृष्टीची जननी जी कल्पना ती श्रीशक्तीचे व श्रीशिवाचे ऐक्य झाल्याने आपोआपच मावळून जाते. त्यामुळे सृष्टीचा लय होतो. अशा स्थितीत पिंड व ब्रह्मांड शोधूनही सापडणे शक्य नसते; कारण या लयावस्थेत एका ब्रह्माशिवाय दुसरे काहीही असत नाही.

या शक्तिपातयोग साधनामुळे ज्ञानरूप अग्नी प्रकट होऊन दृश्याचा पसारा त्यात जळून जातो. जीव आत्म्याशी तदाकार झाल्याने भिन्नत्वाचे मूळच तुटून जाते. वृत्तीचे भटकणे मिथ्या दर्शनामुळेच होत असते. परंतु या आत्मनिवेदन योगाच्या साधनमार्गाने साधक जाऊ लागला की, दृश्य प्रपंच विलीन होऊ लागून साधक ब्रह्मरूप होतो.

मायानिरपेक्ष साधन :-

शक्तिपातयोगाचे साधन सर्वार्थाने मायानिरपेक्ष आहे; कारण ज्या मूळ अज्ञानामुळे आत्मा संकुचित होऊन जीवभाव धारण करतो त्या अज्ञानाची निवृत्ती कर्म, ज्ञान, भक्ती इत्यादि कोणत्याही

उपायांनी होत नाही. हे सर्व उपाय मायांतर्गत बुद्धीचे व्यापार ठरतात. त्याचप्रमाणे मूळ अज्ञान जाळून टाकण्याचे सामर्थ्य या उपायांमध्ये नसल्याने त्यांचा तितकासा उपयोगही होत नाही. यासाठी मायानिरपेक्ष साधनच उपयोगी पडते. या दृष्टीने शक्तिपातयोग हेच एकमेव साधन मायानिरपेक्ष मूळ अज्ञान निवृत्ती करण्यास समर्थ ठरते. श्रीभगवंतांची कृपाशक्ती जेव्हा श्रीसद्गुरूंच्या द्वारे साधकामध्ये संचारित होते तेव्हा निद्रिस्थ कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन या मायानिरपेक्ष साधनाला सुरुवात होते. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराज **"ग्रंथराज श्रीदासबोधात"** असे म्हणतात की, वेदादि सर्व गोष्टी व साधने मायांतर्गत असल्याने त्यांच्या ठिकाणी ब्रह्मप्राप्ती करून देण्याचे सामर्थ्य असत नाही. ते केवळ संतकृपेतच असते.

वेदें प्रकाशिलें सर्वही। वेदविरहित कांहीं नाहीं।
तो वेद कोणासही। दाखवूं शकेना।।१-५-१२।।
तेचि वस्तु संतसंगें। स्वानुभवें कळों लागे।
त्याचा महिमा वचनीं सांगे। ऐसा कवणु।।१३।।
विचित्र कळा ये मायेची। परी ओळखी न सांगवे वस्तूची।
मायातीत अनंताची। संत सोय सांगती।।१४।।

संतलोक आपल्या कृपेने साधकावर शक्तिपात करून त्याला मायातीत अनंताची सोय सांगतात. संत जी भगवत्कृपा करतात ती स्वभावसिद्ध असून अहेतुक असते, हा तिचा सर्वांत मोठा विशेष आहे. मोठमोठ्या शास्त्रकारांनी, संतांनी व महात्म्यांनी एकमुखाने हे मान्य केले आहे की, जोपर्यंत साधकामध्ये भगवत्कृपेचा संचार होत नाही तोपर्यंत सर्व व्यर्थ ठरते. ही भगवत्कृपा ज्ञानाने, कर्मसाम्यामुळे, मलपाकामुळे अगर श्रीभगवंताच्या इच्छेने प्राप्त होते, असे दृष्टिभेदाने शास्त्रकारांनी सांगितले आहे.

ज्ञानामुळे शक्तिपात होतो असे जे शास्त्रकार म्हणतात त्यांचे मत असे आहे की, अज्ञानामुळे संसार उत्पन्न होतो; पण ज्ञानोदय झाल्यावर अज्ञानाची निवृत्ती होऊन शक्तिपात होतो. ज्ञानरूपी अग्नी सर्व प्रकारच्या

कर्मांना जाळून टाकून शक्तिपाताची भूमी तयार करतो.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी कर्मसाम्यामुळे शक्तिपात होतो असे "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" म्हटले आहे. ते असे म्हणतात की -

ऐसी कर्मे साम्यदशा। होय तेथ वीरेशा।
मग श्रीगुरु आपैसा। भेटेचि गा।।१८-९६।।

ज्यावेळी कर्माची साम्यावस्था प्राप्त होते तेव्हा श्रीसद्गुरू आपणहून सहजच साधकाला खात्रीने भेटतात. त्यावेळी शक्तिपात होतो.

काही शास्त्रकारांचे असे मत आहे की, मलपाक झाल्याशिवाय शक्तिपात होऊ शकत नाही. मलपाक म्हणजे अनादि मल हळूहळू पक्व होत असतो. तो जेव्हा पूर्ण परिपक्व होतो तेव्हा तो दूर करण्याची वेळ येते. मोतीबिंदू पूर्ण पिकल्याशिवाय त्यावर शस्त्रक्रिया करणे योग्य ठरत नाही; कारण त्यामुळे अपाय होण्याचा संभव असतो. त्याचप्रमाणे अपक्व मलही जबरदस्तीने दूर करण्याचा प्रयत्न केला तर जीवाचा सर्वनाश होण्याचा संभव असतो. ज्यावेळी मलाचा परिपाक होतो त्यावेळी ईश्वर श्रीसद्गुरुरूपाने दीक्षा देऊन शक्तिपात करतात व मल दूर करतात.

निरपेक्ष शक्तिपातवादी आचार्यांच्या मते ज्ञान, कर्मसाम्य किंवा मलपाक यांपैकी एकही गोष्ट शक्तिपाताला कारण नसून कर्मादि निरपेक्ष भावाने केवळ एकमात्र श्रीभगवंतांच्या कृपेनेच शक्तिपात अनुग्रह होतो. कर्मसाम्य, मलपाक, ज्ञान इत्यादि कशाच्याही अधीन शक्तिपात नसून तो निरपेक्ष व स्वतंत्र आहे. पुराणातही "**तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्**" असा पुरावा याबाबतीत मिळतो.

शक्तिपात कसाही होत असला तरी तो होणे आवश्यक आहे व त्याच्याशिवाय श्रीसमर्थांनी म्हटल्याप्रमाणे मायापार होणे शक्य होत नाही, हे त्रिकालाबाधित सत्य आहे. शक्तिपातयोगाचे जे साधन उपरोक्त प्रक्रियेने प्राप्त होते ते सर्वार्थाने मायानिरपेक्ष असते; कारण हे साधन करीत असताना शक्तिपात होऊन जो ईश्वरभाव साधकाला त्याच्या योग्यतेप्रमाणे मिळालेला असतो किंवा त्याच्या ठिकाणी उद्भुत झालेला

आढळतो तो क्रमशः वृद्धिंगत होत जातो. आत्मस्वरूप मायातीत असल्याने ते जप, ध्यान, एकाग्रता, पूजा, पाठ, मंत्र इत्यादि कशाच्याही कक्षेत बसत नाही. त्यामुळेच दीक्षा देताना इतर कोणत्याही मायिक व्यापारांना अवसर न देता श्रीसद्गुरू साधकाला असे सांगतात की, "डोळे मिटून स्वस्थ बस. शरीर शिथिल ठेव. साधी मांडी घाल. शरीरावर कोणत्याही प्रकारे मुद्दाम ताबा ठेवू नको व शरीर सैल ठेवून स्वस्थ बसून काय होते ते पाहा. त्यावेळी जप, नामस्मरण, ध्यान, मनन, चिंतन, पठण, मनाची मुद्दाम एकाग्रता, चित्तवृत्तींचा निरोध इत्यादि काहीही करू नको. असे केले म्हणजे श्रीकृपेने शक्तिसंचार होईल."

शक्ती ही मायानिरपेक्ष वस्तूशी संलग्न व्हावी म्हणून अशा प्रकारे श्रीसद्गुरू मायांतर्गत सर्व गोष्टींचा त्याग करावयास लावून आतूनच चालणाऱ्या साधनाला प्रवृत्त करतात. जे स्वतः होते ते साधन. जे मुद्दाम केले जाते ते साधन नव्हे. ती क्रिया आहे. जप, ध्यानादि सर्व या क्रियेचा व कर्माचा भाग आहे. तो सर्व मायांतर्गत असल्याने वेदही हे स्वरूप दाखवू शकत नाहीत असे श्रीसमर्थ म्हणतात. यासाठी संतांना सर्वभावे शरण गेले म्हणजे ते शक्तिपात करून मायानिरपेक्ष साधन देतात.त्यामुळे ज्या चिच्छक्तीने अनैक्याचा आभास पिंडब्रह्मांडाच्या रूपाने उत्पन्न केलेला असतो ती सर्व संकोच, बंधने, मल, विक्षेप, आवरण इत्यादींचा नाश करून आपल्या स्वस्वरूपाचा विकास करीत करीत श्रीनामदेवमहाराजांनी म्हटल्याप्रमाणे **"नाही कुळ याती। नाही दिनराती।"** असलेल्या एका अनिर्वचनीय अवस्थेप्रत साधकाला घेऊन जाते. त्या विशुद्धरूपात साधक प्रतिष्ठित झाला म्हणजे मुक्त होऊन निरतिशय आनंदात डुंबत राहतो.

भक्तियोगाचा योगमार्गः-

शक्तिपातयोगाच्या साधनाला श्रीसंतएकनाथमहाराजांनी **"एकनाथी भागवतात"** "भक्तियोगाचा योगमार्ग" असे सार्थ नाव देऊन गौरविले आहे. इतकेच नव्हे; तर शक्तिपातयोगमार्गाचे विवरण म्हणजे भागवताचे

निरूपण आहे. हा मार्ग म्हणजे पंचम पुरुषार्थ आहे. एवढेच नव्हे; तर हा योग म्हणजे मुक्तीवरील भक्ती आहे असे या मार्गाचे श्रेष्ठत्व त्यांनी सांगितले आहे. इतकेच नव्हे; तर या योगाची श्रीकृष्णांच्या मुखातून महती सांगतांना श्रीएकनाथ असे म्हणतात की, "हे उद्धवा! हा भक्तियोगाचा योगमार्ग अर्थात् शक्तिपातयोगमार्ग ज्याला कळत नाही त्याला संसार दुःखरूप होतो. हा योग अखंड माझ्यापाशी आहे. त्यामुळे मी संसारात असूनही अखंड सुखस्वरूप आहे. हा शक्तिपातयोग एक तर सदाशिव जाणतो किंवा मी नारायण जाणतो. हा मार्ग अगम्य असल्यामुळे इतरांचा त्यात सहजासहजी प्रवेश होत नाही."

भक्तियोगाचा हा योगमार्ग **"गुरुगम्यता अगम्य"** असण्याचे खरे कारण सांगताना श्रीएकनाथमहाराज असे म्हणतात की, **"कां शिष्यासी स्वानुभव देणें। हें स्वयें जाणे सद्गुरु।।२९-४९३।।"** ज्याला आपण घेतलेला स्वानुभव शिष्याला दान करता येतो तो खरा श्रीसद्गुरू. अशा प्रकारे ज्ञानदानदीक्षा होऊन शिष्याला स्वानुभव मिळाला की, श्रीसद्गुरूंना निरतिशय आनंद मिळतो.

शिष्य साचार अनुभव लाहे। तेणें सद्गुरु सुखाचा मेरू होये।
जेवीं तानयाचे धणीं माये। सुखावली राहे स्वानंदें।।२९-४९१।।

अशा ज्ञानदान करणाऱ्या दीक्षेची अनिवार्यता श्रीकृष्णांच्या मुखातून पटविताना **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** १८ व्या अध्यायात श्रीसंतज्ञानेश्वर-महाराज असे म्हणतात की, "हे अर्जुना! ज्यावेळी माझी तुझ्यावर कृपा होईल त्यावेळी अभेदरूपी सेवेने तुझे चित्त भरून जाईल म्हणजे तू मद्रूप होशील. अशी ही माझी कृपा तुझ्यावर झाली म्हणजेच तुझ्यावर माझा पूर्ण प्रसाद झाला असे समज. जन्म व मृत्यू ही तर सर्व दुःखाची निवासस्थाने आहेत. ही दुःखे जीवमात्रांकडून भोगली जातात. त्यांचा नाश होणे अती दुर्घट असते. असे असले तरी माझ्या शक्तिपातयोगाच्या प्रसादप्राप्तीमुळे तुला ही दुःखे सुखकारक व सोपी होतील. जेव्हा सूर्यप्रकाशाची साहाय्यता डोळ्यांना मिळते तेव्हा त्यांना अंधाराची किंमत वाटत नाही. त्याचप्रमाणे श्रीसद्गुरूंच्या

साहाय्याने माझा हा शांभवी विद्येचा प्रसाद मिळून ज्याची जीवपणाची हीनदशा जाऊन विभुदशा म्हणजे ब्रह्मप्राप्ती होते, तो संसाररूपी बागुलबुवाच्या भीतीने घाबरणे कधीही शक्य नाही. त्यामुळे हे धनंजय! माझा हा शक्तिपातयोगदीक्षाप्रसादच ज्ञानोपलब्धी झाल्याने या संसाररूपी दुर्गतीपासून तुला तारून नेईल. मात्र अशा प्रकारच्या दीक्षाप्रसादाची अहंकाराने व अभिमानाने तू अवहेलना करशील व अशा प्रकारच्या ज्ञानदानानेच जीव संसारसागर तरून जातो हे तू नुसते आपल्या कानामनाला स्पर्शही करून देणार नसशील तर तू वस्तुतः जरी नित्यमुक्त व अव्यय असलास तरी अशी कृपादीक्षा न मिळाल्याने सर्व व्यर्थ होईल. देहतादात्म्यसंबंधाचे घाव तुझ्या अंगावर आदळून ते तुला सोसावेच लागतील; कारण शक्ती जागृत झाल्याशिवाय ती ज्ञानाचा उदय घडवून आणीत नाही व देहतादात्म्यसंबंधाचा विच्छेद होत नाही. तो व्हावा हाच या साधनाचा खरा हेतू आहे."
(श्रीज्ञानेश्वरी १८.१२६९ ते १२७५)

★★★★★

- आधार आठवा -

★कुंडलिनी शक्तीचे स्वरूप★

१) एक अद्भुत आत्मानुभव
२) चिच्छक्ती, पराशक्ती व शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्ती
३) सर्व वृत्तींचे बीज
४) चैतन्याचा निरनिराळा आविर्भाव
५) प्राणपंचकरूपाने स्फुरणारी अत्युत्तम जीवशक्ती
६) लक्ष्मी व स्पंदधर्मिणी
७) प्रणवादि सर्व मंत्रांची निर्माती
८) दोन मुखांनी युक्त
९) सूर्यासारखी व विजेसारखी तेजस्वी
१०) आधारशक्ती
११) चैतन्याची परमप्रेमरूपशक्ती
१२) सार्वभौमचैतन्याचे ऐश्वर्य व जीवाची सावली

१) एक अद्भुत आत्मानुभव :-

ज्या कुंडलिनी शक्तीच्या साहाय्याने साधक ब्रह्मरूप होतो त्या शक्तीचे स्वरूप कसे आहे हे पाहणे अत्यंत आवश्यक व उद्बोधक आहे. अगदी सुरुवातीलाच एका साधकाचा अनुभव पाहून मग शास्त्रीय चिकित्सा करू. हा अनुभव सांगताना साधक असे म्हणतो की -

"प्रत्यक्ष अनुभवाविना नुसते शास्त्रीय ज्ञान अंधळेच होय. एखादी बहुमोल जोड-दुर्बीण अंधळ्याच्या हाती दिली तर त्याला त्या दुर्बिणीचा स्पर्श जाणवेल. तिचा जाडजूडपणा त्याला समजेल. तो अंधळा त्या दुर्बिणीवरून हात फिरवील; पण त्या जोड-दुर्बिणीच्या भिंगातून दूरच्या वस्तूंना पाहण्याची दृष्टी मात्र त्याला असणार नाही. मनाची तयारी व मानसिक सिद्धता ज्ञानाच्या कोणत्याही शाखेचे ज्ञान संपादन

करण्यासाठी आवश्यक असते हे खरे आहे. पण केवळ एवढीच तयारी असून भागत नाही. विशेषतः शक्तिपातयोगात अनुभवाला सर्वात मोठे स्थान आहे, हे निखालस खरे आहे.

एके दिवशी मीलित नेत्र होऊन मी ध्यानस्थ बसलो असता अंतःसृष्टीत म्हणजे माझ्या अंतर्यामात जे काही घडत होते ते पाहण्यात मी गढून गेलो होतो. इतक्यात एक विचित्र व अनपेक्षित खळबळ माझ्या अंतरंगात उसळली. एकाएकी बहिःसृष्टीत अनुभव घेत असल्याप्रमाणे ऐन दुपारचा सूर्यप्रकाश मला दिसला. या लखख प्रकाशात उंच उंच आणि अजस्र अशा पर्वतास मी निरखून पाहतो आहे असे मला दिसले. नंतर हा पर्वत हळूहळू माझ्या जवळजवळ आला. थोड्या वेळाने त्याचा पायथा माझ्या दृष्टिपथात आला. हा पर्वत अगदी उघडा-बोडका होता. काळ्या भिन्न कठीण प्रस्तरांनी तो घडला होता. त्या पर्वतावर गवताचे एखादे वाळलेले पानसुद्धा दृष्टीस पडत नव्हते. मग हिरवळीची गोष्ट तर दूरच राहिली. हा पर्वत आकाशात इतका उंच गेला होता की, त्याचा शिखराकडील भाग तर पूर्णपणे माझ्या नजरेच्या टप्प्याबाहेर होता. एका भव्य शिलाखंडासारखे महाअजस्र असे त्या पर्वताचे स्वरूप होते. त्या पर्वताच्या दर्शनाने मी दिङ्मूढ झालो.

इतक्यात छायेसारखी एक मानवी आकृती त्या पर्वताच्या रोखाने माझ्या समोरून चाललेली मला दिसली. ती आकृती एका स्त्रीची आहे हे थोड्याच वेळात माझ्या लक्षात आले. त्या स्त्रीच्या कडेवर एक मूल होते.

थोड्या वेळाने ती स्त्री पर्वताच्या पायथ्याशी पोहोचली. तेथे जाताच तिने आपल्या कडेवरील अर्भकाला तो उंचच उंच पर्वत चढून जाण्यास सांगितले. "नाही, नाही. अगदी अशक्य!" असे त्या अर्भकाने उच्चारलेले शब्द मला अगदी स्पष्ट ऐकू आले. मुलाने नकार दिल्यावर लगेचच त्या स्त्रीने त्या बालकासह तो उंचच उंच पर्वत चढावयाला आरंभ केला. आश्चर्याची गोष्ट अशी की, पावले रोवून बसविण्यास त्या उंच

व सरळ अशा चढणीवर कोठेही काही खुणा दिसत नव्हत्या. त्या पर्वताच्या चढणीवर खाचा केलेल्या नव्हत्या किंवा खडक फोडून पावले टेकायला जागाही केलेली नव्हती. अशा परिस्थितीत ही स्त्री ही खडी चढण चढणार तरी कशी? याचे मला आश्चर्य वाटू लागले. तोच माझी दृष्टी तिच्या पावलांशी खिळली. ती स्त्री अनवाणी नव्हती. तिच्या पायात काहीतरी पादत्राण होते आणि पादत्राण घालूनच ती चढण चढून जात होती. हे सर्व कशाचे द्योतक आहे व यातून कोणता अर्थ सूचित होत होता हे मात्र मला काही कळत नव्हते.

त्यानंतर हळूहळू त्या स्त्रीने त्या पर्वताची खडी चढण चढण्यास आरंभ केला. वळणावळणाच्या नागमोडी पाऊलवाटेने तिचे हे गिर्यारोहण चालू झाले. पर्वताची चढण उभी खडी असली तरी तिला त्याचा अडथळा झाला नाही. प्रथम ती उजवीकडे वळली. नंतर डावीकडे वळली. पुन्हा उजवीकडे आणि मग डावीकडे, अशा प्रकारच्या नागमोडी वळणाने तिचे चढणे चालले होते.

माझी एकाग्र दृष्टी तिचे अनुसरण करीत होती. पुढे थोड्या वेळाने ती एका सपाट मैदानावर उभी राहिली आहे असे मला दिसले. डोंगराच्या रांगाच्या रांगा ओलांडून ती त्या सपाट मैदानावर केव्हा आली याचा पत्ताच लागला नाही. मैदान लागल्यावर ती थांबेल असे वाटले. परंतु क्षणभरही विश्रांती न घेता तिने आपले चालणे तसेच पुढे चालू ठेवले. तिची चालण्याची गती कल्पनातीत होती. मानसिक दृष्ट्या मी पाठीमागे राहत नव्हतो हे जरी खरे असले तरी शारीरिक दृष्ट्या तिच्या चालण्याचा वेग मी सांभाळू शकत नव्हतो, हे अगदी उघड होते. माझी अहंभावाची अथवा मीपणाची जाणीव त्या स्त्रीचे अनुसरण करीत होती हेच खरे!

त्या स्त्रीने खूप अंतर पार केल्यावर दुतर्फा झाडींच्या मधील एक नवीनच देखावा प्रगट झाला. भव्य भव्य मंदिरांच्या दोन रांगांमधून एक रुंद रस्ता पसरलेला दिसत होता. त्या रस्त्यावर यात्रिकांच्या रूपाने जमलेला खूप मोठा जनसंमर्द दिसत होता. सर्व प्रकारच्या

वयाचे यात्रिक व यात्रिका त्या जनसंमर्दात दिसून येत होत्या.

कडेवर अर्भकाला घेऊन चालणाऱ्या त्या स्त्रीने त्या यात्रिकांना एकाएकी गाठले. त्या गर्दीतूनही तिने अगदी झपाट्याने वाट काढली. तिच्या वेगवान् गतीमुळे अगदी अग्रेसर यात्रिकही जेव्हा मागे पडला तेव्हा ती त्या अर्भकाला असे म्हणाली की, "पाहा! आपण त्या सर्वांना कसे सहजासहजी गाठले आणि त्यांना खूपच मागे टाकले. हे मागे पडलेले लोक कोणकोण आहेत हे तुला नंतर कळेलच!"

त्या स्त्रीचे हे शब्द मला अगदी स्पष्टपणे ऐकू आले. हे शब्द उच्चारल्यावर त्या स्त्रीने आपले चालणे तसेच पुढे चालू ठेवले. शेवटी ती मुक्कामावर आल्याप्रमाणे थांबली. तिने त्या अर्भकाला एका उंच व खड्या अशा सुळक्यासमोर उभे केले. त्या सुळक्याचा पृष्ठभाग चकाकणारा व प्रकाश परावर्तीत करणारा होता. अशा त्या सुळक्यासमोर बालकाला उभे करून ती स्त्री त्या अर्भकाच्या पाठीशी उभी राहिली. त्यानंतर ती स्त्री त्या बालकाला असे म्हणाली की, "माझ्या छकुल्या! मी तुला ब्रह्मासमोर आणून उभे केले आहे. येथे तू आणखी शिकशील. शेवटी तू ब्रह्मरूप होशील. तोपर्यंतच्या या मधल्या काळात मी तुझ्या पाठीशी उभी असेन आणि तुझ्या प्रगतीकडे लक्ष देईन."

त्याक्षणी एक विलक्षण प्रकार घडून आला. एखाद्या चलच्चित्रपटाचा चित्रखेचक एखाद्या नामांकित घटनांच्या मागे चित्रे घेत घेत दौडत असतो त्याप्रमाणे मागे मागे जाणारा माझा देहाभिमानी आत्मा वितळत व विरत चाललेला दिसला आणि त्या अर्भकामध्ये तो पुढे येऊन डोकावू लागला. त्यावेळी माझ्या असे लक्षात आले की, ते अर्भक म्हणजे दुसरे तिसरे कोणी नसून मीच आहे.

माझी ही समजूत पटते न पटते तोच ते अर्भक आवेशाने ओरडून म्हणाले, "माते! तू कोण आहेस हे आता मला समजले! दुर्लंघ्य पर्वतावर नागमोडी वळणावळणाने तुझे सहज चढत राहणे, मोठ्या कष्टाने पुढे गेलेल्या व रडतखडत चाललेल्या यात्रिकांना

किंवा साधकांना एकदम गाठून लीलेने मागे टाकणे आणि मला इतक्या हळूवार हाताने घेऊन येऊन या ज्ञानलिंगासमोर बसविणे या सर्व गोष्टींचा मला आता उलगडा झाला. आई! तू कुंडलिनी शक्ती आहेस. ज्ञानशक्ती आहेस. माझी तुझ्या चरणी अनन्यभावाने अशी प्रार्थना आहे की, माझे सारे अज्ञान वितळून जाऊ दे आणि आत्मानुभूतीच्या प्रांतात माझा प्रवेश होऊन दिव्य आंनदात मला विहार करू दे''

कुंडलिनी शक्तीचे खरे स्वरूप काय व ती कोणते कार्य करते याचा उलगडा या अनुभवावरून फारच चांगल्या रीतीने होतो. आता ह्या कुंडलिनी शक्तीचे शास्त्रीय स्वरूप काय आहे ते पाहू.

चिच्छक्ती, पराशक्ती व शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्ती :-

कुंडलिनी म्हणजे चिच्छक्ती, पराशक्ती व शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्तीच आहे. **"योगवासिष्ठातील"** निर्वाण प्रकरणाच्या पूर्वार्धातील ८० व्या सर्गात कुंडलिनी शक्तीचे विवेचन करताना श्रीवसिष्ठ महर्षी असे म्हणतात की, "शरीरात सुषुम्णा म्हणून एक नाडी आहे. ती सभोवार पसरलेल्या शाखांनी परिवेष्टित झालेली असल्यामुळे परिमंडलिताकार आहे. त्या शाखानाड्यांनी आतड्यांना वेढलेले असल्यामुळे आंत्रवेष्टनिका असे तिचे नाव आहे. तिने मर्मस्थानांचा आश्रय केला आहे. तिच्यापासून शंभर नाड्या निघाल्या आहेत. वीणादंडाच्या मूलभागी असलेला जो तारा जोडण्याचा आवर्त किंवा पाण्याचा भोवरा असतो त्यासारखी ही नाडी आहे. ॐकाराच्या शेवटच्या ∽ अशा अर्ध्या भागाच्या आकारा-सारखा तिचा आकार आहे. किंवा कुंडलाच्या आवर्तासारखी तिची रचना आहे. देव, असुर, मनुष्य, पशू, नक्र, पक्षी इत्यादिकात कीटकापासून ब्रह्मदेवापर्यंत सर्व प्राण्यांमध्ये ही उदय पावली आहे. थंडीने व्याकुळ होऊन पडलेल्या मोठ्या सर्पाच्या वेटोळ्याप्रमाणे तिने मंडल केले आहे. ती शुभ्र आहे. कल्पाग्नीने विरघळून जाणाऱ्या चंद्राप्रमाणे तिने आपला वलय आकार केला आहे. गुदापासून भ्रूमध्यापर्यंत जी रंध्रे आहेत त्यात अनुवृत

असलेली, मनोवृत्तीच्या योगाने आत अतिशय चंचल झालेली व बाहेर प्राणवायूच्या योगाने एकसारखी स्पंदन करणारी अशी ती सुषुम्णा नाडी आहे. तिच्या मुळाशी आत साडेतीन वलयांच्या आकाराची कुंडलिनी या नावाची चिच्छक्ती आहे. वीणेच्या मूलप्रदेशी तार जशी वेगाने झणत्कार करीत असते त्याप्रमाणे मूलाधारात अत्यंत सूक्ष्म अशी पराशक्ती स्फुरण पावते. तीच शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्ती आहे. तीच प्राणाच्या संगतीने नाभी, हृदय, कंठ या स्थानी उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यक्त होत जाऊन पश्यंती, मध्यमा, वैखरी इत्यादि भेदास प्राप्त होते.

केळीच्या गाभ्याप्रमाणे कोमल असलेल्या त्या मूलाधारातील ती पराशक्ती कुंडलिनी या नावाने प्रसिद्ध आहे; कारण ती कुंडलासारखा आकार धारण करते. ती प्राण्यांची परमशक्ती आहे. ती प्राण, इंद्रिये, बुद्धी इत्यादि सर्वांच्या शक्तींना सत्ता व स्फूर्ती देऊन त्यांची प्रवृत्ती करते. अतिशय रागावलेल्या नागिणीप्रमाणे ती एकसारखी आपल्या तोंडाने प्राणाला वर फेकते व अपानाला खाली ओढते. याप्रमाणे ती सदा निःश्वासरूप होऊन राहिली आहे. ज्यावेळी हृदयात स्थित असलेला प्राण कुंडलिनीने आकर्षण केला असता अपानवृत्तीने कुंडलिनीपदास प्राप्त होतो त्यावेळी अपंचीकृत पंचतन्मात्राच ज्याचे उपादान आहे अशा अंतःकरणात असलेली जीवसंविद् स्मरण, संकल्प, निश्चय, अभिमान, राग इत्यादि वृत्तिभेदांनी आत उदय पावते. कमलात जशी भ्रमरी त्याप्रमाणे कुंडलिनी देहात स्फुरण पावते."

सर्व वृत्तींचे बीज :-

"कुंडलिनी शक्ती सर्व वृत्तींचे बीज असल्याने प्राणामध्ये क्रियाशक्ती व बुद्धीमध्ये ज्ञानशक्ती उत्पन्न करते. नंतर देहात ज्याचा मृदुस्पर्श-विषयसंनिकर्ष आहे अशा चक्षुरादिकांचा उदय करून ती देहात जीवाच्या पूर्व कर्मानुसार जशी जशी सामग्रीवैचित्र्याने स्फुरण पावते तशी तशी त्या त्या इंद्रियांनी विशेष विषयाची स्फूर्ती व त्यांचा फलभोग इत्यादि आकाराची संवित् बनते. कुंडलिनी पुढीलप्रमाणे आकार धारण करते. मृदु चक्षुरादिकांच्या योगाने विषयस्पर्शन प्रथम उदय पावते. नंतर

वृत्तीच्या द्वारा बाहेर निघालेल्या प्रमात्याचा बाह्य विषयाशी संसर्ग होतो. त्यावेळी ती कुंडलिनी विषय व विषयी यांच्या दृष्टीने एकरस व एकरूप होते. वृत्तिव्याप्तीमुळे तिची व्याप्ती उदय पावते. त्या व्याप्तीने विषयावरणाचा भंग झाला असता जशीजशी अगदी स्पष्ट घटादि प्रभा उदय पावते त्या त्या प्रकाराने कुंडलिनी वेगाने स्फुरते. मूलाधारात स्थित असलेल्या तिच्यापासून चक्षुरादि इंद्रियांची प्रवृत्ती होण्यास हृदयकोशात असलेल्या नाड्या हे द्वार आहे. कारण त्या सर्व नाड्या तिच्याशी संबद्ध आहेत. त्या तिच्यापासून विस्तार पावतात. महासागरात जशा नद्या विलय पावतात त्याप्रमाणे तिच्यामध्ये सर्व नाड्या विलय पावतात. प्राणरूपाने ऊर्ध्वगमन करण्यास उत्सुक झालेल्या व अपानरूपाने अधोगमन करण्यास उत्सुक झालेल्या नाड्यांचा तिच्या योगाने विस्तार व संकोच होतो. ती एक कुंडलिनीच सर्व वृत्तींचे बीज आहे. तिला "सामानी" म्हणजे सर्वांना साधारण असलेली असे म्हटले आहे."

(श्रीयोगवासिष्ठ- निर्वाण प्रकरण-पूर्वार्ध-सर्ग ८०)

चैतन्याचा निरनिराळा आविर्भाव :-

"कल्पाच्या आरंभापासून कल्पाच्या अंतापर्यंत एकच अपरिच्छिन्न असे चैतन्य अस्तित्वात असते. परंतु हे चैतन्य मूलाधारात परिच्छिन्न, परिमित होऊन कुंडलिनी या नावाने राहते. हे कसे घडते हा खरा प्रश्न आहे. खरे पाहिले असता संर्वत्र, सर्वदा व सर्वरूपाने चित्संविदच विद्यमान आहे. परंतु भूततन्मात्रांच्या योगाने कुंडलिनीचा उदय होतो. ती संविद् सर्वत्र विद्यमान जरी असली तरी ती देहामध्ये बुद्धीने अवच्छेद व प्रतिबिंब यांच्या योगाने द्विगुणित होऊन प्रवेश केल्यामुळे विस्तार पावते. अर्थात् बुद्धिचांचल्यामुळे जलातील चंद्राप्रमाणे ती चंचल होते. सूर्याचे ऊन सर्व आकाशाला व्यापीत असले तरी ते भिंत, डोंगर, झाडे, घरे इत्यादिकांवरच व्यक्त होते. अर्थात् उपाधीच्या योग्यतेप्रमाणे व्यापक वस्तूची न्यूनाधिक अभिव्यक्ती होते. चिद्वस्तू माती, दगड इत्यादिकात व्यक्त होत नाही तर त्यातील जाड्यामुळे तिचा अभिभव होतो. त्यामुळे त्या जड पदार्थात तापलेल्या पाण्यातील शीतत्वाप्रमाणे

चित्त दिसत नाही. पण ती देव-मनुष्यादि लिंग शरीरात स्पष्ट अभिव्यक्त होते. ती वृक्षादिकांच्या लिंगात अगदी गुप्त अशी असते. ती बाहेर व्यक्त होत नाही. पण आतल्या आत अनुभव घेते. मात्र चिदंशामध्ये हा तारतम्यभाव जसा दिसतो तसा सत्ता या अंशी दिसत नाही. तर त्या सर्व उपाधीत सत्ता त्या त्या रूपाने व्यक्त झालेली दिसते." **(श्रीयोगवासिष्ठ-निर्वाण प्रकरण-पूर्वार्ध-सर्ग ८०)**

प्राणपंचकरूपाने स्फुरणारी अत्युत्तम जीवशक्ती :-

"मनुष्याच्या स्थूलदेहरूप पंचकाच्या आत मूलाधारामध्ये कुंडलिनीत या लिंगात्मक पंचकाचे बीज म्हणजे उपादानरूप सूक्ष्मभूत प्रथम प्राणपंचकरूपाने सर्वदा स्फुरण पावते. ती प्राणरूपाने आत स्फुरण पावलेली कुंडलिनी वायुधर्माने व स्वधर्माने स्पंद, स्पर्श व संविद् अशी त्रिरूप शुद्ध कल्पना बनते. तिला कल्पनेमुळे कला, चेतनेमुळे चित्, जीवनामुळे जीव व मननामुळे मन असे म्हणतात. संकल्पामुळे ती संकल्परूप झाली आहे. बोधामुळे बुद्धी झाली आहे. "अहं" अशा अभिमानामुळे अहंकार झाली आहे. ती पुर्यष्टक या नावाची आहे. ही कुंडलिनीच देहात अत्युत्तम जीवशक्ती होऊन राहिली आहे. ती अपानत्वास प्राप्त होऊन सतत अधोभागी वाहते. समानरूप होऊन नाभीमध्ये स्थित होते. उदान नावाने ती ऊर्ध्वभागी स्थित आहे. तिला खाली अपानवृत्ती व वर उदानवृत्ती जरी ओढीत असल्या तरी ती स्वतः निश्चलच राहते आणि मधल्या समानवृत्तीने घट्ट धरून ठेवल्यामुळेच ऊर्ध्ववृत्ती जरी अत्यंत बलाढ्य असली तरी ती उदानरूपच बनून स्वस्थ राहते. लिंग शरीराला बाहेर घालवीत नाही." **(श्रीयोगवासिष्ठ-निर्वाण प्रकरण-पूर्वार्ध-सर्ग ८१)**

कुंडलिनी म्हणजे लक्ष्मी व स्पंदधर्मिणी :-

"मूलाधारात कुंडलिनी राहते. ती सर्व शरीरेंद्रिय समुदायाला प्राण देणारी असल्यामुळे लक्ष्मी आहे. जप करताना फिरविल्या जाणाऱ्या रुद्राक्षादि फळांच्या माळेप्रमाणे ती प्राण व अपान यांच्या ऊर्ध्व व अधोगतीने कंपित होऊन अव्यक्त शब्द उत्पन्न करते. ती दंडाचा प्रहार

केलेल्या नागिणीप्रमाणे ऊर्ध्वमुख होऊन उलटणारी आहे. स्वर्ग व पृथ्वी या दोन लोकांमध्ये प्राण्यांची ऊर्ध्वगती व अधोगती होण्यास विहित व निषिद्ध क्रिया जशी कारण होते, त्याप्रमाणे ती प्राण व अपान यांच्या ऊर्ध्व व अधोगमनास कारण होते. त्यामुळे ती स्पंदधर्मिणी आहे. ती चक्षुरादि इंद्रियाच्या द्वारा होणारा जो रूपादि विषयांचा अनुभव, त्याचा विकास करविणारी आहे अर्थात् कमलांचा विकास करणाऱ्या सूर्यासारखी ती स्थित आहे." **(श्रीयोगवासिष्ठ-निर्वाण प्रकरण-पूर्वार्ध-सर्ग ८१)**

प्रणवादि सर्व मंत्रांची निर्माती :-

प्राणशक्तिस्वरूप मूलाधारस्थ कुंडलिनीपासूनच प्रणवादि सर्व मंत्रांची उत्पत्ती होते. "**प्रपंचसारतंत्रामध्ये**" प्रकृतीचे वर्णन करताना श्रीमदाद्यशंकराचार्य यांनी असे म्हटले आहे की -

प्रकृतिः निश्चला परावाग्रूपिणी परप्रणवात्मिका कुण्डलिनी शक्तिः।

याचा अर्थ असा आहे की, प्रकृती ही अत्यंत निश्चल आहे. परावाणी हे तिचे स्वरूप आहे. पर-प्रणवाची उत्पत्ती तिच्यापासून होत असल्याने ही प्रकृती श्रेष्ठ स्वरूपाच्या ॐकारमंत्राशी एकरूप झालेली कुंडलिनी शक्तीच आहे.

गायत्री मंत्राची उत्पत्ती कुंडलिनीपासून होते हे सांगतांना "**योगचूडामणी उपनिषदात**" असे म्हटले आहे की-

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।।३५।।

कुंडलिनी ही प्राणशक्तियुक्त अशा गायत्रीचे उत्पत्तिस्थान आहे. प्राणविद्यारूपाने ज्या गायत्रीची उपासना केली जाते ती खरोखर कुंडलिनीच्या रूपाने साकार झालेली महाविद्याच आहे. जो या महाविद्येला जाणतो तोच खरे वेदविद्येचे रहस्य जाणतो.

"**सा देवी वायवी शक्तिः।**" अर्थात् ती कुंडलिनी देवी ही वायवी म्हणजे प्राणशक्ती आहे असे "**रुद्रयामलतंत्रात**" म्हटले आहे. प्राणशक्ती म्हणजे जीवाची जीवनीशक्तीच होय. या शक्तीपासूनच "अ"कारापासून

"क्ष"कारापर्यंत सर्व अक्षरांची आणि अक्षरयुक्त मंत्रांची शक्तीसह उत्पत्ती होते, असे "**योगशिखोपनिषदाच्या**" तिसऱ्या अध्यायात सांगितले आहे.

अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी।।२।।
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः।।३।।
हृदये व्यञ्जते घोषो गर्जत्पर्ज्यन्यसन्निभः।
तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते।।४।।
प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः।
शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात्।।५।।
अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः।।६।।
सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि।।७।।
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया।।८।।

अनाहत हा अक्षर म्हणजे कधीही क्षरण न पावणारा परमश्रेष्ठ असा ध्वनी आहे. या अनाहतनादालाच शब्दब्रह्म असे म्हणतात. मूलाधारात दुसऱ्या कोणाचाही आधार नसलेली व स्व म्हणजे फक्त आत्म्याचाच आधार असलेली बिंदुरूपाने राहणारी कुंडलिनी नावाची शक्ती आहे. या कुंडलिनीच्या आधारानेच जीवात्मा राहत असतो. सूक्ष्म बीजापासून ज्याप्रमाणे अंकुराची उत्पत्ती होते त्याप्रमाणे कुंडलिनीच्या रूपाने राहणाऱ्या या सूक्ष्म अशा प्राणशक्तीतून नादाची उत्पत्ती होते. योगी लोक या नादाच्या द्वाराच नादाच्या विश्वरूप अवस्थेचे दर्शन घेतात. नादाच्या या अवस्थेचे नाव पश्यंती असे आहे. मेघासारखा गर्जना करणारा जो नाद हृदयात व्यक्त होतो त्या नादाला हे विधात्या! मध्यमा असे म्हणतात. प्राणवायूमुळे कंठातून

जो स्वर, आवाज किंवा शब्द ध्वनीच्या रूपाने बाहेर येतो त्याला वैखरी अशी संज्ञा आहे. शाखा व पर्णपुष्पादिकांमुळे वृक्ष जसा फोफावतो त्याप्रमाणे तालुदंतादि संबंधामुळेही वैखरी वाणी विस्तारलेली दिसते. "अ" पासून "क्ष" पर्यंतच्या ध्वनीला अक्षरे म्हणतात. अक्षरांपासून पदे व पदांपासून वाक्ये होतात. सर्व मंत्र, वेद, शास्त्र, पुराणे, काव्ये, नाना प्रकारच्या भाषा, सप्तस्वर, कथा वगैरे सर्व या नादापासून उत्पन्न झाल्या आहेत. सर्व प्राण्यांच्या हृदयरूप गुहेमध्ये वास करणारी ही देवी साक्षात् सरस्वतीच आहे.

जाग्रत (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म), सुषुप्ती (कारण) व तुरीय ह्या आत्म्याच्या चार अवस्था आहेत. त्याचप्रमाणे नादाच्याही चार अवस्था आहेत. परा, पश्यंती, मध्यमा व वैखरी अशी त्यांची नावे आहेत. मूलाधारात बिंदुरूपाने पराशक्ती कुंडलिनी असते. तिलाच "परा" असे म्हटले जाते. ही परा नादाची तुरीयावस्था आहे. याच्यापुढे नाद जेव्हा स्वाधिष्ठानामध्ये उपस्थित होतो तेव्हा त्याची जी अवस्था होते त्याला "पश्यंती" असे म्हणतात. ही पश्यंती नादाची सुषुप्ती किंवा कारणावस्था आहे. जेव्हा हा नाद हृदयापर्यंत पोहोचतो तेव्हा त्याला "मध्यमा" असे म्हणतात. ही नादाची स्वप्न किंवा सूक्ष्मावस्था होय. शेवटी नाद जेव्हा कंठात पोहोचतो तेव्हा त्याचा शब्दरूपाने स्पष्ट उच्चार होतो. यावेळी त्याला "वैखरी" असे म्हणतात. वैखरी ही नादाची जाग्रत किंवा स्थूलावस्था आहे. मध्यमा नादाला अनाहतनाद असेही म्हटले जाते. याचे कारण असे आहे की, हृदयप्रदेशामध्ये कोणत्याही आघाताशिवाय हा नाद स्वतःच प्रकट होत असतो. नादाच्या परा व पश्यंती या दोन अवस्था योग्यांनाच अनुभवावयास मिळतात. जे [illegible]मार्गात पुढे जातात त्यांना मध्यमा अवस्थेचे अनुभव येत असतात. म्हणजे अनाहत ध्वनी ऐकावयास मिळतो.

दोन मुखांनी युक्त :-

सर्पाला जशी दोन तोंडे असतात त्याप्रमाणे कुंडलिनीला अंतर्मुख व बहिर्मुख अशी दोन मुखे आहेत.

द्विवक्त्रा कुंडलिन्यभिधा नित्यानन्दस्वरूपा
परमा कला प्रकृति वर्तते।

कुंडलिनी नावाची नित्यानंद स्वरूपाची परमप्रकृती आहे. तिला दोन मुखे आहेत. ती एका मुखाने म्हणजे एका बाजूने ब्रह्मद्वार किंवा ब्रह्मविवराला अडवून निद्रा घेते. दुसऱ्या मुखाने ती श्वास-प्रश्वास करते. हाच जीवाचा श्वासोच्छ्वास होय. या मुखाने ही कुंडलिनी शक्ती नेहमी जागृत असते. या जागृतीमुळेच जीवाला बाह्यज्ञान किंवा चेतना चांगल्या रीतीने होते. कुंडलिनीच्या या बहिर्मुख गतीमुळेच एकत्वाची जाणीव न होता जीवाला भिन्नतेची जाणीव होते. कुंडलिनी शक्तीचे अंतर्मुख सुप्त किंवा बद्ध असल्यामुळे जीवाला आपण खरोखरी कोण आहोत हे कळत नाही. त्याच्या ठिकाणी अंतर्ज्ञान, आत्मज्ञान किंवा ब्रह्मज्ञान याचा कायम अभाव असतो. श्रीस्वात्मारामयोगींद्र यांनी **"हठयोगप्रदीपिकेमध्ये"** याबद्दल असे म्हटले आहे की-

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।३-१०६।।

साधक सुषुम्णामार्गाने गेला म्हणजे निरामय अशा ब्रह्मस्थानी जाऊन पोहोचतो व आत्मसाक्षात्कार करून घेतो. या सुषुम्णेच्या शिखेकडील टोकामध्ये परमात्मा असतो असे श्रुतीतही म्हटले आहे. **"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।। महानारायणोपनिषद् ।।२१.१३।।"** असे वेदांनीच म्हटले आहे. या सुषुम्णानाडीच्या मुखापाशीच म्हणजे ब्रह्मद्वारापाशीच ते द्वार अडवून ही परमेश्वरी शक्ती कुंडलिनी निद्रा घेत असते.

सूर्यासारखी व विजेसारखी तेजस्वी :-

"अद्वयतारकोपनिषदात" कुंडलिनीचे वर्णन करताना ऋषींनी असे म्हटले आहे की, **"देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्णा सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्रभा वर्तते। सा तु मूलादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। तन्मध्ये तडित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति।।५।।"**

देहामध्ये सूर्यासारखी तेजस्वी रूप असलेली व पौर्णिमेच्या चंद्राप्रमाणे शीतल असलेली सुषुम्णा नावाची ब्रह्मनाडी आहे. तिचा आरंभ मूलाधारापासून होऊन ती ब्रह्मरंध्रापर्यंत जाते. या नाडीमध्ये कोटी कोटी विजेप्रमाणे तेजस्वी व कमलांच्या तंतूप्रमाणे सूक्ष्म असलेली कुंडलिनी नावाची प्रसिद्ध अशी शक्ती वास करते. मनाने या शक्तीचे दर्शन घेतले असता मनुष्य सर्व पापांपासून सुटून मुक्त होतो.

"महानारायण उपनिषदामध्ये" कुंडलिनीचे पुढीलप्रमाणे फारच सुंदर वर्णन आले आहे.

तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता।।११.११।।
नीलतोयमध्यस्था विद्युल्लेखेव भासुरा।
निवारशूकवत्तन्वी पीताभा स्यात्यनूपमा।।११.१२।।

ही कुंडलिनी शक्ती दोन ढगांमध्ये प्रकट होणाऱ्या विद्युल्लतेप्रमाणे तेजस्वी आहे. विजेपेक्षाही ही शक्ती अत्यंत बलवान् अशी आहे. तिचे कार्य खनिज, वनस्पती, पशू, पक्षी, इत्यादिकांमध्येही थोडे थोडे दिसून येते.

आधारशक्ती :-

एका कुंडलिनीचे ज्ञान झाले की, ब्रह्मांडातील यच्चयावत् तत्त्वांचे ज्ञान होते. योगशास्त्राच्या दृष्टीने कुंडलिनी, मन, प्राण, नाद व बिंदू या पाच विषयांमुळे सर्व पिंड-ब्रह्मांडाच्या तत्त्वांचा उलगडा स्पष्ट रीतीने होतो. शेवटचे चार विषय कुंडलिनीच्या अधीन असल्यामुळे तिच्या संबंधी ज्ञान झाले की, साधक कृतकृत्य होतो. हे ज्ञान होणे याचा अर्थच ती श्रीगुरुकृपेने जागृत होणे होय. **"हठयोगप्रदीपिकेमध्ये"** या अर्थानेच असे म्हटले आहे की-

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।३.१।।

वन, पर्वत, नदी, सरोवर आणि समुद्रासहित सर्व पृथ्वीचा शेषनाग म्हणजे ब्रह्माची शक्ती हीच आधार आहे. त्याप्रमाणेच सर्व योगाचा व सर्व तंत्रांचा आधार कुंडलिनी शक्तीच आहे.

"योगशिखोपनिषदाच्या" सहाव्या अध्यायात या आधाररूप कुंडलिनी शक्तीचा महिमा पुढीलप्रमाणे वर्णन केला आहे.

आधाराज्जायते विश्वं विश्वं तत्रेव लियते।।२२।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत्।।२३।।
आधारं यो विजानाति तमसः परमश्नुते।।२४।।
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।।२५।।
आधारचक्रमहसा विद्यत्पुञ्जसमप्रभा।
तदा मुक्तिर्न सन्देहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः।।२६।।
केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्णा च सरस्वती।।२२।।
महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती।
आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते।।११-२।।

या आधारशक्तीच्या सामर्थ्यानेच सर्व विश्व उत्पन्न होते व तेथेच ते लीन होते. हे सर्वविषयक ज्ञान होण्यासाठी सर्वप्रयत्नाने श्रीगुरुचरणांची सेवा करून श्रीगुरुकृपेचा आश्रय प्राप्त केला पाहिजे. आधारशक्ती झोपली की, सर्व विश्वही निद्राधीन होते. ती जागृत झाली की, त्रैलोक्य जागे होते. जो या आधारशक्तीला विशेष रूपाने जाणतो तो अज्ञानरूपी अंधकाराच्या पलीकडे जाऊन ज्योतिर्मय चिदात्म्याला जाणून ज्ञानवान् होऊन परमसुखी व कृतार्थ होतो. केवळ आधार-शक्तीच्या ज्ञानाने मनुष्य सर्व पापांपासून मुक्त होतो. मूलाधारकमलात राहणाऱ्या विद्युल्लतेच्या पुंजाप्रमाणे तेजस्वी असलेल्या प्रकाशमान् अशा आत्मशक्तीच्या केवळ ज्ञानाने अगर अवलोकनाने मोक्ष निःसंशय मिळतो. जर श्रीगुरू संतुष्ट झाले तर मुक्तीबाबत कसलाही संदेह बाळगण्याचे कारण नाही. हिलाच कोणी आधार, कोणी सुषुम्णा, कोणी कुंडलिनी, कोणी सरस्वती किंवा आधारशक्ती असे म्हणतात. हीच महामाया, महालक्ष्मी, महादेवी, सरस्वती किंवा अव्यक्त आधारशक्ती आहे. या शक्तीमुळेच मन, प्राण, शरीर इत्यादींच्या क्रिया होत असतात. इतकेच काय सर्व विश्व या शक्तीमुळे प्रवृत्त झालेले दिसते.

इतका महिमा सांगून झाल्यावर "**योगशिखोपनिषदात**" पुढे असे सांगितले आहे की -

आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया।।६.२३।।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते।।२३-१/२।।
सृष्टिधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः।।
आधारे सर्ववेदाश्च तस्मादाधारमाश्रयेत्।।२९।।
आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणी सङ्गमो भवेत्।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः पापात् प्रमुञ्चते।।३०।।
आधारे पश्चिमं लिङ्गं कवाटं तत्र विद्यते।
तस्योद्घाटनमात्रेण मुच्यते भवबन्धनात्।।३१।।

आधार म्हणजे कुंडलिनी शक्ती झोपली की, सर्व विश्वही निद्राधीन होते. ज्यावेळी ती जागृत होते त्यावेळी त्रैलोक्य जागे होते. ही शक्ती मूलाधारात निवास करते. तिच्या अस्तित्वामुळेच सृष्टीचा आधार मूलाधार आहे. या आधाराच्या म्हणजे शक्तीच्या ठिकाणीच सर्व देवता राहतात. या आधाराच्या पश्चिम भागात इडा, पिंगला व सुषुम्णा यांचा संगम होतो. ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेने शक्ती जागृत होते त्यावेळी मन व प्राण एकत्र होऊन साधकाला दिव्य स्नान व पान घडते. असे घडले म्हणजे साधक सर्व पापांपासून मुक्त होतो. आधाराच्या पश्चिमभागामध्ये स्वयंभू लिंग असून तेथेच सुषुम्णेचा प्रवेशमार्ग म्हणजे ब्रह्मद्वार आहे. हा मार्ग जेव्हा मोकळा होतो तेव्हा साधक सर्व प्रकारच्या संसारबंधनातून विमुक्त होतो.

चैतन्याची परमप्रेमरूपशक्ती :-

वस्तूची शक्ती वस्तूशी समव्याप्त असते. पण ज्याप्रमाणे जलाशयातील पाणी वाहू लागले असताना मर्यादित होते त्याप्रमाणे वस्तूची शक्तीही कार्यरूप होताना मर्यादित होते. तशीच जीवाची शक्ती जेव्हा कार्यरूप होते तेव्हा ती मर्यादित होते. वाहणारे पाणी मर्यादित होण्याचे कारण जसा जमिनीचा बांध असतो त्याप्रमाणे जीवाची शक्ती सूक्ष्म नाड्यांमधून वाहत असल्यामुळे मर्यादित होते.

या नाड्या मांसमय नसल्यामुळे मन ज्याप्रमाणे शस्त्राने तुटत नाही त्याप्रमाणे या नाड्या शस्त्राने तुटत नाहीत व अग्नीने जळतही नाहीत. प्रेत जाळल्यावरही त्या जळत नाहीत. या नाड्यांच्या योगाने जीव सर्व लोकात गमनागमन करीत असतो. या नाड्यांची साडेतीन वेढ्यांची जी गुंडाळी आहे तिला कुंडलिनी म्हणतात. ही कुंडलिनी केवळ योगाभ्यासानेच दृश्य होणारी आहे. या भगवच्छक्ती कुंडलिनीचे साडेतीन वेढे आहेत. ॐकाराच्या अ, उ, म व अर्धमात्रा अशा साडेतीन मात्रांच्या मूळ स्थितीप्रमाणे आहेत. ॐकार मूळस्थितीत कुंडलिनी शक्तीशी एकरूप असतो. शक्ती ही परमेश्वराप्रमाणे शुद्ध चैतन्यरूपच आहे. पण "मी" या वृत्तिरूपाने स्फुरण पावून अज्ञानभ्रमाने ती आपले चैतन्यस्वरूप विसरली म्हणून श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी म्हटल्याप्रमाणे **"तैसी अज्ञानांगीकारें। निघाली वृत्ति विखुरे। ते सत्त्वरजद्वारें। तमही होये।। (श्रीज्ञानेश्वरी अ.१४-१४४)"** त्रिगुणात्मक होते. सत्त्वगुणाने ती शक्ती प्रकाशरूप असते, रजोगुणाने क्रियारूप होते व तमोगुणाने जड पदार्थरूप होते. अशा या शक्तीपासून शब्दद्वारा स्थूल, सूक्ष्म व कारणरूप सृष्टी उत्पन्न होते. कुंडलिनी निजलेली असते म्हणजे आपले चैतन्यस्वरूपाशी असलेले ऐक्य विसरलेली असते. अधोमुख असते म्हणजे सृष्टीचे कारण जो परमात्मा त्याला विसरून नामरूपात्मक कार्यरूप सृष्टीच्या अभिमुख असते. सारांश, शक्ती अधोमुख असते तेव्हा जगत् प्रसवते व ऊर्ध्वमुख झाली असता जगाचा नाश करून ब्रह्मरूप होते.

शक्ती जागी झाली म्हणजे ती तेजोमय होते. अशी ही परमप्रेमरूप चैतन्याची शक्ती परमप्रेमरूपच असते. चैतन्याच्या ठिकाणी तिच्याशी ऐक्य पावण्याची प्रेमोत्कंठा व शक्तीच्या ठिकाणी आपल्या स्वरूपभूत चैतन्याशी ऐक्य पावण्याची प्रेमोत्कंठा साहजिकच असते. जेव्हा श्रीगुरुकृपेने शक्तिपात होतो तेव्हा शक्ती जागृत होऊन जो श्रीशिवाला मिळविण्यासाठी विलास होतो त्यालाच रासलीला म्हटले जाते व ती श्रीराधाकृष्णांच्या रूपाने साकारलेली दिसते.

सार्वभौम चैतन्याचे ऐश्वर्य व जीवाची सावली :-

श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** सहाव्या अध्यायात कुंडलिनीचे अपूर्व वर्णन केले आहे. ते तेथे असे म्हणतात की-

नागिणीचें पिलें। कुंकुमें नाहलें।
वळण घेऊन आलें। सेजे जैसें।।६-२२२।।
तैशी ते कुंडलिनी। मोटकी औट वळणी।
अधोमुख सर्पिणी। निदेली असे।।२२३।।
विद्युल्लतेची विडी। वह्नीज्वाळांची घडी।
पंधरेयाची चोखडी। घोटीव जैसी।।२२४।।
ते कुंडलिनी जगदंबा। जे चैतन्यचक्रवर्तीची शोभा।
जया विश्वबीजाचिया कोंभा। साउली केली।।२७२।।
जे शून्य लिंगाची पिंडी। जे परमात्मया शिवाची करंडी।
जे प्रणवाची उघडी। जन्मभूमी।।२७३।।
हें असो ते कुंडलिनी बाळी। हृदयाआंतु आली।
तंव अनाहताची बोली। चावळे ते।।२७४।।
तया हृदयाच्या परिवरीं। कुंडलिनिया परमेश्वरी।
तेजाची शिदोरी। विनियोगिली।।२८१।।
बुद्धीचेनि शाकें। हातबोनें निकें।
द्वैत तेथ न देखे। तैसें केलें।।२८२।।
निजकांती हारविली। मग प्राणुचि केवळ जाहाली।
ते वेळीं कैसी गमली। म्हणावी पां?।।२८३।।
हो कां जे पवनाची पुतळी। पांघुरली होती सोनसळी।
ते फेडूनियां वेगळी। ठेविली तिया।।२८४।।
ना तरी वायूचेनि आंगें झगटली। दीपाची दिठी निवटली।
का लखलखोनि हारपली। वीजु गगनीं।।२८५।।
तैसी हृदयकमळवेन्हीं। दिसे जैसी सोनियाची सरी।
ना तरी प्रकाशजळाची झरी। वाहत आली।।२८६।।
मग ते हृदयभूमी पोकळे। जिराली कां एके वेळे।

तैसें शक्तीचें रूप मावळे। शक्तीचिमाजीं।।२८७।।
तेव्हां तरी शक्तीचि म्हणिजे। येऱ्हवी तो प्राणु केवळ जाणिजे।
आता नादुबिंदु नेणिजे। कळाज्योती।।२८८।।

कुंकवाने किंवा केशराने न्हालेले नागीणसर्पाचे पिलू वेटोळे घालून निजलेले असावे त्याप्रमाणे मूलाधारात ती लहानशी सर्पासारखी कुंडलिनी साडेतीन वेढे घालून खाली तोंड करून निजलेली असते. ती विजेच्या कंकणाप्रमाणे किंवा अग्निज्वालेच्या घडीप्रमाणे अथवा घोटून चकचकीत केलेल्या सोन्याच्या वेढ्याप्रमाणे नाभिस्कंदात नीट घट्ट व संकोचून साडेतीन पुटात दाटून बसलेली असते. ती कुंडलिनी जगदंबा आहे. जगाची माता आहे. सार्वभौम चैतन्याची ती ऐश्वर्यरूप शोभा आहे. ती जगद्बीजाचा अंकुर जो जीव त्याच्यावर सावली धरते. ती निराकार ब्रह्माची साकार मूर्ती, परमात्मा शिवाची संबळी व ॐकाराची जन्मभूमीच आहे. असो. ही कुंडलिनी बाला हृदयाच्या ठिकाणी आली म्हणजे अनाहतनाद साधकाला ऐकू येऊ लागतो.

कुंडलिनी शक्ती जेव्हा हृदयापाशी येते तेव्हा ती आपल्या तेजाची शिदोरी चैतन्याला अर्पण करते म्हणजे ती हृदयस्थ प्राणरूप आत्म्याशी आपल्या तेजासकट एकरूप होते. अर्थात् कुंडलिनी आपली तेजरूप कांती टाकून जेव्हा प्राणवायुरूप होऊन राहते त्यावेळी तिचे स्वरूप पुढीलप्रमाणे दिसून येते. एखाद्या वायूच्या केलेल्या बाहुलीला सोन्याचा पितांबर पांघरावा व तो सोडून मग तिला वेगळे करून ठेवावे त्याप्रमाणे ती दिसते. वाऱ्याची झुळुक लागून दिव्याची ज्योत विझली जावी किंवा वीज चमकून एकदम आकाशात नाहीशी व्हावी त्याप्रमाणे हृदयकमळापर्यंत जाऊन ती सोन्याच्या सरीसारखी किंवा प्रकाशरूप पाण्याच्या तेजाचा झरा वाहत आल्याप्रमाणे दिसते. तो शक्तिरूप तेजाचा झरा हृदयरूपी भूमीच्या पोकळीत एकदम जिरतो व शक्तीचे रूप शक्तीतच मावळते. शिवाशी एकरूप झाल्याने ती प्राणरूपानेच जाणली जाते. त्या अवस्थेत नाद, बिंदू, कला व ज्योती हे प्रकार किंवा भेद त्या समरसतेच्या अवस्थेत शिल्लक राहत नाहीत.

★★★★★

- आधार नववा -
शक्तिपातयोगाची दिव्य व अलौकिक वैदिक परंपरा

१) वेदातील शक्तीचे माहात्म्य व दीक्षेने मुक्तता
२) कूर्मपुराणातील महायोगाची परंपरा
३) श्रीवसिष्ठऋषींकडून श्रीप्रभुरामचंद्रांची दीक्षा
४) श्रीध्रुवाला श्रीमहाविष्णूंकडून शंखस्पर्शद्वारा शक्तिपात
५) श्रीदत्तात्रेयांची श्रीयदुराजाला आलिंगन देऊन स्पर्शदीक्षा
६) श्रीहनुमंतांची शक्तिपाताने कृतार्थता
७) श्रीअंगिरस ऋषींच्या कृपेने श्रीकृष्णांना तृष्णाहीनता
८) श्रीकृष्णांकडून मिळालेल्या शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीउद्धवाची स्वानंदनिमग्नता
९) श्रीअर्जुनाला शक्तिपाताने स्वरूपप्राप्ती
१०) श्रीचैतन्यमहाप्रभूंना शक्तिपातामुळे भक्तीचा उन्मेष
११) श्रीशंकरांकडून श्रीहरिनाथांना शक्तिपाताने निजानंद
१२) श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांची सिद्धपंथाच्या दीक्षेने कृतार्थता
१३) श्रीनामदेवांना शक्तिपाताने कृपेची सावली
१४) श्रीजनार्दनस्वामींना श्रीदत्तात्रेयांकडून शक्तिपाताने आत्मबोध
१५) श्रीएकनाथांना श्रीगुरुकृपेने परिपूर्ण ब्रह्मप्राप्ती
१६) महर्षी श्रीव्यासांकडून श्रीराघवचैतन्यांना शक्तिपातयोगदीक्षा
१७) श्रीकेशवचैतन्यांना शक्तिपातप्रभावाने आत्मसाक्षात्कार
१८) संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराजांची शक्तिपाताने खेदरहित स्थिती
१९) श्रीनिळोबांना श्रीतुकारामांकडून शक्तिपातयोगदीक्षेने निजात्मस्थिती
२०) श्रीसोहिरोबानाथ अंबिये यांना श्रीगोरक्षनाथांकडून शक्तिपातयोगदीक्षा
२१) श्रीनिरंजनांना श्रीरघुनाथांकडून चैतन्यघनस्वरूप प्राप्ती
२२) श्रीप्रभुरामचंद्रांकडून श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांना

शक्तिपाताने स्वसुखधनप्राप्ती

२३) श्रीशिवाजीमहाराजांना शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीसमर्थांकडून आत्मारामप्राप्ती

२४) श्रीरघुनाथस्वामींकडून श्रीआनंदमूर्ती ब्रह्मनाळकरांना शक्तिपाताने अद्वयस्थिती

२५) श्रीतुकामाईंकडून श्रीगोंदवलेकरमहाराजांना शक्तिपाताने ब्रह्मचैतन्यप्राप्ती

२६) श्रीनारायणतीर्थदेवांना श्रीगंगाधरतीर्थांकडून सिद्धयोगदीक्षा

२७) श्रीनारायणतीर्थांकडून श्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थांना शक्तिसंक्रमण

२८) श्रीगुळवणीमहाराजांना प.प. श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांकडून स्वप्न व प्रत्यक्ष दीक्षा

भारताच्या अध्यात्मिक संस्कृतीची जी अनेक वैशिष्ट्ये आहेत त्यात शक्तिपातयोगाचे स्थान अनुपमेय आहे; कारण अध्यात्माच्या वाटचालीत सर्व मार्गांचे मूर्धन्यस्थान या मार्गाला लाभले आहे. या अपूर्वतेमुळेच श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी या मार्गाला पंथराज असे म्हटले आहे. दिव्य अशा परमेश्वरी-शांभवी-शक्तीचा ब्रह्मप्राप्तीसाठी शिष्यावर केलेला अनुग्रह म्हणजे शक्तिपात होय. भगवत्स्वरूप श्रीगुरूंच्या अनुग्रहाशिवाय म्हणजेच शक्तिपात होऊन कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय अध्यात्मजीवनाची खरी वाटचाल सुरू होऊ शकत नाही. सुप्त भगवच्छक्ती जोपर्यंत पूर्णपणे जागृत होत नाही तोपर्यंत मनुष्यजीवनाचे खरे सार्थकही होत नाही. याकरिता वेदकाला-पासून तो आजपर्यंत अवतारी पुरुष, ऋषी, मुनी, संत, महंत इत्यादि सर्वांनी या मार्गाची कास धरलेली दिसून येते. या सर्वांनी आपल्याला परंपरेने प्राप्त झालेल्या या विद्येचा साधकांवर अनुग्रह करून त्यांना परमेश्वर प्राप्तीसाठी मार्गस्थ केले. परंपरा व पद्धत कोणतीही असली तरी साधकात शक्तिसंक्रमण घडून येणे हे खरे मूळ तत्त्व होय. भक्ती, कर्म, उपासना, जप, तप, नेम, यंत्र, मंत्र, तंत्र, ज्ञान इत्यादि मूळ तत्त्वाचा तपशील होय. तपशीलात न शिरता शक्तिपातयोगाचा प्रवाह युगानुयुगे

कशा रीतीने वाहत आला व त्याने देव, ऋषी, मुनी, संत, महंत, साधू, तापसी, संन्यासी व शेकडोशे साधकांना कसे धन्य केले हे पाहिले म्हणजे भारताच्या अध्यात्मिक संपन्नतेची कल्पना येऊन मन कृतार्थ होते. शक्तिपातयोगाच्या दिव्य व अलौकिक परंपरेचा इतिहास पाहिला म्हणजे आपणही या प्रवाहात स्नान करून धन्य व्हावे अशी इच्छा झाल्यास नवल नाही. तशी इच्छा व्हावी हाच या पुस्तकाचा खरा हेतू आहे.

१. वेदातील शक्तीचे माहात्म्य व दीक्षेने मुक्तता :-

सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी।
सा शिवा परमादेवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी
(सूतसंहिता-यज्ञवैभव खंड-अध्याय १३/३)

अशा शक्तीचे माहात्म्य ब्रह्मप्राप्तीच्या मार्गात फार मोठे आहे. "**अथर्ववेदाच्या**" १० व्या कांडातील ८ व्या सूक्तात ऋषी असे म्हणतात की -

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता विचष्टे।।१०-८-३०।।

"ही शक्ती सनातन आहे. सनातन काळापासून ती विद्यमान आहे. तीच फार प्राचीन शक्ती सर्व होऊन राहते. हीच महान् शक्तिदेवी उष:कालांना प्रकाशित करते. ती एकेकट्या प्राण्यांच्या बरोबर दिसते."

अशी ही सनातन शक्ती प्रत्येक मनुष्यप्राण्याच्या ठिकाणी असूनही ती निद्रिस्थ स्वरूपात असते. ज्ञानी व शक्तियुक्त पुरुष शक्तिजागृतीची दीक्षा देऊन लोकांचा उद्धार करतात. "**अथर्ववेदातील**" कांड २ सूक्त ३४ मध्ये मुक्तीच्या सरळ मार्गाचे वर्णन करताना शक्तिपात-योगदीक्षेने ज्ञानी पुरुष बद्धांना कसे मुक्त करतात याचे वर्णन आले आहे. ऋषी असे म्हणतात की -

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र ममोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः।।
।।२-३४-३।।

तेजस्वी व ज्ञानी पुरुष स्वतःच्या मनाने व डोळ्यांनी बद्ध स्थितीत असलेल्या प्राण्यांकडे दयादृष्टीने पाहतात. (त्यांच्या पाहण्यामुळे शक्तिसंक्रमण घडून येते.) त्यांनाच विश्वास व आनंद निर्माण करणारा देव सर्व प्रथम मुक्त करतो. (अशा प्रकारे शक्तिसंक्रमणाचे कार्य करणारे पुरुष स्वतः मुक्त होतातच; पण त्यांच्यामुळे साधक व बद्धजीवही मुक्तीची वाटचाल करू लागतात. याशिवाय दुसरा सोपा मार्ग नाही.)

"अथर्ववेदातील" ब्रह्मा प्रकरणातील १९ व्या कांडातील ४३ व्या सूक्तात दीक्षेचे व तपाचे माहात्म्य वर्णन करताना ऋषी असे म्हणतात की -

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मां तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे।।१९.४३.८।।

दीक्षा आणि तपासह जेथे ब्रह्मज्ञानी जातात तेथे ब्रह्मा मला घेऊन जावो आणि ब्रह्मा मला ज्ञान देवो.

"ऋग्वेदाच्या" प्रथम मंडलातील १६४ व्या सूक्तात शक्तिपातयोग-दीक्षेचे वर्णन पुढीलप्रमाणे आहे.

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिभेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः
पाकमत्रा विवेश।।१-१६४-२१।।

ज्या स्थानावर महान् पुरुष ब्रह्मतेजाचा प्रकाश नेहमी पसरवीत असतात तेथे माझ्यासारख्या व्यग्रचित्त माणसात सर्व भुवनांचा स्वामी व दक्ष अशा सर्वज्ञ ईश्वराने प्रवेश केला.

सामान्य माणूस नेहमीच व्यग्रचित्त असतो. त्याची व्यग्रचित्तता जाऊन त्याला मनःशांती मिळावी म्हणून सिद्धपुरुष ब्रह्मतेज साधकात संक्रमित करून शक्ती जागृत करतात. त्यामुळे अज्ञान दूर होऊ लागते. शरीर व मन शुद्ध होते. अशा साधकाच्या अंतःकरणात ईश्वराचा निवास होतो व शेवटी साधक ईश्वरस्वरूप होऊन मुक्त होतो.

याशिवाय वेदात कितीतरी ठिकाणी या शक्तिपातयोगसाधनेचा उल्लेख केलेला आढळून येतो. महापुरुषांनी आपल्या दिव्य शक्तीचा

पात करून बद्धांना जीवन्मुक्त करण्याची ही परंपरा वेदकालापासून सुरू झालेली दिसून येते. अनेक धारांनी ही परंपरा आजतागायतं वाहत आली आहे. या परंपरेतील काही महान् विभूतींच्या जीवनातील दीक्षेचे प्रसंग पाहिले म्हणजे शक्तिपातयोगाचे दिव्यत्व व अलौकिकत्व सहज ध्यानात येईल.

२. कूर्मपुराणातील महायोगाची परंपरा :-

प्रथम **"कूर्मपुराणाच्या"** उत्तरार्धातील अकराव्या अध्यायात महायोगाची जी परंपरा सांगितली आहे ती पाहणे इष्ट ठरेल.

"हा परम पावन सर्वोत्तम महायोग प्रथम श्रीमहेश्वर श्रीशंकरांनी भगवान् श्रीनारायणांना दिला व असे सांगितले की, ब्रह्मवादी लोकांना देण्यासाठी हा महायोग मी आपल्याला दिला आहे. यासाठी जे शिष्य शांतचित्त असतील त्यांनाच या योगाची दीक्षा दिली पाहिजे. असे सांगून झाल्यावर श्रीशंकरांनी भगवान् श्रीवासुदेवांना दिव्यालिंगन दिले. त्यामुळे संसारबंधन नाहीसे करणारे दिव्यज्ञान श्रीनारायणांना झाले.

श्रीनारायणांपासून प्राप्त झालेल्या या महायोगाचे दान महामुनी भगवान् श्रीसनत्कुमारांनी श्रीसंवर्तांना दिले व त्यांनाही त्या ज्ञानाचा अनुभव आला. अशा प्रकारे योगींद्र श्रीसनंदनांनी श्रीमहादेवांपासून चालत आलेल्या या महायोगाचे दान महर्षी श्रीपुलहांना ज्ञान देऊन केले. हाच महायोग प्रजापती श्रीपुलहांनी श्रीगौतमांना दिला, श्रीअंगिरा ऋषींनी वेदज्ञाते श्रीभारद्वाज ऋषींना दिला व हेच ज्ञान योगीराट् सिद्ध श्रीकपिलमुनींनी योगी श्रीजैगीषव्यांना व श्रीपंचशिखाचार्यांना दिले."

भगवान् श्रीवेदव्यास पुढे म्हणतात, "श्रीमहेश्वरांनी सांगितलेल्या या महायोगाचे ज्ञान ऋषी मुनींनी आपापसात चर्चा करून एकमेकांना दिले व घेतले. माझे वडील श्रीपराशर ऋषी हे सर्व तत्त्वांचे ज्ञाते होते. त्यांना हे परम पावन ज्ञान भगवान् श्रीसनकमुनींनी दिले. त्यांच्यापासून श्रीवाल्मीकी ऋषींना त्याची प्राप्ती झाली. अगदी प्रथम

हा महायोग परमश्रेष्ठ ज्ञानी अशा श्रीशंकराच्या तोजापासून व सतीच्या देहापासून प्रकट झालेल्या भगवान् श्रीवामदेवांनी मला दिला. भगवान् श्रीनारायण देवकीपुत्र श्रीकृष्णांनीही स्वतः साक्षात् या महायोगाचे परमश्रेष्ठ ज्ञान अर्जुनाला दिले. अशा तऱ्हेनी ही परंपरा चालू झाली."

३. श्रीवसिष्ठऋषींकडून श्रीप्रभुरामचंद्रांची दीक्षा :-

एकदा श्रीरामांचे मन संसार असार आहे असा बुद्धीचा पूर्ण निश्चय झाल्याने अत्यंत उद्विग्न झाले. त्यांना कशातही गोडी वाटेना. सर्व गोष्टींबद्दल त्यांना अनास्था वाटू लागली. जीवनाची सार्थकता तरी कशात आहे असा त्यांना प्रश्न पडला. श्रीरामांची ही स्थिती पाहून दशरथाने श्रीवसिष्ठ ऋषींना बोलावून आणले. श्रीरामांना ज्ञानोपदेश करून त्यांचे मन शांत करण्याबद्दल दशरथाने श्रीवसिष्ठऋषींना विनंती केली. श्रीरामांनी श्रीवसिष्ठांना आत्मसमाधान होण्यासाठी अनेक प्रश्न विचारले. त्याची उत्तरे श्रीवसिष्ठ देत होते. ही तत्त्वज्ञानाची चर्चा ऐकण्यासाठी अनेक ऋषीमुनी तेथे जमा झाले होते. त्यामध्ये श्रीभरद्वाज ऋषीही होते. त्यांनी श्रीवाल्मीकी ऋषींना असा प्रश्न केला की -

इति वरमुनिनोक्तं ज्ञानसारं पुराणं।
सकलमनुनिशम्य श्रीरघूणां कुलाग्र्यः।।
विमलमतिरपृच्छत्किञ्चिदन्यत्स्वयं वा।
समसुखपरिपूर्णः पूर्णबोधस्थितोऽसौ।।
।। योगवासिष्ठ-निर्वाणप्रकरण-पूर्वार्ध -१२७.१।।

"हे गुरो! श्रीराम हा श्रीरघूच्या कुलातील अत्यंत श्रेष्ठ व शुद्धबुद्धी असलेला महापुरुष आहे. त्याला श्रीवसिष्ठ ऋषींनी ब्रह्मादि महर्षींच्या संप्रदायाने प्राप्त झालेले ज्ञानसार अनेक प्रकारांनी सांगितले. परंतु ते ऐकूनही श्रीराम श्रीवसिष्ठांना जिज्ञासेने पुनःपुन्हा प्रश्न विचारीत होता; कारण तेवढ्या उपदेशाने त्याचे पूर्ण समाधान झाले नव्हते. एवढे तत्त्वज्ञान ऐकूनही त्याचा संदेह गेला नव्हता. मोह दूर होऊन मनाला शांतता प्राप्त झाली नव्हती. अशा वेळी श्रीरामाला आत्मसुख कसे मिळाले? पूर्ण बोध कशाने झाला? त्याचे सर्व संशय व

व्यामोह दूर होऊन तो अखंड आत्मानंदात कोणत्या उपायाने राहू शकला, ते मला सांगा." त्यावर महामुनी श्रीवाल्मीकींनी श्रीभरद्वाज-ऋषींना असे सांगितले की -

इति श्रुत्वा वसिष्ठस्य वाक्यं वेदान्तसङ्ग्रहम्।
विदिताखिलविज्ञानो रामः कमललोचनः।।१२७.३।।
शक्तिपातवशोन्मेषप्रकटामलचिद्धनः।
मुहूर्तमासीदुद्बुद्धश्चैतन्यानन्दसागरः।।४।।
प्रश्नोत्तरविभागादिपरिपाटीविवर्जितः।।
आनन्दामृतपूर्णासु रोमकण्टकिताङ्गकः।।५।।
महासामान्यरूपत्वाच्चिद्व्यापकतया स्थितः।
नित्यमष्टगुणैश्वर्यतृणप्रायमनोरथः।।६।।
न किंचिदूचे संपन्नः शिवे परिणतः पदे।।
श्रीभरद्वाज उवाच।
अहो खलु ममाश्चर्यं रामः प्राप्तो महत्पदम्।।७।।

"सर्व वेदान्ताचे सार ज्यात साठविलेले आहे असा श्रीवसिष्ठांचा उपदेश ऐकून कमलनयन श्रीरामाला सर्व विज्ञान ज्ञात झाले. (इतके झाले; तरी) श्रीरामाची अविद्या शक्तिपातयोगानेच दूर झाली. शक्तिपाता-मुळे श्रीरामाला उन्मेष प्राप्त होऊन त्याचे शुद्ध स्वरूप प्रकट झाले. स्वस्वरूपाचा विकास होऊन त्यात पूर्ण जागृती आली. तो चैतन्यानंद सागरच झाला. त्याची प्रश्नोत्तरे संपली. मन, बुद्धी व इंद्रियांचे व्यापार जागच्याजागी स्थगित झाले. त्याचे प्राण आनंदामृताने पूर्ण झाले. शरीरावर रोमांच उभे राहिले. आपण सामान्य जीव नसून ब्रह्मच आहोत व चैतन्यरूपाने आपण सर्वत्र भरून राहिलेले आहोत असा अनुभव त्याला आला. तो अणिमादि अष्टसिद्धींना तृणाप्रमाणे तुच्छ समजू लागला. तो निरतिशय अशा ब्रह्मानंदात निमग्न झाल्याने काहीही बोलला नाही. त्यावर श्रीभरद्वाजऋषी असे म्हणाले की, "खरोखर राम केवळ या शक्तिपातयोगानेच मोठ्या पदाला पोहोचला

या गोष्टीचे मला मोठे आश्चर्य वाटते."

त्यावेळी जे अनेक ऋषी जमले होते त्यात श्रीविश्वामित्र ऋषीही बसले होते. शक्तिपातयोगाने श्रीरामाचे चित्त ब्रह्माकार होऊन तो आपल्या स्वरूपात रममाण झाल्याचे पाहून त्यांना फारच समाधान वाटले. तेव्हा श्रीविश्वामित्र ऋषिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठांची व शक्तिपातयोगाची स्तुती करताना असे म्हणाले की-

हे वसिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि।
गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम्।।१२८.६०।।
दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।६१।।

"हे महाभाग ब्रह्मपुत्र वसिष्ठा! तू फार थोर आहेस. वर सांगितल्याप्रमाणे अनुग्रहयुक्त दृष्टी टाकून शक्तिपाताने शिष्याला ब्रह्मरूप करून तू आपले गुरुत्व, शिष्योद्धारसामर्थ्य, आताच्या आताच आम्हाला दाखविले आहेस. दर्शन, स्पर्श, शब्द किंवा केवळ कृपादृष्टी यांच्या योगाने जे शिष्याच्या देहात शांभव शक्तीचा समावेश करतात व स्वशरीरातून न निघताच शिष्याची कुंडलिनी जागृत करून षट्चक्रांचा भेद करून ब्रह्मरंध्रात राहणाऱ्या परशिवाशी श्रीशक्तीचे ऐक्य घडवून आणून जीवाचे जीवत्व नाहीसे करून त्याला ब्रह्मत्व प्राप्त करून देणारा शक्तिपात करतात तेच खरे सद्गुरू होत."

"योगवासिष्ठात" स्थिती प्रकरणात श्रीरामाला महायोगाचे माहात्म्य सांगताना स्वतः श्रीवसिष्ठऋषी असे म्हणतात की -

सुजनेन वितृष्णेन विदुषा महता सह।
प्रविचार्य महायोगात्पदमासाद्यते परम्।।

आतील व बाहेरील द्वंद्वे सहन करणाऱ्या म्हणजे शिष्यापराध पोटात घालणाऱ्या महात्म्याला शरण जाऊन शास्त्रविचार करावा; कारण सुजन, निरीच्छ, विद्वान् आणि उदार मनाच्या ब्रह्मनिष्ठांच्या सहवासात श्रवणमननादि साधनांचा आश्रय करून महायोगाचा अभ्यास करीत गेले म्हणजे परमपदाची प्राप्ती होते.

४. श्रीध्रुवाला श्रीमहाविष्णूंकडून शंखस्पर्शद्वारा शक्तिपात :-

श्रीध्रुवाच्या गालाला श्रीमहाविष्णूंनी शंखाचा स्पर्श करून शक्तिपात-योगदीक्षा कशी दिली याचे वर्णन महर्षी वेदव्यासांनी **"श्रीमद्भागवत महापुराणात"** चतुर्थ स्कंधाच्या नवव्या अध्यायात रोचकतेने केले आहे.

स वै धिया योगविपाकतीव्रया हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श।।४.९.२।।
तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षितावववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।
दृग्भ्यां प्रपश्यन्नपिबन्निवार्भकश्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिन्।।३।।
स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले।।४।।
स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः।।५।।

त्यावेळी श्रीध्रुव तीव्र योगाभ्यासाने एकाग्र झालेल्या बुद्धीने श्रीभगवंतांचे विजेसारख्या दैदीप्यमान मूर्तीचे आपल्या हृदयकमलामध्ये ध्यान करीत होता. ती मूर्ती त्याच्या हृदयातून एकाएकी नाहीशी झाली. त्यामुळे घाबरून जाऊन त्याने डोळे उघडले. त्याबरोबर हृदयात ध्यान करीत असलेली श्रीभगवंतांची साक्षात् मूर्ती आपल्यासमोर उभी असलेली त्याने पाहिली. श्रीप्रभूंचे प्रत्यक्ष दर्शन मिळाल्याने श्रीध्रुवाला अत्यंत कुतूहल वाटले. तो प्रेमाने अगदी अधीर झाला. त्याने श्रीभगवंतांना साष्टांग नमस्कार घातला. अत्यंत प्रेममय दृष्टीने तो श्रीभगवंतांकडे पाहू लागला. श्रीभगवंतांना नेत्रांनी पिऊन टाकावे, मुखाने त्यांचे चुंबन घ्यावे व त्यांना दृढ आलिंगन द्यावे असे त्याला वाटू लागले. तो हात जोडून श्रीप्रभूंसमोर उभा होता. श्रीभगवंतांची स्तुती करावी असे त्याला मनापासून वाटत होते. परंतु स्तुती कशा प्रकारे करावी हे त्याला माहीत नव्हते. सर्वांतर्यामी श्रीहरीने त्याच्या मनातील गोष्ट ओळखली. श्रीभगवंतांनी अत्यंत कृपापूर्वक आपल्या वेदमय शंखाचा त्याच्या गालाला स्पर्श केला. श्रीध्रुवाला पुढे अविचलपद प्राप्त होणार

होते. या वेळी शंखाचा स्पर्श झाल्याबरोबर त्याला वेदमयी दिव्य वाणी प्राप्त झाली. जीव व ब्रह्माच्या स्वरूपाचाही निश्चय झाला. अत्यंत भक्तिभावाने व धैर्याने तो विश्वविख्यात श्रीहरींची स्तुती करू लागला.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी या प्रसंगाचे "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" एका ओवीत वर्णन केले आहे.

ना तरी मधुवनीं ध्रुवासी केलें। जैसें कपोल शंखें शिवतलें।
आणि वेदांचियेही मतीं ठेलें। तें लागला बोलों।।११.१८४।।

५. श्रीदत्तात्रेयांची श्रीयदुराजाला आलिंगन देऊन स्पर्शदीक्षा :-

श्रीदत्तात्रेयांनी श्रीयदुराजाला आलिंगन देऊन स्पर्शदीक्षा कशी दिली व आत्मबोधाचा अनुभव कसा दिला याचे अत्यंत हृदयस्पर्शी वर्णन श्रीसंत श्रीएकनाथमहाराजांनी "**श्रीनाथभागवताच्या यदु-अवधूत संवादात**" पुढीलप्रमाणे केले आहे.

याहीपरी पाहतां। माझा गुरू एकुलता।
एक तेथें दुजेपणाची वार्ता। नाहीं सर्वथा यदुराया।।९.४२२।।
ऐशी सद्गुरूकथा। तुज सांगितली परमार्था।
हरिखें आलिंगलें नृपनाथा। दोघां ऐक्यता निजबोधें।।४२३।।
जींवीं जींवा पडली मिठी। आनंदें ओसंडली सृष्टी।
तेणें वाचेसी पडली बेलवटी। बोलों उफराटी विसरली।।
हरिखु न संटवे हृदयभवनीं। बाहेर वोसंडे स्वेदेजोनी।
आनंदघन वोळला नयनीं। स्वानंदजीवनीं वर्षतु।।४२५।।
तुटली अहंकाराची बेडी। पावलों भवार्णव परथडी।
म्हणौनि रोमांचीं उभविली गुढी। जिंतली गाढी अविद्या।।
समूळ देहभावो पळाला। यालागीं गात्रकंपू चळचळा।
संकल्पविकल्प निमाला। मनेंसी बुडाला मनोरथू।।४२७।।
जीवभावो उखिता। यदूनें अर्पिला गुरुनाथा।
तें चिह्न बाहेरी तत्त्वतां। दावी सर्वार्था निजांगीं।।४२८।।
तो अवधूत जाण दत्तात्रेया। तेणें आलिंगूनि यदुराया।
निजरूपाचा बोधू तया। अनुभवावया दीधला।।४२९।।

"हे यदुराजा ! अशा रीतीने पाहिले म्हणजे माझे श्रीगुरू एकुलते एकच आहेत. तेथे दुजेपणाची वार्ताही नाही. श्रीसद्गुरूंची कथा मी तुला परमार्थप्राप्तीसाठी सांगितली." असे बोलून श्रीअवधूतांनी आनंदाने राजाला आलिंगन दिले. आत्मज्ञानामुळे ते दोघेही तद्रूप झाले. सृष्टीला आनंदाचे भरते आले. त्यामुळे वाचा बंद पडली व उलट पक्ष घेऊन बोलण्याचे विसरली. अंतःकरणात आनंद न मावल्यामुळे तो घामाच्या रूपाने बाहेर वाहू लागला म्हणजे आनंदातिशयामुळे त्यांच्या अंगावर रोमांच उभे राहून घाम सुटला. आनंदरूपी मेघ डोळ्यात भरून आला व तो प्रेमाश्रूंचा वर्षाव करू लागला. अहंकाराची बेडी तुटली. आम्ही भवसमुद्राच्या परतीराला जाऊन पोहोचलो म्हणून रोमांचरूपी पताका उभारली. अविद्येला पार जिंकले. देहभाव पळून गेल्याने शरीर चळचळा कापू लागले. संकल्पविकल्प नाहीसा झाला. मनोरथ मनासह बुडाला. यदुराजाने सर्व जीवभाव श्रीसद्गुरूंना अर्पण केला. त्याचे चिह्न तत्त्वतः आपल्या देहावर तो दाखवू लागला. ते श्रीअवधूत साक्षात् श्रीदत्तात्रेयच होते असे जाण. त्यांनी यदुराजाला आलिंगून त्याला आत्मस्वरूपाच्या ज्ञानाचा अनुभव दिला.

६. श्रीहनुमंतांची शक्तिपाताने कृतार्थता :-

श्रीप्रभूरामचंद्रांनी श्रीमारुतीरायांना शक्तिपातानुग्रहाने कृतार्थ केले. तामीळ महाकवी कंबन यांनी आपल्या **"कंबरामायणात"** या प्रसंगाचे फार सुरेख वर्णन केले आहे. महाकवी लिहितात- श्रीरामाला राज्याभिषेक झाला. त्यानंतर त्याने सर्व वानरांना व श्रीहनुमंतांना किष्किंधेला पाठविण्याचे ठरविले. प्रत्येक वानराच्या कामगिरीप्रमाणे त्याला बक्षीस देण्यात आले. परंतु श्रीहनुमंतांना काय द्यावे हा श्रीरामांपुढे प्रश्न पडला. श्रीहनुमंतांच्या अजोड व्यक्तिमत्त्वामुळे व कामगिरीमुळे निरोप देताना श्रीरामांचे डोळे भरून आले. अंतःकरण प्रेमाने उचंबळून आले. त्या अवस्थेत श्रीरामांनी श्रीहनुमंतांना आलिंगनाची अपूर्व भेट दिली. या आलिंगनद्वारा शक्तिसंक्रमण करून श्रीरामांनी श्रीहनुमंतांना आपले सर्वस्व दिले. श्रीरामांनी उभ्या

आयुष्यात सीतेशिवाय कोणालाही आलिंगन दिले नव्हते. ऋषींना सुद्धा हे भाग्य लाभले नाही. श्रीहनुमंतांना ते मिळाले. श्रीरामांच्या आलिंगनाने शक्तिपात होऊन श्रीहनुमंत कृतार्थ झाले.

मूळ **"वाल्मीकी रामायणात"** महर्षी श्रीवाल्मीकींनी हा प्रसंग युद्धकांडातील प्रथम सर्गात पुढीलप्रमाणे वर्णिला आहे. श्रीहनुमंत सीतेचा शोध लावून आल्यावर श्रीराम असे म्हणाले की-

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।
वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः।।११।।
इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति।
यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम्।।१२।।
एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः।।१३।।
इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे।
हनूमन्तं कृतात्मानं कृतकार्यमुपागतम्।।१४।।

आज हनुमंत सीतेचा शोध लावून परत आला. त्याने तिला आपल्या डोळ्यांनी समक्ष पाहिले. त्यामुळे धर्मानुसार त्याने समस्त रघुवंशाचे, माझे व महाबली लक्ष्मणाचे रक्षण केले आहे. त्याने माझ्याकरिता जी मोठी कामगिरी केली याबद्दल बक्षीस देण्यायोग्य वस्तू आज माझ्याजवळ नाही. ज्याने मला अत्यंत प्रिय गोष्ट सांगितली त्याच्याकरिता मी कोणतेही प्रिय कार्य करू शकत नाही, याचा माझ्या मनाला अतिशय खेद होत आहे. तेव्हा यावेळी या महात्मा हनुमंताला मी केवळ माझे प्रगाढ आलिंगनच देऊ शकतो; कारण तेच माझे सर्वस्व आहे. (आलिंगनामुळे शक्तिसंक्रमण होऊन श्रीरामांचे सर्वस्व जे आत्मस्वरूप ते श्रीहनुमंतांना प्राप्त होऊन ते श्रीरामस्वरूप होणार हा भावार्थ) असे म्हणता म्हणता श्रीरामांचे अंगप्रत्यंग प्रेमाने पुलकित झाले. आपल्या आज्ञेप्रमाणे वागून सफलता प्राप्त करून आलेल्या श्रीहनुमंतांना त्यांनी दृढ आलिंगन देऊन कृतार्थ केले.

७. श्रीअंगिरसऋषींच्या कृपेने श्रीकृष्णांना तृष्णाहीनता :-

श्रीकृष्ण तृष्णाहीन कसे झाले याचे वर्णन **"छांदोग्य उपनिषदातील"** अध्याय ३ खंड १७ मंत्र ६ मध्ये पुढीलप्रमाणे केले आहे.

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय
देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव।

श्रीघोरआंगिरसऋषींनी देवकीपुत्र श्रीकृष्णांना शक्तिपातयोगदीक्षा देऊन हे ज्ञान सांगितले. त्यामुळे श्रीकृष्णांच्या आशा, आकांक्षा व विषयांची ओढ संपून ते तृष्णाहीन झाले व त्यांना परम शांती प्राप्त झाली.

८. श्रीकृष्णांकडून मिळालेल्या शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीउद्धवाची स्वानंदनिमग्नता :-

श्रीसंत श्रीएकनाथमहाराजांनी **"श्रीएकनाथी भागवतात"** २९ व्या अध्यायात उद्धवाला शक्तिपातयोगदीक्षा देऊन स्वानंदनिमग्नता कशी प्राप्त करून दिली व हेच एकमेव साधन कसे श्रेष्ठ आहे याचे अनुपम वर्णन केले आहे.

उद्धवा जे मज अनन्यशरण। त्यांचा धर्म अर्थ मी आपण।
त्यांचा काम तोही मीचि जाण। मोक्ष संपूर्ण मी त्यांचा।।६०७।।
अभक्तां भोगक्षयें पुनरावृत्ती। भक्तांसी भोग भोगिता नित्यमुक्ती।
एवढी माझ्या भक्तीची ख्याती। जाण निश्चितीं उद्धवा।।६०८।।
ऐशी ऐकतां देवाची मात। उद्धव प्रेमें वोसंडला अद्भुत।
तेणें प्रेमें लोधला कृष्णनाथ। हर्षें बोलत तेधवां।।९।।
उद्धवा तुझे चारी पुरुषार्थ। तो मी प्रत्यक्ष श्रीभगवंत।
ऐसें बोलोनि हर्षयुक्त। हृदयाआंत आलिंगी।।१०।।
हर्षें देता आलिंगन। कृष्ण विसरला कृष्णपण।
उद्धव स्वानंदनिमग्न। उद्धवपण विसरला।।११।।
कैसें अभिनव आलिंगन। दोघांचे गेले दोघेपण।
पूर्ण चैतन्यपरिपूर्ण। स्वानंदघन स्वयें झाले।।१२।।
तेथ विरोनि गेला हेतू। वेदेंसहित बुडाली मातू।

एकवटला देवी भक्तू। एकीं एकांतू एकत्वें।।१३।।
तेथ मावळले धर्माधर्म। क्रियेसहित उडाले कर्म।
भ्रम आणि निर्भ्रम। दोहींचें नाम असेना।।१४।।
भेद घेऊनि गेला अभेदा। बोध घेऊनि गेला निजबोधा।
आनंद लाजला आनंदा। ऐशिया निजपदा उद्धव पावे।।१५।।
मी जाहलों परब्रह्म। हाही मुख्यत्वें जेथ भ्रम।
कृष्णालिंगनाचा हा धर्म। जाहला निरुपम निजवस्तू।।१६।।
यावरी कृष्ण सर्वज्ञ। सोडोनियां आलिंगन।
ऐक्यबोधें उद्धवासी जाण। निजभक्तपण प्रबोधी।।१७।।
तेव्हां उद्धव चमत्कारिला। अतिशयें चाकाटला।
परम विस्मयें दाटला। तटस्थ ठेला ते काळीं।।१८।।

९. श्रीअर्जुनाला शक्तिपाताने स्वरूपप्राप्ती :-

जे ज्ञान श्रीकृष्णांना श्रीघोरआंगिरसऋषींकडून मिळाले तेच ज्ञान श्रीकृष्णांनी श्रीअर्जुनाला आलिंगन देऊन संक्रमित केले. त्यामुळे श्रीअर्जुनाला स्वरूपप्राप्ती झाली. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी श्रीअर्जुनाला मिळालेल्या दीक्षेचे अत्यंत भावस्पर्शी वर्णन **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** पुढील-प्रमाणे केले आहे.

मग सांवळा सकंकणु। बाहु पसरोनि दक्षिणु।
आलिंगिला स्वशरणु। भक्तराजु तो।।१८.१४१८।।
न पवतां जयातें। काखे सूनि बुद्धीतें।
बोलणें मागौतें। वोसरलें।।१४१९।।
ऐसें जें कांहीं एक। बोलाबुद्धीसिही अटक।
तें द्यावया मिष। खेवाचें केलें।।१४२०।।
हृदया हृदय एक जाले। ये हृदयींचें तें हृदयीं घातलें।
द्वैत न मोडता केलें। आपणाऐसे अर्जुना।।१४२१।।
दीपें दीपु लाविला। तैसा परिष्वंगु तो जाला।
द्वैत न मोडतां केला। आपणपे पार्थु।।१४२२।।
तेव्हां सुखाचा मग तया। पूरू आला तो धनंजया।

तेथ वाडु तऱ्ही बुडोनियां। ठेला देवो।।१४२३।।
सिंधू सिंधूतें पावों जाये। तें पावणें ठाके दुणा होये।
वरी रिगे पुरवणिये। आकाशही।।१४२४।।
तैसें तया दोघांचे मिळणें। दोघां नावरे जाणावें कवणें।
किंबहुना श्रीनारायणें। विश्व कोंदलें।।१४२५।।

कंकणांनी युक्त असलेला आपला श्यामवर्णाचा उजवा हात पुढे करून आपल्यास शरण आलेल्या भक्तराज अर्जुनाला श्रीकृष्णांनी आलिंगन दिले. बुद्धीला व शब्दाला आकलन न झाल्याने जेथे बोलणे खुंटून जाते ते स्वरूप अर्जुनाला देण्याकरिता देवांनी आलिंगनाचे निमित्त केले. श्रीकृष्णांचे हृदय व अर्जुनाचे हृदय एकमेकांना भिडले. श्रीकृष्णांनी आपल्या हृदयातील ज्ञान अर्जुनाच्या हृदयात घातले व देवभक्तांचे द्वैत न मोडता अर्जुनाला आपल्यासारखे करून सोडले. एका दिव्याने दुसरा दिवा लावल्यावर जसे द्वैत कायम राहून ऐक्य मोडत नाही तसाच प्रकार या आलिंगनाचा होऊन द्वैत न मोडता श्रीकृष्णांनी पार्थाला आपलेपणा दिला. मग त्यावेळेस अर्जुनाला त्या आनंदाच्या सुखाचा पूर आला. त्या पुरात भगवान् सर्वव्यापक असूनही ते बुडून गेले. समुद्राला समुद्र मिळाल्यावर पाणी दुप्पट वाढते. त्या वाढीमुळे जसे आकाशही व्यापून जाते तसे श्रीकृष्ण व अर्जुन यांच्या आलिंगनाचे प्रेम दोघांनाही आवरेना. ते कोणी जाणावे? फार काय सांगावे! सर्व विश्व श्रीनारायणरूप होऊन गेले.

श्रीध्रुवाला ज्याप्रमाणे शंखस्पर्शद्वारा श्रीमहाविष्णूंकडून शक्तिपातदीक्षेचा अनुग्रह मिळाला तसाच अनुग्रह अर्जुनाला श्रीकृष्णांनी दिला. या अनुग्रहाच्या परिणामाचे चित्र श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" ११ व्या अध्यायात अपूर्वपणे रेखाटले आहे.

ना तरी मधुवनीं ध्रुवासि केलें। जैसें कपोल शंखें शिवतलें।
आणि वेदांचियेही मतीं ठेलें। तें लागला बोलों।।११.१८४।।
तैसा अनुग्रहो पैं राया। श्रीहरि केला धनंजया।
आतां कवणेकडेही माया। ऐसी भाष नेणेंचि तो।।१८५।।

एकसरें ऐश्वर्यतेजें पाहलें। तया चमत्काराचें एकार्णव जाहले।
चित्त समाजीं बुडोनि ठेलें। विस्मयाचिया।।१८६।।
जैसा आब्रह्म पूर्णोदकीं। पोहे मार्कंडेय एकाकी।
तैसा विश्वरूप कौतुकीं। पार्थु लोळें।।१८०।।
म्हणे केवढें गगन एथ होतें। तें कवणें नेलें पां केउतें।
तीं चराचरें महाभूतें। काय जाहलीं?।।१८८।।
दिशांचे ठावही हारपले। अधोर्ध्व काय नेणों जाहलें।
चेइलिया स्वप्न तैसे गेले। लोकाकार।।१८९।।
ना ना सूर्यतेज प्रतापें। सचंद्र तारांगण जैसें लोपे।
तैसीं गिळिली विश्वरूपें। प्रपंचरचना।।१९०।।
तेव्हां मनासी मनपण न स्फुरे। बुद्धि आपणपें न सांवरे।
इंद्रियांचे रश्मी माघारे। हृदयवरी भरलें।।१९१।।
तेथ ताटस्थ्या ताटस्थ्य पडिलें। टकासी टक लागलें।
जैसें मोहनास्त्र घातलें। विचारजातां।।१९२।।
तैसा विस्मितु पाहे कोडें। तंव पुढां होतें चतुर्भुज रूपडें।
तेंचि नानारूप चहूंकडे। मांडोनि ठेलें।।१९३।।
जैसे वर्षाकाळींचे मेघौडे। कां महाप्रळयींचें तेज वाढे।
तैसें आपणावीण कवणीकडे। नेदीचि उरों।।१९४।।

देवाचे दर्शन व्हावे म्हणून ध्रुव मधुवनात तपश्चर्या करीत होता. जेव्हा त्याला देवाचे दर्शन झाले तेव्हा देवाची स्तुती करावी अशी उत्कट इच्छा त्याला उत्पन्न झाली. परंतु स्तुती कशी करावी हे त्याला माहीत नव्हते. तेव्हा भगवंताने स्तुती करू इच्छिणाऱ्या ध्रुवाच्या गालाला आपल्या हातातील शंखाचा स्पर्श केला. त्याबरोबर वेदांनाही जी स्तुती करता आली नाही ती तो करू लागला. (शक्तिपात अनुग्रह झाला की, अशी दिव्य वाणी स्फुरू लागते.) संजय म्हणाला, "हे राजा धृतराष्ट्रा! भगवान् श्रीकृष्णांनी अर्जुनावर तशीच कृपा केली. या कृपेमुळे माया कोणीकडे गेली त्याचा पत्ताही लागला नाही. एकसारखे जिकडे तिकडे ऐश्वर्यतेजच प्रकाशमान झालेले

दिसू लागले. आश्चर्याचा समुद्रच सर्वत्र पसरलेला आहे असे अर्जुनाला वाटू लागले. त्याचे चित्त त्या आश्चर्याच्या समुद्रात बुडून गेले. ब्रह्मलोकापर्यंत संपूर्ण ब्रह्मांड जलमय झाले असता ज्याप्रमाणे एकटे मार्कंडेय ऋषीच त्या जलात पोहत असतात, त्याप्रमाणे विश्वरूपाच्या दर्शनाने झालेल्या विस्मयसमुद्रावर अर्जुनही लोळू लागला. अर्जुन म्हणतो, "मी विश्वरूप पाहण्यापूर्वी येथे खूप मोठे आकाश होते. ते आता कोणी कोठे नेले समजत नाही. आणि त्या आकाशात दिसणारी ती भूतसृष्टीही काय झाली कोणाला माहीत? दिशांचा पत्ता, ठावठिकाणा राहिला नाही. आकाश पाताळ कोणीकडे गेले हे समजेना. ज्याप्रमाणे स्वप्नात पाहिलेले पदार्थ दृष्टीस पडत नाहीत; त्याप्रमाणे एवढा वेळ दृष्टीस पडणारी सृष्टी नाहीशी झाली. सूर्य उगवल्याबरोबर त्याच्या प्रखर तेजाने ज्याप्रमाणे चंद्रासह सर्व नक्षत्रे त्याच्यात लोपून जातात त्याप्रमाणे शक्तिपातयोगदीक्षेमुळे विश्वरूपदर्शनाचा दिव्य अनुभव येऊन सर्व प्रपंचभाव नाहीसा झाला." या अवस्थेत अर्जुनाला मनाचे मनपण स्फुरत नव्हते म्हणजे त्याच्या मनाचा बाह्य विषयाविषयी होणारा संकल्पविकल्पात्मक सर्व व्यापार बंद पडला. बुद्धीचे स्वतःला सावरण्याचे सामर्थ्य नाहीसे झाले. इंद्रियांच्या प्रवृत्ती मागे फिरत हृदयामध्ये विलीन झाल्या. या अवस्थेत स्तब्धतेला स्तब्धता प्राप्त झाली म्हणजे ताटस्थ्यही तटस्थ राहिले. अर्थात् साक्षित्वही आठवेनासे झाले. एकाग्रतेस एकाग्रता आली. मोहिनी अस्त्र घातल्याप्रमाणे सर्व विचार बंद पडले. आश्चर्यचकित होऊन अर्जुन कौतुकाने पाहू लागला. तेव्हा त्याला असे दिसले की, आपल्या समोर भगवान् श्रीकृष्णाची जी चतुर्भुज मूर्ती होती तीच सर्वत्र अनेक नामरूपाने शोभू लागली. ज्याप्रमाणे वर्षाऋतूत जिकडेतिकडे मेघच दिसतात किंवा महाप्रलय-कालचे तेज एकदम चहूकडे पसरते त्याप्रमाणे श्रीभगवंतांनी आपल्याशिवाय कोणीकडेही दुसरे काही उरू दिले नाही.

१०. श्रीचैतन्यमहाप्रभूंना शक्तिपातामुळे भक्तीचा उन्मेष :-

श्रीचैतन्यमहाप्रभूंनी आपले सद्गुरू श्रीपुरीजीमहाराज यांना हात

जोडून अनन्य शरण होऊन प्रार्थना केली की, "भगवन्! अब तो हमें बहुत दिन इन बाह्य वृत्तिके जीवनको बिताते हो गये, अब हमें अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये।"

या प्रार्थनेला होकार देऊन श्रीपुरीजीमहाराजांनी श्रीचैतन्यांना मंत्रदीक्षा दिली. या दीक्षेमुळे शक्तिसंक्रमण कसे झाले याचे बहारदार वर्णन श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी यांनी **"श्रीचैतन्य चरितावली"** खंड एक मध्ये पुढीलप्रमाणे केले आहे.

"नियत तिथी आ गयी। निमाई पंडित नवीन उल्लास और आनंदके साथ मंत्रदीक्षा लेनेके लिये तैयार हो गये। इनके सभी साथियोंने उस दिन दीक्षोत्सवके उपलक्ष्यमें खूप तैयारियाँ की थीं। नियत समयपर पुरी महाशय आ गये। उनकी पदधूली इन्होंने मस्तकपर चढायी और स्वस्त्ययनके पुण्यश्लोक पढकर और भगवानके मधुर और मंजुल नामोंका संकीर्तन करनेके अनन्तर पुरी महाशय नें इनके कानमें "गोपीजनवल्लभाय नमः" इस दशाक्षर मंत्रका उपदेश कर दिया। मंत्रके श्रवणमात्रसेही ये मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पडे और इन्हें अपने शरीरका बिल्कुल होश नहीं रहा।

साथियोंने भाँति-भाँतिके उपचार करके इन्हें सावधान किया। बहुत देरके अनन्तर उन्हें कुछ होश हुआ। अब तो इनकी विचित्रही दशा हो गयी। कभी तो खूब जोरोंके साथ हँसते, कभी रोते और कभी "हा कृष्ण! हा पिता!" ऐसा कहकर जोरोंसे रुदन करते। कभी यह कहते हुए कि "मैं तो श्रीकृष्ण के पास व्रजमें जाऊँगा" व्रजकी ओर भागते। इनके साथी इन्हें पकड पकड लाते। किंतु ये पागलोंकी भाँति उनसे अपने शरीरको छुडाछुडाकर भागते। कभी फिर उसी भाँति जोरोंसे प्रलाप करने लगते। रोते-रोते कहते, "प्यारे! मुझे छोडकर तुम कहाँ चले गये? मेरे कृष्ण! मुझे अपने साथ ही ले चलो। इतना कहकर फिर जोरोंसे रोने लगते।"

११. श्रीशंकरांकडून श्रीहरिनाथांना शक्तिपाताने निजानंद :-

श्रीमुकुंदराजांचे आजेगुरू श्रीहरिनाथ यांना प्रत्यक्ष श्रीशंकरांकडून

शक्तिपाताची दीक्षा मिळाली. श्रीमुकुंदराजांनी **"विवेकसिंधूत"** याचे फार सुंदर वर्णन केले आहे. श्रीहरिनाथांनी ईश्वरी अनुग्रहासाठी खूप उग्र तपश्चर्या केली. त्यामुळे श्रीशंकर प्रसन्न होऊन प्रकट झाले व त्यांनी श्रीहरिनाथांवर कृपा केली.

असो हे तियें ज्वाळेसी आंतु। शंभू प्रकटला ना भी म्हणतु।
जो भक्तांचा वेळाइतु। करुणासिंधू।।१८.५८।।
तिन्ही देव गुणमूर्ति। जेया देवांचिया शक्ति।
तो देखिला स्वयंज्योती। श्री आदिनाथु।।५९।।
मग हरिसी गाढालिंगण। दीधले जगदीश्वरें आपण।
मग क्षणु येकू दोघै जालै लीन। आनंदसागरीं।।६०।।
सुखासी महासुख भेटलें। किं स्वानुभवासी पडप जोडलें।
तैसें दोघै आनंदें फुंजों लागले। हरिशंकर ते।।६१।।
जैसा जालेया विद्युत्पातु। जनु होये विह्वळतु।
तैसा रुद्राचेंनि तेजें मूर्छितु। ऋत्विजगणु।।६२।।
मग सदाशिवें वरु माग म्हणितले। तंव श्रीहरीनें विनविलें।
जी प्रेम देई आपुले। कैवल्यदानी।।६४।।
तुझीये कृपेचेनि लवलेंशें। जीवाचें फिटे अज्ञान पिसें।
कैवल्यपदींचे साम्राज्य आपैसे। गींवसीत पावे।।६५।।
बुडाले संसारवारिधी। जीवु नेणती आपुली बुद्धी।
जी स्वामी करुणानिधी। तुवां तारावे।।७५।।
तरी ज्ञान देयावें स्वानुभव। जेणे चुकती भविंचे पराभव।
भेटे निराकार निर्वेव। परब्रह्म जें।।७६।।
ऐसे श्रीहरियें विनविलें। तंव महेशें हास्य केलें।
हें सिद्धचि काय मागितलें। सर्वज्ञा राया।।७७।।
तथापि तुझा विनोदु। तरी देयिजैल निजबोधु।
आणिकही वरु सीधु। तू मागसील जो।।७८।।
संप्रदायाची उंडी। पडैल जयाचेया मुखीं फुडी।
तेयासी ज्ञानाची सांकडी। न पडे देहांतिही।।७९।।

तुझिये मार्गीं जे धरीति विश्वासु। तेयांसि नव्हैल गर्भवासु।
तेथींचा अभिमानी मी महेशु। म्हणौनिया।।८०।।
माझिये तेज प्रगटैल। तुझिये मुखी प्रवेशैल।
ते शिष्यदेहीं संक्रमैल। गुरुकृपाद्वारें।।८१।।
ऐसे आदिनाथें बोलिलें। तंव हरिये श्रीमुख पसरिले।
तेथ तेजोमय प्रवेशले। जगदीश्वरें।।८२।।
तेथ तेज शंभूचेनि कृपावशें। शांभव तेजाचेनि समावेशें।
तेवेळीं चित्त समरसें। श्रीहरीचे परब्रह्मीं।।८३।।
निर्विकल्प समाधी प्रवर्त्तली। दृष्टी अर्धोन्मीलित जाली।
अहंता निःशेष विराली। परमानंदसागरीं।।८४।।
प्राणाचियेनि परिस्पंदन। मनासरीसें जाले लीन।
तेथींचेया आनंदातें कवण। निवडी कैसा।।८५।।

हे असो. त्या ज्वाळेतून भक्तांचा ऋणाईत व कृपासागर श्रीशंकर भिऊ नकोस असे म्हणत प्रकट झाला. सत्त्व, रज व तम या तीन गुणांनी बनलेला व देवांना शक्ती देणारा स्वयंप्रकाशी श्रीआदिनाथ श्रीहरीने पाहिला. मग त्या जगदीश्वराने आपण होऊन श्रीहरीला गाढ आलिंगन दिले आणि एक क्षण ते दोघे आनंदसागरात लीन होऊन गेले. सुखाला जसे महासुख भेटले किंवा स्वानुभवाला जसा दुसरा स्वानुभव जोडला तसे हे दोघे श्रीहरिनाथ व श्रीशंकर आनंदाने पूर्ण भरून गेले. विद्युत्पात झाल्यावर ज्याप्रमाणे लोक विह्वळ होतात, त्याप्रमाणे रुद्राच्या प्रखर तेजाने सर्व ऋत्विज मंडळी मूर्च्छित झाली. मग श्रीशंकर त्याला असे म्हणाले की, "तू वर माग." तेव्हा श्रीहरीने अशी विनंती केली की, "हे कैवल्यदात्या! मला आपले प्रेम द्या. तुझ्या कृपेच्या एवढ्याशा लवलेशाने देखील जीवाचे अज्ञानाचे वेड नाहीसे होते. कैवल्याचे साम्राज्य त्याला आपोआप हुडकत येते. संसार सागरात जीव बुडून गेल्यामुळे जीवांना आपल्या बुद्धीची जाणीव नाहीशी झाली. त्यामुळे हे करुणानिधे! स्वामी!! तुम्ही जीवांना तारावे. त्यांना स्वानुभवाचे ज्ञान प्राप्त करून द्यावे. त्यामुळे

त्यांचे संसारातील पराभव चुकतील व निराकार निरवयव असे परब्रह्म त्यांना प्राप्त होईल." अशी श्रीहरिनाथाने प्रार्थना केली. तेव्हा श्रीशंकर हसले व म्हणाले, "अरे सर्वज्ञा! ते तर आहेच आहे. यात तू काय मागितलेस? तथापि तुझ्यावर प्रसन्न होऊन मी तुला निजबोधाने परब्रह्मप्राप्ती करून दिली. आणखीही एखादा वर मागितलास तरी तो तुला दिला आहे असे समज. तुझ्या संप्रदायाचा ठेवा ज्याच्या मुखात पडेल त्याला ज्ञानाची अडचण कधी देहान्तानंतरही पडणार नाही. तुझ्या उपदेशमार्गावर (या शक्तिपातयोगमार्गावर) जे विश्वास ठेवतील, त्यांना कधीही गर्भवास सोसावा लागणार नाही; कारण मी महेश त्याचा अभिमानी आहे. माझे तेज प्रकट होऊन ते तुझ्या मुखात प्रवेश करील व श्रीगुरूंच्या कृपेने ते शिष्यांमध्ये संक्रमित होईल." श्रीआदिनाथ असे बोलल्यानंतर श्रीहरिनाथांनी आपले तोंड उघडले. त्यात जगदीश्वर श्रीशंकर तेजोमय होऊन शिरले. श्रीशंभूंच्या कृपेमुळे श्रीहरिनाथांमध्ये तेज आले. त्या शांभव तेजाच्या प्रवेशाने श्रीहरिनाथांचे चित्त परब्रह्माशी तन्मय झाले. त्यांची निर्विकल्प समाधी लागली. दृष्टी अर्धोन्मीलित झाली. अहंता तर परमानंद सागरात पार बुडून गेली. प्राणाचे स्फुरण पावणे तर मनाबरोबरच लयास गेले. त्या तेथील आनंदाला कोण कसा निवडणार?

१२. श्रीज्ञानेश्वरामहाराजांची सिद्धपंथाच्या दीक्षेने कृतार्थता :-

श्रीसंतनिवृत्तिनाथांना श्रीगैनीनाथांनी शक्तिपाताची दीक्षा देऊन कृतार्थ केल्यावर श्रीनिवृत्तिनाथांनी श्रीज्ञाननाथांना दीक्षा देऊन कृतार्थ केले. या सिद्धयोगाचे माहात्म्य त्यांनी स्वतः पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे -

महेशें शिवेसी निजखूण दाविली। हंसें लाधविली कमलासना।।१।।
सनकादिक तृप्त ज्या सुखेसी जाले। योगी आनंदले, युगायुगीं।।२।।
तेचि मज केलें करतळामळ। निवृत्ति कृपाळ काय वानू।।३।।

शिवशंकर श्रीमहेशांनी शक्तिसंक्रमण करून पार्वतीला स्वात्मप्रचीती दाखविली व मीच ते परमतत्त्व आहे असा आत्मसाक्षात्कार त्यांनी

ब्रह्मदेवास प्राप्त करून दिला. हेच ज्ञान शक्तिपातपरंपरेने सनकादिकांना प्राप्त झाल्याने, त्यांना निरतिशय सुख प्राप्त होऊन ते तृप्त झाले. याच मार्गाने अनेकानेक योगी युगायुगांमध्ये परमतत्त्वाची प्राप्ती करून घेऊन आनंदी झाले. श्रीनिवृत्तिनाथांनी अत्यंत कृपाळूपणे शक्तिपात दीक्षा देऊन हेच बोधरहस्य तळहातावरील आवळ्याइतके स्पष्टपणे मला प्राप्त करून दिले. त्याची महती मी काय वर्णन करू? असे श्रीज्ञानेश्वरमहाराज म्हणतात.

हे ज्ञान सिद्धयोगमार्गाच्या परंपरेने आपल्याकडे कसे आले याचे वर्णन करताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराज आपल्या एका अभंगात असे म्हणतात की -

आदिनाथें बीज सांगितलें कानीं। सोहं हे शिराणी कैवल्याची।।१।।
मच्छेंद्र गोरक्ष पावले या सुखा। उजळिल्या आशंका ज्ञानाचिया।।२।।
निवृत्तीनें गूज स्वतंत्र ओतिलें। अपार पावले सिद्धपंथें।।३।।
सोहं या मंत्राचा वेदाचा गव्हर। म्हणे ज्ञानेश्वर राजयोगी।।४।।

श्रीआदिनाथ श्रीशंकरांनी **'सोऽहं'** हा शक्तिसंक्रमणाचा बीजमंत्र कैवल्याची खूण म्हणून सांगितला. श्रीआदिनाथांकडून श्रीमत्स्येंद्रनाथांना व श्रीमत्स्येंद्रनाथांकडून श्रीगोरक्षनाथांना शक्तिपातयोगदीक्षा मिळाली. त्यामुळे ते सुखरूप झाले. या दीक्षेमुळे त्यांच्या ठिकाणी असलेल्या सर्व शंका मावळून आत्मज्ञानाचा प्रकाश उत्पन्न झाला. श्रीनिवृत्तिनाथांनी माझ्यावर कृपा करून हे परंपराप्राप्त शक्तिपातरयोगहस्य मला स्वतंत्रपणे सांगून कृतार्थ केले. या सिद्धयोगाच्या पंथाने हजारो योगी कृतकृत्य झाले आहेत. श्रीज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "सोऽहं" हा मंत्र संपूर्ण वेदाचे हृद्गत असून मी याचमुळे राजयोगी बनलो आहे.

शक्तिपातयोगाने आपणांस शाश्वत सुख प्राप्त होऊन आपण आत्मज्ञानी कसे झालो याचे वर्णन श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी पुढील अभंगात केले आहे.

जें अगम्याचें ध्यान। जें मननाचें मनन।
जें पुण्याचें पावन। वस्तुरूप।।१।।

कैसें वरिष्ठांचे सार। जों आदिअंतीं विचार।
हें जाणले अवतार। मानव होती।।२।।
जें गुह्याचे मौन्यमाळा। तें मज केलें करतळमळा।
अचळादि अचळा। सुख असें।।३।।
ऐसाचि सत् शिष्यें उदय जाला।
कैसें अवयव प्रकाशें फावला।
कीं माझेचि घरिचा जाला। ठेवणाइत।।४।।
जागृति स्वयंभ दिसे। निजलिया प्रकाशें ।
कैसा समाधिचा विलासे। संपादिला।।५।।
निवृत्ति सुखाचा टेका। पावोनी आलों आपल्या मठा।
ज्ञान येकला निका। ज्ञानदेव।।६।।

१३. श्रीनामदेवांना शक्तिपाताने कृपेची सावली :-

श्रीसंतनामदेवराय संतश्रेष्ठ श्रीविसोबा खेचरांना शरण गेल्यावर त्यांनी श्रीनामदेवांना शक्तिपातयोगदीक्षा देऊन कृतार्थ केले व त्यांच्यावर अखंड कृपेची साउली केली. त्याचे वर्णन श्रीनामदेवांनी पुढील अभंगात केले आहे.

श्रवणीं सांगितली मात मस्तकीं ठेवियेला हात।
पदपिंडाविवर्जित केला नामा।।१।।
खेचरु विसा प्रेमाचा पिसा। तेणें नामा कैसा उपदेशिला।।२।।
सांगितलें गुज दाखविले निज। आता पाल्हाळीं तुज काय चाड।।
खेचरु म्हणे मज ज्ञानराज हेंचि गुरू। तेणे अगोचरु केला नामा।।४।।

संतश्रेष्ठ श्रीविसोबा खेचरांनी श्रीनामदेवांच्या कानामध्ये मात म्हणजे **"तत्त्वमसि"** महावाक्याचा उपदेश केला व त्याच्या डोक्यावर हात ठेवून शक्तिपातयोगदीक्षा दिली. पद म्हणजे ब्रह्म व पिंड म्हणजे जीव होय. शक्तिपाताने श्रीनामदेवांचे हे जीवभाव व ब्रह्मभाव दोन्ही घालवून श्रीविसोबांनी त्यांना केवळ ब्रह्मरूप दिले. त्यांना विदेहस्थिती प्राप्त करून देऊन कैवल्यपदावर बसविले. प्रेमाने धुंद असलेल्या स्थितीत संतश्रेष्ठ श्रीविसोबा खेचरराय यांनी श्रीनामदेवरायांना हा

अद्भुत उपदेश सांगितला. हे नामदेवा! तुला गुह्य ज्ञान सांगितले व आत्मस्वरूपाचा प्रत्यय आणून दिला आहे. तेव्हा (शक्तिपातयोगाचे अपूर्व साधन तुला मिळाल्याने) आता अन्य साधनाच्या खटपटीची तुला काय आवश्यकता आहे? हे नामया! श्रीज्ञानराज हेच माझे गुरू आहेत. त्यांनीच मला सिद्धयोगपंथाची दीक्षा देऊन ही अतींद्रिय अवस्था प्राप्त करून दिली असे श्रीखेचरराय म्हणतात.

१४. श्रीजनार्दनस्वामींना श्रीदत्तात्रेयांकडून शक्तिपाताने आत्मबोध :-

श्रीदत्तात्रेयांनी आपले गुरू श्रीजनार्दनस्वामी यांच्या मस्तकावर हात ठेवून स्पर्शदीक्षा कशी दिली व आत्मबोध कसा प्राप्त करून दिला याचे भावस्पर्शी वर्णन संत श्रीएकनाथमहाराजांनी **"श्रीनाथ-भागवताच्या"** नवव्या अध्यायातील यदुअवधूत संवादात पुढीलप्रमाणे केले आहे.

दत्तात्रेय शिष्यपरंपरा। सहस्त्रार्जुन यदु दुसरा।
तेणें जनार्दन तिसरा। केला खरा कलियुगीं।।४३०।।
गुरुप्राप्तीलागीं सर्वथा। थोर जनार्दनासी चिंता।
विसरला तिन्ही अवस्था। सद्गुरु चिंततां चिंतनीं।।४३१।।
देवो भावाचा भोक्ता। दृढ जाणोनी अवस्था।
येणें जाहलें श्रीदत्ता। तेणें हातु माथां ठेविला।।४३२।।
हातु ठेवितांचि तत्काळ। बोधू आकळिला सकळ।
मिथ्या प्रपंचाचें मूळ। स्वरूप केवळ स्वबोधें।।४३३।।
कर्म करूनि अकर्ता। तोंचि अकर्तात्मबोधु झाला देता।
देहीं असोनि विदेहता। तेंही तत्त्वतां आकळली।।४३४।।
गृहाश्रमू न सांडिता। कर्मरेखा नोलांडितां।
निजव्यापारीं वर्ततां। बोधू सर्वथा न मैळे।।४३५।।
तो बोधू आकळतां मना। मन मुकले मनपणा।
अवस्था नावरेचिं जनार्दना। मूर्च्छापन्न पडियेला।।४३६।।
त्यासी सावध करूनि तत्त्वतां। म्हणे प्रेमा राहे सत्त्वावस्था।
तोही गिळोनी सर्वथा। होई वर्तता निजबोधें।।४३७।।

पूजाविधी करोनियां। जंव जनार्दनु लागला पायां।
तंव अदृश्य जाला दत्तात्रेया। योगामायेचेनि योगें।।

श्रीदत्तात्रेयांची शिष्यपरंपरा अशी आहे. पहिला श्रीसहस्त्रार्जुन, दुसरा श्रीयदू व या कलियुगात त्यांनी श्रीजनार्दनाला तिसरा शिष्य केले. श्रीगुरुप्राप्तीसाठी श्रीजनार्दनाला मोठी चिंता लागून राहिली होती. पण श्रीसद्गुरूंच्या चिंतनात तो जागृती, स्वप्न व सुषुप्ती या तिन्ही अवस्था विसरला. देव भावाचा भुकेला आहे. त्याची स्थिती जाणून साक्षात् श्रीदत्तात्रेयच त्याच्यापाशी आले. त्यांनी त्याच्या मस्तकावर हात ठेवला. हात ठेवताक्षणीच त्याला आत्मज्ञान झाले. त्या आत्मज्ञानानेच त्याने प्रपंचाचे मूळ मिथ्या केले. श्रीदत्तात्रेय कर्म करून अकर्ता होते. तोच आपला अकर्तेपणाचा बोध त्यांनी श्रीजनार्दनाला दिला. देहवान् असून विदेह अवस्था त्याने तत्त्वतः स्वीकारली. गृहस्थाश्रम न सोडता, कर्ममर्यादेचे उल्लंघन न करता व आपल्या व्यवहारात वागत असता त्याचे आत्मज्ञान मलीन झाले नाही. ते ज्ञान मनाने जाणताच त्याचे मनपण नाहीसे झाले. ती अवस्था श्रीजनार्दनाला आवरता न आल्याने तो मूर्च्छित होऊन पडला. तेव्हा त्याला सावध करून श्रीदत्तात्रेय असे म्हणाले की, "सत्त्वावस्थेत प्रेम राहते. यास्तव तेही टाकून तू आत्मज्ञानाने वागत जा." त्यानंतर जेव्हा श्रीजनार्दनाने यथाविधी पूजा करून त्यांच्या पायावर मस्तक ठेवले तेव्हा श्रीदत्तात्रेय योगमायेने अदृश्य झाले.

१५. श्रीएकनाथांना श्रीगुरुकृपेने परिपूर्ण ब्रह्मप्राप्ती :-

श्रीजनार्दनस्वामींना श्रीदत्तात्रेयांकडून जी परंपरा व शक्ती मिळाली ती त्यांनी श्रीएकनाथांच्या ठिकाणी संक्रमित केली. श्रीनाथ याबद्दल असे म्हणतात की -

आदिनाथ ठेवणे सिद्ध परंपरा। जनार्दनीं वेव्हारा एकनाथी।।

श्रीआदिनाथांचे ठेवणे म्हणजे शक्तिपातयोग होय. तो सिद्ध परंपरेने श्रीजनार्दनांकडून श्रीएकनाथांना प्राप्त झाला. ही परंपरा सांगताना श्रीनाथ असे म्हणतात की -

जनार्दनाचा गुरु। स्वामी दत्तात्रेय दातारू।।१।।
त्यांनी उपकार केला। स्वानंदाचा बोध दिला।।२।।
सच्चित्सुखाचा अनुभव। दाखविला स्वयमेव।।३।।
एका जनार्दनी दत्त। वसो माझ्या हृदयांत।।४।।
श्रीसकलसंतगाथा भाग २ पृ. २१९-अ.क्र.१९००।।

शक्तिपातयोगदीक्षेने आपली स्थिती काय झाली व आपल्याला कोणते अनुभव आले याचे वर्णन श्रीनाथांनी फारच सुंदर केले आहे. "सकल संतगाथा," भाग २, पृष्ठ २०८ वर पुढील वर्णन आले आहे.

सांगा स्वामी मज कृपा हो करुनी। शिष्य विनवणी करी ऐशी।।८२।।
करी ऐशी दया मज गुरुराया। लागतसे पाया शिष्यराज।।८३।।
शिष्यराजा झाली अष्टभाव प्राप्ती। सद्गुरूंनी हातीं धरियेला।।८४।।
धरियेला करी नेला एकांतात। अंकीं बैसवीत सद्गुरुराव।।८५।।
सद्गुरुराव बोलती त्या क्षणीं। लागली उन्मनी तयां लागीं।।८६।।
तयालागीं नाहीं देहींचा आठव। स्थूल सूक्ष्म भाव मावळले।।८७।।
मावळले चारी देह चारी अवस्था। शिष्य तो तत्त्वता ब्रह्म झाला।।
ब्रह्म झाला त्याचा देह आत्मस्थिती। द्वैताद्वैतप्रतीति नाहीं जया।।
नाहीं जया सुखदुःखाची भावना। समूळ वासना निरसली।।
निरसली त्याची अहंकार कल्पना। सुखदुःख यातना नाहीं तया।।
नाहीं तया जीव शिव भेदाभेद। समूळ हे वाद मिथ्या झाले।।९२।।
मिथ्या झालें ज्ञान, ज्ञेय आणि ज्ञाता।भोज्य भोग भोक्ता मावळला।।
मावळला तेव्हां सद्वैत प्रपंच। एक ब्रह्म साच अनुभविलें।।९४।।
अनुभविले तेणें अनुभव वेडावला। विचार निमाला जिये ठायीं।।
जिये ठायीं गती नाहीं षट्प्रमाणा। साधन लक्षणा ठाव कैंचा।।
ठाव कैंचा तेथें परादिका वाचा। जेथें त्या शब्दाचा लाग नाहीं।।
लाग नाहीं तेथें उपपत्ति युक्ति। अपरोक्ष प्रतीति लया गेली।।
लया गेली तया स्थानीं मज ठेविलें। सद्गुरुदयाळे दीनानाथें।।९९।।
दीनानाथें तया ठायीं निजविलें। नवजाती वर्णिले गुण तया।।१००।।
एका जनार्दन गुरुपायीं लीन। ब्रह्म परिपूर्ण अनुभविलें।।१०१।।

१६. महर्षी श्रीव्यासांकडून श्रीराघवचैतन्यांना शक्तिपातयोगदीक्षा :-

श्रीनिरंजनरघुनाथांनी **"केशवचैतन्यकथातरु"** या प्रकरण ग्रंथात संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराज यांचे आजेगुरू श्रीराघवचैतन्य यांना महर्षी श्रीव्यासांकडून शक्तिपातयोगदीक्षा कशी मिळाली याचे अत्यंत मनोज्ञ वर्णन केले आहे.

श्रीविष्णू जो वैकुंठासी। तो चतुश्लोकें ब्रह्मयासी।
भागवतमिसें उपदेशी। आत्मतत्त्वालागीं पैं।।अध्याय १-२१।।
ब्रह्मयानें नारदा कथिलें। नारदें व्यासासी बोधिलें।
पुढे कलियुग प्राप्त जालें। तंव शिष्य न मिळे अधिकारी।।
व्यास चिंतिती मानसी। जें सर्व सुखाची राशी।
तें आत्मतत्त्व कोणासी। सांगू आतां या काळीं?।।२३।।
तंव राघव नामें द्विजसत्तम। जो उत्तमामाजीं उत्तम।
अनुष्ठानांतीं अति निस्सीम। व्रतालागीं आचरे।।२४।।
उत्तम नाम नगरी। मांडवी पुष्पावतीचें तीरीं।
राहोनियां बहुकाळवरी। तप आचरता जाहला।।२५।।
व्हावे व्यासांचें दर्शन। हेंचि इच्छा धरुनी पूर्ण।
वातांबु पर्णाशन। करुनि देह शुष्क केला।।२६।।
जाल्या नखांच्या चुंबळी। आंगावरी वाढली धुळी।
जटा लोंबती भूतळीं। देह शुष्क जाहला।।२७।।
तंव सत्यवतीहृदयनंदन। श्रीव्यास येऊनि आपण।
देऊनियां अभयदान। मस्तकीं हस्त ठेविला।।२८।।
जो तत्त्वज्ञानाचा उपाय। "नमो भगवते वासुदेवाय।"
प्रणवयुक्त हा मंत्रराय। कर्णामाजीं सांगितला।।२९।।
परमहंसदीक्षा देऊन। बोधिते झाले तत्त्वज्ञान।
तेणें मूळ अविद्या निरसुन। परमानंद जाहला।।३०।।
उठलें अष्ट सात्त्विक भाव। चंचळ मनाची मोडली धांव।
कल्पनेने सांडिली हांव। ब्रह्मवस्तु अनुभवितां।।३१।।
अष्टांगयोगाच्या कळा। द्वैपायनें कथिल्या सकळा।

अगोचरी मुद्रां डोळां। आखंडित बाणली।।३२।।
मावळोनि गेली बुद्धी। जाली निर्विकल्प समाधी ।
गेल्या सर्वही आधिव्याधी। सुखसमृद्धि जालिया।।३३।।
मग जयजयकार बोलून। केले श्रीगुरूचें स्तवन।
करूनिया साष्टांग वंदन। चरणीं मस्तक ठेविले।।३४।।
शिष्य पाहुनी परम धन्य। नाम ठेविले राघवचैतन्य।
संपूर्ण जगीं होशील मान्य। ऐसा वर दिधला।।३५।।

१७. श्रीकेशवचैतन्यांना शक्तिपातप्रभावाने आत्मसाक्षात्कार :-

श्रीराघवचैतन्यांनी श्रीकेशवचैतन्यांना शक्तिपातयोगदीक्षा देऊन आत्म-साक्षात्कार कसा घडविला याचे वर्णन श्रीनिरंजनरघुनाथांनी **"केशव-चैतन्यकथातरु"** या प्रकरण ग्रंथात फार रसाळपणे केले आहे -

वैराग्यें चित्त शुद्ध जालें। स्त्रीचें ऋणही फिटलें।
ऐसें पाहुनि प्रसन्न झाले। राघवचैतन्य ते काळीं।।
अध्याय २-४९।।
संन्यासपद्धतीचे प्रकारें। माझें नामाचेनि अनुसारें।
केशवचैतन्य नाम बरें। विचार करुनी ठेविलें।।५०।।
मग शिष्यातें सन्मुख बैसवून। करिती महावाक्याचें बोधन।
शक्तिपातप्रभाव करून। साक्षात्कार केला पैं।।५१।।
होतां ब्रह्माकार वृत्ती। मनाची मोडली प्रवृत्ती।
मावळून गेली देहस्मृती। जीवभ्रांती उडाली।।५२।।
जाली निर्विकल्प समाधी। विलया गेली चित्तबुद्धी।
सुख पावले निरवधी। केशवचैतन्य ते काळीं।।५३।।
ऐसे बहुत दिवस गेले। कोणाते ठाऊकें नाहीं जालें।
पुनरपि स्मृति विसरले। करूं आदरिलें स्तवनासी।।५४।।

१८.संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराजांची शक्तिपाताने खेदरहित स्थिती :-

श्रीनिरंजनरघुनाथ यांनी लिहिलेल्या **"केशवचैतन्यकथातरु"** या प्रकरण ग्रंथात संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराजांना शक्तिपातदीक्षा कशी झाली याचे अत्यंत सुंदर वर्णन केले आहे.

आपणांस घडावें आचार्य सेवन। यास्तव गुरु करावा कोण।
हें पुसावें देवालागून। म्हणूनी गेला पंढरीसी।।
अध्याय ६-७३।।
करुनी साष्टांग नमस्कार। उभा राहिला जोडूनी कर।
विनंती करी वारंवार। श्रीविठ्ठलमूर्तीस।।७४।।
देवा! तूंचि माझी माता। आणि तूंचि माझा पिता।।
तूं माझा बंधु चुलता। आप्त सोईरा तूं सर्व।।७५।।
देवा ! तूं परम गुरू। करावा माझा अंगिकारू।
मज उपदेश करूनि परिकरु। जन्म मरण चुकवावें।।७६।।
मग बोले रुक्मिणीकांत। माझेच स्वरूप असे ओतुरांत ।
तेथें केशवचैतन्य साक्षात। उपदेश करतील तुजलागीं।।७७।।
म्यां वेदवाणी करून। मर्यादा केलीं असे जाण।
जावें महानुभावासीं शरण। माझें स्वरूप समजावया।।७८।।
म्यां रामावताराचे ठायीं। वसिष्ठ गुरु केला पाही।
तैसा कृष्णावताराचें समयीं। संदिपन गुरु केला।।७९।।
माझी वेदआज्ञापालन। मियाची केली असे जाण।
गुरुरूपही मीच होऊन। उद्धार करी जगताचा।।८०।।
नामया माझा भक्त पाही। तयासी मी सांगितलें लवलाही।
विसोबा खेचरास जाई। शरण गुरूपदेशा।।८१।।
ऐसें देवें सांगितल्यावरी। तुकया येता जाला ओतुरीं।
बाजारांत जानु तेल्याचे द्वारीं। बखळेमध्यें राहिला।।८२।।
हा वेडा आहे म्हणून। तयासी कोणी न देती ठिकाण।
मुखें करितो नामस्मरण। अन्य भाषण न करितां।।८३।।
रात्रौ तेथें करिता शयन। स्वप्नीं येऊनि एक ब्राह्मण।
पावशेर तूप भोजनालागुन। मागता जाला तुकयासी।।८४।।
मग उठोनियां प्रातःकाळीं। जाऊं लागला समाधीजवळीं।
तंव मार्गें भेटले तयेवेळीं। केशवचैतन्य आपण।।८५।।
जात होते मांडवीस्नाना। तेव्हां तुकयानें केलें साष्टांगनमना।

आणि करिता जाला प्रार्थना। उपदेश करावा म्हणौनि।।
तुकयाचा उत्तम अधिकार। पाहुनि मस्तकीं ठेविला कर।
"रामकृष्णहरि" हा मंत्र। तयालागीं सांगितला।।८७।।
त्या मंत्राचा अर्थ सांगून। तुकयासी ठसविलें पूर्ण ज्ञान।
जेथें मायेचें नसे आवर्ण। तेंचि स्वरूप दाखविले।।८८।।
तुकयाते जाला परमानंद। सरला देवभक्तांचा खेद।
साध्यसाधनाचा खेद। सर्वापरि मावळला।।८९।।

१९. श्रीनिळोबांना श्रीतुकारामांकडून शक्तिपातयोगदीक्षेने निजात्मस्थिती :-

श्रीतुकाराममहाराजांना परंपरेने मिळालेली शक्तिपातयोगदीक्षा त्यांनी श्रीनिळोबारायांना देऊन कृतार्थ केले. श्रीनिळोबाराय असे म्हणतात की -

येऊनियां कृपावंतें। तुकयास्वामी सद्गुरुनाथें।।१।।
हात ठेविला मस्तकीं। देउनि प्रसाद केलें सुखी।।२।।
माझी वाढविली मती। गुणवर्णावया स्फूर्ती।।३।।
निळा म्हणे मी बोलता। दिसे परि हे त्याची सत्ता।।४।।

श्रीसंत निळोबांचा गाथा-१५७९

दीक्षा झाल्यावर आपल्याला कोणते अनुभव आले व आपली स्थिती कशी झाली याचे वर्णन करतांना श्रीनिळोबाराय असे म्हणतात की -

डोळियाचाही डोळा बुद्धी। माझी उघडूनियां कृपानिधी।
देखणी करुनियां त्रिशुद्धी। निजात्मपदीं स्थापिली।।१।।
तेणें दिसती ठायां ठावो। हृदय सकळांचेही भाव।
संत दाविती जे अनुभव। आणखीही सर्व मायाकृत।।२।।
नवल कृपेची हें जाती। फिटली मोह ममता भ्रांती।
उत्पत्ति स्थिती प्रळय होती। तें तें निगुती आटलें।।३।।
देखणें झालें नयनानयन। देखती आपुलेंही वर्तन।
राहिले ठायींच ते जडोन। अभेद होऊन देखती।।४।।

निळा म्हणे स्वामी सद्गुरुनाथा। देखणा तूंचि मी नाहीं आतां।
तोडूनि मी हे माझी ममता।
आपणा आतौता मेळविलों।।५।।७९०।।

२०. श्रीसोहिरोबानाथ अंबिये यांना श्रीगोरक्षनाथांकडून शक्तिपातयोगदीक्षा :-

प्रसिद्ध संत श्रीसोहिरोबानाथ अंबिये यांना श्रीसद्गुरुकृपेचा लाभ शक्तिपातपूर्वक कसा झाला याचे मोठे चित्तवेधक वर्णन श्रीराजाराम-प्रासादी यांनी "**भक्तमंजिरीमाला**" खंड ३, या ग्रंथांत अध्याय ९४, पृ.७३० वर त्यांचे चरित्र "**त्रिविध लीलासंत**" या प्रकरणात कथन करीत असताना पुढीलप्रमाणे केले आहे.

ऐसे प्रकारें ब्रह्मनिष्ठ। सोहिरोबा आंबे साधु श्रेष्ठ।
जगरीती वर्तती स्पष्ट। भावनिष्ठ सद्गुरुपदा।।८४।।
नित्य शेताकडे जावें। येईल त्याचे आतिथ्य करावें।
सर्वाभूतीं आत्मत्व पाहावे। भोजन द्यावें क्षुधार्था।।८५।।
कोणे एके दिनीं अरण्यांत। बैसले एका वृक्षाखालते।
जवळी असती शेतेंभातें। उदक वाहत निर्मळ पैं।।८६।।
प्राप्तीवेळ समय आला। अद्भुत वर्तली तेथ लिळा।
योगीयांचा स्वामी पातला। गोरक्ष ज्याला म्हणती पैं।।८७।।
आकाशपंथें दैदिप्यमान। नाथजींचे जालें आगमन।
मूर्ति पाहतां झांकले नैन। तेज पूर्ण दाटलें।।८८।।
सडपातळ दिव्य पुरुष। भस्मोद्धूलित अंगीं प्रकाश।
प्रसन्नवदन मुद्रा विलसे। आले योगेश त्या ठाया।।८९।।
एकत्र होता उभय दृष्टी। हारपोनी गेली सहजत्रिपुटी।
मंत्रोपदेश कर्णपुटीं। कृपादृष्टी नाथजींची।।९०।।
पद्मकर तो पडता शिरीं। देहभान कैंचें शरीरीं।
ताटस्था वरिली बरी। नाहीं सरी दुजी तया।।९१।।
घेरिला सोयरा महद्भुतानें। अचेतन पडला सहजी जाण।
अलक्ष मुद्रा बाणली पूर्ण। कोण जाणे तया सुखे।।९२।।

२१. श्रीनिरंजनांना श्रीरघुनाथांकडून चैतन्यघनस्वरूप प्राप्ती :-

महान् दत्तोपासक व स्वप्रयत्नाने श्रीदत्तात्रेयांचे गिरनार पर्वतावर प्रत्यक्ष दर्शन घेतलेल्या श्रीनिरंजन अवधूतांनी श्रीरघुनाथस्वामींकडून शक्तिपातयोगदीक्षा झाल्यावर जे अनुभव आले त्याचे वर्णन **"स्वात्म-प्रचिती"** या आपल्या आत्मचरित्रात पुढीलप्रमाणे केले आहे-

मग मी बहु नम्र होऊन। पुसता लागलों गुरुलागून।
सच्चिदानंद हे ज्ञान। सर्वीं कैं पहावें।।अ.४-४०।।
ऐसें देतां प्रत्युत्तर। सद्गुरु चातुर्यरत्नाकर।
मग होऊन बहु उदार। आनंदलहरी प्रसवले।।४१।।
म्हणे एक वो चातुर्यभरिता। सोडूनी पश्चात्तापव्यथा।
मनइंद्रियांचा करोनी लोथा। वचन माझें परियेसी।।४२।।
टाकोनिया शब्दविभाग। सांडूनि पोकळी दिशावलंब।
त्यागोनि आधार प्रकाश। चिदाकाश तें घेईं।।४३।।
आकाश सर्व व्यापक आहे। बाह्य दृष्टीसी न दिसताहे।
जेंवि हृदयांतरीं पाहे। ज्ञानदृष्टी करुनिया।।४४।।
मग मी तैसाच पाहूं गेलो। पाहतां तदाकारची जालों।
देहस्फूर्तीनें विसरलों। कोठें आहे नेणवें।।४५।।
कवण ध्याता कवण ध्यान। कोण श्रोता वक्ता करून।
पाहतां हारपुनी गेलें मन। तीव्र ध्यान लागलें।।४६।।
शरीरामाजीं आकाश भरलें। वाटे मस्तक भेदूनी गेलें।
ब्रह्मकटाहामाजीं मीनलें। स्वरूप माझें सर्वही।।४७।।
अंतरीं एकचि जाला गोळ। वाटे हृदयींच आहे भूगोळ।
खालीं वरी मध्यें निर्मळ। मीच अवघा व्यापलों।।५०।।
स्वरूपीं नाहीं देहभान। गुरूसी न बोलवें वचन।
ऐसे वृत्तीतें पाहून। सद्गुरु जाले बोलते।।५१।।
हेंचि ब्रह्म निराकार। निरंजन निराधार।
निःप्रपंच निर्व्यापार। हेंचि तुझें स्वरूप पैं।।५२।।
निर्मळ निष्कळंक निर्गुण। अनादि स्वरूप चैतन्यघन।

स्वप्रकाश आत्मा आनंदघन। तें हें स्वरूप तुझें पै।।५३।।
तुझें स्वरूप निराकार। तुझेंचि रूप अजरामर।
तुज जन्म मृत्यूचा घोर। येथून आतां नसेचि।।५४।।
आतां निर्भय होय अंतरीं। सांडी द्वैताची कर्तरी।
नांदे एकपणाचे घरीं। स्वानंदेंसी सर्वदा।।५५।।
ऐंसें ऐकुनी गुरुवचन। हर्षयुक्त जालें मन।
मोठ्यानें हास्य करून। प्रेमटाळी पीटिली।।५६।।
तेथें गुरुशिष्यांचें भाषण। निघालें ब्रह्मनिरूपण।
एकाग्र चित्तीं करिता श्रवण। उन्माददशा पैं झाली।।८४।।
नेत्र भ्रुकुटी एकचि जाली। मस्तकाप्रती कळ लागली।
आकाशमय वृत्ति जाहली। भान नाहीं देहाचें।।८५।।
वाटे आकाशींच उडावें। कीं समुद्रापलीकडे जावें।
कीं ब्रह्मांडची गिळावें। तोंड पसरून आवघें।।८६।।
जैं वीर निघे युद्धाप्रती। भाट सवाया बोलती।
स्फुरण चढे वीराप्रती। बाहु उडती तटतटा।।८७।।
तैसें झालें मजलागून। वाटे मीच ब्रह्म निर्गुण।
शास्त्र वेद आणि पुराण। माझे गुण वर्णिती।।८८।।
ऐकुनि ब्रह्मींचा सोहळा। हास्य येतसे वेळोवेळा।
कंठ दाटून आला सगळा। नेत्रांलागीं दिसेना।।८९।।
आपुलें न दिसेचि शरीर। अवघें दिसे निर्विकार।
सृष्टी जाहली धूम्राकार। नाहीं आकार कोठेंही।।९२।।
क्षणक्षणिं नेत्र उघडुनि पाहे। तंव तें तैसेंचि दिसताहे।
भूमीवरी पाय न राहे। वाटे उडूनि चालिलों।।९३।।
स्फुंद स्फुंद असे रडत। पोटांत तिडिक उठती बहुत।
वायू उर्ध्वपथें चालत। शेंबूड येतसे बहुतसा।।९८।।
एक घटिकापर्यंत। अंतरीं होउनि भयभीत।
उठूनि भूमीसी पडत। उभा राहत क्षणक्षणीं।।९९।।
तंव गुरूं पहाती कृपादृष्टी। म्हणती जाहली संतुष्टी।

आतां उघडुनिया पाहे दृष्टी। देहावरी येई कां।।१००।।
ऐकुनि ऐसे कृपावचन। सवेंचि केले हास्यवदन।
सर्व शरीर शीतळपण। होऊनिया राहिलें।।१०१।।
तंव नेत्रीं बहुत निद्रा आली। मग तेथेंचि क्षणैक शय्या केली।
गाढ समाधि लागली। तुर्या म्हणती जियेसी।।१०२।।
ऐसा गुरुप्रसाद जाला। राज्यीं अभागी स्थापिला।
किं रोगिया जीवन्मुक्त केला। तैसें मजला जहाले।।१०३।।

२२. श्रीप्रभुरामचंद्रांकडून श्रीसमर्थरामदासस्वामीमहाराजांना शक्तिपाताने स्वसुखधामप्राप्ती :-

श्रीप्रभुरामचंद्रांनी शक्तिपाताने श्रीसमर्थांना स्वसुखधामप्राप्ती कशी करून दिली याचे वर्णन श्रीराजारामप्रासादीकृत "**भक्तमंजिरीमाला**" खंड १ ला, या ग्रंथातील श्रीसमर्थचरित्रात पृष्ठ १२ वर आले आहे.

पुढे कांही दिवसानंतर। नारायणानि केला विचार।
परब्रह्म निर्विकार। श्रीरघुवीर भेटावया।।१.१७६।।
येतद्विषयीं स्वग्रामांत। जागृतस्थान श्रीहनुमंत।
जाउनि तेथे देवालयांत। अनुष्ठानातें आरंभिले।।७७।।
करुणापर अभंग करूनि। पठण करिता मधुरध्वनि।
तयेवेळी कोदंडपाणि। प्रगटले वनीं श्रीराम।।७८।।
मग जगद्गुरु श्रीरामराया। उचंबळलें प्रेम हृदया।
नारायणाची कवळोनि काया। सुचविती कराया प्रश्नाते।।
सावध म्हणतां सावध जाहला। श्रीचरणीं मस्तक ठेविला।
बोलवेना कंठ दाटला। बळावला पश्चात्ताप।।८४।।
नंतर सावरोनि निजप्रेमा। प्रश्न केला श्रीरामा।
मेळवावे स्वसुखधामा। करपद्मा ठेवुनि शिरीं।।८५।।
ऐकूनि ऐसे कैवल्यदानी। हासिनले चापपाणि।।
मग सांप्रदायक्रमें करूनि। मंत्रकर्णीं उपदेशिला।।८६।।
दासा म्हणती सावध होई। आपआपणा तूंचि पाही।
अणुपासून ब्रह्मांड गेही। दुजा ठाईं नसे पैं।।८७।।

येकात्मता सर्व भूतीं। गर्जता हे वेदश्रुती।
वशिष्ठकृपें जे आत्मप्रचीति। तेचि युक्ति निरोपिली।।८८।।
आत्मस्तुति ऐशा प्रकारें। सांगताचि श्रीरघुवीरें।
जाहली वृत्ति तदाकार। अखंडकार ब्रह्मरूप।।८९।।
उदकिं उदक जेवि मिळतां। नये कदापि ते निवडतां।
तयापरी एकात्मता। बाणली साम्यता सहजी तें।।९०।।

२३. श्रीशिवाजीमहाराजांना शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीसमर्थांकडून आत्मारामप्राप्ती :-

छत्रपती श्रीशिवाजीमहाराज आपणास अनुग्रह व्हावा म्हणून मुद्दाम शिंगणवाडी येथे श्रीसमर्थांना भेटले. त्यावेळी श्रीसमर्थांनी त्यांना दीक्षा देऊन कृतार्थ कसे केले याचे अत्यंत रसाळ वर्णन "**भक्तमंजिरीमाला**" खंड १, पृष्ठ ४९ वर श्रीराजारामप्रासादी यांनी पुढीलप्रमाणे केले आहे.

तों शिंगणवाडीसी आहे समर्थ। ऐसा कळला राजासी वृत्तांत।
शिवाजी पायउतारा तेथें। गेले चालत अनुग्रहासी।।५.१३७।।
कल्याणस्वामी समर्था जवळी। अष्टौप्रहर असती सर्वकाळीं।
अनुग्रहार्थ विनंती केली। गुरुमाउली दाखवी म्हणुनि।।१३८।।
अधिकार पाहुनी कल्याणस्वामी। कळवळले बहु अंतरयामीं।
बैसले होते जेथें स्वामी। प्रार्थिले सप्रेमीं जाऊनि तेथें।।१३९।।
हास्य करूनि श्रीरामदासें। म्हणति कल्याणा सांगतोसि पैं।
तें कळले असे। येऊ द्या येथे शिवाजीस
आज्ञा असे आमुचि पैं।।१४०।।
असो सांप्रदायक्रमें करूनि। अनुग्रह दिधला शिवाजी लागोनी।
मंत्र सांगता निजकर्णीं। लाधली उन्मनि राजासी।।१४४।।
जैसा स्फुलिंग दारूत पडतां। आवाज उठे तो तत्त्वतां।
नातरि सूर्य प्राप्त होता। आंधार सर्वथा न उरेचि।।१४५।।
असो फार काय दृष्टान्त घेणे। अधिकारी शिवाजी मुळींचा पूर्ण।
रामदासस्वामी सद्गुरु जाण। जीवन सकळ संतांचे।।१४६।।

मस्तकीं ठेविता वरदपाणि। वरिले सहजीं तेणें उन्मनि।
प्रकट जाले स्वरूप नैनिं। अंतःकरणीं निर्द्वंद्व।।१४७।।
द्वैताद्वैत सरला भ्रम। अन्वय व्यतिरेक कैंचा नेम।।
आपुला आपण आत्माराम। लाधले वर्म गुरुकृपें।।१४८।।

२४. श्रीरघुनाथस्वामींकडून श्रीआनंदमूर्ती ब्रह्मनाळकरांना शक्तिपाताने अद्वयस्थिती :-

श्रीरघुनाथस्वामींची परीक्षा पाहावी म्हणून समर्थपंचायतनातील श्रीआनंदमूर्ती त्यांच्याकडे गेले होते. परंतु पुढे त्यांनी स्वतः श्रीस्वामींकडे दीक्षेची याचना "श्रीगुरुमाय करुणाघन। शिरीं हस्त ठेविजे।।१।।" या शब्दात केली. श्रीरघुनाथस्वामींनी त्यांची इच्छा पूर्ण केली. श्रीस्वामींनी श्रीआनंदमूर्तींना शक्तिपातयोगदीक्षा दिली. त्यावेळी श्रीआनंदमूर्तींची स्थिती कशी झाली याचे वर्णन श्रीराजारामप्रासादी यांनी **"भक्तमंजिरीमाला"** खंड १, अध्याय २२, पृष्ठ २१६ वर केले आहे.

रघुनाथस्वामीसी पाहाता नैनीं। आनंदमूर्ती पडिले मेदिनी।
दृष्टिपात तत्क्षणीं धरिले उन्मनी। नयन ते।।२२.२१।।
कैंचि डांग कैंचे भाषण। विरोनि गेले देहभान।
ठाईच गळाला अभिमान। मी तूं पण न दिसे तें।।२२।।
कर्पूर वह्नी येकवटला। अवघाचि जाहला बंबाळा।
तैसी गती आनंदमूर्तिला। साधले स्थितीला गुरुदर्शने।।२३।।
नातरी दारूचा पर्वत। अग्निस्पर्शें उडोनी जात।
किंबहुना पिशाच्च पळत। पडतां श्रवणांत हरिनाम।।२४।।
पश्चात्ताप बळावला। विरक्तीनें घातली माळा।
कोण वर्णि त्या वैभवाला। संशय पळाला दिगंतरीं।।२७।।
मग सांप्रदायक्रमें श्रीगुरुनाथें। उपदेश केला आनंदमूर्तिते।।
ते वाच्यांशद्वारें ग्रंथातें। लेखन केउते करूं मी।।२८।।
श्रवणीं पेरिलें निजबीज। नैनिं उगविले सतेज।।
अंतर्बाह्य फाकले सहज। नवल चोज गुरुकृपेचें।।२९।।

सहज समाधि अद्वय स्थिती। नसेचि तेथें दिवाराती।
नित्योदय आनंदमूर्ती। अद्वयस्थिती भोगिली ते।।३०।।
पिंड ब्रह्मांड निरसलें। तत्त्वीं तत्त्व विभागले।
जीवशीव मावळले। तया सोज्वळ चिद्गगनीं।।३१।।
अहंसोहं भेदभाव। आनंदीं विरालें निजस्फुरण।
उमस खाऊ नेंदी क्षण। वृत्ती लीन परब्रह्मीं।।३२।।
ऐसा होता स्वरूपानुभव। कर्म धर्म जाहले वाव।
आपीं आप स्वयमेव। वासुदेव परमात्मा।।३३।।
प्रवृत्ति भाग राहिला। देहस्मृती नसे ज्याला।
स्वइच्छा वर्ते योगी भला। परमपदाला मीनला तो।।३४।।

२५. श्रीतुकामाईंकडून श्रीगोंदवलेकरमहाराजांना शक्तिपाताने ब्रह्मचैतन्यप्राप्ती :-

"**श्रीगोंदवलेकरमहाराज चरित्र व वाङ्मय**" या ग्रंथात प्रा.श्री.के.वि. बेलसरे यांनी पृष्ठ ५६ वर श्रीतुकामाईंकडून श्रीगोंदवलेकरमहाराजांना शक्तिपातयोगदीक्षा कशी झाली याचे अत्यंत हृद्य वर्णन केले आहे.

श्रीमहाराज देहाभिमानशून्य झाले आहेत अशी श्रीतुकामाईंची खात्री झाली. येहळेगावला येऊन श्रीमहाराजांना नऊ महिने झाले होते. या कालामध्ये त्यांना गोंदवल्याची किंवा आपल्या मातापित्यांची आठवण झाली नाही. श्रीगुरूच्या अखंड सेवेमध्ये ते स्वतःचे भान विसरले. त्यांच्या मनाचे व्यापार स्तब्ध झाले. भूक, तहान, झोप वगैरे देहधर्म सुटले. अंतःकरण पूर्ण निर्वासन झाले आणि खऱ्या चित्तशुद्धीचे तेज त्यांच्या शरीरावर झळकू लागले. लवकरच श्रीराम-नवमी आली. आपल्या बरोबरच्या इतर मंडळींना श्रीतुकामाईंनी उत्सवासाठी उमरखेडला पाठवून दिले. श्रीरामनवमीच्या दिवशी भर उन्हात दोघे गुरु-शिष्य रानात गेले. जवळच्या एका शेतामध्ये दोघांनीही स्नाने केली. एका अशोकवृक्षाखाली श्रीतुकामाईंनी श्रीमहाराजांना हात धरून आपल्यासमोर बसविले आणि बोलले "मी तुला आजपर्यंत फार कष्ट दिले. पण पूर्वी श्रीवसिष्ठांनी

श्रीरामचंद्राला जे दिले ते मी तुला आज याक्षणी देतो!" असे सांगून त्यांनी श्रीमहाराजांच्या डोक्यावर हात ठेवला. श्रीमहाराजांना तत्काळ समाधी लागली. पुष्कळ वेळानंतर जेव्हा समाधी उतरली तेव्हा ब्रह्मचैतन्य असे त्यांचे नाव ठेवले आणि त्यांना अत्यंत प्रेमाने आलिंगन दिले. "श्रीराम जय राम जय जय राम" - हा त्रयोदशाक्षरी मंत्र जपून श्रीरामोपासना करावी असे सांगून श्रीतुकामाईंनी श्रीमहाराजांना रामदासी दीक्षा दिली व अनुग्रह देण्याचा अधिकार दिला.

२६. श्रीनारायणतीर्थदेवांना श्रीगंगाधरतीर्थांकडून सिद्धयोगदीक्षा :-

श्रीनारायणतीर्थस्वामीमहाराजांचे नाव संन्यास घेण्यापूर्वी काली-किशोर असे होते. त्यांना शक्तिपातयोगदीक्षा कशी झाली याचे वर्णन **"श्रीनारायण उपदेशामृत"** या पुस्तकात श्रीस्वामी शिवोम्-तीर्थमहाराज यांनी केले आहे.

"कालीकिशोर का स्वामीजीके दर्शनार्थ नित्य नियमित आना-जाना आरंभ हो गया। एक दिन कालीकिशोरने निवेदन किया कि महाराज मुझे कुछ सिखलाइये। श्रीस्वामीजीने जपपर बल देते हुए कहा कि मंत्र जपसे सब कुछ हो जाता है।" कालीकिशोरने कहा कि, "मैंने बहुत मंत्रजप किये है; परन्तु कोई प्रत्यक्ष फल अनुभव नहीं हुआ।" तब श्रीस्वामीजीनें एक छोटीसी पुराणी गीतामेंसे कुछ श्लोक पढवाये और फिर एक साधूसे छोटीसी दूसरी गीता मंगवाकर कालीकिशोरको पढनेंको दी। इन्होंने एक महीनेमें कितनेही श्लोक याद कर लिये। तब राजयोग ब्रह्मविद्याके लिये श्रीस्वामीजी महाराजसे प्रार्थना की। किंतु कुछ उत्तर न मिला।"

एकदिन फिर प्रार्थना करनेपर श्रीस्वामीजी बोले- "क्या मांगता है, रे। हम तुमको हमारे माफक कर देंगे। सर्व प्रकारके साधनोंके लिए यह गीता सबसे मुख्य है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग सब वर्णित है।"

सन १८८९ इसवी की अक्षयतृतीया को शुक्रवार था। स्वामीजीने कालीकिशोर को स्नानादि क्षौर करवाया और कुछ पुष्प लेकर

आनेको कहा। हाथोंके पुष्प श्रीस्वामीजीनें दक्षिणारूपमें ग्रहण करके कहा की, तुमको मंत्रसहित योगकी दीक्षा देते हैं। योग, ज्ञानकी विभिन्न भेदपूर्ण बातें बतलाये हुये कहा - "यह जो कुछ देखता हूँ, मैं ही हूँ यह भाव तेरेमें प्रस्फुटित हो गया है। जब यह भाव मनमें परिपक्व अवस्थामें आ जाय तो समझना की तेरेमें ज्ञान की पराकाष्ठा आ गई। ज्ञान का यही लक्षण है। तत्काल कालीकिशोरके अंदर मंत्रजप होने लगा तथा स्वामीजीके ज्ञान भरे शब्द उनके अंदर ज्ञानशक्तिका संचार करने लगे। वे एक अपूर्व अनिर्वचनीय आनंदका अनुभव करने लगे। उनके मन और शरीरमें बडा बल संचारित हो गया तथा हृदय आनंदसे परिपूर्ण हो गया और एक सहज अव्यक्त ज्ञान उत्पन्न हुआ। (पृ.७-८)"

२७. श्रीनारायणतीर्थांकडून श्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थांना शक्तिसंक्रमण :-

श्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थस्वामीमहाराजांचे पूर्वाश्रमीचे नांव रोहिणीकुमार असे होते. त्यांना श्रीनारायणतीर्थस्वामीमहाराजांकडून दीक्षा कशी झाली व अनुभव काय आले याचे वर्णन **"योगविभूति"** या पुस्तकात श्रीस्वामी शिवोम्तीर्थमहाराजांनी केले आहे.

"सन १९१० के मार्गशीर्ष द्वितीयाको रोहिणीकुमार की दीक्षा हुई। पहले दिन उन्हें मूलाधारमें वामावर्त घुमावटमें एक पेच खुलतासा प्रतीत हुआ। आगे घर जाकर कमरेमें आसनपर बैठकर जप करनें लगे। शीघ्रही बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। किंतु अंतर्ज्ञान बना रहा। जिसप्रकार बांस नलीमें कोई वस्तु उपर निचे चलती है ऐसेही प्राणशक्तिका चालन नीचेसे उपर और उपरसे नीचे अनुभवमें आने लगा। जब शक्ति ऊपरसे नीचे उतरती तो मूलाधार में खट् सा शब्द होता और फिर कुछ उपर चढता हुआसा प्रतीत होता। शक्तिके इस प्रकार चढने उतरनेकी क्रिया पर आपका मन एकाग्र हो गया। साथही साथ श्वास प्रश्वास प्रक्रिया भी अंदर बाहर न होकर अंदर ही अंदर हो रही थी। थोडी देरमें फिर बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। और

अंतमें स्वतः जप होने लगा। देखा, एक अपूर्व ज्योती नभसे भूतक फैली हुई है। और फिर उसीके अंदर अपनी मंत्रप्रतिपादित शक्ति प्रकट हो गई। दर्शन करके शरीर पुलकित हो गया और रोमांच हो उठा - "अहा! कैसा दिव्य रूप और अपूर्व ज्योती है।"

थोडी देरके बाद आप उसी भावावस्थामें उठ बैठें और बाहर निकल आये। ऐसा अनुभव हुआ कि सकल दृश्यमान् जगत् मधुमय है। जिधर जिधर और जहाँ जहाँ दृष्टि जाती सब मधुमयही प्रतीत होता। मंदिरके सामने आमका पेड, बगीचेमें लगे नानाविध पुष्प, मकान, खेत, सब मधुमयी जीवन धारण किये दिखाई दे रहे थे। कौएकी आवाज भी मधुर सुनाई दी। ऐसा लग रहा था जैसे सर्वत्र आनंद की धारा प्रवाहित हो रही हो।" (५६ ते ६२)

याचप्रकारे श्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थस्वामीमहाराजांकडून श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांना व त्यांच्याकडून माझे गुरुदेव परमपूजनीय श्रीगुळवणीमहाराज यांना शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळाली. श्रीगुरुदेवांनी हिंदुस्थानातील हजारो साधकांना ही दीक्षा देऊन परमेश्वरप्राप्ती सुलभ करून दिली आहे व आजही परंपरेच्या द्वारा ते हे दीक्षादानाचे कार्य माझ्याकडून करवून घेत आहेत.

२८. श्रीगुळवणीमहाराजांना श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांकडून स्वप्न व प्रत्यक्ष दीक्षा :-

माझे सद्गुरू योगिराज श्रीसंतगुळवणीमहाराज यांना श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज यांच्याकडून स्वप्नात व मागाहून प्रत्यक्ष रीतीने शक्तिपातयोगदीक्षा कशी झाली याचे वर्णन श्री.अच्युत सिद्धनाथ गोटभरे यांनी श्रीस्वामींच्या **"चैतन्य चक्रवर्ती"** या चरित्रात पुढीलप्रमाणे मोठ्या रसाळ व आकर्षक पद्धतीने केले आहे.

"१९२२ साली श्रीगुरुदेव प्राणायामाने कुंडलिनी शक्ती जागृत करण्यासाठी हुशंगाबाद येथे जाऊन राहिले होते. तेथेच त्यांची श्रीस्वामींशी भेट झाली. त्यांनी श्रीस्वामींना योगदीक्षा मागितली.

त्यावेळी स्वामी म्हणाले, "वेळ आल्यावर दीक्षा जरूर होईल." त्यामुळे श्रीस्वामींच्या कृपेची वाट पाहण्याशिवाय गत्यंतर नव्हते. परंतु त्यांना फार दिवस वाट पाहावी लागली नाही.

१९२२ सालातील कार्तिक कृष्ण एकादशीस पहाटेच्या वेळी श्रीगुरुदेवांना एक स्वप्न पडले. हुशंगाबादेच्या निवासस्थानात श्रीगुरुदेव बसले आहेत. श्रीस्वामीजी पलंगावर बसलेले आहेत. श्रीस्वामीजी एकदम उभे राहिले आणि हळूहळू श्रीगुरुमहाराजांकडे येऊ लागले. श्रीस्वामीजींच्या मुखावरील तेज तळपू लागले. भगव्या वस्त्रांनी व भस्मांकित भालप्रदेशाने संपूर्ण घरभर दिव्यतेज पसरले होते. श्रीस्वामी श्रीगुरुमहाराजांच्या जवळ येऊन एकटक रोखून पाहत म्हणाले, "वामन! बैस तुला आताच येथे दीक्षा होईल. बघ तुझी कुंडलिनी शक्ती जागृत होते की नाही!"

श्रीस्वामीजींचे बोलणे संपते न संपते तोच श्रीगुरुमहाराजांचे भान हरपले. तेवढ्यात स्वामींचे आणखी एक वाक्य त्यांच्या कानावर पडले. ते म्हणाले, "डोळे मिट." असे म्हणता म्हणताच श्रीस्वामीजींनी त्यांच्या मस्तकावर हात ठेवला. आज्ञाचक्राला अंगुलीस्पर्श केला. मेरुदंडावरून खालून वर हात फिरविला. मूलाधारापासून सहस्रारा-पर्यंतचा मार्ग मोकळा केला. श्रीगुरुमहाराजांना खूप मोकळे वाटले. हळूहळू त्यांना क्रिया सुरू झाल्या. क्रियांचा वेग जेव्हा खूप वाढला तेव्हा झोप आपोआप संपून डोळे उघडले गेले. पुढे पाहतात तो श्रीस्वामीजी समक्षच पलंगावर ध्यानमग्न अवस्थेत बसलेले दिसले. उत्तररात्रीची वेळ होती. स्वप्न चांगले होते. चांगले स्वप्न पडले की, झोपू नये असे शास्त्र असल्याने श्रीगुरुमहाराज झोपले नाहीत. या स्वप्नाची प्रचीती आपल्याला प्रत्यक्षात येऊन जीवित धन्य व्हावे अशी ओढ लागून त्यांच्या मनात खूप विचार मंथन झाले.

दुसऱ्या दिवशी संध्याकाळी श्रीस्वामीजी फिरून आल्यावर पलंगा-वर बसले. श्रीगुरुदेव त्यांच्या समोरच बसले होते. त्यांच्याबरोबर त्यांचे मित्र व आईही तेथे होती. त्या वेळी श्रीस्वामीजींनी श्रीगुरुदेवांची

विचारपूस केली. श्रीस्वामीजींनी "प्राणायामाच्या अभ्यासाने काही लाभ होतो का? व कुंडलिनी शक्तीची जागृती व्हावी या उद्देशाने प्राणायामाचा अभ्यास सुरू केला होता त्याचे काय झाले?," असे विचारले. त्यावर श्रीगुरुमहाराज असे म्हणाले की, "शरीर हलके वाटते, यापेक्षा सांगण्यासारखा विशेष लाभ जाणवत नाही व अजून शक्तीची जागृती काही झाली नाही." हे उत्तर ऐकून श्रीस्वामीजी असे म्हणाले की, "किती कष्ट पडतात हे! हे कष्ट पाहूनच मला तुझी दया येते. तू फार सहनशील आहेस हेच खरे. पण असे कष्ट किती दिवस करीत बसणार?" त्यावर श्रीगुरुमहाराज असे म्हणाले की, "आपली कृपा जोपर्यंत होत नाही तोपर्यंत असे कष्ट करणे भागच आहे. आपल्या कृपेने मला काही अनुभव येईल का?" हे ऐकल्याबरोबर श्रीस्वामीजी एकदम म्हणाले, "अरे! अनुभव का येणार नाही? सूर्य पाहण्यासाठी दिवटी का न्यावी लागते? हातातल्या कांकणासाठी आरसा थोडाच लागतो? तुला अनुभवच घ्यावयाचा आहे ना? मिट डोळे नि घे अनुभव!"

श्रीस्वामीजींनी सांगितल्याप्रमाणे श्रीगुरुदेवांनी डोळे मिटले. त्याबरोबर शक्तिसंचार सुरू झाला. त्या आदिमाया कुंडलिनीच्या जागृतीने त्यांना बेभान करून टाकले. विद्युल्लतेने मेघपंक्तीना चिरून टाकावे व जणू काही आकाश फाडून टाकावे असा शक्तिसंचार श्रीगुरुदेवांच्या ठिकाणी झाला. मुसळधार जलवृष्टीने व झंझावाती वाऱ्याने प्रलय करावा तसा तो शक्तिसंचार होता. पर्वतप्राय उसळणाऱ्या सागरी लाटांनी आकाश-पाताळ एक करून टाकावे असे त्याचे रौद्रस्वरूप होते. साऱ्या त्रिभुवनाला घुसळून टाकणारी महान् शक्ती जागृत झाली होती.

प्राणायामाने शुद्ध झालेल्या शरीरात नानातऱ्हेच्या क्रियांचा तीव्र आवेश होत होता. शरीर इकडून तिकडे उसळून पडत होते. उंच उंच उसळत होते. अक्षरशः जमिनीपासून दीडदीड फूट उंच सर्व शरीर एखाद्या चेंडूप्रमाणे उसळत होते. काही वेळाने ही क्रिया कमी

झाल्यावर बंधत्रय लागले आणि भस्त्रिका सुरू झाली. श्वासोच्छ्वासाचा वेग वाढत चालला. श्वासांच्या क्रियांनी पुन्हा सर्व शरीराला घुसळून काढले. श्रीगुरुमहाराजांचे अशा प्रकारे एकतास साधन झाले. स्वप्नाप्रमाणे प्रत्यक्ष दीक्षानुभव आल्याने त्यांना समाधान वाटले."

येथपर्यंत जी उदाहरणे दिली आहेत, त्यावरून हे स्पष्ट होते की, शक्तिपातयोग ही वैदिक साधना आहे. तत्काल अनुभव देणारे व ब्रह्मप्राप्ती सुलभ करणारे इतके प्रभावी साधन दुसरे नाही. भगवद्भक्तीचा उन्मेष हे शक्तिपाताचे मुख्य लक्षण आहे. नुसत्या पौरुषप्रयत्नाने भगवत् प्राप्ती होणे शक्य नाही. यासाठी शक्तिपात हा झालाच पाहिजे. यालाच श्रीभगवंताचा अनुग्रह किंवा कृपा असे म्हणता येईल.

★★★★★

- आधार दहावा -

★शक्तिपातयोगाची साधनसंपत्ती★

१) साधनसंपत्तीचा महिमा
२) साधनसंपत्तीच्या समुच्चयाची अपरिहार्यता
३) श्रीगुरुभक्ती -
अ) श्रीगुरू शब्दाचा अर्थ
ब) श्रीगुरुतत्त्व म्हणजे काय?
क) श्रीगुरूंचे खरे स्वरूप व कार्य-
श्री) अनुग्रह करणे
ना) आनंदाची मंगलमय अनुभूती
रा) योग्य शिष्याचा उद्धार व अयोग्याला योग्य करणे
य) समभावसंपन्नता
णा) दुःखनिवृत्ती
य) शक्तिजागरण
न) ज्ञानदान
मः) दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन
ड) आदर्श श्रीगुरूंची लक्षणे
द) अनुभूतीची प्राप्ती त्त) विविध गुणलक्षणे
इ) सत् शिष्याची लक्षणे
रा) शरणागती म) विविधगुण
ई) श्रीगुरुभक्तीचा उच्च आदर्श
भ) श्रीगुरुपादुकापूजन
वा) सेवा
नी) साधनरतता
उ) श्रीगुरुशिष्यसंबंधाची परिणती
४) साधन चतुष्टय
ए) नित्यानित्यवस्तुविवेक ऐ) वैराग्य

ओ) शमदमादि षट्संपत्ती

श्री) शम कृ) दम ष्णा) उपरती

य) तितिक्षा न) श्रद्धा मः) समाधान

औ) मुमुक्षुता

५) यम व नियम -

यम -

श्री) अहिंसा गो) सत्य पी) अस्तेय

ज) आर्जव न) क्षमा व) धृती

ल्ल) अपरिग्रह भा) दया य) शौच

न) आहार मः) ब्रह्मचर्य

नियम -

द) संतोष त्ता) तप

त्रे) साधनाभ्यास य) ईश्वरप्रणिधान

६) विविध गुणयुक्त साधनसंपत्ती

श्री) शास्त्रावर निष्ठा

पा) साधनावर विश्वास

द) साधनातील विघ्ने

शक्तिपातयोगसाधनेने अध्यात्ममार्गाची वाटचाल करणाऱ्या किंवा करू इच्छिणाऱ्या प्रत्येक साधकाला असे वाटत असते की, आपले मन लवकरात लवकर एकाग्र व्हावे, विषयांचा विसर तत्काल पडावा, इंद्रियांचे चांचल्य त्वरित् नाहीसे व्हावे, मनाचे मनपण अविलंब संपावे व त्याची हाव शीघ्र नाहीशी होऊन ते हृदयात विलीन होऊन जावे. काही काही साधकांना तर असे वाटते की, साधन सुरू झाल्याबरोबर मनातील सर्व विचार संपून अत्यंत शीघ्रतेने मन एकाग्र व्हावे व ब्रह्मज्ञान प्राप्त होऊन अनिर्वचनीय सुखाचा लाभ व्हावा. शक्ती जागृत झाल्यावर ती एकदम सहस्रारात पोहोचावी व समाधी लागावी. परंतु प्रत्यक्षात असे एकदम घडत नाही. हे असे का होते? याचे कारण असे आहे की, साधकाजवळ पुरेशी साधनसंपत्ती नसते. जर शास्त्राने

सांगितलेली फले पूर्णांशाने मिळावी असे वाटत असेल तर तितक्याच दर्जाची साधकाची तयारीही अपेक्षित असते. अन्यथा परिणामात साधनसंपत्तीच्या न्यूनाधिक्याने तफावत दृष्टीस पडते. या दृष्टीने प्रथम साधनसंपत्तीचा महिमा पाहून मग प्रत्यक्ष साधन-संपत्तीकडे वळू.

साधनसंपत्तीचा महिमा :-

साधनसंपत्तीचे पहिले वैशिष्ट्य हे आहे की, ही संपत्ती जर साधकाजवळ नसेल तर त्याची एखाद्या भिकाऱ्यासारखी स्थिती होते. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी **"एकवीस समासीच्या"** पाचव्या अध्यायात असे म्हटले आहे की -

अथवा गुरू पूर्ण कृपा करी। शिष्य जाहला अनधिकारी।
भाग्य पुरुषाचा भिकारी। पुत्र जैसा।।५।।
तैसें एकाविण एक। होतसे निरर्थक।
परलोकींचें जें सार्थक। तें तरी दुरावे।।६।।
म्हणोनि सद्गुरू आणि सच्छिष्य। तेथें न लागती सायास।
त्या उभयतांचा हव्यास। पुरे एकसरां।।७।।

श्रीगुरू आपली शक्ती शिष्याच्या ठिकाणी संक्रमित करून त्याच्यावर पूर्ण कृपा करतात. परंतु साधनसंपत्तीच्या अभावी शिष्याचा अधिकार कमी पडल्याने त्याची स्थिती श्रीमंत माणसाच्या भिकारी मुलासारखी होते. श्रीगुरू शिष्यावर कृपा करताना पूर्ण कृपाच करतात. परंतु शिष्याच्या योग्यतेनुसारच कृपास्वीकृतीचे प्रमाण स्वाभाविकपणे निश्चित होत जाते. ज्या जीवाचा जसा अधिकार असतो तसा त्याला लाभ होतो. श्रीसद्गुरूंच्या कृपारूप गंगेचा प्रवाह वाहत असूनही साधकाचे भांडे लहान असल्याने, त्याची झोळी फाटकी असल्याने व त्याची पूर्वजन्माची तितकी तयारी नसल्याने त्याला पूर्ण समाधान मिळत नाही. अधिकारी श्रीगुरू व अधिकारी शिष्य असल्याशिवाय संपूर्णांशाने फलनिष्पत्ती होत नाही व सर्व गोष्टी निरर्थक होतात. शिष्याची इच्छा तयारीअभावी अपूर्ण राहते. जीवनाचे सार्थक घडले नाही असे त्याला वाटते. परंतु ज्यावेळी श्रीसद्गुरू व सच्छिष्य एकत्र येतात त्यावेळी

कसलेही श्रम पडत नाहीत. त्रास होत नाही. आपल्याला चांगला अधिकारी शिष्य मिळून परंपराप्राप्तज्ञानाचे संक्रमण होऊन बोधाची अतुट परंपरा सिद्ध व्हावी ही श्रीसद्गुरूंची इच्छा पूर्ण होते व आपल्याला श्रीसद्गुरूंकडून ब्रह्मज्ञान प्राप्त व्हावे ही शिष्याची आकांक्षा सफल होते. यावरून हे स्पष्ट दिसते की, शक्तिपातयोगाचे जे फल शास्त्राने सांगितले आहे ते प्राप्त होण्यासाठी शिष्य हा साधनसंपत्तीचा अधिकारी असला पाहिजे.

साधनसंपत्तीच्या समुच्चयाची अपरिहार्यता :-

विमलज्ञानप्राप्तीसाठी साधनसंपत्तीच्या समुच्चयाची उपस्थिती नितांत आवश्यक आहे असे श्रीसमर्थांनी **"श्रीदासबोधाच्या"** पाचव्या दशकाच्या तिसऱ्या समासात पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे.

म्हणौनी साधन अभ्यास आणि सद्गुरू।
सच्छिष्य आणि सच्छास्त्र विचारू।
सत्कर्म आणि सद्वासना पारू। पाववी भवाचा।।१२।।
सदुपासना आणि सत्कर्म। सच्छिष्य सत्क्रिया आणि स्वधर्म।
सत्संग आणि नित्यनेम। निरंतर।।१३।।
ऐसें हें अवघेंचि मिळे। तरीच विमळ ज्ञान निवळे।
नाहीं तरी पाषांड संचरे बळें। समुदायीं।।१४।।

श्रीसंत तुकाराममहाराजांनीही ज्ञानप्राप्तीसाठी, श्रीगुरुकृपेसाठी व त्रिगुणातीत होण्यासाठी साधनसमुच्चयाची नितांत आवश्यकता आहे हे पुढील दोन अभंगात सांगितले आहे.

साधकाची दशा उदास असावी। उपाधी नसावी अंतर्बाहीं।।१।।
लोलुप्यता काय निद्रेतें जिणावें। भोजन करावें परिमित।।२।।
एकांतीं लोकांतीं स्त्रियांशीं भाषण। प्राण गेल्या जाण बोलों नये।।३।।
संग सज्जनांचा उच्चार नामाचा। घोष कीर्तनाचा अहर्निशीं।।४।।
तुका म्हणे ऐशा साधनी जो राहे। तोचि ज्ञान लाहे गुरुकृपा।।५।।

- अभंग दुसरा -

निर्वाहापुरतें अन्न आच्छादन। आश्रमासी स्थान कोपी गुहा।।१।।

कोठेंही चित्तासी नसावें बंधन। हृदयीं नारायण साठवावा।।२।।
नये बोलों फार बैसों जनामधीं। सावधान बुद्धी इंद्रियें दमी।।३।।
तुका म्हणे घडी घडीनें साधावी। त्रिगुणांची गोवी उगवोनि।।४।।

"हठयोगप्रदीपिकेतही" योगाभ्यास प्रतिबंधक गोष्टींचा उल्लेख करून साधनसंपत्तीचा महिमा सूचित केला आहे.

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्योगो विनश्यति।।१.१५।।
वर्जयेद् दुर्जनप्रान्तं वह्नीस्त्रीपथिसेवनम्।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा।।१.६१।।

भुकेपेक्षा जास्त भोजन करणे, व्यायामादि खूप श्रम करणे, अतिशय बोलणे किंवा बडबडणे, प्रातःकालचे स्नान, फलाहार, नक्त इत्यादि नियम व बंधने स्वतःवर लादून घेणे, लोकांच्या संगतीत राहणे व लोलुपता असणे या सहा गोष्टी घडल्या की, योगाचा नाश होतो. यासाठी साधकाने उपरोक्त निषेधादि गोष्टी टाळून साधन केले पाहिजे.

साधकाने दुःसंगती टाळावी. दुर्जनांशी प्रीती करू नये. वाईट जागी जाऊ नये. अग्नीपाशी बसून सतत शेक घेऊ नये. अत्यंत कामासक्त व स्त्रीसक्त असू नये. फार चालू नये, प्रातःस्नान करू नये. अत्यंत कडक उपवास करू नयेत. फार कष्टाचा व्यायाम करू नये. अर्थात् आपापल्या वर्णाश्रमधर्माशी, शरीरप्रकृतीशी, स्वभावाशी प्राप्त-परिस्थितीशी व देशकाल वर्तमानाशी मेळ घालून नियमांचे पालन करावे.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनीही **"परी हें तरीच घडे। जरी संयमाचीं अखंडें। सर्वद्वारीं कवाडें। कळासती।।८.११२।। हें सर्वस्व आमुचें गूढ। परि दाविलें तुज उघड। आतां इंद्रियां देऊनि कवाड। हृदयीं भोगीं।।९.१३५।। हा दंशु जंव नये हातां। तंव माझे साचोकारपण पार्था। न संपडे गा सर्वथा। जेंविं तुषीं कणु।।१३६।।"** असे सांगून **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** साधनसंपत्तीचा महिमा गायिला आहे.

श्रीगुरुभक्ती :-

शक्तिपातयोगाच्या साधनसंपत्तीत श्रीगुरुभक्तीला अनन्यसाधारण महत्त्व आहे; कारण श्रीगुरुभक्ती हा साधनसंपत्तीच्या सर्व गुणातील सर्वश्रेष्ठ गुण आहे. श्रुती, स्मृती, पुराणे, अवतारी पुरुष, ऋषी, मुनी, संत महंत यांनी शेकडोशे प्रकारे व अनंत पद्धतीने श्रीगुरुभक्ती या एकाच विषयाचे माहात्म्य सांगितले आहे. श्रीगुरुभक्तीच्या असामान्य महिम्याने, श्रेष्ठत्वाने, भव्यत्वाने, दिव्यत्वाने व अलौकिकत्वाने प्राप्त झालेल्या अनुभूतीच्या वैभवाने या सर्वांना इतकी मोहिनी घातलेली दिसून येते की, या विषयाचे वर्णन करताना त्यांच्या प्रतिभेचे जे नवनवीन उन्मेष प्रकट झालेले दिसतात त्यामुळे मन स्तिमित होऊन जाते. श्रीगुरुभक्तीचे सामर्थ्य ज्यांनी ओळखले व त्यांच्या कृपेच्या वर्षावात जे न्हाऊन निघाले त्या त्या सर्वांनी श्रीगुरुभक्ती या एकाच विषयाला अत्युच्च स्थान देऊन आपले वाङ्मयकौशल्य पणाला लावल्याचे दृष्टिगोचर होते. भारतीय वाङ्मयाच्या कानाकोपऱ्यात या दिव्य विषयाचे वैभव आपला रंग उधळीत असल्याचे पाहिले की, याचे अपरंपार महत्त्व लक्षात आल्यावाचून राहत नाही. या विषयाच्या रंगामध्ये खूप विविधता आहे. त्या विविधतेचे दर्शन साधकाला होणे जरूर आहे; कारण हा श्रीसद्गुरुमहिमा अंतरंगात बिंबला म्हणजे **"ऐसा माझा श्रीसद्गुरुस्वामी। तोडूनि टाकिली माझी मी मी। आपुलिया निजपदयुग्मीं। ऐक्यता केली।। एकवीस समासी १.२४।।"** या श्रीसमर्थोक्तीप्रमाणे धन्योद्गार निघून जीवन सर्वार्थाने कृतार्थ होते.

श्रीसद्गुरूंचा हा महिमा **"भारतीय संस्कृति और साधना"** या ग्रंथातील **"मनुष्यत्त्व"** या लेखात म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज यांनी फार सुंदर वर्णन केले आहे. ते असे म्हणतात की, "श्रीभगवान् शंकराचार्यांनी देखील महापुरुषांच्या आश्रयाचा महिमा मुक्तकंठाने गायिला आहे. ते महापुरुष म्हणजे दुसरे तिसरे कोणी नसून श्रीसद्गुरूच होत. असे हे मानव देहधारी श्रीसद्गुरूच भ्रांत जीवांना आपल्या मूळ स्वरूपाकडे पोहोचते करून त्यांना चैतन्यरूप करणारे खरे अधिकारी असतात.

एखाद्या साधकाला दुर्लभ असे तीव्र वैराग्य, तीव्रतर निवृत्तिभाव व मुक्तीची तीव्रतम आकांक्षा पूर्वपुण्याईने उत्पन्न झाली तरीसुद्धा त्याने अत्यंत दुर्लभ अशा श्रीसद्गुरुकृपेची प्राप्ती करून घेणे अगदी अपरिहार्य व आवश्यक ठरते. भ्रांत जीवांना ब्रह्मानंद प्राप्त करून देण्याचा हा अधिकार देवतांनाच काय; परंतु मुक्त पुरुषांनाही असत नाही. एकमात्र श्रीसद्गुरूच हे कार्य करू शकतात.

साधकाला श्रीसद्गुरूंचा शोध करीत फिरावे लागत नाही. मात्र कधी कधी आपल्या कर्मक्षयासाठी प्रयत्न करणे आवश्यक असते. मग वेळ आली की श्रीसद्गुरूच स्वतः मुमुक्षू जीवांना दर्शन देतात. **(ऐसीं कर्में साम्य दशा। होय तेथ वीरेशा। मग श्रीगुरु आपैसा। भेटेचि गा।। श्रीज्ञानेश्वरी १८-९६६।।)** श्रीसद्गुरूंशिवाय कोणताही जीव मार्गप्राप्ती करू शकत नाही. मग मार्गक्रमण करणे तर फार दूर राहिले. त्यांच्या आश्रयाशिवाय मार्गावर चालण्याची शक्ती कोणाही जीवामध्ये नसते. इतकेच नव्हे; तर श्रीमहालक्ष्मीचा साक्षात् परिचय त्यांच्याशिवाय इतरांना असत नाही. जीव अल्पज्ञ असल्याने मायेमुळे मोहित होऊन दिग्भ्रांत झाल्यामुळे अनंत जन्म भटकतच राहतो. त्यामुळे श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती होणे मोठे दुष्कर ठरते. श्रीसद्गुरू हे वास्तविक श्रीभगवानच असतात. श्रीगुरूंच्या अनुग्रहशक्तीलाच गुरुपद म्हणतात. ते उपेय आहेत म्हणजे उपायांच्या सहयोगाने त्यांची प्राप्ती होते. परंतु श्रीसद्गुरूच प्रत्यक्ष उपाय आहेत. त्यांनी भ्रांत जीवांना आपल्याकडे येण्याचा मार्ग जर दाखविला नाही तर त्यांना शोधून काढणे केवळ अशक्य असते. श्रीसद्गुरूच मार्ग आहेत व त्या मार्गावरून जाताना शेवटचे पोहोचावयाचे ठिकाणही तेच आहेत. हा मार्ग मोठा आहे की लहान हे सुद्धा तेच, फक्त तेच, एकमात्र जाणू शकतात. त्यांचा अनुग्रह झाला की, अत्यंत मोठा मार्गही छोटा होतो. त्यांचा अनुग्रह जर झाला नाही तर अत्यंत लहान मार्गही मोठा आहे असे वाटू लागते. मात्र ज्यावेळी साधकावर महान् अनुग्रह होतो त्यावेळी एका क्षणात सर्व मार्ग अदृश्य होतो. मग एकमात्र स्वयंप्रकाश श्रीसद्गुरूच

अखंड भावाने विराजमान होतात."

श्रीगुरू शब्दाचा अर्थ :-

श्रीसरस्वस्ती गंगाधरांनी लिहिलेल्या **"श्रीगुरुचरित्र"** या ग्रंथाच्या दुसऱ्या अध्यायात श्रीगुरू शब्दाचा अर्थ पुढीलप्रमाणे सांगितला आहे.

कली विनवी ब्रह्मयासी। गुरू शब्द म्हणजे आहे कैसी।
कवण गुरु स्वरूपें कैसीं। विस्तारावें मजप्रती।।२.१२८।।
ऐकोनि कलीचें वचन। ब्रह्मा सांगतसे आपण।
गु कार म्हणजे सिद्ध जाण। रेफः पापस्य दाहकः।।१२९।।
उ कार विष्णू अव्यक्त। ब्रह्मरुद्र गुरु निश्चित।
त्रितयात्मक श्रीगुरु सत्य। म्हणोनी सांगे कलीसी।।१३०।।

कलीने श्रीब्रह्मदेवास अशी विनंती केली की, आपण मला श्रीगुरू शब्दाचा अर्थ समजावून सांगावा. त्यावेळी श्रीब्रह्मदेवाने असे सांगितले की, "गुरू" या शब्दातील "गु" या शब्दाने श्रीगुरू हा सिद्ध असतो हे सूचित केले आहे. दुसऱ्या "रू" ह्या शब्दाने असे सूचित केले आहे की, शक्तिपात करून शिष्याच्या पापाचे दहन करण्याचे अद्भुत सामर्थ्य श्रीगुरूंच्या ठिकाणी असते. अव्यक्त ब्रह्म हे विष्णू, ब्रह्मदेव व रुद्र यांच्या रूपाने साकार झालेले दिसते. त्या तिघांचेही सामर्थ्य श्रीगुरूंमध्ये सामावलेले असते असे "उ" कार या तिसऱ्या शब्दाने सूचित होते.

"श्रीगुरुगीतेमध्ये" श्रीगुरू या शब्दाची व्याख्या पुढीलप्रमाणे केली आहे.

गुकारस्त्वन्धकारस्य रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः।।२३।।
गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविनाशनम्।।२४।।

"गु" कार म्हणजे अज्ञानरूपी अंधकार होय व "रू" कार म्हणजे प्रत्यक्ष तेज किंवा सूर्य होय. स्वयंप्रकाश तेजासमोर एक क्षणभरसुद्धा अंधार टिकू शकत नाही. त्याप्रमाणेच श्रीगुरूंच्या पुढेही अज्ञान टिकू शकत नाही. त्यामुळे श्रीगुरू हे अज्ञान नाहीसे करणारे

ब्रह्मस्वरूप असे आहेत यात तिळमात्र शंका नाही. मायादि गुण दाखविणारा "गु" हा प्रथम शब्द असून "रू" हा दुसरा शब्द ब्रह्मानंद निदर्शक असून तो मायेचा नाश करणारा आहे.

श्रीगुरू शब्दाचा अर्थ आपण पाहिला. त्या शब्दाचे सामर्थ्य **"श्रीगुरुतंत्रम्"** या पुस्तकात पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे.

गकारोच्चारमात्रेण ब्रह्महत्या विनश्यति।
उकारोच्चारतोदेवि मुच्यते जन्मपातकात्।।३२।।
रेफोच्चारमात्रेण उकारोच्चारणात्पुनः।
विसर्गोच्चारणात् कोटिजन्मगं पातकं हरेत्।।३३।।

"ग" काराच्या उच्चाराने ब्रह्महत्येचे पाप नष्ट होते. "उ" काराच्या उच्चाराने जन्मभर केलेल्या पापापासून मनुष्य मुक्त होतो. रेफ, उकार व विसर्ग या तीन वर्णांच्या उच्चाराने कोटीकोटी जन्मांची पापे नाश पावतात.

श्रीगुरुतत्त्व म्हणजे काय :-

श्रीगुरुतत्त्व म्हणजे ईश्वरी तत्त्वच होय. या ईश्वरीतत्त्वाचा साक्षात्कार श्रीगुरुरूपाने कसा होतो हे **"कुलार्णवतंत्राच्या"** १३ व्या उल्लासात पुढील-प्रमाणे सांगितले आहे. परमात्मा शिव, अनंत, अव्यय, अज, निष्कल, व्योमाकार, मनरहित व सर्वत्र सूक्ष्म रूपाने असतो. त्यामुळे त्याची पूजा करणे शक्य होत नाही. यासाठी साक्षात् श्रीशिवच श्रीगुरुरूपाचा आश्रय करून या भूलोकावर वावरतात. त्यामुळे भक्तिद्वारा त्यांचे पूजन करता येते. या भक्तीमुळे ते संतुष्ट होऊन भुक्ती व मुक्ती देतात. परमेश्वरी तत्त्वाने युक्त असलेली शिवरूप आकृती मनुष्याला दृष्टिगोचर होऊ शकत नाही. यासाठी श्रीशिवशंकर स्वतः श्रीगुरुरूप धारण करून युगायुगात शिष्यांचे रक्षण व उद्धार करतात.

साक्षात् परशिवच स्वतः आपल्या शिष्यांवर अनुग्रह करण्याकरिता मनुष्यरूपाच्या आवरणाखाली पृथ्वीवर संचार करीत असतात. हे परम शिवतत्त्व अत्यंत निरामय असूनसुद्धा सद्भक्तांना व साधकांना मार्गदर्शन करण्याकरिता व शक्तिपातयोगाची दीक्षा देण्याकरिता श्रीगुरुरूपाने

साकार होऊन आपल्या कृपेचा साठा मुक्त हस्ताने देत एखाद्या संसारी माणसाप्रमाणे राहताना दृष्टोत्पत्तीस येते. जे लोक पापी असतात ते श्रीगुरुतत्त्वाला समजू शकत नाहीत. त्यांची दृष्टीच अगदी संकुचित असते. परंतु जे लोक पुण्यवान् असतात त्यांना श्रीगुरुतत्त्वाच्या रूपाने साकार झालेले शिवतत्त्व ज्ञात होते.

ज्याप्रमाणे अंधळा मनुष्य उगवलेल्या सूर्याला पाहू शकत नाही त्याप्रमाणे साक्षात् परमतत्त्वस्वरूप श्रीगुरू दृष्टीसमोर वावरत असून-सुद्धा भाग्यहीन माणसांना त्यांचे खरे स्वरूप कळत नाही. हे अगदी नितांत व त्रिकालाबाधित सत्य आहे की, श्रीगुरू अगदी साक्षात् श्रीसदाशिवस्वरूपच असतात. याबद्दल कसलीही शंका बाळगण्याचे कारण नाही. श्रीसद्गुरू हे अशा प्रकारे श्रीसदाशिवतत्त्वस्वरूप नसते तर त्यांच्यात भुक्ती आणि मुक्ती देण्याचे सामर्थ्य आले नसते. याकरिता श्रीसदाशिव व श्रीगुरू या दोघांमध्ये कोणताही भेद असत नाही. ते तत्त्वतः एकच असतात. या अर्थानेच शास्त्रात असे म्हटले आहे की-

यस्मान्महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः।।

प्रत्यक्ष श्रीमहेश्वरच मनुष्यरूप धारण करून श्रीगुरुरूपाने मायामग्न जीवांवर कृपावर्षाव करून त्यांचा उद्धार करतात. ही गोष्ट अन्यथा दुसऱ्या कोणालाही शक्य नाही; कारण एक बद्धजीव दुसऱ्या बद्धजीवाचा उद्धार करू शकत नाही.

श्रीगुरूंचे खरे स्वरूप व कार्य :-

श्रीगुरूंचे खरे स्वरूप काय असते हे आता पाहावयाचे आहे. श्रीगुरूंच्या वास्तविक कार्यावरून त्यांचे स्वरूप, महिमा व अध्यात्म जीवनातील त्यांच्या स्थानाची निश्चिती होणार असल्याने श्रीगुरूंच्या खऱ्या कार्याचा परिचय करून घेऊ.

अनुग्रह करणे :-

शरण आलेल्या शिष्यावर शक्तिपातयुक्त दीक्षानुग्रह करणे हे श्रीसद्गुरूंचे खरे कार्य आहे. असा दीक्षानुग्रहयुक्त शिष्य साधनसंपन्न

होऊन कृतकृत्य होतो. या अनुग्रहामुळेच आनंदाची मंगलमय अनुभूती, योग्य शिष्याचा उद्धार व अयोग्याला योग्यता देऊन उद्धार, समभाव-संपन्नता, दुःखनिवृत्ती, ज्ञानदान, शक्तिजागरण, भाव-भक्तिदान, दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन इत्यादि सर्व कार्ये आपोआप घडून येतात. एका अनुग्रहातच ही कार्ये अनुस्यूत असतात. ही कार्ये म्हणजे श्रीसद्गुरूंनी शिष्यावर केलेल्या दिव्य दीक्षानुग्रहाचे एकएक अलौकिक व अद्भुत पैलूच आहेत. त्यांचे स्वतंत्र दर्शन आपण क्रमशः घेणार असलो तरी शक्तीच्या जागृतीशिवाय ही सर्व कार्ये कधीही घडून येणे शक्य नाही, हे विसरता कामा नये. या अर्थानेच **"कुलार्णवतंत्राच्या"** १४ व्या उल्लासात अगदी निक्षून असे सांगितले आहे की -

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते।।३८।।

शक्तिपाताच्या मार्गानेच शिष्याला खराखुरा अनुग्रह होत असतो. ज्या अनुग्रहामध्ये शक्तीचा पात म्हणजे शक्तिसंक्रमण होऊन शक्ती जागृत होत नाही त्या ठिकाणी मोक्षसिद्धी कदापीही होऊ शकत नाही. त्याचप्रमाणे उपरोक्त कार्येही संपन्न होत नाहीत. यामुळे ज्याच्या-जवळ शक्तिपातानुसार शिष्याला अनुग्रह देण्याचे सामर्थ्य असत नाही त्या श्रीगुरूंकडून शिष्याचे मंगल होणे कधीही शक्य नाही. कोणी कितीही सांगितले व शब्द जंजाळाने भुलविले तरी त्या अनुग्रहात अनुभूती देण्याचे सामर्थ्य नसते. असा अनुग्रह हा कवडीमोल किंमतीचा ठरतो. यासाठी उपासनेचा मार्ग व दीक्षेचा प्रकार कोणताही असला तरी ज्यावेळी परंपराप्राप्त सामर्थ्याने श्रीसद्गुरू शिष्यावर शक्तिपात करतात तेव्हा आत्मज्ञानाची प्राप्ती होऊन शिष्य मोक्षाधिकारी होतो.

हा शक्तिपातानुग्रह ईश्वरच श्रीगुरुरूपाने शिष्यावर करून त्याच्या सर्व बंधनांचा नाश कसा करतात हे **"कुलार्णवतंत्राच्या"** १४ व्या उल्लासात पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे. श्रीगुरूच उपदेश करणाऱ्याचे रूप ग्रहण करून जीवाच्या बंधनांना अगदी मुळापासून उखडून तोडून टाकून परमपद प्राप्त करून देतात. याचे कारण असे आहे की,

सर्वांवर अनुग्रह करणारा करुणानिधी ईश्वरच आचार्यरूप धारण करून दीक्षेच्या द्वारा जीवांना मुक्तीचा मार्ग मोकळा करून देतो.

श्रीगुरूंच्या या अनुग्रहरूप मूळ कार्याचा महिमा **"भारतीय संस्कृती और साधना"** खंड एक या ग्रंथातील **"अध्यात्मजीवनमें गुरुका स्थान"** या लेखात म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज यांनी विस्तृतपणे वर्णन केला आहे. त्याचा सारांश पाहू. "अनादि कालापासून अनंत जीव मुक्तीची प्रतीक्षा करीत आलेले आहेत. मात्र जीवावर असे एक आवरण आहे की, ते अनादि कालापासून विद्यमान असल्यामुळे जीव मुक्त होऊ शकत नाही. या आवरणालाच जीवत्व किंवा पशुत्व म्हटले जाते. याचेच नाव मल आहे. हे आवरण किंवा मल जर जीवावर राहिला नसता तर जीवाला शिवरूपत्वच प्राप्त झाले असते व त्याचे पशुरूपत्व नाहीसे झाले असते. जीव, शिव व्हावा म्हणून श्रीगुरूंचा जेव्हा अनुग्रह होतो तेव्हा शक्ती सक्रिय होते व हा भेद मिटावा म्हणून प्रवृत्त होते. ही शक्ती किंवा पराशक्ती परशिवाची स्वतःची शक्ती आहे. शिव अर्थात् श्रीगुरू सच्चिदानंदमयस्वरूप असतात. त्यांच्या ठिकाणी जी नित्य शक्ती किंवा पराशक्ती अभिन्नरूपाने विराजमान असते तीही सच्चिदानंदस्वरूपच असते. ही शक्तीच श्रीगुरुकृपेने सक्रिय झाली की, अखंड अनुग्रहरूप किंवा विशाल करुणारूप धारण करून जीवाला शिवत्व प्राप्त करून देण्याच्या कार्यात अग्रेसर होते. ही महाकरुणा म्हणजेच श्रीभगवंताचे महाप्रेम आहे. श्रीभगवंत प्रेमाने व करुणेने भिजून जेव्हा अनुग्रहरूपाने पाझरू लागतो तेव्हा तो कुंडलिनी शक्तीच्या सक्रिय रूपाने अनादि कालापासून बद्धजीवांना मुक्त करून आपल्या बरोबर पूर्णपणे मिसळून टाकतो. श्रीभगवंत निष्क्रिय राहूनही अशा प्रकारे निरंतर क्रिया करीत राहतात. ज्यावेळी शक्तिपातानुग्रह होऊन शक्तीच्या क्रिया बाह्यरूपाने जरी निरनिराळ्या तऱ्हेच्या होताना दिसल्या तरी त्या क्रियांचे मूळ रूप एक व अभिन्न आहे. हाच मूळरूपातील अनुग्रह आहे. ही शक्ती परम अनुग्रहरूप असल्यामुळे तिला सर्वमंगला असे म्हटले जाते. सृष्टी, स्थिती व संहार या अवस्था म्हणजे या

शक्तीचा आत्मप्रकाश किंवा विलास याशिवाय दुसरे काही नाही. शास्त्र म्हणते की, अनुग्रहशक्तीच श्रीगुरूंचे खरे स्वरूप आहे. परमशिव हेच श्रीगुरू आहेत व अनुग्रहशक्ती ही त्यांची पराशक्ती आहे. ही अनुग्रहशक्तीच अणुरूपी जीवांना मुक्त करून त्यांना आपल्या मूळच्या श्रीशिवस्वरूपात पुनः प्रतिष्ठित करते."

आनंदाची मंगलमय अनुभूती :-

जे शक्तिसंचार करतात ते श्रीगुरू व ज्याच्यामध्ये शक्तिसंचार होतो तो शिष्य होय. असे जेथे घडत नाही तेथे सर्व खटपट व्यर्थ जाते. याचे खरे कारण असे आहे की, ज्यांच्याजवळ परंपरेने प्राप्त झालेली शक्ती नसते ते स्वसामर्थ्याने शिष्याला आनंदाची मंगलमय अनुभूती शक्तिसंचाराने देऊ शकत नाहीत. ते नुसता उपदेश व शास्त्रचर्चा करीत राहतात. परंतु त्याचा काडीमात्रही उपयोग होत नाही. यासाठीच **"योगवासिष्ठाच्या"** निर्वाणप्रकरणाच्या पूर्वार्धातील १२८ व्या प्रकरणात पुढीलप्रमाणे श्रीगुरूंची व्याख्या केली आहे.

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।६१।।

जे दर्शनाने, स्पर्शाने, शब्दाने व कृपापूर्वक शिष्याच्या देहामध्ये शिवभावाची मंगलमय अनुभूती करू शकतात त्यांनाच श्रीगुरू असे म्हणतात. अशा प्रकारे शिष्याचा उद्धार करण्याची जी अद्भुत शक्ती श्रीगुरूंजवळ असते तीच त्यांचे खरे लक्षण आहे. सत्यसंकल्प श्रीगुरू केवळ एकवार कृपापूर्ण दृष्टिक्षेप करताच उपरोक्त महान् कार्य परिपूर्ण होते; कारण त्यांच्या दृष्टिपाताबरोबर कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन शिष्याला आनंदावेशाची मंगलमय अनुभूती प्राप्त होते.

परमानंदप्राप्तीचा महिमा असा असल्याने **"कुलार्णवतंत्राच्या"** १३ व्या उल्लासात श्रीशंकरांनी श्रीपार्वतीला असा उपदेश केला आहे की -

गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात् परानन्दोऽभिजायते।
गुरुं तमेव वृणुयात् नापरं मतिमान्नरः।।११०।।

यस्यानुभवपर्यन्तं बुद्धिस्तत्र प्रवर्तते।
तस्यालोकनमात्रेण मुच्यते नात्र संशयः।।१११।।

ज्यांची बुद्धी आत्मज्ञानापर्यंत पोहोचली आहे, ज्यांची कृपादृष्टी शिष्याला मुक्त करणारी आहे व ज्यांचा करस्पर्श परमानंद देणारा आहे अशी माणसे श्रीगुरू होण्याला योग्य आहेत. बुद्धिमान् शिष्याने अशाच श्रीगुरूंची कास धरावी.

आनंदाची मंगलमय अनुभूती देणे हे श्रीगुरूंचे कार्य किती महत्त्वाचे आहे हे सांगताना म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज आपल्या **"भारतीय संस्कृती और साधना"** खंड १ ला, या ग्रंथातील **"अध्यात्मजीवनमें गुरुका स्थान"** या लेखात असे म्हणतात की, "मनुष्य अनादि कालापासून संसारात पडलेला असून कालचक्राबरोबर फिरत राहतो. त्याचे बहिर्मुख चित्त आपल्या कर्माच्या संस्काराप्रमाणे बाह्यजगतामध्ये सुखप्राप्तीसाठी वारंवार धडपड करीत असते. परंतु त्याच्या धडपडीला यश येत नाही. त्याची सर्व मनोरथे धुळीला मिळतात. पण असे होऊनही संसाराची विरक्ती मात्र त्याला येत नाही. जन्ममृत्यूच्या चक्रात सापडून विषयसुखाचा शोध घेत घेत त्याचे चित्त सतत भटकत राहते. यालाच प्रवृत्तीचा प्रवाह असे म्हणतात. जोपर्यंत प्रवाहाचा वेग मंद होत नाही तोपर्यंत त्याबरोबर वाहत जाणे माणसाला भाग पडते."

अशा जीवांना हात देऊन प्रवृत्तीच्या प्रवाहातून बाहेर काढून त्यांच्या जीवनात आनंद निर्माण करणे आवश्यक असते. दुःखी, कष्टी, थकलेल्या, भागलेल्या व निराश झालेल्या जीवांना जेव्हा असा आधार मिळतो तेव्हा त्यांच्या भाग्याला सीमा राहत नाही. या अर्थानेच श्रीगोपीनाथ कविराज अस म्हणतात की, "आनंदापासून वंचित झालेल्या हताश मनुष्याला नित्य आनंदाचा मार्ग दाखविणे हेच श्रीगुरूंचे खरे कार्य आहे. जो त्रितापदग्ध जीव अनन्यभावाने श्रीगुरूंना शरण जातो त्याला ते अभयदान देऊन त्याच्या इष्टप्राप्तीचा उपायही सांगतात. इष्ट याचा अर्थ संसारातील सर्व दुःखाची निवृत्ती असाच घेतला पाहिजे. इतकेच नव्हे; तर परमानंदाची अभिव्यक्ती सुद्धा इष्ट या शब्दात अभिप्रेत आहे.

वास्तविक निर्मल व अपरिच्छिन्न आनंदाची प्राप्ती करणे हेच मनुष्याचे इष्ट असते; कारण प्रत्येक मनुष्य त्याची आकांक्षा करीत असतो. दुःखनिवृत्ती हे त्याचे फक्त आनुषंगिक फल आहे. जाणतेपणाने किंवा अजाणतेपणाने का होईना पण आनंदाची प्राप्ती व्हावी ही प्रत्येक मनुष्याची इच्छा असते. माणसाच्या सर्व अभिलाषा व इच्छांचे आनंद हेच एकमात्र लक्ष्य असते. श्रीगुरू जो उपाय सांगतात किंवा जे साधन देतात त्याचा दृढ आश्रय करून संपूर्ण आनंदाची प्राप्ती करून घेणे हे शिष्याचे कर्तव्य असते." ही आनंदाची प्राप्ती श्रीसद्गुरू करून देत असल्याने त्यांचे वर्णन करताना "**श्रीदासबोधाच्या**" सातव्या दशकातील पहिल्या समासात श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

आता आठवीन समर्था। सद्गुरूसी।।११।।
जयाचेनि कृपादृष्टी। होये आनंदाची वृष्टी।
तेणें गुणें सर्व सृष्टी। आनंदमय।।१२।।
कीं तो आनंदाचा जनक। सायुज्यमुक्तीचा नायक।
कैवल्यपददायक। अनाथबंधू।।१३।।
मुमुक्षुचातकीं सुस्वर। करुणा पाहिजे अंबर।
वोळे कृपेचा जळधर। साधकांवरी।।१४।।
कीं तें भवार्णवीचें तारूं। बोधें पाविजे पैलपारू।
महाआवर्तीं आधारू। भाविकांसीं।।१५।।
कीं तो काळाचा नियंता। नानासंकटीं सोडवितां।
कीं ते भाविकांची माता। परम स्नेहाळू।।१६।।
कीं तो परत्रींचा आधारू। कीं तो विश्रांतीचा थारू।
नातरी सुखाचे माहेरू। सुखस्वरूप।।१७।।
ऐसा सद्गुरू पूर्णपणीं। तुटे भेदाची कडसणी।
देहेविण लोटांगणीं। तया प्रभूसी।।१८।।

योग्य शिष्याचा उद्धार व अयोग्याला योग्य कारणे :-

योग्य शिष्याचा उद्धार करणे व अयोग्य शिष्याला योग्य करून तारणे हे श्रीसद्गुरूंचे दुसरे महत्त्वाचे कार्य आहे. "**बोधसार**" या ग्रंथामध्ये

श्री.नरहरी यांनी असे लिहिले आहे की, श्रीगुरू विवेक-वैराग्ययुक्त वेदान्तयुक्तीच्या साहाय्याने अयोग्य शिष्याला योग्यता प्राप्त करून देतात आणि नंतर त्याच्यावर शक्तिपाताचा अनुग्रह करून त्याला त्याच क्षणी जागृत करतात. **"ललिता सहस्त्रनामाच्या"** भाष्यात श्रीभास्कराय यांनी असे म्हटले आहे की, खरे श्रीसद्गुरुरूपी सूर्य अयोग्य शिष्याला योग्य करून आपल्या अमोघ अशा शक्तिपाताच्या सामर्थ्याने त्याला प्रबुद्ध करतात.

या दृष्टीनेच **"नवचक्रेश्वर"** तंत्रामध्ये श्रीसद्गुरूंची व्याख्या पुढीलप्रमाणे केली आहे.

पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः।।

जे पिंड, पद, रूप व रूपातीत या चारही गोष्टी सम्यक् रीतीने जाणतात तेच खरे श्रीगुरू होत.

"श्रीगुरुगीतेमध्ये" उपरोक्त चार गोष्टींचे लक्षण पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे.

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।।
रूपं बिन्दुरिती ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्।।

पिंड म्हणजे कुंडलिनी शक्ती होय. पदाला हंस म्हणतात. बिंदू म्हणजे रूप व निरंजन म्हणजे रूपातीत ब्रह्म होय.

समभावसंपन्नता :-

शिष्याला स्वतःच्या भावासारखी व अनुभूतीसारखी संपन्नता श्रीसद्गुरू दीक्षारूप कार्याने प्राप्त करून देतात. श्रीसद्गुरूंचे हे तिसरे अलौकिक कार्य आहे. **"कुलार्णव तंत्राच्या"** १४ व्या उल्लासामध्ये यादृष्टीने पुढील वर्णन आले आहे.

गुरूपदिष्टमार्गेण वेधं कुर्याद्विचक्षणः।
पापमुक्तः क्षणाच्छिष्यश्छिन्नपाशस्तथा भवेत्।।५९।।
बाह्यव्यापारनिर्मुक्तो भूमौ पतिति तत्क्षणात्।
सञ्जात दिव्यभावोसौ सर्वं जानाति शाम्भवी।।६१।।

यदस्ति वेधकं तत्तत्स्वयमेवानुभूयते।।६२।।

श्रीमहेश्वरांपासून परंपरेने प्राप्त झालेल्या श्रीगुरूपदेशाच्या म्हणजे शक्तिपातयोगाच्या अर्थात् शक्तिसंक्रमणाच्या मार्गानुसार जेव्हा ज्ञानी पुरुष वेधदीक्षा देतात तेव्हा शक्तिपातामुळे शिष्य पापरहित व पापमुक्त होतो. या दीक्षेमुळे बाह्य व्यापार विसरून तो तत्काल भूमीवर पडतो. त्याला दिव्यभाव प्राप्त होतात. तो या शांभवी शक्तीच्या आधाराने श्रीसद्गुरू ज्या दिव्य भावाने संपन्न असतात, त्याचा तो स्वतःच अनुभव घेतो. अशा प्रकारे निजबोधरूपच स्वशक्तीच्या संचाराच्या द्वारा शिष्याला आपल्या बरोबरीची समभावसंपन्नता प्राप्त करून देणे हे अनुग्रहाचे खरे लक्षण आहे.

तं ये पश्यन्ति तादूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता।।

दुःखनिवृत्ती :-

शिष्यरूपी जीवाची दुःखनिवृत्ती करणे हे श्रीसद्गुरूंचे फार महत्त्वाचे असे चौथे कार्य आहे; कारण संपूर्ण योगशास्त्रच यासाठी प्रवृत्त झालेले आहे. **"योगशिखोपनिषदाच्या"** सुरुवातीलाच श्रीब्रह्मदेवांनी श्रीमहादेवांना असा प्रश्न केला की, "हे श्रीशंकरा! सर्व जीव सुख-दुःखाच्या मायाजालात गुरफटून गेले आहेत. त्यापासून त्यांची मुक्ती कशी होईल हे कृपा करून सांगावे. ज्या मार्गाने सर्व सिद्धी प्राप्त होतील, मायाजाल तुटून जाईल, जन्म, मृत्यू, जरा, व्याधी इत्यादि सर्व दुःखांचा नाश होईल व ज्यापासून मोठे सुख होईल असा मार्ग दाखवा."

यासाठी दुःख निवृत्त होणे नितांत आवश्यक आहे. **"अध्यात्म जीवनमें गुरुका स्थान"** या लेखात म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज असे म्हणतात, "शिष्यरूपी जीवाच्या दुःखाच्या निवृत्तीची व्यवस्था करणे हे श्रीसद्गुरूंचे पहिले काम आहे. या मायिक जगात द्वैतज्ञानाने, कर्मसंस्काराने व कर्तृत्त्वाभिमानाने भरलेला जीव अनादि कालापासून कर्म करीत व त्याचबरोबर केलेल्या कर्मांची फळे भोगीत आलेला असतो. जन्मजन्मांतरापासून संसाराचा हा प्रवाह असाच वाहत आलेला दिसून

येतो. भेदज्ञान व कर्तृत्त्वाभिमान जोपर्यंत नष्ट होत नाही तोपर्यंत या संसारलीलेचा कधीही अंत होत नाही. इतकेच नव्हे; तर जन्ममृत्यूच्या व कालचक्राच्या आवर्तनातूनही जीवाची निवृत्ती होत नाही. जीव चिदात्मक आहे यात काहीही शंका व संदेह नाही. परंतु मायेच्या प्रभावामुळे जीव जडसत्तेलाच आपली चित्सत्ता मानून भयंकर चूक करीत आलेला आहे. वरच्या देवलोकापासून खालच्या तिर्यक् व स्थावर योनीपर्यंत असंख्य प्रकारचे जीव आहेत. हे सर्व जीव दुःखमय संसाराच्या येरझाऱ्यात सापडून भ्रमण करीत असतात. तात्पुरती ऊर्ध्वगती झाली किंवा अधोगती झाली तरी त्यामुळे खरा मार्ग कोणता हे बिल्कुल कळत नाही. जोपर्यंत चेतन आत्मा "मी जडाहून वेगळा आहे" हे जाणणार व अनुभवणार नाही तोपर्यंत या दुःखमय कालचक्रातून निसटण्याची व उद्धार होण्याची आशाच नाही. अनुग्रहपूर्वक जे ज्ञानदान करून अज्ञानापासून जीवाला मुक्त होण्याला साहाय्यता करतात तेच खरे श्रीगुरू होत. "ज्यावेळी ही दुःखनिवृत्ती व्हावी म्हणून श्रीसद्गुरू शक्तिपातपूर्वक कृपानुग्रह करतात त्यावेळी साधकाची पूर्वी अनुभविलेली सर्व दुःखे नाहीशी होतात व त्याच्या ठिकाणी मूलतःच असलेला अपार आनंद उसळून येऊन त्याची उत्तम अभिव्यक्ती होते. अशा प्रकारे झालेल्या शक्तीच्या जागृतीमुळे साधक ऐश्वर्यसंपन्न होतो व त्याची सर्व कमतरता, अपूर्णता, अभाव, त्रुटी इत्यादि कायम दूर होतात.

शक्तिजागरण :-

श्रीसद्गुरू शिष्यावर अनुग्रह करतात म्हणजे ते शक्तिपात करून शक्ती जागृत करतात. श्रीसद्गुरूंकडून होणाऱ्या या शक्तिजागरणाच्या कार्याला तोड नाही; कारण मोक्ष हे मनुष्य जीवनाचे वास्तविक लक्ष्य त्याशिवाय प्राप्त होऊ शकत नाही. इतकी या शक्तिजागरणाची अपरिहार्यता आहे. ती पटविताना **"भारतीय संस्कृति और साधना,"** खंड एक, या ग्रंथातील **"जीवनका लक्ष्य"** या लेखात म. म. श्रीगोपीनाथ कविराज असे म्हणतात की, "ज्या अज्ञानाच्या प्रभावाने आत्मा मायेच्या अधीन

होऊन त्याला अपरिहार्यपणे देह ग्रहण करावा लागतो, त्या अज्ञानाची निवृत्ती जोपर्यंत होत नाही तोपर्यंत आत्म्याचा शिवत्वरूप धर्म प्रकट होत नाही. या मूळ अज्ञानालाच पौरुष अज्ञान असे म्हटले जाते. या अज्ञानाची निवृत्ती व्हावी म्हणून जो अत्यंत आवश्यक उपाय आहे त्यामध्ये कर्म व ज्ञान या उपायांची गणना तर होत नाहीच; परंतु भक्तीचीही गणना होत नाही. अज्ञान दूर करण्याच्या उपायांमध्ये यांची गणना केलेली दिसली तरी हे उपाय म्हणजे केवळ बुद्धीचे व्यापार आहेत यात काही शंकाच नाही. जी गोष्ट बुद्धीच्या आधी झाली ती दूर करण्याची क्षमता यांपैकी कोणत्याही उपायात तिलप्राय असत नाही. याकरिता जोपर्यंत मनुष्याचे मूळ अज्ञान दूर होत नाही तोपर्यंत मनुष्य जीवनाचा परम आदर्श कदापीही प्रत्यक्षपणे प्राप्त होऊ शकत नाही."

"यासाठी मूळ अज्ञान कसे मिटेल याचाच विचार केला पाहिजे. मी हे प्रथम सांगितले आहे की, अज्ञान दूर करण्याचे जे जे मार्ग आहेत त्यापैकी कर्म, ज्ञान व भक्ती यांची कोणत्याही प्रकारे तशी उपयुक्तता दिसत नाही; कारण ही सर्व साधने मुळाला स्पर्शही करू शकत नाहीत. एकमात्र श्रीभगवंताच्या कृपाशक्तीच्या द्वारा मनुष्याच्या मूळ अज्ञानाची निवृत्ती होऊ शकते. अन्य कोणत्याही उपायांनी हे शक्य नाही. श्रीभगवत्कृपा स्वभावसिद्ध असून ती अहेतुक असल्यामुळे आधाराच्या योग्यतेप्रमाणे तिची कार्यक्षमता दिसून येते."

"यावरून शक्तीचे जागरण करणे हे अनुग्रहात अनुस्यूत असून श्रीसद्गुरूंच्या कार्याची महत्ता त्यात सामावलेली असते; कारण कैवल्य, मुक्तिलाभ अगर महेश्वरत्व प्राप्तीसाठी अंतर्निहित अनंत शक्तीच्या परिपूर्ण जागृतीची नितांत आवश्यकता असते. ही शक्ती जोपर्यंत जागृत होत नाही तोपर्यंत आत्मा शुद्ध असला तरी त्याची योग्यता शवा इतकीच असते. श्रीशिवाची नसते. याचे कारण असे आहे की, श्रीशिव कधीही शक्तिहीन असत नाही. खरे पाहिले तर श्रीशिव व श्रीशक्ती अगदी अभिन्न आहेत. त्यामुळे श्रीशिवाच्या व्यक्त व अव्यक्त भावात पृथकता दिसत नाही. एका दृष्टीने श्रीशिव महाप्रकाशात्मक

असल्याने नित्य व्यक्त आहेत. परंतु शक्ती जोपर्यंत अव्यक्तता सोडून व्यक्तभाव धारण करीत नाही व आपला व्यक्तभाव क्रमाक्रमाने अगर क्रमाशिवाय जोपर्यंत पूर्णरूपाने प्रकट करीत नाही तोपर्यंत शक्ती शिवाशी एकरूप असूनसुद्धा त्याच्या बरोबर एकाच आसनावर बसू शकत नाही. मग प्रत्यक्ष एकरूपतेची प्राप्ती होणे ही अत्यंत दूरची गोष्ट म्हटली पाहिजे. जेव्हा अध्यात्म जीवनाचा संपूर्ण विकास होतो तेव्हा श्रीशिवशक्तीचे ऐक्य होते यात शंकाच नाही. त्यावेळी श्रीशिव व श्रीशक्ती आणि जीव व शिव यांच्यात भेद राहत नाही. त्यावेळी एकच अभिन्न व अखंड आत्मस्वरूप व्यक्त होते. या परमस्थितीमध्ये पुन्हा प्रतिष्ठित होण्याला जे साहाय्यता देतात तेच खरे श्रीसद्गुरू होत. खरे पाहता आत्माच श्रीसद्गुरू आहे. तोच श्रीसद्गुरूच्या रूपाने मायांध जीवाला मायेपासून त्याच्या ठिकाणी असलेल्या सुप्त शक्तीला अत्यंत उत्तम प्रकारे जागृत करून आपल्या स्वरूपामध्ये म्हणजेच श्रीशिवस्वरूपामध्ये घेऊन येतो. यालाच संकोचरहित पूर्ण स्वातंत्र्य असे म्हणतात."

शक्तीच्या जागृतीची नितांत आवश्यकता पटवून देताना **"भारतीय संस्कृती और साधना"** खंड एक या पुस्तकातील **"कुंडलिनी तत्त्व"** या लेखात म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज असे म्हणतात की, "जीव स्थूल तत्त्वांच्या आवरणाने वेष्टिलेला असल्यामुळे सूक्ष्म अशा सुषुम्णामार्गात त्याचा प्रवेश होऊ शकत नाही. पूर्वसंस्कार किंवा वासना, अभिमान किंवा कर्तृत्त्वबोध आणि फलाकांक्षा किंवा जिला कामना म्हणतात ती भोगाभिलाषा या तीनही आवरणांमुळे जीवाला स्थूलत्त्व प्राप्त होते. विषय व इंद्रियादि रूप स्थूलावरणयुक्त जीवाला आपल्या मूळ स्वरूपाकडे परत जाऊ देत नाहीत. प्रत्येक जीव ज्ञान, आनंद व अमरत्वाची इच्छा करीत असतो. इतकेच नव्हे; तर आपल्याला ब्राह्मी स्थिती प्राप्त व्हावी अशी त्याला तीव्र आकांक्षा असते. हे सर्व घडावे म्हणून जरी त्याला वाटत असले तरी ते सर्व मनात ठेवून तो विषयांमध्ये अगदी दंग होऊन जातो. वास्तविक पाहता विषयप्राप्ती हे काही त्याचे ध्येय असत नाही. ध्येय असते आनंदाची प्राप्ती. या आनंदाच्या प्राप्तीसाठीच मनुष्य

गौण साधना करून विषयादींची इच्छा, आकांक्षा करीत असतो. परंतु युगयुगांतरात व कल्पकल्पांतरात भ्रमण करूनसुद्धा जीव आपल्या आकांक्षांची तृप्ती करू शकत नाही. याचे खरे कारण असे आहे की, तो सर्व जन्मांमध्ये आपली वासना व कर्तृत्वाचा अभिमान यांना न सोडताच परिभ्रमण करीत राहतो. वास्तविकपणे जोपर्यंत एक पळभरही वासनेचा नाश होत नाही तोपर्यंत जीवाला सुषुम्णेमध्ये प्रवेश मिळू शकत नाही; कारण स्थूल वस्तू सूक्ष्म मार्गामध्ये प्रवेश करू शकत नाही. भूतशुद्धी व चित्तशुद्धीसाठी साधनात ज्या ज्या क्रिया होतात त्यांचा खरा हेतू किंवा तात्पर्य हेच असते की, स्थूलतेचे विसर्जन व्हावे. ज्यावेळी पंचभूतांचे शुद्धीकरण होते तेव्हा पंचीकरणाची स्थिती राहत नाही. इतकेच नव्हे; तर पंचबिंदू सुद्धा एका बिंदूच्या रूपात परिणत होतात. त्यानंतर चित्तशुद्धी होते. एक बिंदू शुद्ध झाला की, ज्ञानचक्षूंचे म्हणजेच तृतीय नेत्राचे उन्मीलन होते. या अवस्थेतून पुढे जात जात जीवाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त होऊन सर्वश्रेष्ठ अशी साम्यावस्था प्राप्त होते. हे सर्व घडून येण्यासाठी कुंडलिनी शक्तीचे उद्बोधन होणे नितांत आवश्यक असते; कारण त्याशिवाय अन्य कोणत्याही प्रकाराने जीवाची ऊर्ध्वगती होऊ शकत नाही."

ज्ञानदान :-

श्रीसद्गुरूंचा शक्तिपातयुक्त कृपाप्रसादरूप अनुग्रह म्हणजे ज्ञानदान होय. जीवाला मुक्तीसाठी हे ज्ञानाचे दान श्रीसद्गुरूंकडून मिळालेच पाहिजे; कारण **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** असा शास्त्राचा त्रिकालाबाधित सिद्धान्त आहे. ज्ञान ही दानाची वस्तू आहे हे मागे सांगितलेच आहे. हे महान् कार्य श्रीसद्गुरूंकडून मिळणाऱ्या दीक्षानुग्रहाने सुसंपन्न होत असल्यामुळे ज्या प्रक्रियेद्वारा असे ब्रह्मज्ञानाचे दान केले जाते व सर्व पाश आणि कर्मबंधनांचा नाश केला जातो त्या प्रक्रियेला तत्त्वचिंतन करणाऱ्या विभूतींनी व ज्ञानी लोकांनी दीक्षा असे म्हटले आहे.

अशा प्रकारे ज्या दीक्षेत ज्ञानाचे अपूर्व दान शिष्याला मिळते त्या दीक्षेला वेदान्तात शांभवी दीक्षा असे म्हणतात. **"शिवपुराणात"**

शास्त्रकार असे म्हणतात की -

गुरोरालोकमात्रेण भाषणात्स्पर्शनादपि।
सद्यः सञ्जायते ज्ञानं सा दीक्षा शाम्भवी मता।।१३.७।।

परम कृपाळू श्रीगुरुदेव दृष्टिक्षेपाने, भाषणाने म्हणजे मंत्राने, "तत्त्वमसि" वाक्याने अथवा स्पर्शद्वारा शक्तिपातयोगाची दीक्षा देतात. त्यामुळे श्रीगुरूंची शक्ती शिष्यामध्ये संक्रमित होते. ही प्रक्रिया झाल्याबरोबर तत्काळ शिष्याच्या ठिकाणी दिव्य ज्ञान उत्पन्न होते. यालाच शांभवी दीक्षा असे म्हणतात. ज्ञानदानाचे हे कार्य कसे घडते व त्याची अपरिहार्यता किती आहे हे सांगताना श्रीसंत ज्ञानेश्वर-महाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** १८ व्या अध्यायात असे म्हणतात की -

तरी अविद्येचिया निदा। विश्वस्वप्नाचा हा धांदा।
भोगीत होता प्रबुद्धा। अनादि जो।।४०३।।
तो महावाक्याचेनि नांवें। गुरुकृपेचेनि थांवें।
माथां हातु ठेविला नव्हे। थापटिला जैसा।।४०४।।
तैसा विश्वस्वप्नेसीं माया। नीद सांडूनि धनंजया ।
सहसा चेइला अद्वैया-। नंदपणें जो।।४०५।।

"हे प्रबुद्धा अर्जुना! जीव अविद्यारूपी निद्रेत विश्वरूपी स्वप्न-व्यवहाराचा अनुभव अनादि काळापासून घेत असतो. ज्यावेळी त्याला श्रीसद्गुरू भेटतात तेव्हा ते शक्तिपातपूर्वक "तत्त्वमसि" महावाक्याचा उपदेश करतात. यालाच शब्ददीक्षा असे म्हणतात. ते त्याच्यावर कृपादृष्टी टाकतात. याला कृपादीक्षा असे म्हणतात. किंवा श्रीसद्गुरू शिष्याच्या मस्तकावर नुसता हात ठेवीत नाहीत तर प्रत्यक्ष थापटी मारून ते आत्मशक्तिस्वरूप कुंडलिनी शक्ती जागृत करून ज्ञानदान करतात. याला स्पर्शदीक्षा म्हणतात. श्रीगुरूंच्या नुसत्या दर्शनानेही शिष्याची आत्मशक्ती जागृत होते. अशा प्रकारे ज्ञानदान घडले की, माया म्हणजे अनादि शक्ती जगरूपी स्वप्नासह अज्ञानरूपी निद्रा टाकून देते. ही प्रक्रिया घडली की, या शक्तीच्या सामर्थ्याने आपण अद्वयानंदादि निजस्वरूप आहोत असा यथार्थबोध साधकाला होतो.

यासाठी श्रीसद्गुरूंकडून ज्ञानदानाचे कार्य दीक्षाद्वारा झालेच पाहिजे हे सांगताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "हे अर्जुना! या चारही प्रकारांनी तुझ्यावर माझी कृपा होईल तेव्हा अभेदरूपी सेवेने तुझे चित्त भरून जाईल म्हणजे तू मद्रूप होशील. असे झाले म्हणजेच तुझ्यावर माझा पूर्ण प्रसाद झाला असे समज. जन्म व मृत्यू ही तर दुःखाची निवासस्थाने आहेत. ती जीवमात्रांकडून भोगली जातात. या अनादि कालचक्ररूप परंपरेचा नाश होणे अतिशय दुर्घट असते. परंतु माझ्या या शक्तिपातयोगदीक्षेच्या प्रसादप्राप्तीमुळे तुला ही दुःखे सुखकारक व सोपी होतील. जेव्हा सूर्यप्रकाशाची साह्यता डोळ्यांना मिळते तेव्हा त्यांना अंधाराची किंमत वाटत नाही. त्याचप्रमाणे श्रीसद्गुरूंच्या साहाय्याने माझा हा शांभवी विद्येचा प्रसाद मिळून ज्याची जीवपणाची हीनदशा जाऊन व विभुदशा म्हणजे ब्रह्मप्राप्ती होते तो संसाररूपी बागुलबुवाच्या भीतीने घाबरणे कधीही शक्य नाही. म्हणून हे धनंजया! माझा योगदीक्षाप्रसादच ज्ञानोपलब्धी झाल्याने या संसाररूपी दुर्गतीपासून तुला तारून नेईल. मात्र अशा प्रकारच्या दीक्षाप्रसादाची अहंकाराने व अभिमानाने तू अवहेलना करशील व अशा प्रकारच्या ज्ञानदानानेच जीव संसारसागर तरून जातो हे तू नुसते आपल्या कानामनाला स्पर्शही करू देणार नसशील तर तू वस्तुतः जरी नित्यमुक्त व अव्यय असलास तरी अशी कृपादीक्षा न मिळाल्याने ते सर्व व्यर्थ होईल. मग देहतादात्म्यसंबंधीचे घाव तुझ्या अंगावर आदळून ते तुला सोसावेच लागतील; कारण शक्ती जागृत झाल्याशिवाय ती ज्ञानाचा उदय घडवून आणीत नाही व देहतादात्म्य-संबंधाचा विच्छेदही होत नाही. (१८.१२६९ ते १२७५)

असा ज्ञानदानाचा महिमा आहे. आत्मस्वरूपाची उपलब्धी ज्ञानाने होते. वास्तविक पाहता हा आत्मा एकमात्र श्रीगुरू आहे "**आत्मा वै गुरुरेकः।**" व तो प्राचीन श्रीगुरूंचा श्रीगुरू आहे; कारण तो कालाने मर्यादित नाही. **"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (पातंजल योगसूत्र १-२६)** असे शास्त्रकारांचे मत आहे. त्या आत्म्याचे तत्त्व

व स्वरूप जाणण्यासाठीच मनुष्यरूपी श्रीगुरू करावा लागतो. अर्थात् जर एका मनुष्यरूपी श्रीगुरूंकडून तत्त्वपिपासा शमली नाही तर अन्य श्रीगुरूंचा आश्रय करण्यात अपराध, दोष किंवा आपत्ती नाही हे सांगताना **"कुलार्णवतंत्राच्या"** १३ व्या उल्लासामध्ये असे म्हटले आहे की -

अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य संशयच्छेदकारकम्।
गुर्वन्तरं तु गत्वा स नैतद्दोषेण लिप्यते।।१३१।।
मधुलब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यः गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्।।१३२।।

अज्ञानी श्रीगुरूंच्यामुळे जर संशयाचा नाश झाला नाही तर जो आपल्या संशयाचा नाश करील अशा समर्थ श्रीगुरूंपाशी शिष्य गेल्यास त्यात त्याला कोणताही दोष लागत नाही. ज्याप्रमाणे मध मिळावा म्हणून मधमाशी एका फुलावरून दुसऱ्या फुलावर जाते त्याप्रमाणे जो ज्ञानार्थी शिष्य आहे तो ज्ञानप्राप्ती होईपर्यंत एक श्रीगुरू सोडून दुसरे श्रीगुरू करू शकतो.

"शिवपुराणातही" श्रीशंकरांनी हाच नियम सांगितला आहे.

यत्रानन्दः प्रबोधो वा नाल्पमप्युपलभ्यते।
संवत्सरादपि शिष्येण सोऽन्यं गुरुमुपाश्रयेत्।।१३.४८।।

दीक्षा झाल्यानंतर जर शिष्याला अल्पमात्रही आनंद व प्रबोध प्राप्त झाला नाही तर दीक्षेनंतर एक वर्षभर वाट पाहावी. श्रीगुरूंनी सांगितल्या प्रमाणे साधन करूनही जर एका वर्षात आनंद व प्रबोध प्राप्त झाला नाही तर दुसऱ्या श्रीगुरूंचा अवश्य आश्रय करावा. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी **"श्रीदासबोधाच्या"** पाचव्या दशकाच्या दुसऱ्या समासात "ज्ञानदान करतात तेच खरे श्रीसद्गुरू होत" असे वर्णन केले आहे.

जो ब्रह्मज्ञान उपदेशी। अज्ञान अंधार निरसी।
जीवात्मया शिवात्म्यासी। ऐक्यता करी।।९।।
विघडले देव आणि भक्त। जीवशिवपणें द्वैत।

तया देवभक्ता एकांत। करी तो सद्गुरू।।१०।।
भवव्याघ्रें घालूनि उडी। गोवत्सांस तडातोडी।
केली देखोनि शीघ्र सोडी। तो सद्गुरु जाणावा।।११।।
वासनानदी महापुरीं। प्राणी बुडतां ग्लानी करी।
तेथें उडी घालूनि तारी। तो सद्गुरु जाणावा।।१२।।
प्राणी मायाजाळीं पडले। संसारदु:खें दुखविलें।
ऐसें जेणें मुक्त केलें। तो सद्गुरु जाणावा।।१३।।
गर्भवास अतिसांकडी। इच्छाबंधनाची बेडी।
ज्ञान देऊनि शीघ्र सोडी। तो सद्गुरु जाणावा।।१४।।
जो कोणी ज्ञान बोधी। समूळ अविद्या छेदी।
इंद्रियदमन प्रतिपादी। तोचि सद्गुरु जाणावा।।२२।।

इतके सांगून झाल्यावर जे ज्ञानप्राप्तीने साधन देऊ शकत नाहीत त्या श्रीगुरूंचा त्याग करावा हे सांगताना श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

शिष्यासी न लावीती साधन। न करविती इंद्रियदमन।
ऐसे गुरु अडक्याचे तीन। मिळाले तरी टाकावे।।२१।।

दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन :-

खऱ्या श्रीसद्गुरूंच्या अनुग्रहाची परिणती दिव्यचक्षूंच्या उन्मीलनात होऊन शिष्य खऱ्या अर्थाने कृतार्थ होत असल्याने श्रीगुरुगीतेत या श्रीसद्गुरूंच्या अलौकिक कार्याच्या दृष्टीकोनातूनच अपूर्व प्रार्थना केलेली आढळते.

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।३४।।

अज्ञानरूपी तिमिराने अंध झालेल्या व्यक्तीचे नेत्र ज्ञानरूपी अंजन-शलाकेच्या द्वारा जे उघडतात तेच खरे श्रीगुरू होत. अशा श्रीगुरुदेवांना नमस्कार असो. आपण देहस्वरूप आहो, जग सत्य आहे, आपले मूळ स्वरूप काय आहे याचे स्मरण नाही व कल्पना हे अज्ञानाचे स्वरूप आहे. या अज्ञानामुळे मनुष्य संसाराला प्रवृत्त करणाऱ्या अवगुणांच्या समुदायात गुरफटून गेल्यामुळे अंध बनतो. त्याची नित्या-

नित्यविववेकबुद्धी नाहीशी होते. अनादि कालापासून या संसारात रमल्यामुळे विशुद्ध शक्तीचे स्फुरण कधी जीवाला जाणवत नाही. जीव नित्य, शुद्ध, बुद्ध व मुक्त असूनही तो आपण स्वतः अल्पज्ञ व अल्पशक्ती आहो अशी कल्पना करतो. संसाराचे सोंग घेऊन तो मायिक जगतात आपापल्या अधिकाराप्रमाणे वावरत असतो. त्यामुळे चैतन्यशक्ती वास्तविक जागृत असूनही ती जणू काही लुप्त झाली आहे असे वाटते. अशा या अवस्थेलाच अज्ञानतिमिरांधत्व किंवा कुंडलिनीची निद्रावस्था असे म्हणतात. जीवाची ही घोरतम निद्रावस्था ज्ञानांजनशलाकेने दूर होते. ज्ञानांजनशलाका म्हणजे ज्ञानरूपी अंजन शिष्याच्या डोळ्यात घालणारे साधन. हे साधन, ही शलाका म्हणजेच शक्तिपात होय. वेदान्तज्ञान अनुभवगम्य होण्यासाठी शक्तिपाताशिवाय दुसरा मार्ग नाही. शक्तिपात करून श्रीसद्गुरू शिष्याला ज्ञानचक्षू प्राप्त करून देतात. त्यामुळे श्रीभगवंतांनी **"श्रीमद्भगवद्गीतेत"** असे म्हटले आहे की -

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।१३.३४।।

जड, विकारी, क्षणिक व नाशवंत गोष्टीला क्षेत्र म्हणतात. नित्य चेतन, अविकारी व अविनाशी गोष्टीला क्षेत्रज्ञ म्हणतात. या दोन गोष्टींमधील भेद व अंतर लक्षात आले पाहिजे. तसेच भूतमात्रांची मूळ प्रकृती जी अविद्या तिच्यापासून सुटण्याचा मार्ग जाणला पाहिजे. जड व चैतन्य यातील अंतर कळून मुक्तीचा उपाय हा ज्ञानचक्षूंमुळेच प्राप्त होतो. जे साधक ज्ञाननेत्रांनी अर्थात् श्रीसद्गुरूंच्या कृपेमुळे जागृत झालेल्या शक्तीमुळे ही गोष्ट तत्त्वतः जाणतात ते महात्मे साधक परब्रह्म परमात्म्याशी सामरस्य प्राप्त करून घेतात.

सन्मार्ग प्रदर्शक :-

सन्मार्ग दाखविणे हे श्रीगुरूंचे फार मोठे असे कार्य आहे. **"सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रहकार"** श्री.बलभद्रांनी श्रीगुरूंच्या या कार्याचा परिचय करून देताना असे म्हटले आहे की, "जे परंपरेने प्राप्त झालेला

सन्मार्ग दाखविण्यात अत्यंत समर्थ असतात तेच वास्तविक श्रीगुरू म्हणण्यास पात्र आहेत. आत्मविश्रांतीचे दान साधकाला करण्याचे सामर्थ्य अशा श्रीसद्गुरूंमध्येच असते. ते जो मार्ग दाखवितात त्याचा अवलंब करून निष्ठेने जो साधक वाटचाल करतो त्यालाच स्वसंवेद्याचे दर्शन होते. याकरिताच श्रीगुरूंचे देवस्वरूपात चिंतन केले पाहिजे. अशा प्रकारे श्रीसद्गुरूंच्या कृपादृष्टीनेच मुनी लोक सर्व सिद्धींच्या फलाचा त्याग करून स्वतःच स्वतःला जाणणाऱ्या स्वरूपापासून पुन्हा निरुत्थान दशेमध्ये येतात तेव्हा कृतार्थ होतात. एवढेच नव्हे; तर पिंडाला समरस करण्यात समर्थ होतात." (५.७,८)

आदर्श श्रीगुरूंची लक्षणे :-

श्रीगुरुभक्ती ही सर्वश्रेष्ठ अशी साधनसंपत्ती असल्याने श्रीगुरु-भक्तीचाच आश्रय सर्वश्रेष्ठ होय हे **"श्रीमद्भागवताच्या"** एकादश स्कंदावरील तिसऱ्या अध्यायातील २१ व्या श्लोकाच्या पूर्वार्धात सांगून, आदर्श श्रीगुरू कसे असावेत हे श्रीव्यासांनी उत्तरार्धात कथन केले आहे.

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।।११.३.२१।।

ज्याला परमश्रेयाला जाणण्याची इच्छा असेल त्याने वेदाख्य ब्रह्मामध्ये व शक्तिपातयोगाने परब्रह्माचा साक्षात्कार घडविणाऱ्या कलेमध्ये प्रवीण असलेल्या व निवृत्तीमार्गाचा आश्रय असलेल्या श्रीगुरूंना शरण जावे.

अनुभूतीची प्राप्ती :-

उपरोक्त श्लोकावर टीका करताना **"श्रीएकनाथी भागवतामध्ये"** श्रीनाथांनी अनुभूतीची प्राप्ती करून देणे हे आदर्श श्रीगुरूंचे सर्वश्रेष्ठ लक्षण आहे असे स्पष्ट केले आहे. श्रीनाथमहाराज असे म्हणतात की, "जे श्रीगुरू पूर्ण अनुभवी असतात तेच सच्छिष्याला सद्भावाने तारू शकतात. आदर्श श्रीसद्गुरूंच्या लक्षणाबद्दल जगामध्ये नानाप्रकारची मतमतांतरे आहेत. परंतु जे शिष्याला अनुभवाची प्राप्ती करून

देतात त्यांनाच श्रीसद्गुरुस्वामी म्हणतात. ज्यांच्या वाक्याने शक्ति-संक्रमण घडून आल्याने शिष्याची मिथ्या जगद्भावना तत्त्वतः निःशेष मावळते त्यांनाच श्रीसद्गुरुत्व आहे असे वेद व शास्त्रे यात प्रतिपादन केले आहे. जे मंत्रतंत्रांचा उपदेश करतात तेही फार थोर व पूज्य होत; परंतु पूज्य व पूजक हा विकार मावळून टाकणारे साधन जे देतात तेच खरे श्रीसद्गुरुस्वामी होत.

अशा प्रकारची दुसऱ्याला अनुभूती देणारे श्रीसद्गुरू स्वतः पूर्णपणे आत्मानुभवी असतात. त्यांचे ब्रह्मज्ञान शुद्ध असते. ब्रह्मवस्तूला पाहून त्यांचे मन विरून गेलेले असते. त्यांचे द्वैताचे भान मावळून गेलेले असते. त्यांच्या चारही वाणींना मौन पडते. सर्व इंद्रिये तटस्थ होतात. परम अद्भुत वस्तूच्या अनुभूतीने त्यांचे प्राण पांगळून त्यांच्या देहभावाला ताटस्थ्य प्राप्त झालेले असते. अशा आत्मानुभवी श्रीगुरूंना जेव्हा शिष्य सद्भावाने अनुग्रहार्थ प्रार्थना करतो तेव्हा असले श्रीगुरू त्या शिष्याला काही विचारीत नाहीत व काही समजून सांगत नाहीत. तर ते अगदी तटस्थपणे मौन धरून बसतात. त्यांच्या या मौनानेच सर्व कार्य घडून येते. शिष्याचे कल्याण व्हावे असा भाव श्रीसद्गुरूंच्या मनात उत्पन्न झाल्याबरोबर त्यांच्या कृपानुग्रहरूप शक्तिपाताने शिष्याला ब्रह्मानुभव प्राप्त होऊन त्याचा बाध्यबाधकतेचा भ्रम निवृत्त होतो. द्वैतभावाचे कर्म थांबते. जगातील विषमभाव जातो. अशा प्रकारे कोठेही आसक्त न होता जगात राहून दुसऱ्या कोणालाही करता येणार नाही असे अनुभूतिदानाचे कार्य श्रीसद्गुरू करतात.

अशा प्रकारे श्रीसद्गुरू दीन शिष्यावर शरीर, वाणी व मन यांनी अतिशय कृपा करतात. ते शिष्याची सर्व बंधने तोडतात व अहंकार नाहीसा करतात.

ब्रह्मानुभूतीची प्राप्ती शिष्याला करून देणे हे श्रीसद्गुरूंचे असामान्य, एकमेवाद्वितीय, अपूर्व, व आवश्यक लक्षण कसे आहे हे श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी ग्रंथराज **"श्रीदासबोधात"** जागोजागी पुनःपुन्हा प्रतिपादन केले आहे.

जेथें शुद्ध ब्रह्मज्ञान। आणि स्थूळ क्रियेचें साधन।
तोचि सद्गुरु निधान। दाखवी डोळां।।५.२.२८।।
सद्गुरुकृपेचेनि बळें। अपरोक्षज्ञानाचेनि उसाळें।
मायेसहित ब्रह्मांड सगळें। दृष्टीस न ये।।५.३.४८।।
ब्रह्म दृष्टीस दिसेना। ब्रह्म मूर्खासी असेना।
ब्रह्म साधूविण येईना। अनुभवासी।।७.२.५।।
आतां मनासि जें अप्राप्त। तें कैसेंनि होईल प्राप्त।
ऐसें म्हणाल तरी कृत्य। सद्गुरुविण नाहीं।।७.२.१२।।
भांडारगृहें भरलीं। परी असतीं अडकिलीं।
हातास न येता किल्ली। सर्वही अप्राप्त।।७.२.१३।।
तरी ते किल्ली ते कवण। मज करावी निरूपण।
ऐसा श्रोता पुसे खूण। वक्त्यासी।।१४।।
सद्गुरुकृपा तेचि किल्ली। जेणें बुद्धी प्रकाशिली।
द्वैतकपाटें उघडलीं। एकसरीं।।१५।।

विविध गुणलक्षणे :-

अनुभूतीची प्राप्ती करून देणे या श्रीसद्गुरूंच्या अनन्यसाधारणत्वाबरोबरच त्यांच्या ठिकाणी इतरही नानाविध गुणांचा साठा असावा म्हणून शास्त्रकारांनी परोपरीने सांगितले आहे. **"कुलार्णवतंत्राच्या"** १३ व्या उल्लासात श्रीसद्गुरूंच्या विविध गुणलक्षणांचे वर्णन पुढीलप्रमाणे केले आहे. श्रीशंकर श्रीपार्वतीला असे म्हणाले की, "योगदीक्षा देणाऱ्या सामर्थ्यसंपन्न श्रीगुरूंची लक्षणे मी तुला सांगतो. श्रीसद्गुरूंचा वेष चांगला असतो. त्यांची वस्त्रे शुद्ध व सुशोभित असतात. त्यामुळे त्यांना मनोहरत्व प्राप्त होते. त्यांचे सर्व शारीरिक अवयव सुंदर व सर्व शुभ लक्षणांनी युक्त असतात. ते सर्व शास्त्रांचे खरे सार व तत्त्वे जाणत असतात. त्याचप्रमाणे शास्त्रांनी कथन केलेल्या क्रियाकर्मादींची व्यवस्था व विधान यांचेही त्यांना ज्ञान असते. श्रीसद्गुरूंवर लोक मोहित होतात. त्यांचे दर्शन सर्वांना अत्यंत प्रिय असते. त्यांच्याकडे येणाऱ्या सर्वांना ते अत्यंत प्रसन्न व आनंदित

करतात. श्रीसद्गुरूंचा चेहराही नेहमी प्रसन्न असतो. शास्त्राचे जे सिद्धान्त असतात त्याबद्दल अनुकूल व प्रतिकूल विचार करण्यात ते मोठे विलक्षण असतात. ते नुसत्या इशारतीने तत्त्व समजून देऊ शकतात. एखादा अत्यंत कठिणातील कठीण विषयसुद्धा ते समजावून देऊ लागले की, सोपा होऊन साधकाचा संशय व भ्रम दूर होतो. अशी लक्षणे ज्यांच्या ठिकाणी आढळतात तेच पुरुष तत्त्वज्ञानाची दीक्षा देण्याला योग्य असतात."

"श्रीसद्गुरूंची दृष्टी बाहेर असली तरी त्यांचे सर्व लक्ष अंतरंगात असते. ते सर्वज्ञ असून देशकालादींचे त्रिकालदर्शी ज्ञाते असतात. सिद्धी त्यांच्या आज्ञेत असतात. ते ज्या कोणाला जशी आज्ञा देतात ती त्याचप्रकारे फलद्रूप होऊन सिद्धीला जाते. ते कृपा व दंड करण्यात समर्थ असतात. श्रीसद्गुरू आपले सामर्थ्य स्वेच्छेने देऊन परतही घेऊ शकतात. ते षड्रिपू जिंकून जितेंद्रिय झालेले असतात. सर्व कार्यात ते अग्रगण्य राहतात. त्यांची प्रकृती अत्यंत गंभीर असते. पात्र कोण व अपात्र कोण हे ते विशेषत्त्वाने जाणतात. श्रीशिव, श्रीविष्णू इत्यादि सर्व देवतांच्याबद्दल त्यांची बुद्धी सम असते. असे श्रीसद्गुरू सद्गुणांनी विभूषित झालेले असल्याने साधूंचे भूषणच असतात. त्यामुळेच योगदीक्षा देण्यास ते योग्य असतात."

"श्रीसद्गुरू अंतस्थपणे अक्षरशः ममतारहित असतात. ते नेहमी संतुष्ट, स्वतंत्र व अनंत शक्तिशाली असतात. जेव्हा सद्भक्त श्रीसद्गुरूंपाशी येतात तेव्हा ते त्यांना प्रेम, धीर, कृपा देऊन व हास्यपूर्ण सुखप्रद बोलून संतुष्ट करतात. राग, द्वेष, भय, क्लेश, दंभ, अहंकार इत्यादिंपासून अलिप्त असलेले श्रीसद्गुरू नेहमी नित्य नैमित्तिक व आनंदित असून काम्यकर्मात रत असतात. ते आपल्या विद्यानुष्ठानामध्ये निमग्न राहून धर्म व ज्ञानदानाचे कार्य सतत करतात. गुणदोषादि भेदांचे ज्ञान त्यांच्या ठिकाणी विशेषप्रकारे दिसून येते. जे काही दैवाने मिळेल त्यातच ते संतुष्ट असतात. अशा उत्तम लक्षणांनी संपन्न असलेले महापुरुषच ब्रह्मज्ञानाची दीक्षा देण्याला योग्य असतात."

"श्रीसद्गुरू स्त्री व धन इत्यादिंमध्ये कधीच आसक्त होत नाहीत. दु:संगती व दुर्व्यसन यापासून ते नेहमी दूर असतात. ते निर्द्वंद्व, नियत, व्रतधारी व संयमी असून आपल्यामध्येच संतुष्ट असतात. ते तृष्णारहित, संकल्पशून्य, अपक्षपाती, विचक्षण, संगरहित, विकल्पशून्य, आत्मतत्त्वसाक्षात्कारी, अत्यंत धार्मिक, निंदास्तुती समान मानणारे व मननशील असतात. ते कोणाची व कशाचीही अपेक्षा करीत नाहीत. आपल्या आत्मबलाने ते दुसऱ्यांना सहजासहजी नियंत्रित करू शकतात. अशा शुभलक्षणांनी जे युक्त असतात ते श्रीसद्गुरूच आत्मज्ञानदीक्षा देण्यास योग्य ठरतात."

श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनीही **"श्रीदासबोधात"** खऱ्या, ज्ञानी व सामर्थ्यसंपन्न श्रीसद्गुरूंची लक्षणे फार अपूर्व पद्धतीने वर्णन केली आहेत. श्रीसमर्थ म्हणतात, "अनादि इच्छेमुळे माणूस बंधनात पडून जन्ममरण परंपरादि तीव्रतर दु:खे सोसत असतो. अशा प्रकारे अनंत जन्म दु:ख भोगल्यावर जेव्हा ईश्वरकृपेने तो अनन्यभावाने श्रीसद्गुरूंना शरण जातो तेव्हा श्रीसद्गुरू आपल्या शक्तिपातयोगाच्या सामर्थ्याने शिष्याला ज्ञान देऊन तत्काळ सोडवितात. हे कार्य जे करतात तेच श्रीसद्गुरू होत. श्रीसद्गुरू नुसती वाचिक बडबड करीत नाहीत तर ते आपल्या सामर्थ्याने "तत्त्वमस्यादि" महावाक्यांचा खरा अर्थ व मर्म ज्यामध्ये दडलेले असते ते आत्मतत्त्व किंवा ती ब्रह्मवस्तू शिष्याला दाखवून अनुभवगम्य करून देतात. अशी अलौकिकता ज्यांच्या ठिकाणी असते तेच अनाथांचे माहेर मायबाप असे श्रीसद्गुरू होत. एकदेशीपणाच्या म्हणजे आपण श्रीशिव नसून जीव आहोत, विभू नसून अणू आहोत व श्रीब्रह्मासारखे सर्वव्यापी नसून अल्पव्यापी आहोत अशा कल्पनेने माणूस दीन होतो. परंतु श्रीसद्गुरू शक्तिपातयोगाने साधकाला तत्काळ साक्षात् ब्रह्मरूप करून टाकतात. त्यामुळे संसार खरा आहे असे वाटल्यामुळे त्याला जे दु:ख होत असते ते या शब्ददीक्षेने नाहीसे होते. वेद, शास्त्रे व संत या तिघांचा अनुभव एकच असतो. या अनुभवाशी जे ऐक्य करून देतात ते श्रीगुरुराज

होत. श्रीसद्गुरू संशय अजिबात जाळून टाकतात. ते स्वतः स्वधर्माचे प्रतिपालन आदरपूर्वक करतात आणि वेदबाह्य आचरण करून बाष्कळपणा करीत नाहीत. इतके सांगून झाल्यावर श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

मुख्य सद्गुरूंचे लक्षण। आधीं पाहिजे विमळ ज्ञान।
निश्चयाचें समाधान। स्वरूपस्थिती।।५.२.४५।।
याहीवरी वैराग्य प्रबळ। वृत्ति उदासीन केवळ।
विशेष आचरें निर्मळ। स्वधर्माविषयीं।।४६।।
याहीवरी अध्यात्मश्रवण। हरिकथानिरूपण।
जेथें परमार्थविवरण। निरंतर।।४७।।
जेथें सारासार विचार। तेथें होय जगदुद्धार।
नवविधा भक्तीचा आधार। बहुत जनांसी।।४८।।
म्हणौनी नवविधा भजन। जेथें प्रतिष्ठीले साधन।
हें सद्गुरूंचें लक्षण। श्रोतीं वोळखावें।।४९।।
अंतरीं शुद्ध ब्रह्मज्ञान। बाह्य निष्ठेचें भजन।
तेथें बहुत भक्तजन। विश्रांती पावती।।५०।।
नाहीं उपासनेचा आधार। तो परमार्थ निराधार।
कर्मेंविण अनाचार। भ्रष्ट होती।।५१।।
म्हणौनी ज्ञान वैराग्य आणि भजन। स्वधर्मकर्म आणि साधन।
कथानिरूपण श्रवणमनन। नीति न्याय मर्यादा।।५२।।
यांमध्यें एक उणे असे। तेणें तें विलक्षण दिसें।
म्हणोनि सर्वहि विलसे। सद्गुरूंपाशीं।।५३।।

"**श्रीएकनाथी भागवताच्या**" तिसऱ्या अध्यायात श्रीनाथांनीही श्रीसद्गुरूंची विविध लक्षणे पुढीलप्रमाणे सांगितली आहेत. "आता श्रीसद्गुरूंची जी स्वाभाविक लक्षणे असतात ती मी तुला सांगतो. ती ऐकून तुझे अंतःकरण सद्भावाने सुखी होईल. श्रीसद्गुरू दीनांवर शरीराने स्पर्शदीक्षा देऊन, वाणीने शब्ददीक्षा देऊन व मनाने कृपादीक्षा देऊन अत्यंत कृपा करतात. ते शिष्यांची संसारबंधने तोडतात व

अहंकार समूळ नाहीसा करतात. ते शब्दज्ञानामध्ये पारंगत असतात. ब्रह्मानंदाने सदा डुलत असतात आणि शिष्याला आत्मभावाने अधिकाराप्रमाणे बोध करण्यास समर्थ असतात. ज्याचा जसा भाव असतो तशीच प्रतीती शिष्याला श्रीसद्गुरू आणून देतात. ते गुरुत्वाचा अहंभाव अणुमात्रही धरीत नाहीत. शिष्यापासून सेवा करून घेण्याची कल्पना कधी स्वप्नातही त्यांच्या चित्तात उद्भवत नाही. उलट स्वतः शिष्याची सेवा करणे व आपल्या शिष्याला पूज्यत्वाने पाहणे हा श्रीसद्गुरूंचा स्वभावच आहे. "शिष्याला पुत्रासमान पाहणे," हे स्मृतिवाक्य याविषयी प्रमाण आहे. त्यामुळे शिष्याला कमी समजणे हे त्यांना ठाऊकच नसते. त्याला ते पूर्ण ब्रह्मभावाने पाहतात. शिष्य आपल्या भावनेनेच श्रीसद्गुरूंची सेवा करतो. पण श्रीसद्गुरू त्याला आपला सेवक म्हणत नाहीत; कारण ज्यांना सर्व भूते भगवद्रूप झालेली असतात त्यांना शिष्य हा सेवक आहे ही भावनाच राहत नाही. मी हा असा एक महायोगी आहे असेही ते जगात मिरवीत नाहीत. ते आपल्या अंगी श्रीसद्गुरुत्वाचा ताठा केव्हाही भरू देत नाहीत व आपल्या चरितार्थाचा भार स्वप्नातही शिष्यावर घालीत नाहीत. उलट शिष्याचे अत्यंत मोठे संकटही ते स्वतःच निवारण करतात. मी एक अकर्ता आत्मयोगी आहे अशा अभिमानाने ते विषयांचा भोग घेत नाहीत व स्वतः त्याचा त्यागही करीत नाहीत. असे श्रीसद्गुरू प्रारब्धाच्या अनुसार जे प्राप्त होईल ते देहाकडून करवून परब्रह्मचिंतनात निमग्न असतात. देह पालखीत बसला किंवा विष्ठेत पडला तरी त्या दोहोंचेही सुखदुःख त्यांच्यापुढे "मी" म्हणून कधीच उभे राहत नाही. देहात असूनही त्यांना अहंकार व गृहासक्ती असत नाही. उलट ते व्यवहारात लौकिक स्थितीला अनुसरून लोकांप्रमाणे सुखाने वागतात. श्रीसद्गुरूंची पत्नी त्यांना हा माझा पती असे म्हणते, पुत्र हे माझे वडील आहेत असे म्हणतात व शिष्य हे माझे गुरू आहेत असे म्हणतात. परंतु श्रीसद्गुरू हे तत्त्वतः त्या सर्वांपासून अलिप्त राहून त्यांच्यात असतात. अशा प्रकारे आपल्या पूर्ण प्रतीतीने ते ईश्वराची भक्ती करून दाखवितात

आणि सर्व भूतांमध्ये हरीचे भजन करावे असाच शिष्यांना उपदेश करतात."

"श्रीसद्गुरूंची ही स्वाभाविक लक्षणे पंडितांना पांडित्याच्या अभिमानामुळे कळत नाहीत. जे पूर्णानुभवी असतात ते श्रीसद्गुरूंची खूण ओळखतात. इतरांचे ज्ञान त्यांच्या ठिकाणी कुंठित होते. पूर्ण शांती ही श्रीसद्गुरूंची खरी खूण आहे. तेच श्रीसद्गुरुत्वाचे मुख्य लक्षण व भूषण आहे." (३.२९५ ते ३१२)

सत् शिष्याची लक्षणे :-

शक्तिपातयोगाचे साधन करणाऱ्या साधकाच्या ठिकाणी उत्तमोत्तम लक्षणे असणे आवश्यक असते. अशी लक्षणे ज्या साधकाच्या ठिकाणी मूलतः असतात त्याला शास्त्राने सांगितलेली फले त्वरित मिळतात. ज्या साधकाच्या ठिकाणी ही लक्षणे नसतात त्याने ती लक्षणे अंगी बाणविण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे.

शरणागती :-

श्रीसद्गुरूंना सर्वार्थाने शरण जाणे हे सत् शिष्याचे सर्वात मोठे लक्षण आहे. कारण अशा प्रकारे शिष्य शरणागत झाल्याशिवाय शक्तिसंक्रमणाची भूमीच उपलब्ध होऊ शकत नाही. शरणागती हे एक रहस्य आहे. "**सर्व साधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा। पापहीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम।।**" हे श्रीगुरुराया मी अगदी साधनहीन मनुष्य आहे. मायेमुळे सर्वार्थाने पराधीन झालो आहे व पापांच्या भाराखाली दबून गेलो आहे. असा मी दीन आहे. तूच माझी गती आहेस, "असे म्हणून शिष्य जेव्हा श्रीसद्गुरूंना शरण जातो तेव्हाच तो दीक्षेला पात्र ठरतो. ही दीनता व शरणागतता म्हणजे खरी निरभिमानता व अहंकारशून्यता होय. या अर्थानेच "**कुलार्णवतंत्रात**" शिष्याची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की-

शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेद्य यः।
गुरुभ्यः शिक्षते योगं शिष्य इत्यभिधीयते।।

जो साधक तन, मन, धन व प्राण श्रीगुरूंना समर्पण करून

योगाचा अभ्यास करतो व योग शिकतो त्यालाच वास्तविक शिष्य म्हटले जाते.

श्रीसमर्थांनीही शरणागतीला अनन्यसाधारण महत्त्व देऊन **"श्रीदासबोधात"** सच्छिष्याची व्याख्या पुढीलप्रमाणे केली आहे. त्यावरून हे लक्षण किती श्रेष्ठ व महत्त्वाचे आहे हे स्पष्ट होते.

मुख्य सच्छिष्याचें लक्षण। सद्गुरुवचनीं विश्वास पूर्ण।
अनन्यभावें शरण। त्या नांव सच्छिष्य।।५.३.१९।।
लागतां सद्गुरुवचनपंथें। झालें ब्रह्मांड पालथें।
तरी जयाच्या शुद्ध भावार्थें। पालट न धरिजे।।५१।।
शरण सद्गुरूसि गेले। सच्छिष्य ऐसे निवडिले।
क्रियापालटें झालें। पावन ईश्वरीं।।५२।।

विविधगुण :-

इतरही अनेक गुण सच्छिष्याचे ठिकाणी असावेत म्हणून शास्त्रकारांनी त्यांचा परोपरीने व आवर्जून निर्देश केला आहे. **"कुलार्णवतंत्राच्या"** त्रयोदश उल्लासात पुढील लक्षणे सांगितली आहेत. "जो साधक श्रीसद्गुरूंनी दिलेल्या समाधीच्या साधनात सतत निमग्न असतो, गुण व शीलादि शुभलक्षणांनी युक्त असतो तोच शिष्य तत्त्वज्ञानाची दीक्षा देण्यास उत्तम अधिकारी असतो. शुद्ध मनाचा, श्रद्धाभक्तियुक्त, शास्त्राचा जाणकार, चांगल्या सुदृढ शरीराचा, स्वच्छ वस्त्र धारण करणारा, विचारपूर्वक कर्म करणारा, उदारचित्त, गंभीर, मिताहारी, सर्व कार्यात दक्ष, निरभिमानी व निष्काम सेवा करणारा जो साधक असतो तोच योगदीक्षेला अधिकारी सच्छिष्य असतो.

सच्छिष्य सर्व कार्यात कुशल असतो. स्वच्छता, कृतज्ञता, पापभिरुता, सर्वांवर उपकार करण्याची वृत्ती व साधुसज्जनांना अनुकूल वर्तन करणे, विश्वास, विनय, आस्तिकता, दानशीलता, सर्वांचे हित पाहण्याची वृत्ती, विचक्षणता, उत्साह, प्रयत्नशील, असाध्य साध्य करणारा, अनुकूल कार्य करणारा, प्रमादरहित व तपस्या करणारा असा वीर पुरुषच ब्रह्मज्ञानाची दीक्षा देण्याला योग्य असतो.

सच्छिष्य हा सर्वांशी हितकर, दूषणरहित, परिमित व आनंदप्रद भाषण करतो. तो अत्यंत बुद्धिमान् व चतुर असतो. त्याला एखादी गोष्ट एकदा सांगितली की, त्याचा अर्थ त्याला त्वरित समजतो. असा बुद्धिमान् शिष्यच दीक्षेचा अधिकारी असतो. सच्छिष्याला आपली स्तुती व दुसऱ्याची निंदा ऐकणे आवडत नाही. तो नेहमी अत्यंत प्रसन्न असतो. दुसऱ्यांचे आवडते व चांगले काम करण्यात तो तत्पर असतो. असा जितेंद्रिय, संतुष्ट, बुद्धिमान् व ब्रह्मचारी सच्छिष्य योगदीक्षेचा अधिकारी असतो. सच्छिष्य मनस्ताप, दुश्चितादि अंतःकरणाची पीडा, शारीरिक रोग, चंचलता, दुःख, भ्रांती व संशय यांपासून मुक्त असतो. तो नेहमी श्रीगुरूंचे ध्यान, स्तुती, कथा व देवतार्चनामध्ये निमग्न असतो.

श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनीही सच्छिष्याची लक्षणे ग्रंथराज **"श्रीदासबोधात"** फार सुंदर कथन केली आहेत. ते असे म्हणतात की -

शिष्य पाहिजे निर्मळ। शिष्य पाहिजे आचारशीळ।
शिष्य पाहिजे केवळ। विरक्त अनुतापी।।५.३.२०।।
शिष्य पाहिजे निष्ठावंत। शिष्य पाहिजे शुचिष्मंत।
शिष्य पाहिजे नेमस्त। सर्व प्रकारीं।।२१।।
शिष्य पाहिजे साक्षेपी विशेष। शिष्य पाहिजे परम दक्ष।
शिष्य पाहिजे अलक्ष। लक्षी ऐसा।।२२।।
शिष्य पाहिजे अतिधीर। शिष्य पाहिजे अति उदार।
शिष्य पाहिजे अतितत्पर। परमार्थाविषयीं।।२३।।

याप्रमाणे पुढील लक्षणेही श्रीसमर्थांनी आवर्जून सांगितली आहेत. सच्छिष्य हा परोपकारी, निर्मत्सरी, अर्थाकडे लक्ष देणारा, अत्यंत शुद्ध, परम सावध, अपार गुणांचा, प्रज्ञावंत, प्रेमळ भक्त, नीतिवंत, मर्यादाशील, युक्तिवंत, बुद्धिवंत, सद्सद् व नित्यानित्य विचारी, दृढ व्रताचा, उत्तम कुळाचा, पुण्यशील, सात्त्विक, भजनशील, उत्तम साधक व साधनकर्ता, विश्वासू, शरीर क्लेश सोसणारा, परमार्थ

वाढविणारा, स्वतंत्र, जगन्मित्र व सत्पात्र असावा. इतके सांगून श्रीसमर्थ पुढे असे म्हणतात की -

याकारणें दृढ विश्वास। तोचि जाणा सच्छिष्य।
मोक्षाधिकारी विशेष। अग्रगण्यु।।५.३.३८।।
जो सद्गुरुवचनें निवाला। तो सायुज्यतेचा आंखला।
संसारपांगें पांगिला। न वचे कदा।।३९।।
सद्गुरुहूनि देव मोठा। जयास वाटे तो शिष्य करंटा।
सुटला वैभवाचा फाटा। सामर्थ्य पिसें।।४०।।

श्रीगुरुभक्तीचा उच्च आदर्श :-

शक्तिपातयोगाचे खरे रहस्य श्रीगुरुभक्तीत आहे. हे रहस्य आत्मसात करून साधकाने आपण ज्या परिस्थितीत आहोत त्या परिस्थितीत राहून श्रीगुरुभक्ती केली पाहिजे. अनुकूलताभेदाने श्रीगुरुभक्तीच्या अंगोपांगात फरक दिसला तरी फलप्राप्ती मात्र एकच राहणार असल्याने न्यूनाधिक्य न मानता आपल्याला सोयीचा, साजेलसा व झेपेलसा प्रकार अंगिकृत करून शरणागती पत्करली म्हणजे श्रीगुरुभक्तीचे म्हणजेच पर्यायाने ब्रह्मप्राप्तीचे रहस्य आत्मसात् केल्यासारखे होईल.

श्रीगुरुपादुकापूजन :-

श्रीसद्गुरूंच्या पादुकांचे पूजन करणे हा श्रीगुरुभक्तीचा सर्वश्रेष्ठ मार्ग आहे. या देवदुर्लभ मार्गाचे माहात्म्य कथन करताना **"कुलार्णव-तंत्राच्या"** द्वादश उल्लासात पुढील वर्णन आले आहे. श्रीपार्वती असे म्हणाली की, "हे कुलेशा! दयाळू महादेवा! श्रीगुरुपादुकांच्याबद्दल साधकाच्या अंत:करणात भक्ती व आचार कसा असावा हे ऐकण्याची माझी इच्छा आहे. तरी आपण कृपा करून त्यासंबंधी मला सांगावे." श्रीमहादेव असे म्हणाले की, "हे देवी! तू मला जो प्रश्न विचारलास त्याचे उत्तर सांगतो ते ऐक. माझे म्हणणे नुसते ऐकले तरीसुद्धा साधकाच्या अंत:करणात भक्ती उत्पन्न होते. कोट्यावधिमहाज्ञानांहून, कोट्यावधिमहाव्रतांहून व कोट्यावधिमहादानांहूनही श्रीसद्गुरूंच्या पादुकांचे स्मरण श्रेष्ठ आहे. तसेच कोटीकोटी मंत्रांच्या जपाहून, कोटीकोटी

पुण्यतीर्थांच्या स्नानाहून व कोटीकोटी देवांच्या पूजनाहूनही श्रीसद्गुरु-महाराजांच्या पादुकांचे स्मरण श्रेष्ठ आहे. मोठेमोठे रोग, उत्पात, दोष, भय, पाप व महाभयानक आपत्तीतून श्रीसद्गुरूंच्या पादुकांचे नुसते स्मरण केले तरी संरक्षण होते. तसेच दुष्टाचार, दुष्कीर्ती, दुःसंगती, दुष्टखाद्य, दुःसंग्रह आणि दुष्टबुद्धी यांपासूनही पादुकांचे नित्य स्मरण करणाऱ्या साधकाचे रक्षण होते. ज्याची वाणी नित्य श्रीगुरुपादुकास्मरण करीत असते त्याने सर्व वेदांचे अध्ययन केले, स्मृती पाहिल्या, सर्व देवांचे पूजन केले, सर्व काही पाहिले, यज्ञयावत् सर्व दिले आणि समस्त जाणले आहे असे म्हणावयास काहीही हरकत नाही असे निश्चित समज. भक्तिभावाने एकवेळ जरी श्रीगुरु-पादुकांचे स्मरण केले तरी सर्व पातकांचा नाश होऊन श्रेष्ठ गती मिळते. शुची किंवा अशुची अशा कोणत्याही अवस्थेत पादुकांचे स्मरण केल्यास धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थाची प्राप्ती अगदी अनायासाने होते. श्रीगुरुचरणकमल जेथे आहेत त्या दिशेला दररोज भक्तीने नमस्कार करावा. हे पार्वती! श्रीगुरुपादुकास्मरणापेक्षा श्रेष्ठ मंत्र नाही. श्रीगुरूंपेक्षा श्रेष्ठ देव नाही. शास्त्रापेक्षा श्रेष्ठ ज्ञान नाही आणि कुलपूजनाइतके श्रेष्ठ पुण्य नाही. श्रीगुरुमूर्तीचे ध्यान हे सर्व ध्यानात म्हणजे ध्येयवस्तूंमध्ये श्रेष्ठ आहे. श्रीगुरुचरणपूजा ही सर्व पूजेत श्रेष्ठ पूजा आहे; कारण सर्व पूज्य वस्तूत श्रीगुरुपाद अतिशय पूज्य आहेत. श्रीगुरुवचन हे सर्व मंत्रांहून श्रेष्ठ आहे आणि मोक्षप्राप्तीचे श्रेष्ठ कारण श्रीगुरुकृपाच आहे. हे कुलनायके! या जगात श्रीगुरूवाचून दुसरे काहीच नाही म्हणून भक्तियुक्त अंतःकरणाने सिद्धीसाठी म्हणजे मोक्षासाठी श्रीगुरूंचीच सेवा करावी."

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनीही मोक्षप्राप्तीसाठी श्रीगुरूंच्या पादुकांची पूजा कशी करावी याचे **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** १५ व्या अध्यायात फार बहारीचे वर्णन केले आहे. ते असे म्हणतात की, "आता आपले हृदय चांगले स्वच्छ व शुद्ध करून त्यावर श्रीगुरूंच्या पादुकांची स्थापना करू म्हणजे हृदयकमलाच्या ठिकाणी श्रीगुरूंचे चरण दृढ

धारण करू. नंतर मनातील सर्व भेद नाहीसा करून ऐक्यभावाच्या ओंजळीत सर्व इंद्रियांच्या फुललेल्या कळ्या भरून त्यांच्या चरणांवर वाहू. म्हणजे सर्व इंद्रियांना एकवटवून त्यांचे व्यापार त्या चरणांच्या ठिकाणीच अनन्यभावाने समर्पण करू. श्रीगुरुचरणांना अनन्यभावरूपी स्वच्छ उदकाने स्नान घालून नंतर श्रीगुरुचरणनिष्ठारूप वासनेच्या सुवासिक चंदनाचे बोट लावू. प्रेमरूपी सोन्याचे पैंजण घडवून ते श्रीगुरूंच्या सुकुमार पायात घालू. दृढप्रेमाची एक व शुद्ध अव्यभिचारी प्रेमाची एक अशा दोन उत्तम अंगठ्या श्रीगुरूंच्या दोन चरणांच्या बोटात घालू. आनंदरूपी सुगंधाने परिपूर्ण भरलेले व अष्टसात्त्विक भावांनी भरलेल्या कळीच्या सर्व पाकळ्या उमलेले अष्टदळात्मक कमळ श्रीगुरुचरणांवर वाहू. श्रीगुरूंच्या पूजेच्या वेळी अहंकाररूपी धूप जाळू. मी नाही, सर्व एक श्रीगुरूच आहेत, या अद्वैतबुद्धिरूप दीपाने त्यांच्या चरणांची आरती करू व शेवटी श्रीगुरूंच्या प्रेमाने साक्षित्वही सोडून देऊन श्रीगुरूंशी समरस होऊ व त्यांचे चरण पोटाशी कवटाळून धरू. आपले शरीर व प्राण यांच्या पादुका करून श्रीगुरुचरणी घालू व त्या चरणांवरून भोग व मोक्ष हे दोन्ही ओवाळून टाकू. जो कोणी परम भाग्यवान् असेल त्यालाच याप्रकारची श्रीगुरुचरणांची सेवा प्राप्त होईल. मोक्षासकट सर्व अर्थांची प्राप्ती करून देणे हे या सेवेचे फल आहे.

"तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि" या ग्रंथातील **"सामरस्य या महामिलन"** या आपल्या लेखात म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज यांनी श्रीगुरुपादुकांचे एक चरम रहस्य सांगितले आहे. ते असे म्हणतात की, "परमतत्त्वाच्या बरोबर होणारे जे सामरस्य त्याच सर्वोत्तम श्रीगुरुपादुका होत. स्वप्रकाशित असे जे शिवरूप आहे ते रूपसुद्धा श्रीगुरुपादुका या नावानेच ओळखले जाते. विमर्श किंवा शक्तीलाही श्रीगुरुपादुकाच म्हटले जाते. परंतु ज्या ठिकाणी श्रीशिवशक्तीचे ऐक्य किंवा सामरस्य होते त्यालाच श्रेष्ठ श्रीगुरुपादुका म्हणतात. श्रीगुरू हे परमशिवस्वरूप आहेत. श्रीशिवसुद्धा श्रीगुरूंची पादुका

आहे व श्रीशक्तीही पादुकाच आहे. या दोहोंची समरसता म्हणजे परा पादुका होत.

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवत्मनो गुरोः।।

सेवा :-

श्रीगुरुभक्तीच्या उच्च आदर्शातील "सेवा" हा प्रकार अत्यंत मधुर, गोड, गहन व कठीण असा आहे; कारण या प्रकारात इतक्या संमिश्र भावनांचा व अनुभवांचा मिलाफ झालेला असतो की, त्याचे वर्णन करणे कठीण आहे. असे असले तरी श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** १३ व्या अध्यायात आचार्योपासन या पदावर टीका करताना या प्रकाराचे फार बहारीचे वर्णन केले आहे. ते असे म्हणतात की, "हे चतुर पुरुषांमध्ये श्रेष्ठ अशा अर्जुना! आता यानंतर श्रीगुरुभक्तीचा प्रकार सांगतो. तो तू ऐक. ही श्रीगुरुसेवा म्हणजे संपूर्ण सद्भाग्याला जन्म देणारी माता आहे; कारण ती त्रिविध दुःखाने पोळलेल्या जीवाला अविनाशी सुखस्वरूप असे ब्रह्म करून सोडते. ती श्रीसद्गुरूंची सेवा कशी करायची हे तुला आता सविस्तर सांगतो. तेथे तुझे संपूर्ण लक्ष एकाग्र होऊ दे. ज्याप्रमाणे श्रीगंगा संपूर्ण पाण्याचे ओघ घेऊन समुद्राला मिळते, संपूर्ण श्रुतीचा अभिप्राय ब्रह्मस्वरूपाच्या ठिकाणीच सामावून गेलेला असतो किंवा पतिव्रता स्त्री आपल्या ठिकाणी असलेले सर्व गुणावगुण योग्यायोग्यतेचा विचार न करता आपल्या प्रिय पतीस समर्पण करते त्याप्रमाणे साधकाने आपले अंतर्बाह्य श्रीगुरुकुलाला समर्पण करून आपल्या मनाला श्रीगुरूंच्या प्रेमभक्तीचे घर केले पाहिजे. ज्याप्रमाणे पतिव्रता स्त्री पतीचा विरह झाला असताना मनात अखंड पतीचेच चिंतन करते त्याप्रमाणे श्रीगुरुभक्ताच्या अंतःकरणात ज्या देशात श्रीगुरूंच्या राहण्याचे घर असेल त्या देशाचेच सारखे चिंतन असते. ज्या दिशेस श्रीगुरू राहतात त्या दिशेकडून वारा येत असेल तर त्या वाऱ्यासही साधक सामोरा धावतो व त्या वाऱ्याला लोटांगण घालून "आपण

माझ्या घरी आगमन करावे," अशी प्रार्थना करतो. निर्व्याज प्रेमाने वेडा झाल्याने साधकाला त्या दिशेशीच बोलावेसे वाटते. साधक आपला जीव श्रीगुरुगृही कायम अडकवून ठेवतो. ज्याप्रमाणे वासराला दावे अडकवून बांधले की, त्याचा देह जरी गोठ्यात असला तरी त्याचे सर्व लक्ष गाईकडेच लागलेले असते त्याप्रमाणे श्रीगुरूंनी आज्ञा दिलेली असल्यामुळे शिष्य देहाने जरी आपल्या गावी राहत असला तरी त्याचे सर्व लक्ष सतत श्रीगुरुगृहाकडेच असते. त्यामुळे त्याला सतत असे वाटत असते की, संसारबंधनाचे हे दावे केव्हा तुटेल? हे बंधन सुटून श्रीसद्गुरुस्वामींची भेट केव्हा होईल? अशी चिंता सतत लागलेली असल्यामुळे साधकाला एकएक क्षणही एकएक युगापेक्षा मोठा भासत असतो. अशा स्थितीत श्रीगुरूंच्या राहत्या गावाहून कोणी आल्यास किंवा श्रीगुरूंनीच त्याच्याकडे एखादा मनुष्य पाठविला तर आयुष्य संपलेल्या माणसाला आयुष्य प्राप्त व्हावे तशी त्याची स्थिती होते."

"सुकत असलेल्या अंकुरावर अमृताचा वर्षाव झाला की, त्याला नवजीवन प्राप्त होते. डबक्यातील मासा समुद्रात आला की, त्याची डबके आटून गेल्यामुळे मरणाची भीती नाहीशी होते व भव्यता प्राप्त होते. दरिद्री माणसाला धनाचा हंडा सापडला की, निरतिशय आनंद होतो, अंधळ्याला डोळे प्राप्त झाले की, नवे विश्व त्याच्यापुढे उभे राहते व भिकाऱ्याला इंद्रपद प्राप्त झाले की, त्याचे मूळ स्वरूपच पालटते. वरील गोष्टींप्रमाणेच श्रीगुरूंच्या कुळाचे नाव ऐकताक्षणीच साधकाची स्थिती होते. त्याला निरतिशय सुख होते. त्यामुळे तो इतका मोठा होतो की, त्याला वाटते आकाशही सहज कौतुकाने कवटाळता येईल. याप्रमाणे श्रीगुरुकुळादिकांच्या ठिकाणी ज्याची अशी प्रीती व तळमळ असलेली दिसेल त्याच्यापाशी ज्ञान हे त्याची सेवा करीत आहे असे समजावे."

येथपर्यंत स्मरणसेवेचे वर्णन केल्यावर पुढे श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी अर्चनसेवेचे वर्णन केले आहे. "श्रीगुरूंविषयी साधकाच्या अंतःकरणात नितांत प्रेम असते. या प्रेमाच्या बळाने तो श्रीगुरूंचे रूप ध्यानात

आणून उपासना करतो. प्रथम साधक शुद्ध अशा हृदयाचा किंवा अंतःकरणाचा तट अगर आवार उभे करतो. मग आराध्य अशा श्रीगुरूंच्या रूपाला तो ध्रुवाप्रमाणे अंतःकरणात अचलपणे स्थापन करतो. नंतर सर्व मनोभाव व सेवासाहित्य यांच्या रूपाने आपणच आहोत अशी बुद्धी धारण करून चैतन्याच्या चौथऱ्यावर ब्रह्मानंदाचे देऊळ उभारून व त्या देवळात श्रीगुरुरूपी शिवलिंगाची स्थापना करून त्याच्यावर ध्यानरूपी अमृताचा अभिषेक करतो. अशा प्रकारच्या पूजेने प्रातिभज्ञानाचा सूर्य उगवतो. त्यामुळे त्याला अद्वैतज्ञान होते. अशा ऐक्यज्ञानरूप बुद्धीच्या परडीत अष्टसात्त्विकभावांची लाखलाख कमळे भरून ती तो साधक श्रीगुरुरूप त्र्यंबकाला वाहतो. प्रातःकाळ, मध्याह्नकाळ व सायंकाळ असे जे श्रीशिवपूजेकरिता म्हणजे साधनाकरिता तीन शुद्ध काळ सांगितले आहेत त्या तिन्हीकाळी साधक उदित शक्तीच्या साहाय्याने जीवदशेचा धूप जाळीत असतो आणि ज्ञानदीपाने श्रीगुरूंना अखंड ओवाळतो. श्रीगुरूंच्या ऐक्याने प्राप्त झालेल्या समरस स्थितीचा नैवेद्य साधक अखंड अर्पण करीत असतो व याप्रमाणे श्रीगुरूंना श्रीशिवलिंग करून आपण पुजारी होतो."

यानंतर सख्यभक्तीने सेवा कशी करावी हे सांगताना श्रीज्ञानेश्वर-महाराज असे म्हणतात की, "एखाद्या वेळी साधक जीवरूप शय्येवर श्रीगुरुरूप श्रीशिवाला पती करून त्याचा भोग घेतो. अशी नानाप्रकारे साधकाची बुद्धी प्रेमाच्या उल्हासाने स्फुरत असते. साधनरत असताना जेव्हा साधकाच्या अंतःकरणात एखाद्यावेळी प्रेम दाटून आले की, त्या प्रेमाला साधक दुधाचा सागरच समजतो. तेथे ध्येय, ध्यान व अपार सुख ही त्रिपुटीच निर्दोष अशी शेषरूप गादी आहे व त्यावर शयन करणारे भगवान् श्रीविष्णू हे श्रीगुरूच आहेत अशी भावना करतो. मग साधक त्या श्रीगुरुरूपी श्रीविष्णूची सेवा करणारी श्रीलक्ष्मी आपण होतो आणि आपणच गरूडही होऊन हात जोडून सन्मुख उभा राहतो. नाभीपासून जन्मलेला ब्रह्मदेव मीच होय अशी साधक भावना करतो. याप्रमाणे श्रीगुरुमूर्तीच्या प्रेमाने आपल्या ठिकाणी नानाप्रकारच्या

सेवकाच्या भावना करून ध्यानाचे सुख उपभोगतो. एखाद्या वेळी श्रीगुरूंना प्रेमाच्या बळावर आपली आई समजून मी तिचे स्तनपान करीत आनंदाने तिच्या मांडीवर लोळत आहे अशी भावना करतो. किंवा चैतन्यवृक्षाचे खाली बसणारे श्रीगुरू हे गायीसारखे असून आपण तिच्या पोटाशी बसत असलेले वासरू होतो. एखाद्या वेळी श्रीगुरूंच्या कृपाप्रेमरूप पाण्यातील आपण मासोळी आहोत अशी साधक भावना करतो. माझे श्रीगुरू कृपारूप अमृताची वृष्टी असून त्याखाली आपण सेवावृत्तिरूप रोप आहोत असे साधकाला वाटते."

साधक दास्यभक्तीने सेवा कशी करतो हे सांगताना श्रीज्ञानेश्वर-महाराज असे म्हणतात की, "साधक श्रीगुरूंची अशी सेवा करतो की, त्याच्या सेवेचे कौतुक करून ते प्रसन्न होऊन "इच्छित वर माग," असे म्हणतील. मग साधक अशी प्रार्थना करतो की, "हे श्रीगुरुदेवा! तुमच्या सेवेला जेवढा काही सेवकवर्ग लागतो तो संपूर्ण एक मीच व्हावे आणि आपल्या सेवेला साहाय्यभूत होणारी जेवढी काही उपकरणे व सामग्री आहे ती सर्व माझीच रूपे व्हावीत," असा वर मी मागेन व श्रीगुरू प्रसन्न होऊन "हो" म्हणतील. मग त्यांचा सर्व परिवार व उपचार सामग्री मीच होईन. अशा प्रकारे देह असेपर्यंत व देहपातानंतरही मी सेवा करीन अशी साधकाची बुद्धी असते. पृथ्वीच्या ज्या भागावर श्रीगुरूंचे चरण उभे राहतील त्या मातीत मी शरीरातील मातीचा अंश मिळवीन असे साधक म्हणतो. माझे श्रीगुरुस्वामी ज्या पाण्याला कौतुकाने स्पर्श करतात त्या पाण्यामध्ये मी आपल्या शरीरातील जलाच्या अंशाचा लय करीन. ज्या दिव्याने श्रीगुरूंना ओवाळले जाईल किंवा जे दिवे श्रीगुरूंच्या घरी उजळले जातील त्या दिव्यांच्या तेजात मी आपल्या शरीरातील तेजाचा अंश मिळवीन. श्रीगुरूंना वारा घालण्याकरिता असलेली चवरी किंवा पंखा यांच्यात मी आपल्या प्राणवायूचा लय करून श्रीगुरूंच्या अंगाला वारा घालणारा सेवक होईन. ज्या ज्या पोकळीत आपल्या परिवारासह श्रीगुरू असतील त्या त्या पोकळीत मी आपल्या शरीरातील पोकळीचा लय करीन पण जिवंतपणी आणि

मेल्यावरही श्रीगुरूंची सेवा केल्याशिवाय मी राहणार नाही. एक क्षणदेखील लोकांकरिता खर्च करणार नाही. याप्रमाणे कोट्यवधी काल मी सेवा करीन असे साधक म्हणतो."

"कालाचा विचार ज्याच्या मनात येत नाही त्या साधकाच्या मनात अपार धैर्य असते. तो प्रत्यक्ष तशी अपार सेवाही करतो. साधक सेवारत असताना आता दिवस उगवला व रात्र झाली असे म्हणत नाही. त्याचे तिकडे लक्षही नसते. त्याच्या मनात ही सेवा थोडी झाली व ही जास्त झाली असे येत नाही. उलट श्रीगुरूंची आज्ञा वारंवार होत असताना त्याला सेवेचा अधिक हुरूप येतो. श्रीगुरूंची अशा प्रकारची सेवा करताना श्रीगुरूंच्या मुखातून अमुक काम कर असे निघाल्याबरोबर तो आनंदाने आकाशापेक्षा मोठा होतो आणि एकटाच संपूर्ण सेवा एकाकाळीच करू लागतो. साधकाचे शरीर अंतःकरणवृत्तीच्यापुढे धाव घेते व सेवा करण्याची प्रत्यक्ष कृती ही मनाशी पैज मारते."

"श्रीगुरूंच्या सेवेने साधक कृश होतो. मात्र तो श्रीगुरूंच्या प्रेमाने पुष्ट होतो. श्रीगुरूंची आज्ञा पालन करणे एवढेच त्याला माहीत असते. आपल्या कुलाच्या कुलीनपणामुळे तो आपल्याला कुलीन न समजता केवळ श्रीगुरूंच्या कुलीनपणामुळे तो आपल्याला कुलीन समजतो. आपल्या बांधवांच्या सौजन्यामुळे आपण सज्जन आहो असे न समजता श्रीगुरुबंधूंच्या सौजन्यामुळे आपण सज्जन आहो असे साधक समजतो. त्याला निरंतर एकमात्र श्रीगुरुसेवेचेच व्यसन लागलेले असते. श्रीगुरुसंप्रदायात परंपरेने चालत आलेले व विहित केलेले धर्म, आचार हेच आपले वर्णाश्रमधर्म आहेत असे साधकाला वाटते. श्रीगुरूंची सेवा हे त्याचे नित्यकर्म असते. श्रीगुरू हे त्याचे पुण्यक्षेत्र असून श्रीगुरू हीच त्याची उपास्य देवता असते. त्याचे मातापिता श्रीगुरूच असतात. त्याला श्रीगुरुसेवेवाचून परमार्थमार्गच माहीत नसतो. श्रीगुरूंचे द्वार हे साधकाचे सारसर्वस्व असते. आपल्याप्रमाणेच जो श्रीगुरुसेवा करतो त्याच्यावर साधक सख्ख्या

भावाप्रमाणे प्रेम करतो. साधकाच्या मुखातून रात्रंदिवस श्रीगुरुनामाचा मंत्रोच्चार सारखा चालू असतो. श्रीगुरूंच्या वचनावाचून साधकाला दुसरे कोणतेही शास्त्र माहीत नसते. ज्या पाण्यास श्रीगुरूंच्या चरणाचा स्पर्श झाला आहे ते पाणी कसलेही असले तरी त्यात संपूर्ण ब्रह्मांडाची तीर्थे साठविली असून ते सर्व तीर्थात श्रेष्ठ आहे असे श्रीगुरुभक्त समजतो. साधकाला अकस्मात् श्रीगुरूंचा उच्छिष्ट प्रसाद प्राप्त झाला तर त्या लाभापुढे त्याला समाधी नकोशी वाटते. श्रीगुरू चालत असताना त्यांच्या पायामागून जे धुळीचे रजःकण उडतात ते साधक आपल्या मस्तकावर धारण करतो व त्या लाभामुळे आपल्याला कैवल्यसुखाची प्राप्ती झाली आहे असे समजतो."

साधनरतता :-

ज्या साधकांना अशा प्रकारची प्रत्यक्ष सेवा करण्याची संधी लाभत नाही त्यांनी निरंतर साधनरत राहून श्रीगुरूंची सेवा केली पाहिजे. शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळाल्यावर जागृत शक्ती श्रीगुरूंच्या रूपाने साधकांमध्ये निरंतर वास करीत असते. तिला सर्वार्थाने शरण गेले म्हणजे ती आतून मार्गदर्शन करते. अशावेळी साधन करणे हीच सर्वात मोठी सेवा होय.

श्रीगुरुशिष्यसंबंधाची परिणती :-

श्रीगुरुशिष्य भावाची म्हणजे संबंधाची अखेर परिणती कोठे होते हे पाहिले म्हणजे श्रीगुरुभक्तिरूप साधनसंपत्तीचे महत्त्व लक्षात घेऊन सुरुवातीला म्हटल्याप्रमाणे श्रीगुरुभक्तीला मूर्धन्य स्थान का प्राप्त झाले आहे याचाही उलगडा होईल **"तांत्रिक वाङ्मयमें शाक्तदृष्टी"** या ग्रंथातील **"सामरस्य या महामिलन"** या लेखात म.म.श्रीगोपीनाथ कविराज असे म्हणतात की, "श्रीशिव आणि श्रीशक्तीच्या सामरस्या-इतकेच श्रीगुरू व शिष्य यांचे सामरस्य महत्त्वाचे व आवश्यक आहे. श्रीप्रभुदेवांनी आपल्या **"वचनामृतात"** असे म्हटले आहे की, शिष्य ज्या प्रकाराने श्रीगुरुस्वरूपात विश्रांती प्राप्त करून घेतो त्याचप्रमाणे श्रीगुरूसुद्धा शिष्यरूपात विश्रांती प्राप्त करून घेतात.

शिष्य ज्याप्रमाणे आपले सर्वस्व अर्पण करून आपल्या स्वतःला हरवून बसतो व श्रीगुरूंमध्ये राहण्याच्या स्थितीचा लाभ करून घेतो त्याचप्रमाणे श्रीगुरूसुद्धा शिष्याला आत्मसमर्पण करतात. त्यांच्या या कृतीमुळेच शिष्य श्रीगुरुस्वरूपाला प्राप्त होऊ शकतो. श्रीगुरूंनी जर अशा प्रकारे आपल्या स्वतःचा असा त्याग केला नाही अथवा स्वतःला समर्पित केले नाही तर शिष्याला खरा श्रीगुरू प्राप्त होऊ शकत नाही आणि शिष्यानेही आपणा स्वतःला सर्वार्थाने समर्पित केले नाही तर श्रीगुरूंना खरा शिष्य प्राप्त होत नाही. शिष्याच्या हृदयसिंहासनावर जसे श्रीगुरू विराजमान झालेले असतात त्याचप्रमाणे श्रीगुरूंच्या हृदयात सुद्धा शिष्य विराजमान झालेला असतो. ऐक्यतेच्या म्हणजेच समरसतेच्या बोधावर प्राप्त होण्याचा हाच एकमेव मार्ग आहे."

सारांश, जीवाला ब्रह्मप्राप्ती होण्यासाठी प्रथम विश्रांती आवश्यक आहे. या विश्रांतीचे मूळ श्रीसद्गुरू स्वतःच असतात. श्रीसद्गुरू वाक्याने, दृष्टीने, स्पर्शाने, कृपा करून एका क्षणात शरणार्थी शिष्याला चित्तविश्रांती प्राप्त करून देतात.

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्र कोटिशतेन वाच।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्।।

या विषयाबद्दल खूप सांगितले किंवा करोडो शास्त्रवचने उद्धृत केली तरी कोणताही लाभ व फायदा होणार नाही कारण श्रीगुरूंच्या परम कृपेशिवाय चित्तविश्रांती कदापिही प्राप्त होऊ शकणार नाही.

अध्यात्म जीवनात श्रीगुरूंचे स्थान :-

येथपर्यंत श्रीगुरुभक्तीच्या सर्वांगाची चर्चा यावच्छक्य केली. त्यावरून अध्यात्म जीवनात श्रीगुरूंचे स्थान काय आहे याची कल्पना साधकाच्या मनात स्पष्टपणे उभी राहण्यास मदत होईल. श्रीसमर्थांनी **"श्रीदासबोधाच्या"** अनेक अध्यायांमध्ये अध्यात्माच्या वाटचालीत श्रीसद्गुरूंची अपरिहार्यता सिद्धान्त मांडून, दृष्टान्त देऊन व फलप्राप्ती सांगून उत्तम रीतीने पटविली आहे. त्यादृष्टीने श्रीसमर्थ असे म्हणतात की -

सगुण भक्ती ते चळे। निर्गुण भक्ती ते न चळे।
हें आवघे प्रांजळ कळे। सद्गुरु केलीया।।४.१०.३१।।
जयजयाजी सद्गुरु पूर्णकामा। परमपुरुषा आत्मयारामा।
अनिर्वाच्य तुमचा महिमा। वर्णिला न वचे।।५.१-१।।
जें वेदांसी सांकडें। जें शब्दासी कानडें।
जें सच्छिष्यासी रोकडें। अलभ्य लाभे।।२।।
जें योगियांचें निजवर्म। जें शंकराचें निजधाम।
जें विश्रांतीचें निजविश्राम। परम गुह्य अगाध।।३।।
तें ब्रह्म तुमचेनि योगें। स्वयें आपणचि होइजे आंगें।
दुर्घट संसाराचेनि पांगें। पांगिजेना सर्वथा।।४।।
सद्गुरूविण ज्ञान कांहीं। सर्वथा होणार नाहीं।
अज्ञान प्राणी प्रवाहीं। वाहतचि गेले।।५.१.२१।।
ज्ञानविरहित जें जें केलें। तें तें जन्मासि मूळ झालें।
म्हणोनी सद्गुरूचीं पाउलें। सदृढ धरावी।।२२।।
जयास वाटे देव पाहावा। तेणें सत्संग धरावा।
सत्संगेविण देवाधिदेवा। पाविजेत नाहीं।।२३।।
नाना साधनें बापुडीं। सद्गुरूविण करिती वेडीं।
गुरुकृपेविण कुडकुडी। व्यर्थची होती।।२४।।
सद्गुरूविण जन्म निर्फळ। सद्गुरूविण दु:ख सकळ।
सद्गुरूविण तळमळ। जाणार नाही।।३९।।
सद्गुरूचेनि अभयकरें। प्रकट होईजे ईश्वरें।
जन्मदु:खे अपारें। नासूनि जाती।।४०।।
मागां झाले थोरथोर। संत महंत मुनीश्वर।
तयांसही ज्ञानविचार। सद्गुरूचेनि।।४१।।
श्रीरामकृष्णादिकरूनी। अतितत्पर गुरुभजनीं।
सिद्ध साधू आणि सज्ञनीं। गुरुदास्य केलं।।४२ ।।
सकळ सृष्टीचे चाळक। हरिहर ब्रह्मादिक।
तेही सद्गुरुपदीं रंक। महत्त्वा न चढती।।४३।।

असो जयास मोक्ष व्हावा। तेणें सद्गुरु करावा।
सद्गुरूविणे मोक्ष पावावा। हे कल्पांती न घडे।।४४।।
आता न लगे संस्कृत। अथवा ग्रंथ प्राकृत।
माझा स्वामी कृपेसहित। हृदयीं वसे।।५.६.३४।।
न करितां वेदाभ्यास। अथवा श्रवणसायास।
प्रयत्नेंविण सुरस। सद्गुरुकृपा।।३५।।
याकारणें ज्ञाता पाहावा। त्याचा अनुग्रह घ्यावा।
सारासार विचारें जीवा। मोक्ष प्राप्त।।६.१.३१।।
दिसेना जें गुप्त धन। तयास करणें लागे अंजन।
गुप्त परमात्मा सज्जन। संगतीं शोधावा।।६.९.१९।।
रायाचे सन्निध होतां। सहजचि लाभे श्रीमंतता।
तैसा हा सत्संग धरिता। सद्वस्तु लाभे।।२०।।
सांगता नये तें सांगणें। गोडी कळाया गूळ देणें।
ऐसैं हें सद्गुरुविणें। होणार नाहीं।।६.१०.१०।।
सद्गुरुकृपा कळे त्यासी। जो शोधील आपणासी।
पुढे कळेल अनुभवासी। आपेआप वस्तु।।११।।
आतां आठवीन समर्थां। सद्गुरूसी।।७.१.११।।
जयाचेनि कृपादृष्टी। होय आनंदाची वृष्टी।
तेणें गुणें सर्व सृष्टी। आनंदमय।।१२।।
कीं तो आनंदाचा जनक। सायुज्यमुक्तीचा नायक।
कैवल्यपददायक। अनाथबंधु।।१३।।
मुमुक्षी चातकीं सुस्वर। करुणा पाहिजे अंबर।
वोळे कृपेचा जळधर। साधकांवरी।।१४।।
कीं तें भवार्णवीचे तारूं। बोधें पाविजे पैलपारू।
महाआवर्तीं आधारू। भाविकांसी।।१५।।
कीं तों काळाचा नियंता। नानासंकटीं सोडवितां।
कीं ते भाविकांची माता। परम स्नेहाळू।।१६।।
कीं तो परत्रीचा आधारू। कीं तो विश्रांतीचा थारू।

नातरी सुखाचें माहेरू। सुखस्वरूप।।१७।।
ऐसा सद्गुरु पूर्णपणीं। तुटे भेदाची कडसणी।
देहेविण लोटांगणीं। तया प्रभूसी।।१८।।
आता मनासि जें अप्राप्त। तें कैसेंनि होईल प्राप्त।
ऐसें म्हणाल तरी कृत्य। सद्गुरूविण नाहीं।।७.२.१२।।
भांडारगृहें भरलीं। परी असती अडकलीं।
हातास न येता किल्ली। सर्वही अप्राप्त।।१३।।
तरी ते किल्ली ते कवण। मज करावी निरूपण।
ऐसा श्रोता पुसे खूण। वक्त्यासी।।१४।।
सद्गुरुकृपा तेंचि किल्ली। जेणें बुद्धी प्रकाशली।
द्वैतकपाटें उघडली। एकसरा।।१५।।

साधन चतुष्टय :-

नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, शमादि षट्संपत्ती व मुमुक्षत्व या चार साधनांना साधन चतुष्टय असे म्हणतात. ही साधनसंपत्ती शक्तिपातयोगाचे साधन करताना क्रमशः वाढत असली तरीसुद्धा शक्तिपातयोगाचे साधन करणाऱ्या प्रत्येक साधकाने ती अंगी बाणविण्याचा खूप प्रयत्न केला पाहिजे; कारण उपरोक्त साधनसंपत्ती साधकाजवळ असली म्हणजे ब्रह्मानुभवाची प्राप्ती त्वरित होण्यास खूपच मदत होते. आपण क्रमशः साधन चतुष्टयाचा विचार करू.

१) नित्यानित्यवस्तुविवेक :-

एकमात्र अखंडचैतन्यरूप ब्रह्मच नित्य असून त्याच्याशिवाय इतर सर्व अनित्य आहे असे जे निश्चयाचे ज्ञान असते त्यास नित्यानित्यविवेक असे म्हणतात. कूटस्थ केवळ परब्रह्म आहे असा जो विचार त्यास नित्यानित्यवस्तुविवेक म्हणतात. **"सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसारसंग्रहामध्ये"** श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी नित्यानित्यवस्तु-विवेकाची व्याख्या हीच केली आहे.

ब्रह्मैव नित्यमन्यत्तुह्यनित्यमिति वेदनम्।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक इति कथ्यते।।१६।।

२) वैराग्य :-

साधनसंपत्तीत वैराग्याला फार वरचे स्थान आहे. याची व्याख्या करताना श्रीमदाद्यशंकराचार्य असे म्हणतात की -

ऐहिकामुष्मिकार्थेषु ह्यनित्यत्वेन निश्चयात्।
नैस्पृह्यं तुच्छबुद्ध्या यत्तद्वैराग्यमितीर्यते।।२२।।

या लोकातील व परलोकातील सर्व सुखे विनाशी असल्यामुळे ती तुच्छ आहेत अशा भावनेने त्या सर्व सुखांविषयी जी वितृष्णता त्यास वैराग्य असे म्हणतात. नित्यानित्यवस्तूच्या विचाराने सर्व अनित्य पदार्थांच्या ठिकाणी पुरुषास तत्काळ वैराग्य उत्पन्न होते. सर्व पदार्थांच्या ठिकाणी काकविष्ठेप्रमाणे जी किळस उत्पन्न होते त्यास तीव्र वैराग्य असे म्हणतात. ज्या पदार्थांच्या ठिकाणी पुरुषास दोष दिसतात तेथे त्याची प्रवृत्ती होत नाही. म्हणून तीव्र वैराग्य होण्यासाठी भोग्य पदार्थांच्या ठिकाणी साधकाने दोष पाहावेत असे श्रीमदाद्यशंकराचार्य म्हणतात.

शमदमादि षट्संपत्ती :-

शम, दम, उपरती, तितिक्षा, श्रद्धा व समाधान यांना षट्संपत्ती असे म्हणतात.

शम :- "श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयेभ्यो मनसः निवर्तनं शमः।" अशी शास्त्रकारांनी शमाची व्याख्या केली आहे. श्रवणादि व्यतिरिक्त विषयांपासून मनाच्या निवृत्तीस शम असे म्हणतात. याचा अर्थच असा आहे की, ब्रह्म व ईश्वर या विषयांशिवाय शेष संसारासंबंधी सर्व विषयांपासून मन निघून केवळ ब्रह्म व ईश्वर यांच्याकडे ते लागणे यालाच शम असे म्हणतात. विषयांकडून मनाला वळवून ते स्वस्वरूपी ठेवणे हाच खरा शम म्हणजे शांती होय.

"प्रबोधसुधाकर" या प्रकरण ग्रंथात श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी मनोनिग्रह प्रकरणात शमाची आवश्यकता किती आहे हे सांगताना असे म्हटले आहे की, "ज्याप्रमाणे वाळलेला पोहावयाचा भोपळा जोराने पाण्यात बुडविला तरी तो चटकन् आपोआप वर येतो त्याप्रमाणे मोठ्या प्रयत्नाने

मन हे आत्मस्वरूपाच्या ठिकाणी स्थापन केले तरी अनेक जन्मातील अनात्म संस्कारामुळे ते मन विषयाकडे चटकन वळते. ज्याप्रमाणे गळ्यात लोढणे असलेले जनावर जिकडे गवत दिसेल तिकडे धावते त्याप्रमाणे अंत:करणरूप पशू अशुभ मार्गाकडेच जातो. या पशूच्या गळ्यात वैराग्याचे लोढणे अडकविले म्हणजे तो ताब्यात येतो. मनोनिग्रहाचे हे एकच साधन परमेश्वराने निर्माण केले आहे. प्राणायाम, सत्संगती, वासनात्याग व हरिचरणभक्ती ही मनोनिग्रहाची चार साधने शास्त्रात सांगितली आहेत. या साधनांच्या अनुष्ठानाने मन हे विषयाकडे न जाता हळूहळू आत्मस्वरूपाच्या ठिकाणी स्थिर होते. यासाठी मनोनिग्रहरूपी शम अवश्य केला पाहिजे."

दम :-

"बाह्येन्द्रियाणां श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयेभ्यो निवर्तनं दमः।"

श्रवणादि व्यतिरिक्त विषयांपासून बाह्येंद्रियांची निवृत्ती यास दम असे म्हणतात. इंद्रिये ही स्वभावत; बाह्य विषयांकडे धावतात. हा त्यांचा स्वभाव आहे. **"कठोपनिषदात"** असे म्हटले आहे की "परमेश्वराने चक्षुरादि इंद्रिये बाह्य विषयांच्या ठिकाणीच प्रवृत्त होणारी अशी निर्माण केली आहेत. म्हणून ती बहिर्विषयाकडेच प्रवृत्त होतात. आत्म्याच्या ठिकाणी प्रवृत्त होत नाहीत. हा त्यांचा स्वभावच आहे. परंतु ब्रह्मचर्यादि साधनसंपन्न, जितेंद्रिय व मोक्षाची इच्छा करणारा असा एखादाच महापुरुष स्वाभाविक अशा इंद्रियांच्या प्रवाहाचा निरोध करून प्रत्यगात्मप्रवण होतो. त्यालाच आत्मसाक्षात्कार होतो. पाण्याचा प्रवाह स्वाभाविक सखल भूमीकडे असतो. तो प्रवाह जर वर चढवावयाचा असेल तर त्या प्रवाहाला बांध घालावा लागतो. त्यासाठी प्रथम बाह्य इंद्रियांचा निरोध केल्याशिवाय मनोनिग्रह होत नाही. यासाठी दम केला पाहिजे.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी दम ही फार मोठी साधनसंपत्ती मानून **"श्रीज्ञानेश्वरीमध्ये"** जागोजाग त्याचे वर्णन केले आहे **"आतां आत्मप्रभा नित्य नवी। तेचि करूनी ठाणदिवी। जो इंद्रियांतें चोरूनी जेवी।**

तयासींचि फावे।।६.२३।। या एकाच ओवीत दमाचे सार आले आहे. जो साधक नित्य नवे नवे अनुभव घेत जागृत शक्तिरूप व तद्द्वारा उत्पन्न होणाऱ्या ज्ञानरूप आत्मप्रकाशाचा ठाणदिवीसारखा उपयोग करून इंद्रियांना कळू न देता म्हणजे त्यांचे दमन करून नियमित साधना करतो त्यालाच कैवल्यरसाचा स्वाद घेता येतो व ब्रह्मप्राप्ती होते.

उपरती :- "निवर्तितानां तेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमण उपरतिः।" मनादि सर्व इंद्रिये आत्मप्राप्तीशिवाय सर्व बाबतीत उदासीन होणे याला उपरती असे म्हणतात. त्याचप्रमाणे विषयप्रवृत्तीची एकवेळा निवृत्ती झाल्यावर पुन्हा ती प्रवृत्ती जागृत न होणे याला उपरती असे म्हणतात. शास्त्राज्ञेनुसार कर्मकांडाचा त्याग करून संन्यास ग्रहण करण्याला उपरती असे म्हणतात. शमदमादि साधनांनी बहिर्विषयांपासून निवृत्त केलेली जी इंद्रिये, त्या इंद्रियांचा श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयांकडे जो स्वाभाविक प्रवृत्तिप्रवाह तो वळवून त्याचे आत्मस्वरूपात स्थिरीकरण करणे यास उपरती अशी संज्ञा आहे.

तितिक्षा :- "शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता तितिक्षा।" शीत, उष्ण, मानापमान, लाभालाभ, सुखदुःख हे सहन करणे याला तितिक्षा असे म्हणतात. **"सहनं सर्व दुःखानां अप्रतिकारपूर्वकं। चिन्ता विलाप रहितं सा तितिक्षा निगद्यते।।"** चिंता, विलाप व कोणत्याही प्रकारचा प्रतिकार न करता सर्व दुःखे सहन करणे याला तितिक्षा असे म्हणतात. अशी व्याख्या **"पंचदशीकारांनी"** केली आहे. **"सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसारसंग्रहामध्ये"** श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी **"अध्यात्मिकादि यद्दुःखं प्राप्तं प्रारब्धवेगतः। अचिन्तया तत्सहनं तितिक्षेति निगद्यते।।१३८।।"** आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक इत्यादि जी दुःखे प्रारब्धामुळे येतात ती चिंता न करता सहन केली असता त्याला तितिक्षा असे म्हणतात.

श्रद्धा :- साधनसंपत्तीत श्रद्धेला फार महत्त्व असल्याने याची सविस्तर चर्चा करणे आवश्यक आहे.

श्रद्धा हीच श्रेष्ठ :-

साधकाच्या जीवनात श्रद्धेला अनन्यसाधारण महत्त्व आहे; कारण शक्तिपातयोगाचे साधन सिद्ध होण्यासाठी श्रद्धेची नितांत आवश्यकता आहे. श्रद्धा ही पायाभूत गोष्ट आहे. **"ऋग्वेदाच्या"** १० व्या मंडलाच्या १५१ व्या सूक्तात श्रद्धेचे म्हणजे विश्वास-शक्तीचे माहात्म्य सांगितले आहे. मंत्रद्रष्टे ऋषी तेथे असे म्हणतात की, "मी असे निश्चयपूर्वक सांगतो की, अग्निप्रज्वालक आणि हविर्दात्री श्रद्धा देवापेक्षाही श्रेष्ठ आहे. हे श्रद्धे! दानशूर दात्यांना, तसेच दान न देणाऱ्या कृपणांना माझे भाषण प्रिय व्हावे. उदारदाते इंद्रश्रद्ध सामान्य देवतासदृश मजविषयी श्रद्धा ठेवोत. आकाशीय देव तसेच पृथ्वीलोकीचे देवभक्त धनदात्या श्रद्धेचीच उपासना अंतःकरणपूर्वक करतात. प्रातःकाली, मध्याह्नकाली आणि सायंकाळी पाचारलेल्या हे श्रद्धादेवी, तू आम्हास श्रद्धायुक्त कर."

श्रद्धा हीच संपत्ती :-

"बृहदारण्यक उपनिषदातही" ऋषींनी श्रद्धा हीच संपत्ती मानली आहे. या साधनसंपत्तीचे फल आत्मसाक्षात्कार आहे म्हणून त्यांनी आवर्जून सांगितले आहे. ऋषी म्हणतात, **"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः (श्रद्धावित्तो) समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मनं पश्यति।।४.४.२३।।"** अशा प्रकारे शांत, दांत, उपरत, तितिक्षू व श्रद्धा ही संपत्ती असणारा आत्म्यामध्येच आत्म्याला पाहतो व सर्वत्र आत्मरूप पाहतो. आत्मरूपात स्थिर होण्यासाठी श्रद्धेची किती आवश्यकता आहे याचा साधकाने मनाशी नेहमी विचार केला पाहिजे व ती अंगी बाणविण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे.

श्रद्धा ही साधनाचा आधार :-

"छांदोग्य उपनिषदातही" श्रीसनत्कुमार-श्रीनारदसंवादात श्रद्धा, निष्ठा व क्रिया यांचे सुंदर वर्णन आले आहे. **"यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति।।७.१९.१।।"** श्रीसनत्कुमार असे

म्हणतात की, " ज्यावेळी मनुष्य श्रद्धा करतो त्यावेळीच तो मनन (साधनाभ्यास) करतो. श्रद्धेशिवाय कोणीही मनन (साधनाभ्यास) करू शकत नाही. खरोखर श्रद्धा ठेवणाराच मनन (साधनाभ्यास) करू शकतो. तेव्हा श्रद्धेचीच विशेषत्वाने जिज्ञासा केली पाहिजे. (म्हणजे श्रद्धा आपल्या ठिकाणी कशी उत्पन्न होईल हे पाहिले पाहिजे.)" श्रीनारद असे म्हणतात की, "भगवन्! मी श्रद्धेच्या विज्ञानाची इच्छा करतो. श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी यावर भाष्य करताना **"आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा"** म्हणजे आस्तिक्य बुद्धीचे नाव श्रद्धा होय असे म्हटले आहे.

निष्ठेमुळे श्रद्धा उत्पन्न होते :-

आता ही श्रद्धा कशी उत्पन्न होते याचे वर्णन करताना **"छांदोग्य उपनिषदात"** ऋषी असे म्हणतात की, **"यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तष्ठिञ्श्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति।।७.२०.१।।"** श्रीसनत्कुमार असे म्हणतात की, "ज्यावेळी पुरुषामध्ये निष्ठा उत्पन्न होते त्यावेळी तो श्रद्धा ठेवू लागतो. निष्ठेशिवाय कोणीही श्रद्धा ठेवीत नाही. खरोखर निष्ठा असणाराच श्रद्धा ठेवतो. तेव्हा निष्ठा ही विशेषरूपाने जाणण्याची इच्छा केली पाहिजे. श्रीनारद असे म्हणतात की, "भगवन्! मी निष्ठेला विशेषरूपाने जाणण्याची इच्छा करतो." यावर भाष्य करताना श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी असे म्हटले आहे की, **"निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्वं ब्रह्मविज्ञाय"** म्हणजे श्रीगुरुशुश्रूषा इत्यादि गोष्टींना निष्ठा असे म्हणतात. ज्याला ब्रह्मज्ञान व्हावे असे वाटत असेल त्याने श्रीगुरुसेवा इत्यादिंमध्ये तत्पर असले पाहिजे.

साधनामुळे निष्ठा उत्पन्न होते :-

आता निष्ठा कशी उत्पन्न होईल याचे वर्णन करताना **"छांदोग्य उपनिषदात"** ऋषी असे म्हणतात की, **"यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति।।"** श्रीसनत्कुमार असे म्हणतात की,

"ज्यावेळी मनुष्य कृती करतो (साधन करतो) त्याचवेळी तो निष्ठा ठेवू लागतो. (साधन) कृती केल्याशिवाय कोणाच्याही ठिकाणी निष्ठा उत्पन्न होत नाही. कृती-साधन केल्यावरच पुरुष निष्ठावान् होतो. याकरिता कृतीची विशेषरूपाने जिज्ञासा केली पाहिजे. (म्हणजे नियमित साधन केले पाहिजे.)" श्रीनारद असे म्हणतात की, "भगवन्! मी कृतीची विशेषरूपाने जिज्ञासा करतो." (प्रत्यक्ष साधन-कृती करण्याचे फार मोठे माहात्म्य आहे,) यावर भाष्य करताना श्रीमदाद्य-शंकराचार्यांनी असे म्हटले आहे की, "**यदा वै करोति। कृतिरिन्द्रिय-संयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च। सत्यां हि तस्यां निष्ठादीनि यथोक्तानि भवन्ति विज्ञानावसानानि।।**" म्हणजे ज्यावेळी मनुष्य कृती करतो त्यावेळी त्याचे विशेष महत्त्व आहे. इंद्रियसंयम व चित्ताची एकाग्रता करण्याला कृती असे म्हणतात. (शक्तिपातयोगसाधनेत या दोन्ही गोष्टी आपोआप घडून येतात.) या वरील दोन गोष्टी घडून आल्यावर निष्ठेपासून विज्ञानापर्यंत सर्व साधन आपोआप घडून येते.

श्रद्धा पापापासून मुक्त करणारी :-

श्रद्धा ही साधकाला सर्व पापांपासून मुक्त करणारी शक्ती आहे. या तिच्या सामर्थ्याचे "**श्रीमहाभारताच्या**" शांतिपर्वात २६४ व्या अध्यायात जे वर्णन आले आहे ते पाहण्यासारखे आहे :-

अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः।।१४।।
अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनि।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम्।।१५।।
ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत एव सः।।१६।।
किं तस्य तपसाकार्यं किं वृत्तेन किमात्मना।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।१७।।

जो श्रद्धासंपन्न नसतो त्याला देवांना होमद्रव्य अर्पण करण्याचा अधिकार नाही व त्याचे अन्न भक्षण करण्याला अयोग्य होय असे

धर्मवेत्ते लोक समजतात. अश्रद्धा हे मोठे पाप आहे व श्रद्धा ही पापापासून मुक्त करणारी आहे. ज्याप्रमाणे सर्प आपली जीर्ण झालेली त्वचा टाकून देतो त्याप्रमाणेच श्रद्धासंपन्न पुरुष आपल्या पातकांचा त्याग करतो. श्रद्धापूर्वक जी अकर्मापासून निवृत्ती तीच सर्व पवित्र पदार्थांमध्ये श्रेष्ठ आहे. आचरणाचे जे रागलोभादि दोष त्यांची निवृत्ती झालेला श्रद्धासंपन्न पुरुष हाच पवित्र होय. त्याला तपाशी, आचाराशी अथवा शरीराशी काय करावयाचे आहे? मनुष्य हा श्रद्धेचेच कार्य असतो. ज्याची जशी श्रद्धा असते तो तशा प्रकारचा बनतो.

श्रद्धेमुळे ज्ञानप्राप्ती :-

"श्रीमद्भगवद्गीतेमध्ये" जागोजाग श्रद्धेची आवश्यकता, श्रद्धेचे माहात्म्य व श्रद्धेचे फल यांचे वर्णन केले आहे. साधकाला श्रद्धेची किती आवश्यकता आहे हे यावरून लक्षात येते.

"श्रीमद्भगवद्गीतेच्या" ४ थ्या अध्यायाच्या ३९ व्या श्लोकात श्रद्धेमुळे ज्ञानप्राप्ती होते हे सांगताना भगवान् श्रीगोपालकृष्णनाथ असे म्हणतात की -

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परःसंयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

श्रद्धावान् म्हणजे परमविश्वासू, साधनपरायण आणि इंद्रिये जिंकलेल्या पुरुषासच ज्ञान प्राप्त होते आणि ते ज्ञान प्राप्त होताक्षणीच त्याला पूर्ण शांती मिळते.

श्रद्धायुक्त योगीच श्रेष्ठ :-

"श्रीमद्भगवद्गीतेच्या" ६ व्या अध्यायात ४७ व्या श्लोकात श्रद्धेने निरंतर भजन करणारा योगीच श्रेष्ठ होय हे सांगताना श्रीभगवंत असे म्हणतात की -

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

सर्व योग्यांमध्ये जो माझ्या ठिकाणी अंतःकरण लावून श्रद्धेने मला निरंतर भजतो तो योगी मला सर्वात श्रेष्ठ वाटतो.

मनुष्यप्राणी हा श्रद्धाशीलच आहे हे सांगताना अध्याय १६ श्लोक ३ मध्ये श्रीभगवंत असे म्हणतात की -

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

हे अर्जुना! सर्वांची श्रद्धा त्यांच्या त्यांच्या प्रकृतीनुसार बनलेली असते. हा मनुष्यप्राणी श्रद्धाशीलच आहे. ज्याची जशी श्रद्धा असते त्याप्रमाणे तो बनत असतो, हे ओळखून ठेव.

अश्रद्धेमुळे हानी :-

अश्रद्धेमुळे साधकाची तीव्र हानी होते. श्रीभगवंतांनी **"श्रीमद्भगवद्गीतेच्या"** अध्याय ४ श्लोक ४० मध्ये याचे वर्णन केले आहे-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।

अज्ञानी, श्रद्धाहीन व संशययुक्त असा जो असतो तो अधोगतीला जातो. त्या संशयी पुरुषाला इहलोक, परलोक व मोक्षसुख ही प्राप्त होत नाहीत.

अश्रद्धा ही परलोकाची व इहलोकाची हानी करणारी असल्याने अध्याय १७ श्लोक २८ मध्ये श्रीभगवंत असे म्हणतात की -

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।

हे अर्जुना! अश्रद्धेने केलेले हवन, दिलेले दान, आचरलेले तप किंवा इतर कोणतेही कर्म असत् असे म्हटले जाते. ते परलोकात उपयोगी पडत नाही व इहलोकातही उपयोगी पडत नाही.

श्रद्धाहीन पुरुषाला पुनःपुन्हा संसारात यावे लागते याचे वर्णन करताना अध्याय ९ श्लोक ३ मध्ये श्रीभगवंत असे म्हणतात की-

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।

शत्रूला ताप देणाऱ्या अर्जुना! या आत्मज्ञानरूपी परमधर्मावर

श्रद्धा न ठेवणारे पुरुष माझी प्राप्ती न होता मृत्युरूपी संसारमार्गातंच पुनःपुन्हा परत येतात.

याचा श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** फारच चांगला भावार्थ स्पष्ट केला आहे. ते म्हणतात -

पाहें पां दूध पवित्र आणि गोड। पासीं त्वचेचिया पदराआड।
परि तें अव्हेरूनि गोचीड। अशुद्धचि सेवी।।९.५८।।
कां कमलकंदा आणि दर्दुरी। नांदणूक एकेचि घरीं।
परी परागु सेविजे भ्रमरीं। येरां चिखलुचि उरे।।५९।।
नातरी निदैवाच्या परिवरीं। लोह्या रुतलिया आहाति सहस्त्रवरी।
परि तेथ बैसोनि उपवास करी। कां दरिद्रें जिये।।६०।।
तैसा हृदयामध्यें मी रामु। असतां सर्व सुखाचा आरामु।।
कीं भ्रांतासी कामु। विषयांवरी।।६१।।

अर्जुना! पाहा. गाईचे पवित्र आणि गोड दूध अगदी जवळ त्वचेच्या पडद्याच्या आडच असते; पण ते टाकून गोचीड रक्ताचेच सेवन करीत असतो. कमळाचा कंद व बेडूक हे एकाच ठिकाणी राहतात; परंतु कमलकंदातील परागाचे सेवन भ्रमर करतात व बेडकांच्या वाट्याला चिखलच राहतो. ज्याप्रमाणे दुर्दैवी पुरुषाच्या घरी हजारो मोहरा पुरलेल्या असल्या तरी त्याला ठिकाण माहीत नसल्यामुळे तो (दरिद्री) तेथेच राहून उपवास करतो व दारिद्र्यात दिवस काढतो त्याप्रमाणे सर्व सुखाचे विश्रांतिस्थान असलेला मी राम मनुष्याच्या हृदयात असता त्या अज्ञानी, अश्रद्ध व भ्रांत पुरुषाची विषयांवर वासना असते.

सामान्यांना श्रद्धा आवश्यक :-

महर्षी श्रीपतंजलींनी **"योगदर्शनाच्या"** समाधिपादातील २० व्या सूत्रात सामान्य साधकांना श्रद्धा कशी आवश्यक आहे ते सांगितले आहे. ते असे म्हणतात की, **"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्"** म्हणजे ज्यांना नैसर्गिक, स्वयमेव व काही साधन केल्याशिवाय निरोध होत नाही असे लोक श्रद्धा, वीर्य, स्मृती, समाधी व प्रज्ञा या पाच

गुणांच्या साहाय्याने ही कैवल्य अवस्था प्राप्त करून घेतात. या पाचही गुणांची साधकाला आवश्यकता आहे.

श्रद्धा म्हणजे माता :-

श्रद्धा म्हणजे शास्त्र, श्रीगुरू व साधनावर विश्वास होय. साधकाने अभ्यास करण्यासाठी श्रद्धा हा गुण महर्षी श्रीपतंजलींनी प्रथम सांगितला आहे. यावर भाष्य करताना श्रीगुलाबरावमहाराज आपल्या **"योगप्रभाव"** या ग्रंथात असे म्हणतात की, "श्रद्धा असली म्हणजे आपल्या हातून योग व्हावा अशी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होते." "ही श्रद्धा साधकाचे मातेप्रमाणे पालन करते." असे श्रीव्यास आपल्या भाष्यात म्हणतात.

श्रद्धेमुळे पराक्रम :-

"श्रद्धेमुळे पराक्रम उत्पन्न होतो. हाच दुसरा सांगितलेला "वीर्य" गुण होय. (वीर्य म्हणजे साधनाकरिता उत्तरोत्तर उत्साहाची वृद्धी होय.) घरगुती अनेक कामात मनुष्याचे मन गढलेले असते; परंतु योगाची अभिलाषा (श्रद्धा) उत्पन्न झाली म्हणजे पुढे घरचे काहीही होवो असा पराक्रम अधिक उत्पन्न होतो. योग करीत असतानाही मन हे मनुष्याला अनेक कामात ओढीत असते. श्रीसंततुकाराममहाराज असे म्हणतात की -

हागताही खोडी। चळण मोडवितें काडी।
असे अनावर गुण। आवरावे काय म्हूण।।

अशा वेळी सार काय व असार काय असा विवेक हवा असतो. तो विवेक करणाऱ्याला श्रद्धेमुळे पराक्रम जास्त येतो. श्रद्धाही याप्रमाणे विवेकाचे पोषण करणारी असल्यामुळे तिला श्रीव्यासांनी "मातेप्रमाणे पालन करणारी," असे म्हटले आहे."

श्रद्धेमुळे स्मृती :-

श्रीगुलाबरावमहाराज असे म्हणतात की, "विवेक करणारांचे विशेष लक्ष श्रद्धेमुळे दुसरीकडे जात नाही. अशा प्रकारचा विवेक करता करता त्याला स्मृती उत्पन्न होते. स्मृती म्हणजे आपण अभ्यास करीत आहोत, ही आठवण." (स्मृती म्हणजे ध्येय नेहमी स्मरणात आणून

देणारी बुद्धीची निर्मलता होय.)

श्रद्धेने एकाग्रता :-

श्रद्धेमुळे वीर्य व स्मृती प्राप्त होऊन ध्येयाकार बुद्धीची एकाग्रता म्हणजे समाधी प्राप्त होते. मन विषयरहित होते.

श्रद्धेमुळे प्रज्ञाप्राप्ती :-

श्रीगुलाबरावमहाराज असे म्हणतात की, "प्रज्ञा म्हणजे बुद्धी नव्हे. प्रज्ञा म्हणजे कोणतीही वस्तू जशीच्या तशी समजणे, तिचे यथार्थ स्वरूप समजणे. स्थूल डोळ्यांनी जसे जड पदार्थ दिसतात तशी ही प्रज्ञा चेतनाला जाणते. ही प्रज्ञा समाधीनंतरच्या स्थितीत उत्पन्न होते. ती शुद्ध परब्रह्माला जाणते म्हणून तिला कोणी ऋतंभरा म्हणतात. "ऋतंभरा" म्हणजे सत्याचे पोषण करणारी."

सारांश, वेद, शास्त्र, ईश्वर, महापुरुषांची वचने व परलोक यांवर प्रत्यक्षपणे विश्वास असणे आणि त्यांच्याबद्दल पूज्यता व श्रेष्ठत्वाची भावना असणे याचे नाव श्रद्धा होय. श्रीभगवंतांच्या सत्तेवर, त्यांच्या अवतारांवर, त्यांच्या वचनांवर, त्यांच्या अचिंत्य अशा अनंत दिव्य गुणांवर, त्यांच्या नामावर, त्यांच्या लीलांवर, त्यांच्या श्रेष्ठत्वावर, शक्तीवर, प्रभावावर आणि ऐश्वर्य आदि गोष्टींवर प्रत्यक्षाप्रमाणे पूर्ण विश्वास जो ठेवतो त्याला श्रद्धावान् म्हणतात. अशा प्रकारची श्रद्धा ज्या साधकाच्या ठिकाणी वास करते त्याची उत्तरोत्तर उन्नती होत जाते. अशी श्रद्धा आपल्या ठिकाणी उत्पन्न व्हावी म्हणून साधकाने भगवच्चरणी नेहमी प्रार्थना केली पाहिजे.

समाधान :-

ईश्वराच्या ठिकाणी चित्ताची एकाग्रता होणे याला समाधान असे म्हणतात. श्रीसंततुकाराममहाराजांनी **"सदा राहे समाधान। हेंचि देवाचें दर्शन"** असे म्हणून या गुणाचा महिमा गायिला आहे व **"ठेविलें अनंतें तैसेंचि राहावें। चित्तीं असों द्यावें समाधान।"** असे म्हणून साधकाने प्रयत्नाने हे समाधान बाणवून घेतले पाहिजे म्हणून सांगितले आहे. **"सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहात"** श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी

समाधानाची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की -

श्रुत्युक्तार्थावगाहाय विदुषा ज्ञेयवस्तुनि।
चितस्य सम्यगाधानं समाधानमितीर्यते।।२१९।।

श्रुतीच्या अर्थाचे पूर्ण अध्ययन करून ज्ञानी मनुष्याच्या चित्ताची ज्ञेय वस्तूच्या ठिकाणी जी सम्यक् धारणा होते त्याला समाधान असे म्हणतात.

मुमुक्षुता :-

"पातंजलयोगदर्शनामध्ये" कैवल्यपादाच्या शेवटच्या सूत्रात कैवल्य म्हणजे मोक्षाची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की, **"पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।।४.३४।।**

पुरुषाला चित्तद्वारा भोग देण्याचे गुणांचे कार्य संपले म्हणजे ते गुण पुरुषार्थशून्य होतात. अशा तऱ्हेने त्रिगुणांचे कार्य शून्य म्हणजे निरुपयोगी झाले म्हणजे ते गुण आपल्या मूळ कारणात म्हणजे प्रकृतीत लय पावतात. अर्थात् ते उलट वळून स्वस्वरूपात स्थित होतात. असे वरील "प्रतिप्रसवः" या पदाने सूचित केले आहे. हे जे त्यांचे स्थित होणे व पुरुषास आत्मसाक्षात्कार होणे यास कैवल्य किंवा मोक्ष म्हणतात. अथवा चैतन्यशक्ती कुंडलिनी आपल्या स्वरूपाशी म्हणजे श्रीशिवाशी एकरूप होऊन जाते त्याला कैवल्य म्हणतात. अशा मोक्षाची ज्याला तीव्र तळमळ लागली असेल तोच खरा मुमुक्षू होय. ज्याच्या सर्व इच्छा गेलेल्या असतील असा पुरुषच मोक्षाचा अधिकारी होतो. जीवब्रह्मैक्यविज्ञानाने या संसार बंधनातून लवकर मुक्त व्हावे अशी ज्या विद्वान् पुरुषास तीव्र इच्छा उत्पन्न झालेली असते तोच खरा मुमुक्षू होय.

यम व नियम :-

शक्तिपातयोगाच्या साधनेत यमनियमाला इतर सर्व साधनांप्रमाणे अनन्यसाधारण महत्त्व आहे; कारण महर्षी श्रीपतंजलींनी आपल्या योगदर्शनामध्ये यमाचा महिमा सांगताना असे म्हटले आहे की,

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।।२.३१।। जात, ठिकाण, वेळ, प्रसंग यांची बंधने नसलेले व संपूर्णतया लागू असणारे म्हणजे उपरोक्त कोणत्याही गोष्टीमुळे खंड पडू न देता करीत राहण्याचे हे यमाचे पालन म्हणजे सार्वभौम महान् व्रत आहे. महर्षी श्रीपतंजलींनी **"अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।२.३०।।"** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह असे पाच यम सांगितले आहेत. **"हठयोगप्रदीपिकेत" "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः। दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश।।१।।** अहिंसा, सत्य, चोरी न करणे, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, नम्रता, मिताहार व शुचिता हे दहा यम सांगितले आहेत. आपण ओळीने थोडक्यात त्यांचा विचार करू.

अहिंसा :-

"अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।" म्हणजे काम, क्रोध, लोभ, मद व मोह, मत्सर या षड्विकारांच्या अधीन होऊन शरीराने, वाणीने किंवा मनाने अगर आचार, विचार किंवा उच्चारानेही घात करणे, हानी करणे किंवा नुकसान करणे अगर असे करण्यास अनुमती अथवा स्पष्ट किंवा अस्पष्टपणे परवानगी न देणे याला अहिंसा असे म्हणतात. ही अहिंसा जाती, देश, काल व वेळ यांच्यामुळे सुद्धा सीमाबद्ध किंवा परिमित होऊ शकते. आपल्या पोटाच्या धंद्यामुळे कोळी मत्स्याशिवाय इतर जात मारणे सोडू शकला तर त्याची अहिंसा जातीमुळे सीमित होते. कोणी जर तीर्थक्षेत्रातच अहिंसेचे पालन केले व इतर ठिकाणी हिंसेचा त्याग केला नाही तर अशा व्यक्तीची अहिंसा देशामुळे सीमाबद्ध होते. पुण्यकाली चतुर्दशीस हिंसा न करता अहिंसेचे पालन जेव्हा होते तेव्हा ती अहिंसा कालाने सीमित होते. वर सांगितल्याप्रमाणे जाती, देश व काल यांच्या बंधनात राहून फक्त शिष्ट लोक येतील तेव्हाच जो कोणी हिंसा करतो त्याची अहिंसा समयबद्ध होते. ज्याला शक्तिपातयोगाचे साधन करावयाचे आहे त्याने इष्ट सिद्धी जो मोक्ष तो प्राप्त होण्यासाठी वरीलप्रकारे परिच्छिन्न झालेली अहिंसा

सोडून देऊन अपरिच्छिन्न अहिंसाव्रताचे पालन करणे आवश्यक आहे.

श्रीसंतशिरोमणी ज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" १६ व्या व १७ व्या अध्यायात अहिंसेचे विवेचन करताना असे म्हटले आहे की-

आणि जगाचिया सुखोद्देशें। शरीरवाचामानसें।
राहाटणें तें अहिंसें। रूप जाण।।१६.११४।।
भूतमात्राचेनि नांवें। तृणही नासुडावें।
किंबहुना सांडावे। छेद भेद।।१७.२१२।।

कायावाचामनाने प्राणिमात्रांना सुख व्हावे याच एकमेव हेतूने जे वर्तन करणे तेच अहिंसेचे खरे स्वरूप व लक्षण होय. सर्व भूतमात्रांमध्ये जीव भरलेला आहे याची साधकाने जाणीव ठेवून गवतालासुद्धा हिसका देऊन तोडू नये किंवा कापू नये. फार काय साधकाने कोणाचीही मोडतोड करू नये व कोणालाही वर्मी लागेल असे बोलू नये.

सत्य :-

"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथा अनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवदेत्येषा सर्वभूतोपकारार्थम्प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यम्भवेत्।" यथार्थ वाणी म्हणजे जसे पाहिले व ऐकले असेल त्याप्रमाणे विचार व उच्चार करणे ते सत्य होय. याचा अर्थच असा आहे की, मन व वाणी एकरूप होणे हे सत्य होय. तरीपण वेळप्रसंग पाहून पाहिल्याप्रमाणे व ऐकल्याप्रमाणे बोलून जर दुसऱ्याचा घात होत असेल तर तसे न बोलणे हेही सत्य आहे. प्रत्यक्ष डोळ्याने पाहिलेले किंवा शास्त्राने सांगितलेले तेच बोलावे. दुसरे भलतेच काही बोलू नये. मात्र आपण जे सत्य बोलणार आहोत ते सर्वांना प्रिय असावे. जे कोणास अप्रिय असेल व ज्याने कोणाचे मन दुखावेल असे सत्य देखील बोलू नये. असे बोलल्यामुळे कदाचित् दुसऱ्याचे मन दुखावल्यामुळे हिंसा घडते. मग अहिंसेला बाध येतो. म्हणून प्रिय जे असेल तेच बोलावे. अप्रिय जे असेल ते सत्यही बोलू नये. त्याचप्रमाणे प्रिय जरी

असले तरी खोटे बोलणे योग्य नाही. प्रसंगोपात् मौन धरणे किंवा निघून जाणे योग्य ठरते. हाही सनातन धर्म आहे, असे मनुस्मृतीत सांगितले आहे. हा सत्यधर्म पूर्ण साधला म्हणजे वाचासिद्धी होते.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी सत्याची व्याख्या करताना "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" असे म्हटले आहे की-

तैसें तोडावया संदेह। तीख जैसें का लोह।
श्राव्यत्वें तरी माधुर्य। पायीं घालीं।।१६.११७।।
किंबहुना प्रियपणें। कोणातेही झकवूं नेणें।
यथार्थ तरी खुपणें। नाहीं कवणा।।१२०।।
परि अहितीं कोपोनि सोप। लालनीं मऊ जैसें पुष्प।
तिये मातेचें स्वरूप। जैसें कां होय।।१२३।।
तैसें श्रवणसुख चतुर। परिणमोनि साचार।
बोलणें जें अविकार। तें सत्य येथें।।१२४।।

सत्यवचन हे संशयनिवृत्ती करण्याच्या बाबतीत लोखंडी शस्त्राप्रमाणे तीक्ष्ण असते. मात्र ते ऐकले असता इतके अमृतमधुर असते की, माधुर्यालाही पायाखाली घालून लाजविते. सत्यवचनाची गोडी इतकी असल्यामुळे ते कोणालाही फसविण्याचे जाणत नाही आणि ते इतके यथार्थ असते की, ते कोणाच्याही मनाला खुपत नाही. मुलाचे अहित होऊ नये म्हणून आई पोकळपणे रागावते व त्याचे योग्य लालन पालन व्हावे म्हणून फुलाप्रमाणे मऊ असते. त्याप्रमाणे सत्यापासून कानाला सुख होते. ते चतुर असून परिणामी गोड असते. ते कोणाचाही मर्मभेद करीत नाही व रागद्वेषादि विकारांपासून सत्य दूर असते.

अस्तेय :-

"**अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निस्पृहा।। शाण्डिल्योपनिषद्।।१.७।।**" कायेने, मनाने व वाचेने सर्वथा परद्रव्याचा त्याग करणे याला अचौर्य, अस्तेय किंवा चोरी न करणे असे म्हणतात. याचा अर्थ असा आहे की, कायेने कोणाचे द्रव्य बळेच हरण करू नये. वाचेने कोणाला मागू नये. द्रव्य उत्तम आहे म्हणून ते

मिळाले पाहिजे असे मनाने चिंतू नये. अर्थात् द्रव्य म्हणजे पैसा एवढाच अर्थ मर्यादित नाही. मातीच्या भांड्यापासून ते सुवर्णा-पर्यंत जे काही सामान ते द्रव्यच आहे. या सर्वांचाच कायावाचामनाने त्याग करावा. अशा तऱ्हेने जो हे सत्याचे व्रत पाळील त्याची वाणी वाया जात नाही. तो जे बोलेल ते होते.

आर्जव :-

आर्जव म्हणजे मनाचा सरळपणा होय. शक्तिपातयोगसाधनेत या गुणाचे महत्त्व फार मोठे आहे. जितका हा गुण साधकाच्या ठिकाणी आधिक्याने असेल तितकी साधकाच्या आत्मशक्तीच्या विकासाला चालना मिळेल; कारण या गुणामुळे समर्पणाची क्रिया जलद घडून येण्यास मदत होते. या गुणाबद्दल श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हणतात की -

"वाटेल त्या बऱ्या वाईट अशा सर्व प्राणिमात्रास मग तो कोणीही असला तरी त्यास जसा प्राण एकसारखा अनुकूल असतो त्याप्रमाणे साधकाने मनाने सर्वांशी सरळ असावयास हवे. सूर्य जसा हा चांगला व हा वाईट अशी भेदबुद्धी ठेवून एखाद्याचे तोंड पाहून प्रकाश पाडीत नाही किंवा आकाश हे सर्व जगाला सारखाच अवकाश देते त्याप्रमाणे साधकाचे मन हरएक प्राण्याविषयी निरनिराळे असता कामा नये. उलट वर्तन असे असावयास पाहिजे की, सर्व जग जसे काही पूर्वीपासून त्याच्या ओळखीचे आहे. किंबहुना सर्व जगाबरोबर जसा काही आपला अगदी दाट व जुनाट संबंध आहे असे त्याच्या मनाला वाटले पाहिजे. साधकाला आपपरभावाची भाषाच ओळखीची असता कामा नये. असे आर्जव ज्या साधकाच्या ठिकाणी असते त्याची वाटेल त्याच्याबरोबर मैत्री होते. पाण्याप्रमाणे त्याचा स्वभाव सर्वांशी जुळणारा असतो. कोणाही विषयी त्याचे मन विकल्प घेत नाही. वाऱ्याचे वाहणे जसे सरळ असते त्याप्रमाणे साधकाच्या मनाचा स्वभाव सरळ असावयास हवा. शंका व लोभ त्याच्या चित्तात मुळीच असता कामा नयेत.

आत एक व बाहेर एक अशा विचारास साधकाने मनात थारा देता कामा नये. कोणाबरोबरही साधकाने वाईट बुद्धीने वागता कामा नये. साधकाची दहा इंद्रिये व पंचप्राण सदासर्वदा सरळ, निष्कपट व शुद्धबुद्धीने वर्तन करणारी असली पाहिजेत. अमृताच्या धारेप्रमाणे त्याचे अंत:करण सरळ असले पाहिजे. जो साधक असे वागतो तो पुरुष मूर्तिमंत आर्जव आहे असे म्हणावयास पाहिजे." **(श्रीज्ञानेश्वरी १३.३५५ ते ३६८)**

सारांश, ज्याप्रमाणे आईच्या स्तनातील दूध हे मुलास सर्वतोपरी हितकारक असते किंवा चैतन्य अथवा प्राण हा सर्व भूतमात्रांच्या ठिकाणी सारखाच असतो त्याप्रमाणे प्राणिमात्रांशी सरळ, निष्कपट व सौजन्यपूर्ण वागणे याला आर्जव असे म्हणतात.

क्षमा :-

आपल्या शरीरावर केस आहेत व आपण ते धारण केले आहेत याची जाणीव शरीराला नसते. त्याप्रमाणे सर्व सहन करीत असताना देखील मोठेपणाचा गर्व ज्याला वाटत नाही त्याला क्षमा असे म्हणतात. कोणी प्रिय बोलो अथवा अप्रिय बोलो, दंड मारो अथवा सन्मान करो, चंदन लावो अथवा घाण टाको; परंतु ते सहन करून घ्यावे. इतकेच नव्हे; तर मनाने देखील त्याचे नुकसान चिंतू नये. साधकाने वरवर एखादी गोष्ट सहन केली आणि मनाने मात्र नुकसान चिंतिले तर पूर्वी सांगितलेल्या अहिंसेचा भंग होईल आणि योगसिद्धी होणार नाही. यासाठी मनाने देखील कोणाचे वाईट चिंतू नये. ही क्षमा पूर्ण साधली म्हणजे त्रिभुवनात कोणी शत्रू राहत नाही. **(श्रीज्ञानेश्वरी १६.१९१)**

"श्रीज्ञानेश्वरीच्या" १३ व्या अध्यायात साधकाच्या ठिकाणी क्षमेची किती नितांत आवश्यकता आहे हे सांगताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "अपेक्षित इच्छित वस्तू प्राप्त झाली असता साधकाला जो संतोष होतो तोच संतोष अनपेक्षित वस्तू त्याला प्राप्त झाली असता त्याने मानला पाहिजे. शिवाय साधकाने मानापमान सहन करून सुखदु:खांनाही सारखीच जागा दिली पाहिजे. त्याने निंदेने किंवा

स्तुतीने मनाची समता दुभंगू देता कामा नये. अनेक प्रकारची सुखदुःखे प्राप्त झाली तरी अंतःकरण डगमगू न देता व श्रमी न होता साधकाने राहिले पाहिजे. नदी व नद यांचे समुदाय पाण्याचे लोटच्या लोट घेऊन जरी आले तरी त्यांना कोठे ठेवावे अशी चिंता न करता ज्याप्रमाणे समुद्र आपल्या पोटात ते सहज सामावून घेतो त्याप्रमाणे साधकाने आपल्याला एखादी गोष्ट सहन करता येत नाही असे कधीही घडू देऊ नये. त्याचप्रमाणे आपण सर्व गोष्टी सहन करतो अशी आठवण ठेवून अभिमानही धरू नये. असे जो वागतो त्याला क्षमारूप साधन संपत्ती प्राप्त होते. **(श्रीज्ञानेश्वरी १३.३४२ ते ३५२)**

धृती :-

धृती म्हणजे धैर्य. जो साधक धैर्यवान् असतो त्याने कल्पांतीही आपले सहनशीलतेचे धैर्य सोडता कामा नये. साधन करताना विषय-सेवनाविषयी इंद्रियांची असीम प्रवृत्ती ज्यावेळेस वाढते त्यावेळी मोठ्या धैर्याने साधकाने इंद्रियांना आवर घातला पाहिजे. त्याचप्रमाणे पूर्वप्रारब्धाने रोग खवळले असता किंवा अप्रिय वस्तूचा योग व प्रिय वस्तूचा वियोग झाला असता साधकाने अंतःकरण दगडासारखे कठीण करून धैर्य धारण केले पाहिजे. एवढेच नव्हे; तर वरील सर्व गोष्टींचा एक-समयावच्छेदेकरून पूर जरी आला व त्यांनी एकवटून साधकाला गिळण्याचा प्रयत्न केला तरी साधकाने श्रीअगस्ती ऋषींप्रमाणे अत्यंत दृढतेने उपरोक्त सर्वांना गिळून टाकून त्यांच्याशी अत्यंत धैर्याने सामना केला पाहिजे. ज्याप्रमाणे आकाशात धुराचा महाप्रचंड लोट उठला तरी वारा एका झुळकेसरशी त्याला गिळून नष्ट करतो. त्याप्रमाणे साधकाने आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक हे त्रिविध उपद्रव जरी एकदम प्राप्त झाले तरीही त्याने अमाप धैर्याने त्या सर्वांना गिळून टाकले पाहिजे. याप्रमाणे ज्या ज्या वेळी चित्ताचा क्षोभ होण्याचा प्रसंग उत्पन्न होतो त्या त्या वेळी साधक ज्या सहनशीलतेने ही सर्व दुःखे पेलतो व पचवितो त्या मनोवृत्तीरूप शक्तीला धृती असे म्हणतात. **(श्रीज्ञानेश्वरी १६.१९२ ते १९६)**

अपरिग्रह :-

"पातंजल योगसूत्राच्या" श्रीव्यासभाष्यात अपरिग्रहाची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की - **"विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्ग-हिंसादर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।"** स्वार्थबुध्दीने धन, संपत्ती, ऐश्वर्य, भोगसामुग्री व शरीर रक्षणाच्या अनावश्यक वस्तू मिळविणे, त्यांचे रक्षण करणे, त्या नाश पावू नयेत म्हणून त्यांची काळजी घेणे याला परिग्रह असे म्हणतात. या उलट अशा तऱ्हेच्या संग्रहबुद्धीचा त्याग करण्याचा अभ्यास करणे याला अपरिग्रह म्हणतात. प्राणिघातावाचून भोग नाही म्हणून हिंसा इत्यादि दोष विचारात घेता विषयांचा स्वीकार न करणे यालाच अपरिग्रह असे म्हणतात.

दया :-

या साधन संपत्तीचे वर्णन करताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "चंद्राचे चांदणे आपली शीतलता व शांती लोकांना देत असताना हा थोर व हा लहान अशी निवड करीत नाही त्याप्रमाणे साधकाने सर्वांबद्दल अंतकरणात सारखी दया धारण केली पाहिजे." **(श्रीज्ञानेश्वरी १६.१५४)** श्रीसंतगुलाबरावमहाराज यांनी **"योगांगयम-लक्षण"** यात दयेविषयी असे म्हटले आहे की, "सर्वाभूती दया असावी. कोणाचाही द्वेष नसावा. ज्याप्रमाणे आपला प्राण आपल्याला प्रिय आहे त्याप्रमाणेच सर्व जीवांना आपापला प्राण प्रिय आहे. म्हणूनच कोणाचाही घात व द्रोह करू नये. व्याघ्र, सर्प, विंचू इत्यादिकांचाही वध करू नये. मनात देखील त्यांच्या नाशाविषयी इच्छा करू नये. कदाचित् उठलीच तर मागे केलेल्या अहिंसेचा भंग होतो व मग योगसिद्धी होत नाही. महासंकटात शत्रूलाही सोडवावे. मग तो आपला नाश करो वा न करो. ही भूतदया साधली म्हणजेच ईश्वरानुग्रह झाला. दानाहून दया विशेष आहे. कायावाचामने करून सर्व प्राण्यांच्या रक्षणाचा उपाय करावा. म्हणजे कायेने कोणास काही नसेल ते यथाशक्ती पुरवावे. काही जवळ नसेल तर हात जोडून वंदन करावे. सर्व प्राण्यांना आपले शरीर झिजवून संकटातून

रक्षावे. दयेच्या ठिकाणी जाती, वर्ण पाहू नये. सुष्ट-दुष्ट, लहान-मोठा, शत्रू-मित्र, आपले-परावे इत्यादि पाहू नये. ज्याप्रमाणे श्रीगंगेवर गाय व वाघ दोघेही जातात व त्या दोघांची श्रीगंगा सारखी तृप्ती करते त्याप्रमाणे सर्वाभूती समान दया असावी. दयेपेक्षा श्रेष्ठ धर्म नाही. दया हीच साधारण लोकास समाधी आहे. "**सर्वभूतेषु दया ब्रह्म। एतद्ब्राह्मणलक्षणम्।।**" असे "**श्रुतीचे**" वचन आहे. सर्वाभूती एक ब्रह्म आहे असे जाणून जो सर्व भूतांवर दया करतो तो कोणत्याही जातीचा असला तरी खरोखर ब्राह्मण आहे असे "**सामवेदात**" सांगितले आहे. यास आणखी पुष्कळ श्रुती प्रमाण आहेत. दया हे मुक्तीचे मूळ आहे. याविषयी श्रीसंततुलसीदास एके ठिकाणी म्हणतात. "**दया मुकतका मूल है। नरकमूल अभिमान। तुलसी दया न छांडिये। जबलग घटमों प्राण।।**" तसेच दया भक्तीचेही मूळ आहे. श्रीसंत-एकनाथमहाराज असे म्हणतात की, "**ज्याचे अंगीं दया शांती। तया न लगे ईश्वरभक्ती।।** दया हे संतांचे गुह्य आहे. याविषयी श्रीसंत-तुकाराममहाराज असे म्हणतात की, "**भूतांची दया हे भांडवल संतां। आपुलिया ममता नाहीं देहीं।। दया करणें जे पुत्रासी। तेचि दासा आणि दासी।। तुका म्हणे सुख पराविया सुखें। अमृत हें मुखें स्त्रवतसे।।**" याप्रमाणे दया हे योगाचे मूळ आहे. याविषयी श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराज असे म्हणतात की, "**दया जयाचें अंतरीं। त्याला दूर नाहीं हरी। हारवोनि सर्व धन। करा दया हे साधन। रामी रामदास म्हणे। दया सर्वत्र ठेवणे।।**" श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी तर दयेस ब्रह्मच करून ठेवले आहे. ते असे म्हणतात, "**गाईची तृषा हरूं। व्याघ्रा विष होऊनी मारूं। ऐसें नेणेचि गा करूं। तोय जैसें।।१२.१४७।। का घरींचियां उजियेडु करवा । पारखियां आंधारु पाडावा। हें नेणेचि गा पांडवा। दीपु जैसा।।१२.१९८।। जो सर्व भूतांच्या ठायीं। द्वेषातें नेणेंचि कहीं। आपपरु जया नाहीं। चैतन्या जैसा।।१२.१४४।।**"

शौच :-

शौच या शब्दाचा अर्थ शुद्धता असा आहे. **"पातंजल योगसूत्रात"** साधनसंपत्तीच्या या गुणाला नियमपंचकात घातले आहे. योगसूत्रावरील श्रीव्यासभाष्यात शुद्धतेची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की, **"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरं यथा। शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।। २-३२।।"** ती शुद्धता दोन प्रकारची आहे. बाह्य शुद्धता व आंतर शुद्धता. मातीने, पाण्याने अगर भस्माने जी देहाची शुद्धी ती बाह्य शुद्धी होय आणि मनातील सर्व कृत्रिम भाव काढून टाकणे व वाईट वासनेचा त्याग करणे ही आंतरशुद्धी होय. ही साधली म्हणजे योगी पातकांपासून मुक्त होतो. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी शुचितेचे वर्णन करताना असे म्हटले आहे की, "कापूर जसा आंतर्बाह्य शुद्ध व स्वच्छ असतो तसे साधकाचे शरीर आंतर्बाह्य शुद्ध व स्वच्छ असावयास हवे. असे म्हणणे हेच खरे शुचित्व होय." **(श्रीज्ञानेश्वरी १३.४६२)** साधकाच्या घरादारामध्ये अशी शुचिता असणे नितांत आवश्यक आहे; कारण याशिवाय योगशास्त्रात साधनाची जी फले मिळतात म्हणून सांगितले आहे ती साधकाला मिळत नाहीत. साधनाची खोली अगदी स्वच्छ असणे, नित्यनियमित स्नानादि करणे हे जितके आवश्यक आहे तितकेच घरात विटाळशीचा विटाळ पाळला जाणे आवश्यक आहे. कालौघात एक अत्यंत चांगली प्रथा समाज सोडून देत आहे; परंतु साधकाने समाजाचा विचार न करता म्हणजे बाहेर कोण काय करतो, नियम कितपत पाळतो हे न पाहता व याचा विचार न करता स्वतःच्या घरात हे नियम पूर्ण पाळलेच पाहिजेत. हे नियम न पाळता साधन करणे कित्येक वेळा घातक ठरते.

वास्तविक रजस्वला स्त्रीने पहिल्या दिवसापासून ब्रह्मचारिणी राहावे. दिवसा झोपू नये. डोळ्यात काजळ घालू नये. कधीही रडू नये. स्नान करणे, चंदनाची उटी लावणे, तेलाने मर्दन करणे, नखे काढणे, धावणे, हसणे, अति बडबडणे, भयानक शब्द ऐकणे, वेणी

घालणे व जोराचा वारा सहन करणे या गोष्टी करू नयेत. "**शतपथ ब्राह्मण**" व "**तैत्तिरीयसंहितेमध्ये**" उपरोक्त नियमांचे रहस्य आवर्जून सांगितले आहे. रजस्वला स्त्रीबरोबर एकासनावर बसणे, एका शय्येवर झोपणे, तिला स्पर्श करणे किंवा तिच्याशी भाषण करणे इत्यादि सर्वांचा तीव्रतम निषेध शतपथ ब्राह्मणामध्ये सुस्पष्टपणे केला आहे. ऋषी म्हणतात, "रजस्वलेला स्पर्श करू नये. सहआसन, सहशयन व सहभाषण करू नये. तिचे निरीक्षणही करू नये. या गोष्टी अत्यंत निषिद्ध आहेत; कारण त्यामुळे मानव मलीन होतो."

भगवान् श्रीव्यासांनी ऋतुमती स्त्रीच्या बाबतीत मुद्दाम स्पष्टपणे असे सांगितले आहे की-

स्त्रियं पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित्।
मासि मासि रजस्तासां दुष्कृतान्यपकर्षति।।

पवित्रतेच्या दृष्टीने स्त्रिया अनुपम आहेत; कारण त्यांच्या शरीरातील, मनातील व बुद्धीतील दोष प्रत्येक महिन्याला रज बाहेर पडून दूर होत असतात. अर्थात् स्त्रियांचे हे परम कर्तव्य आहे की, वस्तूला, अन्नाला, कपड्याला अगर व्यक्तीला स्पर्श न करता बाजूला राहून या दोषांचे संक्रमण उपरोक्त गोष्टीत होणार नाही याची काळजी घेतली पाहिजे. यासाठी त्यांनी नियमबद्ध राहणे आवश्यक आहे.

रजोदर्शनतो दोषात् सर्वमेव परित्यजेत्।
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत्।
स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रं तु स्वमुखं नैव दर्शयेत्।
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत् स्नानान्न शुद्ध्यति।।

जी स्त्री विटाळशी झाली आहे तिने दुसऱ्या पदार्थांमध्ये आपल्या ठिकाणच्या रजोदोषांचे संक्रमण होऊ नये म्हणून स्वयंपाकपाणी इत्यादि कोणत्याही गृहकार्यापासून तीन दिवस पूर्णपणे दूर राहिले पाहिजे. चौथ्या दिवशी स्नान करून वरवरचे काम करण्यास हरकत नाही. मात्र स्वयंपाक करू नये. पाचव्या दिवशी स्नान करून स्वयंपाकादि करण्यास हरकत नाही. श्रीमनूने मनुस्मृतीत या बाबतीत असे स्पष्ट

लिहिले आहे की -

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह।।
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते।।
तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते।।४.४०-४२।।

कामाने पिडीत झालेल्या पुरुषानेही रजोदर्शन झाले असता पहिले चार दिवस स्त्रीसमागम करू नये व तिच्याबरोबर एका शय्येवर झोपू नये; कारण रजस्वला स्त्रीशी गमन करणाऱ्या पुरुषाची बुद्धी, तेज, बल, नेत्र व आयुष्य ही क्षीण होतात. जो पुरुष अशा स्त्रीला वर्ज्य करतो त्याची बुद्धी, तेज, बल, नेत्र व आयुष्य ही वाढतात.

ज्यांना हे शक्तिपातायोगाचे साधन करावयाचे आहे त्यांनी निदान आपल्या घरात विटाळशीचा विटाळ कटाक्षाने पाळला पाहिजे. तिच्या हातचे अन्न तर कदापीही भक्षण करता कामा नये. प्रोफेसर श्री.शीक याने संशोधनाने सिद्ध केलेले मत साधकाने कायम ध्यानात ठेवले पाहिजे. तो म्हणतो, "विटाळशीच्या विटाळात अत्यंत प्रबल असे रजोविष असते. ती जर उद्यानात गेली तर फुले, पाने व फळे सुकून जातात. फुलांनी बहरलेल्या वेली व वृक्ष मरून जातात. फुले सडतात. इतकेच नव्हे; तर वृक्षावरील किडेसुद्धा मरून पडतात किंवा पळून जातात. विटाळ किंवा रजोविष फार भयंकर आहे. ते निघून जाणेच इष्ट असते. याविषयी सुरुवात पहिल्या दिवशी होऊन दुसऱ्या दिवशी त्याचे प्रमाण खूप वाढते. तिसऱ्या दिवशी हे प्रमाण कमी होऊन चवथ्या दिवशी नाहीसे होते." या अर्थानेच **"श्रीपराशर-स्मृतीमध्ये"** असे म्हटले आहे की,

प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुद्ध्यती।।७.२०।।

रजस्वला स्त्री पहिल्या दिवशी चांडाळाप्रमाणे अपवित्र, दुसऱ्या

दिवशी ब्रह्महत्या करणाऱ्याइतकी अपवित्र, तिसऱ्या दिवशी परटिणी-इतकी अपवित्र व चवथ्या दिवशी स्नानाने ती पूर्ववत् शुद्ध होते.

"शाक्तानंद तरंगिणीमध्ये" तर रजस्वला स्त्री पाचव्या दिवशी गृहकृत्यादि सर्व कार्यास शुद्ध होते असे म्हटले आहे.

रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने।

सारांश, साधकाने साधनात प्रगती होण्याच्या दृष्टीने ही शुचिता पूर्णांशाने सांभाळली पाहिजे. याला दुसरा पर्याय नाही.

शुचितेमध्ये स्पर्शास्पर्श दोषाचा विचारही आवश्यक आहे. साधकाने उगीच कोणालाही सहसा स्पर्श करू नये; कारण जागृत शक्तीच्या रूपाने शरीराची, मनाची व प्राणाची निरंतर शुद्धी चालू असते. ही शुद्धी दुसऱ्याच्या स्पर्शाने कमी होते; कारण त्याच्या विचारादिसंस्कारांचे संक्रमण होण्याची खूपच शक्यता असते.

आहार :-

साधनसंपत्तीच्या दृष्टीने आहाराकडे साधकाने निरंतर लक्ष दिले पाहिजे. आहार कसा, किती, कोणता व केव्हा घ्यावा याचा विचार होणे फार आवश्यक आहे.

मिताहार :-

साधकाने नेहमी मिताहारच करणे उचित आहे. अत्याहाराने योगाचा नाश होतो असे **"हठयोगप्रदीपिकेत"** सांगितले आहे. **"घेरंड संहितेत"** असे स्पष्ट म्हटले आहे की -

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगा भवेत्तस्य किंचित् योगो न सिध्यति।।५.१६।।

जो साधक परिमित आहार करण्याचा निश्चय व नियम न करता योगाभ्यासाला सुरुवात करतो त्याला नाना प्रकारचे रोग होतात, त्याची साधनात थोडीसुद्धा प्रगती होत नाही व त्याला योगामध्ये सिद्धी मिळत नाही.

"श्रीमद्भगवद्गीतेतील" ६ व्या अध्यायामध्ये साधकाने आहार निद्रादि संबंधाने किती सावध असले पाहिजे हे आवर्जून सांगितले

आहे; कारण त्याशिवाय योगसिद्धी होत नाही.

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

जितके हवे त्याहून आधिक अन्न खाणाऱ्या पुरुषाला शक्तिपात-योगाभ्यास होत नाही. अगदी मुळीच अन्न न खाणाऱ्या साधकाला अशक्तता आल्यामुळे हा शक्तिपातयोगाभ्यास करता येत नाही. खूप झोप घेण्याचा ज्याचा स्वभाव आहे त्याला व अतिशय जागणाऱ्या पुरुषाला योग घडत नाही व करताही येत नाही.

याचा भावार्थ स्पष्ट करताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "जो मनुष्य जिह्वेच्या अंकित होतो किंवा सर्वथैव झोपेला जीवाभावाने विकला जातो तो या योगाचा अधिकारी म्हटला जात नाही. अथवा दुराग्रहाच्या आवेशात जो भूक आणि तहान मारून आहार कमी करतो त्याला योग साधत नाही. साधकाने झोप मुळीच घ्यावयाची नाही असा दुराग्रह धरून नाचू नये व त्यात धन्यताही मानू नये; कारण त्यातच साधकाने धन्यता मानली तर त्याचे शरीरच त्याच्या स्वाधीन राहत नाही. मग त्याला योग कोठून साध्य होणार? यासाठी विषयांचे अतिसेवन करावे अशी साधकाची विरोधी वृत्ती नसावी किंवा त्याचा सर्वथैव त्याग करण्याचा आग्रहही धरणे योग्य नाही." **(श्रीज्ञानेश्वरी ६.३४५ ते ३४८)**

"साधकाने युक्तीच्या मापाने मोजून परिमित असे अन्न सेवन करावे. त्याचप्रमाणे इतर सर्वच्या सर्व क्रियाही युक्तीनेच प्रमाणात कराव्यात. याचा अर्थ असा आहे की, साधकाने थोडे बोलावे. अगदी कमी चालावे. झोप आली म्हणजे योग्यवेळी झोपही घ्यावी. जाग्रण करावयाचे झाले तरी तेही नियमित वेळेपर्यंतच करावे. अशा नियमित रीतीने आचरण केल्यावर शरीरातील रक्तादिक सप्तधातू सहजच समतोल राहतात. अशा प्रकारे बेताबेताने इंद्रियांची तृप्ती

नियमितपणाच्याद्वाराने करीत गेले म्हणजे हळूहळू संतोष वाढत जातो व अंतर्यामी सुख वाढते." **(श्रीज्ञानेश्वरी ६.३४९ ते ३५२)**

परिमित आहार म्हणजे काय? :-

साधकाने भोजन करताना प्रथम आपल्या इष्टदेवतेला सर्व अन्न अर्पण करून भोजनास आरंभ करावा. भोजन करताना मन प्रसन्न व संतोषित असावे, निर्मल, सुमधुर, स्निग्ध व सरस भोजनाने पोट अर्धे भरेल इतकेच खावे. नंतर एक चतुर्थांश भाग पाणी प्यावे व एक चतुर्थांश भाग वायूसाठी मोकळा सोडावा. मिताहारासंबंधी एकच विशेष गोष्ट अशी लक्षात ठेवली पाहिजे की, भोजन झाल्यावर पोट थोडेसे मोकळे राहिले पाहिजे आणि मनाला असे वाटले पाहिजे की, आपण आणखी थोडे खाऊ शकू. असे वाटले म्हणजे उत्तम मिताहार झाला असे समजावे. पोटाला तडणी लागेल इतके खाणे योग्य नाही; कारण त्यामुळे शरीराला जडता व आळस येऊन साधन चांगले होत नाही. भूक लागल्यावर साधकाने थोडे अवश्य खावे. परंतु एका वेळेलाच अधिक खाणे साधकाला कधीही योग्य नाही. साधकाने हे लक्षात ठेवले पाहिजे की, जेवण झाल्यावर त्याने तीन तास साधन करता कामा नये. त्याचप्रमाणे अतिशय भूक लागली असताना उपाशी पोटी साधन करणे चांगले नाही. अत्यंत भूक लागली तर थोडेसे हलके खाऊन साधन करण्यास हरकत नाही. भूक लागली असताना मोकळ्या पोटी साधनास बसल्यास चित्त स्थिर होत नाही. नसते विघ्न मात्र उपस्थित होते. श्रीकबिरांनी याबाबतीत असे म्हटले आहे की -

कबिरा छूधा-कूकडी करत भजनमें भंग।
याको टुकडा डारिकै, सुमिरन करो निसंक।

श्रीकबीर असे म्हणतात की, "भूक ही एखाद्या कुत्रीप्रमाणे साधनभजनात विघ्न करते. यासाठी तिला थोडासा तुकडा खाण्यास दिला की, साधकाला निश्चिंतपणे साधनात निमग्न होता येते."

भोजन केव्हा करावे ? :-

साधकाने सकाळ संध्याकाळ नियमित वेळी भोजन केले पाहिजे. त्याचप्रमाणे जेवताना उजव्या नाकपुडीने म्हणजे पिंगला नाडीने श्वास चालू असणे अधिक श्रेयस्कर असते. पिंगला नाडीलाच सूर्यनाडी असे म्हणतात. ही नाडी चालू असली म्हणजे श्वासोच्छ्वास उजव्या नाकपुडीने चालू असला की, देहरूपी लघुब्रह्मांडात दिवस होतो. इडा नाडीला चंद्रनाडी असे म्हणतात. जेव्हा प्राणवायू या नाडीतून वाहत असतो तेव्हा देहात रात्र असते. त्यामुळे जेव्हा पिंगला नाडी चालू असून देहात दिवस असतो तेव्हा आहार घेतल्याने शरीररस उत्पन्न न होता अन्नाचे सहज पचन होते. मात्र इडा नाडी चालू असताना म्हणजे देहात रात्र असताना जर भोजन केले तर त्याचे पचन ठीक होत नाही व शरीरात रसाचा खूप संचार होतो. जर भोजन करताना उजव्या नाडीने श्वास चालू नसेल तर डाव्या पायाचा गुडघा बगलेत दाबून धरला की, उजवी नाडी सुरू होईल. डाव्या कुशीवर झोपले किंवा डाव्या बगलेत एखाद्या फडक्याचा बोळा दाबून धरला तरी उजवी नाडी सुरू होते.

साधकाचे भोजनातील पदार्थ :-

साधकाच्या भोजनात पुढील पदार्थ विशेषे करून असावेत. साळीचे तांदूळ, गहू, मूग, पडवळ, काकडी, सातू, दूध, तूप, साखर, लोणी, वेलदोडे, तूर, पालक, चवळई, घोळूची भाजी, दुधी भोपळा, घोसाळे, सुरण, साठीभात, देवभात म्हणजे वरई, केळफूल, परवरची भाजी इत्यादि पदार्थ साधकाच्या भोजनात असावेत. शक्तिपातयोगाच्या साधनास सुरुवात झाली की, प्रथम तीव्र शक्तिचालनामुळे शरीरात खूप उष्णता वाढल्याचे अनुभवास येते. अशा वेळी तूप व दुधाचे सेवन करणे उपयुक्त ठरते. त्याचप्रमाणे साधकाचा आहार पौष्टिक, मधुर धातूंचे पोषण करणारा, रुचकर, स्निग्ध व मनाला प्रसन्न करणारा असावा.

"श्रीमद्भगवद्गीतेत" सात्त्विक माणसाला प्रिय असणारा जो आहार सांगितला आहे. तोच साधकाने नेहमी घ्यावा.

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराहृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।१७.८।।

आयुष्य, मानसबल, शरीरबल, आरोग्य, सुख, प्रीती यांना वाढविणारा, रसयुक्त, स्नेहयुक्त, देहात परिणामरूपाने चिरकाल राहणारा व हृदयाला प्रिय वाटणारा असा आहार सात्त्विक लोकांना प्रिय असतो. असाच आहार साधकाने घ्यावा. साधकाने मिताहार करावा म्हणून **"हठयोगप्रदीपिकेत"** मोठ्या कटाक्षाने सांगितले आहे.

सुस्निग्धमधुराहारश्च चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।१.५८।।

साधकाने स्निग्ध म्हणजे तूप व दूधयुक्त आणि मधुर असा आहार घ्यावा. जेवताना दोन भाग अन्न व एक भाग पाणी पिऊन एक भाग वायूच्या चलनासाठी मोकळा ठेवावा. त्याचप्रमाणे आपण जे भोजन करतो ते अंतःकरणामध्ये ईश्वराबद्दल प्रेम निर्माण व्हावे व त्याची प्राप्ती आपल्याला व्हावी म्हणून करीत असल्याने जेवण देहाकरिता नसून देव जो श्रीमहेश्वर तो भोक्ता आहे, त्याच्या करिता आहे, अशी श्रद्धा मनात बाळगून जे जेवण केले जाते, त्यालाच मिताहार असे म्हणतात.

भोजनातील वर्ज्य पदार्थ :-

"ध्यानबिंदू उपनिषदात" असे म्हटले आहे की -

कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी।।७१।।
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः।।७१-१/२।।

कडू, तिखट व खारट पदार्थ साधकाने टाळावेत. जो साधक दुग्धपान करतो, मिताहारी असतो व ब्रह्मचारी राहतो तो साधनाभ्यासाने योगपरायण होतो.

साधकाने कडू, खारट, आंबट, अतितिखट, गरम, कांजी, लोणचे, मोहरीचे तेल, मांस, मासे, दही, अति आंबट ताक, हिंग, कांदा, लसूण, दोनदा गरम केलेले पदार्थ, रुक्ष व जळजळ करणारे पदार्थ, शिळे, पचण्यास कठीण, दुर्गंधीयुक्त, अतिउष्ण, अतिशीतल, असे

सर्व पदार्थ वर्ज्य करावेत. **"श्रीमद्भगवद्गीतेमध्ये"** राजस व तामस लोकांना जे पदार्थ आवडतात ते सांगितले आहेत. साधकाने ते कटाक्षाने टाळले पाहिजेत.

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।१७.९।।
यातायमं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

कडू, आंबट, खारट, अति उष्ण, तिखट, रुक्ष, नीरस, दाहक, पोटाची व तोंडाची आग करणारे, दुःख, शोक व रोग उत्पन्न करणारे पदार्थ राजस प्रकृतीच्या मनुष्याला आवडतात. त्याचप्रमाणे अर्धवट शिजलेले, रसरहित, दुर्गंधीयुक्त, शिळे, उष्टे, यज्ञाला अयोग्य असे अन्न तामस लोकांना प्रिय असते. उपरोक्त सर्व प्रकारचे अन्न साधकाने टाळावे.

साधकाने मांसाहार कटाक्षाने वर्ज्य केला पाहिजे; कारण मांसाहारामुळे रज व तमोगुणाची वृद्धी होते. मांसाहारामुळे हिंसादोष साधकाला लागतो. यासाठी आपले शारीरिक व मानसिक कल्याण होईल असाच आहार साधकाने केला पाहिजे. कांदा व लसूण हे दोन्ही पदार्थ कामोत्तेजक असून प्राणशक्ती खाली खेचणारे असल्याने तेही साधकाने जन्मभर वर्ज्य केले पाहिजेत.

भोजनाचे नियम किती दिवस पाळावयाचे :-

योगी व रोगी हे जवळ जवळ सारखेच असतात; कारण रोगी वैद्याकडे जाऊन योग्य औषध व आहाराच्या पथ्याचे पालन करून प्रकृती ठीक करतो तर साधक भवरोगपीडित असल्याने श्रीगुरूंपाशी जाऊन भवरोग समुद्रातून पार होण्यासाठी साधनरूप औषध घेऊन विधिनिषेधादि आहाराच्या नियमांचे पालन करणे त्याला भाग पडते.

गाय, म्हैस, बकरी, मेंढी इत्यादि प्राण्यांपासून रक्षण व्हावे म्हणून लहान लहान झाडांच्या रोपट्यांना काट्यांचे कुंपण घालतात. परंतु ती रोपटी जेव्हा मोठी होऊन त्यांचे वृक्षात रूपांतर होते तेव्हा त्यांना

काट्यांच्या कुंपणाची आवश्यकता राहत नाही. इतकेच नव्हे; तर हे प्राणी व प्रचंड हत्तीही त्या वृक्षाच्या बुंध्यालाच बांधता येतात. त्यावेळी झाडाचे काय होईल अशी भीती वाटत नाही. त्याचप्रमाणे नियमादिद्वारा नियमित साधन केले म्हणजे पांचभौतिक जड देहातील जडत्व योगाग्नीने दग्ध झाल्यामुळे साधकाचा देह परिपक्व होऊन त्यास अखंड चैतन्याची प्रत्यक्षानुभूती प्राप्त होते. ज्ञान दृढ झाल्यावर मग त्याला वासना, दुष्टसंस्कारादि कशाचेही भय राहत नाही. जोपर्यंत साधकाचे ज्ञान दृढ होत नाही तोपर्यंत त्याने उपरोक्त सर्वांचे पालन कटाक्षाने केलेच पाहिजे. तो जर यामध्ये हयगय करील तर त्याला पतनाचे व मागे येण्याचे भय राहते.

ब्रह्मचर्य :-

शक्तिपातयोगाच्या साधनसंपत्तीत ब्रह्मचर्याचे महत्त्व विशेष आहे. **"योगसूत्र व्यासभाष्यामध्ये"** ब्रह्मचर्याची व्याख्या करताना **"ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।।२.३०।।"** असे म्हटले आहे. गुप्त इंद्रिय म्हणजे उपस्थाच्या संयमाला ब्रह्मचर्य असे म्हणतात. **"शाण्डिल्योपनिषदातही"** ब्रह्मचर्याची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की, **"ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः ।।१.८।।"** अर्थात् शरीर, मन व वाणी यांच्याद्वारा सर्व अवस्थेमध्ये मैथुनाचा त्याग करणे याला ब्रह्मचर्य असे म्हणतात.

उपरोक्त ब्रह्मचर्याची प्रशंसा अनेकानेक ग्रंथामध्ये विपुल प्रमाणात आली आहे. त्यावरून ब्रह्मचर्य ही फार महत्त्वाची साधनसंपत्ती आहे याचा सहज पडताळा येतो. शक्तिपातयोगाचे साधन करणाऱ्या साधकाला या गुणांची नितांत आवश्यकता आहे. साधक ज्या आश्रमात असेल त्याला अनुसरून त्याने ब्रह्मचर्य पाळले म्हणजे झाले.

मैथुनाचे प्रकार :-

ज्यामुळे वीर्यनाश होऊन हानी होते असे आठ प्रकारचे मैथुन शास्त्राने सांगितले आहेत.

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः।

कोणत्याही अवस्थेत स्त्रीचे स्मरण करणे, तिच्या रूपाचे व गुणांचे वर्णन करणे किंवा श्रृंगार रस प्रधान ग्रंथ वाचून स्त्रीसंबंधी चर्चा करून तिची स्तुती करणे, स्त्रियांबरोबर पत्ते, सोंगट्या इत्यादि खेळणे, स्त्रियांकडे वाईट दृष्टीने पाहणे, स्त्रीबरोबर एकान्तात बोलणे, स्त्री प्राप्त व्हावी म्हणून व तिच्याशी संभोग व्हावा असा संकल्प करणे आणि हा संकल्प पूर्ण व्हावा म्हणून उपाय किंवा प्रयत्न करणे आणि स्त्रीशी संभोग करणे असे आठ प्रकारचे मैथुन शास्त्राने व विद्वानांनी सांगितले आहे.

या आठही प्रकारच्या मैथुनाचा त्याग साधकाने अवश्य केला पाहिजे; कारण त्यामुळे वीर्यस्खलन होउन शरीर दुर्बल बनते.

वीर्यधारण हेच ब्रह्मचर्य :-

शरीरामध्ये ओजस धातूमुळे जीवनाची धारणा होते. तेच एकमेव जीवनाचे खरे कारण आहे. श्रीवाग्भटांनी याबाबत असे म्हटले आहे की -

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्।।११.३७।।
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यास्मिंस्तिष्ठति जीवनम्।।
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साहप्रतिभाधैर्यलावण्यसुकुमारताः।।३९।।

रसापासून वीर्यापर्यंत सात धातुंमध्ये जे तेज असते त्याला ओजस असे म्हणतात. हे ओज विशेषकरून हृदयात राहते; परंतु ते सर्व शरीराला व्यापून असते. ओजाची वृद्धी झाली की, तुष्टी, पुष्टी व बलाची उत्पत्ती होते. ओजाच्या नाशाने मृत्यू होतो. हे ओजच

जीवनाचा आधार आहे. त्याच्यामुळे उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य व सुकुमारतेची प्राप्ती होते.

हे ओज कोठून येते हे सांगताना महर्षी श्रीसुश्रुतांनी असे म्हटले आहे की - **"रसादीनां शुक्रान्तांना धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमिति।।१५.२३।।"** म्हणजे रसापासून शुक्रापर्यंत जे सात धातू आहेत त्यातील श्रेष्ठ अशा तेजाच्या भागाला ओज असे म्हणतात. हेच खरे बल होय.

हे ओज कसे आहे व कोठे राहते हे सांगताना श्रीशारंगधरांनी असे सांगितले आहे की -

ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्।।

ओज सर्व शरीराला व्यापून राहते. हे स्निग्ध, शीतल, स्थिर, श्वेतवर्णाचे, सोमात्मक व शरीराला बल आणि पुष्टी देणारे असते.

यावरून हे सिद्ध होते की, ओजाची उत्पत्ती वीर्यापासून होते. त्यामुळे जीवन धारणाचे प्रधान कारण व आलंबन वीर्य हेच आहे. या वीर्याची उत्पत्ती अन्नापासून होते. एवढेच नव्हे; तर रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थी, मज्जा व वीर्य हे सात धातू शरीरात राहून शरीराला धारण करतात. मनुष्य जेव्हा अन्न खातो तेव्हा प्रथम रस तयार होतो. रसापासून रक्त, रक्तापासून मांस, मांसापासून मेद, मेदापासून अस्थी, अस्थीपासून मज्जा व मज्जेपासून सर्व साररूप पदार्थ एकत्र येऊन वीर्य उत्पन्न होते. या वीर्याचेच ओजामध्ये रूपांतर होऊन त्याचे महान् तेज बनते व ते सर्व शरीरात पसरते.

यामुळे दुधातून लोणी काढण्यासाठी जसे दूध घुसळावे लागते व उसातून गुळाचे उत्पादन व्हावे म्हणून उसाला चरकात घालावे लागते त्याप्रमाणे वीर्याचा एक बिंदू बाहेर काढण्यासाठी सर्व शरीराला घुसळून व पिळून काढावे लागते. ज्याप्रमाणे लोणी काढल्यावर सत्त्वहीन दूध व ऊस पिळल्यावर उसाची चिपाडे खाली राहतात त्याप्रमाणे वीर्यस्त्रावानंतर शरीरातील सर्व नाड्या ढिल्या पडतात व

प्रत्येक अवयवात एकप्रकारची उदासीनता पसरते. वीर्यपतनात मनुष्याचे पतन आहे व वीर्यधारणात मनुष्याचे जीवन आहे. यासाठी वीर्य-धारणेलाच ब्रह्मचर्य म्हटले जाते. "**श्रीशिवसंहितेत**" असे म्हटले आहे की -

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणाम्।।४.८८।।

बिंदुपातातच मृत्यू आहे व बिंदुधारणातच खरे जीवन आहे. यासाठी अत्यंत प्रयत्नपूर्वक बिंदू धारण केला पाहिजे. भगवान् श्रीशंकरांनी बिंदुधारणा करून ब्रह्मचर्याच्या प्रतापानेच हलाहल विष-प्राशन केले. याबाबत त्यांनी स्वतःच असे सांगितले आहे की -

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशोऽभवत्।।
श्रीशिवसंहिता ४.९०।।

ब्रह्मचर्य म्हणजे बिंदुधारणा सिद्ध झाल्याने, त्याच्या प्रभावाने सर्व ब्रह्मांडात माझा महिमा झाला आहे. त्यामुळे वीर्य म्हणजे बिंदूच्या धारणेने जगतामध्ये असे कोणते कार्य आहे की ते सिद्ध होणार नाही?

वास्तविक पाहता खरी गोष्ट अशी आहे की, ब्रह्मचर्य हे सर्व पुरुषार्थाचे मूळ आहे. त्याच्या पालनाने मनुष्य निरोगी व सुखी होतो. जरा व मृत्यूपासून त्याचे रक्षण होते. त्यामुळे हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ व धर्मपरायण संतती होते. ब्रह्मचर्यामुळेच भजनाची, ध्यानाची व साधन करण्याची योग्यता साधकाला येते. या साधनसंपत्तीमुळे शक्तिपातयोगाच्या साधनात रुची, प्रगती व सिद्धी प्राप्त होते. या गुणाच्या जोरावर मनुष्य निर्भय व विनम्र होऊन जगाची सेवा करू शकतो. वास्तविक हेच सर्वप्रथम साधन आहे. देवराज श्रीइंद्राने दीर्घकालपर्यंत ब्रह्मचर्य पालन केल्यावरच प्रजापती ब्रह्मदेवाने त्याला ब्रह्मविद्येची दीक्षा दिली होती.

यासाठीच "**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।।८.११।।**" असे

"**श्रीमद्भगवद्गीतेत**" श्रीभगवंतांनी स्पष्ट सांगितले आहे. ज्या साधकाला परमात्मप्राप्तीची इच्छा असते तो ब्रह्मचर्याचे पालन करतो. "**श्रीमद्भगवद्गीतेच्या**" १७ व्या अध्यायाच्या १४ व्या श्लोकात ब्रह्मचर्य हे शारीरिक तपच आहे असे श्रीभगवंतांनी सांगितले आहे. त्यावर भाष्य करताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "**जन्मतेनि प्रसंगें। स्त्रीदेह शिवणें आंगें। तेथूनि जन्म आवघें। सोंवळें कीजे।। श्रीज्ञानेश्वरी १७.२११।।**" म्हणजे जन्माच्या प्रसंगीच फक्त स्त्री शरीराचा स्पर्श होईल तेवढाच काय तो स्त्रीस्पर्श. तेथून पुढे सर्व जन्मभर एवढे कडक ब्रह्मचर्य व्रत पाळणे आवश्यक आहे की, स्त्रीदेहाचा स्पर्शही होणार नाही.

गृहस्थाश्रम्यांचे ब्रह्मचर्य :-

ज्यांचा विवाह झाला आहे अशा गृहस्थाश्रमी साधकांना हे नियम नाहीत. जे नैष्ठिक ब्रह्मचारी, साधू, अरण्यवासी किंवा संन्यासी आहेत त्यांच्यासाठी उपरोक्त ब्रह्मचर्याचे नियम आहेत. परंतु जे गृहस्थाश्रमी विवाहित साधक आहेत त्यांच्यासाठी शास्त्राने स्वतंत्र मर्यादा घालून दिली आहे. या बाबतीत महर्षी श्रीयाज्ञवल्क्य असे म्हणतात की -

ऋतुकाले स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं ग्रहस्थाश्रमवासिनाम्।।

स्त्रीला ऋतुकाल प्राप्त झाला असता जो आपल्या धर्मपत्नीबरोबर शास्त्राच्या आदेशाप्रमाणे केवळ संतती उत्पन्न व्हावी म्हणून समागम करतो तो पुरुष गृहस्थाश्रमात असला तरी ब्रह्मचारीच असतो. ऋतुकालासंबंधी श्रीमनूने "**मनुस्मृतीत**" असे म्हटले आहे की -

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशः स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः।।३.४६।।
तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः।।४७।।

सत्पुरुषांनी निंदित केलेल्या रजोदर्शनाचे पहिले चार दिवस धरून सोळा रात्री स्त्रियांचा स्वाभाविक ऋतुकाल म्हटला जातो. या

सोळा रात्रीतील पहिल्या चार रात्री, अकरावी व तेरावी रात्र स्त्री सहवासाला वर्ज्य आहे. बाकी दहा रात्री उत्तम समजल्या जातात.

वरील दहा रात्रींमधील प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, एकादशी, द्वादशी, चतुर्दशी व पौर्णिमा या तिथी वर्ज्य कराव्यात. त्याचप्रमाणे व्यतिपात, ग्रहण, रामनवमी, शिवरात्र, जन्माष्टमी, श्राद्धतिथी, संक्रांत व रविवार इत्यादि दिवसांचा त्याग करून जे दिवस शिल्लक राहतील त्या दिवशी फक्त आपल्याला सुलक्षणी पुत्र व्हावा म्हणून जो पुरुष स्त्रीच्या इच्छेने महिन्यातून केवळ दोनदा समागम करतो तो गृहस्थाश्रमी असला तरी ब्रह्मचारीच असतो. याबाबत श्रीमनूने **"मनुस्मृतीत"** असे म्हटले आहे की -

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।।३.५०।।

पहिल्या निंदित सहारात्री व दुसऱ्या आणखी आठरात्री मिळून एकूण चौदारात्री सोडून जो पुरुष महिन्यामध्ये केवळ दोन रात्रीच स्त्रीशी गमन करतो त्याला ब्रह्मचारीच मानले पाहिजे.

रजस्वलेबरोबर साधकाने कधीही समागम व संसर्ग करता कामा नये. त्यामुळे अनेक व्याधी होण्याचा संभव असतो. शिवाय आश्लेषा, मघा, मूळ, कृत्तिका, ज्येष्ठा, रेवती, उत्तराभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी व उत्तराषाढा नक्षत्र असताना स्त्रीसहवास करू नये.

नियम :-

"पातंजल योगसूत्रात" नियमांची व्याख्या पुढीलप्रमाणे केली आहे. **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः।।२.३२।।** शरीराची आतील व बाहेरील शुद्धता, संतोष अर्थात् समाधान, तपश्चर्या, स्वाध्याय व ईश्वरोपासना हे नियम आहेत. यातील पहिल्या नियमाचा विचार पूर्वीच केला आहे. उरलेल्या चार नियमांचा विचार क्रमशः करू.

संतोष :-

"शाण्डिल्योपनिषदामध्ये" संतोषाची व्याख्या करताना असे म्हटले

आहे की, "**सन्तोषो नाम यदृच्छालाभ तुष्टिः।।१.२.३।।**" ईश्वरेच्छेने प्रारब्धवशात जे मिळेल त्यात सुखी राहणे याला संतोष म्हणतात. "**श्रीमद्भगवद्गीतेच्या**" १२ व्या अध्यायात श्लोक १४ व १९ यामध्ये संतुष्ट शब्द आला आहे. त्याचा भावार्थ स्पष्ट करताना श्रीसंत-ज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "वर्षाऋतूशिवाय देखील समुद्र नेहमीच पाण्याने परिपूर्ण भरलेला असतो. तसेच आनंदाचे काही विशेष उपचार न करतासुद्धा साधकाने विषयनिरपेक्ष सहज आनंदात निमग्न असले पाहिजे. इतकेच नव्हे तर -

जो यथालाभें न तोखे। अलाभें न पारुखे।
पाउसेंवीण न सुके। समुद्र जैसा।।१२.२१०।।
आणि वायूसि एके ठायीं। बिढार जैसें नाहीं।
तैसा न धरीच कहीं। आश्रयो जो।।२११।।
आघवाची आकाशस्थिती। जेविं वायूसि नित्य वसती।
तेविं जगचि विश्रांति-। स्थान जया।।२१२।।
हें विश्वचि माझें घर। ऐसी मती जयाची स्थिर।
किंबहुना चराचर। आपण जाहला।।२१३।।

तप :-

श्रीसद्गुरुकृपेने जे शक्तिपातयोगाचे साधन मिळालेले असते ते यथाशास्त्र रात्रंदिवस करणे हेच खरे तप होय; कारण अशा प्रकारच्या तपामुळेच अनादि अविद्या नाहीशी होऊन ज्ञानाने जीवशिवाचे ऐक्य होते. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" तपाचा अर्थ स्पष्ट करताना श्रीमद्भगवद्गीतेच्या १६ व्या अध्यायातील पहिल्याच श्लोकाचा भावार्थ स्पष्ट करताना असे म्हणतात की, "ब्रह्मस्वरूपाचा विकास होऊन ते पूर्णपणे अभिव्यक्त व्हावे म्हणून साधकाने श्रीसद्गुरुकृपेने मिळालेल्या साधनाने प्राण, इंद्रिय व शरीर यांची आटणी केली पाहिजे. अशा प्रकारे साधनाने यांचा लय साधणे यालाच तप म्हणतात. याशिवाय जर तपाचे दुसरे काही निराळे लक्षण असले तर ते तप या साधनाभ्यासाच्या तपाप्रमाणे शुद्ध असत नाही. यासाठी हंस पक्षी

ज्याप्रमाणे दुधात आपली चोच घालून दूध व पाणी वेगळे करतो त्याप्रमाणे जन्मापासून देह व जीव यांच्या संयोगामुळे जीव जड वाटून आपण ब्रह्म आहोत ही जी जाणीव नाहीशी झालेली असते, ती सतत साधनाभ्यास करून आत्मा व अनात्मा यांच्यातील सत्य व मिथ्यारूप वेगळे केले पाहिजे. निरंतर साधनाने साधकाने आत्मानात्म-विवेक सतत जागृत ठेवला पाहिजे. असे अखंड साधन घडले म्हणजे आत्मानात्मविचार सतत जागृत राहून बुद्धीचा विषयांकडे जाणारा मार्ग कुंठित होतो. मन अंतर्मुख होते. मग ज्याप्रमाणे मनुष्य जागा झाला की, निद्रा व स्वप्न ही दोन्ही आपोआप नाहीशी होतात, त्याप्रमाणे मनुष्याची अनादि निद्रा व जगत्स्वरूप स्वप्न नाहीसे होऊन तो आत्मस्वरूप होतो. अशा प्रकारे आत्मानात्मविवेक उत्पन्न करून स्वसंवेद्य असे स्वस्वरूप प्राप्त करून देणाऱ्या साधनाभ्यासाला खरे तप म्हणतात. **(१६.१०८ ते ११२)**

जोपर्यंत ब्रह्मप्राप्ती होत नाही तोपर्यंत साधकाने अत्यंत निष्ठेने या तपाचे म्हणजे साधनाचे आचरण केले पाहिजे. श्रीसंतज्ञानेश्वर-महाराज असे म्हणतात की -

जंववरी अर्जुना। तो बोधु भेटेना मना।
तंवचि यया साधना। भजावें लागे।।
श्रीज्ञानेश्वरी ३.१४९।।

साधनाभ्यास :-

शक्तिपातयोगाच्या साधनसंपत्तीत साधनाचा नियमित अभ्यास करण्याला निरतिशय महत्त्व आहे; कारण श्रीसद्गुरुकृपेने जेव्हा दीक्षा होऊन शक्ती जागृत होते तेव्हा तिच्या विकासाला वाव देण्यासाठी त्याने दिवसातून सकाळी व संध्याकाळी नियमित अभ्यास केलाच पाहिजे. वास्तविक त्याने दुपारी व रात्रीही अभ्यास करणे आवश्यक आहे. म्हणजे दिवसातून चार वेळा साधन करावे असे शास्त्र सांगते. परंतु ते शक्य नसल्यास दोन वेळा तरी साधनाभ्यास केलाच पाहिजे. नियमित साधनाने चित्ताच्या वृत्तींचा आपोआप निरोध होऊन संस्कार

नाहीसे होत असल्याने "**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।। समाधिपाद १.१३।।**" म्हणजे या चितवृत्तींना पूर्णपणे कह्यात आणण्यासाठी श्रीसद्गुरूंनी दिलेले साधन सतत करीत राहण्याला व झटण्यालाच अभ्यास असे म्हणतात, अशी महर्षी श्रीपतंजलींनी "**योगसूत्रात**" अभ्यासाची व्याख्या केली आहे. त्यानंतर पुढील तीन सूत्रातून अभ्यासाचा महिमा सांगितला आहे. महर्षी श्रीपतंजली म्हणतात, "**तीव्रसंवेग-नामासन्नः।।१.२१।।**" जो खूप प्रयत्नशील असतो त्याला या योगात फार लवकर यश मिळते. "**मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।।१.२२।।**" साधनेतील मंद प्रयत्न, मध्यम प्रयत्न व उत्कट प्रयत्न यांच्या अनुसार साधकांना प्राप्त होणाऱ्या यशामध्येही फरक पडतो. "**स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।।१.१४।।**" अभ्यास दीर्घकाल, खंड न पडता व अत्यंत श्रद्धाभक्तिआदरपूर्वक केला म्हणजे तो दृढ होऊन परमपदाची प्राप्ती होते.

अभ्यासाचा हा महिमा श्रीसंततुकाराममहाराज, श्रीसंतरामदास-स्वामीमहाराज व श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी आपापल्या ग्रंथांमध्ये परोपरीने सांगितला आहे; कारण साध्यसाधनाचा संबंध अविच्छेद्य असतो. शक्तिपातयोगसाधन हे साध्यरूप असल्याने साधनाभ्यास म्हणजे साध्याभ्यासच होय यात शंका नाही. या दृष्टिकोनातून अभ्यास, परिश्रम, साधन याकडे पाहिले म्हणजे आळस, संशय, प्रमाद, भ्रांती यांना दूर सारून साधक अभ्यासरत होईल असे वाटते.

अभ्यासास काहीही दुष्कर नाही :-

श्रीसंततुकाराममहाराज अभ्यासाला काहीही दुष्कर नाही हे सांगताना असे म्हणतात की -

ओलें मूळ भेदी खडकाचें अंग। अभ्यासासी सांग कार्यसिद्धी।।१।।
नव्हे ऐसें कांहीं नाहीं अवघड। नाहीं कईवाड तोंचि वरी।।२।।
दोरें चिरा कापे पडिला कांचणीं। अभ्यासें सेवनीं विष पडे।।३।।
तुका म्हणे कैंचा बैसण्यासी ठाव। जठरी बाळा वाव एकाएकी।।४।।

वृक्षाचे जिवंत मूळ जसजसे जोरावत जाते तसतसे ते खडकाचे

अंग फोडून भूमीत शिरत जाते. त्याप्रमाणे अभ्यासाच्या बलाने सर्व कार्यसिद्धता येते. अभ्यासाने अमुक एक गोष्ट साध्य होत नाही असे काहीही अवघड नाही. पण जोपर्यंत श्रीसद्गुरूंकडून साधनप्राप्ती होऊनही साधकाने अभ्यास करण्याचा व नियमित साधन करण्याचा निश्चय केला नाही तोपर्यंत सर्व कठीणच आहे. दोराच्या घर्षणाने मोठा दगड देखील कापला जातो. सवयीने व अभ्यासाने विषही पचनी पडते. श्रीसंत तुकाराममहाराज असे म्हणतात की, आईच्या पोटामध्ये नऊ महिन्यांचे मूल राहण्याएवढी जागा आरंभी असते काय? पण हळूहळू ते मूल राहण्याइतका अवकाश होत जातो.

साधनाभ्यास हा अंकुश आहे :-

शक्तिपातयोगात श्रीभगवद्भक्तीचा तीव्र उन्मेष उद्भूत होताना दिसून येतो. त्या भक्त्युन्मेषाला वाव देऊन शक्तीचा विकास करीत राहिले म्हणजे नित्य साधनाभ्यासाने मनावर अंकुश राहून हळूहळू क्रमविकासाने जागृती होत राहते असे पुढील अभंगावरून दिसून येते.

भक्ति ते कठिण शुळावरील पोळी।
निवडे तो बळी विरळा शूर।।१।।
जेथें पाहें तेथें देखीचा पर्वत।
पायाविण भिंत तातडीची।।२।।
कामावलें तरी पाका ओज घडे।
रुचि आणि जोडे श्लाघ्यता हे।।३।।
तुका म्हणे मना पाहिजे अंकुश।
नित्य नवा दिस जागृतीचा।।४।।

सुळावरील पोळी मिळणे जितके कठीण आहे तितकेच देवाची भक्ती करणे म्हणजे श्रीसद्गुरुकृपाप्रसादरूप साधन करणे कठीण आहे. जो अशा प्रकारच्या साधनाची निवड करतो तो खराच शूर असतो; कारण नियमित साधना करण्यासाठी ज्याच्या जवळ धैर्यादि व सातत्यादि शूर माणसाचे गुण असतात तोच या साधनाच्या कामी

योग्य ठरतो. असा साधक क्वचित् मिळतो. समाजात जिकडे पाहावे तिकडे बाह्य भक्तीचा पोकळ डोंगर रचलेला दिसतो. ज्याप्रमाणे खडकापर्यंत पाया न घेता झपाट्याने भिंत उभारावी त्याप्रमाणे बहुतेक जण भक्तीचा डोलारा उभा करतात; पण त्यात पक्केपणा नसतो. तो प्रयत्नाने येतो. धान्य चांगले निवडून मेहनत घेऊन स्वयंपाक केला तरच अन्नाची रुची व दर्जा उंचावून भोजनाच्या वेळी समाधान वाटते. जो साधक श्रीसद्गुरुकृपाप्राप्त साधनाचा अभ्यास करतो त्याच्या बाबतीत साधनाचा अंकुशाप्रमाणे उपयोग होतो; कारण मन हे मदोन्मत हत्तीसारखेच असते. ते साधनासारख्या अंकुशाच्या टोचणीशिवाय ताब्यात येत नाही. जो साधक नित्यनियमाने साधन करतो त्याला नवनवीन अनुभवांची प्राप्ती होऊन शक्तीचा विकास होत होत जागृतीची चरम अवस्था प्राप्त होते.

अभ्यासाने असाध्यही साध्य होते :-

श्रीसंततुकाराममहाराजांनी अभ्यासाने असाध्य ब्रह्मही साध्य होते असे दोन दृष्टान्त देऊन पटविले आहे. हळूहळू अभ्यास करीत कित्येक लोक विष पचनी पाडतात. इतर लोकांना या गोष्टीकडे डोळ्यानेही पाहवत नाही. त्याचप्रमाणे काही लोक अभ्यासाने जिवंत नाग हातात धरतात. इतर त्याला पाहून थरथर कापतात. यावरून हे स्पष्ट दिसते की, सतत प्रयत्नाने न होणाऱ्या गोष्टीही साध्य होतात. याकरिता ब्रह्मप्राप्तीसाठी सतत साधनाभ्यास करणे हेच साधकाचे ध्येय असले पाहिजे.

आत्मज्ञान झाले तरी साधन केले पाहिजे :-

साधनाचा महिमा श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी फार आवर्जून सांगितला आहे. साध्य हे साधनरूप असल्यामुळे साधकाने आत्मज्ञान झाल्यावरही साधनाभ्यास करीत राहिले पाहिजे असा अपूर्व आग्रह त्यांनी **"श्रीदासबोधाच्या"** ५ व्या दशकाच्या ३ ऱ्या समासात प्रतिपादन केला आहे. ते म्हणतात -

म्हणौनि सद्गुरु आणि सच्छिष्य। तेथें न लागती सायास।
त्या उभयतांचा हव्यास। पुरे एकसरां।।७।।
सुभूमि आणि उत्तम कण। उगवेना पर्जन्येंविण।
तैसें अध्यात्मनिरूपण। नसता होय।।८।।
शेत पेरिलें आणि उगवलें। परंतु निगेविण गेलें।
साधनेंविण तैसे झाले। साधकासी।।९।।
जोंवरी पीक आपणासी भोगे। तोंवरी अवघेचि करणें लागें।
पीक आलियाही उगें। राहूच नये।।१०।।
तैसें आत्मज्ञान झालें। परि साधन पाहिजे केलें।
एक वेळ उदंड जेविलें। तरी सामुग्री पाहिजे।।११।।

श्रीसमर्थ असे म्हणतात की, जेव्हा श्रीसद्गुरूंना खरा सच्छिष्य भेटतो तेव्हा श्रीसद्गुरूंना कोणतेही विशेष श्रम करावे न लागता शक्तिसंक्रमण घडून येऊन शिष्याला ब्रह्मप्राप्तीचे साधन मिळते. यामुळे आपल्याला चांगला शिष्य मिळून श्रीशंकरांपासून चालत आलेली शांभवज्ञानाच्या बोधाची ही अपूर्व परंपरा त्याच्या रूपाने पुढे चालू राहून अनेकांची जीविते धन्य होण्यास मदत होईल म्हणून त्यांना समाधान लाभते. तर आपल्याला श्रीसद्गुरू भेटून ब्रह्मप्राप्तीचे साधन मिळाले म्हणून शिष्याला धन्यता वाटते. मात्र उत्तम भूमीत चांगले बीज पेरले तरी पाऊस पडल्याशिवाय ते उगवत नाही. त्याप्रमाणे नित्य साधन केल्याशिवाय साधकाला अध्यात्माची प्राप्ती होत नाही. शेतात बी पेरल्यानंतर ते उगवून आले तरी जर त्या पिकाची योग्य निगा राखली नाही तर पीक हातचे जाते. त्याचप्रमाणे साधकाने दीक्षा मिळाल्यानंतर जर नियमित साधन केले नाही तर साध्यप्राप्ती होणे कठीण होते. पीक पूर्ण उगवून दाणा भरून येत नाही म्हणजे जोपर्यंत ते अपूर्णावस्थेत असते तोपर्यंत ते नीट उगवून यावे म्हणून सर्व काही करावे लागते. इतकेच नव्हे; तर पीक उगवून आल्यावरही स्वस्थ राहणे योग्य ठरत नाही. त्याचप्रमाणे पूर्णावस्था येईपर्यंत नित्यनियमित साधनाभ्यास करणे नितांत आवश्यक असते.

एवढेच नव्हे; तर आत्मज्ञान झाल्यावरही साधन मोठ्या आदराने श्रद्धापूर्वक, भक्तीने, निरंतर, खंड न पाडता व आळस सोडून केले पाहिजे. एक वेळा खूप जेवण केले तरी तेवढ्याने भागत नाही; कारण नियमित भोजनासाठी साधनसामग्री अवश्य लागतेच; तसे साधकाने ब्रह्मप्राप्ती झाली तरी नित्य साधन हे केले पाहिजे कारण साधन हे साध्यरूप आहे.

प्रयत्नाशिवाय व साधनाशिवाय ब्रह्मज्ञान कठीण आहे :-

श्रीसमर्थांनी आपल्या "**अंतर्भाव**" या प्रकरणात्मक ग्रंथाच्या दुसऱ्या समासात प्रयत्नाशिवाय व साधनाशिवाय ब्रह्मज्ञान अत्यंत कठीण आहे हे सांगताना असे म्हटले आहे की -

सर्वात्मा ऐसें बोलतां। अंगीं बाणेना सर्वथा।
साधनेंविण ज्ञानवार्ता। बोलोंचि नये।।२.८।।
दसऱ्याचें सोनें वाटलें। तेणें काय हातासी आलें।
कीं राये विनोदें आलें। सुखासना।।९।।
तैसें शब्दें ब्रह्मज्ञान। बोलतां नये समाधान।
म्हणोनि आधीं साधन। केलें पाहिजे।।१०।।
शब्दीं जेविता तृप्ति जाहली। हें तों वार्ता नाहीं ऐकली।
पाकनिष्पत्ति पाहिजे केली। साक्षेपें स्वयें।।११।।
कांहीं तरी एक कारण। कैसें घडे यत्नेंविण।
मां हें ब्रह्मज्ञान परम कठीण। साधनावांचूनि।।१२।।

नित्यनेमाने समाधान, शांती व ज्ञानप्राप्ती :-

"**अंतर्भावाच्या**" तिसऱ्या समासात श्रीसमर्थांनी नित्यनियमिततेचा महिमा सर्वार्थाने प्रकट केला आहे. ते असे म्हणतात की -

कर्में त्यजोनि बाधक। शुद्ध वर्ते तो साधक।
क्रिया पालटे विवेक। निष्कलंक तेव्हां।।३.३।।
तये क्रियेचें लक्षण। आधीं स्वधर्म रक्षण।
पुढें अद्वैत श्रवण। केलें पाहिजे।।४।।
नित्यनेम दृढचित्तीं। तेणें शुद्ध चित्तवृत्ती।

होवोनि भगवंतीं। माग फुटें।।५।।
नित्यनेमें भ्रांति फिटे। नित्यनेमें संदेह तुटे।
नित्यनेमें लिगटे। समाधान अंगीं।।६।।
नित्यनेमें अंतर शुद्ध। नित्यनेमें वाढे बोध।
नित्यनेमें बहु खेद। प्रपंचीं तुटती।।७।।
नित्यनेमें सत्व चढे। नित्यनेमें शांति वाढे।
नित्यनेमें थारा मोडे। देहबुद्धीचा।।८।।
नित्यनेमें दृढभाव। नित्यनेमें भेटे देव।
नित्यनेमें पुसे ठाव। अविद्येचा।।९।।
ऐसी साधकाची स्थिती। साधकें राहावे या रीती।
साधनेंविण ज्ञानप्राप्ती। होणार नाहीं।।१५।।

भगवान् श्रीशंकरही साधन करतात :-

साधनाशिवाय बाष्कळता व बद्धता :-

श्रीसमर्थ "अंतर्भावाच्या" चवथ्या समासात असे म्हणतात की-

सिद्ध होऊन बैसला। दृष्टीं नाणी साधनाला।
सादर अशन शयनाला। अत्यादरें करूनी।।१।।
ऐसा असे विषयासक्त। अत्यंत विषयीं आसक्त।
सिद्धपणें आपला घात। तेणें केला।।२।।
जो सिद्धांचा मस्तकमणी। महातापसी शूळपाणी।
तोही आसक्त श्रवणीं। जपध्यानपूजेसी।।३।।
अखंड वाचें रामनाम। अनुष्ठान हेंच परम।
ज्ञानवैराग्यसंपन्नकाम। सामर्थ्यसिंधू।।४।।
तोही म्हणे मी साधक। तेथें मानव पुढे रंक।
बापुडे सिद्धपणाचें कौतुक। केवीं घडे।।५।।
म्हणोनि साधनाशीं जो सिद्ध। तोचि ज्ञाता परम शुद्ध।
येर ते जाणावे अबद्ध। अप्रमाण।।६।।
साधनेंवीण बाष्कळता। तीच जाणावी बद्धता।
तेणें घडे अनर्गळता। आसक्तरूपे।।७।।

मन सुखावले जिकडे। अंग टाकिले तिकडे।
साधन उपाय नावडे। अंतरापासोनी।।८।।
चित्तीं विषयाची आस। साधन म्हणता उपजे त्रास।
नेम धरिता कासाविस। परम वाटे।।९।।
दृढ देहाची आसक्ती। तेथें कैंची विरक्ती।
विरक्तीवीण भक्ती। केवी घडे।।१०।।
ऐक शिष्यटिळका। नेम नाही साधका।
तयालागीं धोका। नेमस्त आहे।।११।।

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनीही "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" जागोजागी साधनाभ्यासाचे महत्त्व किती अपार आहे हे स्पष्ट केले आहे. "हे अर्जुना! आम्ही तुला हे अपूर्व असे शक्तिपातयोगाचे साधन सांगितले. जे साधक हे साधन शरीर कष्टवून करतात, खूप प्रयत्न करतात व नित्यनिरंतर अभ्यास करतात ते अत्यंत शुद्ध होऊन मत्स्वरूप होतात. जे या शक्तिपातयोगाभ्यासाच्या ठिकाणी दृढनिश्चयाने लागतात ते खात्रीने ब्रह्मरूप होतात. भाग्योदय होण्याची वेळ आली की, उद्योग किंवा प्रयत्नाचे निमित्त होऊन सर्व संपत्ती आपोआप घरी चालून येते. त्याचप्रमाणे मितआहारविहारादि युक्तीने वागणारा साधक हा साधनाभ्यास जेव्हा दृढतेने पुढे सरसावून करू लागतो त्यावेळी त्याला आत्मसिद्धीचा अनुभव येतो. यासाठी ज्याला ब्रह्मस्थिती प्राप्त व्हावी असे वाटत असेल त्याने योगाभ्यास करताना कचरता कामा नये." (६.३२६, ३५४, ३५५)

"मन हे मूलतःच चंचल आहे. त्याला वैराग्याच्या साहाय्याने जर या अभ्यासाकडे लावले तर काही काळाने ते आपोआप स्थिर होते. जर साधकाने अभ्यासाची पावले जोराने टाकली म्हणजे अभ्यास झपाट्याने केला तर आयुष्य संपण्यापूर्वीच साधकाला मोक्षप्राप्ती होते. जर साधकाच्या अभ्यासाचा वेग कमी असला तर पुन्हा जन्म घेऊन त्याला अभ्यास पूर्ण करावा लागतो." (६.४३९, ४४०)

"हे अर्जुना! साधकाला नेहमीच असे वाटते की, ही जन्ममरणाची

कथा आपल्याला पुन्हा ऐकू येऊ नये. पण त्यासाठी श्रीसद्गुरुकृपेने मिळालेल्या साधनाचा खूप अभ्यास करावा लागतो. साधक जेव्हा निष्ठेने प्रयत्न करतो तेव्हा या प्रयत्नाच्याच जोरावर समग्र परब्रह्माची फलप्राप्ती होते. हे अनुभवरूप फळ पिकले की पूर्णतेचा, अद्वैताचा व ऐक्याचा रस त्यातून गळू लागतो."

"शक्तिपातयोगसाधन हे संपूर्ण समर्पणाचे साधन आहे. परंतु सर्व साधकांना हे जमत नाही; कारण मनबुद्धिसहित चित्त ते एकदम परमेश्वराच्या चरणी अर्पण करू शकत नाहीत. असे जरी घडले नाही तरी दिवसभरात वेळ काढून डोळे मिटून जसा वेळ मिळेल तसे साधन केले पाहिजे. असा प्रयत्न केला म्हणजे जागृत शक्तीच्या साहाय्याने प्रयत्न करीत असताना परमेश्वराचे सुख थोडे थोडे अनुभवाला येऊन जसाजसा क्षण जाईल तसातसा चित्ताला विषयसुखाचा कंटाळा येत जाईल. ज्याप्रमाणे शरदऋतूला प्रारंभ झाला म्हणजे नद्यांचे पाणी ओसरू लागते त्याप्रमाणे माझ्या स्वरूपानंदामध्ये जसजसे साधकाचे चित्त गुंतत जाते तसतसे ते विषयसुखातून व प्रपंचातून बाहेर निघते. ज्याप्रमाणे चंद्रबिंब पौर्णिमेपासून दिवसेंदिवस कमी होत होत अमावस्येला नाहीसे होते त्याप्रमाणे अभ्यासाच्या योगाने साधकाचे चित्त विषयसुखाच्या वासनेतून क्रमाने निघून परमेश्वराच्या ठिकाणी प्रविष्ट होऊ लागते. यालाच अभ्यासयोग म्हणतात. या अभ्यासयोगाने प्राप्त होत नाही असे काही नाही." (१२.१०४ ते ११०)

"अभ्यासाचा महिमा अत्यद्भुत आहे; कारण या अभ्यासाच्या बळाने कोणी अंतरिक्षातही संचार करतात. कोणी वाघ, साप, अशा दुष्ट प्राण्यांनाही निर्वैर करून सुस्वभावी करतात. अभ्यासाने विषसुद्धा पचनी पडते. याच्या जोरावर समुद्रावरूनही पायवाटेप्रमाणे चालता येते. काहीजण या अभ्यासाच्या बळावर संपूर्ण वेदादिशास्त्रे मुखोद्गत करतात. म्हणून अभ्यासाला काहीही असाध्य किंवा अप्राप्त नाही. याकरिता अभ्यासाने परमेश्वराची प्राप्ती होते हे निश्चित आहे." (१२.१११ ते ११३)

म.म.श्रीगोपिनाथ कविराज यांनी **"भारतीय संस्कृति और साधना,"** खंड एक, या ग्रंथातील **"ईश्वरमें विश्वास"** या आपल्या लेखात तीव्र पुरुषार्थाचे माहात्म्य सांगताना असे म्हटले आहे की, "साधन जगत्का जो निगूढ रहस्य है, जिसकी प्राप्तिके लिए दीर्घकाल तक सत्यस्वरूप सद्गुरूकी कृपा का अवलंबन कर तीव्र पुरुषार्थका प्रयोग करना पडता है। तार्किक-प्रकृति-विशिष्ट तथा साधनहीन पुरुष के सामने उस रहस्य की आलोचना करना उचित नहीं है। वहाँ इस आलोचनका यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता।"

ईश्वरप्रणिधान :-

शास्त्रकारांनी-ईश्वरप्रणिधानाची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की, **"ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्"** परमगुरू परमेश्वर किंवा परमात्म्याला सर्व कर्मे अर्पण करणे हे खरे ईश्वरप्रणिधान होय. **"पातंजल योगसूत्रात" "ईश्वरप्रणिधानाद्वा।। समाधिपाद १.२३।।"** असे सूत्र घालून या साधनसंपत्तीचा महिमा सांगितला आहे. ईश्वराच्या उत्कट भक्तीमुळेही समाधी लाभ होतो असा या सूत्राचा अर्थ आहे. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी श्रीमद्भगवद्गीतेच्या ७ व्या अध्यायातील १४ व्या श्लोकाचा भावार्थ प्रकट करताना ईश्वर-प्रणिधानाचा अपूर्व अर्थ व्यक्त केला आहे. ते म्हणतात- "हे अर्जुना! ज्याप्रमाणे विषयासक्त पुरुषाला स्त्रीला कधीही जिंकता येत नाही त्याप्रमाणे ही मायारूप नदी जीवाला स्वतःच्या प्रयत्नाने तरून जाता येत नाही. मात्र जे सर्व भावाने ईश्वराचे भजन करतात व त्याला शरण जातात ते या दुस्तर नदीतून सहज तरून जातात. इतकेच नव्हे; तर साधकांना अलीकडच्या काठावरच या मायानदीचे पाणी पार नाहीसे होते; कारण परमेश्वर अशा प्रकारे शरण आलेल्या साधकांना शक्तिपातयोगदीक्षा देणाऱ्या श्रीसद्गुरुरूप नावाड्याशी गाठ घालून देतो. अशा प्रकारे दीक्षा देणाऱ्या श्रीसद्गुरूंपाशी ब्रह्म-साक्षात्काराचा अगदी बळकट अनुभव असतो. आत्मनिवेदन कसे करावे हे परंपरागत चालत आलेल्या साधनाच्याद्वारा त्यांना ज्ञात असते. तेच ज्ञान ते आपल्या शिष्यांच्या ठिकाणी संक्रांत

करतात. त्यामुळे जीवब्रह्माचे ऐक्य होते. अहंभावाचे ओझे संपते. विकल्परूप वाऱ्याच्या झुळका आपोआप चुकतात. संसारातील प्रेमरूपी पाण्याची धार आटून जाते. त्यामुळे साधकाला आत्मबोधरूपी तेजस्वी तारा प्राप्त होतो व त्याला निवृत्तीच्या अगदी पैलतीरावर जाता येते. या सर्व बाबतीत साधनामुळे त्याची गती अत्यंत तीव्र असते. या तीव्रतेमुळे "मी ब्रह्म आहे" हा भावच त्याला मुक्त करतो. या शक्तिपातयोगसाधनेने असे हे ईश्वरप्रणिधान जेव्हा घडून येते तेव्हा साधक मायानदीतून पार होतो."(७.९६ ते १०२)

विविध गुणयुक्त साधनसंपत्ती :-

आतापर्यंत वर्णन केलेल्या साधनसंपत्तीशिवायही विविध गुणांनी युक्त अशा अनेक बाह्यसाधनांचेही अनेकानेक ग्रंथकारांनी वर्णन केले आहे. **"सिद्धस्य लक्षणानि साधकस्य साधनानि भवन्ति"** अर्थात् सिद्धाची जी लक्षणे असतात ती साधकाची प्रयत्नसाध्य साधने असतात. **"श्रीमद्भगवद्गीतेमध्ये"** दुसऱ्या अध्यायात स्थितप्रज्ञाची, बाराव्या अध्यायात भक्ताची, तेराव्या अध्यायात ज्ञान्याची व चौदाव्या अध्यायात गुणातीताची लक्षणे सांगितली आहेत. ती अंगी बाणविण्याचा साधकाने फार कसोशीने प्रयत्न केला पाहिजे. यातील काही महत्त्वाच्या लक्षणांचा उल्लेख करू.

शास्त्रावर निष्ठा :-

शक्तिपातयोगाची साधना करणाऱ्या अनेक साधकांना श्रीगुरुकृपेमुळे शक्तिसंक्रमण होऊन दिव्य अनुभव येतात. त्यांची साधना चांगली चालते. परंतु शास्त्राकडे, आचारविचारांकडे व धर्माकडे त्यांचे जेवढे लक्ष असावयास पाहिजे तेवढे असत नाही. शब्दप्रामाण्य खोटे आहे, पोथीनिष्ठा ढोंग आहे, मन शुद्ध असले म्हणजे झाले, आचारविचारांची व सोवळ्या ओवळ्याची तितकीशी आवश्यकता नाही असा नवमतवादी लोकांच्या विचारांचा त्यांच्या मनावर पगडा बसून ते वरील गोष्टींकडे उपेक्षेने पाहतात. एवढेच नव्हे; तर "शास्त्रावर निष्ठा ठेवली पाहिजे, वर्णाश्रम धर्माप्रमाणे वागले पाहिजे, नित्य-

नैमित्तिक कर्मे केली पाहिजेत, कुलाचार, कुलधर्म पाळले पाहिजेत, जानवे घातले पाहिजे, शेंडी ठेवली पाहिजे, संध्या केली पाहिजे, पूजा केली पाहिजे, यमनियम पाळले पाहिजेत, विटाळशीचा (रजस्वलेचा) विटाळ घरात पाळला पाहिजे, खाण्यापिण्याचे नियम चुकता कामा नयेत, इत्यादि सर्व आग्रह का?," असा प्रश्न ते साधक व साधन करण्याची इच्छा असणारे नवीन साधकही विचारीत असतात. साधन तेवढे आवश्यक बाकी सर्व अनावश्यक आहे असे ते समजतात. परंतु सर्व साधकांनी हे लक्षात ठेवले पाहिजे की, साधनाइतकीच शास्त्रनिष्ठा आवश्यक आहे. ज्या साधकाची प्रगती या जन्मी त्वरित् झालेली दिसते त्यांनी पूर्वजन्मी वरील सर्व गोष्टी चांगल्या प्रकारे आचरणात आणल्या असणार हे निश्चित आहे. याकरिता प्रत्येक साधकाने शास्त्र म्हणजे काय व त्याचे माहात्म्य किती मोठे आहे हे ध्यानात ठेवून वागण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे.

शास्त्र व त्याचे माहात्म्य :-

ऋग्वेदादि चार वेद व स्मृती यांनाच शास्त्र असे म्हणतात. वेदाचे व स्मृतीचे माहात्म्य वर्णन करताना स्मृतिकार श्रीमनू **"श्रीमनुस्मृतीत"** असे म्हणतात की -

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।।२.९।।
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांसे ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।२.१०।।
आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तत्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः।।१.१०८।।
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः।।४.१५५।।
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्।।४.१५६।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।

दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च।।४.१५७।।
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।।४.१५८।।
यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः।।४.१५९।।
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।।४.१६०।।
यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।।४.१६१।।
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्।।४.२४२।।
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम्।।४.२४४।।
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यार्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च।।१२.९६९।।
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।।१२.९७२।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः।।१२.९८।।
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्।।१२.९९।।
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।१२.१०२।।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः।।१२.१०६।।

श्रुती व स्मृती यांमध्ये सांगितलेल्या धर्माचे अनुष्ठान करणाऱ्या

मनुष्याची या लोकी कीर्ती होते व परलोकी गेल्यावर त्यास अत्युत्तम सुख मिळते. श्रुती म्हणजे वेद व स्मृती म्हणजे धर्मशास्त्र असे समजावे. त्या दोघांचाही प्रतिकूल तर्क करून विचार करू नये; कारण त्यांच्यापासून संपूर्ण धर्म प्रकट झाला आहे. वेदोक्त व स्मृत्युक्त आचार हाच परम धर्म आहे. याकरिता आपल्या हिताची इच्छा करणाऱ्या द्विजाने आचारामध्ये सतत व अहर्निश तत्पर असावे. श्रुती व स्मृती यांनी उत्तम प्रकारे सांगितलेले, अध्ययनादि आपल्या कर्मामध्ये आपल्या अंगत्वाने संबद्ध असलेले व धर्मास कारण होणारे असे जे साधूंचे आचरण असेल त्याचे आळस सोडून पूर्णपणे सेवन करावे. आचाराच्या योगाने आपणास पाहिजे असेल तशी पुत्रपौत्रादि प्रजा होते. आचारापासून अक्षय्य धन मिळते व देहामध्ये असलेले अशुभसूचक अलक्षण निष्फळ होते. कारण दुराचारी पुरुष लोकांमध्ये निंदित, दुःखभागी, व्याधियुक्त व अल्पायुषी होतो. जो सदाचारसंपन्न, श्रद्धाळू व दुसऱ्याचे दोष न बोलणारा पुरुष असतो तो सर्व शुभ लक्षणांनी हीन असला तरी शंभर वर्षे जगतो. जे जे दुसऱ्याची प्रार्थना इत्यादिकांनी साध्य होणारे कर्म असेल त्याचा प्रयत्नाने त्याग करावा व जे जे आत्मवश कर्म असेल ते ते प्रयत्नाने करावे. दुसऱ्याची प्रार्थना करणे इत्यादि उपायांनी साध्य होणारे अर्थात् सर्व परवश कर्म दुःख देणारे असते व आपल्या अधीन झालेले सर्व कर्म सुखकारक असते. हेच सुखदुःखाचे लक्षण होय. जे कर्म करीत असताना कर्त्याच्या अंतरात्म्यास संतोष होतो तेच त्याने प्रयत्नपूर्वक करावे व त्याच्या विपरीत म्हणजे अनुष्ठानसमयी दुःख देणारे जे कर्म असते ते करू नये. यास्तव, साहाय्याकरिता धर्माचा नित्य व हळूहळू संग्रह करावा; कारण धर्म साहाय्य झाले असता प्राणी दुस्तर तमाचे उल्लंघन करतो. जो पुरुष धर्मपरायण झाला आहे, दैववशात् काही पाप घडल्यास त्याच्या तपाच्या योगाने ज्याने नाश केला आहे व त्यामुळेच जो दीप्तिमान् व ब्रह्मस्वरूप झाला आहे अशा त्या पुरुषास धर्मच शीघ्र ब्रह्मस्वर्गादिरूप परलोकास नेतो. (ह्यास्तव, केवळ धर्माचेच

अनुष्ठान करावे.) ज्या स्मृती वेदबाह्य आहेत व ज्या कुतर्कावर आधारलेल्या आहेत त्या सर्व परलोकी निष्फळ होत असतात; कारण त्यांचे नरक हे फळ मिळत असते. चार वर्ण, तीन लोक, ब्रह्मचर्य इत्यादि चार आश्रम, भूत, वर्तमान व भविष्य इत्यादि सर्व वेदांपासूनच प्रसिद्ध होत असते. शब्द, स्पर्श, रूप, रस व पाचवा गंध हे सत्त्वादिरूप विषय वेदांपासूनच प्रसिद्ध होतात. सनातन वेदशास्त्र सर्व भूतांना धारण करते. यास्तव, या वैदिक कर्माधिकारी पुरुषाचे वेदशास्त्र हेच उकृष्ट पुरुषार्थाचे साधन होय असे निश्चित समजावे. जो वेद, वेदार्थ व वेदात्मक कर्म यांना तत्त्वतः जाणतो तो नित्यनैमित्तिक कर्मानुगृहित ब्रह्मज्ञानाने युक्त असल्याने ब्रह्मचारी, गृहस्थ इत्यादि कोणत्याही आश्रमामध्ये याच लोकी जरी राहिला तरी ब्रह्मभावास समर्थ होतो. ऋषींनी सांगितलेला वेद व तन्मूलक स्मृत्यादि धर्मोपदेश यांचा त्यांच्या विरुद्ध कुतर्क न करता जो विचार करतो त्यासच धर्मज्ञान होते. इतर कोणासही होत नाही.

श्रुतिस्मृतियुक्त आचारच श्रेष्ठ :-

श्रुतिस्मृतियुक्त आचारच कसा श्रेष्ठ आहे हे सांगताना "**वसिष्ठ-स्मृतीत**" पुढील विवेचन आले आहे.

श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः ।।१.३।।
आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति।।१.१६६।।
नैनं तपांसि न ब्रह्म नाग्निहोत्रं न दक्षिणाः।
हीनाचारमितो भ्रष्टं तारयन्ति कथञ्चन।।१.१६७।।
आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च।।१.१७१।।
आचारात्फलते धर्ममाचारात्फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्।।१.१७२।।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्त्या प्राप्नोति परमां गतिम्।।३६४।।

श्रुती (वेद) आणि स्मृती यांनी जो सांगितला आहे त्यालाच धर्म असे म्हणतात. श्रुत्युक्त व स्मृत्युक्त आचार हाच सर्वांचा श्रेष्ठ धर्म आहे. जो हीनाचाराने वागतो त्याचा संसारात व मेल्यावर परलोकात नाश होतो. आचारहीनतेमुळे भ्रष्ट झालेल्या पुरुषाला तप, वेद, अग्निहोत्र आणि दक्षिणा या गोष्टी तारू शकत नाहीत. एखाद्याने सहा अंगांसहित वेदाध्ययन केले असले तरी जो पुरुष आचारहीन असतो त्याला वेदसुद्धा पवित्र करू शकत नाहीत. पंख उत्पन्न झालेले पक्षी ज्याप्रमाणे आपल्या घरट्याचा त्याग करतात त्याप्रमाणे आचारहीन माणसाचा मृत्युसमयी वेद त्याग करतात. दुराचारी माणसाची संसारात निंदा होते. त्याला अतिशय दुःख भोगावे लागते. तो नेहमी व्याधिग्रस्त असतो व त्याला अल्पायुष्य प्राप्त होते. आचारामुळे धर्माचे फळ मिळते, आचरामुळे धनही प्राप्त होते. आचारामुळेच मनुष्याला लक्ष्मीची प्राप्ती होते. दुष्ट स्वरूपाच्या आचाराने लक्षणहीन मनुष्याचा नाश होतो. वेदांनी सांगितलेले आपले कर्तव्य कर्म अतंद्रित होऊन दररोज केले पाहिजे. जो आपले कर्म यथाशक्ती करतो त्याला परमगती प्राप्त होते.

"पाराशरस्मृतीतही" आचाराचे माहात्म्य सांगताना ऋषी असे म्हणतात की -

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः।।१.३७।।

चारही वर्णांचा आचार हा धर्माचे पालन करणारा असतो. जे लोक आचारभ्रष्ट होतात त्यांच्याकडे धर्म पाठ फिरवितो.

"हारीतस्मृतीत" धर्मशास्त्र व योगशात्र यांचे एकाच वेळी पालन केल्याने मनुष्य मुक्त होतो हे सांगताना ऋषी असे म्हणतात की -

वर्णानामाश्रमाणां च योगशास्त्रञ्च सत्तमाः।
सन्धार्य मुच्यते मर्त्यो जन्मसंसारबन्धनात्।।१.८।।

आपापल्या वर्णाप्रमाणे व आश्रमाप्रमाणे जो धर्माचे पालन करतो व योगशास्त्राचा अभ्यास करतो तो जन्मबंधनापासून मुक्त होतो.

शास्त्रीय प्रयत्नाने आत्मज्ञान :-

साधकाने शास्त्रीय प्रयत्न केला असता त्याला आत्मज्ञान प्राप्त होते असा **"योगवासिष्ठात"** श्रीवसिष्ठांनी सिद्धान्त मांडला आहे. ते असे म्हणतात की, "ज्याप्रमाणे निळा, पिवळा वगैरे रंगामधील फरक स्पष्ट कळावयाला प्रकाशाची आवश्यकता असते त्याप्रमाणे शास्त्रांनी घालून दिलेल्या नियमांप्रमाणे वर्तन करणाऱ्या मनुष्याला आपल्या कर्मात यश येण्याला त्यासंबंधाचे प्रयत्न करणे आवश्यक आहे. एखाद्या शास्त्रसंमत फलाची मनाने नुसती इच्छा केली; परंतु त्या संबंधाचा प्रयत्न केला नाही तर ती फलासंबंधीची नुसती इच्छा पुरुषार्थाच्या प्राप्तीला कारण होणारी नसून उन्मत्त मनुष्याच्या चेष्टांप्रमाणे मोहाला मात्र कारण होते. शास्त्रीय प्रयत्न केला असता शास्त्राने सांगितल्याप्रमाणे फल मिळते; परंतु अशास्त्रीय प्रयत्न केला असता अशास्त्रीय फल प्राप्त होते. आपले स्वतःचे पूर्वीचे कर्म फलोन्मुख झाले म्हणजे त्यालाच दैव असे नाव दिले जाते. त्याच्या शिवाय दैव म्हणून काही निराळे असत नाही. पौरुषाचे शास्त्रीय आणि अशास्त्रीय असे दोन प्रकार मानले गेलेले आहेत. त्यांपैकी अशास्त्रीय कर्म अनर्थाला कारण होते व शास्त्राला अनुसरून केलेले कर्म परमार्थ प्राप्त करून देते. दोन एडके आपसात लढू लागले म्हणजे कधी एकाचा जय होतो तर कधी दुसऱ्याचा जय होतो. त्याप्रमाणे प्राक्तन व ऐहिक प्रयत्न एकमेकांवर जय मिळविण्यासाठी लढत असतात. त्यांमध्ये जो सामर्थ्याने कमी त्याला अर्थातच हार खावी लागते. यासाठी मनुष्याने शास्त्रीय नियमांप्रमाणे उत्तम उद्योग करावा म्हणजे या जन्मात केलेला शास्त्रीय प्रयत्न यशस्वी झाल्याशिवाय निःसंशय राहत नाही. कित्येक वेळा शास्त्राने आखून दिलेल्या मार्गाने मनुष्य प्रयत्न करीत असताही रोगादिकांसारखे अनर्थ उत्पन्न होतात. परंतु आपले पूर्वीचेच कर्म ते अनर्थ उत्पन्न करीत आहे, असे त्या ठिकाणी

समजावे. अशा ठिकाणीही शास्त्रीय प्रयत्नाने अनर्थ उत्पन्न करणाऱ्या पूर्वीच्या कर्माचा पाडाव करावा. पूर्वजन्मातील कर्मफले मला विघ्न करीत आहेत, असे मनात आणून त्यांना जोराने पायाखाली तुडवावे; कारण या जन्मीच्या प्रत्यक्ष क्रियांपुढे (साधनांपुढे) त्यांची काही किंमत नाही. पूर्वीच्या जन्मातील कर्मफले नाहीशी होईपर्यंत मनुष्याने आपल्याकडून शक्य तितका प्रयत्न करावा. ज्याप्रमाणे कालच्या दिवशी झालेले अजीर्ण आज केलेल्या लंघनामुळे नाहीसे होते त्याप्रमाणे पूर्वीच्या जन्मातील कर्माचे दोष या जन्मातील शुभ कर्मांनी नाहीसे होतात. उत्साहयुक्त बुद्धीने पूर्वीची सदोष कर्मे नाहीशी करून संसारसागर तरून जाण्यासाठी शमदमादि साधनसंपत्ती प्राप्त करून घ्यावी. निरुद्योगी पुरुष गाढवांची बरोबरी करण्यासही समर्थ नाहीत; परंतु मनुष्याने शास्त्रशुद्ध प्रयत्न केला असता त्याला स्वर्ग आणि मोक्ष यांची प्राप्ती होते. ज्याप्रमाणे मनुष्याने तयार केलेल्या पिंजऱ्यातून सिंह प्रयत्नाने सुटून जातो त्याप्रमाणे स्वतः नेटाने प्रयत्न करून मनुष्यांनी संसाररूपी खळग्यातून बाहेर पडावे. आपला देह नश्वर आहे या गोष्टीचे नेहमी मनन करावे. पशूंच्यासारखे वर्तन टाकून द्यावे आणि सत्पुरुष व सच्छास्त्रे यांचा आश्रय करावा. शास्त्रात सांगितलेल्या नियमांना धरून शुभ प्रयत्न केले असता त्यापासून ताबडतोब शुभफल प्राप्त होते व अशुभ प्रयत्न केले असता नियमाने अशुभफल भोगावे लागते. सारांश, सच्छास्त्र हे सत्संग व सदाचार यांनी युक्त असले तर ते आत्मज्ञान देण्याला समर्थ होते."

शास्त्रीय प्रयत्नाने जीवनमुक्तिसुखाचा आनंद :-

श्रीवसिष्ठांनी शास्त्रीय प्रयत्नाने जीवनमुक्तिसुखाचा आनंद मनुष्याला कसा प्राप्त होतो हे श्रीप्रभुरामचंद्रांना **"योगवासिष्ठात"** पुढीलप्रमाणे समजावून सांगितले आहे. "हे रघुनंदना ! प्रत्येक मनुष्याने योग्य दिशेने प्रयत्न केला असता त्याला या संसारामध्ये आत्मज्ञान प्राप्त झालेच पाहिजे. ज्याप्रमाणे चंद्रापासून शीतल आणि आह्लाददायक किरणे उत्पन्न होतात त्याप्रमाणे पुरुषप्रयत्नापासून चित्तशुद्धिद्वारा

जीवनमुक्तिसुखाचा आनंद प्रत्येकाला प्राप्त होणे शक्य आहे. सत्पुरुषांनी आखून दिलेल्या मार्गाने काया, वाचा आणि मन यांनी जे कर्म केले जाते तेच पौरुष होय व असे पौरुषच फलदायी होते."

शास्त्रीय प्रयत्नांचे सामर्थ्य :-

शास्त्रीय प्रयत्नांच्या अद्भुत सामर्थ्याचे वर्णन करताना **"योग-वासिष्ठात"** महर्षी श्रीवसिष्ठ असे म्हणतात की, "या जन्मात मनुष्याने नेटाने प्रयत्न केला असता पूर्वजन्मातील पौरुष त्याला नाहीसे करून टाकता येते. बुद्धी आणि साहस यांनी युक्त असलेल्या पुरुषांनी दृढप्रयत्नाने अभ्यास केला असता मेरुपर्वत सुद्धा गडप करून टाकता येतो. मग पूर्वजन्मातील पौरुष नाहीसे करता येईल यात काय नवल? जो मनुष्य शास्त्राने दर्शविलेल्या मार्गांनी कार्य करण्याला उद्युक्त होतो त्याला प्रयत्नापासून इष्ट फलाची प्राप्ती नि:संशय होते. परंतु या व्यतिरिक्त केलेले सर्व प्रयत्न अनर्थाला कारण होतात. एखादा मनुष्य रोगाने पीडलेला असून शक्तिहीन झालेला असला व आपल्या हाताने पाणी पिण्याचेही सामर्थ्य त्याच्या अंगी नसले, तर अशा स्थितीत त्याला पाण्याचा एक बिंदू जरी प्राशन करण्यास मिळाला तरी तेवढ्याने तो संतुष्ट होतो. परंतु असा मनुष्यही जर शास्त्रीय प्रयत्न करील तर त्याची सर्व आपत्ती नाहीशी होऊन कालांतराने का होईना त्याच्या सामर्थ्याला अखिल पृथ्वीही पुरेनाशी होईल.

शास्त्रप्रभावामुळे परम शुद्धी :-

शास्त्राचा प्रभाव किती विलक्षण असतो व त्यामुळे परम शुद्धी कशी प्राप्त होते हे सांगताना **"योगवासिष्ठात"** श्रीरामांना महर्षी श्रीवसिष्ठ असे म्हणतात, "हे राघवा! शास्त्रोक्त उपायांचा अभ्यास केल्याने अतिशय शुद्ध झालेले चित्त त्याची इच्छा नसतानाही सत्वर पावन पदाला पाहते. ते जसे जसे शुद्ध होऊ लागते तसेतसे भोगेच्छारहित होऊन प्रत्यही अंतर्मुख होत जाते व शेवटी आत्मपरायण होते. या शास्त्रामुळे अविद्येचा सात्त्विक भाग उत्कर्ष पावतो आणि या सात्त्विक

भागाच्या उत्कर्षामुळे तिचा तामस भाग क्षीण होतो. या शास्त्ररूपी प्रधान जलाने नित्य मलाचे क्षालन करणारा मनुष्य अचिंत्य शास्त्र-प्रभावामुळे परम शुद्धीला प्राप्त होतो. ज्याप्रमाणे सूर्य व समुद्र हे एकमेकांच्या समोर आले तर त्यातील कोणाचीही जरी इच्छा नसली तरी पूर्वी त्यात पाहिलेलेच प्रतिबिंब स्वच्छ प्रकाशस्वभावामुळे प्रवृत्त होते. त्याच न्यायाने मुमुक्षू व शास्त्र यांचा परस्पर संबंध झाल्यामुळेच अनुभवसिद्ध सर्व संवित्पदातील आत्मज्ञान प्रवृत्त होते."

शास्त्ररक्षण न केल्यास पतनाचा संभव :-

महर्षी श्रीनारदांनी आपल्या "**भक्तिसूत्रात**" शास्त्ररक्षणाची आवश्यकता सांगताना पुढील दोन महत्त्वाची सूत्रे लिहिली आहेत. "**भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्।।१२।। अन्यथा पातित्या-शङ्कया।।१३।।**" साध्यसाधनाचा निश्चय दृढ झाल्यावर तदनुरोधाने शास्त्राज्ञांचे पालन अवश्य झाले पाहिजे. शास्त्रपालन केले नाही तर साधक पतन पावण्याचा संभव असतो. परमेश्वरप्राप्ती हे साध्य व शक्तिपातयोग हे साधन होय. शक्तिपातयोगाची साधना करणाऱ्या साधकाने श्रीसद्गुरूंनी जागृत केलेल्या शक्तीचा उत्तरोत्तर विकास होण्यासाठी आवश्यक त्या सर्व शास्त्रमर्यादांचे पालन काटेकोरपणे केले पाहिजे. ज्या साधकाला मुक्कामाला लवकर पोहोचण्याची इच्छा असेल त्याने तर चुकूनसुद्धा शास्त्ररक्षणात कसूर करता कामा नये. साधन श्रेष्ठ आहे, आपण कसेही वागले तरी चालेल असे म्हणून शास्त्ररक्षणाची साधकाने कधीही उपेक्षा करता कामा नये. शास्त्राची उपेक्षा ही साधकाच्या पतनास कारण होते. त्यामुळे साधन नीट चालत नाही व मनःशांती बिघडते. शास्त्राने आपल्या दैनंदिन आचाराला अशा काही मर्यादा घालून ठेवल्या आहेत की, त्यांचे पालन केल्यास स्वैराचारास आळा बसून साधकाचे मन सहजच शुद्ध व स्थिर होऊ लागते.

शक्तिपातयोगप्राप्तीमुळे आपल्याला अलौकिक अशा भगवत्प्रेमाची प्राप्ती झाली असून आपण विधिनिषेधातीत आहोत असे समजून

साधकाने लौकिक व वैदिक कर्मांचा त्याग मुद्दाम करता कामा नये. असा त्याग आपोआप होत असतो. त्याकरिता सर्व गोष्टींचे विस्मरण पाडणारी भगवत्प्रेमाची दिव्य स्थिती जोपर्यंत साधकाला प्राप्त होत नाही तोपर्यंत शक्तिपातयोगाच्या नावावर साधकाने शास्त्रविहित कर्मांचा त्याग कधीही करता कामा नये. जो साधक जाणून बुजून शास्त्राज्ञांचे पालन करीत नाही व शास्त्रविरुद्ध अमर्यादेने वागून शक्तिपात-योगसाधनेच्या नावाखाली स्वतःची सोडवणूक करण्याचा प्रयत्न करतो अशा साधकाला पतनाचे भय राहते. त्याच्या शक्तीच्या विकासाचा वेग कमी होतो. याकरिता **"विधीतें पाळीत। निषेधातें गाळीत।। श्रीज्ञानेश्वरी १२.७७।।"** असेच साधकाचे आचरण असले पाहिजे.

श्रुती ही जगाची माउली आहे :-

"श्रीमद्भगवद्गीतेच्या" सोळाव्या अध्यायात शास्त्रच प्रमाण कसे मानले पाहिजे हे सांगताना श्रीभगवान् असे म्हणतात की,

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि।।१६.२४।।

काय केले पाहिजे व काय करता कामा नये यांचा निश्चय करण्याकरिता तुला शास्त्रच प्रमाण मानले पाहिजे. याकरिता शास्त्रांनी सांगितलेले विधान जाणून घेऊन तसे कर्म करण्यास तू योग्य आहेस. याचा श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** फार सुंदर भावार्थ स्पष्ट केला आहे. ते असे म्हणतात की -

या कारणें पैं बापा। जया आथी आपुली कृपा।
तेणें वेदांचिया निरोपा। आन न कीजे।।१६.४५५।।
पतीचिया मता। अनुसरोनि पतिव्रता।
अनायासें आत्महिता। भेटेचि ते।।४५६।।
नातरी श्रीगुरुवचना। दिठी देतु जतना।
शिष्य आत्मभुवना -। माजीं पैसे।।४५७।।
हें असो आपुला ठेवा। हाता आथी जरी यावा।
तरी आदरें जेविं दिवा। पुढां कीजे।।४५८।।

तैसा अशेषांही पुरुषार्थां। जो गोसावी हो म्हणे पार्था।
तेंणें श्रुतिस्मृति माथां। बैसणें घापे।।४५९।।
शास्त्र म्हणेल जें सांडावें। तें राज्यही तृण मानावें।
जें घेववी तें न म्हणावें। विषही विरु।।४६०।।
ऐसिया वेदैकनिष्ठा। जालिया जरी सुभटा।
तरि कें आहे अनिष्टां। भेटणें गा।।४६१।।
पैं अहितापासूनि काढिती। हित देऊनि वाढविती।
नाहीं श्रुतिपरौती। माउली जगा।।४६२।।
म्हणौनि ब्रह्मेसीं मेळवी। तंव हे कोण्हे न सांडावी।
अगा तुवांही ऐसीचि भजावी। विशेषेंसी।।४६३।।
कार्याकार्यविवेकीं। शास्त्रेंचि करावी पारखी।
अकृत्य तें कुडें लोकीं। वाळावें गा।।४६५।।
मग कृत्यपणें खरें निगे। तें तुवां आपलेनि आंगें।
आचरोनी आदरें चांगें। सारावें गा।।४६७।।

याकरिता हे बापा अर्जुना! ज्याला आपले कल्याण व्हावे अशी इच्छा आहे त्याने वेदांची आज्ञा कधीही मोडू नये. पतिव्रता स्त्री आपल्या पतीच्या मनोगताप्रमाणे वागून अनायासे आपले आत्महित साधून घेते किंवा जो शिष्य श्रीगुरूंच्या आज्ञेकडे लक्ष देऊन वागतो तो आत्मप्राप्ती करून घेतो. फार काय, आपणच ठेवलेली ठेव हाती येण्याकरिता ज्याप्रमाणे दिवा अगत्याने पुढे करावा लागतो त्याप्रमाणे हे पार्था! सर्व पुरुषार्थांचा स्वामी होण्याची ज्याला इच्छा असेल त्याने श्रुती व स्मृती यांना शिरसावंद्य मानलेच पाहिजे. शास्त्रांनी जे टाकावे म्हणून म्हटले असेल ते जरी आवडते राज्यही असले तरी तृणाप्रमाणे तुच्छ समजून त्याचा त्याग करावा आणि ज्याचा स्वीकार करावा असे म्हटले असेल ते जरी विषही असले तरी ते मारक होईल असे मनातही आणू नये. हे अर्जुना! अशा रीतीने जो वेदांची आज्ञा एकनिष्ठपणे पाळतो त्याचे अकल्याण कधीच होत नाही. अकल्याणापासून सोडविणारी व कल्याण करून पोषण करणारी अशी श्रुतीशिवाय जगाला दुसरी

माऊली नाही. परब्रह्माशी ऐक्य होईपर्यंत श्रुतीचा कोणीही त्याग करू नये आणि अर्जुना! तूही विशेषेकरून श्रुतीची आज्ञा पाळली पाहिजे. काय करावे व काय करू नये यांचा निवाडा शास्त्रावरूनच करावा आणि जगात करू नये म्हणून सांगितले असेल अशा निंद्य कर्माचा त्याग करावा. मग करावे म्हणून जे यथार्थ ठरेल त्याचे तू स्वतः श्रद्धायुक्त अंतःकरणाने आचरण करून ते पुरे करावे.

विहितकर्मे टाकणे हा वेडेपणाच होय :-

जोपर्यंत साधकाला दिव्य व अलौकिक अवस्था प्राप्त होत नाही तोपर्यंत साधकाने मुद्दाम होऊन शास्त्राने उचित सांगितलेल्या अशा कर्माचा त्याग कधीही करता कामा नये. याबद्दल श्रीज्ञानेश्वरमहाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" असे म्हणतात की -

वांचोनि कर्मारंभ उचित। न करितां सिद्धवत।
कर्महीना निश्चित। होईजेना।।३.४५।।
कीं प्राप्तकर्म सांडिजे। येतुलेनि नैष्कर्म्य होईजे।
हें अर्जुना वायां बोलिजे। मूर्खपणें।।४६।।
सांगें पैलतीरा जावें। ऐले व्यसन कां जेथ पावे।
तेथ नावेते त्यजावें। घडे केवीं।।४७।।
ना तरी तृप्ती इच्छिजे। तरी कैसेनि पाकु न कीजे।।
कीं सिद्धही न सेविजे। केविं सांगें।।४८।।
जंव निरार्तता नाहीं। तंव व्यापारु असे पाहीं।
मग संतुष्टीच्या ठायीं। कुंठे सहजें।।४९।।
म्हणौनि आइकें पार्था। जया नैष्कर्म्यपदीं आस्था।
तया उचित कर्म सर्वथा। त्याज्य नोहे।।५०।।
आणि आपुलिये चाडे। आपादिलें हें मांडे।
कीं त्यजिलें हें कर्म सांडे। ऐसें आहे।।५१।।
हें वायांचि सैरा बोलिजे। उकलु तरी देखोनि पाहिजे।
परी त्यजितां कर्म न त्यजे। निभ्रांत मानीं।।५२।।
देखैं विहित कर्म जेतुलें। तें सगळें जरी वोसंडिलें।

तरी स्वभाव काय निमाले। इंद्रियांचे।।५४।।
सांगैं श्रवणीं ऐकावें ठेलें?। कीं नेत्रीचे तेज गेलें?।
हे नासरंध्र बुझालें। परिमळु नेघे।।५५।।
ना तरी प्राणापानगती। कीं निर्विकल्प जाहली मती।
कीं क्षुधा तृषादि आर्ती। खुंटलिया।।५६।।
हे स्वप्नावबोधु ठेले। कीं चरण चालों विसरले।
हें असो काय निमाले। जन्ममृत्यू?।।५७।।
हें न ठकेचि जरी कांहीं। तरी सांडणे तें कायी।
म्हणोनि कर्मत्यागु नाहीं। प्रकृतिवंतां।।५८।।
कर्म पराधीनपणें। निपजत असे प्रकृतिगुणें।
येरी धरी मोकली अंतःकरणें। वाहिजे वायां।।५९।।
देखें रथीं आरूढीजे। मग जरी निश्चळ बैसिजे।
तरी चळु होऊनि हिंडिजे। परतंत्रा।।६०।।
कां उचलिलें वायुवशें। चळे शुष्क पत्र जैसें।
निश्श्रेष्ट आकाशें। परिभ्रमें।।६१।।
तैसें प्रकृतिआधारें। कर्मेंद्रियविकारें।
नैष्कर्म्यही व्यापारे। निरंतर।।६२।।
म्हणौनि संगु जंव प्रकृतीचा। तंववरी त्यागु न घडे कर्माचा।।
ऐसियाहि करूं म्हणती तयांचा। आग्रहोची उरे।।६३।।

कोणीही मनुष्य विहित कर्मे टाकून जर सिद्ध (ज्ञानी) होऊ म्हणेल तर निश्चयाने त्याला तसे होता येणार नाही. हे अर्जुना! ज्याला जी विहित कर्मे करावयाची, ती टाकल्याने तो कृतार्थ होईल असे म्हणणे हा केवळ वेडेपणा होय. दुथडी भरलेल्या नदीच्या परतीराला जाण्याचे संकट प्राप्त झाले तर नावेचा त्याग करता येईल का? भोजनापासून जो तृप्तीची इच्छा करतो त्याला स्वयंपाक न करता अथवा तयार असलेले अन्न न खाता तृप्ती कशी प्राप्त होईल? जोपर्यंत निरिच्छपणा प्राप्त झाला नाही तोपर्यंत खटपट ही केलीच पाहिजे. एकदा का निरिच्छता प्राप्त झाली की, प्राणी आत्मसंतोषात सहज

गुंतून जातो. याकरिता पार्था! ज्याला मोक्षप्राप्तीची इच्छा आहे त्याने आपले विहित कर्माचरण कधीही सोडू नये. आणि आपापल्या गरजेप्रमाणे कर्माचा स्वीकार व त्याग करू म्हटल्याने तो होईल काय? हे बोलणे व्यर्थ बहकल्यासारखे आहे. याचा नीट विचार करून पाहिला तर कर्म टाकल्याने कर्माचा त्याग होत नाही असे पक्के समज.

जेवढी विहित कर्मे आहेत तेवढी सगळी जरी त्रासाने सोडली तरी इंद्रियांचे स्वभावधर्म नाहीसे होतात का? कर्मत्याग केला म्हणून कानाचे ऐकणे बंद झाले आहे का? का डोळ्याची दृष्टी (तेज) गेली? का नाकाची भोके बुजून जाऊन वास येईनासा झाला? किंवा प्राणापानवायूंची गती बंद झाली? का मन हे कल्पनारहित झाले? का तहान व भुकेची इच्छा नाहीशी झाली? त्याचप्रमाणे निद्रा व जागृती या अवस्था बंद झाल्या का? किंवा पाय चालणे विसरले? इतकेच नव्हे; परंतु जन्ममरण तरी चुकले आहे काय? हे इंद्रियांचे व्यापार बंद पडत नाहीत तर कोणते कर्म सोडले असे म्हणता येईल? म्हणून देहाभिमान्याला कर्मत्याग करता येणार नाही. कर्म हे पराधीन असल्यामुळे प्रकृतीच्या गुणानुरोधाने घडते. याकरिता मी कर्म करीन अगर सोडीन असे समजणे व्यर्थ होय. हे पाहा अर्जुना! आपण रथावर बसलो व निश्चळ जरी राहिलो तरी रथाच्या अधीन झाल्यामुळे आपण चालतो व हिंडतोच. किंवा ज्याप्रमाणे झाडाचे वाळलेले पान निश्चेष्ट असताही वायूच्या वेगाने उडून आकाशात भ्रमण करते त्याप्रमाणे मायेच्या आधाराने व कर्मेंद्रियांच्या विकाराने निष्काम मनुष्यही नेहमी कर्म करतो. म्हणून जोपर्यंत मायेचा संग आहे तोपर्यंत कर्माचा त्याग घडत नाही. असे असूनही जे कर्माचा त्याग करू म्हणतात त्यांचा तो रिकामा आग्रह आहे.

स्वधर्म हा मोक्षदायक यज्ञ :-

स्वधर्म हा मोक्ष देणारा असा नित्य यज्ञ आहे. त्याचे वैशिष्ट्य वर्णन करताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हणतात की -

म्हणोनि नैष्कर्म्य होआवें। तरी एथ तें न संभवें।
आणि निषिद्ध केविं राहाटावें। विचारीं पां।।३.७७।।
म्हणौनि जें जें उचित। आणि अवसरेंकरूनि प्राप्त।
तें कर्म हेतुरहित। आचरें तूं।।७८।।
पार्था आणीकही एक। नेणसी तूं हें कवतिक।
जें ऐसें कर्ममोचक। आपैसें असे।।७९।।
देखैं अनुक्रमाधारें। स्वधर्मु जो आचरे।
तो मोक्षु तेणें व्यापारें। निश्चित पावे।।८०।।
स्वधर्मु जो बापा। तोचि नित्य यज्ञु जाण पां।
म्हणौनि वर्तत तेथ पापा। संचारु नाहीं।।८१।।
हा निजधर्म जैं सांडे। आणि कुकर्मीं रति घडे।
तैंचि बंध पडे। सांसारिक।।८२।।
म्हणौनि स्वधर्मानुष्ठान। तें अखंड यज्ञयाजन।
जो करी तया बंधन। कहींच न घडे।।८३।।
हा लोकु कर्मे बाधिला। जो परतंत्रा भूलला।
तो नित्ययज्ञातें चुकला। म्हणौनियां।।८४।।

याकरिता कर्मरहित असे आत्मरूप व्हावयाचे असल्यास कर्मत्याग करून ते साधणे हे या संसारात असंभवनीय आहे. मग शास्त्रविरुद्ध आचरण का करावे याचा विचार कर. म्हणून आपल्याला विहित असेल ते उचित कर्म व प्रसंगोपात्त जे नैमित्तिक कर्म असेल ते ते विषयसुखाच्या प्राप्तीचा उद्देश सोडून केवळ श्रीभगवंताने लावून दिलेले आपले कर्तव्य आहे असे समजून कर. अशा रीतीने केलेले निष्काम कर्म करण्यात एक मौज आहे, ती तुला माहीत नाही. अशा रीतीने केलेले कर्म अनायासे कर्मबंधनापासून सोडविणारे होते. जो वर्णाश्रमधर्माप्रमाणे स्वधर्माचे आचरण करतो तो त्या आचरणानेच निश्चये करून मोक्ष पावतो. आपल्या धर्माप्रमाणे आचरण करणे हाच नित्ययज्ञ आहे असे समज. म्हणून त्याप्रमाणे वर्तन केल्यावर त्यात पापाचा रिघाव होत नाही. प्राणी जेव्हा हा स्वधर्म टाकतात

आणि वाईट कर्माच्या ठिकाणी प्रवृत्त होतात, तेव्हाच जन्ममरणाच्या फेऱ्यात सापडतात. म्हणून स्वधर्माप्रमाणे आचरण करणे हाच अखंड यज्ञ असे समज. जो पुरुष हा यज्ञ करतो त्याला काही सुद्धा बंधन होत नाही. हे सर्व जग स्वकर्माला चुकले म्हणूनच कर्माने बांधले जाऊन मायेच्या पाशात गुंतले आहे.

स्वधर्म सोडण्याने दुःख, दारिद्र्य व पाप प्राप्त होते :-

स्वधर्माचे आचरण जर मनुष्याच्या हातून घडले नाही तर मनुष्याला किती हालआपेष्टा, दुःख व दैन्य सोसावे लागते याचे मोठे विदारक चित्र श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** रंगविले आहे. शक्तिपात-योगाची साधना करणाऱ्यांनी साधन व नित्यनैमित्तिक कर्मांची सांगड उत्तम प्रकारे घातली पाहिजे. त्यामुळे त्यांच्या वाट्याला दुःख, दारिद्र्य व पाप न येता सुखच येईल. याबाबत श्रीज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की -

ऐसें समस्त भोगभरित। होआल तुम्हा अनार्त।
जरी स्वधर्मैकनिरत। वर्ताल बापा।।३.१०२।।
कीं जालिया सकळ संपदा। जो अनुसरेल इंद्रियमदा।
लुब्ध होऊनियां स्वादा। विषयांचिया।।१०३।।
तिहीं यज्ञभावितीं सुरीं। जे हे संपत्ती दिधली पुरी।
तयां स्वधर्मीं सर्वेश्वरीं। न भजेल जो।।१०४।।
अग्निमुखीं हवन। न करील देवतापूजन।
प्राप्तवेळे भोजन। ब्राह्मणाचे।।१०५।।
विमुख होईल गुरुभक्ती। आदर न करील अतिथी।
संतोष नेदील ज्ञाती। आपुलिये।।१०६।।
ऐसा स्वधर्मक्रियारहितु। आथिलेपणें प्रमत्तु।
केवळ भोगासक्तु। होईल जो।।१०७।।
तया मग अपावो थोर आहे।जेणें तें हातींचें सकळ जाये।
देखा प्राप्तही न लाहे। भोग भोगूं।।१०८।।
जैसें गतायु शरीरीं। चैतन्य वासु न करी।

कां निदैनाच्या घरीं। न राहे लक्ष्मी।।१०९।।
तैसा स्वधर्मु जरी लोपला। तरी सर्व सुखांचा थारा मोडला।
जैसा दीपासवें हरपला। प्रकाशु जाय।।११०।।
तैसी निजवृत्ति जेथ सांडे। तेथ स्वतंत्रते वस्ती न घडे।
आइका प्रजा हो फुडें। विरंचि म्हणे।।१११।।
म्हणौनि स्वधर्मु जो सांडील। तयातें काळु दंडील।
चोरु म्हणौनि हरील। सर्वस्व तयाचें।।११२।।
मग सकळ दोषु भवंते। गिंवसोनि घेती तयातें।
रात्रिसमयीं स्मशानातें। भूतें जैसीं।।११३।।
तैसीं त्रिभुवनींचीं दुःखें। आणि नानाविधें पातकें।
दैन्यजात तितुकें। तेथेंचि वसे।।११४।।
ऐसें होय तया उन्मत्ता। मग न सुटे बापा रुदतां।
कल्पांतींही सर्वथा। प्राणिगण हो।।११५।।
म्हणौनि निजवृत्ती हे न सांडावी। इंद्रियें बरळों नेदावीं।
ऐसें प्रजांतें शिकवी। चतुराननु।।११६।।
जैसें जळचरां जळ सांडे। मग तत्क्षणीं मरण मांडे।
हा स्वधर्मु तेणें पाडें। विसंबों नये।।११७।।
म्हणौनि तुम्हीं समस्तीं। आपुलालिया कर्मीं उचितीं।
निरत व्हावें पुढतपुढती। म्हणिपत असें।।११८।।

"अशा रीतीने तुम्ही एकनिष्ठेने स्वधर्माचे आचरण कराल तर तुम्ही ऐश्वर्ययुक्त होऊन तुम्हाला विषयांची इच्छा राहणार नाही. याच्या उलट सर्व संपत्ती प्राप्त होऊन जो कोणी विषयाच्या सुखाला भुलून इंद्रियांना जसे वाटेल तसे वागण्याचा प्रयत्न करील, यज्ञाने संतुष्ट झालेल्या देवांनी प्रसन्न होऊन मनुष्याला पूर्ण जी संपत्ती दिली त्या संपत्तीने व स्वधर्माचरणाने जो ईश्वराला भजणार नाही, जो अग्नीत आहुती देणार नाही, देवतापूजन करणार नाही, प्रसंगाने ब्राह्मणाला भोजन देणार नाही, आपल्या श्रीगुरूंची भक्ती करणार नाही, अतिथींचा आदरसत्कार करणार नाही, आपल्या जातीबांधवांचे

कार्य करून त्यांना संतोष देणार नाही, अशा रीतीने जो स्वधर्माचे आचरण करीत नाही, श्रीमंतीने ज्याला गर्वाचा ताठा भरला आहे आणि जो केवळ विषयासक्त झाला आहे अशा पुरुषाला महासंकटे येऊन पुढे फार दुःख होते. त्याला मिळालेले सर्व ऐश्वर्य नाहीसे होते आणि प्राप्त भोग भोगण्याकरिताही तो समर्थ राहत नाही. ज्याप्रमाणे आयुष्य संपलेल्या शरीरात चैतन्य वास करीत नाही किंवा ज्याचे दैव फिरले आहे त्याच्या घरी लक्ष्मी राहत नाही, त्याप्रमाणे जसा दिवा मालविला की, प्रकाश तत्काळ नाहीसा होतो तसा स्वधर्माचा लोप झाला असता, सर्व सुखाचे आश्रयस्थान नाहीसे होते. याकरिता ब्रह्मदेव असे म्हणतात की, प्रजाजन हो! जो स्वधर्माचे आचरण सोडतो, त्याचे स्वातंत्र्य नष्ट होते. म्हणून स्वधर्माचा जो त्याग करील त्याला काळ शिक्षा करील आणि हा चोर आहे असे समजून त्याच्या सर्वस्वाचे हरण करील. मग रात्र झाल्यावर स्मशानात जशी भुतांची गर्दी होते तशी सर्व संकटे व पापे त्याला येऊन वेढतात. तसेच त्रिभुवनातील सर्व प्रकारची दुःखे, हजारो प्रकारची पातके व झाडून सगळे दारिद्र्यही त्याच्या ठिकाणी वास करते. श्रीब्रह्मदेव असे म्हणतात की, हे प्रजाजनहो! याप्रमाणे त्या उन्मत्त मनुष्याची स्थिती होते. मग तो कितीही रडला व त्याने दुःख केले तरी कोणी त्याला कल्पांतीही सोडवू शकत नाही. श्रीब्रह्मदेव असा बोध करतात की, आपला स्वधर्म सोडू नका आणि इंद्रियांना स्वैर वर्तन करू देऊ नका. ज्याप्रमाणे जलचरांना पाण्यातून बाहेर काढल्याबरोबर लागलीच मृत्यू येतो त्याप्रमाणे स्वधर्माचा विसर पडला म्हणजे प्राणी अधःपात पावतो. श्रीब्रह्मदेव म्हणतात, म्हणून तुम्ही सर्वांनी कर्म करण्यास नेहमी तत्पर राहावे."

साधनावर विश्वास :-

शक्तिपातयोगसाधनेत साधकाचा साधनेवर पूर्ण विश्वास असणे अत्यंत आवश्यक आहे; कारण विश्वासामुळेच कोणत्याही कार्यात सिद्धी प्राप्त होत असते. श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासमहाराजांनी **"श्रीराम-**

चरितमानसाच्या" बालकांडातील मंगलचरणात विश्वासाचे स्थान किती मोठे आहे हे सांगताना असे म्हटले आहे की -

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।२।।

श्रद्धा व विश्वासरूपी श्रीउमामहेश्वरांना मी वंदन करतो; (कारण) त्यांच्याशिवाय आपल्या हृदयातील परमात्म्याचे दर्शन योगीसुद्धा घेऊ शकत नाही.

"**श्रीमद्भगवद्गीतेच्या**" चवथ्या अध्यायातील ४० व्या श्लोकात श्रीभगवंतांनी अर्जुनाला अविश्वासाची भीषणता पुढील शब्दात सांगितली आहे.

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४.४०।।

अज्ञानी, श्रद्धाहीन व संशययुक्त असा जो असतो तो अधोगतीला जातो. त्या संशयी पुरुषाला इहलोक, परलोक व मोक्षसुखही प्राप्त होत नाही. या श्लोकाचा भावार्थ स्पष्ट करून साधकाच्या दृष्टीने संशय व अविश्वास हा किती हानीकारक आहे हे सांगताना श्रीज्ञानेश्वर-महाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" असे म्हणतात की -

मग संशयीं जरी पडिला। तरी निभ्रांत जाणें नासला।
तो ऐहिक परत्रा मुकला। सुखासि गा।।४.१९९।।
जया काळज्वर आंगीं बाणे। तो शीतोष्णें जैशीं नेणे।
आगी आणि चांदणें। सरिसेंचि मानीं।।२००।।
तैसें साच आणि लटिकें। विरुद्ध आणि निकें।
संशयीं तो नोळखे। हिताहित।।२०१।।
हा रात्री दिवसु पाहीं। जसा जात्यंधा ठाउवा नाहीं।
तैसें संशयीं असतां कांहीं। मना नये।।२०२।।
म्हणौनि संशयाहूनि थोर। आणिक नाहीं पाप घोर।
हा विनाशाची वागुर। प्राणियांसी।।२०३।।
येणें कारणें तुवां त्यजावा। आधीं हाच एकु जिणावा।

जो ज्ञानाचिया अभावा -। माजि असे।।२०४।।
जैं अज्ञानाचे गडद पडे। तैं हा बहुवस मनीं वाढे।
म्हणौनि सर्वथा मार्गु मोडे। विश्वासाचा।।२०५।।
हृदयीं हाचि न समाये। बुद्धीतें गिंवसूनि ठाये।
तेथें संशयात्मक होये। लोकत्रय।।२०६।।

मनुष्य संशयात पडला की, निःसंशय नाश पावतो व तो ऐहिक व पारत्रिक अशा दोन्ही सुखांना मुकतो. ज्याला भयंकर सन्निपातज्वर झाला आहे त्याला शीत-उष्णाचे ज्ञान होत नाही. तो उष्णता व चांदणे सारखेच मानतो. त्याचप्रमाणे संशयग्रस्त मनुष्याला खरे-खोटे, अनुकूल-प्रतिकूल व हित-अहित ही कळत नाहीत. ज्याप्रमाणे जन्मांध पुरुष रात्र व दिवस ओळखत नाही त्याप्रमाणे संशयात पडलेल्या मनुष्याच्या बुद्धीला दुसऱ्याचे सांगणे मुळीच पटत नाही. म्हणून संशयापेक्षा दुसरे भयंकर पाप कोणतेच नाही. संशय हा प्राण्याचा सर्वस्वी नाश करणारे जाळे आहे, याकरिता अर्जुना! तू त्याचा त्याग कर. प्रथम संशयालाच जिंक. हा संशय जेथे यथार्थ ज्ञान नाही तेथेच असतो. जेव्हा अज्ञानाचा गाढ अधंकार असतो तेव्हाच याची फार वाढ होते. तो विश्वासाविषयी मनात कल्पना देखील येऊ देत नाही. हा संशय वाढला की, अंतःकरणातच भरून राहतो असे नाही, तर तो बुद्धीलाही ग्रासून टाकतो. असे झाले की, त्या मनुष्याला तिन्ही लोक संशयात्मकच दिसू लागतात.

हे सर्व जरी खरे असले तरी साधकांना संशय येतच राहतो. साधक ज्या ज्या अवस्थेत असतो त्या त्या अवस्थेत त्याला निरनिराळे संशय येतात. साधकांमध्ये नवीन साधक, काही काळ साधना करून झालेले साधक व थोड्या वरच्या पायरीवर गेलेले साधक असे तीन प्रकार सर्वसाधारणपणे संभवतात. या तीनही प्रकारच्या साधकांचे भिन्नभिन्न संशय व त्यांचे निराकरण यांचा आपण क्रमशः बिचार करू.

नवीन साधक, त्यांचे संशय व त्याची उत्तरे :-

पहिली शंका :-

नवीन साधकाला असे वाटते की, कुंडलिनी-जागरण ही तर अत्यंत दुर्लभ अशी गोष्ट आहे. मग अत्यंत सहजपणे ती आपल्या-सारख्या सामान्य माणसाला प्राप्त होणे कसे शक्य आहे? यात काही मायाजाल किंवा जादूटोणा तर नसेल? संमोहन विद्येच्या प्रभावाने तर लोक इकडे आकर्षित होत नसतील? अशा प्रकारे शक्ती जागृत करणारे लोक जादूगार तर नसतील?

उत्तर :- पूर्व जन्माची पुण्याई, भाग्य व कर्मसाम्यदशा प्राप्त झाल्याने शक्तिपातयोगसाधनेकडे साधक वळू लागतो. त्याची श्रीसद्गुरूंशी अनायासे गाठ पडते. अशा साधकावर कृपा करून श्रीसद्गुरू त्याच्या मुक्तीचा मार्ग मोकळा करून देतात; परंतु साधकाच्या वाटचालीत वर वर्णन केलेले संशय व अविश्वास अनेक वेळा डोके वर काढून प्रगती थांबवून ठेवतात. दुर्लभ वस्तू सहजतेने प्राप्त झाली म्हणजे माणसाचे मन अनेक शंकाकुशंकांनी भरून जाते यासंबंधी **"योग-वासिष्ठात"** मणिकांचन उपाख्यान आले आहे. ते पाहण्यासारखे आहे.

श्री.रामप्रसाद नावाचा एक श्रीमंत ब्राह्मण होता. तो सर्व कलात पारंगत होता. खूप हुशार होता, व्यवहारात निपुण होता. त्याचे जीवन सर्वांगांनी समृद्ध होते.

एकदा त्याला आपल्याला चिंतामणी प्राप्त व्हावा अशी तीव्र इच्छा झाली. आपली इच्छा पुरी व्हावी म्हणून श्री.रामप्रसादने घोर तपश्चर्या सुरू केली. त्याच्या दृढनिश्चयामुळे व श्रीभगवत्कृपेने थोड्याच दिवसात एक अमूल्य चिंतामणी त्याला प्राप्त झाला. परंतु एखाद्या अत्यंत पामर व दीनदरिद्री पुरुषाला अकस्मात् संपत्ती प्राप्त झाली किंवा राज्य मिळाले तर त्याची त्याविषयी खात्री नसते. आपल्याला खरोखरच चिंतामणी मिळाला असेल का? हा प्रश्न त्याला वारंवार भेडसावू लागला. त्यामुळे श्री.रामप्रसादचा त्या श्रेष्ठ अशा चिंतामणी-विषयी पक्का निश्चय होईना. हा चिंतामणीच नव्हे असे त्याला वाटू लागले.

या विचारांमुळे श्री.रामप्रसादचे मन भ्रांत बनले. त्याने प्राप्त झालेल्या त्या चिंतामणीची उपेक्षा केली. त्याच्या एका मनाला मधून मधून थोडा वेळ असे वाटे की, अमूल्य असा चिंतामणी आपल्याला प्राप्त झाला असावा; परंतु त्याचे दुसरे मन म्हणत असे, छे ! हा चिंतामणी खासच नव्हे. माझ्या इतक्याशा थोड्या तपश्चर्येने हा मणी मला प्रत्यक्ष दिसणे शक्यच नाही.

अशा विचारांच्या द्विधा अवस्थेत मन सापडले असता हा खरोखरीचा अस्सल चिंतामणी आहे की नाही याचे मणी हातात घेऊन परीक्षण करावे असे श्री.रामप्रसादला वाटले. परंतु त्या मण्याला स्पर्श करणे त्याला बरे वाटेना. याला जर आपण स्पर्श केला तर आपल्या अभाग्याच्या स्पर्शाने हा गुप्त होईल असे वाटून तो नुसता त्या मण्याकडे पाहत राहिला.

एवढ्याशा थोड्या कालात चिंतामणी सिद्ध होणे शक्य दिसत नाही असा विचार शेवटी प्रबळ होऊन पुन्हा अनेक संशय त्याच्या मनात आले. "इतिहासाकडे पाहिले तर मरेपर्यंत जेव्हा प्रयत्न करावा तेव्हाच चिंतामणी प्राप्त होतो असे दिसून येते. या रत्नाला एवढा प्रकाश आहे खरा पण कृपणता, भ्रांती, द्विधा मनःस्थिती व संशय यामुळे मला तो खोटा वाटत आहे. एखाद्या माणसाला दृष्टिदोषामुळे जसे दोन चंद्र दिसतात, त्याप्रमाणे मला हा चिंतामणी दिसत आहे. माझे भाग्य मोठे नाही. तपश्चर्या तीव्र नाही. दैव बलवत्तर नाही. पूर्वजन्मीचे खूप पुण्य नाही. अशा परिस्थितीत मला सर्वसिद्धी देणारा श्रेष्ठ चिंतामणी प्राप्त होईलच कसा? ज्यांना थोड्याच काळात अल्प प्रयत्नाने संपत्ती मिळते असे महाभाग्यशाली महात्मे या भूतलावर काही थोडेच असतील! मी अगदी दुर्बल मनुष्य आहे, तेव्हा मला अभाग्याला अशी सिद्धी कशी मिळणार?"

अशा प्रकारच्या संकल्प-विकल्पात श्री.रामप्रसादाचा बराच वेळ निघून गेला. शेवटी संभ्रमाने व अज्ञानाने मोहित झाल्याने श्री.राम-प्रसादाने तो मणी उचलून घेण्याचा साधा प्रयत्न सुद्धा केला नाही.

त्याने प्राप्त झालेला तो चिंतामणी दुर्बुद्धीने व अनादराने टाकून दिला. या मूर्खाने आपल्याला अनादराने टाकून दिले आहे असे पाहून तो चिंतामणी तेथून अंतर्धान पावला.

चिंतामणी निघून गेल्यावर आता खरा चिंतामणी आपल्याला प्राप्त व्हावा या इच्छेने श्री.रामप्रसादाने पुन्हा तपश्चर्येस प्रारंभ केला. खरा चिंतामणी सोडून पुन्हा चिंतामणीसाठी तप करणाऱ्या त्या ब्राह्मणाला पाहून काही थट्टेखोर श्री.सिद्धांनी रामप्रसादाच्या दृष्टीला न पडता हळूच एक चकचकीत काचेचा तुकडा त्याच्या पुढे ठेवला. ध्यानाच्या शेवटी श्री.रामप्रसादाला तो चमकणारा काचेचा तुकडा दिसला. त्याला वाटले इतके दिवस आपण जी तपश्चर्या केली ती फळाला आली. ज्या दुर्लभ व अमूल्य वस्तूची आपण इतके दिवस इच्छा करीत होतो ती वस्तू श्रीभगवंताच्या कृपेने आपल्याला मिळाली. श्री.रामप्रसादला परमानंद झाला.

अत्यानंदाने व हर्षातिरेकाने श्री.रामप्रसादने तो काचेचा तुकडा घेतला. तो घरी आला. काचेच्या तुकड्यालाच चिंतामणी समजून श्री.रामप्रसाद राहू लागला. पुढे पुढे त्याला असे वाटू लागले की, आपल्या सर्व इच्छा, आशा व आकांक्षा या चिंतामणीमुळेच पूर्ण होऊन सर्व अडचणी दूर होतील.

या विचाराने श्री.रामप्रसादने आपली सर्व मालमत्ता विकून टाकून तो दूर ठिकाणी निघून गेला. श्री.रामप्रसाद विश्वासाने निघून गेला खरा; पण त्याच्या दु:खाला व दुर्दशेला सीमा राहिली नाही. या परिस्थितीमुळे हा चिंतामणी नसून काचेचा तुकडा आहे याची खात्री पटून त्याने तो काचेचा तुकडा फेकून दिला."

शक्तिपाताचे साधन करणाऱ्या काही नवीन साधकांची स्थितीही वरील गोष्टीतील ब्राह्मणाप्रमाणेच होते. पूर्वजन्मीच्या बलवत्तर पुण्याईने, भाग्य उदयास आल्याने व कर्मसाम्यदशा प्राप्त झाल्याने थोड्याशा प्रयत्नाने ईश्वरी कृपा होऊन साधकाची सद्गुरूंशी गाठ पडून त्याला शक्तिपातासारखे दुर्लभ साधन प्राप्त होते; परंतु हे दुर्लभ साधन

सहजासहजी मिळाल्याने त्याचे विशेष महत्त्व व त्याची श्रेष्ठता साधकाला जाणवत नाही. अशा वेळी साधकाने हृदयाच्या कसोटीवर साधनाला पारखून आपल्याला सोने मिळाले की पितळ हे साक्षेपाने पाहिले पाहिजे. आपण चिंतामणीचे स्वामी आहोत की, काचेचे याची परीक्षा त्याने केली पाहिजे. साधना नियमित करून श्रीगुरुवाक्य व शास्त्रवाक्य यांच्याशी आपली अनुभूती जुळते की नाही हे अवश्य पाहिले पाहिजे. जर श्रीगुरुवाक्य, शास्त्रवाक्य व स्वतःचा अनुभव या तीनही गोष्टी बरोबर जुळल्या तर साधन-तत्त्वासंबंधी कोणताही संशय मनात ठेवता उपयोगी नाही.

जादूटोण्याने किंवा संमोहन विद्येच्या जोरावर एखाद्याने काही काळ माणसाला झुलविले तरी फार काळ त्याचा प्रभाव राहणार नाही. या साधनाने मिळणारा आनंद, प्रचीती व ब्रह्मप्राप्ती ही जादूटोण्याने किंवा संमोहन विद्येच्या प्रभावाने कदापीही मिळणार नाही. संमोहनामुळे तत्कालिक भ्रम पडेल; पण निरंतर सुख कसे मिळेल?

सारांश, शक्तिपातयोग म्हणजे मायाजाल, जादूटोणा किंवा संमोहन विद्या नव्हे. अशा प्रकारे शक्तिजागृती करणारे श्रीसद्गुरू जादूगारही नव्हेत; तर आदिगुरू श्रीशंकरांपासून शिष्यपरंपरेने हे महायोगाचे ऐश्वर्य चालत आलेले असून ते महद्भाग्याने आपणास प्राप्त झालेले आहे याची निरंतर जाणीव अंतःकरणात बाळगून साधकांनी निःशंक होऊन साधन केले पाहिजे.

दुसरी शंका :-

नवीन साधकांच्या मनात दुसरी शंका नेहमी अशी येते की, ईश्वरप्राप्ती करून देण्याइतके हे साधन खरोखरीच अपूर्व आहे का? मनःशांती प्राप्त करून देण्याचे अद्वितीय सामर्थ्य या साधनात आहे का? ज्या ध्येयाने आपण वेडे झालो त्या ध्येयाप्रत सहजसुलभतेने पोहोचू शकू इतके हे साधन अद्वितीय असेल का? ब्रह्मज्ञान होण्यासाठी हे साधन अमूल्य ठरेल का?

उत्तर :-

नवीन साधक ध्येयसिद्धीसाठी उतावीळ झालेला असतो. त्यामुळे त्याच्या मनात वरील प्रकारच्या शंका सतत येत राहतात. या दृष्टीने पुढील कथा अत्यंत बोधकारक ठरेल.

श्री.शंकरप्रसाद नावाचा एक श्रद्धाळू भक्त होता. तो लहानपणापासून ईश्वराची भक्ती करीत असे. तो जेव्हा मोठा झाला तेव्हा त्याची एका साधूशी गाठ पडली. तो साधू फार मोठा महात्मा होता. त्या साधूने खूप वर्षे एकांतात राहून तपश्चर्या केली होती. त्यामुळे त्याला ईश्वरी साक्षात्कार झाला होता. साक्षात्काराचे तेज त्याच्या सर्वांगावर झळकत असे.

श्री.शंकरप्रसादला ईश्वरी साक्षात्काराची फार तळमळ लागली होती. साधूशी गाठ पडल्यावर त्याने त्याची खूप दिवस उत्तम प्रकारे सेवा केली. हळूहळू सेवेमुळे श्री.शंकरप्रसादचे दोष दूर होऊ लागले. तो सत्त्वगुणसंपन्न बनू लागला. त्याची श्रीगुरुभक्ती अधिकाधिक दृढ होत गेली. श्रद्धा वृद्धिंगत झाली. कुतार्किकपणा नाहीसा झाला. आळस झडून गेला. शास्त्रवचनावर विश्वास बसला. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व मत्सर हे षड्रिपू ताब्यात आले. घृणा व द्वेष हे दुष्ट भाव जाऊन चित्त सरळ, शांत व मृदू बनले. संतांविषयी व भगवद्भक्तांविषयी त्याच्या मनात गाढ प्रीती उत्पन्न झाली. अंगी तितिक्षा बाणली. ब्रह्मज्ञान होऊन मोक्षप्राप्ती लवकर व्हावी यासाठी त्याचे अंत:करण तळमळू लागले.

श्री.शंकरप्रसादची तळमळ शिगेला पोहोचली. एक दिवस त्याने साधूचे चरण घट्ट पकडले. "माझा आपण उद्धार करावा व जन्ममरणाच्या फेऱ्यातून मला सोडवावे," अशी त्याने साधूची प्रार्थना केली. त्याच्या प्रार्थनेने महात्मा प्रसन्न झाले. श्री.शंकरप्रसाद मोक्षाचा आता अधिकारी झाला हे त्याने जाणले.

एके दिवशी साधूने श्री.शंकरप्रसादला असे सांगितले की, "उद्या दिवस उत्तम आहे. अमृतसिद्धी योग आहे. उद्या दीक्षाविधी होईल.

तेव्हा सकाळी लवकर उठून श्रीगंगास्नान करून एक हार व नारळ घेऊन तू ये." श्रीगुरुमहाराजांच्या या आज्ञेने श्री.शंकरप्रसादाचे डोळे भरून आले. त्याला खूप खूप आनंद झाला. साधुमहाराजांना प्रणाम करून तो घरी आला.

दुसऱ्या दिवशी सकाळी श्रीगंगास्नान करून श्री.शंकरप्रसाद नारळ व हार घेऊन श्रीगुरुमहाराजांकडे गेला. साधूने प्रथम आपल्या श्रीगुरुमहाराजांच्या प्रतिमेपुढे नारळ ठेवून नंतर हार अर्पण करण्यास श्री.शंकरप्रसादला सांगितले. त्याप्रमाणे त्याने केले. नंतर त्याने साधुमहाराजांना साष्टांग प्रणिपात घातला.

साधूने श्री.शंकरप्रसादला आपल्या समोर बसवून घेतले. ते त्याला म्हणाले की, "मी तुला आता जो मंत्र सांगणार आहे तो अत्यंत श्रेष्ठ आहे. तो नेहमी गुप्त ठेवला पाहिजे. या अमूल्य मंत्राचे माहात्म्य फारच थोड्या लोकांना माहीत आहे. तू हा मंत्र कधीही कोणाला सांगू नकोस. रोज सकाळ संध्याकाळ साधी मांडी घालून एका आसनावर डोळे मिटून बसत जा. श्वास आत घेताना एकदा व श्वास बाहेर सोडताना एकदा मानसिक रीतीने उच्चार करून हा जप करीत जा."

एवढे सांगून साधूमहाराजांनी "राम" या महामंत्राची श्री.शंकर-प्रसादला शक्तिपातपूर्वक दीक्षा दिली. मंत्र कानात शिरल्याबरोबर त्याच्या ठिकाणी अष्टसात्त्विक भाव जागृत झाले. वृत्ती स्थिर झाली. आनंदाच्या उर्मी अंत:करणात उसळू लागल्या. अशा रीतीने त्याला साधनात निरनिराळे अनुभव येऊ लागले.

एक दिवस श्री.शंकरप्रसाद श्रीगंगास्नान करून घरी परत येत होता. इतक्यात त्याच्या असे लक्षात आले की, आपल्याप्रमाणेच कित्येक लोक श्रीगंगेचे स्नान करून "राम" मंत्राचा जोरजोराने जप करीत चालले आहेत. अशा प्रकारे श्रीगंगास्नान करून रोजच लोक नामस्मरण करीत जात असत. परंतु रोज हे पाहत व ऐकत असूनही त्याचे लक्ष कधी विशेष तिकडे गेले नव्हते. त्या दिवशी त्या लोकांकडे त्याचे लक्ष गेल्यावर त्याच्या मनात असा संशय आला की,

श्रीगुरुमहाराजांनी सांगितले होते की, "मी तुला जो मंत्र सांगितला आहे तो अत्यंत गुप्त आहे. त्याचे सामर्थ्य फार अलौकिक आहे. त्याचे खरे माहात्म्य फारच थोड्या लोकांना माहीत आहे." परंतु हा मंत्र तर सर्वांनाच माहीत आहे. हजारो लोक राम राम अशी गर्जना करीत चालले आहेत.

या विचाराने श्री.शंकरप्रसाद अस्वस्थ झाला. त्या दिवशी तो घरी न जाता सरळ श्रीगुरुदेवांकडे गेला. त्याला अवेळी आलेला पाहून श्रीगुरुदेव असे म्हणाले की, "अरे! तू यावेळी इकडे कसा आलास?" त्यावर श्री.शंकरप्रसाद असे म्हणाला की, "महाराज! माझ्या मनात जो संशय आला त्यामुळे मी बैचेन झालो आहे. संशयाची निवृत्ती झाल्याशिवाय बरे वाटेना, म्हणून तत्काळ आपल्याकडे आलो. आपण माझा संशय अवश्य दूर करावा."

श्रीगुरुदेवांनी श्री.शंकरप्रसादच्या मनातील शंका ओळखली. ते त्याला असे म्हणाले की, "तुझ्या प्रश्नाचे उत्तर मी मागाहून देईन. प्रथम तू माझे एक काम कर. "असे म्हणून श्रीगुरुदेवांनी आपल्या झोळीत हात घातला व काचेसारखी एक मोठी गोटी बाहेर काढली. ती चकाकत होती. पाहाता क्षणीच मोह पडावा इतकी ती वस्तू आकर्षक होती. ती वस्तू श्री.शंकरप्रसादच्या हातात देत श्रीगुरुदेव असे म्हणाले की, "ही वस्तू घेऊन तू बाजारात जा. त्याची खरी किंमत काय असेल ते पाहून परत ये. वस्तू विकू मात्र नकोस. फसू नकोस. सावध राहून वस्तूची काळजी घे."

श्रीगुरुदेव आपल्या प्रश्नाचे उत्तर न देता काचेच्या गोटीची किंमत करण्यासाठी आपल्याला बाजारात पाठवीत आहेत हे पाहून त्याला आश्चर्यच वाटले; परंतु तो आज्ञाधारक व श्रद्धाळू होता. त्याने आपला प्रश्न तेथेच सोडून दिला व तो श्रीगुरूंच्या कामासाठी बाहेर पडला.

बाजारात गेल्यावर पहिल्या प्रथम त्याला रस्त्यावर भाजी विकणारी एक बाई भेटली. त्याने तिला आपल्या जवळील चकचकीत वस्तू

दाखविली व असे विचारले की, "ह्याची तू मला किती किंमत देशील? भाजीवालीने ती चकाकणारी काचेची गोटी पाहून विचार केला, "आपल्या मुलांना खेळावयास ही वस्तू बरी आहे. बाजारात इतकी सुंदर काचेची गोटी आपणास कधीच मिळणार नाही." त्यामुळे ती "या वस्तूच्या बदल्यात मी तुला दोन शेर बटाटे व दोन शेर वांगी देईन," असे म्हणाली.

श्री.शंकरप्रसाद पुढे गेला. त्याला एक सोनाराचे दुकान लागले. तेथे तो थांबला. त्याने सोनाराला आपल्या जवळील वस्तू दाखविली. त्याची किंमत किती होईल म्हणून त्याने विचारले. सोनाराने वस्तू हातात घेऊन वरखाली करून पाहिली. हा बहुतेक नकली हिरा असावा असे समजून त्याने १०० रु. किंमत सांगितली.

वस्तूची किंमत वाढू लागल्याने श्री.शंकरप्रसादला आश्चर्य वाटले. तो आणखी पुढे गेला. त्याला एक सराफी दुकान लागले. सराफाने श्री.शंकरप्रसादची वस्तू पाहिली. परीक्षा केली. ही सामान्य काचेची गोटी नसून एक अप्रतिम हिरा असल्याबद्दल त्याची खात्री पटली. मात्र त्याने इतका मोठा सुंदर हिरा उभ्या आयुष्यात पाहिला नव्हता. त्यामुळे त्याच्या मनांत किंचित् संदेह उत्पन्न झाला. शेवटी त्याने श्री.शंकरप्रसादला त्या हिऱ्याची किंमत एक लाख रुपये सांगितली.

श्री.शंकरप्रसादचे कुतूहल आणखी जागृत झाले. त्याने पुढे आघाडी मारली. जेव्हा तो श्रीगुरुदेवांकडून निघाला तेव्हा त्यालाही ती काचेचीच वस्तू वाटत होती. परंतु जसजशी त्या वस्तूची किंमत वाढत गेली तसतसे त्याचे साहसही वाढत गेले. त्यामुळे सर्वात मोठ्या सराफी दुकानात तो गेला. त्याने सराफाला तो हिरा दाखविला. ते अद्वितीय रत्न पाहून दुकानदार चकित झाला. त्याने श्री.शंकरप्रसादला सांगितले की, "आपल्या देशातील सर्व संपत्ती एकत्रित केली तरी या हिऱ्याचे मूल्य पूर्ण होऊ शकणार नाही. हे अपूर्व असे रत्न आहे."

आता या रत्नाची किंमत कोणीही करू शकणार नाही याची खात्री श्री.शंकरप्रसादला झाली. तो श्रीगुरुदेवांकडे परत आला.

त्याने श्रीगुरुदेवांना सर्व हकीकत सांगितली व तो त्यांना असे म्हणाला की, "आपण दिलेल्या वस्तूची किंमत कोणीही करू शकत नाही." इतके सांगून श्री.शंकरप्रसादने श्रीगुरुदेवांकडे तो हिरा परत दिला. श्रीगुरुदेवांनी तो आपल्या झोळीत ठेवून दिला."

त्यानंतर श्री.शंकरप्रसादने श्रीगुरुदेवांना असे विचारले की, "प्रभो! आपण माझी शंका आता दूर करावी!" श्रीगुरुदेव त्याला असे म्हणाले की, "मी उदाहरणासहित तुझ्या शंकेचे निवारण केले. तुझ्या ते लक्षात आलेले दिसत नाही. पुन्हा तुला समजावून देतो. या रत्नाची किंमत करतानाच तुझी शंका दूर व्हावयास पाहिजे होती. तुला दिलेली वस्तू काचेची गोटी नसून एक अमूल्य हिरा होता. त्याची खरी किंमत शेवटी फक्त एका सराफालाच कळू शकली. दुसऱ्या कुणाला त्या वस्तूची साधी ओळख सुद्धा झाली नाही. जर तुला मी हा हिरा विकण्याची परवानगी दिली असती तर तू दोन शेर बटाट्याच्या मोबदल्यात तो विकून टाकला असतास. पुढे जाऊन साधी चौकशीही केली नसतीस. अमूल्य हिरा कवडीमोल भावाने गेला असता. याच दृष्टिकोनातून पाहा म्हणजे तुला दिलेले साधन किती अमूल्य आहे हे कळेल. सामान्य माणसाला या साधनाची किंमत कधीही कळणार नाही. वस्तू हातात असूनही जोपर्यंत त्याची खरी ओळख पटत नाही तोपर्यंत त्याचा अस्सलपणा व दर्जा गुप्तच राहतो."

सारांश, श्री.शंकरप्रसाद ज्याप्रमाणे हिऱ्याला काचेचा तुकडा समजत होता त्याप्रमाणे शक्तिपातयोगाचे साधन करणाऱ्या नवीन साधकालाही अनुभवाशिवाय या साधनाची किंमत कळत नाही. साधकाने सकाळ संध्याकाळ दृढपणे साधन केले म्हणजे हळूहळू त्याचे मन शांत होऊ लागते. वृत्ती स्थिर होऊ लागतात. ध्येयसिद्धीच्या मार्गावर साधक अग्रेसर होऊ लागतो. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी तर या साधनाबद्दल अशी खात्री दिली आहे की -

इये अभ्यासीं जे दृढ होती।
ते भरंवसेनि ब्रह्मत्वा येती।। श्रीज्ञानेश्वरी ६.३३०।।

शेवटी श्रीकबीरांनी म्हटले आहे तेचं खरे आहे,

हीरा पडा बाजारमें रहा धूल लपटाय।
बहुतक मुरख चलि गये पारखि लिया उठाय।।

तिसरी शंका :-

नवीन साधकाला काही काही वेळेला असा प्रश्न पडतो की, शक्तिपात जर एकच आहे तर त्याच्या फलात व परिणामात भिन्नता का दिसून येते? शास्त्रात शक्तिपाताचे सर्वात मोठे माहात्म्य सांगितले आहे तर आपल्याला एकदम सर्व फल का प्राप्त होत नाही? श्रीसद्गुरूंनी केलेल्या मूळ अनुग्रहातच तरतमभाव व पृथकता का दिसून येते? मन एकदम निर्विकार का होत नाही? चित्तवृत्तींचा निरोध होऊन समाधी सुख लगेच का मिळत नाही? भक्ती त्वरित का वाढत नाही? ब्रह्मज्ञान तत्काल का होत नाही?

उत्तर :- जोपर्यंत शक्ती जागृत होऊन मनुष्याची शिवत्वाकडे वाटचाल सुरू होत नाही तोपर्यंत मनुष्य मनुष्याच्या रूपाने दिसत असूनसुद्धा प्रकृतीच्या दृष्टीने पशूच्याशिवाय दुसरे काहीही असत नाही. कुंडलिनी शक्तीचे जागरण व त्याच्या जोरावर शिवत्वाचा विकास करणे हा पशुत्वनिवृत्तीचा एकमात्र उपाय आहे. परंतु हे कुंडलिनी शक्तीचे जागरण सर्वांचे एकसारखे होत नाही. जरी श्रीसद्गुरू साक्षात् भगवच्छक्तिसंपन्न असले तरी शिष्याची पात्रता किती, त्याच्या शरीराचे व मनाचे सामर्थ्य किती आणि आधार किती बलवान् आहे हे पाहणे महत्त्वाचे आहे; कारण श्रीसद्गुरूंनी शिष्यामध्ये संचारित केलेल्या शक्तीची फलप्राप्ती वरील गोष्टींवरच अवलंबून असते. ज्या शिष्याला जितकी शक्ती धारण करता येणे शक्य असते त्याच्या ठिकाणी श्रीसद्गुरू अधिक शक्तीचा संचार करीत नाहीत आणि कमी शक्तीचाही संचार करीत नाहीत. शिष्याची पात्रता अगदी सामान्य असेल व आधार अगदी दुर्बल असेल तर कुंडलिनीचे उत्थान अगदी किंचित् स्वरूपात होते. मग साधक आपण स्वतः अभ्यास करून शक्तीचा विकास करून घेऊन पुढे जातो. अशा प्रकारे साधकाच्या आतून व बाहेरून

जागृत चैतन्यशक्तीचा विकास होत जातो. जसाजसा शक्तीचा हळूहळू विकास होतो तसतसे त्याचे सर्व संस्कार नाहीसे होऊन पशुत्वाचे बीज नाहीसे होते व दिव्यज्ञानाचा उदय होऊ लागतो. या दृष्टीने पुढील दोन दृष्टान्त पाहण्यासारखे आहेत.

दोन दृष्टान्त :-

श्रीसंततुकाराममहाराजांनी आपल्या एका अभंगात असे म्हटले आहे की, **"भूमी पाहतां नाहीं वेगळी। माळ बरड एक काळी। उत्तम निराळी। मध्यम आणि कनिष्ठ।।"** म्हणजे तत्त्वत: विचार केला तर सर्व जमीन एकच आहे. तीत भेद नाही. पण व्यवहार दृष्टीने माळ जमीन कनिष्ठ, बरड जमीन मध्यम व काळी जमीन उत्तम असा भेद दिसून येतो. त्यामुळे पाऊस सर्व जमिनीवर सारखा पडत असला तरी जमिनीच्या प्रतिप्रमाणे त्यात येणाऱ्या पिकाचा दर्जा व प्रमाणही बदलत जाते. त्याचप्रमाणे श्रीसद्गुरू सर्व साधकांवर समान अनुग्रह करतात. परंतु साधकाची जितकी पात्रता असेल तितकेच तो ग्रहण करू शकतो. अर्थात् माळ व बरड जमिनीवर खूप मेहनत घेतली म्हणजे ज्याप्रमाणे तिचा दर्जा सुधारून तिच्या पिकाच्या प्रमाणात फरक पडतो त्याचप्रमाणे साधकाने साधनाभ्यास दीर्घकाल, खंड न पाडता निरंतर व अत्यंत श्रद्धाभक्तिआदरपूर्वक केला म्हणजे शक्तीचा विकास हळूहळू निश्चितपणे होत जातो. मात्र योगसूत्रकार महर्षी श्रीपतंजलींनी लिहिल्याप्रमाणे **"मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः।। समाधिपाद १.२२।।"** म्हणजे साधनेतील मंद, मध्यम व उत्कट प्रयत्नांच्या अनुसार साधकांना प्राप्त होण्याऱ्या यशामध्येही फरक पडतो हे नेहमी लक्षात ठेवण्यासारखे आहे. यादृष्टीने **"श्रीगुरुचरित्रातील"** पुढील ओव्या पाहण्यासारख्या आहेत.

तो (गुरू) दातार अखिल महीं। जैसा मेघाचा गुण पाही।
पर्जन्य पडतो सर्वां ठायीं। कृपामूर्ती ऐसा असे।।३.३१।।
त्यांतचि पाही पात्रानुसार। सांगेन साक्षी एक थोर।
सखोल भूमी उदक स्थिर। उन्नती उदक नाहीं जाणा।।३.३२।।

दृढ भक्ती जैसी सखोल भूमी। दांभिक जाणावी उन्नत तुम्ही।
याची कारणें मनोवाक्कर्मीं। निश्चयावें श्रीगुरूसीं।।३.३३।।

गोडेतेल, घासलेट व पेट्रोल या तेलांच्या दिव्यांच्या वातीजवळ पेटलेली काडी नेली म्हणजे पेट्रोलच्या दिव्याची वात काडीचा अग्नी स्वत:कडे ओढून घेऊन तत्काल पेट घेते. घासलेट तेलाच्या दिव्याच्या वातीवर काडी ठेवली म्हणजे ती पेटते. गोड्या तेलाच्या दिव्याच्या वातीवर पेटलेली काडी काही काळ धरली म्हणजे ती पेट घेते. तिन्ही तेलांची पेट घेण्याची शक्ती भिन्न असल्याने वरील फरक दिसून येतो. त्याचप्रमाणे उत्तम दर्जाचा साधक श्रीसद्गुरूंच्या संपर्कात आला की, तो श्रीसद्गुरूंपांसून शक्ती खेचून घेतो. त्याच्या ठिकाणी शक्तिसंक्रमण सहज घडून येते. मध्यम दर्जाच्या साधकाची थोड्या कालाने व थोड्या प्रयत्नाने शक्ती जागृत होते. मात्र सामान्य दर्जाच्या साधकाची शक्ती खूप उशिरा व खूप प्रयत्न केल्यावर जागृत होते.

एक अपूर्व उदाहरण :-

या दृष्टीने एक अपूर्व उदाहरण पाहण्यासारखे आहे. श्रीतोतापुरी-महाराज हे श्रीरामकृष्ण परमहंस यांचे श्रीसद्गुरू होते. त्यांच्याजवळ ध्यानाचा अभ्यास करीत असता श्रीरामकृष्ण परमहंस एकदा निराश होऊन श्रीतोतापुरीमहाराजांना असे म्हणाले की, "माझे मन पूर्णपणे निर्विकंल्प होत नाही; काय करू?" त्याबरोबर "होत नाही म्हणजे काय?" असे म्हणून श्रीतोतापुरीमहाराजांनी एक काचेचा तुकडा शोधून काढला. त्याचे सुईसारखे तीक्ष्ण टोक श्रीरामकृष्णांच्या कपाळावर दोन्ही भुवयांमध्ये जोराने टोचले. त्याबरोबर श्रीरामकृष्णांची समाधी लागली. ती पुढे तीन दिवस टिकली.

श्रीरामकृष्णांना अशा प्रकारे समाधी लागताच श्रीतोतापुरीमहाराज उद्गारले, "ही खरोखरच एक अपूर्व गोष्ट आहे. जी गोष्ट साध्य करून घेण्याला मला चाळीस वर्षे सतत परिश्रम करावे लागले ती गोष्ट या महापुरुषाने तीनच दिवसात साध्य करून घेतली."

तरतमभावाचा हेतू काय ? :-

शिष्याला शक्तिपाताची दीक्षा मिळाल्यावर जी भिन्नता अगर तरतमभाव दिसून येतो त्याचा हेतू काय असावा हा प्रश्नही महत्त्वाचा आहे. तरतमभावाचा खरा हेतू असा आहे की, साधारण देहाभिमानी जो जीव असतो तो प्रत्यक्ष भगवच्छक्ती ग्रहण करू शकत नाही; कारण की, भगवंताची साक्षात् शक्ती अत्यंत तीव्र असते. ती सहन करणे अत्यंत कठीण आहे. मग ती धारण करणे ही फार दूरची गोष्ट होय. यामुळे महर्षी श्रीनारदांनी आपल्या "**भक्तिसूत्रात,**" "**प्रकाश्यते क्वापि पात्रे।।५३।।**" असे म्हटले आहे. श्रीभगवंताचे अनिर्वचनीय प्रेम, शक्ती व सामर्थ्य योग्य अशा श्रीभगवंताच्या कृपेला पात्र झालेल्या भाग्यवानाच्या ठिकाणी दिसून येते. श्रीचैतन्यमहाप्रभूंना श्रीईश्वरपुरींनी मंत्रदीक्षा दिल्यावर त्यांच्या ठिकाणी प्रेमाचा व शक्तीचा जो दिव्य स्रोत प्रगट झाला तो सामान्य जीवाला कसा सहन झाला असता? श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी यांनी लिहिलेल्या "**श्रीचैतन्य चरितावली**" खंड १ मध्ये त्यांच्या प्रेमोन्मादाचे वर्णन करताना असे म्हटले आहे की,

"महाप्रभु श्रीचैतन्य देवका प्रेम दिव्यही था। उनकी हृदय-कंदारसे जो भक्तिभावका भव्य स्रोत उदित हो गया, वह फिर सदा उत्तरोत्तर बढता ही गया। उनकी हृदय-कंदारसे उत्पन्न हुई भक्तिभागीरथीकी धारा सावन-भादोंकी क्षुद्र नदी की भाँती नहीं थी जो थोडे समय के लिये तो खूब इठलाकर चलती है और जेठमासकी तेजधूप पडतेही सूख जाती है। उनके हृदयसे उत्पन्न हुई प्रेम सरिता की धारा सदा बहकर समुद्रमेंही जाकर मिलनेवाली स्थायी थी। उसमें कमी का क्या काम? वह तो उत्तरोत्तर बढनेवाली अलौकिक और अनुपम धारा थी, उसकी उपमा इन संसारी धाराओंसे दी ही नहीं जा सकती, वह तो अनुभवगम्य ही है।"

"महाप्रभु जबसे मंत्रदीक्षा लेकर गयासे लौट आये तभीसे उनकी विचित्र दशा हो गयी हैं। वे भोजन करते-करते सहसा बीचमेंही उठकर रुदन करने लगते हैं। रास्ता चलते-चलते पागलोंकी भाँती

नृत्य करने लगते हैं। शय्यापर लेटे लेटे सहसा उठकर बैठ जाते हैं और हा कृष्ण! हा कृष्ण! कहकर जोरोंसे चिल्लाने लगते हैं। कभी-कभी लोगोंसे बातें करते-करते बीचमेंही जोरोंसे ठहाका मारकर हँसने लगते हैं। रातभर सोनेका नाम नहीं। लंबी लंबी साँसें लेते रहते हैं, अधीर होकर अत्यंत विरहीकी भाँती हिचकियाँ भरते रहते हैं। और उनके नेत्रोंसे इतना जल निकलता है की सम्पूर्ण वस्त्र गीले हो जाते हैं।"(पृ.२७२)

तरतमभावाचा दुसरा हेतू असा आहे की, शिष्याचे-साधकाचे कोणत्याही प्रकारे अकल्याण होऊ नये. जीवाचे-साधकाचे-अंतिम कल्याण करणे हाच शक्तिपाताचा हेतू असल्याने श्रीसद्गुरूंनी दीक्षा दिल्यावर शक्ती स्वतःच शिष्याची पात्रापात्रता व योग्यायोग्यता पाहून त्या प्रमाणात प्रकट होत असते. शक्ती ही माता आहे. आई ही बालकाचे हित व अहित कशात आहे हे पूर्ण जाणून असते. बालकाला कोणत्या वेळेस कोणती गोष्ट किती प्रमाणात द्यावयाची हे ठरवून ती त्याच्या हिताची रात्रंदिवस चिंता वाहून बालकाचे संगोपन करते. त्याचप्रमाणे शक्ती ही साधकाला जी गोष्ट ज्या प्रमाणात व ज्या पद्धतीने सहन होईल त्या प्रमाणात व त्या पद्धतीने ती देऊन त्याची प्रगती घडवून आणते. साधकाला शिवत्वाच्या गंतव्य स्थानापर्यंत शक्ती घेऊन जात असल्याने कमी जास्त प्रमाण करणे व तरमभाव दाखविणे क्रमप्राप्त व अपरिहार्य असते. या क्रमविकासामुळे मनाची निर्विचार स्थिती येण्यास उशीर लागतो व चित्तवृत्तीचा निरोधही लवकर होत नाही.

भोगेच्छू फलार्थी व निस्वार्थी मुमुक्षू :-

शक्तिपात एकच व निरपेक्ष असूनसुद्धा त्यात तरतमभाव, भिन्नता व वैचित्र्य दिसून येते. त्यामुळे शास्त्रात सांगितलेली फळे साधकाला एकदम प्राप्त होत नाहीत; कारण प्रत्येक अनुग्रहपात्र जीवाच्या चित्तात किंवा आधारात विषमता दिसून येते. जे निःस्वार्थी मुमुक्षू असतात त्यांच्या ठिकाणी शक्तिपाताच्या माहात्म्याने भगवद्भक्तीचा उदय होतो.

अशा व्यक्तींच्या ठिकाणी फलाकांक्षा नसल्याने कुल, जाती, देह, कर्म, वय, अनुष्ठान इत्यादि गोष्टींचा प्रश्नच येत नाही. अशा मुमुक्षूंच्या ठिकाणीच शक्तिपाताची उत्कृष्ट अवस्था दृष्टीस पडते आणि या शक्तीच्या प्रभावामुळे चिदात्मा अंत:करणात प्रकाशित होतो.मात्र आधार निष्काम नसेल म्हणजे साधक जर भोगेच्छू व फलार्थी असेल तर ही गोष्ट साध्य होत नाही. जे फलाची इच्छा करणारे असतात त्यांना अनुग्रहप्राप्तीच्या प्रभावाने भक्ती प्राप्त होत असली तरी फलार्थी लोक भोगेच्छू असल्याने त्यांची भक्ती मुमुक्षूंच्या भक्तीसारखी निरपेक्ष असत नाही. या फलार्थी साधकांना कर्मादि गोष्टींची आवश्यकता सतत भासत राहते. खरे पाहता हा शक्तिपाताचा अगदी खालचा दर्जा आहे. हा शक्तिपात पहिल्या शक्तिपातासारखा अनवच्छिन्न असत नाही; कारण साधकाच्या भोगाकांक्षेमुळे त्याला मर्यादा पडतात. अर्थात् नियमित साधनाने अशा साधकांनाही पूर्ण अवस्था निश्चित प्राप्त होते.

भोगाकांक्षेमुळे अडथळा :-

वरील सर्व विवेचनावरून हे स्पष्ट दिसून येते की, ज्याला कोणाला शक्तिपातयोगाचा अनुग्रह प्राप्त होतो त्याच्या बाबतीत हे निश्चित मानावे लागते की, केव्हा ना केव्हा तरी त्याला भगवच्चरणांची प्राप्ती अवश्य होते. ही प्राप्ती लवकर होईल का उशिरा हा प्रश्न सर्वस्वी भिन्न आहे. परंतु जे निष्काम आहेत, भोगाकांक्षेपासून अलिप्त आहेत आणि मुमुक्षू आहेत तेच भगवच्छक्ती धारण करण्यास सर्वोत्तम अधिकारी असतात. अशा साधकांना पूर्णत्व प्राप्त करण्यासाठी कालक्षेप करावा लागत नाही. परंतु ज्या व्यक्तीच्या ठिकाणी भोग, इच्छा, आकांक्षा, वासना, तृष्णा इत्यादि गोष्टी जोपर्यंत शिल्लक राहतात व त्यांची पूर्णपणे निवृत्ती होत नाही तोपर्यंत पूर्णत्वाची प्राप्ती होत नाही. काही दुसऱ्या उपायांनीसुद्धा भोगतृष्णा दूर होऊ शकतात; परंतु जोपर्यंत त्यांची पूर्ण निवृत्ती होत नाही तोपर्यंत पूर्णत्वाची प्राप्ती होऊन देखील त्यामध्ये तो साधक स्थिर होऊ शकत नाही.

पूर्व जन्मांचे संस्कार :-

शक्तिपाताच्या फलात व परिणामात भिन्नता दिसून येण्यास व सर्व फले एकदम प्राप्त न होण्यास पूर्व जन्माचे संस्कार हे एक प्रबल कारण आहे. प्रत्येक जीवावर पूर्वजन्माचे संस्कार दृढ झालेले असतात. अर्थात् सर्वांचे संस्कार एकसारखे असत नाहीत. त्यामुळे प्रत्येकाची आकृती व प्रकृती निराळी दिसून येते. शरीराची रचना व क्षमता भिन्न असते. चित्ताच्या व मनाच्या धारणाशक्तीत फरक आढळून येतो. प्राणिमात्राला कर्मामध्ये प्रवृत्त करण्यास पूर्वजन्मीचे संस्कारच बलवान् ठरतात. शुभ व अशुभ असे दोन प्रकारचे संस्कार कर्मामुळे उत्पन्न होतात.

श्रीसद्गुरू सूर्यकिरणांप्रमाणे सर्व साधकांवर समभावाने कृपा करतात. परंतु वर उल्लेखिलेल्या कारणांमुळे फलात व परिणामात भिन्नता दिसून येते. सूर्याची किरणे सर्वत्र सारखीच पसरतात. परंतु स्वच्छ काचेवर ती पडल्यावर प्रकाश अधिक दिसतो. स्वच्छ पाण्यावर पडल्यास खूप चमचमाट दिसून येतो. स्वच्छ काचेतून व पाण्यातून सूर्याची किरणे आरपार जाऊ शकतात. ती पात्रता अस्वच्छ काचेत व शेवाळलेल्या पाण्यात असत नाही. त्याचप्रमाणे पूर्वजन्मी केलेल्या शुभ कर्मांमुळे ज्या साधकाचे चित्त जितके निर्मळ झाले असेल तितका श्रीगुरुभक्तीचा परिणाम व प्रभाव दिसून येतो. त्या अनुरोधाने साधकाचा विकास होत जातो.

अर्जुनाने श्रीकृष्णांना एक अत्यंत महत्त्वाचा प्रश्न विचारला आहे. तो वरील विचारांना पोषक ठरेल. अर्जुन म्हणतो, "हे कृष्णा! जो साधक श्रद्धायुक्त असतो परंतु मोक्षप्राप्तीसाठी विशेष प्रयत्न न केल्यामुळे ज्याचे मन योगापासून भ्रष्ट होते अशा पुरुषाला योगसिद्धी मिळत नाही. जर असा मनुष्य मरण पावला तर तो कोणत्या गतीला जातो?" त्याला श्रीकृष्णांनी असे उत्तर दिले आहे की, "हे पार्था! असा जो योगेच्छू पुरुष आहे तो इहलोकाला व परलोकाला अंतरत नाही. शुभ कर्मांच्या द्वारे स्वतःच्या कल्याणाची इच्छा असल्याने

तो कधीही दुर्गतीला जात नाही. मात्र तो पुन्हा पवित्र अशा श्रीमंत कुलात किंवा बुद्धिमान् योग्याच्या कुलात जन्म घेतो. अशा कुलामध्ये जन्म झाला म्हणजे त्याला पूर्वजन्मीची योगबुद्धी या जन्मी प्राप्त होते आणि योगाच्या सिद्धीकरिता तो पुन्हा यत्न करतो." वरील विवेचनावरून हे लक्षात येईल की, पूर्वजन्मी साधक जेथे थांबला तेथपासून त्याची पुढे या जन्मात वाटचाल सुरू होते. प्रत्येक साधकाची थांबण्याची ठिकाणे निरनिराळी असल्याने या जन्मात श्रीसद्गुरूंनी अनुग्रह केल्यावर तरतमभाव व पृथकता दिसून येते. त्यामुळे अनुग्रह एक असूनसुद्धा साधकाची पातळी भिन्न असल्याने शक्तिपाताच्या परिणामात भिन्नता दिसते.

अधिकारभेदाने साधकांचे तीन प्रकार :-

"कुलार्णवतंत्राच्या" १४ व्या उल्लासात अधिकार भेदामुळे शक्तिपाताच्या फलात तरतमभाव किंवा पृथकता कशी दिसून येते याचे सुंदर वर्णन केले आहे.

आदिमध्यावसानेषु योग्याः शक्तिर्निपातिताः।
अधमा मध्यमाः श्रेष्ठाः शिष्या देवि प्रकीर्त्तिताः।।२७।।
आदौ भक्तिर्भवेद्देवि दीक्षार्थं समुदन्ति ये।
पुनर्विह्वहृष्टास्ते आदियोग्या इतीरिताः।।२८।।
यथा विहङ्गमः शीघ्रं फल एव निषीदति।
तथा ज्ञानोपदेशश्च कथितः कुलनायिके।।३३।।

श्रीशंकरांच्यापासून परंपरागत शक्तीचे सामर्थ्य एकसारखे असूनसुद्धा शिष्य उत्तम, मध्यम व अधम असल्याने दीक्षेच्या वेळेला शक्तिपाताची लक्षणेही तीन प्रकारची दिसून येतात. त्यामुळे उत्तमाला तत्काल, मध्यमाला क्रमाने व अधमाला विलंबाने फल मिळते. ज्यांच्या ठिकाणी पहिल्यापासून भक्ती असते, जे दीक्षाग्रहणार्थ प्रसन्न व उत्सुक असतात आणि दीक्षेनंतर आनंदाने बेहोश होऊन जातात ते शिष्य आदियोग्य अधिकारी आहेत असे म्हटले जाते. ज्याप्रमाणे पक्षी सरळ उडत जाऊन तत्काळ फलप्राप्ती करून घेतो त्याचप्रमाणे उत्तम अधिकारी

शिष्याला दीक्षेमुळे उत्पन्न होणारे ज्ञान तत्काळ मिळते.

दीक्षासमयसम्प्राप्ता ज्ञानविज्ञानविवर्जिताः।
भक्त्या प्रध्वस्तसुधियो मध्ययोग्याश्च ते स्मृताः।।१४.२९।।
यथा कपिश्च शाखायाः शाखामुल्लङ्घ्य यत्नतः।
फलं प्राप्नोति धर्मस्य चोपदेशस्तथा प्रिये।।३२।।

जे दीक्षा घेईपर्यंत ज्ञानविज्ञानरहित असतात, ज्यांना दीक्षा व योगासंबंधी फार माहिती नाही; परंतु दीक्षा प्राप्त झाल्याबरोबर ज्यांच्या ठिकाणी भक्तीचा उदय होतो व बुद्धी निर्मळ होते अशा शिष्यांना मध्ययोग्य किंवा मध्यम अधिकारी म्हटले जाते. ज्याप्रमाणे माकड झाडाच्या फांदीवरून उडी मारून दुसऱ्या फांदीवर जाऊन फळ तोडून घेतो त्याप्रमाणे या दुसऱ्या प्रकारच्या साधकाला दीक्षेच्या फलाची प्राप्ती क्रमशः होते.

आदौ भक्तिविहीना ये मध्यभक्तास्तु ये नराः।
अन्ते भक्ताः प्रबद्धाः स्युर्ह्यन्तयोग्या भवन्ति ते।।३०।।
यथा पिपीलका मन्दं मन्दं वृक्षाग्रगं फलम्।
चिरेणाप्नोति धर्मोपदेशश्चापि तथा स्मृतः।।३१।।

जे आधी भक्तिहीन असतात, दीक्षा मिळाल्यावर ज्यांच्या ठिकाणी भक्ती उत्पन्न होते आणि शेवटी ज्ञान-भक्तियुक्त झाल्याने जे अत्यंत एकनिष्ठ भक्त होतात ते अंतयोग्य म्हणजे कनिष्ठ अधिकारी शिष्य समजावे. त्यांना श्रीगुरुदत्तकृपेचे फल खूप उशिरा मिळते. मुंगी ज्याप्रमाणे वृक्षावर चढत जाऊन फळापाशी पोहोचते त्याप्रमाणेच कनिष्ठ साधकाला दीक्षा उशिरा फलद्रूप होते.

गुणांमधील फरक :-

"शिवसंहितेतही" साधकांचे चार प्रकार सांगितले आहेत. त्यांच्या गुणांमध्ये फरक असल्याने फलप्राप्तीतही फरक दिसून येतो. चार प्रकारचे साधक कोणते ते प्रथम सांगितले आहे.

चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकाः।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लङ्घनक्षमः।।५.१५।।

मृदु, मध्यम, अधिमात्र म्हणजे उत्तम व अधिमात्रतम म्हणजे उत्कृष्ट असे साधकांचे चार प्रकार असतात. या सर्व साधकात अधिमात्रतम साधक श्रेष्ठ होय. हा साधक संसाररूपी समुद्र पार करून जाण्यास समर्थ होतो.

मृदुसाधकाची लक्षणे :-

मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी विनिताश्रयः।।५.१६।।
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः।
मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः।।५.१७।।

मृदुमानवाची म्हणजे अगदी सामान्य दर्जाच्या साधकाची लक्षणे पुढीलप्रमाणे दिसून येतात. या साधकाचा उत्साह अगदी मंद म्हणजे सामान्य दर्जाचा असतो. निरुत्साह हा त्याचा स्थायी स्वभाव असतो. बुद्धी मंद असल्याने एखाद्या मूढासारखी त्याच्या चित्ताची स्थिती असते. **"स्वहित काय हे कळेना। विषयवासना तुटेना। देहाभिमान गळेना। मंदबुद्धिस्तव।।** हे श्रीसमर्थांचे म्हणणे या साधकाला लागू पडते. त्याला अनेक व्याधी असतात किंवा मधूनमधून काहीना काही रोग होत असतात. श्रीगुरूंवर त्याची पूर्ण श्रद्धा असत नाही. त्यामुळे कोणत्याही बाबतीत कमीजास्त झाल्यास तो श्रीगुरूंना दोष देण्यास व त्यांची निंदा करण्यास कमी करत नाही. संसाराची आसक्ती असल्याने त्याच्या ठिकाणी खूप लोभ दिसून येतो. पूर्वजन्मीच्या दोषामुळे त्याची पाप करण्याकडे प्रवृत्ती होते व त्याच्या हातून खूप वेळा पापाचरण घडतही जाते. त्याचे जेवणही खूप असते. तीव्र कामासक्ती, बलवत्तर भोगेच्छा व उत्कट वासना यामुळे तो नेहमी स्त्रीच्या अधीन असतो. तो अत्यंत भित्रा असतो. त्याची वृत्ती नेहमी चंचल असते. त्याचा साधनावर पूर्ण विश्वास नसतो. तो पराधीन, कठोर शब्द बोलणारा, रागीट व क्रोधी असतो. त्याचा आचार अत्यंत सामान्य दर्जाचा असतो व तेजस्वीपणाही अगदी मंद असतो. असा जो साधक असतो त्याला मृदुमानव किंवा सामान्य दर्जाचा

साधक म्हणतात. याची प्रगतीही अगदी मंद होत असते.

याप्रकारचे जे साधक असतात त्यांना श्रीसमर्थरामदासांनी **"येर मायिक वेषधारी। असत् शिष्य।।"** असे म्हटले आहे व त्यांचे वर्णन केले आहे.

मध्यम साधकाची लक्षणे :-

समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्याकाङ्क्षी प्रियंवदः।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः।।५.१९।।

मध्यम साधकाची पुढील लक्षणे दिसून येतात. याची बुद्धी सर्वसाधारणपणे समतोल असते. तो क्षमाशील असून पुण्यकर्म करण्याकडे त्याचा स्वभावतःच ओढा असतो. याचे बोलणे प्रिय असते. कोणत्याही गोष्टीचा विशेष हर्ष-विषाद नसल्याने तो कोणाचीही बाजू न घेता सर्वकार्यात मध्यस्थाची भूमिका करतो.

उत्तम साधकाची लक्षणे :-

स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि।।५.२०।।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्ज पूजकः।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः।।२१।।

अधिमात्र म्हणजे उत्तम साधकाची पुढील लक्षणे दिसून येतात. त्याची बुद्धी स्थिर असते. तो मनाचा लय करण्याच्या योगात समर्थ असतो. स्वतंत्र असतो. कोणाच्याही अधीन असत नाही. तो शक्तिसंपन्न, सामर्थ्यसंपन्न व तेजस्वी असतो. तो दयाशील, क्षमाशील व सत्यशील असतो. **"भक्ती ते कठीण शुळावरील पोळी। निवडे तो बळी विरळा शूर।"** या श्रीसंत तुकाराममहाराजांच्या म्हणण्याप्रमाणे तो शूर असतो. समाधियोग आपल्याला निश्चित प्राप्त होईल अशी त्याची दृढ श्रद्धा असते. श्रीगुरुचरणांवर त्याची नितांत भक्ती असते. योगाभ्यासात तो नेहमी मग्न असतो. नियमित अखंड साधनतत्परता त्याच्या ठिकाणी असते.

श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी या प्रकारच्या साधकाचे

"मनाच्या श्लोकात" पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे :-

मना लोचनीं श्रीहरी तोचि पाहे। जनीं जाणता भक्त होऊनि राहे।
गुणीं प्रीति लागो क्रमू साधनाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।
सदा देवकाजीं झिजे देह ज्याचा। सदा रामनामें वदे नित्य वाचा।
स्वधर्मेंचि चाले सदा उत्तमाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।४८।।
सदा बोलण्यासारिखें चालताहे। अनेकीं सदा एक देवासि पाहे।
सगूणीं भजे लेश नाहीं भ्रमाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।
नसे अंतरीं काम नानाविकारी। उदासीन तो तापसी ब्रह्मचारी।
निवाला मनीं लेश नाहीं तमाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।
मदें मत्सरी सांडली स्वार्थबुद्धी। प्रपंचीक नाहीं जयातें उपाधी।
सदा बोलणें नम्र वाचा सुवाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।५१।।
क्रमी वेळ जो तत्त्वचिंतानुवादें। न लिंपे कदा दंभ वादें विवादें।
करी सूखसंवाद जो ऊगमाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।५२।।
सदा आर्जवीं प्रीय जो सर्वलोकीं। सदा सर्वदा सत्यवादी विवेकी।
न बोले कदा मिथ्य वाचा त्रिवाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।
सदा सेवि आरण्य तारुण्यकाळीं। मिळेना कदा कल्पनेचेचि मेळीं।
चळेना मनीं निश्चयो दृढ ज्याचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।
नसे मानसी दुष्ट आशा दुराशा। वसे अंतरीं प्रेम पाशा पिपाशा।
ऋणी देव हा भक्तिभावें जयाचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।
दिनाचा दयाळू मनाचा मवाळू। स्नेहाळू कृपाळू जगीं दास पाळू।
जगीं अंतरीं क्रोध संताप कैचा। जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा।।५६।।

उत्कृष्ट साधकाची लक्षणे :-

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः।।
शिवसंहिता ५.२३।।
नवयौवनसम्पन्नौ मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः।।२४।।
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी।

सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः।।२५।।
शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः।
जनसङ्गविरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः।।२६।।
अधिमात्रतरोज्ञेयः सर्वयोगस्य साधकः।।२७।।

अधिमात्रतम म्हणजे उत्कृष्ट साधकाची पुढील लक्षणे दिसून येतात. असा साधक अत्यंत तेजस्वी असतो. त्याच्या उत्साहात कधीही खंड पडत नाही. अखंड उत्साहाचा स्रोत त्याच्यापासून उत्पन्न होतो. तो स्वतःचे मन जाणून मनावर ताबा ठेवतो. तो शौर्यसंपन्न, शास्त्र जाणणारा म्हणजे वेदशास्त्रांप्रमाणे आचरण ठेवणारा, अभ्यासशील म्हणजे प्रयत्न करणारा, कधीही मोहाला बळी न पडणारा व नेहमी समाधानी असतो. असा साधक नवयौवनसंपन्न म्हणजे तारुण्यातील शक्तींनी युक्त असतो. त्यामुळे शक्तीचा वेग सहन करण्याचे सामर्थ्य अशा शरीरात असते. तो नेहमी योग्य तेवढाच आहार घेतो. त्याची इंद्रिये स्वाधीन असतात. तो निर्भय, अत्यंत पवित्र, शुद्ध, अखंड सावधान व दानशूर असून शरण आलेल्या लोकांना आश्रय देण्याची बुद्धी त्याच्या ठिकाणी असते. त्याचा अधिकार मोठा असतो. त्याचे चित्त स्थिर असते. अंतःकरणात संतोष असतो. तो क्षमाशील, सुशील, धार्मिक कृत्ये गुप्त ठेवणारा व शास्त्रावर विश्वास ठेवणारा असतो. तो देवता व श्रीगुरुपूजक, जनसंगाची आवड नसलेला व महाव्याधिविरहित असतो.

साधनाचा हेतू :- (चवथी शंका)

काही काही वेळेला साधकाच्या मनात साधनाबद्दल अशी शंका येते की, आपण जे शक्तिपातयोगाचे साधन करतो त्याचा खरा हेतू काय? अमक्या साधकाचा रोग बरा झाला, अमक्याची स्थिती दीक्षा घेतल्यावर सुधारली, शारीरिक, मानसिक व आर्थिक विवंचनेतून साधक पार झाला, अशा कितीतरी गोष्टी व अनुभव कानावर येत असतात. अशा वेळी साधकाची द्विधा मनस्थिती होते. परंतु अशा प्रकारे साधकाने कधीही आपले मन दोलायमान होऊ देता कामा नये.

उत्तर :- ब्रह्मप्राप्ती करून घेणे हाच या साधनाचा खरा हेतू आहे. विषयसुख प्राप्त करणे, रोग दूर करणे व व्यवहारात यश प्राप्त करणे हा या साधनाचा हेतू नाही. एखादी नर्तकी नाचत असताना तिच्या डोळ्यांपुढे प्रेक्षकांचे मनोरंजन करून कलेचा अत्युच्च आनंद प्राप्त करून देणे हाच हेतू असतो. पायांना व्यायाम देणे हा तिचा हेतू कधीही नसतो. तसा व्यायाम जर घडत असेल तर तो नाचण्याचा आपाततः होणारा परिणाम आहे, हेतू नाही, हे अगदी निश्चित आहे. त्याचप्रमाणे शक्तिपातयोगाचे साधन करीत असताना उपरोक्त गोष्टी घडून आलेल्या दिसल्या तरी तो त्या साधनाचा हेतू नसून उपरोक्त दृष्टान्ताप्रमाणे आपाततः घडून आलेला परिणाम होय. वैराग्य प्राप्त होणे, श्रीभगवद्भक्ती वाढत जाणे, मनातून संसाराची आसक्ती नाहीशी होणे व मोक्षप्राप्तीची इच्छा प्रतिदिन वाढत जाणे हा या साधनाचा खरा उद्देश आहे. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"**

आम्हीं साधन हें जें सांगितलें। तेंचि शरीरा जिहीं केलें।
ते आमुचेनि पाडें आले। निर्वाळलेया।।६.३२६।।
इये अभ्यासीं जे दृढ होती। ते भरंवसेनि ब्रह्मत्वा येती।।६.३३०।।

असा या साधनाचा अंतिम परिणाम सांगितला आहे. साधनामुळे शरीर, मन, नाडी व चित्तशुद्धी होऊन मनाला शांती मिळून भगवत्प्राप्ती होणे हाच या साधनाचा एकमेव हेतू आहे, असा विचार करून साधन करावे.

आदेश व संदेश :- (पाचवी शंका)

साधन करताना साधकाला नाना तऱ्हेचे आदेश व संदेश आतून येत आहेत असे वाटते. कधी कधी बाहेरूनही या स्वरूपात कानावर शब्द आदळत असतात. अशा वेळी साधकाला अशी शंका येते की, याचे पालन करावे की करू नये. नेमका कोणता निर्णय घ्यावा?

उत्तर :- वास्तविक साधन सुरू झाल्यावर पूर्वसंचित, संस्कार, वासना व इच्छा अनेक प्रकारची रूपे धारण करून पुढे येतात. त्यामुळे अंतःकरणात नाना तऱ्हेचे विचारतरंग उत्पन्न होऊन ते

साधकाच्या तोंडून आदेश किंवा संदेशाच्या रूपाने बाहेर पडतात. अशा वेळी साधकाने सावध राहिले पाहिजे. काही साधक अशा आदेशाला क्रियाशक्तीची आज्ञा मानून त्याप्रमाणे कार्य करू लागतात. साधकाने असे करता कामा नये. आदेश हा इच्छा व वासनेतून आला की, खरोखर क्रियाशक्तीकडून आला याचे विश्लेषण करणे साधकाला कठीण जाते. याकरिता साधकाने अगदी सावध राहून संदेश व आदेशाचे निरीक्षण केले पाहिजे. बहुतांशी असे संदेश व आदेश साधकाच्या इच्छेमुळे, वासनेमुळे, पूर्वसंस्कारामुळे, वैचारिक, मानसिक, सांसारिक किंवा व्यावहारिक असमानतेमुळे येत असल्याने साधकाने त्याप्रमाणे न वागता त्याकडे दुर्लक्ष केले पाहिजे.

साधनातील विघ्ने :-

नवीन व जुन्या साधकाला साधनात विविध प्रकारची विघ्ने उपस्थित झाल्याचे अनुभवाला येते. त्यामुळे तो चिंताक्रांत होतो. नवीन साधक पहिल्या दिवशी दीक्षाग्रहणाकरिता बसल्यावर जर त्याला अनुभव आला नाही तर त्याच्या मनात शंकांचे काहूर उठते. यावेळी अंतर्दर्शी होऊन साधकाने विचार केला पाहिजे. त्याचे खरे कारण त्याचे न्यूनत्वच असते. भट्ट श्रीकल्लटाने **"स्पंदशास्त्राच्या"** शेवटी असे म्हटले आहे की, "ही शक्तिपातयोगविद्या म्हणजे ब्रह्मविद्येचे बीज आहे. परीक्षा घेतल्याशिवाय अगर केल्याशिवाय अयोग्य क्षेत्रामध्ये हे बीज पेरता कामा नये. सिद्धविद्या ही गुणवती कन्येप्रमाणे आहे. जर अशा कन्येचे दान गुणवर्जित पुरुषाला दिले तर ती पुरुषाच्या अपात्रतेमुळे त्याला संभोग देऊ शकत नाही. एवढेच नव्हे; तर ती दान करणाऱ्याच्या अपकीर्तीचे कारण मात्र होते. याकरिता सद्गुणसंपन्न साधकालाच या विद्येचे दान दिले पाहिजे." या दृष्टीनेच **"कुलार्णव-तंत्राच्या"** १४ व्या उल्लासामध्ये असे म्हटले आहे की -

असच्छिष्येष्वभक्तेषु यज्ज्ञानमुपदिश्यते।
तत्प्रयात्यपवित्रत्वं गोक्षीरं श्वघृतादिव।।१७।।

जो शिष्य असत्य कर्म करणारा, मिथ्याचारी, भक्तिहीन, श्रद्धारहित

व साधनसंपत्तीरहित असतो अशा साधकाला या शक्तिपातयोगज्ञानाचा उपदेश दिला तर हे साधन अपवित्रतेला प्राप्त होऊन त्याची अप्रतिष्ठा होते. गाईचे दूध व तूप पवित्र असले तरी हे पदार्थ कुत्र्याला खावयास दिले की, त्याच्या अंगाला खाज सुटते, त्याचे केस झडून जातात व शेवटी कुत्रा अगदी निकामी होतो. याप्रमाणे अपात्र माणसाला ही सिद्धयोगाची विद्या दिली म्हणजे अनुभूती न आल्याने संशयाच्या काहुराने मोठा अनर्थ उत्पन्न होतो.

येथे काही लोकांच्या मनात अशी शंका येईल की, शक्तिपातयोगाची वैशिष्ट्ये सांगताना शक्तिपाताच्या वेळी पात्रापात्रतेचा विचार होत नाही असा सिद्धान्त मांडला व आता अपात्रतेमुळे अनुभव येत नाही असा सिद्धान्त सांगतात. हे परस्परविरुद्ध आहे. परंतु ही दोन्ही विधाने परस्परविरुद्ध नाहीत; कारण श्रीसद्गुरू शिष्याच्या आत्यंतिक शरणागतीने परमकारुणिक बनून त्याला दीक्षा देत असतात. त्यावेळी पात्रापात्रतेचा विचार आड न येता शक्तिपाताची प्रक्रिया घडून येते. परंतु पात्रापात्रतेनुसार या प्रक्रियेचा परिणाम घडून येत असल्याने अनुभूतीची भिन्नता दिसून येते. हे लक्षात घेतले म्हणजे अपात्रता ही दीक्षेच्या आड येत नसून अनुभूतीच्या आड येते हे स्पष्ट होते व संशयही राहत नाही. यासाठी नूतन साधकाने पहिल्या दिवशी आपल्याला काही अनुभव आला नाही म्हणून निराश होण्याचे कारण नाही. सूक्ष्म स्वरूपात शक्तिसंचार झाल्याने व्यक्त स्वरूपातील काही अनुभव आला नाही म्हणून निराश होण्याचे कारण नाही. सूक्ष्म स्वरूपात शक्तिसंचार झाल्याने व्यक्त स्वरूपातील स्पष्ट असे अनुभव येण्यास वेळ लागतो. काही वेळेला साधन सुरू झाल्यावर क्रियाच इतक्या सूक्ष्म, सौम्य, अल्प व लहान असतात की, त्या साधकाच्या लक्षातही येत नाहीत. त्याचप्रमाणे शारीरिक रोग, मानसिक चिंता, शोक, भय, वृद्धावस्था, अशुद्धी आणि श्रद्धाहीनता या गोष्टी शक्ती कार्यान्वित होण्यास बाधक ठरतात. मनाचे जडत्व, पूर्वजन्मीचे दुष्ट संस्कार, पाप, संशय, प्रमाद, आळस, चित्ताची विषयांकडे ओढ होणे, जागा चांगली नसणे इत्यादि विविध कारणांमुळे

पहिल्याप्रथम अनुभव येण्यास वेळ लागतो.

जुन्या साधकांनाही साधनात उपस्थित होणाऱ्या विघ्नांना तोंड द्यावे लागते. **"पातंजल योगदर्शनात"** श्रीपतंजली महर्षींनी साधनात येणाऱ्या अडथळ्यांचे पुढीलप्रमाणे समाधिपादात वर्णन केले आहे. **"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।।३०।।** रोग, मानसिक जडता, संशय, निरुत्साह, आळस, भोगासक्ती, भ्रम, एकाग्रता न साधणे व प्राप्त केलेल्या अवस्थेपासून च्युत होणे ही साधनात अडथळा आणणारी नऊ विघ्ने आहेत. त्याचा क्रमशः विचार करू.

व्याधी :-

साधनाला सुरुवात झाल्यावर शक्ती जागृतीमुळे सर्व शरीर ढवळून निघते. अपानवायू शरीरशुद्धीचे कार्य करतो. त्यावेळी व्याधी उत्पन्न होऊन नाहीशा होतात. या दृष्टीने श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हणतात की, "अपानवायू खवळून बलवत्तर होतो. तो सर्व शरीर ढवळून काढतो व बाळपणापासून शरीरात साचलेली सर्व घाण बाहेर फेकून देतो. कफ आणि पित्त यांचे तो नावही ठेवीत नाही. शरीरातील रसरक्तादि सप्तधातूंचे समुद्र हा वायू पालथे घालतो. मेदाचे पर्वत फोडून टाकतो. हाडांमधील मज्जा नाहीशी करतो. नाड्या सोडवितो व शुद्ध करतो. सर्व अवयवांना शिथिल करतो. अभ्यास करणाऱ्या साधकाला भिववितो; पण साधकाने भिऊन जाता कामा नये. हा वायू शरीरात व्याधी उत्पन्न करतो व लगेच नाहीशी करतो. साधकाने नियमित साधन केले म्हणजे हा व्याधिदोष, विघ्न किंवा अडथळा आपोआप दूर होतो. त्याचप्रमाणे अनियमित आहार व विहार, ऋतूंचे बदल, आर्थिक स्थिती, मानसिक अस्वस्थता, पूर्वजन्मींचे बलवत्तर प्रारब्ध इत्यादि विविध कारणे शरीरस्थ दोषांना कारण होतात. परंतु हे सर्व अडथळे एकमात्र नियमित साधनाने दूर होतात असे अनुभवाला येते.

स्त्यान :-

साधकाला साधन करताना जो दुसरा अडथळा येतो त्याला शास्त्रकारांनी स्त्यान असे म्हटले आहे. आपण नियमित सकाळ-संध्याकाळ साधन करावे अशी साधकाला इच्छा असते. परंतु काही वेळेला चित्त इतके दुर्बल, असमर्थ, मूढ, तमोगुणावृत्त व जड बनते की, ते साधकाला साधनास बसूच देत नाही. या अकर्मण्यावस्थेलाच स्त्यान असे म्हणतात. परंतु साधकाने निश्चयाच्या बळाने हा अडथळा दूर केला पाहिजे.

संशय :-

संशय हा साधनाचा सर्वात मोठा असा तिसरा अडथळा आहे. आपण करतो ते साधन आपल्याला ब्रह्मप्राप्ती करून देईल का नाही? या योगमार्गाने शेवट गाठलेले कोणी दिसतात की नाही? या योगाचे फल खरे आहे की खोटे आहे? हा योग सोपा आहे तर तो सर्व संतांनी, ऋषींनी व मुनींनी स्वच्छ व स्पष्टपणे का सांगितला नाही? गुप्त का ठेवला? इत्यादि नानाविध संशयांनी साधकाचे मन संदेहयुक्त बनते. या संशयांनी साधकाचा सर्वनाश होतो असे अनुभवाला आले आहे. यासाठी साधकांनी सर्व संशय दूर ठेवून निःसंदिग्धपणे व श्रद्धेने साधन केले पाहिजे. **"संशयात्मा विनश्यति"** असे शास्त्रकार म्हणतात ते अगदी खरे आहे.

प्रमाद :-

साधन नित्यनियमित न करणे व दीक्षेचा प्रसाद मिळूनही शक्तिपातयोग साधनाबद्दल उदास राहणे याला प्रमाद म्हणतात. साधकाच्या आर्थिक, व्यावहारिक, सामाजिक, मानसिक असंतुलनामुळे व दृढनिश्चयाच्या अभावामुळे साधकाच्या हातून साधन न करण्याची चूक होते. वास्तविक काही कारणांनी नित्य साधन झाले नाही व मध्ये खंड पडला तर पुन्हा उत्साहपूर्वक साधन करणे हे साधकाचे कर्तव्य आहे. जर प्रमादाकडे त्याने दुर्लक्ष केले तर हळूहळू त्याला मिळालेले साधन शिथिल व मंद होऊन जाते.

आळस :-

वात, पित्त व कफामुळे देहाला व तमोगुणामुळे चित्ताला जडता आली की, साधकाच्या देहात आळस उत्पन्न होतो. आळस देहात शिरला की, साधन करावे असे वाटत नाही व संसारातच मन रमून जाते. ज्यादा खाणे व ज्यादा झोपणे यामुळे साधकाला आळस येतो. आळस जाण्यासाठी मनाला धारेवर धरणे हा सर्वात मोठा उपाय आहे. त्याचबरोबर खाणे, पिणे इत्यादि सर्व बेतात व नियमित ठेवणे हेही आवश्यक आहे.

अविरती :-

अविरती म्हणजे भोगासक्ती. साधनातील हे सर्वात मोठे विघ्न आहे. पूर्वसंस्कारानुरूप नानाप्रकारच्या भोगांची आसक्ती साधकाच्या मनात असते. या भोगाचे रूप इतके व्यापक आहे की, त्याचे वर्णन करणे केवळ अशक्य आहे. ज्यामुळे साधनात अडथळे येणार नाहीत असे लहानसहान भोग साधकाने भोगून संपवावेत. परंतु ज्यामुळे शास्त्रमर्यादिकांचे उल्लंघन होऊन अनर्थ उत्पन्न होण्याची शक्यता असते त्यावेळी मोठ्या धैर्याने या भोगाकांक्षेशी सामना करून बाह्यतः साधकाने त्याचे निराकरण करावे. असे केले म्हणजे नियमित साधनाने भोगासक्ती दूर होऊन नाहीशी होते. कारण साधनाभ्यासानेच **"विषयांचा विसरु पडे। इंद्रियांची कसमस मोडे। मनाची घडी घडे। हृदयामाजीं ।।६.१८८।।"** असे या साधनाचे फल मिळते म्हणून श्रीज्ञानेश्वर-महाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** सांगितले आहे. यामध्ये भोगासक्ती साधनानेच दूर होते हे स्पष्ट झाले आहे. यासाठी साधकाने साधनेचा आधार कधीही सोडता कामा नये.

भ्रांतिदर्शन :-

उलट्या किंवा विपरीत ज्ञानाला भ्रम किंवा भ्रांतिदर्शन असे म्हणतात. साधन करताना साधकाची काही काही वेळेस मोठी चमत्कारिक धारणा होते. यामुळे आपली स्थिती फार उत्तम आहे, अवस्था फार वरच्या दर्जाची आहे, आपल्याला साक्षात्कार झाला व समाधी लागली

अशी धारणा होऊन त्याचे साधनावरील लक्ष कमी होते. साधकाने अशा वेळी मोठ्या सावधानतेने राहिले पाहिजे. स्वत:वर लक्ष ठेवले पाहिजे व शास्त्राशी अनुभव जुळतो की नाही हे पाहिले पाहिजे.

अलब्ध भूमिकत्व :-

चित्ताची एकाग्रता न साधणे याला अलब्ध भूमिकत्व असे म्हणतात. शक्तिपातयोगाच्या साधनात साधकाला सुरुवातीपासून कित्येक दिवसपर्यंत या अडथळ्याशी सामना करावा लागतो; कारण हे साधन सुरू झाले की, या व पूर्वजन्मीच्या संस्कारांचे शुद्धीकरण सतत सुरू असते. अशा वेळी चित्ताची एकाग्रता वारंवार खंडित होते. क्वचित् प्रसंगी चित्त इतके क्षुब्ध होते की, कशाला आपण हे साधन घेतले असे साधकाला वाटू लागते. चित्ताला एकाग्रता प्राप्त होऊन शांतता लाभावी म्हणून साधक साधनेला बसला की, जे विचार व प्रसंग स्मृतीच्या गर्तेत नाहीसे झालेले असतात व ज्यांचा अर्थाअर्थी काही संबंध नसतो तेच दत्त म्हणून पुढे उभे राहतात. साधकाला स्वत:चाच राग येतो. संतोष नाहीसा होतो. त्याला वाटते की, साधन सोडून दूर पळून जावे. परंतु मनाला दूर कोठे काढून ठेवणार? यासाठी मन जसे उसळेल, विचार करील व जिकडे जाईल तिकडे जाऊ दिले पाहिजे. अगदी मोकळे सोडले पाहिजे. असे केले म्हणजे त्याचे शुद्धीकरण लवकर होऊन दमून ते स्थिरावते. कोठेही एकाग्रता न करता स्वस्थ बसून काय होते ते पाहणे हा या साधनाचा विशेष असल्याने या अडथळ्याचा म्हणजे चित्त एकाग्र न होण्याचा विचारच साधकाने डोक्यातून काढून टाकला पाहिजे. साधनानेच एकाग्रता, चित्तवृत्ती निरोध व मन:शांती साधणार असल्याने साधकाने या शक्तिपातयोगसाधनाला पूर्ण शरणागत होणे एवढेच त्याच्या हातात आहे.

अनवस्थित्व :-

प्राप्त केलेल्या अवस्थेपासून च्युत होणे याला अनवस्थित्व असे म्हणतात. साधक जसजसा साधनात पुढे प्रगती करत जातो तसतशी

त्याची अवस्था बदलत जाते. त्याला स्थिरचित्तत्वाचा व समाधीचा अनुभव येऊ लागतो. परंतु वर वर्णिलेल्या अडचणी आल्या की, मधून मधून आपण पुन्हा खालच्या पायरीवर आलो आहोत असे वाटून तो अस्वस्थ होतो. अशा वेळी साधकाने आपल्या मनाशी पक्का विश्वास बाळगला पाहिजे की, "जागृत शक्ती आपल्याला मुक्कामाला नेणार आहे. साधनात येणारे अडथळे व अडचणी ती दूर करणार आहे." त्याची ही धारणा पक्की राहिली की, वरील सर्व अडथळे पार करून तो आपल्या इष्टस्थानी पोहोचतो हे निःसंशय खरे आहे.

"हठयोगप्रदीपिकेतही" योगाभ्यास प्रतिबंधक गोष्टीचे वर्णन करताना श्रीस्वात्मारामयोगींद्र यांनी असे म्हटले आहे की -

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षडभिर्योगो विनश्यति।।१.१५।।

भूक नसताना ज्यादा खाणे, खूप परिश्रम करणे, खूप बोलणे, थंड पाण्याने प्रातःस्नान करणे, रात्रीचे एक वेळाच जेवण करणे इत्यादि नियम करणे, लोकसंपर्क करणे व लोलुपता या सहा गोष्टी योगाचा नाश करतात.

साधकाने मोजकेच खाल्ले पाहिजे. याबाबत त्याने कोणाचीही क्षिती बाळगता कामा नये. आपल्याकडे आग्रहाची दुष्ट प्रवृत्ती आहे. त्यामुळे भिडेला बळी पडून साधकाला ज्यादा खावे लागते. त्यामुळे त्याच्या अभ्यासाचा नाश होतो. अती आहारामुळे जडता, आळस व चंचलता येते. परिश्रमाबाबतही साधकाने अखंड सावध असले पाहिजे. धावणे, पळणे, जड वजन उचलणे अशा प्रकारचा व्यायाम किंवा खूप कष्टादि गोष्टी त्याने टाळाव्यात; कारण त्यामुळे प्राणांची गती वाढून चित्त चंचल होते व शरीर थकल्याने साधनाला जास्त वेळ बसवत नाही. बोलण्याबाबत तर श्रीसंत तुकाराममहाराजांनी **"नये बोलो फार"** अशी फार मोठी मोलाची सूचना देऊन ठेवली आहे. साधकाने नियमित सकाळ संध्याकाळ साधन करण्याला

प्राधान्य देऊन इतर गोष्टींना गौणत्व दिले पाहिजे. याचा अर्थ असा की, आपण जे साधन करणार आहोत त्याच्याशी धर्मशास्त्र, कर्मकांड, अर्थशास्त्रादि इतर सर्व शास्त्रांचा समन्वय आपल्या पद्धतीने घातला पाहिजे. अगदी प्रातःकाली स्नान करणे, उपवासाचा किंवा नक्ताचा नियम करणे इत्यादि नियम न करता जेणे करून शरीर सुस्थितीत धातुसाम्ययुक्त राहील व उत्तम साधनाभ्यास घडेल असे पाहिले पाहिजे. इतर शास्त्रांचे जे विहित नियम आपल्या वर्णाश्रमाला उचित असतील ते योग्य ती मुरड घालून त्यांचे आपल्या प्राप्त परिस्थितीप्रमाणे पालन करावे. आपले घर, परिस्थिती, शारीरिक-मानसिक व आर्थिक स्थिती इत्यादि सर्वांचा साकल्याने विचार करून साधकाने स्वतःच आपला मार्ग प्रशस्त केला पाहिजे. यासाठी प्रत्येकाला आपल्याला काय पटेल हे पाहून आपला मार्ग निश्चित करणे योग्य ठरते.

जनसंगाचा त्यागही साधकाला फार आवश्यक आहे. **"नये बैसो जनामध्ये"** अशी सूचना याबद्दल श्रीसंततुकाराममहाराज यांनीही दिली आहे.

"दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः"।।४३।।
कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्।।४४।।
तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति।।४५।।

अशी तीन सूत्रे ब्रह्मर्षी श्रीनारदांनीही आपल्या **"नारद भक्तिसूत्रात"** घालून दुःसंगादि जनसंगाचा निषेध केला आहे. दुर्जनसंगती सर्व प्रकारे त्याज्य होय; कारण दुःसंगाने काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर हे वाढतात. स्मृती नाहीशी होते आणि बुद्धिनाश होतो. त्यामुळे हा दुष्ट जनसंग अखेर सर्वनाशाला कारण होतो. हे कामक्रोधादि विकार जरी तरंगासारखे प्रथम लहान दिसले तरी ज्यावेळी दुष्ट असा जनसंग होतो त्यावेळी ते समुद्रप्राय होतात. यासाठी साधकाने सावध राहून हे टाळले पाहिजे.

लौल्य म्हणजे लोलुपता होय. साधकाने अखंड सावधान राहून अलिप्तता साधली पाहिजे. परिस्थिती, स्वभाव व संधी यामुळे तो

कशात लिप्त होईल हे सांगता येत नाही. **"लोलुप्यता काय निद्रेसी जिणावे"** असे म्हणून श्रीसंततुकाराममहाराजांनी लोलुपता अशी काय लागून गेली आहे असे मनात आणून निद्रेबरोबर ती बलपूर्वक प्रयत्नाने जिंकावी असे म्हटले आहे.

वरील सर्व अडथळे नियमित साधनाने दूर होत असले तरी सुद्धा साधकाने व्यवहारात सावधान राहिले पाहिजे. त्यामुळे साधन अधिक उत्तम चालण्यास व प्रगती लवकर होण्यास मदत होते. **"अखंड सावधान असावें"** हे श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांनी श्रीसंभाजीमहाराजांना उपदेशिलेले सूत्रच येथे लागू केले पाहिजे. **"आपुल्या मनासी रोधावें। परांतर शोधावें। क्षणाक्षणा सांभाळावे। बदलेल म्हणूनी।।१०।।"** ही श्रीसमर्थांची "सावधता प्रकरणातील" अपूर्व सूचनाच साधकाचे बाह्य जीवनातील ध्येय असले पाहिजे. साधन मोठे आहे व आपण कसेही वागले तरी चालेल असे साधकाने कधीही मनात आणता व त्याप्रमाणे वागता कामा नये.

"शिवसंहितेच्या" पाचव्या पटलामध्ये शक्तिपातयोगाच्या साधकांना कोणकोणत्या योगविघ्नांना तोंड द्यावे लागते याचे फार चांगले वर्णन केले आहे. साधकांनी या विघ्नांपासून आपला बचाव कसा होईल याचा चांगला अभ्यास व विचार केला पाहिजे. भोगरूपी, धर्मरूपी, ज्ञानरूपी व स्वादरूपी अशी चार प्रकारांची विघ्ने उपस्थित होतात व ती साधनाचा नाश करतात म्हणून श्रीशंकरांनी श्रीपार्वतीला असे सांगितले आहे.

श्रीदेवी पार्वती श्रीशंकरांना असे म्हणाली की, "हे देवाधिदेवा! परमार्थ ज्ञानाच्या प्राप्तीमध्ये मनुष्याला जी विघ्ने येतात त्याबद्दल सविस्तर माहिती तुम्ही मला सांगा." श्रीदेवी पार्वतीने अशी प्रार्थना केल्यावर श्रीशंकर तिला असे म्हणाले की, "हे देवी ! मोक्षप्राप्तीकरिता साधक प्रयत्न करू लागला की, त्याच्या प्रगतीमध्ये अडथळा करणारी नाना प्रकारची विघ्ने उपस्थित होतात. त्यांचे क्रमशः सविस्तर वर्णन करतो. ते तू ऐक."

"एखाद्या मार्गावर काटेच काटे पसरलेले असावेत त्याप्रमाणे शक्तिपातयोगाने प्राप्त होणाऱ्या मुक्तीच्या साधनातही विषयभोगरूपी विघ्नांचे समुदाय सतत उपस्थित होत असतात. भोगाची ही तीव्र वासना हे सर्वात मोठे बंधन व विघ्न आहे. स्त्री उपभोग, उत्तम शय्या, मनोहर आसन, रमणीय वस्त्र आणि खूप धनसंचय या गोष्टी मोक्षाच्या आड येतात. विडा खाणे, अत्यंत स्वादिष्ट भोजन करणे, उत्तमोत्तम गाड्यातून प्रवास करणे, राजऐश्वर्य उपभोगणे, सर्वांवर प्रभुत्व गाजविणे, मोठेपणा मिरविणे, सोने, चांदी, रत्ने, तांबे, सुगंधित द्रव्ये, संपत्ती, गाई या गोष्टी एकत्रित करून त्यांचा संचय करणे; पांडित्य, वेदादि शास्त्रोक्त कर्मकांड, नृत्य, गीत अलंकार, बासरी, वीणा, मृदुंग व संगीत यांमध्ये विशेष रुची दाखविणे व हत्ती-घोड्यांच्या संग्रहासारखे ऐश्वर्य असावे असे वाटणे ही सर्व साधनात आडवी येणारी भोगरूपी विघ्ने आहेत."

"साधनामध्ये धर्मरूपी विघ्नेही आडवी येतात. प्रातःस्नान, बाह्यपूजेमध्ये अधिक निमग्नता, होम, अतिथी सेवा, विविध तिथि-कृत्ये, धर्मार्थ दानाचे ऐश्वर्य दाखविणे, व्रत व उपवास इत्यादि नियमबंधनात स्वतःला जखडून घेणे, हट्टाने बलपूर्वक मौन धरणे व इंद्रियनिग्रह करणे, ध्येय वस्तूचे जबरदस्तीने ध्यान करणे, स्थूल ध्यान करणे, अमुक मंत्राचा अमुक इतक्या संख्येपर्यंत काय वाटेल ते झाले तरी जप झाला पाहिजे असा अट्टाहास करणे, नियमित दान झाले पाहिजे, या सर्वांच्या प्रसिद्धीची हाव, बावडी, विहीर, तलाव या गोष्टी व्हाव्यात म्हणून त्यातच सर्व लक्ष घालणे, मोठमोठी घरे बांधणे, बगीचे तयार करणे, केळ्यांचे मांडव तयार करणे, यज्ञ, पापक्षय व्हावा म्हणून चांद्रायण व कृच्छ्र व्रते करणे, तीर्थयात्रा सतत करणे व नानात-हेच्या देवोत्सवामध्ये संमिलित होणे ही सर्व धर्मरूपी विघ्ने साधकाला साधनात आडवी येतात."

"हे वरानने! आता साधकाला साधनामध्ये जी ज्ञानरूपी विघ्ने आडवी येतात ती सांगतो. गोमुख, पश्चिमोत्तान इत्यादि विविध

आसने करणे, धौती व बस्ती इत्यादि षट् क्रिया करून नाडी प्रक्षालन-शोधन करीत राहणे, नाडी विज्ञान व्हावे म्हणून प्रयत्न करणे, प्रत्याहार साधावा म्हणून अत्यंत निग्रहाने, निश्चयाने व बलाने कान, नाक इत्यादि इंद्रियांचा निरोध करणे, लोखंडाच्या साखळीने किंवा लाकडी लंगोटीने उपस्थ बांधून टाकणे, त्याचप्रमाणे संयमासाठी उपस्थ छेदून टाकणे, अशा प्रकारची उत्कट कर्मे, वायू चालन व्हावे म्हणून कुक्षी संचालन करणे किंवा वज्रोली मुद्रा करणे इत्यादि कोणत्याही क्रिया मुद्दाम करणे हे शक्तिपातयोगसाधन करणाऱ्याला अनावश्यक असून त्या साधनाने उत्पन्न होणाऱ्या ज्ञानामध्ये विघ्न आणतात यात शंका नाही."

"साधकाला स्वादरूप विघ्नांनाही तोंड द्यावे लागते. खूप गोड व पोटभर खावे असे वाटणे हे मोठे विघ्न आहे. साधकाने लोभाने अशा प्रकारे खूप गोड खाल्ले व अपरिमित आहार घेतला की, शरीरात नव्या रसाचा संचार होऊन एक प्रकारचे जडत्व शरीराला प्राप्त होते. शरीराबरोबर मन ही विकारी, जड व तामसी होऊन बहुतांशी कामोत्तेजकता वाढीस लागल्याचे दिसते. यासाठी साधकाने अत्यंत सावध राहून शरीरात नवीन रसाचा संचार होईल असे पदार्थ टाळले पाहिजेत. याकरिता जीभ ताब्यात ठेवून व रात्रंदिवस पहारा ठेवून जिह्वेची तृप्ती होईपर्यंत न खाता संयमित भोजन करून खाण्याची वासना कमी केली पाहिजे."

येथपर्यंत शक्तिपातयोगाच्या साधन संपत्तीचे सर्वांगाने दर्शन घेण्याचा प्रयत्न केला. आपल्या सर्व शास्त्रकारांनी साध्यप्राप्तीमध्ये साधन संपत्तीचे फार मोठे महत्त्व असल्याने पुनःपुन्हा घोळून घोळून हा विषय मांडला आहे. किंबहुना सर्व परमार्थिक ग्रंथांचे अभ्यासपूर्वक वर्गीकरण केले तर असे आढळून येते की, ३/४ पेक्षा जास्त भाग या साधन संपत्तीच्या स्पष्टीकरणाकरिता खर्ची पडला आहे. यावरून या विषयाचे महत्त्व किती आहे याचे आकलन साधकांना होईल. शास्त्रीय प्रयोगाचे अचुक उत्तर जर हवे असेल तर सर्व उपकरणे व

परिस्थिती त्या प्रयोगाला अनुकूल अशीच आवश्यक असते. त्याचप्रमाणे या शक्तिपातयोगाची किंवा सिद्धमहायोगशास्त्राची फले शास्त्रीय निकषावर उत्तम ठरतील इतकी चांगली व उत्कृष्ट यावी असे वाटत असेल तर या साधनसंपत्तीचा अपूर्व साठा जवळ असला पाहिजे. असे घडले म्हणजे अपेक्षित फलनिष्पत्ती झाल्याशिवाय कधीही राहणार नाही.

★★★★★

- आधार अकरावा -

★शक्तिपातायोगाची शास्त्रीय प्रक्रिया★

१) संप्रदायाचा महिमा
२) दीक्षेचा महिमा
३) दीक्षेचा अर्थ
४) दीक्षेचा हेतू
५) दीक्षा कशी होते? -
   अ) स्पर्शदीक्षा
   ब) दृग्दीक्षा
   क) शब्ददीक्षा
   ड) ध्यानदीक्षा (कृपा किंवा पत्रदीक्षा)
६) दीक्षेचे व साधनाचे स्थान
७) साधनासाठी आसन
८) साधनाला बसण्याची पद्धत
९) साधनाला बसण्यापूर्वी करावयाची प्रार्थना
१०) साधनाची वेळ
११) साधनेसाठी वस्त्रे
१२) साधनातील क्रिया -
   अ) साधनात क्रिया का होतात?
   ब) पश्चिम मार्ग खुला होतो
   क) प्राणशक्तीचे ऊर्ध्वगामित्व
   ड) तीन ग्रंथींचे भेदन
   इ) पंचतत्त्वांचे अवलंबन
   ई) आत्मतत्त्वांचे शुद्धिकरण
   उ) परिपक्वता व परिपूर्णता प्राप्ती
   ऊ) षट्चक्र वेध
१३) दीक्षेची वेळ
१४) साधनक्रियांची वैशिष्ट्ये
   श्री) क्रिया अर्थशून्य नाहीत
   प्र) आनंदाची प्राप्ती
   भु) साधन महायज्ञात क्रियांद्वारा हवन
   रा) कर्म, जाती व अवस्थांचे क्रियांना बंधन नाही
   म) विचार प्रवाह व एकाग्रता

१५) साधनातील क्रिया व अनुभव -

श्री) आरंभावस्था **कृ) घटावस्था**
ष्णा) परिचयावस्था **य) निष्पत्ती अवस्था**
न) हठयोगाच्या क्रिया **मः) नाडीशुद्धीच्या क्रिया**
ॐ) बंध व मुद्रा **न) प्राणायाम**
मः) नऊरस **शि) मंत्रयोगाच्या क्रिया**
वा) लययोगाच्या क्रिया
य) राजयोगाच्या क्रिया

अ) दिव्यस्पर्शज्ञान **ब) दिव्यरस**

शक्तिपातयोगदीक्षा मिळून शक्ती जागृत होणे नितांत आवश्यक आहे; कारण त्याशिवाय मंत्र, तंत्र व अर्चन इत्यादि गोष्टी सिद्ध होत नाहीत व ज्ञानप्राप्तीही होत नाही. **"गौतमीयतंत्रामध्ये"** असे म्हटले आहे की -

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किञ्चिन्न सिद्ध्येत् मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम्।।३२.३।।
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायाति मन्त्रयन्त्रार्चनादि च।।

जोपर्यंत मूलाधारामध्ये कुंडलिनी शक्ती निद्रा घेत असते तोपर्यंत मंत्र, यंत्र किंवा पूजाअर्चादि कोणतीही गोष्ट सिद्ध होत नाही. ज्यावेळी पुण्यसंचयाच्या प्रभावामुळे कुंडलिनीशक्ती श्रीगुरुकृपेने जागृत होईल तेव्हा त्या शक्तीच्या कृपेमुळेच मंत्र, यंत्र किंवा अर्चनादि गोष्टी सिद्ध होतात.

ज्ञानप्राप्तीसाठीही शक्ती जागृत होणे आवश्यक असते. **"घेरंड-संहितेच्या"** तृतीय उपदेशात व **"योगशिखोपनिषदात"** असे म्हटले आहे की -

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डलिनी परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्द्धत्रयवलयान्विता।।घे.सं.४९।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।

ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि।।५०।।
आधारशक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रति बुध्यते।।यो.शि.२३/२४।।

मूलाधारात परमदेवता कुंडलिनी शक्ती सर्पाचा आकार घेऊन साडेतीन वेढे घालून झोपलेली आहे. जोपर्यंत ही शक्ती झोपलेली असते तोपर्यंत जीव पशुप्रमाणे अगदी अज्ञानात असतो. त्यामुळे कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय इतर कोटी कोटी योगांचे साधन केले तरी ज्ञानाची प्राप्ती होत नाही. याचे कारण आधार शक्ती झोपली की, सर्व ब्रह्मांड झोपलेले असते. ती जेव्हा जागृत होते तेव्हा सर्व त्रैलोक्य जागृत होते. याकरिता कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्याशिवाय ज्ञानाची सर्व साधने निष्फळ ठरतात.

शक्ती जागृत होण्याची नितांत आवश्यकता आहे हे निःसंशय आहे. यासाठी शक्तिपाताच्या शास्त्रीय प्रक्रियेच्या सांगोपांगांचा यथाक्रम विचार आवश्यक आहे.

संप्रदायाचा महिमा :-

शक्तिपातयोगशास्त्राचा **"श्रीमद्भगवद्गीता"** हा ग्रंथ मुकुटमणी आहे आणि शक्तिपातयोग हे सर्व शास्त्रात श्रेष्ठ शास्त्र आहे. त्यामुळे श्रीज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हणतात की, "अर्जुनाने पुष्कळ पुण्य केल्यामुळे त्याला सर्व शास्त्रांचा राजा असलेले हे शक्तिपातयोगशास्त्र म्हणजे गीताशास्त्र श्रीभगवंतांनी सांगितले." मात्र या शक्तिपातयोगशास्त्रामध्ये संप्रदायाचा महिमा फारच अपूर्व आहे व त्याच्या आधाराशिवाय गती नाही हे सांगताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हणतात की -

तरी ययाचि शास्त्राचेनि। संप्रदायें पांघुरौनि।
शास्त्रार्थु हा निकेनि। अनुष्ठीं हो।।१८-१४८१।।
येऱ्हवीं अमृतमंथना-। सारिखे होईल अर्जुना।
जरी रिघसी अनुष्ठाना। संप्रदायेंवीण।।१४८२।।
गाय धड जोडे गोमटी। तें तैंचि पय दे किरीटी।

जैं जाणिजे हातवटी। सांजवणीची।।१४८३।।
तैसा श्रीगुरु प्रसन्न होये। शिष्य विद्याही कीर लाहे।
परि ते फळे संप्रदायें। उपासिलिया।।१४८४।।

शक्तिपातयोगशास्त्राचा जो संप्रदाय आहे तो समजावून घेऊन त्याचाच अंगिकार केला पाहिजे. मग त्या शास्त्राप्रमाणे या योगाचा अभ्यास केला पाहिजे. संप्रदायाचे पांघरूण हे कृपाछत्रच असते. साधक हा परंपरेने चालत आलेल्या संप्रदायातून दीक्षित झाला की, त्या संप्रदायाची सिद्धशक्ती साधकाचे अखंड कल्याण करण्यास सिद्ध होते. एरवी हे अर्जुना! संप्रदाय सोडून जो आपल्या मनाप्रमाणे अनुष्ठान करतो त्याची स्थिती अमृतमंथनाप्रमाणे होते. ज्याप्रमाणे अमृतमंथनात परिणामी जसे विष निघाले त्याप्रमाणे साधकाला संप्रदायक्रमाने शक्तिसंक्रमण झाले नाही; तर कैवल्यामृताची सिद्धी होत नाही. यासाठी दीक्षेची नितांत आवश्यकता आहे. हे अर्जुना! गाय उत्तम मिळाली तरी तिचे दूध काढण्याची हातोटी माहीत असली तरच ती दूध देते. त्याप्रमाणे ज्यावेळी श्रीगुरू प्रसन्न होतात त्यावेळी शिष्याला शक्तिपातयोग दीक्षा मिळून त्याला ही विद्या प्राप्त होते. परंतु शिष्याने संप्रदायाप्रमाणे नियमाने साधन केल्याशिवाय त्याला फलप्राप्ती मिळत नाही. नुसते साधन मिळाले म्हणजे आपण कृतकृत्य झालो असे ज्या साधकांना वाटते ते चुकीचे आहे. साधनाचे अनुष्ठान झाले पाहिजे. हाच प्रयत्न होय. अशा या शक्तिपातयोगस्वरूप गीतारत्नेश्वराची जेव्हा साधक-भक्त आपल्या अंतःकरणात दृढ निश्चयाने स्थापना करतो तेव्हा त्याला परब्रह्मस्वरूपाची प्राप्ती होते. या अर्थानेच श्रीज्ञानेश्वरमहाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" असे म्हणतात की, "**ऐशा भक्तालयीं चोखटीं। गीतारत्नेश्वर हा प्रतिष्ठीं। मग माझिया संवसाटीं। तुकसी जगीं।।१८.१५०९।।**" इतकेच नव्हे; तर श्रीभगवंतांनी असे म्हटले आहे की -

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मेतस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।१८-६९।।

श्रीभगवंत अर्जुनाला असे म्हणतात की, "जो कोणी माझे हे शक्तिपातयोगशास्त्राचे गुह्यज्ञान सांगतो त्याहून माझी अत्यंत आवडती गोष्ट करणारा मनुष्य दुसरा कोणीही नाही आणि त्याच्यापेक्षा या लोकी मला अत्यंत आवडता असा दुसरा होणार नाही."

शक्तिपातयोगामुळे परंपरेने आपल्याला बोधाचे ऐश्वर्य कसे प्राप्त झाले हे श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी मोठ्या अभिमानाने सांगितले आहे. ते असे म्हणतात की, "कलीने भूतांचा ग्रास केलेला आहे असे पाहून श्रीगहिनीनाथांनी श्रीनिवृत्तिनाथांना अशी आज्ञा केली की, आदिगुरू श्रीशंकरांपासून शिष्यपरंपरेने हे बोधाचे ऐश्वर्य आमच्या कुलात प्राप्त झाले. शक्तिपातयोगाने शिष्याला बोध देणारे, विषय विध्वंस करणारे व अद्वयानंदसुख देणारे हे ऐश्वर्य घेऊन तू कलीने त्रस्त केलेल्या जीवांना देऊन त्यांना दुःखापासून सर्व प्रकारे मुक्त कर."या सर्व विवेचनावरून संप्रदाय व परंपरा यांची आवश्यकता किती आहे हे लक्षात येईल. (१८.१७५८ ते १७६०)

दीक्षेचा महिमा :-

दीक्षेचा महिमा अपूर्व आहे; कारण वेदान्त, योग, मंत्र, तंत्र, भक्ती इत्यादि जेवढे ज्ञानप्राप्तीचे संप्रदाय आहेत त्यामध्ये दीक्षा ही दिली जातेच. परंतु ज्या दीक्षेमुळे श्रीगुरूंच्या शक्तीचा शिष्याच्या ठिकाणी संचार होतो तीच खरी दीक्षा होय. दीक्षेचे माध्यम व प्रकार कोणता आहे ही अगदी गौण बाब आहे. दीक्षेत शक्तिसंचार हा झालाच पाहिजे; कारण त्याशिवाय शिष्याची बुद्धी अतींद्रिय विषय ग्रहण करू शकत नाही. अतींद्रिय अशा ब्रह्मतत्त्वाचे ग्रहण हे दीक्षेने होत असल्याने त्याला शक्तिपात असे म्हणतात. ब्रह्मतत्त्वाचे ग्रहण हे शक्तिपातयोगदीक्षेशिवाय इतर कोणत्याही मार्गाने होणे शक्य नसल्याने या दीक्षेचा महिमा अपूर्व आहे हे सर्वांनी मान्य केले आहे.

"देवात्मशक्ती" या ग्रंथामध्ये प.प.श्रीविष्णुतीर्थस्वामीमहाराज दीक्षेचा महिमा सांगताना असे म्हणतात की, "शक्तिपात हे एक प्रकारचे शक्तीचे संक्रमण किंवा निवेशच आहे. सिद्धपुरुष अनुग्रहाकांक्षी

शिष्याच्या प्राणदेहात संवित् शक्तीचा एक प्रवाह निवेशित करतात. हा प्रवाह म्हणजे अत्युच्च बीजरूप शक्त्यात्मक तेजोमय द्रवाचा अति उदात्त कवलच होय. हा प्रवाह हस्तस्पर्श, दृष्टिक्षेप, मुखाने उच्चारलेला एखादा शब्दसमूह म्हणजे मंत्र, ईश्वराच्या परम पावन नामांपैकी एखादे नाम किंवा केवळ चिद्-विचार असू शकतो. ही देवात्मशक्ती ज्यावेळी दीक्षित केली जाते तेव्हा अनुग्रहीताची सुप्तकुंडलिनी शक्ती जागृत होते. आपण असे म्हणू या की, प्राणाग्नी चेतविला जाऊन त्यांच्या शिखाज्वाला चैतनिक व्यूहात फैलावतात. त्यामुळे सरतेशेवटी सुषुम्णेचे दार उघडले जाऊन वंशीय रज्जूमधील चैतनिक केंद्रे म्हणजे षट्चक्रांचा वेध करीत त्या सहस्रारापर्यंत जातात. शक्तिपातयोग दीक्षेस वेधदीक्षाही म्हणतात. वेध म्हणजे आरपार जाणे. श्रीगुरू शक्ती जागृत करतात व त्याच शक्तीने षट्चक्र वेध होतो. एका शरीरातून दुसऱ्या शरीरात शक्ती प्राणाच्या द्वारे जाते; कारण प्राण सर्वव्यापी आहे. हेच कार्य मंत्रदीक्षेत वाणीच्या व्यापाराने श्रवणद्वारा होते. अशा मंत्रास मंत्रचैतन्य अथवा शक्तिसंपुटीत मंत्र असे म्हटले जाते."

"कुलार्णवतंत्राच्या" १४ व्या उल्लासात दीक्षेचा महिमा पुढीलप्रमाणे सांगितला आहे.

दीक्षामूलो जपः सर्वे दीक्षामूलं परं तपः।
दीक्षामाश्रित्य निवसेत् यत्र कुत्राश्रमे वसन्।।१।।
विना दीक्षां न मोक्षः स्यात्तदुक्तं शिवशासने।
सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्य परम्परा।।३।।
दीक्षया मोक्षदीपेन चण्डालोऽपि विमुच्यते।
याभ्यां विना कुलेशानि कौलिको नैव मुच्यते।।८०।।
शरीरस्य न संस्कारो जायते न च कर्मणः।
आत्मनः कारयेद्दीक्षामनादि कुलकुण्डलीम्।।८१।।
मन्त्रौषधैर्यथा हन्याद्विषशक्तिं कुलेश्वरि।
पशुपाशं तथा छिन्द्याद्दीक्षया मन्त्रवित् क्षणात्।।८३।।

अस्मात् प्रविततात्बन्धात् परसंस्थानबोधकात्।
दीक्षैव मोक्षयेत् पूर्वं दिव्यं धाम नयत्यपि।।८४।।
उपपातकलक्षाणि महापातककोटिशः।
क्षणाद्दहति देवेशि दीक्षा हि विधिना कृता।।८५।।
यया चोन्मीलितात्मानो भवन्ति पशवः शिवाः।
सा दीक्षा ह्युदिता देवि पशुपाशविमोचका।।८६।।
यया दीक्षितमात्रेण जायन्ते प्रत्ययाः प्रिये।
सा दीक्षा मोक्षदा ज्ञेया शेषास्तु जनसेविकाः।।८७।।
उपासनाशतेनापि यां विना नैव सिद्ध्यति।
तां दीक्षामाश्रयेद् यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये।।८८।।
रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत्।
दीक्षा विद्धस्तथा ह्यात्मा शिवत्वं लभते प्रिये।।८९।।
दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ मायाविच्छिन्नबन्धनः।
गतः परां ज्ञानकाष्ठां निर्बीजस्तु शिवो भवेत्।।९०।।
दार्वश्मलौहमृद्रत्न जातिलिङ्गप्रतिष्ठितम्।
यथोच्यते तथा शुद्धाः सर्ववर्णास्तु दीक्षिताः।।९३।।
येन पूजितमात्रेण चाब्रह्मभुवनान्तिकम्।
पूजितं तेन सर्वं स्याद्दीक्षितेन न संशयः।।९४।।
दीक्षितस्य न कार्यं स्यात्तपोभिर्नियमव्रतैः।
न तीर्थक्षेत्रगमनैर्न च शारीरयन्त्रणैः।।९५।।
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
न फलन्ति प्रिये तेषां शिलायांगुप्तबीजवत्।।९६।।
देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्।।९७।।

"जप आणि तप यांच्या मुळाशी दीक्षा आहे. कोठल्याही आश्रमात असले तरी दीक्षेच्या आश्रयाने उन्नती करून घ्यावी. श्रीशंकरांपासून परंपरेने जी योगदीक्षा प्रवाहित झाली आहे त्यामध्ये योगेच्छू लोकांना दीक्षेवाचून फलप्राप्ती नाही. श्रीगुरूंवाचून कधीही दीक्षा होत नाही.

अशी योगमार्ग परंपरा आहे. दीक्षेने प्राप्त होणाऱ्या ज्ञानदीपाने चांडाळही मुक्त होतो. दीक्षेशिवाय व ज्ञानाशिवाय श्रीशंकरांच्यापासून चालत आलेल्या म्हणजेच महेशान्वयसंभूत परंपरेशिवाय साधकाला मुक्ती मिळत नाही. ज्याप्रमाणे मंत्र व विषघ्न औषधीने विषाची मारक शक्ती नष्ट होते त्याप्रमाणेच मंत्रज्ञगुरूंच्या दीक्षेने एका क्षणात पशुपाशाचा छेद होतो. या दृढतर विस्तृत बंधनातून परमस्थानाचे म्हणजे ब्रह्माचे ज्ञान देऊन दीक्षाच फक्त मुक्त करणारी व श्रेष्ठ स्थानाला नेणारी आहे. विधियुक्त दीक्षा ही उपपातक व महापातकांच्या कोटी कोटी राशी एका क्षणात भस्मसात करते. ज्यामुळे सामान्यजनही आत्मजागृत होऊन श्रीशिवस्वरूप होतात तीच खरी माणसाला पशुसारख्या पाशातून सोडविणारी दीक्षा होय. जी दीक्षा होताच दिव्य अनुभव येऊ लागतात तीच खरी मोक्ष देणारी दीक्षा होय. इतर ज्या दीक्षा असतात त्या सामान्य जनसेविकांप्रमाणे होत. शेकडो उपासना करूनही दीक्षेवाचून सिद्धी प्राप्त होत नाही. यासाठी प्रयत्नाने श्रीगुरुमंत्र सिद्धीसाठी दीक्षा जरूर घ्यावीच. धातुवादाच्या प्रक्रियेत ज्यावेळी पाऱ्याचा लोखंडावर संस्कार केला जातो त्यावेळी त्याचे सोने होते. त्याप्रमाणेच दीक्षेच्या संस्कारामुळे जीवाला शिवभावाची प्राप्ती होते. दीक्षारूप अग्नीने ज्याची कर्मे दग्ध झाली, ज्याची मायिकबंधने तुटून गेली व ज्याला परम तत्त्वज्ञान झाले तो श्रीशिवच समजावा. पाषाण, लोहादि धातू, मृत्तिका व रत्नादींना देवप्रतिमेच्या संस्काराने जसे पावित्र्य येते तसे दीक्षासंस्काराने कोणत्याही वर्णाच्या व्यक्तीची शुद्धी होते. जो दीक्षा घेतो त्याने सृष्टीतील पिपीलिकेपासून ब्रह्मापर्यंत सर्व काही पूजल्यासारखे आहे. दीक्षा ही सर्व पूजांपेक्षा श्रेष्ठ आहे. दीक्षिताला तप, नियम, व्रत, तीर्थ, क्षेत्रगमन व इतर कोणतेही शारीरिक क्लेश करण्याची आवश्यकता नाही. दीक्षा न घेता केलेल्या जप व पूजादिक्रिया खडकाळ जमिनीत पेरलेल्या धान्यबीजांप्रमाणे व्यर्थ व निष्फळ होतात. हे पार्वती! दीक्षाहीनाला मंत्रसिद्धी होत नाही. सद्गती मिळत नाही. याकरिता सर्व प्रयत्नाने श्रीगुरूंकडून दीक्षा घ्यावी."

दीक्षेचा अर्थ :-

दीक्षेचा अर्थच देवत्वाची प्राप्ती असा आहे. या दृष्टीने **"विश्वसार"** ग्रंथात असे म्हटले आहे की -

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि श्रुणुष्व कमलानने।
अस्य विज्ञानमात्रेण देवत्वं लभते नरः।।२।।

श्रीशंकर श्रीदेवी पार्वतीला दीक्षेच्या विषयासंबंधी चर्चा चालू असताना असे म्हणाले की, "या दीक्षेचे विज्ञान म्हणजे त्याची शास्त्रीय प्रक्रिया जाणल्याने मनुष्य देवत्वाचा लाभ करून घेऊ शकतो. याचा अर्थच असा आहे की, दीक्षेमुळेच मनुष्याला दैवी शक्ती प्राप्त होते."

"श्रीशारदातिलक व रुद्रयामलतंत्रातही" दीक्षेचा अर्थ सांगून तिच्या ठिकाणी परम ज्ञान देण्याचे व पापशृखंला नाहीशी करण्याचे अद्भुत सामर्थ्य कसे असते हे सांगताना असे म्हटले आहे की -

दिव्य ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात्पापक्षयं ततः।
तस्मात् दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्व तन्त्रस्य सम्मता।।४.२।।
ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम्।
अतो दीक्षेति सम्प्रोक्ता दीक्षातन्त्रार्थवेदभिः।।१।।
दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाप पद्धतिः।
तेन दीक्षोच्यते मन्त्रे स्वागमार्थबलाबलात्।।३।।

दीक्षा या शब्दात दी + क्षा अशी दोन अक्षरे आहेत. दीक्षा दिव्य ज्ञान देते व तिच्यामुळे सर्व पापांचा क्षय होतो. याकरिताच तिला दीक्षा असे म्हणतात. दीक्षा या शब्दाचा खरा अर्थ हाच आहे. दीक्षा ही सर्व तंत्रांना संमत व सर्व शास्त्रांना मान्य आहे. ही दीक्षा शिवाशी जीवाचे तादात्म्य करते. ती आणव, कार्मण व मायिक अशा तीन मलांचा नाश करते. दीक्षातंत्राच्या ज्ञात्या अशा ऋषींनी व मुनींनीच या शक्तिपाताने होणाऱ्या शक्तिसंक्रमणाच्या प्रक्रियेला दीक्षा हे नाव दिले आहे. ही दीक्षा अत्यंत श्रेष्ठ असे ज्ञान देते व पापांच्या राशींचा नाश करते. या कारणामुळे या संक्रमण प्रक्रियेला दीक्षा असे नाव

मंत्रशास्त्र व आगमशास्त्रामध्ये दिले आहे.

"योगिनीतंत्रामध्येही" दीक्षेचा अर्थ पुढीलप्रमाणे वर्णन केला आहे.

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।
अतो दीक्षेति देवेशि कथिता तत्त्वचिन्तकैः।।१।।
मनसा कर्मणा वाचा यत्पापं समुपार्जितम्।
तेषां विशेषा करणी परमज्ञानदायतः।।२।।
तस्मात् दीक्षेति लोकेऽस्मिन् गीयते शास्त्रवेदकैः।
विज्ञानफलदा सैव द्वितीया लयकारिणी।
तृतीया मुक्तिदा चैव तस्माद्दीक्षेतिधीयते।।३।।

दीक्षा ब्रह्मज्ञान देते. पाश म्हणजे कर्मबंधनाचा नाश करते. याकरिता तत्त्वचिंतन करणाऱ्या ज्ञानी पुरुषांनी या प्रक्रियेला दीक्षा असे म्हटले आहे. मन, वाणी आणि कर्म यांच्याद्वारे जो पाप संचय केला जातो तो दीक्षेमुळे अगदी मुळापासून नष्ट होतो. शास्त्रवेत्त्यांचा असा त्रिकालाबाधित सिद्धान्त आहे की, एकमात्र दीक्षा हीच मनुष्याला परमज्ञान प्रदान करू शकते. दीक्षा विज्ञानरूपी फल देते. दुसरी विशेष महत्त्वाची गोष्ट म्हणजे ती द्वैतभावाचा व मनाचा लय करते. आणि तिसरी सर्वात श्रेष्ठ गोष्ट म्हणजे दीक्षा मुक्ती देते. या सर्व गोष्टी ज्या क्रियेमुळे घडून येतात त्या शक्तिपाताला दीक्षा असे म्हणतात.

दीक्षेचा हेतू :-

ज्ञानाचे दान करणे हाच दीक्षेचा हेतू आहे; कारण ज्ञान प्राप्त झाले की, मनुष्य मुक्त होतो. सामान्य लोकांची अशी समजूत आहे की, ज्ञान ही काही दान करण्याची किंवा एकाने दुसऱ्याला देण्याची वस्तू नव्हे. ज्यांना वेदान्ताचा गर्भितार्थ शक्तिपातयुक्त श्रीगुरुपरंपरेने प्राप्त होत नाही त्यांना असे वाटते की, नुसत्या प्रवचनाने, सांगण्याने किंवा महावाक्योपदेशाने वेदान्त प्रतिपादित ज्ञान प्राप्त होईल. परंतु **"तत्त्वप्रकाश"** या ग्रंथात शास्त्रकारांनी निक्षून असे सांगितले आहे की -

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः।।

ज्यामुळे शिष्याचा मूळ आवरणरूप मल हा परिपक्व होऊन गळून पडण्याच्या अवस्थेला येतो त्यावेळी श्रीसद्गुरू शक्तिपात करून शिष्याच्या मलादि आवरणाचा भेद करतात व त्याची परतत्त्वाशी गाठ घालून देतात. अशा प्रकारे शक्तिपाताने ज्ञानदान करणाऱ्या श्रीगुरूंना मूर्तिमंत दीक्षाचार्य असे म्हणतात.

"सूतसंहितेतील" यज्ञवैभवखंडात असे म्हटले आहे की -

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः।।३५.२६।।

वेदान्ताने प्राप्त होणारी विद्या जेव्हा शक्तिपाताच्या संयोगाने मिळते तेव्हा मनुष्य तत्क्षणीच मुक्त होतो यात काहीच संशय नाही. याचा अर्थच असा आहे की, श्रीगुरू हे श्रोत्रीय व ब्रह्मनिष्ठ असूनसुद्धा जर शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य त्यांच्यात नसेल तर शिष्याला त्याच क्षणी साक्षात्कार होऊ शकत नाही.

त्यानंतर **"सूतसंहितेमध्ये"** तर वेदान्त-तत्त्वज्ञान हे शक्तिपाताच्या हातात हात घालून आल्यावरच उपयुक्त ठरते हे सांगताना **"सूतगीतांतर्गत" "सर्ववेदान्तसंग्रह"** या अध्यायात असे म्हटले आहे की -

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।।८.६।।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम्।।
तच्च देवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्।।८.७।।

तत्त्वज्ञानानेच मायेचा निरास होतो. दुसऱ्या कोणत्याही कर्माने किंवा उपासनेने म्हणजे मार्गाने होत नाही. महावाक्यामुळे उत्पन्न होणारे, जीव व ब्रह्माचे ऐक्य दाखविणारे असे ज्ञानच वेदान्तशास्त्राला संमत आहे. हे ज्ञान देवाच्या प्रसादामुळे श्रीगुरूंकडून प्रत्यक्ष दृष्टिक्षेप झाल्यामुळे शक्तिपात होऊन अधिकारी शिष्याला नुसत्या वाक्योच्चारा-बरोबर अनुभवाला येते. यावरून हे सिद्ध होते की, नुसत्या प्रवचनाने, बोलण्याने किंवा सांगण्यानेज्ञान प्राप्तीचे काम होत नाही. यासाठी

ज्ञान देण्याची क्रिया घडून येणे आवश्यक असते. ज्ञान देणे ही अपूर्व गोष्ट आहे व ती एकमात्र दीक्षेनेच साध्य होते. दीक्षा म्हणजेच ज्ञान देणे. ज्या श्रीगुरूंजवळ ही ज्ञान देण्याची शक्ती आहे तेच ज्ञान देऊ शकतील. बाकी कोणीही ज्ञान देऊ शकणार नाहीत. फक्त सांगू शकतील.

ज्याला खरी ज्ञानप्राप्तीची तळमळ आहे त्याने अशी शक्तिपात-योगदीक्षा आपल्याला कोठे मिळेल याच्या शोधात असले पाहिजे. इतर शेकडोशे साधनांचा, उपासनांचा व मार्गांचा त्याग करून जेथे अशा प्रकारे प्रत्यक्ष ज्ञानदानाची दीक्षा मिळत असेल तेथे निःसंकोच-पणे पदर पसरला पाहिजे. याबाबतीत श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीमद्-भगवद्गीतेच्या"** ४ थ्या अध्यायातील ३४, ३५,३६ व ३७ या श्लोकांचा जो भावार्थ प्रकट केला आहे तो पाहण्यासारखा आहे.

तें गा ज्ञान पैं बरवें। जरी मनी आथि आणावें।
तरी संतांतें भजावें। सर्वस्वेंसीं।।४.१६५।।
जे ज्ञानाचा कुरुठा। तेथ सेवा हा दारिवंठा।
तो स्वाधीन करीं सुभटा। वोळगोनी।।१६६।।
तरी तनुमनजीवें। चरणांसी लागावें।
आणि अगर्वता करावें। दास्य सकळ।।१६७।।
मग अपेक्षित जें आपुलें। तेंहि सांगतील पुसिलें।
जेणें अंतःकरण बोधलें। संकल्पा न ये।।१६८।।
जयाचेनि वाक्य उजिवडें। जाहालें चित्त निधडें।
ब्रह्माचेनि पाडें। निःशंक होय।।१६९।।
ते वेळीं आपणपेयां सहितें। इयें अशेषेंहि भूतें।
माझ्या स्वरूपीं अखंडितें। देखसी तूं।।१७०।।
ऐसें ज्ञानप्रकाशें पाहेल। तैं मोहांधकरु जाईल।
जैं श्रीगुरुकृपा होईल। पार्था गा।।१७१।।
जरी कल्मषाचा आगरु। तूं भ्रांतीचा सागरु।
व्यामोहाचा डोंगरु। होऊनि अससी।।१७२।।

तऱ्ही ज्ञानशक्तिचेनि पाडें। हें आघवेंचि गा थोकडें।
ऐसें सामर्थ्य असे चोखडें। ज्ञानीं इये।।१७३।।
देखें विश्वसंभ्रमा ऐसा। जो अमूर्ताचा कडवसा।
तो जयाचिया प्रकाशा। पुरेचिना।।१७४।।
तया कायसे हे मनोमळु। हें बोलताचि अति किडाळु।
नाहीं येणें पाडे ढिसाळु। दुजें जगीं।।१७५।।

"जर ते उत्तम असे आत्मज्ञान आपल्याला प्राप्त व्हावे असे साधकाला वाटत असेल तर त्याने ज्यांना ज्ञानाचे दान करण्याची शक्ती परंपरेने प्राप्त झाली आहे अशा संत सत्पुरुषांची सर्व भावाने उपासना केली पाहिजे; कारण हे सत्पुरुष म्हणजे ज्ञानाचे कोठार होत. सेवाधर्म हा त्या कोठाराचा दरवाजा आहे. भगवान् श्रीकृष्ण असे म्हणतात की, हे अर्जुनरूपी साधका! तू अत्यंत मनोभावाने या संतसत्पुरुषांची सेवा करून हा दरवाजाच आपल्या स्वाधीन करून घे. शरीर, मन व जीवभाव हे सर्व त्यांना अर्पण करून त्यांच्या चरणी लाग. अत्यंत नम्र व निरहंकार होऊन त्यांची सेवा किंवा दास्य कर. अशा प्रेमाने केलेल्या सेवेने ते प्रसन्न होतील. मग जर तू त्यांच्यापुढे आत्मज्ञानाची इच्छा स्वतःहून प्रकट केलीस तर ते शक्तिपात दीक्षा देऊन तुला ज्ञानबोधाने तृप्त करतील. ही ज्ञानवस्तू तुला प्राप्त झाली की, तुझे अंतःकरण संकल्प करण्याचे विसरून जाईल व मनामध्ये कसलेही संकल्पविकल्प उत्पन्न होणार नाहीत. यामुळे एका आत्मपदार्थावाचून साधकाला दुसरा पदार्थ जगात आहे याची कल्पनाच येत नाही. ज्यावेळी श्रीसद्गुरू शक्तिपातपूर्वक शिष्याला तत्त्वज्ञानाचे दान करतात त्यावेळी त्याच्या दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन झाल्याने चित्त निर्भय होते. या दीक्षा समकालच जीव परब्रह्माच्या योग्यतेस पोहोचतो. हे अर्जुना! शक्तिसंक्रमणामुळे तुझ्या चित्ताची जेव्हा वर वर्णिल्याप्रमाणे स्थिती होईल त्यावेळी तू आपल्यासह सर्व भूते व सर्व जग एकरूप म्हणजे माझ्या स्वरूपात निरंतर पाहशील. अर्जुना! ज्यावेळी श्रीगुरू कृपापूर्वक हे ज्ञानाचे दान तुला शक्तिपाताने

करतील त्याचवेळी खऱ्या ज्ञानप्रकाशाचा तुझ्या अंत:करणात उदय होईल व तुझा मोहरूपी अंधकार पूर्णपणे नाहीसा होईल. हे अर्जुना! जरी तू सर्व पापांचे आगर असला किंवा भ्रांतीचा समुद्र किंवा मोहाचा डोंगर असला तरी ज्यावेळी कुंडलिनीरूपी ज्ञानशक्ती जागृत होऊन तिचा उदय होईल त्यावेळी त्या कुंडलिनी शक्तीपुढे ह्या सर्व गोष्टी अगदी क:पदार्थ ठरतील. शक्तिपातयोगाने प्राप्त होणाऱ्या ज्ञानाचे सामर्थ्य अत्यंत श्रेष्ठ असे आहे. कारण शक्ती जागृत होऊन जेव्हा तिचा सुषुम्णेत प्रवेश होतो तेव्हा वरील सर्व गोष्टी जळून जाऊन साधक ज्ञानाच्या उदयामुळे हळूहळू शुद्धचित्त होत जातो व शेवटी ब्रह्मरूप होतो. जीवाला विश्व आहे असा भ्रम झाला आहे. हा भ्रम म्हणजे ब्रह्माचा कवडशासारख्या प्रकाशाप्रमाणेच आहे. परंतु ज्यावेळी ज्ञानशक्तीच्या उदयामुळे सर्वत्र प्रकाशचैतन्याचा अनुभव येतो त्यावेळी कडवसा म्हणजे भ्रांतीचे नावही उरत नाही. या ज्ञानापुढे मनाच्या दोषांचे सामर्थ्य शून्य ठरते. खरोखर शक्तिपातयोगाने उदित होणाऱ्या या कुंडलिनीरूप ज्ञानशक्तीच्या सामर्थ्याशी दुसऱ्या कोणत्याही गोष्टीची तुलना करणे योग्य नाही. या ज्ञानासारखा दुसरा थोर पदार्थच या जगात नाही."

यावरून हे सिद्ध होते की, दीक्षा किंवा ज्ञान ही नुसती सांगण्याची किंवा फक्त ऐकण्याची गोष्ट नाही. ज्ञान ही देण्याची वस्तू आहे. याकरिता बोलण्याने, सांगण्याने, प्रवचनाने किंवा तत्सम कोठल्याही कृतीने जीव-साधक कधीही कृतार्थ होणार नाही. फक्त ज्ञानवस्तू देण्यानेच जीव कृतार्थ होईल. ज्याने अशा प्रकारे ज्ञान दिले आहे व ज्याने ते घेतले आहे तेच हे जाणू शकतील. याकरिता ज्ञान ही सांगण्याऐकण्याची गोष्ट नसून देण्याघेण्याची आहे हे नितांत सत्य आहे. **"हृदया हृदय येक जाहले। ये हृदयींचे ते हृदयीं घातलें। द्वैत न मोडतां केलें। आपणाऐसें अर्जुना।।१८.१४२१।।"** असे जेव्हा श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** अर्जुनाच्या दीक्षेचे वर्णन करतात तेव्हा ज्ञान ही देण्याचीच वस्तू आहे याचा पडताळा आल्या-

शिवाय राहत नाही. त्याचप्रमाणे **"येर कलशींचे येरीं। रिचविजे जयापरी। आपणपें तया श्रीहरी। दिधलें तैसें।। श्रीज्ञानेश्वरी १३.११४६।।** ज्याप्रमाणे एका कलशातील पाणी दुसऱ्या कलशात ओतावे त्याप्रमाणे श्रीभगवंतांनी अर्जुनाच्या अंत:करणात ज्ञान ओतून आपणच आपल्याला दिले. म्हणजे श्रीभगवंत हे ज्ञानस्वरूप असल्याने त्यांनी शक्तिसंक्रमण करून आपली शुद्ध स्वरूपस्थिती अर्जुनाच्या अंत:करणात प्रकट केली.

दीक्षा कशी होते ? :-

"सूतसंहितेतील" यज्ञवैभवखंडातील **"महादेवप्रसादनिरूपणम्"** या प्रकरणात असे म्हटले आहे की -

तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा।
दहत्यविद्यामखिलां तमः सूर्योदये यथा।।४.३५.२४।।

ज्याप्रमाणे सूर्योदय अंध:काराला जाळून टाकतो त्याप्रमाणे वेदान्त वाक्यापासून शक्तिपातामुळे उत्पन्न होणारी विद्या, ज्याला मागे कथन केलेला दीक्षाप्रसाद प्राप्त झाला आहे, त्याची सर्व अविद्या जाळून टाकते. असे सामर्थ्य असणारी दीक्षा कशी होते हे पाहण्यासारखे आहे.

स्पर्श, भाषण, दर्शन व संकल्प या चार प्रकाराने दीक्षा होते. दीक्षेच्या या चार प्रकारांचे वर्णन करताना **"योगवासिष्ठाच्या"** निर्वाण प्रकरणाच्या पूर्वार्धात असे म्हटले आहे की -

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।१२८-६१।।

जे दर्शनाने, स्पर्शाने, शब्दाने व कृपा म्हणजे संकल्प या चार साधनांनी शिष्याच्या देहात ज्ञानाचा समावेश करतात ते साक्षात् शिवस्वरूप श्रीगुरू होत असे समजावे. पहिल्या तीन प्रकारातही कृपा हाच आधार असतो.

श्रीसमर्थांनी **"मनाच्या श्लोकात"** या चार प्रकारच्या दीक्षांचे पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे.

हरीभक्त वीरक्त विज्ञानराशी। जेणें मानसी स्थापिलें निश्चयासी।
तया दर्शनें स्पर्शनें पुण्य जोडे। तया भाषणें नष्ट संदेह मोडे।।१३३।।

श्रीगुरू हरिभक्त व विरक्त असून शिष्याला दीक्षेने ज्ञान देण्याची विशेष प्रक्रिया जाणणारे असतात. ते संकल्पाने शिष्याच्या मनात ज्ञानाचा निश्चय शक्तिपाताने स्थापन करतात. त्यांच्या ठिकाणी दर्शनाने व स्पर्शाने दीक्षा देण्याचे सामर्थ्य असल्याने शिष्याला ज्ञानभिक्षारूप पुण्याची प्राप्ती होते. अशा श्रीसमर्थ श्रीसद्गुरूंच्या "तत्त्वमस्यादीपैकी" एखाद्याही महावाक्याने, मंत्राने किंवा नुसत्या कल्याणकारक शब्दाने शिष्याचा संदेह ज्ञानप्राप्तीमुळे दूर होतो.

प्रत्येक दीक्षा कशी होते ते पाहण्यासारखे आहे.

स्पर्शदीक्षा :-

स्पर्शदीक्षेची व्याख्या करताना "**कुलार्णवतंत्रात**" श्रीमहादेव श्रीपार्वतीला असे म्हणतात की -

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्द्धयेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशश्च तादृशः कथिते प्रिये।।
कुलार्णव तंत्र १४.३५।।

ज्याप्रमाणे पक्षी आपल्या पंखांचा स्पर्श करून आपल्या पिल्लांचे लालन, पालन व वर्धन करतो त्याप्रमाणे स्पर्शदीक्षा असते. जोपर्यंत पिल्लू अंड्याच्या बाहेर येत नाही तोपर्यंत पक्षी अंडे उबवितो व अंड्यातून बाहेर आल्यावर जोपर्यंत पिल्लू लहान असते तोपर्यंत आपल्या पंखाखाली झाकून ठेवतो. त्याप्रमाणेच श्रीगुरू स्पर्शाने शिष्याच्या ठिकाणी सुप्त असलेली शक्ती जागृत करून तिचे संवर्धन करतात. शक्तीचा हळूहळू विकास होऊन शेवटी ती सहस्रारापर्यंत जाते. त्यामुळे साधकाला पूर्णावस्था प्राप्त होते. अशा प्रकारे जी दीक्षा होते तिला स्पर्शदीक्षा किंवा स्पर्शद्वारे शक्तिसंचार असे म्हणतात.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" १८ व्या अध्यायात अर्जुनाला आलिंगन देऊन श्रीकृष्णांनी ज्ञान कसे संक्रमित केले याचे जे वर्णन केले आहे ते स्पर्शदीक्षेचेच वर्णन आहे.

मग सांवळा सकंकणु। बाहु पसरोनि दक्षिणु।
आलिंगिला स्वशरणु। भक्तराजु तो।।१८.१४१८।।
न पवतां जयातें। कांखे सूनि बुद्धीतें।
बोलणें मागौतें। ओसरलें।।१४१९।।
ऐसें जें काहीं एक। बोला बुद्धीसीही अटक।
तें द्यावया मिष। खेंवाचें केलें।।१४२०।।
हृदया हृदय एक जालें। ये हृदयींचें तें हृदयीं घातलें।
द्वैत न मोडितां केलें। आपणाऐसें अर्जुना।।१४२१।।
दीपें दीपु लाविला। तैसा परिष्वंगु तो जाला।
द्वैत न मोडतां केला। आपणपें पार्थु।।१४२२।।

भगवान् श्रीकृष्णांनी कंकणांनी युक्त असा आपला श्यामवर्णाचा उजवा हात पुढे करून आपल्यास शरण आलेल्या भक्तराज अर्जुनाला आलिंगन दिले. स्वस्वरूप हे बुद्धीला व शब्दाला आकलन होत नाही. त्यामुळे तेथे बोलणे खुंटून जाते. ते स्वरूप अर्जुनाला देण्याकरिता देवांनी आलिंगनाचे निमित्त केले. श्रीकृष्णांचे हृदय व अर्जुनाचे हृदय एकमेकांना भिडले. श्रीकृष्णांनी आपल्या हृदयातील ज्ञान अर्जुनाच्या हृदयात घातले. त्यांनी देव व भक्त या रूपाने दिसणारे द्वैत न मोडता अर्जुनाला आपल्यासारखे केले. एका दिव्याने दुसरा दिवा लावल्यावर जसे द्वैत कायम राहून ऐक्य मोडत नाही तसा प्रकार या आलिंगनाचा होऊन द्वैत न मोडता श्रीकृष्णांनी पार्थाला आपलेपणा दिला. **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ११ व्या अध्यायातही अर्जुनाला स्पर्शदीक्षेने अनुग्रह कसा झाला याचे वर्णन श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी केले आहे.

ना तरी मधुवनीं ध्रुवासी केलें। जैसें कपोल शंखें शिवतलें।
आणि वेदांचियेही मती ठेलें। तें लागला बोलों।।१८४।।
तैसा अनुग्रहो पैं राया। श्रीहरि धनंजया।
आतां कवणेकडेही माया। ऐसी भाषा नेणेंचि तो।।१८५।।

मधुवनात ध्रुव तपश्चर्या करीत होता. त्याला श्रीभगवंतांची स्तुती करण्याची इच्छा होती. श्रीभगवंतांनी ध्रुवाच्या गालाला आपल्या

हातातील शंखाचा स्पर्श केल्याबरोबर वेदालाही जे अगम्य होते ते त्याच्या मुखातून आपोआप उमटू लागले. अगदी याचप्रमाणे भगवान् श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला स्पर्शदीक्षानुग्रह दिला. त्यामुळे त्याच्या दृष्टीने मायेची भाषाच नाहीशी झाली.

प्रत्यक्ष डोक्यावर हात ठेवून श्रीनिवृत्तिनाथांनी आपल्याला स्पर्श दीक्षा देऊन ज्ञानाचे बीज आपल्या ठिकाणी कसे रुजविले याचे वर्णन **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ६ व्या अध्यायात श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी केले आहे.

ज्ञानदेव म्हणे मी चाडें। सद्गुरूंनी केलें कोडें।
माथां हात ठेविला तें फुडें। बीजचि वाइलें।।४९२।।

श्रीज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "मी बीज पेरण्याचे चाडे आहे. श्रीनिवृत्तिनाथांनी असे काही नवल केले की, त्यांनी माझ्या डोक्यावर हात ठेवून शक्तिपातयोगाच्या द्वारा ज्ञानाचे बीज माझ्या ठिकाणी घातले. "ज्ञान ही देण्याची व घेण्याची वस्तू असल्याने श्रीसद्गुरू ती शक्तिपाताने देतात व शिष्य ती स्वीकारतो. ज्याप्रमाणे चाड्यातून पेरलेले बी **सुक्षेत्रीं आणि वोलटे। बीजही पेरिलें गोमटें। तरी आलोट फळ भेटे। परि वेळे कीं गा।।१८.९९९।।** या न्यायाने फळ देते त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरूंच्या कृपेने मूलाधारस्थ कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन मलविक्षेपआवरणादि सर्व दोषांचे भस्म होते." **तियें ब्रह्मीं ऐक्यपणें। ब्रह्मचि होऊनि असणें। तें क्रमेंचि करून तेणें। पाविजे पैं।।१८.१००६।।** अशी स्थिती साधकाला क्रमाक्रमाने प्रयत्न करून प्राप्त होते. आता श्रीसद्गुरूंच्या केवळ दर्शनाने दृग्दीक्षा कशी होते ते पाहू.

दृग् दीक्षा :-

स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि।।
कुलार्णव तंत्र १४.३६।।

"हे पार्वती! मासा ज्याप्रमाणे आपल्या अपत्यांचे पालन केवळ प्रेमळ दृष्टीने करतो त्याप्रमाणे श्रीगुरूंच्या प्रेमळ कृपाकटाक्षाने शिष्यामध्ये शक्तिसंचार होऊन शिष्य कृतार्थ होतो."

संत हे साधकांच्या बाबतीत अत्यंत प्रेमळ व श्रीमंत असतात. **"कां जे लळेयाचे लळे सरती। मनोरथांचे मनोरथ पुरती"।।९-३।।** असे श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** म्हटल्याप्रमाणे साधकाला त्याने जी जी आळ घ्यावी किंवा जे जे मनोरथ करावे ती ती इच्छा व ते ते त्याचे मनोरथ सहज पूर्ण होतात, म्हणून त्यांना प्रेमळ म्हटले जाते. त्याचप्रमाणे **"परमार्थ महाधन। जोडी देवाचे चरण।।"** असे श्रीसंततुकाराममहाराजांनी म्हटल्याप्रमाणे परमात्म-स्वरूपाची प्राप्ती करून देत असल्याने त्यांना श्रीमंत म्हटले जाते. श्रीसंत निवृत्तिनाथमहाराजांनी दृग्दीक्षा देऊन आपल्याला कृतार्थ कसे केले हे वर्णन करताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हणतात,

तुमचेया दिठिवेयाचिये वोलें। सासिन्नले प्रसन्नतेचे मळे।
ते साउली देखोनि लोळें। श्रांत जी मी।।९.४।।
कां जैं दिठिवा तुमचा वरूषे। तैं सकळार्थसिद्धिमती पिके।
येऱ्हवीं कोंभेला उन्मेष सुके। जरी उदास तुम्ही।।९.२५।।

श्रीगुरुमहाराजांच्या कृपादृष्टीच्या ओलाव्यामुळे माझ्या अंतःकरणात प्रसन्नतेचे हिरवेगार मळे भरास आले. मी संसारतापाने अगदी पोळून गेलो होतो. परंतु त्यांची दृग्दीक्षा प्राप्त झाल्याबरोबर मी त्या कृपेच्या सावलीत अगदी आनंदाने लोळत आहे. कारण जेव्हा श्रीगुरूंच्या कृपादृष्टीचा म्हणजे दृग्दीक्षेचा साधकावर वर्षाव होतो तेव्हा सर्व शब्दांचे अर्थ खरोखरी कोणते आहेत याची सम्यक् दृष्टी साधकाच्या बुद्धीमध्ये उत्पन्न होते. या दीक्षेमुळे शब्दांचे ब्रह्मज्ञानार्थ प्रतिपादक अर्थ कसे आहेत हे समजणारी बुद्धी उत्पन्न होऊन पक्व होंते. मात्र अशी दृग्दीक्षा साधकाला मिळाली नाही तर ज्ञानाचा फुटलेला अंकुरही सुकून जातो.

"**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" १० व्या अध्यायात या दृग्दीक्षेचा महिमा वर्णन करताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "**हें असो दिठी जयावरी झळके। तो जीवचि परि तुके। महेशेंसीं ।।१०.९।।**" श्रीसद्गुरुरायांची दृष्टी ज्यावेळी साधकावर झळकते त्यावेळी साधकाच्या जीवस्थितीचा भंग होऊन त्याची योग्यता शिवाइतकी होते. म्हणजे दृग्दीक्षेच्या प्रभावाने जीव शिव होतो.

दृग्दीक्षेचा प्रभाव अपार आहे. डोळ्यांचे सामर्थ्य कल्पनातीत आहे. अर्जुनाला ते जाणवले. तो म्हणतो -

जी आनंदसरोवरींचीं कमळें। तैसे हे जे तुझे डोळे।
आपुलिया प्रसादाचीं राउळें। जयालागीं करिती।।११.६५।।

अर्जुन म्हणाला, "हे श्रीकृष्णा! आनंदसरोवरातील कमळाप्रमाणे तुझे डोळे आहेत. किती विशाल! किती सुंदर! ज्यावेळी तुझ्या नेत्रातून कृपेची किरणे साधकांवर पडतात त्यावेळी जन्मजन्मांतरीच्या अज्ञानाचा नाश होऊन ज्ञानाचा प्रसाद प्राप्त होतो. या ज्ञानप्रसादरूप मंदिरात साधक आनंदाने सुखाची राणीव भोगतो. दृग्दीक्षेमुळेच साधकाला आनंदाचे साम्राज्य प्राप्त होते."

श्रीसद्गुरूंच्या या दृग्दीक्षेचा अद्भुत महिमा श्रीसंतज्ञानेश्वर-महाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" १२ व्या अध्यायात फारच बहारदारपणे वर्णन केला आहे.

जयजय वो शुद्धे। उदारे प्रसिद्धे।
अनवरत आनंदें। वर्षतिये।।१२.१।।
विषयव्याळें मिठी। दिधलिया नुठी ताठी।
ते तुझिये गुरुकृपादृष्टी। निर्विष होय।।२।।
तरी कवणातें तापु पोळी। कैसेनि वो शोकु जाळी।
जरी प्रसादरसकल्लोळीं। पुरें येसी तूं।।३।।
योगसुखाचे सोहळे। सेवकां तुझेनि स्नेहाळे।
सोऽहंसिद्धीचे लळे। पाळिसी तूं।।४।।
आधारशक्तीचिया अंकीं। वाढविसी कौतुकीं।

हृदयाकाशपालखीं। परिये देसी निजें।।५।।
प्रत्यक्ज्योतीची ओवाळणी। करिसी मनपवनाची खेळणीं।
आत्मसुखाची बाळलेणीं। लेवविसी।।६।।
सतराविये चें स्तन्य देसी। अनाहताचा हल्लरू गासी।
समाधिबोधें निजविसी। बुझाउनी।।७।।
म्हणोनि साधकां तूं माउली। पिके सारस्वत तुझिया पाउलीं।
याकारणें मी साउली। न संडीं तुझी।।८।।
अहो सद्गुरुचिये कृपादृष्टी। तुझे कारुण्य जयातें अधिष्ठी।
तो सकळ विद्यांचिये सृष्टी। धात्रा होय।।९।।

"हे श्रीगुरुकृपादृष्टी माते! तुझा जयजयकार असो. तू शुद्ध आहेस. तू अत्यंत उदार म्हणून प्रसिद्ध आहेस. तू अखंड आनंदस्वरूप किंवा प्रेमरूप असून शिष्याच्या ठिकाणी अत्यंत परमानंदाचा वर्षाव करणारी किंवा प्रेमाची प्राप्ती करून देणारी आहेस. विषयरूपी भयंकर सर्पाने जीवाला मिठी मारून वेढून टाकल्यामुळे त्याला आत्मविस्मृतिरूप मूर्च्छा येते. ती कशानेही नाहीशी होत नाही. पण ज्यावेळी श्रीगुरू दृग्दीक्षा देतात तेव्हा त्यांच्या कृपादृष्टीनेच विषयरूपी सर्पाचे विष उतरून ती मूर्च्छा नाहीशी होते. या दृग्दीक्षेचा महिमा अपार आहे. ज्यावेळी श्रीसद्गुरूंच्या अंतःकरणात साधकाच्याविषयी कृपाप्रेमाचा पूर येऊन त्याच्या लाटा उसळू लागतात तेव्हा हे कृपाप्रेम दृष्टिद्वारा स्रवून शिष्याच्या ठिकाणी संक्रांत होते. त्यावेळी संसारातील त्रिविध तापाने पोळणारा साधक शांत होऊन जातो. प्रिय वस्तूचा वियोग व अप्रिय वस्तूचा संयोग यांच्या विषयीचा शोक त्याला जाळू शकत नाही."

"ही दृग्दीक्षा साधकाला मिळाली की, साधकाला कोणत्याही प्रकारचे सायास न करता योगसुखाचे सोहळे भोगावयास मिळतात. ही दीक्षा झाल्याबरोबर साधकाची कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन ती साधकाला अत्यंत सहजतेने व प्रेमाने योगाचा आनंद भोगवीत उन्नती पथावर नेत असते. शेवटी मी ब्रह्म व्हावे अशी जी साधकाची

इच्छा असते तीही या दीक्षेमुळे पूर्ण होते. या दीक्षेमुळे मूलाधारातील कुंडलिनी शक्ती जागृत होते. ती मोठ्या लीलेने व कौतुकाने सुषुम्णामार्गात प्रवेश करून साधकाला वर नेते. वर जाताना षट्चक्रांचा वेध होत जेव्हा शक्ती जाते तेव्हा ती आज्ञाचक्रामध्ये म्हणजे हृदयाकाशात येते. तेथे साधकाला आपल्या शुद्ध आत्मस्वरूपाचे ज्ञान होते. जणू काही या हृदयाकाशरूपी पाळण्यात साधकाला आपल्या शुद्ध आत्मस्वरूपाच्या ऐक्याचे झोकेच मिळतात. या दीक्षेमुळेच स्थलकाला-पलीकडील आत्मतत्त्वरूप ज्योतीची ओवाळणी मिळते. म्हणजे देहापासून बुद्धीपर्यंत जेवढी सूक्ष्म तत्त्वे आहेत त्या सर्वांच्या अंतर्यामी राहणाऱ्या चैतन्याची या दीक्षेमुळेच प्राप्ती होते. मन व प्राण या दान्ही अवघड गोष्टी दीक्षाप्रसादामुळे खेळण्याप्रमाणे स्वाधीन होऊन राहतात. बाळाला आईने अलंकार घालावेत त्याप्रमाणे आत्मसुखाचा अलंकार या दीक्षासाधनामुळे अनायासे प्राप्त होतो. शक्ती ऊर्ध्वगामिनी होऊन सहस्रारात गेली की, साधकाला व्योमचक्रातील चंद्रामृताच्या सतराव्या कलेचे दूध मिळते. तेथेच श्रीशिवशक्तीचे ऐक्य घडून येते. हे होत असताना नाना तऱ्हेचे अनाहत ध्वनी साधकाला ऐकू येतात. अनाहतनादामध्ये जेव्हा मनाचा लय होतो तेव्हा साधक नामरूपातीत होऊन त्याला समाधी सुख प्राप्त होते. साधक या समाधिबोधामुळे जणू काही स्वरूपात निद्रा घेत पहुडतो. म्हणून हे श्रीगुरुकृपादृष्टे! तुझ्यामुळे जे साधन प्राप्त होते त्यामुळे तू साधकांची सतत कृपादृष्टी सांभाळ करणारी आई आहेस. या दीक्षासाधनामुळेच सर्व प्रकारच्या विद्या साधकाला प्राप्त होतात. म्हणून श्रीज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, मी दृग्दीक्षा साधनाची कृपारूप साउली कधीही सोडणार नाही. हे श्रीसद्गुरूंचे कृपादृष्टी! तुझ्या कृपेचा आश्रय ज्याला मिळेल तो सृष्टी निर्माण करणाऱ्या ब्रह्मदेवाप्रमाणे नाना विद्यांची सृष्टी निर्माण करणारा ब्रह्मदेवच होतो."

शब्ददीक्षा :-

श्रीसद्गुरूंच्या शब्दाबरोबर शक्ती संक्रमित होऊन शिष्याच्या ठिकाणी आपण ब्रह्म आहोत असा भाव जेव्हा उदित होतो तेव्हा शब्ददीक्षा

घडून येते. शास्त्रकारांनी शब्ददीक्षेची व्याख्या करताना असे म्हटले आहे की -

निशम्य कोकिलशब्दं कोकिलः काकपालितः।
स्वीयां जातिं विजानाति गुरुवाक्यश्रवात्तथा।
स्वीयं स्वरूपं विज्ञाय शिष्यो ब्रह्मत्वमश्नुते।।

कावळ्यांच्यामध्ये पाळलेले कोकिळेचे पिल्लू कोकिळेचा शब्द ऐकताच मी कावळा नसून कोकीळ आहे असे ओळखते. त्याप्रमाणे "तू ब्रह्म आहेस" असे श्रीसद्गुरू म्हणताच शिष्याच्या ठिकाणी तो भाव उदित होऊन त्यास तसा अनुभव येतो तेव्हा त्याला शब्ददीक्षा असे म्हणतात.

या शब्ददीक्षेचे व तिच्या सामर्थ्याचे वर्णन करताना **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ४ थ्या अध्यायात श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की -

जयाचेनि वाक्य उजिवडें। जाहले चित्त निधडें।
ब्रह्माचेनि पाडें। निःशंकु होय।।१६९।।
ते वेळीं आपणपेयां सहिते। इयें अशेषेंहि भूतें।
माझ्या स्वरूपीं अखंडितें। देखसी तूं।।१७०।।
ऐसें ज्ञानप्रकाशें पाहेल। तैं मोहांधकारु जाईल।
जैं गुरुकृपा होईल। पार्था गा।।१७१।।

ज्यावेळी श्रीसद्गुरू शिष्याला "तू ब्रह्म आहेस" असे सांगतात त्यावेळी अशेष अज्ञान नाहीसे होऊन शिष्याच्या ठिकाणी ज्ञानाचा उजेड उत्पन्न होतो. त्यामुळे त्याचे चित्त निर्भय होते व निःसंशयपणे तो ब्रह्माच्या योग्यतेस जाऊन पोहोचतो. ही शब्ददीक्षा झाली की, तत्काळ ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होऊन साधक आपल्यासह सर्व जग भगवत्स्वरूप आहे असे पाहू लागतो. त्याची द्वैताची जाणीव नाहीशी होते. अशा रीतीने जेव्हा शब्ददीक्षारूप श्रीगुरुकृपा होते तेव्हा शक्तिसंक्रमण होऊन मलविक्षेपआवरणादि सर्व दोष जळून जाऊन साधकाच्या अंतःकरणात ज्ञानप्रकाशाचा उदय होऊन मोहरूपी अंधकार पूर्णपणे नाहीसा होतो.

"श्रीज्ञानेश्वरीच्या" सातव्या अध्यायातही श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी शब्ददीक्षेची अपूर्वता अलौकिकपणे वर्णन केली आहे.

जेथ तद्ब्रह्मवाक्यफळें। जियें नानार्थरसें रसाळें।
बहकतें आहाति परिमळें। भावाचेनि।।१८६।।
सहज कृपामंदानिळें। श्रीकृष्णद्रुमाचीं वचनफळें।
अर्जुनश्रवणाचिये खोळे। अवचित पडिलीं।।१८७।।
तियें प्रमेयांची हो कां वळलीं।
कीं ब्रह्मरसाच्या सागरीं चुबुकळिलीं।
मग तैसीच कां घोळिलीं। परमानंदें।।१८८।।
तेणें बरवेपणें निर्मळें। अर्जुना उन्मेषाचे डोहाळे।
घेताति गळाळे। विस्मयामृताचे।।१८९।।
तिया सुखसंपत्ति जोडलिया। मग स्वर्गा वाये वांकुलिया।
हृदयाच्या जीवीं गुतकुलिया। होत आहाती।।१९०।।
ऐसें वरचिलीचि बरवा। सुख जावों लागलें फावा।
तंव रसस्वादाचिया हांवा। लाहो केला।।१९१।।
कानाचेनि गवाक्षद्वारें। बोलाचे रश्मी अभ्यंतरें।
पाहेना तंव चमत्कारें। अवधान ठाकलें।।२००।।

"श्रीभगवंतांच्या बोलण्यात "तद्ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मप्रतिपादक वाक्ये आली. त्या वाक्यांचे सामर्थ्य अद्भुत व अपार होते. ती वाक्ये ब्रह्म-प्रतिपादक अशा नाना अर्थरूपाने भरलेली होती. कारण श्रीभगवंतांच्या मुखातून जी जी वाक्ये निघत होती ती शक्तिसहित संक्रमित होत असल्याने अर्जुनाच्या अंत:करणात त्यामुळे भक्तिप्रेमाचा सुगंध दरवळू लागला. श्रीभगवंतांची अर्जुनावर असलेली स्वाभाविक कृपा हाच मंदवायू होता. त्या मंदवायूने भगवान् श्रीकृष्णरूप वृक्षाची वचनरूप फळे अर्जुनाच्या श्रवणरूप झोळीत अकस्मात् पडली. म्हणजे श्रीकृष्णांच्या कृपेमुळे अर्जुनाला शब्ददीक्षा मिळून तो कृतार्थ झाला. ती वाक्यरूपी फळे सिद्धान्ताचीच बनली होती व ब्रह्मरसाच्या समुद्रात बुडविली होती. त्याचप्रमाणे ती परमानंदात घोळली होती. अशा त्या शुद्ध व

उत्कृष्ट वाक्यांनी अर्जुनाच्या अंत:करणाचा वेध घेतला. त्याबरोबर त्याच्या ठिकाणी "मी ब्रह्म आहे" असे ज्ञान उत्पन्न झाले. इतकेच नव्हे; तर या शब्ददीक्षेने अर्जुनाला अनेक दिव्य दिव्य अनुभव येऊ लागल्यामुळे तो विस्मयामृताच्या डोहामध्ये बुडून गेला. अशा दिव्य अनुभवांच्या रसाळ स्वादाच्या सुखाने अर्जुन संपन्न झाल्यामुळे त्याला स्वर्गसुख तुच्छ वाटू लागले. शब्ददीक्षेमुळे जे अपूर्व अनुभव अर्जुनाला आले त्यामुळे त्याच्या हृदयात गुदगुल्या होऊ लागल्या. अशा रीतीने श्रीभगवंतांच्या तोंडून निघालेल्या शब्दांमुळे अगदी सुरुवातीलाच वरवर पाहता पाहता अर्जुनाच्या मनात सुख उचंबळून आले. परंतु या वरवरच्या सुखकारक अनुभवांचा जो ब्रह्मरूप शेवट, त्या ब्रह्मरसाचा स्वाद घेण्याची त्याला उत्कट इच्छा झाली. ती त्याची इच्छा पूर्ण झाली; कारण भगवान् श्रीकृष्णांच्या मुखातून निघालेल्या शब्दांचे सामर्थ्य इतके अपूर्व होते की, विस्मयालाही विस्मय वाटला. अर्जुनाच्या कानाच्या झरोक्यातून भगवान् श्रीकृष्णांच्या शब्दांचे किरण हृदयाच्या आत गेल्याबरोबर त्याला दिव्य अनुभव आल्यामुळे त्याचे मन आश्चर्यचकित झाले व शेवटी तो ब्रह्मरूप होऊन गेला."

शब्ददीक्षेने हृदयात मूलत:च असलेले ज्ञान कसे प्रकट होते हे सांगताना **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ९ व्या अध्यायात श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की -

मोटकें गुरुमुखें उदैजत दिसे। आणि हृदयीं स्वयंभचि असें।
प्रत्यक्ष फावों लागे तैसें। आपैसयाचि।।४९।।

"अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यादि अगदी थोड्या शब्दांनी श्रीगुरू शिष्याला उपदेश देतात. हा उपदेश मिळाल्याबरोबर शक्तिपात होऊन शिष्याच्या ठिकाणी आत्म-ज्ञानाचा उदय होतो. वास्तविक आत्मज्ञान हे जीवाच्या ठिकाणी मूळचेच असते. ते अज्ञानाने म्हणजेच मलविक्षेपआवरणादि दोषांनी झाकलेले असते. जेव्हा वरील वाक्ये शक्तिसहित संक्रमित होतात तेव्हा उक्त दोष जळून जाऊन आत्मज्ञान विलसू लागते. हा अनुभव

शिष्याला या शक्तिपातयोगाच्या अलौकिक सामर्थ्यामुळे आपोआप येतो. त्याला कोणतेही सायास स्वत:हून करावे लागत नाहीत. मी मूळचाच **"सर्वदु:ख विनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभव:" (ब्रह्मसूत्र ४-१-२)** सर्वदु:खरहित केवळ ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप आहे असा अनुभव येऊन **"कोणाचे कांहीं न घेसी। आपुलेही तेसेंचि न देसी।।६८।।" (अमृतानुभव प्र.९)** श्रीगुरूंनी माझे काही घेतले नाही किंवा आपले काही दिलेही नाही असा आपोआप प्रत्यय येऊन शिष्य कृतार्थ होतो.

"श्रीज्ञानेश्वरीच्या" १० व्या अध्यायातही शब्ददीक्षेची महती आढळून येते.

जी आपुलिया स्नेहाची वागेश्वरी। जरी मुकेयातें अंगिकारी।
तो वाचस्पतीसीं करी। प्रबंधु होडा।।८।।
तरी ऐकें ऐकें गा सुवर्म। वाक्य माझें परम।
जें अक्षरें लेऊनि परब्रह्म। तुज खेंवासि आलें।।६२।।
पैं गुरुशिष्यांचिया एकांतीं। जे अक्षरा एकाचि वदंती।
ते मेघाचियापरी त्रिजगतीं। गर्जती सैंघ।।१२६।।
आजि आयुष्या उजवण जाहाली। माझिया दैवा दशा उदयली।
जे वाक्यकृपा लाधली। दैविकेनि मुखें।।१४७।।
आतां येणें वचनतेजाकारें। फिटलें आंतील बाहेरील आंधारें।
म्हणोनि देखतेसे साचोकारें। स्वरूप तुझें।।१४८।।
ते आतां वाक्यसूर्यकर तुझे फांकले।
आणि ऋषींनीं मार्ग होते जे कथिले।
तयां आघवयांचेंचि फिटलें। अनोळखपण।।१६३।।
तुझे वाक्य व्यक्ती न येतां देवा। जो आपुलिया जाणे जाणिवा।
तो कहींचि नोहे हें मद्भावा। भरंवसेनि आलें।।१७५।।
जयाचि गोठीचि ऐकतखेवों। आघवा संसार होय वावो।
बळिया नित्यता लागे येवों। आपणपेयां।।१९७।।
जन्ममृत्यूंची भाख। हारपोनि जाय नि:शेख।

आंत बाहेरि महासुख। वाढोंचि लागे।।१९८।।
मग दैवगत्या जरि सेविजे। तरी तें आपणचि होऊनि ठाकिजें।
तें तुज देतां चित्त माझें। पुरे म्हणों न शके।।१९९।।

"श्रीसद्गुरूंचे प्रेम हीच कोणी सरस्वती होय. ज्यावेळी शब्द प्रेमाने थबथबून श्रीगुरूंच्या मुखातून स्रवतात तेव्हा शक्तीचे संक्रमण होऊन शिष्याच्या ठिकाणी अलौकिक सामर्थ्य उत्पन्न होते. **"अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम्।"।। सूतसंहिता ब्रह्मगीता ४.१२३।।** असे या शब्ददीक्षेने घडून येत असल्यामुळे शक्तिपातयोग सामर्थ्यामुळे श्रीसद्गुरूंच्या प्रेममय शब्दांनी मुक्याचा अंगीकार केला तर तो बृहस्पतीशी देखील ग्रंथरचनेत प्रतिज्ञेने पैज लावू शकेल अशी स्थिती उत्पन्न होते.

शब्ददीक्षेचे सामर्थ्यच अलौकिक आहे. त्यामुळे श्रीकृष्ण अर्जुनाला असे म्हणतात की, "माझे हे शक्तीने संपुटित झालेले वाक्य ऐक. माझे हे वाक्य साधेसुधे नसून अक्षररूपाने साक्षात् परब्रह्मच तुला आलिंगन देण्यास आले आहे. श्रीसद्गुरू शिष्याला एकांतात शब्ददीक्षा एखाद्या नाममंत्राने किंवा "तत्त्वमस्यादि" महावाक्याचा आश्रय करून देतात. त्या एका शब्दाने शिष्याची कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन शरीरस्थ त्रिजगतात मेघाच्या गर्जनेप्रमाणे अनाहत नादाची नानाप्रकारे गर्जना होऊ लागते. शक्तीचे चालन झाले की, ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी व रुद्रग्रंथींचे भेदन होते. शरीरस्थ त्रिजगतात ज्ञानरूपी गौरी (माहेश्वरी) शक्ती, इच्छारूपी ब्राह्मीशक्ती व क्रियारूपी वैष्णवीशक्ती किंवा लक्ष्मी यांचा निवास असतो. मूलाधारापासून नाभिचक्रापर्यंत इच्छाशक्तिरूप ब्राह्मीशक्तीचे स्थान आहे. हिलाच अधःशक्ती असे म्हटले जाते. नाभीपासून कंठचक्रापर्यंत क्रियाशक्तिरूप विष्णुशक्तीचे स्थान आहे. या वैष्णवीशक्तीलाच मध्यशक्ती म्हणतात. कंठचक्रापासून आज्ञाचक्रापर्यंत ज्ञानशक्तिरूप शिवशक्तीचे स्थान आहे. हिला ऊर्ध्वशक्ती म्हणतात. याच्यापुढे निरंजन निर्गुण ब्रह्माचे स्थान आहे. या तीनही ग्रंथींचा भेद करून शक्ती ऊर्ध्वगामिनी झाली की, तीनही शक्तींना आपल्यामध्ये सामावून ती ब्रह्मरंध्रामध्ये स्थिर होते. त्यावेळी साधक नामरूपातीत

अशा निरंजन पदाची प्राप्ती करून घेतो. असा शब्ददीक्षेचा महिमा अपूर्व आहे."

अर्जुन म्हणाला, "हे प्रभो! श्रीकृष्णा!! आपण शब्ददीक्षेने माझ्यावर जो शक्तिपातयोगानुग्रह केला त्यामुळे माझ्या आयुष्याची सफलता झाली व माझ्या दैवाच्या भाग्यदशेस प्रारंभ झाला. इतकेच नव्हे तर; हे प्रभो! या वचनाच्या अर्थरूप ज्ञानप्रकाशाने माझा आतील व बाहेरील अज्ञान अंधकार नाहीसा झाला. त्यामुळे आता तुझे खरे स्वरूप मी पाहत आहे. तुझे वाक्यरूपी सूर्यकिरण माझ्या अंत:करणात फाकल्यामुळे पूर्वी ऋषींनी जे मार्ग सांगून ठेवले आहेत त्या सर्वांची, आज शब्ददीक्षेमुळे जे ज्ञान उत्पन्न झाले, त्यामुळे ओळख पटली. म्हणजे त्यांनी जे तुझ्या स्वरूपाचे पूर्ण ब्रह्मत्त्व म्हणून वर्णन केले होते ते सर्व यथार्थ आहे याचा आज मला अनुभव आला. अशा प्रकारे शब्ददीक्षा जोपर्यंत होत नाही तोपर्यंत हे प्रभो! तुझ्या वचनाचा यथार्थ व स्पष्ट बोध होत नाही. कारण शब्ददीक्षेने शक्तिपात होऊन दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन झाल्याशिवाय आपल्या बुद्धीनेच जाणण्याचा एखाद्याने कितीही प्रयत्न केला, तरी त्याला त्यांचा यथार्थ बोध होणे कधीही शक्य नाही, हे मला निश्चित कळून आले आहे. या शब्ददीक्षारूप परमामृताचे जो पान करतो त्याचा सर्व संसार खोटा ठरतो व आपला विनाशीपणा जाऊन बळेच आपोआप आपल्या ठिकाणी नित्यता धर्म येतो. शब्ददीक्षेमुळे जन्ममरणाची भाषा नि:शेष नाहीशी होते व आतबाहेर परमसुख वाढू लागते. सुदैवाने या शब्ददीक्षारूप परमामृताचे सेवन झाले असता तो साधक परमामृतस्वरूप होऊन जातो. असे हे परमामृत तू मला पाजीत असताना माझे चित्त पुरे म्हणू शकत नाही."

"**श्रीज्ञानेश्वरीतील**" ११ व्या अध्यायातही शब्ददीक्षेचे वर्णन पुढीलप्रमाणे आले आहे.

म्हणौनि तो देवांचा रावो। म्हणे पार्थातें तुज दिव्य दृष्टी देवों।
जया विश्वरूपाचा ठावो। देखसी तूं।।१७६।।
ऐसीं श्रीमुखौनि अक्षरें। निघती ना जंव एकसरें।

तंव अविद्येचे आंधारें। जावोंचि लागे।।१७७।।
तीं अक्षरें नव्हती देखा। ब्रह्मसाम्राज्यदीपिका।
अर्जुनालागीं चित्कळिका। उजळलिया श्रीकृष्णें।।१७८।।
मग दिव्यचक्षुप्रकाशु जाहला। तया ज्ञानदृष्टी फांटा फुटला।
ययापरी दाविता जाहला। ऐश्वर्य आपुलें।।१७९।।

तो देवांचाही देव भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनाला असे म्हणाला की, "ज्या दृष्टीने माझ्या विश्वरूपाचे दर्शन तुला घेता येईल अशी दृष्टी मी तुला देतो. श्रीकृष्णांच्या मुखातून अशी अक्षरे निघाल्याबरोबर शक्तिसंक्रमण होऊन एकदम अविद्यारूपी अंध:कार नाहीसा झाला. श्रीभगवंतांच्या मुखातून "मी तुला दिव्यदृष्टी देतो" ही जी अक्षरे निघाली ती साधीसुधी अक्षरे नव्हती. त्या शब्दांच्या ठिकाणी अपूर्व सामर्थ्य होते. ती अक्षरे म्हणजे ब्रह्मस्वरूपाचे साम्राज्य दाखविणारी ज्योती होती. ती ज्ञानज्योती शब्ददीक्षा देऊन अर्जुनाकरिता श्रीभगवंतांनी उजळली होती. या शब्ददीक्षेमुळे अर्जुनाचा अज्ञानांध:कार नाहीसा होऊन चैतन्याचा प्रकाश सर्वत्र पसरला. त्यामुळे ज्ञानदृष्टी प्राप्त होऊन अद्वैत स्थिती अर्जुनाला प्राप्त झाली. ही स्थिती प्राप्त होण्यापूर्वी शब्दाच्या द्वाराने जी शक्तिपातयोगदीक्षा झाली होती त्यामुळे त्याला नाना तऱ्हेचे दिव्य अनुभव प्राप्त झाले. श्रीभगवंतांनी अर्जुनाला जे विश्वरूप ऐश्वर्य दाखविले ते सर्व दिव्य अनुभवांच्या रूपांनी शब्ददीक्षा देऊन दाखविले.

"श्रीज्ञानेश्वरीच्या" अठराव्या अध्यायातही शब्ददीक्षेची अपूर्वता वर्णन करताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी असे म्हटले आहे की,-

तैसें जया कोण्हासि दैवें। गुरुवाक्यश्रवणाचिसवें।
द्वैत गिळोनि विसंवे। आपणया वृत्ती।।९८८।।
कानांवचनाचिये भेटी-। सरिसाचि पैं किरीटी।
वस्तु होऊनि उठी। कवणि एकु जो।।९९१।।

ज्यावेळी दैवयोगाने श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती होऊन साधकाला शब्ददीक्षा मिळते तेव्हा श्रीगुरुवाक्यश्रवणाबरोबर भेदाचा सर्वार्थाने नाश होऊन

तो आपल्या स्वरूपाच्या ठिकाणी स्थिर होतो. अर्जुना! जो साधक तीव्र अधिकारी असेल त्याला जेव्हा शब्ददीक्षा होते तेव्हा श्रीगुरूंच्या उपदेशरूप वचनाची म्हणजे तत्त्वमस्यादि व त्याच्या कानाची गाठ पडल्याबरोबर तो ब्रह्मरूप होतो.

ध्यानदीक्षा :- (कृपा किंवा पत्रदीक्षा)

यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशश्च मानुषस्य तथाविधः।।
कुलार्णव तंत्र १४.३७।।

ज्याप्रमाणे कासवी केवळ मनाने चिंतन करून भूमीच्या खाली ठेवलेली अंडी उबवून पिल्लांना वाढविते व त्यांचे पोषण करते त्याप्रमाणे केवळ संकल्पाने श्रीगुरू शिष्याची शक्ती जागृत करून शक्तिसंचार करतात. या प्रकाराने जी वेधदीक्षा किंवा शक्तिसंचार होतो त्याला मानसदीक्षा असेही म्हणतात.

श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" ६ व्या अध्यायात कृपादीक्षेच्या सामर्थ्याचे पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे.

तें बुद्धीही आकळितां सांकडें। म्हणऊनि बोलीं विपायें सांपडे।
परी श्रीनिवृत्तिकृपादीपउजियेडें। देखेन मी।।३२।।
जें दिठीही न पविजे। तें दिठीवीण देखिजे।
जरी अतींद्रिय लाहिजे। ज्ञानबळ।।३३।।
ना तरी जे धातुवादाही न जोडे। तें लोहींचि पंधरें सांपडे।
जरी दैवयोगें चढे। परिसु हातां।।३४।।
तैसी सद्गुरुकृपा होये। तरी करितां काय आपु नोहे।।३५।।

परब्रह्म हे बुद्धीला आकलन करणे कठीण आहे. त्यामुळे शब्दाने त्याचे क्वचितच वर्णन करता येते. असे जरी असले तरी श्रीनिवृत्तिनाथ श्रीसद्गुरूंची कृपादीक्षा झाल्यावर त्या कृपारूप दिव्याच्या प्रकाशात मी ते परब्रह्म पाहीन असे श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज म्हणतात. ज्यावेळी अशी ध्यानकृपादीक्षा मिळते त्यावेळी शक्तिपातामुळे इंद्रियातीत असे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होते. ते जर प्राप्त झाले तर इंद्रिय दृष्टीलाही जे दिसू

शकत नाही ते इंद्रियावाचूनही पाहता येते. किमयेने लोखंडाचे जातिवंत सोने होऊ शकत नाही. पण दैवाने परिस हाती आला तर त्या परिसाने मात्र धातूचे जातिवंत सोने होऊ शकते. त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरूंची कृपादीक्षा झाल्यावर जर प्रयत्न केला तर काय साध्य होणार नाही?

भगवान् श्रीकृष्णाने कृपादीक्षा देऊन अर्जुनाला संसारसागरातून कसे तारले याचे वर्णन **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ११ व्या अध्यायात श्रीसंत ज्ञानेश्वरमहाराजांनी पुढीलप्रमाणे केले आहे.

मग पार्थु देवातें म्हणे। जी तुम्हीं मजकारणें।
वाच्य केलें जें न बोलणें। कृपानिधे।।४४।।
जैं महाभूतें ब्रह्मीं आटती। जीव महदादिचे ठाय फिटती।
तैं जें देव होऊनि ठाकती। तें विसवणे शेषींचें।।४५।।
होतें हृदयाचिये परिवरीं। ठेविलें कृपणाचिये परी।
शब्दब्रह्मासिही चोरी। जयाची केली।।४६।।
तें तुम्ही आजि आपुलें। मजपुढां हियें फोडिलें।
जया अध्यात्मा वोंवाळिलें। ऐश्वर्य हरें।।४७।।
ते वस्तु मज स्वामी। एकिहेळां दिधली तुम्हीं।
हें बोलों तरी आम्ही। तुजपासोनि भिन्न कैंचे।।४८।।
परि साचचि महामोहाचिये पुरीं। बुडालिया देखोनि सीसवरी।
तुवां आपणपें घालोनि श्रीहरी। मग काढिलें मातें।।४९।।
आणि मी तंव दातारा। ये कृपाचिये रिघोनि गाभारां।
घेत आहें चारा। ब्रह्मरसाचा।।६७।।

मग अर्जुन म्हणाला की, "देवा! तुम्ही कृपासागर आहात. त्यामुळे कृपादीक्षा देऊन जे परब्रह्म बोलून दाखविले जात नाही ते तुम्ही मला प्रत्यक्षात आणून दिले. जेव्हा ही संपूर्ण महाभूते परब्रह्मात लय पावतात व जीवरूप पराप्रकृती व महदादिरूप अपराप्रकृती यांचे नावही राहत नाही तेव्हा तुम्ही परब्रह्मस्वरूपात स्थिर होऊन राहता. हेच कुंडलिनीरूप शेषशक्तीचे खरे विश्रांतिस्थान आहे. हे स्थान सहस्त्रारात आहे. तेच खरे हृदयमंदिर आहे. त्या ठिकाणी हे

परब्रह्म एखाद्या कृपण मनुष्याप्रमाणे लपवून ठेवले आहे. शब्दब्रह्मापासून म्हणजे वेदापासूनही ते चोरून ठेवले आहे. याचा अर्थच असा आहे की, वेद सुद्धा त्या स्वरूपाला जाणू शकत नाहीत. परंतु तुम्ही ते आत्मस्वरूप हृदय उघडे करून कृपेने मला दाखविले. त्यामुळे मी धन्य झालो. या अध्यात्मस्वरूपावरून श्रीशंकरांनी कैलासाचे राज्य ओवाळून टाकून स्मशानात वास केला. हे प्रभो! ती अध्यात्मवस्तू, ते ज्ञान, तुम्ही मला एकदम दिले. वास्तविक दिले व घेतले ही भाषा खरी नाही. आम्ही तुमच्यापासून निराळे नसल्यामुळे ही स्वभावतःच होण्याघडण्याची गोष्ट आहे. पण खरोखरच मी या संसाररूपी महामोहाच्या पुरात डोक्यापर्यंत बुडालो आहे, हे पाहून, देवा! आपण स्वतः त्यात उडी टाकून मला बाहेर काढले. ही खरी कृपादीक्षा आहे. आपण कृपासागरच आहात. मी तर तुमच्या कृपेच्या गाभाऱ्यात बसून ब्रह्मानंदाचा स्वाद घेत आहे.

"श्रीमद्भगवद्गीतेच्या" १८ व्या अध्यायातही ही कृपादीक्षा कशी अपूर्व आहे हे सांगताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज म्हणतात -

ते सत्त्वशुद्धी साहाकारें। गुरुकृपामृततुषारें।
सासिन्नलेनि बोधें वोसरे। द्वैतदैन्य।।२५९।।
म्हणौनि धनंजया। तूं संसारदुर्गती यया।
तरसील माझिया। प्रसादास्तव।।१२७३।।

"साधकाला शुद्ध सत्त्वाच्या साहाय्याने श्रीगुरुकृपारूपी अमृताच्या तुषारांचा लाभ कृपादीक्षेने झाल्यामुळे जो आत्मबोध होतो त्यामुळे त्याचे द्वैताचे दैन्य नाहीसे होते. म्हणून श्रीकृष्ण अर्जुनाला असे म्हणाले की, "हे धनंजया! या कृपादीक्षारूप प्रसादाशिवाय संसार-दुर्गतीपासून तरण्याचा दुसरा मार्गच नाही."

दीक्षेचे व साधनाचे स्थान :-

ज्या ठिकाणी बसून साधक दीक्षा घेणार ते व नित्यसाधनाचे स्थान अत्यंत पवित्र असले पाहिजे. **"मंत्रयोगसंहितेमध्ये"** दीक्षेच्या स्थानाचे वर्णन करताना असे म्हटले आहे की -

गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च दीक्षणम्।।१।।
धात्रीबिल्वसमीपे च पर्वताग्रगुहासु च।
गङ्गायास्तु तटे वापि कोटिगुणं फलं भवेत्।।२।।
अथवा गुरुरेवास्य दीक्षयेद् यत्र तच्छुभम्।
गुरोः परतरं नास्ति तद्वाक्यं श्रुतिसन्निभम्।।३।।

दीक्षेच्या वेळी जीवात्म्याच्या व परमात्म्याच्या मिलनाचा मार्ग मोकळा व्हावयाचा असतो. याकरिता उत्तम स्थानाची आवश्यकता असते. स्थान जितके उत्तम तितकी शिष्याची अभिष्ट सिद्धी होण्याला अवसर अधिक हे निश्चित आहे.

दीक्षेकरिता स्थान प्रशस्त व पवित्र असावे. गोशाला, श्रीगुरुगृह, देवालय, वन, (एकांत अरण्य) पुण्यक्षेत्र, (तीर्थक्षेत्र) उद्यान, नदीतट, आवळ्याच्या किंवा बेलाच्या झाडाखाली, पर्वतावर, गुहेत किंवा श्रीगंगेच्या तीरावर दीक्षा ग्रहण केली पाहिजे. श्रीगंगेच्या तीरावरील कोणत्याही स्थानी दीक्षा ग्रहण करण्यात खूप मोठे पुण्य आहे. याकरिता श्रीगंगा तटावर दीक्षा ग्रहण करणे ही सर्वोत्तम गोष्ट आहे. श्रीगंगेच्या तीरावरील सर्व स्थाने तीर्थरूप आहेत.

या सर्वांपेक्षा श्रीगुरूंची ज्या ठिकाणी दीक्षा देण्याची इच्छा होईल व ते ज्या ठिकाणी दीक्षा ग्रहणासाठी शिष्यास बसावयास सांगतील ते स्थान सर्वश्रेष्ठ आहे असा नितांत विश्वास शिष्याने मनात बाळगला पाहिजे. श्रीगुरूंचे वाक्य हे वेदतुल्य वाक्य असून त्यांच्याशिवाय या त्रिभुवनात कोणतेही मोठे तीर्थ नाही.

नित्याच्या साधनाची जागाही फार सुंदर व मनोहर अशा एकांतस्थळी असावी असे श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी सांगितले आहे. परंतु प्रत्येक साधकाला अशी जागा सध्याच्या कालात उपलब्ध होणे शक्य नसल्याने कालमानाला अनुसरून जागा कशी असावी हे पाहू.

साधनाला शक्यतो स्वतंत्र व एकांताची खोली असावी. तेथे निदान साधनाच्या वेळी तरी लोकांची जा ये नसावी. साधनाची

खोली-जागा दररोज एकच असली म्हणजे खूप फायदा होतो. अशी शक्यता नसल्यास भिन्न जागी साधन करण्यास हरकत नाही. साधनाच्या खोलीत जितका अधिक एकांत, स्वच्छता व प्रसन्नता राहील तितका अधिक लाभ होईल. पलंग, टेबल, दिवा, उदबत्ती, समई, काचेच्या वस्तू इत्यादि शरीराला जखम करणाऱ्या किंवा साधनात क्रिया सुरू झाल्यावर काही तरी अनिष्ट घडून येईल अशा वस्तू आसपास असू नयेत. जागा भरपूर मोकळी असावी. आपण नित्य ज्या खोलीत अभ्यास करतो त्या खोलीचे वातावरण शक्तियुक्त होत असते. जर ती खोली दुसऱ्या कामासाठी उपयोगात आणली तर तेथील वातावरण दूषित होते. यासाठी साधनाव्यतिरिक्त खोली बंद ठेवणे अधिक श्रेयस्कर ठरते. खोलीत उन्हाळ्यात गारवा व थंडीत उष्णता असावी. मात्र पंखा लावून ठेवून साधन करू नये. खोली जवळ कोणत्याही प्रकारची घाण असू नये. दुर्गंधीमुळे साधन चांगले होत नाही. साधनापूर्वी धूप जाळून किंवा उदबत्ती लावून खोली सुवासिक करावी. मात्र धूर होणार नाही याची काळजी घ्यावी. डास, पिसवा, किडे, ढेकूण किंवा मुंग्या खोलीत असू नयेत. असे स्थान न मिळाल्यास किंवा परिस्थितीमुळे काही कमतरता असल्यास भगवान् श्रीवेदव्यासांनी **"ब्रह्मसूत्रात"** केलेल्या सूचनेप्रमाणे **"यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।।४.१.११।।"** म्हणजे जागा कशीही असली तरी जेथे मन एकाग्र होईल तेथे साधन करावे. साधन देवघरातच बसून केले पाहिजे असे नाही.

साधनासाठी आसन :-

साधनासाठी आसन कसे असावे हे सांगताना **"श्रीमद्भगवद्गीतेच्या"** ६ व्या अध्यायात भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनाला असे सांगतात की -

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

अतिशय शुद्ध अशा पवित्र स्थळी अत्यंत उंच होणार नाही व अगदी जमिनीशी लागून होणार नाही असे आपले स्थिर आसन असावे. हे आसन खाली दर्भ अंथरून त्यावर मृगचर्म घालून व

शेवटी वस्त्राची घडी घालून तयार करावे.

"कुलार्णवतंत्र," "संमोहनतंत्र" व **"गंधर्वतंत्रात"** आसन कोणते असावे व त्याचा उपयोग कसा होतो हे सांगताना असे म्हटले आहे की-

तूलकम्बलवस्त्राणां सिंहव्याघ्रमृगाजिनम्।
कल्पयेदासनं धीमान् सौभाग्यज्ञानवर्धनम्।।१।।
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिः मुक्तिः स्याद् व्याघ्रचर्मणि।
वस्त्रासने व्याधिनाशः कम्बलं दुःखमोचनम्।।२।।

साधकाने आसनावर बसल्याशिवाय साधन करता कामा नये. आसनाशिवाय साधन करणे शास्त्रसंमत नाही. यासाठी बुद्धिमान् साधकाने सौभाग्य प्राप्त व्हावे व ज्ञानबुद्धी व्हावी म्हणून वस्त्राचे किंवा लोकरीपासून तयार केलेले आसन वापरावे. सिंह, व्याघ्र किंवा मृगचर्माचाही उपयोग करण्यास हरकत नाही. काळ्या हरणाच्या कातड्यावर बसून साधन केल्याने ज्ञानाची सिद्धी होते. सिंह किंवा व्याघ्रचर्मावर बसून साधन केल्याने समाधीची सिद्धी लवकर होऊन मोक्षप्राप्ती लवकर होते. कंबलासनावर बसून साधन केल्याने दुःखाची निवृत्ती होते. वस्त्रासनामुळे व्याधिनाश होतो.

आसन कसे असू नये हेही साधकाने लक्षात ठेवले पाहिजे.

धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारुजासने।
वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडनम्।।१।।
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः।
जपध्यानतपोहानि जायते वसनासने।।२।।

आसन न घालता जमिनीवर बसून साधन केल्याने त्रास, दुःख व व्याधी होण्याचा संभव असतो. बांबूपासून तयार केलेल्या आसनावर बसून साधन केल्याने दारिद्र्य येते. जमिनीवर बसून साधन केल्याने पीडा व रोगाची उत्पत्ती होते. गवतावर बसून साधन केल्याने यशहानी व पानावर बसून साधन केल्याने चित्तामध्ये भ्रांती उत्पन्न होते. नुसत्या वस्त्रासनावर बसून साधन केल्याने जप, ध्यान व तप यांचा नाश होतो.

पाटावर, पलंगावर किंवा टेबलावर बसून साधन करू नये. अशा प्रकारे साधन केल्यास पडण्याचा संभव असतो. आसन पाच फूट लांबरुंद, मऊ, नरम, सुखकारक, जाड व औरस चौरस प्रशस्त असे असावे. गादीपेक्षा चौपदरी घोंगडी, जाड सतरंजी किंवा गालीचा उत्तम. आसन खोलीच्या मधोमध घालावे. भिंतीजवळ घालू नये. कारण साधनाच्या वेळी क्रिया जोरात झाल्यास किंवा मागे पडल्यास शरीराला लागण्याचा संभव असतो. आसनाच्या चारी बाजूला जागा मोकळी असावी. आपल्या आसनावर दुसऱ्या कोणालाही बसू देणे उचित व इष्ट नाही. त्यामुळे दुसऱ्याचे दोष येण्याची शक्यता असते.

साधनाला बसण्याची पद्धत :-

शक्तिपातयोगसाधन ही जागृत म्हणजेच प्रत्यक्ष अनुभूती देणारी साधना आहे. त्यामुळे साधनाला बसताना एखादे विशिष्ट आसन घालूनच साधन सुरू केले पाहिजे अशी आवश्यकता नाही.

सोयीची, सुखकारक व आराम वाटेल अशी मांडी घालून पाठीला बाक न येता सरळ व ताठ बसून साधनाला आरंभ करावा. श्रीकपिल महामुनींनी **"सांख्यसूत्रात"** असे लिहिले आहे की, **"स्थिर-सुखमासनमिति न नियमः।।६.२४।।"** ज्यामुळे देह व मन स्थिर होऊन सुख वाढेल त्याला आसन म्हणतात. यासंबंधी आणखी कोणताही नियम नाही. मुद्दाम पद्मासन किंवा सिद्धासन घालून साधनाला बसू नये. त्यामुळे शरीरावर ताबा व संयम येऊन साधनाच्या वेळी आतून होणाऱ्या क्रियांना अडथळा उत्पन्न होतो. साधनात होणाऱ्या क्रियांना अगदी मोकळेपणाने वाव मिळाला पाहिजे. यासाठी साधी मांडी घालून बसले म्हणजे शक्तीकडून आवश्यक त्या क्रिया होऊन लवकर प्रगती होईल. एकाच आसनावर पुष्कळ वेळ बसल्याने पायास रग लागल्यास अगर मुंग्या येऊ लागल्यास पाय बदलण्यास हरकत नाही. ज्यांचे गुडघे दुखतात त्यांनी ताठ बसून पाय लांब पसरून व कंबरेला फार रग लागल्यास आडवे पडून साधन करण्यास हरकत नाही.

साधनाला बसण्यापूर्वी करावयाची प्रर्थना :-

साधनाला बसण्यापूर्वी पुढील प्रार्थना करून साधनाला सुरुवात करावी.

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि।।१।।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।२।।
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।३।।
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नम।।४।।
मन्त्रः सत्यं पूजा सत्यं सत्यं देवो निरञ्जनः।
गुरुर्वाक्यं सदा सत्यं सत्यमेव परम्पदम्।।५।।

साधनाची वेळ :-

सकाळ संध्याकाळची साधनाची निश्चित वेळ ठेवल्याने खूप फायदा होतो. त्यामुळे साधनात नियमितपणा येतो. साधन निरंतर होण्याची शक्यता खूप वाढते. खंड पडत नाही. ज्याप्रमाणे जेवणाची ठराविक वेळ असली म्हणजे ती वेळ झाली की, भूक लागते त्याप्रमाणे साधनाची वेळ झाली की, मन तिकडे खेचले जाऊन साधन होते.

प्रत्येक दिवशी सकाळी व संध्याकाळी कमीत कमी एक एक तास तरी उत्साहाने साधन केले पाहिजे. शक्य असेल तर दुपारी व मध्यरात्री उठून साधन केले तर अधिक चांगले. एखाद्या दिवशी ठरलेल्या वेळी काही अपरिहार्य कारणामुळे साधन झाले नाही तर इतर वेळेला साधन अवश्य केले पाहिजे. काही सामाजिक, व्यावहारिक, शारीरिक व मानसिक कारणांमुळे साधन झाले नाही तर निरुत्साहित व अस्वस्थ होता कामा नये.

भोजन झाल्यानंतर तीन तासपर्यंत बैठक करू नये. भोजनानंतर तत्काळ भरल्या पोटी किंवा भुकेने व्याकूळ झालेल्या अवस्थेत रिकाम्या पोटी साधन करू नये. अशा वेळी अगदी थोडेसे खाऊन साधनाला बसावे.

सुतकामध्ये साधन करू नये. सोयरात करण्यास हरकत नाही. साधनाच्या वेळी शरीरावर वारा बसू देऊ नये. खोलीत दिव्याचा किंवा अन्य कोणत्याही प्रकारचा प्रखर प्रकाश असू नये. त्याचप्रमाणे परगावी गेल्यावर साधकाला एकांताची स्वतंत्र खोली असल्यास साधन करावे. तशी सोय नसल्यास साधन करू नये.

साधनेसाठी वस्त्रे :-

साधनाच्या वेळी कमीत कमी कपडे अंगावर असावेत. पुरुषांनी धोतर अगर पंचा नेसून बसावे. पँण्ट घालून बसल्याने शरीर जखडल्यासारखे होते. शरीरावर अधिक कपडे असले म्हणजे मोकळेपणी क्रिया होत नाहीत. थंडीच्या दिवसात प्रकृतीमानाप्रमाणे कपडे घालण्यास हरकत नाही. साधनाच्यावेळी येणारी लाळ किंवा नाक पुसण्याकरिता जवळ रुमाल ठेवावा. तो रोज धुवावा.

साधनातील क्रिया :-

ज्यावेळी श्रीमहेश्वरांची कृपा होते तेव्हा श्रीगुरुकृपेने व प्रबल पुण्यप्रतापामुळे साधकाची आत्मसत्ता जागृत होते. या आत्मसत्तेला योगी लोक कुंडलिनी शक्ती असे म्हणतात. भक्तिमार्गाने जाणारे भक्त हिलाच आह्लादिनी शक्ती असे म्हणतात. वेदान्ती लोक या आत्मसत्तेला चिच्छक्ती असे नाव देतात. तर मंत्रतंत्राचे उपासक तिला महामाया आद्याशक्ती कुलकुंडलिनी या नावाने संबोधितात. या आत्मसत्तेच्या जागृतीची सर्वजण इच्छा करतात; कारण ही आत्मसत्ता जागृत झाल्याशिवाय व स्वत: वाटचाल करू लागल्याशिवाय इतर कोणत्याही प्रकाराने सुलभतेने साधक परमात्मस्वरूप होऊ शकत नाही. ही आत्मसत्तारूप कुंडलिनी शक्ती जागृत झाली की, ती अनादिकालाच्या निद्रेचा त्याग करून ब्रह्मस्वरूप प्रकट होऊन

श्रीशिवाशी ऐक्य व्हावे म्हणून गतिमान होते. त्यामुळे जप, यज्ञ, पूजा, ध्यान इत्यादि सर्व बाह्य साधने समाप्त होऊन खरे अंतरंग साधन सुरू होते. श्रीशक्ती श्रीशिवाशी समरस होण्यासाठी धडपड करू लागते. त्यावेळी साधकाच्या शरीरात हठयोग, लययोग, मंत्रयोग व राजयोगातील निरनिराळ्या क्रिया आपसुख होत असल्याने त्या होऊ देण्यातच साधकाला आनंद वाटत असतो. त्या अवस्थेत सर्व ब्रह्मांड साधकाच्या अंतरंगामध्ये चित्रविचित्र रूपाने दिसू लागते. जागृतशक्ती नाना तऱ्हेच्या क्रिया साधकाकडून करविते. या क्रियांच्या-मुळे साधकाला नाना तऱ्हेचे आश्चर्यकारक अनुभव येतात. **"योगशिखो-पनिषदाच्या"** ६ व्या अध्यायात यासंबंधी असे म्हटले आहे की -

मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदाभवेत्।
मनसा मन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्यया दश।।६४।।
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत्।।६५।।
बिन्दुनादकलाज्योतिर्बिन्दुर्ध्रुवतारकम्।
शान्तं च तदतीतं च परं ब्रह्म तदुच्यते।।६६।।
हसत्युल्लसति प्रीत्या क्रीडते मोदते तदा।
तनोति जीवनं बुद्ध्या बिभेति सर्वतो भयात्।।६७।।
रोधते बुध्यते शोके मुह्यते नवसम्पदा।
कम्पते शत्रुकार्येषु कामेन रमते हसन्।।६८।।
स्मृत्या कामरतं चित्तं विजानीयात्कलेवरे।
यत्र देशे वसेद्वायुश्चित्तं तद्वसति ध्रुवम्।।६९।।

ज्यावेळी कुंडलिनीशक्ती जागृत होऊन ती क्रियाशील होईल त्यावेळी मनानेच मनाला पाहून योगसाधन घडू लागते. अशा प्रकारे ज्यावेळी योगसाधन आपोआप घडू लागेल त्यावेळी साधकाला दशेंद्रियविषयक अतींद्रिय ज्ञान होते. अशा प्रकारे साधन करताना जेव्हा अनुभव येऊ लागतो त्यावेळी योगाची सिद्धी फार लवकर होते. नाद, बिंदू, कला, ज्योती, सूर्य, चंद्र, ध्रुव, तारा इत्यादि परब्रह्माची अभिव्यक्ती करणारी चिह्ने अंतराकाशात दिसतात व पुढे नाहीशी

होतात. ज्यावेळी या क्रिया संपतात त्यावेळी मन शांत होते. त्यावेळी कोणतीही क्रिया होत नाही. मग शांत्यातीत अवस्था प्राप्त होते. शांत्यातीत अवस्था ही परब्रह्म आहे. ही अवस्था मनाच्या व वाणीच्या पलीकडे असल्यामुळे केवळ स्वानुभवगम्य आहे हेच खरे.

ज्यावेळी साधन करताना दिव्य अनुभव साधकाला येऊ लागतात त्यावेळी त्याला अपार आनंद होतो. या आनंदामुळे तो उल्हासित व उत्फुल्ल होऊन आनंदित व प्रसन्न होतो. प्रेमाने आपल्याशीच क्रीडा करतो. स्वतःतच रममाण होतो. साधक महासुखाच्या अपार सागरात पोहू लागतो. अशा प्रकारे आत्मसुखाचा अनुभव आला की, साधक विषयांपासून निवृत्त होतो. संसाराबद्दल भय मानून तो त्याच्यापासून लांब राहतो. शोकाच्या प्रसंगात तो बुद्धीच्या जोरावर विवेकाने राहतो. ज्यावेळी साधकाला खूप संपत्ती व सुख मिळते त्यावेळी तो मोहित होत नाही. शत्रुत्वाच्या कार्याबद्दल त्याला भय वाटते. कामामुळे जे विकार शरीरामध्ये होतात त्याचे परिणाम त्याला जाणवतात. त्यामुळे तो सर्व कामनांपासून मनाला आवरतो. शरीरामध्ये ज्या ज्या स्थानी वायू राहतो त्या त्या ठिकाणी चित्तही राहत असते.

ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती मूलाधारातून निघून सहस्त्राराकडे जाऊ लागते त्यावेळी अनंत क्रिया होतात व अपार अनुभव येतात. या क्रिया का होतात? अनुभव का व कोणते येतात? क्रिया कोणत्या व कशा होतात? त्यांचा शेवट केव्हा होतो? या सर्वांचा विचार व त्याची स्पष्ट कल्पना साधकाला असणे अत्यंत महत्त्वाचे आहे.

साधनात क्रिया का होतात? :-

ज्यावेळी साधकाला शक्तिपातयोगदीक्षा होते त्यावेळी साधकाच्या ठिकाणी ज्या अनंत प्रकारच्या क्रिया प्रकट होतात त्या का होतात हे प्रथम पाहणे आवश्यक आहे. त्याचा क्रमशः विचार करू.

शक्ती जागृत होते :-

ज्यावेळी श्रीगुरू शक्तिपात करतात त्यावेळी तत्काल अनादि निद्रेचा भंग होऊन कुंडलिनी शक्ती जागृत होते. त्यामुळे प्राण

प्रक्षुब्ध होतो. मूलाधारात त्याची गती रुद्ध झाली की, क्रिया सुरू होतात. याबद्दल "**योगशिखोपनिषदाच्या**" ६ व्या अध्यायात असे म्हटले आहे की -

आधारवातरोधेन शरीरं कम्पते यथा।
आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा।।२८।।
आधारवातरोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते।
सृष्टिधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः।
आधारे सर्ववेदाश्च तस्माधारमाश्रयेत्।।२९।।

आत्मशक्तीचे उद्बोधन झाले की, प्राणाची गती बदलून जाते. ते प्रक्षुब्ध होऊन सहस्राराकडे जाऊ लागतात. परंतु पुढे जाण्याला वाट न मिळाल्यामुळे आधारचक्रामध्येच रुद्ध होतात. त्यामुळे शरीरात कंप उत्पन्न होतो. मूलाधारात प्राण रुद्ध झाल्यामुळे साधक आनंदित होऊन नाचू लागतो. आधारचक्रामध्ये प्राणवायूचा निरोध झाल्याने तेथे साधकाला संपूर्ण विश्वाचे दर्शन होते. कुंडलिनी शक्ती ही मूलाधारातच निवास करते. तिच्या या स्थितीमुळेच सृष्टीचा आधार मूलाधार आहे. या ठिकाणीच सर्व सृष्टी, सर्व देवता व सर्व वेद असतात म्हणून आधार शक्तीचाच आश्रय घ्यावा.

पश्चिम मार्ग खुला होतो :-

"द्विवक्त्रा कुण्डलिन्यभिधा नित्यानन्दस्वरूपा परमा कला प्रकृति वर्तते!" कुंडलिनी नावाची नित्यानंदस्वरूपाची परम प्रकृती जीवन किंवा प्राणशक्तीच्या रूपाने शरीरात निवास करते. तिला दोन मुखे आहेत. सुषुम्णानाडीचे एक मुख मूलाधारात आहे व दुसरे सहस्रारात आहे. या मूलाधारातील मुखाला म्हणजेच ब्रह्मद्वार किंवा ब्रह्मविवराला अडवून त्याच्या तोंडावरच ती झोपली आहे. हे तिचे अंतर्मुख आहे. दुसरे जे बहिर्मुख आहे त्याच्या द्वारा ही प्राणरूप कुंडलिनी शक्ती श्वासप्रच्छ्वास करते. यालाच जीवाचा श्वासनिश्वास म्हणतात. या मुखानेच ती नित्य जागृत आहे असे दिसते. यामुळे जीवाला बाह्यज्ञान किंवा चेतना प्राप्त होत असते. जीवाला जो भिन्नतेचा किंवा द्वैताचा

भास सतत होतो व एकत्वाचा बोध होत नाही, त्याला कारण ही शक्तीची बहिर्मुखताच आहे. ज्या ठिकाणी तिचे अंतर्मुख आहे तेथे ती झोपलेलीच आहे. त्यामुळे जीवाला अंतर्ज्ञान, ब्रह्मज्ञान किंवा आत्मज्ञान न होता तो अज्ञानाने बद्ध होतो. या मार्गानेच गेल्याने साधक सहस्त्रारातील निरामय अशा ब्रह्मस्थानात पोहोचून त्याला आत्मसाक्षात्कार होतो. परंतु ब्रह्मद्वार अडवून परमेश्वरी शक्ती तेथे झोपलेली असल्यामुळे साधकाचे प्राण सुषुम्णेत प्रवेश करीत नाहीत. आणि जोपर्यंत प्राणशक्ती सुषुम्णा मार्गात प्रवेश करीत नाही तोपर्यंत मोक्षप्राप्तीचा संभव नाही हे अगदी निश्चित आहे. या दृष्टीनेच **"योगशिखोपनिषदात"** असे म्हटले आहे की -

नाकृतं मोक्षमार्गं स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना।।१-१४५।।

पश्चिम म्हणजे पाठीतून जाणारा मार्ग मोकळा झाल्याशिवाय मोक्षमार्गात प्रगती होत नाही. शरीरात मूलाधारातून निघून सहस्त्रारापर्यंत पाठीमागून जी नाडी जाते तिला सुषुम्णा म्हणतात. हिलाच पश्चिममार्ग म्हटले जाते. शरीरातील पुढील भागातून गुह्यस्थान, बेंबी, हृदय, कंठ व नाक यांच्या द्वाराने जो प्राणाचा प्रवाह चालू असतो त्याला पूर्वमार्ग असे म्हणतात. या पूर्वमार्गाने म्हणजेच पूर्वमुखाने प्राणाची गती बहिर्मुख अशी चालू असते. कुंडलिनीच्या या मुखानेच श्वासप्रश्वासाची क्रिया होत असते. अंतर्मुखाकडील गती मूलाधारात कपाटात वस्तू बंद करून ठेवल्याप्रमाणे बंद असते. ज्यावेळी श्रीगुरुकृपा होते त्यावेळी प्राणशक्तीचे चालन होऊन हे बंद द्वार उघडण्याचा प्रयत्न होऊ लागतो. या प्रयत्नामुळेच नाना प्रकारच्या क्रिया साधनात प्रकट होतात. **"योग-शिखोपनिषदाच्या"** सहाव्या अध्यायात असे म्हटले आहे की,

आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणीसङ्गमो भवेत्।
तत्र स्नात्वा च पित्वा च नरः पापात्प्रमुच्यते।।३०।।
आधारे पश्चिमं लिङ्गं कवाटं तत्र विद्यते।
तस्योद्घाटन मात्रेण मुच्यते भवबन्धनात्।।३१।।

मूलाधारात पश्चिमभागात इडा, पिंगला व सुषुम्णा यांचा त्रिवेणी

संगम होतो. ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेनें शक्ती जागृत होते त्यावेळी मन व प्राण एकत्र होऊन दिव्य क्रिया होऊ लागतात. हेच खरे स्नान होय. हे क्रियारूप स्नान होऊ लागले की, अद्भुत अनुभवाचे पान साधक करतो व सर्व पापांपासून तो मुक्त होतो. आधाराच्या पश्चिम भागात स्वयंभू लिंग प्रतिष्ठित आहे. त्या ठिकाणी सुषुम्णेमध्ये प्रवेश करण्याचे ब्रह्मद्वार आहे. नाना प्रकारच्या क्रियांनी कुंडलिनी शक्ती जेव्हा धडका मारून ते दार उघडते तेव्हा मनुष्य संसार बंधनातून मोकळा होतो.

प्राणशक्तीचे ऊर्ध्वगामित्व :-

साधकाला क्रिया होण्याचे तिसरे महत्त्वाचे कारण हे आहे की, प्राणांची गती ऊर्ध्वमुखी होते. प्राण ऊर्ध्वमुख झाल्याबरोबर ते सुषुम्णेमधून वर जाण्याचा प्रयत्न करू लागतात. अशा वेळी मार्गात जे जे अडथळे येतात ते ते निरनिराळ्या प्रकारच्या क्रिया करून प्राणशक्ती दूर करते. प्रत्येक जीवाच्या कर्मगतीप्रमाणे व त्याने पूर्वजन्मात केलेल्या साधनाप्रमाणे अडथळे येत असतात. त्यामुळे प्रत्येक अडथळ्यात सारखेपणा असणे कधीही शक्य नाही. जागृत आत्मशक्तीला हे अडथळे ओलांडून साधकाला पुलीकडे कसे न्यावयाचे याची पुरेपूर जाणीव असते. त्यासाठी कोणत्या क्रियेची आवश्यकता आहे हे ती जाणते. या जाणिवेतूनच अनंत जीवांच्या अनंत क्रिया प्रकट होऊन प्राण सर्व अडथळे ओलांडून सहस्राराकडे जातो. सहस्रारापाशी जाईपर्यंत प्राणशक्तीची जी हालचाल होते, ती बाह्य व अंतःक्रियांच्या रूपाने प्रकट होते व जाणवते.

वासना व संस्कारांचा नाश :-

नुसत्या विचाराने वासनांचा व संस्कारांचा नाश लवकर होत नाही. मात्र जेव्हा शक्ती जागृत होऊन सुषुम्णेमध्ये प्रवेश करते तेव्हा हे कार्य सुलभतेने व आपोआप होऊ लागते. सुषुम्णा नाडीमध्ये जन्मजन्मांतरीच्या वासना व संस्कार एकत्रित होऊन एखाद्या गाळाप्रमाणे साठून राहिलेले असतात. ज्यावेळी शक्ती जागृत होते त्यावेळी ती सुषुम्णामार्गातून प्रवाहित होऊन ऊर्ध्वगामिनी होते. ती जसजसा

मार्ग आक्रमू लागते तसतसा वासना व संस्कार यांचा नाश होऊ लागतो. मात्र हा नाश सहजासहजी होत नाही. ज्यावेळी शक्ती ऊर्ध्वगामी होऊन या दोन्ही गोष्टी जाळून टाकू लागते त्यावेळी प्राणशक्तीला खूप अडथळे येतात. संपूर्ण सुषुम्णामार्गात जेथे जेथे अडथळे येऊन प्राणशक्ती रुद्ध होते त्या त्या वेळी तीव्र स्पंदने निर्माण होतात. या स्पंदनांमुळे निरनिराळ्या क्रिया सतत प्रकट होत राहतात व प्रगती होत जाते. शक्ती जागृत होऊन आपल्याला एकदम समाधी लागावी असे जरी साधकाला वाटत असले तरी जन्मजन्मांतरीचे संस्कार, वासना, इच्छा, आकांक्षा त्याला पुढे जाऊ देत नाहीत. साधकाला त्या मागे खेचीतच राहतात. अशा वेळी नियमित साधन केले म्हणजे ब्रह्माभिव्यक्तीची चिह्ने असलेल्या क्रिया शरीरात प्राणशक्ती उद्भूत करून सर्व दोषांचा निरास करते. हुक्क्याची नळी जर लोखंडाच्या सळईने बरेच दिवस साफसूफ केली नाही तर त्यात साठलेली घाण वाढत जाऊन हळूहळू काही दिवसांनंतर ती नळी बंद होते व पुढे त्या नळीतून हुक्का पिणारा धूर खेचू शकत नाही. मात्र तापलेली लोखंडाची सळई घालून जर ती हुक्क्याची नळी हळूहळू साफ केली तर ती जेव्हा पूर्णपणे साफ होईल त्यावेळी त्या नळीतून तंबाखूचा धूर योग्य रीतीने वाहू लागून तो पिणाऱ्याला आनंद देऊ शकेल. सुषुम्णामार्गातही प्राणशक्तीमुळे अशीच साफसफाई करून शुद्धीकरण झाले म्हणजे प्राण विनासायास सहस्त्रारामध्ये पोहोचतात व साधक कृतकृत्य होतो. हे शुद्धीकरण पूर्ण होईपर्यंत नाना प्रकारच्या क्रियांचे आविष्करण होत राहतेच.

शक्तिपातयोगदीक्षेने उद्भूत होणाऱ्या या क्रियांमुळे महायज्ञाला व हवनाला प्रारंभ होतो. पूर्णाहुती होईपर्यंत ज्या ज्या क्रिया घडतात व जे जे अनुभव साधकाला येतात त्यांचे यथातथ्य वर्णन करणे हे मनुष्यबुद्धीच्या पलीकडचे काम आहे. या विविध क्रियांचे विश्व साधकाला आश्चर्याच्या महासागरात बुडवून टाकून ब्रह्मानंदामध्ये हळूहळू निमग्न करीत करीत वासनासंस्कारांना जाळीत जाळीत पुढे

नेत असते. ज्यावेळी शक्ती श्रीशंभूंशी एकरूप होते तेव्हा सर्व क्रिया संपून साधक कृतकृत्य व कृतार्थ होतो.

तीन ग्रंथींचे भेदन :-

ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती जागृत होते त्यावेळी ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी व रुद्रग्रंथी या तीनही ग्रंथींचे भेदन करून ती सहस्त्रारस्थ परम श्रीशिवाबरोबर एकरस होऊन आनंदरसात बुडून जाते. ही साधनाची परावस्था म्हटली पाहिजे. या अवस्थेतच सर्व कामनांची निवृत्ती होते. हे कसे घडते? **"योगकुंडलिनी उपनिषदात"** याचे वर्णन करताना असे म्हटले आहे की, ज्यावेळी अग्नी प्राणस्थानात जाऊन प्राणवायूला मिळतो त्यावेळी निद्रिस्थ कुंडलिनी शक्ती जागृत होते. त्या उष्णतेमुळे तापून जाऊन व वायूमुळे चलित होऊन कुंडलिनी सरळ होते व सुषुम्णेमध्ये प्रवेश करते. प्रथम रजोगुणापासून उत्पन्न झालेल्या दशदलयुक्त नाभीपद्मातील ब्रह्मग्रंथीचा भेद करून कुंडलिनी शक्ती सुषुम्णेमध्ये विजेप्रमाणे चमचमाट व झगझगाट करीत अत्यंत त्वरित गतीने मार्गक्रमण करीत वरती चढत जाते. कुंडलिनी शक्तीचा हा चमचमाट व झगझगाट म्हणजेच अनेक प्रकारच्या क्रिया होत. अशा प्रकारे क्रिया करीत कुंडलिनी शक्ती अत्यंत जलद गतीने द्वादशदल हृदयपद्मस्थित विष्णुग्रंथीचा भेद करून पुढे आज्ञाचक्रातील भ्रूमध्यस्थ द्विदलचक्रस्थ रुद्रग्रंथीचा भेद करून सहस्त्रारात जाते. सारांश, अग्नी व वायू या दोघांच्या आघातामुळे निद्रिस्थ कुंडलिनी शक्ती जागृत होते तेव्हा ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी, रुद्रग्रंथी आणि षट्चक्रांचे भेदन करीत ती सहस्त्रदलकमलात जाऊन पोहोचते. त्या ठिकाणी श्रीशिवाशी श्रीशक्तीचे ऐक्य होऊन साधकाला परमानंद प्राप्त होतो. हीच श्रेष्ठ व मोक्षदायक अवस्था आहे.

त्याचप्रमाणे **"योगशिखोपनिषदातही"** या तीनही ग्रंथींचे भेदन शक्तिचालनामुळे व विविध क्रियांमुळे कसे होते याचे वर्णन करताना असे म्हटले आहे की -

यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत्सदा।।१.११७।।
सुषुम्णावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत्तथा।।१.११८।।

ज्याप्रमाणे हत्ती नेहमी आपल्या सोंडेने पाणी पितो त्याप्रमाणे योगी सुषुम्णेमध्ये असलेल्या वज्रा नाडीच्या द्वाराने प्राणवायू ग्रहण करीत असतो. बांबूमधील गाठींचा छेद केल्याप्रमाणे प्राणवायू सुषुम्णेमधील तीनही ग्रंथींचा भेद करतो. या अर्थानेच **"योगबीज"** या ग्रंथात असे म्हटले आहे की -

भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलौहशलाकया।
तथैव पृष्ठवंशे स्याद्ग्रन्थिभेदस्तु वायुना।।१२५।।

ज्याप्रमाणे तापलेल्या लोखंडाच्या सळईने बांबूच्या गाठींचा छेद लवकर व सहजासहजी होतो त्याप्रमाणे सहज क्रियांच्या द्वारा मेरुदंडातील सुषुम्णेतील तीनही ग्रंथींचे भेदन अत्यंत सुलभतेने होते.

पंचतत्त्वांचे अवलंबन :-

शक्तिपात झाला की, प्राणाच्या गतीत बदल होतो. त्यामुळे प्राण साधकाच्या देहाला विशेष रीतीने क्षुब्ध करतो. हा क्षुब्ध प्राण कधी पृथ्वीतत्त्व, कधी जलतत्त्व, कधी तेजतत्त्व व कधी आकाशतत्त्व या पैकी एका तत्त्वाचा अवलंब करून शरीरात वावरू लागतो. काही वेळेला तो स्वप्रधान होऊन म्हणजे स्वत:च्याच प्राणतत्त्वाचा अवलंब करून देहात सर्वत्र फिरू लागतो. यामुळे नाना प्रकारच्या क्रिया शरीरात उत्पन्न होतात. जेव्हा प्राण भूमितत्त्वाचे अवलंबन करतो तेव्हा शरीर खांबासारखे निश्चल होऊन साधकाला स्तंभभाव प्राप्त होतो. जलतत्त्वाशी प्राण निगडीत झाला की, अश्रुपात होऊ लागतो. तेजतत्त्वाशी प्राणाचा संयोग झाला की, घाम येऊ लागतो व शरीराचा रंग पालटू लागतो. यालाच वैवर्ण्य किंवा वर्णविकृती असे म्हणतात. जेव्हा प्राण आकाशतत्त्वाशी एकरूप होतो तेव्हा प्रलय म्हणजे भावसमाधी, मूर्च्छा, तंद्रा अगर निद्रा यांसारख्या क्रिया होतात. जेव्हा प्राण स्वस्थ होतो म्हणजे आपल्या वायुरूपतत्त्वामध्ये राहू लागतो तेव्हा मंद, मध्य किंवा तीव्रतेने रोमांच, कंप व स्वरविक्रिय हे तीन

भाव प्रकट होतात.

आपल्या देहामध्ये मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत व विशुद्ध ही पाच चक्रे पृथ्वी, जल, तेज, वायू व आकाश या पाच महाभूतांची स्थाने म्हणून प्रसिद्ध आहेत. मूलाधारात पृथ्वीतत्त्व, स्वाधिष्ठानात जलतत्त्व, मणिपुरात तेजतत्त्व, अनाहतामध्ये वायुतत्त्व व विशुद्धचक्रामध्ये आकाशतत्त्व असते. प्राणशक्ती ऊर्ध्वगामी होऊन ज्या ज्या वेळी ज्या ज्या चक्रांचा आश्रय करते त्या त्या वेळी त्या त्या क्रिया होऊन ती ती भूततत्त्वांची लक्षणे प्रकट होत राहतात.

श्रीगुरूंनी शक्तिपात केला की, पंचमहाभूतांची आटणी होताना ज्या अनंत क्रिया होऊन मन, प्राण व शरीरामध्ये अध्यात्मप्रसादाच्या आनंदाचा जो उद्रेक होतो त्याचे वर्णन करणे शक्य नाही. साधकशिष्य वेदान्ती, योगी, सगुणोपासक, निर्गुणोपासक, भगवद्भक्त, मांत्रिक, यांत्रिक, ज्ञानी, अज्ञानी इत्यादि कसाही असला तरी ज्यावेळी आत्मशक्तीचे म्हणजे प्राणकलेचे उद्बोधन होते त्यावेळी उपरोक्त सर्व क्रिया व लक्षणे प्रकट होतात. याप्रकारे श्रीमहेश्वरांनी सांगितलेल्या या महायोगाचे साधन ज्ञात किंवा अज्ञात रूपाने ज्ञानी, ध्यानी, योगी, यती, भक्त इत्यादि सर्वांना क्रियांचा अनुभव घेत करावे लागते.

आत्मतत्त्वांचे शुद्धीकरण :-

उद्बोधित कुंडलिनी शक्तीकडून ज्या क्रिया आपोआप होतात त्यामुळे आत्मतत्त्वाचे शुद्धीकरण घडून येते. प्रकृतीच्या ३६ तत्त्वांचे पूर्ण शुद्धीकरण झाल्यासच जीवाची मायेच्या बंधनातून पूर्ण मुक्ती होते. पृथ्वीतत्त्वापासून जागतिक विकासावरणाच्या ३६ तत्त्वातून जीवात्मा बाहेर पडला म्हणजे तो उत्क्रांत होऊन मुक्ती मिळवितो. आत्मोत्क्रांतीच्या या प्रणालीलाच तत्त्वशुद्धी असे नाव आहे.

शक्ती जागृत झाली की, क्रियाशील होऊन ती तत्त्वशुद्धी करू लागते. पहिल्याने निवृत्तितत्त्वापासून म्हणजे त्यागापासून रुद्रतत्त्वापर्यंत ब्रह्मांडतत्त्वाची शुद्धी होते. दुसऱ्या प्रतिष्ठातत्त्वापासून अव्यक्ततत्त्वापावेतोची दुसरी अधिक उच्च तत्त्वे शुद्ध होतात. त्याहीपुढे विद्यातत्त्व

सामावून विद्याधिपतीपर्यंतची शांत्यासह अधिक तत्त्वे विशुद्ध होतात. हा क्रम शांत्यातीत अवस्थेपर्यंत असाच उत्तरोत्तर चालतो. हा विशुद्धीकरणाचा क्रम केवळ शक्तिपातयोगदीक्षेनेच चालतो हे नितांत सत्य आहे. या दृष्टीने "**श्रीशिवपुराणातील**" वायवीय संहितेत असे म्हटले आहे की -

वृथा परिश्रमस्तस्य निरयवैव केवलम्।
शक्तिपातसमायोगादृते तत्त्वानि तत्त्वः।
तद्व्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते।।२९.२७।।

आत्मतत्त्व हे मूलतत्त्व आहे. सर्व तत्त्वांची व्याप्ती आत्मतत्त्वा-पर्यंतच असते. या आत्मतत्त्वाचे शुद्धीकरण केवळ शक्तिपातयोगदीक्षेनेच सिद्ध होते. आत्मतत्त्व हे मूलतः विशुद्ध व अविकृत असूनही केवळ देहाध्यासाने प्रकृतीच्या २४ तत्त्वांशी त्याचे ऐक्य भासमान होते. मी शरीरच आहे ही मिथ्या कल्पना म्हणजे देहाध्यास होय. आत्मतत्त्वाचे मूळ शुद्धस्वरूप विपर्यय ज्ञानाने विस्मृत होते. याचे कारण आत्मतत्त्वाची व्याप्ती व व्यापकता हेच आहे. स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीराच्या बीजभूत तत्त्वापासून आत्मतत्त्व हे सर्वथा भिन्न असल्याने सम्यक् ज्ञान हेच या आत्मतत्त्वाचे विशुद्धीकरण होय. या उलट आत्मतत्त्वा-पासून प्रकृतीची २४ तत्त्वे सर्वथा भिन्न आहेत हे समजणे ही त्या तत्त्वांची शुद्धी होय. शक्तीमुळे होणाऱ्या क्रियांमुळे उपरोक्त शुद्धीकरण होऊन सत्य ज्ञान होण्याने जीव मुक्त होतो. या दृष्टीनेच "**योगदर्शनात**" महर्षी श्रीपतंजलींनी "**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।।३.५५।।** म्हणजे सत्त्वशुद्धी व पुरुषशुद्धी झाल्यावर मोक्ष प्राप्त होतो, असे म्हटले आहे. शक्तिपातयोगाच्या प्राप्तीने ज्या क्रियांचे विश्व साधकाच्या अंतरंगात उद्भूत होऊन समाप्त होते, त्यामुळेच तत्त्वांच्या मूलार्थाची विशुद्धी व व्याप्ती समजू शकते.

परिपक्वता व परिपूर्णता प्राप्ती :-

शरीर, मन, प्राण व ज्ञानामधील अपरिपक्वता दूर होऊन साधकाला परिपक्वता प्राप्त होऊन तो परिपूर्ण व्हावा म्हणून कुंडलिनी शक्ती

साधकाकडून शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक क्रिया करवून घेते. कच्चे शरीर, दुर्बल मन, अपूर्ण बुद्धी व अस्वस्थता यामुळे साधक आत्मदर्शन प्राप्त करून घेऊ शकत नाही. त्यामुळेच **"मुण्डकोपनिषदात" "नायमात्मा बलहिनेन लभ्यः।।३.२.४।।"** असे म्हटले आहे. याकरिता योगमाया कुंडलिनी शक्ती नाना प्रकारच्या क्रियांनी साधकाला आत्मज्ञानाकरिता आवश्यक साधनसंपदा प्राप्त करून देते. त्यामुळे साधक या जन्मातच जीवन्मुक्त होऊ शकतो.

षट्चक्रवेध :-

ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेने शक्ती जागृत होते तेव्हा ती मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा या षट्चक्रांचा वेध करीत सहस्त्रारात जाऊन पोहोचते. कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन सुषुम्णेत प्रवेश करून मार्ग आक्रमू लागली की, मार्गातील षट्चक्ररूपी प्राणप्रवाहाच्या केंद्रस्थानातून तिला जावे लागते. या चक्रांचे भेदन होत असताना निरनिराळ्या क्रिया होतात. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी चक्रवेध होत असताना क्रिया कशा होतात हे **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ६ व्या अध्यायात वर्णन केले आहे. **"ऐसी शरीराबाहेरलीकडे। अभ्यासाची पांखर पडे।।२११।।"** म्हणजे नाना प्रकारच्या शारीरिक क्रिया या साधनाभ्यासात घडून येऊन शरीराच्या बाहेरच्या भागातही या अभ्यासाचा कृपाप्रसाद घडून येतो.

जो मूळबंधें कोंडला। अपान माघौता मुरडला।
तो सेवेंची वरी साकडला। धरी फुगूं।।२१४।।
क्षोभलेपणें माजे। उवाइला ठायीं गाजे।
मणिपूरेंसी झुंजे। राहोनियां।।२१५।।

जो अपानवायू मूळबंधामुळे कोंडला जाऊन मागे फिरला होता तो वर कैचित सापडला जाऊन लगेच फुगू लागतो. तो क्षुब्ध झालेला अपानवायू माजून तेथल्या तेथेच गुरगुरू लागतो व राहून राहून मणिपुरचक्राशी झुंज घेतो. ही झुंज अनेक क्रिया घडवून आणून षट्चक्रभेद होतो.

दीक्षेची वेळ :-

साधारणपणे शास्त्राने सांगितल्याप्रमाणे व्यवहारात लोक लग्न, मुंज, गृहप्रवेशादि सर्व नैमित्तिक शुभ कार्ये तिथी, वार, नक्षत्र इत्यादि चांगला दिवस पाहून करतात. तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान, तप, जप, दीक्षा इत्यादि शुभ कार्ये करतानासुद्धा शुभाशुभ काल पाहूनच ती सुरू करतात. शुभ कालावर सुरू झालेली कर्मे निर्विघ्नपणे पूर्ण होऊन इच्छेप्रमाणे फलप्राप्ती होते. यासाठी ज्योतिषाचा आधार घेऊन व कालाकालाचा निर्णय घेऊन धर्मकर्मे केली पाहिजेत. परंतु **"मंत्रयोगसंहिता"** व **"तत्त्वसार"** या ग्रंथात दीक्षेच्या वेळासंबंधी असे म्हटले आहे की -

यदि भाग्यवशेनैव सिद्धो हि पुरुषो मिलेत्।
तदैव दीक्षां गृह्णीयात् त्यक्त्वा कालविचारणम्।।१।।
दुर्लभे सद्गुरुणाञ्च सकृत् सङ्ग उपस्थिते।
तद्नुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान्।।१।।
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः।।
न तीर्थं न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया।
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छा प्राप्तेतु सद्गुरौ।।२।।

शुभ कर्मांच्या बाबतीत ज्योतिषशास्त्राचा व कालाकालाचा निर्णय जरी वरीलप्रमाणे असला तरी ज्यावेळी सिद्धपुरुषाच्या रूपाने श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती होते त्यावेळी कालाकालाचा विचार न करता दीक्षा ग्रहण केली पाहिजे. ज्यावेळी श्रीसद्गुरूंचा दुर्लभ सहवास मिळून, ते प्रसन्न होऊन, कृपा करण्याची त्यांची इच्छा होईल व ते शिष्याला दीक्षा घेण्याविषयी अनुमती देतील ती दीक्षेची सर्वश्रेष्ठ वेळ आहे असे समजले पाहिजे. त्याचप्रमाणे श्रीगुरुशिष्याची उभयतांची दीक्षा देण्याघेण्याची इच्छा होईल त्यावेळीही दीक्षा होऊ शकते. ज्यावेळी श्रीसद्गुरूंची कृपा करण्याची इच्छा होते त्यावेळी शिष्याने कालाकालाचा विचार न करता अगदी निःशंक मनाने दीक्षा ग्रहण करावी.

सामर्थ्यसंपन्न श्रीसद्गुरू शास्त्र व लौकिक व्यवहाराचे पालन बाह्यतः

लोक मार्गी लागावेत म्हणून उत्तम रीतीने करीत असतात. खरे पाहता ते विधिनिषेधातीत झालेले असतात. ते ज्यांच्यावर कृपा करतात त्यांनाही ते सर्व बंधनातून सोडवून विधिनिषेधातीत करतात. पण ही सर्व प्रक्रिया मनाची आहे. शरीराची राहाटणी व्हावी व सर्व मर्यादा सांभाळून शिष्याकडून व्यवहार पाळला जावा अशीच त्यांची इच्छा असते. अशा श्रीसद्गुरूंची गाठ भाग्यवशात् क्वचित्च पडते. साधारणपणे बाह्य क्रियाकर्म इत्यादिंमध्येच गुंतलेले श्रीगुरू दृष्टीस पडतात. त्यांच्या ठिकाणी शक्तिपाताने अनुग्रह करण्याचे सामर्थ्य असत नाही.

साधनक्रियांची वैशिष्ट्ये :-

साधनात कोणकोणत्या क्रिया होतात हे आपण पाहिले. आता त्यांची वैशिष्ट्ये काय आहेत हे पाहू.

क्रिया अर्थशून्य नाहीत :-

साधनात ज्या ज्या विविध क्रिया होतात त्या अर्थशून्य तर नाहीत ना असा साधकाला संशय येतो. परंतु कुंडलिनी महाशक्ती जागृत झाल्यावर मंत्र, यंत्र, तंत्र, जप, तप, पाठ, पूजन इत्यादि जे या जन्मी व जन्मजन्मांतरी केलेले असते ते सर्व या नानाविध क्रियांच्या रूपाने फलसंपन्न होते. अशा क्रिया होणे ही परम भाग्यकारक व पुण्यकारक गोष्ट आहे. श्रीसद्गुरूंची कृपा झाल्याशिवाय हा क्रियांचा प्रसाद प्राप्त होत नाही. साधनाच्या वेळी क्रिया होत असताना साधक ज्या क़ाही शुभ व अशुभ क्रिया करतो त्या सर्व क्रिया आत्मप्राप्तीसाठीच होत असतात, यात तिळमात्र शंका नाही. साधकाचे ओरडणे, बडबडणे व वाटेल तसे बोलणे या क्रिया जपाचे फल देतात. नाना तऱ्हेच्या शरीराच्या ज्या हालचाली होतात त्या पूजेचे फल देतात. साधनात येणारी तंद्रा किंवा निद्रा समाधीचे फल देतात. रेचक, पूरक, कुंभक व प्राणायामाच्या क्रिया बलीचे काम करतात. त्यामुळे सर्व पापांचा नाश होतो. साधनाच्या वेळी जे काही बोलणे होते त्यापासून स्तोत्रपाठाचे फल मिळते. हाताने निरनिराळ्या अवयवांना केलेला स्पर्श व स्वतःच्या शरीराच्या अंगप्रत्यंगांना केलेले मर्दन हे मंत्रन्यासाचे काम करतात.

क्रिया होताना खाल्लेले अन्न हे हवनाचे फल देते. क्रियाशक्तीच्या आवेशात साधकाची जिकडे दृष्टी जाते किंवा पाहिले जाते ते त्याचे पाहणे ध्यानरूप होते. त्यामुळे त्याला ध्यानाचे फल मिळते. क्रिया होताना साधक जेव्हा जमिनीवर पडतो, लोळतो, आडवा होतो किंवा कसाही कलंडतो तेव्हा त्याला साष्टांग नमस्काराचे फल मिळते. अशा प्रकारे कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यावर साधकाला जन्मजन्मांतरी केलेल्या नानाविध साधनांच्या आपापल्या संस्कारानुरूप क्रिया होतात. या क्रिया शुभ असोत अगर अशुभ असोत, त्या सर्व अध्यात्मिक ज्ञानामध्ये परिणत होऊन महामंगलदायक व सुखदायक होतात.

आनंदाची प्राप्ती :-

साधन करताना साधकाला ज्या ज्या क्रिया होतात त्या त्या क्रियांपासून त्याला परमानंदाची प्राप्ती होते. **"योगशिखोपनिषदाच्या"** सहाव्या अध्यायात असे म्हटले आहे की, "ज्या वेळेला साधकाला मागे सांगितलेले दिव्य अनुभव साधन करताना येतात त्यावेळी साधक अपरिमित आनंद उल्हासाने उत्फुल्ल होऊन हसतो. प्रसन्न होतो. प्रेमाने स्वत:च स्वत:शी क्रीडा करतो व अगदी महान् सुखात बुडून जातो. या आनंदाला स्थळकाळाची मर्यादा राहत नाही. अत्यंत घाणेरड्या, दुर्गंधीयुक्त, मलीन स्थानामध्ये किंवा संडासामध्ये सुद्धा बसल्याबसल्या क्रिया होऊन मन आनंदात बुडून जाते. श्रीमुकुंदराजांनी आपल्या **"परमामृत"** ग्रंथात वेदान्ताचे निजवर्म श्रीगुरुमुखाने शक्तिपात होऊन, साधक-शिष्याला मिळाल्यावर आनंदाची प्राप्ती अष्टसात्त्विक क्रियांच्या द्वारा त्याला प्राप्त होऊन, साधक-शिष्य कसा कृतार्थ होतो, हे **"स्वानुभवसुख"** नावाच्या अकराव्या, बाराव्या व तेराव्या प्रकरणात फार बहारीने वर्णन केले आहे.

विसरे प्रकाशे स्वरूप। हारपे सांपडे आपेंआप।
ऐसा करितां साक्षेप। मन स्थिरावे।।११.२८।।
निवांत भोगी स्वरूप। डुल्लत आनंदें आपेंआप।
मग तया सुखाचें माप। कवण करी।।२९।।

स्वेदकंपादि उठती। अष्टसात्त्विक भाव प्रगटती।
पावे साम्राज्यसंपत्ती। रंक जैसा।।१२.१।।
चित्त चैतन्यीं हारपे। उरिजे ज्ञप्तिस्वरूपें।
अखंडित आपआपें।। ब्रह्मानंद।।२।।
तया सुखाचेनि समरसें। पावे सुलीन दशे।
तें बोलावे कैसें। अनुभवी जाणती।।३।।
जैसें अमृत चाखे आपुली चवी। तैसें स्वसुख अनुभवीं।
तेथें कोण आठवी। संसारासी।।४।।
वोळे स्वानंदाचा घन। दाटे सुख परिपूर्ण।
तयामाजीं विवेक सुजाण। हारपोनि जाय।।५।।
अहंता स्वरूपीं गळे। विषयतृष्णा मावळे।
इंद्रियांचे लळे। क्रियेवीण पूर्ण होती।।६।।
महासुखाचे अरुवारीं। आलिंगी स्वानुभूती सुंदरी।
ज्ञानमात्र इयापरी। स्वस्वरूप भोगी।।७।।
निरसतां नेणीव। स्वरूपीं समरसे जाणीव।
मग एकछत्री राणीव। योगियासी।।८।।
सदा स्वानंदाचे सोहळे। विषयविजाती वितळे।
स्वरूपसुखाचेनि मळें। इंद्रियां तृप्ती।।९।।
परमसुखाचेनि भरें। एकहि स्फूर्ती न स्फुरे।
कार्यजाती विसरे। निमिषांत।।१०।।
करूनि यज्ञाचिया कोडी। उभवितीं स्वर्गाची गुढी।
तें सुख किजे कुर्वंडी। या ब्रह्मसुखासी।।११।।
आनंद आनंदासी घोंटी। बोलतां परेसी पडे मिठी।
मुक्यानें सुखाच्या गोष्टी। केविं किजे।।१२।।
खुंटलें मनाचें जाणणें। तें सुख अनुवादावें कवणें।
हें अनुभवी तोचि जाणें। इतरां टकमक।।१३।।
ऐशी पावोन योगखुण। स्वानंद भोगितो परिपूर्ण।
तया योगिया न घडे शीण। संसाराचा।।१३.१।।

"श्रीसद्गुरुकृपेने शक्ती जागृत झाली की, ती ऊर्ध्वगामिनी होऊन नाना तऱ्हेच्या क्रिया करू लागते. त्यामुळे स्वरूपाचा क्षणभर प्रकाश पडतो तर क्षणभर विसर पडतो. मध्येच पूर्वसंस्कारांचा उदय झाल्यामुळे ते स्वस्वरूप आपोआप गुप्त होते. क्रियांच्या जोरामुळे केव्हा ते आपोआपच सापडते. अशा रीतीने क्रिया होता होता शेवटी मन आपोआप स्थिरावते. त्यानंतर मन निवांतपणे स्वस्वरूपाचा उपभोग घेऊ लागले असता आनंदाने डोलू लागते. अशा प्रकारे डोल येऊ लागल्यामुळे जे सुख होते त्या सुखाची गणती कोण करील?"

अशा प्रकारे आत्मस्वरूपाची प्राप्ती झाल्यावर स्वेद, कंप, रोमांच इत्यादि सात्त्विक अष्टभाव साधकाच्या ठिकाणी उत्पन्न होतात. (या क्रिया होणे ही किती भाग्याची व पुण्याची गोष्ट आहे हे यावरून ध्यानात येईल.) या क्रिया आत्मस्वरूपरूप आहेत; कारण आत्म-स्वरूपाच्या प्राप्तीनंतर व आधीही त्या प्रकट होतात. असे झाले म्हणजे एखाद्या भिकाऱ्याला साम्राज्य प्राप्त व्हावे अशी स्थिती होते. साधनात होणाऱ्या क्रिया ह्या साम्राज्याप्रमाणे मोलाच्या व श्रेष्ठतम आहेत. (ह्याची जाणीव साधकाने निरंतर बाळगली पाहिजे.) असे असले तरी याची जाणीव न राहिल्याने भिकाऱ्याला जशी साम्राज्याची किंमत कळत नाही त्याप्रमाणे साधकालाही या क्रियांची किंमत कळत नाही. या क्रियांमुळेच चित्त चैतन्यात विलीन होऊन साधक ज्ञानमात्रच शिल्लक राहतो. अशी स्थिती झाली की, साधकाला आपोआप अखंड ब्रह्मानंद अनुभवास येतो. ह्या सुखाच्या ठायी जीव समरस झाला म्हणजे तो त्यातच लीन होतो. त्या स्थितीचे वर्णन कोण करील? ज्यांना त्याचा अनुभव आहे तेच ते जाणतात. अमृताने जशी स्वत:ची चव घ्यावी त्याप्रमाणे साधक स्वसुखाचा अनुभव घेत असतो. तेथे संसाराची आठवण कोणास होणार?

साधनात क्रिया सुरू झाल्या की, आनंदाचा जणू मेघच वर्षू लागतो व परिपूर्ण असे सुख प्राप्त होते. त्या सुखामध्ये ज्ञानाज्ञान निवडणारा विवेक हरपून जातो. या क्रियांचे सामर्थ्य अपरंपार असते;

कारण त्यामुळे स्वस्वरूपाच्या ठायी अहंकार विलीन होतो. विषयांची तहान नाहीशी होते. कोणत्याही प्रकारचे बाह्य कर्मादि न करता इंद्रियांच्या इच्छा पूर्ण होतात. परमसुखाच्या मृदू शय्येवर आत्मानुभूती म्हणजे स्वानुभवरूपी सुंदर स्त्रीला जीव आलिंगितो व या रीतीने ज्ञानमात्र अशा स्वस्वरूपाचा अनुभव घेतो. या क्रियांमुळे नेणिवेचा निरास होऊन जाणीव स्वस्वरूपाच्या ठायी समरस होते. त्यामुळे योगिसाधकाला एकछत्री स्वराज्याची प्राप्ती होते. या साधनामुळेच साधक नेहमी स्वानंदाचे सोहळे भोगतो. विजातीय विषय वितळून जातात. एवढेच नव्हे; तर स्वस्वरूपाशी मिलन पावलेली इंद्रिये तृप्त होतात. त्या आत्यंतिक सुखाच्या भरात एकही स्फूर्ती उत्पन्न होत नाही व एका निमिषात कर्मांची आठवण बुजून जाते. याज्ञिक लोक यज्ञ करून स्वर्गलोकी आपला झेंडा उभारतात; पण ते स्वर्गसुख या साधनाने प्राप्त होणाऱ्या ब्रह्मसुखावरून ओवाळून टाकावे.

शक्तिपातयोगसाधनातील क्रियांमुळे उत्पन्न होणारा आनंदच आनंदाचे घुटके घेतो. त्या आनंदाचे वर्णन करताना परावाणीही कुंठित होते. अशा रीतीने वाचाच मुकी झाल्यावर ती सुखाच्या गोष्टी काय सांगणार? मनाची जाणण्याची शक्तीच जेथे कुंठीत होते तेथे त्या सुखाचे वर्णन कोण करील? जो अनुभवी मनुष्य आहे तोच ते सुख जाणतो. इतरांना याबाबतीत नुसते टकमक पाहावे लागते हेच खरे. कारण अनुभूती ही चीजच निराळी आहे. या प्रकारची शक्तिपातयोगाची श्रीगुरुकिल्ली प्राप्त होऊन जो परिपूर्ण अशा स्वानंदाचा उपभोग घेतो त्या साधकयोग्याला संसाराचा शीण पडत नाही." शक्तिपातयोगाच्या वेधदीक्षेमुळे आनंदावस्थेची प्राप्ती कशी होते हे "**कुलार्णवतंत्रा**च्या" १४ व्या उल्लासात पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे.

आनंदश्चैव कम्पश्चोद्भवो घूर्णा कुलेश्वरी।
निद्रा मूर्च्छा च वेधस्य षडवस्थाः प्रकीर्तिताः।।६४।।

श्रीगुरुदेवांच्या अनुग्रहाने जेव्हा शिष्याला वेधदीक्षा प्राप्त होते तेव्हा आनंद, कंप, आसनापासून उत्थान, घुमणे किंवा डोलणे, निद्रा

व मूर्च्छा या सहा अवस्था शिष्याच्या ठिकाणी प्रगट होतात. या सहाही अवस्थांमध्ये आनंदावस्थेची प्राप्ती ही मूर्धन्य स्थानी असल्याने ती प्रथम आली आहे.

"सूतसंहितेच्या" चतुर्थ खंडातील ३५ व्या अध्यायातही शक्तिपाताने आनंदप्राप्तीची सर्व लक्षणे तत्काल कशी प्रकट होतात हे सांगितले आहे.

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्द हर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्।।टीका २१।।

ज्यावेळी शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळते त्यावेळी शिष्याचा देह जमिनीवर आडवा पडतो. कंप होऊ लागतो. मन अत्यंत प्रसन्न होते व परमानंदाने भरून जाते. अशा प्रकारे उद्भूत होणाऱ्या आनंदामुळे साधकाच्या अंगावर रोमांच उभे राहतात व त्याला घाम येतो.

"कुलार्णवतंत्राच्या" अष्टम उल्लासामध्ये शक्तिपातयोगाने आनंद-प्राप्ती कशी होते व या आनंदामुळे इतर लक्षणे कशी प्रकट होतात हे सांगताना श्रीमहेश्वर असे म्हणतात की, "हे देवी पार्वती! मी तुला वास्तविक खरा योग कशाला म्हणतात ते सांगतो. जेव्हा श्रीगुरूंच्या शक्तिसंपातामुळे शिष्याची आंतरिक आत्मशक्ती कुंडलिनी देवी जागृत होते तेव्हा मन, प्राण व शरीराच्या नाना प्रकारच्या बाह्य व आंतरिक क्रिया होऊ लागून शिष्याच्या कोटी कोटी जन्मांचे संस्कार छिन्नभिन्न होऊन नाना प्रकारचे रूप धारण करतात. या क्रियांमुळे त्याला परमानंद होतो. तो आल्हादित होऊन हसू लागतो. त्याला परमप्रसन्नता प्राप्त होते. त्या आनंदाच्या आवेशामध्ये तो भूमीवर पडतो. लोळतो. कधी कधी आनंदाच्या उद्रेकात गाऊही लागतो. मागे वर्णन केलेल्या अनंत क्रियांची ही आनंदाची अवस्था मूलभूत भूमी ठरते. आनंदमदाने उत्साहित झालेले साधकाचे मन जेव्हा आंतरिक शक्तीच्या प्रेरणेने क्रिया करते तेव्हा त्या अवस्थेत त्याच्यावर कोणताही विपरित, वाईट किंवा दुष्ट परिणाम कोणत्याही प्रकारे होत नाही. त्याची बुद्धी निश्चलच राहते. ज्यावेळी क्रियांचा आतील जोर संपतो तेव्हा साधक

तत्काल आपल्या पूर्वीच्या अवस्थेत येतो."

साधनमहायज्ञात क्रियांद्वारा हवन :-

श्रीगुरुप्रदत्तशक्तीच्या प्रभावाने साधकाला ज्या नानाविध क्रिया होतात व जे बहुविध अनुभव येतात त्याच्या पूर्वसंस्कारांचा व पापांचा नाश होऊन तो आत्मप्राप्तीच्या मार्गात अग्रेसर होतो. बाह्यचक्षूंच्याद्वारे दिसणारी परमेश्वराची सृष्टी सूक्ष्म अंशाने प्रत्येक मनुष्यमात्रांच्या शरीरातील सुषुम्णा नाडीमध्ये सामावलेली असते. ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती क्रियाशील होते तेव्हा अंतरामध्ये हे विश्व सामावलेले आहे त्याची अनुभूती साधकाला येते. साधकाला संतोष व श्रद्धा प्राप्त व्हावी म्हणून ही सर्व शुभलक्षणे ब्रह्मस्वरूपाची अभिव्यक्ती करीत राहतात. ह्या सर्व क्रिया व अनुभव साधकाला त्याच्या गंतव्यस्थानापर्यंत जाण्यासाठी मार्गात दिसणारे जणू काही दीपस्तंभच असतात. एवढेच नव्हे; तर साधकाला शेवटी कोठे जावयाचे आहे हेच या क्रिया दाखवीत असतात. शेवाळ्याने भरलेल्या विहिरीत खडा टाकला की, शेवाळे दूर होऊन आतील स्वच्छ पाण्याचे दर्शन थोडावेळ घडते. परंतु शेवाळे एक झाल्यावर पुन्हा दर्शन नाहीसे होते. त्याप्रमाणे क्रियांद्वारा मधून मधून ब्रह्माभिव्यक्ती होत असली तरी जोपर्यंत वासनादि संस्कार दूर होत नाहीत तोपर्यंत ब्रह्मप्राप्ती होत नाही. त्यासाठी श्रीशिवशक्तीचे संमिलन होणे आवश्यक ठरते. जोपर्यंत श्रीशिवशक्तीचे मिलन होत नाही तोपर्यंत नानाविध क्रियांचे व अनुभवांचे अलौकिक आश्चर्य साधक आपल्या अंतरामध्ये अनुभवीत राहतो. साधन हा एक महायज्ञच असतो. त्यामध्ये साधकाच्या वासनांचे, संस्कारांचे व अज्ञानाचे क्रियांद्वारा हवन होत असते. ज्यावेळी या यज्ञात पूर्णाहुती होईल त्यावेळी निर्विकल्प समाधीची अवस्था येऊन **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"** असे ज्ञान होऊन साधक कृतकृत्य होईल.

या साधनरूप महायज्ञातील हवनाच्या प्रारंभापासून ते पूर्णाहुतीपर्यंत म्हणजे साधन सुरू झाल्यापासून ते शेवटपर्यंत ज्या ज्या घटनांचा साधकाला अनुभव येतो त्या सर्वांचे यथातथ्य वर्णन करणे ही

मनुष्यबुद्धीच्या पलीकडील गोष्ट आहे. प्रत्येक क्रियेचे विश्लेषण करणे व तिची कारणमीमांसा करणे हेही मनुष्यबुद्धीच्या आटोक्यातील नाही. ढोबळ व स्थूल मानाने जेवढी मीमांसा करता येणे शक्य होती तेवढी आतापर्यंत केली. परंतु हे कल्पनातीत साधन असल्याने क्रियांचे विश्वही कल्पनातीत असते. हा जयद्रथ व हा सूर्य याप्रमाणे ह्या क्रिया व हे अनुभव असे दिसून येते. एक आत्मप्राप्ती हेच लक्ष्य येथे अभिप्रेत असते. त्यामुळे विवेचन व विचक्षणा यांना गौणत्व येते व तेच खरे आहे. हे सर्व अनुभव देणारी अंतरशक्ती कुंडलिनी ज्यावेळी ऊर्ध्वगामिनी होईल त्या त्या वेळी आश्चर्यातिरेकाने मन स्तिमित होईल. असे तरतमभावात्मक क्रियानुभूतीचे अपार विश्व साधकापुढे साकार होते. परंतु या क्रियानुभूतींनीच साधक पूर्णपणे कृतार्थ होत नाही. ही क्रियानुभूतींची कथा जेव्हा ब्रह्मांड भेदून पैलाड जाते त्यावेळी ती महाशक्ती श्रीशिवाशी समरसून जाते. त्यामुळे पिंडब्रह्मांडाचा लय होऊन साधक कृतकृत्य होतो. कृतार्थ होतो.

कर्म, जाती व अवस्थांचे क्रियांना बंधन नाही :-

मागे लिहिल्याप्रमाणे कुंडलिनी शक्ती भिन्न भिन्न प्रकृतीच्या लोकांमध्ये त्यांच्या त्यांच्या शरीर, मन व प्राणाला अनुकूल होईल त्याप्रमाणे भिन्न भिन्न रूपाने योगशास्त्राने कथन केलेल्या समाधीनिमित्त श्रीशिव-शक्तीच्या ऐक्यासाठी नाना प्रकारच्या क्रिया करते. श्रीसद्गुरुकृपेने दीक्षा झाल्यावर साधक स्त्री, पुरुष, बालक, तरुण, वृद्ध, रोगी, निरोगी, पापी, पुण्यवान्, महामूर्ख, विद्वान्, आस्तिक, नास्तिक यांपैकी कसाही असला तरी उपरोक्त लक्षणांपैकी काही लक्षणे तत्काल अगर क्रमाक्रमाने प्रकट झाल्याशिवाय राहत नाहीत. सिद्धी आपापल्या संस्काराप्रमाणे साधकाला होत असते. मात्र आत्मशक्तीच्या जागृतीमध्ये व क्रियांच्या उद्भूततेमध्ये कर्म, जाती अवस्था अगर आश्रम आड येत नाही. इतकेच काय; देश, काल, परिस्थिती या गोष्टीही क्रियांना बंधनकारक होत नाहीत. मनुष्यमात्र ईश्वरी ज्ञानाचा अधिकारी असल्यामुळे, **"म्हणौनि कुळ जाति वर्ण। हें आघवेंचि गा अकारण।**

एथ अर्जुना माझेपण। सार्थक एक।।९.४५६।। तेंचि भलतेणें भावें। मन मज आंतु येतें होआवें। आलें तरी आघवें। मागील वावो।।४५७।। तैसें तंवचि वहाळ वोहळ। जंव न पवती गंगाजळ। मग होऊनि ठाकती केवळ। गंगारूप।।४५८।। कां खैर चंदन काष्ठें। हे विवंचना तंवचि घटे। जंव न घापती एकवटे। अग्निमाजीं ।।४५९।। असे श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** वर्णन केले आहे. प्रज्वलित अग्नीमध्ये चंदनाची अगर खैराची लाकडे टाकली तरी शेवटी अग्नी त्या दोन्ही प्रकारांना आपल्यात सामावून घेतो. त्यांचे वेगळेपण तेथे शिल्लक राहत नाही. त्याचप्रमाणे सिद्ध-महायोगाच्या क्रियांमुळे उत्पन्न झालेल्या अंतराग्नीत जन्मजन्मांतरींच्या सर्व संस्कारादि वासनांचे हवन होऊन साधक ब्रह्मरूप होऊन जातो.

विचार प्रवाह व एकाग्रता :-

साधन सुरू झाल्यावर चांगले वाईट नानाप्रकारचे अनंत विचार मनात सतत येतात. पूर्वायुष्यातील अनेक चांगल्या वाईट गोष्टी, संसारातील चिंता व भवितव्याबद्दलचे विचार याच वेळी पुढे दत्त म्हणून उभे राहतात. त्यामुळे मनाची एकाग्रता होत नाही. या जन्मीचे व पूर्व जन्मीचे संस्कार, विकार, वासना, इच्छा, भोगाकांक्षा, सत्त्व-रज-तम हे गुण विचारांच्या रूपाने मनात उसळून येतात. त्यामुळे साधनाच्या प्रारंभीच्या अवस्थेत विचार कमी होत नाहीत व मनाची एकाग्रताही अल्पावकाशात साधत नाही. जोपर्यंत साधकाच्या मनात भोग, इच्छा, आकांक्षा, तृष्णा, संसारवासना, संस्कार इत्यादि गोष्टी शिल्लक राहतात व त्या पूर्णपणे निवृत्त होत नाहीत तोपर्यंत विचार येत राहतात व मनाची एकाग्रता होत नाही.

साधन सुरू झाल्यावर अशा प्रकारे विचार उसळून आल्याने साधक घाबरून जातो. त्याला वाटते मन एकाग्र व्हावे म्हणून साधन घेतले; पण येथे विपरीतच होत आहे. अशा वेळी विचारांना थोपवून धरण्याचा, त्यांच्याशी सामना करून त्यांना बाहेर काढण्याचा किंवा मनन, ध्यान, जप आदि करून त्यांना दूर करण्याचा तो प्रयत्न

करतो. यावेळी साधकाने महायोग हा समर्पणाचा मार्ग आहे हे लक्षात घेऊन विचारांना कोणत्याही प्रकारे अडविता कामा नये. जितके विचार येतील तितके येऊ द्यावेत. विचार येणे हा सुद्धा एक क्रियेचा भाग असू शकतो. विचार उसळून आल्याने अंतःकरणात लपलेले संस्कार, वासना, इच्छा, भोगाकांक्षा इत्यादि बाहेर निघून जाऊन शरीर व मन शुद्ध होत जाते. जेव्हा ही शुद्धिकरणाची क्रिया पूर्ण होते तेव्हा मन आपोआप एकाग्र होते.

शारीरिक रोग, मानसिक जडता, संशय, निरुत्साह, आळस, भोगासक्ती, साधन करूनही उन्नती न होणे, दुःख, मानसिक कष्ट, अज्ञान, अहंकार, जीवनासक्ती, द्वेष, अविवेक, हिंसा, यमनियमांचे व खाण्यापिण्याच्या नियमांचे पालन नीट रीतीने न होणे, स्पर्शास्पर्श दोष, पूर्व जन्माचे तीव्रतम संस्कार उसळून येणे, पापाकडे प्रवृत्ती होणे, नानातऱ्हेच्या वासना, सांसारिक अडचणी इत्यादि अनेक कारणांमुळे साधनात अडथळे येऊन मन एकाग्र होत नाही. साधन नियमित केले म्हणजे ही विघ्ने दूर होऊन शरीर, मन, प्राण व नाडी या सर्वांची शुद्धी होऊन मन आपोआपच एकाग्र होते. जशजशी ही शुद्धी घडून येते तसतसा चित्ताच्या सर्व वृत्तींचा निरोध होऊन मन हळूहळू व क्रमाक्रमाने शांत होत जाते. चित्तवृत्तींचा पूर्ण निरोध, विचाररहित स्थिती व पूर्ण वासनानिवृत्ती ही खूप वरची अवस्था आहे. दीर्घकाल, अखंड व प्रतिदिनी आदरपूर्वक अभ्यास केला म्हणजे ही स्थिती परमेश्वरकृपेने प्राप्त होते.

आज्ञाचक्रापर्यंत इंद्रियांच्या क्रिया कमीअधिक परिमाणात होत असल्याचे दिसून येते. मनाच्या क्रिया तर होत राहतातच. ज्यावेळी आज्ञाचक्राचा भेद होतो त्यावेळी इंद्रियांच्या बाह्य क्रिया सर्वथा थांबतात; परंतु मनाचा व्यापार तेव्हाही बंद होत नाही. जशजशी प्राणशक्तीची गती सहस्राराकडे वाढू लागते त्या त्या प्रमाणात मनही शांत होत जाते. ज्यावेळी सहस्रदलकमलामध्ये मन बांधले जाते त्यावेळी त्याचे चांचल्य पूर्णपणे नाहीसे होते. मन पूर्णपणे तेथे विलीन झाल्याने त्याची कोणत्याही

प्रकारची वेगळी सत्ता किंवा कार्य दृग्गोचर होत नाही. यालाच अमनस्कावस्था म्हणतात. शांभवी मुद्रा ही याची पूर्णता आहे. जोपर्यंत साधकाला ही अवस्था प्राप्त होत नाही तोपर्यंत बाह्यदृष्टीच्या उन्मेषनिमेषाचा व्यापार हा संपुष्टात येत नाही. ज्यावेळी बाह्यदृष्टीचा उन्मेषनिमेषाचा व्यापार थांबेल त्यावेळी अंतर्लक्ष स्थिर झाले आहे, मनावर विजय प्राप्त झाला आहे व आत्मचैतन्याचा प्रकाश उत्पन्न झाला आहे असे साधकाच्या अनुभवाला येते. मानसिक चांचल्य हे वायूच्या स्पंदनामुळे होत असते. यासाठी या अवस्थेत मन, वायू म्हणजे प्राण व दृष्टी ह्या सर्व गोष्टी स्थिर राहतात. या अपूर्व अवस्थेत केवळ आकाशरूपी आत्मचैतन्य प्रकाशमान राहते.

साधनातील क्रिया व अनुभव :-

क्रिया का होतात हे आपण पाहिले. आता साधन करताना साधकाला कोणकोणत्या क्रिया होतात व कोणकोणता अनुभव येतो याचा विचार करणे उद्बोधक ठरेल. अगदी प्रथम महायोगाच्या चार अवस्था कोणत्या आहेत त्या पाहू. त्यामुळे साधनातील क्रिया व अनुभव यांचा क्रम व विकास कसा होतो हे कळून येईल.

"वराहोपनिषदाच्या" पाचव्या अध्यायात योगाच्या चार अवस्थांचे वर्णन करताना म्हटले आहे की -

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपिच।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषुस्यादवस्थाचतुष्टयम्।।७१।।

चित्तवृत्तींचा निरोध होऊन ज्ञानप्राप्ती होऊन जीव ब्रह्मस्वरूप व्हावा यासाठी प्रवृत्त झालेल्या सर्व योगामध्ये आरंभ, घट, परिचय व निष्पत्ती या चार अवस्था दिसून येतात.

आरंभ अवस्था :-

करणत्रय सम्भूतं बाह्यं कर्म परित्यजन्।
आन्तरं कर्म कुरुते यत्रारम्भः स उच्यते।।७२।।

ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान या साधनत्रयामुळे उत्पन्न होणाऱ्या बाह्य कर्माचा त्याग करून साधक जेव्हा कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन

तिच्या प्रेरणेमुळे होणारे आंतरिक व मानसिक कर्म करू लागतो म्हणजे त्याच्याकडून हे कर्म आपोआप होऊ लागते तेव्हा त्याला आरंभ अवस्था म्हटले जाते.

आरंभ अवस्थेमध्ये योगमाया कुंडलिनी शक्ती प्रथम हठयोगाला आरंभ करते. प्रथम साधनाला सुरुवात झाली की, नानाप्रकारच्या शारीरिक क्रिया होऊ लागतात. आसने, बंध, मुद्रा, प्राणायाम व नाडीशुद्धी होऊ लागते. आसनामुळे शरीराला स्थिरता येते. बंध व मुद्रा झाल्यामुळे शरीर दृढ होते. प्राणायामाने शरीर कृश व लघु होते. नाडीशुद्धीद्वारा शरीरात साम्यता उत्पन्न होते. विषमता नाहीशी होते. अशा प्रकारे आरंभ अवस्थेतील हठयोगाच्या क्रियांमुळे शरीर परिपक्व होते व ते साधकाच्या ताब्यात राहू लागते.

घटावस्था :-

वायुः पश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्य सुस्थिरम्।
यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः।।७३।।

महायोगाच्या दुसऱ्या अवस्थेला घटावस्था असे म्हणतात. या घटावस्थेत शरीर संपूर्णपणे शुद्ध व सत्त्वगुणयुक्त होते. विषयवासनांचा ऱ्हास होऊ लागतो. नेहमी ईश्वराचे स्मरण राहू लागते. हठयोग व लययोग हे सुगम होतात. साधकाचे अंतःकरण पवित्र व प्रसन्न राहू लागते. दिवसेंदिवस वैराग्य चढते वाढते राहते. ईश्वरप्राप्तीसाठी मन उत्साहित व त्याचबरोबर विरहाने व्याकूळ होते. आरंभावस्था व घटावस्था या एकत्रच दिसून येतात.

आरंभ अवस्थेत शरीर व घटावस्थेत मन सदृढ व पक्के होते. या दोन्ही अवस्थांमुळे मन व शरीर शुद्ध आणि स्वस्थ होते. त्यामुळे कुंडलिनी शक्तीचा ब्रह्मरंध्रामध्ये जाण्याचा मार्ग अत्यंत सुगम, सोपा व सरळ होतो. या दोन अवस्थांमुळेच साधकाचा प्राणवायू पश्चिममार्गाने सुषुम्णेमध्ये प्रवेश करतो व हळूहळू तो स्थिर करण्याची क्षमताही साधकाच्या अंगी येऊ लागते. या स्थिरता प्राप्तीच्या अवस्थेलाच शास्त्रकारांनी योगसाधनेतील घटावस्था मानले आहे.

परिचयावस्था :-

न सजीवो न निर्जीवः काये तिष्ठति निश्चलम्।
यत्र वायुः स्थिरः खे स्यात्सेयं प्रचयभूमिका।।७४।।

परिचयावस्थेमध्ये साधकाचे प्राण अंतराकाशातील बोधगगनामध्ये विलीन होतात. प्राणशक्ती कुंडलिनीदेवी हृदयाकाशामध्ये प्राण स्थिर करून सहस्त्रारामध्ये श्रीशिवाशी एकरूप होते. ज्यावेळी प्राणाचा अशा प्रकारे निरोध होतो त्यावेळी साधकाचे शरीर निष्क्रिय व निर्जीव आहे असे भासू लागते. साधकाचा देह मृतवत् आहे असे वाटते; कारण बाह्य लक्षणांवरून सजीवतेचे एकही चिह्न दिसत नाही. मात्र आतमध्ये तो सजीवच असतो.

परिचयावस्थेमध्ये प्राण व आत्मशक्ती एकत्रित होते. यामुळे महायोगातील परिचयावस्था किंवा सिद्धावस्थेची महती खूप मोठी समजली जाते. या अवस्थेला प्राप्त झालेला साधक सिद्ध होतो. त्याला अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होते. कुंडलिनीदेवीची कृपा व श्रीगुरुदेवांचा परमानुग्रह यामुळे परिचयावस्था प्राप्त होते. या अवस्थेत शरीरामध्ये व्याप्त असलेले प्राण केवळ संकल्पाने सर्व शरीरातून खेचले जाऊन मूलाधारात एकत्र होतात. ज्यावेळी अशा प्रकारे प्राण एकत्र येण्यास सुरुवात होते त्यावेळी साधकयोग्याला अनिर्वचनीय सुखाचा अनुभव येतो. शरीरातून ज्या ज्या ठिकाणांहून प्राण खेचले जातात ते ते ठिकाण मृतवत्, निश्चेष्ट व निष्क्रिय होऊ लागते.

सर्व शरीरात व्याप्त असलेले प्राण एकत्रित, अंगुष्ठमात्र व अतिसूक्ष्म होऊन सुषुम्णा विवरामध्ये प्रवेश करतात. असा प्रवेश झाला की, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध आणि आज्ञाचक्रांना भेदून प्राण सहस्त्रारात जातात. यावेळी जठराग्नी व मन प्राणात मिसळून जातात. बिंदूचे म्हणजे वीर्याचे स्वतःच्या ठिकाणीच भस्म होऊन त्याचे ओजामध्ये म्हणजे सामर्थ्यामध्ये रूपांतर होते. असे झाले म्हणजे सर्व ब्रह्मांडाला क्रियाशील करणाऱ्या व सर्वांचे जीवनरूप असलेल्या प्राणाचा परिचय होऊन साधकयोगी

कृतार्थ होतो. या अवस्थेत साधकाच्या बुद्धीमध्ये आत्मतेजाचा प्रकाश उत्पन्न होतो. "**तत्र ऋतंभरा प्रज्ञा**" अशा अवस्थेत सत्य व सम्यक् ज्ञानाचे अवलंबन करणारी जी बुद्धी साधकाला प्राप्त होते तिला ऋतंभरा प्रज्ञा असे म्हणतात. अशा प्रकारच्या सत्यज्ञानाच्या साक्षात्काराने साधक सिद्ध होतो व प्रकृतीवर आपले प्रभुत्व स्थापन करतो. त्याला सर्वत्र शक्तीचे भांडार खुले होते. कुंडलिनी शक्ती सरलता धारण करते व सुषुम्णेमध्ये आपले स्थान स्थापित करते. यामुळेच साधकयोग्याला आत्मज्ञान अत्यंत सहज व सुलभतेने होते.

निष्पत्ती अवस्था :-

यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशां गतः।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्तिभूमिका।।७५।।

निष्पत्ती अवस्थेमध्ये साधकयोग्याच्या ठिकाणी आत्मज्ञानाचा उदय होतो. त्यामुळे पिंडब्रह्मांडाचा लय होतो. यावेळी साधकयोग्याच्या जीवाचे जीवपण जाऊन त्याला शिवपण प्राप्त होते व कुंडलिनी महाशक्ती आधाररूप परमशिवामध्ये विलीन होते. त्यावेळी योग्याला जीवन्मुक्तदशा प्राप्त होते.

क्रिया व अनुभव :-

शक्ती जागृत झाल्यावर साधकाला ज्या क्रिया होतात, जे अनुभव येतात व जी लक्षणे प्रकट होतात ती इतक्या विविध प्रकारची असतात की, त्यांची गणना करणे व वर्गीकरण करणे केवळ अशक्यप्राय आहे. तरीसुद्धा उद्बोधित कुंडलिनीचा आविष्कार पुढील प्रकाराने झालेला दिसून येतो, असे "**श्रीशारदातिलक**" या ग्रंथात स्पष्ट केले आहे.

चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादि भेदतः।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि।।४.३।।

आविर्भावलक्षणावरून कुंडलिनीचे क्रियावती, वर्णमयी, कलात्मा व वेधमयी असे चार प्रकार होतात.

विशेषकरून योगाचे आविष्कार पुढील चार प्रकाराने होत असल्याचे दिसून येते.

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।१.१२९।।
योगशिखोपनिषत्।

हठ, मंत्र, लय व राजयोग या एकाच योगाच्या चार अंतर्गत भूमिका आहेत. या चार प्रकाराने विभक्त होऊन क्रिया होताना व निरनिराळे अनुभव येताना दिसले तरी हा एकच योग आहे. सिद्धयोगामध्ये या चारही योगांचा समावेश होत असल्याने त्याला महायोग असे म्हटले आहे.

दीक्षा झाल्याबरोबर साधकाचे शरीर, मन, बुद्धी व वासना यांचे शुद्धीकरण सुरू होऊन भक्ती व ज्ञानाचा उद्रेक व आविष्कार होत असल्याने त्या दृष्टीनेही क्रिया होऊन साधकाला अनुभव येतात.

येथे एक गोष्ट साधकाने विशेष लक्षात ठेवण्यासारखी आहे की, साधन करताना क्रियांचा क्रम एकसारखा राहील असे नाही. त्याचप्रमाणे एक क्रिया चालू असताना दुसरी होणार नाही असेही नाही. एका वेळेस मिश्रस्वरूपात अनेक बाह्य व अंतर्गत क्रिया साधनाच्या वेळी चालू असतात. क्वचित् एक एक क्रिया क्रमाक्रमाने होऊनही प्रगती होत राहते.

हठयोगाच्या क्रिया :-

उद्बोधित कुंडलिनी शक्तीचा भौतिक पातळीवर जो आविर्भाव होतो तोच वास्तविक हठयोगात अभिप्रेत आहे. हठ या संस्कृत शब्दात दोनच अक्षरे आहेत "ह" हे सूर्यवाचक व "ठ" हे चंद्रवाचक आहे. अर्थात् हठयोगाचा अर्थ चंद्रसूर्यमिलन असा होतो. म्हणून ज्यात इडापिंगला नाड्या, अपान व प्राणवायू किंवा मनाचा प्राणशक्तीत लय होणे या शारीरीक गोष्टींचा समावेश होतो तो हठयोग होय. महायोगी श्रीगोरक्षनाथांनी **"सिद्धसिद्धान्तपद्धतीत"** या दृष्टीने असे म्हटले आहे की -

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचन्द्रमसौर्योगाद्धठयोगो निगद्यते।।

हठयोगाच्या पातळीवर जेव्हा कुंडलिनी कार्यान्वित होते तेव्हा तिला क्रियावती संबोधणे अगदी युक्त आहे. ह्याच स्थितीत साधकाच्या अनेकानेक हठयोगाच्या क्रिया आपसुखच चालू असतात. तो हेतुपूर्वक काहीही करीत नाही. ह्या त्याच्या क्रिया नूतन जागृत झालेल्या शक्तीच्या प्रभावाने तिच्या दाबाखाली आपोआप सुरू असतात. हठयोगांतर्गत असलेल्या या क्रिया आसने, प्राणायाम, बंध व मुद्रा यांच्या रूपाने उद्बोधित कुंडलिनीच्या प्रभावामुळे घडून येतात. मात्र कोणत्या क्रिया कशाकरिता होत आहेत यासंबधी साधकास त्यावेळी आवाका नसतो. काही क्रिया योगशास्त्राच्या कोठल्याही संदर्भ ग्रंथामध्ये मुळीच आढळून येत नाहीत. कधीकधी या हठयोगाच्या क्रिया इतक्या गुंतागुंतीच्या व कठीण असतात की, त्या साधनाव्यतिरिक्तवेळी करणे केवळ अशक्यप्रायच होय. कुंडलिनी सुप्त असताना आवश्यक त्या पद्धतीने अवयव वाकविणे नेहमी असमर्थतेचे असते. या क्रियांपैकी काही विशिष्ट महत्त्वाच्या क्रिया हठयोगावरील सर्वमान्य ग्रंथात नवीन साधकाने कुंडलिनी शक्ती जागृत करण्याकरिता उपयोजाव्यात असे सांगितले आहे. पण उद्बोधित झालेल्या कुंडलिनी शक्तीकडून याच क्रिया अगदी सरावातल्याप्रमाणे शारीरिक आरोग्य पूर्णपणे सांभाळून महायोग होताना दृष्टोत्पत्तीस येतात.

नाडीशुद्धीच्या क्रिया :-

शरीरातील सर्व नाड्या मलाने भरलेल्या असतात. त्यामुळे प्राण सुषुम्णा नाडीमध्ये सहजतेने प्रवेश करू शकत नाही. या कारणाने प्राणायामाची सिद्धी होत नाही व तत्त्वज्ञानही होत नाही. याकरिता साधनाच्या सुरुवातीला नाडीशुद्धी होणे आवश्यक असते. यासाठी श्रीगुरुकृपेने जेव्हा कुंडलिनी शक्ती जागृत होते तेव्हा प्रथम ती साधकाकडून नाडीशुद्धीच्या क्रिया करविते. वातक्रम, व्युत्क्रम, शीतक्रम, भस्त्रा, वायुसार, नौली, कपालभाती इत्यादि क्रिया नेती, धौती, बस्ती, इत्यादि क्रियांचे काम करतात. या क्रिया साधकाला आपोआप वायूच्या द्वाराने रेचक, पूरक व कुंभक प्राणायामाच्या

रूपाने होतात. अर्थात् साधकाच्या मुखातून, नाकातून, गुदद्वारातून व लिंगातून प्राणापान वायूचें सोडणे, ग्रहण करणे व निरोध करणे यांच्यारूपाने या सर्व क्रिया कुंडलिनी शक्तीच्या प्रेरणेने होत राहतात.

नाडीशुद्धी होत असताना अनेक प्रकारे अंगविकृतीच्या क्रिया होतात. चेहऱ्यावर नानाविध भाव उमटतात. देहविक्षोभ, व्यायाम, अंगमर्दन, झोप, घर्षण, डोळ्यातील बुबळे निरनिराळ्या तऱ्हेने व प्रकाराने फिरविणे, हातपाय फेकणे व पसरणे, डोळे लहान मोठे करणे, धावणे, फिरणे, घूर्णा म्हणजे शरीर डावीकडून उजवीकडे किंवा उजवीकडून डावीकडे गोलाकार फिरणे, शरीर मागे अथवा पुढे पडणे, भान गोलाकार फिरणे, घरभर गडबडा लोळणे, नाक, डोके इत्यादि अवयव जमिनीला घासणे, नृत्य करणे, बेडकाप्रमाणे इकडून तिकडे उड्या मारणे व पडणे, नुसत्या उड्या मारणे, ओलांडल्यासारखी उडी मारणे, वेड्याप्रमाणे दारू पिऊन उन्मत्त झालेल्या माणसाप्रमाणे किंवा भूत अंगात आलेल्या माणसाप्रमाणे शारीरिक व मानसिक क्रिया करून त्याप्रमाणे भाव दाखविणे इत्यादि क्रिया प्राणवायूची गती ऊर्ध्व झाली की, साधकाकडून आपोआप होतात. या क्रियांप्रमाणेच आपापल्या प्रकृतीप्रमाणे कितीतरी विविध विकृत क्रिया साधकाकडून होतात. कंप, रोमांच, अंतःस्फुरण, स्पंदन, स्पर्श, जांभया, हसणे, रडणे, पडणे, खांबाप्रमाणे स्थिर होणे, शरीर जड होणे, जमिनीला चिकटून जाणे, श्वासप्रश्वास अत्यंत जोरजोराने होणे, घाम येणे, डोळ्यातून पाणी गळणे, लाळ गळणे, शरीर कृश होणे, मलमूत्र अल्प होणे, कोष्ठकाठिन्य होणे, कमी किंवा जास्त झोप येणे अगर झोप नाहीशी होणे, थंडी वाजणे, ताप आल्यासारखे वाटणे, शरीरात जो सुप्त रोग असेल तो प्रकट होऊन बाहेर पडणे, शरीर दुखू लागणे, पोटात दुखणे, कामवासना उत्तेजित होणे, आत्यंतिक कामेच्छेने वीर्यपात होणे, जुलाब किंवा जास्त लघवी होणे, ताप येणे, उचकी, श्वास, दमा इत्यादि शरीरात मूलतः असलेले रोग वाढणे, भूक वाढणे किंवा कमी होणे इत्यादि साधकांच्या संस्कारानुसार कुंडलिनी शक्ती सर्व दोषांच्या

निवारणार्थ नाना प्रकारच्या क्रिया करविते. या क्रियांमुळे मन बाह्यज्ञानशून्य व निष्क्रिय होते. प्राणकलेचा प्रवाह मूलाधारातून सहस्राराकडे व पुन्हा सहस्राराकडून मूलाधाराकडे वाहत असतो. या प्राणकलेच्या स्रोतामुळे नाना तऱ्हेच्या सुखाचा अनुभव येतो. मेरुदंडात तीव्र कंपन होऊन शरीर शून्य होते. आपल्याला शरीरच नाही अशी प्रतीती येते. सर्वत्र शून्य भासू लागते. डोळे इतके आत ओढले जातात की, कितीही इच्छा केली तरी ते उघडले जात नाहीत. शरीरातून विजेचे प्रवाह चालले आहेत याचा अनुभव येतो. सर्व शरीर इतके आत खेचले जाते की, ते चिमटून लहान होऊन नाहीसे होईल असे वाटते. मन इतके आवेशयुक्त होते की, शरीरात कोणीतरी प्रवेश केला आहे व अष्टौप्रहर आत क्रिया चालू आहेत याची जाणीव होते. जेथे कोठे मन एकाग्र होईल तेथे शरीर झटकन् कापू लागते व अनिच्छेने शरीर हलू लागते. अत्यंत घाणेरड्या, मलीन स्थानामध्ये किंवा संडासामध्ये शौचाला गेल्यावरही मन आनंदमग्न राहते.

कधी कधी रस्त्यावरून चालताना मनात इतका तीव्र आवेश येतो की, साधकाला असे वाटते की, आपण जमिनीवरून चालूच नये. आकाशातून उडत जावे. जोरजोराने पळावे. शरीर इतके हलके होते की, एखादे वाळलेले पान ज्याप्रमाणे हवेवर आपसुख तरंगत राहते तसे शरीर हवेवर तरंगत आहे अशी अनुभूती येते. कितीही चालले तरी शरीर थकत नाही. मन प्रफुल्लित व प्रसन्न राहते. स्वप्नामध्येसुद्धा अप्रसन्नता वाटत नाही. नित्याच्या व्यवहारात काहीही इष्ट किंवा अनिष्ट घडले तरी त्यामुळे मन विचलित होत नाही. सकाळी व संध्याकाळी भुकेची वेळ झाल्यावर ज्याप्रमाणे माणसाचा जीव भुकेने व्याकूळ होतो त्याप्रमाणे साधनाची वेळ झाली की, साधनासाठी जीव व्याकूळ होतो. मग त्यावेळी इच्छा नसली तरी क्रियेचा वेग जाणवू लागतो. त्याला साधनाला बसल्याशिवाय चैनच पडत नाही. शरीर, मन व प्राण हे साधनासाठी इतके विवश होतात की, त्यावरील ताबा नाहीसा होतो. साधकांचे रोग अत्यंत त्वरेने नाहीसे होतात.

साधनात साधकाला सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, सिंह, गोमुख, वीर, धनु, मृत, गुप्त, मत्स्य, पश्चिमोत्तान, मत्स्येंद्र, गोरक्ष, उत्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, मंडुक, वृक्ष, गरुड, वृषभ, शलभ, मकर, उष्ट्र, भुजंग इत्यादि योगाची नाना प्रकारची आसने होतात. या आसनांनी शरीराला स्थिरता प्राप्त होते व अग्नी प्रदीप्त होऊन पचनक्रिया उत्तमप्रकारे होऊ लागते. त्यामुळे रजोगुण व तमोगुणांचा लोप होत जाऊन शरीर निरोगी राहते.

साधकाला कित्येक योनीतील आसने होतात; कारण जीवाचे कोट्यवधी योनीतून जन्म झालेले असतात. जन्मजन्मांतरी भोगलेल्या योनीतील अति सूक्ष्म संस्कार जीवावर झालेले असतात. कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यावर उक्त प्रकारच्या नानाविध क्रिया होऊन हे संस्कार स्मृतिपथात येऊन निघून जातात. स्वप्नाप्रमाणे हे संस्कार साधकाला ध्यानावस्थेमध्ये भासमान होतात. या संस्कारांमुळेच साधक स्वाभाविकपणे आसनादि क्रिया करतो. कोणत्या योनीचे कसकसे संस्कार आहेत हे शारीरिक, मानसिक, प्राण व स्वरांच्या क्रियेवरून अनुमानाने साधकाला समजून येतात. किंवा ज्यावेळी शुद्ध स्मृती दृढ होते त्यावेळी साधकाला जन्मजन्मांतरातील संस्कारांचा उत्तमप्रकारे अनुभव येतो असे प्रत्यक्ष दिसते.

सारांश, संस्कारांच्या दृढ परिणामांमुळेच चौऱ्यांशी लाख आसनांपैकी हजारो प्रकारची आसने साधक आपोआप करतो. पद्म, ताल, वृक्ष, इत्यादि उद्भिजयोनींची; कूर्म, मत्स्य, मकर, इत्यादि जलयोनींची; भुजंग, शलभ, वृश्चिक इत्यादि कीटयोनींची; मयूर, गरुड, कुक्कुट, हंस इत्यादि पक्षीयोनींची व सिंह, वृषभ, उष्ट्र इत्यादि पशुयोनींची; आसने तो करतो. साधनाच्या वेळी शक्तीकडून साधकाला उभे करून, बसवून, झोपून, आडवे पाडून, उलटसुलट करून, वाकडे-तिकडे व्हावयास लावून नाना प्रकारांनी आसने करवून घेतली जाताना दिसून येते.

बंध व मुद्रा :-

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डयान, जालंधर, मूलबंध, महावेध, खेचरी, विपरीत करणी, योनी, वज्रोली, शक्तिचालिनी, ताडागी, मांडुकी, शांभवी, वैश्वानरी, वायवी, आकाशी, पार्थिवी, आंभसी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, आणि भुजंगिनी या पंचवीस मुद्रा योग्यांना सिद्धी देणाऱ्या आहेत. साधनात आसनाबरोबरच साधकाला त्याच्या पूर्वसंस्काराप्रमाणे व आवश्यकतेप्रमाणे या होतात. आसनांचे मुख्य कार्य शरीर स्थिर करून दहा वायूंना उत्तमप्रकारे चालविणे हे आहे व मुद्रांचे प्रधान कार्य शरीर दृढ करणे व प्राणवायूला शरीराच्या विशेष भागात स्थिर करणे हे असून त्याच्या योगाने मन धारणा करण्यास समर्थ होते.

साधन होत असताना मुद्रा शरीराच्या कोणत्या स्थानात होतात ते पाहण्यासारखे आहे. मूलाधारात व योनिस्थानामध्ये अश्विनीमुद्रा, मूलबंध व महाबंध होतो. गुदद्वाराचे संकोचन व विकास झाल्याने ह्या क्रिया होतात. बेंबी व पोटाच्या ठिकाणी उड्डयान बंध, ताडागी व सारंगी मुद्रा होतात. यांचे कार्य पोटात वायू भरणे व सोडणे हे आहे. कंठ संकोच झाला की, जालंधरबंध, डोळ्यांच्या ठिकाणी त्राटक व शांभवी मुद्रा होते. कानात नादश्रवण, षण्मुखी मुद्रा व भ्रामरी होते. जिभेच्या ठिकाणी खेचरी, नभोमुद्रा व मांडुकी होते. मुखात भुजंगी, काकी व योनिमुद्रा होते. मस्तकाच्या ठिकाणी विपरीत, करणीमुद्रा आणि सर्वांगाचे ठिकाणी महामुद्रा, महावेध व ताडन परिधानादि क्रिया होतात. याप्रमाणे साधकाला शास्त्रानुसार कुंडलिनी शक्ती आपोआप क्रिया करविते. या मुद्रांच्या साधनाने साधकाचा आनंद व उत्साह वाढतो व त्याचा नित्य अभ्यास होत राहिल्याने जठराग्नी प्रज्ज्वलित होतो. या क्रियांमुळे श्वास, प्लीहा इत्यादि वीस प्रकारचे श्लेष्म रोग दूर होतात.

प्राणायाम :-

हठयोगशास्त्रात कुंडलिनी शक्ती जागृत करण्याकरिता प्राणायाम

हेच मुख्य साधन सांगितले आहे. योगशास्त्रानुसार कनिष्ठ प्राणायामात घाम, मध्यमात कंप आणि उत्तमात प्राणाचे उत्थान होऊन कुंडलिनी जागृत होते. मात्र हे प्राणायाम आपल्या इच्छेने परिश्रमपूर्वक करावे लागतात. परंतु श्रीगुरुकृपेने ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन क्रिया करू लागते त्यावेळी त्यापेक्षाही उत्तम प्राणायाम अनायासे, अपरिश्रमाने आपोआप स्वतः होतात. त्यांच्या योगाने घूर्णा, योगनिद्रा, रोमांच इत्यादि आनंदाची चिह्ने उत्पन्न होऊन साधक आनंदाच्या आवेशामध्ये ॐकार ध्वनी करू लागतो. अंग मोडणे, कंप, भ्रमण, खूप घाम येणे, नाना तऱ्हेचे उद्गार इत्यादि क्रिया त्याबरोबर होतात. आनंदाचे अश्रू त्याच्या डोळ्यातून ओघळू लागतात व साधकाला ज्ञानयुक्त मूर्च्छा येते. असे घडू लागले म्हणजे खरा योग कशाला म्हणतात याचा अर्थ स्पष्ट होऊ लागतो. हाच उत्तमातील उत्तम प्राणायाम होय. ज्या ज्या वेळी कुंडलिनी शक्तीला सुषुम्णामार्गातून ब्रह्मरंध्रात जाण्याची आवश्यकता उत्पन्न होते त्या त्या वेळी कुंडलिनी महादेवी स्वतः साधकाकडून योगशास्त्रात सांगितल्याप्रमाणे नाना प्रकारच्या क्रियांबरोबर प्राणायाम करविते. त्यामुळे साधकाचे शरीर, मन व प्राण स्वस्थ होऊन त्याला विनासायास आपली अभिष्ट सिद्धी प्राप्त होते.

याचप्रमाणे कुंडलिनी महाशक्ती साधकाकडून कित्येक प्रकारचे प्राणायाम करविते. सूर्यभेदन, उज्ज्ञायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, व प्लाविनी हे आठ प्रकारचे कुंभकप्राणायाम आहेत. याच्यांशिवाय बाह्य, आभ्यंतर, स्तंभवृत्ती व केवल कुंभक हेही प्राणायाम आहेत. हेही आवश्यकतेनुसार साधकाला स्वतः आपोआप होतात. या सर्वांचे प्रत्यक्ष ज्ञान महायोगाचे साधन करण्यानेच होते. याच्याबरोबर साधकाला पंचमहाभूतांच्या तत्त्वसमूहाचे ज्ञान आतून स्फुरू लागते. साधक जन्मजन्मांतरी ज्ञान, योग, भक्ती, मंत्र, जप, देवीदेवतांची पूजा इत्यादि साधने मोक्षप्राप्तीसाठी करीत आलेला असतो. महायोगाच्या साधनात पूर्व जन्मातील संस्कारानुसार साधन

प्रकट होत जाते. जर पूर्वजन्मी ज्ञानाचे साधन केले असेल तर त्याला हे साधन करताना आत्मतत्त्वाच्या एकत्वाचा अनुभव येऊ लागतो. योगसाधनाचे संस्कार यमनियमादि अष्टांग योगातील क्रिया होऊन प्रकट होतात. चित्तचांचल्य, चित्तक्षोभ, भय, त्रास, शंका, संशय, उग्रता, गर्व, प्रफुल्लता, विषाद, स्वप्नयुक्त निद्रा, सुषुप्ती, मूर्छा, भाव इत्यादि भगवत्प्रेमाच्या लक्षणांच्या द्वारा भक्तिसाधनाचा आविष्कार होतो. पूर्वजन्मात मंत्रयोगाचा अभ्यास केलेला असल्यास वरील भक्तिमार्गाच्या लक्षणांबरोबरच साधकाला देवदेवतांची दर्शने होतात. पूर्वजन्मातील विभिन्न साधनाभ्यासामुळे साधकांना एकसारखे अनुभव व एकसारख्या क्रिया होत नाहीत. प्रत्येकाची प्रवृत्ती व प्रकृती भिन्न असते. त्यामुळे साधकांच्या क्रियांमध्ये व अनुभवात वैविध्य व वैचित्र्य दिसून येते. इतके जरी सर्व भिन्न असले तरी साधनाचे अंतिम फल समाधी, ज्ञान, मोक्ष व सामरस्य हे एकच आहे हे अगदी निःसंशय.

नऊरस :-

रौद्रोऽद्भुतश्च श्रृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा।
भयानकश्च बीभत्स शान्तः सप्रेम भक्तिकः।।

रौद्र, अद्भुत, श्रृंगार, हास्य, वीर, दया, भयानक, बीभत्स व शांत हे नऊ भावरस आहेत. तीक्ष्णता, विस्मयजनकता, रतिजनकता, प्रसन्नता, उत्साह, करुणा, भयसूचकता, घृणा व नम्रता हे नऊ रसांचे भाव आहेत. कुंडलिनी शक्ती जागृत झाली की, नाना प्रकारच्या अद्भुत शास्त्रांचे ज्ञान व सर्व प्रकारचे अज्ञात भावसमूह स्वतः क्रमाक्रमाने प्रकाशित होत जातात. या भावावेशामध्ये साधक आत्यंतिक आनंदात निमग्न होऊन जातो. साधनाच्यावेळी त्याच्या मनात ज्या ज्या गोष्टींचे आतून स्फुरण होते त्या त्या गोष्टी क्रियारूपाने आपापल्या संस्कारानुरूप साधकाकडून प्रकट होत जातात. या भावक्रियांचा कोणताही ठराविक क्रम नाही. ज्यावेळी जो भाव किंवा जी वृत्ती येते ती तसे आपले काम करते. अव्यक्त चैतन्यशक्तीमुळे साधकाच्या मनाला सूक्ष्मातिसूक्ष्मापासून कधी कधी तीव्रातितीव्र भावनांच्या

प्रेरणा होत असतात. हे असे का होते व कशासाठी होते याबद्दल साधकाने निष्कारण विचार करण्याचे कारण नाही. आतून उसळून येणाऱ्या भावांना व क्रियांना कोणताही अडथळा न करता व त्यांना न थांबविता साधकाने त्यांना त्यांच्या दृष्टीने योग्य असलेल्या कार्यात परिणत होऊ देण्याची नितांत आवश्यकता असते. अंतिम उद्दिष्टाच्या दृष्टीने साधकाने अत्यंत निःशंक व निर्भय होऊन आपल्या इच्छाशक्तीला क्रियेमध्ये परिणत होऊ दिले पाहिजे.

ज्यावेळी साधकाच्या ठिकाणी रौद्ररसाचा आविष्कार उत्पन्न होतो त्यावेळी साधनकालात साधक क्रोधाने व कर्कश भाषेने आपले रौद्र रूप प्रकट व प्रकाशित करतो. ज्यावेळी साधकाच्या ठिकाणी अद्भुत रसाच्या क्रिया होतात त्यावेळी तो महाविस्मयता दाखवितो; कारण त्याला तसे विस्मयकारक अनुभव येत असतात. त्याचप्रमाणे साधकाच्या ठिकाणी श्रृंगाररसाचा आविर्भाव झाला की, तो आपल्या उपास्य देवतेला पतिभावनेने पाहतो किंवा आत्मरतीत निमग्न होतो. साधकाच्या ठिकाणी हास्यरसाचा विकास झाला की, साधनकालात स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित व अतिहसित अशा सहा प्रकारच्या हास्यांपैकी कोणत्याही प्रकारच्या हास्याने साधकाकडून हसण्याची क्रिया होते. इतकेच नव्हे; तर साधक तास तासपर्यंत नानाप्रकारे हसत राहतो. साधकाच्या ठिकाणी क्रिया होत असताना जेव्हा वीररसाचा आविर्भाव होतो त्यावेळी तो उत्स्फूर्त गर्जना, आरडा-ओरड, शरीर इकडे तिकडे फेकणे, तोडणे, वाकविणे, ओरबाडणे, आवेशामध्ये कठिणातले कठीण कामही सहज करणे इत्यादि क्रिया करतो. अथवा त्या अवस्थेत तो बळकटातील बळकट वस्तूही तोडूमोडू शकतो. अर्थात् साधनकालात साधक वीराप्रमाणे उत्साहपूर्ण होतो. साधनाच्या वेळी पुष्कळसे साधक करुणरसाने भरून जातात व अत्यंत कष्टदायक अशा करुणा उत्पन्न करणाऱ्या स्वराने रडू लागतात. त्यामुळे इतरांच्या मनातही करुणा उत्पन्न होऊन त्यांच्या डोळ्यातून अश्रू ओघळू लागतात. पुष्कळशा साधकांना साधन करताना अंतःकरणात भयाचा संचार

झाल्याचे अनुभवाला येते. त्यामुळे भयभीत होऊन त्यांच्या तोंडून भयसूचक शब्द बाहेर पडतात. कित्येक साधकांच्या तोंडून साधनकालात निंदा व घृणास्पद शब्द बाहेर पडतात. इतकेच नव्हे; तर तिरस्कार सूचक अशा शरीराच्या चेष्टाही त्यांच्याकडून आपोआप घडून येतात. शांतभाव उत्पन्न झाला की, साधनकालात साधकाच्या मन, प्राण व शरीरातील इतर क्रियांचा रोध होऊन तो स्वस्थ व चुपचाप बसतो. त्यामुळे तो आपोआपच हळूहळू आपल्या अंतरात्म्याशी संलग्न होत जातो. त्यामुळे त्याला परमशांती व महासुखाचा अनुभव येतो.

याप्रमाणे महायोगाच्या साधनात साधकाला अंतरात्म्याच्या प्रेरणेने शरीर, मन व प्राण यांच्या क्रिया होतात. त्यामुळे त्याला सर्व तत्त्वांचे व भौतिक विषयसमूहाचे ज्ञान होते. या रीतीने ही प्राकृतिक तत्त्वे साधकाला अनुकूल होतात. त्यांचे स्थान, कार्य, स्थिती व स्वरूप यांचे ज्ञान साधकाला स्वतः होते. साधक या ज्ञानाच्या जोरावर आवश्यकतेनुसार त्यांच्यापासून आपली भौतिक आणि अध्यात्मिक उन्नती करून घेतो. त्याचबरोबर हे लक्षात येते की, ही भौतिक तत्त्वे साधकाला कधीही प्रतिकूल होत नाहीत.

मंत्रयोगाच्या क्रिया :-

कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यावर वाचेवर जो परिणाम होतो तो मंत्रयोग होय. सिद्धपुरुष आपल्या सिद्धसंकल्पवाणीने स्त्री व पुरुष साधकास एकाक्षरी किंवा अनेकाक्षरी मंत्रोपदेश करतात. त्याने साधकाची सुप्तशक्ती जागृत होते. हे अक्षर किंवा शब्दसमुच्चय काही विशिष्ट मंत्र असतो. त्यांच्या जपाच्या योगाने साधक मायेच्या आवरणातून मुक्त होतो. मंत्र शब्दाची व्याख्या **"मननात् त्रायते इति मन्त्रः।"** अशी आहे. ज्यावेळी जप करता करता मनन सुटते, मन नाहीसे होते, मंत्र थांबतो, त्रिपुटीचा नाश होतो व साधकाला लयावस्था प्राप्त होते तो मंत्रयोग होय.

श्रीगुरूंनी मंत्र दिल्यावर शक्ती जागृत होऊन नाना तऱ्हेच्या क्रियांचे अनुभव साधकाला येतात किंवा मागे सांगितलेल्या चार

प्रकारांपैकी एखाद्या प्रकाराने दीक्षा झाल्यावर साधकाला आतून मंत्र, कविता, ॐकार इत्यादि स्फुरू लागतात. या मंत्राने अनेक क्रिया आविर्भूत होतात.

श्रीभगवंताची प्राप्ती व्हावी म्हणून ब्रह्मर्षी श्रीनारदांच्या सांगण्यावरून ध्रुवाने मधुवनात खूप तपश्चर्या केली. शेवटी ध्रुवाच्या तपश्चर्येवर प्रसन्न होऊन भक्तकामकल्पद्रुम परमेश्वर गरुडावर बसून मधुवनात आला. प्रत्यक्ष परमेश्वर पुढे येऊन उभा राहिला तरी ध्रुवाने आपले डोळे मुळीच उघडले नाहीत; कारण ध्रुव निश्चल अंत:करणाने हृत्कमलीच सच्चिदानंद प्रभूचे रूप स्पष्टपणे पाहत होता. ध्रुव डोळे उघडत नाही असे पाहून तो पाहत असलेले आपले स्वरूप श्रीभगवंताने त्याच्या हृदयातून गुप्त केले. अशा प्रकारे शुद्धचैतन्य जगदात्मा एकाएकी दिसेनासा झाला आणि हृदयात अंधकार दिसू लागला तेव्हा ध्रुवाने आपले नेत्र उघडले. त्यावेळी हृदयात दिसत असलेले रूप प्रत्यक्ष आपल्यापुढे उभे आहे असे त्याच्या दृष्टीस पडले. ते रूप पाहिल्याबरोबर ध्रुवबाळ अगदी गडबडून गेला. आता काय आणि कसे करावे हे त्याला सुचेना. त्याने ईश्वराच्या चरणी लोळण घेतली. त्याला दृढ आलिंगन दिले आणि हात जोडून तो तटस्थपणे त्याच्याकडे पाहत उभा राहिला.

ईश्वराची आपण पुष्कळ स्तुती करावी अशी ध्रुवाच्या मनाने फार उचल घेतली होती. परंतु स्तुती कशी आणि कोणत्या शब्दांनी करावी हे त्याला कळेना. तसे स्फुरण त्याला होईना. हे स्फुरण आपल्याला कसे होईल? या विवंचनेत तो असताना सर्वांचा अंतरात्मा श्रीभगवान् याने त्याचे मनोगत जाणले. याला शक्तिपात दीक्षा देऊन याची अंत:शक्ती जागृत होऊन हा तिच्या स्फूर्तीने माझी स्तुती आपोआप करू लागेल असे जाणून त्याने आपला शंख ध्रुवाच्या गालाला लावला. त्या शंखाचा स्पर्श होताच **"अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम्"** असे होऊन ध्रुवाला अद्भुत वाणीची स्फूर्ती झाली व तो परमेश्वराची स्तुती करू लागला.

अशा प्रकारे शक्तिपात झाल्याशिवाय मंत्र चैतन्ययुक्त होत नाही अगर अंत:स्फूर्तीने मंत्र, कविता इत्यादि स्फुरत नाहीत. साधनात मंत्र जप सुरू झाला की, त्याबरोबरच हृत्कंप, ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी, व रुद्रग्रंथीचा भेद, सर्व अवयवांचे वर्धन म्हणजे वायूने सर्व अंग फुगणे, आनंद, अश्रू, रोमांच, देहामध्ये देवतेचा आवेश, वाचा गदगद होणे ही लक्षणे व क्रिया दिसतात. मनाची प्रसन्नता, संतोष, दुमदुम शब्द ऐकू येणे, सूर्यतेजाप्रमाणे आत्मतेजाचे दर्शन, निद्रा, क्षुधा, जप, रम्यता, आरोग्य, गांभीर्य, क्रोधहीनता, लोभहीनता इत्यादि चिह्ने दिसली तर मंत्रसिद्धी व देवतेची प्रसन्नता झाली असे समजावे. असे **"मंत्रमहोदधीत"** म्हटले आहे.

शक्ती जागृत झाली की, मंत्रयोग कसा सिद्ध होतो ते **"बृहन्नील"** व **"नीलतंत्रात"** पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे. "हे देवी ! ऐक. ज्याचा अनुभव आला असता विद्या शीघ्र सिद्ध होते असे सर्वश्रेष्ठ ज्ञान सांगतो. मूलाधारात सर्पाकृती कुंडलिनी शक्ती आहे. ही शक्ती शक्तिपातयोगदीक्षा झाल्यावर संचलित होते. तिच्या संचलनाने प्राणवायूही घुमू लागतो. त्यामुळे ही शक्ती झिन् झिन्, चिन् चिन् शब्द करीत वर उठत ब्रह्मरंध्रात जाते आणि परत मूलाधारात येते. या जाण्यायेण्यात मन लीन झाल्याने मंत्रशिखा म्हणजेच मंत्राची अग्निज्वालेसारखी प्रकाश करणारी शक्ती उपन्न होते. ती सर्व मंत्रांना प्रदीपित व चैतन्यमय करते. अंधकारमय घरात जसे काही दिसत नाही तसे शिखाहीन मंत्राने कोणतीही सिद्धी होत नाही."

"श्रीशारदातिलकतंत्राच्या" प्रथम पटलामध्ये दीक्षा झाल्यावर कुंडलिनीच्या जागृतीमुळे मंत्रसृष्टी कशी होते हे सांगताना असे म्हटले आहे की, "श्रीगुरुदीक्षा झाल्यावर जाणीवस्वरूप व स्वप्रकाशणारी अशी ज्ञानशक्ती कुंडलिनीदेवी साधकाला आपल्या स्वरूपाचे ज्ञान करून देण्यासाठी विशेष गुणयुक्त होऊन क्रियाशील झालेली दिसते. त्यावेळी ती आपल्या ब्रह्ममय शक्तीने अनेकानेक गुणवती शक्तींचे चमत्कार करते. ती शक्ती ध्वनी, नाद, निबोधिका, अर्धेंदू, परा,

पश्यंती, मध्यमा व वर्णमालेला प्रकाशित करणारी वैखरीवाणी उत्पन्न करते. ही कुंडलिनी शक्ती तेजोरूप होऊन गुणाचा आश्रय करून इच्छा, ज्ञान व क्रिया या तीन रूपाने प्रकाशित होऊन वर वर्णन केल्याप्रमाणे वाणी व वर्णमालेची सृष्टी करते. या गोष्टींचा अनुभव साधनकालामध्ये साधक शरीरातील होणाऱ्या क्रियांच्या लक्षणावरून घेऊ शकतो.

कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यावर प्रथम संवित्स्वरूपाची जी अवस्था असते त्यात शरीर, मन व प्राण शक्तिहीन झाले असले तरी ती चेतनामात्र राहिलेली आहे असा साधकाला अनुभव येतो. ज्यावेळी कुंडलिनी शक्ती शक्तिरूपाने प्रकाशयुक्त होते तेव्हा साधकाला आपल्या ठिकाणी मन व प्राणाच्या क्रियाशक्तीचा अनुभव येतो. नंतर ध्वनी उत्पन्न झाल्यावर साधकाला आत अव्यक्त ध्वनी शब्दरूपाने ऐकू येतो. परंतु या नादाचा नेमका निर्देश मात्र करता येत नाही. जेव्हा कुंडलिनी नादाचे रूप धारण करते तेव्हा साधक अंतरंगामध्ये व्यक्त व सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद अगदी स्पष्टपणे ऐकतो. यानंतर साधकाला निबोधिका अवस्थेचा बोध होतो. या अवस्थेतच त्याला ज्योतींचे दर्शन होण्यास आरंभ होतो. त्यानंतर अर्धचंद्राचे दर्शन होऊन बिंदुरूप ज्योती प्रकाशू लागते. त्यामुळे सर्व प्रकारचे नाद सुस्पष्ट होत जातात. हे नाद भिन्न भिन्न शब्द, वीणा, बासरी, भुंगे यांच्या रूपाने परा, पश्यंती व मध्यमा वाणींमध्ये अनुभवाला येतात. शेवटी वैखरीवाणीच्या द्वारे वर्णमालेचे रूप घेऊन नाना प्रकारच्या क्रियांद्वारा नाद शब्दरूपाने व्यक्त होतो.

ती परमदेवतास्वरूपिणी ईश्वरीशक्ती जागृत होऊन उत्तम प्रकारे क्रिया करू लागली म्हणजे साधकाच्या सर्व शरीरात ती व्याप्त होऊन मंत्रमय जगताची रचना करू लागते. त्या योगाने साधनामध्ये वेदादिशास्त्रांचे बीजमंत्र असलेल्या प्रणवाचा ध्वनी साधक आतून करू लागतो. त्याचबरोबर आवेशात नाना प्रकारच्या देवी, देवता, शिव, शक्ती, विष्णू, सूर्य, गणेश, दुर्गा, भैरव, नृसिंह, वराह, वासुदेव,

हयग्रीव, पुरुषोत्तमादि देवतांचे ओम्, ऱ्हीं, श्रीं, क्लीं इत्यादि बीजमंत्रांचे उच्चारण करून जोरजोराने अगर आतल्याआत जपू लागतो. अशा प्रकारे साधकाने न पाहिलेले, न ऐकलेले व न शिकलेले अनेक प्रकारचे विविध मंत्र जागृत झालेली कुंडलिनी शक्ती निश्चयपूर्वक साधकाच्या मुखातून प्रकट करते. यातील काही मंत्र व बीजे साधकाच्या नावाला व राशीला प्रतिकूल व अनिष्ट असले तरी ते आतून शक्तीकडून प्रकट होत असल्याने ते चैतन्यरूप व सिद्धरूप होऊन साधकाचे कल्याणच होते. यामुळे चैतन्य मंत्राने जागृत होणारी कुंडलिनी शक्ती किंवा जागृत झालेल्या कुंडलिनी शक्तीकडून प्रकट होणारे चैतन्यस्वरूप मंत्र यांची एकताच सिद्ध होते.

याप्रमाणे जागृत कुंडलिनी शक्तीच्या व्यक्त, अव्यक्त अगर व्यापक अवस्थेपासून अगदी प्रथम वेदाचा बीज मंत्र ॐकार प्रकाशित होतो. ॐकारानंतर निरनिराळ्या देवतांच्या मंत्रांची रचना होते. याकरिता कुंडलिनी शक्ती जागृत झाली की, प्रथम ॐकार शब्द ध्वनिरूपाने परावाणीमध्ये होत असल्याची जाणीव होते. याचे कारण असे आहे की, ॐकारापासूनच मंत्रसृष्टीचा आरंभ होतो. हे ॐ अक्षरच ब्रह्म आहे व तेच अत्यंत श्रेष्ठ आहे. हा ॐकार आपल्या अंतःकरणात स्वतःहून आपोआप स्फुरण पावत असल्याचा जो साधक अनुभव घेतो त्याची जी इच्छा असेल ती परिपूर्ण होते. हे ॐ अक्षर अत्यंत श्रेष्ठ आलंबन आहे. योगसाधनाने या परम आश्रयाची जाणीव होऊन साधक त्यात रमून गेला म्हणजे त्याला ब्रह्मलोकाची प्राप्ती होते असे **"कठोपनिषदात"** म्हटले आहे.

ज्यावेळी श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन महायोग सिद्ध व्हावा म्हणून कार्यरत होते तेव्हा ती योगमाया शक्ती समस्त वैदिक मंत्रांच्या स्वरांचे संपादन करते. त्यावेळी हा ॐकार परावाणीत प्रस्फुरित होऊन पश्यंती व मध्यमा यांच्यातून जाऊन वैखरीने व्यक्त होतो. ॐ प्रत्यक्ष वैखरीतून उच्चारण होण्याच्या क्रियेला आरंभ झाला की, साधकाच्या मूलाधारात कंपनाला प्रारंभ होतो. या कंपनाबरोबरच

षडज्, ऋषभ, गांधार इत्यादि नानाविध स्वरांनी दीर्घ प्रणवाचा उच्चार होऊ लागतो. अशा प्रकारे आतून उच्चारित होणाऱ्या प्रणवाच्या ध्वनीचा अर्थ, स्वर, व्यंजन, वर्ण यांच्याशी कोणताही संबंध राहत नाही. कुंडलिनी शक्तीच्या प्रेरणेमुळे साधकाकडून मूलाधारापासून जेव्हा आपोआप वरीलप्रमाणे उच्चारण होऊ लागते तेव्हा साधक बहुतेक करून संज्ञाशून्य होतो व हृदयाकाशात पुष्कळशा नादांचा गुंजारव ऐकतो. परंतु नादाचा निर्देश मात्र करू शकत नाही. ज्यावेळी साधकाकडून ॐकाराचा आवेशाने उच्चार होत राहतो तेव्हा तो प्लुत होतो. त्यावेळी साधकाला आपण अत्यंत जोरजोराने ॐकार ध्वनीचे उच्चारण करीत असल्याचे ज्ञान राहत नाही. अशा प्रकारचा गगनभेदी ध्वनी रात्रीच्या वेळी खुल्या मैदानात मुद्दाम केला तर, तो तीन मैलापर्यंत ऐकू जातो. साधकाकडून ज्यावेळी कुंडलिनी शक्तीच्या आतील जोराने ॐकाराचे उच्चारण होत राहते त्यावेळी तो आवाज इतका श्रुतिमधुर असतो की, ऐकणाऱ्याचे मन अगदी मुग्ध होऊन जाते. मात्र त्या आवाजाचे स्वर इत्यादि लक्षात येत नाहीत. इतकेच नव्हे; तर तो आवाज निरनिराळ्या स्वरांचे एकत्रित मिश्रण झाल्यामुळे एका विलक्षण अशा अद्भुत स्वराची प्रचीती येते. ज्याप्रमाणे सामवेद म्हणणारा व ऐकणारा श्रोता त्यातील स्वरांच्या एकतेमध्ये तल्लीन होतो त्याप्रमाणे ॐकाराचा आतून उमटणारा ध्वनी साधकाला व ऐकणाऱ्याला अर्थबोधरहित आश्चर्यामध्ये बुडवून टाकतो. यातील स्वरांचा काही भाग हुंकार शब्दांशी मिळून बाहेर पडतो, परंतु तो सर्वस्वी हुंकार असतो किंवा ॐकार पूर्णपणे हुंकाराशी मिसळून बाहेर उमटतो असे म्हणता येणार नाही. याचे खरे कारण असे आहे की, आतून आपोआप उमटणाऱ्या या ॐकारांच्या विचित्रतेचे वर्णन करता येत नाही.

साधनात कुंडलिनी शक्तीच्या जागृतीमुळे वरीलप्रमाणे वैखरीची क्रिया होऊन प्रणवध्वनी उमटतो व त्याचा जप होतो. काही वेळाने तो लय पावतो. परंतु साधन संपल्यावर आपल्या इच्छेने साधकाने साधनात जसा ॐकार होतो तसा आवाज व उच्चार केला तरी

त्याला साधनात आपोआप आतून होणाऱ्या ॐकारामुळे जो आनंद व जे मानसिक समाधान मिळते ते मुद्दाम करण्याने मिळत नाही. दहापाच वेळा अशा रीतीने उच्चारण केल्यावर त्याला असे वाटते की, आता पुरे करावे. दमल्यासारखे वाटून त्याच्या गळ्याचा स्वरभंग होतो. स्वाभाविकपणे होणाऱ्या क्रियेच्या आवेशामध्ये कित्येक साधकांचा महिना महिनापर्यंत दररोज चारचार पाचपाच तास दीर्घ प्रणवाचा जप होतो. या जपाच्या वेळी साधकाचा स्वर अगदी गगनभेदी होतो. प्रणवाच्या इतक्या दीर्घ उच्चारामुळे साधकाचे शरीर स्फूर्तियुक्त होते. महामाया कुंडलिनी शक्तीच्या अद्भुत व अपार सामर्थ्यामुळे होणाऱ्या योगक्रियांच्या कौशल्यांचे सामर्थ्य लिहिणे, सांगणे व समजाविणे हे केवळ अशक्यच आहे. या दीर्घ प्रणवध्वनीच्या नंतर कित्येक भाग्यवान् साधकांचा हा ध्वनी सूक्ष्म होत जातो. महायोग साधनात याला स्वतःप्रणव असे नाव आहे. उक्त दीर्घ प्रणवजपापेक्षा सूक्ष्म जप होण्याने मनाला त्याच्या शतपट सुख अनुभवाला येते. या स्वतःप्रणव जपाची क्रिया साधकाच्या अंतरामध्ये अष्टौप्रहर चालू असते. स्वप्नामध्येही साधकाचे मन क्रियात्मक राहते. या क्रियेच्या आरंभाचा, अवधीचा व शेवटाचा कोणताही नियम सांगता येत नाही. साचेबंदपणा हे याचे स्वरूपच नाही.

सूक्ष्म प्रणवाच्या जपाचा आरंभ झाल्यानंतर योगापासून प्राप्त होणाऱ्या ऐश्वर्याची साधकाच्या मनाला इच्छा होत नाही. या जपामुळे मन अंतर्मुख होऊन राहते व विषय वासनांचा ऱ्हास होत जातो. मन आत्मतत्त्वामध्ये अत्यंत निष्ठावान् होते व मूर्च्छित होऊन राहते. कामक्रोधादि दोषांनी साधक व्यथित होत नाही. प्राणप्रवाहाचे स्पंदन बहुतांशी चालू राहते; परंतु श्वासप्रश्वास दीर्घ होत नाहीत. ही क्रिया चालू झाल्यावर साधकाला साधनाला बसल्यावर दुसऱ्या क्रिया कमी होतात व हीच क्रिया मुख्य राहते. याच्याबरोबर कधी साधकाला अगदी सूक्ष्म असे नाद ऐकू येतात. हे नाद कधीकधी अत्यंत दूर अंतरावरून तर कधीकधी अगदी जवळून ऐकू येत आहेत असे

वाटते. या अवस्थेमध्ये साधकाच्या अंतरामध्ये त्याचे मन शांत, शून्य व एकाग्र होते. हळूहळू मधूनमधून त्याला बाह्यविस्मृती होत जाते परंतु बहुतेक करून या अवस्थेत बाहेरील विषयग्रहण करण्याचे साधकाच्या मनाचे सामर्थ्य राहते. या स्वतःप्रणव जपाच्या अवस्थेमध्ये मन धारणा करण्यास पूर्ण समर्थ होते. याच्या जोरावरच साधक आळस किंवा निद्रा यांना जिंकतो. इतकेच नव्हे; तर साधकाच्या शरीरांत सत्त्वगुणांचा संचार नेहमी असतो.

साधना सुरू झाली की, मंत्रयोग नाना प्रकारच्या स्वरविक्रिया होऊन कसा होतो हे पाहण्यासारखे आहे. साधनाच्या सुरुवातीला साधकाच्या मूखातून निरनिराळे विकृत शब्द बाहेर पडू लागतात. साधक नाकातून किंवा गळ्यातून अनेक प्रकारचे शब्द काढतो: पशू, पक्षी, बेडूक, कुत्रा, मांजर, सिंह, वाघ इत्यादि निरनिराळ्या प्राण्यांचे आवाज आपोआप उमटून स्वरसाधना होऊ लागते. गर्जना, हुंकार, चीत्कार, भयंकर शब्द, बडबडणे, अद्भुत भाषा बोलणे, आक्रंदन, ओरडणे, नानाप्रकारचे सूर काढून रडणे, खदखदून व खळखळून निरनिराळे भाव व्यक्त करीत हास्यध्वनी करणे, गायन व भगवन्नाम संकीर्तन करणे, मुखाने मृदंग, तबला, सनई इत्यादिकांचे शब्द काढणे, नियमबध्द टाळी वाजवून ताल धरणे, गद्य, पद्य, अथवा गीताची रचना करणे, व्याख्यान देणे, आलस्यरहित व उत्साहित राहून अनंत प्रकारच्या स्वतःसिद्ध अशा या क्रिया साधकाकडून होऊन त्यांची आवश्यकता संपली की त्या बंद होतात.

या साधनात साधकाला दिव्य शब्दाची व नादाची उत्पत्ती शरीरात होऊन अनुभूती कशी होते याचे वर्णन **"श्रीरामगीता"** व **"उमासंहितेत"** पुढीलप्रमाणे केले आहे. शक्तिपातयोगाचे साधन करता करता जसजशी नाडीशुद्धी होत जाते तसतसा साधकाच्या अंतरामध्ये ज्योतिस्वरूप आत्म्याचा प्रकाश उदित होऊ लागतो. हा प्रकाश उदित होण्यापूर्वी किंवा नंतर साधकाला नाना प्रकारचे नाद ऐकू येतात. हे नादाचे शब्द व्यक्त व अव्यक्त असे दोन प्रकारचे असतात. ज्या शब्दांना

बाहेरच्या कोणत्याही शब्दाची उपमा देता येत नाही त्यांना अव्यक्त म्हणतात. जे शब्द तास किंवा घंटेप्रमाणे स्पष्ट प्रतीत होतात त्यांना व्यक्त म्हणतात. हे शब्द वर्णात्मक आणि ध्वन्यात्मक असे नाना प्रकारचे असतात. आघाताशिवाय किंवा उच्चाराशिवाय जे शब्द अंतरात स्वतः होतात त्यांना मंगलदायक शब्दब्रह्म असे म्हणतात. शब्दब्रह्मस्वरूप अनाहत नादाचे नऊ प्रकार आहेत असे सांगतात. योगशास्त्रात नाद असंख्य सांगितले आहेत; परंतु योगसाधन करणारे साधक या नादांचा अनुभव नियमित संख्यारूपाने घेतात.

ज्यावेळी साधन करताना मन आकाशतत्त्वामध्ये जाते त्यावेळी सूक्ष्म आकाशापासून नाद उत्पन्न होतो. त्यावेळी साधकाला अंतरामध्ये सूक्ष्म अशा शून्यरूप ज्योतीचे दर्शन होते व शब्द ऐकू येतात. जेव्हा प्राणवायू ब्रह्मरंध्रात जातो तेव्हा मेघध्वनी व शंखनाद ऐकू येतो. अंतराकाशात प्राण गेल्याने हा महान् ध्वनी होऊ लागतो. घंटेप्रमाणे अनेक वाद्ये वाजू लागतात. हे शब्द साधकाच्या प्रगतीचे सूचक आहेत. असा अनुभव येऊ लागला म्हणजे आपला मार्ग बरोबर आहे असे साधकाने निश्चित समजण्यास हरकत नाही.

नादाचे प्रकार :-

"हठयोगप्रदीपिकेच्या" चतुर्थ उपदेशामध्ये हे दिव्य नाद किती प्रकारचे आहेत हे सांगताना असे म्हटले आहे की, "हे नाद समुद्र, मेघ, धबधबा, गाडी, धडधडता अग्नी, भेरी, काहल, दुंदुभी, मार्दल, मृदंग, शंख, घंटा, किंकिणी, कांस, झांझर, टाळ्या, तंतुवाद्य, वीणा इत्यादि वाद्ययंत्रांप्रमाणे होतात. त्याचप्रमाणे बैल, मोर, भुंगा, मधमाशी, झिन् झिन्, चिण् चिण् आदि पशुपक्षी व किटपतंगांच्या शब्दांप्रमाणे शब्दध्वनी ऐकू येतो. स्त्रियांच्या गीताप्रमाणे किंवा पुष्कळशा लोकांच्या कोलाहलाप्रमाणे घोषयुक्त शब्द ऐकू येतात. या ध्वनिप्रमाणेच अव्यक्त ब्रह्म ॐकाराचा ध्वनी ऐकू येतो. या सर्व नादामध्ये चिण्, चिंचिण, घंटा, शंख, वीणा, टाळ्या, बासरी, मृदुंग, भेरी आणि मेघ हे दहा नाद मुख्य आहेत.

"हंसोपनिषदामध्ये" या दिव्य नादश्रवणाचे फल काय मिळते हे सांगितले आहे. "अगदी प्रथम चिण्नाद प्रकट झाल्याने शरीरात झनझनाट होतो. दुसरा चिंचिण नाद झाल्याने शरीर तुटू लागते. तिसऱ्या घंटानादाने खूप घाम येतो. चौथ्या शंखनादाने मस्तक कंप पावू लागते. पाचवा तंत्रीनाद ऐकू येऊ लागल्यावर टाळूपासून अमृत टिपकू लागते. सहाव्या करतालनादामुळे अमृताचे आस्वादन होते. सातव्या बासरीच्या नादाने गूढ विषयांचे ज्ञान होते. आठव्या मृदंगनादाने परावाणीचे ज्ञान होऊन वाक्सिद्धी होते. नवव्या भेरीनादाने शरीराची सुंदरता, अदृश्य सिद्धी व आवरणरहित दिव्यदृष्टी प्राप्त होते आणि दहाव्या मेघनादाच्या श्रवणाने साधकाला समाधीत ब्रह्माशी एकता प्राप्त होऊन तो ब्रह्मरूप होतो.

सिद्धमहायोगांतर्गत मंत्रयोगाचे साधन जेव्हा होऊ लागते तेव्हा त्याचा महिमा कसा अनुभवाला येतो हे **"वायवीय संहितेच्या"** २९ व्या अध्यायात पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे.

सर्ववेदमयी देवी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी।
सर्वमन्त्रात्मिका विद्या वेदविद्याप्रकाशिनी।।७।।
सैव कुण्डलिनी माया शुद्धाध्वपरमासती।
सा विभागस्वरूपैव षडध्वात्मा विजृम्भते।
तत्र शब्दस्त्रयोऽध्वानस्त्रयश्चार्थाः समीरिताः।।८।।

अशा प्रकारे कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन क्रियाशील झाली की, वास्तविक योगाला म्हणजे अंतरंग साधनाला आरंभ होतो. हाच मार्ग खरा सिद्धप्रद म्हणजे मोक्षदायक आहे; कारण या स्वाभाविक सिद्धमहायोगाच्या उपायानेच वेदज्ञानमयी, मंत्रस्वरूपिणी, सर्वमंत्रात्मिका विद्येचा व वेदविद्येचा प्रकाश करणारी कुंडलिनी शक्ती साधकाकडून क्रिया करवून घेते. या शक्तीमुळेच सर्व मंत्र व सर्व विद्यांच्या विज्ञानाचा प्रकाश साधकाला प्राप्त होतो. त्याला देवीदेवतांची दर्शने होतात. त्यांच्या अनुग्रहाचा लाभ होतो. मंत्र व वेदादिक शास्त्रांच्या मंत्रांचे विशेष ज्ञान साधकाला होते व वेदांचे गूढ रहस्य त्याला समजू लागते.

साधन करताना भविष्यात होणाऱ्या गोष्टींचे ज्ञान साधकाला होते. कोणत्याही शास्त्राचा थोडासा जरी अभ्यास केला तरी वाचता वाचताच त्याला त्यातील मर्म व भावार्थ समजू लागतो. अभ्यासिलेल्या विषयाची व्याख्या करण्याची विचित्र शक्ती त्याला प्राप्त होते.

लययोगाच्या क्रिया :-

शक्तिपातयोगदीक्षा झाल्यावर नाना तऱ्हेच्या क्रिया होऊन नाडीशुद्धी होऊ लागते. नाडीशुद्धी झाली की, साधकाला अनाहत नाद ऐकू येऊ लागतो. कशावरही आघात झाल्याशिवाय किंवा कसलाही उच्चार केल्याशिवाय जो शब्द शरीरात आपोआप होत असताना ऐकू येतो त्याला अनाहत नाद किंवा शब्दब्रह्म असे म्हणतात.

साधन करताना मन ज्यावेळी आकाशतत्त्वामध्ये जाते त्यावेळी सूक्ष्म आकाशापासून नाद प्रवर्तित होतो. ज्यावेळी प्राण ब्रह्मरंध्रामध्ये जातो त्यावेळी मेघ व शंखाचा ध्वनी ऐकू येतो. अंतराकाशात प्राण गेल्याने घंटेसारख्या वाद्याचा महाप्रचंड नाद ऐकू येऊ लागतो. श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी आपल्या **"प्रबोधसुधाकर"** या प्रकरण ग्रंथातील **"नादानुसंधानप्रकरणम्"** यात असे म्हटले आहे की, "या नादाच्या अंतर्भागात जे ज्योतिस्वरूपब्रह्म सतत वास करते तेथे जर मनाची एकाग्रता झाली तर ते मन पुन्हा संसारबंधनाला कारणीभूत होत नाही. बऱ्याच वेळपर्यंत या नादानुसंधानामुळे होणाऱ्या श्रेष्ठ आनंदाच्या अनुभवाने जी चित्ताची एकाग्रता होते ती दुसऱ्या अनेक प्रकारांनी होणाऱ्या एकाग्रतेपेक्षा श्रेष्ठ होय."

साधनात समुद्राच्या लाटांचे आदळणे, मेघांच्या गर्जना, झऱ्यांचे झुळझुळणे, धबधब्याचे आदळणे अनाहत नादाच्या रूपाने ऐकू येते. गाडी, जळणारा अग्नी, भेरी, काहील, दुंदुभी, मृदंग, शंख, घंटा, किंकिणी, वीणा, बासरी, नगारा इत्यादि नानावाद्यांचे असंख्य नाद ऐकू येतात. बैल, मोर, भुंगा, मधमाशी इत्यादि निरनिराळ्या पशुपक्ष्यांचे आवाज नादरूपाने ऐकू येतात. स्त्रियांची गाणी, कोलाहलासारखे शब्द, चिण्‌चिण्, झिन्‌झिन्, सुईसुई असेही ध्वनी आतून उमटतात.

काही वेळा अत्यंत सूक्ष्म असे नाद ऐकू येतात. काही वेळा जप, मंत्र, श्लोक व भजनेही ऐकू येतात. काही वेळा साधकांना साधनातील काही सूचना स्पष्ट ऐकू येतात. तर काही वेळा इतर माहिती, भविष्य व आप्तमित्रांसंबंधी सूचना ऐकू येतात. या नादाकडे साधकाचे मन आपोआप खेचले जाऊन तेथे मनाचा हळूहळू लय होऊ लागला की, त्याला ब्रह्मभाव प्राप्त होऊ लागतो.

श्रीमदाद्यशंकराचार्य आपल्या **"प्रबोधसुधाकर"** या प्रकरण ग्रंथातील "मनोलय" या प्रकरणात साधकाला नादानुसंधानाने ब्रह्मभाव प्राप्त होऊ लागला की, त्यामुळे त्याची स्थिती कशी होते हे सांगताना असे म्हणतात की, "संसारातील अनेक तापांनी व कष्टांनी श्रमून गेलेले आणि नाना प्रकारच्या योनी फिरण्याने दमून गेलेले अंतःकरण नादानुसंधान होऊ लागले की, परमानंदाची प्राप्ती झाल्यावर कधी कोणत्याही ठिकाणी चंचल होत नाही. त्या ब्रह्मानंदाच्या भरात मी कोण? हे काय? हा कोणाचा? इत्यादि अनेक प्रश्नांची व विचारांची मालिका जरी मनात येत असली तरी नादानुसंधानाने साधकाच्या मनाची व विचाराची गती खुंटते तेव्हा ते मूर्च्छित होते. समुद्रास मिळालेली नदी जशी समुद्ररूप होते त्याप्रमाणे नादात मनाचा लय होऊन पुष्कळ काल आत्मस्वरूपाचा अनुभव घेऊन मन आत्मरूप होते. दुधापासून निराळ्या काढलेल्या तुपाचे ज्याप्रमाणे पुन्हा दूध होत नाही त्याप्रमाणे आत्मस्वरूपात लीन झालेले मन पुन्हा विषयांची इच्छा करीत नाही. आत्मस्वरूपात जेव्हा चित्त लीन होते तेव्हा ते मूर्च्छित होऊन विषयचिंतन करण्यास असमर्थ होते."

क्रियाशक्तीच्या चालनामुळे मनाला जो लय प्राप्त होतो त्यामुळे भांग न पिताही भांग घेतल्याप्रमाणे रात्रंदिवस एका दिव्य नशेत, धुंदीत व मस्तीत साधक निमग्न होतो. चालता, बसता, फिरता, बोलता मन आत खेचले जाऊन मस्तीत निमग्न होते. कोणतेही व्यावहारिक कार्य आपण करू नये व सर्व गोष्टींपासून अलिप्त राहावे असे वाटू लागते. आपण काही ऐकावे, बोलावे, करावे व सांगावे असे वाटतच नाही.

एखादा मद्यपी आपल्या नशेत धुंद होतो तशी अवस्था होते. भांग व मद्य पिणाऱ्याची धुंदी उतरते व मागाहून त्याला ग्लानी येते; परंतु आत्मशक्तीच्या जागृतीमुळे जी दिव्य लयावस्था प्राप्त होते ती रात्रंदिवस टिकून राहते व ती कधीच संपू नये असे वाटते. त्यापासून जो दिव्यानंद प्राप्त होतो त्याचे वर्णन करणे शक्य नाही.

राजयोगाच्या क्रिया :-

"ज्या पातळीवर अध्यात्मिक अनुभूतीचे दिव्य दर्शन होते व एका अपरिमित शांतीसुखाचा लाभ होतो तिलाच राजयोग असे म्हटले आहे. राज या संस्कृत शब्दातील राज् या धातूचा अर्थ लकाकणे किंवा चमकणे असा आहे. आपणा स्वत:मध्ये निर्वाणाचा व ईश्वरसाक्षात्काराचा एकमेव प्रत्यय घेणे हाच राजयोग होय. **"ब्रह्माहमस्मि"** हा प्रत्यय येणे म्हणजेच राजयोग किंवा ज्ञानयोगाची परिसमाप्ती होय. जेव्हा अविचार, हीन विचार आणि कामक्रोधासारखा मलिन विकार यांचा ईश्वरीय दिव्य प्रेमाने पूर्ण बीमोड होतो आणि भावनेच्या पातळीवर जागृत कुंडलिनी शक्ती दिव्य भावावेशात परिणत होते तेव्हा तिलाच आह्लादिनी शक्ती असे म्हणतात. हाच भक्तियोग होय." असे राजयोगाचे विवेचन **"देवात्मशक्ती कुंडलिनी"** या ग्रंथात श्रीविष्णुतीर्थस्वामीमहाराजांनी केले आहे.

"श्वेताश्वतर उपनिषदामध्ये" श्रीगुरुकृपेने कुंडलिनी जागृत होऊन ब्रह्माभिव्यक्तीची दिव्य दर्शने कशी होतात हे सांगताना असे म्हटले आहे की -

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुर:सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।२.११।।

श्रीसिद्धगुरूंच्या संकल्पाने शक्ती जागृत झाल्यावर जाड प्रतीचे धुके, धूर, सूर्य, वायू, अग्नी, काजवा, विजेची चमक, स्फटिकमणी ही ब्रह्माची अभिव्यक्ती करणारी रूपे प्रकट होतात.

साधकाला दिव्य रूपाची दर्शने कशी होतात याचे **"सूर्यगीता"** व **"उमासंहितेत"** पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे.

यदा कुण्डलिनी शक्तिराविर्भवति साधके।
तदा स पञ्चकोशे मत्तेजोऽनुभूति ध्रुवम्।।१।।
ततस्तु तमसि ध्यानी पश्यति ज्योतिरैश्वरम्।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमिन्द्रायुधप्रभम्।।२।।
भ्रुवोर्मध्ये ललाटस्थं बालार्क सम तेजसम्।
दर्शनं नाम दिव्यानां दर्शनं चाप्रयत्नतः।।३।।

जेव्हा कुंडलिनी शक्ती साधकाच्या ठिकाणी क्रियारूपाने प्रकाशित होते त्यावेळी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनंदमय इत्यादि पंचकोशात साधकाला परमेश्वराच्या सूर्यरूप ज्योतिर्मय तेजाचा निश्चयाने अनुभव येतो. ध्यानाच्या वेळी साधकाला अंधकारमय अंतराकाशात ज्योतिरूप ईश्वराचे दर्शन होते. ती ज्योत शुभ्र, तांबडी, काळी व इंद्रधनुष्याप्रमाणे नानाप्रकारच्या रंगांची असते. ती ज्योत ललाट प्रदेशातील भ्रूमध्याच्या ठिकाणी प्रातःकाली उगविणाऱ्या सूर्याप्रमाणे दिसते. यालाच दिव्यदर्शन असे म्हणतात. शक्ती जागृत झाल्यावर असे दर्शन प्रयत्नाशिवाय आपोआप होऊन राजयोगाच्या पूर्णतेकडे साधक वाटचाल करतो.

"**पातंजल योगदर्शनात**" राजयोगाचे साधन कसे होते हे सांगताना समाधिपादात महर्षी श्रीव्यासांनी लिहिलेली पुढील तीन सूत्रे पाहण्यासारखी आहेत.

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।।१.३५।।
विशोका वा ज्योतिष्मती।।३६।।
वीतरागविषयं वा चित्तम्।।३७।।

ज्यावेळी कुंडलिनी शक्तीच्या प्रेरणेने क्रिया करता करता साधकाचे शरीर, मन व प्राण राजयोगाचे उत्कर्ष साधन करतात त्यावेळी विषयवती प्रवृत्ती उत्पन्न होते. या सर्व समाधी अवस्थात इंद्रियविषयांचे अलौकिक अनुभव येतात. त्या अवस्था मनाच्या चिकाटीस कारणीभूत होतात. त्यावेळी साधकाच्या चित्ताच्या स्थिरतेकरिता अंतरामध्ये दिव्य वस्तू अगर ज्योत स्वतः प्रकट होते. त्यामुळे सर्व इंद्रियविषयां-

संबंधीची आसक्ती हृदयातून निघून जाते व चित्त हृदयात मुरून जाते. दिव्यज्योतीच्या दर्शनाने साधकाचे मन स्वाभाविकपणेच तिच्यामध्ये गुंतून जाते व त्याला साधनाचे फल आपल्याला मिळेल किंवा नाही अशी चिंता राहत नाही. प्रकाशमान दिव्यज्योतीचे दर्शन होताच साधकाच्या चित्ताला त्याच्यामध्येच निरतिशय सुखाचा अनुभव येतो.

उपरोक्त दिव्य ज्योतीचे दर्शन विविध प्रकारांनी कसे होते हे **"वायवीय संहितेच्या"** ३८ व्या अध्यायात पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे, "या ज्योतीचे दर्शन कित्येक प्रकारांनी होते. विजेची चमक, विजेचा प्रकाश, नक्षत्र दर्शन, चंद्र, सूर्य व अग्नीचे दर्शन, ज्योतीचे दर्शन किंवा कोट्यवधी सूर्यांच्या ज्योतीप्रमाणे उग्रदर्शन व अनुग्रहसूचक महाज्योतीचे दर्शन होते. या ज्योतींचे रंगही नानाप्रकारचे असतात. याशिवाय प्रज्वलित अग्निशिखा, दीपशिखा, बिंदू, काच, स्फटिकमणी, काजवा यांच्याप्रमाणे लहान मोठ्या रूपरंगाचे दर्शन होते. कधीकधी ताऱ्यांनी भरलेले आकाश, नीलाकाश, धूर, अंधकार आणि अत्यंत घोर अशा अंधकाराचे दर्शन होते. साधन करता करता साधकाचे मन जितके सूक्ष्म विषयाचे ग्रहण करण्यास समर्थ होते तितकी तितकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दर्शने साधकाला होतात.

ज्ञान, योग, भक्ती इत्यादि मार्गाने तपस्या करता करता जेव्हा श्रीसद्गुरूंची प्राप्ती होऊन कुंडलिनी शक्ती जागृत होते व ईश्वर-परायणतेमुळे चित्त शुद्ध होते तेव्हा साधकाला कोणत्याही प्रकारचे आवाहन न करता वर वर्णन केलेल्या दर्शनांशिवाय सिद्धपुरुषांचे दर्शन, आपल्या श्रीगुरुदेवांचे दर्शन, ब्रह्मा, विष्णू, महेश किंवा आपल्या इष्टदेवतेचे दर्शन होते. गंधर्व, अप्सरा, विद्याधर, नाग, यज्ञ, राक्षस, किन्नर आदि देवतांचीही दर्शने साधनात होतात. सात्त्विकभावापन्न साधकाला विशेषेकरून संन्यासी, ब्रह्मचारी, शिवलिंग अथवा अन्योन्य देवतांच्या प्रतिमेचे दर्शन ध्यानाच्या वेळी अमनस्क अवस्थेत, जागृतीत किंवा स्वप्नातही होते. विशेष करून साकार उपासक व भक्तिप्रधान साधकांना ही दर्शने अधिकतर प्रमाणात होतात.

जे साधक कामनापूर्वक देवतेच्या चैतन्यमंत्राचा जप किंवा श्रीगुरुप्रदत्त शक्तीची आराधना करतात त्यांना त्यांच्या कामनासिद्धिसूचक अशी वरील दर्शनांप्रमाणेच दर्शने होतात. बालक, कुमारी, छत्र, रथ, दीप, प्रासाद, देवमंदिर, राजगृह, पद्म, नदी, हत्ती, घोडा, बैल, समुद्र, फलभारयुक्त वृक्ष, पर्वत, पेटलेला अग्नी, कच्चे मांस, ग्रह, नक्षत्र, चंद्र, रत्न, सूर्य, अलंकार, सिंहासन, विमान, ध्वज, राज्याभिषेक, सफेत चंदन, शुभ्र वस्त्र, धान्य, कुंकू, मध, पांढरी मोहरी, राजा व स्त्री समुदाय या सर्व मंगलदायक वस्तू स्वप्नात किंवा ध्यानाच्या वेळी स्वप्नासारख्या अवस्थेमध्ये साधकाला दिसतात. ही सर्व दर्शने शुभसूचक व प्रगतीदर्शक असतात.

याशिवाय नवे पात्र, खीर, फळ, शिजविलेले अन्न, दही, दूध, वाद्ययंत्र, सुंदर स्त्रिया, ब्राह्मण, गायी, हंस, कबूतर, नीलकंठ, मोर, मुंगूस, कोल्हा, हरिण, बेडूक, फुले, सद्वाक्य, अंजन, पाण्याने भरलेला कलश, आरसा, मासे व मद्य भक्षण, शव, रडणे, ऊस, वेदध्वनी, वाहन, चाबूक, अंकुश, मंगलगीत, सैनिक, प्रिय व्यक्तीचे दर्शन, सूर्योदय, चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण, मोठमोठी घरे, श्रीमंतांचे वाडे, राजमहाल इत्यादि स्वप्नात दिसतात. त्याचप्रमाणे देवमंदिरात जाण्याचे, हत्तीवर, घोड्यावर किंवा बैलावर बसल्याचे, पर्वतावर चढण्याचे व अग्नीत प्रवेश करण्याचे स्वप्न साधकाला दिसते. याशिवाय कितीतरी भयानक स्वप्नेही साधकाला पडतात. पुष्कळ स्त्रियांसह भोजन करणे, पक्व मांस खाणे, शरीराला कीड लागल्याचे पाहणे, विष्ठेचा लेप करणे, रक्ताने स्नान करणे, रक्तपात किंवा मद्यपान करणे, कच्चे मांस खाणे इत्यादि प्रकारची भयंकर स्वप्नेही पडतात. ही सर्व स्वप्ने सिद्धी व प्रगतीची सूचक असतात. साधकाने अशी किंवा अन्य कोणतीही भयानक स्वप्ने पडली तरी ती सर्व मंगलदायकच समजली पाहिजेत.

याप्रमाणे कुंडलिनी शक्तीच्या जागृतीने साधकाच्या अंतरामध्ये नानात-हेच्या क्रिया सुरू होतात. तेव्हा त्याला स्वप्नामध्ये किंवा साधनामध्ये देवांच्या प्रतिमा, देवतांचे उत्सव, संकीर्तन, शंख, तास व घंटा इत्यादि

वाद्यांचे नाद, उत्तम कथांचे श्रवण, अत्यंत रमणीय, मनोहर व दिव्य स्थानांचे दर्शन होते. आपण आकाशात उडत आहोत किंवा शून्यात गमन करीत आहोत असे साधकाला वाटते. कुंडलिनी शक्तीच्या जागृतीमुळे आतील द्वार मोकळे झाल्यामुळे मन ज्या ज्या वेळी अंतर्मुख होते व अंतरजगात प्रवेश करते त्या त्या वेळी चालताना, फिरताना, बसताना, क्रिया करताना अथवा निद्रेत आपापल्या संस्काराप्रमाणे विशेषतः श्रद्धाभक्तियुक्त साधकांना बहुत करून अशी दर्शने होतात व अनुभव येतात.

दिव्यस्पर्शज्ञान :-

कुंडलिनीच्या दिव्य स्पर्शाचा अनुभव साधकाला येऊन त्याच्या ठिकाणी ज्ञानाचा प्रकाश उत्पन्न होऊन राजयोग आपोआप कसा साधला जातो याचे वर्णन **"रुद्रयामल"** तंत्राच्या १५ व्या पटलामध्ये पुढीलप्रमाणे केले आहे.

अनन्तज्ञाननिलयां यां भजन्ति मुमुक्षवः।
सुप्ता सर्पोपमा मौला पाति साधकमीश्वरी।।१।।
चैतन्या कुण्डलिशक्तिर्वायवी बलतेजसा।
चैतन्या सिद्धिहेतुस्था ज्ञानमात्रं ददाति सा।
ज्ञानमात्रेण मोक्षः स्याद्वायवी ज्ञानमाश्रयेत्।।२।।

मूलाधार हे स्थान अनंत अशा ज्ञानाचे घर आहे. त्या ठिकाणी सुप्त नागिणीप्रमाणे वास करणारी कुंडलिनी शक्ती साधकाचे पालन व रक्षण करते. त्यासाठी मोक्षेच्छू साधक नेहमी तिचेच भजन करतात. ती वायवी शक्ती कुंडलिनी, श्रीसद्गुरूंच्या अहेतुक कृपेने जागृत होते. ही शक्ती जागृत झाली की, क्रियाशील होऊन सिद्धीला म्हणजे मोक्षाला कारण होते. इतकेच नव्हे; तर साधकांना ही शक्ती आनंदस्वरूप आत्मज्ञानाचे दान करते. कारण केवळ ब्रह्मज्ञानानेच मोक्ष होतो म्हणून साधकांनी वायवी शक्ती कुंडलिनीपासून उद्भूत होणाऱ्या ज्ञानाचा आश्रय करावा.

"योगचूडामणी उपनिषदात" आपल्या दिव्यस्पर्शाने कुंडलिनी शक्ती

ज्ञानदान करून राजयोग साधन कसे करवून घेते हे सांगताना असे म्हटले आहे की, "या कुंडलिनी शक्तीचा आश्रय केल्यामुळे ती जागृत शक्ती अग्नी, मन आणि प्राणासहित सुषुम्णेत प्रवेश करून वर चढू लागते. ज्याप्रमाणे सुई वस्त्राला स्पर्श व वेध करीत जाते तशी कुंडलिनी शक्ती मूलाधारापासून सुषुम्णेतील चक्रांचा वेध करीत ब्रह्मरंध्रात जाते. त्यावेळी साधकाला तिच्या दिव्य स्पर्शाचा अनुभव येतो. ज्यावेळी जागृत कुंडलिनी शक्ती शरीरामध्ये अशा प्रकारे क्रिया करते त्यावेळी भुंगा जसा कमलावर मृदुमृदू विचरण करतो तसाच मृदू व कोमल अशा महासुखकर दिव्यस्पर्शाचा साधकाला अनुभव येतो. हा स्पर्श आवश्यकतेनुसार कोमल अथवा कठोरही असतो.

दिव्यरस :-

"योगशिखोपनिषदात" व **"धर्मसंहितेत"** दिव्यरसाची प्राप्ती राजयोगात कशी होते हे सांगताना असे म्हटले आहे की, "ज्यावेळी महायोगाचे साधन करणाऱ्या साधकाला कुंडलिनी शक्तीच्या प्रेरणेने केवलकुंभक होऊन प्राण स्थिर होऊ लागतो त्यावेळी नाना प्रकारचे नाद उत्पन्न होऊन मस्तकातील चंद्रमंडळाकडून अमृतस्राव होऊ लागतो. आत्मशक्तीच्या उद्बोधनानंतर खेचरी क्रिया झाली की, साधकाची जीभ उलट होऊन टाळूत जाऊ लागते व वर खेचली जाते. त्यावेळी गळ्याच्या आणखी क्रिया अशा होतात की, त्यावेळी ही जीभ पडजिभेला वर करून आत जाते. त्यावेळी अकस्मात् सुधारसाचे पान घडते. अथवा हीच जीभ जेव्हा आभ्यंतरिक क्रियाशक्तीच्या योगाने टाळूला घट्ट चिकटून बसते तेव्हा सहस्रारातील शीतल चंद्रामृत पाझरते. त्याच्या सेवनाने साधक नखशिखांत शांत होतो. अशा प्रकारे नित्य अभ्यासाने अमृतपान करीत राहिल्याने साधक अमर होतो.

साधक ज्या दिव्य रसाचे सेवन साधनात करतो त्याचे किती प्रकार असतात ते **"घेरंड"** व **"याज्ञवल्क्यसंहितेत"** पुढीलप्रमाणे सांगितलेले आहेत. या रसाचा स्वाद प्रथम खारट, क्षारयुक्त, कडू, तिखट व कषाय असा असतो. मध्ये तो लोणी, तूप, दूध, दही व ताक यांच्याप्रमाणे

असतो. शेवटी मध व द्राक्षाच्या रसाप्रमाणे अमृतपान होते. सिद्धमहायोगाचे साधन सतत करीत राहिल्याने साधकाचे मन आज्ञाचक्रामध्ये लय पावून ज्यावेळी भ्रूमध्यामध्ये आत्मदर्शन होते त्यावेळी जिभेच्या मुळाशी अमृतस्राव होऊन त्याचे सेवन साधक करतो.

या दिव्यरसपानाचे गुण व महिमा सांगताना **"योगसागर"** ग्रंथामध्ये असे म्हटले आहे की, "निरंतर साधनाभ्यासाने जेव्हा वर वर्णन केलेल्या दिव्य रसाच्या भिन्न भिन्न रसांचे पान साधकाला घडते तेव्हा लवणादि क्षाररसाने त्याच्या रोगांचा नाश होतो. आम्लरसाने शरीराच्या कातडीची शिथिलता नाहीशी होऊन अकाली केस पिकत नाहीत. मधुररसाच्या प्राशनाने शास्त्रज्ञानाचा प्रकाश साधकाच्या ठिकाणी उत्पन्न होतो. ज्यावेळी तुपाच्या स्वादाचे रसपान होते त्यावेळी साधकाला अमरत्व म्हणजे मोक्षप्राप्ती होते.

दिव्यरसाप्रमाणे दिव्य वासही साधकाला साधनात येतात. हे वास विविध प्रकारचे असतात. त्यात साधकाचे मन लीन झाले की, अगदी निःसंदेहपणे स्तंभित होते.

शब्द, स्पर्श, रूप, रस आणि गंध या पाच सांसारिक प्रबल विषयांमुळे मनुष्याचे मन बलात्काराने बंधनात पडते. या विषयामध्ये आसक्त झाल्याने मनुष्याचे पतन व अधोगमन होऊन सर्वनाश होतो. हे विषय मनुष्याचे मन खेचून घेऊन त्याला नाना तऱ्हेच्या कामभोगवासनेत गुंतवून हतप्रभ करून दुःखी करतात. परंतु ज्यावेळी श्रीसद्गुरुकृपेने शक्तिपातयोगाचे साधन सुरू होते त्यावेळी साधक या पाचही विषयांचा दिव्य अनुभव अंतरामध्येच घेतो. साधकाला स्वतःच्या शरीरातच उपरोक्त पाच विषयांचा अनुभव येत असल्याने त्याचे कधीही पतन न होता उलट ऊर्ध्वगमनच होते. यासाठी श्रीमहेश्वरांनी अनुप्रणित केलेल्या सिद्धमहायोगाच्या आश्रयाने मन अंतर्मुख करून साधक स्वतःमध्येच सर्व विषयांचा उपभोग घेत सुखी होतात.

★★★★★

- आधार बारावा -
★शक्तिपातयोगाची फलनिष्पत्ती★

१) मनोरूप पट फाटून जातो
२) त्रिपुटीचा भेदव्यवहार नाहीसा होतो
३) महाभूतांची जवनिका फिटते
४) ब्रह्मप्राप्ती
५) साम्यावस्थेची प्राप्ती
६) जन्ममरणाची निमे कथा
७) अविद्येचा नाश
८) हृदयग्रंथींचा भेद
९) कैवल्यप्राप्ती

येथपर्यंत आपण शक्तिपातयोगाच्या साधनाचे यावच्छक्य संक्षेपाने विवेचन केले. त्यावरूनच या साधनाचे फल ब्रह्मप्राप्ती आहे याची जाणीव साधकाच्या अंत:करणात बिंबली आहे हे निश्चित आहे. ही ब्रह्मप्राप्ती होते म्हणजे नेमके काय होते याचे विवेचन आपण थोडक्यात पाहू.

मनोरूप पट फाटून जातो :-

शक्तिपातयोगाचे साधन करताना मनोरूप पट फाटून साधक सशरीर ब्रह्म कसे होतात हे सांगताना श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीच्या**" पाचव्या अध्यायात असे म्हणतात की, "अर्जुना! ज्यावेळेस नियमित साधन साधकाकडून होईल त्यावेळी प्राणांचा निरोध आपोआप होऊन चिदाकाशात मनाचा लय होतो. त्यावेळी साधकाच्या नाना प्रकारच्या वासनांची विवंचना आपोआप थांबते. ज्या मनोरूप पटावर हे संसाररूपी चित्र उमटत असते तो मनोरूपी पट या साधनाने फाटून जातो. ज्याप्रमाणे सरोवर आटल्यावर त्यातील प्रतिबिंब नाहीसे होते त्याप्रमाणे मनोरूप सरोवरातील संसाराचे प्रतिबिंबही नाहीसे होते. अशा प्रकारे साधन करताना जेव्हा मनच नाहीसे होते

तेव्हा अहंकारही विरघळून जातो. अशा प्रकारे ब्रह्मस्वरूपाचा अनुभव घेणारा पुरुष शरीरधारी असतानाच ब्रह्म होतो."**(श्रीज्ञानेश्वरी ५.१५६ ते ५.१६०)**

त्रिपुटीचा भेदव्यवहार नाहीसा होतो :-

"जो साधक श्रीसद्गुरूंनी सांगितलेले साधन नियमित करतो त्याचे मन भ्रांतिरहित होते. मग ते आत्मस्वरूपाला सोडून जात नाही. जोपर्यंत समुद्रात मीठ पडत नाही तोपर्यंत ते समुद्रापासून वेगळे व लहान दिसते. परंतु ते जेव्हा समुद्रात मिसळते तेव्हा समुद्राएवढेच व्यापक दिसते. त्याचप्रमाणे ज्याने नित्य साधन करून आपले मन संकल्परहित करून घेतलेले असते त्याचे मनच चैतन्यस्वरूप झालेले असते. त्यामुळे बाह्यत: दिसण्यात साधक एकदेशी व परिच्छिन्न दिसत असला तरी त्याने त्रिभुवन व्यापलेले असते. त्याच्या बाबतीत "मी एक कर्ता," "हे एक कर्म" व "अमुक एक कार्य" असा हा त्रिपुटीचा भेदव्यवहार स्वभावत:च नाहीसा होऊन बंद पडतो. लोकदृष्ट्या त्याने जरी सर्व कर्मे केली तरी तो अकर्ताच असतो." **(श्रीज्ञानेश्वरी ५.३४ ते ३७)**

महाभूतांची जवनिका फिटते :-

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" (महर्षी श्रीपंतजली योगसूत्र, कैवल्यपाद - ४.३४)

ज्यावेळी शक्ती जागृत होऊन प्रतिप्रसव क्रमाला सुरुवात होते त्यावेळी पिंडब्रह्मांडाची संहारणी होते. उभारणीच्या वेळी चैतन्यशक्तीमुळे व्यक्त झालेले गुण आपल्या कारण महत्-तत्त्वासहित अव्यक्तामध्ये विलीन होतात. म्हणजे चैतन्यशक्ती आपल्या मूळ स्वरूपामध्ये प्रतिष्ठित होते. हेच कैवल्य होय. अशी **"पातंजल-योगसूत्रातील"** कैवल्यपादामध्ये कैवल्याची व्याख्या केली आहे. शक्तिपातयोगसाधनेने या कैवल्यरूप-फलाची निष्पत्ती होते व साधक कृतकृत्य होतो. श्रीसंत-ज्ञानेश्वरमहाराजांनी मोठ्या रसाळ शब्दांमध्ये साधकाला प्राप्त होणाऱ्या या स्थितीचे पुढीलप्रमाणे **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** वर्णन केले आहे.

मग ब्रह्मरंध्रीं स्थिरावोनी। सोऽहंभावाच्या बाह्या पसरुनी।
परमात्मलिंगा धांवोनी। आंगा घडे।।६.३०५।।
तंव महाभूतांची जवनिका फिटे। मग दोहींसी होय झटे।
तेथ गगनासकट आटे। समरसीं तिये।।३०६।।
पै मेघाचेनि मुखीं निवडला। समुद्र कां वोघीं पडिला।
तो मागुता जैसा आला। आपणपयां।।३०७।।
तेवीं पिंडाचेनि मिषें। पदीं पद प्रवेशे।
तें एकत्व होय तैसें। पंडुकुमरा।।३०८।।

ज्यावेळी चैतन्यस्वरूप कुंडलिनी शक्ती मस्तकाच्या पोकळीत सहस्रदलकमलातील ब्रह्मरंध्रात स्थिर होऊन सोऽहं या भावनेच्या बाह्या पसरून परब्रह्मलिंगाला मिठी मारून त्याच्या स्वरूपाशी ऐक्य पावते तेव्हा त्या पंचमहाभूतांचा पडदा नाहीसा होतो व श्रीशिव आणि श्रीशक्ती यांचे ऐक्य होते. ज्याप्रमाणे समुद्राचे पाणी मेघांच्याद्वारा समुद्रापासून वेगळे होऊन पुन्हा तेच पाणी मेघातून जमिनीवर पडून नदीच्या ओघात सापडून समुद्राला मिळते त्याप्रमाणे देहोपाधीच्या निमित्ताने वेगळा भासणारा जीवात्मा जागृत चैतन्यशक्तीच्या साहाय्याने परब्रह्मात प्रविष्ट होतो. हे एकत्वही वरील समुद्राच्या पाण्याप्रमाणेच होय. याप्रमाणेच **"ब्रह्मसूत्रामध्येही"** अध्याय ४ सूत्र ४ मध्ये **"अविभागेन दृष्टत्वात्"** असे सांगून उपरोक्त भाव व्यक्त केला आहे. त्यावर भाष्य करताना श्रीमदाद्यशंकराचार्य असे म्हणतात की, "जीव हा मुक्त होऊन परमात्म्याशी अविभक्त राहतो; कारण श्रुतीमध्ये तसे दृष्टीस पडते. "ते तू आहेस," "मी ब्रह्म आहे," तेथे तो दुसरे काही पाहत नाही, की जे तो त्या परमात्म्याहून निराळे आणि विभक्त असे पाहील, इत्यादि श्रुती जीवात्मा व परमात्मा यांचे ऐक्यच दाखवितात. ज्याप्रमाणे हे गौतमा! शुद्ध उदक शुद्ध उदकामध्ये मिसळले असता तसेच होते त्याचप्रमाणे ज्ञानी अशा मुनीचा आत्माही तसाच होतो असे **"कठोपनिषदात"** म्हटले आहे."

"चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः।। ब्रह्मसूत्र ४.४.६।।

म्हणजे जीव हा केवळ चैतन्यस्वरूपाने व्यक्त होतो; कारण ते त्याचा आत्मा आहे असे औडुलोमी म्हणतो, असे "**ब्रह्मसूत्रात**" श्रीव्यासांनी स्पष्ट केले आहे. त्यावर भाष्य करताना आचार्य असे म्हणतात की, "ज्यापासून सकल द्वैत निरस्त झाले आहे, जे प्रसन्न आहे आणि जे कोणत्याही शब्दाने सांगता येत नाही" अशा चैतन्यरूपाने जीव हा व्यक्त होतो.

ब्रह्मप्राप्ती :-

शक्तिपातयोगसाधनाने ब्रह्मप्राप्ती कशी होते हे सांगताना श्रीसंत-ज्ञानेश्वरमहाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" असे म्हणतात की -

आम्हीं साधन हें जें सांगितलें। तेंचि शरीरीं जिहीं केलें।
ते आमुचेनि पाडें आले। निर्वाळलेया।।६.३२६।।
परब्रह्माचेनि रसें। देहाकृतीचिये नि मुसें।
वोतींव जाहले तैसे। दिसती आंगें।।३२७।।
जरी हे प्रतीती हन अंतरीं फांके। तरी विश्वचि हें अवघे झांके।
तंव अर्जुन म्हणे निकें। साचचि जी हें।।३२८।।
इये अभ्यासीं जे दृढ होती। ते भरंवसेनि ब्रह्मत्वा येती।।३३०।।

साधनाने ब्रह्मप्राप्ती होते याचा निर्वाळा या ओव्यातून श्रीज्ञानेश्वर-महाराजांनी दिला आहे.

साम्यावस्थेची प्राप्ती :-

शक्तिपातयोगसाधनामुळे साधकाला एक अपूर्व अशी साम्यावस्थेची प्राप्ती होते. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज "**श्रीज्ञानेश्वरीत**" असे म्हणतात की, "साधक साधन करून सिद्ध म्हणजे ज्ञानी होतो. तो ज्ञानी झाला म्हणजे सदोदित आपल्यासारखेच आत्मरूपाने सर्व चराचरात्मक जग पाहतो. सुखदुःखांचे विकार व शुभाशुभ कर्मे ही दोन आहेत असे आपल्या मनोवृत्तीने तो समजतच नाही. हे समविषम पदार्थ आणि ज्या ज्या काही चित्रविचित्र वस्तू आहेत त्या त्या सर्व आपले अवयवच आहेत असे तो मानतो. हे संपूर्ण त्रैलोक्यच आपण आहोत असे त्याला सहजच अनुभवाला येते. त्यालाही एक शरीर असते, हे

खरे असले; तरी तो सुखदुःखे भोगतो, असे लोक व्यवहारात म्हणतात. तरीपण आम्हाला तर अशीच अनुभूती आहे की तो "परब्रह्मच आहे." म्हणून हे अर्जुना! आपल्या ठिकाणी सर्व विश्व पाहावे व आपण स्वतः विश्वरूप व्हावे अशा समदृष्टी प्राप्त करून देणाऱ्या शक्तिपातयोगसाधनेचाच साधकाने अभ्यास केला पाहिजे. या मार्गाने प्राप्त होणाऱ्या समदृष्टीच्या लाभापेक्षा या जगात दुसरा मोठा लाभ नाही." **(श्रीज्ञानेश्वरी ६.४०४ ते ४१०)**

"साधक शेकडोशे जन्म भक्तीची वाटचाल करतो. विषयसुखाची आशा तो कधीही धरीत नाही. त्याला फलाचीही इच्छा नसते. असे असले तरी अज्ञान संपत नाही. परंतु ज्यावेळी कर्मक्षय होऊन ज्ञानाची पहाट होण्याची वेळ येते तेव्हा त्याला श्रीसद्गुरूंची गाठ पडून शक्तिपातयोगाचे साधन मिळते व ज्ञानरूपी ब्रह्मात्मैक्यदृष्टीचे ऐश्वर्य त्याच्या दृष्टीस पडते. त्यावेळी तो जिकडे पाहतो तिकडे त्याला मीच एक आहे असा अनुभव येतो. इतकेच नव्हे; तर तो स्वस्थ बसला तरी या अनुभवात फरक पडत नाही. त्याला सर्व ठिकाणी परमेश्वरावाचून दुसरे काहीच दिसत नाही. ज्याप्रमाणे पाण्याच्या डोहात बुडलेल्या घटाच्या आत व बाहेर पाणीच असते त्याप्रमाणे तो माझ्या आत असतो व मी त्याच्या अंतर्बाह्य असतो. शेवटी हे संपूर्ण विश्व श्रीवासुदेवरूपच आहे असा अनुभूतिरूप रसाचा भाव त्याच्या अंतःकरणात निश्चित होतो." **(श्रीज्ञानेश्वरी ७.१२९ ते १३६)**

जन्ममरणाची निमे कथा :-

"जो साधक जन्मभर श्रीसद्गुरूंनी दिलेले साधन करतो त्याच्या जन्ममरणाच्या फेऱ्याची कथा सदाचीच संपते. या साधनाच्या प्रयत्नामुळेच साधकाला समग्र परब्रह्माच्या प्राप्तीचे फल मिळते. हे फळ पिकले असता त्यातून पूर्णतारूपी रस गळतो. आपण कृतकृत्य झालो आहोत या आनंदाने साधकाला धन्यता वाटते. त्याची आत्मज्ञानाची तीव्रतर इच्छा व हौस पूर्ण होते. कर्माचे सर्व प्रयोजन संपते. त्याचे मन नाहीसे होते. त्यामुळे भेदरूप दैत्याचे अस्तित्वच

संपते. **(श्रीज्ञानेश्वरी ७.१७५ ते १८९)**

अविद्येचा नाश :-

चिच्छक्ती जागृत झाल्यावर अविद्येचा नाश होऊन मनुष्य जन्माचे ध्येय जे मोक्ष तो प्राप्त होतो. श्रीसंतज्ञानेश्वरमहाराज असे म्हणतात की, "शक्तिपातस्वरूप असंगशास्त्राने जेव्हा साधकाची अंत:शक्ती जागृत होते तेव्हा अविद्येचा नाश होऊन साधक ब्रह्मरूप होतो. या साधनामुळे वर्षाऋतूच्या अखेरीस ज्याप्रमाणे ढग आकाशाला टाकून सोडून जातात त्याप्रमाणे मनाला मोह व अभिमान आपण स्वत: होऊन सोडून जातात. निर्धन व निर्दय अशा मनुष्यास ज्याप्रमाणे त्याचे आप्त व नातेवाईक कंटाळून सोडून जातात त्याप्रमाणे साधक विकारांच्या कचाट्यात सापडत नाही. केळीला केळी आल्यावर ती जशी उन्मळून पडते तशा प्रबल, नि:संदेह व यथार्थ आत्मस्वरूपाच्या लाभामुळे त्या साधकाच्या क्रिया आपोआप हळूहळू सुटत जाऊन बंद पडू लागतात. वृक्षाला आग लागली असे पाहून त्यावर बसणारे पक्षी ज्याप्रमाणे तो वृक्ष सोडून जिकडे रस्ता सापडेल तिकडे पळून जातात त्याप्रमाणे साधकाच्या बाबतीत सर्व विकल्प आपण होऊन सोडून जातात. त्याची भेदबुद्धी नाहीशी होते. सूर्योदय झाल्यावर रात्र जशी आपोआप नाहीशी होते तसा आत्मस्वरूपाचा लाभ झाल्यावर साधकाची देहाहंता व देहविषयक अभिमान अविद्येसह पळून जातो."

हृदयग्रंथींचा भेद :-

"कठोपनिषदाच्या" अध्याय दोन व तीन मध्ये यमाने नचिकेताला मृत्यूला पार करण्याचा मार्ग सांगताना सुषुम्णेचा आश्रय करणाराच म्हणजे या शक्तिपातयोगाचा स्वीकार करणाऱ्याच्याच हृदयग्रंथींचा भेद होऊन तो अमृतस्वरूप होतो म्हणून सांगितले आहे. ही प्राप्ती कशी असते हे सांगताना ऋषी असे म्हणतात की,-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गतिम्।।२-३-१०।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।११।।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।१४।।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।१५।।

शक्तिपातयोगाचे साधन नियमित करणाऱ्या साधकाची ज्यावेळी पाचही इंद्रिये मनासहित आत्म्यामध्ये स्थिर होतात आणि बुद्धी आपल्या व्यापारातून निवृत्त होते तेव्हा त्याला अत्यंत श्रेष्ठ गती म्हणतात. अशा प्रकारच्या स्थिर इंद्रियधारणेलाच शक्तिपातयोग असे म्हणतात. जेव्हा इंद्रियांची स्थिर धारणा होते तेव्हा साधक प्रमादरहित होतो. या साधनाच्या अभ्यासाने जेव्हा साधकाच्या हृदयात असणाऱ्या सर्व वासना संपूर्णपणे नाहीशा होतात तेव्हा तो मृत्युरहित होतो व याच देही ब्रह्मरूप होतो. सर्व वेदांचे हेच सार व हाच उपदेश आहे की, ज्यावेळी या शक्तिपातयोगसाधनेने हृदयातील संपूर्ण ग्रंथी छिन्नविच्छिन्न होऊन तुटून जातात व बुद्धीची सर्व बंधने नाहीशी होतात तेव्हा मनुष्य मृत्युरहित म्हणजे अमर होतो.

"योगकुंडलिनी उपनिषदाच्या" पहिल्या अध्यायामध्ये ब्रह्म, विष्णू व रुद्र या तीनही ग्रंथींचा भेद होऊन साधकाला परावस्था कशी प्राप्त होते हे सांगताना असे म्हटले आहे की,-

ज्वलनाघातपवनाघातोरुन्निद्रितोऽहिराट्।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः।।१.८५।।
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिन्नति षट्।
सहस्त्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।।८६।।
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृत्तिकारणा।।८७।।

ज्यावेळी शक्तिपात होऊन अभ्यंतरस्थ अग्नीच्या द्वारा प्राणवायू तप्त होऊन त्याच्या क्रियेमुळे सर्पाकृती कुलकुंडलिनी जागृत होते तेव्हा ती शक्ती ब्रह्म, विष्णू व रुद्र या तीन ग्रंथींचा आणि सहाही चक्रांचा वेध करीत करीत सहस्त्रारातील परम श्रीशिवाशी एकरूप व

एकरस होते. तेव्हा साधकाला निरतिशय आनंद प्राप्त होतो. हीच साधनाची परावस्था होय. या अवस्थेमध्ये जो आनंद प्राप्त होतो त्याचे वर्णन शब्दात करता येणे शक्य नाही. असा हा आनंद स्वानुभवानेच जाणता येतो.

कैवल्यप्राप्ती :-

शक्तिपातयोगाने साधकाला समाधिप्राप्ती व कैवल्यप्राप्ती कशी होते हे सांगताना **"एकनाथी भागवतात"** श्रीनाथ असे म्हणतात की, "मनाची तळमळ नाहीशी होणे हीच खरी समाधी होय. वसिष्ठादि प्राचीन अतिसमर्थज्ञानी चालते बोलते समाधिस्थ होते. देवर्षी श्रीनारदांचा समाधिबोध कधी लीलेनेही भंग पावला नाही. स्वस्वरूपाला पाहून जो मूर्च्छित झाला तो आपला आपणच तरतो. असे महात्मे स्वतः तरून लोकांचा उद्धार करतात. श्रीशुक व श्रीवामदेव यांनीही अशा प्रकारचा बोध प्रगट केला आहे."

"या शक्तिपाताची परिणिती इंद्रियांच्या पलीकडे असलेल्या आत्यंतिक सुखात होते. सुखातच साधक राहतो व तेथून तो कधीही बाहेर येत नाही. स्वस्वरूपाच्या ओळखीबरोबर साधक सुखाच्या साम्राज्यावर आरूढ होतो. शेवटी त्या सुखाशी समरस होऊन विरून जातो. या समरस सुखस्थितीपेक्षा दुसरे काहीही श्रेष्ठ नाही. इंद्रिये या स्थितीला कधीही जाणत नाहीत. या स्थितीपेक्षा इतर कोणताही सुखलाभ साधकाला श्रेष्ठ वाटत नाही. या सुखात निमग्न राहिल्यामुळे अत्यंत भयानक दुःखातही त्याची मनःस्थिती अविचल राहते. मेरू पर्वतापेक्षा मोठ्या अशा दुःखाच्या डोंगराखाली साधक दडपला गेला तरी त्याचे चित्त दुःखाने दडपत नाही."

"शक्तिपातयोगाने ज्ञानबोध झाला की, साधकाला सर्व कर्मे करीत असतानाही देहाचे देहपण स्फुरत नाही. हेच समाधीचे मुख्य लक्षण आहे. परमेश्वरस्वरूपाला साधक प्राप्त होऊन देहभान विसरतो व पूर्ण स्वानंदाचा अनुभव घेतो. सुखानेच त्याची सुखस्वरूपता होते. मग हा ज्ञानी ब्रह्मरस पिऊन परमानंदाने तृप्त होतो."

"केवळ ताठरलेल्या तटस्थ वृत्तीला जर कोणी समाधी समजत असतील तर त्या ज्ञात्यांच्या बुद्धीला भ्रम झाला आहे असे म्हणावे लागेल; कारण ती खरोखर समाधी नसून त्या स्थितीत वृत्ती मूर्च्छित असते. निरंतर निरभिमानालाच अखंड समाधी असे म्हणतात. पण काष्ठासारखे होऊन राहणे ही खरी समाधी नव्हे. जे अशा काष्ठासारख्या तटस्थपणाला समाधी मानतात त्यांना खऱ्या स्वरूपाचे निश्चित ज्ञान नसते. त्यांचे ते केवळ अनुमानाचे बोलणे असते. जोपर्यंत मनात वासना शिल्लक आहे तोपर्यंत समाधी कशी प्राप्त होणार? सगळ्या संकल्पांचा शेवट होणे यालाच निर्विकल्प समाधी असे म्हणतात. सर्व शास्त्रांनी हेच प्रतिपादन केले आहे. हीच खरी समाधी होय. शेळीजवळ साप आला की, तिच्याही वृत्ती भीतीने जागच्या जागी थिजून तटस्थ होतात. पण तशी निश्चेष्ट स्थिती म्हणजे समाधी नव्हे. अकस्मात् व अनपेक्षित एखादे दिव्यस्वरूप दृष्टीस पडताच वृत्ती आश्चर्याने थक्क होते व भान हरपून शरीर तटस्थ होते. पण ती एक वृत्ती आहे. समाधी नव्हे. प्रथमच आत्मस्वरूप दृष्टीस पडताच अनावर झालेला विस्मय दाबून टाकून निश्चल स्थित होणे हीच खरी समाधी होय. जेथे कल्पना पूर्णपणे विरून जाते तेथे विस्मय कोठून स्फुरणार? सूक्ष्म वासना स्थिर झाल्या की, विस्मय आपणच नाहीसा होतो. तेथे बाध्यबाधकता संपते व अहं ही सर्व अविद्या सुटते त्याला सहजसमाधी म्हणतात." अशी समाधी किंवा कैवल्य शक्तिपातयोगाच्या साधनाने साधकाला प्राप्त होऊन शेवटी तो अनादि जन्ममरणपरंपरेतून सुटून मूलतः संकोचाने स्वतःच प्राप्त केलेल्या जीवदशेचा त्याग करून श्रीशिवशक्तीच्या सामरस्याने अखंड आनंदात निमग्न होतो. श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी या स्थितीचे वर्णन करताना **"श्रीज्ञानेश्वरीच्या"** ६व्या अध्यायात असे म्हटले आहे की -

म्हणोनि आसनाचिया गाढिका।
जो आम्हीं अभ्यासु सांगितला निका।
तेणें होईल तरी हो कां। निरोधु ययां।।६.३६४।।

येऱ्हवीं तरी येणें योगें। जैं इंद्रिया विंदाण लागे।
तैं चित्त भेटों रिगे। आपणपेयां।।३६५।।
परतोनि पाठिमोरें ठाके। आणि आपणियातें आपण देखे।
देखतखेंवो वोळखे। म्हणे तत्त्व हें मी।।३६६।।
तिये वोळखीचिसरिसें। सुखाचिया साम्राज्यीं बैसे।
मग आपणपां समरसें। विरोनि जाय।।३६७।।
जयापरतें आणिक नाहीं। जयातें इंद्रिये नेणति कहीं।
तें आपणचि आपुल्या ठायीं। होऊनि ठाके।।३६८।।

येथे शक्तिपातयोगरहस्य अर्थात् सिद्धयोगमहाशास्त्र हा ग्रंथ श्रीगुरुमाउलीच्या कृपेने पूर्ण झाला. त्यांच्या चरणी माथा ठेवून थांबतो.

★ ★ ★ ★ ★

★दैवी शक्तीचे संक्रमण★

(परमपूजनीय प्रातःस्मरणीय योगिराज सद्गुरू श्रीसंत वामन दत्तात्रेय गुळवणीमहाराज यांच्या "Transmission of Spiritual Power" या मूळ इंग्रजी लेखाचे भाषांतर.)

खऱ्या अध्यात्मिक गुरूने आपल्या शिष्यामध्ये दिव्य शक्तीचे संक्रमण करण्याची एक विशिष्ट पद्धती आहे. त्याला कृपा अर्थात् शास्त्रीय परिभाषेत "शक्तिपात" किंवा "दिव्य शक्तीचे संक्रमण" असे म्हणतात. असा शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य असलेले श्रीसद्गुरू त्यांच्या जवळचे "सत्या" बद्दलचे ज्ञान किंवा "परमात्म्याशी एकरूप" होण्याचे ज्ञान, सुयोग्य शिष्याला एका क्षणार्धात विशेष कष्ट न करता देऊ शकतात. इतकेच नव्हे; तर ते आपल्या शिष्याला तत्सम म्हणजे आपल्याप्रमाणे बनवू शकतात. या दृष्टीनेच भगवान् श्रीमदाद्य-शंकराचार्य यांनी **"शतश्लोकी"** या आपल्या महान् ग्रंथाच्या पहिल्याच श्लोकात शक्तिपातपूर्वक ज्ञानदान करणाऱ्या श्रीसद्गुरूंचे पुढीलप्रमाणे मोठे सुंदर वर्णन केले आहे.

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः।
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये।।
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वालौकिकोपि।।१।।

या त्रिभुवनात ज्ञानदात्या श्रीसद्गुरूंना शोभेल असा दृष्टान्तच मिळत नाही. जरी त्यांना परिसाची उपमा दिली तरी तीही योग्य होत नाही; कारण की, परिस लोखंडाचे सोने करीत असला, तरी तो त्याला परिसत्व देत नाही. परंतु श्रीसद्गुरू मात्र त्यांच्या चरण युगुलाचा आश्रय करणाऱ्या आपल्या शिष्याला स्वतःचे साम्य देतात. त्यामुळे श्रीसद्गुरूंना कोणतीही उपमा देता येत नाही अर्थात् ते निरुपम आहेत. याचा अर्थच असा आहे की, श्रीसद्गुरूंना योग्य असा प्रंपचातील कोणताही अलौकिक दृष्टान्त मिळत नाही.

या दृष्टीनेच संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराजांनी आपल्या एका अभंगात

या कल्पनेची पुनरावृत्ती करताना असे म्हटले आहे की -

सद्गुरुवांचूनि सांपडेना सोय। धरावे ते पाय आधी आधी।।१।।
आपणासारिखें करिती तात्काळ। नाहीं काळवेळ तयालागीं।।२।।
लोह परिसाची न साहे उपमा। सद्गुरुमहिमा अगाधची।।३।।
तुका म्हणे कैसे आंधळें हे जन। गेले विसरोन खऱ्या देवा।।४।।

या सर्वांवरून हे स्पष्ट होते की, श्रीसद्गुरूंचे माहात्म्य वर्णन करण्यास परिसादि कोणाचीही उपमा पुरी पडू शकत नाही; कारण जगातील सर्व मानदंड श्रीसद्गुरुमहात्म्यापुढे अपुरे पडतात.

"भावार्थ दीपिका" या **"श्रीमद्भगवद्गीतेवरील"** भाष्यात सकलसंतशिरोमणी श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनीही श्रीसद्गुरूंचा महिमा वर्णन करताना असे म्हटले आहे की, "खऱ्या श्रीसद्गुरूंची महती एवढी मोठी आहे की, ज्या व्यक्तीवर त्यांची दृष्टी पडते किंवा ज्याच्या मस्तकावर ते आपला कमलहस्त ठेवतात, ती व्यक्ती कितीही कनिष्ठ यःकश्चित् असली; तरी तिला तत्क्षणी जगच्चालक परमेश्वराचा दर्जा प्राप्त होतो. ज्या कोणाला अशा श्रीसद्गुरूंची कृपा प्राप्त करण्याचे भाग्य लाभते तो तत्काळ सर्व द्वंद्वांतून मुक्त होतो आणि त्याला आत्मप्रचीती येते. श्रीसद्गुरू **"तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्माब्रह्म व प्रज्ञानं ब्रह्म"** यापैकी कोणतेही एक "महावाक्य" शक्तिपातपूर्वक शिष्याला देतात व शिष्याने तत्क्षणी त्याचा स्वीकार करताच त्याला त्यावक्षणी आपण महावाक्यातील आशयाचा प्रत्यक्ष अनुभव घेत असल्याची प्रचीती येते. श्रीकृष्णांनी आपल्या परमभक्त अर्जुनाच्या ठिकाणी आपल्या दिव्य अशा शक्तीचे संक्रमण करून त्याला आपल्यासारखे कसे केले, हे सांगताना श्रीज्ञानेश्वरमहाराजांनी **"श्रीज्ञानेश्वरीत"** असे म्हटले आहे की, "प्रभूंनी झगझगीत कंकणांनी युक्त असलेला आपला नीलवर्णाचा उजवा हात पुढे केला आणि आपल्या प्रेमळ भक्ताला आलिंगन देऊन हृदयाशी धरले. श्रीभगवंताला त्याच्या शिष्याला प्रत्यक्ष शक्तिपात करून आत्मप्रचीती द्यावयाची होती व त्यासाठीच ते आलिंगन होते. तेथे भाषा किंवा युक्तीवाद

यांना जागा नव्हती. ज्यावेळी श्रीकृष्णांचे व अर्जुनाचे हृदय एकमेकांना भिडले त्यावेळी श्रीकृष्णांनी आपल्या हृदयातील ज्ञान अर्जुनाच्या हृदयात घातले. हे सर्व झाले; तरी दोन व्यक्ती तशाच राहिल्या; पण अर्जुन मात्र श्रीकृष्णरूप झाला अर्थात् श्रीकृष्णांशी तादात्म्य पावला."

ब्रह्माची प्रचीती केवळ शास्त्राभ्यासाने येत नाही; तर ती केवळ श्रीगुरुकृपेनेच येते. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराज गर्जून असे सांगतात की, "श्रीसद्गुरूंशिवाय खरे ज्ञान मिळणे अशक्य आहे. शास्त्रेही या सिद्धान्ताशी सहमत आहेत. केवळ शब्दाने, तीक्ष्ण बुद्धीने किंवा उपनिषदे व त्यावरील व्याख्याने ऐकून आत्मप्रचीती येऊ शकत नाही. ती फक्त श्रीसद्गुरूंच्या कृपा-प्रसादानेच मिळू शकते." या दृष्टीने श्रीमदाद्यशंकराचार्यांनी श्रीसद्गुरूंच्या अमृतमय दृष्टि-कटाक्षाच्या शक्तीचे जे अपूर्व वर्णन **"शतश्लोकी"** या प्रख्यात ग्रंथात केले आहे, ते पाहण्यासारखे आहे.

तद् ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै।
पुंसः श्रीसद्गुरुणामतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या।
जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेनाद्युपाधौ।
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसन्देहवृत्तिः।।९१।।

कोणीही एखाद्या पुरुषाला अर्थात् साधकाला श्रीसद्गुरूंच्या अप्रतिम करुणेने पूर्ण अशा अमृत दृष्टीने अर्थात् शक्तिपातपूर्वक केलेल्या शक्तिसंक्रमणाने "ते ब्रह्मच मी आहे" असा जर अनुभव आला तर त्याचे मन भ्रमरहित होते. त्यामुळेच त्याचे सर्व संशय नष्ट होतात व तो जीवन्मुक्त होतो. अशा प्रकारे साधकाची अनादि उपाधी नष्ट झाल्यामुळे तो श्रेष्ठ व नित्य आनंदरूप अशा आत्म्यामध्ये प्रवेश करतो.

अशा रीतीने वेद, पुराणे, तंत्रे आणि सर्व काळातील संतांनी शक्तिसंक्रमणाच्या मार्गाचे स्वानुभव लिहून ठेवले आहेत. **"योगवासिष्ठ"** या ग्रंथात श्रीवसिष्ठ ऋषींनी स्वतः श्रीरामचंद्रांवर केलेल्या शक्तिपाताच्या सत्य परिस्थितीचे वर्णन केले आहे. या शक्तिपाताच्या माहात्म्यामुळेच

श्रीवसिष्ठांना श्रीरामचंद्रांना पूर्ण ब्रह्मस्थितीप्रत नेणे शक्य झाले. श्रीवसिष्ठांचे हे सामर्थ्य जाणूनच श्रीविश्वामित्र महर्षी श्रीवसिष्ठांची स्तुती करताना त्यांना असे म्हणाले की, "हे महात्मन् ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ मुनी! आपण खरोखरच अत्यंत श्रेष्ठ आहात. आपण शक्तिपाताच्या द्वारा श्रीरामचंद्रांच्या ठिकाणी शक्तिसंक्रमण करून आपली महती सिद्ध केली आहे."

"योगवासिष्ठातील" निर्वाणप्रकरणाच्या पूर्वार्धातील १२८ व्या प्रकरणात शक्तिसंक्रमण करण्याच्या चार पद्धतींने वर्णन करून श्रीसद्गुरूंची व्याख्या केली आहे.

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।६१।।

जे दर्शनाने, स्पर्शाने, शब्दाने व कृपापूर्वक शिष्याच्या देहामध्ये शिवभावाची मंगलमय अनुभूती करू शकतात त्यांनाच श्रीसद्गुरू असे म्हणतात.

या दृष्टीने **"श्रीस्कंदपुराणातील" "सूतसंहितेमध्ये"** शक्तिसंक्रमणाच्या पद्धतीची सांगोपांग माहिती दिलेली आहे. **"तंत्रग्रंथातही"** शक्तिसंक्रमणाने होणाऱ्या कुंडलिनीजागृतीची विस्तृत वर्णने आढळतात. शक्तिसंक्रमणद्वारा शिष्यातील सुप्त शक्ती जागृत करण्याबद्दल सर्व पंथांमध्ये नाथसंप्रदाय हा अत्यंत प्रसिद्ध आहे. हा पंथ अध्यात्मज्ञान व योगशास्त्र यांच्या इतकाच प्राचीन आहे. अलीकडील काळात अशी महान् शक्ती साधकामध्ये परिणामकारकपणे संक्रमण करणारे श्रीसद्गुरू विरळेच आहेत हे खरे आहे; परंतु ते अजिबात नाहीत असे नाही. अशा प्रकारचे क्वचित् आढळणारे शक्तिसंपन्न व शक्तिपातदीक्षाद्वारा शक्तिसंचार करणारे महात्मे जगामध्ये गुप्तपणे संचार करीत असतात आणि ज्यावेळी त्यांची गाठ एखाद्या लायक शिष्याशी पडते तेव्हा ते त्यांच्या जवळील शक्ती त्या शिष्यामध्ये संक्रमित करतात.

अशा प्रकारचे ज्ञान व शक्ती संक्रमित करून शिष्याची कुंडलिनी जागृत करण्याचे सामर्थ्य असणारे श्रीसद्गुरू हे आम्ही वर म्हटल्याप्रमाणे

क्वचित्काळी व कोठेतरी आढळतात. अशाच एका महात्म्यांशी अर्थात् प.प.श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज यांच्याशी माझी गाठ पडून मला आलेले अनुभव हेच या लेखास कारणीभूत झाले आहेत. सामान्य वाचकास जरी या गोष्टीचा प्रत्यक्ष फायदा होणार नसला तरी पण अशा तऱ्हेचे पूर्णत्वास गेलेले महात्मे असू शकतात व त्यांच्याकडून शक्तिसंक्रमणद्वारा त्यांची कृपा संपादन करून शिष्याला आपले कल्याण करून घेणे शक्य आहे, इतकी खात्री होऊ शकली; तरी माझ्या या प्रयत्नाचे सार्थक झाले असेच मी मानीन. त्याचे एकमात्र कारण असे आहे की, एखाद्या साधकाची जर एखाद्या अशा महात्म्यांशी गाठ पडली तर आणि तो त्यांची कृपा संपादन करू शकला; तर खरोखर त्याला त्याच्या मानुषी अस्तित्वाचे उद्देश व हेतू साध्य करता येतील.

योगाचा मुख्य हेतू समाधी साधणे हा आहे. ज्या समाधी अवस्थेमध्ये मनाच्या सर्व अवस्था व भाव नाहीसे होऊन ते शांत होते, ती समाधी साध्य होण्याकरिता अनुभवी अशा श्रीसद्गुरूंच्या मार्गदर्शनाखाली शिष्याला अवघड अशा आठ प्रकारच्या हठयोगाच्या पायऱ्यांवरून जावे लागते. या अभ्यासात थोडीशी जरी चूक झाली तरी साधकाला ती धोकादायक असते. या धोक्याच्या भीतीमुळेच पुष्कळ उत्कट साधक हा मार्ग अवलंबिण्यास धजत नाहीत; कारण त्यामध्ये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, मुद्रांचा अभ्यास इत्यादि अंगांचा अभ्यास करून कुंडलिनी शक्ती जागृत करावी लागते. अशा रीतीने शक्ती जागृत झाल्यानंतर पृष्ठवंश रज्जूतून जाणाऱ्या मध्यवर्ती सुषुम्णानाडीचे प्रवेशद्वार उघडते व त्यातूनच प्राणरूप शक्तीचा वर सहस्त्रारात जाण्याचा मार्ग मोकळा होतो. परंतु शक्तिपातयोगमार्गाने वरील सर्व गोष्टी विनासायास लवकर साध्य होऊ शकतात. जो साधक निरोगी व तरुण असून, ज्याचा मन व इंद्रिये यांच्यावर ताबा आहे, जो वर्णाश्रमधर्माचे नियम पाळतो आणि ज्याची देव, ब्राह्मण व गुरू यांच्यावर पूर्ण श्रद्धा आहे, अशा साधकावर शक्तिसंक्रमणाचा परिणाम ताबडतोब होतो. या सर्वात श्रीसद्गुरूंची

प्रामाणिक सेवा करून त्यांची कृपा संपादन करणे हीच अत्यंत महत्त्वाची गोष्ट आहे.

श्रीविद्यारण्यस्वामीमहाराजप्रणीत "**जीवन्मुक्तिविवेक**" या ग्रंथावर टीका करताना श्री.अच्युतराय मोडक यांनी आपल्या "**पूर्णानंदकौमुदी-व्याख्येत**" पुढील प्रकारे शक्तिसंक्रमणाच्या चार पद्धती सांगितल्या आहेत.

विद्धि स्थूलं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतममपि क्रमतः।
स्पर्शन-भाषण-दर्शन-सङ्कल्पनजत्व-तश्चतुर्धा तम्।।

शक्तिपात हा स्पर्श, भाषण, दर्शन व संकल्प या चार कारणाने क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम या चार प्रकारचा जाणावा.

यातील पहिल्या स्थूल अशा स्पर्शदीक्षेची व्याख्या करताना "**कुलार्णवतंत्रात**" श्रीमहादेव श्रीपार्वतीला असे म्हणतात की,

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशश्च तादृशः कथितः प्रिये।।१४.३५।।

हे प्रिये पार्वती! ज्याप्रमाणे पक्षी आपल्या पंखांचा स्पर्श करून आपल्या पिल्लांचे लालन, पालन व वर्धन करतो त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरू आपल्या स्पर्शाने शिष्याच्या ठिकाणी निद्रिस्थ असलेली शक्ती जागृत करून त्याचे लालन, पालन व वर्धन करतात. याप्रमाणे स्पर्शदीक्षा असते.

दुसऱ्या सूक्ष्म अशा शब्ददीक्षेची व्याख्या करताना शास्त्रकारांनी असे म्हटले आहे की-

निशम्य कोकिलशब्दं कोकिलः काकपालितः।
स्वीयां जातिं विजानाति गुरुवाक्यश्रवात्तथा।
स्वीयं स्वरूपं विज्ञाय शिष्यो ब्रह्मत्वमश्नुते।।

हेच दुसऱ्या शब्दात सांगताना त्यांनी असे म्हटले की -

यथा पिको वायसरक्षितः स्वां श्रुत्वा पिकारावमवैति जातिम्।
शिष्यस्तथा देशिकवाक्प्रभावात् परं पदं वेत्त्यचिरादशङ्कम्।।

ज्याप्रमाणे कावळ्यांच्यामध्ये पाळलेले कोकिळेचे पिल्लू कोकिळेचा शब्द ऐकताच मी कावळा नसून कोकिळ आहे असे ओळखते त्याप्रमाणे "तू ब्रह्म आहेस" असे श्रीसद्गुरू म्हणताच शिष्याच्या ठिकाणी तो भाव उदित होऊन जेव्हा त्याला तसा अनुभव येतो तेव्हा त्याला शब्ददीक्षा असे म्हणतात.

तिसऱ्या सूक्ष्मतर अशा दृग्दीक्षेने अर्थात् श्रीसद्गुरूंच्या नुसत्या दर्शनाने किंवा दृष्टिपाताने शक्तिसंचार कसा होतो हे श्रीपार्वतीला सांगताना श्रीमहादेवांनी **"कुलार्णवतंत्रात"** असे म्हटले आहे की

स्वापत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि।।१४.३६।।

हे पार्वती! कासवी ज्याप्रमाणे आपल्या अपत्यांचे पालन-पोषण केवळ आपल्या प्रेमळ दृष्टीने करते त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरूंच्या केवळ कृपाकटाक्षाने शिष्यामध्ये शक्तिसंचार होऊन तो कृतार्थ होतो.

चवथी सूक्ष्मतम अशी संकल्प, कृपा किंवा ध्यानदीक्षा कशी होते हे सांगताना **"कुलार्णवतंत्रात"** असे म्हटले आहे की-

यथा मत्स्यी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशश्च मानसः स्यात् तथाविधः।।१४.३७।।

ज्याप्रमाणे मत्स्यी केवळ मनाने चिंतन करून आपल्या पिल्लांना वाढविते व त्यांचे पोषण करते त्याप्रमाणे केवळ संकल्पाने श्रीसद्गुरू शक्तिसंचार करून शिष्याची कुंडलिनी शक्ती जागृत करतात. या प्रकाराने जी वेधदीक्षा किंवा शक्तिसंचार होतो त्याला मानसदीक्षा असेही म्हणतात.

आत्तापर्यंत वर्णन केलेल्या चार दीक्षा प्रकारांपैकी कोणत्याही प्रकारे शक्तिपातयोगाची वेधदीक्षा झाली की, शिष्यामध्ये शक्तिसंक्रमण झाल्यामुळे कोणती लक्षणे प्रकट होतात हे **"कुलार्णवतंत्रात"** व **"सूतसंहितेत"** पुढीलप्रमाणे कथन केले आहे.

आनन्दश्चैव कम्पश्चोद्भवो घूर्णा कुलेश्वरी।
निद्रा मूर्च्छा च वेधस्य षडवस्थाः प्रकीर्तिताः।।१४.६४।।

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्द हर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्।।४.३५.२१।।

श्रीगुरुदेवांच्या अनुग्रहाने जेव्हा शिष्याला वेधदीक्षा प्राप्त होते तेव्हा आनंद, कंप, आसनापासून उत्थान, घुमणं किंवा डोलणे, निद्रा व मूर्च्छा या सहा अवस्था शिष्याच्या ठिकाणी प्रकट होतात.

ज्यावेळी साधकाला शक्तिपातयोगाची दीक्षा मिळते त्यावेळी शिष्याचा देह जमिनीवर आडवा पडतो. त्याला कंप होऊ लागून त्याचे मन प्रसन्न होते व ते परमानंदाने भरून जाते. त्याचप्रमाणे साधकाच्या अंगावर रोमांच उभे राहतात व त्याला घाम येतो. ही सर्व शक्तिपाताची लक्षणे आहेत.

शक्तिपाताच्या वर वर्णन केलेल्या लक्षणांप्रमाणे दीक्षा झाल्यानंतर साधकाच्या ठिकाणी पुढील इतर लक्षणेही प्रकट होतात. साधन सुरू झाल्यावर प्रकाश दिसणे, आतून अनाहतनाद ऐकू येणे, आसनापासून शरीर वर उचलले जाणे इत्यादि गोष्टी होऊ लागतात. त्याप्रमाणे काही कालानंतर निरनिराळ्या बंधांसह प्राणायामाच्या निरनिराळ्या अवस्था आपोआप चालू होतात. काही साधकांना कुंडलिनी शक्ती मूलाधार चक्रापासून ब्रह्मरंध्रापर्यंत वर गेल्याचा अनुभव येतो व त्यांच्या मनाला पूर्ण शांती लाभते. काही साधकांना पहिल्या दिवशी येणारे हे सर्व अनुभव कित्येक तास टिकतात, काहींच्या ठिकाणी ते अर्धा तास तर काहींच्या बाबतीत ते सतत तीन तास टिकून मग थांबतात. साधकाचे साधन चालू असताना जोपर्यंत शक्ती कार्य करीत असते तोपर्यंत साधकाचे डोळे मिटलेले राहतात व ते त्याला उघडावेसे वाटत नाहीत. ते मुद्दाम उघडण्याचा प्रयत्न केला तर त्रास होतो. मात्र शक्तीचे कार्य थांबल्यावर साधकाचे डोळे आपोआप उघडतात. या दृष्टीने डोळ्यांचे मिटणे व उघडणे या गोष्टी शक्तीचे कार्य चालू आहे की, थांबले आहे हे दर्शवितात. साधकाने डोळे मिटल्यावर त्याला त्याच्या शरीरात निरनिराळ्या प्रकारच्या हालचाली सुरू झाल्याचे जाणवते. अशा वेळी त्याने आतून आपोआप होणाऱ्या

हालचालींना विरोध करू नये किंवा त्या क्रियांच्या मार्गात अडचणी आणू नयेत. त्याने फक्त निरीक्षकाची भूमिका घेऊन त्या क्रियांना नियंत्रित करण्याचा प्रयत्न करू नये; कारण की, या क्रिया दैवी शक्तीकडून जीवाचे मल, विक्षेप, आवरणादि सर्व दोष नाहीसे होऊन त्याचे शिवत्व प्रकट व्हावे व त्याला स्वसंवेद्य आत्मस्वरूपाची प्राप्ती व्हावी म्हणून विवेकबुद्धीने आतून चालविल्या जातात. अशा प्रकारे दैवी शक्तीकडून आपोआप होणाऱ्या क्रियांमुळे साधकाला अतिशय समाधान लाभते आणि त्याचा आत्मस्वरूपप्राप्तीचा अर्थात् ईश्वरप्राप्तीचा विश्वास बळकट होतो.

एकदा का श्रीगुरुकृपेने शिष्याची योगशक्ती जागृत झाली की, त्याच्या दृष्टीने स्वतंत्रपणे हठयोगांतर्गत प्राणायाम, मुद्रा व इतर कोणत्याही योगाचा अभ्यास करण्याला काही महत्त्व राहत नाही. मात्र शक्तिजागृतीमुळे आतून आपोआप होणारी आसने, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि क्रिया प्राणशक्तीला ब्रह्मरंध्राकडे जाण्यास मदत करण्यासाठीच होत असतात. ज्यावेळी सुषुम्णेचे द्वार मोकळे होऊन शक्ती वर सहस्रारात जाऊ लागते त्यावेळी क्रियांची आवश्यकता कमी होत जाते व मनही पायरीपायरीने शांत होत जाते. शेवटी ज्यावेळी मनप्राणरूपी शक्ती सहस्रारात श्रीशिवाशी समरस होते त्यावेळी अद्वैत सिद्धान्ताची सिद्धी होते.

एखाद्या अशिक्षित व ज्याला आसन, प्राणायाम, बंध इत्यादींची काहीही माहिती नाही अशा साधकाला ज्यावेळी शक्तिपातयोगाची दीक्षा होते त्यावेळी तो साधक श्रीसद्गुरूंनी जागृत केलेल्या शक्तीच्या अनुषंगाने, कित्येक वर्षे एखाद्या श्रीगुरूंकडे योगाचे शिक्षण घेऊन निष्णात झालेल्या योग्याप्रमाणे, योगातील आसन-मुद्रा-बंध-प्राणायामादि सर्व प्रकार शास्त्रातील वर्णनाबरहुकूम करताना कधी कधी आढळतो. सत्यस्थिती अशी आहे की, या सर्व गोष्टी जागृत कुंडलिनी शक्ती स्वतः साधकाची प्रगती करण्याकरिता त्या त्या साधकाच्या बाबतीत आवश्यकता असेल त्याप्रमाणे साधकाकडून घडवून आणीत असते.

अशा प्रकारे साधन करताना कुंडलिनी शक्तीच्या जागृतीमुळे योगातील कित्येक अवघड क्रिया यत्किंचितही प्रयत्न न करता साधकाकडून केल्या जातात. त्याचप्रमाणे पूरक, रेचक व कुंभक या प्राणायामाच्या क्रिया आपोआप घडतात. साधकाला दोन मिनिटांचा कुंभक एक दोन आठवड्यातच साध्य होतो. या सर्व गोष्टी साधकाला कोणत्याही तऱ्हेचा धोका किंवा त्रास न होता होतात; कारण जागृत शक्ती साधकाला कोणत्याही तऱ्हेची इजा होऊ नये म्हणून काळजी घेत असते. त्यामुळे साधनात आपोआपच होणाऱ्या या क्रियांमुळे साधकाची साधनातील प्रगती बिनधोक चालू राहते.

श्रीसद्गुरूंनी शिष्यावर शक्तिपात करून त्याची कुंडलिनी शक्ती जागृत केल्यावर शिष्यातील शक्तिपाताचे सामर्थ्य वाढते व हळूहळू तोही आपल्या श्रीसद्गुरूंप्रमाणेच बनतो. अशा रीतीने शक्तिपात करण्याचा संप्रदाय श्रीसद्गुरूंकडून शिष्याकडे अखंड चालूच राहतो. शक्तीचे बीज श्रीसद्गुरूंनी शिष्यामध्ये पेरलेलेच असते. त्यामुळे श्रीसद्गुरूंनी आज्ञा करताच शिष्यही आपण शक्तिपात करून दुसरे शिष्य तयार करू शकतो व या प्रकारे हा संप्रदाय अखंडितपणे चालू राहतो. परंतु ही संधी प्रत्येक शिष्याला मिळत नसते; कारण या बाबतीत **"जीवनमुक्तिविवेक"** या ग्रंथावर श्री.अच्युतराय मोडक यांनी केलेल्या **"पूर्णानन्देन्दुकौमुदी"** व्याख्येत प्रथम प्रकरणात असे म्हटले आहे की -

तत्रापि चरमयुक्तं साम्यासाम्यप्रदत्वतो द्विविधम्।
साम्यं तु शक्तिपाते गुरुवत्स्वस्यापि सामर्थ्यम्।।१०।।

तथापि चरम म्हणजे श्रेष्ठ असा जो चौथा कृपायुक्त किंवा संकल्पात्मक प्रकार आहे तो साम्य व असाम्य प्रदान करणारा असा दोन प्रकारचा आहे. साम्यात शिष्याला शक्तिपाताने गुरुसाम्यता व स्वत:प्रमाणे इतरांना शक्तिपात दीक्षेने तारण्याचे सामर्थ्य येते. मात्र स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतर शक्तिपाताचेही असेच दोन दोन भेद आहेत असे समजावे. आता चारही प्रकारच्या शक्तिपातात साम्यासाम्यभेदाने

दोन प्रकार कसे घडतात हे सांगतो. साम्यासाम्यभेदाचा अर्थ असा आहे की, शक्तिपातदीक्षा मिळालेल्या शिष्यांमधील काही असे असतात की, जे स्वतःही ज्ञानप्राप्तीने कृतार्थ झालेले असतात व इतरांनाही दीक्षा देऊन ते कृतार्थ करू शकतात. याला साम्यभेद किंवा प्रकार असे म्हणतात. मात्र ज्यांना असाम्य प्रकारची शक्तिपातदीक्षा प्राप्त झालेली असते ते शिष्य स्वतः कृतार्थ झाले तरी दुसऱ्यांना दीक्षा देऊन कृतार्थ करण्याचे सामर्थ्य त्यांच्यात असत नाही. प्रथम स्पर्शपूर्वक होणाऱ्या शक्तिपातदीक्षेच्या स्थूल प्रकारच्या श्रीगुरुसाम्यासाम्यतेचे वर्णन करतो.

स्थूलं ज्ञानं द्विविधं गुरुसाम्यासाम्यदत्वभेदेन।
दीपप्रस्तरयोरिव संस्पर्शात्स्निग्धवर्त्ययसोः।।११।।

ज्याप्रमाणे एखादा जळणारा दिवा तेलात अगर तुपात भिजविलेल्या दुसऱ्या दिव्याच्या वातीला स्पर्श करून पेटवितो व आपल्यासारखे रूप व शक्ती म्हणजे साम्यत्व देतो आणि परिस लोहाला स्पर्श करून सुवर्णरूप म्हणजे आपल्यापेक्षा निराळे असे रूप देतो म्हणजे असाम्यत्व देतो त्याप्रमाणे स्पर्शरूप शक्तिपाताने होणारे स्थूल ज्ञान श्रीगुरुसाम्यासाम्यभेदाने दोन प्रकारचे असते. एका दिव्याने पेटविलेली दुसरी वात आणखी दुसऱ्या कोणत्याही वातीला आपल्या स्पर्शाने प्रज्वलित करू शकते. स्वतः प्रज्वलित होण्याची व दुसऱ्या वातींना प्रज्ज्वलित करण्याची ही शक्ती जशी एका दिव्याला प्राप्त झाली तशी ती सर्व प्रज्वलितदीपांना प्राप्त झालेली असते. याप्रमाणेच श्रीसद्गुरू काही शिष्यांना साम्यत्व म्हणजे स्पर्शदीक्षा देऊन स्वतःसारखे ज्ञान व इतरांना तारण्याचे अर्थात् शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य देतात. यालाच परंपरा म्हणतात व श्रीसद्गुरुकृपा अशीच होण्याचे समाजात चालत राहते. दुसरे उदाहरण परिसाचे आहे. परिसाच्या स्पर्शाने लोखंडाचे सोने होते; परंतु या सोन्यामध्ये आपल्या स्पर्शाने दुसऱ्या लोखंडाचे सोने बनविण्याचे सामर्थ्य असत नाही. साम्यदान करण्याची शक्ती त्या सोन्यात नसते. त्याप्रमाणेच बहुतेक शिष्य श्रीसद्गुरुकृपेने

स्वतः कृतार्थ होतात; पण या शिष्यांच्या जवळ इतरांना तारण्याचे, प्रदीप्त करण्याचे किंवा शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य नसते. त्यामुळे परंपरा पुढे चालू शकत नाही.

सूक्ष्म शक्तिपाताने अर्थात् शब्ददीक्षेने श्रीगुरुसाम्यासाम्यभेद पुढीलप्रमाणे दोन प्रकारचा होतो.

तद्वद् द्विविधं सूक्ष्मं शब्दश्रवणेन कोकिलाम्बुदयोः।
तत्सुतमयुरयोरिव तद्विज्ञेयं यथासंख्यम्।।१२।।

कोकिळेच्या शब्दाच्या श्रवणाने कावळ्याने पोसलेल्या कोकिळेच्या पिल्लाला "मी कोकिळ आहे" असे साम्यप्रद ज्ञान होते व मेघाचा गडगडाट ऐकून मोर आनंदाने नाचू लागतो. हे असाम्यरूप ज्ञान आहे. या दृष्टान्ताप्रमाणेच सूक्ष्म शक्तिपाताचे शिष्यांमध्ये दोन प्रकार दिसून येतात. कोकिळेच्या पिल्लाला आपल्या आईचा शब्द ऐकून आपण स्वतः कोण आहोत याचे ज्ञान होते व कालांतराने हे पिल्लू मोठे झाले की, आपल्या पिल्लाला बोध देण्याची शक्तीपण त्याच्यात येते. त्याचप्रमाणे काही शिष्यांच्या ठिकाणी "तत्त्वमस्यादि" महा-वाक्याच्या, मंत्राच्या अगर भगवन्नामाच्या म्हणजे शब्दाच्या आधाराने श्रीसद्गुरू आपली शक्ती संक्रांत करून त्यांना स्वसंवेद्य आत्मस्वरूपाचे ज्ञान देतात व कालांतराने या शिष्यांच्या ठिकाणीही उपरोक्त प्रकारच्या कोणत्याही शब्दाच्या आधाराने आपल्या गुरूप्रमाणेच शक्ती संक्रांत करण्याचे किंवा इतरांना देण्याचे सामर्थ्य येते. या प्रकाराला च सूक्ष्म शब्ददीक्षा असे नाव असून अनवच्छिन्न परंपरेचा द्योतक असा हा साम्यज्ञानदानप्रकार आहे. मात्र मोर जेव्हा मेघाचा गडगडाट ऐकतो तेव्हा फक्त त्याला स्वतःलाच आनंद होतो. मोराला मेघसाम्य प्राप्त होत नसल्याने तसा गडगडाट करून, आपल्याला झाला तसा आनंद, त्याला इतरांना देता येत नाही. याचा अर्थ असा की, बहुतेक शिष्यांना श्रीसद्गुरूंकडून होणाऱ्या शक्तिपात दीक्षेमुळे मोराप्रमाणे स्वतःला आनंदप्राप्ती होते; परंतु या शिष्यांना श्रीसद्गुरुसाम्याने आपल्या शब्दाने इतरांना तो आनंद देण्याचे सामर्थ्य प्राप्त झालेले नसल्याने, इतरांना

आपला आनंद ते शब्दाने अगर भाषणाने प्रदान करू शकत नाहीत. यालाच असाम्यदानकारक सूक्ष्मदीक्षा असे नाव असून ती विच्छिन्न-परंपरा द्योतक आहे.

सूक्ष्मतर शक्तिपाताने अर्थात् दृष्टिदीक्षेने श्रीगुरुसाम्यासाम्यत्व कसे प्रस्थापित होते हे दृष्टान्ताने स्पष्ट करताना शास्त्रकार असे म्हणतात की -

इत्थं सूक्ष्मतरमपि द्विविधं कूर्म्या निरीक्षणात्तस्याः।
पुत्र्यास्तथैव सवितुर्निरीक्षणात्कोकमिथुनस्य।।१३।।

कासवीच्या केवळ निरीक्षणाने म्हणजे पाहण्यानेच तिच्या पिल्लांचे पोट भरने किंवा ती सुदृढ होतात व सूर्य उगवल्यानंतर रात्रभर एका पानाच्या आड येण्याने एकमेकांच्या भेटीला पारखी झालेली चकोर व चकोरी यांची भेट झाल्याने त्यांना अत्यंत आनंद होतो. या दृष्टान्ताप्रमाणे सूक्ष्मतर शक्तिपात दोन प्रकारचा आहे. याचा अर्थ असा आहे की, ज्याप्रमाणे कासवीच्या केवळ दृष्टिसंचारानेच तिची पिल्ले तृप्त होतात त्याप्रमाणेच श्रीसद्गुरूंच्या कृपादृष्टिसंचाररूप शक्तिपाताने अर्थात् दयार्द्र दृष्टिपाताने शिष्यामध्ये ज्ञानाचा उदय होतो. यातील विशेष असा की, कालांतराने केवळ स्वकृपादृष्टिसंचाराने इतर अधिकारी शिष्यांमध्येही ज्ञानाचा उदय करण्याची शक्ती किंवा ज्ञान-जननशक्तिसाम्य प्रकट करण्याचे सामर्थ्य त्याच्यात येते अर्थात् कासवीचे पिल्लू ज्याप्रमाणे मोठे झाल्यावर त्याच्या ठिकाणी केवळ आपल्या दृष्टिसंचाराने आपल्या पिल्लांना तृप्त करण्याचे सामर्थ्य येते; त्याप्रमाणे निरीक्षणात्मक चाक्षुषदीक्षाशक्तिपाताने उत्पन्न होणारे ज्ञान अधिकारी शिष्याला जरी दीक्षासमयीच प्राप्त होत असले तरी कालौघात ते प्रकट होते, असा याचा भाव आहे. यालाच साम्यदानप्रदायक अशी सूक्ष्मतर दृष्टिदीक्षा असे म्हणतात. मात्र चकोर पक्षांच्या जोडप्याला भेटीचा जो आनंद सूर्यदर्शनामुळे प्राप्त होतो तो आनंद आपल्या दर्शनाने ते दुसऱ्या चकोर चकोरीच्या जोडप्याला देऊ शकत नाहीत. त्याप्रमाणेच काही शिष्यांना श्रीसद्गुरूंच्या कृपेने सूक्ष्मतर अशी दृष्टिदीक्षा

प्राप्त होऊन जीवशिव भेटीचा ब्रह्मानंद स्वतःला प्राप्त होतो; मात्र हा आपला आनंद ते दुसऱ्या जीवांना, सूक्ष्मतर दृष्टिदीक्षा प्रदानाचे सामर्थ्य नसल्याने, देऊ शकत नाहीत. यालाच असाम्यप्रदायक अशी सूक्ष्मतर दृष्टिदीक्षा असे म्हणतात.

सूक्ष्मतम अर्थात् संकल्पजनित शक्तिपाताने किंवा श्रीसद्गुरूंच्या केवळ मनःसंकल्पाने कृपा होऊन शिष्याच्या ठिकाणी श्रीगुरु-साम्यासाम्यत्व कसे उत्पन्न होते हे दृष्टान्त देऊन विशद करताना शास्त्रकारांनी असे म्हटले आहे की -

सूक्ष्मतममपि द्विविधं मत्स्याः सङ्कल्पतस्तु तद्वहितुः ।
तृप्तिर्नगरादिजनिर्मान्त्रिकसङ्कल्पतश्च भुवि तद्वत् ।।१४।।

मत्स्यीच्या केवळ स्मरणाने, संकल्पाने किंवा चिंतनानेच तिच्या पिल्लांचे पोट भरते व एखाद्या मांत्रिक किंवा जादूगार स्वतःच्या संकल्पाने नगर इत्यादि विविध प्रकार दाखवितो त्याप्रमाणे सूक्ष्मतम शक्तिपात हा दोन प्रकारचा आहे. ज्याप्रमाणे मत्स्यीच्या नुसत्या स्मरणाने तिच्या पिल्लांचे पोट भरते व ही पिल्ले मोठी झाल्यावर त्यांनाही ही शक्ती प्राप्त होते त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरूंच्या केवळ संकल्पाने शिष्याच्या ठिकाणी शक्ती संक्रांत होऊन शक्तिपातजन्य ज्ञान उत्पन्न होते व पुढे त्या अधिकारी शिष्याच्या ठिकाणीही ही संकल्पजज्ञानशक्ती उपस्थित होते. याला सूक्ष्मतम साम्यप्रदायक संकल्पदीक्षा असे म्हणतात. मांत्रिक किंवा जादूगार आपल्या संकल्पाने नगरे, झाडे, रस्ते, विहिरी, वाडे इत्यादि निर्माण करतो; परंतु या वस्तूंच्या ठिकाणी त्या मांत्रिकाच्या संकल्पशक्तीचे कोणतेही सामर्थ्य असत नाही. त्याप्रमाणे श्रीसद्गुरुकृपेने अर्थात् संकल्पाने काही शिष्यांच्या ठिकाणी शक्तिपातजन्य ज्ञान प्रकट होते; परंतु त्यांच्याजवळ हे ज्ञान दुसऱ्यांना देण्याचे सामर्थ्य असत नाही.

वरील सर्व विवेचनावरून हे स्पष्ट होते की, ज्या शिष्यांच्या ठिकाणी स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम अर्थात् स्पर्श, शब्द, दृष्टी व संकल्प या चारांपैकी कोणत्याही प्रकाराने साम्यत्वोपादक

शक्तिपातदीक्षा अर्थात् श्रीसद्गुरुकृपा झाली असेल ते आपल्याला स्वभावतःच प्राप्त होणाऱ्या सामर्थ्याच्या जोरावर गुर्वाज्ञेने संप्रदाय परंपरा पुढे चालू ठेवतात व ज्यांना असाम्यत्वोपादक अशी शक्तिपातदीक्षा झाली असेल ते संप्रदाय परंपरा पुढे चालू ठेवू शकत नाहीत. श्रीगुरुकृपा कशी होते व संप्रदायपरंपरा अविच्छिन्नपणे कशी चालू राहते हे या विवेचनावरून स्पष्ट होईल.

अशा रीतीने वर वर्णन केलेल्या सर्व उदाहरणांमध्ये नवीन पिढी उत्पन्न करून संप्रदाय चालू ठेवण्याची शक्ती ही मातेमध्येच निसर्गाने अंतर्निहित करून ठेवल्याचे दिसून येते. यामुळेच श्रीसद्गुरूंना "माउली" असे सार्थ नाव प्राप्त झाले आहे.

एकदा का श्रीसद्गुरूंनी आपल्या शिष्यावर शक्तिपात करून दैवी शक्ती संक्रमित केली की, शिष्याला आपोआप आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान इत्यादि गोष्टी सहज होत राहतात व त्या तो आत्मसातही करतो. हे करण्याकरिता साधकाला कोणाचेही मार्गदर्शन घ्यावे लागत नाही. त्याचप्रमाणे त्याला कोणत्याही प्रकारची विशिष्ट मेहनत किंवा त्रास करून घ्यावा लागत नाही; कारण जागृत शक्ती स्वतःच साधकाला वरील गोष्टी घडवून आणण्यास आतून मार्गदर्शन करीत असते.

शक्तिपातयोगदीक्षेद्वारा आतून सहजतेने होणाऱ्या या साधनाच्या बाबातीत सर्वात उपकारक वैशिष्ट्य म्हणजे या साधनामुळे साधकाला कोणत्याही प्रकारची दुखापत किंवा इजा अगर त्रास होण्याची भीती नसते हे होय. मात्र हठयोगांतर्गत आसने, प्राणायाम इत्यादींचे योग्य अशा श्रीगुरूंकडून शिक्षण न घेतल्यास **"अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग-समुद्भवः।।२.१६।।"** या **"हठयोगप्रदिपिकेत"** "श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्र" यांनी सांगितलेल्या न्यायाने अभ्यासातील चुकांमुळे साधकाला वाटेल त्या तऱ्हेच्या शारीरिक व्याधी उत्पन्न होण्याचा धोका असतो. परंतु शक्तिपात संप्रदायातील साधना ही एक नैसर्गिक साधना आहे. ही साधना साधकाचा देह सर्वप्रकारच्या व्याधींपासून मुक्त करून शुद्ध

करते. इतकेच नव्हे; तर असाध्य रोगही नाहीसे करते. संसारी मनुष्य या साधनेपासून मिळणाऱ्या लाभांनी आपले कल्याण करून घेऊ शकतो. हठयोगाच्या क्लिष्ट व खडतर अभ्यासाच्या द्वारा परमानंद व मनःशांती हे दोन महान् लाभ मिळविण्याचे साधकाचे ध्येय या शक्तिपातयोगसाधनेतून सहजपणे साध्य होते. जो साधक अन्य प्रकारच्या साधनाद्वारे योगाचा अभ्यास करतो त्याला निरनिराळ्या आपत्तींना तोंड द्यावे लागते व शेवटी आपले परम कल्याण होईल अशा आशेने त्याला अतिशय शिस्तबद्ध असे खडतर जीवन जगावे लागते. परंतु शक्तिपातयोगसाधनाद्वारे परमानंद तर प्राप्त होतोच शिवाय साधकातील कुंडलिनी शक्ती जागृत झाल्यामुळे ती त्याला आत्मप्रचीतीप्रत घेऊन जाते. साधक परमोच्च ब्राह्मीस्थितीस पोहोचेपर्यंत शक्तीचे कार्य अव्याहत चालूच असते. मध्यंतरी जरी साधकाला अपवादात्मक परिस्थितीत अनेक जन्मातून जावे लागले तरी जागृत झालेली शक्ती झोपी न जाता तशीच जागृत राहते व आपले अंतिम उद्दिष्ट पूर्ण करते. शक्तिपातयोगमार्गाच्या या साधनमार्गासंबंधी अशा प्रकारची खात्री श्रीसद्गुरूंनी व शास्त्रकारांनी दिलेली आहे. सारांश, येथपर्यंत केलेल्या सर्व विवेचनावरून श्रीसद्गुरूंकडून शक्तिपात-योगदीक्षेद्वारा आत्मशक्ती कुंडलिनी जागृत करून घेण्याचे महत्त्व साधकांना पटेल अशी खात्री आहे.

शक्तिपातयोगमार्गाद्वारे साधकाला एकदा दीक्षा मिळाली की, मग तो साधक स्वतः योगाच्या कोणत्याही मार्गाचा अवलंब करू शकत नाही किंवा तसे करण्यात त्याला सुखही लाभत नाही. तो फक्त आतून मिळणाऱ्या शक्तीचे आदेशच पाळू शकतो. अशा आदेशांची जर तो अवज्ञा करील तर त्याच्यावर आपत्ती कोसळल्या-शिवाय राहणार नाही. ज्याप्रमाणे माणसाला झोप येऊ लागली म्हणजे त्याला झोपी गेल्याशिवाय गत्यंतर नसते; कारण की, जर तो नैसर्गिक प्रकृतीच्या विरुद्ध गेला तर अस्वस्थ व दुःखी होत असल्यामुळे त्याला अशा परिस्थितीत फक्त झोपल्यानेच शांती व सुख मिळते.

त्याचप्रमाणे जेव्हा साधक साधन करण्यासाठी आसनावर बसतो तेव्हा त्याला आतून शक्तीचे असे आदेश मिळू लागतात की, त्याने अमूक एक गोष्ट करावी किंवा अमूक तऱ्हेची क्रिया किंवा हालचाल करावी आणि त्याप्रमाणे त्याला वागावेच लागते. अशा वेळी जर त्या साधकाने तसे केले नाही तर त्याला अस्वस्थता येते व त्रास होतो. परंतु जर साधकाने मोकळेपणाने आतून मिळणारे आदेश पाळले तर त्याला शांती व सौख्य लाभते. मात्र ज्या साधकांची स्वतःच्या प्रयत्नांवरच श्रद्धा असते असे साधक शक्तिपातयोगमार्गाचा अवलंब करण्याची शक्यता कमीच असते; कारण ते सर्वस्वी स्वतःच्या शक्तीबाहेरच्या शक्तीवर अवलंबून राहतात. परंतु शक्तिसंक्रमणाने प्राप्त होणारा शक्तिपातयोगाचा मार्ग हा संपूर्ण शरणागतीचा व आतील जागृत शक्तीवर अवलंबून राहण्याचा मार्ग आहे. ज्याला अशा प्रकारे दीक्षा मिळाली असेल त्याला या जन्मात आपली किती व कशी प्रगती होईल याचा विचार करण्याचे कारण नाही. शक्तिपातयोगमार्गाचा साधक शक्ती जेथे नेईल तेथे जाण्यास तयार असतो आणि शक्ती सर्व प्रकारच्या आपत्तींपासून त्याचे रक्षण करीत असते. अशा प्रकारे ही जागृत शक्तीच साधकाला परमोच्चपदाला नेऊन पोहोचविते. ज्यांना हल्लीच्या युगात योगाबद्दल कुतूहल असेल त्यांना शक्तिपातयोग-मार्गासारखा दुसरा सोपा मार्ग नाही. जो कोणी साधक शक्तिसंक्रमण करण्याचा अधिकार असलेल्या महात्म्यांच्या सान्निध्यात येईल त्याने त्यांची मर्जी संपादन करून आपल्या आयुष्याचे सार्थक करून घेण्याची संधी दवडू नये. या कलियुगामध्ये हा शक्तिपातयोगाचा सांप्रदाय म्हणजे मृत्युलोकातील माणसांकरिता स्वर्गातून आणलेल्या अमृतासारखाच आहे. यापेक्षा सोपे व अधिक परिणामकारी असे दुसरे साधन या भूतलावर नाही; कारण हे साधनच साधकाची सर्व दुःखातून आणि क्षुद्र व दूषित मनाच्या सर्व दुष्ट प्रवृत्तीतून मुक्तता करून त्याला परम शांती देते.

शेवटी आपण श्रीमदआद्यशंकराचार्यांच्या **"शिवानन्द लहरीतील"**

पुढील श्लोक म्हणून परमेश्वराची प्रार्थना करू.

त्वत्पादाम्बुजमर्चयामि परमं त्वां चिन्तयाम्यन्वहं।
त्वामीशं शरणं व्रजामि वचसा त्वामेव याचे विभो।।
दीक्षां मे दिश चाक्षुषीं सकरुणां दिव्यैश्चिरं प्रार्थितां।
शम्भो लोकगुरो मदीय-मनसः सौख्योपदेशं कुरु।।२९।।

हे सर्वश्रेष्ठ शंकरा! मी तुमच्या चरणकमलांची पूजा करीत आहे. सर्वश्रेष्ठ अशा तुमचे मी रोजच्या रोज चिंतन करीत असतो. हे विश्वेशा! मी माझ्या वाणीने तुमच्याजवळ अशी याचना करीत आहे की, आपण माझा स्वीकार करून अत्यंत करुणेने माझ्यावर कृपापूर्ण दृष्टी टाकून मला शक्तिपातयोगदीक्षा द्या. आपल्या अशा प्रकारच्या कृपापूर्ण दृष्टीची द्युलोकामध्ये वास्तव्य करणाऱ्या देवांनी देखील चिरकाल प्रार्थना म्हणजे याचना केलेली आहे. हे जगद्गुरो शंकरा! माझ्या मनाला आपण नित्य सौख्याचा लाभ होईल असा उपदेश करा अर्थात् साधनमार्ग शिकवा.

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

★ ★ ★ ★ ★

❋ सूची क्रमांक १ ❋
-: ग्रंथ, विविध लेख व टीका :-

अ

अंतर्भाव - ११०,३०२,३०३
अत्रिसंहिता - १२०
अद्वयतत्त्व के प्रकार-भेद - ७१
अथर्ववेद - १७१,१७२
अद्वयतारकोपनिषद्- १६२
अध्यात्मजीवनमें गुरुका स्थान- २२३,२२५,२२८
अनुभवामृत - ९,४३,८४,१०८, १३८,१३९,१४१
अनुभवामृत-पद-वोधिनी - १०८
अमृतानुभव - ८,१३१,३८८

आ

आगम - (प्र.२८,३१) ५१
आठवणी - (प्र.५३)

उ

उपनिषदे - (प्र.३८,४६)
उमासंहिता - ४४३,४४८

इ

ईश्वरमें विश्वास - ३०६

ऋ

ऋग्वेद - १७२,२६४

ए

एकनाथी भागवत - ६१,६२,९२, ९७,१४८,१७८,१८१, १९२,२३८,२४३,४६२
एकवीस समासी / जुना दासबोध १४२,२१४,२१७

क

कंवरामायण - १७९
कुंडलिनी जगदंबा - (प्र.३४) १६
श्रीकुंडलिनी जगदंबा स्तुती- (प्र.१५)
कुंडलिनी तत्व - ४३,७०,२३१
कुंडलिनीस्तुतिस्तोत्र - (प्र.१८)
कठोपनिषद् - २६२,४५७,४६०
कुलार्णवतंत्र - (प्र.१५),२२०,२२२, २२४,२२७,२३५,२४०,२४५, २४६,२४८,३४४,३५१,३६८, ३७८,३८०,३९२,३९७,४१७, ४१८,४७०,४७१
कूर्मपुराण - २५,२६,२८,१२०,१७३
केनोपनिषद - ८,१३१,१३९
केशवचैतन्य कथातरू -१९५,१९६,१९७
कैवल्यपाद - ४५६

ग

गंधर्व तंत्र - ३९७
गुरुचरित्र - (प्र.४३) २१९,३३८
गुरुजी समंग्र दर्शन-खंड ७ (प्र.३४)
गुरुतंत्रम् - २२०
गुरुगीता - २१९,२२७
गोंदवलेकरमहाराज चरित्र व वाङ्मय - २०५
गौतमीय तंत्र - (प्र.१५) ३६४

घ

घेरंड संहिता (प्र.१५),२८४,३६४,४५३

च

चैतन्यचक्रवर्ती - २०८
चैतन्य चरितामृत - १३५
चैतन्य चरितावली - खंड-१ ३४०

छ

छांदोग्य उपनिषद - १२,१८१,२६४,२६५

ज

जठरसंहिता - ८०
जीवनका लक्ष्य - ५३,२२९

जीवनमुक्ती विवेक - ११४
जीवनमुक्ती विवेक (टीका) - ५०,४७४
ज्ञ
ज्ञानेश्वरी - (प्र.११,१५,३६,५५),३,४, २४,३०,४०,४२,४८,५९, ६६,६९,८१,८५,८९,९४, १०९,११०,१२३,१३७,१४७, १४९,१६६,१६७,१७८,१८२, १८३,२१६,२१८,२३३,२४९, २५१,२६२,२६९,२७४,२७५, २७६,२७७,२७८,२७९,२८०, २८१,२८५,२८६,२९४,२९६, २९७,३०४,३१७,३१९,३२१, ३२३,३२६,३३६,३५०,३५३, ३५५,३६५,३६६,३७६,३७७, ३७८,३७९,३८०,३८२,३८६, ३८७,३८८,३९०,३९१,३९२, ३९३,४११,४२१,४५५,४५६, ४५८,४५९,४६३,४६६
ज्ञानेश्वरी सिद्धयोग दर्शन - (प्र.४४)
त
तंत्रग्रंथ - (प्र.३८) ४६८
तत्त्व प्रकाश - ३७२
तत्त्वसार - ४१२
तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टी - ५२,७१,८२, २५०,२५६
तैत्तिरीयसंहिता - २८२
द
दासबोध - २२,३३,६८,६९,७६,१२६, १२८,१४४,१४६,२१५,२२६, २३५,२३९,२४२,२४६,२४७, २४८,२५७,२५८,२५९,२६०,३००
दीपलक्ष्मी - (प्र.४१)
देवात्मशक्ती - ३६७,४४८
देवीभागवत - ८,१३९
देह और कर्म - ८२
ध
धर्मसंहिता - ४५३
ध्यानविंदू उपनिषद - २८८
न
नवचक्रेश्वरतंत्र - २२७
नादानुसंधानप्रकरणम् - ४४६
नारदभक्तिसूत्र - ३५८
नारायणोपदेशामृत - २०६
नासिकेतपुराण - ११८
नीलतंत्र - ४३८
प
पंचदशी - ११७,२६३
पंचसमासी - १११
परमामृत - ४१४
पराशरस्मृती - २८३,३१२
प्रंपचसारतंत्र - १५९
प्रबोधसुधाकर- २६१,४४६,४४७
प्रत्यभिज्ञाहृदय - (प्र.५२)
पातंजल योग दर्शन २६९,२७२, २७३,३५३,४१०,४४९
पातंजल योगसूत्र - २३४,२७९, २८१,२९५,२९८,३०६,४५६
पुराणे - (प्र.३८,४६) १९
पूर्णानंदकौमुदी व्याख्या - ४७०,४७४
ब
बृहदारण्यकोपनिषद् - २६४
बृहन्नील तंत्र - ४३८
ब्रह्मसंहिता - १३३
ब्रह्मसूत्र - ५,३८८,३९६,४५७,४५८
ब्रह्मसूत्र भाष्य - १३
बोधसार - ८७,२२६
भ
भक्तमंजिरीमाला - खंड-१ २०२,२०३,२०४
भक्तमंजिरीमाला - खंड -३ १९९
भक्तिरसामृतसिंधू - ५७,६४

भक्तिसूत्र - ६५,३१६,३४०
भगवत् कृपा का रहस्य - ५२
भगवद्गीता - (प्र.३७),८९,१२३,
१३१,२३७,२६७,२६८,२८४,
२८७,२८९,२९४,२९६,३०७,
३१७,३६५,३६६,३७४,३९४,३९६
भागवत - ६०,६४,९२,
१७७,२३८.
भारतीय संस्कृति और साधना
खंड पहिला ४३,५३,७०,८३,११३,
२२३,२२५,२२९,२३१,३०६
भारतीय संस्कृति और साधना
खंड दुसरा २,५५,७८,२१७
भावार्थ दीपिका - ४६६
म
मंत्रमहोदधी - ४३८
मंत्रयोगसंहिता - ३९४,४१२
मनाचे श्लोक- ७५,३४८,३७७
मनुस्मृती - २८२,२९४,२९५,३०८
मनुष्यत्व - २,२१७
मनोलय - ४४७
मुंडकोपनिषद - ४११
महादेवप्रसादनिरूपणम् - ३७७
महानारायणोपनिषद् - १६२,१६३
महाभारत - २६६
मालिनीविजयोत्तरतंत्र - ५७
य
याज्ञवल्क्यसंहिता - ४५३
योगकुंडलिनी उपनिषद - ४०७,४६१
योगचूडामणी उपनिषद् - १५९,४५२
योगप्रभाव - २७०
योगबीज - ११८,११९,१२१,४०८
योगरहस्य - १६
योगवासिष्ठ - (प्र.३६) १५५,१५७,
१५८,१५९,१७४,१७६,
२२४,३१३,३१४,३१५,
३२८,३७७,४६७,४६८
योग विभूति - २०७
योगशिखोपनिषद् -(प्र.१५)२०,२४,४५,
११२,११७,११८,१२२,१६०,
१६४,१६५,२२८,३६४,४०१,
४०३,४०४,४०७,४१४,४२७,४५३
योगसागर - ४५४
योगसूत्र व्यासभाष्य - २९०
योगिनीतंत्र - ३७२
र
रत्नमाला-आगम - ११३
राजयोग - ४२
रामगीता - ४४३
रामचरितमानस - ३२६
रुद्रयामल (प्र.१९)१५९,३७१,४५२
ल
ललितासहस्रनाम भाष्य - ८७,२२७
लिंगपुराण - २८
व
वचनामृत - २५६
वराहोपनिषद् - ४२३
वसिष्ठस्मृती - ३११
वायवीय संहिता - ४१०,४४५,४५०
वाल्मीकी रामायण - १८०
वेद - (प्र.३८,४६) १९
विवेकसिंधू - ८७,९९,१८७
विश्वसार - ३७१
श
शक्ति का जागरण - ११३
शक्तिपातयोगाची दिव्य व
अलौकिक वैदिक परंपरा - (प्र.४१)
शक्तिपातयोगमहात्म्य - (प्र.४१)
शक्तिपातयोगरहस्यसार - (प्र.१३)
शक्तिपात रहस्य - ८३
शतपथ ब्राह्मण - २८२
शतश्लोकी - ९६,४६५,४६७

शाक्तानंद तरंगिणी - २८४
शांडिल्योपनिषद् - २९०,२९५
शारदातिलक तंत्र - ३७१,४२६,४३८
शिवपुराण - २३३,२३५,४१०
शिवसंहिता - १९,२९३,३४५, ३४८,३५९
शिवानन्द लहरी - ४८१
श्रीश्रीचैतन्यचरितावली - खंड -१ ६३,१८६
श्रुती - २८०
श्वेताश्वतरोपनिषद् - १२५,४४८

स

संत परिचय - ५५
संत वाङ्मय - (प्र.३८,४६)
संत निळोबांचा गाथा - १९८
संमोहनतंत्र - ३९७
संहिता - (प्र.४६)
स्कंदपुराण - ४६८
स्पंदशास्त्र - ३५१
सकलसंत गाथा - भाग २ १९४
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह - २६०,२६३,२७१,३७३
सर्वसिद्धान्तसंग्रह - ११५
सहजयान और सिद्धमार्ग - ७८
सांख्यसूत्र - १११,३९८
सामरस्य या महामिलन - २५०,२५६
सामवेद - २८०
सावधता - ३५९
स्वात्मप्रचीती - २००
स्वात्मसुख - ७,१२६
स्वानुभवसुख - ४१४
सिद्धसिद्धान्तपद्धती - ४२७
सिद्धसिद्धान्तसंग्रह - २३७
सूतगीता - ३७३
सूतसंहिता - ८,१३८,१३९, १४०,१७१, ३७३,३७७,३८९,४१८,४६८,४७१
सूर्यगीता - ४४८
सौंदर्यलहरी - १३०
सौंदर्यलहरी टीका - १३०

ह

हंसोपनिषद् - ४४५
हठयोगप्रदीपिका (प्र.१५)३२, १०७,११६,११७,१६२,१६३, २१६,२७३,२८४,२८८,३५७,४७९
हारितस्मृती - ३१२

■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■

❋ सूची क्रमांक २ ❋
-: ग्रंथकार :-

अ
अच्युत सिद्धनाथ पोटभरे - २०८
अच्युतराय मोडक - ५०,४७०,४७४
अलर्क - (प्र.३२)
उ
उत्पलदेव - ८७
ए
एकनाथमहाराज - (प्र.३९,प्र.४०) ७, ६१,६२,९२,९७,१२६,१४८, १४९,१७८,१८१,१९२,१९३, १९४,२३८,२४३,२८०,४६२
क
कंबन - १७९
कपिल महामुनी - १११
कल्लट - ३५१
ग
गुलाबरावमहाराज - (प्र.३४).१६, २७०,२७९
गोपिनाथ कविराज - (प्र.१४),२,४३, ५२,५३,५५,७०,७१,७५, ७८,८२,८३,११३,२१७, २२३,२२५,२२८,२२९, २३१,२५०,२५६,३०६
गोरक्षनाथ - ७०,११८,११९
ज्ञ
ज्ञानेश्वरमहाराज - (प्र.३९,४४,५५) ३,४,८,९,३०,४०,४२,४३, ४८,५९,६६,८१,८४,८५,८९, ९४, १०८,१०९,११०,१२३, १३१,१३७,१३८,१४१,१४७, १४९,१६६,१६७,१७८,१८२, १८३,१८९,१९०,२१६,२१८, २३३,२४९,२५१,२६२,२६९, २७३,२७५,२७६,२७७,२७८, २७९,२८०,२८१,२८५,२८६, २९४,२९६,२९७,३०४,३०६, ३१७,३१९,३२१,३२६,३३६, ३५०,३५३,३५५,३६५,३६६, ३७४,३७६,३७७,३७८,३७९, ३८०,३८२,३८६,३८७,३८८, ३९०,३९१,३९२,३९३,३९५, ४११,४२१,४५५,४५६,४५८, ४५९,४६३,४६६
त
तुकाराममहाराज- (प्र.२७,३७,४२,४३) २१५,२७०,२७१,२८०,२९८, २९९,३३८,३४७,३५७,३५८, ३५९,४६५
तुलसीदास - २८०,३२५
न
नरहरी - ८७,२२६
नामदेव - (प्र.३३) ९१,९२,१४८,१९१
नारद - ६५,६६,६७,३१६, ३४०,३५८,४३७
निरंजनरघुनाथ - १०८,१९५,१९६ १९७,२००
निपट निरंजन - १०३
प
पतंजली - ११०,२३४,२६९,२७२, २७३,२९५,२९८,३०६,३३८, ३५३,४१०
पराशर - ३१२
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी - ६३,१८६,३४०
प्रभुदेव - २५६

ब
बलभद्र - २३७
बेलसरे - २०५
भ
भास्कराय मखी- ८७,२२७
म
मुकुंदराज - ८७,९९,१८७,४१४
मनु - २८२,२९४,२९५,३०८
य
याज्ञवल्क्य - २९४
र
राजारामप्रासादी -१९९,२०२,२०३,२०४
रामाजनार्दन - (प्र.२७)
रामदासस्वामीमहाराज (श्रीसमर्थ) (प्र.३९),२२,३३,३४,३५,३६,३८, ६८,६९,७५,७६,७७,७८,११०, १११,१२६,१२८,१२९,१३०,१४२, १४४,१४६,२१४,२१५,२१७,२२६, २३५,२३६,२३९,२४२,२४६,२४७, २४८,२५७,२८०,३०१,३०२,३०३, ३४६,३४७,३५९,४६७
रूपगोस्वामी - ५७
व
वसिष्ठ - १५५,१५७,१५८,१५९, १७४,१७६,२२४,३११,३१३, ३१४,३१५,३२८,४६७,४६८
व्यास - (प्र.२७) ६०,६१,६४,१७७, २३८,२६२,२७९,२८१,२८२, २९०,३९६,४५८,४६०
वाग्भट - २९१
वाल्मीकी - १८०
विद्यारण्यस्वामी - (प्र.२८) ११४,११७, १३९,४७०
विवेकानंद - ४२
विष्णुतीर्थस्वामीमहाराज - १०,५०, ३६७,४४८
श
श्रीशंकराचार्य -५,८,१०,१३,९६,११५, १३०,१५९,२६०,२६१, २६६,२७१,४४६,४८१
शिवोम्तीर्थमहाराज - २०६,२०७
श्रीकृष्ण - १२३,१३१,२३७,२६७, २६८,२९४,३१७,३४३, ३७५,३८९,३९१,३९३,४६६
स
सरस्वती गंगाधर - २१८
स्वात्माराम योगींद्र -(प्र.५०),३२,११६, ११७,१६२,३५७,४७९

■■■■■■■■■

❋ सूची क्रमांक ३ ❋
-: विशेष शब्द व विशेष व्यक्तींची नावे :-

अ
अंगिरस - १८१
अंगिरा - १७३
अच्युतानंदसरस्वती स्वामीमहाराज (प्र.५१)
अरिमर्दन - (प्र.३२)
अर्जुन - १७४,१८२,१८३,१८४, १८५,३१८,३४३,३६६, ३७४,३८९,३९१,३९३,४६६
अपरोक्षज्ञान - ११६,११७
अपरोक्षानुभूती - ११६
अनिरुद्धानंदसरस्वती स्वामीमहाराज - (प्र.५१)
अलर्क - (प्र.२७,३२)
आ
आत्मारामशास्त्री जेरे - (प्र.२६,५२)
आनंदमूर्ती - २०४
उ
उद्धव - ९२
क
कपिलमुनी - १७३
कबीर - (प्र.२९) २८६,३३७
कुंडलिनीजागृती - (प्र.३४)
कुलदानंद ब्रह्मचारी - (प्र. ४५)
क्षेमराज - ५२
ग
गंगाधरतीर्थस्वामीमहाराज (प्र.४०,४४,५१)२०६
गुळवणीमहाराज - (प्र.२६,४१,४४,४६, ४८,५१,५४)२०८,४६५
गैनीनाथ - १८९
गोरक्षनाथ - ७०
गोळवलकर गुरुजी - (प्र.३४,४६,५३)
गौतम - १७३
च
चैतन्यमहाप्रभू - ५७,६३
ज
जनार्दनस्वामी - ९७,१९३
जैगीषव्य - १७३
ज्ञानात्मिका पराशक्तिः - (प्र.२८) ५१
ट
टेंबेस्वामीमहाराज - (प्र.५१,५२)
त
तत्त्वमसि - (प्र.३२)
तुकामाई - २०५
तुलसीदास महाराज - ३३५
तोतापुरीमहाराज - ३३९
द
दत्तात्रेय - (प्र.२७,३२) ९७,१७८,१७९
दीपलक्ष्मी - (प्र.४१)
ध
ध्वनी - ४३८
धारा - १३६
ध्रुव - १७७,१८३,१८४,४३७
न
नाद - ४३८
नारायण - १७३,१७४
नारायणतीर्थस्वामीमहाराज - (प्र.४०,४४,४८,५१) २०६
नारायणानंदसरस्वतीस्वामीमहाराज - (प्र.५१)
निरंजनपद - १२८
निवृत्तिनाथ - १८९

प

पंचमहाभूते - १३,१४
पंचीकरण - १४,२३२
पंचशिखाचार्य - १७३
परब्रह्म - ४५९
परा - (प्र.२८) ५१,१६१,४३८
पराशर - १७३
परोक्षज्ञान - ११६,११७
पश्यंती - १६१
प्रचीती - १२८,१२९
पुरीजी महाराज - १८६
पार्वती - २८,२९,१९०,२२४,२४०, २४८,३५९,३७१,३७८
पुलह - १७३

ब

ब्रह्मग्रंथी - ३८९,४०७,४६१
ब्रह्मदेव - ७,२४,११२,११८,११९, १२३,२१९,२२८,२५३,३२५,४५०

भ

भगवती जगदंबा - २८
भारद्वाज - १७३,१७५

म

मदालसा - (प्र.३२)
मध्यमा - १६१
माउली - ४७९
माया - १२

य

यदुराजा - ९७,१७८,१७९
योगवाणी - (प्र.४०)
योगेंद्रविज्ञानी - (प्र.४६,४८)

र

रघुनाथस्वामी - २००,२०४
राघवचैतन्य - १९५,१९६
राधा - १३६
रामकृष्ण परमहंस - (प्र.३५) ३३९
रामचंद्र - (प्र.२७) १७४,१७५,१७६, १७९,१८०,२०६,३१४,३१५
रामाजनार्दन - (प्र.२७)
रुद्रग्रंथी - ३८९,४०७,४६१

ल

लोकनाथतीर्थस्वामीमहाराज (प्र.४०,४४, ५१,५२,५४) २०८,४६९

व

वाल्मीकी - १७४,१७५,१८०
वामदेव - १७४
विक्रांतवर्मा - (प्र.३२)
विश्वामित्र - १७६,४६८
विसोवा खेचर - १९१
विष्णू - ७,१७७,१८३, २१९,२५३,४५०
विष्णुग्रंथी - ३८९,४०७,४६१
वैखरी - १६१,४३९

श

शंकर - ७,२५,२८,२९,४१, १११,११२,११९,१२३,१३१, १७३,१८७,१९०,१९३,२१९, २२०,२२४,२२८,२४०,२४८, २९३,३५९,३७१,३७८,४५०
शंकरपुरुषोत्तमतिर्थस्वामीमहाराज - (प्र.४०,४४,५१) २०७
शक्तिपात - (प्र.२७) ४६५
शांकरीविद्या - १३१
शारंगधर - २९२
शिवतीर्थ - २०
शिवाजीमहाराज - २०३
श्रीश्रीसद्गुरुसंग - (प्र.४५)

स

संविद् - १५७
संभाजीमहाराज - ३५९
संवर्त - १७३

सनंदन - १७३
सनकमुनी - १७३
सनत्कुमार - १७३,२६५
सम्यक् ज्ञान - ११६
सहस्रार्जुन - (प्र.३२) ९८,१९३
सामानी - १५७
सुबाहू - (प्र.३२)
सुश्रुत - २९२
ह
हरिनाथ - १८७

❋ सूची क्रमांक ४ ❋

-: विषय सूची :-

अ

अंगिरस ऋषींच्या कृपेने श्रीकृष्णांना तृष्णाहीनता - १८१
अर्जुनाला शक्तिपाताने स्वरूपप्राप्ती - १८२
अर्धेंदू - ४३८
अनुग्रह करणे - २२१
अनुभूतीची प्राप्ती - २३८
अपरिग्रह - २७९
अभ्युदय व निःश्रेयस सुख - ५
अविद्येचा नाश - ४६०
अस्तेय - २७५
अहिंसा - २७३

आ

आर्जव - २७६
आत्मतत्त्वांचे शुद्धिकरण - ४०९
आनंदाची प्राप्ती - ४१४
आत्मनिवेदन योग - १४१
आरंभावस्था - ४२३
श्रीआत्मारामशास्त्री जेरे यांची प्रस्तावना - (प्र.२६)
आदर्श श्रीगुरूंची लक्षणे - २३८
आधारशक्ती - १६३
आनंदाची मंगलमय अनुभूती - २२४
आपत्तिरहित साधन - १०६
आहार - २८४

इ

इतर साधनांची अनावश्यकता - १०८

ई

ईश्वरप्रणिधान - ३०६
ईश्वराचे स्वरूप - ७

उ

उपरती - २६३
उभारणी-संहारणी-रहस्य - १६

ए

एकनाथांना श्रीगुरुकृपेने परिपूर्ण ब्रह्मप्राप्ती - १९३
एक अद्भूत आत्मानुभव - १५१
एका दिव्याने दुसरा दिवा लावावा असे साधन - ११२

क

कर्म, जाती व अवस्थांचे क्रियांना बंधन नाही - ४२०
कल्पनातीत साधन - १२५
क्रिया अर्थशून्य नाहीत - ४१३
श्रीकुंडलिनी जगदंबा स्तुती - (प्र.१५)
श्रीकुंडलिनी म्हणजे लक्ष्मी व स्पंदधर्मिणी - १५८
श्रीकुंडलिनी शक्तीची आरती - (प्र.१२)
श्रीकुंडलिनी शक्तीचे स्वरूप - १५१ ते १६८
कुंडलिनीस्तुतिस्त्रोत्र - (प्र.१८)
क्रियायोग - ७१
कूर्मपुराणातील महायोगाची परंपरा - १७३
कूर्मपुराणातील महायोगाचा महिमा - २५
श्रीकेशवचैतन्यांना शक्तिपातप्रभावाने आत्मसाक्षात्कार - १९६
कैवल्यप्राप्ती - ४६२

क्ष

क्षमा - २७७

ग

गुरूंचे खरे स्वरूप व कार्य - २२१
गुरू शब्दाचा अर्थ - २१९
गुरुतत्त्व म्हणजे काय? २२०
गुरुदत्तयोग - ७५
श्रीगुरुपादुकापूजन - २४८
गुरुभक्ती - २१७
गुरुभक्तीचा उच्च आदर्श - २४८
गुरुशिष्यसंबंधाची परिणिती - २५६
गुळवणीमहाराजांना प.प. श्रीलोकनाथतीर्थस्वामीमहाराजांकडून स्वप्न व प्रत्यक्ष दीक्षा - २०८
गोळवलकरगुरुजी यांचा अभिप्राय - (प्र.३४)

घ

घटावस्था - ४२४

च

चित्‌शक्ती, पराशक्ती व शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्ती - १५५
चैतन्यमहाप्रभूंना शक्तिपातामुळे भक्तीचा उन्मेष - १८५
चैतन्याचा निरनिराळा आविर्भाव - १५७
चैतन्याची परमप्रेमरूपशक्ती - १६५

ज

जगताचे स्वरूप - ७
जन्ममरणाची निमे कथा - ४५९
जनार्दनस्वामींना श्रीदत्तात्रेयांकडून शक्तिपाताने आत्मबोध - १९२
जीवाचे स्वरूप - ६
ज्ञानदान - २३२
ज्ञानेश्वरमहाराजांची सिद्धपंथाच्या दीक्षेने कृतार्थता - १८९
ज्ञानेश्वरीतील पंथराजाचे माहात्म्य - २९

त

तत्काल प्रचीती देणारे साधन - १२८
तत्त्वज्ञान म्हणजे काय ? - ६
तत्र ऋतंभरा प्रज्ञा - ४२६
तप - २९६
तितिक्षा - २६३
तीन ग्रंथींचे भेदन - ४०७
तुकामाईकडून श्रीगोंदवलेकर महाराजांना शक्तिपाताने ब्रह्मचैतन्यप्राप्ती - २०५
त्रिपुटीचा भेदव्यवहार नाहीसा होतो - ४५६

द

दत्तात्रेयांची श्रीयदुराजाला आलिंगन देऊन स्पर्शदीक्षा - १७८
दम - २६२
दया - २७९
दृग्‌दीक्षा - ३८०
दान - श्रीसद्गुरुकृपा व शिष्यशरणागती - (प्र.१२)
दासबोधातील शक्तिपातयोगाचे स्तवन - ३३
दिव्यचक्षूंचे उन्मीलन - २३६
द्वितीयावृत्तीची प्रस्तावना - (प्र.४३)
दिव्यरस - ४५३
दिव्यस्पर्शज्ञान - ४५२
दीक्षा कशी होते? - ३७७
दीक्षेचा अर्थ - ३७१
दीक्षेचा महिमा - ३६७
दीक्षेचा हेतू - ३७२
दीक्षेची वेळ - ४१२
दीक्षेचे व साधनाचे स्थान - ३९४
दुःखनिवृत्ती - २२८
दैवी शक्तीचे संक्रमण - ४६५ ते ४८२
दोन मुखांनी युक्त - १६१

ध
धृती - २७८
ध्यानदीक्षा (कृपा किंवा पत्रदीक्षा) ३९२
श्रीध्रुवाला श्रीमहाविष्णूंकडून शंखस्पर्शद्वारा शक्तिपात - १७७
न
नऊरस - ४३४
नाडीशुद्धीच्या क्रिया - ४२८
नामदेवांना शक्तिपाताने कृपेची सावली - १९१
नारायणतीर्थदेवांना श्रीगंगाधरतीर्थांकडून सिद्धयोगदीक्षा - २०६
नारायणतीर्थांकडून श्रीशंकर-पुरुषोत्तमतीर्थांना शक्तिसंक्रमण २०७
नित्यानित्यवस्तुविवेक - २६०
नियम - २९५
निरंजनांना श्रीरघुनाथांकडून चैतन्यघनस्वरूप प्राप्ती - २००
निष्पत्ती अवस्था - ४२६
निळोबांना श्रीतुकारामांकडून शक्तिपातयोगदीक्षेने निजात्मस्थिती - १९८
प
पंचतत्त्वांचे अवलंबन - ४०८
पंथराज - २४
परिचयावस्था - ४२५
परिपक्वता व परिपूर्णता प्राप्ती - ४१०
पश्चिम मार्ग खुला होतो - ४०३
प्रथमावृत्तीची प्रस्तावना - (प्र.३८)
प्रणवादि सर्व मंत्रांची निर्माती - १५९
प्रभुरामचंद्रांकडून श्रीसमर्थ रामदासस्वामीमहाराजांना शक्तिपाताने स्वसुखधनप्राप्ती - २०२
प्राणपंचकरूपाने स्फुरणारी अत्युत्तम जीवशक्ती - १५८
प्राणशक्तीचे ऊर्ध्वगामित्व - ४०५
प्राणायाम - ४३२
प्रास्ताविक - १
प्रारब्ध जय व ज्ञानप्राप्ती - ११४
पिंडब्रह्मांडाची उभारणी व संहारणी - १२ ते १८
पिंडब्रह्मांडाचे ऐक्य - १९ ते २१
पिंडब्रह्मांडाची एकता - १९
ब
बंध व मुद्रा - ४३२
ब्रह्मप्राप्ती - ४५८
ब्रह्मचर्य - २९०
भ
भक्तियोग - ५७
भक्तियोगाचा योगमार्ग - १४८
म
मंत्रयोगाच्या क्रिया - ४३६
मनुष्य जन्माचे ध्येय - १ ते ११
मनोरूप पट फाटून जातो - ४५५
महर्षी श्रीव्यासांकडून श्रीराघवचैतन्यांना शक्तिपातयोगदीक्षा - १९५
महाभूतांची जवनिका फिटते - ४५६
महायोग - ४५
मायानिरपेक्ष साधन - १४५
मुमुक्षुता - २७२
य
यम व नियम - २७२
योगशिखोपनिषदातील सिद्धयोगमार्गाचे महिमान - २४
योग्य शिष्याचा उद्धार व अयोग्याला योग्य करणे - २२६
र
रघुनाथस्वामींकडून श्रीआनंदमूर्ती ब्रह्मनाळकरांना शक्तिपाताने अद्वयस्थिती - २०४

राजयोगाच्या क्रिया - ४४८
राधाकृष्णस्वरूप साधन - १३३
ल
लययोगाच्या क्रिया - ४४६
लिंगपुराणातील महायोगाचे श्रेष्ठत्व - २८
व
वसिष्ठऋषींकडून श्रीप्रभुरामचंद्रांची दीक्षा - १७४
विचारप्रवाह व एकाग्रता - ४२१
विश्वाची उभारणी - १२
विश्वाची संहारणी - १५
विविधगुण - २४६
विविध गुणलक्षणे - २४०
विविध गुणयुक्त साधनसंपत्ती - ३०७
वेदातील शक्तीचे माहात्म्य व दीक्षेने मुक्तता - १७१
वैराग्य - २६१
श
शंकरांकडून श्रीहरिनाथांना शक्तिपाताने निजानंद - १८७
शक्तिजागरण - २२९
शक्तिजागृतीची आवश्यकता - ७
शक्तिपातयोग - ५०
शक्तिपातयोगरहस्यसार - (प्र.१३)
शक्तिपातयोगाच्या विविध नावांचे रहस्य - ४० ते ८०
शक्तिपातयोगाचा महिमा - २२ ते ३९
शक्तिपातयोगाची दिव्य व अलौकिक वैदिक परंपरा - १६९ ते २११
शक्तिपातयोगाची फलनिष्पत्ती - ४५५ ते ४६४
शक्तिपातयोगाची वैशिष्ट्ये - ८१ ते १२४
शक्तिपातयोगाची शास्त्रीय प्रक्रिया - ३६३ ते ४५४
शक्तिपातयोगाची साधनसंपत्ती - (प्र.४१) २१२ ते ३६२
शक्तिपातयोगाचे परमश्रेष्ठत्व - २८
शक्तिपातयोगाचे स्वरूप - १२५ ते १५०
शक्तीची जागृती हाच सुलभ मार्ग - २१
शब्ददीक्षा - ३८४
शम - २६१
शमदमादि षट्संपत्ती - २६१
शरणागती - २४५
शास्त्रावर निष्ठा - ३०७
शिवशक्तिस्वरूप साधन - १३८
शिवाजीमहाराजांना शक्तिपात योगदीक्षेने श्रीसमर्थांकडून आत्मारामप्राप्ती - २०३
शौच - २८१
श्रद्धा - २६३
श्रीकृष्णांकडून मिळालेल्या शक्तिपातयोगदीक्षेने श्रीउद्धवाची स्वानंदनिमग्नता - १८१
ष
षट्चक्रवेध - ४११
स
संतश्रेष्ठ श्रीतुकाराममहाराजांची शक्तिपाताने खेदरहित स्थिती - १९७
संतोष - २९५
संप्रदायाचा महिमा - ३६५
सत् शिष्याची लक्षणे - २४५
सत्य - २७४
सद्गुरुकृपा - ९४
सद्गुरुनाथमहाराजांचे आशीर्वाद - (प्र.१०)

सद्गुरुचरणी नमन - (प्र.११)
स्पर्शदीक्षा - ३७८
समर्पण - (प्र.११)
समभावसंपन्नता - २२७
समाधान - २७१
सर्वतंत्र स्वतंत्र साधन - १३०
सर्व मार्गांचा राजा - ८१
सर्व वृत्तींचे बीज - १५६
सर्वांना मुक्त साधन - १११
सर्वार्थाने शरणागती - ८९
सहजयोग - ४७
स्वतः होणारा योग - १०४
स्वप्रयत्नशून्य साधन - १०९
साधकाच्या योग्यायोग्यतेची अनावश्यकता - ८३
साधनक्रियांची वैशिष्ट्ये - ४१३
साधनमहायज्ञात क्रियांद्वारा हवन - ४१९
साधनसंपत्तीचा महिमा - २१४
साधनसंपत्तीच्या समुच्चयाची अपरिहार्यता - २१५
साधन चतुष्टय - २६०
साधनरतता - २५६
साधनाची वेळ - ३९९
साधनात क्रिया का होतात? - ४०२
साधनातील क्रिया व अनुभव - ४२३
साधनातील विघ्ने- ३५१
साधनाभ्यास - २९७
साधनाला बसण्याची पद्धत - ३९८
साधनाला बसण्यापूर्वी करावयाची प्रार्थना - ३९९
साधनावर विश्वास - ३२५
साधनासाठी आसन - ३९६
साधनेसाठी वस्त्रे - ४००
साम्यावस्थेची प्राप्ती - ४५८
सार्वभौम चैतन्याचे ऐश्वर्य व जीवाची सावली - १६७
सुषुम्णा म्हणजे महातीर्थ - २०
सूर्यासारखी व विजेसारखी तेजस्वी - १६२
सिद्धमार्ग - ४०
सिद्धयोग - ४३
सोपे साधन आहे का? - २२
सेवा - २५१
सोहिरोबानाथ अंबिये यांना श्रीगोरक्षनाथांकडून शक्तिपातयोगदीक्षा - १९९
ह
हठयोगाच्या क्रिया - ४२७
हनुमंतांची शक्तिपाताने कृतार्थता - १७९
हृदयग्रंथींचा भेद - ४६०

■■■■■■■■■

साररूप विषय :-

शक्तिपाताशिवाय म्हणजे भगवंताची कृपा झाल्याशिवाय कोणताही जीव पूर्णत्व प्राप्त करू शकत नाही. इतकेच काय; तो पूर्णत्व प्राप्त करण्याच्या मार्गात प्रवेश देखील करू शकत नाही. जीवाच्या आधारशक्तीच्या अर्थात् धारणाशक्तीच्या भेदानुसार शक्तिपाताचे कमीजास्त प्रमाण किंवा भिन्नता दिसून येते. मात्र हेही तितकेच खरे आहे की, जीव कितीही सामान्य कोटीतील असला आणि भोग, वासना, आकांक्षा इत्यादिंनी कितीही गुरफटलेला असला, तरी एकदा त्याच्यावर शक्तिपात झाला की, तो श्रेष्ठ अशा ब्रह्मपदाला अवश्य पोहोचतो. मात्र भोगाकांक्षादि विक्षेपांमुळे जीवाच्या परमपदाला जाण्याच्या गतीत अडथळा उत्पन्न होतो. जर शक्तिपाताची मात्रा तीव्रातितीव्र असेल व आडवे येणारे विक्षेप जर नसतील तर अत्यंत शीघ्र गतीने म्हणजे क्षणभरातसुद्धा जीव परमपदाला जाऊन पोहोचतो. शक्तिपात दीक्षेच्या वेळी योग्यायोग्यतेचा विचार केला जात नाही. मात्र (जीवाच्या) मुळातील योग्यतेनुसारच शक्तिपाताचे प्रमाण स्वाभाविकपणे निश्चित होत जाते. परंतु प्रमाण काहीही असले तरी भगवंताच्या शक्तीचा महिमा इतका मोठा आहे की, एकदा का होईना, (श्रीसिद्धगुरूंकडून) ही शक्ती साधकात संक्रमित झाली की ती त्या जीवाला भगवंताच्या घरी (ब्रह्मपदाला) पोहोचविल्याशिवाय शांत होत नाही, हे अगदी निःसंशय सत्य आहे.

म.म. श्रीगोपीनाथ कविराज